



भी:

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी महामाग—के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त  
राजस्थान वैदिक नस्लशोध संस्थान' मानवाभ्रम दुर्गापुरा ( जयपुर ) का  
'प्रधान संरक्षक' प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है —



भारत के राष्ट्रपति  
डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान वैदिक नस्लशोध संस्थान-अध्यक्ष

का

प्रधान संरक्षक

घमने की स्वीकृति प्रदान करने हैं

मिलिटी सेक्रेटरी ऑफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक 30 अक्टूबर 1956

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

मउतामसिंह

(पुन्याय सिंह) मेजर जनरल

मिलिटी सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेन्ट



# प्रकाशितग्रन्थसूची —

१-गीताविज्ञानमाध्यमभूमिकान्तर्गता-	‘वदिरत्नपरीचा’ नामक प्रथमखण्ड	१४)
२- ”	—‘आत्मपरीचा’ नामक द्वितीयखण्ड*	२०)
३- ”	—‘ब्रह्मकर्मपरीचा’ नामक तृतीयखण्ड*	२०)
४- ”	—‘कर्मयोगपरीचा’ नामक चतुर्थखण्ड*	२०)
५- ”	—‘ज्ञानयाग’-उवा मक्तियोगपरीचा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम तथा षष्ठखण्ड	२०)
६- ”	—‘मक्तियोगपरीचा’ (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड	२०)
७- ”	—‘बुद्धियोगपरीचा’-नामक अष्टमखण्ड	२०)
८-ईशोपनिषद्-हिन्दी-विज्ञानमाध्यम	प्रथमखण्ड	१४)
९-ईशोपनिषद्-हिन्दी विज्ञानमाध्यम	द्वितीयखण्ड	१५)
१०-उपनिषद्विज्ञानमाध्यमभूमिका-	प्रथमखण्ड	२०)
११-उपनिषद्विज्ञानमाध्यमभूमिका-	द्वितीयखण्ड	१५)
१२-उपनिषद्विज्ञानमाध्यमभूमिका-	तृतीयखण्ड	१४)
१३-आद्यविज्ञानग्रन्थानुगत ‘आत्मविज्ञानोपनिषद्’	नामक प्रथमखण्ड	२०)
१४-आद्यविज्ञानग्रन्थानुगत-‘सापिण्डविज्ञानोपनिषद्’	नामक तृतीयखण्ड	१४)
१५-संस्कृति, और सम्पत्ता-शब्दों का चिरन्तर इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक- आपोबनों की रूपरेखा		२५)
१६-‘भारतीय हिन्दू-मानव और उस की मायुक्तता’ नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का ‘विराटरूपमीमांसा’ नामक प्रथमखण्ड		१४)
१७-‘वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्वम्’ (संस्कृतनिबन्ध)*		१॥)

\*-चिह्नान्वित ग्रन्थ प्रेस में हैं जो अग्रिम-वर्ष-में प्रकाशित होजायेंगे ।

श्री:

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महामाग-के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त  
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाभ्रम दुर्गापुरा ( जयपुर ) का  
'प्रधानसरचतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है —



भारत के राष्ट्रपति  
डा० राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थानवैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान सचिव

यन्त्रणे की स्वीकृति प्रदान करते हैं

बिमिही सेक्रेटरी ऑफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक 30/12/1954

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

मुताबासिंह

(मुनाब सिंह) मेजर जनरल

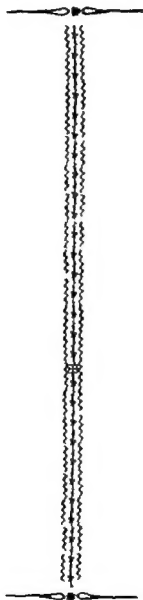
बिमिही सेक्रेटरी टू दि प्रेसिडेन्स

# प्रकाशितग्रन्थसूची—

१-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-	‘यद्विरङ्गपरीक्षा’ नामक प्रथमखण्ड	१४)
२- ”	—‘आत्मपरीक्षा’ नामक द्वितीयखण्ड	२०)
३- ”	—‘ब्रह्मकर्मपरीक्षा’ नामक तृतीयखण्ड	२०)
४- ”	—‘कर्मयोगपरीक्षा’ नामक चतुर्थखण्ड	२०)
५- ”	—‘ज्ञानयाग’ तथा भक्तियोगपरीक्षा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम तथा षष्ठखण्ड	२०)
६- ”	—‘भक्तियोगपरीक्षा’ (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड	२०)
७- ”	—‘बुद्धियोगपरीक्षा’-नामक अष्टमखण्ड	२०)
८-ईशोपनिषत् हिन्दी विज्ञानभाष्य	प्रथमखण्ड	१४)
९-ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य	द्वितीयखण्ड	१५)
१०-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-	प्रथमखण्ड	२०)
११-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-	द्वितीयखण्ड	१५)
१२-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-	तृतीयखण्ड	१५)
१३-आद्यविज्ञानग्रन्थानुगत-‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ नामक	प्रथमखण्ड	२०)
१४-आद्यविज्ञानग्रन्थानुगत ‘साप्तिस्वविज्ञानोपनिषत्’ नामक	तृतीयखण्ड	१५)
१५-संस्कृति, और सत्यता-शब्दों का विवरण इतिहास, एवं भारतीय-सांस्कृतिक- आयोजनों की रूपरेखा	—	२५)
१६-‘भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की मायुक्ता’ नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का विश्वस्वरूपमीमांसा’ नामक प्रथमखण्ड		१५)
१७-‘वेदस्य सर्वविद्या निधानम्’ (संस्कृतनिबन्ध)		१॥)

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-  
द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में  
युगधर्मनिबन्धन-किञ्चिदिव-आवेदन  
(शतपथभाष्य-द्वितीयखण्ड की प्रस्तावना)

---



मोतीशालग्रामोपाध्याय कश्चिदपि सुकृतग्रामा  
आश्रितो भारतवर्ष, वेदबीची-पयिकः  
मानवोत्पत्तिरहितः-मोक्षा



# शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकारणानुगत

## द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में

### किञ्चिद्विषय-आवेदन

विक्रम सं २१५ की आरिषनशुद्ध-दशमी (विजयदशमी) बुधवार (तदनुसार वा अगस्त) की प्रातःसिद्धि में 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्यान्तर्गत-प्रथमकारणानुगत-प्रथमखण्ड संस्थान की ओर से प्रकाशित हुआ था जिसमें 'प्रथमकारण के आरम्भ के केवल एक ही (प्रथम १) अध्याय का 'विज्ञानभाष्य' समाविष्ट था। प्रथमकारणानुगत-प्रथम-अध्यायात्मक-तत्-प्रथमखण्ड में बिन प्रमुख-वाचिक कर्मों के पद्धति-पुरस्सर-सोपपत्तिक समावेश हुआ है, छन्दमैक्यति की दृष्टि से सिंहावलोकनन्यायेन 'द्वितीय-खण्ड' की प्रस्तुत प्रस्तावना में भी उनका सम्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

प्रथमकारणानुगत-प्रथमाध्यायात्मक-प्रथमखण्ड में प्रतिपादित

प्रमुख-कर्मों की, तथा स्मारक-विषयों की

सिंहावलोकनन्यायानुगता स्मृति

प्रधान कर्माणि		क्रमानुगता पृष्ठसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१	प्रतोपायनकर्म	११७	२१३
२	ब्रह्मवरणकर्म	१२४	१३७
३	अपाप्रयुजनकर्म	१७०	२८५
४	परिस्तरण तथा पात्रासादनकर्म	२०१	२६३
५	वाक्संयमनकर्म	२४३	४०
६	पात्रप्रतपनकर्म	२४६	११२३
७	शकट से हविर्माहण एवं वस्त्रादनकर्म	३५४	८२३
८	प्रोक्ष्यकर्म	४२२	३१८
९	रोक्षारासम्पादनाङ्गकर्म	४५२	१४१६
प्रधान कर्मसंख्या—६—(नव)—		आख्यपृष्ठसंख्या-संकलन ६१०	स्मारकविषयसंख्या-संकलन ४५६१



अथा परा-यथा तद्वरमधिगम्यते, यत्-यत्-अद्रेश्यम्-अग्राह्यम् अगोत्रम्-अवर्णम्  
अवक्षु ओत्रम्-तत्-अणिपादम्-नित्यम्-विद्युम्-सर्वागतम्-मुमुक्षुम् तद्व्ययम्-तद्भूत्-  
योनिम्-परिपश्यन्ति-धीरा ।

—मुखकोपनिषत् १।१।३-४-५ ६ कं०।

एक प्रासङ्गिक विशेष-व्यय की ओर प्रकाशील पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमने  
उक्त मुखकोप-वचन-अत्र उद्धृत करना आवश्यक माना है । विदितवैदित्य-आम-तप-अम-मूर्ति आत्य-  
महर्षियोर्न 'मानव' के अन्त्युत्पत्ति, तथा निम्नोक्त-संसाधन के लिए ही पराविद्या अपराविद्या नाम की  
उन दो महत्वपूर्ण विद्याओं का अन्वेषण किया है, जिन के द्वारा 'मानव' अपने अदृश्य 'मानवस्वरूप'  
को अन्त्युदय, तथा निम्नोक्त-रूपा सिद्धि और संसिद्धि, से सर्वप्रथम समन्वित कर लेने में समर्थ-सफल-  
प्रमाणित होता आरम्भ या मुक्त, एवं शान्ति-पूर्वक आत्र से तीन छद्म-वप पूर्व की आर्पणिष्ठानुगत  
कालसीमा के पार-प्राप्त्य में ।

'मानव मुक्ती रहे' और 'मानव शान्त रहे' इन दो विभिन्नार्थक वाक्यों के गर्भ में ही मानव  
के मुक्त तथा शान्ति का सम्पूर्ण चिरन्तर इतिवृत्त सुगुप्त-रूपेण सञ्छन्दरूप प्रमाणित हो रहा है । मानव का  
अद-अज्ञ केवल मुक्त की ही 'इच्छा' करता रहता है प्रविष्ट, तो मानव का अद-अज्ञ केवल शान्ति  
की ही कामना किया करता है अज्ञसरूपेण । यद्यपि इन अद-अद-अज्ञ-मात्रों से सह्य दाम्पत्यमूला  
स्त्री-पुष्पावना की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है जो कि आकर्षण प्रकृतिविश्व ही माना जायगा ।  
तथापि वस्तुतः के स्वरूप-समन्वय के लिए हमें यहाँ दाम्पत्यपथानुक्की-विभिन्न दो अद-अद-अज्ञों  
को यत्किञ्चित्-समय के लिए निरपेक्ष मानकर केवल एक ही मानव और ही मानवी के अनुकूल से अज्ञां  
जड़वी की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ेगा ।

मानव हो, अथवा मानवी अथवा पुरुष हो, अथवा स्त्री दोनों के प्रकृतिविश्व स्वरूप में (प्रत्येक  
में) दो दो विभिन्न अद-अद अज्ञ-भाव-समन्वित हैं । अर्थात् दो विभिन्न अद-अद-अज्ञों के सम-  
न्वितरूप का ही नाम तो 'मानव' है एवं तथाविध उभयायनरूप का ही नाम 'मानवी' है । प्रथम-अद-  
अज्ञ का पारिभाषिक-साङ्केतिक-नाम है-'पुरुष' एवं द्वितीय-अद अज्ञ का साङ्केतिक नाम है प्रकृति ।  
पुरुष और प्रकृति के इन्द्रात्मक मौलिकरूप का ही नाम है 'पुरुष', अर्थात् 'मानव' । एवं प्रकृति तथा  
पुरुषात्मक-इन्द्रात्मक का ही नाम है-'स्त्री', अर्थात्-मानवी । और इस समानधर्मानुक्की समन्वित-  
साम्य के आधार पर ही मानव, तथा मानवी के समन्वय में सह वर्म परताम्' लक्षण सुप्रसिद्ध साप्त-  
पदीन-सकलभाव (मैत्री-भाव) का समन्वय हुआ है, जिस-मैत्री-वर्म का स्वरूप समानशीलव्यसननिबन्ध  
ही माना गया है \* । इस समन्वित साम्य के आधार पर ही हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि,

\*-समानशीलव्यसनेषु मैत्री

—सुमसिद्धा-सूक्तिः



मृत्युमावनिष्कन्धन-‘वस्तुतत्त्व अपने सद्व्यतिष्ठ दिक्कालावयपन्निष्ठ-नानामाव से तथाविच-नानामावापन सापेक्ष-ज्ञान का स्वरूप-संप्राप्त बन रहा है । रस-मल-निष्कन्धना इस सद्व्य-स्वरूप श्रितिके आधार पर वह कह दिया वास्तवता एवं मान लिया वास्तवता है निश्चिन्तस्वरूपेण कि, अहम्यमावापन-एकस्थानुगत निर-पेक्षज्ञान अपने-‘एकं ज्ञानम्, -निरपेक्ष ज्ञानम्’-निर्बचन से वही निष्कैवल्य-एकत्वनिष्कन्धन ‘ज्ञान’ शब्द से समन्वित है, वहाँ नानामावापन-अनेकस्थानुगत-सापेक्षज्ञान-विशिष्ट ज्ञान-सापेक्ष-ज्ञानम्’ निर्बचन से-‘विज्ञान’ अभिधा का अभिधारी बना हुआ है । और यों एक ही ज्ञानतन्त्र मूलभूत रस, तथा वस्तु नामक ‘आमू-घोर’ ‘अम्य नामक विभिन्न दो अनुबन्धों से कमरा आमत-सम्भ-भावी में विभक्त होता हुआ ‘ज्ञान, और ‘विज्ञान इन दो महिमामय-स्वरूपों में परिवर्त हो रहा है, जिन इन दोनों किमिष त्विषों के आधार-पर ही उपनिषदुपस्थापिता छुप्रसिद्धा-‘परा-अपरा नाम की अक्षर-क्षर-निष्कन्धना रस-विद्या-वस्तुविद्या-द्वयी समन्वित हुई है । वही निरपेक्षज्ञानात्मक-ज्ञान एवं सापेक्षज्ञानात्मक-विज्ञान इन दो पारिभाषिक शब्दों का मौलिक, एवं संक्षिप्ततम चिरन्तन-इतिवृत्त है जिस का विरुद्ध यद्योवयन पूर्वप्रकाशित-उत्पत्तमात्र-प्रथमलवण के ‘पारिभाषिक-परस्पर में किया बाहुल्य है । ‘विज्ञान शब्द के प्रति विशेषरूप से आकर्षित-मना करने वाले वक्तु मानसुग के भूविज्ञानवादी भारतीय-बन्धुओं को ‘भार-वीच-पारिभाषिक-विज्ञान के तात्त्विक-यद्योवयनात्मक सम्बन्ध के लिए प्रथमलवणानुगत उत्पारिभाषिक प्रकरणा पर ही हकपात का अनुग्रह करना चाहिए ।

प्रकृत में इस प्राचिन्नी-वर्णा से केवल यही निवेदनीय है कि निरपेक्ष-ज्ञानात्मक एकत्व चम्पान्निष्ठ-ज्ञान से अपना सर्वथा विभिन्न स्वरूप-रखने वाली लोकात्मिका विश्व-विद्या ही नानामावापन-‘विज्ञानविद्या’ है, और इसी का नाम है-उपनिषत् के शब्दों में-‘अपराविद्या’ एवं वही लोक में प्रसिद्ध है-‘वेदविद्या’ नाम से, जिस की मूलप्रतिष्ठा गानी गई है ज्ञानात्मिका-पराविद्या । निरपेक्षज्ञानानुबन्धिनी-एकस्थानुबन्धिनी-अनेकत्वप्रतियोगिनी-विश्वातीत-महा-विद्यात्मिका-‘पराविद्या’ ही ‘अक्षरविद्या’ है । एवं सापेक्षज्ञानानुबन्धिनी-अनेकस्थानुबन्धिनी-एकत्वप्रतियोगिनी-विश्वात्मिका-‘विद्यात्मिका-‘अपराविद्या’ ही ‘क्षरविद्या’ है । समन्वित के परिज्ञान के अनन्तर मानव के बुद्धयनुगत प्रकाशोद के लिए अन्य कुछ भी तो ‘ज्ञातव्य’ स्पेक्ष शेष नहीं रह जाता । निम्नलिखिता उपनिषद् श्रुति निरपेक्ष-सापेक्ष-ज्ञान विज्ञान-निष्कन्धना इहाँ दोनों विद्याओं का संक्षेप से नामस्मरण कर रही है—

शौनको इ वे महाशास्त्रोऽङ्गिरसं विविश्रुपसम्प. पप्रच्छ-‘कस्मिन्तु मगबो निहाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’ ? इति । तस्मै स होवाच-‘इं विद्ये वेदितव्ये’-इति इत्स यश्चक्षुषिदो वदन्ति-‘परा’-‘क्षैव’-‘अपरा च । तत्र-अपरा-कृणोदः, यजुर्मेदः, सामवेदः अयश्चेदः श्रिया-ब्रह्मो-रूपाकरण-निरुक्त छन्दो-ज्योतिषम्’ इति ।

❖ ज्ञानं सेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यञ्छातव्यमवशिष्यते ॥

—गीतायाम्

उपाधि वैषम्य का मूलाधार है—'न्यूनत्व' । मानव, और मानवी, दोनों में ही यद्यपि साम्यमूलक पुरुष-प्रकृति-भाव समानरूपेण समन्वित हैं । किन्तु ये दोनों ही साम्य दोनों ही संस्थाओं में एकाग्रित 'न्यून' ही बने हुए हैं । मानव का पुरुषभाव पूर्ण है, तो प्रकृतिभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है । एवमेव मानवी का प्रकृतिभाव पूर्ण है, तो पुरुषभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है । पूर्णता वहाँ समत्वानुयोगिनी-त्रिपमत्वप्रतियोगिनी है, वहाँ अपूर्णता विषमत्वानुयोगिनी-समत्वप्रतियोगिनी है । पुरुषत्वस्व रमानुबन्ध से पूर्ण बनता हुआ वहाँ 'सममावापन्न' है वहाँ प्रकृतितत्त्व बलानुबन्ध से अपूर्ण बनता हुआ 'त्रिपममावापन्न' है । समत्वानुयोगिक पुरुष यदि आचार, और प्रकृति-यदि आचिया है, तो त्रिपमा प्रकृति के साम्राज्यस्थान विश्व में, एवं-स्त-प्रजा में भी समत्वमूला शान्ति प्रवाहित रहती है । ठीक इस के विपरीत यदि त्रिपमत्वानुयोगिनी प्रकृति आचार, और पुरुष आचिय बन जाता है, तो समत्वमूला शान्ति का सर्वथैव उन्मेष हो जाता है । और सम्भवतः कहीं निश्चयेन इसी आचार पर महामाग यज्ञ के अमुक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान में स्तुपरिचित 'स्त्रीपु वक्ष' तद्धि गोहं धिनष्टम् इस प्रकृतिविद्ध समाधान को पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने अपने ऐतिहासिक में प्रथम प्रदान किया है ।

पुरुष, और प्रकृति से अनुप्राणित रस-बल-निकन्धन साम्य-वैषम्य का यह चिरन्तन इतिहास तो स्वतन्त्र-निकन्ध-सापेक्ष ही माना जायगा \* । प्रकृत में लक्ष्मीभूत वक्षस्य से अनुप्राणित सन्दर्भ की लक्ष्मि के लिए यही स्वीकृति पश्चात् मान लिया जायगा कि, मानव का पुरुषभाग वहाँ पूर्ण है, वहाँ प्रकृतिभाग अपूर्ण है । अतएव मानव प्रकृतित-अपूर्ण-अकृत्स्न, किन्तु पुरुषतः पूर्ण कृत्स्न है । ठीक इस के विपरीत मानवी का प्रकृतिभाग वहाँ पूर्ण है, वहाँ पुरुषभाग अपूर्ण है । अतएव मानवी पुरुषतः अपूर्ण-अकृत्स्ना, किन्तु प्रकृतितः पूर्ण-कृत्स्ना है । मानव अपनी प्रकृतिनिकन्धता अपूर्णता की पूर्ति के लिए ही उस 'मानवी' के साथ शान्तपदीन की सहज इच्छा रखता है जो अपनी पूर्ण प्रकृति के समर्पण से प्रकृतया अपूर्ण बने हुए इस मानव के विस्तृत-प्राकृत-भाव को परिपूर्ण कर दे । एवमेव मानवी भी अपनी पुरुष-निकन्धता अपूर्णता की पूर्ति के लिए ही उस 'मानव' के प्रति समर्पित हो जाना चाहती है जो अपने पूर्ण पुरुषभाव के प्रत्यर्पण से पुरुषत्वेन अपूर्ण बनी हुई वह मानवी के विस्तृत-पौरुष-भाव को परिपूर्ण करे । और यों दोनों दोनों की न्यूनता के कृति-पूरकत्मक सम्बल प्रमाणित होते हुए उस एकत्वनिकन्धता परिपूर्णता की अन्वय बनाते हुए इत्थंभूत दाम्पत्य से प्रजातनुवितानात्मिक विश्वस्वरूप-पश्चात् की महती यात्री को ही अच्युत बनाए रखे । 'न्यूनाहं प्रजा प्रजायन्ते'—'सोऽयमाकाशा' पत्न्यापूर्यते' इत्यादि भुक्ति-वचन इसी उपा-कथिता रहस्यपूर्ण यात्रिकी स्थिति का स्वीकृति कर रहे हैं, जिस यात्रिकी स्थिति के स्वरूप-प्रसङ्ग से ही उत्तममूलक-प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मक-आध्यात्मयज्ञ (मानव-मानवी के दाम्पत्यरूप यज्ञ) के अद्भुत-अद्भुत अङ्गमात्रों का संस्मरण होपड़ा है ।

मानव का पुरुषभाव 'आत्मा' है तो प्रकृतिभाव इस का 'शरीर' है जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मा और शरीर, इन दोनों की समन्वितावस्था का ही नाम तो मानव है, एवं उदात्मक ही मानवी का

\*—सप्तचतुष्टयारमक-सामयिक-उद्बोधनारमक-निकन्धान्तगत-कर्मप्राप्त-तृतीयस्वरूप-प्रकृतिपुरुष-स्वरूपमीमांसा नामक स्वतन्त्र निकन्ध में इस तत्त्व का विस्ताररूपेण स्वीकृति-प्रमाण हुआ है ।

प्राजापत्य सर्ग की मानव तथा मानव-रूपा दोनों विभूतियों का स्थान सर्वप्रधान समग्रवस्तु पर ही व्यवस्थित है। और इसी साम्य के आधार पर यदि यह भी कह दिया जाय, तो वास्तुस्थिति न होगी कि, प्रकृति-मुख-समन्वय-मक साम्य की दृष्टि से सर्ग की ये दोनों ही विभूतियाँ 'समानाधिकार' उदाधि से समन्वित भी मानी जासकती हैं, किंवा मानी जानी चाहियें।

समानाधिकार के तथामूल-व्यामोहन से व्यापुण्य मातृक मानव इस दिशा में आज कुछ ऐसी ही कल्पनाओं में मनोविमोह बन्धे हुए 'स्त्रीसमानाधिकार' के उद्घोष से पार्विव आकाश को विक्रमिष्ठ करने लग पड़े हैं, और अकृष्ट होने लगी है उन की मातृक-माया के द्वारा हर्यभूता वैश्वरीवाक् कि, "यदि मानवी को भी शिक्षा-वातावरण-आदि के सम्बन्ध में मानव के अनुरूप ही सुविधाएँ दी जासकेंगी तो निश्चयेन मानवी किसी भी क्षेत्र के उत्कृष्टावस्थ में मानव से पराङ्मुख किंवा ही पराभूत प्रमाणित नहीं होगी। अपिष्ट उमम-स्पर्धा में मानवी ही मानव की योग्यता के क्षेत्र का अधिक्रमण कर लेगी अतएव --- -- --- हत्यादि हत्यादि।

कलप्रयोग-पूर्वक नारी-मुलम लीन्य-मायों का अभिभव कर मानवी के शरीर, और-भुक्ति-क्षेत्रों को भी कर्मण बनाया जासकता है जैसे कि अमुक प्रयोगों के कारण मानवमुलम आनेव भाव भी मानव के अभिभूत होजाते हैं उस का सुदृढ-वीर्य-वर्म्म भी कोमलता में परिवर्त होजाया करता है। और वी प्रकृतिविद-चिरन्तन-अम्यास से मानव को मानवी-कोटि पर, एवं मानवी को मानव-कोटि पर ला सका किया जासकता है। किन्तु हर्यभूत कलप्रयोग मानव, और मानवी दोनों के ही प्रकृतिविद स्वरूपों के विपरीत जाता हुआ अन्तर्लगाता। उस आधी प्रबन्धनधर्म को ही दोषाकान्त प्रभावित कर देता है, जिस प्रकृति-विद-अग्नि-सोम-निकम्बन-वज्रात्मक-वैज्ञानिक-प्रबन्धन के आधार पर राष्ट्रीय ही मानव और मानवी-वग प्रकृता उपस्थित-पञ्चकित होते रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, कलपूर्विका दुरप्रहासिका समानाधिकार-व्यामोहनमूला-मुगधर्मागुता-अनुप्राय से आरमपरिवाह करते हुए ही, भारतीय-आर्षदृष्टि के माध्यम से ही 'सह वर्म्म चरताम्' मूला समानाधिकार-व्यवस्था का अनुगमन करें, और इसी दृष्टि के माध्यम से आज के अस्पतिक-समानाधिकारक उस विवाक्य व्यामोहन के प्रति राष्ट्रीय-प्रजा को बागरूक करें जिस व्यामोहन के कारण हमारा राष्ट्रीय-प्रबन्धन विगत तीन छह-वर्षों में उत्तरोत्तर पतनोन्मुख ही प्रभावित होता आया है।

अवरुध ही आज-अज्ञातमक पुन्य-माय और आज-अज्ञातमक-ही प्रकृति-माय के तत्समन्वय से कृतक मानव और मानवी के स्वरूप में सर्वोच्च साम्य है। जो पर्यवृष्टवीरूपा अज्ञातवी मानव में है वही पर्यवृष्टवीरूपा अज्ञातवी मानवी में भी है। और इसी साम्य के आधार पर दोनों की अविचारिकी समता-आप्ति भी सम्भावित है। किन्तु वह सत्यदृष्टि से वस्तुतत्त्व का अन्वेषण किया जाता है तो इस साम्य की सीमा में ही हमें सब वैषम्य का भी अज्ञातकर होजाता है जिसने इन दोनों सम-आधी को भी विषममाय में परिवर्त कर रक्खा है। एवं निश्चयेन समत्यागुत किंवा साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित वह वैषम्य ही उस प्रजातन्त्रुचितान की मूल-प्रतिष्ठा बना हुआ है जिस तन्त्रुचितान-परम्परा के द्वारा ही (मानव-मानवी के दाम्पत्य से) समुदाय दृष्टात्मक-नीतिक दिग्ग का स्वरूप 'जाता समायुक्तमकरपयत्न का स्वरूप-रक्षक बना हुआ है।

बुद्धि-रूप 'पुरुष' माग अपूर्ण है। और यों दोनों ही अन्योन्याभयन्यायानुबन्धेन एक दूसरे के सम्बन्ध की अनिवार्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं। बिना इस उभयात्मक आभय-आश्रयी-साध के न तो मानव ही सुख-शान्ति का अनुगाही बन सकता एवं न मानवी ही सुख-शान्ति की अनुगामिनी बन सकती।

मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख। शान्ति अधिकम्पित स्थिर-आनन्द से सम्बद्धा मानी गई है एवं सुख विकम्पित-अस्थिर-आनन्द से सम्बद्ध माना गया है। शान्ति का क्षेत्र है आत्मानुगत बुद्धि, एवं सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर। मानव प्रचानरूपेण आत्मबुद्धि-समष्टिरूप पुरुषमात्र का प्रातिस्विकरूपेण दायाद-मोक्षा है तो मानवी प्रचानरूपेण मनःशरीर-समष्टिरूप प्रकृतिमात्र की प्रातिस्विकरूपेण दायादमोक्षणी है। मानव की आत्मबुद्धयनुगत शान्ति से उपकृत होती है मानवी एवं मानवी के मनःशरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव। बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं तो बिना सुख के शान्ति का मार्ग सन्तथा अवच्छेद। अतएव संश्लिष्ट है कि-मानव, और मानवी की सुख-शान्ति दोनों के साम्यमूलक-गृहस्थधर्म पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिविद्वत्त्व के आधार पर भारतीय-यज्ञायज्ञ के सम्बन्ध में हमें दो शब्द अपने वेदवेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने हैं।

समुद्धानन्द शान्तानन्द-येर से आनन्द के महिमाय दो विषय सुप्रसिद्ध हैं। ब्रिम आनन्द में सहज-स्थिति का विकम्पन है, यही समुद्धानन्द है एवं यह इत्यमृत पदभय से ही सम्बद्ध माना गया है। एक शान्त-सरोवर में बलपूर्वक-प्रक्षिप्त लोष्ठ-पापाण कुछ समय के लिए जैसे वीची-चरक-रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, तथैव लोक-वैभवकण लोष्ठ-पापाणादि के आगमन से मानस-मग्न का अमृक अवधि के लिए विकम्पन होपड़ता है एवं इसी विकम्पनावस्था का नाम है-समुद्धानन्द, जिसका मौलिक-विश्वानुबन्धी-बाह्य परिग्रही के सत्त्वरात्मक-आगमन-से ही सम्बन्ध माना गया है। यही है-विश्ववृत्त लोष्ठमुख, जिसका प्रचान सम्बन्ध माना गया है मानव-मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ अर्थात् मनःशरीर-पर्वों के साथ। अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोष्ठानन्द का ही नाम है-समुद्धानन्द, एवं इसी की पारिमायिकी अभिधा है-'सुख'। क्योंकि मानवी में सहजरूपेणैव मनःशरीररूप प्राकृतपर्व ही अभिव्यक्त रहते हैं, अतएव मानवी स्वमात्र समुद्धानन्दामक-मन शरीर-निष्कण-लोष्ठमुख की ही सत्त इच्छा किया करती है।

पुरुष विषय है शान्तानन्द का। यह स्वाश्रित आनन्द माना गया है। एवं सहजरूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तानन्द की परिमाया है जिसे बुद्धयनुगत-आत्मानन्द किंवा आत्मनिष्कण-नैदिक आनन्द भी कहा जासकता है। मनोऽनुगत-शारीरिक-सुख को कहा जायगा पुष्टि शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा दृष्टि। एवं दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा समुद्धानन्द-दात्मक-सुख। एवमेव का मानुगत नैदिक आनन्द को कहा जायगा तृप्ति एवं बुद्धयनुगत आत्मानन्द को कहा जायगा शान्ति तथा दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा 'शान्तानन्द-दात्मिक' 'शान्ति'। यों दो आनन्द-नैदिकों के पर्व चतुष्टयी के अनुक्रम से शान्ति-तृप्ति-पुष्टि-रूपेण चार अद्यान्तर-महिमा-विषय-सम्पन्न होजायेंगे ब्रिम इन चारों में से शान्ति-तृप्ति-रूप शान्तानन्द की पारिमायिकी सत्ता है-निःश्रेयस एवं दृष्टि-पुष्टि-रूप-समुद्धानन्द की सत्ता है 'अभ्युदय'। निःश्रेयस के क्षेत्र है आत्मबुद्धिपद एवं अभ्युदय के क्षेत्र है-मनःशरीर

मौलिक स्वरूप है। आत्मा 'लोकशरीर' किन्तु 'लोक' तत्त्व है एवं शरीर 'लोक' है। पार्थिव ब्रह्म की प्रकृति माता धरित्री ही मानी गई है। अतएव प्रकृति-रूप-लोकधर्मक-शरीर को हम 'पार्थिव' ही कहेंगे, जिस में 'आत्मोन्मेष' आनन्दोन्मेष-अपार्थिव-अलौकिक-आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है। आत्मा ही वह 'पुरुष' मान है, जो प्रकृतिरूप-लोकधर्मक शरीर का सर्वस्व माना गया है। आत्मा और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य में दोनों के अन्विष्ट-सहयोगी माने गए हैं। विज्ञानमात्र और प्रज्ञानमात्र, जो दोनों मान दर्शन-ब्रह्म में कमरा: बुद्धि, और मन नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक-विज्ञान की सामान्य-परिभाषाओं से भी परिचित ब्रह्म-प्रेमी जानते ही हैं कि, मानवीय मन का उपादान<sup>१</sup> सोममय वह चन्द्रमा है, जिसे धूमिनी का उपग्रह माना गया है। अतएव चान्द्र-मन का पार्थिव-शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृत्यैव संछिद्र हो रहा है। एवमेव बिदात्मा की गर्भभूमिरूप पारमेष्ठ्य महद्-ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य, जो बुद्धि का प्रमथ है। अतएव महद्ब्रह्मबन्धित आत्मा के प्रति सौरी-बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित हो रहा है। और यों सूर्याग्नि का बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की किंवा अद्भ-अद्भ की सहचारिणी बनी हुई है, तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का किंवा अद्भ अद्भ का सहचारी बना हुआ है। इस साहचर्य का निष्कर्षा यही निकलता है कि-मानवीय पुरुषमागस्य अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति आत्मा, और बुद्धि नामक दो अन्तर्गत पर्वों से अनुप्राणित है एवं मानवीय प्रकृतिमागस्य अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति मन और शरीर नामक दो अन्तर्गत पर्वों से समन्वित है। फलतः अद्भ-अद्भ-द्वयमात्र किंवा पुरुष-प्रकृति-समन्वयमात्र द्विपर्व मानव का आत्मा बुद्धि मन, शरीर-मेदों से पर्वचतुष्टयात्मकत्व प्रमाणित हो जाता है, एवं ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मक स्थिति मानवी की है। दोनों के समन्वितरूप दाम्बस्य \* से निदानमात्रानुसन्धित अष्टाक्षर-गायत्रीमन्त्र की संख्या-सम्पत् की सहजकरोयैव गतायता प्रमाणित हो रही है, एवं इस दृष्टिकोण से मी-गायत्री वा इदं सर्वम् इस अनुगम वचन की अन्वयता संछिद्र हो रही है।

मानव और मानवी भुम्मी और शान्त रई इसी प्रसङ्ग से अत्र मानव, और मानवी की तयामयिता स्वरूप-मीमांसा प्रकान्त होगई है जिस के माध्यम से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष-और प्रकृति-मात्र समन्वयमात्र मानव का पुरुषक अर्द्धाङ्ग मी आत्म-बुद्धि-मेदेन द्विपर्व है एवं मानव का प्रकृतिरूप अर्द्धाङ्ग मी मनः-शरीर-मेदेन द्विपर्व है। तयैव मानवी के दोनों अद्भ-अद्भ-अद्भ मी इसी पर्वचतुष्टया से समन्वित है। यों दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्बस्यकत्वा अष्टाक्षर-गायत्री-मन्त्र से समन्वितता प्रमाणित हो रही है। और यों अद्भदृष्ट्या तथा पर्वदृष्ट्या यद्यपि मानव और मानवी के स्वरूपी में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं हो रही तदपि मानवसंस्थानुगत पुरुषाङ्ग के प्राधान्य से एवं मानवी-संस्थानुगत-प्रकृत्यङ्ग के प्राधान्य से अनुप्राणित सुखसम मेद दोनों के समस्वरूपों का आत्मन्तिकरूपेण विमात्रक बना हुआ है जिस विमात्रक का निष्कर्षा यही है कि मानव के चारों पर्वों में आत्म-बुद्धि-रूप पुरुष माग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं मन-शरीर-रूप-प्रकृति माग अपूर्ण है। एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मन-शरीर-रूप-प्रकृतिमाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं आत्म-

\*-वेदिक-प्रस्तुत द्वितीयाक्षर का 'पत्नीसहजनकर्मोपपत्तिः' नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० २७२ से पृष्ठ सं० २९६ पर्यन्त)।

बुद्धि-रूप 'पुरुष' भाग अपूर्ण है। और यों दोनों ही अन्वोऽन्याभयन्यायानुक्रमेण एक दूसरे के सम्बल की अनिवार्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं। बिना इस उभयपक्षक आभय-आश्रयी-भाव के न तो मानव ही सुख-शान्ति का अनुगाही बन सकता, एवं न मानवी ही सुख-शान्ति की अनुगामिनी बन सकती।

मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख। शान्ति अविकम्पित स्थिर-आनन्द से सम्बद्धा मानी गई है एवं सुख विकम्पित-अस्थिर-आनन्द से सम्बद्ध माना गया है। शान्ति का क्षेत्र है आत्मानुगता बुद्धि, एवं सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर। मानव प्रधानरूपेण आत्मबुद्धि-समष्टिरूप पुरुषभाव का प्रातिस्विकरूपेण दायद-भोक्ता है, तो मानवी प्रधानरूपेण मनःशरीर-समष्टिरूप प्रकृतिभाव की प्रातिस्विकरूपेण दायदभोक्त्री है। मानव की आत्मबुद्धिअनुगता शान्ति से उपकृत होती है मानवी एवं मानवी के मनःशरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव। बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं, तो बिना सुख के शान्ति का मार्ग मथया अशक्य है। अतएव समिद्ध है कि-मानव, और मानवी की सुख-शान्ति दोनों के दाम्पत्यमूलक—'गृहस्थधर्म' पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिसिद्ध तत्त्व के आधार पर भारतीय-यज्ञधर्म के सम्बन्ध में हमें दो शब्द अपने वेदोमी पात्रों के समक्ष उपस्थित करने हैं।

समुद्धानन्द, शान्तानन्द-मेद से आनन्द के महिमाय दो विषय सुप्रसिद्ध हैं। किम आनन्द में सहज-स्थिति का विकम्पन है, वही समुद्धानन्द है एवं यह इत्यमृत पराक्रम से ही सम्बद्ध माना गया है। एक शान्त-उपेवर में क्षणभङ्ग-प्रक्षिप्त लोष्ट-यायाण मुख्य समय के लिए जैसे बीची-तरङ्ग-रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, वैसे लोष्ट-वैभव-रूप लोष्ट-यायाणों के आगमन से मानव-प्रज्ञा का अमूर्त अवधि के लिए विकम्पन होपड़ता है एवं इसी विकम्पनावस्था का नाम है-समुद्धानन्द, जिसका भौतिक-विरचानुन्वी-बाह्य परिपक्वों के संस्कार-मङ्ग-आगमन-से ही सम्बन्ध माना गया है। यही है—विश्वमुख लोकमुख जिसका प्रधान सम्बन्ध माना गया है मानव-मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ अर्थात् मनःशरीर-पर्वों के साथ। अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोकानन्द का ही नाम है-समुद्धानन्द, एवं इसी की पारिभाषिकी अभिधा है-'सुख'। क्योंकि मानवी में सहज-रूपेण मन शरीर-प्रकृत्यपर्व ही अभिव्यक्त रहते हैं अतएव मानवी स्वभावतः समुद्धानन्दारमक-मन शरीर-निकष-लोकमुख की ही सतत इच्छा किया करती है।

दूसरा विषय है शान्तानन्द का। यह स्वाश्रित आनन्द माना गया है। एवं सहज-रूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तानन्द की परिभाषा है, जिसे बुद्धिअनुगत आत्मानन्द, किंवा आत्मनिष्पन्न-बौद्धिक आनन्द भी कहा जासकता है। मनोऽनुगत-शारीरिक-सुख को कहा जायगा पुष्टि शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा वृष्टि। एवं दोनों की समन्वितवस्था को माना जायगा समुद्धानन्दारमक-सुख। एवमेव आत्मानुगत बौद्धिक आनन्द को कहा जायगा वृष्टि, एवं बुद्धिअनुगत आत्मानन्द को कहा जायगा शान्ति तथा दोनों की समन्वितवस्था को माना जायगा शान्तानन्दारमिक 'शान्ति'। यों दो आनन्द-विवेकों के पर्व-पट्टयों के अमूर्त से शान्ति वृष्टि-वृष्टि-पुष्टि-रूपेण चार अन्तर्-महिमा-विषय-सम्पन्न होजायेंगे किन इन चारों में से शान्ति-वृष्टि-रूप शान्तानन्द की पारिभाषिकी गहा है—निःश्रेयस, एवं वृष्टि-पुष्टि-रूप-समुद्धानन्द की संज्ञा है 'अभ्युद्य'। निःश्रेयस के क्षेत्र है आत्मबुद्धिपर्व एवं अभ्युद्य के क्षेत्र है-मन-शरीर

मौलिक स्वरूप है। आत्मा 'लोकतीत' किन्तु 'लोक'ी सत्य है एवं शरीर 'लोक' है। पार्थिव ब्रह्म ही प्रकृति माता परितः ही मानी गई है। अतएव प्रकृति-रूप-लोकधर्म-शरीर को हम 'पार्थिव' ही कहेंगे, जिस में आलोमय्य<sup>१</sup> आनन्दमय्य अपार्थिव अलौकिक-आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है। आत्मा ही वह 'पुरुष' मान है, जो प्रकृतिरूप-लोकधर्म शरीर का सर्वस्व माना गया है। आत्मा और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य में दोनों के द्वैत-सहयोगी माने गए हैं विज्ञानभाव और अज्ञानभाव जो दोनों भाव दर्शन-ब्रह्म में क्रमशः बुद्धि, और मन नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक-विज्ञान की सामान्य-परिभाषाओं से भी परिचित ब्रह्म-प्रतीक जानते ही हैं कि, मानवीय मन का उपादान<sup>२</sup> सोमयय वह चन्द्रमा है, जिसे पृथिवी का उपग्रह माना गया है। अतएव आन्ध्र-मन का पार्थिव-शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृतियैव समझ हो रहा है। एवमेव विदात्ता की गर्भभूमिकर पारमेष्ठ्य महद् ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य, जो बुद्धि का प्रभव है। अतएव महद्ब्रह्मविष्णु आत्मा के प्रति सौरी-बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित हो रहा है। और यों सूर्यास्तिक बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की, किंवा अज्ञ-अज्ञ की सहचारी बनी हुई है तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का किंवा अज्ञ-अज्ञ का सहचारी बना हुआ है। इस सादृश्य का निष्कर्ष यही निकलता है कि-मानवीय पुरुषमाग रूप अज्ञात की व्याप्ति आत्मा और बुद्धि नामक दो अवान्तर पर्वों से समन्वित है। फलतः अज्ञ-अज्ञ-द्वैतभाव किंवा पुरुष-प्रकृति-समान्वात्मक द्विपर्व मानव का आत्मा बुद्धि मन शरीर भेदी से पर्वचतुष्टयात्मक प्रमाणित होता है, एवं ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मिका स्थिति मानवी की है। दोनों के समन्वितरूप दाम्यपथ<sup>३</sup> से निदानभावानुक्रमेण अज्ञात-गायत्री-सूक्त की संख्या-उत्पत्ति की सहजकमेव गतायता प्रमाणित हो रही है, एवं इस दृष्टिकोण से भी-गायत्री वा इहं सर्वम् इस अनुगम वचन की अन्वयता संविद्ध हो रही है।

मानव और मानवी कुत्री और शान्त रहै इती प्रसङ्ग से अब मानव और मानवी की तत्वावधिता स्वरूप-मीमांसा प्रकट हो रही है जिस के माध्यम से अब हमें तत्त निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष-और प्रकृति-भाव समन्वात्मक मानव का पुरुषरूप अज्ञात भी आत्म-बुद्धि-भेदेन द्विपर्व है एवं मानव का प्रकृतिरूप अज्ञात भी मन-शरीर-भेदेन द्विपर्व है। तथैव मानवी के दोनों अज्ञ-अज्ञ-अज्ञ भी इती परम्परया से समप्रतिष्ठित हैं। वा दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्यपथकया अज्ञात-गायत्री-सूक्त से समप्रतिष्ठित प्रमाणित हो रही है। और यों अज्ञात-तथा पर्वचतुष्टया स्वयं मानव और मानवी के स्वरूपों में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं हो रही तदपि मानवचतुष्टयायुक्त पुरुषाज्ञ के प्राधान्य से एवं मानवी-संख्यायुक्त-प्रकृत्यज्ञ के प्राधान्य से अनुगमित सुखम भेद दोनों के समस्वरूपी का आत्यन्तिकरूपेण विभाजक बना हुआ है जिस विभाजन का निष्कर्ष यही है कि मानव के चारों पर्वों में आत्म-बुद्धि-रूप पुरुष माग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं मन-शरीर रूप-प्रकृति माग 'अपूर्ण' है। एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मन-शरीर-रूप-प्रकृतिमाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण एवं आत्म-

१-वैदिक-प्रस्तुत द्वितीयकण्ड का 'पत्नीसप्तह्नकर्मोपपत्तिः' नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० १७७ से पृष्ठ सं० १९६ पर्यन्त)।

स नवीन दृष्टिकोणानुसन्ध मे अब आत्मपर्व के साथ तो लोकातीत-ब्रह्म से अनुप्राणित निःश्रेयस का, और तद्रूप शान्तानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं शेषभूता बुद्धि-मन-शरीर-पर्वत्रयी के साथ लोकब्रह्म से अनुप्राणित अमृत्युदय का, और तद्रूप समुद्धानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं तदाधारेण अब सदान्तस्य पर मान लिया जायगा कि मानव-मानवी का आत्मपर्व दिग्देशकालातीत बनता हुआ निःश्रेयस्-पथानुगामी है, तो शेषभूता बुद्धि-मन-शरीर-पर्वत्रयी दिग्देशकालात्मिक प्रमाणित होती हुई अमृत्यु-पथानुगामीनी है।

उपाकथित नवीन दृष्टिकोण का आधार है प्राकृतिकी-लोकस्थिति जिसका भी दो शब्दों में संस्मरण कर ही लेना चाहिए। लोकब्रह्मात्मक-समुद्धानन्दजन-विराजता से अभिन्न मृत-मीतिक-विरव की अभिव्यक्ति के तीन ही प्रमुख पर्व माने गए हैं, जो क्रमशः 'सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी' रूपेण सर्वसाधारण के लिए भी ज्ञातम हैं। कालात्मा की सूर्य काल से अभिन्न है और यही अवलोकन-साधन-मृत लोक है। अतएव यह 'लोकब्रह्म' नाम से भी उपभुत है। दूसरा चन्द्रपर्व ही दिक् का साक्षी बनता हुआ दिग्मात्र से अभिन्न है। एवं तीसरा पृथिवीपर्व ही त्रेरा का साक्षी बनता हुआ देशमात्र से अभिन्न है। उदित्यं तीरमयङ्गलावच्छिन्नं लोकब्रह्म की सीमा में सूर्यात्मक-कालमात्र चन्द्रमात्मक दिग्मात्र एवं पृथिव्यात्मक देशमात्र, रूपेण तीन अवान्तर-विषयी प्रतिष्ठित हैं। इस त्रयी से ही तन्मिन्न लोकब्रह्म को हमने 'दिग्देश-कालावच्छिन्नब्रह्म' कहा है, जिसका कलितार्थ निकलता है—'चन्द्रमा पृथिवी-सूर्यावच्छिन्न-व्यक्त-विरवब्रह्म'।

शेष रह जाता है लोकातीत, अतएव दिग्देशकालातीत अर्थात् पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्यात्मक व्यक्त विरव से अतीत परात्परब्रह्म जिसे दिग्देशकालातीतत्वेनैव अविज्ञेयब्रह्म भी कहा गया है।

मानव-मानवी में समानरूपेण अभिव्यक्त लोकातीत ब्रह्माव ही 'आत्मा' है, जो दिग्देशकालातीत है। कालात्मक सूर्य का प्रबर्ग्यरूप ही मानव-मानवी में कालात्मक-बुद्धिपर्व है। दिगात्मक चन्द्रमा का प्रबर्ग्यरूप ही दिगात्मक-मनःपर्व है। एवं देशात्मिका पृथिवी का प्रबर्ग्यरूप ही देशात्मक-शरीरपर्व है। इन तीनों पर्वों की समन्वितवस्था ही मानव-मानवी का दिग्देशकालात्मक-लोकानुसन्धी-परिच्छिन्न-स्वरूप है। और यही है उस 'अपराधियात्मिक' 'वेदश्रिता' का स्वरूप-निष्कर्ष जिसकी कायब्रवी के प्रथम-पर्वक्रम—'ब्राह्मणमार्ग' की व्याख्या ही 'शतपथब्राह्मणमात्र्य' के रूप से क्रमशः ( खण्ड ) प्रस्तुत हो रही है गतवर्ष ।

आर्य \* भारतराष्ट्र में किस मन्दमाध्यपूर्ण क्षण से इत्यंभूता मयावहा सर्वनाशकारिणी भान्ति उपक्रान्त होपड़ी कि,— 'मानव का एकमात्र सत्य आत्मानुसन्धी-निःश्रेयस्-साधन ही है। दिग्देशकाला-नुव-ची-व्यक्त-विरव सषयैव मिथ्या है। इस का परित्याग कर मानव को केवल निःश्रेयस्-पथानु-सन्धी ही बना रहना चाहिए', के-कालानुसन्धी कात्याणीकृत इतिहास के स्वरूप-विरलेपण का यहाँ अबसर नही है। यहाँ तो इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र शात-अशात-अनेक वादण-पारों की दृढतमा-कथन-परम्पराओं से आलोमग्य -

\* अतिमदित ज्ञान-विज्ञानात्मक-पथ का अनुगामी ।



पर्व । निःशेष-रूप शास्त्रानन्द ही 'पारलौकिक-शास्त्रानन्द' है एवं अमृदय-रूप-समुद्धानन्द ही-येह लौकिक-समुद्धानन्द है । और यी दोनों दोनों के पूरक ही प्रमाणित होते हैं ।

इसी आधार पर उस वर्णाश्रमधर्म की अभिव्यक्ति हुई है, जिसे भारतीय दार्शनिकोंने—'अतोऽमृदय-निःशेष-सिद्धि-स धर्मः' इत्यादिरूपेण उभयवर्षाचक माना है । इत्यन्त उभयवर्षाचक महान् मानवधर्म (वर्णाश्रमधर्म) का आधारस्तम्भ माना गया है यह—'गृहस्थाश्रम', जिसकी आधारभूति है अतुल्यमानव, और तपाविषय-मानवी का दाम्पत्यवत् । इसी यह के आधार पर मानव का यह गृहस्थाश्रम प्रतिष्ठित है, जिसके माध्यम से ही अमृदय का अन्नन करते हुए मानव-मानवी अग्रभावी वानप्रस्थादि इतर आश्रमों से निःशेष-साधन में भी स्वार्थमना लक्ष्य होता है । इसी प्रकृतिविशेष के आधार पर अथ हम अपने पाठकों का ध्यान उन दोनों विचारों की ओर पुनः आकर्षित कर रहे हैं जिनका पराविद्या-अपराविद्या रूपेण मुख्यकमुक्ति के द्वारा पूर्व में संस्मरण किया जा चुका है ।

शब्दशास्त्रने ज्ञान के दो प्रमुख-परिमाण-विकर्ष माने हैं जिनका भी प्रसङ्ग-विषय अत्र संस्मरण कर लेना वाक्याम नहीं माना जायगा । वे दोनों विषय क्रमशः लोकजीतजगत्, एवं लोकजगत् नामों से अनुगत माने जा सकते हैं, जो दर्शनभाषा में जहाँ क्रमशः निगुलजगत्-समुत्पन्नजगत् नामों से, एवं किञ्चानमात्रा में परत्पद, पुण्य-नामों से व्यक्तित्व हुए हैं । दिक्-देश, और काल की परिधियों से असीत, विश्वजीत-निन्द्य मर्मक जगद्विषय ही लोकजीत-परत्पद-जगत् है । एवं दिक्-देश-कालात्मक-स्वार्थमक-स्वार्थमोपपन्न-जगद्विषय ही पुण्यजगत् है । दिक्कालाधनवन्निष्ठ-लोकजीत-जगत् ही शान्तानन्द की प्रतिष्ठामूर्ति है, एवं दिक्कालाधन-वन्निष्ठ-लोकजगत्-जगत् ही समुद्धानन्द की प्रतिष्ठामूर्ति है । इसका तात्पर्य यही हुआ कि शान्तानन्द-आत्मक-निःशेष का आधार है लोकजीतजगद्विषय एवं समुद्धानन्द-आत्मक-अमृदय का आधार है लोकजगत्-जगत्-विषय ।

लोकजीत जगद्विषय की लोकनिकम्बना उपनिषत्-मानी गई है—'अहं जगत्सि' यह, जिसका अर्थ होता है—'विशुद्ध-निष्कैवल्य-आत्मा' एवं जिसे माना गया है—दिक्-देश-काल-त्रयी से असीत । ऐसा स्थिति । स्थितस्थ गतिविषयमयी । निवेदन किया गया है कि—मानव, और मानवी दोनों में प्रत्येक में आत्मादि-शरीरमत्त चार चार पर्व हैं । इनमें प्रथम-सर्वोच्चरमत्त-अपवर्णमक-आत्मपर्व के साथ बुद्धिपर्व की भी अनुसृत मान लिया है एक कारणविशेष के आधार पर, जिसका तत्त्वज्ञानपरिमाण-नितामूर्तिका के 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक अष्टमन्त्रधर्म में विस्तारले स्वरूपेण ही कहा गया है । अर्थात् में यही प्रकृत्य है कि, बुद्धि नामक पर्व अर्थात् दिक्-देश-कालानुगत लोकजगत् की सीमासे ही प्रधानरूपेण सम्बन्ध रहता है । और इस दृष्टि से आत्मा-बुद्धि तथा मन-शरीर-रूपेण चारों पर्वों का विभाजन न कर आत्मा को स्वतन्त्र-विभागानुगामी माना जायगा एवं शेष तीनों-बुद्धि-मन-शरीर-नामक पर्वों का एक लोकजगत् स्वतन्त्र विभाग माना जायगा ।

ॐ दिक्कालाधनवन्निष्ठानन्तधिन्मात्रमूर्तये ।

स्वातुमूर्त्येक-मानाय नमः 'शान्ताय' सेवसे ।

—अर्चुहरिः

सम्भव नहीं है, जबकि दुर्मा यवरा उठी लोकातीता परविधा की, एवं तत्सिद्ध्यन्त लोकातीत निरपेक्ष-निर्निशेष प्रथम को विरवस्युद्धि के अन्यतमराष्ट्र साम्प्रदायिकीर्ण मानव के लिए एकमात्र परमपुण्याय पोषित करते हुए उसे ही निःश्रेयस्-संसाधक मान खला है। एवं इसी मातृकतापूर्ण मान्यता से आयेगाकि कनी दुर्ग भारतीय प्रथा विगत तीन सदस्य क्यों से विरवातीत-निर्निशेषप्रथम की पोषणामात्र से आत्मविस्मृता बनती हुई धन्वुत्पत्ति से अनुप्राणित निःश्रेयस् (आत्मागुगता शान्त, और बुद्धिगुगता पुष्टि), तथा धन्वुदम (मनोऽगुगता पुष्टि और शरीरगुगता पुष्टि), दोनों ही पुरुषार्थों से सबसा ही वञ्चित ही होती वसी आरही है।

तथाविधा आत्मवञ्चना का ही यह धोरधोरतम दुष्परिणाम हुआ है कि, सगुण विश्वेश्वरब्रह्म के ज्ञान विज्ञानात्मक-इत्थों का प्रतिपादक उपनिषद्शास्त्र सद्भ्याग्याभूत व्याससूत्र, एवं तत्पारिमायिकी सूची-रूप गीताशास्त्र, इन तीनों शास्त्रों की समष्टिकता सुप्रसिद्धा-प्रस्थानत्रयी' भी तदावेद्याविधि की महीती कृपा से अपनी पारिमायिकी ज्ञानविज्ञानात्मिकता समन्वय-पद्धति से पराङ्मुख हो गई प्रमाणित होगई है विगत अवधि से। फलतः प्रस्थानत्रयी आब केवल साम्प्रदायिक-प्रपञ्चान्वेषण अवधिष्टा रह गई है। तभी तो तथाकृता अवधि में अपने अपने वैयक्तिक-मनोऽगुगत-मान्यतागुगनी-मतवादी-सम्प्रदायवादी के समर्थन-प्रमाणन के लिए सभी मतवादी-प्रवचकों ने 'प्रस्थानत्रयी का आभय प्रदण करते हुए इसे उसप्रकार स्व-स्व-मतवादी की पोषणारिम्भका ही प्रमाणित करने का बचनवतम-प्रयत्न किया है मानो ज्ञानविज्ञानात्मिक यह प्रस्थानत्रयी केवल काल्पनिक-मतवादी के पोषण के लिए ही इष्टतः हुआ हो।

उक्त निदर्शन से वक्तव्यांश केवल यही है कि, उपनिषद् वैवा वैज्ञानिक-शास्त्र सम्बन्धोपपन्न ब्रह्म के वैज्ञानिक-स्वरूप का विश्लेषक 'वेदान्तसूत्र' वैवा सूत्रप्रथम, एवं समस्त उपनिषदों की रहस्यपूर्ण ज्ञानविज्ञानात्मिकता विचार्यों की, परिभाषाओं की महत्त्वपूर्ण 'सूची रूप श्रीमद्भगवद्गीता' वैवा लोको-चरशास्त्र, ये सभी ज्ञान-विज्ञान-निधिवा भी आब तथाविधा मतवादाधिनियेष्टपरम्पराओं की प्रतिष्ठाका से अपनी मौलिकता से सर्वथा ही अन्तर्मुख प्रमाणित हो चुकी है। यही कारण है कि उपनिषद् और गीता जैसे तत्त्वप्रधान एवं आचारप्रधान शास्त्रों के विद्यमान रहते भी भारतगर्भ विगत तीन सदस्यकों की अवधि से उत्तरोत्तर निःश्रेयस् तथा धन्वुदम-पथों से वञ्चित रहता हुआ आवतापी ग के रूप परमूत ही होता आरहा है, जिस इत्थंभूता परमूति से अध्यात्मि भी भारतगर्भ का परित्राय नहीं हो सका है। सचमुच ही विज्ञानात्मक इत्थंभूत महान् प्रश्न प्रत्येक आस्तिक भारतीय मानव के लिए अनतिप्रश्नात्मक एक 'मसमाचेय-प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है कि, जिस नैतिक-राष्ट्र (भारतगर्भ) के प्रशासक में मन्त्रब्राह्म-शास्त्रिक-वेदशास्त्र वैवा रहस्यपूर्ण शास्त्र विद्यमान हो जिस राष्ट्र के मानव-साम्राज्य में औपनिषद्-ज्ञानप्रवाह प्रवाहित हो, एवं सर्वोपरि जिस राष्ट्र की आस्था-अज्ञा-अमन्विता बुद्धि में गीताशास्त्र वैवा आचारशास्त्र प्रतिष्ठित हो, वह राष्ट्र कैस, और क्यों परतन्त्र बन गया?, इन लोकोचर ज्ञान-विज्ञान-विमूर्तियों की विद्यमानता में भी कैसे और क्यों यह राष्ट्र आत्मवञ्चना अगान्त, बुद्धिवञ्चना अवृत्त, मनोवञ्चना अकन्तुष्ट, तथा शरीरवञ्चना अमुष्ट बना रह गया?, और कैसे तथा क्यों यह भारतगर्भ अपने दायादक्षिदि निःश्रेयस्-तथा धन्वुदम नामक दोनों ही पुरुषार्थों से वञ्चित होता आरहा है।

इस समझते हैं, पूर्व निर्दिष्ट मतवादात्मक-सम्प्रदायवादा से अनुप्राणिता ज्ञानविज्ञानात्मिक-परि-भाषाओं की विमूर्ति, ज्ञानविज्ञानात्मक आचारधर्म का परिष्कार, एवं उत्तराने प आस्पन्तिकी मतवादा-

आनलाभेभ्यः आरब्ध बना रहता हुआ प्रकृतिसिद्ध शरीर-मनो-बुद्धि-सम्पत्-देह-दिग्-कालानुबन्धी-लोक-समुद्दिमावी की ओर से न केवल उत्तर-निरपेक्ष ही, अपितु-कात्पनिक-आत्माभिव्यक्ति से आविष्ट होता हुआ विश्वही ही बनता खला आरम्भ है इन लोक-समुद्दिपरम्पराओं के प्रति ।

विश्वातीत-निष्ठ मर्मक-लौक्यतीत-परत्परव्यक्त निर्विशेष 'आत्मभाव' का तो वस्तुतया मानव के निःश्रेयस से भी सम्पर्क नहीं है । अपितु चतुष्टयी मानव-मानवी का प्रथम-पर्यन्त आत्मभाव ही इन दोनों के लिए निःश्रेयस का प्रवर्तक माना गया है, जो आत्मभाव विश्वहीमानुगत बनता हुआ 'विश्वात्मा' नाम से ही प्रसिद्ध है । अतएव जगन्निष्ठात्ववादी-निर्विशेष-वादियों का तो निःश्रेयस से भी कोई सम्पर्क नहीं रह जाता । अपितु निर्विशेष की उपलब्धि के मित्याद्यम से इनकी स्थिति तो- 'इतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्टः स्यात्' की ही स्वरिचय करने वाली प्रमाणित हो रही है और वैसा ही क्या निश्चयेन वैसा ही प्रकृत हो रहा है विगत तीन स्रष्ट बलों की अवधि से निर्विशेषाभिव्यक्तिवा जगन्निष्ठात्वादिनी भारतीय प्रथा के सम्बन्ध में ।

जगन्निष्ठात्ववादाभिव्यक्तिमूला निर्विशेषाभिव्यक्तिवादिष्टा तथाकथिता आत्मधारमाने ही इस ओर की लोकसमुद्दि-परम्पराओं से जहाँ भारतीय-मानव की पराङ्मुख प्रमाणित किया जहाँ कात्पनिक आत्माभिव्यक्ति ने इसे निःश्रेयस पथ से भी सर्वोत्तमा वक्षित ही प्रमाणित कर दिया-उपेक्षा युक्त प्रकृष्टा अवधि में । यौ निःश्रेयसवाचक आत्मोपनिषद् ज्ञानपथ के साथ साथ अस्तुत्यसंवाचक (बुद्धि-मन-शरीरोपनिषद्) विज्ञानपथ से भी भारतीय मानव सर्वोत्तमा परा-परवत् ही प्रमाणित होगया । पारिषेव्यष्ट रह गया इसके प्रकाश में कात्पनिक शून्यवादोक्त-व्युत्पादोक्त-स्वतन्त्रनिरूपण-दुर्लभ-दुर्लभ-मानव जिस इत्यन्ता सर्वनाश करिणी मत्वादात्मिक मातृका की ही आज पुन जड़े अभिव्यक्ति के साथ हमारा आज का सर्वोत्तम-स्वतन्त्र भारत कात्पनिक-मानवता के व्यामोहन से व्यस्तुग्य होता हुआ अपना रहा है जिससे क्या संस्कृतिक जग-पतन इसका और कुछ भी तो नहीं हो सकता ।

लोकसमुद्दिपुगता-दिग्देहाकालानुबन्धी-अस्तुत्यसंवाचक विज्ञानपथ की विलुप्ति ही उपेक्षा संस्कृतिक अवधिपतन का एकमात्र प्रमुख कारण है, जिस पतनपथ की निरोध प्रमाणित करने के लिए अविश्वव्यवस्थापिका के उत्त्वान्नेषण के आधार पर भारतीय मनीषि-वर्ग का उस आपनिष्ठानपरम्परा की पुन अभिव्यक्ति करनी ही पड़ेगी जिस अस्तुत्यसंवाचक विज्ञानवाचक की आधारभूमि निःश्रेयस-संवाचक-ज्ञानवाचक बना हुआ है । और इस पावन-उद्देश की पूर्ति के लिए राष्ट्र के मनीषिवर्ग की सर्वप्रथम-अपराधिका के प्रधान एवं प्रथम-अज्ञात 'विधि' नामक 'आज्ञा' भाग की वैज्ञानिकी-परिमाणाओं के पारिमात्रिक-उत्त्वान्नेषण में ही प्रकृत होना पड़ेगा किन् परिमाणाओं के स्वयम्-तन्त्र के बिना केवल प्रकृति-प्रत्यक्ष-वास्तु-उपसर्ग-निपात्य के बला पर कदापि विस्तृताप्य विस्तृताप्य विज्ञानपथ की पुनः अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।

उपेक्षापथिक ने अपराधिका, अपराधिका नाम की विन को विद्याओं का लुप्त किया है, उनमें लोकवीरता परविद्या का न तो मानव के अस्तुत्य से ही सम्बन्ध है एवं न निःश्रेयस से ही । क्योंकि दिग्देहाकालवीरता परविद्या का न तो ज्ञान से ही सम्बन्ध है न कर्म से ही सम्बन्ध है । शब्दातीता उस विद्या का मानव के लोकवीरता की तापेक्षा ज्ञानपथ तथा तापेक्षा कर्मपथ से किसी भी प्रकार का व्यक्त

संन्यास ने, एवं ऐसे संन्यास के कर्णधार संन्यामियोंने ही सध्यात्मक उस महान् कारण को जन्म दिया है जिस संस्मरणीय धारणानुक्त से ही भारतराष्ट्र का यहस्याभमानुबन्धी-विधिमागामक ब्राह्मणग्रन्थनिरन्तरन समस्त कर्मसौन्दर्य, एवं तद्रूपा आचारनिष्ठा सर्ववैध अभिभूत होगई है जिस आचारमिभूति से ही भारतराष्ट्र का संस्कृतिक-गौरव स्मृतिगम में विलीन हुआ है ।

आचारारम्भ-जीयनीय रणानुबन्धी-सहितसौन्दर्य का वैज्ञानिक-स्वरूप विश्लेषक विधिरूप ब्राह्मण भाग एवं ब्राह्मणमागोक्त वैज्ञानिक-पारिमायिक-तथ्यों का इतिहास-पुरस्सर उपर्युक्त करने वाला आर्य्य-सकस्वरूप-‘पुराणशास्त्र’, ये दो ही विभाग भारतीय विज्ञानअथवा के सत्वात्मक, एवं आचारानुगत ऐतिहासिक-प्रक्रमों के प्रमुख आचारस्तम्भ ये बिनका सयोग कल्पित संन्यास ने, तदनुप्राप्तिता केवला उपनिषद्मक्ति ने, एवं तथिवचना ज्ञानैककल्पना ने विगत तीन सदसक्यों से सर्वात्मना अभिभव ही कर लिया, जिस अभिभव के कारण ही सामान्य प्रथा की कौन रहे, भारतीय-विज्ञान भी ब्राह्मणग्रन्थों एवं पुराणों के प्रति सर्वथा उदासीन ही बन गए ।

और निःसन्देह यही वह धोरबोधमा मयावहा भ्रान्ति है, जिस ने वेद के ज्ञानविज्ञान-सम्मत पारिमायिक-अन्तस्सल का संस्पर्श होन ही नहीं दिया । सचमुच ब्राह्मणग्रन्थों की ज्ञानविज्ञानात्मिका-परिमायाओं के विस्फुटत स्वरूप पर हकपाव-मात्र-करने से ही सहा हमें वेदाथ के सम्बन्ध में सहजकुर्येव वैसी दृष्टि उपलब्ध होजाती है जो क्लृप्ति-आनुबन्धी से अनुप्राणित अभ्ययन से सभी प्रकार की भ्रान्तियों का आमूल चूड़ उखाटन ही कर जासकती है । इस में तो कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यात्मिक परिमायाएँ स्वयं में ही एक जटिल-समस्या है । और कोई भी बुद्धिवादी प्रकृति-प्रत्यय-वात्पसर्ग-निपातादि-मात्र के बल पर स्वप्न में भी इन परिमायाओं के समिष्ट नहीं पहुँच सकता । यही नहीं, पारिमायिक-तथ्यों से शून्य रह जाने वाले व्यक्ति के लिए तो ‘ब्राह्मणसाहित्य’ उसी प्रकार केवल-‘अमदास्थान’ (कल्पित-कथानक) मात्र ही बने रह जाते हैं, जैसा कि ‘पुराणशास्त्र’ के अद्विच-आयनानों में एक विभाग-निदानभाषा-नुदन्धी-असदास्थान’ का माना गया है । बलुसिपति वास्तव में ऐसी ही कुछ है ।

“यज्ञ देवताओं से रूठ कर पृथिवी पर आगया । देवताओं के डर से वह कासा हरिय बन गया । देवताओंने उस का चर्म उखाड़ लिया, जो कि चर्म तीनों वेद थे” — ‘इन्द्र ने वृत्रासुर पर वज्र का प्रहार किया-वह पानी में धुप गया-उस में वज्र उत्पन्न हुए’ ‘देवता और असुरों में युद्ध होपड़ा मृषियज्ञ पर स्वस्थाधिकार स्थापित करने के लिए । दोनों लड़ते हुएों के मध्य में गायत्री लड़ी होगई । गायत्री पृथिवी ही वो थी । इयं देव तदन्तरा सत्यी’ इत्यादि रूपेण उपर्युक्त वेदशास्त्र के इत्यभूत आस्थान एकनार तो मानवप्रजा को सर्वात्मना विभक्ति ही बना देते हैं । अतएव इन्द्र-वृत्र-मृग-यज्ञ-त्रयीवेद-वज्र गायत्री-पृथिवी-आदि शब्दों के पारिमायिक-वैज्ञानिक-अर्थों के साथ हमारी-प्रजा समन्वित नहीं होजाती तबतक हम ब्राह्मणों की इस आस्थान मायामात्र के माध्यम से एकाक्षर का भी समन्वय नहीं कर सकते, नहीं ही कर सकते । अथिष्ट बिना पारिमायिक बोध के तो हम सत्यकाल में ही चक कर ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विरत ही होपड़ते हैं । पुराणशास्त्र के स्वाध्याय की उपरति का भी यही कारण है जिस से कि विद्वानोंने ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विराम-ग्रहण कर लिया है । और यों पारिमायिक तथ्यों से पराङ्मुख बने रह जाने के कारण ही विगत अनेक शताब्दिया से सर्वसामान्य की कौन

मिनिविष्टा-माय्मताओं का अनुपात ही तथोक्त अनतिप्रशस्त-प्रशस्त का प्रमुख कारण मान लिया जायगा, जिस इस एक प्रमुख कारण के सहयोगी अन्यथा कारणों का अत्र स्पष्टीकरण नहीं है। इसी सम्बन्ध में एक विशेष तथ्यात्मक कारण का संस्मरण कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं माना जायगा।

‘ज्ञान’ शब्दानुपाधिता परिभाषा से अत्यन्त साम्प्रदायिक मतिष्क ने उपनिषद् के ‘ज्ञान’ शब्द का इरूपभूत सम्बन्ध कर डाला कि, “उपनिषद्ग्रन्थ उस निरपेक्ष-निर्विशेष-निधर्मक-सोकातीत-विश्वेश-सत्तावीत-महाज्ञान की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं जो निरपेक्ष-निर्विशेष-महाज्ञानात्मक-ज्ञान ही असुतत्पर्य-निर्भेद्य की प्राप्ति का अन्ततम साधन है। ज्ञानशब्द-निरूपणा इसी महती भाप्ति ने लोकातीत-महाज्ञान का वह महान् व्यामोहन उत्पन्न कर डाला जिसे व्यासुरवा भारतीय-प्रास्तिक प्रवा आचार्यमक-कच व्यचर्म से सर्वथा पराङ्मुख बन गई, जिस पराङ्मुखता के आधार पर ही-‘कसौ चेदाम्बित’ सर्वे यह आमाजक प्रकान्त होपड़ा है।

ज्ञानामिनिवेश का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि निर्विशेष-ब्रह्मात्मवादी-कान्मिप्यात्वा-मिमानी व्याख्याताओं की दृष्टि में मन्त्रब्राह्मण्यत्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र का सर्वान्त का केवल ‘उपनिषद्’ भाग ही प्रधान बना रहा, और उही पर उन व्याख्याताओं की व्याख्या-टीका-टिप्पणी-आदि परम्पर्या उच्चोत्तर प्रुप्ति पन्तावित होती रही। शेषभूत ऋक्-यजु-साम-अथर्व-वेदमिषा संहिताचतुष्टयी, कर्म-प्रधान विधिभाग तो प्रायः अत्यन्त ही प्रमाणिष्ठ होते रहे जब कि बिना इन पूर्व-वेदभागों के पारिमायिक-ज्ञान-विज्ञानात्मक-सम्बन्ध के उपनिषद् के एकाक्षर का भी वास्तविक (ज्ञानविज्ञानात्मक) सम्बन्ध असम्भव है, जैसे कि क्षणभङ्गवानुगता उपनिषद्विज्ञानभाव्यभूमिका एवं ईशरोपनिषद्विज्ञानादि-भाष्यों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। तथ्यात्मक कारण के संस्मरण प्रसङ्ग से ही इन पङ्क्त में इत्यभूत अप्रिय उल्य की शरजनुगति कज्जी पक रही है।

मन्त्रब्राह्मण्यत्मक-वेदशास्त्र का विधि’ भागकम ‘ब्राह्मण’भाग’ ही तथ्यात्मक उस संस्मरणीय कारण का मूलाधार है जिसकी और विशेषरूप से हमें अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। मन्त्रात्मक संहितावेद वातव्यवेद है जिसकी विभामभूमि तत्त्वमीमांसा से ही अनुपाधिता है। वृत्त ब्राह्मण्यत्मक भाग कच व्यवेद है जिसका प्रमुखलक्षण आचारनिष्ठ से ही सम्बन्ध है। कर्म उपासना ज्ञान चीलों ही कच व्यवेद है मानव के अत्युदय-निर्भेद्य-संसाधन के लिए, जिनका क्रमशः गृहस्थानुबन्धी-कर्तव्य, वान-प्रस्थानुबन्धी-कर्तव्य-एवं संन्यासानुबन्धी-कर्तव्य क्येण निषा गणीकर्य हुआ है। ज्ञान-विज्ञानात्मक-शिक्षणफल से अनुपाधिता प्रथमा पञ्चविंशति से अनुपाधित प्रथम-ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर प्रकृतिविज्ञा द्वितीय-पञ्चविंशति में मानव का पहरणाश्रम-कर्म’ नामक प्रथम कच व्य प्रधानरूपेण अनुष्ठित होता है और अन्तर्धारभूत-वाग्यमूलक-यही वह कर्माश्रम है जिसका प्रधानरूपेण ब्राह्मण के ‘विधि’ भाग से ही सम्बन्ध माना गया है। बिना इस प्रथम कच व्य की संसिदि के मानव के उच्चरङ्गभूत दोनों कच व्य ( उपासना और ज्ञान ) कथमपि समन्वित नहीं होसकते। अतएव पहरणधर्म की उन्नेषा कर मुनाबरणा में किंवा शलाकस्था में ही कात्यनिक वैद्यक्य की योगता कर कपड़े रँग लेना और अपने आपकी ‘बीतराग-ब्रह्मनिष्ठ-परहस-परिज्वाक्याचार्य-संन्यासी-योधित कर देना कुछ भी ता अर्थ नहीं रखता। उक्तभूत इरूपभूत संन्यास से बड़ी आग्रयप्रधारण मानव के लिए और कुछ भी तो नहीं है। ऐसे

कित, पुराणकथाप्रतिपादक महामाग सूत ने दिया है वह भी एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिस उत्तर का अभिव्यक्त रूप है—

पुराण सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्  
अनन्तर च षष्ठेत्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता ॥  
—पुराणेषु

षष्ठानाक्षरार्थ—यही है कि भगवान् ऋतुस्मृत ब्रह्मणे सम्पूर्ण शास्त्रों से पहिले 'पुराण-शास्त्र' का ही स्मरण किया है। अर्थात् उनके सुल्लपङ्कज से सर्वप्रथम 'पुराणशास्त्र' ही अभिव्यक्त हुआ है। पुराणशास्त्र की प्राथमिकी अभिव्यक्ति के अनन्तर ही ब्रह्मा की सुल्लपङ्कजी से वेदशास्त्र का विनिर्गमन हुआ है।

वेद, और पुराण के सदा ऋतुस्मृत ब्रह्मा माने गए हैं,—पुराणशास्त्र की मान्यता के अनुसार, जो कि मान्यता वैदिक-उत्खवाद से सर्वथा अभिन्ना बनी हुई है। ब्रह्मणे पहिले पुराण बनाए, अनन्तर वेद' यही उक्त पुराणबचन का फलितार्थ है, जिस पर सम्भवतः कोई भी वेदमक्त विद्वान् सहज इस लिए आस्था नहीं करेगा कि उस वेदमक्त की मान्यता में 'वेद' ही ब्रह्मा की प्रथमा कृति है एवं वेदशास्त्र पुराणों से बड़ी प्राचीनतम शास्त्र है। वेदमक्तों की दृष्टमूला मान्यता का भी समादर ही किया जायगा महामाग सूत के द्वारा उपनिषद् ब्रह्मादश-पुराणों तथा ब्रह्मादश-उपपुराणों की दृष्टि से भी, एवं पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता 'पुराणसंहिता' की अपेक्षा से भी, जो कि व्यासदेव के द्वारा संकलिता 'पुराणसंहिता' अन्यान्य वेदशास्त्र-संहिताओं की मति मारवीर्य-आपप्रभा के दुर्भाग्य से आज अनुपलब्धा है। क्योंकि संकलिता-पुराणसंहिता, एवं तदाचारेण उपनिषद् ब्रह्मादशपुराणोपपुराणों का संकलन, तथा निर्माण अक्षर्य ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के अनन्तर ही हुआ है। और इसी स्थूलदृष्टि से वेदों का पूर्वमावित्व, तथा पुराणों का उत्तर-मावित्व भी मान्य मान लिया जा सकता है। किन्तु ! --- ।

किन्तु का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, पुराणशास्त्र ने जिस 'पुराण' का भगवन् ब्रह्मा के मुक्त से वेदों से भी पहिले उद्गम बतलाया है उस 'पुराण' का सृष्टिरहस्य के प्रतिपादक सङ्केतमापामय-परम्परासिद्ध-ज्ञानविज्ञानात्मक उन चिरन्तन-आस्थानोपास्थानों के साथ ही सम्बन्ध है, जिन का स्वयं वेद-शास्त्र 'एतद् सौपर्यामास्थानमास्थानविद् आपसृते' इत्यादिरूप से बड़े गौरव से संस्मरण करता आ रहा है। आस्थानविदों की परम्परा में अनादिकाल से चले आने वाले इन सृष्टीसिद्धों-आस्थानोपास्थानों-को मूलसूत्र मानकर ही शब्दात्मक-वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है श्रुतिप्रभा के द्वारा। इसी अस्तुतथ्य के आधार पर असंदिग्धरूपेण यह मान लिया जा सकता है कि—'पुरा नवं भवति-इति-पुराणम्' (जो आरम्भ में नवीन था यही 'पुरा-नव' रूपेण 'पुराणम्' कहलाया) इत्यादि निर्बचन से अनुपाणित परम्परा आस्थानोपास्थानरूपेण अनुपेक्षित, वेदशास्त्र, एवं पुराणसंहिता, तथा ब्रह्मादशपुराणों का मूलाधार-स्वमरूप 'पुराण' सचमुच ही तो वेदशास्त्र से भी पूर्व ही विनिर्गत है भगवान् ब्रह्मा के सुल्लपङ्कज से।

इदमत्राभ्यर्थ विरोधरूपेण। लोकप्रवृत्तियों में हम देखते हैं कि जो भी लोकविद्वान् अपने चिरन्तन-अप्यवस्थाप-भग-परिभग से जिस विषय में जो भी नवीन अभ्यवेक्षण किया नवीन आधिभर करता है, उस के

कहे, भारतीय मेधावी विद्वान् भी 'ब्राह्मण', और 'पुराण' आदित्य के अध्ययनाध्यापन से परक-मुख हो बनते चले आये हैं ।

ब्राह्मण, और पुराण दोनों की निरूपणीया-शैली में अद्भुत साम्य का अनुगमन प्रतीत हो रहा है । दोनों की निरूपणीया-शैली 'आस्थानोपास्थानान्विता-इतिवृत्तशैली'—( इतिहासशैली ) के समन्विता है, वैवाकि-एतद्वा सौपर्यामास्थानमास्थानविद्वाचपक्षते' (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि से स्पष्ट-समरूपेण प्रामाणित है । एवं पुराणशास्त्र की आस्थानशैली में अनुगता तो सुप्रसिद्धा ही है, वैवाकि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पुराणवचन से ही स्पष्ट है—

आस्थानैरवाप्युपास्थानैर्गायामि कन्यशुद्धिमिः ।

पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः ॥

—पुराणेषु

'पुराणसंहिता चक्रे' वाक्य से अनुगत 'संहिता' शब्द एक विशेष-तथ्य की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । सुप्रसिद्ध है कि, भगवान् वेदव्याख्यान से सुप्रसिद्ध बदरिकाश्रम में स्वर्णपूर्वक समाविरच बनते हुए-श्रु-श्रु-साम-आयर्ष-नाम की आर तो 'वेदसंहिताओं' का संकलन किया एवं पाँचवीं- 'पुराणसंहिता' का संकलन किया जिस के आचार पर तत्काल्य महाभाग सूर-के द्वारा अष्टादश-पुराणों, एवं अष्टादश-उपपुराणों का संकलन हुआ जो पुराणसाहित्य बादरायण की मूलहृदि से अनुमाणित होते हुए 'व्यासकृति' क्येयैव प्रसिद्ध हुए उची प्रखर, जैसे कि भगवान् बादरायण की शम्भरचना से अनुमाणित भी महामारतामर्गत 'गीताशास्त्र' भगवान्-बासुदेव श्रीकृष्ण की मूलहृदि से अनुगत होता हुआ 'भगवद्-गीता' नाम से ही प्रसिद्ध हो रहा है ।

'वेदसंहिताओं' के संकलन से बहाँ उलबती स्रु- 'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए, वहाँ 'पुराण संहिता' के संकलन से ये ही भगवान् बादरायण- 'पुराणपुरुष' नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हुए ।

संकलन क्या अर्थ ? प्रश्न का समाधान भी सर्वथा श्रुतुमात्रापात्र है । तत्त्वात्मक-अपौरुषेय-मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेद के दृष्टा महर्षियों के द्वारा बुद्धिपूर्विक वाक्य-रचना-पूर्वक-उत्पन्न-शब्दात्मक-मन्त्र-ब्राह्मणभाग शास्त्रात्मक से उत्-उत्-श्रुतिबंध-परम्पराओं में प्रकीर्णकरके विग्रह हो रहा था । एतमेव पुरा-यागाधार्य भी मित्र मित्र श्रुतिबंधों में विग्रह हो रही थीं । भगवान् बादरायणने अपनी लोकोत्तर प्रतिमा के बला पर प्रचरद उत्पत्त्य के द्वारा उक्त शब्दात्मिक वेदराशि का एवं पुराणगाथापराशि का संकलन किया । एवं इस 'संकलन' से ही शास्त्रात्मक-वेदमन्त्रों का संकलितरूप 'वेदसंहिता' नाम से एवं पौराणिक-तथ्यों का शब्दगाथात्मक संकलन- 'पुराणसंहिता' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ । और यी-आद्य से पाँच तद्वत्-वर्षपूर्व भगवान् बादरायण ने भारतीय-संस्कृति की अक्षयवा-ज्ञानव्योधि की इस संकलनरूप तैला-इति से पुनः प्रकल्पित किया जिस के लिए भारतीय प्रजा यादव्यन्त्रदिवाकरी इस महापुरुष के प्रति बड़ा-अतिशायी ही अर्पित करती रहेगी ।

एक प्राचीनिक, किन्तु महत्त्व पूर्ण प्रश्न । भगवान् बादरायण ने पहिले-पुराणसंहिता का संकलन किया अथवा तो पहिले वेदसंहिताओं का, इस महत्त्व पूर्ण प्रश्न का जो उत्तर पुराणराज्य-

निष्कर्ष है कि ब्राह्मणग्रन्थों के पारिमायिक आख्यानोपाख्यानो, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानो का तत्त्वात्मक-पारिमायिक-समन्वयवाचक खसक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, अतः न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुप्राणित विद्वान्-स्रुति-इतिहास-रूपा शतपथग्रन्थों का ॥ समन्वय सम्भव, एवं न विधि-आख्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म-उपास्ति-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्तव्यत्रयी का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव। तात्पर्य-ब्राह्मणग्रन्थों के और पुराणशास्त्र के पारिमायिक-रहस्यात्मक-नैगमिक-समन्वय के बिना शेषभूत शतपथ-कर्तव्य-मावापन वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गताय नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिमायाओं के स्वरूप-विरलोचक 'गाथा' निगद-कुन्त्या निमित्त आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिमायिक-ग्रन्थ-रहे होंगे जिनके कि-मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव मगवान् व्यासदेव के द्वारा सकलिता-पुराणसंहिता में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रवृत्ति-वरा-वराहचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धान्त-संहिता-जामर-जामल-तन्त्र-ज्योतिष्यक- (खगोल) सुवनकोश (भूगोल) द्वागर्गल-आख्यान-उपाख्यान-आयसी-आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह शास्त्रिक विषयों की परिमायाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिमायाओं के विरलोचक गाथा-कुन्त्या निगद-आदि-ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिमायाओं का विरलोचक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिमायिक-वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध शास्त्रिक-अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होत आ रहे हैं जिस इस पराङ्मुखता का ही यह मूल्य परिणाम है कि-भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के शास्त्रिक-अध्ययनाभ्यास से अधिकार में लक्ष्य बनता हुआ साम्प्रदायिक-मनोऽनुगता-काल्पनिक-आख्यानग्रन्थों को ही 'प्रमुख-शास्त्र' मान बैठने की महती शक्ति करता हुआ अपने वेद-पुराण-सिद्ध-परिमाणहिमामय-सांस्कृतिक-महान् कोश की मूलमौलिका से, तथा अनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आ रहा है और यही भारतवर्ष के आधुनिक-बौद्धिक-मानसिक तथा शारीरिक-वार्तन्त्य का प्रमुख कारण है जो महाबल वीरवैद्यम कारण दुर्भाग्यवश आज तो कास्पनिकी 'अन्तर्निर्दोषता के द्वारा और भी अधिक मपावह प्रमाणित होगया है।

ऐसा स्थिति। साम्प्रत स्थित्य गतिश्चिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिमायिक-व्यवहार का कोई श्रुतवत् हमें उपलब्ध नहीं हो रहा। ऐसी विधमा-अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानो से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्ण-ज्ञानविज्ञानात्मिका परिमायाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय? जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो वेदप्रतिषेधिम-यनपटु-परिमायातत्वाविष्कारक-आचार्यचरण अद्वेय पूज्य श्रीमद्गुरु महामहाराज का यही 'उद्योषधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त होपड़ता है कि, "वेद की पारिभाषिकी गहनाटपी में प्रवेश करने के लिए हमें-आर्यसंघस्य रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा" \*। आर्यवादि का सांस्कृतिक महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

\* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गृहानिहित अन्नसन्तोषमय महान् सुख से विमुक्तप्राया वैज्ञानिकी परिमायाओं के आविष्कारक वेदसुध पूज्यचरण आचार्यप्रवर (पू० अद्वेय श्रीमद्गुरु महाराज मैथिल) ने पुराणों को-आर्यसंघस्य अभिषा से ही समन्वित किया है।



उस अनेक 'विद्या' आदिधार की लोकवाधारण में रचत ही एक 'कहानी' बन बाया करती है, जिस का मुगलकृतरूप है— कथा । लोकमंस्कृत में का 'कथा' कहलार है, छन्दोऽभ्यारता नाम की वेदभाषा में बड़ी 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है । वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एवं सामान्यजनानुबन्धिनी 'कहानी' तीनों अतिप्रार्थक मान लिए जातते हैं, क्योंकि तीनों का आधिर्माणायक मूलभरातक अधिकांश में समतुलित ही है । राक्षसान का अमुक वगधिशेष अमुक-धिशेष-तारी से समन्वित— शरणी समतुलित—वाद्ययन्त्र के आचार पर राक्षसान के लोकतितुष्टी के द्वारा मानीक बनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो आच के स्वच्छ मारत के स्वतन्त्र-वृत्ताधीनी की दृष्टि में मारत की 'लोकसंस्कृति' का आचन प्रहण किए हुए है । तथाकथित बादकृन्द् प्रभु-वदहाद-मीरा-आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का—सत्यचनसंरक्षक—महामाग तेजाजी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से अत्यमर्षों के प्रति—आत्मनमर्षण में सुप्रसिद्ध वर्मजी हूँगवी-वर्माहरवी, एवमेव अम्यान मी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का उपाचययन्त्र के द्वारा मोतुर्ग का अमुकन करते रहते हैं । ग-ग-कर सुनाए जाने वाले इत्यमूल ऐतिहासिक चरित्र भी एकप्रकार की—'लौकिकी-गाथाएँ' हैं। मानीं बाँदेंगी । स्वयं-वैदिकयुग में मी सुप्रसिद्ध—राक्षसीव वाद्ययन्त्र—'वीणा' के माध्यम से अमुक यन्त्र-कम्प-विशेषों में इसप्रकार की छविचित्रात्मिका इतिवृत्तरूपा वरीगाथाओं के गान का समावेश या बैसाकि—'वीणागायिनी गायन्ति' इत्यादि में स्पष्ट है । सुप्रसिद्ध 'राक्षस्य' यन्त्र में तो राक्षस्यकानुष्ठानकर्ता के राक्षसमन्दिर में प्रतिष्ठित दो प्रेष्ठम बीणावाक्क प्रासवों के द्वारा एकवर्ष पर्यन्त तथाविधा वरीगाथाओं का निबान हुआ है । निवेदन-निष्कर्ष यही है कि गाथास्व-कथा-कहानी की परम्परा अनानि है और इन गाथा-कथा-कहानोरूप अनानि उन चरित्रों आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है 'पुराण' जिनके आचार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आधिर्भूत-विरोधूत होते रहते हैं । अतएव इत्यमूल चिरन्तन 'पुराण' को आवश्यकमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है । और एकमात्र इसी वृत्त तथ्य के आचार पर 'पुराण' सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मण्य स्मृतम् इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है । निमप्रकार मगवन् बादययन्त्र में तत्त्वं श्रुतिर्षी में प्रतिष्ठित प्रकीर्णभाषातन वेदों के संकलन से 'वेदसंहिता' का स्वस्व-समन्वित किया या तथैव लोकप्रसिद्ध-वेदशास्त्रमूलक-परम्परा सुतोपभूत गाथा—'कथा' रूप लौकिकीवात्मक मूलवृत्ती का मी संकलन किया और बड़ी संकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस के आचार पर महामाग खुने अहतरा-पुराणोपपुराणों का विस्तार किया ।

'पुराण प्रसङ्गत' वेद, और पुराण से अनुमायित वीर्षापर्यं का दिग्दर्शन कराना पक्का जिससे प्रकृत में यही निवेदनीय है कि आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परा अवस्थित छविचित्रात्मिका-वाच्यक-वेदतोऽपि पूर्वमात्री जिस पुराण के आचार पर श्रुतिप्रका के द्वारा वेदमन्त्र उपनिषद् हुए हैं, उन वेदमन्त्री के आख्यानभूत 'विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में ( शतपथ ऐतरेय-तेजोविरीय-गोपब मेमिनी-शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में ) वेदपूर्वमात्री गाथाकथायक पुराण की आख्यानोपाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है । अर्थात् यन्त्रब्राह्मणायक वेदशास्त्र के ब्राह्मण युगत 'विधि' भाग में प्रमुखतया श्रुतिर्षी में वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही प्रधानता दी है । और आगे चलकर आशुक्ता वेदीपरमाभिनी आशुक्ता पुराणसंहिता में तथा तदनुगत पुराणोप-पुराणों में मी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपलब्ध हुआ है । इस धाम्य का बड़ी

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानों का तत्त्वात्मक-पारिभाषिक-समन्वयबोध अवगत नहीं प्राप्त कर लिया जाता तत्काल न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुभाषित विज्ञान-स्तुति-इतिहास-रूपा शतध्वनयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि-आख्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म-उपासि-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्तव्यत्रयी का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव। तात्त्व्य-ब्राह्मणग्रन्थों के, और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक-रहस्यात्मक-नैगमिक-समन्वय के बिना शेषभूत ज्ञातव्य-कर्तव्य-मायापक्ष वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गताय नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के स्वरूप-विरलेपक 'गाथा निगद-कुन्त्या निषिद्ध आदि नामक अक्षरयुक्ती स्वयं पारिभाषिक-ग्रन्थ-रहे होंगे, बिनके कि-मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता-‘पुराणसंहिता’ में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रतिवृष्टि-वंश-वंशानुचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धान्त-संहिता-जामर-जामल-तन्त्र-व्योतिषचक्र-(खगोल) मुचनकोश (मृगोल) वर्णाल-आख्यान-उपाख्यान-आयती-आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिभाषाओं के विरलेपक गाथा-कुन्त्या निगद-आदि-ग्रन्थों की प्राप्ति पुराणपरिभाषाओं का विरलेपक ‘पुराणसंहिता’ नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य, दोनों ही महत्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध तात्त्विक-आर्यसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होत आ रहे हैं जिस इस पराङ्मुखता का ही यह मीथल परिणाम है कि—भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक-आख्यानोपाख्यान से अधिकतर में छटस्य बनसा हुआ साम्प्रदायिक-मनोऽनुगता-आख्यानिक-आख्यानग्रन्थों को ही ‘प्रमुख-शास्त्र’ मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद-पुराण-विद्व-परिभाषाहिमामय-संस्कृतिक-महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से बहिष्कृत ही होता आ रहा है और यही भारतवर्ष के आदिमिक-वैदिक-मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो महावह चोरचोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो आख्यानिकी ‘धर्मनिरपेक्षता’ के द्वारा और भी अधिक महावह प्रमाणित हो गया है।

वैष्णव स्थिति। साम्प्रसं स्थितव्य गतिरिच्छन्तीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक-तत्त्वबोध का कोई श्रुतवत् हमें उपलब्ध नहीं हो रहा। ऐसी विषमा-अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्ण-ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय !, जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होगा है तो वेदग्रन्थविमर्श-यनपटु-परिभाषातत्त्वाधिष्कारक-आचार्यवरण अध्येय पूज्य श्रीश्री श्री महामहाराज का यही ‘उद्बोधनसूत्र’ दृष्टि के सम्मुख आभिम्यक्त होपड़ता है कि, ‘वेद की पारिभाषिकी गहनाट्टी में प्रवेश करने के लिए हमें—‘आख्यानसर्वस्व’ रूप महान् आक्षोभ को ही माध्यम बनाना पड़ेगा’ \*। आख्यानिकी का संस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

\* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आशु के पालीस वर्षों के गृहनिहित अक्षय-उपोषय महान् सत्र से विमुक्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आधिष्कारक वेदसुमद्र पूज्यवरण आचार्यवर (पू० अध्येय भीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को—‘आख्यानसर्वस्व’ अभिधा से ही समन्वित किया है।

उत्तम-प्रमाण, किंग आनिवार की लोकप्रचारण में रात ही एक 'कहानी' बन जाया करती है, जिसका स्वरूप है—कथा। साहित्यिक रूप में का 'कथा' कहलाता है, जो 15व्यां नाम की वैदिक में भी 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एवं नामाग्यबनानुबन्धनी 'कहानी' की आत्मजायक मान लिए जात होते हैं, क्योंकि तीनों का आधिगम्यतामक मूलभूतगत आधिकार में समान है। राक्षसान का अमुक वर्गीकरण अमुक विचार-तारी से समानित—राष्ट्रीय समन्वित-साधक के आकार पर राक्षसान के लोकविशेषों का दाग प्रतीय बनता का समोऽनुरूपन दिया जाता है, जो आकार के लक्षण मात्र के स्वरूप—सत्तापीयी की दृष्टि में प्राप्त की 'शाफसरकृति' का आकार ग्रहण किए हुए है। तथ्यात्मक बादकृष्ट प्रसू-वदह-पीय-आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का—महवचननरवृद्ध-महाभाग लेखों के पावनचरित्र का, अपने उदाहरण से अक्षमों के प्रति—आत्ममर्षण में सुप्रसिद्ध तर्जनी हूँगी—बोहरा, एवमेव अन्त्यान भी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का उदाहरण क द्वारा भीषण का अन्तरात्मान करते रहते हैं। सच कह सुनाए जाने वाले इत्यंश ऐतिहासिक चरित्र भी एकप्रकार की—'लौकिकी-गाथाएँ' ही मानी जाती हैं। स्वयं-वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध—शास्त्रीय वाग्यन्त्र—पीयूष के माध्यम से अमुक यत्र—कर्म-विशेषों में हठप्रकार की लुब्धचरित्रात्मिका इतिवृत्तका यशोगाथाओं के गान का समावेश था, वैसाही—'बायलान्तिके' गायन्ति इत्यादि से स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध 'राजमूय' यत्र में तो राक्षस्यवसानुष्ठानकर्ता के उल्लेख में प्रतिष्ठित दो प्रेरितम नीमावाक्य ब्राम्हणों के द्वारा एकपर्यन्त सप्तावध यशोगाथाओं का निबन्ध हुआ है। निवेदन निष्कर्ष यही है कि गायारूप-कथा-कहानी की परम्परा अनादि है और इन लोक-कथा-कहानीरूप अनादि उन चरित्रों आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है 'पुराण', जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आधिभूत-विरोधूत होते रहते हैं। अतएव इत्यंश चिरन्तन 'पुराण' को अपरमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है। और एवमात्र इसी वृद्ध तथ्य के आधार पर 'पुराण' सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा सृष्टम् इत्यदि इच्छेन समन्वित हुआ है। निमप्रकार मगन् बादकथन ने वल्द श्रुतिवर्ग में प्रतिष्ठित प्रकीर्णमात्राओं की संकलन से 'वेदसंहिता' का स्वरूप-समन्वित किया था तथैव लोकप्रसिद्ध-वेदशास्त्रक-अन्त्यान मूलोपमूल 'गाथा'—'कथा' रूप संहिताव्याप्तक मूलस्थों का भी संकलन किया और यही संकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस के आधार पर महाभाग सुत्ते अक्षर-पुराणोपपुराणों का विस्तार किया।

‘पुराण प्रसङ्ग’ वेद और पुराण से अनुमायित पौर्वापर्य का सिद्धान्त बनाना पड़ा, जिससे प्रश्न में यही निवेदनीय है कि आस्पानोपास्थानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परा व्यवस्थित छत्रनिर्माण-इष्टमक-वेदोपनिषद् पूर्वभाषी जिस पुराण के आधार पर अधिप्राप्त के द्वारा वेदमन्त्र उपनिषद् हुए हैं उस वेदमन्त्रों के आधारभूत विधि’ नामक वेद के आद्यप्रमाणों में ( शतपथ पेटरेम-तेरिरी-गोत्र-जैमिनी-शाङ्गयन आदि सुप्रसिद्ध आद्यप्रमाणों में ) वेदपूर्वभाषी गाथाकथामक पुराण की आस्पानोपास्थानप्रधाना परिस्थिति की खोज का ही अनुगमन हुआ है। अर्थात् मन्त्रआद्यप्रमाण वेदमन्त्र के आस्पानोपास्थान-विधि’ भाग में प्रमुखतया अधिप्राप्त वेदाधारभूत पुराण की आस्पानोपास्थानरूपा की ही प्रधानता की है। और भाग कथान्वय आधारभूत वेदोपरमाधिनी आधारभूत पुराणसंहिता में तथा उपनिषद् पुराणोपनिषद् में भी इसी आस्पानोपास्थानरूपा का विस्तार से उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ का भी

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थों के पारिमाथिक आख्यानोपाख्यानो, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानो का सत्त्वात्मक-पारिमाथिक-समन्वयबाध जनक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुमापित विज्ञान-स्तुति-इतिहास रूपा गतव्यत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि-धारण्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म-उपास्ति-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्तव्यत्रयी का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव। वास्तव्य-ब्राह्मणग्रन्थों के, और पुराणशास्त्र के पारिमाथिक-रहस्यात्मक-नैगमिक-समन्वय के बिना शेषमृत ज्ञातव्य-कर्तव्य-मावापन्न वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गताय नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिमाथाओं के स्वरूप-विरलेषक 'गाथा' निगद-कुन्त्या' निषित् आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिमाथिक-ग्रन्थ-रहे होंगे, जिनके कि-मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता-पुराणसंहिता में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रवृत्ति-वंश-वंशानुचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धान्त-संहिता-डामर-जामल-तन्त्र-ज्योतिष्मन्त्र-स्रगोल) सुषनकोश ( भूगोल ) वृगागल-आस्थान-उपाख्यान-आयत्ती-आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिमाथाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिमाथाओं के विरलेषक गाथा-कुन्त्या-निगद-आदि-ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिमाथाओं का विरलेषक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसाहित्य और पुराणसाहित्य, दोनों ही महत्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिमाथिक-वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध तात्त्विक-अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आ रहे हैं, जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि-भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक-अर्थसमन्वय-प्राप्तन से अधिकार्य में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक-मनोऽनुगता-अत्यन्तिक-व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुख-शास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद-पुराण-सिद्ध-परिमाण-हिमामय-संस्कृतिक-महान् कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आ रहा है और यही भारतवर्ष के आदिमिक-वैदिक-मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भवान्द्वय वीरवीरतम कारण दुर्भाग्यवश आज वो काल्पनिकी 'चर्म्मेनिरपेक्षता के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

ऐसा स्थितिः। साम्प्रत स्थितस्थ गतिरिचिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिमाथिक-तत्त्वबोध का कोई श्रुतबुद्ध हमें उपलब्ध नहीं हो रहा। ऐसी विधमा-अवस्था में ब्राह्मणों और पुराणों के आख्यानोपाख्यानो से उद्धार करने वाली रहस्यपूर्ण-ज्ञानविज्ञानात्मिका परिमाथाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय? जब यह महान् ध्वन हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो वेदग्रन्थविमन्यनपटु-परिमाप्राप्तत्वाभिष्कारक-आचार्य्यचरण अक्षेय पूज्य ओम्बजी महामहाराज का यही 'उद्बोधनसूत्र' दृष्टि के सम्मुख अभिन्यक्त होपकता है कि, "वेद की पारिमापिकी गहनाटथी में प्रवेश करने के लिए हमें-आय्यसवस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा \*। आर्य्यवाति का संस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

\* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के ज्वलित वर्षों के गुहानिहित अक्षस-तपोमय महान् स्रज से विद्वत्तथाया वैज्ञानिकी परिमाथाओं के आभिष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यचरण (पू० अक्षेय भीमपुस्रनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को-आर्य्यसर्वस्व' अभिप्रा से ही समन्वित किया है।

उक्त अन्वेषण, किया आधिकार की लोकसाधारण में स्वतः ही एक 'कहानी' बन गया करती है, जिस का सुमंस्कृतरूप है—कथा। लोकसंस्कृत में जो 'कथा' कहलाई है, छन्दोऽप्यस्ता नाम की वेदभाषा में वही 'गाथा' नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा, एवं सामान्यजनानुबन्धिनी 'कहानी' तीनों अन्विष्टाधिक मान लिए जा सकते हैं, क्योंकि तीनों का आधिर्भावामक मूलभरावक अधिकार में समन्वित ही है। राजस्थान का अमुक वर्गविरोध अमुक-विरोध-तारी से समन्वित—सारथी समन्वित—वाद्ययन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकविद्वत्ता के द्वारा प्राचीन बनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो यावत् के स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र-सत्ताधीनी की दृष्टि में भारत की लोकसंस्कृति का आसन ग्रहण किए हुए है। तथाकथित वादकृष्ट प्रभु-प्रसाद-मीरा-आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का—सर्ववचनसंरक्षक-महामाग वेदाधी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से अन्तर्गतों के प्रति-आत्मनमर्पण में सुप्रसिद्ध सर्वमी हूँगरी-जहाँहरवी, एवमेव अन्त्यान मी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का उद्वाचयन्त्र के द्वारा ओसुवर्ग का अनुत्थान करते रहते हैं। गाना-कर सुनाए जाने वाले इत्यन्त ऐतिहासिक चरित्र मी एकप्रकार की—'लौकिकी गाथाएँ' ॥ मानी जायेंगी। स्वयं-वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध-शास्त्रीय-वाद्ययन्त्र-वीणा के माध्यम से अमुक वक्त्र-कम्म-विरोधों में इसप्रकार की छद्मचरित्रात्मिक इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओं के गान का समावेश या वैवाकि-वीणागाथिनो गायन्ति इत्यादि से स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध 'राजसूय' यज्ञ में तो राजसूययज्ञानुष्ठानकर्त्ता के राजमन्दिर में प्रसिद्धित दो प्रेष्ठतम जीवावाक माहायों के द्वारा एकवर्षपर्यन्त तथाविधा यशोगाथाओं का विधान हुआ है। निवेदन-निष्कर्ष वही है कि गाथारूप-कथा-कहानी की परम्परा अनादि है और इन गाथा-कथा-कहानीरूप अनादि उन चरित्रों-आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है पुराण, जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आविर्भूत-विरोध होते रहते हैं। अतएव इत्यन्त चिरन्तन 'पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र माना जा सकता है। और एकमात्र इसी सब तथ्य के आधार पर 'पुराण' सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा सृष्टम् इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है। जिनप्रकार मगध-बादरयण ने तथ्य श्रुतिचरित्रों में प्रसिद्धित प्रकीर्णमात्रावक वेदों के संकलन से वेदसंहिता का स्वरूप-समन्वित किया या तथैव लौकिकप्रसिद्ध-वेदशास्त्रमूलक-परम्परया अनुत्पन्न 'गाथा'—'कथा' कम छद्मचरित्रात्मक मूलसूत्रों का भी संकलन किया और वही संकलन 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिस के आधार पर महामाग कृष्ण अष्टादश-पुराणोत्पत्तियों का विस्तार किया।

'पुराण प्रसङ्ग' वेद और पुराण में अनुप्राणित वीर्यपर्य्य का दिग्दर्शन करना पड़ा जिससे प्रकृत में वही निवेदनीय है कि आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित छद्मचरित्रात्मिक-वेदोऽपि पूर्वमात्री जिस पुराण के आधार पर श्रुतिप्रका के द्वारा वेदमन्त्र उपनिषद् हुए हैं उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत विधि' नामक वेद के ब्राह्मणभाग में ( शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय-शोष-सोमिनी-शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में ) वेदपूर्वमात्री गाथाकथामक पुराण की आख्यानोपाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है। अर्थात् मन्त्रब्राह्मणतत्त्व वेदशास्त्र के ब्राह्मणानुगत 'विधि' भाग में प्रसूक्तयेव श्रुतिवेदि वेदशास्त्रभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली की ही प्रधानता थी है। और चाहे कलकर व्यासकृता वेदोत्तरमाथिनी व्यासकृता पुराणसंहिता में तथा तदनुगत पुराणोत्पत्तियों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपलब्ध हुआ है। इस साम्य का वही

निष्कर्ष है कि ब्राह्मणग्रन्थों के पारिमाथिक आस्थानोपास्थानों, तथा पुराणों के आस्थानोपास्थानों का तत्त्वात्मक-पारिमाथिक-समन्वयबोध अवश्य नहीं प्राप्त कर लिया जाता, उक्तक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुमानित विज्ञान-स्तुति-इतिहास रूपा शातव्यवयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न विधि-आरण्यक-उपनिषत्-द्वारा प्रतिपादिता कर्म-उपास्ति-ज्ञान-त्रयी-रूपा कर्तव्यव्यवयी का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव। वास्तव्य-ब्राह्मणग्रन्थों के और पुराणशास्त्र के पारिमाथिक-रहस्यात्मक-नैगमिक-समन्वय के बिना शेषभूत शातव्य-कर्तव्य-भाषापरम वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गठाय नहीं बन सकता कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के स्वरूप-विरलेयक गाथा 'निगद-कुम्भ्या निवित्त-आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिमाथिक-ग्रन्थ-रहे होंगे, जिनके कि-मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एतदेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संक्षिप्ता-पुराणसंहिता में पुराणशास्त्र के सृष्टि-प्रतिसृष्टि-वशा-वंशानुचरित-गाथा-कल्पशुद्धि-सिद्धान्त-संहिता-बामर-आमल-सन्त्र-व्योतिष्वक-(खगोल) मुन्ननकोश (भूगोल) द्वागर्गल-आस्थान-उपास्थान-आयती-आयतन नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिभाषाओं के विरलेयक गाथा-कुम्भ्या निगद-आदि-ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिभाषाओं का विरलेयक 'पुराणसंहिता' नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव ब्राह्मणसंहिताय और पुराणसंहिताय, दोनों ही महत्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-पारिमाथिक-वैज्ञानिक-परम्परामिद तात्त्विक-अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होत आरहे हैं जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीमय परिणाम है कि-भारतीय-विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों एवं पुराणों के तात्त्विक-आध्ययनाभ्यापन से अचिरकार में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक-मनोऽनुगता-कास्मनिक-व्याख्याग्रन्थों को ही 'प्रमुख-शास्त्र' मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद-पुराण-मिद-परिमाणहिमामय-संस्कृतिक-महान् कोश की उत्तमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से बञ्चित ही होता आ रहा है और यही भारतवर्ष के आर्थिक-बौद्धिक-मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भवभाव बोगबोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो कास्मनिकी 'अन्तर्निर्गम्यता' के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

ऐसा स्थिति। साम्प्रत स्थितस्थ गतिरिचिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिमाथिक-वस्त्वबोध का कोई श्रुतसूत्र हमें उपलब्ध नहीं हो रहा। ऐसी विषमा-अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आस्थानोपास्थानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्ण-ज्ञानविज्ञानानामिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय है, अब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो वेदप्रतिषेधिम-चनपट्ट-परिभाषातत्त्वाविष्कारक-आचार्य्यचरण मध्येय पूज्य श्रीश्री श्री महामहाराज का यही 'अवबोधनसूत्र' दृष्टि के समुल्ल अमिष्यक होपड़ता है कि, 'वेद की पारिभाषिकी गहनाटपी में प्रवेश करने के लिए हमें-आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोचक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा' \*। आर्य्यभाषि का संस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

\* निगद तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गृहनिहित अरुण-तपोमय महान् अन्न से विरुप्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र ध्रुवचरण आचार्य्यप्रवर (पू० मध्येय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल) ने पुराणों को-आर्य्यसर्वस्व' अमिषा से ही समर्पित किया है।

प्राञ्जलमाया में संकलित हुआ है, यह पुराणशास्त्र पूज्य आचार्य्यवरम की दृष्टि में "आप्यों का सर्वस्व ही बना हुआ है। एवं आप्यापनकाल में पुनः पुनः आप पुराणस्थाप्याय पर ही विशेष बल देते रहते थे।

'उद्बोधनस्य' कोई नवीनतम स्थ नहीं है। स्वयं मान्य विद्वान् भी शास्त्रचर्चा-प्रसङ्गावसरी पर अभिमान अनुदिन—"इतिहासपुराणस्यो धेवुं समुपपृद्ध्येतु की प्रमुल-योगणा करते हुने गए हैं। किन्तु बर्हातक 'पुराणशास्त्र' के आप्ययनाप्यापन का सम्बन्ध है, बर्हातक तो विद्वानों की यह प्रमुल-योगणा सर्वथा-याक्यामा ही बनी हुई है। विगत शताब्दियों में उत्-उत्-सत्तात्म-विशेषों के अनुसन्धन के लिए विनिर्मित आप्य-नाटक-सम्पु-प्रशस्ति-कविता आदि से कात्वालीकृत मनोऽनुगम कास्वनि-साम्राज्य में विचरण करते रहने को ही विद्वत्ता की चरम सीमा मान बैठने वाले हमारे देश के तपाक्षयित मूढन्य विद्वानों की दृष्टि में पुराणशास्त्र तो एक सबका उपेक्षणीय शास्त्र ही बना हुआ है। यही नहीं, पुराणकथानुगति से अनुप्राणित + पुराणपाठक तो इनके लिए सर्वथा - आप्याप्यात्मम्। अलमति पल्लवितेन-आपातरमणीय-क्याकट्ट-प्रसङ्गेन।

हमारी तो अपनी ऐसी आप्यनिष्ठा है कि, पुराणशास्त्र के पारिभाषिक-स्थाप्याय के किना ब्राह्मणसाहित्य का पारिभाषिक-सर्वार्थवोध सबका ही असम्भव है, एवं ब्राह्मणमाग की परिभाषाओं के किना उस क्षोर की मन्त्रवीहि ताओं का तथा इस क्षोर के आरयको पनिषद् माग का उत्तरमक-पारिभाषिक-सम्बन्ध भी असम्भव ही है। यों पर मरया वेदार्थसमन्वय में प्रथम पुराणशास्त्र सदनस्तर वेद का ही ब्राह्मणमाग थे दो ही प्रमुल आपारस्तम्भ बने हुए हैं बिन दोनों को ही अपनी स्थाप्याय-परम्परा से पराङ्मुख कर देने वाले देश के मूढन्य विद्वान् भी राष्ट्र के मौखिक साहित्य-वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक-अभ्युदय-निर्धेय-संसाधक-महोदयहीयान् उदक से एकान्ततः बधित ही बने रह गए हैं।

क्या पुराणोक्त आप्यापन-उपास्यानी-से सम्बन्ध रखने वाले विविधतम प्रत्यक्षदृष्ट्या-असम्भवतम प्रतीत होने वाले कथोपकथनी से अनुप्राणिता परिभाषाओं का पुराणवाचनमात्र से समन्वय होनासगा! यही बट बटिकातम प्रश्न है जिसे हमने उपयोगितापादानुकवी-बुद्धिवादसमक महान् बुद्धिम्यामोहन से आप्त उस सीमापर्यन्त ममानक प्रश्न बना लिखा है जिसका हँके से भी कोई समाधान हमें उफ्लाभ्य नहीं हो रहा।

इसी तपाक्षयिक प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली एक रहस्यपूर्ण समाधान-परम्परा का भगवान् वेदपुत्रक के स्वयं के मुख से ही निम्नलिखित संस्तरण कर लेना प्रावशिक मान रहे हैं कि—

उत चः परयक ददर्श वाच, उतस्वः शृण्वक शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्व विमुक्ते आयेव पत्ये-उशती सुवामा ॥

—ऋक्संहिता १०।७१।४।

मन्त्रचरण्य स्पष्टतम है जिसका निष्कर्ष यही है कि कुछ एक आप्ययनरीति महामाग तो इस ध्येय को समलङ्घन कर रहे हैं कि, मन्त्रार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी यो इस दृष्टि से बधित ही बने रह जाते हैं।

किन्तु एक महानुभाव सुनते हुए भी वाग्देवी के स्वरूप-अवयव से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते रहते हैं। और कुछ एक जैसे भी आत्मनिष्ठ सहज आर्यमानव भ्रष्ट है, जिनके लिए स्वयं वाग्देवी अपने बाह्य-आत्मन्तर-सम्पूर्ण-स्वरूप को स्वतः ही उसी प्रकार अभिव्यक्त कर देती है जैसे कि पतिपरमणा सहचर्म-पारिणी यक्षिणी अपने पति के लिए सर्वथा अभिव्यक्ता बनी रहती है।

परिभाषाओं का स्वरूपबोध क्या देखने-सुनने-मात्र से सम्भव है? प्रश्न का तयान्वित और समाधान से अतिरिक्त और क्या समाधान होगा? अहर्निश वेद-पुराण-के अक्षरों पर इष्टिपात किए रहने मात्र से, किंवा अहर्निश पुण्यपाठ-अवयवमात्र से कदापि तब तक इस शब्दबद्ध के पारिभाषिक-तथ्यों की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है जबतक कि हम अपने वैयक्तिक-बुद्धिवाद के माध्यम से, सहजमात्रा में बुद्धि प्रतिभा-मेधा-लगन-के बलातिमान से इस और प्रवृत्त रहते हैं। अवश्य ही बुद्धिवादश्रमिका मेधा हमें बाधाल बना देगी तर्कपटु प्रमाणित कर देगी, लोकसमाज में हमें घुर-घर विद्वान् भी प्रमाणित करा देगी। किन्तु इन सब आङ्गभरों के सफल होबाने पर भी बुद्धिवादात्मक दावानल से सर्वात्मना मुक्त बाने वाला अद्वारस सर्ववैव अभिमूढ होबायगा जिसके बिना स्वयं की परितुष्टि-सुष्टि कदापि सम्भव नहीं है। अज्ञाविहीन ऐसे शुष्कतम-बुद्धिवादात्मक-पाण्डित्य-का ही नाम है— व्यक्तित्वविमोहन जिसका प्रमुख आधारस्वम्भ मानी गई है—'दिग्देराञ्जल नियन्त्रणा-लोकैपणा लोकक्याति' जिसका वीचावा अर्थ बही है कि, "हम अपने आप में भले ही करुण पीतकार ही करत रहे अपनी रिक्तता के कारण, किन्तु लोक-समाज में हमारा असुख स्थान प्रतिष्ठित होजाय।

वित्तैषणागमिता इत्यमूता सर्वनाशकारिणी लोकैपणा से ॥ हमारे बौद्धिक क्षेत्र में अतिमानात्मक वह बुद्धिवाद अभिव्यक्त होपड़ा है, जिसके कारण हमारी बुद्धि दिग्देराकालावीत-अनन्त-आत्मा से अनुमायित स्वात्मबोध से दूयक रहती हुई दिग्देराञ्जलनिकृचन-सामयिक-सत्कालिक-उपसिम्बलक-उपयोगितावाद की बोरबोरतमा मन्त्रणा से पीड़ित होबाती है जिस उपयोगितावादात्मक-कारणतावाद से ही हमारी बुद्धि स्वस्वरूप से विमुग्धा बनती हुई 'उत्तो स्वस्मि तन्वं विमस्मे जायेव पत्ये जराती सुधासा' रूप महान् अनुभव से सर्ववैव बधित रह जाती है।

और हम अब पूर्व के असुख तथ्यों को गीण-मानते हुए इसी तथ्य पर आते हैं कि, असुख सीमा-स्पर्शत पुराणसाहित्य, तथा ब्राह्मणसाहित्य की परिभाषाओं से अपरिचित रह जाने का प्रमुख कारण दिग्देरा-आत्मानुबन्धी-कारणतावाद के आकर्षण से अनुमायित बुद्धिवादात्मक स्वस्वरूप का व्यामोहनात्मक वह अतिमान ही है, जिसके कारण राग की प्रबल-मेघार्ध भी वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानाश्रमिक परिभाषाओं के सम्पर्क से पराङ्मुख बनी रह गई। वयं वेदज्ञाः—वयं पुराण्याचार्या—'वयं शास्त्रमस्मरंज्ञा' रूप व्यक्तित्वविमोहन ने ही राग की मूखन्या भी प्रज्ञाओं को उत्तार्य के सम्पर्क में नहीं आने दिया। क्योंकि सभी की अपनी अपनी स्वतन्त्र-व्यक्तित्वमूला मान्यताएँ हैं। अपनी मान्यता बना कर उसके आधार पर मान्य विद्वान् वेदाध समन्वय में प्रवृत्त होते हैं। सहजमायानुसार-हमने वेदाचार्यों के श्रुतमावापन समन्वय की उपेक्षा कर उसके द्वारा अपनी मान्यताओं का समर्थान्नेयन आरम्भ कर दिया। और यों सहज श्रुति की श्रुतमहा से सहचरुणैव स्वत एव विनिर्गता वेदवाणी को हमने बुद्धिवादात्मक दिग्देराकाल के उस पलके पर लौट लाया, जिस लोकिकी तराई में बुद्धिवाद के द्वारा लोकानुबन्धी-मृत-भौतिक-दिग्देराकालात्मक-पदार्थों



का ही तुलन हुआ करता है। इसी महती आन्ति से वेद का श्रुतमात्रापर पारिभाषिक अर्थ हम से उद्यो-  
 षर विदुर ही होता गया। और इसी आन्तिपरम्परा के कारण उस दूरत्व में कालान्तर में इस महान् शास्त्र  
 को 'दिगदेशकालानुबन्धी-उपयोगिता-कारणता' के माध्यम-से सव्या उपेक्षणीय ही प्रमाणित कर  
 दिया जाता कि कुछ ही समय पूर्व राष्ट्रपति के ही एक उच्चपद पर समाधीन (स्वयं किसी युग के प्राप्ति-  
 संस्कृतिमत्) एक महानुभाव ने प्रस्तुत वैदिक-साहित्य के-परिपूरक-स्वयम्-इन्द्र-वस्तु-आदि पारिभा-  
 षिक-तथ्यों को कर्णाङ्गपरम्परा गुन कर अपने हर्षभूत महान् उद्गार प्रकाश किए थे, कि—'आज के युग  
 में इन तथ्यों का क्या उपयोग है, वर्तमान के जनजीवन में इनकी क्या उपयोगिता'।

बुद्धिवादमक तथाकथित व्यक्तिवनिमोहन ही एकमात्र वह महान् प्रतिस्पर्धक है, जिसके अनुकूल से  
 हम वेदाचारों को देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। अपितु सबकुछ देख सुन कर भी हम  
 तत्त्वस्तुतय से पराङ्मुख ही बने रह जाते हैं। जब कि बुद्धिवादमक-अतिमानात्मक-विमोहन से अस्वस्थ  
 रहने वाले श्रुतप्रभ महान् मानवों के लिए वे ही वेदाचार स्वयं ही अपना परिभाषिक-तथ्य समिन्धक कर  
 दिया करते हैं, एवं 'उत्तम परमम दूरों वाचम् इत्यादि पूर्वमन्त्र के द्वारा इसी तथ्य का रक्षितरूप  
 हुआ है।

लोकैश्यानुगत-यशोनामस्मादि-कालका से समाप्ता-दिगदेशकालानुबन्धी-उत्पत्तिमूलक-अरण्यवाच्य  
 के प्रति प्रसिद्ध आकर्षित-बुद्धिवादमक व्यक्तिव-विमोहन का परिष्कार ही वेद-पुराण-आदि आर्यशास्त्रों के  
 गुहानिहित-रक्षणात्मक-पारिभाषिक-अनविज्ञानभावों के शेष का एकमात्र कारण है, जिसका निष्कर्ष यह है—  
 'निष्कारणश्रुतशास्त्र-स्थाप्यानुगति'। क्या तथ्य, कि वा क्वा तत्पर्य है इस निष्कारणता का जिसे  
 हम आज स्वाध्यवनिष्ठा में अन्यतम कारण मान रहे हैं। परन्तु का शतपथब्राह्मण के पूर्व प्रकाशित प्रथम-  
 सङ्ख-की सूक्ति में—'ब्राह्मणेन निष्कारणं पञ्चो वेदो व्योसो होयस्य स्य महान् स्य की मीमांस्य  
 क्यते हुए विरद समाधान किया जा चुका है। अतएव आज तत्पिष्टपेक्ष अनावश्यक है। अन्तर्महत्त्वमान के  
 लिए आज इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि—

मानव का बुद्धिबल प्रकृत मन जब दिगदेशकालानुबन्धी किसी व्यक्ति-अरण्य की चर्चणा में उत्तरीन  
 होता है तो बुद्धि, और मन की चिन्तन-मनन-सक्रिय-विधीर्ण होता है। यहवमात्र में बुद्धि का  
 चिन्तनचर्मा एवं मन का मननचर्मा दोनों स्वाध्य में अनन्य न रह कर अरण्यतम फल के प्रति विमल  
 होता है। एकतानता का उत्प्रेव होता है, एवं लक्ष्मीय स्वाध्याय से अनुगत वह पारिभाषिक तथ्य  
 परेक्ष ही बना रह जाता है चिन्तन-मनन की एकतानता के अभाव में। निष्कारणबुद्धि से ही मानव में  
 ऐकान्तिकी गुहानिहितता का उदय होता है। और हरव्युप गुहानिहितता की कर्णाङ्ग समाक-लोक-ब्राह्म  
 भावों में अक्षररूपेण उदासीनक बने रहने वाले आरमयवा नैष्ठिक-ब्राह्मण से ही सम्पन्न मानी गई है।  
 अतएव सर्वेष निष्कारणमात्रानुगत-ब्राह्मण एवं सर्ववी राक्षस्यवन्तु (अत्रिय) तथा महान्वनवराज  
 वैरयमहामाग केदस्वाध्यायविकारी इन तीनों श्रेष्ठिकों में से तथामृता निष्कारणता में लोभना उत्तम  
 'गुहानिहित' ब्राह्मण ही बन सकता है। क्योंकि अत्रिय अपने 'सौर्व्यमाकृतिकचर्मा' से तथा वैरयवन्तु  
 अपने 'वातातपिकचर्मा' से दिगदेशकालानुबन्धी-अरण्यता-समाप्ति-लोकब्राह्मजीवन से सर्वेष निष्कारण

प्रमाणित नहीं होसकता । अतएव श्रुतिप्रधाने एकमात्र गुहानिहित ब्राह्मण के लिए ही निष्कारणवानुबन्धी प्रचण्डतम आदेश विहित माना है, जैसाकि ब्राह्मणेन निष्कारणं पङ्क्तम् • इत्यादि पूर्वोक्त आदेशवचन से स्पष्ट है ।

क्योंकि 'ब्राह्मणमानव ही मनोऽनुग 'काम एव शरीरानुगत 'अर्थ इन दोनों प्राकृत-दिग्देश-कालानुबन्धी-बाह्य-पक्षों से सम्बन्ध रखने वाली लोक-समाधानुगता कारणताओं के प्रति (अपने आत्मबुद्धि-निष्कषन आत्म्यन्तरधर्म से ) सन्त्य-निरपेक्ष बना रहता हुआ मानसिक तथा शारीरिक-उत्पीड़नरूपा-पेइलौकिकी ऊँचेपरम्परा का सामिनन्दन समादर करता हुआ गुहानिहितव्या स्वाध्यायनिष्ठ में निष्कारण-बुद्धि का स्वरूपेण प्रतिष्ठित बना रह सकता है, और यही ब्राह्मण की स्वरूप-परिभाषा मानी है पुराणपुरुष भगवान् वादरायण ने • । जो ब्राह्मण मन-शरीरानुबन्धी लोकानुगत समाज-सापेक्ष-लौकिकप्रवर्द्धक-अपने 'बाह्य व्यक्तित्व' को विस्मृत कर दिग्देशरक्षणातीत अन्तर्ब्रह्म की अन्तर्निष्ठा के माध्यम से गुहानिहितव्या ब्रह्मसम्पत्तवत् स्वाध्यायनिष्ठ नहीं बना रहसकता, कदापि वह 'ब्राह्मणत्वं' को अन्वय नहीं बना सकता । एवं ऐसे ब्राह्मणबुद्धि का ब्राह्मणत्व से कदापि निष्कारणबुद्धि का स्वाध्याय-प्रकान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती । अतएव ऐसा लोक-समाज-लिप्त ब्राह्मण तो शक्यत्व-वैयर्थ्य-महानुभावों की श्रेणि में आता हुआ बुद्धिवादात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन का ही स्तुपात्र ! बना रह जाता है, जिस बुद्धिवादात्मक-विमोहन की प्रत्येक मान्यता 'कारणता' को गर्भ में प्रतिष्ठित करके ही प्रवृत्त हुआ करती है, और जो कारणता स्वयं से पण-परायता प्रमाणित होती हुई 'अरण्यता' पर ही परिणाम्य होती रहती है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी मन-शरीरानुगत-कामाद्यमयान-प्राकृत-जीवन की दृष्टिक-मुख्य के साथ साथ ही ।

निरंतराय परिवार के साथ हमें इस नयन स्वर का आब स्पष्टीकरण करना ही पड़ रहा है कि, विगत-मुक्त-मन्त्र-अनेक शताब्दियों से मारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रथा भी इतर वर्णों की मूर्ति दिग्देशकालानुगता-कारणता की अभिव्यचना 'उपयोगिता' की, एक तत्त्वमायिषा-सामयिकी-समिति की चर्चणा से चर्चितान्तःकरण-बनी रहती हुई बुद्धिवादात्मक-मन-शरीरानुगत कामाद्यमय-उस व्यक्तित्वविमोहन की अनुगामिनी ही प्रमाणित होती आ रही है जिस विमोहन ने ही उन शताब्दियों में इस 'भूमुरभेष्ट' को वेद पुराणादि-आध-ज्ञानविज्ञानात्मक-गुहानिहित-पारिमासिक-वय के साथ अन्तर्व्याप्त-सम्बन्ध नहीं स्थापित करने दिया । अतएव ठीक इस के विरुद्ध विगत शताब्दियों में इस विद्वान् श्री मेधावी श्री, शम्भरास्त्रपारकृत श्री ब्राह्मण ने-दिग्देशकालानुबन्धी-सत्ता-समाज-लोक-सापेक्ष-तात्कालिक-सामों के आकर्षणों से आकर्षितमना बनते हुए उठी प्रकर उन परमावों के तात्कालिक-समयन-अनुरक्षण-प्रचार-प्रसार-आदि बाह्यमावों में ही अपने को समर्पित कर दिया, जैसे कि आज भी राष्ट्र के वषाकथित कतिपय सांस्कृतिक-विद्वान् वचमान सत्तास्त्र-समाकृत के तात्कालिक-अनुरक्षण के लिए शब्दगुण-सादर्यमात्र से अपने प्रचण्ड तर्क-से समन्वित बुद्धि बाद के बल पर आज की मातयामा तात्कालिकी मान्यताओं को भी वेदादि शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित करते

•-ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय चायते ।

इह ज्ञेशाय, तपसे, प्रेत्यश्चतुर्पुर्न सुखम् ॥

—सहामारते शान्तिपर्ययि ३२१ अध्याये

हुए अपनी लोकव्याप्ति-मूला 'उपनि' के पथ में सोस्लाय समाकट है, इति मु-आनययम् । अत्रययम् । महती विद्वाना ।।।

उक्त आध्यात्मिक, नहि नहि सर्वथैव न केवल प्राकृतिक ही, अपितु वेदस्याध्याय-परातले अनिवार्य-रूपेण आकर्षकतम ही तपोक्त सन्दर्भ क आचार पर रात्र के भव्ये भूगुणन्द से प्रकृतिपुरस्सर हमें दो शब्दों में घड़ी नम्र आवेदन कर देना है कि, बही-वेदशास्त्र है, बही पुराणशास्त्र है, और श्रुतिप्रमाणमाप्ति बही है आप की प्रज्ञा । केवल व्यक्तिस्वमोहनरूप महाम् प्रतिबन्धक-के कारण ही ब्राह्मणप्रज्ञा वेद-पुराण के ज्ञान-विज्ञानात्मक-न्यायिभारिक-समन्वय से परात्परायता प्रमापित हो रही है । अनेक विद्वान् ब्राह्मणों का कारण-मुग्ध-उपयोगितावादमक-मनःशरीरनिबन्धन-तथाभूत बुद्धिवादमक व्यक्तिस्वमोहन स्मृतिगर्म में बहिन नहीं होना, बल्कि लोक-समाजमुग्ध-ब्राह्मण-माथी से सर्वमना अपने आप की उदात्तानन्दान् कर्त्तनाते हुए ऐकान्तिकी-गुहानिहितवृत्त्या से अपनी जीवनपद्धति को समन्वित नहीं कर लिया जाता, तत्काल प्रत्यान्वय प्रदान-वहसों से भी वेदपुराणशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिक परिमाणों की अभिव्यक्ति का तो अनुग्रह कदापि प्राप्त नहीं होसकता । और वैसी अवस्था, किंवा दुरवस्था में न हो ब्राह्मणप्रज्ञा उत्तानुत्पत्ति ही बन सकती, न आपनिष्ठानुगत आचार से ही समन्वित । यही बात लोकव्याप्ति की, यो तो लोकप्रवृत्तियों का वैसा सहज उत्कर्ष है जो मानवेतर पशु-पक्षी-आदि प्राकृत-प्राणी भी अनुक कीरणों से उपलब्ध कर ही लिया करते हैं ।

हम समझ रहे हैं कि तणाधि स्थीकरण विद्वान्-ब्राह्मणों के लिए न केवल कर्णकट ही बन रहा होगा अस्तित्व के अपने मनोरञ्ज्य में हम पर अभिरुचि बाधुरण ही बन रहे होंगे । किन्तु व्यक्तिस्वमोहनरूप अस्तिमान के स्वरूप-विश्लेषण का समन्वय बिना तणाधि स्थीकरण के सम्भव ही नहीं है । बुद्धिवादमक व्यक्तिस्वमोहनरूप अस्पष्टिक व्यक्तिस्व की बलक निष्ठापूर्वक बलाज्जति समर्पित नहीं कर दी जाती तत्काल ब्राह्मणप्रज्ञा में समग्रमूला उक्त 'श्रुति' की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है जिस 'श्रुति' के बिना मानव परातल पर वेद का उत्साह उद्बलकेथैव स्वतः ही अभिव्यक्त नहीं होसकता । एवं वेदमहर्षि ने वेदार्थ-समन्वय की बोधदा के स्वरूप-विश्लेषण के लिए एक ऐसे ही 'उद्बोधनसूत्र' का स्थीकरण किया है जिसे मैं अब समझ व कर देना आध्यात्मिक नहीं माना जायगा ।

विज्ञान-परम्पराओं की रहस्यमैयिका निरतिशयकरेण दुरधिगम्या सुप्रसिद्धतमा श्रुवेदसंहिता का अस्थायी नामक 'सूक्त विद्वान्' में सुप्रसिद्धतम है । जिस केवल ५२ ( पाँच ) मन्त्रात्मक स्वरूपय एक में-ब्राह्मणिरूपा-वामपक्षितविद्या-सप्याहोरात्ररूपा मन्वत्सचक्रविद्या सप्ततन्त्र-विताना रिमक प्रज्ञातसुवितानविद्या रसगर्भांगुगता गोचरविद्या रोषसी-कम्पसी-संयती-रूपा प्रैलोक्य प्रैलोक्यविद्या-सप्तप्राकारमिक सप्तविद्या सुपयाविद्या यज्ञविद्या धामविद्या वृष्टिविद्या आदि प्राप्ति मेदेन अनेक रहस्यपूर्ण उन छविधियाँ का स्वरूपेण संकलन हुआ है जिन में से एक एक ही विद्या में बड़े से बड़े प्रज्ञाशील मेधावी विद्वान् के भी शिराधिकम्पन की क्षमता विद्यमान है । अत्यन्त रहस्यपूर्ण एवंविद्या अष्टिकात्मा अनेक छविधियाँ की अपनी सुप्रमयी संक्षिप्ततमा धर्मबोधाणी में केवल ५५ मन्त्रों के माध्यम से स्पष्टीकरण कर देने वाले मन्त्रसमष्टिरूप अस्थायीयुक्त के अष्टा महामहर्षि दीपतमा महामाया का व्यक्तिस्व है। और जितना महतोमहीमान् रहा होगा, प्रश्न के संस्मरण का भी महत्त्व अभिमान की अधि

भार नहीं है। सर्वरहस्यवित् सधाविष दीपतमा नामक वैसे महामहर्षि अपने व्यक्तित्व की स्वरूप-मीमांसा के लिए ब्रह्म प्रवृत्त होते हैं, वो हमारी स्वल्पप्रज्ञा सर्वथैव विमूढा बनी रह जाती है। उन्हीं के मुक्तपङ्कज से विनिर्मुक्ता परमोद्बोधनप्रदात्री निम्नलिखिता आर्षबाणी को सुन कर सचमुच ही हम तो अपना सभी कुल मूल जाते हैं कि—

अधिकिस्वाच्चिकितुपश्चिद्वन्न कवीन् पृच्छामि विद्यन, न विद्वान् ।

वि यस्तस्तम्म पठिमा रजांसि, अज्ञस्य रूपे किमपि स्वदेकम् ॥

—ऋक्संहिता १।१९३।६। (अस्ववामीयसूक्ते)

मन्त्रव्याख्यान का अत्र अवसर नहीं है। केवल मन्त्र के पूर्वाङ्क की ओर ही हमें अपना ध्यान आकर्षित कर लेना है, जिसका श्रुतमाषाण यही आश्चर्य है कि—‘मैं स्वयं इस तथ्य के सम्बन्ध में मीमांसा करने में क्योंकि असमर्थ हूँ—अज्ञ हूँ, अतएव समर्थ भुविष्ठेय-क्रान्तीवर्ती विद्वानों से ही इस सम्बन्ध में केवल अपने बोध के लिए मैं यह पूछ रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं नहीं जानता वस तथ्य को कि—किसने जन व रजोरूप लोकों को अपने ऊपर स्थापित कर रक्खा है, समतुलित कर रक्खा है।’

जो महर्षि दीर्घतमा आगे चलाकर स्वयं इसी अपने अस्ववामीयसूक्त में—‘तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् विश्वेदेक उर्व्वस्तस्यौ नेमष ग्लापयन्ति’ (ऋक्सं १।१९४।१।) इत्यादि मन्त्र के द्वारा ‘रोदसी-क्रन्दसी-संयसी-रूपा-त्रैलोक्यत्रिलोकीविद्या’ का स्वरूपोद्घाटन करते हुए ‘उर्व्वस्तस्यौ नेमष ग्लापयन्ति’ रूपे ‘अज्ञस्य रूपे किमपि स्वदेकम्’ इस असमावेब प्रश्न का स्वयं ही समाधान कर रहे हैं, उन्होंने—क्यों, और किस लिए—‘अधिकिस्त्वाम्-न विद्वान्’ कह दिया है, यह महान् प्रश्न है, जिसके गम में ॥ महर्षि का यह उद्बोधनवृत्त पिनड है, जिसका पूर्व में यथोगान किया जा चुका है।

प्रधान-शब्द-रूप महान् सृष्टिविज्ञान के स्वरूप-विरलेष्य-प्रवृत्त हैं उन्हीं के द्वारा सङ्केतविधि से श्रुतिवाणी अन्त्यान्त्य प्रासङ्गिक उद्बोधन भी प्रदान करती रहती है और यही गमीचर्यगमिता अनेकलक्ष-संवाक्षिक श्रुतिवाणी की गरिमा-महिमामयी-महती विशेषता मानी गई है लोक-सामान्या बाणी के समग्रालन में। महर्षि दीर्घतमा इसी सहचरौली के आचार पर सत्सलोकविज्ञान-प्रवृत्त के साथ ही ‘अधिकित्वाच्चिकितुपिश्चिद्वन्न’ इत्यादि रूप से वेदानुगत-सृष्टिविज्ञान से अनुगता सफलता के महान् आचारस्तम्भ व्यक्ति स्वविमोहनापहरणात्मक-महोदमीयान् उद्बोधन-तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसका सहचरूपेण यही निष्कर्षार्थ है कि वेदपुराणवि आर्षयास्त्र के स्वाध्याय में प्रविष्ट व्यक्ति को अपने मन शरीरनिष्पन्न प्रकृत्य-नुगत लोक-समाधानुबन्धी बाध-व्यक्तित्व को एकान्तत विस्मृत ही कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में-उस सनातनव्यक्तित्व के पारिमाथिक तथ्यों के साथ आभलाद्यात् करने के लिए अपने व्यक्तित्व-दम्भ को सर्वथैव विस्मृत कर देना चाहिए।

व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व की विस्मृति को क्यों आवश्यक समझ श्रुति ने है, प्रश्न का उत्तर पूर्व के उन्मर्ग से ही यद्यपि गतार्थ है। तथापि स्पष्टीकरणदृष्ट्या लोकमाया में भी तत्सम्बन्ध में किञ्चिद्विनिवेदन कर दिया जाता है। वास्तविक-व्यक्तित्व एवं व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व-मे-से व्यक्तित्व

को हम समझने के लिए दो भागी में विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अभिन्न माना गया है जिसे दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म कहा गया है। वही मानवीय आत्मा का आत्मनिष्पन्न स्वरूप है और आत्मनिष्पन्न दिग्देशकालातीत अनात्म-शाश्वत-ऐसा अलौकिक व्यक्तित्व ही मानव का वास्तविक-व्यक्तित्व है, जिसका साधनमात्राधुन्य-वायिद्वय-वीरता, क्षिया सत्यनिष्पन्न-उच्चपद आदि आदि के साथ व्यक्तित्व में सम्पर्क नहीं है। अस्तित्व समदर्शनाधारित आत्ममात्रमूलक ऐश्वर्यमहान् व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यापक व्यक्तित्व है, जिस व्यक्तित्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति-समाज-राष्ट्र-आदि परिस्थितिसमाधी से निकल कर सर्वभूतहितरति का ही अनुगामी बन जाता है और ऐसा मानवबोध ही 'अलौकिक-मानव' माना गया है, एवं इसी को "अनुमानित" कहा गया है, जिसका वास्तविक महान् व्यक्तित्व महतोमगीय दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म से सम्पत्ति प्राप्त होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सर्वथैव अचल्य है।

इसका अर्थ है—दिग्वेद्यज्ञानानुसंधी-सोपाधिक-परामित-व्यक्तित्व । बनकर मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विपददर्शनात्मक सोपाधिक-सोच-समाज-सत्तात्मकता से अनुप्राणित परामित व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से उत्तराधिकार के निर्वहण के लिये तैयार होता है । तब तक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व भी मानव के लिए दृष्टिकोण के लिये सामान्य व्यक्तित्व ही बनता रहता है । किन्तु आत्मसाम्य के समदर्शनात्मक-निष्ठापूर्ण-व्यक्तित्व की उम्मेद कर यही मानव अब केवल दिग्वेद्यज्ञान का ही प्राप्त बन जाता है तो यही आगन्तुक व्यक्तित्व दृष्ट नामक-समाज-सोपाधिक-व्यक्तित्व के स्थान में—'अनिष्टपरम्परासंबन्ध-समाज-राष्ट्र-स्वतन्त्र-व्यक्तित्व' ही बन जाता है और इसी पूर्व दिग्वेद्यज्ञानानुसंधी सामाजिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व' ।

कालसाक्षी धूर्य मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्धक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एव देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का भार मण्ड (उपादानकारण) है। यों कालात्मक धूर्य, दिगात्मक चन्द्रमा, एव देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक-पर्वों से ही मानव के बुद्धि-मनः-शरीर-रूप तीनों प्राकृत-पर्वों का स्वरूप-निर्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकाला-जुषन्वी-सौक्तिक-प्रकृतिसिद्ध-भ्यक्तितन्त्र के चिरन्तन इतिष्ठ का सचिप्सुतम इतिष्ठ।

यदि दिग्देवशक्तानुष्णवी-बुद्धिमान-शरीरात्मक-लौकिक-व्यक्तित्व दिग्देवशक्तादीव आत्मनिक्रमन वास्तविक-व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है तो पूर्वकथनानुसार इत्यर्थत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देवशक्तानुष्णवी-शाक्तविक-लौकिकशक्तानुष्णव-शामिक-प्रसोमन प्रभावित नहीं कर पाते । और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का यह लौकिक व्यक्तित्व भी भूरापि इसके स्वकपिमोहन का स्वरूप नहीं बन सकता । अतएव ऐसा आलौकिक मानव लौकिकव्यक्तित्व का भी स्वसंभवा स्वनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेता है दिग्देवशक्तानुष्णवी-उत्पीकनी की उपाया ही करता हुआ ।

ठीक इसके विपरीत वही मानव बुद्धिमान यदि अपने दिग्देशकालापीत आत्मनिष्पन्न-समग्र से अमिष्ट वास्तविक-प्रकृतिक को विस्मृत कर अपने मानवीय-स्वयम् को दिग्देशकालिक-आत्मामिष्टकालापीत-

मानवेतर पशु-पक्षी-आदि की मूर्ति केवल बुद्धि-मन-शरीर-तन्त्रजन्यी पर ही परिमाण मान बैठने की मयावह भूल कर बैठता है ज्योतिषवाद्यों की मूर्ति, तो निश्चयेन थोड़े ही समय में इस का समस्त उन्निष्ठ होजाता है। और केवल बुद्धिवादात्मक-मनोराज्य के बल पर कास्पनिक शारीरिक-भूततात्म की अहर्निश घोषणा करता हुआ भी यह प्राकृत मानव उत्तरोत्तर-प्रकृत्यनुनम्बिनी उस मयावह विषमता का ही अधिक बनता जाता है जिस की पर्यावसानभूमि-‘समुत्तस्तु विनश्यति’ ही मानी गई है। बौद्धिक दम्भ से अहोरात्र अतिमानाक्रमन्, मानसिक मान से सतत कान्चालीकृत, एवं शारीरिक मद से निरन्तर अशु-चिन्मावामन्न ऐसा दिग्देशकालविमूढ मानव ही कालांतर में अपने दिग्देशकालानुन्धी-शोक्रिक-व्यक्तित्व से भी पराङ्मुख बन जाया करता है। ऐसी अवस्था, किंवा मानस्वरूपविपातिनी ऐसी बोरबोरतमा दुर्दशा-वस्था से समलङ्कृत ये मानवमहाभाग ही व्यक्तित्वविमोहनात्मक उस कास्पनिक-व्यक्तित्व के महापात्र माने गए हैं जिस का यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक कास्पनिक व्यक्तित्व किसी भी क्षण गन्धर्वनगरलोकात् देखते ही देखते सदा के लिए उस्मृति के गर्भ में विलीन होजाया करता है, और तब इन के बुद्धिवादात्मक दम्भ के क्षेत्र में ज्योतिष-दुःख-शून्य-मावनिक्चन-अनात्मवादात्मक बड़बाद के अतिरिक्त और कुछ भी तो रोप नहीं रह जाता।

प्रसङ्गतः निर्दिष्ट वास्तविक-व्यक्तित्व, एवं व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व, मेदेन विधा-विमूक्त व्यक्तित्व में से भारतीय-श्रुतिदृष्टि में आत्मसाम्यमूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व ही मानव का वह ‘व्यक्तित्व’ है, जिस के गर्भ में उन्नी प्रकार सम्पूर्ण विश्व गर्भीभूत है जैसे कि दिग्देशकालातीत समग्रता के महिमावयवत्व में सम्पूर्ण चराचर विश्वप्रपञ्च गर्भीभूत है। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व के मुख से ही तो-‘मा करिचत्-दुःखभाग्यमेत्-‘सर्वे सन्तु निरामयाः-‘कुण्ठन्तो विश्वमाप्यन्’ जैसे आत्मसाम्यसूत्र विनिर्गत होकरते हैं। और यही है भारतीय-व्यक्तिमूलक वह आत्मसाम्य, जिस के स्वरूपनाश से वक्षित आश के समावहानी भारतीय-समाज-व्यवस्था पर व्यक्तित्वातिमान का वृणित आरोप लगाते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अन्नत नहीं होजाते।

बिना सम-भाषापन्न-समानाधिकारमूलक साम्य का, किंवा समाजवाद का आन के बुद्धिवादी ययोगान करते नहीं अघाते, वह तो वास्तव में व्यक्तित्वविमोहनात्मक-कास्पनिक-व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृतिनिक्चन बैसा बोरबोरतम विषमवाद, किंवा वैषम्य है जिस के क्षेत्र में विश्व-राष्ट्र-समाज की कथा तो दूर रही, अपने परिवार के कुलहदों का भी समादार सम्भव नहीं है-केवल स्वकामार्थ-मोगाति से अनुप्रासित उत्सहायक-स्वार्थसंघातक कतिपय तथ्याविष ही व्यक्तित्वविरोधी के अतिरिक्त। स्वयं, स्वामय, और उत्कामार्थमोगसंघातक-बाहुकार-गतानुगतिक-परिगणित-व्यक्तिविरोध अलमतिपक्षवितेन। यही उन समाजनिष्ठी का सम्पूर्ण समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा सम्पूर्ण विश्व है, जिस के दिग्देशकालानुन्धी तात्कालिक-स्वार्थ-संघातन के लिए ही ये पुरुषपुञ्ज परिवारकुलहद-समाज-राष्ट्र-आदि आदि सभी के साथ जगमान में प्रचलबलम विश्वासघात करते हुए भी निलम्ब नहीं करते।

और अत्यन्त की कारुणिक हृदय से आश हमें इस नम्र स्वर का अनुगमन करना पड़ रहा है कि, आश का स्वतन्त्र मार्ग आत्मसाम्यमूला ब्रह्मविद्वा भर्म्निष्ठा से अपने आपकी पराङ्मुख प्रमाणित कया हुआ दिग्देशकालानुन्धी-व्यक्तित्वविमोहनात्मक-उस व्यक्तित्व की ओर ही अन्धरूपेण अनुपादन

को हम समझने के लिए दी मार्गों में विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अमिश्र माना गया है। भिन्न दिग्देशकालातीत अनन्तमय कह गया है। वही मानवीय आत्मा का आत्मनिकम्पन स्वस्वरूप है, और आत्मनिकम्पन दिग्देशकालातीत सनातन-शरत्-ऐसा अलौकिक व्यक्ति है ही मानव का वास्तविक-व्यक्तित्व है, जिसका लोकमानुषानुबन्धी-पारिवार्य-वीरता, जिंदा सत्तानिकम्पन-उच्चपद आदि आदि के साथ परिचित नहीं है। अतः समदर्शनधारभूत आत्मसाम्यमूलक ऐसा महान् व्यक्ति ही मानव का वह व्यापक व्यक्ति है, जिस व्यक्ति पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति-समाज-राष्ट्र आदि आदि परिच्छिन्नमात्रों से निवृत्त कर सर्वभूतहितरहित का ही अनुगामी बन जाता है और ऐसा मानव ही 'अलौकिक-मानव' माना गया है, एवं इसी को 'अपिमानव' कहा गया है, जिसका वास्तविक महान् व्यक्तित्व महोत्सवीयान् दिग्देशकालातीत अनन्तमय से समुत्पन्न होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सर्वथा अलक्ष्य है।

दूसरा व्यक्ति है-दिग्देशकालानुबन्धी-लोपाधिक-पराभित-व्यक्तित्व। अतः मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विद्यमानात्मक लोपाधिक-लोक-समाज-सत्ताएँ आदि से अनुमानित पराभित व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से उत्तरदायकता निर्वाहमात्र करता रहता है। तब तक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व ही मानव के लिए इष्टजनक लौकिक समादरणीय व्यक्तित्व ही बनता रहता है। किन्तु आत्मसाम्य समदर्शनात्मक-निष्पादिक-वास्तविक-व्यक्तित्व की उपेक्षा कर वही मानव जब केवल दिग्देशकाल का ही प्राधन बन जाता है, तो वही आगन्तुक व्यक्तित्व इष्ट नामक-समादरणीय-लौकिक-व्यक्तित्व के स्थान में- 'अनिष्टपरम्परात्मक-समाज-राष्ट्र-स्वकल्पित' ही बन जाता है और इसी वृत्ति दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व'।

कालसाक्षी धर्म मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्णक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एवं देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पञ्चभौतिक शरीर का आधार मण्ड (उपादानकारण) है। यों कालात्मक धर्म, दिगात्मक चन्द्रमा, एवं देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक-पर्वों से ही मानव के बुद्धि-मनः-शरीर-रूप तीनों प्राकृत-पर्वों का स्वरूप-निर्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकाला अनुबन्धी-लौकिक-प्राकृतिसिद्ध-व्यक्तित्व के चिरन्तन इतिवृत्त का सचिष्ठतम इतिवृत्त।

यदि दिग्देशकालानुबन्धी-बुद्धिमनः-शरीरात्मक-लौकिक-व्यक्तित्व दिग्देशकालातीत आत्मनिकम्पन वास्तविक-व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है तो पूर्वकथनानुसार इत्यभूत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देशकालानुबन्धी-तात्कालिक-लौकिकानुगत-सामयिक-मनोमन प्रभावित नहीं कर पाते। और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का वह लौकिक व्यक्तित्व ही कदापि इसके स्वकल्पविमोहन का कारण नहीं बन सकता। अतएव ऐसा अलौकिक मानव लोकव्यक्तित्व का ही उत्तमना अग्रनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेता है दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्तित्व की उपेक्षा ही करता हुआ।

ठीक इसके विपरीत वही मानव बुद्धिमानव यदि अपने दिग्देशकालातीत आत्मनिकम्पन-समग्र से अमिश्र वास्तविक-व्यक्तित्व को निरस्त कर अपने मानवीय-स्वरूप की दिग्देशकालिक-आत्मामिश्रव्यक्तित्व-तन्त्र-

और पुण्य, दोनों का पारिभाषिक—स्वाध्याय उस प्रत्येक द्विधाति के लिए अनिवार्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्भूता भारतीय—ग्रन्थसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय निःशेषसु-संसाधक उदक से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनों महान् स्तम्भों के पारिभाषिक—समन्वय के बिना भारतीय—आर्य—संस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं होसकता।

वैसाकि प्रथमसहस्राब्दगुणा प्रस्तावना में निवेदन किया जा चुका है ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणों से प्रमुख स्थान है। अन्यान्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा भी 'भारती' नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता संस्कृतभाषा से अधिकारा में समृद्धिता है, अतएव विशेष-रूपेण बोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्लभ वैज्ञानिक मगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मधुभवा के द्वारा संकलित किंवा स्वयं याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी-स्व-परिभाषाओं का समन्वयात्मक—वैसा अपूर्व एवं पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शयपपेतर ब्राह्मणों से अनुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं का भी मगवान् याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप से संग्रह कर लिया है। इन्हीं सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१) अध्यायों के विस्तारपथ का अनुवर्तनी बनता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। स्वयं मगवान् बादरायण ने मगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की तथोक्ता अपूर्वता का निम्न लिखित शब्दों में यथोगान किया है—

यः ह १ न तवाच—अध्यक्तस्य पर यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ! ॥

पर गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वभावदितो नृप ! ॥१॥

यथार्येणैव विधिना चरताऽनन्तेनह ॥

मयाऽऽदित्याद्वाप्तानि यजूं पितृमिधिलाधिप ! ॥२॥

महता तमसा देवस्तपिष्यु सेवितो मया ॥

प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ! ॥३॥

घरं वृणीष्व विप्रये ! यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ॥

तत्ते दास्यामि प्रीतात्मा नत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥

ततः प्रथम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ॥

यजूं पितृनोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥५॥

ततो मां मगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ! ॥

सरस्वती' इ 'वाग्' भूषा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥

ततो मामाह मगवानास्यं स्व विभूतं कुरु ! ॥

निवृत्तं च ततो मेरुं प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥

ततो विद्वद्मानोऽहं प्रविष्टोऽम्मस्तदानघ ! ॥

अविज्ञातादमर्षाणं मास्करस्य महारमनः ॥८॥



करता बारहा है, जिस अनुपातन से आज भारतराष्ट्र का आत्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तिवनिष्पन्न-आत्मुद्यम-निर्भेदस्-सबधेय पराङ्मुख बन गए हैं। व्यक्तिवाद की इत्थंभूता अनर्धकारिणी प्रवृत्ति तो उन प्रतीत्यपेक्षों में भी नहीं है, जिन में कभी भी दिग्देशकालातीत-आत्ममूलक के व्यवस्थित समन्वय का प्रभाव नहीं हुआ। उन का व्यक्तित्व भी 'स्वराष्ट्र' के प्रति तो अधिकारा में मनुमुक्षिरातीतर्षण की भावना से ही सम्पन्न हुआ गया है, जबकि आत्मानात्म्य के अनन्तता इस पावन भारतराष्ट्र की मानवप्रज्ञा आज अधिकारा में अधन्यतम व्यक्तिवनिष्पन्नतात्मक-व्यक्तित्व से अनुपाणित वैयक्तिक-आचार्यमीमा के समुत्पन्न में राष्ट्र की आचार्यवमरथा के साथ निरवानपात कर डालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रही, इससे अधिक भारतराष्ट्र का नैतिक, तथा सांस्कृतिक अक्षयपतन और क्या होगा ?।

दिग्देशकालानुपनिषिनी सीमा में प्रतिष्ठित मानव का व्यक्तित्व ही विमुक्तमावाप्त बना करता है, और ऐसा विमुक्त व्यक्तित्व ही दिग्देशकालानुपनिषिनी उस सामयिकी करणता के प्रति उत्तरीन बना रहता है, जिसके माध्यम से ही युगधर्मनिबन्धन स्वार्थों की पूर्ति सम्भव मानी गई है। यही वैयक्तिक-स्वार्थ भारतीय उस केन्द्रपुराणशास्त्र की सीमा में भी गत अनेक शताब्दियों से प्रविष्ट होता आ रहा है जिसके आकर्षण से ही शाल्मीन-सिद्धान्त में दिग्देशकालानुपनिषिनी शताब्दियों की परिवर्तनशीला सांस्कृतिकी मानवताओं के अनुपात से उद्भूत के कारणवादी-दिग्देशकालविमूढ-दुश्चिन्हा विद्वानों के द्वारा बनेच्छु परिवर्तित होते आ रहे हैं जिस युगधर्मनिबन्धन परिवर्तनपरम्पर से ही सम्प्रदायवाद-परम्पराओं से उद्भूत अस्तित्व में, विशुद्ध-ज्ञान विज्ञानात्मक की वेदशास्त्र आज इतर साम्प्रदायिक-मतवादात्मक-मानसिक-शब्दवाला की भाँति केवल 'साम्प्रदायिकधर्म' ही प्रमाणित होगा है। और यही दिग्देशकालानुपनिषिनी-व्यक्तिवनिष्पन्नतात्मक-सांस्कृतिक-व्यक्तित्व के कारणतानुपनिषिनी आत्मपक्ष के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतीय शिक्षा प्रज्ञा निगूढ अनेक शताब्दियों से केन्द्रपुराण-शास्त्र ही तथापि-ज्ञान तथा पुराण के आत्मज्ञानों की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की तत्त्वमूला संवित से बहिष्ठ ही बनती चली आ रही है।

महर्षि दीर्घतमा के उद्बोधक-सुत्रानुसार आज भी भारतीय ज्ञाण्यप्रज्ञा यदि अपने आपकी-व्यक्तित्व-विमोक्षणत्मक आत्मनिक-व्यक्तित्व का परिष्कार दिग्देशकालातीत-अनन्त-सम्प्रदायमूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व के माध्यम से गुहानिहितवृत्ता एकान्वनिष्ठा से केन्द्रपुराणसाध्य में अपने आपको प्रवृत्त करदेती है तो निश्चयेन स्वतः ही इस के अनुमावाप्त निष्कारणात्मक-बीज-धरातल पर वेदाय का पारिमायिक बोध स्वतः ही व्यभिचूत होकरता है और इस पक्ष के अतिरिक्त केन्द्रपुराणशास्त्र के पारिमायिक-तत्त्व-समन्वय के लिए- 'नाम्ना-पन्था विरते अयमात्र' । यही उस प्रकल्प महत्त्वपूर्ण प्रश्न का सांस्कृतिक-समन्वय-निष्कर्ष है जिस प्रश्न के द्वारा वेद-पुराणानुगत आत्मज्ञानोपाध्यायों की परिभाषाएँ आज विद्वानों के लिए भी बटिलतमा समस्या प्रमाणित हो रही हैं इत्यलमतिनिश्चय-केन्द्रपुराणनिबन्धन-पारिमायिक-बीजानुगत-सांस्कृतिक-महत्त्वपूर्ण-प्रश्न-उत्पादन-प्रसङ्गेन ।

उक्त स्न्दर्भ के माध्यम से आज निवेदनीय प्रमुख लक्ष्य यही है कि, सम्प्रदायवादात्मक वेदशास्त्र के- 'विधि' नामक आक्षेपयोग की आत्मज्ञानोपाध्यायानुगता पारिमायिकी शब्दावली के तत्त्वार्थ-समन्वय के बिना एवं पुराणशास्त्र की तथापि परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदशास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक सांस्कृतिक समन्वय भी असम्भव है एवं आचार्यात्मिका अमन्वयवस्था का भी समन्वय असम्भव है। अतएव आक्षेप,

और पुराण, दोनों का पारिभाषिक-व्याख्या उस प्रत्येक द्विनाति के लिए अनिवार्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्मत भारतीय-प्राच्यसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय निःशेष-संसाधक उदक से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनों महान् स्तम्भों के पारिभाषिक-समन्वय के बिना भारतीय-धर्म-संस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं हो सकता।

जैसा कि प्रथमखण्डानुगत प्रस्तावना में निवेदन किया जा चुका है, ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणों से प्रमुख स्थान है। अन्योन्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की माया भी 'भारती' नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता संस्कृतमाया से अधिकार में समन्वित है, अतएव विशेष-रूपेण शोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्दुर्लभ वैज्ञानिक मगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मनुजवा के द्वारा संकलित किंवा स्वयं याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी-सर्व-परिमायाओं का समन्वयात्मक-वैसा अपूर्व, एवं पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शतपथेतर ब्राह्मणों से अनुगता वैज्ञानिकी परिमायाओं का भी मगवान् याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप से संग्रह कर लिया है। इन्हीं सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१००) ब्राह्मणों के विस्तारपथ का अनुवर्तमान बनता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। स्वयं मगवान् याज्ञवल्क्य ने मगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की उद्योक्ता अपूर्वता का निम्न लिखित शब्दों में यशोगान किया है—

यः शतपथं ब्रह्मण्यक्तस्य परं यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ! ॥

परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्व्यावद्वितो नृप ! ॥१॥

यथार्पणेह विधिना चरताऽवनसेनह ॥

मयाऽऽदित्यादधाप्तानि यजूं पितृभिर्भिलाषिप ! ॥२॥

महता तमसा देवस्तपिष्युः सेवितो मया ॥

प्रीतेन चाहं विद्वान्नामैर्योगोक्तस्तदानध ! ॥३॥

अरं वृक्षीष्व विप्र्ये ! यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ॥

तच्छे दास्यामि प्रीतात्मा नत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्वपतां वरः ॥

यजूं पितृभिर्भिलाषिपि विप्रिभिर्योगोक्तस्तदानध ! ॥५॥

ततो मां मगवानाहं वितरिष्यामि ते द्विज ! ॥

सरस्वती' ह 'वाग्' भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥

ततो मामाहं मगधानास्यं स्व विवृतं कुरु ! ॥

निवृत्तं च ततो मेहर्षं प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥

ततो विद्वान्मानोऽहं प्रविष्टोऽहं स्तदानध ! ॥

अविज्ञातादमर्षाणं मास्करस्य महामनः ॥८॥

ततो विदद्यमान मामुवाच भगवान् रविः ॥  
 मुहूर्त्तं सद्यतां दाहस्ततः शीती भविष्यति ॥६॥  
 शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह मास्करः ॥  
 प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिस्तु सोचरो द्विज ! ॥१०॥  
 “कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेरयति द्विजर्षभ ! ॥  
 तस्यान्ते चापुनर्मावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥११॥  
 प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत्सारूप्ययोगेप्सितं पदम् ॥”  
 एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाम्बवर्षत ॥१२॥  
 ततोऽनुष्यादत श्रुत्वा गते देवे विमानसौ ॥  
 शृङ्गागत्य गृह्योऽचिन्तयन्—वै सरस्वतीम् ॥१३॥  
 ततः प्रवृत्तातिश्रुमा स्वरम्यञ्जनभूषिता ॥  
 ओम्कारमादितः कृष्णा मम देवी सरस्वती ॥१४॥  
 ततोऽहमर्भ्यं विधितुं सरस्वत्यै न्यवेदयं— ॥  
 तपतां च वरिष्ठाय निपत्यस्तत्परायण ॥१५॥  
 “ततः शतपथं कृत्स्नं सरस्वत्यै तर्पयाम् ॥  
 यत्के तपरिशेषं च इषेण परमेश्वर ॥१६॥”  
 बीजमेतत्पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ॥  
 सूर्यस्य चक्षुर्मात्रेण प्रवृत्तोऽहं नराधिप ! ॥१७॥  
 कर्तुं शतपथं वेदमपूर्वं च कृतं मया ॥  
 यथामिक्षिपितं मार्गं तथा तद्योपपादितम् ॥१८॥

—महाभारत शां० सो० ३१८ अ० ।

अपनी तथाविधा कृत्स्ना-विशेषताओं के अनुकूल से ही हमने शतपथब्राह्मण के ही पारिभाषिक-सम्बन्ध को प्रकृतता मान ली है इतर ब्राह्मणग्रन्थों के सम्बन्धन में । मौलिक-परिभाषाओं के चिरन्तनेविहृत सम्बन्ध के बिना ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ तथा पुरुषार्थ-रूप किसी भी शीघ्र-प्रधान-कर्म की छवि-रूप-सम्बन्धपरिभाषा व्यवस्था व्यवस्थित नहीं हो सकती । और तत्कालमन्त्रसम्बन्धपरिभाषा ज्ञानविज्ञानादिभिन्न वे परिभाषाएँ कारणवशात् के बाबलपारासमक निग्रह से शताधिक्य से अभिभूतमात्र ही बनती जाती आती हैं । यही वह महती कठिनाई है, जिसके सम्बन्ध के लिए हमें प्रत्येक पारिभाषिक-शब्द के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञान सम्मत चिरन्तन-विहृत का अनिवार्यरूपेण उपबृंहण करना ही पड़ता है एवं सबसे सम्भव रहने वाली पारिभाषिकी पुरस्कृति, तथा हविहृत-विश्लेषणार्थक-विस्तार, दोनों जैसे माध्यमों का भी अनुगमन करना

ही पड़ता है जिनके अनुबन्ध से ही 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' का पुष्तात्मक-लिपिरूप-करोवर अनुमानतः बीससहस्रपृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। परिभाषाओं के प्राथमिक-स्पष्टीकरणानुबन्ध से चतुर्दशकाण्डात्मक-शतपथ के केवल प्रथमकाण्ड का ही भाष्य अनुमानतः तीन सहस्रपृष्ठों में लिपिबद्ध हुआ है, जबकि-आगे के काण्ड बयासम्भव सहस्र-सहस्र-पुष्तानुगति के ही अनुगामी बने हुए हैं। आद्य से बीस वर्ष पूर्व लिपिबद्ध किया हुआ यह विस्तृत शतपथभाष्य प्रकाशनावसरों पर पुनः संशोधन-की तो अनिवार्यरूपेण अपेक्षा रख ही रहा है। और इसी दृष्टि से प्रकाशनवेला से पूर्व पुनः प्रकाशन-जारीभूत भाग का आद्यन्त पुनः प्रतिलिपिकरण अनिवार्य बन जाता है। इत्यभूत महत्वपूर्ण-पारिभाषिक आर्यग्रन्थ को दिग्देशकाला-मुनन्विनी वात्सलिकी क्यङ्कपयान्तिमात्र के लिए भ्रष्टि एकहेलाया बयेष्कुरूपेण प्रकाशित कर देना तो आत्महनन ही माना जायगा। बहुत सम्भव है, हम अपनी शारीरिक-वर्जस्विकवस्था के अनुबन्ध से इस भौतिक जीवन में सम्पूर्ण शतपथ का प्रकाशन यथाविधि न कर सकें। किन्तु जितना अद्य प्रकाशित होगा उसकी परिभाषाओं के माध्यम से यह तो आस्थापूर्वक उद्घोष किया ही जासकेगा कि, भविष्य में इस साहित्य के पारिभाषिक-मन्थन के लिए सग्रीभूत महातुमावों के लिए यह प्रकाशितभाग अवश्यसेव अशत' तो सहयोगी ही प्रमाणित होगा। एकमात्र इसी दृष्टि के आधार पर यथाशक्ति शतपथब्राह्मणभाष्य का प्रकाशन सम्बद्ध प्रक्रान्त हुआ है गतवर्ष से-'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा। गतवर्ष प्रथमकाण्डानुगत को प्रथमखण्ड प्रकाशित हुआ था, उसके प्रमुख विषयों का प्रास्ताविक के उपक्रम से ही सिंहावलोकनम्यावेन सस्मरण किया जा चुका है (देखिए पृ सं ७)। ठीक एक वर्ष के अनन्तर प्रकाशित होने वाले प्रथम काण्डानुगत-द्वितीयखण्ड के प्रस्तुत प्रकाशन से अनुमानित प्रमुख विषयों का भी अद्य सन्दर्भसङ्घति के लिए नामस्मरण कर लिया जाता है।

प्रथमकाण्डानुगत-प्रस्तुत-द्वितीय-खण्ड में (प्रथमकाण्डानुगत-पूर्वप्रकाशित-प्रथमखण्ड के विषयों से आगे क्रमप्राप्त) जिन-प्रमुख याज्ञिक-विषयों का पारिभाषिक-ग्रन्थव्य हुआ है, उनका निम्नलिखितरूपेण क्रमविम्वचन हुआ है।

प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमाध्यायात्मक-  
द्वितीयखण्ड में प्रतिपादित प्रमुख-कर्मों की  
तथा-स्मारकविषयों की तालिका

• • •

	प्रधानकर्मणि	कामानुगता वृष्टसंख्या	स्मारकविषयसंख्या
१०	उपवेपथ्यादनम्, अग्नौ कृत्वाकोप- धानेन इति-परिपाकश्च	६११	६९२
११	विष्टेनोदकमिश्रितेन- पुरोडाशसम्पादनम्	६६१	५१८
१२	पात्रीनिर्घोषनम्- पुरोडाशमीमांसया-समन्वितम्	७०४	८३१
१३	वेदिभ्यश्चरणा म-साम्यवस्तु रणा, भूविद्योषनश्च	७६८	६६८
१४	वेदिपरिमहः	८४४	१ ८६
१५	ब्रह्मसंस्कारः	८५८	७७८
१६	आत्मग्रहणम्	१ ३७	९८८
१७	इष्टमानुगत - कर्मसंग्रहः	१०७७	१३८
१८	समिधेन्यगुपचनम्	११३५	१७६८ - १
१९	पूर्वापारेदिकर्माभ्याम्	१३१७	४१३
२०	उत्तरपारैतकसंख्या	१३५७	
२१	पञ्चरात्रकर्मोदिकसंख्या	१३६७	२८२
२२	सुगन्धापनम्-आवाधाय- प्रत्यावाधनश्च	१४ ५	८
२३	प्रवाकजाह्नयाम्	१४७५	९
	प्रधानकर्मसंख्या-१४	भाष्यवृष्टसंख्या-११३२	स्मारकविषयसंख्यासंज्ञान- ८५६१

प्रथमकाण्डानुगत पूर्वप्रकाशित प्रथमखण्ड, तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के संकलनात्मक अठारहवौ-पृष्ठात्मक विज्ञानमाध्य के आरम्भ के 'अतोपायनकर्म' से आरम्भ कर प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम २१ वें प्रयाजब्राह्मण पर्यन्त बिन स्मारक-विषयों का परिमाषारूपेण समावेश हुआ है, उन के आधार पर ही स्याज्ञीपुलाकन्यायेन शतपथविज्ञानमाध्य की पारिमाषिकी उपयोगिता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकता है। प्रथमखण्ड में अनुमानता ४६ परिमाषाओं का तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में अनुमानता ८२ परिमाषाओं का, सम्मूय १२८ (तेरहसहस्र) पारिमाषिक तथ्यों का संस्मरण करने वाले प्रथमकाण्डानुगत प्रकाशित दोनों खण्डों की तयाकथिता परिमाषाओं के संस्मरणार्थ पर निरचयेन उन अनेक ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविधानिबन्धन तथ्यों का सर्वप्रथम नहीं, सो अशक्त' सो दिग्दर्शन ही ही जाता है, जिस पारिमाषिक दिग्दर्शन के बिना रहस्यपूर्ण ब्राह्मणप्रयोगों के रहस्यात्मक-पारिमाषिक-सृष्टीविहित सर्वथा परोक्ष ही बने रहते हैं।

वैवाहिक-प्रास्ताविक के उपक्रम में ही निवेदन किया जा चुका है वतमानयुग के मानवों की प्रज्ञा दिग्देशकालानुबन्धिनी वास्तविकी उपयोगिता एवं ठमिक्बना कारणता के आधार पर ही किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हुआ करती है, जिस कारणता का माध्यमेन निष्कारण पड़झो वेदेष्वप्येयो ज्ञेयश्च रूपेण यद्यपि सर्वथा निराकरण किया जा चुका है। तथापि तथाविधा सामयिकी उपयोगिता के पक्षपाती अमुक अविशिष्ट के अनुगामी पाठकों की दृष्टि के लिए 'युगानुगता उस उपयोगिता' का भी दिग्दर्शन आवश्यक हो जाता है जिस के बिना इत्यमं शास्त्रावलोकन-स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-आचरणदि में तथाविध विशेष वर्ग की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही प्रथमकाण्ड के प्रास्ताविक में स्वयं-वेदाक्षरों के आधार पर ही वेदशास्त्र की दृष्टिकलनकृतानुबन्धिनी सामयिकी उपयोगिता का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी आज के युग का महान् तर्क-‘समय नहीं है’ रूपेण दिग्देशकालाकान्त मानव-विशेषों को सतत उत्पीड़ित ही करता रहता है। और 'आज के अर्थप्रधानयुग में किसे इतना समय है, जो ऐसे बड़े बड़े प्रश्नों को पढ़ सके " आदि आदि' इत्यमृत कालनिक-निदान मातृकतापूर्ण तर्क के माध्यम से जो महानुभाव हल दिशा में 'बहुविस्तृत' की पोषणा कर क्रमिक-स्वाध्याय से उत्पन्न बन जाते हैं उन के परिपोष के लिए प्रविपादित प्रमुख कर्मों से अनुप्राणित कुछ एक पारिमाषाओं का स्याज्ञीपुलाकन्याय-सम्पुलनदृष्ट्या अत्र प्रास्ताविक में भी दिग्दर्शन करा देना प्रावजिक ही बन जाता है।

प्रस्तुत 'द्वितीयखण्ड' में क्रमशः 'उपवेपसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हवि-परिपाकम्' नामक ११ वें कर्म से आरम्भ कर 'प्रयाजब्राह्मण' नामक २१ वें कर्म-पर्यन्त कुल १४ विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है बिन में से अत्र उदाहरणविधि से कुछ एक पारिमाषिक-तथ्यों का ही दिग्दर्शन पर्याप्त मान लिया जायगा। वही विषय-कमानुगति के अनुबन्ध से क्रमशः अत्यन्त संक्षेप से पाठकों के अत्र समक्ष उपस्थित हो रहा है।

शतपथभाष्य-द्वितीयखण्डानुगत-१४ प्रमुख-कर्मों के प्रसङ्ग से  
थनुप्राणित-कतिपय

“पारिमायिक-उदाहरण”

—•—

(१०)-उपवेपसम्पादन-हवि.पारापाकात्मक-कर्म-प्रसङ्गत:-  
समन्विता-प्रासङ्गिकी

‘तप’-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

१

त्याग, तपस्या बलिदान, स्नेह तीनों शब्द कुछ समय से लोकसामान्य में प्रसिद्धि-पत्र के अनु-  
गामी बने हुए हैं किन्तु इन तीनों लोकप्रसिद्ध शब्दों में से मध्य के ‘तपस्या’ शब्द ने अनुप्राणित-‘तप’  
शब्द का ही-धुनधुनान्तरात् तपसा तप्यन्मात्रम् इस अनुसिद्धि के पारिमायिक-सम्बन्ध के आधार पर  
स्वरूप-विक्षेप-प्रकाश हुआ है पृष्ठसंख्या १४५ से १५८ पर्यन्त। ‘त्याग-तपस्या-बलिदान’तीनों से अनु-  
प्राणित ‘तप’ का अर्थ माना जा रहा है-‘शारीरिक-अभ्यास’, और इसी मौलिक-अर्थ पर ‘तप’ शब्द का  
उपयोग कर दिया जाता है। उभर दार्शनिक-दृष्टि के अनुसार ‘तप’ उस आसौख्यिक लोकोपर-प्रीति-  
पन्नादि से अनुगत पुण्य-प्राप्त्यर्थ-मात्र है जिस के अनुगामी को-‘तपस्वी’ कहा जाता है, एवं जिस की  
तपश्चर्या में मानसिक-श्रेष्ठ के साथ साथ पञ्चाभितपनमूलक शारीरिक-उपवीर्यनादि भी सम्मिलित हैं।  
यौ इस और की दार्शनिकी तपश्चर्या ने तथा इस और की वैशाखिमनानुगता तपस्या ने तपः शब्द  
के उस पारिमायिक अर्थ को सर्ववैध अभिमत कर लिया है जिस अभिमत से न तो उस ‘तपश्चर्या’ का ही  
कोई वास्तविक-तथ्य-सम्बन्ध सम्भव एवं नैवे आश की ‘तपस्या’ का ही कोई अर्थ। प्रथमकर्म (१)-प्रसङ्गत-  
तपः शब्द के उसी पारिमायिक अर्थ का दिग्दर्शन करते हुए प्रकृतिसिद्ध अन्तर्गत महान् तपोमार्ग की और  
ही पाठकी का ध्यान आकर्षित किया गया है, जो तपस्वगी क्रमशः ब्राह्मण-वैष्णव-तप-रैत्रतप नाम से  
प्रसिद्ध है।

पञ्चमहामृतमय महातीमहीनय ब्रह्मावस्था की स्वरूपसंस्थिति किन्तु प्राकृतिक-निष्ठा-अवस्था-वैधव्यक्तियों  
के आधार पर अवलम्बित है वे क्रमशः ब्रह्मा विष्णु, रुद्र ( महादेव ) नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों  
वैधव्यक्तियों की त्याग-बलिदानानुगता तपश्चर्या के सह सम्बन्ध से ही पञ्चपुरोहित-प्राजापत्य-कन्या से कृत्स्न

पञ्चावयव विश्व की, एवं तद्गमनीयता प्रज्ञा की स्वरूप-व्यवस्थिति आनुपूर्णा से व्यवस्थित है। तीनों ही तपस्वी हैं, किन्तु तीनों के तपोभावों का स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् है। ब्रह्मा का तप 'सन्तापात्मक' है, विष्णु का तप 'ऐश्वर्यात्मक' है, एवं रुद्र का तप दाहात्मक है। सन्तापात्मक ब्राह्मतप ज्ञानप्रधान है, ऐश्वर्यात्मक तप श्रेष्ठतम-कर्मरूप \* यज्ञप्रधान है, एवं रुद्र का तप भूतप्रधान, किंवा अर्थ-प्रधान है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ-नाम से सुप्रसिद्धा शक्तित्रयी की अभिष्टात्री ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-नाम की सुप्रसिद्धा देवतात्रयी से अनुगता तपस्त्रयी का नाम ही 'तपस्त्रय' है, और तद्विवर्धन तपोभाव ही 'तप' शब्द का वह चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिस के गर्भ में ही इन तीनों तपोभावों का 'समुद्धानकोश' रूपेण सम्पन्वय हो रहा है।

बड़े हिम्मे में छोटी हिम्मा, छोटी हिम्मे में इस से भी छोटी हिम्मा इसी दहरोत्तर-सम्बन्ध का पारिभाषिक नाम है 'समुद्धानकोशासम्बन्ध'। ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्राह्म-तप सर्वाधार-सर्वप्रतिष्ठारूप वह महतो-महीयान् तप है, जिस के आचार पर ही आगे के वैष्णव, तथा शैवतप स्वस्वरूपेण प्रतिष्ठित रहा करते हैं। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठित'—'यस्य ज्ञानमय तप' इत्यादि भुविवर्धन इसी ज्ञानमय-ब्राह्मतप का यशोगान कर रहे हैं जिस के तपन-स्तपन-रूप स्ताप-धर्म से ही सृष्टिस्वरूप की अभिव्यक्ति मानी है गोपय्याह्वय ने अपने उपक्रम में ही-तस्य तप्तस्य-स्तपत्पत्त्य ललाटे स्वेदोऽजायत' इत्यादि रूपेण। लोक में-आब रूचिबद्धदृष्ट्या स्ताप शब्द का अर्थ 'शोक-परिताप' आदि होपड़ा है। किन्तु तत्त्वपरिभाषादृष्ट्या 'स्ताप' शब्द का अर्थ है-वैराग्यात्यन्तिक-प्रचण्ड संघर्ष जिस का उत्तर परिणाम अवश्य ही शान्ति है। इसी स्तपनात्मक प्रचण्ड-संघर्ष का-संक्रिय अण्डु प्राविध्यत् इति रूपेण अभिनय किया जाता है। सुसूक्ष्म-प्रचण्डतम ज्ञानात्मक आत्मन्तर संघर्ष का ही ज्ञानात्मक अतएव सुसूक्ष्मतम आत्मन्तर प्रचण्ड-संघर्ष का ही नाम स्ताप है, जिन इस स्वायम्भुव ज्ञानात्मक-स्तपापधर्मा-प्रथम-तपोभाव का उत्तर-परिणाम है शान्तिकर अपोमय-पारमेष्ठन-मण्डल का आविर्भाव जिस इस स्वरूपा शान्तिबलाचार-अमोघाचार-से स्वयम्भू-ब्रह्मा पुलकित-आनन्दित होपड़ते हैं, और आनन्दमयी वही स्तापापरिमका तपोमयी वारिधारा आगे चलकर सम्पूर्ण संसृष्टिरूपा-सृष्टि की बननी बनती है। वही ज्ञानात्मक-स्तपापधर्मा-सर्वप्रतिष्ठात्मक वह 'तप' है, जिस को आचार बनाए बिना आगे के दोनों तप सर्वथा यावयाम ही बन जाया करते हैं।

स्वयम्भू-ब्रह्मा के ज्ञान स्तपनात्मक-परिपक्वज्ञानात्मक-आदितप से जो वारिधारा स्वतः श्रुतक्रमेण व्याप्त आप्त-परिभ्याप्त होगई, वही इस आदितक-व्याप्तिधर्म से 'आपोलोक' कहलाया जो-परमेष्ठी नाम से प्रसिद्ध है एवं जिस का अभिष्टाता-देव 'विष्णु' कहलाया है। स्तापापधर्मा-स्थानीय तप से समुद्भूत वैष्णव-परमेष्ठी-लोक का श्रुतधर्मा 'वारि' रूप 'आपः' तत्त्व अपने स्नेह, तथा तेजोगुण से उमयधर्मात्मक बन रहा है। स्नेहगुण वह अपूर्वत 'सृष्टि' कहलाया है एवं तेजोगुण वह अपूर्वत 'अक्षिरा' कहलाया है। यों स्तापात्मक-स्वायम्भुव ज्ञानीय तप से आविर्भूत वैष्णव आप-तत्त्व का श्रुतक्षिरोमयत्व प्रमाणित हो-जाता है +। स्नेहगुण-मार्गवतत्व ही दाहगुणक-सोमवतत्व है एवं तेजोगुणक आक्षिरवतत्व ही दाहगुणक अग्निवतत्व है।

\*-यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म ( शतपथे )।

+आपो मृगक्षिरोरूपमापो मृगक्षिरोमयम्।

अन्तरैते त्रयो वेदा मृगक्षिरसोऽनुगा ॥

—गोपय्याह्वये



मार्गव सोम, तथा आश्विन अग्नि, इन दोनों दाह-दाहक-तर्कों के रागात्मिक-समिपण से आविर्भूत उभयसमक-प्रपूर्वमावात्मक तत्त्व का नाम ही विद्वत्कर्मसमक 'यज्ञ', है, जैसा कि 'अग्नी सोमाहुति यज्ञ' लक्षण से स्पष्ट है।

पारमेष्ठ्य-विष्णु-आद्य से अनुगत, स्वायम्भुव ब्राह्म-तप के आचार पर प्रतिष्ठित-भागवाहिरस्व-अग्नीरोमात्मक प्रकृतिसिद्ध हाथभूत प्रथमयज्ञ से ही उस ऐश्वर्य की स्वरूपप्रतिष्ठा हुई है जिसका धीर-ब्रह्मायुध में व्यक्त निरवस्था से आज हम साक्षात्कार कर रहे हैं। निरवस्था-व्यक्त-ऐश्वर्य्य पारमेष्ठ्य उस विष्णुदेवता के तप का ही महसूस है, जो वैष्णव-आपोमय-तप यज्ञ, और आश्विन के समिपणसमक-अग्नीरोमात्मक-माव से अनुप्राणित है। इसी मध्यस्थ-वैष्णव-याज्ञिक तप का ब्राह्मभूति ने—'सुगृह्य' भक्तिरसां तपसा तप्यन्वम्' कठोर संस्मरण किया है। यही कर्मसमक-'कर्मरुक्तिप्रधान' वह पारमेष्ठ्य तप है, जिसके द्वारा ही हमस्त ब्रह्मायुध की अमिष्यत्तिरूप व्यक्त-ऐश्वर्य्य का वितान हुआ है। अतएव इस कर्मरुक्ति' धन-मार्गवाहिरस-पारमेष्ठ्य-वैष्णवतप की अवस्था ही-ऐश्वर्य्यायतन मान लिया जा सकता है माना ही गया है।

स्वायम्भुव-ज्ञानमय-व्यक्तापारम्य ब्राह्मण के आचार पर आपोमय-पारमेष्ठ्य ऐश्वर्य्यात्मक-वैष्णव-तप की अमिष्यत्ति हुई। तन्मन्त्र क्या हुआ? प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। आपोमय-परमेष्ठी-विष्णु के ऐश्वर्य्यात्मक तप से तद्गर्भ में बीजरूप से जिस द्विरयमयायुध का स्वरूप-निर्माण हुआ अग्नि की चित्ति-संज्ञितिके द्वारा वही द्विरयमयायुध वीरसम्पत्तब्रह्मायुध की चेला कहलाई, एवं तत् केन्द्रवर्ती-तप प्रकाश-युक्त (अग्नि इन्द्र-उन्मिष्य) उस प्रचरकतम मास्त्व-नियत की अमिष्यत्ति होगी, जो कि ज्योतिष्मय पियायुध आज अस्मदाक्षि स्पर्श-आचार की भाषा में 'प्रथमय-विष्णुमूर्ति भगवान् सूर्यनारायण' नाम से प्रसिद्ध है जिस इस क्षात्रवेगमय (प्रचरकतमोमय) सूर्य का ही व्यक्त निरव-एककी असफल-साक्षात्प है। यही महर्षि रवेतास्वर की भाषा में अजमूर्ति एककी वे ब्रह्म भगवान् हैं जिन्हें उपासकगर्भ उभयतो नमस्कार से तुह-शान्त करते रहते हैं।

यकी हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्युः से उपवर्णित यह वीर क्षात्रक अग्ने प्रचरकतम आददानधम्म से आदित्य नाम से, वदमावी की द्रुत करने के अरण्य 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध होते हुए रोदरीब्रह्मायुध के मायविभाता ही बने हुए हैं। ऐसे प्रचरकतममूर्ति इस वीररुद्र की पारमेष्ठ्यदेवता अस्त्व-सोमाहुति से उपशान्त करते हुए रहें—'शिवा' स्वरूप में परिणत करते रहते हैं—निरवस्थासंरक्षणकामनयैव। विशुद्ध अस्त्वसमक अतएव-दाहक-वही कम-वीरवीरतम 'रुद्र' है, एवं सोमात्मक वही शान्ततमकम अधोररूप 'शिवा' है। बी ब्रह्म ही रुद्र और शिव नामक द्विविध-महिमा भाषों में परिणत हो रहे हैं एवं वही वात कुछ समझने बेटी है।

वीर-रुद्र-रुद्र-का स्वरूप-निर्बचन-करते हुए भूति ने कहा है—सोऽरोहीत तद्गुह्यस्य रुद्र-स्वम्' जिस निर्बचन का निष्कर्षार्थ वही है कि रुद्र का प्रातिष्ठिकधर्मा-वह प्रचरक 'दाह' ही है जिसका उदक-रोदनकर्म ही माना गया है। रोदनकर्मसमक-रुद्र की दाहकता ही निरवस्थासंरक्षण की अम्यतमा विधातिनी मानी गई है। अर्थात् वही जिस क्षेत्र में विशुद्ध-निष्कैश्य-दाहकधर्मा-रुद्र का ही प्राधान्य होता है वही रोदन-क्षोभ-परिठाप-ऐश्वर्य्य-विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं बचता। रुद्र किन् अवस्था में रोदनकम नाराधम्म है प्रचरक बनते हैं? प्रश्न का उत्तर है—वैष्णव-मार्गवाहिरस-ऐश्वर्य्यायतन-पारमेष्ठ्य तपोमाव से प्रवृत्त रहने वाले निष्कैश्य-रुद्र। यदि रुद्र के साथ पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्य्यायतनक-व्यक्तक-कर्म समिपण होता है तो वे ही रुद्र अपनी दाहकता का परिणाम करते हुए 'शिवास्वरूप' में परिणत हो जाते

हैं और वैष्णवतपोयुक्त और उग्र यों उग्रत्व से शिवत्व में परिणत होते हुए ऐश्वर्य्यविनाश-विरोध-के स्थान में ऐश्वर्य्य-संग्रह-संरक्षण-में ही प्रवृत्त होजाते हैं । और यही औरुद्रानुगत-तपोभाव का दाहायक वह चिर-न्तन इतिवृत्त है, जिसके प्रसङ्ग से ही यहाँ शिवस्वरूप का प्रसङ्ग भी समुपस्थित होपड़ा है ।

उक्त सन्दर्भ के आधार पर हमें अब इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, संयती नाम की ब्राह्मी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्तात्मकमूर्ति ज्ञानप्रधान-स्वयम्भू ब्रह्मा, रुद्राक्षी नामकी वैष्णवी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्तात्मकमूर्ति कर्मप्रधान-परमेष्ठी-विष्णु, एवं रोदसी नाम की सोरी- ( ऐन्द्री )-त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्तात्मक-अर्थप्रधान-भूतप्रधान-रुद्र, इन तीनों अक्षरदेवताओं की क्रमानुगत ज्ञान-क्रिया-अर्थ-नाम की तीनों शक्तियों से अनुगत सन्ताप-ऐश्वर्य्य-दाह-भावनिबन्धन-त्रिविध-तपोभाव ही- तप-शब्द का संकलनात्मक-वह-चिरन्तर-इतिवृत्त है, जिस का अर्थवसहिता में क्रमशः वित्तर से स्वरूप-स्पष्टीकरण हुआ है \* । सन्तापायक तप ब्राह्मण है एवं वह ज्ञानप्रधान तप है । ऐश्वर्य्यार्थक तप वैष्णवतप है एवं यह कर्मप्रधान तप है । तथा दाहायक तप और-रुद्र-तप है, एवं वह अर्थप्रधान तप है । इस प्रकार तपोभाव सर्वथा विभिन्न तीन सृष्टिधारकों में विमलरूपेण व्यञ्जित हो रहा है ।

ज्ञानात्मक-महा तप को आधार बनाए बिना कर्मात्मक वैष्णवतप सर्वथा निरर्थक है एवं वैष्णवतप को आधार बनाए बिना अर्थात्मक रोद्रतप सर्वथा व्यर्थ है । इसी तथ्य के आधार पर पर हमें इस निष्कर्ष पर भी स्वतः ही पहुँच जाना पड़ा है कि ज्ञानात्मक तप के आधार पर प्रसिद्धिस्त कर्मात्मक तप ही अर्थात्मक तप की स्वरूप-प्रतिष्ठा है । ज्ञानशक्ति से समन्वित-सन्तापार्थक स्वायम्भुव-ब्राह्मण का संग्राहक 'तप' शब्द, क्रियाशक्ति से समन्वित-ऐश्वर्य्यार्थक-पारमेष्ठ्य वैष्णवतप का संग्राहक 'तप' शब्द, एवं अर्थशक्ति से समन्वित-दाहायक-और-रुद्रतप का संग्राहक 'तप' शब्द, तीनों स्वरूपता-आधारतः-अभिन्न-प्रसीत-होते हुए भी अपने चातु-प्रकृति-प्रत्ययानुबन्ध से सर्वथा विभिन्न हैं और इस विभिन्नता का भ्रंश है शम्भुशास्त्र के ब्रह्म शब्दविशानसञ्ज्ञाकर्त्ता भगवान्-पाणिनि की एतदनुबन्धिनी सुप्रसिद्धा उक्त चातुत्रयी को बिल में- 'सन्ताप-ऐश्वर्य्य'- 'दाह' त्रयों के संग्राहक विभिन्न तीन चातुष्यों का ही संग्रह हुआ है तप सन्तापे- 'तप ऐश्वर्य्य- तप दाहे' रूपेण । सन्तापायक तप से अनुगत 'तपः' शब्द स्वायम्भुव-ज्ञानप्रधान ब्राह्म तप का ही संग्राहक है तो ऐश्वर्य्यार्थक तप चातु से समन्वित 'तप' शब्द पारमेष्ठ्य-क्रियाप्रधान-वैष्णवतप का ही संग्राहक है एवं दाहायक तपचातु से निष्पन्न 'तप' शब्द और-अर्थप्रधान-रुद्रतप का ही अनुग्राहक है, और यही तपः शब्द की वह सङ्क्षिप्ततमा पारिभाषिकी विमलता कल्पेला है जिस के समन्वय के बिना केवलभावेन एहीत 'तप' 'तपस्या' 'तपश्चर्या', आदि लोकाग्रानुबन्धों से अर्थ के स्थान में उल्लेखप्रकार अनर्थ ही सम्भावित बन जाता है जैसेकि ब्राह्मणतप धर्म-वैष्णवतप से आध्यात्मिकरूपेण परकमुक्त, निरपेक्ष आबद्धा 'तपस्यानुगत तप' शब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही जनक बनता आ रहा है ।

कथमिति चेत् !, अयत्ताम् । अस्या आप्यवधार्यताम् । । तपोक्त त्रिविध देवानुगत-त्रिविध-तपोभाव त्रिःसत्या ये देवाः इत्यादि पाणिनाधिक-अनुगम सिद्धान्त के अनुसार आधिदैविक-अध्यात्म-अधिभूत

\*-वेदेषु 'विगूषेशाकालस्वरूपममासा' नामक निबन्धान्तर्गत आध्यायिक-कलसूत्र का समन्वय-प्रकरण ।

मेदेन तीन संस्थाओं के साथ समन्वित द्वाये हैं जिन में से प्रकृत में मानवसंस्थानाप्रतिष्ठा अथवासमन्वित की दृष्टि से ही तत्प्राथमिक प्रश्न का समाधान-प्रयास-समीचीन होगा। मानव के अन्तर्गत में आत्मतन्त्रित्व, अतएव समभावप्राप्त-समन्वित-योगान्विता-‘सत्ययुक्ति’ स्वायम्भु-ब्राह्मण की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है। इत्यन्ता बुद्धि से समन्वित बुद्धि से निर्गमित अतएव-सहकरपेक्षीय सत्वगुणान्वित ‘सर्वेन्द्रिय’ नामक ‘प्रज्ञानमन ही पारमेष्ठ्य-वैष्णव-तप का अभिव्यक्ति-क्षेत्र माना गया है। और ऐसे प्रज्ञानमन से अनुगत ‘सुखि से समन्वित ‘शरीर ही शीर-रीर-तप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है जो शीर-दाहसमक-शरीरक-तप-पूर्व-कथनानुसार पारमेष्ठ्य-देशमन्यतमक तपोभाव से समन्वित होता हुआ ‘शिवरूप’ में ही परिणत रहता है।

तद्विषय बुद्धितन्त्रानुवर्ती सन्तापसमक ज्ञानशक्ति से समन्वित ब्राह्मण, मनस्त्वानुवर्ती-देशमन्यतमक-क्रियाशक्ति से समन्वित-वैष्णवतप, एवं शरीरतन्त्रानुवर्ती-शिवमात्रात्मक-अर्थशक्ति से समन्वित शैवतप, इन तीनों तपों की ‘एकत्र समन्वयमूर्ति मानवभेद के इस समन्वयसमक तपोऽनुष्ठान से निरचयेन शैविक, तथा आधुनिक सभी पुरुषार्थ आन्वय प्रमाणित होते रहते हैं क्या होते रहते हैं उन पुरातन-आर्ययुगीन में जिनमें ज्ञानात्मक ब्राह्मण ही स्वप्रधान था तदावार पर कर्मात्मक वैष्णवतप प्रतिष्ठित था और तदावार पर प्रतिष्ठित दाहसमक तप को भी शिवभाव में ही परिणत होयाना पड़ता था। और आज -----?

और आज ! इस प्राथमिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए। ब्राह्मणोक्त्या ज्ञानरम्या आज सर्वथैव अभिमुख प्रमाणित होतुकी है किन्ना कलपूर्वक ज्ञानोपासना को उपेक्षा की कोटि में ला लड़ा किया है। मनोऽनुगत यज्ञात्मिका-कर्मपद्धति का स्थान भी दिग्वेष्टकालानुगत-सामयिक-वैष्णव-कल्पनिक-कर्मनि आत्मनिकरूपेण अपहृत कर लिया है और शेष रह गया है शरीरानुवर्ती वह दाहसमक तप जिसे आज की भाषा में—‘अम’ कहा जासकता है। अमरव ही उस ‘अम का ‘पाणि रूपेण भगवान् वेदव्यास ने मुक्तकण्ठ से परोपान ही किया है, जिस अमरूप-पात्रितमन्वित-शारीरिक-तप को मनोबुद्धि-निबन्धन परिभामममात्र शिवभाव में परिणत किए रहते हैं। किन्तु ज्ञानरूप आत्मम एवं यज्ञसमान मानविक परिभ्रम से वञ्चित केवल शरीरतपोरूप अम तो किशुदा वैसी खविमूर्ति ही मानी गई है जिसका परिग्राम—‘सोऽनोकीत’ के अतिरिक्त और कुछ भी ही नहीं है। भगवान् करे ! भारतीय मानव अपनी इस केवल अमात्मिक-तपोवृत्ति के तपासिक मीथण-परिग्राम की लक्ष्य बनाने एवं उत्तरिजाल के लिए बुद्धि-सुखि-पुरावादि आर्यशास्त्रसिद्ध यज्ञात्मक-देशमन्यतमक मानसिक-परिभ्रमानुवर्ती पारमेष्ठ्य तप को एवं उत्प्रेक्षात्मक-बुद्धिपुनगत-आत्मानुवर्ती-स्वायम्भु तप को अपने शारीरिक-अमरूप तप की प्रतिष्ठा बनाता हुआ आधुनिक-नि भ्रमसु-भ्रम प्रमाणित हो, इसी महाकायना के साथ ‘इसर्व-कर्म (१) से सम्बद्ध ‘तप शब्द का संक्षिप्त-विरक्त-दृष्टिगत उपरत होया है।

# (११)—पिष्टेनोदकमिश्रे तन-पुरोडाशसम्पादनात्मक-कर्मप्रसङ्गतः- समन्विता-पारिमात्रिकी 'वपट्कार'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा

२

वैदिक सृष्टिविज्ञान के गरिमा-महिमाय-प्राज्ञ में 'वोक्-पट्'-'वोपट्'-'वाक् पट्' आदि विभिन्न-भाषों से अनुप्राणित वृषपिष्ट-**'वपट्कार'** शब्द का ही एक विशेष ही महत्त्व वृषप्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि-**'वपट्कारात्मिका वाक्साहसी विद्या'** के आधार पर ही वैदिक-विज्ञान का गणित-सिद्धान्तात्मक-व्योक्तित्वक-निकषन (जगोलीय) समन्वय मुख्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित है। जिसप्रकार वचमान भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में गणितानुगत-भाषों का 'मीस' नामक परिमाण-विशेष के आधार पर समन्वय किया जाता है तथैव यारतीय-भौतिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष-दूरत्व-आदि का व्यवस्थापनसूत्र वपट्कारात्मक वह साहसी-भाव ही है, जिसके पारिमात्रिक सहस्र-प्रायात्मक-गौतत्व-के माध्यम से ही तदव्यवस्थाओं का नियमन हुआ है ऋषिप्रका के द्वारा। अतएव मानना पड़ेगा कि, वपट्कारा अनुगत, किंवा वपट्कारात्मिका वाक्-साहसी-विद्या के पारिमात्रिक-समन्वय के बिना वेदानुगत किसी भी सृष्टि-विज्ञान का अन्वित्व ही समन्वय सम्भव नहीं है। प्रस्तुत ११ वीं कर्म में प्रस्तुत वाक्साहसी-विद्या से अनुगत उस महत्त्वपूर्ण 'वपट्कार' शब्द के ही पारिमात्रिक-तथ्य का स्पष्टीकरण-प्रवास हुआ है, जिसका अर्थ दो शब्दों में संस्मरणमात्र कर लिया जाता है उदाहरणधियैव।

सूर्य-पियङ्गमक प्रत्येक भौतिक-वस्तुपिष्ट पञ्चमहाभूतात्मक है। अर्थात् शुष्क-अणु-नेणु भूत नामक पूर्वस्थ इन चार वर्गों के क्रमिक-पञ्चीकरण से अन्ततः स्थूलरूप में परिवर्तित अतएव 'महामूत' इस पारिमात्रिक नाम से समन्वित आकाश-वायु-तेज अल-मूत-इन पञ्चपञ्चीकृत भाषों के अन्तर्व्यप्यमक एकत्र समन्वय से ही प्रत्येक वस्तुपिष्ट का स्वस्म निर्माण हुआ है। पाँचों ही पञ्चीकृत हैं। अतएव पञ्चीकृत पाँचों से क्रमशः पाँच बातों के ही वस्तुपिष्टों की अभिव्यक्ति हुई है इस पाञ्चभौतिक-महा-विश्व में जिसकी प्रकृति इस पञ्चमावानुबन्ध से ही 'पञ्चपर्षी' नाम से प्रसिद्ध हुई है जैसाकि-'पञ्चपर्षामधीमः इक्ष्वाणि श्वेतारवतरचन से प्रमाणित है।

पञ्चमहाभूतात्मक पञ्चीकृत पाँचों भौतिक-पिष्टों में एक एक महाभूत तो प्रधान है एवं शेष चार चार महाभूत गौण हैं। अतएव-'वैशेष्याणु तद्वानुस्तद्वानु' के अनुसार पञ्चात्मक भी प्रत्येक भूतपिष्ट प्रसिद्ध होता है उस प्रधानभूत-विशेष भूत के नाम से ही जो प्रत्येक की पञ्चीकरणप्रक्रिया की आधारभूमि बना रहता है। एवं इस दृष्टि से आकाशपिष्ट-वायुपिष्ट-तेज-पिष्ट-अलपिष्ट-मूतपिष्ट-प्रधानत्वेन

पाँच महाभूततमक वस्तुपिण्ड अमिद्वक्त होये है इन पाण्डू (पञ्चापय) विश्व में, आ पाँची पिण्ड क्रमः स्वयम्भूपिण्ड (आकाशात्मा), परमेष्ठीपिण्ड (आन्यात्मा) सूर्यपिण्ड (तेजोमय) चन्द्रपिण्ड (जलीयपिण्ड(१)), पृथ्वीपिण्ड (भूतपिण्ड) इन मानी से वैदिक-सृष्टिविज्ञान में सुप्रसिद्ध हैं। पाँची ही पिण्ड (प्रत्येक) पञ्चीकरण के सम्बन्ध से अद्यपि पञ्चातमक हैं। तथापि प्रधानत्वेन पाँची आकाशादि प्रधान अमिदात्री से ही समन्यत होये हैं।

उक्त पाँची महाभूतों में सर्वादिभूत आकाशभूत ही वह मौलिक भूत है जिसके पञ्चातुगत्-प्रत्यक्षरूपन से ही शेष वाय्वादि चारों महाभूत अमिद्वक्त हुए हैं। आकाशभूत का उत्तर परिणाम वायुभूत है, तदुत्तर परिणाम तेजोभूत है, तदुत्तर उदरक बलभूत है और सर्वान्त का परिणाम मूढभूत है। अतएव मानना पड़ेगा कि-पाँची ही भूत आकाशभूत से अविन्न बनते हुए आकाशात्मा ही है, अमकाशमय ही है। और यह आकाशतत्त्व अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है वैदिक-सृष्टिविज्ञान का, जिसके स्वरूप-समन्वय के आधार पर ही वैदिक-भूतमौलिक-विज्ञान सुसम्बन्धित है (२)।

तत्वात्मक निस्सूदरय-विश्व अपौरुषेयवेद का पूर्वप्रकाशित शतपथ-प्रथमसंस्कृत के कृष्णमुगन्धर्मप्रकरण में विस्तार से स्वरूप-विरलोचन-किया गया है (वैशिष्ट्य प्रथमसंस्कृतमुगत् प्रथमसंस्कृत-मुष्ट तं ० ४१५ से ५१९ पर्यन्त) उस सृष्टिभूतभूत तत्वात्मिका ब्रवीविद्या का सुप्रसिद्ध 'यजुः वेदात्मक-अनुर्वेद' ही आकाश का स्वरूप-परिचायक है। गतिप्रकृतिक प्राणमात्र ही 'अत्' है, एवं स्थितिप्रकृतिक वाग्मात्र ही 'व' है, और इत्यभूत-गति-स्थिति-रूप प्राण-वाग्-मात्रों की समन्विततास्था ही 'यजुः' है जिसे परोक्षप्रिय महर्षि-अनु- कहा करते हैं जो कि बभौकय यजुः शुक्लामकम ब्रवीनाथ से छन्दित यथा हुआ 'अनुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है

स्पष्ट है कि, प्राणमुगत् वाग्मात्र ही 'व' है और इत्येक लोकात्म्यवाहक नाम है-'आकाश'। (१) वाग्म्य आकाश में कम्पन उत्पन्न कर देने वाला प्राणरूप यद् भाग ही 'रवा' नामक मध्वेन्द्र है। अतएव ब्रह्मा आकाशात्मिका 'वाग्' की अति ने इन्द्रपत्नी माना है (५)। इन्द्रात्मक-अन्-प्राण से अनु-

(१)-उरसिकिरणसङ्गत-एष पानीय-पिण्डः।

दिनकरदिशि चक्षुषान्द्रिकाभिरचक्रास्ते ॥

—सिद्धान्ततरणविवेक

(२) वह उत्तरजीवी है कि जब मान भूतविज्ञान की दृष्टि में आकाश नामक कोई तत्त्व नहीं है। प्रकाशित लिखनों में यह तब इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है।

(३)-ज्वराकाशे सरस्वत्या पिशाच्यां यधने स्त्रियाय (कोशाचन)

—मार्च देना उपजीवन्ति विश्वे मार्च गच्छा पशवो मनुष्या।

भाषीमा मिस्था सुवनान्यपिता सा नो ह्य ध्रुपतामिन्द्रपत्नी ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण

प्रदीप्ता इन्द्र-पत्नीरूपा 'जू' रूपा वाक् ही वह आकाशतत्त्व है जिसकी मत्स्यशालानुगता चित्ति-संचिति से ही उत्तर की भूतचतुष्टयी अभिव्यक्त हुई है। जैसाकि तैत्तिरीयोपनिषत् की सृष्टिविधा में विस्तार से निरूपित है। वहाँ मतजाया गया है कि आत्मा से आकाश सम्भूत है, इससे वायु वायु से तेज तेज से बल, एवं बल स मूल नामक अन्तिम महाभूत अभिव्यक्त हुआ है \*। प्रश्न यही है कि तैत्तिरीयभूति का 'आत्मा' कौन है ?। प्रश्न का समाधान है—सृष्टिसाक्षी वह मनःप्राण-प्रधान सृष्ट्युत्पन्न विश्वमात्मा, जिसकी अभिधानभूमि मुक्ति साक्षी आनन्द-विज्ञान-प्रधान-मनसुत्पन्न वह विश्वतीतात्मा ही बना हुआ है, जिसका उपनिषदों ने—नेति नेति रूपेण यथोगान किया है। आनन्दधन विज्ञानमनोव्य-मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा की साक्षी में प्रतिष्ठित मनोऽनुगत प्राण तत्त्व ही वह विश्वमात्मा है, जिसका तैत्तिरीय-उपनिषत् में—'तस्माद्वा एतस्माद्वात्मन आकाश सम्भूतः इत्यादिरूपेण स्मरण हुआ है। आनन्द-विज्ञान-गर्मित-मन से अनुगत दत्-रूप-गतिप्रकृतिक—'एक्षर्य' नामक अप्राणायामक 'अव्ययप्राण' ही तैत्तिरीय का वह पारिभाषिक आत्मा है, जिससे जूलूप-आकाश नामक 'वाक्' भाव ही सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है। और यों अत्र 'वाक्' रूप आकाश के समन्वय से आनन्दविज्ञानगर्मित-मनोऽनुगत प्राणरूप आत्मा की स्वरूप-स्वाप्ति वागाकाश पर्यन्त हो जाती है। अतएव बृहदारण्यकभूतिने सृष्टिसाक्षी आत्मा का अन्तर्गतात्मा—'स या एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो-मनोमयः यदी लक्षण मान लिया है, जिसका अर्थ है— आनन्दधन-विज्ञानगर्मित मन—प्राण—वाङ्मय—सृष्टिसाक्षी तत्त्वविशेष' जिसका स्वयं तैत्तिरीयने भी पञ्चकोरादिषा' के माध्यम से विस्तार से यथोगान किया है।

उपरोक्ता प्रासङ्गिकी पञ्चभूतसृष्टि के माध्यम से अब हमें स्वयं एव इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, पञ्चमहामूलमक-विश्व का मूलभूत—'आकाश' नामक वह महाभूत ही है, जो—'जू' रूप—सिध्तिप्रकृतिक, 'वाक्' तत्त्व ही है। वाक् रूप वह आकाश ही क्योंकि कलमन्त्र के उत्तरोत्तरमापी क्रमिक संवात से शेष चारों भूतों में परिणत हुआ है अतएव पाँचों ही भूतों की किंवा पूर्णतः स्वयम्—परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्र—सू—नामक पाँचों ही भूतमौलिक सूर्यपिण्डों की 'वाङ्मयपिण्ड' मान लिया जा सकता है। यही आकाशमिका मनः—प्राणगर्मिता—वाक् की सर्वभूतव्याप्ति का सच्चिन्तम निदर्शन है जिस के आचार पर ही 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यपिता—'अयो वागेव' सर्वम् इत्यादि निगम व्यक्षिप्त हुए हैं। यही आकाशमिका विश्वव्याप्ता सर्वरूपिणी सर्वात्मिका वाग्देवी उन प्रस्तुत 'अपट्कार' शब्द के चिरन्तन—इतिवृत्त की आचारभूमि बनी हुई है जिस के माध्यम से ही हमें अब तत्त्विकरूपेण वाक्साक्षी का दो शब्दों में स्मरणमात्र कर लेना है।

'वाक्' शब्द का रहस्यत्मक अर्थ है 'मन-प्राण-गर्मित तत्त्वविशेष'। अर्थात् उस तत्त्व का ही नाम 'वाक्' है, जिस के गर्भ में मन, और प्राण प्रतिष्ठित हैं। सभी तो बृहदारण्यकोक्त मन प्राणवाङ्मय—लक्षण अन्वय प्रमाणित होता है। किस आचार पर, कैसे वाक् का अर्थ मनःप्राणगर्मितत्व हो गया ? प्रश्न का समाधान वैदिक-विज्ञानानुगता अक्षरवर्णनिकषणा आनन्द रहस्यपूर्ण उस 'संकेतविधा'

\*-तस्माद्वा-एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्नि, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी (मृत्)।

—तैत्तिरीयोपनिषद्

पर ही अवलम्बित है, जिस के समन्वयाधार पर ही वैदिक-पारिभाषिक-शास्त्री का तत्त्वार्थ समन्वित होता है। तद्विधानुसार 'मन' का सङ्केतात्मक नाम है—'अ'कार और प्राण का सङ्केतिक नाम है 'उ'कार। वास्तविक-सहज प्रियति है—मन प्राण वाक् यह। किन्तु सृष्टिधारा में मध्यस्थ गतिरीति प्रत्यक्ष ही प्रथम स्थान ग्रहण कर लेता है। प्राण के गमन से ही सदाचारभूत मन को भी सृष्टिकर्म में समन्वित होना पड़ता है, जैसाकि ऐनिक अनुभवों से स्पष्ट है। इसी कारण मन कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता। किन्तु सवितृमन्त्र की प्रबल प्रेरणा से जब इसी 'प्राण' कलापूर्वक अनियुक्तमपि कर्म में प्रवृत्त होपड़ता है, तो इसी अनियुक्त-भावानुकम्पी मन भी न न करता हुआ भी अन्ततोगत्वा तत्कर्म में प्रवृत्त हो ही पड़ता है। इसी आधार श्रुति प्रशाने—'धरै वेति—धरै वेति' कथेन प्राणव्यापार के प्रापक्य की ही कर्मसिद्धि का प्रमुख द्वार माना है।

अतएव स्पष्ट है कि—'मनः—प्राण—वाक्' रूप सहज भी क्रम सृष्टिकर्मांतुगति में प्राण को प्रथम स्थान देता हुआ—'प्राण—मन—वाक्' इस रूप में परिणत होजाता है, जिसका सङ्केताक्षरनिरूपण यही निष्कर्ष निकलता है कि—'अ' (मन)—उ—(प्राण)—वाक् के स्थान में 'उ—(प्राण)' 'अ' (मन) वाक् यह क्रम सम्पन्न होजाता है। उकार को 'अ'कार कथादेश होजाता है। 'उ—अ—अच्' के स्थान में 'अ—अ—अच्' स्थिति होजाती है और दीर्घत्वेन 'वाच्' कथेन—'वाक्' शब्द निष्पन्न होजाता है जिस का स्पष्टतम यही रहस्यार्थ निकलता है कि, जो तत्त्वविशेष स्वस्वरूपामिध्यान्ति—प्रसार—के लिए उ और अ—रूप प्राण तथा मन की सतत यात्रा करता है अपेक्षा करता है प्राणमनोनामित जैसा तत्त्वविशेष ही उ—अ—अच्' इस सङ्केताक्षरविधा से 'वाक्' रूप में परिणत होजाता है। ऐसा है वह—'वाक्तत्त्वं', और इत्यभूत मनःप्रासगमिन्-प्रासमौलिक—वाक्तत्त्वं से कृतस्म प्रासमौलिक—पञ्च—सूर्यपिण्डों का ही है यह वाक् मय—चिरन्तन—इतिवृत्त—निष्कर्ष जिसे आधार बना कर ही अब 'वाक्' निरूपण 'यद्यदकार' शब्द का समन्वय कथ्ये-ह्यम् है।

पञ्चमहाभूतात्मक—पञ्चपदवी—महाविरच के पाँचों ही विरचपर्व वाक् मय हैं यह पूर्व—निवेदन से स्पष्ट होजाता है। वस्तुपिण्ड का सङ्केतिक नाम है—'सूर्यपिण्ड' जिस वाक् मय—वाग्मय—भूतमौलिक विरच का केवल स्वर ही सम्भव है। अतएव भूतपिण्ड का हम स्वर्यमात्र ही कर सकते हैं, देल नहीं सकते उसे। तो फिर जिसे देखते हैं, इस रहस्यपूर्व प्रश्न का उत्तरप्रदान करने वाली बुद्धिगम्या विद्या का ही नाम है—'वाक्साहसीविद्या' जिस का आत्मक पारिभाषिकी भाषा में ही श्रुति निम्नलिखित मन्त्र से संस्मरण किया है—

महसंज्ञा पञ्चदशान्युक्त्वा यावदावापृथिवी तावदित्तत् ।

सहस्रधा महिमानः सहस्र यावद्वृद्धावितिर्तावती वाक् ॥

—वाक्सं०

वाक् को हमने प्राण तथा मन से समन्वित कहाजाता है। मनस्तत्त्वं वाक् मय पिण्ड के क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहता है एवं सत्यगुण गतिस्थित—आध्यात्मव्यूह प्राणस्तत्त्वं वस्तुक्षेत्र में उदयकय में अपनी मूलप्रतिष्ठा सुरक्षित रखता हुआ अर्कस्थ से पहिले तो वाक् मय—सूर्यप्राधान्यनिरूपण वस्तुपिण्ड में व्याप्त होता है। अनन्तर इस वस्तुपिण्ड (सूर्यपिण्ड) को क्षेत्र बनाता हुआ यही आत्मिक प्राण वही दूर पर्यन्त अपना एक स्वतन्त्र—भयबल—बनता है जो मरुदश संख्यानुगति से एकसहस्र-संख्यात्मक मान लिए गए हैं।

यही अहिर्नयबल प्राणप्रधान मनोवाग्गर्मित वह साहस्री-मयबल है, जिस का हम मयबलों के सारतम्य से साक्षात्-  
कार हो कर सकते हैं, किन्तु जिस का अभ्यास-वृद्धत्वेन हस्तादि से संस्पर्श कदापि सम्भव नहीं है। यही सूर्य,   
और दृश्य का वह आन्यन्तिक-पार्यन्त्य है, जिसका स्वरूपनोब-वाक्मय-व्यष्टकारिष्ठान के स्वरूप-समन्वय पर   
ही अवलम्बित है।

सूर्यपिण्ड भी मन प्राणवाक्मय है, एवं दृश्यमयबल भी मनःप्राण-वाक्मय ही है। अन्तर दोनों   
में केवल यही है कि सूर्यपिण्ड ब्रह्म-प्राण-मनो-गर्मित वाक् को प्रधान बना रहा है वहीं दृश्यमयबल मनो-  
वाक्-गर्मित प्राण को प्रमुखता प्रदान कर रहा है। वाक्प्रधान वस्तुपिण्ड पिण्ड है, एवं प्राणप्रधान वस्तुमयबल   
'मयबल' है। सूर्य पिण्ड का ही सम्भव है तो दर्शन मयबल का ही होता है।

मयबलानुगत-अभिप्रेतक प्राण की अवयवात्मिका व्याप्ति की पारिभाषिकी संज्ञा है-'स्तोम' (राशि-  
स्तूप-देर-समूह)। मनोवाग्गर्मित-प्राणतत्त्व ही स्वामाधिक-गतिधर्म से 'गौ' है, जो अक्षरूप   
मनोवाक्प्राणमय-गौतत्त्व अभिप्रेतक-पृच्छ-रूपेण दो स्तोममार्गों में परिणत रहता है। दृश्यमावाहिकका   
प्राणसमष्टि ही अभिप्रेतस्तोम है एवं मयबलमावाहिकका प्राणसमष्टि ही पृच्छस्तोम है, जिन दोनों रहस्यपूर्वा-  
प्राणविष-स्तोमों का तत्प्रकरण-माध्य में विस्तार से स्पष्टीकरण कर दिया गया है। केन्द्र से बहिःपरिधि   
पर्यन्त वस्तुपिण्डाकारत्वेन उत्तरोत्तर बृहन्मयबलों में परिणत होने वाले प्राणमयबल ही 'पृच्छस्तोम' कहलाए   
हैं, एवं केन्द्र से बहिःपरिधि पर्यन्त दृश्यरूपेण-सू-वप्रभुज-वितायमान-प्राणसमूह ही 'अभिप्रेतस्तोम' नाम   
से व्यवहृत हुए हैं, जिन इन दोनों के स्वरूप-समन्वय के बिना वैदिकी-सृष्टिविद्या का समन्वय स्वप्न में भी   
सम्भव नहीं है।

हाँ, तो मनोवाक् गर्मित-प्राण-रूप गौतत्त्व मयबलसाहस्री के अनुसूच से सहस्र-संख्या में विभक्त रहता   
है जिन इन सहस्र-वाक्मय-प्राणों की त्रिरात् त्रिरात् ( १ - २ ) प्राणपरि से जो एक स्वल्प अभिव्यक्त   
होता है—उसीका पारिभाषिक नाम है—'अहर्गण'। फलतः १ प्राणमय गौतत्त्वों के १ १-के अनुपात   
से ( १ २ गौतत्त्वों के ) ११ ( वैवीर ) अहर्गण होता है। शेष रह जाते हैं—दश गौप्राण, यही 'चतु-  
स्त्रिंशः प्रजापति' रूप चौबीसवाँ—'सर्वप्रजापति' नामक पारिभाषिक-वाक्मय-प्रजापतिदेवता है। ११ अह-  
र्गणों में से आरम्भ के तीन अहमय वस्तुपिण्ड में युक्त हैं। उत्तरव्य वस्तुमयबल में १ ही अहर्गण शेष रह   
जाते हैं जिनका अनुगमरूपेण जो तत्त्वात्मक समन्वय होता है उसीका नाम है—'व्यष्टकार'। वस्तुपिण्डयुक्त-तीन   
अहर्गणों में वस्तुमयबलयुक्त १ अहर्गणों में से १ अहर्गणों के समावेश से जो वाक् प्राणमय-एक स्वल्प स्तोम   
का स्वल्प सम्पन्न होता है उसी का नाम है—'त्रिवृत्स्तोम' ( अर्थात् ३ अहर्गणों की समष्टिरूप स्तोम )।   
इसमें अनुगमरूपेण आगे के १ अहर्गणों के समावेश से—'पञ्चदशस्तोम' का, और १ के समावेश से—  
'त्रिण्यस्तोम' का एवं और शेषमूत अन्त के १ अहर्गणों के समावेश से—'अष्टत्रिंशस्तोम' का स्वल्प-  
सम्पन्न होता है। इन ११ सौ अहर्गणों का केन्द्रभूत एक सप्तदशम-अहर्गण-वृषक और मान लिया गया   
है जो 'उद्गीथप्रजापति' का स्वल्प समर्पक बनता है। इसप्रकार त्रिहृत्-(६)-पञ्चदश (१५)-सप्तदश   
(१७)-एकविंश (२१)-त्रिंश- (२७)-अष्टत्रिंश (३३)-रूपेण वाक्मय प्राण के बिना प्राणमयी-महिमा-  
रूपा सुसूक्ष्मा वाक् के १ ( छह ) विभिन्न स्तोम होता है। एक ही मूलवाक्तत्त्व का स्तोमानुसूची यह   
पद्धति-विभाजन है। यही वाक् का पट्कार है, और यही वाक्व्यष्टकारकम 'व्यष्टकार' शब्द का संक्षिप्ततम-  
विरक्तनैसिद्ध है।



वाक् के पदकारूप वपटकार का ही नाम है 'वाक्साहसी-मण्डल' जिसके गर्भ में वेदसाहसी-लोकसाहसी-वाक्साहसी-नाम की तीन व्यष्टिरूपा अमान्तर-साहसियाँ प्रतिष्ठित मानी गई हैं जिस सब साहसी-प्रथी की आधारभूमि है दृष्टाचरप्रथी । यस्तुपिण्ड के केन्द्र में मनोगर्मित जिस 'प्राण' तत्त्व की उच्च रूपेण पूर्व में प्रतिष्ठा कृतगई गई है वह हृदयस्थ प्राण हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वर्ष मी 'हृ-द-स्य' रूपेण व्यद्यरमण-अद्यरमाण ही है जिसका 'हृ' नामक एकाक्षर आह्वनधर्मा विष्णु है यही अमाति-धर्मा प्राण है । 'वृ' नामक एकाक्षर लयहनधर्मा- 'इन्द्र' है यही गतिधर्मा प्राण है । एवं 'यम्' नामक एकाक्षर नियमनधर्मा ब्रह्मा है, और यही गतिगुरुव्ययधर्मा स्थितिरूप-प्रतिष्ठाप्राण है । इसप्रकार तीन अक्षरों की सम्नितावस्थाकूप व्यद्यरमूर्ति-हृदयस्थ प्राण के आधार पर ही मनोवाग्गर्मिता वाक्साहसी के तीन महिमा-विवर्त निष्पन्न होजाते हैं मनः-प्राण-वाक् की गौण-प्रधानद्वि के कारण, जिसका निष्कर्ष यही है कि—

मनोवाग्गर्मिता प्राणप्रधाना साहसी का ही नाम वैष्णवीसाहसी है यही 'लोकसाहसी' है, जिसका 'हृ' अक्षरमक विष्णु नामक अक्षर से ही प्रधान सम्बन्ध है । मन-प्राणगर्मिता वाक्प्रधाना साहसी का ही नाम ऐन्द्रीसाहसी है यही 'वाक्साहसी' है जिसका 'वृ' अक्षरमक 'इन्द्र' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । एवं प्राण-वाग्-गर्मिता-मन-प्रधाना साहसी का नाम ही ब्रह्मी-साहसी है यही 'वेदसाहसी' है, जिसका 'यम्' अक्षरमक 'ब्रह्मा' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । इसप्रकार ब्रह्माक्षरमक प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित इन्द्र-विष्णु-की गत्यामति-धर्मावन्निष्ठ अमूर्ता पारस्परिकी प्रतिस्पर्धा से होने वाले ब्राह्म-वैष्णव-ऐन्द्र-प्राणों के वीरणरूप-अकर्तृक कर्त्तवितान से एक ही वाक्साहसी के उक्त गौण-प्रधान-रूप से तीन साहासर्वा अभिभूत होजाती हैं जिन इन तीन साहसियों के आधारपाटन-ऊर्ध्व-अध-तिर्ध्व-ऊर्ध्वोभावी विधान से एकविधापि साहसी आरम्भ में विद्यहसीरूप में परिणत होती हुई 'सहस्रधा महिमान् सहस्रम्' रूपेण वर्सक्य-प्रगणित-साहसी-विधानमात्री में विभक्त होजाती है जिनकी प्रधानभूता साहसी-जयी का अग्रि ने निम्नलिखितरूपेण संस्मरण किया है—

उमा विम्यधुर्नपराजयेये, न पराजिज्ञे क्तररश्च नैनोः ।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेयां त्रेधा सहस्र वि तदैरयेषाम् ॥ (अकसंहितानाम)

किं तद् सहस्रमिति ?

इमे लोक ( लोकसाहसी वैष्णवी )

इमे-वेदाः ( वेदसाहसी-ब्रह्मी )

अथो-वाक्-इति त्र्यात् ( वाक्साहसी-ऐन्द्री )

—ऐतरेय-आरण्यके

उक्त साहसी-जयी में मन-प्राणगर्मिता वाक्प्रधाना ऐन्द्री-साहसी का ही क्योंकि वाक्-मय वपटकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । अतएव वपटकार में एकमात्र-ब्रह्माक्षरवेवता के निप ही- इन्द्राय वीपद्' रूपेण वपटकार रूपेण आहुति का विधान हुआ है । वेते तो तपी प्राणदेकतात्री की आधारभूमि वाक्-मय वपटकार ही बना हुआ है वेताकि—'विषपात्रं वा एष-वपटकारा' नियम से स्पष्ट है । ऐसा है वह वपटकार, जिसके आधार

पर ही मयइलात्मक—‘वैश्वरूप्य’ का वितान हुआ है, जिस वैश्वरूप्य के माध्यम से ही पाँचों विश्वपुरों में परस्पर वस्तुधानकोशात्मक—इह सुप्रसिद्ध दृष्टोत्तरसम्बन्ध प्रतिष्ठित है, जिसके आधार पर ही पाँचों पुरों में पञ्चपुर-स्वरूप-संरक्षिका वह यज्ञप्रक्रिया प्रकटता है, जिसका ‘प्रहिता-संयोग’ ‘प्रयुता संयोग’ इस परिमाणाद्यों के माध्यम से ही श्रुति ने स्वरूप-विश्लेषण किया है।

विश्वस्वरूपसंस्थापन के माध्यम से वस्तुस्थिति का समन्वय कीजिए। आकाशामृत-प्रधान-स्वयम्भू-नामक प्रथमपियङ्ग पहिला सृश्यपियङ्गालम्बक—पहिला वाङ्मय पियङ्ग है। इसीके अनुरूप स्वरूप—रखने वाले क्रमशः घामु-तेज-जल-मृत्—नामक भूतप्रधान चारों सृश्यपियङ्गालम्बक वाङ्मयपियङ्ग क्रमशः परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-भूपियङ्ग नामक चार वाङ्मय पियङ्ग हैं। यह अविस्मरणीय है कि—यह क्रम इष्टिमूला-सृष्टिविद्या से ही सम्बन्ध रखता है। यदि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के क्रम से विचार किया जायगा तो—‘चन्द्रमा सर्वान्त में प्रतिष्ठित माना जायगा। क्योंकि ग्रहोपग्रहभावनिबचना—दर्शपूर्णमासयज्ञानुबन्धिनी सुप्रसिद्धा ‘प्रतिपवन्तु-अरविद्या’ से अनुगता क्रमसिद्धा व्यवस्था के अनुसार स्वयम्भू का उपग्रह सूर्य है, सूर्य का उपग्रह भूपियङ्ग है, एवं भूपियङ्ग का उपग्रह अग्निप्राणनिबचना चन्द्रमा है। सर्वान्तमावात्मिका इस अवस्थानादिमध्य स्थिति के कारण ही बान्द्रसाम—‘निघनसाम’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

उक्त क्रमसिद्ध आकाशात्मा—स्वयम्भू-पियङ्ग वाय्वात्मा परमेष्ठी-पियङ्ग वेद्योमयात्मा सूर्य—पियङ्ग धूम्रमय भूपियङ्ग एवं जलीय चन्द्रपियङ्ग, इन पाँचों—वाङ्मय—महाभूतात्मक—विश्वपियङ्गों के साथ (प्रत्येक के साथ) उस वाङ्मय-वषट्कारमयइला का सम्बन्ध है जो ‘वैश्वरूप्य’ नाम से प्रसिद्ध है। पाँचों के अपने अपने महिमामयइलात्मक—पाँच—वैश्वरूप्य हैं, एक प्रत्येक में वषाअथवा साहसी-शरी का स्व-स्व-पियङ्गपुर-अवस्थानानुपात से ही उपभोग होता है। इन वाङ्मय—महिमामयइलों के अनुपात से ही पाँचों विश्वपुरों का वस्तुधानकोशात्मक—दृष्टोत्तरसम्बन्ध माना गया है जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, स्वयम्भू नामक आकाशात्मा—प्रथम—वाङ्मय पियङ्ग के महिमामयइलात्मक—वाक्साहसीमयइलरूप वैश्वरूप्य के गर्भ में समहिममयइल शेष चारों विश्वपरबं बुद्बुद्गत प्रतिष्ठित हैं। एवमेव परमेष्ठी के महिमा—मयइल में शेष तीनों, सूर्य के महिमा—मयइल में शेष दोनों एव भूपियङ्ग के महिमा—मयइल में समहिम—चन्द्रमा गर्भाभूत है। और यही वषट्कारशब्द—निकन्धना उस पारिमाथिका वाक्साहसी—विद्या का संस्मरण—निष्कर्ष है, जिस से अनुमाशित त्रिहृत्-पञ्चदश—एकविंश—आदि स्तोत्रों के परिमाण—माध्यम से ही विश्वपदों के गणितसिद्ध—सामीप्य—और विदूरत्व का वैज्ञानिक व्यवस्थापन हुआ है।

उदाहरणार्थ—‘सूर्य’ पृथिवी से कितनी दूर है, ग्रहन का उत्तर वहाँ आज का भूखनिष्ठ अनुक करीक मीलों में देता है वही वैदिक—सृष्टिविज्ञान में इस ग्रहन का उत्तर होगा—‘एकविंशो वा इत—आदित्या। अर्थात् भूपियङ्ग से सूर्य पार्थिव—वषट्कारमयइल के २१वें अग्रहण पर बृहतीखण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित है इत्यसमधि—विस्तरेण ‘वषट्कारशब्द’ निकन्धन—पारिमाथिक—प्रासङ्गिक—निदर्शन।

**‘तन्निवन्धना-विविध-परिभाषाएँ’**

3

(क) — अग्निविज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन —

आगी चलकर इस श्रुताग्निरूप आत्माग्नि के गर्म में पुनः एक बापूई अर्थात् आग्नि का केन्द्ररूप बन जाता है जिसके लिए यह स्थितिपूर्ण रूप आग है। कहा गया है एवं जिसका—'तानु' बीजमन्त्रादुत्पत्त्येन मनु भगवान्नेन स्मरण किया है। इस तृतीय-अर्थात् आग्नि की स्थिति के अन्तिम परिणामरूप उच्चित्तमर्म से जिस

अग्निमय-नयीन ब्रह्माण्ड की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, उसी का नाम है-‘सौरप्रज्ञायन्त्र’, जिसे हम-‘रोवसी-त्रिलोकी’ कहा करते हैं। यही क्रमपास्त-तृतीय-विरचयस्थान है, जिसका अग्निमयत्व भी स्पष्ट है ही।

और आगे बलिय। सौरप्रज्ञायन्त्राग्नि ही आजान्तर में अपने सर्वस्वरूप से सम्मत्स्वरूप में परिणत होजाता है। और यही सम्मत्स्वरूपप्राप्ति अपने ब्रह्मोदनात्मक प्रातिस्विक-विश्व से वहाँ स्वस्वरूप का संरक्षण करता है। यहाँ विश्व मनस्यमा प्रथम्यमाग से अपने स्वरूप से प्रथक् होता हुआ स्थानुगत पृथिव्यादि उपग्रहों का स्वरूप-निर्माता बनता है। यही प्रभापति का सद्बल विश्व सनधर्म है। सौर-देवमयबल से प्रथम्यरूपेण अपक्रान्त इसी चतुर्थ अग्नि से भूपियङ्ग का स्वरूप-निर्माण होता है। यही पारिमाथिक-पार्थिव-वह मृम्याग्नि है, ज्योतिर्मात्राभिव्यक्ति से ही जो ‘कुण्डलसूत्र’ नामक पारिमाथिक-नाम से व्यवहृत हुआ है। और यों विश्व के क्रमपास्त-चतुर्थ भूपियङ्ग का भी अग्निमयत्व ही प्रमाणित होजाता है। शेष रह जाता है पञ्चम-पूर्वात्मक-आपोमय-सौम्य-सन्ध्या, जिसका आपोमय-परमेष्ठीवत् श्रुतानि में ही अन्तर्भाव है।

इसप्रकार द्विविध-मात्रात्मक-पारमेष्ठ्य-आन्तरिक श्रुतधर्मा सुब्रह्मण्याग्नि स्वायम्भुव-ब्रह्माग्नि, सौर-सावित्राग्नि पार्थिव-गायत्राग्नि (सुगार्गि) क्येणापि अग्नि के चातुर्विध्य का समन्वय किया जासकता है एवं यही चातुर्विध्य की एकविधा है। ऐसे अगणित-चातुर्विध्य है अग्निमहिमा के, जिनमें से तत्कर्म में कतिपय-परिगणित-अग्निमहिमा-विषयों का ही स्पष्टीकरण प्रयास हुआ है जिन अनेकों विषयों में से यज्ञातुक्त्व से प्रमुखरूपेण जिन चार अग्नि-मात्रों का उद्विग्नविज्ञान-प्रसङ्गत दिग्दर्शन कराया गया है, वे चारों पारिमाथिक-अग्नि क्रमशः १-रसाग्नि, २-आर्साग्नि ३-छन्दस्याग्नि ४-सावित्राग्नि इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

द्वि-धृत-मधु-रस त्रयात्मक-सौम्य-त्रैलोक्य-में आप्त ‘रसतम’ नामक अग्निविशेष ही ‘रसाग्नि’ है, जिस के मापन से ही पार्थिव गायत्र-सम्पत्ति का संग्रह हुआ करता है। उत्तरदिक्स्थ-बायस्य-‘श्रुताग्नि’-विशेष ही वृषभ ‘आर्साग्नि’ है जिससे श्रुतधर्मा का स्वरूप-निर्माण हुआ करता है। वस्तुस्वरूप को आकारमात्र प्रदान करने वाला वयोनाश-आत्मक आकृतिरूप अग्निविशेष ही क्रमपास्त तीसरा-‘छन्दस्याग्नि’ है। एव सृष्टि का तृतीय-पूर्वात्मक-सौर ब्रह्माण्ड-स्वरूप-संरक्षण-ब्रह्मोदनात्मक-अग्निविशेष ही क्रमपास्त चतुर्थ ‘सावित्राग्नि’ है। यज्ञकर्म-निकषण ( सृष्टिरूपक-सम्पादक-कर्मनिकषण ) इन चारों अग्नियों के पारिमाथिक-समन्वय के द्वारा ही यज्ञधर्मा का तात्त्विक-समन्वय सम्भव है और यही ‘अग्निविज्ञान-निबन्धना’ प्रावृत्तिकी-उदाहरणविधि का संक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन है।



## ख) — आप्त्याग्रयी स्वरूप-विज्ञान —

आप्त्या-त्रयी से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यपूर्ण विज्ञान का उस सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक-आख्यान से ही सम्बन्ध है जिस में स्वप्न के पुत्र अतएव ‘स्वाप्न’ इस उपनाम से प्रसिद्ध तीन मस्तक वाले एवं ३ आँखों वाले ‘विरयरूप’ नामक प्रथम्यद अक्षुर के वष का स्वस्वोपबृंहण हुआ है। आप्त्या के सहयोग से ही ऐकन्द्र इस अद्भुत अक्षुर को मारने में समर्थ होते हैं। पुराणशास्त्र में जो ऐसे ऐसे अद्भुत अद्भुत चरित्र पदे पदे समाविष्ट हैं ही, जिन का पारिमाथिक समन्वय न करने का कारण ही हम पुराण जैसे आर्य्यसर्वस्वशास्त्र को

निरी गन्ध मानते हुए—'अशान्तस्त्वत्पर्व' गन्धु सतो निर्व्यां प्रकृत्यते को अक्षररा चरितार्थ करते ही यत्ने हैं। किन्तु उस समय सदा हमारी प्रज्ञा स्तब्ध हो जाती है, जब कि स्वयं वेदशास्त्र में भी हम अन्ततः—ऐसे ही विलाक्षण आख्यानों को समर्थित देखते हैं।

“एकता—द्विता—त्रिता—नामके आप्त्या-ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियभेद इन्द्र इतस्तत् उसी प्रकार विचरने लगे जैसेकि ब्राह्मणपुत्रेषा मृदाभिर्गृह्य रात्रा के साथ उसे सामयिक—परामर्श देते हुए विचरत रहते हैं। आगे चल कर आप्त्या-ब्राह्मणों के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशर्य—वडह—विरवरूप असुर को मार डाला” इस आख्यान का आप्त्याग्नि हीन है ! वडह—त्रिशर्य—विरवरूप असुर हीन है !, 'आप्त्याविद्यान के द्वारा इहाँ प्ररतों का विस्तार से वैज्ञानिक—समन्वय हुआ है—अतुर्भिन्—अग्निविज्ञान के अनन्तर।

पार्यिव-सम्पत्कर—यश से अनुगत, पार्यिव—स्तोम्यत्रैलोक्यानुगच्छी-सुप्रसिद्ध त्रिभुत्—पञ्चदश—एकविंश—नामक ( ६-१५-२१-नामक ) तीन स्तोमों के भेद से तीन पार्यिव-लोक व्यवस्थित माने गए हैं, जिन को समष्टि ही—'पार्यिवी-स्तोम्या-त्रिलोकी' कहलाई है। इस पार्यिवी त्रिलोकी के पृथिवीरूप त्रिहस्तोम में 'भूपति' नामक पार्यिव-भूवाग्निरूप (धनाग्निरूप) अग्नि प्रतिष्ठित है, यही प्रायः स्वनाभिष्ठाता—एकविंश—वसुगणोपेत—शक्तेनपात्—'एकता' नामक आप्त्याग्नि है। पार्यिवी त्रिलोकी के अन्तरिक्षरूप पञ्चदशस्तोम में—'भुवनपति' नामक आन्तरिक्ष—अर्वाग्निरूप (तरलाग्निरूप) वायु प्रतिष्ठित है यही माध्यन्दिनस्वनाभिष्ठाता—एकविंशविंश—उन्नगणोपेत शक्तेनपात्—'द्विता' नामक आप्त्याग्नि है। पार्यिवी त्रिलोकी के ही धुलोरूप एकविंशस्तोम में 'भूतानापति' नामक शिष्य—वदनाग्निरूप ( विद्याग्निरूप ) आदित्य प्रतिष्ठित है। यही सर्वतन्वनाभिष्ठाता ब्राह्मण—आदित्यगणोपेत शक्तेनपात्—'त्रिता' नामक आप्त्याग्नि है। इसप्रकार सूक्तेन्द्र से पृथिवी के २१ में ब्रह्मण्य पर्यन्त अपनी—भूव—अर्वा—वदह—( धन—तरल—विरल किंवा वाय्व ) नामकी सुप्रसिद्ध तीन अवस्थाओं से उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव में परिणत होकर त्रिहत्—पञ्चदश—एकविंश—रूपेण अपने तीन स्वतन्त्र—लोकसंस्थान बनाने वाला पार्यिव—त्रिविध अग्नि ही पार्यिव—आपोमय—अर्वावसमुद्र से सर्वतः परिष्कात रहता हुआ—'एकता—द्विता—त्रिता' नामक 'आप्त्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है और यही अग्निब्राह्मण रूप आप्त्याग्नि-नयी का संक्षिप्त—स्वरूप—विगर्शन है जिन इन तीनों आप्त्या—अग्निनों का ही अन्वय एक अन्य दृष्टिकोण के भेद से—'त्रयः केरिन' रूप से उपवर्णन हुआ है।

उक्त तीनों आप्त्याग्निनों के सहयोग से ही रोदरी-त्रैलोक्यानुगत सुलोक के अविष्ठाता—मन्वा नामक वेदेन्द्र के द्वारा त्रिशर्य—वडह—स्वाह—विरवरूप—का दमन होता है। 'अहमिर्वा इवं सर्वमाप्तम्'—'अहमिर्वा सर्वं धारयिष्यामि सर्वं जनयिष्यामि सर्वमाप्त्यामि—यदि किञ्च' इत्यादि वचनों के अनुसार अपृत्त ही यक्षिणी—बोधाह्वायिका—रमिषाभूला—हाम्पत्यसुखि का मूलाधार माना गया है जैसाकि—'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो मन्वन्ति' इत्यादिमूला ब्रह्मोपनिषद्पुणर्वर्णिता सुप्रसिद्ध पञ्चाग्निविद्या से भी प्रमादित है। सृष्टि के उपादानभरणात्मक पारमेष्ठ्य इस आप्त्यत्वरूप का ही नाम है वह—'सुब्रह्म' कित के गर्भ में 'ब्रह्म ( तत्त्वात्मक त्रयीवैद्य ) प्रतिष्ठित माना गया है। ब्रह्म और सुब्रह्म के समन्वय से ही विरव एवं विरवप्रभा की स्वरूपामिष्यक्ति हुई है। इस एक ही एकाग्र भी—ब्रह्मगमित—सुब्रह्मरूप अपृत्त से कि वाक्प्रपरित पदार्थ कैसे उत्पन्न होजाते हैं ! प्ररत की समाधानधूमि है वह—'स्वष्टा' नामक प्राथमिकोप विव के समन्वय से ब्रह्म—गमित—सुब्रह्मरूप—आपोमय हुआ इत्यपद—'वसु'—उर—व्यठ—अह्मति—आदि

आग्नि रूपेण विभिन्न आकारभावों में परिणत होजाता है, जैसाकि-‘त्वष्टा वै रेतः सिक्त विकिरोति’ भूति से स्पष्ट है ।

जिसप्रकार हरित-नील-पीत-रक्त-धूसर-नीललोहित-आदि सप्तविध-वर्णमय रूपों के प्रवर्तक-सौर-मचवा-नामक-देवेन्द्र है +, एवमेव-त्रिकोण-चतुर्कोण-अष्टकोण-सप्त-विधम-तिष्पक् आदि आदि मेदमिश्र-आकाररमक-रूपों का प्रवर्तक त्वष्टाप्रान्त ही माना गया है - । शुक्र-सहचारी-आप्यमावानुगत इस स्वप्नाप्राण को ही ‘त्वष्टा’ नामक असुर माना गया है । क्योंकि आग्नेय-भूमीतिर्मय प्राण जैसे-‘देवदेवता’ नाम से प्रसिद्ध है एवमेव आप्यप्राण ही ‘असुर’ नाम से व्यवहृत हुआ है । आकाररूपविच्छेता-आपोमय-आप्यप्राणधान-आपोमय-शुक्ररूप-सुब्रह्म-उत्सवे संक्षिप्त-यह ‘त्वष्टा’ नामक असुरप्राण ही सुब्रह्मरूपेण-आप्येवत्त्व-से अमिन्न बनता हुआ स्वरूप ही बन रहा है और यही ‘त्वाष्ट्र-विरवरूप’ नामक वह असुर है जिसके कारण ही तमोतुण्यप्रधाना-आमच्छद-मावनिक्त्वना-भूतमौक्तिकी-मर्या-भूतसृष्टि का उद्गम हुआ है, जिस मूर्तसृष्टि से ही मृत-अमृत-विरव का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है । और यही आप्य-त्वाष्ट्र-असुर की-विरवरूपता का संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन है ।

विरवरूप-आपोमय प्राणात्मक-त्वाष्ट्र-असुर-मत्त-विरव का प्रभव बनता हुआ-‘विरवरूप’ है तमी तो-‘सर्वमापोमयं जगत् सिद्धान्त्य अन्वयं जनता है । इस विरवरूप-आप्यप्राणात्मक-त्वाष्ट्र-असुर का जो ‘मूल’ होगा वही इसका ‘मस्तक’ माना जायगा । क्योंकि-‘शिरोमूला सृष्टिविद्या’ की अपेक्षा उत्पत्ति में शिरो भाग को ही मूल माना गया है । आपोमय-सुब्रह्म का मूलप्रवक्तक है वह ‘वाक्’ तत्त्व, जिसे हमने ‘अ’ नामक ‘प्राण’ से समन्वित-‘वृ’ रूप आकार कहा है पूर्व के निदर्शनों में (देखिए प्रस्तावना-पृष्ठसं० ४९) । अक्षमावन्विद्धा-यजुर्वक् ही आपोरूप में परिणत हुई है, जैसाकि-‘सोऽपोऽसृजत-वाक् एव लोकात्, धागाध साऽसृज्यत’ इत्यादि शतपथी भूति से स्पष्ट प्रमाणित है । वह-अनादिनिघना-स्वाम्यमुवी-‘मृ’ रूपा-सत्त्वात्मिका वाक् ही ( जिस की कि गौशिक-उपनिषत्-स्वरूपव्याख्या ‘अग्नि-ब्रह्माग्नि-ही मानी गई है \* ) आपोमय उस पारमेष्ठ्य-मण्डलरूप में परिणत हुई है जिस सुब्रह्ममूर्ति आपोमय-परमेष्ठी के त्वाष्ट्र-विरवरूप-प्राण से ही मैथुनीसृष्टि का आकार-विभाजन हुआ है ।

विरवरूप-त्वाष्ट्र-(आपोमय शुक्ररूप-सुब्रह्म) की मूलमूला वाक् ही तो इसका शीर्ष भाग माना जायगा । यह शीर्ष निरवनेन त्रिपदा है किंवा तीन शीर्ष-भावी को मिलाकर एक शीर्ष भाग है, जैसाकि वाक् शब्द के निर्बचन प्रसङ्ग में पूर्व के निदर्शन में स्पष्ट किया जा चुका है ( देखिए पृ. संख्या ४८ ) । मनः प्राण-से अविनाशिता वाक् सचमुच ही तो त्रिरूपमात्राप्रभा है । और ये ही उस त्वाष्ट्र-विरवरूप के तीन मस्तक हैं । विरवप्रभा पञ्चमाविकारों से समन्वित होकर ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होती है । ये ही

+ रूप रूप मचवा धोमवीति ।

- त्वष्टा रूपाणि पिशति ।

\* ‘तस्य वा एतस्याग्नेवगिषोपनिषत्’

—शतपथब्राह्मणे

सर्वभावविचार अस्ति-ज्ञायते विपरिणामते-यद्वृत्ते अपक्षीयते-नश्यति-नामों से सुप्रसिद्ध है। त्रिशीर्ष-  
स्वाप्न-विरवस्व-की भूतमीतिही-नैकारिकी-धामम्भदा-मर्यमाव-निर्वाचना-विरवस्वकी की विरवस्वरूप-निर्माणा  
स्वाप्न इन ९ दृष्टियों से ही देखता है, किंवा ९ विभागों में विभक्त होकर ही भूतमीतिक-सर्ग-देखा जाता है।  
इसी नैदानिक-भाव के आधार पर स्वाप्न को- पञ्च (५ आँसों वाला) मान लिया गया है।

एकता-आत्मानि से मानव के भूतत्मा के वैश्वानर भाग का निर्माण होता है, द्विता आत्मानि के  
सहयोग से मानव के भूतत्मा के तैजस भाग की स्वरूपाभिप्लव्ति होती है, एवं त्रिता-आत्मानि से मानवीय  
भूतत्मा के- प्राज्ञ भाग की अभिव्यक्ति होती है। निष्कर्षतः पार्थिवी मीतिही स्त्रीम्या-निस्त्रीकी के सतिष्ठावा-  
शवसोनपात्-विषवशीय-ध्रुव-धन्त्र-धरुण-भाषावच-अय-क्रिया-ज्ञान-मयान-अग्नि-वायु-आदित्य-नामक  
भूपति-भुवनपति-भूतानांपति-नाम्ना उपवर्णित एकता-त्रिता-त्रिता-नामक आत्मानियों से ही मानवीय-  
स्वरूपक-भूतत्मा के अर्थ क्रिया-ज्ञान-मयान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-नामक तीन फलों का स्वरूप-सम्पन्न  
होता है। म्यात्मक इत्यंभूत-भूतत्मा के ऊपर-प्रज्ञानमय का स्थान है, जो कि 'विज्ञानात्मा' (इन्द्रि)  
नामक सौर-इन्द्र-मनसैन्द्र से नित्य-सम्परिवृत्त माना गया है जैसा कि- 'त वा एष प्रज्ञातात्मा (मना)-  
विज्ञानात्मना सम्परिवृत्तः इति' इति वचन से स्पष्ट है। मानव का आमार्थमोगसाधनरूप शरीर आपोमय  
स्वाप्न-असुरमात्र है जिस अमायमोगावृत्ति में समाप्नुत मानवीय भूतत्मा शवसपाश से आवद्ध बना रहता  
है। आवृत्तिरूप-इस पाशवचन का विमोक्त ही त्रिशीर्ष-पञ्च-विरवस्व-असुर का परमम है, जो कि  
प्रधानसम्परिवृत्त-विज्ञानेन्द्र के द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है? प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतत्मा का स्मृ-  
क्रिया-अर्थ-मय-वैषम्य ही माना जायगा। बिना इस वैषम्य-अव्यवस्था के केवल-प्रधानविज्ञानेन्द्र  
(मनाइन्द्रि) बल कदापि इस आसुरवृत्त की अभिवृत्त नहीं कर सकते। अलमतिस्फुरितेन। प्रसुत आत्मान  
के द्वारा इसी तथ्य का अत्यन्त-पारिभाषिक-शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए ही अुति ने कहा है कि- 'एकता-  
त्रिता त्रिता-नामके आत्माओं के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष-पञ्च-स्वाप्न-विरवस्व का हमन  
कर दिया'। अन्धकारम्-इस आत्मान का अविश्वत-तथा अविभूत-के साथ भी यथानुरूप-सम्पन्न  
इष्टव्य है और यही मासिक-आप्तविविज्ञान-अनुकूलो संक्षिप्ततम-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

### (ग)-पञ्चासम्भनविज्ञान-निर्वाचना-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

प्रकृतिसिद्ध-अग्नीषोमीय-आधिदैविक-नित्यवृत्त की स्वरूपविधि का अत्यन्तम-अचनद्रव्य माना गया  
है-पशु। बिना पशु के प्रकृतिवर्णन का कोई भी यत्न सुतरा-हीन -नही होसकता। पञ्चकर्म की इत्यंभूता  
स्वरूपविधि के लिए ही सौरसम्भर-प्रभापति से अभिन्न-पार्थिव-स्त्रीम्यनैतोन्य में ध्यात-यावावृत्ति-  
यक्रिय-महापति के द्वारा यावावृत्ति-पञ्चवि-पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है जैसा कि- 'यज्ञार्थं पराव।  
सुष्टा' इत्यादि मनुष्यन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में दशार्पणमासेधि नामक यज्ञकर्म की इतिवृत्तता प्रकल्पता  
है जिसमें आहुतिद्रव्य माना गया है पशुओं का-विष्टद्रव्य, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा है- 'पुरोडाश'।  
इसी सम्पन्न में अुति ने यह प्रश्न उठाया है कि जबकि बिना पशु के कोई वा भी यज्ञकर्म सम्भव नहीं  
और दशार्पणमास में केवल पुरोडाशद्रव्य ही आहुति के लिए नियत है तो फिर इस इति की यत्न कैसे मान

लिया गया । इस प्रश्न के समाधान के लिए ही अति ने प्रासङ्गिक उक्त-‘परबालम्भन-विज्ञान का स्वरूप-विरलेषण किया है, जिसका सत्त्वहृदया निरतिशय ही महत्त्व माना जायगा इसलिए कि—

वत्तमानयुग के कतिपय-वेदमतां की युगवर्त्मनिष्पन्न-विगृह्यकालानुबन्धिनी-परानुरञ्जनायुगता-निरतिशया ‘उदात्तरष्टि’ ? में परबालम्भन का अर्थ भी केवल ‘पशुस्पर्श ही है, एवं ‘पशुवपस्मक-पशुमेव’ का अर्थ भी अस्मात्मावादमात्र-विमोहनारम्भ-कास्पनिक प्राणविशेषमात्र ही है । प्रकृत श्रौत परबालम्भन विज्ञान से अनुगत निम्नलिखित श्रौतसन्दर्भ से सर्वात्मना यह प्रमाणित होजाता है कि परबालम्भन का किसी कास्पनिक-स्पर्श-कास्पनिक-प्राण-आदि से सम्बन्ध न होकर विशुद्ध ‘पशुवप’ से ही सम्बन्ध है एवं तत्-प्राप्त्यर्थ वैधव्य की स्वरूप-सिद्धि के लिए पशु का अमुक-प्रक्रिया-विशेष से प्राणवियोग ही किया जाता है—

“यदा पिष्टानि अथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयति-त्वग्भवति । यदा सयौति अथ मांस भवति । मन्तत इव हि स तर्हि भवति । सन्ततमिव हि मांसम् । यदा शृत-अथ-अस्थि भवति । दारुण-इव हि स तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्गासयिष्यन् अमिधारयति, तं मज्जान-दधाति । एषा-उ-सा सम्पत्-( पुरो-डाशानुगता-पशुसम्पत् ), यदाहु-याक्त्वा-पशुः-इति” ।

—शतपथे १२।३।८।

सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ में बिन इहकाश्री ( ईंट ) का निर्माण होता है उनमें एकत्र पूर्ण ही ( उपासम्भरणारम्भ-यज्ञकर्म-विशेष के साथ ही ) पञ्चपशुओं का आलम्भन कर उन्हें मृमिक्षत् कर दिया जाता है । एक सम्प्रत्यक्ष के अनन्तर उक्त मिट्टी से ईंटें बनाई जाती हैं-श्रुतिओं के द्वारा । तदनुबन्धी परबालम्भन के सम्बन्ध में वत्तमान-युगानुबन्धिनी कास्पनिकी-कृष्णा के प्रतिनिधि किसी न कास्पनिक-वर्ण के माध्यम से अपना यह पक्ष उठाया कि “हिरण्य ( शुक्ल ) भी तो अमृतप्राणारम्भ ( खैर-प्राणारम्भ ) है । यदि पञ्चपशुओं के आलम्भन से वह अमृतप्राण ही यज्ञ में अर्पित है तो फिर निरपराध पशुओं को छोड़ते हुए हिरण्यम-पशु ( गेहे के पशु ) ही क्यों नहीं यज्ञ में ले लिए जाते” । इस सुचारवाद का आम्नातचक्र उत्पत्ति करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य को आक्रोश की भाषा में यही उत्तर देना पड़ा कि—“जो व्यसि ( अपने विगृह्यकालानुबन्धिनी-विज्ञानसम्भूता-चिरन्तन-पद्धतियों से एकान्तत अपरिचित है साथ ही जो प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञकर्मों के माध्यम- ( मौक्तिक-विज्ञान ) से अमत्प्रसूत है उस पद्धतिज्ञानशून्य-विज्ञानवञ्चित-प्राकृत मानव की दृष्टि में ही हिरण्यमयी-इष्टकार्य-अमृतमयी-अमृतप्राणारम्भ-होसकती हैं । किन्तु जो पद्धतिरहस्य के परिज्ञाता हैं यज्ञविज्ञान के ज्ञेया हैं उनसे तो यही आशा की जायगी कि व चयनयज्ञ में पौरो पशुओं का ही आलम्भन करेंगे • ।

॥-हिरण्यमयानि-उ-इ-एक कुर्यन्ति ‘अमृतैष्टका’ इति वदन्त । ता इ ता ‘अमृतैष्टका’ । न हि तानि पशुशीर्षाणि । मृगमयानि-उ-हैके कुर्यन्ति-‘उत्तमा



सहयोग के बिना ही प्रकृतिकार्य-प्रकृति-जायते-विपरिणामते-यद्वा ने अपकीयते-नश्यति-नामो से प्रसिद्ध है। त्रिरीप-  
त्वाद्-विरहस्य-की भूतमौलिकी-वैकारिकी-पामन्त्र-मर्यादा निरूपणा-विरहस्य की विरहस्वरूप-निर्माण  
त्वाद् इन ६ दृष्टियों से ही देखा है, किन्ना ६ विभागों में विभक्त होकर ही भूतमौलिक-सर्ग-देखा जाता है।  
इसी नैदानिक-मात्र के आधार पर त्वाद् को- पञ्च (६ आत्मां वाला) मान लिया गया है।

एकता-आप्त्याग्नि से मानव के भूतत्मा के वैश्वानर भाग का निर्माण होता है, द्विता आप्त्याग्नि के  
सहयोग से मानव के भूतत्मा के तेजस भाग की स्वरूपामिष्कृति होती है, एवं त्रिता-आप्त्याग्नि से मानवीय  
भूतत्मा के-‘प्राज्ञ’ भाग की अमिष्कृति होती है। निष्कर्षतः पार्थिवी-मौलिकी स्तोम्बा-त्रिलोकी के अतिष्ठत्वा-  
शब्दोत्पत्ति-त्रिपञ्चनी-ध्रुव-धन्व-धन्व-मावापस-अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान-अग्नि-वायु-आदित्य-नामक  
भूतपति-भुवनपति-भूतानां पति-नाम्ना उपरिष्ठित एकता-द्विता-त्रिता-नामक आप्त्याग्निओं से ही मानवीय-  
स्वात्मक-भूतत्मा के अर्थ क्रिया-ज्ञान-प्रधान वैश्वानर-तेजस-प्राज्ञ-नामक तीन पदों का स्वरूप-सम्पन्न  
होता है। आप्त्याग्नि इत्यंभूत-भूतत्मा के ऊपर-प्रज्ञानमन का स्थान है, जो कि ‘विज्ञानात्मा’ (इति)  
नामक सैर-इन्द्र-ममवेन्द्र से नित्य-सम्परिवृक्त माना गया है क्योंकि ‘स वा एष प्रज्ञानात्मा (मना)-  
विज्ञानात्माना सम्परिवृक्तः इति’ वचन से स्पष्ट है। मानव का कामार्थमोहावनरूप शरीर आप्त्याग्नि  
त्वाद्-असुरमात्र है जिस कामार्थमोहावृत्ति में समाप्नुत मानवीय भूतत्मा वाहनपरा से आकृष्ट बना रहता  
है। वास्तविक-इत पाण्डुवन का विमोक्त ही त्रिरीप-पञ्च-विरहस्य-असुर का परामर्श है जो कि  
प्रज्ञानसम्परिवृक्त-विज्ञानेन्द्र के द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है, प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतत्मा का ज्ञान-  
किन्ना-अर्थ-मय-पौष ही माना जायगा। बिना इस पौषरूप-अप्यवसाय के केवल-प्रज्ञानविज्ञानेन्द्र  
(मनाइति) बल कदापि इस आसुरबल को अभिभूत नहीं कर सके। असुरमतिपक्ववितेन। प्रस्तुत आप्त्याग्नि  
के द्वारा ही तप्य का अत्यन्त-पारिमापिक-शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए ही भूति ने कहा है कि-‘एकता-  
द्विता त्रिता-नामके आप्त्याग्निओं के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिरीप-पञ्च-त्वाद्-विरहस्य का इमन  
कर दिया’। आप्त्याग्नि-इत आप्त्याग्नि का अभिवैवर्त-तथा अभिभूत-के साथ ही यवानुरूप-सम्पन्न  
ब्रह्म है और यही प्राक्कि-‘आप्त्याग्निज्ञान-अनुकम्पी संविष्टम-स्वरूप-विग्रहान है।

### (ग)-परबालम्भनविज्ञान-निबन्धन-पारिमापिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

प्रकृतिविज्ञ-अग्नीमोमी-आधितैविक-नित्यवत् की स्वरूपसिद्धि का अन्वय-माधनब्रह्म माना गया  
है-पशु। किन्ना पशु के प्रकृतिबल का कोई भी वत् सुलभ-संति -नहीं होमकता। वत्कर्म्म की इत्यंभूता  
स्वरूपसिद्धि के लिए ही शौरसम्पत्तर-प्रभापति से अभिन्न-पार्थिव-स्तोम्बावैवर्त में स्वात-यावापुषि-  
मध्य-प्रभापति के द्वारा यावापुषि-पञ्चवि-पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है, क्योंकि-‘यज्ञार्थे परावा-  
सुष्टा’ इत्यादि मनुष्यन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में दशपूर्योमासेष्टि नामक वत्कर्म्म की इतिवर्तकता प्रकृत्या  
है जिसमें आहुतिब्रह्म माना गया है तद्वत् की-विष्टव्य, जिसकी पारिमापिकी संज्ञा है-‘पुरोडासा’।  
इसी सम्पन्न में भूति ने यह प्रश्न उठाया है कि कबकि बिना पशु के, कोई वा भी वत्कर्म्म सम्भव नहीं,  
और दशपूर्योमात् में केवल पुरोडाशब्रह्म ही आहुति के लिए निवृत्त है तो फिर इत दृष्टि को पञ्च कैसे मान

मध्यस्थ बनाए केवल प्राण की स्वरूप-व्याख्या ही सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राणी-रूपा मूलामिच्छित्त से असंस्पृष्ट-विशुद्ध प्राण तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-स्पर्मात्राओं से अतीत बनता हुआ अपने अवामच्छुद्ध-धर्म से मौक्तिक विश्व की सीमा से सर्वथा ही रहित तत्त्व है, जिसका कि-‘असदेवेदमग्र आसीत्-कितवसदासीत् ?-अपयो वाय तदग्नेऽसवामीत् । के ते अपयोः, प्राणा वा अपयः ( शतपथे ६।१।११ ) इत्यादिकेयं यशोगान हुआ है। निष्कण्ठः-मृतानुगति के बिना केवल प्राण-प्राण का उत्प्रेषण न केवल निरर्थक ही है, अपितु मृतशून्या ( यशकर्मशून्या ) केवल प्राणकल्पना से तो मानव का व्याध्यात्मिक-प्राण कालान्तर में सर्वथा रिक्त ही बन जाता है, और उस अवस्था में तो सत्तामिद भी मौक्तिक-यशकर्म-इस कल्पनावादी के लिए अस्तु ही ( अमावात्मक ही ) बना रह जाता है \* । तभी तो अग्निने-‘प्राणो-पक्षेन कल्पताम् इस सात्विक-आवेश के द्वारा अप्यात्मिक-प्राण के साथ आधिभौतिक-यशकर्म के अनुगमन अनिवार्य माना है।

मानते ई-मेघ-किंवा मेघ-‘प्राण’ की भी संज्ञा है। किंवा प्रमुखरूपेण प्राण की ही संज्ञा है। सता किम् ? । प्राण किस का नाम नहीं ? । बिलने भी नाम सुने जाते हैं, सभी पहिले ‘प्राण ही तो हैं। अग्नि वायु-विद्युत् इति-स्तनधिन-आदि-आदि सब शब्द प्राणों के ही स्वरूप-संज्ञाएँ हैं तो क्या एतद्रूप भूत-मौक्तिक-सत्त्वों का अभाव प्रमाणित होगया एतावता ही ? । पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-नामक सुप्रसिद्ध नामपञ्चक भी प्राणपञ्चक से ही अनुगमित है। चावापुधिव्य वैश्वानरपा-का ही नाम-‘पुरुषप्राण’ है मनोवाग्गमित-व्योतिर्मय-प्राण का ही नाम गौप्राण है, प्रतिक्रित-व्यैराण्य का ही नाम ‘अश्वप्राण’ है इतिवर्ण-प्रवक्त-आन्तरिक्ष-प्राण का ही नाम ‘अविप्राण’ है एवं पार्थिवकपालानुगत गायत्रप्राण ही ‘अजप्राण’ है। तो क्या एतन्नामक-प्राणियों का अभाव मान लिया जाय ? । नेति होवाच ।

जिस प्राण की जिस प्राणी में प्रधानरूपेण अमिच्छित्ति रहती है वह प्राणी उर्-प्राण के नाम से ही व्यवहृत होने लगा है। और यों पञ्चविध चावापुधिव्य-पुरुष-अश्ववादि पाँचों प्राणों से प्रमुखरूपेण कृततमा प्राणी भी पुरुष-अश्ववादि नामों से ही व्यवहृत होपड़े हैं। ‘कूर्म’ शब्द को ही लीजिए। आदित्यप्राण विशेष का ही नाम ‘कूर्म’ ( कछुआ ) है। क्योंकि अमुक-कलीय-प्राणी-विशेष में इस कूर्मप्राण की ही प्रधानरूपेण अमिच्छित्ति रहती है। अतएव यह प्राणी भी ‘कूर्म’ नाम से न केवल प्रसिद्ध ही होगया है अपितु चयनयशानुगता प्राणवित्तियों के क्रम में अपेक्षित-प्राणात्मक-कूर्म की चित्त के लिए ‘अथ कूर्ममुप वृधाति’ रूपेण कूर्मप्राणी ( कछुए ) का ही ग्रहण किया जाता है। केवल नीरुप-अप्राण-कूर्म-प्राण-मात्र के नामोद्घाटन से तत्रक यशकर्म की समिद्धि कदापि सम्भव नहीं है जबतक कि भूतशरीरी कूर्म का संघट्ट नहीं कर लिया जाता।

\*-असन्नेव स भवति-अपशु ब्रह्मेति वेद चेत् ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्देद सन्तमेनं सतो विदुः ॥

—उपनिषदि

आगे चलकर ऐतिहासिक-समय का स्मरण कराते हुए माण्डवस्वयं कहते हैं कि "भीम-मानवप्रजापति से आरम्भ कर सायकायन-श्यापथ-नामक मुप्रसिद्ध यात्रिक पर्यन्त तो पाँचों पशुओं का ही नियमन आलम्बन होता रहा अथवायथ में । आगे चलकर हमारे समय में (आज से पाँच सहस्र-वर्ष पूर्व-कलियुगारम्भतः किञ्चिद्विषय पूर्व माण्डवस्वयं के समय में) केवल प्राणापत्य, तथा बाण्य, नामक दो अन्न-पशुओं का ही आलम्बन शेष रह गया जिसकी आगतो ब्राह्मणों में वैज्ञानिकी-उपपत्ति बल्लार्थ बारी है- "प्राजापत्यं चरक्य आलम्बन्ते"-इत्यादिरूपेण । स्वयं-प्रकान्त कर्मानुगत-ब्राह्मणचन्दन की समाप्ति से अनुगत यह स्थीकण भी 'परबालम्बन के उक्त तथ्याय का ही समर्थन कर रहा है कि- 'पुरुष-अरथ-गौ-अवि-अज-नामक-पाँचों के मेध्यक्य-वर्धन-भाग की उत्पत्ति से ही क्यों कि किंपुरुष-गौ-गौर-गायय-अरु-नामक पाँच उद्भवन्तमेवा-मेवशून्य-पशुओं की स्वक्यामिष्वन्ति हुई है । अतएव कदापि इनको अशनपथानुगामी नहीं बनाना चाहिए- "तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम् । अपक्रान्तमेवा हेतौ पराध ।

परबालम्बन प्रयुक्त हिंस्रोप से क्या सकर्म हिंसामय नहीं बन जाता, जबकि इस सकर्म का पारिभाषिक एक नाम माना गया है- 'अश्वर', जिसका अर्थ है- 'अहिंसक-कर्म' । और फिर पशु भी तो निरव के जैसे प्राणी हैं किन्तु स्वस्वार्थसिद्धि के लिए मारना क्या मानवकर्म कहा जासकता है, इत्यश्वर के आपातरमणीय-निताम्न माण्डव्यापूर्ण प्रश्नों के समाधान के लिए ही हमें प्रकान्त कर्म में-परबालम्बनविज्ञान का स्वरूप-विश्लेषण-प्रकाश करना पड़ा है जिसके द्वारा आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, उद्बिज्ञान-समन्वय के अन्तर कस्पनिक-कल्याणकल्याण्य-अप्यसम्बाधियों की आपातरमणीयता तनी कस्पनाई समाधि होजायगी इसी निवेदन के साथ यह कर्णकटु निदर्शन अवैध उपरत किया जा रहा है ।

(घ) पञ्चप्रायात्मक-पशुस्वरूपविज्ञान-निबन्धन-परिमापिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

बुद्धिबाधामिनिष्ठ-विशुद्ध-अप्यप्रवादी-अवणिक-मानव अपनी आप्पारिमकी प्रायकस्वन के आवेध में यह नूल जाता है कि, 'प्राण की स्वक्यामिष्वन्तिव्य के क्षेत्र का ही नाम 'प्राणी' है । और यों प्राण तथा प्राणी में कोई अन्तर नहीं है । कदाचित् तो वास्तव में ऐसी है कि बिना प्राणी की

वाऽप्यते पशव यद्वा किञ्च-उत्सवमियं तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा । तद्वैते पशवो गतास्तत सम्मरामः" इति । न तथा कुर्यात् । यो वाऽप्यतेवामाहुतं ( पदति ), ब्राह्मण ( विज्ञान ) च न विद्यात् तस्यैतऽउत्सवाः स्युः । स एतानेव पञ्चपशूना-समेत-यावदस्य पशु स्यात् । तान् हेतान् प्रजापतिः प्रथम आसेमे, श्यापथः सायकनोन्तिमः । अथ ह स्मैतानैवान्तरेण-आलम्बन्ते । अथैतर्हीमो ब्रावेबालम्बेते प्राणापत्यश्च, बाण्यश्च । तयोरतो ब्राह्मण ( विज्ञान ) उच्यते ।

— शतपथब्राह्मणे ५.१.१.१८-१९-२०

प्राकृत-प्राणी स्वतः ही स्व-स्व-माकृतिक क्षेत्रों में शिखापट्ट बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में 'और भी कुछ' अभिव्यक्त है, जो मानवैतरी में अभिव्यक्त नहीं है। वह 'और कुछ' ही 'पुरुष' कहाला है। इसी पुरुष का नाम है 'आध्ययारमरूप-प्रकृत्यतीत-अवयव विगद्देशकालातीत-वह शारवत सनातन-धर्म', जिसने मानव को इतर प्राणिधर्म से वृथक् कर रहा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियों के समतुलन में 'विशेष' माना गया है X।

विशेषमावापन-शारवतधर्मरूप-दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुष और सामान्य मावापन-परिवसन शीला-दिग्देशकालानुगत 'शरीरप्रकृति' इन दोनों के समन्वितरूप का ही नाम मानव है। और ऐसा मानव अपने दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शारवतधर्म से ही दिग्देशकालातिमय प्रकृति को नियन्त्रित करता है। इस नियन्त्रण से नियन्त्रित विश्वप्रकृति कदापि उच्छ्वस्त नहीं बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप आत्मपुरुषात्मक-शारवतधर्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी किंवा वृद्धे शब्दों में दिग्देशकालानुगत-केवल-वक्त मानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रहा जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यन्तिक-पतन-रूपा वृद्धावस्था में धर्म के परिचायक-लक्षण ही शारवतधर्म का स्थान अपहृत कर बैठते हैं, जैसेकि धर्म का परिचायक प्रतीकरूप चाण्ड 'अहिंसा' भाव भी आध आन्तिवरा धर्म ही नहीं, अपितु 'परमधर्म' बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो यह है कि बड़े बड़े संस्कृतिक-विद्वान् भी इसी 'परमधर्म' के यशोमान में आमलीन बनते हुए 'गतानुगतिकन्याय' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते चारहे हैं। आध का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म के प्रबाह में सर्वोत्तमनैव स्वरूप-विमृष्ट होता चारहा है, किंवा होनावा है, जिससे सदा संस्कृतिक पतन इच्छा और क्या होगा ?।

प्रतीकधर्म-धर्म के स्वरूप-व्याख्यात धर्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म को लक्षणात्मक धर्म ही माना है जैसाकि आगे के-वचनों से स्पष्ट है—

\* ब्रह्मसो हि प्रतिष्ठाममृतस्याम्यपश्य च ।

"शारवतस्य च धर्मस्य"—मुख्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीतायाम्

X—आहार-निद्रा-भय-मैथुनाभि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नखायाः ।

धर्मो हि तपामधिको विशेषः, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

—नीतिसूक्ति

+—भूतिस्तु वेदो विशेष , धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताम्यां धर्मो हि निर्भमो ।

—मनुः २।१०।

क्योंकि प्राणी ही प्राण का स्वरूप-समाहक बना करता है किंवा भूत ही प्राण के अन्त-व्याप्तात्मक सम्पूर्ण-प्राण का कारण बनता है जिस इस तथ्य को विस्मृत कर विगत शताब्दियों से हमारे विश्वस्यमान म. वास्तविक-आध्यात्मवाद के व्यापारोद्धारक महान् ग्रह से प्रसन्न होते हुए भूतानुगत सम्-कर्मनिष्पन्न उभय सम्पूर्ण-लौकिक-आध्यात्मिक-आपने आपने और अपने साथ साथ ही सम्पूर्ण ग्रह को उस सीमापर्यन्त पराङ्मुख ही प्रमाणित कर लिया है जिससे भूतानुगामी-ममस्त-आचारमक-कर्मलौकिक्य हो होगया है विस्तृत, एवं तत्सम्बन्ध में शेष रह गई हैं आचारमक-कर्मना-प्रसूता वेनी शून्य-शून्य-कर्मनाई मात्र, जिनसे अलान्तर में मानवीय मन सर्वथा रिक्त ही बन जाया करता है, और दुर्भाग्यवश कर्मशून्य इत्यर्थभूता रिक्ता ही इन वास्तविकों की दृष्टि में उसी प्रकार 'शक्ति बन बैठती है, जैसेकि एक मेघावी-प्रशाशित-प्रसूतस्त्वन्मति-मी बालक अयोग्य-अधिमात्रकों के निःश्रीम साकून से अपने स्नातकीय-उन्मुखों से सर्वथा शिथिल बनता हुआ जब लुप्पीरूप बहुमात्र में आघात है, तो तदभिभावक ऐसे विवक्षित-वास्तविकों 'योग्य'-समाना करने, मान बैठने की मयावहा आन्ति करने लग पड़ते हैं।

अन्तमतिस्त्वन्मति । प्रसूत विशान प्रसन्न में-प्राण, और प्राणी के रहस्यात्मक उस वैज्ञानिक स्वरूप का ही स्वरूप-विरलोपय-प्रयास हुआ है जिस विरलोपय की प्रमुख-आधारमूमि पाङ्क ( पञ्चावयव ) यत्र से अनुगत-वातायुष्य-यौन प्राणपशुओं का स्वरूप-सम्बन्ध ही माना गया है, एवं इन्हीं पञ्चविध-प्राणपशुओं के माध्यम से पञ्चविध प्राणी-पशुओं का स्वरूप-सम्बन्ध प्रयास हुआ है, और यही प्रकान्त-परिच्छेद का पारिमात्रिक-वैदिक-निर्धारण है।

### (ख)-अहिंसा-हिंसा स्वरूप-विज्ञान-निबन्धन-पारिमात्रिक-स्वरूप-दिग्दर्शन-

जिसप्रकार आज के प्राकृतिक-मुक्त शब्दार्थनिर्बन्धानुगत पारिमात्रिकी निष्कार्य-मर्मता का उल्लंघन करते हुए स्था-तपस्या-सहिदान-नैतिकता-भ्रमानता-मानवता-मानवधर्म-आदि आदि शब्दों का दिग्देशकालभ्रमार्कषण से आकषितमाना करते हुए अथेष्ट वास्तविक-अर्थ मान लिया है तथैव उसी अस्वनिक्ता से आज 'हिंसा-अहिंसा' शब्द भी समन्वित हो रहे हैं। वही कारण है कि किन्हीं शास्त्रपरिभाषा में 'धर्मसंज्ञा' ( धर्म के परिचयात्मक वास्तविक ) कहा गया है वे आज स्वयं ही 'धर्म' का स्थान ग्रहण कर बैठे हैं जिसके आधार पर ही-अहिंसा परमो धर्म आदि वाक्यों पर ही आज धर्मस्वरूप का धर्मवस्तुन समझ जाने लगा है जबकि तत्पक्षः वस्तुस्थिति कुछ और ही है।

धर्म की जब प्राकृत-प्रकृतिकि-मान लिया जाता है सभी इसप्रकार की आन्तिवी को प्रवेशावकाश मिला करता है। आज के प्रकृतिकाही मानव का ऐसा ही कुछ महान् व्यापारोद्धार है कि 'मानव को प्रकृति के अनुसार ही चलना चाहिए'। बात सुनने में भी प्रिय है और बुद्धिवाद्दृष्ट्या मान्य भी। किन्तु मानव का स्वरूप केवल प्रकृति ही होता तबतो उक्त 'वात' का सर्वाङ्गीय समादर सम्भव था-मानवैतर उन पशु-पक्षी-आदि इतर प्राकृतिक-प्राणियों की भाँति जिनका अर्थ से इति पर्यन्त का ( वस्तुतः मनुष्यपर्यन्त का ) समस्त जीवनवृत्त सर्वात्मना प्रकृतिपरवश ही बना रहता है। अतएव व किन्हीं प्रकृत्या परिपूर्ण माना गया है जबकि मानव केवल प्रकृति की दृष्टि से अपूर्ण ही माना गया है। अतएव नृद्वयानुगत पूर्णता के सम्पन्न के लिए तो मानव के लिए स्वतन्त्ररूप से 'शिक्षाव्यवस्था' ही करनी पड़ती है जबकि मानवैतर

प्राकृत प्राणी स्वतः ही स्व-स्व-प्राकृतिक क्षेत्रों में शिवापट्ट बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में 'और भी कुछ अभिव्यक्त है, जो मानवैतरो में अभिव्यक्त नहीं है। वह 'और कुछ' ही 'पुरुष' कहाला है। इसी पुरुष का नाम है 'अन्यथात्मरूप-प्रकृत्यतीत-अतएव विगदेशकालातीत-यह शाश्वत सनातन-धर्म' •, जिसने मानव को इतर प्राणिसंग से पृथक् कर रखा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियों के समतुलन में विशेष माना गया है X।

विशेषमावापन्न-शाश्वतधर्मरूप-विगदेशकालातीत-आत्मपुरुष और सामान्य मावापन्ना-परिवर्धन शीला-विगदेशकालानुगत 'शरीरप्रकृति' इन दोनों के समन्वितरूप का ही नाम मानव है। और ऐसा मानव अपने विगदेशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शाश्वतधर्म से ही विगदेशकालातिमय प्रकृति को नियन्त्रित रखता है। इस नियन्त्रण से नियन्त्रित विरूपप्रकृति कदापि उच्छङ्खला नहीं बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप या मपुरुषात्मक-शाश्वतधर्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी किंवा दूसरे शब्दों में विगदेशकालानुगत-केवल-वस्तुमानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रहा जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यन्तिक-पतन-रूपा अवस्था में धर्म के परिचायक-लक्षण ही शाश्वतधर्म का स्थान अपहृत कर बैठते हैं, जैसाकि धर्म का परिचायक प्रतीकरूप वाद्य-“अहिंसा” भाव भी आज भ्रान्तिवश धर्म ही नहीं, अपितु “परमधर्म” बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो वह है कि, बड़े बड़े सांस्कृतिक-विद्वान् भी इसी ‘परमधर्म’ के यशोगान में भ्रामलीन बनते हुए ‘गतानुगतिकम्यास’ को ही अक्षरशः चरितार्थ करते जा रहे हैं। आज का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म के प्रवाह में सर्वात्मनैव स्वरूप-विमृष्ट होता जा रहा है, किंवा होगा है जिससे बड़ा सांस्कृतिक पतन इसका और क्या होगा ?।

प्रतीकात्मक-धर्म के स्वरूप-व्याख्याता धर्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म को लक्षणात्मक धर्म ही माना है जैसाकि आगे के-बचनों से स्पष्ट है—

• ब्रह्मसो हि प्रतिष्ठाममृतस्याम्यपश्य च ।

“शाश्वतस्य च धर्मस्य”—सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीतायाम्

X-आहार-निद्रा-मय-मैथुनाभि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नारम्हाम् ।

धर्मो हि तपामधिको विशेषः, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

—नीतिसूक्ति

+ भूतिस्तु वेदो विज्ञेय, धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताम्यां धर्मो हि निर्बर्मा ।

—मनुः २।१०।

वृत्ति-समा-दमो-ऽस्तेर्य-शौच-मिन्द्रियनिग्रहः ।

धी विद्या-सत्य-मक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

—मनु ६।६२

अहिंसा-सत्यमस्तेर्य-शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एत सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽप्रवीनमनु ॥

—मनु १०।६ ।

वृत्ति-समा-दम-अस्तेर्य-शौच-मिन्द्रियनिग्रह-धी-विद्या-सत्य-मक्रोध इत दशक को राबर्षि ने धर्म का सङ्ग्रह, अर्थात् 'प्रतीक' माना है जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, जो मानवभेद अन्वययुक्तनिरूपणन शास्त्रधर्म पर निष्ठा-पूर्वक आकट रहता है, ऐसे धर्मशील मानवभेद के प्रत्यक्ष आत्मपुरुष के अनुग्रह से अनुगत प्रकृतिरूप बुद्धि-मन-इन्द्रिय-बाधर आदि वर्त वृत्ति-समा-आदि लक्षणों से स्वतः ही सम्पन्न रहते हैं। धर्म से धर्म लक्षणिक-कर्म को सह जाना ही वृत्तिगुण है। शक्ति की निश्चिन्ता में भी अपराधी को दण्ड न देना ही समागुण है। पाणात्मक-वीर्य की अभिव्यक्ति में भी मनस्त्व का संवम कर लेना वसोगुण है। परश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न रहना 'अस्तेर्यगुण' है। स्नान-शुद्धि-आदि का अनुगमन ही 'शौचगुण' है। ऐन्द्रियक विषयों के पुरोऽपरिपत रहने पर भी उनके प्रात उत्पन्न को रहना 'इन्द्रियनिग्रहगुण' है। तात्कालिक संशु-भाव ही 'धीगुण' है। वस्तुस्थानानुशीलन-बनित-लेखन ही 'विद्यागुण' है। चक्रवृत्त विषयों का स्वीकरण ही 'सत्यगुण' है। एवं क्रोधनिमित्तोपरिवर्ति पर भी क्रोध न करना 'मक्रोधगुण' है। आगे चल कर राबर्षि ने सामासिकधर्मरूपेण 'अहिंसा का भी धर्म-अधर्मों में समावेश कर लिया है। प्रत्येक-दया-करुणा-आदि आदि अम्यान्व भी कतिपय बैसे मानवीय-अगुण हैं जिनका धर्मलक्षण-गणना में लय कर लिया जा सकता है।

'दशकं धर्मलक्षणम्' वाक्य ही स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित कर रहा है कि-वृत्ति-समा-दम-दम-करुणा-अहिंसा-शौच-आदि स्वयं धर्म नहीं हैं, अपितु ये तो धर्म के लक्षण हैं अर्थात् धर्म के प्रतीकमात्र हैं जिन के पूरक ही कि कुछ मात्र बने रहते हैं। और देशभल-पात्र-द्रव्य-भद्रा आदि परिस्थिति-बनित-साधन-परिग्रहों के कारणतम से अनुमानित अपेक्षा के अनुकूल से धर्मलक्षण ही परिकल्पित होते हैं-अधर्मरूप में एवं धर्मलक्षणों के प्रतिद्वन्द्वी-भाव परिकल्पित होते हैं धर्मरूप में जिन का होना-हरण शास्त्रों में विस्तार से उपर दृष्ट हुआ है। अतः परिस्थिति में में जो अहिंसा धर्म (धर्मलक्षण) है वही अतः परिस्थिति में धर्म का अधर्म बन जाती है। दया का धर्मरूप परिस्थिति विशेष में धर्मधर्म अधर्मरूप में परिवर्त हो जाता है। अतएव परम्परागत-समाजानु पाञ्चसक्य को प्रतीकधर्म-लक्षणधर्म-परिवर्तन शक्ति-प्राकृतधर्म का वही स्वल्प-लक्षण करना पड़ा कि—

दशे काष्ठ उपायेन धर्मं भद्रा-समम्भितम् ।

प्राप्ते प्रदीयते यत् तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति १।६।

दृष्टी दृष्टि से इन उपायधर्म प्रतीक-धर्मों का समन्वय भी कीजिए। 'दया धर्म का अङ्ग अन्वय बन सकती है, किन्तु दया स्वयं धर्म की अपेक्षा धर्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती' ।

एवमेव 'अहिंसा' को धर्म का अङ्ग माना जा सकता है, किन्तु कदापि 'अहिंसा' को 'अङ्गी'—रूप 'परमधर्म' नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में धर्म अवश्य ही सत्य-व्या अहिंसा-नामों से अभिनीत हो सकता है किन्तु कदापि सत्य-व्या-अहिंसा-आदि को ही 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विशेष परिस्थितियों में मिथ्यामायायु दयप्रहार—हिंसा—आदि भी धर्म के प्रतीक बनते देखे गए हैं। सत्य, और अद्वैत अथ, दया और दण्ड का, अहिंसा—और हिंसा का स्वरूप-विपर्यय ही धर्माधर्म का निर्णायक बना करता है। अतएव लक्ष्णात्मक-धर्म को शास्त्र ने 'सापेक्षधर्म' ही माना है, जिस में देश-काल-पात्र-द्रव्यादि के तारतम्य से परिवर्तन होता रहता है। धर्मलक्षणात्मक इत्यभूत—प्राकृत धर्म का नियन्ता है धर्मरूप—अप्राकृत वह शाश्वतधर्म, जिस की सनातनता अनुपपत्ति मानी गई है, और जो दुर्भाग्यवश प्रकृतिभ्यामोहननिबन्धन अनात्मवादालम्बक-प्रकृतिवादरूप-बुद्धिवाद से आब मानवीय प्रकाश से सर्वथैव 'निरपेक्ष' बन गया है। अतएव प्राकृतधर्मे, किंवा धर्म के लक्षणों में ही आब आन्तिकाय 'धर्म' का स्वर्णसिंहासन अग्रहृत कर लिया है। एव आत्मधर्मरूप अव्ययपुरुषधर्म से पराङ्मुख, प्रकृतिधर्मवादी—ऐसे ही मानवता-प्रेमी इत्यभूत-साधनिक-तात्त्विक-धर्म को ही 'नैतिकता' मानवता 'मानवधर्म' आदि विविध-उपाधियों से समलङ्कृत करते हुए इतस्तुत दंष्ट्रप्रमाण हैं। इत्यभूत-कास्मनिक धर्म में, अर्थात् मनुष्य में आसक्त-व्यासक्त बने रहने वालों की मातृका-गुणां दृष्टि में ही 'अहिंसा' का कास्मनिक पोष प्रदान बना हुआ है, जिस अहिंसा का शास्त्रीया पारिभाषिकी उल्लेख—'अहिंसा' से वर्णित ही तो सम्पर्क नहीं है, जिस शास्त्रीया 'अहिंसा' की पुरिका 'हिंसा' ही मानी गई है। कथमिति चेत् ? धर्म के वैज्ञानिक-समाधान के लिए ही तो प्रकृत-धर्म-नृगत हिंस-अहिंस का वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है, और यही प्रकृत धर्म के अन्तिम विज्ञानोद्धारण का सर्वोत्तम-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

१२—(३)

• • • • •

• या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिन्वराचरे ।

'अहिंसा'—मेव तां विषादोदाहृतां हि निर्णयी ॥

—मनु १०४



(१३)—वेदिकाकरणानुगत—स्तम्बयजुर्हरणकर्म—प्रसङ्गतः

‘निदान’-शब्द-निबन्धना--परिमाणो

४

क्रमपाठ्य ध्यानामाप्तिवत् वेदार्थ कर्मप्रकरण में अनेक परिमाणिक-उप्यों के अतिरिक्त ‘निदान’ शब्दानुबन्धी—विशेष तत्त्व का स्वरूप-विरलेषण हुआ है, उसका भी आक्षेपित तथा पुराणोक्त पारिमाणिक-आस्थानोपस्थानों के तत्त्वार्य-समन्वय में अन्यतम ही स्थान माना जायगा। यही नहीं, निदानानुपपन्न-विज्ञान के समन्वय में यह कह देना भी अतिशयोक्ति नहीं मानी जायगी कि, निदानविद्यानुगत-प्रतीकमय-सङ्केतों के समन्वय के बिना न तो वेदशास्त्र की आस्थानमाथा का ही समन्वय सम्भव एवं न आगम तथा पुराण-शास्त्र के रहस्य का ही समन्वय-सम्भव। उही महत्त्वपूर्ण निदानविद्या के सम्बन्ध में अत्र प्रस्तावनावां उदाहरणरूपेण किञ्चिद्विषय निवेदन कर दिया जाता है।

‘अतत् को तत् समम्भ लेना’ ही निदानशब्द का निष्कर्षार्थ है। विवेक संस्कृतमाथा में—‘आरोप’ कहा गया है। जो अमुक वस्तु नहीं है किन्तु उसमें अमुक वस्तु का आरोप कर दिया जाता है। इस आरोप-विधि का नाम ही निदानविधि है, एवं लोकम्बन्धन में प्रायः सर्वथैव लौकिक-निदानमाथों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था देखी सुनी जायगी है। उदाहरण के लिए—सहोदर भ्राता में दक्षिणमुखा का आरोप होकरप्रसिद्ध है। दक्षिणहस्तानुगत-कर्मकौशलरूप सादृश्य ही इस निदानारोप का आधार है। शोक का नैदानिक-आरोप कृष्णवस्त्र में हस्तिप्र कर लिया जाता है कि शोक संविन् मानव का मन क्षान्द्योति से अमिभूत ही हो-जाय है, विल अमिभूति का स्वल्प अनिरुद्ध कृष्ण-मात्र से अनुगत माना गया है \*। कीर्ति का नैदानिकरूप श्वेतवस्त्र माना गया है। शान्ति-समृद्धि का निदान हरित धूर्वा माना गया है। अन्तिमपा अशान्ति का निदान—‘रक्तवस्त्र’ माना गया है। रतेयानों की हृदि मन्त्रों का शान्ति सूचकत्व एवं सासम्भस्यो का विष-सूचकत्व प्रसिद्ध ही है।

निगम (वेद) आगम तथा पुराणशास्त्र-मयी के वक्ष्ययावत् ‘असदास्थान’ (रुद्रियत कथानक) उही निदानमाथ के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। विलका साङ्केतिक-रहस्यात्मक-पारिमाणिक-समन्वय न कर सकने के कारण ही आगम भारतीय-संस्कृति का गौरवपूर्ण आस्थानप्रकरण सर्वप्रकार की भोन कहे, बड़े बड़े

\* विरपाटीत-अज्ञात-सर्व अनुपास्यतम है शक्तिगत एवं आर्क मीपने से प्रतीयमान-अन्यकार अनिरुद्धतम है, एवं कृष्णार्थ (अका रंग) निरुद्धतम है। इसप्रकार सम्योमात्र तीन विषय-माथों में परिणत माना गया है।

विद्वानों के लिए भी मतिविभ्रम का ही कारण बना हुआ है। एवमेव भारतीय-यह समस्त-उपासनाकाण्ड भी वही निदानविद्या के अग्रिमव से आब धातुक मानवी की दृष्टि में आत्मातत्त्वकीया भ्रान्त भ्रालोचना का ही क्षेत्र बना हुआ है, जिसके परिणाम-स्वरूप ही कर्म-उपासना-ज्ञान-त्रयी-से अनुगत मध्यस्था उपासना आब सर्वथैव अपने पारिमायिक-तत्त्व से स्मृतिगर्म में विलीन होगई है +। यों एकप्रकार से सम्पूर्ण आर्यशास्त्र निदानविद्यात्मिका सङ्केतविद्या की विस्तृति से आब के पुग के लिए, विशेषतः प्रतीत्य-मत्तविज्ञान-सम्पर्क-जनिता भारतीय नवशिक्षिता प्रज्ञा के लिए 'उपहास' की ही श्रीकाव्यली बना रह गया है।

जैसाकि, पूष के बारहवें संस्मरण प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है, प्राण और प्राणी, दोनों शब्द भारतीय-विज्ञानकाण्ड में अग्रिमार्थ के ही संग्राहक बने हुए हैं—(देखिए-श्रुत सं ५८ से ६ पर्यन्त), जिस अग्रिमार्थका का निष्पन्न यही निष्कर्षता है कि, वस्तुस्वरूप की स्थिति-परिस्थिति-के अनुपात-तारतम्य से कहीं अनुक शब्द 'प्राण' का संग्राहक बन जाता है, तो वही शब्द 'प्राणी' का अनुग्राहक बन जाता है। इस विपर्यय का आधारभूत तथ्य ही 'आरोप' लक्षण यह निदानभाव है जिसका एक लौकिक उदाहरण 'दक्षिणमुखा' से अनुगत 'सहोदरभ्राता' भी बना हुआ है। जिस आरोपारम्भ-सम्बन्ध-विशेष से लोक-अवधार में दो सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे की दक्षिणमुखा कहलाते हैं वह सम्बन्ध-विशेष ही-निदानभाव' है। पञ्चाङ्गुलि से युक्त-पाणि-भाव से सम्बन्धित दक्षिणहस्तानुगत-अप्यवस्थायामक-कर्मकौशल रूप महान् भ्रम ही मानव के लोकजीवन की सख्तता का प्रमुख आधारस्तम्भ माना गया है। सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे के उसी प्रकार कर्मसहयोगी बने रहते हैं जैसेकि उनकी दक्षिणमुखा एवं दक्षिणहस्त। इसी सारव से सहोदर भ्राताओं में आहार्यारोपविधा से दक्षिणमुखा, किंवा दक्षिणहस्त का आरोप होगया है, और वही 'निदान' का एक लौकिक उदाहरण बना हुआ है।

कहीं प्राणी से तद्विधित उदाहारभूत प्राण का प्रण होजाता है इसी निदान के माध्यम से, जिसके उदाहरण भगवान् गणपति के वाहन मूषकाव बने हुए हैं। मूषक पार्ष्व-श्रुव-प्रतिष्ठा-प्राण का नाम है, जिसकी पारिमायिकी संज्ञा ब्राह्मणग्रन्थों में 'रस' मानी है। पार्ष्व-वनतम-रसात्मक-प्रतिष्ठाप्राण ही वह 'मूषकप्राण' है जो मृषियक से अनुगत एकोनपञ्चाशत् (५६) मरुद्गायों के मूलप्रवक्तृक अतएव- 'गणपति' नाम से प्रसिद्ध पार्ष्व-प्राण ही भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। इसप्रकार समस्त पार्ष्वी विवृति ही प्रतिष्ठात्मक-पार्ष्व-गणपतिप्राण की भी प्रतिष्ठा क्योंकि भूकेन्द्रामिमुख-अन्तर्गमित-वनतम-रसात्मक-मूषकप्राण ही बना हुआ है। अतएव इस रसात्मक-मूषकप्राण को अवश्य ही पार्ष्व-गणपतिप्राण का 'वाहन' मान लिया जासकता है। सुप्रसिद्ध मूषक नामक प्राणी (चूहे) में क्योंकि पार्ष्व-रसात्मक-मूषकप्राण विशेषरूप से प्रधानरूप से अभिव्यक्त रहता है, अतएव यह प्राणी भी तत्प्राण के नाम से (मूषक नाम से) ही प्रसिद्ध होगया है जैसे कि कूर्मप्राणप्रधान अमूषक प्राणी (कछुवा), भी 'कूर्म' नाम से लोक में प्रसिद्ध है जिससे अनुप्राणितता याचिकी धिति का पूर्व में संस्मरण किया ही जाचुगा है (देखिए पु सं० ५६)। दृष्टि मूषकप्राणी पर है एवं मनोयोग तत्प्रतिष्ठात्मक-मूषकप्राण पर है। यही औपासनिक-निदानभाव है जिसे सर्वथा तत्त्वानुगत ही माना जायगा।

+ उपासना-निष्कन्धन-निदानभाव का अवधारणारम्भ 'अक्रियोगपरीक्षा' नामक बृहभिरूप में ही सन्नित्त प्रस्थापन देलना चाहिए।

प्राग, और प्राची से अनुगता आरोपमूला सत्वात्मिका सयाभूता निवानविद्या के आधार ही यज्ञकर्मों में प्राकृतिक-प्राणों से कृतक्य भूत-मीतिक प्राणयान्-पार्थिव-सम्प्राप्त-पदार्थों-परिग्रहों का सम्भार करते हुए 'आसुकरिप' (चूहे के बिल की मिट्टी) का संग्रह भी अनिवार्यमाना गया है, जिसका सुविचार वैज्ञानिक-समन्वय उत्पत्तरण में ही ग्रह्य है। भूति \* के अनुसार भूयक ही पार्थिवरस के परिज्ञाता है। तो क्या मानव पार्थिवरस का परिज्ञाता नहीं है?, इस प्रश्न का समाधान रसात्मक यह मूषक-प्राण ही है जिसका सञ्जातीयार्पण-सिद्धान्तानुसार मूषकप्राण के साथ ही प्रधान सम्बन्ध अभिव्यक्त हो रहा है। यह रसात्मक मूषकप्राण सत्प्राणकृतारमा मूषकप्राणी के द्वारा संकलित मृदुभाग में ही क्योंकि उपलब्ध होता है। अतएव भूति ने यज्ञकर्म में उसका संघर्ष अनिवार्य माना है।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रजा विकम्पित होती है। यों विघ्नहर्ता गणपतिदेव विघ्नहर्ता भी बन जाया करते हैं। इनके इस विकम्पनारम्भ विचलनधर्म का सर्वप्रथम तद्वाहनरूप-पार्थिव रसात्मक-मूषकप्राण पर ही प्रभाव होता है। अतएव सर्वप्रथम सत्प्राणकृतारमा मूषक (चूहे) ही मरन लप्ते हैं और यही 'महामारी' 'वनपदविष्वसिनी' (प्योग आदि-वाङ्मयमित्री व्याधियों) की उपक्रमसूचि मानी गई है। इसप्रकार मूषकप्राणी अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप मूषकगण का नैदानिक-माध्यम बना हुआ है जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सुविज्ञाननिरूपण-माध्यमक तत्त्व के समन्वय न करने के अरुण ही हमारी धारणा साख्यीय-उपासनाधरुण के महत्त्वपूर्ण अर्थों का आब उपहास करने-लाग पड़ती है, और कहने लग पड़ती है कि - गणेशजी इतने मोटे और घनका बाहन छोटासा चूहा-इति नु अत्राश्चर्यम् ! अत्राश्चर्यमेव ॥

यह सर्वथा अकिस्मरणीय है कि, 'निदान' के माध्यम से अनुपासित आख्यानोपाख्यानों का केवल एक ही विभाग है जबकि उद्विग्नित लव प्रक्षर के आख्यानोपाख्यान सारमना लव के उन्माद से ही समन्वित हुए हैं। आठ प्रकार के आख्यानों में से आठवाँ 'असत्वाख्यान' नामक एक विभाग ही आरोपसम्पन्न-निदानमात्र से समन्वित है जिसके अग्रक महान्-लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही श्रुतिप्रज्ञा की ओर से नक्षत्रमस्त्र-पञ्चतमो शिखी-नवनी-क्रेण विद्या वर्गीकरण हुआ है। अर्थात् कुछ एक आख्यान ती निदानविधि से नक्षत्रों के आधार पर उपकल्पित हैं कुछ एक पर्वतों के माध्यम से एवं कुछ एक नद-नदियों के माध्यम से समन्वित हुए हैं किन्तु इन सभी नैदानिक-रहस्यों का यत्र तत्र प्रसङ्गदृष्ट्या सम्बन्ध-प्रयास हुआ है।

'असत्वाख्यान' का लौकिक अर्थ-निष्पन्न है—'मिथ्या कथार्य' अर्थात्—'गद्दी हुई कहानियाँ' किन्तु इन कथा-गाथा-कथा कहानियों के माध्यम से ही श्रुतिप्रज्ञा ने सर्वोच्च अर्थवत्ता अनेक तात्त्विक-रहस्यों से भारतीय-प्रजा की सुपरिचित करा दिया है। आब की सभ्या-माया (इगलिश) में सम्मिलित ब्रिते—

\* आसुकरिपं सम्मरति । आसुको ह वा अस्यै पृथिव्यै रस विदुः । तस्यापोऽबोऽयं  
इमां पृथिवीं धरन्तः पीबिष्ठा । अस्यै हि रसं विदुः । तत-अस्याऽण्वेवैनमेतत् रसेन  
समर्द्धयति । तस्मादासुकरिपं सम्मरति ।

‘माइयासोनी’ कहा जाता है, वही सात्यम् ‘असदास्यान’ का है। यदि ‘माइया’ को अनुकरण—अद्वय से—‘मिथ्या’ मान लिया जाता है, तो—ज्ञानायक ‘सोनी’ के सम्बन्ध से ‘माइयासोनी’ का निष्कर्षार्थ भी ‘मिथ्याज्ञान’—‘झूठी कहानियाँ’ ही प्रमाणित होमात्र है जिसका बालोपलक्षणरूप-शिक्षणक्रम की दृष्टि से अत्यन्त ही उपयोग माना गया है, जिस इत्यभूता उपयोगिता का क्षेत्र केवल एक मन्त्र का ही आख्यान विभाग है, जबकि एतदधिक सात-विभाग तो सर्वथा उद्भावनापन्न—अस्तित्वहीन—ही आख्यान माने गए हैं। अतएव जो महानुभाव वेदक—पीरुषिक—समस्त आख्यानोपाख्यानो को एकेश्वरता ‘माइयासोनी’ मान बैठते हैं उनकी तथाभूता मान्यता प्रोक्षिणादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखती, इत्यलमति—पक्षधितेन—प्रासङ्गिक—नैदानिक—भावानुकम्पेन।

अमूर्त्त के साथ मूर्त्त के द्वारा अमूर्त्त का सम्बन्ध स्थापन ही औपासक-निदानमात्र का निष्कर्षार्थ है \*। गणपति का अमुक विधित आचर क्यों !, गणपति ऐसे विद्याल, और उनका वाहन मूषक नामक एक स्वल्पद्वय-प्राणी कैसे !, भगवान् विष्णु के हाथ में शङ्ख-चक्र-गदा-वध-कर्म !, महाकाली के हाथ में घुरपात्र—क्यों लङ्ग-आदि क्यों !, इत्यादि अगणित-कुतूहलपूर्ण-इष्ट क्यों ! और कैसे !, की परम्परा को उपरान्त करने वाली निदानविद्या के व्याख्य-स्वरूप-का ही उदाहरण-विधि से उत्पन्न हुआ है, और यही निदानानुगत-प्रासङ्गिक-तथ्य का संक्षिप्ततम—स्वरूप-दिग्दर्शन है, जिस इस-निदानमात्रानुसंगी-शिक्षक—औपसत्तमक-तथ्य का ही भगवान् मनुहरि के द्वारा निम्न लिखित शब्दों में संस्मरण हुआ है—

उपायाः शिवमायानां बालानामुपलक्षणाः ।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

(१३)—४

• • • •

\*-अध्विन्त्यस्वाप्रमेयस्य निर्गुणस्य शुशात्मनः ।

उपासकानां सिद्धयर्थ-ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

प्रायः, और प्राणी से अनुगता आरोपमूला तत्त्वज्ञान का तथाभूता निदानविद्या के आधार ही यज्ञकर्मा में प्राकृतिक-प्राणी से हृद्यरूप भूत-भौतिक-प्राणवान्-पार्थिव-सम्भारी-पदार्थो-परिग्रही का सम्भार करते हुए 'आस्तुकरीय (चूहे के मूत्र की मिट्टी) का संग्रह भी अनिवार्य माना गया है, जिनका सुविशद वैज्ञानिक-सम्भव उत्पत्त्यरूप में ही ग्रहण्य है। भूविज्ञान के अनुसार भूकम्प ही पार्थिवरस के परिज्ञाता है। तो क्या मानव पार्थिवरस का परिज्ञाता नहीं है? इस प्रश्न का समाधान स्वामयक यह भूकम्प-प्राण ही है जिसका सञ्जातीयार्जन-विज्ञानानुसार भूकम्पण के साथ ही प्रधान सम्भव अभिप्रेक्ष्य होता है। यह स्वभाविक भूकम्पण ज्ञातानुसार भूकम्पण के द्वारा संकलित सूक्ष्म भाग में ही व्यक्तिक उत्पत्त्य होता है। अतएव भूविज्ञान ने यज्ञकर्मा में उत्तम स्वरूप अनिवार्य माना है।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रकाश विकसित होती है। यों विप्लवार्त्ता गणपतिदेव विप्लवार्त्ता भी बन जाया करते हैं। इनके इस विकसितारामक विचलनधर्म का सर्वप्रथम तत्वाहनरूप-पार्थिव स्वभाविक-भूकम्पण पर ही प्रभाव होता है। अतएव सर्वप्रथम तत्प्राणकृतस्मा भूकम्प (चूहे) ही मरते खगते हैं और यही 'महामारी जनपदविप्लवसिनी' (प्लेग आदि-वाक्-आमिकी व्याधिषी) की उत्पत्त्यसूचि मानी गई है। इसप्रकार भूकम्पण की अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप भूकम्पण का नैदानिक-माध्यम बना हुआ है जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सांकेतिकानिबन्धन-माध्यमिक तत्त्व के सम्भव न करने के कारण ही हमारी वास्तविकता मार्तण्ड-उपासनाप्रणय के महत्त्वपूर्ण अर्थों का आत्म उपहास करने-शय पड़ती है और कहने लग पड़ती है कि - गणेशजी इतने मोटे और उनकी वाहन जोटासा बूढ़ा-इति तु अत्रक्षयमेव। अत्रक्षयमेव ॥

यह सर्वथा अविसरणीय है कि, 'निदान के माध्यम से अनुप्राप्ति आख्यानोपाख्यान की केवल एक ही विमर्श है, जबकि उद्दिष्टित सप्त प्रकार के आख्यानोपाख्यान सर्वात्मना स्तु के उद्देश्य से ही सम्पन्न हुए हैं। आठ प्रकार के आख्यानोपाख्यान में से आठवाँ 'असदाख्यान' नामक एक विभाग ही आठोपाख्यान-निदानमात्र से सम्पन्न है जिसके अनुसार महान्-लक्षण की विधि के सिद्ध ही श्रुतिप्रकाश की ओर से नक्षत्रमण्डल-पर्यन्तमे शिर्षो-नखनवी-कलेन विद्या वर्गीकरणा हुआ है। अर्थात् कुछ एक आख्यान तो निदानविधि से नक्षत्रों के आधार पर उपपन्नित है कुछ एक पर्वतों के माध्यम से एवं कुछ एक नद-नदियों के माध्यम से सम्पन्नित हुए हैं जिन इन सभी नैदानिक-उद्देश्य का यत्र तत्र प्रसङ्गहस्त्या समन्वय-प्रयास हुआ है।

'असदाख्यान का लौकिक अर्थ-निष्पन्न है—'सिध्दा कथार्थ' अर्थात्—'गङ्गी हुई कहानियों' जिन इन कथा-गाथा-रूपा कहानियों के माध्यम से ही श्रुतिप्रकाश में सर्वोच्च आकाश्य अनेक स्वरूप-रहस्यों से मार्तण्ड-प्रकाश की उपरिष्ठित करा दिया है। आत्म की तन्मा-भाषा (इ गतिष्ठ) में सम्पन्न जिते—

ॐ-आस्तुकरीयं सम्भरति । आसुरो ह वा अस्यै पृथिव्यै रम विदुः । तस्मान्नोऽजोऽयं  
इमां पृथिवीं धरन्तः पीविष्ठा । अस्यै दि रसं विदुः । तत-अस्याऽण्वैर्देनमेतत् रसेन  
समर्द्धयति । तस्मादास्तुकरीयं सम्भरति ।

के ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविज्ञान-निबन्धन-वह महत्त्वपूर्ण गौरव सर्वत्रैव अभिभूत होगया है किम अभिभूति के कारण ही आज की नवशिक्षित भारतीय-प्रजा के लिए वेदशास्त्र उस पुरातन सम्प्रदाय का स्वयं एक वैसा प्रामीणमापामय शास्त्र ही बना रह गया है, जिस युग के सम्प्रदाय को इन नवीन-भारतीय-वेद-संशुद्धियों के दीर्घागुरु, किंवा सर्वस्वगुरु पार्वमी-विद्वानों के द्वारा ठोक-पीट कर यही मिमला लिया गया है कि—

“उस युग में क्या के सिद्धने पढ़ने के साधन नहीं थे, अतएव केवल सुन-सुना कर ही मानव अपने वाक्यों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। अग्निताप से जब उन्हें शान्ति मिलता, तो वे अग्नि की स्तुति करने लग पड़े। इसी प्रकार-ज्यों ज्यों उन्हें प्रकृति के अग्नि-वायु-प्रकार-जल आदि की उपयोगिता का आभास होने लगा त्यों त्यों ही वे अपनी उस युग का मापा में उन उन उपयोग-पदार्थों का स्तुत्यात्मक-जादुकारिता पूरा-बर्णन-करने लग पड़े और वह ध्यानमग्न ही उनका वेद कहलाया जो सचमुच उस युग की सभ्यता का ही परिचायक ग्रन्थ है।

आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारत में प्रकाशित होने वाली-अमुक पत्र-पत्रिकाओं में भी वेदशास्त्र का सम्बन्ध में पश्चिमी-विद्वानों की ओर से दायादरूपेण मिलने वाली तथापिचा अन्त-वारणाओं की ही उपहास के रूप में निकलते जब हम छुटते हैं, तो चरणमात्र के लिए के लिए इन्हें स्वयं अबाध ही बने रह जाना पड़ता है \*। किन्तु इस में न तो पत्र-पत्रिकाओं की ही दोष दिया जासकता, नैव तदनुगामीनी आज की उन नवीन-प्रजाओं की ही कुछ कहा सुना जासकता बिना अपने समस्त जीवन में भारतीय-मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक-परिचयस्व कभी किसी की ओर से भी उपलब्ध हुए ही नहीं। ठीक इनके विपरीत बिना अपने शिक्षणकाल में प्रवीण-विद्वानों की तथाकथित धारणाएँ ही दायादरूपेण (जिराफ्त में) उपलब्ध हुईं जिन का नमस्त्रिभुज पूर्व में किया ही जासकता है। इधर प्राच्यविचारानुगामी-भारतीय विद्वान् अपनी अनारोप्यता की अन्ति से ऐतिहासिक-तथ्यों से शून्य रहते हुए वहाँ इस दिशा में उत्पन्न बने रहे विगत तीन सदी-ज्यों से वहाँ पारिमायिक-शक्तों की परम्परा से असंख्य रह जाने के कारण इन भारतीय-विद्वानों की ओर से वेदशास्त्रानुसन्धी-ज्ञानविज्ञानात्मक उन-सृष्टिरहस्यों के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव प्रकाश नहीं डाला गया तदवधि में, जिन वैदिक-वैज्ञानिक-तथ्यों के समुत्पन्न सभी युगों की प्रजाओं का हठात्-प्रवचनावेन जीवनचरित्रक बन ही जाना पड़ता है।

यों एकमात्र भारतीय-विद्वानों की साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति से अनुगत मतवादाभिनिवेशवृत्ति के कारण अभिभूत होकरने वाले वेदापीठ्येयत्व की अन्ति से ही वेदशास्त्र के विज्ञान-स्तुति इतिहास-नामक तीनों छातव्य-स्तम्भ एवं कर्म-उपासना-ज्ञान-नामक तीनों कर्तव्यस्तम्भ दोनों ही विभूति-स्तम्भ अपने ज्ञानविज्ञानात्मक-पारिमायिक-तथ्यों से सर्वत्रैव उस सीमा-पम्बन्ध-परा-परागत ही (अत्यन्त ही विचूर) बन गए,

\*-स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली से प्रकाशित होने वाली, सुधारक-जगत के लिए महान् आकर्षण का विषय 'सरिता' में वेदशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

# (१४)—वेदपरिगृहकर्मा—प्रसङ्गत— आख्यानोपाख्यानादि—निबन्धना विविधा—वैज्ञानिकी—पारमिषाणुं

५

## (क)—वेदापुरदायविभागानुषङ्गी—आख्यान का सम्मरण —

वेदसंहितामुगता अत्यन्त रास्वपूर्णा विज्ञानभाषा स्तुतिभाषा एवं इतिहासभाषा—स्नेह त्रिषा विभक्ता पारिभाषिकी भाषाओं से अनुपायित विज्ञान—स्तुति—इतिहास—नामक सुप्रसिद्ध त्रिविध शास्त्र—विषयों में स सर्वान्त के इतिहासभाषासुगत ऐतिहासिक तथ्य के सम्बन्ध में मारतवर्ष की सभी अभियों के पुरातन—नूतन—वेदमन्त्र (सनातनधर्मावलम्बी विद्वान्, एवं आर्य्यसमाजी महाशय) सबसैव गबनिमीलिक—पञ्चानु व मो ही देखे छुने चारो है, किन्तु इत गबनिमीलिक का एकमात्र हेतु है—वेदी का अनौपेक्षस्व—निरन्तर ईश्वरकृत स्व । “ईश्वरकृत अनौपेक्ष वेदशास्त्र के सम्बन्ध में मानवपरिचालक—ऐतिहासिक तथ्यों का सम्बन्ध कैसे सम्भव है इस उदासीनता की अप्रणी बनाकर, बरप्रभावाह/पारकमयत इत्यादि कतिपय स्थलों के ‘अवरभावाहल’ शब्दों की बाध के अनुकरण से अनुगत मानते हुए सनातनधर्मावलम्बी विद्वान् भी अपनी अस्पष्टिनी अनौपेक्षता की भ्रान्ति में मन्त्रभाषाशास्त्र के शास्त्र के महत्त्वपूर्ण शास्त्र—विषयों में से उत अन्त के—‘इतिहास’ नामक शास्त्र विषय की ओर से एकन्ततः उदासीन हो बनते चारो है नित हीन सहस—क्यों से, जिस उदासीनता के दुष्परिणाम—स्वस्म ही मारतवर्ष की सनातन—संस्कृति के आचार पर सुप्रसिद्धता—दिग्देष्टाअलनुबलेबनी—सर्वमूख न्या—मारतीय—सम्बन्ध की मौलिकता का चिरन्तन यह इतिहास स्वया ही स्मृतिगर्भ में बिलीन होगया है जिस के विस्मरण से सम्यतामुक्तकी गौरव के लक्ष्य साथ ही मा तद्वह संस्कृतक—मौरव के बंधाव—सम्बन्ध से सर्वसैव पराङ्मुख बन गया है ।

अवरव ही कत मान कुग के मनीषी प्रतीय—विद्वानोंमें वेदशास्त्र में उपरर्जित इतिहास—सम्बन्धी अन्वेषण की ओर हृत्पात करते हुए वेद—युगानुगता सम्यता के सम्बन्ध में अपनी अमूक ऐतिहासिकी चारसारें अभिस्पष्ट की हैं । निष्कसवर्थापि से सुप्ता मारतीय—महा के उद्घोषण की दृष्टे से पश्चिमी—बंगाल का तथाभूत प्रकल अभिनन्दनीय भी माना चालकता है । किन्तु प्रतीय—विद्वानों के इरपभूत प्रयास से एक ओर बड़ी मारतीय—प्रवाचीन—विद्वत्—महा की अंशुस उद्घोषण मिला है, वही साथ साथ ही बेठी—भ्रान्तिपरम्पराएँ भी इसी उद्घोषण के लक्ष्य भिन्न गर्त हैं जिन के कारण मन्त्रभाषाशास्त्र वेदशास्त्र

सम्पुटित मानव अपने स्वरूपानुगत-आत्मचैतन्य से उत्तरोत्तर विवक्षित होता हुआ स्वयमपि एक बड़ भूतपिण्ड रूप में परिणत होबाने के लिए ही मानो कटिबद्ध बनता बारहा है ।

अध्यात्मवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है—स्वशरीर के किसी केन्द्रारमक-शून्य प्रदेश-विशेष में ही उपकल्पित इन्द्रयात्रीय-अलौकिक-काल्पनिक-मनोराज्य में ही ईश्वरीय-आधिदैविक-जगत् के सर्वो-पदाभां को अपनी कल्पना से ही आध्यात्मिक-प्राण का रूप दे दे कर सबकुछ अपने इस काल्पनिक-अध्यात्मप्राण में ही परितमार्प्य मानते रहना । ऐसे अध्यात्मवादी ही अपने शून्यजगत् में ही सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि-पवन-गङ्गा-यमुना-आदि की कल्पना में आत्मविमोह नहीं, अपितु मनोविमोह को रखते हैं—‘मन सङ्गो सो फीके क्यौं’ को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए । इसी की भाषा है—‘मन बङ्गो सो खटोटी में गङ्गा’ । इन की दृष्टि में न तो आधिमीटिक-प्रयच्छत-अभ्युदयसाधक-विश्वसौन्दर्य का ही कोई महत्त्व, एवं न इस मौलिक-जगत् के प्रवर्तक नित्यश्रद्ध-आधिदैविक ईश्वरीय-जगत् का ही कोई महत्त्व । अपितु सबकुछ ये, अपने कल्पनिक-आत्म में ही, कल्पना के ही द्वारा काल्पनिक-प्राणी को ही हूँट हूँट कर अपनी कल्पना में ही छुट होते रहते हैं ।

इत्यभूत-काल्पनिक-अद्वैतवादात्मक-अध्यात्मवादाने ही विशेषरूपेण मानव का सर्वप्रथम अधिदैवत से विच्छेद कइया है छत्सहैव अभिभूत-निकम्बना आचार्यनिष्ठा से भी । काल्पनिकी अध्यात्मभावना के रक्तिक मानव उस महतोमहीमान्-ईश्वरीय-आधिदैवत-विश्व का अपने अगोरभीमान्-अध्यात्म में निमज्जन मानते हुए—‘न त्वहं तपु से मयि इस तप्य को सर्वथा ही तो मूल जाते हैं । यह (आधिदैविक) अंशो बनता हुआ वहाँ व्यापक है, निरवच्छिन्न है वहाँ यह (अध्यात्म, और अभिभूत) ‘अंशो नानात्वात् \* (व्यासवृत्त) के अनुसार उदरा बनता हुआ व्याप्य है सावच्छिन्न है । उस-व्यापक-अधिदैवित-ईश्वरीय-जगत् के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश में ही जो व्याप्यवर्मा अध्यात्म-और अभिभूत-प्रतिष्ठित-है मला उहाँ के गर्भ में वह व्यापक कैसे खलमना प्रविष्ट होबायगा ! । ‘वे मुझ में हैं-किन्तु मैं उन में नहीं हूँ’ का यही तो त्सारत्य है । छवमुच इस से बड़ी आत्मवज्जना इत्यभूत अध्यात्मविभूत इस मानव की और क्या होगी कि, वह आधिदैवकी-पारमेष्ठ्य-गाङ्गेवावातरभूता-पुण्य सलिला-माता-मगकती-मागीरयी की सर्वव्याप्ता सलिलचार में व्याप्यमाकान्तिक-अपने रक्त्यतम-मौलिक शरीर को निमज्जित कर देने बने महत्-पुण्यकर्म से वञ्चित रहता हुआ उस व्यापक तत्त्व को अपने शरीररूप काल्पनिक अध्यात्म में मान बैठने की महती भ्रान्ति करने लग पड़ता है । और यी इस प्रत्यक्ष देवानुग्रह से यह आत्मविभूत उधीपकार वञ्चित ही हो क्या रह बावा है जैसे कि भिरुद्ध भूतवादी-अँक्सिजन-डाइऑक्जिन की मान्यतामात्र से अनुमापित कीटाणुओं की चर्वणा से ही चञ्चिताम्भकरक बना रहता हुआ गङ्गा के उस आधिदैविक-अभिमानी-दिव्य-स्वरूप के अनुग्रह से विहीन ही रह बावा है, जो अनुग्रह एक अक्षालु मादरा-प्राणीय मी अक्षामात्र के अनुग्रह से अनायासेनैव प्राप्त कर अपना जीवन धन्य-कृतकृत्य-प्रमथित कर लिया करता है ।

निवेदन-निष्पन्न यही है कि, केवला अध्यात्मवाद के व्यामोहनन तथा केवल भूतचक्रिने ही भारती-मानव को वैषम-आत्मिक-मौलिक-समम्बन्धमात्रक-— तपु, सम-अथात्-शिक्षान्तमूलक-ज्ञान भिन्न नारभक-पारिमाणिक उस तप्य से वञ्चित ही कर दिया है, जिसके दुष्प्रणियाय-स्वरूप ही वंदाय के सम्बन्ध में तपावयितरूपेण नाना जैसे प्रवाद उपभ्रम्य होचके हैं जिन से वेदपुरुष का गौरव उत्तरोत्तर अभिभूत ही



विम विदुरस्य से ही आब प्रतीत्य-वगत मी अपनी-कल्पना के आधार पर वैदिक-इतिहास के साथ यथेच्छ कीमती छुट करवा हुआ नहीं था, तो तत्परणरज-पथ के अन्धानुगामी, प्रत्यक्ष-प्रमाणहीन स्वरूप-विमोहिनी-मर्ननाशकारिणी मानुषता के अग्रणीयुत आब के नवशिक्षित-भारतीय वेदमूल में प्रतीत्या विचारधारा का ही अहर्निश यथोपान करते हुए 'सुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः को ही अघरश' चरितार्थ करते हुए इतस्तत एम्भ्यमागत हैं-सर्वतन्त्र-त्यक्त्रस्म्येवैति महद्, सास्पदम् ।

इधर कुछ समय से अमुक परिगणित वेदमूल अवश्य ही वेदशास्त्र की तपाकयिता-प्रवचना से हुआ हुए हैं, बिना दुःख की निहाय के लिए ही कुकुरे तो शब्दानुकरण के माध्यम से बत मान-प्रतीत्य-मैत्रिक-विज्ञानों तथा आधिदैविकों के साथ वैदिक-विद्वानों का अस्तम्यन्त-समन्वय करना आरम्भ कर दिया है वेदशास्त्र के गौरव स्थापन के ब्यामोहन से । तो एक दूसरा बग बैसा भी है जो वैदिक-उपनी की विशुद्धा अम्यत्समपरक ब्याख्या में ही खनीन रहता हुआ किसी जैसे अज्ञात अम्यत्सम प्राण की कल्पना में ही निमोद बना हुआ है, बिना का लोक-समाज-निकम्बना-भूतमौलिकी बाध-बाधनुबन्धनी-अम्युदय-प्रवृत्ति से कुछ भी तो सम्भव नहीं माना जासकता । इसप्रकार एक वर्ग वेदशास्त्र की विशुद्ध मौलिक-विज्ञानशास्त्र प्रमाप्ति करने के लिए आतुर है शब्दानुकरण-माध्यम से जोड़-तोड़ बैठता हुआ तो दूसरा वर्ग 'प्राण' ब्यामोहन-निकम्बन-कल्पनिक अम्यत्समगत में विचरक करवा हुआ वेदशास्त्र के सम्पूर्ण-विज्ञान-स्तुति-इतिहास-कर्म-उपास्ति-ज्ञान-वैमर्षी की एकमात्र लोचनीय अम्यत्सम पर ही परिमल्ल कर देने के लिए आकुल-आकुल करता हुआ आर्षनिष्ठा-सम्मत इस समस्त आचारलौन्दर्व्य को एकान्त निष्ठा ही प्रमाप्ति कर देना चाहता है कि आचारलौन्दर्व्य को मारतवर्ष आब तीन लक्षवर्षों से उत्तरोपर विस्तृत ही करता आरहा है ।

कहना न होगा कि-वच मान-मूलविज्ञान के साथ वेदशास्त्र का समनुतानात्मक-ब्यामोहन-प्रवृत्ति जैसे वेदशास्त्र के परमार्थिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-प्रातिविक-समन्वय-समन्वय के गौरव की अमिभूत ही कर रहा है तब 'अम्यत्समप्राण-विमोहनानुगत केवल आध्यात्मिक-समन्वय मी वेदशास्त्र के वास्तविक-समन्वय-से अछूट ही प्रमाप्ति होरहा है । और भी दोती उन तपाकयित-वेदशास्त्रों के तपाकृत दोनों ही वेदार्थ-समन्वय-समन्वय-प्रकार वेदशास्त्र के निम्नोत्तमनुगत-अम्युदय-वाचक महान् लक्ष्य से सबवेव विपरीत पथों का ही अनुसरण करते हुए वे के महती महोवा-वास्तविक-गौरव के विरोधी ही प्रमाप्ति होरहे हैं ।

उपाधिधा आन्ति-परमराजों का एकमात्र प्रमुख कारण है-आधिदैविक ईश्वरीय-विश्व की अम्य-निक-विस्तृति, बिना आधिदैविक-ईश्वरीय-विश्व के आधार पर ही ज्ञानविज्ञानात्मिक-सुविधा का प्रमुख सम्भव माना गया है । एक वर्ग अधिभूत में आकृत होता हुआ आधिदैविक से विमुख होरहा है तो दूसरा वर्ग अम्यत्सम में आकृत होता हुआ अधिदैवत से पराङ्मुख बना हुआ है जबकि कल्पनिक की पूर्ण अधि-दैवत-अम्यत्सम अधिभूत इन तीनों के समन्वय पर ही अवलम्बित है ।

भूतवादी का सबसे बड़ा ब्यामोहन है- 'प्रत्यक्षष्ट मूल भौतिक-पार्थिव-पदार्थों को ही मानव के लिए सर्वस्व मान बैठना' । इस की दृष्टि में अधिदैवत ( ईश्वरीय-प्रातिविक-वगत ) एवं कीकमा-तुल्य-अम्यत्समगत लक्ष्य भौतिक ही भौतिक है । अर्थात् नव कुछ इन भूत-भौतिक-विषयों में ही है । इन से अतिरिक्त न कोई अधिदैवत है एवं न कोई अध्यात्म । इसी प्रवृत्ति के आधार पर भूत-प्रातिविक-भूतविज्ञान उत्तरोत्तर पुष्पित पक्षित होता आरहा है किन्तु प्रवृत्तता बढ़ता के आचरणपुटी-उम्युटी से

धियों के मूलोत्पादन में उसी समय पर्याप्त बन सकती थी-यदि उसी युग में किसी महापुरुष के द्वारा शान-विज्ञानाभिरुचि-परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषण के द्वारा तत्-भ्रष्टा को अभिव्यक्त कर दिया जाता, तो। किन्तु दुर्भाग्यवश स्थिति उस समय ठीक विपरीत दिशा का ही अनुगमन करती गई तत्कालीन वर्गमैत्री से अनुभाषिता पारस्परिकी उस अहमहिमिका के द्वारा जिसके द्वारा सभी वर्ग उन तथाकथित सुसम्पत्तियों के सहयोग से अपना अधिक से अधिक स्वार्थसाधन करने का ही हस्त्युक्त बन चले गये।

तथापि उपर्युक्त वातावरण में ही उस प्रतीत्य-शिक्षा का स्तम्भ हुआ, जिस के पाठ्यप्रणाली के द्वारा भारतीय पुरातनशास्त्रों की, मान्यताओं की, सत्यता की तथा आदर्शों की वैधी आलोचना ही की गई, जिसका निष्कर्ष पूर्व की परिकल्पित में व्यक्त किया जा चुका है। उन सब अनर्गल आलोचनाओं में से प्रकृत में हम एक आलोचना की आग ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे एक विशेष तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए, और उस आलोचना का सम्बन्ध माना जायगा—‘भारतदेश के मौखिक स्वरूप के सम्बन्ध में’।

प्रतीत्यशिक्षा के अशुभ मी सम्पर्क में आने से पहले भारतदेश के बड़े से मी बड़े राष्ट्रमन्त्र-देशमन्त्र-अद्यतन-भारतीय-मानव से जब मी यह प्रश्न किया जायगा कि, “क्या भारतवर्ष आर्यों का आदिदेश है ?”, तो तत्काल ज्ञानमान बिलम्ब किए वह वही उत्तर देगा कि—‘नहीं—भारत तो अनार्यों का आदिदेश है। वे ही यहाँ के आदिवासी किंवा मूलनिवासी हैं। आर्य तो मध्यएशिया से शनैः शनैः बढ़ते बढ़ते इस देश में आपहुँचे, और अनार्यों को युद्ध में परास्त कर वे यहाँ के अधिपति बन बैठे’। इतनी ही बीन को सुप्रसिद्ध देशमन्त्र, और भारतीय-धर्म के अनन्यसेवी स्वर्गीय

●-प्रतीत्य-विद्वानों की अभिनिवेशमूला हत्यमूला धारण उनके द्वारा निर्धारित भारतीय-पाठ्य-ग्रन्थों में इस रूप से अभिव्यक्त हुई है कि—‘आर्यों का मूलनिवास किंवा आदिनिवास मध्यएशिया ही था। मध्यएशिया से ही आर्यलोक भारत में आए थे। अतएव उहाँ समुद्र का भी स्वरूप पाषा नहीं था उस युग में। क्योंकि मध्यएशिया में कोई समुद्र नहीं है। हों नदियाँ बहुत सी हैं। एवं नदियों के लिए आर्यों के उस पुरातन ऋग्वेदमन्त्र में ‘तिघु’ शब्द प्रयुक्त हुआ है जो वैदिक-वाक्य में अधिक से अधिक २५ ०-३००० सहस्र वर्षों से अधिक (पुराना नहीं माना जा सकता) इत्यादि।

X-सर्वथैव प्री कृतादाभिरुचि उक्त। धारण के विपरीत भारतदेश की स्वतन्त्रता के महान् द्रष्टा स्वर्गीय की बालगङ्गाधर तिलक महामाग ने अपने सुप्रसिद्ध ‘ओरियन’ तथा ‘दार्कटिक होम इन् द वेस्ट’ नामक लोकप्रसिद्ध निरुक्तों के माध्यम से एक अन्य ही तथ्य उपस्थित किया, जिस तथ्य का भीतिलक के मतानुसार उत्तरभुवानुगत अमुक-भूप्रदेश से ही सम्बन्ध था जिसे ‘पामीर’ कहा जा सकता है। भीतिलक की धारणा के अनुसार आर्यों का आदिदेश वही उत्तर प्रदेश था न कि प्रतीत्य-विद्वानों की मान्यता से अनुभाषित-मध्य-एशियाप्रान्त। ‘उत्तरप्रदेशात्मक पामीर से ही आर्य भारत में आए’-किसी तिलक महामाग के इस मान्य तथ्य का हम मान्यता के अनुबन्ध से ही समझा करेंगे। क्योंकि आर्या-पूणा-निष्ठा की दृष्टि से तो भीतिलक की मान्यता मी प्रतीत्या-भावना से सर्वथैव निरुक्त नहीं मानी जा सकती, जबकि तिलक मी आर्यों का बाहिर से भारत में आगमन तो मान ही बैठे। वस्तुस्थिति वास्तव में कुछ और ही है जिसके सम्बन्ध से अद्यत्पुत्र रह जाने के कारण ही इसप्रकार की मान्यताएँ मानवीय-मन को अभिव्यक्त कर लिया करती हैं जैसा कि पाठक तद्भाष्य-सन्दर्भ में देखेंगे।

મગધદ્વચનાનિ ચતુર્વિધેઽનુયોગે પ્રવિમલ્કાનિ, સ વેત્યમ્—

(૧)—ચરણકરણાનુયોગ, (૨)—ધર્મકથાનુયોગ, (૩)—ગણિતાનુયોગ, (૪)—દ્રવ્યાનુયોગઃ ।

યુજ્યતે—સંવધ્યતે મગધદ્વચનાર્થેન સદેતિ યોગઃ = ગણધરકથનરૂપઃ,

અનુ = અનુકૂળો યોગોઽનુયોગ । મગધદ્વચનાનુરૂપા ગણધરોક્તિરિત્યર્થઃ । (૧)

(૧) અથ ચરણકરણાનુયોગ —

(૧) ચર્યતે = ગમ્યતે = પ્રાપ્યતે મવોદધેઃ પર કૂલ ચતુર્દશગુણસ્થાના-

મગવાન્ કે વચનો મેં યે પૈતીસ અતિશય અર્થાત્ ગુણ હોતે હૈં । પ્રાચીન આચારીને મી કહા હૈ — ‘સક્કારવર્ષ’ ઇત્યાદિ ૩૫ ।

(વાણી કે પૈતીસ ગુણ પહેલે કહ જુકે હૈં અત યહૌં) હનકા અર્થ કહને કી આવશ્યકતા નહીં ।

મગવાન્ કે વચન ચાર અનુયોગો મેં વિમલ્ક હૈં । ચાર અનુયોગ યે હૈં —

૧ ચરણકરણાનુયોગ, ૨ ધર્મકથાનુયોગ, ૩ ગણિતાનુયોગ, ઔર ૪ દ્રવ્યાનુયોગ ।

✓ મગવાનકે વચનો કે અનુકૂલ ગણધરોં કા વ્યાખ્યાન અનુયોગ કહલતા હૈ ।

(૧) ચરણકરણાનુયોગ—

જિસકે દ્વારા મવ-સાગર કા કિનારા અર્થાત્ ચૌદહર્ષો ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કિયા જાય

મગવાનના વચનોમા આ પ્રમાણે પાત્રીશ અતિશય અર્થાત્—શુદ્ધ હોય છે પ્રાચીન આચાર્યોએ પણ કહ્યું છે — “સક્કારવર્ષ” ઇત્યાદિ ૩૫ ( પાત્રીશ વાણીના શુદ્ધ પહેલા કહી ગયા છીએ જેથી અહિં કોનો અર્થ કહેવાની આવશ્યકતા નથી )

મગવાનના વચન ચાર અનુયોગોમા વહેવારેલા છે ચાર અનુયોગ આ છે—  
(૧) ચરણકરણાનુયોગ, (૨) ધર્મકથાનુયોગ, (૩) ગણિતાનુયોગ અને (૪) દ્રવ્યાનુયોગ.

મગવાન-દ્વારા પ્રરૂપિત અર્થની સાથે ગણધરના વચનનો યોગ હોય તે અનુયોગ કહેવાય છે, તાત્પર્ય એ છે કે—મગવાનના વચનોને અનુકૂળ ગણધરોએ કરેલ વ્યાખ્યાન તે અનુયોગ કહેવાય છે

(૧) ચરણકરણાનુયોગ—

જેનાથી ભવસાગરનો કિનારા અર્થાત્ ચૌદશ શુદ્ધસ્થાન પ્રાપ્ત કરી શકાય, તેને અર્થાત્ મૂલશુદ્ધને ‘ચરણ’ કહે છે, જ્યારે મત આદિ ચરણ કહેવાય છે તે સિત્તેર (૭૦) છે, કહ્યું પણ છે—

વસ્ત્યાસ્ત્રરૂપમનેનેતિ ચરણ = મૂલગુણરૂપમ્ । યદ્વા ચરણ=વ્રતાદિ, તથા સપ્તતિ-  
સંખ્યકમ્, ઉક્તચ્ચ—

“ ધય૫ સમણધમ્મ૧૦ સજમ૧૭, વૈયાવધ૧૦ ચ ધંમગુત્તીઓ ૯ ॥ /  
ણાણાઇતિય૩ તવ૧૨ કોહનિગ્ગહાઈ૪ ચરણમેયં ॥ ૧ ॥ ” ઇતિ ।

ક્રિયતે ચરણસ્ય પુષ્ટિરનેનેતિ કરણમ્ = ઉત્તરગુણરૂપમ્ । યદ્વા કરણ=  
પિષ્ઠવિશુદ્ધિદ્યાદિ, એતદપિ સપ્તતિસંખ્યકમ્, ઉક્તચ્ચ—

એ અર્થાત્ મૂલગુણકો ‘ચરણ’ કહેતે હૈં । અથવા વ્રત આદિ ‘ચરણ’ કહેલ્યતે હૈં । કે  
૭૦ સત્તર હૈં । કહા મી હૈ —

પાંચ મહાવ્રત, દશ શ્રમણધર્મ, સત્રહ સયમ, દશ વૈયાવૃત્ય, નૌ બ્રહ્મચર્ય કી  
ગુસ્તિયાં, રત્નત્રય—(સમ્યગ્જ્ઞાન, વર્ણન, ચારિત્ર), વારહ પ્રકારકા સપ, ચાર ક્રોધાદિ-  
વિજય—(ક્રોધવિજય, માયાવિજય, માનવિજય, લોભવિજય), યહ ૭૦ સત્તર પ્રકારકા ‘ચરણ’  
કહેલાતા હૈ ।

ચરણ કી પુષ્ટિ કરને વાલા ‘કરણ’ કહેલાતા હૈ । કરણ કા અભિપ્રાય હૈ—  
૧ સત્તર ગુણ । અથવા પિષ્ઠવિશુદ્ધિ આદિકો કરણ કહેતે હૈં । ઇસકે મી સત્તર ૭૦ મેદ  
હૈં । કહા મી હૈ —

પાંચ મહાવ્રત, દસ શ્રમણધર્મ, સત્તર સયમ, દશ વૈયાવૃત્ય, નવ બ્રહ્મચર્યની  
ગુસ્તિઓ, રત્નત્રય—(સમ્યગ્જ્ઞાન, વર્ણન અને ચારિત્ર) બાર પ્રકારનો તપ, ચાર  
ક્રોધાદિવિજય,—(ક્રોધવિજય, માનવિજય, માયાવિજય, લોભવિજય) આ પ્રમાણે  
સિત્તર (૭૦) પ્રકારના ચરણ કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

ચરણની પુષ્ટિ કરવા વાળા કરણ કહેવાય છે કરણનો અભિપ્રાય છે—સત્તર ગુણ,  
અથવા પિષ્ઠવિશુદ્ધિ આદિને કરણ કહે છે, તેના પણ સિત્તર મેદ છે કહ્યું પણ છે —

“પિંઢવિસોદોષ સમિર્દપ, ભાવણ૧૨ પઠિમા૧૨ ચ ક્ષદિયનિરોદોષ ।  
પઠિલેહ્ણ૨૫ ગુત્તીઓ૩, અભિગદા૪ ચેવ કરણ તુ ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।

તયોરનુયોગશ્ચરણકરણાનુયોગ (૧) ।

ધર્મકથાનુયોગાદયશ્ચરણકરણયોર્મન્યજીવાન્ પ્રવર્તયન્તીતિ તેષા ચરણ  
કરણાન્નત્તયા પ્રાધાન્યમેતસ્યાનુયોગસ્ય, અતઃ એવાસ્ય પ્રાયમ્યમ્ । ઉક્તઃ—

આત્મન્ । જ્ઞાનીર્હિ પૂર્વે ચરણકરણયોરાશયે યન્મહર્ષવ,

મોહં દૂરીકરોતિ પ્રકટયતિ પરં નિશ્ચયાત્મસ્વરૂપમ્ ।

“ચાર પિંઢવિશુદ્ધિ, પાંચ સમિતિયાં, ચારહ ભાવના, ચારહ પઠિમા, પાંચ  
ઈન્દ્રિયનિરોધ, પચીસ પ્રતિષ્ઠના, ત્રીસ ગુત્તિયાં, ચાર અભિગ્રહ, ચહ સત્તર ૭૦ પ્રકારકા કરણ  
ક્રદ્ધઅતા હૈ ।

इस तरह चरण और करण के अनुयोग को, अर्थात् भगवान् की वाणी के अनुकूल  
व्याख्यान को चरणकरणानुयोग कहते हैं । तात्पर्य यह है कि—‘जिस शास्त्र में चारित्र  
सम्बन्धी निरूपण है, वह चरणकरणानुयोग समझना चाहिए ।

ધર્મકથાનુયોગ આદિ શેષ ત્રીણ અનુયોગ મન્યજીવોં કો ચરણ ઔર કરણ મેં  
પ્રવૃત્ત કરતે હૈ, અતઃ ષે હસી અનુયોગ કે અજ્ઞ હૈ । ઇસ પ્રકાર ચારો અનુયોગો મેં  
ચરણકરણાનુયોગ હી પ્રધાન હૈ । પ્રધાન હોને કે કારણ હી ઇસ કી ગણના સર્વપ્રથમ કી ગઈ  
હૈ । કહા મી હૈ—

हे आत्मन् । चरण और करण में जो महत्त्व है, उसे पहले समझ ले । वह मोह को  
निवारण करता है, आत्मा के निश्चय अर्थात् वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है, वह सब

“ચાર પિંઢવિશુદ્ધિ, પાંચ સમિતિઓ, બાર ભાવના, બાર પઠિમા, પાંચ ઇન્દ્રિય  
નિરોધ, પચીસ પ્રતિષ્ઠના, ત્રણ ગુત્તિઓ, ચાર અભિગ્રહ, આ સર્વ ૭૦ કરણ  
કહેવાય છે” ॥ ૧ ॥

આ પ્રમાણે ચરણ અને કરણના અનુયોગને અર્થાત્ ભગવાનની વાણીને અનુકૂલ  
વ્યાખ્યાનને ચરણકરણાનુયોગ કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે—જે શાસ્ત્રમાં ચારિત્રસમ્બન્ધી  
નિરૂપણ છે તે ચરણકરણાનુયોગ સમજવું એકલે

ધર્મકથાનુયોગ આદિ બાકીના ત્રણ અનુયોગ બાબતે એવાને ચરણ અને કરણમાં  
પ્રવૃત્ત કરે છે; તેટલા માટે તે પણ એ અનુયોગનું અંગ છે આ પ્રકારે ચારેય અનુયો  
ગોમાં ચરણકરણાનુયોગ પ્રધાન-મુખ્ય છે

મુખ્ય હોવાના કારણે જ તેની ગણના સૌથી પ્રથમ કરી છે કહ્યું પણ છે —

। “હે આત્મન્! ચરણ અને કરણમાં જે મહત્ત્વ છે, તેને પ્રથમ સમજા લે, તે

આધારોઽયં ગુણાનામપનયતિ મદાઽનાદિમિથ્યાત્વદોષ,

હેતુર્યોઽયં વિશુદ્ધેર્દમયતિ નિતરામિન્દ્રિયાણિ શ્રુત ય ॥ ૧ ॥

સમ્યગ્જ્ઞાનસ્ય દાતા શિષ્યસુખજનકઃ। કર્મફલેશ્ચ હર્તા,

કર્તા વિદ્યોતનસ્યાઽઽત્મનિ સર્વગુણસ્યાઽદ્વિતીય\* પ્રકાશઃ । ( )

આત્મન્નેવાત્મનીનિચરણકરણયોરાશ્રય કાઽપ્ર શક્ત્વા ?,

શક્કારો નૈવ લોક\* પરિણતિવિરસ\* કિં સુલાશા કરોપિ ? ॥ ૨ ॥

(૨) અથ ધર્મકથાનુયોગ\*—

મગ્જલનિધી નિપતન્ત મગ્યજાત ધારયતિ—તરિચિ તારયતિ શ્રમસ્થાનં  
પ્રાપયતીતિ ધર્મઃ, તસ્ય કથા મગ્ગદેશનાલક્ષણો વાક્યમવન્ધ ધર્મકથા । અહિંસા-  
દિપ્રરૂપણા વા ધર્મકથા । અથવા શ્રુતચારિત્રલક્ષણધર્મપ્રધાનકથા-ધર્મકથા । યદ્વા

ગુણો કા આધાર હૈ, ઓર અનાદિકાલીન મિથ્યાત્વ ડોષ કો દૂર કરતા હૈ, વિશુદ્ધિ કા કારણ  
હૈ-ઓર હિન્દ્રિયો કો શીઘ્ર હી દમન કરને ચાલ હૈ ॥ ૧ ॥

સમ્યગ્જ્ઞાન કા દાતા હૈ, મોક્ષસુખ ઉત્પન્ન કરને ચાલ હૈ, કર્મરૂપી ફલકો દૂર  
કરને ચાલ હૈ, આત્મામેં ઉષોત-પ્રકાશ કરને ચાલ હૈ ઓર સમસ્ત ગુણો કા, અદ્વિતીય  
પ્રકાશક હૈ, હે આત્મન્ ! ચરણ ઓર કરણ કા આશ્રય છામકારી હૈ, હસ વિષયમેં શક્ત્વા, કો  
સ્થાન હી કહાં હૈ ? અર્થાત્, નિશ્ચિતરૂપસે હી વહ કલ્યાણ કરને ચાલ હૈ, યહ લોક (સંસાર)  
તો પરિણામ મેં એકતમ નીરસ હૈ, તુ હસ સે સુખ કી અભિલાષા ક્યો કરતા હૈ ॥ ૨ ॥

(૨) ધર્મકથાનુયોગ

સસારરૂપી સાગરમેં ઢૂલતે હુણ મગ્ય જીવો કો ધારણ કરનેચાલ—નૌકા કે સમાન

મોહનું નિવારણ કહે છે, આત્માના નિશ્ચય અર્થાત્ વાસ્તવિક સ્વરૂપને પ્રગટ કહે છે, તે  
સર્વ શુભોને આધાર અને અનાદિ કાલના અભ્યાસ દોષને દૂર કહે છે, વિશુદ્ધિનું કારણ  
અને હિન્દ્રિયોના શીઘ્ર દમન માટે તે સહાયક છે ॥ ૧ ॥

સમ્યગ્જ્ઞાન દેનાર છે અને મોક્ષસુખ ઉત્પન્ન કરવાવાળું છે કર્મરૂપી પુણને  
દૂર કરવાવાળું છે આત્માના ઉષોત-પ્રકાશ કરવા વાળું છે અને સમસ્ત શુભોને  
અદ્વિતીય પ્રકાશક છે હે આત્મન્ ! ચરણ અને કરણના આશ્રય કલ્યાણકારી છે,  
આ વિષયમા શક્તને સ્થાન જ કયા છે ? અર્થાત્ નિશ્ચિત રૂપથી જ તે કલ્યાણ કરવા  
વાળું છે, આ લોક (સંસાર) તો પરિણામે એકતમ નીરસ-અસરહિત છે, તુ તેમા  
સુખની અભિલાષા શા માટે કરે છે ? ॥ ૨ ॥

(૨) ધર્મકથાનુયોગ

સસારરૂપી સાગરમા ડુબતા મગ્ય જીવોને ધારણ કરવાવાળી, વહાણ પ્રમાણે

શુમાશુમકર્મવિપાકોપદર્શન ધર્મકથા । કિંચ - તિર્યક્ચક્રવર્ત્યાદિચારિત્રવર્ણન ધર્મકથા । તસ્યા અનુયોગઃ ધર્મકથાનુયોગઃ ।

ધર્મકથા ચતુર્વિધા—(૧)-આક્ષેપણી-(૨)-વિક્ષેપણી- (૩)-સંવેદની-(૪)-નિર્વેદનીમેદાત્ ।

આક્ષેપણ્યાદિધર્મકથામિરાક્ષિપ્તાઃ વિસિપ્તાઃ સંવેદિતા નિર્વેદિતાઃ સન્તો મન્યમાણિનશ્ચારિત્રં પ્રાપ્નુવન્તિ ।

કિનારે જાગેને બાલ, અર્થાત્ શુભસ્થાનમે પહુચા દેનેવાલા ધર્મ કહલાતા હૈ ।  
 उस धर्म की कथा अर्थात् मगवान की देशना जिसमें पाई जाय उसे धर्मकथा कहते हैं । अथवा  
 अहिंसा आदि की प्ररूपणा धर्मकथा कहलाती है । अथवा श्रुत और चारित्र की प्रधानता  
 वाली कथा को धर्मकथा कहते हैं । अथवा शुभ और अशुभ कर्मफल को प्रकाश करना  
 धर्मकथा है । या तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का चरित्र वर्णन करना धर्मकथा है ।  
 उसके अनुयोग-व्याख्यान को धर्मकथानुयोग कहते हैं ।

ધર્મકથા ચાર પ્રકાર કી હૈ —(૧) આક્ષેપણી (૨) વિક્ષેપણી (૩) સંવેદની ઝીર  
 (૪) નિર્વેદની ।

આક્ષેપણી આદિ ધર્મકથાઓ સે આક્ષિપ્ત સંવેદિત ઝીર નિર્વેદિત (વિરક્ત) હુપ મન્ય  
 થીય ચારિત્ર પ્રાપ્ત કરતે હૈ ।

કિનારે લઈ જનારી, અર્થાત્ શુભ સ્થાનમા પહોંચાથી દેવા વાળી વસ્તુને ધર્મ કહેવામાં  
 આવે છે તે ધર્મની કથા અર્થાત્ મગવાનને ઉપદેશ જેમાં જોવામાં આવે છે તેને  
 ધર્મકથા કહે છે અથવા અહિંસા આદિની પ્રરૂપણા તે ધર્મકથા કહેવાય છે અથવા  
 તે શ્રુત અને આચરિત્રની પ્રધાનતાવાળી કથાને ધર્મકથા કહે છે, અથવા શુભ અને  
 અશુભ કર્મ-ફલને પ્રગટ કરવું તે ધર્મકથા છે અથવા તીર્થંકર, ચક્રવર્તી આદિ  
 મહાપુરુષોના ચરિત્રનું વર્ણન કરવું તે ધર્મકથા છે તેના અનુયોગ-વ્યાખ્યાનને  
 ધર્મકથાનુયોગ કહે છે

ધર્મકથા ચાર પ્રકારની છે. (૧) આક્ષેપણી (૨) વિક્ષેપણી (૩) સંવેદની અને  
 (૪) નિર્વેદની.

આક્ષેપણી આદિ ધર્મકથાઓથી આક્ષિપ્ત, વિસિપ્ત, સંવેદિત અને નિર્વેદિત  
 (વિરક્ત) થયેલા મન્ય એવ ચારિત્ર પ્રાપ્ત કરે છે.

## (૧) આક્ષેપણી—

આસિપ્યતે=મોહ નિરાકૃત્ય પ્ચારિત્રં પ્રતિ સમાકૃપ્યતે શ્રોતાઽનયેતિ-આક્ષેપણી,  
ઉક્તઞ્ચ—

“સ્યાપ્યતે સત્પથે શ્રોતા, યયા સાઽઽક્ષેપણી કયા ।

યથેપુકારં કમલા, ચતી ધર્મે વ્યતિષ્ઠિત્ ॥ ૧ ॥”

બાલ્યાવસ્થાતનયદ્વયસમન્વિત\* સપત્નીકો મૃગ્યુરોદિત\* સર્વસ્વં પરિહાય દીક્ષાર્થં  
સદનાશ્રિયયૌ । તદોચં સકલં વસુ પરિગૃહીત પત્યેતિ વિદિત્વા કમલાવતી રાક્ષી  
વૈરાગ્યમુપગતા સ્વપતિમિપુકારં નૃપતિં પ્રત્યધોષયત્ । ‘રાજન્ ! કિં વાન્તાશિવદ્

## (૧) આક્ષેપણી

જિસ કયા કે દ્વારા શ્રોતા મોહ સે હટકર ચારિત્ર કે પ્રતિ આકર્ષિત હોતે હૈં, વહ  
આક્ષેપણી ધર્મકયા કહલાતી હૈ, કહા મી હૈં —

“ જિસ કે દ્વારા શ્રોતા સમાર્ગ મેં સ્થાપિત કિયે જાતે હૈં, ડસે આક્ષેપણી કયા કહતે  
હૈં । જૈસે કમલાવતીને હપુકાર કો ધર્મ મેં સ્થિર કિયા ॥ ૧ ॥ ”

છોટી ઉત્ત્ર થાલે અપને દો બાલકો કે સાથ પત્નીસહિત મૃગ્યુ પુરોહિત સર્વસ્વ ત્યાગ  
કર દીક્ષા ગ્રહણ કરને કે લિયે અપને ઘર સે નિકલ્યા । ડસ પુરોહિત કા સમસ્ત ધન મેરે  
પતિ (રાજા) ને હે લિયા હૈ, પેસા જાન કરકે રાની કમલાવતી કો વૈરાગ્ય હો ગયા ઔર  
ડસને અપને પતિ રાજા હપુકાર કો સમજાયા—“મહારાજ ! જિસ ધનકા મૃગ્યુ પુરોહિત ને

## (૧) આક્ષેપણી—

જે કયાદ્વારા શ્રોતા મોહથી હઠી જઈને ચારિત્ર તરફ આકર્ષિત થાય છે તે  
આક્ષેપણી ધર્મકયા કહેવાય છે કહ્યું પણ છે —

“જેનાથી શ્રોતાને સન્માર્ગમાં સ્થાપિત કરી શકાય છે તેને આક્ષેપણી કયા  
કહે છે, જેવી રીતે કમલાવતીએ હપુકારને ધર્મમાં સ્થિર કર્યો. ॥ ૧ ॥

નાની ઉમસ્વાળા પોતાના બે બાળકોની સાથે તથા પત્ની સહિત મૃગ્યુ પુરોહિત  
સર્વસ્વ ત્યાગ કરીને દીક્ષા ગ્રહણ કરવા માટે પોતાના ચેરથી નીકળ્યા, તે પુરોહિતનું  
વમામ ધન મારા પતિ (રાજા) એ લઈ લીધું છે એવું બાણીને રાણી કમલાવતીને  
વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયો અને તેણે પોતાના પતિ રાજા હપુકારને સમજાવ્યા—



મોગમાર્શસસે ?' इत्यादि । अथ कमलावतीवचनश्रवणक्षणसजातप्रतिबोध इषुकारः  
कमलावती च वीक्षार्यं सदैव निष्क्रान्ती ।

(૨) વિશ્લેષણી—

विसिष्यते=सम्यग्वादादणोत्कर्षदर्शनेन मिथ्यावादादपसार्यते भोताजनवैति  
विश्लेषणी । उक्तञ्च—

“सम्यग्वादप्रकर्षेण, मिथ्यावादस्य खण्डनम् ।  
यया विश्लेषणी सैव, यया केशी मदेशिनम् ” ॥ २ ॥

મિથ્યાવાદાદપસારયામાસેતિ શેષ' ।

वमन कर दिया, वह धन भोगोगे ? आप वमन का सेवन करने वालों की तरह भोग की  
छाछा क्यों करते हैं ? ” इत्यादि । इषुकार को कमलावती के वचन सुनते ही वैराग्य हो  
आत्मा और राधा तथा रानी दोनों साथ-साथ वीक्षा ग्रहण कर ली ॥ १ ॥

(૨) વિશ્લેષણી

सम्यग्वाद अर्थात् एनेकान्तवाद या सिद्धान्त के गुणों का विग्वर्शन कराकर श्रोताओं  
को मिथ्यावाद अर्थात् एकान्तवाद से हटाने वाली कथा विश्लेषणी कहलाती है ।  
कथा भी है —

“મહારાજ ! જે ધનને બૃહુ પુરોહિતે વમન કરી નાખ્યું છે તે ધનને આપ લોગવશે ?  
આપ વમનનું સેવન કરવાવાળાની પેઠે લોગની લાલસા થા માટે કરો છો ? ” इत्यादि

રાજા ઇષુકાર પોતે કમલાવતીના વચન સાંભળતાં જ વૈરાગ્ય પામ્યા અને રાજા  
તથા રાણી બન્ને સાથે-સાથે વીક્ષા ગ્રહણ કરી. ॥ ૧ ॥

(૨) વિશ્લેષણી

सम्यग्वाद अर्थात् एनेकान्तवाद, अथवा सत्यसिद्धांतना शुद्धेन विग्वर्शन  
करावीने श्रोताओंने मिथ्यावाद अर्थात् एकेकान्तवादही ग्रह करवानेकी कथा ते विश्लेषणी  
कथा कहैवाय છે કહ્યું પણ છે:—

કેશિધમનત કરુણારસપરિપૂર્ણમાસ્તિક્તવાદમાકર્ણ્ય પ્રદેશી નામ મૂપાલો નાસ્તિક્તવાદ પરિત્યજ્ય દ્વાદશવ્રતધારી શ્રાવકો મૃત્વા મૃત્વા ચ પ્રથમકરુપે સૂર્યામ-નામા દેવો વમ્ભૂવ ।

### (૩) સવેદની—

સવેદનતે = સસારાસારતાપ્રવર્ધનતેન મોક્ષામિલાપ ઉત્પાદયતેઽનયેતિ સવેદની ।

ઉક્તશ્ચ—

“યસ્યા. શ્રવણમાત્રેણ, મુક્તિવાઙ્મ્હા પ્રજાયતે ।

સવેદની યથા મહી, પદ્ નૃપાન્ પ્રત્યવોષયત્ ॥૩॥”

“સમ્યગ્વાદ કા ઉત્કર્ષ દિસ્ત્વા કર મિપ્યાવાદ અર્થાત્ મિપ્યામાન્યતા કા સ્પન્હન કરને વાલી વિદ્વેષણી કયા છે । જૈસે—કેશી ધમનને પ્રદેશી રાજા કો મિપ્યાવાદ સે હટાયા થા” ॥ ૨ ॥

શ્રી કેશી ધમન કે શ્રીધુલ્લે કરુણા—રસ સે પરિપૂર્ણ આસ્તિક્તવાદ સુન કર પ્રદેશી નામક રાજા નાસ્તિક્તવાદ ત્યાગ કર વારહ વ્રતધારી શ્રાવક હો કર મરકર પ્રથમ સૌધર્મ કલ્પમે સૂર્યામ નામક દેવ હુઆ ।

### (૩) સવેદની

જો ધર્મકયા સસાર કી અસારતા પ્રવર્ણિત કરકે મન્ય લીલો મેં મોક્ષકી અમિલાવા આગૃત કરતી છે, વહ સવેદની ધર્મકયા છે । કહા મી છે—

“સમ્યગ્વાદનો ઉત્કર્ષ બતાવીને મિથ્યાવાદ અર્થાત્ મિથ્યા માન્યતાનું ખર્કમ કરવાવાળી વિદ્વેષણી કયા છે જેવી રીતે કેશી ધમનને પ્રદેશી રાજાને મિથ્યાવાદથી મુક્ત કર્યા હતા. ॥ ૨ ॥”

શ્રી કેશી ધમનના શ્રીધુખથી કૃષ્ણારસથી પરિપૂર્ણ આસ્તિક્તવાદ સાધનથી પ્રદેશી નામના રાજાએ નાસ્તિક્તવાદ ત્યાગ કર્યો, બાર વ્રતધારી શ્રાવક યદને મરીને પ્રથમ સૌધર્મકલ્પમાં સૂર્યામ નામના દેવ થયા.

### (૪) સવેદની

જે કયા સસારની અસારતા બતાવીને અન્યલુભોમા મોક્ષની અમિલાવા અગ્રત કરે છે, તે સવેદની ધર્મકયા છે કહ્યું પણ છે:—

મોગમાશંસસે ?' इत्यादि । अथ कमलावतीवचनश्रवणक्षणसजातप्रतिबोध इष्टकारः  
कमलावती च दीप्तार्थं सदैव निष्क्रान्ता ।

(૨) વિશેષણી—

विसिष्यते=सम्यग्वादगुणोत्कर्षप्रदर्शनेन मिथ्यावादादपसार्यते भोताजनवेति

વિશેષણી । उक्तञ्च—

“सम्यग्वादप्रकर्षेण, मिथ्यावादस्य खण्डनम् ।

यया विक्षेपणी सैव, यया केशी प्रदेशिनम्” ॥ ૨ ॥

મિથ્યાવાદાદપસારયામાસેતિ શેષ' ।

બનન કર દિયા, વહ ધન મોગોગે : બાપ ધનન કા સેવન કરને થાલો કી તરહ મોગ કી  
છાછસા ક્યો કરતે હૈ : ” इत्यादि । इष्टकार को कमलावती के वचन सुनते ही वैराग्य हो  
जाया और राधा तथा रानी दोनों साथ-साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ ૧ ॥

(૨) વિશેષણી

सम्यग्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद या सिद्धांत के गुणों का दिग्दर्शन कराकर श्रोताओं  
को मिथ्यावाद अर्थात् एकान्तवाद से हटाने वाली कथा विक्षेपणी कहलती हैं ।  
कहा सी है —

“મહારાજ ! જે ધનને ભૂશુ પુરોહિતે વમન કરી નાખ્યું છે તે ધનને આપ બોજવશે ?  
આપ વમનનું સેવન કરવાવાળાની પેઠે બોજની છાદસા થા માટે કરશો છો ? ” इत्यादि

રાજા ઇષ્ટકાર પોતે કમલાવતીના વચન સાંભળતાં જ વૈરાગ્ય પામ્યા અને રાજા  
તથા રાણી બન્ને સાથે-સાથે દીક્ષા ગ્રહણ કરી. ॥ ૧ ॥

(૨) વિશેષણી

सम्यग्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद, अथवा सत्यसिद्धांतना श्रवणं दिग्दर्शन  
करानीने श्रोताओंने मिथ्यावाद अर्थात् एकान्तवादीयों द्वारा करावनांदी कथा ते विक्षेपणी  
कहा कहेवाय છે કહ્યું પણ છે—

કમલકોમલકાન્તાકારઃ શાલિમદ્રકુમાર' શ્રીમહાવીરતીર્થકુરકથિતધર્મદેશના-  
શ્રવણસમનન્તર ત્વરયા વૈરાગ્યમુપગતચારિત્ર પ્રાપ્ત । ઉક્તચ્ચ—

“ભવસ્ય સર્વે ક્ષણમક્કુર મુખ,  
વિદન્તિ યે ધર્મકથાનુરાગિણઃ ।  
વિહાય તે મોગમનન્તદુ મ્બદં,  
ચરન્તિ ચારિત્રવને વિરાગિણઃ” ॥ ૪ ॥

ઉત્તરાધ્યયનમૂત્રસ્યૈકોનત્રિશેઽધ્યયને ધર્મકથાફલમાદ—

“ધમ્મકહાણં મતે । જીવે કિં જળયઈ ? । ધમ્મકહાણં જીવે નિજ્જરં  
જળયઈ । ધમ્મકહાણં પવયણં પમાવેદ । પવયણપમાવણેણં જીવે આગમેસસ્સ  
મહાચાણં કમ્મ નિવધઈ । ”

કમલ કે સમાન કોમલ ઔર કાન્તિમાન આકૃતિ વાલા શાલિમદ્ર કુમાર શ્રી મહાવીર  
મગવાનુ કો ધર્મદેશના સુનતે હી વૈરાગ્ય કો પ્રાપ્ત હુઆ, ઔર उसने चारित्र धारण कर लिया ।  
कहा भी है —

“ધર્મકથા મેં અનુરાગ રસને વાળે જો પુરુષ સસાર કે સુખ ક્ષણમક્કુર સમજા કેતે  
હૈં, વે અનન્ત દુઃખ દેને વાળે મોગકા ત્યાગ કરકે, વિરાગી હો કર ચારિત્રરૂપી બગીચે મેં  
વિહાર કરતે હૈં” ॥ ૧ ॥

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર કે ઠનતીસવેં અધ્યયન મેં ધર્મકથા કા ફલ બતલાયા ગયા હૈ । વહ  
હસ માંતિ હૈ —

કમલના જેવા કોમલ અને કાન્તિમાન આકૃતિવાળા શાલિમદ્રકુમાર શ્રી મહાવીર  
મગવાનની ધર્મદેશના સામળતા જ વૈરાગ્યને પ્રાપ્ત થયા અને ચારિત્ર ધારણ કર્યું  
કહ્યું પણ છે —

“ધર્મકથામા પ્રીતિ સખવાવાળા જે પુરુષ સસારના મુખને ક્ષણમક્કુર સમજા  
વે છે તે અનન્ત દુઃખ આપવાવાળા ભોગનો ત્યાગ કરીને વૈરાગ્ય ધારણ કરી  
ચારિત્રરૂપી બગીચામા વિહાર કરે છે ॥ ૧ ॥”

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના યોગસુત્રીસર્ગમાં અધ્યયનમાં ધર્મકથાનું ફલ બતાવ્યું છે, તે  
આ પ્રમાણે છે:—

મહીકુમારી પદ્મ ભૂમિપાલાન્ સ્વસ્મિન્નુરક્તાન્ વિદ્યાય, તેભ્યઃ સસારા-  
સારતા પ્રદર્શ્ય મોક્ષામિલાપ જનયામાસ ।

### (૪) નિર્વેદની—

નિર્વેદયતે=વિષયમોગેભ્યો વિરજ્યતે શ્રોતાઽનયેતિ નિર્વેદની, ઉક્તઃ—

“યદાઽઽકર્ણનમાત્રેણ, વૈરાગ્યમુપજાયતે ।

નિર્વેદની યથા શાલિ,—મદ્રો ધીરેણ યોષિત્” ॥ ૪ ॥

“જિસ કથા કો ધ્રુવણ કરને માત્ર સે હી મોક્ષ કી આકાશ્લા ઉત્પન્ન હોતી હૈ  
વહ સંવેદની ધર્મકથા હૈ । જૈસે—મહી નામક રાજકયાને છહ રાજાઓ કો બોધ દિયા” ॥ ૩ ॥

છહ રાજા મૈરે ઉપર અનુરક્ત હૈ, યહ જ્ઞાનકર મહીકુમારીને ઉન્હે સસારકી નિ સારતા  
સમજાઈ બૌર ઠન મૈં મુક્તિ કી અમિલાપા ઉત્પન્ન કર દી । મહી કુમારી કા વહ ઉપદેશ  
સંવેદની ધર્મકથા હૈ ॥ ૩ ॥

### (૪) નિર્વેદની

જો કથા શ્રોતાઓ કો વિષયમોગસે વિરક્ત બનાતી હૈ, વહ નિર્વેદની ધર્મકથા  
કહલાતી હૈ । કહા મી હૈ —

“જિસકા ધ્રુવણ કરતે હી વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન હોતા હૈ, વહ નિર્વેદની ધર્મકથા હૈ । જૈસે  
મગવાન્ મહાવીરને શાસ્ત્રિમત્ર કો પ્રતિબોધ દિયા” ॥ ૪ ॥

“જે કથા શ્રાવણવામાત્રથી જ આશ્રની ઈચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે તે સંવેદની  
ધર્મકથા છે જેવી રીતે મહી નામની રાજકન્યાએ છ રાજાઓને બોધ આપ્યો.” ॥ ૩ ॥

છ રાજા માથ ઉપર આસક્ત-પ્રેમવાળા છે એવું બાણીને મહી કુમારીએ  
તેઓને સસારની નિઃસારતા સમજાવી અને તેઓમા મુક્તિની અમિલાપા ઉત્પન્ન  
કરી, મહીકુમારીના તે ઉપદેશ સંવેદની ધર્મકથા છે

### (૪) નિર્વેદની

જે કથા શ્રોતાઓને વિષય ભોગથી વિરક્ત બનાવે છે તે નિર્વેદની ધર્મકથા છે  
કહ્યું પણ છે —

“જેનું શ્રેવણ કરતાં જ વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થાય છે, તે નિર્વેદની ધર્મકથા છે  
જેવી રીતે મગવાન મહાવીરે શાસ્ત્રિમત્રને પ્રતિબોધ આપ્યો ॥ ૪ ॥”

સમ્યક્ત્વમુપસ્થાપયન્, કર્મકોટિ ક્ષપયતિ । ઉત્કૃષ્ટરસાયનપરિણામમસૌ લભેત  
ચેત્, ત્રૈલોક્યપવિત્ર તીર્થઙ્કરનામગોત્ર સમુપાર્જયતિ ।

અપિ ચાસૌ સ્વતઃપ્રકાશસ્વમાત્રસ્યાપિ જિનશાસનસ્ય મિથ્યાત્વાદિ-  
તિમિરાત્વતદેશકાલાદિપ્ર યયોચિતપ્રચારલક્ષણારાધનવઃ પ્રમાવકપદ વિમર્ષિ ।  
ઉક્તચ્ચ—

“પાવયણી ધમ્મકરી, વાઈ લદ્દીસરો તપસ્વી ય ।

વિજ્ઞાસિદ્ધો ય કવી, અદ્રેવ પમાવગા મણિયા ॥ ૧ ”

ઔર સમ્યક્ત્વ કી ઉપસ્થાપના કરતા हुआ कर्मकोटि को स्वपाता है । कदाचित् परिणाम में  
उत्कृष्ट रसायन आ घाम तो वह त्रिलोक में पवित्र तीर्थङ्कर गोत्र का भी उपार्जन करता है ।

જિન મગવાન કા શાસન સ્વતઃ સમ્બલ છે, તથાપિ જિસ દેશવિશેષ ઔર કાલ  
વિશેષ મેં મિથ્યાત્વ કા અન્વકાર ફેલ જાતા હૈ, વહાં મગવાન કે શાસન કા પ્રચારરૂપ  
આરાધન કરકે ધર્મકયાકાર પ્રમાવક પદ પ્રાપ્ત કરતા હૈ । કહા મી હૈ —

“પ્રમાવક આઠ પ્રકાર કે હૈ — (૧) પ્રાવચનિક, (૨) ધર્મકચી, (૩) વાલી,  
(૪) લખિયો કા સ્વામી, (૫) તપસ્વી, (૬) વિધાવાન્-રોહિણી પ્રજ્ઞતિ આદિ વિધા કે  
ધારક, (૭) સિદ્ધ-વચનસિદ્ધિ આદિ સિદ્ધિયો યાજ, (૮) કવિ” ।

તે ધર્મકથા કહેનાર અનેક-અનેક ભવ્ય જીવોને દીક્ષિત કરે છે અને સ સાર  
રૂપી કુવામાં પડવાવાળા પ્રાણીઓને રક્ષણ કરવાનું આશ્વાસન દેવાવાળા જિનશાસનનો  
મહિમા વધારતા થકા સમસ્ત જગતને જિનશાસનમાં પ્રીતિવાળા બનાવી મિથ્યાત્વ  
નિવારણ અને સમ્યક્ત્વની સ્થાપના કરી ધર્મકોટીને ખપાવે છે કહાચિત્ પરિશ્રુમત્મા  
ઉત્કૃષ્ટ રસાયન આવી બાય તો ત્રિલોકમાં પવિત્ર તીર્થ કરે ગોત્રની પણ પ્રાપ્તિ  
કરે છે

જિન મગવાનનું શાસન પોતે ઉત્ત્તમજ છે તો પણ જે દેશવિશેષ અને કાલ-  
વિશેષમાં મિથ્યાત્વનો અધિકાર ફેલાઈ બાય છે, ત્યાં મગવાનના શાસનપ્રચારરૂપ  
આરાધન કરીને ધર્મકથાકાર “પ્રમાવક”નું પદ પ્રાપ્ત કરે છે કહ્યું પણ છે:-

“પ્રમાવક આઠ પ્રકારના છે (૧) પ્રાવચનિક, (૨) ધર્મકથાકાર (૩) વાલી,  
(૪) લખિયોનો ધણી, (૫) તપસ્વી, (૬) વિધાવાન્-રોહિણી-પ્રજ્ઞતિ આદિ વિધોના  
ધારક, (૭) સિદ્ધ-વચનસિદ્ધિ આદિ સિદ્ધિઓવાળા, (૮) કવિ” ॥ ૧ ॥

આણેપણ્યાદિચતુર્ધિધર્મકથાસચારોદ્યાવિતાનન્દધારાતરન્નસમુલ્લસિતસ્વાન્ત્ર-  
મૂતમન્યમાવિતાત્મા ધર્મકથી જન્મજરામરણાદિમીષણપીનપાઠીનમીષક-  
ગણસક્રમણપ્રિયવિયોગામિયસયોગવદ્વાનલાકુલિતાપારસસારસાગરાત્ સ્વયં ઠરતિ,  
પરાનપિ તારયતિ ।

સ ચ પ્રમૂતમન્યાન્ પ્રધાજયન્ ભવકૂપપતત્પ્રાણપ્રાણસમાશ્વાસનજિનશાસન-  
મહિમાનમ્પવૃંદયન્ સમસ્તમેવ જગત્ જિનશાસનરસિક કુર્વન્, મિથ્યાત્વમુત્થાપયન્,

" મગવન્ ! ધર્મકથા સે જીવ કો કયા હમ હોતા હૈ ! ઉત્તર—ધર્મકથા સે જીવ કો  
નિર્વાણ કી પ્રાપ્તિ હોતી હૈ । ધર્મકથા સે જીવ પ્રવચન કી પ્રમાવના કરતા હૈ । પ્રવચન કી  
પ્રમાવના સે આગે કે લિયે મત્ર (શુભ) કર્મોં કા બન્ધ કરતા હૈ " ॥ ૪ ॥

આણેપણી આદિ ચાર પ્રકાર કી ધર્મકથા સે उत्पन्न होने वाली आनन्द की धाराओं  
की सरझों से जिन का अन्त करण उच्छास को प्राप्त हुआ है, ऐसे अनेक भावितात्मा मन्थ  
धर्मकथा करते बाड़े पुरुष जन्म बरा और मरण रूपी मयानक और विशाल मगरमच्छों  
व्याप्त, एव इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग रूपी वदवानल से आकुल-व्याप्त अपार  
संसार सागर से त्वयं भी पार होते हैं और दूसरों को भी पार करते हैं ।

વહ ધર્મકથાકાર અનેકાનેક મન્ય જીવોં કો વીક્ષિત કરતા હુઆ, સંસારરૂપી કૂપ ને  
પહનેવાલે પ્રાણિયોં કો પ્રાણ કરને કા આશ્વાસન દેને બાલે જિનશાસન કી મહિમા વઢાતા  
હુઆ સમસ્ત જગત્ કો જિનશાસન કા રસિક-અનુરાગી બનાવતા હુઆ મિથ્યાત્વ કી ઉત્થાપના

" મગવન્ ! ધર્મકથાથી જીવને શું લાભ થાય છે ?

ઉત્તર—ધર્મકથાથી જીવને નિર્જાણની પ્રાપ્તિ થાય છે, ધર્મકથાથી જીવ  
પ્રવચનની પ્રમાવના કરે છે, પ્રવચનની પ્રમાવનાથી આગળ શુભ કર્યોનો બંધ છે "

આણેપણી આદિ ચાર પ્રકારની ધર્મકથાથી ઉત્પન્ન થનારા આનન્દની ધારાઓના  
તરંગોથી જેનું અંતઃકરણ ઉત્સાહને પ્રાપ્ત થયું છે, એવા અનેક ભાવિતાત્મ્ય ભવ્ય-  
ધર્મકથા કરવાવાળા પુરુષ જન્મ-જરા અને મરણરૂપી ભયાનક અને વિશાળ મગર  
મચ્છાથી વ્યાપ્ત એ પ્રમાણે ઈષ્ટ-વિયોગ અને અનિષ્ટ-સયોગરૂપી વડવાનલથી  
આકુલ અપાર સંસારસાગરથી પીતે પણ પાર ઉતારે છે, અને બીજાને પણ પાર  
ઉતારે છે

विणा सिद्धं जणं भूमि, - निहाण णेव लब्धम् ॥  
 मयचारित्तघम्मेण, विणा णो णाणमप्पणो ॥ ३ ॥  
 अप्पणाणं विणा णेव, तत्तातत्तविणिञ्जओ ॥  
 त विणा णेव भव्वाण, जायएऽमियमावणा ॥ ४ ॥  
 विमुद्धज्जाणसंपत्ती, णतराऽमियमावणा ॥  
 विणा विमुद्धज्जाण णो, खवगस्सेणिरप्पई ॥ ५ ॥  
 अभोवाएण केणावि, - खवगस्सेणिणा विणा ॥  
 वितीयपाओ सुकम्भ, घ्राणस्स नहि लम्भई ॥ ६ ॥

छाया—

श्रुतचारित्र्यमर्ण, विना नो ज्ञानमात्मन ॥ ३ ॥  
 आत्मज्ञानं विना नैव, तत्त्वाऽतत्त्वविनिश्चय ॥  
 त विना नैव भव्यानां, जायतेऽमृतभावना ॥ ४ ॥  
 विशुद्धध्यानसंप्राप्ति, - नान्तराऽमृतभावनाम् ॥  
 विना विशुद्धध्यान नो, क्षपकथेणिराप्यते ॥ ५ ॥  
 मन्योपायेन केनापि, क्षपकथेणिना विना ॥  
 द्वितीयपादः श्रुतस्य, ध्यानस्य नहि लभ्यते ॥ ६ ॥

सिद्धब्रह्म के अभाव में पृथ्वी के भीतर का स्वज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता,  
 इसी प्रकार श्रुत चाग्रि के विना आत्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं होता ॥ ३ ॥

आत्मज्ञान के अभाव में तत्त्व-अतत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता, और तत्त्व अतत्त्व  
 का निश्चय हुए विना भव्य जीवों को अमृतभावना नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

अमृतभावना के अभाव में विशुद्ध ध्यान की प्राप्ति नहीं होती, और विशुद्ध ध्यान  
 के बिना क्षपकथेणी पर आरोहण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

क्षपक थेणी के सिवाय किसी अन्य उपाय से सुख-ध्यान का एकत्ववितर्क अविचार  
 नामक दूसरा पाया नहीं प्राप्त किया जा सकता ॥ ६ ॥

सिद्धब्रह्म विना पृथ्वीनी अहरनो अग्नौ प्राप्त करी शकतो नहीं, એવી જ  
 રીતે શ્રુત-ચારિત્ર વિના આત્મજ્ઞાન થતું નથી. ॥ ३ ॥

આત્મજ્ઞાનના અભાવથી તત્ત્વ-અતત્ત્વનો નિશ્ચય થઈ શકતો નથી, અને તત્ત્વ-  
 અતત્ત્વનો નિશ્ચય કર્યા વિના ભવ્ય જીવોને અમૃતભાવના થતી નથી ॥ ४ ॥

અમૃતભાવનાના અભાવથી વિશુદ્ધ ધ્યાનની પ્રાપ્તિ થતી નથી, અને વિશુદ્ધ



અથ ધર્મમહિમોચ્યતે—

“જન્મંતરેવિ સુલભા, પિતૃભાતૃમુયાદયા ।

પરંતુ મુયચારિત્ત, — ધર્મો જો સુલભો મુવિ ॥ ૧ ॥

ધારસગાવળે ધર્મ, ણિચ્છયજ્વલહારિણો ।

લહતે સજયા મન્વા, મત્તિપણ્ણેણ નમ્મહા ॥ ૨ ॥

સંસ્કૃતઝાયા—

જન્માન્તરેડપિ સુલભા, — પિતૃ-ધ્રાતૃ-મૃતાદયઃ ।

પરંતુ શ્રુતચારિત્ર, — ધર્મો ન સુલભો મુવિ ॥ ૧ ॥

દ્વાદશાઙ્ગપણે ધર્મ, નિશ્ચયધ્યવહારિણ ।

લમન્તે સંયતા મન્વા, — મત્તિપણ્યેન નાન્યથા ॥ ૨ ॥

તથા—વિના સિદ્ધાન્તનં મૂમિ, — નિધાન નૈવ લમ્યતે

ધર્મ-મહિમા —

“પિતા, ખાતા ઔર પુત્ર આદિ તો જન્માન્તર મેં—આગામી મથ મેં—મી સુલભ હૈં કિન્તુ સસાર મેં શ્રુત—ચારિત્ર ધર્મ સુલભ નહીં હૈ” ॥ ૧ ॥

“દ્વાદશાઙ્ગીરૂપી દુકાન મેં નિશ્ચયનય ઔર ૯ વ્યવહારનય કો જાનને વાલે સયમી પુરુષ મત્કિરૂપી મૂલ્ય જુકાકર ધર્મ પ્રાપ્ત કર સકતે હૈં, પેસે કિયે વિના ધર્મ કી પ્રાપ્તિ નહીં હો સકતી” ॥ ૨ ॥

ધર્મ-મહિમા—

“પિતા ભાઈ અને પુત્ર વગેરે તો જાગતા ભવમાં—હવે પછીના ભવમાં પણ સુલભ છે, પરંતુ સસારમાં શ્રુત-ચારિત્ર ધર્મ સુલભ નથી” ॥ ૧ ॥

“દ્વાદશાઙ્ગીરૂપી દુકાનમાં નિશ્ચયનય અને વ્યવહારનયને જાણવાવાળા સયમી પુરુષ મત્કિરૂપી મૂલ્ય જાણીને ધર્મ પ્રાપ્ત કરી શકે છે જ્યેમ કર્યા વિના ધર્મની પ્રાપ્તિ થતી નથી.” ॥ ૨ ॥

### અથ ગણિતાનુયોગ.—

ગણિત = સંખ્યાન તસ્યાનુયોગો—ગણિતાનુયોગ —

જીવાઽઽજીવાદિપદ્મદ્રવ્યતત્પર્યાયપરિગણનં ગણિતાનુયોગસાધ્યમ્ ।

તેન જિનોક્તપદાર્થાના યથાવસ્થિત પરિગણનાત્ સમ્યક્ત્વશુદ્ધિસ્તતશ્ચારિત્રશુદ્ધિ ।

પૂર્વાનુપૂર્યાદીના મજ્જાલાદીના ચ પરિગણનયા ચિત્તસ્થૈર્યમ્, તતશ્ચ કપાયાનન્વપ્રશમનમ્, તેન ચારિત્રનૈર્મલ્યમ્ ।

અપિ ચ ગણિતાનુયોગેન મગવત ક્વલ્લજ્ઞાનાદિગુણપર્યાયાણામાનન્ત્યમાચે-  
દયતિ । સંખ્યાનમતિક્રાન્તાના તેષા સંખ્યાતુમશ્ન્યતા સંખ્યાજ્ઞાનં વિના નૈવ

### (૩) ગણિતાનુયોગ—

ગણિત અર્થાત્ સંખ્યાકા અનુયોગ ગણિતાનુયોગ કદલાતા હૈ ।

જીવ, પુદ્ગલ આદિ ઊહ દ્રવ્યાં કી ગણના કરન કે લિપ્, તથા દ્રવ્યાં કી પર્યાયાં કી ગિન્તી કરને કે લિપ્ ગણિતાનુયોગ કી આવસ્યકતા હોતી હૈ । ગણિતાનુયોગસે જિન મગવાન્ દ્વારા ઉપદિષ્ટ પદાર્થોં કી ઠીક-ઠીક ગણના હોને સે સમ્યક્ત્વ કી શુદ્ધિ હોતી હૈ, ઓર સમ્યક્ત્વ કી શુદ્ધિ સે ચારિત્ર કી શુદ્ધિ હોતી હૈ ।

પૂર્વાનુપૂર્યાં પદ્માનુપૂર્યાં તથા અનાનુપૂર્યાં આદિ સે, તથા મજ્જ-જાલાં કી ગણના કરનેસે ચિત્તમેં સ્થિરતા આતી હૈ, ઓર ચિત્તકી સ્થિરતા સે કપાયન્ત્વી અગ્નિ શાત્ હોતી હૈ ઓર સસે ચારિત્ર નિર્મલ્લ હોતા હૈ ।

ગણિતાનુયોગ હી મગવાન કે કેવલજ્ઞાન આદિ ગુણ એવ પર્યાયાંકી અનન્તતા કો પ્રગટ કરતા હૈ, ‘ સંખ્યાતીત્ત ગુણો એવ પર્યાયાં કી સંખ્યા કા જ્ઞાન મુસ્કિલ્લ હૈ ’ યહ વાત

### (૩) ગણિતાનુયોગ—

ગણિત અર્થાત્ અખ્યાનો અનુયોગ તે ગણિતાનુયોગ કહેવાય છે એવ પુરુગલ આદિ છ દ્રવ્યોની ગણના કરવા માટે, તથા દ્રવ્યોના પર્યાયોની ગણતરી કરવા માટે ગણિતાનુયોગની આવશ્યકતા હોય છે, ગણિતાનુયોગથી જિન મગવાન દ્વારા કહેલા પદાર્થોની ઠીક ઠીક ગણના થઈ શકતી હોવાથી સમ્યક્ત્વની શુદ્ધિ થાય છે, અને સમ્યક્ત્વની શુદ્ધિથી ચારિત્રની શુદ્ધિ થાય છે

પૂર્વાનુપૂર્યાં પદ્માનુપૂર્યાં તથા અનાનુપૂર્યાં આદિથી, અને મગવાણોની ગણના કરવાથી ચિત્તમા સ્થિરતા આવે છે, અને ચિત્તની સ્થિરતાથી કપાયન્ત્વી અગ્નિ શાત્ થાય છે અને તેથી ચારિત્ર નિર્મલ્લ થાય છે

શુકલજ્ઞાનસ્ત પાપં ચ, ત્રિતીયં પપ્પ સજ્જમી ।

કેવલજ્ઞાનલાહેણ, કેવલિતિ નિગજ્ઞઈ ॥ ૭ ॥

અવત્યા નહિ સેલેસી, કેવલજ્ઞાનમતરા ।

બવઈ સમર્ણિદસ્ત, સન્નમ્મસ્તઓ તઓ ॥ ૮ ॥

સન્નમ્મસ્તવણ સિદ્ધી, - તઓ સિદ્ધો હિ માસઓ ।

મોક્ષદ્વી મુચ્ચારિત્ત, - ધર્મં તમ્હા સમાચરે ॥ ૯ ॥

છાયા—

શુકલધ્યાનસ્ય પાદ ચ, દ્વિતીયં પ્રાપ્ય સયમી ।

કેવલજ્ઞાનલાભેન, કેવલીતિ નિગદ્યતે ॥ ૭ ॥

અવસ્થા નહિ શૈલેશી, કેવલજ્ઞાનમન્તરા ।

ભવતિ ધમણેન્દ્રસ્ય, સર્વકર્મસયસ્તત ॥ ૮ ॥

સર્વકર્મસયે સિદ્ધિ, - ધર્મં તસ્માત્સમાચરેત્ ।

મોક્ષાર્થી મુતચારિત્ર, - ધર્મં તસ્માત્સમાચરેત્ ॥ ૯ ॥

સયમી પુરુષ શુકલ ધ્યાન કા વૃત્તે પાયા પ્રાપ્ત કરકે, કેવલ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરતાં છે  
બૌર કેવલી કહીએ છે ॥ ૭ ॥

કેવલ જ્ઞાન કે વિના શૈલેશી અવસ્થા પ્રાપ્ત નહીં હોતી । શૈલેશી અવસ્થા અવ પ્રાપ્તિ  
હો જાતી છે તો મુનિરાજ સમસ્ત કર્મો કા ક્ષય કર દાહતા છે ॥ ૮ ॥

સમસ્ત કર્મો કા ક્ષય હોને પર સિદ્ધિ પ્રાપ્ત હોતી છે । સિદ્ધિ લાભ હોને પર શાશ્વત  
સિદ્ધિ હોજાતા છે, અતઃ મોક્ષાર્થી પુરુષ કો મુત-ચારિત્રરૂપ ધર્મ કા આચરણ કરના વાહિયે ॥ ૯ ॥

ધ્યાન વિના ક્ષપકશ્રેણી ઉપર આધારિત ધર્મ શક્ય નથી. ॥ ૫ ॥

ક્ષપકશ્રેણી વિના બીજા કોઈ ઉપાયથી શુદ્ધ ધ્યાનનો એકત્વ-વિતર્ક-અવિચાર  
નામક બીજો પાયો પ્રાપ્ત કરી શકતો નથી ॥ ૬ ॥

સયમી પુરુષ શુદ્ધ ધ્યાનનો બીજો પાયો પ્રાપ્ત કરીને કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે  
છે, અને કેવલી કહેવાય છે ॥ ૭ ॥

કેવલજ્ઞાન વિના શૈલેશી અવસ્થા પ્રાપ્ત થતી નથી, શૈલેશી અવસ્થા અચાર  
પ્રાપ્ત ધર્મ બાય છે, ત્યારે મુનિરાજ સકલ કર્મોનો ક્ષય કરી નાખે છે ॥ ૮ ॥

સકલ કર્મોનો ક્ષય થયા પછી સિદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે, સિદ્ધિ લાભ થયા પછી  
શાશ્વત સિદ્ધિ થાય છે, એ માટે મુક્ષાર્થી પુરુષોએ મુત-ચારિત્રરૂપ ધર્મનું આચરણ  
કરવું જોઈએ ॥ ૯ ॥

( १ ) तत्र मासविचार

पौष-चैत्र-ज्येष्ठा-पाद-मासान् विहाय शेषा मासाः प्रशस्ताः ।

विशेषतो मासफलमाह-

- |                              |  |
|------------------------------|--|
| (१) धावणे-शुभम् ।            | (७) माघे-ज्ञानवृद्धि ।                             |
| (२) माद्रपदे-श्रित्याल्पता । | (८) फाल्गुने-सुख-सौभाग्य-यशोवृद्धि ।               |
| (३) आश्विने-सुखम् ।          | (९) चैत्रे-अल्पसुखम् ।                             |
| (४) कार्तिके-विद्यावृद्धिः । | (१०) वैशाखे-रत्नत्रयलाभ ।                          |
| (५) मार्गशीर्षे-शुभम् ।      | (११) ज्येष्ठे-सामान्यम्, तत्रान्यफलसत्त्वे शुभम् । |
| (६) पौषे-विद्यावृद्धयमात्र । | (१२) आपादे-गुरुबन्धुना सह प्रेमाल्पता ।            |

( १ ) मास-विचार

पौष, चैत्र, ज्येष्ठ और आपाद मास को छोड़कर शेष महीना में दीक्षा देना प्रशस्त है ।

विशेष मास-विचार

- |                                |  |
|--------------------------------|--|
| (१) धावण - शुभ ।               | (७) माघ - ज्ञान की वृद्धि  |
| (२) माद्रपद - श्रित्या कमी ।   | (८) फाल्गुन-सुख-सौभाग्य और यश की वृद्धि                              |
| (३) आश्विन - सुख ।             | (९) चैत्र - अन्य सुख   |
| (४) कार्तिक - विद्यावृद्धि ।   | (१०) वैशाख - रत्नत्रय का लाभ   |
| (५) मार्गशीर्ष - शुभ ।         | (११) ज्येष्ठ - साधारण, यह मास दूसरे नक्षत्र आदि का बल हो तो शुभ है । |
| (६) पौष-विद्यावृद्धि का अभाव । | (१२) आपाद-गुरुभाइया के साथ प्रेम की कमी ।                            |

(१) मास-विचार-

पौष, चैत्र, जेठ અને આપાદ માસને ત્યજીને બાકીના બીજા મહિનાઓ દીક્ષા આપવા માટે ઉત્તમ છે

વિશેષ માસ-વિચાર-

- |                             |  |
|-----------------------------|--|
| (૧) ધાવણ-શુભ.               | (૭) માઘ-જ્ઞાનની વૃદ્ધિ   |
| (૨) માદ્રપદ-શ્રિષ્ટોની કમી  | (૮) ફાલ્ગુન-સુખ સૌભાગ્ય અને યશની વૃદ્ધિ                        |
| (૩) આશ્વિ-સુખ.              | (૯) ચૈત્ર-અલ્પ સુખ.  |
| (૪) કાર્તિક-વિદ્યાવૃદ્ધિ.   | (૧૦) વૈશાખ-રત્નત્રયનો લાભ.                                     |
| (૫) માર્ગશીર્ષ-શુભ.         | (૧૧) જેઠ-સાધારણ, આમાસમા બીજા નક્ષત્ર વગેરેનું બલ હોય તો શુભ છે |
| (૬) પૌષ-વિદ્યાવૃદ્ધિનો અભાવ | (૧૨) આપાદ-ગુરુભાઈઓની સાથે પ્રેમની કમી.                         |

વિજ્ઞાતું શન્યતે, તદ્વિ ગણિતાનુયોગગમ્યમ્ । મગવદ્ગુણાનુસ્મરણેન મગવતઃ  
સ્તુતિઃ સપદ્યતે, તયા ચ દર્શનશુદ્ધિસ્તત્ત્વાચારિત્રશુદ્ધિ ।

મગવ્યાપ્રદાનાદયોઽપિ શોભનતિથિનક્ષત્રાદિયુક્તસમય એવ વિધેયા इति  
તાદૃશસમયાવબોધકતયા ગણિતાનુયોગસ્યાપિ ચરણપ્રાપ્તિ પ્રતિ સાધનતા સિદ્ધયતિ ।  
તયા चास्यापि फल चारित्रप्ररक्षणमेव ।

अथ प्रसङ्गाज्ज्योतिष्कविषय किञ्चित्प्रदर्श्यते—

तत्र पूर्वं मगव्याप्रदानसमयो निर्णीयते—

મી સંસ્થા કા જ્ઞાન ક્રિયે વિના જાની નહીં જા સકતી હૈ । મગવાન કે ગુણો કા બારંબાર  
સ્મરણ કરને સે મગવાન કી સ્તુતિ હોતી હૈ, ઉસસે દર્શન-શુદ્ધિ હોતી હૈ, દર્શન-શુદ્ધિ ક  
હોને સે ચારિત્ર કી શુદ્ધિ હોતી હૈ ॥

શુભ તિથિ તથા શુભ નક્ષત્ર સે યુક્ત સમય મેં હી દીક્ષા આદિ દેના ચાહિય, ઇસ  
પ્રકાર કે સમય કા બોધ કરાને ઘાછા હોને સે ગણિતાનુયોગ મી ચારિત્રકી પ્રાપ્તિ કા કારણ  
હૈ, એસા સિદ્ધ હોતા હૈ, ઉસસે ગણિતાનુયોગ કા ફલ મી ચારિત્ર કી રક્ષા કરના હી હૈ ।

મહા પ્રસન્ન હોનેસે કુલ જ્યોતિષ કા વિષય દિસલાયા જાતા હૈ—

દીક્ષાદાનસમયકા નિર્ણય—

ગણિતાનુયોગ જ મગવાનના કેવલજ્ઞાન આદિ જો શુભો જો પ્રમાણે પર્વાથોની  
અનંતતા પ્રગટ કરે છે ‘સખ્યાતીત શુભો અને પર્વાથોની સખ્યા બહુવી અશક્ય  
છે’ તે વાત પણ સખ્યાનું જ્ઞાન કર્યા વિના બાહ્યી શકાતી નથી, તે ગણિતાનુયોગ  
દ્વારા બાહ્યી શક્ય છે મગવાનના શુભોનું વારંવાર સ્મરણ કરવાથી મગવાનની સ્તુતિ  
થાય છે, અને તેથી દર્શન-શુદ્ધિ થઈ શકે છે, અને દર્શન વિશુદ્ધ થવાથી ચારિત્રની  
શુદ્ધિ થાય છે

શુભ તિથિ તથા શુભ નક્ષત્રથી યુક્ત સમયમા જ દીક્ષા આદિ આપવી જોઈએ,  
આ પ્રકારના સમયનું જ્ઞાન કરાવવાવાળો હોવાથી ગણિતાનુયોગ પણ ચારિત્રની પ્રાપ્તિનું  
કારણ છે એમ સિદ્ધ થાય છે તેથી ગણિતાનુયોગનું ફલ પણ ચારિત્રની રક્ષા કરવી એજ છે  
અહીં પ્રસંગથી થોડો અધોતિપનો વિષય બતાવવામા આવે છે—

દીક્ષા આપવાના સમયનો નિર્ણય—

નવ તિથયશ્ચ વર્જનીયા'—

(૧) શુક્લા ચતુર્દશી (૨) અમાવાસ્યા (૩) યસ્યાં તિથૌ રવિસંક્રમણ, સા ।  
(૪) દ્વિતીયા, (૫) ચતુર્થી, (૬) પૃષ્ઠી, (૭) અષ્ટમી, (૮) નવમી, (૯) દ્વાદશી ।

(૪) વાર-વિચાર:—

રવિ - ચન્દ્ર - બુધ - ગુરુ - વારા' પ્રશસ્તા'

(૫) નક્ષત્ર-વિચાર —

દીક્ષાયાં પ્રયોદશ નક્ષત્રાણિ પ્રશસ્તાનિ—(૧) અશ્વિની, (૨) રોહિણી, (૩) મૃગશિર, (૪) પુષ્ય, (૫) ઉત્તરફાલ્ગુની, (૬) હસ્ત (૭) અનુરાધા, (૮) જ્યેષ્ઠા, (૯) ઉત્તરાષાઢા, (૧૦) અમિજિત્, (૧૧) શ્રવણ, (૧૨) ઉત્તરમાદ્ર-પદા, (૧૩) રેવતી ।

નૌ તિથિયાં ત્યાજ્યં હૈ—

(૧)—શુક્લા ચતુર્દશી, (૨)—અમાવાસ્યા, (૩)—જિસ તિથિ મ સૂર્ય-સંક્રમણ હો વહ,  
(૪)—દ્વિતીયા (૫)—ચતુર્થી (૬)—પૃષ્ઠી (૭)—અષ્ટમી (૮)—નવમી (૯)—દ્વાદશી ।

(૪) વાર-વિચાર—

રવિ, સોમ, બુધ, ગુરુ, ઔર શનિવાર પ્રશસ્ત હૈ ।

(૫) નક્ષત્ર-વિચાર—

દીક્ષા કે વિષય મેં તેરહ ૧૩ નક્ષત્ર પ્રશસ્ત હૈ । (૧)—અશ્વિની, (૨)—રોહિણી, (૩)—મૃગશીર, (૪)—પુષ્ય (૫)—ઉત્તરફાલ્ગુની (૬)—હસ્ત, (૭)—અનુરાધા, (૮)—જ્યેષ્ઠા, (૯)—ઉત્તરાષાઢા, (૧૦)—અમિજિત્, (૧૧)—શ્રવણ, (૧૨)—ઉત્તરમાદ્રપદ, (૧૩)—રેવતી ।

નવ તિથિઓ ત્યાજ્ય છે—

(૧) શુક્લ ચતુર્દશી, (૨) અમાવાસ્યા (૩) જે તિથિમા સૂર્ય-સંક્રમણ થાય તે, (૪) દ્વિતીયા, (૫) ચતુર્થી, (૬) પૃષ્ઠી, (૭) અષ્ટમી (૮) નવમી (૯) દ્વાદશી  
(૪) વાર વિચાર—

રવિ, સોમ, બુધ, ગુરુ અને શનિવાર ઉત્તમ છે

(૫) નક્ષત્ર-વિચાર—

દીક્ષાના વિષયમા તેર નક્ષત્ર ઉત્તમ છે — (૧) અશ્વિની, (૨) રોહિણી, (૩) મૃગશીર, (૪) પુષ્ય, (૫) ઉત્તરફાલ્ગુની, (૬) હસ્ત, (૭) અનુરાધા (૮) જ્યેષ્ઠા (૯) ઉત્તરાષાઢા, (૧૦) અમિજિત (૧૧) શ્રવણ (૧૨) ઉત્તરમાદ્રપદ, (૧૩) રેવતી

## (૨) પક્ષ-વિચાર—

કૃષ્ણપક્ષે-પ્રતિપદ આરમ્ભ પચ્ચમી યાવત્તિથય શુભા । પચ્છીત' સમારમ્ભ દશમી યાવત્તિથયો મધ્યમા' । એકાદશીત પ્રારમ્ભ્યામાવાસ્ત્યા યાવદશુભા ।

શુક્રપક્ષે તુ પ્રતિપત્તિથિત' પચ્ચમી પર્યન્તમશુભા । પછીતો દશમાં યાવન્મધ્યમાઃ । એકાદશીત સમારમ્ભ પૂર્ણિમાન્તાસ્તિથય શુભા ।

## (૪) તિથિ-વિચાર—

વીક્ષાયાં પ્રતિપદ (૧), તૃતીયા (૨), પચ્ચમી (૫), સપ્તમી (૭), એકાદશી (૧૧), ત્રયોદશી (૧૩) ચ પ્રશસ્તા ।

## (૨) પક્ષ-વિચાર—

કૃષ્ણ પક્ષ મેં પ્રતિપદા સ હેકર પચ્ચમી પર્યન્ત તિથિયૌ શુભ હૈં । પચ્છી સે હેકર દશમી તક કી તિથિયાં મધ્યમ હૈં, ઓર એકાદશીસે હેકર અમાવાસ્યા તક અશુભ તિથિયા હૈં ।

શુક્ર પક્ષ મેં પ્રતિપદા સે છગાકર પચ્ચમી તક અશુભ હૈં, પચ્છી સે દશમી તક મધ્યમ હૈં ઓર એકાદશી સે પૂર્ણિમા તક કી તિથિયા શુભ હૈં ।

## (૩) તિથિ-વિચાર—

વીક્ષા કે વિષયમેં પ્રતિપદા, તૃતીયા, પચ્ચમી, સપ્તમી, એકાદશી ઓર ત્રયોદશી પ્રશસ્ત હૈં ।

## (૧) પક્ષ-વિચાર—

કૃષ્ણ પક્ષમા પઠવેથી પાંચમ સુધીની તિથિઓ અશુભ છે છઠ્ઠી લઈને દશમ સુધીની તિથિઓ મધ્યમ છે, અને એકાદશી-અગ્રીયારસથી લઈને અમાવાસ્યા સુધીની તિથિઓ અશુભ છે

શુક્ર પક્ષમા-પઠવેથી લઈને પાંચમ સુધીની તિથિઓ અશુભ છે છઠ્ઠી લઈને દશમી સુધી મધ્યમ છે, અને એકાદશીથી પુનઃ સુધીની તિથિઓ શુભ છે

## (૪) તિથિ-વિચાર—

વીક્ષાના વિષયમા પઠવે, ત્રીજ, પાંચમ, સાતમ, એકાદશી અને તેરસ, આ તિથિઓ ઉત્તમ છે

(૭) ગ્રહમિત્રમ્—યત્ર ત્રયો ગ્રહાસ્તિષ્ઠન્તિ તાદૃશ નક્ષત્રમ્ ।

(૬) યોગ-વિચાર—

યોગાસ્તુ નામ્નૈવ શુભાશુભફલા, યથા—વિષ્કમ્માદિપુ દૈનિકયોગેષુ પ્રીત્યાદય શુભફલાઃ, વિષ્કમ્માદયોઽશુભફલા' । આનન્દાદિપુ સાંયોગિકેષુવારનક્ષત્ર-સયોગજનિતેષુ યોગેષુ આનન્દાદયઃ શુભા, કાલદણ્ડાદયોઽશુભા' ।

(૭) અથ કરણ-વિચાર —

કરણાનિ એકાદશ સન્તિ; યથા—(૧) વવમ્, (૨) વાલવમ્, (૩) કૌલવમ્,

(૭) ગ્રહ-મિત્રનિસ મેં ત્રિન ગ્રહ હૉં એસા નમ્ત્ર ।

(૬) યોગ-વિચાર—

યોગો કે નામસે હી શુભ અશુભ ફલ પ્રતીત હો જાતા હૈ । જૈસે—વિષ્કમ્મ, આદિ દૈનિક યોગો મેં સે પ્રીતિ આદિ યોગ શુભફલ વાલે, ઔર વિષ્કમ્મ આદિ યોગ અશુભ ફલ વાલે હૈ । આનન્દ આદિ સાંયોગિક (વાર નક્ષત્ર કે સયોગ સે બનને વાલે) યોગો મેં સે આનન્દ આદિ યોગ શુભફલદાતા હૈ, ઔર કાલદણ્ડ આદિ અશુભફલદાયક હૈ ।

(૭) કરણ-વિચાર

કરણ ૧૧ મ્યારહ હોતે હૈ, જૈસે—(૧) વવ, (૨) વાલવ, (૩) કૌલવ,

(૭) ગ્રહમિત્ર-જેમા ત્રણ ગ્રહો હોય, એવું નક્ષત્ર

(૬) યોગ-વિચાર—

યોગોના નામથી જ શુભ-અશુભ ફળની પ્રતીતિ થઈ જાય છે જેમકે—વિષ્કમ્મ આદિ દૈનિક યોગોનાથી પ્રીતિ આદિ શુભ ફળવાળા છે, અને વિષ્કમ્મ આદિ યોગ તે અશુભ ફળ આપનારા છે આનન્દ આદિ સાંયોગિક (વાર-નક્ષત્રના સંયોગથી બનવાવાળા) યોગોના આનન્દ આદિ યોગ શુભ ફળ દેનારા છે, અને કાલદણ્ડ આદિ અશુભ ફળ આપનારા છે

(૭) કરણ-વિચાર—

૪૨ણ અગિઆર હોય છે (૧) વવ (૨) વાલવ (૩) કૌલવ (૪) અગિઆરના પ્ર આ-૧



નક્ષત્રેષુ સપ્ત દોષાઃ સન્તિ, યથા—

- (૧) સંધ્યાગતમ્—યત્ર નક્ષત્રે સૂર્યોઽનન્તરં સ્થાસ્પતિ તાદૃશ નક્ષત્રમ્ । ચા  
હસ્તે રવિર્વર્ષતે ચેત્ તદા દૈનિકં ચિત્રાનક્ષત્રં સંધ્યાગત મોઘ્યમ્ ।
  - (૨) રવિગતમ્—યત્ર રવિસ્તિષ્ઠતિ તાદૃશ દૈનિક નક્ષત્ર રવિગતં મોઘ્યમ્ ।
  - (૩) દુર્ગતમ્—યત્રોન્માર્ગગામી—ચક્રી ગ્રહો ભવતિ, તાદૃશં નક્ષત્રમ્ ।
  - (૪) સપ્રહમ્—યત્ર કૂરો ગ્રહસ્તિષ્ઠતિ, તાદૃશ નક્ષત્રમ્ ।
  - (૫) વિલમ્બિતમ્—સૂર્યેણ પરિશુદ્ધ્ય મુક્તં નક્ષત્રમ્ ।
  - (૬) રાહુગતમ્—યત્ર ચન્દ્ર-સૂર્યોપરાગઃ સજાતમ્તાદૃશ નક્ષત્રમ્ ।
- ઈદૃશે નક્ષત્રે  
પળમાસાન્ યાવત્ પ્રવ્રજ્યા ન દેયા ।

નક્ષત્રોં મેં સાત દોષ

- (૧) સંધ્યાગત—જિસ નક્ષત્ર મેં સૂર્ય આગે જાને વાલા હૈ વહ નક્ષત્ર ।  
જેસે—અગર હસ્ત નક્ષત્ર મેં સૂર્ય હો સો દૈનિક ચિત્રા નક્ષત્ર સંધ્યાગત કહલાતા હૈ ।
- (૨) રવિગત—જિસ નક્ષત્ર મેં રવિ હો, વહ દૈનિક નક્ષત્ર રવિગત જાનના વાહિય ।
- (૩) દુર્ગત—જિસ મેં ઉન્માર્ગગામી—ચક્ર ગ્રહ હો વહ નક્ષત્ર દુર્ગત કહલાતા હૈ ।
- (૪) સપ્રહ—જિસ નક્ષત્ર મેં કૂર ગ્રહ હો ।
- (૫) વિલમ્બિત—સૂર્ય—દ્વારા મોગ કર છોટા હુઆ નક્ષત્ર ।
- (૬) રાહુગત—જિસ નક્ષત્ર મેં ચન્દ્ર—પ્રહણ યા સૂર્ય—પ્રહણ હુઆ હો । એસે નક્ષત્ર મેં  
છહ માસ તક વીક્ષા દેના વર્જનીય હૈ ।

નક્ષત્રમાં સાત દોષ—

- (૧) સંધ્યાગત—જે નક્ષત્રમાં સૂર્ય આગળ આવવાવાળો છે તે નક્ષત્ર, જેવી  
રીતે કે હસ્ત નક્ષત્રમાં સૂર્ય હોય તે દૈનિક ચિત્રા નક્ષત્ર સંધ્યાગત કહેવાય છે
- (૨) રવિગત—જે નક્ષત્રમાં રવિ હોય તે દૈનિક નક્ષત્ર રવિગત બાબુલુ બોધજે
- (૩) દુર્ગત—જેમાં ઉન્માર્ગગામી—ચક્ર—ગ્રહ હોય તે નક્ષત્ર દુર્ગત કહેવાય છે
- (૪) સપ્રહ—જે નક્ષત્રમાં કૂર ગ્રહ હોય
- (૫) વિલમ્બિત—સૂર્ય—દ્વારા મોગવીને છુટ્ટ કરાયેલું નક્ષત્ર
- (૬) રાહુગત—જે નક્ષત્રમાં ચન્દ્રગ્રહણ થાયવા સૂર્યગ્રહણ થયું હોય. એવા  
નક્ષત્રમાં ૭ માસ સુધી વીક્ષા આપવી વર્જનીય છે

કરૂં કરણો સ્થિરા પળ્ળતા?, ગોયમા સત્ત કરણા ચરા, ચત્તારિ કરણા ધિરા પળ્ળતા ।” इत्यादि ।

तत्र दिवाशब्देन तिथेः पूर्वार्द्धभागः, रात्रिशब्देन त्रियेकतरार्द्धभागो गम्यते ।

एकादशसु करणेषु वयम्, बालवम्, कौलवम्, वणिजम्, एतानि चत्वारि शुभफलानि ।

त्रिष्टिकरणस्य नामान्तरं भद्रा । इयं दीक्षादौ वर्जनीया । उक्तञ्च—

“यदि भद्राकृतं कार्यं, प्रमादेनापि सिद्धयति ।

गया है । वहां कहा है —

‘હ મવન્ત ! હન ગ્યારહ કરણા મં કિત્તન કરણ ચર ઓર કિત્તને કરણ સ્થિર કહે ગયે હં ?, હે ગૌતમ ! સાત કરણ ચર ઓર ચાર કરણ સ્થિર કહે ગયે હં ।’ इत्यादि ।

यहां दिन शब्द का अर्थ है—तिथिका पूर्वार्ध भाग और रात्रि शब्द का अर्थ है—  
तिथि का उत्तरार्ध भाग ।

इन ग्यारह કરણા મં સે વવ, બાલવ, કૌલવ, ઓર વણિજ, યે ચાર કરણ શુભ ફલ ધાયક હૈ ।

વિષ્ટિ કરણ કા દૂસગ નામ ભદ્રા, હૈ । દીક્ષા આદિ કાર્યો મેં યહ વર્જનીય હૈ ।  
કહા મી હૈ —

રૂપથી કરેલુ છે, ત્યાં કરલુ છે —

“હે બહત ! આ અગ્યાર કરણોમાં કેટલા કરલુ ચર અને કેટલા કરલુ સ્થિર કહેવામાં આવ્યા છે ?, હે ગૌતમ ! સાત કરલુ ચર અને ચાર કરલુ સ્થિર કહેવામાં આવ્યા છે” इत्यादि

આ સ્થળે દિન શબ્દનો અર્થ છે કે—તિથિનો પૂર્વાર્ધ ભાગ, અને રાત્રી શબ્દનો અર્થ છે કે—તિથિનો ઉત્તરાર્ધ ભાગ

એ અગિયાર કરણોમાંથી વવ, બાલવ, કૌલવ અને વણિજ, આ ચાર કરલુ શુભફલધાયક છે

વિષ્ટિકરણનું બીજું નામ ભદ્રા છે દીક્ષા આદિ કાર્યોમાં તે ભદ્રા, ત્યજવા યોગ્ય છે કહ્યું પણ છે—

(૪) સ્ત્રીવિલોચનમ્, (૫) તૈતિલમિતિ, કોવ્વદાહુઃ, (૫) ગરાદિ, (૬) ગરમિત્વા-  
હુરન્યે, (૬) વણિજમ્, (૭) વિષ્ટિઃ, (૮) શકુનિઃ, (૯) ચતુષ્પદં, (૧૦) નાગમ્,  
(૧૧) કિસ્તુમ્, ઇતિ ।

અમ્ર યવાદિવિષ્ટન્તાનિ સપ્ત કરણાનિ ચરાણિ, શકુન્યાદીનિ ચત્વારિ સ્થિરાણિ  
વેદિતવ્યાનિ ।

યવાદિવિષ્ટન્તાનાં સપ્તાના કસ્યાભિદકસ્યાં તિથૌ નિયમત સ્થિત્યમાવાચાનિ  
સપ્ત-ચરાણિ, શકુન્યાદીના કૃષ્ણપક્ષીયચતુર્દશ્યમાયસ્યાશુક્રપ્રતિપતિચિધિપુ નિયત-  
સ્થિત્યા તાનિ ચત્વારિ સ્થિરાણિ યોચ્યન્તે । સ્પષ્ટ ચેદં જમ્બૂદીપપ્રજ્ઞા સપ્તમથ-  
સ્કારે । ઉક્તઞ્ચ તત્ર-“અપસિળ મતે ! એકારસર્ણ કરણાણં કદ કરણા ચરા ?

(૪) સ્ત્રીવિલોચન (કોઈ કોઈ રૂપે ‘તૈતિલ’ મી નહતે હૈ), (૫) ગરાદિ (‘ગર’ નામ મી હૈ),  
(૬) વણિજ, (૭) વિષ્ટિ, (૮) શકુનિ, (૯) ચતુષ્પદ, (૧૦) નાગ, (૧૧) કિસ્તુમ્ ।

इन व्यास करणों में जब से लेकर विष्टि तक सात करण चर हैं, और अन्त के  
शकुनि आदि चार स्थिर हैं ।

જવ સ લેકર વિષ્ટિ તક સાત કરણ કિસી એક તિથિ મેં નિયમ સે નહીં રહતે હસ  
કારણ યે ચર કહાયતે હૈ, શકુનિ આદિ અસ્થિર ચાર કરણ કૃષ્ણ પક્ષ કી ચતુર્દશી,  
અમાવાસ્યા તથા શુક્લ પક્ષ કી પ્રતિપદા તિથિ મેં નિયમ સે હોતે હૈ, અતઃ યવ યે સ્થિર કહાયતે  
હૈ । હસ વિષય કા જમ્બૂદીપપ્રજ્ઞા-કે, સાતવે, વક્ષસ્કાર મ્, સ્પષ્ટ રૂપ સે વિવેચન કિયા

(કોઈ કોઈ કોને ‘તૈતિલ’ પણ કહે છે), (૫) ગરાદિ (તેનું ‘ગર’ નામ પણ છે)  
(૬) વણિજ (૭) વિષ્ટિ (૮) શકુનિ (૯) ચતુષ્પદ (૧૦) નાગ, (૧૧) કિસ્તુમ્,  
આવાસવાચન ગરમિત્વા-હુરન્યે, વિષ્ટિ સુધી સાત કરણ ચર છે; અને  
એલા શકુનિ આદિ-ચાર સ્થિર છે ।

અવધી લઈને વિષ્ટિ સુધીના સાત કરણ કોઈ કોઈ તિથિમા નિયમિત રહેતા  
નથી તે કરણથી તેને ચર કહે છે, શકુનિ આદિ એલા ચાર, કૃષ્ણ પક્ષની ચૌદસ,  
અમાવાસ્યા તથા શુક્લ પક્ષની પ્રતિપદા-પદ્ધતિ તિથિમા નિયમિત રહે છે એવા તે  
સ્થિર કહેવાય છે આ વિષયનું વિવેચન જમ્બૂદીપપ્રજ્ઞાનાં સાતમા વક્ષસ્કારમાં સ્પષ્ટ

શકુનિ-ચતુષ્પદ-નાગ-કિંસ્તુભ્રનામાનિ કરણાનિ તુ કૃષ્ણચતુર્દશ્યમાવાસ્યા  
શુક્રપ્રતિપદ્યોગમાવિત્વાત્યાગ્યાનિ । અવશિષ્ટે દ્વે કરણે સ્ત્રીવિલોચનગરાદિસન્ઘકે  
સામાન્યે, ઇતિ સામ્પ્રદાયિકા ।

યત્તુ ગણિવિદ્યાપ્રકીર્ણકકૃતચતુષ્પદ નાગ ચેતિ દ્વે કરણે નિષ્ક્રમણે પ્રશસન્તિ,  
યથા—“ નાગે ચતુષ્પદ યાવિ, સેહનિક્સમણ કરે ” ઇતિ ।

તત્ત્વ સમીચીનમ્, નિષ્ક્રમણેઽમાવાસ્યાયા પ્રતિપિદત્ત્વેન નિયમતસ્તદ્યોગ-  
માવિનોસ્તયો પ્રાશસ્ત્યાઽસમઘાત્ ।

શકુનિ, ચતુષ્પદ, નાગ ઓર કિંસ્તુભ્ર નામક કરણ કૃષ્ણ પક્ષકી ચતુર્દશી, અમાવાસ્યા,  
શુક્રપક્ષકી પ્રતિપદા ક યોગસે ભાવિત હોને ક કારણ ત્યાગ્ય હો જાતે હૈં । શેષ દો કરણ  
સ્ત્રીવિલોચન ઓર ગરાદિ નામક સાધારણ હૈં । પરમ્પરા કો જ્ઞાનને લાછાં કા યહ મત હૈ ।

ગણિવિદ્યાપ્રકીર્ણકકારને દીક્ષા કે વિષય મં ચતુષ્પદ ઓર નાગ નામક દો કરણ  
પ્રશસ્ત માને હૈ, ઉન્હોં ને કહા હૈ કિ-“નાગે ચતુષ્પદ યાવિ સેહનિક્સમણ કરે” અર્થાત્  
નાગ ઓર ચતુષ્પદ નક્ષત્ર મ નિષ્ક્રમણ કરનાં ચાહિયે, અર્થાત્ શિષ્યકો દીક્ષા દેનાં ચાહિયે,  
उनका यह कथन समीचीन नहीं है, कारण यह है कि निष्क्रमण में अमावास्या निषिद्ध  
मानी गई है, इसीलिये अमावास्या के योग से भावित उक्त दोनों कर्णों का प्रशस्त होना  
असम्भव है ।

શકુનિ, ચતુષ્પદ, નાગ અને કિંસ્તુભ્ર નામના કશ્ચ કૃષ્ણ પક્ષની ચૌદશ,  
અમાવાસ્યા, શુકલ પક્ષના પડવાના યોગથી ભાવિત હોવાથી ત્યાગ્ય બની જાય છે  
બાકી બે કશ્ચ સ્ત્રીવિલોચન અને ગરાદિ નામના સાધારણ છે પરમ્પરા જાણવા  
વાળાને આ પ્રમાણે મત છે

ગણિવિદ્યાપ્રકીર્ણકકારે દીક્ષાના વિષયમાં ચતુષ્પદ અને નાગ નામના બે  
કશ્ચોને ઉત્તમ માન્યા છે તેણે કહ્યું છે કે—“નાગે ચતુષ્પદ યાવિ સેહનિક્સમણ કરે”  
નાગ અને ચતુષ્પદ નક્ષત્રમાં નિષ્ક્રમણ કશ્ચ જોઈએ, અર્થાત્ શિષ્યને દીક્ષા આપવી  
જોઈએ તેમજ આ કથન બરાબર નથી, કારણ એ છે કે-નિષ્ક્રમણમાં-દીક્ષામાં-  
અમાવાસ્યા નિષિદ્ધ માની છે, જોટલા માટે અમાવાસ્યાના યોગથી ભાવિત ઉપર  
કહેલા બન્ને કશ્ચો ઉત્તમ હોય તે વાત અસંભવ છે

માસે તુ પોદશે માસે, સમૂલં તદ્વિનશ્યતિ ॥ ૧ ॥” इति ।

શુક્રપક્ષે મદ્રા ચતુર્થ્યામેકાદશ્યાં ચ તિથિપરાર્દમાગસ્યાયિની, અષ્ટમ્યાં પૂર્ણિમાયાં ચ તિથિપૂર્વાર્દમાગસ્યાયિની ભવતિ, કૃષ્ણપક્ષે તુ સા તૃતીયાયાં ઠગ્મ્યાં ચ તિથિપરાર્દમાગસ્યાયિની, સપ્તમ્યાં ચતુર્દશ્યા ચ તિથિપૂર્વાર્દમાગસ્યાયિની ભવતિ ।

તત્ર તિથિપરાર્દમાગસ્યાયિની મદ્રા દિવસ વ્યાપ્નોતિ, તથા તિથિપૂર્વાર્દમાગ સ્યાયિની રાત્રિ વ્યાપ્નોતિ ચેત્તદા ન દોષાવહા ।

મદ્રાચાર્વિશદ્વટિકામાનેન પશ્ચિમ ઘટિકાત્રયં પુચ્છમિત્યભિધીયતે । ત્વ મદ્રાપુચ્છે શુભમ્ ।

“મદ્રા કરણ મેં ક્રિયા હુઆ કાર્ય પ્રથમ તો સિદ્ધ હી નહીં હોતા, કદાચિત્ સિદ્ધ મી હોનાય તો સોચ્છવૌ મહીના આને પર ઉસકા સમૂલ વિનાશ હો આતા હૈ” ॥૧॥

મદ્રા શુક્રપક્ષ મેં ચૌથ તથા એકાદશી તિથિ કે ઉત્તરાર્ધ મેં રહતી હૈ, ઔર અષ્ટમી તથા પૂર્ણિમા કે દિન તિથિ કે પૂર્વાર્ધ મેં રહતી હૈ ।

કૃષ્ણપક્ષ મેં તૃતીયા ઔર દશમી કે દિન તિથિ કે ઉત્તરાર્ધ મેં ઔર સપ્તમી યજ્ઞ ચતુર્દશી કો તિથિ કે પૂર્વાર્ધ મેં રહતી હૈ ।

તિથિ કે ઉત્તરાર્ધ મેં રહને વાછી મદ્રા દિનકો વ્યાપ્ત કરતી હો ઔર પૂર્વાર્ધમાગ મેં રહને વાછી રાત્રિકો વ્યાપ્ત કરતી હો તો કોઈ દોષ નહીં હૈ ।

તૈસ વર્ત્તિકી મદ્રા કી અન્તિમ ત્રીન ઘડિયો પૂછ કહ્લાતી હૈ । મદ્રાકી મદ્દ પૂછ શુભ હૈ ।

“મદ્રા કરણમા કરેલુ કામ પ્રથમ તો સિદ્ધ થતુ નથી, કદાચિત્ સિદ્ધ થાય તો સોજામો મહીનો આપતા તેનો સમૂલ વિનાશ થાય છે” ॥ ૧ ॥

મદ્રા શુકલ પક્ષમા ચૌથ તથા એકાદશી તિથિના ઉત્તરાર્ધમા રહે છે, અને આઠમ તથા પૂનમના દિવસે તિથિના પૂર્વાર્ધમા રહે છે

કૃષ્ણપક્ષમા ત્રીજ અને દશમીના દિન તિથિના ઉત્તરાર્ધમા અને સાતમ તથા બૌદ્ધશના દિન તિથિના પૂર્વાર્ધમા રહે છે

તિથિના ઉત્તરાર્ધમા રહેવાવાળી મદ્રા દિવસને વ્યાપ્ત કરતી હોય, અને પૂર્વાર્ધ ભાગમા રહેવાવાળી રાત્રીને વ્યાપ્ત કરતી હોય તો કોઈ દોષ નથી.

ત્રીજ ઘડીની મદ્રાની છેલ્લી ત્રણ ઘડીઓ પૂછ કહેવાય છે; અને મદ્રાની તે પૂછ શુભ છે

ચન્દ્રનો લગ્નતથા સપ્તમે સ્થાને રવિકુજમાર્ગર્ધાસ્પાજ્યાં, તત્ર પ્રયાણા સગમે દીક્ષણીય પ્રતિપાતી ભવતિ । ણુ ત્રિષુ દ્વાયન્યતમો ધા તત્ર તિષ્ઠતિ વેષદા કુશીલ ક્રોવાદિવશગથ ભવતિ । યદિ સપ્તમે સ્થાને રક્ત, ચન્દ્રશ્ચ ગ્રહાન્તરવર્જિતસ્તદા દીક્ષા શુભા । યદિ ચન્દ્રસ્ય ગુરુ-બુધયોરન્યતરેણ સગમસ્તર્હિ શુભમ્ ।

(૧૦) અથ સ્વરિતકર્ષવ્યદીક્ષાસમયનિરૂપણમ્ ।

(ક) સિદ્ધચ્છાયાલગ્નમ્ ।

ચન્દ્રમાસે તથા લગ્ન સે સાતવે સ્થાને પર સૂર્ય, કુજ (મંગલ) માર્ગવ, (શુક્ર) હો તોચાગ્ય હૈ । અગર ડન તીનો કા સપ્તમ હો તો દીક્ષા લેને વાલા પ્રતિપાતી ( પડિવાઈ ) હો જાતા હૈ । અગર ડન તીનો મ સે લો અથવા કોઈ મી ઇક વહા હો તો દીક્ષા લેને વાલા કુશીલ ઔર ક્રોવ આદિ દુર્ગુણો કા ધારક હોતા હૈ । અગર ચન્દ્ર દૂસરે ગ્રહો સે વર્જિત હો તો દીક્ષા શુભ સમજની જાણિય । અગર ગુરુ ઔર બુધ મેં સે કિસી ઇક કે સાથ ચન્દ્રમાકા સપ્તમ હો તો શુભ હૈ ।

(૧૦) તુરન્ત દીક્ષા દેનેકા સમય—

(ક) સિદ્ધચ્છાયા-લગ્ન—

ત્રીબા, છઠા, નવમા અને અગિઆરમા સ્થાનેમા સ્થિત શુક્ર નિર્બલ હોય છે, તેથી ઠરી શુક્ર અસ્ત હોય તો પણ દીક્ષા અલ્પ કરવી તે ઉત્તમ માનવામા આવ્યું છે એવો કોઈ આચાર્યનો મત છે

ચ દ્રમાથી તેમા લબ્ધી સાતમા સ્થાનેમા સૂર્ય, મંગલ શુક્ર હોય તો ત્યાંન્ય છે અથવા એ ત્રણેયનો સગમ હોય તો દીક્ષા લેનાર પ્રતિપાતી ( પડિવાઈ ) થઈ જાય છે, અથવા એ ત્રણમાથી જો અથવા કોઈ પણ એક ત્યાં હોય તો દીક્ષા લેવાવાળો કુશીલ અને ક્રોધ આદિ દુર્ગુણોના ધારણ કરનાર બને છે, અથવા ચન્દ્ર તથા લબ્ધી સાતમુ સ્થાને ખાલી હોય અથવા ચ દ્રમા બીજા અહોથી વર્જિત હોય તો દીક્ષા શુભ સમજવી જોઈએ, અથવા ગુરુ અને બુધમાથી કોઈ પણ એકની સાથે ચ દ્રનો સગમ હોય તો શુભ છે

(૧૦) તુરન્ત દીક્ષા આપવાનો સંમય—

(ક) સિદ્ધચ્છાયાલગ્ન—

अथ लग्नविचारः—

निष्क्रमणे मिथुन-सिंह-कन्या-शुक्र-धनु-मकर-कुम्भ-मीनानि स्वानि शुभानि । अन्यानि वस्तुविरि वर्जनीयानि ।

(९) ग्रहविचार—

दीक्षालम्बने शनैश्चर मध्यमबल, गुरु बलीयांस, शुक्र बलहीन विधाय दीक्षा देया । द्वितीये, पञ्चमे, षष्ठे, सप्तमे, एकादशे स्थाने शनिर्मध्यमबली भवति । त्रिकोणे केन्द्रे एकादशे च स्थानेष्वस्थितो गुरुर्बलीयान् भवति । तृतीय, षष्ठे, नवमे, द्वादशे च स्थाने स्थितः शुक्रो बलहीनो भवति, अत एव शुक्रास्तेऽपि दीक्षा ग्राह्येति संप्रदायविदः ।

(८) लग्न-विचार—

दीक्षा अङ्गीकार करने में—मिथुन, सिंह, कन्या, शुक्र, धनु, मकर, कुम्भ और मीन, लग्न शुभ हैं । शेष चार वर्जनीय हैं ।

(९) ग्रह-विचार—

दीक्षालम्बन में शनैश्चर मध्यम बल वाला, गुरु बलशाली और शुक्र बलहीन हो तो दीक्षा देनी चाहिए । दूसरे पाँचवें, छठे, सातवें और ग्यारहवें स्थान में शनि मध्यम बल वाला होता है । त्रिकोण में केन्द्र में और ग्यारहवें स्थान में रहा हुआ गुरु (बृहस्पति) बलशाली समझा जाता है । तीसरे, छठे, नौवें और ग्यारहवें स्थान में स्थित शुक्र निर्बल होता है । अत एव शुक्र का अस्त होने पर भी दीक्षा ग्रहण करना प्रशस्त माना गया है, ऐसा कई आचार्यों का कथन है ।

(८) लग्न-विचार—

दीक्षा अङ्गीकार करने में मिथुन, सिंह, कन्या, शुक्र, धनु, मकर, कुम्भ और मीन—लग्न शुभ हैं बाकीना चार त्याग्य हैं

(९) ग्रह-विचार—

दीक्षालम्बन में शनैश्चर मध्यम बलवाली शनि, बलशाली गुरु और बलहीन शुक्र हो तो दीक्षा आपसी मोहने, पीना, पापना, छद्म, सातमा आने, अनिष्कारमा स्थानमा शनि मध्यम बलवाली होय छे, त्रिकोणमा केन्द्रमा आने अनिष्कारमा स्थानमा रहेतो गुरु (बृहस्पति) बलशाली समझना आवे छे

નક્ષત્રાણિ તિથિર્વારા-સ્તારાચ્ચન્દ્રવલ્લ ગ્રહા ।

દુષ્ટાન્યપિ શુભ માવ, મજન્તે સિદ્ધિહાયયા ॥ ૧ ॥

ન તિથિર્ન ચ નક્ષત્ર, ન વારા ન ચ ચન્દ્રમા ।

ગ્રહા નોપગ્રહાયૈષ, છાયાલ્ગ્ન પ્રશસ્યતે ॥ ૨ ॥

ન યોગિની ન વિષ્ટિશ્ચ, ન શલ ન ચ ચન્દ્રમા ।

એવા વજ્રમયી સિદ્ધિ,-રમેઘા મ્રિદશૈરપિ ॥ ૩ ॥

“સિદ્ધિહાયયા હમ્મ હો તો દૂષિત તિથિ નક્ષત્ર, વાર, તારા, ચન્દ્ર તથા દૂષિત ગ્રહ મી શુભફલદાયક હો જાતે હૈં, અર્થાત્ સિદ્ધિહાયાલ્ગ્ન કી વિચમાનતા મેં નક્ષત્ર આદિ કા દોશ નહીં ગના જાતા હૈં ॥ ૧ ॥

એક માત્ર છાયા હમ્મ હી ઉત્તમ હૈ, ઉસકી સમાનતા ન તિથિ કર સકતી હૈ, ન નક્ષત્ર કર સકતા હૈ ન વાર કર સકતા હૈ, ન ચન્દ્રમા, ન ગ્રહ કર સકને હૈં ઓર ન ઉપગ્રહ હી કર સકતે હૈં ॥ ૨ ॥

યોગિની ઉસકે સામન કુઠ નહીં હૈ, વિષ્ટિ ( મદ્રા ) કોઈં चीज નહીં હૈ, શલ ઓર ચન્દ્રમા મી ઉસ કી વિચમાનતા મેં કુઠ મી નહીં વિગાઢ સકતા । સિદ્ધિહાયા હમ્મ એક પેસી વજ્રમયી સિદ્ધિ હૈ, કિસે દેવતા મી નહીં મેદ સકતે ॥ ૩ ॥

“સિદ્ધિહાયાલ્ગ્ન હોય તો દૂષિત નક્ષત્ર, તિથિ, વાર, તારા, ચન્દ્ર તથા દૂષિત ગ્રહ પશુ શુભ થઈં બીય છે, અર્થાત્ સિદ્ધિહાયાલ્ગ્નની હાજરીમા નક્ષત્ર આદિનો દોષ માનવામા આવતો નથી. ॥ ૧ ॥”

એક માત્ર છાયાલ્ગ્ન જ ઉત્તમ છે તેનો મુકાબલો તિથિ, નક્ષત્ર, વાર, ચન્દ્રમા ગ્રહ અને ઉપગ્રહ કાંઈં પશુ કરી શકતા નથી. ॥ ૨ ॥

યોગિનીનું તેના સામે બળ નથી વિષ્ટિનું પશુ બળ નથી, શૂળ અને ચન્દ્ર પશુ છાયાલ્ગ્નની હાજરીમા કોઈં પ્રકારે કાંઈં પશુ બગાડી શકતા નથી સિદ્ધિ હાયાલ્ગ્ન એક એવી વજ્રમયી સિદ્ધિ છે જેને દેવતા પશુ લોઢી શકતા નથી ॥૩॥”



શુભતિથિવારનક્ષત્રલગ્નાદીનામમાથે ત્વરિતકર્ત્તવ્યેષુ કાર્યેષુ સિદ્ધચ્છાયાલગ્ન  
 છુપાદેયમ્ । યદિ સમતલભૂમૌ સ્વશરીરચ્છાયા ચન્દ્ર-શુક-શનિ-વાસરેષુ માર્દાઽષ્ટપદ-  
 પ્રમાણા, મૌમે નવપદપ્રમાણા, બુધેઽષ્ટપદપ્રમાણા, રવાયેકાદસપદપ્રમાણા, ગુરૌ સપ્ત-  
 પદપ્રમાણા મવેત્તદા સા સિદ્ધચ્છાયાગ્ન્ય લગ્નં પ્રોચ્યતે । તત્ર દીક્ષાદિશુભકાર્ય  
 વિધેયમ્ । અસ્મિન્ સિદ્ધચ્છાયાલગ્ને સપાપ્તે તિથિવારનક્ષત્રમત્રાલગ્નાદિચિન્તનમનાથ  
 શ્યક્તમ્ । ઉક્તશ્ચ—

શુભ તિથિ, વાર, નક્ષત્ર ઓર લગ્ન આદિ કે અમાથ મેં તુરન્ત કરને યોગ્ય કાર્યો મેં  
 સિદ્ધચ્છાયાલગ્ન હી ઉપાદેય હૈ ।

સમતલ ભૂમિ પર અપને શરીર કી છાયા સોમવાર, શુક્રવાર, ઓર શનિવાર, કે દિન  
 સાઢે આઠ પૈર બરાબર હો, મંગલવાર કો નૌ પૈર બરાબર હો, બુધવાર કો આઠ પદ પ્રમાણ હો,  
 રવિવાર કો ગ્યારહ પદ પ્રમાણ હો, ઓર ગુરુવાર કો સાત પૈર છાયા હો તો ઉપે સિદ્ધચ્છાયા  
 લગ્ન કહ્તે હૈં, ડસ મેં ઘીક્ષા આદિ શુભ કાર્ય કિયે જા સકતે હૈં । યહ સિદ્ધચ્છાયાલગ્ન પ્રાપ્ત  
 હો તો તિથિ, વાર, નક્ષત્ર, મત્રા ઓર લગ્ન આદિ કા વિચાર કરને કી આવશ્યકતા નહીં હૈ ।  
 કહા મી હૈ —

શુભ તિથિ, વાર, નક્ષત્ર અને લગ્ન આદિના અભાવમા તુરન્ત કરવા યોગ્ય  
 કાર્યોમા સિદ્ધચ્છાયાલગ્ન જ અરુણ કરવા યોગ્ય છે

સમતલ ભૂમિ ઉપર પોતાના શરીરની છાયા, સોમવાર શુક્રવાર અને શનિવારના  
 દિવસે સાઝ આઠ પગ પ્રમાણુ હોય, મંગલવારના દિવસે નવ પગ પ્રમાણુ હોય,  
 બુધવારે આઠ પગ પ્રમાણુ, રવિવારે અગિઆર પગ, ગુરુવારે સાત પગલા છાયા  
 હોય તો તેને સિદ્ધ છાયાલગ્ન કહે છે આ લગ્નમા દીક્ષા આદિ શુભ કાર્ય  
 કરી શકાય છે આ સિદ્ધચ્છાયાલગ્ન પ્રાપ્ત હોય તો તિથિ, વાર, નક્ષત્ર, મત્રા અને  
 લગ્ન આદિનો વિચાર કરવાની આવશ્યકતા નથી. કહ્યુ પશુ છે—

નલવન્નિતાન્તમાતુર' સન્ નિસ્તરદ્વમહોદધિકલ્પં શાન્તરસાર્ણવ દ્રવ્યક્ષેત્રકાલમાવર્તિદં  
નિર્ગ્રન્થપ્રવચનમર્મજ્ઞ ગુરુ દીક્ષાદાનાર્થ પ્રાર્થયતે તદા સસ્મૈ તદાનીમેવ પ્રવ્રજ્યાપ્રદાન  
શુભમ્, નહિ તત્ર તિથિવારનક્ષત્રાદીનાં વિચારાપેક્ષા ।

### (૧૧) અથ કેશલુચ્ચનમ્—

દીક્ષાગ્રહણાનન્તર યદા કદાપિ કેશલુચ્ચનં કર્તુમિચ્છેત્તદા શનિમંદ્રલ દિવસૌ  
ત્યાજ્યૌ, કૃત્તિકા, વિશાખા, મઘા, મરળી, एतानि चत्वारि नक्षत्राणि च वर्जनीयानि ।

આત્મરક્ષા કા અય ઉપાય ન દેસકર એકમાત્ર દીક્ષા કો હી શરણ સમક્ષને ઘાલ્ય તીવ્ર  
વૈરાગ્ય કી પ્રમા સે ચમકતા હુઆ મોક્ષાભિલાષી શિષ્ય, રોમ-રોમ મેં જિસ કે આગ લગી હો  
એસે પુરુષ કો મૌતિ અત્યન્ત આતુર હોકર તરજ્જરહિત સમુદ્ર કે સમાન, શાન્ત રસ કે સાગર  
દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાલ-માવ કે જ્ઞાતા ઔર નિર્ગ્રન્થ પ્રવચન ક મર્મજ્ઞ ગુરુસે દીક્ષા દેને કે લિયે  
પ્રાર્થના કરે તો ઓસકો ઓસી સમય દીક્ષા દે દેના શુભ હૈ, એસે પ્રસંગ પર તિથિ, વાર, નક્ષત્ર  
આદિ કે વિચાર કી આવશ્યકતા નહી હૈ ।

### (૧૧) કેશલોચ—

દીક્ષા ધારણ કરને કે પદ્ધત્ કેશલોચ કરને મેં શનિવાર ઔર મંગલ વાર ત્યજ્ય હૈ,  
સપ્તા કૃત્તિકા, વિશાખા મઘા, ઔર મરળી, એ ચાર નક્ષત્ર વર્જનીય હૈ ।

થઈ ગયુ છે એવા પુરૂષની જેમ, આત્મરક્ષાનો અન્ય કોઈ ઉપાય નહિ હોયવાથી  
એક માત્ર દીક્ષાને જ શરણ-આશ્રય સમજવાવાળા, તીવ્ર વૈરાગ્યની પ્રભા-તેજથી  
ચમકતો મોક્ષાભિલાષી શિષ્ય રોમ-રોમમાં જેને અગ્નિ લાગી છે, એવા પુરૂષની  
જેમ અત્યન્ત આતુર બનીને તરજરહિત સમુદ્ર પ્રમાણે શાન્ત રસના સાગર,  
દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ અને ભાવના બાબુનાર અને નિર્ગ્રન્થ પ્રવચનના મર્મજ્ઞ ગુરૂથી  
દીક્ષા હોવા માટે પ્રાર્થના કરે, તો તેને તેજ વખતે દીક્ષા આપવી શુભ છે એવા  
પ્રસંગે તિથિ, વાર, નક્ષત્ર આદિનો વિચાર કરવાની જરૂર નથી

### (૧૧) કેશલોચ

દીક્ષા ધારણ કર્યા પછી કેશલોચ કરવામાં શનિવાર અને મંગળવાર ત્યાજ્ય છે  
તથા કૃત્તિકા, વિશાખા, મઘા, અને મરળી, આ ચાર નક્ષત્ર ત્યજવા યોગ્ય છે.

(સ્વ) શકુચ્છાયાલગ્ન—

દ્વાદશાક્ષુલપરિમિતશકુચ્છાયા રવિ-સોમ-મૌમ-બુધ-ગુરુ-શુક્ર-શનિ-વાસરેષુ  
ક્રમેણ વિશતિ-પોદશ-પચ્ચદશ-ચતુર્દશ-ત્રયોદશ-દ્વાદશ-દ્વાદશાક્ષુલપરિમિતા, તથા  
શનિવાસરે દ્વાદશાક્ષુલપ્રમાણા વેર્ષર્હિ સા શકુચ્છાયાત્મ્યં લગ્ન પ્રોચ્યતે । તપ્ર દીક્ષાદિ  
કાર્યં શુભમ્ ।

(ગ) અત્યુત્કષ્ઠિતયોગ્યશિષ્યાર્થ દીક્ષાસમય—

વિપયાટવીદાવદહનજ્વાલામાલાકલિતસ્થાન્તોઽનન્તજન્મજરામરણાદિભયોદ્ધિન્નિ  
સમન્તતઃ પ્રજ્વલિતે સપ્તનિ મુખ્યમિવાદીપ્તપ્રદીપ્તસંસારાન્તઃ સરન્તમાત્મન રક્ષિતુમ્પાયા  
ન્તરમનવલોક્ય પ્રવ્રજ્યામાપ્રશરણદર્શી તીવ્રવૈરાગ્યપ્રમામાસમાન પ્રતિરોમોજ્જ્વલિતા-

(સ્વ) શકુચ્છાયાલગ્ન—

બારહ અક્ષરુ લગ્ની કીલી કી પરછાઈ અગર રવિવાર કો બીસ અંગુલ, સોમવાર કો  
સોલ્હ અંગુલ, મંગલવાર કો પન્નહ અંગુલ, બુધવાર કો ચૌદહ અંગુલ, ગુરુવાર કો તેરહ  
અંગુલ, શુક્રવાર કો બારહ અંગુલ, તથા શનિવાર કો મી બારહ અંગુલ હો ઉસે શકુચ્છમા લગ્ન  
કહતે હૈ । હસ લગ્ન મેં દીક્ષા આદિ કાર્યં શુભ હૈ ।

(ગ) તીવ્ર ઉત્ક્રાંષ્ટા વાછે દીક્ષાર્થી કા દીક્ષાસમય—

વિષમવાસના કી વિષય અટવી મેં વ્યાપ્ત દાવાનલ કી વિકટ આલ્પઓસે જિસકા અન્ત  
કરણ છુલ્લસ ગયા હૈ, ઔર જો અનન્ત જન્મ ધરા મરણ આદિ કે ભય સે તદ્વિગ્ન હૈ, પારો  
ઓર સે મકાન મેં આગ લગ જાને પર જિસ કા સર્વસ્વ મરત્ત હો ગયા હૈ તેસે પુરુષ કી માંતિ

(સ્વ) શકુચ્છાયાલગ્ન—

આર આંગળ લાંબી ખીલીના પડછાચો રવિવારે વીશ આંગળ, સોમવારે સોળ  
આંગળ, મંગળવારે પદર આંગળ, બુધવારે ચૌદ આંગળ, ગુરુવારે તેર આંગળ,  
શુક્રવારે બાર આંગળ, તથા શનિવારે પચ્ચ બાર આંગળ હોય તો તેને શકુચ્છાયા  
લગ્ન કહે છે તે લગ્નમાં દીક્ષા આદિ કાર્યં શુભ છે

(ગ) તીવ્ર ઉત્ક્રાંષ્ટા વાછે દીક્ષાર્થીના સમય—

વિષમવાસનાની વિષય અટવી (વન)મા વ્યાપ્ત દાવાનલની વિકટ આલ્પઓથી  
જેનું અત્યઠરણ બળી જાય છે, અને જે અનન્ત જન્મ, જરા, મરણ વગેરેના  
ભયથી ચિંતાતુર છે, ત્યારે બાબુથી મહાનમાં આગ લાગવાથી જેનું સર્વસ્વ અશ્વ

(૧૩) અથ નૂતનપાત્રવ્યાપૃતિ —

ગોચર્યાદિનિમિત્ત નૂતનપાત્રવ્યાપૃતિથ્થ, મૃગશિર પુષ્યાશ્વિનીરસ્વાનુરાધા-  
ચિત્રારેવતીપુ, સોમગુરુવામરયોથ શુભમ્ ।

(૧૪) આચાર્યાદિપદપ્રદાનસમય —

આચાર્યાદિપદપ્રદાને—શ્રવણ, જ્યેષ્ઠા, પુષ્ય, અમિજિત્, હસ્ત, અશ્વિની,  
રોહિણી, ઉત્તરાત્રય, મૃગશિર, અનુરાધા, રેવતી, એતાનિ નક્ષત્રાણિ શુભાનિ  
શોભનતિથિવાસદયોઽપિ દ્રવ્ય્યા ।

અથ (૪) દ્રવ્યાનુયોગ —

દ્રવતિ=ગન્ધતિ મામોતિ મુઞ્જતિ યા તાસ્તાન્ પયાયાનિતિ દ્રવ્યમ્ । અથવા—

(૧૩) નૂતન પાત્ર કા પ્રયોગ

ગોચરી આદિ કે ણિ નવીન પાત્ર કા ઉપયોગ મૃગશિર, પુષ્ય, અશ્વિની, હસ્ત,  
અનુરાધા, ચિત્રા ઓર રેવતી નક્ષત્રા મ, તથા સોમવાર ઓર ગુરુવાર ક દિન કરના શુભ હૈ ।

(૧૪) આચાર્ય આદિ પદવીદાન કા સમય

આચાર્ય આદિ પદવી દેન મેં શ્રવણ, જ્યેષ્ઠા, પુષ્ય, અમિજિત્, અશ્વિની, રોહિણી,  
ઉત્તરાત્રય, ( ઉત્તરાષાઢા ઉત્તરામાદ્રપદ ઉત્તરાફાલ્ગુની ) મૃગશિર, અનુરાધા ઓર રેવતી, એ  
નક્ષત્ર શુભ હૈ । ઇસ પ્રસંગ પર શુભ તિથિ ઓર શુભ વાર આદિ મી દેખના ચાહિય ।

(૪) દ્રવ્યાનુયોગ—

આગે કો પયાય પ્રાપ્ત કરન વાલા ઓર પૂર્વ પર્યાયો કા ત્યાગ કરન વાલા દ્રવ્ય

(૧૩) નવા પાત્રનો ઉપયોગ

ગોચરી આદિ આદે નવા પાત્રનો ઉપયોગ મૃગશીર્ષ, પુષ્ય, અશ્વિની, હસ્ત,  
અનુરાધા, ચિત્રા, અને રેવતી નક્ષત્રોના, તથા સોમવાર અને ગુરુવારના દિવસે કરવો  
તે શુભ છે

(૧૪) આચાર્ય આદિ પદવીદાનનો સમય—

આચાર્ય આદિ પદવી આપવામા શ્રવણ, જ્યેષ્ઠા, પુષ્ય, અમિજિત્, હસ્ત,  
અશ્વિની રોહિણી, ઉત્તરાત્રય ( ઉત્તરા-ષાઢા, ઉત્તરા-માદ્રપદ ઉત્તરા-ફાલ્ગુની )  
મૃગશિર, અનુરાધા અને રેવતી, આ નક્ષત્રો શુભ છે આ પ્રસંગ ઉપર શુભ તિથિ  
અને શુભ વાર વગેરે પણ જોવું જોઈએ

(૪) દ્રવ્યાનુયોગ—

આગળની પર્યાય પ્રાપ્ત કરનારા અને પ્રથમની પર્યાયનો ત્યાગ કરવાવાળાને

(૧૨) અથ નવદીક્ષિતસ્ય પ્રથમગોચરીવિચાર'—

પ્રથમગોચરીવિષયે તીક્ષ્ણોગ્રમિથ્રનક્ષત્રાણિ શનિમંદુલદિવસો ચ વર્જયેત્ ।

આદ્રા, અશ્લેષા, જ્યેષ્ઠા, મૂલમ્, એતાનિ ચત્વારિ તીક્ષ્ણનક્ષત્રાણિ । મરગી, પૂર્વાષ્ટમ, મઘા, એતાનિ પશ્ચોગ્રનક્ષાણિ । કૃત્તિકા, વિશાખા, ર્મમે દ્વે મિથ્રનક્ષત્રે ।

રિક્તાઝમાવાસ્યાસપતિથયસ્ત્યાજ્યાઃ । શનિમંદુલવારયોગે રિક્તાઽપિ પ્રશસ્તા વિજ્ઞેયા ।

(૧૨) નવ દીક્ષિત કી પ્રથમ ગોચરી—

પહેલી વાર ગોચરી કે વિષય મેં તીક્ષ્ણ ઉગ્ર ઓર મિથ્ર નક્ષત્ર એવ શનિ તથા મંદુલ વાર ત્યાગ્ય હૈ ।

આદ્રા, અશ્લેષા, જ્યેષ્ઠા ઓર મૂલ, એ ચાર નક્ષત્ર તીક્ષ્ણ હૈ । મરગી, પૂર્વાષ્ટમ— (પૂર્વાષાઢા પૂર્વમાદપદા ઓર પૂર્વાફાલ્ગુની) ઓર મઘા, એ પાંચ ઉગ્ર નક્ષત્ર હૈ । કૃત્તિકા ઓર વિશાખા, એ દો નક્ષત્ર મિથ્ર કહેછાતે હૈ ।

રિક્તા તિથિ, અમાવાસ્યા ઓર ક્ષય તિથિ ત્યાગ્ય હૈ, હૈં યદિ શનિ ઓર મગલ વાર કા યોગ હો તો રિક્તા તિથિ મી પ્રશસ્ત હૈ ।

(૧૨) નવદીક્ષિતની પ્રથમ ગોચરી—

પહેલીવાર ગોચરીના વિષયમાં તીક્ષ્ણ, ઉગ્ર અને મિથ્ર નક્ષત્ર તથા શનિ અને મંદુલવાર ત્યાગ્ય છે

આદ્રા, અશ્લેષા, જ્યેષ્ઠા, અને મૂલ, આ ચાર નક્ષત્ર તીક્ષ્ણ છે, મરગી, ત્રણ પૂર્વા (પૂર્વાષાઢા, પૂર્વાબદ્રાપદા, અને પૂર્વાફાલ્ગુની) અને મઘા એ પાંચ નક્ષત્ર ઉગ્ર નક્ષત્ર છે કૃત્તિકા અને વિશાખા, આ બે નક્ષત્ર મિથ્ર કહેવાય છે

રિક્તા તિથિ, અમાવાસ્યા અને ક્ષય તિથિ ત્યાગ્ય છે, પરંતુ જો શનિ અને મંદુલવારનો યોગ હોય તો રિક્તા તિથિ પણ ઉત્તમ છે

દય' સામાન્યગુણા' સન્તિ । एष गतिहेतुत्व धर्मे, स्थितिहेतुत्वमधर्मे, अवकाश दानहेतुत्वमाकाशे, वर्तनहेतुत्वं काले, रूपादिमत्त्व पुद्गले विशेषगुणा' सन्तीति द्रव्यलक्षणसमन्वयः ।

કથિતુ 'સદ્ દ્રવ્યલક્ષણમ્' इति सूत्रयित्वा 'उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्' इति सूत्रेण सञ्छब्दविवरणं कुर्वन् द्रव्यसामान्यलक्षणमुक्त्वा विशेष-विज्ञानजननाय विशेषलक्षणमवोचत्-'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' इति । तदपि प्रकृत-

અસ્તિ વ ( જિસ શક્તિ કે નિમિત્ત સે દ્રવ્ય કા કમી વિનાશ ન હો ) વસ્તુત્વ-દ્રવ્યત્વ (જિસ શક્તિ કે નિમિત્ત સે પર્યાય સર્વેવ બદલતી રહે) ઔર પ્રમેયત્વ-જ્ઞેયત્વ (જિસ શક્તિ કે નિમિત્ત સે દ્રવ્ય કિસી ન કિસી કે જ્ઞાન કા વિષય હો) આદિ સામાન્ય ગુણ હૈં । इसीप्रकार धर्मास्तिकाय में गतिहेतुत्व (गतिकारणता) अधर्मास्तिकाय में स्थितिहेतुत्व (स्थितिकारणता) आकाश में अवकाशदानहेतुत्व (अवकाशदायिता) काल में वर्तनाहेतुत्व, ( नवपुराण-कारणता) आदि, और पुद्गल में रूपादिमत्त्व विशेष गुण हँ । अत इन् सब में द्रव्य के लक्षण की सगति होजाती है ।

કિસી આચાર્યને 'સદ્ દ્રવ્યલક્ષણમ્' ऐसा सूत्र रचकर 'उत्पाद-व्यय-धौव्य-युक्तं सत्' अर्थात् जिस में उत्पाद विनाश और धौव्य युगपत् पाये जायें, वह सत् है, इस सूत्र के द्वारा सत् की व्याख्या करते हुए सामान्य द्रव्य का स्वरूप बतला कर विशेष बोध

અસ્તિત્વ ( જે શક્તિના નિમિત્તથી દ્રવ્યને કયાયેય પણ નાશ ન હોય ) વસ્તુત્વ દ્રવ્યત્વ ( જે શક્તિના નિમિત્તથી પર્યાય હોય તેમાં બદલતી રહે ) અને પ્રમેયત્વ-જ્ઞેયત્વ ( જે શક્તિના નિમિત્તથી દ્રવ્ય કોઈ ન કોઈ જ્ઞાનને વિષય હોય ) આદિ સામાન્ય ગુણ છે એ પ્રમાણે ધર્માસ્તિકાયમાં ગતિહેતુત્વ ( ગતિકારણતા ) અધર્માસ્તિકાયમાં સ્થિતિહેતુત્વ ( સ્થિતિકારણતા ) આકાશમાં અવકાશદાનહેતુત્વ ( અવકાશદાયિત્વ ) કાલમાં વર્તનાહેતુત્વ ( નવપુરાણકારણતા ) આદિ, અને પુદ્ગલમાં રૂપાદિમત્ત્વ વિશેષ ગુણ છે તેથી એ સર્વમાં દ્રવ્યના લક્ષણની સગતિ થઇ જાય છે

કોઈ આચાર્યે " સદ્ દ્રવ્યલક્ષણમ્ " એવું સૂત્ર રચીને ' ઉત્પાદ વ્યય ધૌવ્યયુક્તં સત્ ' અર્થાત્ જેમાં ઉત્પાદ, વિનાશ અને ધૌવ્ય એક કાળે એવામાં આવે તે " સત્ " છે એ સૂત્ર દ્વારા સત્ની વ્યાખ્યા કરતાં યકા સામાન્ય દ્રવ્યનું સ્વરૂપ બતાવીને

દ્રૂયતે = પાપ્યતે મુચ્યતે યા તૈસ્તૈઃ પર્યાયૈરિતિ દ્રવ્યમ્ । દ્રવ્યસ્ય - અનુયોગ દ્રવ્યાનુયોગઃ ।

દ્રવ્યાનુયોગો हि द्रव्याणां यथावस्थितस्वरूपावबोधने समीचीनयुक्तिं प्रदर्शयति । तथा दर्शनस्य नैर्मल्यम् । ततश्च सम्यक् चारित्रि सपद्यते । तथा चायमपि चरणकरणानुयोगं पोषयतीति बोध्यम् ।

### દ્રવ્યલક્ષણમ્—

અથ કિં તાવદ્ દ્રવ્યમ્ ? ઉચ્યતે- “ગુણાધયો દ્રવ્યમ્” । યથા જીવે જ્ઞાનદર્શનચારિત્રમુલ્લોપયોગાદયો વિશેષગુણા, અસ્તિત્વ-દ્રવ્યત્વ-જ્ઞેયતા કહ્લાતા છે । અથવા જો પર્યાયો કે દ્વારા પ્રાપ્ત હો, અથવા પર્યાયો સે મુક્ત હો તેને દ્રવ્ય કહ્તે હૈં । પેસે દ્રવ્ય કે અનુયોગ કો દ્રવ્યાનુયોગ કહ્તે હૈં ।

દ્રવ્યાનુયોગ દ્રવ્યોં કા અર્થ ત્વરૂપ સમજાને કે સ્થિત સમીચીન માર્ગ પ્રદર્શિત કરતા છે । તે સે સમ્યગ્દર્શન નિર્મલ હોતા છે, ઓર સમ્યગ્દર્શન કી નિર્મલતા સે સમ્યક્ ચારિત્ર કી પ્રાપ્તિ હોતી છે । ઇસ પ્રકાર અહ અનુયોગ મી ચરણકરણાનુયોગ કા પોષક છે ।

### દ્રવ્ય કા લક્ષણ—

દ્રવ્ય કિસે કહ્તે હૈં ? ઇસ પ્રશ્ન કા ઉત્તર ઇસ પ્રકાર છે—જો ગુણોં કા આધાર હો વહ દ્રવ્ય છે, જેસે જીવન મેં જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર, મુલ્લોપ ઓર ઉપયોગ આદિ વિશેષ ગુણ હૈં ।

દ્રવ્ય કહે છે, અથવા જે પર્યાયો દ્વારા પ્રાપ્ત હોય અથવા પર્યાયોથી મુક્ત હોય તેને દ્રવ્ય કહે છે એવા દ્રવ્યના અનુયોગને દ્રવ્યાનુયોગ કહે છે

દ્રવ્યાનુયોગ દ્રવ્યોના અર્થ સ્વરૂપને સમજાવવા માટે જરૂર આવે માત્ર પ્રદર્શિત કરે છે, તેથી સમ્યગ્દર્શન નિર્મલ થાય છે, અને સમ્યગ્દર્શનની નિર્મલતાથી સમ્યક્ ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થાય છે એ પ્રમાણે આ અનુયોગ પણ ચરણ કરણાનુયોગને પોષક છે

### દ્રવ્યનું લક્ષણ—

દ્રવ્ય કોને કહે છે ? એ પ્રશ્નનો ઉત્તર આ પ્રમાણે છે—જો ગુણોના આધાર હોય તે દ્રવ્ય છે, જે પ્રમાણે જીવમાં જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર મુખ્ય અને ઉપયોગ આદિ વિશેષ ગુણ છે

સુત્રવીર્યાદય., પુદ્ગલસ્ય વર્ણગન્ધરસસ્પર્શદિયો ગુણા' । 'માત્ર' -શબ્દોપાદન  
પર્યાયેઽતિપ્રસન્નચારણાય ।

દ્રવ્યસ્વરૂપવિચારેણ 'ગુણસમુદાયો દ્રવ્ય' -મિતિ પ્રતીયતે, યથા  
મૂલસ્કન્ધશાસ્ત્રામશાસ્ત્રાદીનાં સમુદાયો વૃક્ષ', તથૈવાસ્તિત્વ-પરિણામિત્વ-  
વસ્તુત્વ - જ્ઞેયત્વ - પ્રમેયત્વ - પ્રદેશવત્ત્વાદિસામાન્યગુણાનાં ચેતનત્વ-ગતિહેતુત્વ-  
સ્થિતિહેતુત્વા - અવકાશદાનહેતુત્વ - વર્ણનાહેતુત્વ - વર્ણ - ગન્ધ - રસ - સ્પર્શ-

લક્ષણ હૈ, જૈસે-જીવ કે ગુણ-જ્ઞાન, વર્ણન, સુખ ઓર વીર્ય આદિ હૈ, તથા પુદ્ગલ કે ગુણ  
વર્ણ, ગન્ધ, રસ ઓર સ્પર્શ આદિ હૈ । ઉપર જો 'માત્ર' (સિર્ફ) શબ્દ કા પ્રયોગ કિમા ગયા  
હૈ, વહ પ્રયાંય મૈં અતિપ્રસન્ન નિવારણ કરતે કે લિપ હૈ । અર્થાત્ ગુણ કેવલ દ્રવ્ય મૈં હોતે હૈ,  
પર્યાય મૈં નહૈં હોતે ।

દ્રવ્ય કે સ્વરૂપ પર વિચાર કરને સે પ્રતીતિ હોતા હૈ કિ ગુણોકા સમુદાય હી દ્રવ્ય હૈ ।  
જૈસે મૂલ, સ્કન્ધ, શાસ્ત્રા ઓર પ્રશાસ્ત્રા આદિ કા સમૂહ હો વૃક્ષ હૈ, ડસી પ્રકાર અસ્તિત્વ,  
પરિણામિત્વ, વસ્તુત્વ, જ્ઞેયત્વ, પ્રમેયત્વ, પ્રદેશવત્ત્વ આદિ સામાન્ય ગુણો કા, તથા ચેતના,  
ગતિહેતુત્વ, સ્થિતિહેતુત્વ, અવકાશદાનહેતુત્વ, વર્ણનાહેતુત્વ, વર્ણ-રસ-ગન્ધ-સ્પર્શવત્ત્વ આદિ  
વિશેષ ગુણો કા સમૂહ હી દ્રવ્ય હૈ । યહૈં યદ્દ સ્મરણ રસના પાહિય કિ-વિમિત્ત દ્રવ્યો કે

સહેવુ તે શુષ્કુ લક્ષણ છે જેવી રીતે જીવના શુષ્ક-જ્ઞાન, વર્ણન, સુખ અને વીર્ય  
આદિ છે તથા પુદ્ગલના શુષ્ક-વર્ણ, ગન્ધ, રસ અને સ્પર્શ આદિ છે ઉપર જે  
'માત્ર' શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે તે પર્યાયમા અતિપ્રસન્ન નિવારણ કરવા માટે છે,  
અર્થાત્ શુષ્ક કેવલ દ્રવ્યમાં હોય છે, પર્યાયમા હોય નહિ

દ્રવ્યના સ્વરૂપ પર વિચાર કરવાથી જણાય છે કે શુષ્કોનો સમુદાય જ દ્રવ્ય  
છે જે રીતે-મૂલ, સ્કન્ધ, શાસ્ત્રા અને પ્રશાસ્ત્રા આદિનો સમૂહ તે વૃક્ષ છે જો  
પ્રમાણે અસ્તિત્વ, પરિણામિત્વ વસ્તુત્વ, જ્ઞેયત્વ, પ્રમેયત્વ, પ્રદેશવત્ત્વ આદિ સામાન્ય  
શુષ્કોનો, તથા ચેતના ગતિહેતુત્વ, સ્થિતિહેતુત્વ, અવકાશદાનહેતુત્વ, વર્ણનાહેતુત્વ,  
વર્ણ, રસ, ગન્ધ, સ્પર્શવત્ત્વ આદિ વિશેષ શુષ્કોનો સમૂહ તે દ્રવ્ય છે આદિ જો પ્રાદ  
પ્ર આ ૮



લક્ષણે સમાધિષ્ટમેવેતિ ગુસ્તરલક્ષણ નાનશ્યકમિતિ દ્યેયમ્ ।

પરમાર્થતસ્તુ પર્યાયા ન ગુણતો મિન્ના કાર્યકારણયોરભેદાત્ । યથા કટકક્ષુન્ધલાદીનિ કનકતો ન મિન્નાનિ, ઘટશરાવાદીનિ મૃદો નાતિરિક્તાનિ, તથા ગુણજન્મનાં પર્યાયાનાં ન ભેદો ગુણેભ્યઃ ઇતિ દ્રવ્યલક્ષણે પર્યાયશ્ચન્દ્રમણેશો નાવશ્યક ઇત્યવસેયમ્ ।

### ગુણલક્ષણમ્—

દ્રવ્યસ્યાઽઽધ્યાયાશ્રયિમાષ્વેન નિત્યસહવર્તિનો ધર્મા ગુણા, તે દ્રવ્યસ્થ શક્તિવિશેષા । દ્રવ્યમાત્રાશ્રિત ગુણસ્ય લક્ષણમ્ । યથા જીવસ્ય જ્ઞાનદર્શન-

કરારને કે લિયે વિશેષ લક્ષણ યહ થતલાયા હૈ—‘ગુણપર્યાયવદ્ દ્રવ્યમ્’ યહ લક્ષણ મી પ્રકૃત લક્ષણ ‘ગુણાશ્રયો દ્રવ્યમ્’ મેં સમાધિષ્ટ હૈ, હસ લિયે ડનકા વડા લક્ષણ કરને કી આવશ્યકતા નહી હૈ ।

વાસ્તવ મેં તો પર્યાય, ગુણ સે મિત્ર નહી હૈ, ક્યોંકિ કાર્ય ઓર કારણ મેં ભેદ નહી હોતા । જૈસે—કટક, ક્ષુન્ધલ આદિ પર્યાય સુવર્ણ સે મિત્ર નહી હૈ, અત્ર ગુણો સે ઉત્પન્ન હોને વાલે ગુણો સે મિત્ર નહી હૈ । યેસી અવસ્થા મેં દ્રવ્ય કે લક્ષણ મેં પર્યાય શબ્દ ઢાલના આવશ્યક નહી હૈ ।

### ગુણ કા લક્ષણ—

દ્રવ્ય ક આશ્રય આશ્રયી રૂપસે અથવા કથશ્રિત્ તાદાત્મ્યરૂપસે નિત્ય સહવર્તી ધર્મ, ‘ગુણ’ કહલાતે હૈ । ‘ગુણ’ દ્રવ્ય કી શક્તિવિશેષ હૈ । સિર્ફ દ્રવ્યાશ્રિત હોના ગુણ કા

વિશેષ બોધ કરાવવા માટે વિશેષ લક્ષણ કો બતાવ્યુ છે કે—“ગુણપર્યાયવદ્ દ્રવ્યમ્” આ લક્ષણ પશુ પ્રકૃત (આલ્) લક્ષણ (ગુણાશ્રયો દ્રવ્યમ્) મા સમાધિષ્ટ છે તેથી વિશેષ લક્ષણ કરવાની આવશ્યકતા નથી

વાસ્તવમા તો પર્યાય, ગુણથી ભિન્ન નથી, કારણ કે કાર્ય અને કારણમા ભેદ નથી, જેવી રીતે ઠંડા અને ઢુઠલ આદિ પર્યાય સુવર્ણથી ભિન્ન નથી ઘટ અને શકેર આદિ પર્યાય મૃત્તિકા—માગીથી ભિન્ન નથી, કારણ કે ગુણોથી ઉત્પન્ન થવા વાળા પર્યાય, ગુણોથી ભિન્ન નથી, કોવી અવસ્થામા દ્રવ્યના લક્ષણમા પર્યાય શબ્દ નાખવો તે જરૂરી નથી

### ગુણના લક્ષણ—

દ્રવ્યના આશ્રય—આશ્રયી—રૂપથી અથવા કથશ્રિત તાદાત્મ્યરૂપથી નિત્ય સહવર્તી ધર્મ ગુણ કહેવાય છે ગુણ કો દ્રવ્યની શક્તિવિશેષ છે માત્ર દ્રવ્યાશ્રિત

ક્રમેણ દ્વાદશાઙ્ગતત્ત્વ વિજ્ઞાય જ્ઞાનધારા પ્રવર્દ્યતિ । તત્ર તસ્ય ચાલસયમિનો જ્ઞાન પ્રતિક્ષણ વિલક્ષણતામાપદ્યમાનમર્ધ્વમર્ધ્વ જાયમાન જ્ઞાન પર્યાયશબ્દવાચ્યતાં મજતિ । એવ દર્શનચારિત્રાદીનામપિ પર્યાયા જ્ઞાતવ્યા । જીવસ્ય માનુષત્વવાલ્યા-દયોઽપિ પર્યાયા । પુદ્ગલસ્ય તુ એકગુણકાલત્વાદયો પર્યાયા જ્ઞેયાઃ । એવ ચ દ્રવ્યગુણાશ્રિતત્ત્વ પર્યાયસ્ય લક્ષણમિતિ નિશ્ચીયસે । તથા ચોક્તમુત્તરાધ્યયને—(અ ૨૮)

પહેલે-પહેલ આવશ્યક માત્ર કા અધ્યયન કરતા હૈ, ફિર સમિતિ ઔર ગુપ્તિ કા જ્ઞાન સમ્પાદન કરતા હૈ । તદનન્તર ક્રમ સે દ્વાદશાઙ્ગ કા તત્ત્વ જ્ઞાન કર જ્ઞાન કી ધારા મૈં વૃદ્ધિ કરતા હૈ, ડસ ચાલ મુનિ કા જ્ઞાન ક્ષણ-ક્ષણ મ વિલક્ષણ હોકર નવીન-નવીન રૂપો મ ઉત્પન્ન હોતા હુઆ 'પર્યાય' શબ્દ દ્વારા કહા જાતા હૈ । હસી પ્રકાર દર્શન ઔર ચારિત્ર આદિ ગુણોં કૈ પર્યાય મી સમજ ઊના ચાહિય । મનુષ્યતા, ચાલકપન આદિ જીવ કૈ પર્યાય હૈ ઔર એક-ગુણ-કાલપન આદિ પુદ્ગલ કૈ, વર્ણ-ગુણ કૈ પર્યાય હૈ । હસ પ્રકાર યહ નિશ્ચિત હોતા હૈ કિ પર્યાય દ્રવ્ય ઔર ગુણ ડોનોં મૈં હી રહતા હૈ । ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર મૈં કહા હૈ—

“ગુણોં કા જો આશ્રય હો ડસે દ્રવ્ય કહતે હૈ, ગુણ એક માત્ર દ્રવ્ય મૈં હી રહતે હૈ । પર્યાયોં કા લક્ષણ ઉમયાશ્રિત હોના હૈ, અર્થાત્ પર્યાય, દ્રવ્ય ઔર ગુણ ડોનોં મૈં હી પાયે જાતે હૈ” ।

કમજોની સેવા કરતા થકા પ્રથમ આવશ્યક માત્રનુ અધ્યયન કરે છે, પછી સમિતિ અને શુષ્પિતનુ જ્ઞાન સંપાદન કરે છે, ત્યાર પછી કમથી દ્વાદશાંગનુ તત્ત્વ બધી જ્ઞાનની ધારામા વૃદ્ધિ કરે છે, તે બાલકનુ જ્ઞાન ક્ષણ-ક્ષણમા વિલક્ષણ-તરેહવાર બની નવીન રૂપેમા ઉત્પન્ન થાય છે તેને 'પર્યાય' શબ્દથી જોળખવામાં આવે છે, જો પ્રમાણે દર્શન અને ચારિત્ર આદિ શુભોના પર્યાય પણ સમજ લેવા બેઠાં. મનુષ્યતા, બાલકપણ આદિ જીવના પર્યાય છે, અને એકગુણકાળપણ આદિ પુદ્ગલના વર્ણશુભોના પર્યાય છે આ પ્રમાણે આ નિશ્ચિત થાય છે કે-પર્યાય, દ્રવ્ય અને શુભ જો બન્નેમા રહે છે ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રમા કહ્યું છે—

“શુભોના જે આશ્રમ હોય, તેને દ્રવ્ય કહે છે, શુભ એક માત્ર દ્રવ્યમા જ રહે છે, અને પર્યાયોનુ લક્ષણ ઉમયાશ્રિત હોય છે, અર્થાત્ પર્યાય, દ્રવ્ય અને શુભ બન્નેમાં જોવામા આવે છે”

વત્તાદિવિશેષગુણાનાં ચ સમુદાયો દ્રવ્યમ્ । एवं 'द्रव्यपर्यायस्वरूपमपी'—त्यनुपદમેव  
वक्ष्यते ।

### પર્યાયલક્ષણમ્—

परियन्ति=उत्पादविनाशौ प्राप्नुवन्ति न सर्वदा तिष्ठन्तीति पर्यायाः । यद्वा-  
परि=सर्वथा अयन्ते=गच्छन्ति द्रव्यगुणौ समाश्रयन्तीति पर्याया ।

द्रव્યસ્યોત્પાદવિનાશશાલિનો ધર્માઃ પર્યાયા । પર્યાયા હિ દ્રવ્ય ગુણ  
વાશિત્ય વર્ધતે । કાલમેદાદેકમેવ જ્ઞાન જીવસ્યાન્યદન્યદ્વપ દધત્ પર્યાયસમ્બ-  
વાચ્યં મવતિ, યથા કશ્ચિદ્દષ્ટવર્ષીયો વિનયી પ્રમાદવિક્રયાવર્જિતો વાલમુનિ-  
શુરચરણસરોજ સેવમાનઃ પૂર્વમાવસ્થકમાત્રમધીસ્ય સમિતિગુપ્તિજ્ઞાનં સપાદયતિ,

વિશેષ ગુણો કા સમૂહ નહીં બન સક્તા હૈ । ऐसे द्रव्य और पर्याय के विषय में भी समझना  
चाहिए, वह अभी आगे बतायेगे ।

### પર્યાય કા લક્ષણ—

જિનકે નિરતર ઉત્પાદ ઔર ન્યય હોતા હૈ, જો સદૈવ સ્થિર નહીં રહતે ંહે પર્યાય  
કહેતે હૈ । અથવા દ્રવ્ય ઔર ગુણ કા આશ્રય હેન વાલ પર્યાય કહલ્લતે હૈ ।

દ્રવ્ય કે ઉત્પાદ ઔર વિનાશ—શીલ ધર્મ પર્યાય કહલાતે હૈ । પર્યાય, દ્રવ્ય મેં મી  
રહેતે હૈ ઔર ગુણ મેં મી રહેતે હૈ । બીજકા એક હી જ્ઞાનગુણ કાલ કે મેદતે મિત્ત-મિત્ત  
રૂપ ધારણ કરતા હુઆ પર્યાય કહલાતા હૈ । જૈસે એક બાઠ વર્ષ કા વિનયી પ્રમાદ ઔર  
વિક્રમા સે દૂર રહેને વાલા વાલ મુનિ અપને ગુરુ કે ચરણ કમલોં કી સેવા કરતા હુઆ

શખલું બેઠબે કે વિભિન્ન દ્રવ્યોના વિશેષ શુદ્ધોનો સમૂહ બની શકતો નથી. એવી  
રીતે દ્રવ્ય અને પર્યાયના વિષયમાં પણ સમજવું બેઠબે. વિશેષ આગળ બતાવીશું

### પર્યાયનું લક્ષણ—

એની અદર હમેશાં ઉત્પાદ અને વ્યય થયા કરે છે અને એ હમેશા—સદાકાળ  
સ્થિર રહેતું નથી તેને પર્યાય કહે છે, અથવા દ્રવ્ય અને શુદ્ધોના આશ્રય હેનાર  
તેને પર્યાય કહેવામાં આવે છે

દ્રવ્યનો ઉત્પાદ અને વિનાશ—શીલ ધર્મ તે પર્યાય કહેવાય છે પર્યાય, દ્રવ્યમાં  
પણ રહે છે અને શુદ્ધમાં પણ રહે છે છતાં એક જ જ્ઞાનશુદ્ધ કાલના એક જ  
ભિન્ન ભિન્ન રૂપ ધારણ કરીને પર્યાય કહેવાય છે એવી રીતે કે એક બાઠ વર્ષના  
વિનયવત, પ્રમાદ અને વિક્રમથી દૂર રહેવાવાળા વાલમુનિ પોતાના શુદ્ધ ચરણ

### દ્રવ્યવિમાગઃ—

દ્રવ્યં પદ્ધવિયમ્—ધર્માધર્માકાશકાલપુદ્ગલજીવભેદાત્ । ઉક્તઞ્ચ શ્રીભગવતીસૂત્રે—

“કહ્યં ણં મંતે ! દન્વા પળ્ણત્તા ?, ગોયમા ! છ દન્વા પળ્ણત્તા, તં જહા-  
ધમ્મત્થિકાપ્પ, અધમ્મત્થિકાપ્પ, આગાસસ્થિકાપ્પ, પુગ્ગલત્થિકાપ્પ, જીવત્થિકાપ્પ,  
અદ્દાસમયે” ॥

### ઉત્તરાપ્પયનસૂત્રેઽપિ—(અ. ૨૮)

“ધમ્મો અદ્દમ્મો આગાસ, કાલો પુગ્ગલ જત્તવો ।

પસ લોગોસિ પભત્તો, જિણેદિં વરદસિદ્ધિં ॥ ૭ ॥

### દ્રવ્ય કે ભેદ—

દ્રવ્ય છઠ્ઠ પ્રકાર કા હૈ—(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ  
(૫) પુદ્ગલ ઓર (૬) જીવ । શ્રી ભગવતીસૂત્ર મેં કહ્યા હૈ—

“ભગવાન્ । દ્રવ્ય કિત્તને કહે ગયે હૈં ?, ગૌતમ । છઠ્ઠ દ્રવ્ય કહે ગયે હૈં, વે હસ  
પ્રકાર—ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય ઓર  
અદ્દા—સમય” ।

ઉત્તરાપ્પયનસૂત્ર મેં મી કહ્યા હૈ—

“ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ, ઓર જીવ કો સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી બિન ભગવાન્  
મેં લોકસજ્ઞા વી હૈ ॥ ૭ ॥

### દ્રવ્યના ભેદ—

દ્રવ્યના છ પ્રકાર છે—(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ (૫)  
પુદ્ગલ અને (૬) જીવ. શ્રી ભગવતી સૂત્રમા પણ કહ્યું છે—

“ભગવાન્ । દ્રવ્ય કેટલાં કલાં છે ? ગૌતમ । છ દ્રવ્ય કહેલા છે તે બધા  
પ્રમાણે—ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય  
અને અદ્દા—સમય,”

ઉત્તરાપ્પયન સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે—

“ધર્મ અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવને સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી બિન  
ભગવાને લોકસજ્ઞા આપી છે” ॥ ૭ ॥

“ગુણાનમાસન્નો દ્રવ્ય, યગદન્વસ્તિયા ગુણા ।

સ્વસ્ત્વણ પન્જવાણ તુ, દુહઓ અસ્તિયા મવે ॥ ૬ ॥” ઇતિ ।

છાયા—

“ગુણાનામાશ્રયો દ્રવ્યમ્, એકદ્રવ્યાધિતા ગુણા :

લક્ષણ પર્યવાણાં તુ, ઇમયોરાધિતા મવેયુઃ” ॥ ૬ ॥ ઇતિ ।

દ્રવ્યલક્ષણે પર્યાયાનુસારા કાર્યકારણયોરમેદવિવક્ષ્યા પર્યાયાણાં ગુણેષુ સમાવેશ ઇતિ મગ્ધદમિમાયો ગમ્યતે । “એકદ્રવ્યાધિતા ગુણાઃ” ઇતિ, એક=કેવલ દ્રવ્યમાશ્રિત્ય ગુણા વર્ષન્ત ઇત્યર્થઃ । અનેન ગુણલક્ષણમુક્તમ્ । ‘પર્યવાણાં લક્ષણ તુ ઇમયોરાધિતા મવેયુઃ’ ઇત્યન્વય । પર્યવઃ, પર્યયઃ, પર્યાય, ઇતિ સમાનાર્થકાઃ । ઇમયોઃ=દ્રવ્યગુણયોરાધિતાઃ પર્યાયા, ઇતિ પર્યાયલક્ષણ લોચ્યમિત્યર્થઃ । પર્યાયાસ્તુ દ્રવ્ય ગુણ ચોમયમાશ્રિત્ય વર્ષન્ત ઇતિ માવઃ ।

દ્રવ્ય કે લક્ષણ મેં ‘પર્યાય’ પદ કા સમાવેશ ન કરમે કે કારણ મગવાન્ કા અમિપ્રાય મહ હે કિ—કાર્ય કારણ કે અમેવસે ગુણ મેં હી પર્યાય કા સમાવેશ હો જાતો હૈ । ‘યગદન્વસ્તિયા ગુણા’ હસ વાક્ય કા અર્થ મહ હે કિ—ગુણ કેવલ દ્રવ્ય મેં હી હોતે હૈ । હસ કમન્દ્રારા ગુણ કા લક્ષણ મી કહ દિયા ગયા હૈ ।

પર્યાય કા લક્ષણ ઇમયાશ્રિત હોના હૈ, લોનો મેં અર્થાત્ દ્રવ્ય મેં મી ઓર ગુણ મેં મી પર્યાય રહતે હૈ । પર્યવ, પર્યય ઓર પર્યાય લે સમી સમાનાર્થક હૈ ।

દ્રવ્યના લક્ષણમા ‘પર્યાય’ પદનો સમાવેશ નહિ કરવાથી ભગવાનનો અભિપ્રાય એ છે કે—કાર્ય કારણના અમેદથી શુભમાં જ પર્યાયનો સમાવેશ મહ અર્થ છે ‘યગદન્વસ્તિયા ગુણા’ આ વાક્યનો અર્થ એ છે કે—શુભ કેવલ દ્રવ્યમા જ હોય છે આ કથનદ્વારા શુભનું લક્ષણ પણ કહી આપ્યું છે

પર્યાયનું લક્ષણ ઉભયાશ્રિત હોય છે, અનેના અર્થાત્ દ્રવ્યમા અને શુભમાં પણ પર્યાય રહે છે પર્યવ, પર્યય અને પર્યાય શબ્દ સમાન અર્થવાળા છે

દ્રવ્યવિભાગ:—

દ્રવ્યં પદ્ધવિધમ્—ધર્માધર્માકાશકાલપુદ્ગલજીવમેદાત્ । ઉક્તઞ્ચ શ્રીમગવતીસૂત્રે—

“કદ્ ણ મંતે ! દન્વા પળ્ણત્તા ?, ગોયમા ! છ દન્વા પળ્ણત્તા, તં જહા-  
પમ્મત્તિકાપ્, અધમ્મત્તિકાપ્, આગાસસ્થિકાપ્, પુગ્ગલત્તિકાપ્, જીવત્તિકાપ્,  
અદાસમયે” ॥

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રેઽપિ—(અ. ૨૮)

“ધમ્મો અહમ્મો આગાસ, કાલો પુગ્ગલ વર્તવો ।  
પ્સ લોગોત્તિ પમ્મત્તો, જિણેહિં વરદસિહિ ॥ ૭ ॥

દ્રવ્ય કે મેદ—

દ્રવ્ય છઠ્ઠ પ્રકાર કા હૈ—(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ  
(૫) પુદ્ગલ ઓર (૬) જીવ । શ્રી મગવતીસૂત્ર મેં કહા હૈ—

“મગવાન્ ! દ્રવ્ય કિતને કહે ગયે હૈં ?, ગૌતમ ! છઠ્ઠ દ્રવ્ય કહે ગયે હૈં, જે હસ  
પ્રકાર—ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય ઓર  
અદા—સમય” ।

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર મેં સી કહા હૈ—

“ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ, ઓર જીવ કો સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી જિન મગવાન્  
ને લોકસજ્ઞા લી હૈ ॥ ૭ ॥

દ્રવ્યના ભેદ—

દ્રવ્યના છ પ્રકાર છે—(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ (૫)  
પુદ્ગલ અને (૬) જીવ. શ્રી મગવતી સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે—

“મગવાન્ ! દ્રવ્ય કેટલા કલાં છે ? ગૌતમ ! છ દ્રવ્ય કહેલા છે તે આ  
પ્રમાણે—ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય  
અને અદા—સમય,”

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે—

“ધર્મ અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવને સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી જિન  
મગવાને લોકસજ્ઞા આપી છે” ॥ ૭ ॥

“ગુણાનામાસ્યો દન્વ, યગદન્વસ્તિયા ગુણા ।

અક્ષરણ પન્જવાણ તુ, દુહઓ અસ્તિયા મવે ॥ ૬ ॥” ઇતિ ।

છાયા—

“ગુણાનામાભયો દ્રવ્યમ્, એકદ્રવ્યાશ્રિતા ગુણા :

છક્ષણ પર્યવાણાં તુ, ઉમયોરાશ્રિતા મવેયુઃ” ॥ ૬ ॥ ઇતિ ।

દ્રવ્યલક્ષણે પર્યાયાનુક્ત્યા કાર્યકારણયોરમેદવિવક્ષ્યા પર્યાયાણાં ગુણેષુ સમાવેશ ઇતિ મગત્વદમિપ્રાયો ગમ્યતે । “એકદ્રવ્યાશ્રિતા ગુણાઃ” ઇતિ, એક=કેવલ દ્રવ્યમાશ્રિત્ય ગુણા વર્તન્તે ઇત્યર્થ । અનેન ગુણલક્ષણમુક્તમ્ । ‘પર્યવાણાં લક્ષણ તુ ઉમયોરાશ્રિતા મવેયુઃ’ ઇત્યન્વયઃ । પર્યવાઃ, પર્યય, પર્યાયઃ, ઇતિ સમાનાર્થકાઃ । ઉમયોઃ=દ્રવ્યગુણયોરાશ્રિતાઃ પર્યાયાઃ, ઇતિ પર્યાયલક્ષણ લોચ્યમિત્યર્થઃ । પર્યાયાંસ્તુ દ્રવ્યં ગુણં સોમયમાશ્રિત્ય વર્તન્તે ઇતિ ભાવઃ ।

દ્રવ્ય કે લક્ષણ મેં ‘પર્યાય’ પદ કા સમાવેશ ન કરને કે કારણ મગવાનું કા અમિપ્રાય યહ હૈ કિ—કાર્ય કારણ કે અમેદસે ગુણ મેં હી પર્યાય કા સમાવેશ હો’ જાતો હૈ । ‘યગદન્વસ્તિયા ગુણા’ હસ વાક્ય કા અર્થ યહ હૈ કિ—ગુણ કેવલ દ્રવ્ય મેં હી હોતે હૈ । હસ કચન્કારા ગુણ કા લક્ષણ સી કહ દિયા ગયા હૈ ।

પર્યાય કા લક્ષણ ઉમયાશ્રિત હોના હૈ, લોનો મેં અર્થાત્ દ્રવ્ય મેં સી ઓર ગુણ મેં સી પર્યાય રહતે હૈ । પર્યવા, પર્યય ઓર પર્યાય લે સમી સમાનાર્થક હૈ ।

દ્રવ્યના લક્ષણમા ‘પર્યાય’ પદનો સમાવેશ નહિ કરવાથી ભગવાનનો અભિપ્રાય એ છે કે—કાર્ય કારણના અમેદથી શુભમા જ પર્યાયનો સમાવેશ થઈ જાય છે ‘યગદન્વસ્તિયા ગુણા’ આ વાક્યનો અર્થ એ છે કે—શુભ કેવલ દ્રવ્યમા જ હોય છે આ કથનદ્વારા શુભનું લક્ષણ પણ કહી આપ્યું છે.

પર્યાયનું લક્ષણ ઉભયાશ્રિત હોય છે, જન્મેમાં જાયોત્ દ્રવ્યમા અને શુભમાં પણ પર્યાય રહે છે પર્યવા, પર્યાય અને પર્યાય શબ્દ સમાન અર્થવાળા છે

દ્રવ્યવિભાગ—

દ્રવ્યં પદ્ધવિધમ્—ધર્માધર્માકાશકાલપુદ્ગલજીવમેદાત્ । ઉક્તચ્ચ શ્રીમગ્ધતીસૂત્રે—

“કહ્ ન મંતે ! દન્વા પળ્ણત્તા ?, ગોયમા ! છ દન્વા પળ્ણત્તા, તં જહા-  
ધમ્મત્થિકાપ્, અધમ્મત્થિકાપ્, આગાસસ્થિકાપ્, પુગ્ગલત્થિકાપ્, જીવત્થિકાપ્,  
અદાસમયે” ॥

ઉત્તરાખ્યયનસૂત્રેઽપિ—(અ ૨૮)

“ધમ્મો અહમ્મો આગાસ, કાલો પુગ્ગલ વંતવો ।

પસ લોગોત્તિ પ્પત્તો, જિણેહિં ઘરદસિદ્ધિં ॥ ૭ ॥

દ્રવ્ય કે મેદ—

દ્રવ્ય છદ્ પ્રકાર કા હૈ—(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ  
(૫) પુદ્ગલ ઓર (૬) જીવ । શ્રી મગધતીસૂત્ર મેં કહા હૈ—

“મગધાન્ ! દ્રવ્ય કિત્તને કહે ગયે હૈં ?, ગૌતમ ! છદ્ દ્રવ્ય કહે ગયે હૈં, વે હ્ત  
પ્રકાર—ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય ઓર  
અદા—સમય” ।

ઉત્તરાખ્યયનસૂત્ર મેં મી કહા હૈ—

“ધર્મે, અધર્મે, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ, ઓર જીવ કો સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી જિન મગધાન્  
ને લોકસજ્ઞા વી હૈ ॥ ૭ ॥

દ્રવ્યના લેહ—

દ્રવ્યના છ પ્રકાર છે—(૧) ધર્મ (૨) અધર્મ (૩) આકાશ (૪) કાલ (૫)  
પુદ્ગલ અને (૬) જીવ । શ્રી મગધતી સૂત્રમા પચ્ચ કહ્યું છે—

“મગધાન્ ! દ્રવ્ય કેટલા કહ્યાં છે ? ગૌતમ ! છ દ્રવ્ય કહેલા છે તે આ  
પ્રમાણે—ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય  
અને અદા—સમય,”

ઉત્તરાખ્યયન સૂત્રમાં પચ્ચ કહ્યું છે—

“ધર્મ અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવને સર્વજ્ઞ સર્વદર્શી જિન  
મગધાને લોકસજ્ઞા આપી છે” ॥ ૭ ॥



ધમ્મો અહમ્મો આગાસ, દણ્વ શક્કિમાહિર્ય ।

અણંતાણિ ય દણ્વાણિ, કાલો પુગ્ગલ જતથો ॥ ૮ ॥”

અન્ન કાલમાત્ર વિહાય ધર્માદયોઽસ્તિકાયા ઉચ્યન્તે । ‘અસ્તી’ તિ તિહન્ત-  
પ્રતિરૂપકમભ્યય પ્રદેશવાચકમ્ । પ્રદેશઃ સ્વસ્થાનાદનપાયિ નિર્વિમાગ, સ્પન્દમ્ ।  
ઇદ નિર્વિમાગ સ્પન્દ યદા પુદ્ગલમ્પ ગલનસ્વમાવાચદીયસ્કન્ધદેશામ્યામવયુત્ય-  
પૃથગ્ભૂત્વા વર્ષતે તદા પરમાણુનામ્ના વ્યવહ્રિયતે । યાવદપૃથગ્ભૂત્વા વર્ષતે  
તાવત્તદેવ નિર્વિમાગ સ્પન્દ પ્રદેશ इत्यુચ્યતે । અનેનૈવાશ્ચયેન પુદ્ગલાસ્તિકાયસ્ય  
ક્ષ્વારો મેદા મગવતા કથિતાઃ-સ્કન્ધાઃ, દેશ, પ્રદેશ, પરમાણુએતિ । કામ-

ધર્મ, અધર્મ ઓર આકાશ, એ ત્રીજા દ્રવ્ય એક એક છે, કાલ, પુદ્ગલ, સ્ત્રી, અનન્ત  
અનન્ત દ્રવ્ય છે” ॥ ૮ ॥

( ) ( )

કાલ કો છોડ કર શોષ પાંચ દ્રવ્ય અસ્તિકાય કહીએ છે । ‘અસ્તિ’ યહ સિદ્ધન્તરૂપ  
પ્રતીતિ હોને વાળા એક અભ્યય છે ઓર પ્રદેશ કા વાચક છે । જો અપને સ્થાન સે વ્યુત ન  
હોને વાળા, અર્થાત્ જો દ્રવ્ય કે સાથ હી જુડા હુઆ નિર્વિમાગ-જિસ કા ફિર વિમાગ ન હો  
સકે વહ સ્પન્દ, પ્રદેશ કહીએ છે । પુદ્ગલ ગલનસ્વમાવ વાળા છે અત એવ જન વહ  
નિર્વિમાગ સ્પન્દ પુદ્ગલ કે સ્કન્ધ યા દેશ સે વિલુટ કર અલગ હો જાતા છે તન વહી સ્પન્દ  
પરમાણુ કહીએ છે । જન વહી પરમાણુ પુદ્ગલ કે સ્કન્ધ યા દેશ મેં ફિર મિલજાતા છે તન

ધર્મ અધર્મ અને આકાશ આ ત્રણ દ્રવ્ય એક-એક છે, કાલ, પુદ્ગલ અને  
સ્ત્રી અનન્ત-અનન્ત દ્રવ્ય છે” ॥ ૮ ॥

કાલ સિવાયના બાકીના પાંચ દ્રવ્ય અસ્તિકાય કહેવાય છે ‘અસ્તિ’ એ  
તિહન્ત રૂપ બહુવચ્ચ એક અભ્યય છે, અને પ્રદેશનું વાચક છે જે પોતાના સ્થાનથી  
વ્યુત નહીં થવા વાળા, અર્થાત્ દ્રવ્યની સાથે જ જોડાઈ રહેલા નિર્વિમાગ-જેનો ફરી  
ભાગ ન થઈ શકે તે ખડ, પ્રદેશ કહેવાય છે પુદ્ગલ ગલનસ્વમાવ વાળા છે,  
તે કારણે જ્યારે તે નિર્વિમાગ ખડ પુદ્ગલના સ્કન્ધ બનવા દેશથી છુટા થઈ જાય  
છે ત્યારે તે ખડ પરમાણુ કહેવાય છે જ્યારે તે પરમાણુ પુદ્ગલના સ્કન્ધ બનવા  
દેશમાં ફરીને મળી જાય છે ત્યારે તે પરમાણુના બદલે ફરી પ્રદેશ કહેવાય છે

समूहः । अस्ति=प्रदेशानां काय =समूहो यत्र यस्य वा स अस्तिकायः, प्रदेशसमूहवान्, धर्मधासावस्तिकायश्चेति धर्मास्तिकाय\* । एव च धर्मास्तिकाय\*, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकाय\*, पुद्गलास्तिकाय\*, जीवास्तिकाय\*, इति नामानि सन्ति तेषाम् । कालस्तु प्रदेशमावादस्तिकायो न भवतीत्यतः कालः कालास्तिकाय शब्देन न व्यवहियते ।

### धर्मास्तिकायलक्षणम्—

स्वभावतो गतिपरिणामिना जीवपुद्गलानां गतिं प्रति सहकारि कारण धर्मास्तिकाय\* । जीवा पुद्गलाश्च स्वभावतो गच्छन्ति, तत्रोपादानकारणस्वरूपास्ते वह परमाणु के बड़े फिर् प्रदेश कहलाने लगता है, इसी अभिप्राय से भगवान् ने पुद्गलास्तिकाय के चार भेद बतलाये हैं (१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु ।

काय का अर्थ है समूह । जिसमें या जिसके प्रदेशों का समूह है वह अस्तिकाय कहलाता है । अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशों का समूहवाला । धर्मरूप अस्तिकाय धर्मास्तिकाय समझना चाहिए । इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, ये अस्तिकायों के नाम हैं । कालद्रव्य प्रदेशों का समूहरूप न होने के कारण अस्तिकाय नहीं है अतः काल 'कालास्तिकाय' नहीं कहलाता है ।

### धर्मास्तिकायका लक्षण—

स्वभाव से या प्रयोग से गतिक्रियामें परिणत हुए जीव और पुद्गलों की गति में जो सहकारी कारण हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं । जीवों और पुद्गलों का गमन करना स्वभाव ही है ।

आ अभिप्राये भगवाने पुद्गलास्तिकायना आर बोध अताव्या छे (१) स्कन्ध, (२) देश, (३) प्रदेश आने (४) परमाणु.

। कायने अर्थ छे—समूह, जेमां अथवा जेनां प्रदेशोना समूह होय ते अस्तिकाय कहवाय छे, अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशोना समूह वाणा, धर्मरूप अस्तिकाय धर्मास्तिकाय समझवे। ओहज्जे ओज्ज प्रमाणे अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय आने जीवास्तिकाय, जे अस्तिकायोना नाम छे

कालद्रव्य-प्रदेशोना समूहरूप नहि होवाथी अस्तिकाय नथी तेथी काल जे 'कालास्तिकाय' कहवाय नहि.

### धर्मास्तिकायनु लक्षण—

स्वभावथी अथवा प्रयोगथी गतिक्रियाभा परिणत थयेला एवो आने पुद्गलोनी गतिमां जे सहकारी कारण होय, तेने धर्मास्तिकाय कह छे एवो आने

ગતિ પ્રતિ, પુનસ્તસ્યામેવ ગતિ-ક્રિયાયાં ધર્માસ્તિકાયઃ સહાયરૂપ નિમિત્તકારણં મનતિ ।

(૧) યથા સરિત્સમુદ્રાધવગાહનશીલાનાં મત્સ્યાનાં સ્વતઃ એવં જિમ્મિષા ગતિશ્ચ જાયતે, તત્ર તેષાં ગમન પ્રતિ સહાયરૂપ નિમિત્તકારણં ધારિ । સ્વયં સ્થિત્થાં તુ મત્સ્યાનાં ન સત્ પ્રેરકં ગમનાય ।

(૨) યથા વા યૃત્પરિણામભૂતસ્ય ઘટસ્ય દુષ્ટો નિમિત્તકારણમ્ ।

(૩) યથા વા સ્વતઃ એવાવગાહમાનસ્ય દ્રવ્યસ્પાવગાહનં પ્રતિ ગા<sup>ગ</sup>નમ્, ન પુનરવગાહમાનં દ્રવ્યં બલાદવગાહયતિ તત્ ।

इस गमनक्रिया में उपादान कारण वह स्वयं ही होते हैं, धर्मास्तिकाय सहायकमान होने से निमित्त कारण है ।

(૧) जैसे—નદી અથવા સમુદ્રમાં અવગાહન કરનેવાળે મચ્છો માં ગમન કરને કી ઇચ્છા સ્વયં હી ઉત્પન્ન હોતી હૈ ઓર સ્વયં હી વે ગતિ કરતે હૈ, જલ્લ ઉન કી ગતિ માં સહાયક રૂપ નિમિત્ત કારણ હોતા હૈ । હા, મચ્છ અમર ઠહેરે તો જલ્લ ડનૈં ગમન કરને કે ક્રિયે પ્રેરિત નહીં કરતા ।

(૨) અથવા जैसे—મૃત્તિકા સે બનને વાળે વજ્રે માં ફંદા નિમિત્ત કારણ હોતા હૈ ।

(૩) અથવા जैसे—સ્વયં હી અવગાહન કરને વાળે દ્રવ્ય કી અવગાહના માં આકાશ નિમિત્ત કારણ હોતા હૈ ।

પુરૂષદોનો ગમન કરતુ તે સ્વભાવ જ છે, જો અમન-ક્રિયામા ઉપાદાન કારણ તે પોતે જ હોય છે; ધર્માસ્તિકાય સહાયકમાત્ર હોવાથી તે નિમિત્ત કારણ છે

(૧) જેવી રીતે નદી અથવા સમુદ્રમાં અવગાહન કરવાવાળા મચ્છોમાં ગમન કરવાની પોતાની જ ઇચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે, અને પોતે જ તે ગતિ કરે છે, પરંતુ જલ્લ તેની ગતિમાં સહાયરૂપ નિમિત્ત કારણ થાય છે પરંતુ મચ્છ જો સ્થિર રહેવાની ઇચ્છા કરે તો જલ્લ તેને ગમન કરવા માટે પ્રેરણા કરતુ નથી.

(૨) અથવા જેવી રીતે—માટીથી તૈયાર થતા વજ્રમાં ફંદો અને વાક નિમિત્ત કારણ હોય છે

(૩) અથવા જેવી રીતે—પોતે જ અવગાહન કરનારા દ્રવ્યના અવગાહનમાં આકાશ નિમિત્ત કારણ હોય છે

(૪) યથા વા-જલઘૃષ્ટો સત્યા સ્વયમેવ કૃપિકર્મારમ્મ કુર્વતા કૃપીવલ્લાના કૃપિકર્મારમ્મ પ્રતિ ઘૃષ્ટિ સહકારિ કારણ ભવતિ ।

(૫) અપરોડપિ શાસ્ત્રીયો દૃષ્ટાન્તો દૃષ્ટિપથમવતરતિ, યથા-‘સિદ્ધસ્વરૂપોડમ્, અનન્તસુખમાજનોડમ્’ ઇત્યાદિમાવનયા વ્યવહારનયેન શુદ્ધસિદ્ધસ્વરૂપ-ધ્યાનકર્તૃણા, નિશ્ચયનયેન નિર્વિકલ્પધ્યાનપરિણામિના સ્વય તદુપાદાનકારણસ્વરૂપાણાં મન્યાનાં સ્વયમેવ જાયમાના મિદગતિ પ્રતિ પ્રેરણારહિતો નિષ્ક્રિયો મૂર્તિરહિતોડપિ સિદ્ધભગવાન્ સહાયક સન સહકારિ કારણં ભવતિ, તદ્વદમૂર્તો નિષ્ક્રિયઃ પ્રેરણારહિતશ્ચ ધર્માસ્તિકાયો જીવાનાં પુદ્ગલાનાં ચ ગતિરૂપે પરિણામે સહાયક સન્નિમિત્તકારણ ભવતિ ।

(૪) અથવા જેસે—જલ કી વર્ષા હોન પર સ્વય હી કૃપિકાર્ય આરમ્મ કરને વાલે કિસાનાં કે કૃપિકાર્ય કે આરમ્મમેં ઘૃષ્ટિ સહકારી કારણ હોતી હૈ ।

(૫) ણક શાસ્ત્રીય દૃષ્ટાન્ત ઓર મી દૃષ્ટિગોચર હોતા હૈ—મેં સિદ્ધસ્વરૂપ હૈં, મેં અનન્ત સુખ કા માજન હૈં’ । હસ પ્રકાર કી માવનાપૂર્વક વ્યવહાર નય સે શુદ્ધ સિદ્ધ પરમાત્મા કા ધ્યાન કરને વાળાં કો, ઓર નિશ્ચય નય સે નિર્વિકલ્પ ધ્યાન મં પરિણત્ત હોને વાળોં કો ઓ સિદ્ધગતિ કી પ્રાપ્તિ હોતી હૈં ઉસ મ ઉપાદાન કારણ સ્વય ધ્યાન કરને વાલા મન્યાત્મા હૈ, ઓર પ્રેરણારહિત, નિષ્ક્રિય, તથા અમૂર્તિક હોતે હુપ મી સિદ્ધ ભગવાન ઉસમેં સહાયક હોને સે નિમિત્ત કારણ હો આવે હૈં । હસી પ્રકાર અમૂર્તિક નિષ્ક્રિય ઓર પ્રેરણારહિત ધર્માસ્તિકાય મી જીવ ઓર પુદ્ગલોં કે ગતિરૂપ પરિણામ મેં સહાયક હોતા હુઆ નિમિત્ત કારણ હોતા હૈ ।

(૪) અથવા જેવી રીતે પાણી વરસવાથી ખેડુત પોતે જ ખેતીના કામને આરંભ કરે છે, ખેતીને આરંભ કરવાવાળા ખેડુતોના ખેતી કાર્યના આરંભમા વૃષ્ટિ (વરમાદ) અહકારી કારણ હોય છે

(૫) એક શાસ્ત્રીય દૃષ્ટાંત બીજુ પણ દૃષ્ટિગોચર થાય છે —

“હું સિદ્ધ સ્વરૂપ છું હું અનન્ત સુખનુ ભાવન-પાત્ર છું” આ પ્રકારની માવનાપૂર્વક, વ્યવહાર નયથી શુદ્ધ સિદ્ધ ભગવાન-પરમાત્માનુ ધ્યાન કરવાવાળા અને નિશ્ચયનયથી નિર્વિકલ્પ ધ્યાનમા પરિણત થવા વાળાને જે સિદ્ધ-ગતિ પ્રાપ્ત થાય છે તેમાં ઉપાદાન કારણ ધ્યાન કરવાવાળા પોતે ભવ્યાત્મા છે, અને પ્રેરણારહિત નિષ્ક્રિય તથા અમૂર્તિક હોવા છતાં પણ સિદ્ધ ભગવાન તેમા સહાયક હોવાથી નિમિત્ત કારણ થઈ જાય છે

એ પ્રમાણે અમૂર્તિક, નિષ્ક્રિય અને પ્રેરણારહિત ધર્માસ્તિકાય પણ જીવ અને પુદ્ગલોના અતિરૂપ પરિણામમા સહાયક હોવાથી નિમિત્ત કારણ છે

નનુ ધર્માસ્તિકાયસ્ય દણ્ડાદિવન્નિમિત્તકારણતા નોપપચતે, મળ્યાપારં હિ કારણં મન્વતિ, નિર્વ્યાપારસ્ય કારણત્વે યુક્ત્યમાત્રાદિતિ ચેન્ન,

ધર્માસ્તિકાયસ્ય હિ સ્વામાવિકન્યાપારસત્ત્વાત્ કારણત્વ મૂપપાદમ્ । ઉક્તં ચ ધર્માસ્તિકાયલક્ષણ મગવતા—

“ગદ્લક્ષણો ઇ ધમ્મો” ઇતિ,

‘ગતિલક્ષણસ્તુ ધર્મ’ ઇતિ ઝ્યાયા । (ઉત્તરાધ્યયનમુત્રે ૨૮ અ) ગતિકાર્યાં નુમેયો ધર્માસ્તિકાય ઇતિ માવ ।

અર્થ—ધર્માસ્તિકાય હજા આદિ કે સમાન નિમિત્ત કારણ નહીં હો સકતા, ક્યોંકિ મહ વ્યાપાર નહીં કરતા, કાર્ય કી ઉત્પત્તિ મેં વ્યાપાર કરને વાલા હી કારણ હોતા હૈ । કાર્ય કી ઉત્પત્તિ મેં વ્યાપાર ન કરને પર મી અગર કિસી કો કારણ માન લિયા જાય તો જાહે જો વસ્તુ જાહે કિસ કાર્ય મ કારણ હો જાયગી । પેસી વજા મેં નિયત કાર્ય—કારણ માવ કા અમાવ હો જાયગા ।

સમાધાન—મહ શક્કા ઠીક નહીં હૈ, ક્યોંકિ મહોં હેતુ અસિદ્ધ હૈ । ગતિરૂપ કાર્ય મેં ધર્માસ્તિકાય વ્યાપારરહિત નહીં હૈ, કિન્તુ ધર્માસ્તિકાયકા સ્વામાવિક વ્યાપાર વિષમાન હોને કે કારણ ઉસે કારણ માનના યુક્તિસક્ત હૈ । મગવાન્ ને ધર્માસ્તિકાયકા લક્ષણ હસં પ્રકાર જતલાયા હૈ—

“ગદ્લક્ષણો ઇ ધમ્મો” ધર્માસ્તિકાય ગતિ લક્ષણ વાલા હૈ । (ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર અ. ૨૮) અર્થાત્ ગતિરૂપ કાર્ય સે ધર્માસ્તિકાયકા અનુમાન હોતા હૈ ।

૨૧ ઠા—ધર્માસ્તિકાય હઠ આદિ પ્રમાણે નિમિત્ત કારણ મઈ શકેતુ નથી, કેમકે તે વ્યાપાર કરતુ નથી, કાયની ઉત્પત્તિમા વ્યાપાર કરનારજ કારણ હોવા છે કાર્યની ઉત્પત્તિમા વ્યાપાર નહિ કરવા છતાં ય જો કોઈને કારણ માનવામા આવશે તો ગમે તે વસ્તુ ગમે તે કાર્યમા કારણ મઈ જશે એવા હથામા નિયત કાર્ય કારણ બાવને અમાવ મઈ જશે

અસમાધાન—જા શકા ઠીક નથી, કારણ કે આદિ હેતુ અસિદ્ધ છે ગતિરૂપ કાર્યમા ધર્માસ્તિકાય વ્યાપારરહિત નથી, ધર્માસ્તિકાયને સ્વામાવિક વ્યાપાર વિષમાન હોવાથી તેને કારણ માનવું તે યુક્તિસજત છે મગવાને ધર્માસ્તિકાયનુ લક્ષણ આ પ્રમાણે બતાવ્યું છે—

“ગદ્લક્ષણો ઇ ધમ્મો” ધર્માસ્તિકાય અતિલક્ષણવાળું છે (ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર અ. ૨૮) અર્થાત્ ગતિરૂપ કાર્યથી ધર્માસ્તિકાયનું અનુમાન માવ છે

અસ્ય-(૧) અરૂપિત્વમ્, (૨) અચેતનત્વમ્, (૩) અક્રિયત્વમ્, (૪) ગતિ-  
સહાયકત્વ ચેતિ ગુણા । (૧) સ્કન્ધ., (૨) દેશ, (૩) પ્રદેશ, (૪) અગુરુલ્લઘુત્વ  
ચેતિ પર્યાયાઃ । અય દ્રવ્યક્ષત્રકાલભાવગુણમેદેન પચ્ચઘા જ્ઞાયતે, યયા-દ્રવ્યત્વ એકો  
ધર્માસ્તિકાય, ક્ષેત્રતો લોકપ્રમાણ, કાલત આદ્યન્તરહિત, ભાવતો રૂપરહિત -  
વર્ણગન્ધરસસ્પર્શવર્જિત ઇતિ । ગુણતત્ત્વલનગુણ ।

### અધર્માસ્તિકાયસ્વરૂપમ્—

સ્વભાવત સ્થિતિપરિણતાનાં જીવપુદ્ગલાનાં સ્થિતિં પ્રતિ સહકારિ કારણત્વમ-  
ધર્માસ્તિકાયસ્ય લક્ષણમ્ ।

(૧) અરૂપિત્વ, (૨) અચેતનત્વ (૩) અક્રિયત્વ (૪) ગતિસહાયકત્વ, એ ધર્માસ્તિકાય  
કે ગુણ છે । (૧) સ્કન્ધ (૨) દેશ (૩) પ્રદેશ ઓર (૪) અગુરુલ્લઘુત્વ, એ ઉસકે પર્યાય  
છે । ધર્માસ્તિકાય દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ ઓર ગુણ, ઇસ તર્હ પાંચ મેદાં સે જ્ઞાના જ્ઞાતા છે ।  
જેસે-દ્રવ્ય સે ધર્માસ્તિકાય એક છે, ક્ષેત્રસે લોકપ્રમાણ છે, કાલસે આદિ-અન્તરહિત છે,  
ભાવસે રૂપાદિરહિત છે-રૂપ રસ, ગન્ધ, સ્પર્શ ઉસ મેં નહીં છે, ઓર ગુણ સે ચલન-ગુણ  
વાછા છે ।

### અધર્માસ્તિકાયકા સ્વરૂપ—

સ્વભાવ સ સ્થિતિરૂપ પરિણત હુવ જીવ ઓર પુદ્ગલોંકી સ્થિતિ મેં સહકારી હોના  
અધર્માસ્તિકાયકા લક્ષણ છે ।

(૧) અરૂપિત્વ (૨) અચેતનત્વ (૩) અક્રિયત્વ (૪) ગતિસહાયકત્વ એ સર્વ  
ધર્માસ્તિકાયના ગુણો છે (૧) સ્કન્ધ (૨) દેશ (૩) પ્રદેશ અને (૪) અગુરુલ્લઘુત્વ એ  
તેના પર્યાય છે ધર્માસ્તિકાય-દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ અને ગુણ, એ પાંચ ભેદોથી  
જાણી શકાય છે જેવી રીતે-દ્રવ્યથી ધર્માસ્તિકાય જાણ છે, ક્ષેત્રથી લોકપ્રમાણ છે,  
કાલથી આદિ-અન્તરહિત છે, ભાવથી રૂપાદિરહિત છે-રૂપ-રસ-ગન્ધ-સ્પર્શ  
તેમાં નથી, અને ગુણથી ચલન-ગુણવાળા છે

### અધર્માસ્તિકાયનું સ્વરૂપ—

સ્વભાવથી સ્થિતિરૂપ પરિણત થયેલા છવે અને પુદ્ગલોંની સ્થિતિમાં સહકારી  
થવું તે અધર્માસ્તિકાયનું લક્ષણ છે

જીવા પુદ્ગલાશ્ચ સ્વમાવતઃ સ્વયં તિષ્ઠન્તિ, તત્રોપાદાનકારણસ્વરૂપાસ્તે સ્થિતિં પ્રતિ, પુનસ્તસ્યામેવ સ્થિતિક્રિયાયામધમાસ્તિકાય સદાયરૂપં નિમિત્તકારણં ભવતિ ।

(૧) યથા—સ્વયં તિષ્ઠતાં પથિકાનાં સ્થિતી છાયા સહકારિ કારણં ભવતિ । અતિષ્ઠતસ્તુ સ્થાતું ન પુનઃ સા પ્રેરયતિ ।

(૨) યથા વા સ્વયં તિષ્ઠતો દેવદત્તસ્ય સ્થિતિં પ્રતિ પૃથિવી સહકારિ કારણં ભવતિ । અતિષ્ઠન્તં તુ દેવદત્તં ન પૃથિવી સ્થાપયતિ ।

(૩) યથા—સમિતિશુભિધારિણો રત્નત્રયારાધિન સમરસકન્દા સમાહિતમતયો મહાત્માનો નિશ્ચયનયેન નિજાત્મસ્વરૂપં ચિન્તયન્ત ક્ષપકભર્ણિ સમારુઘ સમુત્પન્ન-

જીવ ઔર પુદ્ગલ અવ સ્વમાવ સ હી સ્થિત હોતે હૈં, અપની સ્થિતિ મેં ઉપાદાન કારણ તો સ્વયં વહી હૈં, પર અધર્માસ્તિકાય ઉસ મેં મદાયક હોતા હ, મત વહ નિમિત્ત કારણ હ ।

(૧) જૈસ—સ્વયં ઠરને વાલે પથિકાં કી સ્થિતિ મેં છાયા સહકારી કારણ હોતી હ । અગર કોઈ ન ઠહર તો વહ ઠહરને કી પ્રેરણા નહીં કરતી ।

(૨) અથવા જૈસે—સ્વયં ઠહરને વાલુ દેવદત્ત કી સ્થિતિ મેં પૃથિવી સહકારી કારણ હ । મગર દેવદત્ત કો ન ઠહરના હો તો પૃથ્વી જવર્ડસ્તી નહીં ઠહરાતી ।

(૩) અથવા જૈસે—સમિતિ-શુભિકે ધારક, રત્નત્રય કી આરાધના કરને વાલે, સમમાવ કે રસ મેં નિમગ્ન સમાધિયુક્ત મતિ વાલુ મહાત્મા નિશ્ચય નય સે આત્મસ્વરૂપકા ચિન્તન કરતે

જીવ અને પુદ્ગલ બન્નારે સ્વભાવથી જ સ્થિત થાય છે તો પોતાની સ્થિતિમા ઉપાદાન કારણ તો પોતે જ છે, પરન્તુ અધર્માસ્તિકાય તેમાં સદાયક થાય છે, તેથી તે નિમિત્ત કારણ છે

(૧) જેવી રીતે—પોતે ઉભા રહેવા વાળા મુચ્ચાકેશોની સ્થિતિમા છાયા સહકારી કારણ હોય છે અગર કોઈ ઉભા ન રહે તો તે ઉભા રહેવાની પ્રેરણા નથી કરતી

(૨) અથવા—જેવી રીતે પોતે જ ઉભા ન રહેવા વાળા દેવદત્તની સ્થિતિમા પૃથ્વી સહકારી કારણ છે, પરન્તુ જો દેવદત્તને ઉભા ન રહેવું હોય તો પૃથ્વી દેવદત્તને બળબળાશીથી ઉભો રાખી શકતી નથી

(૩) અથવા—જેવી રીતે સમિતિ-શુભિતના ધારક, રત્નત્રયની આરાધના કરવા વાળા, સમભાવના રસમાં નિમગ્ન, સમાધિયુક્ત મતિવાળા મહાત્મા નિશ્ચયનયથી

કેવલજ્ઞાન-કેવલદર્શનમૃત સન્ત સકલકર્મણ્ય કૃત્વા, શરીરમૌદારિકમિદ્ પરિ-  
ત્યજ્ય, સિદ્ધિગતિનામગ્રેય સ્થાન ગતાસ્તિષ્ઠન્તિ, તેષા નિશ્ચયનયેન સ્વતઃ સ્થિતિ  
પરિણતાના તત્ર સાઘર્પ્યવસિતાં સ્થિતિ પ્રતિ તત્સ્થાન સહકારિ કારણ ભવતિ । ન તુ  
તત્ સ્થાનં તાનવસ્થાતુ પ્રેરયતિ ।

(૪) યથા વ્યવહારનયેન સિદ્ધમત્સ્યા સ્વય સમુત્પન્નસવિકલ્પધ્યાનાવસ્થિતાના  
મહાત્મનાં સવિકલ્પધ્યાને સ્થિતિ પ્રતિ, નિષ્ક્રિયો મૂર્તિરહિતઃ પ્રેરણારહિષોઽપિ  
સિદ્ધમગવાન્સહાય સન્સહકારિ કારણ ભવતિ । ન ત્વસૌ તાન્ તદ્ધ્યાને સ્થાતુ પ્રેરયતિ ।

હુણ ક્ષપકગ્રેણી પર આરુઢ્ધ હો કર ઉત્પન્ન કેવલજ્ઞાન ઔઃ કેવલદર્શન કો ધારણ કરને  
વાલ હો કર સમસ્ત કર્મો કા ક્ષય કરકે ઔદારિક નરિમ કો યહી ત્યાગ કર સિદ્ધિગતિ  
નામક સ્થાન કો પ્રાપ્ત હો કર સ્થિર હો જાત દે । નિશ્ચયનય સે સ્વય સ્થિતિ મ પરિણત  
હુણ ઉન સિદ્ધ બીવાં કો સાન્નિ-અનન્ત સ્થિતિ મેં વહ સ્થાન સહકારી કારણ હોતા હૈ,  
કિન્તુ વહ સ્થાન ઉહેં ટઢરન કે લિપ પ્રેરિત નહાં કરતા ।

(૪) અથવા જૈસ-વ્યવહારનય સે સિદ્ધ મગવાન કી મતિસે સ્વય ઉત્પન્ન હુણ  
સવિકલ્પ ધ્યાન મેં અવસ્થિત મહાત્મા પુરુષોં કી સવિકલ્પ મ જો સ્થિતિ હૈ, ઉસ મેં અક્રિય  
અમૂર્તિક ઔઃ પ્રેરણારહિત મી સિદ્ધ મગવાન્ સહાયક હોન સે નિમિત્ત કારણ હોત હૈં, કિન્તુ  
બે ઉન્હેં ધ્યાન મેં સ્થિત હોને કી પ્રેરણા નહીં કરતે ।

આત્મસ્વરૂપતુ ચિંતાન કરતા થકા ક્ષપકગ્રેણી પર આરુઢ્ધ થઇને ઉત્પન્ન કેવલજ્ઞાન  
અને કેવલદર્શનને ધારણ કરવા વાળા થઇને અમન્ત કર્યોને કાય કરાને ઔદારિક  
શરારને આદિ જ ત્યાગ કરીને સિદ્ધિગતિ નામના સ્થાનને પ્રાપ્ત થઈ સ્થિર થઈ  
બાય છે નિશ્ચયનયથી સ્વય સ્થિતિમા પરિણત થયેલા તે સિદ્ધ જીવોની સાદિ  
અનન્ત સ્થિતિમા તે સ્થાન સહકારી કારણ હોય છે, પરંતુ તે સ્થાન તેને યોગવા  
માટે પ્રેરણા નથી કરતુ

(૪) અથવા-જેવી રીતે વ્યવહારનયથી સિદ્ધ મગવાનની ભક્તિથી સ્વય ઉત્પન્ન  
થયેલા સવિકલ્પ ધ્યાનમા અવસ્થિત મહાત્મા પુરુષોની સવિકલ્પ ધ્યાનમા જે સ્થિતિ  
છે, તેમાં નિષ્ક્રિય અમૂર્તિક અને પ્રેરણારહિત સિદ્ધ મગવાન સહાયક હોવાથી  
નિમિત્ત કારણ હોય છે, પણ સિદ્ધ મગવાન તેને ધ્યાનમા સ્થિત થવાની પ્રેરણા  
કરતા નથી



इदमेवामिप्रेत्य भगवताऽमिहितम्—

“अहम्नो ठाणलक्खणो” इति (उचरा. अ. २८)

‘अधર્મः स्थानलक्षण’ इति ज्ञाया । लक्ष्यते=दृश्यते परिचीयत अनेनेति लक्षण=परिचायक ज्ञापकम् । स्थान=स्थितिरव लक्षण=ज्ञापक यम्याऽसाविति स्थानलक्षण । स्थितिकार्यानुमेयोऽधर्मास्तिकाय इत्याशयः ।

अधर्मास्तिकायस्य—(१) अस्पित्यम्, (२) अचेतनत्वम्, (३) अक्रियत्वम्, (४) स्थितिसहायकत्वमिति गुणा ।

(१) स्कन्ध, (२) देश, (३) प्रदेश, (४) अगुरुलघुत्वं चेति पर्याया ।

इसी अमिप्राय से भगवान न कहा—“अहम्मो ठाणलक्खणो” अधर्मास्तिकाय स्थिति लक्षण वाला है । (उत्तरा० अ० २८) जिस के द्वारा कोई वस्तु उसी जाय (देवी जाय) या जो, वस्तु का परिचायक (परिचय कराने वाला) हो वह लक्षण कहलाता है । स्थान अर्थात् स्थिति ही जिस का लक्षण है, अर्थात् स्थितिरूप कार्य से निम का अनुमान होता है उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं ।

अधर्मास्तिकाय के गुण—(१) अस्पित्य (२) अचेतनत्व (३) अक्रियत्व और स्थितिसहायकत्व हैं । (१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश, और (४) अगुरुलघुत्व, अधर्मास्तिकाय के पर्याय हैं ।

જે અમિપ્રાયથી ભગવાને કહ્યું છે કે—“અહમ્મો ઠાણલક્ખણો” અધર્માસ્તિકાય સ્થિતિ લક્ષણ વાળા છે (ઉત્તરાધ્યયન અ. ૨૮)

જેના દ્વારા કોઈ વસ્તુ લખી શકાય (દેખી શકાય) અથવા જે વસ્તુનો પરિચય કરાવનાર હોય તે લક્ષણ કહેવાય છે. સ્થાન અર્થાત્ સ્થિતિ જ જેનું લક્ષણ છે અર્થાત્ સ્થિતિરૂપ કાચથી જેનું અનુમાન થાય છે, તેને અધર્માસ્તિકાય કહે છે.

અધર્માકાયના ગુણ—(૧) અસ્પૃપિત્ય (૨) અચેતનત્વ (૩) અક્રિયત્વ અને (૪) સ્થિતિસહાયકત્વ છે.

(૧) સ્કન્ધ, (૨) દેશ, (૩) પ્રદેશ, અને (૪) અગુરુલઘુત્વ, જે અધર્માસ્તિકાયના પર્યાય છે.

અય દ્રવ્યક્ષેત્રકાલમાત્રગુણભેદેન પચ્ચઘા ણાયતે, યથા—અધર્માસ્તિકાયો દ્રવ્યત એક, ધત્રતો લોકપ્રમાણ, કાલત આદ્યન્તરહિત, માવતો રૂપરહિત—વર્ણ—ગંધ—રસ—સ્પર્શવર્જિત ઇતિ, ગુણત સ્થિતિગુણ ।

નનુ ધર્માધર્મશબ્દામ્યાં પુણ્યપાપરૂપૌ શુભાશુભફલદૌ ધર્માધર્મૌ કથં નાત્ર યદ્યેતે ? ઇતિ ચેત્, ઉચ્યતે—નયોર્ગુણત્વેન દ્રવ્યપ્રકરણે સમાવેશાસમવાત્ । કિચ્ચ તૌ ધર્માધર્મૌ પુણ્યપાપરૂપૌ પુદ્ગલત્વેનામિમતૌ પુદ્ગલદ્રવ્યાન્તર્ભૂતૌ, તતસ્તયોર્ન ધર્માધર્માસ્તિકાયમધ્યે સમાવેશ ।

અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, માત્ર ઓર ગુણ કે ભેદસે પાંચ પ્રકાર સે જાના જાતા હૈ । જૈમ્—અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્ય સે પ્રક હૈ, ક્ષેત્ર સે લોકપ્રમાણ હૈ, કાલ સે આદિ અન્ત રહિત હૈ, માવસે અરૂપી અથાત્ રૂપ, રસ, ગંધ, ઓર સ્પર્શ સે રહિત હૈ, ઓર ગુણ સે સ્થિતિગુણ વાળા હૈ ।

શબ્દા—ધર્મ શબ્દ સે શુભ ફલ દેને વાલ પુણ્ય કા ઓર અધર્મ શબ્દ સે અશુભ ફલ દેને વાલે પાપ કા પ્રહ્ણ ક્યો નહીં ક્રિયા ગયા ?

સમાધાન—પુણ્ય ઓર પાપ, દ્રવ્ય નહીં, ગુણ હૈ, હસીં લિયે इनका દ્રવ્યકે પ્રકરણ મેં સમાવેશ નહીં હો સકતા । અથવા પુણ્ય—પાપ રૂપ ધર્મ ઓર અધર્મ પુદ્ગલ હૈં, અત્ત ઉનકા સમાવેશ પુદ્ગલ મ હી હા જાતા હૈ । ધર્માસ્તિકાય ઓર અધર્માસ્તિકાય મેં ઉન્હેં ગર્ભિત નહીં ક્રિયા જા સકતા ।

અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ માવ અને શુણ્યના બેઠથી પ્રાપ્ય પ્રકારે બાહ્યી શકાય છે જેમકે—અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્યથી એક છે, ક્ષેત્રથી લોકપ્રમાણ છે, કાલથી આદિ—અન્ત રહિત છે, માવથી અરૂપી અથાત્ રૂપ, રસ ગંધ અને સ્પર્શથી રહિત છે, અને શુણ્યથી સ્થિતિશુણ્યવાળા છે

શ કા—ધર્મ શબ્દથી શુભ ફલ આપવા વાળા પુણ્ય અને અધર્મ શબ્દથી અશુભ ફલ આપવા વાળા પાપનું પ્રહ્ણ થા માટે કરવામા આવતું નથી ?

સમાધાન—પુણ્ય અને પાપ, દ્રવ્ય નથી, શુણ્ય છે એટલા માટે દ્રવ્યના પ્રકરણમા તેના સમાવેશ થઈ શકતો નથી અથવા પુણ્ય—પાપરૂપ ધર્મ અને અધર્મ પુદ્ગલરૂપ છે, તેથી તેના સમાવેશ પુદ્ગલમા જ થઈ બાય છે ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયમા તેને ગર્ભિત નથી કરી શકતા

### અપાકાશસ્વરૂપમ્—

આ-સમન્તાત્ કાશતે=અવગાહદાનેન પ્રતિમાસતે इत्याकाशम्, यद्वा आका-  
શन्તે=दीप्यन्ते धर्माधर्मकालપુद्ગलजीवाः स्वस्वरूपेण यत्र तत् ।

ધર્માધર્માદિસર્વદ્રવ્યાણામાધારતયાજ્વકાશ દદાતીત્યવકાશદાયિત્વ લક્ષણમા  
કાશાસ્તિકાપસ્ય । અત્રાવકાશદાયિત્વ વ્યવહારનયેનોપચારિકમ્ । અસ્તિકાપશબ્દ  
પ્રાગ્ વ્યાખ્યાત । ઉક્ત ચોત્તરાધ્યયનમુખે ( ૨૮ અધ્યયને )—

“ માયણ સન્વદધ્વાણ, નહં ઓગાહલક્ષણમ્ । ” इति ।

### આકાશકા સ્વરૂપ—

‘આકાશ’ શબ્દ મેં ‘આ’ ઓર ‘કાશ’ દો હિસ્તે હૈં । ‘આ’ કા અર્થ હૈ—સમી ઓર  
સે—સર્વત્ર, ઓર ‘કાશ’ કા અર્થ હૈ—પ્રકાશિત હોને વાલા । તાત્પર્ય મહ હૈ કિ અપને  
અવગાહદાનનામક ગુણસે સર્વત્ર પ્રમાસિત હોતા હૈ, વહ આકાશ હૈ । અથવા જહોં ધર્મ,  
અધર્મ, કાલ, પુદ્ગલ ઓર જીવ અપને—અપન સ્વરૂપ સે પ્રકાશિત હોતે હૈં, ઉસે આકાશ  
કહતે હૈ ।

ધર્મ, અધર્મ, આદિ સમસ્ત દ્રવ્યોં કા આધાર હોકર જો ઉન્હેં આશ્રય દેતા હૈ, વહી  
આકાશ હૈ । અવકાશ દેને વાલા હી આકાશ કહલાતા હૈ । યહીં ‘અવકાશ દેના’ આકાશ  
કા જો લક્ષણ બતલાયા ગયા હૈ, વહ વ્યવહારનયસે ઉપચરિત્ કથન હૈ । ‘અસ્તિકાપ’  
શબ્દ કોં વ્યાખ્યા પઢહે હી કોં જાં ચુકી હૈ । ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર (અ. ૨૮) મેં કહ્યા હૈ —  
“માયણ સન્વદધ્વાણ નહં ઓગાહલક્ષણ” इति ।

### આકાશનું સ્વરૂપ—

‘આકાશ’ શબ્દમા ‘આ’ અને ‘કાશ’ બે ભાગ છે. ‘આ’ નો અર્થ છે—આદિય  
કોઈથી—સર્વત્ર, અને ‘કાશ’ નો અર્થ છે પ્રકાશિત થવા વાળા, તાત્પર્ય જો છે કે—  
પોતાના અવગાહદાન ( અવકાશ આપવો ) નામના ગુણથી જે સર્વત્ર પ્રતિમાસિત  
હોય છે તે આકાશ છે, અથવા ન્યા ધર્મ, અધર્મ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ  
પોતપોતાના સ્વરૂપથી પ્રકાશિત હોય છે—પ્રતીત થાય છે તેને આકાશ કહે છે.

ધર્મ, અધર્મ આદિ તમામ દ્રવ્યોનો આધાર બની જે તેને આશ્રય આપે છે  
તે આકાશ છે. અવકાશ આપનાર જ આકાશ કહેવાય છે. અવકાશ આપવો તે  
આકાશનું લક્ષણ બતાવવામા આવ્યું છે, તે અવકાશનયથી ઉપચારરૂપ કથન છે.  
‘અસ્તિકાપ’ શબ્દની વ્યાખ્યા પ્રથમ જ કહી રીધી છે, ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર (અ. ૨૮)મા  
કહ્યું છે કે— “માયણ સન્વદધ્વાણ નહં ઓગાહલક્ષણ” ઈતિ.

‘માજનં સર્વદ્રવ્યાણાં, નમોઽવગાહલક્ષણમ્’ । ઇતિ ચ્છાયા ।

સર્વદ્રવ્યાણાં માજનમ્ = આધારઃ, ઇતિ હેતુર્ગર્ભવિશેષણમ્ । યતઃ સર્વ દ્રવ્યાણાં માજનમ્, અતઃ અવગાહલક્ષણ નમ ઇતિ માત્ર’ ।

ધર્માધર્મકાલાનામન્તઃ સમાવેશેન જીવપુદ્ગલાનામૌપચારિકસયોગવિભાગાભ્યાં ચાવગાહ । અવગાહ તત્ત્વેશરૂપોપાધિમેત્તદવગાહસ્ય નાનાત્વેન સયોગવિભાગા ઉપપદ્યન્તે ।

અવગાહોઽવકાશ’, સ ણ્વ લક્ષણ=જ્ઞાપર્ક’ યસ્ય તદ્ અવગાહલક્ષણ નમઃ= આકાશ કથ્યતે, ઇત્યર્થ’ । અવગાહદાનકાર્યાનુમેયમાકાશમિત્યાશ્રય ।

ધર્માધર્માદિદ્રવ્યાણામાધારાન્યથાઽનુપપત્તેરાકાશમસ્તીતિ નિઃશંક વિશ્વ-

‘આકાશ’ સર્વ દ્રવ્યોં કા આધાર હૈ । સારંગ્ય યહ હૈ કિ આકાશ મવ દ્રવ્યોં કા આધાર હોનેસે અવગાહ-લક્ષણ વાલો હૈ ।

‘ધર્માસ્તિકાય’ ‘અધર્માસ્તિકાય’ ઔર કાલ કા આકાશ મેં હી સમાવેશ હોને સે બીષ ઔર પુદ્ગલોં કે ઔપચારિક સયોગ ઔર વિભાગ કે દ્વારા અવગાહ હોતા હૈ । અવગાહ હોને પર દેશ કે મેદ્ સે અવગાહ મી મિન્ન હો જાતા હૈ ઔર સયોગ તથા વિભાગ ઉત્પન્ન હોતે હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—અવગાહ યા અવકાશ હી જિસ કા લક્ષણ હૈ, અર્થાત્ અવગાહ સે જિસ કા અનુમાન હોતા હૈ વહ દ્રવ્ય આકાશ હૈ ।

આકાશ ન હોતા તો ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોં કી સ્થિતિ કહાં હોતી ? અર્થાત્ ડનકા કોઈ આધાર હી નહીં રહતા, અતઃ ણ્વ આકાશ કા અસ્તિત્વ, કિસી પ્રકાર કી શક્તા કિયે

આકાશ સર્વદ્રવ્યોંનો આધાર છે સારાંશ એ છે કે આકાશ સર્વ દ્રવ્યોંનો આધાર હોવાથી અવગાહન લક્ષણવાળું છે

ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય અને કાલનો આકાશમા સમાવેશ હોવાથી જીવ અને પુદ્ગલોંનો ઔપચારિક સયોગ અને વિભાગ દ્વારા અવગાહ થાય છે, અવગાહ થવાથી દેશના ભેદથી અવગાહ પણ બિન્ન થઈ જાય છે, અને સયોગ તથા વિભાગ ઉત્પન્ન થાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે—અવગાહ અથવા અવકાશ જ જેનું લક્ષણ છે, અર્થાત્ અવગાહથી જેનું અનુમાન થાય છે તે દ્રવ્ય આકાશ છે અથવા આકાશ ન હોય તો ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોંની સ્થિતિ કયા હોય ? અર્થાત્ તેનો કોઈ આધાર જ

સનીયમ્, इत्यपि भगवता बोधितम् । आकाशसिद्धयर्थं 'भायणं सख्खदब्बाणं'-  
इति, 'ओगाहल्लक्खण' इति च विशेषणद्वयमुपात्तम् ।

आकाशं द्विविधम्-लोकालोकमेदात्, उक्तं च स्थानाङ्गसूत्रे—

“दुविहे आगासे पन्नत्ते, तज्जहा-लोगागासे चेव अलोगागासे चेव” इति ।

द्विविध आकाश प्रज्ञप्तमन्तव्या-लોકાકાશઐવ અલોકાકાશઐવ, इति न्छाया ।  
धर्मादिसर्वद्रव्याणामाधारभूतमसंख्यातप्रदेशात्मकमाकाशखण्ड लोकाकाशम् । तन्नि-  
न्मनन्तप्रदेशात्मकमलोकाकाशम् ।

નજી ધર્માધર્મદ્રવ્યસ્વીકારે પ્રયોજન ન કિમપિ પશ્યામ્, જીવ-પુદ્ગલાનાં  
ગતિસ્થિતિકાર્યયો સહાયરૂપ કારણ ત્વાકાશમેવ સ્યાત્ ? ।

विना विनाश करने योग्य है, यह भी भगवान् ने उक्त कथन से ध्वनित कर दिया है ।  
आकाश की सिद्धि के लिये 'भायणं सख्खदब्बाण' और 'ओगाहल्लक्खण' ये दो विशेषण  
छाये गये हैं ।

आकाश दो प्रकार का है-लोककाश, और अलोककाश । स्थानाङ्गसूत्र में कहा है—  
“दुविहे आगासे पन्नत्ते तं जहा-लोगागासे चेव अलोगागासे चेव”

ધર્મ આદિ સર્વ દ્રવ્યોં કા આધાર ઔર અસંખ્યાતપ્રદેશરૂપ આકાશખંડ, લોકાકાશ  
કહેલતા હૈ । લોકાકાશ સે મિષ્ઠ અનન્તપ્રદેશી અલોકાકાશ હૈ ।

झुझा—जब कि आकाश ही जीव और पुद्गलों की गति एव स्थिति में सहायक कारण  
हो सकता है तो फिर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों को स्वीकार करने का कोई  
न रहैत, ओन्हा भाटे आकाशना अस्तित्व, कौध जातनी पक्षु शका कथा वगैर  
विनाश करना योग्य छै; ओ पक्षु भगवाने उक्त कथनधी ध्वनित कथुं छै  
आकाशनी सिद्धि भाटे 'भायण सख्खदब्बाण' अने 'ओगाहल्लक्खण' आ ओ विशेषपक्ष  
लजावेला छै

આકાશ બે પ્રકારના છે (૧) લોકાકાશ અને (૨) અલોકાકાશ સ્થાનાંજ  
સૂત્રમા કહ્યુ છે —“દુવિહે આગાસે પન્નત્તે, તજ્જહા-લોગાગાસે ચેવ અલોગાગાસે ચેવ”

ધર્મ આદિ તમામ દ્રવ્યોના આધાર અને અસંખ્યાતપ્રદેશરૂપ આકાશખંડ  
તે લોકાકાશ કહેવાય છે લોકાકાશથી બિન્ન અનન્તપ્રદેશી અલોકાકાશ છે

શકા-ઓ જે આકાશ જ છવ અને પુદ્ગલોની ગતિ અને સ્થિતિમા સહાયક  
કારણ થઈ શકે છે તો પછી ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાય દ્રવ્યોના સ્વીકાર

અત્રોચ્યત-ધર્મધ્વાર્મથેતિ દ્રવ્યદ્વયમવશ્યમક્રીયરણીયમ્, અન્યથા દોષવાહુલ્યપ્રસન્નાત્ ।

(૧) આકાશસ્ય ગતિદતૃત્વસ્વીકારં જીવપુદ્ગલાનામલોકાકાશગમનાપત્તિઃ ।

(૨) અલોકાકાશસ્યાપિ જીવપુદ્ગલપૂર્ણત્વે લોકત્વપ્રમગ, તથા ચાલોકાકાશ-સ્ય નામાઽપિ વન્ધ્યાપુત્રવદેવ સ્યાત્ ।

(૩) મગત્પરપિતાઽઽકાશઙ્ઘૈવિન્યવ્યવસ્યાઽપિ ન સિદ્ધયેત્ ।

પ્રયોગન દિત્વાઈ નહીં દેતા ।

સમાધાન-ધર્મદ્રવ્ય ઔર અધર્મદ્રવ્ય અવશ્ય સ્વીકાર કરના જાહિયે । ડન્હે સ્વીકાર ન કરન સે વહુતસે દોષ આતે હૈં । બે દસ પ્રકાર-

(૧) આકાશ કો હી ગતિ કા કારણ માન લિયા જાય તો જીવા ઔર પુદ્ગલ કા અલોકાકાશ મેં મી ગમન માનના પડેગા, ક્યાકિ અલોકાકાશ મી તો અસ્તિર આકાશ હી હૈં ।

(૨) અલોકાકાશ ંગર જીવા ઔર પુદ્ગલ સે ક્યાત માન લિયા જાય તો વહ અલોકાકાશ ન રહકર લોકાકાશ હી હો જાયગા । ંસી સ્થિતિ મં અલોકાકાશ તો વન્ધ્યાપુત્ર કે સમાન હા જાયગા, અર્થાત અલોકાકાશ કા અસ્તિત્વ નહીં રહગા ।

(૩) મગવાન ન તો પ્રકાર કા આકાશ બતલાયા હૈં, વહ વ્યવસ્થા મજ્જ હો જાયગી ।

કરવાનું કોઈ પણ પ્રયોજન જોવામા આવતુ નથી

સમાધાન-ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યને અવશ્ય સ્વીકાર કરવો જોઈએ, તેને સ્વીકાર નહિ કરવાથી બહુ જ દોષ આવે છે, તે આ પ્રમાણે-

(૧) આકાશને જ ગતિનું કારણ માની લેવામા આવે તો જીવો અને પુદ્ગલોનું અલોકાકાશમા પણ ગમન માનવું પડશે, કેમકે અલોકાકાશ પણ છેવટે તો આકાશ જ છે

(૨) અથવા અલોકાકાશ જીવો અને પુદ્ગલોથી વ્યાપ્ત માની લેશે તો તે અલોકાકાશ નહિ રહેતાં લોકાકાશજ થઈ જશે, એવી સ્થિતિમા અલોકાકાશ તો વધ્યા પુત્રના સમાન થઈ જશે, અર્થાત્ અલોકાકાશનું અસ્તિત્વ જ રહેશે નહિ

(૩) મગવાને બે પ્રકારના આકાશ બતાવ્યા છે, તે વ્યવસ્થા ભગ થઈ જશે

(૪) અપિચ-સિદ્ધમગવાન્ ઊર્ધ્વં ગત્વા લોકાગ્રેઽવસ્થિત इति मर्यादाऽपि स्वपुण्यायमानैव स्यात् ।

(૫) भवन्मते गतिकारणीभूतस्याकाशस्योर्ध्वदेशे विद्यमानत्वात्तस्य (सिद्धस्य) गतेरवरोधाभावो भवेत् ।

ધર્માધર્મદ્રવ્યયોરાકાશત પૃથક્ સ્વીકારે તુ લોકાકાશત ઊર્ધ્વમલોકાકાશસ્ય સત્ત્વેન તન્ન ગતિહેતોર્ધર્મસ્થામાવાન્ન ગતિર્મથતિ । સ્થિતિહેતોર્ધર્મદ્રવ્યસ્ય લોકાન્તર્વર્તિત્વેન લોકમધ્ય एवोपरिभागे गतिहेतोर्धर्मद्रव्यस्य साहाय्येन गत्वा तत्रैवाधर्मद्रव्यसाहाय्येन विष्ठति । एवं च लोकाग्रे मगवानवस्थितो ब्रहे

(૪) સિદ્ધ મગવાન્ ઉપર આકર છોક કે અગ્ર ભાગ મ સ્થિત હો જાતે હૈં, યહ આગમ કી મર્યાદા મી આકાશપુણ્ય કે સમાન હો જાયગી ।

(૫) આપ કે મત કે અનુસાર ગતિકા કારણ આકાશ હૈ જૌર વહ ઊર્ધ્વ દેશ મેં લોકાકાશ કે અગ્રભાગ સે મી આગે વિદ્યામાન હૈ, અત સિદ્ધા કી ગતિ મેં રુકાવટ નહીં હોમી ।

ધર્મદ્રવ્ય જૌર અધર્મદ્રવ્ય કો આકાશ સે મિજ માન લેને સે લોકાકાશ સે ઉપર અલોકાકાશ મ ગતિ કા કારણ ધર્મદ્રવ્ય નહીં હૈ, અત લોકાકાશ સ આગે ગતિ મી નહીં હોતી, તથા સ્થિતિ કા કારણ અધર્મદ્રવ્ય લોક કે અતર્ગત હી હૈ, અત ધર્મદ્રવ્ય કી સહાયતાસે સિદ્ધ બીજ, લોક કે અન્ત તક પહુંચ કર અધર્મ કી સહાયતા સે વહીં અર્થાત્ લોકાકાશકે

(૪) સિદ્ધ મગવાન્ ઉપર જર્મને લોકના અગ્રભાગમા સ્થિત થાય છે, તે આગમની મર્યાદા પણ આકાશ-પુણ્યના સમાન થઈ જશે.

(૫) આપના મત પ્રમાણે ગતિનું કારણ આકાશ છે અને તે ઊર્ધ્વ-ઉપરના દેશમાં લોકાકાશના અગ્રભાગથી પણ આગળ વિદ્યમાન-હેવાત છે, તેથી સિદ્ધાંતની ગતિમા રુકાવટ-રોકાણ નહિ થાય.

ધર્મ દ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યને આકાશથી બિન્ન માની લેવાથી લોકાકાશથી ઉપર અલોકાકાશમા ગતિનું કારણ ધર્મદ્રવ્ય નથી, તેથી લોકાકાશથી આગળ ગતિ પણ થતી નથી, તથા સ્થિતિનું કારણ અધર્મદ્રવ્ય લોકના અન્તર્ગતજ (અંદરજ) છે, તેથી ધર્મદ્રવ્યની સહાયતાથી સિદ્ધ લોકના અત સુધી પહોંચીને અધર્મદ્રવ્યની

તુસ્ત્રીવદિતિ મર્યાદા મુતરામુપપદ્યતે । ઉક્ત ચૌપપાતિક્ષુભ્રે-

“કદિં પદિહયા સિદ્ધા, કદિં સિદ્ધા પદિહયા ।  
કદિં વાદિં ચડત્તા ણ, કસ્ય ગત્તૂણ સિજ્જહ ॥ ૧ ॥  
અલોગે પદિહયા સિદ્ધા, લોયગે ય પદિહયા ।  
इह वौदिं चडत्ता ण, तत्थ गत्तूण सिज्जह ॥ २ ॥” इति ।

છાયા—

“કુત્ર પ્રતિહતા સિદ્ધા, કુત્ર સિદ્ધા પ્રતિષ્ઠિતા ।  
કુત્ર યોન્દિ (શરીર) ત્યવત્વા, કુત્ર ગત્વા સિદ્ધયતિ ॥ ૧ ॥  
અલોકે પ્રતિહતા સિદ્ધા, લોકાગ્રે ચ પ્રતિષ્ઠિતા ।  
इह वौदिं (शरीर) त्यवत्वा, तत्र गत्वा सिद्ध्यति ॥ २ ॥ इति

અન્તર્ગત હી ટહર જાતા હૈ । હસ પ્રકાર જલ્લકે અપ્રમાગ પર ટહરે હુપ તુવે કે સમાન સિદ્ધ મગવાન્ લોકાકાગ કે અપ્રમાગ પર સ્થિત હૈ, યહ મર્યાદા સ્વત સિદ્ધ હો જાતી હૈ ।

ઔપપાતિક્ષુત્ર મેં કહા હૈ—

‘સિદ્ધ મગવાન્ કહૈં રુકજાતે હૈ’ કહૈં સ્થિત હોતે હ’ । કહૈં શરીર કા ત્યાગ કરકે કહૈં જાકર સિદ્ધ હોતે હૈ ॥ ૧ ॥

સિદ્ધ મગવાન અલોક મ રુક જાતે હૈ, લોકકે અપ્રમાગ મ સ્થિત હોતે હૈ । યહૈં શરીર કા ત્યાગ કરકે યહૈં જાકર સિદ્ધ હો જાતે હૈ ॥ ૨ ॥”

સહાયતાથી ત્યાં જ અર્થાત્ લોકાકાશના અદરજ શેષી બાંધ છે તાત્પર્ય એ છે કે જલ્લના અપ્રમાગ ઉપર સ્થિત જ્ઞેલા તુબડાની પેઠે સિદ્ધ મગવાન લોકાકાશના અપ્રમાગ ઉપર સ્થિત છે આ મર્યાદા સ્વત સિદ્ધ થઈ બાંધ છે ઔપપાતિક્ષુત્રમાં પણ કહ્યું છે—

“સિદ્ધ મગવાન કયા રોકાઈ બાંધ છે ? કયા સ્થિત થાય છે ? કયા શરીરનો ત્યાગ કરીને, કયા જઈને સિદ્ધ થાય છે ? ॥ ૧ ॥

સિદ્ધ મગવાન આલોકમાં રોકાઈ બાંધ છે, લોકના અપ્રમાગમાં સ્થિત થાય છે, અહિં શરીરનો ત્યાગ કરીને જા જઈને સિદ્ધ થઈ બાંધ છે. ॥ ૨ ॥”



નન્વેષ ધર્માધર્મદ્રવ્યે એવ સમાદ્રિયેતામ્, વિમાકાશદ્રવ્યાવલમ્બનેન, આકાશ કાર્યાવિગાહસાદાય્યં ધર્માધર્મદ્રવ્ય્યામ્યામેવ સપદેત ? , ઇતિ ચેત્, ઉચ્યતે-સિદ્ધાન્ત તયોર્જીવાદિગતિસ્થિતિસાધકત્વેન સિદ્ધાન્તિતસ્યાદવકાશ દાતુ તૌ ન પ્રમત્ત । અન્યસાધ્યં કાર્યમન્યો ન સાધયતિ, અન્યથાઽતિપ્રસંગાત્ । છોકેઽપિ ચશ્ચુસ્સાધ્ય દર્શનકાર્યં ન ધૌત્રં સાધયતિ ।

નતુ કેવલજ્ઞાનસ્ય યોજનન્તતમો ભાગસ્તત્પ્રમાણમેવ નમોદ્રવ્યમ્, તસ્ય ધાનન્તતમમાગપરિમિત લોકાકાશમ્, एतादृशेऽल्पतमरूपे લોકાકાશે લોકાકાશ-

સૂક્ત—યદિ એસા હો તો ધર્મદ્રવ્ય ઔર અધર્મદ્રવ્ય હી સ્વીકાર કરલેને ચાહિયે, ફિર આકાશ કી ક્યા આવશ્યકતા હ ? આકાશ કા કાર્ય અવગાહ દેના હૈ સો વહ કાર્ય ધર્મદ્રવ્ય ઔર અધર્મદ્રવ્ય સે હી સમ્પન્ન હો જાયગા ।

સમાધાન—આગમ મેં ધર્મદ્રવ્ય ઔર અધર્મદ્રવ્ય કો ગતિ ઔર સ્થિતિ મ હી સહાયક થતલ્યા હૈ, ઇસ છિપ વહ અવકાશ દેન મેં સમર્થ નહીં હૈ, ઔર કા કાર્ય કોઈ ઔર નહીં કર સક્તા । અગર એસા હોને છો તો સર્વત્ર ગઢબઢ હો જાયગા । છોક મ ચશ્ચુકા દેલના કાર્ય કાન નહીં કર સક્તા ।

સૂક્ત—કેવલ જ્ઞાન કા બો અનન્તવૌ ભાગ હૈ ડસી કે ચગચર આકાશદ્રવ્ય હૈ, ઔર આકાશદ્રવ્ય કા મી અનન્તવૌ ભાગ લોકાકાશ હૈ તો ઇતન છોટે સે લોકાકાશ મેં સમસ્ત લોકદ્રવ્યાપી ઔર અસક્ષ્યાત પ્રદેશવાલ ધર્મદ્રવ્ય કા, અધર્મદ્રવ્ય કા, અનન્તાનન્ત કીર્વા કા

શ કા—જો જો પ્રમાણે છે તો ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યનો સ્વીકાર કરી લેવો જોઈએ, કરીને આકાશની શુ આવશ્યકતા છે ? આકાશનુ, કાચ અવગાહ-અવકાશ આપવો તે છે, તે કાર્ય ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યથી જ સંપન્ન થઈ જશે

સમાધાન—આગમમા ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યને ગતિ અને સ્થિતિમા સહાયક બતાવ્યા છે, જોના માટે તે અવકાશ આપવામાં સમર્થ નથી બીજાનુ કાર્ય કોઈ બીજો નહિ કરી શકે, જો જોમ થવા લાગશે તો સર્વત્ર ગઢબઢ થઈ જશે જગતમા નેત્રથી જોવાનુ કાચ કાન કરી શકતા નથી

શ કા—કેવલજ્ઞાનનો જે અનતમો ભાગ છે તેના બરાબર આકાશદ્રવ્ય છે, અને આકાશદ્રવ્યનો પણ અનતમો ભાગ લોકાકાશ છે, તો એવડા નાના સરખા લોકાકાશમા સમસ્ત લોકદ્રવ્યાપી અને એસખ્યાત પ્રદેશવાળા ધર્મદ્રવ્યનો, અધર્મ

વ્યાપિનો પ્રત્યેકમસરૂયાતપ્રદેશાત્મકયોર્ધર્માધર્માસ્તિકાયયોરનન્તજીવાનાં તેભ્યોઽપ્યનન્તગુણપુદ્ગલાનાં ચ કથ સમાવેશ , એકસ્ય લોકાકાશસ્ય સર્વદ્રવ્યાવકાશદાના-સમવાત્ ? , ઇતિ ચેદુચ્યતે—

લોકાકાશસ્યાવકાશશક્તિર્ધી મહીયસી વિલક્ષણા ચિન્તયિતુમશક્યા ચ, અત એવ મગવતા—“ માયણ સચ્ચદવ્યાણં નહ ઓગાહલક્ષણ ” ઇત્યુક્તમ્ ।

નમસોઽવકાશશક્તિ કેવલાલોકેનાવલોક્ય સર્વદ્રવ્યાણામાધારસ્વ મગવતા પ્રતિવોધિતમ્ । મહીયસી નમસોઽવકાશશક્તિ , સુકરોઽન્ન સર્વદ્રવ્યાણાં સમાવેશ ઇતિ તદાશય ।

યથા—વ્રતાસાનામધેય મધુરદ્રવ્ય દુગ્ધપરિપૂરિતેઽપિ માજને નિહિતં સત્ત્વ ઓર ડન સે મી અનન્તગુને પુદ્ગલાંકા સમાવેશ કિસ પ્રકાર હો સકતા હૈ ” એક લોકાકાશ સમસ્ત દ્રવ્યોં કો અવગાહ દે સકે, યહ અસમ્ભવ હૈ ।

સમાધાન—લોકાકાશ કો અવકાશ દેને કી શક્તિ મહાન્ હૈ, વિલક્ષણ હૈ, ઓર અચિન્ત્ય હૈ, ઇસીલિયે તો મગવાન્ ને કહા હૈ—“ માયણ સચ્ચદવ્યાણં નહ ઓગાહલક્ષણ ” અવગાહલક્ષણ યાલા આકાશ સબ દ્રવ્યોં કા આધાર હૈ ।

મગવાન્ ને અપને કેવલજ્ઞાન મેં આકાશ કી અવગાહવાનશક્તિ કો દેલકર ઉસે સબ દ્રવ્યોં કા આધાર નિરૂપણ ક્રિયા હૈ । મગવાન કે કથન કા અમિપ્રાય યહી હૈ કિ આકાશ કો અવગાહનાશક્તિ યહુત મઢી હૈ, ડસ મ સબ દ્રવ્યોં કા સમાવેશ સરલતા સે હો જાતા હૈ ।

જૈસે—દૂધ સે પરિપૂર્ણ પાત્ર મેં થતાસે ઢાલ દિયે જાયે તો વે ડસી મેં સમાવિષ્ટ હો દ્રવ્યોનો, અન્તાનન્ત જીવોનો અને તેનાથી પણ અનન્તગણ્ય પુદ્ગલોનો સમાવેશ કેવી રીતે થઈ શકે ? એક લોકાકાશ સમસ્ત દ્રવ્યોનો અવગાહ—અવકાશ આપી શકે, એ અસમ્ભવ છે

સમાધાન—લોકાકાશનાં અવકાશ આપવાની શક્તિ મહાન છે, વિલક્ષણ છે અને અચિન્ત્ય છે એટલા માટે મગવાને કહ્યું છે—“ માયણ સચ્ચદવ્યાણં નહ ઓગાહલક્ષણ ” અવગાહલક્ષણવાળા આકાશ સર્વ દ્રવ્યોનો આધાર છે ભગવાને પોતાના કેવલ જ્ઞાનમા આકાશની અવગાહવાન—અવકાશ આપનારી—શક્તિ બોધને તેને ‘ સર્વ દ્રવ્યોનો આધાર છે ’ એમ નિરૂપણ કયું છે ભગવાનના વચનનો અભિપ્રાય એ છે કે—આકાશની અવગાહનશક્તિ બહુ જ મોટી છે, અને તેમાં સર્વ દ્રવ્યોનો સમાવેશ સરલતાથી થઈ જાય છે

જેવી રીતે દૂધના પરિપૂર્ણ પાત્રમા પતાસા નાખવામા આવે તો તે તેમ

તસ્મિન્ સમાવિશ્વિ । યથા વા મિત્તો શુદ્ધો સમાવેશસ્તથૈવાનન્તદ્રવ્યાનાં  
લોકાકાશે સમાવેશ ઇતિ બોધ્યમ્ ।

નન્વલોકાકાશસ્ય કથ સિદ્ધિ , નાસૌ હિ દ્રવ્યાણામાધારઃ, નાપ્યવકાશદા  
યિત્વ તસ્ય?, ઇતિ ચેત્, ઠચ્યતે—ગતિસ્થિતિકારણયોધર્માધર્મયોરમાવાદેવ ત્વ  
વિદ્યમાનાપિ દ્રવ્યાધારતાશક્તિરવકાશદાનશક્તિશ્ચ નામિવ્યક્તા ભવતિ । તદસ્વીકારે  
તુ જીવદલાનાં કર્મનિગદધિમુક્તસિદ્ધાનાં ચોર્ધ્વગતિવિરામો ન સ્યાત્, મગવત્પતિ-  
બોધિતલોકાલોકવ્યવસ્થાઽપિ ન તિષ્ઠેત્, એવ ચાગમયુક્તિપ્રમાણામ્યામલોકાકાશ  
સિદ્ધમ્ ।

જાતે હૈં, અથવા જૈસે દીવાલ મેં ફીલ કા સમાવેશ હો જાતા હૈં उसी प्रकार लोकाकाश में  
अनन्त द्रव्यों का समावेश हो जाता है ।

સૂક્ત- અલોકાકાશ કી સિદ્ધિ કૈસે હોતી હૈં ? ન તો વહ દ્રવ્યોં કા આધાર હૈં, ન  
અવકાશદાનરૂપ લક્ષણ હી उस में घटित होता है ?

સમાધાન—ગતિ ઓર સ્થિતિ કે કારણ ધર્મ ઓર અધર્મદ્રવ્ય કા અમાવ હોને કે  
કારણ હી અલોકાકાશકી દ્રવ્યાધારતા કી શક્તિ ઓર અવકાશદાનશક્તિ પ્રકટ નહીં હોતી હૈં ।  
અગર અલોકાકાશ ન માના જાયતો જીવોં ઓર પુણ્ણોં કી, તથા ધર્મરૂપી વેદી સે મુક્ત હુય સિદ્ધ  
જીવોં કી ગતિ કા અન્ત હો ન હોગા, ઓર મગવાન્ કી કહી હુઈં લોક અલોક કી વ્યવસ્થા  
મી કાયમ નહીં રહેગી । હસ પ્રકાર આગમ ઓર યુક્તિ પ્રમાણોં સે અલોકાકાશ કી સિદ્ધિ હોતી હૈં ।

(દ્રવ્યમાં) સમાવિષ્ટ—ઓતપ્રોત થઈ બંધ છે, અથવા જેવી રીતે દીવાલમાં કીલ—ખીલીને  
સમાવેશ થઈ બંધ છે, તે પ્રમાણે લોકાકાશમાં અનન્ત દ્રવ્યોના સમાવેશ થઈ બંધ છે

શ કા—અલોકાકાશની સિદ્ધિ કેવી રીતે હોઈ શકે ? તે દ્રવ્યોના આધાર નથી  
અને અવકાશદાનરૂપ લક્ષણ તેનામાં ઘટી શકતું નથી

સમાધાન—ગતિ અને સ્થિતિના કારણ ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યોના અમાવ  
હોવાના કારણે જ અલોકાકાશની દ્રવ્યાધારતાની શક્તિ અને અવકાશદાન—શક્તિ પ્રગટ  
થતી નથી. અથવા અલોકાકાશ માનવામાં નહિ આવે તો જીવો અને પુણ્ણોની,  
તથા ધર્મરૂપી ખેડીથી મુક્ત થયેલા સિદ્ધ જીવોની ગતિનો કથાય અન્ત—છેડો જ  
નહિ આવે અને ભગવાને કહેલી લોક—અલોકની વ્યવસ્થા પણ કાયમ નહિ રહે.  
જે પ્રમાણે આગમ અને મુક્તિ પ્રમાણોથી અલોકાકાશની સિદ્ધિ થાય છે,

અન્યસન્નદ્રવ્યાપેક્ષયા મહત્પરિમાણમાકાશસ્ય, અનન્તપ્રદેશિત્વાત્ ।  
તેનાકાશ મહાસ્કન્ધરૂપમ્ ।

આકાશાસ્તિકાયસ્ય (૧)-અરૂપિત્વમ્, (૨)-અચેતનત્વમ્, (૩)-અક્રિયત્વમ્,  
(૪)-અવગાહદાયિત્વ ચેતિ ગુણા । (૧)-સ્કન્ધ, (૨)-દેશ, (૩)-પ્રદેશ,  
(૪)-અગુરુલઘુત્વ ચેતિ પર્યાયા ।

અયં દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાલ-માવ-ગુણ-મંદન પञ્ચઘા ધ્યાયતે, યથા-દ્રવ્યત્વ એક  
આકાશાસ્તિકાય, ક્ષેત્રતો લોકાલોકપ્રમાણ, કાલત આઘન્તરહિત, માવતો  
રૂપરહિત-વર્ણ-ગન્ધ-રસ-સ્પર્શવર્જિત ઇતિ । ગુણતોઽવગાહદાયી ।

આકાશ કા પ્રમાણ અય સન દ્રવ્યો કો અપેક્ષા નહીં હૈ, ક્યોંકિ વહ અનન્તપ્રદેશી  
હૈ, અત આકાશ મહાસ્કન્ધરૂપ હૈ ।

(૧) અરૂપિત્વ, (૨) અચેતનત્વ, (૩) અક્રિયત્વ, (૪) અવગાહદાયિત્વ, એ  
આકાશાસ્તિકાય કે ગુણ હૈ । (૧) સ્કન્ધ (૨) દેશ (૩) પ્રદેશ તથા (૪) અગુરુલઘુત્વ,  
અસકે પર્યાય હૈ ।

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, માવ ઓર ગુણકે મેદસે આકાશ દ્રવ્ય મૈંત્ર પ્રકાર સે બાના જાતા  
હૈ । જૈસે દ્રવ્ય સે આકાશાસ્તિકાય એક હૈ, ક્ષેત્ર સે લોકાલોકપ્રમાણ હૈ, કાલ સે આદિ-  
અન્ત રહિત હૈ-માવસે અરૂપી હૈ, અસ મૈં વર્ણ, ગન્ધ, રસ ઓર સ્પર્શ નહીં પાવે જાતે ।  
ગુણસે અવગાહ સે વેને જાલા હૈ ।

આકાશનુ પરિમાણ બીજા સર્વ દ્રવ્યોની અપેક્ષાએ મોટું છે, કેમકે તે  
અનન્તપ્રદેશી છે એટલે કે આકાશ મહાસ્કન્ધરૂપ છે

(૧) અરૂપિત્વ (૨) અચેતનત્વ (૩) અક્રિયત્વ (૪) અવગાહદાયિત્વ, એ  
આકાશાસ્તિકાયના ગુણ છે, અને (૧) સ્કન્ધ, (૨) દેશ, (૩) પ્રદેશ, તથા અગુરુ  
લઘુત્વ, તેના પર્યાય છે

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, માવ અને ગુણના લેહથી આકાશ દ્રવ્ય પાંચ પ્રકારથી  
બાણી થકાય છે જેમકે—દ્રવ્યથી આકાશાસ્તિકાય એક છે, ક્ષેત્રથી લોકાલોકપ્રમાણ  
છે, કાલથી આદિ-અન્તરહિત છે, માવથી અરૂપી છે-તેમા વર્ણ, ગન્ધ, રસ અને  
સ્પર્શ નથી, ગુણથી અવગાહ આપવાવાળું છે

## કાલનિરૂપણમ્—

તત્ર કાલશબ્દસ્ય વ્યુત્પત્તિઃ—

કલ્પયતે=પરિચ્છિદ્યતે ઘસ્ત્વનેનેતિ કાલઃ । કરણે ઘઙ્ । ‘માસિકોડયં ચાલ, વાર્ષિકોડયં ચાલ, વાસન્તિકમિદ પુષ્પમ્’ ઇત્યાદિરુપેણ વસ્તૂનાં પરિચ્છેદો=નિર્ભય કાલમાશ્રિત્ય ભવતિ ।

અથવા સ્વભાવતઃ પરિણમદ્વિઃ પદાર્થજાતૈઃ, કલ્પયતે=ગમ્યતે=પ્રાપ્યતે નિમિત્તત્વેનાઝ્ઞૌ, ઇતિ કાલ । સકલવસ્તુપરિણતિહેતુ કાલ ઇત્યગ્રે વક્ષ્યતે ।

## કાલનિરૂપણ—

કાલ શબ્દ કી વ્યુત્પત્તિ—

કિસ કે દ્વારા વસ્તુ કલી જાય અર્થાત્ જાની જાય વહ કાલ હૈ । યહૌ કરણમે ‘ઘઙ્’ પ્રત્યય હુવા હૈ । યહ ચાલક માસિક (એક માસકા) હૈ, યહ ચાલક વાર્ષિક (વર્ષ મરકા) હૈ, યહ ફૂલ વાસન્તિક (વસન્તઋતુસમ્બધી હૈ, ઇસ રૂપમે વસ્તુઓ કા જ્ઞાન કાલ કે દ્વારા હી હોતા હૈ ।

અથવા સ્વભાવસે પરિણત હોને વાલે પદાર્થ સમૂહો દ્વારા નિમિત્ત રૂપમે જો પ્રાપ્ત કિયા જાય વહ કાલ કહલાતા હૈ । ‘કાલ, સમસ્ત વસ્તુઓ કે પરિણમન કા હેતુ હૈ યહ વાત જાગે નતલાઈ જામગી ।

## કાલનિરૂપણ—

કાલ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ—

જેના દ્વારા વસ્તુ બાણી શકાય તે કાલ છે અર્થે ઠરણમાં ‘ઘઙ્’ પ્રત્યય થયો છે “આ બાલક માસિક—એક માસનો છે, આ બાલક વાર્ષિક—એક વર્ષનો છે, આ ફૂલ વાસન્તિક—વસન્તઋતુસંબધી છે” એ રૂપમાં વસ્તુઓના જ્ઞાન કાલ દ્વારા જ થાય છે

અથવા સ્વભાવથી પરિણત થવાવાળા પદાર્થસમૂહો દ્વારા નિમિત્તરૂપમાં જે પ્રાપ્ત કરી શકાય તે કાલ કહેવાય છે “કાલ સમસ્ત વસ્તુઓના પરિણમનનું કારણ છે” એ જ્ઞાનના બતાવવામાં આવશે.

### કાલસ્ય સિદ્ધિ.—

‘પદાર્થા. સન્તિ, અથવા પદાર્થા વર્તન્તે’ इति व्यवहारो वर्तनामूल ।  
 “अनुदात्तेतश्च हलादे”-रिति पाणिनिस्त्रयेण घृतधातोर्युच्प्रत्ययः । वर्तनशीला  
 वर्तना । उत्पत्ति, अप्रच्युति, विद्यमानत्वाख्या वृत्ति.=क्रिया वर्तना । इय  
 वर्तना सर्वेषु भावेषु विद्यते । वर्तना=पदार्थानां परिणामविशेषः । पदार्थानां वर्तना-  
 रूप कार्यं नोपपद्यते विना केनचिन्निमित्तकारणेन, तस्माद् वर्तनारूपकार्योत्पत्तौ  
 यन्निमित्तं धर्मद्रव्यमिव गतौ, स एव काल इत्युच्यते ।

### કાલ કી સિદ્ધિ—

‘પદાર્થાં હે, યા પદાર્થ વર્ત રહે હે’ इस प्रकार के व्यवहार का कारण वर्तना है ।  
 ‘अनुदात्तेतश्च हलादे’ पाणिनि के इस सूत्र से ‘घृतु’ धातु से ‘युच्’ प्रत्यय हुआ है ।  
 वर्तनशील हो उसे वर्तना कहते हैं । उत्पत्ति, अप्रच्युति, और विद्यमानत्वरूप वृत्ति  
 अर्थात् क्रिया वर्तना कहलाती है । यह वर्तना सभी पदार्थों में विद्यमान है । वह पदार्थों का  
 विशेष परिणाम है । पदार्थों का वर्तनारूप कार्य किसी निमित्त कारण विना नहीं हो सकता  
 अतः वर्तनारूप कार्यकी उत्पत्ति में जो निमित्त कारण है, वही काल-द्रव्य है, जिस गति का  
 निमित्त कारण धर्म द्रव्य है ।

### કાલની સિદ્ધિ—

‘પદાર્થાં છે અથવા પદાર્થ વર્ત રહેલ છે’ એ પ્રકારના व्यवहारનું કારણ  
 વર્તના છે ‘अनुदात्तेतश्च हलादे’ पाणिनिના આ सूत्रથી ‘घृतु’ धातुથી ‘युच्’ प्रत्यय  
 થયો છે જે વર્તનશીલ હોય તેને વર્તના કહે છે उत्पत्ति, अप्रच्युति, અને  
 विद्यमानत्वरूप वृत्ति, अर्थात् क्रिया वर्तना કહેવાય છે વર્તના સર્વ પદાર્થોમાં विद्यमान  
 છે તે, पदार्थોનું विशेष परिणाम છે પદાર્થોનું વર્તનારૂપ કાર્ય કોઈ નિમિત્ત કારણ  
 વિના થઈ શકતું નથી તેથી વર્તનારૂપ કાર્યની उत्पत्तिમાં જે નિમિત્ત કારણ છે તે  
 કાલ દ્રવ્ય છે જેની રીતે ગતિનું નિમિત્ત કારણ ધર્મ-દ્રવ્ય છે

તસ્માત્સર્વેણ પરિણામાનાં નિયામક નિમિત્તકારણ કાલ इति सिद्धम् । यया कर्त्तरी वस्तुक्रान्तने निमित्तकारण तथा द्रव्याणां पर्याये निमित्तकारण कालः ।

ક્રિયા=દ્રવ્યપરિણામ । તસ્યા અપિ નિયામક નિમિત્તકારણ કાલઃ । યયા-‘આકાશદેશે-અદ્ગુલિરસ્તિ, આસીત્, મવિવ્યતિ ચ’ इत्यय व्यवहार काल मवलम्ब्य सपद्यते, कालस्यासत्त्वे त्वतीत एव वर्तमानोज्जागतश्च स्यात्, क्रिया-नियामकामावात्, एवमतीतादिविभागाभावे व्यवहारोच्छेदापत्तिः, तस्मात् “अस्ति कालः यमाश्रित्यातीतादिव्यवहारा सुस्पष्ट प्रसिध्यन्ति” इति, मन्तव्यम् ।

નયાપન, પુરાનાપન, ઔર પ્રનષ્ટરૂપ પરિણમન પક સાથ નહીં હોતે હૈં, અતઃ એ સમસ્ત પરિણામોં કા નિયામક નિમિત્ત કારણ કાલ હી સિદ્ધ હોતા હૈં । જૈસે કૈંસી વસ્તુ કાટને મેં નિમિત્ત કારણ હોતી હૈ, ઉસી પ્રકાર દ્રવ્યોં કૈ પરિણમન મેં કાલ નિમિત્ત કારણ હોતા હૈ ।

ક્રિયા દ્રવ્ય કા પરિણામવિશેષ હૈ । ઉસકા નિમિત્ત કારણ મી કાલ હી હૈ । જૈસે ‘આકાશ મેં અગુલી હૈ, મી ઔર હોમી’ इस प्रकार का व्यवहार काल के आश्रित है । કાલ કી સત્તા ન માની જાય તો અતીત હી વર્તમાન ઔર અનાગત ( મવિવ્ય ) હો જાયગા, ન્યોંકિ ક્રિયા કા કોઈ નિયામક નહીં હૈ । इस प्रकार अतीत आवि-कालों का विभाग न रहने से व्यवहार का छोप हो जायगा, अतः “काल अवश्य है, जिस के सहारे अतीत आवि के व्यवहार स्पष्ट रूप से सिद्ध होते हैं” ऐसा मानना ही समुचित है ।

કારણ કાલ જ સિદ્ધ થાય છે જેમકે કાતર, વસ્ત્રને કાપવામા નિમિત્ત કારણ થાય છે, તે પ્રમાણે દ્રવ્યોના પરિણમનમાં કાલ નિમિત્ત કારણ થાય છે

ક્રિયા એ દ્રવ્યનું પરિણામ વિશેષ છે તેનું નિમિત્ત કારણ પણ કાલ જ છે જેમ ‘આકાશમાં આગળી છે, હતી અને હશે’ આ પ્રકારનો વ્યવહાર કાલને આશ્રિત છે કાલની સત્તા ન માનવામાં આવે તો અતીત-ભૂતકાળ જ વર્તમાન અને ભવિષ્ય કાળ થઈ જશે, કેમકે ક્રિયાનો નિયામક કોઈ નથી, આ પ્રમાણે અતીત ભૂતકાળ આદિ કાળોનો વિભાગ નહિ શકેવાથી વ્યવહારનો હોપ થઈ જશે એટલા માટે “કાલ અવશ્ય છે, જેની સહાયતાથી ભૂતકાળ આદિનો વ્યવહાર સ્પષ્ટરૂપથી સિદ્ધ થાય છે” જેમ માનવું તે જ યોગ્ય છે

પ્રતિદિવસમુખ્યકાલિકસકલવસ્ત્રપાત્રાદિપ્રતિષ્ઠેત્વન, પ્રત્યહોરાત્રમુખ્યકાલિક-  
માવશ્યક, ચતુષ્કાલિક સ્વાધ્યાયકરણ મુનીનાં કર્તવ્યતયા મગવતોપદિષ્ટ, તત્ત્વ  
વાચ્યાસત્ત્વે તદ્વિમાગધાનામાત્રેન યથાકાલમનુષ્ઠાતુમશક્ય મુનિમિરિતિ  
શાસ્ત્રાનર્થક્યમાપદેત ।

મિસાર્ધમકાલવર્જનપૂર્વકકાલાનુરોધેન નિષ્ક્રમપ્રતિક્રમકર્તવ્યતા મગવત્પરુપિતા  
શ્રુતિમગ્રજ્યાનાં મિશ્રણાં નષ્ટપ્રાયા સ્યાત્ ।

પ્રતિદિન ઘેનો વક્ત સમસ્ત વસ્ત્ર પાત્ર આદિ કા પ્રતિષ્ઠેત્વન કરના, પ્રત્યેક  
દિન ઔર રાત્રિ કે અન્ત મેં આવશ્યક કરના, ચૌકાલીન સ્વાધ્યાય કરના મગવાને  
મુનિયોં કા કર્તવ્ય વતલાયા હૈ । અગર કાલદ્રવ્ય કી સત્તા ન માની જાય તો દિન રાત  
આદિ કે મેદ કા પતા હી નહીં ચલેગા ઔર સમય પર ઉક્ત સવ કાર્ય નહીં કિયે જા સકેંગે ।  
પસી અવસ્થા મેં શાસ્ત્રોં કા યહ ઉપદેશ નિર્ણયક હો જાયગા ।

“અકાલ કા ત્યાગ કર કે સમુચિત સમય પર મુનિયોં કો મિસા કે લિપ જાના  
ઔર આના ચાદિપ ” મગવાને મુનિયોં કા યહ કતવ્ય વતલાયા હૈ, વાલ્કલ્ય ન  
માનને પર યહ સવ કર્તવ્ય, ઔર ઉનકા ઉપદેશ મી નષ્ટપ્રાય હો જાયગા ।

પ્રતિદિન અન્ને વખત સમસ્ત-તમામ વસ્ત્ર, પાત્ર આદિનુ પ્રતિષ્ઠેત્વન કરવું,  
પ્રત્યેક દિવસ અને રાત્રિના અન્તમા આવશ્યક કરવું, ચૌકાલીન-ચારેય કાલ સ્વાધ્યાય  
કરવે, તે મગવાને મુનિઓનુ કર્તવ્ય બતાવ્યુ છે અગર કાલદ્રવ્યની સત્તા નહિ  
માને તો દિવસ રાત વગેરે લેહને પત્તો મળશે નહિ, અને સમય પર આગળ  
કહેલાં સર્વ કાર્યોં કરી શકાશે નહિ, જોવી અવસ્થામા શાસ્ત્રોંનો જો ઉપદેશ નિર્ણયક  
થઈ જશે.

“અકાલનો ત્યાગ કરીને થોડો સમય પર મુનિઓએ બિશાને માટે જવું-આવવું  
બેઠવું” મગવાને મુનિઓનુ જો કતવ્ય કહ્યું છે કાલદ્રવ્યને નહિ માનવામા આવે  
તો આ સર્વ કર્તવ્ય અને તેમનો ઉપદેશ પણ નષ્ટપ્રાય થઈ જશે.



કિંચ—ગ્રીષ્માદિષુ સયતાનામતાપનાદયો ધર્મા મગધદુક્તા' કાલસત્ત્વ  
 ઓપપદ્યન્તે । અન્યથા ગ્રીષ્માદિકૃતુજ્ઞાનામાધાઈ મગધદુપદિષ્ટક્રિયાહાનિ પ્રસજ્યેત ।  
 એવં ચ વર્તના, પરિણામઃ, ક્રિયાથ દ્રવ્યસ્વમાવાઃ કાલમાશ્રિત્ય ભવન્તીતિ  
 નિરૂપિતમ્ ।

પરાપરવ્યતિકરણાનમપિ કાલેનૈવ સપદ્યતે । વિમક્રુષ્ટઃ ફાનિષ્ઠપર્યાયો મુનિઃ  
 ક્ષેત્રેણ પરોઽપિ કાલેનાપરઃ, સનિકૃષ્ટો જ્યેષ્ઠપર્યાયો મુનિઃ, ક્ષેત્રેણાપરોઽપિ

હસકે અતિરિક્ત ગ્રીષ્મ આદિ ઋતુઓ મેં સાધુઓ કે સ્થિતે મગવાનને આતાપના  
 આદિ ધર્મોકા ઉપદેશ દિયા છે, કાલ કે હોને પર હી મહ ઉપદેશ ધન સકતા છે ।  
 કાલ કે અમાવ મેં ગ્રીષ્મ ઋતુ કા હી જ્ઞાન નહીં હોગા ઓર મગવાન દ્વારા ઉપદિષ્ટ ક્રિયા  
 કી હાનિ હો જાયગી ।

યહાં તક યહ વતલાયા જા જુકા કિં વર્તના, પરિણામ ઓર ક્રિયા, જો કિં દ્રવ્ય  
 કે ત્વમાવ હૈં, કાલ કે સદારે હી હોતે હૈં ।

પરત્વ ઓર અપરત્વ કા મિલા-જુલા સા જ્ઞાન મી કાલ દ્વારા હી હોતા  
 છે । દૂરવર્તી ઓટીટીક્ષાપર્યાયવાલા મુનિ દૂર હોને કે કારણ ક્ષેત્ર સે પર હોને  
 પર મી ( વીક્ષા મેં ઓટા હોને કે કારણ ) કાલ સે અપર કહલાતા છે । સમીપવર્તી  
 છે, મગર જ્યેષ્ઠવીક્ષાપર્યાયવાલા મુનિ ક્ષેત્ર સે અપર હોને પર મી કાલ સે પર  
 કહલાતા છે । યહાં 'પર' મી 'અપર' હો ગયા છે ઓર 'અપર' મી 'પર' બના ગયા છે ।

તે સિવાય ગ્રીષ્મ આદિ ઋતુઓમા સાધુઓ માટે મગવાને આતાપના આદિ  
 ધર્મોના ઉપદેશ આપ્યો છે, કાલ દ્રવ્યને માનવામાં આવે તો જ, અથવા કાલ દ્રવ્ય  
 હોય તો જ એ ઉપદેશ પડી શકે છે કાલના અભાવમા ગ્રીષ્મ ઋતુનું જ્ઞાન થશે  
 નહિ, અને મગવાને કહેલી ક્રિયાની હાનિ થઈ જશે.

અહિં સુધી બતાવી ચૂક્યા કે વર્તના, પરિણામ અને ક્રિયા, જો કે દ્રવ્યનો  
 સ્વભાવ છે, કાલની સહાયતાથી જ થાય છે

પરત્વ અને અપરત્વનું મિલા-જુલા જેવું જ્ઞાન પણ કાલદ્વારા જ  
 થાય છે દૂરવર્તી, નાની વીક્ષા-પર્યાયવાળા મુનિ દૂર હોવાના કારણે ક્ષેત્રથી પર હોવા  
 છતાંય પણ (વીક્ષામા નાના હોવાના કારણે) કાલથી અપર કહેવાય છે, સમીપવર્તી છે  
 પણ જ્યેષ્ઠ-મોટીવીક્ષાપર્યાયવાળા મુનિ ક્ષેત્રથી અપર હોવા છતાંય કાળથી પર કહેવાય  
 છે અહિં 'પર' પણ 'અપર' થઈ ગયો છે અને 'અપર' પણ 'પર' બની ગયો છે

કાષ્ટેન પર ઇત્યુચ્યતે । અત્ર પરસ્પરસ્ત્વમ્ ; અપરસ્ય પરત્વમિતિ પરાપરવ્યતિ-  
કરઃ X કારણં વિના ન સમવતિ, યદત્ર કારણ સ એવ કાલ ।

યૌગપદ્યાયૌગપદ્યપ્રત્યયેનાપિ કાલદ્રવ્યસ્યાસ્તિત્વ સિધ્ધ્યતિ । ‘આમ્યાં  
યુગપદધીતો દૃષ્ટિવાદ ’ ‘એમિસ્તુ મુનિમિરયુગપત્ પઠિતા દ્વાદશાઙ્કી’ ઇતિ વાક્ય-  
તોડધ્યયનગતયૌગપદ્યાયૌગપદ્યમતીતૌ કાલમન્તરેણાન્યન્નિમિત્ત નોપલભ્યતે, યદ્વ  
નિમિત્ત સ કાલ’ ।

X ‘પરસ્પરવિષયગમન વ્યતિકર’ ।

પર ઓર અપરકા યહ વ્યતિકર+ કારણ કે વિના સમવ નહીં હૈ, અતઃ એવ ઇસ  
વ્યતિકર મેં જો કારણ હૈ, તસ વહી કાલ હૈ ।

યૌગપદ્ય (એક સાથ) ઓર અયૌગપદ્ય (આગે-પીછે) કા જો જ્ઞાન  
હોતા હૈ તસ સે મી કાલદ્રવ્ય કા અસ્તિત્વ સિદ્ધ હોતા હૈ । “ઇન દોનો મુનિઓને  
એક સાથ દૃષ્ટિવાદ કા અધ્યયન કિયા” ઓર “ઇન મુનિઓને વારહ બ્રહ્મ એક સાથ નહીં  
પદે-આગે પીછે પદે હૈ”-ઇસ વાક્ય સે યૌગપદ્ય ઓર અયૌગપદ્ય કા-એક સાથ કા  
ઓર આગે પીછે કા-જો જ્ઞાન હોતા હૈ તસમેં કાલ કે અસ્તિત્વ કે સિવાય ઓર કોઈ  
કારણ નહીં પાયા જાતા । જો કારણ હૈ વહી કાલ હૈ ।

+ ‘પરસ્પરવિષયગમન વ્યતિકર’, અર્થાત્ એક કા વિષય દૂસરે મેં ચલા જાના  
વ્યતિકર કહજોતા હૈ, જૈસે-પર કા અપર હો જાના ઓર અપર કા પર હો જાના ।

પર અને અપરના એ વ્યતિકર કારણ વિના સમવ નથી, તેથી એ  
વ્યતિકરના એ કારણ છે, એસ તેજ કાળ છે

યૌગપદ્ય-એક સાથે અને અયૌગપદ્ય-આગળ-પાછળનું જે જ્ઞાન થાય છે,  
તેમા પણ કાલદ્રવ્યનું અસ્તિત્વ સિદ્ધ થાય છે “જો બન્ને મુનિઓએ એક સાથે  
દૃષ્ટિવાદનું અધ્યયન કર્યું” અને “જો મુનિઓએ બાર એકબીજાનું એક સાથે અધ્યયન  
કર્યું” નથી-આગળ-પાછળ અધ્યયન કર્યું છે” આ વાક્યથી યૌગપદ્ય અને  
અયૌગપદ્યનું એક સાથેનું અને આગળ-પાછળનું જે જ્ઞાન થાય છે તેમા કાલ વિના  
બીજું કોઈ કારણ દેખાતું નથી જે કારણ છે તે જ કાળ છે

+પરસ્પરવિષયગમન વ્યતિકર” અર્થાત્-એકનો વિષય બીજામા આવ્યો બધ  
તે વ્યતિકર કહેવાય છે જેવી રીતે-પરનું અપર થઈ જવું અને અપરનું પર થઈ જવું

ચિરસ્થિતમસ્ત્વયોઽપિ કાલમાસઘૈય જાગર્તિ । યથા-અનેન મહાત્મા  
ચિરં તપશ્ચરિતમ્, ગજસુકુમાલેન સિપ્રમાત્મકલ્યાણ-કૃતમ્-ઉત્પાદિવાચ્યેસ્તપ  
શ્ચરણકલ્યાણસાધનાદીનાં વિલમ્બાવિલમ્બપ્રતીતિઃ કાલાભાવે સતિ નોપપદ્યેત ।

શ્વોઽઘ પરશ્વ-ઈત્યાદય કાલામિધાયિન શબ્દાઃ કાલાલ્પમર્થ  
ગમયન્તિ । સર્વજ્ઞેન મગવતોન્નાચરિતત્વાદિમે શબ્દા યથાર્થવસ્તુબોધકા રૂપશબ્દક  
અસમસ્તપદત્વાત્, શુદ્ધૈકપદત્વાચ પ્રસિદ્ધ સદ્બૃહતમયમાવદયન્તિ કાલશબ્દાદય

વર્તનાદેતુત્વા ઽસ્તિત્વ-ઐયત્વાદિગુણાશ્રયત્વા, અતીતાનાગતવર્તમાનાદિપર્વા

ક્લ્લી ઓર દેર કા જ્ઞાન મી કાલ કે કાળ હી હોતા હૈ, જૈસે-“હસ  
મહાત્મા ને ચિરકાલ તક તપ ક્રિયા, ગજસુકુમાલ મુનિન શીખ હી આર્મકન્યાણ કર  
લિયા ।” ઇત્યાદિ વાક્યો સે તપશ્ચરણ ઓર કન્યાણ-સાધન આદિમાં વિલમ્બા ઓર  
અવિલમ્બ કા જ્ઞાન કાલ કે અભાવ મેં નહીં હો સકતા ।

‘કલ, આઝ, પરસા’ ઇત્યાદિ કાલવાચક શબ્દ મી કાલનામક શબ્દ જો  
પ્રકટ કરતે હૈ । સર્વજ્ઞ મગવાન કે દ્વારા ઉચ્ચારણ ક્રિયે હુવ યે કાલ આદિ વસ્તુ  
વાસ્તવિક વસ્તુ કે બોધક હૈ, ક્યોંકિ યહ સમાસરહિત પદ હૈ ઓર શુદ્ધ એક પદ હૈ ।  
જો પદ સમાસરહિત ઓર શુદ્ધ એક પદ હોતે હૈ તે વાસ્તવિક પદાર્થ કે હી બોધક  
હોતે હૈ, જૈસે રૂપ આદિ ।

વર્તનાદેતુત્વ, અસ્તિત્વ, ઐયત્વ, આદિ ગુણો કા આધાર હોને સે, તથા  
અર્તત્વ, અનાગત (ભવિષ્યત્) ઓર વર્તમાન આદિ પુર્યાયા કા આશ્રય હોને સે કાલ

ક્લ્લી-સુસ્ત અને લીલનુ જ્ઞાન પણ કાલના કારણથી જ થાય છે જેમ-“આ  
મહાત્માએ લાગા સમય સુધી તપ કર્યું, જગસુકુમાલ મુનિએ સુસ્તમાં આસિદ્ધિ  
કરી લીધુ ” ઇત્યાદિ વાક્યોથી તપશ્ચરણ અને કલ્યાણસાધન વગેરેમાં વિલમ્બ અને  
અવિલમ્બનું જ્ઞાન કાલના અભાવમાં થઈ શકશે નહિ ।

‘ગઈ કાલ, આવતી કાલ, આજ, પરમ કિલેસે’ ઇત્યાદિ કાલવાચક શબ્દ પૂર્ણ  
કાલ નામના દ્રવ્યને પ્રકટ કરે છે, સર્વજ્ઞ ભગવાન દ્વારા કહેવામાં આવેલા ‘જે કાલ  
આદિ શબ્દ વાસ્તવિક વસ્તુના બોધક છે, કેમકે જે સમાસરહિત પદ છે અને શુદ્ધ  
એક પદ છે તે પદ સમાસરહિત અને શુદ્ધ એક પદ હોય છે, તે વાસ્તવિક  
પદાર્થના જ બોધક હોય છે જેમ રૂપ આદિ

વર્તનાદેતુત્વ, અસ્તિત્વ, ઐયત્વ આદિ ગુણોના આધાર હોવાથી, તથા શૂનકાલ,  
ભવિષ્યકાલ અને વર્તમાનકાલ આદિ પુર્યાયોના આશ્રય હોવાથી, કાલનું દ્રવ્યપણું

‘યાથયતયા ચ તસ્ય દ્રવ્યસ્વં સિદ્ધયતિ, તસ્માત્ ‘પૃષ્ઠં દ્રવ્ય કાલઃ’ ઇતિ’ યુત્તયોપ-  
પત્ત્યા ચ સિદ્ધમ્ ।

આગમોડ્ડ્યપ્ર પ્રમાણમિતિ ચધુરુદ્ધાટચ પદ્ય—

“કહ્ ન મતે ! દન્વા, પળ્ણત્તા ? , ગોયમા છ દન્વા પળ્ણત્તા, ત જહા-  
ધમ્મત્થિકાણ, અધમ્મત્થિકાણ, આગામત્થિકાણ, પુગ્ગલત્થિકાણ, જીવત્થિકાણ,  
અદ્દાસમણ, ” ઇતિ ।

પતિ ‘વલુ’ મદન્તે ! દ્રવ્યાણિ પ્રજ્ઞપ્તાનિ ? , ગૌતમ ! પદ્ દ્રવ્યાણિ પ્રજ્ઞપ્તાનિ,  
તાનિ યથા-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશસ્તિકાય, પુદ્ગલસ્તિકાય,  
જીવાસ્તિકાય, અદ્દાસમય । ઇતિ ચ્છાયા ।

‘કહ્વિહા ન મતે ! સન્વદન્વા પળ્ણત્તા ? , ગોયમા ! છન્વિહા સન્વદન્વા  
પળ્ણત્તા, તંજહા-ધમ્મત્થિકાણ, જાવ અદ્દાસમણ’ ઇતિ । (ભગવતી શૃ ૨૫, ૩૦ ૪)

દ્રવ્યપન સિદ્ધ હોતા હૈ, અંતગ્વ યુક્તિ તથા ઉપપત્તિ સે કાલ્પનામક છટા દ્રવ્ય  
સિદ્ધ હુઆ ।

આન્વ સ્તોત્ કર દેખો, ઇસ વિષય મેં આગમ-પ્રમાણ મી વિધમાન હૈ—

“કહ્ ન મતે ! દન્વા પળ્ણત્તા ! ગોયમા ! છ દન્વા પળ્ણત્તા, તંજહા  
ધમ્મત્થિકાણ, અધમ્મત્થિકાણ, આગામત્થિકાણ, પુગ્ગલત્થિકાણ, જીવત્થિકાણ,  
અદ્દાસમણ । ”

સિદ્ધ થાય છે એટલા કારણથી યુક્તિ તથા ઉપપત્તિ (પુરાવા-પ્રમાણ)થી કાલ્પ  
નામનુ છટુ દ્રવ્ય સિદ્ધ થાય છે

આખ ઉધારીને બુઝો, આ વિષયમા આગમ-પ્રમાણ પલુ વિધમાન છે—

“કહ્ ન મતે ! દન્વા પળ્ણત્તા ? , ગોયમા ! છ દન્વા પળ્ણત્તા, તંજહા  
ધમ્મત્થિકાણ, અધમ્મત્થિકાણ, આગામત્થિકાણ, પુગ્ગલત્થિકાણ, જીવત્થિકાણ, અદ્દાસમણ ” ।

અર્થાત્—‘ભગવન્’ દ્રવ્ય કટલા છે ? ગૌતમ ! દ્રવ્ય છ છે-ધર્માસ્તિકાય,  
અધર્માસ્તિકાય, આકાશસ્તિકાય, પુદ્ગલસ્તિકાય, જીવાસ્તિકાય અને અદ્દાસમય  
અર્થોત્ કાલ્પ ।

તથા—“કહ્વિહા ન મતે ! સન્વદન્વા પળ્ણત્તા ? , ગોયમા ! છન્વિહા સન્વદન્વા  
પળ્ણત્તા, તંજહા-ધમ્મત્થિકાણ, અધમ્મત્થિકાણ, જાવ અદ્દાસમણ । ”

કતિવિધાનિ સ્વલ્ભ મદન્ત ! સર્વદ્રવ્યાણિ પ્રજ્ઞપ્તાનિ , ગૌતમ !  
પદ્ધતિવિધાનિ સર્વદ્રવ્યાણિ પ્રજ્ઞપ્તાનિ, તાનિ યથા-ધર્માસ્તિકાય , અધર્માસ્તિકાય,  
યાવત્-અદ્વાસમય, ઇતિ ચ્છાયા ।

“ ધમ્મો અધમ્મો આગાસ, દ્વંવ્વં ઇફિકમાહિયં ।

અણંતાણિ ય દ્વંવ્વાણિ, કાલો પુદ્ગલ જંતવો ” ॥૮॥ ( ઉત્ત ૦ અ ૦ ૨૮ )

ધર્મોઽધર્મઃ આકાશ, દ્રવ્યમેકેકમારુયાતમ્

અનન્તાનિ ચ દ્રવ્યાણિ, કાલઃ પુદ્ગલા જન્તવ । ઇતિ ચ્છાયા ।

કાલસ્ય સ્વરૂપમ્—

અર્ધતતીયદ્વીપવ્યાપી, નિર્વિમાગોઝ્ઞાધર્પયસિતઃ,

एकोवर्तमान समय कालपदार्थ । एकस्वादेयास्तिकायो नायम् ।

અર્થાત્—‘મગવન્ ! સર્વ દ્રવ્ય કિતને હૈં ?’ ‘ગૌતમ ! સર્વ દ્રવ્ય છદ્દ હૈં—  
ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય યાવત્ અદ્વા-સમય’ (મગવતીસૂત્ર શ ૨૫ ઉ ૪)

ઉત્તરાખ્યયન સૂત્ર ( અ ૨૮ ) મેં મી કહા હૈ— ‘ધર્મ, અધર્મ ઓર આકાશ દ્રવ્ય  
એક એક કહે ગયે હૈં । કાલ, પુદ્ગલ ઓર જીવ અનન્ત-અનન્ત હૈં ’ ઇતિ ।

કાલ का स्वरूप—

સમયક્ષેત્રવ્યાપી, નિર્વિમાગ, આધન્ટરહિત, એકપ્રવેશરૂપ વર્તમાન સમય કો  
‘કાલ’ કહેતે હૈં । મહ એક હોને કે કારણ અસ્તિકાય નહીં હૈં ।

અર્થાત્—‘મગવન્ ! સર્વ દ્રવ્ય કંટલા છે ? ગૌતમ ! સર્વ દ્રવ્ય છ છે-ધર્માસ્તિકાય  
અધર્માસ્તિકાય યાવત્ અદ્વાસમય’ (મગવતી શ ૨૫ ઉ ૪) ઉત્તરાખ્યયનસૂત્ર  
( અ ૨૮ ) માં પણ કહ્યું છે—ધર્મ, અધર્મ, અને આકાશ દ્રવ્ય એક એક કહ્યું છે,  
કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ અનન્ત-અનન્ત છે

કાલનું સ્વરૂપ—

સમયક્ષેત્ર (અદ્વીતીય) વ્યાપી, નિર્વિમાગ (જેને કાલ ન પડે તેણે), આધન્ટ-  
રહિત, એકપ્રવેશરૂપ વર્તમાન સમયને કાલ કહે છે, આ એક કોવાના કારણથી  
‘અસ્તિકાય’ નથી

સૂર્યચન્દ્રાદિજ્યોતિષ્કાણાં ગતિમાશ્રિત્ય કાલવિભાગો ભવતિ, ગતિશ્ચ મનુષ્યલોકામ્યન્તર ઇવ તપામ્ । દિવસરાત્રિમુહૂર્તપક્ષમાસઋત્યનવર્ષયુગાદીનાં વિભાગ મૂર્યાદિગત્યેવ લોકે ભવતિ । એવમતીતવર્તમાનાદયો વિભાગા । યસ્તુ સમ્યાતુમશક્ય ઉપમાનમાત્રાવગમ્ય કાલઃ સોઽસંરયેય, યથા-પલ્યોપમ, સાગરોપમ ઇત્યાદિ । અસમ્યેયાદિકાલજ્ઞાનમપિ ભગવતા મનુષ્યલોકપ્રસિદ્ધોપમાનમદર્શનેન પ્રરૂપિતમ્ ।

સૂર્ય ચન્દ્ર આદિ જ્યોતિષ્કા કી ગતિ કા આશ્રયણ કર કાલ કા વિભાગ હોતા હૈ । સૂર્ય ચન્દ્ર આદિ જ્યોતિષ્કા કી ગતિ મનુષ્યલોક ક અન્દર મેં હી હોતી હૈ । દિન, રાત, મુહૂર્ત, પક્ષ, માસ, ઋતુ, અયન, વર્ષ, યુગ આદિ કા વિભાગ સૂર્ય આદિ કી ગતિ સ હી લોક મ હોતા હૈ । इसी प्रकार अतीत, वर्तमान आदिका विभाग भी समझना चाहिये । जिसकी सट्या नहीं हो सकती, जो उपमान मात्र स गम्य है, वह काल असम्यय है, जैसे—पल्योपम, सागरापम, इत्यादि । असम्यय आदि काल का ज्ञान भी मनुष्यलोकप्रसिद्ध उपमान का प्रदर्शन करके भगवान ने प्ररूपित किया है, समय आवलिका आदि सूक्ष्म काल तो सूर्यादि ज्योतिष्का की गति से नहीं जाना जाता है, क्या कि वह अति सूक्ष्म है । इस लिये कालका व्यवहार समयक्षेत्र के भीतर ही होता है । समयक्षेत्र के बाहर जीवा के आयुष्य आदि की गणना मनुष्यक्षेत्रप्रसिद्ध प्रमाण से ही होती है ।

સૂર્ય ચન્દ્ર આદિ જ્યોતિષ્કાની ગતિના આશ્રયથી કાલનો વિભાગ થાય છે, સૂર્ય ચન્દ્ર આદિ જ્યોતિષ્કાની ગતિ મનુષ્ય લોકમાં જ હોય છે દિન, રાત, મુહૂર્ત, પક્ષ, માસ, ઋતુ, અયન, વર્ષ, યુગ આદિના વિભાગ સૂર્ય આદિની ગતિથી જ લોકમાં થાય છે આ પ્રકારે અતીત (ભૂતકાળ) વર્તમાન આદિના વિભાગ પણ સમજવા બેઠાએ જેની ગણતરી ન થઈ શકે, જે ઉપમાન માત્રથી જમ્ય (સમજી શકાય તેવું) છે, તે કાલ અસમ્યય છે, જેમકે—પલ્યોપમ, સાગરોપમ, ઇત્યાદિ. અસમ્યય આદિ જાણતું જ્ઞાન પણ ભગવાને મનુષ્યલોકપ્રસિદ્ધ ઉપમાનનું પ્રદર્શન કરી પ્રરૂપિત કર્યું છે સમય, આવલિકા આદિ સૂક્ષ્મ કાલ તો સૂર્યાદિ જ્યોતિષ્કાની ગતિથી પણ જાણી શકાતું નથી, કેમકે તે અતિ સૂક્ષ્મ છે આથી કાલનો વ્યવહાર સમયક્ષેત્ર-અર્થે દ્રીપનાં અંદર જ થાય છે, સમયક્ષેત્રથી બહાર જીવોની આયુષ્ય આદિની ગણના થાય છે તે મનુષ્યક્ષેત્રપ્રસિદ્ધ પ્રમાણથી જ થાય છે, એમ સમજી લેવું

સમયાવલિકાદિમુક્તકાલસ્તુ સૂર્યાદિષ્યોતિષ્કાણાં । ગત્યા 'નાશગમ્',  
અતિમુક્તત્વાત્ । તસ્માત્ કાલવ્યવહારોઽર્ધતૃતીયઢીપ ણ્ય । અર્ધતૃતીયઢીપાદિ  
જીવાનામાયુષ્કાદિગણના તુ મનુષ્યક્ષેત્રમસિદ્ધપ્રમાણેનૈવ ભવતીતિ શ્રેયમ્ ।

एकोऽपि कालोऽतीतानागतपर्यायभेदैरनन्तः, अत एव भगवता—“अणताणि  
य द्वाणि कालो पुगल जतवो” इत्युपदिष्टम् । वर्तमानसमयस्य तु पर्यायत्वेऽपि  
नानन्त्यम्, एकरूपत्वात् ।

નિશ્ચયનયેન તુ “લોકવ્યાપી કાલઃ” इत्यवसीयते, अत एव भगवता—  
“धम्मो अधम्मो आगास कालो पुगल जतवो । एस लीगोत्ति पन्नसो जिणेहि  
वरदंसिहि” । इत्यभिहितम् । धर्मोऽधर्म आकाश काल पुद्गल जन्तव । एष लोक  
इति महस , जिनवरदंशिम् । इति च्छाया ।

કાલ યથાપિ એક હી છે, તો મી વહ મૂલ-મલિચ્ચપર્યાય ભેદ સે અનન્ત છે,  
इसीलिये भगवानने कहा है—‘अणताणि य द्वाणि कालो पुगल जतवो’ इति ।—  
કાલ, પુદ્ગલ ઔર जीव, ये सभी अनन्त हैं । वर्तमान समय पर्यायसहित होते हुए भी  
अनन्त नहीं है, क्योंकि वह एक ही है ।

નિશ્ચયનય સે તો કાલ લોકવ્યાપી માના જાતા છે, અતએવ ભગવાનને કહા છે—

“धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुगल जतवो ।

एस लीगोत्ति पन्नसो जिणेहि वरदंसिहि” ॥ १ ॥

જો કે કાલ એક જ છે તો પણ ભૂત ભવિષ્યના કોઈથી અનન્ત, છે, તેથી  
भगवानने कहे—‘अणताणि य द्वाणि कालो पुगल जतवो’ इति, काल पुद्गल  
अने जीव जो सभी अनन्त છે, वर्तमान समय पर्यायसहित होवा छता પણ  
अनन्त नहीं है, केमके ते जोक ज छे

નિશ્ચયનયથી તો કાલ લોકવ્યાપી માનવામાં આવે છે આથી ભગવાને કહ્યું છે કે—

“धम्मो अधम्मो आगास, कालो पुगल जतवो ॥ १ ॥

एस लीगोत्ति पन्नसो जिणेहि वरदंसिहि” ॥ १ ॥

वरदंशि—લોકલોકને એવાવાળા જિન ભગવાને ‘धर्मोऽस्ति’કાય, अधर्मोऽस्ति’કાય,  
आकाशास्ति’કાય, કાલ, ‘पुद्गलास्ति’કાય અને ‘जीवास्ति’કાય, એજ લોક છે ‘એમ’કાય છે

एष सामान्यरूपेण प्रसिद्धो लोकः-अनन्तरोक्तद्रव्यपदसमुदायरूप इति भावः ।

कालस्य—(१)-अरूपित्वम्, (२)-अचेतनत्वम्, (३)-अक्रियत्वम्, (४)-वर्तनाहेतुत्व चेति गुणाः । (१)-अतीतत्वम्, अनागतत्वम्, (२)-वर्तमानत्व, (३)-अगुरुषुत्व चेति पर्यायाः ।

अयं द्रव्यक्षेत्रकालभावगुणभेदेन पञ्चधा हायते । यथा—द्रव्यत-एकः काल क्षेत्रत-अर्द्धतृतीयद्वीपप्रमाण, कालत-आद्यन्तरहित, भावत-अरूपी-वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जित इति, गुणत-वर्तनालक्षण, इति ।

वरदशी-लोकालोक को देव्यनवाल जिन भगवानने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, इन सबको अर्थात् इनके समुदाय को लोक कहा है ।

उपरिनिर्दिष्ट छ द्रव्यों के समुदाय को भगवानने सामान्यतया लोक कहा है ।

काल के-अरूपित्व, अचेतनत्व, अक्रियत्व, वर्तनाहेतुत्व, ये चार गुण हैं । अतीतत्व, अनागतत्व, वर्तमानत्व, अगुरुषुत्व, ये चार पर्याय हैं ।

यह काल-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के भेद से पांच प्रकार से जाना जाता है । जैसे—द्रव्य से काल एक है, क्षेत्र से समयक्षेत्रप्रमाणवाला, काल से आद्यन्तरहित, भाव से अरूपी, अर्थात्-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित, और गुण से वर्तनालक्षणवाला है ।

उपरिदृशीवेला छ द्रव्योना समुहायने भगवाने सामान्य रीते लोक कहल छ

भागना-अरूपित्व, अचेतनत्व, अक्रियत्व अने वर्तनाहेतुत्व, ओ वार शुषु छ अने, अतीतत्व, अनागतत्व, वर्तमानत्व, तथा, अगुरुषुत्व ओ वार पर्याय छ

आ-भाग-द्रव्य, क्षेत्र, भाग, भाव अने शुषुना वेदशी पांच प्रकारे ज्ञाय छ, नेमके-द्रव्यथी भाग ओक, क्षेत्रथी अदीक्षीप प्रमाण, कालथी आद्यन्तरहित, भावथी अरूपी-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित छ, अने शुषुथी वर्तनालक्षणवाला छ



સમયાવલિકાદિચુક્તકાલસ્તુ મૃત્યાદિચ્યોતિષ્કાણાં । ગત્યા નાશગમ્, અતિસૂક્ષ્મત્વાત્ । તસ્માત્ કાલચ્ચવહારોઽર્ધતૃતીયદ્વીપ एव । अर्द्धतृतीयद्वीपाद्विर्जीवानामायुष्कादिगणना तु मनुष्यक्षेत्रप्रसिद्धप्रमाणेनैव भवतीति ज्ञेयम् ।

एकोऽपि कालोऽतीतानागतपर्यायभेदैरनन्तः, अत एव भगवता—“अणताणि य द्रव्वाणि कालो पुंगल जंतवो” इत्युपदिष्टम् । वर्तमानसमयस्य तु पर्यायत्वञ्च नानन्त्यम्, एकरूपत्वात् ।

નિશ્ચયનયેન તુ “લોકવ્યાપી કાલ” ઇત્યવસીયતે, અત એવ ભગવતા—“ઘમ્મો અઘમ્મો આગાસં કાલો પુંગલ જતવો । એસ લોગોત્તિ પન્નતો જિણેહિ વરદંસિદ્ધિ” । ઇત્યમિદ્ધિત્તમ્ । ધર્મોઽધર્મ આકાશ કાલ પુદ્ગલ જન્તવ । એવ નોક ઇતિ પ્રશ્ન, જિનવરદંશિમિ । ઇતિ પ્છાયા ।

કાલ યદપિ એક હી છે, તો મી વહ મૂલ—અવિન્યત્પર્યાય મેઠ સ અનન્ત છે, ઇસીછિયે ભગવાને કહા છે—‘અણતાણિ ય દ્રવ્વાણિ કાલો પુંગલ જતવો’ । ઇતિ ।—કાલ, પુદ્ગલ ઓર જીવ, યે સમી અનન્ત હે । વર્તમાન સમય પર્યાયસહિત । હોતે હુપ મી અનન્ત નહીં છે, ક્યોંકિ વહ એક હી છે ।

નિશ્ચયનય સે તો કાલ લોકવ્યાપી માના જાતા છે, અતએવ ભગવાને કહા છે—

“ઘમ્મો અઘમ્મો આગાસં, કાલો પુંગલ જતવો ।  
એસ લોગોત્તિ પન્નતો જિણેહિ વરદંસિદ્ધિ” ॥ ૧ ॥

જો કે કાલ એક જ છે તો પણ મૂલ અવિન્યતા સેદથી અનન્ત છે, તેમજ ભગવાને કહ્યું છે—‘અણતાણિ ય દ્રવ્વાણિ કાલો પુંગલ જતવો’ ઇતિ, કાલ પુદ્ગલ અને જીવ એ દ્રવ્યો અનન્ત છે વર્તમાન સમય પર્યાયસહિત હોવા છતાં પણ અનન્ત નથી કેમકે તે એક જ છે

નિશ્ચયનયથી તો કાલ લોકવ્યાપી માનવામાં આવે છે એથી ભગવાને કહ્યું છે કે—  
“ઘમ્મો અઘમ્મો આગાસં, કાલો પુંગલ જતવો” ॥ ૧ ॥  
એસ લોગોત્તિ પન્નતો જિણેહિ વરદંસિદ્ધિ” ॥ ૧ ॥

વરદંશિ—લોકલોકને એવાવાળા જિન ભગવાને ‘ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, કાલ, પુદ્ગલાસ્તિકાય અને’ જીવાસ્તિકાય, એજ લોક છે’ એમ કહ્યું છે

एष सामान्यरूपेण प्रसिद्धो लोकः—अनन्तरोक्तद्रव्यपदकसमुदायरूप इति भाव ।

કાલસ્ય—(૧)—અરૂપિત્વમ્, (૨)—અચેતનત્વમ્, (૩)—અક્રિયત્વમ્, (૪)—વર્ચનાહેતુત્વં ચેતિ ગુણા. । (૧)—અતીતત્વમ્, અનાગતત્વમ્, (૨)—વર્તમાનત્વ, (૩)—અગુરુલઘુત્વ ચેતિ પર્યાયા. ।

अयं द्रव्यक्षेत्रकालभावगुणभेदेन पञ्चधा ज्ञायते । यथा—द्रव्यत एक, काल क्षेत्रत—अद्वैततीयद्वीपप्रमाण, कालत—आद्यन्तरहित, भावत—अरूपी—वर्णगन्धरसस्पर्शवर्जित इति, गुणत—वर्तनालक्षण, इति ।

વરદર્શી—લોકાલોક કો દેસનેવાલે શ્રિન ભગવાનને ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશસ્તિકાય, કાલ, પુદ્ગલસ્તિકાય, ઔર જીવાસ્તિકાય, इन सबको अर्थात् इनके समुदाय को लोक कहा है ।

उपरिनिर्दिष्ट छ द्रव्यों के समुदाय को भगवानने सामान्यतया लोक कहा है ।

કાલ કે—અરૂપિત્વ, અચેતનત્વ, અક્રિયત્વ, વર્ચનાહેતુત્વ, ये चार गुण हैं । अतीतत्व, अनागतत्व, वर्तमानत्व, अगुरुलघुत्व, ये चार पर्याय हैं ।

यह काल-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के भेद से पांच प्रकार से जाना जाता है । जैसे—द्रव्य से काल एक है, क्षेत्र से समयक्षेत्रप्रमाणवाला, काल से आद्यन्तरहित, भाव से अरूपी, अर्थात्—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित, और गुण से वर्तनालक्षणवाला है ।

उपरि द्शेयता छ द्रव्योना समुदायने भगवाने सामान्य रीते बोध छे छे छे

જાણના—અરૂપિત્વ, અચેતનત્વ, અક્રિયત્વ અને વર્તનાહેતુત્વ, એ ચાર ગુણ છે અને, અતીતત્વ, અનાગતત્વ, વર્તમાનત્વ, તથા, અગુરુલઘુત્વ એ ચાર પર્યાય છે

આ જાણ-દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, જાણ, ભાવ અને ગુણના બેઠથી પાંચ પ્રકારે જણાય છે, જેમકે—દ્રવ્યથી જાણ ક્ષેત્ર, ક્ષેત્રથી અદ્વીદીપ પ્રમાણ, કાલથી આદ્યન્તરહિત, ભાવથી અરૂપી-વર્ણ-ગન્ધ-રસ-સ્પર્શ-રહિત છે, અને ગુણથી વર્તનાલક્ષણવાળો છે

। ॥ સમયાવલિકાદિયુક્તકાલસ્તુ મર્યાદિચ્છ્યોત્તિષ્ઠાણા ॥ ગત્યા નાવગમ્ય,  
અતિયુક્તત્વાત્ । તસ્માત્ કાલન્યયહારોઽર્ધતૃતીયદ્વીપ ણ્ય । અર્ધતૃતીયદ્વીપાદિ  
જીવાનામાયુષ્કાદિગણના તુ મનુષ્યધેનુમસિદ્ધપ્રમાણેનૈવ ભવતીતિ જ્ઞેયમ્ । ॥ ॥

एकोऽपि कालोऽतीतानागतपर्यायभेदैरनन्तः, अत एव भगवता—“अणताणि  
य द्रव्याणि कालो पुगल जंतवो” इत्युपदिष्टम् । वर्तमानसमयस्य तु पर्यायत्वज्जि  
नानन्त्यम्, एकरूपत्वात् ।

નિશ્ચયનયેન તુ “લોકન્યાપી કાલઃ” इत्यवसीयते, अत एव भगवता—  
“धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुगल जंतवो । एस लोकोत्ति पन्नतो जिणेहि  
वरवंसिहि” । इत्यभिहितम् । धर्मोऽधर्म आकाश काल पुद्गल जन्तव । एष लोक  
इति प्रपञ्च, जिनवरदक्षिणि । इति च्छाया ।

કાલ યથાપિ એક હી છે, તો મી વહ મૂલ—ભવિષ્યત્પર્યાય મેઢ સ અનન્ત છે.  
इसीलिये भगवानने कहा है—‘अणताणि य द्रव्याणि कालो पुगल जंतवो’ इति ।  
કાલ, પુદ્ગલ ઓર જીવ, યે સમી અનન્ત હે । વર્તમાન સમય પર્યાયસહિત । હોતે હુપ મી  
અનન્ત નહીં છે, ક્યોંકિ વહ એક હી છે ।

નિશ્ચયનય સે તો કાલ લોકન્યાપી માના આતા છે અતએવ ભગવાને કહા છે—

“धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुगल जंतवो ।

एस लोकोत्ति पन्नतो जिणेहि वरवंसिहि” ॥ १ ॥

। એ કે કાલ એક જ છે તો પણ ભૂત ભવિષ્યના લેહથી અનન્ત છે, તેથી  
भगवाने कहे हैं—‘अणताणि य द्रव्याणि कालो पुगल जंतवो’ इति, काल पुद्गल  
અને જીવ એ દ્રવ્યો અનન્ત છે વર્તમાન સમય, પર્યાયસહિત હોવા છતાં પણ  
અનન્ત નથી કેમકે તે એક જ છે

નિશ્ચયનયથી તો કાલ લોકન્યાપી માનવામાં આવે છે આથી ભગવાને કહ્યું છે કે—  
“धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुगल जंतवो ॥ १ ॥

एस लोकोत्ति पन्नतो जिणेहि वरवंसिहि” ॥ १ ॥

વરહશી—લોકલોકને એવાવાળા જિન ભગવાને ‘ધર્મોસ્તિકાય, અધર્મોસ્તિકાય,  
આકાશસ્તિકાય, કાલ, ‘પુદ્ગલોસ્તિકાય અને’ જીવોસ્તિકાય, એજ લોક છે એમ કહ્યું છે

### પુદ્ગલલક્ષણમ્—

રૂપવત્ત્વ પુદ્ગલનાં લક્ષણમ્, અત્ર રૂપ મૂર્તત્વવર્ણાદિકમ્ । યદપિ પરમાણુમમૃતય સૂક્ષ્મા પુદ્ગલાસ્તેષા ગુણાશ્ચાતીન્દ્રિયતયા નેન્દ્રિયૈશ્ચાન્તે તથાપિ વાદરસ્કયરૂપે પરિણામવિશેષે તેષામેવેન્દ્રિયગ્રાહ્યતયા રૂપવત્ત્વ પ્રતીયતે ।

અતીન્દ્રિયે પરમાણુપ્રમૃતિપુદ્ગલેઽતીન્દ્રિયે ધર્માસ્તિકાયાદૌ ચૈતાનાન્ વિશેષ- ધર્માસ્તિકાયાદીનામિન્દ્રિયવિષયસ્વાભાવાદતીન્દ્રિયત્વમરૂપિત્વ ચ, પરમાણુપ્રમૃતિપુદ્ગલનાં ત્વતીન્દ્રિયત્વેઽપિ રૂપિત્વમિતિ ।

### પુદ્ગલ કા લક્ષણ—

પુદ્ગલોકા લક્ષણ 'રૂપવત્ત્વ' હૈ । જિસ મેં રૂપ, રસ, ગન્ધ, ઓર સ્પર્શ પામા જાય અર્થાત્ જો મૂર્તિક હો, વહ પુદ્ગલ હૈ । યપિ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ બહુત સૂક્ષ્મ હૈ, ઓર અતીન્દ્રિય હોને કે કારણ ઉનકે ગુણ ઇન્દ્રિયોં દ્વારા નહીં પ્રહ્ણ કિયે જાતે, તથાપિ જબ ઉન પુદ્ગલોં કા વાદર સ્કંધ કે રૂપમેં પરિણમન હોસા હૈ તબ વે ઇન્દ્રિયોંદ્વારા પ્રાપ્ત હો જાતે હૈ ઓર ઉનકા રૂપવત્ત્વ પ્રતીત હોને છગતા હૈ ।

પરમાણુ આદિ અતીન્દ્રિય પુદ્ગલોં મેં ઓર ધર્માસ્તિકાય આદિ અતીન્દ્રિય દ્રવ્યોં મેં ઇતના અન્તર હૈ કિ-ધર્માસ્તિકાય આદિ અરૂપી દ્રવ્ય કમી ઇન્દ્રિયોં કે વિષય નહીં હોતે, અત વે અતીન્દ્રિય ઓર અરૂપી હૈ, કિન્તુ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ અતીન્દ્રિય હોને પર મી રૂપી હૈ ।

### પુદ્ગલોનુ લક્ષણ—

પુદ્ગલોનુ લક્ષણ રૂપવત્ત્વ છે; જેમા રૂપ, રસ, ગન્ધ અને સ્પર્શ જોવામા આવે અર્થાત્ જે મૂર્તિમાન હોય તે પુદ્ગલ છે જે કે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ બહુ જ સૂક્ષ્મ છે અને અતીન્દ્રિય હોવાના કારણે તેના શુષ્ક ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણ કરી શકાતા નથી; તેા પણ જ્યારે તે પુદ્ગલોનુ બાહર સ્કંધના રૂપમા પરિણમન થાય છે, ત્યારે તે ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણ થઈ જાય છે, અને તેનુ રૂપવત્ત્વ પ્રતીત થવા લાગે છે

પરમાણુ આદિ અતીન્દ્રિય પુદ્ગલોમા અને ધર્માસ્તિકાય વગેરે 'અતીન્દ્રિય' દ્રવ્યોમાં જોટણ અતર-દેશકાર છે કે-ધર્માસ્તિકાય આદિ અરૂપી દ્રવ્ય ક્યારેય પણ ઇન્દ્રિયોના વિષય થતા નથી, તેથી તે અતીન્દ્રિય અને અરૂપી છે, પરન્તુ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ અતીન્દ્રિય હોવા છતાય રૂપી છે

અથ પુદ્ગલાસ્તિકાયઃ ।

તત્ર-પુદ્ગલશબ્દાર્થઃ ।

પૂર્યતે=સદન્યતે-પરસ્પરં સયુજ્ય સઘીભૂય નૂતનઘનઘટાવદેકીભવતિ,  
ગલતિ ષ=ધિચ્છિદ્ધમુક્તાવલીમણિત્રવ્ વિકીર્ણો ભવતિ-इति પુદ્ગલઃ । પૂરણ-ગલન-  
ધર્મ इत्यર્થઃ । પુદ્ગલશ્ચમાવસ્તિકાયથેતિ પુદ્ગલાસ્તિકાયઃ ।

પુદ્ગલાસ્તિકાયસ્ય ઘટાદિકાર્યાન્યથાનુપપત્તે પ્રત્યક્ષદર્શનાશ્ચ સત્તા  
સિદ્ધિર્વ ।

પુદ્ગલાસ્તિકાય—

‘પુદ્ગલ’ શબ્દ કા અર્થ—

આપસ મેં મિલકર ફક્ત્રે હોકર નવીન ઘટઘટાદિ કે રૂપ મેં જો પકમેક હો  
જાતે હે, ઓર જો ગલ જાતે હે અર્થાત્ દૂટી હુઈ મોતિયો કી માલા કી માતિ વિસર જાતે  
હે, કે પુદ્ગલ કહ્લાતે હે । સાત્વર્ય યહ હે કિ—જિસમેં પૂરણ ઓર ગલન ધર્મ હો તહ  
પુદ્ગલ હે, પુદ્ગલરૂપ અસ્તિકાય ‘પુદ્ગલાસ્તિકાય’ કહ્લાતા હે ।

અગર ‘પુદ્ગલાસ્તિકાય’ ન હોતા તો ઘટ આદિ કાર્ય નહીં બન સકતે હે ।  
હસ કારણ, તથા પ્રત્યક્ષ દિગ્દર્શ દેન કે કારણ મી પુદ્ગલાસ્તિકાય કી સત્તા મહીમાતિ  
સિદ્ધ હે ।

પુદ્ગલાસ્તિકાય—

પુદ્ગલ શબ્દનો અર્થ—

પરસ્પર મળીને જોકત થઈને નવીન ધન-ઘટાદિના રૂપમાં જે જોક-મેક થઈ  
જાય છે, અને જે ગળી જાય છે અર્થાત્ તુડી ગયેલી માલીઓની માળા પ્રમાણે  
વિખાઈ જાય છે, તે પુદ્ગલ કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે-જેમા પૂરણ અને  
ગલન ધર્મ હોય તે પુદ્ગલ છે, પુદ્ગલરૂપ અસ્તિકાય તે પુદ્ગલાસ્તિકાય કહેવાય છે

અગર પુદ્ગલાસ્તિકાય ન હોત તો ઘટ આદિ કાર્ય બની શકત નહિ આ  
કારણથી, તથા પ્રત્યક્ષ દેખી શકાય છે તે કારણથી પણ પુદ્ગલાસ્તિકાયની સત્તા  
ફક્ત રીતે સિદ્ધ છે

गाहते । द्व्यणुकस्कन्धश्च तस्यैकस्मिन् प्रदेशे, द्वयोश्च प्रदेशयोरवगाहते । तथा त्र्यणुकस्कन्धो लोकाकाशस्यैकस्मिन् प्रदेशे, द्वयोः प्रदेशयोस्त्रिषु प्रदेशेषु चावगाहते । एव चतुरणुकादीनां सख्यातप्रदेशाऽसख्यातप्रदेशानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामवगाहनं लोकाकाशस्यैकप्रदेशमारभ्य सख्याताऽसख्यातप्रदेशपर्यन्तेषु भवति ।

नन्वेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽल्पीयसि कथमनन्तप्रदेशिनः स्कन्धाः स्थानं कमन्ते, न हि कलशे सिन्धोः समावेशः पश्यामः ?

अवगाहना होती है । द्व्यणुक अर्थात् दो परमाणु वाले स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अवगाहन करता है । इसी प्रकार तीन परमाणुओं वाले स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में, दो प्रदेशों में अथवा तीन प्रदेशों में अवगाहन करता है । इसी भाँति चतुरणुक ( चार अणुओं वाले ) आदि स्कन्धों की अवगाहना, तथा सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी तक के स्कन्धों की अवगाहना लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर सख्यात तथा असख्यात प्रदेशों में होती है ।

शंका—आकाश के एक छोटे से प्रदेश में अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का समावेश किस प्रकार हो सकता है, गागर में सागर का समावेश होना तो कहीं दिखाई नहीं देता ।

अवगाहना होय छे द्व्यणुक अर्थात् दो परमाणुवाणा स्कन्ध लोकाकाशना ओक प्रदेशमां अथवा दो प्रदेशोमां अवगाहन करे छे ओ प्रमाणे त्र्यु अणुओवाणा स्कन्ध लोकाकाशना ओक प्रदेशमां, दो प्रदेशोमां अथवा त्र्यु प्रदेशोमां अवगाहन करे छे ओ प्रमाणे चार अणुओवाणा आदि स्कन्धानी अवगाहना, तथा सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी अने अनन्तप्रदेशी सुधीना स्कन्धानी अवगाहना लोकाकाशना ओक प्रदेशमां लधने सख्यात तथा असख्यात प्रदेशोमां होय छे

शंका—आकाशना ओक नाना प्रदेशमां अनन्त प्रदेशी स्कन्धना समावेश कैवी शीते धर्ष शके, गागरमां सागरना समावेश यथेवे कछि ठेकावे होआतो नथी ?

### पुद्गलानां प्रदेशसंख्या—

परमाणुसारभ्याच्चित्तमहास्कन्धपर्यन्ता पुद्गला विविधपरिणामा भवन्ति ।  
तेषां प्रदेशाः सख्याता असख्याता अनन्ताश्च यथासंभवं भवन्ति ।  
तत्र—सख्यातपरमाणुसयोगसंजातः स्कन्ध सख्यातप्रदेशी, असख्यातपरमाणु  
घटितः स्कन्धोऽसख्यातप्रदेशी, अनन्तपरमाणुसहतिसमृद्धभूतश्च स्कन्धोऽनन्त-  
प्रदेशी भवति । परमाणोस्तु निरंशत्वान्नास्ति प्रदेश इति ।

### पुद्गलानां क्षेत्रस्थिति—

परमाणौ विभागाभावादेकस्मिन्नेवं प्रदेशे लोकाकाशस्य परमाणुरव

### पुद्गलों की प्रदेशसंख्या—

परमाणुसे केकर अचित्त महास्कन्ध तक सब पुद्गल विविध परिणमन बाधे  
होते हैं । उनके प्रदेश यथासंभव सख्यात असख्यात अथवा अनन्त होते हैं । संख्यात  
परमाणुओं के संयोग से बना हुआ स्कन्ध संख्यातप्रदेशी कहलाता है । असख्यात परमाणुओं-  
से बना हुआ स्कन्ध असंख्यातप्रदेशी और अनन्त परमाणुओं से निष्पन्न स्कन्ध अनन्त  
प्रदेशी कहलाता है । परमाणु निरंश होता है—उसके अनेक भाग नहीं हो सकते,  
अतः एवं वह अप्रदेशी है ।

### पुद्गलों की क्षेत्रस्थिति—

परमाणु के विभाग न होने के कारण लोकाकाश के एक ही प्रदेश में उसके

### पुद्गलों की प्रदेशसंख्या—

परमाणुकी छेदने अचित्त महास्कन्ध की सुधी सर्व पुद्गल विविध परिणमनबाध  
होते हैं । तेना प्रदेश यथासंभव संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होय है  
संख्यात परमाणुओंना संयोगशी होनेवा स्कन्ध संख्यातप्रदेशी कहलाय है, असंख्यात  
परमाणुओंशी होनेवा स्कन्ध असंख्यातप्रदेशी अने अनन्त परमाणुओंशी निष्पन्न  
स्कन्ध अनन्त-प्रदेशी कहलाय है परमाणु निरंश होय है, तेना अनेक भाग अर्ध  
शक्ता नहीं तेधी ते, अप्रदेशी है

### पुद्गलों की क्षेत्रस्थिति—

परमाणुभा विभाग नहीं होवाना, कारणे लोकाकाशना ओके न प्रदेशभा तेनी

યથા વા એકપદીપપ્રમાયામનેકપદીપપ્રમાસમાવેશઃ । યથા વા એકકર્પપરિ-  
મિતપારદે શતકર્પપરિમિતમુવર્ણસમાવેશો મવતિ ।

અનન્તપ્રદેશિરુપોઽચિત્તમહાસ્કન્ધ કેવલિસમુદ્ઘાતવત્ સકલ્લોકવ્યાપી  
મવતિ । સ ચ વિસ્ત્રસાગત્યા પ્રથમસમયેઽસહ્યાતયોજનવિસ્તરેણ દળ્ઢાકારેણ  
પરિણમતિ । દ્વિતીયસમયે કપાટરૂપેણ, તૃતીયસમયે મન્યાનરૂપેણ, ચતુર્થસમયે  
પ્રતરમાર્પ્ય સકલ્લોક વ્યાપ્નોતિ, પશ્ચમસમયે પ્રતરં સહરતિ, પઠ્ઠસમયે મન્યાન  
મનક્તિ, સપ્તમસમયે કપાટં ચ, અષ્ટમસમયે દળ્ઢાકાર સદૃશ્ય સ્વદશ પ્રવિકીર્ણો  
મવતિ ।

અથવા—એક દીપકાના પ્રકાશમાં અનેક દીપકાના પ્રકાશ સમાવેશ થાય છે ।

અથવા એક કર્પ—માસા ( માપવિશેષ ) પરિમિત પારેમાં સૌ કર્પ પરિમિત સોનાના  
સમાવેશ થાય છે ।

અનન્તપ્રદેશી અચિત્ત મહાસ્કન્ધ કેવલિસમુદ્ઘાત કે સમાન સમસ્તલોક-  
વ્યાપી હોય છે । વહ સ્વાભાવિક ગતિ છે, પ્રથમ સમય માં અસહ્યાતયોજનવિસ્તૃત  
દળ્ઢાકે આકારમાં પરિણત થાય છે । દુસરે સમયમાં વહ કપાટાકે રૂપમાં પરિણત થાય છે,  
ઔર ત્રીસરે સમયમાં મન્યાનાકે રૂપમાં હો જાય છે, ચૌથે સમય માં પ્રતર પૂર્ણ કરકે સમ્પૂર્ણ  
લોકમાં વ્યાપ્ત હો જાય છે । ફિત પાંચવે સમયમાં પ્રતર લોકોડતા હૈ, છઠે  
સમયમાં મન્યાના લોકો, સાતવે સમયમાં કપાટા લોકો, ઔર આઠવે સમયમાં દળ્ઢાકાર લોકો  
સિલ્કોડતા હૈ । ડસકે અનન્તર વહ સ્વદશ સ્વદશ હોકર વિસ્તર જાય છે ।

અથવા—એક દીપકાના પ્રકાશમાં અનેક દીપકાના પ્રકાશ સમાવેશ થાય છે  
અથવા એક કર્પ ( માપવિશેષ ) પરિમિત પાશમાં એકસો કર્પ પરિમિત સોનાના  
સમાવેશ થાય છે

અનન્તપ્રદેશી અચિત્ત મહાસ્કન્ધ, કેવલિસમુદ્ઘાતના સમાન સમસ્તલોક  
વ્યાપી હોય છે, તે સ્વાભાવિક ગતિથી, પ્રથમ સમયમાં અસહ્યાતયોજનવિસ્તૃત  
દળ્ઢા આકારમાં પરિણત થાય છે બીજા સમયમાં તે કપાટાના રૂપમાં પરિણત  
થાય છે, અને ત્રીજા સમયમાં મન્યાના (દળ્ઢા વલોવવાના રવેથી)ના રૂપમાં થાય  
છે, ચોથા સમયમાં પ્રતર પૂર્ણ કરીને લોકમાં વ્યાપ્ત થઈ જાય છે કરી પાશમાં  
સમયમાં પ્રતરને સંકોચે છે, છઠ્ઠા સમયમાં મન્યાના, સાતમાં સમયમાં કપાટાને  
અને આઠમાં સમયમાં દળ્ઢાકારને એ સિલ્કોડે છે, ત્યાર પછી તે ખડ-ખડ થઈને  
વિશેષ થાય છે



અમ્ર દ્રુમઃ—પુદ્ગલસ્ય પરિણમનશક્તિરેવ તાદૃશી યત પરમસૂક્ષ્મસ્તાદૃશઃ  
પરિણામો જાયતે, યેનાનન્તપ્રદેશિન સ્કન્ધાઃ પ્રદેશમેક નમસઃ પ્રવિશન્તિ ।  
અથવા ગગનસ્ય તાદૃશી વિચિત્રાશ્વગાહદાનશક્તિર્યતોઽનન્તપ્રદેશિનાં સ્કંધાનાં  
તત્સ્યૈકસ્મિન્ પ્રદેશે સમાવેશઃ સિદ્ધ્યતિ । યથા અતિયનીમૂતલોહગોલકાવગાઃ  
નાભિરવકાશે કિલાકાશદેશે મહ્માનિલસમુદ્રતા પાવકાવયવા સમાવિશન્તિ ।  
યદિ રન્ધ્રરહિતાઽયોગોલક ક્ષીતક્ષીર્કર્તુ વારિ નિસિષ્પતે, તદા તદયોગોલક  
પરિપૂરિતનિરન્તરાકાશદેશે તસ્મિન્નૈવ વારિક્ષણા અવ્યાહત પ્રવિશન્તિ ।

સમાધાન—પુદ્ગલ મેં પરિણમનશક્તિ હી એસી છે, બિસસે ડસકા અત્યન્ત  
સૂક્ષ્મ પરિણમન હોતા છે । હસી કારણ અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધ મી આકાશ કે એક  
પ્રદેશ મેં સમા આવે છે । અથવા આકાશ મેં એસી કુલ વિચિત્ર અવકાશદાન કરને કી શક્તિ  
છે કિ ડસકે કારણ અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધોં કા મી આકાશ કે એક હી પ્રદેશ મેં સમાવેશ  
હો જાતા છે । જૈસે—અત્યન્ત સપન હોહે કે ગોળે કે અવગાહન સે નિરવકાશ આકાશ—  
પ્રદેશ મેં ધોંકની કી વાયુ સે વૃદ્ધિ પાયે હુય અગ્નિ કે અવયવ પ્રવેશ કર જાતે છે । તાત્પર્ય  
યહ છે કિ—હોહે કા ગોળા બહુ ઠોસ હોતા છે, વહ આકાશ કે જિન પ્રદેશોં મેં મૌજૂદ  
છે, વહાં જગહ ઘિસાર્ નહીં દેતી, ફિર મી ધોંકની કી વાયુ કી પ્રેરણાસે ડહીં  
આકાશ પ્રદેશોં મેં અગ્નિ કા પ્રવેશ હો જાતા છે, તત્પશ્ચાત્ છિદ્રરહિત ડસ હોહે કે  
ગોળ કો ઠંડા કરને કે ભિયે ડસ પર પાની ઢાલ જાય સો જિન આકાશ પ્રદેશોં મેં  
હોહે કા ગોળા બૌર પાવક—અગ્નિ છે, ડહીં મેં જલ કે કળ મી બેરોકટોક પ્રવેશ કર જાતે છે ।

સમાધાન—પુદ્ગલોમા પરિણમનશક્તિ જ એવી છે જેથી તેનું અત્યન્ત સૂક્ષ્મ  
પરિણમન હોય છે એ કારણે અનન્તપ્રદેશી સ્કંધ પણ આકાશના એક પ્રદેશમાં  
સમાઈ જાય છે અથવા આકાશમા એવી કોઈ વિચિત્ર અવકાશદાન કરવાની શક્તિ  
છે કે—તે કારણથી અનન્તપ્રદેશી સ્કંધોના પણ આકાશના એક જ પ્રદેશમા સમાવેશ  
થઈ જાય છે જેમકે—અત્યન્ત સપન લોકના જોળાના અવગાહનથી નિરવકાશ  
આકાશ પ્રદેશમાં ધમણના વાયુથી વૃદ્ધિ પામેલા અગ્નિના અવયવો પ્રવેશ કરી જાય  
છે તાત્પર્ય એ છે કે—લોકોના જોળો બહુ જ ઘેસ (પેલાણુ વિનાનો) હોય છે,  
તે આકાશના જે પ્રદેશોમાં જોળુદ છે, ત્યાં જગ્યા દેખાતી નથી તે પણ ધમણના  
વાયુની પ્રેરણાથી તે આકાશ પ્રદેશોમાં અગ્નિનો પ્રવેશ કરી જાય છે તે પછી  
છિદ્રરહિત તે લોકોના જોળાને ઠંડો કરવા માટે તેના ઉપર પાણી નાખવામાં આવે  
તો જે આકાશ-પ્રદેશોમાં લોકોના જોળો અને અગ્નિ છે, તેમાં પાણીનાં ટીપા પણ  
શક-ટોક (અટકાવ્યા) વિના પ્રવેશ કરી જાય છે

### પુદ્ગલાના વિશેષગુણા:—

વર્ણગન્ધરસસ્પર્શા પુદ્ગલાના વિશેષગુણા\* સહમાવિન પરિણામા: ।  
શબ્દ - બન્ધ - સૌન્દર્ય - સ્પૃહ્ય - સસ્થાન - મેદ - તમ - છાયા - ડગ્ગત્તપો - ઘોતાદિમિ.  
પર્યાયૈ: પુદ્ગલા લક્ષ્યન્તે-ઝાયન્તે, ઇત્યાશયેન ભગવતા પુદ્ગલાનાં લક્ષણતયા  
શબ્દાદય પ્રોક્તા\* । તથાદિ—

“સદ્ધયાર ડગ્ગોઓ, પમા છાયાડગ્ગત્તુત્તિ વા

વળ્ણરસગંધફાસા, પુગલાણ તુ લક્ષણ ॥૧૧॥” (ઉત્ત૦ અ૦ ૨૮)

### પુદ્ગલોં કે વિશેષ ગુણ—

વર્ણ, ગંધ, રસ ઔર સ્પર્શ પુદ્ગલા કે વિશેષ ( અસાધારણ ) ગુણ હૈ—સહમાવી પરિણામ હૈ । શબ્દ, બન્ધ, સૂક્ષ્મતા, સ્પૃહતા, સસ્થાન ( આકાર ), મેદ, તમ, છાયા, આતપ, ઉચોત આદિ પર્યાયોં કે દ્વારા પુદ્ગલ લખા જાતા હૈ—જાના જાતા હૈ । ઇસ આશય સે ભગવાન ને શબ્દ આદિ કો પુદ્ગલોં કા લક્ષણ કહા હૈ, વહ ઇસ પ્રકાર—  
“સદ્ધયાર ડગ્ગોઓ, પમા-છાયા-ડગ્ગત્તુત્તિ વા, વળ્ણરસગંધફાસા, પુગલાણ તુ લક્ષણ ” શબ્દ, અન્ધકાર, ઉચોત, પ્રમા, છાયા, આતપ, વર્ણ, રસ, ગન્ધ, ઔર સ્પર્શ, યે સવ પુદ્ગલોં કે લક્ષણ હૈ । ગાથા મ ‘છાયાડગ્ગત્તુત્તિ’ યહો ‘ઈતિ’ શબ્દ આદિ કે અર્થ મૈં હૈ । ઇસ આદિ શબ્દ સે વર્ણ આદિ કા પ્રહણ હો સકતા થા ફિર મી ઉન્હેં અલગ કહને કા કારણ યહ હૈ કિ—વે નિત્ય સહમાવી ગુણ હૈ ।

### પુદ્ગલાના વિશેષ ગુણ—

વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શ પુદ્ગલોના વિશેષ ( અસાધારણ ) ગુણ છે—  
સહમાવી પરિણામ છે શબ્દ, બંધ, સૂક્ષ્મતા, સ્પૃહતા, સસ્થાન (આકાર) મેદ, તમ, છાયા, આતપ, ઉચોત આદિ પર્યાયોથી લખી શકાય છે—અણી શકાય છે તે આશયથી ભગવાને શબ્દ આદિ પુદ્ગલોનું લક્ષણ કહ્યું છે, તે આ પ્રમાણે છે—  
“સદ્ધયાર ડગ્ગોઓ, પમા-છાયા-ડગ્ગત્તુત્તિ વા, વળ્ણરસગંધફાસા, પુગલાણ તુ લક્ષણ” શબ્દ, અન્ધકાર, ઉચોત પ્રમા, છાયા, આતપ, વર્ણ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ, એ પુદ્ગલોનું લક્ષણ છે ગાથામા-‘છાયાડગ્ગત્તુત્તિ’ આદિ ‘ઈતિ’ શબ્દ આદિના અર્થમાં છે, એ પ્રમાણે ‘આદિ’ શબ્દથી વર્ણ વગેરેનું શ્રેણ્ય થઈ શકે છે તો પણ તેને અલગ કહેવાનું કારણ એ છે કે તે નિત્ય સહમાવી ગુણ છે

### પુદ્ગલનામુપકાર—

શરીરવાહ્મનઃપ્રાણાદ્યઃ પુદ્ગલપરિણામા ગમનાઽઽદાન-વચન-ચિન્તન-પ્રાણનાદિમાથેન જીનાનુપકુર્વન્તિ, અતઃ શરીરાધાકારેણ પુદ્ગલા જીવાનામુપકાર કુર્વન્તિ । તત્ર શરીરં પञ્ચવિધમ્, ઔદારિક, વૈક્રિયમ્, આહારક, તૈમસ, કાર્મણં ચેતિ ।

અથ જીવાનાં યે સુખદુઃસ્વજીવિતમરણરૂપાઃ પરિણામા ભવન્તિ તત્ર સુત્વાદિરૂપેણ જીવપરિણામે નિમિત્ત પુદ્ગલા इति સિદ્ધં જીવોપકારિત્વ પુદ્ગલનામ્ ।

### પુદ્ગલોં કા ઉપકાર—

શરીર, વચન, મન ઓર પ્રાણ આદિ પુદ્ગલોં કા પરિણામવિશેષ—ગમન, આદાન, વચન, ચિન્તન ઓર પ્રાણન ( સાંસ લેના ) આદિરૂપ સે જીવોં કા ઉપકાર કરતે હૈં અત શરીર આદિ કા રૂપ મેં પુદ્ગલ હી જીવોં કા ઉપકાર કરતે હૈં । इनमें शरीर पांच प्रकार का है— (१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैमस और (५) कर्मण ।

પ્રાણિયોં મેં સુસ દુઃસ જીવન ઓર મરણ રૂપ ઓ પરિણામ હીતે હૈં, ડન સવ પરિણામોં મેં પુદ્ગલ કારણ હૈ, અતઃ યહ સિદ્ધ હુઆ કિ પુદ્ગલ જીવોં કા ઉપકાર કરતે હૈં ।

### પુદ્ગલોના ઉપકાર—

શરીર, વચન, મન અને પ્રાણ આદિ પુદ્ગલોના પરિણામવિશેષ—ગમન, આદાન, વચન, ચિન્તન અને પ્રાણન ( સાંસ લેવો ) આદિ રૂપથી જીવોના ઉપકાર કરે છે, એટલે શરીર આદિના રૂપમાં પુદ્ગલ જ જીવોના ઉપકાર કરે છે, તેમાં શરીર પાંચ પ્રકારના છે—(૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિય, (૩) આહારક, (૪) તૈમસ અને (૫) કાર્મણ.

પ્રાણીઓમાં સુખ, દુઃખ, જીવન અને મરણરૂપ જે પરિણામન થાય છે, તે સર્વ પરિણામોમાં પુદ્ગલ કારણરૂપ છે તેથી જો સિદ્ધ થાય છે કે પુદ્ગલ જીવોના ઉપકાર કરે છે

### પરમાણુસ્વરૂપમ્—

તત્ર પરમાણુશ્ચ સકલવિમાગાન્તવર્તી નિરંશ\* પરસ્પરાસયુક્ત\*, સૂક્ષ્મત્વાદિ-  
ન્દ્રિયવ્યાપારાતીત, એકવર્ણ-ગન્ધ-રસ-દ્વિસ્પર્શયુક્ત\*, દ્વચણુકસ્કન્ધાઘચિત્તમહા-  
સ્કન્ધપર્યન્તાનાં સ્થૂલ-સૂક્ષ્મ-સ્કન્ધકાર્યાણાં કારણરૂપો નિત્યથેતિ ।

ઉક્તશ્ચ ભગવતા ભગવતીસૂત્રે-(શ ૨૦ ૩૦ ૫) —

### પરમાણુ કા સ્વરૂપ—

પરમાણુ, પુદ્ગલ કા અન્તિમ વિભાગ છે । વહ નિરંશ છે । પરસ્પર અસયુક્ત છે ।  
સૂક્ષ્મ હોને કે કારણ ઇન્દ્રિયો કી ડસમેં પ્રવૃત્તિ નહીં હો સકતી । એક વર્ણ, એક ગન્ધ,  
એક રસ ઓર ડો સ્પર્શોસે યુક્ત છે । દ્વચણુક સ્કન્ધસે લેકર અન્તિમ મહાસ્કન્ધ પર્યન્ત  
સ્થૂલ યવ સૂક્ષ્મ સ્કન્ધરૂપ કાર્ય કા કારણ છે ઓર નિત્ય છે । ભગવાનને ભગવતીસૂત્ર  
(શ ૨૦, ૩૦ ૫) મેં કહા છે—

પ્રશ્ન-ભગવન્ ! પરમાણુ પુદ્ગલ કિતને વર્ણવાલા, કિતને ગંધ વાલા, કિતને રસવાલા,  
ઓર કિતને સ્પર્શવાલા કહા ગયા છે ।

ઉત્તર-ગૌતમ ! એક વર્ણવાલા, એક ગંધ વાલા, એક રસવાલા ઓર ડો સ્પર્શવાલા  
કહા ગયા છે ।

એક વર્ણવાલા હોતા છે તો કદાચિત્ કાલા, કદાચિત્ નીલા, કદાચિત્ લાલ,

### પરમાણુનું સ્વરૂપ—

પરમાણુ, એ પુદ્ગલને અતિમ વિભાગ છે તે નિરંશ (અશરહિત) છે  
પરસ્પર અસયુક્ત છે સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે ઇન્દ્રિયોની પ્રવૃત્તિ તેમા થઈ શકતી  
નથી એક વર્ણ, એક ગંધ, એક રસ અને એ સ્પર્શથી યુક્ત છે દ્વચણુક સ્કન્ધ  
લધને અધિત મહાસ્કન્ધ પર્યન્ત સ્થૂલ અને સૂક્ષ્મસ્કન્ધરૂપ કાર્યોનું કારણ છે, અને  
નિત્ય છે ભગવાને ભગવતી સૂત્ર (શ ૨૦ ઉ ૫)મા કહ્યું છે—

પ્રશ્ન-“ ભગવન્ ! પરમાણુ પુદ્ગલ કેટલા વર્ણવાળું, કેટલા ગંધવાળું, કેટલા  
રસવાળું, અને કેટલા સ્પર્શવાળું કહ્યું છે ?

ઉત્તર-ગૌતમ ! એક વર્ણવાળું, એક ગંધવાળું, એક રસવાળું, અને એ  
સ્પર્શવાળું કહ્યું છે ”

“ એક વર્ણવાળું હોય છે તો કદાચિત્ કાળું, કદાચિત્ લીલું, કદાચિત્ લાલ,  
કદાચિત્ પીળું અને કદાચિત્ ચેત હોય છે એક ગંધવાળું હોય છે તો કદાચિત્

શબ્દોઽન્યકાર ઉદ્યોત પ્રમા છાયા આતપ્ય ઇતિ યા । ઘર્ણરસગન્ધસ્પર્શાઃ  
પુદ્ગલાના તુ લક્ષણમ્ । ઇતિ ચ્છાયા ।

“છાયાઽસ્તિ” ઇત્યન્ન ‘ઇતિ’ શબ્દ આલેખકઃ । તેનૈવ ઘર્ણાદીનાં ગ્રહણેઽપિ  
પુનરુપાદાન નિત્યસદ્માવિત્વબોધનાર્થમ્ ।

તત્ર ઘર્ણઃ પચ્ચઘા, કૃષ્ણ-નીલ-લોહિત-પીત-શુક્ર-મેદાત્ । ગન્ધો  
દ્વિવિધઃ-સુરભિરસુરમિશ્ચ । રસઃ પચ્ચવિધઃ-તિક્ત-કટુ-કપાયા ઝ્વસ્-મધુર-મેદાત્ ।  
સ્પર્શોઽષ્ટઘા-કઠિન-મૃદુ-દુરુ-લઘુ-શીતો-ઘ્ણ સ્નિગ્ધ-રૂક્ષ-મેદાત્ । સસ્થાન  
પચ્ચવિધમ્-દૃઢ-ત્ર્યસ-ચતુરસ્ર-ઽઽયત-પરિમણ્ડલ-મેદાત્ ।

પુદ્ગલવિમાગઃ—

પુદ્ગલ સંક્ષેપતો દ્વિવિધ-પરમાણુ-સ્કંધમેદાત્ ।

ઘર્ણ પાંચ પ્રકાર કા હૈ—કાલા, નીલા, છાલ, પીલા, ઓર સફેદ । મુગ્ધ દુર્ગન્ધ  
કે મેદ સે ગન્ધ દો પ્રકાર કા હૈ । રસ કે પાંચ મેદ હૈ—તીસા, કટુઆ, કપૈલા, સદા,  
ઔર મીઠા । સ્પર્શ કે આઠ મેદ હૈ—કઠિન, કોમલ, ભારી, હલ્કા, શીત, ઝળ, ચિકના,  
ઔર રૂઝા । સસ્થાન પાંચ પ્રકાર કા હૈ—દૃઢ ( ગોલ ), ત્ર્યસ ( ત્રિકોના ), ચતુરસ્ર  
( ચૌકોર ), ઓયત ( છન્દા ) ઔર પરિમણ્ડલ—( ગોલ—મટોલ )

પુદ્ગલ કે મેદ—

સંક્ષેપ સે પુદ્ગલ કે દો મેદ હૈ—પરમાણુ ઔર સ્કંધ ।

વર્ણ પાંચ પ્રકારના છે—કાળો, લીલો, લાલ, પીળો અને ઘાળો. મુગ્ધ અને  
દુર્ગન્ધના લેહથી ગન્ધ બે પ્રકારના છે રસના પાંચ લેહ છે—તીખો, કટવો, કપાયેલો,  
ખાટો અને મીઠો, સ્પર્શના આઠ લેહ છે—કઠણ, કોમલ, ભારી, હલકો, શીત, ઝળ,  
ચિકણો અને રૂક્ષ. સસ્થાન પાંચ પ્રકારનાં છે—દૃઢ-ગોળ, ત્રિકોણ, ચતુરકોણ,  
લાંબુ અને ગોળમટોળ.

પુદ્ગલોના લેહ

સંક્ષેપથી પુદ્ગલના બે લેહ છે—(૧) પરમાણુ અને (૨) સ્કંધ.

અસૌ શસ્ત્રાદિના લતાદિવદચ્છેદ્ય, સૂચ્યાદિના ચર્મવદમેઘ, અગ્નિના કાષ્ઠવદદાશ્વ, દસ્તાદિના ઘસ્ટપાત્રવદગ્રાશ્વથ । ઉક્તઞ્ચ મગવતા મગવતીસૂત્રે (શ ૨૦-૨૦ ૩૦ ૫) —

“દ્રવ્યપરમાણુ ણ મતે । કઙ્કવિદે પણ્ણસે?, ગોયમા! ચત્તવિદે પણ્ણસે, તજઠા-અચ્છેજ્જે, અમેજ્જે, અદ્દજ્જે, અગેજ્જે ।” ઇતિ । દ્રવ્યપરમાણુ સ્વલુ મદન્ત! કતિવિધ? પ્રઘ્ણપ્ત?, ગૌતમ! ચતુર્વિધ. પ્રઘ્ણપ્ત, તથથા-અચ્છેદ્ય, અમેઘ., અદાશ્વ, અગ્રાશ્વ । ઇતિ ચ્છાયા ।

યદ્યપિ પરમાણુ પુદ્ગલત્વાનપૂર્તસ્તથાઽપ્યસૌ સ્પન્દશ્ચ કર્તુમશક્ય\*, આકાશપ્રદેશવત્પરમાણો પુદ્ગલપરમજઘન્યાશરૂપત્વાત્, સર્વપરિમાણેભ્યોઽપકૃષ્ટ પરિમાણ પરમાણોરેવ તસ્માત્સોઽસ્પન્દ એવ ।

પરમાણુ, શસ્ત્ર કે શ્વાર લતા આદિ કો મૌલિ છેવા નહીં જા સક્તા, ચમચે કો તરહ સુઈ આદિ સે મેવા નહીં જા સક્તા, કાષ્ઠ કે સમાન અગ્નિ આદિ સે જલ નહીં સક્તા ઓર વજ્ર પાત્ર આદિ પદાર્થો કો તરહ હાથ આદિસે પકડા નહીં જા સક્તા । મગવાનુ મગવતીસૂત્ર (શ ૨૦, ૩૦ ૫) મેં કહા હૈ—

પ્રશ્ન—મગવન્ । દ્રવ્ય પરમાણુ કિતને પ્રકાર કા કહા ગયા હૈ ?

ઉત્તર—ગૌતમ । ચાર પ્રકારકા કહા ગયા હૈ—અચ્છેદ્ય, અમેઘ, અદાશ્વ ઓર અગ્રાશ્વ ।

પરમાણુ, પુદ્ગલ હોને કે કારણ મૂર્તિક હૈ, પિર મી ઉસ કે સ્પન્દ નહીં કિયે જા સક્તે । જૈસે આકાશ કા એક પ્રદેશ અઘન્ય અંશરૂપ હૈ ઓર ઉસકા પરિમાણ સમી

પરમાણુ, શસ્ત્ર દ્વારા લતા આદિના પ્રમાણે છેલો શકાતું નથી, ચામડાની જેમ સોય વગેરેથી વીધી શકાતું નથી, કાષ્ઠની જેમ અગ્નિ આદિથી બાળી શકાતું નથી, અને વજ્ર પાત્ર આદિ પદાર્થોની જેમ હાથ વગેરેથી પકડી શકાતું નથી.

મગવાને મગવતીસૂત્ર—(શ. ૨૦-૩૦ ૫) મા કહ્યું છે —

પ્રશ્ન—“મગવન્! દ્રવ્ય પરમાણુ કેટલા પ્રકારનું કહ્યું છે?

ઉત્તર—ગૌતમ । ચાર પ્રકારનું કહ્યું છે—“અચ્છેદ્ય, અમેઘ, અદાશ્વ અને અગ્રાશ્વ.” (છેલો શકાય નહિ, લોટી શકાય નહિ, બળી શકે નહિ, અને શ્રદ્ધાથી ધર્મ શકે નહિ)

પરમાણુ, પુદ્ગલ હોવાના કારણે મૂર્તિક છે તો પણ તેના ખડ-ભાગ ધર્મ શકતા નથી જેમકે આકાશનો એક પ્રદેશ અઘન્ય અંશરૂપ છે, અને તેનું પરિમાણ

“પરમાણુપોગલે નં મતે ! કતિવન્ને, કતિગધે, કતિરસે, કતિફાસે  
પમ્મસે ?, ગોયમા ! એગવ્વે, એગગધે, એગરસે, દુપ્પાસે પમ્મસે, તજ્જા-જા  
એગવન્ને-સિય કાલ્લ, સિય નીલ્લ, સિય લોહિલ, સિય હાલિદે, સિય મુક્કિલે ।  
જહ એગગધે-સિય મુન્નિમગધે, સિય દુન્નિમગધે । જહ એગરસે-સિય તિસે સિય કહુ  
સિય કસાલ, સિય અવિલે, સિય મહુરે । જહ દુપ્પાસે-સિય સીલ ય નિદ્દે ય ૧,  
સિય સીલ ય લુક્કલે ય ૨, સિય ઉસિણે ય નિદ્દે ય ૩, સિય ઉસિણે ય લુક્કલે  
ય ૪ ” ઇતિ ।

પરમાણુપુટ્ટલ\* મદન્ત ! કતિવર્ણઃ, કતિગન્ધ, કતિરસ, કતિસ્પર્શ\* પ્રશ્નઃ ?  
ગૌતમ ! એકવર્ણ, એકગન્ધ\*, એકરસ, દ્વિસ્પર્શ પ્રશ્નઃ । તદ્વથા-યદિ એકવર્ણઃ  
-સ્યાત્ કાલક, સ્યાત્ નીલક, સ્યાત્ લોહિત, સ્યાત્ હારિદ્રઃ, સ્યાત્ શુક્લઃ ।  
યદિ એકગન્ધઃ-સ્યાત્ સુરભિગન્ધ\*, સ્યાત્ દુરભિગન્ધઃ, યદિ એકરસ સ્વાત્તિકઃ  
સ્યાત્ કટુકઃ, સ્યાત્ કપાયઃ, સ્યાત્ અમ્લ\*, સ્યાત્ મધુર । યદિ દ્વિસ્પર્શઃ-સ્યાત્  
શીતઃ સ્નિગ્ધઃ ૧, સ્યાત્ શીતઃ રુક્ષઃ ૨, સ્યાત્ ઉષ્ણઃ સ્નિગ્ધઃ ૩, સ્યાત્  
ઉષ્ણઃ રુક્ષઃ ૪, । ઇતિ પ્છાયા,

કદાચિત્ પીલા, ઔર કદાચિત્ શુદ્ધ હોતા હૈ । એક ગન્ધવાલા હોતા હૈ તો કદાચિત્  
સુરભિગન્ધવાલા, કદાચિત્ દુરભિગન્ધવાલા હોતા હૈ । યદિ એક રસવાલા હોતા હૈ તો  
કદાચિત્ તિક્ત, કદાચિત્ કટુક, કદાચિત્ કપાયલા, કદાચિત્ સ્વાદ, ઔર કદાચિત્  
મીઠા હોતા હૈ । યદિ બે સ્પર્શવાલા હોતા હૈ તો કદાચિત્ શીત ઔર સ્નિગ્ધ (ચિકના) ૧,  
કદાચિત્ શીત ઔર રુક્ષ ૨, કદાચિત્ ઉષ્ણ ઔર સ્નિગ્ધ ૩, તથા કદાચિત્ ઉષ્ણ ઔર  
રુક્ષ હોતા હૈ ૪ ।

સુરભિગન્ધ (સાદી ગન્ધ) વાળું અને કદાચિત્ દુરભિગન્ધવાળું હોય છે અને બેક  
રસવાળું હોય છે તો કદાચિત્ વીરુ, કદાચિત્ કટુ, કદાચિત્ કપાયલું, કદાચિત્  
ખાટું અને કદાચિત્ મધુર-મીઠું-હોય છે અને બે સ્પર્શવાળું હોય છે તો કદાચિત્  
શીત અને સ્નિગ્ધ-(ચિકના) ૧, કદાચિત્ શીત અને રુક્ષ ૨, કદાચિત્ ઉષ્ણ અને  
સ્નિગ્ધ ૩, તથા કદાચિત્ ઉષ્ણ અને રુક્ષ હોય છે ૪ ”

યદ્યપિ ધર્માધર્માકાશઝીવા અપિ પુદ્ગલતત્સ્કન્ધરૂપાસ્તથાપિ સ્કન્ધ-  
રૂપપુદ્ગલાદય વિશેષ-તેષામ્-ધર્માદીનાં ચતુર્ણાં પ્રદેશા સ્વસ્વસ્કન્ધાન્ન સ્વઘ્નશ.  
પૃથગ્ ભવિતુમર્હન્તિ, તેષામમૂર્તત્વાત્ । પુદ્ગલપ્રદેશાસ્તુ સ્વઘ્નશ. પ્રથગ્ ભવન્તિ,  
તેષાં મૂર્તત્વાત્, આશ્લેષવિશ્લેષામ્યા મૂર્તવસ્તુનિ સંમિલન-પૃથગ્માવ-શ્રક્તે  
સર્વાનુભવગોચરત્વાત્, અત સ્કન્ધપુદ્ગલાના સ્થૂલ-સૂક્ષ્મો વા ભાગોઽવયવ-  
ઉચ્યતે । અવયૌતિ=પૃથગ્ભવતીત્યવયવશબ્દવ્યુત્પત્ત્યા વિમાજ્ય એવાંશોઽવયવશબ્દાર્થ-  
સ્તસ્માત્પુદ્ગલપ્રદેશ એવામયવ હત્યુચ્યતે ।

યદ્યપિ ધર્મ-દ્રવ્ય અધર્મ-દ્રવ્ય આકાશ ઔર ઝીવ મી પુદ્ગલકે સમાન સ્કન્ધરૂપ હૈ,  
ફિર મી સ્કન્ધરૂપ પુદ્ગલ સે ઊતર્મં યહ મિત્તતા હૈ-ધર્મ આદિ ચાર દ્રવ્યોકે પ્રદેશ અપને ૨  
સ્કન્ધસે કમી અલગ નહીં હો સકતે, કયાકિ ધર્મ આદિ ચાર દ્રવ્ય અમૂર્ત હૈ । પુદ્ગલ  
દ્રવ્ય કે પ્રદેશ અગ્નિર હોકર અલગ હો જાત હૈ, કયાકિ પુદ્ગલ મૂર્ત હૈ । આશ્લેષ ઔર  
વિશ્લેષ કે દ્વારા મૂર્ત વસ્તુ મેં મિલને ઔર વિઝુઢને કી શક્તિ હૈ, યહ વાત સમી કે અનુભવ  
સે સિદ્ધ હૈ, અત સ્કન્ધ-પુદ્ગલોં કા સ્થૂલ યા સૂક્ષ્મ ભાગ અવયવ કહલાતા હૈ,  
'અવયૌતિ' ઇતિ-અવયવઃ અર્થાત્ જો પૃથક્ હો સકે ઊસે અવયવ કહતે હૈ, ઇસ વ્યુત્પત્તિ  
કે અનુસાર વિભક્ત હો સકને યોગ્ય અશ કો હી અવયવ કહા જા સકતા હૈ, અત પુદ્ગલ  
કા પ્રદેશ હી અવયવ કહલાતા હૈ ।

જો કે ધર્મ-દ્રવ્ય, અધર્મ-દ્રવ્ય, આકાશ અને જીવ પણ પુદ્ગલના સમાન  
સ્કન્ધરૂપ છે, તો પણ સ્કન્ધરૂપ પુદ્ગલથી તેમાં જો ભિન્નતા છે-ધર્મ આદિ  
ચાર દ્રવ્યોના પ્રદેશ પોત-પોતાના સ્કન્ધથી ક્યારેય પણ અલગ થઈ શકતા  
નથી. કેમકે ધર્મ આદિ ચાર દ્રવ્યો અમૂર્ત છે પુદ્ગલ દ્રવ્યના પ્રદેશ ખડ  
ખડ થઈને અલગ થઈ જાય છે, કેમકે પુદ્ગલ મૂર્ત છે આશ્લેષ (મળવું) અને  
વિશ્લેષ (બુઢા થવું) દ્વારા મૂર્ત વસ્તુમાં મળવું અને છૂટા થવું તે શક્તિ છે, આ  
વાત સર્વને અનુભવથી સિદ્ધ છે એટલા કારણથી સ્કન્ધ પુદ્ગલોનું સ્મૃત અથવા  
સૂક્ષ્મ અવયવ કહેવાય છે 'અવયૌતિ' ઇતિ-અવયવ અર્થાત્ પૃથક્ થઈ શકે તેને  
અવયવ કહે છે, જો વ્યુત્પત્તિ પ્રમાણે વિભક્ત થવા યોગ્ય અશને જ અવયવ કહે  
છે આ કારણથી પુદ્ગલ દ્રવ્યનો પ્રદેશ જ અવયવ કહેવાય છે



સ ચ પ્રત્યક્ષદૃષ્ટૈરનેકવિધૈર્વાદરપરિણામસ્પૈઃ સ્કન્ધૈરનુમીયતે । ઉક્ત—

“કારણમેવ તદંત, સુદુમો ણિદ્યો ય દોદ પરમાણુ ।

પ્રગરસગંધવર્ણો, દુષ્કાસો કજ્જલિંગો ય ॥૧॥” ઇતિ

છાયા—કારણમેવ તદન્ત્ય, સૂક્ષ્મો નિત્યથ ભવતિ પરમાણુઃ ।

પ્રગરસગંધવર્ણો, દ્વિસ્પર્શઃ કાર્યલિંગથ ॥૧॥” ઇતિ ।

સ્કન્ધસ્વરૂપ તદ્દેદાથ—

પરસ્પરસમિલિતવદ્ધપરમાણુસમુદાય. સ્કન્ધ । સ્કન્ધાન્તવર્તી નિરંસોઽવયવઃ પ્રદેશ ઇત્યુચ્યતે ।

પરિમાણોસે હીનતમ છે, इसी प्रकार परमाणु भी जघन्य अशरूप है—उसके अंश नहीं हो सकते, वह अस्पृह है ।

પ્રત્યક્ષ સે વિસ્તાર્થ દેનેવાલ અનેક પ્રકાર કે બાદરૂપ પરિણત સ્કન્ધા સે પરમાણુ કા અનુમાન હોતા છે । કહ્યા મી છે—

“પરમાણુ કારણરૂપ છે, અન્તિમ અશરૂપ છે, સૂક્ષ્મ છે ઓર નિત્ય છે । એક રસવાળા, એક ગંધવાળા, એક વર્ણવાળા ઓર દો સ્પર્શવાળા હોતા છે । સ્કન્ધરૂપ કાર્ય દેલને સે ઉસકા અનુમાન હોતા છે ।”

સ્કન્ધ કા સ્વરૂપ ઓર મંદ—

પરસ્પર મિલે હુણ—આપસમેં મદ્ધ—પરમાણુ કા સમૂહ સ્કન્ધ કહલાતા છે । સ્કન્ધમેં રહ્યા હુઆ નિરંશ અવયવ પ્રદેશ કહલાતા છે ।

સર્વ પરિમાણોધી હીનતમ છે, એ પ્રમાણે પરમાણુ પણ જઘન્ય અશરૂપ છે, તેના અંશ—વિભાગ થઈ શકતા નથી, તે અખંડ છે

પ્રત્યક્ષથી જોવામાં આવતા અનેક પ્રકારના બાદરૂપ પરિણત સ્કંધોથી પરમાણુનું અનુમાન થાય છે કહ્યું પણ છે—

“પરમાણુ કારણરૂપ છે, અન્તિમ અશરૂપ છે, સૂક્ષ્મ છે અને નિત્ય છે, એક રસવાળું છે, એક ગંધવાળું, એક વર્ણવાળું અને બે સ્પર્શવાળું હોય છે સ્કંધરૂપ કાર્યના રૂપોધી તેનું અનુમાન થાય છે

સ્કંધર્થ સ્વરૂપ અને ક્રિડ—

પરસ્પર મળેલા—બદર બદર બદ્ધ—પરમાણુઓનો સમૂહ તે સ્કંધ કહેવાય છે સ્કંધમાં રહેલો નિરંશ અવયવ તે પ્રદેશ કહેવાય છે

સ્કન્ધસ્ય પરમાણોઽથ સયાગે સતિ ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધો ભવતિ । સહ્યાત-  
પરમાણૂનાં સઘાતાત્ સહ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધ', અસહ્યાતપરમાણૂનાં સયોગાદ્  
અસહ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધ', અનન્તપરમાણૂનાં સઘાતાજ્ઞાતોઽનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધ',  
અનન્તપ્રદેશીનાં સ્કન્ધાનાં યોગે ત્વનન્તાનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધો જાયતે । સહ્યાત-  
પ્રદેશ્યાદિપુ સ્કન્ધેષુ સયોગપરિણામ પૂર્વોક્તરીત્યા ભાવનીય ।

દ્વચણુકાદિક્રમેણાનન્તાનન્તપ્રદેશિપર્યન્તા ચે સ્કન્ધા સયાગપરિણામ-  
જાસ્તેભ્ય પરમાણુ પૃથગ્ ભવતિ ચેત્તદેકપરમાણુન્યૂન સ્કન્ધો જાયતે । एवं  
દ્વિત્રિચતુ'પચ્ચાદિપરમાણુપૃથગ્માવક્રમેણ ન્યુનાન્યૂનો દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ' સમુત્પદ્યતે ।

और एक परमाणु का संयोग होने पर त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है, सहायत परमाणुओं के  
सघात से साहायतप्रदेशी स्कन्ध बनता है और असह्यात परमाणुओं के संयोग  
से असह्यातप्रदेशी स्कन्ध बनता है । अनन्त परमाणुओं के मिलने से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध  
बनता है, अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का संयोग होने पर अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता  
है । सहायतप्रदेशी आदि स्कन्धों न संयोगरूप परिणामन पूर्वोक्तप्रकार से समझ लेना चाहिए ।

દ્વચણુક આદિ કે ક્રમ સે અનન્તાનન્તપ્રદેશી પર્યન્ત જો સ્કન્ધ સયોગપરિણામ સે  
બને છે, એન મેં સે અગર એક પરમાણુ અલગ હો જાતા હો તો વહ એક પરમાણુહીન સ્કન્ધ રહ  
જાતા હો । હસી પ્રકાર ઢો ત્રીન ચાર પાંચ આદિ પરમાણુઓ કે અલગ હોને પર એત મેં  
દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ હી બનતા હો ।

એને એક પરમાણુને સંયોગ થવાથી ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ બને છે, સહ્યાત પરમાણુઓના  
સઘાતથી (મળવાથી) સહ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધ બને છે અને અસહ્યાત પરમાણુઓના  
સંયોગથી અસહ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધ બને છે અનન્ત પરમાણુઓના સંયોગથી અનન્ત  
પ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધોના સંયોગ થાય તો અનન્તાનન્ત  
પ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે સહ્યાતપ્રદેશી આદિ સ્કન્ધોના સંયોગરૂપ પરિણમન  
પૂર્વના પ્રકારથી સમજી લેવું જોઈએ

દ્વચણુક આદિના ક્રમથી અનન્તાનન્તપ્રદેશી પર્યન્ત જે સ્કન્ધ છે, તે સંયોગ  
પરિણમનથી બન્યા છે તેમાંથી જો એક પરમાણુ અલગ થઈ જાય તો તે એક  
પરમાણુહીન સ્કન્ધ રહી જાય છે જો પ્રમાણે જો, ત્રણ, ચાર, પાંચ આદિ પરમાણુઓ  
અલગ થઈ જાય તો અન્તમાં દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ જ બને છે

સઘાતાદ્, મેદાત્, સઘાતમેદામ્યાં ચ દ્વિપ્રદેશિપમૃતય' સ્કન્ધા. સઘ  
સ્પન્નન્તે । ઉક્તઞ્ચ મગવતા સ્થાનાશ્રયુન્મે—

“દોઢિ ટાળેહિ પોગલા સાહણતિ, તજહા-સયં વા પોમલા  
સાહન્નન્તિ, પરેણ વા પોમલા સાહન્નન્તિ । સય વા પોમલા મિજ્જન્તિ પરેણ વા  
પોમલા મિજ્જન્તિ” ઇતિ ।

છાયા—“દ્વામ્યાં સ્થાનામ્યાં પુદ્ગલા સહન્યન્તે । તથા—સ્વયં વા  
પુદ્ગલાઃ સહન્યન્તે, પરેણ વા પુદ્ગલા સહન્યન્તે । મ્વય વા પુદ્ગલા મિચન્તે, પરેણ  
વા પુદ્ગલા મિચન્તે । ઇતિ ।

‘સ્વયંવે’—તિ સ્વમાવતો વા અભ્રાદિષ્વિવ સહન્યન્તે=સમ્બન્ધ્યન્તે ।  
(કમળઃ કર્તૃત્વચિત્રસાયાં પ્રયોગોડયમ્ ) પરેણ વા=અન્યેન વા પુરુષાદિના સહન્યન્તે=  
સંહતા ક્રિયન્તે । (કર્મણિ વાચ્યે પ્રયોગોડયમ્) । एवं મિચન્તે=વિકીર્યન્તે ।

દ્વયો પરમાણ્નો સઘાતાદ્ દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધઃ સમુદ્ભવતિ । દ્વિપ્રદેશિન

સંઘાત (મિલ્ને) સે, મેદ (વિદ્યુદ્ધને) સે તથા સઘાતમેદસે દ્વિપ્રદેશી બાદિ  
સ્કન્ધ ઉત્પન્ન હોતે હૈં ।

મગવાનને સ્થાનાશ્રયુન્મે કહા હૈ—

“દો સ્થાનો સે પુદગલ આપસ મેં મિલ્તે હૈં, વહ હસ પ્રકાર—યા તો પુદગલ સ્વયં  
બાદલ બાદિ કોં તરફ મિલ્ જાતે હૈં, યા દૂસરે પુરુષ બાદિ કે દ્વારા મિલાયે જાતે હૈં, હસી  
પ્રકાર પુદગલ સ્વયં બલગ હો જાતે હૈં, યા દૂસરે કે દ્વારા બલગ કિયે જાતે હૈં ।

દો પરમાણુઓ કે સઘાત સે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ બનસા હૈ, દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ

સઘાત (મેદાપ)થી ભેદ (જુદા પડવા)થી તથા સઘાત-ભેદથી દ્વિપ્રદેશી  
વિગેરે સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે બાગવાને સ્થાનાશ્રયુન્મે માં કહ્યું છે—

“એ સ્થાનોથી પુદ્ગલ પરસ્પર મળે છે તે આ પ્રમાણે—પુદ્ગલ પોતે જ  
વાદળ બાદિ પ્રમાણે મળી જાય છે, અથવા બીજા પુરુષ બાદિના દ્વારા મેળવાય છે  
એ પ્રમાણે પુદ્ગલ પોતે જ અગલ થઈ જાય છે, અથવા તો બીજાના દ્વારા અલગ  
કરી શકાય છે

એ પરમાણુઓના સઘાતથી (મળવાથી) દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ બને છે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ

જઘન્યગુણસ્તિગ્ધયોર્દ્વયો', જઘન્યગુણસ્તિગ્ધાનાં વા વહુના પરમાણુનાં પરસ્પર વન્ધો ન ભવતિ । તથા જઘન્યગુણરૂક્ષયો', જઘન્યગુણરૂક્ષાણા વા પરસ્પર વન્ધો ન ભવતિ । જઘન્યોઽપકૃષ્ટતમ, ગુણશ્ચ્ચદોઽત્ર સંખ્યાર્થક' । યથા એકગુણ, દ્વિગુણમિત્યાદિપદમ્-એકસંખ્યકદ્વિસંખ્યકાઘર્થવોષકમ્ । સ્નેહાદિગુણાનાં પ્રકર્ષાપકર્ષો લોકપ્રસિદ્ધો । યથા-પાનીયાદજાદુગ્ધ સ્તિગ્ધમ્, અજાદુગ્ધાદ્ ગર્ભ્યદુગ્ધમ્, તતશ્ચ મદ્ધિપોદુગ્ધમિત્યુત્તરોત્તર સ્નેહપ્રકર્ષ ।

અપામેવ પૂર્વ પૂર્વ સ્નેહાપકર્ષ. । તથા એકગુણસ્તિગ્ધસ્યેકગુણસ્તિગ્ધેન, દ્વયોર્વહુના પરમાણુનાં પરસ્પર વન્ધો ન ભવતિ । એકગુણરૂક્ષસ્યેકગુણરૂક્ષેણ ચ

જઘન્યગુણ સ્તિગ્ધ દો પરમાણુઓ કા, અથવા બહુત પરમાણુઓ કા પરસ્પરમેં ઘન્ય નહીં હોતા । ઇસી પ્રકાર જઘન્યગુણ રૂક્ષ દો યા બહુત પરમાણુઓ કા મી પરસ્પર મેં ભવ નહીં હોતા । જઘન્ય કા અર્થ યહોં હીનતમ સમજના ચાહિય । ગુણશબ્દ યહાં સખ્યા ( ડિગરી ) કા વાચક હૈ, જૈસે-એકગુના, ડોગુના આદિ પદ એકસંખ્યક દ્વિસંખ્યક આદિ અર્થ કે વાચક હૈ । સ્તિગ્ધતા ( ચિકનાઈ ) આદિ ગુણો કી અધિકતા ઐર ન્યૂનતા લોક મેં પ્રસિદ્ધ હૈ । જૈસે પાની કી અપેક્ષા બકરી કા દૂધ ચિકના હોતા હૈ । બકરી કે દૂધસે ગૌ કા દૂધ અધિક ચિકના હોતા હૈ, ઔર ગૌ કે દૂધ કી અપેક્ષા મૈસ કા દૂધ અધિક ચિકના હોતા હૈ । ઇસ પ્રકાર પાની આદિમેં ઉત્તરોત્તર ચિકનપન કી અધિકતા હૈ । ઇન્હી પાની આદિ મ પહેલેર વાલોં મ ચિકનેપનકી ન્યૂનતા હૈ । ઇસ પ્રકાર એક ગુણ સ્તિગ્ધ કા, એક ગુણ સ્તિગ્ધ કે સાથ, દો યા અધિક પરમાણુઓ કા

જઘન્ય ગુણ સ્તિગ્ધ બે પરમાણુઓનો અથવા બહુ પરમાણુઓનો પરસ્પર બધ થતો નથી, જઘન્યનો અર્થ આદિ હીનતમ સમજવો બોધએ ગુણ શબ્દ આદિ સખ્યા ( ડિગ્રી ) નો વાચક છે જેવી રીતે એક ગણા બે ગણા આદિ પદ એક સખ્યક, દ્વિસખ્યક આદિ અર્થનું વાચક છે સ્તિગ્ધતા ( ચિકણપણું ) આદિ ગુણોની અધિકતા અને ન્યૂનતા લોકમાં પ્રસિદ્ધ છે જેમ પાણીની અપેક્ષાએ બકરીનું દૂધ ચિકણ હોય છે બકરીના દૂધથી ગાયનું દૂધ અને ગાયના દૂધની અપેક્ષાએ બેસનું દૂધ વધારે સ્તિગ્ધ ( ચિકણું ) હોય છે એ પ્રમાણે પાણી આદિમાં ઉત્તરોત્તર ચિકણા પણીની અધિકતા છે

એ પાણી આદિમાં પહેલા-પહેલાનામાં ચિકણાપણીની ન્યૂનતા છે એ પ્રમાણે એક ગુણ સ્તિગ્ધનો, એક ગુણ સ્તિગ્ધની સાથે, તથા બે અથવા અધિક પરમાણુઓનો

સ્કન્ધાદ્ ઘર્હિર્ગતસ્ય પરમાણોરન્યેન પરમાણુના સયોગે દ્વયણુકસ્કન્ધ ઉત્પદ્યતે । એવ સયોગ-વિભાગાભ્યામપિ ધિવિધાઃ સ્કન્ધા ભવન્તિ ।

### પરમાણુનાં ઘન્ધસ્ય કારણમ્—

પરમાણુદ્વયસ્ય પરમાણુનાં વા પરસ્પરાનુપ્રવેશો ન ભવતિ, છિદ્રાભાવાદ્, ફિન્તુ તયોસ્તૈર્વાં વા વિસ્રસાગત્યા પરસ્પર સયોગે સતિ સ્નિગ્ધરૂઢ્વગુણ સદ્ભાવે પરસ્પર ઘન્ધો ભવતિ । એવ્યપરિમાણો ઘન્ધ । તત્રાય વિશેષ—

સ્કન્ધ સે અલ્પા હુમા પરમાણુ વ્ચ દૂસરે પરમાણુ કે સાથ મિલ્તા હૈ તો દોનો કે મેલસે નવીન દ્વયણુક ઉત્પન્ન હો જાતા હૈ । હસ પ્રકાર સયોગ ઔર વિભાગ કે દ્વારા મૌતિ-મૌતિ કે સ્કન્ધ ઉત્પન્ન હોતે હી રહતે હૈ ।

### પરમાણુઓં કે ઘન્ધ કા કારણ

દો યા અધિક પરમાણુ એક દૂસરે મેં પ્રવેશ નહીં કર સકતે, ક્યોંકિ પરમાણુઓં મેં છિદ્ર નહીં હોતા, અલબત્ત સ્વાભાવિક ગતિ સે દો યા દો સે અધિક પરમાણુઓં કા પરસ્પર મેં સંયોગ હોતે પર ઊન મેં વિષમાન સ્નિગ્ધતા ઔર રૂઢ્વતા ગુણ કે કારણ ઊન કા આપસ મેં ઘન્ધ હો જાતા હૈ । એકતારૂપ પરિણમન કો ઘન્ધ કહતે હૈ । ઘવ કે સમ્બન્ધ મેં હવના વિશેષ સમજના જાણિય—

શ્કધર્થી અલ્પા થયેલા પરમાણુ આપરે બીજા પરમાણુની સાથે મળે છે, તે બંનેના મળવાથી નવીન દ્વયણુક ઉત્પન્ન થાય છે એ પ્રમાણે સંયોગ અને વિભાગ દ્વારા તરેહ-તરેહના શ્કધ ઉત્પન્ન થયા કરે છે

### પરમાણુઓના બંધનુ કારણ—

બે અથવા અધિક પરમાણુ એક બીજામાં પ્રવેશ કરી શકતા નથી, કેમકે પરમાણુઓમાં છિદ્ર નથી. અલબત્ત સ્વાભાવિક ગતિથી બે અથવા બેથી અધિક પરમાણુઓને પરસ્પર સંયોગ થવાથી તેમાં વિષમાન સ્નિગ્ધતા અને રૂઢ્વતાના ગુણના કારણે તેને આપસમાં બંધ થઈ જાય છે એકતારૂપ પરિણમનને બંધ કહે છે બંધના સબધમાં એટલું વિશેષ સમજવું જોઈએ કે —

एव द्विगुणतः समारम्भ यावत् सग्न्यातासग्न्यातानन्तगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणतः समारम्भ यावत् मग्न्यातासग्न्यातानन्तगुणस्निग्धेन सर्वेण समगुणेन पुद्गलेन परस्पर बन्धो न भवति । तथा द्विगुणादिरूपस्य द्विगुणादिरूपेण सर्वेण समगुणेन यावदनन्तगुणरूपेण पुद्गलेन सह परस्पर बन्धो न भवति । यथा तुल्यबलगुणमल्लयोरुभयोर्मध्ये परस्पर कोऽपि कञ्चिदमिदन्तु न प्रभवति ।

इत्थं च तुल्यसरस्यके स्निग्धत्वे सति स्निग्धस्य स्निग्धेन सह बन्धो न भवति, तुल्यमग्न्यके रूक्षत्वे सति रूक्षस्य रूक्षेण सह बन्धो न भवतीति सारांशः ।

अथ जघन्यस्निग्धस्य षीद्वशेन स्निग्धेन सह परस्पर बन्धो भवति ?

इसी प्रकार द्विगुण से लेकर सग्न्यात असग्न्यात और अनन्तगुण स्निग्ध पुद्गलका द्विगुण से लेकर सग्न्यात असग्न्यात और अनन्तगुण स्निग्धतावाले समगुण पुद्गल के साथ आपस में बन्ध नहीं होता । तथा द्विगुण आदि रूक्ष समगुणवाले किसी भी पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है । जैसे—समान बलवाले दो मछली में से कोई किसी को पराजित नहीं कर सकता ।

इस प्रकार समान स्निग्धता होने पर स्निग्ध पुद्गलका स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है और समान रूक्षता होने पर रूक्षका रूक्षके साथ भी बन्ध नहीं होता है ।

शंका—जघन्य स्निग्ध का किस प्रकार के स्निग्ध पुद्गल के साथ परस्पर बन्ध होता है ?

ये प्रमाणे द्विशुद्धी वर्धने सज्ज्यात, असज्ज्यात अने अनन्तशुद्ध स्निग्ध पुद्गलाने। द्विशुद्धी वर्धने सज्ज्यात, असज्ज्यात, अने अनन्तशुद्ध स्निग्धतावाणा समशुद्ध पुद्गलानी साथे आपसभा बन्ध यतो नथी तथा द्विशुद्ध आदि इक्ष पुद्गलाने द्विशुद्ध आदि इक्ष समशुद्धतावाणा कोई पक्ष पुद्गलानी साथे बन्ध यतो नथी। जेभ समान बलवाणा जे मस्तीमाथी कोई कोर्धने पराजित करी शक्ता नथी

ये प्रमाणे समान स्निग्धता होवा छत्ताय, स्निग्ध पुद्गलाने स्निग्ध पुद्गलानी साथे बन्ध यतो नथी, अने समान इक्ष होवा छत्ताय इक्षाने इक्षानी साथे पक्ष बन्ध यतो नथी।

शंका—जघन्य स्निग्ध पुद्गलाने क्या प्रकारना स्निग्ध पुद्गलानी साथे परस्पर बन्ध थाय छे ?

દ્વયોર્ધ્વના વા પરમાણૂનાં પરસ્પર વન્ધો ન મયતીતિ ફલિતમ્ ।

નનુ પરમાણૂના સત્યપિ સયોગે વધકારણીભૂતસ્તિગ્ધસ્વરૂપસ્ત્વયોષ સદ્માષે  
કથ ન જાયતે પરસ્પરમેકત્વપરિણતિલક્ષણો વન્ધઃ ? इति ।

પરમાણોસ્તાદૃશપરિણમનશ્ચતેરમાશ્વાત્ । પરિણામશક્તયશ્ચ દ્રવ્યાણાં વિવિધ-  
રૂપાઃ ક્ષેત્રકાલાધનુરોધેન પ્રયોગવિસ્રસાપેક્ષા પ્રમત્તિ । જઘન્યગુણત્વેન  
દૌર્બલ્યાદેવ સ્નેહો રૂક્ષો વા કશ્ચિદ્ પુદ્ગલ પરિણામયિતુ ન સમર્થઃ । યથા-  
તુલ્યદુર્બલગુણમહ્ત્યોરુમયોર્મધ્યે પરસ્પર કોઽપિ કશ્ચિદમિહન્તુ ન પ્રમત્તિ, તસ્માન્જ-  
ઘન્યગુણાનાં પરસ્પરં વન્ધો ન મયતીતિ સિદ્ધમ્ ।

પરસ્પર વધ નહીં હોતા, ઓર એક ગુણ રૂક્ષકા એક ગુણ રૂક્ષ કે સાથ દો યા અધિક  
પરમાણુઓં કા પરસ્પર વધ નહીં હોતા, યહ સિદ્ધ હુઆ ।

શ્લોક—પરમાણુઓં કા સયોગ મૌજૂઢ હોને પર મી, ઓર વધ ક કારણમૂલ  
સ્તિગ્ધત્વ તથા રૂક્ષત્વ કે વિષમાન હોને પર મી વધ—એકતારૂપ પરિણમન કયોં નહીં હોતા ?

સમાધાન—પરમાણુ મેં ઇસ પ્રકાર કે પરિણમન કી શક્તિ કા અમાવ હૈ । દ્રવ્યોં કી  
પરિણમન શક્તિયોં ક્ષેત્ર ઓર કાલ કે અનુરોધ સે પ્રમત્ત તથા સ્વમાવ કી અપેક્ષા રસ્તી હુ  
નાના પ્રકાર કી હોતી હૈ । જઘન્ય ગુણવાલા હોને કે કારણ નિર્વહ હોને સે સ્તિગ્ધ યા રૂક્ષ  
પરમાણુ કિસી પુદ્ગલ કો પરિણત કરન મેં સમર્થ નહીં હોતા, કૈસે સમાન દુર્બલતાવાલે દો  
મહ્તોં મેં સે કોઈ કિસી કો પરાજિત નહીં કર સક્તા । અત એવ યહ સિદ્ધ હુઆ કિ જઘન્ય  
ગુણવાલોં કા પરસ્પર મેં વન્ધ નહીં હોતા ।

પરસ્પર બધ થતો નથી, અને એકગુણ રૂક્ષને એકગુણ રૂક્ષની સાથે બે અથવા  
અધિક પરમાણુઓને પરસ્પર બધ થતો નથી

શ્લોક—પરમાણુઓને સયોગ મૌજૂઢ હોવા છતાંય પણ, અને બધના કારણમૂલ  
સ્તિગ્ધત્વ (ચિકષ્ણાપણુ) તથા રૂક્ષત્વ (લૂખાપણુ) વિષમાન હોવા છતાંય બધ-  
એકતારૂપ પરિણમન કેમ થતુ નથી ?

સમાધાન—પરમાણુમા એ પ્રકારની પરિણમનની શક્તિને અભાવ છે, દ્રવ્યની  
પરિણમન શક્તિઓ ક્ષેત્ર અને કાલના અનુરોધથી, પ્રમત્ત તથા સ્વમાવની અપેક્ષા  
રાખતી થકી નાના પ્રકારની થાય છે જઘન્ય ગુણવાળા હોવાના કારણે, નિર્બલ  
હોવાથી સ્નેહ અથવા રૂક્ષ પરમાણુ કોઈ પુદ્ગલને પરિણત કરવામા સમર્થ થતુ નથી  
નેવી રીતે સમાન દુર્બળતાવાળા બે મહ્તોંમાંથી કોઈ કોઈને પરાજિત કરી શકતા  
નથી. એટલા કારણથી સિદ્ધ થયુ કે—જઘન્ય ગુણવાળાઓને પરસ્પર બધ થતો નથી.

एवमुक्तपुत्तया द्विगुणादिस्निग्धस्य स्वस्वापम्यैकाधिकगुणस्निग्धेन सह वन्धो न भवति । द्विगुणस्निग्धस्यैकाधिकत्रिगुणस्निग्ध त्रिगुणस्निग्धस्य चतुर्गुणस्निग्ध एकाग्रिक , इति हेतोर्द्विगुणस्निग्धस्य त्रिगुणस्निग्धेन सह वन्धो न भवति । इत्थ च स्निग्धपुद्गलस्यैकाधिकगुणस्निग्धपुद्गलेन सह वन्धो न भवतीति सार ।

द्विगुणादिस्निग्धस्य द्व्यधिकादिगुणस्निग्धेन वन्धो भवति । यथा द्विगुणस्निग्धस्य द्व्यधिकचतुर्गुणस्निग्ध । त्र्यधिक पञ्चगुणस्निग्ध , चतुरधिक

पूर्वोक्त युक्ति क अनुसार द्विगुण आत्ति स्निग्ध का अपनी अपनी अपक्षा से एक गुण अधिक स्निग्ध क साथ बन्ध नहीं होता । द्विगुण स्निग्ध स एक अधिक का अर्थ है—त्रिगुण स्निग्ध, त्रिगुण स्निग्ध से एक अधिक चतुर्गुण स्निग्ध सनसना चाहिये । इस रीति स अनन्त गुण स्निग्ध भी अपन से एक गुण हीन स्निग्ध की अपेक्षा एक गुण अधिक स्निग्ध है । अत द्विगुण स्निग्ध का त्रिगुण स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता । साराश यह है कि—स्निग्ध पुद्गल का एक गुण अधिक पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता ।

द्विगुण स्निग्ध आत्ति का दो गुण अधिक अर्थात् चार गुण स्निग्ध क साथ बन्ध हो जाता है, जैसे दो गुण स्निग्ध से दो गुण अधिक स्निग्ध का

પૂર્વોક્ત યુક્તિ પ્રમાણે દ્વિગુણ આદિ સ્નિગ્ધને પોત-પોતાની અપેક્ષાથી એક ગુણુ અધિક સ્નિગ્ધ સાથે બંધ થતો નથી. દ્વિગુણુ સ્નિગ્ધથી એક અધિકને અર્થ છે—ત્રિગુણુ સ્નિગ્ધ, અને ત્રિગુણુ સ્નિગ્ધથી એક અધિક ચતુર્ગુણુ સ્નિગ્ધ સમજવો જોઈએ એ પ્રમાણે અનન્ત ગુણુ સ્નિગ્ધ પણ, પોતાનાથી એક ગુણુ હીન સ્નિગ્ધની અપેક્ષાથી એક ગુણુ અધિક સ્નિગ્ધ છે તેથી દ્વિગુણુ સ્નિગ્ધને ત્રિગુણુ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થતો નથી સારાશ એ છે કે—સ્નિગ્ધ પુદ્ગલને એક ગુણુ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બંધ થતો નથી

દ્વિગુણુ સ્નિગ્ધ આદિને બે ગુણુ અધિક અર્થાત્ ચાર ગુણુ સ્નિગ્ધની સાથે બંધ થઈ બાંધ છે જેમ-જે ગુણુ સ્નિગ્ધથી બે ગુણુ અધિક સ્નિગ્ધને અર્થ ચાર



अत्रोच्यते—अथन्यस्निग्धस्य द्व्यधिकत्र्यधिकादिना स्निग्धेन बन्धो भवति, यथा एकगुणस्निग्धः । परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुणस्निग्धेन परमाणुपुद्गलेन सह संयोगे सति बन्धो भवति । एव एकगुणस्निग्धस्य चतुर्गुणपञ्चगुणयावत्संख्यातामख्यातानन्तगुण स्निग्धेन सह बन्धः ।

एकगुणस्निग्धस्यैकाधिकगुणस्निग्धेन (द्विगुणस्निग्धेन) तु न बन्धः, द्व्यधिकादिगुणस्निग्धेन च स्निग्धपुद्गलस्य बन्धविधानात् । एकाधिकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य प्रतिविशिष्टपरिणमनशक्तेरभावात् । एकगुणस्निग्धस्यैकाधिको द्विगुणस्निग्धः ।

समाधान—अथन्य स्निग्ध पुद्गल का दो गुण ( डिग्री ) या तीन गुण अधिक स्निग्धतावाले पुद्गल के साथ बन्ध होता है । जैसे एक गुण स्निग्धतावाले परमाणु का तीन गुण स्निग्धता वाले परमाणु के साथ संयोग होने पर बन्ध हो जाता है । इसी प्रकार एक गुण ( एक अंश ) स्निग्धता चार, पाँच, यहाँ तक कि सख्यात, असंख्यात एवं अनन्त गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है ।

एक गुण स्निग्धता एक अधिक गुण स्निग्ध अर्थात् द्विगुण स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता, क्योंकि दो गुण अधिक स्निग्धता स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध बतलाया गया है । एक गुण अधिक स्निग्ध पुद्गल में विशेष प्रकार के परिणमन की शक्ति नहीं है । एक गुण स्निग्धतावाले की अपेक्षा एक गुण अधिक स्निग्ध यहाँ कहा जाय वहाँ दो गुण स्निग्धतावाला पुद्गल समझ लेना चाहिये ।

समाधान—अथन्य स्निग्ध पुद्गलना ने शुष्ण ( डिग्री ) अथवा त्र्य शुष्ण अधिक स्निग्धतावाला पुद्गलना साथे बन्ध थाय छे ठेभठे—जेठ शुष्ण ( डिग्री ) स्निग्धतावाला परमाणुना त्र्य शुष्ण ( डिग्री ) स्निग्धतावाला परमाणुनी साथे संयोग यर्ध बन्ध तो बन्ध यर्ध बन्ध छे तेवी रीते जेठ शुष्ण ( डिग्री ) ( अथ ) स्निग्धताना चार, पाँच, त्या सुधी के संख्यात असंख्यात के प्रमाणे अनन्त शुष्ण स्निग्धनी साथे बन्ध थाय छे

जेठ शुष्ण स्निग्धतानो जेठ अधिक शुष्ण स्निग्ध अर्थात् द्विशुष्ण स्निग्धनी साथे बन्ध यतो नथी, ठेभठे ने शुष्ण अधिक स्निग्धता स्निग्ध पुद्गलनी साथे बन्ध बताव्यो छे, जेठ शुष्ण अधिक स्निग्ध पुद्गलना विशेष प्रकारना परिणमननी शक्ति नथी जेठ शुष्ण ( डिग्री ) स्निग्धतावालानी अपेक्षा जेठ शुष्ण ( डिग्री ) अधिक स्निग्ध त्या ठेवैवाय त्या ने शुष्ण ( डिग्री ) स्निग्धतावाला पुद्गल समझ लेवा जेठ जे

जघन्यगुण (एकगुण) स्निग्धस्य अजघन्यगुण (द्विगुणाद्यनन्तगुणपर्यन्त) स्निग्धस्य वा स्वस्वापेक्षयैकाधिकगुणरूपेण, पुन स्वस्वापेक्षया द्व्यधिक त्र्यधिक चतुरविकादि-गुणरूपेणापि बन्धो भवति । उक्तञ्च भगवता प्रज्ञापनासूत्रे-(१३)-त्रयोदशे परिणामपदे-“वधणपरिणामे ण भते ! कइविहे पणत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पणत्ते, तजहा-णिद्धवधणपरिणामे य लुक्खवधणपरिणामे य ।”

समणिद्धयाए बन्धो, न होइ समलुक्खयाएवि ण होइ ।

वेमायणिद्धलुक्ख-त्तणेण वधो उ खंधाण ॥१॥

छाया-बन्धनपरिणामो भदन्त ! कतिविधं प्रप्लप्त ?, गौतम !

द्विविध. प्रप्लप्तस्तथा-स्निग्धवधनपरिणामश्च, रूक्षवधनपरिणामश्च ।

समस्निग्धताया बन्धो न भवति, समरूक्षतायामपि न भवति ।

विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन, वन्धस्तु स्कन्धानाम् ॥ १ ॥

नहीं होता । जघन्य गुण ( एकगुण ) स्निग्ध का अथवा अजघन्य गुण ( ने से लगाकर अनन्त गुण तक ) स्निग्ध का, अपने से एक गुण अधिक रूप के साथ बन्ध होता है । और अपने अपने से दो अधिक तीन अधिक, चार अधिक आदि रूक्ष पुद्गल के साथ भी बन्ध होता है । भगवान् ने प्रज्ञापना सूत्र के १३ वें परिणाम पदम कहा है—

प्रश्न—“भगवान् ! वन्ध परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है—(१) स्निग्धवधनपरिणाम और (२) रूक्षवधनपरिणाम ।

समान स्निग्धता या समान रूक्षता होने पर बन्ध नहीं होता है, किन्तु विमात्र-अर्थात् अधिक का हीनके साथ, और हीनका अधिक के साथ, चाहे वे स्निग्ध हो या रूक्ष हो बन्ध हो जाता है ॥ १ ॥

नदी. जघन्य शुष्क (अथ शुष्क) स्निग्धने अथवा अजघन्य, (अथी लघने अनन्त शुष्क सुधी) स्निग्धने पोतानाथी अथ शुष्क अधिक इक्षानी साथे बध थाय छे अने पोतपोताथी ने अधिक, त्रयु अधिक आर अधिक आदि इक्ष पुद्गलनी साथे पणु बध थाय छे, भगवाने प्रज्ञापना सूत्रना १३मा परिणाम पदमा कहेलु छे—

प्रश्न—“भगवान् ! वन्धन-परिणाम केटला प्रकारनां कवा छे ?

उत्तर—गौतम ! ने प्रकारना कहेला छे—(१) स्निग्धवधनपरिणाम अने (१) रूक्षवधनपरिणाम ”

समान स्निग्धता अथवा समान रूक्षता होय तो बध यतो नथी परंतु विमात्र अर्थात् अधिकने हीननी साथे अने हीनने अधिकनी साथे, बाहे ते स्निग्ध होय के रूक्ष होय, बध यथ जाय छे ॥ १ ॥

पद्मगुणस्निग्ध', इत्यादि । त्रिगुणस्निग्धस्य द्व्यधिक पञ्चगुणस्निग्ध, त्र्यधिक पद्मगुणस्निग्धः, चतुरधिक सप्तगुणस्निग्ध, इत्यादि । चतुर्गुणस्निग्धस्य द्व्यधिक पद्मगुणस्निग्धः, त्र्यधिक सप्तगुणस्निग्ध चतुरधिक — अष्टगुणस्निग्ध । एवं पञ्चगुणस्निग्धादिसख्यातासख्यातानन्तगुणस्निग्धपर्यन्तस्य द्व्यधिकादिगुणस्निग्धेन सह बन्धो भावनीय ।

एव जघन्यगुणरूपस्य, अजघन्यगुणरूपस्य च बन्धव्यवस्था बोध्या ।

### विसदृशपुद्गलबन्ध —

अथ विसदृशपुद्गलयोर्ध्वे कीदृशी व्यवस्था ?

उच्यते—जघन्यगुणस्निग्धस्य, जघन्यगुणरूपेण सह बन्धो न भवति ।

अर्थ चार गुण स्निग्ध, तीन गुण अधिक का अर्थ पांच गुण स्निग्ध, चार गुण अधिक का अर्थ छह गुण स्निग्ध, इत्यादि समझना चाहिए । चतुर्गुण स्निग्ध से द्व्यधिक—पद्मगुण स्निग्ध, त्र्यधिक—सप्तगुण स्निग्ध, चतुरधिक—अष्टगुण स्निग्ध समझना चाहिए । इस प्रकार पञ्चगुण स्निग्ध आदि से संख्यात, असंख्यात अनन्त गुण स्निग्ध का दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ बन्ध होता है । इस प्रकार जघन्य गुण रूप का अजघन्य गुण रूप के साथ बन्ध की व्यवस्था जाननी चाहिए ।

### विसदृश पुद्गलों का बन्ध—

प्रश्न—विसदृश अर्थात् परस्पर विरोधी पुद्गलों के बन्ध की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर—जघन्य गुण स्निग्ध का जघन्य गुण वाले रूप पुद्गलके साथ बन्ध

शुष्क स्निग्ध, त्रय्य शुष्क अधिकतम अर्थ पांच शुष्क स्निग्ध, चार शुष्क अधिकतम अर्थ छ शुष्क स्निग्ध, ये प्रमाणों समन्वय में हैं। अतुर्गुण स्निग्धों द्व्यधिक पद्मशुष्क स्निग्ध, त्र्यधिक सप्तशुष्क स्निग्ध अतुर्गुण अष्टशुष्क स्निग्ध समन्वय में हैं, ये प्रमाणों पांच शुष्क स्निग्ध आदि से संख्यात, असंख्यात अनन्तशुष्क स्निग्धों के शुष्क अधिक स्निग्धों के साथ जो बंध है उसे प्रमाणों जघन्य शुष्क रक्षणी अजघन्य शुष्क रक्षणी के साथ जो बंध है व्यवस्था जाननी में हैं।

### विसदृश पुद्गलों का बन्ध—

प्रश्न—विसदृश अर्थात् परस्परविरोधी पुद्गलों का बंध की क्या व्यवस्था है ?

उत्तर—जघन्य शुष्क स्निग्धों जघन्य शुष्कवाला पुद्गलों के साथ जो बंध है

॥ परमाणुबन्धव्यवस्थाकोष्टकम् ॥

जघन्यगुण-( एकगुण )-स्निग्ध-  
रूपयोर्वन्धव्यवस्था ।

स्निग्धरूपसख्या	सदृशानाम्		विसदृशानाम्
	स्निग्धस्य + स्निग्धेन सह	रूपस्य + रूपेण सह	स्निग्धस्य + रूपेण सह
जघन्यस्य (एकगुणस्य) जघन्येन (एकगुणेन) सह	बन्ध्याभाव*	बन्धाभाव	बन्ध्याभाव
जघन्यस्य (एकगुणेन) + एकाधिकेन (द्विगुणेन) सह	बन्ध्याभाव	बन्धो भवति	बन्धो भवति
जघन्यस्य (एकगुणस्य) + द्व्यधिकादिगुणेन-(त्रिगुण- चतुर्गुणतः समारम्भ यावद् अनन्तगुणेन) सह	बन्धो भवति	बन्धो भवति	बन्धो भवति

अजघन्यगुण-( द्विगुणादि )-स्निग्धरूपयोर्वन्धव्यवस्था

स्निग्धरूप-सख्या	सदृशानाम्		विसदृशानाम्
	स्निग्धस्य + स्निग्धेन सह	रूपस्य + रूपेण सह	स्निग्धस्य + रूपेण सह
द्विगुणस्य + द्विगुणेन सह	बन्ध्याभाव	बन्ध्याभाव	बन्धो भवति
द्विगुणस्य + एकाधिकेन (त्रिगुणेन) सह	बन्ध्याभाव	बन्ध्याभाव*	बन्धो भवति
द्विगुणस्य + द्व्यधिकादिगुणेन (चतुर्गुणपञ्चगुणतः समारम्भ यावद् अनन्तगुणेन) सह	बन्धो भवति	बन्धो भवति	बन्धो भवति

एवम् अजघन्यगुण-(त्रिगुणचतुर्गुणतः समारम्भानन्तगुणपर्यन्त)-स्निग्धरूपयोः  
समगुणेन, एकाधिकगुणेन, द्व्यधिकादिगुणेन च सह बन्धव्यवस्था भावनीया ॥

ગિદ્વસ્ત ગિદ્વેણ દુયાદિણ,  
 લુક્તસ્ત લુક્તેણ દુયાદિણ ।  
 ગિદ્વસ્ત લુક્તેણ ઉવેદ વન્ધો,  
 જઠ્ઠણવજ્જો વિસમો સમો વા ॥૨॥  
 (મદ્દા૦ પદ-૧૩)

છાયા—સ્નિગ્ધસ્ય સ્નિગ્ધેન દ્વિધાધિકેન,  
 રુક્ષસ્ય રુક્ષેણ દ્વિધાધિકેન ।  
 સ્નિગ્ધસ્ય રુક્ષેણ ઉપૈતિ વન્ધો,  
 જઘન્યવર્જો વિપમઃ સમો વા ॥૨॥” ઇતિ,  
 વિસદૃશસ્ય વન્ધમાદ—“ગિદ્વસ્ત લુક્તેણ” ઇત્યાદિ ।

સ્નિગ્ધસ્ય રુક્ષેણ સદૃશ વપ ઉપૈતિ=ઉપગતો મવતિ, જાયત ઇત્યર્થઃ ।  
 યદિ પરમાણુજઘન્યવર્જો વિપમો સમો વા મવેત્ । ॥૨॥  
 પરમાણુનાં વપવ્યવસ્થાકોષ્ઠકમગ્રેઽવલોકનીયમ્ ।

દો ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ કે સાથ સ્નિગ્ધ કા વપ હોતા હૈ । ઔર દો ગુણ અધિક  
 રુક્ષ કે સાથ રુક્ષકા વન્ધ હોતા હૈ । અથ વિસદૃશ વન્ધકો કહતે હૈ—“ગિદ્વસ્ત  
 લુક્તેણ” ઇત્યાદિ । જઘન્ય ગુણભાલે પરમાણુ કો છોડકર ફિર વાદે વહ વિપમ હો વા સમ  
 હો સ્નિગ્ધ કા રુક્ષ કે સાથ વન્ધ હોતા હૈ ।

પરમાણુઓ કી વપવ્યવસ્થા કા કોષ્ઠક પૃષ્ઠ ૧૨૧ દેસ લઘે ।

બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ સાથે સ્નિગ્ધનો બધ થાય છે અને બે ગુણ અધિક  
 રુક્ષની સાથે રુક્ષનો બન્ધ થાય છે હવે વિસદૃશ બન્ધ કહે છે—“ગિદ્વસ્ત લુક્તેણ”  
 ઇત્યાદિ જઘન્ય ગુણવાળા પરમાણુને છોડીને બીજા ગમે તે વિપમ હોય અથવા સમ  
 હોય તે સ્નિગ્ધનો રુક્ષની સાથે બધ થાય છે

પરમાણુઓની બધવ્યવસ્થાનું કોષ્ઠક પેજ ૧૨૧માં બોધ લેવું

ઇન્દ્રિયપંચકમ્ ૫, મનોવાક્રકાયબલત્રયમ્ ૩, શ્વાસોચ્છ્વાસરૂપ ૧, આયુર્યેતિ ૧ ।  
 एते दश प्राणा ससारिणां यथासम्भव भवन्ति । नारकतिर्यग्गादय ससारिणो  
 द्रव्यप्राणैरपि प्राणिन । व्यपगतसमस्तकर्मसम्बन्धा सिद्धास्तु केवलभावप्राणैरेव  
 प्राणिन सन्ति । भावप्राणाश्चतुर्विधा —अनन्तज्ञानम् ૧, अनन्तवीर्यम् ૨, अनन्त-  
 सुखम् ૩, अनाद्यनन्तस्थितिश्च ૪ । तन्मानन्तज्ञानात् क्षायोपशमिकपञ्चेन्द्रियाणि,  
 अनन्तवीर्यरूपभावप्राणस्यानन्ताशेन मनोवाक્રकાયबलत्रयम्, अनन्तसुखाश्च-  
 श्वासोच्छ्वासरूप प्राण समुद्भवति, तथा अनाद्यनन्तस्थितिरूप-भावप्राणतः सादि-  
 सान्तरूप आयुःप्राणो जायते । एष द्रव्यप्राणानां कारण भावप्राणा इत्यवधेयम् ।

દશમેદ છે—પાંચ ઇન્દ્રિયો ૫, ત્રીન બલ—મનોબલ, વચનબલ ઓર કાયબલ ૩, શ્વાસોચ્છ્વાસ ૧  
 તથા આયુ ૧, એ દશ દ્રવ્યપ્રાણ યથાસમ્ભવ સંસારી જીવો કે હોતે છે । નારકી, તિર્યક આદિ  
 સસારી જીવો મેં મી દ્રવ્યપ્રાણ પાચે જાતે છે, કિન્તુ સર્વ પ્રકાર કે કર્મ—સંબધ સે રહિત  
 સિદ્ધો મેં સિર્ફ ભાવપ્રાણ હી હોતે છે । સિદ્ધ જીવ ભાવપ્રાણાં કે કારણ હી પ્રાણી કહ્લાતે છે ।

ભાવ પ્રાણકે ચાર મેદ છે—અનન્તજ્ઞાન ૧, અનન્તવીર્ય ૨, અનન્તસુખ ૩, ઓર  
 અનાદિઅનન્તસ્થિતિ ૪ । ક્ષયોપશમ સે ઉત્પન્ન હોને વાલી પાંચ ઇન્દ્રિયો અનન્ત જ્ઞાન  
 કા વિકાર (વૈમાવિક પરિણમન) છે, મન, વચન ઓર કાય—બલ, અનન્તવીર્યરૂપ ભાવપ્રાણકા  
 વિકાર છે, શ્વાસોચ્છ્વાસ અનન્તસુખરૂપ ભાવપ્રાણકા વિકાર છે, ઓર સાદિસાન્ત આયુરૂપ  
 દ્રવ્યપ્રાણ અનાદિ—અનન્તસ્થિતિરૂપ ભાવપ્રાણકા વિકાર છે । ઇસ પ્રકાર ભાવપ્રાણ દ્રવ્યપ્રાણો  
 કે કારણ છે ।

इस सेद छे—पांच इन्द्रियो ૫, त्रयु बल अर्थात् मनोबल, वचनबल अने कायबल ૩,  
 श्वासोच्छ्वास ૧, तथा आयु ૧, आ इस द्रव्यप्राणु साधारणु रीते ससारी जिवोने  
 होय छे नारकी तिर्यक् आदि ससारी जिवोभा पञ्च द्रव्यप्राणु देणाय छे, परन्तु  
 सर्व प्रकारना कर्म—संयधधी रहित सिद्धीभा मात्र भावप्राणु जे होय छे, सिद्ध  
 जेव भावप्राणुना कारणथी जे प्राणी कहेवाय छे

ભાવપ્રાણુના ચાર મેદ છે—અનન્તજ્ઞાન, અનન્તવીર્ય, અનન્ત સુખ અને અનાદિ-  
 અનન્ત સ્થિતિ, ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થવા વાળી પાંચ ઇન્દ્રિયો અનન્ત જ્ઞાનનો વિકાર  
 (વૈમાવિક પરિણમન) છે, મન, વચન અને કાયબલ, અનન્ત વીર્યરૂપ ભાવ પ્રાણુનો  
 વિકાર છે, શ્વાસોચ્છ્વાસ તે અનન્તસુખરૂપ ભાવપ્રાણુનો વિકાર છે, અને સાદિ—સાન્ત  
 આયુરૂપ દ્રવ્યપ્રાણુ, અનાદિ અનન્ત સ્થિતિરૂપ ભાવપ્રાણુનો વિકાર છે એ પ્રમાણે  
 ભાવપ્રાણુ, દ્રવ્યપ્રાણુના કારણુ છે

અથ જીવાસ્તિકાય —

જીવશબ્દાર્થઃ—

જીવતિ પ્રાણાન્ ધારયતીતિ જીવ' । ન ધ સિદ્ધાન્ પ્રાણસમ્બન્ધા-  
માવાદજીવત્વાપત્તિરિતિ ધાન્યમ્, 'પ્રાણાન્ ધારયતી'—ત્યજ પ્રાણસામાન્યવિવક્ષણા  
પઠ્ઠેન્દ્રિયમમૃતિદશવિધદ્રવ્યપ્રાણાનામસર્વેઽપિ સિદ્ધાના માવપ્રાણસદ્ભાવેન જીવત્વ-  
સિદ્ધેરવ્યાહતત્વાત્ । પ્રતિવિશિષ્ટપ્રાણસમ્યન્થે સતિ જીવનાઽજીવશબ્દ પ્રવર્તતે ।

પ્રાણા દ્વિવિધા '—દ્રવ્યપ્રાણા, માવપ્રાણાશ્ચ । તત્ર દ્રવ્યપ્રાણા દશવિધાઃ

જીવાસ્તિકાય—

જીવશબ્દકા અર્થ—

જો જીતા છે અર્થાત્ પ્રાણો કો ધારણ કરતા છે, વહ જીવ કહાતા છે । 'સિદ્ધો  
મેં પ્રાણો કા અભાવ હોને સે વે અજીવ હો બાયેંગે' યહ કહના ઠીક નહી છે । 'જો  
પ્રાણો કો ધારણ કરતા છે' ઇસ કથન મેં પ્રાણ—સામાન્ય કી વિવક્ષા કી ગઈ છે । સિદ્ધો  
મેં યથાપિ પાંચ—ઇન્દ્રિય આદિ વસ પ્રકાર કે દ્રવ્યપ્રાણ નહીં છે, તથાપિ માવ—પ્રાણ  
પાયે જાતે છે, ઓર ઇન માવ—પ્રાણો કે કારણ સિદ્ધ ભગવાન્ કા જીવન સિદ્ધ હો  
જાતા છે । વિશિષ્ટ પ્રકાર કે પ્રાણો કા સમ્બન્ધ હોને પર જીને વાલે કો  
જીવ કહતે છે ।

પ્રાણ દો પ્રકાર કે છે—(૧) દ્રવ્યપ્રાણ ઓર (૨)—માવપ્રાણ । દ્રવ્યપ્રાણો કે

જીવાસ્તિકાય—

જીવ શબ્દનો અર્થ—

જે જીવે છે અર્થાત્ પ્રાણોને ધારણ કરે છે, તે જીવ કહેવાય છે । 'સિદ્ધોભ્ય  
પ્રાણોનો અભાવ હોવાથી તે અજીવ થઈ જશે,' એમ કહેવું તે ઠીક નથી. 'જે  
પ્રાણોને ધારણ કરે છે' એમ કહેવામાં પ્રાણ—સામાન્યની વિવક્ષા કરી છે સિદ્ધોભ્ય  
જો કે પાંચ ઇન્દ્રિયો આદિ હસ પ્રકારના દ્રવ્ય—પ્રાણ નથી, તે પણ માવ—પ્રાણ  
હોય છે, અને તે માવ—પ્રાણોના કારણે સિદ્ધ ભગવાનનું જીવપણું સિદ્ધ થાય છે  
વિશિષ્ટ પ્રકારના પ્રાણોનો અભાવ હોવાના કારણે જીવના પ્રાણોને જીવ કહે છે

|| ૧ || પ્રાણ બે પ્રકારના છે—(૧) દ્રવ્ય—પ્રાણ અને (૨) માવ—પ્રાણ, દ્રવ્ય પ્રાણોના

મવન્તિ, અતઃ પ્વાત્મપર્યાયવર્તી માત્ર પશ્ચન્નિધો મવતિ—(૧) ઔપશમિક., (૨) ક્ષાયિક., (૩) ક્ષાયોપશમિક., (૪) ઔદયિક., (૫) પારિણામિકથેતિ ।

### (૧) ઔપશમિકમાત્ર —

(૧) મોહનીયકર્મણો મસ્માવચ્છન્નવશ્ચિવદનુદ્રેકાવસ્થા, પ્રદેશતોડ્યુ-  
દયામાવશ્ચ ઉપશમ । ઉદ્રેકરૂપેણ પ્રદેશરૂપેણ ચ દ્વિવિધસ્યાપ્યુદયસ્ય યથાશક્તિ  
નિરોધ । ઇત્યમ્મૃતશ્ચોપશમઃ સર્વોપશમ ઉચ્યતે । ઉપશમેન નિર્મૃત ઔપશમિક —  
ક્રોધાદિકપાયોદયામાવરૂપોપશમસ્ય ફલરૂપો જીવસ્ય પરમશાન્તાવસ્થાલક્ષણ-  
પરિણામવિશેષ । સ ચાત્મન શુદ્ધિવિશેષ । યથા—કતકચૂર્ણમક્ષેપેણ પક્ષાદિ—

પાંચ પ્રકારકા હૈ—(૧)—ઔપશમિક, (૨)—ક્ષાયિક, (૩)—ક્ષાયોપશમિક, (૪)—ઔદયિક  
ઔર (૫)—પારિણામિક ।

### (૧) ઔપશમિક માત્ર—

રાત્ર સે દેકો હુદ્ અગ્નિ કે સમાન મોહનીય કર્મ કો અનુદ્રેક અવસ્થા, એવ  
પ્રદેશ કો અપેક્ષા મી ઉદય ન હોના ઉપશમ કહલાતા હૈ । અર્થાત્ ઉદ્રેકરૂપ સે, તથા  
પ્રદેશરૂપ સે—દોનો પ્રકાર કે ઉદય કા યથાશક્તિ રુકના ઉપશમ હૈ । ઇસ પ્રકાર કા  
ઉપશમ સર્વોપશમ કહલાતા હૈ । જો ઉપશમ સે હો ઉસે ઔપશમિક કહતે હૈ ।  
અર્થાત્ ક્રોધ આદિ કપાયો કે ઉદયામાવરૂપ ઉપશમ કા ફલરૂપ જીવ, ઉસકા પરમશાન્ત  
અવસ્થારૂપ પરિણામ ઔપશમિક કહલાતા હૈ । યહ આત્મા કો એક પ્રકાર કો શુદ્ધિ હૈ ।  
જૈસે કિ—કતકચૂર્ણ ( નિર્મલોફલ કા ચૂરા ) તથા ફિટકડી આદિ કા ચૂરા ઢાલને સે બલકા

પ્રકારના છે (૧) ઔપશમિક (૨) ક્ષાયિક (૩) ક્ષાયોપશમિક (૪) ઔદયિક અને  
(૫) પારિણામિક

### (૧) ઔપશમિક માત્ર—

રાત્રથી ઢાંકેલા અગ્નિ સમાન મોહનીય કર્મની અનુદ્રેક અવસ્થા, એવ  
પ્રદેશની અપેક્ષા પણ ઉદય ન હોય તે ઉપશમ કહેવાય છે અર્થાત્ ઉદ્રેકરૂપથી  
તથા પ્રદેશરૂપથી—બંને પ્રકારના ઉદયનુ યથાશક્તિ રોકાવુ તે ઉપશમ છે આ  
પ્રકારનો ઉપશમ સર્વોપશમ કહેવાય છે જે ઉપશમથી હોય તેને ઔપશમિક કહે  
છે અર્થાત્ ક્રોધ આદિ કપાયોના ઉદયામાવરૂપ ઉપશમના ફલરૂપ એવ, તેના  
પરમ શાન્ત અવસ્થારૂપ પરિણામ ઔપશમિક કહેવાય છે

એ આત્માની એક પ્રકારની શુદ્ધિ છે, જેમકે કતકચૂર્ણ ( નિર્મલોફલનુ ચૂર્ણ ) તથા



## અથ જીવસ્ય સ્વરૂપમ્—

ઔપશમિકાદિભાવવાન્ , અસંલપાતપદંત્રી, પરિણામી, લોકાકાશન્યાપી  
મદીપવત્ સંકોચવિકાસશીલ , વ્યક્તિરૂપેણાનન્તોઽવગ્નઃ , ક્રિયાશીલઃ, પ્રદેશ-  
સમુદાયરૂપો, નિત્યો, રૂપરહિતોઽવસ્થિતોઽમૂર્તઃ. સત્તપિ સંસારાવસ્થાયાં મૂર્ત ઇવ  
પ્રતીયમાન , ઊર્ધ્વગતિશીલ આત્મા જીવઃ ।

## અથ માવસ્તદ્વેદાથ—

‘ ઔપશમિકાદિભાવવાન્ જીવ ’ ઇત્યુક્તમ્ , તત્ર કસ્તાવદ્ભાવઃ ? પ્રપતામ્—  
આત્મપર્યાયાણામવસ્થૈવ ભાવા । આત્મપર્યાયાશ્વાવસ્યામેદેન વિવિધરૂપા

## જીવ કા સ્વરૂપ—

ઔપશમિક આદિ ભાવોવાળા, અસંલપાતપ્રદેશી, પરિણામી, પ્રદીપપ્રભાકે સમાન  
સંકોચ-વિકાસ સ્વભાવ વાળા, વ્યક્તિરૂપ સે અનંતસંલગ્ન, ક્રિયાશીલ, પ્રદેશસમુદાયરૂપ,  
નિત્ય, અરૂપી, અવસ્થિત, અમૂર્ત હોને પર મી સસારી અવસ્થા મેં મૂર્ત જૈસા પ્રતીત હોને વાળા,  
ઊર્ધ્વગમનસ્વભાવવાળા આત્મા જીવ કહલાતા હૈ ।

## માવ ઔર માવ કે ભેદ—

પ્રશ્ન—જીવ કા સ્વરૂપ બતલાતે હુવ તસે ઔપશમિક આદિ ભાવો વાળા કહા હૈ સો  
માવ કયા વસ્તુ હૈ ?

ઉત્તર—સુનિયે, આત્મા કે પર્યાયો કી અવસ્થા હી માવ કહલાતી હૈ । આત્મા  
કે પર્યાય, અવસ્થાઓ કે ભેદ સે નાના પ્રકાર કે હોતે હૈ, અત આત્મપર્યાયવર્તી માવ

## જીવનું સ્વરૂપ

ઔપશમિક આદિ ભાવો વાળા, અસંલપાતપ્રદેશી, પરિણામી, પ્રદીપપ્રભાન  
સમાન સંકોચ-વિકાસ સ્વભાવવાળા, વ્યક્તિરૂપથી અનંતસંલગ્ન, ક્રિયાશીલ, પ્રદેશ  
સમુદાયરૂપ, નિત્ય, અરૂપી, અવસ્થિત, અમૂર્ત હોવા છતાંય સસારી અવસ્થામાં  
મૂર્ત જેવા દેખાવાવાળા, ઊર્ધ્વગમન સ્વભાવવાળા આત્મા જીવ કહેવાય છે

## ભાવ અને ભાવના ભેદ—

પ્રશ્ન—જીવનું સ્વરૂપ બતાવતા થકા તેને ઔપશમિક આદિ ભાવોવાળા કહેલ  
છે; તે ભાવ શું વસ્તુ છે ?

ઉત્તર—સામળો, આત્માના પર્યાયોની અવસ્થા જ ભાવ કહેવાય છે આત્માની  
પર્યાય, અવસ્થાઓના ભેદથી નાના પ્રકારના હોય છે, તેથી આત્મપર્યાયવર્તી ભાવ ધ્યાન

### (૩) ક્ષાયોપશમિક-માવ-—

(૩) મિથ્યાત્વમોહનીયાદિકર્મણામુદીર્ણસ્થાગસ્ય નાશ-ક્ષય, અનુદીર્ણ-સ્થાગસ્ય વિપાકોન્મુલ્લક્ષમાવ-ઉપશમ, યત્ર એતદ્વય સ ક્ષાયોપશમ, સ એવ ક્ષાયોપશમિક । અસ્ય માવસ્ય 'મિશ્ર' ઇતિ નામાન્તરમ્ । ઈપદ્વિધ્યાતાવચ્છન્ન-વક્તિવદ્ । યદ્ ઉદયાવલિકાપવિષ્ટ કર્મ, તત્ ક્ષીણમ્, તતોઽવશિષ્ટ કર્મ, ઉદ્રેક-ક્ષાયોમયરહિતાવસ્થમ્, હમામુમયીમવસ્થામવલમ્બ્ય ક્ષાયોપશમિકો માવ' પ્રજાયતે ।

### (૪) ઔદયિકમાવ-—

(૪) કર્મવિપાકાવિર્માવ ઉદય । તેન નિર્વૃત્તો માવ ઔદયિક । સ

### (૩) ક્ષાયોપશમિક માવ-—

મિથ્યાત્વમોહનીય આદિ કર્મો કે ઉદીર્ણ (ઉદય મેં આયે હુય) અગ્ર કા નાગ હાના ક્ષય છે । ઔર અનુદીર્ણ અગ્ર કા ફલ દેને મેં ઉમુલ્લ ન હોના ઉપશમ છે । અહીં દોના અવસ્થાઓ કો ક્ષાયોપશમિક માવ કહત હ । અસ માવ કા દુસરા નામ 'મિશ્રમાવ' મી છે । ચોડી-નુષી હુઈ ઔર ઢકી હુઈ અગ્નિ કે સમાન જો કર્મ ઉદયાવલિકા મેં આંચુકે હેં અનકા ક્ષય હોના, તથા ગ્રેષ કર્મો કા ઉદ્રેક ઔર ક્ષય-દોનો અવસ્થાઓ સે રહિત હોના, અન દોનો કે આધાર પર ક્ષાયોપશમિક માવ ઉત્પન્ન હોતા છે ।

### (૪) ઔદયિક માવ-—

કર્મ કા વિપાક (ફલ) દેના ઉપર કહલાત છે । ઉદય સે હોનેવાલા

### (૩) ક્ષાયોપશમિક ભાવ-—

મિથ્યાત્વ મોહનીય આદિ કર્મોના ઉદીર્ણ (ઉદયમા આવેલા) અગ્રનો નાશ થવો તે ક્ષય છે, અને અનુદીર્ણ અગ્રનું ફલ દેવામા ઉન્મુખ-તે તરફ નહિ થવું તે ઉપશમ છે, જો બન્ને અવસ્થાઓને ક્ષાયોપશમિક ભાવ કહે છે આ ભાવનું બીજું નામ 'મિશ્રભાવ' પણ છે ચોડી ચોડી ઠરી થયેલી અને ઢાઢેલી અગ્નિ પ્રભાસે જે કમ ઉદયાવલિકા આવી ચૂક્યા છે તેનો ક્ષય થવો, તથા ગ્રેષ કર્મોના ઉદ્રેક અને ક્ષય, બન્ને અવસ્થાઓથી ગઢિત થવું, આ બન્નેના આધાર ઉપર ક્ષાયોપશમિક ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે

### (૪) ઔદયિક ભાવ-—

કર્મનો વિપાક (ફલ) મળવું તે ઉદય કહેવાય છે ઉદયથી ઉત્પન્ન થવાવાળો ભાવ તે ઔદયિક છે ઔદયિક ભાવ આત્માની અલિનતા રૂપ છે જેમકે કીચક-

મલનિચયસ્થાપોદેશે નિપાતે સતિ જલસ્ય સ્વચ્છતા । મોહનીયકર્મણ ઉપશમા  
યદ્ દર્શન શ્રદ્ધાનરૂપ, ચરણ યા ચિરતિરૂપ જાયતે તદ્દમ્પીપશમિકસન્દ્રનોચ્યતે ।

## (૨) ક્ષાયિકમાવ —

(૨) સકલકર્મણામત્યન્તોચ્છેદ ક્ષય, ક્ષયેણ નિર્ણત ક્ષાયિક-  
અપ્રતિપાતિ-જ્ઞાનદર્શનચારિત્રલક્ષણો જીવસ્ય પરિણતિવિશેષ । સ ચાત્મન  
પરમવિશુદ્ધિઃ । યથા-સર્વથા નિઃશેષપક્ષાદિમલવ્યપગમે જલસ્ય પરમસ્વચ્છતા ।

કીચક આદિ મૈલ નીચે ચેટ જાતા હૈ, ઓર જલ સ્વચ્છ હો જાતા હૈ । મોહનીય કર્મ કે  
ઉપશમ સે શ્રદ્ધાનરૂપ જો દર્શન ઉત્પન્ન હોતા હૈ, યા ચિરતિરૂપ જો ચારિત્ર ઉત્પન્ન હોતા હૈ,  
વહ ઔપશમિક સમ્યગ્દર્શન ઓર ઔપશમિક ચારિત્ર કહલાતા હૈ ।

## (૨) ક્ષાયિક માવ—

કર્મ કા અત્યન્ત ઉચ્છેદ હો જાના ક્ષય કહલાતા હૈ । ક્ષય સે હોને વાળા માવ  
ક્ષાયિક માવ હૈ । અર્થાત્ એક વાર ઉત્પન્ન હો કર ફિર નષ્ટ ન હોને વાળે જ્ઞાન, દર્શન  
ઔર ચારિત્ર રૂપ જીવ કે પરિણામ કો ક્ષાયિક માવ કહતે હૈ । ક્ષાયિક અવસ્થા જીવ કી  
પરમ વિશુદ્ધિ હૈ, જેસે-પૂર્ણ રૂપ સે સમસ્ત કીચક આદિ મૈલ કે હટ જાને પર જલ કી  
પરમ સ્વચ્છતા હોતી હૈ ।

ફટકડી આદિનુ ચૂર્ણ નાખવાથી કચરો અને મેલ નીચે બેસી જાય છે, અને જલ સ્વચ્છ  
થાય છે મોહનીય કર્મના ઉપશમથી શ્રદ્ધારૂપ જે દર્શન ઉત્પન્ન થાય છે અથવા  
ચિરતિરૂપ જે ચારિત્ર ઉત્પન્ન થાય છે, તે ઔપશમિક સમ્યગ્દર્શન અને ઔપશમિક  
ચારિત્ર કહેવાય છે

## (૨) ક્ષાયિક ભાવ—

કર્મના અત્યન્ત ઉચ્છેદ થઈ જવો તે ક્ષય કહેવાય છે ક્ષયથી થવાવાળો ભાવ  
ક્ષાયિક ભાવ છે અર્થાત્ એકવાર ઉત્પન્ન થઈને ફરી નાશ નહિ થવાવાળા જ્ઞાન,  
દર્શન અને ચારિત્રરૂપ જીવના પરિણામને ક્ષાયિક ભાવ કહે છે ક્ષાયિક અવસ્થા  
જીવની પરમ વિશુદ્ધિ છે જેમ-પૂર્ણરૂપથી સમસ્ત કીચક-કાકળ આદિ મેલના ફર  
થવાથી જલની પરમ સ્વચ્છતા થાય છે

યામનિર્વૃત્તો જીવો નિર્વૃત્ત સ્થાત્ । એવ ચાદિમત્ત્વપસંગ । કયમસન આકાશ-  
કુમુદકલ્પ આત્માઽઽયત્યાં સંમત્તે ?-દિતિ યુક્તિવિરોધઃ ।

ન ઠિ પરિણામેન વિના કશ્ચિદ્વાચો ભવતીતિ માવાનાં મધ્યે પરિણામસ્યૈવ  
પ્રાધાન્યમ્ । આત્મન સ્વામાવિક સ્વરૂપપરિણમનમેવ પારિણામિકો ભાવ ઉચ્યતે ।  
યશ્ચાત્મન સત્તયા સ્વયમેવ પરિણામો ભવતિ, મ એવ પારિણામિકો ભાવ । ઉક્તઃ-

“ય કર્તા કર્મમેદાનાં, મોક્તા કર્મફલસ્ય ચ ।

સસર્તા પરિનિર્વાતા, સ દ્યાત્મા નાન્યલ્લક્ષણ ॥ ૧ ॥”

અષ્ટવિધકર્મણા કર્તા, કર્મફલમોક્તા, ચતુર્ગતિશ્રમણકર્તા, કર્મક્ષયકરણેન  
મોક્ષગન્તા ય', સ એવાત્મા, અન્યરૂપો નેત્યર્થ ।

પ્રકાર જીવકો સાદિ (આદિવાલા) માનના પહેલા, પગ્તુ પેસા હો નહીં સક્તા, ક્યોકિ-  
જો આત્મા મૂતકાલમેં નહીં થા તો આકાશપુષ્પકે સમાન ભવિષ્યત્ કાન્તમેં ઉસકા હોના  
કેસે સમવ હો સક્તા હૈ । ઇસ પ્રકાર યુક્તિસે મી વિરોધ આતા હૈ ।

વિના પરિણામ કે કોઈ ભાવ નહીં હો સક્તા અત માવોમેં પરિણામકી  
પ્રધાનતા હૈ । આત્મા કા સ્વામાવિક પરિણમન હી ‘પારિણામિક’ ભાવ કહલાતા હૈ, અર્થાત્  
આત્મા કા જો અનાદિપરિણમનસત્તા કા કારણ હૈ ઉસે પારિણામિક ભાવ સમજના  
ચાહિય । કહા મી હૈ -

“જો કર્મ કે મેટાં કા કર્તા હૈ, જો કર્મફલ કા મોક્તા હૈ । સસારશ્રમણ  
કરને ચાલા હૈ, નિર્વૃત્તિ (મોક્ષ) પ્રાપ્ત કરને ચાના હૈ વહી આત્મા હૈ, આત્મા કા અન્ય  
લક્ષણ નહીં હૈ ॥ ૧ ॥

માનવામા આવે તો ‘પૂર્વકાળમા છવ નહિ હતો તે હવે યથે છે’ આ પ્રકારે  
છવને આદિ (આદિવાળો) માનવો પડયો, પરંતુ જ્યેમ યર્થ થકે નહિ, કારણ કે-જે  
છવ ભૂતકાળમા નહીં હતો ત્યારે તેનું આકાશપુષ્પની સમાન ભવિષ્યત્ કાળમા  
થવું કેમ સંભવે ? જ્યેમ યુક્તિથી પણ વિરોધ આવે છે

વગર પરિણામે કોઈ પણ ભાવ નથી થઈ શકતો, જોટલા માટે ભાવોમા  
પરિણામની પ્રધાનતા છે આત્માનું સ્વામાવિક પરિણમનજ પારિણામિક ભાવ કહેવાય  
છે અર્થાત્ આત્માની અનાદિપરિણમનસત્તાનું જે કારણ છે, તેને પારિણામિક જ્ઞાન  
અમજવું જોઈએ કહ્યું પણ છે-

“જે કર્મના મેદાનો કર્તા છે, જે કર્મના ફળનો મોક્તા છે; સસારશ્રમણ  
કરવાવાળો છે, નિર્વૃત્તિ (મોક્ષ) પ્રાપ્ત કરવા વાળો છે તે આત્મા છે આત્માનું  
બીજું લક્ષણ નથી ” ॥ ૧ ॥

ચાત્મનો માલિન્યમ્, યથા પદ્મસંગાન્નજલસ્ય માલિન્ય । તથા-નરકગત્યાદિનામ  
કર્મણો વિપાકાવિર્ભાવાન્નરકગત્યાધાર્ય ઔદયિકો ભાવઃ । કપાયમાહનીયકર્મણો  
વિપાકાવિર્ભાવાન્ન 'ક્રોધી, -માની' -ત્યાદિરૌદયિકો ભાવઃ । એવં સર્વૌદયિકો  
ભાવઃ સમાલોચનીયઃ ।

### (૫) પરિણામિક-ભાવ—

(૫) પરિણમન-સર્વથા-અપરિત્યક્તપૂર્વાવસ્થસ્ય રૂપાન્તરેણ મવન-પરિણામઃ,  
સ એવ પારિમાણિકઃ । અગ્ર સ્વાર્થે ઠક્ પ્રત્યય, ન તુ નિર્વૃત્ત્યર્થે, જીવસ્યાદિમત્ત્વાપન્ને ।  
યદિ 'પરિણામેન નિર્વૃત્ત' ર્થ્યર્થે પારિણામિકો જીવ इति मन्यते, તદા પ્રાગવસ્યા-

ભાવ ઔદયિક છે । ભાવ આત્મા કા માલિન્યરૂપ છે, જૈસે કિ ફીચડ કે સસર્ગ સે જલ મેં  
મલિનતા આ જાતી છે । નરકગતિનામકર્મ આદિ કે ઉદય સે નરક ગતિ આદિ ઔદયિક  
ભાવ કહણાતે છે । કપાયમોહનીય કર્મ કે ઉદય સે ક્રોધ, માન આદિ ઔદયિક ભાવ  
હોતે છે । ઇસી પ્રકાર સમી જગહ ઔદયિક ભાવ કા વિચાર કર લેના ચાહિયે ।

### (૫) પારિણામિક ભાવ—

પૂર્વ અવસ્થા કા સર્વથા ત્યાગ ન કર કે રૂપાન્તર મેં હોના પરિણામ છે, ઔર વહી  
પારિણામિક કહણાતા છે । યદા સ્વાર્થમે ઠક્ પ્રત્યય હુઆ છે, ન કિ નિર્વૃત્તિ અર્થમે, નિર્વૃત્તિ અર્થ  
મેં પ્રત્યય હોનેસે જીવકા આદિમાન્ હોનેકા પ્રસન્ન આજ્ઞાતા છે । યદિ—“પરિણામેન નિર્વૃત્તિ  
પારિણામિક-જીવ ” અર્થાત્ પરિણામસે હોનેવાલા પારિણામિક-જીવ કહણાતા છે, પેસી  
વ્યુત્પત્તિ માનલી જાય તો 'કિસી પૂર્વ કાલમેં જીવ નહીં આ વહ અવ હુઆ છે' ઇસ

ઠાકવના સ સગંથી જલમા મલિનતા આવી જાય છે નરકગતિ નામ-કર્મ આદિના  
ઉદયથી નરકગતિ આદિ ઔદયિક ભાવ ઠહેવાય છે કપાય-મોહનીય કર્મના ઉદયથી  
ક્રોધ, માન આદિ તે ઔદયિક ભાવ છે આ પ્રમાણે તમામ સ્થળે ઔદયિક ભાવનો  
વિચાર કરી લેવો.

### (૫) પારિણામિક ભાવ—

પૂર્વ અવસ્થાનો સર્વથા ત્યાગ નહિ કરતા રૂપાન્તર થવુ તે પરિણામ છે, અને  
પરિણામ તેજ પારિણામિક ઠહેવાય છે અહીં સ્વાર્થમા ઠક્ પ્રત્યય થયો છે પરન્તુ  
નિર્વૃત્તિ અર્થમા નથી થયો નિર્વૃત્તિ અર્થમા પ્રત્યય થવાથી જીવનો આદિમાન્  
(આદિવાળો) થવાનો પ્રસન્ન આવી જાય છે એ—“પરિણામેન નિર્વૃત્તઃ પરિણામિકઃ-  
જીવ ” અર્થાત્ 'પરિણામથી થવાવાળો પારિણામિક જીવ ઠહેવાય છે' આવી વ્યુત્પત્તિ

રૂંતિ । યદા જીવઃ કેવલિસમુદ્ધાતાવસ્થા પ્રાપ્નોતિ, તદા સમસ્તલોકાકાશમેક-  
જીવસ્યાધારક્ષેત્રં ભવતિ । સકલજીવરાશ્યપેક્ષયા તુ જીવાનામાધારક્ષેત્ર સપૂર્ણમેવ  
લોકાકાશમ્ ।

લોકાકાશસ્યાઽસંખ્યાતભાગે જીવસ્ય સ્થતિરિત્યત્રાઽઽગમવચન યયા—

“સદ્ગુણેણ લોચસ્સ અસંખેજ્જહમાગે”

સ્વસ્થાનેન લોકન્યાસસંખ્યેયમાગે । ( પ્રજ્ઞા ૦ ૨ પદ જીવસ્થાનાધિકારે )

નનુ પરિમાણસ્ય ન્યૂનાધિકત્વે કિં કારણમ્ ? ઉચ્યતે—જીવસ્થાનાધિકાલતો-  
ઞ્જનતાનન્તાણુપ્રચયરૂપેણ કાર્મણ-શરીરેણ સમ્યન્ધાદેવસ્યૈવ જીવસ્ય પરિમાણ  
જીવ કા આધારક્ષેત્ર લોકાકાશ કે અસંખ્યાતવેં ભાગ સે છેકર સમ્પૂર્ણ લોકતક  
હો સક્રતા હૈ । ત્રય જીવ કેવલિસમુદ્ધાત કરતા હૈ તસ સમય વહી ઇક જીવ સમ્પૂર્ણ  
લોકાકાશ મેં વ્યાપ્ત હો જાતા હૈ । સમસ્ત જીવરાણિ કી અપેક્ષાસે સમ્પૂર્ણ લોકાકાશ  
જીવો કા આધારક્ષેત્ર હૈ ।

જીવ કા અવગાહ લોકાકાશ કે અસંખ્યાતવેં ભાગ મેં હોતા હૈ, ઇસ  
વિષય મેં આગમ કા પ્રમાણ ઇસ પ્રકાર હૈ—

“સદ્ગુણેણ લોચસ્સ અસંખેજ્જહમાગે” (પ્રજ્ઞાપના ૨ પદ જીવસ્થાનાધિકાર)  
સ્વસ્થાન કી અપેક્ષા લોક કે અસંખ્યાતવેં ભાગ મ (જીવ કી સ્થિતિ હૈ) ।

શુદ્ધા—જીવો કે પરિમાણ કી ન્યૂનાધિકતા કા ક્યા કારણ હૈ ?

સમાધાન—અનન્તાનન્ત પરમાણુઓ કે પ્રચયરૂપ કાર્મણ શરીર ક સાથ

ન્યાસે ઇવ કેવલિસમુદ્ધાત કરે છે, તે સમય તે એક ઇવ સ પૂર્ણ લોકાકાશમા  
વ્યાપ્ત થઈ જાય છે સમસ્ત ઇવરાશિની અપેક્ષાથી સ પૂર્ણ લોકાકાશ ઇવેનુ  
આધારક્ષેત્ર છે

ઇવમેવ અવગાહ લોકાકાશના અસંખ્યાતમા ભાગમા હોય છે આ વિષયમા  
આગમનુ પ્રમાણુ આ પ્રમાણે છે—

“સદ્ગુણેણ લોચસ્સ અસંખેજ્જહમાગે” સ્વસ્થાનની અપેક્ષા લોકના અસંખ્યાતમા  
ભાગમાં ( ઇવની સ્થિતિ છે ) પ્રજ્ઞાપના, ૨ પદ જીવસ્થાનાધિકાર )

શા કા—ઇવેના પરિણામની ન્યૂનાધિકતાનુ શુ કારણ છે ?

સમાધાન—અનન્તાનન્ત પરમાણુઓના પ્રચય (સમૂહ) રૂપ કાર્મણુ શરીર

## जीवस्य स्थितिक्षेत्रम्—

लोकाकाशस्याऽसख्यातमागतः समारभ्य, ममस्तलोकाकाशे जीवोऽवगाहते । जीवप्रदेशानां प्रदीपवत् सकोचविस्तारस्त्वभावत्वात् । आत्मनः परिमाणं न गगन-  
वन्महत्, नापि परमाणुवदणु, किन्तु मध्यमम् ।

यद्यपि प्रदेशसङ्ख्यापेक्षया समानमेव सर्वेषामात्मनां स्वस्वपरिमाणम्, तथापि दैर्घ्य-विस्तारादि सर्वेषां विसदृशमेव । अतः प्रत्येकजीवस्याऽऽधारक्षेत्रं जघन्यतो लोकाकाशस्याऽसख्यातमागतः समारभ्य समप्रमाणपर्यन्तं भवितुम-

## जीव का स्थितिक्षेत्र—

लोकाकाश के असङ्ख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में जीव का अवगाहन हो सकता है । कारण यह है कि—जीव के प्रदेश दीपक की प्रभा के समान संकोच-विस्तार स्वभाव वाले हैं, अर्थात् कभी सिकुड़ जाते हैं और कभी फैल जाते हैं । आत्मा का परिमाण न तो आकाश के समान महान् (सर्वव्यापी) है और न परमाणु के बराबर ही है किन्तु आत्मा मध्यम परिमाण वाला है ।

प्रदेशों की संख्या की अपेक्षा समस्त आत्मानों का परिमाण बराबर है, अर्थात् सब आत्मा लोकाकाश के बराबर असङ्ख्यातप्रदेश वाले हैं किन्तु प्राप्त शरीर के अनुसार उनके विस्तार में (परिमाण में) अन्तर पड़ जाता है, अतः प्रत्येक

## જીવનું સ્થિતિક્ષેત્ર—

લોકાકાશના અસંખ્યાતમા ભાગથી લઇને સંપૂર્ણ લોકાકાશમા જીવનું અવગાહન થઇ શકે છે કારણ એ છે કે—જીવના પ્રદેશ દીપકની પ્રભાની સમાન સંકોચ-વિસ્તાર સ્વભાવવાળા છે, અર્થાત્ કોઈ વખત સંકુચાઈ જાય છે અને કોઈ વખત ફેલાઈ જાય છે આત્માનું પરિમાણ આકાશપ્રમાણે મહાન નથી અને પરમાણુના બરાબર પણ નથી પરંતુ આત્મા મધ્યમ પરિમાણ વાળો છે

પ્રદેશોની સંખ્યાની અપેક્ષાએ સમસ્ત આત્માનું પરિમાણ બરાબર છે અર્થાત્ સર્વ આત્મા લોકાકાશના બરાબર અસંખ્યાત પ્રદેશવાળા છે, પરંતુ પ્રાપ્ત શરીરના અનુસાર તેના વિસ્તારમા (પરિમાણમા) અતર પડી જાય છે તેટલા કારણથી પ્રત્યેક જીવને આધાર-ક્ષેત્ર લોકાકાશના અસંખ્યાતમા ભાગથી લઇને સંપૂર્ણ લોક સુધી થઈ શકે છે.

દૃતાકાશે ચાવસ્થિત પ્રકાશપુન્નરૂપ પ્રદીપ સ્વાથ્યમાત્રાવમાસી ક્વચિત્  
સકુચિત ક્વચિત્ વિસ્તૃતશ્ચ ભવતિ । અતઃ શરીરપરિમાણાનુસાર પરિમાણ દધાન  
આત્મા મૂર્તે ઇવ વિદ્યાયતે । ઉક્તશ્ચ રાજપ્રતીયમ્ત્રે—

“પણસી ! જઢાણામણ-કૂઢાગારસાલા સિયા જાવ ગમીરા, અઠ ણ કેઈ  
પુરિસે જોઢ વ દીવ વ” રૂપારમ્ય “આમેવ પણસી ! જીવેવિ જ જારિસય”  
પુન્નકર્મનિવદ્ધ ચૌદિં ણિજ્જતેદ્ અસલેજ્જેદિં જીવપણસેદિં સચિત્ત કરેદ-સુદ્ધિય  
વા મહાલિય વા” રૂપારમ્ય ॥ ૮૪ ॥ રૂપારમ્ય ॥

પ્રદેશિન તદ્ યયાનામકમ્-કૂટાગારશાલા સ્યાત્ યાવદ્ ગમ્મીરા અથ  
સ્વલ્લ કોઽપિ પુરુષ જ્યોતિર્વા દીપ વા (રૂપારમ્ય) એવમેવ પ્રદેશિન ! જીવોઽપિ વા  
યાદ્યસ્તિતા પૂર્વકર્મનિવદ્ધા ચૌદિં નિર્વર્તયતિ તામસત્ત્વયૈર્જીવપ્રદેશૈ સચિત્તા કરોતિ  
સુદ્ધિકાં વા મહાલયા વા ।” રૂપારમ્ય ॥

મહલ મં ઓર સ્વલ આકાશ મં રક્ષા હુઆ પ્રકાશ કા પુન્નરૂપ સ્વીપક અપની જગહ પર  
માદ્મ હોતા હુઆ કહીં સકુચિત્ હોતા હૈ ઓર કહીં વિસ્તૃત હોતા હૈ । રૂપારમ્ય  
શરીર કે પરિમાણ કે અનુસાર પરિમાણવાલા આત્મા મૂર્તે એસા માદ્મ હોતા હૈ । રાજપ્રતીય  
સૂત્ર મં કહા હૈ —

“હૈ પ્રદેશી રાજા ! જૈસે કોઈ કૂટાગાર શાલા હો ઓર વહ ( યાવત્ )  
ગમીર હો ઓર કોઈ પુરુષ જોત યા દીપક તસ મ રક્ષે તો વહ તસે પૂર્ણરૂપ સે  
પ્રકાશિત કરતા હૈ, રૂપારમ્ય હૈ પ્રદેશી ! આત્મા અપને પૂર્વોપાર્જિત કર્મો કે અનુસાર  
જૈસા શરીર પાતા હૈ, તસે અસખ્યાત આત્મપ્રદેશો સે સમીવ યના દતા હૈ, જાહે  
વહ શરીર વઢા હો જાહે સ્વલ (છોટા) હો” ।

જેવી રીતે ઘરમાં, મહેલમાં અને ખુલ્લા આકાશમાં રાખેલા પ્રકાશ-પુન્નરૂપ દીપક,  
પોતાની જગ્યાએ ઢેખાતો થકો કોઈ જગ્યાએ સકુચિત્ હોય છે અને કોઈ જગ્યાએ  
વિસ્તૃત હોય છે એ પ્રમાણે શરીરના પરિમાણ અનુસાર પરિમાણ વાળો આત્મા  
મૂર્તે જેવો ઢેખાય છે રાજપ્રતીય સૂત્રમાં કહ્યું છે —

“હૈ પરદેશી રાજા ! જેમ કોઈ કૂટાગાર શાળા હોય તે ( યાવત્ ) ગમીર હોય  
અને કોઈ પુરુષ જગ્યાએ અથવા દીપક તેમાં રાખે તો તે જોને પૂર્ણરૂપથી પ્રકાશિત  
કરે છે, એ પ્રમાણે હૈ પરદેશી ! આત્મા પોતાના પૂર્વોપાર્જિત કર્મો પ્રમાણે જેવું  
શરીર પ્રાપ્ત કરે છે, તેને અસખ્યાત આત્મપ્રદેશોમાં સજીવ બનાવી દે છે, તે  
શરીર ગમે તો મોટું હોય અથવા નાનું હોય.”



બહુનાં ધા જીવાનાં પરિમાણ વિવિધં જાયતે । કાર્મણ-શરીર ઠિ સર્વદાઝનેક-  
રૂપેનાવતિષ્ઠતે । તત્ત્વમ્બધાદૌદારિકાઘપિ શરીર તદનુસારિ ન્યૂનાધિક-  
પરિમાણમાગ્ ભવતિ ।

જીવમ્ય મૂર્તવદ્ ાસશ્ચદિ —

વસ્તુતો રૂપરહિતોઽપિ જીવ શરીરસમ્યન્ધ્યાન્યૂનાધિકપરિમાણ  
વધન્મૂર્તે હ્વાપચયોપચયૌ પ્રાપ્નોતિ । સ ઠિ સ્વમાવત પ્રતીપવભિમિત્તમાસાય  
સંકોચવિકાસશીલઃ સ્વાધ્યયમાત્રેઽવમાસતે । યયા-કલ્લશે પ્રાસાદપ્રદેશે નિરા-

બનાદિ કાલ સે જીવ કા સમ્બધ હૈ । હસ સમ્બધ કે કારણ ઇક હો જીવ કા  
અનેક કાલાં મેં, ઓર અનેક જીવા કા ઇક હો કાલ મેં મિન્નર પ્રકાર કા પરિમાણ  
હોતા હૈ । કાર્મણ શરીર સદા વિભિન્ન રૂપાં મ પરિણમન કરતા રહતા હૈ । ડસકે સંયોગ સે  
ઔદારિક આદિ શરીર મી કાર્મણ શરીર કે અનુસાર ન્યૂનાધિકપરિમાણવાળે હોતે હૈ ।

જોષ કી હાસ-શ્ચદિ—

જીવ વાસ્તવ મેં અરૂપી હૈ, ફિર મી શરીર કે સાથ સમ્યન્ધ હોને કે કારણ  
બહુ છોટે-મોટા પરિમાણ કો ધારણ કરતા હૈ, અત ડસ મેં મૂર્ત પદાર્થ કી મૌતિ અપચવ  
( હાસ ) ઓર ડપચવ ( શ્ચદિ ) હોતા હૈ । સ્વમાવ સે સંકોચ વિકાસવાલા જીવ નિમિત્ત  
પાકર ડીપક કી તરહ અપને આશ્રય ( શરીર ) મેં પ્રતિમાસિત હોતા હૈ । જૈસે ઘટ મેં,

સાથે બનાદિ કલથી જીવનો સંબધ છે; જો સંબધના કારણે જોકજી જીવના અનેક  
કાલોમા, અને અનેક જીવોના જોકજી કાલમા બિજા બિન્ન પ્રકારનું પરિમાણ થાય છે  
કાર્મણ શરીર સદાય વિભિન્ન રૂપોમાં પરિણમન કરી રહે છે, તેના સંયોગથી  
ઔદારિક આદિ શરીર પણ કાર્મણ શરીર પ્રમાણે ન્યૂનાધિક પરિમાણવાળા હોય છે

જીવની હાસ શ્ચદિ—

જીવ વાસ્તવમા અરૂપી છે, તે પણ શરીરની સાથે સંબધ હોવાના કારણે તે  
નાના-મોટા પરિમાણને ધારણ કરે છે, તે કારણથી તેમા મૂર્ત પદાર્થની જેમ અપચય  
( હાસ ) અને ડપચય ( શ્ચદિ ) થાય છે સ્વભાવથી સંકોચ-વિકાસવાળો જીવ નિમિત્ત  
પ્રાપ્ત કરી ડીપકની પ્રમાણે પોતાના આશ્રય ( શરીર )માં પ્રતિમાસિત થાય છે—( રિખાય છે )

કર્મણામત્યન્તોચ્છેદે સતિ કર્મસપ્તામાવાત્ કર્મચન્ધનોચ્છેદાદ્ય નાસ્ત્યેવોર્ધ્વગતિ-  
પ્રતિવન્ધક તદા સ્વસ્વમાવાનુસારેણોર્ધ્વગમનાવસર સિદ્ધાનામ્પ્રતિષ્ઠતે ।

### જીવસ્ય લક્ષણમ્—

ઉપયોગવત્ત્વ જીવસ્ય લક્ષણમ્ । ઉપયુજ્યતે વસ્તુપરિચ્છેદ પ્રતિ વ્યાપાર્યતે  
જીવોજ્જેનેત્યુપયોગ કરણે ઘટ્ । બોધરૂપો વ્યાપાર ઉપયોગ । જ્ઞાન, સંવેદન,  
પ્રત્યય, ઇતિ નામાન્તરાણિ ।

સામાન્યવિશેષરૂપબોધદ્વયદર્શનાન્નિશ્ચયો મવતિ-વિદ્યતે સ્વલુ જીવ',  
યસ્યેર્મા સામાન્યવિશેષાવબોધૌ, ન ચ તાદૃશ કશ્ચિદસ્તિ જીવો, યસ્ય સાકા-  
કર્મૌ કા સર્ગ નહીં રહતા, કર્મચન્ધન કા ઉચ્છેદ હોને સે ઊર્ધ્વગતિ કા કોઈ  
પ્રતિવન્ધક નહીં રહતા, તથા સિદ્ધ જીવો કો ઊર્ધ્વ ગમન કા અવસર પ્રાપ્ત હોતા હૈ ।

### જીવ કા લક્ષણ—

જીવ કા લક્ષણ ઉપયોગ હૈ । જો જીવ કો વસ્તુ કે બોધ મેં વ્યાપૃત કરતા હૈ  
ઉપયુક્ત બનાતા હૈ ઉસે ઉપયોગ કહતે હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-બોધરૂપ વ્યાપાર ઉપયોગ  
કહલાતા હૈ । જ્ઞાન સંવેદન, પ્રત્યય, યે ઉપયોગ ક પર્યાયવાચી શબ્દ હૈ ।

મામામ્ બોધ (વર્જન) ઔર વિશેષ બોધ (જ્ઞાન) અનુભવસિદ્ધ હૈ । ઇન  
દોનો બોધો સે યહ નિશ્ચય હોતા હૈ કિ જીવ અવશ્ય હૈ, ત્રિસ મ યહ સામાન્ય ઔર  
વિશેષ બોધ પાયા જાતા હૈ । યેસા કોઈ જીવ નહીં હૈ ત્રિસ મ સામાન્ય-બોધ (નિરાકાર  
બોધ છે, અને કોઈનો સંસારી બોધ નથી, ત્યારે કમ બધનનો ક્ષય થવાથી ઉર્ધ્વગતિ  
થવામા કોઈ પ્રતિબંધક (અતશય કરનાર) રહેતુ નથી, ત્યારે સિદ્ધ જીવોને ઉર્ધ્વ  
ગમન કરવાનો અવસર પ્રાપ્ત થાય છે

### જીવનુ લક્ષણ—

જીવનુ લક્ષણ ઉપયોગ છે, તે જીવને વસ્તુના બોધમા વ્યાપૃત-વ્યાપારયુક્ત  
કર છે તાત્પર્ય એ છે કે-બોધરૂપ વ્યાપાર ઉપયોગ કહેવાય છે જ્ઞાન, સંવેદન,  
પ્રત્યય, આ સવ ઉપયોગના પર્યાયવાચી શબ્દો છે,

સામાન્ય બોધ (દર્શન) અને વિશેષ બોધ (જ્ઞાન) અનુભવ સિદ્ધ છે એ બંને  
બોધોથી જોમ નિશ્ચય થાય છે કે-જીવ અવશ્ય છે, જેમા આ સામાન્ય તથા  
વિશેષ બોધ જોવામા આવે છે એવો કોઈ જીવ નથી કે જેમા સામાન્ય બોધ

## जीवस्य-ऊर्ध्वगति —

सकलकर्मणा क्षये सति सपदि जीवो मुक्त सन्नृधं गच्छति, न च 'जीवस्यामूर्तत्वाद् गतेरसमव' इति वाच्यम्, स्वभावात् एव पुद्गलद्रव्यवद् जीवस्य गतिशीलत्वात् ।

इयान् विशेषः पुद्गलेभ्य - पुद्गलाः स्वभावादधोगतिशीलाः, जीवास्तु स्वभावाद् ऊर्ध्वगतिशीला । प्रतिषेधकद्रव्यसद्भावाद् ऊर्ध्वगमनस्वभावा जीवा अघस्तिर्यग् वा गच्छन्ति, गन्तुमक्षमा वा भवन्ति । तच्च तद्गतिप्रतिषेधक कर्मव । यदा सकल-

## जीव की ऊर्ध्वगति—

સકલ કર્મોં કા ક્ષય હોને પર તત્કાલ મુક્ત હુઆ જીવ ઉપર કી ઓર ગમન કરતા હૈ । 'જીવ અમૂર્ત' હૈ ઓર ઇસ કારણ વહ ગતિ નહીં કર સકતા' પેસા કહના ઠીક નહીં હૈ, ક્યોં કિં પુદ્ગલ-દ્રવ્ય કે સમાન જીવ સ્વભાવ સે હી ગતિશીલ હૈ ।

ગતિ કે વિષય મેં જીવ ઓર પુદ્ગલ મેં ઇતના ભેદ હૈ—પુદ્ગલ અધોગતિશીલ હૈ ઓર જીવ ઉર્ધ્વગતિશીલ હૈ, અર્થાત્ પુદ્ગલોં કા સ્વભાવ નીચે જાને કા હૈ ઓર જીવ કા સ્વભાવ ઉપર કી ઓર જાને કા હૈ મગર રુકાવટ ઢાલને વાલે દ્રવ્યોં કે નિમિત્ત સે ઉર્ધ્વગતિશીલ જીવ મી નીચે કી ઓર અથવા તિરછા ગમન કરતા હૈ । આ કમી ગમન કરને મેં અસમર્થ હો જાતા હૈ । જીવ કી સ્વાભાવિક ગતિ કા પ્રતિબન્ધક (રુકાવટ ઢાલને વાલો) કર્મ હી હૈ । જબ સમસ્ત કર્મોં કા અત્યન્ત ઉચ્છેદ હો જાતા હૈ ઓર

## જીવની ઉર્ધ્વ ગતિ—

સકલ કર્મોંનો ક્ષય થયા પછી તત્કાલ મુક્ત થયેલો જીવ ઉપર તરફ અમન કરે છે 'જીવ અમૂર્ત' છે, જાને જો કારણથી તે ગતિ કરી શકતો નથી'—એમ કહેવું તે ઠીક નથી, કેમકે પુદ્ગલોની પ્રભાવે જીવ સ્વભાવથી જ ગતિશીલ છે

ગતિના વિષયમાં જીવ અને પુદ્ગલમાં જોડેલો ભેદ છે—પુદ્ગલ અધોગતિશીલ છે, અને જીવ ઉર્ધ્વગતિશીલ છે અર્થાત્ પુદ્ગલોનો સ્વભાવ નીચે જવાનો છે, અને જીવનો સ્વભાવ ઉપર તરફ જવાનો છે પરંતુ તેમાં અતશય નાંખવાવાળા દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉર્ધ્વગતિશીલ જીવ પણ નીચે તરફ અથવા તિર્છો અમન કરે છે અથવા કોઈ વખત ગમન કરવામાં અસમર્થ થઈ જાય છે જીવની સ્વાભાવિક ગતિનો પ્રતિબંધ (અટકાવટ) કરનાર કર્મ જ છે જ્યારે સકલ કર્મોનો અત્યન્ત ક્ષય થઈ

તિરોહિતો ભવતિ । તથા પૃથિવીકાયાદિજીવાનામુપયોગાશ્ચ સ્ફુરત્યેવ સર્વદા ।  
યદિ લોકવ્યાપિનૃ પુદ્ગલા સગ્રીભૂયાપિ કર્મવર્ગણારૂપેણ -સર્વતોભાવેન જ્ઞાનં  
તિરોદધુસ્તર્દિર્નિર્જીવતાપચિરાત્મનો દુર્વારા સ્યાત્ । તસ્માત્ પૃથિવ્યાદિજીવેષુ  
બોધાન્ન સ્વમાવતોઽનાદૃતસ્તિષ્ઠત્યેવેતિ સિદ્ધય્ । ઉક્ત ચાગમે—

“સન્નજીવાણ પિ ય ણં અક્કરસ્સ અણતમાગો નિચ્છુગ્ધાદિઓ । જહ્  
પુણ સોઽવિ આવરિજ્જા તો ન જીવો અજીવત્ત પાવિજ્જા ”

“સુદ્ધુવિ મેહસમુદય, દોઢ પમા ચંદ-સૂરાણ ” ઇતિ ।

છાયા—સર્વજીવાનામપિ ચ ચત્તુ અક્કરસ્સાનતમાગો નિત્યોદ્ઘાટિતૃ ।  
યદિ પુન સોઽપિ આવિયેત તર્દિ ચત્તુ જીવઃ અજીવત્ત પ્રાપ્તુયાત્ । “સુદ્ધુવિ  
મેહસમુદયે, ભવતિ પ્રમા ચન્દ્રસૂરયો ” ઇતિ ।

તિરોહિત નહીં હો સક્ષતા, ઇસી પ્રકાર પ્રથિવીકાય આદિ એકેન્દ્રિય જીવો કે ઉપયોગ કા  
અશ સદા સ્ફુરાયમાન રહતા હી હૈ । અગર લોકવ્યાપી પુદ્ગલ ફક્તે હો કર્મવર્ગણા  
રૂપ પરિણત હો કર જ્ઞાન કો પૂરી તરહ આજ્ઞાદિત કર ઢાલે તો જીવ અજીવ  
બન જાય, મગર એસા હોના અસમ્ભવ હૈ, અત એવ યહ સિદ્ધ હૈ કિ—પૃથિવીકાય આદિ  
એક ઇન્દ્રિય ઢાલે જીવો મેં મી જ્ઞાન કા કિંચિત્ અશ સ્વભાવ સે અનાદૃત (આવરણ  
રહિત) રહતા હૈ । આગમ મેં મી કહા હૈ—“સન્નજીવાણ પિ ય ણં અક્કરસ્સ  
અણતમાગો નિચ્છુગ્ધાદિઓ, જહ્ પુણ સોવિ આવરિજ્જા તો ન જીવો અજીવત્ત -  
પાવિજ્જા” “સુદ્ધુવિ મેહસમુદય દોઢ પમા ચંદસૂરાણ”

પ્રકાશ કયારેય પૂછેપૂછે તિરોહિત-આશ્ચર્યદિત થતો નથી એ પ્રમાણે પૃથિવીકાય  
આદિ એકેન્દ્રિય જીવોના “ઉપયોગ” અશ પણ સદા સ્ફુરાયમાન રહે છે અગર  
લોકવ્યાપી પુદ્ગલ એકલા થઇને કર્મવર્ગણારૂપ પરિણત થઇને જ્ઞાનને પૂરી તરેહથી  
આજ્ઞાદિત કરી નાખે (ઢાંકી દે) તો જીવ અજીવ બની જાય, પણ એમ બનવું  
અસંભવિત છે એટલા કારણથી એ સિદ્ધ છે કે—પૃથિવીકાય આદિ એક ઇન્દ્રિયવાળા  
જીવોમા પણ જ્ઞાનનો કિંચિત્ અશ સ્વભાવથી અનાદૃત-આવરણરહિત રહે છે  
આમમમા પણ કહ્યું છે—“સન્નજીવાણ પિ ય ણં અક્કરસ્સ અણતમાગો નિચ્છુગ્ધાદિઓ ।  
જહ્ પુણ સોવિ આવરિજ્જા તો ન જીવો અજીવત્ત પાવિજ્જા ” “સુદ્ધુવિ મેહસમુદય દોઢ  
પમા ચંદસૂરાણ ”

જ્ઞાનાકારોપયોગી ન સ્ત. । અતઃ ણ્યોક્ત મગવતા—“જીવો ઉપયોગલક્ષણો” શિવ ।

લક્ષ્યતે-જ્ઞાયતેઽનેનેતિ લક્ષણમ્ । ઉપયોગી લક્ષણ યમ્ય સ ઉપયોગલક્ષણઃ ।  
જ્ઞાનાવગમ્યો જીવ ઇત્યર્થઃ ।

પૃથિવીકાયાદિસર્વસસારિજીવાનાં બોધસ્થાનન્તતમો ભાગઃ સર્વદા પ્રકાશમાનોઽનાદૃતસ્તિષ્ઠત્યેવ । નહિ સકલલોકાન્તવર્તિન પુદ્ગલા કર્મરૂપત્વા પરિણતા અપિ કસ્યાપિ જીવસ્ય સર્વતોભાધેન જ્ઞાનમાધરીતુ પ્રભવન્તિ । યયા-અતિનિવિઘ્નવપદાઽઽચ્છાદિતસ્યાપિ સૂર્યમ્ય પ્રકાશલેશ પ્રકાશત ણ્વ, નચ સર્વદા ઉપયોગ) ઔર વિશેષ બોધ ( સાધાર ઉપયોગ ) વિષમાન ન હો, ઇસી કારણ મગવાનન કહા હૈ—“જીવો ઉપયોગલક્ષણો” જીવ ઉપયોગ લક્ષણ વાળા હૈ ।

જિસ કે દ્વારા વસ્તુ લખી જાય—જાની જાય વહ લક્ષણ કહલાતા હૈ । ઉપયોગ જિસ કા લક્ષણ હો ઉસે ઉપયોગલક્ષણ કહતે હૈ । તાત્પર્ય વહ હૈ કિ—જ્ઞાન લક્ષણ કે દ્વારા જીવ માલુમ હોતા હૈ ।

પૃથિવીકાય આદિ સમસ્ત સસારી જીવો કે જ્ઞાન કા અનન્તવા ભાગ સદૈવ પ્રકાશમાન ઔર આવરણરહિત બના રહતા હૈ । સમ્પૂર્ણ લોકાકાશ કે પુદ્ગલ કદાચિત્ કર્મરૂપ મેં પરિણત હો જાઈ તો ઓ વહ કિસી ઇક જીવ કે જ્ઞાન કો પૂર્ણરૂપ સે આવૃત નહી કર સકને । સૂર્ય જાહે કિતની હી સધન ઘનગટા સે આવૃત્તિત ક્યો ન હો જાણ, ડસકા ઓઢા વહુત પ્રકાશ બના હી રહતા હૈ, પ્રકાશ કમી પૂરી તરહ

( નિરાકાર ઉપયોગ ) અને વિશેષ બોધ ( સાધાર ઉપયોગ ) વિષમાન ન હોય, એ કારણથી મગવાને કહ્યુ છે કે—“જીવો ઉપયોગલક્ષણો” એવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે

જેના દ્વારા વસ્તુ લખી શકાય—જાણી શકાય—તે લક્ષણ કહેવાય છે ઉપયોગ જેનું લક્ષણ હોય, તેને “ઉપયોગલક્ષણ” કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે—જ્ઞાનલક્ષણ દ્વારા એવ માલુમ પડે છે

પૃથિવીકાય આદિ તમામ સસારી જીવોના જ્ઞાનનો અનન્તમો ભાગ હમેશા પ્રકાશમાન અને આવરણરહિત બની રહે છે સપૂર્ણ લોકાકાશના પુદ્ગલો કદાચ કર્મરૂપમા પરિણત થઈ જાય તો પણ તે કોઈ એક જીવના જ્ઞાનને પૂર્ણરૂપથી આવૃત કરી ( ઢાંકી ) શકે નહિ સૂર્ય ગમે તેટલી ઘનગટા—( મેઘાદગર )મા આવૃત્તિત થઈ જાય તો પણ સૂર્યનો મોઢો—જાણે પ્રકાશ તો બની જ રહે છે,

પ્રાપ્ય, કેવલજ્ઞાનસદ્ધા પ્રાપ્નોતિ ।

જીવા દિવિધા -સિદ્ધા અસિદ્ધાશ્ચ । તત્ર નિર્ઢતાશેષકર્માણ સિદ્ધા ,  
અસિદ્ધા સસારિણ । દ્રવ્યભાવબન્ધ સસાર । કર્માપ્તકસમ્બન્ધો દ્રવ્યબન્ધ ,  
રાગદ્વેષાદિપરિણામમવન્ધો ભાવબન્ધ । દિવિધવન્ધરૂપ સસારોઽસ્તિ ચેષાં તે  
સસારિણ । સમારિણો દિવિધા ત્રસસ્થાવરમેદાત્ । તત્ર પ્રયિવ્યવૃત્તનસ્પતય  
સ્થાવરા । તેજોવાયુદારાશ્રમા । તેજોવાયુ ગત્યૈવ ત્રસો, નતુ લઘ્વ્યા । તત્રોદારાશ્ર-  
તુર્વિધા -દ્વિ-ત્રિ-ચતુ -પંચેન્દ્રિયમેદાત્ । તત્ર પંચેન્દ્રિયા પુનર્દિવિધા સમનસ્કા  
અમનસ્કાશ્ચ ।

કો જાનને યોગ્ય વિશુદ્ધતા પ્રાપ્ત કરકે કેવલ જ્ઞાન સજ્ઞા કો પાતા હૈ ।

જીવ દો પ્રકાર કે હૈ —સિદ્ધ જીવ ઔર અસિદ્ધ જીવ । સકલ કર્મો સે  
રહિત જીવ સિદ્ધ કહલાતે હૈ, ઔર સસારી જીવ અસિદ્ધ કહલાતે હૈ । દ્રવ્યબન્ધ  
ઔર ભાવબન્ધ કો સંસાર કહતે હૈ । આઠ કર્મોકા સમ્બન્ધ દ્રવ્યબન્ધ હૈ, ઔર રાગ  
દ્વેષ આદિ પરિણામો કા સમ્બન્ધ હોના ભાવબન્ધ હૈ । યહ દો પ્રકાર કા બન્ધરૂપ  
સસાર જિન કે હો વે સસારી જીવ કહલાતે હૈ । સસારી જીવ ત્રસ ઔર સ્થાવર કે  
મેદસે દો પ્રકાર કે હૈ । પૃથ્વી જલ ઔર વનસ્પતિ, યે સ્થાવર હૈ, તેજ વાયુ ઔર ઉદાર જીવ  
ત્રસ હૈ । इन में तेज और वायु गतिप्रम हॆ लघ्वि से स्थावर हॆ ।

ઉદાર કે ચાર મેદ હૈ—દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય ઔર પંચેન્દ્રિય । પંચેન્દ્રિય  
જીવો કે સજ્ઞી ઔર અસજ્ઞી, યે દો મેદ હૈ ।

ક્ષય થવાથી સમસ્ત જ્ઞેય પદાર્થોને બાંધવા થોગ્ય વિશુદ્ધતા પ્રાપ્ત કરીને કેવલજ્ઞાન  
સદ્ધા પામે છે

જીવ બે પ્રકારના છે.—સિદ્ધ જીવ અને અસિદ્ધ જીવ, સકલ કર્મોથી રહિત  
જીવ સિદ્ધ કહેવાય છે, અને સસારી જીવ અસિદ્ધ કહેવાય છે દ્રવ્યબન્ધ અને  
ભાવબન્ધને સસાર કહે છે આઠ કર્મોનો સબન્ધ તે દ્રવ્યબન્ધ છે, અને રાગ-દ્વેષ  
આદિ પરિણુઓનો સબન્ધ થાય તે ભાવબન્ધ છે એ બે પ્રકારના બન્ધરૂપ સસાર  
જેને હોય છે તે સસારી જીવ કહેવાય છે સસારી જીવ ત્રસ અને સ્થાવરના સેદ્ધથી  
બે પ્રકારના છે પૃથ્વી, પાણી, અને વનસ્પતિ આ ત્રણ સ્થાવર છે, તેજ, વાયુ,  
ઉદાર જીવ ત્રસ છે તેમા તેજ અને વાયુ ગતિત્રસ છે, લઘ્વિથી સ્થાવર છે  
ઉદારના ચાર સેદ છે દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય. પંચેન્દ્રિય  
જીવોના સજ્ઞી અસજ્ઞી, એ બે સેદ છે

તસ્માદ્ યથ યાનાનુપયોગાશ્ચ સર્વસંસારિનીવેષુ યયામમય સ્વભાવતોજ્ઞાતૃતો  
 વર્તતે, તત્ર સર્વતો જઘન્ય ઉપયોગાદ્ય પ્રમથરામયે ચ્વન્વપર્યાપ્તાના મુદ્ધમનિગોપાના  
 મેવ ભવતિ । તતઃ પર સ ણ્યોપયોગાંશઃ અગ્નિષ્ટકેન્દ્રિય દ્વિ ત્રિ-ચતુ-પચ્ચેન્દ્રિયમદાદ્  
 મિથમાનઃ સમિજ્ઞોતસ્ત્વાદિલઘ્વિસમૂહેન ચ લઘ્વિનિમિત્તકરણશરીરેન્દ્રિયવાહ્મ  
 નાંસિ સમાશ્રિત્ય પ્રવર્ધમાનો વિવિધસાયોપશમકૃતૈચિત્ર્યવતામત્રગ્રહાદીના ભેદેન  
 તતોડપ્યધિકતરં વર્ધમાન સકલધાવિકર્મણ્ય કૃત્વા, સકલશ્લેષગ્રાટિકાં પરાં વિશુદ્ધિં

“સર્વ જીવો કે અશુર કા અનન્તયા ભાગ જ્ઞાન સર્વેવ ઉપાડા (નિરાવરણ)  
 બના રહતા હૈ, અગર જહ મી દક જાય તો જીવ અજીવ હો જાય । ”

“મેંધો કા શૂંચ સમુદાય હોને પર મી ચન્દ્રમા બૌર સૂર્યે કો પ્રમા તો બની  
 હી રહતી હૈ । ”

ઉપયોગ કા બો સર્વ જઘન્ય અશ સમસ્ત સસારી જીવોમેં સર્વદા અનાવૃત બના  
 રહતા હૈ, બહ જઘન્ય અશ ઉત્પત્તિ કે પ્રથમ સમય મેં વર્તમાન અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ નિગોદિયા જીવો  
 મેં મી હોતા હૈ । તત્પચ્ચાત્ વહી ઉપયોગ કા અશ એકેન્દ્રિય દ્વીન્દ્રિય ત્રીન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રિય  
 બૌર પચ્ચેન્દ્રિય કે મેદ સે મિજ્ઞ હોતા હુઆ સમિજ્ઞોતસ્ત્વ આદિ લઘ્વિયો કે સમૂહ  
 સે લઘ્વિ, નિમિત્ત, કરણ, શરીર, ઇન્દ્રિય વચન બૌર મન કા આધ્યય લેકર વધતા જાતા હૈ ।  
 અહાં તક કિ વિવિધ પ્રકાર કે ક્ષયોપશમ કી વિવિધતા વાહ જીવો કે અવગ્રહ આદિ કે  
 મેદ સે બૌર ઉસ સે મી અધિક જઘકર સમસ્ત ધાતી કર્મો કા ક્ષય હોને પર સમસ્ત જ્ઞેમ પદાર્થો

“સર્વ જીવોને અક્ષરનો અનન્તભા ભાગ જ્ઞાન સર્વેવ ઉપાડા (નિરાવરણ) રહે  
 છે અગર તે પણ બો દકાર્ધ જાય તો જીવ અજીવ થઈ જાય ”

“મેંધો ખુબ સમુદાય હોય તો પણ ધર અને સૂર્યની પ્રભા બની રહે છે ”

ઉપયોગનો જે સર્વ જઘન્ય અશ તમામ સસારી જીવોમા સર્વદા અનાવૃત (ઉપાડા)  
 બની રહે છે તે સર્વ જઘન્ય અશ ઉત્પત્તિના પ્રથમ સમયમા વર્તમાન, અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ  
 નિગોદના જીવોમા પણ હોય છે તે પછી તે ઉપયોગનો અશ એકેન્દ્રિય દ્વીન્દ્રિય ત્રીન્દ્રિય,  
 ચતુરિન્દ્રિય અને પચ્ચેન્દ્રિયના સેદથી જિન્ન થઈને, સજિન્નજોતસ્ત્વ આદિ લઘ્વિજ્ઞોના  
 સમૂહથી, લઘ્વિ, નિમિત્ત, કરણ શરીર, ઇન્દ્રિય, વચન અને મનનો આધ્યય લઈને  
 વધતો જાય છે, અહીં સુધી કે વિવિધ પ્રકારના ક્ષયોપશમની વિવિધતાવાળા  
 જીવોને અવગ્રહ આદિ સેદથી અને તેનાથી પણ અધિક વધીને સમસ્ત ધાતી કર્મોને

### અથ પદ્ધત્યવિચાર—

પદ્મ દ્રવ્યેષુ વિષદ્ દ્રવ્ય ક્ષેત્રમ્, ક્ષત્રે ધર્માદય પદ્મ ક્ષેત્રવર્તિત્વાત્ ક્ષેત્રિણ । દેવકુરુત્તરકુરુક્ષેત્રવર્તિયૌગલિષ્ઠકેશસ્ય સ્વળ્હસ્ય કરણે પર્યન્તતો યસ્ય સ્વળ્હસ્ય પુનઃ સ્વળ્હો ન મચિતુર્મર્હતિ, તાદૃશસ્વળ્હપરિમાણ યાવદાકાશક્ષત્ર વ્યાપ્નોતિ, તાવતિ ભાગે વિચિતોઽસંખ્યાતપ્રદેશ, ધર્માન્તિકાયસ્યાસંખ્યાતપ્રદેશ, અધર્માન્તિકાયસ્ય ચા સંખ્યાતપ્રદેશ, અસંખ્યાતા નિગોદાના ગોલકાશ્ચ તિષ્ઠન્તિ ।

સૂચ્યગ્રભાગપરિમિતે નિગોદસ્વળ્હેઽપ્યસંખ્યાતા શ્રેણય સન્તિ । તથ પ્રત્યેકશ્રેણ્યામસંખ્યાતા પ્રતરા, પ્રતરે ચ પ્રત્યેકમસંખ્યાતા ગોલકા, ગોલકે

### પદ્ધત્યવિચાર—

ઠહ દ્રવ્યા મ સે આકાશ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર હં, ઓર શેષ ધર્મ આદિ પાચ દ્રવ્ય ક્ષેત્રવર્તી હોને કે કારણ ક્ષેત્રી હૈં । દેવ કુરુ ઓર ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રાં કે જુગલિયાકે એક કેશ કે એસે ટુકડે કિયે આઈેં કે ફિર ઉનકા દૂસરા ટુકડા ન હો સકે । ઇન મેં સે એક ટુકડા જિતન આકાશ ક્ષેત્ર કો વ્યાપ્ત કરતા હૈં ઉત્તરે ભાગ મ આકાશ કે અસંખ્યાત પ્રદેશ હોતે હૈં । ઊસી મેં ધર્માન્તિકાય કે અસંખ્યાત પ્રદેશ હૈં, અધર્માન્તિકાય કે અસંખ્યાત પ્રદેશ હૈં, ઓર નિગોદ કે અસંખ્યાત ગોલક વિષમન હૈં ।

સુઈ કી નોક બરાબર નિગોદ કે સ્વળ્હ મેં બી અસંખ્યાત શ્રેણિયાં વિષમન હૈં । એક ૨ શ્રેણી મેં અસંખ્યાત—અસંખ્યાત પ્રતર હૈં, એક ૨ પ્રતર મેં અસંખ્યાત ૨ ગોલક હૈં,

### પદ્ધત્ય વિચાર—

છ દ્રવ્યોમા આકાશ દ્રવ્ય ક્ષેત્ર છે, અને બાકીના ધર્મ આદિ પાચદ્રવ્યો ક્ષેત્રવર્તી હોવાથી ક્ષેત્ર છે, દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોના જુગલિઆના એક કેશ—વાળના એવા ટુકડા કરવાના આવે કે કરીને તેનો બીજો ટુકડો થઈ શકે નહિ, તેમાથી એક ટુકડા જેટલા આકાશક્ષેત્રને વ્યાપ્ત કરે છે તેટલા ભાગમાં આકાશના અસંખ્યાત પ્રદેશ ઢહેવાય છે તેમા ધર્માન્તિકાયના અસંખ્યાત પ્રદેશ છે, અધર્માન્તિકાયના અસંખ્યાત પ્રદેશ છે, અને નિગોદના અસંખ્યાત ગોલક વિષમન છે

સોયની અણી બરાબર નિગોદના ખડમા પણ અસંખ્યાત શ્રેણીઓ વિષમન છે એક એક શ્રેણીમા અસંખ્યાત—અસંખ્યાત—પ્રતર છે એક એક પ્રતરમા



જીવાસ્તિકાયસ્ય (૧)-અનન્તજ્ઞાનમ્, (૨)-અનન્તદર્શનમ્ (૩)-અનન્ત-  
સુખમ્, (૪)-અનન્તર્વાયં ચેતિ ગુણા । (૧)-અવ્યાયાધવસ્ત્વમ્, (૨)-અનવગા-  
હવત્ત્વમ્, (૩)-અમૂર્તિકત્વમ્ (૪)-અગુરુલઘુત્વચ ચેતિ પચાયા ।

અયં દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાલ-ભાવ-ગુણ-ભેદેન પચ્ચઘા પ્રાપ્યતે-(૧)-દ્રવ્યત-  
અનન્તા જીવા, (૨)-ક્ષેત્રતો લોકપ્રમાણાઃ, (૩)-કાલત આઘન્તરહિતા, (૪)-  
ભાવત અરૂપિણ-વર્ણગન્ધરસસ્પર્શવર્જિતા હતિ, (૫)-ગુણતથેતનાલક્ષણા-હતિ ।

। ઇતિ જીવાસ્તિકાય સમ્પૂર્ણઃ-

જીવાસ્તિકાય કે ગુણ યઃ હ- (૧) અનન્ત જ્ઞાન । (૨) અનન્ત દર્શન  
(૩) અનન્ત સુખ ઓર (૪) અનન્ત વીર્ય ।

(૧) અવ્યાયાધવસ્ત્વ (૨) અનવગાહનાવસ્ત્વ (૩) અમૂર્તિકત્વ ઓર (૪) અગુરુલઘુત્વ,  
એ જીવ કી પર્યાય હૈ ।

દ્રવ્ય ક્ષેત્ર કાલ ભાવ ઓર ગુણ કે ભેદ સે પાચ પ્રકાર સે જીવાસ્તિકાય કા  
જ્ઞાન હોતા હૈ । (૧) દ્રવ્ય સે-જીવ અનન્ત હૈ, (૨) ક્ષેત્ર સે-લોકપ્રમાણ હૈ, (૩) કાલ  
સે-આદિ-અન્ત રહિત હૈ (૪) ભાવ સે-અરૂપી હૈ-રૂપ, રસ, ગન્ધ, ઓર સ્પર્શ સે  
રહિત હૈ (૫) ગુણ સે-ચેતનાલક્ષણ હૈ ।

। ઇતિ જીવાસ્તિકાય ।

જીવાસ્તિકાયના ગુણ આ છે-(૧) અનન્તજ્ઞાન, (૨) અનન્ત દર્શન (૩) અનન્ત  
સુખ અને (૪) અનન્ત વીર્ય

(૧) અવ્યાયાધવત્ત્વ (૨) અનવગાહનાવત્ત્વ (૩) અમૂર્તિકત્વ અને (૪)  
અગુરુલઘુત્વ, એ જીવની પર્યાય છે

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ, ભાવ અને ગુણના ચોત્તથી આચાર પ્રકારે જીવાસ્તિકાયનું જ્ઞાન  
પ્રાપ્ય છે (૧) દ્રવ્યથી-જીવ અનન્ત છે (૨) ક્ષેત્રથી-લોકપ્રમાણ (૩) કાલથી-આદિ  
અન્ત રહિત છે (૪) ભાવથી-અરૂપી છે-રૂપ-રસ-ગન્ધ અને સ્પર્શથી રહિત છે  
(૫) ગુણથી-ચેતનાલક્ષણ છે

ઇતિ જીવાસ્તિકાય-

પરમાણૂનાં ઢૌં મેદૌ સ્ત-વદ્ધા અવદ્ધાશ્ચ । તત્ર વદ્ધા સ્કન્ધરૂપા\* ।  
અવદ્ધા પરમ્પરાસયુક્તા । સ્કન્ધાના પુનઢૌં મેદૌ-જીવસહિતા, જીવરહિતાશ્ચ ।  
તત્ર ઘટ-પટાદિરૂપા અજીવસ્કન્ધા\* ।

અથ જીવસ્કન્ધ-વિચાર\* પ્રસ્તૂયતે—

દ્વયો પરમાણ્વો સયોગે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ । ત્રયાણા પરમાણૂનાં સયોગે  
ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ । એવમસંખ્યાતાના પરમાણૂના સયોગાદસંખ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધો  
જાયતે । પતાવત્પર્યન્તા સ્કન્ધા જીવાના ગ્રાણા ન ભવન્તિ ।

પરમાણુ તો પ્રકાર કે હૈં— વદ્ધ અને અવદ્ધ । સ્કન્ધરૂપ પરમાણુ વદ્ધ કહલાતે હૈં,  
ઔર આપસ મૈં અસયુક્ત પરમાણુ અવદ્ધ કહલાતે હૈં ।

સ્કન્ધ કે મીં દો મેદ હૈં—જીવસહિત ઔર જીવરહિત, ઇન મૈં ઘટ પટ  
આદિ સ્કન્ધ અજીવસ્કન્ધ કહલાતે હૈં ।

અથ જીવસ્કન્ધ કા વિચાર કરતે હૈં—

તો પરમાણુઓ કા સયોગ હોને પર દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ બનતા હૈ, ઔર ત્રીન  
પરમાણુઓ કે સયોગસે ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ । ઇસી પ્રકાર અસંખ્યાત પરમાણુઓ કે સયોગ  
સે અસંખ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન હોતા હૈ । યહાં તક કે સ્કન્ધ જીવો દ્વારા  
મહ્ણ નહીં કિયે જા સકતે ।

પરમાણુ બે પ્રકારના હૈ—(૧) બદ્ધ અને (૨) અબદ્ધ સ્કન્ધરૂપ પરમાણુ બદ્ધ  
કહેવાય હૈ, અને આપસમા અસયુક્ત પરમાણુ અબદ્ધ કહેવાય હૈ

સ્કન્ધના પદ્ધ બે ભેદ હૈ—જીવસહિત અને જીવરહિત, તેમા ઘટ પટ આદિ  
સ્કન્ધ અજીવસ્કન્ધ કહેવાય હૈ

હવે જીવસ્કન્ધનો વિચાર કરવામા આવે હૈ—

બે પરમાણુઓના સયોગ થવાથી દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ બને હૈ, અને ત્રણ પરમાણુ  
ઓના સયોગથી ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ બને હૈ, એ પ્રમાણે અસંખ્યાત પરમાણુઓના  
સયોગથી અસંખ્યાતપ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય હૈ અહિ સુધીના સ્કન્ધ, જીવો  
દ્વારા મહ્ણ કરી શકાતા નથી.

ષ પ્રત્યેકમસંख्याતાનિ નિગોદશરીરાણિ મન્તિ । તત્ર ચ પ્રત્યેકશરીરેઽન્તા નિગોદજીવા સન્તિ ।

અય કિયન્તોઽન્તા જોવાસ્ત્ર સન્તી ?—ત્યુન્યતે—અતીતકાલોઽન્ત, તથા મવિપ્યત્કાલોઽપ્યનન્ત, વર્તમાનકાલ કસમયમાત્ર, કાલત્રયસ્થાપિ યાવન્તઃ સમયા સન્તિ, તે પુનરનન્તેન ગુણિતા યાવન્તો મવેયુસ્તતોઽપ્યનન્ત-ગુણાધિકા એકસ્મિન્ નિગોદ નિગોદિકા જીવા સન્તિ ।

તત્રૈકજીવસ્યાસંख्याતા મદશા સન્તિ । એકમદશઽન્તા કર્મવર્ગના સંખ્યાતાઃ । તત્રૈકસ્યાં વર્ગણાયમનન્તા પરમાણુપુદ્ગલા સન્તિ ।

એક ૨ ગોલક મેં અસંખ્યાત ૨ નિગોદશરીર હૈ, ઓર એક ૨ નિગોદશરીર મેં અનન્ત ૨ નિગોદજીવ હૈ ।

સૂક્ષ્મ—અનન્ત કે અનન્ત મઠ હોતે હૈ, એસી સ્થિતિ મેં એક નિગોદશરીર મેં કિતન અનન્ત જીવ હોતે હૈ ?

સમાધાન—અતીત કાલ કે અનન્ત સમય હૈ, મવિપ્ય કાલકે મી અનન્ત સમય હૈ, ઓર વર્તમાન કાલ એક સમય માત્ર હૈ । ઇન ત્રીનો કાલો કે જિતને સમય હૈ ડનકા અનન્ત સે ગુણાકાર કર દેને પર જિતને સમય હા ડન સે મી અનન્ત ગુણ અધિક નિગોદજીવ એક નિગોદશરીર મ હોત હૈ ।

એક જીવ કે અસંખ્યાત પ્રદેશ હોત હૈ । એક ૨ પ્રદેશ મેં અનન્ત ૨ કર્મ-વર્ગણાવૈ લગી હુઈ હૈ, ઓર એક ૨ વર્ગણા મેં અનન્ત ૨ પુદ્ગલપરમાણુ હૈ

અસંખ્યાત ગોલક છે એક એક ગોલકમા અસંખ્યાત નિગોદ શરીર છે, અને એક એક નિગોદ શરીરમા અનન્ત અનન્ત નિગોદ જીવ છે

શંકા—અનન્તમા અનન્ત લેહ હોય છે, એવી સ્થિતિમા એક નિગોદ શરીરમા કેટલા અનન્ત જીવ હોય છે ?

સમાધાન—અતીતકાલ (બૂતકાલ)મા અનન્ત સમય છે મવિપ્યકાલમા પણ અનન્ત સમય છે, અને વર્તમાન કાલ એકસમયમાત્ર છે, એ ત્રણે કાલોમા જ સમય છે, તેનો અનન્તથી ગુણાકાર કરવાથી જ ગુણાકાર (શશિ) થાય તેટલ સમયથી પણ અનન્ત ગુણ અધિક નિગોદ જીવ એક નિગોદ-શરીરમા હોય છે

એક જીવમા અસંખ્યાત પ્રદેશ થાય છે એક-એક પ્રદેશમા અનન્ત-અનન્ત કર્મવજ જીવો લાગી છે, અને એક-એક વજ જીવમા અનન્ત અનન્ત પુદ્ગલપરમાણુ છે



અથ કીદશા સ્કન્ધા જીવાનાં ગ્રાહ્યા મવન્તી?—ત્યુચ્યતે—અમન્ય-  
રાશિશ્વરુત સ્પષ્ટતિતમ, તદગતજીવાપેક્ષયાઽનન્તગુણાધિકાઃ, પરમાણુો યદિ  
સંધીમવન્તિ તદૌદારિકશરીરગ્રાહ્યવર્ગના મવન્તિ । ઔદારિકવર્ગનાપેક્ષયા-  
ઽનન્તગુણાધિકા વૈક્રિયશરીરગ્રાહ્યવર્ગના । તતોઽનન્તગુણાધિકાઽઽહારકવર્ગના ।  
આહારકવર્ગનાપેક્ષયાઽનન્તગુણાધિકા તૈજસશરીરગ્રાહ્યવર્ગના । તતોઽનન્તગુણાધિકા  
એકમાપાગ્રાહ્યવર્ગના । એકમાપાગ્રાહ્યવર્ગનાપેક્ષયાઽનન્તગુણાધિકા એકમાસોચ્છ્વાસ  
વર્ગના । તતોઽનન્તગુણાધિકા એકમનસો વર્ગના । તદપેક્ષયાઽનન્તગુણાધિકા કાર્મણ-  
વર્ગના મવન્તિ । તતોઽનન્તગુણાધિકાઃ પુદ્ગલપરમાણુસ્કન્ધા ધ્રેયા । કાર્મણ

કિસ પ્રકાર કે સ્કન્ધ જીવાં દ્વારા ગ્રાહ્ય હોતે હૈં / યદ્યુક્તલે છે —અમન્ય  
રાશિ ચેહતરવી હૈ । હસ અમન્ય રાશિ કે જીવાં કી અપેક્ષા અનન્ત ગુણા અધિક  
પરમાણુ યદિ હક્ટે હા તો ઔદારિકશરીરગ્રાહ્ય વર્ગના હોતી હૈ । ઔદારિકવર્ગનાકી  
અપેક્ષા અનન્તગુણી અધિક વૈક્રિયશરીરગ્રાહ્ય વર્ગના હોતી હૈ, ઔર હસ સે મી  
અનન્ત ગુણી અધિક આહારકવર્ગના હોતી હૈ । આહારકવર્ગના સે અનન્તગુણી અધિક  
તૈજસશરીરગ્રાહ્ય વર્ગના હોતી હૈ, ઔર હસ સે મી અનન્તગુણી અધિક એકમાપાગ્રાહ્ય  
વર્ગના હોતી હૈ । એકમાપાવર્ગના સે મી અનન્તગુણી અધિક એક માસોચ્છ્વાસવર્ગના  
હોતી હૈ, ઔર હસ સે અનન્તગુણી અધિક એકમનોવર્ગના હોતી હૈ, મનોવર્ગના સે  
મી અનન્તગુણી અધિક કાર્મણવર્ગના હોતી હૈ । હસ સે મી અનન્ત ગુણા અધિક  
પુદ્ગલ પરમાણુ કે સ્કન્ધ સમજને જાણિય । હસ પ્રકાર કાર્મણવર્ગના કે અનન્ત પુદ્ગલ

કયા પ્રકારના સ્કન્ધ લેવોદ્દેશ અહલુ કરી શકાય છે ? તે બતાવે છે—અમન્ય-  
રાશિ ચુમાતેર (૭૪) વી છે એ અમન્ય રાશિના લેવોની અપેક્ષા અનન્ત ગુણુ  
અધિક પરમાણુ એ એકલ થાય તો ઔદારિક શરીર અહલુ કરી શકે તેવી વર્ગલ  
હોય છે, ઔદારિક વર્ગલની અપેક્ષા અનન્ત ગુણુ અધિક વૈક્રિયશરીરગ્રાહ્ય વર્ગલ  
હોય છે, અને તેનાથી પણ અનન્ત ગુણુ અધિક એક આહારકવર્ગલ હોય છે  
આહારકવર્ગલથી અનન્ત ગુણુ અધિક તૈજસશરીરગ્રાહ્ય વર્ગલ હોય, તેનાથી પણ  
અનન્ત ગુણુ અધિક એક આપાગ્રાહ્ય વર્ગલ હોય છે અને તેનાથી અનન્તગુણુ અધિક  
એક માસોચ્છ્વાસવર્ગલ હોય છે, અને તેનાથી અનન્તગુણુ અધિક એક મનોવર્ગલ હોય  
એક મનોવર્ગલથી પણ અનન્તગુણુ અધિક કાર્મણવર્ગલ હોય છે તેનાથી પણ અનન્ત  
ગુણુ અધિક પુદ્ગલપરમાણુના સ્કન્ધ સમજવા જોઈએ એ પ્રમાણે / કાર્મણવર્ગલના

વર્ગનાગતોઅનન્તપુદ્ગલપરમાણુઘટિતમ્કન્થા જીવાનાં ગ્રાહ્યા મયન્તિ ।

રાગદ્વેપરૂપાશુદ્ધપ્રવૃત્ત્યાઽઽત્મન પ્રતિપ્રદેશમનન્તાનન્તકર્મવર્ગણા અયોગો-  
લ્લક્ષવદ્ધિવલ્લોલીમૂતા સન્તિ, અતઃ પદ્માનન્તજ્ઞાનાદયો ગુણા જીવસ્ય તિરોહિતા  
મયન્તિ । एवं च जीवोपेक्षयाऽनन्तगुणाधिका पुद्गला ज्ञातव्याः । ते च पुद्गला  
रूपिणोऽचेतना सक्रिया\* पूरणगलनस्वभावा वेन्तिव्याः ।

પદ્ધત્યેષુ સક્રિય-નિષ્ક્રિયવિચાર —

પદ્ધત્યેષુ નિષ્ક્રિયનયેન સર્વાણિ દ્રવ્યાણિ સક્રિયાણિ । વ્યવહારનયતો  
ધર્માધર્માકાશકાલાગ્ન્યાનિ ચત્વારિ દ્રવ્યાણિ ક્રિયારહિતાનિ । જીવપુદ્ગલૌ સક્રિયૌ  
પરમાણુઓં સે વને હુષ સ્કન્ધ જાવાં દ્વારા પ્રહ્ણ કરન યોગ્ય હોતે હૈં ।

રાગ ઓર દ્વેપરૂપ અશુદ્ધ પ્રવૃત્તિ કે કારણ આત્મા કે એક એક પ્રદેશ મં અનન્તાનન્ત  
કર્મવર્ગણાઈં ફસ પ્રકાર એકમેક હો ગ્હી હૈં, એસે લોહે કા ગોલા ઓર અગ્નિ એકમેક  
હો જાતે હૈં, ફસી કારણ જીવ કે અનન્ત જ્ઞાન આદિ ગુણ ઢંક જાતે હૈં । ફસ પ્રકાર  
જીવોં કી અપેક્ષા પુદ્ગલ અનન્ત ગુણા અધિક જ્ઞાનન ચાદિય । યે પુદ્ગલ-રૂપી, અચેતન,  
સક્રિય, ઓર પૂરણગલનસ્વભાવવાલે હૈં ।

છઠ દ્રવ્યોં મેં સક્રિય-નિષ્ક્રિયકા વિચાર—

નિષ્ક્રિય નય સે છઠો દ્રવ્ય સક્રિય હૈં, કિન્તુ વ્યવહારનયસે ધર્માસ્તિકાય અધર્મા  
સ્તિકાય આકાશ ઓર કાલ નામક ચાર દ્રવ્ય ક્રિયા રહિત હૈં, જીવ ઓર પુદ્ગલ દ્રવ્ય સક્રિય

અનન્ત પુદ્ગલ પરમાણુઓથી અનેકા સ્કન્ધ છવો દ્વારા ગ્રહણ કરવા યોગ્ય હોય છે  
રાગ અને દ્વેપ રૂપ અશુદ્ધ પ્રવૃત્તિના કારણે આત્માના એક-એક પ્રદેશમાં  
અનન્તાનન્ત કર્મવર્ગણાઓ એ પ્રમાણે એકમેક થઈ રહી છે કે-એમ લોકાદિના ગોળો  
અને અગ્નિ એકમેક થઈ જાય છે, એ કારણથી છવના અનન્ત જ્ઞાન આદિ ગુણ  
ઢકાઈ જાય છે એ પ્રમાણે છવોની અપેક્ષા પુદ્ગલ અનન્તગુણા અધિક નાણુવા  
એક-એક તે પુદ્ગલ, રૂપી, અચેતન સક્રિય અને પૂરણગલનસ્વભાવવાળા છે

છ દ્રવ્યોમા સક્રિય નિષ્ક્રિયનો વિચાર—

નિષ્ક્રિયનય પ્રમાણે છ દ્રવ્યો સક્રિય છે, પરંતુ વ્યવહારનયથી ધર્માસ્તિકાય  
અધર્માસ્તિકાય આકાશ અને કાલ નામના ચાર દ્રવ્યો ક્રિયારહિત છે, છવ અને

સ્તઃ । નિશ્ચયનયાદ્ ધર્માસ્તિકાયો ગતિપરિતાનાં જીવપુદ્ગલાનાં ગતિં પ્રતિ સહાયદાનરૂપાં ક્રિયામ્, અધર્માસ્તિકાયઃ સ્થિતિપરિણતજીવપુદ્ગલાનાં સ્થિતિં પ્રતિ સહાયદાનરૂપાં ક્રિયાં કરોતિ । તથૈવાકાશોઽવકાશદાનરૂપા ક્રિયાં, કાલઃ વર્તનારૂપક્રિયાં જીવાજીવેષુ વિધતે । તથૈવ નિશ્ચયન જીવ સ્વસ્વરૂપરમણરૂપાં ક્રિયા કરોતિ । યદિ નિશ્ચયનયેન શુભાશુભરૂપવિમાવદશારમણાત્મિકા ક્રિયાં કુર્યાત્તદાઽઽત્મા કદાપ્યવિચલપદં નાપ્નુયાત્, અતઃ સ્વસ્વરૂપપરિણતિરૂપામેવ ક્રિયાં કરોતિ । નિશ્ચયનયેન પુદ્ગલોઽપ્યનાદિકાછત્ સ્વપૂરણગલ્પનરૂપા ક્રિયાં સમાચરતિ । તસ્માદ્ નિશ્ચયનયેન સર્વાણિ દ્રવ્યાણિ સક્રિયાણીતિ જ્ઞાતવ્યમ્ ।

હૈ । નિશ્ચયનય સે ધર્માસ્તિકાય, ગતિપરિણત જીવોં ઓર પુદ્ગલોં કો ગતિ મેં સહાયકતા દેને કો ક્રિયા કરતા હૈ, ઓર અધર્માસ્તિકાય સ્થિતિપરિણત જીવોં પવ પુદ્ગલોંકો સ્થિતિ મેં સહાયતા દેનેકો ક્રિયા કરતા હૈ । હસી પ્રકાર આકાશ-અવગાહદાનરૂપ ક્રિયા કરતા હૈ, ઓર કાલ વર્તના આદિ મેં સહાયતા પહુંચાતા હૈ । ઓવ નિશ્ચયનય સે નિશ્ચયરૂપ-રમણરૂપ ક્રિયા કરતા હૈ । અગર નિશ્ચય નય સે જીવ શુભ ઓર અશુભ રૂપ વિમાવદશા મેં રમણ કરને કો ક્રિયા કરે તો ઉસે અવિચલ પદ કો કદાપિ પ્રાપ્તિ નહીં હો સક્તી, અતઃ પવ જીવ અપને સ્વમાવ મેં પરિણતિરૂપ ક્રિયા હી કરતા હૈ । નિશ્ચય નય કો અપેક્ષા પુદ્ગલ મી અનાદિ કાલ સે પૂરણ ગલ્પન રૂપ ક્રિયા કર રહા હૈ । હસ પ્રકાર નિશ્ચય નય સે સમી દ્રવ્ય સક્રિય હૈ ।

પુદ્ગલ દ્રવ્ય સક્રિય છે નિશ્ચયનયથી ધર્માસ્તિકાય, ગતિમા પરિણત જીવોં અને પુદ્ગલોંની ગતિમા સહાયતા કરવાની ક્રિયા કરે છે, અને અધર્માસ્તિકાય, સ્થિતિમા પરિણત જીવોં અને પુદ્ગલોંની સ્થિતિમા સહાયતા દેવાની ક્રિયા કરે છે એ પ્રમાણે આકાશ, અવગાહદાનરૂપ ક્રિયા કરે છે, અને કાલ વર્તના આદિમા સહાયતા પહોંચાડે છે, જીવ નિશ્ચયનયથી નિશ્ચયરૂપ-રમણરૂપ ક્રિયા કરે છે અગર નિશ્ચયનયથી જીવ શુભ અને અશુભરૂપ વિમાવદશામાં રમણ કરવાની ક્રિયા કરે તો તેને અવિચલ પદની પ્રાપ્તિ કદાપિ પણ થઈ શકે નહિ, જોટલા કારણથી જીવ પોતાના સ્વભાવમાં પરિણતિરૂપ ક્રિયા જ કરે છે, નિશ્ચયનયની અપેક્ષા એ પુદ્ગલ પણ અનાદિ કાલથી પૂરણ-ગલ્પનરૂપ ક્રિયા કરે છે, એ પ્રમાણે નિશ્ચયનયથી સવ દ્રવ્યો સક્રિય છે

અધુના વ્યવહારનયમાધિસ્યોચ્યતે—

વ્યવહારતો ધર્માધર્માકાશકાલા નિક્રિયા, જીવ-પુદ્ગલાશ્ચ સક્રિયા ।  
વ્યવહારનયતો જીવો રાગદ્વેપરૂપાશુભપરિણત્યા પ્રતિસમયમનન્તપુદ્ગલપરમાણુસ્કન્ધા-  
ડડાનક્રિયાં કરોતિ । પરમાણુપુદ્ગલા અપિ કર્મવર્ગનારૂપેણ જીવસ્ય સર્વસ્મિન્  
પ્રદેશે સલગ્ના ભવન્તિ, અતસ્તે સપ્થેપક્રિયાં પૂરણગલ્લનાદિક્રિયાં ચ કુર્વન્તિ,  
તસ્માદ્ વ્યવહારનયતો જીવ-પુદ્ગલાએવ સક્રિયા ।

પદ્ધત્યવિષય કર્તૃત્વાકર્તૃત્વનિરૂપણમ્—

નિશ્ચયનયેન પદ્ધત્યવ્યાણિ સ્વસ્વરૂપકર્તૃણિ, તસ્માત્તેર્ષા કર્તૃત્વમુપપદ્યતે ।

અય વ્યવહાર નય કી અપેક્ષા સે કર્મન ક્રિયા જાતા હૈ—વ્યવહારનય સે ધર્મ  
અધર્મ આકાશ ઓર કાલ ત્રિયારહિત હૈ, તથા જીવ ઓર પુદ્ગલ સક્રિય હૈ । વ્યવહાર  
નય સે જીવ રાગ-દ્વેપરૂપ અશુભ પરિણતિ કે દ્વારા પ્રતિ સમય અનન્ત પુદ્ગલ પરમાણુઓ  
કે સ્કન્ધા કો પ્રહ્ણ કરન કી ક્રિયા કરતા હૈ । પરમાણુ પુદ્ગલ મી કર્મવર્ગનારૂપ  
મેં પરિણત હો કર જીવ કે સમસ્ત પ્રદેશો મેં બદલ હોતે હૈ, અતઃ બહ વચનરૂપ ક્રિયા  
કરતે હૈ, ઓર પૂરણ ગલ્લન આદિ ક્રિયા મી કરતે હૈ, ઇસ પ્રકાર વ્યવહાર નય સે જીવ ઓર  
પુદ્ગલ હી સક્રિય હ ।

છઠ્ઠ દ્રવ્યાં કા કર્તાપિન ઓર અકર્તાપિન—

નિશ્ચય નય સે છઠ્ઠો દ્રવ્ય અપને ૨ સ્વરૂપ કે કર્તા હૈ, અતઃ સમી દ્રવ્યા મેં

હવે વ્યવહારનયની અપેક્ષાએ કહેવાય છે—વ્યવહારનયથી ધર્મ અધર્મ આકાશ  
અને કાલ ક્રિયારહિત છે, તથા જીવ અને પુદ્ગલ સક્રિય છે વ્યવહારનયથી જીવ  
રાગ-દ્વેપરૂપ અશુભપરિણતિદ્વારા પ્રતિસમય અનન્ત પુદ્ગલ પરમાણુઓના સ્કન્ધોને  
શ્રેણી કરવાની ક્રિયા કરે છે પરમાણુ પુદ્ગલ પણ કર્મવર્ગનારૂપમા પરિણત થઈને  
જીવના સમસ્ત પ્રદેશોમા બદલ થઈ જાય છે (સર્વ પ્રદેશોને ઘોટી જાય છે) તેટલા  
કારણથી તે બધનરૂપ ક્રિયા કરે છે, અને પૂરણ-ગલ્લન આદિ ક્રિયા પણ કરે છે  
એ પ્રમાણે વ્યવહારનયથી જીવ અને પુદ્ગલ જ સક્રિય છે

દ્રવ્યોણુ કર્તાપિણુ અને અકર્તાપિણુ—

નિશ્ચયનયથી છ દ્રવ્યો, પોતપોતાના સ્વરૂપમા કર્તા છે તેથી સર્વ દ્રવ્યોમા



વ્યવહારનયેન જીવસ્ય કર્તૃત્વં, ધર્માદિદ્રવ્યપક્ષયસ્પાકર્તૃત્વમિતિ ।

વ્યવહારનય —

વ્યવહારનય પદ્ધિય'—શુદ્ધાશુદ્ધશુમાશુમોપચરિતાનુપચરિતમેદાત્ । તત્ર—

(૧) શુદ્ધવ્યવહારનય' ।

યદિ જીવ. કર્મમલરૂપાશુદ્ધતા વ્યપનીયાગ્નન્તજ્ઞાનાદિગુણ પશુદ્ધતા મુપાર્જયતિ તર્હિ પ્રથમશુદ્ધવ્યવહારનયેન જીવસ્ય કર્તૃત્વ મવતિ । તયાદિ-શુદ્ધવ્યવહારનયેન જીવો યદા શુદ્ધસ્વરૂપાર્જનાય પ્રયત્તે, તદા પ્રથમશુણસ્થાને કર્તાપન સિદ્ધ હોતા હે । વ્યવહારનયસે જીવ કર્તા હે ઓર શેષ ધર્મ આદિ પાંચ દ્રવ્ય અકર્તા હે ।

વ્યવહારનય—

વ્યવહાર નય છઠ્ઠ પ્રકાર કા હે—(૧) શુદ્ધ વ્યવહારનય, (૨) અશુદ્ધ વ્યવહારનય, (૩) શુભ વ્યવહારનય, (૪) અશુભ વ્યવહારનય, (૫) ઉપચરિત વ્યવહારનય ઓર (૬) અનુપચરિત વ્યવહારનય ।

(૧) શુદ્ધ વ્યવહારનય—

અગર જીવ કર્મમલરૂપ અશુદ્ધતા કો હટાકર અનન્તજ્ઞાનાદિગુણરૂપ શુદ્ધતા કા ઉપાર્જન કરતા હે તો શુદ્ધ વ્યવહારનય સે જીવ મેં કર્તૃત્વ હોતા હે । વહ હસ પ્રકાર શુદ્ધ વ્યવહાર નય સે જીવ જવ અપના શુદ્ધ સ્વરૂપ પ્રાપ્ત કરને કે લિપ કર્તાપક્ષુ સિદ્ધ થાય છે વ્યવહારનયથી એવ કર્તા છે અને આકીના ધર્માદિ પાંચ દ્રવ્યો અકર્તા છે

વ્યવહારનય—

વ્યવહારનય છ પ્રકાર છે (૧) શુદ્ધ વ્યવહારનય (૨) અશુદ્ધ વ્યવહારનય, શુભ વ્યવહારનય, (૪) અશુભવ્યવહારનય, (૫) ઉપચરિત વ્યવહારનય, (૬) અનુપચરિત વ્યવહારનય

(૧) શુદ્ધ વ્યવહારનય—

એવ કર્મમલરૂપ અશુદ્ધતાને હટાવીને અનન્તજ્ઞાનાદિગુણરૂપ શુદ્ધતાને ઉપાર્જન કરે છે તો શુદ્ધ વ્યવહારનય પ્રમાણે એવમાં કર્તૃત્વ-કર્તાપક્ષુ હોય છે તે આ પ્રમાણે-શુદ્ધ વ્યવહારનયથી એવ પોતાના શુદ્ધ સ્વરૂપને પ્રાપ્ત કરવા માટે પ્રયત્ન

અનન્તાનુવન્ધિકપાયચતુષ્ટય ક્ષપયિત્વા ચતુર્થ ગુણસ્થાન સમાસાદ્ય સમ્યક્ત્વગુણ  
લભતે । અપ્રત્યાગ્ધ્યેયકપાયચતુષ્ટયક્ષયણ દશવિરતિરૂપ પચ્ચમ ગુણસ્થાન  
પ્રાપ્નોતિ । પ્રત્યાગ્ધ્યેયકપાયચતુષ્ટયક્ષયેણ જીવસ્ય પષ્ટસપ્તમગુણસ્થાનયો સર્વ-  
વિરતિરૂપયોરુપન્લબ્ધિર્મવતિ । યદ્વપ્તમગુણસ્થાનં લભ્યતે તદા તપ્ર શ્રેણિદ્વય  
સમાસ્મતે, ઉપશમશ્રેણિ ક્ષપકશ્રેણિશ્ચ । તત્રોપશમશ્રેણ્યાઽષ્ટમગુણસ્થાનાદેકાદશ-  
ગુણસ્થાન યાવદધ્યારોહતિ । ક્ષપકશ્રેણ્યા ત્વષ્ટમાદારભ્ય દશમ યાવત્ સમારુ-  
હૈકાદશ વિહાય દ્વાદશ ગુણસ્થાન સમારોહતિ । જીવસ્તત્ર રાગદ્વેપરૂપમોહનીય

પ્રયત્ન કરતા હૈ તપ પ્રથમ ગુણસ્થાન મ અનન્તાનુવન્ધી ચાર કપાયોના ક્ષય કરક ચતુર્થ  
ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરતા હૈ ઓર સમ્યક્ત્વ ગુણ પા લતા હૈ । ચાર અપ્રત્યાગ્ધ્યાનાવરણ  
કપાયોના ક્ષય કરક દશવિરતિરૂપ પાંચમો ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરતા હૈ, ઓર  
પ્રત્યાગ્ધ્યાનાવરણ કપાય-ચતુષ્ટય કે ક્ષય મ જીવ કો સર્વવિરતિરૂપ ઝઠ ઓર સાતમે  
ગુણસ્થાન કો પ્રાપ્તિ હોતી હૈ । જીવ કો યદિ આઠમા ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત હોતા હૈ  
તો વહો સ દો શ્રેણીઓ આરમ્મ હોતી હૈ ઓર જીવ યન મ સે કિસી ણક શ્રેણી પર  
આસ્ત્ર હોતા હૈ । દો શ્રેણીઓ હૈ-ઉપશમશ્રેણી, ઓર ક્ષપકશ્રેણી । ઉપશમશ્રેણીવાળા જીવ  
ગ્યારહવે ગુણસ્થાન તક પહોંચકા સકતા હૈ । ક્ષપકશ્રેણીવાળા જીવ આઠવે સે વળવે  
ગુણસ્થાન તક પહોંચકા ગ્યારહવે કો છોડ કર સીધા બારહવે ગુણસ્થાન પર આસ્ત્ર  
હો જાતા હૈ । જીવ દશવે ગુણસ્થાન કે અંત મ રાગદ્વેપરૂપ મોહનીય કર્મ કા સમૂલ નાશ કરકે,

કરે છે, ત્યારે પ્રથમ ગુણસ્થાનમાં અનન્તાનુવન્ધી ચાર કપાયોના ક્ષય કરીને ચતુર્થ  
(ચોથું) ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરે છે, અને સમ્યક્ત્વ ગુણ પામી બાક છે ચાર  
અપ્રત્યાગ્ધ્યાનાવરણ કપાયોના ક્ષય કરીને દશવિરતિરૂપ પાંચમું ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત કરે  
છે, અને પ્રત્યાગ્ધ્યાનાવરણ કપાય-ચતુષ્ટયના ક્ષયથી જીવને સર્વવિરતિરૂપ છઠ્ઠું અને  
સાતમા ગુણસ્થાનની પ્રાપ્તિ થાય છે જીવને બે આઠમું ગુણસ્થાન પ્રાપ્ત થાય છે તો  
ત્યાથી બે શ્રેણીઓનો આરંભ થાય છે, અને જીવ બે બેમાંથી કોઈ એક શ્રેણી પર આસ્ત્ર  
થાય છે બે શ્રેણી આ પ્રમાણે છે-(૧) ઉપશમશ્રેણી (૨) ક્ષપકશ્રેણી ઉપશમશ્રેણી  
વાળો જીવ અગિઆરમા ગુણસ્થાન સુધી ચઢી શકે છે, ક્ષપકશ્રેણીવાળો જીવ  
આઠમાંથી દસમા ગુણસ્થાન સુધી પહોંચીને અગિઆરમા ગુણસ્થાનને છેડીને સીધા  
બારમા ગુણસ્થાન પર આસ્ત્ર થઈ બાક છે જીવ દસમા ગુણસ્થાનના અંતમાં

કર્મ સમૂહમૂલ્ય ધાતિકર્માણિ ક્ષપયિત્વા પ્રયોદશ ગુણસ્થાનમારોહતિ । પ્રયોદશે ગુણસ્થાને નિર્મલકેવલજ્ઞાન પ્રાપ્નોતિ । તદનન્તરં પદ્મલઘ્વસ્રોધારણકાલસ્થિતિકં ચતુર્દશગુણસ્થાન સમાપ્ય નિ શેષકર્મનિચય ક્ષપયિત્વાડસૌ શિવપદં સપ્રાપ્નોતિ ।  
 । इति जीवस्य शुद्धस्वरूपनिरूपकं शुद्धव्यवहारनय ।

## (૨) અશુદ્ધવ્યવહારનય:—

અશુદ્ધવ્યવહારનયેન રાગદ્વેષમિધ્યાત્વાદયોઝ્નાદિકાલત સ્વત્તુરૂપ જીવે સલમ્ના સન્તિ, તસ્માજ્જીવસ્યાશુદ્ધત્વ જ્ઞેયમ્ । અશુદ્ધત્વેન ચ પ્રતિમમય-  
 ઔર બારહવે ગુણસ્થાન મેં શેષ ત્રીન ધાતિ કર્મો કા ધ્યય કરકેતરહવે ગુણસ્થાન મ પહુક્તા હૈ ।  
 હસ ગુણસ્થાન મં ( બારહવે ગુણસ્થાન કે અસ્તિમ સમય મેં ) જીવ કો નિર્મલ કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત હોતા હૈ । તેરહવે ગુણસ્થાન કે શબ્દ પાંચ ફૂલ્ય રશર (અ, ઇ, ઊ, ઋ, ઌ) ઉચ્ચારણ કરને મેં જિતના સમય લગતા હૈ ઉતને સમય તક બૌદહવે ગુણસ્થાન મેં ઠઠરક સમસ્ત કર્મો કા ક્ષમક્ર કે મોક્ષ પ્રાપ્ત કર હોતા હૈ ।

जीवके शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करने वाला यह शुद्ध व्यवहारनय है ।

## (૨) અશુદ્ધ વ્યવહારનય—

અશુદ્ધ વ્યવહારનય સે રાગ-દ્વેષ ઔર મિધ્યાત્વ આદિ બનાવિ કાલ સે ગતુકી તરહ જીવ કે સામ છો હુય હૈ, ઇસી કારણ જીવ મેં અશુદ્ધતા હૈ । હસ અશુદ્ધતા કે રાગ-દ્વેષદ્વેષ મોહનીય કમનો સમૂહજો નાશ કરીને અને બારમા શુદ્ધસ્થાનમા શેષ ત્રણ શાવીકર્મોના ક્ષય કરીને તેરમા શુદ્ધસ્થાનમા પહોચે છે એ શુદ્ધસ્થાનમા (બારમા શુદ્ધસ્થાનમા અતિમ સમયમા) જીવને નિર્મલ કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત થાય છે તેરમા શુદ્ધસ્થાન પછી પાંચ હ્રસ્વ સ્વર-(અ-ઈ-ઉ-ઋ-ૠ) ઉચ્ચારણ કરતાં હોટહો સમય લાગે છે, તેટલો સમય ચૌદમા શુદ્ધસ્થાનમા થાવીને સમસ્ત કર્મોના ક્ષય કરીને મોક્ષ પ્રાપ્ત કરી હો છે

જીવના શુદ્ધ સ્વરૂપને ધકલણ કરવા વાળો આ શુદ્ધ વ્યવહાર નય છે

## (૨) અશુદ્ધ વ્યવહારનય—

અશુદ્ધ વ્યવહારનયથી રાગ-દ્વેષ અને મિધ્યાત્વ આદિ બનાવિ-કાલથી શત્રુની માફક જીવની સાથે લાગ્યા છે, એ કારણથી જીવમા અશુદ્ધતા છે એ અશુદ્ધતાના

મનન્તાનન્તકર્મવર્ગણા સત્તારૂપેનાવણ્ઠિતા મવન્તિ । એવ ચાશુદ્ધવ્યવહારનયેન જીવસ્ય કર્તૃત્વ સિધ્યતિ ।

### (૩) શુભવ્યવહારનય—

શુભવ્યવહારનયેનાત્મા શુભપરિણામતો દાનશીલતપોભાવવિનયમક્તિવૈયાટૃત્ય, શ્રમણનિર્ગ્રન્થાનાં પ્રાસુકમેષણીયમશનપાનસ્વાદસ્વાદવસ્ત્રકમ્બલપ્રતિગ્રહપાદમોઞ્છન-પ્રાતિહાર્યપીઠફલકશ્યાસસ્તારકૌપધમેષજ્યમ્પતિલામરૂપ સુપાત્રદાન, સ્ત્રિયમાણ-જીવરક્ષણરૂપમમયદાન, હીનદીનનિ સત્ત્વજીવાનાં સાહાય્ય, સાધર્મિકવાત્સલ્ય, પરહિત-ચિન્તારૂપા મૈત્રી, પરદુઃખનિવારણેઞ્ઞારૂપા કરુણા, નિ સ્વાર્થપરોપકારાદિકાં ચ કારણ પ્રતિમમય અનન્તાનન્ત કર્મવર્ગણે સત્તારૂપ સે શ્રદ્ધ હોતી રહતી હૈ । હસ પ્રકાર અશુદ્ધ વ્યવહારનય સે જીવ કો કર્તા સમક્ષના જાહિય ।

### (૩) શુભ વ્યવહારનય—

શુભ વ્યવહારનય સે આત્મા શુભપરિણામદ્વારા દાન, શીલ, તપ, ભાવ, વિનય, મક્તિ, વૈયાટૃત્ય રૂપ શુભક્રિયા કરતા હૈ, શ્રમણ નિર્મથો કો પ્રાસુક દષણીય-અશન પાન સ્વાદ, સ્વાદ, વસ્ત્ર, કમ્બલ, પાત્ર, પાત્રમોઞ્છન, પઢિહારી પીઠ, ફલક, શ્યા, સસ્તારક, ઔપધ, મેષત્ર કા સુપાત્રદાન દેતા હૈ । મરતે હુય જીવ કો રક્ષારૂપ અમયદાન દેતા હૈ, હીન દીન જીવો નિર્વલ જીવો કો સહાયતા કરતા હૈ । સાધર્મી કો પ્રતિ વાત્સલ્ય પ્રકટ કરતા હૈ, પરહિતચિન્તનરૂપ મૈત્રી ભાવના, દૂસરા કા દુઃખનિવારણરૂપ કરુણા

કારણે પ્રતિસમય અનન્તાનન્ત કર્મ વર્ગણા સત્તારૂપથી બદ્ધ થતી રહી છે આ પ્રમાણે અશુદ્ધ વ્યવહારનયથી જીવને કતો સમજવો જોઈએ.

### (૩) શુભ વ્યવહારનય—

શુભ વ્યવહારનયથી આત્મા દાન, શીલ, તપ, ભાવ, વિનય, શક્તિ વૈયાટૃત્ય રૂપ શુભ ક્રિયા કરે છે અમણનિર્ગ્રન્થાને પ્રાસુક એષણીય-અશન, પાન, આદ્ય, સ્વાદ, વસ્ત્ર, કમ્બલ, પાત્ર, પાત્રમોઞ્છન, પઢિહારી-પીઠ, ફલક, શ્યા, સસ્તારક, ઔપધ, મેષજનુ સુપાત્ર દાન આપે છે, મસ્તા જીવની રક્ષારૂપ અમયદાન આપે છે, હીન હીન અને નિર્વલ જીવોની સહાયતા કરે છે, સાધર્મીના ઉપર વાત્સલ્ય પ્રગટ કરે છે, પરહિતચિન્તનરૂપ મૈત્રીભાવના, બીજાના દુઃખનિવારણરૂપ કરુણા તથા નિઃસ્વાર્થ

શુભક્રિયાં કરોતિ, તેન શુભવ્યવહારનયેન જીવસ્ય કર્તૃત્વ જાયતે ।

(૪) અશુભવ્યવહારનય—

અશુભવ્યવહારનયેન જીવો હાસ્ય-મય-શોક-રત્ય-રતિ-નિદ્રા-પ્રાણાતિપાત મૃષાવાદા-ડઢ્ઠાદાન-મૈથુન-પરિગ્રહ-ક્રોધ-માન-માયા-લોભ-રાગ-દ્વેષાદિ પ્રવર્તેતે । વિષયસુસ્વારમ્માદિરૂપામશુભક્રિયા ચ કરોતિ તેનાડશુભવ્યવહારનયેનો જીવસ્ય કર્તૃત્વં સિદ્ધતિ ।

(૫) ઉપચરિતવ્યવહારનય —

ઉપચરિતવ્યવહારનયેન જીવો નિઝમનરામરત્વમનન્તજ્ઞાનદર્શનમવ્યાપાષ-

તથા નિત્વાર્ય પરોપકાર આદિરૂપ શુભક્રિયા કરતા હે, અતઃ શુભ વ્યવહારનય સે જીવ કા કર્તાપન સિદ્ધ હોતા હે ।

(૪) અશુભ વ્યવહારનય—

અશુભ વ્યવહારનય સે જીવ હાસ્ય, મય, શોક, રતિ, અરતિ, નિદ્રા, પ્રાણાતિ પાત, મૃષાવાદ, ડઢ્ઠાદાન, મૈથુન, પરિગ્રહ, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, રાગ, દ્વેષ, આદિ અશુભ કાર્યો એવ માલો મેં પ્રવૃત્ત હોતા હે, તથા વિષયસુખ એવ આરમ્ભ આદિ રૂપ અશુભ ક્રિયા કરતા હે, અતઃ અશુભવ્યવહારનય સે જીવ કર્તા સિદ્ધ હોતા હે ।

(૫) ઉપચરિત વ્યવહારનય—

ઉપચરિત વ્યવહાર નય સે જીવ અપને અજરતા અમરતા-તથા અનન્ત જ્ઞાન પરાપકાર આદિરૂપ શુભ ક્રિયા કરે છે, તે કારણથી શુભ વ્યવહારનયથી જીવ કર્તાપજી સિદ્ધ થાય છે

(૪) અશુભ વ્યવહારનય—

અશુભ વ્યવહારનયથી જીવ હાસ્ય, મય, શોક, રતિ, અરતિ, નિદ્રા, પ્રાણાતિપાત, મૃષાવાદ, ડઢ્ઠાદાન, મૈથુન, પરિગ્રહ, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, રાગ દ્વેષ આદિ અશુભ કાર્યો એવ ભાવોમા પ્રવૃત્ત થાય છે, વિષયસુખ એવ આરમ્ભ આદિ અશુભ ક્રિયા કરે છે તેથી અશુભ વ્યવહારનયથી જીવ કર્તા સિદ્ધ થાય છે

(૫) ઉપચરિત વ્યવહારનય—

ઉપચરિત વ્યવહારનયથી જીવ પોતાના અજર અમર તથા અનન્તજ્ઞાન, દર્શન

મુલાદિસ્થ શુદ્ધસ્વરૂપ વિસ્મૃત્ય પૌદ્ગલિકવિમાવપરિણામેજનન્તદુ'સ્વજનકેજનન્તા નન્દમનુમવતિ, મોહવશેન વાહ્યવસ્તુષુ મમત્વમાવ કુરુતે । યયા-“ઇદ મમ મૃદમ્, ઇમે મમ પુત્રા, ઇમા મમ દારા, ઇમે મમ પરિવારા, ઇદ મમ સર્વ ધનજનાવિક્રમ્” ।  
 इत्य विपरूप विषय पीयूष मन्यमानो विपर्ययतानो क्षणमात्रसुखजनकान् बहु-  
 कालदुःखदान् कामभोगान् मृज्जानो विषयमृगतृष्णा पुन पुनर्धाविमानो दीर्घाध्व-  
 ससारे क्षणमपि विधातन्ति न लभते । ममेति कुर्वन्नय जीव पुत्रदारादीना सुखेन  
 सुख, दुःखेन दुःखं मन्यमानस्तदर्थं व्यर्थमेव शोकमनुभवति, तदर्थं प्राणनाशमपि कर्तुं  
 समुद्यतो भवति । अनात्मीयमपि स्वीय मन्यमानो नानाविधपापकार्यकरणेन

ર્નાક તથા અન્યાવાધમુસ્વરૂપ શુદ્ધ સ્વરૂપ કો મૂલ કર પૌદ્ગલિક વિમાવ પરિણામ  
 મેં જો અનન્ત દુઃખોં કા જનક હૈ અનન્ત આનન્દ માનતા હૈ । મોહ કે વશીમૂત હો  
 કર વાહ્ય વસ્તુઓં મેં મમત્વ ધારણ કરતા હૈ જૈસે- “યહ મેરા ઘર હૈ, યે મેરે પુત્ર  
 હૈ, યહ મેરી પત્ની હૈ, યે મેરે કુટુંબી હૈ, યે સર્વ ધન-જન આદિ મેરે હૈ” ।  
 इस प्रकार के विपरूप विषयां को अमृत मानता हुआ, विषयां में तमय हो कर, क्षण भर  
 सुख देने वाले और दीर्घकाल तक दुःख देने वाले काम-भोगों को भोगता हुआ,  
 विषयां की मृगतृष्णा की तरफ बारंवार दौड़ता हुआ इस दीर्घमार्गवाले ससार में  
 क्षण भर भी विधाम नहीं पाता हॆ । मेरे मेरे करता हुआ यह जीव, पुत्र और पत्नी वगैरह के  
 सुख में सुख और दुःख में दुःख मानता हुआ व्यर्थ ही उन के लिये शोक करता हॆ,  
 यहाँ तक की उन के लिय प्राणों का नाश तक करने को उद्यत हो जाता है । यह

વધા અવ્યાબાધ મુખરૂપ શુદ્ધ સ્વરૂપને બૂઝી જઇને પૌદ્ગલિક વિમાવ પરિણામમા  
 કે જે અનન્ત દુઃખોનેા જનક (ઉત્પન્ન કરનાર) છે તેમા અનન્ત આનન્દ માને છે,  
 મોહને વશ થઇને બહારની વસ્તુઓમા મમત્વ ધારણ કરે છે, જેમકે-“આ ઘર  
 મારૂ છે, આ મારા પુત્ર છે, આ મારી સ્ત્રી છે, આ મારૂ કુટુંબ છે, આ સર્વ  
 ધન-જન વગેરે મારૂ છે” જે પ્રમાણે વિષરૂપ-વિષયોને અમૃતરૂપ માનીને,  
 વિષયોમાં તન્મય થઇને ક્ષણમાત્ર મુખ આપવાવાળા અને લાંબા કાલ સુધી દુઃખ  
 આપવાવાળા ભોગોને ભોગવતો થકો વિષયોની મૃગતૃષ્ણા તરફ વારંવાર દોડતો  
 થકો આ લાંબા માગવાળા સસારમા ક્ષણ માત્ર પણ વિશ્રામ પામતો નથી.  
 મારા-મારા કરતો આ જીવ, પુત્ર અને પત્ની વગેરેના મુખમા મુખ અને દુઃખમાં-  
 દુઃખ માનતો થકો તેના માટે નકામો શોક કરે છે-ત્યા સુધી કે તેના માટે પ્રાણોના  
 નાશ કરવા તેયાર થઈ જાય છે આ જીવ પરને પોતાનુ સમજીને નાના પ્રકારના

ત્માનમુદ્ધર્તુ ન શકોતિ । અવિજ્ઞાય ચ સ્વકૃતકર્મમાર દુરન્તસંસારમહાગતપતનં ચ મુદ્ધુર્મુદ્ધુસ્તાદશાન્યેવ કર્માણિ કુર્વન્તિ સસારિણ । एवमात्मनोऽत्यन्तमिन्न શરીરમેવ સ્વસ્વરૂપ મત્વા તત્પૃષ્ટિરસણાધર્થે ક્રિયમાણયા ત્રિયયા જીવસ્પાનુપચરિત્ત-  
વ્યવહારનયેન કર્તૃત્વ સિધ્ધયતિ । ઉક્તરીત્યા પદવિધવ્યવહારનયેન જીવસ્ય કર્તૃત્વ વિદ્યેયમ્ ।

### જીવસ્વરૂપ સદૃશાસદૃશવિચાર—

નનુ—સર્વેષાં જીવાના સ્વરૂપ લક્ષણ ચ સદૃશમેવ, તર્हि संसारिणो दुःखिन, सिद्धास्तु सुखिन इति कथम् ? उच्यते—निश्चयनयेन तु सर्वे जीवा

મેં અસમર્થ થન આતા છે, મગર સંસારી જીવ અપને ક્રિયે કર્મોં કે માર કો ન સમજ કર, તથા સસારરૂપી મહાગત કે પતન કો ન જાનકર ફિર-ફિર વૈસે હી કર્મ કરને છાતે હૈં । इस प्रकार आत्मा से भिन्न शरीर को ही अपना स्वरूप समझ कर उसके पोषण और रक्षणके लिए की जानेवाली क्रियासे जीव अनुपचरित व्यवहारनयकी अपेक्षा कर्ता सिद्ध होता है । इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से छह तरह के व्यवहारनय से जीवको कर्ता समझना चाहिए ।

### જીવકે સ્વરૂપ મેં સદૃશ-વિસદૃશ વિચાર—

પ્રશ્ન—અગર સબ જીવોંકા સ્વરૂપ બૉર લક્ષણ સમાન હી હૈ તો સસારી જીવ દુઃલી બૉર સિદ્ધ સુલી કયો હૈં ।

ઉત્તર—નિશ્ચય નયસે સમી જીવ સિદ્ધોંકે સમાન હી હૈં । उन में से जो जीव ससारी एव पोषणानां करेवा कर्मोना भारने समर्थतो नही, तथा ससारिणी महागर्तमा पड्यो छे ते तेने लक्ष्यतो नही तेही करी-इसी तेवां कर्मो करवा लागे छे. जो प्रमाणे आत्माधी भिन्न शरीरने ज पोषणानु स्वरूप समझने तेना पोषण तथा रक्षण भाटे करवाभा आवती क्रियाही एव अनुपचरित व्यवहार नयनी अपेक्षाको कर्ता सिद्ध थाय छे जो प्रमाणे पूर्वो कहेवा प्रकारधी छ प्रकारना व्यवहारनयधी एवने कर्ता समझवो जेछेको.

### જીવના સ્વરૂપમા સદૃશ-વિસદૃશ વિચાર—

પ્રશ્ન—અગર સર્વ જીવોંનુ સ્વરૂપ અને લક્ષણ સમાનજ છે તો પછી સસારી જીવ દુઃખી અને સિદ્ધ જીવ સુખી કેમ છે ?

ઉત્તર—નિશ્ચયનયથી સર્વ જીવો સિદ્ધોંની સમાન છે તેમાથી જ તમામ

સુખાદિરૂપ શુદ્ધસ્વરૂપ વિસ્મૃત્ય પૌદ્ગલિકવિમાવપરિણામેજનન્તદુઃસ્વજનકેજનન્તા નન્દમનુમવતિ, મોહવશેન વાશ્યવસ્તુષુ મમત્વમાવ કુરુતે । યથા—“ઈદં મમ ગૃહમ્, હમે મમ પુત્રાઃ, હમા મમ દારા”, હમે મમ પરિવાગ, ઈદં મમ સર્વ ધનજનાદિકમ્ ” । ઇત્ય વિપરૂપં વિપયં પીયૂષં મન્યમાનો વિપયકતાનો ક્ષણમાત્રસુખજનકાન્ વદુ-કાલદુઃસ્વદાન્ કામમોગાન્ મુજ્જાનો વિપયમૃગતૃષ્ણા પુનઃ પુનર્ધાવમાનો દીર્ઘાલ્વ-સસારે ક્ષણમપિ વિશ્રાન્તિ ન લભતે । મમેતિ કુર્વમ્ય ઝીવઃ પુત્રદારાદીનાં સુખેન સુત્વં, દુઃસ્વેન દુઃસ્વ મન્યમાનસ્તદર્થં વ્યર્થમેવ શોકમનુમવતિ, તદર્થ પ્રાણનાશમપિ કર્તુ સમુદ્યતો ભવતિ । અનાત્મીયમપિ સ્વીય મન્યમાનો નાનાવિધપાપકાર્યકરણેન

દર્શક તથા અન્યાવાયમુસ્વરૂપ શુદ્ધ સ્વરૂપ કો મૂલ કમ પૌદ્ગલિક વિમાવ પરિણામ મેં જો અનન્ત દુઃસ્વોં કા જનક હૈ અનન્ત આનન્દ માનતા હૈ । મોહ કે વશીભૂત હો કર વાશ્ય વસ્તુઓં મેં મમત્વ ધારણ કરતા હૈ જૈસે—“યહ મેરા ગર હૈ, યે મેરે પુત્ર હૈ, યહ મેરી પત્ની હૈ, યે મેરે કુટુંબી હૈ, યે સય ધન—જન આદિ મેરે હૈ” । હસ પ્રકાર કે વિપરૂપ વિપયોં કો અમૃત માનતા હુઆ, વિપયોં મેં તમય હો કર, ક્ષણ મર સુત્વ દેને વાલે ઝીર લૈર્ધકાલ તક દુઃસ્વ દેને વાલે કામ—મોગોં કો મોગતા હુઆ, વિપયાં કી મૃગતૃષ્ણા કી તરફ વારંવાર દોઢતા હુઆ હસ લૈર્ધમાર્ગવાલે સસાર મેં ક્ષણ મર મી વિશ્રામ નહીં પાતા હૈ । મેરે મેર કરતા હુઆ યહ જીવ, પુત્ર ઝીર પત્ની વગૈરહ કે સુત્વ મેં સુત્વ ઝીર દુઃસ્વ મેં દુઃસ્વ માનતા હુઆ વ્યર્થ હી ઝન કે લિયે શોક કરતા હૈ, યહૌ તક કી ઝન કે લિયે પ્રાણોં કા નાશ તક કરને કો ઉચત હો જાતા હૈ । યહ

તથા અવ્યાબાધ સુખસ્વરૂપ શુદ્ધ સ્વરૂપને બુદ્ધી જીને પૌદ્ગલિક વિમાવ પરિણામમા કે જે અનન્ત દુઃખોના જનક (ઉત્પન્ન કરનાર) છે તેમા અનન્ત આનન્દ માને છે, મોહને વશ થઈને બહારની વસ્તુઓમા મમત્વ ધારણ કરે છે, જેમકે—“આ ઘર મારું છે, આ મારા પુત્ર છે, આ મારી સ્ત્રી છે, આ મારું કુટુંબ છે, આ સર્વ ધન—જન વગેરે મારું છે” જે પ્રમાણે વિપરૂપ—વિષયોને અમૃતરૂપ માનીને, વિષયોમાં તનમય થઈને ક્ષણમાત્ર સુખ આપવાવાળા અને લાંબા કાલ સુધી દુઃખ આપવાવાળા જોગેને જોગવતો થકો, વિષયોની મૃતતૃષ્ણા તરફ વારંવાર દોઢતો થકો આ લાંબા માગવાળા સસારમા ક્ષણ માત્ર પણ વિશ્રામ પામતો નથી મારા—મારા કરતો આ જીવ, પુત્ર અને પત્ની વગેરેના સુખમા સુખ અને દુઃખમાં—દુઃખ માનતો થકો તેના માટે નકામે શોક કરે છે—ત્યા સુધી કે તેના માટે પ્રાણોના નાશ કરવા તૈયાર થઈ જાય છે આ જીવ પરને પોતાનું સમજીને નાના પ્રકારનાં



ત્માનમુદ્ધર્તુ ન શકોતિ । અવિજ્ઞાય ચ સ્વકૃતકર્મમાર દુઃસ્તસસારમહાગતપતનં ચ મુહુર્મુહુસ્તાદશાન્યેવ કર્માણિ કુર્વન્તિ સસારિણઃ । એવમાત્મનોડ્વત્પન્તમિન્નં શરીરમેવ સ્વસ્વરૂપ મત્વા તત્પૃષ્ટિરક્ષણાદયં ક્રિયમાણયા ક્રિયયા જીવસ્યાનુપચરિત્વ્યવહારનયેન કર્તૃત્વ સિધ્ધતિ । ઉક્તરીત્યા પદ્વિધવ્યવહારનયેન જીવસ્ય કર્તૃત્વ વિશ્લેયમ્ ।

### જીવસ્વરૂપ સદૃશાડ્વસદૃશવિચારઃ—

નનુ—સર્વેષાં જીવાના સ્વરૂપ લક્ષણ ચ સદૃશમેવ, તર્હિ સસારિણો દુઃખિન, સિદ્ધાસ્તુ સુખિન इति કથમ્ ? ઉચ્યતે—નિશ્ચયનયેન તુ સર્વે જીવા મેં અસમર્થ ઘન જાતા હે, મગર સસારી જીવ અપને ક્રિયે કર્મો કે માર કો ન સમજ કર, તથા સસારરૂપી મહાગત્તે કે પતન કો ન જાનકર ફિર-ફિર વૈસે હી કર્મ કરને લગતે હૈં । इस प्रकार आत्मा से भिन्न शरीर को ही अपना स्वरूप समझ कर उसके पोषण और रक्षणके लिए की जानेवाली क्रियासे जीव अनुपचरित व्यवहारनयकी अपेक्षा कर्ता सिद्ध होता है । इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से छद्म तरह के व्यवहारनय से जीवको कर्ता समझना चाहिए ।

### જીવકે સ્વરૂપ મેં સદૃશ-વિસદૃશ વિચાર—

પ્રશ્ન—અગર સબ જીવોકા સ્વરૂપ જોર લક્ષણ સમાન હી હૈ તો સસારી જીવ દુઃખી જોર સિદ્ધ સુખી કયો હૈં ।

ઉત્તર—નિશ્ચય નયસે સમી જીવ સિદ્ધોકે સમાન હી હૈં । उन में से जो जीव

સસારી જીવ પોતાનાં કરેલા કર્મોના બારને સમજતો નથી, તથા સસારરૂપી મહાગત્તેમાં પડ્યો છે તે તેને જાણતો નથી તેથી ફરી-ફરી તેવા કર્મો કરવા લાગે છે. જો પ્રમાણે આત્માથી બિન્ન શરીરને જ પોતાનું સ્વરૂપ સમજીને તેના પોષણ તથા રક્ષણ માટે કરવામા આવતી ક્રિયાથી જીવ અનુપચરિત વ્યવહાર નયની અપેક્ષાએ કર્તા સિદ્ધ થાય છે જો પ્રમાણે પૂર્વે કહેલા પ્રકારથી જ પ્રકારના વ્યવહારનયથી જીવને કર્તા સમજવો જોઈએ.

### જીવના સ્વરૂપમા સદૃશ-વિસદૃશ વિચાર—

પ્રશ્ન—અગર સબ જીવોનું સ્વરૂપ અને લક્ષણ સમાનજ છે તો પછી સસારી જીવ દુઃખી અને સિદ્ધ જીવ સુખી કેમ છે ?

ઉત્તર—નિશ્ચયનયથી સર્વ જીવો સિદ્ધોની સમાન છે તેમાથી જે જીવ તમામ

સિદ્ધસદૃશા એવ, તત્ર યે સક્લ કર્મ સપયન્તિ તે સર્વે જીવા સિદ્ધા ભવતિ, તસ્માત્ સર્વેપામેકૈવ સત્તા વિધતે । યદિ સર્વે સિદ્ધસદૃશાસ્તરિ કયમમવ્યજીવૈ સિદ્ધગતિમાગિર્ન ભૂયતે ? ઇતિ શ્રૂયતામ્—

અમવ્યજીવાનામનાથનન્તચિક્ષણકર્મમવઘાત્, પરાવર્તસ્વભાવામાવાષ કર્મસપ્પણશક્તિર્નાસ્તિ, મવ્યાના તુ તાદૃશચિક્ષણકમામાવાત્, પરાવર્તસ્વભાવસદ્ઘાવાષ દેવગુરુધર્મસામગ્રીસન્વે જ્ઞાનાદિરત્નત્રયસમારાધનેન, ગુણથ્રેણિસમારોહણેન ચ સિદ્ધપદ લબ્ધુ શક્યમ્ ।

સમસ્ત કર્મોંકા ક્ષય કર ઢાલતે હું વે સબ સિદ્ધ કહ્વાલતે હું । ડનકા અસલી સ્વરૂપ પ્રકટ હો જાતા હૈ । સસારી જીવ કર્મ કે અધીન હોને ક કારણ ડુ સ્ત્રી હોતે હું । ઇસ પ્રકાર યથાપિ પ્રત્યેક જીવ કી સત્તા પૃથક્-પૃથક્ હૈ, તથાપિ ડા મેં સ્વરૂપ કી સમાનતા હૈ ।

પ્રશ્ન—યદિ સમસ્ત જીવ સિદ્ધા કે સમાન હૈ તો અમવ્ય જીવ સિદ્ધિગતિ ક્યા પ્રાપ્ત નહીં કરતે ?

ઉત્તર—સુનિયે, અમવ્ય જીવો મેં અનાદિ અનન્ત ચિક્ષણ કર્મોં ક સન્નિવ્ધ સે ઓર અપરિવર્તનશીલ સ્વભાવ કે કારણ કર્મોં કા ક્ષય કરન કી શક્તિ નહીં હૈ । મવ્ય જીવા કે ત્રૈસે ચિક્ષણે કર્મોં કે ન હોને સે, ઓર પરાવર્ત સ્વભાવ સે, દેવ ગુરુ ઓર ધર્મરૂપ સામગ્રાકે મિલન પર જ્ઞાનાદિરત્નત્રય કી આરાધના કરન સે, તથા ગુણથ્રેણી પર આરોહણ કરન સે ડનકો સિદ્ધપદ પ્રાપ્ત કરના શક્ય હૈ ।

કર્મોંને ક્ષય કરી નાખે છે, તે સર્વે સિદ્ધ કહેવાય છે તેનુ અસલી સ્વરૂપ પ્રગટ થઈ જાય છે સસારી જીવ કર્મને આધીન હોવાના કારણે ડુબી હોય છે એ પ્રમાણે ને કે પ્રત્યેક જીવની સત્તા પૃથક્-પૃથક્-બૂઝી બૂઝી છે, તો પણ તેનામાં સ્વરૂપની સમાનતા છે

પ્રશ્ન—ને સર્વ જીવ સિદ્ધીની સમાન છે તો અમવ્ય જીવ સિદ્ધિગતિને કેમ પ્રાપ્ત કરી શકતા નથી ?

ઉત્તર—સામળો, અમવ્ય જીવોમાં અનાદિ-અનન્ત ચિક્ષણ કર્મોંને સંબધ હોવાથી અને અપરિવર્તનશીલ સ્વભાવના કારણે કર્મોંને ક્ષય કરવાની શક્તિ નથી, અમવ્ય જીવોને તેવા ચીકષણ કર્મ ન હોવાથી અને પરાવર્ત-સ્વભાવથી દેવ, ગુરુ અને ધર્મરૂપ સામગ્રીના મળવા પર, જ્ઞાનાદિ રત્નત્રયની આરાધના કરવાથી, તથા ગુણથ્રેણી પર આરોહણ કરવાથી તેઓને સિદ્ધપદ પ્રાપ્ત કરવુ શક્ય છે

મૂળમ્—

મુય મે આડસં તેણ મગવયા એવમક્ષાય, ( સુ ૧ )

( છાયા )

શ્રુત મયા આયુષ્મન્ ! તેન મગવતા એવમાન્યાતમ્ ( સુ. ૧ )

ટીકા—

‘મુય મે’ इत्यादि । आयुष्मन् ! हे चिरजीविन् ! जन्मू ! ‘आयुष्म’  
 त्रितिपदं शिष्यस्य जन्मूस्वामिन कोमलवचनान्मन्त्रण विनीतताख्यापनार्थम् ।  
 किञ्च—तस्याशेषश्रुतज्ञानोपदेश—श्रवण—ग्रहण—धारण—रत्नत्रयाराधन—मोक्षसाधन-  
 योग्यताप्राप्तिपर्यन्तद्वचनम् । विनाऽऽयुषा श्रुतध्वजादिमोक्षपर्यन्तसिद्धिर्न कस्यचित्त  
 भवतीति भाव । एतद्वचनप्रभावादेव जन्मूस्वामी मोक्षपदं तस्मिन्नेव जन्मनि  
 प्राप ।

મૂલાર્થ—‘મુય મે’ इत्यादि, हे आयुष्मन् ! मेने सुना है । उन मगवान्ने ऐसा  
 कहा है ( सू० १ )

ટીકાર્થ—हे आयुष्मन् ! अर्थात् हे चिरजीवी जन्मू !, ‘आयुष्मन्’ पद अपने शिष्य  
 जन्मू स्वामीका कोमल वचनरूप सम्बोधन है, और विनीतता प्रकट करने के लिए है ।  
 अथवा—उनके समस्त श्रुतज्ञान, उपदेश का श्रवण, ग्रहण धारण, रत्नत्रयका आराधन, तथा  
 मोक्षसाधन की योग्यता की प्राप्ति के लिए इस पद का प्रयोग किया गया है । आयुके  
 अभाव में श्रुतश्रवण से लेकर मोक्ष तक किसीकी भी सिद्धि नहीं हो सकती । इसी वचन  
 के प्रभाव से जन्मू स्वामीने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया था ।

‘મુય મે’ इत्यादि

મૂલાર્થ—હે આયુષ્મન્ ! એ સાંભળ્યું છે, તે મગવાને આવું કહ્યું છે (સુ-૧)

ટીકાર્થ—હે આયુષ્મન્ અર્થાત્ હે ચિરજીવી જન્મૂ !, ‘આયુષ્મન્’ પદ  
 પોતાના શિષ્ય જન્મૂ સ્વામીનું કોમલ-વચનરૂપ સંબોધન છે, અને વિનીતપણ  
 પ્રગટ કરવા માટે છે અથવા તેમના સમસ્ત શ્રુતજ્ઞાન, ઉપદેશનું શ્રવણ, શ્રવણ,  
 ધારણ, રત્નત્રયનું આરાધન તથા મોક્ષસાધનની યોગ્યતાની પ્રાપ્તિ માટે આ પદનો  
 પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે, આયુના અભાવમાં શ્રુતના શ્રવણથી હાથને મોક્ષ સુધી  
 કોઈ પણ સિદ્ધિ થઈ શકતી નથી આ વચનના પ્રભાવથી જન્મૂ સ્વામીએ એ  
 ભવમાં મોક્ષ પ્રાપ્ત કર્યો હતો

સિદ્ધસદૃશા એવ, તત્ર યે સકલ કર્મ સપયન્તિ તે સર્વે જીવા સિદ્ધા મવતિ, તસ્માત્ સર્વેપામેકૈવ સત્તા વિદ્યતે । યદિ સર્વે સિદ્ધસદૃશાસ્તરિં કયમમવ્યજીવૈ સિદ્ધગતિમાગિર્મને શ્રૂયતે ? ઇતિ શ્રૂયતામ્—

અમવ્યજીવાનામનાઘનન્તચિક્ષણકર્મસવન્ધાત્, પરાવર્તસ્વભાવામાવાચ કર્મસપ્પણશક્તિર્નાસ્તિ, મગ્ધાનાં તુ તાદૃશચિક્ષણકર્માભાવાત્, પરાવર્તસ્વભાવસદ્ભાવાચ દેવગુરુધર્મસામગ્રીસત્ત્વે જ્ઞાનાદિરત્નત્રયસમારાધનેન, ગુણશ્રેણિસમારોહણેન ચ સિદ્ધપદં લબ્ધુ શક્યમ્ ।

સમસ્ત કર્મોંકા ક્ષય કર ઢાલ્યે હૈં ષે સવ સિદ્ધ કહલ્યોતે હૈં । ડનકા અસહી સ્વરૂપ પ્રકટ હો જાતા હૈં । સસારી જીવ કર્મ કે અધીન હોને કે કારણ ડુ સ્ત્રી હોતે હૈં । ઇસ પ્રકાર યઘપિ પ્રત્યેક જીવ કી સત્તા પૃથક્-પૃથક્ હૈ, તથાપિ ડા મેં સ્વરૂપ કી સમાનતા હૈ ।

પ્રશ્ન—યદિ સમસ્ત જીવ સિદ્ધા કે સમાન હૈ તો અમવ્ય જીવ સિદ્ધિગતિ ન્યો પ્રાપ્ત નહીં કરતે ?

ઉત્તર—સુનિયે, અમવ્ય જીવો મેં અનાદિ અનન્ત ચિક્ષણે કર્મોં ક સમ્યન્ધ સે ઓર અપરિવર્તનશીલ સ્વભાવ કે કારણ કર્મોં કા ક્ષય કરને કી શક્તિ નહીં હૈ । મવ્ય જીવા કે વૈસે ચિક્ષણે કર્મોં કે ન હોને સે, ઓર પરાવર્ત સ્વભાવ સે, દેવ ગુરુ ઓર ધર્મરૂપ સામગ્રીકે મિલન પર જ્ઞાનાદિરત્નત્રય કી આરાધના કરને સે, તથા ગુણશ્રેણી પર આરોહણ કરને સે ડનકો સિદ્ધપદ પ્રાપ્ત કરના શક્ય હૈ ।

કર્મોંના ક્ષય કરી નાખે છે, તે સર્વે ત્રિદ્ધ કહેવાય છે તેનુ અસહી સ્વરૂપ પ્રગટ થઈ બાય છે સસારી જીવ કર્મને આધીન હોવાના કારણે ડુ ખી હોય છે એ પ્રમાણે એ દે પ્રત્યેક જીવની સત્તા પૃથક્-પૃથક્-બુદ્ધી બુદ્ધી છે, તે પશુ તેનામા સ્વરૂપની સમાનતા છે

પ્રશ્ન—એ સર્વ જીવ સિદ્ધોની સમાન છે તો અમવ્ય જીવ સિદ્ધિગતિને કેમ પ્રાપ્ત કરી શકતા નથી ?

ઉત્તર—સામળો, અમવ્ય જીવોમા અનાદિ-અનન્ત ચિક્ષણા કર્મોંના સબધ હોવાથી અને અપરિવર્તનશીલ સ્વભાવના કારણે કર્મોંના ક્ષય કરવાની શક્તિ નથી, અવ્ય જીવોને તેવા ચીકષણા કર્મ ન હોવાથી અને પરાવર્ત-સ્વભાવથી દેવ, ગુરુ અને ધર્મરૂપ સામગ્રીના મળવા પર, જ્ઞાનાદિ રત્નત્રયની આરાધના કરવાથી, તથા ગુણ શ્રેણી પર આરોહણ કરવાથી તેઓને સિદ્ધપદ પ્રાપ્ત કરવુ શક્ય છે

મૂલમ્—

સુય મે આઠસ તેણ મગવયા એનમક્સાય, ( સુ ૧ )

( છાયા )

શ્રુત મયા આયુષ્મન્ ! તેન મગવતા એમાર્યાતમ્ ( સુ ૧ )

ટીકા—

‘સુય મે’ इत्यादि । आयुष्मन् ! हे चिरजीविन् ! जम्बू ! ‘आयुष्म’ मितिपद शिष्यस्य जम्बूस्वामिन कोमलवचनान्मन्त्रण विनीतताख्यापनार्थम् । किञ्च—तस्याशेषश्रुतज्ञानोपदेश—श्रवण—ग्रहण—धारण—रत्नत्रयाराधन—मोक्षसाधन योग्यताप्राप्त्यर्थमेतद्वचनम् । विनाऽऽयुषा श्रुतश्रवणादिमोक्षपर्यन्तसिद्धिर्न कस्यचित्त भवतीति भावः । एतद्वचनमभावादेव जम्बूस्वामी मोक्षपद तस्मिन्नेव जन्मनि प्राप ।

મૂલાર્થ—‘સુય મે’ इत्यादि, हे आयुष्मन् ! मैने सुना है । उन मगवान्ने ऐसा कहा है ( सू० १ )

ટીકાર્થ—हे आयुष्मन् ! अर्थात् हे चिरजीवी जम्बू !, ‘आयुष्मन्’ पद अपने शिष्य जम्बू स्वामीका कोमल वचनरूप सम्बोधन है, और विनीतता प्रकट करने के लिए है । अथवा—उनके समस्त श्रुतज्ञान, उपदेश का श्रवण, ग्रहण धारण, रत्नत्रयका आराधन, तथा मोक्षसाधन की योग्यता की प्राप्ति के लिए इस पद का प्रयोग किया गया है । आयुके अभाव में श्रुतश्रवण से लेकर मोक्ष तक किसीकी भी सिद्धि नहीं हो सकती । इसी वचन के प्रभाव से जम्बू स्वामीने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया था ।

‘સુય મે’ इत्यादि

મૂલાર્થ—हे आयुष्मन् ! मे सांख्य्यं छे, ते मगवाने आयुं कष्टं छे (सू-१)

ટીકાર્થ—हे आयुष्मन् अर्थात् हे चिरजीवी जम्बू !, ‘आयुष्मन्’ पद श्रोताना शिष्य जम्बू स्वामीनु कोमल-वचनरूप सम्बोधन छे, अने विनीतपक्ष प्रकट करवा भाटे छे अथवा तेमना समस्त श्रुतज्ञान, उपदेशनु श्रवण, ग्रहण, धारण, रत्नत्रयनु आराधन तथा मोक्षसाधननी योग्यतानी प्राप्ति भाटे आ पढने प्रयोग करवाभां आय्यो छे, आयुना अभावभां श्रुतना श्रवणधी अर्धने मोक्ष सुधी कछि पक्ष सिद्धि अर्ध शकती नथी आ वचनना प्रभावधी जम्बू स्वामीके अे अवभां मोक्ष प्राप्त कथी कते

શ્રુત=શ્રવણધિપયીકૃત, મયા=સાક્ષાદ્ મગવચ્છન્દ્યાત્, ન તુ પરમ્પરયા, યતો ગણધરાણામનન્તરાગમો ભવતિ । ‘મયા શ્રુત’-મિત્યનેન ગુરુકુલે નિવસતા મયેત્યર્થ સુતરા લખ્યતે । ગુરુકુલનિવાસ વિના હિ ગુરુચરણસરોજસ્પર્શપૂર્વકામિવાદન, તન્મુક્તારવિન્દિતિનિ મૃતવચનશ્રવણ ચ નોપપચતે ।

મગવયા -મગઃ=(૧) - જ્ઞાન=સર્વાર્થવિપયકમ્, (૨) - માહાત્મ્યમ્=અનુ પમમહનીયમહિમસપન્નત્વમ્, (૩)-યજ્ઞ=વિવિધાનુકૂલપ્રતિકૂલપરીપહોપસર્ગસહન સમુદ્ભૂતા કીર્તિ, યદ્વા-જગદ્રક્ષણમજ્ઞાસમુત્પા કીર્તિ, (૪)-વૈરાગ્યમ્=સર્વયા કામ-

મૈને મગવાન્ કે મુખસે સાક્ષાત્ સુના હૈ—પરમ્પરા સે નહી, ક્યો કિ ગણધરો કા આગમ અનન્તરાગમ હોતા હૈ । ‘મૈને સુના’ હસ વાક્ય કા ‘મૈને ગુરુકુલ મેં નિવાસ કરતે હુપ્ સુના’ યહ અર્થ સ્વત સિદ્ધ હૈ । ગુરુકુલ મેં નિવાસ ક્રિયે વિના ગુરુ કે ચરણ-કમલેંકા સ્પર્શ કરકે અમિવાદન તથા ડનકે મુક્તારવિન્દિ સે નિકળ્લે વાલે વચ્નો કા શ્રવણ નહીં હો સકતા ।

‘મગવાન્’ શબ્દ મેં જો ‘મગ’ શબ્દ હૈ ડસકે અનેક અર્થ હોતે હૈ । વે હસ પ્રકાર હૈ—(૧) સમ્પૂર્ણ પદ્ધતી કો જ્ઞાનન વાળા જ્ઞાન (૨) મહાત્મ્ય અર્થાત્ અનુપમ ઓર મહાન્ મહિમા, (૩) યજ્ઞ અર્થાત્ નાના પ્રકાર કે અનુકૂલ ઓર પ્રતિકૂલ પરીપહો ઓર ઉપસર્ગો કો સહન કરને સે પૈલી હુઈ કીર્તિ, અથવા જગત્ કી રક્ષા (ઉદ્ધાર) કરને કી માવના સે ઉત્પન્ન હુઈ કીર્તિ, (૪) વૈરાગ્ય અર્થાત્ કામમોગ કી

મે ભગવાનના મુખથી સાક્ષાત્ સાલબ્ધ છે—પરમ્પરાથી નહિ, કેમકે ગણધરોનાં આગમ અનન્તરાગમ-હોય છે ‘મે સાલબ્ધ’ મે શુદ્ધેશ્વરમા નિવાસ કરતા થકા સાલબ્ધ’ આ અથ સ્વત સિદ્ધ છે શુદ્ધેશ્વરમા નિવાસ થયા વિના ગુરુના ચરણકમલોના સ્પર્શ કરીને અમિવાદન નમસ્કાર તથા તેના મુખાર વિહથી નિકલવાવાળા વચ્નો શ્રવણ થઈ શકતા નથી.

‘ભગવાન્’ શબ્દમા જે ‘મગ’ શબ્દ છે, તેના અનેક અથ થાય છે તે આ પ્રમાણે—

(૧) સમ્પૂર્ણ પદ્ધતીને જાણવાવાળું જ્ઞાન, (૨) માહાત્મ્ય અર્થાત્ અનુપમ અને મહાન્ મહિમાથી શુદ્ધ હોવું, (૩) યજ્ઞ-અર્થાત્ નાના પ્રકારના અનુકૂલ અને પ્રતિકૂલ પરીપહો અને ઉપસર્ગોને સહન કરવાથી ફેલાવી કીર્તિ, અથવા જગતની રક્ષા (ઉદ્ધાર) કરવાની ભાવનાથી ઉત્પન્ન થયેલી કીર્તિ, (૪) વૈરાગ્ય—

મોગામિલાપરાહિત્યમ્, યદ્વા-ક્રોધાદિકપાયનિગ્રહલક્ષણમ્, (૫)-શુક્તિઃ=મક્ત-  
કર્મસયલક્ષણો મોક્ષ, (૬)-રૂપમ્=સકલહૃદયહારિસૌન્દર્યમ્, (૭)-વીર્યમ્=અન્ત-  
રાયાન્તજન્યમનન્તસામર્થ્યમ્, (૮)-શ્રી=ધાતિકર્મપટકવિષયનજનિતજ્ઞાનદર્શન  
સુખવીર્યરૂપાનન્તચતુષ્ટયલક્ષ્મી. (૯)-ધર્મ-અપવર્ગદ્વારકપાટોદ્ધાટનસાધન-  
શ્રુતચારિત્રલક્ષણ (૧૦)-ऐश्वर्यम्=લોકત્રયાધિપત્યમ્, चास्यास्तीति મગવાન્,  
તેન મગવતા=જ્ઞાનાદિયુક્તેન, તેન તીર્થંકુરેણ, वक्ष्यमाणार्थस्य તીર્થંકરમાપિતવાચ  
छन्देनात्र તીર્થંકરપરામર્શ. । ઉક્તઃ—

તત્તિક મી અમિલાપા ન હોના, અથવા ક્રોધ આદિ કપાયોકા નિગ્રહ કરના, (૫) શુક્તિ  
સમસ્ત કર્મોકા ક્ષય રૂપ મોક્ષ, (૬) રૂપ-સર્વ કા હૃદય હરછેનેવાલા અનુપમ સૌન્દર્ય  
(૭) વીર્ય-અન્તરાય કર્મકે ક્ષય સે ઉપન અનન્તશક્તિ, (૮) શ્રી-ધાતિ કર્મો કે ક્ષય સે  
ઉત્પન્ન અનન્તજ્ઞાન, દર્શન, સુખ ઔર વીર્યરૂપ અનન્તચતુષ્ટય છલ્મી (૯) ધર્મ-મોક્ષરૂપી  
દ્વાર કે કિવાડ ઉઘાડને કા સાધન શ્રુતચારિત્રરૂપ ધર્મ, (૧૦) ऐश्वर्य-ત્રીન લોક કા  
આધિપત્ય. । યે વ્રહ્મ ગુણ જિસ મેં વિષમાન હો ઉસે 'મગવાન્' કહતે હૈં. ऐसे  
મગવાન્ને કહ્વા હૈ. આગે કહ્વા જાને વાલા તત્ત્વ તીર્થંકરમાપિત હૈ, અત ઇવ 'તત્ત્વ'  
શબ્દ સે ચહૈં મગવાન્ તીર્થંકર સમજના ચાહિય. । કહામી હૈ—

અર્થાત્ કામલોગની જરા પણ અમિલાપા નથવી, અથવા ક્રોધ કપાયોના નિગ્રહ  
કરવો, (૫) શુક્તિ-સમસ્ત કર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ (૬) રૂપ-સર્વના હૃદયને હરી  
હેવાવાળું અનુપમ સૌન્દર્ય, (૭) વીર્ય-અન્તરાય કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન અનન્ત  
શક્તિ (૮) શ્રી-ધાતિ કર્મોના ક્ષયથી ઉત્પન્ન અનન્ત જ્ઞાન, દર્શન, સુખ અને  
વીર્યરૂપ અનન્તચતુષ્ટયલક્ષ્મી (૯) ધર્મ-મોક્ષરૂપી દ્વારના કમાડ ઉઘાડવાનું  
સાધન શ્રુત-ચારિત્રરૂપ ધર્મ (૧૦) ऐश्वर्य-ત્રણ લોકનું આધિપતિપણ આ કસ  
ગુણ જેમાં હોય તેને મગવાન કહે છે એવા મગવાને કહ્યું છે

આગળ કહેવાશે તે તત્ત્વ તીર્થંકરમાપિત છે, એટલા માટે 'તત્ત્વ' શબ્દથી  
તીર્થંકર મગવાનનો અર્થ અહિં સમજવો એધળો કહ્યું પણ છે—

“અસ્થ માસદ્ અરિહા, સુત્ત ગયતિ ગણધરા ણિડગા” ઇત્યાદિ ।

અર્થ માપતેઝ્ઞન્ સૂત્ર ગ્રન્થન્તિ ગણધરા નિપુણા, ઇતિ ઞ્ઞાયા ।

મગવત્તીર્થદ્ધરોપદિપ્તમર્થરૂપમાગમસુપાદાય મેધાવિનો ગણધરા મૂલરૂપમાગમં નિવધન્તીત્યર્થ ।

एव=वक्ष्यमाणरीत्या आख्यात=कथितं द्वादशत्रिघपरिपत्सु ।

મગવત્તીર્થદ્ધરકથિતાર્થજાતમેવ વાન્નુસૂત્ય વક્ષ્યમાણ વાક્યમનુવદિષ્યામીતિ વાક્યાર્થ । આગમોક્તાર્થસ્ય કાલ્પનિકસ્વામાવાદ્ દ્રવ્યાર્થિકનયેનાર્થરૂપોઽયમાગ-મોઽનાદિરિતિ ભાવઃ ।

एषा परपरा=परिपाटी घरीवर्ति सर्वेषां गणधराणां, यद् विनीतै स्वस्थान्ते-वासिभिर्मोक्षमार्गं सविनयं पृष्टा गणधरा “सुयं मे” इतिवाक्यं प्रथमं वदन्ति ।  
उक्तञ्च—

“અર્હન્ત મગવન્ત અર્થકા નિરૂપણ કરતે હૈ । ઓર ગણધર ઉસે મહો-મૌતિ સૂત્ર રૂપ મેં ગૂથતે હૈ । અર્થાત્ મગવાન્ તીર્થકર કે દ્વારા ઉપદિપ્ત અર્થરૂપ આગમ કે આધાર પર કુશલ ગણધર મૂલરૂપ આગમની રચના કરતે હૈ ।”

उन मगवाने बारह प्रकारकी परिपद में इस प्रकार कहा है जो आगे इस सूत्र में निरूपण किया जायगा । आगमोक्त अर्थ काल्पनिक नहीं होता, अत द्रव्यार्थिकनय से अर्थरूप यह आगम अनादि है ।

સમી ગણધરો કી યહ પરમ્પરા-પરિપાટી હૈ કિ-અપને ૨ વિનીત શિષ્યા દ્વારા વિનયપૂર્વક મોક્ષમાર્ગ પૂછે આને પર ગણધર મહારાજ પહેલે-પહેલ ‘સુયં મે’ યહ વાક્ય બોલ્લે હૈ । કહા મી હૈ—

“અહન્ત ભગવત અથનુ નિરૂપણ કરે છે, અને ગણધર તેને સૂત્રી રીતે સૂત્ર રૂપમાં શુદ્ધે છે, અર્થાત્ ભગવાન તીર્થ કર દ્વારા ઉપદિપ્ત-ઉપદેશેલા અર્થરૂપ આગમના આધાર પર કુશળ ગણધર મૂલરૂપ આગમની રચના કરે છે”

તે ભગવાને બાર પ્રકારની પરિવદ્-સલામા આ પ્રમાણે કહ્યું છે જે, આગમ આ સૂત્રમાં નિરૂપણ કરવામાં આવશે. આગમોક્ત-આગમમાં કહેલો અર્થ કાલ્પનિક નથી, તેથી દ્રવ્યાર્થિક નયથી અર્થરૂપ આ આગમ અનાદિ છે.

સર્વ ગણધરોની જો પરપરા-પરિપાટી છે કે:-પોત-પોતાના વિનીત શિષ્યો દ્વારા વિનયપૂર્વક મોક્ષમાર્ગ પૂછવાથી ગણધર મહારાજ પ્રથમ ‘સુયં મે’ આ વાક્ય બોલે છે કહ્યું પણ છે —



(द्रुतघिलग्नित छन्दः)

“ निपुणशिष्यगणैर्विनयान्वितैः—

विमलभावयुतैः परिसेवितैः ।

गणधररखिलैः प्रथमं यच्च ,

खलु ‘मुय म’ इति प्रतिमापितम् ” ॥१॥ इति ।

भगवता यदागम्यात् तदाह—‘इहमेगेसि’ इत्यादि ।

मूलम्

इहमेगेसि णो सण्णा भवइ, तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, दाहिणाओ वा दिशाओ आगओ अहमसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, उट्ठाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमसि । अण्णयरीओ वा दिसाओ अनुदिसाओ वा आगओ अहमसि ॥ सु २ ॥

“विनय से युक्त निपुण शिष्यों द्वारा सेवित, तथा निर्मल भावों वाले सब गणधरों द्वारा अपने-२ शिष्यों के प्रति सर्व प्रथम मुय मे’ यह वाक्य कहा गया है ॥ १ ॥

भगवाननुने जो कहा वह कहते हैं—‘इहमेगेसि’ इत्यादि ।

मूलार्थ—किन्हीं २ (बीबा) को सजा नहीं होती कि—मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, या मैं दक्षिण दिशा से आया हूँ, या मैं पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा मैं उत्तर दिशा से आया हूँ । अथवा मैं उर्ध्व दिशा से आया हूँ, या अधोदिशासे मैं आया हूँ, अथवा मैं दूसरी किसी दिशा या अनुदिशा (विदिशा) से आया हूँ । ॥ २ ॥

“ विनयशी युक्त निपुण शिष्योंसे सेवित तथा निर्मल भावोवाणा सर्व अणुधरैः द्वारा येतयेनाना शिष्यो प्रति सर्व प्रथम ‘मुय मे’ को वाक्य कहेवामां आम्हो छे ” ॥ १ ॥

मूलार्थ—‘इहमेगेसि’ इत्यादि को-को-को (एवो)ने सजा नहीं होती के हु पूर्व दिशाभांशी आओ छे, अथवा हु दक्षिण दिशाभांशी आओ छे, अथवा हु पश्चिम दिशाभांशी आओ छे, अथवा हु उत्तर दिशाभांशी आओ छे, अथवा हु उर्ध्व दिशाभांशी आओ छे, अथवा हु अधो दिशाभांशी आओ छे, अथवा हु अन्य-भील को-को दिशाभांशी अथवा अनुदशा (विदिशा)भांशी आओ छे ॥ २ ॥

છાયા—

इह एकेषां नो सज्ञा भवति, तद्यथा—पूर्वस्या वा दिशाया आगतो-  
ऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया  
आगतोऽहमस्मि । उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि । उर्ध्वाया वा दिशाया  
आगतोऽहमस्मि, अग्रेदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया  
अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि ।

‘इहमेगेसि’ इति इह—चतुर्गतिसमरणरूपे ससारे एकेषा ज्ञानावरणीयकर्मो-  
दयवता सद्भिना जीवाना मंज्ञा—સ્મૃતિરૂપો મતિથિશેષ નો મરતિ—ન જાયતે ।

અન્ય પ્રતિપેધવાચક શબ્દ વિહાય ‘નો’ શબ્દોપાદાન વિશિષ્ટસજ્ઞા-  
પ્રતિપેધયોધનાર્થમ્ । ‘નો’ શબ્દ સર્વનિપેધવાચી, દેશનિપેધવાચી ચ । ઉક્તઞ્ચ—

“પ્રતિપેધયતિ સમસ્ત, પ્રસક્તમર્થ જગતિ નો—શબ્દ” ।

મ પુનસ્તદવયવો વા, તસ્માદયાન્તર વા સ્યાત્ ॥ ૧ ॥”

‘નો’ શબ્દ—પ્રસંગાદાગતમર્થ સર્વળ પ્રતિપેધયતિ, સ ચાર્થ પ્રસક્તાવયવો  
વા સ્યાત્ તસ્માદન્યો વાઽર્થ ન્યાત્ તમપિ પ્રતિપેધયતીત્યર્થ ।

ટીકાર્થ—ચાર ગતિ મ ભ્રમણ કરનેરૂપ સસાર મેં જ્ઞાનાવરણ કર્મ કે ઉદય  
વાળે ફિતલેક સત્તી જીવાં કો સજ્ઞા અર્થાત્ સ્મૃતિ નહીં હોતી ।

નિપેધવાચક દૂસરે શબ્દ કો ઝોડ કર યહાં ‘નો’ શબ્દ કા પ્રયોગ ક્રિયા  
ગયા હૈ સો વિશિષ્ટ સજ્ઞા કા અભાવ સૂચિત કરન કે લિંગ સમજનાં ચાહિં । ‘નો’  
શબ્દ સર્વનિપેધવાચક મી હૈ ઔર દેશનિપેધવાચક મી હૈ । કહા મી હૈ—

“નો” શબ્દ પ્રસજ્ઞા મેં બાયે હુણ સમ્પૂર્ણ અર્થ કા નિપેધ કરતા હૈ । યહ અર્થ  
ચાહે ઉન કા એક અવયવ હો યા ઉસ સ મિજ અર્થાન્તર હો—ઉસ કા મી  
નિપેધ કરતા હૈ” ॥૧॥

ટીકાર્થ—ચાર ગતિમા ભ્રમણ કરવા રૂપ સસારમા જ્ઞાનાવરણ કર્મના ઉદય  
વાળા કેટલાક સત્તી જીવોને સજ્ઞા અર્થાત્ સ્મૃતિ નથી રહેતી. નિપેધક—વાચક  
અન્ય શબ્દો ત્યજીને અહિં ‘નો’ શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે તે વિશિષ્ટ સજ્ઞાનો  
અભાવ સૂચવવા માટે સમજવો જોઈએ ‘નો’ શબ્દ સર્વનિપેધવાચક પણ છે અને  
દેશનિપેધવાચક પણ છે કહ્યું પણ છે—

“ ‘નો’ શબ્દ પ્રસંગમા આવેલા સર્વર્થ અર્થનો નિપેધ કરે છે, તે અર્થ  
ગમે તે તેનું એક અવયવ હોય અથવા તેનાથી વિન્ન અર્થાન્તર હોય તેનો પણ  
નિપેધ કરી દે છે” ॥ ૧ ॥

યયા સજ્ઞયાઽઽત્મનો ગત્યાગત્યાદિક જીયો જાનાતિ તસ્યા ઈવ પ્રતિષેષો વિવસિત\* ।

અથ સજ્ઞામેદા —

સજ્ઞા ચ જીવાનાં ઘટુવિધા । તન્ન-દશવિધા મગવતીમૂત્રે ( ઇતર-૭, ઉદેશ ૮ ) પ્રોક્તા—

“ કદ્દ ણ મતે ! સજ્ઞાઓ પક્ષપાત્રો ? ગોચમા ! દસ સજ્ઞાઓ પક્ષપાત્રા, તજહા—(૧) આહારસજ્ઞા, (૨) મયસજ્ઞા, (૩) મૈદુનસજ્ઞા, (૪) પરિગ્રહસજ્ઞા, (૫) ક્રોધસજ્ઞા, (૬) માનસજ્જા, (૭) માયાસજ્ઞા, (૮) લોભસજ્ઞા, (૯) લોભસજ્ઞા, (૧૦) ઓદ્ધસજ્ઞા ” ઇતિ ।

જિસ સજ્ઞા કે દ્વારા આત્મા કી ગતિ ઓર આગતિ બીવ જાનતા હૈ, યહાં ઉસીકા નિષેધ સમજના ધારિણ ।

સજ્ઞા કે મેદ—

બીવો કી સજ્ઞા અનેક પ્રકાર કી હોતી હૈ । મગવતીસૂત્ર ( શ૦ ૬, ડ૦ ૮, મૈં દશ પ્રકાર કી સજ્ઞા કહી ગઈ હૈ, ઘટ્તુ ઇસ પ્રકાર હૈ;—

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! સજ્ઞાઈં કિતની કહી ગઈ હૈં ।

ઉત્તર—ગૌતમ ! દશ સજ્ઞાઈં કહી ગઈ હૈં । વે ઇસ પ્રકાર હૈં—  
(૧) આહાર—સજ્ઞા, (૨) મય—સજ્ઞા, (૩) મૈદુન—સજ્ઞા, (૪) પરિગ્રહ—સજ્ઞા, (૫) ક્રોધ—સજ્ઞા  
(૬) માન—સજ્ઞા, (૭) માયા—સજ્ઞા, (૮) લોભ—સજ્ઞા, (૯) લોભ—સજ્ઞા ઓર (૧૦)  
ઓદ્ધ—સજ્ઞા ।

જે સજ્ઞા દ્વારા આત્માની ગતિ અને આગતિ ઈવ બાંધે છે અહિં એના નિષેધ સમજવો બોધ્યો

સજ્ઞાના ભેદ—

જીવોની સજ્ઞા અનેક પ્રકારની હોય છે મગવતી સૂત્ર ( શ. ૬ ઓ ૮ )માં ઇસ પ્રકારની સજ્ઞાઓ કહેવામા આવી છે તે આ પ્રમાણે છે:—

પ્રશ્ન—મગવાન ! સજ્ઞાઓ કેટલી કહી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દસ સજ્ઞાઓ કહી છે તે આ પ્રમાણે છે:—

(૧) આહાર—સજ્ઞા (૨) ભય—સજ્ઞા (૩) મૈદુન—સજ્ઞા, (૪) પરિગ્રહ—સજ્ઞા  
(૫) ક્રોધ—સજ્ઞા (૬) માન—સજ્ઞા (૭) માયા—સજ્ઞા (૮) લોભ—સજ્ઞા (૯) લોભ—સજ્ઞા  
સજ્ઞા અને (૧૦) ઓદ્ધ—સજ્ઞા

અથવા—સજ્ઞાનં સજ્ઞા-ચેતના, સા પાશાતવેદનીયમોહનીયકર્મોદયજન્ય-  
વિકારયુક્તા આહારાદિસજ્ઞાદિત્વેન વ્યપદિશ્યતે । સા દ્વિધા-અનુભવનસજ્ઞા, જ્ઞાનસજ્ઞા  
ચ । તત્રાનુભવનસજ્ઞા પોદશવિધા । તત્ર મગવતીસૂત્રોક્તદશવિધસજ્ઞા ઉપાદાયાધિક્કા  
પદ્ સજ્ઞા સમિલિતા પોદશ મવન્તિ । તત્ર (૧) સુખસજ્ઞા, (૨) દુઃખસજ્ઞા,  
(૩) મોહસંજ્ઞા, (૪) વિચિકિત્સાસજ્ઞા, (૫) શોકસજ્ઞા, (૬) ધર્મસજ્ઞા ચેતિ પદ્  
અધિકા વિદ્યેયાઃ ।

### (૧) આહારસજ્ઞા—

(૧) ક્ષુદ્રેદનીયોદયાત્ કવલાધાહારાથ તથાવિષપૂદ્ગલોપાદાનક્રિયા  
સમ્યગ્ જ્ઞાયતેત્યેત્યાહારસજ્ઞા । યદ્વા—ક્ષુદ્રેદનીયોદયસમુદ્રવ આહારામિ-

અથવા—સજ્ઞાનં—સજ્ઞા-ચેતના, અર્થાત્ સજ્ઞા ચેતના કો કહતે હૈ । યહ બવ  
અજ્ઞાતાવેદનીય ઓર મોહનીય કર્મ કે ઉત્તય સે જનિત વિકારો સે યુક્ત હોતી હૈ તય વહ આહાર  
આદિ સજ્ઞા કહલાને છાતી હૈ । વહ દો પ્રકાર કી હૈ—(૧) અનુભવનસજ્ઞા ઓર (૨) જ્ઞાનસજ્ઞા ।  
इन मं से अनुभवनसज्ञा सोलह प्रकार की है । मगवतीसूत्रोक्त दश सज्ञाओं में  
छह सज्ञाएँ मिला देने से सोलह हो जाती हैं । उह सज्ञाएँ ये हैं—(१) सुखसज्ञा,  
(२) दुःखसज्ञा, (३) मोहसज्ञा, (४) विचिकित्सासज्ञा, (५) शोकसज्ञा, और (६) धर्मसज्ञा ।

### (૧) આહારસજ્ઞા

ક્ષુધાવેદનીય કે ઉદય સે કવલાહાર આદિ કે લિપ્ત યોગ્ય પુદ્ગલો કો પ્રહણ  
કરને કી ક્રિયા જિસ દ્વારા સમ્યક્ પ્રકાર સે જાની જાય વહ આહારસજ્ઞા કહલાતી હૈ ।

અથવા—સ જ્ઞાન એટલે સજ્ઞા, તે ચેતના, અર્થાત્ ચેતનાને સજ્ઞા કહે છે તે બ્યાદિ  
અજ્ઞાતાવેદનીય અને મોહનીય ક્રમના ઉદયથી ઉત્પન્ન વિકારો યુક્ત હોય છે,  
ત્યારે તે આહાર આદિ સજ્ઞા કહેવાય છે તે બે પ્રકારની છે—(૧) અનુભવનસજ્ઞા  
અને (૨) જ્ઞાનસજ્ઞા તેમા અનુભવનસજ્ઞા સોળ પ્રકારની છે, મગવતીસૂત્રોક્ત દસ  
સજ્ઞાઓમા છ મેળવી દેવાથી સોળ થાય છે, છ સજ્ઞાઓ આ છે—(૧) સુખસજ્ઞા,  
(૨) દુઃખસજ્ઞા, (૩) મોહસજ્ઞા, (૪) વિચિકિત્સાસજ્ઞા, (૫) શોકસજ્ઞા અને  
(૬) ધર્મસજ્ઞા

### (૧) આહારસજ્ઞા—

ક્ષુધા (ભૂખ) વેદનીયના ઉદયથી કવલાહાર આદિ માટે યોગ્ય પુદ્ગલોને પ્રહણ  
કરવાની ક્રિયા જેના વડે સમ્યક્ પ્રકારથી બાણી શકાય, તે આહારસજ્ઞા કહેવાય છે

સ્થાપરૂપ આત્મન પરિણામવિશેષ । અભિલાષશ્રાવ્ય-‘મદર્થમીદૃશ વસ્તુ પુષ્ટિકર્ત્ત, યદીદં લભ્યતે તદા મમ હિત મપિપ્યતી’-ત્યેવં વિચારાનુયદ્ધ સ્વપુષ્ટિતુષ્ટિકારી ભૂતપ્રતિનિયતવસ્તુપ્રાપ્ત્યર્થમાત્મન પરિણામ । રિક્તોદરત્વાદ્ મોજનીયવસ્તુ શ્રવણ-દર્શન-સચિન્તનૈશ્વાહારસજ્ઞા જાયતે । આહારાદય સજ્ઞાઃ એકેન્દ્રિયાદિ પચ્ચેન્દ્રિયપર્યન્તાના સર્વજીવાનામાસસાર મયન્તિ । જલાદ્યાહારોપજીવના વનસ્પત્યાદીનામાહારસજ્ઞા વિગ્રાયતે ।

અથવા ક્ષુધાવેદનીય કર્મ કે ઉદય સે ઉત્પન્ન હોન વાળી આહાર કી અભિલાષરૂપ આત્મા કી પરિણતિ આહારમજ્ઞા કહલાતી હૈ । યહાં અભિલાષા શબ્દ સે ‘ઇસ પ્રકાર કી વસ્તુ મરે લિખ પુષ્ટિકર હૈ, યહ વસ્તુ મિલે તો મેરા હિત હોગા’ યેસે વિચાર સે યુક્ત અપની પુષ્ટિ ઔર સન્તોષ કે કારણમૂલ પદાર્થ કી પ્રાપ્તિ કે ક્રિય હોને વાલ અમા કા પરિણામ પ્રહણ કરના ચાહિય । સ્લાહી પેટ હોને પર મોગ્ય વસ્તુ કે યજ્ઞ વર્ગન ઔર ચિન્તન સે આહારમજ્ઞા ઉત્પન્ન હોતી હૈ । આહાર આદિ સજ્ઞાએ એકેન્દ્રિય સે લેકર પચ્ચેન્દ્રિયપર્યન્ત સમી જોવા કો હોસી હૈ, જબ તક મમાર કા અત નહીં હોતા તબ તક બની રહતી હૈ । અલ આદિ આહાર પર બીધિત રહને કે કારણ બન સ્પતિ આદિ એકેન્દ્રિય બીજો મેં મી આહારમજ્ઞા કા અસ્તિત્વ પ્રતીત હોતા હૈ ।

અથવા ક્ષુધાવેદનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થવા વાળી આહારની અભિલાષ-રૂપિ-ધમ્મિ રૂપ આત્માની પરિણતિ તે આહારસજ્ઞા કહેવાય છે, અહિં અભિલાષ શબ્દથી ‘આ પ્રકારની વસ્તુ મારા માટે પુષ્ટિ કરનારી છે, આ વસ્તુ મળે તો મારું હિત થશે’ એવા વિચારથી યુક્ત ચોતાની પુષ્ટિ અને સતોષના કારણમૂલ પદાર્થની પ્રાપ્તિ માટે વિચાર કરનાર આત્માનું પરિણામ, અહણ કરવું નેધંએ, ખાલી પેટ હોવાના કારણે ભોજ્ય (ભોજન કરવા યોગ્ય) વસ્તુના અવધુ, ઇચ્છા અને ચિન્તનથી આહારસજ્ઞા ઉત્પન્ન થાય છે આહાર આદિ સજ્ઞાઓ એકેન્દ્રિયથી આરંભીને પચ્ચેન્દ્રિય સુધીના સર્વ જીવોને હોય છે, અને જ્યાં સુધી સંસારનો અંત થતો નથી ત્યાં સુધી તે સજ્ઞાઓ રહે છે જ્યાં વગેરેના આહાર પર જીવિત રહેવાના કારણે વનસ્પતિ આદિ એકેન્દ્રિય જીવોમાં પણ આહારસજ્ઞાનું અસ્તિત્વ જોવાય છે

## (૨) મયસજ્ઞા—

(૨) સનિમિત્તમનિમિત્ત વા મયમોહનીયોદયાદ મયોદ્ભ્રાન્તસ્ય મોહનીયાન્તર્ગતનોકપાયરૂપા નયનવદનચિહ્નતરોમાશ્ચાવિર્માવાદિક્રિયાલક્ષણા સ્વાત્મન પરિણતિર્મયસજ્ઞા । હીનવલ્ત્વેન, મયવાર્તાશ્રવણમીપણદર્શનાદિ-જનિતગુહ્યા, રૂઢલોકાદિમયજનકાર્યપર્યાલોચત્તેન વા મયસજ્ઞા જાયતે । હસ્તસ્પર્શાદિમીત્યા સ્વાવયવસકોચનાદિના લજ્જાલુલ્લ્યાદીના મયસજ્ઞા વિજ્ઞાયતે ।

## (૩) મૈથુનસજ્ઞા—

(૩) પુરુષવેદોદયાનૈથુનાર્થ વનિતાલોકનપ્રસન્નવદનસસ્તમ્મિતગાત્ર-

## (૨) મયસજ્ઞા—

કિસી કારણ સે યા વિના હી કારણ મયમોહનીય કર્મ કે ઉદય સે મયમીત્ત પુરુષકી મોહકે અન્તર્ગત નોકપાયરૂપ, નેત્રો મેં ઔર મુખ મેં વિકાર હોના, રોમાન્ન હોના આદિ ક્રિયાપ્રતિસક્તા લક્ષણ હૈ, પેરી આત્મા કી પરિણતિ મયસજ્ઞા કહલાતી હૈ, દુર્બલતા સે, મય ઉપજ કરને વાલી વાત મુનને સે, મયદ્ધર વસ્તુ કે દેસ્કને સે, તથા રૂઢલોક આદિ મેં મયજનક વસ્તુકા વિચાર કરને સે મયસજ્ઞા ઉત્પન્ન હોતી હૈ । લજ્જવન્તી આદિ વનસ્પતિયો હાથ કે સ્પર્શ કે મય સે અપને અવયવો કો સિકોડ લેતી હૈ, અતઃ ઉન મેં મયસજ્ઞા કી વિશ્વમાનતા પ્રતીતિ હોતી હૈ ।

## (૩) મૈથુનસજ્ઞા—

પુરુષવેદ-મોહનીય કર્મ કે ઉદય સે મૈથુન કે લિપ્ત સ્ત્રી કો દેસ્ના, પ્રસન્નવદન

## (૧) ભય સજ્ઞા—

કોઈ કારણથી અથવા વિના કારણે ભય થવો, મોહનીય કર્મના ઉદયથી ભયભીત પુરુષની મોહને અતર્ગત નોકપાયરૂપ, નેત્રોમા અને અંદરોમા વિકાર થવો, રોમાંચ થવું (૩ વાક્ય ઉભા થવો) વગેરે ક્રિયાઓ જેવું લક્ષણ છે, એવી આત્માની પરિણતિ તે ભયસજ્ઞા કહેવાય છે. દુર્બલતાથી, ભય ઉત્પન્ન કરાવનારી વાત સાંભળવાથી, ભય કર વસ્તુ દેખવાથી, તથા આ લોક વગેરેમાં ભયજનક વસ્તુનો વિચાર કરવાથી ભયસજ્ઞા ઉત્પન્ન થાય છે. લજ્જાવતી (લજ્જાળુ) આદિ વનસ્પતિઓ હાથનો અથ અથવાથી ભય લાગ્યો હોય તેમ પોતાના અવયવોને અંકેષે છે તેથી તેમા ભયસજ્ઞાની વિશ્વમાનતા દેખાય છે.

## (૩) મૈથુન સજ્ઞા—

પુરુષવેદ—મોહનીકરમના ઉદયથી મૈથુન માટે સ્ત્રી તરફ જોવું હસવું મુખ

શૈથિલ્યોરુક્મ્પનાદિક્રિયારૂપા આત્મન' પરિણતિર્મૈથુનમજ્ઞા । રુધિરમાસોપવચેન,  
સ્ત્રીકયાથવળાદિજનિતમત્પ્યા, મૈથુનચિન્તનેન ચ મૈથુનસજ્ઞા જાયતે । કુલ્મ  
કાદિવનસ્પતીનાં કમનીયકામિનોશુબલતાવગૂહન-ચરણાઘાત-કટાક્ષવિક્ષેપાદિમ્યઃ  
પ્રસૂનપલ્લવાદિપ્રસવવર્ધનાન્મૈથુનસજ્ઞા વિજ્ઞાયતે ।

(૪) પરિગ્રહસજ્ઞા—

( ૪ ) લોમમોહનીયોદયાદ્ ધર્મસાધનવ્યતિરિક્ત-સચિત્તાઽચિત્તમિશ્ર-  
વસ્તુપાદાનાદિમૂર્છારૂપા આત્મન પરિણતિ' પરિગ્રહસજ્ઞા । સચિત્તાદિવસ્તુ

હોના, શરીર કા સ્તન્મિત હો જાના, તથા ડસ મેં શિથિલતા પૈદા હોના તરુ (ધુટનેકે  
નીચેકા ભાગ) આદિ કા કોપના આદિ ક્રિયારૂપ આત્મા કી પરિણતિ કો મૈથુનસજ્ઞા  
કહતે હૈં । રક્ત ઔર માંસ કી અધિકતા સે, સ્ત્રીકયા આદિ કે યવળ સે ઉત્પન્ન  
હુઈં બુદ્ધિ સે, ઔર મયૈન કા વિચાર કરને સે મૈથુનસજ્ઞા ઉત્પન્ન હોતી હૈં । કુલ્મક  
આદિ વનસ્પતિયો મેં સુન્દરી કામિની કી મુઝાઓ કે આલિંગન સે, ચરણાઘાત સે,  
તથા કટાક્ષપાત આદિ સે પૂછ, પત્તા આદિ ઉત્પન્ન હોતે હૈં, અન્ત વનસ્પતિ મેં  
મૈથુનસજ્ઞા કા અસ્તિત્વ સિદ્ધ હોતા હૈં ।

(૪) પરિગ્રહસજ્ઞા—

લોમમોહનીય કે ઉદય સે ધર્મ કે ઉપકરણો કે અતિરિક્ત દુસરે સચિત્ત અચિત્ત  
ઔર મિશ્ર પદાર્થો કે પ્રહ્ણ આદિ મૂર્છારૂપ આત્મા કી પરિણતિ પરિગ્રહસજ્ઞા કહલતી હૈં ।

યજુ, શરીરનુ સ્તબિત ધર્મ જુજુ, તથા તેમાં શિથિલતા ઉત્પન્ન થવી, બાગ  
વગેરેનુ ઠપવું આદિ ક્રિયારૂપ આત્માની પરિણતિને મૈથુનસજ્ઞા કહે છે રક્ત  
(લોહી) અને માંસની અધિકતાથી, સ્ત્રીકયા વગેરે સાંભાગવાથી ઉત્પન્ન થયેલી  
બુદ્ધિથી, અને મૈથુનનો વિચાર કરવાથી મૈથુનસજ્ઞા ઉત્પન્ન થાય છે કુરબક (એક  
બાતનુ વૃક્ષ) આદિ વનસ્પતિમાં સુન્દરી કામિનીના હાથના આલિંગન થતા,  
ચરણાઘાતથી તથા કટાક્ષપાત આદિથી કુલ્મ, પત્તા આદિ ઉત્પન્ન થાય છે, આ  
કારણથી વનસ્પતિમાં મૈથુનસજ્ઞાનુ અસ્તિત્વ સિદ્ધ થાય છે

(૪) પરિગ્રહ સજ્ઞા—

લોમમોહનીયના ઉદયથી ધર્મના ઉપકરણો સિવાય બીજા સચિત્ત, અચિત્ત  
અને મિશ્ર પદાર્થોનુ પ્રહ્ણ કરવું વગેરે મૂર્છારૂપ આત્માની પરિણતિ તે

परिग्रहदर्शनेन, परिग्रहचिन्तनेन, परिग्रहसंग्रहेण च परिग्रहसङ्गा जायते ।  
वित्वादिवनस्पतीना स्वपत्रै पुष्पफलाच्छादनदर्शनात् परिग्रहसङ्गा विज्ञायते ।

(५) क्रोधसङ्गा-

(५) क्रोधमोहनीयोदयाद् जीवस्य जात्यादिमदजनिता कर्तव्याकर्तव्य-  
विवेकापहारिका स्वपराप्रीतिरूपप्रज्वलनात्मिका विभावपरिणति' क्रोधसङ्गा ।

(६) मानसङ्गा-

(६) मानमोहनीयोदयाद् अहंकाररूपा आत्मनो विभावपरिणतिर्मानसङ्गा ।  
द्वन्द्वगुरुधर्मादीना महतामनादरणादिना मानसङ्गा विज्ञायते ।

सचित्त आदि वस्तुओं का परिग्रह देखने से, परिग्रह का विचार करने से, और परिग्रहका संग्रह करने से परिग्रहसङ्गा उत्पन्न होती है । विन्व (वेल) आदि वनस्पतियाँ अपने पत्तों से फूल फल वगैरह को ढँक लेती हैं, इस से उनमें परिग्रहसङ्गा का होना प्रतीत होता है ।

(५) क्रोधसङ्गा-

क्रोधमोहनीय के उदय से जीव में जातिमद आदि से उत्पन्न, तथा कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नष्ट कर देने वाली स्वपर की अप्रीतिरूप, तथा ज्वलनरूप आत्मा की विभावपरिणति क्रोधसङ्गा कहलाती है ।

(६) मानसङ्गा-

मानमोहनीय के उदय से अहंकाररूप आत्मा की विभावपरिणति मानसङ्गा कहलाती है । देव गुरु धर्म आदि बड़ोंका अनावर आदि करने से मानसङ्गा माझ्म होती है ।

ઠહેવાય છે સચિત્ત આદિ વસ્તુઓના પરિગ્રહ દેખાવાથી, પરિગ્રહનો વિચાર કરવાથી અને પરિગ્રહનો સંગ્રહ કરવાથી પરિગ્રહસંગા ઉત્પન્ન થાય છે બિન્વ (બીલી) આદિ વનસ્પતિઓ પોતાના પાદશથી ફુલ-ફલ વગેરેને ઢાંકી દે છે, તેથી વનસ્પતિમા પરિગ્રહસંગા દેખાય છે

(૫) ક્રોધસંગા-

ક્રોધમોહનીય કર્મના ઉદયથી, જીવને જાતિમદ વગેરેથી ઉત્પન્ન, તથા કર્તવ્ય અકર્તવ્યનો વિવેક નાશ કરવાવાળી સ્વ-પરની અપ્રીતિરૂપ તથા જ્વલનરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ તે ક્રોધસંગા ઠહેવાય છે

(૬) માનસંગા-

માનમોહનીય કર્મના ઉદયથી અહંકારરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ માનસંગા ઠહેવાય છે દેવ, ગુરુ, ધર્મ આદિ મોટાઓનો અનાદર વગેરે કરવાથી માનસંગા માઝ્મ પડે છે



वैथिल्योरुक्कम्पनादिक्रियारूपा आत्मनः परिणतिर्मैथुनसंज्ञा । रुधिरमांसोपचयेन, स्त्रीकयाधवणादिजनितमस्या, मैथुनचिन्तनेन च मैथुनसंज्ञा जायते । कुरुषु कादिवनस्पतीनां कमनीयकामिनोमुज्ज्वलतावगूहन-चरणाघात-कटाक्षविक्षपादिभ्यः प्रसूनपल्लवादिप्रसवदर्शनान्मैथुनसंज्ञा विज्ञायते ।

### (४) परिग्रहसंज्ञा—

( ४ ) लोभमोहनीयोदयाद् धर्मसाधनव्यतिरिक्त-सचित्ताऽचित्तमिश्र-वस्तुपादानादिमूर्छारूपा आत्मनः परिणतिः परिग्रहसंज्ञा । सचित्तादिबस्तु-

होना, शरीर का स्तम्भित हो जाना, तथा उस में शिथिलता पैदा होना उरु (घुटनेके नीचेका भाग) आदि का कापना आदि क्रियारूप आत्मा की परिणति को मैथुनसंज्ञा कहते हैं । रक्त और मांस की अधिकता से, स्त्रीकया आदि के धवण से उत्पन्न हुई बुद्धि से, और मैथुन का विचार करने से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है । कुरुषु आदि वनस्पतियों में सुन्दरी कामिनी की मुखाओं के आलङ्घन से, चरणाघात से, तथा कटाक्षपात आदि से फूल, पत्ता आदि उत्पन्न होते हैं, अतः वनस्पति में मैथुनसंज्ञा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

### (४) परिग्रहसंज्ञा—

लोभमोहनीय के उदय से धर्म के उपकरणों के अतिरिक्त दूसरे सचित्त अचित्त और मिश्र पदार्थों के ग्रहण आदि मूर्छारूप आत्मा की परिणति परिग्रहसंज्ञा कहलाती है ।

यस्य, शरीरस्य स्तम्भितं यद् व्युत्पन्नं, तथा तेभ्यः शिथिलता उत्पन्नं यवी, जाग वजेश्च कपयु आदि क्रियाश्च आत्मानि परिणतिने मैथुनसंज्ञा कहे छे रक्त (खोही) अने मांसनी अधिकताशी, स्त्रीकया वजेश्च सांख्यवाची उत्पन्न यथेही बुद्धिशी, अने मैथुनने विचार कश्वाशी मैथुनसंज्ञा उत्पन्न थाय छे कुरुषु (कुरु आत्मनः वृक्ष) आदि वनस्पतिमा सुन्दरी कामिनीना हावना आलिंगन यत्ता, चरणाघातशी तथा कटाक्षपात आदिशी कुल, पत्ता आदि उत्पन्न थाय छे, आ कश्वाशी वनस्पतिमा मैथुनसंज्ञा अस्तित्व सिद्ध थाय छे

### (४) परिग्रह संज्ञा—

लोभमोहनीयना उदयशी धर्मना उपकरणे सिवाय भीन सचित्त, अचित्त अने मिश्र पदार्थीनु ग्रहण करु वजेश्च भूषाश्च आत्मानि परिणति ते परिग्रहसंज्ञा

રૂપા આત્મનો વિભાવપરિણતિલોકસજ્ઞા । યથા—“અપુત્રસ્ય ગતિર્નાસ્તી”-ત્યાદિ ।

### (૧૦) ઓષસંજ્ઞા—

(૧૦) જ્ઞાનાવરણીયાલ્પક્ષયોપશમસમુદ્ભૂતા, અવ્યક્તોપયોગરૂપા જીવસ્વ પરિણતિઃ ઓષસજ્ઞા । સા ત્વાદીનાં પ્રતાનારોહણાદિના જ્ઞાયતે ।

### (૧૧) મુલ્લસંજ્ઞા—

(૧૧) સસારિણાં સાતાવેદનીયોદયાત્ સકલેન્દ્રિયાણામનુકૂલતયા જ્ઞાયમાના આત્મન પરિણતિઃ મુલ્લસંજ્ઞા ।

તર્કરૂપ આત્મા કી વિભાવપરિણતિ લોકસજ્ઞા કહલાતી હૈ, યથા—“નિપૂતે કો સદ્ગતિ નહીં મિલ્લતી” આત્મિ ।

### (૧૦) ઓષસંજ્ઞા—

જ્ઞાનાવરણીય કર્મ કે અન્ય ક્ષયોપશમ સે સ્વપ્ન હોને વાલી તથા અવ્યક્ત (અપ્રકટ) ઉપયોગરૂપ જીવ કા વિભાવપરિણમન ઓષસજ્ઞા કહલાતી હૈ । ત્વા વગેરહ કા મહત્ત્વ પર ચઢને આદિ સે ઓષસ જ્ઞાન હોતા હૈ

### (૧૧) મુલ્લસંજ્ઞા—

સંસારી જીવોકો સાતાવેદનીય કે ઉદય સે સર્વ હિન્દ્રિયો કે અનુકૂલ પ્રતીતિ હોને વાલી આત્મા કી એક વિશિષ્ટ પરિણતિકો મુલ્લસંજ્ઞા કહેતે હૈ ।

તર્કરૂપ આત્માની વિભાવપરિણતિ લોકસજ્ઞા કહેવાય છે જેમ—“અપુત્રિયાને સદ્ગતિ મળતી નથી”

### (૧૦) ઓષસંજ્ઞા—

જ્ઞાનાવરણીય કર્મના અદ્ય ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનારી અને અપ્રકટ ઉપયોગ રૂપ જીવનું વિભાવપરિણમન તે ઓષસંજ્ઞા કહેવાય છે, જેથી વગેરેનું મહત્ત્વ ઉપર અહીં વર્ણવેલી તેનું જ્ઞાન થાય છે

### (૧૧) મુલ્લસંજ્ઞા—

સંસારી જીવોને સાતાવેદનીયના ઉદયથી સર્વ હિન્દ્રિયોમાં અનુકૂલતાનું જ્ઞાન મળવાનારી આત્માની એક વિશિષ્ટ પરિણતિને મુલ્લસંજ્ઞા કહે છે

## (૭) માયાસંજ્ઞા—

(૭) માયામોહનીયોદયાત્ કપટલક્ષણા પ્રવૃત્તિર્જીવસ્ય વિભાવપરિ-  
ણતિર્માયાસંજ્ઞા । પરવશ્વનેચ્છયા વ્યામોહોત્પાદકમનોવાકાયવ્યાપારેણ સા  
વિજ્ઞાયતે ।

## (૮) લોભસંજ્ઞા—

(૮) લોભમોહનીયોદયેન સચિતાદિવસ્તુષ્ટદ્વિરૂપા જીવસ્ય વિભાવ  
પરિણતિર્લોભસંજ્ઞા । આરમ્ભપરિગ્રહાદિપ્રવૃત્ત્યા લોભસંજ્ઞા વિજ્ઞાયતે ।

## (૯) લોકસંજ્ઞા—

(૯) જ્ઞાનાવરણીયક્ષયોપશમ્યેન મોહનીયકર્મોદયેન ચ કુબુદ્ધિજનિતતર્ક

## (૭) માયાસંજ્ઞા—

માયામોહનીય કે ઉદય સે જીવ કો કપટરૂપ વિભાવપરિણતિ માયાસંજ્ઞા  
કહલ્લી છે । દુસરે કો ઊગને કી રૂચા સે મોહજનક મન, વચન જીર કામ કે વ્યાપાર સે  
વસ કી પ્રતીતિ હોતી છે ।

## (૮) લોભસંજ્ઞા—

લોભમોહનીય કે ઉદય સે સચિત્ત આદિ વસ્તુઓ મેં આસક્તિરૂપ જીવકો  
વિભાવપરિણતિ લોભસંજ્ઞા કહલાતી છે । આરમ્ભ પરિગ્રહ આદિ કી પ્રવૃત્તિ સે લોભસંજ્ઞા કા  
પતા ચલ્તા છે ।

## (૯) લોકસંજ્ઞા—

જ્ઞાનાવરણ કર્મ કે ક્ષયોપશમ સે જીર મોહનીય કર્મ કે ઉદય સે કુબુદ્ધિજનિત

## (૭) માયાસંજ્ઞા—

માયામોહનીય કર્મના ઉદયથી જીવની કપટરૂપ વિભાવપરિણતિ માયા-સંજ્ઞા  
કહેવાય છે ખીલને ઊગવાની ઇચ્છાથી, મોહજનક મન, વચન અને કાયાના વ્યાપારથી  
તેની પ્રતીતિ થાય છે

## (૮) લોભસંજ્ઞા—

લોભમોહનીય કર્મના ઉદયથી સચિત્ત આદિ વસ્તુઓમાં આસક્તિરૂપ જીવની  
વિભાવપરિણતિ તે લોભસંજ્ઞા કહેવાય છે આરમ્ભ-પરિગ્રહ આદિની પ્રવૃત્તિથી લોભ  
સંજ્ઞાનો પતો લાગે છે

## (૯) લોકસંજ્ઞા—

જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમથી અને મોહનીયકર્મના ઉદયથી કુબુદ્ધિજનિત

विचिकित्सासञ्ज्ञा । यथा दानाग्निधर्मस्य फलं प्रति सशयः । सा द्विधा-देशतः, सप्ततथ । 'द्वाविंशतिपरिपक्षसहनब्रह्मचर्यकेशोल्लुञ्चनादिक्लेशसहनस्य फलं भविष्यति न वे'-तिरूपा देशतः । 'परलोकादि सस्य न वे'-तिरूपा, सर्वज्ञप्ररूपितजीवादितत्त्व यथार्थं न वे'-त्यादिरूपा वा सर्वतः ।

(१५) शोकसञ्ज्ञा—

(१५) मोहनीयकर्मोदयादिष्टवियोगजनिता विप्रलाप-वैमनस्यरूपा आत्मनः परिणतिः शोकसञ्ज्ञा । सा चाक्रन्दनादिना प्रायते ।

(१६) धर्मसञ्ज्ञा—

(१६) मोहनीयस्योपशमेन सर्वविरति-देशविरतिलक्षणा कर्मसंयजनक-संज्ञा कहलाती है । जैसे-ज्ञान धर्म आदि के फल में सदेह होना । यह संज्ञा दो प्रकार की है-देश से और सर्व से । 'बाइस परीपक्षों के सहने का, ब्रह्मचर्य पालन का, केशलोच आदि क्लेश सहने का फल मिलेगा या नहीं ?' इस प्रकार का सशय होना देशतः विचिकित्सासञ्ज्ञा है । 'वास्तव में परलोक है या नहीं, सर्वज्ञ के द्वारा प्ररूपित जीव आदि तत्त्व यथार्थ हैं या नहीं ?' इस प्रकार का सशय सर्वतः विचिकित्सासञ्ज्ञा है ।

(१५) शोकसंज्ञा—

मोहनीय कर्म के उदय से इष्टवियोग से उत्पन्न होनेवाली विप्रलाप और विमनस्कतारूप आत्मा की परिणति शोकसञ्ज्ञा कहलाती है ।

(१६) धर्मसञ्ज्ञा—

मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से कर्मक्षयजनक सर्वविरति, तथा देशविरति विचिकित्सा सञ्ज्ञा कहेंवाय छे जेभके-ज्ञान धर्म आदिना क्लेशा स देह यवे आ सञ्ज्ञा जे प्रकारनी होय छे-(१) देशथी, (२) सर्वथी, 'आवीश परिपक्षोनु सहन करवु ते, ब्रह्मचर्य पालन करवु ते, केशनु लोचन करवु वगेरे क्लेश सहन करवानु क्लेश भणसे के नहि ?' आ प्रकारनो सशय ते देशथकी विचिकित्सासञ्ज्ञा छे 'वास्तवमां परलोक छे के नहि, सर्वज्ञद्वारा प्ररूपित जीव आदि तत्त्वो यथार्थ छे के नहि' आ प्रकारनो सशय ते सर्वथकी विचिकित्सासञ्ज्ञा छे

(१५) शोकसञ्ज्ञा—

मोहनीय कर्मना उदयने बाधे, इष्टवियोगथी उत्पन्न भवा पावी, विप्रलाप अने विमनस्कता ( व्याकुल स्थिति ) रूप आत्मानी परिणति शोकसञ्ज्ञा कहेंवाय छे

(१६) धर्मसञ्ज्ञा—

मोहनीयकर्मना क्षयोपशमथी कर्मक्षयजनक सर्वविरति तथा देशविरतिरूप

(१२) दुःखसंज्ञा—

(१२) ससारिणामसातावेदनीयोदयाद् सकलेन्द्रियाणां प्रतिकूलतया शायमाना विविधतापानुमनरूपा जीवस्य परिणतिर्दुःखसंज्ञा ।

(१३) मोहसंज्ञा—

(१३) मोहनीयकर्मोदयाद् मिथ्यादर्शनरूपा ज्ञानादिगुणरोधकसकलपापस्थानहेतुरात्मनो विभावपरिणतिर्मोहसंज्ञा । कुदेवकुशुरुकुधर्मादौ प्रवृत्त्या मोहसंज्ञा विज्ञायते ।

(१४) विचिकित्सासंज्ञा—

(१४) मोहनीयोदयाद् ज्ञानावरणीयोदयाच्च सशयरूपा जीवस्य परिणति—

(१२) दुःखसंज्ञा—

संसारी जीवा को असातावेदनीय के उदय से सब इन्द्रिया के प्रतिकूल प्रतीत होने वाली, विविध प्रकार के सतापों का अनुमवरूप जीव की परिणति दुःखसंज्ञा कहलाती है ।

(१३) मोहसंज्ञा—

मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यादर्शनरूप, तथा ज्ञानादि गुणों का निषेध करने वाली, समस्त पापस्थानकों का कारणरूप आत्मा की विभावपरिणति मोहसंज्ञा है । कुदेव कुशुर और कुधर्म आदि में प्रवृत्ति होने से मोहसंज्ञा का ज्ञान होता है ।

(१४) विचिकित्सासंज्ञा—

मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म के उदय से सशयरूप आत्मा का परिणमन विचिकित्सा

(१२) दुःखसंज्ञा—

संसारी जीवाने असातावेदनीयता उदयशी सरे इन्द्रियोभा प्रतिकूलतया आन कशयथा वाणी, विविध प्रकारना सतापोना अनुभवरूप जीवनी परिणति ते दुःखसंज्ञा कहोवाय छे

(१३) मोहसंज्ञा—

मोहनीय कर्मना उदयशी मिथ्यादर्शनरूप, तथा ज्ञानादि गुणोना निषेध करवावाणी, समस्त पापस्थानना कारणरूप आत्माना विभावपरिणति ते मोहसंज्ञा छे कुदेव, कुशुर अने कुधर्म आदिमां प्रवृत्ति होवाना कारणे मोहसंज्ञानु ज्ञान थाय छे

(१४) विचिकित्सासंज्ञा—

मोहनीय अने ज्ञानावरणीय कर्मना उदयशी सशयरूप आत्मानु परिणमन ते

## (૨) શ્રુતજ્ઞાનમ્-

શ્રુત=શ્રુતિ' શ્રવણ જ્ઞાનવિશેષ' । તત્ત્વ કીદૃશમ્ ? ઉચ્યતે-શબ્દસ્ય શ્રવણેન, માષણાદિના વા યજ્ઞજ્ઞાનમુત્પદ્યતે તદેવ શ્રુતમ્ ।

અમ્ર શ્રુતશબ્દેન જ્ઞાન ગુણતે, જ્ઞાનમભેદપ્રકરણાન્ત'પાતિત્વાત્ । ન તુ શ્રૂયતે ઈતિ વ્યુત્પત્ત્યા શબ્દાર્થક શ્રુતશબ્દ । લઙ્ઘિરૂપે મતિજ્ઞાને સત્તિ પશ્ચાત્-શ્રુતજ્ઞાન-મુત્પદ્યતે, ન તુ મતિજ્ઞાનાભાવે, અતો મતિજ્ઞાન કારણ શ્રુતજ્ઞાનસ્ય ।

નન્નુ મતિજ્ઞાનમય શ્રુતજ્ઞાનં સપદ્યતે, યથા-મૃત્તિકૈવ ઘટ', તન્તુરેવ પટ ,

## (૨) શ્રુતજ્ઞાન—

શ્રુતિ યા શ્રવણ (સુન્ના), યહ એક પ્રકાર કા જ્ઞાન કહલાતા હૈ । શબ્દ કે શ્રવણ સે યા માષણ આદિ સે વાચ્ય-વાચકમાવ સમ્બંધ કે અનુસાર જો પદાર્થ કા જ્ઞાન હોતા હૈ ઉસે શ્રુતજ્ઞાન કહતે હૈ ।

મહાં 'શ્રુત' શબ્દ સે જ્ઞાન કા પ્રહણ ક્રિયા જ્ઞાતા હૈ, ક્યાં કિં વહ જ્ઞાન કે પ્રમેદો કે અન્તર્ગત હૈ, કિન્તુ 'શ્રૂયતે' હસ વ્યુત્પત્તિ સે શબ્દાર્થક શ્રુત-શબ્દ નહીં હૈ । લઙ્ઘિરૂપ મતિજ્ઞાન કે હોને પર બાદમ્ શ્રુતજ્ઞાન ઉત્પન્ન હોતા હૈ, મતિજ્ઞાન કે અભાવ મ્મેં નહીં હોતા, અતઃ એવ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન કા કારણ હૈ ।

શુદ્ધા—મતિજ્ઞાન હી શ્રુતજ્ઞાનરૂપ મ્મેં પરિણત હો જાતા હૈ, જૈસે મિટ્ટી ઘટરૂપ મ્મેં પલટ જાતી હૈ, ઔર તત્તુ પટ (વજ્ર) રૂપ મ્મેં વદલ જાતે હૈ, એમી સ્થિતિ મ્મેં મગવાનને શ્રુતજ્ઞાન કા પૃથક્ પ્રહણ કિમ પ્રયોજન સે કિયા હૈ ?

## (૨) શ્રુતજ્ઞાન—

શ્રુતિ અથવા શ્રવણ-સાધનવાચક એક પ્રકારનું જ્ઞાન તે શ્રુત-જ્ઞાન કહેવાય છે શ્રુત-જ્ઞાન કેવું હોય છે ? શબ્દના સાધનવાચી અથવા ભાષણ આદિથી, વાચ્ય-વાચક ભાવ સંબંધ પ્રમાણે જે પદાર્થનું જ્ઞાન થાય છે, તેને શ્રુતજ્ઞાન કહે છે

અહિં શ્રુત-શબ્દથી જ્ઞાન મરુણ કરી શકાય છે કેમકે તે જ્ઞાનના પ્રમેદોની અહર છે, પરંતુ 'શ્રૂયતે' આ વ્યુત્પત્તિથી શબ્દાર્થક શ્રુત-શબ્દ નથી. લઙ્ઘિરૂપ મતિજ્ઞાન થયા પછી શ્રુતજ્ઞાન ઉત્પન્ન થાય છે, મતિજ્ઞાનના અભાવમાં થતું નથી તે કારણથી મતિજ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાનનું કારણ છે

શ કા—મતિજ્ઞાન જ શ્રુતજ્ઞાનરૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે, જેમકે માટી ઘટ રૂપમાં કરી જાય છે અને તન્નુ વસ્તુરૂપમાં બન્યાઈ જાય છે એવી સ્થિતિમાં ભગવાને શ્રુતજ્ઞાનનું જુદું મરુણ શું પ્રયોજનથી કર્યું ?

સર્વધિરતિદેશધિરતિરૂપાઽઽમનઃ સ્વમાવપરિણતિઃ ધર્મસત્તા । સા જીવરક્ષણાદિ-  
વ્યાપારેણ દ્વાયતે ।

જ્ઞાનમજ્ઞામેદાઃ—

જ્ઞાનસત્તા તુ મતિશ્રુતાદિમેદાત્ પશ્ચથા—(૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન,  
(૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મનપર્યયજ્ઞાન, કેવલજ્ઞાન, યેતિ ।

(૧) મતિજ્ઞાનમ્—

મનન મતિરવબોધ । મતિશ્રાસૌ જ્ઞાનં ચ મતિજ્ઞાનમ્ । અત્ર જ્ઞાનશબ્દઃ  
સામાન્યજ્ઞાનવાચક । ઇન્દ્રિય-નોદન્દ્રિજયન્ય જ્ઞાનં મતિજ્ઞાનવિશેષ, અતઃ સામાન્ય-  
વિશેષયોર્જ્ઞાનયો સામાનાધિકરણ્યમ્ ।

રૂપ આત્મા કી સ્વમાવપરિણતિ કો ધર્મસત્તા કહતે હૈં । જીવરક્ષા આદિ વ્યાપારો  
સે ટસકા જ્ઞાન હોતા હૈ ।

જ્ઞાનસત્તા કે મેદ

મતિ, શ્રુત આદિકે મેદ સે જ્ઞાનસત્તા પાચ પ્રકાર કી હૈ । વહ્ હસ પ્રકાર—  
(૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન પર્યયજ્ઞાન, ઓર (૫) કેવલજ્ઞાન ।

(૧) મતિજ્ઞાન

મનન કરના મતિ હૈ, અર્થાત્ બોધ । મતિરૂપ જ્ઞાન મતિજ્ઞાન કહલાતા હૈ । યહૌ જ્ઞાન  
શબ્દ સામાન્ય જ્ઞાન કા વાચક હૈ । ‘ઇન્દ્રિય ઓર મનસે હોનેવાસ્થ જ્ઞાન મતિ હૈ’ । યેસા અર્થ  
કરને સે સામાન્ય ઓર વિશેષ જ્ઞાનો મેં સમાનાધિકરણતા હો આતી હૈ ।

આત્માની સ્વમાવપરિણતિને ધર્મસત્તા કહે છે જીવરક્ષા આદિ વ્યાપારોથી તેનું  
જ્ઞાન થાય છે

જ્ઞાનસત્તાના મેદ—

મતિ, શ્રુત આદિ મેદ વઢે-કરી જ્ઞાનસત્તા પાચ પ્રકારની કહી છે તે આ  
પ્રમાણે છે—(૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન પર્યયજ્ઞાન, અને  
(૫) કેવલજ્ઞાન

(૧) મતિજ્ઞાન—

મનન કરવું તે મતિ છે અર્થાત્ બોધ છે, મતિરૂપ જ્ઞાન તે મતિજ્ઞાન કહેવાય  
છે અહિં જ્ઞાન શબ્દ સામાન્ય જ્ઞાનનો વાચક છે ‘ઇન્દ્રિય અને મનથી ઉત્પન્ન  
જ્ઞાન તે મતિ છે’ એવો અર્થ કરવાથી સામાન્ય અને વિશેષ જ્ઞાનોમાં સમાન  
ધિકરણતા (સમાનપણું) થઈ જાય છે

તસ્મિન્ પક્ષે-શ્રુતસ્ય આત્મવચનસ્ય જ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાનમિતિ પઠીતત્પૂર્ય । આપ્તો=રાગાદિ-  
રહિત' સર્વજ્ઞસ્તસ્ય વચનમ્-આપ્તવચનમ્ । તદર્થાધ્યવસાયરૂપ જ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાનમિતિ ।  
અધ્યવસાયો નિર્ણયઃ । શ્રુતજ્ઞાન મતિ શબ્દસ્ય નિમિત્તકારણતયા શબ્દેઽપિ શ્રુતવ્યપદેન્નો  
મવતિ । જ્ઞાનમેદવ્યવસ્થાયા તુ શ્રુતશબ્દ. શ્રવણાર્થત્રાચીત્યવગ્રેયમ્ ।

### (૩) અવધિજ્ઞાનમ્-

અવજ્ઞાનોઽધઃશબ્દાર્થ', અવ=અથ વિસ્તૃત વસ્તુ ધીયતે-જ્ઞાયતેઽને-  
નેત્યવધિ. । અવધિશ્ચાસૌ તજ્ઞાન ચેતિ વિગ્રહ । વિસ્તૃતવિષયક જ્ઞાનમવધિ-

વચન કા મી પ્રદેશ હોતા હૈ । ઉસ પદ્ધત મેં શ્રુત કા અર્થાત્ આત્મવચન કા જ્ઞાન  
શ્રુતજ્ઞાન હૈ, પેસા પઠીતપુરુપ સમાસ હોગા । આત્મ અર્થાત્ રાગાદિસે રહિત સર્વજ્ઞ,  
તેનકા વચન આત્મવચન કહલાતા હૈ । અધ્યવસાય અર્થાત્ નિશ્ચય । પેસા અધ્યવસાયરૂપ અર્થાત્  
પદાર્થ કા નિશ્ચયાત્મક જ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન હોતા હૈ । શબ્દ, શ્રુતજ્ઞાન મેં નિમિત્ત કારણ હૈ, હસ  
છિયે શબ્દ મી ત કહલાતા હૈ કિન્તુ જ્ઞાન-મેદકી વ્યવસ્થા મેં શ્રુત-શબ્દ શ્રવણ અર્થ કા  
વાચક હૈ ।

### (૩) અવધિજ્ઞાન—

‘અવ કા અર્થ હૈ ‘અથ’ અર્થાત્ નીચે । તાત્પર્ય મહ હૈ કિ જો જ્ઞાન  
અયોદિશા કી વસ્તુ કો વિસ્તાર સે જાનતા હૈ વહ અવધિજ્ઞાન કહલાતા હૈ । અવધિરૂપ  
જ્ઞાન અવધિજ્ઞાન હૈ, અર્થાત્ વિસ્તૃતવિષયક જ્ઞાન । જૈસે-અનુત્તરોપપાતિક દેવ અવધિજ્ઞાન

આત્મવચનનુ ગ્રહણ થઈ શકે છે તે પક્ષમા શ્રુતનુ અર્થાત્ આત્મવચનનુ જ્ઞાન તે  
શ્રુતજ્ઞાન છે એ પ્રમાણે પઠીતપુરુપ સમાસ થશે. આપ્ત અર્થાત્ રાગાદિથી રહિત,  
સર્વજ્ઞ, તેનુ વચન તે આપ્તવચન કહેવાય છે અધ્યવસાય અર્થાત્ નિશ્ચય, એવા  
અધ્યવસાયરૂપ અર્થાત્ પદાર્થનુ નિશ્ચયાત્મક જ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાન કહેવાય છે શબ્દ,  
શ્રુતજ્ઞાનમા કારણ છે, એટલા માટે શબ્દ પણ શ્રુત કહેવાય છે, પરંતુ જ્ઞાન-લેહની  
વ્યવસ્થામાં શ્રુત-શબ્દ સાંભળવુ એ અર્થને વાચક છે

### (૩) અવધિજ્ઞાન—

‘અવ’ના અર્થ છે ‘અથ’ અર્થાત્ નીચે, તાત્પર્ય એ છે કે-જે જ્ઞાન અધિ-  
દિશાની વસ્તુઓને વિસ્તારથી જાણે છે, તે અવધિજ્ઞાન કહેવાય છે અવધિરૂપ જ્ઞાન  
અવધિજ્ઞાન છે, અર્થાત્ વિસ્તૃતવિષયક જ્ઞાન. જેમકે:-અનુત્તરોપપાતિક દેવ અવધિ



તર્હિ શ્રુતજ્ઞાનસ્ય પૃથગુપાદાન મગવતા / કિમયં કૃતમ્ ? ઉચ્યતે—દૃષ્ટાન્તદ્વયમિદં વિષમમ્, યથા ઘટપાદર્માયે પિષ્ટાકારા મૃત્તિકા પ્રણયતિ, પટોત્પત્તૌ સત્યાં તન્તુપુલ્કશ્ચ, તથા શ્રુતજ્ઞાને સમુપન્ને મતિજ્ઞાન ન પ્રણયતિ, ઉક્તશ્ચ મગવતા—

‘જત્ય મર્દૈ તત્ય સુય, જત્ય સુય તત્ય મર્દૈ’ (નન્દી )

છાયા—યત્ર મતિસ્તત્ર શ્રુત, યત્ર શ્રુત તત્ર મતિઃ ।

શ્રુતસ્ય સર્વમાયે મતેર્વિધમાનતા મગવતાઽભિહિતા, તસ્માદપેક્ષાકારણમેષ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાનસ્યેતિ મન્તવ્યમ્, તથા ચ—મતિજ્ઞાનપૂર્વકમિન્દ્રિયમનોગ્ન્યમાત્મ-વક્તાનુસારિ જ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાનમિતિ નિષ્કર્ષઃ । इति ।

‘શ્રૂયતે યત્ તદ્શ્રુત’—મિતિવ્યુત્પત્ત્યા શ્રુતશબ્દેનાત્મવચનમપિ શૃણ્વતે

સમાધાન—યે બેનો દૃષ્ટાન્ત વિષમ હૈ, જૈસે—ઘટ પ્રકટ હોને પર પિષ્ટાકાર મિટી મિટ જાતી હૈ, ઔર જૈસે પટકી ઉત્પત્તિ હોને પર તત્તુઓં કા પુલ્ક નહ હો જાતા હૈ, તસ પ્રકાર શ્રુતજ્ઞાન ઉત્પન્ન હોને પર મતિજ્ઞાન નહ નહીં હોતા । મગવાને કહા હૈ—

“વહૌ મતિજ્ઞાન હૈ વહૌ શ્રુતજ્ઞાન હૈ, વહૌ શ્રુતજ્ઞાન હૈ વહૌ મતિજ્ઞાન હૈ ।”

શ્રુતજ્ઞાન કે સદ્વાચ મૈં મતિજ્ઞાન કા અસ્તિત્વ મગવાને બતલાયા હૈ, અત ઇવ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન કા અપેક્ષાકારણ હી હૈ, પેસા માનના ચાહિય । તાત્પર્ય યહ નિકલ્તા હૈ કિ—મતિજ્ઞાનપૂર્વક મિન્દ્રિય ઔર મનસે ઉત્પન્ન હોને વાલા, તથા આત્મવાક્યકા અનુસરણ કરને વાલા જ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન હૈ ।

‘ઓ સુતાવાય વહ શ્રુત હૈ’ ઇસ વ્યુત્પત્તિ કે અનુસાર ‘શ્રુત’ શબ્દ સે આત્મ

સમાધાન—જો બંને દૃષ્ટાંત વિષમ છે, જેમકે ઘટ પ્રકટ થતાં પિષ્ટાકાર મટી મટી જાય છે, જેમ વસ્ત્રની ઉત્પત્તિ થતાં તત્તુઓનો ભયો નાશ પામે છે, તે પ્રમાણે શ્રુતજ્ઞાન ઉત્પન્ન થતા મતિજ્ઞાન નાશ પામતું નથી. મગવાને કહ્યું છે કે—

“અર્થા મતિજ્ઞાન છે ત્યાં શ્રુતજ્ઞાન છે, અર્થા શ્રુતજ્ઞાન છે ત્યાં મતિજ્ઞાન છે”

શ્રુતજ્ઞાનના સ્વભાવમાં મતિજ્ઞાનનું અસ્તિત્વ મગવાને બતાવ્યું છે. જો કાશ્ચુકી મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાનનું અપેક્ષાકારણ જ છે જોમ માનવુ જોઈએ, તો તાત્પર્ય જો નીકળ્યું કે મતિજ્ઞાનપૂર્વક, ઇન્દ્રિય અને મનથી ઉત્પન્ન થવાવાળું, તથા અપ્રાપ્તવાક્યનું અનુસરણ કરવાવાળું જ્ઞાન તે શ્રુતજ્ઞાન છે

‘જે સાંભળવામાં આવી શકે તે શ્રુત છે’ આ વ્યુત્પત્તિ પ્રમાણે ‘શ્રુત’ શબ્દથી

### (૪) મન પર્યયજ્ઞાનમ્—

પર્યયન-સર્વતઃ પરિચ્છેદનમ્-અવબોધન પર્યય. । મનસઃ પયયો મનઃ-પર્યય, મનોવિપયકઃ, સ સાસૌ જ્ઞાન ધ મનઃપર્યયજ્ઞાનમ્ । યદ્વા મન'પર્યયસ્ય જ્ઞાન મન'પર્યયજ્ઞાનમ્ ।

મનો દ્વિવિધં દ્રવ્યભાવપ્રેક્ષાત્ । તત્ર દ્રવ્યમનો મનોવર્ગણા. । સક્ષિના મનોવર્ગણા ગૃહીતા સત્યો મન્યમાનાશ્ચિન્ત્યમાના ભાવમનોઽમિધીયતે ।

તત્રેહ ભાવમન પરિગૃહ્યતે । ભાવમનસ. પર્યયાશ્ચ પરેષાં સાર્થવૃત્તીયદ્વોપા-મ્પ્રત્યર્થિતસદ્વિપચ્ચેન્દ્રિયાણા ચિન્ત્યમાનવિપયાધ્યવસાયરૂપાઃ । યથા-અન્યઃ

### (૪) મન પર્યયજ્ઞાન—

પર્યય અર્થાત્ જ્ઞાનના, મન કો સર્વથા જ્ઞાનના મન પર્યયજ્ઞાન છે, અર્થાત્ મનોવિપયક, સંપૂર્ણ જ્ઞાન મન પર્યયજ્ઞાન કહી શકાય છે । અથવા—મન પર્યય (મનકે પર્યવો) કા જ્ઞાન મન પર્યયજ્ઞાન કહી શકાય છે ।

મન વા પ્રકાર કા છે—દ્રવ્ય-મન ઓર ભાવ-મન । મનોવર્ગણાઓ કો દ્રવ્યમન કહે છે । સજી જીવ દ્વારા પ્રહગ કી હુઈ મનોવર્ગણાઈ જબ ચિન્તન કી જાતી છે વે ભાવમન કહી શકાય છે ।

મન પર્યય જ્ઞાન કે પ્રકરણ મેં ભાવમન હી લિખા જાતા છે । અઢાઈ દ્વીપ કે અન્તર્ગત સક્ષી પચ્ચેન્દ્રિય જીવો કે દ્વારા ચિન્તન ક્રિયે બાને વાળે, વિપયાધ્યવસાયરૂપ પર્યયો કો મન પર્યય જ્ઞાન જાનતા છે । જૈસે—કોઈ દૂસરા જીવ પેસા વિચાર કરે—આત્મા કેસા

### (૪) મન પર્યય જ્ઞાન—

પર્યય અર્થાત્ બાણુવું, મનને બાણુવું તે મન પર્યય જ્ઞાન છે અર્થાત્—મન વિષયકનું સંપૂર્ણ જ્ઞાન મન-પર્યય કહેવાય છે અથવા મન પર્યયનું જ્ઞાન તે મન-પર્યયજ્ઞાન કહેવાય છે

મન બે પ્રકારના છે—(૧) દ્રવ્યમન અને (૨) ભાવમન. મનોવર્ગણાઓને દ્રવ્ય મન કહે છે, અને સગી જીવ દ્વારા અકષુ કરાઓથી મનોવર્ગણાઓનું બ્યારે ચિન્તન કરવામા આવે છે તેને ભાવમન કહે છે

મન-પર્યય જ્ઞાનના પ્રકરણમા ભાવમન જ લેવામા આવે છે અહીં દ્વીપના સગી પચ્ચેન્દ્રિય જીવો દ્વારા ચિન્તન કરવામા આવતા વિષયાધ્યવસાયરૂપ પર્યયોને મન-પર્યય જ્ઞાન બાણુ છે જેમ કે—કોઈ જીવે જીવે વિચાર કરે—આત્મા કેવો

જ્ઞાનમ્ । યથા-અનુત્તરોપપાતિકા દેવા અવધિજ્ઞાનગતેન મગવન્તમાપૃન્ધય જીવાદિ-  
તત્ત્વસ્વરૂપ નિર્ધારયન્તિ ।

યદ્વા-‘અવધિના જ્ઞાનમ્’ इति तृतीयासमास । अत्र धर्मर्यादा ‘रूपिद्रव्याभ्येव  
विषयीकरोति नेतराणी’-तिव्यवस्थारूपा, तथा चायमर्थ-अरूपिद्रव्यपरिशरेण  
रूपिद्रव्यमात्रविषयक ज्ञानमवधिज्ञानमिति ।

યદ્વા-અયોઽધોઽધિક પશ્યતિ યેન સદવધિજ્ઞાનમ્ । તથ ચતુર્ગતિવર્તિનાં  
જીવાનામિન્દ્રિયમનોનિરપેક્ષં પ્રતિવિશિષ્ટસયોપશ્ચમનિમિત્તકં રૂપિદ્રવ્યસાસાત્કાર-  
અનર્કં ભવતિ । एतस्य ज्ञानस्य देव-मनुष्य-तिर्यङ्-नारका अधिकारिणः ।

કે બહુ સે મગવાન્ સે પ્રશ્ન પૂછ કર જીવાદિતત્ત્વાં કા સ્વરૂપ નિશ્ચિત કર લેતે હૈ ।

અથવા-અવધિ કે સાથ જો જ્ઞાન હો વહ અવધિજ્ઞાન કહલાતા હૈ । અવધિકા  
અર્થ હૈ મર્યાદા । અવધિજ્ઞાન, રૂપી દ્રવ્યોં કો હી જ્ઞાનતા હૈ, અરૂપી કો નહીં, વહ  
વ્યવસ્થા હી યહીં મર્યાદા સમજની ચાહિય । તાત્પર્ય યહ હુમા કિ-અરૂપી દ્રવ્યોં કો  
છોટકર કેવલ રૂપી દ્રવ્યોં કો જ્ઞાનને વાલા જ્ઞાન અવધિજ્ઞાન કહલાતા હૈ ।

અથવા-કિસ જ્ઞાન કે દ્વારા નીચે નીચે અધિક જ્ઞાન જાય વહ અવધિજ્ઞાન હૈ ।  
યહ જ્ઞાન ચારોં ગતિઓં કે જીવોં કો હો સકતા હૈ । યહ, સિર્ફ રૂપી પદાર્થોં કો સાક્ષાત્  
જ્ઞાનતા હૈ, જોર વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમ સે ઉત્પન્ન હોતા હૈ । દેવ, મનુષ્ય, તિર્યગ્ચ જોર  
નારકી, સમી હસ જ્ઞાન કે અધિકારી હૈ, અર્થાત્ યહ ચારાં કો હો સકતા હૈ ।

જ્ઞાનના બળથી મગવાનને પ્રશ્ન પૂછીને જવાબિ તત્ત્વોના નિશ્ચય કરી લે છે અથવા-  
અવધિની સાથે જે જ્ઞાન થાય છે તે અવધિજ્ઞાન કહેવાય છે અવધિના અર્થ છે  
મર્યાદા અવધિજ્ઞાન, રૂપી દ્રવ્યોને જ જાણે છે, અરૂપી દ્રવ્યોને જાણતું નથી, આ  
વ્યવસ્થા જ જાહે મર્યાદા સમજવી જોઈએ. તાત્પર્ય એ થયું કે અરૂપી-દ્રવ્યોને  
છેદીને કેવળ રૂપી દ્રવ્યોને જાણવાવાળું જ્ઞાન તે અવધિજ્ઞાન કહેવાય છે અથવા  
જે જ્ઞાન દ્વારા નીચે-નીચે વિશેષ જાણવામા આવે, તે અવધિજ્ઞાન છે તે જ્ઞાન ચાર  
ગતિઓના જીવોને થઈ શકે છે, માત્ર રૂપી પદાર્થોને સાક્ષાત્ જાણે છે, અને વિશિષ્ટ  
ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, દેવ, મનુષ્ય, તિર્યગ્ચ અને નારકી, આ સર્વ તે જ્ઞાનના  
અધિકારી છે, અર્થાત્ એ ચારેયને અવધિજ્ઞાન થઈ શકે છે

તથા મનઃપર્યયજ્ઞાની વસ્તુચિદ્ ભાષરૂપ મન સર્વતોભાવેન પ્રત્યક્ષી-  
કૃત્યાનુમાનેન યાદ્ય વિષયમવધુચ્યતે-‘દ્વ વસ્ત્વનેન ચિન્ત્યતે’ इति । વાદ્યપદાર્થ-  
ચિન્તનસમયે હિ વાદ્યપદાર્થાકારસદૃશાકાર મનો ભવતિ ।

इदं मनःपर्ययज्ञान रूपिविषयत्व-क्षायोपशमिकत्व-प्रत्यक्षत्वादिसाम्ये-  
ऽप्यवधिज्ञानाद् भिन्न, स्वाम्यादिभेदात् । तथाहि-अवधिज्ञानमविरतसम्यग्दृष्टेरपि  
भवति, तद् द्रव्यतोऽज्ञोपरूपिद्रव्यविषय, क्षेत्रतो लोकविषयम्, कालतोऽतीतानागता-  
संख्यातोऽत्सर्पिण्यवमर्पिणीविषयम्, भावतः सकलरूपिद्रव्येषु प्रत्तिद्रव्यमसंख्यात-  
पर्यायविषयम् ।

મન પર્યયજ્ઞાન તુ પ્રમાદરહિતસ્યાઽઽમર્પાધન્યતમલલ્વિષારિણઃ સયતસ્ય  
ભવતિ । દ્રવ્યત-સંક્ષિપ્ત્વેન્દ્રિયમનોદ્રવ્યવિષય, ક્ષેત્રત-સમયક્ષેત્રમાત્રવિષયમ્

મન પર્યયજ્ઞાન અવધિજ્ઞાન કી તરહ રૂપી પદાર્થો કો વિષય કરતા હૈ,  
ક્ષયોપશમ સે ઉત્પન્ન હોતા હૈ, કિંતુ અવધિજ્ઞાન સે મિલ્લ હૈ, ક્યો કિં સ્વામી આદિકે  
ભેદ સે દોનો મેં ભેદ હૈ, વહ હસ પ્રકાર—અવધિજ્ઞાન અવિરતસમ્યગ્દૃષ્ટિ કો મી  
હોતા હૈ, વહ દ્રવ્યત સમસ્ત રૂપી દ્રવ્યો કો જાનતા હૈ, ક્ષેત્ર સે સમસ્ત છોક કો જાનતા હૈ,  
કાલ સે અસંખ્યાત મૂત ઓર ભાવી ઉત્સર્પિણી ઇવ અવસર્પિણી કો વિષય કરતા હૈ,  
ભાવ સે સમસ્ત રૂપી દ્રવ્યો મેં સે પ્રત્યેક દ્રવ્ય કી અસંખ્યાત પર્યાયો કો જાનતા હૈ ।

મન પર્યયજ્ઞાન અપ્રમત્ત સયત કો તથા આમર્ષ આદિ કિસી લલ્વિ કે ધારક  
કો હી હોતા હૈ । વહ દ્રવ્ય સે સંક્ષીપ્ત્વેન્દ્રિય કે મનોદ્રવ્ય કો, ક્ષેત્ર સે સમયક્ષેત્રમાત્ર કો

મન પર્યયજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન પ્રમાણે રૂપી પદાર્થોને વિષય કરે છે—જાણે છે  
મન પર્યયજ્ઞાન ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, પરંતુ અવધિજ્ઞાનથી તે વિત્ત છે, કેમકે  
સ્વામી આદિના લેહથી તે બનેલા લેહ છે તે આ પ્રમાણે—અવધિજ્ઞાન અવિરત  
સમ્યગ્દૃષ્ટિને પણ થાય છે તે દ્રવ્યથી સર્વ રૂપી જીવોને જાણે છે, ક્ષેત્રથી સમસ્ત  
લેહને જાણે છે, કાલથી અસંખ્યાત મૂત અને ભાવી ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણીને જાણી  
શકે છે, ભાવથી સમસ્ત રૂપી દ્રવ્યોમાથી પ્રત્યેક દ્રવ્યની અસંખ્યાત પર્યાયોને જાણે છે

મન પર્યયજ્ઞાન અપ્રમત્ત સયતને (મુનિને) તથા આમર્ષ આદિ કોઈ લલ્વિના  
ધારકને જ થાય છે તે દ્રવ્યથી સર્વ પદ્ધતિન્યા મનોદ્રવ્યને, ક્ષેત્રથી સમયક્ષેત્ર

કશ્ચિદેવ ચિન્તયેત્—‘આત્મા કીદૃશ’ ? અરૂપી, ચેતનાસ્વમાત્ર, કર્મણાં કર્તા, તત્કલમોક્તા ચેત્યાદયો યે જ્ઞાનવિશેષરૂપાસ્તસ્યાત્મન પરિણામાસ્તેષાં યદ્ જ્ઞાન તન્મનઃપર્યયજ્ઞાનમ્ ।

મન પર્યયજ્ઞાની ચ મન‘પર્યયાનેવ પ્રત્યક્ષીકરોતિ ન તુ વાક્યં વસ્તુ । ન ચ— ‘મન પર્યયજ્ઞાનિના વાક્ય વસ્તુ ન જ્ઞાપતે’ इति वाच्यम्, અનુમાનતસ્તસ્ય વાક્યવસ્તુ— જ્ઞાનસમ્પ્રાવાત્ । યથા—વિશિષ્ટજ્ઞાયોપશમિરૂપતિમાશાલી પ્રેક્ષાવાન્ પ્રજ્ઞાન્ત કસ્યચિદાકારેન્નિતાદિકં ચિલોક્ય તદીયમનોગત ભાવં સામર્થ્યં ચાનુમાનતો વિજાનાતિ ।

હૈ : અરૂપી, ચેતનાસ્વરૂપ, કર્મોં કા કર્તા, કર્મફલમોક્તા, इत्यादि आत्मा के जो ज्ञान विशेषरूप परिणाम हैं, उन्हें जानना मन पर्ययज्ञान है । मन पर्ययज्ञानी जीव, मन के पर्यायों को ही प्रत्यक्ष करता है, वाक्य वस्तु को नहीं । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि—मन पर्ययज्ञानी वाक्य वस्तुओं को जानता ही नहीं है । मन पर्ययज्ञानी को अनुमान से वाक्य पदार्थों का ज्ञान होता है । जैसे—विशिष्टज्ञयोपशम—अन्य प्रतिमा बाह्य बुद्धिमान् पुरुष किसी के इशारे या चेष्टा को देखकर उसके मनका भाव और उसका सामर्थ्य अनुमान से जान लेता है, इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी दूसरे के भावरूप मन को पूर्णतया प्रत्यक्ष करके अनुमान से वाक्य वस्तु को जान लेता है कि—‘इसने अमुक वस्तु का विचार किया है’ । वाक्य पदार्थों का विचार करते समय उसी पदार्थ के आकार का मन हो जाता है ।

છે ? અરૂપી, ચેતના—સ્વરૂપ, કર્મોંના કર્તા, કર્મફલમોક્તા, इत्यादि आत्माना ज्ञान विशेषरूप के परिणाम છે, તેને બહુવા તે મન પર્યય જ્ઞાન છે

મન પર્યય જ્ઞાની જીવ મનના પર્યાયોને જ પ્રત્યક્ષ કરે છે બહારની વસ્તુઓને નહિ પરંતુ જ્યેમ કહેવું ઠીક નથી કે—મન પર્યયજ્ઞાની બહારની વસ્તુઓને બહુતા જ નથી મન પર્યયજ્ઞાનીઓને અનુમાનથી બહારની વસ્તુઓનું જ્ઞાન હોય છે જેમકે— વિશિષ્ટજ્ઞયોપશમઅન્ય પ્રતિભાવાળા બુદ્ધિમાન પુરુષ કોઈના ઇશારાથી અથવા ચેષ્ટાને જોઈને તેના મનનો ભાવ અને તેનું સામર્થ્ય અનુમાનથી બહુ લે છે, જે પ્રમાણે મન પર્યયજ્ઞાની જીવના ભાવરૂપ મનને પૂણ્ણ રૂપમા પ્રત્યક્ષ કરીને અનુમાનથી બહારની વસ્તુઓને બહુ લે છે કે—“તેણે અમુક વસ્તુનો વિચાર કર્યો છે” બહારના પદાર્થોનો વિચાર કરવાના સમયે તેજ પદાર્થના આકારરૂપ મન થઈ જાય છે

મતિજ્ઞાન ચાનેકવિષમ્ , ઈદાદિમેદાત્ । ઉક્તશ્ચ મગવતા—

“ઈદા અપોહ ધીમસા, મગ્ગણા ય ગવેષણા ।

સન્ના સર્દ મર્દ પશ્ચા, સત્ત્વ આમિણિવોદિયં” ॥ (નન્દી મતિ જ્ઞાનગાથા ૨૭)

છાયા-ઈદા, અપોહ વિમર્શ, માર્ગણા ચ ગવેષણા ।

સન્ના સ્મૃતિઃ મતિ પ્રજ્ઞા સર્વમ્ આમિણિવોધિકમ્ ॥

‘આમિણિવોદિય’ इत्यनेन त्रिकालविषयकं मतिज्ञानमुच्यते तथा-चोक्तं भगवता-“पंचविह णाण पण्णात् । तंजहा-(१) आमिणिवोदियणाणं, (२) सुयणाणं, (३) ओहिणाण (४) मणपज्जवणाण (५) केवलणाणं । इति (नन्दी, १)

(૧) ઈદા—

ઈદાઽપોહાદયો મતિજ્ઞાનમમેદાઃ । તત્ત્વ-ઈદનમ્-ઈદા । નામજાત્યાદિ-

यहाँ मतिज्ञान का ही प्रसङ्ग है । मतिज्ञान, ईहा आदि के भेद से अनेक प्रकार का है । भगवान् ने कहा है —

“ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, सज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा, यह सब आमिनिवોધિક જ્ઞાન (મતિજ્ઞાન) છે ” (નન્દીસૂત્ર મતિજ્ઞાન ગાથા ૨૭)

આમિણિવોધિક જ્ઞાન का अर्थ है-त्रिकालविषयक मतिज्ञान । भगवान् ने कहा है — “ज्ञान पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार-(१) आमिनिवोधिकज्ञान, (२) सुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान” (नन्दी-सू० १)

(૧) ઈદા—

इहा अपोह आदि मतिज्ञान के भेद हैं । नाम और जाति आदि की विशेष

મતિજ્ઞાનને બે પ્રસંગ છે, મતિજ્ઞાન ઈદા આદિ બોદાથી અનેક પ્રકારનું છે ભગવાને કહ્યું છે કે -ઈદા, અપોહ, વિમર્શ, માર્ગણા, ગવેષણા, સજ્ઞા, સ્મૃતિ, મતિ, અને પ્રજ્ઞા, એ સર્વ આમિણિવોધિક જ્ઞાન-મતિજ્ઞાન છે (નન્દીસૂત્ર મતિજ્ઞાનગાથા ૨૭) આમિણિવોધિક જ્ઞાનને અર્થ છે-ત્રિકાલવિષયક મતિજ્ઞાન, ભગવાને કહ્યું છે કે - “જ્ઞાન પાંચ પ્રકારનું છે, તે આ પ્રમાણે (૧) આમિણિવોધિકજ્ઞાન (૨) સુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન (૪) મન પર્યાયજ્ઞાન અને-કેવલજ્ઞાન-(નન્દી સૂ૦ ૧)

(૧) ઈદા—

ઈદા તથા અપોહ વગેરે મતિજ્ઞાનના લેહ છે નામ અને જાતિ આદિની વિશેષ પ્ર આ-૨૪

કાલતોઽતીતાનાગતપલ્યોપમાસરયાતમાગવિપયમ્, માવતો મનોદ્રવ્યગતાનન્તપર્યાય વિપયકમ્ ।

### (૫) કેવલજ્ઞાનમ્ —

કેવલમ્—અકમસહાયં જ્ઞાનાવરણીયકર્માત્પન્તક્ષયસમુદ્ભૂતમ્—અતીતાના ગતવર્તમાનયથાવસ્થિતસકલદ્રવ્યગુણપર્યાયવિપયકમપ્રતિપાતિ જ્ઞાન કેવલજ્ઞાનમ્ ।  
અત્ર ગ્રન્થવિસ્તરમિયા વિરમામ ।

જ્ઞાનપ્રસન્નેન મત્પાદિભેદપञ्ચકં પ્રદર્શિત, પ્રકૃતે તુ મતિજ્ઞાનસ્યૈવાધિકાર' ।

(અહાં દ્વીપ કો), કાલ સે પન્થોપમ કે અસપ્ત્યાસર્વે ભાગ—મૂત—મવિખ્યત્ કાલકો ઔર માવ સે મનોદ્રવ્ય કી અનન્ત પર્યાયો કો વિપય કરતા હૈ ।

### (૫) કેવલજ્ઞાન—

કેવલજ્ઞાન, કેવલ અર્થાત્ એક હી હૈ । ઉસ કે સાથ દૂસરા જ્ઞાન નહીં હોતા । વહ અસહાય હૈ અર્થાત્ ઇન્દ્રિય મન આદિ કિસી કી સહાયતા કી ઉસે અપેક્ષા નહીં હૈ । વહ જ્ઞાનાવરણ કર્મ કે આયન્તિક ક્ષય સે ઉત્પન્ન હોતા હૈ । અતીત, અનાગત, વર્તમાન કાલ કે સમસ્ત દ્રવ્યો ગુણો ઔર પર્યાયો કો ચચાર્વરૂપ મેં જ્ઞાનતા હૈ, અપ્રતિપાતી હૈ, અર્થાત્ એકવાર ઉત્પન્ન હો કર કમી નષ્ટ નહીં હોતા । એસા જ્ઞાન કેવલજ્ઞાન કહલાતા હૈ । પ્રથવિસ્તાર કે મય સે અધિક વિસ્તાર નહીં કરતે ।

જ્ઞાન કા પ્રકરણ હોને સે મતિજ્ઞાન આદિ પાંચ ભેદ બતલાયે જા ચુકે હૈ ।

માત્રને (અહીં દ્વીપને) કાલથી પદ્યોપમના અસપ્ત્યાસર્ગ ભાગે મૂત-મવિખ્ય કાલને અને આવથી મનોદ્રવ્યની અનન્ત પર્યાયોને બાંધે છે

### (૫) કેવલજ્ઞાન—

કેવલજ્ઞાન, કેવલ અર્થાત્ એકજ છે તેની સાથે બીજું જ્ઞાન થતું નથી, તે અસહાય છે, અર્થાત્ ઇન્દ્રિય, મન આદિ કોઈની પણ સહાયતાની તેને અપેક્ષા નથી. અને તે કેવલજ્ઞાન જ્ઞાનાવરણીય કર્મના આત્મિક ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે કેવલજ્ઞાન મૂતકાલ, મવિખ્યકાલ અને વર્તમાન કાલના સમસ્ત દ્રવ્યો, ગુણો અને પર્યાયોને ચચાર્વરૂપથી બાંધે છે તે અપ્રતિપાતી છે, અર્થાત્ એક વાર ઉત્પન્ન થઈને ફરી કોઈ પણ વખત નાશ પામતું નથી, એવું જ જ્ઞાન તે કેવલજ્ઞાન કહેવાય છે અથવિસ્તારના કાયથી અધિક વિસ્તાર અહિં કરતા નથી

જ્ઞાનનું પ્રકરણ હોવાથી મતિજ્ઞાન આદિ પાંચ ભેદો બતાવ્યા અહિં

સામાન્યજ્ઞાનોત્તર કાલ વિશેષનિશ્ચયાર્થે વિચારણાયા પ્રવૃત્તાયાં તદનુ  
ગુણદોષવિચારણાજનિતો નિશ્ચયઃ, યથા-‘કિમયં કમલનાલસ્પર્શઃ, આહોસ્વિદ્  
મુજક્ષમસ્પર્શઃ ?’ इति विचारणायां ‘मृणालस्यैवाय स्पर्शः’, अस्यन्तशीतादिगुणवत्त्वा-  
दिस्पर्शस्यैवाय’-मिति निश्चयोज्ञ्य मुजक्षमस्पर्शमपनुदति, तस्मादय निश्चयोज्जोहोऽ-  
पनोदश्चेति निगद्यते ।

(૩) મીમાંસા—

મીમાંસા-માતૃમિલ્લા, માતૃ-જીવાદિસ્વરૂપ ત્રાતૃમિલ્લા ।

(૪) માર્ગણા—

જીવાદિપદાર્થસ્ય યથાવસ્થિતસ્વરૂપાન્વેષણ માર્ગણા ।

સામાન્ય જ્ઞાન કે પદ્ધત્ વિશેષ કા નિશ્ચય કરને કે લિખ વિચારણા પ્રવૃત્ત  
હોને પર પદ્ધત્ ગુણ-દોષ કી વિચારણા સે ઉત્પન્ન નિશ્ચય અપોહ કહલાતા હૈ । યથા-  
‘यह कमलनालका स्पर्श है या सर्प का स्पर्श है ?’ इस प्रकार की विचारणा होने पर “यह  
कमलनाल का ही स्पर्श है, क्यों कि इस में अस्यन्त शतिलता है” इस प्रकार का  
निश्चय होना, और यह निश्चय अन्य का अर्थात् सर्प के स्पर्श का निराकरण करदेता है,  
अत एव यह निश्चय अपोह, अपाय और अपनोद भी कहलाता है ।

(૩) વિમર્શ—

જીવ આદિ ક સ્વરૂપ કો જાનન કી રૂપ્પા વિમર્શ હૈ ।

(૪) માર્ગણા—

જીવ આદિ પદાર્થો કે યથાર્થ સ્વરૂપ કા અન્વેષણ કરના માર્ગણા હૈ ।

સામાન્ય જ્ઞાન યથા પછી વિશેષને નિશ્ચય કરવા માટે વિચારણા થતા પછી  
તેના શુભ-દોષની વિચારણાથી ઉત્પન્ન નિશ્ચય તેને અપોહ કહે છે, જેમ-‘આ  
કમલના નાળનો સ્પર્શ છે કે સર્પનો સ્પર્શ છે ?’ આ પ્રકારની વિચારણા થતા પછી  
નક્કી કરવામા આવે કે “આ સ્પર્શ કમલના નાળનો જ છે, કેમકે તેમા અત્યન્ત  
શીતલતા છે” એ પ્રકારનો નિશ્ચય થાય છે અને એ નિશ્ચય બીજાને અર્થાત્ સર્પના  
સ્પર્શનો નિરાકરણ કરી દે છે તેથી કરી આ નિશ્ચય તે અપોહ અપાય અને  
અપનોદ પણ કહેવાય છે

(૩) વિમર્શ—

જીવ આદિના સ્વરૂપને બહુવાની ઈચ્છા તે વિમર્શ છે

(૪) માર્ગણા—

જીવ આદિ પદાર્થોના યથાર્થ સ્વરૂપનું અન્વેષણ કરવું તે માર્ગણા છે



विशेषफल्यनारहितसामान्यज्ञानोत्तर विशेषनिश्चयार्थं विचारणा-ईहा । यथा-  
स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शसामान्ये । ज्ञाते सति, 'तदनु कीदृशोऽयं स्पर्शः ? , कस्यापि  
स्पर्शः ? , किमयं कमलनालस्पर्शः उताहो भुजङ्गमस्पर्शः ? इति गाढान्वकारे चक्षुष्म-  
सोऽपि विचारणा प्रवर्तते ।

## (२) अपोहः—

अपोहनम्—अपोहः निश्चयः । कोऽयमपोहः ? उच्यते—मतिज्ञानस्यावग्रहादि-  
भेदचतुष्टये तृतीयभेदो योऽपायः स एवापोहश्चन्देनोच्यते । अवग्रहादिभेद-  
चतुष्टयं च नन्दीसूत्रे भगवतैष प्रदर्शितमस्ति ।

कल्पना से रहित सामान्यज्ञान के पश्चात् होने वाली विचारणा ईहा कहलाती है ।  
जैसे—स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा स्पर्शका सामान्य ज्ञान होने के पश्चात् गाढ अन्वकार होने  
पर चक्षुवाले को भी यह विचारणा होती है कि यह स्पर्श कैसा है ? किसका यह  
'स्पर्श' है ? 'यह कमल' के 'नाल' का 'स्पर्श' है या सर्प का 'स्पर्श' है ? इस प्रकार की  
विचारणा को ईहा कहते हैं । १।

## (२) अपोहः—

अपोह का अर्थ है—निश्चय । अपोह क्या है ? कहते हैं—मतिज्ञान के  
अवग्रह आदि चार भेदों में तीसरा भेद जो अपाय है उसी को यहाँ 'अपोह' शब्द  
द्वारा कहा है । अवग्रह आदि चार भेद नन्दीसूत्र में भगवान् ने कहे हैं ।

कल्पनाधी रहित, सामान्य ज्ञानही पछी यवा वाणी विचारणाने छडा कहे छे, जेभडे-  
स्पर्शनेन्द्रियना द्वारा स्पर्शनु' सामान्य ज्ञान यथा 'पछी गाढे अन्वकार थाय आदि  
'नेत्रवाणाने पछु जे-विचार थाय छे' के-अप्य स्पर्श' केवे छे ? आ केअप्य स्पर्श' कथो  
छे शेनो स्पर्श' छे ? , अप्य कमलना नाणनो स्पर्श' छे' के सर्पनो स्पर्श' छे ? , अप्य  
भक्रासनी विचारण्य तेने छडा कहे छे

## (२) अपोहः—

अपोहना अर्थ छे 'निश्चय, अपोह' जे शुं छे ? कहे छे के—मतिज्ञानना अवग्रह  
आदि चार भेदो पैकीनो तीको भेद जे अपाय छे, तेने आदि 'अपोह' शब्दकी  
कहेव छे अवग्रह आदि चार भेद नन्दीसूत्रमा भगवाने कहेवा छे

चेष्टणा देवी हेमन्ते भगवत्समवसरणत प्रत्यागच्छन्ती मार्ग महारण्ये स्वप्रतिज्ञाऽविन जिनरूपिन कमपि मुनि ध्यानावस्थमालोक्य भक्त्या तद्दर्शनवन्दनादिकं विधाय म्वप्राप्तादमागता रात्रौ मुक्ता । निद्रावस्थार्या तस्याः पाणिरावणवस्त्राद् बहिर्भूत शीतेन श्लिथिलीचभूत् । अथाऽसौ जागरिता जडीभूत स्वहस्त विलोक्य शीतादिपरिपदपरिगत महारण्यस्य मुनि स्मृतवती “कथमहो असौ मुनिरिदानीं बहिर्मावने शीतपरिभूतो भविष्यति” । इति कर्मणा महानिर्जरा महापर्यवसान चकार ।

चेष्टना देवी हेमत ऋतु में भगवान् के समवसरणसे लौटती हुई, मार्ग में महा-अरण्य में, अपनी प्रतिज्ञा पालने वाड़े किन्ही जिनरूपी मुनि को ध्यान में स्थित देखकर, भक्तिपूर्वक उन का दर्शन बदन आदि कर के अपने महल में आइ और रात्रि में सो गई । निद्रावस्था में उस का हाथ ओढ़ने के बख से बाहर निकल गया और ठंड के कारण ठर गया । रानी की नींद खुल गई । उसने अपने हाथ को जडीभूत देख कर शीत परिपदों से आक्रान्त, महा-अरण्यवासी मुनिका स्मरण किया । कहने लगी-अहो ! महावन में, नगर के बाहर वह मुनि इस समय शीत से कैसा कष्ट पा रहे होंगे ? ऐसा सोच कर उसने कर्म की महानिर्जरा की ।

चेष्टना देवी हेमन्त ऋतुमा भगवानना समवसरणमाथी पाछी हरे त्यारे भाजभा महावनमा, पोतानी प्रतिज्ञा पालनार, कोठ कोठ जिनरूपी मुनिने ध्यानमा स्थित नोछने, भक्तिपूर्वक तेना दर्शन, बदन वगैरे करीने पोताना भेलेलमा आवी अने रात्रीको सुधे गधे निद्रावस्थामा तेने कोठ हाथ ओढ़वाना वखमाथी जहार रही गयो, अने ठंडी होवाना कारणे ते हाथ ठरी गयो, रात्रीनी निद्रा छली गधे, त्यारे तेजे पोताना हाथने ठरी जवाथी जड जेवो नोछने शीत आदि परिपदोथी आक्रान्त, महा-वनवासी मुनि साबरी आव्या, अने कहेवा लागी ठे-अहो ! महावनमा नगर जहार ते मुनि आ समयमा शीतधी ठेवु कष्ट पावता ह्यो ? जेवो विचार करीने कर्मनी महानिर्जरा करी.

## (૫) ગવેષણા—

માર્ગણાનન્તરમનુપલભ્યસ્ય જીવાદિપદાર્થસ્ય સર્વતઃ પરિમાત્રન-નિર્ણયાભિ-  
મુલ્લવિચારપરાયણતા ગવેષણા ।

## (૬) સજ્ઞા—

ઇન્દ્રિયજન્યજ્ઞાનવિષયીભૂતસ્યાર્થસ્ય પુનર્દર્શનેન “સ ઇવાય”-મિતિ જાણમાન  
જ્ઞાનં સજ્ઞા । યથા—“સ ઇવાયમાહારકલગ્નિમાન્ મહાત્મા, યો મયા કાનને દ્યુ ” ।

## (૭) સ્મૃતિ—

અનુભૂતાર્થવિષયક જ્ઞાન સ્મૃતિઃ । ઇદ જ્ઞાનમતીતવિષયકં ભવતિ ।  
અત્રોદાહરણ યથા—

## (૫) ગવેષણા—

માર્ગણા કે પશ્ચાત્ ઉપલબ્ધ ન હોને વાળા જીવાદિ પદાર્થોં કા પૂરી તરહ વિચાર  
કરના અર્થાત્ નિર્ણય કે અભિમુલ્લ વિચારપરાયણતા ગવેષણા હૈ ।

## (૬) સજ્ઞા—

ઇન્દ્રિયજન્ય જ્ઞાનકે વિષયભૂત પદાર્થ કા પુન દર્શન હોને પર ‘યહ વહી હૈ’  
ઇસ પ્રકાર સે ઉત્પન્ન હોને વાળા જ્ઞાન સજ્ઞા કહ્લાતા હૈ । જૈસે—“યહ વહી આહારકલગ્નિ  
વાલે મહાત્મા હૈં જિહ્વેં મૈને વનમેં દેલા થા” ।

## (૭) સ્મૃતિ—

પહલે અનુભવ ક્રિયે હુઇ પદાર્થ હો વિષય કરનેવાલા જ્ઞાન સ્મૃતિ કહ્લાતા  
હૈ । સ્મૃતિજ્ઞાન અતીતવિષયક હી હોતા હૈ । યહોં એક ઉદાહરણ હૈ, જૈસે—

## (૫) ગવેષણા—

માર્ગણાની પછી ઉપલબ્ધ નહિ થવા વાળા જીવાદિ પદાર્થોંના પૂરી રીતે વિચાર  
કરવો અર્થાત્ નિર્ણયને અભિમુલ્લ-વિચાર પરાયણતાને ગવેષણા કહે છે

## (૬) સજ્ઞા—

ઇન્દ્રિયજન્ય જ્ઞાનતા વિષયભૂત પદાર્થોંનું ફરી દર્શન થતા “આ તેજ છે”  
એ પ્રકારે ઉત્પન્ન થવા વાળું જ્ઞાન તે સજ્ઞા કહેવાય છે જેમ—“આ તેજ આહારક-  
લગ્નિવાળા મહાત્મા છે જેને મેં વનમાં બોલા ક્રતા”

## (૭) સ્મૃતિ—

પ્રથમ અનુભવ કરેલા પદાર્થોંના વિષય કરનાર જ્ઞાન સ્મૃતિ કહેવાય છે । સ્મૃતિ-જ્ઞાન  
અતીત વિષયનું જ, (વીતી ગયેલા પ્રસંગનું જ) ડોચ છે અહીં એક ઉદાહરણ,

સા સજ્ઞા કિંસ્વરૂપા, યા ન મવત્યેકેપામ્ ? इत्याकाङ्क्षायामाह—“ तजहा ” इति । सा यया—

“પુરતિયમાઓ વા દિસાઓ” इत्यारभ्य—“अहोदिसाओ वा आगओ अहमसि” इत्यन्तेनेदमुक्त मवति—वर्तमानजन्मन. प्राक् कस्यां दिशि ममावस्थान-मासीदिति स्वगत्यागत्यवधिविशिष्टपूर्वादिपद्विदशज्ञान नास्ति संज्ञिनामपि कियतांचित् । यथा—मदिरामदघूर्णितनयनो मूर्छित पथि पतितः स्वजनादिना समुत्थाप्य गृहमानीयते । अथ मूर्छापगमेऽप्यसौ न जानाति—काहं पतितः ?, कपमुत्थापितः ?, केन कया रीत्याऽत्र समानीतोऽस्मी ?—ति । तद्वद् विशिष्टसंज्ञाया

वह सज्ञा किस प्रकारकी है जो किन्हीं २ जीवों को नहीं होती ? । इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहा गया है—तजहा—अर्थात् वह इस प्रकार—

‘પુરતિયમાઓવા વા દિશાઓ’ से लेकर ‘अहोदिशाओवा आगओ अहमसि’ तक का आशय यह है कि—इस वर्तमान जन्म से पहले मैं कहाँ रहता था ?, इस प्रकारका अपनी गति—आगति से युक्त वह दिशाओं का ज्ञान कितनेक सज्जी जीवोंको भी नहीं होता । जैसे—मदिरा के मद से छका हुआ, मूर्छित और रास्ते में पड़ा हुआ पुरुष स्वप्न आदि के द्वारा उठाकर घर लाया जाता है, किन्तु मूर्च्छा हट जाने पर भी उसे ज्ञान नहीं होता कि—मैं कहाँ गिरा था ?, किस प्रकार उठाया गया ?, कौन किस प्रकार मुझे यहाँ लाया ?, इसी प्रकार विशिष्ट सज्ञा के अभाव के कारण जीव

તે સજ્ઞા કેવા પ્રકારની છે, જે કોઈ-કોઈ જીવોને નથી હોતી ?, આ પ્રશ્નો જણાવ્યા થવાથી કહ્યું છે કે—‘તજહા’ અર્થાત તે આ પ્રકાર—

“પુરતિયમાઓવા દિસાઓ” થી લઇને “अहोदिसाओ वा आगओ अहमसि,” સુધીનો આશય એ છે કે—આ વર્તમાન જન્મથી પહેલાં હું ક્યા રહેતો હતો, આ પ્રકારનું પોતાની ગતિ-આગતિથી યુક્ત છ દિશાઓનું જ્ઞાન કેટલાક સજ્જી જીવોને પણ નથી થતું જેમ મદિરાના કેદથી છટેલા મૂર્છિત-બેશ્વર સ્ત્રામાં પડેલા પુરુષને સ્વજનદ્વારા ઠંકાવીને પોતાના ઘર લાવવામાં આવે છે, પરંતુ મૂર્છા ઉતરી ગયા પછી પણ તેને જ્ઞાન થતું નથી કે—હું ક્યા પડી ગયો હતો ? કેવી રીતે મને ઉઠાવ્યો ? કેણુ કેવી રીતે મને આદિ લાવ્યા ?, આ પ્રકારની વિશિષ્ટ સજ્ઞાના

(૮) મતિ:—

વર્તમાનવિષયક જ્ઞાન મતિ । યથા—‘ મુનિઃ સયમાર્થ મિત્તામટતિ ’ ।

(૯) પ્રજ્ઞા—

વિશિષ્ટક્ષયોપશમઞ્ચ પ્રમૂતપદાર્થવર્તિ યથાવસ્થિતસ્વરૂપનિર્ણયાત્મક

જ્ઞાન પ્રજ્ઞા ।

આમિનિબોધિકસ્વરૂપસ્ય મતિજ્ઞાનસ્ય પ્રમેદા ઉક્તા ।

“ જ્ઞેયકેપાં નો સંજ્ઞા મયતી ”—ત્યજ્ર સજ્ઞાશબ્દેન મતિજ્ઞાનાન્તર્ગત સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ જ્ઞાન મગવતા નોશબ્દનિર્દેશેન મતિષેધિતમ્, ન તુ સર્વવિધસંજ્ઞારૂપ સામાન્ય જ્ઞાનમ્ ।

(૮) મતિ:—

વર્તમાનવિષયક જ્ઞાન મતિ કહાતા છે । જેસે—‘ મુનિ સયમ પાલને કે અર્થ મિત્તાકે સ્થિત અમણ કરતા છે । ’

(૯) પ્રજ્ઞા—

વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમ સે ઉત્પન્ન હોને વાળા ઔર પ્રમૂત પદાર્થો કે યથાર્થ સ્વરૂપ કા નિર્ણયાત્મક જ્ઞાન પ્રજ્ઞા છે ।

આમિનિબોધિકરૂપ મતિજ્ઞાન કે પ્રમેદ કહે’ગયે ।

‘ કિતનેક બીજાકો સજ્ઞા નહીં હોતી ’ યદ્દા સજ્ઞા શબ્દ સે મતિજ્ઞાન કે અન્તર્ગત સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ જ્ઞાન કા મગવાન્ને ‘ નો ’ શબ્દ કા નિર્દેશ કરકે નિષેધ ક્રિયા છે, કિન્તુ સર્વ પ્રકાર કી સજ્ઞારૂપ સામાન્ય જ્ઞાનકા નિષેધ નહીં ક્રિયા છે ।

(૮) મતિ:—

વર્તમાન વિષયનુ જ્ઞાન તે મતિ કહેવાય છે, જેમ ‘ મુનિ સયમ પાલન-માટે મિત્તા લેવા અમણ કરે છે ’

(૯) પ્રજ્ઞા—

વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનાર પ્રમૂત પદાર્થોના યથાર્થ સ્વરૂપનુ નિર્ણયાત્મક જ્ઞાન તે પ્રજ્ઞા છે

આમિનિબોધિકરૂપ મતિજ્ઞાનના પ્રમેદ કહેવાયા

‘ કંટલાક છોડેને સજ્ઞા નથી થતી ’ આદિ સજ્ઞા શબ્દથી મતિજ્ઞાનના અતર્ગત સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ જ્ઞાનનો અગવાને ‘ નો ’ શબ્દનો નિર્દેશ કરીને નિષેધ કયો છે પરંતુ સર્વ પ્રકારની સજ્ઞારૂપ સામાન્ય જ્ઞાનનો નિષેધ કયો નથી

પૂર્વા, દક્ષિણા, પશ્ચિમા, ઉત્તરા ચેતિ ચતસ્રો. દિશ., ઇશાની આગ્નેયી, નૈઋતી, વાયવી ચેતિ ચતસ્રો વિદિશઃ, આસામપ્ટાનામન્તરાન્ના અપ્ટાવન્તરદિશ, મિલિત્વા પોઢશ્ચ । અયોર્ધ્વમ્, અધથેતિ દ્વે રિતિ, તયોર્યોગેષ્ટાદશ । દ્રવ્યદિગેવ પ્રજ્ઞાપકદિક્ષન્દેનાપ્યુચ્યન્તે ।

તથા-સંમૂર્ત્તિમનુષ્યા, ગર્ભજર્મભૂમિમનુષ્યા, ગર્ભજાર્કર્મભૂમિમનુષ્યા, પદ્મજ્ઞાનદન્તરદ્વીપમનુષ્યા, રિતિ ચતુર્વિધા મનુષ્યાઃ, દ્વિપ્રિચતુરપશ્ચેન્દ્રિયમેદેન ચતુર્વિધાસ્તિર્યશ્ચ,

પૃથિવ્યપ્તેજોવાયુકાયમદાન્ચતુર્વિધા સ્થાવરા । અગ્રવીજ-મૂલવીજ-પર્વવીજ-સ્કન્ધવીજ-ભેદાન્ચતુર્વિધા વનસ્પતય । રિતિ મિલિત્વા પોઢશ્ચ । નરકગતિ-

પશ્ચિમ, દક્ષિણ ઓર ઉત્તર ચાર દિગાઈ છે । ર્શાન, અગ્નય નૈઋત્ય, વાયવ્ય, યે ચાર વિદિગાઈ છે । રન આઠો કે બીચ મ આઠ અવાન્તર દિશાઈ છે । યે સમ મિલકર સેત્રહ હોતી છે । રન મ ઊર્ધ્વદિશા ઓર અધોદિશા ગામિલ કર દેને સે અઠારહ દ્રવ્ય-દિશાઈ હોતી છે । દ્રવ્યદિશાકો હી પ્રજ્ઞાપકદિશા મી કહતે છે ।

તથા—સમૂર્ત્તિમ મનુષ્ય, ગર્ભજ-ર્મભૂમિજ મનુષ્ય, ગર્ભજ-ર્કર્મભૂમિજ મનુષ્ય, ળ્યન અન્તરદ્વીપો કે મનુષ્ય, યે ચાર પ્રકાર કે મનુષ્ય । દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, ઓર પશ્ચેન્દ્રિય કે મેદ સે ચાર પ્રકાર કે તિર્યશ્ચ । પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય ઓર વાયુકાય કે મેદ સે ચાર પ્રકાર કે સ્થાવર, ઓર અગ્રવીજ, મૂલવીજ, પર્વવીજ, તથા

દક્ષિણ અને ઉત્તર આ આર દિશાઓ છે અગ્નિ, ઇશાન, નૈઋત્મ, અને વાયવ્ય, આ આર વિદિશાઓ છે, આ આઠની વચ્ચમા આઠ અવાન્તર દિશાઓ છે આ સર્વ મળીને સોળ દિશાઓ થાય છે તેમ ઉર્ધ્વદિશા અને અધોદિશા ગામિલ ઠરવાથી અઠાર દ્રવ્ય દિશાઓ થાય છે, દ્રવ્યદિશાને પ્રજ્ઞાપકદિશા પણ કહે છે તથા-સ મૂર્ત્તિમ મનુષ્ય, ગભ જ ઠમભૂમિ જ મનુષ્ય, ગભ જ-અકર્મભૂમિ જ મનુષ્ય, ળ્યન અન્તરદ્વીપોના મનુષ્ય, આ આર પ્રકારના મનુષ્ય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, અતુરિન્દ્રિય અને પશ્ચેન્દ્રિયના લેહથી આર પ્રકારના તિર્ય-ય, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય અને વાયુકાયના લેહથી આર પ્રકારના સ્થાવર, અને અગ્રવીજ, મૂલવીજ, પર્વવીજ

અમાવાજ્જીવઃ પૂર્વમવ ન જાનાતિ ।

“અણ્વયરીઓ વા દિસાઓ” ઇતિ । યાવત્યો દિશ સન્તિ ત્વ કસ્યાશ્ચિદેકસ્યા દિશ સમાગતોઽસ્મીતિ સ્વાગમનાવધિદિશ સામાન્યરૂપેનાપિ ન જાનન્તિ કતિચન સમિતે, સર્વદિગ્જ્ઞાનામાધેનાન્યતરદિગ્જ્ઞાનાસમત્રાદિતિ ભાવ ।

“અણુદિસાઓ વા” ઇતિ । ઈશાનાદયઃ ફોણરૂપા વિદિશોઽનુદિશઃ । તાસાં મધ્યે કસ્યાશ્ચિદેકસ્યા અનુદિશ સમાગતોઽસ્મીતિ સામાન્યરૂપેણ, તથૈશાન્યા આગ્રેગ્યા ઇત્યાદિ વિશેષરૂપેણ ચ સ્વાગત્યવધિભૂતાયા અનુદિશો જ્ઞાનં ન ભવતી ત્યમિમાય ।

અય દિશ કતિ સન્તિ ? ઉચ્યતે—સક્ષેપતો દ્રવ્ય—ભાવ—મેદેન દિશ્વા દ્વિવિધા ।

અપના પૂર્વ મવ નહીં જાનતા ।

‘અણ્વયરીઓ વા દિસાઓ’ અર્થાત્ જિતની દિશાપ છે, उनमें किसी भी एक दिशा से मैं आया हूँ, इस प्रकार अपन आगमन की दिशा को सामान्यरूप से भी कितनेक सझी नहीं जानते हैं । क्योंकि सभी दिशाओं के ज्ञानके अभाव में किसी एक दिशा का ज्ञान होना असम्भव ही है । ‘अणुदिशाओं वા’ ઈશાન વગેરહ કોગરૂપ વિદિશાઓ કો અનુદિશા કહતે હૈ । उनमें से सामान्यरूप से किसी भी एक दिशा से मैं आया हूँ, या विशेषरूप से ઈશાન, આગ્રેય આદિ વિદિશા સે મૈં આયા હૂં, પેસા જ્ઞાન નહીં હોતા ।

પ્રશ્ન—દિશાઈ કિંતની હૈ ?

ઉત્તર—સક્ષેપ સે દિશા કે દો મેદ હૈ—દ્રવ્ય—દિશા, ઔર ભાવ—દિશા । પૂર્વ,

અભાવથી છવ પોતાના પૂર્વભવને બાણતો નથી.

‘અણ્વયરીઓ વા દિસાઓ’ અર્થાત્ જેટલી દિશાઓ છે, તેમાંથી કોઈ પણ એક દિશાથી હું આવ્યો છું અથવા પ્રમાણે પોતાના આગમનની દિશાને સામાન્ય રૂપથી પણ કેટલાક સત્તી બાણતા નથી કેમકે સર્વ દિશાઓના જ્ઞાનના અભાવથી કોઈ એક દિશાનુ જ્ઞાન થવું તે અસંભવ છે ‘અણુદિસાઓ વા’ ઈશાન વગેરે કોણ રૂપ વિદિશાઓને અનુદિશા કહે છે તેમાંથી સામાન્યરૂપે કોઈ પણ એક દિશાથી હું આવ્યો છું, અથવા વિશેષરૂપથી ઈશાન આગ્રેય આદિ વિદિશાઓથી હું આવ્યો છું એવું જ્ઞાન થવું નથી.

પ્રશ્ન—દિશાઓ કેટલી છે ?

ઉત્તર—સક્ષેપથી દિશાના બે ભેદ છે—દ્રવ્યદિશા અને ભાવદિશા. પૂર્વ, પશ્ચિમ,

દ્રવ્યદિગ્વિષયક જ્ઞાન ન ભવત્યેકેષામિતિ વિવક્ષયા-“ઇદમેગેસિ જો મળ્ણા મવ્હ” ઇત્યુક્ત મગવતા । ભાવદિશાવિષયક ચ જ્ઞાનં ન ભવત્યેકેષામિતિ વક્ષ્યતેઽનન્તરમુત્તર એવ-“એવમેગેસિ જો જાણ મવ્હ” ઇત્યાદિના । ॥ સુ. ૨ ॥

ભાવદિશાવિષયકં ચ જ્ઞાનં મવતિ મગ્ગિના ક્રિયતાંચિદિત્યાહ-‘એવમેગેસિ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્ ।

એવમેગેસિ જો જાણ મવ્હ-અર્થ મે આયા ઓવવારણ, નત્ય મે આયા ઓવવારણ, કે અહ આમી, કે વા ઇમો જુણ હહ પન્વા મવિસ્સામિ ॥ સુ. ૩ ॥

( જાયા )

એવમેકેષાં નો જ્ઞાત મવતિ-અસ્તિ મે આત્મા ઓપપાતિક, નાસ્તિ મે આત્મા ઓપપાતિક, કોઽહમાસમ્, કો વા ઇતમ્ચ્યુન હહ મેત્ય મવિપ્પામિ ? ॥ સુ. ૩ ॥

કિતનક જીવા કો દ્રવ્યદિશાસમ્બધી જ્ઞાન નહીં હોતા, હસ અપેક્ષા સે મગવાનને કહા હૈ કિ-‘ઇદમેગેસિ જો સળ્ણા મવ્હ’ । ભાવદિશાવિષયક જ્ઞાન કિતનેકો નહીં હોતા હૈ, મહ વાત ‘એવમેગેસિ જો જાણ મવ્હ’ ઇત્યાદિ અગલે સૂત્ર મ કહી વાયગી ॥ સુ. ૨ ॥

કિતનેક મજ્ઞી જીવાકો ભાવદિશાવિષયક જ્ઞાન નહીં હોતા મહ કહતે હૈ-‘એવમેગેસિ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ-કિન્હી જીવોકો મહ જ્ઞાન નહીં હોતા કિ-મેરા આત્મા ઉત્પત્તિશીલ હૈ યા મેરા આત્મા ઉત્પત્તિશીલ નહીં હૈ । મૈં પહેલે કૌન યા જૌર યહીં સે મરકર પરલોક મૈં કૌન હોલ્કા ? ॥ સુ. ૩ ॥

કેટલાક જીવોને દ્રવ્યદિશાસમ્બધી જ્ઞાન નથી થતુ એ અપેક્ષાથી મગવાને કહ્યું છે કે -‘ઇદમેગેસિ જો સળ્ણા મવ્હ’ ભાવદિશા વિષયનુ જ્ઞાન કેટલાક જીવોને નથી. એ વાત ‘એવમેગેસિ જો જાણ મવ્હ’ ઇત્યાદિ આગલા સૂત્રમા કહીશુ ॥ સુ. ૨ ॥

કેટલાક સગ્ગી જીવોને ભાવદિશાવિષયનુ જ્ઞાન નથી તે કહે છે-‘એવમેગેસિ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ-કોઈ કોઈ જીવોને એ જ્ઞાન નથી કે મારો આત્મા ઉત્પત્તિશીલ છે, મારો આત્મા ઉત્પત્તિશીલ નથી, હું પ્રથમ કોણ હતો અને અદિથી મૃત્યુબાદ પરભવમાં હું કોણ થઈશ ? (હું કયા જઈશ ?) (સુ. ૩)



દેવગતિથેતિ દ્વે । સર્વયોગેષ્ટાદશ માવદિશ' સન્તિ ।

અય દિશાં વિદિશાં ચ પ્રવૃત્તિઃ કુત સ્થાનાદ્વતિ ? ઉચ્યતે—

તિર્યગ્લોકસ્ય મધ્યમાગે રત્નપ્રમા ભૂમિ, તદુપરિ મધ્યમાગે મેરુ-  
પર્વતામ્યન્તરે દ્વી લઘુતરી પ્રતરી સ્ત । તદુપરિ ગોસ્તનાકારાશ્વત્વારશ્વત્વારઃ  
પ્રદેશાઃ સન્તિ । ઈદ્દશાષ્ટપ્રદેશી ચતુષ્કોણો રુચકનામા માગોઽસ્તિ । તત્ત એવ દિશાં  
વિદિશાં ચ પ્રવૃત્તિર્મર્વતિ । ઉક્તશ્ચ—

“ તિર્યગ્લોકસ્ય મધ્યે યો, રુચકોઽષ્ટપ્રદેશક ।

દિશામનુદિશાં ચૈવ, પ્રવૃત્તિર્જાયતે તત્ત ” ॥૧॥

સ્કન્ધચીત્ર કે મેદ્ર સે ચાર પ્રકાર કી વનસ્પતિ, યે સમ મિલકર સોલ્હ હોતે હૈ ।  
તથા નરકગતિ ઔર દેવગતિ મિલકર અઠારહ પ્રકાર કી માવ-દિશાવૈ હૈ ।

પ્રશ્ન—દિશાઓ ઔર વિદિશાઓની પ્રવૃત્તિ કિસ સ્થાન સે હોતી હૈ ?

ઉત્તર—તિર્યગ્લોક કે મધ્યમાગ મેં રત્નપ્રમા ભૂમિ હૈ । ઉસકે ઉપર મધ્યમાગ  
મેં મેરુ પર્વત કે અન્દર દો છોટે પ્રતર હૈ । ઉનકે ઉપર ગાય કે સ્તન કે આકારવાલે  
ચાર ચાર પ્રદેશ હૈ । યેસા અષ્ટપ્રદેશી ચૌકોના રુચક નામક માગ હૈ । વહાં સે દિશાઓ  
ઔર વિદિશાઓ કા પ્રવૃત્તિ હોતી હૈ । કહા મો હૈ—

“ સિદ્ધે લોક કે મધ્ય મેં આઠ પ્રદેશવાલા રુચક માગ હૈ । ઉસી સે સર્વ દિશાઓ  
ઔર અનુદિશાઓ કી પ્રવૃત્તિ હોતી હૈ ॥ ૧ ॥ ”

તથા રુકધબીજના લેહથી ચાર પ્રકારની વનસ્પતિ, આ સર્વ મળીને શોળ થાય છે,  
તથા નરકગતિ અને દેવગતિ મળીને અઠાર પ્રકારની માવ-દિશાઓ છે

પ્રશ્ન—દિશાઓ અને વિદિશાઓની પ્રવૃત્તિ કયા સ્થાનથી હોય છે ?

ઉત્તર—તિર્યગ્લોકના મધ્ય ભાગમાં રત્નપ્રમા ભૂમિ છે, તેના ઉપર મધ્ય  
ભાગમાં મેરુ પર્વતની અન્દર નાના બે પ્રતર છે, તેના ઉપર ગાયના સ્તનના આકાર  
વાળા ચાર-ચાર પ્રદેશ છે જોવો આઠપ્રદેશી ચાર ખુણાવાળો રુચક નામનો ભાગ છે,  
તેનાથી દિશાઓ અને વિદિશાઓની પ્રવૃત્તિ થાય છે કહ્યું પણ છે —

“તિહાં હોહના મધ્યમા આઠ પ્રદેશવાળો રુચક ભાગ છે, ત્યાંથી સર્વ દિશાઓ  
અને અનુદિશાઓની પ્રવૃત્તિ થાય છે ” ॥ ૧ ॥

“દોષ્ઠ ઉવવાપ્ પળ્લત્તે તજ્જદા-દેવાણાં ચેવ ધેરહયાણ ચેવ”  
 इति । ( સ્થાનાઢ્ઢ ૨ સ્થા ૩ ઉ ૦ )

દ્રયોક્ષપાત પ્રપ્ત , તદયથા-દેવાના ચેવ નૈરયિકાળા ચેવ । ઇતિ ળ્છાયા ।  
 ઉપપાતાદાગત ઔપપાતિક । દવમવાદ્ નરકમવાદા મમાયમાત્મા  
 સમાગતોઽસ્તીત્પર્ય । નાસ્તિ મે આત્મા ઔપપાતિક ઇતિ, અત્ર-નંઁર્થસ્યૌપપાતિ-  
 ક્કઽન્વય । મમાત્મા-અનૌપપાતિકોઽસ્તીત્પર્ય । સમૂર્ઢનમવાદ્ ગર્મમવાદ્ વા  
 મમાત્મા સમાગતોઽસ્તીતિ માત્ર । ઇમમર્થ સ્પષ્ટીકર્તુમાદ-શ્લોઢહમાસમ્ ? ઇતિ ।

અત્ર પ્રસન્નવશેન જન્મતત્ત્વમેદાશ્ચ નિરૂપ્યન્તે—

“દો પ્રકાર કે જીવા કે ઉપપાતનમ કહા ગયા હૈ । વહ ઇસ પ્રકાર-દેવકિ ઔર  
 નારકા કે ।” ( સ્થા ૦ ૨, ઉ ૩ )

ઉપપાત સે ઉત્પન્ન હોનવાલા ઔપપાતિક કહલાતા હૈ । તાત્પર્ય યહ હુઆ કિ-મેરા  
 આત્મા દેવમવ યા નરકમવ સે આયા હૈ ? ઇસ પ્રકાર કા જ્ઞાન નહીં હોતા ।

‘જ્ઞાત્વિ મે આયા ઉવવાપ્’ યહા નિપેષ કા ઔપપાતિક કે સાથ અન્વય હૈ  
 અથાત્ મેરા આત્મા ઔપપાતિક નહીં હૈ, ઁસા અર્થ સમજના ળાહિપ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-  
 મેરા આત્મા ગર્મમવ સે યા સમૂર્ઢનમવ સે આયા હૈ । ઇસ અર્થ કો સ્પષ્ટ કરને કે સ્તિપ કહા  
 ગયા હૈ-મૈં કૌન થા ?

પ્રસન્ન પાકર યહૌ જમ ઔર જન્મા કે મેદા કા નિરૂપણ કરતે હૈ—

‘ઁ ઁ પ્રકારના જીવોને ઉપપાત જન્મ કહેલો છે તે આ પ્રમાણે-(૧) દેવોને  
 અને (૨) નારકીઓને । ( સ્થા ૨ ઉ ૩ )

ઉપપાતથા ઉત્પન્ન થવા વાળા તે ઔપપાતિક કહેવાય છે, તાત્પર્ય’ ઁ થયુ  
 કે -મારો આત્મા દેવમવ અથવા નરકમવથી આવ્યો છે ? આ પ્રકારનું જ્ઞાન થતું નથી

“જ્ઞાત્વિ મે આયા ઉવવાપ્” અહિ નિપેધનો ઔપપાતિકની સાથે અન્વય છે  
 અર્થાત્-મારો આત્મા ઔપપાતિક નથી. જોવો અર્થ સમજવો જોઇએ તાત્પર્ય’ ઁ  
 છે કે-મારો આત્મા ગર્મમવથી અથવા સમૂર્ઢનમવથી આવ્યો છે ? આ અર્થની  
 સ્પષ્ટતા કરવાને માટે કહેલ છે, કે-“ હું કોણ હતા ?”

પ્રસન્ન પ્રાપ્ત થવાથી અહિ જન્મ અને જન્મના લેહોનું નિરૂપણ કરે છે-

## ટીકા ।

‘एवमेगेसि’ इति, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण एकेषां सत्तिनां किय तांचित् ज्ञात-ज्ञानम् आत्मनि विषये वर्तमानातीतानागतजन्मविषयकं नो भवति=नो सम्पद्यते ।

किंस्वरूप ज्ञानं नोत्पद्यते तेषाम् ? इति दर्शयति-अस्ति मे आत्मा औपपातिक इत्यादि । औपपातिक इति । उपपत्तनम्-उपपात, प्रादुर्भावः=चतुर्गतिषु जन्मतो जन्मान्तरे सक्रमणम् । उपपाते भव-औपपातिक । मे मम आत्मा-औपपातिको जन्मान्तरसक्रान्तोऽस्तीति । तथा-नास्ति मे आत्मा औपपातिक इति, ममात्मा वर्तमानजन्मनि कर्मसयसमवाद् माविजन्मान्तर-सम्बन्धरहितोऽस्तीति । इदं ज्ञानद्वय वर्तमानजन्मविषयकम् ।

यद्वा - उपपात - गर्भसमूर्जनलक्षणजन्मद्वयविलक्षणो जन्मविशेष । स च देवनारकाणां भवति । उक्तञ्च—

ટીકાર્થ—આગે કહે અનુસાર કિતનેક સજી જીવોકો અપને વિષય મેં વર્તમાન ભર્ત્ત્ત ઔર અનાગત જન્મ સમ્બન્ધી જ્ઞાન નહીં હોતા । उन्हें किस प्रकार का ज्ञान नहीं होता ? इस विषय में कहा गया कि—मेरा आत्मा औपपातिक है या नहीं ? अर्थात् चार गतियां में, एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करता है या वर्तमान जन्म में कर्मों का क्षय होने से मावी जन्म के सम्बन्ध से रहित है ?, ये दोनों ज्ञान वर्तमान जन्मसम्बन्धी है ।

અથવા—ઉપપાતકા અર્થ છે—ગર્ભજન્મ ઔર સમૂર્જનજન્મ સે વિલક્ષણ એક ત્રીસરે પ્રકાર કા જન્મ । वह देवों और नारका का होता है । कहा भी है—

ટીકાથ—આગળ કહેવા પ્રમાણે કેટલાક સજી જીવોને પોતાના વિષયમાં વર્તમાન, ભૂતકાલ, અને અવિષ્યકાલના જન્મ સંબંધી જ્ઞાન હોતું નથી તેને કયા પ્રકારનું જ્ઞાન નથી હોતું તે વિષયમાં કહે છે કે—મારો આત્મા ઔપપાતિક છે કે નહિ ? અર્થાત્ ચાર ગતિઓમાં એક જન્મથી બીજા જન્મમાં ગમન કરે છે, અથવા વર્તમાન જન્મમાં કર્મોનો ક્ષય થવાથી બાવી જન્મના સંબંધથી રહિત છે ? તે બંને જ્ઞાન વર્તમાનજન્મસંબંધી છે

અથવા ઉપપાતનો અર્થ છે—ગર્ભજન્મ અને સમૂર્જન જન્મથી વિલક્ષણ એક ત્રીસ પ્રકારનો જન્મ છે, તે દેવો અને નારકીજીવોને થાય છે કહ્યું છે કે—

આધ્યાત્મિકપુદ્ગલનિમિત્તક જન્મ, યથા - જીવિતશ્વશૃગાલાદીનાં શરીરેષુ જાયમાના. કીટાદયસ્તદીયશરીરાન્તર્ગતપુદ્ગલાન્ સ્વશરીરતયા પરિણમયન્તો જાયન્તે । પૃથિવ્યપ્તેજોવાયુવનસ્પતિ-દ્વિત્રિચતુરિન્દ્રિય-ગર્ભજવ્યતિરિક્ત-પञ્ચેન્દ્રિયતિર્યક્-મનુષ્યાણાં સમૂર્જનજન્મ ભવતિ ।

(૨) ગર્ભજન્મ-

ઉત્પત્તિસ્થાનાવસ્થિતાનામાગન્તુઋદ્ધશોણિતપુદ્ગલાના સ્વશરીરરૂપેણ પરિણતિકરણ માતૃમુક્તાહારરસપરિપ્લુષ્ટિમાપેષ ચ ગર્ભજન્મ । જરાયુજાનામણ્ડજાના પોતજાનાં ચ ગર્ભજન્મ ભવતિ, જરાયુર્ગર્ભવેષ્ટનર્ચર્મ, તન્ન જાતા જરાયુજા' ।

પ્રીવિત કુત્તે ઓર શૃગાલ આગ્નિ કે શરીરાં મેં ઉત્પન્ન હોને વાલે કાંઢે આદિ ઉનકે શરીરકે અન્તર્ગત પુદ્ગલાં કો અપને શરીરરૂપ મેં પરિણત કરતે હૈં, વહ આધ્યાત્મિક પુદ્ગલનિમિત્તક જન્મ લેતા હૈ, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, ક્ષીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને ગણ જ સિવાય પञ્ચેન્દ્રિય તિર્યક્ચા ઓર મનુષ્યોં કા જન્મ લેતા હૈ ।

(૨) ગર્ભજન્મ-

ઉત્પત્તિસ્થાનમાં ગ્રિયત આગન્તુક રજ-વીર્ય કે પુદ્ગલાં કો અપન શરીરરૂપ મેં પરિણત કરતા હૈ, ઓર માતા દ્વારા મોગે હુણ આહાર કે રસ સે પોષણ કી અપેક્ષા રચ્નેવન્તા ગર્ભજન્મ હોતા હૈ । જરાયુજ, અણ્ડજ ઓર પોતજ જીવાં કા જન્મ ગર્ભજ હોતા હૈ, ગર્ભ કો લપેટ રચ્નેવાની ચમક કી યૈગ્રા જરાયુ કહલાતી હૈ, ઉસમેં ઉત્પન્ન હોને વાલે

જીવતા કુતરા અને શિયાળ આદિના શરીરોમા ઉત્પન્ન થવા વાળા કીડા આદિ તેના શરીરની અકળના પુદ્ગલોને પોતાના શરીરરૂપમા પરિણત કરે છે તે આધ્યાત્મિક પુદ્ગલનિમિત્તક જન્મ છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, ક્ષીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને ગણ જ સિવાય, પञ્ચેન્દ્રિય, તિર્યક્ચા અને મનુષ્યોનો જન્મ સમૂર્જન હોય છે

(૨) ગર્ભજન્મ-

ઉત્પત્તિસ્થાનમાં ગ્રિયત, આગન્તુક રજ-વીર્યના પુદ્ગલોને પોતાના શરીરરૂપમા પરિણત કરવુ, અને માતાએ કહેલા આહારના સ્વચ્છ પોષણની અપેક્ષા રાખવા વાળા તે ગર્ભજન્મ કહેવાય છે જરાયુજ, અણ્ડજ અને પોતજ જીવોનું જન્મ ગર્ભજ હોય છે ગર્ભને લપેગી રાખનારી આમહાની થેલી જરાયુ કહેવાય છે તેમા ઉત્પન્ન થવા વાળા જીવ જરાયુજ કહેવાય છે મનુષ્ય, ગાય, બેસ, બકરી

પૂર્વભવસમ્બન્ધિ - સ્થૂળશરીરપરિત્યાગાનન્તરમન્તરાલ્ગ્યા તૈજસ  
કાર્મણશરીરમાત્રેણ સદાગતસ્ય જીવસ્ય નવીનમયયોગ્યસ્થૂળશરીરાર્થ પ્રથમ  
યોગ્યપુદ્ગલાના પ્રઘ્ણ જન્મ । તત્ત્વ ત્રિવિધ-સમૂર્જન-ગર્ભો-પપાતમદાત્ ।

### (૧) સમૂર્જનજન્મ-

માતાપિત્રો સમ્બન્ધ વિનૈવોત્પત્તિસ્થાનાવસ્થિતાનાર્મોદારિકપુદ્ગલાનાં  
વાદાનામાયાત્મિકાનાં વા સ્વશરીરરૂપેણ જીવકર્તૃક પરિણતિકરણ સમૂર્જનમ્ ।  
વાદ્યપુદ્ગલનિમિત્તક જન્મ, યથા-કાષ્ઠત્વચાપકફલાદિપ્રત્યઘમાના કીટાદયો  
જન્તવ કાષ્ઠફલવર્તિનો વાદ્યપુદ્ગલાન્ સ્વશરીરરૂપેણ પરિણમયન્ત ઉત્પદ્યન્તે ।

પૂર્વભવસમ્બન્ધી સ્થૂળ શરીર કા ત્યાગ કરને કે અનન્તર વિપ્રહગતિસે તૈજસ  
ઔર કાર્મણ શરીર કે સાથ આયા હુઆ જીવ નવીન ભવ કે યોગ્ય સ્થૂળ શરીર કે લિપ  
સર્વ પ્રથમ યોગ્ય પુદ્ગલાં કો પ્રઘ્ણ કરતા હૈ, તહી જન્મ કહલાતા હૈ ।

જન્મ ત્રીન પ્રકારકા હૈ-સમૂર્જન, ગર્ભ, ઔર ઉપપાત ।

### (૧) સમૂર્જનજન્મ-

માતા-પિતા કે સમ્બન્ધ વિના હી, ઉત્પત્તિસ્થાન મેં રહે હુવ વાદ્ય યા આધ્યાત્મિક  
ઔદારિક પુદ્ગલાંકાં અપને શરીરરૂપ સે જીવ દ્વારા પરિણત કર લેના સમૂર્જન જન્મ કહલાતા  
હૈ । કાઠ, ત્વચા ઔર પકે ફલ આદિ મ ઉત્પન્ન હોન વાલે કીડે વગદ્દ જતુ કાઠ યા  
ફલ આદિ કે વાદ્ય પુદ્ગલાં કો અપને શરીર કે રૂપ મેં પરિણત કર લેતે હૈ । તહ વાદ્ય  
પુદ્ગલનિમિત્તક જન્મ હૈ,

પૂર્વભવસમ્બન્ધી સ્થૂળ શરીરને ત્યાગ કરીને પછી વિપ્રહગતિથી તૈજસ અને કાર્મણ  
શરીરની સાથે આવેલો જીવ નવા ભવને યોગ્ય સ્થૂળ શરીર માટે સર્વપ્રથમ યોગ્ય  
પુદ્ગલોને પ્રયત્ન કરે છે, તે જન્મ કહેવાય છે જન્મ ત્રણ પ્રકારના છે-  
(૧) સમૂર્જન (૨) ગર્ભ, અને (૩) ઉપપાત

### (૧) સમૂર્જનજન્મ-

માતા-પિતાના સમ્બન્ધ વિના જ, ઉત્પત્તિસ્થાનમાં રહેલા વાદ્યના અથવા  
આધ્યાત્મિક ઔદારિક પુદ્ગલોને, પોતાના શરીરરૂપથી જીવદ્વારા પરિણત કરી લેવું  
તે સમૂર્જન જન્મ કહેવાય છે કાષ્ઠ ત્વચા (છાલ) અને ફળ આદિમાં ઉત્પન્ન થવા  
વાળા કીડા વગેરે જન્મ કાષ્ઠ અથવા ફળ આદિમાં વાદ્યના પુદ્ગલોને પોતાના  
શરીરના રૂપમાં પરિણત કરી લે છે તે વાદ્યના પુદ્ગલ નિમિત્તક જન્મ

### ઉપપાતજન્મ—

ઉપપાતક્ષત્રપ્રાપ્તિમાત્રનિમિત્તસ્થાનસ્થિતવૈક્રિયપુદ્ગલાનાં પ્રથમ સ્વશરીરરૂપેણ પરિણતિકરણમ્ ઉપપાતજન્મ । યથા - દેવાનાં નારકાણાં ચ । તત્ર દેવસમુદ્ભાવો યથા-પ્રચ્છદપટસ્યોપરિષ્ઠાદ્ દેવદૂષ્યસ્યાધસ્તાઽ ઉમયોરન્તરાલવર્તમાનપુદ્ગલાન્ વૈક્રિયશરીરતયા શૃદ્ધન્ દેવ ઉત્પદ્યતે । નારકોત્પત્તિર્યથા-નરકસ્થિતાતિસકુટમુલ્લ-કુન્મીણુ સ્થિતાન્ વૈક્રિયશરીરપુદ્ગલાન્ વૈક્રિયશરીરતયા શૃદ્ધન્ નારક ઉત્પદ્યતે ।

તથા—“અહ કા-ચતુર્ગતિષુ પ્રાગ્જન્મનિ નારકો યા તિર્યગ્ યા નરો

### ઉપપાતજન્મ—

ઉપપાતક્ષેત્ર મેં પ્રાપ્તિમાત્ર નિમિત્ત ત્રિસ મેં હૈ એસે ઉત્પત્તિસ્થાન મેં સ્થિત વૈક્રિય પુદ્ગલો કા પહેલે-પહેલ અપને શરીરરૂપ મેં પરિણત કરના ઉપપાત-જન્મ કહલાતા હૈ, દેવ ઓર નારકો કો યહ જન્મ હોતા હૈ । દેવ કી ઉત્પત્તિ હસ પ્રકાર હોતી હૈ-પ્રચ્છદ પટકે ઊપર ઓર દેવદૂષ્ય વસ્તુકે નીચે અથાત્ દોનો કે બીંત્વમેં વર્તમાન પુદ્ગલો કો વૈક્રિયશરીરરૂપ પ્રહણ કરતા હુઆ દેવ ઉત્પન્ન હોતા હૈ । નારકો કી ઉત્પત્તિ હસ પ્રકાર હોતી હૈ-નરકવર્તી અગ્યત સકુટ ( સકહે ) મુલ્લવાળી કુમિયા મેં સ્થિત વૈક્રિય શરીરકે પુદ્ગલો કો વૈક્રિયશરીર કે રૂપ મેં પ્રહણ કરતા હુઆ નારકી બીંચ ઉત્પન્ન હોતા હૈ ।

તથા—“ મેં કૌન થા ૪ ચાર ગતિયા મેં સં પૂર્વમથ મેં મેં નારક થા, તિર્યગ્ થા,

### (૩) ઉપપાતજન્મ—

ઉપપાત ક્ષેત્રમા પ્રાપ્તિમાત્ર જેમા નિમિત્ત છે એવા ઉત્પત્તિસ્થાનમા સ્થિત વૈક્રિય પુદ્ગલોને પહેલા-પહેલા પોતાના શરીરરૂપમા પરિણત કરવુ તે ઉપપાતજન્મ કહેવાય છે દેવ અને નારકીઓનો આ જન્મ હોય છે

દેવની ઉત્પત્તિ આ પ્રમાણે થાય છે —પ્રચ્છદપટ-ઉત્તરીય વસ્તુના ઉપર અને દેવદૂષ્ય વસ્તુની નીચે, એટલે કે બંનેની વચ્ચેમા વર્તમાન પુદ્ગલોને વૈક્રિયશરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરતા થકા દેવ ઉત્પન્ન થાય છે નારકીઓની ઉત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે કે —નરકવર્તી અગ્યત ગ્રાહક મુખવાળી કુલિઓમા સ્થિત વૈક્રિય શરીરના પુદ્ગલોને વૈક્રિય શરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરતા થકા નારકી ઇવ ઉત્પન્ન થાય છે

તથા—“હુ કોણ હતો ? આર ગતિઓમાથી પૂર્વભવમા હુ નારકી હતો, તિર્યગ્

સપ્ત - મનુષ્ય - ગો - મહિષ્ય - જા - ડવિકા ડધ - સ્વરો - ઇ - મૃગ - વમર - વરાહ - ગવય - સિંહ - વ્યાઘ્ર - સર્પ - દ્વીપિ - મ્વ - શૃગાલ - માર્જારાદયો જરાયુજા । સર્પ - ગોષા - કુક્ષાસ - ગૃહગોષિકા - ( પક્ષી ) - મત્સ્ય - કૃર્મ - નક્ર - શિશુમારાદય , પક્ષિષુ યયા - લોમપક્ષાઃ, હસ - ચાપ - શુક - ગૃધ્ર - શ્યેન - પારાવત - કાક - મયૂર - મળ્હ - વક્રાદયશ્ચા - પ્થજાઃ । પોતા - ઝાતા હતિ પોતજા શુદ્ધમસવા , ન તુ જરાયુજવચ્ચર્મા - દિવેષ્ટિતા હતિ યાવત્ , યયા - શલ્ક - દસ્તિ - શ્વાચ્છિપક - શશ - શારિકા - નકુલ - મૂપિકાદય , પક્ષિષુ ચ ચર્મપક્ષાઃ, જલ્કા - ઘલ્ગુલિ - મારણ્ઢપક્ષિ - વિરાલાદયશ્ચ - પોતજા' ।

જીવ જરાયુજ કહાતે હૈં । મનુષ્ય, ગો, મૈસ, બકરી, મેષ, ઘોડા, ગવા, ઝટ, મૃગ, વમર શકર, રોમ, સિંહ, વાઘ, રીછ, દ્વીપિ, કુત્તા, સિયાર, ચિલાશ આદિ જરાયુજ હૈં । સર્પ, ગોહેરા, કુક્ષાસ, ક્ષિપકલી, મખ્ક, કલ્હુવા, નક્ર, શિશુમાર આદિ, તથા પક્ષિયોં મૈં લોમપક્ષી, હસ, ચાપ, શુક, ગૃધ્ર, શામ, કબૂતર, કૌવા, મોર, મળ્હ ( એક જાતકા પક્ષી ), ઘગુલા આદિ મળ્હજ હૈં । જો જરાયુજ કો મૈંતિ વમઢે સે છિપડે હુપ્ ઉત્પન્ન ન હૌ, ઢે પોતજ કહાતે હૈં, જૈસે—સેહી, હામી, શ્વાચ્છિપક, શશક, શારિકા, નકુલ, મૂપિક આદિ । પક્ષિયોં મૈં ચર્મપક્ષી, જલ્કા ( જૌક ), ઘલ્ગુલી, મારણ્ઢપક્ષી વિરાલ આદિ પોતજ હૈં ।

ઘેટા, ઘોડા, ઝવેડા, ઝિટ, મૃગલા, વમર ( હિમાલયમા યતી એક ગાય વિશેષ ) બૂડ, શેઝ, સિંહ, વાઘ, રીછ, છીપલા, કુતરા, શિયાળ, ગિલાડા, વગેરે જરાયુજ છે, ચુ + વેધરા, કલ્હુસલા, ઢેઢગરોડી, મખ્ક, કાચબા, નક ( મગર ) શિશુમાર ( એક પ્રકારનું જલચર પ્રાણી ) આદિ તથા પક્ષિઓમા લોમપક્ષી, હસ, ચાપ ( એક જાતનું લીલી પાખોવાળું કાખરના જેવું પંખી ) શુક - ( પોપટ ), ગીધ, બાજ, કબૂતર, કાગડો, મોર, મળ્હ ( એક પક્ષી ) બગલા વગેરે અડખ છે જે જરાયુજ પ્રમાણે આમલીથી વિટાએલા ઉત્પન્ન ન થાય તે પોતજ કહેવાય છે જેમકે—સેહી - ( સાદુલી ) હાથી, શ્વાચ્છિપક, શશક, શારિકા, નકુલ - નોળીઓ, મૂપિક - છંદર વગેરે પક્ષીઓમા ચર્મપક્ષ - ( રવાડા વગરના આમલીની પાખોવાળા ) જલ્કા ( જળો ) વલ્ગુલી ( વલ્ગવાળ ) શારક - પક્ષી, વિરાલ આદિ પોતજ છે

સોચા, તજદા-પુરત્થિમાઓ વા દિસાઓ આગઓ અહમસિ, જાવ અળ્ળયરીઓ દિસાઓ અળુદિસાઓ વા આગઓ અહમમિ, એવમેગેસિ ગાય મવહ-અત્થિ મે આયા ઓવવાહદ, જો હમાઓ દિસાઓ અળુદિસાઓ વા સચરહ, સન્વાઓ દિસાઓ સન્વાઓ અળુદિસાઓ જો આગઓ અળુસચરહ સોહમ્ ॥ સૂ. ૪ ॥

(છાયા)

અથ યત્ પુનર્જાનીયાત્-સહસંમત્યા, પરવ્યાકરણેન, અન્યેપામન્તિકે વા થુરવા, તથા-પૂર્વસ્યા દિશાયા આગતોઽહમસ્મિ યાવત્ અન્યતરસ્યા દિશાયા અનુદિશાયા વા આગતોઽહમસ્મિ । એવમેકેપાં જ્ઞાત મવતિ-અસ્તિ મે આત્મા ઔપપાતિક., યોઽમ્યા દિશાયા અનુદિશાયા વા અનુસચરતિ, સર્વસ્યા દિશાયા સર્વસ્યા અનુદિશાયા ય આગત અનુસચરતિ સોઽહમ્ ॥ સૂ. ૪ ॥

‘સે જ પુણ’ ઇતિ । ‘સે’ દ્રવ્યવ્યયં માગધમાપાયામયશ્ચ્ચાર્થકમ્ । ‘અથ’ ઇતિ, અનેન ‘નો સન્ના મવહ’ ઇતિ દ્રવ્યદિગ્જ્ઞાનામાથ ‘નો ગાય મવહ’ ઇતિ ભાવદિગ્જ્ઞાનામાથં ધ મદર્શ્ય તજ્ઞાનમારમ્મ ઇતિ ધોત્યસે ।

સે આયા હું (યાવત્) અન્યતર દિશા સે અથવા વિદિશા સે મેં આયા હું । इस प्रकार कितनेक जीवा को ज्ञान होता है कि-मेरा आत्मा औपपातिक (जन्म लेने वाला) है, जो इस दिशा से अथवा अनुदिशा से संचार करता है, सभी दिशाओं से, सभी अनुदिशाओं से आया हुआ जो आत्मा भ्रमण करता है, यह मैं हूँ । (सू. ४)

ટીકાર્થ-માગધી માપા મેં ‘સે’ અવ્યય ‘અથ’ શબ્દ કે અર્થ મં હૈ । यहाँ ‘अथ’ शब्द से यह प्रकट किया गया है कि-पहल के सूत्रमें ‘नो सन्ना मवह’ इत्यादि कहकर द्रव्यदिशा के ज्ञानका निषेध करके, और ‘नो गाय मवह’ इत्यादि कह कर भावदिशासम्बन्धी ज्ञान का निषेध करके अब इस ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार प्रदर्शित करते हैं-

પૂર્વ દિશાથી આવ્યો છુ, યાવત્ બીજી દિશાઓથી અથવા વિદિશાઓથી હું આવ્યો છુ, આ પ્રમાણે કેટલાક જીવોને જ્ઞાન થાય છે કે-મારો આત્મા ઔપપાતિક (જન્મ લેવાવાળો) છે; જે આ દિશાથી અથવા અનુદિશાથી સંચાર કરે છે સર્વ દિશાઓથી, સર્વ અનુદિશાઓથી, આવેલો જે આત્મા ભ્રમણ કરે છે તે હું છુ (સૂ. ૪)

ટીકાથ-માગધી ભાષામાં ‘સે’ અવ્યય ‘અથ,’ શબ્દના અર્થમાં છે અહિ ‘અથ’ શબ્દથી એ પ્રગટ થયું છે કે-પ્રથમના સૂત્રોમાં ‘નો સન્ના મવહ’ ઇત્યાદિ કહીને દ્રવ્યદિશાના જ્ઞાનનો નિષેધ કરીને અને ‘નો ગાય મવહ’-ઇત્યાદિ કહીને ભાવદિશાના અધી જ્ઞાનનો નિષેધ કરીને હવે તે જ્ઞાનની ઉત્પત્તિનો પ્રકાર પ્રદર્શિત કરે છે-



वा देवो वा आसम् ?" इति पूर्वजन्मस्मृतिर्यं ज्ञानं, तथा—“इत्=अस्माल्लोकात्  
 स्युत=वियुक्त भेत्य=जन्मान्तरे इह चतुर्गतिरूपे ससारे को भविष्यामि ? चतु  
 र्गतिषु कीदृशीं गतिं प्राप्स्यामि” इत्यागामिजन्मविषयक निश्चयात्मक ज्ञानं  
 च न भवतीत्यर्थः । भावदिशाविषयकमपि ज्ञानं नास्ति कियताचित् सन्निभम्,  
 असन्निभं तु जीवानां नास्त्येव दिशामानमिति का मार्गा तेषामिति भावः  
 ॥ सू ३ ॥

संसारिणां स्वगत्यागतिज्ञानं न भवतीत्युक्तम्, संप्रति तज्ज्ञानं यथा  
 भवति तत् प्रदर्शयितुमाह—‘से ज पुण’ इत्यादि ।

मूलम् ।

से जं पुण जाणेज्जा, सहसम्मइयाण, परवागरणेण अणोसिं अतिण वा  
 मनुष्य या या देव या ?” इस प्रकार की पूर्व जन्म की स्मृति, और “इस भव से स्युत होकर  
 अगले जन्म में चार गतियां में से कौन गति पाऊंगा ?” इस प्रकार का आगामी जन्म  
 सम्बन्धी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता । फ़िरने ही सन्नियों को भी भावदिशा—विषयक ज्ञान  
 नहीं होता । असन्निही जीवों को तो दिशा का ज्ञान होता ही नहीं ॥ सू० ३ ॥

ससारी जीवों को अपनी गति और आगति का ज्ञान नहीं होता, यह बतलाया  
 जा चुका, अब यह कथन किया जाता है कि—यह ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?—

—‘से ज पुण’ इत्यादि ।

मूलार्थ—सहसम्मति से (परोपदेश के बिना ही सहज ज्ञानसे) पर  
 की वागरणा (स्पर्शीकरण) से, दूसरों के समीप से सुनकर जाने कि मैं पूर्व दिशा  
 होता, मनुष्य होता अथवा देव होता ?” आ प्रभाण्ण आगता जन्मिणी भूति ज्जे  
 “आ भवथी नीकणीने आगता हवेना जन्ममा थार अतिभायी हुं कथं गतिमा  
 जंथ अथवा हुं कथं गतिं प्राप्स्यामि ?” आ प्रभाण्ण आगामी—हवे भल्ली यवावाणा  
 जन्म सज्जधी निश्चयात्मक ज्ञान यत्तु नथी, केटवाक सज्जिओने (संज्ञीओवने)  
 पण्ण भावदिशा—विषयतु ज्ञान यत्तु नथी असज्जि ओवने दिशाओ सज्जधीनु ज्ञान  
 यत्तु न नथी ॥ ३ ॥

ससारी ओवने मोतानी गति ज्जे आगति विषेनु ज्ञान नथी यत्तु, ते  
 मोतानी गया छीज्जे हवे ते कळेयामां आवे छे के—ते ज्ञान केवी रीते यर्धशके छे ?—  
 ‘से ज पुण’ इत्यादि

मूलार्थ—सहसम्मतिथी, (जीवन्या उपदेश बिना प्रत्यु सहज ज्ञानथी), जीवनी  
 वागप्रवाथी (स्पर्शीकरणथी), जीवनी पासोथी जंभाणीने जाण्णे के हुं

सुग्रीवनगरे बलमद्रनामा नृप आसीत् । तस्याग्रमहिषी मृगानाम्नी बभूव । बलमद्रनृपस्य तस्यां पुत्रो जातः । स च मातापितृभ्यां बलश्री-नाम लब्ध्वाऽपि लोके मृगापुत्र इति नाम्ना प्रसिद्धो बभूव । अथ मातापित्रो परमप्रिय कृतयौवराज्याभिषेको मुदितचित्तो मृगापुत्रः, प्रासादे दोगुन्दुगदेववत् प्रमदाभिः सह क्रीदतिस्म ।

स चैव विलसन् मणिरत्नराजितकुट्टिमवच्छे सर्वोपरिवर्तिनि प्रासाददेशे समुपविष्टः सकुतूहल चतुष्क-त्रिक-चत्वर-मार्गान् विलोकमानः पथि शीलाढ्य गुणसागर तपोनियमसयमधर सयसमनिमिषदृशाऽद्राक्षीत् । तमवलोच्य शुमाध्य-

सुग्रीव नगर में बलमद्र नामक राजा था । उसकी पटरानी का नाम मृगा था इस मृगरानी से बलमद्र को पुत्र की प्राप्ति हुई । माता-पिताने उसका नाम बलश्री रक्खा, किन्तु वह लोक में मृगापुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, वह माता-पिता का परम प्रिय था । उसका युवराज पद पर अभिषेक किया गया । वह प्रसन्न-चित्त होकर दोगुन्दुग ( विलासी एक देवकी जाति ) देव के समान अपने महलमें क्रीड़ा करता था ।

एक वार मृगापुत्र मणियाँ और रत्नों से सुशोभित फर्शवाछ महल के सब से ऊपर के मञ्जिल पर बैठा था । वह कौतूहल के साथ नगर के चौपड़ त्रिक तथा चत्वर मार्गों का अवलोकन कर रहा था । तब उसे मार्ग में शीला से विभूषित गुणों के सागर तप, नियम और समय धारण करने वाले एक मुनि दृष्टिगोचर हुए । उसने टकटकी लगाकर

सुग्रीव नगरभा बलमद्र नामने राजा छेतो । तेनी पशुश्रीनु नाम-भूमा छतु, ते भूमा शस्त्री थकी बलमद्रने पुत्रनी प्राप्ति थछ, माता-पिताछे तेनु नाम बलश्री शम्भु, परतु ते लोकने विषे भूमापुत्र नामथी प्रसिद्ध थये । ते माता-पिताने परमप्रिय छेतो, तेनो युवराज पद पर अभिषेक थये । पछी ते प्रसन्नचित्त थछने दोगुन्दुग ( विलासी छेक देवनी जाति ) देव समान पोताना भेलेखमां क्रीडा करेतो छेतो ।

छेक वार भूमापुत्र भञ्जिछो अने रत्नोथी-सुशोभित कर्ष-सुहर तजियावाणो भेलेखनो सौथी छपरने अछ छेतो, तेना छपर भेठा छेतो । ते कुतूहलपूर्वक नगरना चौपड़ त्रिक तथा चत्वर मार्गोनु अवलोकन करी रह्यो छेतो । ते वथते छे मार्गभा शीलथी विभूषित, शुभेना सागर, तप, नियम, समय धारण करवावाण छेक मुनि दृष्टिगोचर

## ટીકા—

યત્=યદિ પુનર્જાનીયાત્ સ્વસ્વગત્યાગત્યાદિકં કથિત્, તત્ ત્રિવિધેન કારણેન, તદાહ—સહસંમત્યેત્યાદિ । આત્મના સહ વર્તતે યા સમ્યગ્મતિ, સા સહસમતિ, પરોદેશમન્તરેણ સમુત્પન્ના જાતિસ્મરણાવધિમન પર્યયકેવલજ્ઞાનરૂપા, તયા સહસમત્યા । તત્ર જાતિસ્મરણવાન્નિયમતઃ સંસ્થાતમવાન્ જાનાતિ, અવધિજ્ઞાની સંસ્થાતમવાનસંસ્થાતમવાન્ ઘેત્તિ, તથૈવ મનપર્યયજ્ઞાની ચ । કેવલજ્ઞાની તુ નિયમસોડનન્તાન્ મવાન્ વિજાનાતિ । જાતિસ્મરણજ્ઞાનવાનવાન્તરે યદ્યસન્નિમર્શ ન કુર્યાત્, તર્હિ સ્વકીયસક્ષિપજ્ઞેન્દ્રિયમવસ્પોત્કુષ્ટતો નવશતમવાન્ વિજ્ઞાતું શક્નુયાત્ । જાતિસ્મરણેન સ્વકીયપૂર્વમવ વિજ્ઞાતુર્દૃષ્ટાન્ત મદર્શ્યતે—

અમર કોઈ અપની—અપની ગતિ ઔર આગતિ કો જ્ઞાને તો તોન પ્રકાર કે કારણ સે જ્ઞાન સક્તા હૈ, ડસી કો કહતે હૈ—સહસમ્મતિ આદિ સે, આત્મા કે સાથ રહને વાલી સમ્યગ્મતિ કહલાતી હૈ, અર્થાત્ પરોપદેશ કે બિના હી ઉત્પન્ન હોનેવાલી જાતિસ્મરણ અવધિ, મનપર્યય ઔર કેવલજ્ઞાન રૂપ મતિ સહસમ્મતિ કહલાતી હૈ, ડનમેં જાતિ સ્મરણવાજ્ઞ નિયમ સે સંસ્થાત મવોકો જ્ઞાન્તા હૈ, અવધિજ્ઞાની સંસ્થાત યા અસંસ્થાત મવો કો જ્ઞાન્તા હૈ, હસી પ્રકાર મન પર્યયજ્ઞાની મી જ્ઞાન્તા હૈ, કિન્તુ કેવલજ્ઞાની નિયમ સે અનન્ત મવો કો જ્ઞાન્તા હૈ । જાતિસ્મરણ—જ્ઞાનવાલા ઘીચ મેં યદિ અસજી કા મવ ન કરે તો અપને સજી—પજ્ઞેન્દ્રિય કે ઉત્કુષ્ટ નૌ સૌ મવો કો જ્ઞાન સક્તા હૈ । જાતિસ્મરણ સે અપના પૂર્વમવ જ્ઞાનને વાલે કા દૃષ્ટાન્ત પ્રદર્શિત ક્રિયા જાતા હૈ—

અથવા કોઈ પોતપોતાની ગતિ અને આગતિને જાણે તો ત્રણ પ્રકારના કારણથી જાણી શકે છે, તેને કહે છે—સહસમતિ આદિથી, આત્માની સાથે રહેવા વાળી સમ્યગ્ મતિ—શુદ્ધિ અર્થાત્ પરોપદેશ વિનાજ ઉત્પન્ન થવા વાળી જાતિસ્મરણ, અવધિ, મનપર્યય, અને કેવલ—જ્ઞાનરૂપ મતિ તે સહસમતિ કહેવાય છે જાતિ સ્મરણ વાળા નિયમથી સંસ્થાત ભવોને જાણે છે અવધિજ્ઞાની સંસ્થાત અથવા અસંસ્થાત ભવોને જાણે છે જો પ્રમાણે મનપર્યાયજ્ઞાની પણ જાણે છે પરંતુ કેવલજ્ઞાની નિયમથી અનન્ત ભવોને જાણે છે જાતિસ્મરણ જ્ઞાનવાળા જીવ વચ્ચે જો અસજીનો ભવ ન કરે તો પોતાના સજી પજ્ઞેન્દ્રિયના ઉત્કુષ્ટ નવસે (૬૦૦) ભવોને જાણી શકે છે જાતિસ્મરણથી પોતાના પૂર્વભવને જાણનારાનું દ્રષ્ટાત બતાવે છે—

સાક્ષાત્કારેણ સમ્વોધ્ય કથનમ્, તીર્થદ્વરપ્રવચનરૂપ આગમો વા, તેન ।  
પરવ્યાકરણોદાહરણ યથા—સાક્ષાત્ મગવતો દેશનયા મેઘકુમારાદયો જાતિસ્મરણ  
પ્રાપ્તવન્ત ।

તથા—અન્યેપામન્તિકે વા શ્રુત્વેતિ, અન્યેપાં સમીપે, શ્રુત્વા સ્વગત્યા-  
ગત્યાદિષોધકતદ્વચનધ્વણેન । તૃતીયોદાહરણ યથા—પદ્ મિત્રભૂપાશ્ચમ્થ્યાવસ્યસ્ય  
મહીનાયમગવત સમીપે તદ્વચનેન જાતિસ્મરણમવાપુ ।

અયાત્મનિ વિષયે ચાદૃશ ગત્યાગત્યાદિજ્ઞાન મવતિ, તદેવ દર્શયતિ-  
તથા—શ્તપાદિ ‘પૂર્વદિશા દિશાયા આગતોઽહમસ્મિ યાવદ્ અન્યતરસ્યા દિશાયા  
અનુદિશાયા વા આગતોઽહમસ્મી’ત્યનેન સ્વગમનારધિ-દ્રવ્યદિશાજ્ઞાનં, તથા-  
પરવ્યાકરણકા ઉદાહરણ જૈસે—માક્ષાત મગવાન્ ક્ષી દેશના સે મેઘકુમાર આદિને જાતિસ્મરણ  
જ્ઞાન પ્રાપ્ત ક્રિયા થા ।

તથા—દૂસરો સે મુનકર મી ગતિ અગતિ કા જ્ઞાન હોતા હૈ । તાપર્ય યહ હૈ  
ક્રિ—અપની ગતિ એવ આગતિ સમજાને વાલે દૂસરે કે વચનો સે મી જાતિસ્મરણ હો જાતા  
હૈ । જૈસે—છહ મિત્ર-રાજાઓન છત્રસ્થ-અવસ્થા વાલે મગવાન્ મહીનાય કે વચનો સે  
જાતિસ્મરણ પ્રાપ્ત ક્રિયા થા ।

આત્મા કે વિષય મેં ગતિ-આગતિ આદિ કા જ્ઞાન ત્રિસ પ્રકાર હોતા હૈ,  
ઉપ દિશ્વલાતે હૈ—‘મેં પૂર્વ દિશા સે આયા હૂં ( યાવત ) અન્યતર દિશા સે અથવા  
અનુદિશા સે મેં આયા હૂં ’ ઇસ કથન સે અપન ગમન તક ક્ષી દ્રવ્ય-દિશા કા જ્ઞાન  
સૂચિત ક્રિયા હૈ । તથા ‘ મેરા આત્મા ઔપચારિક ’ હૈ યહાં સે લંકર ‘ અમગ કરતા હૈ,  
પરવ્યાકરણુ લલાહરણુ, જેમકે—સાક્ષાત્ ભગવાનની દેશનાથી મેઘકુમાર આદિએ  
જાતિસ્મરણુ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યુ હંતુ

તથા—બીજા પાસેથી સામળીને પણ ગતિ-આગતિનુ જ્ઞાન થાય છે કે -  
પોતાની ગતિ અને આગતિ અમલવવાવાળા બીજાના વચનોથી પણ જાતિસ્મરણુ જ્ઞાન  
મર્ધ લાય છે જેમ-છ મિત્ર-રાજાઓએ છત્રસ્થ-અવસ્થા વાળા ભગવાન મહિનાયના  
વચનોથી જાતિ સ્મરણુ પ્રાપ્ત કર્યુ હંતુ

આત્માના વિષયમા ગતિ-આગતિનુ જ્ઞાન જે પ્રમાણે હોય છે તેને દેખાડે  
છે—‘હું પૂર્વ દિશાથી આવ્યો છું, ( યાવત ) અન્યતર દિશાથી અથવા અનુદિશાથી હું  
આવ્યો છું ’ આ કથનથી પોતાના ગમન સુધીની દ્રવ્યદિશાનુ જ્ઞાન સૂચિત કર્યુ છે,

યસાયેન મૃગાપુત્રો મૂર્છામવાપ્ય જાતિસ્મરણ પ્રાપ । ‘પૂર્વજન્મનિ પ્રવ્રજ્યા ગૃહીત્વા પશ્ચમહાવ્રતપાલનેન સ્વર્ગસુખ લઙ્ઘ્યાઽહમિદ રાજકુલે સજાત ’ ઇતિ । અનેન જાતિ-સ્મરણેન પુનરાત્મકલયાણાય પ્રયત્નતે સ્મ ।

અવધિજ્ઞાનિના મલ્લીનાથેન ભગવતા સસારાવસ્થાર્યા પૂર્વજન્મવૃત્તાન્તોઽવનો-કિતઃ । મન-પર્યય-કેવલજ્ઞાનયોસ્તુ દૃષ્ટાન્તૌ મુપવીતૌ ।

તથા—પરવ્યાકરણેન-પરસ્તીર્થદ્વરસ્તસ્ય વ્યાકરણ યથાવસ્થિતાર્થસ્ય—

उनकी ओर देखा । उन्हें देख कर मृगापुत्र को मूर्छा आ गई और जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया । उससे भाद्रम हुआ कि—‘ पूर्व जन्म में वीक्षा धारण करके, पांचमहाव्रता का पालन करके, पश्चात् स्वर्ग के सुख भोगकर मैं इस राजकुल में उत्पन्न हुआ हूँ । ’ इस जातिस्मरण से वह फिर आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो गया ।

અવધિજ્ઞાની ભગવાન્ મલ્લીનાથેને સસાર-અવસ્થામાં અપના પૂર્વ જન્મ કા વૃત્તાન્ત દેલ લિયા થા । મન પર્યય જ્ઞાન ઔર કેવલજ્ઞાન કે દૃષ્ટાન્ત તો પ્રસિદ્ધ હી હૈ ।

તથા—પરકે વ્યાકરણ સે મી ગતિ-આગતિ કા જ્ઞાન હોતા હૈ । પર કા અર્થ હૈ—તીર્થંકર । ઉત્કા વ્યાકરણ અર્થાત્ પદાર્થ કા સ્વરૂપ યથાર્થરૂપ સે જાનકર સમસાકર કરના, અર્થના પરવ્યાકરણ કા અર્થ તીર્થંકર કા પ્રવચનરૂપ આગમ સમસના ચાહિય ।

થયા, તે વખતે મૃગાપુત્ર એક નજરથી તેમની સામે જોયું, અને તેને જોઈને મૃગાપુત્રને મૂર્છા આવી અર્ધ અને જાતિસ્મરણ જ્ઞાન ઉત્પન્ન થયું, તેનાથી માલુમ પડ્યું કે—“ હું પવ જન્મમાં વીક્ષા ધારણ કરીને, પાંચ મહાવ્રતાનું પાલન કરી, પછી સ્વર્ગના સુખો ભોજીને આ રાજકુલમાં ઉત્પન્ન થયો છું ” આ પ્રમાણે જાતિસ્મરણ થવાથી તે ફરીને આત્મકલ્યાણમાં પ્રવૃત્ત થઈ ગયો.

અવધિજ્ઞાની મલ્લીનાથ ભગવાને સસાર-અવસ્થામાં પોતાના પૂર્વ જન્મનો વૃત્તાન્ત જોઈ લીધો હતો. મન:પર્યયજ્ઞાન અને કેવલજ્ઞાનના દ્રષ્ટાન્ત તો પ્રસિદ્ધ જ છે

તથા—પરના વ્યાકરણથી પણ ગતિ-આગતિનું જ્ઞાન થાય છે પરનો અર્થ છે—તીર્થંકર, તેનું વ્યાકરણ—અર્થાત્ પદાર્થનું સ્વરૂપ યથાર્થરૂપથી જાણી-સમજીને ઠહેરું, અથવા પરવ્યાકરણનો અર્થ—તીર્થંકરના પ્રવચનરૂપ આગમ સમજવું જોઈએ.

સાક્ષાત્કારેણ સમ્બોધ્ય કથનમ્ , તીર્થદ્વરપ્રવચનરૂપ આગમો વા, તેન ।  
પરવ્યાકરણોદાહરણં યથા—સાક્ષાત્ ભગવતો નેશનયા મેઘકુમારાદયો જાતિસ્મરણ  
પ્રાપ્તવન્ત ।

તથા—અન્યેષામન્તિકે ધા શ્રુત્વેતિ, અન્યેષાં સમીપે, શ્રુત્વા સ્વગત્યા-  
ગત્યાદિબોધકતત્ત્વચનશ્રવણેન । તૃતીયોદાહરણ યથા—પદ્ મિત્રભૂષાશ્ચન્દ્રધ્યાવસ્પસ્ય  
મહીનાયમગવત સમીપે તત્ત્વચનેન જાતિસ્મરણમત્રાપુ ।

અથાત્મનિ વિષયે યાદૃશ ગત્યાગત્યાદિજ્ઞાનં મત્તિ, તદેવ દર્શયતિ—  
તથા—તથાદિ ‘પૂર્વદિશાયા આગતોઽહમસ્મિ યાવદ્ અન્યતરસ્યા દિશાયા  
અનુદિશાયા ધા આગતોઽહમસ્મી’ત્યનેન સ્વગમનાવધિ-દ્રવ્યદિશાજ્ઞાનં, તથા—  
પરવ્યાકરણકા ઉદાહરણ જૈસે—સાક્ષાત્ ભગવાન્ કી દેશના સ મેઘકુમાર આદિને જાતિસ્મરણ  
જ્ઞાન પ્રાપ્ત ક્રિયા થા ।

તથા—દૂસરો સે સુનકર મી ગતિ અગતિ કા જ્ઞાન હોતા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ  
કિ—અપની ગતિ એવ આગતિ સમજાને વાલે દૂસરે કે વચનાં સે મી જાતિસ્મરણ હો જાતા  
હૈ । જૈસે—છહ મિત્ર—રાજાઓને ઝપસ્થ—અવસ્થા વાલે ભગવાન્ મહિનાય કે વચનો સે  
જાતિસ્મરણ પ્રાપ્ત ક્રિયા થા ।

આત્મા કે વિષય મેં ગતિ—આગતિ આદિ કા જ્ઞાન ત્રિસ પ્રકાર હોતા હૈ,  
એને ત્રિસ્ત્રાલે હૈ—‘મેં પૂર્વ ત્રિગા સે આયા હૂં ( યાવત ) અન્યતર દિશા સે અથવા  
અનુદિગા સે મેં આયા હૂં ’ હસ કથન સે અપને ગમન તરુ કી દ્રવ્ય—દિશા કા જ્ઞાન  
સૂચિત ક્રિયા હૈ । તથા ‘ મેરા આત્મા ઔપપાતિક ’ હૈ યહાં સે હકર ‘ અમગ કરતા હૈ ,  
પરવ્યાકરણુ ઉદાહરણુ, જેમકે—સાક્ષાત્ ભગવાનની દેશનાથી મેઘકુમાર આદિએ  
જાતિસ્મરણુ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યુ હતુ

તથા—બીજા પાસેથી સામગ્રીને પણ ગતિ—આગતિનુ જ્ઞાન થાય છે કે—  
પોતાની ગતિ અને આગતિ અમલવવાવાળા બીજાના વચનોથી પણ જાતિસ્મરણુ જ્ઞાન  
અર્થ બાય છે જેમ—છ મિત્ર—રાજાઓએ છપસ્થ—અવસ્થા વાળા ભગવાન મહિનાયના  
વચનોથી જાતિ સ્મરણુ પ્રાપ્ત કર્યુ હતુ

આત્માના વિષયમા ગતિ—આગતિનુ જ્ઞાન જે પ્રમાણે હોય છે તેને દેખાડે  
છે—‘હું પૂર્વ દિશાથી આવ્યો છું, ( યાવત ) અન્યતર દિશાથી અથવા અનુદિશાથી હું  
આવ્યો છું ’ આ કથનથી પોતાના અમન સુધીની દ્રવ્યદિશાનુ જ્ઞાન સૂચિત કર્યુ છે,

‘अस्ति मे आत्मा औपपातिक’ इत्यारभ्य ‘अनुसचरित सोऽहम्’ इत्यन्तेन द्रव्य-  
भावोभयदिशाज्ञान भगवता प्रदर्शितम् ।

सोऽहमस्मीत्येनेनेदमावेदित भवति । त्रिविधान्यतमेन कारणेन ज्ञानं  
प्राप्तो जीव रवात्मस्वरूपमेवं विजानाति—यद्यमात्मा सकलकर्मक्षयावधि चतुर्गति-  
भ्रमणकर्ता पुनरपि कस्याञ्चिदेकस्या दिशायामनुदिशायां वा गमिष्यति नास्त्यस्य  
गतिविरामस्तावदिति । एवमयमात्मा सर्वस्या दिशायामनुदिशाया आगतः पुनरपि  
स्वकर्मवशगः सन् सर्वस्यां दिशायामनुदिशायां वा परिभ्रमिष्यति । न कदाचिदस्य  
विभ्रान्तिच्छेदोऽपि तादृशोऽहमस्मीति ॥ सू० ४ ॥

यह मैं हूँ’ यहाँ तक द्रव्यदिशा और भावदिशा, दोनों का ज्ञान भगवान् ने प्रदर्शित  
किया है ।

‘वही मैं हूँ’ इस कथन से यह प्रकट होता है कि—तीन में से किसी  
एक कारण के द्वारा ज्ञान को प्राप्त जीव इस रूप में अपना आत्मस्वरूप जानता है,  
कि—यह आत्मा अब तक समस्त कर्मों का क्षय नहीं कर देता तब तक चारों गतियों  
में भ्रमण करता है और फिर किसी एक दिशा में या अनुदिशामें गमन करेगा  
परन्तु कर्मों का क्षय जब तक न हो तब तक उसकी गति का अन्त नहीं आता है । इस  
प्रकार यह आत्मा सब दिशाओं से और अनुदिशाओं से आया है और कर्मों के अर्पण  
हो कर फिर सब दिशाओं अथवा विदिशाओं में परिभ्रमण करेगा, इसे छेशमात्र भी कर्मों  
विश्राम नहीं मिल सकता, ऐसा मैं हूँ ॥ सू० ४ ॥

तथा—‘आद्य आत्मा औपपातिक छे त्याधी वधने ‘अभयु ठरे छे’ ते हुं छु,  
त्या सुधी द्रव्यदिशा आने भावदिशा, को अन्नेनु ज्ञान भजवाने प्रदर्शित करुं छे  
“ते हुं छु” आ कथनची कोम प्रकट थाय छे के को त्रयुभाधी कोरुं ठारयु द्वारा  
ज्ञानने पावेछे। एव आ रूपमा पोताना आत्मस्वरूपने जाखे छे के आ आत्मा  
न्या सुधी समस्त कर्मोना क्षय करतो नथी, त्या सुधी याश्ये गतिज्योमा अभयु  
करतो रहे छे, आने हरी कोरुं दिशांमा अथवा तो अनुदिशांमा जमन करये. परतु  
न्या सुधी कर्मोना क्षय नहिं होय त्या सुधी तेनी गतिने अत आबतो नथी. को  
प्रभाखे आ आत्मा सर्व दिशाज्योधी आने अनुदिशाज्योधी जाव्ये छे आने कर्मोने  
आधीन धरने हरीथी सब दिशाज्यो अथवा विदिशाज्योमा परिभ्रमयु करये तेने  
देशमात्र पयु विश्राम भली शकतो नथी कोवो हुं छु, (सू० ४)

### આત્મવાદિપ્રકરણમ્—

યસ્તુ દ્રવ્યદિશ્ચ માવદિશ્ચ ચાત્મનો ગત્યાગતી અવગત્ય સ્વમાત્માનમેવ વિજાનાતિ—‘અયમાત્મા અસિદ્ધગતિપ્રાપ્તિચતુર્ગતિષુ ધૂર્ણમાનો જન્માન્તરસક્રાન્ત-  
ત્રિકાલવર્તી શરીરાદ મિશ્રો નિત્યપરિણામી જ્ઞાનસમ્યક્ત્વચારિત્રસુલ્લવીર્યાદિગુણવા-  
નિતિ, સ એવાત્મવાદીત્યાહ—‘સે આયાવાદી’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

સે આયાવાદી, લોભાવાદી, કમ્માવાદી, કિરિયાવાદી ॥ સૂ. ૫ ॥

છાયા—

સ આત્મવાદી, લોકવાદી કર્મવાદી, ક્રિયાવાદી ॥ સૂ. ૫ ॥

### આત્મવાદિપ્રકરણ—

જો જોઈ દ્રવ્ય ત્રિશાઓ મેં જોઈ માવદિશાઓ મેં આત્મા કા ગમન—આગન જાન કર  
અપની આત્મા કે વિષય મેં હસ પ્રકાર જાનતા હૈ કિ—યહ આત્મા સિદ્ધગતિ કી પ્રાપ્તિરહિત  
ચાર ગતિયો મેં જમણ કરતા હુઆ એક જમ સે દૂરે જમ કો પ્રહણ કરતા હૈ, ત્રિકાલવર્તી  
હૈ શરીર સે મિન હૈ, નિત્યપરિણામી હૈ, જોઈ સમ્યક્ત્વ, જ્ઞાન, ચારિત્ર, સુલ, વીર્ય આદિ  
ગુણ વાલા હૈ, વહી આત્મવાદી હૈ । અય હમી વિષય કા નિરૂપણ કિયા જાતા હૈ —‘સે  
આયાવાદી’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—‘સે આયાવાદી’ इति । વહી આત્મવાદી હૈ, લોકવાદી હૈ, કર્મવાદી હૈ,  
ક્રીયાવાદી હૈ ( સૂ. ૫ )

### આત્મવાદીપ્રકરણ

જે જીવ દ્રવ્યદિશાઓમાં અને માવદિશાઓમાં આત્માનુ જવુ—આવવું બહુને  
પોતાના આત્માના વિષયમાં જો પ્રમાણે બણે છે કે—આ આત્મા સિદ્ધગતિની પ્રાપ્તિ  
વિના બીજી ચાર ગતિઓમાં જમણ કરતો કરતો એક જન્મથી બીજો જન્મ શરૂ  
કરે છે, ત્રિકાલવર્તી છે શરીરથી બિન્ન છે, નિત્યપરિણામી છે અને સમ્યક્ત્વ, જ્ઞાન,  
ચારિત્ર, સુખ, વીર્ય આદિ ગુણો વાળો છે, તે આત્મવાદી છે હવે આ વિષયનું  
નિરૂપણ કરવામાં આવે છે—‘સે આયાવાદી’ इत्यादि

મૂલાર્થ—‘સે આયાવાદી’ इति તે આત્મવાદી છે, લોકવાદી છે, કર્મવાદી છે  
અને ક્રિયાવાદી છે ( સૂ. ૫ )



## ટીકા—

‘સે આયાવાદી’ इति । स=इत्थमात्मानं ज्ञाता, आत्मवादी=आत्मानं वदितुं शीलमस्येति विग्रहे कर्तरि णिनि, आत्मस्वरूपकथनस्वभाववान् । अयं भाव—आत्मस्वरूप वक्तारो जगति बहवः सन्ति, परन्तु स एवात्मवादी वेदितव्यो, यः पूर्वोक्तरीतिमनुसृत्यात्मानं विजानातीति ।

आत्मस्वरूपपरिचય વિના વચસ્વરૂપ જ્ઞાતુમશક્યમ્ । તદ્ વિના ન રોષતે કસ્મૈચિદાસ્મોત્કર્ષકરણમ્, તદ્દુષિમન્તરેણ ચ કસ્યચિન્મોહોપાય-યૂતનિશ્ચયવ્યવહારલક્ષણજ્ઞાનક્રિયયો પ્રવૃત્તિર્ન સ્યાત્, તસ્માદ્માત્મજ્ઞાનપ્રસંગેન કિશ્ચિદુચ્યતે—

ટીકાર્થ—જો હસ ( પૂર્વોક્ત ) પ્રકાર સે આત્મા કો જાનતા હૈ વહી આત્મવાદી હૈ, અર્થાત્ આત્મા કે સ્વરૂપ કો કહને વાલા હૈ । તાત્પર્યે યહ હૈ કિ—આત્મા કા સ્વરૂપ કહને વાલે સંસાર મેં બહુત હૈં કિન્તુ વાસ્તવ મેં સત્ત્વા આત્મવાદી વહી હૈ કો પૂર્વોક્ત પ્રકાર સે આત્મા કા જ્ઞાતા હૈ ।

આત્મા કા સ્વરૂપ સમજે વિના વચ્ચ કા સ્વરૂપ અશક્ય હૈ । ડસકે અમાવ મેં કિસીકો આત્મા કા ઉત્કર્ષ કરના રુચિકર નહીં હોતા, જોર હસ રુચિ કે અમાવ મેં કિસીકો નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ જ્ઞાન ઓર ક્રિયા મેં—જો મોક્ષ કે કારણ હૈં—પ્રવૃત્તિ નહીં હોતી, અતઃ આત્મજ્ઞાન કા પ્રસન્ન હોને સે યહીં કુલ વિવેચન ક્રિયા જાતા હૈ—

ટીકાર્થ—જો આ (પૂર્વોક્ત) પ્રકારથી આત્માને જાણે છે, તે આત્મવાદી છે, અર્થાત્—આત્માના સ્વરૂપને કહેવા વાળા છે, તાત્પર્યે જો છે કે—આત્માનું સ્વરૂપ કહેવા વાળા સંસારમાં મળ્યા છે પરંતુ વાસ્તવમાં સાચા આત્મવાદી તે છે કે જે પૂર્વોક્ત પ્રકારથી આત્માના જ્ઞાતા છે, અર્થાત્ પૂર્વોક્ત પ્રકારે આત્માને જાણે છે

આત્માના સ્વરૂપને સમજ્યા વિના બધું સ્વરૂપ સમજવું અશક્ય છે, તેના અભાવમાં કોઈને આત્મા ઉત્કર્ષ કરવું રુચિકર થતું નથી અને તે રુચિના અભાવમાં કોઈને નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ જ્ઞાન અને ક્રિયામાં જે મોક્ષનું કારણ છે તેમાં પ્રવૃત્તિ થતી નથી તે કારણથી આત્મજ્ઞાનનો પ્રસંગ હોવાથી અર્થ મોડું વિવેચન કરવામાં આવે છે—

## આત્મશબ્દાર્થ —

અતતિ-નિત્ય જાનાતીતિ આત્મા । ‘અત સાતત્યગમને’ इत्यत्रात-  
धातोर्गत्यर्थकत्वाद्, गत्यर्थानां च प्रानार्थकतया स्वीकारादयमर्थो लभ्यते ।  
सिद्धससारिभेदेन द्विविधस्यापि जीवस्य सर्वदाश्रवोपसम्भावादात्मन कस्या  
चिदवस्थायामुपयोगवियोगो न जायते । कदाचिदप्यवबोधामावे च जीवत्वमेव  
व्याह्रियेत । अत एव—‘जीवो ज्वओगलक्खणो’ इत्युक्तम् (उत्तरा २८ अ १० श्लो )  
यद्वा—अतति—सतत गच्छति, निरन्तर प्राप्नोति स्वकीयान् पर्यायानिति—आत्मा ।

## આત્મશબ્દ કા અર્થ—

‘અતતિ’—इति—आत्मा ‘अर्थात् जो नित्य जानता रहता है वह आत्मा कहलाता है । ‘अत’ धातु सतत गमन करने के अर्थ में है और गमनार्थक सभी धातु ज्ञानार्थक होते हैं, अत उपर्युक्त अर्थ किया गया है । क्या सिद्ध और क्या ससारी, दोनों ही प्रकार के जीवों में सर्वैव ज्ञान विद्यमान रहता है, और किसी भी अवस्था में उपयोगका वियोग नहीं होता । किसी समय ज्ञान का अभाव हो जाय तो जीव में जीवत्व ही नहीं रहे । इसी कारण उत्तराध्ययन सूत्र (अ २८ श्लो १०) में कहा है —“जीवो ज्वओगलक्खणो” जीव उपयोग लक्षण वाला है ।

અર્થવા—અતતિ અર્થાત્ જો અપને પર્યાયોં કો સતત પ્રાપ્ત હોતા રહતા હે  
વહ આત્મા હે ।

## આત્મા શબ્દનો અર્થ—

‘અતતિ’ इति आत्मा अर्थात् जो जाग्रता रहे छे, ते आत्मा कहैवाय छे  
‘अत’ धातु सतत गमन करवाना अर्थमा छे अने अभनार्थक सब धातु ज्ञानार्थक  
पक्ष होय छे (गमन करवु जेवा अर्थवाणा तमाम धातु ज्ञान अर्थवाणा पक्ष होय  
छे) अे करखुथी छपर कहैखे अर्थ कर्यो छे तो शु सिद्ध अने ससारी अने  
प्रकारना एवोमा हमेशा ज्ञान विद्यमान रहे छे अने केह पक्ष अवस्थामा उपयोगने  
वियोग धतो नही केह समय ज्ञानने अभाव धरि जाय तो एवमा एवत न न  
रहे. अे करखुथी उत्तराध्ययन सूत्र (अ २८ श्लो. १०) मा कह्य छे के:—  
“जीवो ज्वओगलक्खणो” “एव उपयोग वखखुवाणो छे”

અર્થવા—અતતિ અર્થાત્ જે જોતાના પર્યાયોને સતત પ્રાપ્ત થતો રહે છે, તે  
આત્મા છે

## ટીકા—

‘સે આયાવાદી’ इति । सः=इत्यमात्मानं ज्ञाता, आत्मवादी=आत्मानं वदितुं शीलमस्येति विग्रहे कर्त्तरि णिनि, आत्मस्वरूपकथनस्वभाववान् । अयं भाव—आत्मस्वरूप वक्तारो जगति बहव सन्ति, परन्तु स एवात्मवादी वेदितव्यो, यः पूर्वोक्तरीतिमनुसृत्यात्मानं विजानातीति ।

आत्मस्वरूपपरिचય વિના વચ્ચસ્વરૂપ જ્ઞાતુમશક્યમ્ । તદ્ વિના ન રોષતે કસ્મૈચિદાત્મોત્કર્ષકરણમ્, તદ્દુષિમન્તરેણ ચ કસ્યચિન્મોક્ષોપાય-મૂતનિશ્ચયવ્યવહારલક્ષણજ્ઞાનક્રિયયોઃ પ્રવૃત્તિર્ન સ્યાત્, સસ્માદત્રાત્મજ્ઞાનમસંજ્ઞેન કિંચિદુચ્યતે—

ટીકાર્થ—જો હસ ( પૂર્વોક્ત ) પ્રકાર સે આત્મા કો જ્ઞાતા હૈ વહી આત્મવાદી હૈ, અર્થાત્ આત્મા કે સ્વરૂપ કો કહને વાલા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—આત્મા કા સ્વરૂપ કહને વાલે સસાર મેં બહુત હૈ કિન્તુ વાસ્તવ મેં સત્ત્વા આત્મવાદી વહી હૈ જો પૂર્વોક્ત પ્રકાર સે આત્મા કા જ્ઞાતા હૈ ।

આત્મા કા સ્વરૂપ સમજે વિના વચ્ચ કા સ્વરૂપ અશક્ય હૈ । ડસકે અભાવ મેં કિસીકો આત્મા કા ઉત્કર્ષ કરના રુચિકર નહીં હોતા, ઓર હસ રુચિ કે અભાવ મેં કિસીકો નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ જ્ઞાન ઓર ક્રિયા મેં—જો મોક્ષ કે કારણ હૈ—પ્રવૃત્તિ નહીં હોતી, અતઃ આત્મજ્ઞાન કા પ્રસન્ન હોને સે મહીં કુલ વિવેચન ક્રિયા જાતા હૈ—

ટીકાર્થ—જે આ (પૂર્વોક્ત) પ્રકારથી આત્માને જાણે છે, તે આત્મવાદી છે, અર્થાત્—આત્માના સ્વરૂપને ઠહેવા વાળા છે, તાત્પર્ય જો છે કે—આત્માનું સ્વરૂપ ઠહેવા વાળા સસારમા બધા છે પરંતુ વાસ્તવમા સાચા આત્મવાદી તે છે કે જે પૂર્વોક્ત પ્રકારથી આત્માના જ્ઞાતા છે, અર્થાત્ પૂર્વોક્ત પ્રકારે આત્માને જાણે છે

આત્માના સ્વરૂપને સમજ્યા વિના બધાનું સ્વરૂપ સમજવું અશક્ય છે, તેના અભાવમા કોઈને આત્મા ઉત્કર્ષ કરવું રુચિકર થતું નથી અને તે રૂચિના અભાવમા કોઈને નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ જ્ઞાન અને ક્રિયામા જે મોક્ષનું કારણ છે તેમાં પ્રવૃત્તિ થતી નથી તે કારણથી આત્મજ્ઞાનનો પ્રસન્ન હોવાનો અર્થ થતું વિવેચન કરવામા આવે છે—

### આત્મનોઽસ્તિત્વસિદ્ધિ —

તાવત્ પ્રત્યક્ષપ્રમાણત્વ એવાત્મન સિદ્ધિરુચ્યતે—(૧) કિમયમાત્મા-અસ્તિ નાસ્તિ વેતિ સંશયોદિવિજ્ઞાન સ્વસ્વાત્મનિ સ્થસવેદનપ્રત્યક્ષણ સિદ્ધમ્, સ એવાત્મા, સંશયોદિજ્ઞાનત્વેત્વ તદનન્યત્વેનાત્મસ્વરૂપત્વાત્ ।

(૨) તથા-આત્માનમાભિત્વેત્વ સુખદુઃસ્વાદય સ્વસ્વશરીર એવ પ્રત્યક્ષેણ સવેદ્યતે ।

(૩) યદ્વા-કૃતવાનર્હ, કરોમ્યહ, કરિષ્યામ્યહમ્, इत्यादिप्रकारेण योऽयम्-अहम्प्रत्यय, एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवायमात्मा । कथमसत्प्रात्मनि-

### આત્માકે અસ્તિત્વકો સિદ્ધિ—

સવ પ્રથમ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણ સે હી આત્મા કી સિદ્ધિ કહતે હૈં —

(૧) આત્મા હૈં યા નહીં હૈ, ઇસ પ્રકાર કા સંશય આદિ જ્ઞાન અપની અપની આત્મા મૈં સ્વસવેદન પ્રત્યક્ષ સે સિદ્ધ હૈં । વહી જ્ઞાન આત્મા હૈ, અર્થાત્ સંશય આદિ જ્ઞાન આત્માસે અભિન્ન હોને કે કારણ આત્મસ્વરૂપ હો હૈ ।

(૨) આત્મા કો અગ્રિત કરકે હી દુઃખ-સુખ આદિ અપનેર શરીર મૈં પ્રત્યક્ષ સે જાને જાતે હૈં ।

(૩) અથવા-મૈં કર જુકા, મૈં કરતા હૈં, મૈં કરૂંગા, इत्यादि रूप से जो अहम्प्रत्यय होता है उससे भी आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । आत्मा न होता तो आत्मा के विषय में अहम्प्रत्यय ( મૈં કા જ્ઞાન ) કિસ પ્રકાર હો સકતા થા ? આત્મરૂપ વિષય કે

### આત્માના અસ્તિત્વની સિદ્ધિ—

સૌથી પ્રથમ પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી જ આત્માની સિદ્ધિ કહે છે —(૧) આત્મા છે કે નહિ, આ પ્રકારતુ સંશય આદિ જ્ઞાન પોત પોતાના આત્માના સ્વસવેદન પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે, તે જ્ઞાન આત્મા છે અર્થાત્ સંશય આદિ જ્ઞાન આત્માથી અભિન્ન હોવાના કારણે આત્મસ્વરૂપ જ છે

(૨) આત્માના અગ્રિતપણાથી જ દુઃખ-સુખ આદિ પોત-પોતાના શરીરમા પ્રત્યક્ષ જાણવામાં આવે છે

(૩) અથવા-હું કરી જુઓ, હું કર છું હું કરીશ, इत्यादिप्रत्यय જે અહ પ્રત્યય થાય છે, તેથી પણ આત્માનું પ્રત્યક્ષપણ થાય છે આત્મા ન હોય તો આત્માના વિષયમા અહ પ્રત્યય ( હું પણતુ જ્ઞાન ) કેવી રીતે થઈ શકે ? આત્મરૂપ

નન્વેષ ગગનાદીનામપિ સતત સ્વપર્યાયપ્રાપ્ત્યા તત્રાત્મશબ્દમયોગો દુર્વાર, કદાપિ પર્યાયામાવે ત્વપરિણામિત્વેન તેષાં વસ્તુત્વમેવ ન મ્યાદિતિ ચેન્મૈત્રમ્, સતતસ્વપર્યાયપ્રાપ્તિકર્તૃત્વમિતિ વ્યુત્પત્તિનિમિત્તમાત્રમાત્મશબ્દસ્ય, ન ત્વ તત્ પ્રવૃત્તિનિમિત્તમ્ । પ્રવૃત્તિનિમિત્તં ચાસ્યોપયોગ ણ્વેતિ ગગનાદિષુ નાત્મશબ્દઃ પ્રવર્તતે ।

યદ્વા—સતત ગચ્છતીત્પયમયોડપિ ન વિરુદ્ધયે સંસારવશ્યાયાં કર્મ-  
વશેન નાનાગતિષુ સતતગમનાત્, મુક્તાવસ્થાયામપિ ભૂતકાલિકસતતગમનસદ્ભાવાત્ ।

શુદ્ધા—આકાશ આદિ મી અપને અપન પર્યાયોં કો નિરન્તર પ્રાપ્ત હોતે રહતે હૈં તો અનેકે છિયે મી આત્મા શબ્દ કા પ્રયોગ કરના અનિવાર્ય હોગા । કિસી સમય અનેકે પર્યાય કા અમાવ હો તો વે અપરિણામી ઠહેરંગે ઓર તબ અનેકે મેં વસ્તુત્વ હી નહીં રહેગા ।

સમાધાન—પેસા મત કહિય । નિરન્તર અપને પર્યાયોં કો પ્રાપ્ત કરના તો આત્મા શબ્દ કા વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત માત્ર હૈ, અહ પ્રવૃત્તિનિમિત્ત નહીં હૈ, પ્રવૃત્તિનિમિત્ત તો ઉપયોગ હી હૈ, અત આકાશ આદિ મેં આત્મા શબ્દ કા પ્રયોગ નહીં હો સકતા ।

અથવા ‘નિરન્તર ગમન કરતા હૈ’ હસ અર્થ કા મી વિરોધ નહીં હૈ, ક્યોં કિ સંસાર-અવસ્થા મેં કર્મ કે અધીન હોકર આત્મા નાના ગતિયાં મેં સદૈવ ગમન કરતા રહતા હૈ, મુક્ત અવસ્થા મેં મી મુક્તકાલીન સતત ગમન વિદ્યમાન હૈ ।

શ કા—આકાશ આદિ પશુ પોત પોતાના પર્યાયોને નિરન્તર પ્રાપ્ત થતા રહે છે, તો તેને માટે પશુ આત્મા શબ્દનો પ્રયોગ કરવો અનિવાર્ય થશે. કેમકે સમય તેનામાં પર્યાયો અભાવ હોય તો તે અપરિણામી કરશે ત્યારે તેનામાં વસ્તુત્વ પણ નહિ રહે.

સમાધાન—જો પ્રમાણે ન કહો. નિરન્તર પોતાના પર્યાયોને પ્રાપ્ત કરવું તે તો આત્મ શબ્દની વ્યુત્પત્તિનિમિત્ત માત્ર છે, પરંતુ તે પ્રવૃત્તિનિમિત્ત નથી; પ્રવૃત્તિનિમિત્ત તો ઉપયોગ જ છે, તેથી આકાશ આદિમાં આત્મ શબ્દનો પ્રયોગ થઈ શકતો નથી.

અથવા—નિરન્તર ગમન કરે છે, આ અર્થનો પણ વિરોધ નથી કેમકે—સંસાર અવસ્થામાં કર્મના અધીન બનીને આત્મા અનેક ગતિઓમાં હવેલાં ગમન કરતો રહે છે મુક્ત-અવસ્થામાં પણ મુક્તકાલીન સતત ગમન વિદ્યમાન છે

ન ચ દેહોઽત્ર ગુણીતિ ઘોચ્યમ્, દેહસ્ય મૂર્તત્વાદ્ જઠત્વાચ્ચ જ્ઞાનસ્ય  
ચામૂર્તત્વાદ્ ઘોઘરૂપત્વાચ્ચ । અહં નાહં વેતિગદતો 'માતા મે વન્ધ્યા' ઇત્યાદિવત્  
સ્વવચનવ્યાઘાત ।

(૪) યદ્વા-આત્મા ગુણી પ્રત્યક્ષ एष, સ્મૃતિ-જિજ્ઞાસા-ચિકીર્ષા-  
જિગમિષા-સંશયોદિજ્ઞાનવિશેષાણાં તદ્ગુણાનાં સ્વાત્મનિ સ્વસવેદનપ્રત્યક્ષ-  
સિદ્ધત્વાત્, इह यस्य गुणा\* प्रत्यक्षा स प्रत्यक्षो दृष्टः, यथा घट\*, प्रत्यक्षगुणश्चात्मा,  
तस्मात् प्रत्यक्ष\* । यथा घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्ष\*, तथा  
विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापीति ।

यहाँ यह कहना ठीक नहीं है कि-‘देह गुणी है’, क्योंकि देह मूर्त है और जड़  
है जब कि ज्ञान अमूर्त है और चेतनरूप है । मूर्त गुणी का अमूर्त गुण नहीं हो सकता  
और न जड़ का गुण चेतना हो सकता है । इस कारण ‘मैं हूँ या नहीं’ इस प्रकार कहने  
वाले को ‘मरा माता बन्ध्या है’ ऐसा कहने वाले के समान स्ववचनवाचा दोष आता है ।

(४) अथवा आत्मा गुणी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, क्योंकि स्मृति, जिज्ञासा,  
करने की इच्छा, गमन की इच्छा, संशय आदि ज्ञान-जो आत्मा के गुण है-अपनी  
आत्मा में प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं, जिस पदार्थ के गुण प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं वह  
पदार्थ भी प्रत्यक्ष माना जाता है, जैसे घट, आत्माके गुण भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं इस  
कारण आत्मा प्रत्यक्ष है । घट के रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने से ही गुणी घट  
का प्रत्यक्ष होना देखा जाता है, इसी प्रकार विज्ञान आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने से  
आत्मा भी प्रत्यक्ष है ।

અહીં ‘દેહ ગુણી છે’ એમ કહેવું તે ઠીક નથી, કારણ કે દેહ મૂર્ત છે અને  
જડ છે જ્યારે જ્ઞાન અમૂર્ત છે અને ચેતનરૂપ છે મૂર્ત ગુણીનો અમૂર્ત ગુણ હોઈ  
શકે નહિ. અને જઠનો ગુણ ચેતન થઈ શકે નહિ. આ કારણથી “હું છું કે નહિ”  
એ પ્રમાણે કહેવાવાળાને “મારી માતા વન્ધ્યા છે” એ પ્રમાણે કહેનારના જેવો  
સ્વવચનવ્યાધા નામનો દોષ આવે છે

(૪) અથવા-આત્મા ગુણી પ્રત્યક્ષથી જ સિદ્ધ છે, કેમકે-સ્મૃતિ, જિજ્ઞાસા, કરવાની  
ઇચ્છા, ગમનની ઇચ્છા, સંશય આદિજ્ઞાન વગેરે જે આત્માના ગુણ છે તે પોતાના આત્મામાં  
પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે જે પદાર્થનો ગુણ પ્રત્યક્ષથી પ્રતીત થાય છે તે પદાર્થ પણ  
પ્રત્યક્ષ માનવામાં આવે છે જેમ-ઘટ, આત્માનો ગુણ પ્રત્યક્ષથી પ્રતીત થાય છે તે  
કારણથી આત્મા પ્રત્યક્ષ છે ઘટના રૂપ આદિ ગુણો પ્રત્યક્ષ હોવાથી જ ગુણી  
ઘટનું પ્રત્યક્ષ હોવું જોવામાં આવે છે તે પ્રમાણે વિજ્ઞાન આદિ ગુણો પ્રત્યક્ષ હોવાથી  
આત્મા પણ પ્રત્યક્ષ છે

અહમિતિ જ્ઞાનમ્ આત્મવિષયકં જ્ઞાયતે । આત્મરૂપવિષયમાત્રે વિષયિણોઽનુત્પા-  
નપ્રસંગાત્ । ન ચ દેહ એવાસ્ય જ્ઞાનસ્ય વિષય ઇતિ યાજ્યમ્ । જીવરશિતેઽપિ  
દેહે તદુત્પત્તિપ્રસંગાત્ । અસ્મિન્નહમ્પ્રત્યય આત્મવિષયકે સતિ તુ કિમહસ્મિ  
નાસ્મીતિ સશયો નોપપદતે, અહમ્પ્રત્યયવિષયસ્યાત્મન સદ્વાદાદહમસ્મીતિ  
નિષ્કય એવ સંમ્પદતિ । આત્માસ્તિત્વસંશયે તુ કમ્પાયમહમ્પ્રત્યય સ્યાત્ ?,  
નિર્મૂલત્વેન ઇદનુત્થાનપ્રસંગાત્ । યદિ સશયી જીવ એવ નાસ્તિ, તર્હિ અસ્તિ  
નાસ્તીતિ સશયઃ કસ્ય ભવતુ । સશયો હિ વિજ્ઞાનારૂપો ગુણ એવ, ન ચ ગુણિનમન્તરેષ  
ગુણઃ સિષ્યતિ ।

અમાવ મેં વિષયી અર્થાત્ જ્ઞાન કી ઉત્પત્તિ નહીં હો સકતી । શરીર હી ઇસ જ્ઞાન કા  
વિષય હૈ—અર્થાત્ ‘અહમ્’ (મૈ) કા અર્થ આત્મા નહીં વરન્ શરીર હૈ, એસા કહના  
ઠવિત નહીં, ક્યાં કિ—એસા હોતા તો મૃત શરીર મેં બી અહમ્પ્રત્યય હોને લગતા ।  
આત્મા કો વિષય કરનેવાળે ઇસ અહમ્પ્રત્યય કી વિષમાનતા મેં ‘મેં હૂં યા નહીં હૂં’, ઇસ  
પ્રકાર કા સશય હી નહીં હોતા હૈ, અહમ્પ્રત્યય કે વિષયમૃત આત્મા કા સદમાવ  
હોને સે ‘મેં હૂં’ ઇસ પ્રકાર કા નિષ્કય હી હો સકતા હૈ । આત્મા કે અસ્તિત્વ કે  
વિષય મેં સંશય ક્રિયા જાય તો પ્રશ્ન ઉપસ્થિત હોતા હૈ કિ યહ અહમ્પ્રત્યય કિષે  
હોતા હૈ । વિના કારણ કે હી તો ઇસકી ઉત્પત્તિ નહીં હો સકતી । યદિ સશય કરને વાલા  
જીવ હી નહીં હૈ તો ‘હૈ યા નહીં’ ઇસ પ્રકાર કા સશય કરતા કોન હૈ ? સશય એક  
પ્રકાર કા જ્ઞાન—ગુણ હૈ ઔર ગુણ, ગુણી કે અમાવ મેં નહીં હો સકતા ।

વિષયના અમાવમા વિષયી અર્થાત્ જ્ઞાનની ઉત્પત્તિ નથી થઈ શકતી શરીર જ આ  
જ્ઞાનનો વિષય છે, અર્થાત્ ‘અહમ્,’ (હું) નો અર્થ આત્મા નથી બદલે શરીર છે,  
એમ કહેવું તે ઠવિત નથી, કેમકે જો એમ કહેવું તો મૃત શરીરમા અહમ્પ્રત્યય  
થઈ શકશે. આત્માને વિષય કરવા વાળો આ-અહમ્પ્રત્યયની વિષમાનતામા “હું છું  
કે નથી” આ પ્રકારનો સશય જ થતો નથી અહમ્પ્રત્યયના વિષયમૃત  
આત્માનો સફાવ હોવાથી “હું છું” આ પ્રકારનો નિષ્કય જ થઈ શકે છે  
આત્માના અસ્તિત્વના વિષયમાં સશય કરવામા આવે તો પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થાય છે કે  
આ અહમ્પ્રત્યય કોને થાય છે? કારણ વિના તો તેની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી જો  
સશય કરવા વાળો છવ નથી તો “હું છું કે નહિ” જો પ્રકારનો સશય કરનાર  
કોણ છે? સશય જોક પ્રકારનો જ્ઞાન—ગુણ છે, અને ગુણ ગુણીના અમાવમા થઈ  
શકતો નથી

રૂપાદિગુણમાત્રસ્યૈવ પ્રત્યક્ષત્વાત્ । અન્યસ્મિન્ જ્ઞાતેજ્યજ્ઞાત ન ભવતિ, યથા ઘટે જ્ઞાતે પટો ન જ્ઞાયતે । ગુણા કદાપિ દ્રવ્યાદ્ મિન્નતયા સત્તાં ન લમન્તે, एवं દ્રવ્યમપિ ગુણેભ્યો મિન્નતયા ન સત્તા લમતે । અય ગુણઃ, અય ગુણીતિ નામમાત્રતો મેદસત્ત્વેઽપિ ન તત્ત્વતો મેદઃ । યથા-અગ્નિગુણી સ્વક્રીયાદુષ્ણત્વગુણાદસ્યન્તમિન્ન. સ્પર્ચાર્ઠિ દાહકાર્યં કર્તુમસી ન શક્તુયાત્ ।

તથા-યદ્યાત્મા જ્ઞાનગુણાદત્યન્તમિન્નો ભવેત્ તદા તસ્ય જઠત્વાપત્તિઃ સ્યાત્ । તસ્માદ્ દ્રવ્યગુણયોર્મેદો ન કદાચિદાસીત્, નાપ્યસ્તિ, ન ચ મવિપ્યતીતિ સિદ્ધમ્ ।

તુષ્પત્તુર્જનન્યાયેન તવ મતે ગુણેભ્ય મિન્નત્વાદ્વીકારેઽપ્યાત્મા પ્રત્યક્ષો મા

અન્ય કા જ્ઞાન હોન સે અન્ય કા બોધ નહીં હો બાતા । જૈસે-ઘટ કે જાનનેસે પટ માહ્લમ નહીં હોતા । ગુણ દ્રવ્ય સે મિન્ન કદાપિ નહીં રહ સકતે, ઔર દ્રવ્ય મી ગુણો સે મિન્ન કદાપિ નહીં રહ સકતા । ‘યહ ગુણ હૈ, યહ ગુણી હૈ’ હસ પ્રકારકા મેદ નામમાત્રકા હૈ, વાસ્તવ મેં ગુણ-ગુણી મેં મેદ નહીં હૈ । અગર અગ્નિ ગુણી અપને ઊષ્ણતાગુણ સે અત્યન્ત મિન્ન હોતા તો વહ વાહ-કાર્ય (જલાને કા કાર્ય) કરને મેં અસમર્થ હોતા ।

દૂસરી વાત યહ હૈ કિ-આત્મા યદિ અપને જ્ઞાનગુણ સે મિન્ન હોતા તો આત્મા મેં અઢતા આ બાતી । અત ઇવ દ્રવ્ય ઔર ગુણ કા મેદ ન કમી બા, ન હૈ, ઔર ન હોમા ।

તુર્જનસન્તોપન્યાય સે, તુમ્હારે મત કે અનુસાર કદાચિત્ યહ માન હિંચ્યા બાય કિ આત્મા ગુણો સે મિન્ન હૈ ઔર હસ કારણ આત્મા કા પ્રત્યક્ષ મહે હી ન હો

ઘટ કથારેય પ્રત્યક્ષ નથી થતો અન્યતુ જ્ઞાન થવાથી અન્યનો ઘેાધ થતો નથી, જેમકે ઘટના જ્ઞાનથી પટ માહ્લમ થતો નથી (પટનુ જ્ઞાન થતુ નથી) શુષ્ક, દ્રવ્યથી ભિન્ન કદાચિ રહી શકતો નથી ‘આ શુષ્ક છે અને આ શુષ્કી છે’ એ પ્રકારનો ભેદ નામમાત્રનો છે વાસ્તવિક રીતે શુષ્ક-શુષ્કીમા ભેદ નથી અગર અગ્નિ શુષ્કી પોતાના જીહ્વતાશુષ્કથી અત્યન્ત ભિન્ન થઈ બાય તો તે દાહકાર્ય (બાળવાનુ કાર્ય) કરવામા અસમર્થ થઈ બાય છે

બીજી વાત એ છે કે-આત્મા એ પોતાના જ્ઞાનશુષ્કથી ભિન્ન હોય તો આત્મામાં જઠતા આવી બાય એટલા માટે દ્રવ્ય અને શુષ્કનો ભેદ કોઈ પણ વખતે હોતો નહિ, છે નહિ અને થશે પણ નહિ

તુર્જનસન્તોપ ન્યાયથી તમારા મત પ્રમાણે કદાચિત્ એમ માની લઈએ કે આત્મા શુષ્કથી ભિન્ન છે, અને તે કારણે આત્મા પ્રત્યક્ષ બલે ન થાય તો પણ



ન ચાજ્ઞૈકાન્તિકોડ્યં હેતુ, યસ્માદાકાશગુણઃ શબ્દઃ પ્રત્યક્ષોઽસ્તિ, ન પુનરાકાશમિતિ વાચ્યમ્, શબ્દસ્વાકાશગુણસ્વાભાવાત્ । શબ્દો હિ પુદ્ગલગુણઃ એન્દ્રિય પત્વાદ્ રૂપાદિષદિતિ ।

અસ્તુ, ગુણાઃ પ્રત્યક્ષાઃ, ગુણિનસ્તુ પ્રત્યક્ષત્વે કિં માનમ્ ? ઉચ્યતે—ગુણે-મ્યોઽનન્યો ગુણીતિ જ્ઞાનાદિગુણાનાં પ્રત્યક્ષત્વાદેવાત્માઽપિ ગુણી પ્રત્યક્ષેણ જ્ઞાયતે । યદિ ગુણેમ્યોઽન્યો ગુણી સ્પાત્, તદા ઘટાદયોપિ ગુણિન પ્રત્યક્ષા ન ભવેયુઃ,

શબ્દ—આપ કા દિયા હુઆ હેતુ બનૈકાન્તિક હૈ, ક્યાં કિ આકાશ કે ગુણ શબ્દ કા તો પ્રત્યક્ષ હોતા હૈ કિન્તુ આકાશ કા પ્રત્યક્ષ નહીં હોતા ।

સમાધાન—એસા ન કહિયે, ક્યોં કિ શબ્દ આકાશ કા ગુણ નહીં હૈ । શબ્દ પુદ્ગલ કા ગુણ હૈ, ક્યોં કિ વહ હિન્દ્રિય (એન્દ્રિય) કા વિષય હૈ, જો હિન્દ્રિય કા વિષય હોતા હૈ વહ પૌદ્ગલિક હો હોતા હૈ, જૈસે—રૂપ આદિ

શબ્દ—ગુણોં કો પ્રત્યક્ષ માન છે કિન્તુ ગુણીં કો પ્રત્યક્ષ હોને મેં ક્યા પ્રમાણ હૈ ?

સમાધાન—ગુણ બોર ગુણીં કા કશચિત્ તાદાત્મ્ય સમ્બન્ધ હૈ—ગુણીં, ગુણોં સે અભિન્ન હોતા હૈ અતઃ યવ ગુણોં કા પ્રત્યક્ષ હોને સે આત્મા ગુણીં મી પ્રત્યક્ષ સે પ્રતીત હોતા હૈ । અગર ગુણીં, ગુણોં સે ભિન્ન હોતા તો ગુણીં ઘટ આદિકા મી પ્રત્યક્ષ ન હોતા, ક્યોંકિ સિર્ફ રૂપાદિ ગુણોં સે ભિન્ન ઘટ કા કમી પ્રત્યક્ષ નહીં હોતા ।

—શબ્દ—આપે જે હેતુ બાદિ આપે છે તે બનૈકાન્તિક છે, કેમકે આકાશનો શબ્દ શબ્દ તે તો પ્રત્યક્ષ થાય છે, પરંતુ આકાશ પ્રત્યક્ષ થતુ નથી

સમાધાન—જો પ્રમાણે ન કહો, કેમકે શબ્દ તે આકાશનો શબ્દ નથી પણ શબ્દ તે પુદ્ગલનો શબ્દ છે કેમકે તે હિન્દ્રિય (એન્દ્રિય)નો વિષય છે જે હિન્દ્રિયનો વિષય હોય છે તે પૌદ્ગલિક જ હોય છે, જેમ—રૂપ આદિ

શબ્દ—શબ્દોને પ્રત્યક્ષ માની લઈએ. પરંતુ શબ્દોના પ્રત્યક્ષપણામાં શું પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—શબ્દ બને શબ્દોનો કશચિત્ તાદાત્મ્ય સબંધ છે—શબ્દી, શબ્દોથી અભિન્ન હોય છે, એટલે શબ્દોના પ્રત્યક્ષપણાથી આત્મા શબ્દી પણ પ્રત્યક્ષ પ્રતીત થાય છે અગર જો શબ્દી, શબ્દોથી ભિન્ન હોત તો શબ્દી ઘટ આદિ પણ પ્રત્યક્ષ થઈ શકત નહિ. કેમકે માત્ર રૂપાદિ શબ્દો જ પ્રત્યક્ષ હોય છે, રૂપાદિ શબ્દોથી ભિન્ન

તસ્માદ્ જ્ઞાનાદિગુણાનામનુરૂપો યો રૂપરશ્વિતોઽચાક્ષુષઃ ગુણી સ દેહાદ્ મિન્ન આત્માઽસ્તીતિ વિજ્ઞેય' ।

ન ચ જ્ઞાનાદયો ગુણા ન દેહસમ્બન્ધિન इत्यनुમાનं પ્રત્યક્ષવાધિતમ્ , જ્ઞાનાદિગુણાના દેહ એવ પ્રત્યક્ષેણ જ્ઞાનસદ્ભાવાદિતિ વાચ્યમ્ , અસ્ય પ્રત્યક્ષસ્યા-નુમાનવાધિતત્વાત્ । શરીરેન્દ્રિયમિન્ન જ્ઞાનાદિગુણવત્ત્વમનુમાનેન સિધ્યતિ । તથાહિ—શરીરેન્દ્રિયમિન્નો જ્ઞાનાદિગુણજ્ઞાન , તદુપરમેઽપિ તદુપલબ્ધાર્યાનુસ્મરણાત્ । યો હિ યદુપરમેઽપિ યદુપલબ્ધમર્થમનુસ્મરતિ, સ તસ્માદન્યો દૃષ્ટઃ, યથા—પદ્મ-વાતાયનોપલબ્ધાર્યાનુસ્મર્તા દલદલઃ, इत्यादि । કેનચિત્ કારણેન દૃષ્ટિશક્તિ-વિષાતેઽપિ પૂર્વદૃષ્ટપદાર્યાનુસ્મરણં મવતીત્યતો દેહેન્દ્રિયાદિમિશ્ર આત્મા ગુણો સિધ્યતિ ।

જ્ઞાનાદિ ગુણ દેહસમ્બન્ધી નથી, એવું અનુમાન, પ્રત્યક્ષ સે વાધિત છે, ક્યાં કે—પ્રત્યક્ષપ્રમાણ સે એ દેહ મેં હી પ્રતીતિ હોતો છે, એવું કથન ટીક નથી, ક્યોં કે એ પ્રત્યક્ષ હી અનુમાન સે વાધિત છે । અનુમાન સે એ સિદ્ધ છે કે—જ્ઞાન આદિ ગુણોં કા આધાર શરીર ઓર ઇન્દ્રિયોં સે કોઈ મિશ્ર પદાર્થ (આત્મા) હી છે । અનુમાન હસ પ્રકાર છે—જ્ઞાનાદિ ગુણોં કા આધાર શરીર ઓર ઇન્દ્રિયોં સે મિશ્ર છે, ક્યોં કે ડનકે નષ્ટ હો જાને પર મી ડનકે દ્વારા જાને હુણ પદાર્થ કા સ્મરણ હોતા છે । બિસકે નષ્ટ હો જાને પર મી, જિસકે દ્વારા જાને હુણ પદાર્થ કા જો સ્મરણ કરતા છે વહ ડસ સે મિશ્ર હોતા છે । જૈસે—પાંચ બિઠકીયોં દ્વારા જાને હુણ પદાર્થોં કો સ્મરણ કરને ચાહા દેવદત્ત છે, ડસકો કિસી કારણ સે દેલ્કને કી શક્તિ નષ્ટ હો જાને પર મી પહલું દેલ્કે હુણ પદાર્થ કા સ્મરણ હોતા છે । હસ સે મલીમૌતિ સિદ્ધ છે કે—દેહ ઓર ઇન્દ્રિય આદિ સે મિશ્ર આત્મા હી ગુણી છે ।

જ્ઞાનાદિ ગુણ દેહસમ્બન્ધી નથી, કારણ કે તે અનુમાન પ્રત્યક્ષથી વાધિત છે, કેમકે પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી તે દેહમાં જ પ્રતીતિ થાય છે; તે કથન ટીક નથી. કેમકે તે પ્રત્યક્ષ અનુમાનથી વાધિત છે અનુમાનથી જો સિદ્ધ છે કે જ્ઞાન આદિ ગુણોના આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી કોઈ મિશ્ર પદાર્થ (આત્મા) જ છે અનુમાન આ પ્રમાણે છે—જ્ઞાનાદિ ગુણોના આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી મિશ્ર છે, કેમકે તેના નષ્ટ થવા છતાંય તેના દ્વારા બાહેલા પદાર્થનું સ્મરણ હોય છે જેના નષ્ટ થવા પછી પણ, જેના દ્વારા બાહેલા પદાર્થ તેનું જ સ્મરણ કરે છે તે તેનાથી મિશ્ર હોય છે જેમ પાંચ બઠકીયોં દ્વારા જોવા વાળા પદાર્થોનું સ્મરણ કરવા વાળો દેવદત્ત છે તેને કોઈ કારણથી દેખવાની શક્તિ નષ્ટ થઈ જવા છતાંય પ્રથમ દેખેલા પદાર્થોનું

મવતુ, અસ્તિત્વ ય તસ્ય નિર્વાધમેવ । જ્ઞાનાદિગુણા સન્તિ યસ્ય સ ગુણિરૂપ  
આત્મા કયમપલપ્યેત ।

નતુ દેહ એવ જ્ઞાનાદિગુણા ઉપલમ્બ્યન્તે તદાશ્રયતયા દેહ એવ  
રૂપાદીના ઘટ ઇવ ગુણી સિધ્યતિ, ન ત્વાત્મા । પ્રયોગૈશ્વર્ય-દેહગુણા એવ જ્ઞાનાદય',  
તૈવૈવોપલમ્બ્યમાનત્વાદ્, ગૌરુશ્ચસ્થૂલતાદિવદિતિ ચેન્ન, જ્ઞાનાદયો ગુણા ન દેહ-  
સમ્બન્ધિનઃ, અમૂર્તત્વાદ્, અચાક્ષુષત્વાદ્ વા, ગગનવત્ । દ્રવ્યવિરહિતો ગુણો ન મવતિ ।

તથાપિ उसके અસ્તિત્વ મેં કોઈ માધા નહી આતી । જિસ કે જ્ઞાનાદિ ગુણ મૌજુદ હૈં उस  
ગુણિરૂપ આત્મા का अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है ।

જાણી—દેહ મેં હી જ્ઞાનાદિ ગુણ પાચે જાતે હૈં, અત ઇન ગુણાં का आधार  
ગુણી દેહ હી હૈ, જૈસે—રૂપાદિ ગુણો का आधार घट है । આત્મા જ્ઞાનાદિ ગુણો का  
આશ્રયમૂલ ગુણી નહીં હૈ । અનુમાન ઇસ પ્રકાર હૈ—જ્ઞાન આદિ દેહ કે ગુણ હૈં, ક્યો  
કિ વે દેહ મેં હી ઉપલમ્બ્ય હોતે, જૈસે—ગૌરવન, દુચલાપન ઔર સ્થૂલતા આદિ ।

સમાધાન—અહ કહના ઠીક નહીં, જ્ઞાન આદિ ગુણ દેહ કે નહીં હૈં, ક્યો  
કિ વે અમૂર્ત હૈં ઔર અચાક્ષુષ ( જો આંસુસે નહીં ટોસ્તા ) હૈં, જો અમૂર્ત ઔર  
અચાક્ષુષ હોતે હૈં વે દેહકે ગુણ નહીં હોતે, જૈસે આકાશ ।

ગુણ, દ્રવ્ય કે બિના રહ નહીં સકતે અત જ્ઞાન આદિ ગુણોका आधारमूल  
कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिए । ज्ञानादि गुणोंके अनुरूप जो अरूपी एव अचाक्षुष  
गुणी हैं वह देह से भिन्न आत्मा ही है ।

આત્માના અસ્તિત્વમા કોઈ પ્રકારની હરકત આવતી નથી જેના જ્ઞાનાદિ ગુણ હોવાય  
છે તે ગુણીરૂપ આત્માના અપલાપ—(છતી વસ્તુને નથી જોમ કહેવું તે) કેમ  
કરવામા આવે ?

શ.કા.—દેહમાં જ જ્ઞાનાદિ ગુણ હોવાય છે, તે કારણથી જો ગુણોને—આધાર  
ગુણી દેહ જ છે, જેમ રૂપાદિ ગુણોને આધાર ઘટ છે આત્મા જ્ઞાનાદિ ગુણોને  
આશ્રયમૂલ ગુણી નથી અનુમાન આ પ્રમાણે છે—જ્ઞાન આદિ દેહના ગુણ છે, કેમકે  
તે દેહમાં જ ઉપલબ્ધ જણાય છે, જેમકે ગોરાપણ, દુબલાપણ અને સ્ખળતા—  
—અક્ષયપણ વગેરે.

સમાધાન—જો પ્રમાણે કહેવું તે યોગ્ય નથી, જ્ઞાન આદિ ગુણ તે દેહના  
ગુણ નથી, કેમકે તે અમૂર્ત છે, અને અચાક્ષુષ છે ( જે નેત્રથી દેખાતા નથી )  
જે અમૂર્ત અને અચાક્ષુષ હોય છે તે દેહના ગુણ થઈ શકતા નથી, જેમ આકાશ  
ગુણ, દ્રવ્ય વિના રહી શકતા નથી, તે કારણથી જ્ઞાન આદિ ગુણોના આધારમૂલ  
કોઈ દ્રવ્ય હોવું જોઈએ. એટલા માટે જ્ઞાનાદિ ગુણોને અનુરૂપ જે અરૂપી અને  
અચાક્ષુષ ગુણી છે, તે દેહથી બિન્ન આત્મા જ છે,

તસ્માદ્ જ્ઞાનાદિગુણાનામનુરૂપો યો રૂપરહિતોઽચાક્ષુષઃ ગુણી સ દેહાદ્ મિન્ન આત્માઽસ્તીતિ વિદ્વેય ।

ન ચ જ્ઞાનાદયો ગુણા ન દેહસમ્બન્ધિન इत्यनुમાર્ન પ્રત્યક્ષવાધિતમ્ , જ્ઞાનાદિગુણાના દેહ એવ પ્રત્યક્ષેણ જ્ઞાનસદ્ભાવાદિતિ વાચ્યમ્ , અસ્ય પ્રત્યક્ષસ્યા-નુમાનવાધિતત્વાત્ । શરીરેન્દ્રિયમિન્ન જ્ઞાનાદિગુણવત્ત્વમનુમાનેન સિદ્ધ્યતિ । તથાહિ—શરીરેન્દ્રિયમિન્નો જ્ઞાનાદિગુણવાન્ , તદુપરમેઽપિ તદુપલબ્ધાર્યાનુસ્મરણાત્ । યો હિ યદુપરમેઽપિ યદુપલબ્ધમર્થમનુસ્મરતિ, સ તસ્માદન્યો દૃષ્ટઃ, યથા—પશ્ચ-વાતાયનોપલબ્ધાર્યાનુસ્મર્તા દેવદત્તઃ, ઇત્યાદિ । કેનચિત્ કારણેન દૃષ્ટિશક્તિ-વિષાતેઽપિ પૂર્વદૃષ્ટપદાર્યાનુસ્મરણં ભવતીત્યતો દેહેન્દ્રિયાદિભિન્ન આત્મા ગુણી સિદ્ધ્યતિ ।

જ્ઞાનાદિ ગુણ દેહસમ્બન્ધી નહીં હૈં, યહ અનુમાન, પ્રત્યક્ષ સે વાધિત હૈ, કયા કિ—પ્રત્યક્ષપ્રમાણ સે વ દેહ મ હી પ્રતીત હોતે હૈં, યહ કથન ટીક નહીં હૈ, કયા કિ યહ પ્રત્યક્ષ હી અનુમાન સે વાધિત હૈ । અનુમાન સે યહ સિદ્ધ હૈ કિ—જ્ઞાન આદિ ગુણોં કા આધાર શરીર ઓર ઇન્દ્રિયાં સે કોઝ મિન્ન પદાર્થ (આત્મા) હી હૈ । અનુમાન હસ પ્રકાર હૈ—જ્ઞાનાદિ ગુણાં કા આધાર શરીર ઓર ઇન્દ્રિયાં સે મિન્ન હૈ, કયોં કિ ઉનકે નષ્ટ હો જ્ઞાન પર મી ઉનકે દ્વારા જાને હુણ પદાર્થ કા સ્મરણ હોવા હૈ । જિસકે નષ્ટ હો જ્ઞાન પર મી, જિસકે દ્વારા જાને હુણ પદાર્થ કા જો સ્મરણ કરતા હૈ વહ ઇસ સે મિન્ન હોવા હૈ । જૈસે—પાંચ સ્વિક્રિયાં દ્વારા જાને હુણ પદાર્થોં કો સ્મરણ કરને વાલા દેવદત્ત હૈ, ઇસકો કિસી કારણ સે દેસને કી શક્તિ નષ્ટ હો જાને પર મી પહલે દેખે હુણ પદાર્થ કા સ્મરણ હોવા હૈ । હસ સે મહીમોતિ સિદ્ધ હૈ કિ—દેહ ઓર ઇન્દ્રિય આદિ સે મિન્ન આત્મા હી ગુણી હૈ ।

જ્ઞાનાદિ ગુણ દેહસમ્બન્ધી નથી, કારણ કે તે અનુમાન પ્રત્યક્ષથી વાધિત છે, કેમકે પ્રત્યક્ષ પ્રમાણથી તે દેહમાં જ પ્રતીત થાય છે, તે કથન ટીક થી. કેમકે તે પ્રત્યક્ષ અનુમાનથી વાધિત છે અનુમાનથી એ સિદ્ધ છે કે જ્ઞાન આદિ ગુણોના આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી કોઈ બિન્ન પદાર્થ (આત્મા) જ છે અનુમાન આ પ્રમાણે છે—જ્ઞાનાદિ ગુણોના આધાર શરીર અને ઇન્દ્રિયોથી બિન્ન છે, કેમકે તેના નષ્ટ થવા છતાંય તેના દ્વારા જાણેલા પદાર્થોનું સ્મરણ હોય છે જેના નષ્ટ થવા પછી પણ, જેના દ્વારા જાણેલા પદાર્થ તેનું જે સ્મરણ કરે છે તે તેનાથી બિન્ન હોય છે જેમ પાંચ ખડકીઓ દ્વારા જોવા વાળા પદાર્થોનું સ્મરણ કરવા વાળો દેવદત્ત છે તેને કોઈ કારણથી દેખવાની શક્તિ નષ્ટ થઇ જવા છતાંય પ્રથમ દેખેલા પદાર્થોનું

( ૩ ) इन्द्रियं साधिष्ठातृकं, करणत्वात्, यथा चक्रचीवरमृत्सूक्ष्मश्वादिषु, अस्ति हि चक्रचीवरादीनामधिष्ठाता कुलाल । यच्च निरधिष्ठातृकं तत् करणमपि न भवति, यथा—आफानम्, यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स आत्मेति ।

( ૪ ) યદ્વા-इन्द्रियविषयाणामादाता समवति, इन्द्रियविषया शब्दादय आदातृसहिता आदानादेयમાવસઙ્ગાવાત્, સર્વદશરૂપોઽત્ । યથા લોકે સર્વ-શ્વકલોદાનામયસ્કાર આદાતાઽસ્તિ । इन्द्रियविषयाणां आदानादेयभावो विद्यते, अतस्तेषामप्यादाताऽस्तीत्यनुमीयते । यत्र तु आदाता नास्ति, तत्रादानादेयभावोऽपि न विद्यते, यथा—आफाशे ।

( ૩ ) इन्द्रिया किसी सधिष्ठाता से युक्त हैं क्या कि—य करण हैं, जैसे चक्र, चीवर, मृत्तिका, सूत और दण्ड आदि । चक्र, चीवर आदि का अधिष्ठाता कुलार है, जिस का कोई अधिष्ठाता नहीं होता यह करण भी नहीं होता, जैसे—आफाण । इन्द्रिया का जो अधिष्ठाता है, वही आत्मा है ।

( ૪ ) અથવા इन्द्रियों के विषय शब्द आदि आदातायुक्त ( ग्रहण करने वाले से युक्त ) हैं, क्योंकि इन में आदान आदेयभाव मौजूद है, जैसे सहासी और छोड़े में, तात्पर्य यह है कि—लोक में सहासी और छोड़े में आदान ( लेना ) आदेयभाव ( जो लिखा जाय ) प्रसिद्ध है और उन का आदाता छुहार है, इसी प्रकार इन्द्रिया तथा विषयों का भी आदान-आदेयभाव है, अतः उनका भी कोई आदाता होना चाहिए । जहाँ आदाता नहीं होता वहाँ आदान-आदेयभाव भी नहीं होता, जैसे—आफाश में ।

( ૩ ) ઇન્દ્રિયો કોઈ પણ અધિષ્ઠાતાથી યુક્ત છે, કેમકે તે કરણ છે જેમકે ચક્ર, ચીવર, મૃત્તિકા, સૂત અને દંડ આદિ ચક્ર, ચીવર વગેરેનો અધિષ્ઠાતા કુલાર છે, જેનો કોઈ અધિષ્ઠાતા હોય નહિ, તે કરણ પણ હોય નહિ, જેમકે—આફાશ ઇન્દ્રિયોનો જે અધિષ્ઠાતા છે, તે આત્મા છે

( ૪ ) અથવા-ઇન્દ્રિયોના વિષય શબ્દ આદિ આદાનયુક્ત—( બહુ કરવાવાળા-યુક્ત ) છે, કેમકે તેમાં આદાન-આદેય ભાવ મોબુદ છે જેમ સાણસી અને લોહમાં તાત્પર્ય એ છે કે લોહમાં સાણસી અને લોહમાં આદાન-આદેય ભાવ પ્રસિદ્ધ છે અને તેના આદાતા છુહાર છે, આ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો તથા વિષયોનો પણ આદાન-આદેય ભાવ છે તેથી તેનો પણ કોઈ આદાતા હોવો જોઈએ જ્યાં આદાતા નથી, ત્યાં આદાન-આદેય ભાવ પણ હોય નહિ, જેમ આફાશમાં

( ૫ ) યદ્વા-દેહાદિકં વિદ્યમાનમોક્તકમ્ , મોગ્યત્વાત્ , યથા-અન્નવસ્ત્રા-  
દિકમ્ । અન્નવસ્ત્રાદીનાં મોક્તા મનુષ્યોઽસ્તિ । યસ્ય ચ મોક્તા નાસ્તિ તદ્ મોગ્ય-  
મપિ ન ભવતિ, યથા સ્વરવિપાણમ્ , મોગ્યં ચ શરીરાદિકં, તસ્માદ્ વિદ્યમાનમોક્તકમ્ ।

( ૬ ) યદ્વા-અસ્તિ દેહાદિકં સસ્વામિક, સઘાતરૂપત્વાત્ , મૂર્તિમત્ત્વાત્ ,  
એન્દ્રિયત્વાત્ , ચાક્ષુષત્વાત્ , યથા-ગૃહાદિકમ્ । ગૃહાદીના સ્વામિન દેવદત્તાદયઃ  
સન્તિ । યત્ પુનરસ્વામિક તત્ સઘાતરૂપ ન ભવતિ, મૂર્તિમન્ન ભવતિ, એન્દ્રિય ન  
ભવતિ, ચાક્ષુષ ચ ન ભવતિ, યથા-ગગનકુસુમમ્ । દેહાદિક, આસ્તિ સંઘાતાદિરૂપમ્ ,  
તસ્માદ્ વિદ્યમાનસ્વામિકમ્ । યથ દેહાદીનાં સ્વામી સ આત્મેતિ ।

( ૫ ) અથવા-દેહ આદિ કા મોક્તા કોઈ અવશ્ય છે, ક્યોં કિ જે મોગ્ય હૈં, જો મોગ્ય  
હોને હૈં उन का मोक्ता भी होता है, जैसे—अन्न, वस्त्र आदि का । अन्न—वस्त्र आदिका  
मोक्ता मनुष्य है । जिसका मोक्ता नहीं होता वह मोग्य भी नहीं होता, जैसे गधे का सींग ।  
शरीर आदि मोग्य हैं अत उनका मोक्ता अवश्य है ।

( ૬ ) અથવા-દેહ આદિ કા કોઈ સ્વામી છે, ક્યોં કિ જે સઘાતરૂપ હૈં, મૂર્તિમાન્ હૈં,  
ઇન્દ્રિયા કે વિષય હૈં ઓર ચાક્ષુષ હૈં, ઘર આદિ કે સમાન । ઘર આદિ કે સ્વામી દેવદત્ત  
આદિ હૈં । जिसका कोई स्वामी नहीं होता वह सघातरूप नहीं होता, मूर्तिमान् नहीं  
होता, इन्द्रिय का विषय नहीं होता, और चाक्षुष (आम्ब से देखने वाला) भी नहीं होता,  
जैसे—आकाशपुष्प । देह आदि सघातरूप हैं, अत उन का स्वामी अवश्य है । देह आदि  
का जो स्वामी है वही आत्मा है ।

( ૫ ) અથવા-દેહ આદિનો ભોક્તા કોઈ અવશ્ય છે, કેમકે તે ભોગ્ય છે, જે  
ભોગ્ય હોય છે, તેનો ભોક્તા પણ હોય છે જેમકે અન્ન, વસ્ત્ર આદિનો અન્ન-વસ્ત્ર  
આદિનો ભોક્તા મનુષ્ય છે જેનો ભોક્તા નથી તે ભોગ્ય પણ નથી, જેમ ગધેડાના  
સીંગ શરીર આદિ ભોગ્ય છે, તેથી તેનો ભોક્તા અવશ્ય છે

( ૬ ) અથવા દેહ આદિનો કોઈ સ્વામી છે, કેમકે-તે સઘાતરૂપ છે, મૂર્તિમાન છે,  
ઇન્દ્રિયોનો વિષય છે અને ચાક્ષુષ છે, ઘર આદિ પ્રમાણે ઘર આદિનો સ્વામી  
દેવદત્ત આદિ છે જેનો કોઈ સ્વામી નથી તે સઘાતરૂપ પણ નથી, અને તે મૂર્તિમાન  
પણ હોય નહિ, ઇન્દ્રિયોનો વિષય પણ હોય નહિ અને ચાક્ષુષ ( નેત્રથી જોઈ શકાય  
તેવા ) પણ હોય નહિ, જેમકે આકાશપુષ્પ. દેહ આદિ સઘાતરૂપ છે, તેથી તેનો  
સ્વામી અવશ્ય છે, દેહ આદિનો સ્વામી છે, તે આત્મા છે

(૩) ઇન્દ્રિયં સાધિષ્ઠાત્ક, કરણત્વાત્, યથા ચક્રચીવરમૃત્મુખદશદય, અસ્તિ હિ ચક્રચીવરાદીનામધિષ્ઠાતા બુલ્લાલ । યચ નિરધિષ્ઠાત્કં તત્ કરણમપિ ન ભવતિ, યથા—આકાશમ્, યથેન્દ્રિયાણામધિષ્ઠાતા સ આત્મેતિ ।

(૪) યદ્વા—ઇન્દ્રિયવિષયાણામાદાતા સમવતિ, ઇન્દ્રિયવિષયા શબ્દાદય આદાત્સહિતા આદાનાદેયમાવસદ્ધાવાત્, સંદર્શકલોઢ્યત્ । યથા લોકે સંદર્શકલોહાનામયસ્થાર આદાતાઽસ્તિ । ઇન્દ્રિયવિષયાણા આદાનાદેયમાત્રો વિષયે, અતસ્તેષામપ્યાદાતાઽસ્તીત્યનુમીયતે । યત્ર તુ આદાતા નાસ્તિ, તત્પ્રાદાનાદેયમાત્રોપિ ન વિષયે, યથા—આકાશે ।

(૫) ઇન્દ્રિયો કિસી સધિષ્ઠાતા સે યુક્ત હૈ ક્યાં કિ—એ કરણ હૈ, જૈસે ચક્ર, ચીવર, મૃત્તિકા, સૂત ઔર વણ્ઠ આદિ । ચક્ર, ચીવર આદિ કા અધિષ્ઠાતા કુમાર હૈ, ત્રિસ કા કોઈ અધિષ્ઠાતા નહીં હોતા વહ કરણ મી નહીં હોતા, જૈસે—આકાશ । ઇન્દ્રિયો કા બો અધિષ્ઠાતા હૈ, વહી આત્મા હૈ ।

(૬) અથવા ઇન્દ્રિયાં કે વિષય શબ્દ આદિ આદાતાયુક્ત (પ્રહળ કરને માલે સે યુક્ત) હૈ, ક્યોં કિ ઠન મૈં આદાન આદેયમાવ મૌજૂદ હૈ, જૈસે સઢાસી ઔર હોદ્દૈ મૈં, તાત્પર્યં યહ હૈ કિ—છોક મૈં સઢાસી ઔર હોદ્દૈ મૈં આદાન (હેના) આદેયમાવ (જો સ્ત્રિયા આમ) પ્રસિદ્ધ હૈ ઔર ઊન કા આદાતા હુદ્દાર હૈ, ઇસા પ્રકાર ઇન્દ્રિયાં તથા વિષયો કા મી આદાન—આદેયમાવ હૈ, અત ઊનકા મી કોઈ આદાતા હોના ચાહિય । જહીં આદાતા નહીં હોતા વહીં આદાન—આદેયમાવ મી નહીં હોતા, જૈસે—આકાશ મૈં ।

(૩) ઇન્દ્રિયો કોઈ પણ અધિષ્ઠાતાથી યુક્ત છે, કેમકે તે કરણ છે જેમકે ચક્ર, ચીવર, મૃત્તિકા, સૂત અને ઇંઠ આદિ ચક્ર, ચીવર વગેરેનો અધિષ્ઠાતા કુમાર છે, જેનો કોઈ અધિષ્ઠાતા હોય નહિ, તે કરણ પણ હોય નહિ, જેમકે—આકાશ-ઇન્દ્રિયોનો જે અધિષ્ઠાતા છે, તે આત્મા છે

(૪) અથવા—ઇન્દ્રિયોના વિષય શબ્દ આદિ આદાનયુક્ત—(અરણ્ય કરવાવાળા-યુક્ત) છે, કેમકે તેમાં આદાન—આદેય ભાવ મોજૂદ છે જેમ સાણસી અને લોહમા-તાત્પર્યં બો છે કે લોહમા સાણસી અને લોહમા આદાન—આદેય ભાવ પ્રસિદ્ધ છે અને તેના આદાતા હુદ્દાર છે; આ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયો તથા વિષયોનો પણ આદાન—આદેય ભાવ છે તેથી તેનો પણ કોઈ આદાતા હોવો જોઈએ જ્યાં આદાતા નથી, ત્યાં આદાન—આદેય ભાવ પણ હોય નહિ, જેમ આકાશમા

પૂદ્ગલસંઘાતોપગૂદત્વાત્, સશરીરત્વાદ્ કથચિન્મૂર્તત્વાદિધર્મયુક્ત ણ્વાસ્તીતિ ।

( ૭ ) યદ્વા—‘ જીવ ’ ઇતિ પદ સાર્થક, વ્યુત્પત્તિમત્ત્વે સતિ અસમાસપદત્વાદ્ એકપદત્વાદ્ ઘટાદિપદવત્ । ઘટાદિપદ વ્યુત્પત્તિમત્ અસમાસપદમેકપદં લોકે દૃષ્ટમ્, તથા ચ જીવપદ, તસ્માત્ સાર્થકમ્ । યત્તુ સાર્થક નાસ્તિ તદ્ વ્યુત્પત્તિમત્ અસમાસપદમેકપદ ચ નાસ્તિ, યથા—સ્વરવિપાણાદિક, દિત્યાદિકં ચ પદમ્ । જીવપદ ચ ન તથા, તસ્માત્ સાર્થકમ્ ।

યદ્ વ્યુત્પત્તિમત્ ભવતિ તદેકપદમપિ સદ્ ન સાર્થકમ્, યથા દિત્યાદિપદમ્, ઇતિ હેતોરનૈકાન્તિકત્વાપચિસ્તદ્વારણાય વ્યુત્પત્તિમત્ત્વવિશેષણમુપાત્તમ્ ।

હુપ હૈં, ઇસ લિપ કોઈ દોષ નહીં આતા । સસારી આત્મા ઘાઠ કર્મોં કે સમૂહ સે યુક્ત હોને કે કારણ તથા સશરીર હોને કે કારણ મૂર્તત્વ આદિ ધર્મોં સે યુક્ત હી હૈં ।

( ૭ ) અથવા—‘ જીવ ’ પદ કા વાચ્ય અવશ્ય હૈ, ક્યાં કિ યહ પદ વ્યુત્પત્તિ વાલા હોતે હુપ સમાસરહિત હૈ, એક પદ હૈ, ઘટ આદિ પદોં કે સમાન । ઘટ વગૈરહ પદ વ્યુત્પત્તિવાલે, અસમાસપદ, એક પદ લોક મેં દેસે આતે હૈં અત્ત ડનકે વાચ્ય મી અવશ્ય હૈં । ‘ જીવ ’ પદ મી યેસા હી હૈ, અત્ત વહ મી સાર્થક હૈ । જો પદ સાર્થક નહીં હોતા વહ વ્યુત્પત્તિવાલા અસમાસપદ, એક પદ મી નહીં હોતા, જૈસે—‘ સ્વરવિપાણ ’ પદ, અથવા ‘ દિત્ય ’ પદ, જીવ પદ યેસા નહીં હૈ, અત્ત વહ સાર્થક હૈ ।

જો વ્યુત્પત્તિ વાલા નહીં હોતા વહ એક પદ હોતે હુપ મી સાર્થક નહીં હોતા, જૈસે ‘ દિત્ય ’ આદિ પદ । ઇસ હેતુ મેં અનૈકાન્તિકતા નિવારણ કરને કે લિપ ‘ વ્યુત્પત્તિ

છીએ, એટલા ઘાટે કોઈ કોઈ આવતો નથી, સસારી આત્મા ઘાઠ કર્મોંના સમૂહથી યુક્ત હોવાના કારણે તથા સશરીર હોવાના કારણે મૂર્તત્વ આદિ ધર્મોંથી યુક્ત છે

( ૭ ) અથવા ‘ જીવ ’ પદનો વાચ્ય અવશ્ય છે, કારણ કે આ પદ વ્યુત્પત્તિવાળું હોવા છતાંય સમાસરહિત છે, એક પદ છે, ઘટ આદિ પદોના સમાન ‘ ઘટ ’ એ વ્યુત્પત્તિવાળું અસમાસ પદ એક પદ લોકમાં જોવામાં આવે છે, તે કારણથી તેનું વાચ્ય પણ અવશ્ય છે ‘ જીવ ’ પદ, પણ એવું જ છે, તેથી તે પણ સાર્થક છે જે પદ સાર્થક નથી યત્તુ તે વ્યુત્પત્તિવાળા અસમાસ પદ એક પદ પણ યત્તુ નથી જેમકે અરવિષાણ ( ગધેશના શીંગ ) પદ, અથવા ‘ દિત્ય ’ પદ જીવ-પદ એવું નથી તેથી તે સાર્થક છે

જે વ્યુત્પત્તિવાળું યત્તુ નથી તે એક પદ હોવા છતાંય પણ સાર્થક નથી યત્તુ, જેમ ‘ દિત્ય ’ આદિ પદ.

આ હેતુમાં અનૈકાન્તિકતા નિવારણ કરવા માટે, ‘ વ્યુત્પત્તિવાળું ’ વિશેષણ પ્ર આ-૨૨



ન ચ—આદિમસ્ત્રતિનિયતાકારત્વાદિहेतुमिः शरीरादीनां कर्त्रादय एव सिध्यन्ति, न तु प्रस्तुत आत्मेति वाच्यम् । अन्यस्येश्वरादेर्युक्त्यसहत्वेन कर्तृत्वाद्यसमवाद् देहादीनां कर्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता, स्वामी चायमात्मैवेति निश्चयात् ।

નનુ—घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुलालादयो मूर्तिमन्तः सघातरूपा अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा, इत्यतो जीवोऽप्येतादृश एव सिध्यति, एतद्विपरीतमास्माकं साधनीय, इत्येष साध्यविरुद्धसाधकतया हेतूनां विरुद्धत्वापत्तिरिति चेन्मैवम्, सत्ता रिणमात्मानं साधयितुं प्रवृत्तानामस्माकमेतदोपासमवात् । संसारी चात्माऽष्टविधकर्म

પૂર્વોક્ત—‘આદિમાન હોતે હુપ નિયત આકાર વાળે હોને સે’ इत्यादि हेतुर्मा से शरीर आदि के कर्ता आदि ही सिद्ध होते हैं, प्रस्तुत आत्मा सिद्ध नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्यों कि—आत्मा से मिनन ईश्वर आदिका कर्तापन युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता, अतः देह आदिका कर्ता, अधिष्ठता, आदाता, भोक्ता और स्वामी आत्मा ही है, ऐसा निश्चय हो जाता है ।

શક્ત—घट आदि के कर्ता कुमार वगैरह मूर्तिक, सघातरूप और अनित्य आदि स्वभाव वाले देखे जाते हैं, अतः जीव भी ऐसा ही सिद्ध होता है, मगर आपको इस से विपरीत धर्मोवाच्य आत्मा सिद्ध करने के कारण पूर्वोक्त हेतुओं में विरुद्ध दोष आता है ।

સમાધાન—ऐसा मत छोड़ो । हम संसारी आत्मा सिद्ध करने के लिए उचित

પૂર્વોક્ત—‘આદિમાન હોવા છતાંય નિયત આકારવાળા હોવાથી’ इत्यादि हेतुज्योधी शरीर आदिना कर्ता आदि एव सिद्ध होय छे प्रस्तुत आत्मा सिद्ध यतो नथी ज्येभ नकि कहेतु ज्येध ज्ये, केभके आत्माधी विन्न अधिश् आदिनु कर्तापक्ष युक्ति स गत यतु नथा, तेथी हेरु आदिने कर्ता, अधिष्ठता, आदाता, भोक्ता अने स्वामी आत्मा ए छे ज्येभ निश्चय यध जय छे

શ કા—घट आदिना कर्ता कुमार वगैरह मूर्तिक, सघातरूप अने अनित्य आदि स्वभाववाળા જોવામા આવે छे, तेथी एव पक्ष ज्येधो ए सिद्ध थाय छे परंतु तमने तेनाथी विपरीत धर्मोवाच्य आत्मा सिद्ध करवो छे, ज्येवी स्थितिमा साध्यधी विरुद्ध सिद्ध करवाना कश्चे पूर्वोक्त हेतुज्योभा विरुद्धता होय आवे छे

સમાધાન—જો પ્રમાણે ન કહો, અમે ય સારી આત્મા સિદ્ધ કરવા માટે તમાર ધ્યા

મિનતા પ્રતીયતે । પ્રકૃતેઽપિ પ્રાણી, ભૂત, જીવ, સત્ત્વ, ઇત્યાદયો જીવશબ્દસ્ય પર્યાયા, શરીર વપુ, કાયો, દેહ, ગાત્રમિત્યાદયસ્તુ શરીરશબ્દપર્યાયા ‘અય જીવસ્તસ્માન્ન હન્તવ્ય’ ઇત્યનેનાપિ દેહસ્યિતસ્ય પ્રાણિન ણ્ય હિંસા નિપિધ્યતે ।

આત્માગમસ્તુ સમસ્ત એવાત્માન વોધયતિ, આત્મતત્ત્વસ્યૈવ સમ્યગ્દર્શનજ્ઞાન-  
ચારિત્રાર્થ તસ્ય પ્રવૃત્તત્વાત્ । તથાપિ કાનિચિદાગમવચનાનિ પ્રમાણતયા પ્રદર્શયામઃ-

‘સે આયાવાદી’ ઇતિ પ્રસ્તુતમેવ વચર્ન તાવદ્ ગૃહાણ । ‘સે જ પુણ

શબ્દ અલગા છે, હસ લિષ્ટ ઘટકા અર્થે ઔર આકાશ કા અર્થે અલ્પા-અલગા છે । ઇસી પ્રકાર જીવ કે પર્યાયવાચક પ્રાણી, ભૂત, જીવ, સત્ત્વ આદિ શબ્દ અલગા છે ઔર દેહ કે પર્યાયવાચક શરીર, વપુ, કાય, ગાત્ર આદિ મિલ્લ છે, અતઃ હન દોના કા અર્થે મી અલગા હોના ચાહિયે । ‘યહ જીવ છે અતઃ હનન કરને યોગ્ય નહીં છે’ ઇસ વાક્ય દ્વારા દેહ મેં સ્થિત પ્રાણી કી હી હિંસા કા નિષેધ કિયા જાતા છે ।

### આગમ સે આત્મા કી સિદ્ધિ-

આન્ત પુરુષ દ્વારા પ્રણીત સમ્પૂર્ણ આગમ આત્મા કા બોધક છે । આત્મતત્ત્વ કે સમ્યગ્ દર્શન, જ્ઞાન, ઔર ચારિત્ર કે નિમ્ન હો આગમ કી પ્રવૃત્તિ હોતી છે કિર મી આગમ કે કતિપય વાક્ય પ્રમાણરૂપ મેં પ્રદર્શિત કરતે છે —

સમ સ પહલું-‘સે આયાવાદી’, ઇસ પ્રસ્તુત વાક્ય કો હી છીલિયે

પ્રમાણે એવના પર્યાયવાચક-પ્રાણી, ભૂત, એવ સત્ત્વ આદિ શબ્દ અલગા છે અને દેહના પર્યાયવાચક-શરીર, વપુ, કાય, ગાત્ર આદિ મિલ્લ છે તે માટે એ બનેના અર્થે પણ અલગ થવો જોઈએ. “આ એવ છે તેથી હનન કરવા યોગ્ય નથી” આ વાક્ય દ્વારા દેહના રહેલા પ્રાણીની જ હિંસાનો નિષેધ કરવામા આવ્યો છે

આગમથી આત્માની સાધ્ધ-

આન્ત પુરુષ દ્વારા પ્રણીત સમ્પૂર્ણ આગમ આત્માનું બોધક છે આત્મતત્ત્વના સમ્યગ્દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્ર માટે જ આગમની પ્રવૃત્તિ હોય છે તેા પણ આગમના કેટલાક વાક્ય પ્રમાણરૂપમા પ્રદર્શિત કરે છે—

સૌથી પ્રથમ ‘સે આયાવાદી’ આ પ્રસ્તુત-આજ્ઞ વાક્યને જ લઈએ ‘સે જ પુણ

યથૈકપદ નાસ્તિ કિન્તુ સામાસિકમ્, તદપિ વ્યુત્પત્તિમત્ત્વે સત્યપિ સાર્થક નાસ્તિ, યથા સ્વરવિપાણાદિકમિતિ । તત્રનૈકાન્તિકત્ત્વાપશિદોપસ્તત્પરિહારાર્થમેકપદત્વમિતિ ।

નનુ દેહ એવ જીવપદસ્યાર્થોઽસ્તુ કથં પુનરાત્મા વિગ્નાયેત । દેહરૂપેઽર્થે જીવશબ્દમયોગોઽપિ દૃષ્ટઃ, યથા—‘અય જીવઃ, તસ્માન્ન હન્તમ્ય ’ ઇતિ । અતો દેહ એવ જીવશબ્દાર્થતયા પ્રદીતવ્ય, ઇતિ ચેન્ન, પર્યાયશબ્દમેદાદ દેહજીવ-શબ્દયોરર્થો મિત્ર એવેતિ નોપનાત્, યથા ઘટાકાશયોઃ, સત્ર-ઘટકુમ્મકન્નશ્ચાદયો ઘટશબ્દસ્ય પર્યાયાઃ, આકાશનમોઽવ્યોમાદયસ્ત્યાકાશશબ્દપર્યાયા, અતસ્તયોરર્થે વાલા ’ વિશેષણ છાયાયા હૈ । સમા જો એક પદ નહીં હૈ કિન્તુ સમાસયુક્ત પદ હૈ વહ વ્યુત્પત્તિવાળા હોતે હુણ મી સાર્થક નહીં હોતા । મૈસે સ્વરવિપાણ આદિ પદ । ઇસ મેં બ્નેકાન્તિકૃતા હટાને કે સ્થિતિ ‘એકપદ’કા પ્રયોગ કિયા ગયા હૈ ।

સૂક્ષ્મા—જીવ પદકા અર્થ દેહ હી ક્યા ન માન લિયા જાયઃ આત્મા અર્થ કેસે સમજા જાયઃ દેહ કે અર્થ મેં જીવ શબ્દકા પ્રયોગ દેસા મી જાતા હૈ, કેસે ‘મહ જીવ હૈ, અત્ત જીવન કરને ચોગ્ય નહીં હૈ ’ । ઇસ લિણ જીવ શબ્દ કા અર્થ શરીર હી ઠેના જાણિય ।

સમાધાન—દેહકે જોર જીવ કે પર્યાયવાચી શબ્દ અલગ અલગ હૈ, અત્ત વાંતો કા અર્થ અલગ-અલગ હી માનના જાણિય । કેસે ઘટકે પર્યાયવાંતી કુમ્મ, કલશ આદિ શબ્દ અલગ હૈ, જોર આકાશ કે પર્યાયવાંતી શબ્દ નમ, વ્યોમ, ગગન આદિ આપ્તુ છે તથા જો એક પદ નથી પરંતુ સમાસયુક્ત પદ છે તે વ્યુત્પત્તિવાળું હોવા છતાંય સાર્થક થતું નથી જેમ સ્વરવિપાણ આદિ પદ, તેમા બ્નેકાન્તિકૃતા હટાવવા માટે—‘એક પદ’ના પ્રયોગ કરેલો છે.

શંકા—‘જીવ’ પદનો અર્થ દેહ થા માટે માનવામાં નથી આવતો ? આત્મા અર્થ કેમ સમજાય છે ? દેહના અર્થમા જીવ શબ્દનો પ્રયોગ હોવામા પણ આવે છે જેમ—‘આ જીવ છે, તેથી હણવા ચોગ્ય નથી’ જોડેલા માટે જીવ શબ્દનો અર્થ શરીર જ લેવો જોઈએ

સમાધાન—દેહ અને જીવના પર્યાયવાંતી શબ્દ બહુ બહુ છે તેથી જો બનેલો બોધ બહો-બહો માનવો જોઈએ જેમ ઘટના પર્યાયવાંતી કુમ્મ, કલશ આદિ શબ્દ અલગ છે, અને આકાશના પર્યાયવાંતી શબ્દ-નમ, વ્યોમ, ગગન આદિ શબ્દ અલગ છે એ કારણથી ઘટનો અર્થ અને આકાશનો અર્થ અલગ છે એ

ચેતના ચાત્મદ્રવ્યાદાત્મગતાન્યમુખાદિગુણતત્ત્વાનપાયિનો । તામેવાશ્રિત્ય જ્ઞાનદર્શના-  
દિવિવિધોપયોગાનાં મિન્નમિન્નસમયવર્તિના ત્રૈકાલિક પ્રવાહો ભવતિ । તમ્યાથેત-  
નાયા' કાર્યરૂપ. પર્યાયપ્રવાહ' સ્વરૂપેણોપયોગ એવ ।

અપયોગાત્મકપર્યાયપ્રવાહ એ સુખદુઃખસંવેદનાત્મકપર્યાયપ્રવાહસ્તથા પ્રવૃત્ત્યા-  
ત્મકપર્યાયપ્રવાહાદયોઽનન્તપર્યાયપ્રવાહા સહ-યુગપત્ પ્રવર્તન્તે । અતથેતનાગુણ  
સ્વાત્મનિ આનન્દવીર્યપ્રમૃત્યેકૈકગુણસ્વીકરણીયતયાઽનન્તગુણા. સિન્ધ્યન્તિ ।

આત્મનિ ચેતનાઽનન્દવીર્યાદિગુણાનાં મિન્નમિન્ના વિવિધપર્યાયા  
અકસ્મિન્ સમયે સમુપલમ્પન્તે પરન્ત્વેકસ્ય ચેતનાગુણસ્ય વિવિધાઉપયોગપર્યાયા

કે દ્વારા આત્મા નાના પ્રકાર કે ઉપયોગો કે રૂપ મં પરિણત હોતા હૈ કિન્તુ ચેતના,  
આત્મદ્રવ્ય કે રૂપ મ, તથા આત્મા મ રહેને વાળે સુખ આદિ ગુણો કે રૂપ મં  
સદા વિષમાન રહતી હૈ-ક્રમી નષ્ટ નહી હોતી, ઉસ કે આધાર પર જ્ઞાન દર્શન આદિ  
મિત્ર મિત્ર સમયો મં હોને વાળે અનેક ઉપયોગો કા પ્રવાહ વહતા હૈ । ઉસ ચેતના  
કા કાર્યરૂપ પર્યાય-પ્રવાહ સ્વરૂપસે ઉપયોગ હી હૈ ।

અપયોગાત્મક પર્યાય-પ્રવાહ કે સમાન સુખ-દુઃખસંવેદનરૂપ પર્યાય કા  
પ્રવાહ હૈ, તથા પ્રવૃત્ત્યાત્મક પર્યાયપ્રવાહ આદિ અનન્ત પર્યાય-પ્રવાહ અક સાથ જારી  
રહતે હૈ, અત ચેતનાગુણ કે સમાન આમા મં આનન્દ, વીર્ય આદિ અક અક ગુણ  
સ્વીકાર કરને યોગ્ય હોને સે અનન્ત ગુણ સિદ્ધ હોતે હૈ ।

આત્મા મં ચેતના સુખ વીર્ય આદિ ગુણો કી મિત્રર વિવિધ પર્યાયે અક હી  
સમય મં ઉપલબ્ધ હોતી હૈ, કિન્તુ અક હી સમય મં અકેલે ચેતનાગુણ કી વિવિધ  
તથા આત્મામા રહેવવાળા મુખ આદિ શુભોના રૂપમા હમેશા વિષમાન રહે છે  
કેહ વખત પશુ નાશ પામતી નથી તેના આધાર પર જ્ઞાન, ઇશન આદિ મિન્ન  
મિન્ન સમયોમા થવાવાળા અનેક ઉપયોગોનો પ્રવાહ વહેતો રહે છે તે ચેતનાના  
કાર્યરૂપ પર્યાયપ્રવાહ સ્વરૂપથી ઉપયોગ જ છે

ઉપયોગાત્મક પર્યાય-પ્રવાહના સમાન મુખ-દુઃખસંવેદનરૂપ પર્યાયનો પ્રવાહ  
છે તથા પ્રવૃત્ત્યાત્મક પર્યાય-પ્રવાહ આદિ અનન્ત પર્યાયપ્રવાહ એક સાથે જારી રહે  
છે તેથી ચેતનાશુષ્ણ સમાન આત્મામા આનન્દ વીર્ય આદિ એક-એક શુષ્ણ સ્વીકાર  
કરવા યોગ્ય હોવાથી અનન્ત શુષ્ણ સિદ્ધ થાય છે

આત્મામા ચેતના, મુખ, વીર્ય, આદિ શુભોની મિન્ન-મિન્ન વિવિધ પર્યાયો  
એકજ સમયમા ઉપલબ્ધ થાય છે, પરન્તુ એકજ સમયમા એકલા ચેતનાશુષ્ણની

જાણેજ્ઞા ' ઇત્યાદિ—' સોઝ્હ ' ઇત્યન્તં પ્રાગુચ્ચાર્યાત ચ ( આચા૦ ૧ અ૦ ૧ ૩૦ ) ।  
 ' અત્યિ આયા ' ( અસ્ત્યાત્મા ) ઇતિ । ' અત્યિ જીવા ' ( સન્તિ જીવા ) ઇતિ ।  
 ' એગે આયા ' ( એક આત્મા ) ( સ્થા૦ ૧ સ્થા૦ ૧ ૩૦ ) ઇતિ ।

“ કહ્વિહા ણ મતે ! દહ્વા પળ્ણત્તા ? ગોયમા ! દુવિહા પળ્ણત્તા, તંત્રહા-  
 જીવદહ્વા ય, અજીવદહ્વા ય ” ( અનુ સુ ૧૪૧ )

ઇત્યાદીન્યનુસન્ધેયાનિ । અન્યેઽપિ સારુપ્યાદય પ્રાયસ સ્વીકૃર્વન્ત્યેવ  
 શરીરાદિભવતયાઽસ્ત્મનોઽસ્તિત્વમિતિ ।

### આત્મનો દ્રવ્યસ્વનિરૂપણમ્—

અયમાત્મા દ્રવ્યમસ્તિ, ચેતનાઘનન્તગુણવત્ત્વાદ્, જ્ઞાનદર્શનલક્ષણવિવિ-  
 ઘોપયોગાઘનન્તપર્યાયવત્ત્વાચ્ચ । ચેતનાદ્વારેણાત્મા નાનારૂપોપયોગરૂપેણ પરિણમતે ।  
 ' સે જ પુણ જાણેજ્ઞા ' સે હેકર ' સોઝ્હ ' તક પહલ વ્યાખ્યાન ક્રિયા જા હુકા  
 હૈ । ( આચા ૧ અ ૧ ૩ ) તથા ' અત્યિ આયા ' ' અત્યિ જીવા ' ' એગે આયા '  
 ( સ્થા ૧ સ્થા ૧ ૩ ) તથા ' કહ્વિહા ણ મતે દહ્વા પળ્ણત્તા ? ગોયમા ! દુવિહા  
 પળ્ણત્તા, તજહા—જીવદહ્વા ય અજીવદહ્વા ય, ( અનુ સુ ૧૪૧ ) ઇત્યાદિ અનેક  
 આગમવાક્ય સમક્ષ હને વાહિય । દુસરે સાંખ્ય વગેરહ મી પ્રાય શરીર સે મિન્ન આત્મા  
 કા અસ્તિત્વ સ્વીકાર કરતે હૈ ।

### આત્માકા દ્રવ્યસ્વનિરૂપણ—

આત્મા દ્રવ્ય હૈ, કયાં કિ વહ ચેતના આદિ અનન્ત ગુણો સે યુક્ત હૈ  
 મૌર વહ જ્ઞાનોપયોગ તથા વર્ણનોપયોગ આદિ અનન્ત પર્યાયો વાલા મી હૈ । ચેતના  
 જાણેજ્ઞા' થી લઈને ' સોઝ્હ ' સુધી પહેલા વ્યાખ્યાન કરી દીધું છે ( આચા. ૧—અ.  
 ૧—૩ ) તથા ' અત્યિ આયા ' ' અત્યિ જીવા ' ' એગે આયા ' ( સ્થા ૧ સ્થા. ૧ ૩ ) ' કહ્વિહા ણ  
 મતે ! દહ્વા પળ્ણત્તા ? ગોયમા ! દુવિહા પળ્ણત્તા, તજહા—જીવદહ્વા ય અજીવદહ્વા ય '  
 ( અનુ સુ. ૧૪૧ ) ઇત્યાદિ અનેક આગમ—વાક્ય સમક્ષ હેવાં બેઠયે બીજા સાખ્ય  
 શાસ્ત્ર વગેરે પણ પ્રાય શરીરથી મિન્ન આત્માના અસ્તિત્વનો સ્વીકાર કરે છે

### આત્માનુ દ્રવ્યસ્વનિરૂપણ—

આત્મા દ્રવ્ય છે, કેમકે તે ચેતના આદિ અનન્ત ગુણોથી યુક્ત છે, અને તે  
 જ્ઞાનોપયોગ તથા વર્ણનોપયોગ આદિ અનન્ત પર્યાયો વાળો પણ છે ચેતનાદ્વારે  
 આત્મા નાના પ્રકારના રૂપમાં પરિણત થાય છે મરતુ ચેતના આત્મદ્રવ્યના રૂપમાં

ચેતના ચાત્મદ્રવ્યાદાત્મગતાન્યમુલ્લાદિગુણતથાનપાયિનો । તામેવાથિત્ય જ્ઞાનદર્શના-  
દિવિવિધોપયોગાનાં મિન્નમિન્નસમયવર્તિના ત્રૈકાલિક પ્રવાહો મવતિ । તમ્યાથેત-  
નાયા કાર્યરૂપ પર્યાયમવાહ સ્વરૂપેનોપયોગ એવ ।

ઉપયોગાત્મકપર્યાયપ્રવાહ રૂપ સુલ્લ-દુઃસ્વલ્પેદનાત્મકપર્યાયપ્રવાહસ્તથા પ્રવૃત્ત્યા-  
ત્મકપર્યાયપ્રવાહાદયોઽનન્તપર્યાયપ્રવાહા સદ-યુગપત્ પ્રવર્તેતે । અતથેતનાગુણ  
હવાત્મનિ આનન્દવીર્યપ્રમૃત્યેકૈકગુણસ્વીકરણીયતયાઽનન્તગુણા. સિખ્યન્તિ ।

આત્મનિ ચેતનાઽનન્દવીર્યાદિગુણાના મિન્નમિન્ના વિવિધપર્યાયા  
એકસ્મિન્ સમયે સમુપલમ્બ્યન્તે પરન્તેવેકસ્ય ચેતનાગુણસ્ય વિવિધાઉપયોગપર્યાયા  
કે દ્વારા આત્મા નાના પ્રકાર કે ઉપયોગો કે રૂપ મં પરિણત હોતા હૈ કિન્તુ ચેતના,  
આત્મદ્રવ્ય કે રૂપ મ, તથા આત્મા મ રહેને વાળે મુલ્લ આદિ ગુણો કે રૂપ મં  
સદા વિધમાન રહતી હૈ-કમી નષ્ટ નહીં હોતી, ઉસ કે આધાર પર જ્ઞાન વર્ણન આદિ  
મિન મિન સમયા મં હોને વાળે અનક ઉપયોગો કા પ્રવાહ વહતા હૈ । ઉસ ચેતના  
કા કાર્યરૂપ પર્યાય-પ્રવાહ સ્વરૂપસે ઉપયોગ હી હૈ ।

ઉપયોગાત્મક પર્યાય-પ્રવાહ કે સમાન સુલ્લ-દુઃસ્વલ્પેદનરૂપ પર્યાય કા  
પ્રવાહ હૈ, તથા પ્રવૃત્ત્યાત્મક પર્યાયપ્રવાહ આદિ અનન્ત પર્યાય-પ્રવાહ એક સાથે બારી  
રહતે હૈ, અત ચેતનાગુણ કે સમાન આત્મા મં આનન્ત, વીર્ય આદિ એક એક ગુણ  
સ્વીકાર કરને યોગ્ય હોને સ અનન્ત ગુણ સિદ્ધ હોતે હૈ ।

આત્મા મં ચેતના સુલ્લ વીર્ય આદિ ગુણો કી મિનર વિવિધ પર્યાય એક હી  
સમય મં ઉપલમ્બ્ય હોતી હૈ, કિન્તુ એક હી સમય મં અકેલે ચેતનાગુણ કી વિવિધ  
તથા આત્મામા રહેલવાળા મુખ આદિ શુદ્ધોના રૂપમા હમેશા વિધમાન રહે છે  
કેલ વખત પણ નાશ પામતી નથી તેના આધાર પર જ્ઞાન, ઈશન આદિ બિન્ન  
બિન્ન સમયોમા થવાવાળા અનેક ઉપયોગોનો પ્રવાહ વહેતો રહે છે તે ચેતનાના  
કાર્યરૂપ પર્યાયપ્રવાહ સ્વરૂપથી ઉપયોગ જ છે

ઉપયોગાત્મક પર્યાય-પ્રવાહના સમાન મુખ-દુઃસ્વલ્પેદનરૂપ પર્યાયનો પ્રવાહ  
છે તથા પ્રવૃત્ત્યાત્મક પર્યાય-પ્રવાહ આદિ અનન્ત પર્યાયપ્રવાહ એક સાથે બારી રહે  
છે તેથી ચેતનાશુદ્ધ સમાન આત્મામા આનન્દ વીર્ય આદિ એક-એક શુદ્ધ સ્વીકાર  
કરવા યોગ્ય હોવાથી અનન્ત શુદ્ધ સિદ્ધ થાય છે

આ મામા ચેતના, મુખ, વીર્ય, આદિ શુદ્ધોની બિન્ન-બિન્ન વિવિધ પર્યાયો  
એકજ સમયમાં ઉપલબ્ધ થાય છે, પરંતુ એકજ સમયમાં એકલા ચેતનાશુદ્ધની

एकस्मिन् समये न समुपलभ्यन्ते, सत्यैकस्यानन्दगुणस्य वा विविधा वेदनपर्याया  
एकस्मिन् समये नोपलभ्यन्ते ।

प्रत्येकगुणस्यैकस्मिन् समये एक एव पर्याय प्रकटीभवति । यथा—  
जलावस्थितस्यापि नरस्य शीतोष्णोपयोगौ न युगपद् भवतः । उष्णोपयोगसमये  
शीतोपयोगो नोपलभ्यते, शीतोपयोगसमये चोष्णोपयोगोपि नैवेति ।

आत्मा नित्य । तस्य चेतनादिगुणा अपि नित्या । परन्तु चेतनाजन्य  
उपयोगपर्यायो न नित्य , सतु सदैवोत्पादविनाशशालितया व्यक्तिरूपेणानित्य ।  
उपयोगपर्यायप्रवाहस्तु त્રैकालिकतया नित्य इति ।

उપયોગરૂપ પર્યાય ઉપલબ્ધ નહીં હોતી । उसी प्रकार एक ही समयमें अकेले आनन्दगुणकी  
भी विविध वेदनरूप पर्याय उपलब्ध नहीं होती ।

પ્રત્યેક ગુણ કી एक समय में एक ही पर्याय प्रकट होती है, परन्तु जैसे-जल  
में स्थित पुरुष के शीत और उष्ण, दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते । उष्णोपयोग  
के समय शीतोपयोग नहीं पाया जाता, और शीतोपयोग के समय उष्णोपयोग नहीं  
पाया जाता ।

આત્મા નિત્ય છે, उसके ચેતના આદિ ગુણ મી નિત્ય છે, પરન્તુ ચેતના-  
જન્ય ઉપયોગ-પર્યાય નિત્ય નહીં છે, वह सदैव उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है,  
अत व्यक्तिलासे अनित्य है, उपयोग-पर्याय का प्रवाह त्रिकालवर्ती होनेके  
कारण नित्य है ।

વિવિધ ઉપયોગરૂપ પર્યાયો ઉપલબ્ધ થતી નથી. એજ પ્રમાણે એક જ સમયમાં  
એકલા આનંદ શુષ્કની પણ વિવિધ વેદનરૂપ પર્યાયો ઉપલબ્ધ થતી નથી

પ્રત્યેક શુષ્કની એક સમયમાં એકજ પર્યાય પ્રગટ થાય છે, જેમ જલમાં  
હવા રહેલા પુરુષને શીત અને ઉષ્ણ, એ બંને ઉપયોગ એક સાથે થશે નહિ,  
ઉષ્ણોપયોગના સમયે શીતોપયોગ થશે નહિ અને શીતોપયોગના સમયે ઉષ્ણોપયોગ  
જણાશે નહીં

આત્મા નિત્ય છે, તેના ચેતના આદિ શુષ્ક પણ નિત્ય છે, પરન્તુ ચેતનાજન્ય  
ઉપયોગ-પર્યાય નિત્ય નથી, તે હમેશાં ઉત્પન્ન અને નાશ થતી રહે છે, તેથી  
વ્યક્તિરૂપથી અનિત્ય છે, તે પણ ઉપયોગ-પર્યાયનો પ્રવાહ ત્રિકાલવર્તી હોવાથી  
નિત્ય છે

અનન્તગુણાનામણ્ડલસમુદાય એવ દ્રવ્યમ્, તથાપ્યાત્મનથેતનાઽઽનન્દ-  
ચારિત્રવીર્યાદયો ગુણા પરિમિતા એવ સાધારણધર્મિયાં છદ્મસ્થાનાં હોવા મવન્તિ,  
ન તુ સર્વે ગુણા । इदमत्र कारणम्-विशिष्टज्ञानमन्तरेणात्मनः सर्वे पर्यायप्रवाहा  
વિજ્ઞાતુમશક્ત્યા મવન્તિ । યો ય\* પર્યાયપ્રવાહ સાધારણબુદ્ધિદ્વાદ્વા જ્ઞાતુ શક્યતે  
તત્કારણીભૂતાના ગુણાના વ્યવહાર ક્રિયતે, અતસ્તે ગુણા વ્યવહાર્યા મવન્તિ ।  
यथा-आत्मनश्चेतनाऽऽनन्दचारित्रवीर्यान्त्यो गुणा व्यवहार्याः सन्ति । शेपास्तु  
સર્વે કેવલિગમ્યા ઇતિ ।

ત્રેકાલિકાનામનન્તપર્યાયાણામેકૈકપ્રવાહસ્ય કારણીભૂતકૈસ્યૈકગુણોઽસ્તિ,  
તાદૃશાનન્તગુણાનાં સમુદાયો દ્રવ્યમ્ । एतदपि कथञ्चिद् भेदविवक्षया । अमेद-

અનન્ત ગુણો કા અલ્પાંડ સમુદાય હી દ્રવ્ય છે પિત્ર મી આત્મા કે ચેતના  
સુખ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ સાધારણબુદ્ધિ વાળે છદ્મસ્થો કે દ્વારા પરિમિત હી જાને  
જાતે હૈં, સર્વ ગુણ નહીં જાને જાતે । इस का कारण यह है कि-विशिष्ट ज्ञान के बिना  
આત્મા કે સમસ્ત પર્યાય-પ્રવાહો કો જાનના અશક્ત્ય છે । जो जो पर्याय-प्रवाह  
સાધારણ બુદ્ધિ કે દ્વારા જાના જા સકતા છે, ઉત્તકે કારણમૂલ ગુણો કા વ્યવહાર ક્રિયા  
જાતા છે, અતઃ એ ગુણ વ્યવહાર્ય હોતે હૈં, જેમ-આત્મા કે ચેતના, સુખ, ચારિત્ર, ઔર  
વીર્ય આદિ ગુણ વ્યવહાર્ય હોતે હૈં । शेष सब केवलिगम्य हैं ।

ત્રીન કાલ સમ્બન્ધી અનન્ત પર્યાયો કે એક-એક પ્રવાહ કા કારણ એક-એક  
ગુણ છે, ઔર એસે અનન્ત ગુણો કા સમુદાય દ્રવ્ય છે । यह कथन क्वचित् भेद-

અનન્ત ગુણોના અલ્પાંડ સમુદાય જ દ્રવ્ય છે, તેા પણ આત્માના ચેતના, સુખ  
ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ સાધારણ બુદ્ધિવાળા છદ્મસ્થોદ્વારા પરિમિત-મર્યાદિત જ  
જાણવામા આવે છે, પરંતુ સર્વ ગુણ જાણવામા આવતા નથી તેનું કારણ એ છે  
કે-વિશિષ્ટ જ્ઞાન વિના આત્માના સમસ્ત પર્યાય-પ્રવાહોને જાણવા અશક્ત્ય છે જે  
પર્યાય-પ્રવાહ સાધારણ બુદ્ધિવાળા દ્વારા જાણી શકાય છે, તેના કારણભૂત ગુણોના  
વ્યવહાર કરવામા આવે છે, એ કારણથી તે ગુણ વ્યવહાર્ય થાય છે, જેમ આત્માના  
ચેતના, સુખ, ચારિત્ર અને વીર્ય આદિ ગુણ વ્યવહાર્ય થાય છે, બાકી સર્વ  
કેવલિગમ્ય છે

ત્રણ કાલ સમ્બન્ધી અનન્ત પર્યાયોના એક-એક પ્રવાહનું કારણ એક-એક  
ગુણ છે અને એવા અનન્ત ગુણોના સમુદાય તે દ્રવ્ય છે આ કથન કથયિત



દૃષ્ટ્યા તુ પર્યાયાઃ સ્વસ્વકારણીભૂતસ્ય ગુણસ્ય સ્વરૂપાઃ, ગુણા અપિ દ્રવ્યસ્વરૂપા इति  
 ગુણપર્યાયાત્મકમેવ દ્રવ્યમિત્યુન્યતે ।

દ્રવ્યેષુ સર્વે ગુણા એકરૂપા ન સન્તિ । તત્ર કતિચન સાધારણા અનેક-  
 દ્રવ્યવર્તિનઃ સર્વદ્રવ્યવર્તિનશ્ચ । યથા-અસ્તિત્વ-પ્રદેશત્વ-જ્ઞેયત્વાદયઃ સર્વદ્રવ્યવર્તિનઃ,  
 નિષ્ક્રિયત્વાઽચેતનત્વાઽરૂપિત્વાદયોઽનેકદ્રવ્યવર્તિનઃ । કતિચિદસાધારણા ગુણા  
 એકદ્રવ્યમાત્રવર્તિનઃ સન્તિ । યથા-આત્મનંદેતનાઽનન્દચારિત્રવીર્યાદયઃ ।  
 સ્વસ્વાઽસાધારણગુણાના તજ્જન્યપર્યાયાણાં ત્રાપેક્ષયા પ્રત્યેકદ્રવ્યમન્યદ્રવ્યાદ  
 મિન્નમસ્તીતિ ચોન્યમ્ ।

વિવિધતા છે હી હૈ । અમેદ-વિવિધતા છે તો પર્યાયે અપને કારણમૂત ગુણ છે અમિન્ન હૈ  
 ઔર ગુણ, દ્રવ્ય છે અમિન્ન હૈ, અત ગુણપર્યાયરૂપ હી દ્રવ્ય કહલાતા હૈ ।

દ્રવ્ય મેં સમી ગુણ એકરૂપ નહીં હૈ । કોઈ-કોઈ ગુણ સાધારણ હૈ, અર્થાત્  
 સામાન્ય રૂપ છે અનેક દ્રવ્યોં મેં પામે જાતે હૈ, યા સમસ્ત દ્રવ્યોં મેં પામે જાતે હૈ ।  
 જૈસે-અસ્તિત્વ, વસ્તુત્વ, પ્રદેશત્વ, ઔર જ્ઞેયત્વ, યે ગુણ સમસ્ત દ્રવ્યોં મેં પામે જાતે હૈ ।

નિષ્ક્રિયત્વ, અચેતનત્વ, ઔર અરૂપિત્વ આદિ ગુણ અનેક દ્રવ્યવર્તી હૈ ।  
 કોઈ-કોઈ ગુણ અસાધારણ હૈ-સર્વિ એક દ્રવ્ય મેં રહતે હૈ, જૈસે-આત્મા કે ચૈતન્ય,  
 મુગ્ધ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ । અપને-અપને અસાધારણ ગુણો ઔર ગુણો છે ઉત્પન્ન  
 પર્યાયોં કી અપેક્ષા પ્રત્યેક દ્રવ્ય દૂસરે દ્રવ્ય સે મિન હૈ, યેસા જ્ઞાનતા ચાહિય ।

બેદવિવેક્ષાથી જ છે બેદવિવેક્ષાથી તો પ્રયોગો પોતાના કારણમૂત શુદ્ધથી અમિન્ન  
 છે, અને શુદ્ધ દ્રવ્યથી અમિન્ન છે તેથી શુદ્ધપર્યાયરૂપ જ દ્રવ્ય કહેવાય છે

દ્રવ્યમાં સવ શુદ્ધ બેદરૂપ નથી, કોઈ કોઈ શુદ્ધ સાધારણ છે, અર્થાત્-સામાન્ય  
 રૂપથી અનેક દ્રવ્યોમાં જોવામાં આવે છે અથવા સમસ્ત દ્રવ્યોમાં જોવામાં આવે  
 છે જેમ-અસ્તિત્વ, વસ્તુત્વ, પ્રદેશત્વ અને જ્ઞેયત્વ, જો શુદ્ધ સમસ્ત દ્રવ્યોમાં  
 જોવામાં આવે છે નિષ્ક્રિયત્વ, અચેતનત્વ, અને અરૂપિત્વ આદિ શુદ્ધ અનેક દ્રવ્યવર્તી છે  
 કોઈ કોઈ શુદ્ધ અસાધારણ છે-માત્ર જોક દ્રવ્યમાં રહે છે જેવી રીતે આત્માના ચૈતન્ય,  
 મુગ્ધ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ શુદ્ધ પોત-પોતાના સાધારણ શુદ્ધ અને શુદ્ધથી ઉત્પન્ન  
 પ્રયોગોની અપેક્ષા પ્રત્યેક દ્રવ્ય જીવ દ્રવ્યથી મિન્ન છે, જોમ સમજવું જોઈએ

આત્મનઃ સ્વરૂપમ્—

આત્મનઃ સ્વરૂપ તાવદુચ્યતે—

આત્મા—(૧)—જીવ\* (૨)—નિત્ય\* (૩)—ચેતનાવાન્, (૪)—ઉપયોગવાન્, (૫)—પરિણામી, (૬)—પ્રમુ\*, (૭)—કર્તા, (૮)—સાક્ષાદ્મોક્તા, (૯)—સ્વશરીર-પરિમાણ, (૧૦)—અમૂર્ત, (૧૧)—પ્રતિશરીર મિન્ન\*, (૧૨)—પૌદ્ગલિકકર્મસયુક્તઃ, (૧૩)—ઋર્ધ્વગતિશીલઃ ।

તત્રાઽઽત્મનો જીવત્વાદિસ્વરૂપં નિરૂપ્યતે—

(૧) જીવત્વનિરૂપણમ્—

અયમાત્મા નિશ્ચયનયેન સત્તા-ચૈતન્ય-જ્ઞાનાદિરૂપૈ શુદ્ધપ્રાણૈઃ, તથા

આત્મા કા સ્વરૂપ—

અથ આત્મા કા સ્વરૂપ કહતે હૈં —

આત્મા—(૧)—જીવ હૈ, (૨)—નિત્ય હૈ, (૩)—ચેતનાવાન્ હૈ, (૪)—ઉપયોગવાન્ હૈ, (૫)—પરિણામી હૈ, (૬)—પ્રમુ હૈ, (૭)—કર્તા હૈ, (૮)—સાક્ષાત્ મોક્તા હૈ, (૯)—અપને શરીર કે બરાબર હૈ, (૧૦)—અમૂર્ત હૈ, (૧૧)—પ્રત્યેક શરીર સે મિન્ન હૈ, (૧૨)—પૌદ્ગલિક કર્મો સે યુક્ત હૈ, ઓર (૧૩)—ઋર્ધ્વગમન સ્વભાવવાળા હૈ ।

उन में अथ आत्मा के जीवत्वादि स्वरूप का निरूपण करते हैं—

(૧) જીવત્વ કા નિરૂપણ—

આત્મા નિશ્ચયનય સે સત્તા ચૈતન્ય ઓર જ્ઞાન આકિરૂપ શુદ્ધ પ્રાણો સે, તથા

આત્માનુ સ્વરૂપ—

હવે આત્માનુ સ્વરૂપ કહે છે—

આત્મા—(૧) જીવ છે, (૨) નિત્ય છે, (૩) ચેતનાવત છે, (૪) ઉપયોગવત છે, (૫) પરિણામી છે, (૬) પ્રમુ છે, (૭) કર્તા છે, (૮) સાક્ષાત્ મોક્તા છે, (૯) પોતાના શરીર બરાબર છે, (૧૦) અમૂર્ત છે (૧૧) પ્રત્યેક શરીરમાં મિન્ન મિન્ન છે (૧૨) પૌદ્ગલિક કર્મોથી યુક્ત છે, અને (૧૩) ઉર્ધ્વગમન સ્વભાવવાળો છે

તેમા આત્માના જીવત્વાદિ સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામા આવે છે—

(૧) જીવત્વ નિરૂપણ—

આત્મા નિશ્ચયનયથી સત્તા, ચૈતન્ય અને જ્ઞાન આકિરૂપ શુદ્ધ પ્રાણોથી, તથા

દૃષ્ટ્યા તુ પર્યાયા સ્વસ્થકારણીભૂતસ્ય ગુણસ્ય સ્વરૂપા , ગુણા અપિ દ્રવ્યસ્વરૂપા इति  
ગુણપર્યાયાત્મકમેવ દ્રવ્યમિત્યુન્યતે ।

દ્રવ્યેષુ સર્વે ગુણા એકરૂપા ન સન્તિ । તત્ર કતિચન સાધારણાઃ અનેક-  
દ્રવ્યવર્તિન સર્વદ્રવ્યવર્તિનઃ । યથા—અસ્તિત્વ-પ્રદેશત્વ-જ્ઞેયતાદયઃ સર્વદ્રવ્યવર્તિન ,  
નિષ્ક્રિયત્વાઽચેતનત્વાઽરૂપિત્વાદયોઽનેકદ્રવ્યવર્તિન । કતિચિદસાધારણા ગુણા  
એકદ્રવ્યમાત્રવર્તિન સન્તિ । યથા—આત્મનિબેતનાઽનન્દચારિત્રવીર્યાદય ।  
સ્વસ્વાઽસાધારણગુણાનાં સજ્જન્યપર્યાયાનાં ત્રાપેક્ષયા પ્રત્યેકદ્રવ્યમન્યદ્રવ્યાદ  
મિન્નમસ્તીતિ લોપ્તમ્ ।

વિવિધતા સે હી હૈ । અમેદ-નિષ્ક્રિયા સે સો પર્યાયે અપને કારણમૂલ ગુણ સે અમિન્ન હૈ  
ઔર ગુણ, દ્રવ્ય સે અમિન્ન હૈ, અત ગુણપર્યાયરૂપ હી દ્રવ્ય કહણતા હૈ ।

દ્રવ્ય મેં સમી ગુણ એકરૂપ નહીં હૈ । કોઈ-કોઈ ગુણ સાધારણ હૈ, અર્થાત્  
સામાન્ય રૂપ સે અનેક દ્રવ્યોં મેં પાડે જાતે હૈ, યા સમસ્ત દ્રવ્યોં મેં પાડે જાતે હૈ ।  
જેસે-અસ્તિત્વ, વસ્તુત્વ, પ્રદેશત્વ, ઔર જ્ઞેયત્વ, તે ગુણ સમસ્ત દ્રવ્યોં મેં પાડે જાતે હૈ ।

નિષ્ક્રિયત્વ, અચેતનત્વ, ઔર અરૂપિત્વ આતિ ગુણ અનેક દ્રવ્યવર્તી હૈ ।  
કોઈ-કોઈ ગુણ અસાધારણ હૈ—સિર્ફ એક દ્રવ્ય મેં રહતે હૈ, જેસે—આત્મા કે ચૈતન્ય,  
સુખ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ ગુણ । અપને-અપને અસાધારણ ગુણોં ઔર ગુણોં સે ઉત્પન્ન  
પર્યાયોં કી અપેક્ષા પ્રત્યેક દ્રવ્ય દૂસરે દ્રવ્ય સે મિન્ન હૈ, પેસા જાનનાં ચાહિય ।

લોહવિવક્ષાથી જ છે જાણેલવિવક્ષાથી તે પધાર્થો પોતાના કારણભૂત શુદ્ધથી અમિન્ન  
છે, અને શુદ્ધ દ્રવ્યથી અમિન્ન છે તેથી શુદ્ધપર્યાયરૂપ જ દ્રવ્ય કહેવાય છે .

દ્રવ્યમાં સર્વ શુદ્ધ એકરૂપ નથી, કોઈ કોઈ શુદ્ધ સાધારણ છે, અર્થાત્—સામાન્ય  
રૂપથી અનેક દ્રવ્યોમાં જોવામાં આવે છે જાણવા સમસ્ત દ્રવ્યોમાં જોવામાં આવે  
છે જેમ—અસ્તિત્વ, વસ્તુત્વ, પ્રદેશત્વ અને જ્ઞેયત્વ, જો શુદ્ધ સમસ્ત દ્રવ્યોમાં  
જોવામાં આવે છે નિષ્ક્રિયત્વ, અચેતનત્વ, અને અરૂપિત્વ આદિ શુદ્ધ અનેક દ્રવ્યવર્તી છે  
કોઈ કોઈ શુદ્ધ અસાધારણ છે—માત્ર એક દ્રવ્યમાં રહે છે જેવી રીતે આત્માના ચૈતન્ય,  
સુખ, ચારિત્ર, વીર્ય આદિ શુદ્ધ પોત-પોતાના સાધારણ શુદ્ધો અને શુદ્ધોથી ઉત્પન્ન  
પર્યાયોની અપેક્ષા પ્રત્યેક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યથી મિન્ન છે, એમ સમજવું જોઈએ.

દહન-પવન-ગગનરૂપપદ્મમૂતેષુ સુલ્લુપરિ મિલિતેષુ ચેતનાલક્ષણ આત્મા કયં નોપલભ્યતે ? ।

યદ્વા-મૃતશરીરે પદ્મમૂતસદ્ભાવેઽપિ ચેતનાલક્ષણ આત્મા નોપલભ્યતે ।  
અતોઽયમાત્મા જડરૂપપાશ્ચમૌતિકદેહાદ્ મિન્નો નિશ્ચીયતે ।

અપરશ્ચ-આત્મનો દેહરૂપત્વસ્વીકારે કૃતનાશોઽકૃતાભ્યાગમશ્વાપદ્યેત ।  
કૃતસ્ય કર્મણ ફલપ્રાપ્તિં વિનૈવ નાશ સ્યાત્, અકૃતસ્ય કર્મણ ફલપ્રાપ્તિશ્ચ ।  
અર્ક્તુઃ ફલપ્રાપ્તિ, કર્તુશ્ચ નેતિ દ્વયમયુક્તમ્ । તસ્માત્-આત્મા દેહાદ્ મિન્નો  
જન્માન્તરસક્રાન્તોઽપીતિ નિશ્ચયમ્ ।

હોતા હૈ તો ચેતનારૂપ આત્મા કયો નહી પૈદા હો જાતા, વહી પાચો મૂતોં કા સંયોગ વિધમાન હૈ ઓર ડસીસે આત્મા કી ઉત્પત્તિ માનતે હો ?

અથવા-મૃત શરીર મેં પાંચા મૂતોં કા સદ્ભાવ હોને પર મી ચેતનસ્વરૂપ આત્મા કયો ઉપલબ્ધ નહી હોતા, ઇસ સે નિશ્ચિત્ત હોતા હૈ કિ આત્મા જડરૂપ પાચ મૂતોં સે મિન હૈ ઓર નિત્ય હૈ ।

ઓર મી આત્મા કો દેહરૂપ સ્વીકાર કરને સે કૃતનાશ ઓર અકૃતાભ્યાગમ શ્વાપદ્યેત કી પ્રાપ્તિ હોમી । કિયે હુયે કર્મ, ફલ વિષે વિના હી નાશ હો જાયગા, ઓર અકૃત કર્મ કે ફલ કો ભોગના પડેગા । કર્મ ન કરને વાલા ફલ ભોગે ઓર કરને વાલા ફલ સે બચ જાય, યહ દોનો બારેં અનુચિત્ત હૈ, અત અથ યહ નિશ્ચય કર લેના ચાહિયે કિ-આત્મા શરીર સે મિન હૈ ઓર જન્માન્તર મેં ગમન કરતા હૈ ।

ચેતનારૂપ આત્મા કેમ પૈદા થતો નથી, અહિં પાચ મૂતોના સંયોગ વિધમાન છે અને તેમથી તમે (નાસ્તિકો) આત્માની ઉત્પત્તિ માનો છો ?

અથવા-મૃત્યુ પામેલા શરીરમા પાચ મૂતોના સદ્ભાવ હોવા છતાય ચેતનસ્વરૂપ આત્મા કેમ ઉપલબ્ધ થતો નથી, કો કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે-આત્મા જડ સ્વરૂપ પાચમૂતોથી વિજ્ઞ છે અને નિત્ય છે

અને ખીજુ કો પશ્ચ છે કે-આત્માને દેહરૂપ સ્વીકાર કરવાથી કૃતનાશ અને અકૃતાભ્યાગમ હોવાની પ્રાપ્તિ થશે, કરેલા કર્મ, ક્ષણ આપ્યા વિના જ નાશ થઈ જશે અને અકૃત-નહિ કરેલા કર્મનુ ક્ષણ ભોગવવું પડશે. કર્મ નહિ કરવાવાળાને કર્મનુ ક્ષણ ભોગવવુ પડે, અને કર્મ કરનાર ક્ષણ ભોગવવામાથી બચી જાય. આ બને વાત અનુચિત છે કો કારણે કો નિશ્ચય કરી લેવો બેઈ કો કે આત્મા શરીરથી વિન્ન છે, અને જન્માન્તર જમન કરે છે

વ્યવહારનયતો યથાસમંભ સ્થાયોપશ્ચમિકૈરિન્દ્રિયાદિદ્રવ્યપ્રાણૈશ્ચ જીવતિ, બીવિવ્યતિ, જીવિતવાંધેત્યતોઽયમાત્મા 'જીવઃ' ઇત્યુન્યતે ।

“અયમાત્મા ન દેહાદન્ય, નાપિ જન્માન્તરસક્રાન્ત ” ઇતિ નાસ્તિકમતં નિરાકર્તૃયુક્તમ્—‘અયમાત્મા જીવઃ’ ઇતિ । પૂર્વમ્બસસ્કારં વિના કયમિદં પ્રસૂત એવં ઘાલો માતૃ સ્તન્યપાને પ્રવર્તેતે । પ્રવૃત્તિ મતિ સ્વકૃતિસાધ્યસ્વસ્યેષ્ટસાધનતાજ્ઞાન્સ્ય ચ કારણતયા ઘાલસ્ય તજ્ઞાનજનકપૂર્વમ્બવીયસસ્કારોઽસ્તીતિ વિજ્ઞાયતે । તસ્માદાત્મનઃ પૂર્વમ્બસસ્વન્ધોઽવધાર્યતે । તેન ચ દેહમિન્નત્યમપિ જ્ઞાયતે ।

અયમાત્મા યદિ પાશ્ચમૌતિકદેહરૂપઃ સ્યાત્, તર્હિ મૃન્મયમાખ્ડ—સલિલ—

વ્યવહારનય સે યથાસમંભ સ્થાયોપશ્ચમ—જન્ય ઇન્દ્રિયાદિ દ્રવ્યપ્રાણા સે જીવિત હૈ, બીવિત રહેગા ઔર બીવિત ના, હસ કારણ આત્મા ‘જીવ’ કહલાતા હૈ ।

“આત્મા શરીર સે મિશ્ર નહીં હૈ ઔર ન એક જન્મ સે દૂસરે જન્મ મેં જાતા હૈ ” નાસ્તિકો કે હસ મત કા નિરાકરણ કરને કે લિપ્ કહા ગયા હૈ કિ— “આત્મા જીવ હૈ ” । પૂર્વમ્બ કે સસ્કાર કે વિના હસ મ્બ મેં તત્કાલ જન્મા હુમા શિશુ માતા કે સ્તન—પાન મેં કેસે પ્રવૃત્ત હો સકતા હૈ, શિશુ કી હસ પ્રવૃત્તિ સે સિદ્ધ હોતા હૈ કિ ઊસ મેં પૂર્વ મ્બ કા સંસ્કાર વિષમાન હૈ । હસ સે નિશ્ચિત હો જાતા હૈ કિ—આત્મા પૂર્વ મ્બ મેં મી જા, ઔર હસ કારણ વહ શરીર સે મિશ્ર મી માલુમ હોતા હૈ ।

પાંચ મૂતો સે બના હુમા શરીર હી યદિ આત્મા હૈ તો મિટ્ટી કા પાત્ર, પાની, પાવક—(અગ્નિ), પવન ઔર આકાશ રૂપ પાંચો મૂતો કા ખૂલે કે ઊપર જબ સંયોગ

વ્યવહારનયથી યથાસમંભ સ્થાયોપશ્ચમજન્ય ઇન્દ્રિયાદિ દ્રવ્યપ્રાણોથી ભવિત છે, ભવિત રહેશે અને ભવિત હોતો, તેથી આત્મા ‘જીવ’ કહેવાય છે “આત્મા શરીરથી બિન્ન નથી, અને એક જન્મથી બીજા જન્મમા જતો નથી” નાસ્તિકોના એ પ્રમાણે જે મત છે, તેનું નિરાકરણ કરવા માટે કહ્યું છે કે “આત્મા જીવ છે” પૂર્વ ભવના સસ્કાર વિના આ ભવમા તત્કાલ જન્મ પામેલું બાળક માતાના સ્તનપાનમા (ધાવવામા) પ્રવૃત્તિ કેવી રીતે કરી શકે છે?, બાળકની આ પ્રવૃત્તિથી સિદ્ધ થાય છે કે—તેનામાં પૂર્વ ભવના સસ્કાર વિષમાન છે આ કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે આત્મા પૂર્વભવમા પણ હોતો, અને તે કારણથી આત્મા શરીરથી બિન્ન માલુમ પડે છે

પાંચ મૂતોથી બનેલું શરીર જ જો આત્મા છે તો માટીનું પાત્ર, પાણી, અગ્નિ, આકાશ, પવન વગેરે પાંચ મૂતોનાં મુલા ઉપર ન્યાયે સંયોગ થાય છે, તો તે વખતે

યથા-જ્ઞાતિસ્મરણશક્ત્યા મૃગાપુત્રવત્ સયમી પૂર્વભવ સ્મરતિ, વ્યાધ્યાદિકારણેન નષ્ટદષ્ટિ પૂર્વાનુભૂત રક્તપીતાદિવર્ણ, નષ્ટશ્રવણશ્ચ શ્રવણ સ્મરતિ । યથા ગેહગવાક્ષે પૂર્વદષ્ટસ્ય પૂર્વશ્રુતસ્પાન્યત્રાનુસ્મતા દેવદત્ત ।

## (૨) નિત્યત્વનિરૂપણમ્—

અપમાત્મા નિત્યત્વાદમૂર્ત્યેતિ વિજ્ઞાયતે । અમૂર્તત્વાન્ચ દેહાદન્યેતિ નિષ્ક્રિયતે । તથાદિ-આત્માઽનુત્પત્તૌ મત્યામવિનાશી, તથા સર્વકાલાવસ્થાયી । તથા-આત્મા ક્ષણાપેક્ષ્યાપિ ન નિરન્વયનાશવાન્, વસ્તુત્વે સતિ ઉત્પત્તેરમાવાત્, જ્ઞાન સે મૃગાપુત્ર કો પૂર્વ ભવ કા સ્મરણ હુઆ થા । કોઈ-કોઈ સયમી અપને પૂર્વભવ કા સ્મરણ કરતા હૈ । રોગ આદિ કિસી કારણ સે જિસ કી દષ્ટિ નષ્ટ હો ગઈ હૈ, વહ પુરુષ પહેલે અનુભવ ક્રિપ હુણ છાલ પીછે આપ્તિ રંગા કો સ્મરણ કરતા હૈ, ઔર જિસકે ક્ષાન નષ્ટ હો ગયે હૈ વહ શનુ કા સ્મરણ કરતા હૈ । કિસી ઘર કી સ્થિતિક્રિયા કે દ્વારા પહેલ દેસે હુપ પદાર્થો કા યા સુને હુપ શન્દો કા દેવદત્ત કો અન્યત્ર સ્મરણ હોતા હૈ, અતઃ એવ દેવદત્ત સ્થિતિક્રિયા સે મિન હૈ । ઊસી પ્રકાર આત્મા, ઇન્દ્રિયા સે મિન હૈ ।

## (૨) આત્માની નિત્યતા—

આત્મા નિત્ય હોને કે કારણ અમૂર્ત પ્રતીત હાતા હૈ ઔર અમૂર્ત હોને કે કારણ દેહ સે મિન હૈ । વહ ઇસ પ્રકાર-આ ના ઉત્પત્તિરહિત ઔર અવિનાશા હૈ, તથા સર્વકાલ મેં સ્થાયી હૈ, તથા આત્મા ક્ષણ કો અપેક્ષા મી નિરન્વય ( સમૂલ ) નાશવાન્ નહીં હૈ, ક્યાંકિ વસ્તુ હાને પર મી ઊસ કી ઉત્પત્તિ નહીં હોતી, જૈસે આકાશ ।

જ્ઞાનથી મૃગાપુત્રને પૂર્વભવનું સ્મરણ થયું હતું કેાઈ કેાઈ સયમીને પેતાના પૂર્વ ભવનું સ્મરણ થાય । રોગ આદિ કેાઈ કારણથી જેની દષ્ટિ ( નેત્રથી જોવાની શક્તિ ) નાશ પામી અંધ છે તે પુરૂષ પ્રથમ અનુભવેલા લાલ, પીળા આદિ રંગોનું સ્મરણ કરે છે અને જેના કાન નષ્ટ થઈ ગયા હોય—( સાંભળવાની શક્તિ નાશ પામી હોય ) તે શબ્દનું સ્મરણ કરે છે કેાઈ ઘરની ખડકીઓ દ્વારા પ્રથમ જોયેલા પદાર્થોનું અથવા તેા સાંભળેલા શબ્દનું દેવદત્તને અન્યત્ર-ગીબા સ્થળે સ્મરણ થાય છે એ કારણથી દેવદત્ત ખડકીઓથી બિન્ન છે તે પ્રમાણે આત્મા ઇન્દ્રિયોથી વિન્ન છે

## (૨) આત્માની નિત્યતા—

આત્મા નિત્ય હોવાના કારણે અમૂર્ત જણાય છે અને અમૂર્ત હોવાના કારણે, દેહથી બિન્ન છે તે આ પ્રમાણે-આત્મા ઉત્પત્તિરહિત અને અવિનાશી છે, તથા સર્વ કાલમા સ્થાયી છે, અને ક્ષણની અપેક્ષા પણ નિરન્વય ( સમૂળ ) નાશવાન્ નથી,

આત્મા દેહે કદાચિત્તિષ્ઠતિ, કદાચિન્ન તિષ્ઠતિ, અતઃ તસ્યામાવસ્થા નિયતો નાસ્તિ । તસ્માદ્ દદાદન્ય ઇતિ મન્તવ્યમ્ । એવમનુમાનપ્રયોગ.-

આત્મા-દેહાદન્ય, તદ્વાવેડપિ ત્વ તસ્યાનિયમેનામાવાત્, ઉપાશ્રયગતસાધુ-શ્રાવકવત્ । નનુ દેહે જીવસ્ય ગમનાગમને ન દૃશ્યતે, તથા ચ જીવસ્ય દેહે શ્ચા સદ્ભાવસત્ત્વેનામાવરૂપો હેતુરપ્રસિદ્ધ ઇતિ ચેન્ન, મૃતશરીરે તસ્યાદર્શનાત્ ।

યદ્વા—આત્મા દેહેન્દ્રિયમિન્ન તદ્વિગમેડપિ તદુપલબ્ધાર્થાનુસ્મરણાત્ ।

આત્મા શરીર મેં કમી રહતા હૈ, કમી નહી રહતા, અતઃ उसका अभाव वहाँ नियत नहीं है । अत एव मानना चाहिए कि—आत्मा देह से भिन्न है । अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए —

આત્મા શરીર સે મિન્ન હૈ, ક્યોં કિ દેહ કે હોન પર મી આત્મા વહોં નિયમ સે નહી રહતા, ઉપાશ્રય મેં સ્થિત સાધુ શ્રાવક કે સમાન ।

શ્ચકા—શરીર મેં જીવ કા ગમન ઓર આગમન દિશ્વાઈ નહીં દેતા અતઃ વદ દેહ મેં સદૈવ વિષમાન રહતા હૈ । ऐसी अवस्था में आप का यह अभाव सिद्ध करने वाला हेतु असिद्ध है ।

સમાધાન—એસા કહના સમીચીન નહીં હૈ, ક્યોં કિ મૃત શરીર મેં આત્મા માલ્મ નહા હોતા ।

અથવા—આત્મા દેહ ઓર ઇન્દ્રિયોં સે મિન્ન હૈ, ક્યોં કિ उनके नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए पदार्थ का स्मरण होता है । जैसे जातिस्मरण

આત્મા શરીરમા કોઈ વખત રહે છે, કોઈ વખત નથી રહેતો તેથી તેનો અભાવ ત્યાં જોઈએ રૂપથી નથી. તેથી માનવુ જોઈએ કે—આત્મા દેહથી ભિન્ન છે અનુમાનનો પ્રયોગ આ પ્રમાણે કરવો જોઈએ.—

આત્મા શરીરથી ભિન્ન છે, કેમકે દેહ હોવા છતાંય આત્મા ત્યાં નિયમથી રહેતો નથી, ઉપાશ્રયમાં રહેલા સાધુ શ્રાવક પ્રમાણે

શ કા—શરીરમાં જીવનુ ગમન-અવુ, અને આગમન-આવવુ તે નજરે જોવામા આવતુ નથી, તેથી તે દેહમાં સદૈવ વિધમાન રહે છે જોવી અવસ્થામા આપનો જો અભાવ સિદ્ધ કરવાનો હેતુ અસિદ્ધ છે જોમ કરેલુ તે ખરાબર નથી, કેમકે મૃત શરીરમાં આત્મા માલ્મ પડતો નથી.

અથવા—આત્મા દેહ અને ઇન્દ્રિયોથી ભિન્ન છે, કારણ કે—તેનો નાશ થવા પછી પણ તેના દ્વારા જાણવામાં આવેલા પદાર્થનુ સ્મરણ થાય છે જેમ જાતિસ્મરણ

ત્વામૃત્વયોરાત્મન્યેકાન્તતોજ્ઞગ્રીકારાત્ ।

યદ્વા-આત્મા નિત્ય સસારાત્, ત્રિકાલવિષયકક્રિયાપર્યાલોચકત્વાત્, 'સ  
 એપ' ઇતિ પ્રત્યભિજ્ઞાવત્ત્વાત્ । અનેન હેતુપ્રયેણ ક્ષણિકવાદો નિરસ્ત્ ।

યત્તુ-આત્મા-એકાન્તનિત્ય 'નૈન છિન્દન્તિ શસ્ત્રાણિ' ઇત્યાદિવચનપ્રામાણ્યાત્,  
 'મ એપ અણયોડ્જ' ઇત્યાદિશ્રુતિપ્રામાણ્યાદ્, ઇતિ, તન્ન યુક્તમ્, આત્મન એકસ્વમાવત્વે  
 સસરણાદિવ્યવહારોચ્છેદાપત્તિ સ્યાત્ તસ્માત્ કથચ્ચિન્તિત્ય કથચ્ચિદનિત્ય ઇતિ

મેં વ્યભિચાર કી આશંકા નહી કરના, ક્યો કિ આત્મા મેં નિત્યત્વ ઔર અમૃત્ત્વ પકાન્ત  
 રૂપ સે નહી માના ગયા હૈ ।

અથવા-આત્મા નિત્ય હૈ, ક્યાં કિ વહ એક ગતિ સે દૂસરી ગતિ મેં જાતા હૈ,  
 ક્યાં કિ વહ ત્રિકાલવિષયક ક્રિયાકા આલોચક હૈ, ઔર વહ પ્રત્યભિજ્ઞાન (વહ વહી હૈ  
 કસ પ્રકાર કા જોડરૂપ જ્ઞાન) વાળા હૈ । કન સીન હેતુઓ સે ક્ષણિકવાદકા નિરાકરણ  
 હો ગયા ।

'નૈન છિન્દન્તિ શસ્ત્રાણિ' ઇત્યાદિ વચન સે ઔર 'સ એપ અણયોડ્જ'  
 ઇત્યાદિ શ્રુતિ કે પ્રમાણ સે આત્મા પકાન્ત નિત્ય સિદ્ધ હોતા હૈ । એમા કહના મી  
 યુક્ત નહી હૈ, ક્યાં કિ આત્મા કો પકાન્ત નિત્ય સ્વમાવ વાળા માનન સં સસરણ (એક  
 જમ સ દૂસર જન્મ મ જાના) આદિ વ્યવહારો કા નાશ હો જાયગા । અત એવ કથચ્ચિત્  
 નિત્ય ઔર કથચ્ચિત્ અનિત્ય આત્મા સ્વીકાર કરના ચાહિં ।

વ્યભિચારની આશંકા કરવી નહિ કારણ કે આત્માના નિત્યત્વ અને અમૃતત્વ  
 એકાન્તરૂપથી માનવામા આવ્યું નથી.

અથવા-આત્મા નિત્ય છે, કારણ કે તે એક ગતિથી બીજી ગતિમાં જાય છે,  
 કારણ કે તે ત્રિકાલવિષયક ક્રિયાનો આલોચક (વિચાર કરનાર) છે, અને તે  
 પ્રત્યભિજ્ઞાન ('આ તેજ છે' એ પ્રકારનું જોડરૂપ જ્ઞાન) વાળો છે આ ત્રણ  
 હેતુઓ વડે કરી ક્ષણિકવાદનું નિરાકરણ થઈ ગયું છે

"નૈન છિન્દન્તિ શસ્ત્રાણિ" ઇત્યાદિ વચનથી અને 'સ એપ અણયોડ્જ' ઇત્યાદિ  
 શ્રુતિના પ્રમાણથી આત્મા એકાન્ત નિત્ય સિદ્ધ થાય છે એમ કહેવું તે પણ યુક્ત  
 નથી, કારણ કે આત્માને એકાન્ત નિત્ય સ્વભાવ વાળો માનવાથી સસરણ (એક  
 જન્મથી બીજા જન્મમાં જવું તે) આદિ વ્યવહારોનો નાશ થઈ જશે, એ કારણથી  
 કથચિત્ નિત્ય અને કથચિત્ અનિત્ય આત્મા છે એ પ્રમાણે સ્વીકાર કરવો બોધ્યો.



યથા ગગનમ્ । અનુત્પત્તૌ સત્યામવિનાશિત્વેન, તથા સર્વકાલાવસ્થાયિત્વેન, તથા ક્ષણાપેક્ષયાઽપિ નિરન્વયનાશમાયવચ્ચેન ચાત્મનો નિત્યન્ય સિદ્ધિર્નિવર્તિતી । દેહાત્મ-  
વાદિના પરિમિતકાલાવસ્થાયિત્યમાત્મનો મન્યતઃ, તથા ક્ષણિકવાદિનાપિ નિરન્વય-  
ક્ષણિકપરિણામપ્રવાહસ્ય નિત્યત્વં સ્વીક્રિયતે । તૌ ચૈવંવિષ્ણનિત્યત્વસાધનેન  
નિરાકૃતૌ । શ્રદ્ધશ્રદ્ધાદાવપિ જન્મામાવસચ્ચેન હેતૌ સાધ્યવ્યાપ્તિર્ન સ્પાદતો  
વસ્તુત્વે સતીત્યુક્તમ્ ।

ન ચામૂર્ત્યસ્ય પરમાણૌ વ્યભિચાર આશંકનીય, આહતમતે નિત્ય-

ઉત્પત્તિરહિત ઔર અવિનાશી હોને કે કારણ, તથા સર્વકાલ મેં વિષમાન રહેને કે કારણ  
ઔર ક્ષણ કી અપેક્ષા મી સમૂલ નાશવાન ન હોને કે કારણ આત્મા કી નિયતા સિદ્ધ હોતી  
હે । દેહ કો હો આત્મા માનને વાલા કહ્તા હે કિ-આત્મા પરિમિત કાલ તક ઝરતા હે ।  
તથા ક્ષણિકવાદી મી નિરન્વય ક્ષણિક પરિણામ-પ્રવાહ કો નિત્ય માનતા હે । ઇસ પ્રકાર  
આત્મા કી નિત્યતા સિદ્ધ કરકે ઇન દોનો કે મત કા નિરાકરણ ક્રિયા ગયા હે । પ્રસ્તુત  
હેતુ મેં ‘વસ્તુ હોતે હુએ મી’ વહ વિશેષગ ઇસ છિયે લગાયા હે કિ શશ-વિષાણ આદિ  
સે વ્યભિચાર (હેતુ હો ઔર સાધ્ય ન હો) ન હો, ક્યો કિ ઉત્પત્તિ કા અમાવ તો ઊન  
મેં મી હે કિન્તુ વસ્તુત્વ ઊન મેં નહી હે ।

અમૂર્ત્ય, પરમાણુ મેં નહી હે ઔર વહોં નિત્યત્વ હેતુ હે, ઇસ છિયે પરમાણુ

કેમકે વસ્તુ છતાંય તેની ઉત્પત્તિ નથી હોતી, જેમકે આકાશ ઉત્પત્તિરહિત અને  
અવિનાશી હોવાના કારણે, તથા સર્વકાલમા વિષમાન રહેવાના કારણે, અને ક્ષણી  
અપેક્ષાએ પણ સમૂળેના નાશવાન નહિ હોવાના કારણે આત્માની નિત્યતા સિદ્ધ થાય  
છે હેલેને જ આત્મા માનવાવાળા કહે છે કે-આત્મા પરિમિત કાલ સુધી ચોલે છે,  
તથા ક્ષણિકવાદી પણ નિરન્વય ક્ષણિક-પરિણામપ્રવાહને નિત્ય માને છે આ  
પ્રમાણે આત્માની નિત્યતા સિદ્ધ કરીને એ અને (દેહવાદી અને ક્ષણિકવાદી)ના  
મતનુ નિરાકરણ કર્યું છે પ્રસ્તુત હેતુમાં “વસ્તુ હોવા છતાંય પણ” એ  
વિશેષણ એ કારણથી આપ્યું છે કે-શશ-વિષાણ-(સસલાના શિંગડાં) આદિથી  
વ્યભિચાર (હેતુ હોય અને સાધ્ય ન હોય) ન થાય, કારણ કે ઉત્પત્તિનો અભાવ  
તો તેમાં પણ છે, પરંતુ વસ્તુત્વ તેમાં નથી.

અમૂર્ત્ય, પરમાણુમાં નથી, અને ત્યાં નિત્યત્વ હેતુ છે, એ કારણથી પરમાણુમાં

યદ્વા-આત્મા નિત્ય\* સ્વકારણવિભાગાભાવાદ્ આકાશવદ્ । આકાશસ્ય કારણાભાવાદેવ કારણવિભાગો નાસ્તિ । યસ્તુ ન નિત્ય, સ ન સ્વકારણવિભાગાભાવવાન્, યથા પટ\* । દૃશ્યતે હિ પટસ્તન્તુનાં વિભાગો મવતીતિ ।

કિઞ્ચ-આત્મા નિત્ય કારણવિનાશાભાવાદ્ આકાશવદેવ । કારણાભાવાદેવ હિ કારણસ્ય વિનાશાભાવ, યથા ગગનમેવ । યો ન નિત્ય, સ ન કારણવિનાશાભાવવાન્ અર્થાત્ કારણવિનાશવાનેવ, યથા પટઃ । દૃશ્યતે હિ પટકારણીભૂતસ્ય તન્તોર્વિનાશો મવતીતિ । અર્થં ચાત્મા સ્વકારણાભાવેન કારણવિનાશાભાવવાન્, તસ્માન્નિત્ય ઇતિ । નિત્યત્વાદયમમૂર્ત, અમૂર્તત્વાદ્ શરીરાદ્ ભિન્ન ઇતિ નિશ્ચીયતે ।

અથવા-આત્મા નિત્ય છે, ક્યોં કિં ઉસ કે કારણોં કા વિભાગ નહીં છે, જૈસે આકાશ । આકાશ કે કારણોં કા અભાવ છે, હસી કારણ ઉસકે કારણોં કા વિભાગ મી નહીં છે । જો નિત્ય નહીં છે, વહુ અપને કારણોં કે વિભાગ કા અભાવ વાલ્લ મી નહીં હોત્તા જૈસે-પટ । પટ સે તન્તુઓં કા વિભાગ હોત્તા દિસ્વાઈ દેત્તા છે ।

ઔર મી-આત્મા નિત્ય છે, ક્યોં કિં ઉસકે કારણોં કે વિનાશ કા અભાવ છે, જૈસે-આકાશ । કારણોં કા અભાવ હોને સે હી કારણોં કે વિનાશ કા અભાવ છે જૈસે આકાશ । જો નિત્ય નહીં હોત્તા વહુ કારણ-વિનાશાભાવ વાલ્લ મી નહીં હોત્તા, જૈસે પટ, દેસ્તા જ્ઞાત્તા છે કિં-પટ કે કારણભૂત તન્તુઓં કા નાશ હો જાત્તા છે । આત્મા કે જનક કારણોં કા અભાવ છે અતઃ વહુ કારણોં કે વિનાશકા અભાવ વાલ્લ છે, અર્થાત્ આત્મા કે કારણ હી નહીં હૈં તો ઉસકે કારણોં કા અભાવ ક્યા હોત્તા ?

અથવા-આત્મા નિત્ય છે, કેમકે તેના કારણોના વિભાગ નથી, જેમ આકાશ આકાશને કારણોના અભાવ છે તેથી જ તેના કારણોના વિભાગ પણ નથી. જે નિત્ય નથી તે પોતાના કારણોના વિભાગના અભાવવાળો પણ નહિ થાય, જેમ પટ પટથી તત્તુઓના વિભાગ થતો જોવામાં આવે છે

હરો પણ-આત્મા નિત્ય છે કારણ કે તેના કારણોના વિનાશનો અભાવ છે, જેમ આકાશ. કારણોના અભાવ હોવાથી જ કારણોના વિનાશનો અભાવ છે જેમ આકાશ જે નિત્ય નથી તે કારણવિનાશાભાવવાળું પણ નથી, જેમ પટ જોવામાં આવે છે કે-પટના કારણભૂત તત્તુઓનો નાશ થાય છે પણ આત્માના જનક કારણોના અભાવ છે, તેથી તે કારણોના વિનાશનો અભાવવાળો છે, અર્થાત્ આત્માને

સ્વીકર્તવ્યમ્ । દ્રવ્યાર્થિકનયેન નિત્ય, પર્યાયાર્થિકનયેન-અનિત્ય ઇતિ ।  
 એવમનગ્નીકારે હિ 'સસારા'—દિત્યાદ્યુક્તદેતૂનામસગતિ' સ્યાત્ । અસ્ત્વ  
 એકત્વભાવસ્વીકારે સ્વમાત્રાન્તરાનાપત્યા વર્તમાનકાલિકભાવાતિરિક્ત ભાવાન્તરં ન  
 લઘુમર્હેત્ । એવમનિત્યસ્વામૂર્ત્યયોરપિ સ્યાદ્વાદ આત્મચનીય, અન્યથા વ્યવહારોચ્છેદ  
 પ્રસંગ સ્યાત્, આત્માન્તરમૂર્ત્યસ્ય, તથૈવાન્તરો દેહમિ-નસ્ય જ્ઞાતિપાઠાદિપ્રસંગાભાવે  
 સતિ હિંસાદિનિવૃત્તિદેશનાદિપરકચરણ કરુણાદિવિબોધકસકલજ્ઞાસાધનર્થક્યં, તથાઽસ્મિન્  
 સસારગર્વાદનુદ્ધારશ્ચ સ્યાત્ ।

આત્મા દ્રવ્યાર્થિકનય સે નિત્ય છે, એ પર્યાયાર્થિકનય સે અનિત્ય છે । એવા  
 સ્વીકાર ન કરને પર 'સમરણ કરને સે' શ્યાદિ પૂર્વોક્ત હેતુ અસમ્મત હો જાયેગે ।  
 એક સ્વભાવ જાણે આત્મા સ્વીકાર ક્રિયા થાય તો તેમાં તેમને સ્વભાવ કી ઉત્પત્તિ  
 નહીં હોગી, એ વર્તમાનકાલીન ભાવ કે અતિરિક્ત દૂર્ગ્ગ ભાવ કમી પ્રાપ્ત નહીં હોગા ।  
 હસી પ્રકાર અનિત્યત્વ એવમૂર્ત્યત્વ કે વિષય મેં મી સ્યાદ્વાદકા હી આશ્રય લેના જાણિય,  
 અન્યથા વ્યવહાર કે ભાવના પ્રસંગ આપગા । આત્મા કો એકાન્ત અમૂર્ત માનને સે,  
 તેમાં દેહ સે પ્રકાન્ત મિન્ન માનને સે તેમાં કા ઘાત હોના અસંભવ છે, એવમ્ હસ દિશા મેં  
 હિંસા આદિ સે નિવૃત્તિ હોમ કા ઉપદેશ દેને માટે ચરણ-કરુણ આદિ કે વૈભવ સર્વ  
 શાસ્ત્ર વ્યર્થ હો જાયેગે । હસ કે અતિરિક્ત આત્મા કા સસારરૂપી સ્વરૂપે સે કમી ઉદાર  
 મી નહીં હોના ।

આત્મા દ્રવ્યાર્થિક નયથી નિત્ય છે, અને પર્યાયાર્થિક નયથી અનિત્ય છે એ  
 પ્રમાણે સ્વીકાર નહિ કરવાથી 'સ સસારજ્ઞ કરવાથી' શ્યાદિ પૂર્વોક્ત હેતુ અસંગત  
 થઈ જશે એક સ્વભાવવાળો આત્મા સ્વીકાર કરવામાં આવશે તો તેમાં બીજા  
 સ્વભાવની ઉત્પત્તિ નહિ થાય, અને વર્તમાનકાલીન ભાવ વિના બીજો ભાવ કોઈ પણ  
 વખત પ્રાપ્ત નહિ થાય, એ પ્રમાણે અનિત્યત્વ અમૂર્ત્યત્વના વિષયમાં પણ સ્યાદ્વાદનો જ  
 આશ્રય લેવો એકાન્ત અન્યથા વ્યવહારના અભાવને પ્રસંગ આવશે આત્માને એકાન્ત  
 અમૂર્ત માનવાથી તથા દેહથી એકાન્ત મિન્ન માનવાથી તેનો ઘાત થવો અસંભવ  
 છે, અને એ શ્યામા હિંસા આદિથી નિવૃત્તિ થવાનો ઉપદેશ દેવાવાળા ચરણ-કરુણ  
 આદિના બોધક તમામ શાસ્ત્રો વ્યર્થ થઈ જશે તે સિવાય આત્માનો સસારરૂપી  
 આદાથી કોઈ વખત પણ ઉદાર નહિ થાય

સમાલમ્બને તુ મુલ્લદુ મ્વાદય સર્વે આત્મનોઽપ્રચ્યુતાનુત્પન્નસ્થિરૈકસ્વમાવતયાઽ-  
ન્યયાત્વરૂપપરિણામાસમનાબોપપદેરન્, નારક્ત્વાદિમાત્રો યમ્ય યાદ્યો વિદ્યતે,  
તદન્યરૂપતા નામી પ્રપદેત ।

માવતોઽપ્રમન્નસ્યાત્મન પૂર્વરૂપાપરિત્યાગે મતિ પુન પ્રસન્નરૂપતાયા  
અસમવ સ્પાત્ । દૃશ્યતે પુનઃપ્રસન્નસ્ય કઠાચિત્ પ્રસન્નતાઽપિ, સા નોપપદેત ।  
તસ્માદેકાન્તવાદ પરિત્યજ્યાનેકાન્તવાદ મમાલમ્બનીય ।

### (૩) ચેતનાવચ્ચનિરૂપણમ્—

અયમાત્મા નિશ્ચયનયેન શુદ્ધચેતનામહિત, વ્યવહારનયેન ચ કર્માદિ

સ્વીકાર કરન પર આત્મા અપ્રચ્યુત, અનુપન ઔર સ્થિર એકરૂપ તથા એક સ્વમાવ  
વાળા હોને કે કારણ, ઔર ઉસમ રૂપાન્તર હોના અસમવ હોને સે મુલ્લ દુ સ્તાતિ નહીં  
હોગે, અત વિમિન અવસ્થાઈ મી નહીં હો સર્કેગી, ફિર જો આત્મા નારક્ત્વાદિ  
ત્રિસ રૂપ મંદે વહ મર્વવા ઉસી રૂપ મેં રહેગી—એક મવ સે દૂસરે મવ મેં નહીં જા  
સકેગી । જો આત્મા અપ્રસન્ન હૈ, મગર અપ્રસન્ન કા મી કર્મી પ્રસન્ન હોના દિસાઈ દેતા હૈ,  
ફિર એમા ન હો સકેગા । અત ધવ એકાન્તવાદ કા ત્યાગ કરકે અનેકાન્તવાદ કા આશ્રય  
હેના ચાહિં ।

### (૩) ચેતનાવચ્ચ—

યહ આત્મા નિશ્ચયનય સ શુદ્ધ ચેતના સે યુક્ત હૈ ઔર વ્યવહારનય સે

સ્વીકાર કરવાથી આત્મા અપ્રચ્યુત, અનુત્પન્ન અને સ્થિર એકરૂપ તથા એક સ્વમાવ  
વાળા હોવાના કારણે તેમા રૂપાન્તર થવું અસંભવિત હોવાથી મુખ્ય—હુ ખાદિ નહિ  
હોય. તે કારણથી વિભિન્ન અવસ્થાઓ પણ ધર્મ શકશે નહિ કરી જે આત્મા  
નારક્ત્વાદિ જે રૂપમાં છે, તે સર્વદા તે રૂપના જ રહેશે. એટલે એક ભવમાથી  
બીજા ભવમા જઈ શકશે નહિ. વળા જે આત્મા અપ્રસન્ન છે તે પોતાના પૂર્વરૂપનો  
પરિત્યાગ ન કરે તો તેને કરી પ્રસન્નતામા આવવું તે અસંભવ છે, પરંતુ અપ્રસન્ન  
પણ કોઈ વખત પ્રસન્ન હોય એમ દેખાય છે; કરી એમ નહિ ધર્મ શકશે. એ  
કારણથી અનેકાન્તવાદનો ત્યાગ કરીને અનેકાન્તવાદનો આશ્રય લેવો નોઈએ.

### (૩) ચેતનાવચ્ચ—

આ આત્મા નિશ્ચયનયથી શુદ્ધ ચેતનાથી યુક્ત છે અને વ્યવહારનયથી ‘આત્માને

પરન્તેકાન્તનિત્યત્વે, એકસ્પાર્શનો નારકતિર્યક્મનુષ્યદેવગતિપરિણામા નોપપદેત્ । એકાન્તક્ષણિકત્વેઽપિ સ્વાધ્યાયાધ્યયનધ્યાનાદિપરિશ્રમમત્સ્યમિજ્ઞાનં નોપપદેત । તસ્માદાત્મા કથચ્ચિન્તિત્યઃ, કથચ્ચિદનિત્યઃ, इत्यवश्य म्नीकरणीयम् ।

यत्तु-“द्रव्यक्षेत्रकालभावेरेकान्तैर्नैव नित्य, अविचलितस्वभाव आत्मे”-ति वदन्ति तत्सर्वमयुक्तम् । तथा सति सुखदुःखससारमोक्षणामनुपपत्तिरापद्येत । तत्र हि आद्यादानुभवरूपं क्षणं सुख, तापानुभवरूपं दुःखम्, तिर्यक्मनુष्यनारक देवमवससरणरूपं ससार, अष्टविधकर्मबन्धवियोगो मोक्ष । एकान्तवाद

इस लिए आत्मा नित्य है । आत्मा નિત્ય होने क कारण अमूर्त है, और अमूर्त होने के कारण शरीर से भिन्न है ।

किन्तु आत्मा को एकान्त નિત્ય માનને પર एक ही આત્મા નરક તિર્યક, મનુષ્ય और देवगतिरूप નાના પર્યાયો को प्राप्त नहीं होगा । और एकान्त ક્ષણિક માનને પર મો સ્વાધ્યાય, અધ્યયન, ધ્યાન આદિ કા પરિશ્રમ વૃથા હો જાયગા, और પ્રત્યક્ષિજ્ઞાન કા અભાવ હો જાયગા । અતઃ એવ આત્મા કથંચિત્ નિત્ય और कथंचित् अनित्य है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना चाहिए ।

જો હોગ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ और भाव से आत्मा को एकान्त નિત્ય અવિચલ સ્વભાવ વાસ્તવ માનતે હૈં, वह सब अयुक्त है । ऐसा मानने से सुख, दुःख, ससार और मोक्ष नहीं बन सकते । आह्लाद का अनुभव करनारूप क्षणं सुख कहेलाता है । संताप का अनुभव करना दुःख है । तिर्यक्, मनुष्य, नारक और देव ३ भव में आता ससार है । आठ प्रकार के कर्मबन्ध का वियोग होना मोक्ष है । एकान्तवाद

કારણ જ નહીં તે પછી તેના કારણોનો અભાવ શું થશે ? જો કારણથી આત્મા નિત્ય છે આત્મા નિત્ય હોવાના કારણે અમૂર્ત છે અને અમૂર્ત હોવાના કારણે શરીરથી ભિન્ન છે

પરંતુ આત્માને જોકાન્ત 'નિત્ય' માનવાથી જોક જ આત્મા નરક, તિર્યક, મનુષ્ય અને દેવગતિરૂપે નાનાં પર્યાયોને પ્રાપ્ત નહિ થાય, અને જોકાન્ત ક્ષણિક માનવાથી પણ સ્વાધ્યાય, અધ્યયન, ધ્યાન આદિનો પરિશ્રમ વૃથા થઈ જશે, અને પ્રત્યક્ષિજ્ઞાનનો અભાવ થઈ જશે, જો કારણથી આત્મા 'કથંચિત્ નિત્ય' અને કથંચિત્ अनित्य છે જો પ્રમાણે જરૂર સ્વીકારવું જોઈએ.

જો માણસો દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાલ અને ભાવથી આત્માને જોકાન્ત નિત્ય, અવિચલ સ્વભાવ વાળો માને છે, તે સર્વ અયુક્ત છે જો પ્રમાણે માનવાથી સુખ, દુઃખ સસાર અને મોક્ષ બની શકશે નહિ આહ્લાદનો અનુભવ કરવારૂપ ક્ષણ સુખ કહેવાય છે સંતાપનો અનુભવ કરવો તે દુઃખ છે તિર્યક, મનુષ્ય, નારકી અને દેવભવમા જવું તે સસાર છે આઠ પ્રકારનાં કર્મ બંધનો વિયોગ થવો તે મોક્ષ છે જોકાન્તવાદ

અયમાત્મા જ્ઞાનદર્શનોપયોગામ્યાં ન મિશ્રં ઇતિ બોધયિતુમ્પયોગવાનિતિ,  
ઇદં ચ જ્ઞાનાત્મનોરેકાન્તમેદં ઇતિ નૈયાયિકમતં નિરાકર્તુમુક્તમ્ । સર્વજ્ઞ-  
સિદ્ધાન્તે તુ દ્રવ્ય વસ્તુતો ગુણપર્યાયેભ્યો ન મિશ્રમ્, અતઃ કયચ્છિદમેદ-  
વિવક્ષયાઽઽથપિમાથ પરિકલ્પ્ય-ઉપયોગવાનિતિ નિગદિતમ્ ।

ઉપયોગો દ્વિધા-જ્ઞાનદર્શનમેદાત્ । સવિકલ્પ ઉપયોગ એવ જ્ઞાનોપયોગ, ।  
નિર્વિકલ્પ ઉપયોગો દર્શનોપયોગ । સત્ર જ્ઞાનોપયોગોઽષ્ટવિધઃ-મતિશ્રુતાવધિમન પર્યય-  
કેવલાનિ પશ્ચ સમ્યગ્જ્ઞાનાનિ, મતિ-શ્રુત-વિમગ-મેદેન ત્રીણ્યજ્ઞાનાનિ ચેતિ ।  
અજ્ઞાનાન્યપિ જ્ઞાનરૂપતયા જ્ઞાનધર્મે નિસિદ્ધાનિ । અત્રૈકમેવ કેવલજ્ઞાનં જ્ઞાયિકં સર્વા-

‘આત્મા જ્ઞાનોપયોગ ઔર દર્શનોપયોગ સે મિન્ન નહીં હૈ’ યહ મતલાને કે લિખે ઉસે  
ઉપયોગવાન કહા હૈ । ‘જ્ઞાન ઔર આત્મા કા એકાન્ત મેદ હૈ’ એસા નૈયાયિકો કા મત હૈ ।  
ઇસ મત કા નિરાકરણ કરને કે લિખે યહ કથન ક્રિયા ગયા હૈ । સર્વજ્ઞ કે સિદ્ધાન્ત મેં દ્રવ્ય  
વાસ્તવ મેં ગુણ ઔર પર્યાયાં સે મિન નહીં હૈ, અતઃ કયચ્છિત્ મેદ કી વિવક્ષા કરકે  
આધારાધેય માવ કી કલ્પના સે ઉપયોગવાન કહા હૈ ।

ઉપયોગ કે દો મેદ હૈ—જ્ઞાનોપયોગ ઔર દર્શનોપયોગ । સવિકલ્પ ઉપયોગ કો  
જ્ઞાનોપયોગ કહતે હૈ ઔર નિર્વિકલ્પ ઉપયોગ દર્શનોપયોગ કહલાતા હૈ । ઇનમેં સે જ્ઞાનોપયોગ  
આઠ પ્રકાર કા હૈ—(૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન પર્યયજ્ઞાન,  
(૫) કેવલજ્ઞાન, (૬) કુમતિજ્ઞાન, (૭) કુશ્રુતજ્ઞાન ઔર (૮) વિમગજ્ઞાન, અન્તકે ત્રીન અજ્ઞાન  
કહલાતે હૈ । યે વિપરીતજ્ઞાનરૂપ હોને કે કારણ ઇન્હે જ્ઞાન કી કોટિ મેં રક્ષા હૈ । ઇનમેં

આત્મા જ્ઞાનોપયોગ અને દર્શનોપયોગથી મિન્ન નથી, એ બતાવવા માટે જ  
તેને ઉપયોગવાન કહ્યો છે ‘જ્ઞાન અને આત્માનો એકાન્ત મેદ છે’ એવો નૈયાયિકોનો  
મત છે, એ મતનું નિરાકરણ કરવા માટે એ કથન કરવામા આવ્યું છે સર્વજ્ઞના  
સિદ્ધાન્તમા દ્રવ્ય એ વાસ્તવમા શુષ્ક અને પર્યાયોથી મિન્ન નથી, તેથી કયચ્છિત્  
મેદની વિવક્ષા કરીને આધારાધેય ભાવની કલ્પનાથી ઉપયોગવાન કહ્યો છે

ઉપયોગના બે મેદ છે—(૧) જ્ઞાનોપયોગ અને (૨) દર્શનોપયોગ, સવિકલ્પ  
ઉપયોગને જ્ઞાનોપયોગ કહે છે, અને નિર્વિકલ્પ ઉપયોગ તે દર્શનોપયોગ  
કહેવાય છે તેમા જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારનો છે (૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન,  
(૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન પર્યાયજ્ઞાન, (૫) કેવલજ્ઞાન, તથા (૬) કુમતિજ્ઞાન,  
(૭) કુશ્રુતજ્ઞાન અને (૮) વિમગજ્ઞાન તેમા છેવટના ત્રણ અજ્ઞાન કહેવાય છે  
પરંતુ વિપરીતજ્ઞાનરૂપ હોવાના કારણે તેને જ્ઞાનની કોટિમા રાખ્યા છે એમા એક

પીઠ્યત્યાસ્માનમિતિ જ્ઞાનરૂપાશુદ્ધચેતનયા સહિતચેતનાવાનિત્યુચ્યતે । ચેતનાવાનિતિ કયન્નિદુચ્યતે; આત્મા વસ્તુતચેતનાસ્વરૂપ પવાસ્તિ । આત્મનો ગુણચેતનેતિ સર્વેષાં મતં, તદમિપ્રાયેણ ચેતનાવાનિત્યુક્તમ્ । ચેતના દ્વિવિધા-શુદ્ધા, અશુદ્ધા ચેતિ । જ્ઞાનચેતનૈવ શુદ્ધચેતના । કર્મચેતના, તયા કર્મફલચેતના ષાશુદ્ધચેતનોચ્યતે ।

### (૪) ઉપયોગવસ્થાનિરૂપણમ્—

અપમાત્મા નિશ્ચયનયેન કેવલજ્ઞાનકેવલદર્શનરૂપામ્યા શુદ્ધોપયોગામ્યા સહિતો વ્યવહારનયેન મતિજ્ઞાનાધુપયોગયુક્તચેત્યતોઽયમ્પયોગવાનિત્યુચ્યતે ।

‘આત્મા કો કર્મ પીઠિત કરતે હૈ’ इस प्रकार के ज्ञानरूप अशुद्ध चेतना से युक्त है, अत एव आत्मा चेतनावान् कहलाता है । आत्मा को किसी अपेक्षा से ही चेतनावान् कहते हैं, वास्तव में तो आत्मा चेतनारूप ही है । ‘चेतना आत्मा का गुण है’ ऐसा सबका मत है, इसी अमिप्राय से उसे चेतनावान् कह दिया है । चेतना दो प्रकार की है—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना । ज्ञान चेतना ही शुद्ध है । कर्मचेतना और कर्म-फलचेतना अशुद्ध चेतना है ।

### ( ૪ ) ઉપયોગવસ્થા—

यह आत्मा निश्चयनय से केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप शुद्ध उपयोगों से युक्त है । व्यवहारनय से मतिज्ञान आदि उपयोगों से युक्त है, अत एव आत्मा उपयोगवान् कहलाता है ।

કર્મો પીઠિત કરે છે’ એ પ્રકારના જ્ઞાનરૂપ અશુદ્ધ ચેતનાથી યુક્ત છે એટલા માટે આત્મા ચેતનવાન્ કહેવાય છે આત્માને કોઈ અપેક્ષાથી જ ચેતનવાન્ કહે છે, વાસ્તવમાં તો આત્મા ચેતનારૂપ જ છે ‘ચેતના આત્માનો ગુણ છે’ એ પ્રમાણે સર્વનો મત છે એ અમિપ્રાયથી તેને ચેતનાવાન્ કહી રીધો છે ચેતના બે પ્રકારની છે (૧) શુદ્ધ-ચેતના અને (૨) અશુદ્ધ-ચેતના । જ્ઞાનચેતના જ શુદ્ધ છે, કર્મચેતના અને કર્મફલચેતના તે અશુદ્ધ-ચેતના છે

### (૪) ઉપયોગવસ્થા—

આ આત્મા નિશ્ચયનયથી કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શનરૂપ શુદ્ધ ઉપયોગોથી યુક્ત છે વ્યવહારનયથી મતિજ્ઞાન આદિ ઉપયોગોથી યુક્ત છે એ કારણે આત્મા ઉપયોગવાન્ કહેવાય છે

અપમાત્મા જ્ઞાનદર્શનોપયોગામ્યા ન મિત્ર ઇતિ લોધયિતુમ્પયોગવાનિતિ, ઇદં ચ જ્ઞાનાત્મનોરેકાન્તમેદ ઇતિ નૈયાયિકમત નિરાકર્તુમુક્તમ્ । સર્વજ્ઞ-સિદ્ધાન્તે તુ દ્રવ્ય વસ્તુતો ગુણપર્યાયેભ્યો ન મિત્રમ્, અતઃ કથચ્છિદમેદ-વિવક્ષયાઽઽશ્રયિમાવ પરિકલ્પ્ય-ઉપયોગવાનિતિ નિગદિતમ્ ।

ઉપયોગો દ્વિધા-જ્ઞાનદર્શનમેદાત્ । સવિકલ્પ ઉપયોગ એવ જ્ઞાનોપયોગ, । નિર્વિકલ્પ ઉપયોગો દર્શનોપયોગ । સત્ર જ્ઞાનોપયોગોઽષ્ટવિધ -મતિશ્રુતાવધિમન'પર્યય-કેવલજ્ઞાનિ પદ્મ સમ્યગ્જ્ઞાનાનિ, મતિ-શ્રુત-વિભગ-મેદેન ત્રીણ્યજ્ઞાનાનિ ચેતિ । અજ્ઞાનાન્યપિ જ્ઞાનરૂપતયા જ્ઞાનવર્ગે નિશ્ચિન્તાનિ । અત્રૈકમેવ કેવલજ્ઞાન જ્ઞાયિક સર્વા-

‘આત્મા જ્ઞાનોપયોગ ઓર દર્શનોપયોગ સે મિત્ર નહીં હૈ’ યહ લલણે કૈ લિખ ઉસે ઉપયોગવાનુ કહા હૈ । ‘જ્ઞાન ઓર આત્મા કા ઇકાન્ત મેદ હૈ’ ઇસા નૈયાયિકા કા મત હૈ । ઇસ મત કા નિરાકરણ કરને કૈ લિખ યહ કથન ક્રિયા ગયા હૈ । સર્વજ્ઞ કૈ સિદ્ધાન્ત મૈં દ્રવ્ય વાસ્તવ મૈં ગુણ ઓર પર્યાયા સે મિત્ર નહીં હૈ, અતઃ કથચ્છિત્ મેદ કી વિવક્ષા કરકૈ આધારાલેય માવ કી કલ્પના સે ઉપયોગવાનુ કહા હૈ ।

ઉપયોગ કૈ ટો મેદ હૈ—જ્ઞાનોપયોગ ઓર દર્શનોપયોગ । સવિકલ્પ ઉપયોગ કો જ્ઞાનોપયોગ કહતે હૈ ઓર નિર્વિકલ્પ ઉપયોગ દર્શનોપયોગ કહલતા હૈ । ઇનમૈં સે જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકાર કા હૈ—(૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવગિજ્ઞાન, (૪) મન પર્યયજ્ઞાન, (૫) કેવલજ્ઞાન, (૬) કુમત્તિજ્ઞાન, (૭) કુમ્મુતજ્ઞાન ઓર (૮) વિભગજ્ઞાન, અન્તકૈ ત્રીન અજ્ઞાન કહલતે હૈ । યે વિપરીતજ્ઞાનરૂપ હોને કૈ કારણ ઇહૈ જ્ઞાન કી કોટિ મૈં રક્ષા હૈ । ઇનમૈં

આત્મા જ્ઞાનોપયોગ અને દર્શનોપયોગથી બિન્ન નથી, કો અતાવવા માટે જ તેને ઉપયોગવાનુ કહ્યો છે ‘જ્ઞાન અને આત્માનો એકાન્ત ભેદ છે’ એવો નૈયાયિકોનો મત છે, કો મતનુ નિરાકરણ કરવા માટે કો કથન કરવામા આવ્યુ છે સર્વજ્ઞના સિદ્ધાન્તમા દ્રવ્ય કો વાસ્તવમા શુદ્ધ અને પર્યાયથી બિન્ન નથી, તેથી કથચિત્ ભેદની વિવક્ષા કરીને આધારાલેય ભાવની કલ્પનાથી ઉપયોગવાનુ કહ્યો છે

ઉપયોગના બે ભેદ છે—(૧) જ્ઞાનોપયોગ અને (૨) દર્શનોપયોગ, સવિકલ્પ ઉપયોગને જ્ઞાનોપયોગ કહે છે, અને નિર્વિકલ્પ ઉપયોગ તે દર્શનોપયોગ કહેવાય છે તેમા જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારનો છે (૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવગિજ્ઞાન, (૪) મન-પર્યાયજ્ઞાન, (૫) કેવલજ્ઞાન, તથા (૬) કુમતિજ્ઞાન, (૭) કુમ્મુતજ્ઞાન અને (૮) વિભગજ્ઞાન તેમા છેવટના ત્રણ અજ્ઞાન કહેવાય છે પરંતુ વિપરીતજ્ઞાનરૂપ હોવાના કારણે તેને જ્ઞાનની કોટિમા રાખ્યા છે એમા એક



વરણરહિતં સર્વં શુદ્ધમસ્તિ । અન્યાનિ મતિજ્ઞાનાદિકાનિ ચત્વારિ જ્ઞાનાનિ જ્ઞાપો-  
પશમિકાનિ દેશત આચરણરહિતાનિ દેશત શુદ્ધાનિ । શ્રીખ્યજ્ઞાનાન્યશુદ્ધાનિ ।  
દર્શનોપયોગસ્ય ચત્વારો ભેદાઃ— (૧) ચક્ષુર્દર્શનમ્, (૨) અગ્નિદર્શનમ્, (૩)  
અવધિદર્શનમ્, (૪) કેવલદર્શનં ચ । તથૈક ક્ષેત્રદર્શનં ક્ષાયિક સર્વતોઽનાવરણ  
સર્વં શુદ્ધં ચ । ચક્ષુર્દર્શનાદીનિ ત્રીણિ જ્ઞાપોપશમિકાનિ દેશતોઽનાવરણાનિ  
દેશત શુદ્ધાનિ ચ સન્તિ ।

‘જ્ઞાનાદિગુણત્વ સર્વથા મિત્ર આત્મે’ તિ નૈયાયિકામિમત્ત હ ન યુક્તમ્,  
જ્ઞાનાદિગુણસમ્બન્ધાત્ માત્ર કદાચિત્ જ્ઞાનાદિગુણહીનોઽપ્યાસીદિતિ તસ્ય મતે  
એક માત્ર કેવલજ્ઞાન ક્ષાયિક છે, સમ્પૂર્ણ આવરણ સે રહિત ઓર પૂર્ણ શુદ્ધ છે । જ્ઞાપ મતિજ્ઞાન  
આદિ ચાર જ્ઞાન જ્ઞાપોપશમિક છે, દેશત આવરણરહિત છે ઓર દેશત શુદ્ધ છે । તેના  
કુજ્ઞાન અશુદ્ધ છે ।

દર્શનોપયોગ કે ચાર ભેદ છે—(૧) ચક્ષુર્દર્શન, (૨) અગ્નિદર્શન, (૩) અવધિદર્શન  
ઓર (૪) કેવલદર્શન । इनमें से अकेला केवलदर्शन क्ષायिक है, पूर्ण रूप से आवरणरहित है  
और पूर्णरूप से शुद्ध है । चक्षुर्दर्शन आदि तीन ज्ञापोपशमिक हैं, देशत निरावरण  
हैं, और देशत शुद्ध हैं ।

‘આત્મા જ્ઞાનાદિ ગુણા સે સર્વથા મિત્ર છે’ પેતા નૈયાયિક આદિ કા મત યુક્ત  
નહીં છે, કયાં કિ જ્ઞાનાદિ ગુણો કા સમ્બન્ધ હોને સે પહેલે કિસી સમય આત્મા કો  
જ્ઞાનાદિ ગુણો સે રહિત મી માનના પડેલા ઓર હસ પ્રકાર ડન કે મત મેં આત્મા ઘડ  
માત્ર કેવલજ્ઞાન ક્ષાયિક છે, સંપૂર્ણ આવરણથી રહિત અને પૂર્ણ શુદ્ધ છે બાકીના  
મતિજ્ઞાન આદિ ચાર જ્ઞાન જ્ઞાપોપશમિક છે, દેશ ઘડી આવરણરહિત છે અને દેશ  
ઘડી શુદ્ધ છે, નજી કુજ્ઞાન અશુદ્ધ છે

દર્શનોપયોગના ચાર ભેદ છે—(૧) ચક્ષુર્દર્શન, (૨) અગ્નિદર્શન (૩) અવધિ  
દર્શન અને (૪) કેવલદર્શન. તેમાંથી એક કેવલદર્શન ક્ષાયિક છે પૂર્ણરૂપથી આવરણ  
રહિત છે, અને પૂર્ણરૂપથી શુદ્ધ છે ચક્ષુર્દર્શન આદિ ત્રણ જ્ઞાપોપશમિક છે, દેશ  
ઘડી નિરાવરણ છે અને દેશ ઘડી શુદ્ધ છે

“આત્મા જ્ઞાનાદિ ગુણોથી સર્વથા મિત્ર છે” એવો નૈયાયિક આદિનો મત  
યુક્ત નથી—સમિત નથી, કારણ કે જ્ઞાનાદિ ગુણોનો સંબંધ થયા પહેલાં કોઈ સમય  
આત્માને જ્ઞાનાદિ ગુણોથી રહિત પણ માનવો પડે, અને એ પ્રભાવે તેના મતમાં

जडरूपत्वापत्तिः । आत्मनि ज्ञानस्य नित्यानादिसम्बन्धस्वीकारेऽपि पदार्थद्वय कल्पनाया पुनस्तत्सम्बन्धरूपममवायस्य कल्पनाया महद् गौरवम्, तस्माद् गुणगुणिनोर्वस्तुतस्तादात्म्यस्वीकार एवोचित्यमर्हति । यदि गुणगुणिनोरमेद एव समवायोऽपीत्युच्येत तर्हि नास्ति काऽपि सतिः । उक्तञ्च—

“ गुणपर्यायतादात्म्यः—विशिष्ट द्रव्यमुच्यते ।

उत्पत्तिव्ययनैयत्व, —पर्यायास्तस्य शाश्वता ॥ १ ॥ ” इति ।

(५) परिणामित्वनिरूपणम्—

अयमात्मा परिणामी । मतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमनं परिणामः,

हो जायगा । आत्मा में ज्ञान का निय—अनादि सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो दो पदार्थ मानने पड़ेगे, और उन दोनों अर्थात् आत्मा और ज्ञान को सम्बद्ध करने के लिए तीसरा समवाय सम्बन्ध मानना होगा, यह बड़ा गौरव होगा । अब एव गुण और गुणीका वास्तव म तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार करना ही उचित है । अगर गुण और गुणी के अमेद को ही समवाय सम्बन्ध कहते हो तो उसे स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है । कहा भी है —

“ जो गुण और पर्याय के तादात्म्य से युक्त हो वह द्रव्य कहलाता है । उस द्रव्य की पर्याय सदा उत्पत्ति और विनाशवाली हैं, और वे अनादिप्रवाहरूप हैं ” ॥ १ ॥

( ५ ) आत्मा का परिणामीपन—

आत्मा परिणामी है । प्रत्येक समय एक पर्याय को छोड़कर दूसरा पर्याय

आत्मा जड धर्म जैसे आत्माने विषे ज्ञानने नित्य—अनादि सञ्च स्वीकार करवाभा आवे तो जे पदार्थ मानवा पड़े, अने ते जने अर्थात् आत्मा अने ज्ञान ते जने ने सम्बन्ध करवा भाटे त्रीजे ठोई समवाय सञ्च मानवो पड़े जे भाई गौरव थये, ते कारखी गुण अने गुणीना वास्तवभा तादात्म्य सञ्च स्वीकार करवो जे उचित छे अथवा गुण—गुणीना अमेदने जे समवाय सञ्च कहे तो तेना स्वीकार करवाभा ठोई प्रकारे हानि नही कछु पछु छे —

‘ जे गुण अने पर्यायना तादात्म्यथी युक्त होय ते द्रव्य कहेवाय छे ते द्रव्यनी पर्याय सदा उत्पत्ति अने विनाश वाणी छे, अने ते अनादिप्रवाहरूप छे ” ॥ १ ॥

( ५ ) आत्मानु परिष्ठाभीपण —

आत्मा परिष्ठाभी छे अनेक समय ओक पर्यायने छोड़ी जीजे पर्याय धारण करवो ते परिष्ठाभ कहेवाय छे ते परिष्ठाभ जेभा होय ते परिष्ठाभी कहेवाय छे

सोऽस्यास्तीति परिणामी । अनेन 'आत्मा कूटस्थनित्यः' इति मतं निराकृतम् । 'आत्मा कूटस्थनित्यः' इति स्वीकारे पूर्वदशायां यथाविध आत्मा, तथाविध एव ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, तदा पूर्वमविज्ञातात्मा कथं पदार्थविज्ञाता स्यात्, प्रतिनियतस्वरूपस्यापच्युतिरूपता कौटस्थ्यमिति स्वीकारात् । यदि तदा पदार्थ-विज्ञातृत्वं स्वीक्रियते तदा पूर्वमविज्ञातुर्विज्ञातृरूपत्वे परिणामापत्त्या तन्मते कौटस्थ्यमङ्ग । तस्मादात्मनः परिणामित्वमवश्यं स्वीकरणीयम् ।

### (६) प्रभुत्वनिरूपणम्—

अयमात्मा निश्चयनयेन मोक्षतत्कारणरूपशुद्धपरिणामार्थं परिणमन-

धारण करना परिणाम कहलाता है । यह परिणाम जिस में हो वह परिणामी । इस विशेषण से आत्मा की कूटस्थनित्यता का निराकरण किया गया है । आत्मा कूटस्थ नित्य है, ऐसा स्वीकार करने पर आत्मा जैसा पहले अज्ञाता था वैसा ही ज्ञान की उत्पत्ति के समय भी रहेगा । ऐसी दशा में आत्मा पहले अज्ञाता था तो बाद में पदार्थों का ज्ञाता कैसे होगा ?, क्यों कि आप के मत के अनुसार प्रतिनियत स्वरूप से श्रुत न होना—जैसा का वैसा ही बना रहना—कूटस्थता है । अगर बाद में आत्मा को पदार्थों का ज्ञाता स्वीकार करते हो तो पहले जो अज्ञाता था, उस का ज्ञाता के रूप में परिणमन हो गया अतः कूटस्थनित्यता नष्ट हो गई । अतः एव आत्मा को परिणामी अवस्थ मानना चाहिए । आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं वरन् परिणामी नित्य है ।

### (६) आत्मा का प्रभुत्व—

निश्चयनय से आत्मा मोक्ष और मोक्ष के कारणरूप शुद्ध परिणामों के लिए

आ विशेषबुद्धी आत्मान्नी कूटस्थनित्यत्वात् निराकरणं कथं ? "आत्मा कूटस्थ नित्यः" अथवा स्वीकार करवाधी आत्मा जेवो पछेला कतो तेवो न ज्ञाननी उत्पत्तिना समयमा पछु सकेछे, जेवी दशमा आत्मा पछेला अज्ञाता कतो तो पछी पदार्थोना ज्ञाता केवी रीते थरो ?, केमके—आपना मत प्रमाणे प्रतिनियत स्वरूपमा श्रुत नहि थला जेवो छि तेवो न जनी रहे ते कूटस्थता छे अगर तो पछीही आत्माने पदार्थोना ज्ञाता स्वीकार करे छि तो प्रथम जे अज्ञाता कतो तेनु ज्ञाताना रूपमा परिणमन भई गयु, तेही कूटस्थद्वय नित्यता नाश पायी गछ, आ कारणबुद्धी आत्माने परिणामी अवस्थ मानवो जेछिजे आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं परंतु परिणामी नित्य छे

### (१) आत्मानु प्रभुत्व—

निश्चय नय प्रमाणे आत्मा मोक्ष जने मोक्षना कारणरूप — १३५

સામર્થ્યાત્, તથા વ્યવહારનયત સસાગતત્કારણરૂપાશુદ્ધપરિણામાર્થ પરિણમન-શક્તિમત્ત્વાચ પ્રશ્નરિત્યુચ્યતે ।

અયમાત્મા મોક્ષમાર્ગોપદેશકતયા, રત્નત્રયેણ મોક્ષસાધકતયા, સર્વજ્ઞત્વપ્રાપ્તિ-શક્તિમત્તયા ચ પ્રશ્નરિત્યુચ્યતે । “સર્વજ્ઞો નાસ્તિ કશ્ચિ”-દિતિ નાસ્તિકમત નિરાકર્તૃ સર્વજ્ઞતયાઽપ્યાત્મન પ્રશ્નત્વમસ્તીતિ સવેદ્યતે । યથા-અન્નપટલમલાચ્છન્ન રવિચન્દ્ર-જ્યોતિ, સુવર્ણ રજતં વા ક્રમશઃ નૈર્મલ્યં પ્રાપ્નુવત્, સર્વથાઽન્નપટલમલાદિ-વ્યપગમે સર્વતો ભાવેનાપિ શુદ્ધિ પ્રાપ્નોતિ, તથા રાગદ્વેષાદિમિશ્રદ્ધ આત્મા ક્રમશઃ શુદ્ધિ લભમાન પૂર્ણશુદ્ધિમપિ પ્રાપ્નોતિ સ एवाત્મા ‘સર્વજ્ઞ’ इत्युच्यते ।

પરિણમન—સામર્થ્યવાળા હું, તથા વ્યવહાર નય સે સસાર ઓર સસાર કે કારણરૂપ અશુદ્ધ પરિણામો કે ઓપ પરિણત હોને કી શક્તિ સે યુક્ત હૈ । હસ કારણ આત્મા પ્રમુ કહછાતા હૈ ।

અહ આત્મા મોક્ષમાર્ગ કા ઉપદેશ દેને કી, રત્નત્રય કે દ્વારા મોક્ષસાધન કી ઓર સર્વજ્ઞતાપ્રાપ્તિ કી શક્તિ સે યુક્ત હોને કે કારણ પ્રમુ હૈ, ‘કોઈ સર્વજ્ઞ નહીં હૈ’ પેસે નાસ્તિકમત કા નિરાકરણ કરન કે ઓપ સર્વજ્ઞરૂપ મેં મી આત્મા કા પ્રમુત્વ સૂચિત ક્રિયા ગયા હૈ । જૈસે—મેઘપટલ તથા મલ સે આછાદિત સૂર્ય, ચન્દ્રમા કી જ્યોતિ, સુવર્ણ યા ચાંદી, ક્રમ સે નિર્મલ હોતે-હોતે, અન્નપટલ યા મલ કે સર્વથા હટ જાને પર પૂર્ણરૂપ સે શુદ્ધ હો જાને હૈ, ડસી પ્રકાર રાગદ્વેષ આદિ સે અશુદ્ધ આત્મા ધીરે-ધીરે શુદ્ધ હોતા હુઆ પૂર્ણ શુદ્ધતા પ્રાપ્ત કર લેતા હૈ । હસ પ્રકાર પૂર્ણ શુદ્ધ આત્મા હી સર્વજ્ઞ કહછાતા હૈ ।

માટે પરિણમન—સામર્થ્ય વાળો છે તથા વ્યવહાર નયથી સસાર અને સસારના કારણરૂપ અશુદ્ધ પરિણામો માટે પરિણત થવાની શક્તિથી યુક્ત છે આ કારણથી આત્મા પ્રમુ કહેવાય છે

આ આત્મા મોક્ષમાર્ગનો ઉપદેશ દેવાની, રત્નત્રયના દ્વારા મોક્ષસાધનની અને સર્વજ્ઞતાપ્રાપ્તિની શક્તિથી યુક્ત હોવાના કારણે પ્રમુ છે “કોઈ સર્વજ્ઞ નથી” જોવા જે નાસ્તિકમત છે તેનું નિરાકરણ કરવા માટે સર્વજ્ઞરૂપમા પ્રમુ આત્માનું પ્રમુત્વ સૂચિત થયું છે જેમ-મેઘસમૂહ તથા મળથી આછાદિત સૂર્ય, અદ્રમાની જ્યોતિ, સુવર્ણ અથવા ચાંદી વગેરે ક્રમથી નિર્મલ થતા થતા મેઘસમૂહ અથવા મળના ખસી જવાથી પૂર્ણ શુદ્ધ રૂપમા આવી જાય છે-શુદ્ધ થઈ જાય છે, તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષ આદિથી અશુદ્ધ આત્મા ધીરે ધીરે શુદ્ધ થઈને પૂર્ણ શુદ્ધતા પ્રાપ્ત કરી લે છે એ પ્રમાણે પૂર્ણ શુદ્ધ આત્મા જ સર્વજ્ઞ કહેવાય છે

સોડસ્યાસ્તીતિ પરિણામી । અનેન 'આત્મા કૂટસ્થનિત્યઃ' इति मतं निराकृतम् ।  
 'આત્મા કૂટસ્થનિત્ય' इति स्वीकारे पूर्वदृष्टायां यथाविध आत्मा, तथाविध एव  
 ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, तदा पूर्वमविज्ञातात्मा कथं पदार्थविज्ञाता स्यात्,  
 प्रतिनियतस्वरूपस्याप्रच्युतिरूपता कौटસ્થ્યमिति स्वीकारात् । यदि तदा पदार्थ-  
 विज्ञातृत्वं स्वीक्रियते तदा पूर्वमपिज्ञातुर्विज्ञातृरूपत्वे परिणामापत्त्या तन्मते कौटસ્થ-  
 मङ्ग । तस्मादात्मनः परिणामित्वमवश्य स्वीकरणीयम् ।

### (૬) મનુસ્થનિરૂપણમ્—

અયમાત્મા નિશ્ચયનયેન મોક્ષતત્કારણરૂપશુદ્ધપરિણામાર્થે પરિણમન-

ધારણ કરના પરિણામ કહીછાતા હૈ । યહ પરિણામ ત્રિસ મેં હો વહ પરિણામી । ઇષ  
 વિશેષણ સે આત્મા કી કૂટસ્થનિત્યતા કા નિરાકરણ કિયા ગયા હૈ । આત્મા કૂટસ્થ  
 નિત્ય હૈ, પેસા સ્વીકાર કરને પર આત્મા જૈસા પહેલે અજ્ઞાતા થા વૈસા હી જ્ઞાન કી ઉત્પત્તિ ક  
 સમય મી રહેગા । પેસી વશા મેં આત્મા પહેલે અજ્ઞાતા થા તો વાદ મેં પદાર્થો કા જ્ઞાત  
 કેસે હોગા ? ક્યો કિ આપ કે મત કે અનુસાર પ્રતિનિયત સ્વરૂપ સે પ્ર્યુત ન હોના—  
 વૈજ્ઞા કા વૈસા હી બના રહના—કૂટસ્થતા હૈ । અગર વાદ મેં આત્મા કો પદાર્થો કા  
 જ્ઞાતા સ્વીકાર કરતે હો તો પહેલે જો અજ્ઞાતા થા, તસ કા જ્ઞાતા કે રૂપ મેં પરિણમન  
 હો ગયા અત કૂટસ્થનિત્યતા નષ્ટ હો ગઈ । અત એવ આત્મા કો પરિણામી અવસ્થ માનના  
 વાહિપ । આત્મા કૂટસ્થ નિત્ય નહી વરન્ પરિણામી નિત્ય હૈ ।

### (૬) આત્મા કા મનુસ્થ—

નિશ્ચયનય સે આત્મા મોક્ષ ઔર મોક્ષ કે કારણરૂપ શુદ્ધ પરિણામો કે હિપ

આ વિશેષણથી આત્માની કૂટસ્થનિત્યતાનું નિરાકરણ કર્યું છે “આત્મા કૂટસ્થ  
 નિત્ય છે” એવો સ્વીકાર કરવાથી આત્મા એવો પહેલાં હતો તેવો જ જ્ઞાનની  
 ઉત્પત્તિના સમયમા પણ રહેશે, એવી કશામા આત્મા પહેલાં અજ્ઞાતા હતો તો પછી  
 પદાર્થોને જ્ઞાતા કેવી રીતે થશે ? કેમકે—આપના મત પ્રમાણે પ્રતિનિયત સ્વરૂપથી  
 પ્ર્યુત નહિ થતાં એવો છે તેવો જ બની રહે તે કૂટસ્થતા છે અગર તો પછીથી  
 આત્માને પદાર્થોને જ્ઞાતા સ્વીકાર કરે છે તો પ્રથમ જે અજ્ઞાતા હતો તેનું જ્ઞાતાના  
 રૂપમા પરિણમન થઈ ગયું, તેથી કૂટસ્થરૂપ નિત્યતા નાશ પામી ગઈ, આ કારણથી  
 આત્માને પરિણામી અવસ્થ માનવો એઈએ આત્મા કૂટસ્થ નિત્ય નથી પરંતુ  
 પરિણામી નિત્ય છે

### (૧) આદ્યાનુ પ્રકૃત્ય—

નિશ્ચય નય પ્રમાણે આત્મા મોક્ષ અને મોક્ષના કારણરૂપ શુદ્ધ

ઔદારિકાદિશરીરસ્ય કર્તાઽસ્તિ, આદિમત્પ્રતિનિયતાકારિત્વાત્, કુમ્મસ્ય યથા કુલલ' । યત્પુનરકર્તૃકં તદાદિમત્પ્રતિનિયતાકારમપિ ન મત્તિ, યથાઽન્નવિ-  
કારઃ । યથ શરીરસ્ય કર્તા સ આત્મા, હત્યેવમાત્મન' કર્તૃત્વ સિધ્યતિ । અપ્રાદિ-  
મત્તવિશેષણ મેવાદીનુપાદાય હેતોરનૈકાન્તિકત્ત્વવારણાય ।

યદ્વા—આત્મા કર્તા, સ્વકર્મફલમોક્તૃત્વાત્ વણિક્કુપીવલાદિવત્ ।  
આત્મા સ્વકૃતકર્મફલમોક્તા તસ્માત્ કર્તા, યથા વણિક્કુપીવલાદયોઽકૃતકર્મણ,  
ફલ ન પ્રાપ્નુવન્તિ ।

હસ ઔદારિકાદિ શરીર કા કોર કર્તા હૈ, ક્યો કિ ઔદારિકાદિ શરીર આદિમાન્  
ઔર પ્રતિનિયત આકારવાલા હૈ, જૈસે—ધડેકા કર્તા કુમાર । જો વસ્તુ વિના કર્તા કી  
હોતી હૈ વહ આદિમાન્ ઔર નિયત આકાર વાલી નહીં હોતી, જૈસે—બાદલ કા વિકાર । જો  
શરીર કા કર્તા હૈ, વહ આત્મા હૈ । હસ પ્રકર આત્મા કા કર્તૃત્વ સિદ્ધ હોતા હૈ । યહૌ  
'આદિમત્' વિશેષણ સે મેરુ આદિ સે હોને વાલે અનેકાન્તિક દોષકા નિવારણ ક્રિયા ગયા  
હૈ, ક્યો કિ વે આદિમાન્ નહીં હૈ ।

અથવા આત્મા કર્તા હૈ, ક્યો કિ વહ અપને કર્મો કા મોક્તા હૈ, જૈસે વણિક્કુ યા  
કિસાન । આત્મા અપને કર્મો કે ફલકા મોક્તા હૈ હસ કારણ કર્તા હૈ । જૈસે—વણિક્કુ યા  
કિસાન આદિ વિના ક્રિયે કર્મ કા ફલ નહીં મોગતે, હસી પ્રકાર આત્મા વિના ક્રિયે  
કર્મ કા ફલ નહીં મોગતા ।

આ ઔદારિકાદિ શરીરને કાઈ કર્તા છે, કારણ કે ઔદારિકાદિ શરીર, આદિમાન્  
અને પ્રતિનિયત આકાર વાળું છે, જેમ બડાને કર્તા કુમાર જે વસ્તુ કર્તા વિનાની  
હોય છે, તે આદિમાન્ અને નિયત આકાર વાળી હોય નહિ, જેમ વાદળને વિકાર  
જે શરીરને કર્તા છે તે આત્મા છે એ પ્રકારે આત્માનું કર્તૃત્વ સિદ્ધ થાય છે  
અહીં 'આદિમત્' વિશેષણથી મેરુ આદિથી થવા વાળા અનેકાન્તિક દોષનું નિવારણ  
કર્યું છે, કારણ કે તે 'આદિમાન્' નથી

અથવા—આત્મા કર્તા છે, કારણ કે—તે પોતાના કર્મોને લોકતા છે જેમ  
વણિક્કુ અથવા ખેડુત આત્મા પોતાના કર્મોના ફલને લોકતા છે, તે કારણથી કર્તા  
છે, જેમ વણિક્કુ અથવા ખેડુત આદિ, કર્મ કર્યા વિના કર્મનું ફળ લોગવતા નથી.  
તે પ્રમાણે આત્મા કર્મ કર્યા વિના તેનું ફળ લોગવતો નથી.

ફિચ્ચ-આત્મા સ્વસ્ય હિત કર્તુમન્ય નાપેભુતે; સ્વયમેવ સ્વરિતસાખે  
સમ', અતઃ પવાત્મન' પ્રમુત્વ સિખ્યતિ, તસ્માત્ સ્વહિતમિચ્છુના મોક્ષપ્રાપ્તિકારી-  
ભૂતે તપઃસયમારાધને પ્રવર્તિતન્યમ્ ।

### (૭) કર્તૃસ્વનિરૂપણમ્—

અયમાત્મા-અદૃષ્ટાદિકર્મકરણાત્, નિશ્ચયનયેન શુદ્ધભાવકર્તૃત્વાત્, જ્યવહાર  
નયતો દ્રશ્યમાવકર્મણો નોકર્મવાદ્યશરીરાદીના કર્તૃત્વાન્વ, કર્તૈત્યુચ્યતે । આત્મે-  
કાન્તરૂપેનાઽકર્તૈતિ સાંખ્યમતમપાકર્તૃમુક્તમ્—'આત્મા કર્તૈતિ' ।

દુસરી માત્ર મહા હૈ ફિ-આત્મા અપના કન્યાણ કરને મેં અય કી અપેક્ષા નહીં  
રહતા । મહા સ્વકીય કન્યાણ-સાધન મેં સ્વય સમર્થ હૈ । હસી સે આત્મા કા પ્રમુખ  
સિદ્ધ હોતા હૈ । અતઃ આત્મહિત કે અમિલાધી પુરુષ કો મોક્ષકારણમૂલ તપ ઓર સમ  
કી આરાધના મેં પ્રવૃત્ત હોના ચાહિય ।

### (૭) આત્માકા કર્તૃત્વ—

મહા આત્મા અદૃષ્ટ આદિ કર્મ કરને સે, નિશ્ચયનય કી અપેક્ષા શુદ્ધ માવો કા  
કર્તા હોને સે, તથા જ્યવહારનય સે દ્રશ્યકર્મ, માવકર્મ તથા નોકર્મ-વાદ્યશરીર આદિકા  
કર્તા હોને સે કર્તા કહેલાતા હૈ,

'આત્મા એકાન્તરૂપ સે અકર્તા હૈ' સાંખ્ય કે હસ મત કા નિરાકરણ કરને કે  
લિપ આત્મા કો કર્તા વિશેષણ લગાયા હૈ ।

બીજી વાત કો હૈ કે-આત્મા પોતાનુ કસ્યાણુ કરવામા બીબાની અપેક્ષા  
રાખતો નથી, તે પોતાના કસ્યાણુસાધનમા પોતે જ સમર્થ હૈ તે કારણથી આત્માનુ  
પ્રમુખ સિદ્ધ થાય હૈ કો કારણથી આત્મહિતના અભિલાષી પુરુષોએ મોક્ષના  
કારણમૂલ તપ અને સયમની આરાધનામા પ્રવૃત્ત થવું જોઈયે.

### (૬) આત્માનુ કર્તૃત્વ—

આ આત્મા અદૃષ્ટ આદિ કર્મો કરવાથી, નિશ્ચયનયની અપેક્ષાએ શુદ્ધ માવોને  
કર્તા હોવાથી તથા જ્યવહારનયથી દ્રશ્યકર્મ, માવકર્મ તથા નોકર્મ-વાદ્યશરીર આદિને  
કર્તા હોવાથી કર્તા કહેવાય હૈ

"આત્મા જોહા-તરૂપથી અકર્તા હૈ" સાંખ્યના આ મતનુ નિરાકરણ કરવા  
માટે આત્માને કર્તા વિશેષણ આપ્યું હૈ

અર્કૃત્વાચ્ચ તસ્ય સાસારિકવિષયસુખાનામમોક્તત્વ ચ સિંયતિ । પ્રકૃતે દિ કર્તૃશબ્દેનાદૃષ્ટાદિજનમ્કર્મણ એવ કર્તૃત્વ વિવક્ષિતમ્, તેન મુક્તાત્મનિ નાતિપ્રસંગ । તથા ચ ય સાંસારિકસુખદુઃસ્વાદ્યનુભવિતા સ એવ તત્કારણીભૂતકર્મણઃ કર્તા, અર્કૃત્મોક્ત્વાનુપપત્તે ।

### (૮) મોક્ત્વસિદ્ધિઃ-

અયમેવાત્મા મોહોદયેન શુદ્ધમાત્મસ્વભાવ વિસ્મૃત્ય પરવસ્તુનિ મોહિતઃ સન્ રાગદ્વેષ ક્રોધો, રાગદ્વેષવશોઽર્નિશ નયનવિષયસમગ્રહાર્ય પ્રયત્નમાન-સ્તદ્વિયોગે સતિ ચિન્તાવ્યાકુલિતચેતા આર્તરોદ્રધ્યાનમુપગત સ્વાત્મનિ કર્મરજઃ વિષયસુખ આદિ કે જનક કર્મો કે કર્તા નહીં હૈં, ઇસ કારણ વે અકર્તા હૈં । ઔર અકર્તા હોને કે કારણ વે સાંસારિક વિષયસુખો કે મોક્તા મી નહીં હૈં । યહાં 'કર્તા' શબ્દ સે અદૃષ્ટ આદિ કે જનક કર્મો કા કર્તા હી વિવક્ષિત હૈ, અત મુક્ત આત્મા મેં અતિ-પ્રસન્ન નહીં આતા, અત એવ સિદ્ધ હુઆ કિ જો સાંસારિક સુખ-દુઃખ આદિ કા મોક્તા હોતા હૈ, વહી ડન કે કારણમૂત કર્મ કા કર્તા મી હોતા હૈ । જો કર્તા નહીં હૈ વહ મોક્તા મી નહીં હૈ ।

### (૮) આત્મા કા મોક્તૃત્વ

આત્મા મોહ કે ઉદય સે શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપ કો મૂલકર પર-પદાર્થો મેં મોહિત હોતા હુઆ રાગ-દ્વેષ કરતા હૈ । રાગ-દ્વેષ કે વશ હો કર રાત-દિન નવીન નવીન વિષયો કા સમ્રદ્ધ કરને કે ઇષ્ટ પ્રયત્નશીલ હોતા હુઆ, ઔર ડનકા વિયોગ હોને પર ચિન્તા સે વ્યાકુલચિત્ત હો કર આર્તધ્યાન ઔર રોદ્રધ્યાન કો પ્રાપ્ત હોતા હૈ, ઔર ઇસ સંસારના વિષય-સુખ વગેરેને છૂટપન્ન કરનાર કમોનો કર્તા નથી એ કારણથી તે આત્મા અકર્તા છે, અને અકર્તા હોવાના કારણે તે સંસારના વિષયસુખોના લોકતા પણ નથી અહિં 'કર્તા' શબ્દથી અદૃષ્ટ આદિના જનક કમોનો કર્તા જ વિવક્ષિત છે તેથી મુક્ત આત્મામાં અતિપ્રસંગ આવતો નથી. એ કારણથી એમ સિદ્ધ થયું કે જે સંસારના સુખ-દુઃખ વગેરેનો લોકતા છે, તે એના કારણમૂત કમોનો કર્તા પણ હોય છે, જે કર્તા નથી તે લોકતા પણ નથી.

### (૮) આત્માનુ મોક્તૃત્વ-

આત્મા મોહના ઉદયથી શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપને મૂલી જઈને પર-પદાર્થોમાં મોહિત થઈને રાગ-દ્વેષ કરે છે, રાગ-દ્વેષને વશ થઈને રાત્રી અને દિવસ નવા-નવા વિષયોને સમ્રદ્ધ કરવા માટે પ્રયત્નશીલ રહેતો થકો, અને તેના વિયોગ થતાં ચિન્તાથી વ્યાકુલ-ચિત્ત થઈને આર્તધ્યાન અને રોદ્રધ્યાન ને પ્રાપ્ત થાય છે, અને તે કારણથી પોતાના



યદ્વા—આત્મા સુકૃતદુષ્કૃતકર્મણામકર્તા ન મરતિ, સુકૃતદુષ્કૃતકર્મ-  
ફલરૂપસુખદુઃસ્વાનુભવાત્ । અકર્તૃરાત્મનઃ સુખદુઃસ્વાનુભવો ન યુજ્યતે, તથા  
સતિ અતિપ્રસંગાત્ । શુક્તાનામપિ સાસારિકસુખદુઃસ્વાનુભવાપત્તેઃ, અકર્તૃત્વાડ-  
વિશેષાત્ ।

અનુમવિત્ત્વેન મોક્ષત્વસિદ્ધિ, મોક્ષત્વેન ચ પર્ત્ત્વસિદ્ધિઃ । યથા-  
માત્મા કર્તા ન મવેત્તદાઽનુમવિતાઽપિ ન મવેત્ । ન ચાનુમવિત્ કર્તૃત્વસ્વીકારે  
શુક્તસ્યાપિ કર્તૃત્વપ્રસન્ન, ઇતિ વાન્યમ્, શુક્તાત્મન સાક્ષિરૂપેણાનુભવસંસ્થેઽપિ  
દ્રવ્યમાવર્ત્તમરહિતત્વાદેવ સાસારિકવિષયસુખાદિવનકર્મકર્તૃત્વાસમવેનાકર્તૃત્વાત્,

અથવા—આત્મા સુકૃત ઓર દુષ્કૃતરૂપ કર્મોં કા અકર્તા નહીં હૈ, ક્યોં કિ વહ અપને  
સુકૃત ઓર દુષ્કૃત કર્મોં કે ફલત્વરૂપ સુખ-દુઃખ કા અનુભવ કરસા હૈ । આત્મા અકર્તા  
હોતા તો ઉસે સુખ-દુઃખ કા અનુભવ નહીં હોના ચાહિં થા । કર્તા ન હોને પર મી ફલ કા  
મોક્ષા માનને સે ગઢવડી મંચ જાયગી । ફિર તો મુક્ત જીવા કો મી સાંસારિક સુખ ઓર  
દુઃખ મોક્ષાના પહેગા, ક્યોં કિ વે મી અકર્તા હૈ ।

આત્મા અનુભવ કરને ઘાજી હોને કે કારણ મોક્ષા સિદ્ધ હોતા હૈ ઓર મોક્ષા  
હોને કે કારણ કર્તા સિદ્ધ હોતા હૈ । આત્મા કર્તા ન હોતા તો અનુમવિતા (અનુભવ  
કરનેવાળા) મી ન હોતા । ‘અનુભવ કરનેવાળા કો કર્તા માનને પર મુક્તાત્મા કો મી  
કર્તાપત્તિ કા પ્રસન્ન જાયગા’ પેસા કહના ઉચિત નહીં હૈ, ક્યોં કિ મુક્તાત્માઓં કો  
સાક્ષીરૂપે અનુભવ હોને પર મી, દ્રવ્ય-માવ કો સે રહિત હોને કે કારણ વે સાંસારિક

અથવા આત્મા સુકૃત અને દુષ્કૃત-રૂપ કર્મોંના અકર્તા નથી, કારણ કે તે  
પોતાના સુકૃત અને દુષ્કૃત રૂપ કર્મોંના ફલસ્વરૂપ મુખ-કુખનો અનુભવ કરે છે  
આત્મા અકર્તા હોત તો તેને મુખ-કુખનો અનુભવ નહિ થવો જોઈએ. કર્તા ન  
હોવા છતાં પણ ફલનો લોભતા હોવાથી ગઢબઢ થઈ જશે ફરી તો મુક્ત લાવેને  
પણ સાસાનુ મુખ અને કુખ લોગવવુ પડશે, કારણ કે તે પણ અકર્તા છે

આત્મા અનુભવ કરવા વાળો હોવાથી લોભતા સિદ્ધ થાય છે, અને લોભતા  
હોવાના કારણે કર્તા સિદ્ધ થાય છે આત્મા કર્તા ન હોય તો અનુમવિતા (અનુભવ  
કરવા વાળો) ન હોય. ‘અનુભવ કરવા વાળાને કર્તા માનવાથી શુક્તાત્માને પણ  
કર્તાપણાનો પ્રસંગ જાયશે,’ એમ કહેવું તે ઉચિત નથી કારણ કે શુક્તાત્માઓને  
સાક્ષીરૂપ અનુભવથી હોવા છતાંય દ્રવ્ય, માવ કર્મોંથી રહિત હોવાના કારણે તે

પ્રતિવિમ્બોદયાસમવાત્ । સ્ફટિકદર્પણાદાવપિ પરિણામેનૈવ પ્રતિવિમ્બોદય-  
સમર્થનાત્ । તાદૃશપરિણામાક્ષીકારે ચ જીવસ્ય કર્તૃત્વ, સ્વત એવ મોકૃતૃત્વ  
ચ સિદ્ધમ્ ।

### (૯) આત્મન. સ્વશરીરપરિમાણત્વમ્—

અયમાત્મા સ્વશરીરપરિમાણ૦ । નિશ્ચયનયેન લોકાકાશપરિમાણોઽ-  
સંખ્યાતપ્રદેશી ચ । વ્યવહારનયત્ શરીરનામકર્મોદયાજ્ઞાતેન સૂક્ષ્મશરીરેણ  
સ્થૂળશરીરેણ યા સમાનપરિમાણો મવતિ, તસ્માદય સ્વશરીરપરિમાણ ઇત્યુચ્યતે ।

નહીં પડ સકતા । સ્ફટિક તથા દર્પણ આદિ મેં જો પ્રતિવિમ્બ પડતા હૈ સો પરિણામી  
હોને કે કારણ હી પડતા હૈ । સ્ફટિક આદિ એકાન્ત અપરિણામી હોતે તો उन મેં  
કિસી મી વસ્તુ કા પ્રતિવિમ્બ નહીં પડ સકતા થા । હસ પ્રકાર કા પરિણામ સ્વીકાર  
કર છેને પર જીવ મેં કર્તાપન સિદ્ધ હો જાયગા ઔર ફિર મોકૃતાપન મી સ્વત સિદ્ધ  
હો જાયગા ।

### (૯) આત્માના શરીરપરિમાણ—

આત્મા પ્રાપ્ત શરીર કે બરાબર હૈ, અર્થાત્ શરીર કા જો પરિમાણ હૈ । વહી  
આત્મા કા મી પરિમાણ હૈ । આત્મા નિશ્ચયનય સે લોકાકાશ કે બરાબર અસંખ્યાત  
પ્રદેશી હૈ । વ્યવહારનય સે શરીરનામકર્મ કે ઉદય સે પ્રાપ્ત હુય સૂક્ષ્મ યા સ્થૂળ શરીર  
કા જો પરિમાણ હૈ ડસી પરિમાણવાલા આત્મા હૈ, અત એવ આત્મા શરીર પરિમાણ  
કહ્લાતા હૈ ।

તથા હર્ષણુ આદિમાં જે પ્રતિબિમ્બ પડે છે, તે પરિણામી હોવાના કારણે પડે છે  
સ્ફટિક આદિ જે એકાન્ત અપરિણામી હોત તેમાં કોઈ પણ વસ્તુનું પ્રતિબિમ્બ  
પડી શકત નહીં આ પ્રમાણે પરિણામ સ્વીકાર કરી લેવાથી જીવના કર્તાપણુ સિદ્ધ  
થઈ જશે, અને લોકતાપણુ પણ સ્વત. સિદ્ધ થઈ જશે

### (૯) આત્માનું શરીરપરિમાણ—

આત્મા પ્રાપ્ત શરીરની બરાબર છે, અર્થાત્ શરીરનું જે પરિમાણ છે તે  
આત્માનું પણ પરિમાણ છે આત્મા નિશ્ચયનયથી લોકાકાશની બરાબર અસંખ્યાતપ્રદેશી  
છે વ્યવહારનયથી શરીર-નામકર્મના ઉદયથી પ્રાપ્ત થએલા સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂળ  
શરીરનું જે પરિમાણ છે તે પરિમાણ વાળો આત્મા છે એટલા માટે આત્મા  
શરીરપરિમાણ કહેવાય છે

સમુપાદત્તે । યથા કોડપ્યક્ષાની વ્યાધિનિદાનમ્ભૂતમપચ્યમશ્નન્ભગાઞ્ઞિતમપિ જ્વરાદિકં સ્વયમુત્પાદયતિ, તથાડયમાત્મા કર્મવન્ધનમવાઞ્છન્નપ્પાર્તરોટ્પાનવજેન કર્મવન્ધનં પ્રાપ્નોતિ । યથા કર્મવન્ધનં સ્વયમેવાદત્તે, તથા તત્કાલમપિ વાચ કિન્ચિન્નિમિત્તમપેક્ષ્ય મ્વયમેવોપમુદ્ધતે । એવં ધાત્મનો મોક્તૃત્વ સિધ્ધયતિ । મોક્તૃત્વાન્ન કર્તૃત્વમપિ તસ્ય નિર્વાણમ્ ।

સાંખ્યસિદ્ધાન્તે પ્રકૃતેઃ કર્તૃત્વ, ન તુ જીવસ્ય, મોક્તૃત્વ ચાપિ જીવસ્યોપચરિતમેવ । દર્પણાકારાયાં શુદ્ધૌ સક્રાન્તાના સુખદુઃખાદીનાં સ્વાત્મનિ

કારણ अपनी આત્મા में कर्म—रख इकट्ठी कर लेता है । जैसे अज्ञानी मनुष्य रोग के कारणमूत अपच्य का सेवन करता हुआ न चाहते हुए भी ज्वर आदि को उत्पन्न कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मबन्धन की इच्छा न कर के भी ज्ञात—रौद्रभ्यान् के अधीन होकर कर्मबन्ध को प्राप्त होता है । जैसे कर्मबन्ध को आत्मा स्वयं ग्रहण करता है, उसी प्रकार किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उसका फल भी स्वयं ही भोगता है । इसी प्रकार आत्मा में मोक्षापन सिद्ध होता है, और मोक्षा होने से उस में कर्तापन भी बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है ।

સાંખ્યમત સે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ નહીં, જોર મોક્ષાપન જીવ મેં ઉપચાર સે છે । દર્પણાકાર બુદ્ધિ મેં પ્રતિબિમ્બિત હોને ઘાટે સુખ—દુઃખ આદિ કા આત્મા મેં પ્રતિબિમ્બ

આત્માને વિષે કર્મ—રજ (કર્મના રજકણ) એકઠી કરી લે છે, જેમ અજ્ઞાની મનુષ્ય રોગના કારણમૂલ અપચ્ય (રોગ ઉત્પન્ન કરે તેવું) સેવન કરીને, પોતે ઇચ્છતો નથી તે પણ જ્વર (તાવ) આદિને ઉત્પન્ન કરી લે છે તે પ્રમાણે આત્મા કર્મબંધનની ઇચ્છા નહિ કરવા છતાં પણ આર્ત—રૌદ્ર ભ્યાનને આધીન થઈને કર્મ બંધનને પ્રાપ્ત થાય છે જેવી રીતે કર્મબંધનને આત્મા પોતે જ ગ્રહણ કરે છે, તે પ્રમાણે કોઈ બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષાથી તેનું ફલ પણ પોતે જ ભોગવે છે એ પ્રમાણે આત્મામાં ભોક્તાપણું સિદ્ધ થાય છે અને ભોક્તા હોવાથી તેમાં કોઈ પ્રકારની બાધા વિના કર્તાપણું પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે

સાંખ્યમત પ્રમાણે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ કર્તા નથી ભોક્તાપણું તે પણ જીવમાં ઉપચારથી છે દર્પણાકાર બુદ્ધિમાં પ્રતિબિમ્બિત (પ્રતિબિમ્બ) થવાવાળા (દેહાવસ્થાવાળા) સુખ—દુઃખ આદિનું પ્રતિબિંબ આત્મામાં પડી શકતું નથી. સ્ફટિક

પ્રતિવિમ્બોદયાસમનાત્ । સ્ફટિકઋર્ષણાદાવપિ પરિણામેનૈવ પ્રતિવિમ્બોદય-  
સમર્થનાત્ । તાદૃશપરિણામાદ્ધીકારે ચ જીવસ્ય ધર્તૃત્વ, સ્વત એવ મોક્તૃત્વ  
ચ સિદ્ધમ્ ।

### (૯) આત્મન સ્વશરીરપરિમાણત્વમ્—

અયમાત્મા સ્વશરીરપરિમાણ । નિશ્ચયનયેન લોકાકાશપરિમાણોઽ-  
સંખ્યાતપ્રદેશી ચ । વ્યહારનયત્ શરીરનામકર્મોદયાજ્ઞાતેન સૂક્ષ્મશરીરેણ  
સ્થૂળશરીરેણ વા સમાનપરિમાણો મવત્તિ, તસ્માદય મ્વશરીરપરિમાણ ઇત્યુચ્યતે ।

નહીં પડ સકતા । સ્ફટિક તથા ઝર્ણ આદિ મેં જો પ્રતિબિમ્બ પડતા હૈ સો પરિણામી  
હોને કે કારણ હી પડતા હૈ । સ્ફટિક આદિ એકાન્ત અપરિણામી હોતે સો उन મેં  
કિસી મી વસ્તુ કા પ્રતિબિમ્બ નહીં પડ સકતા થા । હસ પ્રકાર કા પરિણામ સ્વીકાર  
કર હેને પર જીવ મેં કર્તાપન સિદ્ધ હો જાયગા ઔર ફિર મોક્તાપન મી સ્વત સિદ્ધ  
હો જાયગા ।

### (૯) આત્માકા શરીરપરિમાણ—

આત્મા પ્રાપ્ત શરીર કે બરાબર હૈ, અર્થાત્ શરીર કા જો પરિમાણ હૈ । વહી  
આત્મા કા મી પરિમાણ હૈ । આત્મા નિશ્ચયનય સે લોકાકાશ કે બરાબર અસંખ્યાત  
પ્રદેશી હૈ । વ્યવહારનય સે શરીરનામકર્મ કે ઉદય સે પ્રાપ્ત હુપ સૂક્ષ્મ યા સ્થૂળ શરીર  
કા જો પરિમાણ હૈ ઠસી પરિમાણવાલા આત્મા હૈ, અત એવ આત્મા શરીર પરિમાણ  
ફહલાતા હૈ ।

તથા દર્પણ આદિમા જે પ્રતિબિમ્બ પડે છે, તે પરિણામી હોવાના કારણે પડે છે  
સ્ફટિક આદિ જે એકાન્ત અપરિણામી હોત તેમા કોઈ પણ વસ્તુનું પ્રતિબિમ્બ  
પડી શકત નહીં આ પ્રમાણે પરિણામ સ્વીકાર કરી લેવાથી જીવમા કર્તાપણુ સિદ્ધ  
થઈ જાયે, અને લોકતાપણુ પણ સ્વત સિદ્ધ થઈ જાયે

### (૯) આત્માનું શરીરપ્રમાણ—

આત્મા પ્રાપ્ત શરીરની બરાબર છે અર્થાત્ શરીરનું જે પરિમાણ છે તે  
આત્માનું પણ પરિમાણ છે આત્મા નિશ્ચયનયથી લોકાકાશની બરાબર અસંખ્યાતપ્રદેશી  
છે વ્યવહારનયથી શરીર-નામકર્મના ઉદયથી પ્રાપ્ત થએલા સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂળ  
શરીરનું જે પરિમાણ છે તે પરિમાણ વાળો આત્મા છે એટલા માટે આત્મા  
શરીરપરિમાણ કહેવાય છે

સમુપાદત્તે । યથા કોડ્યપ્પજ્ઞાની ધ્યાધિનિદાનમ્મૂતમપચ્ચમશ્નન્નમ્મઠિતમપિ જ્વરાદિકં સ્વયમુત્પાદયતિ, તથાડ્યમાત્મા કર્મવન્ધનમવાઠઠન્નપ્યાર્તરોદ્રધ્યાનવજ્ઞેન કર્મવન્ધનં પ્રાપ્નોતિ । યથા કર્મવન્ધન સ્વયમેવાદત્તે, તથા તત્ફલમપિ ઘાણ કિંચિન્નિમિત્ત-મપેક્ષ્ય મ્વયમેવોપશુદ્ધક્ટે । એવ ચાત્મનો મોક્તૃત્વ સિધ્ધયતિ । મોક્તૃત્વાન્વ કર્તૃ-સમપિ તસ્ય નિર્વાઘમ્ ।

સાંખ્યસિદ્ધાન્તે પ્રકૃતે કર્તૃત્વ, ન તુ જીવસ્ય, મોક્તૃત્વ વાપિ જીવસ્યોપચરિતમેવ । દર્પણાકારાયાં શુદ્ધૌ સક્રાન્તાના સુલ્લુખાદીના સ્વાત્મનિ

કારણ अपनी आत्मा में कर्म—रज इच्छा कर लेता है । जैसे अज्ञानी मनुष्य रोग के कारणमूत अपच्य का सेवन करता हुआ न चाहते हुए भी ज्वर आदि को उत्पन्न कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मबन्धन की इच्छा न कर के भी आत—रौद्रध्यान के अधीन होकर कर्मबन्ध को प्राप्त होता है । जैसे कर्मबन्ध को आत्मा स्वयं ग्रहण करता है, उसी प्रकार किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उसका फल भी स्वयं ही भोगता है । इसी प्रकार आत्मा में मोक्षापन सिद्ध होता है, और मोक्षा होने से उस में कर्तापन भी बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है ।

सांख्यमत से प्रकृति कर्ता है, जीव नहीं, और मोक्षापन जीव में उपचार से है । दर्पणाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाले सुख—दुःख आदि का आत्मा में प्रतिबिम्ब

આત્માને વિષે કર્મ—રજ (કર્મના રજકણ) એકછી કરી લે છે, જેમ અજ્ઞાની મનુષ્ય રોગના કારણમૂત અપચ્યનુ (રોગ ઉત્પન્ન કરે તેવું) સેવન કરીને, પોતે ઇચ્છતો નથી તો પણ જ્વર (તાવ) આદિને ઉત્પન્ન કરી લે છે તે પ્રમાણે આત્મા કર્મબંધનની ઇચ્છા નહિ કરવા છતાંય પણ આત્મ—રૌદ્ર ધ્યાનને આધીન થઈને કર્મ બંધનને પ્રાપ્ત થાય છે જેવી રીતે કર્મબંધનને આત્મા પોતે જ શ્રદ્ધા કરે છે, તે પ્રમાણે કોઈ બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષાથી તેનું ફલ પણ પોતે જ ભોગવે છે એ પ્રમાણે આત્મામાં ભોક્તાપણું સિદ્ધ થાય છે અને ભોક્તા બોવાથી તેમાં કોઈ પ્રકારની બાધા વિના કર્તાપણું પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે

સાંખ્યમત પ્રમાણે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ કર્તા નથી ભોક્તાપણું તે પણ જીવમાં ઉપચારથી છે કર્મણાકાર શુદ્ધિમાં પ્રતિબિમ્બિત (પ્રતિબિમ્બરૂપે) થવાવાળા (દેખાવવાવાળા) સુખ—દુઃખ આદિનુ પ્રતિબિંબ આત્મામાં પડી



સમુપાદત્તે । યથા કોઽપ્યજ્ઞાની વ્યાધિનિદાનભૂતમપધ્યમભ્રન્અનાઽઽઽઽતમપિ જ્ઞરાદિકં  
સ્વયમુત્પાદયતિ, તથાઽયમાત્મા કર્મવન્ધનમત્રાઽઽઽઽન્નપ્યાર્તરીઽધ્યાનવશેન કર્મવન્ધનં  
પ્રાપ્નોતિ । યથા કર્મવન્ધનં સ્વયમેવાદત્તે, તથા તત્કાલમપિ ઘાત્ત કિઞ્ચિન્નિમિત્ત-  
મપેક્ષ્ય સ્વયમેવોપમુદ્ધત્તે । એવ ચાત્મનો મોક્ષતૃત્વ સિધ્ધયતિ । મોક્ષતૃતાન્વ કર્તૃ-  
ત્વમપિ તસ્ય નિર્વાઘમ્ ।

સાંખ્યસિદ્ધાન્તે પ્રકૃતે કર્તૃત્વ, ન તુ જીવસ્ય, મોક્ષતૃત્વ ચાપિ  
જીવસ્યોપચરિતમેવ । દર્પણાકારાયા ધુદ્ધૌ સક્રાન્તાના સુલ્લુઽત્વાદીના સ્વાત્મનિ

કારણ अपनी આત્મા में कर्म—रज इकट्ठी कर लेता है । जैसे अनाजी मनुष्य रोग के  
कारणभूत अपच्य का सेवन करता हुआ न चाहते हुए भी ज्वर आदि को उत्पन्न  
कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा कर्मवन्धन की इच्छा न कर के भी आर्त—रौद्रध्यान के  
अधीन होकर कर्मवच को प्राप्त होता है । जैसे कर्मवन्ध को आत्मा स्वयं ग्रहण करता है,  
उसी प्रकार किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा से उसका फल भी स्वयं ही मोगता है ।  
इसी प्रकार आत्मा में मोक्षापन सिद्ध होता है, और मोक्षा होने से उस में कर्तापन भी  
बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाता है ।

સાંખ્યમત સે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ નહીં, ઓર મોક્ષાપન જીવ મેં ઉપચાર સે છે ।  
દર્પણાકાર બુદ્ધિ મેં પ્રતિબિમ્બિત હોને વાળે સુલ્લ—લુલ્લ આદિ કા આત્મા મેં પ્રતિબિમ્બ

આત્માને વિષે કર્મ—રજ (કર્મના રજકણો) એકઠી કરી લે છે, જેમ અજાણી  
મનુષ્ય રોગના કારણભૂત અપચ્યનુ (રોગ ઉત્પન્ન કરે તેવું) સેવન કરીને, પોતે  
ધ્રુષ્ટો નથી તે પણ જ્વર (તાવ) આદિને ઉત્પન્ન કરી લે છે તે પ્રમાણે આત્મા  
કર્મવન્ધનની ઇચ્છા નહિ કરવા છતાંય પણ આર્ત—રૌદ્ર ધ્યાનને આધીન થઈને કર્મ  
વન્ધનને પ્રાપ્ત થાય છે જેવી રીતે કર્મવન્ધનને આત્મા પોતે જ ગ્રહણ કરે છે, તે  
પ્રમાણે કોઈ બાહ્ય નિમિત્તની અપેક્ષાથી તેનું ફલ પણ પોતે જ મોગવે છે એ પ્રમાણે  
આત્મામાં મોક્ષતાપણું સિદ્ધ થાય છે અને મોક્ષતા કોવાથી તેમાં કોઈ પ્રકાશની  
બાધા વિના કર્તાપણું પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે

સાંખ્યમત પ્રમાણે પ્રકૃતિ કર્તા છે, જીવ કર્તા નથી એમજ્ઞતાપણું તે પણ જીવમાં  
ઉપચારથી છે કર્મણાકાર બુદ્ધિમાં પ્રતિબિમ્બિત (પ્રતિબિમ્બરૂપે) થવાવાળા  
(દેખાવવાવાળા) સુખ—દુઃખ આદિનું પ્રતિબિંબ આત્મામાં પડી શકતું નથી, સ્પર્શિક

સર્વવ્યાપિત્વ, તત્ કાદાચિત્કમિતિ ન તેન વ્યમિચાર ।

આત્મા શ્યામાકતણ્ઠુલમાત્રો ન મવતિ, અક્ષુષ્ઠપર્વમાત્રો વા ન મવતિ, તાવન્માત્રસ્યોપાચશરીરવ્યાપિત્વાત્, તિલે તૈલવત્ ત્વક્પર્યન્તશરીરવ્યાપિત્વેન ચોપલમ્યમાનગુણસ્વાત્, તસ્માદુપાચશરોરે ત્વક્પર્યન્તશરીરવ્યાપીતિ સિદ્ધમ્ ।

(૧૦) અમૂર્તત્વનિરૂપણમ્—

આત્મા અમૂર્ત, ઇન્દ્રિયૈર્ગ્રાહ્યત્વાત્, સ્વપ્નાદિમિરચ્છેદ્યત્વાત્, શૂઘાદિમિરમેઘ-  
ત્વાત્, રૂપરઠિતત્વાત્, અનાદ્યમૂર્તપરિણામત્વાત્, નિત્યત્વાત્ ।

કાદાચિત્ક (કમી-કમી હોનેવાળા) છે, उस से व्यमिचार नहीं आता ।

આત્મા શ્યામાક ધાન્યકળ ધરાવર નહીં છે, ન અગૂંઠે કે પર્વ (પોર) કે બરાબર હી છે, इतना सा आत्मा एक साथ समस्त शरीर में व्यापक नहीं हो सकता, मगर आत्मा के गुण तो सपूर्ण शरीर में उपलब्ध होते हैं, जैसे तिलों में तेज सर्वत्र पाया जाता है, अत एव सिद्ध हुआ कि आत्मा प्राप्त शरीर में त्वचापर्यन्त व्यापी है ।

(૧૦) આત્મા કા અમૂર્તત્વ—

આત્મા અમૂર્ત છે, ક્યોં કે વહ ઇન્દ્રિયોં કે દ્વારા પ્રહણ નહીં ક્રિયા આતા, વહ સ્વપ્નાદિ સે હેદ્યા નહીં જા સકતા, શૂઘ આદિ સે મેદ્યા નહીં જા સકતા, વહ અરૂપી છે, અનાદિ કાલ સે અમૂર્ત પરિણામવાળા છે ઔર વહ નિત્ય છે ।

(કદાચિત થવાવાળુ) છે, તેમા વ્યમિચાર આવતો નથી.

આત્મા શ્યામાક ધાન્યના કણુ બરાબર નથી, તેમજ અગૂંઠાના પર્વ (પોર) બરાબર પણ નથી એટલે આત્મા એક સાથે સમસ્ત શરીરમાં વ્યાપક થઈ શકતો નથી, પરંતુ આત્માના શુણુ તો સપૂર્ણ શરીરમાં ઉપલબ્ધ થાય છે, જેમ તલમાં તેલ સર્વત્ર હોય છે એ કારણથી એ સિદ્ધ થયું કે આત્મા આ પ્રાપ્ત શરીરમાં ત્વચા-આમઢી સુધી વ્યાપી રહેલો છે

(૧૦) આત્માનુ અમૂર્તત્વ

આત્મા અમૂર્ત છે કારણ કે તે ઇન્દ્રિયોં દ્વારા પ્રહણ કરી શકાતો નથી, અકલ (વલવાર) આદિથી હેદી શકાતો નથી, શૂઘ આદિથી લેદી શકાતો નથી, અરૂપી છે, અનાદિ કાલથી અમૂર્ત પરિણામવાળો છે અને તે નિત્ય છે



ગુણાનામસદ્ભાવ इति सर्वः स्वीकारात् । शरीरे तद्गुणसत्त्वे हेतोर्नाप्रसिद्धता, इत्थं च देहाद् यद्दिदेशोऽपि आत्माऽस्तीति वाद परित्यज्य स्वदेह एवात्माऽस्तीति मन्तव्यम् ।

यद्वा—आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात्, यत्तु व्यापक तत्र चेतनम्, यथा गगनम् । चेतनं चात्मा, तस्मान्न व्यापक\* । इत्थमव्यापकत्वे सिद्धे तस्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वे कायप्रमाणताऽपि सिद्धा । यत् पुनरष्टसमयसाध्य-  
केवलिसमुद्घातावस्थायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मफलोकव्यापित्वेनात्मनः

રિક્ત દેશ મેં બુદ્ધિ બાદિ ગુણો કા સદ્ભાવ નહીં છે, એસા સમી ને સ્વીકાર કિયા છે । શરીર મેં આત્મા કે ગુણો કા અસ્તિત્વ છે હી, અતઃ એવ હેતુ અસ્તિત્વ નહીં છે । ઇસ પ્રકાર શરીર સે બાહર આત્મા કા અસ્તિત્વ માનના છોડ કર સ્વદેહ મેં હી અસ્તિત્વ માનના જાણિય.

અથવા—આત્મા વ્યાપક નહીં છે, ક્યાં કિં વહ ચેતન છે । જો વ્યાપક હોતા છે વહ ચેતન નહીં હોતા, એસે આકાશ । આત્મા ચેતન છે, અતઃ વ્યાપક નહીં છે ।

ઇસ સે આત્મા કી અવ્યાપકતા સિદ્ધ હો જાને પર પૂર્વોક્ત હેતુ સે (જ્યોં કિં શરીર મેં હી ઇસ કે ગુણ પાવે જાતે છે, ઇસ હેતુ સે) આત્મા કી શરીરપ્રમાણતા મી સિદ્ધ હો જાતી છે । જાઠ સમય મેં સમ્યક્ હોને વાળે કેવલિસમુદ્ઘાત કી અવસ્થા મેં ચૌદહરજ્જુ લોક મેં આત્મા કા વ્યાપ્ત હો જાના જો યહો માના છે, વહ

નહિં કારણ કે દેહથી અતિરિક્ત (દેહ સિવાય) દેશમાં બુદ્ધિ બાદિ ગુણોના સદ્ભાવ નથી. જો પ્રમાણે જોણે સ્વીકારણ છે શરીરમાં આત્માના ગુણોનું અસ્તિત્વ છે જ, જો કારણથી હેતુ અસિદ્ધ નથી જા પ્રમાણે શરીરની બહાર આત્માનું અસ્તિત્વ માનવું ત્યજીને પોતાના દેહમાં જ અસ્તિત્વ માનવું જોઈએ.

અથવા—આત્મા વ્યાપક નથી, કારણ કે તે ચેતન છે. જે વ્યાપક હોય છે તે ચેતન હોય નહિ, જેમ આકાશ. આત્મા ચેતન છે તે કારણથી વ્યાપક નથી.

જા હેતુથી આત્માની અવ્યાપકતા સિદ્ધ થવાથી પૂર્વોક્ત હેતુથી (કેમકે શરીરમાં જ તેના ગુણો જોવામાં આવે છે જો હેતુથી) આત્માની શરીરપ્રમાણતા પણ સિદ્ધ થઈ જાય છે જાઠ સમયમાં સપન્ન થવા વાળા કેવલિસમુદ્ઘાતની અવસ્થામાં ચૌદ શબ્દોકમાં આત્માનું વ્યાપ્ત થઈ જવાનું જાહેર જે માન્ય ને કાઠાબંધ

इयं च पुत्तलिका न किञ्चिदिच्छति, पुनरयं बालः सकलेन्द्रियैर्विषय-  
मुपभुज्य सुखीभवितुमिच्छति । यदि कोऽपि खड्गमुत्पाप्येमावभिधावेत् तदा  
पुत्तलिका पूर्ववदेवावस्थिता भविष्यति, बालस्तु खड्गाभिधातजनितदुःखादुद्विग्न-  
पलायिष्यते । अस्मिं बाले कमपि ब्रुमुष्यति बालमुपकरिष्यति भोजनीयवस्तु-  
प्रदानेन, कमपि चान्यं बालं चपेटादिप्रहारेण क्रन्दयिष्यति । पुत्तलिका तु  
हितमहितं वाऽपि किञ्चिन्नैव कर्तुं प्रभविष्यति । यदि मिष्टाननाय बाल आहूतो  
भवेत् तदानीं सत्वरमागतो बालो मोक्तुं प्रवर्तेत, तज्जन्यसुखानुभवोऽपि तस्य  
जायेत । पुत्तलिका तु नागमिष्यति न किञ्चिद् मोक्ष्यते, का वार्ता सुखानुभवस्य ? ।

यह पुतली कुछ भी इच्छा नहीं करती मगर बालक सभी इन्द्रियों के विषयों का मोग करके सुखी होने को इच्छा करता है । अगर कोई तलवार उठाकर इन्हें मारने दोड़े तो पुतली ग्यों की ग्यों खड़ी रहेगी मगर बालक तलवार के आघात के दुःख से उद्विग्न हो कर या आघात की आशङ्का से भाग जायगा । वह बालक किसी भूखे बालक को भोजन देकर उसका उपकार भी करेगा और किसी बालक को थप्पड़ खादि मारकर हलाएगा, मगर पुतली किसीका हित या अहित करने में समर्थ नहीं है । अगर बालक को मिठाई खाने के लिए बुलाया जाय तो उसी समय आकर वह मिठाई पर दूट पड़ेगा और उसे मिठाई खाने के सुख का अनुभव भी होगा । पुतली न मिठाई के लिए आएगी न खाएगी, सुख का अनुभव करने की तो बात ही अलग रही । अत एव यह निश्चय होता है कि बालक में जीव का लक्षण ज्ञान

આ પુતળી કંઈ પણ ઇચ્છા કરતી નથી પરંતુ બાળક સર્વ ઇન્દ્રિયોના વિષયોનાં લોભ કરીને સુખી થવાની ઇચ્છા કરે છે અથવા કોઈ તલવાર ઉઠાવીને તેને મારવા દોડે તો પુતલી તો જોમ છે તેમ ત્યાં ઉભી રહેશે પરંતુ બાલક તલવાર મારવાનાં દુઃખથી ઉદ્વિગ્ન-ચિંતાતુર બનીને અથવા તો મારવાની આશંકાથી ભાગી જશે.

જો બાળક કોઈ ભૂખ્યા બાળકને લોભન આપીને તેનો ઉપકાર પણ કરશે અને કોઈ બાળકને થપક આદિ મારીને તેને શવરાવશે, પરંતુ પુતલી કંઈનું હિત કે અથવા અહિત કરવા સમર્થ નથી અથવા બાળકને મિઠાઈ ખાવા માટે બોલાવવામા આવે તો તેજ સમયે આવીને મિઠાઈ પર દૂટી પડશે અને તેને મિઠાઈ ખાવાનો સુખનો અનુભવ પણ થશે. પુતલી મિઠાઈ માટે આવશે નહીં. અને ખાશે પણ નહીં. તો સુખના અનુભવની તો વાત જ બુદ્ધી રહી. જો કારણથી નિશ્ચય થાય છે કે

અનેન-“આત્મા નાતીન્દ્રિયો નાપિ જઢાદ્ મિન્નઃ” ઇતિ નાસ્તિકમતં નિરસ્તમ્ ।

નન્વમૂર્તોઽયમાત્મા નેત્રાદિમિરિન્દ્રિયૈસ્તુ ન ચિત્તેયસ્તર્દિં યથમિમે જનો જાનીયાત્-‘અસ્ત્યત્રાત્મે’-તિ ।

શ્રુયતામ્-કસ્યચિત્ સમક્ષમષ્ટવર્ષીયો ઘાલ્લસ્તિષ્ઠતિ; તત્સમાનાકૃતિ-મૃન્મયી પુત્તલિકાઽપિ તિષ્ઠતિ । તત્રાસૌ દ્રષ્ટા પશ્યતિ-ઇય પુત્તલિકા ચતુર્ગાણ-કર્ણયુક્તાઽપિ દ્રષ્તુ ગ્રાતું શ્રોતુ વા ન શક્નોતિ, પુનસ્ય ઘાલ્લશ્રુમ્યાં પશ્યતિ, પુષ્પમાઘાતિ, કસ્યચિદ્ઘાપિત શૃણોતિ ચ ।

હસ ક્યન છે નાસ્તિક કે હસ મત કા નિરાકરણ હો ગયા કિ-‘આત્મા ન અતીન્દ્રિય હૈ ઓર ન જઢ સે મિન્ન હૈ’ ।

સૂક્ષ્મા-આત્મા અમૂર્ત હૈ, નેત્ર આદિ હિન્દ્રિયો સે જાના નહીં જા સક્તા તો મનુષ્ય કેસે સમસે કિ આત્મા કા અસ્તિત્વ હૈ ।

સમાધાન-સુનિયે । માન લીમિષ્ કિસી કે સામને આઠ વર્ષ કા ચાલક સ્વડા હૈ, ડસી કે સમાન આકૃતિવાલી મિટ્ટી કી પૃથ પુતલી મી રક્તી હૈ । ડોનો કો દેસને વાલ્લ દેસતા હૈ કિ-યહ પુતલી નેત્ર, નાક ઓર કાન સે ચુક સો હૈ કિન્તુ દેસને મેં સૂકને મેં ઓર સુનને મેં સમર્થ નહીં હૈ, ઓર યહ ચાલક બાલ્લો સે દેસતા હૈ, ફૂલ સૂક્તા હૈ, ઓર કિસી કા માષણ સુનતા હૈ ।

આ ઈયનથી નાસ્તિકના એ મતનું નિશાકરણ થઈ ગયું કે “આત્મા અતીન્દ્રિય નથી, અને જઢથી બિન્ન નથી”

શ કા-આત્મા અમૂર્ત છે, નેત્ર આદિ હિન્દ્રિયોથી બાહ્ય શક્તાતો નથી; તો પછી માણસો કેવી રીતે સમજી શકશે કે આત્માનું અસ્તિત્વ છે

સમાધાન-સાંભળો ! માની લો કે કોઈ (માણસ)ના સામે એક આઠ વર્ષનો બાળક ઉભો છે તેની બાજુમાં તેના જેવી સમાન આકૃતિવાલી માટીની એક પુતળી પણ રાખી છે આ બન્નેને બેવાવાળાં બુલે છે કે-આ પુતલી નેત્ર, નાક, કાનથી ચુકત તો છે; પરંતુ બેવામાં, સુવવામાં અને સાંભળવામાં સમર્થ નથી અને આ બાળક નેત્રથી બુલે છે, ફૂલ સૂંચે છે અને કોઈનું ભાષણ સાંભળે છે

એવં ચ પુત્રલિકા ન કિંચિદિચ્છતિ, પુનઃય વાઙ્મય ઉચ્છેદનિયમિત્વમ્  
મુપસૃજ્ય મુર્ચ્ચામવિતુમિચ્છતિ । યદિ કોઽપિ મદ્યમુન્યાપ્યેમાવમિવાચેત્ ૫  
પુત્રલિકા પૂર્વવદેવાવમ્પિતા મવિપ્યતિ, ચાલ્સ્ટુ મદ્યમિત્યાવગમિતુદુ લાઘુદિ-  
પ્તાયિપ્યતે । અર્થો વાઙ્મય કમપિ ઘુમુચિત વાલમુપકમ્પિતિ મોચના ૫  
મદાનેન, કમપિ ચાન્ય વાલં ચપેટાદિમહારેઃ ક્રન્ડયિપ્યતિ । પુત્રલિકા  
દિવમહિત વાઙ્મય કિંચિન્નૈવ ક્તું પ્રમવિપ્યતિ । યદિ મિપ્પામનાય વાલ ૫  
મવેત્ તદાનાં સન્નરમાતો ચાલો મોક્તુ પ્રવર્તેત તન્નન્યમુસ્થાનુમવોઽપિ ૫  
વાચેત । પુત્રલિકા તુ નામિપ્યતિ ન કિંચિદ્ મોચ્યતે કા વાર્તા મુચ્ચાનુમવન્ય ?

યદ પુત્રી લુહ ની રૂઢી નહીં કરતાં નામ વાઙ્મય મની રૂઢીયોં કે વિષયાં ૫  
નેમ ક્રમક મુર્ચ્ચા હેતે કા રૂઢી કરતા હૈ । આ કહે તરવા ઉચ્છેદ રૂઢી ૫  
મદ તો પુત્રી યો કી રૂઢી નહા હામ નામ વાઙ્મય તરવા કે કાવાત ક દુ  
સે ઉદેન હો કર ના કાવાત કી કાગદા મે ના ચાયા । વદ વાઙ્મય ૫  
નૂતે વાઙ્મય કો મોક્ત દેકર વલકા વનકાર મી કરામ કીર કિન્તી વાઙ્મય કો ૫  
આદિ નાકર રૂઢી, નમ પુત્રા કિન્તી દિવ યા કહિત કરને ને સન્ય ૫  
હૈ । આ વાઙ્મય કો નિટાઈ ચાન ક ટિર બુઝવા કાય તો વતો સન્ય કાકર ૫  
નિટાઈ પર દૂટ પદેમ કીર વતે નિટાઈ ચાન ક મુલ કા અનુલ મી હેલા ।  
પુત્રા ન નિટાઈ ક ટિર કાણાં ન નારા, મુલ કા અનુલ કરન કી તો ૫  
હી કરા રહી । કત એવ યદ નિશ્ચય હેતા હૈ કિ વાઙ્મય મે વત કા રૂઢી નામ

આ પુત્રી કાકર પદુ કીર કીર નથી પાતુ બાગક મુર્ચ્ચા કિન્તી  
નિષેધેના ચોમ કીરને મુખી યવની કીર કીર છે અથવા દેઈ વલવાર હાલીને  
તેને માગવા હોટે તો પુત્રી તો જેમ છે તેમ ત્યાં ઉભી રહેશે પાતુ ૫  
વલવાર માગવાના કુ બધી ઉદ્ધિગ-ચિન્તાતુર બનીને અથવા તો મારવાની આશ કામી  
ભાગી લશે.

એ બાગક દેઈ મુખી બાગકને લેજન આપીને તેને ઉપકાર પદુ કીર અને  
દેઈ બાગકને યવક આદિ માગીને તેને લેવાવશે, પાતુ પુત્રી દેઈનું દિવ દે  
અથવા કહિત કીર મુર્ચ્ચા નથી. અથવા બાગકને મિહાઈ ખાવા માટે બેલાવવામાં  
આવે તો તેજ સન્યે આવીને મિહાઈ પર તૂટી પડશે અને તેને મિહાઈ ખાવાનો  
મુખનો અનુલવ પદુ યશે. પુત્રી નિહાઈ માટે આવશે નહીં અને આશે પદુ નહીં  
તો મુખના અનુલવની તે વત વ મુર્ચ્ચા નહીં. એ કારણથી નિશ્ચય કાય છે કે

તથા ચાયં નિશ્ચયઃ—વાલે જીવલક્ષણસ્ય જ્ઞાનસ્ય સર્વમાવાદ ધાલશરીરે જીવોઽસ્તીતિ ।  
 એવમન્યપ્રાપિ સજીવશરીરે જીવસ્ય સત્તા નિશ્ચેતુ શક્યતે । વસ્તુતોઽયમાત્મેવ કર્તા  
 મોક્તા નાનાવિવશુમપરિણતિકર્તા ચેતિ । અયમાત્મા સંસારાવસ્થાયાં સ્વજ્ઞાનવશેન  
 દુઃખમર્જયતિ । ઉક્તશ્ચ—

“સસારે પર્યટન્ જન્તુ,—ર્ષદ્યુયોનિસમાકુલે,  
 શારીરં માનસં દુઃખ, પ્રાપ્નોતિ ઘત દારુણમ્ ॥૧॥  
 આર્તધ્યાનરતો મૂઢો, ન કરોત્પાત્મનો હિતમ્,  
 તેનાસૌ મુમહત્ કલેશં, પરત્રેદ ચ ગચ્છતિ” ॥૨॥

વિષમાન છે, હસ લિપ્ત ઠસ મેં જીવ છે । હસી પ્રકાર અચત્ર મી સજીવ શરીર મેં  
 જીવ કી સત્તા કા નિશ્ચય કિયા જા સક્તા છે । વાસ્તવ મેં યહી આત્મા કર્તા, મોક્તા  
 ઔર નાના પ્રકાર કી શુભ ઔર અશુભ પરિણતિઓ કા કર્તા છે । આત્મા સસાર—  
 અવસ્થા મેં અપને અજ્ઞાન કે આધીન હો કર દુઃખ ઉપાર્જન કરતા છે, કદા મી છે —

“નાના પ્રકાર કી યોનિઓ સે યુક્ત હસ સસાર મેં ભ્રમણ કરતા હુઆ જીવ  
 અનેક ઔર ભયાનક શારીરિક ધર્મ માનસિક દુઃખ પ્રાપ્ત કરતા છે ॥ ૧ ॥

આર્તધ્યાન ઔર રૌદ્રધ્યાન મેં લીન રહેને વાળા મૂઢ જીવ આત્મા કા હિત  
 નહીં કરતા । હસી કારણ યહ હસ છોક ઔર પર છોક મેં મહાન્ કલેશ પાતા છે” ॥૨॥

બાલકમાં જીવનું લક્ષણ—જે જ્ઞાન તે વિષમાન છે, તે કારણથી તેમાં જીવ છે એ  
 પ્રમાણે અન્યત્ર પણ સજીવ શરીરમાં જીવની સત્તાનો નિશ્ચય કરી શકાય છે  
 વાસ્તવમાં આ આત્મા કર્તા, લોકતા અને નાના પ્રકારની શુભ અને અશુભ  
 પરિણતિઓનો કર્તા છે આત્મા સસાર અવસ્થામાં પાતાના અજ્ઞાનને આધીન થઈને  
 દુઃખ ઉપાર્જન કરે છે તેથી પણ છે કે —

“નાના પ્રકારની યોનિઓથી યુક્ત આ સસારમાં ભ્રમણ કરતો થકો જીવ  
 અનેક ભયાનક શારીરિક અને માનસિક દુઃખ પ્રાપ્ત કરે છે ॥૧॥

આર્તધ્યાન અને રૌદ્રધ્યાનમાં લીન રહેવા વાળો મૂઢ જીવ આત્માનું હિત  
 કરતો નથી. આ કારણથી તે આ લોક અને પરલોકમાં મહાન્ કલેશ પામે છે ॥૨॥

### (૧૧) આત્મન. પ્રતિશરીર મિન્નત્વમ્—

આત્મા-પ્રતિશરીર મિન્ન । એકસ્થૈવાત્મન પ્રતિશરીરસત્ત્વે તુ જન્મમરણવધ-  
મોક્ષવ્યવસ્થા નોપપદેરન્ । અન્યો જાતઃ, અન્યો મૃતઃ । અન્યો વદ્ધઃ, અન્યસ્તુ મૃક્ત  
ઇતિ વ્યવસ્થા કથમુપપદેત, તસ્માત્ પ્રતિશરીરં મિન્ન ઇતિ સિદ્ધમ્ । તથા ચાનન્તા  
આત્માન ઇતિ મન્તવ્યમ્ । અનેનાઽદ્વૈતવાદો નિરાકૃતઃ ।

### (૧૨) આત્મન પૌદ્ગલિકકર્મસયુક્તત્વમ્—

અયમાત્મા—પૌદ્ગલિકકર્મસયુક્ત । નિશ્ચયનયેન કર્મરહિતોઽપિ વ્યવહાર-  
નયતોઽનાદિકાલત્ । પૌદ્ગલિકકર્મસવદ્દોઽસ્તિ, તસ્માદયં પૌદ્ગલિકકર્મસયુક્ત  
ઇતિ કથ્યતે ।

### (૧૧) આત્મા કા પ્રતિશરીરમિન્નત્વ—

આત્મા અલ્ગા-અલ્ગા શરીરો મેં અલ્ગા-અલ્ગા હૈ । સમસ્ત શરીરો મેં  
એક હી આત્મા કા અસ્તિત્વ માના જાય તો જન્મ, મરણ, વન્ધ ઓર મોક્ષ  
કી વ્યવસ્થા નહીં હો સકેગી । અર્થાત્ કોઈ જનમા, કોઈ મરા, કોઈ વદ્ધ હુઆ  
ઓર કોઈ મુક્ત હુઆ, એસી વ્યવસ્થા કેસે બન સકેગી ? અત આત્મા પ્રત્યેક  
શરીર મેં અલ્ગા હી સિદ્ધ હોતા હૈ । આમાર્હે જનત હૈ, એસા માનના ચાહિય ।  
હસ સે અદ્વૈતવાદ કા નિરાકરણ હો ગયા ।

### (૧૨) આત્મા કા પૌદ્ગલિક કર્મસંયોગ—

યહ આત્મા પૌદ્ગલિક કર્મો સે સયુક્ત હૈ । નિશ્ચયનય સે કર્મરહિત હોને પર  
મી વ્યવહારનયકી અપેક્ષા જનાદિકાલ સે પૌદ્ગલિક કર્મો કે સાથ આત્મા

### (૧૧) આત્માનુ પ્રતિશરીરમિન્નત્વ

આત્મા બૂદ્ધા-બૂદ્ધા શરીરોમાં બૂદ્ધો-બૂદ્ધો છે સમસ્ત શરીરોમાં એક જ આત્માનું  
અસ્તિત્વ માનવામાં આવે તો જન્મ, મરણ બધ અને મોક્ષની વ્યવસ્થા થઈ શકશે  
નહીં અર્થાત્, કોઈનું જન્મ, કોઈનું મરણ, કોઈ બદ્ધ થાય અને કોઈ મુક્ત થાય  
એવી વ્યવસ્થા કેવી રીતે બની શકશે ? આ કારણથી ‘આત્મા પ્રત્યેક શરીરમાં અલગ  
છે’ એમ સિદ્ધ થાય છે આત્મા જનત છે એમ માનવું એઈએ, આથી અદ્વૈતવાદનું  
નિરાકરણ થઈ ગયું

### (૧૨) આત્માનો પૌદ્ગલિક કર્મસંયોગ

આ આત્મા પૌદ્ગલિક કર્મોથી સયુક્ત (કર્મો સાથે જોડાએલો) છે નિશ્ચય  
નયથી કર્મરહિત હોવા છતાં પણ વ્યવહારનયની અપેક્ષા જનાદિકાલથી પૌદ્ગલિક

આત્મનો મિથ્યાત્વેન સહાનાદિ\* સમ્બન્ધ\* । અનાદિમિથ્યાત્વજનિત-  
ત્રિમાવપરિણામરૂપરાગદ્વેષપરિણત્યાઽઽત્મા સતસાયોગોલ્ક इव सलिलं सर्वतोभावेन  
જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મવલં સમાક્રુપ્ય સ્વસ્મિન્ સંયોજયતિ । તતોઽસૌ વહ્નિનાઽયોગાલ્ક  
इष, नीरेण क्षीरमिष तेन कर्मदलेनैक्यमावं प्राप्य मूर्त इव भवति, अत एव  
નિશ્ચયનયેનાઽમૂર્તોઽપિ વ્યવહારનયેનાત્મા મૂર્ત હત્યુચ્યતે । કર્મસમ્બન્ધોઽયમાત્મનો  
વ્યવહારનયત એવ ।

કા સયોગ છે । અત એવ ડસે પૌત્રલિક કર્મો સે સયુક કહતે હૈં । મિથ્યાત્વ  
કે સાથ આત્મા કા અનાદિ સમ્બન્ધ છે । અનાદિકાલીનમિથ્યાત્વજનિત  
વિમાવ-પરિણતિરૂપ રાગ-દ્વેષ સે આત્મા અપને સમસ્ત પ્રદેશો સે જ્ઞાનાવરણ આલિ  
કે કર્મવલ્લિકો કો ડસી પ્રકાર પ્રહણ કરતા છે, જૈસે સ્વૂષ તપા હુઆ છોદે કા  
ગોલા બલ કો પ્રહણ કરતા છે । અત જૈસે અગ્નિ ઔર છોદગોલ્ક ઇકમેક  
સે હો જાને હૈં, ઔર દૂધ-પાની ઇક-મેક હોયા હુઆ પ્રતીત હોતા છે, ઇસી  
પ્રકાર કર્મવલ્લિકો કે સાથ આત્મા ઇકમેક હોકર મૂર્ત-સા હો જાતા છે । ઇસ  
પ્રકાર નિશ્ચયનય સે અમૂર્ત હોને પર મી વ્યવહારનય સે આત્મા મૂર્ત છે । આત્મા  
ઔર કર્મ કા વહ સમ્બન્ધ વ્યવહારનય સે હી સમજના ચાહિય ।

કર્મોની સાથે આત્માનો સયોગ છે એ કારણથી તેને પોદ્ગલિક કર્મોથી સંયુકત  
કહે છે

મિથ્યાત્વની સાથે આત્માનો અનાદિ સંબંધ છે અનાદિકાલીન મિથ્યાત્વથી  
ઉત્પન્ન વિમાવ-પરિણતિરૂપ રાગ-દ્વેષથી આત્મા પોતાના સમસ્ત પ્રદેશોથી જ્ઞાનાવરણ  
આદિના કર્મવલ્લોને કોવી રીતે બ્રહ્મ કરે છે કે જેવી રીતે ખૂબ તપેલા હોદાને  
ગોળો જલનુ બ્રહ્મ કરે છે એવે કે જેમ અગ્નિ અને હોદાનો ગોળો કોઈએક  
થઈ જાય છે, અને દૂધ-પાણી કોઈએક થયેલા પ્રતીત થાય છે તે પ્રમાણે કર્મ  
વલ્લિકોની સાથે આત્મા કોઈ-એક થઈને મૂર્ત જેવો થઈ જાય છે આ પ્રમાણે  
નિશ્ચયનયથી અમૂર્ત હોવા છતાં પણ વ્યવહારનયથી આત્મા મૂર્ત છે આત્મા  
અને કર્મનો આ સંબંધ વ્યવહારનયથી જ સમજવો જોઈએ

કર્મવન્ધાપેક્ષયાઽઽત્મના સહ પુદ્ગલસ્યૈવમ્પરૂપઃ સમ્બન્ધઃ, પરન્તુ લક્ષણા-  
પેક્ષયા દ્વયોર્મિન્નતા પ્રતીયતે । તસ્માદ્વાત્મન ઇમાન્તેનાઽમૂર્તત્વ નાસ્તિ । इदमत्र  
तत्त्वम्-बन्धस्तु वस्तुतः पुद्गलस्य पुद्गलेन सह भवति, यथा पृथक् पृथक् पुद्गला  
रूपस्निग्धगुणाभ्यां परस्पर बन्ध प्राप्नुवन्ति तद्वत्-आत्मना सह पूर्ववद्दे. कर्मपुद्गलैः  
सह नूतनकर्मपुद्गला निवर्धयन्ते । आत्मनोऽस्मर्यातप्रदेशेष्वेवा कर्मपुद्गलानामवगाहन  
भवति । आत्मन एकैकप्रदेशेऽनन्तकर्मपुद्गलास्तिष्ठति । आत्मप्रदेशानां कर्मपुद्गलानां  
चैकक्षेत्रेऽवगाहनरूप एव बन्धः । ईदृशोऽयं बन्धो नास्ति ।

કર્મવન્ધ કૌ અપેક્ષા આત્મા કે સાથ પુદ્ગલ કા ઈકવન્ધ-રૂપ-સમ્બન્ધ હૈ કિન્તુ લક્ષણો  
સે દોનોં મિત્ર-મિત્ર પ્રતીત હોતે હૈ, ઇસ લિખ આત્મા મેં એકાન્ત અમૂર્તતા નહીં હૈ । તાત્પર્ય  
યહ હૈ કિ-વાસ્તવ મેં પુદ્ગલ કા વચ તો પુદ્ગલ કે સાથ હી હોતા હૈ, જૈસે પૃથક્ પૃથક્ પુદ્ગલ  
રૂઝતા ઔર સ્નિગ્ધતા ગુણાં કે કારણ પરસ્પર વદ્ધ હો જાતે હૈ, ઇસ પ્રકાર આત્મા કે સાથ  
પહેલે સે કૈવે હુપ કર્મપુદ્ગલ કે સાથ નવીન કર્મપુદ્ગલોં કા વન્ધ હોતા હૈ, ઇન પુદ્ગલોં  
કૌ અવગાહના આત્મા કે અસમ્યક્તાત પ્રદેશોં મેં હોતી હૈ । 'આત્મા કે એક-એક પ્રદેશ મેં  
અનન્ત પુદ્ગલ રહતે હૈ । આત્મપ્રદેશોં કા ઔર કર્મ-પુદ્ગલોં કા વચ એકક્ષેત્રાવગાહન  
રૂપ હી હૈ, જૈસે એક પુદ્ગલ દૂસરે પુદ્ગલ કે સાથ સ્નિગ્ધતા ઔર રૂઝતા ગુણ કે કારણ  
મિલ કર સ્કન્ધ બન જાતા હૈ વેસા આત્મા ઔર પુદ્ગલ કા વન્ધ નહીં હોતા । કર્મ-

કર્મ બંધની અપેક્ષા આત્માની સાથે પુદ્ગલોનો એકત્વરૂપ સંબંધ છે, પરન્તુ  
લક્ષણોથી બને મિત્ર મિત્ર પ્રતીત થાય છે એ કારણથી એકાન્ત મૂર્તતા નથી.  
તાત્પર્ય એ છે કે —વાસ્તવમાં પુદ્ગલોનો બંધ તો પુદ્ગલની સાથે જ થાય છે  
પૃથક્-પૃથક્ પુદ્ગલ શક્તા અને સ્નિગ્ધતા શુભોના કારણે પરસ્પર બદ્ધ થઈ બંધ  
છે એ પ્રમાણે આત્માની સાથે પ્રથમથી બદ્ધ થયેલા (આત્માને પ્રથમ ચોટેલા)  
કર્મપુદ્ગલોની સાથે નવીન કર્મપુદ્ગલોનો બંધ થાય છે તે પુદ્ગલોની અવગાહના  
આત્માના અસમ્યક્તાત પ્રદેશોમાં થાય છે આત્માના એક એક પ્રદેશમાં અનન્ત પુદ્ગલ  
રહે છે આત્માના પ્રદેશો અને કર્મપુદ્ગલોનો બંધ એકક્ષેત્રાવગાહનરૂપ જ છે જેવી  
રીતે એક પુદ્ગલ બીજા પુદ્ગલની સાથે સ્નિગ્ધતા અને શક્તા શુભોના કારણે  
મળીને સ્કન્ધ બની બંધ છે, તેવી રીતે આત્મા અને પુદ્ગલોનો બંધ થતો નથી.  
કર્મપુદ્ગલોની અવગાહના આત્માની સાથે આ પ્રકારે અનાદિકાલથી ચાલી આવે છે  
મ આ-૩૪



— યથા—પુદ્ગલસ્ય પુદ્ગલેન સહ સ્તિગ્ધસ્સગુણસમ્પ્રાપ્તે સતિ સ્કન્ધમાવરૂપો  
 બન્ધો મવતિ । કર્મપુદ્ગલાનામધગાહનાઽઽત્મના સહેત્યમનાદિકાલતઃ પ્રવૃત્તા, યદ્-  
 એકપિન્દસ્ય કાર્મણશરીરમેય સજાયતે । તત્ત્વ શરીરમાત્મનઃ પ્રદેશમેકમપિ ન મુચ્ચતિ ।  
 આત્મનઃ સર્વપ્રદેશમભિવ્યાપ્ય તિલ્લે તૈલમિવ કાર્મણશરીર તિષ્ઠતિ, કિન્તુ—અક્ષર-  
 સ્યાનન્તત્તમો માગો વર્ષત એવ, મેઘપટલાચ્છાદિતસૂર્યરશ્મિમવત્ । इदं कर्मण शरीर  
 तैजस चेति द्वयं शरीरमतिसूक्ष्मं सदाऽऽत्मना सह वर्तते । यत्र सूक्ष्मशरीरे स्थूलशरीरे  
 बाध्यमात्मा गच्छति तत्प्रमाणो भवन् सकुचितो विस्तृतो वा भवति । तदानीमिदं  
 द्वयं शरीरमपि सूक्ष्मस्थूलशरीरानुसारेण सकुचितं विस्तृतं वा भवति ।

યથા—અકૃત્રિમપર્વતાદૌ સ્કન્ધરચના વિદ્યમાનૈવ, તથાપિ તસ્માદ્

પુદ્ગલો કી અવગાહના આત્મા કે સાથે હસ પ્રકાર અનાવિકાલ સે વ્હી આતી હૈ કિ એક  
 પિન્દરૂપ કાર્મણ શરીર હી ઉત્પન્ન હોતા હૈ । યહ કાર્મણ શરીર આત્મા કે એક મી પ્રદેશકો  
 નહી છોડતા । આત્મા કે સમસ્ત પ્રદેશો કો વ્યાપ્ત કરકે, તિલ મેં તૈલ કી તરહ કાર્મણ  
 શરીર રહતા હૈ, કિન્તુ જ્ઞાન કા અનન્તર્વો માગ બાદલોં સે આચ્છાદિત સૂર્ય કી પ્રમા કે  
 સમાન જુલ્મ રહતા હી હૈ ।

યહ કાર્મણ શરીર ઔર તૈજસ શરીર અત્યન્ત સૂક્ષ્મ હૈ ઔર અત્મા કે સાથે સદૈવ  
 રહતે હૈ । જિસ સૂક્ષ્મ મા સ્થૂલ શરીર મેં આત્મા બાતા હૈ ઊસી શરીરપ્રમાણ સંકુચિત મા  
 વિસ્તૃત હો બાતા હૈ, ઔર ઊસ સમય યે દોનો શરીર મી સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂલ શરીર કે અનુસાર  
 સંકુચિત અથવા વિસ્તૃત હો બાતે હૈ ।

જૈસે અકૃત્રિમ પર્વત બાદિ મેં સ્કન્ધ કી રચના તો જ્યો કી જ્યો વિદ્યમાન રહતી હૈ

કે એકપિન્દરૂપ કાર્મણ શરીર જ ઉત્પન્ન થાય છે તે કાર્મણ શરીર આત્માના એક  
 પણ પ્રદેશને છોડતો નથી આત્માના તમામ પ્રદેશોને વ્યાપ્ત ( આર્ય તરફ  
 વેશયેહ ) કરીને તલમાં તેલ રહે છે તે પ્રમાણે કાર્મણ શરીર રહે છે

પરંતુ જ્ઞાનનો અનંતમો બાળ, વાહણાઓથી ઢકાએલી સૂર્યની પ્રમા પ્રમાણે  
 ખુલ્લો રહે જ છે ? તે કાર્મણ શરીર અને તૈજસ શરીર અત્યન્ત સૂક્ષ્મ છે.  
 અને આત્માની સાથે તે ઢંઢેશાં રહે છે જે સૂક્ષ્મ કે સ્થૂલ શરીરમાં આત્મા બાય  
 છે તે શરીર પ્રમાણે સંકુચિત અથવા વિસ્તૃત થઈ બાય છે અને તે સમય આ  
 બન્ને શરીર પણ સૂક્ષ્મ અથવા સ્થૂલ શરીરના અનુસાર સંકુચિત અથવા વિસ્તૃત  
 થઈ બાય છે.

જેવી રીતે અકૃત્રિમ પર્વત બાદિના શ્ક બની રચના તો જેવી છે તેવી જ

સ્કન્ધાત્ પુગતના પુદ્ગલા સ્થરન્તિ નૂતનાસ્તુ તત્રાગત્ય મિલન્તિ, તથાજ્નયો-  
સ્તૈજસ-કાર્મણ-શરીરયો સ્વરૂપ ન કદાચિદ્ વિનશ્યતિ, પરન્તુ તત્રત્યા-  
પુરાતના કર્મપુદ્ગલાઃ સ્વસ્વફલપ્રદાનપુરસ્સર સ્વાવસ્થિતિસમયં સમાપ્યાપ-  
ગચ્છન્તિ, નૂતના પુન કર્મપુદ્ગલા આત્મપ્રદેશેષુ મિલિત્વા સ્વદ્વા મવન્તિ ।  
एवामात्मप्रदेशै सहानादिकालत प्रवाहरूपोऽय समायात. कर्मणा सम्बन्ध. ।

અયં ચ કર્મસમ્બન્ધસ્તદૈવ વિનશ્યતિ, યદાઽયમાત્મા મુક્તિં લમેત । આખ્યાં  
તૈજસકાર્મણશરીરાખ્યાં વિયોગ એવ મુક્તિરુચ્યતે । યદનાદિકાલત કાર્મણ-  
શરીર સસારિણો ન સ્યાત્ તદા કદાચિદપિ નવીનકાર્મણવર્ગણાભિર્વન્યો ન  
મવેત્ । કાર્મણશરીરાભાવાદેવ સિદ્ધાના કાર્મણવર્ગણાપરિપૂર્ણેઽપિ સિદ્ધક્ષેત્રે  
કર્મવન્ધો ન મવતિ ।

ફિર મી ઉસ સ્કન્ધ સે પુરાને પુદ્ગલ મિરતે રહતે હૈં ઔર નવીન પુદ્ગલ આકર ઉસમેં મિલ જાતે  
હૈં, હસી પ્રકાર તૈજસ ઔર કાર્મણ શરીર કા સ્વરૂપ કમી નહીં હોતા, કિન્તુ ઉસમેં કે  
પુરાને કર્મ-પુદ્ગલ અપના-અપના ફલ દેકર, અપની સ્થિતિ કા કાલ સમાપ્ત કરેકે હટ જાતે  
હૈં ઔર નવીન પુદ્ગલ આત્મપ્રદેશાં મેં મિલકર બદ્ધ હો જાતે હૈં । હસ પ્રકાર આત્મપ્રદેશોં કે સાથ  
કર્મોં કા સમ્બન્ધ અનાદિકાલ સે પ્રવાહરૂપ મેં ચલ જાતા હૈં ।

યહ કર્મ-સમ્બન્ધ ઉસી સમય નષ્ટ હોગા, જવ આત્મા મુક્ત હો જાયગા । તૈજસ ઔર  
કાર્મણ શરીર સે સર્વથા વિયોગ હો જાના હો આત્મા કી મુક્તિ હૈં । સંસારી જીવ કે સાથ  
અનાદિ કાલ સે કાર્મણ શરીર કા સમ્બન્ધ ન હોતા તો નવીન કર્મવર્ગણાઓ કા સમ્બન્ધ  
કમી ન હોતા । યજ્ઞપિ સિદ્ધક્ષેત્ર કાર્મણવર્ગણા સે મરા હુઆ હૈં, ફિર મી સિદ્ધોં મેં કાર્મણ  
શરીર ન હોને સે ઉન્હેં કર્મવન્ધ નહીં હોતા ।

વિજમાન રહે છે, તો પણ તે શ્કધમાથી પુરાણ પુદ્ગલ ખરતા રહે છે અને  
નવીન પુદ્ગલ આવીને તેમા મળી જાય છે એ પ્રમાણે તૈજસ અને કાર્મણ  
શરીરનું સ્વરૂપ કોઈ વખત પણ નાશ થતું નથી, પરંતુ તેમા પુરાણ કર્મપુદ્ગલ  
પોત-પોતાનું ફળ આપીને પોતાની સ્થિતિનો સમય સમાપ્ત કરીને હટી જાય છે,  
અને નવીન પુદ્ગલ આત્મપ્રદેશોમા મળીને બદ્ધ થઈ જાય છે આ પ્રમાણે આત્મ  
પ્રદેશોની સાથે કર્મોના સબંધ અનાદિ કાળથી પ્રવાહરૂપમા આવ્યો આવે છે

આ કર્મ-સબંધ તે સમયે નાશ થશે કે જ્યારે આત્મા મુક્ત થઈ જશે  
તૈજસ અને કાર્મણ શરીરની સર્વથા વિયોગ થઈ જવો તેજ આત્માની મુક્તિ છે.  
સંસારી જીવની સાથે અનાદિ કાલથી કર્મણ શરીરનો સબંધ એ ન હોત તો  
નવીન કર્મવર્ગણાઓનો સબંધ પણ કોઈ વખત નહીં થતો, એ કે સિદ્ધક્ષેત્ર

## (૧૩) આત્મન ઈર્ષ્યગતિસ્વભાવત્વમ્—

અયમાત્મા—ઈર્ષ્યગતિશીલ., અગુરુશ્ચુત્વાત્ । યદ્યેવં તર્હિ કથમધો ગચ્છતિ ? ।  
અલાભ્યુર્યયા સ્વભાવત ઈર્ષ્યગમનશીલોપિ મૃદ્ધેપાજ્જલેઽધો ગચ્છતિ, તદપગમાદર્ષ્ય-  
માજલાન્તાદ્ ગચ્છતિ, એવાત્માપિ કર્મલેપાદધો ગચ્છતિ તદપગમાદર્ષ્યમાલો-  
કાન્તાદ્ ગચ્છતિ । યથા ના—પરંહવીજમપિ ષ ધનમુક્ત સદૃર્ષ્ય ગચ્છતિ ।

## (૧૩) આત્માકા ઈર્ષ્યગતિસ્વભાવ—

યહ આત્મા ઈર્ષ્યગમન સ્વભાવ યાલા હૈ, કયો કિ વહ અગુરુશ્ચુ હૈ । પ્રશ્ન કિયા  
જા સક્તા હૈ કિ અગર યેસી બાત હૈ તો આત્મા અધોગમન કયો કરતા હૈ ? હસ પ્રશ્ન કા  
ઉત્તર યહ હૈ કિ જૈસે પાની મેં ઉપર કી ઓર ગમન કરને કા સુવેકા સ્વભાવ હૈ, ફિર મી  
મિટી કા લેપ કર દેન સે વહ અધોગમન કરતા હૈ ઓર લેપ હટ જાને પર જલ કી સતહ તક  
ઉપર કી ઓર ઊઠતા હૈ । હસી પ્રકાર આત્મા કર્મલેપ કે કારણ નીચે જાતા હૈ ઓર કર્મલેપ  
હટ જાને સે લોક કે અપ્રમાગ તક ઉપર કી ઓર જાતા હૈ । અથવા જૈસે—પરંહ કા બીજ  
બન્ધન સે મુક્ત હોકર ઉપર જાતા હૈ ઊસી પ્રકાર આત્મા મી કર્મબન્ધન કા નાશ હોને પર  
ઉપર જાતા હૈ ।

કામંધુવર્મણાએથી બરેલો છે, તો પણ સિદ્ધોમા કામંધુ શરીર નહિ હોવાથી તેને  
કામંધ ય તો નથી.

## (૧૪) આત્માનો ઈર્ષ્યગતિસ્વભાવ—

આ આત્મા ઈર્ષ્યગતિ-ગમન-સ્વભાવ યાળો છે, કારણ કે તે અશુદ્ધ-લુપ્ત છે  
તો પ્રશ્ન કરી શકાય છે કે અગર જો જો પ્રમાણે છે તો આત્મા અધોગમન કેમ  
કરે છે ? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર જો છે કે—પુનઃપુનઃ સ્વભાવ જેમ પાણીમા ઉપરની  
તરફ આવવાનો છે તો પણ તેને માટીનો લેપ કરી દેવાથી તે પાણીમાં નીચે જાય  
છે અને માટીનો લેપ દૂર થતા જલની સપાટી સુધી ઉપરના ભાગમાં આવે  
છે જો પ્રમાણે આત્મા કર્મલેપના કારણે નીચે જાય છે, અને કર્મલેપ દૂર થવાથી  
લોકના અપ્રમાગ સુધી ઉપરના ભાગમા જાય છે અથવા જેવી રીતે ચોરસાણુ બીજ  
બંધનથી મુક્ત થતાં ઉપર જાય છે તે પ્રમાણે આત્મા પણ કામંધન નાશ થતાં  
ઉપર જાય છે

## લોકવાદિપ્રકરણમ્-

યઃ પુનરેવરૂપમાત્માનં સર્વથા વિજ્ઞાયાત્મસ્વરૂપનિરૂપણપર. સ એવ વસ્તુતો લોકવાદીત્યાહ-‘લોકવાદી’ ઇતિ । લોક્યતે સર્વઘૈરિતિ લોક-પદ્ધતિવનિકાયરૂપ. । અત્ર લોકશબ્દેન પદ્ધતિવનિકાયો ગૃહ્યતે, મગવતાઽઽત્મજ્ઞાન-મેવ પુરસ્કૃત્ય લોકવાદિપ્રતિષેધનાત્ । યઃ પદ્ધતિવનિકાયરૂપ લોક વિજ્ઞાનાતિ સ એવ લોકવાદી=લોકસ્વરૂપકથનસ્વભાવવાન્, ન તુ પદ્ધતિવનિકાયપાનમિશ્ર ઇત્યર્થઃ ।

પદ્ધતિવનિકાયરસણેનૈવાત્મસ્વરૂપ પ્રકટીભવતિ । તત્ત્વ પદ્ધતિવ-

## લોકવાદિપ્રકરણ—

જો હવે પ્રકાર આત્મા કે સ્વરૂપ કો જ્ઞાન કર આત્મા કે નિરૂપણ મેં તત્પર હોતા હૈ વહી વાસ્તવ મેં લોકવાદી હૈ ।

સર્વજ્ઞો દ્વારા જો લોકા જાય—અવલોકન ક્રિયા જાય વહ લોક હૈ, અર્થાત્ પદ્ધતિવનિકાય કો લોક કહતે હૈ । ‘લોક’ શબ્દ સે યહો પદ્ધતિવનિકાય કા હી પ્રહણ ક્રિયા ગયા હૈ, ક્યોં કિ મગવાન્ ને આત્મજ્ઞાન કો હી આગે રસ્તકર લોકવાદી કા કથન ક્રિયા હૈ । જો પદ્ધતિવનિકાયરૂપ લોક કો જ્ઞાનતા હૈ વહો લોકવાદી હૈ, અર્થાત્ લોક કે સ્વરૂપ કા કથન કરને વાલા હૈ, કિન્તુ પદ્ધતિવનિકાય સે અનમિશ્ર નહીં ।

પદ્ધતિવનિકાય કી રક્ષા કરને સે હી આત્મા કા સ્વરૂપ પ્રકટ હોતા હૈ । પદ્ધતિવ-

## લોકવાદીપ્રકરણ

જો આ પ્રમાણે આત્માના સ્વરૂપને બહુ કરીને આત્માના નિરૂપણમા તત્પર થાય છે તે વાસ્તવિક રીતે લોકવાદી છે

સર્વજ્ઞ દ્વારા જે લોકાવાય-અવલોકન કરાય,—અર્થાત્ સર્વજ્ઞે જેને જોઈ શકે છે તે લોક છે અર્થાત્ પદ્ધતિવનિકાયને લોક કહે છે ‘લોક’ શબ્દથી પદ્ધતિવનિકાયનું જ મહત્ત્વ ક્યું છે, કારણ કે ભગવાને આત્મજ્ઞાનને જ આગળ રાખીને લોકવાદીનું કથન ક્યું છે જે પદ્ધતિવનિકાયરૂપ લોકને બાણે છે, તે લોકવાદી છે, અર્થાત્ લોકના સ્વરૂપનું કથન કરવા વાળા છે પદ્ધતિવનિકાયથી અનમિશ્ર થાય તે નહિ.

પદ્ધતિવનિકાયની રક્ષા કરવાથી જ આત્માનું સ્વરૂપ પ્રકટ થાય છે પદ્ધતિવ-

નિકાયજ્ઞાન વિના સદ્રશ્ય ન સમવતિ । અતઃ પદ્મજીવનિકાયસ્વરૂપ નિરૂપ્યતે—

જીવાસ્તાવત્ સક્ષેપતો દ્વિવિધાઃ—સિદ્ધા અસિદ્ધાથેતિ । તત્ર મુક્તિ પ્રાપ્તા સિદ્ધાઃ, સસારિણોઽસિદ્ધાઃ । સસારિણઃ પુનર્દ્વિવિધા—ત્રસ—સ્થાવરમેદાત્ । તત્ર પૃથિવ્યપ્રતેજોનાયુવનસ્પતયઃ સ્થાવરા । પ્રસાશ્રતુર્વિધાઃ—દ્વીન્દ્રિય—ત્રીન્દ્રિય—ચતુરિન્દ્રિય—પચ્ચેન્દ્રિયમેદાત્ । તપ્તેન્દ્રિયાણિ પચ્ચ શ્રોત્ર-ચક્ષુ-ઘ્રાણ-રસન-સ્પર્શનાલ્ખ્યાનિ । પૃથિવીકાયોઽપ્કાયસ્તેજસ્કાયો વાયુકાયો વનસ્પતિકાયથેતિ પચ્ચવિધા જીવા એકેન્દ્રિયાઃ । કમ્પાદયો દ્વીન્દ્રિયાઃ, પિપીલિકાદયસ્ત્રીન્દ્રિયાઃ, અમરાદયચતુરિન્દ્રિયાઃ । મનુષ્યાદયઃપચ્ચેન્દ્રિયાઃ ।

નિકાય કી રક્ષા ડસકે જ્ઞાન કે અમાલ મેં નહીં હો સકતી, અતઃ પદ્મજીવનિકાય કે સ્વરૂપ કા નિરૂપણ ક્રિયા જાતા હૈ—

સક્ષેપ મેં જીવો કે દો મેદ હૈ—સિદ્ધ જીવ ઓર અસિદ્ધ જીવ । મુક્ત જીવ સિદ્ધ કહ્લાતે હૈ ઓર સસારી જીવ અસિદ્ધ કહ્લાતે હૈ । સંસારી જીવ મી દો પ્રકાર કે હૈ—ત્રસ ઓર સ્થાવર । પૃથિવીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, ઓર વનસ્પતિકાય સ્થાવર હૈ । ત્રસ જીવ ચાર પ્રકાર કે હૈ—દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય ઓર પચ્ચેન્દ્રિય । શ્રોત્ર, ચક્ષુ, ઘ્રાણ (નાક), રસના ઓર સ્પર્શન, યે પાંચ હન્દ્રિયો હૈ । પૃથિવીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય ઓર વનસ્પતિકાય, યે પાંચ સ્થાવર જીવ એકેન્દ્રિય હૈ । કમિ આદિ દ્વીન્દ્રિય હૈ । પિપીલિકા (ચિંટો) આદિ ત્રીન્દ્રિય હૈ । મૈરા આદિ ચૌહન્દ્રિય હૈ । મનુષ્ય આદિ પચ્ચેન્દ્રિય હૈ ।

જીવનિકાયની રક્ષા તેના જ્ઞાનના અભાવમાં થઈ શકતી નથી, તે કારણથી ૫૬ જીવનિકાયના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવે છે —

સંક્ષેપમાં જીવના બે ભેદ હૈ—(૧) સિદ્ધજીવ અને (૨) અસિદ્ધજીવ મુક્તજીવ તે સિદ્ધ કહેવાય છે અને અસિદ્ધ તે સસારી જીવ કહેવાય છે સસારી જીવ પણ બે પ્રકારના છે (૧) ત્રસ અને (૨) સ્થાવર. પૃથિવીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, અને વનસ્પતિકાય તે સ્થાવર છે ત્રસ જીવ ચાર પ્રકારના છે દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પચ્ચેન્દ્રિય. શ્રોત્ર (કાન) ચક્ષુ (નેત્ર), ઘ્રાણ (નાક), રસના (જીભ), અને સ્પર્શન (ચામડી), આ પાંચ ઈન્દ્રિયો છે પૃથિવીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય અને વનસ્પતિકાય, આ પાંચ સ્થાવરજીવ એકેન્દ્રિય છે, કમિ આદિ દ્વીન્દ્રિય છે કીરી આદિ ત્રીન્દ્રિય છે, ભમરા વગેરે ચૌહન્દ્રિય

અત્ર પચ્ચ સ્થાવરા એકત્વસથેતિ મિલિત્વા પઠ્ઠજીવનિકાયા મવન્તિ  
 ઇયાં પ્રત્યેક મેદાન્ મદર્શયામઃ—

### (૧) પૃથિવીકાયમેદા.—

પૃથિવીકાયસ્તાવદુચ્યતે—પૃથિવ્યેવ કાયો યસ્ય સ પૃથિવીકાયઃ ।  
 પૃથિવીકાયાદય પચ્ચ સ્થાવરનામકર્મોદયાત્ સમુત્પન્નાસ્તસ્માદિમે સ્થાવરા ઇતિ  
 કથ્યન્તે । પૃથિવીકાયોઽનેકવિધઃ, શુદ્ધપૃથિવીશર્કરા—વાલ્લકાદિમેદાત્ । તત્ર  
 શર્કરાદિમેદરહિતા મૃત્તિકારૂપા, તથા ગોમયકચવરાદિરહિતા વા પૃથિવી—

પાંચ સ્થાવર ઓર એક ગ્રસ મિલકર પૃથ્વીજીવનિકાય હૈં । ઇન સબકે  
 મેદ દિલ્લાતે હૈં—

### (૧) પૃથિવીકાય કે મેદ—

પૃથિવી હી જિસ કા શરીર હો, વહ પૃથ્વીકાય કહલાતા હૈ । પૃથ્વીકાય આદિ પાંચો  
 સ્થાવરનાકર્મ કે ઉદય સે ઉત્પન્ન હોને કે કારણ સ્થાવર કહલાતે હૈં । પૃથિવીકાય  
 બનેક પ્રકાર કા હૈં—શુદ્ધ પૃથિવી, શર્કરા, વાલ્લ આદિ । ઊનમેં શર્કરા આદિ  
 મેદો સે રહિત મૃત્તિકારૂપ, તથા ગોશર યા કચરા આદિ સે રહિત પૃથિવી શુદ્ધપૃથિવી  
 કહલાતી હૈ । પથર કે છોટે—છોટે સ્વળ્હો સે મિલી હુઈ મૃત્તિકા શર્કરા પૃથિવી હૈ ।

છે, મનુષ્ય આદિ પચ્ચિન્દ્રિય છે

પાંચ સ્થાવર અને એક ગ્રસ મળીને પૃથ્વીજીવનિકાય છે એ તમામના લેહો  
 બતાવે છે:—

### (૧) પૃથિવીકાયના લેહ—

પૃથિવી જેનું શરીર હોય, તે પૃથિવીકાય કહેવાય છે પૃથ્વીકાય આદિ પાંચય  
 સ્થાવરનામકમના ઉદયથી ઉત્પન્ન હોવાના કારણે સ્થાવર કહેવાય છે પૃથ્વીકાય બનેક  
 પ્રકારે છે, શુદ્ધપૃથ્વી, શર્કરા, વાલ્લ (રેતી) આદિ તેમાં શર્કરા આદિ લેહોથી રહિત  
 મૃત્તિકારૂપ, અને છાણ અથવા કચરા આદિથી રહિત પૃથ્વી શુદ્ધપૃથ્વી કહેવાય છે  
 પથ્થરના નાના—નાના કકડાઓથી મળેલી માટી તે શર્કરા પૃથિવી છે વાલ્લ (રેતી)

શુદ્ધપૃથિવી । અશ્મલઘુસ્વન્દમિથિતા મૃત્તિકા-શર્કરાપૃથિવી । વાલુકામ્પતિમિથા મૃત્તિકા-વાલુકાપૃથિવી । એવ મહુવિધાઃ પૃથિવીકાયાઃ, તથાહિ--

વપલ - શિલા - લઘ્વણી-પર - લોહ - વ્રપુ - તામ્ર - સીસક - રજત-સુવર્ણ હરિતાલ-  
શિશ્નુલક-મનઃશિલા-સસ્યકાઞ્જન-પ્રવાલા-મ્રકપટલા-મ્રવાલુકા-ગોમેદ-રુચકા-ઙ્ક-  
સ્ફટિક - લોહિતાશ્વ - મરકત-મસારગણ્ઢ-મુજગે-ન્દ્રનીલ-ગોપીચન્દન-ગૈરિક હસગર્મ  
પુલક-સૌગન્ધિક-ચન્દ્રકાન્ત-સૂર્યકાન્ત-વૈદૂર્ય-જલકાન્તાદય સર્વે વાદરપૃથિવીકાય-  
મેદા । एते च शुद्धपृथिव्यादयः स्वस्वनिस्थिता एव चेतनावन्तः । गोमय-  
कचवरादिरूपशस्त्रોपहृता रविवह्नितापरूपशस्त्रોपहृताश्च गतचेतना भवन्ति ।

વાલુ મિલી મૃત્તિકા વાલુકા પૃથિવી કહણાતી હૈ । હસ પ્રકાર પૃથિવીકાય કે અનેક મેદ હૈ,  
વે હસ પ્રકાર —

પત્થર, શિલ, નમક, સ્વર, લોહા, રાંગા, તાંબા, શીશા, ચાંદી, સોના, હઢતાલ, હિંગલ,  
મૈનસિલ, સસ્યકાઞ્જન, મૂગા, અમ્રક અમ્રવાલુકા ગોમેદ, રુચક, અઙ્ક, સ્ફટિક, લોહિતાશ્વ,  
મરકત, મસારગણ્ઢ, મુજગ, હન્દ્રનીલ, ગોપીચન્દન, ગેરુ, હસગર્મ, પુલક, સૌગન્ધિક, ચન્દ્રકાન્ત  
સૂર્યકાન્ત, વૈદૂર્ય, જલકાન્ત, આદિ વાદર પૃથિવીકાય કે મેદ હૈ । વે શુદ્ધ પૃથિવી આદિ જવ  
અપની સ્થાન મૈ સ્થિત હોતે હૈ તમી સચેતન હોતે હૈ । ગોમર, કચરા આદિ શસ્ત્રો સે  
ઉપહૃત હોકર યા સૂર્ય કી રૂપ ઓર અગ્નિ કે તાપરૂપ શક્તિ સે અચેતન હો જાતે હૈ ।

મગેલી માટી વાલુકાપૃથિવી કહેવાય છે એ પ્રમાણે પૃથિવી કાયના અનેક લેહ છે

પત્થર, શિલા, મીઠુ, ઉપર-ખારો, લોહ, રાંગો, (કલક), ત્રાણુ, સીંચું, ચાંદી,  
સોનું, હડતાલ, હિંગલો, મનશિલ, મુરમો, મૂગા-પરવાળાં, અમ્રક, અમ્રવાલુકા,  
ગોમેદ, રુચક, અઙ્ક, સ્ફટિક, લોહિતાશ્વ, મરકત, મસારગણ્ઢ, મુજગ, હન્દ્રનીલ,  
ગોપીચન્દન, ગેરુ, હસગર્મ, પુલક, સૌગન્ધિક, ચન્દ્રકાન્ત, સૂર્યકાન્ત, વૈદૂર્ય, જલકાન્ત  
આદિ વાદરપૃથિવીકાયના લેહ છે (આ ખર વાદર પૃથ્વીકાય છે) એ શુદ્ધ  
પૃથિવી આદિ જ્યારે પોતાની આણુમાં સ્થિત હોય છે, ત્યારે તે સચેતન હોય છે.  
છાણુ-કચરો આદિ શસ્ત્રોથી ઉપહૃત (હણાએલા) થઈને, અથવા તેા સૂર્ય અને  
અગ્નિના તાપરૂપ શક્તિથી અચેતન થઈ જાય છે

ઉક્તવાદરપૃથિવીકાયાનાં યૈવૈકો જીવસ્તત્ર નિયમતોઽસહ્યાતા\* પૃથિવીકાયા  
જીવા સન્તિ । સ્થાનમપ્યેષાં પૃથિવી-પાતાલ-મવન-નરક-પ્રસ્તર-વિમાનાદિક  
દ્વેયમ્ । સૂક્ષ્મપૃથિવીકાયજીવાસ્તુ સર્વલોકવ્યાપિનઃ । ઉમયેષા મેદમમેદાઃ  
સર્વેષમણીતાદાગમાદવગન્તવ્યા ।

(૨) અપ્કાયમેદા.—

અપ્કાયોઽનેકવિધ -અવશ્યાય - મિહિકા - કરક-હરતનુ - શુદ્ધ-શીતો-ઘ્ન-  
ક્ષારા-ઝલ-લવણ-ક્ષીરોદક-ઘૃતોદકાદિમેદાત્ । એકો યત્રાપ્કાયસ્તત્રાસહ્યાતા  
અપ્કાયા સન્તિ । વાદરાપ્કાયના સમુદ્ર-ઠદ-નદી-વાપી-કૂવાદિઃ સ્થાનમ્ ।  
સૂક્ષ્માપ્કાયસ્તુ સર્વલોકવ્યાપક । અસ્યાપિ મેદપ્રમેદા આગમતો વિદ્વેયા ।

ઉક્ત વાદર પૃથિવીકાય આદિ કા જહાં ઈક જીવ હૈ વહાં નિયમ સે અસહ્યાત પૃથિવીકાય  
કે જીવ હૈ । પૃથિવી પાતાલ, મવન, નરક-પ્રસ્તર, વિમાન આદિ इनके स्थान हैं ।  
सूक्ष्म पृथिवीकाय के जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं । दोनों के मेद-प्रमेद सर्वज्ञोक्त आगम  
से समझ लेने चाहिए ।

(૨) અપ્કાય કે મેદ—

અપ્કાય અનેક પ્રકાર કા હૈ—ઓસ, મિહિકા, ઓલ, હરતનુ, શુદ્ધજલ, શીતજલ,  
ઝળજલ, ક્ષાર, અઝલ લવણજલ (ત્વારા પાની) ક્ષીરોદક, ઓર ઘૃતોદક આદિ । જહાં ઈક અપ્કાય  
હૈ વહાં અસહ્યાત અપ્કાય હૈ । વાદર અપ્કાયકા સ્થાન સમુદ્ર, તલાવ, નદી, વાવડી,  
કૂપ આદિ હૈ, ઓર સૂક્ષ્મ અપ્કાય સમસ્ત લોક મેં વ્યાપ્ત હૈ । ઇસકે મી મેદ-પ્રમેદ  
આગમ સે સમજના ચાહિય ।

ઉપર કહેલા બાહર પૃથિવીકાય આદિને બ્યા એક જીવ છે ત્યા નિયમથી  
અસહ્યાત પૃથિવીકાય જીવ છે પૃથિવી, પાતાલ, મવન, નરક-પ્રસ્તર, વિમાન આદિ  
તેના સ્થાન છે સૂક્ષ્મ પૃથિવી કાયના જીવ સમસ્ત લોકમાં વ્યાપ્ત છે એ બનેના  
મેદ-પ્રમેદ સર્વજ્ઞોના આગમથી સમજી લેવા જોઈએ

(૨) અપ્કાયના મેદ—

અપ્કાયના અનેક પ્રકાર છે—ઓસ, મિહિકા (નિહાર), ઓળો, હરતનુ-  
(પૃથ્વીને લેઈને તૃણના અગ્રભાગ વગેરે ઉપર રહેનાર પાણી) શુદ્ધ જલ  
(અતરિક્ષથી પડેલુ અથવા નદીનું પાણી) શીતજલ, ઉષ્ણજલ (સ્વભાવથી ગરમ  
પાણીના કુંડોનું પાણી), ખાટુ જલ, ખારુ જલ, ક્ષીરોદક અને ઘૃતોદક આદિ, (લવણ,  
વારુણ, ક્ષીર, ધીરુરસ અને ગુહકરવર સમુદ્રના પાણી) બ્યા એક અપ્કાય છે, ત્યાં  
અસહ્યાત અપ્કાય છે બાહર અપ્કાયના સ્થાન સમુદ્ર, તળાવ, નદી, વાવડી, કૂવા  
આદિ છે, અને સૂક્ષ્મ અપ્કાય સમસ્ત લોકમાં વ્યાપ્ત છે તેના મેદ-પ્રમેદ પણ  
આગમથી સમજવા જોઈએ.



## (૩) તેજસ્કાયમેદા.—

તેજસ્કાયોઽનેકવિધ —અદ્ધારાચિરલાતશુદ્ધાગ્ન્યાદિમેદાત્ । ઇમે તેજસ્કાયા બીજા ઘાદરાઃ । યત્રૈકસ્તેજસ્કાયસ્તત્રાઽસંખ્યાતાસ્તેજસ્કાયા સન્તિ । તેષાં સ્થાન સાર્પતરીપદ્વીપરૂપસમયક્ષેત્રમેવ, ન તતો યદિઃ । સૂક્ષ્માસ્તુ સર્વલોકવ્યાપિનઃ । एषां મેદ-પ્રમેદા પૂર્વવદ્ વિજ્ઞેયા

## (૪) વાયુકાયમેદાઃ—

વાયુકાયઃ પૌરસ્ત્ય-પાશ્ચાત્યાદ્યુત્કલિમ્બલિકાદિમેદાદનેકવિધઃ । ઘાદર વાયુકાયનાં સ્થાનં ઘનવાત-તનુવાત-તદ્વલયાધોલોપપાતાલમવનાદિકમ્ । સૂક્ષ્મા વાયુકાયા સર્વલોકવ્યાપિનઃ । एषां મેદપ્રમેદાઃ પૂર્વવદ્ વેદિતવ્યાઃ ।

## (૩) તેજસ્કાય કે મેદ—

તેજસ્કાય અનેક પ્રકાર કા છે, જેસે—અંગાર, જ્વાલા, અભ્યત, શુદ્ધ-અગ્નિ આદિ । જોઈ એક ઘાદર તેજસ્કાય કા બીજ હોતા છે જોઈ અસંખ્યાત તેજસ્કાય હોતે હૈં । ઇન કા સ્થાન અદાર્શદ્વીપરૂપ સમય ક્ષેત્ર હી છે, ડસ ક્ષે ઘાદર યે નહીં હોતે । સૂક્ષ્મ તેજસ્કાય કે બીજ લોકવ્યાપી હૈં । ઇન કે મી મેદ-પ્રમેદ આગમ સે સમજને વાદિપ્ ।

## (૪) વાયુકાય કે મેદ—

વાયુ કે મી પૂર્વા ઔર પશ્ચિમી આદિ કે મેદ સે ઔર ઉત્કલિક મળ્ડલિક આદિ કે મેદ સે અનેક પ્રકાર હૈં । ઘનવાત, તનુવાત, વલય, અધોલોક ઔર પાતાલ, મવન આદિ ઘાદર વાયુકાય કે સ્થાન હૈં । સૂક્ષ્મ વાયુકાય સર્વલોકવ્યાપી છે ।

## (૩) તેજસ્કાયના સેદ—

તેજસ્કાય અનેક પ્રકારના છે, જેમ કે અંગાર, જ્વાલા, અભ્યત, શુદ્ધ અગ્નિ, આદિ, બધા એક ઘાદર તેજસ્કાયના એવ હોય છે ત્યા અસંખ્યાત તેજસ્કાય હોય છે તેનુ સ્થાન અદાર્શદ્વીપરૂપ સમયક્ષેત્ર જ છે, તેનાથી બહાર તે નથી સૂક્ષ્મ તેજસ્કાયના એવ લોકવ્યાપી છે તેના પણ સેદ-પ્રલોક આગમથી બધી હોવા જોઈએ.

## (૪) વાયુકાયના સેદ—

વાયુકાય પણ પૂર્વ અને પશ્ચિમ આદિના સેદથી, અને ઉત્કલિક (જેમ સમુદ્રમાં ઠરસોહો) મહાલિક, (મૂળમાંથી જે ગોળ ફરતો વાતો હોય તે વાયુ) આદિ સેદથી અનેક પ્રકારનો છે, ઘનવાત, તનુવાત, વલય, અધોલોક, અને પાતાલ, મવન આદિ ઘાદર વાયુકાયના સ્થાન છે, અને સૂક્ષ્મ વાયુકાય સર્વલોકવ્યાપી છે.

ઈમૌ તેજસ્કાય-વાયુકાયૌ ગતિસ્વમાવૃતયા ત્રસાવપિ નિગદ્યેતે ।

### (૫) વનસ્પતિકાયમેદા—

વનસ્પતિકાયોડનેકવિધ - શૈવાલ - પનક - હરિદ્રા - ડર્દ્રક-મૂલકા - લૂક-સૂરણ-પલાણ્ડ-લશુન-કન્દાદિમેદાત્ । ઇમે વનસ્પતિકાયા સાધારણા ઉચ્યન્તે । ઘ્નગુચ્છગુલ્મલતાદય પ્રત્યેકશરીરા ઉચ્યન્તે । સાધારણવનસ્પતિકાયસ્યૈકસ્મિન્

इनके मेद-प्रमेद पूर्ववत् आगम से जानने चाहिये । तेजस्काय और वायुकाय गतिशील होने के कारण त्रस भी कहे जाते हैं ।

### (૫) વનસ્પતિકાય કે મેદ-

વનસ્પતિકાય અનક પ્રકાર કા છે । જેસે-શૈવાલ, પનક, હરિદ્રા, (હલ્દી), આર્દ્રક (અવરલ) મૂલક, અદ્રક (આલ), સૂરણ, પ્યાજ, લહસુન, જૌર કન્દા આદિ । ये वनस्पतियों साधारण कहलाती हैं । तथा वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि प्रत्येकशरीर कहलाती हैं । साधारण वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं । इनका

તેના લેદ-પ્રમેદ પૂર્વ પ્રમાણે આગમથી સમજી લેવા જોઈએ. તેજસ્કાય અને વાયુકાય ગતિશીલ હોવાના કારણે ત્રસ પણ કહેવામાં આવે છે

### (૫) વનસ્પતિકાયના લેદ—

વનસ્પતિ કાય અનેક પ્રકારે છે, જેમકે-શૈવાલ, પનક, હરિદ્રા, આદ્ર, મૂલક, આલ, સૂરણ, ડુમળી, લસણ અને કન્દા આદિ આ વનસ્પતિઓ સાધારણ કહેવાય છે, (જેમા અનંત જીવો હોય તેને સાધારણ કહે છે) તથા વૃક્ષ, (ભગવતી સૂત્રમા વૃક્ષેના ત્રણ લેદો પાડેલા છે (૧) શૃંગળેર (આદ્ર)ની પેઠે અનંત જીવોવાળા ઝાડો, (૨) આબાની માફક અસખ્ય જીવોવાળા ઝાડો, (૩) અને તાલ-તમાલ વગેરે પ્રમાણે સખ્યાત જીવોવાળા ઝાડો) ગુચ્છ, ગુલ્મ (નવમાસિકા બાઈ વગેરે) લતા આદિ પ્રત્યેક શરીર કહેવાય છે સાધારણ વનસ્પતિ કાયના એક શરીરમા અનંત જીવ હોય છે તેનું સ્થાન ઘનોદધિ આદિ છે સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય સર્વ લોકવ્યાપી છે.

## (૩) તેજસ્કાયભેદા—

તેજસ્કાયોડનેકવિધ—અગ્નિચરિત્વાતશુદ્ધાગ્ન્યાદિભેદાત્ । इमे तेजस्काया जीवा बादरा । यत्रैकस्तेजस्कायस्तत्राप्सरुष्यतास्મેजस्काया सन्ति । तेषां स्यान् सार्धतृतीयद्वीपरूपसमयक्षेत्रमेव, न ततो वरि । सूक्ष्मास्तु सर्वलोकव्यापिन । एषां भेद—प्रमेदा पूर्ववद् विज्ञेया

## (૪) વાયુકાયભેદા—

વાયુકાયઃ પૌરસ્ત્ય-પામાત્યાધુત્કલિમળલિકાદિભેદાદનેકવિધ । वादर वायुकायानां स्यान् घनवात-तनुवात-तद्रलपाघोलोभपातालमबनादिकम् । सूक्ष्मा वायुकाया सर्वलोकव्यापिन । एषा भेदप्रमेदाः पूर्ववद् वेदितव्याः ।

## (૩) તેજસ્કાય કે ભેદ—

તેજસ્કાય અનેક પ્રકાર કા છે, જેણે—અગ્નિ, જ્વાલા, અક્ષાત, શુદ્ધ-અગ્નિ આદિ । જ્યાં એક બાદર તેજસ્કાય કા બીજ હોતા હૈ વહો અસંખ્યાત તેજસ્કાય હોતે હૈ । इन का स्थान अर्धद्वीपरूप समय क्षेत्र ही है, उस से बाहर ये नहीं होते । सूक्ष्म तेजस्काय के जीव लोकव्यापी हैं । इन के भी भेद—प्रमेद आगम से समझने चाहिए ।

## (૪) વાયુકાય કે ભેદ—

વાયુ કે મી પૂર્ણ ઓર પશ્ચિમી આદિ કે ભેદ સે ઓર ઉત્કલિક મળડલિક આદિ કે ભેદ સે અનેક પ્રકાર હૈ । घनवात, तनुवात, वलय, अधोलोक और पाताल, मबन आदि बादर वायुकाय के स्थान हैं । सूक्ष्म वायुकाय सर्वलोकव्यापी है ।

## (૩) તેજસ્કાયના ભેદ—

તેજસ્કાય અનેક પ્રકારના છે, જેમ કે અગ્નિ, જ્વાલા, અક્ષાત, શુદ્ધ અગ્નિ, આદિ, જ્યાં એક બાદર તેજસ્કાયનો ભવ હોય છે ત્યાં અસંખ્યાત તેજસ્કાય હોય છે તેનું સ્થાન અર્ધદ્વીપરૂપ સમયક્ષેત્ર જ છે, તેનાથી બહાર તે નથી સૂક્ષ્મ તેજસ્કાયના ભવ લોકવ્યાપી છે તેના પણ ભેદ—પ્રમેદ આગમથી બાધી હોવા બોધ્યો.

## (૪) વાયુકાયના ભેદ—

વાયુકાય પણ પૂર્વ અને પશ્ચિમ આદિના ભેદથી, અને ઉત્કલિક (જેમ સમુદ્રમાં ઠસોટો) મહાલક, (મૂળમાંથી જે જાળ ફરતો વાતો હોય તે વાયુ) આદિ ભેદથી અનેક પ્રકારનો છે, ઘનવાત, તનુવાત, વલય, અધોલોક, અને પાતાલ, મબન આદિ બાદર વાયુકાયના સ્થાન છે, અને સૂક્ષ્મ વાયુકાય સર્વલોકવ્યાપી છે.

૩મી તેજસ્કાય-વાયુકાયો ગતિસ્વભાવતયા ત્રસાવપિ નિગદ્યેતે ।

### (૫) વનસ્પતિકાયમેદા —

વનસ્પતિકાયોડનેકવિધ — શૈવાલ — પનક — હરિદ્રા — ડર્ટ્રક — મૂલકા — લૂક — સૂરણ — પલાણ્ડ — લશુન — કન્દાદિમેદાત્ । ૩મે વનસ્પતિકાયા સાધારણા ઉચ્યન્તે । વૃક્ષગુચ્છગુલ્મલતાદય પ્રત્યેકશરીરા ઉચ્યન્તે । સાધારણવનસ્પતિકાયસ્યૈકસ્મિન્

ફળકે મેદ-પ્રમેદ પૂર્વવત્ આગમ સ જાનને વાહિન । તેજસ્કાય ઔર વાયુકાય ગતિશીલ હોને કે કારણ ત્રસ મી કહે જાતે હૈ ।

### (૫) વનસ્પતિકાય કે મેદ-

વનસ્પતિકાય અનેક પ્રકાર કા હૈ । જૈસે-શૈવાલ, પનક, હરિદ્રા, ( હલ્દી ), આર્દ્રક ( અદરસ ) મૂલક, અલ્બક ( આલ ), સૂરણ, પ્યાજ, લહસુન, ઔર કન્દ આદિ । યે વનસ્પતિયા સાધારણ કહલાતી હૈ । તથા વૃક્ષ, ગુચ્છ, ગુલ્મ, લતા આદિ પ્રત્યેકશરીર કહલાતી હૈ । સાધારણ વનસ્પતિકાય કે ઇક શરીર મેં અનન્ત જીવ હોતે હૈ । ઇનકા

તેના લેદ-પ્રલેદ પૂર્વ પ્રમાણે આગમથી સમજી લેવા જોઈએ. તેજસ્કાય અને વાયુકાય ગતિશીલ હોવાના કારણે ત્રસ પણ કહેવામા આવે છે

### (૫) વનસ્પતિકાયના લેદ-

વનસ્પતિ કાય અનેક પ્રકારે છે, જેમકે-શૈવાલ, પનક, હરિદ્રા, આદ્ર, મૂલક, આલ, સૂરણ, હુ ગળી, લસણ અને કન્દ આદિ આ વનસ્પતિઓ સાધારણ કહેવાય છે, ( જેમા અન ત જીવો હોય તેને સાધારણ કહે છે ) તથા વૃક્ષ, ( ભગવતી સૂત્રમા વૃક્ષોના ત્રણ લેદો પાઠેલા છે (૧) શૃંગબેર (આદ્ર)ની પેઠે અન ત જીવોવાળા જાડો, (૨) આબાની માફક અસખ્ય જીવોવાળા જાડો, (૩) અને તાલ-તમાલ વગેરે પ્રમાણે સખ્યાત જીવોવાળા જાડો ) ગુચ્છ, ગુલ્મ ( નવમાલિકા જાઈ વગેરે ) લતા આદિ પ્રત્યેક શરીર કહેવાય છે સાધારણ વનસ્પતિ કાયના એક શરીરમા અનન્ત જીવ હોય છે તેનું સ્થાન બનોઠકિ આદિ છે સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય સર્વ લોકવ્યાપી છે.

શરીરેડનન્તા જીવા સન્તિ । एषां स्थान घनोदध्यादि । सूक्ष्मास्तु वनस्पतिकाया सर्वलोकव्यापिनः । एषां भेदप्रभेदाश्च शास्त्रतोऽवसेयाः । एते पञ्च स्थावरा स्पर्शन रूपकेन्द्रियाः ।

પંચ જીવનિકાયા ઉક્તા, શ્દાનીં પષ્ટછસાધિકારઃ કથ્યતે—

(૬) પ્રસકાયભેદાઃ—

પ્રસસ્ત્વ દ્વિવિધ, ક્રિયાતો લઘ્વિતશ્ચ । તત્ર ક્રિયા = કર્મ-ચલન-દેશાન્તર-માસિ । અથ ક્રિયયૈવ તેજસ્કાયો વાયુકાયશ્ચ પ્રસો મત્તિ । લઘ્વ્યા તૃમૌ સ્થાવરૌ । દ્વીન્દ્રિયાદયસ્તુ ક્રિયયા લઘ્વ્યાપિ પ્રસા મત્તિ । લઘ્વિર્દિ પ્રસનામકર્મો-દય, દેશાન્તરપ્રાપ્તિલક્ષણા ક્રિયાડપિ દ્વીન્દ્રિયાદીનામ્ । સ્થાવરનામકર્મોદયરૂપયા સ્થાન ઘનોદધિ આદિ હૈ । સૂક્ષ્મ ઘનસ્પતિકાય સર્વલોકવ્યાપી હૈ । इनके भेद-प्रभेद शास्त्र से समझ लेने चाहिए । इन पांच स्थावरों को एकमात्र स्पर्शनइन्द्रिय होती है ।

પાંચ જીવનિકાયાં કા કથન કિયા જા ચુકા હૈ । અથ છેટે પ્રસકાય કા પ્રરૂપણ કિયા જાતા હૈ—

(૬) પ્રસકાય—

પ્રસપન દો પ્રકાર કા હૈ—ક્રિયા સે ઔર લઘ્વિ સે । કાર્ય કરના, ચલના, એક જગહ સે દૂસરી જગહ જાના ક્રિયા હૈ । હસ ક્રિયા સે હા તેજસ્કાય ઔર વાયુકાય પ્રસ કદલાતે હૈ । લઘ્વિકી અપેક્ષા યે દોના સ્થાવર હી હૈ । દ્વીન્દ્રિય આદિ, ક્રિયા સે મી પ્રસ હૈ ઔર લઘ્વિ સે મી । यहाँ प्रसनामकर्म का उदय लघ्वि है, और देशान्तर में तेना भेद-प्रभेद शास्त्रથી સમજ લેવા જોઈએ । આ પાંચ સ્થાવરોને એક માત્ર સ્પર્શન ઇન્દ્રિય કોય છે

આ પાંચ જીવનિકાયાંનું કથન કરી શૂદ્ધતા છીએ હવે છઠ્ઠા પ્રસ કાયનું પ્રરૂપણ કરવામાં આવે છે—

(૭) પ્રસકાય—

પ્રસપણ એ પ્રકારનું છે—ક્રિયાથી અને લઘ્વિથી । કાર્ય કરવું, ચાલવું, એક જગ્યાથી બીજી જગ્યાએ જવું તે ક્રિયા છે આ ક્રિયાથી જ તેજસ્કાય અને વાયુકાય પ્રસ કહેવાય છે, લઘ્વિની અપેક્ષાએ આ બંને સ્થાવર જ છે દ્વીન્દ્રિય આદિ ક્રિયાથી પણ પ્રસ છે અને લઘ્વિથી પણ પ્રસ છે બાદિ પ્રસનામકર્મોના ઉદય તે લઘ્વિ છે, અને દેશાન્તરમાં ગમન કરવું તે ક્રિયા છે દ્વીન્દ્રિય આદિમાં જો બંને ભોવામાં

લઘ્યા પ્રથિવ્યપ્રતેજોનાયુનસ્પતય સર્વે સ્થાવરા એવ । એવ ચ ત્રસ પશ્વિધ  
તેજસ્કાય-વાયુકાય-દ્વીન્દ્રિય-ત્રીન્દ્રિય-ચતુરિન્દ્રિય-પન્ચેન્દ્રિય-મેદાત્ । તત્ર  
તેજસ્કાયો વાયુકાયથ પ્રાણુક્ત ।

દ્વીન્દ્રિયાત્પિ ચતુર્વિધેષુ ત્રસત્રીવેષુ દ્વીન્દ્રિયાસ્તાવદુચ્યન્તે—

(૧) દ્વીન્દ્રિય —

શરીરકાષ્ઠાદિજા — ક્રમય , ફલાદિજા — નીલક્રમમૃતય , ગોમયા—  
દિજા — ગન્દોલકાદય , જલજા — શશ્વશુક્તિશમ્પૂકજલૌકામમૃતયો દ્વીન્દ્રિયા ।

ગમન કરના ક્રિયા છે, દ્વીન્દ્રિય આદિ મેં એ બોના પાઈ જાતી હૈં । સ્થાવરનામકર્મો—  
દયરૂપ લઘ્વિ કી અપજ્ઞા પૃથ્વી, અપ્, તેજ, વાયુ, ઔર વનસ્પતિ, એ સબ સ્થાવર હૈં ।  
ઇસ પ્રકાર ત્રસત્રીવ છહ પ્રકાર કે હૈં—તેજસ્કાય, વાયુકાય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય,  
ઔર પન્ચેન્દ્રિય । ઇન મેં સે તેજસ્કાય ઔર વાયુકાય કા વર્ણન પહેલે કિયા ના જુકા હૈ ।

દ્વીન્દ્રિય આદિ ચાર પ્રકાર કે ત્રસત્રીવોં મેં સે પ્રથમ દ્વીન્દ્રિય કા સ્વરૂપ બતલાતે હૈં—

(૧) દ્વીન્દ્રિય—

શરીર ઔર કાઠ આદિ મેં ઉત્પન્ન હોને વાલી કૃમિ, ફલ આદિ મેં ઉત્પન્ન  
હોને વાલે નીલગુ બગૈરહ, ગોવર મેં ઉત્પન્ન હોને વાલે ગિંદોછા બગૈરહ, જલ મેં પૈશ  
હોને વાલે શશ્વ, સીપ, જાફ આદિ દ્વીન્દ્રિય બીજ હૈં । ઇન કે સ્પર્શન ઔર રસના, એ બો  
આવે છે સ્થાવરનામકર્મોદય લઘ્વિની અપેક્ષા-પૃથ્વી, અપ્, તેજ, વાયુ, વનસ્પતિ,  
આ સર્વ સ્થાવર છે આ પ્રમાણે ત્રસ એવ છે પ્રકારના છે—તેજસ્કાય, વાયુકાય,  
દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પન્ચેન્દ્રિય. આમાથી તેજસ્કાય અને વાયુકાયનુ  
પર્ચન પહેલાં કરવામા આંચુ છે

દ્વીન્દ્રિય આદિ ચાર પ્રકારના ત્રસ એવોમાથી દ્વીન્દ્રિય આદિનુ સ્વરૂપ  
બતાવે છે

(૧) દ્વીન્દ્રિય—

શરીર અને કાઠ આદિમા ઉત્પન્ન થવા વાળા કૃમિ, ફળ આદિમા ઉત્પન્ન  
થવા વાળા નીલગુ વગેરે. છાશુમા ઉત્પન્ન થવા વાળા ગિંદોછા વગેરે જલમાં  
ઉત્પન્ન થવા વાળા શખ, શીપ, જળો વગેરે દ્વીન્દ્રિય એવ છે તેને સ્પર્શન અને

ધરીરેઽનન્તા જીવા સન્તિ । एपां स्यान् घनोदध्यादि । सूक्ष्मास्तु वनस्पतिकाया  
सर्वलोकव्यापिन । एषा भेदप्रमेदाश्च शास्त्रतोऽवसेया । एते पञ्च स्थावरा स्पर्शन  
रूपैकेन्द्रियाः ।

પચ્ચ જીવનિકાયા ઉક્તા , શ્વાનીં પષ્ટસાધિકારઃ કલ્પયતે—

(૬) પ્રસકાયમેદાઃ—

અસત્ત્વં દ્વિવિધ, ક્રિયાતો લઘ્વિતથ । તત્ર ક્રિયા = કર્મ-ચલન-દેશાન્તર-  
પ્રાપ્તિ । અતઃ ક્રિયયૈવ તેજસ્કાયો વાયુકાયશ્ચ પ્રસો મવતિ । લઘ્વ્યા ત્મો  
સ્થાવરૌ । દ્વીન્દ્રિયાદયસ્તુ ક્રિયયા લઘ્વ્યાપિ પ્રસા મવન્તિ । લઘ્વિર્હિં પ્રસનામકર્મો-  
દયઃ, દેશાન્તરપ્રાપ્તિરુક્ષણા ક્રિયાઽપિ દ્વીન્દ્રિયાદીનામ્ । સ્થાવરનામકર્મોદયરૂપયા  
સ્થાન ઘનોદધિ આદિ હૈ । સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય મર્ચલોકવ્યાપી હૈ । इनके भेद-प्रमेद  
शास्त्र से समझ लेने चाहिए । इन पांच स्थावरों को एकमात्र स्पर्शनइन्द्रिय होती है ।

પાંચ જીવનિકાયો કા કમન ક્રિયા બા ચુકા હૈ । અબ હઠે પ્રસકાય કા પ્રરૂપણ  
ક્રિયા જાતા હૈ—

(૬) પ્રસકાય—

પ્રસપન દો પ્રકાર કા હૈ—ક્રિયા સે ઝોર લઘ્વિ સે । કાર્ય કરના, ચલના, એક  
ઝગહ સે દુસરી ઝગહ જાના ક્રિયા હૈ । ઇસ ક્રિયા સે હી તેજસ્કાય ઝોર વાયુકાય પ્રસ  
ફહલાતે હૈ । લઘ્વિઈ અપેક્ષા યે દોનો સ્થાવર હી હૈ । દ્વીન્દ્રિય આદિ, ક્રિયા સે મી  
પ્રસ હૈ ઝોર લઘ્વિ સે મી । યહાં પ્રસનામકર્મ કા સ્વયં લઘ્વિ હૈ, ઝોર દેશાન્તર મેં  
તેના ભેદ-પ્રમેદ શાસ્ત્રી સમજ લેવા બોધ બો । આ પાંચ સ્થાવરોને એક માત્ર  
સ્પર્શન ઈન્દ્રિય હોય છે

આ પાંચ જીવનિકાયોનું કમન કરી ચૂક્યા છીએ હવે છઠ્ઠા પ્રસ કાયનું  
પ્રરૂપણ કરવામાં આવે છે—

(૬) પ્રસકાય—

પ્રસપણ બે પ્રકારનું છે—ક્રિયાથી અને લઘ્વિથી કાર્ય કરવું, ચાલવું, એક  
જગ્યાથી બીજી જગ્યાએ જવું તે ક્રિયા છે આ ક્રિયાથી જ તેજસ્કાય અને વાયુકાય  
પ્રસ કહેવાય છે, લઘ્વિની અપેક્ષાએ આ બન્ને સ્થાવર જ છે દ્વીન્દ્રિય આદિ ક્રિયાથી  
પણ પ્રસ છે અને લઘ્વિથી પણ પ્રસ છે આદિ પ્રસનામકર્મોને ઉદય તે લઘ્વિ  
છે, અને દેશાન્તરમાં ગમન કરવું તે ક્રિયા છે દ્વીન્દ્રિય આદિમાં છે બને જોવામાં

### (૪) પઠ્ઠેન્દ્રિયજીવા —

પઠ્ઠેન્દ્રિયજીવાશ્વતુર્ધા—નારક—તિર્યક્—મનુષ્ય—દેવ—મેદાત્, નારકા. સપ્ત વિધા., સપ્તનરકેષુ સમુદ્ભવાત્ । રત્ન(૧)—શર્કરા(૨)—વાલુકા(૩)—પદ્મ(૪)—ધૂમ (૫)—તમો(૬)—મહાતમો(૭)—નામ્ન્ય સપ્ત પૃથિવ્યસ્તત્ર સપ્ત નરકભૂમય', તત્ર યે નિવસન્તિ તે નારકા સપ્તવિધા इति । નારકતિર્યક્મનુષ્યદેવાનાં સ્પર્શન-રસન-ગ્રાણ-ચક્ષુ -શ્રોત્રાણિ પઠ્ઠેન્દ્રિયાણિ મવન્તિ ।

પઠ્ઠેન્દ્રિય-તિર્યક્ષો દ્વિવિધા — ગર્ભજ-સમૂર્છિમમેદાત્ । તત્ર-ગર્ભજા' પશ્ચદા-જલચર-સ્થલચર-લેચરો-૨ પરિસર્પ-શુક્રપરિસર્પમેદાત્ । સમૂર્છિમા અપિ

### (૪) પઠ્ઠેન્દ્રિયજીવ—

પઠ્ઠેન્દ્રિય જીવ ચાર પ્રકાર કે હૈ—(૧) નારક, (૨) તિર્યક્, (૩) મનુષ્ય, ઔર (૪) દેવ ।

નારક સાત પ્રકાર કે હૈ, ક્યાં કિ સાત નરકાં મેં ડનકી ઉત્પત્તિ હોતી હૈ । (૧) રત્નપ્રમા (૨) શર્કરાપ્રમા (૩) વાલુકાપ્રમા, (૪) પદ્મપ્રમા, (૫) ધૂમપ્રમા, (૬) તમ પ્રમા ઔર (૭) તમસ્તમ પ્રમા નામક સાત પૃથિવી હૈ । વહોં સાત નરકભૂમિયોં હૈ । ઇન ભૂમિયોં મેં નિવાસ કરન વાલે નારકી મી સાત પ્રકાર કે કહલાતે હૈ । નારક, પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યક્, મનુષ્ય ઔર દેવોં કે સ્પર્શન, રસના, ગ્રાણ, ચક્ષુ, ઔર શ્રોત્ર, યે પાચ ઇન્દ્રિયોં હોતી હૈ ।

પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યક્ ચો પ્રકાર કે હૈ—ગર્ભજ ઔર સમૂર્છિમ । ઇન મેં ગર્ભજ કે પાચ મેદ હૈ—(૧) જલચર, (૨) સ્થલચર, (૩) લેચર, (૪) ડર પરિસર્પ ઔર (૫) શુક્રપરિસર્પ ।

### (૪) પઠ્ઠેન્દ્રિય—

પાંચ ઇન્દ્રિયોં વાળા જીવ ચાર પ્રકારના છે—(૧) નારકી, (૨) તિર્યક્, (૩) મનુષ્ય, અને (૪) દેવ. નારકીના સાત પ્રકાર છે, કારણ કે સાત નરકોમા તેની ઉત્પત્તિ હોય છે (૧) રત્નપ્રમા, (૨) શર્કરાપ્રમા, (૩) વાલુકાપ્રમા, (૪) પદ્મપ્રમા, (૫) ધૂમપ્રમા, (૬) તમપ્રમા અને (૭) તમસ્તમ-પ્રમા નામની સાત પૃથિવી છે ત્યાં સાત નરકભૂમિઓ છે તે નરકભૂમિઓમા નિવાસ કરવા વાળા નારકી પશ્ચ સાત પ્રકારના કહેવાય છે નારકી, પઠ્ઠેન્દ્રિય-તિર્યક્, મનુષ્ય, અને દેવોંને સ્પર્શન, રસના ગ્રાણ, ચક્ષુ અને શ્રોત્ર, આ પાંચ ઇન્દ્રિયોં હોય છે

પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યક્ ચો પ્રકારના છે—(૧) ગર્ભજ, (૨) સમૂર્છિમ તેમા ગર્ભજના પાંચ લેદ છે—(૧) જલચર, (૨) સ્થલચર, (૩) લેચર, (૪) ડર પરિસર્પ, અને



इमे स्पर्शन-रसनोमयेन्द्रिया द्वीन्द्रिया जीवा असंख्याता ।

( ૨ ) ત્રીન્દ્રિયા—

ગ્રીન્દ્રિયા પિપીલિકાદય—પિપીલિકા—રોહિણિકા—કુન્થુ—યૂક—ખિષ્—મસ્કુણ  
મત્કોટક—શુલશુલ—ગોપદિકા—સ્વર્જૂરા—કર્ણશૂલાદય પ્રસિદ્ધા । इमे स्पर्शन-रसन-  
घ्राणेन्द्रियाः । ગ્રીન્દ્રિયા અસંખ્યાતાઃ ।

( ૩ ) ચતુરિન્દ્રિયાઃ—

ચતુરિન્દ્રિયા ઝમરાદય—ઝમર—વટર—મક્ષિકા—દશ—મશક—વૃશ્ચિક—કીટ—  
કસારી—પતંગાદય પ્રસિદ્ધા । इमे स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-रिन्द्रिया । ચતુરિ-  
ન્દ્રિયા અપિ અસંખ્યાતા ।

इन्द्रिया होती हैं । द्वीन्द्रिय जीव असंख्यात हैं ।

(૨) ત્રીન્દ્રિય—

પિપીલિકા ( કીડી ), રોહિણિકા, કુન્થુવા, યૂં, લીસ, સ્વટમલ, મકોઠા, શુલશુલ, ગોપદિકા, સ્વર્જૂરા, કર્ણશૂલ, આદિ ત્રીન્દ્રિય જીવ પ્રસિદ્ધ છે । इनके स्पर्शन रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । ત્રીન્દ્રિય જીવ અસંખ્યાત છે ।

(૩) ચતુરિન્દ્રિય—

ઝમર, વટર, મક્ષી, ડાંસ, મચ્છર, વિષ્ણુ, કીટ, પતંગ, કસારી, આદિ ચૌદિન્દ્રિય જીવ પ્રસિદ્ધ છે । इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । ये जीव असंख्यात हैं ।

રસના એ બે ઇન્દ્રિયો વાળા જીવો અસંખ્યાત છે

(૨) ત્રીન્દ્રિય—

કીડી, શહિષ્ણિકા, કુન્થુવા, યુ, લીખ, માકડ, મકોઠા, શુલશુલ, ગોપદિકા, કાનખચૂરા, કર્ણશૂલ આદિ ત્રીન્દ્રિય જીવ પ્રસિદ્ધ છે તેને સ્પર્શન, રસના, અને ઘ્રાણ આ ત્રણ ઇન્દ્રિયો હોય છે ત્રીન્દ્રિય જીવ અસંખ્યાત છે

(૩) ચતુરિન્દ્રિય—

ઝમરા, વટર, માખી, ડાસ, મચ્છર, વીછી, કીટ, પતંગ, કસારી આદિ ચાર ઇન્દ્રિયવાળા જીવ પ્રસિદ્ધ છે તેમને સ્પર્શન રસના ઘ્રાણ અને નેત્ર આ ચાર ઇન્દ્રિયો હોય છે એ જીવ અસંખ્યાત છે

મરતાનિ, પઠ્ઠૈરવતાનિ, પઞ્ચ મહાવિદેહાઃ । તત્ર પઠ્ઠસુ મહાવિદેહેષુ પઠ્ઠ દેવ-  
કુરુક્ષેત્રાણિ પઠ્ઠોત્તરકુરુક્ષેત્રાણિ અન્તર્ગતાનિ, તાનિ વિહાય પઞ્ચ મહાવિદેહ  
કર્મભૂમયો ભવન્તિ । એષુ પઞ્ચદશસુ ક્ષેત્રેષુ જાતા એવ જ્ઞાનાવરણીયાદિસકલ-  
કર્મતસ્કરેમ્યઃ સસારમહારણ્યે પરિમુક્તા મોક્ષધામામિધાવન્તિ । એતસ્પશ્ચદશ-  
વ્યતિરિક્તેષુ ક્ષેત્રેષુ જન્મ પ્રાપ્તા પુનઃ સમ્યગ્દર્શનજ્ઞાનચારિત્રલક્ષણમોક્ષમાર્ગ  
લબ્ધું ન પ્રમયન્તિ ।

અહો મન્યપ્રાણિન ! સ્વનિં યસાય શીઘ્ર પ્રયતન્તામ્, અનન્તકાલ્પઃ  
પૃજીવનિકાયાનાં ભવસ્થિતિ-કાયસ્થિતિપુ-અનન્તજન્મ-જરા-મરણાઘનન્તદુ સ્વમનુ-  
ભૂય પૂર્વપુણ્યોદયેન દુર્લભમિદ મનુષ્યજન્મ કર્મભૂમી લબ્ધમ્ । દેશવિરતિ-સર્વવિરતિ-  
મહાવિદેહો મેં પાંચ દેવકુરુ ઓર પાંચ ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્ર મી અન્તર્ગત હૈં, ઉઠ્ઠેં છોઢકર  
પાંચ મહાવિદેહ કર્મભૂમિ હૈં । ઇન પન્દ્રહ કર્મભૂમિયો મેં ઉત્પન્ન હોને વાલે મનુષ્ય હી  
જ્ઞાનાવરણીય આદિ સમસ્ત કર્મરૂપી ચોરો સે સસારરૂપી મહા ઈરણ્યો મેં છૂટકર મોક્ષધામ  
આતે હૈં । ઇન પન્દ્રહ ક્ષેત્રો સે ભિન ક્ષેત્રો મેં જમ છેને વાલે, સમ્યગ્, વર્ણન, જ્ઞાન, ચારિત્ર  
ત્વરૂપ મોક્ષમાર્ગ પ્રાપ્ત કરને મેં સમર્થ નહીં હોતે ।

અહો મન્ય જીવો ! અપને શ્રેય (કલ્યાણ) કે સિપ શીઘ્ર પ્રયત્ન કરો । અનાદિ  
કાલ સે પૃથ્વીવનિકાય કી ભવસ્થિતિ ઓર કાયસ્થિતિ મેં અનન્ત જન્મ, જરા, મરણ  
આદિ કા દુ સે મોઘકર પૂર્વપુણ્ય કે ઉદય સે કર્મભૂમિ મેં દુર્લભ મનુષ્ય ભવ મિલ્ય હૈ ।  
દેશવિરતિ ઓર સર્વવિરતિકે રૂપ સુધા સે પરિપૂર્ણ મનુષ્યાયુ રૂપ કટોરકો

પાંચ મહાવિદેહોમાં પાંચ દેવકુરુ, અને ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્ર પણ અન્તર્ગત  
છે તેને છોડીને પાંચ મહાવિદેહ કર્મભૂમિ છે આ પંદર કર્મભૂમિમાં ઉત્પન્ન થવા  
વાળા મનુષ્ય જ જ્ઞાનાવરણીય આદિ તમામ કર્મરૂપી ચોરાથી સસારરૂપી મહા-  
અરણ્યમાથી છુટીને મોક્ષધામ જાય છે આ પંદર ક્ષેત્રોથી ભિન્ન ક્ષેત્રોમાં જન્મ  
લેવાવાળા સમ્યક્દર્શન, જ્ઞાન, આચિત્ર સ્વરૂપ મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરવા સમર્થ થતા નથી

અહો મન્ય જીવો ! પોતાના કલ્યાણ માટે શીઘ્ર-જલદી પ્રયત્ન કરો ।  
અનાદિ કાળથી પૃથ્વીવનિકાયની ભવસ્થિતિ અને કાયસ્થિતિમાં અનન્ત જન્મ, જરા,  
મરણ આદિનુ દુઃખ મોઘવીને પૂર્વપુણ્યના ઉદયથી કર્મભૂમિમાં દુર્લભ મનુષ્ય  
ભવ મળ્યો છે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિરૂપ અમૃતથી પરિપૂર્ણ મનુષ્યાયુરૂપ આ

પંચધા-જલચર(૧)-સ્થલચર(૨)-સ્થેચરો(૩)-ર પરિસર્પ(૪)-શુજપરિસર્પમેદાત્ । તત્ર જલચરા મત્સ્યમકરાદય, સ્થલચરા ગોમહિપ્યાદય, સ્થેચરાઃ મપૂરાદય, ઊર પરિસર્પા સર્પાદય, શુજપરિસર્પા ગોષાદય ।

મનુષ્યા દ્વિવિધા-કર્મભૂમિજાઃ, અકર્મભૂમિજાઃ । યત્ર જાતા મનુષ્યા સિધ્યન્તિ; બુધ્યન્તે, પરિનિર્વાન્તિ; સર્વદુઃસ્થાનામન્ત કુર્વન્તિ સા કર્મભૂમિઃ । અત્રેવ સસારાન્તપ્રાપ્તિકારકસ્ય રત્નત્રયરૂપમોક્ષમાર્ગસ્ય વિજ્ઞાતાર કર્તાર ઉપદેષ્ટારમ્ મગવન્તસ્તીર્થદ્વારા અવતરન્તિ । તે ચ સ્વયં સસારાર્ણવ તરન્તિ, પરાન્ મન્વાનપિ તારયન્તિ । અર્ધવૃત્તીયદ્વીપામ્યન્તરે કર્મભૂમય પંચદશક્ષેત્રરૂપા મવન્તિ-પંચ

સંમૂર્ચ્છિમ કે મી પાંચ મેદ હૈ—(૧) જલચર, (૨) સ્થલચર, (૩) સ્થેચર, (૪) ઊર પરિસર્પ ઓર (૫) શુજારિસર્પ । મચ્છ, મકર, આદિ જલ કે જીવ જલચર કહલાતે હૈ । ગાય, મૈસ આદિ સ્થલચર કહલાતે હૈ । મયૂર આદિ સ્થેચર કહલાતે હૈ । સર્પ આદિ ઊર પરિસર્પ, ઓર ગુહરા (ગેહ) આદિ શુજપરિસર્પ કહલાતે હૈ ।

મનુષ્ય દો પ્રકાર કે હૈ—કર્મભૂમિજ ઓર અકર્મભૂમિજ । જહો ઉત્પન્ન હોકર જીવ સિદ્ધ બુદ્ધ હોતે હૈ, નિર્વાણ પ્રાપ્ત કરતે હૈ ઓર સબ દુઃસ્થોં કા અન્ત કરતે હૈ, ડસે કર્મભૂમિ કહતે હૈ । સંસાર કા અન્ત કરતે ઘાલે, રત્નત્રયરૂપ મોક્ષમાર્ગ કે જ્ઞાતા, કર્તા ઓર ઉપદેશક તીર્થદ્વાર મગવાન કર્મભૂમિ મેં હી ઉત્પન્ન હોતે હૈ । બે સ્વયં સંસાર સમુદ્ર તરતે હૈ ઓર દુસરે મન્ય જીવોં કો મી તારતે હૈ । અઢાઈ દ્વીપ મેં પંદર કર્મ-ભૂમિયોં હૈ—પાંચ ભરત ક્ષેત્ર મેં, પાંચ વૈરવત ક્ષેત્ર મેં, ઓર પાંચ મહાવિદેહ મેં । પાંચ (૫) શુજપરિસર્પ મચ્છ, મકર (મગર) આદિ જલના છવ જલચર ઠહેવાય છે ગાય, સેસ આદિ સ્થલચર ઠહેવાય છે મયૂર (ગાય) આદિ સ્થેચર ઠહેવાય છે સર્પ આદિ ઊરપરિસર્પ, અને ઘોષરા આદિ શુજપરિસર્પ છે

મનુષ્ય દો પ્રકારના છે—(૧) કર્મભૂમિજ, (૨) અકર્મભૂમિજ, બધા ઉત્પન્ન થઈને છવ સિદ્ધ બુદ્ધ હોય છે, નિર્વાણ પ્રાપ્ત કરે છે, અને સર્વ દુઃખોનેા અત કરે છે તેને કર્મભૂમિ કહે છે સંસારનેા અત કરવાવાળા, રત્નત્રયરૂપ મોક્ષમાર્ગના જ્ઞાતા કર્તા, અને ઉપદેશક તીર્થદ્વાર મગવાન્ કર્મભૂમિમાં જ ઉત્પન્ન થાય છે તે અવ્ય સંસાર સમુદ્રને તરે છે અને બીજા અવ્ય છવોને પછ તારે છે અઢી દ્વીપમાં પંદર કર્મભૂમિઓ છે—પાંચ ભરતક્ષેત્રમાં, પાંચ વૈરવત ક્ષેત્રમાં, અને

મરતાનિ, પઠ્ચૈરવતાનિ, પચ્ચ મહાવિદેહા' । તત્ર પઠ્ચસુ મહાવિદેહેપુ પઠ્ચ દેવ-  
કુરુક્ષેત્રાણિ પઠ્ચોત્તરકુરુક્ષેત્રાણિ અન્તર્ગતાનિ; તાનિ વિદ્યાય પચ્ચ મહાવિદેશ  
કર્મભૂમયો ભવન્તિ । એપુ પચ્ચદશસુ ક્ષેત્રેપુ જાતા એવ જ્ઞાનાવરણીયાદિસકલ-  
કર્મતસ્કરેમ્ય' સસારમહારણ્યે પરિમુક્તા મોક્ષધામામિધાયન્તિ । એતસ્પચ્ચદશ-  
સ્પતિરિક્તેપુ ક્ષેત્રેપુ જન્મ પ્રાપ્તાઃ પુનઃ સમ્યગ્દર્શનજ્ઞાનચારિત્રલક્ષણમોક્ષમાર્ગં  
લબ્ધું ન પ્રભવન્તિ ।

અહો મન્યપ્રાણિનઃ ! સ્વનિઃ યસાય શીઘ્ર પ્રયત્નન્તામ્, અનન્તકાલત્  
પદ્મજીવનિકાયાના ભવસ્થિતિ-કાયસ્થિતિપુ-અનન્તજન્મ-જરા-મરણાદ્યનન્તદુઃખમનુ-  
ભૂય પૂર્વપુણ્યોદયેન દુર્લભમિદ મનુષ્યજન્મ કર્મભૂમી લબ્ધમ્ । દેશવિરતિ-સર્વવિરતિ-  
મહાવિદેહો મેં પાંચ દેવકુરુ ઓર પાંચ ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્ર મી અતર્ગત હૈં, અન્હેં છોઢકર  
પાંચ મહાવિદેહ કર્મભૂમિ હૈં । ઇન પન્દ્રહ કર્મભૂમિયો મેં ઉત્પન્ન હોને વાલે મનુષ્ય હી  
જ્ઞાનાવરણીય આદિ સમસ્ત કર્મરૂપી ચોરો સે સસારરૂપી મહા અરણ્યો મેં છૂટકર મોક્ષધામ  
આતે હૈં । ઇન પન્દ્રહ ક્ષેત્રો સે મિન ક્ષેત્રો મેં જમ લેને વાલે, સમ્યગ્, દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર  
સ્વરૂપ મોક્ષમાર્ગ પ્રાપ્ત કરને મેં સમર્થ નહીં હોતે ।

અહો મન્ય જીવો ! અપને શ્રેય (કલ્યાણ) કે લિપ શીઘ્ર પ્રયત્ન કરો । અનાદિ  
કાલ સે પદ્મજીવનિકાય કી ભવસ્થિતિ ઓર કાયસ્થિતિ મેં અનન્ત જન્મ, જરા, મરણ  
આદિ કા દુઃખે મોગકર પૂર્વપુણ્ય કે ઉદય સે કર્મભૂમિ મેં દુર્લભ મનુષ્ય ભવ મિલ્યા હૈ ।  
દેશવિરતિ ઓર સર્વવિરતિકે રૂપ સુધા સે પરિપૂર્ણ મનુષ્યાયુ રૂપ કટોરકો

પાંચ મહાવિદેહોમાં પાંચ દેવકુરુ, અને ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્ર પણ અન્તર્ગત  
છે તેને છોડીને પાંચ મહાવિદેહ કર્મભૂમિ છે આ પદ્મ કર્મભૂમિમાં ઉત્પન્ન થવા  
વાળા મનુષ્ય જ જ્ઞાનાવરણીય આદિ તમામ કર્મરૂપી ઘોરોથી સસારરૂપી મહા-  
અરણ્યમાંથી છુટીને મોક્ષધામ જાય છે આ પદ્મ ક્ષેત્રોથી ભિન્ન ક્ષેત્રોમાં જન્મ  
લેવાવાળા સમ્યગ્દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર સ્વરૂપ મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરવા સમર્થ થતા નથી.

અહો મન્ય જીવો ! પોતાના કલ્યાણ માટે શીઘ્ર-જલદી પ્રયત્ન કરો ।  
અનાદિ કાળથી પદ્મજીવનિકાયની ભવસ્થિતિ અને કાયસ્થિતિમાં અનન્ત જન્મ, જરા,  
મરણ આદિનુ દુઃખ લોગવીને પૂર્વપુણ્યના ઉદયથી કર્મભૂમિમાં દુર્લભ મનુષ્ય  
ભવ મળ્યો છે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિરૂપ અમૃતથી પરિપૂર્ણ મનુષ્યાયુરુપ આ



પર્વતમ્ય, પૂર્વ પશ્ચિમાન્તમાગદ્વયાદ્ ષક્રાકારે દ્વે દ્વે દંધ્રે નિષ્ક્રુતે સ્ત' । અપ્તાસુ દપ્ત્રાસૂર્ધ્વમાગે સપ્ત સપ્તાન્તરદ્વીપા. સન્તિ । એવ પદ્મપશ્ચાશ્વદન્તરદ્વીપા મવન્તિ । અન્તરદ્વીપજા અપ્યકર્મભૂમિજા । તત્રોમયેષા મનુષ્યાણામુચારાદિષુ સમૂર્ઝિમા મનુષ્યા ઉમયવિધાસુ ભૂમિષુ જાયન્તે ।

તત્ર ગર્ભજા મનુષ્યા ઇકોત્તરશતમ્ (૧૦૧), પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદાદ્ દ્વયધિકશતદ્વયમ્ (૨૦૨), સમૂર્ઝિમમનુષ્યા અપર્યાપ્તમાત્રતયા-ઇકોત્તરશતમેવ (૧૦૧), સર્વેષુ સમિલિતેષુ ત્ર્યુત્તરશતત્રય (૩૦૩) મનુષ્યાણા મેદા' મવન્તિ ।

દેવનિકાય-'

દેવાશ્વતુર્વિધા'-મવનપતિ-૧-વ્યન્તર-૨-ઝ્યોતિષ્ક-૩-વૈમાનિક-૪-મેદાત્ ।

નિકલી હૈં । ઇન આઠ દાઢો પર સાત-સાત અન્તરદ્વીપ હૈં । ઇસ પ્રકાર છપ્પન અન્તરદ્વીપ હૈં । અન્તરદ્વીપત્ર (અન્તરદ્વીપ મૈં ઉત્પન્ન હુવ) જીવ મી અકર્મભૂમિજ (અકર્મભૂમિ મૈં ઉત્પન્ન હુવ) કહ્લાતે હૈં । ઇન દોનો પ્રકાર કે મનુષ્યોં કે મલ આદિ મૈં, દોનો ભૂમિયોં મૈં સમૂર્ઝિમ મનુષ્ય ઉત્પન્ન હોતે હૈં ।

ગર્ભજ મનુષ્ય ઇક સૌ ઇક (૧૦૧) પ્રકાર કે હૈં । ઇનકે પ્રયાન્ત ઔર અપર્યાન્ત મેદ કરને સે દો સૌ દો (૨૦૨) મેદ હોતે હૈં । સમૂર્ઝિમ મનુષ્ય અપર્યાન્ત હી હોતે હૈં, અત્ત ંનકે ઇક સૌ ઇક (૧૦૧) મેદ મિલા દેને સે મનુષ્યોં કે કુલ મેદ ત્રીન સૌ ત્રીન (૩૦૩) હો જાતે હૈં ।

દેવનિકાય-

દેવ ચાર પ્રકાર કે હૈં-(૧)મવનપતિ, (૨) વ્યન્તર, (૩) ઝ્યોતિષ્ક ઔર (૪) વૈમાનિક ।

આ આઠ દાઢો પર સાત-સાત અન્તરદ્વીપ છે આ પ્રમાણે છપ્પન અન્તરદ્વીપ છે અન્તરદ્વીપજ (અન્તરદ્વીપમા ઉત્પન્ન થનારા) એવ પણ અકર્મભૂમિજ (અકર્મ ભૂમિમા ઉત્પન્ન થનારા) કહેવાય છે આ બંને પ્રકારના મનુષ્યોના મળ આદિમા એ બંને ભૂમિઓમા સમૂર્ઝિમ મનુષ્ય ઉત્પન્ન થાય છે

ગર્ભજ મનુષ્ય એકસો એક (૧૦૧) પ્રકારના છે તેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત લેહ કરવાથી બસો બે (૨૦૨) લેહ થાય છે સમૂર્ઝિમ મનુષ્ય અપર્યાપ્તજ હોય છે તે કારણથી તેના એકસો એક (૧૦૧) લેહ તેમા મેળવવાથી મનુષ્યોના કુલ ત્રણસો ત્રણ (૩૦૩) લેહ થાય છે

દેવનિકાય-

દેવ ચાર પ્રકારના છે-(૧) મવનપતિ, (૨) વ્યન્તર, (૩) ઝ્યોતિષ્ક અને (૪) વૈમાનિક

પીયૂષપૂર્ણમેતન્મનુષ્યાયુઃકટોરક મૃત્યુરપહર્તુ પુરોજવતિષ્ઠતે । તદ્વ ચિરવિમુધાસ્વાદ-  
સુસ્તવશ્ચિતા મવન્તો મા મવન્તુ ।

અકર્મમૂમયઃ કથ્યન્તે—

પચ્ચ હૈમવતાનિ, પચ્ચ હરિવર્ષાણિ, પચ્ચ રમ્યકર્મર્ષાણિ, પચ્ચૈરણ્યવતવર્ષાણિ,  
પચ્ચ દેવકુરવઃ પચ્ચોત્તરકુરવઃ, इति त्रिंशत्, पट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः । अन्तरद्वीपा  
अपि युगलक्षेत्रत्वादकर्मभूमयो भवन्ति । एताः सर्वा अकर्मभूमयः,  
तीर्थक्षेत्रजन्मादिरहितत्वात् ।

जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रमर्यादाकारकहिमवत्पर्वतस्य पूर्वपश्चिमान्तमागद्वयात्  
वक्राकारे द्वे द्वे दृष्टे नि सृते स्तः । एवम् पेरवतक्षेत्रमर्यादाकारकसितरि-

છીનને કે છિપ્ મૃત્યુ સામન સ્વદા છે, એટ બાપ ચિરવિરૂપી મુધા કે આસ્વાદ કે મુસ્ત સે  
જન્મિત મત રહો ।

અકર્મભૂમિકા કથન—

પાંચ હૈમવત, પાંચ હરિવર્ષ, પાંચ રમ્યકર્મર્ષ, પાંચ પેરણ્યવત, પાંચ દેવકુરુ  
ઔર પાંચ ઉત્તરકુરુ, એ ત્રીસ, ઔર છપ્પન અન્તર દ્વીપ, એ સર્વ અકર્મભૂમિ છે । અન્તરદ્વીપ  
મી યુગલક્ષિયાક્ષેત્ર હોને કે કારણ અકર્મભૂમિ હી છે । इन में कभी भी तीर्थक्षेत्र का  
जन्म आदि नहीं होता ।

જમ્બૂદ્વીપ મેં ભરત ક્ષેત્ર કો મર્યાદા કરને વાકે હિમવત્પર્વત કે પૂર્વમાગ ઔર  
પશ્ચિમમાગ સે વક્ર આકાર કો દો-દો વાઢાઈ નિકળી છે । હસી પ્રકાર પેરવત ક્ષેત્ર કો  
મર્યાદા કરને વાકે સિતરિપર્વત કે પૂર્વ ઔર પશ્ચિમ ભાગો સે દો દો વક્રાકાર વાઢાઈ  
ઠટોશને છીનવી લેવા માટે મૃત્યુ સામેજ ઉલેસો છે એ કારણથી તમે ચિરવિરૂપી  
અમૃતના સ્વાદના મુખથી વંચિત રહેશો નહિ

અકર્મભૂમિત કથન—

પાંચ હૈમવત, પાંચ હરિવર્ષ, પાંચ રમ્યકર્મર્ષ, પાંચ પેરણ્યવત, પાંચ  
દેવકુરુ, અને પાંચ ઉત્તરકુરુ, આ ત્રીસ, અને છપ્પન અન્તરદ્વીપ, આ સર્વ અકર્મ  
ભૂમિ છે અન્તર દ્વીપ પણ બુગળીયા ક્ષેત્ર કોવાના કારણે અકર્મભૂમિ જ છે, તેમાં  
કેઈ પણ સ્થળે તીર્થકરને જન્મ આદિ થતો નથી

જમ્બૂદ્વીપમાં ભરત ક્ષેત્રની મર્યાદા કરવાવાળા હિમવત પર્વતના પૂર્વમાગ અને  
પશ્ચિમ ભાગથી વક્ર આકારની બે-બે હાથે નીકળી છે એ પ્રકાર પેરવત ક્ષેત્રની  
મર્યાદા કરવાવાળા સિતરિ પર્વતના પૂર્વ અને પશ્ચિમ ભાગથી બે-બે વક્રાકાર  
હાથે નિકળી છે

તત્ર વહ્વોઽસુરકુમારા આવાસેષુ, તથા કદાચિદ્ ભવનેષુ ચ નિવસન્તિ । તથા નાગકુમારાદયઃ સર્વે પ્રાયશો ભવનેષ્વેવ પ્રતિવસન્તિ । રત્નપ્રમાપૃથ્વી-પિષ્ઠાદર્ધ્વમગ્રશ્ચકૈક્કસહસ્રયોજન ત્રિહાયૈકચ્છાપ્તસપ્તતિસહસ્રયોજનાનિ તુ રત્ન-પ્રમાતોઽધ્વન્તાન્નવતિમહસ્રયોજનપરિમાણભાગ એવ ભવન્તિ, તત્ર ભવનાનિ દક્ષિણ-ધર્માધિપતીના ચમરેન્દ્રાદીનામ્, ઉત્તરાર્ધાધિપતીનાં ઘલીન્દ્રાદીનામ્ । મહામણ્ડપ-વદાવાસા, ભવનાનિ નગરસદૃશાનિ ભવન્તિ, પરન્તુ તાનિ ભવનાનિ વર્ધિષ્ઠાનિ, અમ્યન્તરે સમચતુષ્કોણાનિ, તલભાગે તુ પુષ્કરકર્ણિસાવદ્ ભવન્તિ । અમ્યાન્ય. પરમાધાર્મિકા અપિ અસુરકુમારજાતીયા પચ્ચદશ સન્તિ-૧અમ્બારમ્બરીય-

વહીં વહુત સે અસુરકુમાર આવાસાં મેં ઔર કમી-કમી મવનોં મેં નિવાસ કરતે હૈં । નાગકુમાર સવ પ્રાય મવનાં મેં હો રહતે હૈં । રત્નપ્રમા પૃથ્વી ક પિષ્ઠ સે ઊપર ઔર નીચે એક-એક હજાર યોજન છોડકર એક છાસ અઠ્ઠસર હજાર યોજન પરિમાણ મેં મધ્ય ભાગ મેં સમી જગહ અસુરકુમાર દેવોં કે આવાસ હૈં, કિન્તુ મવન રત્નપ્રમા પૃથ્વી કે નીચે નન્વે હજાર યોજન પરિમિત ભાગ મેં હીં હૈં । વહીં દક્ષિણાર્ધાધિપતિ ચમરેન્દ્ર આદિ કે ઔર ઉત્તરાર્ધાધિપતિ ઘલીન્દ્ર આદિ કે મવન હૈં । મહામણ્ડપ કે સમાન આવાસ હૈં । નગર કે સમાન મવન હૈં, કિન્તુ વે બાહર ગોળાકાર ઔર મીતર સમચતુષ્કોણ હૈં । ઊનકા તલભાગ કમલ કી કર્ણિકા કે સમાન હોતા હૈ । અમ્ય આદિ પન્દરહ પરમાધાર્મિક મી અસુરકુમાર જાતિ કે હૈં । ઊનકે નામ-(૧) અમ્બ, (૨) અમ્બરીય, (૩) સ્યામ, (૪) શબ્લ,

ત્યા ધણા અસુર કુમારો, આવાસોમાં અને કોઈ કોઈ વખત ભવનોમાં નિવાસ કરે છે નાગકુમાર સર્વ પ્રાય ભવનોમાંજ નિવાસ કરે છે રત્નપ્રમા પૃથ્વીના પિંડથી ઉપર અને નીચે એક-એક હજાર યોજન છોડીને, એક છાપ અઠમોતેર હજાર યોજન પરિમાણમાં મધ્યભાગમાં સવ જગ્યાએ અસુરકુમાર દેવોના આવાસ છે પરન્તુ ભવન, રત્નપ્રમા પૃથ્વીની નીચે (૬૦૦૦૦) નેવું હજાર યોજન પરિમિત ભાગમાં જ છે ત્યા દક્ષિણાર્ધાધિપતિ ચમરેન્દ્ર આદિના અને ઉત્તરાર્ધાધિપતિ ઘલીન્દ્ર આદિના ભવન છે મહામંડપની સમાન આવાસ છે નગરના સમાન ભવન છે પરન્તુ તે ભવનો બહારથી ગોળાકાર અને અંદરથી સમચતુષ્કોણ છે તેનો તળીઆનો ભાગ કમલની કર્ણિકાસમાન હોય છે અમ્ય આદિ પંદર પરમાધાર્મિક પણ અસુરકુમાર જાતિના છે તેઓના નામ જેમકે-(૧) અમ્બ, (૨) અમ્બરીય, (૩) સ્યામ, (૪)



## (१) भवनपतिदेवभेदाः—

तत्र भवनपतयो दशविधा—(१) अमरकुमारा, (२) नागकुमारा, (३) सुवर्णकुमारा, (४) विद्युत्कुमारा, (५) अग्निकुमारा, (६) द्वीपकुमारा, (७) उदधिकुमारा, (८) दिशाकुमारा, (९) वायुकुमारा, (१०) स्तनितकुमारा ।  
कुमारा इव सुकुमारा मनोहरा मृदुमधुरललितगतय कुमारपदभिव्यक्तरागा केलिविलोलितचेतस कुमारवधोद्धतरूपवेषमापाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाश्रेष्ठतः 'कुमारा' इत्युच्यन्ते । जम्बूद्वीपे सुमेरुपर्वतस्याधस्तादक्षिणोत्तरभागयोस्तिर्यग् भागेऽनेककोटिकोटिलसंयोजन यावद् भवनपतयो निवसन्ति ।

## (१) भवनपतिदेव—

भवनपति देव दश प्रकार के हैं—(१) अमरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिशाकुमार, (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार ।

कुमार के समान सुकुमार, मनोहर, मृदु, मधुर, छलित गतिवाले, कुमार के समान राग व्यक्त करने वाले, क्रीडा में चित्त लगाने वाले, कुमार के समान ही उद्धत रूप, वेष, भाषा, आभूषण, आयुध, यान, वाहन आदि धारण करने वाले होने से ये देव, कुमार कहलाते हैं । जम्बू द्वीप में सुमेरु पर्वत के नीचे दक्षिण भाग और उत्तर भाग के तिरछे भाग में अनेक कोट्य-कोट्टी लाख योजन तक भवनपति देव निवास करते हैं ।

## (१) भवनपतिदेव—

भवनपति देव दश प्रकारना छे—(१) अमरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिशाकुमार (९) वायुकुमार, अने (१०) स्तनितकुमार

कुमार प्रभाषे, सुकुमार, मनोहर, मृदु, मधुर, छलितप्रतिवाणा, कुमारना समान राग व्यक्त करवा वाणा, क्रीडायां चित्त लगाववा वाणा, कुमारना प्रभाषे उद्धत-रूप, वेष, भाषा आभूषण, आयुध, यान, वाहन आदि धारण करवा वाणा होवासी ते देव, कुमार कहैवाय छे जम्बूद्वीपमा सुमेरु पर्वतनी नीचे दक्षिणभाग अने उत्तर भागना तिछी भागमा अनेक कोट्य-कोट्टी लाख योजन सुधी भवनपति देव निवास करे छे

व्यन्तरा' षोडशविधा - १ पिशाच-२ भूत-३ यक्ष-४ राक्षस - ५ किन्नर  
६ किंपुरुष ७ महोरग-८ गन्धर्वा-९ प्रज्ञप्ति-१० पञ्चप्रज्ञप्ति-११ ऋषिवादिक-१२ भूत-  
वादिक - १३ क्रन्दित - १४ महाक्रन्दित-१५ कूष्माण्ड-१६ पतंग मेदात् । ( स्या  
स्या. २ उ ३ )

जृम्भका अपि व्यन्तरदेवा दश सन्ति । यथा-(१) अन्नजृम्भका'  
(२) पानजृम्भकाः, (३) वस्त्रजृम्भका', (४) लयनजृम्भका, (५) शयनजृम्भका',  
(६) पुष्पजृम्भका, (७) फलजृम्भका', (८) पुष्पफलजृम्भका', (९) विद्याजृम्भका,  
(१०) अन्यक्तजृम्भका. ।

(६) ज्योतिष्कदेवा -

ज्योतींषि-प्रभापुञ्जस्वरूपाणि समुज्ज्वलानि विमानानि, तत्र मघाः

व्यन्तर देव सोलह हैं-(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर,  
(६) किंपुरुष, (७) महोरग, (८) गन्धर्व, (९) अप्रज्ञप्ति, (१०) पञ्चप्रज्ञप्ति, (११)  
ऋषिवादिक, (१२) भूतवादिक, (१३) क्रन्दित, (१४) महाक्रन्दित, (१५) कूष्माण्ड, और  
(१६) पतङ्ग ( स्या स्या २ उ ३ )

जृम्भक व्यन्तर देव भी दश प्रकार के हैं । जैसे—

(१) अन्नजृम्भक, (२) पानजृम्भक, (३) वस्त्रजृम्भक, (४) लयनजृम्भक, (५) शयनजृम्भक,  
(६) पुष्पजृम्भक, (७) फलजृम्भक, (८) पुष्पफलजृम्भक, (९) विद्याजृम्भक और (१०) अन्यक्त-  
जृम्भक ।

(३) ज्योतिष्क देव

प्रभा के पुञ्ज के समान अत्यन्त उज्ज्वल विमानों में उत्पन्न होने वाले

व्यन्तर देव सोलह छे (१) पिशाच, (२) भूत (३) यक्ष, (४) राक्षस (५)  
किन्नर, (६) किंपुरुष, (७) महोरग, (८) गन्धर्व, (९) अप्रज्ञप्ति, (१०) पञ्चप्रज्ञप्ति,  
(११) ऋषिवादिक, (१२) भूतवादिक, (१३) क्रन्दित, (१४) महाक्रन्दित, (१५)  
कूष्माण्ड और (१६) पतङ्ग, ( स्या स्या २ उ ३ )

जृम्भक व्यन्तर देव पञ्च दश प्रकारना छे, जेभ-(१) अन्नजृम्भक, (२)  
पान जृम्भक, (३) वस्त्रजृम्भक, (४) लयनजृम्भक, (५) शयनजृम्भक, (६) पुष्प जृम्भक,  
(७) फलजृम्भक (८) पुष्पफलजृम्भक, (९) विद्याजृम्भक, और (१०) अन्यक्तजृम्भक

(३) ज्योतिष्कदेवा—

प्रभाया पुञ्ज समान अत्यन्त उज्ज्वल विमानोंमें उत्पन्न भव्य वाण्य देव



વૈમાનિકદેવાના દ્વૌ મેદૌ-કલ્પોપપન્નાઃ કલ્પાતીતાશ્ચ । કલ્પ=આચારઃ  
સ ષેહેન્દ્રસામાનિકત્રાયસ્ત્રિશાદિવ્યવહારૂપસ્તમુપગતા' કલ્પોપપન્ના=સૌધર્માદિ-  
દેવલોકનિવાસિનો વૈમાનિકા દેવા । યદ્વા-કલ્પેષુ સૌધર્માદિષુ ઉપપન્નાઃ સૌધર્માદિ-  
દેવલોકોત્પન્ના વૈમાનિકદેવા' કલ્પોપપન્નાઃ । યદ્વા-કલ્પેન=નિયમેન ઇન્દ્રસામા-  
નિકાદિસ્વામિસેવકાદિમાધરૂપમર્યાદયોપપન્ના=યુક્તા=કલ્પોપપન્નાઃ ।

૧ઇન્દ્ર-૨સામાનિક-૩ત્રાયસ્ત્રિશ-૪લોકપાલ-૫પારિપચા-૬નીલા-  
૭ત્મરક્ષક-૮ડ્ડમિયોગિક-૯પ્રકીર્ણા, કિલ્લિવિકાશ૧૦ સ્વસ્વમર્યાદાપાલકતયા  
કલ્પોપપન્ના ઇત્યુચ્યન્તે । તત્રેન્દ્રા. - સામાનિકાદિદેવાનામધિપતયઃ ।  
ઇન્દ્રસમાના-સામાનિકાઃ । મન્ત્રિપુરોહિતસ્યાનીયાસ્ત્રાયસ્ત્રિશા । સીમારક્ષકા

વૈમાનિક દેવ દ્વૌ પ્રકાર કે હૈ-કલ્પોપપન ઔર કલ્પાતીત । કલ્પ કા અર્થ  
હૈ-આચાર । યહાં ઇન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશ આદિ કા વ્યવહાર કલ્પ માના ગયા હૈ,  
ઔર યહ કલ્પ જિન મેં પાયા જાય વે કલ્પોપપન કહલાતે હૈ । સૌધર્મ આદિ દેવલોકો  
મે નિવાસ કરને વાલે વૈમાનિક દેવ કલ્પોપપન હૈ । અથવા કલ્પ સે અર્થાત્ નિયમ સે  
અર્થાત્ ઇન્દ્ર, સામાનિક આદિ, યા સ્વામી-સેવક આદિમાવરૂપ મર્યાદા સે યુક્ત દેવ  
કલ્પોપપન કહલાતે હૈ ।

ઇન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશ, લોકપાલ, પારિપચ, આનીક આત્મરક્ષક,  
આમિયોગ્ય, પ્રકીર્ણક ઔર કિલ્લિવિક, યે દશ અપની-અપની મર્યાદા કા પાછન  
કરતે હુય કલ્પોપપન કહલાતે હૈ ।

સામાનિક આદિ દેવો કે અધિપતિ ઇન્દ્ર કહલાતે હૈ । ઇન્દ્ર કે સમાન

વૈમાનિક દેવ બે પ્રકારના છે-(૧) કલ્પોપપન અને (૨) કલ્પાતીત કલ્પથી  
અર્થ છે-આચાર આદિ ઇન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશ આદિને વ્યવહાર કલ્પ માન્યો  
છે, અને આ કલ્પ જોનામાં જોવામાં આવે છે તે કલ્પોપપન્ન કહેવાય છે સૌધર્મ  
આદિ દેવલોકોમાં નિવાસ કરવાવાળા વૈમાનિક દેવ કલ્પોપપન્ન છે અથવા કલ્પથી  
અર્થાત્, નિયમથી અર્થાત્ ઇન્દ્ર સામાનિક આદિ, અથવા સ્વામી-સેવક આદિ  
આવરૂપ મર્યાદાથી યુક્ત દેવ કલ્પોપપન્ન કહેવાય છે

ઇન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશ, લોકપાલ, પારિપચ, આનીક, આત્મરક્ષક, આમિયોગ્ય,  
પ્રકીર્ણક અને કિલ્લિવિક, પાત-પોતાની મર્યાદાનુ પાલન કરતા થકા કલ્પોપપન્ન  
કહેવાય છે

સામાનિક આદિ દેવાના અધિપતિ ઇન્દ્ર કહેવાય છે ઇન્દ્રના સમાન સામાનિક

જ્યોતિષ્કા. । જ્યોતિષ્કદેવાસ્તિર્યગુલોકે જ્યોતિઃપ્રકાશં કુર્વન્તિ । જ્યોતિષ્કદવાઃ પञ્ચવિધા —(૧) ચન્દ્ર—(૨) સૂર્ય—(૩) ગ્રહ—(૪) નક્ષત્ર—(૫) તારા—મેદાત્ । इमे पञ्च समयक्षेत्रान्तर्गतितंश्वरस्वभावाः सन्ति । अपरे पञ्च चन्द्रादयः समयक्षेत्राद् बहिः स्थिरा एव तिष्ठन्ति ।

### (૪) વૈમાનિકદેવાઃ—

ऊर्ध्वलोके विमानेषु वसन्तीति वैमानिकाः । यद्वा-विशेषेण मानयन्ति= विंशति यत्र विशिष्टमुक्तिरिति विमानानि, तत्र भवा वैमानिका । यद्वा-वि= विशिष्ट मान=ज्ञानं यत्र, समदर्शितया, अन्यदेवापेक्षया च हेयोपादेयज्ञान-विशिष्टा भवन्ति यत्र तानि विमानानि, तत्र भवा वैमानिकाः ।

દેવ જ્યોતિષ્ક કહી શકે છે । જ્યોતિષ્ક દેવ મધ્યમ લોક મેં પ્રકાશ કરતે છે । જ્યોતિષ્ક દેવ પાંચ પ્રકાર કે છે—

૧ ચન્દ્ર, ૨ સૂર્ય, ૩ ગ્રહ, ૪ નક્ષત્ર, ઔર ૫ તારાગણ । ચે પાંચો સમયક્ષેત્ર ( અઢાઈ દ્વીપ ) મેં ચલતે છે ઔર સમયક્ષેત્ર સે બાહર સ્થિર સ્વભાવ વાળે છે ।

### (૪) વૈમાનિક દેવ—

— ऊर्ध्व लोके विमानों में वास करने वाले वैमानिक कहलाते हैं । अथवा जहाँ विशिष्ट पुण्यात्मा प्रवेश करते हैं उन्हें विमान कहते हैं, और विमानों में वास करने वाले वैमानिक कहलाते हैं । अथवा समदर्शी होने के कारण जहाँ विशिष्ट ज्ञान हो, या अन्य देवों की अपेक्षा अहा हेय उपादेय का विशिष्ट ज्ञान हो, वे विमान हैं और उन में होने वाले वैमानिक हैं ।

જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે. જ્યોતિષ્ક દેવ મધ્ય લોકમાં પ્રકાશ કરે છે. જ્યોતિષ્ક દેવ પાંચ પ્રકારના છે (૧) ચન્દ્ર, (૨) સૂર્ય, (૩) ગ્રહ, (૪) નક્ષત્ર અને (૫) તારાગણ આ પાંચ સમયક્ષેત્ર (અઢાઈદ્વીપ)માં ચાલે છે અને સમયક્ષેત્રની બહાર સ્થિર સ્વભાવવાળા છે.

### (૪) વૈમાનિક દેવ—

ऊर्ध्व लोके विमानों में वास करवा पाणा वैमानिक कहेवाय છે, અથવા જ્યાં વિશિષ્ટ પુણ્યાત્મા પ્રવેશ કરે છે તેને વિમાન કહે છે અને વિમાનોમાં વાસ કરવા વાળા વૈમાનિક કહેવાય છે, અથવા—સમદર્શી હોવાના કારણે જ્યાં વિશિષ્ટ જ્ઞાન હોય, અથવા અન્ય દેવોની અપેક્ષાએ, જ્યાં હેય—ઉપાદેયનું વિશિષ્ટ જ્ઞાન હોય તે વિમાન છે, અને તેમાં રવા વાળા વૈમાનિક છે.

કલ્પસ્ય સમાનદેશે પેશાન. કલ્પ । 'જ્ઞાનસ્યોપરિ સનત્કુમારઃ કલ્પ' । સનત્કુમાર-  
સ્યોપરિ માહેન્દ્ર કલ્પ. । એવમ્પર્યુપરિ સર્વે કલ્પાઃ સન્તિ ।

તત્રજ્યોતિષ્લોકાદૃર્ધ્વમ સર્યાતયોજનકોટિકોટિપુમાર્ગમાસ્થ્ય રૂપલક્ષિતદ-  
ક્ષિણમાગે ગગનપ્રદેશે સૌધર્મકલ્પસ્તથૈજ્ઞાનકલ્પશ્ચાઽસ્તિ । સૌધર્મકલ્પ પૂર્વ  
પશ્ચિમદીર્ઘ , ઉત્તરદક્ષિણવિસ્તીર્ણોઽર્ધચન્દ્રાકાર સૂર્યવમ્બાસ્વર , આયામવિષ્કમ્મામ્યા-  
પરિધેપતશ્ચાઽસર્યયયોજનકોટિકોટય , સર્વરત્નમય લોકાન્તવિસ્તારોઽસ્તિ ।  
તત્ર મધ્યમાગે સર્વરત્નમયાશોક-સપ્તર્ણ-ચમ્પકા-ઽઽન્ન - સૌધર્માવતસકમુશોભિત  
શક્રાવાસ । તત્ર સુધર્મા નામ શક્રસ્ય દેવેન્દ્રસ્ય સમા તસ્મિન્ કલ્પેઽસ્તીતિ  
સૌધર્મ કલ્પ ।

કે ઊપર સનત્કુમાર કલ્પ છે । સનત્કુમાર કે ઊપર માહેન્દ્ર કલ્પ છે । इसीप्रकार ऊपर-ऊपर  
समी कल्प समझने चाहिए ।

જ્યોતિષ્ક મળહલ સે ઊપર અસર્યાત કોઢાકોઢીયોજન ઊપર જાકર મેરુ સે ઉપલક્ષિત  
દક્ષિણ માગ મેં આકાશ-પ્રદેશ મેં સૌધર્મકલ્પ ઔર પેશાન કલ્પ હૈં । સૌધર્મકલ્પ પૂર્વ પશ્ચિમ  
મેં છમ્પા, ઉત્તર-દક્ષિણ મેં વિસ્તીર્ણ ઔર અર્ધચન્દ્ર કે આકાર કા હૈ । સૂર્ય કે સમાન ચમક-  
દાર, છમ્પાઈ, ચૌઢાઈ ઔર પરિધિ સે અસર્યાત કોઢાકોઢી યોજન, સર્વરત્નમય ઔર છોક કે  
અન્તતક વિસ્તૃત હૈ । ડસકે મધ્ય માગ મેં સર્વરત્નમય અશોક, સપ્તર્ણ, ચમ્પક, આન્ન, એવ  
સૌધર્માવતસક સે શોભિત શક્ર કા આવાસ હૈ । શક્ર દેવેન્દ્ર કૌ સુધર્માનામક સમા કિસ  
કલ્પ મેં હૌં, વહ સૌધર્મકલ્પ કહછાતા હૈ ।

જેજ્ઞાનના ઉપર સનત્કુમાર કલ્પ છે, સનત્કુમારના ઉપર માહેન્દ્ર કલ્પ છે એ  
પ્રમાણે ઉપર ઉપર તમામ કલ્પ સમજવા જોઈએ.

જ્યોતિષ્કમળની ઉપર, અસર્યાત કોઢા-કોઢી યોજન ઉપર જઈને મેરુથી  
ઉપલક્ષિત દક્ષિણ ભાગમાં આકાશ-પ્રદેશમાં સૌધર્મકલ્પ અને જિજ્ઞાન કલ્પ છે સૌધર્મકલ્પ  
પૂર્વ પશ્ચિમમાં લાંબો, ઉત્તર-દક્ષિણમાં વિસ્તીર્ણ અને અર્ધચન્દ્રાકાર છે સૂર્યના સમાન  
ચમકદાર લાંબો, ચોડાઈ અને પરિધિથી અસર્યાત કોઢાકોઢી યોજન, સર્વરત્નમય  
છે, અને લોકના અત સુધી વિસ્તૃત છે તેના મધ્ય ભાગમાં સર્વ રત્નમય અશોક,  
સપ્તર્ણ, ચમ્પક, આન્ન, એવ સૌધર્માવતસથી શોભિત ઇંદ્રનો આવાસ છે શક્ર  
દેવેન્દ્રની સુધર્મા નામની સભા જે કલ્પમાં હોય, તે સૌધર્મ કલ્પ કહેવાય છે

લોકપાલાઃ । મિત્રસ્થાનીયાઃ પારિપઘા' । સૈનિકાઃ સેનાધિપતિરૂપાઃ-આનીકા' ।  
 હિન્દ્રશરીરસાકારકા આત્મરસકાઃ । દાસસ્થાનીયાઃ સેવકા આમિયોગ્યાઃ ।  
 નાગરિક-પૌરજનસમાના' પ્રકીર્ણકાઃ । અન્યજસમાનાઃ કલ્ત્વિકા' । સૌયર્માદિ-  
 દ્વાદશકલ્પેષુ દશવિધા હિન્દ્રસામાનિકાદયો દેવાઃ ભવન્તિ । વ્યન્તરગ્યોત્તિષ્કદેવેષુ  
 ત્રાયસ્ત્રિંશા લોકપાલાઃ ન ભવન્તિ ।

— કલ્પોપપન્નદેવાનાં નિવાસસ્થાનાનિ દ્વાદશ સન્તિ-૧સૌધર્મ-૨પેશાન-૩સન-  
 કુમાર-૪માહેન્દ્ર-૫બ્રહ્મલોક-૬છાન્તક-૭મહાશુક ૮સહસ્રાર-૯ડ્ઞાન-૧૦પ્રાણ-૧૧આરણ-૧૨અચ્યુત ।  
 ૧૧ડ્ઞાન-૧૨અચ્યુતઃ । એ દ્વાદશ દેવલોકાઃ કલ્પવિમાનાનિ । તત્ર સૌધર્મસ્ય

સામાનિક હોતે હૈં । મંત્રી ઓર પુરોહિત જસે ત્રાયસ્ત્રિંશ દેવ હૈં । સીમા કી રક્ષા કરસે વાલે  
 લોકપાલ હૈં । મિત્ર કે સમાન પારિપઘ હૈં । સૈનિક ઓર સેનાધિપતિરૂપ આનીક હૈં । હિન્દ્ર  
 કે શરીર કી રક્ષા કરસે વાલે આત્મરસક કહલાતે હૈં । નાગરિક-પૌરજનકે સમાન પ્રકીર્ણક  
 દેવ હૈં । દાસ કે સમાન દેવ આમિયોગિક કહલાતે હૈં, ઓર અન્યજો કે સમાન કલ્ત્વિક  
 હૈં । યે હિન્દ્ર સામાનિક આદિ દશપ્રકારકે દેવ સૌધર્મ આદિ સમી કલ્પો મેં હોતે હૈં । વ્યંતરો  
 ઓર ગ્યોત્તિષ્ક દેવો મેં ત્રાયસ્ત્રિંશા ઓર લોકપાલ નહીં હોતે ।

કલ્પોપપન્ન દેવો કે નિવસસ્થાન બારહૈં—

૧ સૌધર્મ, ૨ પેશાન, ૩ સનકુમાર, ૪ માહેન્દ્ર, ૫ બ્રહ્મલોક, ૬ છાન્તક,  
 ૭ મહાશુક, ૮ સહસ્રાર, ૯ જ્ઞાન, ૧૦ પ્રાણ, ૧૧ આરણ, ૧૨ અચ્યુત । યે  
 બારહ દેવલોક કલ્પવિમાન હૈં । સૌધર્મ કલ્પ કી બરાબરી પર પેશાન કલ્પ હૈં । પેશાન

હોય છે મંત્રી અને પુરોહિત જેવા ત્રાયસ્ત્રિંશ દેવ છે સીમાની રક્ષા કરનારા તે લોકપાલ છે  
 મિત્રની સમાન પારિપઘ છે, સૈનિક અને સેનાધિપતિરૂપ આનીક છે હિન્દ્રના શરીરની  
 રક્ષા કરવાવાળા આત્મરસક કહેવાય છે નાગરિક-પૌરજનની સમાન પ્રકીર્ણક દેવ છે  
 દાસના સમાન સેવક દેવ આમિયોગિક કહેવાય છે, અન્યજોની સમાન કલ્ત્વિક છે  
 આ હિન્દ્ર, સામાનિક આદિ દેવ સાધર્મ આદિ સર્વ કલ્પોમાં હોય છે વ્યંતરો  
 અને ગ્યોત્તિષ્ક દેવોમાં ત્રાયસ્ત્રિંશા અને લોકપાલ હોતા નથી.

કલ્પોપપન્ન દેવોના નિવાસસ્થાન બાર છે (૧) સૌધર્મ, (૨) પેશાન (૩)  
 સનકુમાર (૪) માહેન્દ્ર (૫) બ્રહ્મલોક (૬) છાન્તક, (૭) મહાશુક, (૮) સહસ્રાર,  
 (૯) જ્ઞાન, (૧૦) પ્રાણ, (૧૧) આરણ, (૧૨) અચ્યુત

આ બાર દેવલોક કલ્પ વિમાન છે સૌધર્મ કલ્પની બરાબરી પર પેશાન કલ્પ છે





સયેશાનકલ્પોઽર્ધચન્દ્રાકારોઽસ્તિ । उमौ मिलितौ पूर्णचन्द्रकारेणा  
 वस्थितौ स्तः ततोऽसंख्यातयोजनकोटिकोटिपुपरि समानप्रदेशे सनत्कुमार-  
 माहेन्द्रौ कल्पौ वर्तेते । अर्धचन्द्राकार इव सनत्कुमारस्तथैव माहेन्द्रोऽपि ।  
 उमौ मिलित्वा पूर्णचन्द्रसदृशाकारेण स्तः । ततोऽसंख्यातयोजनकोटिकोटिपुपरि  
 ब्रह्मलोक पूर्णचन्द्राकारोऽस्ति । एवमेव छान्तक-महाशुक-सहराम्नास्तावत्ताव-  
 धोजनोर्ध्वमुपरि प्रत्येकं पूर्णचन्द्राकारा सन्ति ततोऽप्यसंख्यातयोजनकोटि-  
 कोटिपुपरि समानगगनप्रदेशे आनत-प्राणतलोकौ प्रत्येकमर्धचन्द्राकारौ  
 स्तः । उमौ मिलित्वा पूर्णचन्द्राकारेण भवतः । ततोऽप्यसंख्यातयोजनकोटि  
 कोटिपुपरि-आरणाच्युतलोकौ प्रत्येकमर्धचन्द्राकारौ स्तः । उमौ मिलित्वा  
 पूर्णचन्द्राकारं भवतः ।

પેશાનકલ્પ મી અર્ધચન્દ્રાકાર હે । દોનો કલ્પ મિલકર પૂર્ણ ચન્દ્રમા કે સમાન હૈ ।  
 હન સે અસંખ્યાત કોઢાકોઢી યોજન ઉપર સમાન દેશ મેં સનત્કુમાર ઔર માહેન્દ્ર કલ્પ હૈ ।  
 સનત્કુમાર કલ્પ અર્ધચન્દ્રાકાર હે ઔર માહેન્દ્ર કલ્પ મી હસી પ્રકાર કા હે । દોનો મિલકર  
 પૂર્ણચન્દ્રમા કે સદૃશ આકાર બાળે હૈ । હન સે અસંખ્યાત કોઢાકોઢી યોજન ઉપર બ્રહ્મલોક  
 પૂર્ણચન્દ્રાકાર હે । હસી પ્રકાર છાન્તક, મહાશુક, ઔર સહસ્રાર ઇતને-ઇતને યોજન ઉપર-ઉપર  
 પ્રત્યેક પૂર્ણચન્દ્રમા કે સમાન અવસ્થિત હૈ । હન સે અસંખ્યાત કોઢાકોઢી યોજન ઉપર  
 આકાશ પ્રદેશ મેં આનત ઔર પ્રાણત વરાબરી પર પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર હે । યે દોનો મિલકર  
 પૂર્ણચન્દ્રકે આકાર કે હો બાતે હૈ । હન સે અસંખ્યાત કોઢાકોઢી યોજન ઉપર આરણ ઔર  
 અચ્યુત છોક પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર હે । યે દોનો મિલકર પૂર્ણચન્દ્ર કે આકાર કે બેસે  
 હો બાતે હૈ ।

પેશાન કલ્પ પણ અર્ધચન્દ્રાકાર છે બન્ને કલ્પો મળીને પૂર્ણ ચન્દ્રમાની સમાન  
 છે તેનાથી અસંખ્યાત કોઢા-કોઢી યોજન ઉપર સમાન દેશમાં સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર  
 કલ્પ છે સનત્કુમાર કલ્પ અર્ધચન્દ્રાકાર છે અને માહેન્દ્ર કલ્પ પણ એ પ્રકારનો છે  
 બન્ને મળીને પૂર્ણચન્દ્રમાની બરાબર આકારવાળા છે તેનાથી અસંખ્યાત કોઢા-કોઢી  
 યોજન ઉપર બ્રહ્મલોક પૂર્ણચન્દ્રાકાર છે એ પ્રમાણે છાન્તક, મહાશુક અને સહસ્રાર તેટલા-  
 તેટલા યોજન ઉપર-ઉપર પ્રત્યેક, પૂર્ણચન્દ્રમાસમાન અવસ્થિત છે તેથી અસંખ્યાત  
 કોઢા-કોઢી યોજન ઉપર આકાશપ્રદેશમાં આનત અને પ્રાણત બરાબરી પર પ્રત્યેક  
 અર્ધચન્દ્રાકાર છે એ બન્ને કલ્પો મળીને પૂર્ણ ચન્દ્રમાના આકારના થઈ બાક છે  
 તેથી અસંખ્યાત કોઢા-કોઢી યોજન ઉપર આરણ અને અચ્યુત લોક પ્રત્યેક અર્ધ  
 ચન્દ્રાકાર છે એ બન્ને મળીને પણ પૂર્ણચન્દ્રાકાર જેવા અર્ધ બાક છે

નવપ્રવેયકનામાનિ યથા - ૧ મદ્ર - ૨ સુમદ્ર - ૩ સુજાત - ૪ સુમાનસ - ૫ સુદર્શન - ૬ પ્રિયદર્શના - ૭ અમોઘ - ૮ સુપ્રતિમદ્ર - ૯ યશોધરાણિ ।

પચ્ચાનુચરવિમાનાનિ યથા - ૧ વિજય - ૨ વૈજયન્ત - ૩ જયન્તા - ૪ અપરાજિત - ૫ સર્વાર્થસિદ્ધારણાનિ । અવિઘમાનમુત્તર - મુત્કુષ્ટ વિમાનાદિ યેભ્યસ્તાન્યનુચરાણિ । તાનિ ચ વિમાનાનિ - અનુચરવિમાનાનિ ।

તીર્થદ્વારાદીનાં સમવસરણાદૌ કલ્પોપપન્નદેવા ગમનાગમન કુર્વન્તિ । કલ્પાતીતદેવાસ્તુ સ્વસ્થાનાદન્યત્ર ન ગચ્છન્તિ ।

### ૫ જીવનિકાયમેદ-સંકલનમ્

પદ્મજીવનિકાયનાં ત્રિપષ્ટ્યુત્તરપચ્ચશતાનિ (૫૬૩) મેદા । તથાહિ-પૃથિવ્યન્તેજોધાયુકાયનાં પ્રત્યેક ઘાટર-મુક્મ-મેદાદ્ દ્વિવિધ્યેષ્ટઘા । તેપાં

નૌ પ્રવેયકો કે નામ - (૧) મદ્ર, (૨) સુમદ્ર, (૩) સુજાત, (૪) સુમાનસ, (૫) સુદર્શન, (૬) પ્રિયદર્શન, (૭) અમોઘ, (૮) સુપ્રતિમદ્ર, ઓર (૯) યશોધર હૈં ।

પાચ અનુચર વિમાન - (૧) વિજય, (૨) વૈજયન્ત, (૩) જયન્ત, (૪) અપરાજિત ઓર (૫) સર્વાર્થસિદ્ધ । જિન સે ઊપર અર્થાત્ ઉત્કૃષ્ટ ઓર કોઈ વિમાન નહીં ઘે અનુચર વિમાન કહલાતે હૈં । તીર્થકર આદિ કે સમવસરણ આદિ મેં કલ્પોપપન્ન દેવ ગમનાગમન કરતે હૈં । કલ્પાતીત દેવ અપને સ્થાન સે અન્ય જગહ નહીં જાતે ।

### પદ્મજીવનિકાય કે મેદોં કા સંકલન-

પદ્મજીવનિકાયોં કે કુલ પાચસો ત્રેસઠ (૫૬૩) મેદ હૈં । ઘે હસ પ્રકાર હૈં - પૃથિવી, અપ, તેજ, ઓર ઘાયુકાય કે ઘાટર ઓર મુક્મ કે મેદ સે આઠ મેદ હુપ ।

નવપ્રવેયકના નામ - (૧) મદ્ર, (૨) સુમદ્ર, (૩) સુજાત, (૪) સુમાનસ, (૫) સુદર્શન, (૬) પ્રિયદર્શન, (૭) અમોઘ, (૮) સુપ્રતિમદ્ર અને (૯) યશોધર ।

પાંચ અનુચર વિમાન - (૧) વિજય, (૨) વૈજયન્ત, (૩) જયન્ત, (૪) અપરાજિત અને (૫) સર્વાર્થસિદ્ધ જેનાથી ઉત્તર અર્થાત્ ઉત્કૃષ્ટ કોઈ વિમાન ન હોય તે અનુચર વિમાન કહેવાય છે તીર્થકર આદિના સમવસરણ આદિમાં કલ્પોપપન્ન દેવ ગમનાગમન કરે છે કલ્પાતીત દેવ પોતાના સ્થાનથી અન્ય જગ્યાએ જતા નથી.

### પદ્મજીવનિકાયના ભેદોનો યોગ

૧ પદ્મજીવનિકાયોના કુલ પાંચસો ત્રેસઠ (૫૬૩) ભેદ છે તે આ પ્રકારે છે -  
૫૭૧. અપ, તેજ અને ઘાયુકાય, તેના આઠ અને મુક્મના ભેદથી આઠ ભેદ થયા.

### કલ્પાતીતા:-

કલ્પમતીતા:-અતિક્રાન્તા' કલ્પાતીતા:। સૌધર્માદિદ્વાદશકલ્પનરિધૂતા: સ્વામિસેવકાધાચારવર્જિતા:, સ્વાતન્ત્ર્યાદહમિન્દ્રનામ્ના પ્રસિદ્ધા, મદ્રાદિનવપ્રેવેયક-વિમાન-વિજયાદિપञ्ચાનુચરવિમાનાધિવાસિનો દેશ: કલ્પાતીતા:।

સૌધર્માદિદ્વાદશકલ્પતથોર્ધ્વમસંસ્થાતયોજનકોટિકોટિપૂપરિ નવપ્રેવેય કાનિ વિમાનાન્યુપર્યુપરિ સન્તિ। પુરુષાકારલોકસ્ય ગ્રીવાસ્થાનીયતયા વિમાનાનિ પ્રેવેયકાન્યુચ્યન્તે। તદ્વાસિનો દેવા અપિ પ્રેવેયકા ચ્ચન્તે। સર્વોપરિતનપ્રેવેયક વિમાનાદૂર્ધ્વમસંસ્થાતયોજનકોટિકોટિપૂપરિ પञ्ચાનુચરવિમાનાનિ સન્તિ। તત્રૈક મધ્યમાગે, ચતુર્દિષ્ઠ ચત્વારિ। અનુચરવિમાનવાસિનો દેવા અનુચરા ઉચ્યન્તે।

### કલ્પાતીત—

જો દેવ કલ્પ સે પરે હૈં વે કલ્પાતીત કહલાતે હૈં, અર્થાત્ સૌધર્મ આદિ કલ્પા સે બાહર, સ્વામી, સેવક આદિ મર્યાદા સે રહિત—સ્વતંત્ર હોને કે કારણ અહમિન્દ્ર નામ સે પ્રસિદ્ધ મદ્ર આદિ નૌ પ્રેવેયકોં મેં તથા વિજય આદિ પાંચ અનુચર વિમાનોં મેં નિવાસ કરને વાળે દેવ કલ્પાતીત કહલાતે હૈં।

સૌધર્મ આદિ બારહ કલ્પો સે ऊपर असंस्थात कोढाकोढी योजन बाकर नौ प्रेवैयक विमान एक दूसरे के उपर अवस्थित हैं। पुरुषाकार लोक की ग्रीवा के स्थान पर जो विमान हैं, वे प्रेवैयक विमान कहलाते हैं। सब स ऊपर के प्रेवैयक विमान से ऊपर असंस्थात कोढाकोढा योजन बाकर पांच अनुचर विमान हैं। उन में से एक मध्य माग में है और चार चारों दिशाभा में हैं। अनुचरविमानवासी देव अनुचर कहलाते हैं।

### કલ્પાતીત—

જે દેવો કલ્પથી બહાર છે તે કલ્પાતીત કહેવાય છે અર્થાત્ સૌધર્મ આદિ કલ્પોથી બહાર સ્વામી—સેવક આદિ મર્યાદાથી રહિત, સ્વતંત્ર હોવાના કારણે અહમિન્દ્ર નામથી પ્રસિદ્ધ છે બદ્ર આદિ નવપ્રેવેયકમા, તથા વિજય આદિ પાંચ અનુચર વિમાનોમાં નિવાસ કરવા વાળા દેવ તે કલ્પાતીત કહેવાય છે

સૌધર્મ આદિ બાર કલ્પોથી ઉપર અસંસ્થાત કોઠા-કોઠી યોજન જઈને નવ પ્રેવેયક વિમાન એક બીજાની ઉપર અવસ્થિત છે પુરુષાકાર લોકની ગ્રીવા (ઠાક) ના સ્થાન પર જે વિમાન છે તે પ્રેવેયક વિમાન કહેવાય છે

સૌથી ઉપરના પ્રેવેયક વિમાન ઉપર અસંસ્થાત કોઠા-કોઠી યોજન જઈને પાંચ અનુચર વિમાન છે તેમાંથી એક મધ્ય ભાગમાં છે, બાકી ચારેય દિશાઓમાં છે અનુચરવિમાનવાસી દેવ અનુચર કહેવાય છે

રત્નપ્રભાદય\* સપ્ત નરકભૂમય । તત્ર મવા નારકા\* સપ્તવિધાઃ, તેપાં  
પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદેન દ્વિવિધ્યે ચતુર્દશ મેદાઃ

મનુષ્યાણા ઋત્તરશતત્રય (૩૦૩) મેદા\* પૂર્વમેવ તત્પ્રકરણે સુસ્પષ્ટ કથિતાઃ ।

દેવાનામણનવત્યુત્તરશત (૧૯૮) મેદાઃ । તત્ર મવનપતીનાં દશ મેદાઃ  
અસુરકુમારાદય. । પરમાધાર્મિકા\* પચ્ચદશ । એવ (૨૫) પચ્ચવિંશતિર્મેદાઃ ।  
વ્યન્તરાણાં પદ્મવિંશતિર્મેદા । તત્ર પિશાચાદયઃ પોદશ, અબ્રજુમ્બકાદયો દશ (૨૬) ।  
જ્યોતિષ્કાનાં દશ મેદા । તત્ર ચન્દ્રાદય\* પચ્ચ । તેપા પચ્ચાનાં ચર-સ્થિરમેદેન  
દ્વિવિધ્યે દશ મેદા\* (૧૦) સન્તિ । વૈમાનિકાનામણત્રિંશદ્ મેદા\* । તત્ર  
સુધર્માદયો દ્વાદશ, સારસ્વતાદયો નવ, કિલ્વિપિકાસ્ત્રયઃ, પ્રૈવેયકા\*-મદ્રાદયો

રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિયોં મેં સાત પ્રકાર કે નારકી હેં । ડનકે પર્યાપ્ત,  
અપર્યાપ્ત મેદ કરને સે ચૌદહ મેદ હોતે હેં ।

મનુષ્યોં કે તીનસૌ તીન (૩૦૩) મેદ પહેલે સ્પષ્ટ કહે જા ચુકે હેં ।

દેવોં કે દશસૌ અટ્ટાનવે (૧૯૮) મેદ હેં । વે હસ પ્રકાર-મવનપતિયોં કે અસુર  
કુમાર આદિ દસ, પરમાધાર્મિક પન્દર, સઘ પચ્ચીસ (૨૫) મેદ હુણ । વ્યન્તરોં કે છઞ્વીસ  
મેદ હેં-સોલ્હ પિશાચ આદિ ઔર દસ અબ્રજુમ્બક આદિ (૨૬) । ચન્દ્રમા આદિ પાંચ કે  
ચર ઔર અચર મેદ હોને સે જ્યોતિષ્ક દેવોં કે દશ (૧૦) મેદ હેં । વૈમાનિકોં કે અઠતીસ  
મેદ હેં-સુધર્મ આદિ બારહ, સારસ્વત આદિ નૌ, કિલ્વિપિક આદિ તીન, મદ્ર આદિ  
પ્રૈવેયક નૌ, વિજય આદિ પાચ અનુત્તર વિમાન (૩૮) । હન સઘ કા યોગ કરને-સે

રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓંમાં સાત પ્રકારના નારકી છે તેના પર્યાપ્ત  
અને અપર્યાપ્ત લેહ કદવાથી ઔહ લેહ થાય છે

મનુષ્યોના ત્રણસોત્રણ (૩૦૩) લેહ પ્રથમ સ્પષ્ટ કહી ચૂક્યા છીએ દેવાના બેઠસો  
અઠાણ (૧૯૮) લેહ છે ભવનપતિયોના અસુરકુમાર આદિ હસ, પરમાધાર્મી પદર, સર્વ  
પચીસ લેહ થયા વ્યન્તરોના છવીસ લેહ છે-સોળ પિશાચ આદિ, અને હસ અબ્રજુમ્બક-  
આદિ. ચન્દ્રમા આદિ પાંચના ચર અને અચર લેહ હોવાથી જ્યોતિષ્ક દેવાના દશ (૧૦) લેહ  
છે વમાનિક દેવાના આઠત્રીસ (૩૮) લેહ છે-સુધર્મ આદિ બાર, સારસ્વત આદિ નવ, કિલ્વિપિક  
આદિ ત્રણ, મદ્ર આદિ પ્રૈવેયેક નવ, વિજય આદિ પાચ અનુત્તર વિમાન, આ સર્વને બેઠ  
મ આ-૩૮

પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદાદ્ દ્વૈવિધ્યે પોદશ (૧૬) મેદાઃ । વનસ્પતિકાયસ્ય સૂક્ષ્મ-  
સાધારણપ્રત્યેકમેદાત્ ત્રૈવિધ્યમ્, ત્રિવિધસ્ય વનસ્પતિકાયસ્ય પર્યાપ્તાપર્યાપ્ત-  
મેદેન પ્રત્યેક દ્વૈવિધ્યે તસ્ય પદ્મ મેદાઃ, इत्य (૨૨) દ્વાવિંશતિર્મેદાઃ સ્થાવર-  
પશ્ચકસ્યૈકેન્દ્રિયજીવસ્ય ધ્રુવન્તિ ।

દ્વીન્દ્રિય-ત્રીન્દ્રિય-ચતુરિન્દ્રિયાણા પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદન પ્રત્યેક દ્વૈવિધ્યે  
પદ્મ મેદાઃ । સર્વસફલનયાષ્ટાવિંશતિ (૨૮) મેદાઃ ।

તિર્યક્ષ્ણેન્દ્રિયાઃ-જલચર-સ્થલચર-સ્થેચરો-૨;પરિસર્પશુઞ્જપરિસર્પ-મેદાત્-  
પશ્ચવિધાઃ । તેષાં પશ્ચાન્નાં સદ્વ્યસન્નિમેદેન દ્વૈવિધ્યે દશ મેદાઃ । તેષાં પર્યાપ્તા-  
પર્યાપ્તમેદેન વિંશતિ(૨૦)મેદાઃ । પૂર્વોક્તાષ્ટાવિંશતિસંકલનતોષ્ટચત્વારિંશદ્  
(૪૮) મેદાસ્તિરશ્ચામ્ ।

इन आठों के पर्याप्त और अपर्याप्त के मेद से सोलह मेद होते हैं । वनस्पतिकाय-सूक्ष्म,  
साधारण और प्रत्येक के मेद से-तीन प्रकार का है । इन तीनों के पर्याप्त और अपर्याप्त मेद  
करने से छह मेद हुए । इस प्रकार पांच एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के बाईस (२२)मेद हैं ।

દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त अपर्याप्त मेद से छह मेद । सक्को  
बोह देने पर अट्ठाईस (२८) मेद हुए ।

તિર્યક્ષ્ણ પશ્ચેન્દ્રિય-જલચર, સ્થલચર, સ્થેચર, ટર પરિસર્પ और मुञ्जपरिसर्प के मेद से  
पांच प्रकार के हैं । पांचों के सङ्गी, असङ्गी के मेद से दश हुए, इन के पर्याप्त, अपर्याप्त मेद  
करने से बीस (२०) मेद हुए । इन बीस में पूर्वोक्त अट्ठाईस और मिलाने से तिर्यङ्गों के  
अष्टात्तालीस (४८) मेद होते हैं ।

તે આઠના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના બેઢથી સોળ બેઢ થાય છે વનસ્પતિકાય સૂક્ષ્મ,  
સાધારણ અને પ્રત્યેકના બેઢથી ત્રણ પ્રકારના છે એ ત્રણેના પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત  
બેઢ કરવાથી છ બેઢ થયા આ પ્રમાણે પાંચ એકેન્દ્રિય સ્થાવર જીવોના બાવીસ બેઢ છે

બીધન્દ્રિય, ત્રણ-ધન્દ્રિય અને ચૌધન્દ્રિયના પર્યાપ્ત અપર્યાપ્તના બેઢથી છ બેઢ  
થયા તે સર્વને એક કરવાથી અઠાવીસ (૨૮) બેઢ થયા

તિર્યંગ પશ્ચેન્દ્રિય-જલચર, સ્થલચર, સ્થેચર, ઉપરિસર્પ અને મુજપરિસર્પના  
બેઢથી પાંચ પ્રકારના છે તે પાંચના સંગી અને અસંગીના બેઢથી દશ થયા, તેના  
પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત બેઢ કરવાથી વીસ (૨૦) બેઢ થયા, તે વીસમાં પૂર્વોક્ત અઠાવીસ  
મેદવવાથી તિર્યંગના અઠાત્તાલીસ (૪૮) બેઢ થાય છે

- (૯) પૃથ્વીકાયા અસહ્યાતા । (૧૦) અપ્કાયા અસહ્યાતાઃ ।  
 (૧૧) તેજસ્કાયા અસહ્યાતા । (૧૨) વાયુકાયા અસહ્યાતા ।  
 (૧૩) પ્રત્યેકવનસ્પતિકાયા અસહ્યાતા । (૧૪) તદ્દપેક્ષયા સિદ્ધજીવા અનન્તાઃ ।  
 (૧૫) સેમ્યોઽપિ કન્દમૂલાદિરૂપા (૧૬) સૂક્ષ્મનિગોદજીવા.  
 વાદરનિગોદજીવા અનન્તગુણા. । સર્વતોઽનન્તગુણા. ।

### કર્મવાદિપ્રકરણમ્—

ય' પુનરેવ પદ્મજીવનિકાયસ્વરૂપનિરૂપણપરઃ સ एष लोकवादी वस्तुतः  
 કર્મવાદીત્યાહ—'કર્મવાદી' इति । कर्म=ज्ञानावरणीयादि, तद् वदितुं शीलमस्येति  
 કર્મવાદી—કર્મસ્વરૂપકયનશીલ । પદ્મજીવનિકાયતત્ત્વજ્ઞ સ્વલ્લ લોકવાદી જ્ઞાના

- (૯) પૃથ્વીકાય અસહ્યાત । (૧૦) અપ્કાય અસહ્યાત ।  
 (૧૧) તેજસ્કાય અસહ્યાત । (૧૨) વાયુકાય અસહ્યાત ।  
 (૧૩) પ્રત્યેકવનસ્પતિકાય અસહ્યાત । (૧૪) હસ સે સિદ્ધ જીવ અનન્ત ।  
 (૧૫) વાદરનિગોદજીવ કન્દમૂલ આદિ સિદ્ધા સે (૧૬) સૂક્ષ્મ નિગોદજીવ સર્વ સે  
 મી અનન્તગુણા । અનન્ત ગુણા ।

### કર્મવાદિપ્રકરણ—

જો હસ પ્રકાર પદ્મજીવનિકાય કા સ્વરૂપ નિરૂપણ કરને વાલા હૈ, વહી  
 લોકવાદી વાસ્તવ મેં કર્તવાદી હૈ । જ્ઞાનાવરણ આદિ કમોં કા કયન કરના બિસ કા  
 સ્વભાવ હો, વહ કર્મવાદી હૈ । પદ્મજીવનિકાય કા તત્ત્વ સમજને વાલા લોકવાદી જ્ઞાનાવરણ

- (૯) પૃથ્વીકાય અસહ્યાત છે (૧૦) અપ્કાય અસહ્યાત છે  
 (૧૧) તેજસ્કાય અસહ્યાત છે (૧૨) વાયુકાય અસહ્યાત છે  
 (૧૩) પ્રત્યેકવનસ્પતિકાય અસહ્યાત છે (૧૪) તેનાથી સિદ્ધજીવ અનન્ત છે  
 (૧૫) બાહર નિગોદ જીવ કન્દમૂળ આદિ (૧૬) સૂક્ષ્મ નિગોદ જીવ સૌથી  
 સિદ્ધીથી પણ અનન્ત છે અનન્તગણા છે

### કર્મવાદીપ્રકરણ—

જે બા પ્રમાણે પદ્મજીવનિકાયના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવાવાળા છે તે લોકવાદી  
 વાસ્તવિક રીતે કર્મવાદી છે જ્ઞાનાવરણ આદિ કમોંનું કયન કરવું તે જેના સ્વભાવ  
 ક્ષેત્ર, તે કર્મવાદી છે પદ્મજીવનિકાયના તત્ત્વને સમજવાવાળા લોકવાદી જ્ઞાનાવરણ

નવ, વિજયાદયઃ પञ્ચાનુત્તરધિમાનાઃ (૩૮) । સર્વેર્ણાં સકલનેન (૧૧) નવ  
નવતિમેદાઃ । તેર્ણાં પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદેન દ્વૈધિધ્યે સત્યઘનવત્પુત્રશત (૧૧૮) મેદાઃ  
દેધાનાં મવન્તિ । इत्थ सकलमेदसंकलनया पद्मजीवनिष्कायानां त्रिषष्ट्युत्तर-  
पञ्चशतानि (૫૬૩) મેદાઃ સન્તિ ।

જીવાનાં સહ્યા—

જીવા અનન્તાઃ સન્તિ । તથાહિ—

- |  |                               |
|--|-------------------------------|
| (૧) સંહિનો મનુષ્યાઃ સહ્યાતાઃ ।         | (૨) અસંહિનો મનુષ્યા અસહ્યાતાઃ |
| (૩) નારકિણોઽપ્યસહ્યાતાઃ ।              | (૪) દેવાઃ સહ્યાતા ।           |
| (૫) તિર્યચ્ચ પશ્વેન્દ્રિયા અસહ્યાતાઃ । | (૬) દ્વીન્દ્રિયા અસહ્યાતાઃ ।  |
| (૭) ત્રીન્દ્રિયા અસહ્યાતાઃ ।           | (૮) ચતુરિન્દ્રિયા અસહ્યાતાઃ । |

નિન્યાનવે (૧૧) મેદ હોતે હૈ, જોર હન કે પર્યાપ્ત અપર્યાપ્ત કે મેદ સે ફકસૌ અઢ્ઠાનવે  
( ૧૧૮ ) મેદ દેવો કે હૈ । હસ પ્રકાર સવ મેદો કા જોડ કરને સે પાંચસૌ ત્રેસઠ (૫૬૩)  
પદ્મજીવનિકાય કે મેદ હોતે હૈ ।

જીવોં કી સહ્યા—

જીવ અનન્ત હૈ । વે હસ પ્રકાર—

- |                                     |                            |
|-------------------------------------|----------------------------|
| (૧) સહી મનુષ્ય સહ્યાત ।             | (૨) અસહી મનુષ્ય અસહ્યાત ।  |
| (૩) નારકી અસહ્યાત ।                 | (૪) દેવ અસહ્યાત ।          |
| (૫) તિર્યચ્ચ પશ્વેન્દ્રિય અસહ્યાત । | (૬) દ્વીન્દ્રિય અસહ્યાત ।  |
| (૭) ત્રીન્દ્રિય અસહ્યાત ।           | (૮) ચતુરિન્દ્રિય અસહ્યાત । |

ઠરવાથી નવાણુ (૬૬) લેઠ યાવ છે અને તેના પચીસ અપીસ લેઠ ઠરવાથી જોઠસો  
અઠાણુ (૧૬૮) લેઠ દેવોના છે આ પ્રમાણે ઉપર ઠરેલા સર્વ લેઠોને જોઠઠા ઠરવાથી  
પાંચસો ત્રેસઠ (૫૬૩) પદ્મજીવનિકાયના લેઠ યાવ છે

જીવોની સહ્યા—

જીવ અનન્ત છે, તે આ પ્રકારે છે: —

- |                                      |                             |
|--------------------------------------|-----------------------------|
| (૧) સહી મનુષ્ય સહ્યાત છે             | (૨) અસહી મનુષ્ય અસહ્યાત છે  |
| (૩) નારકી અસહ્યાત છે                 | (૪) દેવ અસહ્યાત છે          |
| (૫) તિર્યચ્ચ પશ્વેન્દ્રિય અસહ્યાત છે | (૬) દ્વીન્દ્રિય અસહ્યાત છે  |
| (૭) ત્રીન્દ્રિય અસહ્યાત છે           | (૮) ચતુરિન્દ્રિય અસહ્યાત છે |

દિહેતુભિર્નિરન્તરમયમાત્મા રાગદ્વેષપરિણત્યા સ્વસ્મિન્ સમ્પ્રદેશેષુ કર્મવર્ગના-  
રૂપ પુદ્ગલ સમાકર્ષન્ ક્ષીરનીરન્યાયેન તાદાત્મ્યસમાપન્ન કારોતિ તદવ કર્મોચ્યતે ।

## (૨) કર્મેણ સિદ્ધિ—

આત્મત્વધર્મેણ સર્વેપામાત્મનામેકરૂપત્વેऽપિ દેવનારકમનુષ્યતિર્યગાદિ  
રૂપ સુખિ દુઃખિ—સઘન—નિર્ઘન—સુરૂપ—કુરૂપ—સબલ—ઽગલ—નીરોગ સરોગાદિરૂપ વા  
યદ્ વૈચિત્ર્ય તન્ન નિર્હેતુક મર્ષિતુમર્હતિ, સદા મવાઽમાવદોપસંગાત્ ।  
નિર્હેતુકત્વે દેવનારકાદિમવ શાશ્વતિક. સ્યાત્, તથા દેવનારકાદિમવા

રાગદ્વેષરૂપ પરિણામોં સે અપને સમસ્ત આત્મપ્રદેશોં મેં કર્મવર્ગના ક પુદ્ગલોં કો સ્ત્રોચતા હૈ  
ઔર ક્ષીર—નીર કી तरह તદ્રૂપ બના છેતા હૈ ઉન્હોં કો કર્મ કહતે હૈં ।

## (૨) કર્મકી સિદ્ધિ—

સવ આત્માઓં મેં આત્મત્વ સમાન હોન પર મી કોઈ દેવ હૈ, કોઈ નારક  
કોઈ મનુષ્ય હૈ, કોઈં તિર્યંચ, કોઈ સુલી હૈ, કોઈં દુઃલી, કોઈ સઘન, કોઈ નિર્ઘન,  
કોઈ સુરૂપ, કોઈ કુરૂપ, કોઈ સબલ, કોઈં નિર્મલ, કોઈ રોગી હૈ, કોઈ નીરોગી હૈ,  
મહ સવ વિચિત્રતા નિષ્કારણ નહીં હો સકતી, અગર હસકા કોઈં કારણ ન હોતા તો  
યા તો યહ વિચિત્રતા હોતી હી નહીં, અગર હોતી મી તો સદૈવ કે લિપ્ હોતી । નિષ્કારણ  
હી દેવગતિ યા નરકગતિ હોતી તો મહ નિત્ય હોતી । તથા દેવ નરક આદિ મવકા

નિરતર રાગદ્વેષરૂપ પરિણામોથી પોતાના સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમાં કર્મવર્ગજ્ઞાના પુદ્  
ગલોને ખેંચે છે, અને ક્ષીર—નીર પ્રમાણે તદ્રૂપ બનાવી લે છે, તેને કર્મ કહે છે

## (૨) કર્મની સિદ્ધિ—

સર્વ આત્માઓમા આત્મત્વ સમાન હોવા છતાય પણ કોઈ દેવ છે, કોઈ નારકી,  
કોઈ મનુષ્ય છે, કોઈ તિર્યંચ, કોઈ સુખી છે, કોઈ દુઃખી છે કોઈ ધનવાન છે, કોઈ  
નિર્ધન છે, કોઈ સ્વરૂપવાન છે, કોઈ કુરૂપ છે, કોઈ સબલ છે, કોઈ નિર્મલ છે કોઈ  
રોગી છે, કોઈ નિરોગી છે આ સર્વ વિચિત્રતા કોઈ કારણ વિના કોઈ શકે નહી તેનું  
કોઈ કારણ ન હોય તો આવી વિચિત્રતા પણ હોય નહી. અને હોય તો પછી તે હમેશાં  
માટે રહી શકતે. કોઈ પણ કારણ વિના દેવગતિ અથવા નરકગતિ હોય તો તે નિત્ય  
હોય, તથા દેવ અને નારક આદિ ભવનો અભાવ પણ નિત્ય હોત એ પ્રમાણે



વરણીયાદિધર્મકર્મૈશ્વ નરકાદિચતુર્ગતિભ્રમણકારણતયા વિજાનાતિ । જ્ઞાના-  
વરણીયાદિકર્મવન્ધાદેવ હિ જીવાશ્ચતુર્વિધાસુ ગતિષુ પરિભ્રમન્તઃ સમ્યગ્જ્ઞાનચારિત્ર-  
પ્રાપ્તિમન્ત્રેણ સસારદાવાગ્નિપતિષ્ઠમાત્માન સમુદ્ધૃતું ન પ્રમત્રન્તિ । એવં કર્મવન્ધવેદી  
મન્યઃ કર્મવાદી ધોદ્ધવ્ય ઇત્યર્થઃ ।

### (૧) કર્મસ્વરૂપ—

અત્ર કર્મપસદ્ધેન તત્સ્યરૂપ નિરૂપ્યતે—

જીવેન મિથ્યાત્વાદિદેતુમિઃ ક્રિયતે યત્, તત્ કર્મ । યયા તપ્ત્વાયો  
ગોલક સલિલે નિસિપ્તઃ સત્ સર્વતઃ સલિલમાકર્ષતિ તયાઽનાદિમિથ્યાત્વા-

આદિ આઠ કર્મો કો હી નરક આદિ ચાર ગતિયો મેં ભ્રમણ કા કારણ જ્ઞાનતા હૈ ।  
જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મો કે બન્ધ કે કારણ હી જીવ ચાર ગતિયો મેં પરિભ્રમણ કરતે  
હુણ સમ્યગ્જ્ઞાન ઔર ચારિત્ર કી પ્રાપ્તિ કે વિના સસારરૂપી દાવાનલ મેં પડે હુણ આત્મા  
કા ઉદ્ધાર કરને મેં સમર્થ નહીં હોતે । હસ પ્રકાર કર્મબન્ધ કે ચેત્તા (જ્ઞાનેવાળે) મન્યબીજ  
કર્મવાદી કહેલાતે હૈં ।

### (૧) કર્મકા સ્વરૂપ—

કર્મ કા પ્રસન્ન હોને સે ઇસકે સ્વરૂપ કા નિરૂપણ કરતે હૈ —

- જીવ કે દ્વારા મિથ્યાત્વ આદિ કારણો સે જો ક્રિયાબાય વહ કર્મ હૈં । જૈસે-  
તપા હુઆ હોદ્દે કા ગોલક બલ મેં ઢાલ દિયા ગાય તો વહ સમી તરફ સે બલ કો  
સીંચતા હૈ, ઇસી પ્રકાર જ્ઞાનાદિકાલીન મિથ્યાત્વ આદિ કારણો સે આત્મા નિરન્તર

આદિ આઠ કર્મોનેજ નરક આદિ ચાર ગતિઓમા ભ્રમણુ કરણ બાલુ છે જ્ઞાનાવરણીય આદિ  
કર્મોના જ બધા કરણથીજ એવ આર ગતિઓમા પરિભ્રમણુ કરતો યદો સમ્યગ્જ્ઞાન જ્ઞાને  
આસ્ત્રિની પ્રાપ્તિ વિના સસારરૂપી દાવાનલમા પડેલા આત્માનો ઉદ્ધાર કરવામાં  
સમર્થ યતો નથી. આ પ્રકારે કર્મબંધને બાબુનાર બાબુએવ કર્મવાદી કહેવાય છે ।

### (૧) કર્મનું સ્વરૂપ—

કર્મનો પ્રસન્ન હોવાથી તેના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરે છે —

1 એવદ્વારા મિથ્યાત્વઆદિ કરણોથી જે કરવામાં આવે તે કર્મ છે જેવી  
રીતે અજિથી તપાવેલા લોહનો બોળો પાણીમાં નાખવામાં આવે તો તે આશ્રય  
વશથી પાણીને જોય છે, તે પ્રમાણે જ્ઞાનાદિકાલીન મિથ્યાત્વ આદિ કરણોથી આત્મા

एतत् कर्म पुद्गलस्वरूप, नामूर्तमस्ति, अमूर्तत्वे हि कर्मणः सकाशा-  
दात्मनामनुग्रहोपघातासम्भवात्, गगनादिवत् । उक्तञ्च—

“तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां,  
केचिल्लमन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।  
परे न तां मित्र । निगद्यतां मे,  
कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ? ॥१॥”

અપરજ્ઞ—

“निषध्य मासान्नव गर्भमध्ये,  
बहुमकारै कल्लादिभावै ।  
उद्धृत्य निष्काशयते सचित्र्याः,  
को गर्मतः कर्म विहाय पूर्वम् ?” इति ।

यह कर्म, पुद्गलस्वरूप है, अमूर्त नहीं । अगर कर्म अमूर्त माना जाय तो उस से आत्मा का अनुग्रह और उपघात होना असम्भव है, जैसे आकाश से नहीं होता । कहा भी है —

“समान प्रताप, उद्यम और साहस वालों में से कोई कोई अपना कार्य सिद्ध करलेते हैं और दूसरे नहीं करपाते । मित्र ! कर्म के सिवाय इस का और कोई कारण हो तो कहो । अर्थात् कर्म ही इस का एकमात्र कारण है ” ॥ १ ॥  
और भी कहा है —

“गर्भ में नौ महीने तक कल्ल आदि अनेक रूपों में बढाकर माता के गर्भ से पूर्वकर्म के सिवाय और कोन बाहर निकालता है । ” ॥ १ ॥

એ કર્મ, પુદ્ગલસ્વરૂપ છે, અમૂર્ત નથી અથવા કર્મને અમૂર્ત માનવામાં આવે તો તેનાથી આત્માને અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થવો અસંભવ છે, જેમ આકાશથી થતો નથી કહ્યું પણ છે —

“સમાન પ્રતાપ, ઉદ્યમ, અને સાહસવાળી વ્યક્તિઓમાં કોઈ-કોઈ પોતાનું કાર્ય સિદ્ધ કરી લે છે; અને કોઈ કોઈ નથી કરી શકતી મિત્ર ! આ બાબતમાં કર્મ વિના બીજું કોઈ કારણ હોય તો કહો ? અર્થાત્ કર્મજ્ઞ એનું એક માત્ર કારણ છે ” ॥૧॥

બીજું પણ કહ્યું છે—“ગર્ભમાં નવ માસ સુધી કલલ (અનુ પ્રથમ સ્વરૂપ) આદિ અનેક રૂપોમાં વૃદ્ધિ પામીને માતાના ગર્ભમાંથી પૂર્વકર્મ સિવાય બીજું કોણ બહાર કાઢે છે ? ” ॥૧॥

માવડોપિ શાશ્વતિક. સ્યાત્, એવ યઃ સુખી, તસ્ય સર્વદા સુખમેવ સ્યાત્, યથ દુઃખી, તસ્ય સર્વદા દુઃખમેવ સ્યાત્-સર્વદા સુખામાવસ્તસ્ય સ્યાત્ ।

અત એવ—“નિત્ય સત્ત્વ વા હેતોરન્યાનપેસગાત્” ઇત્યાદુઃ । સરેતુ-  
કત્વસ્વીકારે ચ ય એવાસ્ય હેતુઃ સ એવાસ્માકં કર્મેતિ । ઉક્તઃ—

“આત્મત્વેન વિશિષ્ટસ્ય, વૈચિત્ર્ય તસ્ય યદ્વશાત્ ।

નરાદિરૂપં તચ્ચિત્રમદૃષ્ટ કર્મસમિતય્” ॥ ૧ ॥

અમાવ હી શાશ્વતિક હોતા । ફસી પ્રકાર બો સુખી હૈ વહ સવા કે લિપ સુખી હોતા । બો દુઃખી હૈ ઉસે સવૈવ દુઃખ હી હોતા—ઉસ કે લિપ સવૈવ સુખ કા અમાવ હોતા । ફસી લિપ કહ્યા ગયા હૈ કિ— “બો વસ્તુ કિસી કારણકી અપેક્ષા નહીં રલ્લતી વહ, યા તો આકાશ કી ંસિ સવૈવ વિષમન રહતી અથવા સ્વરુપિણ કી તરહ કદાપિ નહીં હોતી । ” અગર ફસ વિચિત્રતા કા બો કારણ હૈ ઉસી કારણ કો હમ કર્મ કહ્તે હૈ । કહ્યા મી હૈ—

“આત્મત્વ કી સમાનતા હોને પર મી કિસ કારણ સે મનુષ્યાદિરૂપ વિચિત્રતા હોતી હૈ વહી અદૃષ્ટ હૈ । ઉસી કો કર્મ કહ્તે હૈ, વહ નાના પ્રકાર કા હૈ ॥ ૧ ॥ ”

બે સુખી છે તે હંમેશાં આટે સુખીજ હોત, અને બે દુઃખી છે તે હંમેશા દુઃખીજ રહેત, તેને હંમેશા આટે સુખનો અભાવ રહેત એ કારણથી કહ્યું છે કે—“બે વસ્તુ કોઈ કારણની અપેક્ષા રાખતી નથી તે આકાશ પ્રમાણે સર્વેવ વિદ્યમાન રહે છે, અથવા અપ-વિદ્યા (અવિદ્યા શિંગડા)ની પ્રમાણે કદાપિ હોય નહીં” અગર આ વિચિત્રતા બે કોઈ કારણ માનવામાં આવે તો તે કારણને અમે કમ કહીએ છીએ, કહ્યું છે—

“આત્મત્વ-(આત્માપણ)ની સમાનતા હોવા છતાં પણ બે કારણથી મનુષ્યા દિરૂપ વિચિત્રતા હોય છે—દેખાય છે તે અદૃષ્ટ છે તેને કર્મ કહે છે અને તે નાના પ્રકારના છે—અર્થાત્ ઘણા પ્રકારના છે.” ॥ ૧ ॥

નનુ અન્નાદિષ્વ કર્મપુટ્રલાના વિચિત્રપરિણતિસ્વીકારે વાદ્યમિદ શરીર-  
મેવ મુલ્લદુઃખાદિનાનારૂપતયા વિચિત્રપરિણામ કરોતીત્યેવ મન્યતાં, કિં પુનસ્તદ્-  
વૈચિત્ર્યહેતુભૂતસ્ય કર્મણ પરિકલ્પનયા, સ્વભાવાત એવ સર્વસ્યાપિ પુટ્રલપરિણામ-  
વૈચિત્ર્યસ્ય સિદ્ધત્વાદિતિ ચેત્, અગ્રધેદિ—

અન્નાદેરિવ શરીરસ્ય મુલ્લદુઃખાદિવિચિત્રપરિણામાત્મીકારે યદિ પરિતોષ-  
મેપિ, તર્હિ કર્માપિ નનુ તનુરેવ, સેય કર્મતનુસ્તનુતે વિચિત્રપરિણામમિત્યધેદિ ।  
જીવેન સહાતિસશ્લિષ્ટત્વાદતીન્દ્રિયત્વાદ્યામ્યન્તર સૂક્ષ્મ ચ કાર્મણ શરીરમ્,  
ઔદારિક તુ વાદ્ય સ્થૂલમિત્યેતાવાનેવ દ્વયોઃ શરીરયોર્વિશેષો દૃશ્યતે ।

શુકા-અન્ન-મેષ આદિ કે સમાન કર્મપુટ્રલોં કા વિચિત્ર પરિણમન સ્વીકાર કરતે  
હો તો યહ ક્યોં નહીં માન લેતે કિં વાદ્ય શરીર હી મુલ્લ-દુઃખ આદિ નાના રૂપોં મેં વિચિત્ર  
પરિણમન કરતા હૈ, કર્મ કોં હસ વિચિત્રતા કા કારણ માનને સે ક્યા લાભ હૈ ? પુટ્રલોં કી  
સારી વિચિત્રતા સ્વભાવ સે હી સિદ્ધ હૈ ।

સમાધાન-અન્ન આદિ કે સમાન શરીર કા હી મુલ્લ-દુઃખ આદિ વિચિત્ર  
પરિણમન અત્મીકાર કરને મેં આપ કો સન્તોષ મિલ્લતા હૈ તો કર્મ મી તો શરીર હી હૈ,  
ઔર વહી કર્મશરીર વિચિત્ર પરિણમન કરતા હૈ, પેસા સમક્ષ લીંચિ । જીવ કે સાથ  
ઘનિષ્ઠ સમ્બધ હોને કે કારણ ઔર અતીન્દ્રિય હોને કે કારણ કર્મશરીર આમ્યન્તર  
ઔર સૂક્ષ્મ કહ્લાતા હૈ, તથા ઔદારિક શરીર વાદ્ય ઔર સ્થૂલ હૈ । બસ હતના હી વાનો  
શરીરોં મેં અન્તર હૈ ।

શ કા-અન્ન (મેષ) આદિના સમાન કર્મપુટ્રલોં વિચિત્ર પરિણમન સ્વીકાર  
કરે છે તો પછી, 'વાદ્ય શરીર જ સુખ-દુઃખ આદિ નાના રૂપોંમાં વિચિત્ર પરિણમન  
કરે છે' એમ શા માટે માનતા નથી ? કર્મને કો વિચિત્રતાનું કારણ માનવાથી શું  
લાભ છે ? પુટ્રલોંની પરિણમનની તમામ વિચિત્રતા સ્વભાવથી સિદ્ધ છે

સમાધાન-મેષ આદિના સમાન શરીરનું પણ સુખ દુઃખ આદિ વિચિત્ર પરિણમન  
અગીકાર કરવામા આપને સતોષ મળે છે તો કર્મ તે શરીરજ છે, અને તે કર્મ-શરીર  
વિચિત્ર પરિણમન કરે છે, કો પ્રમાણે સમજ લ્યો । જીવની સાથે ઘનિષ્ઠ સમ્બધ હોવાના  
કારણે અને અતીન્દ્રિય હોવાના કારણે કર્મ-શરીર આબ્યતર અને સૂક્ષ્મ કહેવાય છે,  
તથા ઔદારિક શરીર વાદ્ય અને સ્થૂલ છે એટલું જ કો બે શરીરોંમાં અન્તર છે

નનુ યથા કર્મ વિનાઽપિ વિચિત્રા અમ્રાદિવિકારા દૃશ્યન્તે તથા સસારિણાં  
સુખદુઃસ્વાદિમાષેન વૈચિત્ર્ય યદિ વિનાઽપિ કર્મં ભવેત્, તર્હિ કા હાનિઃ ?  
इति चेत्, उच्यते—

અમ્રવિકારા ગન્ધર્વનગરશક્રધનુરાદયો ગૃહપ્રાકારવૃક્ષરક્તનીલપીતાદિ  
માષેન વૈચિત્ર્ય વિભ્રતિ તત્ર વિસ્ત્રસાપરિણતેન્દ્રધનુરાદિપુદ્ગલપરિણામવૈચિત્ર્ય  
દૃશ્યતે, તદપેક્ષયા વિશિષ્ટ પરિણામવૈચિત્ર્યં પ્રાયેણ ચિત્રન્યસ્તાનાં ચિત્રકરાદિ  
ક્લિપ્તપરિગૃહીતાનાં લેપ્યકાષ્ઠર્માનુગતપુદ્ગલનામુપલભ્યતે, તર્હિ જીવપરિ  
ગૃહીતાનામાન્તરકર્મપુદ્ગલાનાં સુખદુઃસ્વાદિનાનારૂપતયા કથ ન વિશિષ્ટતરં  
પરિણામવૈચિત્ર્ય સંભવેત્ ? ।

જુઠ્ઠા—જૈસે કર્મ કે વિના મી મૌલિ—મૌલિકે મેઘ આદિ કે વિકાર દેસે જાતે હૈ,  
उसी प्रकार कर्म के अभाव में मी संसारी जीवों में सुख—दुःख आदि की विचित्रता हो तो  
क्या हानि है ? ।

સમાધાન—મેઘવિકાર—ગન્ધર્વનગર, ઇન્દ્રધનુષ આદિ, ગૃહ, પ્રાકાર, વૃક્ષ,  
रक्त, नील, पीत, आदि रूप में विचित्रता धारण करते हैं वहाँ स्वभाव से परिणत  
इन्द्रधनुष आदि, पुद्गल के परिणामों की विचित्रता देखी जाती है, लेकिन चित्रकार  
આદિ કિસી રિલ્પી કે દ્વારા ગૃહીત ચિત્ર મેં અક્ષિત, લેપ્ય કાષ્ઠ આદિ પુદ્ગલોં મેં ઇસ સે  
મી અવિક વિશિષ્ટતા વિસ્તાર્થ દેતી હૈ તો ફિર જીવદ્વારા પ્રહ્ણ કિયે હુપ આન્તરિક  
કર્મપુદ્ગલોં કી સુખ—દુઃખ આદિ નાના રૂપોં મેં પરિણમન કી વિશિષ્ટતર વિચિત્રતા ક્યોં  
ન હોગી ? ।

શ કા—જેવી રીતે ક્રમ વિના પણ જ્ઞાત—જ્ઞાતના મેઘ આદિના વિકારો જોવામાં  
આવે છે, તે પ્રમાણે કર્મના અભાવમાં પણ સસારી જીવોમાં સુખ—દુઃખ આદિની  
વિચિત્રતા કોય છે એમ માનવામાં શું હાનિ છે ?

સમાધાન—મેઘવિકાર—ગન્ધર્વનગર, ઇન્દ્રધનુષ આદિ, ગૃહ, પ્રાકાર, વૃક્ષ, રક્ત  
નીલ, પીત આદિ રૂપમાં વિચિત્રતા ધારણ કરે છે ત્યાં સ્વભાવથી પરિણત ઇન્દ્રધનુષ  
આદિ પુદ્ગલના પરિણામોની વિચિત્રતા જોવામાં આવે છે પરંતુ ચિત્રકાર આદિ કોઈ  
શિલ્પીદ્વારા ગૃહીત ચિત્રમાં અક્ષિત, લેપ્ય, કાષ્ઠ આદિ પુદ્ગલોં માં તેનાથી પણ અધિક  
વિશિષ્ટતા જોવામાં આવે છે તો પછી જીવદ્વારા પ્રહ્ણ કરેલા આન્તરિક કર્મપુદ્ગલોંની  
સુખ—દુઃખ આદિ નાના (બૃહા—બૃહા) રૂપોમાં પરિણમનની વિશિષ્ટતર વિચિત્રતા કેમ  
ન હોય ?

शरीरान्तरग्रहण च निष्कारण न समवति । तस्मात् । स्थूलशरीकारणभूत सूक्ष्म-  
कार्मणशरीरमस्तीत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम् ।

ननु कर्मरहित शुद्धजीवो नानाविधशरीरादीना कर्ताऽस्तु, तथेश्वरः,  
स्वभावो यदृच्छा वा विविधशरीरादिकं करोतीत्येव मन्यते, किं कर्मकल्पनेन ?  
अत्रोच्यते—

अयं जीवेश्वरादिसकर्मा न शरीरसुखदुःखादीना कर्ता, उपकरणामावात्,  
दण्डाद्युपकरणरहितकुम्भकारणम् । कर्म विनाऽन्यदुपकरण शरीराधारम्भक  
जीवेश्वरादीनां न समवति, गर्माद्यवस्थास्थन्योपकरणासंभवात्, कर्म विना  
शुक्रशोणित्वादिग्रहणस्याप्यनुपपत्तेः ।

ससार मिट जायगा, मगर ससार का मिटना दिखाइ नहीं देता, और विना कारण के  
शरीर का ग्रहण नहीं हो सकता, अत एव स्थूल शरीर का कारण सूक्ष्म कार्मणशरीर का  
अस्तित्व अङ्गीकार करना चाहिए ।

शुक्रा—कर्मरहित शुद्ध जीव को नाना प्रकार के शरीरों का कर्ता मान लिया जाय,  
या ईश्वर, स्वभाव अथवा यदृच्छा को कर्ता स्वीकार कर लिया जाय, कर्म की कल्पना  
से क्या लाभ है ? ।

समाधान—कर्मरहित जीव या ईश्वर आदि, शरीर, सुख—दुःख आदि का कर्ता  
नहीं है, क्यों कि उसके पास उपकरण नहीं हैं, दण्ड आदि उपकरणां से रहित कुमार  
के समान । कर्म के सिवाय, शरीर आदि रचने में ईश्वर आदि को और कोई भी उपकरण  
नहीं हो सकता । कर्म के अतिरिक्त और कोई उपकरण न होने के कारण गर्भ आदि अवस्थाओं  
में शुक्र शोणित आदिका ग्रहण भी नहीं हो सकता ।

परन्तु ससार भक्ष भयो तेषु ज्ञेयानाम् आवर्तं नथी, अने कारणे विना शरीरं अलक्ष्य  
कोई शक नहीं अने कारणेही स्थूल शरीरं कारणे सूक्ष्म-कार्मणं शरीरं अस्तित्वेनो  
अङ्गीकार करवे। ज्ञेयं अने।

शुक्रा—कर्मरहित शुद्ध जीवने नाना प्रकारना शरीराना कर्ता भानी लक्ष्ये, अथवा  
धृतिर स्वभाव या यदृच्छा अने कर्ता भानी लक्ष्ये तो पछी कर्मनी कल्पना करवाथी शु लाभ ? ।

समाधान—कर्मरहित जीव अथवा तो धृतिर आदि, शरीर, सुख, दुःख अना कर्ता नथी  
कारणे के तेनी पासे उपकरणे—( मुख्य साधन ) नथी, उठ आदि प्रधान साधने विनाने  
जन्म दुःखार, ते प्रभावे, कर्म विना शरीर आदि रचवाना धृतिर वजेरेने बीज्ये कोई  
पक्ष उपकरणे कोई शक नहीं कर्मना विना बीज्ये कोई प्रधान साधन नहि होवाने  
कारणे गरी आदि अवस्थाओंमा शुक्र शोणित वजेरेने अलक्ष्य पक्ष यक्ष शक नहीं

નનુ વાદ્યશરીરસ્ય સ્થૂલત્વાત્ પ્રત્યક્ષદૃષ્ટત્વાદ્વાદ્રાદિસાદૃશ્યેન વાદ્ય  
શરીરસ્યૈવ સુત્રદુઃસ્વાદિવિચિત્રપરિણામોઽસ્તુ કિં પુનરપ્રત્યક્ષભૂતસ્ય કર્મરૂ-  
પાતીન્દ્રિયશરીરસ્ય કલ્પનેન, કાર્મણશરીરાનક્રીકારે યદિ કોઽપિ દોષ આપ-  
વતિ, તતોઽર્થાપત્તેરેવ કર્મવૈચિત્ર્યમક્રીકરિષ્યામ ? इति । અપ્રોચ્યતે—

મરણસમયે પ્રત્યક્ષદૃષ્ટવાદ્યસ્થૂલશરીરાદ્ વિમુક્તસ્ય જીવસ્ય મવાન્ત-  
રીયવાદ્યસ્થૂલશરીરગ્રહણે કારણમૂત સૂક્ષ્મ કાર્મણશરીર વિનાઽગ્નિમદેશગ્રહણા-  
માવરૂપો દોષઃ સમાપદ્યતે, તત્તથ દેશાન્તરગ્રહણાનુપપત્તેર્મરણાનન્તર સર્વસ્યાપિ  
જીવસ્ય શરીરામાવાત્ સંસારોચ્છેદ સ્યાત્ । ન ચ દૃશ્યતે સસારસમુચ્છેદઃ ।

**અજ્ઞા—**વાદ્ય શરીર સ્થૂલ છે અને પ્રત્યક્ષ દિશ્વાઈ દેતા છે, એવું એવ વાદ્ય  
શરીર કે સાથે હી અન્ન આદિ કી સમાનતા છે, પેસી સ્થિતિ મેં વાદ્ય શરીર કા હી સુત્ર  
દુઃસ્વ આદિરૂપ પરિણમન માનના વાહિય । કમી પ્રત્યક્ષ દિશ્વાઈ ન દેને વાલે કર્મરૂપ  
અતીન્દ્રિય શરીર કી કલ્પના કરને કા કષ્ટ ક્યો ઊઠાતે હૈં ? હૈં !, કર્મણશરીર કો સ્વીકાર  
ન કરને સે અગર કોઈ દોષ આયા તો ફિર અર્થાપત્તિ પ્રમાણ સે હી કર્મ કી વિચિત્રતા  
સ્વીકાર કર છો ? ।

**સમાધાન—**મૃત્યુ કે સમય પ્રત્યક્ષ લેલેને વાલે વાદ્ય સ્થૂલ શરીર કો ગ્રહણ  
કરને કા કારણમૂત સૂક્ષ્મ શરીર ન હો તો જીવ આગામી શરીર કો ગ્રહણ હી નહીં કર  
સકેના । સૂક્ષ્મ શરીર ન માનને સે યહ દોષ આવા છે । જીવ અગર અગલે શરીર કો ગ્રહણ  
ન કરે તો મૃત્યુ કે પશ્ચાત્ અશરીર હોને કે કારણ સમી જીવ મુક્ત હો જાઈને, જોર

**શ કા—**વાદ્ય શરીર સ્થૂલ છે અને પ્રત્યક્ષ દેખાય છે, એ કારણથી વાદ્ય શરીરની  
આથેજ મેલ આહિની સમાનતા છે એવી સ્થિતિમા વાદ્ય શરીરનુ જ સુખ-દુઃખ  
આદિ રૂપ પરિણમન માની લેવું જોઈએ. કોઈ વખત પ્રત્યક્ષ નહિ દેખાતા એવા  
કર્મરૂપ અતીન્દ્રિય શરીરની કલ્પના કરવાનું કષ્ટ શા માટે લઘવે છે ? હા ! કર્મરૂપ  
શરીરનો સ્વીકાર નહિ કરવાથી જો કોઈ દોષ આવશે તો પછી અર્થાપત્તિ પ્રમાણથીજ  
કર્મની વિચિત્રતા સ્વીકારી લઈશું

**સમાધાન—**મૃત્યુના સમયે પ્રત્યક્ષ દેખાતા વાદ્ય સ્થૂલ શરીરથી જીવ અલગ થઈ  
જાય છે. આગલા ભવમાં વાદ્ય સ્થૂલ શરીરને અલગ કરવાના કારણમૂત સૂક્ષ્મ શરીર  
નહિ હોય તો જીવ આગામી શરીરને અલગ કરી શકશે નહિ. સૂક્ષ્મ શરીર નહિ  
માનવાથી આ દોષ આવે છે જીવને મૃત્યુ પછી જીવ શરીરને અલગ ન કરે તો મૃત્યુ  
પછી અશરીર હોવાને કારણે સવ જીવો મુક્ત થઈ જશે અને સસાર બંધ થઈ જશે.

તચ્છરીરારમ્ભેડપિ તુલ્યતા પ્રશ્નસ્ય । સોડપ્યકર્મા નિજશરીરં નારમતે નિરુપકરણ-  
ત્વાત્ । યદિ તચ્છરીરકર્તાડન્ય' કોડપિ, તર્હિ સોડપિ શરીરવાન્ અશરીરો વા ?  
ઇત્ય ચાનવસ્યા । અનિષ્ટ ચ સર્વમેતત્ । તસ્માન્નેશ્વરો દેહાદીનાં કર્તા, કિન્તુ  
કર્મસહિતો જીવ એવ સ્વકીય દેહાદિકં કરોતિ ।

કિચ્ચ-ઈશ્વરસ્ય દેહાદિકરણ નિષ્પ્રયોજનમિતિ તદોન્મત્તતુલ્યતા સ્યાત્ ।  
સપ્રયોજનકર્તૃત્વે તુ તસ્યાનીશ્વરત્વપ્રસન્નઃ । કિચ્ચાનાદિશુદ્ધસ્ય તસ્યેશ્વરસ્ય  
દેહાદિકરણેચ્છા નોપપદ્યતે, ઇચ્છાયા રાગરૂપત્વાત્ ।

નહીં હો સક્રતા । અગર સશરીર હૈ તો ઉસકા શરીર બનાને વાલા કોઈ તોસરા ઈશ્વર માનના  
પડેગા । વહ તોસરા ઈશ્વર મી અશરીર હૈ યા સશરીર હૈ †, ઇત્યાદિ વિકલ્પ ફિર ઉપસ્થિત  
હોનેકે કારણ અનવસ્યા દોષ આતા હૈ ।

યહ સવ અમીષ્ટ નહીં હૈ । અત દેહ આદિકા કર્તા ઈશ્વર નહીં હો સક્રતા, વરન્  
કર્મસહિત જીવ હી અપને શરીર આદિ કા કર્તા હૈ ।

દૂસરી વાત યહ હૈ કિ ઈશ્વર, વિના કિસી પ્રયોજન કે હી અગર શરીર આદિ કી  
રચના કરતા હૈ તો વહ ઉન્મત્ત કે સમાન હોગા । અગર ઉસકા કોઈ પ્રયોજન હૈ તો વહ  
ઈશ્વર નહીં રહેગા ।

એક વાત ઔર-અનાદિ કાલ સે શુદ્ધ ઈશ્વર કી દેહ આદિ રચને મેં ઇચ્છા  
હી નહીં હો સક્રતી, ક્યોં કિ ઇચ્છા એક પ્રકાર કા રાગ હૈ ઔર રાગી ઈશ્વર નહીં હો સક્રતા ।

હોવાના કારણે અશરીરકર્તા યઈ શકતો નથી. અગર સશરીર છે તો તેનું શરીર બના  
વવાવાળો કોઈ ત્રીજો ઈશ્વર માનવો પડશે તે ત્રીજા ઈશ્વર પણ સશરીર છે અથવા  
અશરીર છે †, ઇત્યાદિ વિકલ્પ ફરીને ઉપસ્થિત હોવાના કારણે અનવસ્યા દોષ આવે  
છે, તે સર્વ અમીષ્ટ નથી, તે કારણથી દેહ આદિના કર્તા ઈશ્વર યઈ શકતા નથી,  
પરન્તુ કર્મસહિત જીવજીવોત્તાના શરીર આદિનો કર્તા છે

બીજી વાત એ છે કે-ઈશ્વર કોઈ પ્રયોજન વિના જો શરીર આદિની રચના  
કરે છે તો તે ઉન્મત્તની સમાન ગણાશે. અથવા તો તેને કોઈ પ્રયોજન છે, તો તે  
ઈશ્વર નહીં રહે. એક બીજી વાત એ છે કે-અનાદિ કાળથી શુદ્ધ ઈશ્વરની, દેહ  
આદિ રચનામાં ઈષ્ટિય રહેતી નથી, કારણ કે ઈષ્ટિ એક પ્રકારનો રાગ છે, અને  
રાગી ઈશ્વર યઈ શકતા નથી



યદ્વા—અકર્મા શરીરાદિકં નારમતે, નિશ્ચેષ્ટત્વાત્, અમૂર્તત્વાત્, આકાશવત્ । તથા—એકત્વાત્ એકપરમાણુવત્ ।

યદિ શરીરવાનીશ્વરઃ કરોતિ વિવિધશરીરાદિકમિત્યુચ્યતે તદાન્નવસ્થા-  
વોષઃ સમાપદ્યતે । તથાહિ—શરીરસ્યેશ્વરસ્ય જગદ્વૈચિત્ર્યકર્તૃત્વસ્વીકારે સ્વશરીર-  
કર્તૃત્વમકર્મણસ્તસ્યેશ્વરસ્ય ન સમવતિ, નિરુપકરણત્વાત્, દણ્ડાદિરહિતકુમ્મકારવત્ ।  
અયાન્યઃ કોઽપીશ્વરસ્તદીયશરીરકરણાય પ્રવર્તતે તત્ સોઽપિ શરીરવાન્ અશરીરો  
વા ? યથશરીરસ્તર્હિ નાસૌ શરીરકર્તા નિરુપકરણત્વાત્ । શરીરવાંથેત્—તર્હિ

અથવા—જો કર્મરહિત હૈ વહ શરીર આદિ કા ઉત્પાદક નહીં હો સકતાં, ક્યોં કિ  
વહ ચેદ્યારહિત હૈ, અથવા અમૂર્ત હૈ । જો ચેદ્યાહીન યા અમૂર્ત હોતા હૈ વહ શરીર આદિ કા  
બનક નહીં હોતા, જૈસે આકાશ । તથા વહ એક હોને કે કારણ મી શરીર આદિકા બનક  
નહીં હો સકતા, જૈસે એક પરમાણુ ।

કદાચિત્ યહ કદા બાય કિ સશરીર ઈશ્વર વિવિધ શરીર આદિકા કર્તા હૈ તો  
બનવત્સ્યા વોષ આતા હૈ । વહ હસ પ્રકાર-બન સશરીર ઈશ્વર જગત્ કી વિચિત્રતા કા  
કારણ હૈ તો વહ વિના શરીર કે બપના શરીર મી નહીં બના સકેલા, ક્યોં કિ વહ  
ઉપકરણહીન હૈ, દણ્ડઆદિ સે રહિત કુમાર કે સમાન । અથ યહ કદા બાય કિ કોઈ  
દૂસરા ઈશ્વર, પહલું ઈશ્વર કા શરીર બનાને કે લિપ્ પ્રવૃત્ત હોતા હૈ તો ઉસકે  
વિષય મેં મી વહી પ્રશ્ન ઉપસ્થિત હોતા હૈ કિ—વહ સશરીર હૈ અથવા અશરીર હૈ ?  
આર વહ અશરીર હૈ તો ઉપકરણહીન હોને કે કારણ શરીર કા કર્તા

અથવા—જે કર્મરહિત છે તે શરીર આદિના ઉત્પાદક થઈ શકે નહિ, કારણ કે  
તે ચેદ્યારહિત છે અથવા અમૂર્ત છે જે ચેદ્યાહીન અથવા અમૂર્ત હોય છે, તે શરીર  
આદિના ઉત્પન્ન કરનાર હોય નહિ. જેવી રીતે—આકાશ, તથા તે એક હોવાના કારણે  
પણ શરીર આદિના ઉત્પન્ન કરનાર હોય નહિ જેવી રીતે એક પરમાણુ.

કદાચિત્ એમ કહેવામાં આવે કે—સશરીર ઈશ્વર વિવિધ શરીર આદિના કર્તા છે  
તો બનવત્સ્યા વોષ આવે છે તે આ પ્રમાણે કે—જ્યારે સશરીર ઈશ્વર જગતની વિચિત્રતાનું  
કારણ છે તો, શરીર વિના પોતાનું શરીર પણ બનાવી શકશે નહીં, કારણ કે તે ઉપકરણહીન  
છે, જેમ ૪૪ આદિથી રહિત કુમાર હવે એ એમ કહેવામાં આવે કે કદાચીએ ઈશ્વર  
પ્રથમના ઈશ્વરનું શરીર બનાવવામાં પ્રવૃત્ત થાય છે, તો તે વિષયમાં પણ એ પ્રશ્ન ઉભો  
થાય છે કે—તે સશરીર છે અથવા અશરીર છે ? અથવા એ અશરીર છે તો ઉપકરણહીન

મૂર્તસ્ય શરીરાદિકાર્યસ્યાનુરૂપ કારણ મૂર્તમેવ સમવતિ, યથા મૃત્પિણ્ડો ઘટસ્ય ।

અકારણત્વારૂપઃ સ્વભાવ ? इति चेत्, एव सति शरीरादिकमकारण मेवोत्पद्यते, इत्ययमर्थः स्यात्, तथा सति कारणाभावस्य समानत्वादेकस्मिन्नेव समये सकलशरीरोत्पत्तिप्रसंग ।

यदि स्वभावो वस्तुधर्म इत्युच्यते, तथापि यदि विज्ञानादिवदात्मनो धर्मस्तर्हि नासौ स्वभाव शरीरकारण भवितुमर्हति, अमूर्तत्वात्, आकाशषट्चित्युक्त प्रागेव । यदि स स्वभावो मूर्तवस्तुधर्मस्तर्हि सिद्धसाधनम्, कर्मापि पुद्गलरूप-मेवेति धय द्रूम\* । तस्मात् कर्मैव जगद्वैचित्र्यकारणमिति सिद्धम् ।

જેવે ઘટ કા કારણ મિટ્ટી કા પિણ્ડ છે ।

अगर कोई भी कारण न होना हो स्वभाव है तो इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर आदि निष्कारण ही उत्पन्न हो जाते हैं । अगर निष्कारण ही शरीर की उत्पत्ति होती है तो फिर ससार के समस्त शरीर एक साथ क्यों नहीं हो जाते ? ।

स्वभाव किसी वस्तु का धर्म है, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है । अगर वह ज्ञान आदि के समान आत्मा का धर्म हैं तो आकाश की तरह अमूर्त होने के कारण शरीर का कर्ता नहीं हो सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है । स्वभाव अगर किसी मूर्त वस्तु का धर्म है तो यह हमें भी इष्ट है, क्योंकि हमारे कथनानुसार कर्म भी पुद्गल का क्रममावी धर्म है, अत एव यह सिद्ध हुआ कि कर्म ही जगत् की विचित्रता का कारण है ।

મૂર્ત શરીરનુ અનુરૂપ કારણ મૂર્ત જ હોવુ જોઈએ, જેમ ઘટનુ કારણ માટીનો પિંડ છે અથવા કોઈ જ કારણ ન હોય જોવે જ સ્વભાવ છે તો તેનો અર્થ એ થયો કે શરીર આદિ નિષ્કારણ જ ઉત્પન્ન થઈ બાય છે, અને નિષ્કારણ જ શરીરની ઉત્પત્તિ થાય છે તો પછી સસારના સમસ્ત શરીર એક સાથે કેમ થઈ નથી જતા ?

‘સ્વભાવ કોઈ વસ્તુનો ધર્મ છે’ એ પ્રમાણે કહેવુ તે પણ યુક્તિસંગત નથી અથવા તો તે જ્ઞાન આદિના સમાન આત્માનો ધર્મ છે તો આકાશની માફક અમૂર્ત હોવાના કારણે શરીરના કર્તા થઈ શકશે નહીં, આ હકીકત પ્રથમથી જ કહી આપી છે સ્વભાવ એ કોઈ મૂર્ત વસ્તુનો ધર્મ છે, તો તે વાત અમારે પણ માન્ય છે, કારણ કે અમારા કહેવા પ્રમાણે ધર્મ પણ પુદ્ગલરૂપ જ છે, એ માટે એમ સિદ્ધ થયુ કે ધર્મ જ જગતની વિચિત્રાનુ કારણ છે

નાપિ સ્વભાવો દેહાદીના કર્તા મંચિત્તુમર્હતિ । સ સ્વભાવઃ કિં વસ્તુ વિશેષો વા ? અકારણતા વા ? વસ્તુધર્મો વા ? , તત્ર ન સાવદ્ વસ્તુવિશેષઃ, તસ્ય વસ્તુવિશેષરૂપત્વે પ્રમાણામાવાત્ । પ્રમાણરહિતસ્યાપિ વસ્તુત્વસ્વીકાર કર્માપિ કય નાક્ષીકરોપિ ? , ત્વન્મતે કર્મણોઽપિ પ્રમાણરહિતત્વાત્ ।

ફિચ્ચ-વસ્તુવિશેષરૂપ સ સ્વભાવો મૂર્તો વા સ્યાદમૂર્તો વા ? , યદિ મૂર્તસ્તદિં સ્વભાવ ઇતિ નામાન્તરેણ કર્મેષ સિધ્યતિ । યદિ પુનરમૂર્તસ્તદિં નાસૌ સ્વભાવો દેહાદીના કર્તા મંચિત્તુમર્હતિ, અમૂર્તત્વાત્ નિરુપકરણત્વાદ્, ગગનવત્ ।

સ્વભાવ મી દેહ આદિ કા કર્તા નહીં હો સકતા । આલિર સ્વભાવ કા અર્થ કયા હૈ ' સ્વભાવ કોઈ વસ્તુ હૈ ' અથવા કોઈ મી કારણ ન હોના સ્વભાવ હૈ ' વા કિસી વસ્તુ કા ધર્મ હૈ ' । સ્વભાવ કોઈ વસ્તુ તો હૈ નહીં, ક્યો કિ ઉસે વસ્તુ માનને મેં કોઈ પ્રમાણ નહીં હૈ । પ્રમાણ કે અમાવમેં મી સ્વભાવ કો વસ્તુ માન ઊચા જાય તો કર્મ માનને મેં કયા આપતિ હૈ ' તુમ્હારે મત કે અનુસાર કર્મ માનને મેં મી કોઈ પ્રમાણ નહીં હૈ ।

સ્વભાવ અગર કોઈ વસ્તુ હૈ તો વહ મૂર્ત હૈ આ અમૂર્ત ; અગર મૂર્ત હૈ તો સ્વભાવ ઓર કર્મ એક હી વસ્તુ હૈ । આપ કર્મ કો હી સ્વભાવ-શબ્દ સે કહતે હૈ તો કહ છીલિયો । સ્વભાવ કો અમૂર્ત માનતે હૈ તો વહ દેહ આદિકા કર્તા નહીં હો સકતા, ક્યો કિ વહ અમૂર્ત હૈ ઓર ઉપકરણરહિત હૈ, જૈસે આકાશ । મૂર્ત શરીર કા અનુરૂપ કારણ મૂર્ત હી હોના ચાહિય,

સ્વભાવ પણ દેહ આદિનો કર્તા થઈ શકતો નથી છેવટ સ્વભાવને અર્થ શું છે ? સ્વભાવ કોઈ વસ્તુ છે ? અથવા કોઈપણ કારણ નહીં હોવા તે સ્વભાવ છે ? અથવા કોઈ વસ્તુનો ધર્મ છે ? સ્વભાવ કોઈ વસ્તુ તો છે નહીં, કારણ કે તેને વસ્તુ માનવામાં કોઈ પ્રમાણ નથી, પ્રમાણના અભાવમાં પણ સ્વભાવને વસ્તુ માની લેવામાં આવે તો કર્મ માનવામાં શું આપત્તિ છે ? તમારા મત પ્રમાણે કર્મ માનવામાં પણ કોઈ પ્રમાણ નથી

સ્વભાવ અગર કોઈ પણ વસ્તુ છે તો તે મૂર્ત છે અથવા અમૂર્ત છે ? જો મૂર્ત છે તો સ્વભાવ અને કર્મ બેકજ વસ્તુ છે, તમે કર્મનેજ સ્વભાવ-શબ્દથી કહો છો તો ખુશીથી કહો. જો સ્વભાવને અમૂર્ત માનશો તો તે દેહ આદિનો કર્તા થઈ શકશે નહીં કારણ કે તે અમૂર્ત છે અને ઉપકરણ (પ્રધાન સાધનો) રહિત છે જેની રીતે આકાશ

નાપ્યેકસ્યૈવ કર્મણો મૂર્તત્વમમૂર્તત્વ ચ યુજ્યતે, વિરુદ્ધત્વાદિતિ चेत् ? उच्यते—

अत्र कारणशब्देनोपादानकारण परिगृह्यते; न तु निमित्तकारणम्, सुखदुःखादीनां निमित्तकारणमेव कर्म, यथाऽन्नपानादयो विषादया वा सुखदुःखादीनां निमित्तकारणमस्ति । उपादानकारणं तु तेषामात्मैष सुखदुःखादीनामात्मधर्मत्वादिति नास्ति दोषलेशोऽपि ।

(૪) જીવકર્મણોઃ સમ્બન્ધ ।

— નનુ કર્મ મૂર્તમસ્તીત્યુક્ત પરન્તુ મૂર્તસ્ય કર્મણોઽમૂર્તેન્ જીવેન સહ કય સયોગલક્ષણ સમ્બન્ધઃ ? इति चेन्मैवम्, यथा मूर्तस्य घटस्यामूर्तेन गगनेन सयोगलक्षण सन्बन्धस्तथाऽत्रापि जीवकर्मणो सन्बन्धोऽस्तीति । उक्तञ्च—

सकृत् । और एक ही कर्म मूर्त भी हो और अमूर्त भी हो, यह कैसे हो सकता है ? ये दोनों धम विरोधी हैं, एक जगह नहीं रह सकते ।

સમાધાન—યહૉં કારણ-શબ્દ સે ઉપાદાન કારણ ગ્રહણ ક્રિયા ગયા છે, નિમિત્ત કારણ નહીં । કર્મ સુખ-દુઃખ કે પ્રતિ નિમિત્ત કારણ હી છે, જેસે અન્ન, પાન, વિષ આદિ સુખ-દુઃખ કે નિમિત્ત કારણ હૈં । સુખ દુઃખ કા ઉપાદાન કારણ તો આત્મા હી છે, કયોં કિં ષે આત્મા કે ધમ છે, અતઃ યહાં દોષ કા લેશ મી નહીં છે ।

(૪) જીવ ઓર કર્મ કા સમ્બન્ધ—

શુદ્ધ — आपने कर्म को मूर्त सिद्ध किया, मगर मूर्त कर्म का अमूर्त जीव के साथ सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? ।

સમાધાન—પેસા ન કહિયે । જેસે મૂર્ત ઘટ કા અમૂર્ત આકાશ કે સાથ સયોગ-સમ્બન્ધ છે, ડસી પ્રકાર જીવ ઓર કર્મ કા મી સમ્બન્ધ છે । કહા મી છે —

કર્મ મૂર્ત પણ હોય અને અમૂર્ત પણ હોય, એ કેવી રીતે હોઈ શકે ? આ બન્ને ધર્મ વિરોધી છે તેથી એક બન્નેએ રહી શકતા નથી

સમાધાન—અહિં કારણ-શબ્દથી ઉપાદાન કારણ ગ્રહણ કરવામા આવે છે, નિમિત્ત કારણ નહિ. કર્મ, સુખ-દુઃખ થવામા નિમિત્ત કારણજ છે, જેવી રીતે અન્ન, પાન, વિષ આદિ સુખ-દુઃખના નિમિત્ત કારણ છે, પરન્તુ સુખ-દુઃખનુ ઉપાદાન કારણ તો આત્માજ છે, કારણ કે તે આત્માનો ધર્મ છે તેથી તેમા લેશ પણ દોષ નથી.

(૪) જીવ અને કર્મનો સમ્બન્ધ—

શ કા—आपने कर्मने 'मूर्त' छे जेम सिद्ध क्युं तो पछी मूर्त कर्मनो अमूर्त जिवनी साथे सम्बन्ध केवी रीते होई शकै छे ?

સમાધાન—આ પ્રમાણે નહિ કહો ? જેમ મૂર્ત ઘટનો અમૂર્ત આકાશની સાથે સયોગસમ્બન્ધ છે, તે પ્રમાણે જીવ અને કર્મનો પણ સમ્બન્ધ છે કહ્યું પણ છે —

## (૩) કર્મણો મૂર્તત્વમ્—

નન્વતીન્દ્રિયસ્ય કાર્મણશરીરસ્ય મૂર્તત્વે કિં માનમ્ ? અત્રોચ્યતે—  
શરીરાદિકાર્યદર્શનાત્તત્કારણમૂત કર્મ સિધ્યતિ ચેત્ તર્હિ કાર્યાનુરૂપમેવ  
કારણ મથિતુમર્હતીતિ શરીરાદિકાર્યાણાં મૂર્તત્વાત્તત્કારણં કર્માપિ મૂર્તમેવ । યથા  
મૂર્તસ્ય ઘટાદિકાર્યસ્ય કારણં પરમાણુપુદ્ગલાસ્તે મૂર્તા એવ સન્તિ । યથા પુનરમૂર્ત  
કાર્યં તસ્ય કારણમપિ—અમૂર્તમ્, યથા જ્ઞાનસ્યાત્મેતિ ।

નતુ સુસ્વદુઃસ્વાદયોઽપિ કર્મણઃ કાર્યં તર્હિ તેષામમૂર્તત્વાત્ કર્મણોઽ  
મૂર્તત્વમપિ પ્રાપ્નોતિ, નહિ મૂર્તોદમૂર્તોત્પત્તિ સંમત્તિ, યથા પુદ્ગલાદ્ જ્ઞાનપર્યાયઃ,

## (૩) કર્મ કા મૂર્તપન—

શ્રદ્ધા—અતીન્દ્રિય કાર્મણ શરીર કે મૂર્ત હોને મેં કયા પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—શરીર આદિ કાર્યો કે દેસને સે અનેક કારણમૂત કર્મ કી સિદ્ધિ હોતી  
છે, ઓર કારણ, કાર્ય કે અનુરૂપ હી હોતા છે, અત એક જબ શરીર આદિ કાર્ય મૂર્ત હૈં તો  
અન કા કારણ કર્મ મી મૂર્ત હી હોના ચાહિયે । જૈસે મૂર્ત ઘટ આદિ કાર્યો કે કારણમૂત  
પુદ્ગલ પરમાણુ મી મૂર્ત હી હૈં, એ કાર્ય અમૂર્ત હોતા છે, તસકા કારણ મી અમૂર્ત હી હોતા છે,  
જૈસે જ્ઞાન કા કારણ આત્મા ।

શ્રદ્ધા—સુસ્વ ઓર દુઃસ્વ આદિ કા કારણ મી કર્મ છે, ઓર સુસ્વ  
દુઃસ્વ આદિ અમૂર્ત હૈં, અત અન કા કારણ કર્મ અમૂર્ત મી હોના ચાહિયે । મૂર્ત સે  
અમૂર્ત કી ઉત્પત્તિ નહીં હો સકતી, જૈસે પુદ્ગલ સે જ્ઞાનપર્યાય કી ઉત્પત્તિ નહીં હો

## (૩) કર્મણ મૂર્તપણુ—

શ્રદ્ધા—અતીન્દ્રિય કાર્મણ શરીરમાં મૂર્તપણુ હોવામાં શું પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—શરીર આદિ કાર્યોના દેખવાથી તેના કારણમૂત કર્મની સિદ્ધિ થાય  
છે, અને કારણ, કાર્યના અનુરૂપજ હોય છે એ કારણથી બ્યારે શરીર આદિ કાર્ય  
મૂર્ત છે, તો તેનું કારણ કર્મ પણ મૂર્તજ હોવું જોઈએ. જેવી રીતે મૂર્ત ઘટ આદિ  
કાર્યોના કારણમૂત પુદ્ગલપરમાણુ પણ મૂર્ત છે એ કાર્ય અમૂર્ત હોય છે તેનું કારણ  
પણ અમૂર્ત જ હોય છે, જેમકે જ્ઞાનનું કારણ આત્મા

શ્રદ્ધા—સુખ અને દુઃખ આદિનું કારણ કર્મ છે, અને સુખ દુઃખ આદિ અમૂત  
છે, તેથી તેનું કારણ કર્મ પણ અમૂતજ હોવું જોઈએ. મૂર્તથી અમૂર્તની ઉત્પત્તિ થઈ  
શકતી નથી, જેવી રીતે પુદ્ગલથી જ્ઞાનપર્યાયની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી, અને એકજ

તયોરપ્યમૂર્તેન જીવેન કથ સમ્બન્ધ ? , યદિ કથચિત્ સમ્બન્ધસ્તર્હિ કર્મણોઽપિ જીવેન સહ સમ્બન્ધ\* કૃતો ન સ્યાત્ । યદ્યમૂર્તીં ધર્માધર્મીં તર્હિ વાણેન સ્થૂલ-શરીરેણ મૂર્તેન સહ તયોઃ કથ સમ્બન્ધઃ ? તવમતે મુર્તિમૂર્તયો. સમ્બન્ધાસમવાત્ । યદ્યમૂર્તયોરપિ ધર્માધર્મયોર્વાણશરીરેણ મૂર્તેન સહ સમ્બન્ધોઽસ્ત્રીક્રિયતે તર્હિ જીવેન સહ કર્મણ\* સમ્બન્ધે કથ દોષ ? ।

નન્વમૂર્તસ્ય જીવસ્ય મૂર્તેન કર્મણા કથ સુખદુઃસ્વાપ્નુગ્રહોપઘાતૌ સ્યાતામ્, ન હમૂર્તસ્યાકાશસ્ય મૂર્તેઃ સ્ત્રકચન્દનાગ્નિજ્વાલાદિભિરનુગ્રહોપઘાતૌ જાયેતે ! ।

અગર વે મૂર્તિ હૈં તો અમૂર્ત જીવ કે સાથે ઉનકા સમ્બન્ધ કેસે હુઆ ? , અગર કિસી પ્રકાર ઉનકા સમ્બન્ધ હો ગયા તો કર્મ કા સમ્બન્ધ કયોં નહીં હો સકતા ? । અગર ધર્મ અધર્મ અમૂર્તિ હૈં તો વાણ સ્થૂલ ઓર મૂર્તિ શરીર કે સાથે ઉનકા સમ્બન્ધ કેસે હો ગયા ? , આપકે મત સે મૂર્તિ ઓર અમૂર્તિ કા તો સમ્બન્ધ હો નહીં સકતા । અગર અમૂર્તિ ધર્મ અધર્મ કા મૂર્તિ શરીર કે સાથે સમ્બન્ધ હોના સ્વીકાર કરતે હો તો જીવ કે સાથે કર્મ કા સમ્બન્ધ માનને મેં કયા દોષ હૈ ? ।

જણા—અમૂર્તિ જીવ કા મૂર્તિ કર્મ કે દ્વારા સુખ દુઃસ્વપ્ન આદિરૂપ અનુગ્રહ ઓર ઉપઘાત કેસે હો સકતા હૈ, મૂર્તિ માણા, ચન્દન, અગ્નિ, જ્વાલા આદિ સે અમૂર્તિ આકાશ કા અનુગ્રહ ઓર ઉપઘાત નહીં હોતા ?

અથવા ઠેકાં પ્રકારે તેનો સમ્બન્ધ થઈ ગયો તો કર્મનો સમ્બન્ધ શા માટે નહિ થઈ શકે ? અગર ધર્મ અધર્મ અમૂર્તિ છે તો વાણ સ્થૂલ અને મૂર્તિ શરીરની સાથે તેનો સમ્બન્ધ ઠેવી રીતે થઈ ગયો ? આપના મત પ્રમાણે તો મૂર્તિ અને અમૂર્તિનો સમ્બન્ધ-જો હોઈ શકે નહીં. પરંતુ જો અમૂર્તિ ધર્મ-અધર્મનો મૂર્તિ શરીરની સાથે સમ્બન્ધ થયો તે સ્વીકાર કરતા હો તો જીવની સાથે કર્મનો સમ્બન્ધ માનવામાં દોષ શું છે ?

૨૧ કા-અમૂર્તિ જીવનો, મૂર્તિ કર્મદ્વારા સુખ-દુઃખ આદિરૂપ અનુગ્રહ અને ઉપઘાત કઈ રીતે થઈ શકે ? મૂર્તિ માણા ચન્દન, અગ્નિ, જ્વાલા આદિથી અમૂર્તિ આકાશનો અનુગ્રહ અને ઉપઘાત થઈ શકતો નથી.

“યથા દ્વરૂપમાકાશ, રૂપિદ્રવ્યાદિભાજનમ્ ।

તથા દ્વરૂપ આત્માપિ, રૂપિધર્માદિભાજનમ્ ॥૧૥”

યથા ધા - અમૂર્તયાઽઽકુશ્વનાદિક્રિયયા સહ મૂર્તદ્રવ્યસ્યાશ્ચલ્યાદેઃ  
સમ્બન્ધસ્તથાઽપ્રાપિ જીવકર્મણોઃ સમ્બન્ધ ઇતિ બોધ્યમ્ ।

યદ્વા-યથા ધાદ્વાશરીરમિદ જીવેન સહ સમ્બન્ધ પ્રત્યક્ષદષ્ટમેવાસ્તિ,  
અથ મેવાન્તર ગચ્છતા જીવેન સહ કાર્મણશરીર સમ્બન્ધમેવેતિ ।

યદિ બાહ્યશરીરસ્ય જીવેન સહ સમ્બન્ધે ધર્માધર્મયોઃ કારણતાઽસ્તી  
ત્યુચ્યતે તર્હિ તાવપિ ધર્માધર્મો મૂર્તા સ્પાતામમૂર્તો વા ? । યદિ મૂર્તો તર્હિ

“જેવે અરૂપી આકાશ રૂપી દ્રવ્ય આદિ કા આધાર હે, ડસી પ્રકાર અરૂપી આત્મા  
કર્મો કા આધાર હે ” ॥ ૧ ॥

અથવા જેવે-આકુશ્વન ( સિફોહના ) આદિ અમૂર્ત ક્રિયા કે સાથ અંગુલી આદિ  
મૂર્ત દ્રવ્ય કા સમ્બન્ધ હોતા હે, ડસી પ્રકાર યહાં જીવ ઔર કર્મ કા સમ્બન્ધ સમજ  
કેના યાદિપ ।

અથવા જેવે બાહ્ય શરીરકા જીવ કે સાથ સમ્બન્ધ હે, યહ પ્રત્યક્ષ સિદ્ધ હે, ડસી  
પ્રકાર મેવાન્તર મેં જાતે જીવ કે સાથ કાર્મણ શરીર કા સમ્બન્ધ હે ।

અગર કહા જાય કિ જીવ કે સાથ બાહ્ય શરીર કા સમ્બન્ધ હોને મેં ધર્મ  
ઔર અધર્મ કારણ હે તો પ્રશ્ન સહા હોતા હે કિ-ધર્મ અધર્મ મૂર્ત હેં યા અમૂર્ત હે ?

“જેવી રીતે અરૂપી આકાશ, રૂપી દ્રવ્ય આદિનો આધાર છે તે પ્રમાણે અરૂપી  
આત્મા, રૂપી ઈર્ષ્યોનો આધાર છે ” ॥૧૫

અથવા-જેવી રીતે-સંકેતવર્ણ આદિ અમૂર્ત ક્રિયાની સાથે આંગલી આદિ મૂર્ત  
દ્રવ્યનો સમ્બન્ધ હોય છે તે પ્રમાણે જીવ અને ઈર્ષ્યોનો સમ્બન્ધ સમજ લેવો જોઈએ

અથવા જેવી રીતે આ બાહ્ય શરીર જીવની સાથે સંબંધ છે તે પ્રત્યક્ષ સિદ્ધ  
છે તે પ્રમાણે મેવાન્તરમાં જતા જીવની સાથે ઈર્ષ્ય શરીરનો સંબંધ છે

અથવા તો જોમ ઈર્ષ્યમાં આવે કે જીવની સાથે બાહ્ય શરીરનો સમ્બન્ધ હોવામાં  
ધર્મ અને અધર્મ કારણ છે તો પ્રશ્ન ઉભો થાય છે કે-ધર્મ અધર્મ મૂર્ત છે કે અમૂર્ત  
છે ? જો તે મૂર્ત છે જોમ ઈર્ષ્યો તો અમૂર્ત જીવની સાથે તેનો સંબંધ કેવી રીતે થશે ?

### (૫) કર્મણોજ્ઞાદિત્વમ્—

અનાદિ' કર્મણ પ્રવાહ । શરીરકર્મણો પરસ્પર કાર્યકારણ ભાવાત્, વીજાકુરિવત્ । યથા વીજાદકુરો જાયતે, અકુરાદપિ ક્રમેણ વીજમુપજાયતે । એવ શરીરાત્ કર્મ જાયતે કર્મતસ્તુ શરીરમિત્યેવ પુન પુનરપિ પરસ્પરમનાદિકાલત્ કાર્યકારણભાવસદ્ભાવોઽસ્તિ । ઇહ યયો પરસ્પર કાર્યકારણભાવસ્તયોરનાદિ પ્રવાહો દૃશ્યતે યથા વીજાકુર્યો, યથા વા કુકુટાણ્ડયોઃ, તથા શરીરકર્મણો-રનાદિપ્રવાહ इति ।

### (૫) કર્મોં કા અનાદિપન—

કર્મોં કો પરસ્પરા અનાદિકાલીન છે, ક્યોં કિ શરીર ઓર કર્મ કા પરસ્પર કાર્ય-કારણભાવ છે, જૈસે વીજ ઓર અકુર કા । તાત્પર્ય છે કિ જૈસે વીજ સે અકુર ઉત્પન્ન હોતા છે, ઓર અકુર સે ક્રમશઃ વીજ કી ઉત્પત્તિ હોતી છે, હસી પ્રકાર શરીર સે કર્મ ઓર કર્મ સે શરીર ઉત્પન્ન હોતા છે । યહ પારસ્પરિક કાર્યકારણભાવ અનાદિ કાલ સે ચઞા આતા છે । બિન દો પદાર્થોં મેં પરસ્પર કાર્ય-કારણભાવ હોતા છે ઊનકા પ્રવાહ અનાદિકાલીન દેસ્તા આતા છે, જૈસે પૂર્વોક્ત વીજ ઓર અકુર કા, અથવા મુર્ગાં ઓર અણે કા । હસ પ્રકાર શરીર ઓર કર્મ કા પ્રવાહ અનાદિકાલીન છે ।

### (૫) કર્મોંજ્ઞ અનાદિપ્ત્વ—

કર્મોંની પરપરા અનાદિકાલીન છે કારણ કે-શરીર અને કર્મોંને પરસ્પર કાર્ય-કારણભાવ છે, જેવી રીતે બીજ અને અકુરનો તાત્પર્ય છે કે-જેવી રીતે બીજથી અકુર ઉત્પન્ન થાય છે, અને અકુરથી ક્રમશઃ (કર્મે-કર્મે) બીજની ઉત્પત્તિ થાય છે તે પ્રમાણે શરીરથી કર્મ અને કર્મથી શરીર ઉત્પન્ન થાય છે આ પરસ્પરનો કાર્ય-કારણ ભાવ અનાદિ કાલીન આવે છે જે બે પદાર્થોંમા પરસ્પર કાર્ય-કારણભાવ હોય છે તેનો પ્રવાહ અનાદિકાલીન બેવામાં આવે છે જેવી રીતે પૂર્વ કહેલ બીજ અને અકુરનો, અથવા મરઘી અને ઈંડાનો, એ પ્રમાણે શરીર અને કર્મનો પ્રવાહ અનાદિકાલીન છે



મૃણુ-યથામદિરાપાનેર્વિપપિપીલિકાદિર્મિર્મહિતૈરમૂર્તાનામપિધૃતિસ્મૃતિ-મેષા  
 દીનામાત્મગુણાનામુપધાતો જાયતે, “મેષા પિપીલિકા હન્તિ” ઇત્યાદિ-  
 વચનાત્, તથા પયઃશર્કરાધૃતાદિમિશ્રાનુગ્રહઃ ક્રિયતે તથૈવામૂર્તસ્યાત્મનો મૂર્તેન  
 કર્મણાન્નુગ્રહોપધાર્તૌ જાયતે । इदं च जीवस्यामूर्तत्वमङ्गीकृत्य समाहितम्,  
 न लोकान्तरूपेणाऽमूर्त एवात्मा किन्तु ब्रह्मयोगोलङ्घत् क्षीरनीरवद्य कार्मणशरीरा  
 મેદરૂપતાં પ્રાપ્તઃ કયઙ્ચિન્મૂર્તોઽપીતિ । तस्य मूर्तेन कर्मणानुग्रहोपधातौ भवत  
 एव । आकाशस्य तु तौ न भवतः, तस्यैकान्तरूपेणामूर्तत्वादचेतनत्वाच्च ।

સમાધાન-સુનિયે એસે-મદિરા કા પાન કરને સે, વિપમક્ષણ સે ઔર કીઠી  
 બાદિ કે સ્વાયે જાને સે અમૂર્ત ધૈય, સ્મૃત્તે ઔર બુદ્ધિ બાદિ આદ્યિક ગુણાં કા ઉપધાત  
 હોતાં છે. “મેષા પિપીલિકા હન્તિ” ઇત્યાદિ વચન સે, તથા દૂધ, શર્કર ઔર ઘૃત  
 બાદિ સે અનુગ્રહ હોતા છે, ઊસી પ્રકાર અમૂર્ત આત્મા કા મૂર્ત કર્મ દ્વારા અનુગ્રહ ઔર  
 ઉપધાત હોતા છે । જીવ કો અમૂર્ત અંગીકાર કરકે યહ સમાધાન ક્રિયા છે, કિન્તુ જીવ  
 પુકાન્તરૂપ સે અમૂર્ત નહીં છે । ક્ષીર-નીર કો તરહ અથવા અગ્નિ ઔર છેદે કે ગોલે કી  
 તરહ આત્મા કાર્મણશરીર સે કલચિત્ અગિન છે, અત એવ મૂર્ત મી છે । કર્મ  
 સ્થિત આત્મા મૂર્ત હોને કે કારણ મૂર્તે કર્મો સે ઊસકા અનુગ્રહ ઔર ઉપધાત હોતા હી છે ।  
 હાં ! આકાશ કા અનુગ્રહ ઔર ઉપધાત નહીં હોતા, ક્યાં કિં વહ પુકાન્તરૂપ અમૂર્ત ઔર  
 અચેતન છે ।

સમાધાન-સાંભળો ! જેમ મદિરાનું પાન કરવાથી, વિપમક્ષણથી, અથવા કીઠી  
 બાદિ પેટમાં જાઈ જવામાં આવવાથી અમૂર્ત ધૈય, અને બુદ્ધિ બાદિ આદ્યાદિક  
 શુભેનાં ઉપધાત થાય છે ‘મેષાં પિપીલિકા હન્તિ’ ઇત્યાદિ વચનોમાં, તથા દૂધ,  
 શર્કર અને ઘી બાદિથી અનુગ્રહ થાય છે, તે પ્રમાણે અમૂર્ત આત્માનો મૂર્ત કર્મ  
 અનુગ્રહ અને ઉપધાત થાય છે

જીવને અમૂર્ત અંગીકાર કરીને આ સમાધાન કયું છે, પરન્તુ એવ એકાન્તથી  
 અમૂર્ત નથી ક્ષીર-નીરની પ્રમાણે અથવા અગ્નિ અને લોઢના બોળાની માફક  
 આત્મા કાર્મણશરીરથી કલચિત્ અગિન છે આ કારણથી મૂર્ત પણ છે કર્મસ્થિત  
 આત્મા મૂર્ત હોવાના કારણે મૂર્ત કમીથી તેનો અનુગ્રહ અને ઉપધાત થાયજ છે  
 હાં ! આકાશનો અનુગ્રહ અને ઉપધાત થતો નથી, કારણ કે તે એકાન્તથી અમૂર્ત  
 અને અચેતન છે

અથ સર્વપ્રમાતૃણાં ચદપ્રત્યક્ષ તજ્ઞાસ્તીત્યપિ ન સમવતિ । યતઃ સર્વ-  
મતીન્દ્રિયં વસ્તુ સર્વપ્રમાતૃણા પ્રત્યક્ષ ન ભવતિ, તાદૃશજ્ઞાનશક્તેરભાવાત્ । અસ્મા-  
મિસ્તુ સમસ્તમાવાવમાસનભાસ્કર સર્વજ્ઞઃ સ્વીક્રિયતે ।

વિચારાડ્યસમત્વમપિ ન યુક્ત, કર્કશ(દુર્ઘર્ષ)તર્કેસ્તર્ક્યમાણસ્ય કર્મણઃ  
સદ્ભાવસમવાત્ ।

સાધકામાવાદપિ નાદૃષ્ટામાવ., પૂર્વોક્તાગમાનુમાનયોસ્તત્સાધકયોઃ  
સત્ત્વાત્ । યથા ચ-શુભ પુણ્યસ્ય, અશુભ પાપસ્યેત્યાગમ । શુભયોગઃ પુણ્યસ્ય,  
અશુભયોગ. પાપસ્ય કારણમિત્યર્થઃ ।

અગર કહા જાય કિ એક-દો કે અપ્રત્યક્ષ હોને સે કિસીકા અભાવ નહીં હોતા વરન્  
જો વસ્તુ સમી કે અપ્રત્યક્ષ હૈ, ડસકા અભાવ હોતા હૈ । યહ કથન મી ઠીક નહીં હૈ,  
કયોં કિ સવ અતીન્દ્રિય વસ્તુએં સવ પ્રમાતાઓં ક પ્રત્યક્ષ નહીં હોતી, ઇસકા કારણ વિશિષ્ટ  
જ્ઞાનશક્તિ કા અભાવ હૈ । મગર હમ લોગ તો સમસ્ત પદાર્થોં કો પ્રકાશિત કરને મેં સર્વ કે  
સમાન સર્વજ્ઞ સ્વીકાર કરતે હેં ।

અદૃષ્ટ, વિચાર કો સહન નહીં કરતા અર્થાત્ વિચારને કે યોગ્ય નહીં હૈ, યહ કથન મી  
યુક્ત નહીં, કઠોર તર્કોં દ્વારા વિચાર કરને સે કર્મ કા અસ્તિત્વ સિદ્ધ હો હી જાતા હૈ ।

સાધક પ્રમાણોં કા અભાવ હોને સે કર્મ કા અભાવ વતલના મી ઠીક નહીં,  
કયોં કિ પૂર્વોક્ત આગમ ઓર અનુમાન પ્રમાણ ડસકા સદ્ભાવ સિદ્ધ કરતે હેં ।  
'શુભ પુણ્યસ્ય અશુભ પાપસ્ય' યહ આગમપ્રમાણ હૈ । અર્થાત્ શુભયોગ પુણ્ય કા  
ઓર અશુભ યોગ પાપ કા કારણ હોતા હૈ ।

અથવા ઠહેરો ઠે એક-એના અપ્રત્યક્ષ હોવાથી કોઈને અભાવ થતો નથી.  
પરન્તુ જે વસ્તુ સર્વને અપ્રત્યક્ષ છે તેના અભાવ હોય છે એમ ઠહેરું તે પણ ઠીક  
નથી, કારણ કે સર્વ અતીન્દ્રિય વસ્તુઓ પ્રમાતાઓને પ્રત્યક્ષ થતી નથી તેમું કારણ  
વિશિષ્ટ જ્ઞાનશક્તિનો અભાવ છે અથવા અથે તો સમસ્ત પદાર્થોને પ્રકાશિત કરવામાં  
સૂચના સમાન સર્વજ્ઞને સ્વીકાર કરીએ છીએ.

અદૃષ્ટ, વિચારને સહન કરતા નથી અર્થાત્ વિચારવા યોગ્ય નથી, એમ ઠહેરું  
તે પણ યુક્ત નથી, કઠિન તર્કોં દ્વારા વિચાર કરવાથી અનુ અસ્તિત્વ સિદ્ધ થઈ  
જાય છે

સાધક પ્રમાણોના અભાવ હોવાથી કોઈનો અભાવ બતાવવો તે પણ ઠીક નથી,  
કારણ કે પૂર્વોક્ત આગમ અને અનુમાન પ્રમાણ તેના સદ્ભાવ (અસ્તિત્વ-હોવાપણું)  
સિદ્ધ કરે છે શુભા પુણ્યસ્ય અશુભા પાપસ્ય એ આગમપ્રમાણ છે, અર્થાત્ શુભ યોગ  
પુણ્યનું અશુભ યોગ પાપનું કારણ હોય છે

## (૬) અકર્મવાદિમત્તનિરાકરણમ્—

य पुनरदृष्टं कर्म नास्तीति मन्यते स च नास्तिकः प्रष्टव्यः—अयम  
दृष्टामावः किम् अप्रत्यक्षत्वात्, विचारासम्भवात्, साधकामावाद् वा मन्यसे ?

अप्रत्यक्षत्वाभादृष्टामावः सिध्यति, यतस्तव यदप्रत्यक्षं तन्नास्तीति  
स्वीकारे त्वदीयपितामहादेरप्यभावः स्यात्, तस्य त्वज्जन्मतं पूर्वमेवातीतत्वेन  
तवाप्रत्यक्षत्वात् । तथा च भवन्मते पितामहादेरतीतकालिकसत्ताया अभावेन  
भवतोऽपि सचा कथमुपपद्येत ? ।

## (૬) અકર્મવાદી કે મત્ત ના નિરાકરણ—

જો નાસ્તિક યહ માનતા હૈ કિ—અદૃષ્ટ કર્મ કા સદ્ભાવ નહીં હૈ,  
હસસે પૂછના યાદિય કિ—તુમ અદૃષ્ટ કે અભાવ કો કયો માનત હો ? પ્રત્યક્ષ ન હોને સે,  
વિચાર કો સહન ન કરને સે અર્થાત્ વિચારકે યોગ્ય નહીં હોને સે, યા સાધક પ્રમાણો  
કા અભાવ હોને સે અદૃષ્ટ કા અભાવ કહતે હો ?

પ્રત્યક્ષ ન હોને માત્ર સે અદૃષ્ટ કા અભાવ સિદ્ધ નહીં હો સકતા । જો  
તુમ્હે પ્રત્યક્ષ નહીં દિસાઈ દેતા વહ હોતા હી નહીં હૈ, પેસા માન લિયા જાય તો  
તુમ્હારે પિતામહ આદિ કા મી અભાવ હો જાયગા । વહ તુમ્હારે જન સે પછે  
હી ગુબર જુકે હૈ, જત તુમ્હે પ્રત્યક્ષ દિસાઈ નહીં દે સકતે । પેસી અવસ્થા મેં  
તુમ્હારે પિતામહ આદિ કી મૂતકાલીન સત્તા કા અભાવ હોવાને કે કારણ તુમ્હારી સત્તા મી  
સત્તરે મેં પડ જાયગી ।

## (૬) અકર્મવાદીના મતનું નિરાકરણ—

જે નાસ્તિક જોવું માને છે કે—અદૃષ્ટ કર્મનો સદ્ભાવ (અસ્તિત્વ) નથી, તેમને  
પૂછવું એક જો કે—તમે અદૃષ્ટનો અભાવ શા માટે માને છો ? પ્રત્યક્ષ નહીં હોવાથી, વિચારને  
સહન નહીં કરવાથી અર્થાત્—વિચારવાયોગ્ય નહિ હોવાથી, અથવા સાધક પ્રમાણોનો  
અભાવ હોવાથી અદૃષ્ટનો અભાવ કહો છો ?

પ્રત્યક્ષ નહીં હોવા માત્રથી અદૃષ્ટનો અભાવ સિદ્ધ થઈ શકતો નથી, જે વસ્તુ  
તમને પ્રત્યક્ષ બોવામાં ન આવે તે વસ્તુ હોયજ નહીં, એ પ્રમાણે જો માની લેશે  
તો તમારા પિતામહ (બાપનો બાપ) આદિનો અભાવ થઈ જશે, કારણ કે તે તમારા  
જન્મતા પહેલાજ જુલ્મી ગયા છે તેથી તમને તે પ્રત્યક્ષ બોવામાં આવતા નથી,  
એવી અવસ્થામાં તમારા પિતામહ આદિની મૂતકાલીન સત્તાનો અભાવ થઈ જવાથી  
તમારી સત્તા પણ અતરામાં (જાયમાં) પડી જશે.

નીર વત્ સમ્બન્ધો વન્ધઃ । યદ્વા-ઘઘ્યતે=અસ્વાતન્ન્યમાપઘતે આત્મા યેન, સવન્ધ\* ।  
જ્ઞાનાવરણીયાદ્યપ્ટવિઘર્મપુદ્ગલાનામવસ્થાન હિ જીવસ્યાઽનન્તજ્ઞાનદર્શનસુખવીર્ય-  
રૂપસામર્થ્યપ્રતિવન્ધકતયા સ્વાતન્ન્યવિઘાતક મવતિ ।

યદપિ નિશ્ચયનયેન રાગદ્વેપરહિતોઽયમાત્મા, તથાપ્યસૌ વ્યવહારનયેન  
રાગદ્વેપરૂપમાવકર્મણાં જ્ઞાનાવરણીયાદિદ્રવ્યકર્મણાં ચ કર્તા મવતિ । આત્મસંક્રન્ન  
શરીરાવગાહનક્ષેત્રાવસ્થિતકર્મવર્ગણાયોગ્યપુદ્ગલસ્કન્ધાઃ સ્વકીયોપાદાનકારણશક્ત્યૈવ  
કર્મરૂપામવસ્થાં પ્રાપ્નુવન્તિ । તે ચ કર્મપુદ્ગલા આત્મપ્રદેશૈઃ સદ્ પરસ્પર-  
મેકક્ષેત્રાવગાહરૂપ ઘઘ ધીરનીરવત્ પ્રાપ્નોતિ । યથા સમુદ્દીયમાનાનિ રજાંસિ

ઔર પાની કી तरह સમ્બન્ધ હો જ્ઞાના ઘઘ હૈ । આત્મા-જીવ ખિસ કે દ્વારા બૌધા  
જાય=પરાધીન ક્રિયા જાય, વહ વન્ધ હૈ । જ્ઞાનાવરણ આદિ બાઠ કર્મો કી સ્થિતિ,  
જીવ કે અનન્ત જ્ઞાન, દર્શન, સુખ ઔર વીર્યરૂપ સામર્થ્ય મેં બાધક હોને કે કારણ  
સ્વતન્ત્રતા કા ઘાત કરને વાલી હૈ ।

યદપિ નિશ્ચયનય સે આત્મા રાગ-દ્વેપ સે રહિત હૈ, કિન્તુ વ્યવહારનય સે  
રાગ-દ્વેપરૂપ માવકર્મો કા, તથા જ્ઞાનાવરણ આદિ દ્રવ્યકર્મો કા કર્તા હૈ । ખિસ આકાશ-  
ક્ષેત્ર મેં આત્મા સે સચદ્ શરીર હૈ, હસી આકાશક્ષેત્ર મેં સ્થિત કર્મવર્ગણા કે યોગ્ય  
પુદ્ગલસ્કન્ધ, અપની ઉપાદાનકારણ-શક્તિ સે હી કર્મરૂપ અવસ્થા કો પ્રાપ્ત કરતે હૈ । બે  
કર્મપુદ્ગલ આત્મપ્રદેશો કે સાથે પરસ્પર એકક્ષેત્રાવગાહરૂપ વન્ધ કો ધીર-નીર કી નાઈ  
પ્રાપ્ત હોતે હૈ । જૈસે-ઠહતી હુઈ રબ, તેહ સે ચિકને ઘઘે આદિ પર ચિપક જાતી હૈ,

ખાણીની પ્રમાણે સમ્બન્ધ ઘઘ જવે તે બધ છે આત્મા-જીવ જેના દ્વારા બધાઈ  
બધ-પરાધીન ઘઘ બધ તે બધ છે જ્ઞાનાવરણ આદિ બાઠ કર્મોની સ્થિતિ, જીવના  
અનન્ત જ્ઞાન, દર્શન સુખ અને વીર્યરૂપ સામર્થ્યમાં બાધક હોવાના કારણે સ્વત-  
ન્ત્રતાનો ઘાત કરવા વાળી છે

જો કે નિશ્ચયનયથી આત્મા રાગ-દ્વેપથી રહિત છે, પરન્તુ વ્યવહારનયથી રાગ-  
દ્વેપરૂપ માવકર્મોનો, તથા જ્ઞાનાવરણ આદિ દ્રવ્યકર્મોના કર્તા છે જે આકાશક્ષેત્રમાં  
આત્માથી સચદ્ શરીર છે, તે આકાશક્ષેત્રમાં સ્થિત (રહેલા) કર્મ-વર્ગણાના યોગ્ય  
પુદ્ગલસ્કન્ધ, પોતાની ઉપાદાન કારણ-શક્તિથી જ કર્મરૂપ અવસ્થા પ્રાપ્ત કરે છે,  
તે કર્મપુદ્ગલ આત્મપ્રદેશોની સાથે પરસ્પર એકક્ષેત્રાવગાહરૂપ બધને ધીર-નીરના  
ન્યાય પ્રમાણે પ્રાપ્ત થાય છે, જેવી રીતે ઠહતી રબ તેહના ચિકણા મઠા આદિને  
પ્ર આ ૪૧

કાર્યવિશેષેણ કારણસ્યાનુમાન મવતિ યથા કાર્યવિશેષ. સકારણક.,  
કાર્યત્વાત્, કુન્મવત્ । ઉક્તચ્ચ—

“તુલ્યાકૃત્યોથ ચમયો, -દૈશ્યતે મહદન્તરમ્ ।

ચારિત્ર-વીર્ય-વિજ્ઞાન, -ધરાગ્યા-રોગ્ય-સપદામ્” ॥૧॥ ઇતિ ।

અદષ્ટરૂપકારણમન્તરેણેદ મહદન્તર ન સંમવતિ, તસ્માદવશ્ય સ્વી-  
કરણીય કર્મ ।

(૭) ઘન્યસ્વરૂપનિરૂપણમ્—

અન્ન ઘન્યશ્ચ્ચેદન માવચન્ધો ગૃહ્યતે, ન તુ નિગઢાદિઘન્યરૂપો દ્રવ્યઘન્યઃ ।  
ઘન્યનં ઘન્યઃ । કર્મવર્ગેણાયોગ્યપુદ્ગલસ્થાનામાત્મપ્રદેશાનાં ચ પરસ્પર સ્તીર-

કાર્યવિશેષ સે કારણ કા અનુમાન હોતા હૈ । જૈસે-હસ કાર્ય કા કોઈ કારણ હૈ,  
ક્યો કિ કાર્ય હૈ, જૈસે-ઘટ, કહા મી હૈ—

“સમાન આકૃતિ ઘાટે ચમલ (જોડછો સત્તાન) મેં ચારિત્ર, વીર્ય, વિજ્ઞાન, વૈરાગ્ય,  
જૌર સમ્પત્તિ કા મહાન્ અન્તર વિસ્તાર દેતા હૈ” ॥ ૧ ॥

અદષ્ટરૂપ કારણ કે વિના ચહ મહાન્ અન્તર નહી હો સકતા, અસ્ત ઇવ કર્મ અવશ્ય  
સ્વીકાર કરના ચાહિય ।

(૭) ઘન્ય કે સ્વરૂપકા નિરૂપણ—

ઘન્ય-શબ્દ સે ચહોં માવચન્ધ કા પ્રહણ કરના ચાહિય । બેઢી આદિ દ્રવ્યઘન્યકા  
નહી । કર્મવર્ગેણા કે યોગ્ય પુદ્ગલસ્થાનો કા જૌર આત્મપ્રદેશો કા આપસ મેં દુષ

કાર્ય-વિશેષથી કારણનું અનુમાન થાય છે જેવી રીતે આ કાર્યનું કોઈ કારણ  
છે, કારણ કે કાર્ય છે, જેવી રીતે ઘટ કહ્યું પણ છે—

‘સમાન આકૃતિ ઘાળાં ચમલ-જોડલાં સત્તાનમાં ચારિત્ર, વીર્ય, વિજ્ઞાન, વૈરાગ્ય,  
આશિષ અને સમ્પત્તિનું મહાન અતર જોવામાં આવે છે” ॥૧॥

અદષ્ટરૂપ કારણ વિના આ મહાન અન્ત કોઈ શકે નહિ, જો કારણથી કર્મનો  
અવશ્ય સ્વીકાર કરી લેવો જોઈએ.

(૭) ઘન્યસ્વરૂપનું નિરૂપણ—

ઘન્ય-શબ્દથી આદિ માવ-ઘન્યનું પ્રકણ કરવું જોઈએ, બેઢી આદિ દ્રવ્યઘન્યનું  
નહિ, કર્મવર્ગેણાને યોગ્ય પુદ્ગલસ્થાનો અને આત્મ-પ્રદેશોના પરસ્પર દુષ અને

વીર્યગુણપરિણામાત્મિકા શુમાશુમક્રિયાં ભવતિ । इय क्रिया चात्मनः प्रदेशानां  
परिस्पन्द, कम्पन, व्यापारो, योग इति चोच्यते । इयमेव मनोवाक्काययोग  
इति च कथ्यते । इयमात्मनो ज्ञानावरणाद्यष्टवर्गसम्बन्धरूपे बन्धे हेतुश्च ।

આત્મન શુમાશુમક્રિયાયા સત્યામાત્મસલ્ગનાનાદિકાર્મણશરીરેણા-  
ત્માડનન્તાનન્તપ્રદેશિસ્કન્ધરૂપાશ્ચતુ સ્પર્શન્ કર્મયોગ્યપુદ્ગલાનાદાય કાર્મણશરીર-  
તયા પરિણમયતિ । આત્મસલ્ગન યદનાદિ કાર્મણશરીર, તદ્દિ આત્મૈક્યાત્ કર્મ  
યોગ્યપુદ્ગલાનાં ગ્રહણે સ્વાધીનકરણે સ્વસ્મિન્નૈકત્વપરિણામકરણે ચ સમર્થ  
મયતિ । અનાદિકાર્મણશરીરસમ્બન્ધાદેવ સસારી જીવો મૂર્તોઽસ્તિ । મૂર્તત્વાદેવ  
ચ તસ્ય પૌદ્ગલિકકર્મસમ્બન્ધો મવતિ ।

वीर्यगुण के परिणमनरूप शुमा शुम क्रिया होती है । इस क्रिया को आत्मा के प्रदेशों का  
परिस्पन्दन, कम्पन, व्यापार या योग कहते हैं । यही मन, वचन और काय का योग  
कहलाता है । यही क्रिया ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बन्ध का कारण है ।

આત્મા ક્ષી બવ શુમ યા અશુમ ક્રિયા હોતી હૈ તો આત્મા કે સાથ પહેલે સે બંધે  
હુપ કાર્મણશરીર કે દ્વારા આત્મા, અનન્તાનન્તપ્રદેશી-સ્કન્ધરૂપ, ચૌસ્પર્શી કર્મયોગ્ય પુદ્ગલો  
કો ગ્રહણ કર કે કાર્મણશરીર કે રૂપ મેં પરિણત કરતા હૈ । આત્મા સે સમ્બદ્ધ અનાદિકાલીન  
કાર્મણશરીર આત્મા કે સાથ એકમેક હોને કે કારણ કર્મયોગ્યપુદ્ગલો કો ગ્રહણ કરને મેં, અપને  
અધીન કરને મેં ઓર અપને સાથ એકમેક કરલેને મેં સમર્થ હોતા હૈ । અનાદિકાલીન કાર્મણ-  
શરીર કે સમ્બન્ધ સે હી સસારી જીવ મૂર્ત હૈ, ઓર મૂર્ત હોને કે કારણ હી ઇસકા પૌદ્ગલિક  
કર્મો કે સાથ સમ્બન્ધ હોતા હૈ ।

वीर्यशुच्यं परिशुभनरूप शुभाशुभ क्रिया धाय छ ते क्रियाने आत्मान्ना प्रदेशानु  
परिस्पन्दन, कम्पन, व्यापार अथवा योग कहे छ आत्मा मन वचन अने कायानो  
योग कहेवाय छ आ क्रिया ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोना बधनु कारण छे

આત્માની બ્યારે શુભ અથવા અશુભ ક્રિયા ધાય છે તો આત્માની સાથે  
પહેલાથી બાધલા કાર્મણશરીરદ્વારા આત્મા અનન્તાનન્તપ્રદેશી-સ્કન્ધરૂપ, ચૌસ્પર્શી  
કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરીને કાર્મણશરીરના રૂપમાં પરિણત કરે છે આત્માથી  
સબદ્ધ અનાદિકાલીન કાર્મણશરીર આત્માની સાથે એકમેક હોવાના કારણે કર્મયોગ્ય  
પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરવામાં, પોતાના અધીન કરવામાં અને પોતાની સાથે એકમેક કરી  
લેવામાં સમર્થ ધાય છે અનાદિકાલીન કાર્મણશરીરના સબધથી જ સસારી જીવ  
મૂર્ત હોવાના કારણે જ તેનો પૌદ્ગલિક કર્મોની સાથે સમ્બન્ધ ધાય છે

તૈલસ્નિગ્ધે ઘટાદૌ સશ્ચિષ્ટાનિ મવન્તિ, તથા રાગદ્વેપરૂપૈતૈલસ્નિગ્ધમલિનાસ્મ  
મવેક્ષેષુ કર્મવર્ગણાયોગ્યપુદ્ગલાઃ સ્વકીયોપાદાનશક્ત્યા જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મરૂપા  
મવસ્થા પ્રાપ્ય સશ્ચિષ્ટા મવન્તિ ।

પરમાણુરૂપા દ્વિપ્રદેશિપ્રમૃતિસ્કન્ધરૂપાથ પુદ્ગલા ઔદારિક-વૈક્રિયા-  
-હારક-તૈક્ષ્ણ-માયા-આસોર્જીસ-મન-કાર્મણ-મેદાદૃષ્ટવિધા । તત્ર કર્મ-  
વર્ગણાપુદ્ગલા અપિ સમસ્તલોક ધ્યાપ્ય ધર્તેતે, યત્ર સસારિણાં શરીરાણિ  
સન્તિ, તત્રાપિ તદ્વદિધ્યાપિ સર્વત્ર તે ધર્તન્તે, તત્ર કર્મયોગ્યપુદ્ગલા આત્મના પરિ-  
ચીતાઃ કર્મરૂપેણ પરિણતા મવન્તિ ।

રાગદ્વેપરિણત્યાઽર્ચીકૃતસ્યાત્મનો

મનોવાક્કાયરૂપકરણસાહાય્યેન

હસીપ્રકાર રાગ-દ્વેષરૂપી તેજ સે ચિત્તને મલિન આમપ્રદેશો મેં, કર્મવર્ગણા કે યોગ્ય  
પુદ્ગલ, અપની-અપની ઉપાદાનશક્તિ સે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મ-રૂપ અવસ્થા કો પ્રાપ્ત કર કે  
ચિત્તક બાતે હૈં ।

પરમાણુરૂપ ઔર દ્વિપ્રદેશી ગૌરહ સ્કન્ધરૂપ પુદ્ગલ ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક,  
તૈક્ષ્ણ, માયા, આસોર્જીસ, મન ઔર કાર્મણ કે મેદ સે બાઠ પ્રકાર કે હોતે હૈં । इन में  
से कर्मवर्गणा के पुद्गल भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । जहां ससारी जीवों के शरीर हैं,  
वहां भी हैं, और बाहर भी सर्वत्र हैं । ये कर्मयोग्य पुद्गल आत्माद्वारा जब ग्रहण किये जाते  
हैं तब कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं ।

રાગ-દ્વેષરૂપ પરિણતિ સે યુક્ત આત્મા કા, મન, વચન, કાય, કી સહાયતા સે

ચોંટી બાથ છે, તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષ રૂપી તેજથી ચિત્તજ્ઞા અને મલિન આત્મપ્રદેશોમાં  
કર્મવર્ગણામોગ્ય પુદ્ગલ ચોત-ચોવાની ઉપાદાનશક્તિથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મ-રૂપ  
અવસ્થા પ્રાપ્ત કરીને ચોંટી બાથ છે

પરમાણુરૂપ અને દ્વિ-પ્રદેશી ગૌરે સ્કન્ધરૂપ પુદ્ગલ ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક  
તૈક્ષ્ણ, માયા, આસોર્જીસ, મન અને કાર્મણના લેહથી બાઠ પ્રકારના હોય છે તેમાંથી  
કાર્મણવર્ગણા પુદ્ગલ પણ સર્વત્ર લોકમાં વ્યાપ્ત છે જ્યાં સસારી જીવોનાં શરીર  
છે ત્યાં પણ છે અને બહાર સર્વત્ર પણ છે તે કર્મયોગ્ય પુદ્ગલ આત્માદ્વારા  
બાથે ગ્રહણ કરવામાં આવે છે ત્યારે તે કર્મરૂપમાં પરિણત થઈ બાથ છે

રાગ-દ્વેષરૂપ પરિણતિયુક્ત આત્માની મન, વચન અને કાયની સહાયતાથી

રાગાદિરૂપતૈલાભ્યક્તસ્યાત્મન કાર્મણશરીરપરિણામો નવીનકર્મપ્રદેષો યોગ્યતાં સપાદયતિ । આત્મશરીરયોરૈક્યે સતિ સમ્યગ્જ્ઞાનામાવરૂપાનામોગવીર્યતઃ કર્મબન્ધો ભવતિ । इत्य કર્મવર્ગણાયોગ્યપુદ્ગલાના જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મતયા પરિણતાના સકપાયસ્યાત્મનઃ સકલપ્રદેશેષુ લોલીમાવો વન્ધ इति ધોખ્યમ્ ।

### (૮) વન્ધકારણનિરૂપણમ્—

વન્ધસ્ય પञ्च સાધારણકારણાનિ મિથ્યાત્વાઽવિરતિ પ્રમાદ-કપાય-યોગ-મેદાત્ ।

તત્રાતત્ત્વે તત્ત્વાધ્યવસાયરૂપો વિપરીતાવગ્રોધો મોહકર્મોદયજનિત આત્મ-પરિણામો મિથ્યાત્વમ્ । यद्वा-कुदेव-कुगुरु-कुघर्मेष्वभिरुचिरूपमतत्त्वार्थप्रद्वान

હસી પ્રકાર રાગ-દ્રેષરૂપી તેલ સે યુક્ત આત્મા કા કાર્મણશરીરરૂપ પરિણામ નવીન કર્મો કો પ્રદ્ધન કરતે મેં યોગ્ય હો જાતા હૈ । આત્મા ઔર શરીર કે એકમેક હોને પર સમ્યગ્જ્ઞાન કે અમાવરૂપ અનામોગ વીર્ય સે કર્મબન્ધ હોતા હૈ । इस प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मरूप में परिणत कर्मणवर्गणाओं के योग्य पुद्गलों का कपाययुक्त-आत्मा के समस्त प्रदेशों में एकमेक हो जाना बन्ध है ।

### (૯) વન્ધકે કારણ—

વન્ધ કે સાધારણ કારણ પાંચ હૈ—(૧) મિથ્યાત્વ, (૨) અવિરતિ, (૩) પ્રમાદ, (૪) કપાય, ઔર (૫) યોગ ।

અતત્ત્વ કો તત્ત્વ સમસનેરૂપ મોહનીયકર્મજન્ય વિપરીતજ્ઞાનરૂપ આત્મપરિણામ કો મિથ્યાત્વ કહતે હૈ, અથવા કુદેવ, કુગુરુ ઔર કુઘર્મ મેં રુચિરૂપ અતત્ત્વ કા

પરિણામ નવીન કર્મો પ્રદ્ધન કરવામા ચોખ્ય થઈ જાય છે આત્મા અને શરીરના એકમેક થવાથી સમ્યગ્જ્ઞાનના અભાવરૂપ અનામોગ વીર્યથી કર્મબન્ધ થાય છે

એ પ્રમાણે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મરૂપમા પરિણત કાર્મણવર્ગણાના ચોખ્ય પુદ્ગલોનુ કપાયયુક્ત આત્માના સમસ્ત પ્રદેશોમા એકમેક થઈ જવું તે બન્ધ છે

### (૮) બન્ધનુ કારણ—

બન્ધના સાધારણ કારણો પાંચ છે—(૧) મિથ્યાત્વ, (૨) અવિરતિ, (૩) પ્રમાદ, (૪) કપાય અને (૫) યોગ

અતત્ત્વને તત્ત્વ સમજવા રૂપ મોહનીયકર્મજન્ય, વિપરીતજ્ઞાનરૂપ આત્મ પરિણામને મિથ્યાત્વ કહે છે અથવા કુદેવ કુગુરુ, અને કુઘર્મમાં રુચિરૂપ અતત્ત્વની



યથા દીપક ઇષ્માગુણયોગાદ્ વર્તિદ્વારા તૈલમાદાય જ્વાલારૂપેણ પરિણમ-  
યતિ તથા રાગદ્વેષોષ્માગુણસમ્બધા મનોવાગાદિયોગવત્પાઽઽત્મદીપઃ કર્મયોગ્યપુદ્ગલ-  
સ્કન્ધતૈલમાદાય કર્મજ્વાલારૂપેણ પરિણત કરોતિ । મનોવાગાદિરૂપકરણસયોગાદા-  
ત્મનો ધીર્યપરિણામો ભવતિ, અતો મનોવાગાદિવ્યાપારોયોગશબ્દેનોચ્યતે । યથા મૃનમ-  
ઘટસ્યાન્નિસયોગાદ્ રક્તત્વાદિપરિણતિર્ઘટસ્યૈવ ભવતિ તથા મનોવાગાદિસયોગાદ્  
શુમાશુમક્રિયારૂપા ધીર્યપરિણતિરાત્મન એવ ભવતિ, ન તુ પુદ્ગલરૂપમનોવાગાદૈ ।

યથા ચ તૈલામ્યક્ટે શરીરે જલાદેં ઘસેં વા ધૂલિરાશ્લિષ્ટા ભવતિ, તથા

જેસે—દીપક ઇષ્માગુણ કે કારણ વર્તીદ્વારા તૈલ પ્રહણ કર કે જ્વાલા કે રૂપ મેં  
પરિણત કરતા હૈ, ડસી પ્રકાર રાગ-દ્વેષ રૂપ ઇષ્માગુણકે સમ્બન્ધ સે મન, વચન આદિ મોગો  
કી વર્તી દ્વારા આત્મરૂપી દીપક કર્મયોગ્યપુદ્ગલસ્કન્ધરૂપ તૈલ કો પ્રહણ કર કે કર્મરૂપ  
જ્વાલ મેં પરિણત કર લેતા હૈ । મન, વચન ઓર કાયરૂપ કરણ કે દ્વારા આત્મા કા વીર્ય-  
રૂપ પરિણમન હોતા હૈ । ઇસીછિપ્ મન, વચન, આદિ કા વ્યાપાર યોગ કહ્લાતા હૈ । જેસે  
—અગ્નિ કે સયોગ સે મિટ્ટી કે ઘસે કી છલાઈ આદિરૂપ પરિણતિ હોતી હૈ, ઓર વહ ઘસે કી  
હી કહ્લાતી હૈ, ડસીપ્રકાર મન, વચન આદિ કે સયોગ સે શુમા-શુમક્રિયારૂપ વીર્ય કી  
પરિણતિ આત્મા કી હી હોતી હૈ, પુદ્ગલરૂપ મન, વચન આદિ કી નહી ।

જેસે તેલ સે સ્નિપ્ત શરીર પર યા મીંગે હુપ વજ્ર પર ઘૂલ લગ જાતી હૈ,

જેવી રીતે દીપક ઇષ્માગુણના કારણે બર્તીદ્વારા તેલને પ્રહણ કરીને જ્વાળાના  
રૂપમાં પરિણત કરે છે તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષરૂપ ઇષ્માગુણના સમ્બન્ધથી મન  
વચન આદિ ચેત્તેની બર્તી દ્વારા આત્મરૂપી દીપક કર્મયોગ્ય-પુદ્ગલસ્કન્ધરૂપ  
તેલને પ્રહણ કરીને કર્મરૂપ જ્વાલામાં પરિણત કરી લે છે મન, વચન અને  
કાયરૂપ કરણદ્વારા આત્માનું વીર્યરૂપ પરિણમન થાય છે; એ કરણથી મન, વચન  
આદિના વ્યાપાર યોગ કહેવાય છે જેવી રીતે અજિતા સયોગથી માટીના ઘસાની જ  
લાલી (શતાયપણું) રૂપ પરિણતિ થાય છે, અને તે ઘસાની જ કહેવાય છે તે પ્રમાણે  
મન, વચન આદિના સયોગથી શુમા-શુમક્રિયારૂપ વીર્યની પરિણતિ આત્માની જ  
થાય છે પુદ્ગલરૂપ મન, વચન આદિની નહિ.

જેવી રીતે તેલથી સ્નિપ્ત શરીર પર, અથવા સિંજાએલા વજ્ર પર  
ઘૂલ લાગી જાય છે તે પ્રમાણે રાગ-દ્વેષરૂપી તેલથી શુક્ત આત્માના કર્મજ્વાલારૂપ

एषु पञ्चसु कारणेषु कपायः प्रधानम् । स च क्रोधमानमायालोम-  
भेदाद्यतुर्विधः । चतुर्विधोऽप्यय कपायो रागद्वेषान्तर्गत एवास्ति । उक्तञ्च—

“दोहिं ठाणेहिं पावकम्मा वधति, तजहा रागेण य, दोसेण य । रागे  
दुविहे पण्णत्ते, तजहा-माया य लोभे य । दोसे दुविहे पण्णत्ते, તજહા-કોહે ય  
માણે ય” ( સ્થા૦ સ્થાન ૨ ઉ૦ )

बन्धद्यतुर्विध - प्रकृति-स्थित्य-अनुभाव-प्रदेशमेवात् । उक्तञ्च—

“चउन्विहे वधे पण्णत्ते, તજહા-પગફવે ૧, ટિફવે ૨, અણુભાવવધે ૩,  
પદેસવધે ૪ ।” ( સમવાયાદ સમવાય ૪ )

इन पांच कारणों में कपाय प्रधान है । क्रोध, मान, माया और लोम के  
भेदसे वह चार प्रकार का है । कपाय के ये चारों भेद राग और द्वेष में ही अन्तर्गत हो  
जाते हैं । कहा भी है—

“दो स्थानों से पाप कर्मों का बन्ध होता है । वह इस प्रकार—राग से  
और द्वेष से । राग दो प्रकार का है—माया और लोम । द्वेष भी दो प्रकार का है—क्रोध  
और मान” । ( स्था० स्थान २ उ २ )

यच्च चार प्रकार का है—(१) प्रकृति-बन्ध, (२) स्थिति बन्ध, (३) अनुभाव-बन्ध,  
और (४) प्रदेश-बन्ध । कहा भी है—

“बन्ध चार प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार—(१) प्रकृतिबन्ध, (२)  
स्थितिबन्ध, (३) अनुभावबन्ध, (४) प्रदेशबन्ध” । ( सम स ४ )

આ પાંચ કારણોમાં કપાય પ્રધાન છે— મુખ્ય છે ક્રોધ, માન, માયા અને  
લોભના લેહથી તે ચાર પ્રકારના છે કપાયના તે ચારેય લેહ રાગ-અને દ્વેષમા  
સમાઈ બંધ છે કહ્યું છે કે—

“બે સ્થાનોથી પાપકર્મોના બંધ થાય છે તે આ પ્રમાણે છે—રાગથી અને  
દ્વેષથી રાગ બે પ્રકારનો છે—માયા અને લોભ દ્વેષ પણ બે પ્રકારનો છે—ક્રોધ અને  
માન” ( સ્થા. સ્થાન ૨-ઉ ૨ )

બધ ચાર પ્રકારના છે—(૧) પ્રકૃતિબંધ, (૨) સ્થિતિબંધ, (૩) અનુભાવબંધ  
(૪) પ્રદેશબંધ. કહ્યું પણ છે—

‘ બધ ચાર પ્રકારના છે (૧) પ્રકૃતિબંધ, (૨) સ્થિતિબંધ, (૩) અનુભાવબંધ,  
(૪) પ્રદેશબંધ, ’ ( સમ૦ સૂ. ૪ )

મિથ્યાત્વમ્ ૧ । સાવધયોગેષુ પ્રવૃત્તિરવિરતિઃ ૨ । સદુપયોગમાવઃ પ્રમાદઃ, મોક્ષમાર્ગ  
પ્રતિ શ્રેયિત્વ વા પ્રમાદ ૩ । કપ્યતે=પુનઃપુનર્જન્મમરણાદિક્લેશોન્નુભૂયતે યેન  
સ કપાયઃ, મોહનીયકર્મોદયમનિત આત્મપરિણતિવિશેષઃ, યદ્વા-કપ્યતે યન્ન  
શારીરિકમાનસિકદુઃખે, સ કપ-સંસાર, તસ્ય આય-પ્રાપ્તિકારણ કપાયઃ=  
ક્રોધાદિ ૪ । યુજ્યતે-આત્માઽનેનેતિ યોગ=મનોવાકાયવ્યાપારરૂપ ૫ । ઉક્તઃ-

“પંચ આસવદારા પળ્ળતા, તજ્જહા-મિચ્છતં ૧, અવિરર્હં ૨, પમાયા ૩,  
કસાયા ૪, જોગા ૫ ” । (સમવા ૦ સમવાય ૫ ) ‘આસવદારા’ ઇતિ-આસ્રવો વન્ધ  
કારણમ્ ।

શ્રદ્ધાન મિથ્યાત્વ કહાતા છે ૧ । સાવધ યોગા મેં પ્રવૃત્તિ કરના અવિરતિ છે ૨ । સમ્યક્  
ઉપયોગ (યતના) ના અભાવ પ્રમાદ કહાતા છે, યા મોક્ષમાર્ગાં કે વિષય મેં શિથિલતા  
હોના પ્રમાદ છે ૩ । જિસ કે દ્વારા આત્મા કપા કાય અર્થાત્ વારવાર જન્મ-મરણ ના  
ક્લેશ મોગા કાય ઉસે કપાય કહતે હૈં । કપાય, મોહકર્મ સે ઉત્પન્ન આત્મા ની એક  
પરિણતિ છે । અથવા જહાં શારીરિક એવ માનસિક દુઃખાં સે જીવ કપા કાય (યુક્ત હોં)  
ઉસે કપ અર્થાત્ સંસાર કહતે હૈં જોર ઉસ કપ (સંસાર) ની કાય પ્રાપ્તિ જિસ સે હો  
વહ કપાય કહાતા છે ૪ । જિસ સે આત્મા વ્યાપ્ત હો, એસા મન, વચન જોર કાય ના  
વ્યાપાર યોગ કહાતા છે ૫ । કહા છે—

“પંચ આસવદારા પળ્ળતા, ત જહા-મિચ્છતં, અવિરર્હં, પમાયા, કસાયા,  
જોગા ” । (સમવાયાજ, સમવાય ૫ ) યહાં ‘આસવદારા’ ના અર્થ છે—આસ્રવે કે દ્વાર  
અર્થાત્ વન્ધકે કારણ ।

શ્રદ્ધા તેને મિથ્યાત્વ કહે છે (૧) સાવધ યોગોમા પ્રવૃત્તિ કરવી તે અવિરતિ  
છે (૨) સમ્યક્ ઉપયોગને અભાવ તે પ્રમાદ કહેવાય છે, અથવા મોક્ષમાર્ગના  
વિષયમા શિથિલતા થવી તે પ્રમાદ છે (૩) જેના દ્વારા આત્મા કપાય અર્થાત્ વારવાર  
જન્મ મરણનો કલેશ યોગવવાય તેને કપાય કહે છે કપાય, મોહ કર્મથી ઉત્પન્ન  
આત્માની એક પરિણતિ છે અથવા—જ્યાં શારીરિક અને માનસિક દુઃખોથી જીવ  
કપાય અર્થાત્ પીડાય તેને કપ અર્થાત્ સંસાર કહે છે, અને તે સંસારની કાય-પ્રાપ્તિ  
જેનાથી હોય તે કપાય કહેવાય છે (૪) જેનાથી આત્મા વ્યાપ્ત હોય એવા મન,  
વચન અને કાયાના વ્યાપાર તે યોગ કહેવાય છે (૫), કહ્યું છે કે —

“પંચ આસવદારા પળ્ળતા તજ્જહા-મિચ્છતં, અવિરર્હં, પમાયા, કસાયા જોગા ”  
(સમવાયાજ, સમવાય ૫,) જહાં “આસવદારા” નો અર્થ છે કે—આસ્રવના  
દ્વાર, અર્થાત્ વન્ધના કારણ

જ્ઞાનાવરણીય કર્મ, જીવસ્ય જ્ઞાનગુણમાટુણોત્તિઃ । દર્શનાવરણીય કર્મ દર્શનગુણમૂર । વેદનીયકર્મ જીવસ્યાવ્યાબાધગુણ સરુણદ્વિઃ । મોહનીયકર્મ જીવસ્યાવિરતિ તત્ત્વાનભિરુચિ ચ જનયતિઃ । આયુષ્યકર્મ જીવસ્યામરત્વં પ્રતિહન્તિ । નામકર્મ જીવસ્યાઽમૂર્તત્વ પ્રતિવધ્નાતિઃ । ગોત્રકર્મ તસ્યાગુલ્લઘુગુણ વ્યાહન્તિ । અન્તરાયકર્મ જીવસ્યાનન્તવીર્યગુણ રુણદ્વિઃ ।

યથા-ગઢાદિમસિતત્વનાદયો દુઘ્ધરૂપેણ પરિણતા મઘન્તિ, માધુર્ય-સ્વમાવ' સહૈવ જાયતે, સ ચૈતાવત્કાલપર્યન્તસ્યાયીત સ્થિતિસમયમર્યાદાઽપિ જાયતે માધુર્યં તીવ્રમન્દમાવાદિવિશેષોઽપિ મઘતિ, તસ્ય દુઘ્ધસ્ય પૌદ્રલિક-

(૧) જ્ઞાનાવરણીય કર્મ જીવ કે જ્ઞાનગુણનો રોકતા છે, (૨) દર્શનાવરણીયકર્મ દર્શનગુણનો । (૩) વેદનીયકર્મ જીવ કે અવ્યાબાધગુણ નો રોકતા છે જોર (૪) મોહનીય કર્મ જીવ મેં અવિરતિ જોર તત્ત્વ કે પ્રતિ અરુચિ ઉત્પન્ન કરતા છે । (૫) આયુકર્મ જીવ કી અમરતા નો રોકતા છે જોર (૬) નામકર્મ જીવ કે અમૂર્તત્વ ગુણ નો રોકતા છે । (૭) ગોત્રકર્મ અમુક-લઘુલ્લ ગુણ નો નષ્ટ કરતા છે જોર (૮) અન્તરાયકર્મ જીવ કે અન્તર વીર્ય નો ઘાત કરતા છે ।

જેવે ગાયદ્વારા સ્વાયે હુપ તુળ આદિ દૂધ રૂપ મેં પરિણત હોતે હેં, જોર ડન મેં મધુરતા ના સ્વમાવ મી સાથ હી ઉત્પન્ન હો જાતા છે । ડસ મેં અમુક કાલપર્યન્ત ડઠરને કી સ્થિતિ-મર્યાદા મી ઉત્પન્ન હો જાતી છે, જોર મધુરતા મેં તીવ્રતા યા મન્દતા કી વિશેષતા મી આજાતી છે । ડસ દૂધ ના પૌદ્રલિક પરિણામ મી સાથ હી ઉત્પન્ન હોતા છે ।

(૧) જ્ઞાનાવરણીય કર્મ જીવના જ્ઞાન-શુષ્ટિને ઢાકી છે છે; (૨) દર્શનાવરણીય કર્મ દર્શનશુષ્ટિને ઢાકે છે (૩) વેદનીય કર્મ જીવના અવ્યાબાધ શુષ્ટિને, ઢાકી છે છે (૪) મોહનીય કર્મ જીવના અવિરતિ અને તત્ત્વપ્રતિ અરુચી ઉત્પન્ન કરાવે છે (૫) આયુ કર્મ જીવની અમરતાને ઢાકે છે (૬) નામ-કર્મ જીવના અમૂર્તત્વ શુષ્ટિને ઢાકે છે (૭) ગોત્ર-કર્મ અમુકલઘુલ્લ શુષ્ટિનો નાશ કરે છે અને (૮) અન્તરાય કર્મ જીવના અન્તરવીર્યનો ઘાત કરે છે

જેવી રીતે ગાયે આદિ દૂધ આદિ દ્રવ્ય રૂપમાં પરિણત થાય છે અને તેમાં મધુરતાનો સ્વભાવ પણ સાથે જ ઉત્પન્ન થાય છે તેમાં અનુકાલપર્યન્ત સ્થિર રહેવાની સ્થિતિ-મર્યાદા પણ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને મધુરતામાં તીવ્રતા અથવા મન્દતાની વિશેષતા પણ આવી જાય છે તે દ્રવ્ય પૌદ્ગલિક પરિણામ પણ સાથે જ પ્રજા કરે

તત્ર પ્રકૃતિ.-સ્વભાવઃ । આત્મપરિગૃહીતકર્મપૃદ્ગલાના તત્ત્વત્કિરુપેણ પરિગ-  
મનમ્ । યથા નિશ્વસ્ય તિત્ત્વમ્, ગૃહસ્ય મધુરત્વમ્ । પ્રકૃતિર્દિવિધા-મૂલપ્રકૃતિઃ,  
ઉત્તરપ્રકૃતિશ્ચ । મૂલરૂપ કર્મેણ સ્વભાવો મૂલપ્રકૃતિઃ । મૂલપ્રકૃતિરપ્તઘા-જ્ઞાના-  
વરણીય૧ - દર્શનાવરણીય૨ - વેદનીય૩ - મોહનીયા૪ - ડ્યુપ્ય૫ - નામ૬ - ગોત્રા૭ -  
ન્તરાય૮ - મેદાત્ । ઉક્તશ્ચ—

“અદૃ કમ્મપગહીઓ પળ્લપ્પાઓ, તજહા-ળાળાવરણિજ્જ૧, દસળાવરણિજ્જ૨,  
વેચણિજ્જ૩ મોહણિજ્જ૪, આઉય૫, નામ૬, ગોય૭, અતરાય૮” । (પ્રજ્ઞાપના૦  
પદ-૨૧ ઉ. ૧ સ્. ૨૮૮)

પ્રકૃતિ અર્થાત્ સ્વભાવ । આત્મા કે દ્વારા પ્રહણ કિપ્ હુપ કર્મપુદ્ગલો મેં અમુક-  
અમુક પ્રકાર કી શક્તિ (સ્વભાવ) ઉત્પન્ન હો જાના પ્રકૃતિવન્ધ હૈ । જૈસે-નીમ મેં કદુકતા  
ઔર ગુહ મેં મધુરતા હોતી હૈ ।

પ્રકૃતિ ઘો પ્રકાર કી હૈ-મૂલપ્રકૃતિ ઔર ઉત્તરપ્રકૃતિ । કર્મ કા મૂલ સ્વભાવ  
મૂલપ્રકૃતિ કહલાતી હૈ । મૂલપ્રકૃતિ કે આઠ મેવ હૈ—(૧) જ્ઞાનાવરણીય, (૨) દર્શનાવરણીય,  
(૩) વેદનીય, (૪) મોહનીય, (૫) આયુ, (૬) નામ, (૭) ગોત્ર, ઔર (૮) અન્તરાય ।  
કહા મી હૈ—

“આઠ કર્મપ્રકૃતિયા હૈ, વે હસ પ્રકાર—(૧) જ્ઞાનાવરણીય, (૨) દર્શનાવરણીય,  
(૩) વેદનીય, (૪) મોહનીય, (૫) આયુષ્ય, (૬) નામ, (૭) ગોત્ર, (૮) અન્તરાય ।”  
(પ્રજ્ઞા પદ ૨૧ ઉ ૧ સ્. ૨૮૮)

પ્રકૃતિ અર્થાત્ સ્વભાવ, આત્માદ્વારા પ્રહણ કરેલા કર્મપુદ્ગલોમાં અમુક-  
અમુક પ્રકારની શક્તિ (સ્વભાવ) નુ ઉત્પન્ન થઈ જવું તે પ્રકૃતિવન્ધ છે જેવી રીતે  
લીજામાં ઠંઠવાશ અને ગોળમાં મધુરતા હોય છે

પ્રકૃતિ જો પ્રકારની છે— (૧) મૂલપ્રકૃતિ અને (૨) ઉત્તરપ્રકૃતિ કર્મનેા મૂલ  
સ્વભાવ તે મૂલપ્રકૃતિ કહેવાય છે તે મૂલ પ્રકૃતિના આઠ ભેદ છે—(૧) જ્ઞાનાવરણીય,  
(૨) દર્શનાવરણીય, (૩) વેદનીય, (૪) મોહનીય, (૫) આયુ (૬) નામ, (૭) ગોત્ર  
અને (૮) અન્તરાય. કહ્યું છે કે—

“આઠ કર્મપ્રકૃતિઓ છે, તે આ પ્રમાણે-જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય,  
મોહનીય, આયુષ્ય, નામ, ગોત્ર, અન્તરાય” (પ્રજ્ઞા પદ ૨૧ ઉ ૧ સ્. ૨૮૮)

યથા વા-વાતહારિકદ્રવ્યનિર્મિતો મોદકઃ પ્રકૃત્યા વાત હરતિ, પિત્તોપશમ-  
કદ્રવ્યનિર્મિતો મોદકઃ પ્રકૃત્યા પિત્તં નાશયતિ, કફાપહારકદ્રવ્યનિર્મિતઃ કફ  
હરતિ । इत्येव मोदकस्य नानाविधा प्रकृतिः । तस्यैव मोदकस्य स्थितिस्तु  
कस्यचिदेकदिनव्यापिनी, अपरस्य दिनद्वयस्थायिनी, अन्यस्य कस्यचिन्मासादि-  
काल व्याप्य स्थितिर्भवति, तत पर तत्तन्मोदकस्य विनाशात् । एव मोदकस्यानु-  
भावो मधुरकटुकपायादिरूपः । रसस्तीव्रमन्दभावेन कस्यचिन्मोदकस्यैकगुणः,  
कस्यचिद् द्विगुण, कस्यचित् त्रिगुणो भवति । प्रदेशोऽपि मोदकस्य कस्यचिदेक-  
कर्पमितः, कस्यचिद् द्विकर्पपरिमितः, कस्यचित् त्रिकर्पपरिमितो भवति ।

અથવા જૈસે-વાતહારક દ્રવ્યોં સે બના મોદક સ્વભાવ સે વાત કા નાશ કરતા હૈં,  
પિત્તકા નાશ કરને વાલ્ દ્રવ્યોં સે બના મોદક પિત્તકા નાશ કરતા હૈં, કફહારી દ્રવ્યોં સે બના  
મોદક કફકો દૂર કરતા હૈં, ઇસ પ્રકાર મોદક કી પ્રકૃતિ નાના પ્રકાર કી હૈં । કોઈ મોદક  
એકદિન તક હીં ટહર સકતા હૈં, કોઈં દો દિન તક ઔર કોઈં મહીને મરતક ટહર સકતા હૈં,  
તસકે પશ્ચાત્ મોદક મેં બહ શક્તિ નહીં રહતી હૈં । ઇસી પ્રકાર કિસી મોદક કા મધુર યા  
કટુક રસ તીવ્ર હોતા હૈં કિસી કા મન્દ હોતા હૈં, કિસી મોદક મેં એકગુણ રસ હોતા હૈં,  
કિસી મેં દ્વિગુણ ઔર કિસી મેં ત્રીન ગુણા, કિસી મોદક કા પ્રદેશસમૂહ એક કર્પ  
પરિમિત હોતા હૈં, કિસીકા દો કર્પ પરિમિત હોતા હૈં, ઔર કિસીકા ત્રીન કર્પ પરિમિત  
હોતા હૈં ।

અથવા-જેમ વાયુનાશક દ્રવ્યોથી બનેલા લાડુ સ્વભાવથી વાયુને નાશ કરે છે,  
પિત્તને શાન્ત કરવા વાળા દ્રવ્યોથી બનેલા લાડુ પિત્તને નાશ કરે છે કફ નાશ કરનારા  
દ્રવ્યોથી બનેલા લાડુ કફને દૂર કરે છે, જે પ્રમાણે લાડુની પ્રકૃતિ બદ્ધ-બદ્ધ પ્રકારની  
છે કોઈ લાડુ એક દિવસ સુધી રહી શકે છે, કોઈ બે દિવસ અને કોઈ મહિના સુધી  
રહી શકે છે તે પછી લાડુમાં તે પ્રથમના જેવી શક્તિ રહેતી નથી. જે પ્રમાણે કોઈ  
લાડુને મધુર અથવા કટુક રસ તીવ્ર હોય છે કોઈનો મદ્દ હોય છે, કોઈ લાડુમાં એક  
શુષ્ક રસ હોય છે, કોઈમાં દ્વિશુષ્ક અને કોઈમાં ત્રણ શુષ્ક રસ હોય છે કોઈ લાડુના  
પ્રદેશસમૂહ એક કર્પ (બે તોલા) પરિમિત હોય છે કોઈના બે કર્પ (ચાર તોલા)  
પરિમિત હોય છે, અને કોઈના ત્રણ કર્પ (છ તોલા) પરિમિત હોય છે

પરિણામશ્વાપિ સદૈવ પ્રાદુર્ભવતિ તથા જીવેન પરિશ્લેષીતાનાં કર્મવર્ગણાયોગ્ય-  
પુદ્ગલાનાં કર્મરૂપેણ પરિણમને ચતુર્વિધા અશા સદૈવ ભવન્તિ । ત ઇયાંશ્ચાઃ  
બન્ધમેદાઃ પ્રકૃત્યાદયઃ સન્તિ ।

કળિકાગુહઘૃતકટુકાદિદ્રવ્યોણામૌપધમોદકરૂપેણ પરિણમને સદૈવા-  
નેકાકારપરિણામો ભવતિ । યથા મોદકો હિ કથિદ્ વાતપિત્તહરણશીલ', કથિદ્  
બુદ્ધિવર્ધનઃ, કથિદ્ સમોદકારી, કથિન્મારક', इत्यनेकाकारेण પરિણમતે  
જીવસંયોગાત્, તથા કર્મવર્ગણાયોગ્યપુદ્ગલાનામાત્મસમ્બન્ધાત્મકરૂપેણ પરિણામે  
કથિત્કર્મપુદ્ગલ જ્ઞાનમાતૃણોતિ, કથિદર્શનમાતૃણોતિ ; અપરઃ સુત્તદુ સ્થાનુમવં બનયતી  
ત્યાદિ યોજનીયમ્ ।

इस प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मवर्गणा के योग्यपुद्गोका कर्मरूप परिणमन  
होने पर चार प्रकार के अश उन में साथ ही उत्पन्न होते हैं । वही अश बन्ध के प्रकृति  
आदि भेद कहलाते हैं ।

આટા, ગુહ, બી ઔર કટુક આદિ દ્રવ્યો સે બને હુપ છઠ્ઠૂ મેં એક સાથ અનેક  
પ્રકાર કે પરિણમન હોતે હૈં । કોઈ લઘુદ્ધ વાત-પિત્ત કા નાશક હોતા હૈ, કોઈ બુદ્ધિવર્ધક  
હોતા હૈ, કોઈ સમ્મોદકનક હોતા હૈ, ઔર કોઈ ઘાતક હોતા હૈ, इस प्रकार जीव के संयोग से  
छठ्ठू અનેક આકારો મેં પરિણત હોતા હૈ । इसी प्रकार कर्मवर्गणा-योग्य पुद्गलों का आत्मा के  
निमित्त से कर्मरूप परिणमन होने पर कोई कर्म, ज्ञान को आच्छादित करता है, कोई  
दर्शनको कोई कर्म, सुख-दुःख का अनुभव कराता है । इत्यादि सब वद छेना चाहिए ।

ઉત્પન્ન થાય છે એ પ્રમાણે ઇવદ્વારા પ્રકૃષ્ટ કરેલા ઠમવર્ગણાયોગ્ય પુદ્ગલોનું  
ઠમરૂપ પરિણમન થવાની સાથે ચાર પ્રકારના અશ તેમા સાથે જ ઉત્પન્ન થાય છે  
તે અશ, બંધના પ્રકૃતિ આદિ ભેદ કહેવાય છે

હોટ, જોળ, ઘી અને કટુક આદિ દ્રવ્યો નાંખીને બનાવેલા લાડુમાં એક સાથે  
અનેક પ્રકારનું પરિણમન થાય છે, કેઈ લાડુ વાત-પિત્તનો નાશ કરનાર હોય છે કેઈ  
બુદ્ધિપૂર્વક હોય છે કેઈ સમોદક ઉત્પન્ન કરનાર હોય છે અને કેઈ ઘાતક હોય  
છે એ પ્રમાણે ઇવના સંયોગથી લાડુ અનેક આકારોમાં પરિણત થાય છે તે  
પ્રમાણે ઠમવર્ગણાયોગ્ય પુદ્ગલોનું આત્માના નિમિત્તથી ઠમરૂપ પરિણમન થાય ત્યારે  
કેઈ ઠમ જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરે છે કેઈ દર્શનને, કેઈ ઠમ સુખ-દુઃખનો અનુભવ  
કરાવે છે એ પ્રમાણે સર્વ બાબતમાં ઘટાવી લેવું એઈએ

- (૨) દર્શનસ્ય (સામાન્યબોધસ્ય) આવસ્ક કર્મ દર્શનાવરણીયમ્ ।
- (૩) સુસ્વદુઃખાનુભવજનકં કર્મ વેદનીયમ્ ।
- (૪) મદિરાવન્મોહજનકં કર્મ મોહનીયમ્ ।
- (૫) ભવધારણકારણ કર્મ આયુષ્કમ્ ।
- (૬) વિશિષ્ટગતિજાત્યાદિપ્રાપ્તિકારણ કર્મ નામ ।
- (૭) ઉત્કર્ષાપકર્ષપ્રાપ્તિકારણં કર્મ ગોત્રમ્ ।
- (૮) દાનહામાદિવિધાતક કર્મ અન્તરાય ।

મૂલરૂપ કર્મણઃ સ્વમાબોડ્ટવિધ ઇતિ મૂલપ્રકૃતિરષ્ટવિધા સંક્ષેપતઃ કથિતા । અષ્ટાના મૂલપ્રકૃતીના પ્રત્યેકમવાન્તરમેદ પ્વોચરમકૃતિ । સા ચ

(૨) દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધકો આજ્ઞાદિત કરને ચાલ કર્મ દર્શનાવરણ છે ।

(૩) સુસ્વ-દુઃખના વેદન કરાવે ચાલ કર્મ વેદનીય કહેલાતા છે ।

(૪) મદિરા કે સમાન મોહ ઉત્પન્ન કરને ચાલ કર્મ મોહનીય કહેલાતા છે ।

(૫) ભવધારણા કારણ કર્મ આયુષ્ક કહેલાતા છે ।

(૬) વિશેષ પ્રકારની ગતિ, જાતિ આદિની પ્રાપ્તિ કારણ નામકર્મ છે ।

(૭) ઉત્કર્ષ અને અપકર્ષની પ્રાપ્તિ કારણ ગોત્રકર્મ કહેલાતા છે ।

(૮) દાન હામ આદિમાં વિધન ઢાલે ચાલ અન્તરાય કર્મ કહેલાતા છે ।

કર્મના મૂળ સ્વભાવ આઠ પ્રકારના છે, એ આઠ પ્રકૃતિઓના સંક્ષિપ્ત કથન કરવામાં આવ્યું છે, આ આઠ પ્રકૃતિઓના અવાન્તર મેદોના ઉત્તર-પ્રકૃતિ કહેવામાં આવ્યા છે ।

- (૨) દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધને જે આજ્ઞાદિત કરવાવાળું કર્મ તે દર્શનાવરણ છે
- (૩) સુખ-દુઃખનું વેદન કરાવવાવાળું કર્મ તે વેદનીયકર્મ કહેવાય છે
- (૪) મદિરાના સમાન મોહ ઉત્પન્ન કરાવવાવાળું કર્મ તે મોહનીય કહેવાય છે
- (૫) ભવ-ધારણ કરવાનું જે કારણ કર્મ તે આયુષ્ય કહેવાય છે
- (૬) વિશેષ પ્રકારની ગતિ-જાતિ આદિની પ્રાપ્તિ કારણ તે નામકર્મ કહેવાય છે
- (૭) ઉત્કર્ષ અને અપકર્ષની પ્રાપ્તિનું કારણ તે ગોત્રકર્મ કહેવાય છે
- (૮) દાન-હામ આદિમાં વિધન નાળવાવાળું તે અન્તરાય કર્મ કહેવાય છે

કર્મના મૂળ સ્વભાવ આઠ પ્રકારના છે તેથી આઠ પ્રકૃતિઓનું સંક્ષિપ્ત કથન કર્યું છે જે આઠ પ્રકૃતિઓના અવાન્તર મેદોના ઉત્તરપ્રકૃતિ કહે છે જગજ્ઞ પુરુષને



एवं कर्मणोऽपि कस्यचित् ज्ञानावरणस्वभावा प्रकृतिः, अपरस्य दर्शनावरणरूपा, कस्यचित् सम्यग्दर्शनादिविघातस्वभावा ।

કર્મણઃ સ્થિતિષ્ઠ કસ્યચિત્ ત્રિશત્સાગરોપમકોટીકોટીરૂપા, અપરસ્ય કસ્યચિત્ કર્મણઃ સપ્તત્રિસાગરોપમકોટીકોટીરૂપેત્યાદિ । રસસ્તુ 'કસ્યચિત્ કર્મણસ્તીવ્રઃ', કસ્યચિત્તીવ્રતરઃ, કસ્યચિત્તીવ્રતમ, કસ્યચિન્મન્દઃ, કસ્યચિન્મન્દતર ઇત્યાદિ ધોષ્યમ્ ।

(૧) પ્રકૃતિચન્ધ -

॥ અષ્ટવિધ-મૂલપ્રકૃતિચન્ધ-સૂત્રણમ્ -

(૧) જ્ઞાનસ્ય (વિશેષધોષસ્ય) આધરક કર્મ જ્ઞાનાવરણીયમ્ ।

इसी प्रकार किसी कर्म की ज्ञानको आच्छादित करने की प्रकृति है, किसीका दर्शन को रोकने की है, किसी की सुख-दुःख का अनुभव कराने की प्रकृति है, और किसी की सम्यग्दर्शन का घात करने की है । किसी कर्म की तीस कोट्याकोटि सागरोपमकी स्थिति है, किसी की सत्तर (७०) कोट्याकोटि सागरोपम की है ।

इसी प्रकार किसी कर्म का रस तीव्र है, किसी का तीव्रतर है, किसी का तीव्रतम है । किसी का रस मन्द है, किसी का मन्दतर है । इत्यादि समस्त केना चाहिए ।

(૧) પ્રકૃતિચન્ધ

(૧) જ્ઞાન અર્થાત્ વિશેષ ધર્મો કે વાષકો આચ્છાદિત કરને વાછા કર્મ જ્ઞાનાવરણ કહેવાતા છે ।

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મની જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરવાની પ્રકૃતિ છે, કોઈની દર્શનને ઢાંકી દેવાની છે, કોઈની સુખ-દુઃખનો અનુભવ કરાવવાની પ્રકૃતિ છે, અને કોઈની સમ્યગ્દર્શનનો ઘાત કરવાની પ્રકૃતિ છે

કોઈ કર્મની ત્રીસ કોટ્યાકોટી સાગરોપમની સ્થિતિ છે કોઈની સત્તર (૭૦) કોટ્યાકોટી સાગરોપમની છે

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મનો રસ તીવ્ર છે કોઈનો તીવ્રતર છે, અને કોઈનો તીવ્રતમ છે કોઈનો રસ મન્દ છે, કોઈનો મન્દતર છે ઇત્યાદિ સમસ્ત ક્ષેત્રે જોઈએ

(૧) પ્રકૃતિચન્ધ

(૧) જ્ઞાન અર્થાત્ વિશેષ ધર્મોના ધોષને જે આચ્છાદિત કરવાવાળું કર્મ તે જ્ઞાનાવરણીય કહેવાય છે

- (૨) દર્શનસ્ય (સામાન્યબોધસ્ય) આવરક કર્મ દર્શનાવરણીયમ્ ।
- (૩) મુલ્લદુઃખાનુભવજનકં કર્મ વેદનીયમ્ ।
- (૪) મદિરાવન્મોહજનક કર્મ મોહનીયમ્ ।
- (૫) ભવધારણકારણ કર્મ આયુષ્કમ્ ।
- (૬) વિશિષ્ટગતિજાત્યાદિપ્રાપ્તિકારણ કર્મ નામ ।
- (૭) ચત્કર્પાપકર્પપ્રાપ્તિકારણ કર્મ ગોત્રમ્ ।
- (૮) દાનલાભાદિવિધાતક કર્મ અન્તરાય ।

મૂલરૂપ કર્મણ. સ્વભાવોઽષ્ટવિધ इति મૂલપ્રકૃતિરષ્ટવિધા સંક્ષેપતઃ કથિતા । અષ્ટાના મૂલપ્રકૃતીના પ્રત્યેકમવાન્તરમેદ एवोत्तरપ્રકૃતિ । સા ચ

(૨) દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધકો આશ્ચર્યદિત કરને વાળા કર્મ દર્શનાવરણ હૈ ।

(૩) મુલ્લ—દુઃખકા વેદન કરાને વાળા કર્મ વેદનીય કહલાતા હૈ ।

(૪) મદિરા કે સમાન મોહ ઉત્પન્ન કરને વાળા કર્મ મોહનીય કહલાતા હૈ ।

(૫) મવધારણા કા કારણ કર્મ આયુષ્ક કહલાતા હૈ ।

(૬) વિશેષ પ્રકાર કી ગતિ, જાતિ આદિ કી પ્રાપ્તિ કા કારણ નામકર્મ હૈ ।

(૭) ઉત્કર્ષ ઓર અપકર્ષ કી પ્રાપ્તિ કા કારણ ગોત્રકર્મ કહલાતા હૈ ।

(૮) દાન લાભ આદિ મેં વિષ્ન ઢાલને વાળા અતરાય કર્મ કહલાતા હૈ ।

કર્મ કા મૂલ સ્વભાવ આઠ પ્રકાર કા હી હૈ, અત આઠ પ્રકૃતિયોં કા સંક્ષિપ્ત કથન કિયા ગયા હૈ, ઇન આઠ પ્રકૃતિયોં કે અવાન્તર મેદોં કો ઉત્તર—પ્રકૃતિ કહતે હૈ ।

- (૨) દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધને જે આશ્ચર્યદિત કરવાવાળું કર્મ તે દર્શનાવરણ છે
- (૩) મુલ્લ—દુઃખાનુ વેદન કરાવવાવાળું કર્મ તે વેદનીયકર્મ કહેવાય છે
- (૪) મદિરાના સમાન મોહ ઉત્પન્ન કરાવવાવાળું કર્મ તે મોહનીય કહેવાય છે
- (૫) ભવ-ધારણ કરવાનું જે કારણ કર્મ તે આયુષ્ય કહેવાય છે
- (૬) વિશેષ પ્રકારની ગતિ-જાતિ આદિની પ્રાપ્તિનું કારણ તે નામકર્મ કહેવાય છે
- (૭) ઉત્કર્ષ અને અપકર્ષની પ્રાપ્તિનું કારણ તે ગોત્રકર્મ કહેવાય છે
- (૮) દાન-લાભ આદિમાં વિષ્ન નાખવાવાળું તે અન્તરાય કર્મ કહેવાય છે

કર્મને મૂળ સ્વભાવ આઠ પ્રકારનો છે તેથી આઠ પ્રકૃતિઓનું સંક્ષિપ્ત કથન છે એ આઠ પ્રકૃતિઓના અવાતર સેદોને ઉત્તરપ્રકૃતિ કહે છે છતાંસુ પુરૂષોને

एव कर्मणोऽपि कस्यचिद् ज्ञानावरणस्वभावा प्रकृति, अपरस्य दर्शना-  
वरणरूपा, कस्यचित् सम्यग्दर्शनादिविघातस्वभावा ।

કર્મણઃ સ્થિતિશ્ચ કસ્યચિત્ ત્રિંશત્સાગરોપમકોટીકોટીરૂપા, અપરસ્ય  
કસ્યચિત્ કર્મણ સપ્તતિસાગરોપમકોટીકોટીરૂપેત્યાદિ । રસસ્તુ ' કસ્યચિત્  
કર્મણસ્તીવ્રતઃ, કસ્યચિત્તીવ્રતરઃ, કસ્યચિત્તીવ્રતમ, કસ્યચિન્મન્દઃ, કસ્યચિન્મ  
ન્વતર ઇત્યાદિ ધોષ્યમ્ ।

(૧) પ્રકૃતિવન્ધ -

॥ અષ્ટવિધ-મૂળપ્રકૃતિવન્ધ-લક્ષણમ્ -

(૧) જ્ઞાનસ્ય ( વિશેષબોધસ્ય ) આવરક કર્મ જ્ઞાનાવરણીયમ્ ।

इसी प्रकार किसी कर्म की ज्ञानको आच्छादित करने की प्रकृति है, किसीका दर्शन  
को ढँकने की है, किसी की सुख-दुःख का अनुभव कराने की प्रकृति है, और किसी की  
सम्बन्धदर्शन का घात करने की है । किसी कर्म की तीस कोट्याकोटी सागरोपमकी स्थिति है,  
किसी की सत्तर (७०) कोट्याकोटी सागरोपम की है ।

इसी प्रकार किसी कर्म का रस तीव्र है, किसी का तीव्रतर है, किसी का तीव्रतम है ।  
किसी का रस मन्द है, किसी का मन्दतर है । इत्यादि समझ लेना चाहिए ।

(૧) પ્રકૃતિવન્ધ

(૧) જ્ઞાન અર્થાત્ વિશેષ ધર્મો કે વાક્યો આચ્છાદિત કરને વાછા કર્મ જ્ઞાનાવરણ  
કહાતા હૈ ।

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મની જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરવાની પ્રકૃતિ છે, કોઈની દર્શનને  
ઢાંકી દેવાની છે, કોઈની સુખ-દુઃખનો અનુભવ કરાવવાની પ્રકૃતિ છે, અને કોઈની  
સમ્બન્ધજ્ઞાનનો ઘાત કરવાની પ્રકૃતિ છે

કોઈ કર્મની ત્રીશ કોટ્યકોટી સાગરોપમની સ્થિતિ છે કોઈની સીતેર (૭૦)  
કોટ્યકોટી સાગરોપમની છે

આ પ્રમાણે કોઈ કર્મનો રસ તીવ્ર છે કોઈનો તીવ્રતર છે, અને કોઈનો  
તીવ્રતમ છે કોઈનો રસ મદ છે, કોઈનો મદતર છે ઇત્યાદિ સમજ લેવું જોઈએ.

(૧) પ્રકૃતિવન્ધ

(૧) જ્ઞાન 'અર્થાત્ વિશેષ ધર્મોના બોધને જે આચ્છાદિત કરવાવાળું કર્મ તે જ્ઞાન  
વચ્ચીય કહેવાય છે

જયન્ત્ય-સ્થિતિરિષ્ટમુદ્ધૃતપ્રમાણા । જ્ઞાનાવરણીય-દર્શનાવરણીય-મોહનીયા-સ્યુષ્યા-  
અન્તરાયકર્મણાં જયન્ત્યસ્થિતિરન્તર્મુદ્ધૃતપ્રમાણા ।

જ્ઞાનાવરણીય - દર્શનાવરણીય - વેદનીયાઽ - અન્તરાયકર્મણામુત્કૃષ્ટસ્થિતિઃ  
ત્રિંશત્સાગરોપમકોટીકોટયઃ, મોહનીયકર્મણ સપ્તતિસાગરોપમકોટીકોટયઃ  
સ્થિતિરુત્કૃષ્ટા । નામ-ગોત્ર-કર્મણોર્વિંશતિસાગરોપમકોટીકોટયઃ સ્થિતિરુત્કૃષ્ટા ।  
આયુષ્યકર્મણામ્ત્રયસ્ત્રિંશત્સાગરોપમપ્રમાણા સ્થિતિરુત્કૃષ્ટા । મધ્યમા સ્થિતિસ્ત્વ-  
સંખ્યાતપ્રકારા, કપાયપરિણામતારતમ્યેન તસ્યા અસંખ્યાતમેદાત્ ।

ખાઠ મુદ્ધૃત કી હૈ, જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, મોહનીય, આયુ ઓર અન્તરાય કર્મ કી  
જયન્ત્ય સ્થિતિ અન્તમુદ્ધૃત કી હૈ ।

જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, ઓર અન્તરાય કર્મો કી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ  
કોઠા-કોઠી સાગરોપમ કી મોહનીય કર્મ કી સત્તર કોઠા-કોઠી સાગરોપમ કી, નામ ઓર  
ગોત્ર કર્મ કી વીસ કોઠા-કોઠી સાગરોપમ કી હૈ । આયુષ્ય કર્મ કી તેત્રીસ સાગરોપમ કી  
હૈ । મધ્યમ સ્થિતિ અસંખ્યાત પ્રકાર કી હૈ, કપાયરૂપ પરિણામો કી હીનતા ઓર અધિકતા  
કે કારણ ત્સકે અસંખ્ય પ્રકાર હોતે હૈ ।

સ્થિતિવ્યવકા કોષ્ટક ટીકા કે અનુસાર પૃષ્ઠ ૩૩૬ હે સમજા લેના જાણિય ।

ખાઠ મુદ્ધૃતની છે જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, મોહનીય, આયુ અને અન્તરાય  
કર્મની જયન્ત્ય સ્થિતિ અન્તમુદ્ધૃતની છે

જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, અને અન્તરાય કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ  
કોઠા-કોઠી સાગરોપમની, મોહનીય કર્મની સીતેર (૭૦) કોઠા-કોઠી સાગરોપમની,  
નામ અને ગોત્ર કર્મની વીસ કોઠા-કોઠી સાગરોપમની, આયુષ્ય કર્મની તેત્રીસ  
સાગરોપમની છે મધ્યમ સ્થિતિ અસંખ્યાત પ્રકારની છે કપાયરૂપ પરિણામોની  
હીનતા અને અધિકતાના કારણે તેના અસંખ્ય પ્રકાર થાય છે

સ્થિતિબધ્ન કોષ્ટક ટીકાના અનુસાર પૃષ્ઠ ૩૩૬થી સમજા લેવું જોઈએ

વિસ્તરતો જિજ્ઞાસુના ધોધાય શાસ્ત્રે નિર્દિષ્ટા । જ્ઞાનાવરણીયાદિમૂલપ્રકૃતી  
નામષ્ટાનામવાન્તરમેદા યયાક્રમમ્—(૧) પચ્ચ, (૨) નવ, (૩) દ્વૌ, (૪) અષ્ટાવિંશતિઃ,  
(૫) ચત્વારઃ, (૬) દ્વિચત્વારિંશત્, (૭) દ્વૌ, (૮) પચ્ચ સન્તિ । एतत्सर्वमागमतोज्જ  
વગન્તન્યમ્ ।

## (૨) સ્થિતિબન્ધ -

આત્મસલ્મનાનાં કર્મપુલ્કલનાં યયા જઘન્યમધ્યમોત્કૃષ્ટકાલમર્યા-  
દયાઽઽત્મપ્રદેશેષ્વવસ્થાનાં સા કાલમર્યાદા સ્થિતિબન્ધઃ । કિંચ-અધ્યસાયવિશેષ-  
ગૃહીતસ્ય કર્મદલિકસ્ય સ્થિતિકાલનિયમનં સ્થિતિબન્ધ ।

વેદનીયકર્મણો જઘન્યસ્થિતિર્દ્વાદશમુહૂર્તપ્રમાણા । નામ-ગોત્રકર્મજો-

વિસ્તાર સે જિજ્ઞાસુ પરુષો કી જ્ઞાનકારી કે ક્ષિપ્ શાસ્ત્ર મેં વર્ણન કિયા ગયા હૈ । જ્ઞાનાવરણીય  
આદિ મૂલ પ્રકૃતિયો કે અવાન્તર મેદો કી સહ્યા ક્રમ સે પાચ, નૌ, દ્વૌ, અઠ્ઠાઈસ, ચાર,  
ચાલીસ, દો જૌર પાંચ હૈ । इन सबको आगम से समझ लेना चाहिए ।

## (૨) સ્થિતિબન્ધ

આત્મા કે સાથ છો હુપ કર્મપુલ્કલ કિસ જઘન્ય મધ્યમ યા ઉત્કૃષ્ટ કાલમર્યાદા સે  
આત્મપ્રદેશો મેં રિખર હૈ, તસ કાલમર્યાદાકો સ્થિતિબન્ધ કહતે હૈ । અથવા યો કહિપ કિ-  
અધ્યવસાયવિશેષ દ્વારા મ્હણ કિપ હુપ કર્મદલિમો કે આત્મા મેં ટ્હરને કે કાલસમ્બન્ધી નિયમન  
કો સ્થિતિબન્ધ કહતે હૈ ।

વેદનીય કર્મ કી જઘન્ય સ્થિતિ બારહ મુહૂર્ત કી, તથા નામ જૌર ગોત્રકર્મ કી

જાણવા માટે શાસ્ત્રમાં વિસ્તારથી વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે જ્ઞાનાવરણીય આદિ મૂલ  
પ્રકૃતિના અવાન્તર સેદોની સહ્યા કરમથી—પાચ, નૌ, દ્વૌ, અઠ્ઠાવીસ, ચાર, ચત્વાલીસ,  
દ્વૌ, અને પાંચ છે, આ સર્વને આગમથી સમજ લેવું જોઈએ.

## (૨) સ્થિતિબન્ધ

આત્માની સાથે લાગેલા કર્મપુલ્કલ ને જઘન્ય, મધ્યમ, અને ઉત્કૃષ્ટ કાલ  
મર્યાદાથી આત્મપ્રદેશમાં સ્થિતિ છે, તે કાલમર્યાદાને સ્થિતિબન્ધ કહે છે અથવા એમ  
કહીએ કે—અધ્યવસાયવિશેષદ્વારા અલેખ કરેલા કર્મદલિકાને આત્મામાં ટકી શકવાના  
કાલસંબંધી નિયમનને સ્થિતિબન્ધ કહે છે

વેદનીય કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્તની, તથા નામ અને ગોત્ર કર્મની

कर्मणा नाम	उत्कृष्टा स्थिति.	जघन्या स्थितिः	उत्कृष्टः अवाधा- काल	जघन्यः अवाधा काल	उत्कृष्टः वाधाकालः (कर्मनिपेक्ष.)	जघन्यः वाधाकालः (कर्मनिपेक्षः)
(६) नाम कर्मण	२० विंशति सागरोपम- कोटीकोटयः	अष्टौ मृहर्षाः	२००० द्विसहस्र- वर्षाणि	"	२००० द्विसहस्रवर्षेण- विंशतिसाग- रोपमकोटी कोटयः	अन्तर्मुहूर्त- न्यूनाः सप्त मृहर्षाः
(७) गोत्र- कर्मणः	"	"	"	"	"	"
(८) युज्य- कर्मणः	पूर्वकोटि त्रि- भागाधिका- नि ३३ त्रय- स्त्रिंशत्साग- रोपमाणि ।	अन्त- र्मुहूर्तः	पूर्वकोटि- त्रिभागः	"	पूर्वकोटि- त्रिभागोन- त्रयस्त्रिंशत्- सागरोपमाणि	अन्तर्मुहूर्त- न्यूनोऽन्त- र्मुहूर्तः

पूर्वकोटित्रिभाग-३३ लक्षाणि, ३३ सहस्राणि; ३ शतानि, ३३ पूर्वाणि,  
२३ लक्षाणि, ५२ सहस्रकोटिवर्षाणि । अन्तर्मुहूर्तस्यासख्यमेवाः सन्ति, तेनान्त-  
र्मुहूर्तरूपाया जघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्त एवावाधाकालः, तथाऽन्तर्मुहूर्तन्यूनोऽन्तर्मु-  
हूर्तश्च वाधाकाल इति विज्ञेयम् ।

## स्थितिबन्ध-कोष्टकम् ।

कर्मणां नाम	उत्कृष्टा स्थितिः	अधन्या स्थितिः	उत्कृष्टः अबाधा काल	अधन्यः अबाधा काल.	उत्कृष्टः बाधाकालः (कर्मनिषेक)	अधन्य बाधाकालः (कर्मनिषेक)
(१) ज्ञाना- वरणीय- कर्मणः	३० त्रिंशत्साग- रोपमकोटी- कोटयः	अन्तर्मुहूर्तः	३००० त्रिसहस्र- वर्षाणि	अन्तर्मुहूर्तः	३००० त्रिसहस्रवर्षो- न- त्रिंशत्साग- रोपमकोटी- कोटयः	अन्तर्मुहूर्त- न्यूनोऽन्त- र्मुहूर्तः
(२) दर्शना- वरणीय- कर्मणः	"	"	"	"	"	"
(३) वेदनीय कर्मणः	"	प्रादक्ष १२ मुहूर्ताः	"	"	"	अन्तर्मुहूर्त न्यूना एकादश ११ मुहूर्ताः
(४) अन्तुराय कर्मणः	"	अन्तर्मुहूर्तः	"	"	"	अन्तर्मुहूर्त- न्यूनोऽन्त- र्मुहूर्तः
(५) मोहनीय कर्मणः	७० सप्तसहस्र- रोपमकोटी- कोटयः	"	७००० सप्तसहस्र- वर्षाणि	"	सप्तसहस्र वर्षोऽनसप्तति सागरोपम कोटीकोटयः ।	"

કર્મણઃ ફલપ્રદાનશક્તિર્યોગ્યમનુભાવો યત્કર્મનિષ્ઠસ્તત્કર્મસ્વમાવાનુસાર ફલ પ્રયચ્છતિ, ન ત્વન્યકર્મસ્વમાવાનુસારમ્ । યથા-જ્ઞાનાવરણીયકર્મણોઽનુભાવ-સ્તત્કર્મસ્વમાવાનુરૂપ જ્ઞાનાવરણમેવ તીર્થં મન્દ વા ફલ સમુત્પાદયતિ, ન તુ દર્શનાવરણીય-વેદનીયાદિ-કર્મપ્રકૃત્યનુસાર દર્શનાવરણ સુખદુઃસ્વાનુભવાદિરૂપ ફલમ્ । एव दर्शनावरणीयकर्मणोऽनुभावस्तीव્રમन्दादिरूपेण दर्शनावरणमेव फलं ददाति, न तु ज्ञानावरणादिरूपमन्यकर्मप्रकृत्यनુसारम् ।

અનુભાવવન્ધસ્ય ચાર્ય કર્મપ્રકૃત્યનુરૂપેણૈવ ફલદાનનિયમોઽપિ જ્ઞાના-

કર્મ કા ફલદાન-શક્તિરૂપ અનુભાવ બિસ કર્મ મેં રહતા હૈ વહ કર્મ અપને સ્વમાવ કે અનુસાર હી ફલ દેતા હૈ-દૂસરે કર્મ કે સ્વમાવ કે અનુસાર નહીં । જૈસે જ્ઞાનાવરણીય કર્મ કા અનુભાવ જ્ઞાનાવરણીય કે સ્વમાવ કે અનુસાર હી હોતા હૈ અર્થાત્ વહ તીર્થ યા મન્દ રૂપ મેં જ્ઞાન કા આચ્છાદન હી કરતા હૈ । ડસ સે દર્શનાવરણીય યા વેદનીય કર્મ કી પ્રકૃતિ કે અનુસાર દર્શન કા આવરણ અથવા સુખ-દુઃસ્વ કા વેદન નહીં હોતા । ઇસી પ્રકાર દર્શનાવરણીય કર્મ કા અનુભાવ તીર્થ યા મન્દ રૂપ મેં દર્શન કા આવરણ કરના હી હૈ, જ્ઞાન કા આવરણ કરના યા અન્ય કર્મપ્રકૃતિ કે અનુસાર ફલ દેના નહીં ।

અનુભાવવન્ધ કા અપની કર્મપ્રકૃતિ કે અનુસાર ફલ દેને કા યહ નિયમ જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ મૂલપ્રકૃતિયોં મેં હી છાગૂ હોતા હૈ, ઉચ્ચપ્રકૃતિયાં કે લિપ્ત

કર્મના ફલદાનશક્તિરૂપ અનુભાવ જે કર્મના રહે છે, તે કર્મ પોતાના સ્વભાવ પ્રમાણે જ ફલ આપે છે, બીજા કર્મના સ્વભાવ પ્રમાણે નહિ જેવી રીતે કે-જ્ઞાનાવરણીય કર્મના અનુભાવ જ્ઞાનાવરણીયના સ્વભાવના પ્રમાણે જ હોય છે, અર્થાત્-તે તીર્થ અથવા મહરૂપમાં જ્ઞાનનું જ અચ્છાદન કરે છે, તેનાથી દર્શનાવરણીય અથવા વેદનીય કર્મની પ્રકૃતિ અનુસાર દર્શનનું આવરણ અથવા સુખ-દુઃખનું વેદન થતું નથી જો પ્રમાણે દર્શનાવરણીય કર્મનો અનુભાવ તીર્થ અથવા મહરૂપમાં દર્શનનું આવરણ કરતું તે જ છે, પરંતુ જ્ઞાનનું આવરણ કરતું અથવા અન્ય કર્મપ્રકૃતિ અનુસાર ફળ આપતું તે નથી

અનુભાવ બંધનો પોતાની કર્મપ્રકૃતિના અનુસાર ફળ આપવાનો આ નિયમ જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ મૂલપ્રકૃતિઓમાં જ લાગુ થાય છે, પરંતુ ઉચ્ચ પ્રકૃતિઓ માટે



## (૩) અનુભાવબન્ધ. ।

કર્મપુલ્ગલાનામેવ શુભોઽશુભો વા ઘાત્યઘાતી વા યો રસો વિપાકઃ સોઽનુભાવવધ । કર્મણા વિશિષ્ટો વિવિધો વા પાકો વિપાકઃ । કર્મવધસ્ય ફલ વિપાકસ્તસ્યોદયોઽનુભાવ ઇતિ થોઘ્યમ્ । પિન્ધ-કર્મણાં વિવિધફલદાનશક્તિર્વિપાકઃ સોઽનુભાવઃ ।

બન્ધકારણસ્ય કપાયપરિણામસ્ય તીવ્રમન્દભાવાનુસારેણ પ્રત્યેકકર્મણિ તીવ્રમન્દફલદાનશક્તિઃ પ્રાદુર્ભવતિ । इदं च फलोत्पादनसामर्थ्यम्-अनुभवः, तत्तत्फलानुभवन चेति ।

## (૩) અનુભાવબન્ધ—

કર્મપુલ્ગલોં કા શુભ યા અશુભ અથવા ઘાતી યા અઘાતી રૂપ કો રસ હૈ વહી અનુભાવ કહછતા હૈ । ગૃહીત કર્મપુલ્ગલોં મૈં યહ રસ ઉત્પન્ન હો જાના અનુભાવ યા અનુભાગ બન્ધ હૈ । કર્મોં કા વિશિષ્ટ યા વિવિધ પ્રકાર કા પાક વિપાક કહછતા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—કર્મ કા ફલ વિપાક હૈ, ઔર ઉસકા ઉદય અનુભાવ કહા જાતા હૈ । અથવા કર્મોં કી મૌતિ-મૌતિકી ફલ દેને કી શક્તિ કો વિપાક કહતે હૈ, ઔર વહી અનુભાવ હૈ, ઔર તત્ત્વફલ કા અનુભવ મી અનુભાવ હૈ ।

બન્ધ કે કારણ કપાયરૂપ પરિણામ કી તીવ્રતા ઔર મન્દતા કે અનુસાર પ્રત્યેક કર્મ મૈં તીવ્ર યા મન્દ ફલ દેને કી શક્તિ ઉત્પન્ન હો જાતી હૈ, હસ ફલ કો ઉત્પન્ન કરને કા સામર્થ્ય અનુભાવ હૈ ।

## (૩) અનુભાવબન્ધ—

કર્મપુલ્ગલોના શુભ અથવા અશુભ, અથવા-ઘાતી કે અઘાતીરૂપ ને રસ છે તે અનુભાવ કહેવાય છે ગૃહીત કર્મપુલ્ગલોનાં કો રસનું ઉત્પન્ન થવું તે અનુભાવ, અથવા અનુભાગ બન્ધ છે કર્મોના વિશિષ્ટ અથવા વિવિધ પ્રકારના પાક તે વિપાક કહેવાય છે તાત્પર્ય કો છે કે—કર્મનું ફલ તે વિપાક છે, અને તેના ઉદય તે અનુભાવ કહેવાય છે અથવા કર્મોની તરેહ-તરેહની ફળ દેવાની શક્તિ તેને વિપાક કહે છે અને તેજ અનુભાવ છે અને તે તે ફળનો અનુભવ પણ અનુભાવ છે \*

બધનાં કારણ કપાયરૂપ પરિણામની તીવ્રતા અને મન્દતાના પ્રમાણે પ્રત્યેક કર્મોનાં તીવ્ર અથવા મન્દ ફલ દેવાની શક્તિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે, તે ફળને ઉત્પન્ન કરવાનું સામર્થ્ય તે અનુભાવ છે

\* “અણુભાગે, અણુભાવે, વિષાગે, રસે-પિં એગદ્ધા” અનુભાગોઽનુભાવો, વિપાકો રસઃ, इत्येकार्षिका । અણુભાગ, અનુભાવ, વિપાક અને રસ કો બધા કોઠાર્થક છે

દર્શનમોહરૂપેણ, એવ યથા નારકાયુગ્ય તિર્યંગાયુગ્યરૂપેણ ન પરિણમતિ તથા તદા યુગ્યમપિ ન પુનરન્યાયુગ્યરૂપેણ ।

एतत्सर्वं प्रकृतिबन्धविषये परिवर्तनं यथा भवति तथाऽध्यवसाय-  
सामर्थ्यात् स्थितिरसयोरपि परिवर्तनं भवति । तीव्रादिर्मन्दादिभावेन परिण-  
मति, मन्दादिरपि तीव्रादिभावेन परिणमति । एवमुत्कृष्टा स्थितिर्जघन्यरूपेण  
परिणमति, जघन्या चोत्कृष्टरूपेण ।

अनुभावानुसारं तीव्रं मन्दं वा यस्य कर्मणः फलमनुभूतं भवति चेत्  
तदा तत्कर्मप्रदेशा आत्मप्रदेशेभ्योऽपगता भवन्ति, न पुनस्ते कर्मपुद्गलाः सलग्ना  
भवन्ति ।

વદલતા, ઔર ચારિત્રમોહનીય દર્શનમોહનીય કે રૂપ મેં નહીં પલટતા । उसी प्रकार  
नरकायु कमी तिर्यंचायु के रूप में नहीं पलटती और तिर्यंचायु किसी अन्य आयुके रूप  
में नहीं बदलती ।

यह सब परिवर्तन जैसे प्रकृतिबन्ध के विषय में होता है उसी प्रकार  
अध्यवसाय की शक्ति से स्थिति और रस में भी होता है । कमी तीव्र रस, मंद रस के  
रूप में बदल जाता है, और कमी मन्द रस, तीव्र रस के रूप में परिवर्तित हो जाता  
है । इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थिति जघन्यरूप में और जघन्य स्थिति उत्कृष्टरूप में  
बदल जाती है ।

अनुभाव के अनुसार जिस कर्म का तीव्र या मन्द फल भोग लिया जाता है,  
उस कर्म के प्रदेश आत्मप्रदेश से हट जाते हैं—फिर वे आत्मा के साथ नहीं  
लगे रहते हैं ।

રૂપમાં બદલાતી નથી, અને ચારિત્રમોહનીય દર્શનમોહનીયના રૂપમાં બદલાતી નથી  
એ પ્રમાણે નરકાયુ કોઈવખત પણ તિર્યંચ આયુના રૂપમાં પલટાતું નથી, અને તિર્યંચાયુ  
બીજા કોઈ આયુના રૂપમાં પલટાતું નથી

આ તમામ પરિવર્તન જેવી રીતે પ્રકૃતિબંધના વિષયમાં થાય છે, તે પ્રમાણે  
અધ્યવસાયની શક્તિથી સ્થિતિ અને રસમાં પણ થાય છે—ઠયારેક તીવ્રરસ, મંદરસના  
રૂપમાં બદલાઈ બાય છે, અને ઠયારેક મંદરસ, તીવ્રરસના રૂપમાં પરિવર્તિત થઈ બાય  
છે એ પ્રમાણે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ જઘન્ય રૂપમાં અને જઘન્ય સ્થિતિ ઉત્કૃષ્ટ રૂપમાં  
બદલાઈ બાય છે

અનુભાવપ્રમાણે કોઈ કર્મનું તીવ્ર અથવા મંદ ફલ ભોગવી લેવાય તો તે કર્મના  
પ્રદેશ આત્મપ્રદેશથી હટી બાય છે—પછી તે આત્માની સાથે લાગેલા રહેતા નથી

વરણીયાઘટવિષમૂલપ્રકૃતિષ્વેવ પ્રવર્તેતે, નતૂત્તરપ્રકૃતિપુ । કસ્યાપિ મૂલ-  
પ્રકૃતિરૂપકર્મવધસ્ય કાચિદુત્તરપ્રકૃતિસ્તદીયેતરોત્તરપ્રકૃતિરૂપેણ વિપરિણતા  
મવતિ, કર્મપુદ્ગલસ્ય તાદૃશપરિણમનસામર્થ્યાત્ । તત્ર પ્રાક્તનોત્તરપ્રકૃતિગતાનુ  
માવઃ પરિવર્તિતોત્તરપ્રકૃતિસ્વમાવાનુરૂપં ધીઘ મન્દ વા ફલ પ્રદત્તે ।

યથા—મતિજ્ઞાનાવરણીય યદા શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયાદિસજ્ઞાતીયોત્તર  
પ્રકૃતિરૂપ પ્રાપ્નોતિ તદા મતિજ્ઞાનાવરણીયાનુમાવોઽપિ શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયાદિસ્વમા  
વાનુરૂપમેવ શ્રુતજ્ઞાનાદીનામાવરણં વિધત્તે ।

ઉત્તરપ્રકૃતિપુ કતિચિત્ સજ્ઞાતીયા અપિ પ્રકૃતયો નાન્યરૂપેણ પરિણતા  
મવન્તિ । યથા—દર્શનમોહધારિત્રમોહરૂપેણ ન પરિણમતિ; તથા ચારિત્રમોહોઽપિ ન  
યદ નિયમ નહીં હૈ । કિસી મી મૂલપ્રકૃતિ કી કોઈ ઉત્તરપ્રકૃતિ ડસી મૂલપ્રકૃતિ  
કી કિસી દૂસરી ઉત્તરપ્રકૃતિ કે રૂપ મેં મી પરિણત હો સકસી હૈ, કયાં કિ કર્મપુદ્ગલ  
મેં હુસ પ્રકાર કે પરિણમન કી શક્તિ વિધમાન હૈ । વહીં પહલે થાલી ઉત્તરપ્રકૃતિ મેં  
રહા હુમા અનુભાવ થવલી હુઈ ઉત્તરપ્રકૃતિ કે સ્વમાવ કે અનુસાર સૈન યા મન્દ ફલ  
દેતા હૈ ।

ઐતે—મતિજ્ઞાનાવરણીય જબ શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયસજ્ઞાતીય ઉત્તરપ્રકૃતિ કે રૂપ મેં પછટતા  
હૈ તબ મતિજ્ઞાનાવરણીય કા અનુમાવ મી શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય કે સ્વમાવ કે અનુસાર શ્રુતજ્ઞાન  
કા આવરણ કરતા હૈ ।

ઉત્તરપ્રકૃતિયો મેં કુલ ઇસી મી પ્રકૃતિયો હૈ જો સજ્ઞાતીય હોતે હુપ મી  
અન્યરૂપ મેં પછટતી નહીં હૈ, ઐતે—દર્શનમોહનીય, કમી ચારિત્રમોહનીય કે રૂપ મેં નહીં

આ નિયમ નથી. કોઈ પણ મૂલપ્રકૃતિની કોઈ ઉત્તરપ્રકૃતિ તે મૂલપ્રકૃતિની કોઈ  
બીજી ઉત્તર પ્રકૃતિના રૂપમાં પણ પરિણત થઈ શકે છે, કારણકે કર્મપુદ્ગલમાં એ પ્રમાણે  
પરિણમનની શક્તિ વિધમાન છે ત્યાં પ્રથમ વાળી ઉત્તરપ્રકૃતિમાં રહેલો અનુભાવ  
બદલી ગયેલી ઉત્તર પ્રકૃતિના સ્વભાવ અનુસાર તીવ્ર અથવા મૃદુ ફલ આપે છે

જેમ—મતિજ્ઞાનાવરણીય બન્યારે શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય—સજ્ઞાતીય ઉત્તર પ્રકૃતિના  
રૂપમાં પછટાય છે, ત્યારે મતિજ્ઞાનાવરણીયનો અનુભાવ પણ શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયના સ્વભાવ  
પ્રમાણે શ્રુતજ્ઞાનનું આવરણ કરે છે

ઉત્તરપ્રકૃતિઓમાં કેટલીક એવી પણ પ્રકૃતિઓ છે કે જે સજ્ઞાતીય હોવા છતાંય  
પણ અન્યરૂપમાં પછટતી નથી જેવી રીતે—દર્શનમોહનીય કોઈ વખત ચારિત્રમોહનીયના

(१) ज्ञानावरणीयादिकर्मणा कारणीभूता\*, (२) सर्वदिक्ष्वन्मिता\*, (३) तीव्रमन्दादिभेदाद् मनोवाक्कायक्रियाविशेषसयोगात् कर्मवर्गणायोग्याः पुद्गलाः सर्वात्मप्रदेशेषु वद्धा भवन्ति । (४) औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-मापा-श्वासोच्छ्वास-मनोवर्गणाऽपेक्षयाऽपि सूक्ष्मपरिणतिरूपा एव कर्मवर्गणायोग्याः वद्धाः भवन्ति, न तु वादरा । (५) तत्रापि त एव पुद्गला वद्धा भवन्ति, ये खलु यत्राकाशे जीवोऽवगाढस्तत्रैव वर्तमाना, न तु तद्वहि क्षेत्रवर्तिन ।

(६) तथाविधा अपि पुद्गलाः स्थिता एव वद्धा भवन्ति, न तु गतिपरिणताः, प्रचलितस्वभावत्वेन बन्धानर्हत्वात् । (७) असंख्यातप्रदेशिनो जीवस्यैकैकः

(१) ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारणभूत, (२) समस्त दिशाओं में स्थित, (३) तीव्र मन्द आदि के भेद से मन, वचन और काय की क्रियाविशेष के संयोग से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल समस्त आत्मप्रदेशों में वद्ध हो जाते हैं । (४) औदारिक वैक्रिय, आहारक, तैजस, मापा, श्वासोच्छ्वास, और मनोवर्गणा की अपेक्षा भी सूक्ष्म परिणतिरूप कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल ही बघते हैं, वादर नहीं बघते । (५) उन में भी वही पुद्गल बँधते हैं जो एकक्षेत्रावगाढ हों, अर्थात् जिन आकाशप्रदेशों में जीव है उन्हीं आकाशप्रदेशों में विद्यमान हों, बाहर के क्षेत्र में अगवाहन करने वाले नहीं बँधते । (६) ऐसे पुद्गल भी स्थित ही बँधते हैं चलते-फिरते हुए पुद्गल नहीं बघते, चलित स्वभाव वाले होने के कारण वे बन्ध के योग्य नहीं हैं, (७) असंख्यातप्रदेशी जीव का

(१) ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंना कारणभूत, (२) समस्त दिशाओंमें स्थित, (३) तीव्र, मन्द आदिना भेदशी मन, वचन और कायानी क्रिया-विशेषना संयोगशी कर्मवर्गणाना योग्य पुद्गल समस्त आत्मप्रदेशोंमा वद्ध यहाँ जाय छे, (४) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, मापा, श्वासोच्छ्वास, और मनोवर्गणानी अपेक्षाओ पक्ष सूक्ष्मपरिणतिरूप कर्म वर्गणाना योग्य पुद्गलएव बांधे छे; बाहर बांधता नहीं, (५) जेमा पक्ष ते पुद्गल बांधे छे ते जे जे क्षेत्रावगाढ होय, अर्थात्-जे आकाशप्रदेशोंमा एव छे तेज आकाशप्रदेशोंमा विद्यमान होय अकारना क्षेत्रमा अवगाहन करवावाणा बांधता नहीं (६) जेवा पुद्गल पक्ष जे स्थिर होय ते बांधाय छे, पक्ष यावता द्रुता पुद्गलो बांधता नहीं, कारण ते स्थित स्वभाववाणा होवाना कारणे ते बांधने योग्य नहीं. (७) असंख्यात प्रदेशी एवने

इदमत्र तत्त्वम्-कर्मणां फल त्रिविध भवति । कर्मैव मूलप्रकृतिः । सर्वासां मूलप्रकृतीनां फलविविधत्व तथाऽन्यथा चेति प्रकारद्वयेन भवति ।

येनाध्यवसायप्रकारेण यादृक्स्वभाव कर्म वद्ध, तद् तथा=तेनैव प्रकारेण अन्यथा च=प्रकारान्तरेणापि विपच्यते=तस्य विपाको भवति । स च तीव्र मन्दाद्यवस्थामेदेन शुभस्तथाऽशुभोऽपि । तत्र कदाचिच्छुभमप्यशुभरसतयाऽनुभूतये कर्म, अशुभं च शुभरसतयेति बोध्यम् ।

सकपायजीवेन मनोवागादिद्वारेण क्रियाविशेषस्य कर्ता भिन्नभिन्नस्वभावानां कर्मपुद्गलानां स्वभावानुसारं तत्तत्परिमाणविभागेन सम्बन्धः प्रदेशबन्धः ।

તાત્પર્યે यह है कि कर्मों का फल विविध प्रकार-का होता है । कर्म ही मूल प्रकृति है । समस्त मूलप्रकृतियां का फल उसी रूप में या अन्यथा रूप में दो प्रकार से होता है ।

जिस प्रकार के अध्यवसाय से जिस स्वभाव वाला कर्म बँधा है वह उसी रूप में या अन्यथा रूप में फल देता है । वह फल तीव्र या मन्द अवस्था—मेद से शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है । कभी शुभ भी अशुभ रस के रूप में और कभी अशुभ शुभ रस के रूप में मोगा जाता है ।

(૪) પ્રદેશબન્ધ—

મન વચન આદિ કે દ્વારા ક્રિયાવિશેષ કરને વાળે કષાયયુક્ત જીવ કે સાથે મિત્ર-મિત્ર સ્વભાવ વાળે કર્મપુદ્ગલોં કા સ્વભાવ કે અનુસાર અમુક-અમુક પરિમાણ વિભાગ કે સાથે સમ્બન્ધ હોના પ્રદેશબન્ધ છે ।

તાત્પર્ય એ છે કે - કર્મોનાં ફલ વિવિધ પ્રકારના હોય છે કર્મો જ મૂળપ્રકૃતિ છે તમામ મૂળપ્રકૃતિઓનું ફલ તે રૂપમાં અથવા બીજારૂપમાં, જોમ બે પ્રકારથી હોય છે એ પ્રકારના અધ્યવસાયથી એ સ્વભાવવાળા કર્મ બાંધ્યા છે તે જોજ રૂપમાં અથવા બીજા રૂપમાં ફલ પામે છે તે ફલ તીવ્ર અથવા મદ અવસ્થા—એકથી શુભ પણ હોય છે, અને અશુભ પણ હોય છે, કોઈ વખત શુભ પણ અશુભ રસના રૂપમાં અને કોઈ વખત અશુભ તે શુભ રસના રૂપમાં ભોગવવામાં આવે છે

(૪) પ્રદેશબન્ધ—

મન, વચન આદિ દ્વારા ક્રિયા-વિશેષ કરવા વાળા કષાયયુક્ત જીવની સાથે મિત્ર મિત્ર સ્વભાવ વાળા કર્મપુદ્ગલોના સ્વભાવ અનુસાર અમુક-અમુક પરિમાણવિભાગની સાથે સમ્બન્ધ થવો તે પ્રદેશબન્ધ છે

વા સ્વભાવ ? અથવા (૩) સ્વભાવ કોડપિ વસ્તુધર્મ ? । इति विकल्पत्रयगत-  
दोषाणां कथन पृवं कृतमासीदतो विरम्यते, तस्मात् पुण्यपापे कर्मणी पौद्गलिके  
विद्येते, इत्यवश्य स्वीकरणीयम् ।

પુણ્યપાપસમ્રાવે યુક્તીસ્તાવત્ મદર્શયામઃ—

પુણ્યપાપે દ્વે અપિ મિન્ને સ્વતન્ત્રે સ્તાઃ, તત્કાર્યભૂતયોઃ સુખદુઃખયો-  
યોગપદેનાનુભવામાવાત્, અતોડનેનૈવ મિત્તકાર્યદર્શનેન તત્કારણભૂતયોઃ  
પુણ્યપાપયોર્મિશ્રતાડનુમીયતે । જીવકર્મણોઃ પરિણામરૂપે પુણ્યપાપે કારણતઃ  
કાર્યતઃશાનુમીયેતે ।

दानादिक्रियाणां हिंसादिक्रियाणां च कारणरूपत्वाद् तत्कार्यरूपपुण्य

વસ્તુ કા ધર્મ હૈ ? , इन तीनों विकल्पों में आने वाले दोषों का कथन पहले किया जा चुका  
है, अत एव यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती । अत एव पुण्य और पाप को पौद्गलिक कर्म ही  
स्वीकार करना चाहिए ।

પુણ્ય ઔર પાપ કે સમ્રાવ મેં યુક્તિયૌં વિસ્તરાતે હૈ—

પુણ્ય ઔર પાપ દોનોં મિત્ત ઔર સ્વતન્ત્ર હૈં, ક્યોં કિં ઉનકા ફલ સુખ ઔર દુઃખ  
પર સાથ નહીં મોગા આતા । કાર્ય કીં યહ મિશ્રતા દેખને સે ઉનકે કારણમૂત પુણ્ય ઔર  
પાપ કી મિશ્રતા કા અનુમાન હોતા હૈ । જીવ ઔર કર્મ કે પરિણામરૂપ પુણ્ય ઔર પાપ કા  
અનુમાન કારણ સે ઔર કાર્ય સે હોતા હૈ ।

दानादि क्रियाए और हिंसा आदि क्रियाएँ कारण हैं, अत एव उनका कार्य

વસ્તુનો ધર્મ છે ? આ ત્રણેય વિકલ્પોમાં આવવાવાળા હોયેનું કથન પ્રથમ કહી ચૂક્યા  
છીએ, એટલા કારણથી આદિ પુનરુક્તિ કરતા નથી એ માટે પુણ્ય અને પાપને  
પૌદ્ગલિક ધર્મજ સ્વીકાર કરવો બેઈએ.

પુણ્ય અને પાપના સમ્રાવમાં યુક્તિઓ બતાવે છે —

પુણ્ય અને પાપ બન્ને બુદ્ધા અને સ્વતન્ત્ર છે, કારણ કે તેનું ફળ સુખ અને  
દુઃખ એક સાથે લોગવવામાં આવતું નથી. કાર્યની આ શિશ્રતા બેવાથી તેના કારણમૂત  
પુણ્ય અને પાપની શિશ્રતાનું અનુમાન થાય છે એવ અને ધર્મના પરિણામરૂપ પુણ્ય  
અને પાપનું અનુમાન કારણથી અને કાર્યથી થાય છે

दान आदि क्रियाओं અને हिंसा आदि क्रियाओं कारण છે, તે માટે તેનું કાર્ય

પ્રદેશોઽનન્તૈર્જ્ઞાનાવરણીયકર્મસ્કર્ષૈર્ધદઃ । પચમનન્તૈર્દર્શનાવરણીયાદિકર્મસ્કર્ષૈર્ધદઃ ।  
(૮) તત્ર તે સ્કન્ધા અપિ પ્રત્યેકમનન્તાનન્તપ્રદેશિન સન્તિ । ઇતિ પ્રદેશબન્ધેષ્ટ  
હેતવ ।

### પુણ્યપાપકર્મનિરૂપણમ્—

જ્ઞાનાવરણીયાદ્યષ્ટવિધ પૌદ્ગલિકં કર્મ પ્રત્યેકં દ્વિવિધમ્—પુણ્યપાપમેવાત્ ।  
શુભકર્મ—પુણ્યમ્ । અશુભં કર્મ—પાપમ્ । નતુ વિનાઽપિ પુણ્યપાપાભ્યાં સ્વભાવતઃ  
એવ જગદૈચિમ્ય જાયતે કિં પુનસ્તત્કલ્પનયા ? ઉચ્યતે—શુણુ—સ્વભાવાદેવ હિ  
ત્રયો વિકલ્પા સમુત્પદ્યન્તે યથા—(૧) સ્વભાવઃ કિં વસ્તુરૂપ ? (૨) કારણાભાવો  
એક—એક પ્રદેશ અનન્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મસ્કન્ધો કે સાથ ચલતા હૈ, ડેસી પ્રકાર  
અનન્તદર્શનાવરણીય આદિ કર્મસ્કન્ધો કે સાથ મી ચલતા હૈ । (૮) કર્મ કે વે સ્કન્ધ મી  
અનન્તાનન્તપ્રદેશી હોતે હૈ । પ્રવેશબન્ધ મેં ચે આઠ હેતુ હૈ ।

### પુણ્યકર્મ ઓર પાપકર્મ—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ પ્રત્યેક પૌદ્ગલિક કર્મ ઘે-ઘે પ્રકાર કા હૈ, પુણ્યરૂપ ઓર  
પાપરૂપ । શુભ કર્મ પુણ્ય ઓર અશુભ પાપ કહજાતા હૈ ।

સૂક્ષ્મા—પુણ્ય ઓર પાપ કે વિના હી સ્વભાવસે જગત્ કી વિચિત્રતા હો સકતી હૈ, ફિર  
પુણ્ય પાપ કી કલ્પના કરને સે કયા સામ હૈ ! ।

સમાધાન—સ્વભાવવાદ મેં ત્રીન વિકલ્પ હો સકતે હૈ, જૈસે સ્વભાવ કોઈ  
વસ્તુ હૈ, યા કારણ કા અભાવ હી સ્વભાવ કહજાતા હૈ, અથવા સ્વભાવ કિસી

એકે એક પ્રદેશ અનન્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મસ્કન્ધ ધોની સાથે પણ બંધાય છે એ  
પ્રમાણે દર્શનાવરણીય આદિ કર્મસ્કન્ધ ધોની સાથે પણ બંધાય છે (૮) કર્મના તે સ્કન્ધ  
પણ અનન્તાનન્તપ્રદેશી હોય છે પ્રદેશ બંધમાં આ આઠ હેતુ છે

### પુણ્યકર્મ અને પાપકર્મ—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ પ્રત્યેક પૌદ્ગલિક કર્મ બે-બે પ્રકારના છે—(૧) પુણ્યરૂપ અને  
(૨) પાપરૂપ શુભ કર્મ—પુણ્ય અને અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે

શ કા—પુણ્ય અને પાપ વિનાજ, સ્વભાવથી જગતની વિચિત્રતા હોઈ શકે છે,  
તો પછી પુણ્ય પાપની કલ્પના કરવાથી શું લાભ છે ?

સમાધાન—સ્વભાવવાદમાં ત્રણ વિકલ્પ (તક—વિતક) થઈ શકે છે; જેમકે સ્વભાવ  
શું હોઈ વસ્તુ છે ? અથવા કારણનો અભાવજ સ્વભાવ કહેવાય છે ? અથવા સ્વભાવ હોઈ

તત્કારણત્વાસિદ્ધે । તદ્વૈચિત્ર્યસ્ય ચાદૃષ્ટરૂપારવ્યહેતુ વિનાઽભાવાત્ । શુભ-  
શરીરાદીના પુણ્યકાર્યત્વાત્ , અશુભશરીરાદીનાં પાપકાર્યત્વાચ પુણ્યપાપમેદન  
તસ્ય કર્મણો દ્વૈવિધ્ય સિદ્ધમ્ ।

પુણ્ય પાપ વેતિ દ્વે કર્મણી મિન્ને સ્વતન્ત્રરૂપે સ્ત., ઇત્યત્રાગમોઽપિ  
પ્રમાણમ્ । ઉક્તશ્ચ સ્થાનાક્ષસૂત્રે-“એગે પુણ્ણે । એગે પાવે” ઇતિ । એવમેવ  
સમવાયાક્ષેઽપિ ।

સર્વઘાતિપ્રકૃતયઃ—

(૧) કેવલજ્ઞાનાવરણીયમ્ । (૨) કેવલદર્શનાવરણીયમ્ । (૩) નિદ્રા,  
(૪) નિદ્રાનિદ્રા, (૫) પ્રચલા, (૬) પ્રચલાપ્રચલા, (૭) સ્ત્યાનર્દિ, (૮-૧૧) અનન્તાનુબન્ધિકપાયચતુષ્ટયમ્, (૧૨-૧૫) અપ્રત્યાઘ્યાનકપાયચતુષ્ટયમ્,

યહ વિચિત્રતા અદૃષ્ટ કારણ-કર્મ કે વિના નહીં હો સકતી, શુભ શરીર આદિ પુણ્ય કા  
કાર્ય હૈ ઓર અશુભ શરીર આદિ પાપ કા કાર્ય હૈ । અત પુણ્ય ઓર પાપ કે મેદ સે  
કર્મ દો પ્રકાર કા સિદ્ધ હોતા હૈ ।

પુણ્યકર્મ ઓર પાપકર્મ દોનો સ્વતન્ત્ર-મિત્ર હૈ, હસ વિષય મેં આગમ મી પ્રમાણ હૈ ।  
સ્થાનાક્ષ સૂત્ર મં કહા હૈ-‘ પુણ્ય એક હૈ પાપ એક હૈ ’ । હસી પ્રકાર સમવાયાક્ષસૂત્ર મેં  
મી કહા હૈ ।

સર્વઘાતી પ્રકૃતિયા—

(૧) કેવલજ્ઞાનાવરણીય, (૨) કેવલદર્શનાવરણીય, (૩) નિદ્રા, (૪) નિદ્રાનિદ્રા,  
(૫) પ્રચલા, (૬) પ્રચલાપ્રચલા, (૭) સ્ત્યાનર્દિ, (૮-૧૧) અનન્તાનુબન્ધી-ક્રોધ, માન,  
માયા, લોભ, (૧૨-૧૫) અપ્રત્યાઘ્યાનાવરણ-ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૧૬-૧૯) પ્રત્યાઘ્યાના

આ વિચિત્રતા અદૃષ્ટ કારણ-કર્મના વિના કોઈ શકે નહિ શુભ શરીર આદિ પુણ્યનું  
કાર્ય છે અને અશુભ શરીર આદિ પાપનું કાર્ય છે તે કારણથી પુણ્ય અને પાપના  
લેહથી કર્મ બે પ્રકારના સિદ્ધ થાય છે

પુણ્યકર્મ અને પાપકર્મ બન્ને સ્વતન્ત્ર-વિત્ર છે આ વિષયમાં આગમ પણ  
પ્રમાણ છે, સ્થાનાંગ સૂત્રમાં કહ્યું છે-“ પુણ્ય બોલ છે, પાપ બોલ છે ” એ બ  
પ્રમાણે સમવાયાક્ષ-સૂત્રમાં પણ કહ્યું છે

સર્વઘાતી પ્રકૃતિઓ—

(૧) કેવલજ્ઞાનાવરણીય, (૨) કેવલદર્શનાવરણીય, (૩) નિદ્રા, (૪) નિદ્રાનિદ્રા  
(૫) પ્રચલા, (૬) પ્રચલાપ્રચલા, (૭) સ્ત્યાનર્દિ, (૮-૧૧) અનન્તાનુબન્ધી-ક્રોધ, માન,  
માયા, લોભ, (૧૨-૧૫) અપ્રત્યાઘ્યાનાવરણ-ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૧૬-૧૯) પ્રત્યાઘ્યાનાવરણ



પાપાત્મકો જીવકર્મપરિણામોઽસ્તિ । યથા-કૃપ્યાદિક્રિયાણાં શાલિ-યવ-ગોધૂમા  
વિક નિયમેન ફલ મવત્તિ । શ્વદમનુમાન કારણતો મવત્તિ ।

અથ કાર્યતોઽપિ કારણસ્યાનુમાનં મવત્તિ । યથા-અસ્તિ શરીરાદીનાં  
કારણ, તેણાં કાર્યરૂપત્વાત્ । યથા-ઘટસ્ય મૂહુન્દચક્રાદિસામગ્રીસંહિત  
કુમ્મકારઃ કારણમ્ ।

ન ચ, દૃષ્ટ એવ માતાપિતાદિકઃ શરીરાદીનાં કારણમસ્તુ, ઇતિ વાચ્યમ્,  
દૃષ્ટકારણસ્ય સમાનરત્વેઽપિ મુરુપકુરુપાદિમાત્રેણ શરીરાદીનાં વૈચિત્ર્યદર્શનાત્તસ્ય

મી અવસ્ય હોના યાદિય, ઓર વહી કાર્ય જીવ ઓર કર્મ કા પરિણામરૂપ પુણ્ય ઓર પાપ  
હૈ । જૈસે કૃષિ આદિ ક્રિયાઓ કા શાલિ, જૌ, ગેહુ આદિ ફલ નિયમ સે હોતા હૈ । અહ  
કારણ સે અનુમાન હૈ ।

इसी प्रकार कार्य से मी कारण का अनुमान होता है, जैसे शरीर आदि का कारण  
अवस्य है, क्यों कि वह कार्य है, जैसे घटका कारण मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि सामग्री से सुक्त  
कुमार होता है ।

झङ्गा-शरीर आदि का कारण प्रत्यक्ष से प्रतीत होने वाले माता-पिता आदि ही  
मानना चाहिए ।

समाधान-दिखाई देने वाले कारण की समानता होने पर मी शरीर में मुरूपता  
कुरूपता आदि की विचित्रता देखी जाती है, अत उन्हें कारण नहीं माना जा सकता,

પણ અવસ્ય હોતું બોધ્યો, અને તે કાર્ય એવ અને કર્મના પરિણામરૂપ પુણ્ય અને  
પાપ છે: જેવી રીતે ખેતી આદિ ક્રિયાઓમાં શાલિ-ડાંગર, જવ, ઘઉં આદિ ફલ  
નિયમથી થાય છે આ કારણથી અનુમાન છે

આ પ્રમાણે કાર્યથી પણ કારણનું અનુમાન થાય છે જેમ શરીર આદિનું કારણ  
જરૂર છે; કારણ કે તે કાર્ય છે, જેવી રીતે ઘટનું કારણ માટી, ટંક, ચક્ર-આકળો,  
આદિ સામગ્રીથી સુક્ત કુમાર હોય છે.

શ કા—શરીર આદિનું કારણ પ્રત્યક્ષથી જણાતા માતા-પિતા આદિ માનવા બોધ્યો.

સમાધાન—દેખાનાવાળા કારણની સમાનતા હોવા છતાંય પણ શરીરમાં મુરૂપતા  
કુરૂપતા આદિની વિચિત્રતા જોવામાં આવે છે, તેથી તેમને કારણ માની શકાયો નહિ

તયોરાટ્ટેતિ લોકવ્યવહારત્ત્વ જીવસ્ય સર્વજ્ઞાનાવરણ કેવલજ્ઞાનાવરણીયપ્રકૃત્યા ક્રિયતે, ઇતિ વ્યપદિશ્યતે ।

મતિજ્ઞાનાદિવિપયાન્ અર્થાન્ ન જાનાતિ જીવસ્તત્ર મતિજ્ઞાનાવરણીયાદિ- પ્રકૃત્યુદય એવ મતિજ્ઞાનાદિકમાટ્ટણોતિ, ન તુ કેવલજ્ઞાનાવરણીયોદયસ્તત્ર પ્ર કારણં ભવતીતિ ઘોઘ્યમ્ । એવ કેવલદર્શનસ્યાનન્તમાગોઽપ્યનાટ્ટત એવ, તત્રાપિ મેઘદષ્ટાન્તાનુસારેણાવરણવ્યવહારમાદાય કેવલદર્શનાવરણીયસ્ય સર્વઘાતિત્વમુપપદ્યતે । તત્રાપિ ચક્ષુર્દર્શનાવરણીયાદિપ્રકૃત્યુદયાદેવ જીવચ્ચક્ષુર્દર્શનાદિવિપયાનર્થાન્ જ્ઞાતુ ન શક્નોતિ, ન તુ કેવલદર્શનાવરણીયોદયસ્તત્ર કારણમિતિ ઘોઘ્યમ્ ।

ગઈ । इसी प्रकार 'केवलज्ञानावरण प्रकृति जीव के समस्त ज्ञानका आवरण करती है' ऐसा कहा जाता है ।

જીવ મતિજ્ઞાન કે વિષયમૂત પદાર્થોં કો નહીં જાનતા, હસ મેં મતિજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ કા ઉદય હી કારણ હૈ, વહી મતિજ્ઞાન કો રોકતા હૈ । હસ મેં કેવલજ્ઞાનાવરણીય કા ઉદય કારણ નહીં હૈ । હસી પ્રકાર કેવલદર્શન કા અનન્તર્થોં ભાગ ઉઘાઢા રહતા હૈ । વહોં મી મેઘ કે દષ્ટાન્ત કે અનુસાર આવરણ કા વ્યવહાર સમસ કર કેવલદર્શનાવરણીય કો સર્વઘાતી પ્રકૃતિ સમસના ાહિય । યહા મી ચક્ષુર્દર્શન આદિ કે વિષયમૂત પદાર્થોં કો જીવ ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય આદિ કે ઉદય સે હી નહીં જાનતા । વહોં કેવલદર્શનાવરણીય કારણ નહીં સમસના ાહિય ।

વમામ કાતિ-પ્રકાશ ૬ કાઈ ગઈ કો પ્રમાણે કેવલજ્ઞાનાવરણ પ્રકૃતિ જીવના સમસ્ત જ્ઞાનનું આવરણ થયે છે, જોમ કહેવાય છે

જીવ મતિજ્ઞાનના વિષયમૂત પદાર્થોને બાજુતો નથી, તેમા મતિજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ-કર્મને ઉદયજ કારણરૂપ છે તેજ મતિજ્ઞાનને રોકે છે જોમાં કેવલજ્ઞાનાવરણીયને ઉદય કારણ રૂપ નથી. જો પ્રમાણે કેવલદર્શનને અનન્તરો ભાગ ઉઘાઢે રહે છે ત્યાં પણ મેઘના દષ્ટાન્ત પ્રમાણે આવરણને વ્યવહાર સમજ લઈને કેવલદર્શનાવરણીયને સવધાતી પ્રકૃતિ સમજવું જોઈએ, અહીં પણ ચક્ષુર્દર્શન આદિના વિષયમૂત પદાર્થોને જીવ ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય આદિના ઉદયથી બાજુતો નથી, ત્યાં કેવલદર્શનાવરણીય કારણ નહિ સમજવું જોઈએ.

(૧૬-૧૯) પ્રત્યાલ્યાનકપાયચતુષ્ટયમ્, (૨૦) મિથ્યાત્વ ચ, એતા વિઙ્ગતિઃ પ્રકૃતયઃ સર્વધાતિન્ય ।

સમસ્તાવરણક્ષયાદાધિર્ભૂત સકલદ્રવ્યપર્યાયગ્રાહિ કેવલજ્ઞાનં, તદાચ્છાદનકૃત્ કેવલજ્ઞાનાવરણીયમ્ । ઈદં હિ કેવલજ્ઞાનોપધાતેન સર્વમેવ દ્રવ્યપર્યાયજ્ઞાન પ્રતિહન્તિ, તસ્માત્ સર્વધાતીત્યચ્યતે ।

નતુ-સર્વજીવાના કેવલજ્ઞાનસ્યાનન્તમાગોઽનાઢૃત એવાવતિષ્ઠતે, તસ્માદ્ધ્યાવરણે તુ જીવસ્યાજીવત્વમાપદ્યેત તર્હિ કય કેવલજ્ઞાનાવરણીયસ્ય સર્વધાતિત્વ સંભવઃ ? ઇતિ ચેત્, સ્તચ્યતે—

યથા ઘનીભૂતયનપટલેન સૂર્યચન્દ્રમસોર્વહુતરપ્રમાસમાવરણે સર્વાઽપિ પ્રમા

વરણ, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૨૦) મિથ્યાત્વ । એ વીસ પ્રકૃતિયોં સર્વધાતી હૈં ।

કેવલજ્ઞાન સમસ્ત આવરણોં કે ક્ષય સે પ્રકટ હોને વાલા સમા સમસ્ત દ્રવ્યોં ઓર પર્યાયોં કો પ્રહ્ણ કરને વાલા હૈ । ઇસે આશ્ચર્યિત કરને વાલા કર્મ કેવલજ્ઞાનાવરણીય કહ્લગતા હૈ । અહ્ કર્મ કેવલજ્ઞાન કા ઘાત કરકે સમસ્ત દ્રવ્ય પર્યાયોં કે જ્ઞાન કા ઘાત કરતા હૈ, અસ એવ યહ સર્વધાતી કહ્લગતા હૈ ।

અર્થ—સબ જીવોં કે કેવલજ્ઞાન કા અનન્તર્વા માગ પ્રકટ રહ્તા હૈ, અગર ડતના મી પ્રકટ ન રહે સો જીવ અજીવ હો જાયગા । યેસી સ્થિતિ મેં કેવલજ્ઞાનાવરણીય સર્વધાતી કેસે હો સકતા હૈ ?

સમાધાન—કેસે અત્યન્ત સઘન મેઘપટલ કે દ્વારા સૂર્ય યા ચન્દ્રમા કી બહુત સી પ્રમા છિપ જાને કે કારણ લોક મેં કહા જાતા હૈ કિ સૂર્ય-ચન્દ્ર કી સારી પ્રમા છિપ

—ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, (૨૦) મિથ્યાત્વ, આ વીસ પ્રકૃતિયોં સર્વધાતી છે

કેવલજ્ઞાન સમસ્ત આવરણોંના ક્ષયથી પ્રગટ થવાવાળું, તથા સમસ્ત દ્રવ્યોં અને પર્યાયોંને પ્રહ્ણ કરવા વાળું છે, તેને આશ્ચર્યિત કરવાવાળું કર્મ કેવલજ્ઞાનાવરણીય કહેવાય છે એ કર્મ કેવલ જ્ઞાનનો ઘાત કરીને સમસ્ત દ્રવ્ય-પર્યાયોંના જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે એટલા માટે તે સર્વધાતી કહેવાય છે

શ કા—સર્વ જીવોંને કેવલજ્ઞાનનો અનન્તર્વા માગ પ્રગટ રહે છે પણ એ એટલો પણ પ્રગટ ન રહે તો જીવ અજીવ થઈ જશે આવી સ્થિતિમા કેવલજ્ઞાનાવરણીય સર્વધાતી કેવી રીતે થઈ શકે છે ?

સમાધાન—જેવી રીતે અત્યન્ત સઘન મેઘપટલ (ધનધાર વાદલ) દ્વારા સૂર્ય અથવા ચન્દ્રમાની ઘણીખરી પ્રમા-કાતિ ઢ કાઢી જાયથી લોકમાં કહેવાય છે કે સૂર્ય-ચન્દ્રની

તયોરાટ્ટેતિ લોકવ્યવહારવત્ જીવસ્ય સર્વજ્ઞાનાવરણ કેવલજ્ઞાનાવરણીયપ્રકૃત્યા ક્રિયતે, इति व्यपदिश्यते ।

મતિજ્ઞાનાદિવિપય્યાન્ અર્થાન્ ન જાનાતિ જીવસ્ત્ર મતિજ્ઞાનાવરણીયાદિ- પ્રકૃત્યુદય એવ મતિજ્ઞાનાદિકમાટ્ટણોતિ, ન તુ કેવલજ્ઞાનાવરણીયોદયસ્ત્ર કારણં ભવતીતિ બોધ્યમ્ । એવ કેવલદર્શનસ્પાનન્તમાગોઽપ્યનાટ્ટત એવ, તત્રાપિ મેઘદૃષ્ટાન્તાનુસારેણાવરણવ્યવહારમાદાય કેવલદર્શનાવરણીયસ્ય સર્વધાતિત્વમુપપદ્યતે । તત્રાપિ ચક્ષુર્દર્શનાવરણીયાદિપ્રકૃત્યુદયાદેવ જીવચક્ષુર્દર્શનાદિવિપય્યાનર્થાન્ જ્ઞાતુ ન શક્નોતિ, ન તુ કેવલદર્શનાવરણીયોદયસ્ત્ર કારણમિતિ બોધ્યમ્ ।

ગઈ । इसी प्रकार ‘केवलज्ञानावरण प्रकृति जीव के समस्त ज्ञानका आवरण करती है’ ऐसा कहा जाता है ।

જીવ મતિજ્ઞાન કે વિપયમૂત પદાર્થોં કો નહીં જાનતા, હસ મેં મતિજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ કા ઉદય હી કારણ હૈ, વહી મતિજ્ઞાન કો રોકતા હૈ । હસ મેં કેવલજ્ઞાનાવરણીય કા ઉદય કારણ નહીં હૈ । इसी प्रकार केवलदर्शन का अनन्तर्वा भाग उधाड़ा रहता है । वहाँ भी मेघ के दृष्टान्त के अनुसार आवरण का व्यवहार समझ कर केवलदर्शनावरणीय को सर्वधाती प्रकृति समझना चाहिए । यहाँ भी चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों को जीव चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि के उदय से ही नहीं जानता । वहाँ केवलदर्शनावरणीय कारण नहीं समझना चाहिए ।

તમામ ક્રાંતિ-પ્રકાશ હ ઠાઈ ગઈ કો પ્રમાણે કેવલજ્ઞાનાવરણ પ્રકૃતિ જીવના સમસ્ત જ્ઞાનનું આવરણ ઠરે છે, એમ કહેવાય છે

જીવ મતિજ્ઞાનના વિષયમૂત પદાર્થોને જાણતો નથી, તેમા મતિજ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ-ઠમને ઉદયજ ઠારણ રૂપ છે તેજ મતિજ્ઞાનને રોકે છે એમાં કેવલજ્ઞાનાવરણીયને ઉદય ઠારણ રૂપ નથી. એ પ્રમાણે કેવલદર્શનને અનન્તરમે ભાગ ઉધાડો રહે છે ત્યાં પણ મેઘના દૃષ્ટાન્ત પ્રમાણે આવરણને વ્યવહાર સમજી લઈને કેવલદર્શનાવરણીયને સર્વધાતી પ્રકૃતિ સમજવું જોઈએ, અહીં પણ ચક્ષુર્દર્શન આદિના વિષયમૂત પદાર્થોને જીવ ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય આદિના ઉદયથી જાણતો નથી, ત્યાં કેવલદર્શનાવરણીય ઠારણ નહિ સમજવું જોઈએ.

નનુ કેવલજ્ઞાનાવરણીયસ્ય કેવલદર્શનાવરણીયસ્ય ચ ક્ષયે સત્યપિ મતિજ્ઞાનાદીનાં ચક્ષુર્દર્શનાદીનાં ચ વિષયા જ્ઞાતમશક્ત્યા સ્યુ', તેપાં કેવલજ્ઞાનાવરણીય-કેવલદર્શનાવરણીય-પ્રકૃત્યોર્વિષયામાવાત્, મતિજ્ઞાનાવરણીયાદીનાં ચ ક્ષયામાત્રાચામિર્મતિજ્ઞાનાદીનાં સમાવૃતત્વાદિતિ ચંત્ ? ઉચ્યતે—

કેવલજ્ઞાનલાભે શેષાવબોધલાભસ્ય તદન્તર્ગતત્વાત્ । યથા-ગ્રામલાભે ક્ષેત્રલાભો ગ્રામલામાન્તર્ભૂત एव भवति ।

નિદ્રાદિપશ્ચક્રમપિ સકલપદાર્થાવબોધ પ્રતિહન્તીતિ સર્વધાતિ ભવતિ । યદિ પુનઃ સ્વાપદ્શાયામપિ કિંચિદ્ જ્ઞાનમસ્તીતિ સમાવ્યતે, તર્હિ તત્રાપિ જલકરદષ્ટાન્તમાશ્રિત્ય સમાધેયમ્ ।

સજ્ઞા-કેવલજ્ઞાનાવરણીય ઔર કેવલદર્શનાવરણીય का क्षय होने पर भी मतिज्ञान आदि और चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों का ज्ञानना अशक्य होना चाहिए, क्योंकि वे केवलज्ञानावरणीय, और केवलदर्शनावरणीय प्रकृतियों के विषय नहीं हैं, और मतिज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों का क्षय नहीं हुआ है, उन्हीं से मतिज्ञान आदि आवृत होते हैं ।

સમાધાન-કેવલજ્ઞાન કી પ્રાપ્તિ હોને પર શેષ જ્ઞાનો કી પ્રાપ્તિ ડસી મેં અન્તર્ગત હો જાતી હૈ । વૈસે ગ્રામ મિલ્કને પર ક્ષેત્ર આપ હી મિલ જાતા હૈ ।

નિદ્રા આદિ પાંચ પ્રકૃતિયૌ મી સકલ પદાર્થો કે જ્ઞાન કા ધાત કરતી હૈ, અત્ત एव सर्वधाती हैं । अगर निद्रा-अवस्था में भी किञ्चित् ज्ञान की समावना की जा सकती है तो वहाँ भी मेव का दृष्टान्त लेकर समाधान करना चाहिए ।

શ કન-કેવલજ્ઞાનાવરણીય અને કેવલદર્શનાવરણીયને ક્ષય થવા છતાંય પણ મતિજ્ઞાન આદિ અને ચક્ષુર્દર્શન આદિના વિષયભૂત પદાર્થોને બાજુવું તે અશક્ય હોવા બેઈબે, કારણ કે તે કેવલજ્ઞાનાવરણીય અને કેવલદર્શનાવરણીય પ્રકૃતિઓનો વિષય નથી અને મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ પ્રકૃતિઓનો ક્ષય થયો નથી, તેનાથી મતિજ્ઞાન આદિ આવૃત થાય છે

સમાધાન-કેવલ જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ થવાથી શેષ જ્ઞાનોની પ્રાપ્તિ તેમા અન્તર્ગત થઈ બાય છે જેવી રીતે ગામ મળવાથી ખેતર પોતેજ મલી બાય છે

નિદ્રા આદિ પાંચ પ્રકૃતિઓ પણ તમામ પદાર્થોના જ્ઞાનનો ધાત કરે છે, બે માટે તે સર્વધાતી છે અથવા નિદ્રા અવસ્થામાં પણ કિંચિત્ જ્ઞાનની સમાવના કસાય છે તો ત્યાં પણ મેષવું દષ્ટાંત લઈને સમાધાન કરી લેવું બેઈબે

અનન્તાનુબન્ધ્યાદયો દ્વાદશ કપાયાઃ પ્રત્યેય યથાકર્મ સમ્યક્ત્વ દેશવિરતિ-  
ચારિત્ર સર્વવિરતિચારિત્ર ચ સર્વમેવ વ્રતિ, તસ્માદેતે દ્વાદશ કપાયા સર્વધાતિન  
ઇત્યુચ્યન્તે । તેપાં પ્રવલોદયેઽપિ કુલાચારગ્રમૃતિકારણવશાદશુદ્ધાહારાદિવિરમણ-  
દર્શનાત્ સર્વધાતિત્વ ન સમવતીતિ નાશ્ચક્રનીયમ્, નવીનઘનઘટાદૃષ્ટાન્તા-  
શ્રયણેન તસ્યાપિ સમાધેયત્વાત્ । મિથ્યાત્વં તુ સમ્યક્ત્વં તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનરૂપ  
સર્વમપિ પ્રતિહન્તિ, તસ્માત્ સર્વધાતીત્યુચ્યતે । યદિ મિથ્યાત્વસ્ય પ્રવલોદયેઽપિ  
મનુષ્યપશ્વાદિવન્તુવિપયક સમ્યક્ત્વમસ્તિ, કથ તર્હિ સર્વધાતિત્વ મિથ્યાત્વસ્યેતિ  
સમાધ્યતે, તદાઽત્રાપ્યુક્તજલદાવલીદૃષ્ટાન્ત શરણીકરણીય ।

અનન્તાનુબન્ધી આદિ બારહ કપાય ક્રમશઃ સમ્યક્ત્વ કા દેશવિરતિ કા, ઓર  
સર્વવિરતિકા પૂર્ણરૂપ સે ઘાત કરતે હૈ, અત યે વારહ કપાય મી સર્વધાતી કહલાતે હૈ । યહ  
શક્કા નહીં કરની યાદિયે કિ—હન કપાયો કા પ્રવલ ઉદય હોને પર મી કુલાચાર આદિ  
કારણો સે અશુદ્ધ આહાર આદિ કા ત્યાગ દેવ્વા જાતા હૈ અત પ્રવ હન્ને સર્વધાતી નહીં કહા  
જા સક્તા, કયો કિ નવીન મેઘઘટાકા દૃષ્ટાન્ત હેકર હસ શક્કા કા મી સમાધાન કિયા જા  
સક્તા હૈ ।

મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિ તો તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનરૂપ સમ્યક્ત્વ કા પૂર્ણરૂપ સે ઘાત કરતી  
હી હૈ, અત વહ સર્વધાતી હૈ । યદિ મિથ્યાત્વ કા પ્રવલ ઉદય હોને પર મી મનુષ્ય  
પશુ આદિ વસ્તુઓ સમ્યક્ત્વ સમ્યક્ત્વ રહતા હૈ તો મિથ્યાત્વ કો સર્વધાતી કૈસે કહા  
જા સક્તા હૈ ? હસ શક્કા કે સમાધાન કે લિપે મી ઉક્ત મેઘપટલ કે હી દૃષ્ટાન્ત કા આશ્રય  
હેના યાદિયે ।

અનન્તાનુબન્ધી આદિ બાર કપાય ક્રમશઃ સમ્યક્ત્વનો દેશવિરતિનો અને સર્વ  
વિરતિનો પૂર્ણરૂપથી ઘાત કરે છે, તેથી જો બાર કપાય પણ સર્વધાતી કહેવાય છે એવી  
શકા નહિ કરવી જોઈએ કે—જો કપાયોના પ્રવલ ઉદય વખતે પણ કુલાચાર આદિ  
કારણોથી અશુદ્ધ આહાર આદિનો ત્યાગ જોવામા આવે છે તે માટે તેને સર્વધાતી કહી  
શકાય નહિ, કારણ કે નવીન મેઘ ઘટાનું દ્રષ્ટાન્ત લઈને આ શકાનું સમાધાન કરી શકાય છે

મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિ તો તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનરૂપ સમ્યક્ત્વનો પૂર્ણરૂપથી ઘાત કરે છેજ,  
તેથી તે સર્વધાતી છે જો મિથ્યાત્વનો પ્રવલ ઉદય હોય તે વખતે પણ—મનુષ્ય, પશુ આદિ  
વસ્તુઓના સમ્યક્ત્વ રહે છે તો મિથ્યાત્વને સર્વધાતી કૈવી રીતે કહી શકશે ? જો  
શકાના સમાધાન માટે પણ આગળ કહેલ મેઘપટલનાજ દ્રષ્ટાન્તનો આશ્રય લેવો જોઈએ.

देशघातिप्रकृतयः—

अथ देशघातिप्रकृतयः कथ्यन्ते—। (१) मतिज्ञानावरणीयम्, (२) भ्रुत-  
ज्ञानावरणीयम्, (३) अवधिज्ञानावरणीयम्, (४) मनःपर्ययज्ञानावरणीयम्,  
एतानि चत्वारि ज्ञानावरणीयानि ४ । (१) चक्षुर्दर्शनावरणीयम्, (२) अचक्षुर्दर्शना-  
वरणीयम्, (३) अवधिदर्शनावरणीयम्, इति त्रीणि दर्शनावरणीयानि ७ । सज्जलन-  
रूपाः क्रोधमानमायालोमाश्चत्वार कपायाः ११ । हास्य-रत्य-रति-भय-शोक-  
जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुषेद-नपुसकवेदभेदतो नवसख्यका नोकपायाः २० । तथा दान  
छाम-मोगो-पमोग-धीर्यप्रेदात् पञ्चविंशतिः २५ प्रकृतयो देशघातिन्यः सन्ति ।  
मतिज्ञानावरणीयादिचतुष्टयी प्रकृति केवलज्ञानावरणीयावृत दैक्षिक ज्ञान  
हन्ति, तस्माद्देशघातिनीयमुच्यते ।

देशघाती प्रकृतियाँ—

अब देशघाती प्रकृतियों का कथन किया जाता है—(१) मतिज्ञानावरणीय, (२)  
भ्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मन पर्ययज्ञानावरणीय, ये चार ज्ञानावरणीय ४ ।  
तथा (१) चक्षुर्दर्शनावरणीय, (२) अचक्षुर्दर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, ये तीन  
दर्शनावरणीय ७ । तथा सज्जलन-क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार कपाय ११ । हास्य, रति,  
अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद के भेद से नौ नोकपाय २० ।  
तथा दानान्तराय, छामान्तराय, मोगान्तराय, उपमोगान्तराय और धीर्यान्तराय, ये पाँच  
अन्तराय २५ । सब मिलकर पच्चीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं ।

मतिज्ञानावरणीय आदि चार प्रकृतियों केवलज्ञानावरणीयद्वारा आवृत एक देश  
ज्ञानका घात करती हैं, अत एव उन्हें देशघाती प्रकृतियाँ कहते हैं,

देशघाती प्रकृतिज्या—

इसे देशघाती प्रकृतिज्यानु कथन-निर्णय-कथनाभां व्याप्ते छे—(१) मतिज्ञानावरणीय,  
(२) भ्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्ययज्ञानावरणीय, आ चार  
ज्ञानावरणीय छे ४, तथा (१) चक्षुर्दर्शनावरणीय, (२) अचक्षुर्दर्शनावरणीय, (३) अवधि-  
दर्शनावरणीय, आ त्रय दर्शनावरणीय, ७, तथा सज्जलन-क्रोध, मान, माया, लोभ, लो-  
भा ४ पाय, ११, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद  
ना भेदथी नव नोकपाय, २०, तथा दानान्तराय, छामान्तराय, मोगान्तराय, उपमोगान्तराय,  
अने धीर्यान्तराय आ पाँच अन्तराय २५, जमी मणीने पच्चीस देशघाती प्रकृतिज्या छे  
मतिज्ञानावरणीय आदि चार प्रकृतिज्या केवलज्ञानावरणीयद्वारा आवृत एक देश  
ज्ञानको घात करे छे, तेहका भटे तेने देशघाती प्रकृति कहे छे

मतिज्ञानादिविषयाणामर्थानामवबोधो यन्न भवति, तच्च मतिज्ञानावरणीयादिचतुष्टयप्रकृत्युदयादेव । यत्तु मतिज्ञानाद्यविषयाणामनन्तपदार्थानां ज्ञानं न भवति तत् केवलज्ञानावरणीयप्रकृत्युदयादेव ।

चक्षुर्दर्शनावरणीयादिभ्यः प्रकृतिः केवलदर्शनावरणीयानाहतं केवलदर्शनैकदेशं ज्ञानं हन्तीति देशघातित्वं सिद्धम् । चक्षुरादिदर्शनविषयभूतानामर्थानां दर्शनं यन्न भवति, तत् चक्षुरादिदर्शनावरणीयप्रकृत्युदयादेव; यच्च तद्विषयभूतान् अनन्तगुणान् न पश्यति, तत् केवलदर्शनावरणीयोदयादेव ।

तथा-सञ्चलनाद्यत्वारं कषायास्तथा नव नोकषायश्च लम्बस्य

मतिज्ञानं आदि के विषयभूत पदार्थों का जो ज्ञान नहीं होता सो मतिज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियों के उदय से ही समझना चाहिए । और जो पदार्थ मतिज्ञान आदि के विषय नहीं हैं, उनके ज्ञानका अभाव केवलज्ञानावरणीय प्रकृति के उदय से होता है ।

चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि तीन प्रकृतियाँ केवलदर्शनावरणीयद्वारा अनावृत केवलदर्शन के एकदेश ज्ञानका घात करती हैं, अतः वे देशघाती हैं । चक्षुर्दर्शन आदि के विषयभूत पदार्थों का जो ज्ञान नहीं होता सो चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि प्रकृतियों के उदय से समझना चाहिए और केवलदर्शन के विषयभूत अनन्त गुणों के ज्ञानका जो अभाव होता है सो केवलदर्शनावरणीय के उदय से ही समझना चाहिए ।

चार सञ्चलन कषाय और नौ नोकषाय प्राप्त हुए चारित्र के एक देश का

मतिज्ञान आदिना विषयभूत पदार्थों के ज्ञान यत्तु नहीं ते मतिज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियोंना उदयधीन समस्त वेतु लेधजे. अने के पदार्थ मतिज्ञानादिना विषय नहीं तेना ज्ञानने अभाव केवलज्ञानावरणीय प्रकृतिना उदयधी होय छे

चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि त्रय प्रकृतियों केवलदर्शनावरणीय द्वारा अनावृत केवलदर्शनना लेकदेश ज्ञानने घात करे छे के कारणधी ते देशघाती छे चक्षुर्दर्शन आदिना विषयभूत पदार्थों के ज्ञान यत्तु नहीं ते चक्षुर्दर्शनावरणीय आदि प्रकृतियोंना उदयधी समस्त वेतु लेधजे, अने केवलदर्शनना विषयभूत अनन्त गुणना ज्ञानने के अभाव बाय छे ते केवलदर्शनावरणीयना उदयधीन समस्त वेतु लेधजे

चार सञ्चलन कषाय अने नव नोकषाय प्राप्त यथेष्टा चारित्रना लेक देशनेन



### દેશઘાતિપ્રકૃતયઃ—

અથ દેશઘાતિપ્રકૃતયઃ કથ્યન્તે—। (૧) મતિજ્ઞાનાવરણીયમ્, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીયમ્, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીયમ્, (૪) મનઃપર્યયજ્ઞાનાવરણીયમ્, એતાનિ ચત્વારિ જ્ઞાનાવરણીયાનિ ૪ । (૧) ચક્ષુર્દર્શનાવરણીયમ્, (૨) અન્નમુર્દર્શનાવરણીયમ્, (૩) અવધિર્દર્શનાવરણીયમ્, इति त्रीणि दर्शनावरणीयानि ७ । સમ્બલન-રૂપાઃ ક્રોધમાનમાયાલોમાશ્વત્તારઃ કપાયાઃ ૧૧ । હાસ્ય-રત્ય-રતિ-મય-શોક-જુગુપ્સા-સ્ત્રીવેદ-પુષ્પેદ-નપુસકવેદમેદતો નવસરખ્યકા નોકપાયા ૨૦ । તથા દાન-લાભ-મોગો-પમોગ-વીર્યપ્રમેદાત્ પશ્ચર્વિંશતિઃ ૨૫ પ્રકૃતયો દેશઘાતિન્યઃ સન્તિ । મતિજ્ઞાનાવરણીયાદિચતુષ્ટયી પ્રકૃતિ કેવલજ્ઞાનાવરણીયાદૃત દૈશિક જ્ઞાન હન્તિ, તસ્માદ્દેશઘાતિનીયમ્ચયે ।

### દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થા—

અથ દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થો કા કથન ક્રિયા જ્ઞાતા હૈ—(૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મનઃપર્યયજ્ઞાનાવરણીય, એ ચાર જ્ઞાનાવરણીય ૪ । તથા (૧) ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય, (૨) અન્નમુર્દર્શનાવરણીય, (૩) અવધિર્દર્શનાવરણીય, એ ત્રીણ દર્શનાવરણીય ૭ । તથા સમ્બલન-ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, એ ચાર કપાયા ૧૧ । હાસ્ય, રતિ, અરતિ, મય, શોક, જુગુપ્સા, સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુસકવેદ કે મેદ સે નૌ નોકપાયા ૨૦ । તથા દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, મોગાન્તરાય, ઉપમાનાન્તરાય ઔર વીર્યાન્તરાય, એ પાંચ અન્તરાય ૨૫ । સર્વ મિલકર પચ્ચીસ દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થા હૈ ।

મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ ચાર પ્રકૃતિર્થો કેવલજ્ઞાનાવરણીયદ્વારા આજ્ઞાત એક દેશ જ્ઞાનકા ઘાત કરતી હૈ, અતઃ એવં અર્હે દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થો કહતે હૈ,

### દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થો—

હવે દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થોનું કથન—નિરૂપણ—કરવામાં આવે છે—(૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મનઃપર્યયજ્ઞાનાવરણીય, આ ચાર જ્ઞાનાવરણીય છે ૪, તથા (૧) ચક્ષુર્દર્શનાવરણીય, (૨) અન્નમુર્દર્શનાવરણીય, (૩) અવધિર્દર્શનાવરણીય, આ ત્રણ દર્શનાવરણીય, ૭, તથા સમ્બલન-ક્રોધ, માન, માયા, લોભ, એ ચાર કપાયા, ૧૧, હાસ્ય, રતિ, અરતિ, મય, શોક, જુગુપ્સા, સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુસકવેદ ના સેઠથી નવ નોકપાયા, ૨૦, તથા જ્ઞાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, મોગાન્તરાય, ઉપમાનાન્તરાય, અને વીર્યાન્તરાય, આ પાંચ અન્તરાય ૨૫, બધી ભળીને પચ્ચીસ દેશઘાતી પ્રકૃતિર્થો છે ।

મતિજ્ઞાનાવરણીય આદિ ચાર પ્રકૃતિર્થો કેવલજ્ઞાનાવરણીયદ્વારા આજ્ઞાત એક દેશ જ્ઞાનનો ઘાત કરે છે, તેટલા માટે તેને દેશઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે ।



ષારિષસ્ય દેશમેષ વ્રન્તિ, તેષાં મૂલોત્તરગુણાતીવારજનકત્વાત્ । તસ્માદેતા સ્ત્રયોદશ પ્રકૃતયો દેશધાતિન્ય ઇતિ ષોધ્યમ્ ।

તથા-દાનાન્તરાયાદિપશ્ચાન્તરાયરૂપા\* પ્રકૃતયોઽપિ દેશધાતિન્ય એવ । દાનલાભમોગોપમોગાનાં ચતુર્ણાં વિષયસ્તાવદ્ ગ્રહણધારણધોગ્યાન્નેષ દ્રવ્યાણિ સન્તિ । ધાનિ ષ સકલપુદ્ગલાસ્તિકાયસ્થાનન્તમાગરૂપે દેશ એવ વર્તન્તે, અતો યાસાં પ્રકૃતીનામૃદયાત્ પુદ્ગલાસ્તિકાયદેશવર્તીનિ દ્રવ્યાણિ ઢાતુ સ્વધુ મોક્તુમુપમોક્તુ ચ ન શક્નોતિ તાઃ પ્રકૃતયો દાનલાભમોગોપમોગાન્તરાયરૂપારતાવદેશધાતિન્ય એવ ।

યત્તુ-સમસ્તલોકાન્તર્ગતાનિ દ્રવ્યાણિ ઢાતુ સ્વધુ મોક્તુમુપમોક્તુ ચ ન પ્રમવતિ તથાનાન્તરાયાદિપ્રકૃત્યુદયસો ન મવતિ, કિન્તુ તેષામેવ ગ્રહણધારણ

હી ઘાત કરતે હૈં, ક્યોં કિં જે મૂલગુણોં ઓર ઉત્તરગુણોં મેં અસિચાર ઉત્પન્ન કરતે હૈં, ઇસ કારણ યે તેરહ પ્રકૃતિયોં દેશધાતી હૈં, યેસા સમજના ચાહિયે ।

અન્તરાય કર્મ કી પાંચ પ્રકૃતિયોં મી દેશધાતી હી હૈં । દાન, લાભ, મોગ ઓર ઉપમોગ, ઇન ચાર કે વિષય ગ્રહણ ઓર ધારણ કરને યોગ્ય દ્રવ્ય હી હૈં, ઓર યેસે દ્રવ્ય સમસ્ત પુદ્ગલાસ્તિકાય કે અન્તર્વે માગ હૈં, અતઃ કિન્ત પ્રકૃતિયોં કે ઉદય સે પુદ્ગલાસ્તિકાય કે એકદેશવર્તી દ્રવ્યોં કા દાન, લાભ, મોગ યા ઉપમોગ ન હો સકે જે દાનાન્તરાય આદિ પ્રકૃતિયોં મી દેશધાતી હી હૈં ।

સમસ્ત લોક કે અન્તર્ગત દ્રવ્યોં કા દાન, લાભ, મોગ ઓર ઉપમોગ નહીં હો સકતા, સો યહ દાનાન્તરાય આદિ પ્રકૃતિયોં કે ઉદય સે નહીં, પરન્તુ સન દ્રવ્યોં કો

ઘાત કરે છે કારણ કે તે મૂલગુણોં અને ઉત્તરગુણોંમા અતિચાર ઉત્પન્ન કરે છે, આ કારણથી તે તેર પ્રકૃતિઓ દેશધાતી છે એ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ.

અન્તરાય કર્મની પાંચ પ્રકૃતિઓ પશુ દેશધાતીજ છે દાન, લાભ, લોભ અને ઉપલોભ, એ આરના વિષય અહણ અને ધારણ કરવા યોગ્ય દ્રવ્યજ છે, અને એવા દ્રવ્ય સમસ્ત પુદ્ગલાસ્તિકાયના અન્તર્મે વાગ છે, તેથી જે પ્રકૃતિઓના ઉદયથી પુદ્ગલાસ્તિકાયના એકદેશવર્તી દ્રવ્યોનેા દાન, લાભ, લોભ અને ઉપલોભ ન અર્થ શકે, તે દાનાન્તરાય આદિ પ્રકૃતિઓ પશુ દેશધાતી છે

સમસ્ત લોકના અન્તર્ગત દ્રવ્યોનેા દાન, લાભ, લોભ અને ઉપલોભ અર્થ શકતો નથી. તે આ દાનાન્તરાય આદિ પ્રકૃતિઓના ઉદયથી નહિ; પરન્તુ તે દ્રવ્યોને અહણ અને

યોગ્યતાયા અમાવાદશક્યાનુષ્ઠાનત્વાદિતિ મન્તવ્યમ્ ।

વીર્યાન્તરાયપ્રકૃતિરપિ સર્વં વીર્યં ન હન્તીતિ દેશઘાતિન્યેષ । તયાંહિ-  
સૂક્ષ્મનિગોદજીવાત્ પ્રમૃતિ આક્ષીણમોહનીયજીવં વીર્યાન્તરાયસ્ય ક્ષયોપશમ-  
વિશેષાદ્ વીર્યં કસ્યચિદલ્પ, કસ્યચિદ્ વહુ, કસ્યચિદ્ વહુતર, કસ્યચિદ્ વંહુતર્તમં  
ભવતિ, વીર્યાન્તરાયકર્મણોઽમ્યુદયે સૂક્ષ્મનિગોદસ્યાપિ આહારપરિણમનકર્મદલિક-  
પ્રહણગત્યન્તરગમનાદિક વિષયે । एतच्च वीर्यं विना न समवति । तस्माद्देशत  
एव वीर्यं वीर्यान्तरायप्रकृत्या हन्यते, न तु सर्वतः । यदि पुनरियं सर्वघातिनी

પ્રહ્ણ ઔર ઘારણ કરને કી યોગ્યતા ન હોને કે કારણ અશક્યાનુષ્ઠાન સે સમજના યાહિપ ।

વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ મી સમસ્ત વીર્યં કા ઘાત નહીં કરતી અત દેશઘાતી હૈ ।  
સૂક્ષ્મ નિગોદિયા જીવ સે છકર ક્ષીણમોહ-ગુણસ્થાન પર્યન્ત કે જીવોં મેં વીર્યાન્તરાય કે  
ક્ષયોપશમ સે કિસી જીવ મેં અલ્પ વીર્યં (શક્તિ) હોતા હૈ, કિસી મેં વહુત વીર્યં હોતા  
હૈ, કિસી મેં વહુત અધિક વીર્યં હોતા હૈ ઔર કિસી મેં અત્યન્ત અધિક વીર્યં હોતા  
હૈ । વીર્યાન્તરાય કર્મકા ઉદય હોને પર મી સૂક્ષ્મ નિગોદ કા જીવ આહાર કા પરિણમન  
કરતા હૈ, કર્મદલિયોં કો પ્રહ્ણ કરતા હૈ ઔર દૂસરી ગતિ મેં જાતા હૈ । યે સબ  
કાર્ય વીર્યં કે વિના નહીં હો સકતે । હવ સે યહ સિદ્ધ હુઆ કિ વીર્યાન્તરાય કર્મ વીર્ય  
કો ઇકદેશ સે હો ઘાત કરતા હૈ, સર્વદેશ સે નહીં । અગર યહ પ્રકૃતિ સર્વઘાતી માની જાય  
તો જૈસે સર્વઘાતી મિથ્યાત્વ કે ઉદય મેં સમ્યગ્વર્ણન લેશમાત્ર નહીં હોતા, ઔર

ધારણ કરવાની યોગ્યતા નહિ હોવાના કારણે અશક્યાનુષ્ઠાનથી સમજવું બેઠકો

વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ પણ સમસ્ત વીર્યના ઘાત કરતી નથી, તેથી તે દેશઘાતી છે  
સૂક્ષ્મનિગોદના જીવથી લઈને ક્ષીણમોહગુણસ્થાન સુધીના જીવોમાં વીર્યાન્તરાયના ક્ષયોપ-  
શમથી કોઈ જીવમાં અલ્પવીર્ય (ઓછી શક્તિ) હોય છે, કોઈ જીવમાં બહુ વીર્ય હોય છે,  
કોઈ જીવમાં બહુજ અધિક વીર્ય હોય છે, અને કોઈમાં અત્યન્ત અધિક વીર્ય હોય છે  
વીર્યાન્તરાય કર્મના ઉદય હોય ત્યારે પણ સૂક્ષ્મ નિગોદના જીવ આહારનું પરિણમન કરે  
છે, કર્મદલિકોને પ્રહણ કરે છે, અને બીજી ગતિમાં જાય છે આ તમામ કાર્ય વીર્ય વિના  
થઈ શકે નહીં, તેથી જો સિદ્ધ થયું કે - વીર્યાન્તરાય કર્મ વીર્યના બેક દેશનોજ ઘાત  
કરે છે, સર્વદેશનો નહીં. અથવા તો આ પ્રકૃતિને સર્વઘાતી માનવામાં આવે તો જેવી રીતે  
સર્વઘાતી મિથ્યાત્વના ઉદયમાં સમ્યગ્વર્ણન લેશમાત્ર પણ હોય નહીં, અને જેમ

સ્વાત્ તદા સર્વઘાતિનો મિધ્યાત્વસ્ય કપાયદ્વાદશકસ્ય ચામ્યુદયે યયા જઘન્યમપિ સમ્યક્ત્વ દેશસયમઃ સર્વસયમશ્ચ નોપલભ્યતે, તયા વીર્યાન્તરાયસ્યોદયેઽપિ જઘન્યમપિ વીર્યગુણં નોપલભ્યેત, ન ચૈધં ભવતિ, તસ્માત્ વીર્યાન્તરાયમકૃતિરપિ દેશઘાતિનીતિ સિદ્ધમ્ ।

અઘાતિપ્રકૃતયઃ—

અઘાતિન્યઃ પ્રકૃતય પશ્ચસપ્તતિઃ સન્તિ । તયાહિ—પ્રત્યેક પ્રકૃતયઃ પરાઘાતો૧-ઉર્જાસાર-ઽઽષ્ટપો૩-ઘોતા૪-અગુરુલઘુ૫-તીર્થકર૬-નિર્માણો૭-પઘાત૮-રૂપા ઘટ્ટી સન્તિ । (૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિયમ્, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ, (૫) કાર્મેણ ચેતિ પશ્ચ શરીરાણિ ૫ । ગ્રીણ્યુપાદ્ધાનિ૩ । પટ્ સંસ્થાનાનિ૬ । પટ્ સહન

જેસે વાસ્તુ કવાયો કા ઉદય હોને પર દેશવિરતિ ઔર સર્વવિરતિ, એક દેશ સે મી નહીં હોતી उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्म का उदय होने पर देशमात्र मी वीर्यगुण प्रकट नहीं होने चाहिए, मगर ऐसा नहीं होता, अत यह सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय प्रकृति मी देशघाती ही है ।

અઘાતી પ્રકૃતિયાં—

અઘાતિ પ્રકૃતિયાં પચ્છહતર ૭૫ છે, જે હસ પ્રકાર—(૧) પરાઘાત, (૨) ઉર્જાસ, (૩) જ્ઞાતપ, (૪) ઉષોત, (૫) અગુરુલઘુ, (૬) તીર્થકર, (૭) નિર્માણ, (૮) ઉપઘાત, જે જાઠ પ્રત્યેક પ્રકૃતિયાં અઘાતી છે ૮ । ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ઔર કાર્મેણ શરીર, જે પાંચ શરીર અઘાતી પ્રકૃતિયાં છે ૧૧ । ત્રીન ઉપાદ્ધાનિ ૩, છઠ્ઠ સંસ્થાનાનિ ૨૨,

આર કવાયોનો ઉદય થવા સમયે દેવવિરતિ અને સર્વવિરતિ એકદેશથી પણ હોય નહીં, તે પ્રમાણે વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય થતા દેશમાત્ર પણ વીર્યગુણ પ્રગટ થવો નહીં જોઈએ, પરંતુ એ પ્રમાણે થતુ નથી, એ કારણથી સિદ્ધ થયું કે—વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ પણ દેશઘાતીજ છે

અઘાતી પ્રકૃતિઓ—

અઘાતી પ્રકૃતિઓ પચોતેર (૭૫) છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) પરાઘાત, (૨) ઉર્જાસ, (૩) જ્ઞાતપ, (૪) ઉષોત, (૫) અગુરુલઘુ, (૬) તીર્થકર, (૭) નિર્માણ, (૮) ઉપઘાત, આ આઠ પ્રત્યેક પ્રકૃતિઓ અઘાતી છે (૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિય, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ અને (૫) કાર્મેણ શરીર, આ પાંચ શરીર અઘાતી પ્રકૃતિઓ છે; (૧૩) ત્રણ ઉપાદ્ધાન, (૧૬) છઠ્ઠ સંસ્થાના, (૨૨) છઠ્ઠ ઘટનન, (૨૮) પાંચ ભવિષ્યો, (૩૩) વ્યાર અતિ, ૩૭ બે વિકાસો

નાનિદૃ । પચ્ચ જાતયઃ૫ । ચતસ્રો ગતયઃ૪ । દ્વે સ્વગતીર । ચતસ્રઃ આનુ  
પૂર્વ્ય૫૪ । આયુપિ ચત્વારિ૪ । ત્રસદશક્રમ૧૦ । સ્થાવરદશક્રમ૧૦ । ઉચ્ચૈર્ગોત્રમ૧ ।  
નીચૈર્ગોત્રમ૧ । સાતાવેદનીયમ૧ । અસાતાવેદનીયમ૧ । વર્ગ-ગન્ધ-રસ-સ્પર્શાલ્યા-  
શ્વતસ્રૃ પ્રકૃતયૃ૪ । ૭૫ ॥

एता प्रकृतयः कमपि ज्ञानादिगुण न इन्तीत्यघातिन्य उच्यन्ते ।  
इमा सर्वघातिप्रकृतिमि सह वेद्यमानाः स्वयमघातिन्योऽपि सर्वघातिफल  
प्रदर्शयन्ति । देशघातिप्रकृतिमि सह पुनर्वेद्यमानाः स्वयमघातिन्योऽपि देशघातिरसं  
दर्शयन्ति । यथा-स्वयमचौरश्चौरैः सह वर्तमानश्चौर इवावभासते तद्वत् ।

છહ સહનન૨૮, પાંચ આતિયૌ૩૩, ચાર ગતિયૌ૩૭, દો વિહાયોગતિયૌ૩૯, ચાર  
આનુપૂર્વી૪૩, ચાર આયુ૪૭, ત્રસદશક૫૭, સ્થાવરદશક૬૭, ઉચ્ચગોત્ર૬૮, નીચગોત્ર૬૯,  
સાતાવેદનીય૭૦, અસાતાવેદનીય૭૧, તથા વર્ગ, રસ, ગન્ધ, ઔર સ્પર્શનામક ચાર  
પ્રકૃતિયૌ૭૫ ।

ये प्रकृतियाँ ज्ञान आदि किसी गुणका घात नहीं करती हैं । इसी लिये ये अघाती  
कहलाती हैं । जब इनका सर्वघातो प्रकृतियों के साथ वेदन होता है तब ये स्वय अघाती  
होते हुए भी सर्वघातो रसको प्रकट करती हैं, और देशघाती प्रकृतियों  
के साथ इनका वेदन हो तो स्वय अघाती होने पर भी देशघाती रस को प्रकट करती हैं ।  
वैसे कोई पुरुष चोर न हो किन्तु चोरों के साथ हो तो वह भी चोर वैसा ही प्रतीत होता है ।  
यही हाल इन अघाती प्रकृतियों का है ।

અતિ, (૩૬) આર અનુપૂર્વી, (૪૩) આર આયુ, (૪૭) ત્રસદશક, (૫૭) સ્થાવરદશક,  
(૬૭) ઉચ્ચગોત્ર, (૬૮) નીચગોત્ર, (૬૯) સાતાવેદનીય, (૭૦) અસાતાવેદનીય, (૭૧)  
તથા વર્ગ, રસ, ગન્ધ, અને સ્પર્શ નામની આર પ્રકૃતિઓ (૭૫)

આ પ્રકૃતિઓ જ્ઞાન આદિ કોઈ શુભનો ઘાત કરતી નથી. જોટલા માટે તેને  
અઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે, પરંતુ સર્વઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે જ્યારે તેનું વેદન થાય છે  
તો પોતે અઘાતી હોવા છતાંય પણ એ સર્વઘાતીનું ફળ પ્રદર્શિત કરે છે અથવા  
દેશઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે તેનું વેદન હોય તો પોતે અઘાતી હોવા છતાંય પણ  
દેશઘાતી રસને પ્રગટ કરે છે જેવી રીતે કોઈ પુરુષ ચોર ન હોય પરંતુ ચોરાની સાથે હોય  
તો તે પણ ચોર જેવો જ દેખાય છે એ પ્રમાણેજ આ અઘાતી પ્રકૃતિઓ વિષે સમજવું

સ્યાત્ તદા સર્વઘાતિનો મિથ્યાત્વસ્ય કપાયદ્વાદશકસ્ય પામ્યુદયે યથા જઘન્યમપિ સમ્યક્ત્વં દેશસયમઃ સર્વસયમશ્ચ નોપલભ્યતે, તથા ચીર્યાન્તરાયસ્યોદયેઽપિ જઘન્યમપિ ધીર્યગુણ નોપલભ્યેત, ન ચૈન મત્તતિ, તસ્માત્ ધીર્યાન્તરાયમકૃતિરપિ વેશ્વઘાતિનીતિ સિદ્ધમ્ ।

અઘાતિપ્રકૃતયઃ—

અઘાતિન્યઃ પ્રકૃતયઃ પચ્ચસપ્તતિઃ સન્તિ । તથાહિ—પ્રત્યેક પ્રકૃતયઃ પરાઘાતો૧-ઉચ્છ્વાસ૨-ઽઽત્પો૩-ઘોતા૪-ઞ્ગુરુલ્લુપ૫-તીર્યક૬-નિર્માણો૭-પઘાત૮-રૂપા અઘૌ સન્તિ । (૧) ઔદારિકં, (૨) વૈક્રિયમ્, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ, (૫) કાર્મેણ ચેતિ પચ્ચ શરીરાણિ ૫। પ્રીણુપાદ્માનિ૩ । પટ્ સંસ્થાનાનિ૬ । પટ્ સહન-

વૈસે નાહ કષાયોં કા ઉદય હોને પર દેશવિરતિ ઔર સર્વવિરતિ, ઇક દેશ સે મી નહીં હોતી ડસી પ્રકાર ધીર્યાન્તરાય કર્મ કા ઉદય હોને પર ક્ષેમાત્ર મી ધીર્યગુણ પ્રકટ નહીં હોને વાહિપ, મગર પેસા નહીં હોતા, અત મહ સિદ્ધ હુઆ કિ ધીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ મી વેશઘાતી હી હૈ ।

અઘાતી પ્રકૃતિયાં—

અઘાતિ પ્રકૃતિયાં પચ્ચત્તર ૭૫ હૈ, જે હસ પ્રકાર—(૧) પરાઘાત, (૨) ઉચ્છ્વાસ, (૩) આતપ, (૪) ઉષોત, (૫) અગુરુલ્લુ, (૬) તીર્યકર, (૭) નિર્માણ, (૮) ઉપઘાત, જે આઠ પ્રત્યેક પ્રકૃતિયાં અઘાતી હૈ ૮ । ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ઔર કાર્મેણ શરીર, જે પાંચ શરીર અઘાતી પ્રકૃતિયાં હૈ ૧૩ । ત્રીન ઉપાદ્ધ૧૬, છઠ સંસ્થાન૨૨,

આર કષાયોના ઉદય થવા સમયે દેવવિરતિ અને સર્વવિરતિ એકદેશથી પણ હોય નહીં; તે પ્રમાણે વીર્યાન્તરાય કર્મોના ઉદય થતા ક્ષેમાત્ર પણ વીર્યગુણ પ્રગટ થવો નહીં એકજો, પરન્તુ એ પ્રમાણે થતુ નથી, એ કારણથી સિદ્ધ થયુ કે—વીર્યાન્તરાય પ્રકૃતિ પણ દેશઘાતીજ છે

અઘાતી પ્રકૃતિઓ—

અઘાતી પ્રકૃતિઓ પચોતેર (૭૫) છે તે આ પ્રમાણે છે —(૧) પરાઘાત, (૨) ઉચ્છ્વાસ, (૩) આતપ, (૪) ઉષોત, (૫) અગુરુલ્લુ, (૬) તીર્યકર, (૭) નિર્માણ, (૮) ઉપઘાત, આ આઠ પ્રત્યેક પ્રકૃતિઓ અઘાતી છે (૧) ઔદારિક, (૨) વૈક્રિય, (૩) આહારક, (૪) તૈજસ અને (૫) કાર્મણ શરીર, આ પાંચ શરીર અઘાતી પ્રકૃતિઓ છે; (૧૩) ત્રણ ઉપાદ્ધ, (૧૬) છઠ સંસ્થાન, (૨૨) છઠ અહનન, (૨૮) પાંચ અતિઓ, (૩૩) ચાર ગતિ, ૩૭ જ વિદ્યાઓ

નાનિદ્ । પચ્ચ જાતયઃ૫ । ચતસ્રો ગતયઃ૪ । દ્વે સ્વગતીર । ચતસ્રઃ આનુ  
પૂર્વ્યઃ૪ । આયુપિ ચત્વારિઃ । ત્રસદશક્રમ્૧૦ । સ્થાવરદશક્રમ્૧૦ । ઉચ્ચૈર્ગોત્રમ્૧ ।  
નીચૈર્ગોત્રમ્૧ । સાતાવેદનોયમ્૧ । અસાતાવેદનોયમ્૧ । વર્ગ-ગન્ધ-રસ-સ્પર્શાભ્યા-  
શ્ચતસ્રઃ પ્રકૃતયઃ૪ । ૭૫ ॥

પ્રતા પ્રકૃતયઃ કમપિ જ્ઞાનાદિગુણ ન હન્તીત્યઘાતિન્ય ઉચ્યન્તે ।  
इमा सर्वघातिप्रकृतिमि सह वेद्यमाना स्वयमघातिन्योऽपि सर्वघातिफल  
प्रदर्शयन्ति । देशघातिप्रकृतिमि सह पुनर्वेद्यमाना. स्वयमघातिन्योऽपि देशघातिरसं  
दर्शयन्ति । यथा-स्वयमचौरश्चો रै. सह वर्तमानश्चौर इवावभासते तद्वत् ।

છહ સહનન૨૮, પાંચ જાતિયૌ૩૩, ચાર ગતિયૌ૩૭, દો વિહાયોગતિયૌ૩૯, ચાર  
આનુપૂર્વી૪૩, ચાર આયુ૪૭, ત્રસદશક૫૭, સ્થાવરદશક૬૭, ઉચ્ચગોત્ર૬૮, નીચગોત્ર૬૯,  
સાતાવેદનીય૭૦, અસાતાવેદનીય૭૧, તથા વર્ગ, રસ, ગન્ધ, ઔર સ્પર્શનામક ચાર  
પ્રકૃતિયૌ૭૫ ।

ये प्रकृतियाँ ज्ञान आवि किसी गुणका घात नहीं करती हैं । इसी लिये ये अघाती  
कहल्यती हैं । जब इनका सर्वघातो प्रकृतियों के साथ वेदन होता है तब ये स्वय अघाती  
होते हुए भी सर्वघातो रसको प्रकट करती हैं, और देशघाती प्रकृतियों  
के साथ इनका वेदन हो तो स्वयं अघाती होने पर भी देशघाती रस को प्रकट करती हैं ।  
जैसे कोई पुरुष चोर न हो किन्तु चोरों के साथ हो तो वह भी चोर जैसा ही प्रतीत होता है ।  
यही हाल इन अघाती प्रकृतियों का है ।

ગતિ, (૩૬) આર અનુપૂર્વી, (૪૩) આર આયુ, (૪૭) ત્રસદશક, (૫૭) સ્થાવરદશક,  
(૬૭) ઉચ્ચગોત્ર, (૬૮) નીચગોત્ર, (૬૯) સાતાવેદનીય, (૭૦) અસાતાવેદનીય, (૭૧)  
તથા વર્ણ, રસ, ગન્ધ, અને સ્પર્શ નામની આર પ્રકૃતિઓ (૭૫)

આ પ્રકૃતિઓ જ્ઞાન આદિ કોઈ શુભનો ઘાત કરતી નથી. એટલા માટે તેને  
અઘાતી પ્રકૃતિ કહે છે, પરન્તુ સર્વઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે જ્યારે તેનું વેદન થાય છે  
તો પોતે અઘાતી હોવા છતાય પણ એ સર્વઘાતીનું ફળ પ્રદર્શિત કરે છે અથવા  
દેશઘાતી પ્રકૃતિઓની સાથે તેનું વેદન હોય તો પોતે અઘાતી હોવા છતાય પણ  
દેશઘાતી રસને પ્રગટ કરે છે જેવી રીતે કોઈ પુરુષ ચોર ન હોય પરન્તુ ચોરાની સાથે હોય  
તો તે પણ ચોર જેવો જ દેખાય છે એ પ્રમાણેજ આ અઘાતી પ્રકૃતિઓ વિષે સમજવું



### ઉત્તરપ્રકૃતિસંખ્યા—

જ્ઞાનાવરણીયાદષ્ટવિધકર્મણામુત્તરપ્રકૃતિસંખ્યા અષ્ટચત્વારિંશદધિકશતં ૧૪૮ મવન્તિ । તથાદિ—

(૧) જ્ઞાનાવરણીયસ્ય—મતિ—શ્રુતા—અવધિ—મનપર્યય—કેવલજ્ઞાનાવરણીય—

મેદાત્ પચ્ચ ।

(૨) દર્શનાવરણીયસ્ય—અશ્રુર્દર્શના—અશ્રુર્દર્શના—અવધિર્દર્શન—કેવલદર્શનાવરણીયાનિ ચત્વારિ, તથા—નિદ્રા—નિદ્રાનિદ્રા—પ્રચલા—પ્રચલાપ્રચલા—સ્ત્યાનર્દિમેદાત્ પચ્ચ મિલિત્વા નવ મવન્તિ ।

(૩) વેદનીયસ્ય સાતાશ્વાતમેદેન દ્વૌ મેદૌ સ્ત ।

### ઉત્તરપ્રકૃતિયોંકી સંખ્યા—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોંકી ઉત્તર પ્રકૃતિયોંકી સંખ્યાયે (મધ્યમવિવર્ણોં સે) ૧૪૮ હેં । વે હસ પ્રકાર—

(૧) જ્ઞાનાવરણીય કી પાંચ—(૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મન પર્યયજ્ઞાનાવરણીય, (૫) કેવલજ્ઞાનાવરણીય ।

(૨) દર્શનાવરણીય કી નૌ—(૧) અશ્રુર્દર્શનાવરણીય, (૨) અશ્રુર્દર્શનાવરણીય, (૩) અવધિર્દર્શનાવરણીય, (૪) કેવલદર્શનાવરણીય, તથા (૫) નિદ્રા, (૬) નિદ્રાનિદ્રા, (૭) પ્રચલા, (૮) પ્રચલાપ્રચલા, (૯) સ્ત્યાનર્દિ, વે પાંચ નિદ્રાએં મિલિત્વા કુલ નૌ પ્રકૃતિયોં હેં ।

(૩) વેદનીય કી દ્વૌ—સાતાવેદનીય ઓર અસાતાવેદનીય ।

### ઉત્તરપ્રકૃતિઓની સંખ્યા—

જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મોંની ઉત્તરપ્રકૃતિઓની સંખ્યા (મધ્યમ વિવર્ણોં) એકસોને અઠતાલીસ (૧૪૮) છે તે આ પ્રમાણે—

(૧) જ્ઞાનાવરણીયની પાંચ — (૧) મતિજ્ઞાનાવરણીય, (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણીય, (૪) મનપર્યયજ્ઞાનાવરણીય, (૫) કેવલજ્ઞાનાવરણીય ।

(૨) દર્શનાવરણીયની નવ છે (૧) અશ્રુર્દર્શનાવરણીય, (૨) અશ્રુર્દર્શનાવરણીય, (૩) અવધિર્દર્શનાવરણીય, (૪) કેવલદર્શનાવરણીય, તથા (૫) નિદ્રા, (૬) નિદ્રા-નિદ્રા, (૭) પ્રચલા, (૮) પ્રચલા-પ્રચલા, (૯) સ્ત્યાનર્દિ, આ પાંચ નિદ્રાઓ મળીને કુલ નવ પ્રકૃતિઓ થાય છે.

(૩) વેદનીયની બે (૧) સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય,

(૪) મોહનીયસ્ય-અટાવિશ્વતિર્મેદા ભવતિ । તથાહિ-સમ્યક્ત્વમોહનીય-મિધ્યાત્વમોહનીય-મિશ્રમોહનીય-મેદેન ત્રીણિ દર્શનમોહનીયાનિ । પશ્ચવિશ્વતિ ચારિત્રમોહનીયાનિ મિલિત્વાઽટાવિશ્વતિ' । ચારિત્રમોહનીયસ્ય પશ્ચવિશ્વતિર્મેદાઃ, યથા - કપાયમોહનીય૧ - નોકપાયમોહનીય૨-મેદેન ચારિત્રમોહનીય દ્વિવિધમ્ । તત્ર કપાયમોહનીયસ્ય પોઢશ્ચ મેદા ભવતિ, યથા-અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધો માનો, માયા, લોભ' ૪, અનન્ત' = સસારો નારક તિર્યગ્-મનુષ્ય-દેવ-જન્મ-જરા-મરણ પરમ્પરાલક્ષણ, તદનુબન્ધાદનન્તાનુબન્ધિનઃ ક્રોધમાનમાયાલોભ-શ્ચત્વાર' કપાયાઃ ૪ । તત્ર ક્રોધઃ-કૃત્યાકૃત્યવિવેકો મૂલકાઽક્ષમારૂપ આત્મ-પરિણામઃ । માનો-ગર્વ', માયા-ઘાઠયમ્, લોભો-ગૃધ્નુતા । અનન્તાનુબન્ધિ-

(૪) મોહનીય કી અટ્ટાર્સ-સમ્યક્ત્વમોહનીય, મિશ્રમોહનીય ઔર મિધ્યાત્વમોહનીય, યે ત્રીન દર્શનમોહનીય કી, તથા પશ્ચીસ ચારિત્રમોહનીય કી કુલ અટ્ટાર્સ પ્રકૃતિયૌ હૈં । ચારિત્રમોહનીય કી પશ્ચીસ પ્રકૃતિયૌ હસ પ્રકાર હૈં-ચારિત્રમોહનીય કે દો મેદ હૈં-કપાયચારિત્ર મોહનીય, ઔર નોકપાયચારિત્રમોહનીય । કપાયચારિત્રમોહનીય કે સોલ્હ મેદ હૈં, જૈસે-અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ માન, માયા, લોભ, ૧ જો કપાય, નારક, તિર્યચ, મનુષ્ય ઔર દેવગતિ મેં જન્મ જરા-મરણ-રૂપ અનન્ત સંસાર કા અનુબંધ કરે, વહ અનન્તાનુબન્ધી હૈ । ડસ કે ચાર મેદ હૈં-ક્રોધ, માન, માયા ઔર લોભ । કર્તવ્ય-અકર્તવ્ય કે વિવેક કો નહ કર દેને વાલ્ઝ અક્ષમારૂપ આત્મા કા પરિણામ ક્રોધ કહ્લાતા હૈ । ગર્વકો માન કહ્તે હૈં । માયા કા અર્થ કપટ હૈ । ગૃધ્નિમાવ (છલ્લચ) લોભ કહ્લાતા હૈ । અનન્તાનુબન્ધી કપાયચતુષ્ક મેં ક્રોધ કો પર્વત કી રાજિ

(૪) મોહનીયકર્મની અક્ષવીસ છે (૧) સમ્યક્ત્વમોહનીય, મિશ્રમોહનીય, અને મિધ્યાત્વમોહનીય, આ ત્રણ દર્શનમોહનીયની, તથા પશ્ચીસ ચારિત્રમોહનીયની, એ પ્રમાણે કુલ અક્ષવીસ પ્રકૃતિઓ છે ચારિત્રમોહનીયની પશ્ચીસ પ્રકૃતિઓ આ પ્રમાણે છે - ચારિત્રમોહનીયના બે લેહ છે (૧) કપાયચારિત્રમોહનીય અને (૨) નોકપાયચારિત્રમોહનીય, કપાયચારિત્રમોહનીયના સોળ લેહ છે જેમકે-અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ, માન, માયા, લોભ. જે કપાય નારક, તિર્યચ, મનુષ્ય, અને દેવગતિમાં જન્મ, જરા, મરણરૂપ અનન્ત સંસારનો અનુબંધ કરે તે અનન્તાનુબન્ધી છે તેના ચાર લેહ છે, ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ, કર્તવ્ય-અકર્તવ્યનાં વિવેકનો નાશ કરવાવાળા અક્ષમારૂપ આત્માનો પરિણામ તે ક્રોધ કહેવાય છે ગર્વને માન કહે છે માયાનો અર્થ કપટ છે લાલચ તે લોભ કહેવાય છે અનન્તાનુબન્ધી કપાયચતુષ્કમાં ક્રોધને પર્વતની રાજિનું (પર્વત કપાવાધી

કપાયત્વતુષ્ટયે ક્રોધસ્ય પર્વતરાજિઃ, માનસ્ય શૈલસ્તમ્મઃ, માયાયાઃ-વંશમૂલં,  
લોમસ્ય-કૃમિજરાગઃ, ઉદાહરણમ્ ।

एवमप्रत्याख्यानानावरणीयकषायाः क्रोधादयश्चत्वारः४ । तत्र प्रत्याख्यानं  
द्विविधम् - देशविरति-सर्वविरति-भेदात् । प्रत्याख्यानमित्यत्र प्रतिशब्दः । प्रति  
पेधवाची, प्रतिपेधस्याख्यान=प्रकाशनम्-प्रत्यारख्यानम् । 'सर्वान् प्राणिनो  
न हन्मि यावज्जीवम्' इत्यादि भावत स्वाचार्यादि समीपे  
प्रकाशनमित्यर्थः । प्रत्याख्यानस्यावरणीयम् प्रत्याख्यानानावरणीयम्, न  
प्रत्याख्यानानावरणीयम् = अप्रत्याख्यानानावरणीयम् । अत्रोपमार्थो 'नञ्' - शब्दः ।

(પર્વત કટને સે હવન્ન હુઈ ઘરાર,) કા, માન કો શૈલસ્તમકા, માયાકો વાસકી બઢકા  
ઔર લોમકો કિરમિચી રંગકા ઉદાહરણ દિયા ગયા હૈ ।

इसी प्रकार अप्रत्याख्यानानावरण के क्रोध आदि चार भेद हैं । प्रत्याख्यान दो  
प्रकारका है-देशविरति और सर्वविरति । 'प्रत्याख्यान' शब्द में 'प्रति' उपसर्ग निषेध  
वाचक है, अर्थात् प्रतिपेध का प्रकाश करना प्रत्याख्यान है, अर्थात् "मैं जीवनपर्यन्त किसी भी  
प्राणीकी हिंसा नहीं करूँगा" इत्यादि प्रकार से भावपूर्वक अपने आचार्य आदि के समक्ष प्रकाशित  
करना प्रत्याख्यान है । प्रत्याख्यान का आवरणीय प्रत्याख्यानानावरणीय कहलता है । जो  
प्रत्याख्यानानावरणीय न हो वह अप्रत्याख्यानानावरणीय है । यहाँ 'नञ्' शब्द उपमा के अर्थ  
में है, अर्थात् जो कषाय प्रत्याख्यानानावरणीय के समान हो वह अप्रत्याख्यानानावरणीय

ઉત્પન્ન થયેલી કાટ-ખીર) માનને શૈલસ્તમનું, માયાને વાંચની બઢનું અને લોમને  
કિરમીય રંગનું ઉદાહરણ આપ્યું છે

આ પ્રમાણે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણના ક્રોધ આદિ ચાર ભેદ છે પ્રત્યાખ્યાન બે  
પ્રકારના છે-દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ 'પ્રત્યાખ્યાન' શબ્દમાં 'પ્રતિ' ઉપસર્ગ નિષેધ-  
વાચક છે અર્થાત્ પ્રતિપેધનો પ્રકાશ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન છે અર્થાત્ "હું જીવન સુધી  
કોઈ પણ પ્રાણીની હિંસા કરીશ નહીં." ઇત્યાદિ પ્રકારે ભાવપૂર્વક પોતાના આચાર્ય આદિના  
સમક્ષ પ્રકાશિત કરવું તે પ્રત્યાખ્યાન છે પ્રત્યાખ્યાન નો આવરણીય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય  
કહેવાય છે જે પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય ન હોય તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે અર્થાત્ 'નજ્'  
શબ્દ ઉપમાના અર્થમાં છે અર્થાત્-જે કષાય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીયની સમાન હોય તે  
અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે અથવા 'નજ્' અર્થ-શીઠ-એવા અર્થ

પ્રત્યાખ્યાનાવરણીયવત્ = અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીયમ્ । યદ્વા-અલ્પાર્યો નન્, અત્યં પ્રત્યાખ્યાનમ્=અપ્રત્યાખ્યાનમ્, તસ્યાવરણીયમિતિ । અત્ય=દેશવિરતિરૂપ પ્રત્યાખ્યાનં સમાવૃણોતિ કપાયચતુષ્ટયમ્, તસ્માદપ્રત્યાખ્યાનાવરણીયમિત્યુચ્યતે । ય કપાયઃ સ્વલ્પ દેશવિરતિરૂપમાવૃણોતિ સ્વ સર્વવિરતિરૂપં પ્રત્યાખ્યાનમાવૃણોત્યેવેતિ નાત્ર ચિત્રમ્ । યત્કર્મોદયાદાવિર્મૂતા કપાયાઃ કેવલ વિરતિમાત્રમાવૃણન્તિ તે સ્વપ્રત્યાખ્યાનાવરણીયા કપાયાઃ ।

एवं प्रत्याख्यानावरणीयकपाया क्रोधादयश्चत्वारः । अप्र प्रत्याख्यान-  
शब्देन सर्वविरतिपरिग्रहः । ये पुन. कपाया सर्वविरतिमेव प्रतिषञ्जन्ति, न  
तु देशविरतिं ते प्रत्याख्यानावरणीया इति ।

કહાતા હૈ । અથવા 'નન્' અત્ય-અર્થ મેં હૈ, અર્થાત્ અત્ય પ્રત્યાખ્યાન અપ્રત્યાખ્યાન કહાતા હૈ, ડસકા આવરણીય અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય હૈ । યહ કપાયચતુષ્ટય અત્ય અર્થાત્ દેશવિરતિરૂપ પ્રત્યાખ્યાન કો આવૃત્ કરતા હૈ, ઇસ કારણ યહ અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહાતા હૈ । જો કપાય સ્વલ્પ દેશવિરતિ કો બી નહીં હોને દેસા વહ સર્વવિરતિ કો ન હોને દે, ઇસ મેં આશ્ચર્ય હી કયા હૈ । જિસ કર્મ કે ઉદય સે આવિર્મૂત કપાય કેવલ વિરતિમાત્ર કો રોકતે હૈ, વે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહાતે હૈ ।

इसी प्रकार क्रोध आदि चार प्रत्याख्यानावरणीय हैं । यद्वा प्रत्याख्यान शब्द  
से सर्वविरति का ग्रहण किया गया है । जो कपाय, सिर्फ सर्वविरति का ही घात करते हैं,  
देशविरति का नहीं वे प्रत्याख्यानावरणीय कहलाते हैं ।

અત્ય પ્રત્યાખ્યાન અપ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે તેનુ આવરણીય અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય  
છે આ કપાયચતુષ્ટય અત્ય અર્થાત્ દેશવિરતિરૂપ પ્રત્યાખ્યાનને આવૃત્ કરે છે (હીંકી  
દે છે) જો કારણથી જો અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે જે કપાય સ્વલ્પ દેશ-  
વિરતિને પણ થવા દેતા નથી. તે સર્વવિરતિને નહિ થવાદે જોમાં આશ્ચર્ય શું છે ?  
જે કર્મના ઉદયથી આવિર્મૂત (ઉત્પન્ન થયેલા) કપાય કેવલ વિરતિમાત્રને રોકે છે,  
તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે

આ પ્રમાણે ક્રોધ આદિ ચાર પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે, અર્થે પ્રત્યાખ્યાન શબ્દથી  
સર્વવિરતિનુ ગ્રહણ કર્યું છે જે કપાય, માત્ર સર્વવિરતિનો ઘાત કરે છે, દેશવિરતિનો  
નહી, તે પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે

કપાયચતુષ્ટયે ક્રોધસ્ય પર્વતરાજિઃ, માનસ્ય શૈલસ્તમ્ભઃ, માયાયા-વંશમૂલ,  
લોભસ્ય-કૃમિજરાગઃ, ઉદાહરણમ્ ।

एवमप्रत्याख्यानावरणीयकपाया' क्रोधादयश्चत्वारः४ । तत्र प्रत्याख्यानं  
द्विविधम् - देशवृत्ति-सर्ववृत्ति-भेदात् । प्रत्याख्यानमित्यत्र प्रतिशब्द' । प्रति-  
षेधवाची, प्रतिषेधस्याख्यानं=प्रकाशनम्-प्रत्यारयानम् । 'सर्वान् प्राणिनो  
न हन्मि यावज्जीवम्' इत्यादि भावत स्वाचार्यादि समीपे  
प्रकाशनमित्यर्थः । प्रत्याख्यानस्यावरणीयम् प्रत्याख्यानावरणीयम्, न  
प्रत्याख्यानावरणीयम् = अप्रत्याख्यानावरणीयम् । अत्रोपमार्थो 'नञ्' - शब्दः ।

(પર્વત ફટકે સે ઉત્પન્ન હુઈ ઘરાર,) કા, માન કો શૈલસ્તમ્ભકા, માયાકો વાંસની જડકા  
ઔર લોભકો ક્રિમિની રંગકા ઉદાહરણ દિયા ગયા હૈ ।

इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण के क्रोध आदि चार भेद हैं । प्रत्याख्यान दो  
प्रकारका है-देशवृत्ति और सर्ववृत्ति । 'प्रत्याख्यान' शब्द में 'प्रति' उपसर्ग निषेध  
वाचक है, अर्थात् प्रतिषेध का प्रकाश करना प्रत्याख्यान है, अर्थात् "मैं जीवनपर्यन्त किसी भी  
प्राणीकी हिंसा नहीं करूँगा" इत्यादि प्रकार से भावपूर्वक अपने आचार्य आदि के समक्ष प्रकाशित  
करना प्रत्याख्यान है । प्रत्याख्यान का आवरणीय प्रत्याख्यानावरणीय कहलता है । जो  
प्रत्याख्यानावरणीय न हो वह अप्रत्याख्यानावरणीय है । यहाँ 'नञ्' शब्द उपमा के अर्थ  
में है, अर्थात् जो कपाय प्रत्याख्यानावरणीय के समान हो वह अप्रत्याख्यानावरणीय

ઉત્પન્ન થયેલી શાટ-ગીર) માનને શૈલસ્તભનું, માયાને વાંસની જડનું અને લોભને  
ક્રિમિની રંગનું ઉદાહરણ આપ્યું છે

આ પ્રમાણે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણના ક્રોધ આદિ ચાર ભેદ છે પ્રત્યાખ્યાન બે  
પ્રકારના છે-દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ 'પ્રત્યાખ્યાન' શબ્દમાં 'પ્રતિ' ઉપસર્ગ નિષેધ-  
વાચક છે અર્થાત્ પ્રતિષેધનો પ્રકાશ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન છે. અર્થાત્ "હું જીવન સુધી  
કોઈ પણ પ્રાણીની હિંસા કરીશ નહીં" ઇત્યાદિ પ્રકારે ભાવપૂર્વક પોતાના આચાર્ય આદિના  
સમક્ષ પ્રકાશિત કરવું તે પ્રત્યાખ્યાન છે પ્રત્યાખ્યાન નો આવરણીય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય  
કહેવાય છે જે પ્રત્યાખ્યાનાવરણીય ન હોય તે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય છે અર્થ નમ્  
શબ્દ ઉપમાના અર્થમાં છે અર્થાત્-જે કપાય પ્રત્યાખ્યાનાવરણીયની સમાન હોય તે  
અપ્રત્યાખ્યાનાવરણીય કહેવાય છે અથવા નમ્ અર્થ-શબ્દ-એવા અર્થમાં છે અર્થાત્

પ્રત્યાહ્યાનાવરણીયકપાયચતુષ્ટયે ક્રોધસ્ય-વાહુકારાજિઃ, માનસ્ય-કાષ્ટસ્તમ્મ, માયાયા-ગચ્છદ્વલીવર્દમૂત્રિકા, લોમસ્ય-સ્વઠ્ઠજનરાગઃ ।

સંજ્વલનકપાયચતુષ્ટયે ક્રોધસ્ય-સલિલરાજિઃ, માનસ્ય-ત્વળસ્તમ્મઃ, માયાયા-રથકારતક્ષિતકાઠસવલિતસ્વક, લોમસ્ય-શરિદ્રારાગ ઇતિ ।

નોકપાયમોહનીયસ્ય નવ મેદા સન્તિ-હાસ્ય, રતિઃ, અરતિ, શોકઃ, મય, જુગુપ્સા, પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ, નપુસકવેદ ઇતિ ૨૫ ।

(૫) આયુષ્યકર્મ ચતુર્વિધમ્-નારક-તૈર્યગ્-માનુષ-દૈવાયુર્મેદાત્ । યસ્યો-દયાત્ પ્રાયોગ્યપ્રકૃતિવિશેષાનુશાયીભૂત આત્મા નારકાદિમાધેન જીવતિ, યસ્ય ચ

પ્રત્યાહ્યાનાવરણીય કપાય કી ચૌકઢી કે ઉદાહરણ-ક્રોધ કા ઉદાહરણ વાહુ મેં સ્ત્રીચી હુઈ લકરી હૈ । માન કા ઉદાહરણ કાઠકા સ્તમ્મ હૈ । માયા કા ઉદાહરણ ચલતે હુપ વૈલ કે મૂત્ર કી ટેન્ની-મેદી લકરી હૈ ઓર લોમ કા ઉદાહરણ સ્વઠ્ઠ-રાગ હૈ ।

સંજ્વલન કપાય કી ચૌકઢી કે ઉદાહરણ-ક્રોધ કા ઉદાહરણ જલ મેં બનાઈ હુઈ લકરી હૈ । માનકા ઉદાહરણ તિનકે કા સ્તમ્મ હૈ । માયા કા ઉદાહરણ વર્દઈ દ્વારા ઊંઠે હુપ કાઠકા ઢિલકા હૈ, ઓર લોમ કા ઉદાહરણ શરિદ્રા કા રાગ હૈ ।

નોકપાય મોહનીય કે નૌ મેદ હૈ-હાસ્ય, રતિ, અરતિ, શોક, મય, જુગુપ્સા, પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ ઓર નપુસકવેદ ૨૫ ।

(૫) આયુષ્ય કર્મ કે ચાર મેદ હૈ-નરકાયુ, તિર્યચાયુ, મનુષ્યાયુ ઓર દેવાયુ । કિસ કર્મ કે ઉદય સે પ્રાયોગ્યપ્રકૃતિવિશેષાનુશાયી અર્થાત્ કિસ કર્મ કે ઉદય સે સ-સ ગતિયોગ્ય પ્રકૃતિવિશેષ મેં સ્થિત આત્મા નારક આદિ કે રૂપ મેં જીતા હૈ

પ્રત્યાહ્યાનાવરણીય કપાયની ચૌકડીનુ ઉદાહરણ-ક્રોધનુ ઉદાહરણ-રેતીમાં કચેલી લીટી છે માનનુ ઉદાહરણ-કાષ્ઠને યાભલો છે માયાનુ ઉદાહરણ-ચાલતા બગદીઆના મૂત્રની વાહી-ચૂકી લીટી છે, અને લોભનુ ઉદાહરણ-બજન-સાગ છે

સંજ્વલન કપાયની ચૌકડીના ઉદાહરણ-ક્રોધનુ ઉદાહરણ-પાણીમાં કચેલી લીટી છે માનનુ ઉદાહરણ તણબલાનો યાભલો છે માયાનુ ઉદાહરણ બદ્ધ દ્વારા (સુતાર દ્વારા) છેલેલા લાકડાની છલ છે અને લોભનુ ઉદાહરણ-હલકરનો રાગ છે

નોકપાયમોહનીયના નવ મેદ છે-હાસ્ય, રતિ, અરતિ, શોક, મય, જુગુપ્સા, પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ, અને નપુસકવેદ ૨૫

(૫) આયુષ્ય-કર્મના ચાર મેદ છે-નરકાયુ, તિર્યચાયુ, મનુષ્યાયુ, અને દેવાયુ જે કર્મના પ્રાયોગ્યપ્રકૃતિવિશેષાનુશાયી, અર્થાત્ જે કર્મના ઉદયથી તે-તે ગતિયોગ્ય પ્રકૃતિવિશેષમાં સ્થિત આત્મા નારકી આદિના રૂપમાં જીવે છે, અને જેના ક્ષયથી મરણ

પ્રત્યારુચ્યાનસ્ય દેશવિરતિર્સર્વવિરતિરુપસ્ય પરિણામદ્વયસ્પોત્પન્નવિધ્યા  
તત્કત્વાત્ પ્રત્યારુચ્યાનાવરણીયા ઉચ્યન્તે, ન તુ વિદ્યમાનસ્ય પ્રત્યારુચ્યાનસ્ય  
વિધાતકતયેતિ તત્ત્વમ્ ।

एवं सञ्चलनकपायाः क्रोधादयश्चत्वारः ४ । समस्तसावधयोगविरतं  
संयमरतमाप यति दुःसहपरिपदसपाते सञ्चलयति=मालिन्यमापादयन्ति - इति  
सञ्चलनाः । (१६) ।

અ પ્રત્યારુચ્યાનાવરણીયકપાયચતુષ્ટયે દષ્ટાન્તા ઉચ્યન્તે-ક્રોધસ્ય-  
તદાગમૂમિરાજિઃ, માનસ્યાસ્થિરત્ત્મ, માયાયાઃ મેષદૃઙ્, લોમસ્ય કર્દમરાગઃ ।

દેશવિરતિ ઔર સર્વવિરતિરૂપ પ્રત્યારુચ્યાન કી ઉત્પત્તિ કા ઘાતક હોને સે રૂસે પ્રમા  
રુચ્યાનાવરણીય કહતે હૈં, પહેલે સે વિદ્યમાન પ્રત્યારુચ્યાન કા ઘાતક હોને સે નહીં ।

इसी प्रकार क्रोध आदि चार सञ्चलन कपाय हैं । सब प्रकार के सावध योग से  
निवृत्त समय में लीन मुनि को दुःसह परीपद उपस्थित होने पर बलाने वाला अर्थात् मलिनता  
उत्पन्न करने वाला कपाय सञ्चलन कहलाता है ।

અપ્રત્યારુચ્યાનાવરણીયકપાયચૌકઠી કે દષ્ટાન્ત બતાવતે હૈં-ક્રોધ કા દષ્ટાન્ત તદાગ-  
મૂમિરાજિ હૈ, અર્થાત્ તાલ્લવ કી મૂમિ ફટને સે ઉત્પન્ન હોનેવાલી દ્વારા કે સમાન યદ ક્રોધ  
હોતા હૈ । માન કા ઉદાહરણ હરહીકા ત્ત્મ હૈ । માયાકા ઉદાહરણ મેદાકા સીંગ હૈ ઔર  
લોમ કા દષ્ટાન્ત ગાદી કા બોગન (ગાદી કે પૈયે મેં રિયે હુપ સેલ કા ફીટા ) હૈ ।

દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિરૂપ પ્રત્યારુચ્યાનની ઉત્પત્તિનું ઘાતક હોવાથી તેને  
પ્રત્યારુચ્યાનાવરણીય કહે છે, પહેલાથી વિદ્યમાન પ્રત્યારુચ્યાનનું ઘાતક હોવાથી નહિ.

એ પ્રમાણે ક્રોધ આદિ ચાર સંચલન કપાય છે, સર્વ પ્રકારના સાવધ યોગથી  
નિવૃત્ત, સંયમમાં લીન મુનિને દુઃસહ પરીપદ આવી પ્રાપ્ત થતાં જતાવવાવાળા અર્થાત્  
મલિનતા ઉત્પન્ન કરવાવાળા કપાય સંચલન કહેવાય છે

અપ્રત્યારુચ્યાનાવરણીય-કપાય-ચૌકઠીનું દષ્ટાન્ત બતાવે છે-ક્રોધનું દષ્ટાન્ત તલાવની  
મૂમિરાજિ છે અર્થાત્ તલાવની મૂમિ ફાટવાથી ઉત્પન્ન થયેલી ફાટ-શીરના સમાન  
એ ક્રોધ હોય છે માનનું ઉદાહરણ હાડકાની સ્તબ છે માયાનું ઉદાહરણ મેદાનાં સીંગ  
છે, અને લોભનું દષ્ટાન્ત ગાદીની મળી (ગાદીનાં પૈડાંમાં અપાયેલા તેલનું કીટું ) છે

નામ, (૧૪) આનુપૂર્વીનામ, (૧૫) અગુરુલઘુનામ, (૧૬) ઉપઘાતનામ, (૧૭) પરાઘાતનામ, (૧૮) આતપનામ, (૧૯) ઉદ્યોતનામ, (૨૦) ઉચ્છ્વાસનામ, (૨૧) વિદ્યાયોગતિનામ, (૨૨) પ્રત્યેકશરીરનામ, (૨૩) સાધારણશરીરનામ, (૨૪) વ્રસનામ, (૨૫) સ્થાવરનામ, (૨૬) મુમગનામ, (૨૭) દુર્મગનામ, (૨૮) મુત્ત્વરનામ, (૨૯) દુસ્ત્વરનામ, (૩૦) શુભનામ, (૩૧) અશુભનામ, (૩૨) સૂક્ષ્મનામ, (૩૩) વાદરનામ, (૩૪) પર્યાપ્તનામ. (૩૫) અપર્યાપ્તનામ, (૩૬) સ્થિરનામ, (૩૭) અસ્થિરનામ, (૩૮) આદેયનામ, (૩૯) અનાદેયનામ, (૪૦) યશોનામ, (૪૧) અયશોનામ, (૪૨) તીર્થકરનામ ।

एते मूलमेदाः पिण्डप्रकृतिनाम्नापि कथ्यन्ते । अत्र गत्यादिचतुर्दशपिण्ड-  
प्रकृतीनामुत्तरप्रकृतयः— पञ्चपट्टिः (६५) ।

(૧૫) અગુરુલઘુનામ, (૧૬) ઉપઘાતનામ, (૧૭) પરાઘાતનામ, (૧૮) આતપનામ, (૧૯) ઉદ્યોતનામ, (૨૦) ઉચ્છ્વાસનામ, (૨૧) વિદ્યાયોગતિનામ, (૨૨) પ્રત્યેકશરીરનામ, (૨૩) સાધારણશરીરનામ, (૨૪) વ્રસનામ, (૨૫) સ્થાવરનામ, (૨૬) મુમગનામ, (૨૭) દુર્મગનામ, (૨૮) મુત્ત્વરનામ, (૨૯) દુસ્ત્વરનામ, (૩૦) શુભનામ, (૩૧) અશુભનામ, (૩૨) સૂક્ષ્મનામ, (૩૩) વાદરનામ, (૩૪) પર્યાપ્તનામ, (૩૫) અપર્યાપ્તનામ, (૩૬) સ્થિરનામ, (૩૭) અસ્થિરનામ, (૩૮) આદેયનામ, (૩૯) અનાદેયનામ, (૪૦) યશ કીર્તિનામ, (૪૧) અયશ કીર્તિનામ, (૪૨) તીર્થકરનામ—કર્મ ।

इन बयालीस प्रकृतियों में बिन प्रकृतियों के अवान्तर मेद हैं, उन्हें पिण्ड-  
प्रकृति कहते हैं । गति आदि चौदह पिण्डप्रकृतियाँ हैं और उनके पैसठ (६५) मेद  
होते हैं ।

અશુરુલઘુનામ, (૧૬) ઉપઘાતનામ, (૧૭) પરાઘાતનામ, (૧૮) આતપનામ, (૧૯) ઉદ્યોતનામ, (૨૦) ઉચ્છ્વાસનામ, (૨૧) વિદ્યાયોગતિનામ, (૨૨) પ્રત્યેકશરીરનામ, (૨૩) સાધારણશરીરનામ, (૨૪) વ્રસનામ, (૨૫) સ્થાવરનામ, (૨૬) મુમગનામ, (૨૭) દુર્મગનામ, (૨૮) મુત્ત્વરનામ, (૨૯) દુસ્ત્વરનામ, (૩૦) શુભનામ, (૩૧) અશુભનામ, (૩૨) સૂક્ષ્મનામ, (૩૩) વાદરનામ, (૩૪) પર્યાપ્તનામ, (૩૫) અપર્યાપ્તનામ, (૩૬) સ્થિરનામ, (૩૭) અસ્થિરનામ, (૩૮) આદેયનામ, (૩૯) અનાદેયનામ, (૪૦) યશઃકીર્તિનામ, (૪૧) અયશઃકીર્તિનામ, (૪૨) તીર્થકરનામ—કર્મ

આ બેતાલીસ પ્રકૃતિઓમાં જે પ્રકૃતિઓના અવાન્તર લેદ છે, તેને પિંડપ્રકૃતિ  
કહે છે એટલે આદિ ચૌદ પિંડપ્રકૃતિઓ છે અને પાંસઠ (૬૫) તેના લેદ છે



સયાન્મૃત ઉચ્ચતે, તદાયુઃ । યદ્વા-આનીયન્તે શેષપ્રકૃતય ઉપમોગાય જીવેન યસ્મિન્, તદાયુઃ । યથા-કાંસ્યાદિપાત્રે શાલ્યોદનવ્યઋજનાદયો મોક્ષા મોક્ષુ-માનીયન્તે, તદ્વત્ ।

(૬) નમયતિ=પાપયતિ નારકાદિસજ્ઞાં જીવમિતિ નામ । નામકર્મ-ગચ્છિનવતિર્મેદાઃ ભવન્તિ ।

તત્ર મૂલમેદાઃ દ્વિચત્વારિશ્ચત્ । તથાહિ—

(૧) ગતિનામ, (૨) જાતિનામ, (૩) શરીરનામ, (૪) અજ્ઞોપાન્નનામ, (૫) નિર્માણનામ, (૬) વન્ધનનામ, (૭) સંઘાતનામ, (૮) સંસ્થાનનામ, (૯) સંહનનામ, (૧૦) વર્ણનામ, (૧૧) ગન્ધનામ, (૧૨) રસનામ, (૧૩) સ્પર્શ-

ઔર જિસ કે ક્ય સે મર જાતા હૈ, ડસે આયુર્કર્મ કહતે હૈ । અથવા જિસ મેં બીજ મોગને કે સ્થિત અન્ય પ્રકૃતિયોં કો છાતા હૈ વહ આયુ હૈ, જૈસે કાંસિ આદિ કે મામન મેં જાબહ, બોદન, બંધન આદિ વસ્તુએં મોગને વાલા પુરુષ છાતા હૈ, ડસી પ્રકાર શેષ પ્રકૃતિયોં આયુ મેં મોગી જાતી હૈ ।

(૬) નામ-કર્મ કે સેરાનવે (૧૩) મેદ-ઓ કર્મ બીજ કો નારક આદિ સજ્ઞાઓ કા પાત્ર બનાવતા હૈ, વહ નામકર્મ કહહણતા હૈ । ડસકે સેરાનવે મેદ હૈ । ડન મેં મી મૂલ મેદ જયજીજી હૈ, જે હસ પ્રકાર—(૧) ગતિનામ, (૨) જાતિનામ, (૩) શરીરનામ, (૪) અજ્ઞોપાન્ન-નામ, (૫) નિર્માણનામ, (૬) વન્ધનનામ, (૭) સંઘાતનામ, (૮) સંસ્થાનનામ, (૯) સંહનનામ (૧૦) વર્ણનામ, (૧૧) ગન્ધનામ, (૧૨) રસનામ, (૧૩) સ્પર્શનામ, (૧૪) આનુપૂર્વનામ,

પાત્રે છે, તેને આયુર્કર્મ કહે છે અથવા જેમા જીવ અન્ય પ્રકૃતિઓને લોગવવા માટે લાવે છે તે આયુ છે જેમ કે કાસા આદિના વાસણુમા ઘોખા, જાત, બંધન (શાક) આદિ વસ્તુઓ લોગવવાવાળા પુરુષ લાવે છે તે પ્રમાણે શેષ-પ્રકૃતિઓ આયુર્માં લોગવાય છે

(૬) નામકર્મના ત્રણ (૬૩) લેહ છે જે કર્મ જીવને નારકી આદિ સજ્ઞાઓનું પાત્ર બનાવે છે, તે નામકર્મ કહેવાય છે, તેના ત્રણ (૬૩) લેહ છે તેમાં પછુ મૂલ લેહ બેતાલીસ છે તે આ પ્રમાણે—(૧) ગતિનામ, (૨) જાતિનામ, (૩) શરીરનામ, (૪) અજ્ઞોપાન્નનામ, (૫) નિર્માણનામ, (૬) બંધનનામ, (૭) સંઘાતનામ, (૮) સંસ્થાનનામ, (૯) સંહનનામ, (૧૦) વર્ણનામ, (૧૧) ગન્ધનામ, (૧૨) રસનામ, (૧૩) સ્પર્શનામ, (૧૪) આનુપૂર્વનામ, (૧૫)

પૃષ્ઠમ્, ઉદર, કરો, પાદો ચ । વન્દને તુ પશ્ચાદ્ધાન્યેવ પ્રશસ્તાનિ- દ્વૌ ચરણી, દ્વૌ કરો, શિરશ્ચેતિ । તત્ર ચરણાવિત્પનેન જાનુની શુદ્ધેતે । એતાનિ પશ્ચાદ્ધાનિ ધૂમા-  
ધારોપ્ય વન્દન પશ્ચાદ્ધવન્દનમ્ । અપ્તાનામદ્ધાનામેકૈકસ્યોપાદ્ધમનેકપ્રકારમ્,  
તત્ર શિરોઽસ્યોપાદ્ધનામાનિ - યથા - મસ્તિષ્ક - કપાલ - કુકાટિકા - શસ્ત્ર - લલાટ -  
તાલુ - કપોલ - હનુ - ચિબુક - દશનૌ - પ્થ - ધ્રુ - નયન - કર્ણ - નાસાદીનિ । તત્ર મસ્તિષ્ક  
શિરોઽસ્યારમ્મકોઽવયવ ।

નતુ મસ્તિષ્ક ધાતુવિશેષો ન સ્વર્ગ નાપ્યુપાદ્ધમ્ ? इति चेत्, उच्यते-कपाला-  
दिषत् शिरोऽङ्गस्यारमम्भत्त्वान्मस्तिष्कमप्युपाङ्गं शिरसोऽवगन्तव्यम् ।

સ્વાવરપદ્ધત્તે તુ 'પ્રમૃતીન્યદ્ધાનિ ન સન્તિ ।

પૈતો કા અભિપ્રાય ઘુટના સમજના વાદિપ । इन पांचो अङ्गों को भूमि पर टिका कर वन्दना  
करना पश्चाद्वन्दना है । इन आठो अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग के अनेक उपाङ्ग हैं । उन में से  
सिरअङ्ग के उपाङ्ग इस प्रकार हैं-मस्तिष्क, कपाल, कृकाटिका, शस्त्र, ललाट, तालु, कपोल,  
हनु, दाढी, चिबुक (ठोड़ी) दांत, ओठ मौह, नेत्र, कान, नाक, आदि । मस्तिष्क, शिररूप अङ्ग  
का आरम्भक अवयव है ।

‘મસ્તિષ્ક એક પ્રકાર કી ધાતુ હૈ, અંગ નથી હૈ ઓર ન ઉપાંગ હી હૈ’ इसका  
समाधान यह है कि-कपाल आदि के समान सिररूप अङ्गका आरम्भक होने के कारण  
मस्तिष्क शिर का उपाङ्ग, ही है ।

પાંચ સ્થાવરો મેં છાતી આદિ અંગ નહીં હોતે ।

પગનો અભિપ્રાય ઘુટણ સમજવું જોઈએ. આ પાંચ અંગોને ભૂમિપર અદ્ધાત્રીને વદના  
કરવી તે પશ્ચાત્ વદના છે આ આઠે અંગોમાંથી પ્રત્યેક અંગનાં અનેક ઉપાંગ છે  
તેમાંથી શિર-અંગના ઉપાંગ આ પ્રમાણે છે-મસ્તિષ્ક, કપાલ, કુકાટિકા (શીવાનો  
ઉન્નત દેશ) શાખ (કણ) સમીપતુ અસ્થિ લલાટ, તાલુ, ગાલ, દાદી, ચિબુક (હઠપચી  
વચ્ચેનો છાછર ખાટો) દાંત, ઓઠ, મોહ, નેત્ર, કાન, નાક આદિ મસ્તિષ્ક શિરરૂપ  
અંગનું આરંભક અવયવ છે

‘મસ્તિષ્ક એક પ્રકારની ધાતુ છે, અંગ નથી અને પ્રત્યંગ પણ નથી’ તેનું  
સમાધાન એ છે કે-કપાલ આદિ પ્રમાણે શિરરૂપ અંગનું આરંભક હોવાના કારણે  
મસ્તિષ્ક, શિરનું ઉપાંગજ છે

પાંચ સ્થાવરોમાં છાતી આદિ અંગ નથી.

[૧] ગતિનામ્નઃ પિષ્ઠમકૃતેષ્વત્વારો મેદાઃ— નરકગતિનામ, તિર્યગ્ગતિનામ, મનુષ્યગતિનામ, દેવગતિનામ ચ ।

[૨] જાતિનામ્નો મેદાઃ પશ્ચ—એકેન્દ્રિયજાતિનામ, દ્વીન્દ્રિયજાતિનામ, ત્રીન્દ્રિયજાતિનામ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિનામ, પચ્ચેન્દ્રિયજાતિનામ ।

[૩] શરીરનામ પશ્ચવિષમ્—ઔદારિકશરીરનામ, વૈક્રિયશરીરનામ, આહારકશરીરનામ, તૈજસશરીરનામ, કાર્મણશરીરનામ ।

[૪] અહ્યાન્યુપાક્રન્તિ ચ યસ્ય કર્મણ ઉદયાક્રવન્તિ, તદ્વોપાક્રનામકર્મ । તત્ત્રિવિષમ્—ઔદારિક—વૈક્રિયકા—આહારક—મેદાત્ । તત્રાહ્યાન્યપૃષ્ઠૌ—ઉર, સિર,

[૧] ગતિનામકર્મ કે ચાર મેદ—નરકગતિનામકર્મ, તિર્યગ્ગતિનામકર્મ, મનુષ્યગતિનામકર્મ ઓર દેવગતિનામકર્મ ।

[૨] જાતિનામકર્મ કે પાંચ મેદ હૈ—એકેન્દ્રિયજાતિનામ, દ્વીન્દ્રિયજાતિનામ, ત્રીન્દ્રિયજાતિનામ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિનામ ઓર પચ્ચેન્દ્રિયજાતિનામ—કર્મ ।

[૩] શરીરનામકર્મ કે પાંચ મેદ હૈ—ઔદારિકશરીરનામ, વૈક્રિયશરીરનામ; આહારકશરીરનામ, તૈજસશરીરનામ ઓર કાર્મણશરીરનામ—કર્મ ।

[૪] કિસ કર્મ કે ઉદય સે અજ્ઞ ઓર ઉપાક્ર હોતે હૈ વહ અજ્ઞોપાક્રશરીરનામકર્મ, કહલાવા હૈ । ઉસકે ત્રીન મેદ હૈ ઔદારિક—અજ્ઞોપાક્ર, વૈક્રિય—અજ્ઞોપાક્ર ઓર આહારક અજ્ઞોપાક્ર । ઇન મેં અજ્ઞ આઠ હોતે હૈ—છાતી, સિર, પીઠ, પેટ, ઘો હાથ ઓર ઘો પૈર । કન્દના કરને મેં પાંચ અજ્ઞ પ્રશસ્ત માને જાતે હૈ—ઘો પૈર, ઘો હાથ, ઓર સિર । યહૌ

(૧) ગતિનામકર્મના ચાર ભેદ—નરકગતિનામકર્મ, તિર્યગ્ગતિનામકર્મ, મનુષ્યગતિનામકર્મ અને દેવગતિનામકર્મ

(૨) જાતિનામકર્મના પાંચ ભેદ છે—એકેન્દ્રિયજાતિનામ, દ્વીન્દ્રિયજાતિનામ, ત્રીન્દ્રિયજાતિનામ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિનામ, અને પચ્ચેન્દ્રિયજાતિનામ—કર્મ

(૩) શરીરનામકર્મના પાંચ ભેદ છે—ઔદારિકશરીરનામ, વૈક્રિયશરીરનામ, આહારકશરીરનામ, તૈજસશરીરનામ, અને કાર્મણશરીરનામ—કર્મ

જે કર્મના ઉદયથી અજ અને ઉપાંચ થાય છે તે અજોપાગશરીરનામકર્મ કહેવાય છે તેના ત્રણ ભેદ છે ઔદારિકઅજોપાગ, વૈક્રિયઅજોપાંચ અને આહારકઅજોપાંચ. તેમાં અગ આઠ કોય છે—છાતી, સિર, પીઠ, પેટ જે હાથ અને જે પગ વડના કરવામાં પાંચ અગ પ્રશસ્ત માન્યા છે જે પગ જે હાથ અને સિર—માથુ આદિ

કારણાનુસ્ય દિ કાર્યં દૃષ્ટમ્ । સઘાતવિશેષાદેવ દિ વિભાગેન પુરુપાદિશરીરવ્યપદેશી મવતિ । સઘાતનામ પચ્ચઘા-ઔદારિકાવિમેદાત્ ।

[૭] ઘઘ્યમાનેષુ શરીરયોગ્યપુદ્ગલેષુ યસ્ય કર્મણ ઉદયાત્ આકાર-વિશેષો મવતિ તત્ સસ્યાનનામ । એતથ પદ્ધવિધમ્-(૧) સમચતુરસ્ત્રનામ-(૨) ન્યગ્રોધપરિમળ્હલનામ-(૩) સાદિનામ-(૪) કુન્જનામ-(૫) વામનનામ-(૬) હુન્હ-નામમેદાત્ ।

[૮] સહનનનામ-અસ્ત્રાં ઘન્ધવિશેષ. । તથ પદ્ધવિધમ્-(૧) વર્ષર્પમ-નારાચનામ, (૨) અર્ધવર્ષર્પમનારાચનામ, (૩) નારાચનામ, (૪) અર્ધનારાચનામ, (૫) કીલિકાનામ, (૬) સેવાર્તનામ ચ ।

હી હોતા હૈ । સંઘાત કી મિત્રતા કે કારણ હી શરીરો મેં સ્ત્રી, પુરુષ આત્મિકા મેદ-વ્યવહાર હોતા હૈ । ઔદારિક આદિ કે મેદ સે સઘાત મી પાંચ પ્રકાર કા હૈ ।

[૭] ઘણે જાતે હુપ શરીરયોગ્ય પુદ્ગલો મેં જિસ કર્મ કે ઉદય સે આકૃતિ વિશેષ બનતા હૈ ઉસે સસ્યાનનામકર્મ કહતે હૈ । સસ્યાન છદ્ પ્રકારકા હૈ—

(૧) સમચતુરસ્ત્ર-સસ્યાન, (૨) ન્યગ્રોધપરિમળ્હલ-સસ્યાન, (૩) સાદિ-સસ્યાન, (૪) કુન્જક-સસ્યાન, (૫) વામન-સસ્યાન, (૬) હુન્હક-સસ્યાન ।

[૮] અસ્થિઓ કે ઘન્ધવિશેષ કો સહનનનામકર્મ કહતે હૈ । ઉસકે છદ્ મેદ હૈ—  
(૧) વર્ષર્પમનારાચ-સહનન, (૨) અર્ધવર્ષર્પમનારાચ સહનન, (૩) નારાચ-સહનન, (૪) અર્ધનારાચ-સહનન, (૫) કીલિકા-સહનન ઓર (૬) સેવાર્ત-સહનન ।

કાર્ય, કારણ જેવાંજ હોય છે સઘાતની બિન્નતાના કારણેજ શરીરોમાં સ્ત્રી, પુરુષ આદિના ભેદ-વ્યવહાર હોય છે ઔદારિક આદિના ભેદથી સઘાત પણ પાંચ પ્રકારના છે

(૭) અંધાતા શરીરયોગ્ય પુદ્ગલોમાં જે કર્મના ઉદયથી આકૃતિવિશેષ બને છે તેને સસ્યાનનામકર્મ કહે છે સસ્યાન છ પ્રકારના છે—(૧) સમચતુરસ્ત્ર-સસ્યાન, (૨) ન્યગ્રોધપરિમળ્હલ-સસ્યાન, (૩) સાદિ-સસ્યાન, (૪) કુન્જક-સસ્યાન, (૫) વામન-સસ્યાન, (૬) હુન્હક-સસ્યાન.

(૮) અસ્થિઓના ઘન્ધવિશેષને સહનનનામકર્મ કહે છે તેના છ ભેદ છે—  
(૧) વર્ષસપ્તમનારાચસહનન, (૨) અર્ધવર્ષસપ્તમનારાચસહનન, (૩) નારાચસહનન, (૪) અર્ધનારાચસહનન, (૫) કીલિકાસહનન અને (૬) સેવાર્તસહનન.

(૫) શરીરનામકર્મોદયાદ્ ગૃહીતેષુ ગૃહમાણેષુ યા તથોગ્યપુદ્ગલેષ્વાત્મ પ્રદેશસ્થિતેષુ શરીરાકારેણ પરિણામિતેષ્વપિ જતુકાદૃશત્ પરસ્પરમવિયોગલક્ષ્મં બન્ધનનામ । યદીદ ન સ્યાત્ તતો વાલુકાપુરુષવદ્ વિઘટિતાનિ શરીરાણિ સ્યુઃ । બન્ધનનામ પञ्ચधा-औदारिकादिभेदात् ।

(૬) કાષ્ઠપિંડમૃત્પિંડાય\*પિંડવત્ ષડ્ધાનામપિ પુદ્ગલાનાં સઘાતવિશેષ જનકં સંઘાતનામ । યદિ સઘાતનામરૂપ\* કર્મભેદો ન સ્પાર્શ્વર્હિ પુરુષયોષિષ્ ગધાદિરૂપનાનાશરીરભેદો ન સ્પાત્ । સઘાતવિશેષજનકાઽન્યકર્મવિશેષાભાવાત્ ।

[૫] શરીરનામકર્મ કે ઉદય સે પ્રવ્રજ ક્રિયે હુપ યા પ્રવ્રજ ક્રિયે જાતે હુપ આત્મ પ્રદેશો મેં સ્થિત ઔર શરીર કે આકાર પરિણત ક્રિયે હુપ શરીર કે ઔગ્ય પુદ્ગલો મેં આત્મ ઔર છક્ટી કે સમાન પરસ્પર અવિયોગ હોના બન્ધનનામકર્મ હૈ, અગર બન્ધનનામકર્મ ન હોતા તો વાલુ સે બનાયે હુપ પુરુષ કે સમાન બિસ્તર જાતા । ઔદારિક આદિ કે ભેદ સે બન્ધન કે મી પાંચ ભેદ હૈ ।

[૬] કાષ્ઠપિંડ, મૃત્તિકાપિંડ યા છોદ્ધ કે પિંડ કે સમાન ષડ્ પુદ્ગલો મેં મી એક વિશેષ પ્રકાર કા સંઘાત (બનિષ્ઠતા) ઉત્પન્ન કરને વાલા કર્મ સંઘાતનામકર્મ કહેજાતા હૈ, ઔર સંઘાતનામકર્મ ન હોતા તો પુરુષ જી ગો આદિરૂપ ભેદ શરીર મેં ન હોતા, ક્યોં કિ સંઘાતવિશેષ ઉત્પન્ન કરને વાલા અન્ય કર્મ હી નહીં હૈ । કાર્ય, કારણ જૈતા

(૫) શરીરનામકર્મના ઉદયથી શરૂ થયેલા અથવા શરૂ થવામાં આવતા અંદર પ્રદેશમાં સ્થિત અને શરીરના આકાર પરિણત થયેલા શરીરના ઔગ્ય પુદ્ગલોમાં લાખ અને લાકડીના સમાન અવિયોગ હોવા તે બંધનનામકર્મ છે અથવા બંધનનામ કર્મ ન હોત તો થેલીથી જનાવેલા પુરુષની સમાન વિશેષાઈ જાત. ઔદારિક આદિના ભેદથી બંધનના પચ્ચ પાંચ ભેદ છે

(૬) કાષ્ઠપિંડ, મૃત્તિકાપિંડ, અથવા લોહના પિંડ સમાન બધે પુદ્ગલોમાં પચ્ચ એક વિશેષ પ્રકારના સંઘાત (બનિષ્ઠતા) ઉત્પન્ન કરવાવાળા કર્મ તે સંઘાતનામકર્મ કહેવાય છે અથવા સંઘાતનામકર્મ ન હોય તો પુરુષ, સ્ત્રી, બાપ આદિ રૂપભેદ શરીરમાં હોય નહિ. કારણકે સંઘાત-વિશેષ ઉત્પન્ન કરવાવાળા અન્ય કર્મજ નથી.

(૧૩) નારકાદિગતિ ગન્તુરન્તર્ગતૌ વર્તમાનસ્ય તદમિમુલ્લમાનુપૂર્વ્યા [તત્ત્વેશ્વરક્રમેણ] તત્ત્વપ્રાપ્તિસમર્થમાનુપૂર્વીનામ । ગત્યન્તર ગચ્છતો જીવસ્ય યત્કર્મોદયાદ-વિશ્વેન તદ્વત્તમાનુગુણ્ય સ્યાત્, તદપિ-આનુપૂર્વીશ્વદવાચ્ય ભવતિ । યથા-વારિવેગો વલીવર્દાદિ, યથા ઘા નસ્યોત્તસ્ય વલીવર્દસ્ય નાસારજ્જ્વા પ્રતિવદ્ધા રજ્જુ, તથાઽઽનુ-પૂર્વીકર્મ જીવસ્ય ગત્યન્તરપ્રાપ્તિર્થ સમાર્કર્પકતયોપગ્રહસ્વરૂપમ્ ।

અન્તર્ગતિશ્ચ યાવન્મનુષ્યો નરકાદિવાચ્યમુત્પત્તિસ્થાન ન પ્રાપ્નોતિ તાવ-ત્કાલિકી ગતિઃ । સા દ્વિવિધા-ઋજ્વી, ઘઠા ચ । તત્ર યદા ઋજ્વ્યા સમય-

(૧૩) નરક આદિ ગતિ મેં જાને વાલા જીવ-જો કિ અન્તર્ગતિ (વિપ્રહગતિ) મેં વર્તમાન છે, ઉસકો ઉન નરક આદિ ગતિયો કી ઓર અમિમુલ્લ કરકે આનુપૂર્વી સે અર્થાત્ ઉસ ઉસ સ્થાન કે ક્રમ સે ઉન ૨ ગતિયો મેં પહુચાને મેં જો કર્મ સમર્થ હોતા છે, ઉસ કર્મ કો આનુપૂર્વીકર્મ કહતે હેં । યથાપિ આનુપૂર્વી શબ્દ કા અર્થ ઉસ ઉસ સ્થાનકા ક્રમ છે તથાપિ-ગત્યન્તર મેં જાતે હુપ જીવ કો જિસ કર્મ કે ઉદય હોને પર ઉસ ગતિ મેં ઉસ ઉસ સ્થાન કે ક્રમ સે જાના હોતા છે, ઇસ લિયે ઉસ કર્મ કો મી આનુપૂર્વી કહતે હેં । જૈસે જલકા પ્રવાહ વૈલકો અપની ઓર સ્વીચ હેતા છે । અથવા જૈસે ગાઢીવાન વૈલકો નાથ પકડ કર અપની ઓર મોઢ હેતા છે, ઉસી પ્રકાર આનુપૂર્વીકર્મ-જીવને જિસ ગતિકા કર્મ વૈષા છે ઉસ ગતિ મેં ઉસકો પહુંચા દેતા છે, ઇસ લિયે વહ ગતિ મેં પહુંચાને કે લિયે સહાયક છે ।

જબ તક મનુષ્ય અપની મનુષ્યગતિ કો છોડકર નરક આદિ કિતી ગતિ મેં નહીં પહુંચા છે, તબ તક કી અર્થાત્ જીવકી ગતિકો અન્તર્ગતિ-વિપ્રહગતિ-કહતે હેં । વહ દો પ્રકાર કી છે-સરલ ઓર ઘઠા । જીવ જબ ઇકસમયપ્રમાણવાલી સરલ (સીધી)

(૧૩) નરક આદિ ગતિમાં જવાવાળા જીવ જો કે-અન્તર્ગતિ (વિપ્રહગતિ)માં વર્તમાન છે તેને તે નરક આદિ ગતિઓની તરફ અભિમુખ કરીને આનુપૂર્વીથી અર્થાત્ તે તે સ્થાનના ક્રમથી તે તે ગતિઓમાં પહોંચાડવામાં જે કર્મ સમર્થ હોય છે તે કર્મને આનુ પૂર્વી કર્મ કહે છે જો કે આનુપૂર્વી શબ્દનો અર્થ તે તે સ્થાનના ક્રમ, એવો છે તો પણ ગત્યન્તરમાં જતે જીવને જે કર્મનો ઉદય થવાથી તે ગતિમાં તે તે સ્થાનના ક્રમથી જવું હોય છે, આજ્ઞા માટે તે કર્મને આનુપૂર્વી કહે છે જેમ યાજ્ઞીનો પ્રવાહ જળદીવાને પોતાની તરફ ખેંચી લે છે, અથવા જેમ ગાડીવાળો જળદીવાને તેની નાથ પકડીને પોતાની બાજુ મોડી લે છે તેજ પ્રમાણે આનુપૂર્વીકર્મ-જીવ જે ગતિનું કર્મ પાંખું છે તે ગતિમાં તેને પહોંચાડી દે છે માટે તે ગતિમાં પહોંચાડવાને માટે સહાયક છે

જ્યાં સુધી મનુષ્ય પોતાની મનુષ્યગતિને મૂકીને નરક આદિ બીજી ગતિમાં નથી પહોંચ્યો ત્યાં સુધીની અર્થાત્ વચલી ગતિને અન્તર્ગતિ-વિપ્રહગતિ કહે છે તે જે પ્રકારની હોય છે-સરલ અને ઘઠા જીવ જ્યારે જોકસમયપ્રમાણવાળી સરલ (સીધી) ગતિથી

(૯) ઔદારિકાદિષુ શરીરેષુ यस્ય કર્મેણ ઉદયાત્ કર્કશાદિઃ સ્પર્શ-  
વિશેષો જાયતે, તત્ સ્પર્શનામ । સ્પર્શનામાદૃષા-કર્કશ-મૃદુ-ગુરુ-લઘુ-સ્તિમ્બ-  
રુક્ષ-શીતો-ઘ્નનામમેદાત્ ।

(૧૦) રસનામ પશ્ચવિધમ્-તિક્ત-કટુ-કપાયા-ઝમ્લ-મધુરમેદાત્ । લઘ્વો  
મધુરાન્તર્ગત इति કેचित્ ।

(૧૧) શરીરવિષય સૌરમ્ દુર્ગન્ધિત્વ ચ यस્ય કર્મેણો વિપાકાભિર્વર્તેતે, તદ્  
ગન્ધનામ । ગન્ધનામ દ્વિવિધમ્-સુગન્ધ-દુર્ગન્ધમેદાત્ ।

(૧૨) યસ્પોદયાચ્છરીરેષુ કૃષ્ણાદિપશ્ચવિધવર્ણનિષ્પત્તિર્ભવતિ તદ્ વર્ણનામ,  
તત્ પશ્ચવિધમ્-કૃષ્ણ-નીલ-લોહિત-પીત-શુક્લમેદાત્ । સર્વાણિ વૈતાનિ સ્પર્શના-  
માદૌનિ વર્ણનામાન્તાનિ શરીરવર્તિષુ પુદ્ગલેષુ પરિણતાનિ ભવન્તિ ।

(૯) ઔદારિક આદિ શરીરોં મેં બિસ કર્મ કે ઉદય સે કઠોર આદિ સ્પર્શ ઉત્પન્ન  
હોતા હૈં ઉસે સ્પર્શનામકર્મ કહતે હૈં । સ્પર્શનામકર્મ આઠ પ્રકાર કા હૈં-કઠોર, કોમલ, મારી,  
હલ્કા, ચિકના, રુસ્તા, શીત, જૌર ઊષ્ણ ।

(૧૦) રસનામકર્મ પાંચ પ્રકાર કા હૈં-તીસા, કઠુવા, કસૈલા, સદા જૌર મીઠા ।  
કિસી કે મત સે ઊવળ મધુર રસ કે અન્તર્ગત હૈં ।

(૧૧) બિસ કર્મે કે ઉદય સે શરીર મેં સુગન્ધ યા દુર્ગન્ધ ઉત્પન્ન હોતી હૈં ઉસે ગન્ધ  
નામકર્મ કહતે હૈં । ઉસકે ઘો મેદ હૈં-સુગન્ધનામ જૌર દુર્ગન્ધનામ ।

(૧૨) બિસ કર્મે કે ઉદય સે શરીરોં મેં કૃષ્ણ આદિ પાંચ વર્ણોં કી ઉત્પત્તિ હોતી હૈં,  
બહ વર્ણનામકર્મ હૈં । ઇસ કે પાંચ મેદ હૈં-કૃષ્ણ, નીલ, રક્ત, પીત જૌર શુક્લ, સ્પર્શ સે ઊઠકર  
વર્ણ તક યે સબ, શરીરવર્તી પુદ્ગલોં મેં હી પરિણત હોસે હૈં ।

(૯) ઔદારિક આદિ શરીરોમાં જે કર્મના ઉદયથી કઠોર આદિ સ્પર્શ ઉત્પન્ન  
થાય છે તેને સ્પર્શનામકર્મ કહે છે સ્પર્શનામકર્મના આઠ પ્રકારના છે-કઠોર, કોમલ,  
મારી, હલકો, ચિકણો રૂખો, શીત અને ઊષ્ણ

(૧૦) રસનામકર્મ પાંચ પ્રકાર છે-તીખો, કઠવો, કસાબોલો, ખાટો અને મીઠો.  
કેટલાકના મતથી ઊવળ મધુર રસની અન્તર્ગત છે

(૧૧) જે કર્મના ઉદયથી શરીરમાં સુગંધ અથવા દુર્ગંધ ઉત્પન્ન થાય છે  
તેને ગન્ધનામકર્મ કહે છે તેના બે ભેદ છે-સુગંધનામ અને દુર્ગંધનામ.

(૧૨) જે કર્મના ઉદયથી શરીરમાં કૃષ્ણ આદિ પાંચ વર્ણોની ઉત્પત્તિ થાય છે તે  
વર્ણનામકર્મ કહેવાય છે તેના પાંચ ભેદ છે-કાળો, નીલો, રક્તો, પીળો અને ધોળો.  
સ્પર્શથી લઈને વર્ણ સુધી જો અથવા શરીરવર્તી પુદ્ગલોમાંજ પરિણત થાય છે.

(૧૩) નારકાદિગતિ ગન્તુરન્તર્ગતો વર્તમાનસ્ય તદમિમુલ્લમાનુપૂર્વ્યા [તત્તદ્દેશક્રમેણ] તત્તત્પ્રાપ્તિસમર્થમાનુપૂર્વીનામ । ગત્યન્તર ગચ્છતો જીવસ્ય યત્કર્મોદયાદ-  
વિશયેન તદ્દમનાનુગુણ્ય સ્યાત્, સદપિ-આનુપૂર્વીશ્વદવાચ્યં ભવતિ । યથા-ચારિત્રેગો  
વલીવર્દાદિ, યથા યા નસ્યોતસ્ય વલીવર્દસ્ય નાસારજ્જ્ઞાં પ્રતિવદ્ધા રજ્જુઃ, તથાઽઽનુ-  
પૂર્વીકર્મ જીવસ્ય ગત્યન્તરપ્રાપ્તિર્થ સમાકર્ષકતયોપગ્રહસ્વરૂપમ્ ।

અન્તર્ગતિશ્ચ યાવન્મનુષ્યો નરકાદિવાચ્યમુત્પત્તિસ્થાન ન પ્રાપ્નોતિ તાવ-  
ત્કાલિકી ગતિઃ । સા દિવિષા-ઋજ્વી, વક્રા ચ । તત્ર યદા ધ્રુજ્વ્યા સમય-

(૧૩) નરક આદિ ગતિ મેં જાને વાલા જીવ-જો કિ અન્તર્ગતિ (વિમ્લગતિ) મેં  
વર્તમાન છે, ઉપરનો ઉપ નરક આદિ ગતિયો કી ઓર અમિમુલ્લ કરકે આનુપૂર્વી સે અર્થાત્  
ઉસ ઉસ સ્થાન કે ક્રમ સે ઉપ ૨ ગતિયો મેં પહુચાને મેં જો કર્મ સમર્થ હોતા છે, ઉસ કર્મ કો  
આનુપૂર્વીકર્મ કહતે હૈં । યથાપિ આનુપૂર્વી શબ્દ કા અર્થ ઉસ ઉસ સ્થાનકા ક્રમ છે તથાપિ-  
ગત્યન્તર મેં જાતે હુપ જીવ કો ઝિસ કર્મ કે ઉદય હોને પર ઉસ ગતિ મેં ઉસ ઉસ સ્થાન  
કે ક્રમ સે જાના હોતા છે, હસ લિયે ઉસ કર્મ કો મી આનુપૂર્વી કહતે હૈં । વૈસે જલકા  
પ્રવાહ વૈલકો અપની ઓર સ્વીચ હેતા છે । અથવા વૈસે ગાઢીવાન વૈલકો નામ પકડ કર  
અપની ઓર મોઢ હેતા છે, ઉસી પ્રકાર આનુપૂર્વીકર્મ-જીવને ઝિસ ગતિકા કર્મ વૈષા છે ઉસ  
ગતિ મેં ઉસકો પહુંચા દેતા છે, હસ લિયે વહ ગતિ મેં પહુંચાને કે લિયે સહાયક છે ।

જવ તક મનુષ્ય અપની મનુષ્યગતિ કો છોડકર નરક આદિ કિસી ગતિ મેં  
નહી પહુંચા છે, તવ તક કી અર્થાત્ મીચકી ગતિકો અન્તર્ગતિ-વિમ્લગતિ-કહતે હૈં ।  
વહ દો પ્રકાર કી છે-સરલ ઓર વક્ર । જીવ જવ દેકસમયપ્રમાણવાલી સરલ (સીધી)

(૧૩) નરક આદિ ગતિમા જવાવાળા જીવ જો કે-અન્તર્ગતિ (વિમ્લગતિ)મા  
વર્તમાન છે તેને તે નરક આદિ ગતિઓની તરફ અભિમુખ કરીને આનુપૂર્વીથી અર્થાત્  
તે તે સ્થાનના ક્રમથી તે તે ગતિઓમા પહોંચાડવામાં જે કર્મ સમર્થ હોય છે તે કર્મને આનુ-  
પૂર્વી કર્મ કહે છે જો કે આનુપૂર્વી શબ્દનો અર્થ તે તે સ્થાનનો ક્રમ, એવો છે તો  
પણ અત્યન્તરમા જતે જીવને જે કર્મનો ઉદય થવાથી તે ગતિમાં તે તે સ્થાનના  
ક્રમથી જવું હોય છે, આપણા માટે તે કર્મને આનુપૂર્વી કહે છે જેમ પાણીનો પ્રવાહ  
જળદીવાને પોતાની તરફ જોઈ લે છે, અથવા જેમ ગાડીવાળો જળદીવાને તેની નાથ પકડીને  
પોતાની બાજુ મોડી લે છે તેજ પ્રમાણે આનુપૂર્વીકર્મ-જીવ જે ગતિનું કર્મ બાંધ્યું  
છે તે ગતિમા તેને પહોંચાડી દે છે માટે તે ગતિમાં પહોંચાડવાને માટે સહાયક છે

ત્યાં સુધી મનુષ્ય પોતાની મનુષ્યગતિને મૂકીને નરક આદિ બીજી ગતિમા નથી  
પહોંચ્યો ત્યાં સુધીની અર્થાત્ વચ્ચી ગતિને અન્તર્ગતિ-વિમ્લગતિ કહે છે તે જ  
પ્રકારની હોય છે-સરલ અને વક્ર । જીવ જ્યારે એકસમયપ્રમાણવાળી સરલ (સીધી) ગતિથી



પ્રમાણયા ગચ્છતિ, તદાઽઽયુષ્યકર્મણૈવાત્પતિસ્થાનં પ્રાપ્નોતિ । તપ્રાનુપૂર્વીનામ્ન-  
કથિદુપયોગો ન મવતિ । વક્ત્રગત્યા પુનઃ મૃત્તઃ કૂર્પર- (વક્ત્રાકારરયાષયવ)-  
લાઘ્ન-ગોમૂત્રિકાલક્ષણયા દ્વિત્રિચતુઃસમયમાનયા વક્ત્રારમ્ભકાલે પુરસ્કૃત-  
માપુરાદત્તે, તદૈવ વાનુપૂર્વીનામાપ્યુદેતિ ।

નતુ ચ યયૈવ શ્રુજ્ઞ્યાં ગતૌ વિનાઽઽનુપૂર્વીનામકર્મણા ગતિં પ્રાપ્નોતિ,  
તદ્વદ્ વક્ત્રગત્યામપિ વસ્માન્ ? इति चेत्, उच्यते-श्रुज्ઞ્યાં-પૂર્વાયુષ્યકર્મવ્યાપારેણ  
ગચ્છતિ, યત્ર તત્ પૂર્વાયુષ્યકર્મ સીળ, તત્ર તસ્યાધ્વયદિસ્થાનીયસ્યાનુપૂર્વીનામકર્મણ  
ઉદયો મવતિ ।

ગતિ સે જાતા હૈ તવ આયુ કર્મ કે દ્વારા હી ઉત્પતિસ્થાન કો પ્રાપ્ત કર હેતા હૈ, વહાં  
આનુપૂર્વાનામકર્મ કા કોઈ ઉપયોગ નહીં હોતા । જવ જીવ કૂર્પર (રથ કા ટેકા અવયવ)  
હલ યા ગોમૂત્રિકા સરીસી ઔર દો તીન યા ચાર સમયવાલી વક્ત્ર ગતિ સે જાતા હૈ  
તવ મોઢકે આરમ્ભ-સમય મેં જાગે કી આયુ પ્રદ્ધન કરતા હૈ, ઊસી સમય આનુપૂર્વી  
કર્મકા ઉદય હોતા હૈ ।

શ્રુજ્ઞા-કૈસે સરલગતિ મેં આનુપૂર્વીકર્મ કે વિના હી ગતિ પ્રાપ્ત કરતા હૈ, ઊસી  
પ્રકાર વક્ત્ર ગતિ મેં મી ક્યો નહીં ગતિ કરતા ? ।

સમાધાન-સરલ ગતિ મેં પહેલે કે આયુકર્મ કે વ્યાપાર સે હી જીવ ગતિ  
કરતા હૈ । વહાં વહ આયુ સીળ હો જાતી હૈ વહાં માર્ગયદિ કે સમાન આનુપૂર્વાનામકર્મ કા  
ઉદય હોતા હૈ ।

અર્થ છે, ત્યારે આયુકર્મદ્વારાજ ઉત્પતિ સ્થાનને પ્રાપ્ત કરી લે છે ત્યાં આનુપૂર્વી  
નામકર્મને કાંઈ ઉપયોગ થતો નથી ત્યારે જીવ કૂર્પર (રથનો વાંકો એક ભાગ) હલ  
અથવા ગોમૂત્રિકા સરળી અને જો, તથા અથવા આર સમયવાળી વક્ત્રગતિથી અર્થ છે  
ત્યારે વળવાના આર સમયમા આગળની આયુ શ્રેણી કરે છે તે સમય આનુપૂર્વી  
કર્મને ઉદય થાય છે

શ્રુજ્ઞા-જેમ સરલગતિમાં આનુપૂર્વીકર્મ વિનાજ ગતિ પ્રાપ્ત કરે છે તે  
પ્રમાણે વક્ત્રગતિમા ગતિ થા માટે કરતા નથી ?

સમાધાન-સરલગતિમાં પ્રથમના આયુકર્મના વ્યાપારથીજ જીવ ગતિ કરે છે  
ત્યાં તે આયુ કીલુ થઈ જાય છે ત્યાં માર્ગયદિ-માર્ગની લાકડી-ના સમાન આનુપૂર્વી  
નામકર્મને ઉદય થાય છે

આનુપૂર્વીનામ ચતુર્વિધમ્-નરકાગત્યાનુપૂર્વીનામ, તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વીનામ, મનુષ્યગત્યાનુપૂર્વીનામ, દેવગત્યાનુપૂર્વીનામ ચ ।

(૧૪) લઙ્ઘિ-શિક્ષર્દ્ધિ-મત્સ્યસ્વાકાશગમનસ્ય जनक नाम विहायोगतिः सामान्य गमनरूपा गतिरपि विहायोगति रित्युच्यते न तु केवलमाकाशगमनरूपेति । सा द्विधा-शुभा-शुभमेदात् । तत्र-हस गज-वृषादीनां शुभा । उष्ट्रभृगालादीनाम् अशुभा । तत्र-लङ्घिर्देवादीनां देवत्वोत्पत्त्यविनामाविनी । शिष्या ऋद्धिः, शिषर्द्धि, लङ्घ्या शिषद्वर्धा च तपस्विनां, शिषद्वर्धा प्रवचनमधीयानानां विद्याधावर्तेनप्रभावाद् वा आकाशगमनस्य जनक विहायोगतिनामकर्म ।

આનુપૂર્વીનામકર્મ ચાર પ્રકાર કા છે-નરકગત્યાનુપૂર્વીનામ, તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વીનામ, મનુષ્યગત્યાનુપૂર્વીનામ, ઔર દેવગત્યાનુપૂર્વીનામ ।

(૧૪) લઙ્ઘિ એવ શિક્ષાઋદ્ધિકારણક, આકાશગમન ઉત્પન્ન કરને વાલા કર્મ વિહાયોગતિનામકર્મ કહલાતા છે । વહ સામાન્ય ગમનરૂપ ગતિ મી વિહાયોગતિ કહલાતી છે, નહીં કિ માત્ર આકાશગમનરૂપ । હસ કે લો મેદ છે-શુભ ઔર અશુભ । હસ, ગજ, વૃષમ આદિ કી ગતિ કે સમાન શુભવિહાયોગતિ છે ઔર ઉટ સિયાર આદિ કી ગતિકે અનુસાર અશુભવિહાયોગતિ છે । દેવ કે રૂપ મેં ઉત્પન્ન હોને કે સાથ હી ઉત્પન્ન હોને વાલી લઙ્ઘિ દેવો કો પ્રાપ્ત હોતી છે । શિક્ષા સે પ્રાપ્ત હોને વાલી ઋદ્ધિ શિક્ષા-ઋદ્ધિ કહલાતી છે । લઙ્ઘિ એવ શિક્ષા-ઋદ્ધિ સે તપસ્વિયો કા આકાશગમન હોતા છે । પ્રવચન કા અધ્યયન કરને વાલો કા વિષા આદિ કે આવર્તન કે પ્રભાવ સે યા શિક્ષાઋદ્ધિ સે લો આકાશગમન હોતા છે વહ વિહાયોગતિ છે ।

આનુપૂર્વીનામકર્મ ચાર પ્રકારના છે-નરકગત્યાનુપૂર્વીનામ, તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વીનામ, મનુષ્યગત્યાનુપૂર્વીનામ, અને દેવગત્યાનુપૂર્વીનામ

(૧૪) લઙ્ઘિ એવ શિક્ષા-ઋદ્ધિકારણક આકાશગમન ઉત્પન્ન કરવાવાળું કર્મ વિહાયોગતિનામકર્મ કહેવાય છે સામાન્ય ગમનરૂપ ગતિ પણ વિહાયોગતિ કહેવાય છે ક્ષેત્ર આકાશગમનરૂપ ગતિ નહીં તેના બે ભેદ છે-શુભ અને અશુભ હસ, હાથી, બળદ વગેરેની ગતિ સમાન શુભવિહાયોગતિ છે અને ઉટ, શિયાલ વગેરેની ગતિ અનુસાર અશુભવિહાયોગતિ છે દેવતા રૂપમાં ઉત્પન્ન હોવાના સાથેજ ઉત્પન્ન થવાવાળી લઙ્ઘિ દેવોને પ્રાપ્ત થાય છે શિક્ષાથી પ્રાપ્ત થવાવાળી ઋદ્ધિ શિક્ષાઋદ્ધિ કહેવાય છે લઙ્ઘિ એવ શિક્ષાઋદ્ધિથી તપસ્વિએ આકાશગમન કરે છે પ્રવચનનું અધ્યયન કરવાવાળાના વિદ્યા આદિના આવર્તનના પ્રભાવથી અથવા શિક્ષાઋદ્ધિથી જે આકાશગમન થાય છે તે વિહાયોગતિ છે

(૭) ગોત્રકર્મ દ્વિવિધમ્—ઉચ્ચનીચમેદાત્ । તપ્રઉચ્ચગોત્ર—દશ—જાતિ—કુલ—સ્થાન—માન—સત્કારૈ—ધર્યાધુત્કર્પજનકમ્ । તદ્વિપરીતં નીચગોત્રમ્—અનાર્યદેશ—ચાણ્ડાલાદિજાતિદાસ્ય—નિર્વર્તકમ્ ।

(૮) અન્તરાયકર્મ-પચ્ચવિધમ્—દાન છામ મોગો-પમોગ-વીર્યાન્તરાયમેદાત્ ।

અર્થે ચ સર્વસંકલનેનાદ્વિવિધકર્મણામુત્તરપ્રકૃતિસભ્યા અદ્યત્વારિશ્વદધિકૈશ્વત (૧૪૮) ભવન્તિ ।

### કર્મસયવિચાર —

જ્ઞાનક્રિયામ્બો કર્મસયો ભવતિ । ઉત્કપહ્જીવનિકાયાના યથાર્થ—

(૭) ગોત્રકર્મ બે પ્રકાર કા છે—ઉચ્ચગોત્ર ઓર નીચગોત્ર । ઉચ્ચગોત્ર સે દેશ, જાતિ, કુલ, સ્થાન, માન, સત્કાર, ધર્મ્ય આદિ કા ઉત્કર્પ ઉત્પન્ન હોતા હૈ । નીચગોત્ર હસ સે વિપરીત હૈ । હસ સે અનાર્ય દેશ, ચાણ્ડાલ આદિ જાતિ ઓર દાસતા ઉત્પન્ન હોતી હૈ ।

(૮) અન્તરાય કર્મ કે પાંચ મેદ હૈ—દાનાન્તરાય, છામાન્તરાય, મોગાન્તરાય, અપમોગાન્તરાય, ઓર વીર્યાન્તરાય ।

હસ પ્રકાર સમકા યોગ કરને પર જાઠો કર્મો કી ઉત્તરપ્રકૃતિયો એક સૌ મહતાલીસ (૧૪૮) હોતી હૈ ।

### કર્મસય કા વિચાર

જ્ઞાન ઓર ક્રિયા સે કર્મો કા ક્ષય હોતા હૈ । પૂર્વોક્ત પદ્ધતિવનિકાય કે વાસ્તવિક

(૭) ગોત્રકર્મ બે પ્રકારુ છે—ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર. ઉચ્ચગોત્રથી દેશ, જાતિ, કુલ, સ્થાન, માન, સત્કાર, ધર્મ્ય આદિનો ઉત્કર્ષ ઉત્પન્ન થાય છે નીચ ગોત્ર તેનાથી વિપરીત છે તેનાથી અનાર્ય દેશ, ચાંડાલ આદિ જાતિ અને દાસપણું વગેરે ઉત્પન્ન થાય છે.

અન્તરાયકર્મના પાંચ ભેદ છે—દાનાન્તરાય, છામાન્તરાય, મોગાન્તરાય, અપમોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય.

આ પ્રમાણે સર્વનો યોગ કરતાં જાઠ કર્મોની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ એકસો અઠતાલીસ (૧૪૮) થાય છે.

### કર્મસયના વિચાર—

જ્ઞાન અને ક્રિયાથી કર્મોનો ક્ષય થાય છે પૂર્વોક્ત પદ્ધતિવનિકાયા વાસ્તવિક

સ્વરૂપસ્ય વિસ્તરેણ સદ્દેપેણ ઘા અવધોધો જ્ઞાનમ્ । શુષ્કિસમિતિસમારાધનપૂર્વક  
શાસ્ત્રવિધિના તપઃસયમાચરણ ક્રિયા ।

અટકર્મણાં મસ્મસાત્કારક તપઃ । તસ્યાનશનાદયો દ્વાદશ મેદા • ।  
સાવધ ક્રિયા\* સમ્યક્ પરિત્યજ્ય નિરવધક્રિયાસુ પ્રવૃત્તિઃ સયમ । તસ્ય પૃથિવીકાય-  
સંયમાદય\* સપ્તદશ મેદાઃ ।

ઉક્તપદ્મજીવનિકાયસ્વરૂપ સમ્યગ વિજ્ઞાય સંયમપૂર્વકતપશ્ચરણેનામિનયકર્મ-  
પ્રવેશામાત્ર\*, પૂર્વેપચિતકર્મપરિત્યજ્ય ભવતિ । તત્રૈવ ક્રમ—

અટમગુણસ્થાનાદાત્મા ક્ષપકશ્રેણિ સમારોહતિ । અસૌ ક્ષપકો નવમં  
દશમ ગુણસ્થાનં સમારુદ્ધ દ્વાદશ ગુણસ્થાનમારોહતિ । તત્ર શુદ્ધ્યાનસ્ય દ્વિતીય-

સ્વરૂપ કા વિસ્તારપૂર્વક આ સંક્ષિપ્ત બોધ-જ્ઞાન કહલાતા હૈ । શુષ્કિ સમિતિ કા આરાધન  
કરતે હુપ શાસ્ત્રોક્ત વિધિ કે સાથ તપ ઓર સયમ કા આરાધન કરના ક્રિયા હૈ ।

આઠ કર્મો કા મસ્મ કરના તપ હૈ । તપ કે અનશન આદિ બારહ મેદ હૈ ।  
સાવધ ક્રિયાઓ કા સમ્યક્ પ્રકાર સે પરિત્યાગ કરકે નિરવધ ક્રિયાઓ મં પ્રવૃત્તિ કરના  
સયમ હૈ । પૃથ્વીકાયસયમ આદિ કે મેદ સે વહ સત્પદ્ધ (૧૭) પ્રકાર કા હૈ ।

ઉક્ત પદ્મજીવનિકાય કા સ્વરૂપ સમીચીન પ્રકાર સે જ્ઞાનકર, સયમપૂર્વક તપ કા  
આચરણ કરને સે નવીન કર્મો કા જ્ઞાન રુદ્ધ જાતા હૈ ઓર પહેલે કે સચિત કર્મો કા ક્ષય  
હોતા હૈ । કર્મક્ષય કા ક્રમ યહ હૈ—

આત્મા આઠવે ગુણસ્થાન સે ક્ષપકશ્રેણી પર આરુદ્ધ હોતા હૈ । યહ ક્ષપક  
આત્મા નૌવે દશવે ગુણસ્થાનો પર આરુદ્ધ હો કર બાહરવે ગુણસ્થાન પર પહુચતા હૈ ।

સ્વરૂપનો વિસ્તારપૂર્વક અથવા સંક્ષિપ્ત બોધ તે જ્ઞાન કહેવાય છે શુષ્કિ, સમિતિની  
આરાધના કરતાં શાસ્ત્રોક્ત વિધિ પ્રમાણે તપ અને સયમનુ આરાધન કરવું તે ક્રિયા  
છે આઠ કર્મોને બાળી નાંખવા તે તપ છે તપના અનશન આદિ બાર બેદ છે સાવધ  
ક્રિયાઓનો સમ્યક્ પ્રકારે પરિત્યાગ કરીને નિરવધ ક્રિયાઓમાં પ્રવૃત્તિ કરવી તે સયમ છે  
પૃથ્વીકાયસયમ આદિના બેદથી તે સત્તર (૧૭) પ્રકારનો છે આગળ કહેલા પદ્મજીવનિકાયના  
સ્વરૂપને સારી રીતે બાળીને સયમપૂર્વક તપનું આચરણ કરવાથી નવીન કર્મોનું આવવું  
રોકાઈ જાય છે, અને પહેલાના સચિત કર્મોનો ક્ષય થાય છે કર્મક્ષયનો ક્રમ એ છે—  
આત્મા આઠમાં ગુણસ્થાનથી ક્ષપકશ્રેણી પર આરુદ્ધ થાય છે આ ક્ષપક આત્મા  
નવમાં, દસમાં ગુણસ્થાનો પર આરુદ્ધ થઈને બારમાં ગુણસ્થાન પર જઈ પહોંચે છે

પાદે પ્રથમ મોહનીય કર્મ ક્ષપયતિ । તદનુ જ્ઞાનાવરણીય-દર્શનાવરણીયા-અંતરાય કર્માણિ યુગપદેવ ક્ષપયિત્વા દ્વાદશગુણસ્થાનાન્તે ત્રયોદશગુણસ્થાનાદૌ સર્વદ્રવ્ય પર્યાયવિષયે પારમૈશ્વર્યમનન્ત કેવલ જ્ઞાનદર્શન પ્રાપ્ય શુદ્ધો શુદ્ધઃ સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી જિન, કેવલી ભવતિ । તતઃ સયોગિકેવલી પ્રતનુ-શુભ-ચતુષ્કર્માવશેષઃ, આયુ-કર્મસંસ્કારવશાદ્ મન્યજનવોપનાય ભ્રૂમ્પટલે વિહરતિ, વિવિધં કર્મરજો મન્યાના હરતિ ચ ।

અસૌ તત્પશ્ચાદ્ અયોગિકેવલી ભૂત્વા ચતુર્દશગુણસ્થાને-આયુષ્યકર્મપરિસમાપ્તૌ સત્યા, વેદનીય-નામ-ગોત્રકર્માણિ ક્ષપયતિ । एव મૂલપ્રકૃતિશાચ્યમષ્ટવિધં જ્ઞાના વરણીયાદિસકલકર્મ ક્ષીયતે ।

વહૈં શુક્લ ધ્યાન કે દ્વિતીય પાત્રે મેં સર્વ પ્રથમ મોહનીય કર્મ કા ક્ષય કરતા હૈ । તત્પશ્ચાત્ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ ઔર અંતરાય કર્મોં કો એક હી સાથ ક્ષય કરકે ચારહવેં ગુણસ્થાન કે અન્ત મેં ઔર તેરહવેં ગુણસ્થાન કી આદિ મેં સમસ્ત દ્રવ્ય પર્યાય કો વિષય કરને વાલ્લ પરમ ऐश्वर्य કો પ્રાપ્ત હોને યોગ્ય અનન્ત કેવલજ્ઞાન ઔર કેવલદર્શન પ્રાપ્ત કરકે શુદ્ધ, બુદ્ધ, સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી, જિન ઔર કેવલી હો જાતા હૈ । પિર વહ સયોગી કેવલી ચાર હલ્કે અષાતિયા કર્મ શેષ રહને પર આયુકર્મ કે સંસ્કાર વશ હો કર મન્ય જીવોં કો બોધ દેને કે સ્થિત્ ભ્રૂમ્પટલ મેં વિહાર કરતે હૈ ।

તત્પશ્ચાત્ અયોગી કેવલી હો કર ચૌદહવેં ગુણસ્થાન મેં આયુકર્મ કી સમાપ્તિ હોને પર વેદનીય નામ આયુ ગોત્ર કર્મોં કા ક્ષય કરતે હૈ । ઇસ પ્રકાર મૂલપ્રકૃતિ કહ્નિહાને વાકેં આઠોં હી કર્મોં કા ક્ષય હો જાતા હૈ ।

ત્યાં શુક્લ ધ્યાનના ળીબ ખાયામાં સર્વપ્રથમ મોહનીય કર્મોંનો ક્ષય કરે છે તે પછી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ અને અંતરાય કર્મોંનો ળેહી સાથે ક્ષય કરીને, બારમા શુદ્ધ સ્થાનના અંતમાં અને તેરમા શુદ્ધસ્થાનની આદિમાં સમસ્ત દ્રવ્ય-પર્યાયને વિષય કરવાવાળા પરમ ऐश्वર્યને પ્રાપ્ત થવા યોગ્ય અનન્ત કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન પ્રાપ્ત કરીને શુદ્ધ, બુદ્ધ, સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી, જિન અને કેવલી થઈ જાય છે પછી તે સયોગી કેવલી ચાર હલકાં અષાતિયાં કર્મ બાકી રહેવા પર આયુકર્મના સંસ્કારવશ થઈને બાળ્યલોને બોધ આપવા માટે પૃથ્વીમાં વિહાર કરે છે

તે પછી અયોગી કેવલી થઈને ઔદમાં શુદ્ધસ્થાનમાં આયુકર્મની સમાપ્તિ થયા પછી વેદનીય, નામ અને ગોત્રકર્મોંનો ક્ષય કરે છે આ પ્રમાણે મૂળપ્રકૃતિ કહેવાતા આઠ કર્મોંનો ક્ષય થઈ જાય છે

एवमात्मप्रदेशेभ्यः सकलकर्मणामपगमे सत्यूर्ध्वगमनस्वभावतयाऽऽत्मा साधन-  
न्तमपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं स्थानं प्राप्नोति । ज्ञानक्रियाभ्यामेव सकलकर्मक्षय-  
लक्षणो मोक्षो भवतीति सिद्धम् ।

केचिन्तु-सम्यग्ज्ञानं यथार्थविषयकतया बलवत्तत्वेन मिथ्याज्ञानं  
निवर्तयति । मिथ्याज्ञाने निवृत्ते सति मिथ्याज्ञानमूला रागादयो न समुत्पद्यन्ते ।  
कारणमात्रे कार्यस्यानुत्पादात् । रागाद्यमात्रे च सकलभूता मनोवाक्काय-  
प्रवृत्तिर्न भवति । प्रवृत्त्यमात्रे च पुण्यपापयोरनुत्पत्तिः । आरब्धकार्ययोश्च

આત્મપ્રદેશો સે સમસ્ત કર્મો કે હટવાને પર ઊર્ધ્વગતિશીલ હોને કે કારણ આત્મા  
સાદિ-અનન્ત પુનરાગમનરહિત સિદ્ધિગતિનામક સ્થાન કો પ્રાપ્ત કરતા હૈ । અતઃ એવ સિદ્ધ  
હુઆ કિ જ્ઞાન ઔર ક્રિયા સે સફલ કર્મોકા ક્ષયરૂપ મોક્ષ પ્રાપ્ત હોતા હૈ ।

कुछ लोगो का कथन यह है कि-सम्यग्ज्ञानं यथार्थं पदार्थं को विषय करता  
है, अतः वह बलवान् है, और बलवान् होने के कारण मिथ्याज्ञान को दूर करता है ।  
मिथ्याज्ञान जब हट जाता है तो उसके कारण उत्पन्न होने वाले रागादि की उत्पत्ति नहीं  
होती, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार रागादि  
का अभाव होने पर उस से होने वाली मन, बचन और काय की प्रवृत्ति रुक जाती है ।  
प्रवृत्ति के रुक जाने से पुण्यकर्म और पापकर्म की उत्पत्ति नहीं होती । ब्रह्म का कार्य

આત્મપ્રદેશોથી સમસ્ત કર્મો દૂર થયા પછી ઊર્ધ્વગતિશીલ હોવાના કારણે  
આત્મા સાદિ-અનન્ત, પુનરાગમનરહિત સિદ્ધિગતિ નામના સ્થાનને પ્રાપ્ત કરે  
છે એટલે એ સિદ્ધ થયું કે જ્ઞાન અને ક્રિયાથી સકલ કર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષને  
પ્રાપ્ત થાય છે

કેટલાક માણસોનું કહેવું એ છે કે-સમ્યગ્જ્ઞાનં યથાર્થં પદાર્થોના વિષય કરે  
છે, એ કારણથી તે બળવાન છે અને બળવાન હોવાના કારણે મિથ્યાજ્ઞાનને દૂર કરે છે  
મિથ્યાજ્ઞાન બ્યારે દૂર થઈ જાય છે, તો તેના કારણે ઉત્પન્ન થવાવાળા રાગ-આદિની  
ઉત્પત્તિ થતી નથી; કેમકે કારણના અભાવમા કાર્ય ઉત્પન્ન થતું નથી. આ પ્રકારે-રાગાદિનો  
અભાવ થવાથી તેનાથી થવા વાળી મન, વચન અને કાયાની પ્રવૃત્તિ અટકી જાય છે  
પ્રવૃત્તિના અટકાવથી પુણ્યકર્મ અને પાપ કર્મની ઉત્પત્તિ થતી નથી. જેનું કાર્ય આરબ

પાદે પ્રથમ મોહનીય કર્મ સપયતિ । તદનુ જ્ઞાનાવરણીય-દર્શનાવરણીયા-અંતરાય કર્માણિ યુગપદેવ સપયિત્વા દ્વાદશગુણસ્થાનાન્તે ત્રયોદશગુણસ્થાનાદૌ સર્વદ્રવ્ય-પર્યાયવિષય પારમૈર્થ્યમનન્ત કેવલ જ્ઞાનદર્શન પ્રાપ્ય શુદ્ધો યુદ્ધઃ સર્વજ્ઞઃ સર્વદર્શી જિનઃ કેવલી ભવતિ । સતઃ સયોગિકેવલી પ્રતનુ-શુભ-ચતુષ્કર્માવશેષઃ, આયુઃ-કર્મસંસ્કારવશાદ્ મન્યજનવોધનાય ભ્રૂમખ્દલે વિહરતિ, વિવિધં કર્મરજો મન્યાનાં હરતિ ચ ।

અસૌ તત્પશ્ચાદ્ અયોગિકેવલી ભૂત્વા ચતુર્દશગુણસ્થાને-આયુષ્યકર્મપરિસમાપ્તૌ સત્યાં, વેદનીય-નામ-ગોત્રકર્માણિ સપયતિ । एष मूलप्रकृतिवाच्यमष्टविधं ज्ञाना-वराणीयादिसकलकर्म क्षीयते ।

વહૈં શુદ્ધ ધ્યાન કે દ્વિતીય પાદે મેં સર્વ પ્રથમ મોહનીય કર્મ કા ક્ષય કરતા હૈ । તત્પશ્ચાત્ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ ઓર અંતરાય કર્મો કો એક હી સાથ ક્ષય કરકે ચારહવે ગુણસ્થાન કે અન્ત મેં ઓર તેરહવે ગુણસ્થાન કી આદિ મેં સમસ્ત દ્રવ્ય પર્યાય કો વિષય કરને વાલા પરમ ऐश्वर्य કો પ્રાપ્ત હોને યોગ્ય અનન્ત કેવલજ્ઞાન ઓર કેવલદર્શન પ્રાપ્ત કરકે શુદ્ધ, યુદ્ધ, સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી, જિન ઓર કેવલી હો જાતા હૈ । ફિર વહ સયોગી કેવલી ચાર હન્કે અવાતિયા કર્મ શેષ રહને પર આયુર્કર્મ કે સંસ્કાર વશ હો કર મન્ય જીવો કો વોધ દેને કે લિપ્ત ભ્રૂમખ્દલ મેં વિહાર કરતે હૈ ।

તત્પશ્ચાત્ અયોગી કેવલી હો કર ચૌદહવે ગુણસ્થાન મેં આયુર્કર્મ કી સમાપ્તિ હોને પર વેદનીય નામ આયુ ગોત્ર કર્મો કા ક્ષય કરતે હૈ । રૂસ પ્રકાર મૂલપ્રકૃતિ કહ્જાને બાલે જાઠો હી કર્મો કા ક્ષય હો જાતા હૈ ।

ત્યાં શુદ્ધ ધ્યાનના ધીબ પાયામાં સર્વપ્રથમ મોહનીય કર્મને ક્ષય કરે છે તે પછી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ અને અંતરાય કર્મોને બોધી સાથે ક્ષય કરીને, બારમા શુદ્ધ સ્થાનના અતમાં અને તેરમા શુદ્ધસ્થાનની આદિમાં સમસ્ત દ્રવ્ય-પર્યાયને વિષય કરવાવાળા પરમ ऐश्वર્યને પ્રાપ્ત થવા યોગ્ય અનન્ત કેવલજ્ઞાન અને કેવલદર્શન પ્રાપ્ત કરીને શુદ્ધ, યુદ્ધ, સર્વજ્ઞ, સર્વદર્શી, જિન અને કેવલી થઈ બચે છે પછી તે સયોગી કેવલી ચાર હલકાં અવાતિયાં કર્મ બાધી રહેવા પર આયુકર્મના સંસ્કારવશ થઈને બળ્યજનોને વોધ આપવા માટે પૃથ્વીમાં વિહાર કરે છે

તે પછી અયોગી કેવલી થઈને બૌદ્ધમાં શુદ્ધસ્થાનમાં આયુકર્મની સમાપ્તિ થયા પછી વેદનીય, નામ અને ગોત્રકર્મને ક્ષય કરે છે આ પ્રમાણે મૂળપ્રકૃતિ કહેવાતા આઠ કર્મોને ક્ષય થઈ બચે છે

સમાધિવલેનોત્પન્નતત્ત્વજ્ઞાનસ્ય જનસ્ય કર્મજ્ઞાનસામર્થ્યાત્તદુપમોગાર્થમશેષ-  
શરીરુત્પાદાશેષમોગાદેવ પૂર્વકર્મક્ષય, પુનસ્તસ્ય તત્ત્વજ્ઞાનિનો મિથ્યાજ્ઞાનામાવા-  
ત્તજ્ઞનિતસસ્કારસ્યાપ્યભાવેન કર્માન્તરાનુત્પત્તિશ્ચ । તથા ચોપમોગાદેવ  
સકલકર્મક્ષયસ્વીકારેઽપિ નાસ્તિ કોઽપિ દોષલેશઃ ઇતિ ।

ન ચ પુણ્યપાપકર્મણોર્જન્માન્તરશરીરોત્પાદને સહકારિ કારણ મિથ્યા-  
જ્ઞાનજનિતસસ્કારોઽસ્તિ, તસ્યામાવાદેવ તત્ત્વજ્ઞાનિના વિદ્યમાને અપિ કર્મણી ન  
જન્માન્તરશરીરાપ્યુત્પાદયત્, અતસ્તેષાં કર્મસત્ત્વેઽપિ ન કાઽપિ હાનિરિતિ  
વાચ્યમ્ ।

સમાધિ કે વલ સે ઉત્પન્ન તત્ત્વજ્ઞાન વાલે પુરુષ કે કર્મજ્ઞાન કે સામર્થ્ય સે કર્મ કા  
ઉપમોગ કરને કે લિષ્ અશેષ શરીર ઉત્પન્ન કરકે અશેષ મોગ સે હી પૂર્વકર્મ કા ક્ષય હો  
જ્ઞાતા હૈ । ઉસ તત્ત્વજ્ઞાની પુરુષ મેં મિથ્યાજ્ઞાન નહીં હોતા ઔર મિથ્યાજ્ઞાન સે ઉત્પન્ન હોને  
વાલા સસ્કાર મી નહીં હોતા । ઇસ કારણ નવીન કર્મ કી ઉત્પત્તિ મી નહીં હોતી । પેસી  
સ્થિતિ મેં ઉપમોગ સે હી સમસ્ત કર્મો કા ક્ષય માન લેને મેં લેશમાત્ર મી દોષ નહીં હૈ ।

મિથ્યાજ્ઞાન સે ઉત્પન્ન હોને વાલા સસ્કાર જન્માન્તર કે શરીર કી ઉત્પત્તિ મેં  
સહકારી કારણ હોતા હૈ । વહ સસ્કાર તત્ત્વજ્ઞાની મેં નહીં રહતા । ઉસ કા અમાલ હો  
જાને પર, પુણ્ય-પાપ કર્મ મહે હી વિદ્યમાન રહેં મગર વે શરીર ઉત્પન્ન નહીં કર સકતે ।  
અત્ત પવ જન મેં કર્મ કા સદ્માલ હોને પર મી કોઈ હાનિ નહીં હોતી । વહ સબ કલન  
સત્ય નહીં હૈ ।

અમાધિના બળથી ઉત્પન્ન તત્ત્વજ્ઞાન વાળા પુરુષના કર્મજ્ઞાનનાં સામર્થ્યથી  
કર્મને ઉપમોગ કરવા માટે અશેષ શરીર ઉત્પન્ન કરીને અશેષ ભોગથીજ પૂર્વકર્મને  
ક્ષય થઈ જાય છે તે તત્ત્વજ્ઞાની પુરુષમાં મિથ્યાજ્ઞાન નથી અને મિથ્યાજ્ઞાનથી ઉત્પન્ન  
થવાવાળા સસ્કાર પણ નથી આ કારણથી નવીન કર્મની ઉત્પત્તિ પણ થતી નથી એવી  
સ્થિતિમાં ઉપમોગથીજ સમસ્ત કર્મોને ક્ષય માની લેવામાં લેશ માત્ર પણ દોષ નથી

મિથ્યાજ્ઞાનથી ઉત્પન્ન થવાવાળા સસ્કાર જન્માન્તરના શરીરની ઉત્પત્તિમાં  
સહકારી કારણ થાય છે તે સસ્કાર તત્ત્વજ્ઞાનીમાં રહેતા નથી. તેનો અભાવ થઈ  
જવાથી, પુણ્ય-પાપકર્મ બંધોને વિદ્યમાન રહે. પરંતુ તે શરીર ઉત્પન્ન કરી શકતાં  
નથી, એટલા માટે તેમાં કર્મનો સદ્ભાવ હોવા છતાં પણ કોઈ પ્રકારે હાનિ થતી  
નથી. આ સર્વ કલન સાચાં નથી



પુણ્યપાપકર્મણોરુપભોગાદેવ પ્રસયો ભવતિ; સચ્ચિતરુપયોરતુ પુણ્યપાપકર્મણોરતત્ત્વ-  
જ્ઞાનાદેવ પ્રસય' । एष कर्मस्यो भवति । उक्तञ्च—

“જ્ઞાનાગ્નિઃ સર્વકર્માગ્નિઃ, મત્સ્મસાત્ ફુલ્તે તથા” । इति । तथा “नाश्रुक्त  
ક્ષીયતે કર્મ, કલ્પકોટિશ્ચતૈરપિ” इति च ।

કેવિંચ—સચિતકર્મણામપિ પ્રસયો ભોગાદેવ ભાવતીત્યુક્ત તન્નાનુમાનં  
પ્રમાણ ચ પ્રદર્શિતમ્ । તથાહિ—પૂર્વકર્માણ્યુપભોગાદેવ ક્ષીયન્તે, કર્મત્વાત્ । યત્ યત્  
કર્મ તત્ તત્ ઉપભોગાદેવ ક્ષીયતે, યથા—આરબ્ધશરીર કર્મ, તથા ચૈતત્ કર્મ, તસ્મા-  
દુપભોગાદેવ ક્ષીયતે ।

ન ચોપભોગાત્ કર્મપ્રસયસ્વીકારે કર્માન્તરસ્થાવશ્યમ્માવાત્ સસારાનુષ્ઠેદઃ  
इति वाच्यम्,

આરમ્મ હો જુકા હૈ, પેસે પાપ—પુણ્ય કા, ઉપભોગ સે ક્ષય હોતા હૈ ઓર સચ્ચિત પુણ્ય—પાપ  
કા, સત્ત્વજ્ઞાન સે । इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है । कहा भी है—

“જ્ઞાનરૂપી અગ્નિ સમસ્ત કર્મોં કો મત્સ કર ઢાલ્તી હૈ ” । तथा—“ करोड़ों सैकड़ों  
કલ્પોં મેં મી કર્મે કા મોગે વિના ક્ષય નહીં હોતા ” ।

કિસી કા કહ્ના હૈ કિ—સચ્ચિત કર્મોં કા ક્ષય મી મોગ સે હી હો જાતા હૈ । इस  
विषय में अनुमान प्रमाण भी दिया गया है । वह इस प्रकार है—पूर्वसंचित कर्म उपभोग  
સે હી ક્ષીણ હોતા હૈ, ક્યોં કિ વહ કર્મ હૈ । जो जो कर्म होता है वह वह उपभोग से ही  
ક્ષીણ હોતા હૈ, જૈસે આરમ્મ શરીરકર્મ । संचितकर्म भी कर्म हैं अत वे भी उपभोग से ही  
ક્ષીણ હોતે હૈ ।

ઉપભોગ સે કર્મોં કા ક્ષય સ્વીકાર ક્રિયા જાય સો નવીન કર્મોં કી ઉત્પત્તિ અવસ્થ  
હોતી ઓર ફલ્ત જન્મ—મરણ કા કર્મી નાશ નહીં હોતો । ऐसी आशङ्का करना  
અચિત નહીં હૈ ।

યર્થ સ્પષ્ટ છે, જોવા પાપ—પુણ્યને ઉપભોગથી ક્ષય છે, અને સચ્ચિત પુણ્ય—પાપને  
તત્ત્વજ્ઞાનથી ક્ષય થાય છે આ પ્રકારે સમસ્ત કર્મોના ક્ષય યર્થ બધા હિ કહ્યું પણ  
છે કે—“ જ્ઞાનરૂપી અગ્નિ સમસ્ત કર્મોને બાળી નાંખે છે ” તથા “ કરોડો સેકડો  
કલ્પોનાં પણ કર્મ બોગાવ્યા વિના ક્ષય થતા નથી ”

કેટલાક કહે છે કે—સચ્ચિત કર્મોના ક્ષય પણ ભોગથી જ યર્થ બધા છે આ  
વિષયમાં અનુમાન પ્રમાણ પણ આપવામાં આવ્યું છે તે આ પ્રમાણે છે—પૂર્વસ-  
ચિતકર્મ ઉપભોગથી જ ક્ષીણ થાય છે, કારણ કે તે કર્મ છે, જે જે કર્મ હોય છે તે  
તે ઉપભોગથી જ ક્ષીણ થાય છે, જેવી રીતે આરબ્ધ શરીરકર્મ સચ્ચિત કર્મ પણ કર્મ  
છે, જો કારણથી તે પણ ઉપભોગથી જ ક્ષીણ થાય છે

ઉપભોગથી કર્મોના ક્ષય સ્વીકાર કરવામાં આવે તો, નવીન કર્મોની ઉત્પત્તિ અવસ્થ  
યથે અને ફલ્ત જન્મ મરણને કારણે નાશ નહિ થાય, આવી શકા કરવી તે ઉચિત નથી.

સંભવાત્ પુનઃ પ્રચુરતરપુણ્યપાપકર્મસદ્ભાવે કયમાત્યન્તિકઃ કર્મક્ષયઃ સ્યાત્ ।

નહિ કેવલસ્ય સમ્યગ્જ્ઞાનસ્ય આગામિકર્માનુત્પત્તિસામર્થ્યં વિદ્યતે, કિન્તુ ચારિત્રસદ્ધિતસ્યૈવ સમ્યગ્જ્ઞાનસ્ય સંચિતકર્મક્ષયે આગામિકર્માનુત્પત્તૌ ચ સામર્થ્યં સંભાવ્યતે । સમ્યગ્જ્ઞાનેન હિ મિથ્યાજ્ઞાનસ્ય નિવૃત્તિઃ । તત્તથ રાગદ્વેષાદ્યમાત્રેણ હિંસાદિપાપક્રિયાનિવૃત્તિરુપચારિત્રસહયોગાદ્ નવીનકર્માનુત્પત્તિર્ભવતિ । તદ્વત્ સંચિત-કર્મક્ષયોઽપિ ચારિત્રસહકૃતસમ્યગ્જ્ઞાનાદેવ ભવતિ । યથોપધ જ્ઞાનમાત્રેણ નામમાત્રેણ વા ન વ્યાધિં નિવર્તયતિ, કિન્તુ તત્સેવનાદિક્રિયાપરિણત્યૈવ, તદ્વત્ ચારિત્રસદ્ધિ-તસમ્યગ્જ્ઞાનેનૈવ કર્મક્ષયઃ ।

હોગા, ઔર यह व्यापार नवीन कर्मवच का कारण है, इस लिए फिर बहुत से पुण्यकर्म और पापकर्म संचित हो जाएंगे । ऐसी दशा में आत्यन्तिक कर्मक्षय किस प्रकार होगा ?

અનેકજા સમ્યગ્જ્ઞાન આગામી કર્મોં કી ઉત્પત્તિ રોકતે મેં સમર્થ નહીં હૈ । હાં, ચારિત્રસદ્ધિત સમ્યગ્જ્ઞાન સંચિત કર્મોં કે ક્ષય મેં ઔર આગામી કર્મોં કી ઉત્પત્તિ રોકતે મેં સમર્થ હો સકતા હૈ । સમ્યગ્જ્ઞાન સે મિથ્યાજ્ઞાન કી નિવૃત્તિ હોતી હૈ । ફિર રાગ-દ્વેષ આદિ કા અમાવ હો જાને સે હિંસાદિ પાપ ક્રિયા કી નિવૃત્તિરુપ ચારિત્ર કી સહાયતા સે નવીન કર્મોં કી ઉત્પત્તિ રુકતી હૈ । इसी प्रकार संचित कर्मों का क्षय भी चारित्र से युक्त सम्यग्ज्ञान से ही होता है । जैसे-औपचि ज्ञानमात्र से या नाम छेने मात्रसे व्याधि को दूर नहीं करती किन्तु सेवन करने से ही दूर करती है, उसी प्रकार चारित्रयुक्त सम्यग्ज्ञान से ही कर्मों का क्षय होता है ।

થયે, અને તે વ્યાપાર નવીન કર્મવચનું કારણ છે, એ માટે ફરી ઘણાંજ પુણ્ય-પાપ કર્મ સંચિત થઈ જશે એવી દશામાં આત્યન્તિક કર્મક્ષય કેવી રીતે થશે ?

એકજું સમ્યગ્જ્ઞાન આગામી કર્મોંની ઉત્પત્તિને રોકવામાં સમર્થ નથી. હા ચારિત્રસદ્ધિત સમ્યગ્જ્ઞાન સંચિત કર્મોંના ક્ષયમાં અને આગામી કર્મોંની ઉત્પત્તિ રોકવામાં સમર્થ થઈ શકે છે સમ્યગ્જ્ઞાનથી મિથ્યાજ્ઞાનની નિવૃત્તિ થાય છે પછી રાગ-દ્વેષ વગેરેનો અમાવ થઈ જવાથી હિંસાદિ પાપક્રિયાની નિવૃત્તિરુપ ચારિત્રની સહાયતાથી નવીન કર્મોંની ઉત્પત્તિ અટકે છે એ પ્રમાણે સંચિત કર્મોંના ક્ષય પણ ચારિત્રથી યુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ થાય છે જેવી રીતે ઔપધના જ્ઞાનમાત્રથી અથવા ઔપધનું નામ લેવાથી વ્યાધિ દૂર થતી નથી, પરન્તુ સેવન કરવાથી જ દૂર થ છે તે પ્રમાણે ચારિત્રયુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ કર્મોંના ક્ષય થાય છે

નન્યપદાર્થસ્ય નિત્યત્વાપત્તિઃ સ્વાદિત્યેવ મહાન્ દોષઃ સમાપદેત ।  
તયાહિ—પુણ્યપાપરૂપકર્મણોઃ સ્વફલાનુત્પાદનેન તત્સત્તાસ્વીકારે કાર્યરૂપયોરપિ  
તયોર્નિત્યત્વપ્રસન્ન । કિંચ—મવિવ્યત્કાલે પુણ્યપાપકર્મણોરનુત્પત્તિસ્વીકારે તત્ત્વ-  
જ્ઞાનિનાં પ્રત્યવાયપરિહારાર્થે નિત્યનૈમિત્તિકાનુષ્ઠાનં કથમુપપદેત ? इति वदन्ति ।  
અગ્રોચ્યતે—

યતુ—ઉક્તમ્—આરબ્ધકાર્યયોઃ પુણ્યાપુણ્યકર્મણોરુપમોગાત્ પ્રસન્નઃ સચિત્-  
યોષ્ચ તયોઃ પ્રસન્નસ્તત્ત્વજ્ઞાનાદિત્યાદિ, તદપિ ન સંગતમ્ । તયાહિ—ઉપમોગાત્  
કર્મપ્રસન્ને તદુપમોગકાલેડમિલાપપૂર્વકમનોવાકુકાયવ્યાપારસ્ત્યાપરકર્મકારણસ્ય

સવ સે પહેલે મહાન્ હાનિ તો યહી હૈ કિ જન્ય પદાર્થ (કાર્ય) મી નિત્ય હો  
જાયગા । વહુ હસ પ્રકાર—પુણ્ય—પાપ રૂપ કર્મોં કે ફલ કો ઉત્પન્ન ન કર કે સત્તા સ્વીકાર  
કી ગઈ હૈ, સો કાર્યરૂપ હોને પર મી ઊન મેં નિત્યતા કા પ્રસન્ન જાતા હૈ । ઢૂસરી બાત મહ  
હૈ કિ—જાગમી કાલ મેં પુણ્ય—પાપ કી ઉત્પત્તિ ન સ્વીકાર કરને પર તત્ત્વજ્ઞાનિયોં કે સ્થિતિ,  
પ્રત્યવાય (દોષ) કા પરિહાર કરને કે સ્થિતિ નિત્ય—નૈમિત્તિક જનુષ્ઠાન કરના કિસ પ્રકાર  
સંગત હોગા । પેસા હન કા કથન હૈ,

હસ પર ચિતાર કિમા જાતા હૈ—

કાર્યરૂપ મેં પરિણત પુણ્ય જૌર પાપ કર્મોં કા ઉપમોગ સે ક્ષય હોતા હૈ જૌર  
સંચિત કર્મોં કા તત્ત્વજ્ઞાન સે, હત્યાદિ કથન મી સંગત નહીં હૈ । ઉપમોગ સે કર્મોં કા  
ક્ષય માનને પર કર્મોં કા ઉપમોગ કરતે સમય હજીપૂર્વક મન વચન જૌર કાયાકા વ્યાપાર

સૌથી પ્રથમ મહાન્ હાનિ તો જોજ છે કે જન્ય પદાર્થ (કાર્ય) પણ નિત્ય  
થઈ જશે તે જા પ્રમાણે—પુણ્યપાપરૂપ કર્મોંના ફળને ઉત્પન્ન ન કરતાં નિત્યતાનો  
સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે તે કાર્યરૂપ કોવા છતાંય પણ તેમાં નિત્યતાનો પ્રસન્ન  
જાવે છે જીલ વાત જો છે કે—જાગમી કાળમાં પુણ્યપાપની ઉત્પત્તિ નહિ  
સ્વીકારવાથી તત્ત્વજ્ઞાનીઓ માટે પ્રત્યવાય (દોષ) નો પરિહાર કરવા માટે નિત્ય-  
નૈમિત્તિક જનુષ્ઠાન કરજી તે કેવી રીતે સંગત થશે જા પ્રમાણે તેમનું કથન છે

તેના પર વિચાર કરવામાં આવે છે —

કાર્યરૂપમાં પરિણત પુણ્ય અને પાપ કર્મોંનો ઉપયોગથી ક્ષય થાય છે અને  
સંચિત કર્મોંનો તત્ત્વજ્ઞાનથી, હત્યાદિ કથન પણ સંગત નથી. ઉપયોગથી કર્મોંનો ક્ષય  
માનવાથી, કર્મોંનો ઉપયોગ કરવા સમયે હજીપૂર્વક મન, વચન અને કાયાનો વ્યાપાર

સમવાત્ પુનઃ પ્રચુરતરપુણ્યપાપકર્મસદ્ભાવે કયમાત્પન્તિકઃ કર્મક્ષય. સ્વાત્ ।

નહિ કેવલસ્ય સમ્યગ્જ્ઞાનસ્ય આગામિકર્માનુત્પત્તિસામર્થ્યં વિધતે, કિન્તુ ચારિત્રસહિતસ્યૈવ સમ્યગ્જ્ઞાનસ્ય સચિતકર્મક્ષયે આગામિકર્માનુત્પત્તૌ ચ સામર્થ્યં સમાધ્યતે । સમ્યગ્જ્ઞાનેન હિ મિથ્યાજ્ઞાનસ્ય નિવૃત્તિઃ । તત્તથ રાગદ્વેષાદ્યમાવેન હિંસાદિપાપક્રિયાનિવૃત્તિરૂપચારિત્રસહયોગાદ્ નવીનકર્માનુત્પત્તિર્ભવતિ । તદ્વત્ સચિત-કર્મક્ષયોઽપિ ચારિત્રસહકૃતસમ્યગ્જ્ઞાનાદવ ભવતિ । યયૌપધ જ્ઞાનમાત્રેણ નામમાત્રેણ વા ન વ્યાધિં નિવર્તયતિ, કિન્તુ તત્સેવનાદિક્રિયાપરિણત્યૈવ, તદ્વત્ ચારિત્રસહિ-તસમ્યગ્જ્ઞાનેનૈવ કર્મક્ષય. ।

હોગા, ઔર યહ વ્યાપાર નવીન કર્મબન્ધ કા કારણ હૈ, હસ છિપ્ત ફિર બહુત સે પુણ્યકર્મ ઔર પાપકર્મ સચિત્ત હો જાયૈંગે । યેસી વચ્ચા મેં આત્મન્તિક કર્મક્ષય કિસ પ્રકાર હોગા ?

અકેલા સમ્યગ્જ્ઞાન આગામી કર્મોં કી ઉત્પત્તિ રોકને મેં સમર્થ નહીં હૈ । હાં, ચારિત્રસહિત સમ્યગ્જ્ઞાન સંચિત્ત કર્મોં કૈ ક્ષય મેં ઔર આગામી કર્મોં કી ઉત્પત્તિ રોકને મેં સમર્થ હો સકતા હૈ । સમ્યગ્જ્ઞાન સે મિથ્યાજ્ઞાન કી નિવૃત્તિ હોતી હૈ । ફિર રાગ-દ્વેષ વાદિ કા અભાવ હો જાને સે હિંસાદિ પાપ ક્રિયા કી નિવૃત્તિરૂપ ચારિત્ર કી સહાયતા સે નવીન કર્મોં કી ઉત્પત્તિ રુકતી હૈ । હસી પ્રકાર સંચિત્ત કર્મોં કા ક્ષય ઓ ચારિત્ર સે યુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાન સે હી હોતા હૈ । જૈસે-ઔપધિ જ્ઞાનમાત્ર સે યા નામ છેને માત્રસે વ્યાધિ કો દૂર નહીં કરતી કિન્તુ સેવન કરને સે હી દૂર કરતી હૈ, હસી પ્રકાર ચારિત્રયુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાન સે હી કર્મોં કા ક્ષય હોતા હૈ ।

થયે, અને તે વ્યાપાર નવીન કર્મબંધનું કારણ છે, જો માટે ફરી બધાંજ પુણ્ય-પાપ કર્મ સંચિત્ત થઈ જશે. જોની કથામાં આત્મન્તિક કર્મક્ષય કેવી રીતે થશે ?

જોકે સમ્યગ્જ્ઞાન આગામી કર્મોની ઉત્પત્તિને રોકવામા સમર્થ નથી. હા ચારિત્રસહિત સમ્યગ્જ્ઞાન સંચિત્ત કર્મોના ક્ષયમાં અને આગામી કર્મોની ઉત્પત્તિ રોકવામાં સમર્થ થઈ શકે છે સમ્યગ્જ્ઞાનથી મિથ્યાજ્ઞાનની નિવૃત્તિ થાય છે પછી રાગ-દ્વેષ વગેરેનો અભાવ થઈ જવાથી હિંસાદિ પાપક્રિયાની નિવૃત્તિરૂપ ચારિત્રની સહાયતાથી નવીન કર્મોની ઉત્પત્તિ અટકે છે જો પ્રમાણે સંચિત્ત કર્મોના ક્ષય પણ ચારિત્રથી યુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ થાય છે જેવી રીતે ઔપધના જ્ઞાનમાત્રથી અથવા ઔપધનું નામ લેવાથી વ્યાધિ દૂર થતી નથી, પરંતુ સેવન કરવાથી જ દૂર થાય છે તે પ્રમાણે ચારિત્રયુક્ત સમ્યગ્જ્ઞાનથીજ કર્મોના ક્ષય થાય છે

વાગ્યોગઃ । વીર્યન્તરાયસયોપશમજનિત કાયયુક્તાત્મપ્રદેશગતવીર્યપરિણમને  
કાયયોગઃ । સા ચ ક્રિયા સકલકર્મવૃક્ષસ્ય કારણમ્, અતઃ કર્મવાદી મમ્ય  
ક્રિયાં સકલકર્મકારણસ્વરૂપતયાઽઽત્મપરિણતિરૂપત્વેન ચ વિજાનાતિ, તસ્માત્  
સકલકર્મવૃક્ષકારણમાત્મપરિણતિરૂપા ચ ક્રિયેતિ વેદિતા, ક્રિયાવાદી-ક્રિયાસ્વરૂપ-  
કથનસ્વમાચો વેદિતવ્ય इत्यर्थः ।

ક્રિયા કર્મણઃ કારણમિતિ મગવતા મગવતીસૂત્રે નિગદિતમ્, તથાહિ—

“મદ્વિશ્વપુત્રા ! જાવં ચ ણ સે જીવે સયા સમિય યયદ્, વેયદ્, વલ્લ, પંદદ્, ઘટ્ટદ્, છુન્નદ્, ડદીરદ્, તં સ માવં પરિણમદ્, તાવં ચ ણં સે જીવે આરમદ્ સારંમદ્ સમારંમદ્, આરમે વદ્દદ્ સારમે વદ્દદ્, સમારંમે વદ્દદ્, આરંમમાણે સારંમમાણે સમારંમમાણે આરંમે વદ્દમાણે સારંમે વદ્દમાણે સમારંમે વદ્દમાણે વહૂણ પાણત્ત્વં મૂયાવં જીવાણં સઘાણ દુક્કસાવળયાદ્, સોયાવળયાદ્, ધૂરાવળયાદ્, તિપ્પાવળયાદ્, પરિયાવળયાદ્ વદ્દદ્, સે તેણદ્દેણ મદ્વિશ્વપુત્રા ! एवं बुद्ध-जाव च ण से जीवे सया समिय एयद् जाव परिणमद्, तावं च ण तस्स जीवस्स अंतं अंतकिरिया न मद्द” (મગવતી ૩. સુત્ર ૩૮)

કહાતા હૈ । વીર્યન્તરાય કે કામોપશમ સે જનિત, કાયયુક્ત આત્મપ્રદેશોં મેં રહે હુપ વીર્ય  
કા પરિણમન કાયયોગ કહાતા હૈ । મદ્ ક્રિયા સકલ કર્મવૃક્ષ કા કારણ હૈ, ઇસ ક્ષિપ્  
મમ્ય પુરુષ ક્રિયા કો સબ કર્મોં કા કારણ ઔર આત્મા કી પરિણતિરૂપ સમસતા હૈ, અત  
“ક્રિયા, સમસ્ત કર્મોં કા કારણ ઔર આત્મા કી પરિણતિરૂપ હૈ” ઇસ પ્રકાર જ્ઞાનને વાકેકો  
ક્રિયાવાદિક્રિયા કે સ્વરૂપ કા કથન કરને વાસ્ત સમસતા જાહિય ।

ક્રિયા, કર્મ કા કારણ હૈ, મદ્ જ્ઞાત મગવાન્ ને મગવતીસૂત્ર મેં કહી હૈ, મદ્  
ઇસ પ્રકાર—

ઉત્પત્ત, વચન-મુક્ત આત્મપ્રદેશોમાં રહેલા વીર્યના પરિણમન કાયયોગ કહેવાય છે.  
આ ક્રિયા સકલ કર્મવૃક્ષનું કારણ છે એટલા માટે બધા પુરુષ ક્રિયાને સર્વ કર્મોનું  
કારણ અને આત્માની પરિણતિરૂપ સમજે છે તે કારણથી “ક્રિયા સમસ્ત કર્મોનું  
કારણ અને આત્માની પરિણતિરૂપ છે” આ પ્રમાણે બાણવાવાળાને ક્રિયાવાદી-ક્રિયાના  
સ્વરૂપનું કથન કરવા વાળા સમજવા બોધ્યો.

ક્રિયા એ કર્મનું કારણ છે, એ વાત મગવાને મગવતીસૂત્રમાં કહી છે, તે આ  
પ્રમાણે છે—

छाया-मण्डितपुत्र ! यावच्च खलु स जीव सदा समित एजते व्यजते चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयते त त भाव परिणमति, तावच्च खलु स जीव आरमते सरमते समारमते, आरम्भे वर्तते सरम्भे वर्तते समारम्भे वर्तते, आरममाण, सरममाण, समारममाण । आरम्भे वर्तमान, सरम्भे वर्तमान समारम्भे वर्तमानो बहूना प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां, दुःखापनतया शोचापनतया श्रापनतया तेषापनतया पिष्टापनतया परितापनतया वर्तते तत् तेनार्येन मण्डितपुत्र ! एवम् उच्यते-यावच्च खलु स जीव सदा समित एजते यावत् परिणमति, तावच्च खलु तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया न भवति ।

भावार्थः—

मनोवाक्काययोगसहितस्य जीवस्य सर्वदा क्रियापरिणत्या कम्पन-स्थानान्तरगमन-किञ्चिच्चलन-सर्वदिग्गमन-पृथिव्यादिसोमण-बलात्कारपूर्वकप्रेरणो-त्क्षेपणा-पक्षेपणा-ऽऽकुञ्चन-प्रसारणादिपरिणाम प्राप्तस्य पृथिव्यादिजीवानामुप-द्रवकरणेन वा, विनाशसकल्पनेन वा, परितापनेन वा, मरणलक्षणदुःख-प्रापणया वा, म्रियवियोगादिदुःखप्रापणया वा, शोकप्रापणया वा, शोकाधिक्यजन्य-

“मन वचन और काययोग से सहित जीव सदा किरारूप परिणति से कम्पन, विविध कम्पन, एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन, किञ्चित् चलना, सब दिशाओं में गमन करना, पृथ्वी आदि को क्षुब्ध करना, बलात्कार से प्रेरित करना, ऊपर उठाना, नीचे करना, सिकोड़ना, फैलाना, इत्यादि परिणामों को प्राप्त होता है । इस परिणाम के कारण जीव को पृथिवीकाय आदि के जीवों को उपद्रव करने से, घातका सकल्प करने से, परिताप पहुँचाने से, मृग्यरूप दुःख पहुँचाने से, इष्टवियोग आदि का कष्ट पहुँचाने से, शोक

मन, वचन અને કાયયોગથી સહિત જીવ સદા ક્રિયારૂપ પરિણતિથી કમ્પન, વિવિધ કમ્પન, એક સ્થાનથી બીજા સ્થાનપર ગમન, કિંચિત્ ચાલવું, સર્વ દિશાઓમાં ગમન કરવું, પૃથ્વી આદિને ક્ષુબ્ધ કરવું, બલાત્કારથી પ્રેરિત કરવું, ઉપર ઉઠાવવું, નીચે કરવું, સંકોચાવું, ફેલાવું, ઇત્યાદિ પરિણામોને પ્રાપ્ત થાય છે આ પરિણામના કારણે જીવને પૃથ્વીકાય આદિના જીવોને ઉપદ્રવ કરવાથી, ઘાતનો સંપદ્ય કરવાથી, પરિતાપ પહોંચાડવાથી, મૃત્યુરૂપ દુઃખ પહોંચાડવાથી, શોકની અધિકતાથી થવાવાળી શરીરની

શરીરજીર્ણતાપ્રાપ્તયા ધા, અધુપાતાદિપ્રાપ્તયા ધા, શરીરપીડોત્પાદનયા ધા, ગ્લાનિવ્રજનનેન ધા સકલકર્મસયાત્મિકા મુક્તિર્ન મવતીત્યર્થઃ । એવમ્ભૂતસ્ય જીવસ્ય ચતુર્ગતિકદુઃસ્વમયસસારદુસ્તરમહારણ્યપરિભ્રમણાદ્ વિરામો ન સંમવતીતિ માવઃ ।

ક્રિયાયા પચ્ચવિંશતિર્મેવા ઇતિ સ્થાનાક્કમુદ્રે (સ્થા ૨૩ ૧ । સ્થા ૩૩ ૩)

કતિમિ ક્રિયામિઃ પ્રાણાતિપાતઃ—

પ્રાણાતિપાતં કુર્વન્ જીવઃ સપ્તાષ્ટૌ વા જ્ઞાનાવરણીયાદીનિ કર્માણિ બ્રહ્મતિ ।  
તથાપુર્વન્થે સત્યષ્ટૌ કર્માણિ, આપુર્વન્વામાથે સપ્ત કર્માણિ બ્રહ્મતિ ।

તત્ર જીવઃ કતિમિ ક્રિયામિઃ પ્રાણાતિપાત નિપ્પાદયતિ ? ઉચ્યતે—કદાચિદ્ તિસુમિઃ ક્રિયામિઃ, કદાચિચ્ચત્સુમિઃ ક્રિયામિઃ, કદાચિત્, પચ્ચમિઃ ક્રિયામિઃ ।

પહુંચાને સે શોક કી અધિકતા સે, હોને બાહી શરીર કી બીર્જતા પહુંચાને સે, અધુપાત આદિ કરવાને સે, શરીર મેં પીછા ઉત્પન્ન કરને સે, ગ્લાનિ ઉત્પન્ન કરને સે સમસ્ત કર્મોં કા ક્ષયરૂપ મોક્ષ પ્રાપ્ત નહીં હોતા । તાત્પર્યે યહ હૈ કિ—હસ પ્રકાર કે બીજ કે ચાર ગતિ કે દુઃસ્થોં સે પરિપૂર્ણ સંસારરૂપી વિકટ બટલી મેં ભ્રમણ કરને કા અન્ત નહીં આતા । ”

ક્રિયા કે પચ્ચીસ મેઢ સ્થાનાક્કસૂત્ર મેં કહે હૈં । (સ્થા ૨૩ ૧, સ્થા ૩૩ ૩)

પ્રાણાતિપાત કિતની ક્રિયાઓં સે હોતા હૈં ? ।

પ્રાણાતિપાત કરતા હુઆ બીજ જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત યા બાઠ કર્મોં કા બન્ધ કરતા હૈં । અયુ કા બન્ધ હો સો બાઠ કર્મોં કા અયયા સાત કર્મોં કા બન્ધ કરતા હૈં ।

બીજ કિતની ક્રિયાઓં સે પ્રાણાતિપાત કરતા હૈં । હસ કા ઉત્તર યહ હૈ—કદાચિત્ ત્રિન ક્રિયાઓં સે, કદાચિત્ ચાર ક્રિયાઓં સે, કદાચિત્ પાંચ ક્રિયાઓં સે ।

અર્જુન પહેાચાઠવાથી, આંધ્રુ પકાવવાથી, શરીરમાં પીછા ઉત્પન્ન કરવાથી, ગ્લાનિ ઉત્પન્ન કરવાથી સમસ્તક્રમોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ પ્રાપ્ત થતો નથી તાત્પર્ય એ છે કે — આ પ્રમાણે જીવને આસ્થાતિના દુઃખોથી પરિપૂર્ણ સંસારરૂપી વિકટ બટલી (વન)માં ભ્રમણ કરવાનો અંત આવતો નથી.

ક્રિયાના પચીસ લેહ સ્થાનાંગ સૂત્રમાં કહ્યા છે (સ્થા. ૨-૪-૧ સ્થા ૩-૩)

પ્રાણાતિપાત કેટલી ક્રિયાઓથી થાય છે ?

પ્રાણાતિપાત કરનાર જીવ જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત અથવા આઠ કર્મોના બંધ કરે છે આયુનો બંધ હોય તો આઠ કર્મોના—અન્યથા સાત કર્મોના બંધ કરે છે

જીવ કેટલી ક્રિયાઓથી પ્રાણાતિપાત કરી શકે છે ? તેનો ઉત્તર એ છે કે—કદાચિત્ ત્રણ ક્રિયાઓથી, કદાચિત્ ચાર ક્રિયાઓથી, કદાચિત્ પાંચ ક્રિયાઓથી.

તત્ર-કાયિક્યાધિકરણિકીપ્રાદેપિકીમિ\* ક્રિયામિસ્રિક્રિયો જીવ કર્માણિ  
વધ્નાતિ । કાયિકીનામ-હસ્તપાદાદિવ્યાપારણમ્ । અધિકરણિકી-સ્વરૂગતીરૂપીકરણા-  
દિકમ્ । પ્રાદેપિકી-‘એન માર્યામી’-સ્પશુમનન.સપ્રધારણમિતિ ।

પ્રાણાતિપાત કર્તુર્જીવસ્ય ચતુષ્ક્રિયતા-કાયિક્યાધિકરણિકીપ્રાદેપિકી  
પારિતાપનિકીમિશ્રતસ્યમિ ક્રિયામિર્ભવતિ । તત્ર-પારિતાપનિકીનામ-સ્વરૂગાદિઘાતેન  
પીઠાકરણમ્ । પચ્ચક્રિયતા તદા ભવતિ યદા પ્રાણાતિપાતક્રિયાઽપિ પચ્ચમી  
ભવતિ । પ્રાણાતિપાતક્રિયાનામ-જીવિતાદ્ વ્યપરોપણમ્ । ઉક્તરીત્યા જ્ઞાનાવરણી-

કાયિકી, આધિકરણિકી ઓર પ્રાદેપિકી, ઇન ત્રીન ક્રિયાઓ વાલા હોકર જીવ કર્મવશ  
કરતા હૈ । હાથ-પૈર આદિ કા હિલાના ઝુલના વગેરહ ‘કાયિકિ’ ક્રિયા હૈ । તલવાર કો  
તીક્ષ્ણ કરના વગેરહ ‘આધિકરણિકી’ ક્રિયા હૈ । ‘હસે મારુગા’ હસ પ્રકાર મન મેં અશુભ  
વિચાર કરના ‘પ્રાદેપિકી’ ક્રિયા હૈ ।

પ્રાણાતિપાત કરને વાલા જીવ ચાર ક્રિયા વાલા હોતા હૈ-કાયિકી, આધિકરણિકી,  
પ્રાદેપિકી ઓર પારિતાપનિકી, યે ચાર ક્રિયાઈં ઉસે છગતી હૈં । તલવાર આદિકા આઘાત  
કર કે પીઠા પહૂંચાના ‘પારિતાપનિકી’ ક્રિયા હૈ । જવ પ્રાણાતિપાત ક્રિયા મી જીવ  
કર ઢાલતા હૈ તવ ઉસે પાંચો ક્રિયાઈં છગતી હૈં । કિસી પ્રાણી કો જીવન સે વિયુક્ત  
કર દેના ‘પ્રાણાતિપાતિકી’ ક્રિયા હૈ । હસ પ્રકાર જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોં કે કારણમૂત

કાયિકી, આધિકરણિકી અને પ્રાદેપિકી, આ ત્રણ ક્રિયાઓવાળા થઈને જીવ કર્મવશ  
કરે છે, હાથ-પગ આદિને હલાવવું-ફેરવવું વગેરે કાયિકી ક્રિયા છે તલવાર વગેરેને  
તીક્ષ્ણ કરવી વિગેરે આધિકરણિકી ક્રિયા છે ‘એને મારીશ’ આ પ્રકારનો મનમાં  
અશુભ વિચાર કરવો તે પ્રાદેપિકી ક્રિયા છે

પ્રાણાતિપાત કરવાવાળા જીવ ચાર ક્રિયાવાળા હોય છે-કાયિકી, આધિકરણિકી,  
પ્રાદેપિકી અને પારિતાપનિકી, આ ચાર ક્રિયાઓ તેને લાગે છે તલવાર આદિને  
આઘાત કરીને પીઠા પહોંચાડવી તે પારિતાપનિકી ક્રિયા છે જ્યારે પ્રાણાતિપાત ક્રિયા  
પણ જીવ કરી નાંખે છે ત્યારે તેને પાંચ ક્રિયાઓ લાગે છે કોઈ પ્રાણીને જીવનથી  
વિયુક્ત (બંદ) કરી દેવું તે પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા છે આ પ્રમાણે જ્ઞાનાવરણીય આદિ



शरीरजीर्णताप्रापणया वा, अश्रुपातादिप्रापणया वा, शरीरपीडोत्पादनया वा, ग्लानिजननेन वा सकलकर्मसयात्मिका मुक्तिर्न भवतीत्यर्थः । एवम्भूतस्य जीवस्य चतुर्गतिकदुःखमयसत्तारदुस्तरमहारण्यपरिभ्रमणाद् विरामो न संभवतीति भावः ।

क्रियाया पञ्चविंशतिर्मेधा इति स्थानाङ्गमुपे (स्था २ उ १ । स्था ३ उ ३)

कतिमि\* क्रियाभिः प्राणातिपातः—

प्राणातिपातं कुर्वन् जीवः सप्ताष्टौ वा ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि बध्नाति । तत्रायुर्धन्ये सत्यष्टौ कर्माणि, आयुर्धन्वाभावे सप्त कर्माणि बध्नाति ।

तत्र जीवः कतिमि क्रियाभिः प्राणातिपातं निष्पादयति ? उच्यते— कदाचित् तिसृभिः क्रियाभिः, कदाचिच्चतसृभिः क्रियाभिः, कदाचित्, पञ्चभिः क्रियाभिः ।

पहुँचाने से शोक की अधिकता से, होने वाली शरीर की नीर्णता पहुँचाने से, अश्रुपात आदि करवाने से, शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने से, ग्लानि उत्पन्न करने से समस्त कर्मों का क्षयरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता । तात्पर्य यह है कि—इस प्रकार के जीव के चार गति के दुःखों से परिपूर्ण संसाररूपी चिह्न अटवी में भ्रमण करने का अन्त नहीं आता । ”

क्रिया के पञ्चीस मेव स्थानाङ्गसूत्र में कहे हैं । (स्था २ उ १, स्था ३ उ ३)

प्राणातिपात कितनी क्रियाओं से होता है ?

प्राणातिपात करता हुआ जीव ज्ञानावरणीय आवि सात या आठ कर्मों का बन्ध करता है । आयु का बन्ध हो तो आठ कर्मों का अन्यथा सात कर्मों का बन्ध करता है ।

जीव कितनी क्रियाओं से प्राणातिपात करता है । इस का उत्तर यह है—कदाचित् तीन क्रियाओं से, कदाचित् चार क्रियाओं से, कदाचित् पाँच क्रियाओं से ।

लघुत्वा पक्षोऽवाधी, आसु पक्षोऽवाधी, शरीरमां पीडा उत्पन्न करवाधी, ग्लानि उत्पन्न करवाधी अमस्तकभोगा क्षयरूप मोक्ष प्राप्त होता नहीं तात्पर्य को छे छे—  
आ प्रभासे लवने आसजतिना दुःखोऽथ परिपूर्णा संसाररूपी चिह्न अटवी (वन)मां भ्रमण करवाने अत आवतो नथी ।

क्रियाना पञ्चीस मेव स्थानाङ्ग सूत्रमां कथा छे (स्था २-उ-१ स्था ३-उ-३)

प्राणातिपात करवाधी क्रियाओंकी बाध छे ?

प्राणातिपात करवाधे लव ज्ञानावरणीय आवि सात अन्यथा आठ कर्मोना भध करे छे आयुनो भध कोय तो आठ कर्मोना—अन्यथा सात कर्मोना भध करे छे

लव कटवी क्रियाओंकी प्राणातिपात करी शके छे ? तेनो उत्तर को छे छे—कदाचित् त्रय क्रियाओंकी, कदाचित् चार क्रियाओंकी, कदाचित् पाँच क्रियाओंकी ।

યદે સતિ તુ મૃગે તસ્ય લુબ્ધકસ્ય પારિતાપનિકી, પરિતાપનપ્રયોજના ક્રિયા ભવતિ ।  
યાતિતે ચ સતિ મારણરૂપા પ્રાણાતિપાતક્રિયા ।

પૂર્વ ક્રિયાયા જ્ઞાનાવરણીયાદિક કર્મ જન્યતે । તત્તત્કર્મફલાનુભવનરૂપા વેદના  
ચ તત્પ્રત્યાદેવ ભવતિ । ઉક્તશ્ચ—

“પુલ્વ મતે ! કિરિયા પચ્છા વેયણા ? પુલ્વ વેયણા તચ્છા કિરિયા ?  
મંહિઅપુત્તા ! પુલ્વ કિરિયા પચ્છા વેયણા, જો પુલ્વ વેયણા, પચ્છા કિરિયા ” ।  
( મગ ૩ જ ૩ ઉ )

છાયા-પૂર્વ મદન્ત ! ક્રિયા પશ્ચાદ્ વેદના ? પૂર્વ વેદના પશ્ચાત્ ક્રિયા ?  
મોમણિહતપુત્ર ! પૂર્વ ક્રિયા પશ્ચાદ્ વેદના, નો પૂર્વ વેદના પશ્ચાત્ ક્રિયા ॥

કુમુલાદૌ લોહમુત્તિપત ક્રિયા—

લોહ લોહમતાપનાર્થે કુશ્લે લોહમયેન સદશ્વનેનોત્તિપન્ પ્રક્ષિપન્ વા  
પ્રાદેપિકી ક્રિયા લ્યાતી હૈ । મૃગ ક વૈંધ જાને પર શિકારી કો પારિતાપનિકી ક્રિયા  
લ્યાતી હૈ । મૃગ કા ઘાત કરને પર હિંસારૂપ પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા હોતી હૈ ।

પહેલે ક્રિયા સે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મો કા વય હોતા હૈ જોર ડસ કા ફલ  
મોગનારૂપ વેદના બાદ મેં હી હોતી હૈ । કહા મી હૈ—

“હે મગવન્ ! પહેલે ક્રિયા જોર ફિર વેદના હોતી હૈ ? અથવા પહેલે વેદના જોર  
પશ્ચાત્ ક્રિયા હોતી હૈ ? હે મણિહતપુત્ર ! પહેલે ક્રિયા, પશ્ચાત્ વેદના હોતી હૈ । પહેલે વેદના  
જોર પશ્ચાત્ ક્રિયા નહીં હોતી ” ( મગવતી. ૨ ૩ ઉ ૩ )

કુશ્લ આદિ મ લોહા ઢાલને વાલે કો ક્રિયા—

તપાન કે છિપ્ કુશ્લ (મૂપ) મેં લોહ કી સંઘાસી સે લોહા ઢાલને વાલે કો  
ક્રિયા થાય છે મૃગ ઉપર ઘવાવાળા દ્વેષથી પ્રાદેપિકી ક્રિયા લાગે છે મૃગના બંધાર્થ  
જવાબી શિકારીને પારિતાપનિકી ક્રિયા લાગે છે મૃગનો ઘાત કરવાથી હિંસારૂપ  
પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા થાય છે

પ્રથમ ક્રિયાથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોના બંધ થાય છે, અને તેનું ફળ મોગવવા  
રૂપ વેદના પછીથીજ થાય છે કહ્યું છે કે—

“હે મગવન્ ! પહેલાં ક્રિયા અને પછી વેદના થાય છે ? કેપહેલાં વેદના અને  
પછીથી ક્રિયા થાય છે ? હે મહિહતપુત્ર ! પહેલી ક્રિયા, અને પછીથી વેદના થાય છે,  
પહેલી વેદના અને પછીથી ક્રિયા થતી નથી ” (મગ ૨. ૩ ઉ ૩)

મૂપ આદિમા લોહ નાખનારને ક્રિયા—

તપાવવા માટે મૂપમાં, લોહાની સાબુસીથી લોહ નાખવાવાળાને કાયિકીથી લધને

યાદિકર્મણાં કારણીભૂતસ્ય પ્રાણાતિપાતસ્ય નિષ્પત્તિસ્ત્રિક્રિયતયા, ચતુષ્ક્રિયતયા પચ્ચક્રિયતયા વા ત્રિધા ભવતિ । એવં ચતુર્વિંશતિદંડકેષુ વિદ્યેયમ્ ।

### મૃગવધોદયતસ્ય ક્રિયા—

મૃગવધોદયતો લુચ્ચકઃ સ્વલુ વનપર્વતજલાશ્વયાદિષુ મૃગવધાર્થે ગત્વા મૃગપ્રવેશાય ગર્તાદિક તથાન્વનાર્થે ચ પાશં રચયતિ, તદા મૃગવધાર્થે ગમનગર્ત-પાશાદિકરણાત્ તસ્ય કાયિકયાદિકાઃ ક્રિયા ભવન્તિ । તત્ર ગમનધાવન-ગ્રહણાદિના ગમનાદિકાયચેદ્ધારૂપા કાયિકી, ગર્તપાશાદિરૂપેણાધિકરણેન નિર્વૃત્તા ક્રિયા આધિકરણિકી, યથા મૃગેષુ પ્રદેપસ્તેન નિર્વૃત્તા પ્રાદેપિકી ક્રિયા ભવતિ ।

પ્રાણાતિપાત કી નિષ્પત્તિ કહી ત્રીન, ચાર તથા કહી પાંચ ક્રિયાઓ સે, એસે ત્રીન પ્રકાર સે હોતી હૈ । ચૌવીસો દંડકો મેં હસો પ્રકાર સમજના ચાહિય ।

### મૃગવધ મેં ઉદયતકા ક્રિયા—

મૃગ મારને કે લિય ઉચ્ચત હુઆ શિકારી વન પર્વત ઔર જલ્પશય આદિ મેં મૃગકા વધ કરને કે લિય બાકર મૃગ પકડને કે લિય સ્ત્રહુ બનાતા હૈ ઔર સે વાંધને કે લિય બાક રચતા હૈ । સસ સમય મૃગવધ કે લિય ગમન કરને સે, તથા સ્ત્રહુ એવ પાશ તૈયાર કરને સે, સે કાયિકી આદિ ક્રિયાયેં છાતી હૈ । જાના દોહના, પકડના આદિ સે કાયિકચેદ્ધારૂપ કાયિકી ક્રિયા છાતી હૈ । સ્ત્રહુ ઔર બાકરૂપ અધિકરણાં કે કારણ આધિકરણિકી ક્રિયા હોતી હૈ, મૃગ પર હોને વાલે દેવ કે કારણ

ક્રમેના કારણભૂત પ્રાણાતિપાતની ઉત્પત્તિ કોઈ સ્થળે ત્રણ, કોઈ કોણે આર તથા કોઈ કોણે પાંચ ક્રિયાઓથી જોવા ત્રણ પ્રકારથી ક્રોધ છે ચોવીસેય કંઠકોમા આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ.

### મૃગવધમા તૈયાર બનાવને ક્રિયા—

મૃગને મારવા માટે તૈયાર થયેલો શિકારી વન, પર્વત અને જલાશય આદિમાં મૃગને વધ કરવા માટે જઈને મૃગ પકડવા માટે ખાટો બનાવે છે, અને તેને બાંધવા માટે બાંધ રચે છે તે સમયે મૃગના વધ માટે ગમન કરવાથી, તથા ખાટો અને પાશ તૈયાર કરવાથી તેને કાયિકી આદિ ક્રિયાઓ લાગે છે જુ, દોડવુ, પકડવુ આદિથી કાયિક ચેદ્ધારૂપ કાયિકી ક્રિયા લાગે છે ખાટો અને બાંધવુ અધિકરણોના કારણે આધિકરણિકી

પયતિ, સ્થાનત સ્થાનાન્તર નયતિ, જીવિતાદ્ વ્યપરોયયતિ । તપ્ર કાયિક્યાદિ-  
પ્રાણાતિપાતિકીર્પયન્તામિ પञ्ચમિ ક્રિયામિ સ્મૃટો મવતિ ।

દૃષ્ટિજ્ઞાનાય હસ્તાદિક પ્રસારયત ક્રિયા—

રાત્રી નિવિદાન્ધકારે ચમુર્દર્શનામાથે સતિ ઘૃષ્ટિ વિજ્ઞાતુમાકાશે ય  
સલુ રસ્ત પાદ વા વાહુ વા ઝરુ વા યાવત્કાલ પ્રસારયેત્ સકોચયેત્ તાવત્કાલત  
એવાસૌ કાયિક્યાદિપ્રાણાતિપાતિકીર્પયન્તામિ પञ्ચમિ ક્રિયામિ સ્મૃટો મવતિ ।

કરતા હૈ, પૂરી તરહ પરિતાપના કરતા હૈ, પક સ્થાન સે દૂસરે સ્થાન પર હેજાતા હૈ,  
જીવન સે પ્યુત કરતા હૈ, એસા કરને મેં વહ કાયિકી આદિ પ્રાણાતિપાતિકી પર્યન્ત પાંચો  
ક્રિયાઓ સે સૃષ્ટ હોતા હૈ । અર્થાત્ પાંચો હી ક્રિયાઈં ઉસે લગતી હૈ ।

દૃષ્ટિજ્ઞાન કે લિપ્ હાથ આદિ ફેલાવને વાછે કો ક્રિયાઈં—

રાત્રિ કે સમય ઘોર અન્ધકાર મેં—ચમુર્દર્શન કા અમાવ હોને પર, વપા જાનને કે  
લિપ્ આકાશ મેં જો હાથ, પેર, વાહુ, યા ઝરુ, જબ તક પ્રસારતા હૈ, સિફોડતા હૈ,  
તવ તક હી વહ કાયિકી આદિ પ્રાણાતિપાતિકી પર્યન્ત પાંચક્રિયાઓ સે સૃષ્ટ હોતા હૈ ।

પૂરી રીતે પરિતાપના કરે છે, એક સ્થાનથી બીજા સ્થાનમા લઈ જાય છે, જીવનથી  
પ્યુત (વિયુક્ત) કરે છે એવી રીતે કરવામાં તે કાયિકી આદિ પ્રાણાતિપાતિકી મુખીની  
પાંચેય ક્રિયાઓથી સૃષ્ટ થાય છે, અર્થાત્ તેને પાંચેય ક્રિયાઓ લાગે છે

દૃષ્ટિજ્ઞાન માટે હાથ આદિ ફેલાવવા વાળાને ક્રિયાઓ—

રાત્રિના ઘોર અન્ધકારમાં, ચમુર્દર્શનનો અમાવ હોવાથી, વરસાદ આવે છે કે  
નહિ ? એ બાબતના માટે, આકાશમાં જે હાથ, પગ, બાહુ અથવા ઈત્ ત્યાં મુખી પ્રસારે છે,  
અંકોચે છે, ત્યાં મુખી તે કાયિકી આદિ પ્રાણાતિપાતિકીમુખીની પાંચ ક્રિયાઓ તેને સ્પર્શે છે

કાયિક્યાદિ-પ્રાણાતિપાત્તિકીર્ણ્યન્તામિઃ પંચમિઃ ક્રિયામિ સ્પૃષ્ટો મવતિ । एवं  
 છોદેન ફાલપરશુકુટાસ્ફુદાલદાનાદિનિર્માણે લોહકારાદીનાં પચ્ચક્રિયસ્વ મવતિ,  
 અવિરતિસઙ્ગાવાત્ । एष घनोपरि स्यापनेन कूटनेन मत्तया ध्मापनेन विघ्यापनेन  
 પ્રજ્વાલિતેન ચૈત્યકરણાર્થ જલે તત્તલોહપ્રક્ષેપેણ મત્યેકતત્તદ્વ્યાપારે પચ્ચમિઃ પચ્ચમિઃ  
 ક્રિયામિઃ સ્પૃષ્ટો મવતિ ।

### घनुषा विध्यतः क्रिया-

घनुर्धर श्रैर्ष्वापादयन् यावत् घनुर्गृह्णाति, घनुः प्रसारयति, कर्ण-  
 पर्यन्तमाकर्षति, वर्तुलीकरोति, घाणं संयोजयति, ऊर्ध्वं प्रक्षिपति, स्वाभिमुख-  
 मागच्छतो इन्ति, अन्योन्यगात्रं संहतीकरोति, मनाक् स्पृञ्चति, समन्ततः परिता-

કાયિકી સે પ્રાણાતિપાત્તિકી પર્યન્ત પાંચ ક્રિયાઓ કા સ્પર્શ હોતા હૈ । इसी प्रकार छोड़े से  
 फाल, फरसा, कुल्हाड़ा, कुदाल, दांतस्र आदि के बनाने में छुहार वगैरह को पांच क्रियाएँ  
 સગતી હૈ, क्योंकि उस में अविरति मौजूद है । इसी प्रकार घन के ऊपर रखने में, कूटने  
 में, घौकने में, आग बुझाने में, प्रम्वलित करने में, ठहा करनेके लिए जल में छोड़ा डालने में,  
 इस प्रत्येक में पांच २ क्रियाएँ सगती हैं ।

### घनुष से वेचने में क्रिया-

घनुर्धारी पुरुष बाण से मारता हुआ अन तक घनुष ग्रहण करता है, घनुष  
 फैलाता है, कानपर्यन्त खींचता है, गोळ करता है, उस में बाण जोड़ता है, ऊपर  
 ફેંકતા હૈ, अपने सामने आते को मारता है, शरीर को सिकोड़ता है, बरा-सा स्पर्श

પ્રાણાતિપાત્ત સુધીની પાંચ ક્રિયાઓનો સ્પર્શ થાય છે એ પ્રમાણે લોકાના કાલ-  
 ઢળની કોસ, ફરસી, કુવાડા, કોદાલી, દાંતસ્ર આદિ બનાવવામાં છુદાર વગેરેને પાંચ  
 ક્રિયાઓ લાગે છે, કારણ કે તેમાં અવિરતિ હાજર છે આ પ્રકારે ઘણુને ઉપર  
 રાખવામાં, કૂટવામાં ધોઢનીથી ધોઢવામાં, અગ્નિ બુઝાવામાં, પ્રમ્વલિત કરવામાં અને  
 લોહ ઠડું કરવા માટે પાણીમાં નાખવામાં આ પ્રત્યેક કાર્યમાં પાંચ ક્રિયાઓ લાગે છે

### घनुषधी विधवाभा क्रिया-

घनुष धारण करना पुरुष पाणुधी मारतो ज्यासुधी घनुष अटक करे છે,  
 घनुष ફેલાવે છે, કાન સુધી ખેંચે છે, ગોળ કરે છે, તેમાં પાણુ બેઠે છે, ઉપર ફેંકે છે,  
 ધોઢાના સામે આવનારને મારે છે, શરીરને સંકોચે છે, થોડો જોવા સ્પર્શ કરે છે,

इय च प्राणातिपातक्रिया पद्भजीवनिकायविषये भवति । यथा-रज्जादौ सर्पादिबुद्ध्या मारणाध्यवसायोऽपि जीवविषयक एव । तत्र हि-‘सर्पोऽय’-मितिबुद्ध्या मारणाध्यवसायो जायते, तस्मात् रज्जु प्रति सर्पवधभावयुक्तः सर्पवधजन्यया प्राणातिपातक्रियया स्पृष्टो भवति । अजीवविषयको मारणाध्यवसायस्तु नैव समवति, यथा रज्जु रज्जुत्वेन विघ्नाय न कश्चिद्रज्जुविषये मारणाध्यवसाय करोति तस्मात् पट्सु जीवनिकायेष्वेव प्राणातिपातक्रिया प्रवर्तते, न त्वजीवविषय इति । उक्तञ्च—

“कम्हि ण मंते ! जीवाण पाणाइवाएण किरिया कज्जइ ! ! गोयमा छसु जीवणिकाएसु” इति

यह प्राणातिपात क्रिया पद्भजीवनिकाय के विषय में होती है । रस्ती आदि में सांप आदि की भावना से मारने का अध्यवसाय होना भी जीवविषयक ही अध्यवसाय है । वहाँ ‘यह सर्प है’ इस प्रकार की भावना से मारने का अध्यवसाय होता है, अत एव वहाँ रस्ती में सर्प के वधके भाव से युक्त पुरुष सर्पवधजन्य प्राणातिपात क्रिया से स्पृष्ट होता है । अजीवविषयक मारने का अध्यवसाय तो हो ही नहीं सकता है—रस्ती को रस्ती समझ कर कोई रस्ती में मारने की भावना नहीं करता, अत पद्भजीवनिकायो में ही प्राणातिपातिकी क्रिया प्रवृत्त होती है, अजीव में नहीं । कहा भी है—

“મગવન્ ! કિન મેં જીવોં કો પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા હોતી હૈ ? ગૌતમ ! છહ જીવનિકાયોં મેં” ।

આ પ્રાણાતિપાત ક્રિયા પદ્ભજીવનિકાયના વિષયમાં થાય છે દોરડાં આદિમાં સર્પઆદિની ભાવનાથી મારવાનો અધ્યવસાય થવો તે પણ જીવવિષયક અધ્યવસાય છે ત્યાં ‘આ સર્પ છે’ આ પ્રકારની ભાવનાથી મારવાનો અધ્યવસાય થાય છે એટલા કારણથી ત્યાં રસ્તી-દોરડાંમાં-સર્પના વધની ભાવનાયુક્ત પુરુષ સર્પવધજન્ય પ્રાણાતિપાત ક્રિયાને સ્પર્શે છે અજીવવિષયક મારવાના અધ્યવસાય તો થઈ શકતા નથી—રસ્તીને રસ્તી (દોરડી) સમજીને કોઈ રસ્તી-દોરડાંમાં મારવાની ભાવના કરતા નથી, તે માટે પદ્ભજીવની કાયોમાંજ પ્રાણાતિપાતની ક્રિયા પ્રવૃત્ત હોય છે અજીવમાં નહિ, કહ્યું પણ છે—

“મગવન્ ! શેમાં જીવોંને પ્રાણાતિપાતિકી ક્રિયા થાય છે ? ગૌતમ ! ઇ જીવનિકાયોંમાં.”

॥ તાલમારુણ તત્કલ પાતયતઃ ક્રિયા ॥

તાલદૃશમારુણ તત્કલ પાતયન્નપિ તાવત્કાલત एष पञ्चभिः कायिक्यादि क्रियाभिः स्पृष्टो भवति ।

અષ્ટાદશ પાપસ્યાનાનિ—

(૧) પ્રાણાતિપાત—

જીયાનાં પ્રાણાતિપાતાધ્યવસાયેન પ્રાણાતિપાતક્રિયા ભવતિ । હિસાપરિણામ-કાલ एष प्राणातिपातक्रिया भवति । प्राणातिपातादीनामन्यवसायमात्रादपि ज्ञाना वरणीयादि कर्म जन्यते । उक्तञ्च—

“ પરિણામિયં પમાણં ણિચ્છયમવલલ્લભમાણાણં ” ઇતિ ।

તાલદૃશ પર ચઢ કર ફલ ગિરાનેવાણે કો ક્રિયારૈ—

તાલ દૃશ પર ચઢ કર उस के फल गिराता हुआ तब तक कायिकी आदि पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ।

અઠારહ પાપસ્યાન—

(૧) પ્રાણાતિપાત—

જીવોં કા પ્રાણાતિપાત કરને કે અધ્યવસાય સે પ્રાણાતિપાતક્રિયા હોતી હૈ । હિસા-રૂપ પરિણામ કે સમય હી પ્રાણાતિપાતક્રિયા હોતી હૈ । પ્રાણાતિપાત કા અધ્યવસાય હોને માત્ર સે મી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મ ઉત્પન્ન હોતે હૈ । કહા મી હૈ—

“ પરિણામિયં પમાણં ણિચ્છયમવલલ્લભમાણાણં ”

અર્થાત્ પ્રાણાતિપાત કરને કા નિષ્ક્રમ કરન વાળે કા પરિણામ હી કમવન્ધ કા કારણહૈ

તાલદૃશપર અઢીને કૃષ પાડનારની ક્રિયાઓ—

તાલદૃશ પર અઢીને તેના ફળ પાડે છે ત્યા સુધી કાયિકી આદિ પાંચ ક્રિયાઓના ક્રમશઃ કરે છે

અઠાર પાપસ્થાન—

(૧) પ્રાણાતિપાત—

જીવોના પ્રાણાતિપાત કરવાના અધ્યવસાયથી પ્રાણાતિપાતક્રિયા થાય છે હિસા રૂપ પરિણામના સમયેજ પ્રાણાતિપાતક્રિયા થાય છે પ્રાણાતિપાતને અધ્યવસાય થવા માત્રથી પણ જ્ઞાનાવરણ આદિ કમ ઉત્પન્ન થાય છે કહ્યું છે હૈ—

“ પરિણામિયં પમાણં ણિચ્છયમવલલ્લભમાણાણં ”

અર્થાત્-પ્રાણાતિપાત કરવાનો નિષ્ક્રમ કરવાવાળાનાં પરિણામજ કમવન્ધનું કારણ છે.

ગતરૂપેષુ રૂપસદ્ગતેષુ સ્વગદિષુ વિષયેષુ ભવતિ, ન તુ સકલવસ્તુવિષયે ।  
ઉક્તઠ્ઠ—

“કન્દિ ણ ભતે ! જીવાણ મેહુણેણ ફિરિયા કજ્જઈ ? । ગોયમા ! રૂવેસુ  
વા રૂવસદ્ગણસુ વા દન્વેસુ” ઇતિ ( મગ ૧ શ. ૬ ડ )

(૫) પરિગ્રહ—

પરિગ્રહઃ=સ્વસ્વામિભાવેન મૂર્છા । સ ચ પ્રાણિનામધિકલોભાત્ સમસ્ત  
વસ્તુવિષયે પ્રાદુર્ભવતિ ।

કૃત્પાકૃત્યવિવેકોન્મૂલકોઽસમારૂપ આત્મપરિણામઃ ક્રોધ. ૬ । માનો=  
ર્ગ ૭ । માયા=શાઠ્યમ્ ૮ । લોભો=ગૃહ્ણતા ૯ ? । રાગ =પ્રીતિરાસત્તિર્વા ૧૦ ।

મી સર્વ વસ્તુઓ મેં નહીં હોતા । ચિત્ર, લખ્ય, યા ફાઇ આદિ મેં અદ્વિત ક્રિયે જાને વાળે  
રૂપો મેં યા સ્ત્રી આદિ મેં હી મૈયુન કા અભ્યવસાય હોતા હૈ । કહા મી હૈ—

“મગવન્ ! કિસ વિષય મેં જીવ મૈયુન કિયા કરતે હૈ ? ગૌતમ ! રૂપો મેં ઔર  
રૂપ-યુક્ત વિષયો ( સ્ત્રિયો આદિ ) મેં । ( મગ શા ૧, ડ ૬ )

(૫) પરિગ્રહ—

“યદ વસ્તુ મેરી હૈ મેં ઇસકા સ્વામી હૈ” ઇસ પ્રકાર કી મૂર્છાં કો પરિગ્રહ  
કહતે હૈ । પ્રાણિયો મેં લોભ કી અધિકતા હોને કે કારણ સમી વસ્તુઓ મેં મૂર્છાં હો  
સકતી હૈ ।

કર્તવ્ય-અકર્તવ્ય કે વિવેક કો નષ્ટ કરને વાલા અક્ષમારૂપ આત્મા કા પરિણામ  
(૧) ક્રોધ કહલપતા હૈ । ગર્વ કો (૭) માન ઔર કપટ કો (૮) માયા કહતે હૈ ।

પણ સર્વ વસ્તુઓમાં નથી. ચિત્ર લેખ્ય અથવા ઠાઇ આદિમાં ચિતરવામાં આવેલા  
રૂપોમાં અથવા સ્ત્રી આદિમાં મૈયુનને અભ્યવસાય થાય છે કશું પણ છે :—

“મગવન્ ! કયા વિષયમાં જીવ મૈયુન કિયા કરે છે ?

ગૌતમ ! રૂપોમાં અને રૂપયુક્ત વિષયો ( સ્ત્રિયો આદિ )માં” ( મગ ૦૧ શ-૬-૬ )

(૫) પરિગ્રહ—

“આ વસ્તુ મારી છે—હું તેનો માલિક છું” આ પ્રકારની મૂર્છાને પરિગ્રહ  
કહે છે પ્રાણીઓમાં લોભની અધિકતા હોવાના કારણે સર્વ વસ્તુઓમાં મૂર્છા હોય છે  
કર્તવ્ય-અકર્તવ્યના વિવેકને નાશ કરવાવાળા, અક્ષમારૂપ આત્માનું પરિણામ તે  
લોભ કહેવાય છે (૧), ગર્વ ને માન (૭), અને કપટને માયા કહે છે (૮), અદ્વિ તે



## (૨) મૃપાવાદ—

સતોડપલાપોડસતથ પ્રરૂપણં મૃપાવાદઃ । સ સર્વદ્રવ્યપર્યાયવિશેષયે ભવતિ ।

## (૩) અદત્તાદાનમ્—

અવત્તસ્ય=દેવગુર્નાદિમિનનુજ્ઞાતસ્યાદાન=ગ્રહણમ્=અદત્તાદાનમ્, યદ્ વસ્તુ પ્રહીતું ધારયિતુ ધા ક્ષમ્યતે, તદસ્તુમાત્રપ્રિયકમાદાનં ભવતિ, ન તુ તદન્યથસ્તુ-વિષયકમ્, ઉક્તમ્—

“કમ્હિ ણં મંતે ! જીવાણં અદિઆદાણેણ કિરિયા કજ્જહ ? । મોયમા ગહણપારણિજ્જમ્મ દન્વેસુ” । ઇતિ (મગ્ગ ૧ શ. ૬ ડ)

## (૪) મૈયુનમ્—

સ્ત્રીપુસયોઃ કર્મ-મૈયુનમ્ । મૈયુનાખ્યવસાયોડપિ ચિત્રલેપ્યકાષ્ઠાદિકર્મ-

## (૨) મૃપાવાદ—

સ્ત્રીના અપભ્રાંશ કરના બૌર અસ્ત્રીના પ્રરૂપણ કરના મૃપાવાદ હૈ । મૃપાવાદ સમસ્ત દ્રવ્યો બૌર પર્યાયો કૈ વિષય મૈ હૈતા હૈ ।

## (૩) અદત્તાદાન—

અવત્ત અર્થાત્ દેવ યવ ગુરુ આદિ દ્વારા જિસ કી આજ્ઞા પ્રાપ્ત ન હુઈ હો ડસકો પ્રહ્ણ કરના અદત્તાદાન હૈ । જો વસ્તુ પ્રહ્ણ કી જા સકતી હૈ યા ધારણ કી જા સકતી હૈ ડસી વસ્તુ કા આદાન હો સકતા હૈ, અન્ય વસ્તુ કા નહીં । કહા મી હૈ—

“મગ્ગન્ ! કિસ વસ્તુ મૈ અદત્તાદાન કૈ દ્વારા ક્રિયા કી જાતી હૈ ? ગૌતમ ! પ્રહ્ણ કરને બૌર ધારણ કરને યોગ્ય દ્રવ્યો મૈ (મગ્ગ, શ ૧, ડ ૬)

## (૪) મૈયુન—

મિયુન અર્થાત્ સ્ત્રી બૌર પુરુષ કા કાર્ય મૈયુન કહાતા હૈ । મૈયુન કા અખ્યવસાય

## મૃપાવાદ—

અત્-ને જોડુ ઠકેલું અને અસત્-ને સાથુ ઠકી તેલું પ્રરૂપણ કરવું તે મૃપાવાદ—સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોના વિષયોમાં સાથ હૈ

## (૩) અદત્તાદાન—

અવત્ત અર્થાત્ દેવ-ગુરુ આદિદ્વારા જેની આજ્ઞા મળી ન હોય, તેવી વસ્તુને પ્રહ્ણ કરવી તે અદત્તાદાન હૈ જે વસ્તુ પ્રહ્ણ કરી શકાય હૈ, અથવા ધારણ કરી શકાય હૈ તે વસ્તુનું આદાન થઈ શકે હૈ બીજી વસ્તુનું નહિ. કહ્યું પડ્યું હૈ—

ભગવન્ ! કઈ વસ્તુમાં અદત્તાદાન દ્વારા ક્રિયા થઈ શકે હૈ ? ગૌતમ ! પ્રહ્ણ કરવા અને ધારણ કરવા યોગ્ય દ્રવ્યોમાં.” (ભાગ. શ. ૧ ડ ૬)

## (૪) મૈયુન—

મૈયુન અર્થાત્ સ્ત્રી અને પુરુષનું કાર્ય મૈયુન કહેવાય હૈ, મૈયુનના અખ્યવસાય

ગતરૂપેષુ રૂપસહગતેષુ સ્વગાદિષુ વિપયેષુ ભવતિ, ન તુ સકલવસ્તુવિપયે ।  
ઉક્તૌચ—

“કમ્હિ ન મંતે ! જીવાણ મેહુણેણ કિરિયા કલ્લજ્જ ? । ગોયમા ! રૂવેસુ  
વા રૂવસહગપસુ વા દવ્વેસુ” इति ( મગ ૧ શ. ૬ ઉ )

(૫) પરિગ્રહ:—

પરિગ્રહ.=સ્વસ્વામિભાવેન મૂર્છા । સ ચ પ્રાણિનામધિકલોભાત્ સમસ્ત-  
વસ્તુવિપયે પ્રાદુર્ભવતિ ।

કૃત્પાકૃત્યવિવેકોન્મૂલકોઽસમારૂપ આત્મપરિણામ ક્રોધ. ૬ । માનો=  
ગર્વ ૭ । માયા=શાઠ્યમ્ ૮ । લોભો=ગૃધ્નુતા ૯ ? । રાગ =મીતિરાસક્તિર્વા ૧૦ ।

મી સર્વ વસ્તુઓમાં મેં નહીં હોતા । ચિત્ર, લેખ્ય, યા ફાઇ આદિ મેં અદ્વિત ક્રિયે જાને વાળે  
રૂપો મેં યા સ્ત્રી આદિ મેં હી મૈયુન કા અપ્યવસાય હોતા હૈ । કહા મી હૈ—

“મગવન્ । કિસ વિપય મેં જીવ મૈયુન કિયા કરતે હૈ ? ગૌતમ ! રૂપો મેં ઔર  
રૂપ-યુક્ત વિપયો ( સ્ત્રિયો આદિ ) મેં । ( મગ શ ૧, ઉ ૬ )

(૫) પરિગ્રહ—

“યહ વસ્તુ મેરી હૈ મેં હિસકા સ્વામી હૂં” હિસ પ્રકાર કી મૂર્છા કો પરિગ્રહ  
કરતે હૈ । પ્રાણિયો મેં છોમ કી અધિકતા હોને કે કારણ સમી વસ્તુઓ મેં મૂર્છા હો  
સકતી હૈ ।

કર્તવ્ય-અકર્તવ્ય કે વિવેક કો નષ્ટ કરને વાલા અશ્વમારૂપ આત્મા કા પરિણામ  
(૬) ક્રોધ કહલાતા હૈ । ગર્વ કો (૭) માન ઔર કપટ કો (૮) માયા કહતે હૈ ।

પણ સર્વ વસ્તુઓમાં નથી. ચિત્ર લેખ્ય અથવા કાંઈ આદિમાં ચિતરવામાં આવેલા  
રૂપોમાં અથવા સ્ત્રી આદિમાં મૈયુનનો અપ્યવસાય થાય છે કશું પણ છે —

“મગવન્ । કયા વિષયમાં જીવ મૈયુન કિયા કરે છે ?

ગૌતમ ! રૂપોમાં અને રૂપયુક્ત વિષયો (સ્ત્રિયો આદિ)માં” (મગ ૦૧ શ-૬-૭)

(૫) પરિગ્રહ—

“આ વસ્તુ મારી છે—હું તેનો માલિક છું” આ પ્રકારની મૂર્છાને પરિગ્રહ  
કહે છે પ્રાણીઓમાં હોશની અધિકતા હોવાના કારણે સર્વ વસ્તુઓમાં મૂર્છા હોય છે  
કર્તવ્ય-અકર્તવ્યના વિવેકને નાશ કરવાવાળા, અશ્વમારૂપ આત્માનું પરિણામ તે  
કેમ કહેવાય છે (૬), ગર્વ ને માન (૭), અને કપટને માયા કહે છે (૮), ગૃહિ તે

દ્વેષ=અપ્રીતિ: ૧૧ । કલહો=વિરોધ ૧૨ । અમ્યાખ્યાનમ્=અસદોપારોપણમ્ ૧૩ ।  
 પૈશુન્ય=કર્ણાન્તિકાદૌ પરોક્ષે વિદ્યમાનસ્યાવિદ્યમાનસ્ય વા દોષસ્યોદ્ઘાટનમ્ ૧૪ ।  
 પરપરિવાદઃ=મમૂતનનસમસં પરદોષપ્રકાશનમ્ ૧૫ । રત્યરતિ=વિષયેષ્વનુરાગો  
 રતિઃ, ધર્મેષ્વનમિરુચિરરતિઃ, રતિસહિતા-અરતિઃ રત્યરતિ, હ્રદમેકં પાપસ્થાનમ્ ૧૬ ।  
 માયામૃષા=માયાસહિતો મૃષાવાદઃ, હ્રદમપ્યેક પાપસ્થાનમ્ ૧૭ । મિધ્યાદર્શન-  
 શ્લસ્યમ્=મિધ્યાદર્શનં મિધ્યાત્વ તદેવ શ્લસ્યમિવ વિવિધવ્યથાજનકત્વાત્ મિધ્યા-

ગુદ્ધિ-(૧) હોમ છે, પ્રીતિ યા આસક્તિ (૧૦) રાગ છે, ઔર અપ્રીતિ કો (૧૧) દ્વેષ  
 કહતે હૈ, (૧૨) કલહ અર્થાત્ વિરોધ । (૧૩) અમ્યાખ્યાન અર્થાત્ કિસી કો શ્રુત  
 વોષ છાના । પુગલી વગેરહ કો (૧૪) પૈશુન્ય કહતે હૈ, અર્થાત્ વિષમાન મા અવિષ-  
 માન વોષ કો પીઠ પીછે પ્રકાશિત કરના । બહુત સે લોગોં કે સમક્ષ દુસરે કે વોષ  
 પ્રકાશિત કરના (૧૫) પરપરિવાદ હૈ । વિષયોં મેં અનુરાગ હોના રતિ ઔર ધર્મ મેં  
 અનુરાગ ન હોના અરતિ હૈ, રતિસહિત અરતિ કો (૧૬) રત્યરતિ કહતે હૈ । યહ એક  
 પાપસ્થાનક હૈ । માયા સે યુક્ત મૃષાવાદ (૧૭) માયામૃષા કહલાતા હૈ, યહ મી  
 એક પાપસ્થાનક હૈ । શ્લસ્ય કે સમાન વિવિધ પ્રકાર કી વ્યથાઈ ઉત્પન્ન કરને વાલ્મ  
 મિધ્યાત્વ (૧૮) મિધ્યાદર્શનશ્લસ્ય કહલાતા હૈ, અર્થાત્ કુદેવ કુગુરુ ઔર કુર્ષ્મ કો

હોમ છે (૧) પ્રીતિ અથવા આસક્તિ તે રાગ છે (૧૦) અને અપ્રીતિને દ્વેષ કહે છે  
 (૧૧) કલહ અર્થાત્ વિરોધ (૧૨) અમ્યાખ્યાન અર્થાત્ કોઈના પર ભુલે આશય મૂકવો  
 તે (૧૩) કુમલી વગેરેને પૈશુન્ય કહે છે, અર્થાત્ વિષમાન અથવા અવિષમાન દોષોને  
 પાછળથી પ્રકાશિત કરવા (૧૪) ઘણા દોકોના સમક્ષ ખીખના દોષો પ્રકાશિત કરવા  
 તે પરપરિવાદ છે (૧૫) વિષયોમાં અનુરાગ થવો તે રતિ છે, અને ધર્મમાં અનુરાગ  
 નહિ થવો તે અરતિ છે, રતિસહિત અરતિને રત્યરતિ કહે છે આ પણ એક પાપ  
 સ્થાનક છે (૧૬) માયાથી યુક્ત મૃષાવાદ તે માયામૃષા કહેવાય છે તે પણ એક  
 પાપસ્થાનક છે (૧૭) શ્લસ્યની પ્રમાણે વિવિધ પ્રકારની પીડાઓ ઉત્પન્ન કરવાવાળા  
 મિધ્યાત્વ મિધ્યાદર્શનશ્લસ્ય કહેવાય છે અર્થાત્ કુદેવ કુગુરુ અને કુર્ષ્મને સુદેવ

દર્શનશ્લેષમ્=કુદેવ-કુગુરુ-કુધર્મેષુ સુદેવાદિચુદ્ધિ. ૧૮। एतान्यष्टादश पापस्थानानि । एताभिः क्रियाभिर्जीवः कर्म बध्नाति ॥ सू. ५ ॥

॥ इति क्रियावादिप्रकरणम् ॥

ક્રિયા કિલાત્મન. પરિણામ । તેન ક્રિયાવત્ત્વ કર્તૃત્વ ચાત્મનઃ સિધ્ધયતિ । સત્ત્વકાલિક્રિયાસમ્બન્ધાદાત્મનસ્ત્રિકાલવર્તિત્વ ચ સિધ્ધયતીત્યાશયેનાહ-“અકરિસ્સ” ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલ્ય ॥

અકરિસ્સ ચઽહ, કારવેસુ ચઽહ, કરઓ યાવિ સમણુને મવિસ્સામિ । ઇયાવત્તિ સન્નાવતિ લોગસિ કમ્મસમારમા પરિજાણિયન્વા મવતિ ॥ સુ ૬ ॥

સુદેવ સુગુરુ ઔર સુધર્મ સમજના મિધ્યાદર્શનશ્લેષ્ય હૈ । ये अठारह पापस्थानक हैं । इन अठारह प्राणातिपात आवि क्रियाओं से जीव को कर्मों का बन्ध होता है । ॥ सू. ५ ॥

॥ इति क्रियावादिप्रकरण ॥

ક્રિયા આત્મા કા એક પરિણામ હૈ । उस से आत्मा का क्रियावत्त्व या कर्तृत्व सिद्ध होता है, और अमुक-अमुक-कालीन क्रियाओं के सम्बन्ध से यह भी सिद्ध होता है कि-“आत्मा त्रिकालवर्ती है” यह बात अब बतलाई जाती है-‘अकरिस्स चऽह’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—મેને ક્રિયા થા, મેં કરાતા હું ઔર કરને ઘાલે કી મેં અનુમોલના કરુગા । यह सब लोक में कर्मसमारम्भ जानने चाहिए । सू. ६ ॥

સુગુરુ અને સુધર્મ સમજવા તે મિધ્યાદર્શનશ્લેષ્ય છે (૧૮) આ અઠાર પાપ સ્થાનક છે આ અઠાર પ્રાણાતિપાત આદિ ક્રિયાઓથી જીવને ઠમોનો બધ થાય છે (સુ. ૫) ઇતિ ક્રિયાવાદિપ્રકરણ

ક્રિયા આત્માનું એક પરિણામ છે, તેનાથી આત્માનું ક્રિયાવત્ત્વ અથવા કર્તૃત્વ સિદ્ધ થાય છે, અને અમુક-અમુક-કાલીન ક્રિયાઓના સબબથી એ પણ સિદ્ધ થાય છે કે-આત્મા ત્રિકાલવર્તી છે તે વાત હવે બતાવવામાં આવે છે-‘અકરિસ્સ ચઽહ’ ઇત્યાદિ મૂલાર્થ—મેં કર્યું, મેં કરાવ્યું અને કરવાવાળાને મેં અનુમોલન આપ્યું આ સર્વ લોકમાં ઠમ-સમારમ્મ બાણવા બોધાયે (સુ. ૬)

## ॥ છાયા ॥

અકાર્યં चाह, कारयामि चाहं, कुर्वन्तश्चापि समनुमो भविष्यामि । एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भा. परिज्ञातव्या भवन्ति ॥सू. ६॥

## ॥ टीका ॥

‘अकार्यं चाहम्’ इति । अत्र ‘च’-शब्दोपादानेन भूतकालिककारितानु-  
मोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, तेन-(१) अहमकार्यम् (२) अहमचीकरम् (३) अहं  
कुर्वन्तमन्यमन्वमृष्टदम्, इति मेदत्रयं भवति । ‘कारयामि चाहम्’ इति, अत्र  
‘च’-शब्देन वर्तमानकालिककृतानुमोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, । तेन-(१)  
अहं कारयामि, (२) अहं करोमि, (२) अहमनुमोदयामि, इति मेदत्रयं भवति ।

टीकार્थ-‘अकरिस्स चड्ह’ यहाँ जो ‘च’ का प्रयोग किया है, उस से यह अर्थ  
समझना चाहिए कि-“मैंने अनुमोदन किया था ।” इस प्रकार मैंने किया, करवाया और  
अनुमोदन किया, तीन भेदों का कथन हुआ है ।

‘कारवेसु चड्ह’ यहाँ भी ‘च’ पद से दो क्रियाओं का ग्रहण होता है, अतः  
मैं कराता हूँ, मैं करता हूँ, और मैं अनुमोदन करता हूँ, इन तीन भेदों का कथन  
समझना चाहिए ।

“करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि” यहाँ भी ‘च’ पद से भविष्यकालीन  
करने और कराने का अर्थ लेना चाहिए, अतः करने वाले का मैं अनुमोदन करूँगा, मैं  
स्वयं करूँगा और मैं कराऊँगा । ये क्रिया के तीन भेद समझ लेने चाहिए ।

टीકાર્થ-‘અકરિસ્સ ચડહ’ અહિં જે ‘ચ’ નો પ્રયોગ કર્યો છે, તેથી એ  
અર્થ સમજવો બેઠકો કે-“મેં કરાવ્યું હતું” આ પ્રમાણે ‘મેં’ કરું, કરાવ્યું,  
અને મેં અનુમોદન આપ્યું, આ ત્રણ ભેદોનું કથન સમજવું બેઠકો

‘કારવેસુ ચડહ’ અહિં પણ ‘ચ’ પદથી બે ક્રિયાઓનું ગ્રહણ થાય છે તેથી ‘મેં  
કરું’, મેં કરાવ્યું, અને મેં અનુમોદન આપ્યું’ આ ત્રણ ભેદોનું કથન સમજવું બેઠકો.

‘કરઓ યાવિ સમણુમે ભવિસ્સામિ’ અહિં પણ ‘ચ’ પદથી ભવિષ્યકાલીન કરીશ  
અને કરાવીશ તે અર્થ લેવો બેઠકો. એ કારણથી ‘કરવાવાળાને હું અનુમોદન  
કરીશ, હું સ્વયં કરીશ અને હું કરાવીશ’ એ ક્રિયાના ત્રણ ભેદ સમજ લેવા બેઠકો.

कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि, इति । अत्रापि 'च'-शब्दोपादानेन भविष्य-  
त्कालिककृतकारितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम् । 'समनुज्ञ' इत्यस्य समनुज्ञाता अनुमो-  
दयितेत्यर्थः । तथा च-(१) अहमन्यस्य कुर्वतोऽनुमोदयिता भविष्यामि, (२)  
स्वयमहं करिष्यामि, (३) अहं कारयिष्यामि, इति भेदत्रयं क्रियायां भवति ।  
कुर्वतश्चापीत्यत्र 'अपि'-शब्दोपादानेन तासां नवानां क्रियाणां मनोवाक्यभेदेन  
सप्तविंशतिर्मन्त्रा भवन्ति ।

आत्मवाचकमहमिति पदं पुरस्कृत्य 'अकार्षम्' इत्यादिक्रियापदोपादानात्  
"सर्वा क्रिया आत्मपरिणामरूपा" इति बोधितम् । एतेन "आत्मा निष्क्रियः"  
इति सांख्याद्यभिमत निराकृतम् ।

'यावि' शब्द में जो 'अपि' पद है, उस से यह समझना चाहिए कि—इन नौ क्रियाओं  
के मन वचन और कायके भेद से सत्ताईस भेद हो जाते हैं । अर्थात् पूर्वोक्त नौ क्रियाएँ  
मन से की जाती हैं वचन से की जाती हैं, और काय से भी की जाती हैं, अतः उनके  
सत्ताईस भेद हो जाते हैं ।

आत्मा के वाचक अहम् (मैं) पदको प्रधान करके 'अकार्षम्' इत्यादि क्रियापदों  
का ग्रहण करने से यह सूचित किया गया है कि—ये सब क्रियाएँ आत्मा का ही परिणाम  
हैं । इस सूचना से आत्माको निष्क्रिय मानने वाले सांख्य आदि मतों का निराकरण हो  
गया है ।

'यावि' शब्दमा જે 'અપિ' પદ છે તેથી જો સમજવું જોઈએ કે જો નવ  
ક્રિયાઓના મન, વચન અને કાયાના બેઠથી સત્તાવીશ ભાગ થાય છે અર્થાત્ પૂર્વોક્ત  
નવ ક્રિયાઓ મનથી કરી શકાય છે વચનથી અને કાયાથી પણ કરી શકાય છે  
તેથી તેના સત્તાવીશ બેઠ થઈ જાય છે

આત્માને વાચક 'અહમ્' હું-પદને પ્રધાન રાખીને 'અકાર્ષમ્' આકર્ષિ ક્રિયા  
પદોના અહણ કરવાથી જો સૂચન કરવામાં આવ્યું છે કે—જો સર્વ ક્રિયાઓ આત્માનું જ  
પરિણામ છે આ સૂચનથી આત્માને નિષ્ક્રિય માનવાવાળા સાંખ્ય આદિના મતનું  
નિરાકરણ થઈ ગયું છે

## ॥ છાયા ॥

અકાર્યં ચાહ, કારયામિ ચાહ, કુર્વંતશ્ચાપિ સમનુશ્નો મવિષ્યામિ । एतावन्तः  
सर्वे लोके कर्मसमारंभाः परिह्रातव्या भवन्ति ॥सू. ६॥

## ॥ टीका ॥

‘અકાર્યં ચાહમ્’ इति । अत्र ‘च’-शब्दोपादानेन भूतकालिककारितानु-  
मोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, तेन-(१) अहमकार्यम् (२) अहमचीकरम् (३) अहं  
कुर्वन्तमन्यमन्वमूमुदम्, इति मेदत्रयं भवति । ‘कारयामि चाहम्’ इति, अत्र  
‘च’-शब्देन वर्तमानकालिककृतानुमोदितक्रियाद्वयस्यापि ग्रहणम्, । तेन-(१)  
अहं कारयामि, (२) अहं करोमि, (२) अहमनुमोदयामि, इति मेदत्रयं भवति ।

टीકાર્થ—‘અકરિસ્સં વડહ્’ यहाँ जो ‘च’ का प्रयोग किया है, उस से यह अर्थ  
समझना चाहिए कि—“मैंने अनुमोदन किया था ।” इस प्रकार मैंने किया, करवाया और  
अनुमोदन किया, तीन भेदों का कथन हुआ है ।

‘કારયેસુ વડહ્’ यहाँ भी ‘च’ पद से दो क्रियाओं का ग्रहण होता है, अतः  
मैं कराता हूँ, मैं करवाता हूँ, और मैं अनुमोदन करता हूँ, इन तीन भेदों का कथन  
समझना चाहिए ।

“કરઓ યાવિ સમણુને મવિસ્સામિ” यहाँ भी ‘च’ पद से मविष्यकालीन  
करने और कराने का अर्थ लेना चाहिए, अतः करने बाड़े का मैं अनुमोदन करूंगा, मैं  
स्वयं करूंगा और मैं कराऊंगा । ये क्रिया के तीन भेद समझ लेने चाहिए ।

टीકાર્થ—‘અકરિસ્સં વડહ્’ જાહિ એ ‘ચ’ નો પ્રયોગ કર્યો છે, તેથી એ  
અર્થ સમજવો જોઈએ કે—“મેં કરાવ્યું હતું” આ પ્રમાણે ‘મેં’ કર્યું, કરાવ્યું,  
અને મેં અનુમોદન આપ્યું, આ ત્રણ હેતોનું કથન સમજવું જોઈએ

‘કારયેસુ વડહ્’ જાહિ પણ ‘ચ’ પદથી બે ક્રિયાઓનું બહુલ થાય છે તેથી ‘મેં  
કર્યું’, મેં કરાવ્યું, અને મેં અનુમોદન આપ્યું’ આ ત્રણ હેતોનું કથન સમજવું જોઈએ.

‘કરઓ યાવિ સમણુને મવિસ્સામિ’ જાહિ પણ ‘ચ’ પદથી ભવિષ્યકાલીન કરીશ  
અને કરાવીશ તે અર્થ લેવો જોઈએ. એ કારણથી ‘કરવાવાળાને હું અનુમોદન  
કરીશ, હું સ્વયં કરીશ અને હું કરાવીશ’ એ ક્રિયાના ત્રણ ભેદ સમજ લેવા જોઈએ.

મવિપ્યામીતિ ચિન્તાનછેન કોટરસ્યવહ્નિના જરદ્રુમ શ્વ સત્તોઽસ્મીતિ માવઃ ।

લોકે=જિનશાસને, સર્વે કર્મસમારંમા=કર્માણિ જ્ઞાનાવરણીયાદીનિ સમારમન્તે  
=જનયન્તિ યે ક્રિયાવિશેષાસ્તે કર્મસમારંમાઃ । એતાવન્ત એવ, નાતોઽધિકા इत्यर्थ,   
પરિજ્ઞાતવ્યા મયન્તિ-પરિજ્ઞાવિષયીકૃત્ય જ્ઞેયા હેયાશ્ચ મવન્તીત્યર્થઃ । પરિજ્ઞા હિ  
દ્વિવિધા-જ્ઞપરિજ્ઞા, પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા ચ । તત્ર જ્ઞપરિજ્ઞયા સપ્તવિંશતિમદ્ગ્રસ્ત્યાઃ  
કર્મસમારંમાઃ ક્રિયાવિશેષા. વિજ્ઞેયા । પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા ચ સર્વે કર્મસમારંમાઃ  
ક્રિયાવિશેષા કર્મવન્ધહેતવઃ પ્રત્યાખ્યાતવ્યા इति માવઃ ॥ સૂ. ૬ ॥

ઔપી સે વર્જરિત હો જાતા હૈ । અમ મેં દુ સ્વમય સસાર સે કિસ પ્રકાર છુટકારા પાઁગ્યા ?  
ઇસ સરહ કી ચિન્તારૂપી અગ્નિ સે મેં પેસા સતપ્ત હૈં જૈસે કોટરસ્થ અગ્નિ સે જીર્ણ વૃક્ષ  
મીતર હી મીતર મમ્મ હો જાતા હૈ ।

“લોક મેં અર્થાત્ જિનશાસન મેં રૂતને હી જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મો કો ઉત્પન્ન કરને  
વાળે કર્મસમારમ્મ હૈં, ઇન સે ન્યૂન યા અધિક નહીં” । યહુ પરિજ્ઞા વિષય કરને યોગ્ય હૈ,  
અર્થાત્ પરિજ્ઞા સે હી યે જ્ઞપ જ્ઞેય ઓર જ્ઞેય હોતે હૈં । પરિજ્ઞા દો પ્રકારકી હૈ- જ્ઞ-પરિજ્ઞા  
ઓર પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા । ઇન મેં સે સત્તાઈસ મંગ રૂપ કર્મસમારમ્મ (ક્રિયાવિશેષ)  
જ્ઞપરિજ્ઞા સે જ્ઞાનન ચાહિય, ઓર પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા સે કર્મ કે કારણ સમસ્ત કર્મસમારમ્મો  
કા ત્યાગ કરના ચાહિય ॥ સૂ. ૬ ॥

વાવાજોઠાથી વર્જરિત થઈ જાય છે ‘હવે હું દુઃખમય સસારથી છુટકારા કેવી રીતે  
પામીશ ? આ પ્રમાણે ચિન્તાથી અગ્નિથી હું જોવો સતપ્ત છું કે જેમ-કોટરસ્થ  
(જ્ઞાતી બળેલામાં રહેલી) અગ્નિથી લાકડું વૃક્ષ બદરને બદરના અસ્થ થઈ જાય છે.

લોકમાં અર્થાત્ જિનશાસનમાં જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા  
આટલાં કર્મસમારમ્મ છે, તેનાથી જોછા કે વધારે નથી. આ પરિજ્ઞા વિષય કરવા  
યોગ્ય છે, અર્થાત્ પરિજ્ઞાથીજ આ બધાં જ્ઞેય અને જ્ઞેય થાય છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની  
છે (૧) જ્ઞ-પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા, તેમાંથી સત્તાવીસ અગ્રહ્ય કર્મ  
સમારમ્મ (ક્રિયા-વિશેષ) જ્ઞ-પરિજ્ઞાથી બાણવું બોધ્યો, અને પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞાથી  
કર્મોનું કારણ સમસ્ત કર્મસમારમ્મોનો ત્યાગ કરવો બોધ્યો. (સૂ. ૬)



एकस्य चात्मनस्त्रिकालवर्तितचत्क्रियासम्बन्धेन क्षणिकवादोऽपि निरस्तः । किञ्च-  
आत्मपरिणतिरूपा क्रियां कुर्वन्नात्मा स्वस्य त्रिकालस्थायित्वं मतिज्ञानमात्रेण  
जानातीति भगवता बोधितम् । तेनात्मनि विषये प्रत्यभिज्ञाऽप्येवं प्रादुर्भवति—

येन मया मृगतृष्णाम्मसा मृगवद् विविधविषयैराकृष्टेन गर्ते मृग  
मृगबन्धोद्गर्ते निपतितेन सुखलिप्सयाऽऽरम्भपरिग्रहरूपसावधक्रियापरायणतया  
वृथायुः क्षपितम्,

स एवाहं संमतिं वातैर्गिरिभिस्त्रिद्रुम इव जन्मजरामरणाधिभ्याधि-  
विविचदु'स्वसપુક્તતુચ્છસુखमोर्गैर्जर्जरीकृत कथमस्माद् दु'खजालसंसारान्मुक्तो

एक ही आत्माका त्रिकालवर्ती अमुक-अमुक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध दिखानेसे  
क्षणिकवाद का भी खण्डन किया गया है । भगवान्ने यह भी प्रकट कर दिया है  
कि—अपनी परिणतिरूप क्रियाएँ करता हुआ आत्मा मतिज्ञान से ही यह जान लेता है कि—  
यह (आत्मा) त्रिकालवर्ती है । इससे आत्मा के विषयमें इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान  
उत्पन्न होता है—

“જैसे મૃગતૃષ્ણા મેં પૈસકર મૂઢ મૃગ કષ્ટ પાતા છે उसी प्रकार मौति-मौति  
के विषयों से आकृष्ट हो कर मोहरूपी गड्ढे में गिर कर सुख की छાछसा से बिसने  
आरम्भ-परिमद्-रूप सावध क्रियामें उषत हो कर वृथा आयु रँवाई थी वही मैं आज  
जन्म, जरा, मरण, आवि, व्याधि बगैरह विविध प्रकार के दुस्त्रों से परिपूर्ण और तुच्छ  
इन्द्रिय-मोहोद्धार ऐसा बर्बरित कर दिया गया हूँ, जैसे पर्वत के उपर का पेड़

એકજ આત્માનું ત્રિકાલવર્તી અમુક-અમુક ક્રિયાઓની સાથે સબંધ દેખાડ  
વાથી ક્ષણિકવાદનું પણ ખડન કરવામાં આવ્યું છે ભગવાને એ પણ પ્રકટ કરી  
દીધું છે કે—પોતાની પરિણતિરૂપ ક્રિયાઓ કરતો આત્મા મતિજ્ઞાનથીજ એ બાબી લે  
છે કે—તે ત્રિકાલવર્તી છે એ કારણથી આત્માના વિષયમાં આ પ્રકારનું પ્રત્યભિજ્ઞાન  
ઉત્પન્ન થાય છે

જેમ મૃગતૃષ્ણામાં રૂચાઈને મૂઢ મૃગ કષ્ટ પામે છે તે પ્રમાણે જાત-જાતના  
વિષયોથી આકૃષ્ટ થઈને—જેવાઈને મોહરૂપી આઠામાં પડી જઈને સુખની લાલસાથી જે  
આરંભ પરિગ્રહરૂપ સાવધ ક્રિયામાં ઉઘમી થઈને વૃથા આયુ ચૂમાવ્યું હતું, તે હું આજે  
જન્મ-જરા-મરણ-આધિ-વ્યાધિ વગેરે વિવિધ પ્રકારનાં દુઝોથી પરિપૂર્ણ અને તુચ્છ  
ઇન્દ્રિયલોગે દ્વારા એવો જર્જરિત કરવામાં આવ્યો છું કે જેમ-પર્વત ઉપરનું ઝાડ

મવિપ્યામીતિ ચિન્તાનછેન કોટરસ્થવહ્નિના જરુદ્રમ્મ ઇવ સત્ત્વોઽસ્મીતિ ભાવ. ।

લોકે=જિનશાસને, સર્વે કર્મસમારંભા=કર્માણિ જ્ઞાનાવરણીયાદીનિ સમારમન્તે  
=નનયન્તિ યે ક્રિયાવિશેષાસ્તે કર્મસમારંભાઃ । एतावन्त एव, नातोऽधिका इत्यर्थ, ।  
પરિજ્ઞાતવ્યા મયન્તિ-પરિજ્ઞાવિષયીકૃત્ય જ્ઞેયા જ્ઞેયાશ્ચ મવન્તીત્યર્થ. । પરિજ્ઞા હિ  
દ્વિવિધા-જ્ઞપરિજ્ઞા, પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા ચ । સત્ત્વ ઇપરિજ્ઞયા સપ્તવિંશતિભાગરૂપા  
કર્મસમારંભા ક્રિયાવિશેષા વિજ્ઞેયા । પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા ચ સર્વે કર્મસમારંભા  
ક્રિયાવિશેષાઃ કર્મબન્ધહેતવઃ પ્રત્યાખ્યાતવ્યા इति भावः ॥ सू० ६ ॥

આથી સે જર્જરિત હો જાતા હૈ । અર્થ મેં દુઃખમય સસાર સે કિસ પ્રકાર છુટકારા પાવેલા !  
इस तरह की चिन्तान्वयी अग्नि से मैं ऐसा सतप्त हूँ जैसे कौटरस्थ अग्नि से जीर्ण वृक्ष  
મીતર હી મીતર મરમ્મ હો જાતા હૈ ।

“લોક મેં અર્થાત્ જિનશાસન મેં જતને દી જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મો કી ઉત્પન્ન કરને  
વાળે કર્મસમારમ્મ હૈ, इन से न्यून या अधिक नहीं ” । यह परिज्ञा विषय करने योग्य है,  
અર્થાત્ પરિજ્ઞા સે હી યે જ્ઞપ જ્ઞેય ઓર જ્ઞેય હોતે હૈ । પરિજ્ઞા કો પ્રકારકી હૈ- જ્ઞ-પરિજ્ઞા  
ઓર પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા । इन में से सत्ताईस भाग रूप કર્મસમારમ્મ (ક્રિયાવિશેષ)  
જ્ઞપરિજ્ઞા સે જ્ઞાનન ચાહિય, ઓર પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા સે કર્મ કે કારણ સમસ્ત કર્મસમારમ્મો  
કા ત્યાગ કરના ચાહિય ॥ સુ. ૬ ॥

વાવાઓકાથી જર્જરિત થઈ બાક છે ‘હવે હું દુઃખમય સસારથી છુટકારા કેવી રીતે  
પામીશ ? આ પ્રમાણે ચિન્તાણી અગ્નિથી હું જોવા સતપ્ત છું કે જેમ-કોટરસ્થ  
(જાડની બળોલમાં રહેલું) અગ્નિથી છુટું વૃક્ષ બદરને બદરજ બરમ થઈ બાક છે

લોકમાં અર્થાત્ જિનશાસનમાં જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા  
આટલાજ કર્મસમારંભ છે, તેનાથી ઓછા કે વધારે નથી આ પરિજ્ઞા વિષય કરતા  
ચોક્કસ છે, અર્થાત્ પરિજ્ઞાથીજ આ બધા જ્ઞેય અને જ્ઞેય થાય છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની  
છે (૧) જ્ઞ-પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા, તેમાંથી સત્તાવીસ ભાગજુદ કર્મ  
સમારંભ (ક્રિયા-વિશેષ) જ્ઞ-પરિજ્ઞાથી બાકવું બેઠ્યો, અને પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞાથી  
કરમ

॥ મૂલ્ય ॥

અપરિણાયકમ્મા સ્વલુ અયં પુરિસે જો હયાઓ દિસાઓ અણુદિસાઓ  
અણુસચરત્ત, સન્નાઓ દિસાઓ સન્નાઓ અણુદિસાઓ સાહર ॥ સૂ. ૭ ॥

છાયા—

અપરિજ્ઞાતકર્મા સ્વલુ અયં પુરુષ યઃ હમા દિશા અનુદિશા વા અનુસચરતિ,  
સર્વા દિશાઃ સર્વા અનુદિશાઃ સહૈતિ ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકા—

‘અપરિણાયકમ્મા’ હયાદિ । ય હમા દિશા અનુદિશા અનુસચરતિ—  
કર્મપરતન્ત્ર સમતુર્ગતિકસસારં પ્રાપ્ય દિક્ષુ વિદિક્ષુ ચ પરિભ્રમતિ । તથા—સર્વા-  
દિશા અનુદિશાઃ સહૈતિ । હા સર્વચ્છન્દેન દ્રવ્યમાવોમયવિધદિશો ગ્રહણમ્ ।  
દ્રવ્યમાવદિશાઃ સહ=જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મભિઃ સાકમ્ एति=ગच्छति પ્રાપ્નોતીત્ય ।  
યચ્છન્દયોર્નિત્યસાકાદૃશતયાઞ્ચ યચ્છન્દેન સ ઇતિ પરામૃશ્યતે । સઃ અયં પુરુષ=  
જીવઃ સ્વલુ=નિશ્ચયેન અપરિજ્ઞાતકર્મા અસ્તીતિ શેષઃ । ન પરિજ્ઞાતં=પરિજ્ઞાવિપચી

મૂલાર્થ—અપરિજ્ઞાતકર્મા મહા પુરુષ જન દિશાઓ ઔર વિદિશાઓ મેં પરિભ્રમણ કરતા  
હે ઔર સર્વ દિશાઓ ધર્વ અનુદિશાઓ કો પ્રાપ્ત હોતા હે ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકાર્થ—કર્મ સે પરતન્ત્ર જીવ ત્રાર ગતિરૂપ સંસાર કો પ્રાપ્ત હોકર દિશાઓ  
મેં ઔર વિદિશાઓ મેં પરિભ્રમણ કરતા હે । તથા સમસ્ત દિશાઓ ઔર અનુદિશાઓ કો  
પ્રાપ્ત હોતા હે, અર્થાત્ દ્રવ્ય-દિશાઓ ધર્વ માવ-દિશાઓ (જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મો) કો  
સાથ પ્રાપ્ત હોતા હે । વહ જીવ નિશ્ચયપૂર્વક અપરિજ્ઞાતકર્મા હે । કર્મ કો કારણમૂલ  
ક્રિયાઓ કા સ્વરૂપ જિસને ન જાના હો વહ અપરિજ્ઞાતકર્મા કહાયતા હે । અથવા જિસને  
જ્ઞાનાવરણ આદિ બાઠ કર્મો કો કારણમૂલ ક્રિયાઓ કા ત્યાગ ન ક્રિયા હો વહે મી

સૂક્ષ્માર્થ—અપરિજ્ઞાત કર્મો આ પુરુષ આ દિશાઓ અને વિદિશાઓમાં પરિ-  
ભ્રમણ કરે છે, અને સર્વ દિશાઓ એવ અનુદિશાઓને પ્રાપ્ત થાય છે (૭)

ટીકાર્થ—કર્મથી પરતન્ત્ર જીવ ત્રાર ગતિરૂપ સંસારને પ્રાપ્ત થઈને દિશાઓમાં  
અને વિદિશાઓમાં પરિભ્રમણ કરે છે, તથા સમસ્ત દિશાઓ અને અનુદિશાઓને  
પ્રાપ્ત થાય છે. અર્થાત્ દ્રવ્યદિશાઓ અને માવદિશાઓની સાથે પ્રાપ્ત થાય છે તે  
જીવ નિશ્ચયપૂર્વક અપરિજ્ઞાતકર્મી છે; કર્મની કારણમૂલ ક્રિયાઓના સ્વરૂપને જે અણુતા  
નથી તે અપરિજ્ઞાતકર્મી કહેવાય છે અથવા જેને જ્ઞાનાવરણ આદિ બાઠ કર્મોની  
કારણમૂલ ક્રિયાઓનો ત્યાગ ન કર્યો હોય તેને પણ અપરિજ્ઞાતકર્મી કહે છે આશય

કૃત કર્મ=કર્મકારણીભૂતક્રિયાસ્વરૂપ યેન, સોઽપરિજ્ઞાતકર્મા । અજ્ઞાતાપરિત્યક્ત-  
જ્ઞાનાવરણીયાઘટચિધકર્મવન્ધકારણભૂતક્રિયાસ્વરૂપ इत्यर्थः । યાવદય જીવઃ ક્રિયા-  
સ્વરૂપ ન જાનાતિ, નાપિ યાવત્ કર્મવન્ધનિવન્ધનક્રિયા પરિત્યજતિ, તાવદ્ દ્રવ્ય-  
માવોમયવિદ્યા દિશ પરિભ્રમતીતિ માવ. ॥ સુ ૭ ॥

ઉક્તાર્થમેવ સ્પષ્ટયતિ-‘અનેગરૂઆઓ’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલમ્ ॥

અનેગરૂઆઓ જોણીઓ સખેઈ, વિસ્વરૂપે ફાસે પહિસવેપઈ ॥ સુ ૮ ॥

છાયા—

અનેકરૂપા યોનીઃ સઘયતિ, વિરૂપરૂપાન્ સ્પર્શાન્ પ્રતિસવેદયતિ ॥ સુ ૮ ॥

॥ ટીકા ॥

અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ અનેકરૂપા=વિવિધા યોની=પ્રાણિનામુત્પત્તિ  
સ્થાનાનિ, સઘયતિ=ચામોતિ । અયમાત્મા પૂર્વમવ નાશાનન્તર શરીરાન્તરગ્રહણાય

અપરિજ્ઞાતકર્મા કહેતે હૈ । આશય યહ હૈ કિ—સસારી જીવ જ્ઞાતક કર્મવન્ધ કી કારણમૂત  
ક્રિયાઓ કો જ્ઞાન નહીં હેતા ધૌર ત્યાગ નહીં દેતા, ત્વત્તક વહ દ્રવ્યમાવરૂપ ઘોનો પ્રકાર  
કો વિદ્યાઓ મેં પરિભ્રમણ કરતા રહતા હૈ । ॥ સુ ૭ ॥

इसी अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हैं—‘अनेगरूपाओ’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—(અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ) અનેકરૂપ યોનિયાં કો પ્રાપ્ત હોતા હૈ ધૌર નાના  
પ્રકાર કી યાતનાઓ કો મોગતા હૈ ॥ ૮ ॥

ટીકાર્થ—અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ વિવિધ પ્રકાર કી યોનિયો કો અર્થાત્ જીવો કો  
ઉત્પત્તિસ્થાનો કો પ્રાપ્ત કરતા હૈ । પૂર્વમવ કા અન્ત હોને કો અનન્તર જીવ નવીન શરીર

એ છે કે—સસારી જીવ જ્યાં સુધી કર્મબંધની કારણમૂત ક્રિયાઓને બાંધી હોતો નથી  
અને ત્યાં હોતો નથી ત્યાં સુધી તે દ્રવ્ય-માવરૂપ બંને પ્રકારની વિદ્યાઓમાં પરિ  
ભ્રમણ કરતો રહે છે (સુ ૭)

એ અર્થને ફરી અધિક સ્પષ્ટ કરે છે—“અનેગરૂપાઓ” ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—(અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ) અનેકરૂપ યોનિઓને પ્રાપ્ત થાય છે અને  
નાના પ્રકારની યાતનાઓને લોગવે છે (૮)

ટીકાર્થ—અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ વિવિધ પ્રકારની યોનિઓને અર્થાત્-જીવોના  
ઉત્પત્તિસ્થાનોને પ્રાપ્ત કરે છે પૂર્વમવનો અન્ત થવા અનન્તર જીવ નવીન શરીર ગ્રહણ

શરીરાન્તરપ્રાપ્તિસ્થાને યાન્ પુદ્ગલાન્ શુદ્ધાતિ તાન્ ઘાસપુદ્ગલાન્ કાર્મણેન સઘ  
તપ્તાય પિષ્ઠજલપ્રદહનવત્ મિશ્રયતિ યસ્મિન્ સ્થાને, તત્ સ્થાનં યોનિઃ । પ્રાદુર્ભા  
વમાત્રં શરીરિણો જન્મ, इति યોનિ-જન્મનોર્મેદ । સા નવવિધા । (૧) સચિત્તા,  
(૨) અચિત્તા, (૩) સચિત્તાચિત્તા, (૪) શીતા, (૫) ઉષ્ણા, (૬) શીતોષ્ણા,  
(૭) સંવૃતા, (૮) વિવૃતા, (૯) સવૃતવિવૃતા । ઉક્તચ્ચ—

“કરવિદ્યાણ મંતે ! જોળી પળ્ળત્તા ? ગોયમા ! તિવિદ્યા જોળી  
પળ્ળત્તા, તંજહા-સીયા જોળી, ઉસિણા જોળી, સીઆસિણા જોળી । તિવિદ્યા  
જોળી પળ્ળત્તા, તંજહા-સચિત્તા જોળી, અચિત્તા જોળી, મીસિયા જોળી ।

મદ્ધન કરને કે સિપ નવીન શરીર કી પ્રાપ્તિ કે સ્થાન પર જિન ઘાસ પુદ્ગલો કો મદ્ધન  
કરતા હૈ, उन्हें जिस जगह पर कर्मणशरीर के साथ तपे छोड़े के गोठे और झुके  
समान एकमेक करता है, वह स्थान योनि कहलाता है । बीजा का प्रादुर्भाव होना  
जन्म है । यह योनि और जन्म में अन्तर है । जन्म का आधार योनि है, अत  
योनि और जन्म में आधारोपेयभाव-सम्बन्ध है । योनि के नौ भेद हैं—(१) सचित्त,  
(२) अचित्त, (३) सचित्ताचित्त, (४) शीत, (५) उष्ण, (६) शीतोष्ण, (७) संवृत,  
(८) विवृत और (९) सवृत-विवृत । कहाँ भी है—

“મગવન્ ! યોનિ કિતન પ્રકાર કી કહી ગઈ હૈ ? ગૌતમ ! ત્રીન પ્રકાર કી  
યોનિ કહી ગઈ હૈ । યહ ઇસ પ્રકાર—શીતયોનિ, ઉષ્ણયોનિ ઓર શીતોષ્ણયોનિ । તથા  
ત્રીન પ્રકાર કી યોનિ કહી હૈ । વહ ઇસ પ્રકાર—સચિત્તયોનિ, અચિત્તયોની ઓર મિશ્રયોનિ ।

કરવા માટે નવીન શરીરની પ્રાપ્તિના સ્થાન પર જે ઘાસ પુદ્ગલોને બદલુ કરે છે  
તેને જે જગ્યા પર કાર્મણશરીરની સાથે તપેલા હોવાનો ઓળો અને જન્મની સમાન  
એકમેક કરે છે તે સ્થાન યોનિ કહેવાય છે. છવોનો પ્રાદુર્ભાવ થવો તે જન્મ છે  
યોનિ અને જન્મમાં એવો અન્તર છે, જન્મનો આધાર યોનિ છે, તેથી યોનિ અને  
જન્મમાં આધાર-આધેય ભાવ સબધ છે યોનિના નવ ભેદ છે—(૧) સચિત્ત (૨)  
અચિત્ત (૩) સચિત્તાચિત્ત (૪) શીત (૫) ઉષ્ણ (૬) શીતોષ્ણ (૭) સવૃત (૮)  
વિવૃત અને (૯) સવૃત-વિવૃત. કહ્યું પણ છે—

“ભગવન્ ! યોનિ કેટલા પ્રકારની કહી છે ? ગૌતમ ! ત્રણ પ્રકારની યોનિ કહી છે  
તે આ પ્રમાણે છે—શીતયોનિ, ઉષ્ણયોનિ, અને શીતોષ્ણયોનિ તથા ત્રણ પ્રકારની યોનિ  
કહી છે તે આ પ્રમાણે છે—સચિત્તયોનિ, અચિત્તયોનિ અને મિશ્રયોનિ. ફરી પણ ત્રણ

તિવિહા જોળી પળ્ળતા, તજહા-સગુહા જોળી, ચિયહાં જોળી, સવુદચિયહા જોળી ” । ( પ્રજ્ઞા યોનિપદ ૯ )

જીવમદેશૈરધિષ્ટિતા યોનિ. સચિત્તા, જીવમદેશૈરનવધિષ્ટિતા યોનિરચિત્તા । ધ્વચિદશે જીવમદેશૈરધિષ્ટિતા, ક્વચિદનધિષ્ટિતા સા સચિત્તાઽચિત્તા । યત્ર શીતસ્પર્શ સા શીતા । યત્રોષ્ણસ્પર્શ સા યોનિરુષ્ણા । યત્ર ક્વચિદશે શીતસ્પર્શ, ક્વચિદુષ્ણસ્પર્શ સા શીતોષ્ણા । અપ્રકટિતા સદૃશા । પ્રકટિતા વિદૃશા । યત્ર ક્વચિદંશે પ્રકટિતા, ક્વચિદમપ્રકટિતા સા સદૃશવિદૃશા યોનિ. ।

કસ્ય જીવસ્ય કા યોનિર્મવતી ?-ત્યુચ્યતે-દેવનારકાણામચિત્તા યોનિ । દેવાનાં પ્રચ્છદપટદેવદૂષ્યાન્તરાલ યોનિ, તથા જીવમદેશવર્જિતમ્ । નારાકાણાં તુ

ફિર મી ત્રીન તરદ કો યોનિ કહી હૈ । વહ દસ પ્રકાર-સવૃતયોનિ વિવૃતયોનિ ભૌર સવૃત વિવૃતયોનિ ” । ( પ્રજ્ઞા યોનિપદ ૯ )

જીવપ્રદેશા સ અધિષ્ઠિત યોનિ સચિત્ત કહલાતી હૈ ઓર જો જીવપ્રદેશો સ અધિષ્ઠિત ન હો વહ અચિત્ત કહલાતી હૈ । જો યોનિ કહી જીવપ્રદેશો સે અધિષ્ઠિત હો ઓર કહી અધિષ્ઠિત ન હો વહ મિથ્ર યોનિ હૈ । જહાં શીત સ્પર્શ હો વહ શીતયોનિ, જહાં ઉષ્ણ સ્પર્શ હો વહ ઉષ્ણયોનિ ઓર કિસ મેં કહી શીત ઓર કહી ઉષ્ણ સ્પર્શ હો વહ શીતોષ્ણયોનિ હૈ । અપ્રકટ યોનિ સવૃત કહલાતી હૈ । પ્રકટ કો વિવૃત કહને હૈ ઓર જો કહી અપ્રકટ ઓર કહી પ્રકટ હો વહ સવૃતવિવૃતયોનિ હૈ ।

કિસ જીવ કી કોન-સી યોનિ હોતી હૈ ? વહ ક્ષતાતે હૈ-દેવ ઓર નારકી જીવા કી અચિત્ત યોનિ હોતી હૈ । દેવો કી યોનિ પ્રચ્છદપટ ઓર દેવદૂષ્ય ક બીચ મેં હોતી હૈ,

પ્રકારની યોનિ કહી છે તે આ પ્રમાણે છે —સવૃતયોનિ, વિવૃતયોનિ અને સવૃત-વિવૃતયોનિ ” ( પ્રજ્ઞા યોનિપદ ૯ )

જીવપ્રદેશોથી અધિષ્ઠિત યોનિ સચિત્ત કહેવાય છે અને જે જીવપ્રદેશોથી અધિષ્ઠિત ન હોય તે અચિત્ત કહેવાય છે જે યોનિ કોઈ સ્થળે જીવપ્રદેશોથી અધિષ્ઠિત હોય અને કોઈ સ્થળે અધિષ્ઠિત ન હોય તે મિથ્રયોનિ કહેવાય છે જ્યાં શીત સ્પર્શ હોય તે શીતયોનિ, જ્યાં ઉષ્ણસ્પર્શ હોય તે ઉષ્ણયોનિ, અને જેમાં કયાક શીત અને કયાક ઉષ્ણ સ્પર્શ હોય તે શીતોષ્ણ યોનિ છે અપ્રકટ યોનિ સવૃત કહેવાય છે, અને પ્રકટ યોનિને વિવૃત કહે છે, અને જે કયાક પ્રકટ અને કયાક અપ્રકટ હોય તે સવૃત-વિવૃત યોનિ છે

કયા જીવની કઈ યોનિ છે ? તે જતાવે છે—દેવ-નારકી જીવોની અચિત્તયોનિ હોય છે દેવોની યોનિ પ્રચ્છદપટ અને દેવદૂષ્યના વચ્ચેમાં હોય છે અને તે જીવ

વજ્રમયવાતાયનકલ્પા કુસ્મયો યોનયઃ, તા અપિ જીવપ્રદેશરહિતા. । યે ગર્ભ-  
જાસ્તિર્યજો મનુષ્યાસ્તેષાં મિથ્રાસચિત્તાચિત્તરૂપા યોનિ । સ્થાવરપદ્મ  
કસ્ય વિકલેન્દ્રિયત્રયસ્ય અગર્ભજપઠ્ઠેન્દ્રિયતિરસ્કાં સમૂર્ઞિમમનુષ્યાણાં ચ ત્રિવિધા  
સચિત્તા । અચિત્તા, સચિત્તાચિત્તા ચ ।

ગમજમનુષ્યતિરસ્કાં દેવાનાં ચ શીતોષ્ણા યોનિઃ । તેજસ્કાયસ્ય ઉષ્ણા ।  
સ્થાવરચતુષ્ટયસ્ય વિકલેન્દ્રિયત્રયસ્ય અગર્ભજપઠ્ઠેન્દ્રિયતિરસ્કાં સમૂર્ઞિમમનુષ્યાણાં  
નારકાણાં ચ ત્રિવિધા શીતા, ઉષ્ણા, શીતોષ્ણા ચ યોનિઃ ।

નારકાણાં દેવાનામેકેન્દ્રિયાણાં ચ સદૃશા યોનિઃ । ગર્ભજાનાં  
પઠ્ઠેન્દ્રિયતિરસ્કાં મનુષ્યાણાં ચ સદૃશવિદૃશા યોનિ । વિકલેન્દ્રિયત્રયસ્ય

ઔર વદ જીવપ્રદેશો તે રહિત છે । નારકો કી યોનિ વજ્રમય વાતાયન કે સમાન કુમ્ભો છે ।  
તે મી જીવપ્રદેશો તે રહિત છે । ગર્ભજ તિર્યંચો ઔર મનુષ્યો કી મિથ્ર (સચિત્તાચિત્ત) યોનિ  
હોતી છે । પાંચ સ્થાવરો કી, ત્રીન વિકલેન્દ્રિયો કી, અગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યંચો કી તથા  
સમૂર્ઞિમ મનુષ્યો કી યોનિ ત્રીનો પ્રકાર કી (સચિત્ત, અચિત્ત ઔર મિથ્ર) હોતી છે ।

ગર્ભજ-મનુષ્યો, તિર્યંચો ઔર દેવો કી શીતોષ્ણ યોનિ હોતી છે । તેજસ્કાય કી  
ઉષ્ણ યોનિ છે । ચાર સ્થાવરો કી, ત્રીન વિકલેન્દ્રિયો કી, અગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યંચો કી  
સમૂર્ઞિમ મનુષ્યો કી ઔર નારકો કી ત્રીનો પ્રકાર કી (શીત ઉષ્ણ ઔર મિથ્ર) યોનિ  
હોતી છે ।

નારકો દેવો ઔર એકેન્દ્રિયો કી સદૃશ યોનિ છે । ગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યંચો  
ઔર મનુષ્યો કી સદૃશવિદૃશ યોનિ હોતી છે । ત્રીન વિકલેન્દ્રિયો કી, અગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય

પ્રદેશોથી રહિત છે નારકોની યોનિ વજ્રમય વાતાયન (બારી)ની સમાન કુમ્ભો  
છે તે પણ સ્થાવરપ્રદેશોથી રહિત છે

ગર્ભજ તિર્યંચો અને મનુષ્યોની મિથ્ર (સચિત્તાચિત્ત) યોનિ હોય છે પાંચ  
સ્થાવરોની, ત્રણ વિકલેન્દ્રિયોની, અગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યંચોની તથા સમૂર્ઞિમ  
મનુષ્યોની યોનિ ત્રણ પ્રકારની (સચિત્ત, અચિત્ત અને મિથ્ર) હોય છે.

ગર્ભજ મનુષ્યો, તિર્યંચો અને દેવોની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે તેજસ્કાયની  
ઉષ્ણોયોનિ છે ચાર સ્થાવરોની, ત્રણ વિકલેન્દ્રિયોની, અગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યંચોની  
સમૂર્ઞિમ મનુષ્યોની અને નારકોની ત્રણ પ્રકારની (શીત, ઉષ્ણ અને મિથ્ર) યોનિ હોય છે.

નારકો, દેવો, અને એકેન્દ્રિયોની સદૃશ યોનિ છે ગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય તિર્યંચો  
અને મનુષ્યોની સદૃશ-વિદૃશ યોનિ હોય છે ત્રણ વિકલેન્દ્રિયોની અગર્ભજ પઠ્ઠેન્દ્રિય

અર્થઃ જપ્ત્વેન્દ્રિયતિરસ્થા સમૂહિમમનુષ્યાણાં ચ વિટૃતા યોનિ' ।

અથા—ચતુરશીતિલક્ષણમેદનાનેકરૂપા યોનય મન્તિ, તથા હિ-પૃથિવ્યપ્તેજો-વાયુનાં પ્રત્યેક સપ્ત સપ્ત લક્ષાણિ ૨૮, પ્રત્યેકવનસ્પતીનાં દશ લક્ષાણિ ૩૮, સાધારણવનસ્પતીનાં ચતુર્દશ લક્ષાણિ, ૫૨, વિકલેન્દ્રિયત્રયસ્ય પ્રત્યેક દ્વે દ્વે લક્ષે, ઇતિ તેષાં પદ્ધ લક્ષાણિ ૫૮, દેવ-નારક-પચ્ચેન્દ્રિયતિરસ્થાં પ્રત્યેક ચત્વારિ લક્ષાણોતિ તેષાં દ્વાદશ લક્ષાણિ ૭૦, મનુષ્યાણાં ચતુર્દશ લક્ષાણિ ૮૪ । એવ મર્વસકલને ચતુરશીતિલક્ષાણિ જીવાનાં યોનયો ભવન્તિ ।

અનેકવિધયોનિપ્રાપ્તૌ સત્યામપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ કર્મફલં યયાડનુ-ભવતિ તત્ પ્રદર્શયતિ—'વિરૂપરૂપાન્ પ્રતિસવેદયતિ' ઇતિ, વિરૂપ=દુઃસ્વ-

તિયંચો કી ઔર સમૂહિમ મનુષ્યો કી વિટૃતયોનિ હોતી હૈ ।

અથવા—યોનિયાં કે ચૌરાસી લાક્ષ મેદ મી હૈં । ચ હસ પ્રકાર હૈ—પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, ઔર વાયુકાય, કી સાત-સાત લાક્ષ યોનિયાં હૈં ૨૮, પ્રત્યેક વનસ્પતિ કી દશ લાક્ષ ૩૮, સાધારણ વનસ્પતિ કી ચૌદ લાક્ષ ૫૨, ત્રીન વિકલેન્દ્રિ કી પ્રત્યેક કી દો-દો લાક્ષ અર્થાત્ વિકલેન્દ્રિય કી કુલ છહ લાક્ષ ૫૮, દેવો નારકો ઔર પચ્ચેન્દ્રિય તિયંચો મેં પ્રત્યેક કી ચાર-ચાર લાક્ષ, કુલ ચારહ લાક્ષ ૭૦, મનુષ્યો કી ચૌદહ લાક્ષ ૮૪, હસ પ્રકાર કુલ ચૌરાસી લાક્ષ જીવયોનિયાં હૈં ।

અનેક પ્રકાર કી યોનિયાં પ્રાપ્ત હોને પર અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવે કિસ પ્રકાર કર્મફલ મોગલા હૈ, સો બતલાતે હૈં—દુઃસ્વબનક હોને કે કારણ હિન્દ્રિયો કે અનિષ્ટ વિષયો

તિયંચોની અને સમૂહિમ મનુષ્યોની વિટૃત યોનિ હોય છે

અથવા—યોનિઓના ચૌરાસી લાખ ભેદ પણ છે, તે આ પ્રમાણે છે—પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, અને વાયુકાયની સાત-સાત લાખ યોનિઓ છે (૨૮), પ્રત્યેક વનસ્પતિની ૬સલાખ (૩૮), સાધારણ વનસ્પતિની ચૌદલાખ (૫૨), ત્રણ વિકલેન્દ્રિયની પ્રત્યેકની બેબે લાખ, અર્થાત્ વિકલેન્દ્રિયનો કુલ છ લાખ (૫૮), દેવો નારકીઓ, અને પચ્ચેન્દ્રિય તિયંચોમાં પ્રત્યેકની ચાર-ચાર લાખ, તમામ મળી ચાર લાખ (૭૦), મનુષ્યોની ચૌદ લાખ (૮૪), આ પ્રમાણે કુલ ચૌરાસી લાખ જીવયોનિ છે

અનેક પ્રકારની યોનિઓ પ્રાપ્ત થવા છતાં અપરિજ્ઞાતકર્મી જીવ કેવી રીતે કર્મફલ મોગલે છે ? તે બતાવે છે—દુઃખ ઉત્પન્ન કરનાર હોવાના કારણે હિન્દ્રિયોના અનિષ્ટ-



हेतुत्वादशोभनं रूप=स्वरूप येषां ते विरूपरूपाः=अनिष्टाः, तान्, स्पर्शान्=इन्द्रियाणां विषयैः सह सम्यन्वा स्पर्शाः, तान् प्रतिसवेदयति=पुनः पुनरनुभवति । अनिष्टविषयसयोगे पुनः पुनर्दुःखमेव प्राप्नोतीत्यर्थः ।

यद्वा—विरूप=विभिन्नरूप विभिन्नात्मकं रूपं=स्वरूपं येषां ते विरूपरूपाः=नानाविधस्वरूपाः, तान् स्पर्शान्=दुःखसपातान् प्रतिसवेदयति । लक्षणया कार्य-कारणयोरभेदाद्वा स्पर्शजन्या अपि दुःखसपाताः स्पर्शा इति व्यपदिश्यते । अत्र स्पर्शानित्युपलक्षणं, तेन मानसानामपीष्टवियोगादिजन्यदुःखसपातानां सप्रदः ।

यद्वा—સ્પર્શાન્=સ્પર્શનેન્દ્રિયવેદ્યાન્ દુઃખસપાતાન્ પ્રતિસવેદયતીત્યર્થઃ ।

को भोगता है । इस प्रकार अनिष्ट विषयो का संयोग होने के कारण वह जीव पुनः पुनः दुःख ही अनुभव करता है ।

अथवा—विरूप अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले—नानाप्रकार के दुःखजनक स्पर्शों का सवेदन करता है । लक्षणादृष्टि से, अथवा कार्य-कारण के अभेद की विवक्षा से स्पर्शजन्य दुःख भी स्पर्श ही कहलाते हैं । यहाँ स्पर्श उपलक्षण मात्र है, उस से इष्टवियोग आदि मानसिक दुःखों का भी ग्रहण समझना चाहिए ।

अथवा—સ્પર્શના કાર્ય છે—સ્પર્શનેન્દ્રિયવિષયમૂલ દુઃખ । જીવ ઉન્ને ભોગતા છે । સાત્ત્વ્ય સહ છે—જીવ અપરિશિતપાપકર્મા હોઈ નિર્ગોદ—આદિ જ્ઞાતા

કે પ્રકારક વિષયોને ભોગવે છે, એ પ્રમાણે અનિષ્ટ વિષયોમાં સંયોજ કોવાના કારણે તે જીવ ફરી-ફરી કુખનોજ અનુભવ કરે છે.

અથવા—વિરૂપ અર્થોત્ શિન્તા-ભિન્ન સ્વરૂપવાળા નાના પ્રકારના દુઃખજનક, સ્પર્શોનું સવેદન કરે છે લક્ષણાવૃત્તિથી, અથવા કાર્યકારણના અભેદની વિવક્ષાથી સ્પર્શજન્ય દુઃખ પણ સ્પર્શજ કહેવાય છે આદિ સ્પર્શ ઉપલક્ષણ માત્ર છે, તેમાં ઇષ્ટવિયોગ આદિ માનસિક કુખોનું પ્રદક્ષ પણ સમજી લેવું જોઈએ.

અથવા—સ્પર્શનો અર્થ છે—સ્પર્શનેન્દ્રિયવિષયમૂલ દુઃખ, જીવ તેને ભોગવે છે સાત્ત્વ્ય એ છે કે—જીવ અપરિશિત-પાપકર્મો થઈને નરુક-નિર્ગોદ આદિ અનેક યેનિજ્ઞાત્ય

અપરિજ્ઞાતકર્મતયા નરકનિગોડાદ્યનેકવિધયોની સપ્રાપ્ય સર્વે જીવા વિચિત્રકર્મો-  
દયાત્ સ્વકર્મફલ નાનાવિધ દુ સ્વમેવાનુભવન્તીતિ ભાવ. ॥ ૮ ॥

અય મુઘર્મા સ્વામી જમ્બુસ્વામિનં જગાદ-‘તત્થે’-ઈત્યાદિ ।

મૂલ્મ—

તત્ય સ્વલુ મગવયા પરિજ્ઞા પવેદ્યા ॥ સૂ ૯ ॥

છાયા—

તત્ર સ્વલુ મગવતા પરિજ્ઞા પ્રવેદિતા ॥ મૂ ૯ ॥

ટીકા—

હે જમ્બુ ! અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવો વિમાવપરિણામ કુર્વન્ નાનાવિધ-  
યોનિષુ પુન પુનર્દુ સ્વમેવ લમતે । તત્ર-અપરિજ્ઞાતકર્મણો જીવસ્ય કૃતકારિ  
તાનુમોદિતાદિમેદેનોક્તસપ્તવિંશતિમક્રૂરુપસાવધક્રિયાનુષ્ઠાનાન્રકનિગોડાદિનાનાવિ-  
ધયાનિષુ પુન પુનર્દુ સ્વાનુમયવિષયે મગવતા શ્રીમહાવીરસ્વામિના પરિજ્ઞા

યોનિયા મેં ઉત્પન્ન હોઈને વિચિત્ર કર્મોં કે ઉદય સે અપને-અપને કર્મોં કા નાનાવિધ દુ સ્વ-  
રૂપ ફળ અનુભવ કરતે હૈં ॥ સૂ ૮ ॥

મુઘર્મા સ્વામી જમ્બુ સ્વામી સે કહતે હૈં-‘તત્ય સ્વલુ ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ-મગવાન્ ને પરિજ્ઞા કા ઉપદેશ દિયા હૈ ॥ સૂ ૯ ॥

ટીકાર્થ- હે જમ્બુ ! અપરિજ્ઞાતપાપકર્મા જીવ વિમાવ પરિણામ ધારણ કરતા  
હુમા નાના પ્રકાર કી યોનિયોં મેં વારવાર દુ સ્વ પાતા હૈ । અપરિજ્ઞાતપાપકર્મા જીવ કે  
કૃત કારિત અનુમોદના આદિ કે મેદ સે સપ્તવિંશ મગરૂપ સાવધક્રિયા કે અનુદ્યાન સે  
નરક નિગોદ આદિ નાના પ્રકાર કી યોનિયોં મેં પુન પુન દુ સ્વાનુમય કરને કે વિષયમેં

રૂપજ યદને વિચિત્રકર્મોના ઉદયથી પોત-પોતાના કર્મોના અનેક પ્રકારના દુ અરૂપ  
પ્રવેશો અનુભવ કરે છે (સૂ ૮)

મુઘર્મા સ્વામી જમ્બુ સ્વામીને કહે છે-‘તત્ય સ્વલુ ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ-મગવાને પરિજ્ઞાને ઉપદેશ આપ્યો છે (૯)

ટીકાર્થ-હે જમ્બુ ! અપરિજ્ઞાતપાપકર્મા જીવ વિમાવ પરિણામ ધારણ કરતો  
યદો નાના પ્રકારની યોનિઓમાં વારવાર દુ સ્વ પામે છે અપરિજ્ઞાત-પાપકર્મા જીવના  
કૃત કારિત અને અનુમોદના આદિના બેદથી સપ્તવિંશ મગરૂપ સાવધ ક્રિયાના અનુદ્યાનથી  
નરક-નિગોદ આદિ નાના પ્રકારના યોનિઓમાં પુન પુન દુ સ્વ અનુભવ કરવાનો વિષયમાં

ચલુ પ્રવેદિતા । તત્તદુઃસ્વકારણકર્મબન્ધસમુચ્છેદાર્થં જીવન પરિતાજ્યસ્ય ધરણી  
 કરણીયેતિ મગવતા પ્રવેધિતમિતિ માય પરિજ્ઞા=સમ્યગવયોધ' । પરિજ્ઞા  
 દ્વિવિધા જ્ઞ-પ્રત્યાખ્યાન-મેદાત્ । 'સાવધવ્યાપારેણ કર્મબન્ધો મવતી'તિ જ્ઞાનં  
 જ્ઞ-પરિજ્ઞા । કર્મબન્ધકારણસ્ય સાવધવ્યાપારસ્ય પરિત્યાગ પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા ।  
 એવેદમવગન્તવ્યમ્-અતીતકાલે મનસા ધાવા કાયેન ચ મયા સાવધ-  
 ક્રિયા કૃતા, કારિતા, અનુમોદિતા ચ, તથા વર્તમાનકાલે સાવધક્રિયા કરોમિ,  
 કારયામિ, કુર્વન્તમપ્યન્યમનુમોદયામિ । એષ યદિ મવિષ્યત્કાલેઽપિ સાવધક્રિયા  
 કરિષ્યામિ, કારયિષ્યામિ કરિષ્યમાણમન્યમનુમોદયિષ્યામિ । इत्यमनेकविधसा-  
 वधव्यापार कृर्वन् जीवः संसारे परिभ्रमति, नरकनिगोदाद्यनेकविधदुस्सहयातनां

મગવૉન મહાવૉરે સ્વામીને પરિજ્ઞા કી પ્રરૂપણા કી હૈ । દુ સ્વો કે કારણમૂત કર્મો કે  
 બન્ધે કો નાશ કરેને કે લિગ જીવ કો પરિજ્ઞા કા ણરણ અવસ્ય પ્રહણ કરના પાહિયે;  
 યેસા મગવાનું ન કહેા હૈ । પરિજ્ઞા કા અર્થ હૈ-સમ્યગ્જ્ઞાનં । પરિજ્ઞા દો પ્રકાર કી હૈ-  
 જ્ઞ-પરિજ્ઞા ઔર પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞા । સાવધ વ્યાપાર સે કર્મબન્ધ હોસા હૈ' યેસા જ્ઞાનના  
 જ્ઞ-પરિજ્ઞા હૈ । ઔર કર્મ બન્ધ કે કારણ સાવધ વ્યાપારો કા પરિત્યાગ કર દેના પ્રત્યાખ્યાન  
 પરિજ્ઞા હૈ । યહાં મહ સમજના પાહિયે કિ-મૂતકાલ મેં મૈને મન, વચન, કામ સે સાવધ ક્રિયા  
 કી, કરાઈ ઔર ઉસ કો અનુમોદનાં કી, તથા વર્તમાન કાલ મેં સાવધ ક્રિયા કરતા હૂં, કરાતા  
 હૂં ઔર દુસરે કરને વાલે કા અનુમોદન કરતા હૂં, । ઈસી પ્રકાર મવિષ્યકાલ મેં મી સાવધ  
 ક્રિયા કરુંગા, કરાતુંગા, ઔર દુસરે કો અનુમોદન કરુંગા । ઈસ પ્રકાર મૌતિ-મૌતિ કા  
 સાવધ વ્યાપાર કરતા હુઆ જીવ સંસાર મેં પરિભ્રમણ કરતા હૈ ઔર નરક નિગોદ બાદિ કી

અગવાન મહાવીરે સ્વામીએ પરિજ્ઞાની પ્રરૂપણા કરી છે । દુ ખોના કારણમૂત કર્મોના  
 બધનો નાશ કરવા માટે જીવને પરિજ્ઞાનું શરણ અવશ્ય અરૂણ કરવું જોઈએ, જે  
 પ્રમાણે અગવાને ઠહુ છે પરિજ્ઞાનો અર્થ છે સમ્યગ્જ્ઞાનં. પરિજ્ઞા એ પ્રકારની જ્ઞ-  
 (૧) જ્ઞ-પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા 'સાવધ વ્યાપારથી કર્મબન્ધ થાય છે'  
 આ પ્રકારે સમજવું તે જ્ઞ-પરિજ્ઞા છે, અને કર્મબન્ધના કારણથી સાવધ વ્યાપારનો  
 ત્યાગ કરી દેવો તે પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા છે. આદિ આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ કે -  
 મૂતકાળમાં મે મન, વચન, કાયાથી સાવધ ક્રિયા કરી છે, કરાવી છ અને તેને  
 અનુમોદન આપ્યું છે તથા વર્તમાન કાલમાં સાવધ ક્રિયા કરૂ છ, કરાવું છ, અને  
 બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપું છ આ પ્રમાણે મવિષ્યકાલમાં પણ સાવધ ક્રિયા  
 કરીશ કરાવીશ અને બીજાને અનુમોદન આપીશ. આ પ્રમાણે અનેક તરિકાના બદા-બદા

ચાનુમવતિ । એવ ઢપરિક્ષયા ધિનાય પ્રત્યાગ્યાનપરિક્ષયા સાવધક્રિયા પરિત્યાજ્યેતિ મગવતા વોધિતમિતિ । ઇદ ચ જ્ઞાનસહસમ્મત્યા (અવધિ મન'પર્યય-કેવલજ્ઞાનૈર્જાતિ-સ્મૃત્યા વા ) મતિજ્ઞાનેન વા મગવતિ, તસ્માન્નિશ્ચયવ્યવહારસ્વરૂપસયમમાર્ગે પ્રવૃત્તિરેવ-જીવસ્ય હિતકારિણી, અનયૈવ હિ પરમપદ મોક્ષો લ્ભ્યતે ॥ સૂ૦ ૯ ॥

નનુ તર્હિ દુઃસ્વફલેષુ તેષુ ક્રિયાવિશેષેષુ કિમર્થે પ્રવર્તતે જીવ ? ઇત્યાશંકા-યામાદ-'ઇમસ્સ ચેવ' ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—ઇમસ્સ ચેવ જીવિયસ્સ પરિવંદનમાણણપૂયણાણ જ્ઞાઇમરણમોયણાણ દુક્કલપલિધાયહુ ॥ સૂ૦ ૧૦ ॥

છાયા—અસ્ય ચૈવ જીવિતસ્ય પરિવંદન-માનન-પૂજનાય-જાતિમરણમોચ-નાય દુઃસ્વપ્રતિષ્ઠાવહતુમ્ ॥ સૂ૦ ૧૦ ॥

અનેક પ્રકાર કૌં દુસ્સહ યાતનાણ મોગતા હૈ, ઇસ પ્રકાર ઢપરિજ્ઞા સે જ્ઞાનપ્ર પ્રત્યાગ્યાન-પરિજ્ઞા સે સાવધ ક્રિયા ત્યાગને યોગ્ય હૈ । ઇસ પ્રકાર મગવાનુન ઉપદેશ દિયા હૈ । યહ બોધ-અવધિ, મન પર્યય, કેવલજ્ઞાન ઓર જાતિસ્મરણ સે હોતા હૈ, યા, મતિજ્ઞાન સે હોતા હૈ । ઇસ લિયે નિશ્ચયવ્યવહારરૂપ સયમમાર્ગ મ પ્રવૃત્તિ કરના હી જીવ કે લિયે હિતકર હૈ ઓર ઇસી સે પરમપદ-મોક્ષ પ્રાપ્ત હોતા હૈ ॥ સૂ૦ ૯ ॥

અગર સાવધ ક્રિયાપૈં દુઃસ્વ કા કારણ હૈં તો ડન મેં જીવ પ્રવૃત્તિ ક્યો કરતા હૈ ? ઇસ આશંકા કા સમાધાન કરતે હૈં-'ઇમસ્સ ચેવ' ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ-ઇસ જીવન કે લિયે, પરિવંદન, માનન ઓર પૂજન કે લિયે, જમ મરણ સે મુક્ત હોન કે લિયે, દુઃસ્વ દૂર કરને કે લિયે, (જીવ પાપક્રિયા મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ) ॥ સૂ ૧૦ ॥

સાવધ વ્યાપાર કરતો એવ ઢ સારમા પરિબ્રમણ કરે છે, અને નરક, નિર્ગોહ આદિની અનેક પ્રકારની કઠિન યાતનાઓ ભોગવે છે આ પ્રમાણે જ્ઞ-પરિજ્ઞાથી બાણીને પ્રત્યાગ્યાન-પરિજ્ઞાથી સાવધ ક્રિયા ત્યાગવા ચોગ્ય છે, આ પ્રમાણે ભગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે આ બોધ-અવધિ, મન પર્યય, કેવલજ્ઞાન અથવા જાતિસ્મરણથી થાય છે, અથવા તો મતિજ્ઞાનથી થાય છે એ માટે નિશ્ચય-વ્યવહારરૂપ સયમમાર્ગમા પ્રવૃત્તિ કરવી એજ એવને માટે હિતકર છે, અને એનાથી પરમપદ મોક્ષ થાય છે (સૂ૦ ૯)

એ કે સાવધ ક્રિયાઓ દુઃખનું કારણ છે, તો તેમા એવ પ્રવૃત્તિ થા માટે કરે છે ? એ શકાનું સમાધાન કરે છે-'ઇમસ્સ ચેવ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—આ એવનને માટે, પરિવંદન, માનન, અને પૂજન માટે, જ મ મરણથી મુક્ત થવા માટે, દુઃખ દૂર કરવા માટે (એવ પાપક્રિયામા પ્રવૃત્ત થાય છે) (૧૦)

સ્વલુ પ્રવેદિતા । તત્તદુઃસ્વકારણકર્મવન્ધસમુચ્છેદાર્થં જીવેન પરિજ્ઞાજ્વર્યં શરણી  
 કરણીયેતિ મગધતા પ્રવોષિતમિતિ માયઃ પરિજ્ઞા=સમ્યગ્વબોધ' । પરિજ્ઞા  
 દ્વિવિધા જ્ઞ-પ્રત્યાગ્વ્યાન-મેદાત્ । 'સાવધવ્યાપારેણ કર્મવન્ધો ભવતી'તિ જ્ઞાનં  
 જ્ઞ-પરિજ્ઞા । કર્મવન્ધકારણસ્ય સાવધવ્યાપારસ્ય પરિત્યાગ પ્રત્યાગ્વ્યાન-પરિજ્ઞા ।  
 અપ્રેદમવગન્તવ્યમ્-અતીતકાલે મનસા યાચા કાયેન ચ મયા સાવધ  
 ક્રિયા કૃતા, કારિતા, અનુમોદિતા ચ, તથા વર્તમાનકાલે સાવધક્રિયાં કરોમિ,  
 કારયામિ, કુર્વન્તમપ્યન્યમનુમોદયામિ । એવં યદિ મનિષ્યત્કાલેઽપિ સાવધક્રિયાં  
 કરિષ્યામિ, કારયિષ્યામિ કરિષ્યમાણમન્યમનુમોદયિષ્યામિ । इत्यमनेकविधसा-  
 वधव्यापार कृर्वन् जीव संसारे परिभ्रमति, नरकनिगोदाघनेकविधदुस्सहयातनां

મગધાન્ મહાવેરે સ્વામીને પરિજ્ઞાં કી પ્રરૂપણા કી હૈ । દુ સ્વોં કે કારણમૂત કર્મોં કે  
 વન્ધેં કો નોષ કરેને કે લિંગ જીવ કો પરિજ્ઞા કા શરણ અવરય પ્રઘણ કરના ચાહિય,  
 વેસા મગધાન્ નં કહેા હૈ । પરિજ્ઞાં કા અર્થ હૈ-સમ્યગ્જ્ઞાનં । પરિજ્ઞાં કો પ્રકાર કૌ હૈ-  
 જ્ઞ-પરિજ્ઞા ઔર પ્રત્યાગ્વ્યાન પરિજ્ઞા । સાવધ વ્યાપાર સે કર્મવન્ધ હોતા હૈ 'વેસા જ્ઞાનના  
 જ્ઞ-પરિજ્ઞા હૈ । ઔર કર્મ વન્ધ કે કારણ સાવધ વ્યાપારોં કા પરિત્યાગ કર દેના પ્રત્યાગ્વ્યાન  
 પરિજ્ઞા હૈ । યહાં યહ સમજના ચાહિય કિ-મૂતકાલ મેં મૈને મન, વચન, કામ સે સાવધ ક્રિયા  
 કી, કરાઈ ઔર ઉસ કી અનુમોદનાં કી, તથા વર્તમાન કાલ મેં સાવધ ક્રિયા કરતા હૂં, કરતા  
 હૂં ઔર દુસરે કરને ઘાલે કા અનુમોદન કરતા હૂં, । હેસી પ્રકાર મનિષ્યકાલ મેં મી સાવધ  
 ક્રિયા કરુઘા, કરાઘા, ઔર દુસરે કા અનુમોદન કરુઘા । હેસ પ્રકાર મૈતિ-મૈતિ કા  
 સાવધ વ્યાપાર કરતા હુઘા જીવ સંસાર મેં પરિભ્રમણ કરતા હૈ ઔર નરક નિગોદ આદિ કી

અજવાન મહાવીર સ્વામીએ પરિજ્ઞાની પ્રરૂપણા કરી છે । દુઃખોના કારણમૂત કર્મોના  
 બંધનો નાશ કરવા માટે જીવને પરિજ્ઞાનું શરણ અવરય પ્રઘણ કરવું જોઈએ, એ  
 પ્રકારે અજવાને કહ્યું છે પરિજ્ઞાને અર્થ છે સમ્યગ્જ્ઞાનં. પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે-  
 (૧) જ્ઞ-પરિજ્ઞા અને (૨) પ્રત્યાગ્વ્યાન-પરિજ્ઞા 'સાવધ વ્યાપારથી કર્મબંધ થાય છે'  
 આ પ્રકારે સમજવું તે જ્ઞ-પરિજ્ઞા છે, અને કર્મબંધના કારણથી સાવધ વ્યાપારોના  
 ત્યાગ કરી દેવો તે પ્રત્યાગ્વ્યાન-પરિજ્ઞા છે જોઈ આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ કે -  
 મૂતકાળમાં મેં મન, વચન, કાયાથી સાવધ ક્રિયા કરી છે, કરાવી છે અને તેને  
 અનુમોદન આપ્યું છે તથા વર્તમાન કાલમાં સાવધ ક્રિયા કરું છું, કરાવું છું, અને  
 બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપું છું આ પ્રમાણે મનિષ્યકાલમાં પણ સાવધ ક્રિયા  
 કરીશ, કરાવીશ અને બીજાને અનુમોદન આપીશ આ પ્રમાણે અનેક તરેહના બુદ્ધા-બુદ્ધા

ક્રિયાં કરોતિ । જાતિમરણમોચનાય=જાતિર્જન્મ, તદર્થ મત્રાન્તરસુખપાપ્ત્યર્થ  
 મ્રમ્પાપાતાદિક્ સમાચરતિ । મરણાર્થમ્=મરણ યેષા પિત્રાદીના સજાત, તદર્થ  
 પિંઢદાનાદિક્રિયાસુ પ્રવર્તતે । યદ્વા મરણ=વધસ્તદર્થ, વધ નિમિત્તીકૃત્ય વૈરનિ  
 યાંપનાર્થમ્ । યદ્વા-મરણાર્થ=મૃત્યુનિવૃત્ત્યર્થ મિત્ર્યાત્વબુદ્ધ્યા દેવીપૂજાદૌ  
 ચલિદાનાદિકરણમ્ । મોચનમ્=આત્મન કર્મબંધાપગમસ્તદર્થ વિપરીતમત્યા  
 પચ્ચામિતાપાદૌ પ્રાણ્યુપમર્દનકર્મણિ પ્રવર્તતે । તથા દુ સ્વપતિષાતહેતુ=દુ સ્વાનાં  
 પ્રતિષાતો=યિદ્, સ્તમ્ય હેતુ ક્રિયાવિશેષ હિંસાદિક કરોતિ, યથા-આધિ-

પ્રતિષ્ઠા વગેરહ માં 'પૂજન' છે, ઉસકે લિખ મી મનુષ્ય પ્રાણિયાં કા ઉપમર્દનરૂપ હિંસા વગેરહ  
 સાવધ ક્રિયાપેં કરતા છે ।

જન્મ ઓર મરણ સે છુટકારા પાને કે લિખ સાવધ ક્રિયાપેં કી બાતી છે ।  
 'જાતિ' - જન્મ કે લિખ જૈસ બાગામી મય મ સુખ પ્રાપ્ત કરન કે ઉદેશ સે બીધ  
 મપાપાત-(અગ્નિ તથા પાણીમ પઢકર અથવા ઝમરસે ગિરકર મરના) જાતિ કા  
 આચરણ કરતા છે । 'મરણ' - પિતા આદિ કા મરણ હોને પર ઉનકે લિખ પિંઢદાન આદિ  
 ક્રિયાઓ મેં પ્રવૃત્ત હોતા છે । અથવા-મૃત્યુ કો નિમિત્ત બનાકર વૈર કા પ્રતિશોધ (વદછા) કેને  
 કે લિખ પાપ કરતા છે । અથવા મૃત્યુ ટાલને કી મિત્ર્યાબુદ્ધિ સે દેવી વગેરહ કે લિખ ચલિદાન  
 આદિ કરતા છે । તથા 'મોચન' કે લિખ અર્થાત્ અપના કર્મબંધ હટાને કે લિખ વિપરીતમતિ હો  
 કર પચામિતાપ આદિરૂપ પ્રાણિ હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા છે । તથા 'દુ સ્વપતિષાતહેતુ' 'દુ સ્વો  
 કો નિવારણ કરને કે લિખ હિંસા આદિ પાપ કરતા છે । જૈસે રોગ મિટાને કી બુદ્ધિ સે માંસ

(મૂર્તિ) આદિની પૂજા-પ્રતિષ્ઠા વગેરે પણ 'પૂજન' છે તેના માટે પણ જીવ, પ્રાણિઓનું  
 ઉપમર્દનરૂપ હિંસા વગેરે સાવધ ક્રિયાઓ કરે છે

જન્મ અને મરણથી છુટવા માટે પણ સાવધ ક્રિયાઓ કરવામા આવે છે જાતિ-જન્મ  
 માટે, જેમ બાગામી ભવમા સુખ પ્રાપ્ત કરવાના ઉદેશથી જીવ અપાપાત (અગ્નિ કે પાણીમા  
 પડીને મરવું ઉચેથી પડતું મૂકવું) આદિનું આચરણ કરે છે 'મરણ પિતા આદિના મરણ  
 પ્રસંગે તેના માટે પિંઢદાન આદિ ક્રિયાઓમા પ્રવૃત્ત થાય છે, અથવા મૃત્યુ નિવારણ માટે  
 મિત્ર્યાબુદ્ધિથી દેવી વગેરેને બલિદાન આદિ આપવા તથા 'મોચન' માટે અર્થાત્ પોતાના  
 કર્મબંધને દૂર કરવા માટે વિપરીત મતિથી પચામિતાપ આદિરૂપ હિંસામા પ્રવૃત્ત થાય છે  
 તથા 'દુ સ્વપતિષાતહેતુ' - દુ જોનું નિવારણ કરવા માટે હિંસાઆદિ પાપ કરે છે જેમ રોગ

ટીકા—‘અસ્ય’ ઇતિ-અસ્ય=પ્રત્યક્ષમનુભૂયમાનસ્ય વારિતરક્ષબન્ધજ્ઞાન્તરસ્ય, સન્ધ્યારાગવન્તરિતમહાગુરસ્ય જીવિતસ્ય=જીવનસ્ય નિરસુનાર્થમપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ કર્મબન્ધહેતુમૂલેષુ ક્રિયાવિશેષણ પ્રવર્તેતે । યથા-જીવનાર્થ લાવકૃતિષિરાદિપક્ષિણામ્, અનમેપમૃગમૃગરાજાદિપક્ષીનાં વધરૂપધોરકર્મસમાચરણમ્ । તથા-પરિવન્દન-માનન-પૂજનાય, તત્ર-પરિવન્દન=પ્રશંસા, તદર્થ, યથા-સ્વગ્ન્યાતિપ્રાપ્ત્યર્થ સાપરાધ-નિરપરાધ-પ્રાણિનાં હિંસનમ્ । માનનમ્=અભ્યુત્થાનાસનદાનાદિરૂપ સત્કાર, સ્વાક્ષા સ્વીકારો વા, તદર્થમ્, યથા-માનનાર્થ પરેષાં હિંસનાદિકરણમ્ । પૂજનમ્-રત્નવસ્ત્રાદિ પુરસ્કાર, પ્રતિમાદીનાં પૂજાપતિષ્ઠાદિ ચ, તદર્થ, પ્રાણ્યુપમર્દનરૂપહિંસાદિસાધન

ટીકાર્થ—પ્રત્યક્ષ અનુભવ ક્રિયે જાને થાઈ, જલકૌ તરફ કે સમાન અતિગત્ય બન્ધ, સન્ધ્યા કી લાક્ષિમા કે સમાન મહાગુર-જીવન કે નિરકાલીન સુસ્થ કે લિપ અપરિજ્ઞાતકર્મા જીવ કર્મબન્ધ કી કારણમૂલ ક્રિયાઓ મ પ્રવૃત્ત હોતા હૈ । જેસે-જીવિત રહન કે લિપ, છાવા, તંતર આદિ પક્ષિયાં કા જોર બકરા, મેઢા, હિરન એવ સિંહ આદિ પશુઓં કા વધરૂપ ધોર પાંપકર્મ કા આચરણ કરના ।

તથા પરિવન્દન, માનન જોર પૂજન કે લિપ જીવ પાપકર્મ કરતા હૈ । ‘પરિવન્દન’ કા અર્થ હૈ પ્રશંસા । પ્રશંસા કે લિપ સાપરાધ જોર નિરપરાધ પ્રાણિઓં કા વાત ક્રિયા જાતા હૈ । ઊઠકર ત્વઢા હોના, આસન દેના આદિ સત્કાર, અથવા અપની આજ્ઞા સ્વીકાર કરાના ‘માનન’ કહલાતા હૈ, ઇસ કે લિપ મી દૂસરા કી હિંસા કી જાતી હૈ । રત્નો જોર વસ્ત્રાં આદિ કા પુરસ્કાર ‘પૂજન’ કહલાતા હૈ, જોર પ્રતિમા આદિ કી પૂજા-

ટીકાર્થ—પ્રત્યક્ષ અનુભવ કરવામા આવેલા જલકા તરગોની સમાન અતિશય ચથલ, સન્ધ્યાની લાલાશ (શતાપણી)ની સમાન ભગુર જીવનના લાભા સમયના મુખ માટે અપરિજ્ઞાતકર્મા એવ કર્મબન્ધની કારણમૂલ હિંસાઓમા પ્રવૃત્ત થાય છે જેવી રીતે જીવિત રહેવા માટે છાવા તેતર, આદિ પક્ષીઓના અને બકરા, મેઢા, હરણ એ પ્રમાણે સિંહ આદિ પશુઓના વધરૂપ ધોર પાપકર્મનું આચરણ કરવું

તથા પરિવંદન માનન અને પૂજન માટે પણ એવ પાપ કરે છે ‘પરિવંદન’નો અર્થ છે -પ્રશંસા, પ્રશંસા માટે અપરાધવાળા અને અપરાધ વિનાના પ્રાણીઓનો વાત કરવામાં આવે છે જીંદને જીવા યર્થજનું આસન આપવું આદિ સત્કાર અથવા પોતાની આજ્ઞા સ્વીકાર કરાવવી તે ‘માનન’ કહેવાય છે, તે માટે પણ ખીજાની હિંસા કરવામાં આવે છે રત્ન અને વસ્ત્રો આદિનો પુરસ્કાર તે પૂજન કહેવાય છે, અને પ્રતિમા

મૂલમ્—એવાવતિ સજ્જાવતિ લોગસિ કર્મસમારમ્મા પરિજાણિયવ્વા મવતિ ॥ સૂ ૧૧ ॥

છાયા—એતાવન્ત સર્વે લોકે કર્મસમારમ્મા પરિજ્ઞાતવ્યા મવતિ ॥ સૂ. ૧૧ ॥

ટીકા—‘એતાવન્ત’ એટલે—લોકે=જિનશાસને કર્મસમારમ્મા=કર્મવચ્ચહેતવ’ ક્રિયાવિશેષા સર્વે એતાવન્તઃ । કૃત્ત, કારિતાનુમોદિતમેદેન ત્રિવિધાના કર્મસમારમ્માનાં પ્રત્યેકમતીતવર્તમાનાનાગતત્રયમેદેન નવવિધાનાં પુનર્મનોવાકકાયમેદેન પ્રત્યેક ત્રૈવિધ્યે સતિ સપ્તવિંશતિર્મદ્ધા મવન્તીતિ રીત્યા પૂર્વકચિતસપ્તવિંશતિ-મદ્ધવન્ત, ન તુ તેમ્પોડધિકા इत्यर्थ । એતે ચ કર્મસમારમ્મા’ પરિજ્ઞાતવ્યા મવન્તિ, એત્પરિજ્ઞાનાર્થે યત્નો ત્રિધેય इत्यर्थ । જ્ઞાતે સતિ પુન પુનરસ્યાનુસ્મરણ કરણીય, ન ત્વન્ન પ્રમાદ કાર્ય इति भाव ॥ સૂ ૧૧ ॥

કર્મસમારમ્મપરિજ્ઞાનમ્ય ફલમાદ—‘જસ્સેતે’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—જિનશાસન મેં જ્ઞાતને કર્મસમારમ્મ જાનને યોગ્ય હૈ ॥ સૂ ૧૧ ॥

ટીકાર્થ—જિનશાસન મેં કર્મવચ્ચ કે કારણ જ્ઞાતને હી હૈ । કૃત્ત, કારિત, ઔર અનુ-મોદિત કે મેદ સે ત્રીન પ્રકાર કે કર્મસમારમ્માકા અતીત વર્તમાન ઔર મવિધ્ય કાલ કે સાથ ગુણાકાર કરને પર નૌ મેદ હોતે હૈ । એ નૌ મેદ મન, વચન, કાય કે મેદસે સચાઈસ મદ્ધરૂપ હો જાતે હૈ । ઇસ પ્રકાર સચાઈસ તરહ કે કર્મસમારમ્મ જાનને ચાહિય, ઇનસે ન કમ હૈ ઔર ન અધિક હૈ । ઉન્હેં જ્ઞાનન કે લિય યત્ન કરના ચાહિય । જ્ઞાન કેને કે પદ્ધત્ત ડનકા બાર-બાર સ્મરણ કરના ચાહિય । ઇસ વિષય મેં પ્રમાદ નહીં કરના ચાહિય ॥ ૧૧ ॥

કર્મસમારમ્મ કે જ્ઞાનકા ફલ બતલાવે હૈ—‘જસ્સેતે’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—જિનશાસનમાં આપેલા કર્મસમારમ્મા બહુવા યોગ્ય છે (૧૧)

ટીકાર્થ—જિનશાસનમાં કર્મવચ્ચ ધના કારણ આપેલા છે કરવું કરાવવું અને અનુ-મોદન આપવું આ બેઠથી ત્રણ પ્રકારના કર્મસમારમ્માને બૂતકાલ, વર્તમાન અને ભવિષ્ય કાલની સાથે ગુણાકાર કરવાથી નવ બેઠ થાય છે આ નવ બેઠ મન, વચન, કાયાના બેઠથી સત્તાવીસ ભગત્તુપ થઈ જાય છે એ પ્રમાણે સત્તાવીસ તરેહના કર્મસમારમ્માને બહુવા જોઈએ જોનાથી જોછા નથી અને અધિક પણ નથી તેને બહુવા માટે યત્ન કરવો જોઈએ જણ્યા પછી તેનું વાર-વાર સ્મરણ કરવું જોઈએ આ વિષયમાં પ્રમાદ નહિ કરવો જોઈએ (૧૧)

કર્મસમારમ્મના જ્ઞાનનું ફળ બતાવે છે—‘જસ્સેતે’ इत्यादि



વિધ્વસનસુદ્ધયા માસ મસ્યતિ, મદિરાદિક પિબતિ, ધનસ્પતિમૂલત્વરૂપપ્રતિપાસાદિ  
શતપાકસહસ્રપાકાદિતૈભ્યં વહ્નિવનસ્પત્યાધારમ્મં કરોતિ । અથ ફારિતાનુમોદિત  
ભૂતમવિષ્ણુકાલાદિમેદેન કર્મસમારમ્મરૂપા ક્રિયાવિશેષા અન્યેઽપ્યવગન્તભ્યાઃ ।

પ્રથમપરિશ્ચાતકર્મતયા સસારિણો जीवा कर्मसमारमरूपैः क्रियाविशेषै  
ससारे सर्वदिक्षु परिभ्रमन्तो विविधयोनिषु दुःखमेव प्राप्नुवन्तीति विज्ञाय भव्य  
कर्मसमारमरૂપા સકલસાવધાનિયાવિશેષાસ્ત્યાજ્યા इति भाव ॥ सू १० ॥

કર્મસમારમ્મરૂપાન્ ક્રિયાવિશેષાન્ અનુસ્મારયિતુ માગુક્તમપિ પુનઃ કથયતિ-  
'પયાવતિ' इत्यादि ।

સાતા હૈ, મદિરા આદિ का पान करता है, धनस्पति को अड़, छाल, पत्ता, रस बगैर  
निकालता है, शतपाक एव सहस्रपाक आदि तैला के लिए अग्नि और वनस्पति आदि का  
आरम्भ करता है । यहाँ कराना और अनुमोदन करना तथा भूत, मविष्य काल आदि के  
मेद से कर्मसमारमरूप अन्य क्रियाएँ भी समझ लेनी चाहिए ।

इस प्रकार अपरिश्चातपापकर्मा होने के कारण ससारी जीव कर्मसमारमरूप क्रियाओं  
द्वारा संसार में समस्त दिशाओं में भ्रमण करते हुए नाना योनियों में दुःख का ही अनुभव  
करते हैं । ऐसा समझकर भव्य जीवों को पापकर्मघनक सावध क्रियाओं का त्याग करना  
चाहिए ॥ सू० १० ॥

કર્મસમારમ્મરૂપ ક્રિયાવિશેષો का स्मरण कराने के लिए पूर्वोक्त अर्थ को फिर कहते  
हैं—“पयावति ” इत्यादि ।

મગઠવાની સુદિથી માસ ખાય છે, મદિરા વગેરેનું પાન કરે છે, વનસ્પતિના મૂળ, છાલ,  
પાદલ રસ વગેરે કાઢે છે શતપાક, સહસ્રપાક આદિ તૈલો માટે અગ્નિ અને વનસ્પતિ  
આદિનો આરંભ કરે છે આદિ કરાવવું અને અનુમોદન આપવું, તથા ભૂત ભવિષ્ય  
કાલ આદિ ના લેઠથી કર્મસમારભરૂપ અન્ય ક્રિયાઓ પણ સમજા લેવી જોઈએ.

આ પ્રમાણે અપરિશ્ચાતપાપકર્મો ધોવાના કારણે, સસારી જીવ કર્મસમારભરૂપ  
ક્રિયાઓદ્વારા સસારમાં, સમસ્ત દિશાઓમાં ભ્રમણ કરેલો અનેક યોનિઓમાં દુઃખ  
નોજી અનુભવ કરે છે આ પ્રમાણે સમજીને ભવ્ય જીવોએ પાપકર્મજનક સાવધ  
ક્રિયાઓનો ત્યાગ કરવો જોઈએ. (સૂ૦ ૧૦)

કર્મસમારભરૂપ ક્રિયાવિશેષોનું સ્મરણ કરાવવા માટે પૂર્વોક્ત અર્થને ફરી  
કહે છે —‘પયાવતિ’ इत्यादि

સકાશાન્મયા સાક્ષાત્ શ્રુત તદ્ બ્રવીમિ=કથયामि न तु स्वबुद्धिपरिकल्पितम् । यतः  
स्वबुद्ध्या कथने श्रुतज्ञानस्याविनयो भवति, किञ्च-छन्नस्थाना दृष्टयोप्यपूर्णा भवन्ति  
तस्माद् यथामगત્પ્રતિपादितमेव त्वां ब्रवीमि=उपदिशामीत्यर्थः । अत्र सङ्ग्रहगाथा-

“सुप्रणाणस्स अविणओ, परिहरणिज्जो सुहादिलासीहि ।

छउमत्याण दिट्ठी, पुण्णा णत्थि चि सुइय इण्णा ॥ ૧ ॥” इति ।

સાવધક્રિયાયા પદ્ધત્તીચનિકાય પ્રતિ શસ્ત્રવદુપધાતકતયા સાવધક્રિયા-  
સ્વરૂપબોધકસ્ય પ્રથમાધ્યયનસ્ય શસ્ત્રપરિજ્ઞા વ્યપદેશ ॥ ૧ ॥ સુ ૧૨ ॥

પ્રથમાધ્યયનસ્ય પ્રથમોદ્દેશ સમ્પૂર્ણ. ॥ ૧-૧ ॥

મુનિકા વિચરના જો તીર્થંકર ભગવાન્ મહાવીર કે સનિકટ મૈને સાક્ષાત્ સુના હૈ વહી  
'બ્રવીમિ'=મેં કહતા હૂં, अपनी बुद्धिसे कल्पित नहीं कहता । अपनी बुद्धिसे-तीर्थंकरकी  
बाणी की अपक्षा न रखते हुए कथन करने से श्रुतज्ञान का अविनय होता है । दूसरी बात  
यह है कि छन्नस्थ की दृष्टि भी अपूर्ण होती है, अतः भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्व ही मैं  
तुम से कहता हूँ । यहाँ यह सङ्ग्रहगाथा है —

“સુપ્પના અભિલાપી ભવ્યો કો શ્રુતજ્ઞાન કે અવિનય કા ત્યાગ કરના યાદિય છન્નસ્થો  
કો દષ્ટિ પૂર્ણ નહીં હોતી, એવા યહો 'ઇતિ' શબ્દ સે સૂચિત કિયા ગયા હૈ” ॥ ૧ ॥

સાવધ ક્રિયા પદ્ધત્તીચનિકાય કે લિપ્ શસ્ત્ર કે સમાન વાતક હૈ, અતઃ સાવધ  
ક્રિયાકે સ્વરૂપકે બોધક હિસ પ્રથમ અધ્યયન કા શસ્ત્રપરિજ્ઞા નામ હુઆ હૈ ॥ સુ ૧૨ ॥

પ્રથમ અધ્યયનકા પ્રથમ ઉદ્દેશ સમ્પૂર્ણ ॥ ૧-૧ ॥

વિચરતું જે તીર્થંકર ભગવાન મહાવીર પાસે એ સાક્ષાત્ સામ્યું છે, તેજ  
'બ્રવીમિ'=હું કહું છું, પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પિત કહેતો નથી. પોતાની બુદ્ધિથી—  
તીર્થંકરની વાણીની અપેક્ષા નહીં રાખીને કહીએ તો શ્રુતજ્ઞાનનો અવિનય થાય છે  
બીજી વાત એ છે કે—છન્નસ્થની દૃષ્ટિ પણ અપૂર્ણ હોય છે, તે કારણથી ભગવાન  
દ્વારા પ્રતિપાદન કરાએલું તત્ત્વજ્ઞ હું તમને કહું છું અહિં આ સંગ્રહગાથા છે—

“સુપ્પના અભિલાપી ભવ્યોએ શ્રુતજ્ઞાનનો અવિનયનો ત્યાગ કરવો જોઈએ  
છન્નસ્થોની દૃષ્ટિ પૂર્ણ હોય નહીં. એ પ્રમાણે 'ઇતિ' શબ્દથી સૂચના કરવામાં આવી છે”(૭)

સાવધ ક્રિયા પદ્ધત્તીચનિકાય માટે શસ્ત્ર (હથીઆર) સમાન વાતક છે એ કારણથી  
સાવધ ક્રિયાના સ્વરૂપનો બોધ કરાવનાર આ પ્રથમ-અધ્યયન છે, તેનું શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામ  
પ્રમું છે

નામક પ્રથમ અધ્યયનનો પ્રથમ ઉદ્દેશ

અ પાર્શ્વ ( ૧-૧ )

મૂલમ્—જસેતે લોગંસિ કમ્મસમારમા પરિણાયા મવતિ સે ૩ મુની  
પરિણાયકમ્મે—તિવેમિ ॥ સૂ. ૧૨ ॥

છાયા—યસ્ય એતે લોકે કર્મસમારમ્મા પરિજ્ઞાતા મવન્તિ સ ત્વહુ મુનિ  
'પરિજ્ઞાતકર્મા, ઇતિ ઘ્રવીમિ ॥ મુ. ૧૨ ॥

ટીકા—'યસ્ય' ઇતિ—લોકે યસ્ય=મન્યજીવસ્ય એતે=માયુક્તા કર્મસમારમ્મા =  
જ્ઞાનાવરણીયાદયવિષયકર્મણ સમુત્પાદકા, સાવધક્રિયાવિશેષા इत्यर्थ. પરિજ્ઞાતા  
મવન્તિ='એતે હિંસાદય સપ્તવિંશતિમજ્જન્ત' સાવધક્રિયાવિશેષા આત્મનઃ કર્મબન્ધે  
હેતુઓ મવન્તિ' इत्येवं ज्ञपरिज्ञया ज्ञाता मवन्ति स परिज्ञातकर्मा=ज्ञपरिज्ञया  
કર્મબન્ધનિવન્ધનત્વેન વિજ્ઞાય, પ્રત્યાગ્યાનપરિજ્ઞયા પરિત્યક્તસકલમાવધક્રિયાવિશેષો  
નિશ્ચયેન મુનિ=સર્વસાવધક્રિયોપરતિપ્રતિજ્ઞાવાન્ મવતીત્યર્થ ।

इति=आत्मतत्त्वस्वरूपनिरूपण, કર્મબન્ધહેતુભૂતસકલસાવધક્રિયાસ્વરૂપપ્રદર્શન,  
સાવધક્રિયાનિરૂપિતપુરસ્સર મુનેર્વિહરણ ચેતિ યત્ તીર્થક્લૃપ્ય મગવતો મહાવીરસ્ય

મુસાર્ય—લોક મેં જો કર્મસમારમ્મ જાન લેતા હૈ, વહ મુનિ નિશ્ચય સે પરિજ્ઞાતકર્મા  
હૈ, યેસા મેં કહતા હૈ ॥ સૂ. ૧૨ ॥

ટીકાર્ય—લોક મેં જિસ મન્ય કો પૂવોક્ત કર્મસમારમ્મ અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણીય આદિ  
જાઠ કર્મો કે ઉત્પાદક સાવધમ્યાપાર જ્ઞાત હો જાતે હૈ, અર્થાત્ જો પૂવોક્ત સત્ત્વેસ મગો  
જાહે હિંસાદિક ક્રિયાવિશેષો કો અપને કર્મબન્ધો કા કારણ સમજ લેતા હૈ, વહ પરિજ્ઞાત—કર્મા  
હૈ । જો જ-પરિજ્ઞા સે કર્મબન્ધ કા કારણ સમજ કર પ્રત્યાગ્યાન પરિજ્ઞા સે સમ્પૂર્ણ સાવધ ક્રિયા  
જાકા જાગ કરતા હૈ વહ નિશ્ચય સે પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ હૈ ।

'તિ વેમિ' ઇતિ—ઈસ પ્રકાર કા આત્મા કે સ્વરૂપ કા નિરૂપણ, કર્મબન્ધ કે  
કારણમૂલ સમસ્ત સાવધ વ્યાપારો કે સ્વરૂપ કા પ્રદર્શન, ઔર સાવધ ક્રિયા કો નિરૂપિત્વક

મુસાર્ય—જોકમાં જે કર્મસમારમ્મને બાણી લે છે, તે મુનિ નિશ્ચયથી પરિજ્ઞાત  
કર્મા છે જો પ્રમાણે હું કહું છું (સૂ. ૧૨)

ટીકાર્ય—જોકમાં જે બાળ્ય છવને પૂવોક્ત કર્મસમારમ્મ અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણીય  
આદિ આઠ કર્મોને ઉત્પાદક સાવધ વ્યાપાર બાણવામા આવી જાય છે અર્થાત્ જે પૂર્વે  
કહેલા સત્તાવીસ બોધવાળા હિંસાદિક્રિયાવિશેષોને પોતાના કર્મબંધનું કારણ સમજ લે છે  
તે પરિજ્ઞાતકર્મા છે જે જ-પરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ સમજીને પ્રત્યાગ્યાન-પરિ  
જ્ઞાથી સમ્પૂર્ણ સાવધ ક્રિયાઓને ત્યાગ કરે છે તે નિશ્ચયથી પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ છે

તિ વેમિ'—इति=आ प्रमाणे आत्माना स्वरूपनु निरूपण, કર્મબંધના કારણમૂલ  
સમસ્ત સાવધ વ્યાપારોના સ્વરૂપનું પ્રદર્શન, અને સાવધ ક્રિયાની

સકાશાન્મયા સાક્ષાત્ શ્રુત તદ્ બ્રવીમિ=કથયામિ ન સુ સ્વબુદ્ધિપરિકલ્પિતમ્ । યત્ સ્વબુદ્ધયા કથને શ્રુતજ્ઞાનસ્યાવિનયો ભવતિ, કિન્ચ-છદ્મસ્થાના દૃષ્ટોપ્યપૂર્ણા ભવન્તિ તસ્માદ્ યયામગત્તમત્તિપાદિતમેવ ત્વાં બ્રવીમિ=ઉપદિશામીત્યર્થઃ । અત્ર સદ્મહાગાયા-  
“સુખાણસ્સ અવિણ્ણો, પન્દિરણિજ્જો સુદાહિલાસીર્હિ ।

છઉમત્યાણ દિટ્ઠી, પુણ્ણા ણત્થિ ત્તિ સૂચય ઇચ્છા ॥ ૧ ॥ ” ઇતિ ।

સાવધક્રિયાયા પદ્મજીવનિકાય પ્રતિ શસ્ત્રધદુષ્પાતકતયા સાવધક્રિયા-  
સ્વરૂપબોધકસ્ય પ્રથમાધ્યયનસ્ય શસ્ત્રપરિજ્ઞા વ્યપદેશ\* । ॥ સુ ૧૨ ॥

પ્રથમાધ્યયનસ્ય પ્રથમોદ્દેશ\* સમ્પૂર્ણ\* ॥ ૧-૧ ॥

મુનિકા વિચરના જો તીર્થંકર મગવાન્ મહાવીર કે સન્નિકટ મૈને સાક્ષાત્ સુના હૈ વહી ‘બ્રવીમિ’=મેં કહતા હૂં, અપની બુદ્ધિસે કલ્પિત નહીં કહતા । અપની બુદ્ધિસે-તીર્થંકરકી વાણી કી અપેક્ષા ન રસ્તે હુપ્ કથન કરને સે શ્રુતજ્ઞાન કા અવિનય હોતા હૈ । દૂસરી વાત યહ હૈ કિ છદ્મસ્થ કી દષ્ટિ મી અપૂર્ણ હોતી હૈ, અત મગવાન્ દ્વારા પ્રતિપાદિત તત્ત્વ હી મૈ તુમ સે કહતા હૂં । યહૌ યહ સદ્મહાગાયા હૈ —

“સુખ કે અભિલાષી ભવ્યો કો શ્રુતજ્ઞાન કે અવિનય કા ત્યાગ કરના ચાહિપ્ છદ્મસ્થો કી દષ્ટિ પૂર્ણ નહીં હોતી, એસા યહૌ ‘ઇતિ’ શબ્દ સે સૂચિત કિયા ગયા હૈ ” ॥ ૧ ॥

સાવધ ક્રિયા પદ્મજીવનિકાય કે લિપ્ શસ્ત્ર કે સમાન વાતક હૈ, અત સાવધ ક્રિયાકે સ્વરૂપકે બોધક હસ પ્રથમ અધ્યયન કા શસ્ત્રપરિજ્ઞા નામ હુઆ હૈ ॥ સુ ૧૨ ॥

પ્રથમ અધ્યયનકા પ્રથમ ઉદ્દેશ સમ્પૂર્ણ ॥ ૧-૧ ॥

વિચરવું જે તીર્થંકર ભગવાન મહાવીર પાસે એ સાક્ષાત્ સામન્થું છે, તેજ ‘બ્રવીમિ’=હું કહું છું, પોતાની બુદ્ધિથી કલ્પિત કહેતો નથી. પોતાની બુદ્ધિથી—તીર્થંકરની વાણીની અપેક્ષા નહીં રાખીને કહીએ તો શ્રુતજ્ઞાનનો અવિનય થાય છે બીજી વાત એ છે કે—છદ્મસ્થની દષ્ટિ પણ અપૂર્ણ હોય છે, તે કારણથી ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદન કરાએલું તત્ત્વજ્ઞ હું તમને કહું છું અહિં આ સદ્મહાગાયા છે —

“સુખના અભિલાષી ભવ્યોએ શ્રુતજ્ઞાનના અવિનયનો ત્યાગ કરવો બોધ એ છદ્મસ્થની દષ્ટિ પૂર્ણ હોય નહીં. એ પ્રમાણે ‘ઇતિ’ શબ્દથી સૂચના કરવામાં આવી છે”(૭)

સાવધ ક્રિયા પદ્મજીવનિકાય માટે શસ્ત્ર (હથીઆર) સમાન વાતક છે એ કારણથી સાવધ ક્રિયાના સ્વરૂપનો બોધ કરાવનાર આ પ્રથમ-અધ્યયન છે, તેનું શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામ પડયું છે

નામક પ્રથમ અધ્યયનનો પ્રથમ ઉદ્દેશ

સ પૂર્ણ (૧-૧)

અથ પ્રથમાધ્યયનસ્ય

દ્વિતીયોદ્દેશઃ ।

પ્રથમોદ્દેશે સામાન્યરૂપેનાત્મનઃ સ્વરૂપં નિરૂપિતમ્, તસ્યૈવ વિશેષરૂપેણ  
બોધનાય દ્વિતીયોદ્દેશઃ પ્રારમ્ભ્યતે, તસ્યેદમાદિસૂત્રમ્—‘અદ્વૈ’ ઇત્યાદિ ।

તથા—ઇહ ‘પૂર્વમવસ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ જ્ઞાન ન મવતિ કેનાશ્ચિ’—વિતિ  
પ્રથમોદ્દેશે નિગદિતમ્, અથ તત્ કય ન મવતીતિ જિજ્ઞાસાયામુચ્યતે—‘અદ્વૈ’  
ઇત્યાદિ ।

પ્રથમ અધ્યયનકા

દ્વિતીય ઉદ્દેશ ॥

પહેલે ઉદ્દેશ મેં સામાન્યરૂપે આત્મા કે સ્વરૂપ કા નિરૂપણ ક્રિયા ગયા છે । અવ  
વિશેષરૂપ સે આત્મા કા સ્વરૂપ સમજાને કે ઉદ્દેશ્ય સે દૂસરા ઉદ્દેશ આરમ્ભ ક્રિયા જાતા છે,  
અસકા યહ અદિસૂત્ર છે—‘અદ્વૈ’ ઇત્યાદિ ।

તથા—પહેલે ઉદ્દેશમેં જતલ્લયા ગયા થા કિ—કિન્હી—કિન્હી જીવો કો પૂર્વ મવ કા  
સ્મરણરૂપ વિશિષ્ટ જ્ઞાન નહીં હોતા । વહ જ્ઞાન કયો નહીં હોતા ? પેસી જિજ્ઞાસા હોને પર  
કહતે હૈ—‘અદ્વૈ’ ઇત્યાદિ ।

પહેલા અધ્યયનના - બીજો ઉદ્દેશ.

પહેલા ઉદ્દેશમાં સામાન્યરૂપથી આત્માના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું  
છે હવે વિશેષરૂપથી આત્માનું સ્વરૂપ સમજાવવાના ઉદ્દેશથી બીજા ઉદ્દેશના આરમ્ભ  
કરવામાં આવે છે, તેનું બા અદિસૂત્ર છે—‘અદ્વૈ’ ઇત્યાદિ

તથા—પહેલા ઉદ્દેશમાં જતાવવામાં આવ્યું છે કે—કેાઈ—કેાઈ જીવોને પૂર્વ  
મવના સ્મરણરૂપ વિશિષ્ટ—ઉત્તમ અસાધારણ જ્ઞાન થતું નથી. તે જ્ઞાન કેમ થતું નથી ?  
એવી જિજ્ઞાસા થવાથી કહે છે—‘અદ્વૈ’ ઇત્યાદિ.

તથા-અયમાત્મા પરિગ્રાતકર્મતયા સકલસાવધક્રિયાનિવૃત્ત સન્ મુનિ  
મૈત્રીત્યુપદિષ્ટમ્, અથ ય' પુનરપરિગ્રાતકર્મા સ સ્વલુ કીદૃશો મત્રીત્યાકાઢ્ઢ્યા-  
પામાદ-‘અદૃ’ ઇત્યાદિ ।

અદૃ લોપ પરિગ્રુણે દુસ્મવોહે અવિગ્રાણપ, અસ્તિ લોપ પવ્વહિપ તત્ય તત્ય  
પુદો પાસ, આતુરા અસ્મિ પરિગ્રાવેતિ ॥૬ ૧॥

છાયા—

આર્ત લોક. પરિગ્રુણ ( પરિગ્રીર્ણ ) દુ સવોધ. અવિગ્રાણક અસ્મિન્ લોકે  
મવ્યથિતે તત્ર તત્ર પૃથક્ પથ, આતુરા અસ્મિન્ પરિગ્રાપયન્તિ ॥ ૬ ૧ ॥

તથા-યહ કહા જા જુકા હૈ કિ આત્મા કર્મો કા સ્વરૂપ સમક્ષ કર, ઔર સમસ્ત  
સાવધ વ્યાપારો સે વિરત હો કર મુનિ હો જાતા હૈ, મગર જિસન કર્મો કા સ્વરૂપ નહીં  
સમક્ષ હૈ, ડસ આત્મા કી કૈસી સ્થિતિ હોતી હૈ ? પેસી જિગ્રાસા હોને પર કહતે હૈ—  
‘અદૃ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—( કર્મવધ કા સ્વરૂપ ન સમક્ષને વાછા ) આર્ત લોક પરિગ્રીર્ણ હૈ—અસમર્થ  
હૈ, વોધ પાને મે અગ્રાહ હૈ, અજ્ઞાન હૈ, ઇસ લોક મેં વ્યથિત હૈ, પૃથક્-પૃથક્ જીવો કો  
વેલો । બે આતુર-અજ્ઞાની-હોકર જીવોકો પરિગ્રાપ પહુંચાતે હૈ ॥ ૧ ॥

તથા-એ પ્રમાણે ઠહી ચૂઠયા છીએ ઠ આત્મા ઠમોના સ્વરૂપને સમજીને અને  
સમસ્ત સાવધ વ્યાપારોથી વિરત (ફર) થઈને મુનિ થઈ જાય છે, પણ જેઓ ઠમોના  
સ્વરૂપને સમજ્યા નથી તે આત્માની સ્થિતિ કેવી થાય છે ? એવી છજાસા થવાથી  
ઠહે છે —‘અદૃ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—(કર્મવધના સ્વરૂપને નહીં સમજવાવાળા) આત્મલોક પરિગ્રુણ છે  
અસમર્થ છે જાણ પામવામા અશક્ત છે અજ્ઞાન છે આ લોકમા દુ ખી છે વૃદ્ધા-મૃદા  
છવાને જુઓ તે આતુર-અજ્ઞાની થઈને છવાને પરિગ્રાપ પહોચાડે છે (૧)

## ટીકા-

લોકઃ=પૃથિવ્યાદિપદ્મજીવનિકાય. સ્વત્વ જ્ઞાનાવરણીયાદિવિષકર્મજન્ય  
 હેતુમૂલસાવધક્રિયાવિશેષસ્વરૂપાનવબોધેન આર્ત. = વિષયસુસ્વત્વજ્ઞાન્યાકુલો ભવતિ ।  
 અત એવ પરિચૂનઃ=શારીરમાનસાવિદુઃસ્વાનુસતત્ત્વ । યદ્વા-પરિજીર્ણ=શ્વાપોષશ્મિક  
 માત્રામાત્રેન મોક્ષમાર્ગમપ્રવૃત્તાવસમ., અત એવ-દુ સંબોધ=બ્રહ્મદત્તચરણકરણ  
 શિક્ષાં ગ્રહીતુમસમર્થ, અત એવ અવિજ્ઞાનકઃ=સમ્યગ્જ્ઞાનરહિતો ભવતિ, અત એવ  
 પૂર્વમવસ્મૃતિરૂપમપિ વિચિત્રં જ્ઞાન ન મયતીતિ ભાવઃ । 'પદ્મ' इति पदेन शिष्येति  
 संबोधनपदस्याध्याहार—हे शिष्य ! प्रव्ययिते=पूर्वोपाजितकर्मोदयेन दृष्ट्वा

ટીકાર્થ-લોક અર્થાત્ પૃથિવીકાય આદિ છ પ્રકાર કે જીવ, જ્ઞાના  
 વરણ આદિ આઠ પ્રકાર કે કર્મો કે વ્યવકે કારણમૂલ સાવચ વ્યાપારો કા સ્વરૂપ ન  
 સમજકર આર્ત હોતે હૈ-વિષયસુસ્વ કી વૃત્તા સે વ્યાકુલ હોતે હૈ । અતએવ વે શારીરિક ઔર  
 માનસિક દુઃસ્તો કી આગ સે સસ્ર હૈ । અથવા શ્વાપોષશ્મિક માત્રો કે અમાત્ર કે કારણ  
 મોક્ષમાર્ગ મેં પ્રવૃત્તિ નહીં કર સકતે । इसी कारण वे ब्रह्मदत्त की तरह चरण और  
 કારણ કી શિક્ષા કેને મેં મી અસમર્થ હૈ । ऐसे जीव अविज्ञानक अर्थात् सम्यग्ज्ञान  
 સે રહિત હોતે હૈ, इसी कारण उन्हें पूर्व मव की स्मृतिरूप विशिष्ट (वातिस्मरण) ज्ञान  
 મી નહીં હોતા ।

‘પદ્મ’ (વેલો) इस पद के द्वारा शिष्य के संबोधन का अभ्याहार किया  
 गया है । हे शिष्य ! पूर्वोपाजित कर्मों के उदय से मूल, व्यास, प्राप्त, इष्टविशेष,

ટીકાર્થ-લોક અર્થાત્ પૃથ્વીકાય આદિ છ પ્રકારના જીવસમૂહ જ્ઞાનાવરણ  
 આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધના કારણે સાવચ વ્યાપારોના સ્વરૂપને નહિ સમજીને  
 આર્ત થાય છે વિષય સુખની વૃત્ત્વાથી વ્યાકુલ થાય છે તે કારણથી તે શારીરિક  
 અને માનસિક દુઃખોની આગથી સતત-ખૂણતપેલા છે અથવા શ્વાપોષશ્મિક માત્રોના  
 અમાત્રના કારણે મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃત્તિ કરી શકતા નથી એ કારણથી તે બ્રહ્મદત્તની  
 પદે ચરણ અને કણ્ઠની શિક્ષા લેવામાં પણ અસમર્થ છે, એવા જીવ અવિજ્ઞાનક  
 અર્થાત્ સમ્યગ્જ્ઞાનથી રહિત હોય છે આ કારણથી તેને પૂર્વજીવની સ્મૃતિરૂપ વિશિષ્ટ  
 (વાતિસ્મરણ) જ્ઞાન પણ થતુ નથી

‘પદ્મ’ (વેલો-જીવો) આ પદથી ‘શિષ્યના સંબોધનનું અધ્યાહાર કરવામાં  
 આવ્યું છે; હે શિષ્ય ! પૂર્વોપાજિત કર્મોના ઉદયથી મૂળ, વ્યાસ, પ્રાપ્ત, ઈષ્ટવિશેષ,

વિપાસા-ત્રાસ પ્રિયવિયોગા-સધિ-વ્યાધિ-પરિપીઢિતે, અસ્મિન્ લોકે તત્ર-તત્ર=સર્વ  
પ્રાણિણુ પૃથક્=પ્રત્યેક પદ્ય । આતુરા.=વિપયસુખતૃષ્ણાવ્યાકુલા અજ્ઞાનિન. અસ્મિન્  
લોકે પરિતાપયન્તિ=પૃથિવ્યાદિજીવાન્ પરિપીઢયન્તિ, इति पश्येत्यर्थः ।

યદ્વા-લોક.-પદ્મજીવનિકાય', આર્ત=પરિપીઢિતઃ અસ્તીતિ શેષ ।  
કુત' કારણાદ્ આર્ત. ? इत्यत आह-'परिजुण्णे' इति । यत्. परिजीर्णं=मोक्ष  
मार्गमवृत्तावप्तमः । कय परिजीर्ण. ? इत्यत आह-'दुस्सवोहे' इति, यतो  
दु'सवोष ब्रह्मदत्तवधरणकरणशिक्षा ग्रहीतुमसमर्थ । दु सवोष कुतोऽस्ती ?-  
त्यत आह-यत्.-अविज्ञानक =विज्ञानरहितः, पूर्वमवार्जितघोरतरहिंसादिदुरितकर्म

માનસિક પીઢા, શારીરિક પીઢા આદિ સે પીઢિત હસ લોક મેં જહાં પૃથક્-પૃથક્ પ્રાણિયો  
કો દેસો । વે વિપયસુખ કે લિપ્ બ્યાકુલ એવ જ્ઞાનહીન હો કર સસાર મેં સતાપ મોગ રહે  
હેં । વે પૃથિવીકાય આદિ જીવોં કો પીઢા પહુચાતે હેં (યહ દેસો) ।

અથવા-પદ્મજીવનિકાયરૂપ યહ લોક આર્ત હૈ-પીઢા મુગ્ધ રહા હૈ । યહ  
કિસ કારણ સે આર્ત હૈ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-वह परिजीर्ण अर्थात् मोक्षमार्ग  
में प्रवृत्ति करने में असमर्थ है । यह परिजीर्ण क्यों है ? इस का समाधान यह है कि-  
वह दु सवोष है अर्थात् ब्रह्मदत्त की भांति चरण-करण की शिक्षा ग्रहण करने में अशक्त  
है । वह दु सवोष क्यों है ? इस का कारण यह है कि-वह ज्ञानहीन है अर्थात्  
पूर्वम में उपार्जन किये हुए घोरतर हिंसा आदि पापकर्मोंके वश हो कर एव अभ्यन्त

માનસિક પીઢા, શારીરિક પીઢા, આદિથી પીઢિત આ લોકમા બધા-ત્યાં બૂઢા-બૂઢા  
પ્રાણીઓને જુઓ, તે વિપયસુખ માટે બ્યાકુલ એવ જ્ઞાનહીન થઈને સસારમા  
સતાપ ભોગવી રહ્યા છે તે પૃથિવીકાય આદિ જીવોને પીઢા પહોચાડે છે તે જુઓ.

અથવા પદ્મજીવનિકાયરૂપ આ લોક આર્ત છે-પીઢા ભોગવી રહ્યા છે તે જુ  
કારણથી આર્ત છે ? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર એ છે કે-તે પરિજીર્ણ અર્થાત્ મોક્ષ માર્ગમા  
પ્રવૃત્તિ કરવાને અસમર્થ છે તે પરિજીર્ણ શા માટે છે ? તેનું સમાધાન એ છે કે-તે  
દુ સવોષ છે, અર્થાત્ બ્રહ્મદત્તની પ્રમાણે ચરણ-કરણની શિક્ષા ગ્રહણ કરવામા અશક્ત  
છે તે દુ સવોષ શા માટે છે ? તેનું કારણ એ છે કે-તે જ્ઞાનહીન છે અર્થાત્ પૂર્વ  
ભવમાં ઉપાર્જન કરેલા ઘોરતર હિંસા આદિ પાપકર્મોને વશ થઈને એમ-એ પ્રમાણે



## ટીકા-

લોક. = પૃથિવ્યાદિપદ્ધત્તીવનિકાયઃ સ્વતુ જ્ઞાનાવરણીયાદિવિકર્મભવન્  
 હેતુભૂતસાધક્રિયાવિશેષસ્વરૂપાનુવોધેન આર્ત. = વિષયસુસ્વતુષ્ણાવ્યાકુલો ભવતિ ।  
 અત એવ પરિઘ્ન. = શારીરમાનસાદિદુઃસ્વાનલસંતપ્તઃ । યદ્વા-પરિજીર્ણઃ = સાયોપશમિક  
 માવામાષેન મોક્ષમાર્ગપ્રવૃત્તાવસ્રમ, અત એવ-દુ સવોધઃ = પ્રહ્લદત્તચરણચરણ  
 શિષ્તાં પ્રહીતુમસમર્થ, અત એવ અવિજ્ઞાનક = સમ્યગ્જ્ઞાનરહિતો ભવતિ, અત એવ  
 પૂર્વમવસ્થુતિરૂપમપિ વિશિષ્ટ જ્ઞાન ન ભવતીતિ ભાવ. । 'પદ્ય' ઇતિ પદેન શિષ્યેતિ  
 સવોધનપદસ્યાધ્યાહારઃ—હે શિષ્ય ! મન્યયિતે = પૂર્વોપાર્જિતકર્મોદયેન ધ્રુવા

ટીકાર્થ—લોક અર્થાત્ પૃથ્વીકાય આદિ છઠ્ઠ પ્રકાર કે જીવ, જ્ઞાના-  
 વરણ આદિ આઠ પ્રકાર કે કર્મો કે કન્યકે કારણભૂત સાધક વ્યાપારો કા સ્વરૂપ ન  
 સમજકર આર્ત હોતે હૈ—વિષયમુક્ત કી તુષ્ણા સે વ્યાકુલ હોતે હૈ । અતએવ વે શારીરિક ઔર  
 માનસિક દુઃસ્વો કી આગ સે સંતપ્ત હૈ । અથવા ક્ષાયોપશમિક માવો કે અમાવ કે કારણ  
 મોક્ષમાર્ગ મેં પ્રવૃત્તિ નહીં કર સકતે । હસી કારણ વે પ્રહ્લદત્ત કી તરહ ચરણ ઔર  
 કારણ કી શિક્ષા છેને મેં મી અસમર્થ હૈ । એસે જીવ અવિજ્ઞાનક અર્થાત્ સમ્યગ્જ્ઞાન  
 સે રહિત હોતે હૈ, હસી કારણ ઝહેં પૂર્વ મવ કી સ્થુતિરૂપ વિશિષ્ટ (આતિસ્મરણ) જ્ઞાન  
 મી નહીં હોત્તા ।

'પદ્ય' (વેલો) હસ પદ કે દ્વારા શિષ્ય કે સવોધન કા અધ્યાહાર કિયા  
 ગયા હૈ । હે શિષ્ય ! પૂર્વોપાર્જિત કર્મો કે ઉદય સે મૂલ, વ્યાસ, ત્રાસ, ઇષ્ટવિયોગ,

ટીકાર્થ—લોક અર્થાત્ પૃથ્વીકાય આદિ છ પ્રકારના જીવસમૂહ જ્ઞાનાવરણ  
 આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધના કારણે સાધક વ્યાપારોના સ્વરૂપને નહિ સમજીને  
 આર્ત કાય છે વિષય મુક્તની તુષ્ણાથી વ્યાકુલ થાય છે તે કારણથી તે શારીરિક  
 અને માનસિક દુઃખોની આગથી સંતપ્ત-પ્રભતપેલા છે અથવા ક્ષાયોપશમિક સાધકોના  
 અભાવના કારણે મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃત્તિ કરી શકતા નથી. જો કારણથી તે પ્રહ્લદત્તની  
 જેટલે ચરણ અને કરણની શિક્ષા લેવામાં પણ અસમર્થ છે, એવા જીવ અવિજ્ઞાનક  
 અર્થાત્ સમ્યગ્જ્ઞાનથી રહિત હોય છે આ કારણથી તેને પૂર્વભવની સ્થુતિરૂપ વિશિષ્ટ  
 (આતિસ્મરણ) જ્ઞાન પણ થતુ નથી

'પદ્ય' (વેલો-ભુવો) આ પદથી 'શિષ્યના સમ્બોધનનું અધ્યાહાર કરવામાં  
 આવ્યું છે; હે શિષ્ય ! પૂર્વોપાર્જિત કર્મોના ઉદયથી મૂળ, ત્રાસ, ત્રાસ, ઇષ્ટવિયોગ,

માતુરાણાં હૃદય મનાગપિ ન દ્રવતિ; પ્રત્યુત મૃગાન્ શુધિતવ્યાઘ્ર ડવ તે પૃથિવ્યાદિ-  
પ્રાણિગણ પ્રણિગ્નન્તિ, હિતિ સમ્યચયતિ ॥ સુ. ૧ ॥

તત્ર પદ્મજીવનિકાયરૂપે લોકે પ્રાયમ્યાત્ પૃથિવીકાયસ્યાધિકારમાહ—' સતિ  
પાણા ' ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સતિ પાણા પુદો સિયા લજ્જમાણા પુદો પાસ । અણગારામો—તિ એ  
પવ્યમાણા જમિણ વિસ્તૃત્ત્વેર્હિ સત્થેર્હિ પુદવિકમ્મસમારમેણ પુદવિસત્થ સમારમમાણા  
અણે અણેગસ્ત્વે પાણે વિર્હિસહ ॥ સુ. ૨ ॥

છાયા—

સન્તિ પ્રાણા\* પૃથક્ ચિતા\* લજ્જમાનાઃ પૃથક્ પથ્ય । અનગારાઃ સ્મ ઇતિ એકે  
પ્રવદમાના\*, યદિદ વિરૂપરૂપેઃ શ્લૈ પૃથિવીર્કર્મસમારમ્મેણ પૃથિવીશક્ત સમારમ્મમાણા  
અન્યાન્ અનેકરૂપાન્ પ્રાણાન્ વિર્હિસન્તિ ॥ ૨ ॥

મન મેં દયા નહીં આતી, પ્રાણુત મૂલા વાધ જૈસે મૃગોં કો મારતા હૈ ડસી પ્રકાર વિપય-  
શોણપ લેગ ડન જીવોં કોં હિંસા કરતે હૈ ॥ સુ. ૧ ॥

પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક મેં પૃથ્વીકાય પહણા હૈ, અત પૃથ્વીકાય કા અધિકાર  
કહતે હૈ—' સન્તિ પાણા ' ઇત્યાદિ ।

મૂકાર્થ—પૃથ્વી મેં અલગ—અલગ પ્રાણી હૈં । પૃથ્વીકાય કે આરંભ કી નિવૃત્તિ કરને  
વાલોં ( સુનિયોં ) કો પૃથક્ સમજો । ' હમ અનગાર હૈં ' હસ પ્રકાર કહનેવાલે દ્રવ્યશ્રિંગી નાના  
પ્રકાર કે પૃથ્વીશક્તોં સે પૃથ્વીર્કર્મ કા સમારમ્મ કરકે પૃથ્વીશક્ત કા સમારમ્મ કરતે હુપ  
અનેક પ્રકાર કે અન્ય પ્રાણિયોં કી મીં હિંસા કરતે હૈં ॥ સુ. ૨ ॥

તેના મનમાં દયા આવતી નથી, પરંતુ બૂઝ્યો વાધ જેમ મૃગોને મારે છે, તે પ્રમાણે  
વિષય-શોણપ દોષ તે જીવોની હિંસા કરે છે (૧)

પદ્મજીવનિકાયરૂપ દોષમાં પૃથ્વીકાય પ્રથમ છે, તે કારણથી પૃથ્વીકાયનો  
અધિકાર કહે છે—' સતિ પાણા ' ઇત્યાદિ.

મૂકાર્થ—પૃથ્વીમાં અલગ—અલગ પ્રાણી છે પૃથ્વીકાયના આરંભની નિવૃત્તિ  
કરવાવાળા ( સુનિયો ) ને બૂઝા બહો. પરંતુ ' અમે અનગાર—સાધુ સુનિ છીએ ' આ  
પ્રકાર કહેવાવાળા દ્રવ્યશ્રિંગી ( વેષ કારણ કરનારા ) નાના-પ્રકારના શસ્ત્રોથી પૃથ્વી  
કર્મોના સમારંભ કરીને પૃથ્વીશક્તને આરંભ કરતા થકા અનેક પ્રકારના અન્ય  
પ્રાણીઓની પણ હિંસા કરે છે (૨)

શ્રુતઃ પ્રગાદમિધ્યાત્વમોહનીયોદયાત્ પ્રગાદમોહાક્રાન્ત ઇત્યર્થઃ । એવં સ્વકર્મવશતઃ  
 રિપીઢિતમપિ નિતાન્તદયનીયમપિ રાગદ્રેષમોહાન્ધા' પરિતાપયન્તીત્યાહ-અસ્મિન્  
 લોકે' ઇત્યાદિ । અસ્ય વ્યાખ્યા પૂર્વવત્ ચોધ્યા ।

‘પશ્ય’ ઇતિ પદેન માગત્તા માં સંયોજ્ય ચયોપદિષ્ટં તથા કથયમામિતિ  
 જમ્પુસ્વામિનં શ્રીસુધર્મા સ્વામી પ્રતિચોષયતિ ।

‘પ્રવ્યયિતે’ ઇતિ વિશેષણપદ ચ સ્વસ્વકર્મણેવ નાનાવિધવેદના  
 સમન્વિતાનામપિ પૃથિવ્યાદિપદ્મજીવનિકાયાનાં પરિપીઢને વિષયસુખતૃષ્ણાક્રાન્તાનાં

ગાદે મિધ્યાત્વમોહનીય કે ઉદય સે મોહયુક્ત હૈ । ઇસ પ્રકાર અપને કર્મો સે પીઢિત ઔર  
 જત્યન્ત દયનીય પૃથ્વીકામ આદિ બીવોં કો રાગ-દ્રેષ ઔર મોહ સે બન્ધે પુરુષ પીઢા  
 પહુચાતે હૈં । ‘અસ્મિન્ લોકે’-(ઇસ લોક મેં) ઇત્યાદિ કી વ્યાખ્યા પહેલે કે સમાન  
 સમસ લેના ચાહિય

‘પશ્ય’ (દેસો) ઇસ પદ સે શ્રીસુધર્મા સ્વામી જમ્પુસ્વામી સે કહતે હૈં કિ-મુમે  
 સંબોધન કરકે મગવાન્ ને વૈસા ઉપદેશ દિયા હૈ વૈસા હી મેં કહતા હૈં ।

‘પ્રવ્યયિતે’ પદ સે યહ સૂચિત કિયા ગયા હૈ કિ-બેચારે વદ્કાય કે બીજ  
 અપને-અપને કર્મોં કે કારણ નાના પ્રકાર કી વેદનાઈં મોગ હી રહે હૈં, ઇસ પર મી  
 વિષય-મુક્ત કે હોહુષ ભોગ રન્હેં ઔર સતાતે હૈં । રન્હેં લુ સ્તી દેસ કર મી ઇનકે

જત્યન્ત ગાદા મિધ્યાત્વમોહનીયના ઉદયથી મોહયુક્ત છે એ પ્રકારે પોતાના કર્મોથી  
 પીઢિત અને જત્યન્ત ઇત્યાપાત્ર પૃથ્વીકામ આદિ ભવોને રાગ-દ્રેષ અને મોહથી બંધ  
 થયેલ પુરુષ પીઢા પહોંચાટે છે ‘અસ્મિન્ લોકે’ (આ લોકમાં) ઇત્યાદિની વ્યાખ્યા  
 પ્રથમ પ્રમાણે સમજી લેવી જોઈએ

‘પશ્ય’ (જુઓ) આ પદથી શ્રી સુધર્મા સ્વામી જમ્પુસ્વામીને કહે છે કે -  
 અને સંબોધન કરીને ભગવાને જેવો ઉપદેશ આપ્યો છે તેવાજ હું કહું છું

‘પ્રવ્યયિતે’ પદથી એ સૂચિત કરવામાં આવે છે કે-બિચારા વદ્કાયના ભવ  
 પોત-પોતાના કર્મોના કારણે નાના પ્રકારની વેદનાઓ ભોગવીજ શક્યા છે તે ઉપરાંત  
 પણ વિષય-મુખના લોહુષ માણસો તેને વધારે સતાવે છે તેને ક્રાંતી બોધને પણ

માતુરાણાં હૃદય મનાગપિ ન દ્રવતિ, પ્રત્યુત મૃગાન્ ધ્રુધિતવ્યાગ્ર ડવ તે પૃથિવ્યાદિ-  
પ્રાણિગણ પ્રણિગ્નન્તિ, શ્ચિતિ સમૂચયતિ ॥ સૂ. ૧ ॥

તત્ર પદ્મજીવનિકાયરૂપે લોકે પ્રાયમ્યાત્ પૃથિવીકાયસ્યાધિકારમાહ—‘સતિ  
પાણા’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સતિ પાણા પુદો સિયા લજ્જમાણા પુદો પાસ । અણગારામો—ત્તિ એગે  
પવયમાણા જમિણ ત્રિસ્કરુવેર્હિ સત્યેર્હિ પુદવિકમ્મસમારમેણ પુદવિસત્ય સમારમમાણા  
અણે અણેગરુવે પાણે વિર્હિસઙ્ગ ॥ સૂ. ૨ ॥

છાયા—

સન્તિ પ્રાણાં પૃથક્ પ્રિતાં લજ્જમાનાં પૃથક્ પશ્ય । અનગારાં સ્મ શ્ચિતિ એકે  
પ્રવદમાના, યદિદ્ વિરૂપરૂપે શૈલે પૃથિવીર્કર્મસમારમ્મેણ પૃથિવીશક્ત સમારમ્મમાણા  
અન્યાન્ અનેકરૂપાન્ પ્રાણાન્ વિર્હિસન્તિ ॥ ૨ ॥

મન મેં દયા નહીં આતી, પ્રત્યુત મૂલા વાષ જૈસે મૃગોં કો મારતા હૈં ઉસી પ્રકાર વિષય-  
છોછપ છોગ ઉન જીવોં કી હિંસા કરતે હૈં ॥ સૂ. ૧ ॥

પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક મેં પૃથ્વીકાય પહલા હૈ, અત પૃથ્વીકાય કા અધિકાર  
કરતે હૈં—‘સન્તિ પાણા’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—પૃથ્વી મેં અલગ-અલગ પ્રાણી હૈં । પૃથ્વીકાય કે આરંભ કી નિવૃત્તિ કરને  
વાલોં (મુનિયોં) કો પૃથક્ સમજો । ‘હમ અનગારાં હૈં’ ઇસ પ્રકાર કહનેવાલે દ્રવ્યલિંગી નાના  
પ્રકાર કે પૃથ્વીશક્તોં સે પૃથ્વીર્કર્મ કા સમારમ્મ કરકે પૃથ્વીશક્ત કા સમારમ્મ કરતે હુપ  
અનેક પ્રકાર કે અય પ્રાણિયોં કી મી હિંસા કરતે હૈં ॥ સૂ. ૨ ॥

તેના મનમાં દયા આવતી નથી, પરંતુ ભૂખ્યો વાષ જેમ મૃગોને મારે છે, તે પ્રમાણે  
વિષય-લાછપ હોઈ તે જીવોની હિંસા કરે છે (૧)

પદ્મજીવનિકાયરૂપ હોઈમા પૃથ્વીકાય પ્રથમ છે, તે કારણથી પૃથ્વીકાયનો  
અધિકાર કહે છે—‘સતિ પાણા’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પૃથ્વીમા અલગ-અલગ પ્રાણી છે પૃથ્વીકાયના આરંભની નિવૃત્તિ  
કરવાવાળા (મુનિયો)ને ભૂદા બજો. પરંતુ ‘અમે અનગારાં-સાધુ મુનિ છીએ’ આ  
પ્રકારનું કહેવાવાળા દ્રવ્યલિંગી (વેષ ધારણ કરનારા) નાના-પ્રકારના શસ્ત્રોથી પૃથ્વી  
કર્મોનો સમારંભ કરીને પૃથ્વીશક્તનો આરંભ કરતા થકા અનેક પ્રકારના અન્ય  
પ્રાણીઓની પણ હિંસા કરે છે (૨)

## ટીકા—

પ્રાણાઃ=પ્રાણાઃ સન્તિ ચેપામિત્યર્થઃચ્ચત્યય, પ્રાણિનિ ઇત્યર્થઃ । પૃથક્=મિશ્રમિશ્રતયા મિશ્રિતાઃ=સ્વસ્વશરીરાધિષ્ઠિતાઃ સન્તિ । યદ્વા-મિશ્રિતા-પૃથિવ્યામિશ્રિતાઃ=અહ્નુલાસહ્યાતમાગમમાણસ્વશરીરાવગાહિનઃ પૃથિવ્યામવસ્થિતા' પૃથિવીકાયિકા', પ્રાણાઃ=જીવા', પૃથક્=પૃથગ્માત્રેણ સન્તિ, ઇતિ પદય । શ્વેદમુક્ત મવતિ-પૃથિવ્યા એકદેવતારૂપત્વ મન્યમાના મ્રાન્તા', ઘસ્તુતસ્તુ પ્રત્યેકશરીરરૂપાણામસહ્યાત પૃથિવીકાયિકજીવાના સમુદાય પૃથિવી । એવ ચ પૃથિવી સચિત્તાઽનેકજીવાધિષ્ઠિતા ચેતિ ।

અથ દ્વારમદર્શનેન ઘસ્તુસ્વરૂપ સમ્યગ્ નિર્ણયતે તસ્માદ્ દ્વારણિ

ટીકાર્થ—પ્રાણ કા અર્થ હૈ પ્રાણી । પ્રાણી પૃથક્-પૃથક્ આશ્રિત હૈ અર્થાત્ અલગ-અલગ પ્રાણી અપને-અપને શરીર મૈ રહતે હૈ । અથવા 'મિશ્રિત' કા અર્થ હૈ-પૃથ્વી મૈ આશ્રિત । અહ્નુલ કે અસહ્યાતમે માગ અવગાહના વાલે જીવ પૃથ્વી-આશ્રિત હૈ, એસે પૃથ્વીકાય કે જીવ પૃથક્-પૃથક્ હૈ । યહ દેલો । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ પૃથ્વી કો એક હી દેવતા માનને વાલે હોમ મ્રમ મૈ હૈ । વાસ્તવ મૈ પૃથ્વી પ્રત્યેક શરીર વાલે અસહ્યાત પૃથ્વીકાયિક જીવો કા પિંડ હૈ । ફ્સી પ્રકાર પૃથ્વી સચિત્ત હૈ ઓર અનેક જીવો સે અધિષ્ઠિત હૈ ।

દ્વારો કે પ્રવર્ણન સે વસ્તુ કા સ્વરૂપ સ્પષ્ટ હો જાતા હૈ, અતઃ યહો દ્વાર

ટીકાર્થ—પ્રાણનો અથ પ્રાણી છે પ્રાણી પૃથક્-પૃથક્ આશ્રિત છે, અર્થાત્ અલગ-અલગ પ્રાણી પોતા-પોતાના શરીરમાં રહે છે અથવા 'મિશ્રિત' નો અર્થ છે 'પૃથ્વીમાં આશ્રિત' આગલના અસહ્યાતમાં ભાગની અવગાહનાવાળા એ એવ પૃથ્વી-આશ્રિત છે એવા પૃથ્વીકાયના એવ બહા-બહા છે તે જુઓ.

તાત્પર્ય એ છે કે —પૃથ્વીને એકજ દેવતા માનવાવાળા લોક મ્રમમાં છે વાસ્તવિક રીતે તો પૃથ્વી પ્રત્યેક શરીરવાળા અસહ્યાત પૃથ્વીકાયિક એવોનો પિંડ છે આ પ્રમાણે પૃથ્વી સચિત્ત છે, અને અનેક એવોથી અધિષ્ઠિત છે

દર્શના પ્રકરણથી વસ્તુનું સ્વરૂપ સ્પષ્ટ થઈ જાય છે; એટલે અહિં દ્વાર બતા

પ્રદર્શ્યન્તે-(૧) લક્ષણ, (૨) પ્રરૂપણા, (૩) પરિમાણ, (૪) વધ, (૫) શાસ્ત્ર, (૬) ઉપમોગ, (૭) વેદના, (૮) નિવૃત્તિચેત્યર્થો । ઉક્તચ્ચ—

“લક્ષણ ૧ પ્રરૂપણા ૨ સ્વલુ, પરિમાણ ૩ વહ ૪ તહેવ સત્ય ૫ ચ । ઉપમોગ ૬ વેયણાવિ ૭ ય, નિવૃત્તી ૮ અદ્વ દારાઝ ॥ ૧ ॥”

(૧) લક્ષણદ્વારમ્—

નનુ પૃથિવી સચેતનાઽસ્તીત્યત્ર કિં પ્રમાણમ્ ? ઉચ્યતે-અનુમાનમેવ તાવત્પ્રથમ ગૃહાણ । પૃથિવી સચેતના તદધિષ્ઠિતશરીરોપલબ્ધે, ગવાશ્વાદિવત્ ।

વતલાયે જાતે હૈં—(૧) લક્ષણ, (૨) પ્રરૂપણા, (૩) પરિમાણ, (૪) વધ, (૫) શાસ્ત્ર, (૬) ઉપમોગ, (૭) વેદના, ઓર (૮) નિવૃત્તિ । યે આઠ દ્વાર હૈં । કહા મી હૈ—

“લક્ષણ ૧ પ્રરૂપણા ૨ સ્વલુ પરિમાણ ૩ વહ ૪ તહેવ સત્ય ચ ૫ । ઉપમોગ ૬ વેયણાવિ ૭ ય, નિવૃત્તી ૮ અદ્વ દારાઝ ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।

લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, વધ, શાસ્ત્ર, ઉપમોગ, વેદના ઓર નિવૃત્તિ, યે આઠ દ્વાર કહે ગયે હૈ । ॥ ૧ ॥

શુદ્ધા—પૃથ્વી સજીવ હૈ હસ વિપયમેં કયા પ્રમાણ હૈ ?

સમાધાન—પહેલે અનુમાન પ્રમાણ હી લીઝિય—પૃથ્વી સચેતન હૈ, કયોં કિ ઉસમેં ચેતના સ અધિષ્ઠિત શરીર કી ઉપલબ્ધિ હોતી હૈ, ગાય ઓર અશ્વ કે સમાન ।

વવામાં આવે છે કે—(૧) લક્ષણ, (૨) પ્રરૂપણા, (૩) પરિમાણ, (૪) વધ, (૫) શાસ્ત્ર, (૬) ઉપમોગ, (૭) વેદના અને (૮) નિવૃત્તિ, આ આઠ દ્વાર છે કહ્યું પણ છે કે—

“લક્ષણ ૧ પ્રરૂપણા ૨ સ્વલુ, પરિમાણ ૩ વહ ૪ તહેવ સત્ય ચ ૫ । ઉપમોગ ૬ વેયણાવિ ૭ ય, નિવૃત્તી ૮ અદ્વ દારાઝ ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।

“લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, વધ, શાસ્ત્ર, ઉપમોગ વેદના અને નિવૃત્તિ આ આઠ દ્વાર કહ્યા છે ” (૧)

(૧) લક્ષણદ્વાર—

શ્રી કાઃ—પૃથ્વી સજીવ છે, કો વિષયમાં શું પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—પ્રથમ અનુમાન પ્રમાણને લઈએ—પૃથ્વી સચેતન છે કારણ કે તેમા ચેતનાથી અધિષ્ઠિત શરીરની ઉપલબ્ધિ થાય છે ગાય અને અશ્વની સમાન, પ્ર. આ ૫૪

ફિજી-જીવસ્ય યાનિ લક્ષણાનિ તાનિ પૃથિવીકાયસ્ય સન્તિ, કેવલમગ્રસ્થ્યાનર્દિના-  
મર્દર્શનાવરણકર્મોદયાદુપયોગશક્તિર્જ્ઞાનર્શનરૂપા નાસ્તિ વ્યક્તા ઇત્યવ્યક્તરૂપેણોપયોગો  
વર્ષતે । તથૌદારિક-તન્મિશ્ર-કાર્મણશરીરાત્મકઃ કાયયોગો વૃદ્ધપૃષ્ઠિયત્ તસ્યાલમ્બનાય  
વર્ષતે । તથા માનસિકચિન્તાવિશેષવસ્તુસ્મા આત્મપરિણામવિશેષરૂપા અધ્યવસાય-  
સ્તથ્ર સન્તિ । તથા સાકારોપયોગાન્તર્ગતમતિશ્રુતરૂપમજ્ઞાનદ્વય ચ તથાસ્તિ ।  
તથા સ્પર્શનેન્દ્રિયમાત્રસ્ય સદ્ભાવાદચ્છુર્દર્શન ચ । તથા સેવાર્તસંહનનં, ચન્દ્રમસૂર  
સંસ્થાનં ઘાસ્તિ । તથા-મિથ્યાત્વાદિસદ્માવાદવિધિકર્મબન્ધોઽપિ । કૃષ્ણનીલ-

દૂસરી વાત યહ હૈ ફિ-જીવ કે જો લક્ષણ હૈં જે સવ પૃથ્વી મેં પાવે જાતે હૈં । હાં,  
પૃથ્વીકાય મેં સ્થ્યાનર્દિનામક દર્શનાવરણ કર્મ કે ઉદય સે જ્ઞાન-દર્શનરૂપ ઉપયોગશક્તિ  
પ્રકટરૂપ મેં નહીં હૈ । પૃથ્વી મેં અવ્યક્તરૂપ સે ઉપયોગ રહતા હૈ ।

તથા ઔદારિક ઔદારિકમિશ્ર ઔર કાર્મણ શરીરરૂપ કાયયોગ વૃદ્ધપુરુષ કી છકડીકે  
સમાન ડસ કે આલમ્બન કે હિપ વિષમાન હૈ । પૃથ્વી મેં આત્મા કે પરિણામ માનસિકચિન્તા  
રૂપ અધ્યવસાય મી મૌજૂદ હૈ ।

પૃથ્વી મેં સાકાર-ઉપયોગ કે અન્તર્ગત મતિ ઔર ઘત-અજ્ઞાન મી પાવે  
જાતે હૈં । અકેલી સ્પર્શનેન્દ્રિય હોને સે અચ્છુવશન મી હૈ । ઔર સેવાર્ત સંહનન,  
ઈવં ચન્દ્રમસૂર સંસ્થાન મી હૈ । મિથ્યાત્વ આદિ કારણ વિષમાન હોને સે આઠ પ્રકારના  
કર્મબન્ધ હોતા હૈ । કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત ઔર તેજસ જે વાર હેસ્થાઈ મી પૃથ્વીકાય મેં હૈં ।

બીજી વાત આ છે કે-લવના જે લક્ષણ છે તે સર્વ પૃથ્વીમાં જોવામાં આવે છે  
હાં પૃથ્વીકાયમાં સ્થ્યાનર્દિનામક દર્શનાવરણીય કર્મના ઉદયથી જ્ઞાન-દર્શનરૂપ ઉપ  
યોગશક્તિ પ્રકટ રૂપમાં નથી. પૃથ્વીમાં અવ્યક્ત રૂપમાં ઉપયોગ રહે છે

તથા-ઔદારિક ઔદારિકમિશ્ર અને કાર્મણ શરીરરૂપ કાયયોગ વૃદ્ધપુરુષની  
છકડી સમાન તેના આલમ્બન માટે વિષમાન છે. પૃથ્વીમાં આત્માના પરિણામ,  
માનસિકચિન્તારૂપ અધ્યવસાય પણ મૌજૂદ છે

પૃથ્વીમાં સાકાર ઉપયોગના અન્તર્ગત મતિ અને શ્રુત અજ્ઞાન પણ જોવામાં  
આવે છે એકલી સ્પર્શનેન્દ્રિય હોવાથી અચ્છુવશન પણ છે અને સેવાર્ત સંહનન,  
જે પ્રમાણે ચન્દ્ર-મસૂર સંસ્થાન પણ છે

મિથ્યાત્વ આદિ કારણ વિષમાન હોવાથી આઠ પ્રકારનાં કર્મબન્ધ પણ થાય છે  
કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત, અને તેજસ આ ચાર હેસ્થાઓ પણ પૃથ્વીકાયમાં છે

કાપોતૈજસલેશ્યાચતુષ્ટય, મુક્ષમૃથિવીકાયસ્યાગ્લેશ્યાત્રયમ્ । તથા-આહારાદિ-  
સન્ધ્યા અપિ । તથા-વેદનાકપાયમારણાન્તિકમમુદ્રાતાઽસન્ધિત્વ, નપુસકવેદઃ । પર્યાપ્તિ-  
ચતુષ્ટયમ્ । તથા પૃથિવીકાયજીવા નિરન્તર મતતમુચ્છૈસન્તિ નિશ્વસન્તિ ચ ।  
પ્રમુખપયોગાદિશ્વાસોચ્છ્વાસાન્તજીવલક્ષણ સમન્વિત્ત્વાન્મનુષ્યવત્પૃથિવીસચિત્તાઽસ્તીતિ  
સિદ્ધમ્ ।

નનુ-ઉપયોગાદીનિ જીવલક્ષણાનિ પૃથિવીકાયજીવેષુ કચિન્નોપલમ્બન્તે, તથા  
સત્ત્વિ-અસિદ્ધેનૈવ ઉપયોગાદિજીવલક્ષણેન કથં પૃથિવ્યા સચિત્તત્વ સાધ્યતે ? ।

ઉચ્યતે-પૃથિવીકાયજીવેષુમાસન્તુમુખ્યક્તાન્યુપયોગલક્ષણાનિ, અન્યક્તાનિ

સ્વપ્ન પૃથ્વીકાય મેં આદિ કી તોન છેડ્યાપેં હેં । આહાર આદિ સજ્ઞાપેં મી ઉસમેં હેં ।

પૃથ્વી મેં વેદના કપાય ધૌર મારણાન્તિક સમુદ્રાત હેં, અસજીપન હૈ, નપુસક વેદ હૈ  
ધૌર ચાર પર્યાપ્તિયૌ મી હેં, પૃથ્વીકાય કે જીવ નિરન્તર શ્વાસોચ્છ્વાસ છેતે રહતે હેં । હસ પ્રકાર  
ઉપયોગ સે લગાકર શ્વાસોચ્છ્વાસ પર્યન્ત જીવ કે લક્ષણો સે યુક્ત હોને કે કારણ પૃથ્વી મનુષ્ય  
કે સમાન સચિત્ત હૈ, યહ વાત સિદ્ધ હુહ ।

શુદ્ધ-જીવ કે લક્ષણ ઉપયોગ વગેરે પૃથ્વીકાય કે જીવોં મેં કહીં મી ઉપલબ્ધ નહીં  
હોતે । એસી સ્થિતિ મેં વહીં ઉપયોગ આદિ જીવ કે લક્ષણોં કા હોના અસિદ્ધ હૈ । અસિદ્ધ  
ક્યન સે પૃથ્વી કી સચિત્તતા કિસ પ્રકાર સિદ્ધ હો સક્તી હૈ ?

સમાધાન-પૃથ્વીકાય કે જીવોં મેં મલીમૌતિ વ્યક્ત ઉપયોગ આદિ લક્ષણ મહે

મુક્ષમૃથ્વીકાયમા આદિની ત્રણ લેશ્યાઓ છે આહાર આદિ સજ્ઞાઓ પણ તેમા છે

પૃથ્વીમાં વેદના, કપાય અને મારણાન્તિકસમુદ્રાત છે અસજીપણું છે નપુસક  
વેદ છે અને ચાર પર્યાપ્તિઓ પણ છે પૃથ્વીકાયના જીવ નિરન્તર શ્વાસોચ્છ્વાસ છેતા  
રહે છે આ પ્રમાણે ઉપયોગથી લઈને શ્વાસોચ્છ્વાસ પર્યન્ત જીવના લક્ષણોથી યુક્ત  
હોવાથી પૃથ્વી મનુષ્ય પ્રમાણે સચિત્ત છે તે વાત સિદ્ધ થઈ

શંકા-જીવનું લક્ષણ ઉપયોગ વગેરે પૃથિવીકાયના જીવોમાં કોઈ સ્થળે ઉપ  
લબ્ધ થતા નથી એવી સ્થિતિમાં બધા ઉપયોગ આદિ જીવના લક્ષણોનું હોવું તે  
નામ્ની નથી. એ અસિદ્ધ કથનથી પૃથ્વીની સચિત્તતા કેવી રીતે સિદ્ધ થઈ શકે છે ?

સમાધાન-પૃથિવીકાયના જીવોમાં સારી રીતે (સ્પષ્ટ) વ્યક્ત ઉપયોગ આદિ



ફિલ્લ-જીવસ્ય યાનિ લક્ષણાનિ તાનિ પૃથિવીકાયમ્ય સન્તિ, કેવલમત્રસ્થાનર્દિના-  
મર્દશનાવરણકર્મોદયાદુપયોગશક્તિજ્ઞાનર્દશનરૂપા નાસ્તિ વ્યક્તા ઇત્યન્યત્કરૂપેણોપયોગો  
વર્તેતે । તથૌદારિક-તન્મિશ્ર-કાર્મણશરીરાત્મક કાપયોગો વૃદ્ધપટ્ટિવત્ તસ્યાલમ્બનાય  
વર્તેતે । તથા માનસિકચિન્તાવિશેષવત્સૂક્ષ્મા આત્મપરિણામવિશેષરૂપા અધ્યવસાય  
સ્ત્ર સન્તિ । તથા સાકારોપયોગાન્તર્ગતમતિશ્રુતરૂપમજ્ઞાનદ્વય ચ તન્નાસ્તિ ।  
તથા સ્પર્શનેન્દ્રિયમાત્રસ્ય સમ્પ્રાવાદચકુર્દર્શન ચ । તથા સેવાર્તસહનન, ચન્દ્રમસૂર  
સસ્થાન વાસ્તિ । તથા-મિથ્યાત્વાદિસદ્માયાદદવિષકર્મવન્ધોઽપિ । કૃષ્ણનીલ

દુસરી વાત યહ છે કે-જીવ કે જો લક્ષણ છે તે સર્વ પૃથ્વી મેં પાવે જાતે છે । હાં,  
પૃથ્વીકાય મેં સ્થાનર્દિનામક દર્શનાવરણ કર્મ કે ઉદય સે જ્ઞાન-દર્શનરૂપ ઉપયોગશક્તિ  
પ્રકટરૂપ મેં નથી છે । પૃથ્વી મેં અવ્યક્તરૂપ સે ઉપયોગ રહતા છે ।

તથા ઔદારિક ઔદારિકમિશ્ર ઔર કાર્મણ શરીરરૂપ કાયયોગ વૃદ્ધપુરુષ કી સકલકે  
સમાન ડસ કે આલમ્બન કે સ્થિત વિષમાન છે । પૃથ્વી મેં આત્મા કે પરિણામ માનસિકચિન્તા  
રૂપ અધ્યવસાય મી મૌજૂદ છે ।

પૃથ્વી મેં સાકાર-ઉપયોગ કે અન્તર્ગત મતિ ઔર અત-અજ્ઞાન મી પાવે  
જાતે છે । અકેલી સ્પર્શનેન્દ્રિય હોને સે અચક્ષુર્દશન મી છે । ઔર સેવાર્ત સહનન,  
પર્વ ચન્દ્રમસૂર સસ્થાન મી છે । મિથ્યાત્વ આદિ કારણ વિષમાન હોને સે આઠ પ્રકારના  
કર્મવન્ધ હોતા છે । કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત ઔર તેજસ ચે વાર કેસ્યાર્થે મી પૃથ્વીકાય મેં છે ।

બીજી વાત આ છે કે-લપના બે લક્ષણ છે તે સર્વ પૃથ્વીમાં બેવામાં આવે છે  
હાં પૃથ્વીકાયમાં સ્થાનર્દિનામક દર્શનાવરણીય કર્મના ઉદયથી જ્ઞાન-દર્શનરૂપ ઉપ  
યોગશક્તિ પ્રકટ રૂપમાં નથી પૃથ્વીમાં અવ્યક્ત રૂપમાં ઉપયોગ રહે છે

તથા-ઔદારિક ઔદારિકમિશ્ર અને કાર્મણ શરીરરૂપ કાયયોગ વૃદ્ધપુરુષની  
સકલ સમાન તેના આલમ્બન માટે વિષમાન છે પૃથ્વીમાં આત્માના પરિણામ,  
માનસિકચિન્તારૂપ અધ્યવસાય પણ મૌજૂદ છે

પૃથ્વીમાં સાકાર ઉપયોગના અન્તર્ગત મતિ અને અજ્ઞાન પણ બેવામાં  
આવે છે એકલી સ્પર્શનેન્દ્રિય હોવાથી અચક્ષુર્દશન પણ છે અને સેવાર્ત સહનન,  
એ પ્રમાણે ચન્દ્ર-મસૂર સસ્થાન પણ છે

મિથ્યાત્વ આદિ કારણ વિષમાન હોવાથી આઠ પ્રકારનાં કર્મવન્ધ પણ થાય છે  
કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત, અને તેજસ આ વાર કેસ્યાર્થે પણ પૃથ્વીકાયમાં છે

एव च मनुष्यवद् ग्रणस्थानभरणरूपस्य चेतनालक्षणस्य पृथिवीकायेऽपि सत्त्वात् ।

यद्वा-पृથिवी સજીવા, દૈનિકઘર્ષણોપચયસદર્શનાત્, ચરણતલવત્, તથા-ચરણતલ ઘૂપ્યતે પુપ્પતિ ચ, તદ્વત્ પૃથિવ્યપિ પ્રત્યહ ઘૂપ્યતે, ઉપચીયતે ચ, તસ્માત્તસ્યા સજીવત્વમ્ ।

अथवा-विद्रुमपापाणिरूपा पृथिवी सचेतना, काठिन्ये सत्यपि वृद्धपादि-दर्शनात्, शरीरस्थितास्थ्यादिवत् । तद्यथा-शरीरस्थितमस्थ्यादिक कमठपृष्ठकठिन सदपि चित्तवदनुभूयमानमुपचय च गच्छत् सदृश्यते । एव विद्रुमशिलाघात्मिकाया

इस प्रकार मनुष्य के समान घाव का भरना भी चेतना का एक लक्षण है, और वह पृथ्वी कायमें विद्यमान है ।

अथवा-पृथ्वी સજીવ છે, ક્યાં કે ઉસ મેં પ્રતિદિન ઘિસના ઓર ઉપચય હોના દેસ્તા જાતા છે, પૈર કે તલ કી તરહ । તાત્પર્ય યહ છે કે-જૈસે પૈર કા તહમાગ ઘિસતા છે ઓર ખિર પુછ હો જાતા છે, ઉસી પ્રકાર પૃથિવી મી પ્રતિદિન ઘિસતી છે ઓર મરજાતી છે । અત પૃથિવી મી સજીવ છે ।

अथवा-मृगा, पाषाण आदि रूप पृथ्वी सजीव है, क्यों कि उसमें कठिनता होने पर भी वृद्धि आदि देखी जाती है, जैसे शरीर को हड्डी आदि । तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर की हड्डी आदि कछुवे की पीठ की माँति कठोर होने पर भी सचित्त माद्वम होती है और उपचय को प्राप्त होती हुई दिम्बाई देती है, इसी प्रकार मृगा-शिला

તે પ્રમાણે મનુષ્યના સમાન ઘાવનું ભરાઈ જવું તે પણ એક ચેતનાનું લક્ષણ છે, અને તે પૃથ્વીકાયમાં વિદ્યમાન છે

अथवा-पृथिवी સજીવ છે, કારણ કે તેમાં પ્રતિદિન ઘસાવું અને વધવું તે જોવામાં આવે છે, પગના તળીઆની પ્રમાણે તાત્પર્ય એ છે કે-જેમ પગના તળી આનો ભાગ ઘસાય છે અને ફરી પાછા પુછ થઈ જાય છે તે પ્રમાણે પૃથિવી પણ પ્રતિદિન ઘસાય છે અને ફરી પાછી ભરાઈ જાય છે, તેથી પૃથિવી પણ સજીવ છે

अथवा-मुंगा (परवाण) पाषाण आदिद्वय पृथ्वी सजिव છે કેમકે-તેમાં કઠિનતા હોવા છતાંય પણ વૃદ્ધિ વજેરે જોવામાં આવે છે, જેવી રીતે શરીરના હાડકા આદિ તાત્પર્ય એ છે કે-જેવી રીતે શરીરના હાડકા આદિ કાચળાની પીઠ જેવા કઠોર હોવા છતાંય પણ સચિત્ત માદ્વમ પડે છે, અને વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થતા હોય તેમ દેખાય છે, તે

તુ તપ્ર સન્ત્યેવ, યથા—અસ્પચિન્મનુષ્યસ્ય અત્યુત્કટમદિરાતિપાનજનિત-  
પિષોદ્યમૂર્છિતસ્ય ચેતનાયા અવ્યક્તત્વેઽપિ ન તસ્યાચિત્તરૂપતા વિજ્ઞાયતે, एवं  
પૃથિવીકાયજીવેષ્વવ્યક્તચેતના સમવતિ ।

ન આવ્યક્તચેતનાઽભિવ્યક્તમુચ્છવાસાદિકં મધ્યમૂર્છિતમનુષ્યસ્ય સચિત્ત-  
સ્વમાવેદયતિ, इह तु न किञ्चिच्चेतनालक्षणं लक्ष्यत इति याच्यम् ।

યથા મનુષ્યશરીરે સતસ્યાન માસાદિરિક્તમપિ પચાત્સતાદિનિશ્ચૈતૌ સ્વયં  
ચિયતે, તથૈવ સ્વનિત સ્વનિમૂમ્યાદિક સજાતીયાવયવૈચિયમાર્ગ દ્રશ્યતે ।

હી ન હો, મગર અવ્યક્તરૂપ મેં તો વિષમાન હૈં હી । જૈસે કોઈ મનુષ્ય સ્વૂં નસૈલી મદિરાકા  
ઢાંટકર પાન કર છે ઓર પિત્ત કે પ્રકોપ સે મૂર્છિત હો જાય તો ઇસકો મી ચેતના અવ્યક્ત  
હો જાતી હૈ, ફિર મી ઇસે અચિત્ત (અચેતન) નહીં કહા જા સકતા । ઇતી પ્રકાર પૃથ્વીકામ  
કે જીવોં મેં અવ્યક્ત ચેતના હૈ ।

સૂક્ત—અવ્યક્ત ચેતના કે બોધક ઉર્ધ્વાસ વગેરહ મધ્યમૂર્છિત મનુષ્ય કી સચિત્તા  
કો પ્રકટ કરતે હૈં, મગર યહો (પૃથ્વીમેં) તો ચેતના કા કોઈ મી લક્ષણ નહીં દિસાઈ દેતા ।  
પેસી સ્થિતિ મેં પૃથ્વી કી સચેતનતા કિસ પ્રકાર માની જાય ?

સમાધાન—જૈસે—મનુષ્ય કે શરીર મેં ઘાવ હો જાતા હૈ તો ઇસ સ્થાન  
મેં માસ જાદિ નહીં રહતા । પચાત્ ઘાવ મિટ જાને પર વહ મર જાતા હૈ । ઇતી પ્રકાર  
સોચી હુઈ સ્નાન જાદિ કી મૂમિ અપને સજાતીય અવયવોં સે મરજાતી દિસાઈ દેતી હૈ ।

લક્ષણ બહે ન હોય, પરન્તુ અવ્યક્ત રૂપમા તો વિષમાન છેજ જેમ ઢાંઠ મનુષ્ય  
પૂંખ પેટભરીને ઘણા નીસાવાળી મહિરાનું પાન કરી છે અને પિત્તના પ્રકોપથી  
મૂર્છિત થઈ જાય તો તેની પણ ચેતના અવ્યક્ત થઈ જાય છે, એટલે તેને  
અચિત્ત કહી શકતા નથી. એ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયના જીવોમા અવ્યક્ત ચેતના છે

શ્લોક—અવ્યક્ત ચેતનાના બોધક તરીકે ઉર્ધ્વાસ વગેરે મનુષ્યની સચિત્તાને  
પ્રગટ કરે છે પરન્તુ અહિં (પૃથ્વીમાં) તો ચેતનાનું કોઈ પણ લક્ષણ જોવામા આવતું  
નથી. એવી સ્થિતિમાં પૃથ્વીની સચેતનતા કેવી રીતે માની શકાય ?

સમાધાન—જેવી રીતે મનુષ્યના શરીરમા ઘાવ—જેંટો જખમ થઈ જાય છે તો  
તે સ્થાનમાં માસ જાદિ રહેતું નથી. પાછળથી ઘાવ રૂબારૂં જતા તે માંસથી ભરાઈ જાય  
છે એ પ્રમાણે જોદેલી જાણની મૂમિ પાતાના સજાતીય અવયવોથી ભરાઈ જાય છે

एवं च मनुष्यवद् ग्रणस्थानभरणरूपस्य चेतनालक्षणस्य पृथिवीकायेऽपि सत्त्वात् ।

यद्वा-પૃથિવી સજીવા, દૈનિકઘર્ષણોપચયસદર્શનાત્, ચરણતલ્લવત્, તથા-ચરણતલ ઘૂપ્યતે પુપ્યતિ ચ, તદ્વત્ પૃથિવ્યપિ પ્રત્યહ ઘૂપ્યતે, ઉપચીયતે ચ; તસ્માત્તસ્યા. સજીવત્વમ્ ।

अथवा-विद्रुमपापाणिरूपा पृथिवी सचेतना, काठिन्ये सत्यपि वृद्ध्यादि-दर्शनात्, शरीरस्थितास्थ्यादिवत् । तद्यथा-शरीरस्थितमस्थ्यादिक कमठपृष्ठकठिन सदपि चित्तवदनुभूयमानमुपचय च गच्छत् सदृश्यते । एव विद्रुमशिलाद्यात्मिकाया

इस प्रकार मनुष्य के समान घाव का भरना भी चेतना का एक लक्षण है, और वह पृथ्वी कायमें विद्यमान है ।

अथवा-પૃથ્વી સજીવ છે, ક્યાં કે ઉસ મેં પ્રતિદિન ઘિસના ઔર ઉપચય હોના દેખા જાતા છે, પૈર કે તલ કી તરહ । તાત્પર્ય યહ છે કે-જૈસે પૈર કા તલ્લમાગ ઘિસતા છે ઔર ફિર પુષ્ટ હો જાતા છે, ઁસી પ્રકાર પૃથિવી મી પ્રતિદિન ઘિસતી છે ઔર ભરજાતી છે । અતઃ પૃથિવી મી સજીવ છે ।

અથવા-મૂળા, પાપાણ આદિ રૂપ પૃથ્વી સજીવ છે, ક્યોં કે ઉસમેં કઠિનતા હોને પર મી વૃદ્ધિ આદિ દેસ્તી જાતી છે, જૈસે શરીર કો હઢ્ઠી આદિ । તાત્પર્ય યહ છે કે જૈસે શરીર કી હઢ્ઠી આદિ કનુલ્લે કી પીઠ કી માંતિ કઠોર હોને પર મી સચિત્ત માદ્દમ હોતી છે ઔર ઉપચય કો પ્રાપ્ત હોતી હુઈ વિસ્તાર્ફ દેતી છે, ઁસી પ્રકાર મૂળા-શિલા

તે પ્રમાણે મનુષ્યના સમાન ઘાવનું ભરાઈ જવું તે પણ એક ચેતનાનું લક્ષણ છે, અને તે પૃથ્વીકાયમાં વિદ્યમાન છે

અથવા-પૃથિવી સજીવ છે, કારણ કે તેમાં પ્રતિદિન ઘસાવું અને વધવું તે જોવામાં આવે છે, પગના તળીઆની પ્રમાણે તાત્પર્ય એ છે કે-જેમ પગના તળી આનો ભાગ ઘસાય છે અને ફરી પાછા પુષ્ટ થઈ જાય છે તે પ્રમાણે પૃથિવી પણ પ્રતિદિન ઘસાય છે અને ફરી પાછી ભરાઈ જાય છે, તેથી પૃથિવી પણ સજીવ છે

અથવા-મુંગા (પરવાળા) પાપાણ આદિરૂપ પૃથ્વી સજીવ છે કમકે-તેમાં કઠિનતા હોવા છતાંય પણ વૃદ્ધિ વગેરે જોવામાં આવે છે, જેવી રીતે શરીરના હાડકાં આદિ તાત્પર્ય એ છે કે-જેવી રીતે શરીરના હાડકા આદિ કાયબાની પીઠ જેવા કઠોર હોવા છતાંય પણ સચિત્ત માદ્દમ પડે છે, અને વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થતા હોય તેમ દેખાય છે, તે

પૃથિવ્યા કાઠિન્યે સત્યપિ વૃદ્ધ્યાદિકં પ્રત્યક્ષ દૃશ્યતે તસ્માત્તસ્યા. સચેતનત્વમ્ ।

અય ચ-વિદ્રુમાદ્યાત્મિકા પૃથિવી સચિત્તા, છેદાદી તત્ત્વજાતીયઘાતૃત્વપિ-  
દર્શનાત્, અર્થોઽઙ્કુરવત્ । યદ્યાથા-અર્થસોઽઙ્કુરે છિન્નેઽપિ પુનસ્તત્સમાન પદ્મકુરઃ  
પ્રાદુર્ભવતિ, एष विद्रुमशिलाद्यात्मिकायाः पृथिव्या खन्यादौ छेदऽपि तत्सजातीय  
घातुमिस्त्रદ्रिक्तमागः परिपूर्यते, તસ્માત્ સિદ્ધં પૃથિવ્યા સચિત્તત્વમ્ ।

કિન્ચ - યયા સાસ્નાવિપાળાઘનયત્રસઘાતાનાં ગોમદિપ્યાદિશરીરાણાં છિન્ન  
મિશ્નો-સ્ત્વિપ્ત-સ્પૃષ્ટ-દૃષ્ટ-દ્રવ્યત્વેન જીવશરીરત્વં, તથૈવ પૃથિવ્યાદીનાં પ્રત્યક્ષદર્શ

આદિરૂપ પૃથ્વી મેં, કઠિનતા હોને પર વૃદ્ધિ આદિ પ્રત્યક્ષ દિસાઈ દેતા હૈ । इस कारण  
पृथिवी सचित है ।

અથવા-મૂગા આદિ પૃથ્વી સચિત્ત હૈ, ક્યોં કિં ઉસકા છેદન હોને પર વહાં ડસી કી  
સજાતીય ધાતુ ઉત્પન્ન હોસી હૈ, અર્થ (મસ્તા) કે ંકુર કે સમાન, ઘેસે અર્થ કે ંકુર  
પકવાર કાટ દેને પર મી ફિર વહાં ડસી આતિ કે ંકુર ઉત્પન્ન હો બાતે હૈં, ડસી  
પ્રકાર મૂગા-શિલા આદિ રૂપ પૃથિવી કા સ્થાન આદિ મેં છેદન કર દેને પર મી ડસી કી  
સજાતીય ધાતુઓ સે યહ સ્થાલી સ્થાન મર જાતા હૈ, અત પૃથિવી કી સચિત્તતા  
સિદ્ધ હુઈ ।

और भी छीजिए—जैसे सास्ना (गायके गले में छटकने वाली चमड़ी) सींग आदि  
अवयवों का समुदायरूप गाय, भैंस आदि के शरीर छिन्न, भिन्न, उत्क्षिप्त, स्पृष्ट,  
दृष्ट और द्रव्यत्व के कारण जीव के शरीर हैं, इसी प्रकार पृथिवी आदि में प्रत्यक्ष से

પ્રમાણે મૂગા (પરવાળી) શિલા આદિ રૂપ પૃથ્વીમા કઠિનતા હોવા છતાંય પણ વૃદ્ધિ  
આદિ પ્રત્યક્ષ બોવામા આવે છે, આ કારણથી પૃથ્વી સચિત્ત છે

અથવા-મૂગા (પરવાળી) આદિ પૃથ્વી સચિત્ત છે કેમકે-તેનું છેદન થવાથી  
ત્યાં તેની સજાતીય ધાતુ, ઉત્પન્ન થાય છે, અર્થ (મસ્તા)ના ંકુર પ્રમાણે, જેમ  
અર્થના ંકુર એકવાર કાપી નાખવા છતાંય પણ ફરીથી ત્યાં તે બાતિને ંકુર  
ઉત્પન્ન થાય છે, તે પ્રમાણે મૂગા-શિલા આદિરૂપ પૃથ્વિનું ખાણુ આદિમા છેદન  
કરી દેવા છતાંય પણ તેની સજાતીય ધાતુઓથી તે ખાલી સ્થાન ભરાઈ જાય છે, તે  
કારણથી પૃથ્વીની સચિત્તતા સિદ્ધ થઈ

ખીણુ પણ પ્રમાણુ લઈએ, જેમ સાસ્ના (ગાયના ગળામાં લટકવાવાળી ચામડી)  
સીંગ આદિ અવયવોના સમુદાયરૂપ-ગાય, એ સ આદિના શરીર છિન્ન, ભિન્ન, ઉત્ક્ષિપ્ત,  
સ્પૃષ્ટ, દૃષ્ટ, અને દ્રવ્યત્વના કારણથી જીવનું શરીર છે, તે પ્રમાણે પૃથ્વી આદિમાં પ્રત્યક્ષ

છિન્નતાદિકમપલપિતુ ન શક્યતે, તસ્માત્પૃથિવ્યાદીનામપિ જીવશરીરત્વ સિદ્ધયતિ ।  
જીવશરીરત્વેન નિરૂપિતત્વાદ્ધ પૃથિવ્યાદીનામપિ કરચરણસંઘાતાનામિવ કદાચિચૈતન્ય  
સિદ્ધયતિ, નતુ સર્વથા ધ્યાશ્વતિકનિર્જીવત્વ તેર્ણાં સંભવતિ, કળાચિદચિત્તત્ત્વમપિ  
શ્લોપહતત્વાદેવ ભવતિ કરચરણાદિવદિતિ ।

પૃથિવ્યાઃ સચિત્તત્વેડનેઋજીવાધિષ્ઠિતત્વે ચાગમોડપિ પ્રમાણમ્ । તથાહિ—  
“પૃથ્વી ચિત્તમતમક્ષાયા અણેગજીવાં પુદોસત્તા, અન્નત્ય સત્યપરિણ્ણ” (દશ ૪ અ )

પૃથિવી ચિત્તવતી=મજીવા-આખ્યાતા=મગપતા કથિતા અનેકજીવા=

દિલાઈ દેને વાલી છિન્નતા આદિ કા અપલાપ નહીં ક્રિયા જા સફતા, અતઃ પૃથિવી આદિ  
જીવ કે શરીર હૈં, હસ પ્રકારકા નિરૂપણ કરને સે હાથ પૈર કી તરહ ડન મેં મી કિસી  
સમય ચૈતન્ય કા અસ્તિત્વ સિદ્ધ હોતા હૈ, ડનકી સદૈવ ઓર સર્વથા નિર્જીવતા સિદ્ધ નહીં હો  
સકતી । પૃથિવી આદિ કદાચિત્ નિર્જીવ હોતી હૈ સો ડસકા કારણ શક્ત કા ડપઘાત હૈ ।  
શક્ત કે પ્રયોગ સે જૈસે હાથ-પૈર આદિ અવયવ નિર્જીવ હો જાતે હૈં ડસી પ્રકાર પૃથ્વી મી  
નિર્જીવ હો જાતી હૈ ।

પૃથ્વી સચિત્ત હૈ ઓર ડનેક જીવો સે અધિષ્ઠિત હૈ, હસ વિષય મેં આગમપ્રમાણ મી  
હૈ વહ હસ પ્રકાર-“ પૃથ્વી સચિત્ત કહી ગઈ હૈ ડસમેં ડનેક જીવ હૈં ઓર ડન સવ કી સત્તા  
પૃથક્-પૃથક્ હૈ, શક્તપરિણત પૃથ્વી કો છોડકર ” ( દશ ૪ અ )

અર્થાત્-પૃથ્વી સજીવ હૈ, પૈસા મગવાનને કહા હૈ । ડસ મેં ડનેક ઇન્દ્રિય જીવ હૈં ।

દેખાઈ આવે તેવી છિન્નતા આદિનો અપલાપ (છવી વસ્તુ દેખાય તે ના કહેવી કે  
નથી દેખાતી) કરી શકાશે નહિ, જો માટે પૃથ્વી આદિ પણ જીવનું શરીર સિદ્ધ થાય  
છે પૃથ્વી આદિ જીવનાં શરીર છે જો પ્રકારનું નિરૂપણ કરવાથી હાથ-પગની પ્રમાણે  
તેમાં પણ કેઈ સમય ચૈતન્યનું અસ્તિત્વ સિદ્ધ થાય છે તેની હમેશાં ડને સવ થા  
નિજીવતા સિદ્ધ થઈ શકતી નથી પૃથ્વી આદિ કદાચિત્ નિર્જીવ હોય છે, તો તેનું  
કારણ શક્તનો ડપઘાત છે (હથિઆરથી કપાડું-ખોદાડું તે છે) શક્તના પ્રયોગથી જેમ  
હાથ-પગ અવયવ નિર્જીવ થઈ જાય છે, તે પ્રમાણે પૃથ્વી પણ નિર્જીવ થઈ જાય છે

પૃથ્વી સચિત્ત છે ડને ડનેક જીવોથી અધિષ્ઠિત છે આ વિષયમા આગમ  
પ્રમાણ પણ છે તે આ પ્રમાણે —

“ પૃથ્વી સચિત્ત કહેવામા આવી છે, તેમા ડનેક જીવ છે, ડને તે સર્વની  
સત્તા પૃથક્-પૃથક્ છે, શક્તપરિણત પૃથ્વીને ત્યજીને ” ( હશવૈકલિક, ૪-અ )

અર્થાત્-પૃથ્વી સજીવ છે, જોડું ભગવાને કહ્યું છે તેમા ડનેક ઇન્દ્રિય જીવ છે

અનેકે=બહુ જીવા એકેન્દ્રિયા યસ્યાં સા તથોક્તા, પૃથક્સત્ત્વા=પૃથક્ પૃથગ્ભૂતા અક્લાસરુચેયમાગમાત્રશરીરાધગાહનામાથિત્ય વિભિન્નરૂપેણ સ્થિતાઃ સત્ત્વાઃ=સ્પર્શનેન્દ્રિયવન્તો જીવા યસ્યા સા તથોક્તા 'આસ્વાતા' ઇતિ પૂર્વક્તિન સબન્ધઃ ।

નત્તુ તર્હિ તથાપ્મૃતાયાં સચિત્તાયાં પૃથિવ્યા ગમનાગમનાદિક્રિયાં કુર્વતાં સયતાનામર્હિસાવ્રતસ્ય સરક્ષણ કયં ભવતિ પ્રત્યુતાવશ્યકરણીયોચાર પ્રસ્રવણાદિક્રિયાયા ઈર્સિવ ભવતિ, તસ્માદર્હિસાવ્રતપાલન વધ્યાપુત્રપાલનવદ-સમવત્ ?—ઇત્યત આહ—'અબ્રત્ય સત્યપરિણણ' ઇતિ, સ્વરૂપરિણતાયા અન્યત્ર, સ્વરૂપરિણતાં પૃથિવી ધર્જયિત્વાઽન્યા પૃથિવી સજીવા । શસ્યતે=ઈસ્યતે પ્રાણિગણોઽનેનેતિ સ્વચ્છ । યદ્ યસ્ય વિનાશકારણ તત્તસ્ય શસ્ત્રમિત્યર્થઃ । તત્ દ્વિવિધ દ્રવ્યમાવ-

ધે સર્વ ધીવ ઋગુલ કે અસહ્યાતર્થે માગકી શરીર—અવગાહનાવાળે મિન-મિન રૂપ મેં સ્થિત હૈં । યહોં સત્ત્વ કા અય એકેન્દ્રિય જીવ સમજના ધાહિણ ।

શ્લોક—પૃથ્વી અગર સચિત્ત હૈ તો સચિત્ત પૃથ્વી પર ગમન—આગમન આવિ ક્રિયા કરને વાલે સાધુઓં કા અર્હિસાક્ત કેસે સ્થિર રહ સકતા હૈ ? પ્રત્યુત મલ—મૂત્ર આવિ કા ત્યાગ અનિવાર્ય હૈ ઔર ઇસ સે હિંસા હોના મી અનિવાય હૈ । ઇસી સ્થિતિ મેં અર્હિસા કા પાલન કરના વધ્યા—પુત્ર કા પાલન કરને કે સમાન અસમવ હૈ ।

સમાધાન—શાસ્ત્ર મેં કહા હૈ—'અબ્રત્ય સત્યપરિણણ' અર્થાત્ શસ્ત્ર પરિણત પૃથ્વી કો છોડકર દૂસરી પૃથ્વી સચિત્ત હૈ । કિસ કે દ્વારા પ્રાણિગણ કા હનન હો તસે શસ્ત્ર કહતે હૈં । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ જો કિસ કે વિનાશ કા કારણ હૈ, તહ તસ

તે સર્વ જીવ અશુભના અસહ્યાતમા ભાગની શરીર—અવગાહનાવાળા મિન-મિન રૂપમાં સ્થિત છે. અર્હિ સત્ત્વનો અર્થ એકેન્દ્રિય જીવ સમજવો એઈએ

શ્લોક—પૃથિવી અગર સચિત્ત છે તો સચિત્ત પૃથ્વી પર જવા આવવાની ક્રિયા કરવાવાળા સાધુઓનું અર્હિસામત સ્થિર કેવી રીતે રહી સકે છે ? ઉલટું મલ—મૂત્ર આદિનો ત્યાગ અનિવાર્ય છે, તેથી હિંસા થવી પણ અનિવાય છે એવી સ્થિતિમાં અર્હિસાનું પાલન કરવું તે વધ્યાપુત્રના પાલન કરવા સમાન અસમવ છે

સમાધાન—શાસ્ત્રમાં કહ્યું છે કે—'અબ્રત્ય સત્યપરિણણ' અર્થાત્ શસ્ત્ર પરિણત પૃથ્વીને ત્યજી બીજી પૃથ્વી સચિત્ત છે જેના દ્વારા પ્રાણિગણનું હનન (નાશ) થાય તેને શસ્ત્ર કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે—જે જેના વિનાશનું કારણ છે તે તેના માટે શસ્ત્ર છે

मेदात् । तत्र द्रव्यशस्त्र स्वकायपरकायतदुभयलक्षणम् । तत्र स्वकायशस्त्रं पृथिव्या  
 पृथिव्येव यथा-कृष्णमृत्तिकायाः शुक्रमृत्तिकेत्यादि । परकायशस्त्रं जलाग्निगोमय-  
 चरणशकटचक्रादि । उभयकायशस्त्रं जलादिमिश्रमृत्तिका । एष च शस्त्रपरिणतायाः  
 पृथिव्या अचिन्ततया न तत्रोच्चारप्रसूयणादिक्रियया मृत्नीनामर्हिसाध्रतसतिः ।

### (२) प्ररूपणाद्वारम्-

पृथिवीजीवा द्विविधाः सूक्ष्मबादरमेदात् । सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माः,  
 बादरनामकर्मोदयाद् बादराः, न तु बादरामलकवादपेक्षिक सूक्ष्मत्व बादरत्व च ।

के लिए शस्त्र है । शस्त्र के दो भेद हैं-द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र । स्वकाय, परकाय और  
 उभयकायरूप द्रव्य-शस्त्र है । पृथ्वी का शस्त्र पृथ्वी-स्वकायशस्त्र है जैसे काली मिट्टी का  
 शस्त्र सफेद मिट्टी है । परकायशस्त्र जैसे-जल, अग्नि, गोबर, चरण (पग), शकट (गाड़ी)  
 का पैया आदि । जल आदि से मिली हुई मृत्तिका उभयकायशस्त्र है । इन प्रकार शस्त्र से  
 परिणत पृथ्वी अचिन्त हो जाती है, अत एव उस पर मल-मूत्र आदि त्यागन वाले मुनियों  
 के अर्हिसाध्रत में कोई क्षति नहीं पहुँचती ।

### (२) प्ररूपणा-द्वार-

पृथ्वी के सूक्ष्म और बादर के भेदसे दो प्रकार हैं । सूक्ष्मनामकर्म के उदय से सूक्ष्म  
 और बादरनामकर्म के उदय से बादर होते हैं । यहाँ सूक्ष्मता और बादरता वेर और आवळे  
 की तरह सापेक्ष नहीं समझनी चाहिए ।

शस्त्रना के दोह छे द्रव्यशस्त्र अने भावशस्त्र, स्वकाय, परकाय अने उभयकायद्रूप  
 द्रव्यशस्त्र छे । पृथ्वीनु शस्त्र पृथ्वी स्वकाय-शस्त्र छे, जेभ ठाही माटीनु शस्त्र सहेह  
 भाटी छे परकाय-शस्त्र जेभके जल, अग्नि, छाख, पग, गाडीनु आके आदि जल-  
 पाणी आदिधी भजेही माटी उभयकाय-शस्त्र छे आ प्रभाखे शस्त्रथी परिणत पृथ्वी  
 अचिन्त यध् बय छे ज्येठला माटे तेना पर भण-भूत्रादि त्याग करवावाणा मुनि  
 कोना अर्हिसाध्रतमां ठाछ् छानि पछोच्यती नथी

### (२) प्ररूपणाद्वार-

पृथ्वीकायना एव सूक्ष्म अने बादरना दोहथी के प्रकारना छे सूक्ष्मनामकर्मना  
 उदयधी सूक्ष्म अने बादरनामकर्मना उदयधी बादर शाय छे अर्हि सूक्ष्मता अने  
 बादरता कोर अने आणजानी प्रभाखे सापेक्ष समजवी नहि ज्येछ्छे.



તત્ર સૂક્ષ્માઃ દ્વિવિધાઃ-પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાશ્ચ, તે વજ્રલક્ષ્મિકાવત્ સર્વલોક-  
વ્યાપિનઃ ।

આદરા અપિ દ્વિધા-પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેવાત્ । તત્ર આદરા પર્યાપ્તા  
અપર્યાપ્તાશ્ચ લોકસ્યૈકદેશે પૃથિવ્યપ્તકાઘોઽખાતાલ-મનન-નકરમસ્તરાદૌ  
સન્તિ । તે વિદ્વિધાઃ શ્વશ્ન-સ્વરમેવાત્ । તત્ર શ્વશ્ના આદરપૃથિવી સપ્તધાકુળ-  
નીલ-લોહિત-પીત-શુક્લ-વર્ણ-પનકમેવાત્ । સ્વઆદરપૃથિવ્યાસ્તુ ચત્વારિશ્વદ્ (૪૦)  
મેવા, તથાહિ—

(૧) શુદ્ધપૃથિવી, (૨) શર્કરાપૃથિવી, (૩) બાલુકાપૃથિવી, (૪) ઉપલ, (૫) શિલા,  
(૬) લવણ, (૭) રુષ (૮) અયઃ, (૯) સાન્ન, (૧૦) ત્રપુઃ, (૧૧) સીસકમ્, (૧૨) રૂપ્યમ્,  
(૧૩) સુવર્ણમ્, (૧૪) વજ્રઃ, (૧૫) હરિતાલઃ (૧૬) હિંદુલકા, (૧૭) મનઃશિલા,

સૂક્ષ્મ જીવ મી દો પ્રકાર કે હૈ—પર્યાપ્ત ઔર અપર્યાપ્ત । યે જીવ કાજલ કી કુચ્છી કે સમાન  
સમ્પૂર્ણ લોક મેં મરે હુવ હૈ ।

આદર મી પર્યાપ્ત ઔર અપર્યાપ્ત—દો પ્રકાર કે હૈ । યે જીવ લોક કે દેશ મેં  
હૈ । ઇન કે દો મેદ હૈ—શ્વશ્ન ઔર સ્વર । શ્વશ્નઆદરપૃથ્વી કે સાત મેદ હૈ—કુળ નીલ  
લોહિત (લાલ) પીત શુક્લ વર્ણ ઔર પનક સ્વઆદર પૃથ્વી કે ચાલીસ મેદ હૈ, જે ઇસ  
પ્રકાર—

(૧) શુદ્ધ-પૃથિવી, (૨) શર્કરા-પૃથિવી, (૩) બાલુકા-પૃથિવી, (૪) ઉપલ,  
(૫) શિલા, (૬) લવણ-નમક, (૭) અય-શ્ચાર, (૮) લોહ, (૯) સાન્ના, (૧૦) રાગા,  
(૧૧) સીસા, (૧૨) ચાંદી, (૧૩) સોના, (૧૪) વજ્ર, (૧૫) હરિતાલ, (૧૬) હિંદુલ,

સૂક્ષ્મ જીવ પણ બે પ્રકારના છે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત—જીવ કાજળની કુચ્છીના  
સમાન સર્વ લોકમાં ભરેલા છે

આદર પણ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત જોમ બે પ્રકારના છે જો જીવ લોકના  
જોમ દેશમાં છે તેના બે ભેદ છે શ્વશ્ન અને સ્વર, શ્વશ્ન આદર પૃથ્વીના સાત  
ભેદ છે કુળ, નીલ, લોહિત (લાલ) પીત, શુક્લ, વર્ણ અને પનક અને આદર  
પૃથ્વીના ચાલીસ ભેદ છે—તે આ પ્રમાણે છે—

(૧) શુદ્ધ પૃથિવી, (૨) શર્કરા પૃથિવી, (૩) બાલુકા પૃથિવી, (૪) ઉપલ, (૫)  
શિલા, (૬) લવણ-નમક, (૭) અય-શ્ચાર, (૮) લોહ, (૯) સાન્ના, (૧૦) રાગા-કલાઈ,  
(૧૧) સીસા, (૧૨) ચાંદી, (૧૩) સોના, (૧૪) વજ્ર, (૧૫) હરિતાલ, (૧૬) હિંદુલ,

(૧૮) ઘસ્યક-પારદ, સ્વનામર્યાતો રત્નવિશેષ, (૧૯) અજ્ઞન, (૨૦) પ્રવાલ, (૨૧) અન્નપટલ, (૨૨) અન્નવાલુકા (અન્નકર્ચૂર્ણ), (૨૩) ગોમેદક, (૨૪) રુચક, (૨૫) અઙ્ક, (૨૬) સ્ફટિક, (૨૭) લોહિતાક્ષ, (૨૮) મરકત, (૨૯) મસારગણ્ઠ, (૩૦) મુજમોચક, (૩૧) ઇન્દ્રનીલ, (૩૨) ચંદન, (૩૩) ગૈરિક, (૩૪) હસર્ગમ, (૩૫) પુલક, (૩૬) સૌગન્ધિક, (૩૭) ચન્દ્રપ્રમ, (૩૮) વૈદ્ય, (૩૯) જલકાન્ત, (૪૦) સૂર્યકાન્ત. । एते च शुद्धपृथिव्यादयः पृथिवीकायिका स्वाकरादौ सचिता भवन्ति ।

ગોમય-કચર-સચિત્તાપાદિસપર્કાન્તુ ગતચેતના અપિ ભવન્તિ । વાદરપૃથિવ્યા યત્રૈકો જીવસ્તન્નાસ્યસંધર્માતૈર્નિયમતો માન્યમ્ ।

एवमपूतेजोवायुमत्येकवनस्पतिष्वपि विज्ञेयम् । निगोदे तु यत्रैको

(૧૭) મૈનસિલ, (૧૮) ઘસ્યક-ગારા, અથવા રત્નવિશેષ, (૧૯) અજ્ઞન, (૨૦) પ્રવાલ, (૨૧) અન્નપટલ, (૨૨) અન્નવાલુકા (અન્નકર્ચૂર્ણ), (૨૩) ગોમેદ, (૨૪) રુચક, (૨૫) અંકરત્ન, (૨૬) સ્ફટિક, (૨૭) લોહિતાક્ષ, (૨૮) મરકત, (૨૯) મસારગણ્ઠ, (૩૦) મુજમોચક, (૩૧) ઇન્દ્રનીલ, (૩૨) ચંદન, (૩૩) ગૈરુ, (૩૪) હસર્ગમ, (૩૫) પુલક, (૩૬) સૌગન્ધિક, (૩૭) ચન્દ્રપ્રમ-ચન્દ્રકાન્ત, (૩૮) વૈદ્ય, (૩૯) જલકાન્ત, (૪૦) સૂર્યકાન્ત । ये शुद्ध पृथिवी आदि चालीस जव अपने आकर (स्नान) में रहते हैं तो सचित होते हैं । गोबर कचरा सूत्र की वृष आदि के सपर्क से अचेतन हो जाते हैं । अथा वादरपृथ्वीकाय का एक जीव होता है वहाँ असंख्यात जीव नियम से होते हैं ।

इसी प्रकार अग्, तेज, वायु, और प्रत्येकवनस्पति म भी समसना चाहिए ।

(૧૭) મનશીલ, (૧૮) પારો, (૧૯) સુરભો, (૨૪) રૂચક, (૨૫) અક-રત્ન, (૨૬) સ્ફટિક, (૨૭) લોહિતાક્ષ, (૨૮) મરકત, (૨૯) મસારગણ્ઠ, (૩૦) મુજમોચક, (૩૧) ઇન્દ્રનીલ, (૩૨) અન્ન, (૩૩) ગૈરુ, (૩૪) હસર્ગમ, (૩૫) પુલક, (૩૬) સૌગન્ધિક, (૩૭) ચન્દ્રપ્રમ-ચન્દ્રકાન્ત, (૩૮) વૈદ્ય, (૩૯) જલકાન્ત, (૪૦) સૂર્યકાન્ત. આ શુદ્ધ પૃથ્વી આદિ ચાલીસ જ્યારે પોતાના આકર-આણુમા રહે છે તો સચિત્ત હોય છે ધાતુ, ઠયરા, સૂરજનો તડકો વગેરેના સપર્કથી તે અચેતન થઈ જાય છે જ્યાં બાકર પૃથ્વીકાયનો એક જીવ હોય છે, ત્યાં અસંખ્યાત જીવ નિયમથી હોય છે

એ પ્રકારે અગ્, તેજ, વાયુ અને પ્રત્યેકવનસ્પતિમા પણ સમજવું નોઈએ

નિગોદજીવસ્ત્ર નિયમતોઽનન્તાઃ ।

ઘાદરાણાં સૂક્ષ્માણાં ચ પૃથિવીકાયાનામેતે વક્ષ્યમાજા મેદાઃ સન્તિ,  
તન્નોમયો. પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદ ગ્રાણુક્તઃ, અન્યે મેદા ઠગ્યન્તે-શરીરત્રયા-ઽગુલા  
સંસ્ક્રેયમાગશરીર-—સેવાર્ષસહનન-મસૂરચન્દ્રસસ્થાન-—કપાયચતુષ્ક-સઠ્ઠાચતુષ્કા-  
ઽઽઘલેશ્યાત્રય-સ્પર્શનેન્દ્રિય-વેદનાકપાયમારણાન્તિકસમુદ્દાતા-ઽસઠ્ઠિશ્ચ-—નપુસક  
વેદ-પર્યાપ્તિચતુષ્ટય-મિધ્યાદર્શના-ઽચક્ષુદર્શના-ઽજ્ઞાન-કાયયોગ-સાકારાનાકારો-  
પયોગાઽઽહારાદિપ્રમૃતયઃ । તન્ન વિશેષસ્તુ ઘાદરપૃથિવીકાયાનાં લેશ્યા આઘાતસઃ,  
શેષ સર્વે સમાનમ્ । અસંસ્ક્રેયાશ્ચ પ્રત્યેકમુમયે ।

નિગોદ મેં અહીં એક જીવ હોતા હૈ વહીં નિયમ સે અનન્ત જીવ હોતે હૈં ।

ઘાદર ઓર સૂક્ષ્મ પૃથિવીકાયાં કે મેદ્દ હસ પ્રકાર હૈં-—દોનોં કે પર્યાપ્ત ઓર  
અપર્યાપ્ત મેદ્દ પહેલે કહે જા ચુકે હૈં । અબ અન્ય મેદ્દ કહતે હૈં-—ત્રીન શરીર, અગુલકા  
અસંસ્ક્રિયાતવા માગ શરીર, સેવાર્ષ સહનન, મસૂરચન્દ્રસંસ્થાન, ચાર કપાય, ચાર સંજ્ઞાપે,  
પ્રારમ્બ કી ત્રીન લેશ્યાપે, સ્પર્શનેન્દ્રિય, વેદના કપાય ઓર મારણાન્તિક સમુદ્દાત, અસંજ્ઞીપન,  
નપુસકવેદ, ચાર પર્યાપ્તિયો, મિધ્યાદર્શન, અચક્ષુદર્શન ત્રીન અજ્ઞાન, કાયયોગ, સાકાર  
તથા અનાકાર ઉપયોગ, આહાર આદિ । હન મેં વિશેષતા ફતની હી હૈ કિ ઘાદરપૃથિવી-  
કાય મેં પહેલે કી ચાર લેશ્યાપે હોતી હૈં । શેષ સબ બોલ સમાન હૈં । દોનોં હી અસંસ્ક્રિયાત-  
અસંસ્ક્રિયાત હૈં ।

નિગોદમા અ્યાં એક જીવ હોય છે ત્યા નિયમથી અનન્ત જીવ હોય છે

ઘાદર અને સૂક્ષ્મ પૃથિવીકાયાના એક જ પ્રકાર છે—અન્નેના પર્યાપ્ત અને  
અપર્યાપ્ત એક એક પ્રથમ કહેવામાં આવ્યા છે હવે બીજા એક કહે છે-ત્રણ  
શરીર, અગુલના અસંસ્ક્રિયાતમાં માગ શરીર, સેવાર્ષ સહનન, મસૂર-ચન્દ્ર સંસ્થાન,  
ચાર કપાય, ચાર સંજ્ઞાઓ, પ્રારંભની ત્રણ લેશ્યાઓ, સ્પર્શ ઇન્દ્રિય, વેદના કપાય, અને  
મારણાન્તિક સમુદ્દાત, અસંજ્ઞીપણ, નપુસકવેદ, ચાર પર્યાપ્તિઓ, મિધ્યાદર્શન,  
અચક્ષુદર્શન, ત્રણ અજ્ઞાન, કાયયોગ, સાકાર તથા અનાકાર ઉપયોગ, આહાર આદિ.  
તેમાં વિશેષતા એટલી જ છે કે-ઘાદર પૃથિવીકાયમાં પ્રથમની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય  
છે, બાકી તમામ બોલ સમાન છે અને જ અસંસ્ક્રિયાત-અસંસ્ક્રિયાત છે

### (૩) પરિમાણદ્વારમ્—

વાદરપર્યાપ્તાઃ પૃથિવીકાયજીવાઃ સર્વતઃ સ્તોકાઃ । તદપેક્ષયા વાદરાઽપર્યાપ્તાઃ  
અસંખ્યેયગુણાઃ । તદપેક્ષયા સૂક્ષ્માઽપર્યાપ્તા અસંખ્યેયગુણાઃ । તદપેક્ષયા સૂક્ષ્મપર્યાપ્તા  
અમંસ્યેયગુણાઃ । યદિ જવારીધાન્યકળમમાણપૃથિવ્યશ્ચાથવા જીવા એકૈક ઘટ્ઠિર્નિગત્ય  
પૃથક્-પૃથક્ કપોતમિતં કાય કુર્યુસ્તર્હિ સેપાં લક્ષયોજનમમાણજમ્બૂદ્વીપે સમાવેશોઽપિ  
ન સંમવતિ ।

નતુ જવારીધાન્યકળમાત્રે પૃથિવ્યશે કથમિયન્તો જીવાસ્તિષ્ઠન્તિ ?  
इति चेत् उच्यते—यथा सहस्रापधिसमिध्रणनिष्पन्नसहस्रपाकतैलस्याल्पीयसि

### (૩) પરિમાણદ્વાર—

પર્યાપ્ત વાદર પૃથ્વીકાય કે જીવ સઘ સે થોડે હૈં । ડન કી અપેક્ષા વાદર અપર્યાપ્ત  
અસંખ્યાત ગુના અધિક હૈ । ડન સે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપર્યેય ગુના હૈ । ડન સે સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત  
અસંખ્યાત ગુના હૈ । અગર જવાર નામક ધાન્ય કે કળ કે બરાબર પૃથ્વી કે અશ મ ગહને  
વાળે જીવ એક-એક ફરકે બાહર નિકલ જાઈં, ઓર બે સઘ અપના શરીર કબૂતર કે  
શરીર કે બરાબર બનાલેં સો એક લાલ્લ યોજન વિસ્તાર ઘાળે જમ્બૂદ્વીપ મેં ડનકા સમાવેશ  
નહીં હો સક્તા ।

શક્કા—જવાર કે એક વાને કે બરાબર પૃથિવી કે અશ મેં ઇતને અધિક જીવ  
કિસ પ્રકાર રહ સક્તે હૈં ?

સમાધાન—જૈસે હમાર ઔષધો કે સમિધ્રણ સે બને હુપ, સહસ્ર—પાક તૈલ કે

### (૩) પરિમાણદ્વાર—

પર્યાપ્ત વાદર પૃથ્વીકાયના એવ સૌથી થોડા છે, તેની અપેક્ષા વાદર અપર્યાપ્ત  
અસંખ્યાત ગણા અધિક છે તેનાથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અસંખ્યાત ગણા છે, તેનાથી  
સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અસંખ્યાત ગણા છે અગર જુવાર નામના ધાન્યના કણની બરાબર  
પૃથ્વીમા રહેવાવાળા એવ એક-એક થઈને બહાર નિકળે અને તે સર્વ પોતાનું શરીર  
કબૂતર-પારેવાના શરીર બરાબર બનાવી લીએ તો એક લાખ યોજનના વિસ્તારવાળા  
જમ્બૂ દ્વીપમા તેને સમાવેશ થઈ શકે નહિ.

શકા—જુવારના એક કણની બરાબર પૃથિવીમા એટલા અધિક એવ ઠેવી  
રીતે રહી શકે છે ?

સમાધાન—એવી રીતે હમાર ઔષધોના સમિધ્રણથી બનેલા સહસ્ર-પાક તૈલના

सूच्यग्रलम्नविन्दुमात्रेऽपि सहस्रौपधिसमावेशस्तथैव पृथिवीकायजीवास्तावन्मात्रे पृथिव्यंशे तिष्ठन्तीति । यथा वा सहस्रौपधिसमिश्रणे कृते चूर्णीकृत्य परिपिष्य स्वसस्वसकणप्रमाणगुटिका क्रियते, तत्र प्रत्येकगुटिकायां सहस्रौपधिसमावेशो दृश्यते, तद्वज्रवारीधान्यकणमात्रेऽल्पीयसि पृथिव्यंशे पृथिवीकायजीवास्तिष्ठन्तीति नैतद्विप्रम् ।

यदि लोकाकाशस्य प्रत्येकप्रदेशे, एकैक पृथिवीकायजीव स्थाप्यते तदा अस्मभ्यां लोका पूरिता भवेयुः । पृथिवीकायजीवानां परिमाण तावदस्ति, यदि लोका अस्मभ्यां भवेयुः, तेषामसंख्यातलोकानां यावन्त प्रदेशा भवेयुस्तावन्तः पृथिवीकायजीवाः सन्तीति बोध्यम् ।

छोटे से, सूई को नोक पर छोड़े हुए एक बूद में भी हजार औषधों का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार खवार के एक दाने के बराबर पृथ्वी के अंश में इतने जीव रहते हैं । अथवा जैसे एक हजार औषधों को मिला दिया जाय और उनका चूर्ण बना लिया जाय, खूब पीसा जाय और उससे ससस्वस के दाने के बराबर गोली बना ली जाय तो उस प्रत्येक गोली में हजार औषधियों का समावेश जान पड़ता है । इस प्रकार खवार बराबर पृथ्वी के अंश में अगर इतने जीव रहते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ?

अगर लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक जीव स्थापित किया जाय तो असंख्यात लोक भर जाएँ । पृथिवीकाय के जीवों का परिमाण इतना है कि यदि लोक असंख्यात हों और उन असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश हों, उतने ही पृथिवीकाय जीव हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए ।

नाना कोवा सोऽह्नी जखी पर बाजेला लोक टीथीमां पखु ह्वाए औपधाने सभावेश धर्ध जाय छे जे प्रभाखे जुवार नराजर पृथ्वीमां कोटला एव रहे छे अथवा जेवी रीते-लोक ह्वाए औपधाने गणववाभा आवे जने तेनु बखु जनावी बेवाय, जने तेने पूण वाटवामा आवे जने तेमाथी भस-भसना हाजा नराजर गोणी जनाववामा आवे तो प्रत्येक गोणीमां ह्वाए औपधानीकोने सभावेश दयेदो छे, जेभ जखी शकय छे जे प्रभाखे जुवार नराजर पृथ्वीमां कोटला एव रहे छे तो तेमां आश्चर्यनी बात शुं होई शके ?

अथवा बोझाधना लोक लोक प्रदेशमां, लोक-लोक एव स्थापित कस्वामां आवे तो असंख्यात लोक बराबर जाय पृथिवीकायना एवेनु परिमाण कोटहु छे-जे लोक असंख्यात होय जने ते असंख्यात लोकना कोटला प्रदेशो होय कोटला पृथिवीकाय एव छे जेभ समल देनु कोई छे ।

યે પૃથિવીકાયહિંસાયાં લજ્જમાનાસ્તે-અનગારા, યે તુ તત્ર મદ્વૈચાસ્તે  
દ્રવ્યલિલ્લિન', इति बोधयितुमाह-'लज्जमाणा' इत्यादि ।

एके=अन्ये, लज्जमाना='पृथिवीकायस्यारम्भे परमकरुणया द्रवितहृदयतया  
सकोचमापद्यमाना पृथक्=केचित् प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधि-मन'पर्यय-केवलिनः, केचित्  
परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगारा' सन्ति, इति, पृथक्-पश्य ।

इमे सूक्ष्मवादरपृथिवीकायारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरणत्रियोगै  
पृथिवीकायारम्भपस्तिपागिनो विद्यन्ते तानवलोक्येत्यर्थ ।

एके पुन.=अन्ये तु-'वयमगारा' साधवः स्म.' इति साभिमानं  
भवदमाना. 'वयमेव पृथिवीकायजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिणः' इति व्यर्थ

ओ पुरुष पृथिवीकाय की हिंसा से विरत होते हैं, वेही अनगार हैं । जो उस हिंसा में  
प्रवृत्त हैं, वे द्रव्यलिङ्गी हैं । यह बतलाने के लिए कहते हैं-'लज्जमाणा' इत्यादि ।

કોઈ-કોઈ પુરુષ પૃથિવીકાય કે આરમ્ભ મેં અત્યન્ત કરુણાશીલ હોને કે કારણ, દ્રવિત  
હૃદય થાહે હોને સે, સકોચ-વૃત્તિ કરતે હૈ, ઊન મેં સે કોઈ-કોઈ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની અર્થાત્  
અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની ઓર કેવલજ્ઞાની, તથા કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અનગાર હૈ, ઇસ  
પ્રકાર પૃથક્-પૃથક્માવ સે દેસો । અર્થાત્ ઊન પુરુષોં કો દેસો જો સૂક્ષ્મ ઓર યાદર પૃથ્વીકાય  
કા આરમ્ભ કરને મેં લજ્જા કરતે હૈ, ગ્રસ્ત હોતે હૈ, ઓર તીનકરણ, તીનયોગ સે પૃથિવીકાય  
કે આરમ્ભ કે ત્યાગી હૈ ।

और कौ-कौ 'हम साधु' हैं । ऐसा अभिमान के साथ कहते हुए 'हम ही  
पृथिवीकाय की रक्षा में तत्पर' हैं और महाव्रतधारी हैं' । इस प्रकार वृथा प्रलाप

જે પુરુષ પૃથિવીકાયની હિંસાથી વિરત-નિવૃત્ત થાય છે તેજ અજગાર છે મુનિ  
છે જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત છે તે દ્રવ્યલિંગી છે તે બતાવવા માટે કહે છે-'લજ્જમાણા' ઇત્યાદિ.

કોઈ-કોઈ પુરુષ પૃથિવીકાયના આરભમાં અત્યન્ત કરુણાશીલ હોવાના કારણે  
દ્રવિત હૃદયવાળા હોવાથી સંકોચ-વૃત્તિ કરે છે તેમાંથી કોઈ-કોઈ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની  
અર્થાત્ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની અને કેવલજ્ઞાની અને કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિ  
તાત્મા અજગાર છે પૃથક્=પૃથક્માવથી જુઓ, અર્થાત્ તે પુરુષોને જુઓ કે જે સૂક્ષ્મ  
અને યાદર પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવામાં લજ્જા કરે છે-શરમાય છે-ત્રાસ પામે છે  
અને ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી પૃથ્વીકાયના આરભના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ 'અમે સાધુ છીએ' એવા અભિમાનની સાથે કહે છે કે-'અમે  
પણ પૃથ્વીકાયની રક્ષામાં તત્પર છીએ, અને મહાવ્રતધારી છીએ.' આ પ્રમાણે વૃથા-

સૂચ્યગ્રલમ્નવિન્દુમાત્રેઽપિ સહસ્રૌપધિસમાવેશસ્તયૈવ પૃથિવીકાયજીવાસ્તાવન્માત્રે  
પૃથિવ્યંશે તિષ્ઠન્તીતિ । યથા વા સહસ્રૌપધિસમિશ્રણે કૃતે પૂર્ણીકૃત્ય પરિપિખ્ય  
સ્વસસ્વસકળપ્રમાણગુટિકા ક્રિયતે, તત્ર પ્રત્યેકગુટિકાર્યા સહસ્રૌપધિસમાવેશો  
દૃશ્યતે, તદ્વજ્જવારીવાન્યકળમાત્રેઽસ્પીયસિ પૃથિવ્યંશે પૃથિવીકાયજીવાસ્તિષ્ઠન્તીતિ  
નૈતદ્વિપ્રમ્ ।

યદિ લોકાકાશસ્ય પ્રત્યેકપ્રદેશે, એકૈક પૃથિવીકાયજીવ સ્થાપ્યતે તદા  
અસંસ્થ્યાતા લોકા પૂરિતા મહેયુ । પૃથિવીકાયજીવાના પરિમાણ તાવદસ્તિ, યદિ  
લોકા અસંસ્થ્યાતા મહેયુઃ, તેપામસંસ્થ્યાતલોકાના યાવન્ત પ્રદેશા મહેયુસ્તાવન્ત  
પૃથિવીકાયજીવાઃ સન્તીતિ ઘોષ્યમ્ ।

છોટે સે, સૂઈ કો નોક પર છમે હુપ્પે એક બૂદ મેં મો હજાર ઔપધો કા સમાવેશ હો જાતા  
હે, ફસી પ્રકાર બવાર કે એક વાને કે બરાબર પૃથ્વી કે અશ મેં ફતને બીવ રહતે હૈં । અથવા  
જેસે એક હજાર ઔપધો કો મિલા દિયા જાય ઓર ઉનકા પૂર્ણ બના ઝિયા જાય, જુબ પીસા  
જાય ઓર ઉસસે સ્વસસ્વસ કે વાને કે બરાબર ગોછી બના છી જાય તો ઉસ પ્રત્યેક ગોછી મેં  
હજાર ઔપધિયોં કા સમાવેશ જાન પડતા હૈ । ફસ પ્રકાર બવાર બરાબર પૃથ્વી કે અશ મેં  
બગર ફતને બીવ રહતે હૈં તો ફસમેં આશ્ચર્ય કી કૌન સી વાત હૈ ?

બગર લોકાકાશ કે એક-એક પ્રદેશ મેં, એક-એક બીવ સ્થાપિત કિયા જાય તો  
અસંસ્થ્યાત લોક મરજાવૈં । પૃથિવીકાય કે બીવો કા પરિમાણ ફતના હૈ કિ-યદિ લોક  
અસંસ્થ્યાત હૈં ઓર ઉન અસંસ્થ્યાત લોકોં કે જિતને પ્રદેશ હૈં, ઉતને હી પૃથિવીકાય બીવ હૈં,  
પેસા સમજ લેના જાણિપ્ ।

નાના જોવા સોઈની અછી પર લાગેલા એક ટીપામાં પણ હજાર ઔપધોના સમાવેશ  
થઈ જાય છે એ પ્રમાણે જુવારના એક ટાણાની બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે  
છે અથવા જેવી રીતે-એક હજાર ઔપધોના મેળવવામાં આવે અને તેનું પણ બનાવી  
દેવાય, અને તેને ખૂબ વાટવામાં આવે અને તેમાંથી ખસ-ખસના ટાણા બરાબર  
ગોળી બનાવવામાં આવે તો પ્રત્યેક ગોળીમાં હજાર ઔપધીઓના સમાવેશ થયેલા છે,  
એમ બહી ચકાસ છે એ પ્રમાણે જુવાર બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે છે તો  
તેમાં આશ્ચર્યની વાત શું હોઈ શકે ?

અથવા લોકાકાશના એક એક પ્રદેશમાં, એક-એક જીવ સ્થાપિત કરવામાં  
આવે તો અસંખ્યાત લોક મરજાઈ જાય. પૃથિવીકાયના જીવોનું પરિણામ એટલું છે-  
જો લોક અસંખ્યાત હોય અને તે અસંખ્યાત લોકના જેટલા પ્રદેશો હોય એટલા જ  
પૃથિવીકાય જીવ છે એમ સમજ લેવું હોઈએ.

યે પૃથિવીકાયહિસાયાં લજ્જમાનાસ્તે-અનગારા', યે તુ તત્ર પ્રવૃત્તાસ્તે દ્રવ્યલિંગિન', ઇતિ ચોધયિતુમાહ-'લજ્જમાણા.' ઇત્યાદિ ।

एके=अन्ये, लज्जमानाः=पृथिवीकायस्यारम्भे परमकरुणया द्रवितहृदयतया सकोचमापद्यमाना पृथक्=केचित् प्रत्यक्षज्ञानिनोऽवधि-मन-पर्यय-केवलिन, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगारा' सन्ति, इति, पृथक्-पश्य ।

इमे सूक्ष्मवादरपृथिवीकायारम्भकरणे भीतास्त्रस्ता उद्भिग्नास्त्रिकरणत्रियोगैः पृथिवीकायारम्भपस्त्यागिनो विद्यन्ते तानवलोकयेत्यर्थः ।

एके पुन.=अन्ये तु-'वयमगारा साधवाः स्म.' इति सामिमानं मवदमाना. 'वयमेव पृथिवीकायजीवरक्षणपरा' महाव्रतधारिण' इति व्यर्थ

જો પુરુષ પૃથિવીકાય કી હિંસા સે વિરત હોતે હૈં, વેહી અનગારા હૈં । જો ડસ હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હૈં, વે દ્રવ્યલિંગી હૈં । યહ ઘતલાને કે લિપ્ કહતે હૈં-'લજ્જમાણા' ઇત્યાદિ ।

કોઈ-કોઈ પુરુષ પૃથિવીકાય કે આરમ્મ મેં અત્યન્ત કરુણાળીલ હોને કે કારણ, દ્રવિત હૃદય વાળે હોને સે, સકોચ-વૃત્તિ કરતે હૈં, ડન મેં સે કોઈ-કોઈ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની અર્થાત્ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની ઓર કેવલજ્ઞાની, તથા કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અનગારા હૈં, ઇસ પ્રકાર પૃથક્-પૃથક્માવ સે દેસ્તો । અર્થાત્ ડન પુરુષો કો દેસ્તો જો સૂક્ષ્મ ઓર વાદર પૃથ્વીકાય કા આરમ્મ કરને મેં લગ્નવા કરતે હૈં, વ્રસ્ત હોતે હૈં, ઓર ત્રીનકરણ, સીનયોગ સે પૃથિવીકાય કે આરમ્મ કે ત્યાગી હૈં ।

ઓર કોઈ-કોઈ 'હમ સાધુ હૈં । યેસા અભિમાન કે સાથ કહતે હુપ 'હમ હી પૃથિવીકાય કી રક્ષા મેં તત્પર હૈં ઓર મહાવ્રતધારી હૈં' । ઇસ પ્રકાર વૃથા પ્રલાપ

જે પુરુષ પૃથિવીકાયની હિંસાથી વિરત-નિવૃત્ત થાય છે તેજ અણગાર છે એનિ છે જે હિંસામાં પ્રવૃત્ત છે તે દ્રવ્યલિંગી છે તે બતાવવા માટે કહે છે-'લજ્જમાણા' ઇત્યાદિ. કોઈ-કોઈ પુરુષ પૃથિવીકાયના આરભમાં અત્યન્ત કરુણાળીલ હોવાના કારણે દ્રવિત હૃદયવાળા હોવાથી સંકોચ-વૃત્તિ કરે છે તેમાંથી કોઈ-કોઈ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની અર્થાત્ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યયજ્ઞાની અને કેવલજ્ઞાની અને કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા અણગાર છે પૃથક્=પૃથક્માવથી જુલો, અર્થાત્ તે પુરુષોને જુલો કે જે સૂક્ષ્મ અને બાદર પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવામાં લગ્નવા કરે છે-શરમાય છે-ત્રાસ પામે છે અને ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી પૃથ્વીકાયના આરભના ત્યાગી છે અને કોઈ-કોઈ 'અમે સાધુ છીએ' એવા અભિમાનની સાથે કહે છે કે-'અમે પણ પૃથ્વીકાયની રક્ષામાં તત્પર છીએ, અને મહાવ્રતધારી છીએ.' આ પ્રભાણે વૃથા-



સૂચ્યગ્રભગ્નવિન્દુમાત્રેऽપિ સહસ્રૌપધિસમાવેશસ્તથૈવ પૃથિવીકાયજીવાસ્તાવન્માત્રે  
પૃથિવ્યંશે તિષ્ઠન્તીતિ । યથા વા સહસ્રૌપધિસમિશ્રણે કૃતે ચૂર્ણીકૃત્ય પરિપિપ્પ  
સ્વસસ્વસક્ષણમમાણગુટિકા ક્રિયતે, તત્ર પ્રત્યેકગુટિકાયાં સહસ્રૌપધિસમાવેશો  
દૃશ્યતે, તદ્વજ્રવારીધાન્યકળમાત્રેઽલ્પીયસિ પૃથિવ્યંશે પૃથિવીકાયજીવાસ્તિષ્ઠન્તીતિ  
નૈતદ્વિષ્મ ।

યદિ લોકાકાશસ્ય પ્રત્યેકપ્રદેશે, એકેક પૃથિવીકાયજીવ. સ્થાપ્યતે તદા  
અસંખ્યાતા લોકા પૂરિતા મવેયુ । પૃથિવીકાયજીવાનાં પરિમાણં તાવદસ્તિ, યદિ  
લોકા અસંખ્યાતા મવેયુઃ, તેપામસંખ્યાતલોકાના યાવન્તઃ પ્રદેશા મવેયુસ્તાવન્તઃ  
પૃથિવીકાયજીવાઃ સન્તીતિ ઘોષ્યમ્ ।

છોટે સે, સૂઈ કો નોક પર છો હુર એક ઘૂલ મેં મી હજાર ઔપધોં કા સમાવેશ હો જાતા  
હે, इसी प्रकार ज्वार के एक दाने के बराबर पृथ्वी के अंश में इतने जीव रहते हैं । अबवा  
बैसे एक हजार औपधों को मिला दिया जाय और उनका चूर्ण बना लिया जाय, खूब पीसा  
जाय और उससे खसखस के दाने के बराबर गोली बना हो जाय तो उस प्रत्येक गोली में  
हजार औपधियां का समावेश जान पड़ता है । इस प्रकार ज्वार बराबर पृथ्वी के अंश में  
अगर इतने जीव रहते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ?

अगर लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक जीव स्थापित किया जाय तो  
असंख्यात लोक भर जाएँ । पृथिवीकाय के जीवों का परिमाण इतना है कि-यदि लोक  
असंख्यात हों और उन असंख्यात लोकों के बितने प्रदेश हों, उतने ही पृथिवीकाय जीव हैं,  
ऐसा समझ लेना चाहिए ।

નાના જોવા સોઈની બહુ પર લાગેલા એક ટીપામાં પણ હજાર ઔપધોના સમાવેશ  
થઈ જાય છે એ પ્રમાણે જીવાના એક હાથાની બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે  
છે જયવા જેવી રીતે-એક હજાર ઔપધોને મેળવવામાં આવે અને તેનું ચૂર્ણ બનાવી  
લેવાય, અને તેને ખૂબ વાટવામાં આવે અને તેમાંથી ખસ-ખસના હાથા બરાબર  
ગોળી બનાવવામાં આવે તો પ્રત્યેક ગોળીમાં હજાર ઔપધીઓનો સમાવેશ થયેલો છે,  
એમ બહુી શકાય છે એ પ્રમાણે જીવાર બરાબર પૃથ્વીમાં એટલા જીવ રહે છે તો  
તેમાં આશ્ચર્યની વાત શું હોઈ શકે ?

જયવા લોકાકાશના એક એક પ્રદેશમાં, એક-એક જીવ સ્થાપિત કરવામાં  
આવે તો અસંખ્યાત લોક ભરાઈ જાય. પૃથિવીકાયના જીવોનું પરિમાણ એટલું છે-  
જો લોક અસંખ્યાત હોય અને તે અસંખ્યાત લોકના એટલા પ્રદેશો હોય એટલા જ  
પૃથિવીકાય જીવ છે. એમ સમજ લેવું એક જીવ.

રૂપ લોક સર્વમેવ વિહિસન્તીત્યાહ-‘પુદવીસત્ય’-इत्यादि ।

પૃથિવીશસ્ત્રમ્=પૃથિવ્યુપમર્દક શસ્ત્રમ્, શસ્યતે=હિસ્યતે અનેનેતિ શસ્ત્રમ્, તદ્ દિવિર્ધ-દ્રવ્ય-માવ-મેદાત્ । તત્ર દ્રવ્યશસ્ત્ર=સ્વકાયપરકાયતદુમયરૂપમ્ । માવશસ્ત્ર=દુષ્પયુક્તમનોવાકાયલક્ષણમ્, સમારમમાણા=પૃથિવીકાય પ્રતિ વ્યાપારયન્ત્, અન્યાન પૃથિવીકાયમિદ્ધાન્ અનેકરૂપાન્ અપ્કાયાદીન્ સ્થાવરાન્, દ્વીન્દ્રિયાદીન્ પ્રસાંધ વિહિસન્તિ ।

### (૬) ઉપમોગદ્વારમ્-

જગતિ શ્વલુ વહનો દ્રવ્યલિંગિનો વિધન્તે, યથા-‘વયં પચ્ચમહાવ્રતધારિણ’

કો હિંસા કરતા હૈ, यह बतलाने के लिए कहते हैं-‘पुदवीसत्य’ इत्यादि ।

પૃથિવીશસ્ત્રકા અર્થ હૈ-પૃથિવીકાય કો હિંસા કરનેવાલા શસ્ત્ર । જિસ સે હિંસા હો વહ શસ્ત્ર કહ્લતા હૈ । શસ્ત્ર બો પ્રકાર કા હૈ-(૧) દ્રવ્યશસ્ત્ર ઓર (૨) માવશસ્ત્ર । સ્વકાય, પરકાય ઓર ઉમય-સ્વપર-કાયરૂપસે દ્રવ્યશસ્ત્ર ત્રીન પ્રકાર કા હૈ । મન વચન ઓર કામકા ઉપ્રયોગ કરના માવશસ્ત્ર હૈ ।

પૃથ્વીકાય કા આરમ કરનેવાલે, પૃથિવીકાય સે મિન્ન અનેક અપ્કાય આદિ સ્થાવર જીવો કો, તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ પ્રસ જીવો કો મી હિંસા કરતે હૈ ।

### (૬) ઉપમોગદ્વાર-

સસાર મેં શ્વલુ સે દ્રવ્યલિંગી હૈ । જિસે-‘હમ પચ્ચમહાવ્રતધારી હૈ, સબ આરમ

એ બતાવવા માટે કહે છે —‘પુદવીસત્ય’ इत्यादि

પૃથ્વીશસ્ત્રનો અર્થ છે-પૃથ્વીકાયની હિંસા કરવાવાળાં શસ્ત્રો જેનાથી હિંસા થઈ શકે તે શસ્ત્ર કહેવાય છે શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે (૧) દ્રવ્ય શસ્ત્ર અને (૨) માવ-શસ્ત્ર-સ્વકાય, પરકાય, અને ઉમય-સ્વ-પરકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્ર ત્રણ પ્રકારના છે મન, વચન અને કામના દુષ્પ્રયોગ કરવા તે માવશાસ્ત્ર છે

પૃથ્વીકાયનો આરમ કરવાવાળા, પૃથ્વીકાયથી બિન્ન અનેક અપ્કાય આદિ સ્થાવર જીવોની તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ પ્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે

### (૬) ઉપમોગ-દ્વાર-

સસારમાં શ્વલુ દ્રવ્યલિંગી સાધુ છે જેવી રીતે “અમે પચ્ચમહાવ્રતધારી પ્ર આ.-૫૩

પ્રલપ્તો દ્રવ્યલિંગિનઃ સન્તિ તાન્ પૃથક્=પૃથગ્માત્રેન પઠ્ય ।

(૪) વધદ્વારં, (૫) શસ્ત્રદ્વારં ચ ।

इमे स्वत्वनगारामिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते,  
नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति—

यद्=यस्माद् विरूपरूपैः=विभिन्नरूपैर्नानाविधैः शस्त्रैः=लोष्टपाषाणा  
दिभिः स्वकायरूपैः, अन्यादिभिः=परकायरूपैः हलकुहालस्त्रनिष्ठादिभिस्तदुभयरूपैः  
पृथिवीकर्मसमारम्भेण=पृथिव्या कर्मसमारम्भ-पृथिवीकर्मसमारम्भ पृथिवी-  
माभित्य ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धनिवन्धनसाधयव्यापार, तेन इमं=  
पृथिवीकायं विहितसन्ति । पृथिवीकायहिंसायां प्रवृत्ताः स्वतः पञ्जीवनिकाय

करते हुए द्रव्यलिङ्गी हैं उन्हें पृथक् देखो ।

(૪) વધ ઓર (૫) શસ્ત્રદ્વાર

અપને આપ કો અનગાર સમસને વાલે યે દ્રવ્યલિંગી સાધુ કે ગુણો મેં તનિકની  
પ્રવૃત્ત નહીં હોતે, ઓર ન ગૃહસ્થો કે કિસી કાર્ય કા ત્યાગ કરતે હૈં, યહ જાત બતલાતે હૈં—

ये द्रव्यलिङ्गी लोभ विभिन्न प्रकार के मिट्टी, पत्थर आदि स्वकाय-शस्त्रों से  
अग्नि आदि परकाय-शस्त्रों से, हल, कुहाल आदि खोदने के साधनरूप उभयरूप  
शस्त्रों से पृथिवीकर्मसमारम्भ करते हैं, अर्थात् पृथिवी के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि  
आठ प्रकार के कर्मबन्ध का कारण साधय व्यापार करते हैं, और उस से पृथिवीकाय  
की हिंसा करते हैं । पृथिवीकाय की हिंसा में प्रवृत्त होने वाला पुरुष छहों जीवनिकायों

મિથ્યા પ્રલાપ કરનારા દ્રવ્યલિંગી છે તેને બુદ્ધા બુદ્ધા બાવથી જુઓ.

(૪) વધ અને (૫) શસ્ત્ર દ્વાર—

પોતેજ પોતાને અજુગાર—સાધુ સમજવાવાળા એ દ્રવ્યલિંગી, સાધુના શુભોર્માં  
જરા પણ પ્રવૃત્ત થતા નથી અને ગૃહસ્થોના કોઈ કામને ત્યાગ કરતા નથી. એ  
વાત બતાવે છે —

એ દ્રવ્યલિંગી લોભ બુદ્ધા-બુદ્ધા પ્રકારની માટી, પથ્થર આદિ સ્વકાય શસ્ત્રોથી  
અગ્નિ આદિ પરકાય શસ્ત્રોથી હળ, કોદાળી આદિ ખોદવાના સાધનરૂપ ઉભયકાય  
શસ્ત્રોથી પૃથ્વીકર્મસમારંભ કરે છે અર્થાત્ પૃથ્વીના નિમિત્તથી જ્ઞાનાવરણીય આદિ  
આઠ પ્રકારના કર્મબંધના કારણ સાધય વ્યાપાર કરે છે, અને તેથી પૃથ્વીકાયની હિંસા  
કરે છે પૃથ્વીકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્ત થવાવાળા પુરુષ છજીવનિકાયોની હિંસા કરે છે

ચિત્ત મુદ્ધાણુવધ, નિચ્ચાણ ત્ત જિર્ણિદેહિ ॥ ૪૪ ॥ ( પચ્ચાશક ટીકા ૭ વિ )

“ જિણમવળાઢ જે ઉદ્ધરતિ મત્તીઈ સહિયપહિયાઢ ।

તે ચદ્ધરતિ અપ્પ, મીમાઓ મવસમુદ્ધાઓ ॥ ” ( ધર્મસંગ્રહટીકા ૨ અધિ )

છાયા—“ જિનમવનકારણવિધિ —શુધ્ધા મૂર્મિર્દલ ચ કાષ્ઠાદિ ।

મૃતકાનતિસંધાન, સ્વાશયટ્ટદિશ્વ (ગોમનાશયટ્ટદિ) યતના ચ ॥

પતસ્ય ફલ મણિત, ઇત્યાજ્ઞાકારિણસ્તુ શ્રાદ્ધસ્ય ।

ચિત્ર મુસ્તાનુવધ, નિર્વાણાન્ત જિનેન્દ્ર ( મણિતમ્ ) ॥ ૪૪ ॥

જિનમવનાનિ યે ઉદ્ધરન્તિ મત્તયા શટિતપતિતાનિ ।

તે ઉદ્ધરન્ત્યાત્માન મીમાઢ મવમમુદ્ધાઢ ” ઇતિ ચ ॥

તથૈવ શાસ્ત્રનિપિદે પૂજાપ્રતિષ્ઠાદિસાવધકાર્યે પ્રવૃત્તયા દ્રવ્યપલિક્ષિનોઽપિ  
સ્વાત્માનં મુનિમેવ મન્યન્તે । યે પૃથિવીશસ્ત્ર પ્રયુજ્ઞાના પદ્મજીવનિકાય-

આરાધક ધાવક કો મગવાન્ ને હસ કા ફલ હસ પ્રકાર થતાયા હૈ—“ઉસકો અનેકાનેક  
મુલો કા અનુબન્ધ હોતા હૈ ઓર પરમ્પરા સે મોક્ષ કી પ્રાપ્તિ હોતી હૈ ” ।  
( પચ્ચાશકટીકા ૭ વિ )

“ જો પુરુષ ઘેળ જિનમવનો કા મક્ષિસે ઉદ્ધાર કરાતે હૈં વે મીમ મવસાગર સે અપની  
આમા કો તારતે હૈ ” । ( ધર્મસંગ્રહટીકા ૨ અધિ )

હસી પ્રકાર શાસ્ત્રનિપિદ પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ સાવધ કાર્યો મેં પ્રવૃત્તિ કરકે  
દ્રવ્યલિંગી મી અપનને આપ કો મુનિ માનતે હૈં । આગય હૈ કિ—જો લોક પૃથિવી-  
શસ્ત્ર કા પ્રયોગ કરકે પદ્મજીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોક કી હિંસા કરતે હૈં,  
ઓર મગવાનકા નામ ઠેકર ત્વય સ્વોટી પ્રરૂપણા કરતે હૈં અત વે દ્રવ્ય

મગવાને તેનું ફલ આ પ્રમાણે બતાવ્યું છે—તેને અનેકાનેક મુખોને અનુબન્ધ થાય  
છે; અને પરમ્પરાથી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે ” ( પચ્ચાશકટીકા ૭ વિ )

“ જે પુરુષ છૂલ્લ થયેલું જિનમદિર, તેને ભક્તિથી ઉદ્ધાર કરાવે છે તે મહાન  
બવસાગરથી પોતાના આત્માને તારે છે ” ( ધર્મસંગ્રહટીકા ૨ અધિ )

આજ પ્રમાણે શાસ્ત્રનિપિદ પૂજા, પ્રતિષ્ઠા આદિ સાવધ કાર્યોમા પ્રવૃત્તિ કરીને  
દ્રવ્યલિંગી પણ પોતે પોતાને મુનિ માને છે આશય જો છે કે—જે લોક પૃથ્વીશસ્ત્રને  
પ્રયોગ કરીને પદ્મજીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે અને મગવાનનું  
નામ લઈને પોતે જોટી પ્રરૂપણા કરે છે માટે તે દ્રવ્યલિંગી છે, સાચા

સર્વાસ્મપરિત્યાગિન' પટ્કાયરક્ષકા અનગારા' (સાધવઃ) સ્મઃ' ઇતિ વદન્તો દષ્ટિ  
શાક્યાદયઃ સન્તિ । તત્ર કેચિદેહશુદ્ધયર્થં મૃત્તિકાસ્નાયિનો મવન્તિ । કેચિત્સ્વનિવાસાર્થં  
ગૃહાદિનિર્માણકરણ કુદાલસ્વનિત્રાદિમિ પૃથિવીકાયમુપમર્દયન્તિ । કેચિત્ સ્વોદર-  
પૂર્ણ્યર્થં કૃષ્ણાદિકર્મ કુર્વન્તિ । કેચિન્ચ દેવકુલાધ્યર્થં સાવધમુપદિશન્તિ પાર્શ્વ-  
દેવ-ગુર્વાદિ-પ્રતિમાનિર્માણે જીર્ણોદ્ધારકરણે ચ મહામીમમવસમુદ્રાદાત્મનઃ સમુદારો  
મવતીતિ મન્યન્તે, વદન્તિ ચ—

“જિનમવળકારણવિધી, સુદ્ધા ભૂમી દલં ચ કદાર્હ । મિયગાણસપાળં,  
સાસયણુકી ય જયણા ય ॥૯॥ એયસ્સ ફલં મણિયં, ઇય આણાકારિણો ડ સહુસ્સ ।

और परिमृद् के त्यागी हैं, पट्काय के रक्षक साधु हैं' । इस प्रकार कहने वाले दण्डी शाक्य  
आदि हैं । इन में कोई-कोई तो शरीर की शुद्धि के लिए मिट्टी से स्नान करते हैं । कोई  
अपने रहने के लिए मकान आदि बनाने में कुदाल स्नित्र (कुस) आदि खोदने के साधनों  
द्वारा पृथ्वीकाय का उपमर्दन करते हैं । कोई-कोई अपना पेट भरने के उद्देश्य से खेती आदि  
करते हैं । कोई देवकुल आदि के लिए सावध उपदेश देते हैं—देव गुरु आदि की पार्श्व  
प्रतिमा निर्माण कराने से और जीर्णोद्धार कराने से भवसागर से आत्मा का तरना होता है,  
ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि—

“જિનમવન બનાવે કી વિધિ સુ પ્રકાર હૈ—“શુદ્ધ ભૂમિ, શુદ્ધ ઈંટ, પથ્થર,  
કાષ્ટ આદિ હોના, કાર્ય કરવે વાળે કારીગરો કો પ્રસન્ન રાખના, અપને પરિણામ  
ઉત્તરોત્તર વધતે હુપ રક્ષક થતનાપૂર્વક કાર્ય કરાના” इत्यादि । भगवान की आज्ञाके

છીએ. સર્વ આશના અને પરિચ્છેદના ત્યાગી છીએ, પટ્કાયના રક્ષક સાધુ છીએ.' આ  
પ્રમાણે ઠહેવાવાળા દેવી શાક્ય આદિ છે તેમા કોઈ-કોઈ તો શરીરની શુદ્ધિ માટે  
માટીથી સ્નાન કરે છે કોઈ પોતાને રહેવા માટે મકાન બાંધે બનાવવામાં ઠેકાણી,  
ઠેકા આદિ ખોદવાનાં સાધનો દ્વારા પૃથ્વીકાયનું ઉપમર્દન કરે છે, કોઈ-કોઈ પોતાનું  
પેટ ભરવાના ઉદ્દેશથી ખેતી કરે છે; કોઈ દેવકુળ આદિને માટે સાવધ ઉપદેશ  
કરે છે—દેવ, શુદ્ધ આદિની પાર્શ્વ પ્રતિમા નિર્માણ કરાવવામાં અને જીર્ણોદ્ધાર કરા  
વામાં ભવસાગરથી આત્મા તરી શકે છે, એવું માન છે અને ઠહે છે કે —

“જિનમહિર બનાવવાની વિધિ આ પ્રમાણે છે:—શુદ્ધ ભૂમિ, શુદ્ધ ઈંટો, પથ્થર,  
કાષ્ટ આદિ બોધીએ કામ કરવાવાળા કારીગરોને પ્રસન્ન રાખવા, પોતાનાં પરિણામ ઉત્તરોત્તર  
વધતા રાખીને થતનાપૂર્વક કામ કરવું” इत्यादि.. भगवानની आज्ञानા અનુસાર આવકને

સમારમતે સમણુજાણહ । ત સે અહિયાણ, ત સે અગ્રોહીણ ॥ સુ. ૩ ॥

છાયા—

તત્ર સ્વલુ ભગવતા પરિજ્ઞા પ્રવેદિતા । અસ્ય ચૈવ જીવિતસ્ય પરિવન્દન-માનન-પૂજનાય, જાતિ-મરણ-મોચનાય દુ સ્વપ્રતિષ્ઠાતહેતુ, સ સ્વયમેવ પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમતે, અન્યૈર્વા પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમ્મયતિ, અન્યાન્ વા પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ સમણુજાનાતિ । તત્ તસ્ય અહિતાય, તત્ તસ્ય અબોધયે ॥ સુ. ૩ ॥

ટીકા—

તત્ર=પૃથિવીકાયસમારમ્મે ભગવતા=ધ્રીમહાવીરેણ પરિજ્ઞા=સમ્યગ્વબોધ-સ્વલુ પ્રવેદિતા=પ્રવોધિતા । કર્મવન્ધસમુચ્છેદાર્થ જીવેન પરિજ્ઞાઽવશ્ય કર્મણીકરણી યેતિ ભગવતા પ્રવોધિતમિતિ ભાવ । પરિજ્ઞા દ્વિવિધા, જ્ઞ-પ્રત્યાખ્યાન-મેદાત્ । ‘સાવધવ્યાપાર ઇવ કર્મવન્ધસ્ય કારણ’-મિતિ જ્ઞાન-જ્ઞપરિજ્ઞા, તદ્વ્યાપારપરિત્યાગ-પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા ।

જહ આરમ ઉસકે અહિત કે લિપ્ ઓર ઉસકો અગ્રોધિ કે લિપ્ હૈ ॥ સુ. ૩ ॥

ટીકાર્થ—પૃથિવીકાય કે સમારમ કે વિષય મેં ભગવાન્ શ્રી મહાવીર સ્વામીને સમ્યગ્વબોધરૂપ પરિજ્ઞા કા સદુપદેશ દિયા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-કર્મવન્ધ કો નષ્ટ કરન કે લિપ્ બીવ કો વહ પરિજ્ઞા અવશ્ય હી સ્વીકાર કરની ચાહિપ્, પેસા ભગવાન્ને કહા હૈ । પરિજ્ઞા દો પ્રકાર કી હૈ—જ્ઞપરિજ્ઞા ઓર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા । ‘સાવધ વ્યાપાર સે હી કર્મવન્ધ કા કારણ હોતા હૈ’ પેસા જ્ઞાનના જ્ઞ-પરિજ્ઞા હૈ ઓર સાવધવ્યાપાર કા ત્યાગ કરના પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા હૈ ।

અહિત માટે અને તે તેની અગ્રોધિ માટે છે (૩)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયના સમારમના વિષયમાં ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ સમ્યગ્વબોધરૂપ પરિજ્ઞાને સદુપદેશ આપ્યો છે તાત્પર્ય એ છે કે-કર્મબંધને નાશ કરવા માટે જો તે પરિજ્ઞા અવશ્યજ્ઞ સ્વીકાર કરવી જોઈએ, એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે પરિજ્ઞા એ પ્રકારની છે જ્ઞપરિજ્ઞા, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, ‘સાવધ વ્યાપારજ્ઞ કર્મબંધનું કારણ થાય છે’ એ પ્રમાણે બંધનું તે જ્ઞ-પરિજ્ઞા છે, અને સાવધ વ્યાપારને ત્યાગ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા છે

રૂપં લોકં સર્વમેવ વિહિસન્તિ તે દ્રવ્યલિંગિનો નાનગારા इति भाव', उक्तम्—

“सावज्जा किरिया जेत्ति, सावज्जा देसणा तहा ।

ममति दीहससारे, ते सव्वे दव्वलिङ्गिणो ॥ १ इति ॥ सू. २ ॥

एव शाक्यादीनां पृथिवीकायोपमर्दकत्वेन द्रव्यलिङ्गित्वं प्रतिबोधितं भगवतेति जम्बूस्वामिनं सुधर्मा स्वामी कथयति—‘तत्थे’—त्यादि ।

॥ मूलम् ॥

तत्થ સ્વહુ મગધયા પરિણા પવેશ્યા, ઇમસ્સ ચેવ જીવિયસ્સ પરિકંદન-  
માણસ-પૂયણાપ આશ્મરણમોયણાપ, દુક્કલપહિધાયહેઠ, સે સયમેવ પુઢવિ  
સત્થં સમારંમહ, અણ્ણેહિ વા પુઢવિસત્થં સમારંભાવેહ, અણ્ણે વા પુઢવિસત્થં

લિંગી છે—સવ્વે બનગાર નહીં છે । કહ્યા મી છે—

“जिन की क्रिया सावध है और जिनका उपदेश सावध है, वे दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करते हैं । उन सबको द्रव्यलिङ्गी जानना चाहिए” ॥ सू. २ ॥

इस प्रकार पृथिवीकाय का उपमर्दन करने वाले होने से शाक्य आदि को भगवान् ने द्रव्यलिङ्गी कहा है । यह बात सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—‘तत्थ स्वहू’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—મગધાનું ને પરિણા કા ઉપદેશ દિયા છે । ઇસી બીજન કે લિપ્—  
બન્ધના, માન ઔર પૂજન કે લિપ્, જન્મ ઔર મરણ સે મુક્ત હોને કે લિપ્, દુઃખ કા નાશ  
કરને કે લિપ્, વહ સ્વયં હી પૃથ્વીકાય કા આરંભ કરતા છે, દૂસરો સે પૃથ્વીકાયકા  
આરંભ કરાતા છે, ઔર પૃથ્વીકાયકા આરંભ કરને વાકે દૂસરો કા અનુમોદન કરતા છે ।

અણુઆર-સાધુ નથી. કહ્યું છે કે —

“જેની ક્રિયા સાવધ છે, અને જેનો ઉપદેશ સાવધ છે, તે દીર્ઘ સંસારમાં પરિભ્રમણ કરે છે તે સર્વને દ્રવ્યલિંગી બાણવા બોધવો” (સૂ. ૨)

જો પ્રમાણે પૃથ્વીકાયનું ઉપમર્દન—નાશ કરવાવાળા હોવાથી શાક્ય આદિને ભગવાને  
દ્રવ્યલિંગી કહ્યા છે આ વાત સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે—‘તત્થ’—ઈત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને પરિણાનો ઉપદેશ આપ્યો છે, આ જીવનને માટે, વંદના,  
માન અને પૂજન માટે, જન્મ અને મરણથી મુક્ત હોવાના માટે, દુઃખને નાશ કરવા  
માટે તે પોતે જ પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરે છે, બીજાથી પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરાવે  
છે, અને પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરનાર બીજાને અનુમોદન આપે છે તે આરંભ તેના

સમારમ્ભે સમણુજાણહ । ત સે અહિયાણ, ત સે અવોહીણ ॥ સૂ. ૩ ॥

છાયા—

તત્ર સ્વલુ ભગવતા પરિજ્ઞા પ્રવેદિતા । અસ્ય ચૈવ જીવિતસ્ય પરિવન્દન-માનન-પૂજનાય, જાતિ-ભરણ-મોચનાય દુ સ્વપ્રતિષ્ઠાતહેતુ, સ સ્વયમેવ પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમ્ભે, અન્યૈર્વા પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમ્ભયતિ, અન્યાન્ વા પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમ્ભમાણાન્ સમનુજાનાતિ । તત્ તસ્ય અહિતાય, તત્ તસ્ય અબોધયે ॥ સૂ. ૩ ॥

ટીકા—

તત્ર=પૃથિવીકાયસમારમ્ભે ભગવતા=શ્રીમહાવીરેણ પરિજ્ઞા=સમ્યગ્વબોધ\* સ્વલુ પ્રવેદિતા=પ્રવોધિતા । કર્મબન્ધસમુચ્છેદાર્થ જીવેન પરિજ્ઞાઽવશ્યં શરણીકરણી યેતિ ભગવતા પ્રવોધિતમિતિ ભાવ । પરિજ્ઞા દ્વિવિધા, જ્ઞ-પ્રત્યાખ્યાન-મેદાત્ । ‘સાવધવ્યાપાર ઇવ કર્મબન્ધસ્ય કારણ’-મિતિ જ્ઞાન-જ્ઞપરિજ્ઞા, તદ્વ્યાપારપરિજ્ઞાગ-પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા ।

વહ મારમ ડસકે અહિત કે છિપ્ ઓર ડસકો અબોધિ કે છિપ્ હૈ ॥ સૂ. ૩ ॥

ટીકાર્થ—પૃથિવીકાય કે સમારમ્ભ કે વિષય મેં ભગવાન્ શ્રી મહાવીર સ્વામીને સમ્યગ્વબોધરૂપ પરિજ્ઞા કા સદુપદેશ દિયા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—કર્મબન્ધ કો નષ્ટ કરન કે છિપ્ જીવ કો વહ પરિજ્ઞા અવશ્ય હી સ્વીકાર કરની યાહિપ્, પેસા ભગવાન્ને કહા હૈ । પરિજ્ઞા ડો પ્રકાર કો હૈ—જ્ઞપરિજ્ઞા ઓર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા । ‘સાવધ વ્યાપાર સે હી કર્મબન્ધ કા કારણ હોતા હૈ’ પેસા જાનના જ્ઞ-પરિજ્ઞા હૈ, ઓર સાવધવ્યાપાર કા ત્યાગ કરના પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા હૈ ।

અહિત માટે અને તે તેની અબોધિ માટે છે (૩)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયના સમારમ્ભના વિષયમાં ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીએ સમ્યગ્વબોધરૂપ પરિજ્ઞાનો સદુપદેશ આપ્યો છે તાત્પર્ય એ છે કે—કર્મબન્ધને નાશ કરવા માટે જીવે તે પરિજ્ઞા અવશ્યજ્ઞ સ્વીકાર કરવી જોઈએ, એ પ્રમાણે ભગવાને કહ્યું છે પરિજ્ઞા બે પ્રકારની છે જ્ઞપરિજ્ઞા, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, ‘સાવધ વ્યાપારજ્ઞ કર્મબન્ધનું કારણ થાય છે’ એ પ્રમાણે જાણવું તે જ્ઞ-પરિજ્ઞા છે, અને સાવધ વ્યાપારનો ત્યાગ કરવો તે પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞા છે



સ્વં લોક સર્વમેવ વિહિસન્તિ તે દ્રવ્યલિંગિનો નાનગારા इति भावः, उक्तम्—

“सावज्जा फिरिया जेसिं, सावज्जा देसणा तहा ।

ममति दीहससारे, ते सव्वे दव्वलिंणिणो ॥ १ इति ॥ सू. २ ॥

एव श्वाक्यादीनां पृथिवीकायोपमर्दकत्वेन द्रव्यलिङ्गित्वं प्रतिबोधितं भगवतेति जम्बूस्वामिनं सुधर्मा स्वामी कथयति—‘तत्त्वे’—त्यादि ।

॥ मूलम् ॥

तस्य स्वત્વ મગવયા પરિણા પવેશ્યા, હમસ્સ ચેવ જીવિયસ્સ પરિબંદન-  
માણણ-પૂયશાણ આશ્રમરણમોયણાણ, દુક્કલપહિયાયહેઠ, સે સયમેવ પુઠ્ઠવિ-  
સત્યં સમારંભશ્ચ, અણ્ણેહિં વા પુઠ્ઠવિસત્યં સમારંભાવેશ્ચ, અણ્ણે વા પુઠ્ઠવિસત્યં

લિંગી છે—સત્ત્વે અનગાર નહીં છે । કહા મી છે—

“જિન કી ક્રિયા સાવધ છે ઓર જિનકા ઉપદેશ સાવધ છે, તે વીધ સસારમેં પરિભ્રમણ કરતે છે । उन सबको ब्रह्मलिंगी जानना चाहिए” ॥ सू. २ ॥

इस प्रकार पृथिवीकाय का उपमर्दन करने वाले होने से शाक्य आदि को भगवान् ने ब्रह्मलिंगी कहा है । यह बात सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—‘तत्त्वं स्वतु’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—મગવાને પરિણા કા ઉપદેશ વિચાર છે । इसी जीवन के लिए—  
વન્દના, માન ઓર પૂજન કે લિપ્ત, જન્મ ઓર મરણ સે મુક્તિ હોને કે લિપ્ત, દુઃસ કા નાશ  
કરને કે લિપ્ત, વહ સ્વયં હી પૃથ્વીકાય કા આરમ કરતા છે, દુસરો સે પૃથ્વીકાયકા  
આરમ્મ કરાતા છે, ઓર પૃથ્વીકાયકા આરમ કરને વાલે દુસરો કા અનુમોદન કરતા છે ।

બાલુઆર—સાધુ નથી. કહ્યું છે કે —

“જેની ક્રિયા સાવધ છે, અને જેનો ઉપદેશ સાવધ છે, તે વીધ સસારમાં પરિભ્રમણ કરે છે તે સર્વને દ્રવ્યલિંગી બાલુવા બોધવો ” (સૂ. ૨)

જો પ્રમાણે પૃથ્વીકાયનું ઉપમર્દન—નાશ કરવાવાળા હોવાથી શાક્ય આદિને ભગવાને દ્રવ્યલિંગી કહ્યા છે આ વાત સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે—‘તત્ત્વ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ભગવાને પરિણાનો ઉપદેશ આપ્યો છે, આ જીવનને માટે, વંદના,  
માન અને પૂજન માટે, જન્મ અને મરણથી મુક્તિ હોવાના માટે, દુઃખનો નાશ કરવા  
માટે તે પોતે જ પૃથ્વીકાયનો આરમ્મ કરે છે, બીજાથી પૃથ્વીકાયનો આરમ્મ કરાવે  
છે, અને પૃથ્વીકાયનો આરમ્મ કરનાર બીજાને અનુમોદન આપે છે તે આરમ્મ તેના

કરણે, માનન=જનસત્કાર, તદર્થ, યથા-કીર્તિસ્તમ્માદિકરણે પૂજન=વસ્ત્રસ્નાદિ-  
પુરસ્કારલાભસ્તદર્થ, યથા-ગિલ્પિનાં રાજદેવપ્રતિમાદિકરણે । જાતિમરણમોચ-  
નાય-જાતિ=જન્મ, તદર્થ મવાન્તરમુલ્ખપાપ્ત્યર્થ દેવકુલાદિકરણે, મરણ=  
મરણ યેષા જાત તદર્થ મૃતપિત્રાદિસ્મરણાર્થમિત્યર્થ, યથા સ્તૂપચૈત્યાદિ-  
કરણે, મોચન=મુક્તિસ્તદર્થ, યથા-દેવમવનપ્રતિમાદિકરણે । યદ્રા જાતિમરણ-  
મોચનાય=જન્મમરણચિમુક્તયે । તથા દુઃખમતિગાતહેતુ=દુઃખવિધ્વસાર્થ, યથા-

આદિ બનવાનેસે પ્રશંસા હોયી છે । માનન અર્થાત્ જનતાદ્વારા મિલને ચાલા સત્કાર । ઠસ સત્કાર  
કે લિપ્ કીર્તિસ્તમ્મ (મેમોરિયલ) આદિ બનવાકર સમારમ્મ કરતે હૈં । પૂજન કા અર્થ હૈ-  
વસ્ત્ર યા રત્ન આદિ કા પુરસ્કાર પાના । જૈસે શિશ્ની લોગ પુરસ્કાર પાને કે ઉદ્દેશ્ય સે રાજા  
યા દેવતા કી પ્રતિમા બનાતે હૈં ।

જન્મ, મરણ ઔર મુક્તિ કે લિપ્ મી પૃથ્વીકાયકા સમારમ્મ ક્રિયા જાતા હૈ । જન્મ  
કે લિપ્ જૈસે મવાન્તર મૈં મુલ્ક પાને કે લિપ્ દેવકુલ આદિ કા નિર્માણ કરાને મૈં ઔર મૃત્યુ  
કે લિપ્ જૈસે મૃત પિતા આદિ કા સ્મારક (સ્તૂપ-ચૈત્ય) બનવાને મૈં, ઔર મોચન કે અર્થાત્  
મુક્તિ કે લિપ્ દેવમવન ઇવ્ઝ ઁનકી પ્રતિમા બનવાને મૈં, અથવા જન્મ-મરણ-  
મોચન કા અર્થ હૈ-જન્મ ઔર મરણસે મુક્ત હોના, ઁસ કે લિપ્ પૃથ્વીકાય કા  
સમારમ્મ કરતે હૈં ।

તથા દુઃસકા નાશ કરને કે લિપ્ મી પૃથ્વીકાય કા સમારમ્મ કરતે હૈં, જૈસે  
આરભ કરે છે માનન અર્થાત્ જનતા દ્વારા મળવાવાળો સત્કાર, તે સત્કાર માટે-  
કીર્તિસ્તમ્મ (મેમોરિયલ) આદિ બનાવીને સમારભ કરે છે પૂજનનો અર્થ છે-વસ્ત્ર  
અથવા રત્ન આદિનો પુરસ્કાર પ્રાપ્ત કરવો. તે માટે શિશ્નીલોગ રાજાની દે દેવતાની  
પ્રતિમા બનાવવામાં સમારભ કરે છે

જન્મ મરણ મોચન (મૂકાવવા) માટે પણ પૃથ્વીકાયનો સમારભ કરવામાં આવે  
છે જન્મના માટે જેમ ભવાન્તરમાં સુખ પ્રાપ્ત કરવા માટે દેવકુલ આદિના નિર્માણ  
કરાવવામાં, અને મૃત્યુ માટે જેમ મૃત પિતા આદિનું સ્મારક સ્તૂપ-ચૈત્ય બનાવવામાં,  
મોચન અર્થાત્ મુક્તિને માટે દેવભવન એવ તેની પ્રતિમા બનાવવામાં, અથવા જન્મ-  
મરણ-મોચનનો અર્થ છે-જન્મ અને મરણથી મુક્ત થવું, તે માટે પૃથ્વીકાયનો સમારભ કરે છે

તથા દુઃખનો નાશ કરવા માટે પણ પૃથ્વીકાયનો સમારભ કરે છે, જેમ-શ્રીમન્ના

जीवः कस्मै प्रयोजनाय पृथिवीकाय प्रति सावधव्यापार करोती ?-स्याह-  
 'इमस्स चेवे'-त्यादि । अथैव विद्युद्युताविलासवत्क्षणमङ्गुरस्य जीवितस्य जीवन-  
 स्वार्थे चिरसुखार्थे, प्रासादसदनादिरचनार्थे, गमना-गमना-वस्थानो-पवेशन-पार्श्व-  
 परिवर्तन-पुतलिकामतिमादिकरणो-धारमस्रवणादिकरणो-पकरणादिग्रहणनिक्षेपना-  
 ऽऽलेपन-ग्रहण-भूषण-क्रय-विक्रय-कृपिकरण-भाण्डादिनिर्माणार्थमित्यर्थः । तथा  
 परिवन्दन-मानन-पूजनाय, परिवन्दन=प्रशंसा, तदर्थं यथा \*आश्चर्यगृहादि

जीव किस प्रयोजनके लिये पृथिवीकाय के विषय में सावध व्यापार करता है ? सो  
 बतलाते हैं—

विद्युली की चमक के समान इस क्षणविनश्वर जीवन के चिरकालीन सुख के उद्देश  
 से महल, मकान आदि का निर्माण कराने के लिए, अथवा गमन, आगमन, अवस्थान  
 (स्थित रहना), उपवेशन (बैठना), पार्श्व-परिवर्तन (पसबाढा बदलना), पुतली बनाना,  
 प्रतिमा बनाना, मल-मूत्र त्यागना, उपकरण आदि ग्रहण करना, रखना, छेपकरना, ग्रहण  
 करना, सभाना, स्त्रीयना, बेचना, खेती करना, तथा वर्तन आदि बनाना, इत्यादि  
 कार्यों के लिए सावध व्यापार किया जाता है ।

इस के अतिरिक्त परिवन्दन मानन और पूजन के लिए भी सावध व्यापार  
 किया जाता है । परिवन्दन अर्थात् प्रशंसा के लिए, जैसे आश्चर्यगृह (आश्चर्य घर)

एव कथा प्रयोजन भाटे पृथ्वीकायना विषयमा सावध व्यापार करे छे ? ते  
 बतावे छे —

विद्युलीया अमकशनी समान आ क्षणवशुर एवमन्ना चिरकालीन (दावा  
 समय सुधी) सुअन्ना उद्देशशी, महल मकान आदि बनाववाने भाटे, अथवा गमन,  
 आगमन, अवस्थान, (स्थित रहवुं) उपवेशन, (बिस्वुं) पार्श्व-परिवर्तन, (पठभा-  
 णदलवां) पुतली बनाववी, प्रतिमा बनाववी, मल-मूत्र त्याग करवो, छेपकरवुं आदि  
 ग्रहण करवुं, रखवुं, छेप करवो, अकरवुं करवुं, सभारवुं, अरीदवुं, बेचवुं, खेती  
 करवी तथा वासवुं बनाववां, इत्यादि कार्यों भाटे सावध व्यापार करवामां आवे छे ।

ते सिवाय परिवन्दन मानन पूजन भाटे यखु सावध व्यापार करवामां आवे छे  
 परिवन्दन अर्थात् प्रशंसा भाटे जेम आश्चर्यगृह—(अश्चर्य घर) आदि बनाववामां

\* आश्चर्यगृहम्—'म्युशियम' 'अश्चर्यघर' इति मापाप्रसिद्धम् ।

तत्-पृथिवीकायसमारम्भण तस्य=पृथिवीशस्त्र समारम्भमाणस्य अहि-  
ताय=अरुल्याणाय भवतीति शेषः । तत्-तदेव च पृथिवीकायसमारम्भणमेव च  
तस्य पृथिवीशस्त्र समारम्भमाणस्य अवोधये=सम्यक्त्वालाभाय, जिनधर्मप्राप्त्यमावाय  
च भवति । पृथिवीकायसमारम्भण हि कृतकारितानुमोदितमेदेन त्रिविध,  
तस्यातीतवर्तमानानागतमेदेन प्रत्येक त्रैविध्ये नवधा भवति, नवविधस्यापि  
पृथिवीकायसमारम्भणस्य मनोवाक्ययोगमेदेन प्रत्येक त्रैविध्ये सप्तविंशति-  
र्भेदा भवन्ति । एवविधपृथिवीकायसमारम्भप्रवृत्तं खलु पट्कायारम्भसपातजन्य-  
घोरतरदुरितार्जनेन दुरन्तसमारदावानलज्वालान्तपात प्राप्यानन्तरकनिगोदादि-  
दुःखमनुभवन् न कदाचित्कल्याण शाश्वतसुखमद मोक्षमार्गं प्राप्नोतीति भावः ॥३॥

वह पृथिवीकाय का आरम्भ, आरम्भ करने वाले के अहित के लिए और अवोधि के  
लिए होता है । अर्थात् आरम्भ करने से सम्यक्त्व और जिनधर्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

पृथिवीकाय का आरम्भ-करना, कराना, और अनुमोदन के भेद से तीन प्रकार का  
है । इन तीनों भेदों के अतीत वर्तमान और अनागत के भेद से तीन-तीन भेद करने पर  
आरम्भ नौ प्रकार होता है । इन नौ भेदों का मन, वचन, और काय से गुणाकार कर देने  
पर सचाईस भेद हो जाते हैं ।

इस प्रकार के पृथिवीकाय के समारम्भ में प्रवृत्त पुरुष उहों कायों का आरम्भ करता  
है और अत्यन्त घोर पाप उपार्जन करके दुरन्त ससाररूपी ढावानलकी ज्वालाओं में पड़कर  
नरक निगोद आदि के दुःख भोगता हुआ न कभी कल्याण की प्राप्ति करता है और न  
शाश्वत सुख देनेवाले मोक्षमार्ग को पाता है ॥ ३ ॥

ते पृथ्वीकायनो आरब्ध इवावाणाना अहित भाटे अने अवोधिने भाटे होय  
छे अर्थात्-आरब्ध इवाधी सम्यक्त्व अने जिनधर्मनी प्राप्ति यती नथी

पृथ्वीकायनो आरब्ध-इरेवो, इरावयो अने इरवावाणाने अनुमोदन आपवो  
पजेरेना सेहथी त्रय प्रहारने छे, ओ त्रयो सेहोना भूतकाण, भविष्यकाण अने वर्त-  
मानकाणना सेहथी त्रय त्रय सेह इरवाथी आरब्ध नव प्रकारने छे ओ नव सेहोने  
मन, वचन अने काया, आ त्रयथी सुखवा पठे करी सत्तावीश सेह थर्ध आय छे

आ प्रभासे पृथ्वीकायना समारम्भार्मा प्रवृत्त पुरुष छे कायेनो आरब्ध इरे छे,  
अने अत्यन्त घोर पाप उपार्जन करीने दुरन्तससाररूपी ढावानलनी ज्वालाओंमां  
पड़ने, नरक-निगोद आदिना दुःख भोगवतां कौं वधत पण्ड कल्याणनी प्राप्ति करी  
शक्य नथी, अने शाश्वत सुख देवावाणा मोक्षमार्गने पण्ड प्राप्त यता नथी (३)

ગ્રીષ્મતાપાદિનિવારણાર્થ, સ્વચક્રપરચક્રમયનિવૃત્ત્ય ચ ધૂમિગૃહપ્રાકારાદિરચને ।  
 સ = જીવનપરિવન્દનમાનનપૂજનાચર્ય જનઃ સ્તયમેવ પૃથિવીશ્ચ  
 સમારમતે = પૃથિવ્યુપમર્દકં દ્રવ્યમાવશ્ચ જ્યાપારયતિ । અન્યૈર્વા પૃથિવીશ્ચ  
 સમારમ્યતિ = ઓચ્યવતિ પૃથિવીશ્ચ સમારમમાણાન્ અન્યાન્ સમનુજાનાતિ  
 અનુમોદયતિ ।

પ્રમતીતાનાગતામ્યાં, તથા મનોવાકાયૈશ્ચ પૃથિવીશ્ચસમારમ્મ-  
 મેદા અવગન્તવ્યાઃ ।

(૭) વેદનાદ્વાર—

પૃથિવીશ્ચ સમારમમાણ કિં ફલ પ્રાપ્નોતીત્યાહ—‘તં સે અહિયાઈ’ इत्यादि ।

ગ્રીષ્મ કે તાપ સે બચ્ને કે લિપ, અથવા સ્વચક્ર ઔર પરચક્ર કે મયકી નિવૃત્તિ, કે લિપ, મોહરા યા વહારદીવારી ( પ્રકોટા ) બનવાના । હસ પ્રકાર જીવન પરિવન્દન માનન ઔર પૂજન આદિ કે લિપ મનુષ્ય સ્વયં હી પૃથ્વીશ્ચના સમારમ્મ કરતા હૈ અર્થાત્ પૃથ્વી કા ઘાત કરને વાલે દ્રવ્ય ઔર માવશ્ચના કા જ્યાપાર કરતા હૈ ઔર પૃથ્વીશ્ચના કા પ્રયોગ કરને કરાનેવાળે દૂસરોં કા અનુમોદન કરતા હૈ ।

હસ પ્રકાર જતીત ઔર અનાગત સે તથા મન, વચન ઔર કાયસે પૃથ્વીશ્ચના કે આરમ્મ કે મેદ સમક્ષેને પાશ્વિય.

(૭) વેદનાદ્વાર—

‘પૃથ્વીશ્ચના કા આરમ્મ કરનેવાળા કયા ફલ પાતા હૈ’ સો કહ્તે હૈ—‘તં સે અહિયાઈ’ इत्यादि ।

તાપથી બચવા માટે અથવા સ્વચક્ર અને પરચક્રના બચની નિવૃત્તિ માટે હોશ અથવા ઠોટ બનાવવા

આ પ્રમાણે જીવન, પરિવહન, માનન, અને પૂજન આદિ માટે મનુષ્ય પોતેજ પૃથ્વી-શસ્ત્રનો સમારમ કરે છે અર્થાત્ પૃથ્વીનો ઘાત કરવાવાળા દ્રવ્ય અને ભાવ શસ્ત્રના વ્યાપાર કરે છે તથા બીજા પાસે પૃથ્વીશસ્ત્રનો વ્યાપાર કરાવે છે અને પૃથ્વીશસ્ત્રનો પ્રયોગ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે

આ પ્રમાણે જતીત અને અનાગત (ભૂત-ભવિષ્ય)થી તથા મન, વચન અને કાયાથી પૃથ્વીશસ્ત્રના આરમ્મના લેહોને સમજ લેવા બેધક્ષે

(૭) વેદનાદ્વાર—

પૃથ્વીશસ્ત્રનો આરમ્મ કરવાવાળા શું ફળ પામે છે ? તે કહે છે—‘તં સે અહિયાઈ’ इत्यादि.

## ॥ ટીકા ॥

ય સ્વલુ મગતત્=તીર્થંકરસ્ય, અનગારાગામ્=ત્રીયધ્રમગનિર્ન્યાનામ્,  
અન્તિકે=સમીપે, શ્રુત્વા=ઉપદેશ નિશ્ચય, આદાનીયમ્, ઉપાદેય સર્વસાવધયોગ-  
પરિત્યાગરૂપ ચારિત્ર સમુત્થાય=અક્ષીકૃત્ય વિહરતિ, સ તત્=પૃથિવીકાયસમારમ્મણમ્  
સગુણ્યમાન=અદિતાવોધિજનકત્વેન વિજ્ઞાતા ભવતીતિ ।

સ હિ એવ વિચારયતિ-હહ મનુષ્યલોકે એકેપા=શ્રમણનિર્ન્યોપદેશજાત-  
સમ્યગવધોધવૈરાગ્યાણામાત્માર્થિનામેવ જ્ઞાત=ચિદિત ભવતિ । કિં જ્ઞાત ભવતી ?-  
ત્યાકાશ્તાયામાહ—‘એસ સ્વલુ ગયે’ ઇત્યાદિ ।

એપ’ પૃથિવીશસ્ત્રસમારમ્મ સ્વલુ=નિશ્ચયેન પ્રન્ય.=પ્રવ્યતે=વચ્યતેડનેનેતિ  
પ્રન્ય=અટવિધકર્મવચ્ચ । કારણે કાર્યોપચારાત્ પૃથિવીશસ્ત્રસમારમ્મસ્ય

ટીકાર્થ—જો ભગવાન તીર્થંકર કે યા અનેક નિર્ગમ્ય શ્રમણો કે સમીપ ઉપદેશ  
સુનકર ઉપાદેય કો અર્થાત્ સર્વસાવધયોગ કે ત્યાગરૂપ ચારિત્ર કો અક્ષીકાર કરકે વિચરતા  
હૈ વહ પૃથ્વીકાયકે સમારમ્મ કો અદિતકર ઔર અવોધિજનક સમજતા હૈ ।

વહ હસ પ્રકાર વિચાર કરતા હૈ-હસ મનુષ્ય લોક મેં શ્રમણ નિર્ન્યોં કે ઉપદેશ  
સે કિન્હે સમ્યગ્જ્ઞાન ઔર વૈરાગ્ય હો ગયા હૈ અને આત્માર્થી પુરુષો કો હી જ્ઞાત હોતા હૈ ।  
અન્હે ક્યા જ્ઞાત હોતા હૈ ? એસી આકાંક્ષા હોને પર કહતે હૈ—‘એસ સ્વલુ ગયે.’  
ઇત્યાદિ ।

વહ પૃથ્વીકાય કા સમારમ્મ નિશ્ચય હી પ્રથમ હૈ અર્થાત્ બાઠ પ્રકાર કે કમૌંકા વધ  
હૈ । કારણ મેં કાર્યકા ઉપચાર કરકે પૃથિવીકાય કા સમારમ્મ કો યહો પ્રન્ય કહ્યા હૈ ।

ટીકાર્થ—જો ભગવાન તીર્થંકરની અથવા તેના નિર્ન્યો અમણોની સમીપ  
ઉપદેશ સાંભળી ઉપાદેયને અર્થાત્ સર્વસાવધયોગના ત્યાગરૂપ ચારિત્રને અક્ષીકાર  
કરીને વિચરે છે, તે પૃથ્વીકાયના સમારમ્મને અદિતકર અને અવોધિજનક સમજે છે

તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે કે—આ મનુષ્ય લોકમાં અમણ નિર્ન્યોના ઉપદેશથી  
જેને સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય થઈ ગયો છે તે આત્માર્થી પુરુષોને જ બાણુવામા હોય છે

તે શું બાણુવામા હોય છે ? એવી શંકા થતા કહે છે—‘એસ સ્વલુ ગયે’ ઇત્યાદિ  
આ પૃથ્વીકાયનો સમારમ્મ નિશ્ચય અથ છે અર્થાત્ આઠ પ્રકારના કમોંને બધ છે કારણુમાં  
કાર્યનો ઉપચાર કરીને પૃથ્વીકાયના સમારમ્મને અદિત અથ કહ્યો છે આશય એ છે કે—

## (૮) નિવૃત્તિદ્વારમ્

येन तु तीर्थंकरादीनां समीपे पृथिवीकायजीवस्वरूपं ज्ञात स एवं विजानाती-  
त्याह—‘से तं संयुज्जमाणे’ इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

સે તં સંયુજ્જમાણે આયાણીય સમુદ્ધાય સોઘા સ્વલુ મગવઓ અનગારાનાં  
અંતિણ । હરમેગે સિણાય મમહ—એસ સ્વલુ ગધે, એસ સ્વલુ મોહે, એસ સ્વલુ મારે, એસ  
સ્વલુ નરક, રૂઢિલ્ય, ગદિણ લોણ જમિણ વિરૂપરૂપેર્હિ સત્યેર્હિ પુઢવિકમ્મસમારમેજ  
પુઢવિસત્ય સમારમમાણે અણો અણેગરૂપે પાણે વિર્હિસણ ॥ સૂ ૪ ॥

छाया—

स तत् समुद्यमान आदानीय समुत्थाय श्रुत्वा स्वलु मगवत\* अनगाराभा-  
मन्तिके इहैकेपा ज्ञात भवति एष स्वलु ग्रन्थः, एष स्वलु मोह, एष स्वलु मारः,  
एष स्वलु नरक, इत्यर्थं गृद्धो लोक, यदिसं विरूपरूपैः क्लेशैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण  
पृथिवीक्षेत्र समारममाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्रणान् विर्हिसति ॥ सू ४ ॥

## (૮) નિવૃત્તિદ્વાર—

बिसने तीर्थंकर आसिके समीप में पृथिवीकाय के जीवों का स्वरूप ज्ञान लिया है,  
यह इस प्रकार जानता है—‘से त’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—જો પુરુષ તીર્થંકર મગવાન કે અથવા અનગારા કે નિકટ ઉપદેશ સુનકર  
સમજતા હૈ ઓર ઉપાદેય ( ચારિત્ર ) કો બક્ષીકાર કરકે ચિચરતા હૈ ઉસે જ્ઞાત હો જાતા હૈ કિ  
પૃથ્વીકાયકા મહ આરંભ પ્રથ હૈ, યહ મોહ હૈ, યહ માર હૈ, યહ નરક હૈ । હસ મૈ આસક  
પૃથ્વીશક્ત કા આરમ, કરને લાલુ છોક તરહ—તરહ કે શાજો સ પૃથ્વીકાયકા આરમ કરકે  
અન્ય અનેક પ્રકાર કે પ્રાણીકી હિંસા કરતા હૈ ॥ સૂ ૪ ॥

## (૯) નિવૃત્તિદ્વાર

એણે તીર્થંકર આદિના સમીપમા પૃથ્વીકાયના ભવેત્ત સ્વરૂપ બાણી લીધું છે,  
તે આ પ્રમાણે બાણે છે—‘સે ત’ ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે પુરુષ તીર્થંકર મગવાનની અથવા અનગારાની સમીપ ઉપદેશ  
સંભળીને સમજે છે, અને ઉપાદેય (ચારિત્ર)ને અભીકાર કરીને વિચરે છે, તેને માલુમ  
પડે છે કે—પૃથ્વીકાયને આરબ જે થય છે, જે મોહ છે, જે માર છે, જે નરક છે,  
જેમા આસકત પૃથ્વીશક્તને આરબ કરવાવાળા બાત—બાતના શત્રુથી પૃથ્વીકાયને  
આરબ કરીને અન્ય અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે (૪)

## ॥ ટીકા ॥

યઃ સ્વલુ મગવતઃ=તીર્થંકરસ્ય, અનગારાગમ્=ત્રીયશ્રમણનિર્ગ્ન્યાનામ્, અન્તિકે=સમીપે, શ્રુત્વા=ઉપદેશ નિશમ્ય, આદાનીયમ્, ઉપાદેય સર્વસાવધયોગ-પરિત્યાગરૂપ ચારિત્ર સમુત્પાદ્ય=અક્ષીકૃત્ય વિહરતિ, સ તત્=પૃથિવીકાયસમારમ્મણમ્ સવુધ્યમાનઃ=અહિતાવોધિજનકત્વેન વિજ્ઞાતા ભવતીતિ ।

સ હિ એવ વિચારયતિ-इह मनुष्यलोके एकेपां=શ્રમણનિર્ગ્ન્યોપદેશસજાત-સમ્યગ્વોધવૈરાગ્યાણામાત્માર્થિનામેવ જ્ઞાત=વિદિત ભવતિ । કિં જ્ઞાત ભવતી ?-ત્યાકાશ્સાયામાહ—‘एस खलु गये’ इत्यादि ।

एष पृथिवीशत्रुसमारम्भ खलु=નિશ્ચયેન પ્રથ =પ્રત્યયતે=વ્રથ્યતે=નેનેતિ પ્રન્ય=અટવિધકર્મવન્ધ । कारणे कार्योपचारात् पृथिवीशत्रुसमारम्भस्य

ટીકાર્થ—જો મગવાનું તીર્થંકર કે યા અને નિર્ગય શ્રમણો કે સમીપ ઉપદેશ સુનકર ઉપાદેય કો અઘાત્ સર્વસાવધયોગ કે ત્યાગરૂપ ચારિત્ર કો અક્ષીકાર કરકે વિચરતા હૈ વહ પૃથ્વીકાયકે સમારમ કો અહિતકર ઓર અવોધિબનક સમક્ષતા હૈ ।

वह इस प्रकार विचार करता है-इस मनुष्य लोक में श्रमण निर्ग्रन्थों के उपदेश से जिन्हें सम्यग्ज्ञान और वैराग्य हो गया है उन आत्मारथी पुरुषों को ही ज्ञात होता है । उन्हें क्या ज्ञात होता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-‘एस खलु गये.’ इत्यादि ।

यह पृथ्वीकाय का समारम्भ निश्चय ही प्रथ है अघात् आठ प्रकार के कर्मोंका वध है । कारण में कार्यका उपचार करके पृथिवीकाय के समारम्भ को यहाँ प्रन्य कहा है ।

ટીકાર્થ—જે ભગવાન તીર્થ કરતી અથવા તેના નિર્ગ્ન્ય શ્રમણોની સમીપ ઉપદેશ સાંભળી ઉપાદેયને અર્થાત્ સર્વસાવધયોગના ત્યાગરૂપ ચારિત્રને અક્ષીકાર કરીને વિચરે છે, તે પૃથ્વીકાયના સમારભને અહિતકર અને અવોધિબનક સમક્ષે છે

તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે કે—આ મનુષ્ય લોકમાં શ્રમણ નિર્ગ્ન્યોના ઉપદેશથી જેને સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય થઈ ગયો છે તે આત્માર્થી પુરુષોને જ બલુવામા કોય છે

તે શું બલુવામા કોય છે ? એવી ચકા ચતા કહે છે—‘एस खलु गये’ इत्यादि आ पृथ्वीकायનો સમારભ નિશ્ચયજ્ઞ અથ છે અર્થાત્ આઠ પ્રકારના કર્મોને બધ છે કારણમા કાર્યનો ઉપચાર કરીને પૃથ્વીકાયના સમારભને અહિં અથ કહ્યો છે આશય એ છે કે—



પ્રત્યક્ષરૂપત્વમ્, એવમગ્રેऽપિ ચોપ્યમ્ । તથા-એવ એવ પૃથિવીસમારમ્મઃ મોહઃ=વિપર્યાસઃ,  
વિપરીતજ્ઞાનરૂપઃ । તથા-એવ એવ મારઃ=મરણમ્ નિગોદાદિમરણરૂપ' । તથા-એવ  
સ્વલ્લ નરકઃ=નારકજીવાનાં દશવિધયાત્તનાસ્થાનમ્ । હ્યર્થમ્=અર્થ કર્મબન્ધ-મોહ  
-મરણ-નરકરૂપ ધોર દુઃસ્વપ્ન પ્રાપ્ય પુનઃ પુનરેતદર્થમેવ લોકઃ=અજ્ઞાનવસ્રવર્તી  
જીવઃ મૃદઃ=લિપ્તુરસ્તિ । યદ્વા મૃદઃ=વિષયમોગાસક્તઃ લોકઃ=સસારી જીવઃ હ્યર્થ  
=અર્થમેવ-કર્મબન્ધમોહમરણનરકાર્થમેવ પ્રવર્તતે ।

યદપિ-વિષયમોગાસક્તો લોકઃ સ્તરીરાદિપરિપોષણાર્થં પરિવન્દનમાનન-  
પૂજનાર્થં જાતિમરણમોચનાર્થં દુઃસ્વપ્રતિષ્ઠાત્તાર્થં ચ પૃથિવીસ્રસમારમ્મં કરોતિ

આશય મહા હૈ કિ આરમ-પ્રત્ય (બંધ) કા કારણ હોને સે પ્રત્ય કહા ગયા હૈ । હસી પ્રકાર  
કા ઉપચાર આગે કે કથન મેં મી સમજા કેના ચાહિય ।

મહા પૃથિવીકાયસમારમ મોહ અર્થાત્ વિપર્યાસ હૈ-વિપરીત જ્ઞાનરૂપ હૈ, તથા મહી  
આરમ્મ, નિગોદ આદિ મરણરૂપ હૈ । તથા મહી આરમ નરક હૈ અર્થાત્ નારકી જીવોં કે  
લિપ્તિ દશ પ્રકાર કી ક્ષેત્ર વેદનાઓં કા સ્થાન હૈ । હસ સમારમ કે કારણ કર્મબન્ધ, મોહ, મરણ  
એવં નરકરૂપ ધોર દુઃસ્વપ્ન ફલ પ્રાપ્તકર કે મી અજ્ઞાની લોગ વાર-વાર હસી કી રૂઝા કરતે  
હૈ । અથવા સસારી જીવ વિષયમોગોં મેં આસક્ત હોતા હૈ અર્થાત્ કર્મબન્ધ, મોહ, મરણ ઓર નરક  
કે લિપ્ત હી અજ્ઞાની જીવ પ્રવૃત્તિ કરતે હૈ ।

વિષયમોગાં મેં આસક્ત જીવ યદપિ શરીર આદિ કો પુષ્ટ કરને કે લિપ્ત  
પરિવન્દન, માનન ઓર પૂજન કે લિપ્ત, જન્મ મરણ સે મુક્ત હોને કે લિપ્ત, દુઃસ્વ કા

આરમ-અથ (બંધ)નું કારણ હોવાથી અન્થ કહ્યો છે, આ પ્રમાણેના ઉપચાર આજ્ઞાના  
કથનમાં પણ સમજા લેવો જોઈએ

આ પૃથ્વીકાય-સમારમ મોહ અર્થાત્ વિપર્યાસ છે, વિપરીતજ્ઞાનરૂપ છે, તથા  
જો આરમ નિગોદ આદિ મરણરૂપ છે તથા જો આરમ નરક છે અર્થાત્ નારકીના  
લોકો માટે હસ પ્રકારની ક્ષેત્ર વેદનાઓનું સ્થાન છે આ સમારમના કારણે, કર્મબન્ધ,  
મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ધોર દુઃસ્વપ્ન ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની લોક  
વારવાર તેની ઇચ્છા કરે છે અથવા સસારી જીવ વિષયમોગોમાં આસક્ત થાય છે,  
અર્થાત્ કર્મબન્ધ, મોહ, મરણ અને નરકના માટેજ અજ્ઞાની જીવ તેમાં પ્રવૃત્તિ કરે છે

વિષયમોગોમાં આસક્ત જીવ હલ પણ શરીર આદિને પુષ્ટ કરવા માટે પરિવન્દન,  
માનન, અને પૂજનને માટે, જન્મ મરણથી મુક્ત થવા માટે દુઃસ્વનો નાશ કરવા માટે,

તથાપિ તત્ફલ કર્મવન્ધમોહમરણનરકરૂપમેવ લમન્તે, અત પૃથિવીર્મસમારમ્મસ્પ તદેવ ફલં મપતીતિ ભાવ' । इत्यर्थमिति प्रयोगस्तु यथा-अय ससारी लोको जायते मरणायैव, म्रियते च जननायैव, इति, तद्वत् ।

લોક પુન પુન' કર્મવન્ધાર્થમેવ લિપ્તુરસ્તિ, તદર્થમેવ પ્રવર્તતે વા, इति प्रतिज्ञाया हेतुमाह-'जमिण' इत्यादि ।

यद्=यस्मात्=विरूपरूपै = नानाविधै. शास्त्र=स्वकायपरकायतदुभयरूपै  
पृथिवीकर्मसमारम્मेण=पृथिव्युपमर्दकसावधन्यापारकरणेन, यद्वा-पृथिवीकायमुद्दि-  
श्याष्टविधकर्मसमुत्पादकसावधन्यापारेण, इम = पृथिवीकाय विद्मिन्स्ति,

વિનાશ કરને કે લિપ્, પૃથિવીગત્ર કા આરમ કરતા હૈ તથાપિ હસ આરમ કા ફલ ઉસે કર્મવન્ધ, મોહ, મરણ ઓર નરક કે રૂપ મેં હી મિલતા હૈ । અત એવ આશય યહ હૈ કિ-કોઈ કિસી મી અમિલાપા સે પૃથિવીકાયકા આરમ કરે મગર ફલ તો વહી કર્મ-વધ આદિ હી હોગા । (इच्छत्य) હસ કા પ્રયોગ યહ વતલને કે લિપ્ કિયા ગયા હૈ-યહ સસારી બીવ ઉત્પન્ન હોતા હૈ મરને કે લિપ્ ઓર મરતા હૈ જનમન કે લિપ્, હસી પ્રકાર યહ પ્રયોગ હૈ ।

લોક બારમ્માર કર્મવન્ધ આદિ કે લિપ્ હી અમિલાપી હૈ, અથવા-કર્મવન્ધ કે લિપ્ હી પ્રવૃત્તિ કરતા હૈ । હસ પ્રતિજ્ઞા મેં હેતુ કહતે હૈ-'जमिण' इत्यादि ।

જિસ કારણ સે ગુદ્ધ (આસક્ત) લોક નાના પ્રકાર કે શક્તિ સે-સ્વકાય, પરકાય ઓર ઉભયકાયરૂપ શક્તિ સે-પૃથિવીકાય કા સમારમ કરકે અર્થાત્ પૃથિવીકાય કી હિંસા કરને ઘાલા સાવધ વ્યાપાર કરકે, અથવા પૃથિવીકાય કે નિમિત્ત સે આઠો કર્મ-જનક સાવધ

પૃથ્વીશક્તિનો આરભ કરે છે તો પણ તે આરભનું ફળ તેને કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકના રૂપમાંજ મળે છે એ માટે આશય એ છે કે-કોઈ કોઈ પણ અભિલાષથી પૃથ્વીકાયનો આરભ કરે પરંતુ ફળ તો તે કર્મબંધ આદિજ થશે.

‘इच्छत्य’ એનો પ્રયોગ એ બતાવવા માટે, કયો છે કે આ સસારી જીવ ઉત્પન્ન થાય છે મરવાને માટે, અને મરે છે તે જન્મ લેવા માટે, આ પ્રમાણે એ પ્રયોગ છે

લોક વારંવાર કર્મબંધ આદિ માટેજ અભિલાષી છે અથવા કર્મબંધ માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે આ પ્રતિજ્ઞામા હેતુ કહે છે-'जमिण' इत्यादि

જે કારણથી ગુદ્ધ-આસક્ત લોકો નાના પ્રકારના શક્તિથી-સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય રૂપ શક્તિથી-પૃથ્વીકાયનો સમારભ કરીને અર્થાત્ પૃથ્વીકાયની હિંસા કરવાવાળા સાવધ વ્યાપાર કરીને અથવા પૃથ્વીકાયના નિમિત્તથી આઠ કયોને ઉત્પન્ન કરનાર સાવધ વ્યાપારથી

છિનત્તિ, મિનત્તિ, માણરહિત કરોતિ ગૃહો લોક ક્ષ્યાદિ । તથા પૃથિવીશ્વર=  
 પૃથિવ્યુપમર્શક શ્વેત સ્વકાયપરકાયતદુભયરૂપ સમારમમાણ વ્યાપારયન્ અન્યાન્=  
 અપ્કાયાદીન્ અનેકરૂપાન્=વ્રતાન્ સ્થાવરાશ્ચ, માણાન્=પ્રાણિનો વિદિનસ્તિ ।  
 પૃથિવીકાયહિંસયા પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ પ્રણિહન્તીતિ ઘોરતર દુરિત  
 કુર્વન્ પુનઃ પુનઃ કર્મવન્ધાદિનરકાન્ત પ્રાપ્યાપિ તદર્થમિવ પ્રવર્ત્તે ન પુનર્મોક્ષાયેતિ  
 માવ ॥ સૂ ૪ ॥

નનુ પૃથિવીકાયજીવાનાં શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, માણેન્દ્રિય, રસના-ઇન્દ્રિય  
 નાપિ મનસ્તેષાં, કય તર્હિ દુઃખવેદના સમવ્રતિ ? તતથ પૃથિવીકાયસમારમ્ભિનાં

વ્યાપાર સે હસ પૃથિવીકાય કા હનન કરતા હૈ, છેવન કરતા હૈ, મેવન કરતા હૈ, સે પ્રાણહીન  
 બનાતા હૈ । તથા પૃથિવીકાય કે સ્વકાય, પરકાય, ઓર ઇમયકાયરૂપ શક્તો કા ઉપયોગ કરતા  
 હુશા અપ્કાય આદિ અનેક વ્રસ સ્થાવર પ્રાણિઓ કી હિંસા કરતા હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-પૃથિવીકાય કી હિંસા કે દ્વારા સમસ્ત પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક  
 કી હિંસા કરતા હૈ । હસ પ્રકાર અત્યન્ત ઘોર પાપ કરતા હુશા વારંવાર કર્મબંધ કરતા હૈ  
 ઓર યહી તક કિ નરક કો પ્રાપ્ત કરકે મી નરક કે છિપ્ હી પ્રવૃત્તિ કરતા હૈ, મોક્ષ કે  
 છિપ નહી ॥ સૂ ૪ ॥

પૃથિવીકાય કે બીજો મેં શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, માણેન્દ્રિય, રસના-ઇન્દ્રિય  
 ઓર મન નહી હૈ, ફિર ઉઠેં દુઃખ કા અનુભવ કેસે હો સકતા હૈ ? ઓર પેસી અવસ્થા  
 મેં પૃથિવીકાય કા આરંભ કરમેવાલો કો કર્મબંધ કયો હોતા હૈ ? હસ શંકા કા સમાધાન

આ પૃથ્વીકાયનો આવ ઠરે છે છેવન ઠરે છે બેવન ઠરે છે, તેને પ્રાણહીન બનાવે  
 છે તથા પૃથ્વીકાયના સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ શક્તોનો ઉપયોગ કરતા  
 શક્ત અપ્કાય આદિ અનેક વ્રસ-સ્થાવર પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે

તાત્પર્ય એ છે કે-પૃથ્વીકાયની હિંસા દ્વારા સમસ્ત પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોકની  
 હિંસા કરે છે આ પ્રમાણે અત્યન્ત ઘોર પાપ કરીને વારંવાર કર્મબંધ કરે છે અને  
 ત્યાં સુધી કે નરકને પ્રાપ્ત કરીને પણ નરક માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે, મોક્ષ માટે  
 કરતા નથી (૪)

પૃથ્વીકાયના ભવેમા શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, માણેન્દ્રિય, રસના-ઇન્દ્રિય અને  
 મન નથી, તો પછી તેને દુઃખનો અનુભવ કેવી રીતે થઈ શકશે ? અને જોવી અવ  
 સ્થામા પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળાને કર્મબંધ કેમ થઈ શકશે ? આ શંકાનું

कथं कर्मवन्धः ? इति जिज्ञासायामाह—' से वेमि. ' इत्यादि ।

( मूलम् )

से वेमि—अप्येगे अधमन्मे, अप्येगे अधमच्छे, अप्येगे पायमन्मे, अप्येगे पायमच्छे अप्येगे गुफमन्मे२, अप्येगे जंघमन्मे२, अप्येगे जाणुमन्मे२, अप्येगे उरुमन्मे२, अप्येगे कटिमन्मे२, अप्येगे णामिमन्मे२, अप्येगे उयरमन्मे२, अप्येगे पासमन्मे२, अप्येगे पिष्टिमन्मे२, अप्येगे उरमन्मे२, अप्येगे ह्रियमन्मे२, अप्येगे यणमन्मे२, अप्येगे खंघमन्मे२, अप्येगे बाहुमन्मे२, अप्येगे इत्यमन्मे२, अप्येगे अगुल्लिमन्मे२, अप्येगे गहमन्मे२, अप्येगे गीषामन्मे२, अप्येगे हणुयमन्मे२, अप्येगे होट्ठमन्मे२, अप्येगे दतमन्मे२, अप्येगे जीहमन्मे२, अप्येगे ताल्लमन्मे२, अप्येगे गल्लमन्मे२, अप्येगे, गहमन्मे२, अप्येगे यन्नमन्मे२, अप्येगे णासमन्मे२, अप्येगे अल्लिमन्मे२, अप्येगे ममुहमन्मे२, अप्येगे णिहाल्लमन्मे२, अप्येगे सीसमन्मे, अप्येगे संपमारण अप्येगे उहवण ॥ सू. ५ ॥

( छाया )

अथ धीवीमि—अप्येकः अन्धमामिन्धात् अप्येकः अन्धमाच्छिन्धात् । अप्येकः पादमामिन्धात्, अप्येकः पादमाच्छिन्धात् । अप्येकः गुल्फमामिन्धात्२, अप्येकः जङ्गमामिन्धात्२, अप्येकः जानु आमिन्धात्२, अप्येकः उरु आमिन्धात्२, अप्येकः कटिमामिन्धात्२, अप्येकः नामिमामिन्धात्२, अप्येकः उदरमामिन्धात्२, अप्येकः पार्ष्वमामिन्धात्२, अप्येकः पृष्टिमामिन्धात्२, अप्येकः उर आमिन्धात्२, अप्येकः

करने के लिए सूत्र कहते हैं—' से वेमि ' इत्यादि ।

मूलार्थ—मैं कहता हूँ—कोई अंग को मेदे, कोई अंग को छेदे, कोई पैर को मेदे कोई पैर को छेदे, कोई गुल्फ को मेदे छेदे, कोई पिण्डी को मेदे छेदे, कोई घुटने को मेदे, छेदे, कोई जांघ को मेदे छेदे, कोई कमर को मेदे छेदे, कोई नाभि को मेदे छेदे, कोई पेट को मेदे छेदे, कोई, पसवाड़े को मेदे छेदे, कोई पीठ को मेदे छेदे, कोई छाती

समाधान करने भाटे सूत्र ठहरे छे—' से वेमि ' इत्यादि.

मूलार्थ—हुं ठहुं छु ठाछ आंधणाने बेदन करे, ठाछ आंधणाने छेदन करे, ठाछ पगाने ठापे, ठाछ पगाने छेदे ठाछ गुल्फ—(घुटी)ने बेदे, छेदे, ठाछ पींजिने बेदे, छेदे, ठाछ घुटनूने बेदे छेदे, ठाछ जांघने बेदे छेदे, ठाछ कमरने बेदे छेदे ठाछ नाभि(डुंटी)ने बेदे छेदे; ठाछ पेटने बेदे छेदे, ठाछ पसवाणीबाने बेदे छेदे ठाछ पीठने बेदे छेदे, ठाछ छातीने बेदे छेदे ठाछ

છિનત્તિ, મિનત્તિ, માણરહિત કરોતિ ગૃહો લોક ક્ષ્યાદિ । તથા પૃથિવીશ્વસ્ત્ર=  
 પૃથિવ્યુપમર્ષકં શસ્ત્ર સ્વકાયપરકાયતદુભયરૂપ સમારમમાણ=વ્યાપારયન્ અન્યાન્=  
 અપ્કાયાદીન્ અનેકરૂપાન્=પ્રસાન્ સ્થાવરાશ્ચ, માણાન્=પ્રાણિનો વિહિનસ્તિ ।  
 પૃથિવીકાયહિંસયા પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ પ્રણિહન્તીતિ ધોરતર દુરિત  
 કુર્વન્ પુનઃ પુનઃ કર્મબન્ધાદિનરકાન્ત માપ્યાપિ તદર્થમેવ મવર્ત્તે ન પુનર્મોક્ષાયેતિ  
 માવઃ ॥ સૂ. ૪ ॥

નનુ પૃથિવીકાયજીવાના શ્રોત્રનેત્રાણરસનેન્દ્રિયાણિ ન સન્તિ,  
 નાપિ મનસ્તેષાં, કય તર્હિ દુઃખવેદના સમવત્તિ ? તતથ પૃથિવીકાયસમારમ્મિણાં

વ્યાપાર સે હસ પૃથિવીકાય કા હનન કરતા હૈ, છેવન કરતા હૈ, મેવન કરતા હૈ, સે પ્રાણહીન  
 બનાતા હૈ । તથા પૃથિવીકાય કે સ્વકાય, પરકાય, ઔર ઇમયકાયરૂપ શસ્ત્રો કા ઉપયોગ કરતા  
 હુઆ અપ્કાય આદિ અનેક પ્રસ સ્થાવર પ્રાણીઓ કી હિંસા કરતા હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—પૃથિવીકાય કી હિંસા કે દ્વારા સમસ્ત પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક  
 કી હિંસા કરતા હૈ । હસ પ્રકાર અત્યન્ત ઘોર પાપ કરતા હુઆ બારબાર કર્મબંધ કરતા હૈ  
 ઔર યહોં તક કિ નરક કો પ્રાપ્ત કરકે મી નરક કે છિપ્, હી પ્રવૃત્તિ કરતા હૈ, મોક્ષ કે  
 છિપ નહી ॥ સૂ. ૪ ॥

પૃથિવીકાય કે જીવો મેં શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસના—ઇન્દ્રિય  
 ઔર મન નહી હૈ, ફિર ઉન્હેં દુઃખ કા અનુભવ કૈસે હો સકતા હૈ ? ઔર પેસી અવસ્થા  
 મેં પૃથિવીકાય કા આરંભ કરનેવાલો કો કર્મબંધ ક્યોં હોતા હૈ ? હસ શંકા કા સમાધાન

આ પૃથ્વીકાયનો ઘાત કરે છે છેલન કરે છે લેહન કરે છે, તેને પ્રાણહીન બનાવે  
 છે તથા પૃથ્વીકાયના સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ શસ્ત્રોનો ઉપયોગ કરતા  
 થકા અપ્કાય આદિ અનેક પ્રસ-સ્થાવર પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે

તાત્પર્ય એ છે કે—પૃથ્વીકાયની હિંસા દ્વારા સમસ્ત પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોકની  
 હિંસા કરે છે આ પ્રમાણે અત્યન્ત ઘોર પાપ કરીને વારવાર ક્રમબંધ કરે છે અને  
 ત્યાં સુધી કે નરકને પ્રાપ્ત કરીને પણ નરક માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે, મોક્ષ માટે  
 કરતા નથી (૪)

પૃથ્વીકાયના જીવોમાં શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસના—ઇન્દ્રિય અને  
 મન નથી, તો પછી તેને કુખને અનુભવ કેવી રીતે થઈ શકશે ? અને જોવી અવ  
 સ્થામાં પૃથ્વીકાયનો આરંભ કરવાવાળાને કર્મબંધ કેમ થઈ શકશે ? આ શંકાનું

## ॥ ટીકા ॥

‘સે વેમિ’ ઇત્યાદિ । અથેતિ પ્રતિષાક્યપ્રારમ્ભઘોતનાય । ઘ્રવીમિ=પૃથિવી-કાયસ્ય વેદનાત્રિપયે કથયામિ । યથા-એક =કશ્ચિત્ અન્ધ-જન્મા ધ આમિન્ધાત્, તથા એક =અપર\* કશ્ચિત્ અન્ધમપિ આહિન્ધાત્ ।

અત્ર અન્ધમિત્યુપલક્ષણ, ઘઘિરમૂલપદ્મગુપ્તમૃતીનામ્ । ય\* સ્વલુ જન્માન્ધો જન્મઘઘિરો જન્મમૂલો જન્મપદ્મગુર્મૃગાપ્રવત્કરચરણાઘવયવવિમાગરહિત\* પૂર્વમવાર્જિતાશુભકર્મો-દયાત્ સ્વહિતપ્રાપ્ત્યહિતપરિહારાસમોઽતિદયનીયદશામુપગતઃ ।

એવંવિધજન્માન્ધાદિક કશ્ચિત્ કઠોરહૃદયો નિર્દયતયાઽતિનિશિતમહ્યાદિના મિનત્તિષેત્, સુતીક્ષ્ણપરશુકુઠારાદિના છિનત્તિ ચેતદાઽસૌ સ્વાઙ્ગ મેદનચ્છેદનસમયેમેદક છેદક ન

ટીકાર્થ-‘અથ’ શબ્દ નવા વાક્ય આરમ્ભ કરને કો પ્રકટ કરતા હૈ-‘કહતા હૈ’ અર્થાત્ પૃથિવીકાય કી વેદના કે વિષય મેં કહતા હૈ । જૈસે-કોઈ પુરુષ અંધે અર્થાત્ જન્મ સે અંધે કો મેદે છેદે । યહાં ‘અંધ’ પદ ઉપલક્ષણ હૈ, ડસ સે બહિરા, મૂગા, લગઢા, આદિ સી પ્રજ્ઞ કર લેના યાદિપ્ ।

જો જીવ મૂગાલોઢક કી સરહ જન્માન્ધ હૈ, જન્મ સે બહિરા હૈ, જન્મ સે મૂગા હૈ, જન્મ સે લગઢા હૈ, હાથ-ઔર આદિ વિભિન્ન અવયવોં કા જિસ કે શરીર મેં મેદ નહીં હૈ, ઔર જો પૂર્વભવ કે અશુભ કર્મોં કે ઉદય સે અપને હિત કી પ્રાપ્તિ તથા અહિત કે પરિહાર મેં અસમર્થ હૈ, અત્યન્ત દયનીય દશા કો પ્રાપ્ત હૈ, હસ પ્રકાર કે જન્માન્ધ ઘઘૈરહ કો કોઈ કઠોર હૃદયવાળા પુરુષ નિર્દય હો કર આવેશ કે સાથ, બહુત ટીંકે માલે ઘઘૈરહ સે મેદતા હૈ, અત્યન્ત ટીંકે ફરસી કુઠાર આદિ સે છેદતા હૈ,

ટીકાર્થ-‘અથ’ શબ્દ નવું વાક્ય આરમ્ભ કરવાનું પ્રગટ કરે છે ‘કહું છું’ અર્થાત્ પૃથ્વીકાયની વેદનાના વિષયમાં કહું છું-જેમ કોઈ મનુષ્ય અન્ધ અર્થાત્-અન્ધથી અન્ધને (આધળો છે તેને) ભેદે છેદે અર્થે ‘અથ’પદ તે ઉપલક્ષણ છે, તેનાથી બહેરા મૂગા, લગઢા આદિ પણ શ્રદ્ધા કરી લેવા જોઈએ

જે જીવ મૂગાલોઢાની માફક જન્માન્ધ છે (અન્ધથી આધળો છે) અન્ધથી, બહેરા છે અન્ધથીજ મૂગો છે અન્ધથી લગઢો છે હાથ-પગ આદિ વિભિન્ન અવયવોના જેવા શરીરમાં ભેદ નથી, અને તે પૂર્વભવના અશુભ કર્મોના ઉદયથી પોતાના હિતની પ્રાપ્તિ તથા અહિતના પરિહારમાં અસમર્થ છે, અત્યન્ત દયાપાત્ર-દશાને પ્રાપ્ત છે, આ પ્રકારના જન્માન્ધ વગેરેને કોઈ કઠોર હૃદયવાળા પુરુષ નિર્દય થઈને આવેશની સાથે બહુજ ટીંકણ સાથા વગેરેથી ભેદે છે (વિધે છે), અત્યન્ત ટીંકી ધારવાળી ફરસી, કુઠાર આદિથી

હૃદયમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક\* સ્તનમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ સ્કન્ધમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ  
 ઘાહુમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ હસ્તમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ અઙ્ગુલિમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ  
 નલ્લમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક\* ગ્રીવામામિન્ધાત્૨, અપ્યેક\* હનુ આમિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ  
 ઓષ્ઠમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ દન્તમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક\* જિહ્વામામિન્ધાત્૨, અપ્યેક\*  
 તાલ્લ આમિન્ધાત્૨, અપ્યેક ગલમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક ગળ્દમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ  
 કર્ણમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક\* નાસામામિન્ધાત્૨, અપ્યેક અસિ આમિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ  
 ઝુવમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક લલાટમામિન્ધાત્૨, અપ્યેક શીર્ષમામિન્ધાત્૨, અપ્યેકઃ  
 સપમારયેત્, અપ્યેકઃ ઉપદ્રાવયેત્ ॥ સૂ. ૫ ॥

કો મેદે છેદે, કોઈ હૃદય કો મેદે છેદે, કોઈ સ્તન કો મેદે છેદે, કોઈ કન્ધે કો  
 મેદે છેદે, કોઈ ઘાહુ કો મેદે છેદે, કોઈ હાથ કો મેદે છેદે, કોઈ ઝગલી કો મેદે  
 છેદે, કોઈ નલ્લ કો મેદે છેદે, કોઈ ગર્વન કો મેદે છેદે, કોઈ હનુ (ઢાઢી-ઢોઢી) કો  
 મેદે છેદે, કોઈ હોઠ કો મેદે છેદે, કોઈ વાંત કો મેદે છેદે, કોઈ બીમ કો મેદે,  
 છેદે, કોઈ તાલ્લ કો મેદે છેદે, કોઈ ગલે કો મેદે છેદે, કોઈ ગંઢસ્થલ (કનપટી) કો  
 મેદે છેદે કોઈ કાન કો મેદે છેદે, કોઈ નાકકો મેદે છેદે, કોઈ બાંસ કો મેદે છેદે,  
 કોઈ મોહ કો મેદે છેદે, કોઈ છજાટ કો મેદે છેદે, કોઈ સિરકો મેદે છેદે, કોઈ મારકર  
 મેહોશ કર દે, યા કોઈ માર હી ઢાલે, હસ પ્રકાર ઇન્દ્રિયબલ્હીન હોને પર મી ડસે વેદના કા  
 અનુમલ હોતા હી હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

હૃદયને લેદે છેદે, કોઈ સ્તનને લેદે છેદે, કોઈ કાંધને લેદે છેદે, કોઈ બાહુને લેદે છેદે, કોઈ  
 કાંધને લેદે છેદે, કોઈ આગલીને લેદે છેદે, કોઈ નખને લેદે-છેદે, કોઈ અડને લેદે છેદે,  
 કોઈ ઢાઢીને લેદે-છેદે, કોઈ હોઠને છેદે-લેદે, કોઈ વાંતને લેદે છેદે, કોઈ બીમને લેદે છેદે,  
 કોઈ તાલ્લ-(તાળવા)ને લેદે-છેદે, કોઈ ગળાને લેદે-છેદે, કોઈ ગંઢસ્થલ (લમણા)  
 કાનપટીને લેદે-છેદે, કોઈ કાનને લેદે-છેદે, કોઈ નાકને લેદે-છેદે, કોઈ બાંખને  
 લેદે-છેદે, કોઈ ભમરને લેદે-છેદે, કોઈ લલાટને લેદે-છેદે, કોઈ શિરને લેદે-છેદે,  
 કોઈ મારીને લેદોશ કરી દે, અથવા કોઈ મારીજ નાંખે, આ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયબલ્હીન  
 હોવા છતાં પણ તેને વેદનાનો અનુભવ થાય છે (૫)

## ॥ ટીકા ॥

‘સે વેમિ’ ઇત્યાદિ । અથેતિ પ્રતિષાક્યપ્રારમ્ભઘોતનાય । ધ્રવીમિ=પૃથિવી-કાયસ્ય વેદનાવિષયે કથયમિ । યથા-एक =કશ્ચિત્ અન્ધ-જન્મા ધ આમિન્ધ્યાત્, તથા एक=अपर\* કશ્ચિત્ અન્ધમપિ આહિન્ધ્યાત્ ।

અત્ર અપમિત્યુપલક્ષણ, વધિરમૂકપદ્મગુપ્તમૃતીનામ્ । ય\* સ્વલુ જન્માન્ધો જન્મવધિરો જન્મમૂકો જન્મપદ્મગુર્મગાપ્ત્રવત્તરચરણાઘવયવિમાગરહિત\* પૂર્વમવાર્જિતાશુભકર્મો-દયાત્ સ્વહિતપ્રાપ્ત્યહિતપરિહારાસમોડતિદયનીયદશામુપગત\* ।

અર્થ-વિધજન્માન્ધાદિક કશ્ચિત્ કઠોરહૃદયો નિર્દયતયાડતિનિશિતમહાદિના મિનત્તિચેત, સુતીક્ષ્ણપરશુકુઠારાદિના છિનત્તિ ચેત્તદાડસૌ સ્વાન્ન મેદનચ્છેદનસમયેમેદક છેદક ન

ટીકાર્થ-‘અથ’ શબ્દ નવા વાક્ય આરમ્ભ કરને કો પ્રકટ કરતા હૈ-‘કહતા હૂ’ અર્થાત્ પૃથિવીકાય કો વેદના કે વિષય મેં કહતા હૂં । જૈસે-કોઈ પુરુષ જવે અર્થાત્ જન્મ સે જવે કો મેદે છેદે । યહૌ ‘અથ’ પદ ઉપલક્ષણ હૈ, ઉસ સે બહિરા, મૂગા, છગઢા, આદિ મી પ્રશ્ન કર હેના વાહિયે ।

જો જીવ મૂગાલોઢક કી તરહ જમાય હૈ, જન્મ સે બહિરા હૈ, જન્મ સે મૂગા હૈ, જન્મ સે છગઢા હૈ, હાથ-ઝોર આદિ વિમિષ જવયવો કા કિસ કે શરીર મેં મેદ નહીં હૈ, ઝોર જો પૂર્વમવ કે અશુભ કર્મો કે ઉદય સે અપને હિત કી પ્રાપ્તિ તથા અહિત કે પરિહાર મેં અસમર્થ હૈ, અત્યંત દયનીય વળા કો પ્રાપ્ત હૈ, ઇસ પ્રકાર કે જન્માન્ધ વગેરહ કો કોઈ કઠોર હૃદયવાળા પુરુષ નિર્દય હો કર આવેશ કે સાથ, બહુત તીક્ષ્ણે માળે વગેરહ સે મેદતા હૈ, અત્યંત તીક્ષ્ણે ફરસી કુઠાર આદિ સે છેદતા હૈ,

ટીકાર્થ-‘અથ’ શબ્દ નવું વાક્ય આરમ્ભ કરવાનું પ્રગટ કરે છે ‘હહુ છુ’ અર્થાત્ પૃથ્વીકાયની વેદનાના વિષયમાં હહુ છુ-જેમ કોઈ મનુષ્ય અન્ધ અર્થાત્-જન્મથી અધને (આધળો છે તેને) લેદે છેદે આદિ ‘અથ’પદ તે ઉપલક્ષણ છે, તેનાથી બહેરા મૂગા, લગઢા આદિ પણ મહણ કરી લેવા જોઈએ.

જે જીવ મૂગાલોઢાની આકૃષ્ટ જન્માધ છે (જન્મથી આધળો છે) જન્મથી, બહેરા છે જન્મથીજ મૂગા છે જન્મથી લગઢો છે હાથ-પગ આદિ વિમિષ જવયવોના જન્મ શરીરમાં લેદ નથી, અને તે પૂર્વભવના અશુભ કર્મોના ઉદયથી પોતાના હિતની પ્રાપ્તિ તથા અહિતના પરિહારમાં અસમર્થ છે, અત્યંત દયાપાત્ર-દશાને પ્રાપ્ત છે, આ પ્રકારના જન્માધ વગેરેને કોઈ કઠોર હૃદયવાળા પુરુષ નિર્દય થઈને આવેશની સાથે બહુ જ તીક્ષ્ણ આવા વગેરેથી લેદે છે (વિધે છે), અત્યંત તીખી ખારવાળી ફરસી, કુઠાર આદિથી



પ્રપ્યતિ ન, કૃણોતિ, નાપ્યુષ્ણૈઃ ક્રન્દતિ, શાશ્વતા તસ્યાઽજીવત્ય વેદનાયા અમાનો વા નિશ્ચેતુ વશતુ વા ન શ્વયતે, એવ પૃથિવી સચેતના વેદનાસદિતા ચેતિ નિશ્ચીયતે ।  
જાત્યન્ધવધિરમૂકપદ્મવાદિગુણયુક્તપુરુષનત્, મૃગાપુત્રવત્, इत्यर्थः ।

यदा पञ्चेन्द्रियाणां सुव्यक्तचेतनानां पादगुल्फजङ्घाजानूल्फटि-  
नाम्युदरपार्श्वपृष्ठोरोद्धयस्तनस्कन्धबाहुहस्ताङ्गुलिनखग्रीवाहन्वोष्ठदन्तजिह्वाताल-  
गलगण्डकर्णनासाक्षिभ्रूललाटमस्तकादिषु मिथमानेषु छिद्यमानेषु वा यथा घोरतर-  
वेदना जायते तथा प्रगाढमोहाज्ञानवतां स्त्यानदर्पादिकर्मोदयाद् अव्यक्तचेतनानां

મેદન-છેદન કે સમય, અપને અંગ કે મેદને-છેદને વાળે કો ન દેસતા હૈ, ન સુનતા હૈ, ન ઠઠી આવાશ સે ચિહ્નાતા હૈ, इतने मात्र से उस में अजीवपना या वेदना का अभाव निश्चित नहीं किया जा सकता, और नहीं कहा जाता । इसी प्रकार पृथिवी सचेतन है और उसे वेदना भी होती है, यह बात निश्चित हो जाती है । अर्थात् जैसे मृगालोढक की तरह बहिर, मृग, लंगरे आदि पुरुष को वेदना होती है, उसी प्रकार पृथिवीकाय को भी वेदना होती है ।

અથવા સ્પષ્ટ ચેતના વાળે પન્ચેન્દ્રિય બીજો કે પૈર, ગુસ્ક, જાંઘ, જાનુ, ડરુ, કમર, નાભિ, ઉદર, પાર્શ્વ, પૃષ્ઠ, ઊર-છાતી, હૃદય, સ્તન, સ્કન્ધ, બાહુ, હાથ, અંગુલી, નસ, મીંચા, ઘાડી, હોઠ, વાંસ, જીભ, તાલુ, ગણ, કનપટી, જ્ઞાન નાક બાસ, મોઠ, સ્થાન, મસ્તક આદિ કે મેદને-છેદને પર કેસે અત્યન્ત ધોર વેદના ઉત્પન્ન થોતી હૈ

છેદ છે, તેા વેદન-છેદનના સમયે પોતાના અંગનું વેદન-છેદન કરનારને તે દેખતો નથી, સંભળતો નથી, ઉચ્ચા અવાજથી ચોક્કસ-ઝઠોર કરી થકતો નથી એટલામાત્રથી તેમાં અજીવપણ અથવા વેદનાનાં અભાવ નિશ્ચિત કરી થકાતો નથી, તેમ કહેવાતું પણ નથી. એ પ્રમાણે પૃથ્વી સચેતન છે અને તેને વેદના પણ થાય છે એ વાત નિશ્ચિત થઈ જાય છે અર્થાત્ જેવી રીતે મૃગાલોઢીના પ્રમાણે-બહેરા, મૃગા, જાડા આદિ પુરુષને વેદના થાય છે, તે પ્રમાણે પૃથ્વીકાયને પણ વેદના થાય છે

અથવા-સ્પષ્ટ ચેતનાવાળા જન્માન્ધ આદિ પન્ચેન્દ્રિય યોગના પદ્મ, હૃદય, સ્તન, ડરુ, કમર, નાભિ, ઉદર, પાર્શ્વ, પૃષ્ઠ, ઊર-છાતી, હૃદય, સ્તન, સ્કન્ધ, બાહુ, હાથ, અંગુલી, નખ, મીંચા ઘાડી, હોઠ, વાંસ, જીભ, તાલુ, ગણ, કનપટી, જ્ઞાન, નાક, આંખ, કમર, સ્થાન, મસ્તક આદિના વેદવા-છેદવાથી જેમ અત્યન્ત ધોર વેદના ઉત્પન્ન થાય છે, તેમ પ્રગાઢ

પૃથિવ્યાદીનામવ્યક્તૈઃ ધોરતરવેદના ભવતીતિ ભગવતા કેવલાલોકેન સાક્ષાત્કૃત્ય પ્રવેદિતમ્ ।

અર્થવાન્યમપિ દૃષ્ટાન્તમાહ-“અપ્પેગે સપમારણ અપ્પેગે ઉદ્ધવ”  
 इति । एकः कश्चित् यथा सर्वावयवयुक्तं कश्चित्प्राणिनं संप्रसारयेत्=तीव्रद्वेषावेशेन  
 शस्त्रादिप्रहारेण चेष्टाराहित्यरूपा मूर्छामापादयेत् तथा एकं कश्चित् मूर्छापन्नं  
 उद्धारयेत्=प्राणेभ्यो व्यपरोपयेत्, तस्य मूर्च्छाविशेन व्यक्त-वेदनाया अमावेऽपि  
 अव्यक्ता घोरतरवेदना जायत एव, तथा पृथिवीजीवानामव्यक्ता घोरतरवेदना  
 भवत्येव ॥ सू. ७ ॥

इत्य पृथिवीकायस्य जीवत्वं शस्त्राद्धाघातेन वेदनां च प्रदर्श्य, अधुना

उसी प्रकार પ્રગાદ મોહ અજ્ઞાન વાળે સ્થાનર્થિ આદિ કર્મ કે ઉદય સે અપ્રકટ ચેતના વાળે  
 પૃથ્વીકાય આદિ જીવો કો અપ્રકટ કિન્તુ અત્યન્ત દારુણ વેદના હોતી હૈ । યહ વાત ભગવાન્  
 ને કેવલજ્ઞાન સે સાક્ષાત્ જાનકર પ્રકટ કી હૈ ।

इसी विषय में एक दृष्टान्त और कहते हैं-‘अप्येगे’ इत्यादि । जैसे-कोई पुरुष, सभी  
 अवयवों से युक्त किसी प्राणी को तीव्र द्वेष के आवेश के वश हो कर शस्त्र आदि का प्रहार  
 कर के चेष्टारहित-मूर्छित कर देता है, तथा कोई उस मूर्छित पुरुष को प्राणहीन करता है  
 तो यद्यपि उस मूर्छित में व्यक्त वेदना नहीं है फिर भी अव्यक्त अत्यन्त घोर वेदना होती ही  
 है, इसी प्रकार पृथिवीकाय में घोर अव्यक्त वेदना होती है ॥ सू. ७॥

इस प्रकार पृथिवीकाय की सचित्तता और शस्त्र आदि के आघात से होने वाली

(દેહ) મોહ અજ્ઞાનવાળા સ્થાનર્થિ આદિ કર્મના ઉદયથી અપ્રકટ ચેતનાવાળા પૃથ્વી  
 કાય આદિ જીવોને અપ્રકટ પરન્તુ અત્યન્ત દારુણ વેદના થાય છે, આ વાત ભગવાને  
 કેવલ જ્ઞાનથી સાક્ષાત્ બાણીને પ્રકટ કરી છે

આ વિષયમાં એક બીજું દૃષ્ટાન્ત કહે છે-‘અપ્પેગે’ ઇત્યાદિ, જેમ કોઈ પુરુષ,  
 સર્વ અવયવોથી સુક્ત કોઈ પ્રાણીને તીવ્ર દ્વેષથી આવેશને વશ થઈ શસ્ત્ર આદિનો પ્રહાર  
 કરીને ચેષ્ટારહિત-મૂર્છિત કરી નાખે છે, તથા કોઈ તે મૂર્છિત પુરુષને પ્રાણહીન કરે છે  
 તે મૂર્છિતમાં વ્યક્ત વેદના નથી તેા પણ અવ્યક્ત (બાણી-જેઈ શકાય નહિ તેવી રીતે)  
 અત્યન્ત ઘોર વેદના થાય છે એ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયમાં પણ ઘોર વેદના થાય છે ॥૫॥

આ પ્રમાણે પૃથ્વીકાયની સચિત્તતા અને શસ્ત્ર આદિના આઘાતથી થવાવાળી

તત્સમારમ્મે કર્મવન્ધો મવતીત્યાહ—‘એત્ય’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલમ્ ॥

એત્ય સત્ય સમારમમાણસ્સ ઇચ્છેતે આરમા અપરિણાયા મવતિ ॥ સુ. ૬ ॥

॥ છાયા ॥

અત્ર સ્ત્રસ્ટ સમારમમાણસ્ય ઇત્યેતે આરમ્મા અપરિજ્ઞાતા મવન્તિ ॥ સુ. ૬ ॥

॥ ટીકા ॥

અત્ર=પૃથિવીકાયે શસ્ત્ર=સ્વકાયપરકાયતદુમયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્ર,  
દુષ્પ્રણિહિતમનોવાકકાયરૂપ માવશસ્ત્ર ધા સમારમમાણસ્ય=વ્યાપારયતઃ ઇત્યેતે=  
માગુક્તાઃ સત્તર્વિશતિમજ્જરૂપાઃ, આરમ્માઃ=સ્વનનક્રુપ્યાદિરૂપા સાવધવ્યાપારાઃ,  
અપરિજ્ઞાતા મવન્તિ=કર્મવન્ધહેતુત્વેન પરિજ્ઞાતા ન મવન્તિ, પૃથિવીશસ્ત્ર  
સમારમમાણઃ સ્વનનાદિસાવધવ્યાપારસ્ય કર્મવન્ધકારણતામવિજ્ઞાય ચારિત્રરૂપ

વેદના પ્રવર્તિત કર કે યહ તતાતે હૈં કિ—પૃથિવીકાય કા આરમ કરને મેં કર્મ કા વધ હોતા  
હે—‘એત્ય’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—પૃથિવીકાય કા આરમ કરને વાળે કો યહ (પૂર્વોક્ત) આરમ જ્ઞાત નહીં  
હોતા હૈ ॥ સુ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—પૃથિવીકાય મેં સ્વકાય પરકાય ઓર ઇમયકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્ર કા, તથા મન  
વચન કાયકા દુષ્પ્રણિધાનરૂપ માવશસ્ત્ર કા વ્યાપાર કરને વાળે કો જ્ઞાત નહીં હોતા કિ—  
પૂર્વોક્ત સત્તર્વિશ પ્રકાર કા સ્વનન એવ કૃષિ આદિરૂપ સાવધ વ્યાપાર કર્મવન્ધ કે કારણ હૈં ।  
તાત્પર્ય યહ હૈં કિ—જો પુરુષ પૃથિવીકાય કા આરમ કરતા હૈ, ઉસે યહ માહ્યમ  
નહીં હોતા કિ—યહ સાવધ વ્યાપાર કર્મવન્ધ કા કારણ હૈ, યહ માહ્યમ ન હોને કે કારણ

વેદના બતાવાને હવે એ બતાવે છે કે—પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવામાં કર્મનો બંધ  
થાય છે—‘એત્ય’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવાવાળાને આ (પૂર્વોક્ત) આરભ જ્ઞાત હોતું  
નથી. (૬)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમા સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ દ્રવ્યશસ્ત્રનો તથા  
મન, વચન, કાયાનાં દુષ્પ્રણિધાન (અશભ ભાવ)રૂપ માવશસ્ત્રનો વ્યાપાર કરવાવાળાને  
અભર નથી હોતો કે—પૂર્વોક્ત (પૂર્વે કહેલા) સત્તાવીસ પ્રકારના ખનન (ખોદણ) એ  
પ્રમાણે કૃષિ—ખેતી આદિરૂપ સાવધ—વ્યાપાર કર્મ બધું કારણ છે તાત્પર્ય એ છે કે—જો  
પુરુષ પૃથ્વીકાયનો આરભ કરે છે, તેને એ આહ્યમ નથી કે—આ સાવધ વ્યાપાર કર્મ

મોક્ષમાર્ગતો દૂરમપગતો મવતીત્યર્થ. ॥ સૂ. ૬ ॥

(૮) વિષ્ટિદ્વારમ્-

પૃથિવીકાયસમારમ્ભપરિજ્ઞાને હિ પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિર્મવતીત્યાહ-‘एत्य’ इत्यादि ।

॥ મૂલમ્ ॥

एत्य सत्य असमारममाणस्त इच्छेते आरंभा परिणया भवति । त परिणाय मेधावी नैव सय पुद्विसत्य समारमेज्जा, जेवण्णेहि पुद्विसत्य समारमावेज्जा, जेवण्णे पुद्विसत्य समारमंते समणुजाणेज्जा । जस्सेते पुद्विकम्मसमारमा परिणया भवति से हु मुणी परिणायकम्मे-त्तिवेमि ॥ सू. ७ ॥

॥ इय सत्यपरिणाप् घोओ उरेसो समत्तो ॥ १-२ ॥

॥ છાયા ॥

अत्र शस्त्र अममारममाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति । तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वय पृथिवीशस्त्र समारमेत, नैवान्ये पृथिवीशस्त्र समारम्भयेत्, नैवान्यान् पृथिवीशस्त्र समारभत समनुजानीयात्, यस्येते पृथिवीकर्मसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ सू. ७ ॥

॥ इति शस्त्रपरिज्ञाया द्वितीय उद्देश समाप्त ॥ १ । २ ॥

यह चारित्ररूप मोक्षमार्ग से दूर हो रहता है ॥ सू. ६ ॥

પૃથિવીકાય કે સમારમ્ભ કા પરિજ્ઞાન હોને પર હી પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ હોતા હૈ, હસ જ્ઞાત કો કહતે હૈ-‘एत्य’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ- પૃથિવીકાય મેં શસ્ત્ર કા આરમ્ભ ન કરને વાળે કો યહ આરમ્ભ જ્ઞાત હોતા હૈ । ઉન્હે જ્ઞાન કર બુદ્ધિમાન્ પુરુષ ન સ્વય પૃથિવીકાય કે શસ્ત્ર કા આરમ્ભ કરે, ન દૂસરો સે પૃથ્વીકાય કે શસ્ત્રકા આરમ્ભ કરાવે ઓર ન પૃથ્વીકાય કા આરમ્ભ કરન વાળે દૂસરો કી અનુમોદના કરે । હન પૃથિવીકર્મસમારમ્ભો કો જ્ઞાનને વાળા હી મુનિ હૈ, યહી પરિજ્ઞાતકર્મા હૈ, એસા મેં કહતા હૈ ॥ સૂ. ૭ ॥

બધનુ કારણુ છે આ માણુમ નહિ હોવાથી તે ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગથી દૂરજ રહે છે ॥૬॥

પૃથિવીકાયના સમારમ્ભનું પરિજ્ઞાન હોવાથીજ પરિજ્ઞાતકર્મો મુનિ હોય છે, આ વાત બતાવે છે -‘एत्य’ इत्यादि

મૂલાર્થ- પૃથ્વીકાયના શસ્ત્રનો આરમ્ભ નહિ કરવાવાળાને આ આરમ્ભની ખબર હોય છે તેને બહીને બુદ્ધિમાન પુરુષ પોતે પૃથ્વીકાયના શસ્ત્રનો આરમ્ભ કરતા નથી, બીજા પાસે પણ પૃથ્વીકાયના શસ્ત્રનો આરમ્ભ કરાવતા નથી અને પૃથ્વીકાયનો આરમ્ભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપતા નથી. જો પૃથ્વીકર્મ-સમારમ્ભોને બાજુવાવાળાજ મુનિ છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મી છે; જો પ્રમાણે હું કહું છું (૭)

તત્સમારમ્મે કર્મવન્ધો ભવતીત્યાહ—‘એત્થ’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલમ્ ॥

એત્થ સત્થ સમારંભમાણસ્સ ઇચ્છેતે આરમ્મા અપરિણ્યાયા ભવતિ ॥ સુ. ૬ ॥

॥ છાયા ॥

અથ સ્વસ્ર સમારંભમાણસ્ય ઇત્યેતે આરમ્મા અપરિણ્યાતા ભવન્તિ ॥ સુ. ૬ ॥

॥ ટીકા ॥

અત્ર=પૃથિવીકાયે

સ્રસ્ર=સ્વકાયપરકાયતદુભયરૂપ

દ્રવ્યશક્ત,

દુષ્પ્રણિહિતમનોવાક્કાયરૂપ ભાવશક્તિ વા સમારંભમાણસ્ય=વ્યાપારયતઃ ઇત્યેતે=માયુક્તાઃ સપ્તવિંશતિમંત્રરૂપાઃ, આરમ્મા=સ્નનકૃત્યાદિરૂપાઃ સાવધવ્યાપારાઃ, અપરિણ્યાતા ભવન્તિ=કર્મવન્ધેતુત્વેન પરિણ્યાતા ન ભવન્તિ, પૃથિવીશક્ત સમારંભમાણઃ સ્નનનાદિસાવધવ્યાપારસ્ય કર્મવન્ધકારણતામવિજ્ઞાય ચારિત્રરૂપ

બેવના પ્રવર્ણિત કર કે યહ થતાતે હૈં કિ—પૃથિવીકાય કા આરમ કરને મેં કર્મ કા વંધ હોતા હૈ—‘એત્થ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—પૃથિવીકાય કા આરમ કરને વાલે કો યહ (પૂર્વોક્ત) આરંભ જ્ઞાત નહીં હોતા હૈ ॥ સુ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—પૃથિવીકાય મેં સ્વકાય પરકાય ઔર ઉભયકાયરૂપ દ્રવ્યશક્ત કા, તથા મન ચત્તન કાયકા દુષ્પ્રણિધાનરૂપ ભાવશક્ત કા વ્યાપાર કરને વાલે કો જ્ઞાત નહીં હોતા કિ—પૂર્વોક્ત સત્ત્વાઈસ પ્રકાર કા સ્નન એવ કૃતિ આદિરૂપ સાવધ વ્યાપાર કર્મવંધ કે કારણ હૈં । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—જો પુરુષ પૃથિવીકાય કા આરમ કરતા હૈ, ઉસે યહ માત્રમ નહીં હોતા કિ—યહ સાવધ વ્યાપાર કર્મવંધ કા કારણ હૈ, યહ માત્રમ ન હોને કે કારણ

બેવના બતાવીને કહે એ બતાવે છે કે—પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવામાં કમને બંધ થાય છે—‘એત્થ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—પૃથ્વીકાયનો આરભ કરવાવાળાને આ (પૂર્વોક્ત) આરભ જ્ઞાન હોતું નથી. (૬)

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમાં સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાયરૂપ દ્રવ્યશક્તનો તથા મન, વચન, કાયાના દુષ્પ્રણિધાન (ખરાબ ભાવ)રૂપ ભાવશક્તનો વ્યાપાર કરવાવાળાને ખબર નથી હોતી કે—પૂર્વોક્ત (પૂર્વે કહેલા) સત્ત્વાઈસ પ્રકારના જ્ઞાન (ખોદણ) એ પ્રભાણે કૃતિ—એટલી આદિરૂપ સાવધ-વ્યાપાર કમ બધું કારણ છે તાત્પર્ય એ છે કે—જો પુરુષ પૃથ્વીકાયનો આરભ કરે છે, તેને એ માત્રમ નથી કે—આ સાવધ વ્યાપાર કમ

સમારમાન્ વિજ્ઞાય સર્વાન્ પરિત્યજેત્ ।

एष यस्य एते पृथिवीकर्मसमारम्भा पृथिवीविषया\* स्वननकृप्यादिरूपा\*  
सावधक्रियाविशेषा\* परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया कर्मबन्धहेतुत्वेन विज्ञाता , तथा  
प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्ता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा=विदितपरित्यक्त-  
सकलसावधक्रियाविशेष मुनिर्मवति, न त्वपरो द्रव्यलिङ्गीत्यर्थ । इति ब्रवीमि=  
यथा भगवता कथितं तथा कथयामीत्यर्थ ॥ सू० ७ ॥

॥ इति शस्त्रपरिज्ञाध्ययने द्वितीय उद्देश\* समाप्त\* ॥ १-२ ॥

પૃથ્વીકાયસમારમ કો જ્ઞાનકર સર્વકા ત્યાગ કરના ચાહિય ।

इस प्रकार जो पुरुष पृथ्वीकायसम्बन्धी सोदना जोतना आदि सावध व्यापारो  
को पुपरिज्ञा से कर्मबन्ध का कारण समझता है, और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन का  
त्याग कर देता है वही परिज्ञातकर्मा और सकल सावध क्रियाओं को जानने वाला पुरुष  
मुनि कहलाता है, सिर्फ द्रव्यलिङ्गी मुनि नहीं कहलाता । 'ब्रवीमि' भगवान् ने जैसा कहा  
है वैसा ही मैं कहता हूँ ॥ ७ ॥

આચારાશ્ર-સૂત્ર કી આચારચિન્તામણિ-ટીકા કે હિન્દી-અનુવાદમે  
શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામક પ્રથમ અધ્યયનકા દ્વિતીય ઉદ્દેશ  
સમાપ્ત ॥ ૧-૨ ॥

સેહથી સત્તાવીસ પ્રકારના પૃથ્વીકાયના સમાર અને બાણી કરીને સર્વનો ત્યાગ કરવો જોઈએ.

આ પ્રમાણે જે પુરુષ પૃથ્વીકાયસમ્બન્ધી જોઈવું, જોઈવું આદિ સાવધ વ્યાપારોને  
સપરિજ્ઞાથી કર્યાબંધનું કારણ સમજે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી  
દે છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મા અને સકલસાવધક્રિયાઓને બાણવાવાળા પુરુષ મુનિ કહેવાય છે,  
માત્ર દ્રવ્યલિંગી મુનિ કહેવાતા નથી ભગવાને જેવું કહ્યું છે, એવું જ હું કહું છું ॥૭॥

આચારાશ્ર સૂત્રની આચારચિન્તામણિ ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમાં  
શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામક પ્રથમ અધ્યયનનો બીજો ઉદ્દેશ  
સમાપ્ત થયો ॥ ૧-૨ ॥

## ટીકા—

અગ્ર=પૃથિવીકાયે શસ્ત્રં=સ્વકાયપરકાયાદિકમ્ અસમારમમાણસ્ય=અધ્યા-  
પારયત इत्येते=પૂર્વોક્તા આરમ્મા=સાવધક્રિયાવિશેષાઃ પરિજ્ઞાતા ભવન્તિ ।  
અપરિજ્ઞયા સર્વાન્ પૃથિવીકાયસમારમ્માન્ કર્મબન્ધહેતુત્વેન અનન્તનરકનિગોદાદિ  
દુઃસ્વજનકત્વેન ચ પરિજ્ઞાય ચારિત્રરૂપમોક્ષમાર્ગે પ્રવર્તત इति માત્રઃ ।  
ઉપસહારમાહ—

તત્=પૃથિવીકાયસમારમ્મર્મ પરિજ્ઞાય=બન્ધહેતુત્વેનાવબુધ્ય મેઘાવી=  
સદસદ્ધિવેકી પૃથિવીશસ્ત્રં દ્રવ્યમાવરૂપં સ્વયં નૈવ સમારમતે અપિ ચ-અન્યૈરપિ  
પૃથિવીશસ્ત્રં નૈવ સમારમ્મયતિ, પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ અન્યાન્ નૈવ સમતુ  
જ્ઞાનાતિ । एव मनोवाक्यायभेदेनातीतानागतवर्तमानकालभेदेन च पृथिवीकाय

ટીકાર્થ—પૃથિવીકાય મેં સ્વકાય પરકાય આદિ શસ્ત્રોં કા આરમ ન કરને  
બાહે કો યહ પૂર્વોક્ત સાવધવ્યાપારરૂપ આરંમ જ્ઞાત હોતા હૈ । इन आरमों को जानने वाल  
अर्थात् अपरिज्ञा से पृथिवीकायसबही आरंमों को कर्मबन्ध का कारण तथा अनन्त नरक  
निगोद के दुस्वो का कारण जानकर चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है । उपसंहार  
करते हैं—

પૃથ્વીકાય કે આરંમ કો બધકા કારણ જાનકર બુદ્ધિમાન્ સત્ અસત્ કા મેદ  
સમજને વાળા, દ્રવ્ય-માવરૂપ પૃથ્વીશસ્ત્રકા સ્વયં વ્યાપાર નહીં કરતા, દૂસરે સે વ્યાપાર  
નહીં કરાતા ઔર વ્યાપાર કરને બાહે કો અનુમોદના મી નહીં કરતા । इसी प्रकार मन,  
ब्रह्म, काय के मेद से और अतीत, अनागत, वर्तमान काल के मेद से सचाईस प्रकार के

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમાં સ્વકાય પરકાય આદિ શસ્ત્રોંને આરમ નહીં કરવાવાળાને  
કો પૂર્વોક્ત સાવધ વ્યાપારરૂપ આરમની ખબર હોય છે, તે આરમોને બાણવાવાળા અર્થે  
અપરિજ્ઞાથી પૃથ્વીકાયસમગ્રની આરમોને કર્મબન્ધુ કારણ, તથા અનન્ત નરક નિગોદના  
દુઃખોનું કારણ બાણીને ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગમાં પ્રવૃત્ત થાય છે હવે ઉપસહાર કરે છે—

પૃથ્વીકાયના આરમને જાણું કારણ બાણીને બુદ્ધિમાન સત્-અસત્ના ભેદને  
બાણવા-સમજવાવાળા, દ્રવ્યભાવરૂપ પૃથ્વીશસ્ત્રને પોતે વ્યાપાર કરતા નથી, બીજા  
પાસે વ્યાપાર કરાવતા નથી, અને વ્યાપાર કરવાવાળાને અનુમોદન પણ કરતા નથી  
આ પ્રમાણે મન, વચન, કાયાના ભેદથી, અને ભૂતકાળ, ભવિષ્યકાળ, વર્તમાનકાળના

સમારમાન્ વિજ્ઞાય સર્વાન્ પરિત્યજેત્ ।

एष यस्य एते पृथिवीकर्मसमारम्भाः पृथिवीविषयाः खननकृष्यादिरूपाः  
सावधक्रियाविशेषाः परिज्ञाता भवन्ति=ज्ञपरिज्ञया कर्मबन्धहेतुत्वेन विज्ञाता, तथा  
प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यक्ता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा=विदितपरित्यक्त-  
सकलसावधक्रियाविशेष मुनिर्मवति, न त्वपरो द्रव्यलिङ्गीत्यर्थः । इति ब्रवीमि=  
यया भगवता कथितं तथा कथयामीत्यर्थः ॥ सू० ७ ॥

॥ इति शस्त्रपरिज्ञाप्ययने द्वितीय उद्देशः समाप्तः ॥ १-२ ॥

પૃથ્વીકાયસમારમ કો જ્ઞાનકર સર્વકા ત્યાગ કરના યાદિય ।

इस प्रकार जो पुरुष पृथ्वीकायसम्बन्धी खोदना जोतना आदि सावध व्यापारो  
को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबन्ध का कारण समझता है, और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन का  
त्याग कर देता है वही परिज्ञातकर्मा और सकल सावध क्रियाओं को जानने वाला पुरुष  
मुनि कहलाता है, सिर्फ द्रव्यलिङ्गी मुनि नहीं कहलाता । 'चित्तेमि' भगवान् ने जैसा कहा  
है वैसा ही मैं कहता हूँ ॥ ७ ॥

આચારાશ્ન-સૂત્ર કી આચારચિન્તામણિ-ટીકા કે હિન્દી-અનુવાદમેં  
શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામક પ્રથમ અધ્યયનકા દ્વિતીય ઉદ્દેશ  
સમાપ્ત ॥ ૧-૨ ॥

બેઢથી સત્તાવીસ પ્રકારના પૃથ્વીકાયના સમાર રાને બાણી કરીને સર્વનો ત્યાગ કરવો બેઢબો

આ પ્રમાણે જે પુરુષ પૃથ્વીકાયસમ્બન્ધી ખોદવું, જોડવું આદિ સાવધ વ્યાપારોને  
જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનું કારણ સમજે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી  
દે છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મી અને સકલસાવધક્રિયાઓને બાણવાવાળા પુરુષ મુનિ કહેવાય છે,  
માત્ર દ્રવ્યલિંગી મુનિ કહેવાતા નથી ભગવાને જેવું કહ્યું છે, એવું જ હું કહું છું ॥૭॥

આચારાશ્ન સૂત્રની આભારચિંતામણિ ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમાં  
શસ્ત્રપરિજ્ઞાનામક પ્રથમ અધ્યયનનો બીજો ઉદ્દેશ  
સમાપ્ત થયો ॥ ૧-૨ ॥



## ટીકા—

અન્ન=પૃથિવીકાયે શસ્ત્રં=સ્વકાયપરકાયાદિકમ્ અસમારમમાણસ્ય=અધ્યાપારયત્ इत्येते=પૂર્વોક્તા આરમ્માઃ=સાવધક્રિયાવિશેષાઃ પરિજ્ઞાતા ભવન્તિ ।  
 અપરિજ્ઞાયા સર્વાન્ પૃથિવીકાયસમારમ્માન્ કર્મવન્ધહેતુત્વેન અનન્તનરકનિગોદાદિ  
 દુઃસ્વજનકત્વેન ચ પરિજ્ઞાય ચારિત્રરૂપમોક્ષમાર્ગે પ્રવર્તત્ इति માત્રઃ ।  
 ઉપસંહારમાહ—

તત્=પૃથિવીકાયસમારમ્મણં પરિજ્ઞાય=વન્ધહેતુત્વેનાવબુધ્ય મેધાવી=સદસદ્વિવેકી પૃથિવીશસ્ત્રં દ્રવ્યમાવરૂપ સ્વયં નૈવ સમારમતે અપિ ચ=અન્યૈરપિ પૃથિવીશસ્ત્રં નૈત્ર સમારમ્મયતિ, પૃથિવીશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ અન્યાન્ નૈવ સમતુ જ્ઞાનાતિ । એવ મનોવાકાયમેદેનાતીતાનાગતવર્તમાનકાલમેદેન ચ પૃથિવીકાય

ટીકાર્થ—પૃથિવીકાય મેં સ્વકાય પરકાય આદિ શસ્ત્રોં કા આરમ ન કરને વાળે કો યહ પૂર્વોક્ત સાવધન્યાપારરૂપ આરમ જ્ઞાત હોતા હૈ । હન આરમોં કો જ્ઞાને વાલ્ય અર્થાત્ અપરિજ્ઞા સે પૃથિવીકાયસર્વંધી આરમોં કો કર્મવંધ કા કારણ તથા અનન્ત નરક નિગોદ કે દુ સ્વો કા કારણ જ્ઞાનકર ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગે મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ । ઉપસંહાર કરતે હૈ—

પૃથ્વીકાય કે આરમ કો વંધકા કારણ જ્ઞાનકર બુદ્ધિમાન્ સત્ અસત્ કા મેદ સમજ્ઞને વાજ્ઞા, દ્રવ્ય-માવરૂપ પૃથ્વીશસ્ત્રકા સ્વયં વ્યાપાર નહીં કરતા, દુસરે સે વ્યાપાર નહીં કરતા ઔર વ્યાપાર કરને વાળે કો અનુમોદના મી નહીં કરતા । હસી પ્રકાર મન, વચન, કાય કે મેદ સે ઔર અતીત, અનાગત, વર્તમાન કાલ કે મેદ સે સચાઈસ પ્રકાર કે

ટીકાર્થ—પૃથ્વીકાયમા સ્વકાય પરકાય આદિ શસ્ત્રોંનો આરમ નહિ કરવાવાળાને કો પૂર્વોક્ત સાવધ વ્યાપારરૂપ આરમની ખબર હોય છે, તે આશ્ચર્યને અણુવાવાળા અર્થાત્ અપરિજ્ઞાથી પૃથ્વીકાયસમન્ધી આશ્ચર્યને કર્મબંધન કારણ, તથા અનન્ત નરક નિગોદના દુષ્ટોં કારણ અણીને આસ્ત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગમા પ્રવૃત્ત થાય છે હવે ઉપસંહાર કરે છે—

પૃથ્વીકાયના આરમજ્ઞને બંધન કારણ અણીને બુદ્ધિમાન સત્-અસત્ના ભેદને અણુવા-સમજવાવાળા, દ્રવ્યમાવરૂપ પૃથ્વીશસ્ત્રને પોતે વ્યાપાર કરતા નથી, બીજા પ્રકારે વ્યાપાર કરાવતા નથી, જ્ઞને વ્યાપાર કરવાવાળાને અનુમોદન પણ કરતા નથી આ પ્રમાણે મન, વચન, કાયના ભેદથી, અને જ્ઞાતકાળ, અવિધ્યકાળ, વર્તમાનકાળના

સર્વવિરતિરૂપ પદ પ્રાપ્તો મુનિ\* પૃથિવીકાયાદિસૂક્ષ્મજીવસમારમ્ભનિવૃત્ત્યાદિ-  
કર્તવ્યતાયામલ્વીયોડપિ પ્રમાદજાત સ્વલન સમુપેક્ષતે ચેત્ તર્હિ પુનસ્તપ્રાધિકતર  
સ્વલન કતું ન લજ્જતે, તથાવિધનિયમાનુસારિણી હિ મનોવૃત્તિ\*, અત  
સ્વલપમપિ સયમત સ્વલન યથા ન મવેત્ તથા પ્રયતિતથ્યં મુનિમિ\* ।

અત્ર દૃષ્ટાન્ત. પ્રદર્શ્યતે—

કેનચિદ્ બાલ્યાવસ્થાયામન્યસ્ય કપર્દિકામાત્ર સ્તેયવૃત્ત્યાડપહૃત્ય  
સ્વમાતુરપ્રે નિહિતમ્ । માતા તદલોક્ષ્ય દૃષ્ટા સતી તસ્મૈ મધુરં વસ્તુ દદૌ ।  
અય પુન. પુન સ્તેયકર્મણિ પ્રવૃત્ત\* સ્વમાતૃહસ્તાત્ પારિતોષિક પ્રાપ્ત ક્રમેણ

યોગ્યતા દિશ્વલાતે હૈં—સર્વવિરતિરૂપ પદકો પ્રાપ્ત મુનિ પૃથિવીકાયા આદિ છોટે-છોટે બીજો  
કે આરંભ કા ત્યાગ કરને મેં યદિ પ્રમાદ કે કારણ યોગે સે મી સ્વલન કી ઉપેક્ષા કરતા હૈ  
સો ફિર ઔર અધિક સ્વલન કરને મેં મી સકોચ નહીં કરતા । મનોવૃત્તિ કા એસા હી  
નિયમ હૈ કિ—ગિરી સો ગિરતી હી આતી હૈ અત ઇવ મુનિયો કો એસા પ્રયતન કરના ચાહિય  
કિ, કિસ સે સયમ મેં તનિક મી સ્વલન ન હો ।

ઇસ વિષય મેં દૃષ્ટાન્ત કહતે હૈં—

કિસી બાલકને અપની બાલ્યાવસ્થા મેં ઇક કૌહી જુરાકર અપની માતા કે  
પાસ રહ લી । માતા ઉસે દેશ્વકર હર્ષિત હુઈ ઔર ઉસને ઇનામ કે તૌર પર બાલક કો  
મીઠી ચીજ લી । ઇસ કે બાદ બહ ઘરબાર ચૌરી કરને લગા ઔર અપની માતા કે હાથ સે  
પારિતોષિક પ્રાપ્ત કરને લગા । ઘીર-ઘીર બહ તામ્રપણ (સવિ કા સિક્કા) કાર્પાવણ

બતાવે છે—સર્વવિરતિરૂપ પદને પ્રાપ્ત મુનિ પૃથ્વીકાયા આદિ નાના-નાના જીવોના  
આરંભને ત્યાગ કરવામાં એ પ્રમાદના કારણે થોડા પણ સ્વલન (ચુટી)ની ઉપેક્ષા કરે  
છે તો કરીને વધારે સ્વલન કરવામાં પણ સંકોચ કરતા નથી મનોવૃત્તિનો એવોજ  
નિયમ છે કે—નીચે પડવા પછી વધારે નીચે પડી જાય છે એ કારણથી મુનિઓએ  
એવો પ્રયતન કરવો જોઈએ કે—એનાથી સયમમાં થોડું પણ સ્વલન નહીં હોય.

આ વિષયમાં દૃષ્ટાન્ત કહે છે—

કોઈ બાળકે પોતાની બાલ્યાવસ્થામાં જોકે કોઈ ધોરીને પોતાની માતાની પાસે  
રાખી લીધી, માતા તેને જોઈને રાજી થઈ અને તેને ઇનામ આપવાના ઢગથી બાળકને  
મીઠી વસ્તુ આપી ત્યાર પછી તે બાળક વારંવાર ચોરી કરવા લાગ્યો અને પોતાની  
માતા પાસેથી (માતાના હાથથી) ઇનામ મેળવવા લાગ્યો. ધીરે ધીરે તે તામ્રપણ-ત્રાંબાના

## અથ તૃતીયોદેશઃ ।

દ્વિતીયોદેશે પૃથિવ્યા સચિત્તત્વ તથા પૃથક્પૃથગનેકપૃથિવીકાયજીવાભિત્ત્વં  
 ચ મસાપિતમ્, તસ્ય હિસયા કર્મવન્ધો મવતીત્યુક્તમ્, અન્તતઃ પૃથિવીકાયજીવ-  
 હિસાનિવૃત્ત્યા મુનિર્મવતીતિ સિદ્ધાન્તિતમ્ । ઇદાનીમપાં સચિત્તત્વમનેકાપ્કાયજીવા  
 ખિત્ત્વ ઘોષ્યતા મગધતાઽપ્કાયહિસયા પદ્કાયજીવહિસાસપાતાત કર્મવન્ધો મવતિ,  
 તથાઽપ્કાયહિસાનિવૃત્ત્યા ચ મુનિત્વ ધમ્યત ઇતિ ઘોષયિતુ તૃતીયોદેશ પ્રારમ્ભ્યતે-  
 'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

અપ્કાયજીવસ્વરૂપવિચારણાયાં પ્રથમમનગારસ્ય યોગ્યતા દર્શયતિ-

## ત્રીસરા ઉદ્દેશ

ત્રિતીય ઉદ્દેશક મેં પૃથિવી કી સચિત્તતા સિદ્ધ કી ઔર પૃથિવી મેં પૃથક્-  
 પૃથક્ અનેક પૃથિવીકાય કે જીવોં કા રહના સિદ્ધ કિયા । યહ મી બતલાયા જા ચુકા હૈ  
 કિ-ઊન જીવોં કી હિસા કરને સે કર્મ કા વધ હોતા હૈ । અન્ત મેં મહ મી પ્રમાણિત  
 કિયા હૈ કિ-પૃથ્વીકાય કે જીવોં કી હિસા કા ત્યાગ કરને સે મુનિ હોતા હૈ । અબ  
 મહ બતલાતે હૈ કિ-અપ્કાય સચિત્ત હૈ, અનેક અપ્કાય કે જીવોં સે આશ્રિત હૈ ઔર  
 અપ્કાય કી હિસા સે પદ્કાય કે જીવોં કી હિસા હોતી હૈ ઔર અપ્કાય કી હિસા કા  
 ત્યાગ કરને વાસ્ત મુલિખન પાવા હૈ । યહ મહ બતલાને કે લિપ્ત ત્રીસરા ઉદ્દેશ આરંભ કિયા  
 જાતા હૈ-'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

અપ્કાય કે જીવોં કે સ્વરૂપ કા વિચાર કરતે હુપ સર્વ પ્રથમ અનગાર કી

## ત્રીજો ઉદ્દેશક-

ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં પૃથ્વીની સચિત્તતા સિદ્ધ કરી છે અને પૃથ્વીમાં બહુ-બહુ  
 અનેક પૃથ્વીકાયના જીવો રહે છે તે સિદ્ધ કર્યું છે એ પણ બતાવવામાં આવ્યું છે કે તે  
 જીવોની હિસા કરવાથી કર્મના બધા થાય છે અન્તમાં એ પણ પ્રમાણિત કર્યું કે  
 પૃથ્વીકાયના જીવોની હિસાનો ત્યાગ કરવાથી મુનિ થાય છે હવે તે બતાવે છે કે-અપ્કાય  
 સચિત્ત છે, અનેક અપ્કાયના જીવોથી આશ્રિત છે, અને અપ્કાયની હિસાથી પદ્કાયના  
 જીવોની હિસા થાય છે, અને અપ્કાયની હિસાનો ત્યાગ કરવાવાળા મુનિપણને પામે છે  
 એ સર્વ બતાવવા માટે ત્રીજા ઉદ્દેશકનો આરંભ કરવામાં આવે છે - 'સેવેમિ' ઇત્યાદિ

અપ્કાયના જીવોના સ્વરૂપનો વિચાર કરતા મહા સૌથી પ્રથમ અનુચારની ચોખ્ખતા

સર્વવિરતિરૂપ પદં પ્રાપ્તો મુનિઃ પૃથિવીકાયાદિસૂક્ષ્મજીવસમારમ્મનિવૃત્ત્યાદિ-  
કર્તવ્યતાયામલ્વીયોઽપિ પ્રમાદજાત સ્વલનં સમુપેક્ષતે ચેત્ તર્હિ પુનસ્તત્રાધિકતર  
સ્વલનં કતું ન લજ્જતે, તથાવિધનિયમાનુસારિણી હિ મનોવૃત્તિઃ, અત  
સ્વલ્પમપિ સયમતઃ સ્વલન યથા ન મવેત્ તથા પ્રયતિતવ્ય મુનિમિઃ ।

અત્ર દૃષ્ટાન્તઃ પ્રદર્શ્યતે—

કેનચિદ્ બાલ્યાવસ્થાયામન્યસ્ય કપર્દિકામાત્ર સ્તેયવૃત્ત્યાઽપહૃત્ય  
સ્વમાતુરગ્રે નિહિતમ્ । માતા તદવલોક્ય દૃષ્ટા સતી તસ્મૈ મધુર વસ્તુ દદૌ ।  
અય પુનઃ પુનઃ સ્તેયકર્મણિ પ્રવૃત્ત સ્વમાતૃહસ્તાત્ પારિતોષિકં પ્રાપ્ત ક્રમેણ

યોગ્યતા વિસ્તારાતે હૈં—સર્વવિરતિરૂપ પદકો પ્રાપ્ત મુનિ પૃથિવીકાય આદિ છોટે-છોટે જીવો  
કે આરંભ કા ત્યાગ કરને મેં યદિ પ્રમાદ કે કારણ થોડે સે મી સ્વલન કી ઉપેક્ષા કરતા હૈ  
તો ફિર ઔર અધિક સ્વલન કરને મેં મી સફોચ નહીં કરતા । મનોવૃત્તિ કા એસા હી  
નિયમ હૈ કિ—ગિરી સો ગિરતી હી બાતી હૈ અત એવ મુનિયાં કો એસા પ્રયત્ન કરના ચાહિય  
કિ, નિસ સે સયમ મેં તનિક મી સ્વલન ન હો ।

ઇસ વિષય મેં દૃષ્ટાન્ત કહતે હૈં—

કિસી બાલકને અપની બાલ્યાવસ્થા મેં એક કૌહી ચુરાકર અપની માતા કે  
પાસ રક્ષ લી । માતા ઉસે દેખકર હર્ષિત હુઈ ઔર ઉસને ઇનામ કે તૌર પર બાલક કો  
મીઠી વીંચ લી । ઇસ કે બાદ બહ બારબાર ચૌરી કરને લગા ઔર અપની માતા કે હાથ સે  
પારિતોષિક પ્રાપ્ત કરને લગા । ધીર-ધીરે બહ તામ્રપણ (તલિ કા સિક્કા) કાર્યાપણ

બતાવે છે—સર્વવિરતિરૂપ પદને પ્રાપ્ત મુનિ પૃથ્વીકાય આદિ નાના-નાના જીવોના  
આરંભનો ત્યાગ કરવામાં બે પ્રમાદના કારણે થોડા પણ સ્ખલન (ત્રુટી)ની ઉપેક્ષા કરે  
છે તો કરીને વધારે સ્ખલન કરવામાં પણ સંકેત્ય કરતા નથી મનોવૃત્તિનો જોવાળ  
નિયમ છે કે—નીચે પડવા પછી વધારે નીચે પડી બાચ છે જો કારણથી મુનિઓએ  
જોવો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ કે—જેનાથી સયમમાં થોડું પણ સ્ખલન નહીં હોય.

આ વિષયમાં દૃષ્ટાન્ત કહે છે—

કોઈ બાળકે પોતાની બાલ્યાવસ્થામાં જોકે કોઈ ચોરીને પોતાની માતાની પાસે  
રાખી દીધી, માતા તેને જોઈને શણ થઈ અને તેને ઈનામ આપવાના ઢગથી બાળકને  
મીઠી વસ્તુ આપી. ત્યાર પછી તે બાળક વારંવાર ચોરી કરવા લાગ્યો અને પોતાની  
માતા પાસેથી (માતાના હાથથી) ઈનામ મેળવવા લાગ્યો. ધીરે ધીરે તે તામ્રપણ-નાનાના

તામ્રપણ-કાર્પાપણ-રૂપ્યક - દીનાર-રત્ન - સ્વર્ણ-મણિ- માણિક્યાદિરત્નપ્રવીણઃ  
 કસ્યચિન્તૃપસ્ય કોશાગાર પ્રવિષ્ટ' । તત. પ્રચંડભુજદંડકૈસ્તદ્રસકૈ' સયોષણ પૂતો  
 રાજાન્તિક સમાનીત' । તદપરાધ વિજ્ઞાય ક્રોધાવિષ્ટેન રાજા સમાવિષ્ટમ્-અર્થ ચૌરા  
 શૂલે સમારોપ્યતામ્, ક્ષતિ ।

અસૌ પૃથક્ રાજા-તવ કાચિદિષ્ટા વર્તતે? ચેદ્ બ્રૂહિ । ચૌરેણોક્તમ્-  
 રામન્ ! સ્વમાતુર્મિલન પ્રાર્થયેઃ । અય ત્વપાત્રયા તજ્જનનો તપ્રાગત્ય મિસિતા ।  
 સ ચૌરસ્તત્ર રાજાઃ સમક્ષયેવ સવેગમ્પ્રત્યાય સત્ત્વર માતુર્નાસિકાં દન્તૈશ્ચિચ્છેદ ।  
 તતોઽસૌ રાજા પૃથઃ-ત્વયા કયમેવં દુષ્કરિતમાચરિતમ્ ? । ચૌરોઽવદત્-ઇયમેવ મમે

(ચૌભન્ની) રૂપયા, દીનાર (સુવર્ણ-મુદર), રત્ન, સુવર્ણ, મણિ, માણિક આદિ પુરાને મેં મી  
 પ્રવીણ હો ગયા । વહ કિસી રાજા કે સ્વજાને મેં પુસા । સ્વજાને કે બલ્લાન્ પહેરેદારો ને હસે  
 પકડ લિયા ઔર રાજા કે સામને પેશ કિયા । રાજા હસકા અપરાધ સુનકર ક્રોધિત હુઆ,  
 હસને બાજા દી-'હસ ચોર કો શૂલી પર ચડા દો' ।

રાજાને હસ સે પૂછા-અગર હુન્હારી કોઈ ક્ષત્ત હો તો કહો ।

ચોરને કહા-'મહારાજ ! મેં અપની માતા સે મિલ્નને કી પ્રાર્થના કરતા હૂં ।

રાજા કી બાજા સે ચોર કી માતા વહીં બાકર મિલી । ચોરને રાજા કે સામને હી બેગ  
 કે સાથ હઠ કર કત્લી સે અપની માતા કી નાક ઘાંતો સે કાટલી । વહ દેલ્લકર રાજાને  
 પૂછા-અરે ! તુને વહ દુષ્કર્મ ક્યોં કિયા ?

સિદ્ધા, ચાર આળી, રૂપિઆ, સોના મહોર, રત્ન, સોનું, મણિ, માણિક આદિ ચોરવામાં  
 પણ પ્રવીણ થઈ ગયો (કેટલોક સમય જતા) તે કોઈ રાજાના ખજાનામાં ઘુસી  
 ગયો. ખજાનાના બહાવાનું પકડેદારો રક્ષકોએ તેને પકડી લીધો અને રાજાની આજ્ઞા-  
 હાજર ઠર્યો રાજા તેનો અપરાધ સાંભળીને ક્રોધાવમાન થયા, અને બાજા બાપી કે  
 જો ચોરને શૂલી પર ચડાવી દો ।

રાજાએ તેને પૂછ્યું કે તારી કાંઈ ઇચ્છા હોય તો કહો.

ચોરે કહ્યું-'મહારાજ ! હું મારી માતાને મળવાની પ્રાર્થના કરું છું'

રાજાની આજ્ઞાથી ચોરની માતા ત્યાં બાજળ બાવી અને ચોરને મળી, ચોર  
 રાજાના સામેજ વેગથી જોકદમ ઉઠીને જહીથી પોતાની માતાનું નાક પોતાના  
 હાંતથી કાપી લીધું. તે બેઠને રાજાએ પૂછ્યું-અરે ! તે આવું દુષ્કર્મ શું માટે કરું ?

તદ્ધોરતરદુ.ત્વમદશ્લારોપણફલપ્રદાત્રી પ્રાણાપહર્ત્રી, ન તુ મવાન્ । હસ્યુક્ત્વા  
સર્વં પૂર્વઠ્ઠત રાત્રે વિજ્ઞાપયામાર્ષ । તત્ સ્વકૃતસ્વેયકર્મણો વિપાક શ્લારોપેણ  
ધોરતરવેદના પ્રાપ્તુવન્મૃત । તસ્માત્ સ્વલ્પોઽપિ દોષો મહાઝનર્યાય મવતીતિ  
વિજ્ઞાયાત્માર્થિર્મિથુનિમિ. સયમત. સ્વલ્પમપિ સ્વલનં યથા ન મવેત્ તથા  
વર્તિતવ્યમ્ ।

તપસંયમે કદાચિદાકસ્મિકસ્વલનસપાતસ્ત્વન્ય એવ, સ્વલનોપેક્ષણ-  
મપ્યન્યદેવ, યતઃ સ્વલનોપેક્ષયા પુનરુત્તરોત્તરસ્વલનનૃદ્ધયા સાધુત્વમેવ નશ્યતીતિ  
વિચિન્ત્ય જાગરુકા સાધવો નવનવાગન્તુકસ્વલનપરંપરાવિરહિતા. પૂર્વજાતસ્વલન-

ચોર-મહારાજ । ફસી કે કારણ મુને ધોર દુ સ્વ દેને વાલી શ્લી પર ચઢના પઢ રહા  
હે, યહી મેર પ્રાણ છેને વાલી હૈ, આપ નહીં । યહ કહ કર ચોરને અપના સમ્પૂર્ણ પૂર્વ-જ્ઞાતાં  
રાબા કો મુના દિયા ।

તત્પશ્વાત્ અપને ક્રિયે ચૌર્ય કર્મ કા ધોરવેદનારૂપ ફલ-શ્લી પર ચઢનરૂપ-કો મોગતા  
હુમા વહ ચોર મર ગયા ।

અત એવ યોગ-સા મી દોષ મહાન્ અનર્થ કા કારણ બન જાતા હૈ, પેસા સમક્ષકર  
અભિલાષી મુનિયો કો એસા પ્રયત્ન કરના ચાહિય કિ બિસ સે સંયમ મેં તનિક  
મી સ્વલન ન હો ।

તપ ઔર સયમ મેં કવચિત્ અકસ્માત્ સ્વલના કી બાત દૂસરી હૈ કિન્તુ  
સ્વલના કી ઉપેક્ષા કરના ઔર બાત હૈ, ડસ કા કારણ યહ હૈ કિ સ્વલના કી ઉપેક્ષા  
કરને સે ઉત્તરોત્તર સ્વલના વઢતી હી ચલી જાતી હૈ, પેસા બિચાર કરકે સદૈવ સાવધાન

ઘોર કહે-મહારાજ । એ માતાના કારણે જ મારે ઘોર-દુઃખ આપવાવાળી શ્લી  
ઉપર અડવાનું થાય છે, એ માથે પ્રાણ લેવાવાળી છે, આપ નહિ આ પ્રમાણે કહીને  
ઘોર પોતાની આજળની સંપૂર્ણ હકીકત રાખીને સંભળાવી. તે પછી પોતાનું કારણ ઘોરીનું  
કર્મનું ધોરવેદનારૂપ ફલ-શ્લી પર અડવાનું, તે લોગવતો થકો તે ઘોર મરણ પામ્યો.

એટલે કે-યોગો પણ દોષ મહાન્ અનર્થનું કારણ બની જાય છે એ પ્રમાણે  
સમજીને આત્મકલ્યાણના અભિલાષી મુનિઓએ એવો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ કે, જેનાથી  
સયમમા ઘોડું ક પણ સ્વલન ન થાય

તપ અને સયમમા કોઈ વખત અકસ્માત્ સ્વલનની વાત બૂઝી છે પણ સ્વલનની  
ઉપેક્ષા કરવી તે બીજી વાત છે તેનું કારણ એ છે કે-સ્વલનની ઉપેક્ષા કરવાથી ઉત્તરોત્તર  
સ્વલન (અથવા) વધત જાય છે એને નિગ્રહ કરીને પાકે-દુઃખેથી સાવધાન રહેવાવાળા

તામ્રપણ-કાર્પાણ-રૂપ્યક - દીનાર-રત્ન - સ્વર્ણ-મણિ- માણિક્યાદિરત્નપ્રવીણઃ  
 કસ્યચિન્નપસ્ય કોશાગાર મવિષ્ટ\* । તત\* પ્રવણ્ડમુજદણ્ડકૈસ્તદ્રસકૈ\* સયોષણં પુતો  
 રાજાન્તિક સમાનીત\* । તદપરાધ વિજ્ઞાય ક્રોધાવિષ્ટેન રાજા સમાદિષ્ટમ્-અયં ચૌરા  
 શૂલે સમારોપ્યતામ્, ઇતિ ।

અમો પૃથ્વ રાજા-તથા કાચિદિચ્છા વર્તતે? એદ્ બ્રૂહિ । ચૌરેણોક્તમ્-  
 રામન્ ! સ્વમાતુર્મિલન પ્રાર્થયે\* । અયં તૃપાક્ષયા તજ્જનનો તપ્રાગત્ય મિચ્છિતા ।  
 સ ચૌરસ્તત્ર રાજઃ સમક્ષમેષ સવેગમુત્પાયા સત્ત્વરં માતુર્નાસિકાં દન્તૈશ્ચિચ્છેદ ।  
 તતોઽસૌ રાજા પૃથ-ત્વયા કયમેવં દુષ્કરિતમાચરિતમ્ ? । ચૌરોઽવદત્-ઇયમેવ મમે

(ચૌબન્ની) રૂપયા, દીનાર (સુવર્ણ-મુહર), રત્ન, સુવર્ણ, મણિ, માણિક આદિ ચુરાને મેં મી  
 પ્રવીણ હો ગયા । વહુ કિસી રાજા કે સ્થાને મેં પુતો । સ્વજાને કે મલ્લાન્ પહેરેદારો ને તમે  
 પકડ લિયા ધૌર રાજા કે સામને પેશ કિયા । રાજા તસકા અપરાધ સુનકર ક્રોધિત હુઆ,  
 તસને આજ્ઞા દી-‘ઇસ ચોર કો શૂલી પર ચઢા દો’ ।

રાજાને તસ સે પૂછા-અગર તુમ્હારી કોઈ ઇચ્છા હો તો કહો ।

ચોરને કહા-‘મહારાજ ! મેં અપની માતા સે મિલ્નને કી પ્રાર્થના કરતા હૂં ।

રાજા કી આજ્ઞા સે ચોર કી માતા વહીં આકર મિલ્લી । ચૌરને રાજા કે સામને હી વેગ  
 કે સાથ ઠઠ કર જત્થી સે અપની માતા કી નાક ઢાંતો સે કાટલી । વહુ દેસકર રાજાને  
 પૂછા-બેરે ! તુને વહુ દુષ્કર્મ ક્યો કિયા ?

ચિહ્ના, ચાર બાની, રૂપિયા, સોના મહોર, રત્ન, સોનું, મણિ, માણિક આદિ ચોરવામાં  
 પણ પ્રવીણ થઈ ગયો (કેટલોક સમય જતા) તે કોઈ રાબના ખબતમાં પુચ્છી  
 ગયો. ખબતના બહાવાન પકડેશાશે રક્ષકોએ તેને પકડી લીધો અને રાબની સામે-  
 હાજર કર્યો રાબ તેનો અપરાધ સાંભળીને ક્રોધાચમાન થયા, અને આજ્ઞા બાપી કે  
 એ ચોરને શૂલી પર ચઢાવી દો ।

રાબએ તેને પૂછ્યું કે તારી કાંઈ ઇચ્છા હોય તો કહે ।

ચોરે કહ્યું-‘મહારાજ ! હું મારી માતાને મળવાની પ્રાર્થના કરું છું’

રાબની આજ્ઞાથી ચોરની માતા ત્યાં આજળ આવી અને ચોરને મળી, ચોરે  
 રાબના સામે વેગથી એકદમ ઊઠીને જહીલી પેતાની માતાનું નાક પેતાના  
 હાંતથી કાપી લીધું. તે જોઈને રાબએ પૂછ્યું-અરે ! તે આવું દુષ્કર્મ શા માટે કર્યું ?

શ્રુત તત્ કથયામિ । સ પૃથિવીકાયશસ્ત્રમસમારમમાણઃ પરિજ્ઞાતપૃથિવીકર્મ-  
સમારમ્મો યથા સપૂર્ણોઽનગારો ભવતિ, અપિચ-યથાઽનગારો ન ભવતિ,  
તદ્ દ્વયમપિ વ્રવીમિ, વક્ષ્યતિ ચ-‘અગગારામોચિ ઇમે પવયમાણા’ ઇત્યાદિ ।  
સાવધક્રિયાયા ગૃહાશ્રયત્વાદ્ ગૃહપરિત્યાગ એવ મુનિત્વે પ્રધાનકારણમિતિ વૉધનાય  
સાધ્વાદિશબ્દં પરિત્યજ્ય ‘અનગાર’-શબ્દોપાદાનમ્ । કથ સર્વથાઽનગારો ભવતિ ?  
ઇત્યાકાઙ્ક્ષાયમાહ—

‘ઉજ્જુકઢે’ ઇતિ, ઋજુકૃત., અર્જયતિ જ્ઞાન્ત્યાદિગુણાનિતિ ઋજુ ।  
યદ્વા-અર્જયતિ-સક્લપ્રાણિગણહિત દયાસ્વભાવમિતિ ઋજુ. । યદિવા-અર્જયતિ=  
યથાવસ્થિતાત્મસ્વરૂપ પ્રાપયતીતિ ઋજુ । યદ્વા-અર્જયતિ=પ્રાપયતિ જ્ઞાન્તિક

પ્રકાર પૂર્ણ અનગાર હોતા હૈ, ઓર જિસ પ્રકાર પૂર્ણ અનગાર નહીં હોતા, યે દોનોં બાતેં મેં  
કહતા હૈ—‘અગગારા મોચિ ઇમે પવયમાણા’ ઇત્યાદિ સૂત્ર મેં આગે કહા ચાયગા ।

ગૃહ મેં સાવધક્રિયા અવશ્ય હોતી હૈ, અત એવ ગૃહ કા ત્યાગ કરના હી મુનિપન  
કા પ્રધાન કારણ હૈ । યહ બાત પ્રકટ કરને કે લિપ્ સાધુવાચક અન્ય શબ્દ ઓઢકર  
યહોં અનગાર શબ્દ કા પ્રયોગ ક્રિયા હૈ । પૂરા અનગાર કિસ્ત પ્રકાર બનતા હૈ, પસી આકાશ  
હોને પર કહને હૈ—‘ઉજ્જુકઢે’ ઇતિ ।

ઉજ્જુકઢે કા સસ્કૃત રૂપ હૈ ‘ઋજુકૃત’ । ક્ષમા આદિ ગુણોં કો ઉપાર્જન  
કરને વાલા ઋજુ કહલાતા હૈ । અથવા સમસ્ત પ્રાણિયોં કે હિતરૂપ દયા કો ઉપાર્જન  
કરને વાલા ઋજુ કહલાતા હૈ । અથવા આત્મા કો અપને અસલી સ્વરૂપ પર પહુચાને

અણુવાવાળા પુરુષ, જે પ્રમાણે પૂર્ણ અણુગાર થાય છે અને જે પ્રમાણે પૂર્ણ અણુ  
ગાર નથી થતા, તે બન્ને વાતો હું કહું છું —‘અગગારા મોચિ ઇમે પવયમાણા’ ઇત્યાદિ  
સૂત્રમાં આગળ કહેવામાં આવશે.

ધરમા સાવધક્રિયા અવશ્ય થાય છે જોટલા માટે ધરનો ત્યાગ કરવો તેજ મુનિ  
પણાંનું પ્રધાન કારણ છે જો વાત પ્રગટ કરવા માટે સાધુવાચક અન્ય સબ્દ ત્યાજીને  
અહિં ‘અનગાર’ શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે પૂરા અણુગાર કેવી રીતે બને છે, જોવી  
ધિક્ષા થવાથી કહે છે—‘ઉજ્જુકઢે’ ઇતિ

‘ઉજ્જુકઢે’નું સસ્કૃત રૂપ ‘ઋજુકૃત’ થાય છે ક્ષમા આદિ ગુણોંનું ઉપાર્જન  
કરવાવાળા ઋજુ (સરલ-સિધા) કહેવાય છે અથવા સમસ્ત પ્રાણીઓના હિતરૂપ થયાને  
ઉપાર્જન કરવાવાળા ઋજુ કહેવાય છે અથવા આત્માને અસલ સ્વરૂપ સુધી પહોંચાડવા



દોષમપનેતું શક્નુવન્તિ । તદેવ વિશ્વદયન્ સુધર્મા સ્વામી પ્રાહ—‘સે વેમિ’ इत्यादि ।

द्वितीयोद्देशसमाप्तौ “जस्सेते पुढविकम्मसमारभा परिण्णाया भवंति से इ  
मुणी परिण्णायकम्मा” इत्युक्तम् । अधुना तु—न च तावदेव सर्वथा मुनिर्भवितुमर्हति ।  
यथा भवति तथा दर्शयितुं श्रीसुधर्मा स्वामी प्राह—‘से वेमि’ इत्यादि ।

॥ मूलम् ॥

સે વેમિ—સે જહાવિ અળગારે ઝજ્જુકઠે નિયામપટિવળ્ણે અમાય કુમ્માજે  
વિચારિય ॥ સૂ૦ ૧ ॥

॥ छाया ॥

તદ્ બ્રવીમિ સ યથાપિ અનગાર ઋજુકૃતઃ નિયામપતિપત્તઃ અમાયાં કુર્વાનો  
વ્યાખ્યાતઃ ॥ સૂ૦ ૧ ॥

॥ टीका ॥

‘સે વેમિ’ इत्यादि । तद् ब्रवीमि यदन्यच्च भगवदन्तिके भवा

રહને વાળે સાધુ નવી—નવી હોને વાલી ત્સલના કે દોષો સે બચ સકતે હૈં । યહી વાત ત્સ  
ફરતે હુય સુધર્મા ત્વામી બાગે કહતે હૈં—‘સે વેમિ’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ (મગબાન્ કે મુસારવિન્દ સે જો સુના હૈ) સો કહતા હૈં—ઋજુકૃત  
મોક્ષમાર્ગ મેં પ્રાપ્ત ઔર માયા ન કરને વાલ્લ અનગાર કહા ગયા હૈ ॥ સૂ. ૧ ॥

ટીકાર્થ—મગબાન્ કે સમીપ ઔર મી જો સુના હૈ વહ કહતા હૈં । પૃથ્વીકામ કે  
વિષય મેં શક્ત કા આરમ ન કરને વાલ્લ પૃથ્વીકામ કે આરમ કો જ્ઞાનને વાલ્લ પુરુષ કિસ  
સાધુ—નવી નવી અવાવાળી સ્ખલના ઢોપેથી બની ચકે છે, જો વાત સ્પષ્ટ કરીને  
સુધર્મા સ્વામી અમળ કહે છે—‘સે વેમિ’ इत्यादि

બીજા ઉદ્દેશકની સમ્પ્રાપ્તિમા કહ્યું હતું કે—એ પુરુષ પૃથ્વીકામના આરંભને  
બાધીને તેના ત્યજ કરી આવે છે, તે સુનિ છે અર્થિ જો બતાવવામાં આવે છે કે—  
આટલું કરવા માત્રથી જ કોઈ પૂરી રીતે સુનિ થઈ શકતા નથી, સુનિ થવાને માટે બીજા  
—એ જે વાતોની (બાધવાની) આવશ્યકતા છે, તેને સુધર્મા સ્વામિ કહે છે—‘સે વેમિ’ इत्यादि.

મૂલાર્થ—(મગવાનના સુખારવિહથી જે સાંભળ્યું છે) તે કહું છું —  
ઋજુકૃત, મોક્ષમાર્ગમાં પ્રાપ્ત અને માયા નહિ કરવાવાળા અજગાર કહ્યા છે (૧)

ટીકાર્થ—મગવાનની પાસેથી બીજી પણ જે સાંભળ્યું છે, તે કહું છું —  
પૃથ્વીકામના વિષયમાં શક્તને આરંભ નહિ કરવાવાળા, પૃથ્વીકામના આરંભને

તથા નિયાગપ્રતિપન્નઃ, નિ=નિશ્ચયેન યજતિ=સમ્યગ્ગમનં કુર્વન્તિ યત્ર સ નિયાગ=મોક્ષમાર્ગઃ જ્ઞાનક્રિયાલક્ષણઃ । યદ્વા-નિ=નિશ્ચયેન યજતિ=દદાતિ સિદ્ધિ ગતિમિતિ નિયાગ=જ્ઞાન્ત્યાદિદશવિધો યતિધર્મઃ, તં પ્રતિપન્ન=પ્રાપ્ત ।

તથા 'અમાયાં કુર્વાણઃ' માયા=વીર્યાધારસંગોપન પરવચ્ચનં યા, ન માયા અમાયા, તાં કુર્વાણ અનગારો વ્યાખ્યાતઃ=મગવતા કથિતઃ ।

અય માવઃ—ન કેવલ પૃથિવીશસ્ત્રસમારમ્મમાપ્રનિવૃત્ત્યાજ્નગારો ભવતિ કિન્તુ યઃ સ્વલુ પૃથિવીશસ્ત્રસમારમ્મનિવૃત્ત પરિજ્ઞાતસકલસાવધકર્મા નિરવ-

અય 'નિયાગપ્રતિપન્ન' શબ્દના અર્થ કરતે છે । 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચય સે 'યાગ' અર્થાત્ સમ્યક્ ગમન જહાં ક્રિયા જાતા હૈ ઉસે 'નિયાગ' યા મોક્ષમાર્ગ કહતે હૈ । જ્ઞાન ઓર ક્રિયા મોક્ષ કા માર્ગ હૈ ।

અથવા 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચય સે 'યાગ' અર્થાત્ સિદ્ધિગતિ દેને વાલા ક્ષમા આદિ દશ પ્રકાર કા યતિધર્મ 'નિયાગ' કહલાતા હૈ, ઇસે નિયાગ કો જો પ્રાપ્ત હો જુકા હો વહ નિયાગપ્રતિપન્ન હૈ ।

તથા માયા અર્થાત્ વીર્યાધાર કા ગોપન કરના યા દૂસરે કો ગોસ્તા દેના માયા હૈ । ઇસ માયા કા સેવન ન કરને વાલા જો વહી અનગાર હૈ, ઇસા મગવાનુ ને કહા હૈ ।

સાત્પર્ય યહ હૈ કિ—કેવલ પૃથ્વીશસ્ત્ર કે આરમ કા ત્યાગ કર દેને માત્ર સે હી કોઈ અનગાર નહી હો જાતા, વરન્ જો પૃથ્વીશસ્ત્ર કે આરમ કા ત્યાગ કર કે સકલ

હવે 'નિયાગપ્રતિપન્ન' શબ્દનો અર્થ કહે છે 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'યાગ' અર્થાત્ સમ્યક્ગમન જ્યાં કરવામાં આવે છે તેને નિયાગ અથવા મોક્ષમાર્ગ કહે છે જ્ઞાન અને ક્રિયા મોક્ષનો માર્ગ છે અથવા 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'યાગ' અર્થાત્ સિદ્ધિગતિ આપવાવાળો ક્ષમા આદિ દસ પ્રકારનો યતિધર્મ 'નિયાગ' કહેવાય છે એવા નિયાગને જે પ્રાપ્ત થઈ શક્યા છે, તે નિયાગપ્રતિપન્ન છે તથા માયા અર્થાત્ વીર્યાધારનું ગોપન કરવું અથવા બીજાને ધોળો દેવો તે માયા છે તે માયાનું સેવન નહિ કરવાવાળો જે હોય તે અનગાર છે એ પ્રમાણે સમજવાને કહ્યું છે

સાત્પર્ય કો છે કે—કેવલ પૃથ્વીશસ્ત્રના આરબનો ત્યાગ કરી દેવા માત્રથીજ કોઈ અનગાર થતા નથી નહીં, જે પૃથ્વીશસ્ત્રના આરબનો ત્યાગ કરીને, સકલ સાવલ કમોને

શિવસ્થાનમિતિ - ક્રજુઃ = વિપમમાવરહિતત્વાદ્ દુષ્પ્રણિશ્તમનોવાકાયનિરોધસ્વઃ  
સયમઃ, સ કૃતઃ=અનુષ્ઠિતો યેન સ ક્રજુકૃતઃ-મનોવાકાયગ્રન્યસકલસાવધ  
ક્રિયાનિવૃત્ત ઇત્યર્થઃ ।

પદ્મા-સંપૂર્ણસંવરસ્વરૂપસંયમેન સંયમિના મોક્ષસ્થાનગમનાર્થે ક્રજુગતિઃ  
પ્રાપ્યતે, તથા ક્રજુગતેઃ કારણં સયમ ઇતિ કારણે કાર્યોપચારાત્સદ્ધશ્ચિષ  
સંયમોઽપિ ક્રજુરિત્યુચ્યતે, સ કૃતઃ=સમાચરિતો યેનાસૌ ક્રજુકૃતઃ. કૃતસંપૂર્ણ  
સંયમાનુષ્ઠાન ઇત્યર્થઃ ।

વાલા ક્રજુ કહછતા હૈ । અથવા આત્મા કો શાશ્વત મોક્ષસ્થાન પર પહુંચાને વાલા ક્રજુ  
કહલાતા હૈ । અથવા ક્રજુ કા અર્થ હૈ-સંયમ । મન, વચન, કામ કે સ્લોટે વ્યાપાર કો  
રોકનારૂપ સયમ હૈ । જિસ ને एसा व्यापार रोक दिया है वह क्रजुकृत कहलाता है ।  
अर्थात् जो मन, वचन और काम से होने वाली समस्त सावध क्रियाओं से निवृत्त हो गया  
हो वह 'क्रजुकृत' है ।

અથવા-સમ્પૂર્ણસંવરરૂપ સંયમ કે દ્વારા સંયમી મોક્ષ મેં ગમન કરને કે લિપ  
ક્રજુગતિ પ્રાપ્તિ કરતા હૈ । હસ ક્રજુગતિ કા કારણ સંયમ હૈ । અસ્ત કારણ મેં કાર્ય કા  
ઉપચાર કરને સે સત્રહ પ્રકાર કા સંયમ ચી 'ક્રજુ' કહલાતા હૈ । ઇસ 'ક્રજુ' અર્થાત્  
સંયમ કા જિસને આચરણ કિયા હો વહ 'ક્રજુકૃત' કહછતા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ પૂર્ણ  
સંયમ કા અનુષ્ઠાન કરને વાલા ક્રજુકૃત હૈ ।

વાળા ક્રજુ કહેવાય છે અથવા આત્માને શાશ્વત મોક્ષસ્થાન પર પહોંચાડવાવાળા  
ક્રજુ કહેવાય છે અથવા ક્રજુનો અર્થ છે સયમ-મન, વચન અને કામના ખોટા  
વ્યાપારને રોકવા રૂપ સયમ છે જેણે જોવો વ્યાપાર રોકી આપ્યો છે તે 'ક્રજુકૃત'  
કહેવાય છે અર્થાત્ જે મન, વચન અને કામથી થવાવાળી સમસ્ત સાવધ ક્રિયા  
ઓથી નિવૃત્ત થઈ ગયા હોય તે ક્રજુકૃત છે

અથવા-સંપૂર્ણસંવરરૂપ સયમદ્વારા સંયમી મોક્ષમાં અમન કરવા માટે  
ક્રજુગતિ પ્રાપ્ત કરે છે તે ક્રજુગતિનું કારણ સયમ છે તેથી કારણમાં કાર્યનો  
ઉપચાર કરવાથી સત્તર (૧૭) પ્રકારનો સયમ પણ 'ક્રજુ' કહેવાય છે તે ક્રજુ  
અર્થાત્ સયમનું જેણે આચરણ કર્યું છે તે 'ક્રજુકૃત' કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે  
પૂર્ણ-સયમનું અનુષ્ઠાન કરવાવાળા ક્રજુકૃત છે.

તથા નિયાગપ્રતિપન્ન, નિ=નિશ્ચયેન યજતિ=સમ્યક્ગમનં કુર્વન્તિ યત્ર સ નિયાગ=મોક્ષમાર્ગઃ જ્ઞાનક્રિયાલક્ષણં । યદ્વા-નિ=નિશ્ચયેન યજતિ=દદાતિ સિદ્ધિ ગતિમિતિ નિયાગ=જ્ઞાન્ત્યાદિદશધિષ્ઠો યતિધર્મઃ, ત પ્રતિપન્ન=પ્રાપ્ત ।

તથા 'અમાયાં કુર્વાણ' માયા=વીર્યાચારસંગોપન પરવચ્ચન ધા, ન માયા અમાયા, તાં કુર્વાણ અનગારો વ્યાખ્યાતઃ=મગવતા કથિતઃ ।

અય માવઃ-ન કેવલં પૃથિવીશ્વસમારમ્મમાત્રનિવૃત્ત્યાનગારો મઘતિ કિન્તુ યઃ સ્વલુ પૃથિવીશ્વસમારમ્મનિવૃત્ત પરિજ્ઞાતસક્લસાવધકર્મા નિરવ-

અવ 'નિયાગપ્રતિપન્ન' શબ્દકા અર્થ કરતે હૈં । 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચય સે 'યાગ' અર્થાત્ સમ્યક્ ગમન જહોં ક્રિયા જાતા હૈ ઉસે 'નિયાગ' યા મોક્ષમાર્ગ કહતે હૈ । જ્ઞાન ઔર ક્રિયા મોક્ષ કા માર્ગ હૈ ।

અથવા 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચય સે 'યાગ' અર્થાત્ સિદ્ધિગતિ દેને જાણ કમા આદિ દશ પ્રકાર કા યતિધર્મ 'નિયાગ' કહલતા હૈ, ઇસે નિયાગ કો જો પ્રાપ્ત હો જુકા હો વહ નિયાગપ્રતિપન્ન હૈ ।

તથા માયા અર્થાત્ વીર્યાચર કા ગોપન કરના યા દુસરે કો ગોસા દેના માયા હૈ । ઇસ માયા કા સેવન ન કરને જાણ જો વહી અનગાર હૈ, ઇસા મગવાન્ ને કહા હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-કેવલ પૃથ્વીશક્તિ કે આરમ કા ત્યાગ કર દેને માત્ર સે હી કોઈ અનગાર નહીં હો જાતા, ઘરન્ જો પૃથ્વીશક્તિ કે આરમ કા ત્યાગ કર કે સક્ષ્મ

હવે 'નિયાગપ્રતિપન્ન' શબ્દનો અર્થ કરે છે 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'યાગ' અર્થાત્ સમ્યક્ગમન જ્યા કરવામાં આવે છે તેને નિયાગ અથવા મોક્ષમાર્ગ કહે છે જ્ઞાન અને ક્રિયા મોક્ષનો માર્ગ છે અથવા 'નિ' અર્થાત્ નિશ્ચયથી 'યાગ' અર્થાત્ સિદ્ધિગતિ આપવાવાળો ક્ષમા આદિ દસ પ્રકારનો યતિધર્મ 'નિયાગ' કહેવાય છે જોવા નિયાગને જે પ્રાપ્ત થઈ જુકા છે, તે નિયાગપ્રતિપન્ન છે તથા માયા અર્થાત્ વીર્યાચરનું ગોપન કરવું અથવા બીજાને ધોળો દેવો તે માયા છે તે માયાનું સેવન નહિ કરવાવાળા જે હોય તે અનગાર છે જે પ્રભાણે ભગવાને કહ્યું છે

તાત્પર્ય જે છે કે-કેવલ પૃથ્વીશક્તિના આરબનો ત્યાગ કરી દેવા માત્રથી જ કોઈ અનગાર થતા નથી. પરન્તુ જે પૃથ્વીશક્તિના આરબનો ત્યાગ કરીને, સકલ સાવધ કરીને

શેપસયમાનુષ્ઠાનપ્રવૃત્તઃ સમાશ્રિતમોક્ષમાર્ગઃ. કર્પૂરતળઢવદન્તર્વહિરેકરૂપતયા  
સ્વધીર્યસંગોપન-પરવચ્ચનલક્ષણમાયાચારરહિતો ભવતિ સ એવ વસ્તુતોજનગારો  
વોદ્ધવ્ય ઇતિ ॥ સૂ. ૧ ॥

ઉક્તરૂપસ્યાનગારસ્ય કર્તવ્યમાહ—‘જાણ’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલ્ય ॥

જાણ સદાજ નિસ્ત્રવતો તમેજ અણુપાલિજ્ઞા વિજિહ્વા કિસોત્તિયં  
પુન્વસજોગં ॥ સૂ. ૨ ॥

॥ છાયા ॥

યયા શ્રદ્ધયા નિષ્કાન્તસ્તામેવાનુપાલયેત્ વિસ્ત્રોતસિકાં પૂર્ણ  
સયોગમ્ ॥ ૨ ॥

॥ ટીકા ॥

યયા શ્રદ્ધયા વિસ્ત્રોતસિકાં—શક્તાં, સર્વશક્તાં દેશશક્તાં ચેત્યર્થ ।

સાવધ કાર્યો કા જ્ઞાતા હોતા હૈ ઓર પૂર્ણ સંયમ કે અનુષ્ઠાન મૈ પ્રવૃત્ત હો તયા મોક્ષમાર્ગ કા  
આશ્રય હેતા હૈ । કર્પૂર કે ટુકડે કી મૈત્તિ મૈત્તર—બાહર પક્ષા ઝમ્મલ હોને કે કારણ  
અપની શક્તિ કા ગોપન નહીં કરતા ઓર દૂસરો કો ધોસ્તા નહીં દેતા અર્થાત્ માયાચાર સે  
રહિત હોતા હૈ, ઊસી કો વાસ્તવ મૈ અનગાર સમજના જાદિય ॥ સૂ. ૧ ॥

ઉક્ત પ્રકાર કે અનગાર કા કર્તવ્ય જતલતે હૈ—‘જાણ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—શક્તા કાલ્પા આદિ કા ત્યાગ કર કે ઓર પૂર્વકાલીક સંયોગો કા ત્યાગ  
કર કે બિસ શ્રદ્ધા કે સાથ નિષ્કલા હૈ, ઊસી શ્રદ્ધા કા નિરન્તર પાલન કરે ॥ સૂ. ૨ ॥

ટીકાર્થ—‘વિસ્ત્રોતસિકા’ કા અર્થ હૈ શક્તા, શક્તા ઘો પ્રકાર કી હૈ (૧) સર્વશક્તા

જાતા—અણુનાર જાય છે અને પૂર્ણ સયમના અનુષ્ઠાનમા પ્રવૃત્ત થાય છે, તથા મોક્ષ  
માર્ગનો આશ્રય લે છે કર્પૂરના ટુકડાની માફક જાદર અને બહાર બેઠલ પ્રકારે ઉજ્જવલ  
હોવાના કારણે પોતાની શક્તિનું ગોપન કરતો નથી અને બીજાને જણા દેતો નથી. અર્થાત્  
માયાચારથી રહિત હોય છે, તેને વાસ્તવિક રીતે અણુગાર સમજવો જોઈએ (સૂ. ૧)

ઉપર કહ્યા તેવા અણુગારનું કર્તવ્ય જતાવે છે—‘જાણ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—શક્તા, કાલ્પા વગેરેનો ત્યાગ કરીને અને પૂર્વ કાલના સંયોગોનો  
ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી નિષ્કલા છે, તે શ્રદ્ધાનું નિરન્તર પાલન કરવું (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—‘વિસ્ત્રોતસિકા’નો અર્થ છે શક્તા, શક્તા બે પ્રકારની છે—(૧) સર્વશક્તા

“કિમાર્હતો માર્ગોઽસ્તિ ન વા” ઇતિ સર્વાંગમવિપિયકા શક્કા સર્વશક્કા, તયા-  
“કિમપ્કાયાદયો જીવાઃ સન્તિ ન વા” ઇતિ દેશશક્કા ।

કેવલાલોકેન વિલોક્ય મગધતા વિશિષ્ટ પ્રવચને કથિતત્વાત્ અપ્કાયાદયઃ  
સન્તિ જીવાઃ, ઇતિ પૂર્વા કોટિઃ, ચેતનારૂપાત્મલક્ષણસ્ય સુસ્પષ્ટમનુપલબ્ધેર્ન સન્તિ  
અપ્કાયાદયો જીવાઃ, ઇત્યુત્તરા કોટિઃ પ્રાદુર્ભવતિ । પૂર્વસયોગઃ=માતાપિત્રાદિસમ્બન્ધઃ,  
ધનધાન્યસ્વનનાદિસમ્બન્ધ વા ।

ઇદમ્પલક્ષણમ્-તેન પદ્માત્સયોગમપિ શ્વશુરાદિકૃતં વિદ્યાય=પરિત્યજ્ય  
નિષ્ક્રાન્ત =અનગારો જાતઃ, તા શ્રદ્ધામ્ અનુપાલયેદેવ નિરતિચાર રક્ષેદિત્યર્થઃ ।

બીર (૨) દેશશક્કા । અર્હન્ત મગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવ મેં મોક્ષમાર્ગ હૈ  
યા નહીં ? પેસી-શક્કા સર્વશક્કા હૈ । અપ્કાય આદિ કે જાંવ હૈં યા નહીં ? ’ યહ દેશ  
શક્કા હૈં ।

મગવાનને કેવલ જ્ઞાન સે દેશ્વકર પ્રવચન મેં અપ્કાય આદિ કે જીવોં કા  
અસ્તિત્વ પ્રગટ કિયા હૈ, યહ શક્કા કી પૂર્વકોટિ હૈ । આત્મા કા ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટ  
રૂપ સે નહીં પાયા જાતા, અતઃ એવ અપ્કાય આદિ અજીવ હૈં, યહ શક્કા કી દૂસરી કોટિ હૈ ।

માતા, પિતા આદિ કા સબધ તયા ધન, ધાન્ય, સ્વબ્ધન આદિ કા સબંધ પૂર્વસયોગ ।  
કદ્બલતા હૈ । ઉપલક્ષણ સે સાસ-સમુર આદિ કા સબંધ પદ્માત્સયોગ કહલાતા હૈ । इन दोनो  
सयोगो की त्याग कर के जिस श्रद्धा के साथ अनगार हुआ है उसी श्रद्धा का पालन करे  
अर्थात् उस की निरतिचार रक्षा करे ।

અને (૨) દેશશક્કા ‘અર્હન્ત મગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવિક રીતે મોક્ષ  
માર્ગ છે કે નહીં ? ’ આ પ્રકારની શક્કા તે સર્વશક્કા છે અપ્કાય આદિના અવ  
છે કે નહીં ? આ દેશશક્કા છે

મગવાને દેવલજ્ઞાન વડે જોઈને પ્રવચનમા અપ્કાય આદિના અવેગ્ન અસ્તિત્વ  
પ્રગટ થયું છે, આ શકાની પૂર્વકોટિ છે આત્માનું ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટરૂપથી એવામાં  
આવતું નથી તેથી અપ્કાય આદિ અઅવ છે, આ શકાની બીજી કોટિ છે

માતા-પિતા આદિનો સબંધ તથા ધન, ધાન્ય સ્વબ્ધન આદિનો સબંધ પૂર્વ-  
સયોગ કહેવાય છે, ઉપલક્ષણથી સાસુ, સાસરા આદિનો સબંધ પદ્માત્સયોગ  
કહેવાય છે આ બન્ને સયોગનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી અણુગ્રાહ થયા છે, તે  
શ્રદ્ધાનું પાલન કરે, અર્થાત્ તેની નિશ્ચિત્થાર (વિના અતિથ્યાર) રક્ષા કરે

શેપસયમાનુષ્ઠાનપ્રવૃત્તઃ સમાશ્રિતમોક્ષમાર્ગં કર્પૂરસ્વપ્નદન્તર્બહિરેકરૂપતયા  
સ્વધીર્યસંગોપન-પરવચ્ચનલક્ષણમાયાચારરહિતો ભવતિ સ એવ વસ્તુતોજનગારો  
બોદ્ધવ્ય ઇતિ ॥ સૂ. ૧ ॥

ઉક્તરૂપસ્યાનગારસ્ય કર્તવ્યમાદ—‘જાણ’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલમ્ ॥

જાણ સદાજ નિસ્તંત્રો તમેવ અણુપાલિજ્ઞા વિજિહ્વા વિસોત્તિયં  
પુલ્કસજોગં ॥ સૂ. ૨ ॥

॥ છાયા ॥

યયા શ્રદ્ધયા નિષ્કાન્તસ્તામેવાનુપાલયેત્ વિસ્રોતસિકાં પૂર્વ  
સંયોગમ્ ॥ ૨ ॥

॥ ટીકા ॥

યયા શ્રદ્ધયા વિસ્રોતસિકાં—શક્તિ, સર્વશક્તિ દેશશક્તિ ચેત્યર્થઃ ।

સાવચ કાર્યો કા જ્ઞાતા હોતા હૈ ઔર પૂર્ણ સંયમ કે અનુદાન મૈ પ્રવૃત્ત હો તયા મોક્ષમાર્ગ કા  
આશ્રય હેતા હૈ । કર્પૂર કે ટુકડે કી મૈત્તિ મીતર—બાહર પક્ષસા સ્વચ્છ હોતે કે કારણ  
અપની શક્તિ કા ગોપન નહીં કરતા ઔર ઘૂસરો કો ઘોસતા નહીં દેતા અર્થાત્ માયાચાર સે  
રહિત હોતા હૈ, ઉસી કો વાસ્તવ મૈ અનગાર સમજના યાદિય ॥ સૂ. ૧ ॥

ઉક્ત પ્રકાર કે અનગાર કા કર્તવ્ય બતલતે હૈ—‘જાણ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—શક્તિ કાજ્ઞા બાદિ કા ત્યાગ કર કે ઔર પૂર્વકાલીન સંયમો કા ત્યાગ  
કર કે બિસ શ્રદ્ધા કે સાથ નિકળા હૈ, ઉસી શ્રદ્ધા કા નિરંતર પાલન કરે ॥ સૂ. ૨ ॥

ટીકાર્થ—‘વિસ્રોતસિકા’ કા અર્થ હૈ શક્તિ, શક્તિ ઘો પ્રકાર કી હૈ (૧) સર્વશક્તિ

જ્ઞાતા—અણુનાર થાય છે અને પૂર્ણ સયમના અનુદાનમા પ્રવૃત્ત થાય છે, તથા મોક્ષ  
માર્ગનો આશ્રય લે છે કર્પૂરના ટુકડાની માફક બહાર અને બહાર બેઠેલ પ્રકારે ઉજ્જવલ  
હોવાના કારણે પોતાની શક્તિનું ગોપન કરતો નથી અને બીજાને જાણે દેતો નથી. આથી  
માયાચારથી રહિત હોય છે, તેને વાસ્તવિક રીતે અણુગાર સમજવો જોઈએ (સૂ. ૧)

ઉપર કહ્યા તેવા અણુગારનું કર્તવ્ય બતાવે છે—‘જાણ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—શક્તિ, કાજ્ઞા વગેરેનો ત્યાગ કરીને અને પૂર્વ કાલના સંયમોનો  
ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી નિકળ્યા છે, તે શ્રદ્ધાનું નિરંતર પાલન કરવું (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—‘વિસ્રોતસિકા’નો અર્થ છે શક્તિ, શક્તિ બે પ્રકારની છે—(૧) સર્વશક્તિ

“કિમાર્દતો માર્ગોઽસ્તિ ન વા” ઇતિ સર્વાગમવિપ્રયક્તા શક્તા સર્વશક્તા, તથા-  
“કિમપ્કાયાદયો જીવાઃ સન્તિ ન વા” ઇતિ દેશશક્તા ।

કેવલાલોકેન વિલોક્ય મગવતા વિશિષ્ટ્ય પ્રવચને કથિતત્વાત્ અપ્કાયાદયઃ  
સન્તિ જીવાઃ, ઇતિ પૂર્વા કોટિઃ, ચેતનાસ્વાત્મલક્ષણસ્ય સુસ્પષ્ટમનુપલન્ધ્વેન સન્તિ  
અપ્કાયાદયો જીવા, ઇત્યુચરા કોટિઃ પ્રાદુર્ભવતિ । પૂર્વસયોગં=માતાપિત્રાદિસમ્બન્ધં,  
ધનધાન્યસ્વજનાદિસમ્બન્ધ ઘા ।

હ્રદમુપલક્ષણમ્-તેન પદ્માત્સયોગમપિ શ્વશુરાદિકૃતં વિહાય=પરિત્યજ્ય  
નિષ્ક્રાન્ત=અનગારો જાતઃ, તા શ્રદ્ધામ્ અનુપાલયેદેવ નિરતિચાર રક્ષેદિત્યર્થઃ ।

ઔર (૨) દેશશક્તા । અર્હન્ત મગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવ મેં મોક્ષમાર્ગ હૈ  
યા નહીં ? પેસી-શકા સર્વશક્તા હૈ । અપ્કાય આદિ કે જાવ હૈં યા નહીં ? ’ મહ દેશ  
શક્તા હૈં ।

મગવાને કેવલ જ્ઞાન સે દેસકર પ્રવચન મેં અપ્કાય આદિ કે જીવોં કા  
અસ્તિત્વ પ્રગટ કિયા હૈ, મહ શક્તા કી પૂર્વકોટિ હૈ । આત્મા કા ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટ  
રૂપ સે નહોં પાયા જાતા, અતઃ એવ અપ્કાય આદિ અજીવ હૈં, મહ શક્તા કી દૂસરી કોટિ હૈ ।

માતા, પિતા આદિ કા સંબધ તથા ધન, ધાન્ય, સ્વજન આદિ કા સર્વધ પૂર્વસયોગ ।  
અલ્પતા હૈ । ઉપલક્ષણ સે સાસ-સસુર આદિ કા સર્વધ પદ્માત્સયોગ કહલતા હૈ । इन दोनों  
સંયોગો કી ત્યાગ કર કે જિસ શ્રદ્ધા કે સાથ અનગાર હુઆ હૈ उसी श्रद्धा का पालन करे  
अर्थात् उस की निरतिचार रक्षा करे ।

અને (૨) દેશશક્તા ‘અર્હન્ત મગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવિક રીતે મોક્ષ  
માર્ગ છે કે નહીં ? ’ આ પ્રશ્નારની શકા તે સર્વશક્તા છે અપ્કાય આદિના અવ  
છે કે નહીં ? આ દેશશક્તા છે

મગવાને કેવલજ્ઞાન વડે જોઈને પ્રવચનમા અપ્કાય આદિના અવેાનું અસ્તિત્વ  
પ્રગટ કર્યું છે, આ શકાની પૂર્વકોટિ છે આત્માનું ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટરૂપથી બેવામાં  
આવતું નથી તેથી અપ્કાય આદિ અજીવ છે, આ શકાની બીજી કોટિ છે

માતા-પિતા આદિના સંબધ તથા ધન, ધાન્ય સ્વજન આદિના સંબધ પૂર્વ  
સંયોગ કહેવાય છે, ઉપલક્ષણથી સાસુ, સાસરા આદિના સંબધ પદ્માત્સયોગ  
કહેવાય છે આ બન્ને સંયોગનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી અણખાર થયા છે, તે  
શ્રદ્ધાનું પાલન કરે, અર્થાત્ તેની નિરતિચાર (વિના અતિચાર) રક્ષા કરે.





“કિમાર્હતો માર્ગોઽસ્તિ ન વા” ઇતિ સર્વાગમવિપિયકા શક્ત્વા સર્વશક્ત્વા, તથા—  
“કિમપ્કાયાદયો જીવાઃ સન્તિ ન વા” ઇતિ દેશશક્ત્વા ।

કેવલાર્હતેન વિલોક્ય મગધતા વિશિષ્ટ્ય પ્રવચને કથિતત્વાત્ અપ્કાયાદયઃ  
સન્તિ જીવાઃ, ઇતિ પૂર્વા કોટિ, ચેતનારૂપાત્મલક્ષણસ્ય સુસ્પષ્ટમનુપલબ્ધેર્ન સન્તિ  
અપ્કાયાદયો જીવા, ઇત્યુત્તરા કોટિઃ પ્રાદુર્ભવતિ । પૂર્વસયોગઃ=માતાપિત્રાદિસમ્બન્ધઃ,  
ધનધાન્યસ્વજનાદિસમ્બન્ધ વા ।

શ્લોકપલક્ષણમ્—તેન પદ્માત્સયોગમપિ શ્વશુરાદિકૃત વિહાય=પરિત્યજ્ય  
નિષ્ક્રાન્ત =અનગારો જાતઃ, તાં શ્રદ્ધામ્ અનુપાલયેદેવ નિરતિચારં રક્ષેદિત્યર્થઃ ।

ઔર (૨) દેશશક્ત્વા । અર્હન્ત મગધાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવ મેં મોક્ષમાર્ગ હૈ  
યા નહીં ? એસી-શક્ત્વા સર્વશક્ત્વા હૈ । અપ્કાય આદિ કે જાંવ હૈં યા નહીં ? ’ યહ દેશ  
શક્ત્વા હૈં ।

મગધાનને કેવલ જ્ઞાન સે દેશકર પ્રવચન મેં અપ્કાય આદિ કે જીવોં કા  
અસ્તિત્વ પ્રગટ કિયા હૈ, યહ શક્ત્વા કી પૂર્વકોટિ હૈ । આત્મા કા ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટ  
રૂપ સે નહીં પાયા જાતા, અતઃ એવ અપ્કાય આદિ અજીવ હૈં, યહ શક્ત્વા કી દૂસરી કોટિ હૈ ।

માતા, પિતા આદિ કા સંબધ તથા ધન, ધાન્ય, સ્વજન આદિ કા સંબધ પૂર્વસયોગ ।  
કલ્પલાતા હૈ । ઉપલક્ષણ સે સાસ—સમુર આદિ કા સંબધ પદ્માત્સયોગ કહલાતા હૈ । इन दोनों  
સયોગોં કી ત્યાગ કર કે બિસ શ્રદ્ધા કે સાથ અનગાર હુઆ હૈં ઉસી શ્રદ્ધા કા પાલન કરે  
અર્થાત્ ઉસ કી નિરતિચાર રક્ષા કરે ।

અને (૨) દેશશક્ત્વા ‘અર્હન્ત મગધાન દ્વારા પ્રરૂપિત માર્ગ વાસ્તવિક રીતે મોક્ષ  
માર્ગ છે કે નહીં ? ’ આ પ્રકારની શક્ત્વા તે સર્વશક્ત્વા છે અપ્કાય આદિના અવ  
છે કે નહીં ? આ દેશશક્ત્વા છે

મગધાને દેવલજ્ઞાન વડે બોધને પ્રવચનમા અપ્કાય આદિના અવેગ્ન અસ્તિત્વ  
પ્રગટ થયું છે, આ શક્ત્વાની પૂર્વકોટિ છે આત્માનું ચેતનાલક્ષણ સ્પષ્ટરૂપથી જોવામાં  
આવતું નથી તેથી અપ્કાય આદિ અજીવ છે, આ શક્ત્વાની બીજી કોટિ છે

માતા—પિતા આદિનો સંબધ તથા ધન, ધાન્ય સ્વજન આદિનો સંબધ પૂર્વ  
સયોગ કહેવાય છે, ઉપલક્ષણથી સામુ, સાસરા આદિનો સંબધ પદ્માત્સયોગ  
કહેવાય છે આ બન્ને સયોગનો ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી અણગાર થયા છે, તે  
શ્રદ્ધાનું પાલન કરે, અર્થાત્ તેની નિરતિચાર (વિના અતિચાર) રક્ષા કરે.

શેષસયમાનુષ્ઠાનપદ્ધતઃ સમાધિતમોક્ષમાર્ગઃ. કર્પૂરલવણદન્તર્વહિરેકરૂપતયા  
સ્વધીર્યસગોપન-પરવચ્ચનલક્ષણમાયાચારરહિતો ભવતિ સ एव वस्तुतोऽनगारो  
बोद्धव्य इति ॥ सू० ૧ ॥

ઉક્તરૂપસ્થાનગારસ્ય કર્તવ્યમાહ—‘જાણ’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલમ્ ॥

જાણ સદાણ નિક્ષતો સમેવ અણુપાલિજ્ઞા વિજહિતા વિસોષિયં  
પુષ્વસજોગં ॥ સૂ० ૨ ॥

॥ છાયા ॥

યયા શ્રદ્ધયા નિષ્ક્રાન્તસ્તામેવાનુપાલયેત્ વિસ્ત્રોતસિકાં પૂર્વ  
સંયોગમ્ ॥ ૨ ॥

॥ ટીકા ॥

યયા શ્રદ્ધયા વિસ્ત્રોતસિકાં—સદ્ગુણ, સર્વશક્તિ દેશશક્તિં ચેત્યર્થઃ ।

સાધક કાર્યો કા જ્ઞાતા હોતા હૈ ઓર પૂર્ણ સંયમ કે અનુષ્ઠાન મેં પ્રવૃત્ત હો તયા મોક્ષમાર્ગ કા  
આશ્રય હેતા હૈ । કર્પૂર કે ટુકડે કી મૈતિ મીસર—ચાહર એકસા ડગ્ગલ હોલે કે કારણ  
અપની શક્તિ કા ગોપન નહીં કરતા ઓર ઘસરો કો ઘોસા નહીં દેતા અર્થાત્ માયાચાર સે  
રહિત હોતા હૈ, उसी को वास्तव में अनगार समझना चाहिए ॥ सू. ૧ ॥

ઉક પ્રકાર કે અનગાર કા કર્તવ્ય વસણવે હૈ—‘જાણ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—શક્તિ કાલ્પના આદિ કા ત્યાગ કર કે ઓર પૂર્વકાલીક સંયોગો કા ત્યાગ  
કર કે હિસ શ્રદ્ધા કે સાથ નિકળા હૈ, उसी श्रद्धा का निरन्तर पालन करे ॥ सू. ૨ ॥

ટીકાર્થ—‘વિસ્ત્રોતસિકા’ કા અર્થ હૈ શક્તિ, શક્તિ યો પ્રકાર કી હૈ (૧) સર્વશક્તિ

જ્ઞાતા—અણુગાર થાય છે અને પૂર્વ સંયમના અનુષ્ઠાનમાં પ્રવૃત્ત થાય છે, તથા મોક્ષ  
માર્ગનો આશ્રય લે છે કર્પૂરના ટુકડાની માફક અંદર અને બહાર બોલેલા પ્રકારે ઉલ્લેખ  
હોવાના કારણે પોતાની શક્તિનું ગોપન કરતો નથી અને બીજાને જોયે દેતો નથી. અર્થાત્  
માયાચારથી રહિત હોય છે, તેને વાસ્તવિક રીતે અણુગાર સમજવો જોઈએ. (સૂ. ૧)

ઉપર કહ્યા તેવા અણુગારનું કર્તવ્ય બતાવે છે—‘જાણ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—શક્તિ, કાલ્પના વગેરેનો ત્યાગ કરીને અને પૂર્વ કાલના સંયોગોનો  
ત્યાગ કરીને જે શ્રદ્ધાથી નિઃશ્યા છે, તે શ્રદ્ધાનું નિરન્તર પાલન કરવું (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—‘વિસ્ત્રોતસિકા’નો અર્થ છે શક્તિ, શક્તિ યો પ્રકારની છે—(૧) સર્વશક્તિ

अस्या लक्षणं तु शमसवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानां प्रादुर्भावः । तत्र वीतरागप्रणीतमवचनतत्त्वामिनिवेशवशेनाऽनन्तानुबन्धिकपायाणामनुदयः शम इत्युच्यते । यद्वा विषयासक्तिनिवृत्तिः शमः ।

तथा सवेगः=जिनप्रवचनानुसारेण नरकादिगतिषु नानाविधदुःखावलो कनाद्भयम्, यथा स्वकृतकर्मोदयान्नरकेषु-क्षेत्रजन्यशीतोष्णादिदशविधवेदनासहन, परमाधार्मिकदेवकृत, परस्परोदीरित चेति त्रिविध दुःख, तथा तिर्यक्षु-ताडन-तर्जन-भुत्पिपासा-पारवश्य-मारारोपणाद्यनेकविध दुःख, मनुष्येषु-दारिद्र्य-

शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य का प्रकट हो जाना यद्वा का चिह्न है ।

वीतरागद्वारा प्ररूपित प्रवचन के तत्त्व में गाढ़ी प्रीति होने से अनन्तानुबन्धी कपायों का (क्रोध, मान, माया, लोभ, का) उदय न होना शम कहलाता है । अथवा विषयों के प्रति आसक्ति हट जाना 'शम' है ।

जिन भगवान् के वचन के अनुसार नरक आदि गतियों में नाना प्रकार के दुःखों को जानकर उन से भयभीत होना 'सवेग' है । जैसे—“अपने किये कर्मों के उदय से नरकों में क्षेत्रजन्य शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी) आदि दश प्रकार की वेदना, परमाधामी देवों द्वारा दीजाने वाली वेदना और परस्पर नारकी जीवों द्वारा होने वाली वेदना, नरक में यह तीन तरह की वेदना है । तिर्यचों में ताडना, तर्जना, मूल, प्यास, पराधीनता, बोझा ढोना आदि अनेक प्रकार की वेदना है । मनुष्यों में दरिद्रता,

शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य वगैरे प्रकट यद्य अन्य ते श्रद्धालु चिह्न छे

वीतरागद्वारा प्ररूपित प्रवचनना तत्त्वोभा सञ्जड प्रीति यथावी अनन्तानु बन्धी कपायेनो (क्रोध, मान, माया, लोभनो) उदय थाय नहि ते शम छेहेवाय छे अथवा विषयो प्रति आसक्ति छडी अन्य ते शम छे

जिन भगवान्ना वचन-अनुसार नरक आदि गतिओभा नाना प्रकारना दुःखेने बाधो ने तेनाथी भयभीत यत्तु ते 'सवेग' छे जेभके—“पोताना कहेला कर्मोना उदयथी नरकोभा क्षेत्रजन्य शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी) आदि दस प्रकारनी वेदना, परमाधामी देवो द्वारा जे थाय छे ते वेदना, अने परस्पर नारकी जीवो द्वारा बनारी वेदना, नरकभा आ भमाखे त्रय प्रकारनी वेदना छे तिर्य ओभा ताडना, तर्जना (मारु-तारछेउवु) भूज, तरस, पराधीनता, जेभा छपाडवा आदि अनेक प्रकारनी वेदना छे मनुष्योभा दरिद्रता, दुर्भाग्य,

નતુ કા નામ શ્રદ્ધા, યથા વિનાઝ્નગારત્વ નોપલભ્યતે ? ઉત્ત્યતે—જીવાદિતત્ત્વેષુ શ્રદ્ધાનં, રુચિઃ, અમિપ્રીતિઃ, સમ્યગ્દર્શન શ્રદ્ધા, ‘एतत्तत्त्वमेवमेव’—ત્યવધારણશ્ચ, “તમેવ સત્ત્વં નીસક જ જિણેર્હિ પવેદ્ય” इति वचनानुस्मरणेन जगदेकबन्धुना वीतरागेण भगवता यथा कथितं तथैवेद जीवादितत्त्व सत्यमिति निश्चय इति यावत् ।

યદા મિથ્યાત્વમોહનીયકર્મણ ઉપશમાત્ ક્ષયોપશમાત્ જ્ઞાયાદા આત્મનોગ્ધર્મ જ્ઞાનાવસ્થા જાયસે, આચિત્સલિપ્તસ્ય કતકફલચૂર્ણસયોગાત્સ્વચ્છતાવત્ સૈવ શ્રદ્ધા ।

શક્કા—યહ શ્રદ્ધા કૌન—સી હૈ મિસ કે વિના સાધુપન નહી રહ સકતા !

સમાધાન—જીવાદિ તત્ત્વો પર શ્રદ્ધા કરના, રુચિ હોના, અમિપ્રીતિ હોના, મહ સમ્યગ્દર્શન—શ્રદ્ધા હૈ । ‘यह तत्त्व ऐसा ही है’ इस प्रकार पक्का निश्चय करना श्रद्धा है । ‘जिन भगवान् ने जो कहा है वही सत्य और संदेह-रहित है’ इस वचन के अनुसार यह निश्चय करना कि जगत के अद्वितीय बन्धु वीतराग भगवान् ने कैसा निरूपण किया है उसी प्रकार जीवादितत्त्व सत्य है । यह श्रद्धा का स्वरूप है ।

અથવા—મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મ કે ઉપશમ સે, ક્ષયોપશમ સે અથવા ક્ષય સે આત્મા કી એક અર્પે જ્ઞાનાવસ્થા ઉત્પન્ન હોતી હૈ । જૈસે—મલ્લિન ચલ મેં કતકફલ કા ચૂર્ણ ઢાલ્લે સે ચલ સ્વચ્છ હો જાતા હૈ । યેસી સ્વચ્છ-નિર્મલ આત્મવશા શ્રદ્ધા કહ્લાતી હૈ ।

શકા—તે શ્રદ્ધા કેવી છે, કે જેના વિના સાધુપણ રહી શકે નહિ ?

સમાધાન—જીવાદિ તત્ત્વો પર શ્રદ્ધા કરવી, રુચિ થવી, અમિપ્રીતિ થવી, તે સમ્યગ્દર્શન શ્રદ્ધા છે, “આ તત્ત્વ આવીજ છે” એ પ્રમાણે પાઠો નિશ્ચય કરવો તે શ્રદ્ધા છે “जिन भगवान् ने जो कहा है वो सत्य અને સંદેહરહિત છે” એ વચન પ્રમાણે એ નિશ્ચય કરવો કે જગતના બધા જ બન્ધુ વીતરાગ ભગવાને જેવું નિરૂપણ કર્યું છે, તે પ્રમાણે જીવાદિ તત્ત્વ સત્ય છે આ શ્રદ્ધાનું સ્વરૂપ છે

અથવા—મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉપશમથી, ક્ષયોપશમથી, અથવા ક્ષયથી આત્માની એક બંધૂ જ્ઞાનાવસ્થા ઉત્પન્ન થાય છે જેમ મહીન પાણીમાં કતકફળ-નિર્મળીકણનું ચૂર્ણ નાંખવાથી જલ સ્વચ્છ થઈ જાય છે એવી સ્વચ્છ-નિર્મલ આત્મવશા શ્રદ્ધા કહેવાય છે

“સવેગેણ મતે ! જીવે કિં જળયદ્ ? સવેગેર્ણ અણુતર ધમ્મસદ્ધ જળયદ્ । અણુતરાણ ધમ્મસદ્ધાણ સવેગ હ્રસ્વમાગચ્છદ્ । અર્ણતાણુવધિકોદમાગમાયાલોમે સ્વધેદ્ । નવ ચ કમ્મ ન ઘઘદ્ । તપ્પચ્ચદ્ધય ષ ણ મિચ્છત્તવિસોર્હિં કાઝ્ઞ દસણારાહણ મવદ્ । દસણવિસોદ્ધીય ય ણ વિમુદ્ધાણ અત્થેગદ્ધ સેણેવ મવગ્ગહણેણ સિજ્ઞદ્ । વિસોદ્ધીય ય ણ વિમુદ્ધાણ તચ્ચ પુણો મવગ્ગહણ નાદ્ધકમદ્ ॥ ” (ઉત્તરા ૦ અ ૨૯)

છાયા—“સવેગેન મદન્ત ! જીવઃ કિં જનયતિ ? સવેગેન અણુતરા ધર્મથદ્ધા જનયતિ । અણુતરયા ધર્મથદ્ધયા સવેગો હ્રસ્વમાગચ્છતિ, અનન્તાણુવન્ધિ-ક્રોધમાન-માયાલોમાન્ સપયતિ, નવ ચ કર્મ ન વધ્નાતિ, તપ્પત્ત્યયિકાં ચ સ્વલ્લ મિથ્યાત્વવિશોધિં કૃત્વા દર્શનારાધકો મવતિ, દર્શનવિશોધ્યા ચ સ્વલ્લ વિશુદ્ધયા અપ્યેકકસ્તેનૈવ મવ-ગ્રહણેન સિદ્ધયતિ । વિશોધ્યા ચ સ્વલ્લ વિશુદ્ધયા તૃતીય પુનર્મવગ્રહણ નાતિક્રામતિ ॥ ”

સુદેવ-સુગુરુ-સુધર્મેષુ નિશ્ચલાનુરાગરૂપેણ સવેગેન ઉત્કૃષ્ટતમા ધર્મથદ્ધાં

“મગવાન્ ! સવેગ સે જીવ કો ક્યા છામ હોતા હૈ ?

સવેગ સે સર્વશ્રેષ્ઠ ધર્મથદ્ધા ઉત્પન્ન હોતી હૈ, જૌર ધર્મથદ્ધા સે સવેગ શીઘ્ર ઉત્પન્ન હો જાતા હૈ । અનન્તાણુવધી ક્રોધ, માન, માયા જૌર લોભ કા વહ કાય કરતા હૈ । નવીન કર્મો કા વધ નહીં કરતા, જૌર હન કારણો સે મિથ્યાત્વ કી વિશુદ્ધિ કર કે જીવ દર્શન કા આરાધક હોતા હૈ । દર્શનવિશુદ્ધતા ચઢવાને સે કોઈ-કોઈ જીવ ડસી મવ મેં સિદ્ધ હો જાતા હૈ, અગર કોઈ ડસી મવ મેં મોક્ષ ન જાવે તો તૈસેરે મવ કા ઉલ્લંઘન નહીં કરતા, અર્થાત્ તૈસેરે મવ મેં વહ અવશ્ય મોક્ષ જાતા હૈ ” । —(ઉત્તરાખ્યયન અ ૨૯)

“સુદેવ, સુગુરુ જૌર સુધર્મ મેં નિશ્ચલ અનુરાગરૂપ સવેગ સે જીવ કો સર્વોત્કૃષ્ટ

“મગવાન્ ! સવેગથી જીવને શું લાભ થાય છે ?” સવેગથી સર્વશ્રેષ્ઠ ધર્મથદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે, અને ધર્મથદ્ધાથી સવેગ શીઘ્ર ઉત્પન્ન થાય છે અનન્તાણુવધી ક્રોધ, માન, માયા અને લોભને તે કાય કરે છે નવીન કર્મોના વધ કરતો નથી, અને એ કારણથી મિથ્યાત્વની વિશુદ્ધિ કરીને જીવદર્શનનો આરાધક થાય છે કથનવિશુદ્ધતા વધી જવાથી કોઈ-કોઈ એ અવમા સિદ્ધ થઈ જાય છે; કોઈ એ અવમા મોક્ષ ન જાય તો ત્રીજા અવસ્થા ઉપર પહોંચતો નથી, અર્થાત્ ત્રીજા અવમા તે અવશ્ય મોક્ષ જાય છે ” (ઉત્તરા ૦ અ ૨૯)

સુદેવ, સુગુરુ અને સુધર્મમાં નિશ્ચલ અનુરાગરૂપ સવેગથી જીવને સર્વોત્કૃષ્ટ

દૌર્ભાગ્ય-જન્મ-જરા-મરણ-રોગ-શોક-સન્તાપાદિ, દેવેષુ-ઈર્ષ્યા-વિપાદ-પરમેષ્ય ત્વાદિદુઃખ ઝીવા અનુભવન્તિ, તસ્માદ્-‘યથા મમેદ્યં દુઃખ ન સ્યાત્ તથા યત્ન કરોમિ’ શ્ત્યાકારક આત્મિકપરિણામઃ સંવેગઃ ।

યદ્વા-સુદેવ-સુગુરુ-સુધર્મેષુ નિશ્ચલોઽનુરાગઃ સવેગઃ । ઉક્તઃ—

“તપ્યે ધર્મે ધ્વસ્તર્હિસાપચન્ધે, દેવે રાગદ્વેષમોહાદિમુક્તે ।

સાધૌ સર્વગ્રન્થસન્દર્ભરીને, સવેગોઽસૌ નિશ્ચલો યોઽનુરાગઃ ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।

આગમોઽપ્યત્રાર્યે પ્રમાણમ્—

જન્મ, જરા, મરણ, રોગ, શોક, સન્તાપ આદિ કી વેદના હૈ । દેવો મેં ઈર્ષ્યા, વિપાદ, આજ્ઞા પાછન આદિ કે દુઃખ હૈ । ઝીવ इन दुःखों का अनुभव करते हैं, अत एव मैं ऐसा प्रयत्न करूँ कि-जिस से मुझे इस प्रकार के दुःख न भुगतने पड़े” । इस प्रकार का आत्मा का परिणाम ‘सवेग’ कहलाता है ।

અથવા સુદેવ, સુગુરુ ઓર સુધર્મ મેં અચલ અનુરાગ હોના ‘સવેગ’ કહલાતા હૈ । કહ્દા મી હૈ—

“હિંસા આદિ કી પરમ્પરા સે રહિત સર્વે ધર્મ મેં, રાગ દ્વેષ ઓર મોહ આદિ સે રહિત દેવ મેં, તથા સર્વ પ્રકાર કે પરિગ્રહ સે રહિત ગુરુ-સાધુ મેં નિશ્ચલ અનુરાગ હોના સંવેગ હૈ” ॥ ૧ ॥

इस विषय में आगम प्रमाण भी है—

જન્મ, જરા, મરણ, રોગ, શોક, સન્તાપ આદિની વેદના છે દેવોમાં ઈર્ષ્યા, વિપાદ, (શોક) આજ્ઞાપાછન આદિનાં દુઃખો છે એવ આ દુઃખોનો અનુભવ કરે છે તે કારણથી હું એવો પ્રયત્ન કરું કે-જેથી મને આ પ્રકારનું દુઃખ ભોગવવું પડે નહિ.” આ પ્રકારનું આત્માનું પરિણામ તે સંવેગ કહેવાય છે

અથવા સુદેવ, સુગુરુ અને સુધર્મના આચલ અનુરાગ-પ્રીતિ થવો તે સવેગ કહેવાય છે કહ્યું પણ છે કે—

“હિંસા આદિની પરમ્પરાથી રહિત સાચા ધર્મમાં, રાગ દ્વેષ અને મોહ આદિથી રહિત દેવમાં, તથા સર્વ પ્રકારના પરિગ્રહથી રહિત ગુરુ-સાધુમાં નિશ્ચલ અનુરાગ થવો તે સંવેગ છે.” ॥ ૧ ॥

આ વિષયમાં આગમ પ્રમાણ પણ છે—

કામમોગાધ્યવસાય સ્વલુ દુરન્તોઽનન્તદુઃખફલદયઃ, પરલોકેઽપ્યતિકટુકો નરકાદિ  
જન્મફલપ્રદઃ, હત્પતો ન કિઞ્ચિત્પયોજનમનેન કામમોગાધ્યવસાયેન, પરિત્યાજ્ય  
એવાયમતિપ્રયત્નેન ' ઇત્યેવરૂપ આત્મકપરિણામો નિર્વેદઃ ।

ઉક્તં ચ નિર્વેદસ્વરૂપ તત્ફલ ચ, તથાહિ—

“ નિર્વેણ મતે! જીવે કિં જળયઈ? નિર્વેણં દિશ્યમાણસતેરિચ્છિણ્ણુ  
કામમોગેસુ નિર્વેય હન્વમાગચ્છઈ । સન્નવિસણ્ણુ વિરજ્જઈ । સન્નવિમણ્ણુ વિરજ્જમાણે  
આરમપરિચ્ચાય કરેઈ । આરમપરિચ્ચાય કરેમાણે સંસારમમ્મં ઘોચ્છિદ્દઈ, સિદ્ધિમગ્ગં  
પઢિવન્ને ય હવઈ । ” (ઉત્તરાં અ ૨૯)

આસક્તિ ન હોતા ' નિર્વેદ ' છે । ' કામમોગસન્નધી અધ્યવસાય ' આ શ્લોક મેં અન્યન્ત દુઃખ  
દાયક છે, ઔર પરલોક મેં મી અન્યન્ત કટુક નરક આલિરૂપ ફલ દેને વાલા છે, અત એવ  
કામમોગસન્નધી અધ્યવસાય સે મુક્તે ક્યા લેન-દેન છે । ઇસે ખૂબ પરિશ્રમ કર કે ત્યાગ હી  
દેના ચાહિય । ' ઇસ પ્રકાર કા આત્મિક પરિણામ ' નિર્વેદ ' કહલાતા છે । નિર્વેદ કા સ્વરૂપ  
ઔર ફલ ઇસ પ્રકાર કહા ગયા છે—

“ મગવન્ ! નિર્વેદ સે જીવ કો ક્યા હામ હોતા છે ? નિર્વેદ સે જીવ કો દેવતા મનુષ્ય  
ઔર તિર્યંચ સઘી કામ મોગો મેં શીઘ્ર હી વિરક્તિ ઉત્પન્ન હોતી છે । સઘ વિષયો સે જીવ  
વિરક્ત હોકર આરમ્મ કા પરિત્યાગ કરતા છે । આરમ્મ કા પરિત્યાગ કરતા હુઆ સંસારમાર્ગ  
કો ત્યાગતા છે ઔર મોક્ષમાર્ગ કો અગીકાર કરતા છે ” ।— (ઉત્તરા અ ૨૯,

વિષયોમા આસક્તિ થાય નહિ તે નિર્વેદ છે ' કામમોગસન્નધી અધ્યવસાય આ લોકમાં  
અન્યન્ત દુઃખદાયક છે, અને પરલોકમાં પણ અન્યન્ત કટુક નરકગતિ આદિ રૂપ રૂપ  
દેવાવાળા છે, એટલા માટે કામમોગસન્નધી અધ્યવસાયથી મારે શું લેવા દેવા છે  
તેને ખૂબ પરિશ્રમ કરીને ત્યજી દેવા એઈએ ' આ પ્રકારનું આત્મિક પરિણામ તે  
નિર્વેદ કહેવાય છે નિર્વેદનું સ્વરૂપ અને ફલ આ પ્રકારે કહ્યું છે—

“ મગવન્ ! નિર્વેદથી જીવને શું લાભ થાય છે ?

નિર્વેદથી જીવને દેવતા, મનુષ્ય અને તિર્યંચસન્નધી કામમોગોમાં શીઘ્રજ  
વિરક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે સઘવિષયોથી જીવ વિરક્ત થઈ જાય છે સઘ વિષયોથી  
વિરક્ત થઈને આરબને પરિત્યાગ કરતા થઈ । સંસારમાર્ગને ત્યજી દે છે અને  
મોક્ષમાર્ગને અગીકાર કરે છે ” (ઉત્તરાં અ ૨૬)



જીવો જનયતિ । તથા ચ નરકાદિમલેષુ ધોરતરવહુતરાશતવેદનામવલોક્ય  
તદ્વ્યાનમોક્ષમાર્ગં શરણીકૃત્ય મોક્ષામિલાપરૂપ સંયોગ શ્ચીઘ્ર પ્રાપ્નોતિ । અનન્તાનુ  
વન્ધિકપાયાન્ સપયતિ, નવીન કર્મ ન બધ્નાતિ, તેન મિથ્યાત્વ  
સપયિત્વા ક્ષાયિકશુદ્ધસમ્પક્ત્વં નિરતિચારેણ પાલયતિ । એવમતિનિર્મલયા  
સમ્પક્ત્વવિશુદ્ધયા કશ્ચિદ્વ્યવજીવસ્તેનૈવ ભવપ્રવ્રણેન સિદ્ધિ પ્રાપ્નોતિ । એકઃ પુનઃ  
સમ્પક્ત્વસ્ય નિર્મલયા વિશુદ્ધયા તૃતીય પુનર્મવપ્રવ્રણ નાતિક્રામતિ । મિથ્યાત્વ  
મોહનીયકર્મણો નિરવશેષસયાત્ શુદ્ધક્ષાયિકસમ્પક્ત્વવાન્ ભવપ્રયમચ્ચે મોક્ષ  
પ્રાપ્નોત્યેવેત્યર્થ ।

તથા નિર્વેદ-આર્હતવચનામિનિવેશાત્સર્વવિપયેષુ-અનાસક્તિઃ, 'હહ-અલોકે

શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન होती है । उस श्रद्धा से नरक आदि गतियों में घोर और बहु असाता की वेदना  
देखकर तथा उस वेदना के भय से मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर मोक्षामिलाप-रूपी संयोग  
को शीघ्र ही स्वीकार कर लेता है । वह अनन्तानुबंधी कषायों का क्षय करता है और नवीन  
कर्म के बंध को रोक देता है । मिथ्यात्व का क्षय कर के शुद्ध क्षायिक सम्पत्त्व का निरति  
चार पालन करता है । इस प्रकार अत्यन्त निर्मल दर्शनविशुद्धि के कारण कोई-कोई भव्य  
जीव उसी भव में मुक्त हो जाता है, और कोई-कोई तीसरे भव का उत्प्लवन नहीं करता  
अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से शुद्धक्षायिकसम्पत्त्वी जीव तीन भवों में  
अवश्य मोक्ष पाता है ।

અર્હન્ત મગવાન્ કે પ્રવચન મેં પ્રગાઢ પ્રીતિ હોને કે કારણ સર્વ ઇન્દ્રિય વિષયો મેં

શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે, એ શ્રદ્ધાથી નરક આદિ ગતિઓમાં ઘોર અને બહુ અસા  
તાની વેદના બોધને તથા એ વેદનાના ભયથી મોક્ષમાર્ગનો આશ્રય લઈને મોક્ષા  
મિલાપારૂપી સંયોગને શીઘ્રજ સ્વીકાર કરી લે છે તે અનન્તાનુબંધી કષાયોનો ક્ષય કરે  
છે અને નવીન કર્મના બંધને રોકી દે છે મિથ્યાત્વનો ક્ષય કરીને શુદ્ધ ક્ષાયિક  
સમ્પક્ત્વનું નિરતિચાર પાલન કરે છે આ પ્રમાણે અત્યન્ત નિર્મલ દર્શનવિશુદ્ધિના  
કારણે કોઈ-કોઈ ભવ્ય જીવ જોજ ભવમાં મુક્ત થઈ જાય છે, અને કોઈ-કોઈ ત્રીજા  
ભવનું ઉત્પ્લવન કરતા નથી અર્થાત્ મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના સંપૂર્ણ ક્ષયથી શુદ્ધક્ષાયિક-  
સમ્પક્ત્વી જીવ ત્રણ ભવોમાં અવશ્ય મોક્ષને પ્રાપ્ત કરે છે

અર્હન્ત મગવાનના પ્રવચનમાં પ્રગાઢ-સંબન્ધ પ્રીતિ હોવાના કારણે સર્વ ઇન્દ્રિયોના



‘કદાચ્છ સસારં પરિત્યજેયમ્ ?’ इत्येवंप्रकारेण निर्वेदेन दिव्यमानुषतैरेषु काममोगेषु निर्वेदम्=अनासक्तिं जीवः शीघ्रं प्राप्नोति । इममेवार्थं स्पष्टयति-सर्वविषयेषु विरज्यते-‘अलमेतैरनर्थहेतुभूतैर्विषयैः’ इत्येवरूपं वैराग्यं प्राप्नोति । वैराग्यं प्राप्तं सावधव्यापारं परित्यजति । तत्परित्यागं कुर्वन् ससारमार्गं=मिथ्यास्वाविरतिप्रभृतिरूपं व्यवच्छिन्नं, ससारमार्गव्यवच्छेदे च जीवः सिद्धिमार्गं=सम्यग्दर्शनादिरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

अनुकम्पा-अनु=अनुकूल कम्पनं=रक्षणचेष्टाकरणमनुकम्पा=जिनप्रवचनानुसारेण जीवानामुपरि कारुण्यं, प्राणातिपाताकरणं, परदुःखनिवारण, त्रियमाण

‘કવ મૈં સસાર કા ત્યાગ કરૂં ?’ इस प्रकार के निर्वेद से जीव को देव मनुष्य और त्रियैच संबंधी काम मोगों में अनासक्ति प्राप्त होती है । इसी विषय को स्पष्ट करते हैं कि-जीव सब विषयों से विरक्त हो जाता है, अर्थात् ‘इन अनर्थ के कारणभूत विषयों से बस करो ।’ इस प्रकार का वैराग्य पाता है । वैराग्य पाकर जीव सावध व्यापार का त्याग कर देता है । सावध व्यापारका त्याग करता हुआ मिथ्यास्व अविरति आदि संसारमार्ग को छोड़ता है और ससारमार्ग का त्याग कर के सम्यग्दर्शन आविरूप मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है ।

‘અનુ’ અર્થાત્ અનુકૂલ ‘કમ્પન’ અર્થાત્ રક્ષા કરને કી ચેષ્ટા કરના-અનુકમ્પા છે । અર્થાત્ જિન મગવાનું કે ઉપદેશ કે અનુસાર જીવો પર કરુણામાવડો, કિસી કે પ્રાણો કા વિયોગ ન કરના, દુસરો કા દુઃસ દૂર કરના, મરશે હુપુ બીર મારે જાતે હુપુ પ્રાણિયો કો પ્રાણ

‘હું ક્યારે સસારનો ત્યાગ કરી ?’ આ પ્રકારના નિર્વેદથી જીવને દેવ, મનુષ્ય અને ત્રિયૈવ સમ્બન્ધી કામમોગોમાં અનાસક્તિ પ્રાપ્ત થાય છે, તે વિષયને સ્પષ્ટ કરે છે કે-જીવ સર્વ વિષયોથી વિરક્ત થઈ બચે છે અર્થાત્ આ અનર્થના કારણભૂત વિષયોથી બસ કરે ?’ આ પ્રકારનો વૈરાગ્ય પામે છે વૈરાગ્ય પામીને જીવ સાવધ વ્યાપારનો ત્યાગ કરી કે છે સાવધ વ્યાપારનો ત્યાગ કરતો એકો મિથ્યાસ્વ, અવિરતિ આદિ સસારમાર્ગને છોડે છે, અને સસારમાર્ગનો ત્યાગ કરીને સમ્યગ્દર્શન આદિ મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરી લે છે

અનુ અર્થાત્ અનુકૂલ, કમ્પન અર્થાત્ રક્ષા કરવાની ચેષ્ટા કરવી તે અનુકમ્પા છે. અર્થાત્-જિન મગવાનના ઉપદેશ પ્રમાણે જીવો પર કરુણામાવડો, કોઈના પ્રાણોનો વિયોગ કરવો નહિ, બીજાના દુઃખ દૂર કરવાં, મરતાં અને મરાતાં પ્રાણીઓને પ્રાણ-

તયાઽત્રાપિ અનિવૃત્તિકરણરૂપ પરિણામો નિર્મલ સમ્યક્ત્વાકારેણ વર્તતે પૂર્વાવ-  
સ્થામપનુશ્ચાવસ્થાન્તરપ્રાપ્તિ પરિણામ, પરિણામિ જીવદ્રવ્ય તુ ધ્રુવમેવ ।  
પરિણામોઽપ્યત્ર વૈસ્રસિક એવ, અન્નેન્દ્રધનુરાદિવદિતિ પરિણામ સ્વભાવ ઇતિ  
વાચ્યમ્ ।

નનુ શ્રદ્ધા નિર્મલત્વ કયમુત્પદ્યતે ? ઉચ્યતે—કર્મણોઽનાદિત્વાત્પૂર્વકર્મો-  
દયેન યદ્યદન્યત્કર્મ જ્ઞાનાવરણોપાદિક સ્વેનૈવ કૃત તદપિ કાર્મણશરીરેણ સદૈવ  
વચ્ચતે કર્મત્વાદિદાનોત્તનર્મભવત્ । એવમિદમ્પૂર્વગૃહીતકર્મણ ફલમુપશ્ચુઠ્ઠજ્ઞાનસ્ય  
મવ્યજીવસ્ય જ્ઞાનદર્શનોપયોગસ્વભાવતયાઽનાદિમિથ્યાદિપ્ટેરપિ તાદૃશમવસ્થિતિ-

મેદ નહીં દેસ્યા જાતા । જેસે પરિણમન, અનેક પ્રકાર કા હોને પર મી પરિણામી—અન્વયિ  
દ્રવ્ય એક હોને સે ટસ મં સર્વથા મેદ નહીં હોતા । ડસી પ્રકાર યહાં અનિવૃત્તિકરણરૂપ  
પરિણામ નિર્મલસમ્યક્ત્વ કે રૂપ મેં પરિણત હો જાતા હૈ—ડસકી પૂર્વ—અવસ્થા મિટકર નવીન  
અવસ્થા ઉત્પન્ન હો જાતી હૈ, પિર મી પરિણામી—જીવદ્રવ્ય—ગ્યો કા સ્યો ધ્રુવ યના રહતા હૈ ।  
પરિણામ મી યહાં વૈસ્રસિક (સ્વાભાવિક) હેના જાહિપ, મેષ તથા ઇન્દ્રધનુષ કી તરહ,  
અત એવ પરિણામ કા અર્થ—સ્વભાવ હૈ ।

શુદ્ધા—શ્રદ્ધા, સ્વભાવ (નિર્મલ) સે કિસ પ્રકાર ઉત્પન્ન હોતી હૈ ? ।

સમાધાન—અનાદિ કાલ સે છો હુપ પૂર્વકર્મો કે ઉદય સે જ્ઞાનાવરણીય આદિ  
જો—જો કર્મ બીજને કિયે હૈ, વે સવ કાર્મણ શરીર કે સાથ હી બંધતે હૈ, ક્યોંકિ વે  
કર્મ હૈ, વર્તમાનકાલીન કર્મો કે સમાન । ઇસ પ્રકાર કે પહેલે પ્રહણ કિયે હુપ કર્મો કા  
ફલ મોગતે હુપ મવ્ય જીવ જ્ઞાનદર્શનરૂપ ઉપયોગસ્વભાવજાલા હોને કે કારણ

વાળામાં કોઈ સર્વથા લેહ જોવામાં આવતો નથી જેમ—પરિણમન અનેક પ્રકારનાં  
હોવા છતાંય પણ પરિણામી—અન્વયિદ્રવ્ય એક હોવાથી તેમાં સર્વથા લેહ થતો નથી,  
તે પ્રમાણે આદિ અનિવૃત્તિકરણરૂપ પરિણામ નિર્મલ સમ્યક્ત્વના રૂપમાં પરિણત થઈ બચ  
છે—તેની પૂર્વ અવસ્થા મટીને નવીન અવસ્થા ઉત્પન્ન થઈ બચ છે, પણ પરિણામી—  
અવદ્રવ્ય—જેમ છે તેમ ધ્રુવ બની રહે છે પરિણામ પણ આદિ વૈસ્રસિક (સ્વાભાવિક)  
લેવું જોઈએ, મેષ તથા ઇન્દ્રધનુષની માફક એ પ્રમાણે પરિણામનો અર્થ સ્વભાવ છે

શકા—શ્રદ્ધા સ્વભાવ (નિર્મલ)થી કયા પ્રકારે ઉત્પન્ન થાય છે ?

સમાધાન—અનાદિ કાળથી લાગેલા પૂર્વ કર્મોના ઉદયથી જ્ઞાનાવરણીય આદિ  
જો—જો કર્મ લેવે કયા છે, તે સવ કાર્મણ શરીરની સાથેજ બધાય છે, કેમકે તે કર્મ છે,  
વર્તમાનકાલીન કર્મોની સમાન. આ પ્રકારના પહેલાં અહણ કરેલા કર્મોનું ફલ મોગવતો

સમ્મદસણે વેય" (સ્થાનાઙ્ગ ૦ સ્થા ૨ ડ ૧)

તત્ર નિસર્ગ, પરિણામ, સ્વભાવ, ઇત્યેકાર્યકાઃ ।

અપૂર્વકરણાનન્તર યદ્ મહત્પત્તિનિવૃત્તિકરણં તન્નિસર્ગં ઇતિ કથ્યતે । નિવૃત્ત્યતે કાર્યોત્પત્તૌ સત્યામિતિ નિસર્ગઃ, કાર્યં સમુત્પન્ને સત્તિ કારણસ્ય ન કિંચિદ્ પ્રયોજન મવતિ, ઉત્પન્ને સમ્યક્ત્વે પ્રયોજનાભાવાદનિવૃત્તિકરણં પરિત્યજ્યતે । ન ચાત્પન્તં પરિત્યાગસ્તસ્યેપ્યતે યતસ્તદેવ કારણ તેનાકારેણ પરિણતમ્, યયા-ઉત્પત્તોઽપિ પુરુષઃ પુરુષ એવ, આસીનો શયિતો વા પુરુષ પુરુષ એવ, અવસ્થામાત્રમેદાદઘસ્થાવતો મેદઃ કાપિ ન દૃશ્યતે । તત્ર-પરિણામસ્યાનેકરૂપત્વેઽપિ પરિણામિનોઽન્વયિદ્રવ્યસ્ય ન તત્ત્વાત્ સર્વથા મેદઃ,

સમ્યન્વદશન" । (સ્થાનાંગ ૦ સ્થા ૨ ડ ૧)

નિસર્ગ, પરિણામ, યા સ્વભાવ, યે સર્વ પર્યાયવાચક હૈં ।

અપૂર્વકરણ કે પશ્ચાત્ હોને વાળા અનિવૃત્તિકરણ 'નિસર્ગ' કહી શકાય છે । કાર્યની ઉત્પત્તિ હો જાને પર જો ત્યાગ દિવા જાતા હૈ વહ 'નિસર્ગ' હૈ । કાર્યની ઉત્પત્તિ હો જાને કે વાદ કારણ કા કોઈ પ્રયોજન નહીં રહતા, ક્યોં કિ સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન હોને પર પ્રયોજન નહીં રહને સે અનિવૃત્તિકરણ ત્યાગ દિવા જાતા હૈ, મગર ડસ કા અત્પન્ત પરિત્યાગ નહીં કિયા જાતા ક્યોં કિ વહી કારણ ડસ આકાર મેં-કાર્યરૂપ મેં-પરિણત હો જાતા હૈ । જૈસે-સઢા હુઆ પુરુષ-પુરુષ હી હૈ । બૈઠા હુઆ યા સોના હુઆ પુરુષ મી પુરુષ હી હૈ । અવસ્થાઓ મેં મેદ્ હોનેમાત્ર સે અવસ્થાવાલે મેં કહી સર્વથા

સમ્યન્વદશન" (સ્થાનાંગ ૦ સ્થા ૨ ડ ૧)

નિસર્ગ, પરિણામ અથવા તેા સ્વભાવ, આ સર્વ પર્યાયવાચક શબ્દો । અપૂર્વ કરણની પછી થવાવાળા અનિવૃત્તિકરણ નિસર્ગ કહેવાય છે કાર્યની ઉત્પત્તિ થઈ જવા પછી જે ત્યજી દેવામાં આવે છે તે નિસર્ગ છે કાર્યની ઉત્પત્તિ થઈ જવા પછી કારણનું કોઈ પ્રયોજન રહેતું નથી. કેમકે-સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન હોવા છતાંય પણ પ્રયોજન નહિ રહેવાથી અનિવૃત્તિકરણ ત્યાગી દેવામાં આવે છે અર્થાત્ પ્રયોજન નહિ રહેવાથી અનિવૃત્તિકરણને ત્યાગ કરવામાં આવે છે પરન્તુ તેના અત્પન્ત પરિત્યાગ કરવામાં આવતો નથી; કારણ કે તે કારણ તેવા આકારમાં-કાર્યરૂપમાં-પરિણત થઈ જાય છે જેમ ઘડો રહેલો પુરુષ, પુરુષ છે, બેઠેલો અથવા સુતેલો પુરુષ પણ પુરુષ જ છે, અવસ્થાઓમાં બેઠ જવા માત્રથી અવસ્થા

જઘન્યતોઽન્તર્મુહર્ષમ્, સ ઉત્કર્ષતો દેશોનાર્દ્યપુદ્ગલપરાવર્ત સ્થિત્વા પુન સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્સ્યતિ, સ સાદિમિથ્યાદૃષ્ટિર્ભવતિ ।

### યથાપ્રવૃત્તિકરણમ્—

અવગમ્યવિધસ્ય મિથ્યાદૃષ્ટેર્જીવસ્ય પરિણામરૂપાધ્યવસાય પૂર્વ જઘન્ય-શુભપરિણામમદ્વીકૃત્ય પર પર' શુભપરિણામ પરિણામવિશેષ હત્યુન્યતે । સ એવ પરિણામવિશેષો 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ'—મિત્યુચ્યતે ।

યથાપ્રવૃત્તિકરણ—મિત્યસ્ય શબ્દાર્થસ્ત્વેધમ્—યથા=યેન અનાદિસંસિદ્ધ-પ્રકારેણ પ્રવૃત્તિર્યસ્ય તત્ યથાપ્રવૃત્તિ, ક્રિયતે કર્મસપ્પણમનેનેતિ કરણ=જીવસ્ય શુભપરિણામ., યથાપ્રવૃત્તિ ચ તત્કરણ ચ યથાપ્રવૃત્તિકરણ કર્મસપ્પણકારણસ્યા

વાદ મેં અનન્તાનુબધી કપાય કે ઉદય સે ફિર મિથ્યાત્વ આ ગયા કિન્તુ વહ મિથ્યાત્વ જઘન્ય અન્તર્મુહર્ષ તક ઓર ઉત્કૃષ્ટ દેશોન અર્દ્યપુદ્ગલપરાવર્તન તક રહતા હૈ વહ જીવ સાદિમિથ્યાદૃષ્ટિ હૈ ।

### યથાપ્રવૃત્તિકરણ—

હસ પ્રકાર દોનો પ્રકાર કે મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવોં કા અધ્યવસાય પહેલે કે જઘન્ય શુભ પરિણામ સે લેકર ઉત્તરોત્તર વધતે હુપ શુભ પરિણામ, પરિણામવિશેષ કહલાતા હૈ । ડસી પરિણામવિશેષ કો 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ' કહતે હૈ ।

'યથાપ્રવૃત્તિકરણ' કા શબ્દાર્થ હસ પ્રકાર હૈ—'યથા' અર્થાત્ અનાદિ કાલીનરૂપ સે જિસ કી પ્રવૃત્તિ હો વહ યથાપ્રવૃત્તિ કહલાતા હૈ । જિસ સે કર્મોં કા ક્ષય ક્રિયા જાતા હૈ, જીવ કે ડસ શુભ પરિણામ કો 'કરણ' કહતે હૈ । યથાપ્રવૃત્તિ-

અનન્તાનુબધી કપાયના ઉદયથી ફરીથી મિથ્યાત્વ આવી જશુ પણ તે મિથ્યાત્વ જઘન્ય અન્તર્મુહર્ષ સુધી અને ઉત્કૃષ્ટ દેશોન અર્દ્ય પુદ્ગલપરાવર્તન સુધી રહે છે તે એવ સાદિમિથ્યાદૃષ્ટિ છે

### યથાપ્રવૃત્તિકરણ—

આ પ્રકારના બન્ને મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવોના અધ્યવસાય પહેલાના જઘન્ય શુભ પરિણામથી લઈને ઉત્તરોત્તર વધતા શુભ પરિણામ, પરિણામવિશેષ કહેવાય છે તે પરિણામ વિશેષને યથાપ્રવૃત્તિકરણ કહે છે 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ' નો શબ્દાર્થ આ પ્રકારે છે—'યથા' અર્થાત્ અનાદિ કાલીનરૂપથી જેની 'પ્રવૃત્તિ' હોય તે 'યથાપ્રવૃત્તિ' કહેવાય છે જેનાથી કોનોનો ક્ષય કરવામાં આવે છે, એવના તે શુભ પરિણામને 'કરણ' કહે છે

પરિપાકવશેન શુભપરિણામરૂપાઽધ્યવસાયા ભવન્તિ, તેષા સ્થાનાનિ મન્દ-મધ્ય-  
તીવ્રાણિ ભવન્તિ । તત્ર જઘન્યશુભપરિણામસ્ય સ્થાન વિશુદ્ધ, તસ્માદુત્કૃષ્ટસ્ય  
વિશુદ્ધતરં, તતોઽપ્યુત્કૃષ્ટશુભપરિણામસ્ય વિશુદ્ધતમં સ્થાન પ્રાપ્નુવતો બીક્સ્ય  
વર્ધમાનશુભપરિણત્યા તારક્ષપરિણામવિશેષો જાયતે, યેન તીર્થંકુરાણુપદેશ-  
મન્તરેણ સ્વત એવ બીવસ્ય કર્મોપશમાદિમ્ય ઞદોત્પદ્યતે । તત્રાય ક્રમઃ—

અદ્વાપ્રાપ્તયેઽધિકારી દ્વિવિધો ભવતિ, અનાદિમિધ્યાદૃષ્ટિ, સાદિ-  
મિધ્યાદૃષ્ટિઃ । યઃ પૂર્વં કદાપિ સમ્યક્ત્વં ન લબ્ધવાન્ સોઽનાદિમિધ્યાદૃષ્ટિઃ ।  
યઃ મધ્યઃ પૂર્વં સમ્યક્ત્વં પ્રાપ્ય પદ્માદનન્તાનુવન્ધિકપાયોદયાદુપજાતમિધ્યાત્મઃ

અનાદિકાલ સે મિધ્યાદૃષ્ટિ હોને પર મી અમુક પ્રકાર કી મવસ્થિતિ કા પરિપાક હોને સે ડસ્કે  
શુભપરિણામરૂપ અધ્યવસાય ઉત્પન્ન હોતે હૈં । ડન અધ્યવસાયોં કે સ્થાન મન્દ, મધ્યમ  
ઔર તીવ્ર હોતે હૈં । ડન મેં અઘન્ય શુભ પરિણામ કા સ્થાન વિશુદ્ધ હૈ, ડસ સે  
ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધતર હૈ । ઔર ડસસે મી ઉત્કૃષ્ટ શુભપરિણામ વિશુદ્ધતમ હૈ । ડન સ્થાનોં  
કો પ્રાપ્ત બીક્ કે મદોતે હુપ શુભ પરિણામોં સે એક એસા પરિણામ ઉત્પન્ન હોતા હૈ, કિસ કે  
દ્વારા તીર્થંકર આદિ કે ઉપદેશ કે બિના હી સ્વમમેવ બીક્ કો કર્મોં કા ઉપશમ આદિ હોને સે  
અદ્વા ઉત્પન્ન હો બાતી હૈ ।

ક્રમ ઇસ પ્રકાર હૈ—

ડો પ્રકાર કે બીક્ અદ્વા પાને કે અધિકારી હૈં—(૧) અનાદિમિધ્યાદૃષ્ટિ  
ઔર (૨) સાદિમિધ્યાદૃષ્ટિ । કિસ બીવને પહેલે કર્મી સમ્યક્ત્વ નહીં પાયા વહ  
અનાદિમિધ્યાદૃષ્ટિ કહબતા હૈ । કિસ મધ્ય બીવને પહેલે સમ્યક્ત્વ પાયા કિન્તુ

ચકે । બાબ્ય એવ સ્થાન-દર્શનરૂપ ઉપયોગસ્વભાવવાળા હોવાના કારણે અનાદિ કાલથી  
મિધ્યાદૃષ્ટિ હોવા ક્રત્યાય પણ અમુક પ્રકારની ભવસ્થિતિને પરિપાક હોવાથી તેને શુભ પરિ-  
ણામરૂપ અધ્યવસાય ઉત્પન્ન થાય છે તે અધ્યવસાયોનાં સ્થાન મદ, મધ્યમ અને તીવ્ર હોય  
છે તેમાં જઘન્ય શુભ પરિણામનું સ્થાન વિશુદ્ધ છે, તેનાથી ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધતર છે, અને એનાથી  
પણ ઉત્કૃષ્ટ શુભ પરિણામ વિશુદ્ધતમ છે આ સ્થાનોને પ્રાપ્ત એવના વધતા ગમેલા શુભ  
પરિણામોમાંથી એક એવું પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે કે જેના દ્વારા તીર્થંકર આદિના  
ઉપદેશ વિનાજ સ્વમમેવ, એવને કર્મોના ઉપશમ આદિ થવાથી અદ્વા ઉત્પન્ન થઈ બાધ છે.

ક્રમ આ પ્રકારે છે—

ડો પ્રકારના એવ અદ્વા પ્રાપ્ત કરવાની અધિકારી છે (૧) અનાદિમિધ્યાદૃષ્ટિ  
અને (૨) સાદિમિધ્યાદૃષ્ટિ. જે એવે પહેલા ક્યારેય સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કર્યું નથી તે અનાદિ  
મિધ્યાદૃષ્ટિ કહેવાય છે જે બાબ્ય એવે પહેલા સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કર્યું હતું પરંતુ પછીથી

જયન્વતોઽન્તર્મુહર્ષમ્, સ ઉત્કર્ષતો દેશોનાર્દપુદ્ગલપરાવર્ત સ્થિત્વા પુન સમ્યક્ત્વ માપ્સ્યતિ, સ સાદિમિધ્યાદષ્ટિર્ભવતિ ।

### યથાપ્રવૃત્તિકરણમ્—

एवमुभयविधस्य मिध्यादष्टेर्जीवस्य परिणामरूपाव्यवसाय पूर्व जयन्य-  
शुमपरिणाममद्गीकृत्य पर. पर. शुमपरिणाम. परिणामविशेष इत्युच्यते । स एव  
परिणामविशेषो 'यथाप्रवृत्तिकरण'—मित्युच्यते ।

यथाप्रवृत्तिकरण—मित्यस्य शब्दार्थस्त्वेवम्—यथा=येन अनादिससिद्ध-  
प्रकारेण प्रवृत्तिर्यस्य तत् यथाप्रवृत्ति, क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करण=जीवस्य  
शुमपरिणाम, यथाप्रवृत्ति च तत्करण च यथाप्रवृत्तिकरण कर्मक्षपणकारणस्या

बाद में अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से फिर मिथ्यात्व आ गया किन्तु वह मिथ्यात्व  
जयन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन तक रहता है वह  
बीज सादिमिध्यादष्टि है ।

### यथाप्रवृत्तिकरण—

इस प्रकार दोनों प्रकार के मिथ्यादष्टि जीवों का अव्यवसाय पहले के जयन्य  
शुम परिणाम से लेकर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शुम परिणाम, परिणामविशेष कहलाता है ।  
उसी परिणामविशेष को 'यथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं ।

'यथाप्रवृत्तिकरण' का शब्दार्थ इस प्रकार है—'यथा' अर्थात् अनादि-  
कालीनरूप से जिस की प्रवृत्ति हो वह यथाप्रवृत्ति कहलाता है । जिस से कर्मों का  
क्षय किया जाता है, जीव के उस शुम परिणाम को 'करण' कहते हैं । यथाप्रवृत्ति-

અનન્તાનુબન્ધી કષાયના ઉદયથી શરીરથી મિથ્યાત્વ આવી જાય પણ તે મિથ્યાત્વ  
જયન્ય અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અને ઉત્કૃષ્ટ દેશોન અર્ધ પુદ્ગલપરાવર્તન સુધી રહે છે  
તે જ એ સાદિમિધ્યાદષ્ટિ છે

### યથાપ્રવૃત્તિકરણ—

આ પ્રકારના બંને મિધ્યાદષ્ટિ જીવોના અવ્યવસાય પહેલાના જયન્ય શુભ પરિ-  
ણામથી લઈને ઉત્તરોત્તર વધતા શુભ પરિણામ, પરિણામવિશેષ કહેવાય છે તે પરિણામ  
વિશેષને યથાપ્રવૃત્તિકરણ કહે છે 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ' નો શબ્દાર્થ આ પ્રકારે છે—'યથા'  
અર્થાત્ અનાદિ કાલીનરૂપથી જેની 'પ્રવૃત્તિ' હોય તે 'યથાપ્રવૃત્તિ' કહેવાય છે જેનાથી  
કર્મોનો ક્ષય કરવામાં આવે છે, જીવના તે શુભ પરિણામને "કરણ" કહે છે



ધ્યવસાયમાત્રસ્ય સર્વદૈવ માવાદુદયાવલિકાપ્રવિષ્ટાનાં કર્મેણાં સર્વદૈવ સપણાત્ ।

યથાપ્રવૃત્તિકરણ મન્યસ્યામન્યસ્ય ચ મવતિ । વક્ષ્યમાણમપૂર્વકરણમનિવૃત્તિકરણં  
ચ મન્યસ્યૈવ મવતિ, ન ત્વમન્યસ્ય ।

મિથ્યાસ્વપ્નશાદનન્તાન્ પુદ્ગલપરાવર્તાન્ અનન્તદુઃસ્વાન્યનુભૂય કયમપિ  
તાદૃશમવસ્યિતિપરિપાકવશાદ્ ગિરિણદ્રીપ્રવહદુઃસંચિતાપવસિંતાપાપાણવર્તુલા  
વસ્યાવદનામોગનિર્વર્તિતેન યથાપ્રવૃત્તિકરણેન વિશુદ્ધપરિણામવિશેષરૂપેણાપુખ્ય  
કર્મ વર્ગયિત્વા જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્માણિ સર્વાણ્યપિ પત્યોપમાસરણ્યેયમાગ્ન્યૂનેક

રૂપ કરણ યથાપ્રવૃત્તિકરણ કહી શકાય છે । કર્મક્ષય કા કારણમૂલ અધ્યવસાય  
સર્વેવ બના રહ્યા છે, ક્યોંકિ હૃદયવલિકા મેં આપ હુપ કર્મોં કા સદા ક્ષય હોતો  
રહ્યા છે ।

યથાપ્રવૃત્તિકરણ મન્ય જીવ કો મી હોતો હૈં ઓર અમન્ય જીવ કો મી  
હોતો હૈ, કિન્તુ આગે કહે જાને ઘાલે અપૂર્વકરણ ઓર અનિવૃત્તિકરણ મન્ય જીવ કો હી હોતે  
હૈં, અમન્ય જીવ કો નહીં ।

મિથ્યાત્વ કે વશ હોકર અનન્ત પુદ્ગલપરાવર્તનોં તક અનન્ત દુઃસ્વોં કો મોગને  
કે પશ્ચાત્ કિસી મી તરફ હસ પ્રકાર કી મવસ્થિતિ કા પરિપાક હોને સે પહાડી નદી કે  
પ્રવાહ મેં વહને વાલા, છુટક (ગુટક)ને વાલા, ધિસને વાલા પાપાણ હૈસે ગોલ્મટોલ બન  
જાતો હૈ, હસી પ્રકાર અનજ્ઞાન મેં હી યથાપ્રવૃત્તિકરણરૂપ વિશુદ્ધ પરિણામ કે કારણ  
આયુર્કર્મ કો છોટકર જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત કર્મ પત્યોપમા કે અસહ્યાતર્વે માગ કમ

યથાપ્રવૃત્તિરૂપ કરણ તે 'યથાપ્રવૃત્તિકરણ' કહેવાય છે કમ ક્ષયના કારણમૂલ અધ્યવસાય  
હમેશાં બની રહે છે, કમકે-કમ્યાવલિકામાં આવેલા કમનેા હમેશાં ક્ષય થયા કરે છે

યથાપ્રવૃત્તિકરણ અન્ય હવને પણ થાય છે, અને અન્ય હવને પણ થાય  
છે, પરન્તુ આગળ કહેવામા આવશે તે અપૂર્વકરણ અને અનિવૃત્તિકરણ અન્ય  
હવોને જ થાય છે, અન્ય હવોને થતા નથી.

મિથ્યાત્વને વશ થઈને અનન્ત પુદ્ગલપરાવર્તનોં સુધી અનન્ત દુઃખોને લોખંબા  
પછી કોઈ પણ પ્રકારે આ પ્રકારની અવસ્થિતિને પરિપાક થવાથી પ્રહાલી નદીના પ્રવાહમાં  
વહેવાવાળો-ગાળડવાવાળો, ઘસાતો જતો પથ્થર જેવી રીતે ગોળ-મટોળ બની જાય છે,  
એ પ્રમાણે અજ્ઞાતાં પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણરૂપ વિશુદ્ધ પરિણામના કારણે આયુર્કર્મને  
ત્યજીને બીજા જ્ઞાનાવરણીય આદિ સાત કર્મ પત્યોપમાના અસહ્યાતમા ભાગ-ભાગ

સાગરોપમકોટીકોટીસ્થિતિકાનિ કરોતિ । ઉક્તञ्च—

“અતિમકોટાકોટીય દોઢ સવ્યાસિ કમ્મપગઢીણ ।

પલિયામસત્તમાગે, સ્વીણે સેસે હથ્થ ગંઠી ॥ ૧ ॥”

તથાય ક્રમો વિજ્ઞેય—જ્ઞાનાવરણીય-દર્શનાવરણીય-વેદનીયા-અન્તરાયકર્મ-  
ચતુષ્ટયસ્ય ત્રિશ્વત્સાગરોપમકોટીકોટય ઉત્કૃષ્ટા સ્થિતિ । નામગોત્રયોર્વિંશતિ  
સાગરોપમકોટીકોટય, મોહનીયસ્ય સપ્તતિસાગરોપમકોટીકોટય ઉત્કૃષ્ટા સ્થિતિ ।  
તત્ર યથાપ્રવૃત્તિકરણેન જીવ ઉત્કૃષ્ટાં સ્થિતિ દ્રામયન્ તાવર્તી સ્થિતિ પ્રાપયતિ, યેન  
સમાનરૂપેણ સપ્તાના કર્મણાં પલ્યોપમાસગ્ધ્યેયમાગન્યુનકસાગરોપમકોટીકોટીસ્થિતિ-

એક કોટાકોટી સાગરોપમ કી સ્થિતિ મેં છાએ જાતે હેં । કહા મી હે—

“સમસ્ત કર્મ પ્રકૃતિયો જવ પન્થ કે અસખ્યાતવેં માગ કમ કોટાકોટી કી  
સ્થિતિવાલી હોતી હેં, તય પ્રથિ હોતી હે” ॥ ૧ ॥

ક્રમ હસ પ્રકાર હે—જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય ઓર અન્તરાય, હન  
ચાર કર્મો કી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ—ત્રીસકોટા-કોટી સાગરોપમ કી હે । નામ ઓર  
ગોત્રકી વીસ—વીસ કોટાકોટી સાગરોપમ કી હે, ઓર મોહનીય કર્મ કી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ  
સિતર (૭૦) કોટાકોટી સાગરોપમ કી હે । યથાપ્રવૃત્તિકરણ કે દ્વારા જીવ  
હસ સારી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કો ઘટાકર હતની કમ કર ઢાલતા હે કિ સાતો  
કર્મો કી સ્થિતિ સમાનરૂપ સે પન્થોપમ કે અસખ્યાતવેં માગ કમ એક સાગરોપમ કોટાકોટી

એક કોટા-કોટી સાગરોપમની સ્થિતિમા લાવવામા આવે છે કહ્યુ પણ છે

“સમસ્ત કર્મપ્રકૃતિઓ બ્યારે પથ્થના અસખ્યાતમા—માગ ઓછા—એક  
કોટા-કોટીની સ્થિતિવાળી હોય છે, ત્યારે પ્રથિ થાય છે” ॥૧॥

ક્રમ આ પ્રમાણે છે—જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય અને અન્તરાય આ  
ચાર કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ—ત્રીસ કોટા-કોટી સાગરોપમની છે નામ અને ગોત્રની  
વીસ વીસ કોટા-કોટી સાગરોપમની છે અને મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીતર (૭૦)  
કોટા-કોટી સાગરોપમની છે યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા જીવ તમામ ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિને ઓછી  
કરીને—એટલી ઓછી કરી નાખે છે કે—સાતે કર્મોની સ્થિતિ સમાનરૂપથી પલ્યોપમના  
અસખ્યાતમા માગ ઓછા એક સાગરોપમ કોટા-કોટીની બાકી રહી બધ છે એના

સ્વચ્છિષ્ટા ભવતિ । અત્રાન્તરે ચ યથાપ્રવૃત્તિકરણેન કર્મનિર્જરાં કુર્વંતો જીવસ્ય ચાક્ષ્  
પૂર્વકર્મણો નિર્જરા ન ભવતિ તાવત્ સ્વીયમાનં તીવ્રરાગદ્વેષપરિણામરૂપ કર્મ, પ્રત્યિ-  
સાદૃશ્યાદ્ પ્રત્યિરિત્યુચ્યતે ॥

યથા કાઠવિશેષસ્ય અતિકઠોરનિવિહાતિશુષ્કધનગૂઢપ્રત્યિર્દુર્મેષસ્તથા  
તીવ્રરાગદ્વેષપરિણામરૂપઃ કર્મવિશેષોઽપિ દુર્મેષો ભવતિ તસ્માદ્ પ્રત્યિસ્ફુલ્લેન  
વ્યવહિયતે ।

અમવ્યા અપિ યથાપ્રવૃત્તિકરણશ્લેષેન કર્મ સપયિત્વાઽનન્તવારમેતદ્વપ્રત્યિ  
પર્યન્તમાગચ્છન્તિ । કશ્ચિદ્ પ્રત્યિસ્થાન પ્રાપ્ય તસ્માદ્ધા પતતિ । કશ્ચિત્તત્રવ  
પ્રત્યિસ્થાને રિયતસ્તિષ્ઠતિ, ન તસ્માદગ્રે મવર્તતે ।

કી બાકી રહ જાતી છે । ફક્ત જીવ-યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા કર્મો કી નિર્જરા કરતે હુવ ધીવ કો  
કિત્તે કર્મો કી નિર્જરા નહીં હોયી અર્થાત્ જો કર્મ શેષ રહ જાતે હૈ, થેતીવ્ર રાગ દ્વેષપરિણામરૂપ  
કર્મ, પ્રત્યિ કે સમાન હોને કે કારણ પ્રત્યિ ( ગાંઠ ) ફટલાતી હૈ ।

જેસે-કાઠવિશેષ કી અત્યન્ત કઠિન ધની ગૌર પક્કડમ સૂચી મીતરી ગાઠ દુર્મેષ હોયી  
હૈ, ઉસો પ્રકાર રાગ-દ્વેષપરિણામરૂપ કર્મવિશેષ મી દુર્મેષ હોતા હૈ, જત પચ વહ કર્મ,  
પ્રત્યિ ફટલાતી હૈ ।

અમવ્ય જીવ મી યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા કર્મ કા ક્ષય કર કે અનન્ત વાર પ્રત્યિ પર્યન્ત  
જા પહુંચતે હૈ, કોર્ક-કોર્ક પ્રત્યિસ્થાન કો પ્રાપ્ત કર કે પિત્ર નીચે મિત્ર જાતા હૈ । કોર્ક-કોર્ક  
પ્રત્યિસ્થાન પર હી ઝર જાતા હૈ, જાગે નહીં જવતા હૈ ।

વચ્ચમા-યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા કર્મોની નિર્જરા કરતા થકા જીવનાં બેટલાં કર્મોની  
નિર્જરા નથી થતી અર્થાત્ જે કર્મ શેષ રહી જાય છે તે તીવ્ર રાગ-દ્વેષપરિણામરૂપ  
કર્મ, પ્રત્યિના સમાન હોવાના કારણે પ્રત્યિ (ગાંઠ) ફટલાય છે

જેવી રીતે કાઠ (લાકડા) વિશેષની અત્યન્ત કઠિન, મજબુત અને બેકદમ સૂચી  
અદરની ગાંઠ દુર્મેષ હોય છે, જો પ્રમાણે રાગ-દ્વેષપરિણામરૂપ કર્મવિશેષ પણ  
દુર્મેષ હોય છે બેટલા માટે તે કર્મ, પ્રત્યિ ફટલાય છે

અમવ્ય જીવ પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા કર્મનો ક્ષય કરીને અનન્તવાર પ્રત્યિ  
સુધી પહોંચે છે કોઈ કોઈ પ્રત્યિ સ્થાનને પ્રાપ્ત થઈને પાછા નીચે પડી જાય છે  
કોઈ-કોઈ પ્રત્યિ સ્થાન ઉપરજ રહી જાય છે આગળ વધી શકતા નથી.

અમવ્યોડપિ કશ્ચિદ્ યથાપ્રવૃત્તિકરણેન ગ્રન્થિપર્યન્ત સમાગત્ય તીર્થદ્વારાતિશય  
દર્શનેન લબ્ધિધારિભાવિતાત્મમદાત્મનો મદિમાવલોકનેન, પ્રયોજનાન્તરેણ વા  
પ્રવર્તમાન મૃપ્રાર્થતદુમયશ્રવણપઠનરૂપ શ્રુતસામાયિક ભમતે, ન ત્વન્યદપૂર્વ-  
કરણાદિકમ્ ।

### ॥ અપૂર્વકરણમ્—

તદનન્તર કશ્ચિદેવ મવ્યજીવ આસન્નસિદ્ધિસુખત્વાદુદિતપ્રચુરદુર્નિવારવીર્ય-  
મસરોડતિનિશિતકુઠારેણેવ યથાપ્રવૃત્તિકરણાપેક્ષયા વિશુદ્ધતરેણાભૂતપૂર્વશુભા-  
વ્યવસાયવિશેષરૂપેણાપૂર્વકરણેન પ્રાપ્તુક્ત દુર્મેધ કર્મગ્રન્થિ મિનત્તિ ।

કોઈ અમવ્ય મી યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા પ્રન્થિ તક આકર તીર્થકર મગવાન્  
કા અતિશય દેવકર, લબ્ધિધારી ભાવિતામા મહાત્મા કી મદિમા દેવકર, અથવા કિસી  
અન્ય પ્રયોજન સે પ્રવૃત્તિ કરતા હુઆ સૂત્ર, અર્થ ઓર તદુમય આગમ કા શ્રવણ યા  
પઠનરૂપ શ્રુતસામાયિક કો પ્રાપ્ત કર હેતા હૈ, મગર વહ અપૂર્વકરણ આદિ કો નહી  
પા સકતા ।

### અપૂર્વકરણ—

તદનન્તર મોક્ષમુક્ત સમીપ હોને કે કારણ જિસ મેં પ્રચુર ઓર દુર્નિવાર શક્તિ ઉત્પન્ન  
હો ગઈ હૈ એસા કોઈ અવ્ય જીવ હી યહુત તીસે કુન્હાઢે કે સમાન યથાપ્રવૃત્તિ-કરણ કી  
અપેક્ષા અધિક વિશુદ્ધ, ઓર પહેલે કમી મી પ્રાપ્ત ન હોને વાલે શુભઅધ્યવસાયરૂપ  
અપૂર્વકરણ કે દ્વારા ઉસ દુર્મેધ કર્મપ્રન્થિ કો મેદતા હૈ ।

કોઈ અમવ્ય પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારા અથી મુધી આવીને તીર્થકર મગવાન્ના  
અતિશયને લેધને, લબ્ધિધારી ભાવિતાત્મા મહાત્માને મદિમા લેધને, અથવા કોઈ  
અન્ય પ્રયોજનથી પ્રવૃત્તિ કરતો થકો, સૂત્ર, અર્થ અને તદુમય આગમના અવલુ  
અથવા પઠનરૂપ શ્રુત-સામાયિકને પ્રાપ્ત કરી હે છે, પરન્તુ તે અપૂર્વકરણ આદિને  
પ્રાપ્ત કરી શકતો નથી

### અપૂર્વકરણ—

ત્યાર પછી મોક્ષમુખ સમીપ હોવાના કારણે જેનામા મહાન અને કોઈથી  
નિવારી શકાય નહિ તેવી શક્તિ ઉત્પન્ન થઈ ગઈ છે એવો કોઈ અવ્ય અવલુ બહુજ  
વીણા કહાઠા સમાન યથાપ્રવૃત્તિકરણની અપેક્ષા આધક વિશુદ્ધ, અને પહેલા કોઈ વખત  
પણ પ્રાપ્ત નહિ થયેલા શુભ-અધ્યવસાયરૂપ અપૂર્વકરણ દ્વારા એ દુર્મેધ કર્મઅથિને લેદે છે

અસ્મિન્ ગ્રન્થિમેદે મન ક્ષોભપરિશ્રમાદિવિઘ્ના ભવન્તિ । યયા વિદ્યાસાધકસ્ય વિદ્યાધિષ્ઠાતૃદેવતાકૃતોપસર્ગોર્મનઃક્ષોભો ભવતિ, યયા ધોરમદાસમરગતમુમટસ્ય દુર્ધર્મઃ વહુતરશત્રગણપરાઞ્ચકરણાત્પરિશ્રમો મનતિ, યથા ચ મહાસમુદ્રાદિભ્યો નૌકાદિતારણે નાવિકસ્ય પરિશ્રમો ભવતિ તથા પ્રચુરદુર્જયકર્મશત્રુસઘાતપરાજયે પરિશ્રમોડતિશ્ચયેન જાયતે । વજ્રાશ્મવદ્દુર્મેધોડય કર્મગ્રન્થિ' । અપૂર્વકરણવજ્રસૂચ્યાભયમન્તરેણાસ્ય મેદો દુષ્કરઃ ।

અપૂર્વકરણવજ્રસૂચ્યા સકૃદ્ ગ્રન્થિમેદે કૃતે સતિ લઘ્વવિશુદ્ધતમભદ્રા-

ગ્રન્થિમેદન કરને મેં માનસિક ક્ષોભ તથા પરિશ્રમ આદિ અનેક વિઘ્ન ઉપસ્થિત હોતે હૈં । જૈસે વિદ્યા કી સાધના કરને ઘાલે કો વિદ્યા કી અધિષ્ઠાત્રી દેવતા કે દ્વાર કિયે જાને ઘાલે વિઘ્નો સે મન મેં ક્ષોભ હોતા હૈ, જૌર ધનધોર મહાયુદ્ધ મેં ગયે હુપ યોદ્ધા કો વહુ-સહ્યક જૌર દુર્જય શત્રુઓ કે દલ પર વિજય પ્રાપ્ત કરને મેં પરિશ્રમ કરના પડતા હૈ, અથવા જૈસે કિસી મહાસમુદ્ર સે જહાજ વગૈરહ કો પાર લ્લાગને મેં નાવિક કો પરિશ્રમ કરના પડતા હૈ, ઊસી પ્રકાર બહુત-સે દુર્જય કર્મશત્રુઓ કે દલ કો પરાજિત કરને મેં અત્યન્ત પરિશ્રમ કરના પડતા હૈ । યહ કર્મગ્રન્થિ વજ્ર કી તરહ બઢી કઠિનાઈ સે મેલી જાતી હૈ । અપૂર્વકરણરૂપી વજ્ર કી સુઈ કા સહારા ળિયે વિના ઊસ કા મેદન હોના અશક્ય હૈ ।

અપૂર્વકરણ કી વજ્રમય સુઈ સે ઇક વાર કર્મગ્રન્થિ કા મેદન હો જાને પર

અધિશેદન કરવામા માનસિક ક્ષોભ તથા પરિશ્રમ આદિ અનેક વિઘ્ન ઉપસ્થિત થાય છે જેમ વિદ્યાની સાધના કરવાવાળાને વિદ્યાની અધિષ્ઠાત્રી દેવતાદ્વારા યવાવાળા વિદ્યોથી મનમાં ક્ષોભ થાય છે, અને ધનધોર મહાયુદ્ધમાં ગયેલા યોદ્ધાને ઘણીજ સહ્યાવાળા અને દુર્જય શત્રુઓના હળ ઉપર વિજય મેળવવામાં જેમ પરિશ્રમ કરવો પડે છે અથવા—જેવી રીતે કોઈ મહાસમુદ્રમાંથી વહાણ વગેરેને પાર લઈ જવામાં નાવિકોને પરિશ્રમ કરવો પડે છે, એ પ્રમાણે બહુજ દુર્જય કર્મશત્રુઓના હળોને પરાજય કરવામાં અત્યન્ત પરિશ્રમ કરવો પડે છે

આ કર્મગ્રન્થિ વજ્રના જેવી મહાકઠિનતાથી લેવી શકાય છે અપૂર્વકરણ રૂપી વજ્રની સોયની સહાય લીધા વિના તેનું લેદન થવું અશક્ય છે

અપૂર્વકરણની વજ્રમય સોયથી કોઈવાર કર્મગ્રન્થિનું લેદન થઈ જવા બંધી

સામર્થ્યાન્તિ પુનર્ગ્રન્થિગન્ધન મરતિ, યથા જાતવેધો મણિ કથચ્છિદ્રજસા પરિપૂરિતેઽપિ  
રન્ધ્રે ન પૂર્વાવસ્થાં પ્રાપ્નોતિ, તથૈવ સમ્પ્રૃષ્ટસમ્યક્ત્વો જીવઃ કથચ્છિત્સમ્યક્ત્વાપગમે  
પશ્ચાત્તીવ્રતરાગદ્વેષપરિણામપ્રાપ્તાગપિ ન પુનર્ગ્રન્થિરૂપેઽગ કર્મ વધ્નાતિ ।

યથા જન્માન્વસ્ય કથચ્છિદ્રાભુઃપ્રાપ્તૌ સત્યા યથાવસ્થિતપદાર્થસાર્થાવ  
લોકનેન, યથા ચ મહાવ્યાધિઝનિતદુરન્તધોરવેદનાસમાક્રાન્તસ્ય તદ્વ્યાધ્યપગમે  
મહાન્ પ્રમોદો જાયતે તથા મન્યસ્થાનિવૃત્તિકરણધ્વલેન વીતરાગોપદિષ્ટ-

જીવ કો શ્રદ્ધા ફી અત્યન્ત વિશુદ્ધ શક્તિ પ્રાપ્ત હો જાતી હૈ, અત ઇવ ફિર કમી  
પ્રાપ્તિવશ નહી હોતા । કિસી મણિ મેં ઇક વાર છેદ ફર દિયા જાય ઓર કાલ્પતર મેં  
અસ મેં ઘૂલ મર જાય તો મી વહ છેદ પહલે ફી મૈતિ નહી હોતા । હસી પ્રકાર ઇકવાર  
સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત ફર છેને વાલા જીવ સમ્યક્ત્વ કે નષ્ટ હો જાને પર મી બાદ મેં તીવ્ર  
રાગ-દ્વેષરૂપ પરિણામો ફી પ્રાપ્તિ હોને પર મી મણિ કે રૂપ મેં કમી કા વશ નહી  
ફરતા ।

જૈસે જમ સે જલે કો કિસી ડવાય સે આલ મિલને પર પદાર્થો કા  
અસલી સ્વરૂપ દેલ્લફર અત્યન્ત હર્ષ હોતા હૈ, અથવા જૈસે કિસી મહાન્ રોગ સે હોને  
વાલી ધોર વેદના સે પીડિત પુરુષ કે રોગ હટ જાને પર મહાન્ હર્ષ હોતા હૈ, અસી  
પ્રકાર મન્ય-જીવ કો અનિવૃત્તિકરણ-કે વલ્લ સે મગવાન્ વીતરાગ દ્વારા કથિત યથાર્થ

અવને શ્રદ્ધાની અત્યન્ત વિશુદ્ધ શક્તિ પ્રાપ્ત થઈ જાય છે, એટલા માટે ફરી કોઈ  
વખત અધિભય થતો નથી કોઈ મહિમા એક વખત છિદ્ર-કાષ્ટ પાડ્યા પછી  
કાલાન્તરમાં તે છિદ્રમાં કઠાર ખૂળ બારાઈ જાય તો પણ તે એક પ્રથમ પ્રમાણે  
થતો નથી. આ પ્રકારે એકવાર સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કરી લેવાવાળા જીવ, સમ્યક્ત્વનો  
નાશ થવા છતાં પણ પછીથી તીવ્ર રાગ-દ્વેષ રૂપ પરિણામોની પ્રાપ્તિ થવા છતાંય  
પણ અશ્વિના રૂપમાં ઠરોતો ભય કરતા નથી

જેવી રીતે જન્મથી આંધળાને કોઈપણ ઉપાયથી નેત્ર મળી જતાં પદાર્થોના  
અસલી સ્વરૂપને જોઈને અત્યંત હર્ષ થાય છે, અથવા જેમ કોઈ મહાન્ રોગથી થવા  
વાળી મહાધોર વેદનાથી પીડિત પુરૂષનો રોગ નિવારણ થઈ જતાં તેને મહાન્ હર્ષ થાય  
છે એ પ્રમાણે ભવ્ય જીવને અનિવૃત્તિકરણના ભગથી, મગવાન્ વીતરાગદ્વારા કથિત

યથાવસ્થિતવસ્તુતત્ત્વાઽમિલન્યા શ્રદ્ધયાઽશ્રૂતપૂર્વો વિષયવૈરસ્યપુરસ્કૃત પ્રમોદઃ  
પ્રાદુર્ભવતિ ।

### ॥ અનિવૃત્તિકરણમ્—

તતઃ પ્રત્યિમેદોત્તરકાલમેવ તતો વિશુદ્ધતર્મ શુભાધ્યવસાયવિશેષમનિ  
વૃત્તિકરણં પ્રાપ્નોતિ, યેન તાવન્ન નિર્વર્તતે જીવ સમ્યક્ત્વ ન લભતે યાવદિત્યનિ-  
વૃત્તિકરણમ્ણ્યતે । અનિવૃત્તિકરણપલેન જીવ સમ્યગ્દર્શન લભતે । તદેવ નૈસર્ગિકી  
શ્રદ્ધોચ્યતે ।

નત્તુ પ્રાપ્ત 'મિથ્યાત્વમોહનીયકર્મોપશમાદિમ્ય શ્રદ્ધા જાયતે' પુનરુચ્યતે  
'નિસર્ગાદવિગમાદ્વા શ્રદ્ધા જાયતે' તદસગતમ્ ।

વસ્તુત્વરૂપ કે પ્રતિ રૂપિરૂપ શ્રદ્ધા સે વિષયવૈરાગ્યપૂર્વક એક દેસા જ્ઞાનન્દ ઉત્પન્ન હોતા હૈ,  
જિસ કા પહેલે કમી અનુભવ નહી હુઆ થા ।

### અનિવૃત્તિકરણ—

પ્રથિમેદ કે અન્તર કાલ મેં અત્યન્ત વિશુદ્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન હોતા હૈ । જહી  
અનિવૃત્તિકરણ કહ્લાતા હૈ । યહ પરિણામ પ્રાપ્ત હોને પર જીવ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કિયે વિના નહી  
કોટતા, હસી કારણ હસે 'અનિવૃત્તિકરણ' કહ્તે હૈ । અનિવૃત્તિકરણ કે દારા જીવ સમ્ય  
ગ્દર્શન પ્રાપ્ત કરતા હૈ । હસી કો નૈસર્ગિક શ્રદ્ધા કહ્તે હૈ ।

શ્રુક્ત—પહેલે કહા થા કિ—'મિથ્યાત્વમોહનીયકર્મ કે ઉપશમ આદિ સે શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન  
હોતી હૈ' જોર બાદ મેં કહ્તે હૈ કિ—'નિસર્ગ સે, અથવા અધિગમ સે શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન હોતી હૈ' ।  
યહ કથન પરસ્પર અસગત હૈ :

યથાશ્રીવસ્તુસ્વરૂપની રૂચિરૂપ શ્રદ્ધાથી વિષયવૈરાગ્યપૂર્વક એક એવો જ્ઞાન ઉત્પન્ન  
થાય છે કે-એનો પહેલા કોઈ વખત અનુભવ થયો નથી

### અનિવૃત્તિકરણ—

પ્રથિમેદના અન્તર (વરતના) કાળમા અત્યન્ત વિશુદ્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે  
તે 'અનિવૃત્તિકરણ' કહેવાય છે. આ પરિણામ પ્રાપ્ત થયા પછી જીવ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત  
થયો વિના પાછો નથી ફરતો તેથીજ એને અનિવૃત્તિકરણ કહે છે. અનિવૃત્તિકરણ જીવ  
દ્વારા સમ્યગ્દર્શન પ્રાપ્ત કરે છે તેનેજ નૈસર્ગિક (સ્વાભાવિક) શ્રદ્ધા કહે છે

શ્રુક્ત—પહેલાં કહ્યું હતું કે—'મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉપશમ આદિથી શ્રદ્ધા  
ઉત્પન્ન થાય છે' અને પછી કહ્યો છે કે—'નિસર્ગ અથવા અધિગમથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન  
થાય છે, એ કથન પરસ્પર અસગત છે

અત્રોચ્યતે-સ એવ ક્ષયોપશમાદિર્નિસર્ગાધિગમાદ્વા જાયતે, તથા ચ શ્રદ્ધાયા અપિ તદ્વદ્ય કારણ સિદ્ધયતીતિ ન દોષ. ।

નતુ સમ્યક્ત્વગુણરહિતેનૈવ જીવેન દ્રાઘીયસી કર્મસ્થિતિર્ગ્રન્યમેદા-  
ત્સૂર્વે યથાપ્રવૃત્તિકરણેન યથા સપિતા તથા તદવશિષ્ટમપિ કર્મગ્રન્યિ યથા-  
પ્રવૃત્તિકરણેનૈવ મિનત્તુ, તતો મોક્ષમપ્યેવમેવ પ્રાપ્નોતુ કિં પુનરર્પૂર્વકરણાલમ્બનેન ?  
અત્રોચ્યતે-મહાવિદ્યાસાધનવદેતદ્ દ્રાઘ્યમ્ । યથા મહાવિદ્યાયા સાધને પૂર્વ સ્વલ્પ એવ  
પરિશ્રમો ભવતિ, તત્સિદ્ધિમાપ્તિસમયે તુ સા વિદ્યા તદ્વિદ્યાધિષ્ઠાતૃદેવતાકૃત-

સમાધાન-મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મ કા ક્ષયોપશમ આદિ, નિસર્ગ સે અથવા  
અધિગમ સે હોતા હૈ, યેસી સ્થિતિ મેં યહ દોનો કારણ શ્રદ્ધા કે હી હૈં, અત કોઈ  
દોષ નહીં હૈ ।

સૂક્ષ્મા-જીવ ને સમ્યક્ત્વ ન હોન પર મી હૈસે ડતની બહી મારી કર્મસ્થિતિકો પ્રથિમેવ  
સે પહેલે હી યથાપ્રવૃત્તિકરણ કે દ્વારા સ્વપા ઝાલી રસી પ્રકાર શેષ સ્થિતિ મી યથાપ્રવૃત્તિકરણ  
કે દ્વારા હી સ્વપા હે ઓર મોક્ષ મી રસી પ્રકાર પ્રાપ્ત કરહે કિર અર્પૂર્વકરણ કા આશ્રય  
હેને કી કયા આવશ્યકતા હૈ ?

સમાધાન-મહાવિદ્યા કી સાધના કી તરફ હી યહોં સમક્ષના યાહિય । હૈસે  
મહાવિદ્યા કી સાધના મેં પહેલે થોડા-સા શ્રમ હોતા હૈં કિન્તુ અમ ડસ કો સિદ્ધિ કા સમય  
નજદીક આતા હૈ તો વહ વિદ્યાધિષ્ઠાત્રી દેવતાદ્વારા કિયે જાનેવાલે નાના પ્રકાર કે  
ઉપસાંગો દ્વારા વિજ્ઞયુક્ત હો જાતો હૈ ઓર પ્રાય અત્યન્ત કષ્ટસાધ્ય બન જાતી હૈ,

સમાધાન-મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ક્ષયોપશમ આદિ, નિસર્ગાદી અથવા  
અધિગમથી થાય છે, એવી સ્થિતિમાં આ બન્ને કારણો શ્રદ્ધાનાજ છે તેથી કોઈ દોષ નથી

સૂક્ષ્મા-જીવને સમ્યક્ત્વ ન હોય તો પણ જેવી રીતે એવકી મહાકારી કર્મ  
સ્થિતિને અધિગમના પહેલાજ યથાપ્રવૃત્તિકરણના દ્વારા અપાવી નાખે છે તે પ્રમાણે  
શેષ સ્થિતિ પણ યથાપ્રવૃત્તિકરણદ્વારાજ અપાવી નાખે અને મોક્ષ પણ આ પ્રમાણે  
પ્રાપ્ત કરી લીએ તો પછી અર્પૂર્વકરણનો આશ્રય લેવાની શું આવશ્યકતા છે ?

સમાધાન-મહાવિદ્યાની સાધના પ્રમાણેજ અહિં સમજી લેવું એઈએ. જેમ  
મહાવિદ્યાની સાધનામાં પહેલાં થોડો કોવો શ્રમ થાય છે, પરન્તુ અધારે તેની સિદ્ધિને  
સમય નજીક આવે છે ત્યારે તે વિદ્યાની અધિષ્ઠાત્રીદેવતાદ્વારા કરવામાં આવતા નાના  
મહાસના ઉપસાંગો દ્વારા વિજ્ઞયુક્ત થઈ જાય છે અને અર્પૂ કરીને અત્યન્ત કષ્ટસાધ્ય



યયાવસ્થિતવસ્તુતત્ત્વાઽમિરુણ્યા શ્રદ્ધયાઽશ્રૂતપૂર્વો વિષયવૈરસ્યપુરસ્કૃત પ્રમેદઃ  
માદુર્ભવતિ ।

॥ અનિવૃત્તિકરણમ્—

તતશ્ચ પ્રતિમેદોત્તરકાલમેવ તતો વિશુદ્ધતર્મ શુમાધ્યવસાયવિશેષમનિ  
વૃત્તિકરણં પ્રાપ્નોતિ, યેન તાવન્ન નિર્વર્તતે જીવ સમ્યક્ત્વ ન લભતે યાવદિત્યનિ-  
વૃત્તિકરણમુચ્યતે । અનિવૃત્તિકરણબલેન જીવ સમ્યગ્દર્શન લભતે । તદેવ નૈસર્ગિકો  
શ્રદ્ધોલ્ભયતે ।

નવુ પ્રાપ્તું 'મિધ્યાત્વમોહનીયકર્મેપશમાદિસ્યઃ શ્રદ્ધા જાયતે' પુનરુચ્યતે  
'નિસર્ગાદવિગમાદ્વા શ્રદ્ધા જાયતે' તદસંગતમ્ ।

વસ્તુસ્વરૂપ કે પ્રતિ રૂપિરૂપ શ્રદ્ધા સે વિષયવૈરાગ્યપૂર્વક એક એસા જ્ઞાનન્દ ઉત્પન્ન હોતા હૈ  
જિસ કા પહેલે કમી અનુભવ નહીં હુઆ થા ।

અનિવૃત્તિકરણ—

પ્રતિમેદ કે અનન્તર કાલ મેં અત્યન્ત વિશુદ્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન હોતા હૈ । જહીં  
અનિવૃત્તિકરણ કહ્લાતા હૈ । યહ પરિણામ પ્રાપ્ત હોને પર જીવ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કિયે બિના નહીં  
હોયતા, હસી કારણ હસે 'અનિવૃત્તિકરણ' કહ્તે હૈ । અનિવૃત્તિકરણ કે દ્વારા જીવ સમ્ય-  
ગ્દર્શન પ્રાપ્ત કરતા હૈ । ઊસી કો નૈસર્ગિક શ્રદ્ધા કહ્તે હૈ ।

સૂક્ત—પહેલે કહા થા કિ—'મિધ્યાત્વમોહનીયકર્મ કે ઉપશમ આદિ સે શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન  
હોતી હૈ' ઓર બાદ મેં કહ્તે હૈ કિ—'નિસર્ગ સે, અથવા અધિગમ સે શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન હોતી હૈ' ।  
યહ કથન પરસ્પર અસંગત હૈ ?

ધર્માર્થવસ્તુસ્વરૂપની રૂચિરૂપ શ્રદ્ધાથી વિષયવૈરાગ્યપૂર્વક જોઈ જોવો જ્ઞાન હ ઉત્પન્ન  
થાય છે કે-જેને પહેલા કોઈ વખત અનુભવ થયો નથી.

અનિવૃત્તિકરણ—

અસિદ્ધેશના અનન્તર (તરતના) કાળમા અત્યન્ત વિશુદ્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે  
તે 'અનિવૃત્તિકરણ' કહેવાય છે. આ પરિણામ પ્રાપ્ત થયા પછી જીવ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત  
થયો બિના પાછો નથી ફરતો તેથી જોને અનિવૃત્તિકરણ કહે છે. અનિવૃત્તિકરણ જીવ  
દ્વારા સમ્યગ્દર્શન પ્રાપ્ત કરે છે તેને જ નૈસર્ગિક (સ્વાભાવિક) શ્રદ્ધા કહે છે

૨ા કા—પહેલાં કહ્યું હતું કે—'મિધ્યાત્વમોહનીય કર્મ ના ઉપશમ આદિથી શ્રદ્ધા  
ઉત્પન્ન થાય છે' અને પછી કહ્યું છે કે—'નિસર્ગ અથવા અધિગમથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન  
થાય છે, જો કથન પરસ્પર અસંગત છે

સ્થિતપદાર્થનિર્ણયો જાયતે સોઽધિગમ, તસ્માદુપશમાદિદ્વારેણ તત્ત્વાર્થાભિરુચિર્જાયતે  
સા-અધિગમશ્રદ્ધા ।

શ્રદ્ધાયા શમસવેગાદય પ્રાદુર્ભવન્તિ, તતથ રાજ્યાદિવિમશ્વ પુત્રદારાદિક  
સ્વનન સર્વં પરિણામદુ સ્વપદ વિપવત્પરિત્યજ્ય સર્વસૃગ્વસારમૂત નિત્ય ધ્રુવ શાશ્વતિક  
મોક્ષમુલ્લે પ્રાપ્તુકામ પ્રવ્રજિતો મવતિ ।

સંયમથ્રેણિપ્રાપ્તિકાલે યા પ્રવૃદ્ધપરિણામધારા વર્તતે સા સર્વથા રક્ષેત્ તુ  
હ્રાસયેદિતિ માત્ર । શ્રદ્ધાયા પરમદુર્લભત્વાત્, જ્ઞાનચારિત્રકારણતયા મોક્ષસ્વાદિ-

અથવા વીતગગ દ્વારા નિરૂપિત આગમ કે અર્થ કા વિચાર કરને સે પદાર્થો કા યથાર્થ  
નિર્ણય હોતા હૈ । ડસ નિર્ણય કો અધિગમ કહતે હૈ । ડસ અધિગમ સે મિથ્યાત્વ  
મોહનીય કા ક્ષય, ઉપશમ આદિ હોને પર તત્ત્વાર્થ કો જો રુચિ હોતી હૈ, વહ અધિગમ-  
શ્રદ્ધા હૈ ।

શ્રદ્ધા સે શમ, સવેગ આદિ ઉત્પન્ન હોતે હૈ, અત્ એવ “રાજ્ય આદિ વૈભવ તથા પુત્ર,  
પત્ની આદિ સમસ્ત આત્મીયજન અન્ત મેં દુ સ્વચાયક હૈ” યેસા જ્ઞાન કર, ઓર વિપ કે સમાન  
ડન કા પરિત્યાગ કર કે સબ સુલ્લો મેં ઉત્તમ, નિત્ય, ધ્રુવ, શાશ્વતિક મોક્ષ-સુલ્લ કી ઇચ્છાવાલા  
વહ સમ્યગ્દષ્ટિ પુરુષ દીક્ષિત હો જાતા હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-સયમપ્રાપ્તિ કે સમય પરિણામો કી જો વઢી હુડ ધારા થી  
ડસ કી સબ પ્રકાર સે રક્ષા કરના યાહિય, ડસે ઘટને નહીં ડેના યાહિય । શ્રદ્ધા પરમ  
દુર્લભ હૈ, ઓર જ્ઞાન એવ ચારિત્ર કા કારણ હોને સે મોક્ષ કા આશ કારણ હૈ, અત્ એવ

વીતગગદ્વાગ નિરૂપિત આગમના અર્થને વિચાર કરવાથી પદાર્થોને યથાર્થ નિર્ણય  
થાય છે તે નિર્ણયને અધિગમ કહે છે તે અધિગમથી મિથ્યાત્વમોહનાયનો ક્ષય-ઉપશમ  
આદિ થયા પછી તત્ત્વાર્થની જે રૂચિ થાય છે, તે અધિગમશ્રદ્ધા છે

શ્રદ્ધાથી શમ, સવેગ આદિ ઉત્પન્ન થાય છે એટલા માટે “શમ્ય આદિ  
વૈભવ તથા પુત્ર, પત્ની વગેરે સમસ્ત આત્મીયજન અતમા દુ ખટાયક છે” એ પ્રમાણે  
જાણીને વિપની સમાન તેનો ત્યાગ કરીને સર્વસુખોમા ઉત્તમ, નિત્ય, ધ્રુવ, શાશ્વતિક  
મોક્ષ સુખની ઇચ્છાવાળા સમ્યગ્દષ્ટિ પુરુષ દીક્ષિત થઈ જાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે-સયમની પ્રાપ્તિના સમયે પરિણામોની જે વધતી જતી ધારા  
હતી તેનું સર્વ પ્રકારથી રક્ષણ કરવું જોઈએ. તેને ઘટવા દેવી જોઈએ નહિ શ્રદ્ધા પરમ  
દુર્લભ છે અને જ્ઞાન, જોવી શતે ચારિત્રનું કારણ હોવાથી મોક્ષનું મુખ્ય કારણ છે એટલા માટે

વિવિધોપસર્ગઃ સવિઘ્ના કષ્ટતરસાધ્યા ચ પ્રાયશો ભવતિ, તદ્વદ્ પ્રન્યમેદો મન' સોમાદિવિવિધોપસર્ગ, પરમવીર્યાવિષ્કારપૂર્વકકષ્ટતરસાધ્યત્વેન ચ સત્તિવ્રોડતિદુષ્કરમ્, તસ્માત્ કેવલ યયામવૃત્તિકરણેન પ્રન્યમેદો ન ભવિતુમર્હતિ, અતઃ એવા પૂર્વકરણમાવશ્યકમિતિ । ઇત્ય ચાપૂર્વકરણેન પ્રન્યમેદ વિધાયાડનિવૃત્તિ-કરણેન શ્રદ્ધા લભ્યતે ।

### ॥ અધિગમશ્રદ્ધા—

યેન પ્રકારેણ નિસર્ગત શ્રદ્ધા જાયતે ત્ત કથિતઃ, અધુના-અધિગમશ્રદ્ધા વ્યાખ્યાયતે-અધિ=અધિકૃત્ય તીર્થસ્કરાદ્યપદેશ નિમિત્તીકૃત્ય ગમ=જ્ઞાન યદ્ભવતિ સો'અધિગમ', ચીતરાગોપદેશશ્રવણાદ્ ચીતરાગમાણીભાગમાર્થેપર્યાલોચનાદ્વા યયાવ-

ઈસી પ્રકાર પ્રન્યમેદ મી મન ક્ષામ આદિ અનેક ઉપસર્ગો કે કારણ વિન્નયુક્ત હો જાતા હૈ ઔર પ્રન્યમેદ કે કરને મેં મહી શક્તિ કી આવશ્યકતા હોતી હૈ, અતઃ એવ અકેલે યયામવૃત્તિકરણ સે પ્રન્યમેદ નહીં હો સકતા, તસ કે લિપ્ અપૂર્વકરણ કો આવશ્યકતા હોતી હૈ । ઇસ પ્રકાર અપૂર્વકરણ-દ્વારા પ્રન્યમેદ કરને પર અનિવૃત્તિકરણ-દ્વારા શ્રદ્ધા પ્રાપ્ત કી જાતી હૈ ।

### અધિગમશ્રદ્ધા—

જિસ પ્રકાર નિસર્ગ સે શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન હોતી હૈ મહ પ્રકાર કહા જા જુકા । અથ અધિગમશ્રદ્ધા કી વ્યાખ્યા કી જાતી હૈ-તીર્થસ્કર આદિ કે ઉપદેશ કે નિમિત્ત સે હોને વાળા જ્ઞાન અધિગમ કહેજાતા હૈ । ચીતરાગ ભગવાન્ કા ઉપદેશ સુનને સે

બની જાય છે, એ પ્રમાણે અધિશેઠ પદ્મ મન ક્ષોભ આદિ અનેક ઉપસર્ગોના કારણે વિન્નયુક્ત થઈ જાય છે, અને તે અન્યિશેઠના કરવામાં ભારે શક્તિની આવશ્યકતા હોય છે, એટલા માટે એકલા યયામવૃત્તિકરણથી અધિશેઠ થતો નથી, તેને માટે અપૂર્વકરણની આવશ્યકતા રહે છે, એ પ્રમાણે અપૂર્વકરણ-દ્વારા અધિશેઠ કરવાથી અનિવૃત્તિકરણ-દ્વારા શ્રદ્ધા પ્રાપ્ત કરવામાં આવે છે

### અધિગમશ્રદ્ધા—

જે પ્રમાણે નિસર્ગથી શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થાય છે તે પ્રકાર કહેવામાં આવી ગયો છે હવે અધિગમશ્રદ્ધાની વ્યાખ્યા કરવામાં આવે છે-તીર્થસ્કર આદિના ઉપદેશના નિમિત્તથી થવાવાળું જ્ઞાન તે અધિગમ કહેવાય છે ચીતરાગ ભગવાનના ઉપદેશ સાંભળવ

## ॥ ટીકા ॥

વીરા = પરીપદોપસર્ગકપાયાદિરૂપશ્ચત્રવિજયિનો માવવીરા\* સયમાનુષ્ઠાને કીર્ય  
વન્તઃ સર્વોત્કૃષ્ટા इति यावत्,

મહતી ચાસૌ વીરિ મહાવીરિ' = સમ્યગ્જ્ઞાનાદિલક્ષણો મહામાર્ગ', મહા-  
પુરુષસેવિતત્વાત્, તાં મહાવીરિયમ્ પ્રણતાઃ = પ્રાપ્તા\* કઠિનતરતપ સયમારાધનેન  
પ્રાપ્તવન્ત इत्यर्थ, અયમેવ માર્ગો મોક્ષાવાપ્તિકરોઽશ્વેષસયમિસેવિતત્વાત્ ।  
તીર્યક્રાદિમહાપુરુષા અપિ માર્ગમિમમનુશીલિતવન્ત इति વિશ્વસનીયતયા શિષ્યાણાં  
શ્રદ્ધાપૂર્વકમશ્વત્તિર્યયા સ્પાદિતિ માવ\* ।

યથા રાજાનો વિપક્ષપક્ષદલનાદ વીરત્વેન પ્રસિદ્ધા ભવન્તિ, એવમેવ

ટીકાર્થ—પરીપદ, ઉપસર્ગ, કપાય આદિરૂપ શત્રુઓ કો જીતનેવાળે, સયમ કે  
આચરણ મેં પરાક્રમ કરનેવાળે સર્વોત્કૃષ્ટ માવવીર યહૌ 'વીર' શબ્દ સે પ્રહણ કિયે ગયે હૈં ।

સમ્યગ્જ્ઞાન આદિ મોક્ષ કા મહામાર્ગ 'મહાવીરિ' કહણતા હૈ, ક્યોં કિ મહાપુરુષોને  
તસ કા સેવન કિયા હૈ । માવવીર ઇસ મહામાર્ગ કો પ્રાપ્ત હુએ હૈં । અત્યન્ત કઠોર તપ  
ઔર સયમ કા આરાધન કરના હી ઇસ માર્ગ કો પ્રાપ્ત કરના હૈ । યહી માર્ગ મોક્ષ કી પ્રાપ્તિ  
કરને વાળા હૈ, ક્યોં કિ સમસ્ત મુનિયાનિ ઇસી કા સેવન કિયા હૈ । તીર્યક્ર આદિ મહાપુરુષોને  
મી ઇસી માર્ગ કા આશ્રય લિયા હૈ, અત એવ વિશ્વસનીય સમક્ષ કર શિષ્યગણ કી મી ઇસી  
મેં પ્રવૃત્તિ હોની ચાહિએ ।

'વીર' પદ સે યહ પ્રકટ કિયા ગયા હૈ કિ—જૈસે રાજા ઓગ અપને શત્રુઓ કા

ટીકાર્થ—પરીપદ, ઉપસર્ગ, કપાય વગેરે શત્રુઓને હિતવાવાળા, સયમના  
આચરણમાં પરાક્રમ કરવાવાળા સર્વોત્કૃષ્ટ માવવીર આદિ 'વીર' શબ્દ વડે શ્રદ્ધા  
કરવામાં આવ્યા છે

સમ્યગ્જ્ઞાન આદિ મોક્ષનો માર્ગ તે "મહાવીરિ" કહેવાય છે, કારણ કે મહા  
પુરુષોએ તેનું સેવન કર્યું છે માવવીર આ મહામાર્ગને પ્રાપ્ત થયા છે અત્યન્ત કઠોર  
તપ અને સયમનું આરાધન કરવું એ જ આ માર્ગને પ્રાપ્ત કરવો તે છે આ માર્ગને  
મોક્ષની પ્રાપ્તિ કરાવવાવાળો છે, કારણ કે સમસ્ત મુનિઓએ એ માર્ગને સેવન કર્યું  
છે તીર્યક્ર આદિ મહાપુરુષોએ પણ આ માર્ગના આશ્રય લીધો છે, એટલા માટે આ  
માર્ગને વિશ્વાસપાત્ર સમક્ષને શિષ્યગણની પણ આ માર્ગમાં પ્રવૃત્તિ થવી જોઈએ

'વીર' પદથી એ પ્રકટ કરવામાં આવ્યું છે કે—એમ સજા લોક પોતાના શત્રુઓને  
મ આ-૬૬

કારણત્વાદ્ય ધદ્ધાં ન પરિત્યજેત્ । યથા-કથજિત્માત્રસ્યાપિ સયમસ્ય શ્રદ્ધાપૂર્વકરક્ષણે  
યાવજ્જીવં સાવધાનો ભવેદિતિ સૂત્રાણયઃ ॥ સૂ. ૨ ॥

શિષ્યશ્રદ્ધાદ્વકરણાય 'પરિશીલિતમાર્ગોઽનુગમ્યતે' इति લોકરીત્યા 'પૂર્વ-  
મહાપુરુષાચરિતોઽયં માર્ગ' इत्याશ્રયેન કથયતિ—

યદ્વા 'પૂર્વમહાપુરુષવીર્યહૂર-ગણધરાદિભિરપ્યાચરિતોઽય માર્ગઃ' इति  
પ્રદર્શનાય શિષ્યચેતસિ શ્રદ્ધાતિરેકો યથા સ્યાત્તથા સૂત્રકારઃ સ્વયમાહ—'પળયા'  
इत्याદિ ।

॥ મૂલમ્ ॥

પળયા ધીરા મહાવીરિ ॥ સૂ. ૩ ॥

॥ છાયા ॥

પ્રણતા ધીરા મહાવીરિયમ્ ॥ સૂ. ૩ ॥

શ્રદ્ધા કા ત્યાગ નહીં કરના વાદ્ધિપ, આશય યહ છે કિ—ઘડી કઠિનાઈ સે પ્રાપ્ત હોને માટે  
સયમ કી શ્રદ્ધાપૂર્વક રક્ષા કરને મેં જીવનમર સાવધાન રહના વાદ્ધિપ ॥ સૂ. ૨ ॥

'ઘટે મારગ પર નજા જાતા હૈ' इस लोकव्यवहार के अनुसार शिष्य की  
श्रद्धा मजबूत करनेके लिए 'यह मार्ग पूर्वकालीन महापुरुषों द्वारा आचरित है'  
इस आशयसे कहते हैं—

અથવા—'પૂર્વકાલ કે તિર્યકૂર ગણધર આદિને મી રસી માર્ગ કા અવલમ્બન  
કિયા હૈ' यह बताते हुए शिष्य के चित्त की श्रद्धा बढ़ाने के लिए कहते हैं—  
'पणया' इत्यादि ।

મૂલાર્થ—ધીર પુરુષ મહામાર્ગ કો પ્રાપ્ત હુપ ॥ સૂ. ૩ ॥

શ્રદ્ધાને ત્યાગ કરવા ભેદીએ નહિ; આશય છે છે કે—મહાન કઠિનાઈથી પ્રાપ્ત  
અવાવાળા સયમની શ્રદ્ધાપૂર્વક રક્ષા કરવામાં જીવનના છેલ્લા રક્ષણ સુધી સાવધાન  
રહેવું ભેદીએ (સૂ. ૨)

"આલતા માર્ગ પર ચલાવાય છે" આ લોકવ્યવહાર પ્રમાણે શિષ્યની શ્રદ્ધા  
મજબૂત કરવા માટે—'આ માર્ગ' પૂર્વકાલીન મહાપુરુષોએ આચરણ કરેલ છે " આ  
આશયથી કહે છે—

અથવા પૂર્વ કાલના વીરો કર જલ્પર વ્યાદિ સૌએ આ માર્ગનું અવલમ્બન  
(આશય) કયું છે બતાવવા માટે શિષ્યના ચિત્તની શ્રદ્ધાને વધારવા માટે કહે છે—  
'પળયા' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ધીર પુરુષ મહામાર્ગને પ્રાપ્ત થયા—(ધીર પુરુષ મહામાર્ગને  
પ્રાપ્ત થયો) (સૂ. ૩)

## ॥ ટીકા ॥

વીરા'—પરીપદોપસર્ગકપાયાદિરૂપશ્ચુવિજયિનો ભાવવીરા' સયમાનુષ્ટાને કીર્ય  
વન્ત' સર્વોત્કૃષ્ટા ઇતિ યાવત્,

મહતી ચામૌ ધીથિ મહાવીરિયિઃ=સમ્યગ્જ્ઞાનાદિલક્ષણો મહામાર્ગઃ, મહા  
પુરુષસેવિતત્વાત્, તાં મહાવીરિયિમ્ પ્રણતા=પાત્તા ષઠિનતરતપ સયમારાધનેન  
પ્રાપ્તવન્ત ઇત્યર્થ, અપમેવ માર્ગો મોક્ષાવાપ્તિકરોઽશ્વેપસયમિસેવિતત્વાત્ ।  
તીર્યક્કરાદિમહાપુરુષા અપિ માર્ગમિમમનુશીલિતવન્ત ઇતિ વિશ્વસનીયતયા શિષ્યાણાં  
શ્રદ્ધાપૂર્વકમપ્રવૃત્તિર્યયા સ્યાદિતિ ભાવ' ।

યથા રાજાનો વિપક્ષપક્ષદલનાદ વીરત્વેન પ્રસિદ્ધા મવન્તિ, એવમેવ

ટીકાર્થ—પરીપદ, ઉપસર્ગ, કપાય આદિરૂપ શત્રુઓ કો જીતનેવાળે, સયમ કે  
આચરણ મેં પરાક્રમ કરનેવાળે સર્વોત્કૃષ્ટ ભાવવીર યહાં 'વીર' શબ્દ સે પ્રહણ કિયે ગયે હૈં ।

સમ્યગ્જ્ઞાન આદિ મોક્ષ કા મહામાર્ગ 'મહાવીરિયિ' કહલાતા હૈ, ન્યોં કિ મહાપુરુષોને  
ઉસ કા સેવન કિયા હૈ । માયવીર ઇસ મહામાર્ગ કો પ્રાપ્ત હુપ હૈં । અત્યન્ત કઠોર તપ  
ઔર સયમ કા આરાધન કરના હી ઇસ માર્ગ કો પ્રાપ્ત કરના હૈ । યહી માર્ગ મોક્ષ કી પ્રાપ્તિ  
કરને ઘાણા હૈ, ન્યોં કિ સમસ્ત મુનિયનિ ઇસી કા સેવન કિયા હૈ । તીર્યકર આદિ મહાપુરુષોને  
મી ઇસી માર્ગ કા આશ્રય લિયા હૈ, અત એવ વિશ્વસનીય સમક્ષ કર શિષ્યગણ કી મી ઇસી  
મેં પ્રવૃત્તિ હોની ચાહિય ।

'વીર' પદ સે યહ પ્રકટ કિયા ગયા હૈ કિ—જૈસે રાજા હોગ અપને શત્રુઓ કા

ટીકાર્થ—પરીપદ, ઉપસર્ગ, કપાય વગેરે શત્રુઓને હાલવાવાળા, સયમના  
આચરણમાં પરાક્રમ કરવાવાળા સર્વોત્કૃષ્ટ ભાવવીર આદિ 'વીર' શબ્દ વડે શ્રદ્ધા  
કરવામાં આવ્યા છે

સમ્યગ્જ્ઞાન આદિ મોક્ષનો માર્ગ તે "મહાવીરિયિ" કહેવાય છે, કારણ કે મહા  
પુરુષોએ તેનું સેવન કર્યું છે ભાવવીર આ મહામાર્ગને પ્રાપ્ત થયા છે અત્યન્ત કઠોર  
તપ અને સયમનું આરાધન કરવું એ જ આ માર્ગને પ્રાપ્ત કરવો તે ॥ આ માર્ગને  
મોક્ષની પ્રાપ્તિ કરાવવાવાળો છે, કારણ કે સમસ્ત મુનિઓએ એ માર્ગનો સેવન કર્યું  
છે તીર્થંકર આદિ મહાપુરુષોએ પણ આ માર્ગનો આશ્રય લીધો છે, કોટલા માટે આ  
માર્ગને વિશ્વાસપાત્ર સમજીને શિષ્યગણની પણ આ માર્ગમાં પ્રવૃત્તિ થવી જોઈએ

'વીર' પદથી એ પ્રગટ કરવામાં આવ્યું છે કે—જેમ રાજા લોક પોતાના શત્રુઓને  
મ આ-૬૩

इच्छन्ति, जीविज न मरिज्जिज' इति वचनात् । तमपकायलोकं समनुपालयेदिति सम्बन्धः । समयी सर्वप्राणिगणपरिपालक एव सन् नान्यस्मै भयमुत्पादयति, 'मिची मे सन्धभूएस्सु' इति वचनेन तस्य सर्वैः सह मैत्रीसद्भावात्, अतोऽसौ समयी न तेभ्यो भयं जनयति, कस्यैचिदपि भय केनापि नोत्पादयति, प्रत्युत सर्वप्राणिगणं परिरक्षतीति भावः ।

यद्यपि छत्रस्थैः प्राणिभिः सर्वद्रव्यपर्यायज्ञानामावाद्युद्दिस्कारराहित्येनाष्ठा यजीवस्थाव्यक्तचेतनया च 'आपो जीवाः सन्ती'—स्थपरोक्षत्वेन कदाचिदपि ज्ञातुं न शक्यते, तथापि सकलतीर्थोद्धारधुरीण—तीर्थङ्कर—वचनप्रामाण्यादवश्य

भागमें कहा है—'सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं मरना नहीं चाहते ।' उस अपकायलोक का पालन करे अर्थात् रक्षण करे । समयी पुरुष समस्त प्राणियों का रक्षक होता है । वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न नहीं करता । " मेरा सब प्राणियों पर मैत्रीभाव है " इस वचन के अनुसार उस की प्राणिमात्र पर मित्रता की भावना होती है । इस कारण समयी उन्हें भय उत्पन्न नहीं करता, किसी को भी किसी द्वारा भय उत्पन्न नहीं कराता, बल्कि वह सब प्राणियों की रक्षा करता है ।

यद्यपि छत्रस्थ जीवों को समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होता इस कारण, तथा बुद्धि, सत्कार से रहित होने के कारण अपकाय के जीवों में अव्यक्त चेतना होने से, तथा 'बहु जीव है' यह बात प्रत्यक्ष न होने से कभी इन्द्रियों द्वारा जानी नहीं जा सकती, फिर भी सम्पूर्ण तीर्थ का उद्धार करने में समर्थ तीर्थङ्कर के वचनों को प्रमाण

આમમમા પણ કહ્યું છે કે—“સવ જીવ જીવતા રહેવાની ઇચ્છા કરે છે, મરવાની ઇચ્છા કરતા નથી.” તે આપ્તાયદોહનું પાલન કરે અર્થાત રક્ષા કરે —સમયી પુરુષ સમસ્ત પ્રાણીઓના રક્ષક થાય છે તે કોઈ પણ પ્રાણીને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી. ‘સર્વ’ પ્રાણીઓ પર માથે મૈત્રીભાવ છે’ આ વચન પ્રમાણે તેની સર્વ પ્રાણીમાત્ર પર મિત્રતાની ભાવના હોય છે, તે કારણથી સયમી તે જીવોને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી, કોઈને પણ કોઈથી ભય ઉત્પન્ન કરાવતા નથી, પરંતુ તે સર્વ પ્રાણીઓની રક્ષા કરે છે

એ કે છત્રસ્થ જીવોને સમસ્ત દ્રવ્યો અને પદાર્થોનું જ્ઞાન નથી; તે કારણથી તથા બુદ્ધિ, સત્કારથી રહિત હોવાથી આપ્તાયના જીવોમાં અવ્યક્ત ચેતના હોવાથી, તથા ‘જીવ જીવ છે’ એ વાત પ્રત્યક્ષ નહિ હોવાથી ઇન્દ્રિયોદ્વાર કોઈ વખત અણુવામાં આવતી નથી તે પણ સંપૂર્ણ તીર્થનો ઉદ્ધાર કરવામાં સમય તીર્થકરના વચનોને પ્રમાણ

વિશ્વાસો વિધેય' । અવધ્યાદિપ્રત્યક્ષજ્ઞાનિનોડપિ પૂર્વ મગવદાજ્ઞાયાં શ્રદ્ધાવન્ત સન્ત  
 પ્વાડપ્કાયજીવાન્ વિજ્ઞાય પ્રત્યક્ષજ્ઞાનિન' સંજાતા', અત' સયમિમિરવશ્યમપ્કાયાદિ-  
 જીવરક્ષાયાં સાવધાનૈર્ભવિતગ્પમિતિ પરમાર્થ. ॥ સૂ૦ ૪ ॥

અપ્કાયલોકં મગવદાજ્ઞયા વિજ્ઞાય સયમિના યત્ કર્તવ્ય, તત્ કયયતિ- 'સે  
 વેમિ' ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સે વેમિ-એવ સય લોગ અન્માઈવિસ્વજ્ઞા, એવ અત્તાણં અન્માઈવિસ્વજ્ઞા,  
 જે લોય અન્માઈસ્વહ્ સે અત્તાણ અન્માઈસ્વહ્, જે અત્તાણં અન્માઈસ્વહ્, સે લોય  
 અન્માઈસ્વહ્ ॥ સૂ૦ ૫ ॥

છાયા—

સ ઘ્રવીમિ નૈવ સ્વયં લોકમમ્યાહ્યાત્, નૈવાત્માનનમમ્યાહ્યાત્, યો લોક  
 મમ્યાહ્યાતિ, સ આત્માનમમ્યાહ્યાતિ, ય આત્માનમમ્યાહ્યાતિ, સ લોકમમ્યા-  
 હ્યાતિ ॥ સૂ૦ ૫ ॥

માનકર અવશ્ય વિશ્વાસ કરના યાદિહિ । અવધિજ્ઞાની આદિ પ્રત્યક્ષજ્ઞાની મી પહેલે મગવાન્  
 કી આજ્ઞા પર શ્રદ્ધા રક્ષતે હુપ અપ્કાય કે બીજો કો જ્ઞાન કર પ્રત્યક્ષજ્ઞાની હુપ, અત સયમી  
 બનો કો અપ્કાય આદિ કે બીજો કી રક્ષા મેં સાવધાન હોના યાદિહિ ॥ સૂ. ૪ ॥

મગવાન્ કી આજ્ઞા સે અપ્કાયલોક કો જ્ઞાન કર સયમી કો જો કરના યાદિયે વહ  
 પ્રગટ કરતે હૈ— 'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—વહ મેં કહતા હૈ—સ્વય અપ્કાયલોક કા અપલ્લાપ ન કરે,  
 આત્મા કા અપલ્લાપ ન કરે, જો લોક કા અપલ્લાપ કરતા હૈ વહ આત્મા કા અપલ્લાપ કરતા હૈ,  
 જો જો આત્મા કા અપલ્લાપ કરતા હૈ વહ લોક કા અપલ્લાપ કરતા હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

માનીને અવશ્ય વિશ્વાસ કરવો જોઈએ. અવધિ જ્ઞાતિ પ્રત્યક્ષ જ્ઞાની પણ પ્રથમ મગવાનની  
 આજ્ઞા પર શ્રદ્ધા સંપાદિને અપ્કાયના જીવોને બાંધી કરીને પ્રત્યક્ષજ્ઞાની થયા, જો માટે  
 સયમી પુરુષોએ અપ્કાય આદિના જીવોની રક્ષામા સાવધાન રહેવું જોઈએ (સૂ. ૪)

મગવાનની આજ્ઞાથી અપ્કાયલોકને બાંધીને સયમીનું જે કર્તવ્ય છે તે પ્રગટ  
 કરે છે— 'સે વેમિ' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે હું કહું છું—પોતે અપ્કાય લોકને અપલ્લાપ- (કોવા છતાં નથી  
 રહેવું તે) ન કરે. આત્માને અપલ્લાપ કરે નહિ જે લોકને અપલ્લાપ કરે છે તે આત્માને  
 અપલ્લાપ કરે છે અને જે આત્માને અપલ્લાપ કરે છે તે લોકને અપલ્લાપ કરે છે (સૂ. ૫)



इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ' इति वचनात् । तमपक्कायलोकं समनुपात्तयेदिति सम्बन्धः । सयमी सर्वप्राणिगणपरिपालक एव सन् नान्यस्मै भयमुत्पादयति, 'मिची मे सव्वभूएसु' इति वचनेन तस्य सर्वं सह मैत्रीसद्भावात्, अतोऽसौ सयमी न तेभ्यो भयं जनयति, कस्मैचिदपि भयं केनापि नोत्पादयति, प्रत्युत सर्वप्राणिगणं परिरक्षतीति भावः ।

यद्यपि छत्रस्थैः प्राणिभिः सर्वद्रव्यपर्यायज्ञानाभावाद्बुद्धिसंस्कारराहित्येनाप्याजीवस्याव्यक्तचेतनया च 'आपो जीवाः सन्ती'—त्यपरोक्षत्वेन कदाचिदपि ज्ञातुं न शक्यते, तथापि सकलतीर्थोद्धारधुरीण—तीर्थङ्कर—वचनप्रामाण्यादवश्य

आगम में कहा है—'समी जीव जीवित रहना चाहते हैं मरना नहीं चाहते ।' उस अपक्कायलोक का पालन करे अर्थात् रक्षण करे । सममी पुरुष समस्त प्राणियों का रक्षक होता है । वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न नहीं करता । " मेरा सब प्राणियों पर मैत्रीभाव है " इस वचन के अनुसार उस की प्राणीमात्र पर मित्रता की भावना होती है । इस कारण सममी उन्हें भय उत्पन्न नहीं करता, किसी को भी किसी द्वारा भय उत्पन्न नहीं करता, बल्कि वह सब प्राणियों की रक्षा करता है ।

यद्यपि छत्रस्थ जीवों को समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होता इस कारण, तथा बुद्धि, संस्कार से रहित होने के कारण अपक्काय के जीवों में अव्यक्त चेतना होने से, तथा 'एक जीव है' यह बात प्रत्यक्ष न होने से कभी इन्द्रियों द्वारा जानी नहीं जा सकती, फिर भी सम्पूर्ण तीर्थ का उद्धार करने में समर्थ तीर्थङ्कर के वचनों को प्रमाण

આગમમાં પણ કહ્યું છે કે—“સવ લવ લવતા રહેવાની ઇચ્છા કરે છે, મરવાની ઇચ્છા કરતા નથી.” તે અપ્કાયલોકનું પાલન કરે અર્થાત્ રક્ષા કરે સયમી પુરુષ સમસ્ત પ્રાણીઓના રક્ષક થાય છે તે કોઈ પણ પ્રાણીને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી. ‘સર્વ પ્રાણીઓ પર મારો મૈત્રીભાવ છે’ આ વચન પ્રમાણે તેની સર્વ પ્રાણીમાત્ર પર મિત્રતાની ભાવના હોય છે, તે કારણથી સયમી તે લવોને ભય ઉત્પન્ન કરતા નથી, કોઈને પણ કોઈથી ભય ઉત્પન્ન કરાવતા નથી, પરંતુ તે સર્વ પ્રાણીઓની રક્ષા કરે છે

જો કે છત્રસ્થ લવોને સમસ્ત દ્રવ્યો અને પદાર્થોનું જ્ઞાન નથી, તે કારણથી તથા બુદ્ધિ, સંસ્કારથી રહિત હોવાથી અપ્કાયના લવોમાં અવ્યક્ત ચેતના હોવાથી, તથા ‘એક લવ છે’ એ વાત પ્રત્યક્ષ નહિ હોવાથી ઇન્દ્રિયોદ્ધાર કોઈ વખત અણુવામાં આવતી નથી તો પણ સર્વ તીર્થોનો ઉદ્ધાર કરવામાં સમય તીર્થ કરના વચનોને પ્રમાણ

અનુમાનાગમાભ્યા જીરલક્ષણયલાપસમ્ય ધાધાપાં જીયત્વનિરૂપણાત્ ।

યત્પ્રકાયલોકસ્યાભ્યાખ્યાન કુર્યાત્, તર્ધાત્મનોડપિ શરીરાધિષ્ટાતુરમ્યાખ્યાન તેન કર્તવ્ય સ્યાત્, ન ચ તત્ સમવતીત્યતઆદ-નૈવમાત્માનમમ્યાખ્યાદિતિ । આત્મા ઠિ શરીરાધિષ્ટાતા પ્રત્યક્ષભૂતશ્રંતનાવાનિતિ નાપદ્ધોતુ શ્રવ્ય, તરમાદાત્મા નાસ્તી-ત્યેવમાત્માન નાપલપેદિત્યર્થઃ ।

ય\* સ્વલુ મન્દધી\* લોકમ્=અપ્કાયલોકમ્ અમ્યાપ્યાતિ=અપલપતિ, સ પ્રત્યક્ષાદિપ્રમાણૈર્નિરૂપિતમાત્માનમમ્યાખ્યાતિ । યશ્ચાત્માનમમ્યાખ્યાતિ-‘આત્મા નાસ્તી’તિ યદ્વા-‘અહ નારમી’તિ, સ મહામૂઢઃ લોકમ્=અપ્કાયલોક

સમાધાન-એસા મત કહો । અનુમાન ઔર આગમપ્રમાણ સે તથા જીવ કે લક્ષણો કે સંવધ સે જલ કો જીવ નિરૂપણ કિયા ગયા હૈ ।

યદિ અપ્કાય લોક કા અમ્યાખ્યાન કિયા જાય તો શરીર કે અધિષ્ટાતા આત્મા કા મી અમ્યાખ્યાન કરના હોના મગર વહ સમવ નહીં હૈ, યહી વાત કહતે હૈ-આત્મા કા અમ્યાખ્યાન ન કરે । આત્મા શરીર કા અધિષ્ટાતા હૈ ઔર પ્રત્યક્ષ ચેતના વાલા હૈ, અત્ત ઉસ કા અપલાપ નહીં કિયા જા સફતા । અત્ત ઇવ ‘આત્મા નહીં હૈ’ ઇસ પ્રકાર આત્મા કા અપલાપ ન કરે ।

જો મન્દબુદ્ધિ અપ્કાયલોક કા નિપેધ કરતા હૈ વહ પ્રત્યક્ષ જાદિ પ્રમાણો સે સિદ્ધ આત્મા કા અપલાપ કરતા હૈ । ઔર જો ‘આત્મા નહીં હૈ, અથવા ‘મેં નહીં હૈ’ ઇસ તરહ આત્મા કા અપલાપ કરતા હૈ વહ મહામૂઢ મનુષ્ય અપને અજ્ઞાન કે વલ સે

સમાધાન-આ પ્રમાણે કહેા નહિ, અનુમાન અને આગમ પ્રમાણથી તથા જીવના લક્ષણોના સંબધથી જીવનું જીવપણું નિરૂપણ કર્યું છે એ અપ્કાય-લોકનું અભ્યાખ્યાન કરવામાં આવે તો શરીરના અધિષ્ટાતા આત્માનું પણ અભ્યાખ્યાન કરવું પડશે પરંતુ તે સમવ નથી એ વાત કહે છે—

આત્માનું અભ્યાખ્યાન કરશે નહિ આત્મા શરીરના અધિષ્ટાતા છે, અને પ્રત્યક્ષ ચેતનાવાળા છે તેથી તેને અપલાપ કરી શકાશે નહિ. જોટલા માટે ‘આત્મા નથી’ એ પ્રમાણે અપલાપ કરશે નહિ

જે મહ બુદ્ધિવાળા અપ્કાયલોકનો નિપેધ કરે છે, તે પ્રત્યક્ષ આદિ-પ્રમાણોથી સિદ્ધ-આત્માનો અપલાપ કરે છે, અને જે “આત્મા નથી” અથવા “હું નથી” એ પ્રમાણે આત્માને અપલાપ કરે છે તે મહામૂઢ મનુષ્ય પોતાના અજ્ઞાનના બળથી

## ટીકા—

સોઝ્હ=મગવદ્વચનેન જ્ઞાતાપ્કાયસ્વરૂપ, યદીમિ=યથા મગવત. સકાશાન્મયા શ્રુત તથા કથયામીત્યર્થ । લોકમ્=અપ્કાયલોક, નૈવ સ્વયમ્ અમ્યાખ્યાત્=‘આપો જીવા ન સન્તી’-ત્યેવ નાપલપેદિત્યર્થ । અમ્યાખ્યાન નામાસદમિયોગ, યથા કથિદચૌરમુદિશ્ય વદતિ-ચોરોડ્યમિતિ । અત્ર તુ-‘ઘૃતસૈલાદિવજ્જીવાનામુપકરણમાત્ર જલં, ન તુ તદ્ જીવો મવિતુમર્હતિ, જીવોપકરણત્વાત્’ એતત્કથનમેવાસદમિયોગ, યતો હિ દુરગાદીનાં જીવાનામપિ જીવોપકરણત્વેન દૃષ્ટસ્વાદુક્તરીત્યા બલસ્ય જીવ સ્વ નાપલપિતુ શક્યતે ।

નન્વજીવાનામપિ જીવત્વારોપણમેવામ્યાખ્યાનં કુતો ન મવતિ ? મૈવમ્,

ટીકાર્થ—મગવાનું કે વચનોં કે અનુસાર અપ્કાય કા સ્વરૂપ જાનને વાલા મૈં કહતા હૈં, અર્થાત્ મૈંને મગવાનું કે સમોપ જૈસા આના હૈ વૈસા હી કહતા હૈં—સ્વયં અપ્કાયરૂપ લોક કા અપલાપ ન કરે અર્થાત્ પેસા ન કહે કિ—‘બલ જીવ નહીં હૈ’ ।

અસત્ આરોપ કો અમ્યાખ્યાન કહતે હૈં, જૈસે અચોર કો ચોર કહના । મહોં “ બી તેલ આદિ કે સમાન જલ, જીવોં કા ઉપકરણમાત્ર હી હો સકતા હૈ, વહ સ્વયં જીવ નહીં હૈ, ક્યોંકિ જીવ કા ઉપકરણ હૈ” । હસ પ્રકાર કા કથન હી અસત્—અભિયોગ હૈ । ક્યોં કિં ઘોઠા વગેરેહ જીવ ધી જીવોપકરણ કે રૂપ મૈં દેસે આતે હૈં અત જલ કે જીવપન કા અપલવ નહીં ક્રિયા આ સકતા ।

છક્રા—અજીવ જલ મૈં જીવત્વ કા આરોપ કરના હી અમ્યાખ્યાન ક્યોં ન સમજા જાય ?

ટીકાર્થ—મગવાનના વચનો પ્રમાણે અપ્કાયનું સ્વરૂપ બાણવાવાજો હું કહું છું, અર્થાત્ મેં મગવાનની પાસેથી જેવું સાંભળ્યું છે તેવું જ કહું છું—પોતે અપ્કાય રૂપ હોઈને અપલાપ કરે નહિ અર્થાત્ એવું કહે નહિ કે:—‘જલ જીવ નથી.’ અસત્ આરોપને અમ્યાખ્યાન કહે છે, જેમકે અચોરને ચોર કહેવો. આદિ ‘ ધી તેલ આદિ પ્રમાણે જલ એ જીવોનું ઉપકરણમાત્રજ હોઈ શકે છે, તે સ્વયં જીવ નથી, કારણ કે—” તે જીવનું ઉપકરણ છે, આ પ્રકારનું કહેવુંજ—અસત્ (મિથ્યા) અભિયોગ છે, કારણકે ઘોઠ વગેરે જીવ પણ જીવોપકરણના રૂપમાં જોવામાં આવે છે તેથી જીવનું જીવપણું અપલાપ કરી શકાય નહિ.

શ કા—અજીવ પાણીમાં જીવપણાને આરોપ કરવો તેજ અમ્યાખ્યાન શા માટે નહિ સમજાય ?

વિરુદ્ધરૂપેઈ સત્યેઈ ઉદયકર્મસમારમ્મેણ ઉદયસત્ય સમારમમાણા અણ્ણે અણેગરૂપે  
પાણે વિહિસતિ ॥ સૂ૦ ૬ ॥

છાયા—

લજ્જમાના\* પૃથક્ પથ્ય, અનગારાઃ સ્મૃતિ એકે પ્રવદમાનાઃ યદિમ ચિરૂપ-  
રૂપે. શ્લૈઃ ઉદયકર્મસમારમ્મેણ, ઉદયકશ્ચ સમારમમાણા અન્યાન્ અનેકરૂપામ્ પ્રાણાન્  
વિહિસન્તિ ॥ સૂ૦ ૬ ॥

ટીકા—

એકે=અન્યે લજ્જમાનાઃ=અપ્કાયસ્યારમ્મે પરમકરુણયા દ્રવિતહૃદયતયા  
સંકોચમાપદમાના, પૃથક્=વિભિન્ના, કેચિત્તુ પ્રત્યક્ષજ્ઞાનિનોઽવધિમનઃપર્યયકેવ-  
લિનઃ, કેચિત્તુ પરોક્ષજ્ઞાનિનો માધિતાત્માનોઽનગારા સન્તિ, ઇતિ પથ્ય । ઇમે  
સૂક્ષ્મવાદરાપ્કાયારમ્મકરણે મીતાશ્ચસ્તા ઉદિગ્નાસ્ત્રિકરણત્રિયોતૈરપ્કાયારમ્મપરિ-  
ત્યાગિનો વિધન્તે તાનવલોકયેસ્પર્યઃ ।

અપ્કાય કા આરમ્મ કરતે હૈં વે અપ્કાય કે શક્તો કા આરમ કરને વાલે અનેક પ્રાણિયો કે  
પ્રાણો કા હનન કરતે હૈં ॥ સૂ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—તીવ્રકરુણા સે દ્રવિત હૃદયવાલે કોઈ-કોઈ (અનગાર) અપ્કાય કે આરમ  
મેં સંકોચ કરતે હૈં-અપ્કાય કા આરમ નહીં કરતે વે વિભિન્ન હૈં-કોઈ અવધિજ્ઞાની કોઈ  
મન પર્યયજ્ઞાની ઔર કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની માધિતાત્મા અનગાર હૈં, ઉન્હેં દેસ્તો । યે સૂક્ષ્મ વાદર  
અપ્કાય કા આરમ કરને મેં મીત હૈં, પ્રત્ત હૈં, ઉદિગ્ન હૈં, ઔર ત્રીન કારણ ત્રીન યોગ સે  
અપ્કાય કે આરમ કે ત્યાગી હૈં, ઉન્હેં દેસ્તો ।

અપ્કાયનો આરભ કરે છે; તે અપ્કાયના શક્તોનો આરભ કરવાવાળા અનેક પ્રાણી  
ઓના પ્રાણોનો નાશ કરે છે (સૂ. ૫)

ટીકાર્થ—ત્રીન કશ્ચુથી દ્રવિત હૃદયવાળા કોઈ-કોઈ અણુગાર આરભમાં  
સંકોચ કરે છે—અપ્કાયનો આરભ કરતા નથી તે જુદા છે કોઈ અવધિજ્ઞાની, કોઈ  
મનઃપર્યયજ્ઞાની અને કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની માધિતાત્મા અણુગાર છે, તેને જુઓ—તે  
સૂક્ષ્મ અને વાદર અપ્કાયનો આરભ કરવામાં ભય પામેલા છે, ત્રસિત છે, ઉદિગ્ન  
છે, અને ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી અપ્કાયના આરભના ત્યાગી છે તેને જુઓ

સ્વાધ્યાનવલાદભ્યાસ્યાતિ । કરચરણમુલાધવપનસદિતશરીરાધિષ્ઠાતા સુવ્યક્તોપયોગા-  
દિલક્ષણ' સ્વાત્માઽપિ યેનાભ્યાસ્યાતસ્તસ્યાવ્યક્તોપયોગાદિલક્ષણસ્યાપ્કાયસ્યામ્બા  
રૂપાનં કિં નુ નામ દુષ્કરમ્ ? ॥ સૂ. ૫ ॥

અપ્કાયલોકસ્યામ્યાસ્યાને મહુદોપાપાતો ભવતીતિ પર્યાલોચ્યાનગારા અપ્  
કાયં નોપમર્દયન્તિ । દષ્ટિશાક્યાદયસ્તુ નાનગારા મવિતુમર્હન્તિ, તેપામપ્કાયોપ  
મર્દકત્વાદિત્યાદ—'લજ્જમાણા' इत्यादि ।

મૂલ્ય—

લજ્જમાણા પુદો પાસ, અગારા મો—ચિ એને પવચમાણા જમિન

અપ્કાય કા અપલાપ કરતા હૈ । કિસ ને હાથ, પૈર, મુખ આદિ અવયવો સે યુક્ત શરીર કે  
અધિષ્ઠાતા, તથા અત્યન્ત સ્પષ્ટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણો વાળે આત્મા કા હી અપલાપ કર દિવાતો  
ઉસ કે લિપ્ત અસ્પષ્ટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણો વાળે અપ્કાય કા અપલાપ કરના કુષ્ઠ મી કઠિન  
નહી હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

અપ્કાય કા અપલાપ કરને સે મહુત સે વોપ આતે હૈ, પેસા વિચાર કર અનગાર  
અપ્કાય કી વિરાધના નહી કરતે । વળી ઔર શાક્ય આદિ, અનગાર નહી હો સકતે, ક્યો કિ  
વે અપ્કાય કી વિરાધના કરતે હૈ । યહ વાત હસ સૂત્ર મેં બતલતે હૈ—'લજ્જમાણા'  
इत्यादि ।

મૂલાર્થ—અપ્કાય કી હિંસાસે સંકોચ કરને વાલો કો અભ્યા સમજો, ઔર  
'હમ અનગાર હૈ' પેસા કહને વાલો કો અભ્યા સમજો । જો નાના પ્રકાર કે વસ્તો સે

અધ્યાયનો અપલાપ કરે છે જેણે હાથ, પગ, મુખ આદિ અવયવોથી યુક્ત, શરી  
રના અધિષ્ઠાતા, તથા અત્યન્ત સ્પષ્ટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા આત્માનો અપલાપ  
કરી હીધા, તેને માટે અસ્પષ્ટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા અધ્યાયનો અપલાપ કરવો તે  
કાઠી કઠિન નથી ( સૂ. ૫ )

અધ્યાયનો અપલાપ કરવાથી ધણાજ દોષ આવે છે, જોવો વિચાર કરીને  
અણગાર અધ્યાયની વિરાધના કરતા નથી, હાંસી અને શાક્ય આદિ, અણગારે થઈ  
શકતા નથી, કારણ કે તેઓ અધ્યાયની વિરાધના કરે છે તે વાત આગળના સૂત્રમાં  
બતાવે છે—'લજ્જમાણા' इत्यादि

મૂલાર્થ—અધ્યાયની હિંસાનો સંકોચ કરવાવાળાને બુદ્ધિ બાણો અને “અમે  
અણગાર છીએ” જો પ્રમાણે કહેવાવાળાને પણ બુદ્ધિ બાણો. જે નાના પ્રકારનાં શસ્ત્રોથી

દાલી-ચળક-વહ્તાદિકમ્ । તદુપયશસ્ત્ર-ગૃત્તિકાદિમિશ્ર જલમ્ । માવશસ્ત્રમ્=અપઃ  
પ્રતિ મનોવાક્યાનાં દુષ્પ્રણિહિતત્વમ્ । એતૈ' શસ્ત્રૈ' ઉદકકર્મસમારમ્ભેણ=ઉદયકસ્ય  
કર્મસમારમ્ભઃ ઉદકકર્મસમારમ્ભઃ=ઉદકમાશ્રિત્ય જ્ઞાનાવરણીયાઘટવિધકર્મધન્ય-  
નિવંધનસાવધવ્યાપારસ્તેન, શ્મમ્=અપ્કાય વિહિસન્તિ ।

અપ્કાયહિંસાયાં પ્રવૃત્તા જલ પદ્ધતીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ વિહિસન્તી  
ત્યાહ-'ઉદકશસ્ત્ર'—મિત્યાદિ, ઉદકશસ્ત્રમ્=ઉદકોપમર્દક શસ્ત્ર, શસ્પતે=હિંસ્યતે  
અનેનેતિ શસ્ત્ર, તત્ પૂર્વોક્તપ્રકારં દ્રવ્યમાવભેદમિન્નં સમારમ્ભમાણ=ઉદકકાર્ય પ્રતિ  
વ્યાપારયન્ત, અન્યાન્=અપ્કાયમિદાન્ અનેકરૂપાન્ પૃથિવીકાયાદીન્—સ્થાવરાન્,  
દ્વીન્દ્રિયાદીન્ પ્રસાંશ્ર વિહિસન્તિ ।

શક્તિ છે । મિટ્ટી આદિ સે મિલા હુઆ જલ ઉપયકાયશક્તિ છે । જલ કે વિષય મેં મન, વચન  
ઔર કાયકા દૂષિત પ્રયોગ કરના આવશ્યક છે । इन शक्तों से जलकर्म का समारंभ कर के  
अर्थात् जल के आरम्भद्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों के बंध कारणभूत सावध  
व्यापार कर के जलकाय की हिंसा करते हैं ।

જો જલકાય કી હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતે હૈં વે પદ્ધતીરૂપ સમસ્ત લોક કી હિંસા કરતે  
હૈં, યહ વત્સલ્યતે હૈં—'ઉદયસત્ય' શ્યાદિ ।

જિસ કે દ્વારા હિંસા કી જાય ઉસે શક્તિ કહતે હૈં । શક્તિ વા પ્રકાર કે હૈં—  
દ્રવ્યશક્તિ ઔર માવશક્તિ । જિસ સે અપ્કાય કી હિંસા હો વહ અપ્કાયશક્તિ છે । અપ્કાય  
શક્તિ વા અપ્કાય કે વિષય મેં પ્રયોગ કરને વાળે અપ્કાય સે મિન્ન અનેક પૃથ્વીકાય આદિ  
સ્થાવરો કી, તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ પ્રસ જીવો કી હિંસા કરતે હૈં ।

હાલ, વહ્તા, વાલ આદિ પરકાયશક્તિ છે માટી આદિથી મળેલું જલ ઉપયકાયશક્તિ છે  
જલના વિષયમાં મન, વચન અને કાયાનો દૂષિત પ્રયોગ કરવો તે આવશ્યક છે એ  
શક્તિથી જલકર્મનો સમારંભ કરીને, અર્થાત્ જલના આરંભદ્વારા જ્ઞાનાવરણીય આદિ  
આઠ પ્રકારના કર્મોના બંધના કારણભૂત સાવધ વ્યાપાર કરીને જલકાયની હિંસા કરે છે

જલકાયની હિંસામાં જે પ્રવૃત્ત થાય છે તે પદ્ધતીરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા  
કરે છે એ બતાવે છે—'ઉદયસત્ય' ઇત્યાદિ જેના દ્વારા હિંસા કરી શકાય તેને  
શક્તિ કહે છે શક્તિ બે પ્રકારના છે—(૧) દ્રવ્યશક્તિ અને (૨) માવશક્તિ જેનાથી  
અપ્કાયની હિંસા થાય તે અપ્કાયશક્તિ છે અપ્કાયશક્તિનો અપ્કાયના વિષયમાં પ્રયોગ  
કેરવાવાળા અપ્કાયથી બિન્ન અનેક પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરોની દ્વીન્દ્રિય વિગેરે પ્રસ  
જીવોની હિંસા કરે છે

एके=पुनरन्ये तु वयमनगाराः=साधवः स्मः, इति सामिमानं प्रवदमानाः  
'वयमेव अप्कायजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिणः' इति व्यर्थं प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः  
सन्ति तान् पृथक्=पृथग्भावेन पश्य ।

इमे स्वस्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते,  
नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति—'यदिमम्' इत्यादि ।

यव्=यस्माद् विरूपस्त्वैः=विभिन्नस्त्वैर्नानાવિધે, દ્રવ્યમાત્મકૃપાઃ સ્ત્રૈઃ ।  
तत्र द्रव्यस्त्वं स्वकाय-परकाय-तदुभयरूपम् । स्वकायशस्त्र-तडागाद्युदकस्य कृपा  
द्युदकम् । कृपाद्युदकस्य तडागाद्युदकं च । परकायशस्त्रं द्राक्षा-शाक-तण्डुल-पिष्ट-

और कोई-कोई लोग 'हम साधु हैं' इस प्रकार अभिमान के साथ कहते हुए—  
अर्थात् 'हम ही अप्काय के रक्षक और महाव्रतधारी हैं' इस प्रकार ब्रह्मा प्रलाप करते  
हुए द्रव्यलिङ्गी हैं, उन्हें अलग समझो ।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिङ्गी, अनगार के गुणों में तनिक भी  
प्रवृत्ति नहीं करते, और न गृहस्थ के किसी कार्य का त्याग करते हैं । यही बात आगे बतलाते  
हैं—'जमिर्ण' इत्यादि ।

वे नाना प्रकार के शस्त्रों से जलका आरંभ करते हैं । शस्त्र अनेक प्रकार के हैं,  
उन में से द्रव्यशस्त्र—स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप है । तालाव का जल, કૂપ का  
જલ પરસ્પર સ્વકાયશસ્ત્ર છે । इसी प्रकार कूप आदि के जल का शस्त्र—तालाव आदिका  
जल है यह स्वकायशस्त्र है । दास, शाक, चावल, आटा, दाल, चना, घास आदि परकाय

અને કૌર્ષ-કૌર્ષ લોક “અમે સાધુ છીએ” આ પ્રમાણે અભિમાન સાથે કહેતા  
અર્થાત્ ‘અમેજ અપકાયના રક્ષક અને મહાવ્રત ધારણ કરવાવાળા છીએ’ આ  
પ્રમાણે વૃથા પ્રલાપ કરતા મહા દ્રવ્યલિંગી છે તેને બૂઠા બોલો.

અનુગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા એ દ્રવ્યલિંગી સાથે અનુગારના શુદ્ધોમાં  
જરાયણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, અને ગૃહસ્થના કૌર્ષપણ કાર્યોનો ત્યાગ કરતા નથી,  
તે વાત આગળ બતાવે છે—‘જમિર્ણ’ ઇત્યાદિ.

તે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી જલનો આરંભ કરે છે શસ્ત્રો અનેક પ્રકારના છે,  
તેમાંથી દ્રવ્યશસ્ત્ર—સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય—રૂપ છે તલાવનું પાણી,  
કૂવાનું પાણી, પરસ્પર સ્વકાયશસ્ત્ર છે. એ પ્રમાણે કુવા વગેરેના જલનું શસ્ત્ર  
તલાવ આદિનું જલ છે, તે પણ સ્વકાયશસ્ત્ર છે દ્રાક્ષ, આવલ, લોટ,

“સમ્યક્ સ્નાત્તોચિતે કાલે, સસ્નાપ્ય ચ જિનાન્ ક્રમાત્ ।  
પુષ્પાહારસ્તુતિમિશ્ર, પૂજયેદિતિ તદ્વિધિઃ ” ॥ ૧ ॥ ( ધર્મસંગ્રહઃ )

“કુસુમક્લયપદ્મવેદિ, દીવ્યવાસેદિ મુદરફલેદિ ।  
પૂયા ઘયસલ્લિલેદિ, અદ્ભુવિદા તસ્સ કાયવ્યા ” ॥ ૧ ॥

( દર્શનશુદ્ધિ. સટીકા ૧ તત્ત્વ )

છાયા—“કુસુમાશ્વતથૂપૈર્દીપકવાસૈઃ સુન્દરફલૈઃ ।

પૂજા ઘૃતસલિલૈર્, અદ્ભુવિદા તસ્ય કર્ષવ્યા ॥ ૧ ॥ ” ઇતિ ।

“વિદિના ઉ કીરમાણા, સન્ન ચિય ફલર્વ મવે ચેદ્વા ।

ઇજલોહયા ચિ કિં પુન, જિણપૂયા ઉમયલોગહિયા ” ॥ ૧ ॥

( પચ્ચાશ્વક ૪ ચિવ )

છાયા—વિધિના તુ ક્રિયમાણા, સર્વા ચૈવ ફલવતી મવેચેષ્ટા ।

ઇહલૌકિકાઽપિ કિં પુન, —ર્જિનપૂજા—ઉમયલોકહિતા , ॥ ૧ ॥ ઇતિ ॥

તથૈવ પૂજાપ્રતિષ્ઠાદિપુ અપ્કાયોપમર્દનરૂપે શાસ્ત્રનિષિદ્ધે સાવધકાર્યે પ્રવૃત્ત્યાઽપિ

દ્રવ્યલિહિનો દર્શિત્વ શાક્યાદયશ્ચ સ્વાત્માનમનગારમેવ મન્યન્તે ।

“ઉચિત કાલ મેં સમ્યક્ પ્રકાર સે સ્નાન કર કે ઔર ક્રમ સે જિનપ્રતિમા કો  
સ્નાન કરા કે પુષ્પ, આહાર ઔર સ્તુતિસે પૂજા કરે । યહ પૂજા કી વિધિ હૈં ” । ( ધર્મસંગ્રહ )

“વિધિપૂર્વક કી હુઈ સમસ્ત ઇસ લોકસબધી ચેષ્ટાઈ મી સફલ હોતી હૈ તો જિનેન્દ્ર  
મગવાન્ કી પૂજા કા તો કહના હી કયા હૈ, અર્થાત્ વહ દોનો લોકોં મેં હિતકારી હૈ ” ।  
( પઠ્ઠાશ્વક ૪ ચિવ )

હસી પ્રકાર પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ અપ્કાય કી હિંસારૂપ, શાસ્ત્રનિષિદ્ધ સાવધ કાર્ય  
મેં પ્રવૃત્તિ કરકે મી દ્રવ્યલિંગી દંડી શાક્ય આદિ અપને આપ કો બનગાર હી માનતે હૈં ।

“ઉચિત કાલમાં સમ્યક્પ્રકારથી સ્નાન કરીને અને ક્રમથી જિનપ્રતિમાને  
સ્નાન કરાવી, પુષ્પ, આહાર અને સ્તુતિથી પૂજા કરે આ પ્રમાણે પૂજાની  
વિધિ છે ( ધર્મસંગ્રહ )

“વિધિપૂર્વક કરવામાં આવેલી લોકસબધી સમસ્ત ચેષ્ટાઓ ( ક્રિયાઓ )  
પણ સફલ થાય છે, તો જિનેન્દ્ર ભગવાનની પૂજાનું તો કહેવું જ શું ? આ તો  
બન્ને લોકમાં હિતકારી છે ॥ ૧ ॥ ” ( પચ્ચાશ્વક-૪-ચિવ )

એ પ્રમાણે પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ અપ્કાયની હિંસારૂપ શાસ્ત્રનિષિદ્ધ સાવધ કાર્યમાં  
પ્રવૃત્તિ કરીને પણ દ્રવ્યલિંગી દંડી, શાક્ય આદિ પોત-પોતાને અંજુગારજ  
માને છે



જગતિ ત્વલ્લ ઘટ્વો દ્રવ્યલિપ્તિનો વિધન્તે, યથા—‘વયં પચ્ચમહાવ્રતધારિણઃ સર્વારમ્મપરિત્યાગિનઃ પટ્કાપરક્ષકા અનગારાઃ સ્મઃ’ इति वदन्तो दण्डिश्चाक्यादयः सन्ति । तत्र केचिद्देहशुद्धये बह्वक्षस्नानयिनो भवन्ति । केचित्स्वनिवासार्थं गृहादि निर्माणकरणे मृत्तिकापाषाणचूर्णादिषु निक्षेपणेनाप्यायमुपमर्दयन्ति । केचित् स्त्रोदर पूर्यर्थं कृष्यादिषु जलसेचनं कुर्वन्ति । केचिच्च देवकुलाद्यर्थं सावधमुपदिशन्ति, पार्थिवीं देवगुर्वादिप्रतिमां मनोभवतઃ સ્નપયન્તિ । તે હિ સવિધિજિનપૂજાયા, પ્રતિમાપ્રતિષ્ઠાપને બહુવિધસચિત્તજલૈઃ પ્રતિમાસ્નપને ચ મહામીમમવસમુદ્રાદાત્મના સમુદ્ધારો મવતીતિ મન્યન્તે, ઉપદિશન્તિ ચ—

સસાર મેં બહુતસે દ્રવ્યલિપ્તિ હૈં । જૈતે—‘હમ પચમહાવ્રતધારી, સબ આરમ્મ કે ત્યાગી, ઓર પટ્કાપર રક્ષક અનગાર હૈં’ પેસા કહને વાલે ઘણી તથા શાક્ય આદિ હૈં । इन में कोई-कोई देह की शुद्धि के लिए बहुत-से जल से स्नान करने वाले हैं । कोई अपने रहने के वास्ते मकान आदि बनाने के लिए मिट्टी कंकर और चूने गौरह में मिलाकर अलकाय की हिंसा करते हैं । कोई अपना पेट भरने लिए कृषि (खेती) में जल सींचते हैं । कोई देवकुलविके लिये सावध उपदेश करते हैं । कोई देव एवं गुरु की पार्थिव प्रतिमा को बहुत से-धरे पानी से स्नान कराते हैं । वे विधिपूर्वक जिनपूजा में और प्रतिमा की प्रतिष्ठा में बहुत प्रकार के सचित्त जल से प्रतिमा के स्नान में, महा मयकर मवसागर से आत्मा का उद्धार होना मानते हैं और उपदेश देते हैं—

સ સારમા બહુ સખ્યામાં દ્રવ્યલિપ્તિ છે જેમ કે—‘અમે પચમહાવ્રતધારી, સર્વ પ્રકારના આરમ્મના ત્યાગી અને પટ્કાપરના રક્ષક અનગાર છીએ’ આ પ્રમાણે કહેવાવાળા હશે તથા શાક્ય આદિ છે, તેમાંથી કેલાક તેા હેઠળી શુદ્ધિ માટે ઘણા જ જલથી સ્નાન કરવાવાળા હોય છે કેટલાક તેા પોતાને રહેવા માટે મકાન આદિ બનાવવા માટે માટી કાંકરા અને ચુના વગેરેમા મેળવીને જલકાયની હિંસા કરે છે કોઈ-કોઈ પોતાનું પેટ ભરવા માટે ખેતીમાં જલ સીંચે છે કોઈ દેવકુલ વગેરે માટે સાવધનો ઉપદેશ આપે છે, અને કોઈ દેવ અને શુદ્ધી પાર્થિવ પ્રતિમાને ઘણા જ-ઘણા પાણીથી સ્નાન કરાવે છે તે વિધિપૂર્વક જિનપૂજામાં અને પ્રતિષ્ઠામાં ‘ઘણા જ પ્રકારના સચિત્ત જલથી પ્રતિમાને સ્નાન કરાવામાં મહાભયકર ભવસાગરથી આત્મા નો ઉદ્ધાર થાય છે, એવું માને છે અને ઉપદેશ આપે છે.—

“સમ્યક્ સ્નાત્વોચિતે કાલે, સસ્નાપ્ય ચ જિનાન્ ક્રમાત્ ।  
પુષ્પાદારસ્તુતિમિથ, પૂજયેદિતિ તદ્વિધિ” ॥ ૧ ॥ (ધર્મસપ્રહઃ)  
“કુસુમસ્વયધૂવેદિ, દીવ્યવાસેદિ સુદરફલેદિ ।  
પૂયા ઘયસલિલેદિ, અદ્વિદા તસ્સ કાયન્વા” ॥ ૧ ॥

(દર્શનશુદ્ધિ. સટીકા ૧ તત્ત્વ)

છાયા—“કુસુમાક્ષતધૂપૈર્દીપકૃત્સૈઃ સુન્દરફલૈઃ ।  
પૂજા ઘૃતસલિલૈઃ, સ્પર્શવિષા તસ્ય કર્તવ્યા ॥ ૧ ॥” ઇતિ ।  
“વિદિના રૂ કીરમાણા, સન્ન ચિપ્પ ફલવર્દ મવે ચેદ્ધા ।  
ફલોદ્ધયા વિ કિં પુન, જિણપૂયા ઉમયલોગદિયા” ॥ ૧ ॥

(પચ્ચાશક ૪ વિવ)

છાયા—વિધિના તુ ક્રિયમાણા, સર્વા ચૈવ ફલવતી મવેચેષ્ટા ।  
ફલોદ્ધયાપિ કિં પુન, —ર્જિનપૂજા—ઉમયલોકદિતા ॥ ૧ ॥ ઇતિ ॥  
તથૈવ પૂજામતિષ્ઠાદિપુ અષ્ટાચરોપમર્દનરૂપે શાસ્ત્રનિષિદ્ધે સાવધકાર્યે પ્રવૃત્ત્યાપિ  
દ્રવ્યલિંગિનો દગ્ધિન શાક્યાદયશ્ચ સ્વાત્માનમનગારમેવ મન્યન્તે ।

“ઉચિત કાલ મેં સમ્યક્ પ્રકાર સે સ્નાન કર કે ઔર ક્રમ સે જિનપ્રતિમા કો  
સ્નાન કરા કે પુષ્પ, આહાર ઔર સ્તુતિસે પૂજા કરે । યહ પૂજા કી વિધિ હૈ” । (ધર્મસપ્રહ)

“વિધિપૂર્વક કી હુઈ સમસ્ત ઇસ લોકસંઘી ચેપ્ટાઈ મી સફલ હોતી હૈ તો જિનેન્દ્ર  
મગવાન્ કી પૂજા કા તો ફહના હી ક્યા હૈ, અર્થાત્ વહ લોનો લોકો મેં હિતકારી હૈ” ।  
(પચ્ચાશક ૪ વિવ)

ઈતી પ્રકાર પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ અષ્ટાચર કી હિંસારૂપ, શાસ્ત્રનિષિદ્ધ સાવધ કાર્ય  
મેં પ્રવૃત્તિ કરકે મી દ્રવ્યલિંગી વંદી શાક્ય આદિ અપને આપ કો અનગાર હી માનતે હૈ ।

“ઉચિત ઠાસમાં સમ્યક્પ્રકારથી સ્નાન કરીને અને ક્રમથી જિનપ્રતિમાને  
સ્નાન કરાવી, પુષ્પ, આહાર અને સ્તુતિથી પૂજા કરે આ પ્રમાણે પૂજાની  
વિધિ છે (ધર્મસપ્રહ)

“વિધિપૂર્વક કરવામાં આવેલી લોકસંઘી સમસ્ત ચેષ્ટાઓ (ક્રિયાઓ)  
પણ સફલ થાય છે, તો જિનેન્દ્ર ભગવાનની પૂજાનું તો કહેવું જ શું ? આ તો  
અન્ને લોકમાં હિતકારી ॥ ૧ ॥” (પચ્ચાશક-૪-વિવ)

એ પ્રમાણે પૂજા પ્રતિષ્ઠા આદિ અષ્ટાચરની હિંસારૂપ શાસ્ત્રનિષિદ્ધ સાવધ કાર્યમાં  
પ્રવૃત્તિ કરીને પણ દ્રવ્યલિંગી હરી, શાક્ય આદિ પોત-પોતાને અંબુગારજ  
માને છે

ये उदकशत्रु प्रयुज्जाना। पद्मनीवनिकायरूपं लोक सर्वमेव विहंसन्ति, ते द्रुम-  
लिङ्गिनो नरकनिगोदादिनानाविषदुःखज्वालमालाकुले दीर्घससारे परिभ्रमन्ति,  
उक्तञ्च—

“सावज्जपूयकारी, सावज्ज उवदिंसंति जे अण्ण ।

आउकायवहाओ, भमंति ते दीहससारे ॥ १ ॥ ” ॥ सू० ६ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्भूस्वामिनं प्राह ‘तत्थ’ इत्यादि ।

मूलम्—

तत्થ સ્વલુ મગધયા પરિણા પવેદ્યા । ઇમસ્સ સેવ  
જીવિયસ્સ પરિવંદણ-માળણ-પૂયણાજ્જામરણમોયણાજ્જા દુક્કલપધિયાપહેઠ સે

જો હોમ જલશત્રુના પ્રયોગ કરતે હુપ પદ્મનાયના સમસ્ત જીવોની વિરોધના કરતે  
હું જે દ્રુમલિંગી, નરક આદિના નાના પ્રકારના દુઃખોની જ્વાલાઓના સમૂહ સે વ્યાપ્ત હોય  
સસારમાં ચારો બોર ચક્કર લગાતે હું । કહ્યા મો હૈ—

“જો પુરુષ જ્ઞાનરહિત હોઈને સાવધાના ઉપદેશ દેતે હું, જો સાવધ પૂજા કરતે  
બાંધે હું જે અકાચની દિશા સે વીર્ધ સંસારમાં ભ્રમણ કરતે હું ” ॥ સૂ. ૬ ॥

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામી સે કહતે હું—‘તત્થ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—મગધાને પરિણાના પ્રતિબોધ દિયા હૈ । જો ઇસ જીવનના સુલ  
ના સ્થિતિ, માનના, પૂજા, જન્મ-મરણ સે છુટકારા, તથા દુઃખોના નાશ

ને લોક જલશત્રુના પ્રયોગ કરીને પદ્મનાયના તમામ જીવોની વિરોધના કરે છે  
તે દ્રુમલિંગી, નરક નિગોદાદિના નાના પ્રકારના દુઃખોની જ્વાલાઓના સમૂહથી  
વ્યાપ્ત હોયના સસારમાં ચારેય તરફ ચક્કર લગાવે છે કહ્યું છે કે—

“જો પુરુષ જ્ઞાનરહિત થઈને સાવધાના ઉપદેશ આપે છે તે, જો સાવધ  
પૂજા કરવાવાળા વીર્ધ-હોયના સસારમાં ભ્રમણ કરે છે ” ॥ ૧ ॥ (સૂ. ૬)

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહ્યું છે—‘તત્થ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—મગધાને પરિણાના બોધ આપ્યો છે જે આ જીવનના સુખ માટે  
ચોતાની વહના, માન્યતા, પૂજા, જન્મ-મરણથી મુક્તિ તથા દુઃખોના નિવારણ માટે; તે

સયમેવ ઉદયસત્ય સમારમહ, અણોર્હિ ઉદયસત્ય સમારંભાવેહ, અણો વા ઉદયસત્ય સમારમતે સમણુજાણહ, તં સે અહિયાણ તં સે અવોહીય ॥ સૂ. ૭ ॥

છાયા—

તત્ર સ્વલુ મગવતા પરિજ્ઞા પ્રવેદિતા । અસ્ય ચૈવ જીવિતસ્ય પરિવન્દન-માનન-પૂજનાય જાતિમરણમોચનાય દુઃસ્વપતિઘાતહેતુ સ સ્વયમેવોદકશસ્ત્ર સમારમતે, અન્યૈ-રુદકશસ્ત્ર સમારમ્મયતિ, અન્યાન્ વા ઉદકશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ સમણુજાનાતિ, તત્તસ્યાહિતાય તત્તસ્યાવોધયે ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકા—

તત્ર=અપ્કાયસમારમ્મે મગવતા=શ્રીમહાવીરેણ પરિજ્ઞા=સમ્યગવબોધઃ સ્વલુ પ્રવેદિતા=પ્રતિવોધિતા । કર્મવન્ધસમુચ્છેદાર્થ જીવેન પરિજ્ઞાઽવશ્ય કર્મણીકરણીયેતિ મગવતા પ્રતિવોધિતમિતિ માવ' । ઇ-પ્રત્યાખ્યાન-મેદાત્ પરિજ્ઞાયા દ્વૈવિષ્ય, દ્વિવિધા-યાસ્તસ્યા લક્ષણ ચ પ્રાગમિહિતમ્ ।

કરને કે નિમિત્ત વહ સ્વય હી ઉદકશસ્ત્ર કા આરંમ કરતા હૈ, દૂસરો સે ઉદકશસ્ત્ર કા આરંમ કરાતા હૈ, ઓર ઉદકશસ્ત્ર કા આરંમ કરને ચાલો કી અનુમોદના કરતા હૈ । વહ ડસ કે અહિત કે લિપ હૈ, વહ ડસકી અવોધિ કે લિપ હૈ ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકાર્થ—અપ્કાય કે સમારમ કે વિષય મેં મગવાન્ શ્રી મહાવીરે સમ્યગ્ બોધ કા ઉપદેશ દિયા હૈ । મગવાન્ને કહ્યા હૈ કિ—કર્મવન્ધ કા નાશ કરને કે લિપ જીવ કો પરિજ્ઞા કા આશ્રય આવશ્ય લેના ચાહિય । જપરિજ્ઞા ઓર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, હસ પ્રકાર પરિજ્ઞા કે દો મેદ હૈ । દોનો કે લક્ષણ પહેલે હી કહ ચુકે હૈ ।

પોતેજ જલશસ્ત્રનો આરભ કરે છે, બીજા પાસે જલશસ્ત્રનો આરભ કરાવે છે અને જલશસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળાની અનુમોદના કરે છે તે પોતાના અહિત માટે છે તે તેની અવોધિને માટે છે (સૂ. ૭)

ટીકાર્થ—અપ્કાયના સમારભના વિષયમાં ભગવાન શ્રી મહાવીરે સમ્યગ્ બોધનો ઉપદેશ આપ્યો છે । ભગવાને કહ્યું છે કે—કર્મબંધનો નાશ કરવા માટે જીવોએ પરિજ્ઞાનો આશ્રય જરૂર લેવો જોઈએ । જપરિજ્ઞા અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા, આ પ્રમાણે પરિજ્ઞાના બે મેદ છે । બંનેના લક્ષણો પ્રથમજ કહેવામાં આવ્યા છે ।

### ઉપમોગદ્વાર—

જીવ' કસૈ પ્રયોજનાયાપ્કાયજીવ પ્રતિ સાવધવ્યાપાર કરોતી ?—ત્યાર-  
'અસ્ય ચૈવે'—ત્યાદિ । અસ્યૈવ ણમહ્નુરસ્ય જીવિતસ્ય જીવનસ્યાર્યે—મુત્યાર્ય સ્નાન-પાન-  
—ધાવન—સેક—યાનપાત્રો—હ્રુપ—ગમનાગમનાધર્મ્ય, તથા પરિવંદન—માનન—પૂજનાય-  
પરિવંદન=પ્રદર્શા, તદર્થ, યથા—જલયન્ત્રણ શ્રીકરત્વપ્રદાદૌ, 'ફુદારા' ઇતિ માપાયામ્ ।  
માનનં=જન્ સત્કાર, તદર્થ, યથા—મલાપકર્ષસ્નાનવસ્ત્રમલાપકર્ષણાદૌ । પૂજનં=વસ્ત્રસ્ના-  
દિપુરસ્કારલાભસ્તદર્થ, યથા—દેવપ્રતિમાદિસ્નપનપૂજનાદૌ । જાતિમરણમોચનાય તીર્થ-  
સ્નાનાદૌ । દુઃસ્વપ્રતિષ્ઠાત્તેતુ=રોગાદિશ્વમનાય સ્નાનપાનાદૌ, સ સ્વયમેવોદકશ્ચ  
સમારમતે=વ્યાપારયતિ । અન્યૈર્વા ઉદકશ્ચ સમારમ્મયતિ=ઉદ્યોજયતિ । અન્યાન્

### ઉપમોગદ્વાર—

જીવ કિસ પ્રયોજન સે અપ્કાય કે જીવો કે પ્રતિ સાવધ વ્યાપાર કરતા હૈ ? હસ કા  
ઉત્તર કહતે હૈ—હસી ણમહ્નુર અપ્કાય કે મુલ્ય કે હિપ, અર્થાત્ સ્નાન, પાન, ધોના, સૌખ્ય,  
બહાવ, નૌકા કા ગમનાગમન, ક્ષ્યાદિ કે હિપ । પ્રદર્શાકે હિપ, જૈસે—જલ સે ફૌદાર  
ચલાને અર્થિ મેં, છોગો સે સત્કાર પાને કે હિપ, જૈસે—સ્નાન ઔર વસ્ત્ર અર્થિ કા મેલ દૂર  
કરને અર્થિ મેં, પૂજા અર્થાત્ વસ્ત્ર, રત્ન અર્થિ કા પુરસ્કાર પાને કે હિપ, જૈસે દેવપ્રતિમા  
અર્થિ કે સ્નપન ઔર પૂજન અર્થિ મેં, જન્મ મરણ સે મુક્ત હોને કે હિપ તીર્થસ્નાન અર્થિ  
મેં । દુઃસ્વો કા નિરોધ કરને કે હેતુ, અર્થાત્ રોગ અર્થિ કો શાન્ત કરને હિપ  
સ્નાન—પાન અર્થિ મેં વહ સ્વય અપ્કાય કે ચિરાક્ષ દ્રવ્ય ઔર ભાવશક્તિ કા આરંભ કરતા

### ઉપમોગદ્વાર—

અવ કયા પ્રયોજનથી અપ્કાયના અવેા પ્રતિ સાવધ વ્યાપાર કરે છે ? તેના ઉત્તર  
કહે છે કે—આ સવુભાગુર અપનના સુખ માટે, અર્થાત્, સ્નાન, પાન ધાવું, પાણી સીંચવું,  
વહાવુ આગાદિમાં અવુ આવવું, ઇત્યાદિ માટે । પ્રથમ સ્નાને માટે, જેમકે—નળમાંથી ફુવારા બહા  
વવા અર્થિમાં, લોકોથી સત્કાર પામવા માટે જેમકે—સ્નાન કરવામાં અને વસ્ત્ર વગેરેનો મેલ  
દૂર કરવામાં, પૂજા અર્થાત્ વસ્ત્ર, રત્ન, આદિનો પુરસ્કાર મેળવવા માટે, જેમ દેવપ્રતિમા આદિના  
સ્નાન અને પૂજન વગેરેમાં, જન્મ—મરણથી મુક્ત થવા માટે, જેમ—તીર્થસ્નાન આદિમાં,  
દુઃખોનો નિરોધ કરવાના હેતુથી, અર્થાત્—રોગ વગેરેની શાન્તિ માટે સ્નાન—પાન વગેરેમાં તે  
ગાતે અપ્કાયના વિશદ્રવ્ય અને ભાવશક્તિનો આરંભ કરે છે, જીવ પાસે અપ્કાયશક્તિનો

वा उदकशस्त्रं समारममाणान् समनुजानाति=अनुमोदयति । तत्=अप्कायसमारम्भणं  
तस्य=अप्कायसमारम्भणं कुर्वत\* कारयितुरनुमोदयितुश्च अहिताय भवति, तथा तत्  
तस्य अवोधये=जिनधर्मप्राप्त्यभावाय भवति ॥ सू० ७ ॥

येन तु तीर्थङ्करादीनां समीपेऽप्कायजीवस्वरूपं ज्ञातं स एवं विजानातीत्याह—  
'से त सचुज्जमाणे.' इत्यादि ।

मूलम्—

से त सचुज्जमाणे आयाणीयं समुद्राए सोचा भगवओ आणगाराण वा अंसिए,  
इहमेगेसि णाय भवइ—एस खलु गधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु गरप,  
इधत्थं गदिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारम्मेणं उदयसत्थ  
समारममाणे अप्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ सू० ८ ॥

है, दूसरों से अप्कायशस्त्रों का समारम करवाता है और अप्कायशस्त्र का आरम करने वाले  
दूसरों का अनुमोदन करता है । वह अप्काय का आरम, आरम करने वाले, कराने वाले  
और अनुमोदन करने वाले के अहित के लिए होता है और अवोधि—जिनधर्म की अप्राप्ति के  
लिए होता है ॥ सू. ७॥

जिसने तीर्थंकर आदि के सन्निकट अप्काय के जीवों का स्वरूप जान लिया है, वह  
इस प्रकार जानता है—'से से' इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान और अनगारों से मुनकर अप्काय का स्वरूप जानता हुआ  
जीव चारित्र अङ्गीकार करके कोई-कोई इस प्रकार जानता है—यह भ्रम है यह मोह है, यह  
मार (मृत्यु) है, यह नरक है । गृध्र पुरुष नाना प्रकार के शस्त्रों से बल का आरम करके  
बलशस्त्र का समारम करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है ॥ सू. ८॥

अभारम करवे छे, अने अप्कायशस्त्रने आरम करवावाणाने अनुमोदन आपे छे ते  
अप्कायने आरम करनारने करवनारने अने करवावाणाने अनुमोदन आपवावाणाने  
ओ सोने भाटे अहित करनार छे अने अवोधि—जिनधर्मनी अप्राप्ति भाटे होय छे (सू ७)

जेछे तीर्थंकर आदिना समीपमां अप्कायना एवोनुं स्वरूप जानी वीधु छे ते  
आ प्रभावे जेछे छे—'से त' इत्यादि

मूलार्थ—भगवान अधवा अधुगारे पासोधी सावणीने अप्कायना स्वरूपने  
जाननार एवे आरित्र अङ्गीकार करीने ठोह-ठोह आ प्रभावे जेछे छे—आ अथ  
छे, आ मोह छे, आ मृत्यु छे, आ नरक छे गृध्र पुरुष नाना प्रकारनां (अनेक  
प्रकारनां) शस्त्रोधी जेवने आरम करीने, बलशस्त्रने आरम करवा यका जीव अनेक  
प्रकारना प्राणीजोनी हिंसा करे छे (सू. ८)

## છાયા—

સ તત્ સંબુદ્ધમાન આદાનીય સમુત્પાદ્ય શ્રુત્વા સ્વલુ મગવતઃ અનગારાણાં  
વાઽન્તિકે, ફ્રેકેપાં, જ્ઞાત મથતિ-અપ સ્વલુ ગ્રન્થ , અપ સ્વલુ મોદ' અપ સ્વલુ મારઃ,  
અપ સ્વલુ નરકઃ, હ્યર્થ ગૃહ્ણો લોક યદિમ વિરૂપરૂપૈઃ સ્તૈસ્તદકર્મસમારમ્ભેન,  
ઉદકશ્ચ સમારમમાણઃ અન્યાન્ અનેકરૂપાન્ પ્રાણાન્ વિહિનસ્તિ ॥ સૂ. ૮ ॥

## ટીકા—

ય સ્વલુ મગવતઃ=તીર્થક્લુતસ્ય, અનગારાણામ્=તદીયશ્રમણનિર્મળાનામ્,  
અન્તિકે=સમીપે, શ્રુત્વા=ઉપદેશં નિશ્રમ્ય, આદાનીયમ્=ઉપાદેય, સર્વસાવધયોગપરિ-  
ત્યાગરૂપ ચારિત્ર, સમુત્પાદ્ય=અક્ષીકૃત્ય વિહરતિ, સ તત્-અપ્કાયસમારમ્ભનં, સંબુદ્ધ-  
માનઃ=અહિતાબોધિજનકલ્પેન વિજ્ઞાતા ભવતિ ॥

સ હિ-અર્થે વિચારયતિ ફ્રેકેપાં=મનુષ્યલોકે, એકેપાં=શ્રમણનિર્મળોપદેશસજાત  
સમ્યગ્વબોધવૈરાગ્યાણામાત્માર્થિનામેવ, જ્ઞાત=વિદિતં ભવતિ । કિં જ્ઞાત મવતીત્યાકાર-  
સાયામાહ—‘અપ સ્વલુ ગ્રન્થઃ’ ઇત્યાદિ ।

ટીકાર્થ—જા પુરુષ તીર્થકર મગવાન યા ઉત્તરે અનુયાયી શ્રમણ નિર્મળો કે  
સમીપ ઉપદેશ શ્રુત્વ કર સર્વસાવધ વ્યાપાર કા ત્યાગરૂપ ચારિત્ર અગીકાર કરકે વિચરતા  
હૈ, વહ અપ્કાય કે આરંભ કો સમક્ષતા હૈ—ઉત્તરે અહિતકર ઔર અબોધિજનક બાનતા હૈ ।  
વહ હસ પ્રકાર વિચાર કરતા હૈ—હસ મનુષ્ય લોક મેં શ્રમણ નિર્મળો કે ઉપદેશ કે  
સમ્યગ્જ્ઞાન ઔર વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરનેવાળે કિન્હીર આત્માર્થિયો કો હૌ વિદિત હોતા હૈ કિ—‘યહ  
ગ્રન્થ હૈ’ ઇત્યાદિ ।

ટીકાર્થ—જે પુરુષ તીર્થકર મગવાન તથા તેના અનુયાયી શ્રમણનિર્મળોના સમીપ  
ઉપદેશ સાંભળીને સર્વ સાવધવ્યાપારના ત્યાગરૂપ ચારિત્ર અગીકાર કરીને વિચરે છે, તે  
અપ્કાયના આરંભને સમજે છે—તેને અહિતકર અને અબોધિજનક બાંધે છે, તે આ પ્રમાણે  
વિચાર કરે છે કે—આ મનુષ્ય લોકમાં શ્રમણ-નિર્મળોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય  
પ્રાપ્ત કરવાવાળા કેઈ પણ આત્માર્થિઓના બાંધવામાં હોય છે કે—આ અર્થ છે ઇત્યાદિ.

एष = उदकशस्त्रसमारम्भ खलु = निश्चयेन, ग्रन्थ = ग्रन्थ्यते = बध्यते = नेनेति ग्रन्थ  
 अष्टविधकर्मबन्ध । कारणे कार्योपचारादुदकशस्त्रसमारम्भस्य ग्रन्थरूपत्वम्, एगमग्रेऽपि  
 बोध्यम् । तथा एष उदकशस्त्रसमारम्भ मोह = विपर्यासः विपरीतज्ञानरूपः । तथा  
 एष एव मारः = मरणं निगोदादिमरणरूपः । तथा एष खलु नरकः = नारकजीवानां  
 दशविधयातनास्थानम् । इत्यर्थम् = एतदर्थं कर्मबन्ध-मोह-मरण-नरकरूपं घोर दुःख-  
 फलं प्राप्य पुन पुनरेतदर्थमेव लोक = अज्ञानवशवर्ती जीव गृह्ण = लिप्सुरस्ति । यद्वा-  
 गृह्ण = विषयभोगासक्त, लोक संसारी जीव, इत्यर्थम् = एतदर्थमेव = कर्मबन्ध-मोह-  
 मरण-नरकार्थमेव, प्रवर्तते ।

जिस के द्वारा गूथा जाय-बाधा जाय यह प्रथम कहलाता है । यह उदकशस्त्र का  
 समारम्भ प्रथम है, अर्थात् आठ कर्मों का प्रथम है । यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके  
 उदकशस्त्र के समारम्भ को प्रथम कहा है । वास्तव में वह प्रथम (कर्मबंध) का कारण है ।  
 आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

यह जलशस्त्र का समारम्भ मोह-विपरीत ज्ञान है । तथा यह मार-निगोद  
 आदि के मरणरूप है । यह नरक है अर्थात् नारकी जीवों को होनेवाली दस प्रकार की  
 वेदनाओं का स्थान है । कर्मबंध, मोह, मरण, और नरकरूप घोर दुःखरूप फल को प्राप्त  
 कर के भी अज्ञानी लोग फिर इसी के लिए गृह्ण होते हैं । अथवा गृह्ण अर्थात् भोगों  
 में आसक्त, संसारी जीव इसी के लिए, अर्थात् कर्मबंध, मोह, मरण तथा नरक के लिए ही  
 प्रवृत्ति करते हैं ।

જેના દ્વારા ગૂથી શકાય-બાધી શકાય તે અથ કહેવાય છે એ ઉદક-જલ  
 શસ્ત્રનો સમારંભ અથ છે અર્થાત્ આઠ કર્મોનો બંધ છે અર્થિ કારણુમાં કાર્યનો ઉપચાર  
 કરીને ઉદકશસ્ત્રના સમારંભને અથ કહ્યો છે વાસ્તવિક રીતે તે અથ (કર્મબંધ)નું કારણ  
 છે આગળ પણ આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ.

આ જલશસ્ત્રનો સમારંભ મોહ-વિપરીત જ્ઞાન છે, તથા આ માર-નિગોદ  
 વગેરેના મરણરૂપ છે, આ નરક છે-અર્થાત્ નારકી જીવોને થવાવાળી દસ પ્રકારની  
 વેદનાઓનું સ્થાન છે કર્મબંધ, મોહ મરણ અને નરક રૂપ ઘોર દુઃખરૂપ ફલને પ્રાપ્ત  
 કરીને પણ અજ્ઞાની લોક ફરીને તેના માટે ગૃહ્ણ-આસક્ત થાય છે અથવા ગૃહ્ણ  
 અર્થાત્ ભોગોમાં આસક્ત સંસારી જીવ એ માટે, અર્થાત્ કર્મબંધ, મોહ, મરણ  
 તથા નરક માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે



યદપિ ત્રિપયમોગાસક્તો લોક શરીરાદિપરિપોષણાર્થં પરિવન્દનમાનનપૂજનાર્થં  
જાતિમરણમોચનાર્થં દુઃસ્વપ્રતિષ્ઠાતાર્થં આપ્કાયશસ્ત્રસમારમ્ભમ્ કરોતિ, તથાપિ તત્કલ્પ  
ગ્રન્થ-મોહ-મરણ-નરકરૂપમેવ લભતે, અતઃ ઉદકકર્મસમારંભસ્ય તદેવ ફલ મક્તીતિ  
માઘઃ ।

લોકઃ પુનઃ પુનઃ કર્મબંધાદ્યર્થમેવ લિપ્તુરસ્તિ, તદર્થમેવ ચ પ્રવર્તતે, इति  
यदुक्तं तत्र हेतुमाह—‘यदिमम्’ इत्यादि ।

यव्=यस्मात्, शब्दो लोकः, विरूपरूपैः=नानाविधैः स्वस्वकाय-  
परकायतदुभयरूपैः, उदककर्मसमारम्भेण=अपकायमुद्दिश्याष्टविधकर्मसमुत्पादक-  
सावधन्यापारेण, इमम्=अपकायं, बिदिनस्ति=पाणरहितं करोति । तथा-उदक-

तાર્યયં યહ છે કે ત્રિપયમોગો મેં આસક્ત જીવ, શરીર આદિ કા પોષણ  
કરને કે લિપ્ત, વન્દન-માન-પૂજન કે લિપ્ત, જન્મ-મરણ સે મુક્ત હોને કે લિપ્ત તથા  
દુઃસ્વો કા નાશ કરને કે લિપ્ત, અપ્કાય કે શસ્ત્ર કા આરંભ કરતા હૈ મગર उस का  
फल-ग्रन्थ, मोह, मरण और नरक-रूप ही पाता है । अत एव अलकर्मसमारंभ का  
वही फल होता है ।

છોક બાર-બાર કર્મબંધ આદિ કે લિપ્ત હી રૂપુક હોતા હૈ, ઔર उसो के लिए  
प्रवृत्ति करता है, यह बात पहले कही है । यहाँ उस का कारण बतलाते हैं--

કયો કે ગુહચ્ચન નાના પ્રકાર કે સ્વકાય, પરકાય ઔર उभयकामरूप शब्दો  
સે, उदककर्म के आरंभद्वारा, अपकायसंबंधी अष्टकर्म-जनक सावधन्यापारद्वारा  
अपकाय की हिंसा करता है । तथा अलकर्म के विराधक स्वकाय, परकाय और

તાત્પર્ય એ છે કે-ત્રિપયમોગોમા આસક્ત જીવ શરીર-આદિના પોષણ કરવા  
માટે વન્દન, માન, પૂજા માટે, જન્મ મરણથી મુક્ત થવા માટે તથા દુઃખોના નાશ  
કરવા માટે અપ્કાયના શસ્ત્રનો આરંભ કરે છે, પરન્તુ તેનું ફળ પ્રથમ, મોહ, મરણ  
અને નરક રૂપજ પામે છે, એ માટે અલકર્મસમારંભનું ફલ તેજ હોય છે

હોઃ વારવાર કર્મબંધ વગેરે માટે હિમ્મત કરતા હોય છે; અને તે માટે પ્રવૃત્તિ  
કરે છે એ વાત પ્રથમ કહી છે અર્થિ તેનું કારણ બતાવે છે કેમકે-ગુહ ચ્ચન માણસ  
નાના પ્રકારના સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય રૂપ શસ્ત્રોથી ઉદકકર્મના આરંભદ્વારા  
અપ્કાયના સંબંધી આઠ કર્મબંધ સાવધન્યાપારદ્વારા અપ્કાયની હિંસા કરે છે. તથા

શસ્ત્રમ્-અપ્કાયમર્દક શસ્ત્ર સ્વકાયપરકાયતદુમયરૂપ, સમારમમાણ = વ્યાપારયન્  
અન્યાન્ = રૂઢિચોકાયાદીન્, અનેકરૂપાન્ = ત્રસાન્ સ્થાવરાશ્ચ, પ્રાણાન્ = પ્રાણિનો  
વિહિનસ્તિ ।

અપ્કાયહિંસયા પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ પ્રણિહન્તીતિ ઘોરતર દુરિત  
કુર્વન્ પુનઃ પુનઃ ગ્રન્થાદિનરકાન્ત પ્રાપ્યાપિ તદર્થમેવ પ્રવર્તતે ન પુનર્મોક્ષાયેતિ  
માવ ॥ સૂ. ૮ ॥

પુનરપિ સુધર્માસ્વામી જમ્બૂસ્વામિનં પ્રાહ—‘સે વેમિ.’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલ્મ ॥

સે વેમિ સતિ પાણા ઉદયનિસ્તિયા જીવા અણેમે ॥ સૂ. ૯ ॥

॥ છાયા ॥

સ વ્રવોમિ સન્તિ પ્રાણા ઉદકનિથિતા જીવા અનેકે ॥ સૂ. ૯ ॥

ઉમયકાય રૂપ શસ્ત્રો કા આરમ કરતા હુઆ અપ્કાય-સ્થાવર ઔર ત્રસ જીવા કો મો હિંસા  
કરતા હૈ, વહ જલકાયકો હિંસાદારા પદ્મજીવનિકાયરૂપ સમસ્ત છોક કો હિંસા કરતા હૈ,  
અત અત્યન્ત ઘોર પાપ કરતા હુઆ પુન પુન પ્રથ સે લેકર નરક તક કે દુષ્કલકો પાકરકે મી  
ઉસો કે લિપ્ પ્રવૃત્તિ કરતા હૈ-મોક્ષ કે લિપ્ નહીં ॥ સૂ. ૮ ॥

સુધર્મા સ્વામી ફિર જમ્બૂ સ્વામી સે કહતે હૈ-‘સે વેમિ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—મૈ કહતા હૈ અપ્કાય કે આશ્રિત પ્રાણી હૈ ઔર અન્ય અનેક (દ્વીન્દ્રિય  
આદિ) જીવ મી હૈ ॥ સૂ. ૯ ॥

જલકાયના વિરાધક સ્વકાય, પરકાય અને ઉભયકાય રૂપ શસ્ત્રોનો આરમ કરીને  
અન્યકાય-સ્થાવર અને ત્રસ જીવોની પણ હિંસા કરે છે તે જલકાયની હિંસાદારા  
પદ્મજીવનિકાયરૂપ સમસ્ત જીવોની હિંસા કરે છે તેથી અત્યન્ત ઘોર પાપ કરતા થકા  
કરી કરી અથ (કર્મબધ)થી લઈને નરક સુધીના માઠા-ક્રુ અઠાશક કળને પામીને  
પણ તે માટે પ્રવૃત્તિ કરે છે મોક્ષ માટે કરતા નથી (સૂ. ૮)

સુધર્મા સ્વામી કરીથી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે-‘સે વેમિ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ક્રુ ક્રુ છ-અપ્કાયના આશ્રિત પ્રાણી છે, અને અન્ય અનેક (દ્વીન્દ્રિય  
આદિ) જીવ પણ છે (સૂ. ૮)

## ટીકા—

સ' = વિજ્ઞાતાપ્કાયસ્વરૂપોઽહ ધર્મોમિ = યથા સાક્ષાદ્ મગવત' સકાશાન્મયા  
 શ્રુત તથા કથયામીત્યર્થઃ । ઉદકનિશ્ચિતા' જલરૂપ કાયમાશ્રિત્ય વર્તમાના અપ્  
 કાયિકા इत्यर्थ' प्राणाः = प्राणिन' सन्ति । तथाऽनेके = द्वीन्द्रियादयः नानाविधाः  
 जीवा नीलशृंग-पूतरक-मत्स्यादय उदकनિश्रिताः = उदकावस्थिता सन्ति । देहलो  
 दीपन्यायेनोदकनिश्रिता इत्यस्योभयश्रान्वय , अनेनोदक सचिचमनेकजीवाधिष्ठित  
 चेति प्रसिधोषितम् ।

ટીકાર્થ—અપ્કાય કે સ્વરૂપ કા જ્ઞાતા મેં કહતા હું । એસા કિ મગવાન  
 સે મૈને સુના હૈ કિ—અપ્કાય કો આશ્રિત કરકે રહે હુપ અપ્કાયિક પ્રાણી હું, તથા  
 અનેક દ્વીન્દ્રિય આદિ નાના પ્રકાર કે જીવ નીલશૃંગ, પૂરતક, મત્સ્ય આદિ મી જલ મેં  
 રહે હુપ હું । ઉદકનિશ્ચિતાઃ—‘જલકાય કે આશ્રિત’ યહ પદ દેહલી—દીપકન્યાય સે દોનો  
 બોર જોડ લેના ચાહિપ । યહોં इतना समझ लेना आवश्यक है कि—जलकાય के जीवों  
 का शरीर जल ही है, जब कि जल में रहने वाले त्रस आदि जीवों का शरीर भिन्न  
 होता है, फिर भी वे जल ही में रहते हैं और जल की विराधना करनेसे उन त्रस  
 आदि जीवों की भी विराधना होती है । वहाँ जलकાય है वहाँ सभी काय के  
 जीव होते हैं ।

ટીકાર્થ—જલકાયના સ્વરૂપને જાણનાર હું કહું છું એવી રીતે કે મેં ભગવાન  
 પાસેથી સાંભળ્યું છે કે—જલકાયને આશ્રિત—આશ્રય કરીને રહેલા જલકાયના જીવો છે  
 તથા અનેક દ્વીન્દ્રિય આદિ નાના પ્રકારના જીવ નીલશૃંગ પૂરતક, મત્સ્ય આદિ પણ  
 જલમાં રહેલા છે ‘જલકાયના આશ્રિત’ આ પદ દેહલી—દીપક—ન્યાયથી  
 બન્ને બાબત બોધી લેવું જોઈએ.

અહિં એટલું સમજ લેવું આવશ્યક છે કે—જલકાયના—જીવોનાં શરીર જલજ છે  
 બ્યારે કે જલમાં રહેવાવાળા ત્રસ આદિ જીવોના શરીર ભિન્ન—બહાં હોય છે તે પણ  
 તે જલમાં રહે છે, અને જલની વિરાધના કરવાથી તે ત્રસ આદિ જીવોની પણ  
 વિરાધના થાય છે બ્યા જલકાય છે ત્યાં તમામ કાયના જીવ હોય છે

અપ્કાયસ્ય લક્ષણદ્વારમ્—

નનૂદકં સચિત્તમસ્તીત્યત્ર કિં પ્રમાણમ્ ? ઉચ્યતે—આપ' સચિત્તા', શત્રાનુપહત-  
ત્વે સતિ દ્રવત્વાત્, ઇસ્તિશરીરોપાદાનમ્ભૂતકલલત્વત્ । વસ્ત્રવળાદૌ ટોપવારણાય શત્રાનુપહ-  
તત્ત્વવિશેષણોપાદાનમ્ । કલલશબ્દગ્રહણેન સપ્તદિવસમાત્રવર્તિનો ગ્રહણમ્, તત્  
પરમપ્તમદિવસાદૌ તદેવાર્યુદાઘવસ્થામાપઘતે ।

કિન્ન—આપ' સમીચા, અનુપહતદ્રવત્વાત્, અઠકમવ્યસ્થિતકલલત્વત્ ।

કિન્ન—આપો જીવશરીરાણિ, હેઘત્વાત્, મેઘત્વાત્, દૃશ્યત્વાત્, પરચરણાદિ-  
સમુદાયવત્ ।

અપ્કાયકા લક્ષણદ્વાર

શંકા—જલ સચિત્ત છે, હમ વિષય મેં કયા પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—જલ સચિત્ત છે, કયોં કિ શક્ષ કે ઉપઘાત કે વિના હી વહ  
દ્રવ (તરલ) છે, જેસે-હાથી કે શરીર કા ઉપાદાન કલલ । મહાં મૂઝ આત્મિ સે  
વ્યભિચાર હટાને કે લિપ્ 'શક્ષ કે ઉપઘાત કે વિના' યહ વિશેષણ લગાયા ગયા છે ।  
'કલલ' શબ્દ કે ગ્રહણ કરને સે સિર્ફ સાત દિન કા ગર્માશયસ્થિત શુક્રશોણિતમિશ્રિત  
દ્રવપદાર્થ લેના યાહિય્ । આઠવેં દિન સે ઉકકી અર્બુદ આદિ અવસ્થાપ્ત હો જાતી હૈં—અર્થાત્  
વહ ગાદા હોને લગતા છે ।

ઔર મી—જલ સજીવ છે, કયોં કિ વહ અનુપહત દ્રવ છે, જેસે અઢે કા રસ ।

ઔર મી—જલ, જીવ કા શરીર છે, કયોં કિ ઉસકા હેઘન—મેઘન કિયા જાતા છે ઔર  
દૃશ્ય છે, હાથ પગ આદિ કે સમૂહ કી તરહ ।

અપ્કાયનુ લક્ષણદ્વાર—

શંકા—જલ-પાણી સચિત્ત છે એ વિષયમા શું પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—જલ સચિત્ત છે કેમકે શક્ષના ઉપઘાત વિનાજ તે તરલ છે  
જેવી રીતે હાથીના શરીરનું ઉપાદાન “કલલ” અર્થે મૂઝ આદિથી વ્યભિચાર હટાવવા  
માટે ‘શક્ષના ઉપઘાત વિના’ એ વિશેષણ લગાડયું છે “કલલ.” શબ્દના શરૂણુ કર  
વાથી માત્ર સાત દિવસનો ગર્માશયમા રહેલો શુક્રશોણિત-મિશ્રિત દ્રવપદાર્થ સમજવો  
નેહજો આઠમા દિવસથી તેની અર્બુદ આદિ અવસ્થાઓ થઈ બીય છે અર્થાત્ તે કલણ  
યવા લાગે છે

બીજી પક્ષ—જલ સજીવ છે, કેમકે તે અનુપહત દ્રવ છે, જેમકે ઇંડાનો રસ

બીજી પક્ષ—જલ-જીવ-શરીર છે. કેમકે—તેનું હેઘન—મેઘન કરી શકાય છે અને  
દૃશ્ય છે, હાથ-પગ આદિના સમૂહ પ્રમાણે

કિંચ્છાઽવ્યક્તોપયોગાદીનિ કપાયપર્યન્તાનિ જીવલક્ષણાનિ પૃથ્વીકાયોરેભકે  
પ્રાપ્તુક્તાનિ, તેષા જીવલક્ષણાનાં સમન્વયાદાપ સચિત્તા મનુષ્યવદિતિ વિદ્વાયતે ।

एवं तेजस्कायादेरेकेन्द्रियजीवस्यैतानि जीवलक्षणानि सन्तीति बोध्यम् ।

આગમોઽપિ યયા—“આઝ ચિત્તમતમક્તવાયા અળેગજીવા પુઠોસષા” ઇતિ  
(દશૈ અ૦ ૪)

### મરુપણાદ્વારમ્—

અપ્કાયા જીવા દ્વિવિધા, સૂક્ષ્મબાદરમેદાત્ । સૂક્ષ્મનામકર્મોદયાત્

હસ કે અતિરક્ત—અમ્મક ઉપમેગ સે છેકર કપાયપર્યન્ત જીવ કે જો લક્ષણ પૃથ્વીકાય  
કે ડરેશક મે મતલયે હૈં, ઉન સવ જીવ કે લક્ષણો કી વિદ્યમાનતા હોને કે કારણ મી બ્રહ્મ  
સચિત્ત હૈ, જૈસે મનુષ્ય આદિ ।

इसी प्रकार तेजस्काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी जीव के लक्षण हैं, ऐसा समझ  
लेना चाहिए ।

આગમ પ્રમાણ સે મી બહુ સજીવ સિદ્ધ હોતા હૈ—“અપ સચિત્ત કહા ગયા હૈ । ઉસમેં  
અનેક જીવ હૈં ઓર ઉન કા અસ્તિત્વ, અલગ—અલગ હૈ ।” (દશ૦ અ૦ ૪)

### મરુપણાદ્વાર—

અપ્કાય કે જીવ દો પ્રકાર કે હૈં—સૂક્ષ્મ ઓર બાદર । જિનકે સૂક્ષ્મનામ

તે સિવાય અવ્યક્ત ઉપયોગથી લઈને ક્ષાય સુધી જીવનાં જે લક્ષણ પૃથ્વી  
કાયના ઉદ્દેશકમા બતાવ્યા છે તે સર્વ જીવના લક્ષણોની વિદ્યમાનતા હોવાના કારણે  
પણ જલ સચિત્ત છે જેવી રીતે મનુષ્ય આદિ જો પ્રમાણે તેજસ્કાય આદિ એકેન્દ્રિય  
જીવોમાં પણ જીવના લક્ષણ છે જો રીતે સમજી લેવું જોઈએ

આગમ પ્રમાણથી પણ જલ સજીવ સિદ્ધ થાય છે—

“અપ સચિત્ત કહેલું છે; તેમાં અનેક જીવ છે અને તેનું અસ્તિત્વ અલગ—  
અલગ છે” (દશ૦ અ ૪)

### મરુપણાદ્વાર—

અપ્કાયના જીવ બે પ્રકારનાં છે—(૧) સૂક્ષ્મ અને (૨) બાદર જેને સૂક્ષ્મનામ

સૂક્ષ્મા, વાદરનામકર્મોદયાદ્ વાદરા । તન્ન સૂક્ષ્મા દ્વિવિધા-પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાથ ।  
સૂક્ષ્મા. સર્વલોકવ્યાપિન । વાદરા લોકૈકદેશે સન્તિ । વાદરા અષ્ટાયા અનેકવિધા-  
-હિમા-વશ્યાય-મિહિકા-શરફ-હરતનુ-શુદ્ધ-શીતો પ્વા-સારામ્લ-લવણ-ક્ષીર-ઘૃતોદ-  
કાદય । તે સર્વે વાદરા અષ્ટાયા\* મસેપતો દ્વિધા-પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાથ । વાદરાણાં  
યત્રૈકો જીવસ્તત્રાસલ્યેયૈર્વાદરજીવૈર્નિયમતો માધ્યમ્ । વાદરાણાં સ્થાન સમુદ્રહૃદ  
નદીમમૃતય ।

વાદરાણા સૂક્ષ્માણાં ચોમયેપામષ્ટાયાનાં પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદવદન્યેઽપિ  
શરીરત્રયાદિમેદા સન્તિ, તે પૃથ્વીકાયોદેશે પ્રાણુક્તાસ્તત एव बोद्धव्या ।

કર્મકા ઉદય હૈ વે સૂક્ષ્મ કહલાતે હૈં, ઓર વાદરનામકર્મ કે ઉદય વાલે વાદર કહલાતે હૈં ।  
ઇન મેંસે સૂક્ષ્મ જીવ પર્યાપ્ત ઓર અપર્યાપ્ત કે મેદ સે દો પ્રકાર કે હૈં । સૂક્ષ્મ સમ્પૂર્ણ  
લોક મેં વ્યાપ્ત હૈં । વાદર લોક કે એક દેશ મેં હૈં, વાદરઅષ્ટાયા કે અનેક મેદ હૈં-  
હિમ, ઓસ, મિહિકા ( ધૂવર ) ઓલે, હરતનુ ( તૃણકે અગ્ર પર રહ્યા હુઆ પાણી ) શુદ્ધ,  
ગીતલણ, ક્ષાર, આમ્લ, લવણ, ક્ષીર, ઘૃતોદક આદિ । સર્વ વાદર અષ્ટાયા સંક્ષેપ સે  
પર્યાપ્ત તથા અપર્યાપ્ત કે મેદ સે દો પ્રકાર કે હૈં । નહોં એક વાદર જીવ હોતા હૈ  
વહાં નિયમ સે અસંખ્યાત વાદર જીવ હોતે હૈં । સમુદ્ર, તાલબ, નદી વગેરહ વાદર જીવો કે  
સ્થાન હૈં ।

વાદર ઓર સૂક્ષ્મ, દોનો પ્રકાર કે જલકાય કે જૈસે પર્યાપ્ત ઓર અપર્યાપ્ત મેદ ક્રિયે  
ગયે હૈં ઊસી પ્રકાર શરીરત્રય આદિ ઓર મેદ મી હૈં । વે પૃથ્વીકાય કે ઉદેશક મેં બતલાયે  
હૈં । વહીં સે જ્ઞાન લેને ચાહિય ।

કર્મને ઉદય છે તે સૂક્ષ્મ કહેવાય છે અને વાદરનામકર્મના ઉદયવાળા વાદર  
કહેવાય છે તેમાથી સૂક્ષ્મ એવ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના સેદથી બે પ્રકારનાં છે સૂક્ષ્મ  
સર્વ લોકમાં વ્યાપ્ત છે અને વાદર લોકના એક દેશમાં છે વાદર અષ્ટાયાના અનેક  
મેદ છે હિમ, ઓસ, હરતનુ ( તૃણના અગ્ર પર રહેલું પાણી ) શુદ્ધ  
શીત, ઉષ્ણ ક્ષાર, અમ્લ, લવણ, ક્ષીર, ઘૃતોદક આદિ. સર્વ વાદર અષ્ટાયા સંક્ષેપથી પર્યાપ્ત  
તથા અપર્યાપ્તના સેદથી બે પ્રકારના છે જ્યાં એક વાદર એવ હોય છે ત્યાં નિયમથી  
અસંખ્યાત વાદર એવ હોય છે સમુદ્ર, તાલબ, નદી વગેરે વાદર એવાના સ્થાન છે

વાદર અને સૂક્ષ્મ-બન્ને પ્રકારના જલકાયના જેવી રીતે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત  
સેદ કરવામા આવ્યા છે તે પ્રમાણે શરીરત્રય આદિ બીજા સેદો પણ છે તે પૃથ્વી  
કાયના ઉદેશકમાં બતાવેલા છે તે ત્યાંથી બાણી લેવા જોઈએ.

પૃથિવીકાયવદ્ અસહ્યેયાશ્ચ પ્રત્યેકસુખમે । કેવલ શરીરસંસ્થાન સ્તિબુદ્ધિન્દુક  
સંસ્થિતમેવ ।

### પરિમાણદ્વારમ્—

યે વાદરપર્યાપ્તા અપ્કાયા, તે સર્વતિતલોકપ્રતરાશ્ચસ્યેયમાગ  
પ્રદેશરાશ્ત્રિપરિમાણા, યે તુ વાદરા અપર્યાપ્તા, તથા સૂક્ષ્મા પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાશ્ચ  
રાશ્ચયસ્તે પૃથક્-પૃથગસહ્યેયલોકાકાશપ્રદેશરાશ્ત્રિપરિમાણાઃ સન્તિ । અયમપ્ર  
વિશેષ—વાદરપર્યાપ્તેભ્યઃ પૃથિવીકાયેભ્યો વાદરપર્યાપ્તા અપ્કાયા અસહ્યેયગુણા,  
વાદરેભ્યોઽપર્યાપ્તેભ્યઃ પૃથિવીકાયેભ્યો વાદરા અપર્યાપ્તા અપ્કાયા અસહ્યેય-  
ગુણાઃ । સૂક્ષ્માપર્યાપ્તપૃથિવીકાયેભ્ય સૂક્ષ્મા અપર્યાપ્તા અપ્કાયા વિશેષાધિકા,

પૃથ્વીકાય કે સમાન પ્રત્યેક પ્રકાર કે જીવ અસહ્યાત છે । અલબ્ધતા આ કે શરીર ના  
આકાર સ્તિબુદ્ધિન્દુ (બુદ્ધ-બુદ્ધ) કે સમાન છે ।

### પરિમાણદ્વાર—

વાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય કે જીવ સર્વતિત લોકપ્રતર કે અસહ્યેયમાગ પ્રદેશો કે  
બરાબર છે, વાદર અપર્યાપ્ત તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત ઔર અપર્યાપ્ત રાશિયો અલગ અલગ  
અસહ્યાત લોકાકાશ કે પ્રદેશ કે બરાબર છે । યહાં આની વિશેષતા સમજની નાશિય  
કિ—વાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કી અપેક્ષા વાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય અસહ્યાતગુણા છે, ઔર  
વાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કી અપેક્ષા વાદર અપર્યાપ્ત અપ્કાય કે જીવ અસહ્યાતગુણા છે ।  
સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે જીવો સે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપ્કાયિક જીવ વિશેષ અધિક છે

પૃથ્વીકાયની પ્રમાણ પ્રત્યેક પ્રકારના જીવ અસહ્યાત છે અલબ્ધતા તેના શરીરના  
આકાર સ્તિબુદ્ધિન્દુ-બુદ્ધ-બુદ્ધના પ્રમાણ છે

### પરિમાણદ્વાર—

વાદર પર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ સર્વતિત લોકપ્રતરના અસહ્યેય માગ પ્રદેશોના  
બરાબર છે વાદર અપર્યાપ્ત તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત રાશિયો અલગ-અલગ  
અસહ્યાત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે અહિં જોટલી વિશેષતા સમજની જોટલી કે-  
વાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા વાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય અસહ્યાત ગુણા છે, અને  
વાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા વાદર અપર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ અસહ્યાત ગુણા છે  
સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપ્કાયિક જીવ વિશેષ અધિક છે

સૂક્ષ્મ-પર્યાપ્ત-પૃથ્વીકાયેભ્ય સૂક્ષ્મપર્યાપ્તા અષ્ટાયા વિશેષાધિકાઃ ॥ સૂ. ૧ ॥

શ્રીસુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામિનમામન્વ્ય કથયતિ-‘ઇહ ચે.’-ત્યાદિ ।

મૂલમ્—

ઇહં ચ સ્વલુ મો ! અનગારાણ ઉદયં જીવા ત્રિયાદિયા સૂ. ॥ ૧૦ ॥

છાયા—

ઇહં ચ સ્વલુ મોઃ ! અનગારાણામુદર્કં જીવા વ્યાખ્યાતાઃ ॥ સૂ. ૧૦ ॥

ટીકા—

‘મો’ ઇતિ પરસ્પરાલાપવિષયકામન્ત્રણે, તેન મોઃ=હેજમ્બૂ !  
 ઇહ=જિનશાસને સ્વલુ=નિશ્ચયેન અનગારાણાં=દ્રવ્યભાવગૃહરહિતાના મુનીના પ્રતિ-  
 વોધનાયેતિ શ્લેષ., ઉદક જીવા વ્યાખ્યાતા’ ઇતિ, ઉદક જીવપિષ્ઠમૂત-

તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કી અપેક્ષા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અષ્ટાયા કે જીવ વિશેષ  
 અધિક હૈ ॥ સૂ. ૧ ॥

શ્રી સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામી કો સંવોધન કરકે કહતે હૈ—‘ઇહં ચ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—હે શિષ્ય ! જિન શાસન મેં અનગારોં કે લિપ્તે યહ વ્યાખ્યા કી ગઈ હૈ  
 કિ—જલ જીવ હૈ ॥ સૂ. ૧૦ ॥

ટીકાર્થ—‘મો’ શબ્દ સંવોધન કે લિર હૈ । ઇહ કા તાત્પર્ય યહ હુઆ કિ—હે  
 જમ્બૂ ! ઇસ જિન શાસન મેં નિશ્ચય સે અનગારોં અભાવ દ્રવ્ય ઔર ભાવ ગૃહ સે રહિત  
 મુનિયોં કે વોધ કે લિપ્તે ‘જલ જીવ હૈ’ યહ વ્યાખ્યાન ક્રિયા ગયા હૈ । જલ, જીવોં કા

તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અષ્ટાયાના એવ વિશેષ  
 અધિક છે ( સૂ. ૧ )

શ્રી સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને સંવોધન કરીને કહે છે—‘ઇહં ચ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—હે શિષ્ય ! જિનશાસનમાં અણુગણને માટે આ વ્યાખ્યા કરવામાં  
 આવી છે, કે જલ એવ છે ( સૂ. ૧૦ )

ટીકાર્થ—‘મો’ શબ્દ સંવોધન માટે છે તેનું તાત્પર્ય એ યશુ કે—હે જમ્બૂ ! આ  
 જિનશાસનમાં નિશ્ચયથી અણુગણના અભાવ દ્રવ્ય અને ભાવ ગૃહથી રહિત મુનિઓના વોધ  
 માટે ‘જલ એવ છે’ આ વ્યાખ્યાન કરવામાં આવી છે જલ, એવોનો પિંડ છે, એ પ્રમાણે



પૃથિવીકાયવદ્ અસંખ્યેયાશ્વ પ્રત્યેકસુખયે । કેષલ શરીરસંસ્થાન સ્તિબુકન્નિદુક  
સસ્થિતમેવ ।

### પરિમાણદ્વારમ્—

યે વાદરપર્યાપ્તા અપ્કાયા, તે સર્વર્તિતલોકપ્રતરાશ્સંસ્થેયમાગ પ્રદેશરાશિપરિમાણાઃ, યે તુ વાદરા અપર્યાપ્તા, તથા સૂક્ષ્મા' પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાશ્ચ રાશ્યસ્તે પૃથક્-પૃથગસંસ્થેયલોકાશ્ચપ્રદેશરાશિપરિમાણાઃ સન્તિ । અયમત્ર વિશેષ—વાદરપર્યાપ્તેભ્યઃ પૃથિવીકાયેભ્યો વાદરપર્યાપ્તા અપ્કાયા અસંસ્થેયગુણા', વાદરેભ્યોઽપર્યાપ્તેભ્યઃ પૃથિવીકાયેભ્યો વાદરા અપર્યાપ્તા અપ્કાયા અસંસ્થેય-ગુણા' । સૂક્ષ્માપર્યાપ્તપૃથિવીકાયેભ્યઃ સૂક્ષ્મા અપર્યાપ્તા અપ્કાયા વિશેષાધિકા',

પૃથ્વીકાય કે સમાન પ્રત્યેક પ્રકાર કે જીવ અસંખ્યાત હૈં । અલવચા ફન કે શરીર કા આકાર સ્તિબુકન્નિદુ (બુદ-બુદ) કે સમાન હૈ ।

### પરિમાણદ્વાર—

વાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય કે જીવ સર્વર્તિત લોકપ્રતર કે અસંખ્યેયમાગ પ્રદેશો કે બરાબર હૈં, વાદર અપર્યાપ્ત તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત ઔર અપર્યાપ્ત રાશિયો અક્ષમ અક્ષમ અસંખ્યાત લોકાકાશ કે પ્રદેશ કે બરાબર હૈં । મહોં ફતની વિશેષતા સમજની જાહિય કિ—વાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કી અપેક્ષા વાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય અસંખ્યાતગુણા હૈં, ઔર વાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કી અપેક્ષા વાદર અપર્યાપ્ત અપ્કાય કે જીવ અસંખ્યાતગુણા હૈં । સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે જીવો સે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપ્કાયિક જીવ વિશેષ અધિક હૈં

પૃથ્વીકાયની પ્રમાણે પ્રત્યેક પ્રકારના જીવ અસંખ્યાત છે અલબત્ત તેના શરીરના આકાર સ્તિબુકન્નિદુ—બુદ—બુદના પ્રમાણે છે

### પરિમાણદ્વાર—

બાદર પર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ સર્વર્તિત લોકપ્રતરના અસંખ્યેય ભાગ પ્રદેશોના બરાબર છે બાદર અપર્યાપ્ત તથા સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત રાશિઓ અલબ-અલગ અસંખ્યાત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે અર્થે ખોટલી વિશેષતા સમજની નોંધજો કે—બાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા બાદર પર્યાપ્ત અપ્કાય અસંખ્યાત ગુણા છે, અને બાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયની અપેક્ષા બાદર અપર્યાપ્ત અપ્કાયના જીવ અસંખ્યાત ગુણા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના જીવોથી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અપ્કાયિક જીવ વિશેષ અધિક છે

જલમ્ । મિશ્ર સચિત્તાચિત્સંમિલિતમ્ । એતદ્ દ્વય ધ્યાપ્રાણમ્ । અચિત્તં દ્વિવિધં  
સ્વભાવતઃ, શસ્ત્રસપર્કતઃ । સ્વભાવતોઽચિત્ત જલ કેવલિ-મનઃપર્યયાઽવધિ-શ્રુત-  
જ્ઞાનિનસ્તજ્ઞાનાના અપિ ન સેવન્તે, અનવસ્થાદોષપ્રસક્તાત્, વ્યવહારાશુદ્ધેષ ।  
પ્રસિદ્ધ ચ યત્ કદાચિત્સ્વભાવતોઽચિત્તજલપરિપૂર્ણ દ્રુદ, સ્વભાવતોઽચિત્તીભૂત તિલાદિક  
ચ દૃષ્ટ્વા વ્યવહારાશુદ્ધત્વાત્પિપાસાધુષાપરિપીઢિતાનામપિ સાધૂના પાનાર્થ મક્ષણાર્થ  
ચ તપ્રાજ્ઞા ન કૃતા મગવતેતિ । યત્તુ શસ્ત્રસપર્કાદચિત્ત જલ તત્ સાધૂનામુપભોગાય  
ગ્રાહ્ય, તેન સયમનિર્વાહો ભવતિ । કિં તચ્છસ્ત્રમ્ ? इत्याह-‘सत्य’ इत्यादि ।

નદી, કૂપ, તાલાવ આદિ કા જલ સચિત્ત, ઔર અચિત્ત મિલા જલ મિશ્ર  
ફરહાતા હૈ । યહ્ દોનો પ્રકાર કા જલ સાધુ કે લિયે અપ્રાહ્ય હૈ । અચિત્ત જલ દો  
પ્રકાર કા હૈ-સ્વભાવ સે અચિત્ત ઔર શક્તિ સંયોગ સે અચિત્ત । સ્વભાવ સે અચિત્ત  
જલ કો કેવલી, મન પર્યયજ્ઞાની, અવધિજ્ઞાની, તથા શ્રુતજ્ઞાની, જ્ઞાનતે હૈં, મગર ઉસ કા  
સેવન નહીં કરતે । સેવન કરને સે અનવસ્થા દોષ આતા હૈ ઔર વ્યવહાર અશુદ્ધ હો  
જાતા હૈ । યહ્ વાત પ્રસિદ્ધ હૈ કિ-કદાચિત્ સ્વભાવ સે અચિત્ત જલ સે મરા હુઆ  
તાલાવ, તથા સ્વભાવ સે અચિત્ત તિલ, આદિ કો દેસકર વ્યવહાર મેં અશુદ્ધ હોને કે  
કારણ વ્યાસ ઔર મૂલ્ય સે પીઢિત સાધુઓ કો મી પીને-સાને કી આજ્ઞા મગવાનને નહીં  
દી હૈ । જો જલ, શક્તિ સંયોગ સે અચિત્ત હો ગયા હો વહી સાધુઓ કે લિપ, પ્રાહ્ય  
હોતા હૈ । પેસા કરને સે હી સંયમ કા પાલન હોતા હૈ । વહ શક્તિ ક્યા હૈ, યહ્ વતલાને  
કે લિપ્ત ફરહતે હૈ-‘સત્ય’ इत्यादि ।

નદી, કૂવા, તળાવ આદિનું જલ સચિત્ત છે સચિત્ત અચિત્ત બન્ને પ્રકારનું બેશુ ધરેલું જલ  
મિશ્રકહેવાય છે આ બન્ને પ્રકારના જલ સાધુઓ માટે અપ્રાહ્ય છે અચિત્ત જલ બે પ્રકારનું  
છે (૧) સ્વભાવથી અચિત્ત અને (૨) શક્તિના સંયોગથી અચિત્ત. સ્વભાવથી અચિત્ત જલને  
કેવલી, મન પર્યયજ્ઞાની, અવધિજ્ઞાની તથા શ્રુતજ્ઞાની બોલે છે, પરંતુ તેનું સેવન કરતા  
નથી-સેવન કરવાથી અનવસ્થા દોષ આવે છે, અને વ્યવહાર અશુદ્ધ થઈ જાય છે જો વાત  
પ્રસિદ્ધ છે કે-કદાચિત્ સ્વભાવથી અચિત્ત જલથી ભરેલું તળાવ તથા સ્વભાવથી અચિત્ત  
તલ આદિને જોઈને વ્યવહારમાં અશુદ્ધ હોવાના કારણે તરસ અને ભૂખથી પીડિત  
સાધુઓને પણ પીવા-ખાવાની આજ્ઞા મગવાને આપી નથી જે જલ શક્તિના સંયોગથી  
અચિત્ત થઈ ગયું હોય તે જલ સાધુઓ માટે પ્રાહ્ય હોય છે જો પ્રભાણે કરવાથી  
સયમનું પાલન થાય છે તે શક્તિ શું છે ? જો બતાવવા માટે કહે છે-‘સત્ય’ इत्यादि.

મસ્તીતિ મગવતા કેવલાલોકેન વિજ્ઞાયાનગારેમ્યઃ સયમરક્ષણાર્થમુદકં જીવત્સેન  
પ્રતિવોધિતમિત્યર્થ । ‘ચ’-શબ્દાત્ સદાશ્રિતા અન્યે દ્રીન્દ્રિયાદયોઽપિ જીવા  
વ્યાખ્યાતા इति बोधितम् । यो बिन्दुमात्रोदकविराधक, स पट्जीवनिष्काय-  
विराधको भवतीति वर्तुलार्थः ॥ सू० १० ॥

સૂત્રદ્વારમ્—

મનુ યદિ જીવપિષ્ઠભૂતમુદકં મગવતા પ્રોક્ત તર્હિ ઉદકસેવિનાં મુનીનામવચ્ચં  
પ્રાણાતિપાતદોષસમ્પાતઃ, તેન કયં સયમઃ સંયમિનાં સપદ્યતે ? ઉચ્યતે—

સચિત્તચિત્તમિશ્રમેદેન ત્રિવિધમુદકમ્ । તત્ર સચિત્ત-નદીકૂપતટાગાદિ-

પિષ્ઠ છે, इस प्रकार मगवान् ने केवलज्ञान से जानकर साधुओं के समय की रक्षा के  
लिए जल को जीव मतलैया है । सूत्र में दिये हुए ‘च’ शब्द से यह प्रकट किया  
गया है कि जल के आश्रित दूसरे इंद्रिय आदि जीव भी हैं । संक्षेप में तात्पर्य यह है  
कि—जो पुरुष एक बिन्दु जल की विराधना करता है वह पट्काय के जीवों का  
विराधक है ॥ सू० १० ॥

સૂત્રદ્વાર—

ઇંકા—યદિ જલ જીવોં કા પિષ્ઠ છે, પેસા મગવાને કહ્યા છે તો જલકા સેવન  
કરને વાલે મુનિયોં કો દિસા કા વોષ લગતા છે । પેસી સ્થિતિ મેં સાધુઓં કા સયમ કિસ  
પ્રકાર કાયમ રહ સકતા છે ?

સમાધાન—જલ ત્રીન પ્રકાર કા છે—(૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત ઔર (૩) મિશ્ર

મગવાને કેવલજ્ઞાનથી જાણી કરીને સાધુઓના સયમની રક્ષા માટે જલને એવ  
તરીકે બતાવ્યું છે સૂત્રમાં આપેલા ‘ચ’ શબ્દથી એ પ્રગટ કરવામાં આવ્યું છે કે—  
જલના આશ્રિત બીજા દ્રીન્દ્રિય આદિ એવ પણ છે સંક્ષેપમાં તાત્પર્ય એ છે કે—  
જો પુરુષ એક ટીપા જલની વિરાધના કરે છે તે પટ્કાયના એવાનો વિરાધક છે (સૂ. ૧૦)

સમ્બદ્ધાર—

શ કા—જો જલ એવાનો પિંઠ છે એ પ્રમાણે મગવાને કહ્યું છે તો જલનું  
સેવન કરવાવાળા મુનિઓને દિસારોષ લાગે છે એવી સ્થિતિમાં સાધુઓનો સયમ  
કાયમ કેવી રીતે રહી શકે છે ?

સમાધાન—જલ ત્રણ પ્રકારનું છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત અને (૩) મિશ્ર.

मिश्रजल च । उभयकायशस्त्रपरिणतमपि न ग्राह्यम्, तत्र मिश्रशङ्कासद्भावात् । परकायशस्त्रपरिणतमेव जल मुनीनां ग्राह्यम्, परकायशस्त्र चाप्कायस्य अग्नि-मृत्तिका-द्राक्षा-शाक-तण्डुल-पिष्ट-दाली-चणकादिकम् । परकायशस्त्रपरिणत=वर्णादीनां पूर्वावस्थायैलक्षण्यपन्नम् । तत्र वर्णतो धूसरत्वादिरूप, गन्धतस्तत्तद्वस्तुसम्बन्धि-गन्धवत्त्वम्, रसतस्तत्तद्वस्तुसम्बन्धितकटुकपायादिरसवत्त्वम् । स्पर्शतः स्निग्धरूक्षत्वादिरूपम् । तदेवमभूतमचित्त जलमस्यैवाङ्गस्य द्वितीयभुतस्कन्धे पानेपणायामेकविंशतिविधं मुनीनां ग्राह्यत्वेन वक्ष्यते भगवता । तथाहि—

जल के लिए गर्म जल अथवा मिट्टी आदि से मिला हुआ जल । उभयकायशस्त्र से परिणत जल भी साधुओं के लिए ग्राह्य नहीं है, क्योंकि उस में मिश्र (सचित्ताचित्त) की शङ्का रहती है । मुनियों के लिए परकायशस्त्रपरिणत जल ही ग्रहण करने योग्य है । अप्काय का परकायशस्त्र—अग्नि, मिट्टी, दास, शाक, चावल, आटा, दाल, और चना आदि हैं ।

पहले की अपेक्षा वर्ण, रस गंध आदि बदल जाना परकायशस्त्र से जल के परिणत (अचित्त) हो जाने की पहचान है । वर्ण से जल का धूसर आदि हो जाना, गंध से उस में मिली हुई वस्तुओं की गंध आने लगना, इसी प्रकार जल में मिली हुई वस्तुओं का तीखा, कड़वा, कसैला आदि रस का स्वाद आ जाना, और स्पर्श से जल का रूखा, चिकना आदि हो जाना जल के अचित्त होने के लक्षण हैं ।

भजेत्तु जल. उभयकाय शस्त्रयोः परिणत जल पक्ष साधुषां भाटे ग्राह्यं नथी ढेभके-  
तेभां मिश्र (सचित्ताचित्त) नी शङ्का रहे छे मुनिषां भाटे परकायशस्त्रपरिणत जलज  
अक्षय करवा योअ छे अन्धायतुं परकायशस्त्र, अग्नि, भाटी, द्राक्ष, शाक, चावल,  
दोह, दास अने यक्षु आदि छे

पहोवा करता जेनां वर्ण, रस, गंध, आदि अक्षय अथ ते परकायशस्त्रयो  
जल परिणत (अचित्त) अथ जलानी जे निशानी अर्थात् ज्ञानभाष छे

पक्षुथी जलतुं धूसर आदि अथ जल, गंधथी तेभा भजेदी वस्तुजानी गंध  
आवदी, जे प्रभाषे जलमां भजेदी वस्तुजोना तीया, कड़वा, कसैला आदि रसने  
स्वाद आवी जेवा, अने स्पर्शथी जलतुं रूख अक्षय आदि अथ जल जे जल  
अचित्त होवानी लक्षण छे

મૂલ્ય—

સત્ય ચેત્ય અણુવીહ પાસ, પુટો સત્ય પવેદ્ય ॥ સૂ. ૧૧ ॥

છાયા—

શસ્ત્ર ચાત્ર અનુવિચિન્ત્ય પદ્ય, પૃથક્ શસ્ત્ર પ્રવેદિતમ્ ॥ ૧૧ ॥

ટીકા—

અસ્મિન્ પ્રસ્તુતેઽપ્કાયે શસ્ત્ર-શસ્યતે=હિંસ્યતે પ્રાણી યેન તચ્છસ્ત્રમ્ અનુવિચિન્ત્ય  
 =‘ઇદમપ્કાયસ્ય શસ્ત્રમ્’ इति विचार्य, પદ્ય=હે શિષ્ય ! જ્ઞાનદૃષ્ટિયા વિલોક્ય ।  
 શસ્ત્રમ્=ઉપમર્દકં પ્રસ્તુતત્વાદપ્કાયસ્ય પૃથક્=વિભિન્નરૂપ સ્વકાયપરકાયોમયકાય  
 મેવાત્ ત્રિવિધમિત્યર્થ પ્રવેદિતં=પરિવોધિત ભગવતેતિશેષઃ । તત્ર સ્વકાયસશ્ત્રં  
 નઘાણુદકાનાં કૂપાણુદકમ્ । કૂપાણુદકાના નઘાણુદક ચ । સ્વકાયસશ્ત્રપરિણત  
 બલં સાધૂનામપ્રાણ વ્યવહારાશુદ્ધેઃ । ઇમયકાયસશ્ત્રં કૂપાદિજલસ્યોઽજલં મૃત્તિકાદિ

મૂલાર્થ—અપ્કાય કે વિષય મેં, હે શિષ્ય । શસ્ત્ર કા વિચાર કરો । અપ્કાય કે  
 શસ્ત્ર પૃથક્-પૃથક્ સમજાવે ગયે હૈ ॥ સૂ. ૧૧ ॥

ટીકાર્થ—જિસ કે દ્વારા હિંસા હો વહ શસ્ત્ર કહલગતા હૈ, હે શિષ્ય ।  
 અપ્કાય કે વિષય મેં ‘યહ અપ્કાય કા શસ્ત્ર હૈ’ इस प्रकार विचार करो अप्कાય के  
 शस्त्र स्वकाय, परकाय और उभयकाय के भेद से नाना प्रकार के भगवान् ने बतलाये हैं ।  
 કુંપકા બલ નદી કે બલ કે લિપ્ સ્વકાયશસ્ત્ર હૈ, इसी प्रकार नदी आदि का बल  
 कुँए के बल के लिए स्वकायशस्त्र है । स्वकायशस्त्र से परिणत बल साधुओं के लिए  
 પ્રાણ નહીં હોતા, ક્યોં કિં વહ વ્યવહાર મેં અશુદ્ધ હૈ । उभयकायशस्त्र है—कुँए आदि के

મૂલાર્થ—અપ્કાયના વિષયમા હે શિષ્ય । શસ્ત્રનો વિચાર કરો અપ્કાયનાં  
 શસ્ત્ર જુઠાં જુદાં સમજાવ્યા છે (સૂ. ૧૧)

ટીકાર્થ—જેના દ્વારા હિંસા થઈ શકે તે શસ્ત્ર કહેવાય છે, હે શિષ્ય । અપ્કાયના  
 વિષયમા ‘આ અપ્કાયનું શસ્ત્ર છે’ એ પ્રમાણે વિચાર કરો અપ્કાયનાં શસ્ત્ર સ્વકાય, પરકાય,  
 અને ઉભયકાયના સેઠથી નાના પ્રકારના ભગવાને બતાવ્યાં છે કુવાનું જલ, નદી આદિનાં  
 જલ માટે સ્વકાયશસ્ત્ર છે એ પ્રમાણે નદી આદિનું જલ કુવાના જલ માટે સ્વકાયશસ્ત્ર  
 છે સ્વકાયશસ્ત્રથી પરિણત જલ સાધુઓ માટે પ્રાણ શકેતું નથી, કારણ કે તે બ્યવહારમા  
 અશુદ્ધ છે. ઉભયકાયશસ્ત્ર છે કુવા આદિનાં જલ માટે બરમ જલ, અથવા માટી વગેરેથી

इति मापायां, तस्य पानकम्=पावनजलम् । (१३) द्राक्षापानकम्=द्राक्षापावनजलम् । (१४) दाहिमपानकम्=दाहिमपावनजलम् । (१५) खर्जूरपानकम्=खर्जूरपावन-जलम् । (१६) नालिकेलपानकम्=नालिकेलपावनजलम् । (१७) करीरपानकम्=करीरपावनजलम् । (१८) कोलपानकम्=वदरपावनजलम् । (१९) आमलकपानकम्=आमलकपावनजलम् । (२०) चिञ्चपानकम्=चिञ्चा-अम्लिका 'इमली' इति मापायां, तस्यां पानकम्=पावनजलम् । (२१) शूद्रचिकित्तम्=अग्न्युत्कालितमुष्णं जलं च ।

इह श्लेषद्वाराणि पृथिविकायषद् विज्ञेयानि ।

ये तु शाक्यादयः सचित्ताष्कायोपभोगिनः सन्ति तेषु शाक्यादयः स्त्रोपभोगार्यम् 'आपो ब्रवीन् न सन्ति' इति प्रतिपादयन्ति, दण्डिनस्तु जलं सचितं मन्यमाना अपि मोहप्रमादवशतः स्वार्थमुत्कालयन्ति, परमुपदिशन्ति, च, यथा त्रिदण्डमुत्કालनीयं जलम्, इत्युपदिश्याष्कायसमारम्भं कारयन्तो न केवलमष्कायं विहिंसन्ति, किन्तु तदाधितानन्यानापि द्वीन्द्रियान् विराधयन्ति ।

કા ઘોવન (૧૫) સજૂર કા ઘોવન (૧૬) નારિયલ કા ઘોવન (૧૭) ફેર કા ઘોવન (૧૮) વેર કા ઘોવન (૧૯) ઑવલે કા ઘોવન (૨૦) રમણી કા ઘોવન (૨૧) અગ્નિ સે ઉકાલા હુઆ ગર્મ જલ ।

જો શાક્ય આદિ સચિત્ત અપ્કાય કા સેવન કરતે હૈ, સન મેં સે શાક્ય આદિ અપને ઉપમોગ કે લિપ્ 'જલ સચિત નહીં હૈ' હસ પ્રકાર કી પ્રરૂપણા કરતે હૈ । ઢણ્ડી લોક જલ કો સચિત્ત માન કર કે મી મોહ ઓર પ્રમાદ કે વશ હો કર અપને લિપ્ પાની ગરમ કરવાતે હૈ ઓર દૂસરો કો ઉકાલને કા ઉપદેશ દેતે હૈ કિ-જલ ત્રીન ઢણ્ડ, ઉકાલના ચાહિય । અર્થાત્ ત્રીન ઉકાલેકા પાની હોના ચાહિયે । હસ પ્રકાર ઉપદેશ દેકર અપ્કાય કા સમારમ્ભ કરતે હુપ ન કેવલ અપ્કાય કી હિંસા કરતે હૈ અપિ તુ જલ મેં રહને વાલે દ્વીન્દ્રિય આદિ કી મી વિરાધના કરત હૈ ।

ધાવણ (૧૬) નાશીએલનુ ધાવણ (૧૭) કેરનુ ધાવણ (૧૮) બારાનુ ધાવણ (૧૯) આબળાનુ ધાવણ (૨૦) આબલીનુ ધાવણ (૨૧) અમિથી ઉકાળેલું ગરમ જલ.

જે શાક્ય આદિ સચિત્તઅપ્કાયનુ સેવન કરે છે તેમાંથી શાક્ય આદિ પોતાના ઉપભોગ માટે 'જલ સચિત નથી' એ પ્રકારની પ્રરૂપણા કરે છે હા જલને સચિત્ત માનીને પણ મોહ અને પ્રમાદ વશ થઈ પોતાના માટે પાણી ગરમ કરાવે છે, અને બીજાને પાણી ગરમ કરવાનો ઉપદેશ આપે છે કે-જલ ત્રણ ઢણ-ઉકાળા આપીને ઉકાળવું જોઈએ. આ પ્રમાણે ઉપદેશ આપીને અપ્કાયનો સમારમ્ભ કરતા થકા કેવળ અપ્કાયનીજ હિંસા કરે છે, એટલુંજ નહીં પરન્તુ જલમાં રહેવાવાળા દ્વીન્દ્રિય આદિની પણ વિરાધના કરે છે

(૧) ઉત્સ્વેદમ્=પિષ્ઠસપ્તપિઠરાદિપ્રસાલનજલમ્ । (૨) સસ્વેદમ્=સસેકિમ ઘા=ઉત્કાલિતતિલધાવનજલ, ઉત્કાલિતપત્રશાકાદિધાવનજલ યા ।  
 (૩) તન્દુલોદકમ્=તન્દુલધાવનજલમ્ । (૪) તિલોદકમ્=તિલધાવનજલમ્ ।  
 (૫) તુપોદકમ્=ગ્રીહિધાવનજલમ્ । (૬) યથોદકમ્=યથાધાન્યસાલનજલમ્ ।  
 (૭) આચામકમ્=અવધ્રામણજલ 'ઔસામણ' इति मापामसिद्धम् । (૮) સૌચીરમ્=આરનાલ, તક્રપાત્રધાવનજલ, તક્રોપરિગ્રાભિસ્તારિતજલ યા 'આંછ' इति मापायाम् ।  
 (૯) આમ્રફલાદિધાવનજલમ્ । (૧૦) આમ્રાતકપાનકમ્=આમ્રાતકધાવનજલમ્ ।  
 આમ્રાતકમિતિ 'અમ્વાહી' इति मापामसिद्धम् । (૧૧) કપિત્થપાનકમ્=કપિત્થ='કવિઠ' इति मापायां, तस्य धावनजलम् । (૧૨) માતુલિન્નમ્ 'વિજોરા'

હસ પ્રકાર કા અવિષ્ત જલ હસી સૂત્ર કે દૂસરે યુત્તસ્કન્ધ મેં 'પાનૈષણા' પ્રકરણ મેં  
 હકીસ પ્રકાર કા મગવાન્ ને સાધુઓ કે લિપ્ત માલ કહા હૈ । વહ હસ પ્રકાર -

(૧) ઉત્સેદ-ઘાટેકા મિછા હુઘા પીઠર (કચોટી) આલિકા ધોવન ।

(૨) સસ્વેદ (સસેકિમ) ડકાળે હુપ તિલોકા ધોવન યા ડકાળે હુપ પત્તો કે  
 શાક કા ધોવન ।

(૩) ચાવલોં કા ધોવન, (૪) તિલોં કા ધોવન, (૫) ધાન્યકા ધોવન, (૬) જૌ કા  
 ધોવન (૭) ઓસામણ, (૮) આરનાલ, છાછ કે વર્તનો કા ધોવન, અથવા છાછ કે ઉપર કા  
 નિતારા પાની બિસે 'આંછ' મી કહતે હૈ ।

(૯) આમ્ર આલિ ફલોં કા ધોવન (૧૦) અમ્વાહી કા ધોવન (૧૧) કવિઠ  
 (કૈય) કા ધોવન (૧૨) વિજોરે કા ધોવન (૧૩) દાલ્લ કા ધોવન (૧૪) દાલિમ (બનાર)

આવા પ્રકારનું અવિષ્ત જલ આ સૂત્રના બીજા યુત્તસ્કન્ધના પાનૈષણા-પ્રકરણમાં  
 એકવીશ પ્રકારનું મગવાને સાધુઓ માટે આલ કહ્યું છે, તે આ પ્રમાણે છે -

(૧) ઉત્સ્વેદ-ઘાટ મળેલું, કચોટ આલિનું ધોવણું.

(૨) સસ્વેદ-ઠંડાળેલા વલનું ધોવણું, અથવા ઠંડાળેલા પત્તાવાળાં શાકનું ધોવણું.

(૩) ચોખાનું ધોવણું. (૪) વલનું ધોવણું (૫) ધાન્યનું ધોવણું. (૬) જવનું  
 ધોવણું. (૭) ઓસામણ (૮) આરનાલ-છાસના વાસણોનું ધોવણું, અથવા છાસની ઉપર  
 નીતરેલ ચાણી. જેને 'આંછ' પણ કહે છે

(૯) આમ્ર-આમ્ર આલિ ફળોનું ધોવણું. (૧૦) અમ્વાહીનું ધોવણું (૧૧) કાલનું  
 ધોવણું (૧૨) વિજોરાનું ધોવણું. (૧૩) દાલનું ધોવણું (૧૪) દાલિમનું ધોવણું. (૧૫)

### ટીકા—

‘અથવા’—શબ્દઃ કથિતસ્યાર્થસ્ય પ્રકારાન્તરેણ સ્પષ્ટીકરણે વર્તતે । યેઽપ્કાયા-  
રમ્મિગસ્તેષામદત્તાદાનદોષાપત્તિરપિ । યતોઽપ્કાયજીવૈસ્તેમ્યો નાર્પિતાનિ સ્વશરીરાણ્યુ-  
પમર્દયિતું, તે ચ તાનિ વાહ્મન.કાયયોગે\* કૃતકારિતાનુમોદિતૈરુપમર્દયન્તિ, તત-  
ત્રાપ્કાયારમ્મિગામદત્તાદાનદોષોઽપ્યનિવાર્યો ભવતિ, તસ્માદ્દુમ્મુક્ષુભિ સર્વથાઽપ્કાયા-  
રમ્મો વર્જનીયઃ, ઇતિ મગવતા સાક્ષાત્પ્રોક્તમ્ ॥ સૂ. ૧૨ ॥

સચિત્તજલોપમોગિનો હિ પૃષ્ઠા સન્તો યદ્ વદન્તિ તદાહ—

યદ્વા—અપ્કાયારમ્મ સ્વય પરિહર્તુમક્ષમા\* શાક્યાદયો યદ્વદન્તિ તદાહ—  
‘કપ્પહ પે.’ ઇત્યાદિ ।

ટીકાર્થ—પહેલે કહી હુઐ વાત કા દૂસરી તરહ સે સ્પષ્ટીકરણ કરને કે લિયે  
‘અથવા’ શબ્દ હૈ । ઓ અપ્કાય કા આરમ કરતે હૈં ઉન્હેં અદત્તાદાન કા દોષ મી છગતા  
હૈ । કારણ યહ હૈ કિ—અપ્કાય કે જીવોં ને અપને શરીર ઉપમર્દન કરને કે લિપ્ ઉન્હેં સૌ પે  
નહીં હૈં, ફિર મી વે હોગ મન, વચન, કાય સે ઔર કૃત, કારિત, અનુમોદના સે ઉનકા  
ઉપમર્દન કરતે હૈં અત અપ્કાય કા આરમ કરને વાલોં કો અદત્તાદાન કા દોષ અનિવાર્ય  
હૈ । અત મુમુક્ષુ પુરુષોં કો અપ્કાય કા આરમ ત્યાગના ચાહિપ્ ! પેસા ભગવાન્ ને સાક્ષાત્  
કહા હૈ ॥ સૂ. ૧૨ ॥

સચિત્ત બલકા ઉપયોગ કરનેવાળે પૂછનેપર જો ઉત્તર દેતે હૈં સો કહતે હૈં—  
અથવા જો હોગ અપ્કાય કે આરમ કો ત્યાગને મેં અસમર્થ હૈં ઉનકા કથન બતલાતે હૈં—  
‘કપ્પહ પે’ ઇત્યાદિ ।

ટીકાર્થ—પ્રથમ કહેલી વાતને બીજી રીતથી સ્પષ્ટીકરણ કરવાના અર્થમાં  
‘અથવા’ શબ્દ છે જે અપ્કાયનો આરમ કરે છે, તેને અદત્તાદાનનો દોષ પણ લાગે  
છે, કારણ એ છે કે—અપ્કાયના જીવોએ પોતાનું શરીર ઉપમર્દન કરવા માટે તેને સોંપ્યું  
નથી. તો પણ તે હોઠો મન, વચન અને કાયાથી અને કર્મ, કરાવણું તથા અનુમોદન  
તે વડે કરી ઉપમર્દન કરે છે, તે કારણથી અપ્કાયનો આરમ કરવાવાળાને અદત્તા  
દાનનો દોષ પણ અનિવાર્ય (ટાળી ન શકાય તેવો) છે એ માટે મુમુક્ષુ પુરુષોએ  
અપ્કાયનો આરમ ત્યાગી દેવો જોઈએ એ પ્રમાણે ભગવાને સાક્ષાત્ કહ્યું છે (સૂ. ૧૨)

સચિત્ત બલને ઉપયોગ કરવાવાળાને પૂછતા જે ઉત્તર આપે છે—તે કહે છે,  
અથવા જે હોઠ અપ્કાયના આરમને ત્યજવામાં અસમર્થ છે તેમનું કહેવું—કથન  
બતાવે છે—‘કપ્પહ પે’ ઇત્યાદિ



દૃશ્યન્તે ચ તીર્થાદિષુ અષાઃકર્માદિદોષદૂષિતમક્તપાનાદિગ્રહણેનાજ્ઞાપાદિમહાસમારમ્મે  
કુર્વાણા. । ન ચ તે સ્વાત્માન મવસાગરાત્તારયિતુ સમર્થા મવન્તિ, ઉક્તચ્ચ-મગવાનો-  
ચરાખ્યયનસૂત્રે-(અધ્ય ૨૦ )

“ ચિરપિ સે મુઠરુઈ મવિત્તા, અથિરજ્વળ તવનિયમેઈ મથ્તે ।  
ચિરંપિ અપ્પાણ મિલેસજ્જા, ન પારણ હોઈ હુ સપરાય ” ॥ સૂ. ૧૧ ॥

ન કેવલ તે હિંસાદોષમાગિન , અપિ ત્વયદોષમાગિનોઽપિ સત્તિ, તદ્વચ  
મગવાનાહ-‘ અદુવા ’ શ્ત્યાદિ ।

મૂલમ્—

અદુવા અદિજ્ઞાદાણ ॥ સૂ. ૧૨ ॥

છાયા—

અથવા અદત્તાદાનમ્ ॥ સૂ. ૧૨ ॥

તીર્થ આદિ પર આધાકર્મ આદિ દોષો સે દૂષિત આહારપાની પ્રહણકરકે અપ્કાયકા મહારમ  
કરતે હુપ દેલે જાતે હૈં । તે અપને આત્મા કો મવસાગર સે તારને મેં સમર્થ નહીં હૈં । મગવાન  
ને ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર (અધ્યયન ૨૦ ) મેં કહા હૈં—

“ જો પુરુષ અસ્થિર વ્રત વાચા હૈં જૌર તપ તથા નિયમો સે જ્રહ હૈં વહ ચિરકાલ તક  
અપને આત્મા કો ક્લેશ પહુંચાને પર મી સપરાય (સંસાર સે ) પાર નહીં હો જક્તા ”  
(ઉત્ત અ ૨૦ ) ॥ સૂ. ૧૧ ॥

સચિત્ત જલ્લ કા આરમ કરને વાલે જ્જલેલી હિંસા કે હી માગી નહીં હૈં, કિન્તુ જન્ય  
દોષો કે માગી મી હૈં । અહીં વ્રત મગવાન કહતે હૈં-‘અદુવા ’ શ્ત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—અથવા અદત્તાદાન કા લોષ લગતા હૈં ॥ સૂ. ૧૨ ॥

તીર્થ આદિ પર આધાકર્મ આદિ દોષોથી દૂષિત આહાર-પાણી અઢણ કરીને  
અપ્કાયને મહારમ કરતા હોય જ્યેમ જોવામાં આવે છે તે પોતાના આત્માને મવસાગરથી  
તારવામાં સમર્થ નથી. મગવાને-ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં (અધ્યયન ૨૦માં) કહ્યું છે કે -

“ જે પુરુષ અસ્થિર વ્રતવાળા છે અને તપ તથા નિયમોથી જ્રહ છે, તે લાંબા  
સમય સુધી પોતાના આત્માને ક્લેશ પહોંચાડવા ઉપરાંત પણ સંસારથી પાર થઈ  
શકતા નથી.” (ઉત્તરાં અ. ૨૦) (સૂ. ૧૧)

સચિત્ત જલ્લને આરમ કરવાવાળા જ્યેકથી હિંસાનાજ ભાગી નથી પરન્તુ જન્ય  
દોષોના પણ ભાગી છે તે વાત મગવાન કહે છે-‘અદુવા ’ શ્ત્યાદિ

સુહાર્થ—અથવા અદત્તાદાનનો લોષ લાગે છે (સૂ. ૧૨)

### ટીકા—

‘અથવા’-શબ્દઃ કથિતસ્યાર્થસ્ય પ્રકારાન્તરેણ સ્પષ્ટીકરણે વર્તતે । યેઽપ્કાયા-  
રમ્મિગસ્તેપામદત્તાદાનદોષાપચિરપિ । યતોઽપ્કાયજીવૈસ્તેમ્યો નાર્પિતાનિ સ્વશરીરાણ્યુ-  
પમર્દયિતુ, તે ચ તાનિ ઘાટ્મનઃકાયયોગે કૃતકારિતાનુમોદિતૈરુપમર્દયન્તિ, તત્ત-  
થાપ્કાયારમ્મિગામદત્તાદાનદોષોઽપ્યનિવાર્યો ભવતિ, તસ્માદ્દુઃખમિઃ સર્વથાઽપ્કાયા-  
સ્મ્મો વર્જનીયઃ, ઇતિ મગવતા સાક્ષાત્પ્રોક્તમ્ ॥ સૂ૦ ૧૨ ॥

સચિત્તજલોપમોગિનો હિ પૃષ્ઠા સન્તો યદ્ વદન્તિ તદાહ—

યદ્વા-અપ્કાયારમ્મ સ્વય પરિહર્તુમક્ષમાઃ શ્વાક્યાદયો યદ્વદન્તિ તદાહ—  
‘કપ્પહ પે.’ ઇત્યાદિ ।

ટીકાર્થ—પહેલે કહી હુદ્ વાત કા દૂસરી તરહ સે સ્પષ્ટીકરણ કરને કે લિયે  
‘અથવા’ શબ્દ હૈ । જો અપ્કાય કા આરમ કરતે હૈં ઉન્હેં અવત્તાદાન કા દોષ મી લગતા  
હૈ । કારણ યહ હૈ કિ-અપ્કાય કે જીવોં ને અપને શરીર ઉપમર્દન કરને કે લિયે ઉન્હેં સૌ પે  
ન્હોં હૈં, ફિર મી વે લોગ મન, વચન, કાય સે ઔર કૃત, કારિત, અનુમોદના સે ઉનકા  
ઉપમર્દન કરતે હૈં અત અપ્કાય કા આરમ કરને વાલોં કો અવત્તાદાન કા દોષ અનિવાર્ય  
હૈ । અત મુમુક્ષુ પુરુષોં કો અપ્કાય કા આરમ ત્યાગના ચાહિય । પેસા ભગવાન્ ને સાક્ષાત્  
કહા હૈ ॥ સૂ૦ ૧૨ ॥

સચિત્ત જલકા ઉપયોગ કરનેવાલે પૂછનેપર જો ઉત્તર દેતે હૈં સો કહતે હૈં—  
અથવા જો લોગ અપ્કાય કે આરમ કો ત્યાગને મં અસમર્થ હૈં ઉનકા કમન વતલતે હૈં—  
‘કપ્પહ પે’ ઇત્યાદિ ।

ટીકાર્થ—પ્રથમ કહેલી વાતને બીજી રીતથી સ્પષ્ટીકરણ કરવાના અર્થમાં  
‘અથવા’ શબ્દ છે જે અપ્કાયનો આરમ કરે છે, તેને અવત્તાદાનનો દોષ પણ લાગે  
છે, કારણ એ છે કે-અપ્કાયના જીવોએ પોતાનું શરીર ઉપમર્દન કરવા માટે તેને સોંપ્યું  
નથી તો પણ તે લોકો મન, વચન અને કાયાથી અને કર્મ, કરાવતું તથા અનુમોદન  
તે વડે કરી ઉપમર્દન કરે છે, તે કારણથી અપ્કાયનો આરમ કરવાવાળાને અવત્તા  
દાનનો દોષ પણ અનિવાર્ય (ટાળી ન શકાય તેવો) છે એ માટે મુમુક્ષુ પુરુષોએ  
અપ્કાયનો આરમ ત્યાગી દેવો એમને એ પ્રમાણે ભગવાને સાક્ષાત્ કહ્યું છે (સૂ ૧૨)

સચિત્ત જલનો ઉપયોગ કરવાવાળાને પૂછતા જે ઉત્તર આપે છે-તે કહે છે,  
અથવા જે લોક અપ્કાયના આરમને ત્યજવામાં અસમર્થ છે તેમનું કહેવું-કમન  
બતાવે છે-‘કપ્પહ પે’ ઇત્યાદિ

મૂલ્ય—

કપ્પદ ણે કપ્પદ ણે પાટ અદુવા વિમૂસાણ ॥ સૂ. ૧૩ ॥

છાયા—

કલ્પતેઽસ્માક કલ્પતેઽસ્માક પાતુ, અથવા વિમૂપાયૈ ॥ સૂ. ૧૩ ॥

ટીકા—

‘કલ્પતેઽસ્માક’—મિતિ । ન ઘયં સ્વેચ્છયોદકમુપમર્દયામ કિન્ત્વસ્માકમાગમે નિર્જીવસ્ત્વેન પ્રતિબોધિતત્વાદનિષિદ્ધત્વાદ પાતુ કલ્પતે । ‘કલ્પતેઽસ્માકમ્’ હત્યસ્ય દ્વિરુચ્ચારણેન પુનઃપુનરનેકપ્રયોજનવશાદ્ બહુવિધ ઉપભોગોઽસ્માક કલ્પતે, इति बोध्यते । तथाहि—

મસ્મસ્નાયિનો વદન્તિ—અસ્માકં પાતુમેવ કલ્પતે ન તુ સ્નાતુમિતિ ।

શ્વાક્યાદયસ્ત્વેર્વ જલ્પન્તિ—સ્નાન—પાનાદિ સર્વ કલ્પતે જલેનેતિ ।

મૂલાર્થ—હમેં કલ્પતા છે, હમેં કલ્પતા છે, (જલ) પીને ઔર વિમૂપા કરને—હાથ પર આદિ ઘોને, નહાને—કે છિપ ॥ સૂ. ૧૩ ॥

ટીકાર્થ—હમ સ્વેચ્છા સે જલ કી વિરાધના નહીં કરતે, ઘરન હમારે આગમ મેં જલ કો અચિત્ત બતલ્લયા છે ઔર પીને કા નિપેધ નહીં ક્રિયા છે, અત હમેં પીના કલ્પતા છે । ‘હમેં કલ્પતા છે’ યહ દો વાર કહને સે યહ સુક્તિ ક્રિયા ગયા છે કિ—પ્રમોજન કે વશ નાના પ્રકાર કા ઉપભોગ કરના હમેં કલ્પતા છે । એસે—

મત્મ સે સ્નાનકરનેણે કહતે હૈં—હમેં પીના હી કલ્પતા છે, સ્નાનકરના નહીં કલ્પતા ।

શ્વાક્ય આદિ કા કહના છે કિ—હમેં પીના ઔર સ્નાનકરના—સમી કુલ્ કલ્પતા છે ।

મૂલાર્થ—અમને કલ્પે છે, અમને કલ્પે છે, (જલ) પીવાને અને વિમૂપા—હાથ યગ આદિ ધોવા, નહાવા માટે (સૂ. ૧૩)

ટીકાર્થ—અમે સ્વેચ્છાથી જલની વિરાધના કરતા નથી પરંતુ અમારા આગ મમાં જલને અચિત્ત જતાવું છે, અને પીવાનો નિપેધ કયો નથી. તેથી અમારે પીવું કલ્પે છે ‘અમારે કલ્પે છે’ આ બે વાર કહેવાથી એ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે કે—પ્રમોજનવશ નાના પ્રકારનો ઉપભોગ કરવાનું અમને કલ્પે છે જેમકે—

ઘરમથી સ્નાનકરવાવાળા કહે છે—અમારે પીવું કલ્પે છે, સ્નાન કરવું કલ્પતું નથી.

શ્વાક્ય આદિનું કહેવું છે કે—અમારે પીવું અને સ્નાન, એવે કંઈ કલ્પે છે

તે પુનરેષ વદન્તિ—અથવા વિભૂપાયૈ—શોમાય કલ્પતેઽસ્માકમુદકમિતિ । વિભૂપા  
નામ—કરચરણમુલાદિમસાક્ષનાદિકા, વસ્ત્રાદિમસાલનરૂપા યા, તદર્થ જલેન વ્યવહર-  
તામસ્માક નાસ્તિ કોઽપિ દોષછેશ્ચ ઇતિ ॥ સૂ૦ ૧૩ ॥

પુન' ફિં કુર્વન્તિ તે ? ઇત્યાહ—'પુદો સત્યેર્હિ,' ઇત્યાદિ

મૂલમ્—

પુદો સત્યેર્હિ વિહૃતિ ॥ સૂ૦ ૧૪ ॥

છાયા—

પૃથક્ શત્તૈર્વ્યાવર્ચયન્તિ ( વિકૃદ્ધિ યા ) ॥ સૂ૦ ૧૪ ॥

॥ ટીકા ॥

આત્માનમનગાર પ્રવદમાના શાક્યાદય' પૃથક્=મિત્રમિત્રસ્વરૂપૈઃ શત્તૈ'=  
સ્નાનપાનધાવનોત્સેચનાદિભિરપ્કાયજીવાન્ વ્યાવર્ચયન્તિ=પ્રાણેભ્યો વ્યપરોપયન્તિ ।  
યદ્વા વિકૃદ્ધન્તી'—તિચ્છાયા તેન વિકૃદ્ધન્તિ=વિશેષેણ ઝિન્દન્તિ, સર્વથા ભાવેન  
વિરાધયન્તીત્યર્થઃ ॥ સૂ૦ ૧૪ ॥

उनका यह भी कहना है कि—विभूषा—शोभा के लिए भी जल का उपमोग हमें  
कल्पता है । हाथ, पैर, मुख, आदि धोना और वस्त्र आदि धोना विभूषा है । इस के लिए  
जलका व्यवहारकरने में हमें जरा भी दोष नहीं लगता ॥ सू० १३ ॥

वे और क्या करते हैं, सो करते हैं:—'पुदो.' इत्यादि ।

मूलार्थ—मित्र-मित्र शक्तों से जलकाम की हिंसा करते हैं ॥ सू० १४ ॥

टीકાર્થ—અપન કો અનગાર કહતે હુપ શાક્ય બગૈરહ મિત્ર—મિત્ર પ્રકાર કે શક્તી  
સે સ્નાન, પાન, ધોના, સીંચના આદિ કાર્ય કર કે અપ્કાય કી હિંસા કરતે હૈં । અથવા  
પૂર્ણરૂપ સે ઉસ કી વિરાધના કરતે હૈં ॥ સૂ૦ ૧૪ ॥

તેમનુ એ પણ કહેવુ છે કે વિભૂષા—શોભા માટે પણ જલનો ઉપયોગ અમારે  
કર્યે છે હાથ પગ, મુખ આદિને ધોવા અને વસ્ત્ર આદિ ધોવા તે વિભૂષા કહેવાય છે  
એ માટે જલનો વ્યવહાર કરવામાં અમને જરાપણ દોષ લાગતો નથી (સૂ. ૧૩)

તે બીજુ શુ કરે છે, તે કહે છે 'પુદો' ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જુદા જુદા શત્રોથી જલકામની હિંસા કરે છે (સૂ. ૧૪)

ટીકાર્થ—પોતાને અજુગાર કહેનારા શાક્ય વગેરે મિત્ર—મિત્ર પ્રકારના શત્રોથી  
સ્નાન, પાન, ધોવું, સીંચવું આદિ કામ કરીને અપ્કાયની હિંસા કરે છે અથવા  
પૂર્ણ રૂપથી તેની વિરાધના કરે છે (સૂ. ૧૪)

સામ્પતમેષાં યુક્ત્યાગમયોર્નિસ્તારત્વં પ્રવર્ણયમાહ—‘પત્યવિ.’ ઇત્યાદિ ।

॥ મૂલ્ય ॥

પત્ય વિ તેસિ નો નિકરણાણ ॥ સૂ. ૧૫ ॥

॥ છાયા ॥

અપ્રાપિ તેષા નો નિકરણાયૈ ॥ સૂ. ૧૫ ॥

॥ ટીકા ॥

તેષાં શ્વપાદીનાં યુક્તય અપ્ર=અસ્મિન્નપ્કાયારમ્મવિષયે નો=નૈવ નિકરણાયૈ=નિશ્ચયકરણાય સમર્થાઃ સન્તિ । અપિશબ્દેન તેષામાગમોડપિ ન નિષ્કેતું સમર્થો મવતિ । આગમત્વપિ તત્ર ન સમવતિ, અનાત્તપ્રણીતત્વાત્, હિંસાવિધાયકત્વાત્ । યતો હિ સ ઇવાગમશ્વદવાચ્ય ય સ્વહુ ધીતરાગમણીતઃ સર્વમાણિહિતકરો મવતિ ॥ સૂ. ૧૫ ॥

उन का कथन युक्ति और आगम से साखीन है, यह बतलाते हुए कहते हैं—‘एतयवि’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—उन लोगों को युक्तियों अप्काय के विषय में निश्चय नहीं कर सकती ॥ सू. १५ ॥

ટીકાર્થ—उन शक्य आवि की युक्तियाँ अप्काय के आरम के विषय में, निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं । ‘वि’ अपि शब्द से यह सूचित किया है कि—उनका आगम भी निश्चय करने में समर्थ नहीं है । उनका आगम, आगम भी नहीं है, क्योंकि वह आतपुरुषद्वारा प्रणीत नहीं है और हिंसा का विधान करनेवाला है । आगम बही कहला सकता है जो वीतरागद्वारा प्रणीत हो और प्राणीमात्र का हितकारी हो ॥ सू. १५ ॥

તેમનું કથન-કહેવું-યુક્તિ અને આગમથી સાચીન છે એ બતાવીને કહે છે—‘પત્યવિ,’ ઇત્યાદિ

સુદ્ધાર્થ—ते दोहोनी युक्तियों अप्कायना विषयमां निश्चय करी सकती नथी (सू. १५)

ટીકાર્થ—ते शक्य आविनी युक्तियों अप्कायना आरमना विषयमां निश्चय करवाभां समर्थ नथी. ‘वि’ अपि शब्दથી એ સૂચિત કયું છે કે તેમનું આગમ પણ નિશ્ચય કરવામાં સમર્થ નથી. તેમનું આગમ તે આગમ પણ નથી. કેમકે તે આત્મ પુરુષો દ્વારા પ્રણીત નથી. અને હિંસાનું નિધાન કરવાવાળાં છે આગમ તે કહેવાય છે કે જે વીતરાગદ્વારા પ્રણીત હોય અને પ્રાણીમાત્રનું હિતકારી હોય. (સૂ. ૧૫)

તદેવમપાં જીવત્વ પ્રતિયોગ્ય અસ્ય ઉદ્દેશસ્ય સકલાર્થમુપસંહરન્નાદ-‘**एत्थ सत्थ**.’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

एत्थ सत्थ समारभमाणस्य इच्छेते आरम्भा अपरिण्णाया भवति । एत्थ सत्थ असमारंभमाणस इच्छेते आरम्भा परिण्णाया भवति । त परिण्णाय मेहावी णेष सय उदयसत्थ समारमेज्जा, णेवन्नेहि उदयसत्थ समारभावेज्जा, उदयसत्थ समारंभतेऽवि अण्णे न समणुजाणेज्जा । जरसेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवति से हु म्ण्णी परिण्णायक्कम्मे-त्ति वेमि ॥ सू० १६ ॥

तद्वાઓ ઉદ્દેશો સમત્તો ॥ ૩ ॥

છાયા—

अत्र शस्त्र समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति । अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भा परिज्ञाता भवन्ति । तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदकशस्त्र समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत्, उदकशस्त्र

इस प्रकार જલ કો જીવ બતલાવકર इस उद्देशक के समस्त कथन का उपसंहार करते हैं—‘**एत्थ सत्थ**’ इत्यादि ।

मूलार्थ—अपकाय में शस्त्र का आरम्भ करने वाले को ये आरम्भ ज्ञात नहीं होते । अपकाय में शस्त्र का आरम्भ न करने वालों को ये आरम्भ ज्ञात होते हैं । उन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयं जल का आरम्भ न करे, दूसरों से आरम्भ न करावे और आरम्भ करने वाले दूसरे को मला न जाने । जो जलकाय के इस आरम्भ को जानता है वही परिज्ञातकर्मा मुनि है । भगवान् से मैंने जो सुना वह कहता हूँ ॥ सू० १६ ॥

આ પ્રમાણે જલને જીવ બતાવીને આ ઉદ્દેશકનાં સમસ્ત કથનનો ઉપસંહાર કરે છે—‘**एत्थ**’ ઇત્યાદિ

मूलार्थ—अपकायभा शस्त्रना आरंभ करवावाणाने आरंभ न ज्ञातवाभा आवता नथी अपकायभा शस्त्रना आरंभ नहि करवावाणाने ज्ञे आरंभ न ज्ञातवाभा आवे छे तेने ज्ञाती करीने बुद्धिमान् पुरुष स्वयं जलनो आरंभ करै नहि जीव पासे आरंभ करावे नहि ज्ञेने आरंभ करवावाणा जीवने बाह्ये ज्ञाति नहि, जे जलकायनो आ प्रमाणे आरंभ ज्ञाते छे ते परिज्ञातकर्मा मुनि छे, भगवान् पासेही जे साक्षात् ते कहुं छ (सू. १६)

સમારમમાણાનન્યાન્ ન સમનુજાનીયાત્ । યસ્યૈતે ઉદકશસ્ત્રમમારમ્મા' પરિજ્ઞાતા  
ભવન્તિ સ સ્વલ્લ મુનિઃ પરિજ્ઞાતકર્મા, ઇતિ પ્રવીમિ ॥ સૂ૦ ૧૬ ॥

। તૃતીય ઉદ્દેશઃ સમાપ્તઃ ॥ ૩ ॥

ટીકા—

અત્ર=અસ્મિન્નજ્ઞાયે શસ્ત્ર=દ્રવ્યમાવરૂપ સમારમમાણસ્ય=વ્યાપારયતઃ  
હત્યેતે આરમ્માઃ ધન્વહેતુત્ત્વેનાપરિજ્ઞાતા ભવન્તિ । અત્ર=અસ્મિન્નજ્ઞાયે શસ્ત્ર=દ્રવ્ય  
માવરૂપમ્ અસમારમમાણસ્ય=અવ્યાપારયતઃ હત્યેતે આરમ્મા' પરિજ્ઞાતા ભવન્તિ ।  
અપરિજ્ઞયા પરિજ્ઞાતા, તથા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા પરિત્યક્તા ભવન્તીત્યર્થઃ ।  
અપરિજ્ઞાપૂર્વિકા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા યથા સમુદ્ભવતિ દર્શયતિ—'તત્ પરિજ્ઞાતે'  
ત્યાદિ । તત્=ઉદકારમ્મણં પરિજ્ઞાય=અન્યાય મવતી 'ત્યેવમવબુદ્ધ્ય મેવાવી=  
સાધુમર્યાદાયાં સાવધાન, નૈવ સ્વયમુદકશસ્ત્ર સમારમેત, નૈવાન્યૈરુદકશસ્ત્ર સમારમ્મ-

ટીકાર્થ—ઇસ અપ્કાય કે વિષય મેં દ્રવ્ય જૌર માવ રૂપ શસ્ત્ર કા વ્યાપાર  
ફરને ઘાલા બપને વ્યપારોં કો કર્મબંધ કા કારણ નહીં જાનતા । કો અપ્કાય કે વિષય  
મેં દ્રવ્ય જૌર માવ રૂપ શસ્ત્ર કા ઉપયોગ નહીં કરતે, ઉન્હેં ઇસ વ્યાપારોં કા જ્ઞાન  
હોતા હૈ । અર્થાત્ જે અપરિજ્ઞા સે જાનકર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ઉનકા ત્યાગ કર દેતે હૈં ।  
અપરિજ્ઞા કે વાદ પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા કિસ પ્રકાર ઉત્પન્ન હોતી હૈ સો કહતે હૈં—જલ કે  
આરમ કો કર્મબંધ કા કારણ જાનકર સાધુ કી મર્યાદા મેં રહને વાળે બુદ્ધિમાન્ સ્વયં  
જલકાય કા આરમ નહીં કરે, ઘસરોં સે આરમ નહીં કરાવે જૌર જલકા આરમ કરને

ટીકાર્થ—જા અપ્કાયના વિષયમા દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ શસ્ત્રનો વ્યાપાર કરવા  
વાળા પોતાના વ્યાપારોને કર્મબંધનું કારણ બાધુતા નથી. જે અપ્કાયના વિષયમાં  
દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરતા નથી, તેને જો વ્યાપારોનું જ્ઞાન હોય  
છે અર્થાત્ તે અપરિજ્ઞાથી બાધીને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી દે છે

અપરિજ્ઞા પછી પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા હેવા પ્રકારે ઉત્પન્ન થાય છે, તે કહે છે—જલના  
આરમને કર્મબંધનું કારણ બાધી કરીને સાધુની મર્યાદામાં રહેવાવાળા બુદ્ધિમાન સ્વયં  
જલકાયનો આરમ કરે નહિ, જીભ પાસે કરાવે નહિ, અને જલનો આરમ કરવાવાળોને

યેત્, ઉદકશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ અન્યાન્ અપિ ન સમનુજાનીયાત્ નાનુમોદયે-  
દિત્યર્થઃ । યસ્યૈતે ઉદકશસ્ત્રસમારમ્મા. પરિજ્ઞાતા ભવન્તિ સ एष પરિજ્ઞાતકર્મા  
મુનિર્ભવતિ, ઇતિ વ્રવીમિ, एतદ્વ્યાખ્યાન પ્રાગ્વદ્ બોધ્યમ્ ॥ સુ૦ ૧૬ ॥

इत्याचाराङ्गसूत्रस्याऽऽचारचिन्तामणिटीकाया प्रथमाध्ययने  
तृतीयोद्देशः समाप्त ॥ १।३ ॥

વાળે દૂસરો કા અનુમોદન નહીં કરે । જો ઉદકશસ્ત્ર કે આરમ કો જ્ઞાનતા હૈ વહ  
પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ હૈ । ‘ઇતિ વ્રેમિ’ કા અર્થ પહેલે કી तरह જ્ઞાનના ચાહિમ્ ॥ સુ૦ ૧૬ ॥

इति श्री आचाराङ्ग सूत्र की 'आचारचिन्तामणि' टीका के  
हिन्दी अनुवाद में प्रथम अध्ययनका  
तीसरा उद्देशक समाप्त ॥ १-३ ॥

અનુમોદન આપે નહિ. જે ઉદકશસ્ત્રના આરમને જાણે છે, તે પરિજ્ઞાતકર્મા મુનિ છે  
'ઇતિ વ્રેમિ' નો અર્થ પહેલા ॥ પ્રમાણે જાણવો જોઈએ (સુ૦ ૧૬)

ઇતિ શ્રી આચારાંગ સૂત્રની 'આચારચિન્તામણિ' ટીકાના  
ગુજરાતી અનુવાદમાં પ્રથમ અધ્યયનનો  
ત્રીજો ઉદ્દેશક સમાપ્ત ॥ ૧૩ ॥





અથ ચતુર્થોદેશ ।

અનન્તરતૃતીયોદેશકે મુનિત્વપ્રાપ્તયેડપ્કાયસ્ય સ્વરૂપ નિર્ણયે, તદર્થ મેવાપ્કાયશક્તસમારમ્ભે દ્વ-પ્રત્યાધ્યાન-મેદાદ્ દ્વિત્રિયા પરિજ્ઞાઽપિ પ્રવેદિતા । અયૈતદર્થમેવ ચ ક્રમપ્રાપ્તમગ્નિકાય પ્રતિવોષયિતુકામશ્ચતુર્થમુદેશકં પ્રારમભે । તથાદૌ 'તેજસ્કાયા જીવા, સન્તી'તિ નિર્ધારયિતુમાર્થ મુત્રમાહ-'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

મૂલમ—

સે વેમિ નેષ સય લોચ અન્માદ્વસ્તેજ્ઞા, નેવ અત્તાણ અન્માદ્વસ્તેજ્ઞા, જે લોચં અન્માદ્વસ્તદ્, સે અત્તાણ અન્માદ્વસ્તદ્ । જે અત્તાણં અન્માદ્વસ્તદ્, સે લોચં અન્માદ્વસ્તદ્ ॥ સૂ. ૧ ॥

ચૌથા ઉદેશક—

પિછેલે ત્રીસરે ઉદેશક મેં સાધુતા કી પ્રાપ્તિ કે લિપ્ અપ્કાય કે સ્વરૂપ કા નિર્ણય કિયા, બૌર અપ્કાયશક્ત કા ઉપયોગ કરને મેં જ્ઞપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાધ્યાનપરિજ્ઞા મી વતલાઈ । અબ ઇસી સાધુતા કી પ્રાપ્તિ કે લિપ્ ક્રમપ્રાપ્ત અગ્નિકાય કા સ્વરૂપ સમજાતે હુપ ચૌથા ઉદેશક આરમ્ભ કરતે હૈ । સર્વપ્રથમ તેજસ્કાય કે જીવો કા અસ્તિત્વ નિશ્ચિત કરને કે લિપ્ સૂત્ર કહતે હૈ—'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—મગવાન કે સમીપ જૈસા સુના હૈ વૈસા કહતા હ । સ્વયં અગ્નિકાયરૂપ છોક કા અપલાપ ન કરે । ન આત્માકા અપલાપ કરે । જો અગ્નિકાય કા અપલાપ કરતા હૈ વહ આત્મા કા અપલાપ કરતા હૈ, જો આત્મા કા અપલાપ કરતા હૈ વહ અગ્નિકાય કા અપલાપ કરતા હૈ ॥ સૂ. ૧ ॥

ચૌથા ઉદેશક—

પાછળના ત્રીજા ઉદેશકમાં સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે અપ્કાયને નિર્ણય કરે અને અપ્કાય શક્તને ઉપયોગ કરવામાં જ્ઞપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાધ્યાનપરિજ્ઞા પણ જતાવી હવે તે સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે ક્રમપ્રાપ્ત અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજાવતા થકા—ચૌથા ઉદેશકનો આરમ્ભ કરે છે સવ પ્રથમ તેજસ્કાયના જીવોનું અસ્તિત્વ નિશ્ચય કરવા માટે સૂત્ર કહે છે—'સે વેમિ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—મગવાનની સમીપ જેવું સાંભળ્યું છે, તેવું કહું છું સ્વયં અગ્નિકાય રૂપ છોકને અપલાપ કરે નહિ, અને આત્માનો અપલાપ પણ કરે નહિ. જે અગ્નિ કાયનો અપલાપ કરે છે, તે આત્માનો અપલાપ કરે છે. જે આત્માનો અપલાપ કરે છે તે અગ્નિકાયનો અપલાપ કરે છે (સૂ. ૧)

छाया—

स प्रवीमि, नैव स्वयं लोकमभ्याख्यायात्, नैवात्मानमभ्याख्यायात् । यो लोकमभ्याख्याति, स आत्मानमभ्याख्याति । य आत्मानमभ्याख्याति, स लोकमभ्याख्याति ॥ सू० १ ॥

टीका—

येन मया नित्यं गुरुकुलनिवासिना भगवतः समीपे पद्मजीवनिकाय-  
स्वरूप निरवशेषविशेषपुरस्सर श्रवणमननादिना परिष्ठाविषयीकृत्य निर्णीत, सोऽहं  
प्रवीमि=श्रुतं यथा भगवन्मुखात्, तथा कथयामीत्यर्थः ।

लोकम्=अग्निकायलोकम्, प्रकरणसम्बन्धादिह लोकशब्देनाग्निकाय-  
लोकस्य ग्रहणम् । स्वयम्=आत्मना, नैव अभ्याख्यायात्=नैवापह्नुवीत् । 'अग्निकाय-  
जीवा न सन्ती'त्येवमग्निकायजीवस्यापलाप नैव कुर्यादित्यर्थः । स्वयमित्यने-  
नाग्निकायजीवापलपनकर्मणा स्वमात्मानं नैव ब्रवीयादित्यर्थो बोध्यते ।

टीकार्थः—गुरुकुल में निवास करते हुए मैंने भगवान् के मुख से पट्काय का  
समस्त विशेषों से युक्त जो स्वरूप श्रवण मनन आदि से परिष्ठा का विषय कर के निर्णीत  
क्रिया है, उसे मैं कहता हूँ । अर्थात् वैसा भगवान् के मुखारविन्द से सुना है वैसा ही  
कहता हूँ ।

अग्निकाय का प्रकरण होने के कारण यहाँ 'लोक' का अर्थ अग्निकायरूप लोक  
समझना चाहिए । इस अग्निकाय का स्वयं अपलाप न करे अर्थात् यह न कहे कि—अग्निकाय  
के जीव नहीं है । स्वयं शब्द से यह अर्थ प्रकट होता है कि अग्निकाय के अपलापरूप  
कर्म से अपने आप को बस न करे ।

टीकार्थः—गुरुकुलमा निवास करीने ने भगवानना सुप्रथी पट्कायना समस्त विशेष  
योथी सुकृत ने स्वरूपने श्रवण-मनन आदिथी परिष्ठाने विषय करीने निर्णीत कथुं ते  
हं कहुं छ अर्थात् ने प्रभाक्षे भगवानना सुप्रार्थिवथी सांभल्यु छे तेवुञ्ज-हुं कहुं छ

अग्निकायनु प्रकरण होवाना कारणे अहि 'लोक' ने अर्थ अग्निकायरूप लोक  
समझवे जेहि को आ अग्निकायने स्वयं अपलाप करे नहि अर्थात् को प्रभाक्षे कहे  
नहि छे—अग्निकायना एव नथी 'स्वयं' शब्दथी को अर्थ प्रकट याय छे छे  
अग्निकायना अपलापरूप कर्मथी पोते पोताने बस करे नहि

અથ ચતુર્થોદેશ ।

અનન્તરતૃતીયોદેશકે મુનિત્વમાપ્તયેઽપૂર્ણાયસ્ય સ્વરૂપ નિર્ણયે, તદર્થ મેવાપૂર્ણાયશ્ચત્તમમારમ્ભે ઘ-પ્રત્યાહવાન-મેદાદ્ દ્વિવિધા પરિજ્ઞાપિ પ્રવેદિતા । અથૈતદર્થમેવ ચ ક્રમમાપ્તમગ્નિકાય પ્રતિવોધયિતુકામઘતુર્થમુદેશકં પ્રારમ્ભતે । તત્રાદૌ 'તેજસ્કાયા જીવા' સન્તી'તિ નિર્ધારયિતુમાઘ મુપ્રમાદ્-'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

મૂલમ—

સે વેમિ નેવ સયં લોચ અન્માદ્વસ્ત્વજ્ઞા, નેવ અત્તાણ અન્માદ્વસ્ત્વજ્ઞા, જે લોચ અન્માદ્વસ્ત્વજ્ઞા, સે અત્તાણ અન્માદ્વસ્ત્વજ્ઞા । જે અત્તાણ અન્માદ્વસ્ત્વજ્ઞા, સે લોચ અન્માદ્વસ્ત્વજ્ઞા ॥ સૂ. ૧ ॥

ચૌથા ઉદેશક—

પિછ્છે તૈસરે ઉદેશક મેં સાધુતા કી પ્રાપ્તિ કે લિપ્ અપ્કાય કે સ્વરૂપ કા નિર્ણય કિયા, ઔર અપ્કાયશક્તિ કા ઉપયોગ કરને મેં ઝુપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાહવાનપરિજ્ઞા મી થતલાઈ । અબ ઊસી સાધુતા કી પ્રાપ્તિ કે લિપ્ ક્રમપ્રાપ્ત અગ્નિકાય કા સ્વરૂપ સમસાતે ક્રુપ ચૌથા ઉદેશક આરમ્ભ કરતે હૈ । સર્વપ્રથમ તેજસ્કાય કે જીવોં કા અસ્તિત્વ નિશ્ચિત કરને કે લિપ્ સૂત્ર કહતે હૈ—'સે વેમિ' ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—મગ્નવાન કે સમીપ જૈસા છુના હૈ વૈસા કહવા હ । સ્વયં અગ્નિકાયરૂપ સોફ કા અપલાપ ન કરે । ન આત્માકા અપલાપ કરે । જો અગ્નિકાય કા અપલાપ કરતા હૈ વહ આત્મા કા અપલાપ કરતા હૈ, જો આત્મા કા અપલાપ કરતા હૈ વહ અગ્નિકાય કા અપલાપ કરતા હૈ ॥ સૂ. ૧ ॥

પાંચમો ઉદેશક—

પાછળના ત્રીજા ઉદેશકના સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે અપ્કાયનો નિર્ણય કર્યો અને અપ્કાય શબ્દનો ઉપયોગ કરવામાં અપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાહવાનપરિજ્ઞા પણ બતાવી હવે તે સાધુતાની પ્રાપ્તિ માટે ક્રમપ્રાપ્ત અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજાવતા શકા—ચૌથા ઉદેશકનો આરમ્ભ કરે છે સર્વ પ્રથમ તેજસ્કાયના ઇવોનું અસ્તિત્વ નિશ્ચય કરવા માટે સૂત્ર કહે છે—'સે વેમિ' ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—મગ્નવાનની સમીપ જેવું સાંભળ્યું છે, તેવું કહું છું સ્વયં અગ્નિકાય રૂપ હોઈને અપલાપ કરે નહિ; અને આત્માનો અપલાપ પણ કરે નહિ. જે અગ્નિ કાયનો અપલાપ કરે છે, તે આત્માનો અપલાપ કરે છે જે આત્માનો અપલાપ કરે છે તે અગ્નિકાયનો અપલાપ કરે છે (સૂ. ૧)

લક્ષણદ્વારમ્—

નતુ તેજસ્કાયજીવા\* સન્તીત્યપ્ર કિં માનમ્ ? ઉચ્યતે-અદ્ધારાદયો  
જીવશરીરાણિ, દેષત્વાદ્, દશ્યત્વાદ્, કરધરગાદિસમુદાયવત્ ।

અદ્ધારાદીનાં પ્રકાશપરિણામ આત્મપયોગાવિર્ભૂત\* શરીરસ્થત્વાત્,  
સ્વદ્યોતદેહપરિણામવત્ । યયા-રજન્યાદૌ વિશિષ્ટકાલે પ્રાણિવિશેષસ્ય સ્વદ્યોતસ્ય  
દેહપરિણામો જીવપયોગવિશેષાદ્ ભવતિ, ઇષમદ્ધારાદીનામપિ પ્રકાશપરિણામઃ ।

યદ્વા-અદ્ધારાદીનામૂષ્મા આત્મસપયોગપૂર્વક, શરીરસ્થત્વાત્, જ્વરોષ્મવત્ ।

લક્ષણદ્વાર—

શક્ત્વા—તેજસ્કાય કે જીવોં કે અસ્તિત્વ મેં ક્યા પ્રમાણ હે ?

સમાધાન—અગાર આદિ, જીવ ક શરીર હે, ક્યોં કિ વહ હય હે, મેષ હે ઔર  
દશ્ય હે, જૈસે હાથ-પૈર આદિ કા સમૂહ ।

અથવા—અગાર આદિ કી પ્રકાશરૂપ પર્યાય, આત્મા કે પ્રયોગ સે ઉત્પન્ન હુદ હે,  
ક્યોં કિ વહ શરીર મેં સ્થિત હે, જૈસે-જુગનૂં કે શરીર કી પર્યાય, જૈસે રાત્રિ વગૈરહ  
સ્વાસ સમય મેં જુગનૂં નામકા પ્રાણી કા શરીરપરિણામ (ચમકના) જીવ કે પ્રયોગ સે પ્રકટ  
હોતા હે, ડસી પ્રકાર અગાર આદિ કા પ્રકાશરૂપ પરિણામ મી આત્મા કે વ્યાપાર સે હી  
ઉત્પન્ન હોતા હે ।

અથવા—અગાર આદિ કી ગર્મો આત્મા કે વ્યાપાર સે ઉત્પન્ન હોતી હે, ક્યોં કિ વહ  
શરીર મેં હે, જૈસે જ્વર કી ગર્મો જ્વર કી ગર્મો જીવ સે યુક્ત શરીર મેં હી ઉત્પન્ન હોતી હે,

લક્ષણદ્વાર—

શક્ત્વા—તેજસ્કાયના ઇવોના અસ્તિત્વ (હોવાપણુ)મા શું પ્રમાણ છે ?

અમાધાન—અગાર આદિ ઇવના શરીર છે કેમકે તે હેષ છે, સેષ છે, અને  
દશ્ય છે જેમકે હાથ, પગ આદિનો સમૂહ

અથવા—અગાર આદિની પ્રકાશરૂપ પર્યાય આત્માના પ્રયોગથી ઉત્પન્ન થઈ  
છે, કારણકે તે શરીરમા સ્થિત છે જેવી રીતે-જુગનૂં (આગિયો નામના પ્રાણી)ના  
શરીરની પર્યાય જેમ સત્રી વગેરે આસ સમયમા જુગનૂં (આગીઓ)નામક પ્રાણીનો  
શરીર-પરિણામ (ચમકણુ) ઇવના પ્રયોગથી પ્રકટ થાય છે તે પ્રમાણે અગાર આદિના  
પ્રકાશરૂપ પરિણામ પણ આત્માના વ્યાપારથીજ ઉત્પન્ન થાય છે

અથવા—અગાર આદિની ગરમી આત્માના વ્યાપારથી ઉત્પન્ન થાય છે કારણકે તે  
શરીરમાં છે જેમકે જ્વર-તાવની ગરમી જ્વર-તાવની ગરમી ઇવથી યુક્ત શરીરમાંજ

અર્થ માવઃ—કૃતકારિતાનુમોદિતમેદન, મનોવાક્કાપમેદન, તથાસ્તીતાનાગતર્થમાન મેદન ચ પ્રત્યેકક્રિયાયાઃ સપ્તવિંશતિમેદા મવન્તિ; એવમસ્યા અપિ તેજસ્કાપ જીવામ્યાશ્વાનરૂપક્રિયાયા ણકસ્યા એવ સપ્તવિંશતિમેદા મવિતુર્મર્ન્તિ । તત્ર કસ્યાચ્ચિદપિ ક્રિયાયાં સ્વાત્માન ન નિયુઙ્ગ્યાદિતિ । ઉપપથતેડ્પ્યયર્મર્ભઃ, અન્યથા હિ સ્વયંકૃતસ્વૈવામ્યાશ્વાનસ્ય પ્રતિપેદ્યે કારિતાનુમોદિતરૂપાના તેજસ્કાપજીવામ્યાશ્વાનરૂપક્રિયાણા પ્રતિપેદ્યામાવ પ્રસજ્યત । તતથ તાદૃશામ્યા શ્વાનં પાપાય ન સ્યાત્ । તથાચોત્સૂત્રપ્રરૂપણાપત્તિ ।

તાત્પર્યે યહ હૈ—પ્રત્યેક કે કૃત, કારિત, અનુમોદના, મન, વચન કામ, જોર અતીત, અનાગત, વર્તમાન કે મેદ સે (ઇનકા પરસ્પર ગુણાકાર કરને સે) સત્તાઈસ મેદ હોતે હૈ । ઇતીપ્રકાર હસ તેજસ્કાપ કા અપલાપરૂપ ક્રિયા કે મી સત્તાઈસ મેદ હો સકતે હૈ । ઇન મેદો સે કિસી મી મેદ મેં આત્મા કો જોડના ન યાહિય । અગર યેસા જર્મ ન જ્ઞાયા જાતા તો યહ મી સમસ ક્રિયા જાતા કિ—અનિકાપ કા સ્વય અપલાપ ન કરે, મગર અપલાપ કરાને જોર અનુમોદન કરને કી ક્રિયાઓ કા નિષેધ નહીં હૈ । યેસા અર્થ સંગત નહીં હૈ, જ્યોં કિ યેસા જર્મ કરને સે કેવલ સ્વયંકૃત અપલાપકા હી પ્રતિષેધ હોગા, કિન્તુ કારિત જોર અનુમોદિત અપલાપકા પ્રતિષેધ નહીં હોગા જોર હસ પ્રકાર કા અપલાપ પાપ કા કારણ ન હોગા । ફિર તો સૂત્ર કે ચિરુદ્ધ પ્રરૂપણા કા દોષ જાણા ।

તાત્પર્યે જ્યે છે—પ્રત્યેક ક્રિયાના કર્તુ—કર્તાવર્તુ અને અનુમોદના, મન, વચન, કામ અને અતીત, અવિષ્કાલ તથા વર્તમાન કાલના લેહથી (જ્યેના પરસ્પર શુદ્ધાકાર કરવાથી) સત્તાવીસ લેહ થાય છે જ્યે પ્રમાણે આ તેજસ્કાપના અપલાપરૂપ ક્રિયાના પણ સત્તાવીસ લેહ થઈ શકે છે જ્યે લેહોમાંથી કોઈ પણ લેહમા અત્માને જોડવો લેઈજ્યે નહિ; પરન્તુ જ્યે પ્રમાણે અર્થ કરવામા ન આવે તો જ્યે પણ સમજી લેવામાં આવત હૈ, અનિકાપનો સ્વય અપલાપ કરે નહિ. પરન્તુ અપલાપ કરાવવાની અને અનુમોદન કરવાની ક્રિયાઓનો નિષેધ નથી આ પ્રકારનો જ્ય સંગત નથી, કેમકે—જ્યોના અર્થ કરવાથી કેવળ સ્વયંકૃત અપલાપનોજ નિષેધ થશે કિન્તુ કારિત અને અનુમોદિત અપલાપનો નિષેધ થશે નહિ, અને જ્યે પ્રકારનો અપલાપ પાપન પ્રસજ ન થાય, પછી તો સૂત્રના ચિરુદ્ધ પ્રરૂપણાનો દોષ જાણશે

### લક્ષણદ્વારમ્—

નનુ તેમસ્કાયજીવા સન્તીત્યત્ર કિં માનમ્ ? ઉચ્યતે-અગ્નિરાદયો જીવસરીરાણિ, દેહત્વાદ્, દશ્યત્વાદ્, કર્મચરણાદિસમુદાયવત્ ।

અગ્નિરાદીનાં પ્રકાશપરિણામ. આત્મપ્રયોગાવિર્ભૂત શરીરસ્થત્વાત્, સ્વદ્યોતદેહપરિણામવત્ । યથા-રજન્યાદૌ ધિશિષ્ટકાલે પ્રાણિવિશેષસ્ય સ્વદ્યોતસ્ય દેહપરિણામો જીવપ્રયોગવિશેષાદ્ ભવતિ, એવમગ્નિરાદીનામપિ પ્રકાશપરિણામઃ ।

યદ્વા-અગ્નિરાદીનામૂષ્મા આત્મસપ્રયોગપૂર્વક, શરીરસ્થત્વાત્, જ્વરોષ્મવત્ ।

### લક્ષણદ્વાર—

શુદ્ધા—તેજસ્કાય કે જીવો કે અસ્તિત્વ મેં કયા પ્રમાણ હૈ ।

સમાધાન—અગાર આદિ, જીવ કે શરીર હૈ, ક્યોં કિં વહ છેષ હૈ, સેષ હૈ, બેષ હૈ, બેષ હૈ, હૈસે હાથ-પૈર આદિ કા સમૂહ ।

અથવા—અગાર આદિ કી પ્રકાશરૂપ પર્યાય, આત્મા કે પ્રયોગ સ ઉત્પન્ન હુઈ હૈ, ક્યોં કિં વહ શરીર મેં સ્થિત હૈ, હૈસે-જુગનૂ કે શરીર કી પર્યાય, હૈસે રાત્રિ વગૈરહ સ્વાસ સમય મેં જુગનૂ નામકા પ્રાણી કા શરીરપરિણામ (ચમકના) જીવ કે પ્રયોગ સે પ્રકટ હોતા હૈ, ડસી પ્રકાર અગાર આદિ કા પ્રકાશરૂપ પરિણામ મી આત્મા કે વ્યાપાર સે હી ઉત્પન્ન હોતા હૈ ।

અથવા—અગાર આદિ કી ગર્મી આત્મા કે વ્યાપાર સે ઉત્પન્ન હોતી હૈ, ક્યોં કિં વહ શરીર મેં હૈ, હૈસે જ્વર કી ગર્મી જ્વર કી ગર્મી જીવ સે યુક્ત શરીર મેં હી ઉત્પન્ન હોતી હૈ,

### સંક્ષેપ્તદ્વાર—

શુદ્ધા—તેજસ્કાયના જીવોના અસ્તિત્વ (હોવાપણ)મા શું પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—અગાર આદિ જીવના શરીર છે કેમકે તે છેષ છે, સેષ છે, બેષ છે, બેષ છે જેમકે હાથ, પગ આદિનો સમૂહ

અથવા—અગાર આદિની પ્રકાશરૂપ પર્યાય આત્માના પ્રયોગથી ઉત્પન્ન થઈ છે; કારણકે તે શરીરમાં સ્થિત છે જેવી રીતે-જુગનૂ (આગિયો નામના પ્રાણી)ના શરીરની પર્યાય. જેમ સત્રી વગેરે ખાસ સમયમાં જુગનૂ (આગીચો)નામક પ્રાણીનો શરીર-પરિણામ (ચમકવું) જીવના પ્રયોગથી પ્રગટ થાય છે તે પ્રમાણે અગાર આદિના પ્રકાશરૂપ પરિણામ પણ આત્માના વ્યાપારથીજ ઉત્પન્ન થાય છે

અથવા—અગાર આદિની ગરમી આત્માના વ્યાપારથી ઉત્પન્ન થાય છે કારણકે તે શરીરમાં છે જેમકે જ્વર-તાવની ગરમી જ્વર-તાવની ગરમી જીવથી યુક્ત શરીરમાંજ

યથા-જ્વરોપ્મા બીવાધિષ્ઠિતશરીરમેવાશ્રિત્ય ભગતિ, જીવસયોગ નાતિક્રામતિ ।  
 ન ચ મૃતા જ્વરિણઃ ક્વચિદ્ગુણભ્યન્તે । એવમન્યવ્યતિરેકાભ્યામગ્ને. સચિત્તા  
 વિજ્ઞેયા । ન ચ સૂર્યાદિમિરનેકાન્તો ધાવ્ય', સર્વેપામાત્મસયોગપૂર્વક એવમ  
 પરિણામો ભવતિ, તસ્માદનેકાન્તો ન સમયતિ ।

યદ્વા--તેજઃ સચેતનમ્, યથાયોગ્યાહારગ્રહણેન દૃદિવિશેષતઃક્રિકાર  
 વત્તાત્, પુરુષવત્ । એવમુક્તલક્ષણેન તેજસ્કાયજીવાઃ સન્તીતિ વિજ્ઞાયતે ।

યદ્વા-અન્યકોપયોગાદીનિ કમાયપર્યન્તાનિ જીવલક્ષણાનિ પ્રવિષ્ણ્ય  
 કાયવત્ તેજસ્કાયેઽપિ સમુપલભ્યન્તે । એવ ચ જીવલક્ષણસદ્ભાવાત્ તેજસ્કાયજીવાઃ  
 સન્તીતિ નિર્ધાયતે । આગમોઽપિ યથા—

જીવ કે સયોગ વિના ઉત્પન્ન નહીં होती । મુર્તિમાં સ્થર કહી નહીં દેસા જાતા । इस  
 प्रकार अग्नि में अन्य-व्यतिरेकद्वारा सचित्ता समझनी चाहिए । यहाँ सूर्य से हेतु में  
 व्यभिचार नहीं है, क्योंकि सब में आत्मप्रयोगपूर्वक ही गर्मा हो सकती है, अतः  
 व्यभिचार नहीं है ।

અથવા-તેજ સચેતન છે, ક્યોં કે યથાયોગ્ય આહાર ગ્રહણ કરને સે તસ મં દૃદિરૂપ  
 વિકાર દેસા જાતા છે, હૈસે પુરુષ મેં । इस प्रकार इस लक्षण से तेजस्काय के जीवों का  
 अस्तित्व विदित होता है । अथवा अप्रकट उपयोग से लेकर कपायपर्यन्त जीव के लक्षण  
 હૈસે પૃષ્ઠીકાય ઓર અપ્કાય મેં પાયે જાતે હૈં, ડસી પ્રકાર તેજસ્કાય મેં ની પાયે જાતે હૈં ।  
 इस प्रकार जीव के लक्षण पाये जाने के कारण तेजस्काय के जीवों का अस्तित्व निश्चित होता  
 है । इसमें आगम प्रमाण भी है—

ઉત્પન્ન કાય છે જીવના સયોગ વિના ઉત્પન્ન થતી નથી મુઠકામાં જ્વર-તાવ ઠોઈ  
 થયે જોવામાં આવતો નથી, આ પ્રમાણે અગ્નિમાં અન્ય-વ્યતિરેકદ્વારા સચિત્તા  
 સમજવી જોઈએ. અહિં સૂર્યથી હેતુમાં વ્યભિચાર નથી. કેમકે સર્વમાં આત્મપૂર્વકજ  
 ગરમી ઠોઈ શકે છે, જોડલા કારણથી વ્યભિચાર નથી.

અથવા-તેજ સચેતન છે. કેમકે યથાયોગ્ય આહાર ગ્રહણ કરવાથી તેનામાં  
 દૃદિરૂપ વિકાર જોવામાં આવે છે જેવી રીતે પુરુષમાં આ પ્રકારે જીવના લક્ષણ  
 મળવાથી તેજસ્કાયના જીવોનું અસ્તિત્વ જાણવામાં આવે છે

અથવા-અપ્રકટ ઉપયોગથી લઈને કપાયપર્યન્ત જીવના લક્ષણ જોવામાં આવે  
 છે, તે કારણે તેજસ્કાયના જીવોનું અસ્તિત્વ નિશ્ચય હોય છે આમાં આગમ પ્રમાણ પણ છે—

“ તેજ ચિત્તમતમવલ્લાયા અણેગજીવા પુઠોસત્તા અન્નત્ય સત્યપરિણામ ”  
સ્પાદિ । ( દશવૈ ૦ અ ૪ )

### મરૂપણાદ્વાર—

અગ્નિકાયજીવા દ્વિવિધાઃ, સૂક્ષ્મવાદરમેદાત્ । તત્ર સૂક્ષ્મનામકર્મોદયાત્  
સૂક્ષ્મા । વાદરનામકર્મોદયાત્ વાદરા. । તત્ર સૂક્ષ્મા દ્વિધા, પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાશ્ચ ।  
સૂક્ષ્મા સર્વલોકવ્યાપિન. । વાદરાસ્તુ લોકૈકદેશે સન્તિ ।

વાદરા અગ્નિકાયા અનેકવિધા—અગ્નિચિત્તલાતશુદ્ધાગ્ન્યાદય. । સર્વે વાદરા  
અગ્નિકાયા અપિ દ્વિવિધા. પર્યાપ્તા અપર્યાપ્તાશ્ચ । વાદરાગાં યત્રૈકો જીવસ્તત્રા-

“ તેજસ્કાય સચિત્ત કહા ગયા હૈ । ઉસ મેં અનેક બીવ હૈ, ઉનકા અસ્તિત્વ અલગ-  
અલગ હૈ, શરૂપરિણત અગ્નિ કો છોડ કર ” ઇત્યાદિ । (દશવૈ ૦ અપ્ય ૦ ૪)

### મરૂપણાદ્વાર—

અગ્નિકાય કે બીવ ઘો પ્રકાર કે હૈ—(૧) સૂક્ષ્મ ઓર વાદર, જિનકે સૂક્ષ્મ નામકર્મ  
કા ઉદય હો વે સૂક્ષ્મ ઓર જિનકે વાદર નામકર્મ કા ઉદય હો વે વાદર બીવ હૈ । ઇનમેં  
સે સૂક્ષ્મ કે મી ઘો મેદ હૈ—પર્યાપ્ત ઓર અપર્યાપ્ત । સૂક્ષ્મ બીવ સમસ્ત લોકાકાશ મેં વ્યાપ્ત  
હૈ ઓર વાદર લોક કે એક દેશ મેં હૈ ।

વાદર અગ્નિકાય અનેક પ્રકાર કે હૈ । જૈસે—અગાર, ગ્વાલા, અછાત (જલ્લા  
હુમા કાઇ), શુદ્ધ અગ્નિ બાદિ । સર્વ વાદર અગ્નિકાય મી ઘો પ્રકાર કે હૈ—પર્યાપ્ત

“ તેજસ્કાય સચિત્ત કહેલું છે તેમાં અનેક જીવ છે, તેનું અસ્તિત્વ અલગ-  
અલગ છે, શરૂપરિણત અગ્નિને છોડીને ” ઇત્યાદિ (દશવૈ. અ. ૪)

### મરૂપણાદ્વાર—

અગ્નિકાયના જીવ બે પ્રકારના છે—(૧) સૂક્ષ્મ અને (૨) વાદર જેને સૂક્ષ્મ  
નામકર્મનો ઉદય હોય તે સૂક્ષ્મ અને જેને વાદર નામકર્મનો ઉદય હોય તે વાદર  
જીવ છે તેમાંથી સૂક્ષ્મના પણ બે ભેદ છે પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત. સૂક્ષ્મ જીવ  
સમસ્ત લોકાકાશમાં વ્યાપ્ત છે અને વાદર લોકના એક દેશમાં છે

વાદર અગ્નિકાય અનેક પ્રકારના છે જેમકે—અગાર, ગ્વાલા, બળતુ લાકડુ,  
શુદ્ધ અગ્નિ વગેરે. સર્વ વાદર અગ્નિકાય પણ બે પ્રકારના છે—પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્ત,



સહયેયૈર્નિયમતો માગ્યમ્ । ઘાદરાણાં સ્વસ્થાન મનુષ્યક્ષેત્રમેવ, ન તતઃ પરમસ્તિ ।

ઘાદરાસ્તેજસ્કાયા\* વ્યાધાતામાયે સતિ મનુષ્યક્ષેત્રેર્ઘ્વતીપદ્મીપસ્રદ્ધેષુ  
પશ્ચદશક્ષેત્રેષુ ચિચન્તે । યુગલ્લસમયરૂપે વ્યાધાતે સતિ તુ પશ્ચમહાવિદેહેષુ વર્તન્તે,  
નાન્યથ । ઉપપાતાદ્ગ્રીકરણેન લોકસહયેયમાગયર્તિન સન્તિ ।

સમુદ્ધાતેન સર્વલોકપર્તિન પૃથ્વીકાયાદયથ મારણાન્તિકસમુદ્ધાતેન  
સમવહતા વાદરાગ્નિષુ સમુત્પદમાનાસ્તત્તદ્વ્યપદેશમાજઃ સર્વલોકવ્યાપિનઃ સન્તિ ।

યથ વ વાદરા પર્યાપ્તાસ્ત વ વાદરા અપર્યાપ્તાઃ, યતસ્તે ઠમિભયો

ઘોર અપર્યાપ્ત । જહોં એક વાદર બીવ હોતા હૈ વહોં નિયમ સે બસહ્યાત બીવ હોતે હૈં । વાદર  
બીવોં કા ક્ષેત્ર મનુષ્યલોક હી હૈ, ઉસસે આગે નહીં ।

વાદર તેજસ્કાય વ્યાધાત (અન્તર) ન હો તો મનુષ્ય ક્ષેત્ર મેં અઢાઈ દ્વીપ  
સમુદ્રોં મેં પન્નહ ક્ષેત્રોં મેં રહતે હૈં । યુગલિયોં કે સમયરૂપ વ્યાધાત (અન્તર) કે હોતે પર  
પાંચ મહાવિદેહોં મેં રહતે હૈં, અન્યત્ર નહીં । ઉપપાત કી અપેક્ષા લોક કે સહ્યાત માગ  
મેં રહતે હૈં ।

સમુદ્ધાત કી અપેક્ષા—સમસ્તલોકવ્યાપી પૃથ્વીકાય આદિ, મારણાન્તિક સમુદ્ધાત  
કરકે વાદર અગ્નિ મેં ઉત્પન્ન હોતે હુપે ઉસ—ઉસ વ્યપદેશ (નામ) ને પાત્ર હો કર  
સર્વલોકવ્યાપી હૈં ।

જહોં વાદર પર્યાપ્ત હૈં વહી વાદર અપર્યાપ્ત હૈં, ક્યોં કિ—અપર્યાપ્ત બીવ

અર્થાં બેકે બાદર એવ હોય છે તર્થ નિયમથી અસહ્યાત એવ હોય છે બાદર  
એવાનું ક્ષેત્ર મનુષ્ય લોકલ છે તેનાથી આગળ નથી

બાદર તેજસ્કાય, અન્તર ન હોય તો મનુષ્ય ક્ષેત્રમાં બઢી દ્વીપ—સમુદ્રોંમાં,  
પદર ક્ષેત્રોંમાં રહે છે યુગલિઆઓના સમયરૂપ અન્તર હોવા પર પાંચ મહાવિદેહોંમાં  
રહે છે, અન્યત્ર નહિ. ઉપપાતની અપેક્ષા લોકના સહ્યાત આગમાં રહે છે

સમુદ્ધાતની અપેક્ષા સમસ્તલોકવ્યાપી પૃથ્વીકાય આદિ મારણાન્તિક સમુદ્ધાત  
કરીને બાદર અગ્નિમાં ઉત્પન્ન થઈને તે—તે વ્યપદેશ—(નામ)ને પાત્ર થઈને સર્વ  
લોકવ્યાપી છે

અર્થાં બાદર પર્યાપ્ત છે તર્થ બાદર અપર્યાપ્ત છે કેમકે—અપર્યાપ્ત એવ પર્યાપ્તના

ત્પન્તે, તસ્માત્ સૂક્ષ્મા વાદરાશ્ચ પ્રત્યેક પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદેન દ્વિવિધા ભવન્તિ ।  
 સર્વે ચૈતે ઘર્ણગન્ધરસસ્પર્શમેદૈઃ સદસ્રાગ્રશો મિથમાનાઃ સરયેયયોનિપ્રમુલ્લશતસહ-  
 સ્રમેદપરિમાણા ભવન્તિ । તૈર્જ્વા સદૃતોષ્ણા ચ યોનિઃ સચિત્તાચિત્તમિથ્રમેદેન ત્રિધા ।  
 ણ્યા સપ્ત ત્વક્ષાણિ યોનયો ભવન્તિ ।

સૂક્ષ્મવાદરાણામુમયેષામગ્નિકાયાનાં શરીરસંસ્થાન સૂચીકલાપાકૃતિકમ્,  
 અન્યે શરીરત્રયાદિમેદા પૃથિવીકાય વત્ । ઉમયેઽગ્નિકાયાઃ પ્રત્યેકમસરયેયાશ્ચ ।

પર્યાપ્ત કે આશ્રય હી ઉત્પન્ન હોતે હૈં । અત સૂક્ષ્મ ઓર વાદર, પ્રત્યેક કે પર્યાપ્ત  
 ઓર અપર્યાપ્ત કે મેદ સે લો મેદ હૈં ઓર ઘર્ણ, ગંધ, રસ, ઓર સ્પર્શ કે મેદ સે  
 હજારો મેદો કો પ્રાપ્ત હોતે હુપ્ । ઇનકી સંખ્યેય યોનિ ઘેરહ મેદો કી સંખ્યા લાસો કી  
 હો જાતી હૈ ।

ઇનકી યોનિ સદૃત ઓર ઉષ્ણ હૈ । વહ મી સચિત્ત, અચિત્ત ઓર મિથ્ર કે મેદ સે  
 ત્રીન પ્રકાર કી હૈ । ઇનકી સાત લાસ યોનિયો હૈં ।

સૂક્ષ્મ ઓર વાદર—દોનો પ્રકાર કે અગ્નિકાય બીલો કે શરીર કા આકાર સુદૃઘો કે  
 સમૂહ કી તરહ હૈ । શરીરત્રય આદિ અન્ય મેદ પૃથ્વીકાય કે સમાન હૈં । દોનો પ્રકાર કે  
 અગ્નિકાય અસંખ્યાત—અસંખ્યાત હૈં ।

આશ્રયેજ ઉત્પન્ન થાય છે એ કારણથી સૂક્ષ્મ અને વાદર પ્રત્યેકના પર્યાપ્ત અને  
 અપર્યાપ્તના લેહથી બે લેહ છે અને વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શના લેહથી  
 હજારો લેહો પામવા થકા એની સંખ્યેય યોનિ વગેરે લેહોની સંખ્યા લાખો  
 થઈ બાય છે

તેની યોનિ સદૃત અને ઉષ્ણ છે, તે પણ સચિત્ત, અચિત્ત અને મિથ્રના  
 લેહથી ત્રણ પ્રકારની છે એની સાત લાખ યોનિઓ છે

સૂક્ષ્મ અને વાદર બન્ને પ્રકારના અગ્નિકાય જીવોના શરીરનો આકાર સોયના  
 સમૂહની પ્રમાણે છે શરીરત્રય (ત્રણ શરીર) આદિ અન્ય લેહ પૃથ્વીકાયની સમાન  
 છે બન્ને પ્રકારના અગ્નિકાય અસંખ્યાત—અસંખ્યાત છે

## પરિમાણદ્વારમ્—

વાદરપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયજીવાઃ ક્ષેત્રપલ્યોપમસ્યાઽસંખ્યેયમાગમાત્રવર્તિપ્રદે-  
શરાશિપરિમાણા મન્તિ । તદપેક્ષયા વાદરા અપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયજીવા  
અસંખ્યાતગુણાઃ તદપેક્ષયા સૂક્ષ્મા અપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા અમંખ્યાતગુણાઃ, તદપેક્ષયા  
સૂક્ષ્માઃ પર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા અસંખ્યાતગુણા સન્તિ । પૃથિવીકાયેન સહાગ્નિકાયસ્ય  
પરિમાણસમાલોચનાયાં ત્વેવમવધેયમ્—

યે તેજસ્કાય વાદરપર્યાપ્તાઃ ક્ષેત્રપલ્યોપમાસંખ્યેયમાગમાત્રવર્તિ  
પ્રદેશરાશિપરિમાણાઃ સન્તિ, તે વાદરપર્યાપ્તેભ્યઃ પૃથિવીકાયેભ્યોઽસંખ્યાત  
ગુણહીનાઃ । શેપાસ્ત્રયોઽપિ રાશયઃ પૃથિવીકાયવદ્ વિદ્યેયાઃ । તત્રાય વિશેષ'—

## પરિમાણદ્વાર—

વાદર પર્યાપ્ત તેજસ્કાય કે જીવ ક્ષેત્રપલ્યોપમ કે અસંખ્યાતવે માગવર્તી  
પ્રદેશો કો રાશિ કે બરાબર છે । વાદર અપર્યાપ્ત તેજસ્કાય જીવ અને અસંખ્યાત  
ગુણ છે, સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત અને મી અસંખ્યાત ગુણ છે, અને સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત અને મી  
અસંખ્યાત ગુણ છે । પૃથ્વીકાય કે સાથ અગ્નિકાય કે પરિમાણ કા વિચાર ક્રિયા થાય તો  
હસ પ્રકાર છે—

તેજસ્કાય કે જો વાદર પર્યાપ્ત જીવ ક્ષેત્રપલ્યોપમ કે અસંખ્યાતવે માગવર્તી  
પ્રદેશો કે બરાબર છે, તે વાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે જીવો સે અસંખ્યાતગુણ હીન છે ।  
શેષ સૌનો રાશિઓ પૃથ્વીકાય સે સમાન હી સમજ કેની જાણિય । વિશેષતા સિદ્ધિ હતની છે—

## પરિમાણ દ્વાર—

વાદર પર્યાપ્ત તેજસ્કાયના એવ ક્ષેત્ર-પલ્યોપમના અસંખ્યાતમા માગવર્તી  
પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે વાદર અપર્યાપ્ત-તેજસ્કાય એવ તેનાથી અસંખ્યાત ગુણ  
છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસંખ્યાત ગુણ છે અને સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેનાથી  
પણ અસંખ્યાત ગુણ છે પૃથ્વીકાયની સાથે અગ્નિકાયના પરિમાણનો વિચાર કરવામાં  
આવે તો આ પ્રકાર છે—

તેજસ્કાયના જે વાદર પર્યાપ્ત એવ ક્ષેત્રપલ્યોપમના અસંખ્યાતમા માગવર્તી પ્રદેશોની  
બરાબર છે; તે વાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના એવાથી અસંખ્યાત ગુણ હીન છે વાદરની  
ત્રણેય રાશિઓ પૃથ્વીકાયની સમાનજ સમજ લેવી જોઈએ, વિશેષતા માત્ર એટલી છે કે—

વાદરાપર્યાપ્તેભ્ય પૃથિવીકાયેભ્યો વાદરા અપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા અસંખ્યાતગુણહીનાઃ,  
 સૂક્ષ્માપર્યાપ્તપૃથિવીકાયેભ્ય સૂક્ષ્મા અપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા વિશેષહીનાઃ ।  
 સૂક્ષ્મપર્યાપ્તપૃથિવીકાયેભ્ય સૂક્ષ્મા પર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા વિશેષહીના ઇતિ ।

एव युक्त्यागमप्रमाणाम्यामग्नेर्जीवित्वे सिद्धे यदि कश्चिदग्निकाय  
 जीवस्याभ्याख्यानं कुर्यात्, तर्ह्युपयोगादिलक्षणैरनुमितस्य शरीराधिष्ठातुरात्मतोऽ-  
 प्यभ्याख्यानं तेन वर्तव्यं स्यात्, परन्तु तन्न उचितं भवतीत्यत आह—“नैवाऽऽ-  
 त्मानमभ्यारयाया”-दिति । केनचिदात्मना शरीरमिदं, परिगृहीतं, केनचिच्च  
 शरीरमिदं परित्यक्तमिति प्रत्यक्षदर्शनादात्मनः शरीराधिष्ठातृत्वं सिध्यति ।

વાદર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે જીવો સે વાદર અપર્યાપ્ત તેજસ્કાય કે જીવ અસંખ્યાતગુણા  
 ક્રમ હૈં । સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે જીવો સે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેજસ્કાય કે જીવ  
 વિશેષ હીન હૈં । સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે જીવો સે સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેજસ્કાય કે જીવ  
 વિશેષ હીન હૈં ।

इस प्रकार युक्ति और आगमप्रमाण से अग्नि की सजीवता सिद्ध हो जाने  
 पर भी यदि कोई अग्निकाय के जीवों का अपलाप करता है तो वह उपयोग आदि  
 लक्षणों से अनुमान किये जाने वाले और शरीर के अधिष्ठाता आत्मा का अपलाप  
 करता है, मगर ऐसा करना उचित नहीं है, अतः सूत्रकार कहते हैं—‘आत्मा का  
 अपलाप न करे’ । किसी आत्माने यह शरीर ग्रहण किया है और किसी ने शरीर का  
 त्याग किया है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है । इस से यह सिद्ध हो जाता है कि शरीर,  
 आत्मद्वारा अधिष्ठित है ।

બાહર અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના લવેશી બાહર અપર્યાપ્ત તેજસ્કાયના એવ અસંખ્યાત  
 શુદ્ધા જોછા છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના લવેશી સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેજસ્કાયના  
 એવ વિશેષહીન છે સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના લવેશી સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેજસ્કાયના  
 એવ વિશેષહીન છે-વિશેષ જોછા છે

આ પ્રમાણે સુક્ષિત અને આગમપ્રમાણથી અગ્નિની સજીવતા સિદ્ધ થઈ જવા  
 છતાંય પણ જો કોઈ અગ્નિકાયના લવેશી અપલાપ કરે છે તો તે ઉપયોગ લક્ષણોથી  
 અનુમાન કરવામાં આવેલા અને શરીરના અધિષ્ઠાતા આત્માનો અપલાપ કરે છે પરન્તુ જો  
 પ્રમાણે કરવું તે ઉચિત નથી તેથી સૂત્રકાર કહે છે—‘આત્માનો અપલાપ ન કરે’ કોઈ  
 આત્માએ આ શરીર ગ્રહણ કર્યું છે, અને કોઈએ શરીરનો ત્યાગ કર્યો છે, એ વાત  
 પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવે છે તેથી જો સિદ્ધ થાય છે કે શરીર આત્માદ્વારા અધિષ્ઠિત છે,

### પરિમાણદ્વાર—

ઘાદરપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયજીવા ક્ષેત્રપત્યોપમસ્યાઽસહ્યેયમાગમાત્રવર્તિપ્રદે  
શરાશિપરિમાણા સન્તિ । તદપેક્ષયા ઘાદરા અપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયજીવા  
અસહ્યાતગુણાઃ તદપેક્ષયા સૂક્ષ્મા અપર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા અસહ્યાતગુણાઃ, તદપેક્ષયા  
સૂક્ષ્માઃ પર્યાપ્તાસ્તેજસ્કાયા અસહ્યાતગુણા સન્તિ । પૃથિવીકાયેન સઘાગ્નિકાયસ્ય  
પરિમાણસમાલોચનાયાં ત્વેવમવધેયમ્—

યે તેજસ્કાય ઘાદરપર્યાપ્તા ક્ષેત્રપત્યોપમાસહ્યેયમાગમાત્રવર્તિ  
પ્રદેશરાશિપરિમાણાઃ સન્તિ, તે ઘાદરપર્યાપ્તેમ્ય પૃથિવીકાયેમ્યોઽસહ્યાત  
ગુણીનાઃ । શેપાસ્ત્રયોઽપિ રાશયઃ પૃથિવીકાયવદ્ વિદ્યેયા । તત્રાય વિશેષ—

### પરિમાણદ્વાર—

ઘાદર પર્યાપ્ત તેજસ્કાય કે બીજ ક્ષેત્રપત્યોપમ કે અસહ્યાતવે માગવર્તી  
પ્રદેશો કી રાશિ કે બરાબર હૈં । ઘાદર અપર્યાપ્ત તેજસ્કાય બીજાં ઉનસે અસહ્યાત  
ગુણા હૈં, સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત હનસે મી અસહ્યાત ગુણા હૈં, બીર સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત હન સે મી  
અસહ્યાત ગુણા હૈં । પૃથ્વીકાય કે સાથ અગ્નિકાય કે પરિમાણ કા વિચાર ક્રિયા બાબ તો  
હસ પ્રકાર હૈ—

તેજસ્કાય કે બો ઘાદર પર્યાપ્ત બીજ ક્ષેત્રપત્યોપમ કે અસહ્યાતવે માગવર્તી  
પ્રદેશો કે બરાબર હૈં, તે ઘાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાય કે બીજો સે અસહ્યાતગુણા હીન હૈં ।  
શેષ ત્રીનો રાશિયો પૃથ્વીકાય સે સમાન હી સમજા લેની ચાહિય । વિશેષતા સિર્ફ હતની હૈ—

### પરિમાણ દ્વાર—

ઘાદર પર્યાપ્ત તેજસ્કાયના એવ ક્ષેત્ર-પત્યોપમના અસહ્યાતમા માગવર્તી  
પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે ઘાદર અપર્યાપ્ત-તેજસ્કાય એવ તેનાથી અસહ્યાત ગુણા  
છે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસહ્યાત ગુણા છે અને સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત તેનાથી  
પણ અસહ્યાત ગુણા છે પૃથ્વીકાયની સાથે અગ્નિકાયના પરિમાણનો વિચાર કરવામાં  
આવે તો આ પ્રકાર છે—

તેજસ્કાયના જે ઘાદર પર્યાપ્ત એવ ક્ષેત્ર-પત્યોપમના અસહ્યાતમા માગવર્તી પ્રદેશોની  
બરાબર છે, તે ઘાદર પર્યાપ્ત પૃથ્વીકાયના એવાથી અસહ્યાત ગુણા હીન છે બાકીની  
ત્રણેય રાશિઓ પૃથ્વીકાયની સમાનજ સમજા લેવી જોઈએ, વિશેષતા માત્ર એટલી છે કે—

ત્યપલપને પ્રવર્તતે, સ મૂઢ લોકમ્=અધિકાયલોકમ્ અમ્યાહ્યાતિ= 'અગ્નિકાયજીવો નાસ્તી'-ત્યપલપતિ । અય માવ.-સામાન્યરૂપેનાત્મન સિદ્ધી સત્યામેવ હિ તસ્યાત્મનો મેદા. પથિવીકાયાદયઃ સિમ્યન્તિ, નાન્યથા । સામાન્યાત્મનોઽમ્યાહ્યાને પ્રવૃત્તઃ સાહસિક. પૃથિવીકાયાદેર્વિશેષાત્મનોઽમ્યાહ્યાનં સુતરા કર્તુમર્હતીતિ ।

અપિ ચાય માવ.-કરચરણાદ્યવયવયુક્તશરીરાધિષ્ઠાતા મુન્યક્તોપયોગાદિ-લક્ષણઃ સ્વાત્માઽપિ યેનામ્યાહ્યાત\*, તસ્યાવ્યક્તોપયોગાદિલક્ષણાગ્નિકાયામ્યાહ્યાન કિં નુ દુષ્કર ?-મિતિ ॥ સુ૦ ૧ ॥

‘અગ્નિકાય નહીં હૈ’ હસ પ્રકાર અગ્નિકાય કા નિપેધ કરતા હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-સામાન્યરૂપ સે આત્મા કા અસ્તિત્વ સિદ્ધ હોને પર હી ઉસકે પૃથ્વીકાય આદિ મેદ સિદ્ધ હો સકતે હૈ અન્યથા નહીં । જો સાહસી પુરુષ સામાન્ય આત્મા કા હી નિપેધ કરને કો તૈયાર હો ગયા વહ પૃથ્વીકાય આદિ વિશેષ આત્માઓ કા નિપેધ કરે, યહ સો સ્વામાવિક હી હૈ ।

હસે યહ મી આશય નિકલતા હૈ-હાથ-પૈર આદિ અવયવો સે યુક્ત શરીર કે અધિષ્ઠાતા ઔર મઠીમૈત્તિ પ્રકટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણો વાલે અપને આત્મા કા મી બિસને નિપેધ કર દિયા ઉસકે હિં અપ્રકટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણો વાલે અગ્નિકાય કા નિપેધ કરના કૌન વઢી વાત હૈ \* ॥ સુ૦ ૧ ॥

નથી' આ પ્રમાણે અગ્નિકાયનો નિપેધ કરે છે

તાત્પર્ય' કો છે કે-સામાન્યરૂપથી આત્માનું અસ્તિત્વ સિદ્ધ થવાથી જ તેના પૃથ્વીકાય આદિ લેહ સિદ્ધ થઈ શકે છે, અન્યથા-બીજી રીતે નહિ જે સાહસી પુરુષ સામાન્ય આત્માનોજ નિપેધ કરવા માટે તૈયાર થઈ ગયા તે પૃથ્વીકાય આદિ વિશેષ આત્માઓનો નિપેધ કરે કો તે સ્વામાવિકજ છે

એમાંથી કો પણ આશય નિકળે છે કે-હાથ-પગ આદિ અવયવોથી યુક્ત શરીરના અધિષ્ઠાતા ને સારી રીતે પ્રગટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા પોતાના આત્માનો પણ જેણે નિપેધ કરી દીધો તેને અપ્રગટ ઉપયોગ આદિ લક્ષણોવાળા અગ્નિકાયનો નિપેધ કરવો તે શું મોટી વાત છે ? ( સ. ૧ )

एवं च युक्त्यागमसिद्ध शरीराधिष्ठाता ज्ञानादिगुणवानयमात्मा कथमपि नापलपितुं शक्यः । तस्मादात्मा नास्तीत्येवमभ्याख्यानमात्मनो न कुर्यादित्यर्थः ।

य' खलु मन्दधी', लोकम्=अग्निकायलोकम्, अभ्याख्याति, आत्म-  
वत्सर्वप्रमाणसंसिद्धमप्यग्निकायलोक प्रस्थाप्ये—'अग्निकायजीवो नास्ती'ति, स  
आत्मानमभ्याख्याति=स मूढः खलु युक्त्यागमप्रमाणसंसिद्धमात्मानमपलपति 'आत्मा  
नास्ती'ति । सर्वप्रमाणसंसिद्धाग्निकायलोकाभ्याख्याने प्रवृत्तस्य सुकरमेवात्मनोऽ-  
भ्याख्यानम्, अग्निकायवदेवात्मन्यपि प्रमाणसत्तायास्तुल्यस्वादिति भावः ।

य आत्मानमभ्याख्याति=यश्चात्मनोऽभ्याख्याने 'आत्मा नास्ती'

इस प्रकार युक्ति और आगम से सिद्ध शरीर के अधिष्ठाता तथा ज्ञान आदि गुणों  
वाले आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता । अत एव 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार  
आत्मा का निषेध नहीं करना चाहिए ।

જો મનઃશુદ્ધિ પુરુષ અગ્નિકાયરૂપ લોક કા જો આત્મા કી મૈત્રિ સમસ્ત  
પ્રમાણોં સે સિદ્ધ છે—નિષેધ કરતા છે અર્થાત્ અગ્નિકાય કે જીવોં કા નિષેધ કરતા છે ત્થ  
યુક્તિ જોર આગમ સે સિદ્ધ આત્મા કા નિષેધ કરતા છે । સર્વ પ્રમાણોં સે સિદ્ધ અગ્નિકાય  
લોક કા અપલાપ કરને પર આત્મા કા અપલાપ કરના સરજ હી છે, ક્યોં કે અગ્નિકાય જોર  
આત્મા કે અસ્તિત્વ મેં પ્રમાણોં કા સદ્ભાવ સમાન છે ।

જો મૂર્ખ 'આત્મા નહીં છે' इस प्रकार आत्मा का निषेध करता है वह

આ પ્રમાણે સુક્તિ અને આગમથી સિદ્ધ, શરીરના અધિષ્ઠાતા તથા જ્ઞાન આદિ  
શુભોવાળા આત્માનો નિષેધ કરી શકતો નથી. જોટલા માટે 'આત્મા નથી' આ  
પ્રમાણે આત્માનો નિષેધ કરી શકતો નથી જોટલા માટે 'આત્મા નથી' આ પ્રમાણે  
આત્માનો નિષેધ કરવો બેઈજો નહિ

જે મનઃશુદ્ધિ પુરુષ અગ્નિકાયરૂપ લોકનો છે જે આત્મા પ્રમાણે સમસ્ત પ્રમાણોથી  
સિદ્ધ છે તેનો, નિષેધ કરે છે, અર્થાત્ અગ્નિકાયના જીવોનો નિષેધ કરે છે, તે સુક્તિ  
અને આગમથી સિદ્ધ આત્માનો નિષેધ કરે છે એવું પ્રમાણોથી સિદ્ધ અગ્નિકાયલોકના  
અપલાપ કરવાથી આત્માનો અપલાપ કરવો તે સરજજ છે કેમકે અગ્નિકાય અને  
આત્માના અસ્તિત્વમાં પ્રમાણોનો સદ્ભાવ સમાન છે

જે મૂર્ખ 'આત્મા નથી' આ પ્રમાણે આત્માનો નિષેધ કરે છે, તે 'અગ્નિકાય

ગ્નિસ્તેષાં શસ્ત્ર મવતિ । તસ્ય લેદ્મઃ = લેદમ્ = ઉપમર્દનજન્યદુ લ્લં જાનાતીતિ લેદ્મઃ, સ એવ અશસ્ત્રસ્ય-અશસ્ત્ર=સયમઃ, સંયમો હિ ન વ્યાપાદકો ભયદો વા કસ્યા પીત્યશસ્ત્રમુચ્યતે । તસ્ય લેદ્મઃ = સયમમદ્મયજનિતદુ લ્લાનુમયકુશલ । एवं સયમાનુષ્ઠાનાદેવ મુનિત્વ લક્ષ્યમિતિ ભાવ ।

નનુ-પ્રથમિદ શાપતે દીર્ઘલોકશઙ્કાર્થે વનસ્પતિરિતિ ? ઉચ્યતે-કાયસ્થિતિકાલેન, પરિમાણેન, શરીરાવગાહનયા ચ વનસ્પતિકાયસ્ય અન્યૈકેન્દ્રિયાપેક્ષયા મહત્ત્વમસ્તિ । તથાહિ-વનસ્પતિકાયસ્ય કાયસ્થિતિકાલોઽનન્તઃ, સ ચાનન્તોત્સર્વિણ્યવસર્વિણીરૂપ, તસ્મિન્નસરવેયા પુદ્ગલપરાવર્તો મવન્તિ, તે પુદ્ગલપરાવર્તો આવલિકાયા અસન્ન્યેયે માગે યાવન્ત સમયાન્તાવત્પ્રમાણા

કરને કે કારણ અગ્નિ, વનસ્પતિકાય કા શક્તિ છે । સયમ સે કિસો કી વિરાધના નહીં હોતી, ન વહ કિસી કો મયકારી છે, અતઃ એવ સંયમ કો અશસ્ત્ર કહતે હૈં । સંયમ કે મંગ હોને કે મય સે ઉત્પન્ન હોને વાલા દુઃસ્વ સયમ કા લેદ્મ કહલાતા છે । હસ પ્રકાર સયમ કે પાલન કરને સે હી મુનિપન હોતા છે ।

શકા—દીર્ઘલોક શબ્દ કા અર્થ વનસ્પતિ કેસે સમજા જાય ?

સમાધાન—કાયસ્થિતિ કે સમય, પરિમાણ ઓર શરીર કી અવગાહના સે વનસ્પતિકાય અન્ય એકેન્દ્રિય જીવો કી અપેક્ષા મહાન્ છે । વનસ્પતિકાય કી કાયસ્થિતિ કા કાલ અનન્ત છે, ઓર વહ અનન્ત મી અનન્ત ઉત્સર્વિણીરૂપ-અવસર્વિણીરૂપ છે । ઉસમેં અસંખ્યાત પુદ્ગલપરાવર્તન હોતે હૈં । વે પુદ્ગલપરાવર્તન આવલિકા કે અસંખ્યાતવેં ભાગ મેં

કારણથી અગ્નિ વનસ્પતિકાયનું શસ્ત્ર છે સયમથી કોઈની પણ વિરાધના થતી નથી તે કોઈને અયકારી નથી. એ માટે સયમને અશસ્ત્ર કહે છે સયમનો ભગ થવાના અયથી ઉત્પન્ન થવાવાળું દુઃખ તે સયમનો એક કહેવાય છે આ પ્રમાણે સયમનું પાલન કરવાથીજ મુનિપણું હોય છે

શકા—દીર્ઘલોક શબ્દનો અર્થ વનસ્પતિ કેવી રીતે સમજી શકાય ?

સમાધાન—કાયસ્થિતિના સમય, પરિમાણ અને શરીરની અવગાહનાથી વનસ્પતિકાય, અન્ય એકેન્દ્રિય જીવોની અપેક્ષાએ મહાન્ છે વનસ્પતિકાયની કાયસ્થિતિના કાલ અનન્ત છે અને તે અનન્ત પણ અનન્ત ઉત્સર્વિણી-અવસર્વિણીરૂપ છે તેમાં અસંખ્યાત પુદ્ગલપરાવર્તન થાય છે તે પુદ્ગલપરાવર્તન આવલિકાના અસંખ્યાતમાં



અયમગ્નિકાયલોકઃ સ્વાત્મવ્રજૈવ અભ્યાલ્યેય इति प्रतिबोधितम्,  
इदानीमग्નિકાયजीवोपमर्दनाद् विनिवृत्त एव मुनिर्मयितुमर्हतीत्याह—‘जे दीह०’  
इत्यादि ।

મૂલમ્—

जे दीहलोगसत्यस्स खेयन्ने, से असत्यस्स खेयन्ने, जे असत्यस्स खेयन्ने  
से दीहलोगसत्यस्स खेयन्ने ॥ सू० २ ॥

છાયા—

यो दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञ, सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञ । योऽशस्त्रस्य खेदज्ञ, स  
दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः ॥ सू. २ ॥

ટીકા—

यो मध्य, दीर्घलोकशस्त्रस्य=दीर्घधातौ लोकश्च दीर्घलोक=वनस्पति,  
तस्य शस्त्र दीर्घलोकशस्त्रम्=अग्नि । वनस्पतिकायस्य दाहकरणेन विनाशकतयाऽ-

અગ્નિકાયલોક, આત્મા ક્ષી તરફ નિષેધ કરને યોગ્ય નહીં છે, યહ વતલા દિયા ।  
અવ વતલતિ હૈં કિ—અગ્નિકાય કે લીલોં ક્ષી હિંસા સે નિવૃત્ત હોને વાલા પુરુષ હી મુનિ હોતા  
હૈ—‘જે દીહ૦’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—જો વીર્ધલોક (વનસ્પતિકાય) કે શસ્ત્ર (અગ્નિકાય) કે દુઃસ કો જાનતા  
હૈ વહી સયમ કે સેવ કો જાનતા હૈ ઓર જો સયમ કે સેવ કો જાનતા હૈ વહ વીર્ધલોક કે  
શસ્ત્ર કે સેવ કો જાનતા હૈ ॥ સૂ. ૧ ॥

ટીકાર્થ—જો મધ્ય પુરુષ વીર્ધલોક અર્થાત્ વનસ્પતિ કે શસ્ત્ર—અગ્નિ કે દુઃસ કો  
જાનતા હૈ, વહી અશસ્ત્ર અર્થાત્ સયમ કે સેવ કો જાનતા હૈ । વનસ્પતિકાય ક્ષી વિરાધના

અગ્નિકાયલોક, આત્માની પ્રભાલે નિષેધ કરવા યોગ્ય નથી, તે બતાવી આપ્યું  
છે હવે બતાવે છે કે—અગ્નિકાયના લીલોંની હિંસાથી નિવૃત્ત થવાવાળા પુરુષ  
મુનિ હોય છે—‘જે દીહ૦’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે વીર્ધલોક (વનસ્પતિકાય)ના શસ્ત્ર (અગ્નિકાય)ના દુઃખને બાંહે  
છે, તેજ સયમના ખેદને બાંહે છે, અને જે સયમના ખેદને બાંહે છે તેજ વીર્ધ  
લોકના શસ્ત્રના ખેદને બાંહે છે (સૂ. ૨)

ટીકાર્થ—જે મધ્ય પુરુષ વીર્ધલોક અર્થાત્ વનસ્પતિનું શસ્ત્ર અગ્નિના દુઃખને  
બાંહે છે, તેજ અશસ્ત્ર અર્થાત્ સયમના ખેદને બાંહે છે વનસ્પતિકામની વિરાધના કરવાના

પૃથ્વાનુસારી વાયુરપિ તથા સમાવ્યતે, તદેવ વનસ્પતિશસ્ત્રીમૂય દહનો વહુતર-  
જીવાનાશયતીતિ સૂચનાય ભગવતા દીર્ઘલોકશસ્ત્રશબ્દઃ પરિગૃહીત ઇતિ ।

યદ્વા—દીર્ઘલોક=પૃથિવીકાયાદિઃ, પૃથિવ્યવ્યાયુવનસ્પતિકાયાનાં  
મવસ્થિતિરિયંયાક્રમ દ્વાવિંશતિ,—સપ્ત-ત્રિ-દશ-વર્ષસહસ્રપરિમાણા, અગ્નિકાયસ્ય તુ  
ગ્રીણ્યેવાદિરોત્તરાણિ । યથા વાદરામિકાયાઃ પર્યાપ્તકા સ્વરૂપા સન્તિ, અન્યે  
પૃથિવ્યાદયઃ પર્યાપ્તકા વહવઃ સન્તિ, અતો દીર્ઘલોકઃ પૃથિવ્યાદિસ્તસ્ય  
શસ્ત્રમ્=અગ્નિકાય । અગ્નિરુત્પાદ્યમાન' મજ્જાલ્યમાનો વા પૃથિવ્યાદિજીવસમૂહં  
મણિહન્તીતિ તસ્ય શસ્ત્રત્વમ્ । ઉક્તશ્ચ—

પત્તો (કોપલો) કા અનુસારી વાયુ મી વહૈં સમવ હૈ । હસ પ્રકાર અગ્નિ વનસ્પતિ કા શક્ત  
હો કર વહુતેરે જીવો કા વિનાશ કરતા હૈ । યહ સૂચિત કરને કે લિપ્ ભગવાન્ ને  
'દીર્ઘલોકશસ્ત્ર' શબ્દ કા અગ્નિ કે લિપ્ પ્રયોગ કિયા હૈ ।

અથવા—'દીર્ઘલોકકા' અર્થ પૃથ્વીકાય આદિ હૈ । પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, વાયુકાય  
ઔર વનસ્પતિકાય કી મવસ્થિતિ ક્રમ સે બાઈસ, સાત, ત્રીસ ઔર દશ હજાર વર્ષ કી હૈ,  
મગર અગ્નિકાય કી ત્રીસ રાત્રિ-દિન હી હૈ । બાહર અગ્નિકાય કે પર્યાપ્ત જીવ સ્વરૂપ હૈ  
મગર પૃથ્વી આદિ કે પર્યાપ્ત જીવ વહુત હૈ । અત 'દીર્ઘલોક' શબ્દ સે પૃથ્વીકાય આદિ  
કા પ્રહ્ણ કરના ચાહિપ્ ઔર ઊનકા શક્ત અગ્નિકાય સમક્ષના ચાહિપ્ । અગ્નિ ઉત્પન્ન હોતે  
હી ઔર જલતે હી પૃથ્વી આદિ કે જીવો કે સમૂહ કા ઘાત કરતા હૈ, અત વહ પૃથ્વી આદિ  
કા શક્ત હૈ । કહા મી હૈ —

અને અત્યંત ક્રોધથી પત્તા (કુપળો)ના અનુસારી વાયુનો પણ ત્યાં સમાવ છે આ  
પ્રમાણે અગ્નિ, વનસ્પતિનું શસ્ત્ર બની ધણીજી જીવોનો વિનાશ કરે છે આ હકીકત  
સૂચવવા માટે ભગવાને 'દીર્ઘલોકશસ્ત્ર' શબ્દનો અગ્નિ માટે પ્રયોગ કર્યો છે

અથવા—દીર્ઘલોકનો અર્થ પૃથ્વીકાય આદિ છે, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, વાયુકાય,  
અને વનસ્પતિકાયની ભવસ્થિતિ ક્રમથી બાવીસ, સાત, ત્રણ અને દસ હજાર વર્ષની  
છે પરંતુ અગ્નિકાયની ત્રણ રાત્રિ-દિવસજ છે જેમકે—બાહર અગ્નિકાયના પર્યાપ્ત  
જીવ સ્વરૂપ છે પરંતુ પૃથ્વી આદિના પર્યાપ્ત જીવ ધણીજી છે એ માટે 'દીર્ઘલોક'  
શબ્દથી પૃથ્વીકાય આદિનું શસ્ત્ર કરવું જોઈએ, અને તેનું શસ્ત્ર અગ્નિકાય સમજવું  
જોઈએ અગ્નિ ઉત્પન્ન થતાંજ અને જળવાની ક્રિયા થતાંજ પૃથ્વીઆદિના જીવોના  
સમૂહનો ઘાત કરે છે તેથી તે પૃથ્વી આદિનું શસ્ત્ર છે કહ્યું પણ છે કે —

સન્તિ । પતાવાન્ કાલો વનસ્પતિકાઞ્ચ ઇત્યુચ્યતે । પરિમાણતસ્તુ પ્રત્યુત્પન્નવનસ્પતિ-  
કાયિકાનાં નિર્લેપના નાસ્તિ ।

શરીરાવગાહનયા ચ સાતિરેક યોજનસહસ્રમ્ । અતો વનસ્પતિકાયસ્ય  
દીર્ઘલોક ઇતિ વ્યપદેશ\* । (પ્રજ્ઞાપના ૧૮ પદે)

નત્તુ પ્રસિદ્ધમગ્નિશ્ચય ચિદાય કિમર્યમિદ્ દીર્ઘલોકશસ્ત્રશબ્દોપાદાનમ્ ?  
ઉચ્યતે—વનસ્પતિકાયવદ્વનમૃત્તોઽગ્નિકાયો વહુતરપ્રાણિનાં વિનાશકો મશ્તિ,  
વનસ્પતિકાયે વહુવિષાઃ પ્રાણિનઃ કીટ પિપીલિકા ભ્રમરમધુમસિકાકપોતાદયો  
નિવસન્તિ, તરુકોટરેષુ પૃથિવીકાયાશ્ચ, અવશ્યાયરૂપા અપ્કાયા અપિ, સૃદુતર

કિતને સમય હોતે છે ઉત્તને છે, ઇતના કાલ વનસ્પતિકાલ કહલાતા છે । પરિમાણ સે પ્રત્યુત્પન્ન  
વનસ્પતિકાયિક જીવો કી નિર્લેપના નહીં છે । ઇનકે શરીર કી અવગાહના કુલ્લ અધિક પદ  
હજાર યોજન છે । ઇસી કારણ વનસ્પતિકાય કો ડીર્ઘલોક કહતે છે ।

અબ પ્રશ્ન હો સક્તા છે કિ—પ્રસિદ્ધ ‘અગ્નિ’ શબ્દ કો છોડ કર ‘દીર્ઘલોકશસ્ત્ર’  
શબ્દ કા પ્રયોગ કરને કી ક્યા આવશ્યકતા થી ?

ઇસકા ઉત્તર યહ છે કિ—વનસ્પતિકાય કો જલાને મેં પ્રવૃત્ત અગ્નિકાય ઔર મી  
વહુત સે પ્રાણિયો કા વિનાશ કરતા છે । વનસ્પતિકાય કે સહારે કીચે, કિડટી, મૈરિ,  
મધુમક્ષી ઔર કબૂતર આદિ વહુત સે પ્રાણી નિવાસ કરતે છે । ઇન્કો કી સોતરો મેં  
પૃથ્વીકાય કે જીવ મી હોતે છે । ઓસરૂપ અપ્કાય મી હોતા છે, ઔર અવ્યક્ત કોમલ

ભાગમા બેટલા સમય થાય છે તેવા છે બેટલા કાળ તે વનસ્પતિકાળ કહેવાય છે  
પરિભ્રમણી પ્રત્યુત્પન્ન વનસ્પતિકાયિક જીવોની નિર્લેપના નથી તેના શરીરની અવગાહના  
કઈક અધિક એક હજાર યોજન છે આ કારણથી વનસ્પતિ કાયને ‘દીર્ઘલોક’ કહે છે.

હવે પ્રશ્ન થઈ શકે છે કે—પ્રસિદ્ધ અગ્નિ શબ્દને છોડીને ‘દીર્ઘલોકશસ્ત્ર’  
શબ્દને પ્રયોગ કરવાની શું આવશ્યકતા હતી ? તેના ઉત્તર એ છે કે—વનસ્પતિકાયને  
બાળવામાં પ્રવૃત્ત (અથવા) અગ્નિકાય બીજા પણ પ્રાણીઓને વિનાશ કરે છે વનસ્પતિના  
આશયે ક્રીડા, મઠાકા, અમરા, મધુમાળી અને કબૂતર આદિ ઘણાજ પ્રાણીઓ નિવાસ કરે  
છે. વૃક્ષોના અંગેલમાં પૃથ્વીકાયના જીવ પણ હોય છે. આકળદાર અપ્કાય પણ હોય છે

ઉક્તમર્થે દ્વીકર્તુ વિપર્યયેણ પુન' કથયતિ-‘યોઽશ્વસ્ય સ્વેદન સ દીર્ઘલોકશ્વસ્ય સ્વેદનઃ’ इति, व्याख्या पूर्ववत् । ॥ सू० २ ॥

॥ શસ્ત્રદ્વારમ્ ॥

નતુ येन शस्त्रेण षट्ति. खिद्यते, तत् केन दृष्टम् ? अपि चाश्वसं सयम-  
स्वरूपमिति केन दृष्टम् ?, इति जिज्ञासायामाह—‘वीरेहि’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

वीरेहि एष अमिभूय दिष्ट, सजएहि सया जएहि सया अप्रमचेहि ॥सू०३॥

છાયા—

वीरै. एतद् अमिभूय दृष्टम्, सयतै. सदा यतै. सदा अप्रमचै ॥सू०३॥

इसी बात को दृढ करने के उद्देश्य से पुन अन्तरूप से कहते हैं कि—जो अश्व  
(संयम) के खेद को जानता है वह दीर्घलोकशस्त्र के खेद को जानता है । इस की व्याख्या  
पहले के समान ही समझनी चाहिए ॥ सू० २ ॥

શસ્ત્રદ્વાર—

शका होती है कि—किस शस्त्र से अग्नि को खेद होता है वह किस ने  
देखा है और सयमरूप अश्व किस ने देखा है ? इसके उत्तर में कहते हैं—  
‘वीरेहि’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—પરિપદ્ધ ઉપસર્ગ બાદિ કો બીસનેવાળે સયત સદા યતનાવાન્ બૌર સદા  
અપ્રમચ રહને વાળે વીર પુરુષો ને મહ દેસા હૈ ॥ સૂ० ૩ ॥

આ વાતને દૃઢ કરવાના ઉદ્દેશથી ફરી બીજા રૂપથી કહે છે કે—જો અશ્વ  
(સયમ)ના ખેદને બાંહે છે તે દીર્ઘલોકશસ્ત્રના ખેદને બાંહે છે તેની વ્યાખ્યા પ્રથમ  
કહેલી છે તે પ્રમાણે સમજવી જોઈએ (સુ. ૨)

શસ્ત્રદ્વાર—

शका थाय છે કે જે શસ્ત્રથી બાંધિને ખેદ થાય છે તે કાણે જોયું છે ? બને  
સયમરૂપ અશ્વ કાણે જોયું છે ? તેના ઉત્તરમાં કહે છે—‘વીરેહિ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—પરીપદ્ધ-ઉપસર્ગ બાંધિને જીતવાવાળા, સયત-સયમી સદા યતના  
વાન્ બને સદા અપ્રમત્ત રહેવાવાળા વીરપુરુષોએ તે જોયું છે (સુ. ૩)

“ભૂયાણમેસમાધાઓ દ્યવાહો ન સસઓ” । (વશ્વૈ ૩ અંગા ૩૫)

તસ્ય સ્વેદઃ=સ્વેદયતીતિ સ્વેદઃ=અન્નેર્વ્યાપાર', અગ્નિવ્યાપારો हि पृथिव्यादि-  
जीवानां दहनान्मकतया दुःखमुत्पादयतीत्यतः स्वેद-શ્વન્દેન વ્યપદિશ્યતે, ત  
જાનાતીતિ સ્વેદઃ । અગ્નિકાયસ્ય વ્યાપાર' સર્વપ્રાણિપીઠાકર इति विज्ञाता च:  
સ્વલુ મથતિ, સ એવ અશ્વસ્ય=સપ્તદશવિધસયમસ્ય સ્વેદઃ=સયમસરજન્ય  
દુઃખાનુમાવકઃ, અસ્તીતિ શેષ । અગ્નિકાયવ્યાપારેણ પૃથિવ્યાદિજીવાનાં  
વિનાશસ્તેન સયમસરણ, તતથ મુનિસ્વવિર્ધશ इति सर्वस्वनाशकतयाऽग्निव्यापारः  
સાધૂનો જ્ઞપરિયા વિજ્ઞાય પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા પરિહરણીય इति भावः ।

“यह अग्नि भूतों का घातक है, इसमें संदेह नहीं” । (वश्वै ३ अ गा ३५)

તસ અગ્નિ કે વ્યાપાર કો પૃથ્વીકાય આદિ કા સ્વેદ કહેતે હૈં, ક્યોં કિ વાહક હોને  
કે કારણ વહ પૃથ્વી આદિ કો દુઃખ ઉત્પન્ન કરતા હૈ । ઉસે જાનને વાલા ‘સ્વેદઃ’ કહલતા  
હૈ । ‘અગ્નિકાય કા વ્યાપાર સર્વ પ્રાણિયોં કો પીઠા પહુંચાતા હૈ’—જો પેસા જાનતા રહી  
પુરુષ અશ્વ કા અર્થસ્ સત્તરહ પ્રકાર કે સંયમ કે સ્વેદ કા—સંયમ કે મંગ સે હોને વાકે  
સ્વેદ કા જ્ઞાતા હોતા હૈ । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—અગ્નિકાય કે વ્યાપાર સે પૃથ્વીકાય આદિ કે  
જીવોં કા વિનાશ હોતા હૈ, જૌર ઉસસે સંયમમંગ હોતા હૈ, જૌર સંયમ કે મંગ સે મુનિપત  
કા મંગ હોતા હૈ । ઇસ પ્રકાર અગ્નિવ્યાપાર સર્વસ્વ કા નાશક હોને સે વહ સાધુઓં કે ક્ષિપ  
જ્ઞપરિજ્ઞા સે જાનકર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગને યોગ્ય હૈ ।

“આ અગ્નિ ભૂતોના ઘાતક છે, એમાં સંદેહ નથી.” (વશ્વૈ. અ. ૩ ગા ૩૫)

આ અગ્નિના વ્યાપારને પૃથ્વીકાયનો જેઠ કહે છે કારણ કે કાલકે કોવાના  
કારણે તે પૃથ્વીઆદિને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે તેને બાણવાવાળા ‘જેઠશ’ કહેવાય છે  
‘અગ્નિકાયનો વ્યાપાર સર્વ પ્રાણીઓને પીઠા પહોંચાટે છે’ જે આ પ્રકારે બધું છે  
તેજ પુરુષ અશ્વનો અર્થોત્ સત્તર પ્રકારના સયમના જેઠનો—સયમના ભગધી  
શવાવાળા જેઠનો જ્ઞાતા—બાણનાર કોય છે તાત્પર્ય એ છે કે—અગ્નિકાયના વ્યાપારથી  
પૃથ્વીકાય આદિના જીવોનો નાશ થાય છે અને તેથી સયમ ભગ થાય છે, અને  
સયમના ભગધી, મુનિપત્ત્ ભગ થાય છે આ પ્રમાણે અગ્નિવ્યાપાર સર્વસ્વનો નાશક  
કોવાધી સાધુઓ માટે જ્ઞપરિજ્ઞાથી બાણીને પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી ત્યાગવા યોગ્ય છે

ઉક્તમર્થ દટીકર્તુ વિપર્યયેણ પુન' કયયતિ-‘યોઽશસ્ત્રસ્ય ચેદન સ દીર્ઘલોકશસ્ત્રસ્ય ચેદનઃ’ इति, व्याख्या पूर्ववत् । ॥ सू० ૨ ॥

॥ શસ્ત્રદ્વારમ્ ॥

નનુ યેન શસ્ત્રેણ ઘટ્ટિ વિધયતે, તત્ કેન દટ્ટમ્ ? અપિ ચાશસ્ત્ર સયમ-સ્વરૂપમિતિ કેન દટ્ટમ્ ?, इति जिज्ञासायामाह—‘वीरेहि’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

वीरेहि एष अमिभूय दिद्व, सजएहि सया जएहि सया अप्पमत्तेहि ॥ सू० ૩ ॥

છાયા—

वीरै एतद् अमिभूय दट्टम्, सयतै सदा यतै. सदा अप्पमत्तै. ॥ सू० ૩ ॥

इसी बात को दृढ करने के उद्देश्य से पुन अन्यरूप से कहते हैं कि—जो अशस्त्र (संयम) के खेद को जानता है वह दीर्घलोकशस्त्र के खेद को जानता है । इस की व्याख्या पहले के समान ही समझनी चाहिए ॥ सू० २ ॥

શસ્ત્રદ્વાર—

शका होती है कि—जिस शस्त्र से अग्नि को खेद होता है वह किस ने देखा है और संयमरूप अशस्त्र किस ने देखा है ? इसके उत्तर में कहते हैं—‘वीरेहि’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—પરિપદ્ય ઉપસર્ગ આદિ કો જીતનેવાલે સંયત સદા ચતનાવાન્ ઔર સદા અપ્પમત્ત રહને વાલે વીર પુરુષો ને મહ દેસ્યા હૈ ॥ સૂ० ૩ ॥

આ વાતને દૃઢ કરવાના ઉદ્દેશથી ફરી બીજા રૂપથી કહે છે કે—જો અશસ્ત્ર (સંયમ)ના ખેદને બાજુ છે તે દીર્ઘલોકશસ્ત્રના ખેદને બાજુ છે તેની વ્યાખ્યા પ્રથમ કહેલી છે તે પ્રમાણે સમજવી જોઈએ (સૂ ૨)

શસ્ત્રદ્વાર—

शका थाय છે કે જે શસ્ત્રથી અગ્નિને ખેદ થાય છે તે કાણે જોયુ છે ? અને સંયમરૂપ અશસ્ત્ર કાણે જોયુ છે ? તેના ઉત્તરમાં કહે છે—‘વીરેહિ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—પરીપદ્ય-ઉપસર્ગ આદિને જીતવાવાળા, સંયત-સંયમી સદા ચતનાવાન્ અને સદા અપ્રમત્ત રહેવાવાળા વીરપુરુષોએ તે જોયુ છે (સૂ ૩)

## ટીકા—

ધીરૈરિતિ । ધનધાતિકર્મરૂપરિપુગણસપ્પાનન્ટરં લબ્ધાતુલકેસ્સા-  
લોકલક્ષ્મ્યા વિરાજન્તે इति धीराः । यथा—राजानश्चतुरङ्गसैन्यसमावृत स्वकीय-  
मरिचर्ग निहत्य लब्धराज्यविजयलक्ष्म्या विराजमाना धीरा निगद्यन्ते ।  
यद्वा—वि=विशेषેण ईरयन्ति=रागाद्यन्तरङ્गमहाસુમતાન્ નિવારયિતુમનન્તતપોવીર્ય  
વ્યાપારયન્તીતિ ધીરા । યદ્વા—વિશેષેણ ઈરયન્તિ=શિવગતિ ગમયન્તિ મમ્મજીવા  
નિધિ ધીરાઃ । યદ્વા—વિશેષેણ ઈરયન્તિ=જ્ઞાનાચારાદીન્ પ્રતિ પ્રેરયન્તિ મમ્મજીવાનિતિ  
ધીરા, તીર્થંકુરા ગણધરાશ્ચ, તૈર્વીરૈઃ, ઇસવુ=અભિકાયસ્વરૂપ, યદ્વા—અગ્નિશક્ત્ય  
અશક્ત્યં ચેતિ દ્વય દષ્ટં=જ્ઞાનદષ્ટય વિલોકિતમ્, અર્થતસ્તીર્થંકુરૈઃ, ગણધરૈસ્તુ  
મગધદ્વષ્ણૈરિતિ વિશેષઃ ।

ટીકાર્થ—આતિયાકર્મરૂપી શત્રુઓ કે સમૂહો નાશ કરને કે બનન્તર અનુપમ  
કેવલજ્ઞાનરૂપી છત્રી પ્રાપ્ત होती है । उस छत्री से जो विराजमान हैं उन्हें धीर कहते हैं ।  
जैसे कोई राजा, चतुरंग सेना से युक्त शत्रुओं को हरकर प्राप्त राज्य और विजय की छत्री  
से सुशोभित हो कर 'धीर' कहलाते हैं । अथवा राग-द्वेष आदि आन्तरिक महायोद्धाओं  
को रोकने के लिए अन्त तपोवीर्य का प्रयोग करने वाले 'धीर' कहलाते हैं । अथवा मम  
जीवों को विशेषरूप से मुक्ति की ओर प्रेरित करने वाले 'धीर' कहलाते हैं । अथवा  
विशेषरूप से ज्ञानाचार आदि की ओर मम्य जीवों को प्रेरित करन वाले 'धीर' कहलाते हैं ।  
ऐसे धीर तीर्थंकर गणधर आदि हैं । उन धीरों ने अग्नि के स्वरूप को अथवा अग्निशक्त  
और अशक्त को ज्ञानदृष्टि से देखा है । अर्थ से तीर्थंकरों ने और उन के वचनों के अनुसार  
गणधरों ने देखा है ।

ટીકાર્થ—આતિ—કર્મરૂપી શત્રુઓના સમૂહને નાશ કરીના બનન્તર  
અનુપમ કેવલજ્ઞાન રૂપી છત્રી પ્રાપ્ત થાય છે તે છત્રીથી જે વિરાજમાન છે તેને  
ધીર કહે છે જેમ કોઈ રાજા, ચતુરંગ સેનાથી યુક્ત (બાહ્ય પ્રકારની સેના સહિત)  
શત્રુઓને હરાવીને પ્રાપ્ત કરેલું રાજ્ય અને વિજયરૂપ છત્રીથી સુશોભિત બની 'ધીર'  
કહેવાય છે, અથવા—રાગ-દ્વેષ આદિ આન્તરિક મહાયોદ્ધાઓને શેઠવાવાળાને 'ધીર'  
કહે છે અથવા બાબ્બાજીને વિશેષરૂપથી સુકિતની તરફ પ્રેરિત કરવાવાળા 'ધીર'  
કહેવાય છે અથવા વિશેષરૂપથી જ્ઞાનાચાર આદિની તરફ બાબ્બાજીને પ્રેરિત  
કરવાવાળા 'ધીર' કહેવાય છે એવા ધીર તીર્થંકર અને ગણધર આદિ છે, તે વીરોએ  
અગ્નિના સ્વરૂપને અથવા અગ્નિશક્ત અને અશક્તને જ્ઞાનદૃષ્ટિથી જોયા છે અર્થથી  
તીર્થંકરોએ જોયા છે અને તેમનાં વચનો અનુસાર ગણધરોએ જોયા છે

કિં કૃત્વા તૈરેતદ્ દૃષ્ટ ?-મિત્યાકાદૃક્ષાયામાહ—‘અમિભૂય’ ઇતિ । પરિપ્રહોપસર્ગાન્, જ્ઞાનાવરણીય-દર્શનાવરણીય-મોહનીય-અન્તરાયાગ્વ્યધાતિકર્મ-ચતુષ્ટય ચ વિજિત્ય કેવલ સપ્રાપ્તેત્યર્થ । કથમ્ભૂતૈસ્તૈ ?-રિત્યાહ-સયતૈ=સમ્=સમ્યક્પ્રકારેણ યતા.=પરમકરુણયા ઈર્યાસમિત્યાદિયતનાવન્તસ્તૈ, સત્કલપદ્જીવનિકાયપરિત્રાણપરાયણૈરિત્યર્થ । યતના દ્વિવિધા-પ્રમત્તયતના, અપ્રમત્તયતના ચ । અય પ્રમત્તસ્ય ક્ષીદશ્ચી યતના ? ઉચ્યતે-કપાયાદિનિગ્રહિણ ઈર્યાદ્યુપયોગવત્ત્વ પ્રમત્તયતના કથ્યતે ।

અપ્રમત્તયતના કપાયરહિતવચનસાધ્યા ભવતિ । અપ્ર અપ્રમત્તગ્રહણાદિ-ન્દ્રિયાદિપ્રમાદવર્જન ગૃહ્યતે । યતનાગ્રહણાદ્ યાવજ્જીવયતના ગૃહ્યતે । અત એવ

અહો ને કમા કર કે યહ દેસ્તા હૈ ’ ઇસ શકા કા ઉત્તર હૈ-પરીપદ્હ ઓર ઉપસર્ગો કો તથા જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, મોહનીય ઓર અન્તરાય નામક ચાર ધાતિયા કમોં કો જીતકર કેવલ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર કે અહો ન દેસ્તા હૈ ।

થે દેસ્તને વાલે કિસ પ્રકાર કે થે ? ઇસકા ઉત્તર યહ હૈ-સમ્યક્ પ્રકાર સે, અત્યન્ત કરુણાપૂર્વક ઈર્યાસમિતિ આદિ કા પાલન કરનેવાલે અર્થાત્ સમસ્ત પદ્કાય કી રક્ષા મેં તત્પર થે । યતના દો પ્રકાર કી હૈ-પ્રમત્ત કી યતના ઓર અપ્રમત્ત કી યતના । પ્રમત્ત કી યતના કૈસી હોતી હૈ ? ઇસકા ઉત્તર યહ હૈ કિ-કપાય આદિ કા નિગ્રહ કરને વાલા પુરુષ ઈર્યા આદિ મેં જો ઉપયોગ રક્ષતા હૈ, વહ પ્રમત્તયતના હૈ । અપ્રમત્ત કી યતના કપાયરહિત વચનોં સે હોતી હૈ । યહોં અપ્રમત્ત શબ્દ સે ઇન્દ્રિય આદિ પ્રમાદોં કા ત્યાગ હેના ચાહિય । યતના શબ્દ સે યહોં યાવજ્જીવ યતના કા ગ્રહણ કરના ચાહિય । અત

તેમણે શું કરીને જોયા છે ? આ શકાનો ઉત્તર એ છે પરીપદ્હ અને ઉપસર્ગોને તથા જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, મોહનીય અને અન્તરાય નામના ચાર ધાતિયા કરીને છતીને કેવલજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરીને તેમણે જોયા છે

તે જોવાવાળા કેવા પ્રકારના હતા ? તેનો ઉત્તર-સમ્યક્પ્રકારે, અત્યન્ત કરુણાપૂર્વક ઈર્યાસમિતિ આદિના પાલન કરવાવાળા, અર્થાત્ સમસ્ત પદ્કાયની રક્ષામાં તેઓ તત્પર હતા યતના જે પ્રકારની છે-પ્રમત્તની યતના અને અપ્રમત્તની યતના પ્રમત્તની યતના કેવી હોય છે ? તેનો ઉત્તર એ છે કે-કપાય આદિના નિગ્રહ કરવાવાળા પુરુષ ઈર્યા આદિમાં જે ઉપયોગ રાખે છે તે પ્રમત્તની યતના છે અપ્રમત્તની યતના કપાયરહિત વચનોથી થાય છે અર્થે અપ્રમત્ત શબ્દથી ઇન્દ્રિય આદિ પ્રમાદોનો ત્યાગ લેવો જોઈએ. યતના શબ્દથી અર્થે અપ્રમાત્રની યતનાનું શરૂ કરવું જોઈએ એ માટે



સદ=મર્ષદા યતૈઃ=ચરણકરણવિષયે નિરતિચારતયા યત્નવદ્ધિઃ, તથા-સદા=સર્વકાલે અપ્રમત્તૈઃ=વિષયકપાયાદિવર્જિતૈઃ । એવમ્ભૂતૈર્ગૈરૈરગ્નિકાયસ્વરૂપ તદીયશ્ચત્તરીશ્ચં ચ દૃષ્ટમિત્યર્થઃ ।

નનુ કિં નામાગ્નિશસ્ત્રમ્ ? ઉચ્યતે-અગ્ન્યુપમર્દક શસ્ત્રમ્ । તત્ કિં-સ્વરૂપ ?-મિતિચેત્, અવધેદિ-અગ્નિશસ્ત્ર તાયદ્ દ્વિધા-દ્રવ્ય-ભાવભેદાત્ । તત્ દ્રવ્યશસ્ત્ર ત્રિવિધમ્ સ્વકાયપરકાયોભયકાયભેદાત્ । સ્વકાયશસ્ત્ર-અગ્નિકાયસ્વાગ્નિકાય એવ, યયા-તૃણાગ્નિ, પર્ણાન્નેઃ શસ્ત્રમ્ । પરકાયશસ્ત્ર-ધૂલિરાપશ્ચ, આર્દ્રશ્ચ વનસ્પતિ, વ્રસાઃ પ્રાણિનશ્ચ । ઉભયકાયશસ્ત્ર સુપકરીપાદિમિત્રોઽગ્નિરન્યસ્વાગ્નેઃ,

સર્વદા ચરણસત્તરી ઔર કરણસત્તરી મેં અતિચારરહિત યતના કરને લાઠે તથા સદૈવ વિષય-કવાય આદિ પ્રમાદ સે રહિત વીર પુરુષેને અગ્નિકાય કે સ્વરૂપ કો તથા ડસકે શસ્ત્ર ઔર અશસ્ત્ર કો દેસા હૈ ।

શ્લોક—અગ્નિશસ્ત્ર કયા હૈ :

સમાધાન—અગ્નિ કી વિરાધના કરને લાઠા શસ્ત્ર અગ્નિશસ્ત્ર કહલાતા હૈ । ડસકા સ્વરૂપ કયા હૈ ? સો હસ પ્રકાર સમસો-દ્રવ્ય ઔર માવ કે ભેદ સે અગ્નિ શસ્ત્ર ડો પ્રકાર કા હૈ । હનમેં સે દ્રવ્યશસ્ત્ર કે ત્રીન ભેદ હૈ—સ્વકાય-શસ્ત્ર, પરકાય-શસ્ત્ર ઔર ઉભયકાય-શસ્ત્ર । અગ્નિકાય કા સ્વકાયશસ્ત્ર અગ્નિ હી હૈ, જૈસે તિનકે કો અગ્નિ, પત્તોં કી અગ્નિ કા શસ્ત્ર હૈ । ઘૂછિ ઔર પાની આદિ અગ્નિકાય કા પરકાયશસ્ત્ર હૈ । ગીઝી વનસ્પતિ મી પરકાયશસ્ત્ર હૈ ઔર વ્રસ પાણી મી । સુષ ( ટિલ્કા ) ઔર કરીષ

સવદ્ય વ્ધરણ સ્ત્રીતેરી અને ઠરણસ્ત્રીતેરીમા અતિચારરહિત યતના કરવાવાળા તથા હંમેશાં વિષય-કવાય આદિ પ્રમાદથી રહિત વીર પુરુષેએ અગ્નિકાયના સ્વરૂપને તથા તેના શસ્ત્ર અને અશસ્ત્રને જોયા છે

શ્લોકા—અગ્નિ શસ્ત્ર કો શુ છે ?

સમાધાન—અગ્નિની વિરાધના કરવાવાળું શસ્ત્ર તે અગ્નિશસ્ત્ર કહેવાય છે તેનું સ્વરૂપ કેવું છે ? તે આ પ્રમાણે સમસો-દ્રવ્ય અને ભાવના લેદથી અગ્નિશસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે, તેમાંથી દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ લેદ છે સ્વકાયશસ્ત્ર પરકાયશસ્ત્ર, અને ઉભયકાયશસ્ત્ર. અગ્નિકાયનું સ્વકાયશસ્ત્ર અગ્નિજ છે જેમ તણખાની અગ્નિ, પાદકાની અગ્નિનું શસ્ત્ર ણ અને પાણી આદિ અગ્નિકાયનું પરકાયશસ્ત્ર છે લીલી વનસ્પતિ પણ પરકાયશસ્ત્ર છે અને વ્રસ પ્રાણી પણ પરકાયશસ્ત્ર છે તુષ અને ડાણુ આદિથી મળેલી અગ્નિ

તપ્તોદકાદિક ચ । માવશસ્ત્ર તુ-અગ્નિ પ્રતિ દુષ્પ્રણિહિતમનોવાકાયરૂપમ્ । શેષાણિ  
પૃથિવીકાયવદ્ બોધ્યાનિ ॥ સૂ૦ ૩ ॥

યસ્તુ પ્રમાદવશાદુપમોગાર્થમગ્નિકાયજીવાનુપમર્દયતિ, તત્કલ્પમાહ—‘જે’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

જે પમત્તે ગુણદ્વિષ્ણે સે હુ દદેષ્તિ પશુન્ન૩ ॥ ૪ ॥

છાયા—

ય’ પ્રમત્ત ગુણાર્થિક’ ( ગુણસ્થિતઃ ) સ સ્વલુ દષ્ઠ્ઠ ઇતિ પ્રોચ્યતે ।

ટીકા—

યો હિ પ્રમત્તઃ=વિષયકાપાયાદિપ્રમાદવશમ્ સન્ ગુણાર્થિક’ ભવતી-  
ત્યન્વયઃ । ગુણઃ=અગ્નિકાયકૃતોપકાર’ સ એવાર્ય’=પ્રયોજનં યસ્ય સ ગુણાર્થી, સ  
એવ ગુણાર્થિક, રન્ધ્રન-પચન-પ્રકાશ-તાપનાદિપ્રયોજનવાન્ ભવતિ । યદ્વા-

(છાણે) આદિ સે મિલી અગ્નિ તથા ગર્મ અલ અગ્નિ કા ઉભયકાયશસ્ત્ર હૈ । અગ્નિ કે  
પ્રતિ દુષ્ટ મન વચન ઔર કાયકા પ્રવર્તન માવશસ્ત્ર હૈ । શેષ દ્વાર પૃથિવીકાય કે સમાન સમક્ષને  
વાદિષ્ણ ॥ સૂ૦ ૩ ॥

પ્રમાદ કે વશ હોકર ઉપમોગ કે નિમિત્ત અગ્નિકાય કે જીવોં કી વિરાધના કરને વાઢે  
કો હોને વાલા ફલ કહતે હૈ—‘જે’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—જો પ્રમાદી પુરુષ અગ્નિ કે ગુણોં કા અર્થી-રાધના આદિ મેં સ્થિત-હૈ,  
વહ ઉસકે લિપ્ દષ્ઠ કહલાતા હૈ ॥ સૂ૦ ૪ ॥

ટીકાર્થ—વિષય ક્રપાય આદિ પ્રમાદોં કે અધીન હોકર પુરુષ ગુણાર્થી હોતા હૈ ।  
અગ્નિકાય દ્વારા હોને વાલા ઉપકાર યદ્વા ગુણ કહા ગયા હૈ । હસ્ત ગુણ કા અર્થી  
ગુણાર્થિક કહલાતા હૈ । રાધના, પકાના, ડાઝાલ કરના આદિ અગ્નિ કે ગુણ હૈ । જો

તથા ગરમ અલ અગ્નિનું ઉભયકાયશસ્ત્ર છે અગ્નિ પ્રતિનું દુષ્ટ મન, વચન અને કાયાનું  
પ્રવર્તન તે માવશસ્ત્ર છે, બાકીના દ્વાર પૃથ્વીકાયની સમાન બરાબર-સમજવા બેઠાં (સૂ. ૩)

પ્રમાદને વશ થઈ ઉપમોગના નિમિત્તે અગ્નિકાયના જીવોંની વિરાધના કરવા  
વાળાને જે કૃણ થાય છે-મળે છે તે કૃણ કહે છે ‘જે’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે પ્રમાદી પુરુષ અગ્નિના અર્થી-રાધવું વિગેરેમા સ્થિત-છે તે  
એના માટે હડ કહેવાય છે (સૂ. ૪)

ટીકાર્થ—વિષય ક્રપાય આદિ પ્રમાદોંને આધીન થઈને પુરુષ ગુણાર્થી થાય છે  
અગ્નિકાય દ્વારા થવાવાળા ઉપકાર તેને અર્થ ગુણ કહેવામા આવ્યો છે આ ગુણનો  
અર્થી તે ગુણાર્થિક કહેવાય છે રાધવું-પકાવવું, અજવાળું કરવું આદિ અગ્નિના ગુણ છે જે

સદ=સર્વદા યતૈ=ચરણકરણવિષયે નિરતિચારતયા યત્નવદ્ધિ, તથા-સદા=સર્વકાલે અપમતૈ=વિષયકષાયાદિવર્જિતૈ. । એવમ્મૂતૈર્વીરેરગ્નિકાયસ્વરૂપ તદીયશ્ચક્ષ્મશ્ચક્ષ્મ ચ દૃષ્ટમિત્યર્થઃ. ।

નનુ કિં નામાગ્નિશક્ત્યમ્ ? ઉચ્યતે-અન્યુપમર્દક શક્ત્યમ્. । તત્ કિં-સ્વરૂપ ?-મિતિચેત્, અવધેદિ-અગ્નિશક્ત્ય તાવદ્ દ્રવ્યા-દ્રવ્ય-માવમેદાત્. । તત્ દ્રવ્યશક્ત્યં ત્રિવિધમ્ સ્વકાયપરકાયોમયકાયમેદાત્. । સ્વકાયશક્ત્ય-અગ્નિકાયસ્યા ગ્નિકાય એવ, યયા-તૃણાગ્નિ, પર્ણાગ્નિ શક્ત્યમ્. । પરકાયશક્ત્ય-ધૂલિરાપશ્ચ, આર્દ્રશ્ચ વનસ્પતિ, વ્રસાઃ પ્રાણિનશ્ચ. । ઉમયકાયશક્ત્ય તુપકરીપાદિમિત્રોઽગ્નિરન્યસ્યાગ્ને, સર્વદા ચરણસત્તરી ઔર કરણસત્તરી મેં અતિચારરહિત યતના કરને વાલે તથા સવૈવ વિષય-કષાય આદિ પ્રમાદ સે રહિત વીર પુરુષોને અગ્નિકાય કે સ્વરૂપ કો તથા ડસકે શક્ત્ય ઔર અશક્ત્ય કો દેસતા હૈ. ।

શક્ત્યા—અગ્નિશક્ત્ય કયા હૈ ?

સમાધાન—અગ્નિ કી વિરાધના કરને વાલ્ય શક્ત્ય અગ્નિશક્ત્ય કહલાતા હૈ. ડસકા સ્વરૂપ કયા હૈ ? સો હસ પ્રકાર સમશ્લો-દ્રવ્ય ઔર માવ કે મેદ સે અગ્નિ શક્ત્ય ડો પ્રકાર કા હૈ. । ડનમેં સે દ્રવ્યશક્ત્ય કે ત્રીન મેદ હૈં-સ્વકાય-શક્ત્ય, પરકાય-શક્ત્ય ઔર ઉમયકાય-શક્ત્ય. અગ્નિકાય કા સ્વકાયશક્ત્ય અગ્નિ હી હૈ, ડૈસે તિનકે કો અગ્નિ, પત્તો કી અગ્નિ કા શક્ત્ય હૈ. ધૂલિ ઔર પાની આદિ અગ્નિકાય કા પરકાયશક્ત્ય હૈ. ગોઝી વનસ્પતિ મી પરકાયશક્ત્ય હૈ ઔર વ્રસ પાણી મી. તુપ ( ડિલ્લકા ) ઔર કરીબ

અવશ્ય ચરણ સીતેરી અને ઠરણસીતેરીમા અતિઆરશક્તિત યતના કરવાવાળા તથા હ મેશાં વિષય-કષાય આદિ પ્રમાદથી રહિત વીર પુરુષોએ અગ્નિકાયના સ્વરૂપને તથા તેના શક્ત્ય અને અશક્ત્યને જ્ઞેયાં છે

શક્ત્યા—અગ્નિ શક્ત્ય કો શુ છે ?

સમાધાન—અગ્નિની વિરાધના કરવાવાળુ શક્ત્ય તે અગ્નિશક્ત્ય કહેવાય છે તેનું સ્વરૂપ કેવું છે ? તે આ પ્રમાણે સમજો-દ્રવ્ય અને માવના બેદથી અગ્નિશક્ત્ય બે પ્રકારનાં છે, તેમાંથી દ્રવ્યશક્ત્યના ત્રણ બેદ છે સ્વકાયશક્ત્ય પરકાયશક્ત્ય, અને ઉમયકાયશક્ત્ય. અગ્નિકાયનું સ્વકાયશક્ત્ય અગ્નિજ છે જેમ તણુખાની અગ્નિ, પાદકાંની અગ્નિનું શક્ત્ય છે પૂજા અને પાણી આદિ અગ્નિકાયનું પરકાયશક્ત્ય છે લીલી વનસ્પતિ પણ પરકાયશક્ત્ય છે અને વ્રસ પ્રાણી પણ પરકાયશક્ત્ય છે તુપ અને ડણુ આદિથી મેદથી અગ્નિ

## टीका—

मेधावी=ग्रहणधारणादिगुणवान्, यद्वा-साधुमर्यादारक्षणे सावधान, यद्वा-  
हेयोपादेयविवेचनिपुण, तम्=अग्निकाय, यद्वा तम्=अग्निशस्त्रसमारम्भ दण्डनाम-  
फलप्रदं परिग्रहय=ज्ञपरिग्रहा बन्धकारणत्वेन, प्रत्याख्यानपरिग्रहा हेयत्वेन पर्यालोच्य,  
प्रतिजानीते-अह=मिथ्यात्वादिमलिनान्तःकरणः प्रमादेन=विषयकपायादिप्रमादवशतः  
यम्=अग्निशस्त्रसमारम्भ पूर्वम्=अज्ञानावस्थायाम्, अकार्षम्=कृतवान्, यत्तदोर्नित्य-  
साक्षाद्भूत्वात् तम् इदानीम्=सप्रति प्रव्रज्यावस्थायाम् नो=नैव करिष्य इति  
शेषः ॥ सू० ५ ॥

अथ सर्वथाऽग्निशस्त्रसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथाऽग्निशस्त्र  
समारम्भे प्रवृत्तान् द्रव्यलिङ्गिनश्च विविच्य प्रतिबोधयितुमाह-‘लज्जमाणा’ इत्यादि ।

टीकार्थ—ग्रहण और धारणादिक गुणों से युक्त, अथवा साधुओं की मर्यादा की  
रक्षा करने में सावधान, अथवा हेय और उपादेय के विवेक में निपुण पुरुष अग्निकाय अथवा  
अग्निकाय के समारम्भ को जानकर अर्थात् ज्ञपरिज्ञा से उसे कर्मबन्ध का कारण समझकर और  
प्रत्याख्यानपरिज्ञा से हेय समझकर इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं-‘मिथ्यात्व आदि विकारों के  
वश होकर मैंने अज्ञानदशा में अग्निकाय का समारम्भ किया था । वह समारम्भ अब दीक्षा-  
अवस्था में नहीं करूँगा ॥ सू० ५ ॥

अग्निशस्त्र का सर्वथा त्याग करने वाले अनगारों तथा अग्निशस्त्र के समारम्भ में  
प्रवृत्ति करने वाले द्रव्यलिङ्गी पुरुषों को अलग अलग कर के समझाते हैं-‘लज्जमाणा’ इत्यादि ।

टीकार्थ—अच्छु अने धारणादिक श्रुत्याशी युक्त अथवा साधुओं की मर्यादा की  
रक्षा करने में सावधान, अथवा हेय अने उपादेयता विवेक में निपुण पुरुष अग्निकाय  
अथवा अग्निकायना समारम्भने अक्षीने अर्थात् ज्ञपरिज्ञाशी तेने कर्मबन्धनुं धारण  
समझने अने प्रत्याख्यानपरिज्ञाशी हेय-(त्याज्य) समझने आ प्रमादे प्रतिज्ञा  
करी छे-मे अज्ञान दशा में मिथ्यात्व आदि विकारने वश रहने अग्निकायना समारम्भ  
करी छेतो; ते समारम्भ छवे दीक्षा-अवस्था में नहीं करूँ (सू ५)

अग्निशस्त्रने। सर्वथा त्याग करनेवाला अक्षुताशी तथा अग्निशस्त्रना समारम्भ में  
प्रवृत्ति करनेवाला द्रव्यलिङ्गी पुरुषोंने अलग-अलग करीने समझावे छे-‘लज्जमाणा’ इत्यादि

‘ગુણસ્થિતઃ’ इति च्छाया, तेन गुणेषु=अग्निगुणेषु रन्धनपचनादियु, शब्दादिषु वा स्थितः=आसक्तः, रन्धनाद्यर्थमग्निमुत्पादयति प्रज्वालयति यथाकथञ्चिदुपसर्ग यतीत्यर्थ । स मनोवाक्कायस्य दुष्पणिधानेनाग्निशस्त्रसमारम्भकरणेन चाम्भ्यादीनां प्राणिनां दण्ड प्रति कारणभूतत्वाद् दण्ड इति प्रोच्यते, कारणे कार्योपचाराद्, दण्डवत् प्राणिनां हिंसकतया दण्ड इति निन्दनाम्ना लोके प्रसिध्यतीति भावः ॥ सू० ४ ॥

एव विद्वायाग्निशस्त्रसमारम्भाद् विनिवर्तितव्यमित्याह—‘त’ इत्यादि ।

मूलम्—

तं परिण्णाय मेधावी इयार्णि णो जमहं पुञ्चमकासी पमाएणं ॥ सू० ५ ॥

છાયા—

ત પરિણ્ણાય મેધાવી શ્દાર્ણી નો યદહં પૂર્વમકાપં પ્રમાદેન ॥ સૂ० ૫ ॥

પુરુષ જન ગુણો મેં અથવા શબ્દ આદિ હિન્દ્રિયવિષયો મેં આસક્ત હૈ અર્થાત્ રાંધને આદિ કે રૂપે અગ્નિ ઝરપ્ત કરતા હૈ, અછાતા હૈ ઔર કિસી મી પ્રકાર રસકા દન્ન કરતા હૈ, વહ પુરુષ અપને મન, વચન, કાય કે દૂષિત વ્યાપાર કે કારણ તથા અગ્નિશસ્ત્ર કા સમારંભ કરને કે કારણ અગ્નિ કે જીવોં કે દંડકા કારણ હોને સે દણ્ડ કહછાતા હૈ । કારણ મેં કાર્ય કા ઉપચાર કરને સે દંડ કે કારણભૂત પુરુષ કો વહ કહ્તે હૈ । લોક મેં ડસ પુરુષ કી ‘દંડ’ ઇસ નિંદનીય નામ સે પ્રસિદ્ધિ હોતી હૈ ॥ સૂ० ૪ ॥

અવ તલછાતે હૈં કિ પૂર્વોક્ત કચન જાનકર અગ્નિશસ્ત્ર કે સમારંભ સે વચના આદિ— ‘તે’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—અગ્નિકાય અથવા અગ્નિકાયનાં સમારંભ કો જાનકર બુદ્ધિમાન્ પુરુષ નિશ્ચય કરે કિ—પ્રમાદ કે વશ હોકર મૈને પહેલે જો કિયા સો અવ નહીં કરુગા ॥ સૂ० ૫ ॥

પુરુષ આ શુભેર્મા અથવા શબ્દ આદિ ઇન્દ્રિયવિષયોર્મા આસક્ત છે અર્થાત્ રાંધના આદિને માટે અગ્નિ ઈત્પન્ન કરે છે, ખાળે છે, અને ઠોઠ પણ પ્રકારે તેણે દન્ન કરે છે, તે પુરુષ પોતાના મન, વચન અને કાયાના દૂષિત વ્યાપારના કારણે તથા અગ્નિશસ્ત્રને સમારંભ કરવાના કારણે અગ્નિના જીવોને દંડનું કારણ હોવાથી દંડ કહેવાય છે કારણકે કાર્યને ઉપચાર કરવાથી દંડના કારણભૂત પુરુષને પણ દંડ કહે છે લોકમા તે પુરુષની ‘દંડ’ આ નિંદનીય નામથી પ્રસિદ્ધિ થાય છે (સ. ૪)

હવે ખતાવે છે કે—પૂર્વોક્ત કથન બાળીને અગ્નિશસ્ત્રના સમારંભથી બચવું જોઈએ—‘ત’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—અગ્નિકાય અથવા અગ્નિકાયના સમારંભને બાળી બુદ્ધિમાન પુરુષ નિશ્ચય કરે કે—પ્રમાદના વશ થઈને મે પહેલાં જો કશું છે તે હવે નહીં કરે (સ. ૫)

આચારચિન્તામણિ-ટીકા અધ્ય૦ ૧ ઉ ૪મુ ૬ અગ્નિકાયસમારમ્મકર્તુ નિરૂપણમ્ ૫૬૩

સન્તીતિ પદ્ય । ઇમે સૂક્ષ્મવાદરાગ્નિકાયસમારમ્મકરણે મીતાસ્પ્રસ્તા ઉદ્વિગ્નાસ્ત્રિકરણ-  
ત્રિયોગૈરગ્નિકાયસમારમ્મપરિત્યાગિનો વિધન્તે તાનવલોકયેત્યર્થ ।

એકે પુનરન્યે તુ ‘વયમનગારા’ સ્મ ’ ઇતિ સામિમાન પ્રવદમાના ‘ વયમેવા-  
ગ્નિકાયનીવરક્ષણપરા મહાવ્રતધારિણ ’ ઇતિ પ્રલપન્તોદ્રવ્યલિક્ષિન સન્તિ, તાન્ પૃથક્  
=પૃથગ્માત્રેન પદ્ય ।

ઇમે સ્વલ્પનગારામિમાનિનો દ્રવ્યલિક્ષિનો મનાગપ્યનગારગુણેષુ ન પ્રવર્તન્તે,  
નાપિ ગૃહસ્થકૃત્ય કિચ્ચિત્ પરિત્યજન્તિ, ઇતિ દર્શયતિ-‘યદિમમ્’ ઇત્યાદિ ।

યદ્-યસ્માદ્ વિરૂપરૂપૈ=વિભિન્નસ્વરૂપૈ દ્રવ્યમાવમેદમિનૈ શલ્લૈ=  
અગ્નિકાયશલ્લૈ, અગ્નિકર્મસમારમ્મેણ=અગ્ને કર્મસમારમ્મ અગ્નિકર્મસમારમ્મ =

અનગારા હૈં । યે સઘ સૂક્ષ્મ ઔર માદર અગ્નિકાય કા સમારમ્ કરને મૈં મીત-ઢરને ઘાલે હૈં,  
ત્રસ્ત હૈં, ઉદ્વિગ્ન હૈં ઔર તૈંન કરણ તૈંન યોગ સે અગ્નિકાય કૈં સમારમ્ કૈં ત્યાગી હૈં,  
અન્હેં દેસો ।

ઇન સે વિપરીત દુસરે લોગ ‘હમ અનગારા હૈં, હમીં અગ્નિકાય કી રસા  
મૈં તત્પર હૈં, મહાવ્રતી હૈં’ ઇમ પ્રકાર અભિમાન કૈં સાથ પ્રલાપ કરતે હુપ દ્રવ્યલિક્ષી હૈં,  
અન્હેં અલગ સમસો ।

અનગારા હોને કો અભિમાન કરને ઘાલે યે લોગ સાધુઓ કા તનિક મી કર્તવ્ય નહીં  
કરતે ઔર ન ગૃહસ્થકાર્ય કા ત્યાગ કરતે હૈં ।

યે લોગ તરહ-તરહ કૈં દ્રવ્ય ઔર માત્ર રૂપ અગ્નિકાય કૈં શલ્લો સે અગ્નિકર્મ કા

બીત-ભયવાન છે, ત્રસ્ત છે, ઉદ્વિગ્ન છે અને ત્રણકરણ, ત્રણયોગથી અગ્નિકાયના  
સમારભના ત્યાગી છે, તેને શુભો.

એનાથી વિપરીત ( ઉપર કહ્યા તેનાથી ઉલટો વ્યવહાર કરનારા ) બીબા લોક  
‘ અમે અણગાર છીએ, અમે અગ્નિકાયની રક્ષામા તત્પર છીએ, મહાવ્રતી છીએ.’  
એ પ્રમાણે અભિમાનની સાથે પ્રલાપ કરે છે તે દ્રવ્યલિક્ષી છે, તેને અલગ સમજો

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા આ લોક સાધુઓના જરાપણ કર્તવ્યને  
કરતા નથી અને ગૃહસ્થનાં કાર્યોના ત્યાગ કરતા નથી

તે લોક તરફ-તરફના દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ અગ્નિકાયના શલ્લોથી અગ્નિકર્મનો

મૂલમ્—

લજ્જમાણા પુઢો પાસ, અળગારા મોત્તિ एगे पवयमाणा, जमिणं विरूढस्वैर्हि सत्येर्हि अगणिकम्मसमारमेणं, अगणिसत्यं समारंभमाणा अण्णे अपेगुरूवे पाणे विहिससि ॥ सू० ६ ॥

છાયા—

लज्जमानाः पृथक् पथ्य, अनगाराः स्म इति एके भवदमानाः, यदिमं विरूप-  
स्वैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारम्भेण, अग्निशस्त्रं समारंभमाणा अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनो  
विहिसन्ति ॥ सू० ६ ॥

ટીકા—

लज्जमानाः=अग्निकायसमारम्भे परमकल्याणा द्रवीभूतहृदयतया सङ्कुचिता  
त्मानः, अग्निशस्त्रसमारम्भपरित्यागिन इत्यर्थः, पृथक्=विभिन्नाः, केचित् प्रत्यक्ष-  
ज्ञानिनोऽवचिननःपर्ययकेवलिनः, केचित् परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानोऽनगारा

મૂલાર્થ—અગ્નિકાય કે આરમ મેં સંકોચ કરને વાલોં કો બહુ સમસો । જૈર  
'હમ અનગાર હૈં' એસા કહને વાલે નાના પ્રકાર કે શસ્ત્રો દ્વારા અગ્નિકર્મ કા સમારંભ કરને  
વાલે દૂસરે (પ્રત્યક્ષિની), અનેક પ્રકાર કે પ્રાણિયોં કી હિસા કરતે હૈં ॥ સૂ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—અત્યન્ત દયા કે કારણ અગ્નિકાય કે સમારંભ મેં હાર્દિક સંકોચ  
કરને વાલે, હસી કારણ અગ્નિશસ્ત્ર કે સમારમ કે ત્યાગી બહુ હૈં, યન મેં કોઈ અવચિ  
જ્ઞાની હૈં, કોઈ મનઃપર્યયજ્ઞાની હૈં, કોઈ કેવલજ્ઞાની હૈં । કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા

મૂલાર્થ—અગ્નિકાયના આરભમાં સ કોઈ કરવાવાળાને અલગ સમસો, અને  
'અમે અણુગાર છીએ' એ પણ કહેવાવાળા નાના પ્રકારના શસ્ત્રો દ્વારા અગ્નિકર્મને  
સમારભ કરવાવાળા બીજા (પ્રત્યક્ષિની) અનેક પ્રકારનાં પ્રાણીઓની હિસા કરે છે (સૂ. ૬)

ટીકાર્થ—અત્યન્ત દયાના કારણે અગ્નિકાયના સમારભમાં હાર્દિક સંકોચ  
કરવાવાળા, બીજા કારણથી અગ્નિશસ્ત્રના સમારભના ત્યાગી બહુ છે—બહુ છે એમાં  
કોઈ અવધિજ્ઞાની છે, કોઈ મનઃપર્યયજ્ઞાની છે, કોઈ કેવલજ્ઞાની છે કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની  
ભાવિતાત્મા અણુગાર છે તે સર્વ સ્પષ્ટ અને બાહ્ય અગ્નિકાયને સમારભ કરવામાં

આચારચિન્તામણિ-ટીકા અધ્ય૦ ૧ ઉ ૪ સુ ૬ અગ્નિકાયસમારમ્મકર્તૃ નિરૂપણમ્ ૫૬૩

સન્તીતિ પश्य । इमे सूक्ष्मवादराग्निकायसमारम્मकरणे भीतास्त्रस्ता उद्विग्नास्त्रिकरण-  
त्रियोगैरग्निकायसमारम્मपरित्यागिनो विघ्नन्ते तानवलोकयेत्यर्थः ।

एके पुनरन्ये तु 'वयमनगाराः स्मः' इति साभिमान प्रवदमानाः 'वयमेवा-  
ग्निकायजीवरक्षणपरा महाव्रतधारिण' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तान् पृथक्  
=पृथग्भावेन पश्य ।

इमे खल्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते,  
नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्ति, इति दर्शयति-‘यदिमम्’ इत्यादि ।

यद्-यस्माद् विरूपरूपै=विभिन्नस्वरूपैः द्रव्यभावमेदभिन्नै. शस्त्रै=  
अग्निकायશસ્ત્રૈ, અગ્નિકર્મસમારમ્મેણ=અગ્ને કર્મસમારમ્મઃ અગ્નિકર્મસમારમ્મઃ=

અનગાર હૈં । ये सब सूक्ष्म और भावर अग्निकाय का समारम करने में भीत-डरने वाले हैं,  
त्रस्त हैं, उद्विग्न हैं और तीन करण तीन योग से अग्निकाय के समारम के त्यागी हैं,  
उन्हें देखो ।

इन से विपरीत दूसरे लोग 'हम अनगार हैं, हमीं अग्निकाय की रक्षा  
में तत्पर हैं, महाव्रती हैं' इस प्रकार अभिमान के साथ प्रलाप करते हुए द्रव्यलिङ्गी हैं,  
उन्हें अलग समझो ।

અનગાર હોને કો અભિમાન કરને વાલે યે લોગ સાધુઓ કા તનિક મી કર્તવ્ય નહીં  
કરતે ઔર ન ગૃહસ્થકાર્ય કા ત્યાગ કરતે હૈં ।

ये लोग तरह-तरह के द्रव्य और भाव रूप अग्निकाय के शस्त्रों से अग्निकર્મ का

ભીત-ભયવાન છે, ત્રસ્ત છે, ઉદ્વિગ્ન છે અને ત્રણકરણ, ત્રણયોગથી અગ્નિકાયના  
સમારમના ત્યાગી છે, તેને જુઓ.

એનાથી વિપરીત ( ઉપર કહ્યા તેનાથી ઉલટો વ્યવહાર કરનારા ) બીજા લોક  
'અમે અણગાર છીએ, અમે અગ્નિકાયની રક્ષામાં તત્પર છીએ, મહાવ્રતી છીએ.'  
એ પ્રમાણે અભિમાનની સાથે પ્રલાપ કરે છે તે દ્રવ્યલિંગી છે, તેને અલગ સમજો

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા આ લોક સાધુઓના જરૂરપણ કર્તવ્યને  
કરતા નથી અને ગૃહસ્થનાં કાર્યોના ત્યાગ કરતા નથી

તે લોક તરેહ-તરેહના દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ અગ્નિકાયના શસ્ત્રોથી અગ્નિકર્મને



અગ્નિ નિમિત્તીકૃત્ય જ્ઞાનાવરણીયાદ્યવિધકર્મવન્ધનિવન્ધનસાવધવ્યાપારસ્તેન, હમ્= અગ્નિકાય વિહિસન્તિ ।

અગ્નિકાયહિસાયાં પ્રવૃત્તાઃ સ્વલુ પદ્મજીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ વિહિસન્તી ત્યાહ- 'અગ્નિશ્ચ' -મિત્યાદિ । અગ્નિશ્ચમ્=અગ્ન્યુપમર્દક શ્ચમ્, તત્ પૂર્વોક્તમકાર દ્રવ્યમાવમેદમિન્ન સમારમમાણા=અગ્નિકાય પ્રતિ વ્યાપારયન્ત અમાન્ પ્રસાધ વિહિસન્તિ ।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते, यथा- 'त्रय पञ्चमहाव्रतधारिण सर्वात्मपरित्यागिनः पद्मजीवनिकायरक्षका अनगाराः स्म' इति यदन्तो दक्षि शाक्यादयः सन्ति । ते चात्मानमनगारं प्रवदमाना नानेगारगुणेषु लेखतोऽपि प्रवर्तन्ते ।

આરમ કર કે અર્થાત્ અગ્નિ કે નિમિત્ત સે જ્ઞાનાવરણ આદિ બાઠ કર્મોં કા કારણમૂલ સાધ્ય વ્યાપાર કર કે અગ્નિકાય કી હિસા કરતે હૈ ।

અગ્નિકાય કી હિસા મેં પ્રવૃત્ત પુરુષ પદ્મકાયરૂપ સમસ્ત જીવોં કી હિસા કરતે હૈ, બહી વતછતે હૈ-અગ્નિ કા ઘાત કરને વાલે-દ્રવ્યશક્તિ જૌર સાવશક્તિ કા અગ્નિ કે લિપય મેં પ્રયોગ કરને વાલે અગ્નિકાય કે અતિરિક્ત અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરોં કી તથા દીનિદ્રમ પ્રસ જીવોં કી હિસા કરતે હૈ ।

સંસાર મેં વહુત સે દ્રવ્યલિંગી હૈ । 'હમ પન્ચમહાવ્રતધારી, સમસ્ત આરમ કા ત્યાગ કરને વાલે જૌર પદ્મકાય કે રક્ષક અનગાર હૈ । હસ પ્રકાર કહન વાલે વહી શાક્ય આદિ હૈ । તે અપને કો અનગાર કહતે હુપ મી લક્ષમાત્ર મી અનગાર કે ગુણોં મેં પ્રવૃત્તિ નહીં કરતે ।

આદશ કરીને અર્થાત્ અગ્નિના નિમિત્તથી જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ કર્યોના કારણમૂલ સાધ્ય વ્યાપાર કરીને અગ્નિકાયની હિસા કરે છે

અગ્નિકાયની હિસામાં પ્રવૃત્ત પુરુષ પદ્મકાયરૂપ સમસ્ત જીવોંની હિસા કરે છે જોજ બતાવે છે-અગ્નિને ઘાત કરવાવાળા-દ્રવ્યશક્તિ અને સાવશક્તિનો અગ્નિના વિવિધમાં પ્રયોગ કરવાવાળા અગ્નિકાય સાથે જીવોં પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરોંની તથા દીનિદ્રમ આદિ પ્રસ જીવોંની હિસા કરે છે

સંસારમાં બહુજાણ દ્રવ્યલિંગી છે 'અમે પન્ચમહાવ્રતધારી સમસ્ત આરમનો ત્યાગ કરવાવાળા અને પદ્મકાયના રક્ષક અણગાર છીએ' આ પ્રકારે કહેવાવાળા ઇંદ્રી શાક્ય આદિ છે તે પોતાને અણગાર કહેતા થઈ પણ લેશમાત્ર અણગારના શુદ્ધોમાં પ્રવૃત્તિ કરતા નથી.

આચારચિન્તામણિ-ટીકા અધ્ય૦ ૧ ઉ ૪ મુ. ૬ અગ્નિકાયસમારમ્મકર્ત્ત્ત્વનિરૂપણમ્ ૫૬૫

શાક્યાદયઃ પચન-પાચન-પ્રતાપન-પ્રકાશાદ્યર્થમગ્નિકર્મસમારમ્મં કુર્વન્તિ, કારયન્તિ, કુર્વતોઽનુમોદયન્તિ ચ, તેન પટ્કાયજીવવિરાધકા મવન્તિ ।

દણ્ડિનોઽપિ-‘ વય પચ્ચમહાવ્રતધારિણો જિનવચનારાધકા અનગારાઃ સ્મ ’  
 ઇત્યાદિ પ્રવદમાના સાધ્વામાસા સાવચમ્પપદિશન્ત શાસ્ત્રનિપિદ્ધમગ્નિકર્મસમારમ્મં  
 કારયન્તિ ।

દૃશ્યન્તે હિ-શાસ્ત્રવ્યાખ્યાનાદૌ દેવકુલાદૌ પ્રતિમાપ્રતિશ્રયાદિપ્રતિ  
 ણદૌ ચ ધૂપદીપહવનાદિભિરગ્નિકર્મસમારમ્મ કારયન્તો દણ્ડિન એવ કથયન્તિ  
 ચ-સ્નાનાદિના પુષ્પૈર્ધૂપૈશ્ચ પાપસાપૂપલહ્ણકાદિભિર્વિવિધર્થે વેદૈશ્ચ પ્રતિમાપૂજા

શાક્ય આદિ પચન, પાચન, તાપન તથા પ્રકાશ આદિ ક લિપ્ત અગ્નિકર્મ કા  
 સમારમ કરતે હૈં, કગત હૈં ઓર કરતે હુણ કા અનુમોદન કરતે હૈં, અત વે પટ્કાય  
 કે વિરાધક હૈં ।

વળ્લી કહત હૈં-‘ હમ પચમહાવ્રતધારી હૈં, જિનવચન ક આરાધક  
 અનગાર હૈં ’ । વે સાધ્વામાસ સાવચ કા ઉપદેશ દેતે હૈં ઓર શાસ્ત્રનિપિદ્ધ અગ્નિકર્મ કા  
 સમારમ કરવાત હૈં ।

શાક્ય કે વ્યાખ્યાન આદિ મેં, દેવકુલ આદિ મ, પ્રતિમા પ્રતિશ્રય ઓર  
 પ્રતિષ્ઠા આદિ મેં ધૂપ દીપ ઓર હવન આદિ દ્વારા અગ્નિકર્મ કા આરમ કરવાતે હુણ  
 વળ્લી દેસે જાતે હૈં । વે યેસા કહતે હૈં-‘ સ્નાન કરાકર પુષ્પો સે, ધૂપ સે, જીર સે,  
 પૂષા સે, તથા લહ્ણ આદિ સે, તથા વિવિધ પ્રકાર કે નૈવેદ્ય સે પ્રતિમા કી પૂજા કરતી

શાક્ય આદિ પચન, પાચન, તાપન તથા પ્રકાશ આદિ માટે અગ્નિકર્મને  
 સમારમ કરે છે, કરાવે છે અને કરનારને અનુમોદન આપે છે તેથી તે પટ્કાયના  
 વિરાધક છે

વળી કહે છે કે-‘ અમે પચમહાવ્રતધારી છીએ, જિનવચનના આરાધક  
 અનુગાર છીએ ’ એ સાધ્વામાસ સાવચનો ઉપદેશ આપે છે અને શાસ્ત્રનિપિદ્ધ  
 અગ્નિકર્મને સમારમ કરાવે છે

શાસ્ત્રના વ્યાખ્યાન આદિમા, દેવકુલ આદિમા, પ્રતિમા પ્રતિશ્રય તથા પ્રતિષ્ઠા  
 આદિમા ધૂપ, દીપ અને હવન આદિ દ્વારા અગ્નિને આરમ કરાવવા હોય તેવા વળ્લી  
 નેવામાં આવે છે તે એમ કહે છે કે-સ્નાન કરાવીને, પુષ્પોથી, ધૂપથી, જીરથી, માલપૂવા  
 તથા લાડુ આદિથી તથા વિવિધ પ્રકારનાં નૈવેદ્યથી પ્રતિમાની પૂજા કરવી એમને જિન

ર્ષવ્યેત્યાદિ । પુનઃ—જિનસ્ય વામપાર્શ્વે ધૂપ' સ્થાપનીય, દક્ષિણપાર્શ્વે ઘૃતપૂર્ણ-  
મન્જાલિત મદીપ સ્થાપ્યઃ, પાપસાપૂષ્પઘૃતપૂરલઙ્કાદિ નૈવેદ્યમપિ પુત' સ્થાપનીય  
મિત્યાદિ । તત્ત્વ વિનાગ્નિકર્મસમારમ્મં નોપપચતે । ઓપચ્યર્થે કાયાદિ, શુષ્ઠિપાકાદિ,  
પાતુષ્ણોદક, મોક્તું વિવિધાહાર ષ્ચ કારયન્તીતિ ॥ સૂ. ૬ ॥

અથ સુધર્મા સ્વામી જમ્યુસ્નામિનં જગાદ—‘તત્ય’ इत्यादि ।

મૂલ્ય—

તત્ય સ્વલુ મગવયા પરિણા પવેશ્યા । ઇમસ્સ ચેવ જીવિયસ્સ પરિવંદખ-  
માણણ-પૂયણાણ જાદમરણમોયણાણ દુક્કલપલિધાયહેઠ સે સયમેવે અગણિસત્થ

આહિપ । જિન મગવાનુ કે વૌદ્ધ (કાવી) ઓર ધૂપ રસના આહિપ ઓર દાહિની (જિમ્મી)  
ઓર ધી સે મગ ચલ્લતા વીપ રવના આહિપ । સામને સીર, માલપૂત્રા, ઘેવર ઓર લલ્લ  
આદિ નૈવેદ્ય રસના આહિપ ” । ચે સમ અગ્નિકર્મ કા સમારમ કિયે વિના નહીં હો સકતે ।  
મે છોગ ઓષધિ કે છિપ કાચ કોરહ, સૌઠ કા પાક આદિ, પીને કે છિપ ગર્મ વલ્લ ઓર  
સ્નાને કે છિપ વિવિધ પ્રકાર કે આહાર બનવાતે હૈં ॥ સૂ. ૬ ॥

સુધર્મા સ્વામી જમ્યુ સ્વામી સે કહતે હૈં—‘તત્યસ્વલુ’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—इस विषय में मगवान्ने बोध दिया है । इसी जीवन के लिए,  
बन्धन, मानना और पूजा के लिए, जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, तथा दुःखों का  
निवारण करने के लिए वह स्वयं अग्निशक्ता का आरंभ करता है, दूसरों से अग्निशक्त

મગવાનની ઠાળી તરફ ધૂપ રાખવો જોઈએ. અને જમણી તરફ ધીનો ભરેલો બળતો  
દીપક રાખવો જોઈએ સાથે ખીર, માલપૂત્રા, ઘેવર અને લાડુ આદિ નૈવેદ્ય રાખવું  
જોઈએ એ સર્વ અગ્નિકર્મના સમારમ કયાં વિના થઈ શકતા નથી. તે લોક  
ઓષધી માટે કવાચ પત્રેર, શુક્રતા પાક આદિ, પીવા માટે ગરમ જલ અને ખાવા  
માટે વિધ-વિધ પ્રકારના આહાર બનાવરાવે છે (સૂ. ૬)

સુધર્મા સ્વામી જમ્યુ સ્વામીને કહે છે—‘તત્ય સ્વલુ’ इत्यादि

મૂલાર્થ—આ વિષયમાં મગવાને બોધ આપ્યો છે આ જીવન માટે વંદન, માનન,  
અને પૂજાને માટે, જન્મ-મરણથી મુક્ત થવા માટે તથા દુઃખોનું નિરાકરણ કરવા માટે  
તે ચોતે અગ્નિશક્તિનો આરંભ કરે છે, ખીજા પાસે અગ્નિશક્તિનો આરંભ કરાવે છે, અને

समारमद्, अण्णेहिं वा अगणिसत्थ समारमावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थ समारममाणे समणुजाणइ, त से अहियाए, त से अबोहीए ॥ सू० ७ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमानन पूजनाय जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतु त स्वयमेव अग्निशस्त्र समारमते, अन्यैर्वा अग्निशस्त्र समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्र समारममाणान् समनुजानाति, तद् तस्याहिताय, तद् तस्याबोधये ॥ सू० ७ ॥

टीका—

तत्र=अग्निकायसमारम्भे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=सम्यग्बोधः खलु प्रवेदिता=प्रतिबोधिता । कर्मबन्धसमुच्छेदार्थं जीवेन परिज्ञाऽवश्यं शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिबोधितमिति भावः ।

उपमोगद्धारम्—

लोक' कस्मै प्रयोजनायाग्निकायमुपमर्दयती ?—त्याह—'अस्य चैव जीवितस्ये '

आरम करवाता है और अग्निशस्त्र का आरंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है, जो यह उस के अहित के लिए है, यह अबोधि के लिए है ॥ सू० ७ ॥

टीकार्थ—अग्निकाय के समारम में श्री महावीरने सम्यक् उपदेश दिया है । आशय यह है कि—कर्मबन्ध का नाश करने के लिए जीव को परिज्ञाका आशय अवश्य लेना चाहिए, ऐसा उपदेश दिया है ।

उपमोगद्धार—

किस प्रयोजन से लोग अग्निकाय की हिंसा करते हैं यह बतलाते हैं—इसी

અગ્નિશસ્ત્રને આરમ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન કરે છે તે બોલે ( પોતાના ) અહિત માટે છે, તે અબોધિને માટે છે ( સુ. ૭ )

ટીકાર્થ—અગ્નિકાયના સમારમમાં શ્રી મહાવીરે સમ્યક્ ઉપદેશ આપ્યો છે આશય એ છે કે—કર્મબંધનો નાશ કરવા માટે જીવે પરિજ્ઞાનો આશય અવશ્ય લેવો જોઈએ એવો ઉપદેશ આપ્યો છે

ઉપમોગ દ્વાર—

કયા પ્રયોજનથી લોક અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે—આ કષ્ટકથાર

त्यादि । अस्यैव सणमङ्गुरस्य जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थं प्रकाशकरणाच्च,  
 ओदनादिरन्धनार्थं, धूमयानादिगतिमिद्वयार्थं चेत्यर्थः । तथा-परिवन्दन-मानन-  
 पूजनाय-परिवन्दन-प्रशंसा तदर्थं, यथा-अग्निपन्त्रेण 'आतिशयाजी' इति  
 मायामसिद्धे सणनश्वरस्फुलिङ्गद्वयवादी, मानन=जनसत्कार. तदर्थं, यथा-भूपादीन्  
 प्रसादयितुं दीपमालादीपवृत्तनिर्माणादौ । पूजन=वस्त्ररत्नादिपुरस्कारलामस्तदर्थं,  
 यथा-देवप्रतिमाद्यं धूपदीपाराप्रिककरणादौ । तथा-जातिमरणमोचनार्थं=जन्म-  
 मरणधन्वमोचनार्थं, यथा-हवनादौ, दुःखप्रतिपातहेतुम्=वातरोगापनयनार्थं  
 शीतापनोदनार्थं ज्वरविषूचिकादिनिवृत्त्यर्थं च दहनप्रतापनादौ, स=नश्वरजीवन-  
 सुखाद्यर्थी स्वयमेव अग्निशस्त्रम्=अभ्युपमर्शकं द्रव्यभावशस्त्रं समारमते=व्यापारयति ।

क्षणमङ्गुर जीवन के सुख के लिए, प्रकाश करने के लिए, चावल आदि पकाने के लिए,  
 रेल आदि चकाने के लिए, तथा अपनी प्रशंसा के लिए, जैसे-अग्निपन्त्र से क्षणविनश्वर  
 चिनगारियाँ बरसाने के लिए अर्थात् 'आतिशयाजी' के लिए जन-सत्कार के लिए जैसे-  
 राजा वगैरह को प्रसन्न करने के उद्देश्य दीपमालिका जलाना या दीपकों के वृत्त की  
 रचना करना, तथा वस्त्र, रत्न आदि पुरस्कार पाने के लिए, जैसे-देवप्रतिमा आदि के  
 लिए धूप-दीप आदि करना । तथा जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, जैसे हवन आदि  
 में दुःखों का प्रतीकार करने के लिए, जैसे-वातरोग हटाने के लिए, ठंड दूर करने के  
 लिए तथा ज्वर एवं विषूचिका दूर करने के लिए दम देना या तपाना आदि कार्य  
 करने में । इन सब प्रयोजनों के लिए इस जीवन के सुख का अर्थात् पुरुष स्वयं द्रव्य

एवमनन्ता सुख भाटे, प्रकाश करवा भाटे, धोआ आदि राखवा भाटे, रेल आदि  
 चकवा भाटे तथा पोतानी प्रशंसा भाटे, जेभके-अग्निपन्त्र से क्षणविनश्वर चिन  
 गारियाँ बरसाववा भाटे. अर्थात् 'आतिशयाजी' भाटे, जनसत्कार भाटे, जेभ-राज  
 वगैरहे प्रसन्न करवाना उद्देश्य दीपमालिका जलाववा अथवा दीपकोना वृत्तनी रचना  
 करवा, तथा वस्त्र, रत्न आदि पुरस्कार प्राप्त करवा भाटे जेभ-देवप्रतिमा आदि भाटे धूप-  
 दीप आदि करवा, तथा जन्म-मरणार्थी मुक्त यवा भाटे जेभ-हवन आदिमां, दुःखोना  
 प्रतिकार करवा भाटे जेभ-वातरोग हटाववा भाटे, ठंडी दूर करवा भाटे तथा ज्वर-  
 ताप जाने ठाठेश दूर करवा भाटे दमकुं-आदि कार्य करवाभां, आ उप  
 प्रयोजनो भाटे आ एवमनन्ता सुखना अर्थात् पुरुष पोते द्रव्यभाव रूप अनिशब्दो

અન્યૈર્વા અગ્નિશસ્ત્ર સમારમ્ભયતિ=ઉદ્યોજયતિ । અન્યાન્ વા અગ્નિશસ્ત્ર સમારમમાણાન્  
સમનુજાનાતિ=અનુમોદયતિ । તત્=અગ્નિકાયસમારમ્ભણં, તસ્ય=અગ્નિકાયસમારમ્ભણ  
કુર્વત', કારયિતુ, અનુમોદયિતુશ્ચ, અહિતાય ભવતિ, તથા તત્, તસ્ય અનોધયે=  
સમ્યક્ત્વાછામાય, ભવતિ ॥ મૂ૦ ૭ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपेऽग्निकायजीवस्वरूप परिज्ञातं स एव विभावयतीत्याह  
—‘से त’ इत्यादि ।

મૂલ્ય—

સે ત સવુજ્ઞમાણે આયાણીય સમુદ્રાય સોઘા સ્વલુ મગવઓ અણગા  
રાણં વા અતિણ, હમેગેસિ ણાય મરહ-એસ સ્વલુ ગંધે, એસ સ્વલુ મોહે, એસ  
સ્વલુ મારે, એસ સ્વલુ ણરણ, હથ્થત્ય ગદિણ લોણ જમિણં વિરુવરુવેહિં સત્થેહિં

भावरूप अग्निशस्त्र का आरम करता है, दूसरों से आरम करवाता है और आरम करने वालों  
की अनुमोदना करता है । वह अग्निकाय का आरम, करने, कराने और अनुमोदन करने वाले  
के अहित और सम्यक्त्व की अप्राप्ति के लिए होता है ॥ सू० ७ ॥

जिस ने तीर्थङ्कर आदि से अग्निकाय का स्वरूप समझ लिया है वह इस प्रकार  
विचार करता है—‘से त’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—જો પુરુષ તીર્થંકર ભગવાન્ યા ડનકે અનગારો સે ઉપદેશ સુનકર  
ચારિત્ર અક્ષીકાર કર કે વિચરતા હૈ, વહ હસ પ્રકાર સોચતા હૈ—સસાર મેં કિન્હી—કિન્હી કો  
હી યહ જ્ઞાન હોતા હૈ કિ—યહ પ્રથ હૈ, યહ મોહ હૈ, યહ માર હૈ, યહ નરક હૈ ।

આરભ કરે છે બીજા પાસે આરભ કરાવે છે, અને આરભ કરવાવાળાને અનુમોદન  
આપે છે—આ અગ્નિકાયને । આરભ કરનાર, કરાવનાર અને કરનારને અનુમોદન  
આપનારના અહિત અને સમ્યક્ત્વની અપ્રાપ્તિ માટે થાય છે (સૂ. ૭)

જેણે તીર્થંકર આદિ પાસેથી અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજી લીધું છે, તે આ  
પ્રમાણે વિચાર કરે છે—‘સેત’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે પુરુષ તીર્થંકર ભગવાન અથવા તેા તેમના અણુમાત્ર પાસેથી  
ઉપદેશ સાંભળી આચરિત્ર અગીકાર કરીને વિચરે છે—તે આ પ્રમાણે વિચારે છે કે—સસારમાં  
કોઈ-કોઈનેજ આ અણુવાર્મા હોય છે કે—આ પ્રથ છે, આ મોહ છે, આ માર—મૃત્યુ છે

त्यादि । अस्यैव क्षणमहुरस्य जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थं प्रकाशकरणार्थम्, ओदनादिरन्धनार्थं, धूमयानादिगतिसिद्धयर्थं चेत्यर्थः । तथा-परिवन्दन-मानन-पूजनाय-परिवन्दन=प्रशंसा तदर्थं, यथा-अग्निपत्रेण 'आतिशयाजी' इति भाषामसिद्धे क्षणमश्वस्फुलिङ्गवृष्ट्यादीं, मानन=जनसत्कारं तदर्थं, यथा-भूपादीन प्रसादयितुं दीपमालादीपवृत्तनिर्माणादी । पूजन=वस्त्ररत्नादिपुरस्कारलामस्तदर्थं, यथा-देवप्रतिमाद्यं धूपदीपारात्रिककरणादी । तथा-जातिमरणमोचनाय=जन्म-मरणचक्रमोचनार्थं, यथा-हवनादी, दुःखप्रतिघातहेतुम्=वातरोगापनयनार्थं श्रीतापनोदनार्थं ज्वरविपूचिकादिनिवृत्त्यर्थं च दहनपतापनादी, स=नश्वरजीवन-सुखाद्यर्थी स्वयमेव अग्निशस्त्रम्=अग्न्युपमर्दकं द्रव्यभावशस्त्रं समारमते=व्यापारयति ।

क्षणमहुर जीवन के सुख के लिए, प्रकाश करने के लिए, चावल आदि पकाने के लिए, रस आदि चलाने के लिए, तथा अपनी प्रशंसा के लिए, जैसे-अग्निपत्र से क्षणविनश्वर चिनगारियाँ बरसाने के लिए अर्थात् 'आतिशयाजी' के लिए जन-सत्कार के लिए जैसे राजा वगैरह को प्रसन्न करने के उद्देश्य दीपमालिका जलाना या दीपकों के वृक्ष की रचना करना, तथा वस्त्र, रत्न आदि पुरस्कार पाने के लिए, जैसे-देवप्रतिमा आदि के लिए धूप-दीप आदि करना । तथा जन्म मरण से मुक्त होने के लिए, जैसे हवन आदि में दुःखों का प्रतीकार करने के लिए, जैसे-वातरोग हटाने के लिए, ठंड दूर करने के लिए तथा ज्वर एवं विपूचिका दूर करने के लिए डाँभ देना या तपाना आदि कार्य करने में । इन सब प्रयोगों के लिए इस जीवन के सुख का अर्धी पुरुष स्वयं द्रव्य

एवमना सुख भाटे, प्रकाश करवा भाटे, बोधा आदि शोधवा भाटे, रस आदि स्वादवा भाटे तथा चेतानी प्रशंसा भाटे, जेभके-अग्निपत्र से क्षणविनश्वर चिन गारियाँ बरसाववा भाटे, अर्थात् 'आतिशयाजी' भाटे, जनसत्कार भाटे, जेभ-सम्ब वजेने प्रसन्न करवाना उद्देश्य दीपमालिका जलावपी अथवा दीपकाना वृक्षनी रचना करपी, तथा वस्त्र, रत्न आदि पुरस्कार प्राप्त करवा भाटे जेभ-देवप्रतिमा आदि भाटे धूप-दीप आदि करवुं, तथा जन्म-मरणवृत्ती मुक्त यवा भाटे जेभ-हवन आदिमा, दुःखोना प्रतिकार करवा भाटे जेभ-वातरोग हटाववा भाटे, ठंडी दूर करवा भाटे तथा ज्वर-ताप जने ठाढ़ेश दूर करवा भाटे डाँभसु-आदि काय करवाभा, आ स्वयं प्रयोजनो भाटे आ एवमना सुखना अर्धी पुरुष पोते द्रव्यभाव रूप अग्निशस्त्रने

સજાતસમ્યગ્વબોધવૈરાગ્યાણામાત્માર્થિનામેવ, જ્ઞાત=વિદિત ભવતિ । કિં જ્ઞાત ભવતી ?  
-ત્યાકાહસાયમાહ—‘એપ સ્વલુ ગ્રન્થ’ ।

એપ=અગ્નિશસ્ત્રસમારમ્મઃ, સ્વલુ=નિશ્ચયેન, ગ્રન્થઃ=ગ્રંથ્યતે=વધ્યતેઽનેનેતિ-  
ગ્રન્થ’=અટવિધકર્મવન્ધ । કારણે કાર્યોપચારાત્ કારણભૂતોઽગ્નિશસ્ત્રસમારમ્મ એવ  
કર્મવધરૂપો ગ્રન્થ ઇત્યુચ્યતે । એવમગ્રેઢપિ યોધ્યમ્ । તથા-એપઃ=અગ્નિશસ્ત્રસમારમ્મઃ  
મોહઃ=વિપર્યાસઃ=અજ્ઞાનમ્ । તથા-એપ એવ મારઃ=મરણં-નિગોદાદિમરણરૂપ । તથા-  
એપ નરકઃ=નારકજીયાનાં દશવિધયાતનાસ્થાનમ્ ।

इत्यर्थ=एतदर्थ, कर्मवन्ध-मोह-मरण-नरकरूप घोरदुःस्वफल प्राप्यापि  
पुनःपुनरेतदर्थमेव, लोक=अज्ञानवशवर्ती जीव गृह=लिप्सुरस्ति । यद्वा-गृहः=

जिन्हें सम्यग्ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हो गया है उन आत्माधी पुरुषों को ही विदित होता है ।  
क्या विदित होता ? सो कहत हैं—‘यह ग्रंथ है’ इत्यादि ।

यह अग्निशस्त्र का समारम्भ निश्चय ही आठ प्रकार का कर्मवध है । कारण में कार्य  
का उपचार करने से अग्निशस्त्र के समारम्भ को ही कर्मवध कहा है, वास्तव में यह समारम्भ  
कर्मवध का कारण है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । तथा यह अग्निसमारम्भ मोह  
है—विपर्यास है—अज्ञान है ।

तथा यह समारम्भ मृत्युरूप है—निगोद आदि मरणरूप है । और यह नरक है—नरक  
की दश प्रकार की यातनाओं का स्थान है ।

कर्मवध, मोહ, મરણ और નરક રૂપ ઘેર દુ સ્વભવ ફલ પ્રાપ્ત કરકે મી અજ્ઞાનો

જેને સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયો છે, તે આત્માથી પુરૂષોનેજ બાહ્યવામાં  
હોય છે શું બાહ્યવામાં હોય છે ? તે કહે છે—‘આ અથ છે’ આદિ,

આ અગ્નિશસ્ત્રને આરભ નિશ્ચય-નક્ષીજ આઠ પ્રકારના કર્મવધ છે કારણમા  
કાર્યને ઉપચાર કરવાથી અગ્નિશસ્ત્રના સમારભનેજ કર્મવધ કહ્યો છે વાસ્તવિક રીતે  
આ સમારભ કર્મવધનું કારણ છે આ પ્રમાણે આગળ પણ સ્વમથ હેવું બેઠવ્યે તથા  
આ સમારભ મોહ છે—વિપર્યાસ—અજ્ઞાન છે, તથા આ સમારભ મૃત્યુરૂપ છે—નિગોદ  
આદિ મરણરૂપ છે અને આ નરક છે—નરકની દસ પ્રકારની યાતનાઓનું સ્થાન છે

કર્મવધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘેર દુ ખમય કલ પ્રાપ્ત કરીને પણ



अगणिकम्मसमारम्भेण अगणिसत्य समारम्भमाणे अण्णे अणेगरुवे पाप्मे विहित्ता  
॥ सू० ८ ॥

छाया—

स तत् समुत्पन्नमान आदानीय समुत्पाय श्रुत्वा खलु भगवत अनगाराणां वा  
अन्तिके, इहेकेपां ज्ञात भवति—एष खलु ग्रन्थ, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष  
खलु नरकः, इत्यर्थं वृद्धो लोकाः, यदिम विरूपरूपे शस्त्रे अग्निकर्मसमारम्भेण  
अग्निशब्दे समारम्भमाण. अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहितस्ति ॥ सू० ८ ॥

टीका—

यः खलु भगवतः—तीर्थङ्करस्य, अनगाराणाम्—सदीयभ्रमणनिवृत्त्यानाम् वा  
अन्तिके भुत्वा—उपदेश निवृत्त्य आदानीयम्—उपादेय सर्वसाधनयोगविरतिरूपं चारित्र्यं  
समुत्पाय—अङ्गीकृत्य विहरति स तत्—अग्निकायसमारम्भण, समुत्पन्नमानः—अहिताबोधि  
जनकत्वेन विहाता भवति ।

स हि एवं विभावयति—इह—मनुष्यलोके, एकेपां—भ्रमणनिवृत्त्योपदेश

गृह लोक नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्निकर्म का आरंभ करके अग्निशस्त्र का व्यापार करता  
हुवा अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है ॥ सू० ८ ॥

टीका—जो पुरुष भगवान् तीर्थङ्कर अथवा उन के भ्रमणों के निकट उपदेश  
सुनकर सर्वसाधनयोग के त्यागरूप चारित्र्य को स्वीकार कर के विचरता है, वह अग्निकाय के  
समारम्भ को अहितकर और अवोचिकर समझ लेता है ।

वह इस प्रकार सोचता है—इस मनुष्य लोक में, भ्रमण निर्मोको के उपदेश से

आ नरक से मुक्त होकर नाना प्रकारना शस्त्रोधी अग्निकर्म से समारम्भ करीने अग्नि  
शस्त्रो व्यापार करता है अनेक प्रकारना आशीर्वादाणी दिसा करे छे (सू. ८)

टीका—जो पुरुष भगवान् तीर्थङ्कर अथवा तेमना अशुभाशेनी समीप  
उपदेश सुनलीने सर्वसाधनयोगना त्यागरूप चारित्र्यो स्वीकार करीने विमर्श छे ते  
अग्निकायना समारम्भने अहितकर अने अवोचिकर समझ ले छे

ते आ प्रभावे विमर्श छे छे—आ मनुष्य लोकमां समस्त निर्मोकोना उपदेशधी

સમારમ્મેણ=અન્યુપમર્દનરૂપસાવધવ્યાપારેણ, ઇમમ્=અગ્નિકાય વિહિનસ્તિ । તથા અગ્નિશ્ચ સમારમમાણ=વ્યાપારયન્ અન્યાન્=પૃથિવીકાયાદીન્, અનેકરૂપાન્=ત્રસાન્ સ્વાવરાથ, પ્રાણાન્=પ્રાણિનો, વિહિનસ્તિ=ઉપમર્દયતિ ॥ સૂ૦ ૮ ॥

અગ્નિશ્ચ સમારમમાણા અનેકવિધાન્ જીવાન્ કથ વિહિસન્તિ ? તત્પતિ-વોષયિતુ શ્રીસુધર્મા સ્વામી પ્રાહ-‘સે બેમિ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સે બેમિ-સતિ પાણા પુદ્ગલીનિસ્સિયા તળનિસ્સિયા પત્તનિસ્સિયા કઢ-નિસ્સિયા ગોમયનિસ્સિયા કચવરનિસ્સિયા, સતિ સપાહમા પાણા આહશ્ચ સપયતિ, અગ્નિ ચ સ્વલ્લ પુદ્ગ એ સંધાયમાવજ્જતિ, જે તત્ત્વ સંધાયમાવજ્જતિ,

સાવધ વ્યાપાર કર કે અગ્નિકાય કી હિંસા કરતા હૈં ઓર અગ્નિકાય કા આરમ કરતા હુઆ અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ નાના પ્રકાર કે સ્થાવર ઇષ ત્રસ પ્રાણિયોં કા ઘાત કરતા હૈં ॥ સૂ૦ ૮ ॥

અગ્નિશ્ચ કા આરમ કરને વાઠે અનેક પ્રકાર ક જીવોં કી વિરાધના કિસ પ્રકાર કરતે હૈં । યહ સમજાને કે લિપ્ શ્રીસુધર્મા સ્વામી કહતે હૈં—‘સે બેમિ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—વહી મૈં કહતા હૈં—જીવ પૃથિવી કે આશ્રિત હૈં, તળ કે આશ્રિત હૈં, પર્તા કે આશ્રિત હૈં, કાષ્ઠ કે આશ્રિત હૈં ગોશર કે આશ્રિત હૈં, કચરે કે આશ્રિત હૈં, સપાતિમ જીવ અચાનક આકર અગ્નિ મૈં પડ જાતે હૈં, કોઈ-કોઈ અગ્નિ કો છૂકર સિકુદ

વ્યાપાર કરીને અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે અને અગ્નિકાયનો આરમ કરવા સાથે અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ નાના પ્રકારના ત્રસ જીવોં એ પ્રમાણે સ્થાવર પ્રાણીઓનો ઘાત કરે છે (સૂ. ૮)

અગ્નિશ્ચ અનેક આરમ કરવાવાળા અનેક પ્રકારના જીવોની વિરાધના કયા પ્રકારે (કેવી રીતે) કરે છે ? તે સમજાવવા માટે, શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છે—‘સે બેમિ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્થ—તે હું કહું છું—જીવ પૃથ્વીના આશ્રિત છે તૃણને આશ્રિત છે પર્તા-પાદશને આશ્રિત છે લાકડાને આશ્રિત છે છાલુને આશ્રિત છે કચરાને આશ્રિત છે અપાતિમજીવ અચાનક આવીને અગ્નિમા પડી જાય છે જે સંકેતમાર્ગ જાય છે તે

મોગામિલાપી લોકઃ=સંસારી જીવ' इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=कर्मबन्धमोहमरणनरकाय मेव प्रवर्तते इति शेषः ।

અર્થે માવ.—મોગામિલાપી લોક' શરીરાદિપરિપોષણાર્થં પરિવન્દનમાનનપૂજનાર્થં વ્રાત્તિમરણમોચનાર્થં દુઃખપ્રતિષ્ઠાતાર્થં ચાગ્નિશસ્ત્રસમારમ્ભ કરોતિ, તત્કલં સ્વકુર્મબન્ધ—મોહ—મરણ—નરકરૂપમેવ લભતે, તસ્માદગ્નિશસ્ત્રસમારમ્ભસ્ય તદેવ ફલં વોચ્યમિતિ ।

‘લોકઃ પુનઃ પુનઃ કર્મબન્ધાધર્થમેવ પ્રવર્તતે’ इति यदुक्तं, तत् कथं ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—‘यदिमम्’ इत्यादि ।

यद्=यस्माद्, विरूपरूपेः=नानाविधै शस्त्रैः=पूर्वोक्तप्रकारैः अभिकर्म-

જીવ વાર—વાર હસી કી રૂઝા કરતે હૈં । અથવા મોગોં કા અમિલાપી સંસારી જીવ સ્વ કર્મબંધ, મોહ મરણ ઔર નરક કે લિપ્ હી પ્રવૃત્ત હોતે હૈં ।

તત્પર્યં યદ્ હૈ—મોગોં કા અમિલાપી લોક શરીર આદિ કા પોષણ કરને કે લિપ્, વડના, માનના ઔર પૂજા કે લિપ્ બન્ધ—મરણ સે મુક્ત હોને કે લિપ્ ઔર દુઃખ કા પ્રતીકાર કરને કે લિપ્ અગ્નિશસ્ત્ર કા સમારમ્ભ કરતા હૈ ઔર ફલસ્વરૂપ કર્મબંધ, મોહ, મરણ ઔર નરક રૂપ ફલ પાતા હૈ । અતઃ ઇવ અગ્નિશસ્ત્ર કે સમારમ્ભ કા ફલ કહી વધ આદિ સમજના ચાહિપ્ ।

‘લોક વાર—વાર કર્મબંધ આદિ કે લિપ્ હી પ્રવૃત્તિ કરતા હૈ’ યદ્ કો કહા હૈ સો કેસે જ્ઞાત હુઆ ? પેછી જિજ્ઞાસા હોને પર કહતે હૈ—

क्यों कि वह नाना प्रकार के पूर्वोक्तशस्त्रों से अग्नि की विराधना करने वाला

અજ્ઞાની એ વારવાર તેનીજ ઈષ્ટા કરે છે અથવા—મોગોનો અમિલાપી સંસારી એ આ કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરક માટેજ પ્રવૃત્ત થાય છે

તત્પર્યં કો છે—મોગોનો અમિલાપી માણસો શરીર આદિનું પોષણ કરવા માટે વડના, માનના અને પૂજાને માટે, બન્ધમરણથી મુક્ત થવા માટે અને દુઃખનો પ્રતિકાર કરવા માટે અગ્નિશસ્ત્રનો સમારમ્ભ કરે છે અને ફલસ્વરૂપ કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ફલને પ્રાપ્ત કરે છે એવો જા માટે અગ્નિશસ્ત્રના સમારમ્ભનું ફલ તે બંધ આદિ સમજવાં જોઈએ.

હોઠ વાર—વાર કર્મબંધ વગેરે માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે એવું ને કહ્યું તે કેવી રીતે જાણવામા આવ્યું ? આ પ્રમાણે જિજ્ઞાસા થવાથી કહે છે—

કેમકે તે નાના પ્રકારના પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોથી અગ્નિની વિરાધના કરવાવાળા માણસ

સમારમ્મેણ=અગ્ન્યુપમર્દનરૂપસાવધવ્યાપારેણ, ઇમમ્=અગ્નિકાય વિદિનસ્તિ । તથા અગ્નિશસ્ત્ર સમારમમાણ=વ્યાપારયન્ અન્યાન્=પૃથિવીકાયાદીન્, અનેકરૂપાન્=ત્રસાન્ સ્થાવરાશ્ચ, પ્રાણાન્=પ્રાણિનો, વિદિનસ્તિ=ઉપમર્દયતિ ॥ સૂ. ૮ ॥

અગ્નિશસ્ત્ર સમારમમાણા અનેકવિધાન્ જીવાન્ કથ વિદિસન્તિ ? તત્પતિ-  
દોષયિતુ શ્રીસુધર્મા સ્વામી પ્રાહ-‘સે વેમિ’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

સે વેમિ-સતિ પાણા પુદ્ગલીનિસ્સિયા તળનિસ્સિયા પત્તનિસ્સિયા કટ્ટ-  
નિસ્સિયા ગોમયનિસ્સિયા કયવરનિસ્સિયા, સતિ સપાદ્મા પાણા આદિ  
સપયતિ, અગ્નિ ચ ત્વલુ પુદ્ગા એ સંઘાયમાવજ્જતિ, જે તત્ય સઘાયમાવજ્જતિ,

સાથે વ્યાપાર કર કે અગ્નિકાય કી હિંસા કરતા હૈં ઔર અગ્નિકાય કા આરમ કરતા  
હુઆ અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ નાના પ્રકાર કે સ્થાવર એવ ત્રસ પ્રાણિયોં કા ઘાત  
કરતા હૈં ॥ સૂ. ૮ ॥

અગ્નિશસ્ત્ર કા આરમ કરને બાહે અનેક પ્રકાર ક જીવોં કી વિરાધના કિસ પ્રકાર  
કરતે હૈં । મહ સમજાને કે લિપ શ્રીસુધર્મા સ્વામી કહતે હૈં—‘સે વેમિ’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—વહી મેં કહતા હૈં—જીવ પૃથ્વી કી આશ્રિત હૈં, તળ કે આશ્રિત હૈં,  
પર્તા કે આશ્રિત હૈં, કાષ્ઠ કે આશ્રિત હૈં ગોવર કે આશ્રિત હૈં, કચરે કે આશ્રિત હૈં,  
સપાતિમ જીવ અચાનક આકર અગ્નિ મેં પડ જાતે હૈં, કોઈ-કોઈ અગ્નિ કો છૂકર સિકુડ

વ્યાપાર કરીને અગ્નિકાયની હિંસા કરે છે અને અગ્નિકાયનો આરભ કરવા સાથે  
અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ નાના પ્રકારના ત્રસ જીવોં એ પ્રમાણે સ્થાવર પ્રાણીઓનો  
ઘાત કરે છે (સૂ. ૮)

અગ્નિશસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળા અનેક પ્રકારના જીવોની વિરાધના કયા પ્રકારે  
(કેવી રીતે) કરે છે ? તે સમજાવવા માટે, શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છે—‘સે વેમિ’ इत्यादि

મૂલાર્થ—તે હું કહું છું—જીવ પૃથ્વીના આશ્રિત છે તૃણને આશ્રિત છે પર્તા-  
પાદકોને આશ્રિત છે લાકડાંને આશ્રિત છે છાશુને આશ્રિત છે કચરાને આશ્રિત છે  
અપાતિમજીવ અચાનક આવીને અગ્નિમા પડી જાય છે જે સંઘાયાર્થ જાય છે તે

તે તત્ય પરિયાવજ્જતિ જે તત્ય પરિયાવજ્જતિ તે સત્ય ઉદાયતિ ॥ સૂ૦ ૧ ॥

છાયા—

તદ્ બ્રવીમિ—સન્તિ માગા પૃથિવોનિશ્રિતા તળનિશ્રિતા પત્રનિશ્રિતા  
કાષ્ઠનિશ્રિતા ગોમયનિશ્રિતાઃ પ્લવરનિશ્રિતાઃ, સન્તિ સપાતિમા માગા આસ્ય  
સપતન્તિ, અન્નિ ચ લલુ સ્પૃષ્ટા એકે સઘાતમાપદ્યન્તે, યે તત્ર સઘાતમાપદ્યન્તે તે તત્ર  
પર્યાપદ્યન્તે, યે તત્ર પર્યાપદ્યન્તે તે તત્રાપ્સ્યાવન્તિ ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ટીકા—

તદ્=અગ્નિકાયહિંસયા યયા ઘડુવિધાઃ માણિન મળશ્યન્તિ, તદ્ બ્રવીમિ=  
કત્થયામિ, પૃથિવીનિશ્રિતાઃ=પૃથિવીરૂપ કાયમાથિસ્ય પર્તમાનાં પૃથિવીકાયિકા  
इत्यर्थ । 'पृथिवीनिश्रिता' इत्युपलक्षणम्, तेन तदाश्रिताः कृमि-कुन्तु-पिपी-  
लिका-मुनश्च-मण्डूक-वृश्चिक-कर्कटकादयो गृह्यन्ते । तथा च पृथिवीकાયिका  
स्तदाश्रितास्तद्विषयः, वृक्षलतादयश्च । तथा-तृण-आश्रित वनस्पतिकायिका,

જાતે છે, જો સિકુડ જાતે છે તે મૂર્ચ્છિત હો જાતે છે અને જો મૂર્ચ્છિત હો જાતે છે તે મર મી  
જાતે છે ॥સૂ૦ ૧॥

ટીકાર્થ—અગ્નિકાય કી હિંસા સે ઘડુત પ્રકાર કે જીવોં કા ઘાત હોતા હૈ,  
સો મૈ કહતા હૈ—પૃથિવી કે સહાર રહને વાલ જીવ પૃથિવીકાયિકોં કે અતિરિક્ત ઔર  
મી ઘડુત સે હૈ । જૈસે—કૃમિ, કુન્તુવા, વિઠટી, સાપ, મૈંદક, ચિશ્તુ, કૈકઢા, આદિ ।  
અત પૃથિવી આશ્રિત કા અર્થ યહાં પૃથિવીકાયિક સ્થાવર તથા ત્રસ જીવ હેના આદિ ।  
વૃક્ષ ઔર લેલ આદિ મી હસી મ સમ્મિલિત હૈ । તથા તૃણ—આશ્રિત વનસ્પતિકાય કે

મૂર્ચ્છિત થઈ જાય છે, અને જે મૂર્ચ્છિત થાય છે તે મરી પણ જાય છે (સ. ૬)

ટીકાર્થ—અગ્નિકાયની હિંસાથી ઘડુત પ્રકારના જીવોના ઘાત થાય તે ડુંઠક  
જી-પૃથ્વીના આશ્રયે રહેવાવાળા જીવ પૃથ્વીકાયોની સાથે જીજા પણ ઘડુ છે જેમ કૃમિ  
કુન્તુવા, ઠોડીઓ, સાપ, હેઠકા, વીછી કેઠકા આદિ જો કાન્તુથી પૃથ્વીઆશ્રિતોના અર્થ  
આદિ પૃથ્વીકાયિક સ્થાવર તથા ત્રસ જીવ હોવા જોઈએ વૃક્ષ અને લેલા-લેલ આદિ પણ  
તેમા સમ્મિલિત છે તથા તૃણ—આશ્રિત વનસ્પતિકાયના જીવ અને તૃણના આશ્રયે રહેવા

तृणमाश्रित्यावस्यायिनः मशकरीटतण्डुलौकादयश्च, तथा-पत्रनिश्रिता=वनस्पति-  
कायिका पत्रमाश्रित्य निवासिनः पिपीलिकाभेदाः 'घोहन' इति मगधदेशे प्रसिद्धाः,  
कीटपतङ्गनीलहृग्मुमभ्रतयश्च, तथा-काष्ठनिश्रिता काष्ठशरणीकृत्य स्थिता घुणोद्दे-  
हिका-तण्डुलादयः, अत्र काष्ठं शुष्कमिन्धनरूपं सार्द्धं च दृश्यते । तथा-गोमयनिश्रिता  
=गण्डपदभूमिस्फोटादयः । तथा पत्रवर्गनिश्रिता-पत्रवर्गः शुष्कतृणपत्ररजः समुदा-  
यस्य, त निश्रिता=ममाश्रिता कृमिकुन्धुकीटादयः प्राणाः=प्राणिनः सन्ति ।

तथा-सपातिमा=उत्प्लुत्योत्प्लुत्य पतनशीला, प्राणाः=प्राणिनः दन्तमशकम-  
सिकापतङ्गपक्षिपयनादयः सन्ति । एते सपातिमा आहत्य=अग्निशिखाकृप्ता स्वय-  
मेवोपेत्य, अग्नौ सपतन्ति ।

जीव और तृण क सहारे रहने वाले मच्छर कीड़े और घास की जड़ों (जौक) आदि  
तृण-निश्रित कहलाते हैं । पतों के सहारे रहने वाले मगध देश में प्रसिद्ध घोहन तथा  
कीट, पतंग एवं नीलगु (छट) आदि जीव हैं । घुन, उड़ई और उनके अण्डे आदि  
काष्ठ के सहारे रहने वाले जीव काष्ठनिश्रित कहलाते हैं । यहाँ 'काष्ठ' शब्द से सूखा  
ईधनरूप काष्ठ और गीला काष्ठ, दोनों समझने चाहिए । तथा गोबर के आश्रित गिंडीला और  
मृमिस्फोटक (मूफोड) आदि जीव हैं । इसी केकार कचरे के सहारे रहने वाले कृमि कुयुवा  
तथा कीड़ा वगैरह, ये सब प्राणी हैं ।

उड़-उड़ कर गिरने वाले ढांस, मच्छर, मक्खी पतंग, पक्षी और पवन आदि  
संपातिम जीव कहलाते हैं । ये संपातिम जीव भाग की शिखा से स्वयं आकर्षित हो कर  
भाग में गिर जाते हैं ।

प्राणा मच्छर कीड़ा અને ઘાસની જગો આદિ તૃણ આશ્રિત ઠહેવાય છે પત્તા-પાદડાના  
આશ્રયે રહેવાવાળા મગધદેશમાં પ્રસિદ્ધ ઘોહન તથા કીટ પતંગ અને નીલગુ (છટ) આદિ  
જીવ છે ઘુણ ઉધેઈ અને તેના ઈંડા આદિ-કાઠડાના સહારે રહેવાવાળા જીવ કાષ્ઠનિશ્રિત  
ઠહેવાય છે આદિ કાષ્ઠ શુષ્કથી સૂકાં કાઠડાંરૂપ કાષ્ઠ અને લીલા કાષ્ઠ, આ બન્ને સમજવાં  
જોઈએ, તથા છાણમાં આશ્રય કરીને રહેલાં ગિંડીલા અને બૂફેડા આદિ જીવ છે આ  
પ્રમાણે ઠયરાના આશ્રયે રહેવાવાળા કૃમિ, કુયુવા તથા કીડા વગેરે, આ સર્વે પ્રાણી છે

ઉડી-ઉડીને પડવાવાળા ઢાંસ, મચ્છર, માખી, પતંગ, પક્ષી અને પવન આદિ  
સંપાતિમ જીવ ઠહેવાય છે એ સંપાતિમ જીવ આગની-અગ્નિની શિખાથી પોતે  
આકર્ષિત થઈને અગ્નિમાં પડી જાય છે

અગ્નિકાયસમારમ્મે પૃથિવ્યાદિસમાશ્રિતાનાં સ્થાવરાણાં વ્રસાનાં ચોપમર્દના-  
દિકં યયા મવતિ તદ્ દર્શયિતુમાહ—અગ્નિં ચેત્યાદિ ।

એકે—કેચિત્ પ્રાણિન., અગ્નિમ્=સમુત્પાદિત મજ્જાલિત ચામ્નિકાય સ્પૃષ્ટા  
સ્પર્શકર્તારઃ, આર્પત્વાત્ કર્તરિ ક્ત' ।

સઘાત=પસાદિદહનેન ગાત્રસકોચનમ્ આપદ્યન્તે, માપ્નુવન્તીત્યર્થઃ । તન્ન-  
અન્નૌ પતિત્વા યે જીવા સઘાતમાપદ્યન્તે, તે તત્ર પર્યાપદ્યન્તે=તાપામિમૂતા મૂર્છા  
પ્રાપ્નુવન્તીત્યર્થઃ । યે તત્ર=અન્નૌ પર્યાપદ્યન્તે, તે તત્ર=અગ્નૌ, અપદ્રાવન્તિ=પ્રાણાન્  
પરિત્યજન્તિ । અગ્નિસમારમ્મેણ કેવલમગ્નિકાયવિરાધના ન મવતિ, અપિતુ સર્વદિક્  
સંચારિણં વ્રસાનાં પૃથિવ્યાદીનાં સ્થાવરાણામપિ बहुतराणां हिंसाऽवश्य मवतीति  
भाव । अत एवोक्त मगवता—

અગ્નિકાય કા આરંભ કરને સે પૃથિવી આદિ મેં આશ્રિત સ્થાવરોં ઔર વ્રસ જીવોં કા  
વિરાધન કિસ પ્રકાર હોતા હૈ ! સો કહતે હૈં ।

કોઈ—કોઈ પ્રાણી જાગતી અગ્નિ કો સ્પર્શ કરકે સિકુદ જાતે હૈં—તન કે પસ  
કૌરહ જલ જાતે હૈં । અગ્નિ મેં પડ કર જો જીવ સઘાત કો પ્રાપ્ત હોતે હૈં કે ગમીં સે  
મૂર્છિત્ત હો જાતે હૈં । અગ્નિ મેં ગિરને વાલેં જપને પ્રાણ મીં સો દેતે હૈં । અગ્નિ કા સમારંભ  
કરને સે કેવલ અગ્નિકાય કી હી વિરાધના નહીં હોતી વરન્ સમીં વિશાઓં મેં સંચાર કરને  
વાલેં વ્રસ ઔર बहुतर से स्थावर जीवों की भी हिंसा अवश्य होती है । इसी छिय  
मगवान् ने कहा है—

અગ્નિકાયને આરંભ કરવાથી પૃથ્વીઆદિમાં આશ્રય કરીને રહેલાં સ્થાવરોં અને  
વ્રસ જીવોની વિરાધના ને પ્રકારે થાય છે, તે કહે છે—

કોઈ—કોઈ પ્રાણી જાગતી અગ્નિને સ્પર્શ કરીને સ કૌપાઈ જાય છે તેની  
પાંખો વગેરે જળી જાય છે અગ્નિમાં પડીને ને જીવ સઘાતને પ્રાપ્ત થાય છે તે  
ઝરમીથી મૂર્છિત્ત થઈ જાય છે અગ્નિમાં પડવાવાળા જીવ ને મૂર્છિત્ત થઈ જાય છે તે  
પોતાના પ્રાણ પણ જોઈ નાજે છે. અગ્નિને સમારંભ કરવાથી કેવલ અગ્નિકાયની  
વિરાધના થતી નથી, પરન્તુ સર્વ વિશાઓમાં સથાર કરવાવાળા વ્રસ અને बहुतर  
સ્થાવર જીવોની પણ हिंसा अवश्य થાય છે જો માટે ભગવાને કહ્યું છે—

“ જાયતેય ન ઇચ્છતિ, પાવગ જલઃસપ્ ।  
 તિલ્લમન્નયર મત્ય, સન્વઓવિ દુરાસય ॥ ૧ ॥  
 પાર્ઠણ પટિણ વાવિ, ઉદ્દટ અણુદિસામવિ ।  
 અદ્દે દાદિણઓ વાવિ, દદ્દે ઉત્તરઓવિ ચ ॥ ૨ ॥  
 ભૂયાણમેસમાધાઓ, દન્વવાહો ન સસઓ ।  
 ત પડવપયાવદ્દા, મજઓ કિંચિ નારમે ॥ ૩ ॥” (દશવૈ ૦ અ ૦ ૬)

છાયા—જાતતેજસ નેચ્છન્તિ, પાવક જ્વાલયિતુમ્ ।  
 તીક્ષ્ણમન્યતરત્ શસ્ત્ર, સર્વતોઽપિ દુરાસદમ્ ॥ ૧ ॥  
 પ્રાન્થ્યા પ્રતીન્થ્યા વાપિ, ઋર્ધ્વમનુદિસ્ત્રવિ ।  
 અથો દક્ષિણતો વાપિ, દદ્દેદુત્તરતોઽપિ ચ ॥ ૨ ॥  
 ભૂતાનામેપ આધાતો, દન્વવાહો ન સશય\* ।  
 ત પ્રદીપપ્રતાનાર્થ, સયત કિચ્ચિન્નારમેત ॥ ૩ ॥

“ સાધુ અગ્નિ કો જ્વાલન કી ઇચ્છા તક નહી કરતે, ક્યોં કિં વહ એક વઢા હી તીસ્વા ગલ્લ હૈ, જો કિસી મી ઓર સે દુસ્સહ હૈ—સમી ઓર સે જ્જાતા હૈ ॥૧॥

યહ અગ્નિશક્તિ પૂર્વ સે મી ઓર પશ્ચિમ સે મી ઊપર સે મી ઓર વિદિશાઓ કી તરફ સે મી નીચે સે મી ઓર દક્ષિણ સે મી તથા ઉત્તર સે મી જ્જાતા હૈ ॥૨॥

અગ્નિ જીવોં કા ઘાતક હૈ, ઇસ મેં કોઈ સશય નહીં હૈ । સાધુ વીપક જ્જાલને તથા પ્રતાપન કે લિપ્તેં ઉસ કા જરા મી આરમ નહીં કરતે ॥૩॥ (દશવૈ અધ્ય ૬)

ફિર મી કદા હૈ—

“ સાધુ અગ્નિને સળગાવવાની ઇચ્છા સુધી કરતા નથી, કારણ તે એક મહાન વીક્ષુ શસ્ત્ર છે તે કાઈપણ બાબુથી દુસ્સહ છે—આરેય તરફથી બાળે છે ” ॥ ૨ ॥

આ અગ્નિશસ્ત્ર પૂર્વથી પણ અને પશ્ચિમથી પણ ઉપરથી અને વિદિશાઓની તરફથી પણ નીચેથી અને દક્ષિણથી પણ અને ઉત્તરથી પણ બાળે છે ॥ ૨ ॥

અગ્નિ જીવોના ઘાતક છે, તેમા કાઈ પણ સશય નથી સાધુ હીપક સળગાવવા તથા તાપવાને માટે તેના જરા પણ આરમ કરતા નથી” ॥ ૩ ॥ (કથાને અધ્ય. ૬)

કરી પણ કહે છે—



“દો પુરિસા સરિસયયા અધમન્નેદિં સદ્દિ અગ્નિકાયં સમારંમંતિ, તત્ત્વ ણ ઇગે પુરિસે અગ્નિકાય સમુજ્જાલેતિ, ઇગે વિજ્ઞાવેતિ, તત્ત્વ ન કે પુરિસે મહાકર્મયરાણ ? કે પુરિસે અપ્પકર્મયરાણ ? ગોયમા ! જે ઉજ્જાલેતિ સે મહાકર્મયરાણ, જે વિજ્ઞાવેતિ સે અપ્પકર્મયરાણ ” ॥

છાયા—દ્રૌ પુરુષૌ મહશ્વયસ્કૌ અન્યાન્યાભ્યાં સાર્દ્દમ્ અગ્નિકાય સમારમેતે, તન્ન સ્વલ્લ ઇકઃ પુરુષ અગ્નિકાય સમુજ્જ્વાલયતિ, ઇકો વિધ્યાપયતિ, તન્ન સ્વલ્લ કઃ પુરુષઃ મહાકર્મતરકઃ ? કઃ પુરુષઃ અલ્પકર્મતરકઃ ? । ગૌતમ ! યઃ (અગ્નિ) ઉજ્જ્વાલયતિ સ મહાકર્મતરકઃ, ય (અગ્નિ) વિધ્યાપયતિ સ અલ્પ કર્મતરક (મગવતી સૂત્ર) ॥ સૂ. ૧ ॥

તદેવમગ્નિકાયહિંસયા ષહુતરજીવોપમર્મન મવતીતિ વિદિત્વા ત્રિકરણ-ત્રિયોગૈઃ કૃતકારિતાનુમોદિતૈશ્ચાગ્નિશ્ચસમારમ્મો ષર્વનીય ઇત્યાહ—‘ઇત્ય સત્ય’ ઇત્યાદિ ।

“સમાન ઉચ્ચ ઘાટે દો પુરુષ પરસ્પર અગ્નિકાય કા આરમ કરતે હૈં । ઇક પુરુષ અગ્નિકાય કો બ્લાતા હૈં ઔર ઇક બુઝાતા હૈં । ઇન મેં સે કૌન—સા પુરુષ મહાકર્મ બૌષતા હૈં । ઔર કૌન અલ્પકર્મ બૌષતા હૈં । હૈં ગૌતમ ! જો અગ્નિ બ્લાતા હૈં વહ મહા કર્મ બૌષતા હૈં ઔર જો અગ્નિ બુઝાતા હૈં વહ અલ્પ કર્મ બૌષતા હૈં” (મગવતીસૂત્ર) ॥ સૂ. ૧॥

ઇત પ્રકાર અગ્નિકાય કી હિંસા હોતી હૈ, યહ બાનકર ટીન કરણ, ટીન યોગ સે, તથા કૃત, કારિત ઔર અનુબોધના સે અગ્નિશક્તિ કા સમારમ ત્યાગ દેના વાહિય, ઘટી વાત કહતે હૈં—‘ઇત્ય સત્ય’ ઇત્યાદિ ।

“સમાન ઉમરવાળા બે પુરુષ પરસ્પર અગ્નિકાયને આરમ કરે છે એક પુરુષ અગ્નિકાયને સળગાવે છે બાળે છે અને એક બુઝાવે—બ્લાવે છે તે બન્નાથી કયો પુરુષ મહા કર્મ બાંધે છે અને કોણ અલ્પ કર્મ બાંધે છે ? હૈં ગૌતમ ! જે અગ્નિ સળગાવે છે—બાળે છે તે મહા કર્મ બાંધે છે અને જે અગ્નિ બુઝાવે છે તે અલ્પ કર્મ બાંધે છે ” (મગવતી સૂત્ર) (સ. ૬)

આ પ્રમાણે અગ્નિકાયની હિંસાથી ઘણા પ્રકારના છવોની હિંસા વાચ છે એ બાબી કરાને ત્રણ કરણ, ત્રણ યોગથી તથા કરણ, કરણવત્ અને અનુભાવનાથી અગ્નિશક્તિના સમારમ ત્યાગ દેવો નોઇએ, એજ વાત કહે છે—‘ઇત્ય સત્ય’, ઇત્યાદિ.

મૂલ્ય—

एतत् सत्थ समारंभमाणस्स इहेते आरम्भा अपरिण्णाया भवति । एतत् सत्थ असमारभमाणस्स इहेते आरम्भा परिण्णाया भवति । त परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थ समारमेज्जा, नेवऽण्णेहि अगणि—सत्थ समारंभावेज्जा अगणिसत्थ समारभमाणे अण्णे न समणु जाणिज्जा जस्सेते अगणिकम्मसमारभा परिण्णाया भवति, से हु म्मुणी परिण्णायक्कम्मे—त्ति वेमि ॥ सू० १० ॥

॥ चउत्थो उहेसो समचो ॥ १-४ ॥

છાયા—

अत्र शस्त्र समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति । अत्र शस्त्रसमारभमाणस्य इत्येते आरम्भा परिज्ञाता भवन्ति । तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमग्निशस्त्र समारमेत नैवान्यैरग्निशस्त्र समारम्भयेत्, अभिशस्त्र समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात् । यन्त्येते अभिकर्मसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति, न खलु मुनि परिज्ञातकमा—इति ब्रवीमि ॥ सू० १० ॥

॥ चतुर्थ उदेशः समाप्तः ॥ १-४ ॥

ટીકા—

अत्र=अस्मिन् अग्निकाये, शस्त्र द्रव्यभावरूपं प्रायुक्त समारभमाणस्य=

मूलार्थ—अग्निशस्त्र का आरंभ करने वाला इन आरंभो को नहीं जानता । अग्निशस्त्र का आरंभ न करने वाला इन आरंभो को जानता है । इन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष स्वयं अग्निशस्त्र का आरंभ न करे, दूसरों से अग्निशस्त्र का आरंभ न करावे और अग्निशस्त्र का आरंभ करने वालों की अनुमोदना न करे । जो इन समारंभो का ज्ञाता होता है वही मुनि परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं (भगवान् के कथनानुसार) कहता हूँ ॥ सू० १० ॥

टीકાર્થ—અગ્નિકાય મેં દ્રવ્ય ઔર ભાવરૂપ પૂર્વોક્ત શસ્ત્ર કા વ્યાપાર કરને

મૂલાર્થ—અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળા એ આરંભોને બાબતે નથી જાણે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ નહિ કરવાવાળા એ આરંભોને બાબતે છે તેને બાબતે બુદ્ધિમાન પુરુષ સ્વયં અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ ન કરે, બીજા પાસે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે નહિ અને અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ એ આ સમારંભોના જ્ઞાતા—બાબતે કહે છે તે મુનિ પરિજ્ઞાતકર્મા છે એ પ્રમાણે હું (ભગવાનના વચનનુસાર) કહું છું (સ્વ. ૧૦)

ટીકાર્થ—અગ્નિકાયમા દ્રવ્ય અને ભાવરૂપ પૂર્વોક્ત શસ્ત્રનો વ્યાપાર (ઉપયોગ)

વ્યાપારયત', इत्येते=पचनपाचनादय आरम्भा=सावधव्यापाराः, अपरिज्ञाताः=अष्टविधकर्मबन्धकारणत्वेनापिज्ञाता भवन्ति, अग्निकाये शत्रु प्रयुक्तमानस्य परिज्ञाता अमावादिति भावः ।

अत्र=अस्मिन् અગ્નિકાયે શત્રુમ્=પૂર્વોક્તસ્વરૂપમ્, અસમારભમાણસ્ય=અપ્રયુક્તમાનસ્ય, इत्येते=पचनपाचनादयः, आरम्भाः=सावधव्यापाराः, परिज्ञाता. अपरिज्ञाता परिज्ञाताः भवन्ति, प्रत्याख्यानपरिक्षया परित्यक्ता भवन्तीत्यर्थः ।

જપરિજ્ઞાપૂર્વિકા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા યથા સમુદ્ભવતિ તથા દર્શયતિ-‘તત્ પરિજ્ઞાયે’-ત્યાદિ । તત્=અગ્નિકાયારમ્ભણં, પરિજ્ઞાય=‘કર્મબન્ધાય મક્તી’ સ્વેચ્છમથબુધ્ય, મેધાવી=હેયોપાદેયવિવેકકુશલ, સાધુમયાદાવધાનશીલ इति यावत्, નૈવ સ્વયમગ્નિશસ્ત્રં સમારમેત, નૈવાન્યૈરગ્નિશસ્ત્ર સમારમ્ભયેત્, અગ્નિશસ્ત્ર વાળે કો અર્થાત્ પચન-પાચન બાદિ પાપમય કાર્ય કરને વાળા કો યહ જ્ઞાન નહીં હોતા કિ-યહ કાર્ય બાઠ પ્રકાર કે કર્મો કે બધ કા કારણ હૈ, ક્યો કિ અગ્નિકાય કે શસ્ત્ર કા પ્રયોગ કરને વાળે મેં પરિજ્ઞા કા અભાવ હોતા હૈ ।

અગ્નિકાય મેં પૂર્વોક્ત શસ્ત્ર કા વ્યાપાર ન કરને વાળે કો સાવધ વ્યાપારો કા જ્ઞાન હોતા હૈ । વહ જપરિજ્ઞા સે ઉન્હે જ્ઞાનતા હૈ ઔર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ઉનકા ત્યાગ કર દેતા હૈ ।

જપરિજ્ઞા કે વાક્ય પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા કિસ પ્રકાર ઉત્પન્ન હોતી હૈ ? સો કહેતે હૈ-અગ્નિકાય કા આરંભ કર્મબધ કા કારણ હૈ, યહ જ્ઞાનકર હેય-ઉપાદેય કે વિવેક મેં પ્રવીણ સાધુમર્યાદા કા ધ્યાન રાખને વાળા સ્વય અગ્નિશસ્ત્ર કા આરમ નહીં કરતા, દૂરો સે

કરવાવાળાને બચાવ-પચન-પાચન બાદિ પાપમય કાર્ય-કરવાવાળાને જો જ્ઞાન હોતું નથી કે આ કાર્ય બાઠ પ્રકારનાં કર્યોના બધનું કારણ છે કારણ કે અગ્નિકાયનાં શસ્ત્રનો પ્રયોગ કરવાવાળાઓમાં પરિજ્ઞાનો અભાવ હોય છે

અગ્નિકાયમાં પૂર્વોક્ત શસ્ત્રનો વ્યાપાર-ઉપયોગ નહિ કરવાવાળાને સાવધ વ્યાપારનું જ્ઞાન હોય છે તે સપરિજ્ઞાથી તેને બાણ છે, અને પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી તેનો ત્યાગ કરી આપે છે

સપરિજ્ઞાની પછી પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞા કયા પ્રકારે ઉત્પન્ન થાય છે ? તે કહે છે:-અગ્નિકાયનો આરંભ કર્મબધનું કારણ છે જો પ્રમાણે બાણીને હેય-ઉપાદેયના વિવેકમાં પ્રવીણ-કુશળ સાધુમર્યાદાનું ધ્યાન રાખવાવાળા પોતે અગ્નિશસ્ત્રનો આરંભ કરતા નથી; બીજા પાસે આરંભ કરાવતા નથી, અને આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન

समारम्भमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात्=नानुमोदयेत् । शेष सुगमम् । यस्यैते  
अग्निकर्मसमारम्भाः=कर्मणां समारम्भाः कर्मसमारम्भाः, अग्ने कर्मसमारम्भाः अग्निकर्म-  
समारम्भाः=अग्निं निमित्तीकृत्य कर्मकारणीभूताः उपमर्दनव्यापारा इत्यर्थः, परिज्ञाताः  
=सर्वथा ज्ञाताः, ज्ञपरिज्ञया धन्यकारणत्वेन विदिताः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि-  
वर्जिता भवन्ति स एव परिज्ञातकर्मा-परिज्ञातानि=ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतो विपाकतस्त-  
दुपादानतश्चावगतानि प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिस्थितानि कर्माणि=सावधव्यापाराः  
येन-स परिज्ञातकर्मा=मनोवाक्यैः सकलसावधकरणकारणानुमतिनिवृत्तौ मुनिर्मवती-  
त्यर्थः । 'इति ब्रवीमि' अस्य व्याख्यानं पूर्ववद् बोध्यम् ।

॥ इत्याचाराङ्गसूत्रस्याऽऽचारचिन्तामणिटीकाया प्रथमाध्ययने  
चतुर्योद्देशकः सपूर्ण ॥ १-४ ॥

आरंभ नहीं कराता और आरम्भ करने वालों की अनुमोदना नहीं करता । शेष भाग सुगम है ।

अग्नि के निमित्त से होने वाला तथा कर्मबन्ध के कारणभूत यह सब पापमय  
व्यवहार जिस ने कर्मबन्ध के कारण ज्ञपरिज्ञा से समझ कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग  
दिये हैं वही परिज्ञातकर्मा मुनि है । जिसने इन व्यापारों का स्वरूप, फल और कारण  
ज्ञपरिज्ञा से जान लिया है तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग कर दिया है उसे परिज्ञात  
कर्मा मुनि कहते हैं । ऐसा मुनि मन, वचन काय से समस्त सावध के करने, कराने और  
अनुमोदन करने का त्यागी होता है । 'इति ब्रवीमि' की व्याख्या पहले के समान समझ  
लेना चाहिए ॥ सू० १० ॥

श्रीआचाराङ्गसूत्रकी 'आचारचिन्तामणि' टीकाके हिन्दी अनुवादमें  
प्रथम अध्ययनका चौथा उद्देश सम्पूर्ण ॥ १-४ ॥

आपत्ता नहीं शेष-आधीना भाग सुगम है

अग्निना निमित्तशी धवावाणा तथा कर्मबन्धना कारणभूत आ सर्व पापमय  
व्यवहारानां जेसे कर्मबन्धना कारणे ज्ञपरिज्ञाशी समझने प्रत्याख्यानपरिज्ञाशी त्याग  
करी आये। छे तेने परिज्ञातकर्मा मुनि कहे छे जेवा मुनि-मन, वचन, कायाशी  
समस्त सावधने करवुं, कराववुं अने अनुमोदन करवु तेना त्यागी होय छे 'इति  
ब्रवीमि'नी व्याख्या प्रथमना समान समझ लेवी जेधजे (सू. १०)

श्री आचारराजसूत्रनी 'आचारचिन्तामणि' टीकाना  
गुजराती-अनुवादभा प्रथम अध्ययनने  
चौथा उद्देशक संपूर्ण. (१-४)

અય પચ્ચમોદ્દેશક—

ચતુર્થોદ્દેશોઽગ્નિકાયસ્વરૂપં મુનિત્વપ્રાપ્તયે પ્રતિવોધિતમ્ । સામ્પત્ત તદર્થમેવ  
ક્રમપ્રાપ્તવાયુકાયમતિવોધનાવસરે વનસ્પતિકાયજીવસ્વરૂપ પ્રતિવોધયિતુમામઃ પચ્ચમો-  
દ્દેશકમુપક્રમતે—‘ત ણો’ . ઇત્યાદિ ।

નનુ ક્રમપ્રાપ્તવાયુકાયમતિવોધન કય ન પ્રક્રમ્યતે ? ઉચ્યતે—વાયુકાય  
પ્રત્યક્ષતયા દૃષ્ટિગોચરો ન ભવતિ, અતસ્તત્ર શ્રદ્ધા શ્વેતિ નોદેતું પ્રભવતિ, પૃથ્વીકાય-  
કેન્દ્રિયજીવસ્વરૂપ પ્રતિવોધ્ય તુ મુતરાં વાયુકાયો વિજ્ઞાસ્યતે, અતઃ  
સ એવ ક્રમો ગુરુમિરુપાદેયો ભવતિ, યેન જીવાદિતત્ત્વવિજ્ઞાનાય શિષ્યાઃ

પચ્ચમ ઉદ્દેશક—

ચૌથે ઉદ્દેશ મેં સાધુતા પ્રાપ્ત કરને કે લિપ્ અગ્નિકાય કા સ્વરૂપ સમસામા છે ।  
હસી કે લિપ્ ક્રમ કે અનુસાર વાયુકાય કા સ્વરૂપ સમસાને કે પ્રસંગ મેં વનસ્પતિકાય કા  
સ્વરૂપ વતલાન કે લિપ્ પાંચવાં ઉદ્દેશ આરમ કરતે હે—‘ત ણો’ ઇત્યાદિ ।

પ્રશ્ન—ક્રમ કે અનુસાર વાયુકાય કા સ્વરૂપ કયો નહીં વતલાયા ગયા છે ? જોર  
વાયુકાય કો છોડકર વનસ્પતિકાય કે વિવેચન કા ઉદ્દેશ્ય કયા છે ?

ઉત્તર—વાત યહ છે કિ વાયુકાય નેત્રો સે પ્રત્યક્ષ દિસાઈ નહીં દેતા—તિર્ક  
સ્પર્શેન્દ્રિય સે ઠસ કી પ્રતીતિ હોતી છે । હસ કારણ ઠસ કે વિષય મેં જલ્દી શ્રદ્ધા  
નહીં હોતી । હાં, પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિય જીવો કા સ્વરૂપ સમસા હેને પર વાયુકાય  
સહજ હી સમસા મેં આ જામગા । ગુરુજન વહી ક્રમ કામ મેં જાતે હેં જિસ સે શિષ્ય જીવાદિ

પચ્ચમ ઉદ્દેશક—

ચોથા ઉદ્દેશકમાં સાધુતા પ્રાપ્ત કરવાને માટે અગ્નિકાયનું સ્વરૂપ સમજાવ્યું  
છે આ માટેજ ક્રમ અનુસાર વાયુકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવાના પ્રસંગે વનસ્પતિકાયનું  
સ્વરૂપ બતાવવાને માટે પાંચમા ઉદ્દેશકનો આરંભ કરે છે—‘ત ણો’ ઇત્યાદિ

પ્રશ્ન—ક્રમ પ્રમાણે વાયુકાયનું સ્વરૂપ શા માટે બતાવ્યું નથી ? અને વાયુકાયને  
છોડીને વનસ્પતિકાયના વિવેચનમાં કયો ઉદ્દેશ્ય છે ?

ઉત્તર—વાત જો છે કે—વાયુકાય નેત્રથી પ્રત્યક્ષ જોવામાં આવતો નથી. માત્ર  
સ્પર્શેન્દ્રિયથી તેની પ્રતીતિ થાય છે આ કારણથી તેના વિષયમાં જલ્દી શ્રદ્ધા થતી નથી.  
હા, પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિય જીવોનું સ્વરૂપ સમજાવી શકી વાહી વાયુકાય સહજ  
સમજવામાં આવી જશે. ગુરુજન આ ક્રમને કામમાં લાવે છે, જે વડે કરી શિષ્ય જીવાદિ

સ્વયમેવોત્સહન્તે, તસ્માદ્ વાયુકાયસ્વરૂપમનભિધાય વનસ્પતિકાયઃ પ્રથમ પ્રસ્તૂયતે—  
'ત જો,' ઇત્યાદિ ।

યદ્વા-અનન્તરચતુર્થોદ્દેશેઽગ્નિકાયો દીર્ઘલોકશસ્ત્રશબ્દેનાદી પ્રતિવોધિતઃ ।  
તત્ર દીર્ઘલોકશબ્દાર્થો વનસ્પતિરિત્યાશય સમધિગમ્યાગ્નિકાયપ્રકરણસમાપ્ત્ય-  
નન્તર પ્રથમ વનસ્પતિકાયસ્વરૂપં વિજ્ઞાતુકામસ્ય શિષ્યસ્ય પ્રતિવોધનાય પચ્ચમં  
વનસ્પતિકાયોદ્દેશ કથયતિ—'ત જો ' ઇત્યાદિ ।

યથા વનસ્પતિકાયોપમર્દનનિવૃત્ત્યાઽનગારત્વં લભ્યતે, ત પ્રકારં નિર્દિશતિ—  
'ત જો ' ઇત્યાદિ ।

તત્ત્વો કે જ્ઞાન મેં ઉત્સાહિત હોં । યહી કારણ હૈ કિ પહેલે વાયુકાય કા સ્વરૂપ ન કહ કર  
વનસ્પતિકાય કા વર્ણન ક્રિયા જાતા હૈ—'ત જો' . ઇત્યાદિ ।

અથવા—ચૌથે ઉદ્દેશ મેં અગ્નિકાય કો 'દીર્ઘલોકશસ્ત્ર' બતલાયા હૈ । દીર્ઘલોકકા  
અર્થ વનસ્પતિકાય હૈ, યહ આશય જ્ઞાનકર અગ્નિકાય કે પ્રકરણ કે પશ્ચાત્ હી શિષ્ય કો  
વનસ્પતિકાય કા સ્વરૂપ જ્ઞાનને કી ઇચ્છા હોના સ્વાભાવિક હૈ । વિજ્ઞાસા કે અનુરૂપ  
દિયા હુમા ઉપદેશ હી અધિક સફલ હોતા હૈ, અત શિષ્ય કી વિજ્ઞાસા વૃત્ત કરને કે  
છિર પાંચવેં ઉદ્દેશ મેં વનસ્પતિકાય કા કથન ક્રિયા જાતા હૈ—'ત જો' . ઇત્યાદિ ।

વનસ્પતિકાય કી હિંસા સે નિવૃત્ત હોને પર હી સાધુતા પ્રાપ્ત હોતી હૈ, વહ કિસ પ્રકાર  
પ્રાપ્ત હોતી હૈ ' સો કહતે હૈ—'ત જો ' ઇત્યાદિ ।

તત્ત્વોના જ્ઞાનમાં ઉત્સાહિત થાય આ કારણથી પ્રથમ વાયુકાયના સ્વરૂપને નહિ કહેતાં  
વનસ્પતિકાયનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે—'ત જો ' ઇત્યાદિ

અથવા—ચોથા ઉદ્દેશમાં અગ્નિકાયને 'દીર્ઘલોકશસ્ત્ર' તરીકે બતાવ્યું છે.  
હીંસાથી અર્થ વનસ્પતિકાય છે; એ આશયને સમજાવે અગ્નિકાયના પ્રકરણની પછીજ  
શિષ્યને વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપને જાણવાની ઇચ્છા હોય-થવી તે સ્વાભાવિક છે જ્ઞાસાને  
અનુરૂપ આપેલો ઉપદેશજ અધિક સફલ થાય છે, એ કારણથી શિષ્યની જ્ઞાસા વૃત્ત  
કરવાને માટે પાંચમા ઉદ્દેશમાં વનસ્પતિકાયનું વિવેચન કરવામાં આવે છે—'ત જો ' ઇત્યાદિ

વનસ્પતિકાયની હિંસાથી નિવૃત્ત થયા પછીજ સાધુતા પ્રાપ્ત થાય છે, તે કયા  
પ્રકારે પ્રાપ્ત થાય છે તે કહે છે—'ત જો ' ઇત્યાદિ

મૂલમ્—

તં નો કરિસ્સામિ સમુદ્ધાપ મત્તા મદમ, અમય વિદિત્તા ત જો નો કરપ,  
પસોવરણ પસ્યોવરણ, પસ અણગારેત્તિ પધુચ્ચઠ ॥ સુ. ૧ ॥

છાયા—

ત નો કરિષ્યામિ સમુત્થાય મત્વા મતિમાન્, અમય વિદિત્વા ત યો નો કુર્વાત્,  
અપ ઉપરતઃ અપોપરતઃ, અપઃ અનગાર ઇતિ પ્રોચ્યતે ॥ સુ. ૧ ॥

ટીકા—

મતિમાન્—મેધાવી અમણનિર્ગન્યાદિદેશનાઅમણસજાતહેયોપાદેયવિવેકના  
નિત્યર્થઃ । મત્વા=વનસ્પતિકાયસ્વરૂપં વિજ્ઞાય વિમાવયતિ—અહ સમુત્થાય  
આરમ્ભકલ્યાણાર્થમુદ્યુક્ત સન્ મધ્ય્યાં યુરીત્વા, તં=વનસ્પતિકાયસમારમ્ભં નો  
કરિષ્યામીતિ ।

મૂલાર્થ—મેધાવી પુરુષ વિચાર કરતા હૈ—મૈ આત્મકલ્યાણ કે હિપ ઉષત હોફર  
વનસ્પતિકાય કા આરંભ નહીં કરૂંગા । જો પુરુષ સંયમ કો જ્ઞાનકર આરમ નહીં કરતા હૈ  
વહી આરમ સે ઉપરત હૈ—વહી જિન શાસન મેં આરમ સે નિવૃત્ત કહલાતા હૈ । વહી અનગાર  
કહલાતા હૈ ॥ સુ. ૧ ॥

ટીકાર્થ—અમણ નિર્ગન્યા આદિ કા ઉપદેશ સુનને સે વિસે હૈય જોર ઉપાદેય કા  
વિવેક ઉત્પન્ન હો ગયા હૈ વહ વનસ્પતિકાય કા સ્વરૂપ જ્ઞાનકર હસ પ્રકાર વિચાર  
કરતા હૈ—મૈ આત્મકલ્યાણ કે હિપ ઉષત હોફર—વીક્ષા ઠેકર વનસ્પતિકાય કા આરંભ  
સમારંભ નહીં કરૂંગા ॥

મૂલાર્થ—મેધાવી પુરુષ વિચાર કરે છે—હું આત્મકલ્યાણને માટે તૈયાર થઈને  
વનસ્પતિકાએના આરંભ નહિ કરું જે પુરુષ સંયમને જાણીને આરંભ કરતા નથી  
તે આરંભથી ઉપરત છે, તેજ જિનશાસનમાં આરંભથી નિવૃત્ત કહેવાય છે, તેજ  
અનુગાર કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

ટીકાર્થ—અમણ નિર્ગન્યા આદિને ઉપદેશ સાંભળવાથી જેને હૈય અને  
ઉપાદેયને વિવેક ઉત્પન્ન થઈ જશે છે. તે વનસ્પતિકાએના સ્વરૂપને જાણીને આ  
પ્રમાણે વિચાર કરે છે—

હું આત્મકલ્યાણને માટે ઉષત—તૈયાર થઈને—વીક્ષા ઠેકર વનસ્પતિકાએના આરંભ  
સમારંભ કરીશ નહિ.

અસ્યોદ્દેશસ્ય વનસ્પતિકાયવિપયક્તયાઽત તચ્છબ્દેન વનસ્પતિકાયસમારમ્મ પરિગૃહ્યતે । અત્ર વનસ્પતિકાયસ્વરૂપવિજ્ઞાનનન્તર તત્સમારમ્મવર્જનપ્રતિજ્ઞાપ્રદર્શનેન જ્ઞાનક્રિયામ્યાં મોક્ષ ઇતિ પ્રતિષેધોઘિતમ્ । યં અમય-નાસ્તિ મયં યસ્માત્ કસ્ય ચિત્ પ્રાણિનઃ । ઇત્યમય-સર્વપ્રાણિપ્રાણપ્રાણભક્ષણ સયમ, ત-વિદિત્વા ત-વનસ્પતિકાય-સમારમ્મ નો કુર્યાત્ । એપ ઉપરતઃ=વનસ્પતિજીવવિપયે સર્વથા સમારમ્માદ્ વિનિવૃત્ત, અત્ર=અસ્મિન્ જિનશાસને ઉપરત પ્રોચ્યતે, ઇત્યન્વય । તથા એપઃ=પૂર્વોક્તલક્ષણ ઉપરત 'અનગાર' ઇતિ પ્રોચ્યતે । અનગારગુણાના સર્પૂર્ણતયા તત્ર સત્ત્વાત્, સ પવાનગારશબ્દવાચ્યોઽસ્તીતિ ભાવ ।

અથ વનસ્પતિકાયસ્ય સમ્યગ્જ્ઞાનાર્થે પ્રાગુક્તાપ્તવિધદ્વારાણિ નિરૂપણી-

યહ ઉદ્દેશ વનસ્પતિકાયસંબંધી હૈ અત યહૈ તત્' શબ્દ સે વનસ્પતિકાય કા સમારમ નિ્યા જાતા હૈ । પહેલે વનસ્પતિકાય કા જ્ઞાન હોતા હૈ ફિર ઉસકે આરમ કા ત્યાગ ક્રિયા જાતા હૈ, યહ વતલાકર સૂચના કી ગઈ હૈ કિ મોક્ષ, જ્ઞાન ઔર ક્રિયા-દેનો સે હોતા હૈ ।

જિસસે ફિસીમી પ્રાણી કો મય નહીં એસા, પ્રાણીમાત્ર કી રક્ષારૂપ સયમ અમય કહલાતા હૈ । ઉસે જ્ઞાનકર વનસ્પતિકાય કા સમારમ ન કરે । હસ પ્રકાર વનસ્પતિકાય કે આરમ સે વિરત પુરુષ જિનશાસન મેં 'ઉપરત' કહલાતા હૈ ઔર વહી ઉપરત પુરુષ અનગાર હૈ, ક્યોં કિ અનગાર કે ગુણ પૂર્ણરૂપ સે ઉસીમેં પાયે જાતે હૈ ।

વનસ્પતિકાય કા સ્વરૂપ સમ્યક્ પ્રકાર સે જ્ઞાનને કે લિપ પૂર્વોક્ત આઠ

આ ઉદ્દેશ વનસ્પતિકાયસંબંધી છે એ કારણથી અહિં 'તત્' શબ્દથી વનસ્પતિ કાયનો સમારમ દેવામા આવે છે પહેલા વનસ્પતિકાયનું જ્ઞાન થાય છે પછી તેના આરમનો ત્યાગ કરવામા આવે છે એ બતાવીને સૂચના કરવામા આવી છે કે-જ્ઞાન અને ક્રિયા, આ બન્નેથી મોક્ષ થાય છે

બેનાથી કોઈ પણ પ્રાણીને ભય થાય નહિ. એ પ્રમાણે પ્રાણીમાત્રની રક્ષારૂપ સયમ તે અભય કહેવાય છે તેને બાણીને વનસ્પતિકાયનો સમારમ કરે નહિ આ પ્રમાણે વનસ્પતિના આરમથી વિરત પુરુષ જિનશાસનમા 'ઉપરત' કહેવાય છે અને તેજ ઉપરત પુરુષ અનગાર છે કારણ કે-અણુગારના શુષ્ક પૂર્ણરૂપથી તેમાજ બેવામા આવે છે

વનસ્પતિકાયનું સ્વરૂપ સમ્યક્પ્રકારે બાણવા માટે પૂર્વોક્ત આઠ દારોનું નિરૂપણ પ્ર આ-૭૪



મૂલમ્—

તં નો કરિસ્તામિ સમુદ્ધાપ મત્તા મદમ, અમય વિદિષા ત જે નો કરણ,  
પસોવરણ પત્યોવરણ, પસ અણગારેત્તિ પવુન્નડ ॥ સુ. ૧ ॥

છાયા—

તં નો કરિષ્યામિ સમુત્થાય મત્વા મતિમાન્, અમય વિદિત્વા તં યો નો કુર્પાદ,  
પપ્ ઠપરતઃ અપ્રોપરતઃ, ઇપઃ અનગાર ઇતિ પ્રોચ્યસે ॥ સુ. ૧ ॥

ટીકા—

મતિમાન્=મેઘાવી શ્રમણનિર્ગન્થ્યાદિદેશનાથમણસજાતદેયોપાદેયવિવેકના  
નિત્યર્થઃ । મત્વા=વનસ્પતિકાયસ્વરૂપ વિજ્ઞાય વિમાવયતિ—અહં સમુત્થાવ  
આત્મકલ્યાણાર્થમુચ્ચક્ત સન્ મદ્યજ્યાં ઘૃહીત્વા, ત=વનસ્પતિકાયસમારમ્મં નો  
કરિષ્યામીતિ ।

મૂલાર્થ—મેઘાવી પુરુષ વિચાર કરતા હૈ—મૈ આત્મકલ્યાણ કે લિપ ઉચત હોક્કર  
વનસ્પતિકાય કા આરમ નહીં કરૂંગા । જો પુરુષ સંયમ કો જ્ઞાનકર આરમ નહીં કરતા હૈ  
વહી આરમ સે ઠપરત હૈ—વહી બિન શાસન મૈ આરમ સે નિવૃત્ત કહ્લજતા હૈ । વહી અનગાર  
કહ્લજતા હૈ ॥ સુ. ૧ ॥

ટીકાર્થ—શ્રમણ નિર્ગન્થ આદિ કા ઉપદેશ સુનને સે કિસે હેય જૌર ઉપાદેય કા  
વિવેક ઉત્પન્ન હો ગયા હૈ વહ વનસ્પતિકાય કા સ્વરૂપ જ્ઞાનકર હસ પ્રકાર વિચાર  
કરતા હૈ—મૈ આત્મકલ્યાણ કે લિપ ઉચત હોક્કર—વીક્ષા હેકર વનસ્પતિકાય કા આરમ  
સમારમ નહીં કરૂંગા ॥

મૂલાર્થ—મેઘાવી પુરુષ વિચાર કરે છે—હું આત્મકલ્યાણ માટે તૈયાર થઈને  
વનસ્પતિકાયને આરામ નહિ કરું જે પુરુષ સંયમને બાંધીને આરામ કરતા નથી  
તે આરામથી ઉપરત છે, તેજ બિનશાસનમાં આરામથી નિવૃત્ત ઠહેલાય છે, તેજ  
અનગાર ઠહેલાય છે ॥ ૧ ॥

ટીકાર્થ—શ્રમણ નિર્ગન્થ આદિને ઉપદેશ સાંભળવાથી જેને હેય અને  
ઉપાદેયને વિવેક ઉત્પન્ન થઈ ગયો છે તે વનસ્પતિકાયના સ્વરૂપને બાંધીને આ  
પ્રમાણે વિચાર કરે છે—

હું આત્મકલ્યાણને માટે ઉચત—તૈયાર થઈને—વીક્ષા હોઈને વનસ્પતિકાયને આરામ  
સમારામ કરીશ નહિ.

તથા-દૃષ્ટા' અવ્યક્તોપયોગમુલાદિમન્ત', અવ્યક્તચેતનાવત્તાત્, મુપ્તમૂર્ચ્છિત-  
પુરુષવત્ । અત્ર વનસ્પતીનાં દૃશ્યત્વહેતુના જીવશરીરત્વ સિદ્ધયતિ, તતશ્ચ સચિત્ત-  
ત્વમ્ । અપરશ્ચ-દૃષ્ટા. સચેતના', સર્વત્વગપહરણે મરણાત્, અજ્ઞવત્ । વનસ્પતિ-  
કાયસ્ય સચેતનત્વમગ્રેડપિ સાધયિષ્યતે-‘સે વેમિ-ઈમપિ જાઘમ્મય ઇયપિ  
જાઘમ્મય ’ ઇત્યત્ર ।

યદ્વા—અવ્યક્તોપયોગાદીનિ કપાયપર્યન્તાનિ જીવલક્ષણાનિ પૃથિવી-

ઉપયોગ (ચેતના) ઔર સુખ આદિ સે યુક્ત હૈ, કયો કિ उन में अव्यक्त चेतना हૈ, जो अव्यक्त  
चेतनावाला होता है वह अव्यक्त चेतनावाला और सुख आदि वाला होता है, जैसे सुप्त  
या मूर्च्छित पुरुष ।

इस प्रकार ‘दृश्यत्व’ हेतु से सिद्ध होता है कि—वनस्पति, जीव का शरीर है और जीव  
का शरीर होने के कारण सचित्त भी है । इसके अतिरिक्त और भी प्रमाण है । जैसे दृष्ट  
चेतनावान् है कयो कि उनकी सारी त्वचा (छाल) हटाने पर उनकी मृत्यु हो जाती है,  
सारी त्वचा हटाने पर जिस की मृत्यु हो जाती है वह सचेतन ही होता है, जैसे बकरा ।  
वनस्पतिकाय को सचेतनता आगे भी—‘से वेमि-ईमपि जाइधम्मय एयपि जाइधम्मय’  
इस सूत्र की व्याख्या करते हुए सिद्ध की जायगी ।

अथवा—अव्यक्त उपयोग से लेकर कपાયपर्यन्त जीव के जो लक्षण पૃથ્વી

(ચિત્તા) અને સુખ આદિથી મુક્ત છે, કેમકે તેમાં અવ્યક્ત ચેતના છે. જે અવ્યક્ત  
ચેતનાવાળા હોય છે તે અવ્યક્ત ચેતનાવાળા અને સુખ આદિવાળા હોય છે જેમ સુતેલા  
અથવા મૂર્ચ્છિત પુરુષ. આ પ્રકારે ‘દૃશ્યત્વ’ હેતુથી સિદ્ધ થાય છે કે—વનસ્પતિ જીવનું  
શરીર છે અને જીવનું શરીર હોવાના કારણે સચિત્ત પણ છે એની સાથે બીજું પણ  
પ્રમાણ છે જેમકે—વૃક્ષ ચેતનાવાન્ છે કેમકે તેની તમામ આમડી-છાલ કાઢી નાખવાથી  
તેનું મૃત્યુ થઈ જાય છે; તમામ છાલ કાઢી નાખવાથી જેનું મૃત્યુ થઈ જાય છે તે ચેતન  
જ હોય છે જેવી રીતે બકરા વનસ્પતિકાયની ચેતનતા આગળ પણ—‘સે વેમિ-ઈમપિ  
જાઘમ્મય ઇયપિ જાઘમ્મય’ આ સૂત્રની વ્યાખ્યા કરતી વખતે સિદ્ધ કરવામાં આવશે.

અથવા—અવ્યક્ત ઉપયોગથી લઇને કપાય સુધી જીવના જે લક્ષણ પૃથ્વીકાયના

યાનિ, તપ્ત લક્ષણ-પ્રરૂપણા-શ્વસ્રો-પમોગદ્વારાણિ પ્રદર્શયામોઽસ્મિન્નુદેશે, ગ્રેષાનિ તુ પૃથિવીકાયવદધગન્તવ્યાનિ ।

### લક્ષણદ્વારમ્—

નનુ કયમિદં વિજ્ઞાયતે-ધનસ્પતિકાયઃ સચિત્તોઽસ્તીતિ ? ઉચ્યતે-યુક્ત્યાગમા-  
ભ્યાં ધનસ્પતિકાયસ્ય સચિત્તત્ત્વં નિર્ણયતે । તથાદિ—

વૃક્ષલતાદયો જીવશરીરાણિ દૃશ્યત્વાત્, કરચરણાદિસમુદાયવત્ । તથા વૃક્ષા-  
દયઃ કદાચિત્ સચિત્તા અપિ, જીવશરીરત્વાત્, કરચરણાદિસમુદાયવદેવ ।

દ્વારાં કા નિરૂપણ કરનાં જાણિય । તેમને જે લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શક્તિ જોર ઉપયોગ  
દ્વારે યહાં વસતાં છે । શેષ દ્વારે પહેલે કહે પૃથ્વીકાય કે સમાન સમક્ષ લેને જાણિય ।

### લક્ષણદ્વાર—

જાણના—ધનસ્પતિકાય સચિત્ત છે, યહ કેસે જાના જા સક્તા છે :

સમાધાન—યુક્તિ જોર આગમ સે ધનસ્પતિકાય કી સચિત્તતા કા નિર્ણય  
હોતા છે । વહ હસ પ્રકાર—વૃક્ષ જોર લતા આદિ જીવ કે શરીર છે, ક્યો કિ જે દૃશ્ય છે ।  
જો દૃશ્ય હોતે છે જે સર્વ જીવ કે શરીર હોતે છે, જૈસે હાથ—પૈર આદિ । તથા—વૃક્ષ  
આદિ કમી—કમી સચિત્ત થી હોતે છે, ક્યો કિ જે જીવ કે શરીર છે, જો જીવ કે શરીર  
હોતે છે જે સચિત્ત હોતે છે, જૈસે હાથ—પૈર આદિ કા સમૂહ । તથા—વૃક્ષ અવ્યક્ત

કરવું બોધવું, તેમજી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શક્તિ અને ઉપયોગ દ્વારે જાણિ બતાવે છે.  
શેષ—આકીના દ્વારે પ્રથમ પૃથ્વીકાયમાં જે કદાં છે તેના પ્રમાણે સમજાવેલાં બોધવું.

### લક્ષણદ્વાર—

શ કા—ધનસ્પતિકાય સચિત્ત છે, જે કેવી રીતે જાણી શકાય છે ?

સમાધાન—યુક્તિ અને આગમથી ધનસ્પતિકાયની સચિત્તતાનો નિર્ણય થઈ  
શકે છે તે આ પ્રમાણે છે—વૃક્ષ અને લતા આદિ જીવના શરીર છે, જેમકે તે દૃશ્ય છે. જે  
દૃશ્ય હોય છે તે સર્વ જીવના શરીર હોય છે જેવી રીતે કાચ—પગ આદિ તથા વૃક્ષ આદિ  
કોઈકોઈ વખત સચિત્ત પણ હોય છે, કારણકે તે જીવના શરીર છે જે જીવના શરીર  
હોય છે તે સચિત્ત હોય છે જેમ કાચ—પગ આદિનો સમૂહ. તથા વૃક્ષ અવ્યક્ત ઉપયોગ

પલ્લવફલકુસુમાદિરૂપો વનસ્પતિરપિ છેદનાદિના મ્લાયતિ, તસ્માદ્ વનસ્પતિ સચેતન इति सिद्धम् ।

યદ્વા—વનસ્પતિર્જીવ', ચેતનાવત્ત્વાત્, મનુષ્યવત્, યથા મનુષ્યસ્ય શબ્દાદિગ્રહણશક્તિરૂપા ચેતના, તથૈવ વનસ્પતૌ સમુપલમ્બ્યતે । તથાદિ—વકુલાદયો ગીત—મુરાગણ્ઢૂપ—કામિનીચરણતાઢનાદિભિઃ. ફલન્તિ, શમીલજ્જાલુમમૃતિપુ ચ સ્વાપાવગોષસકોચાદયો દૃશ્યન્તે । શાપાનુગ્રહામ્યામાન્તરૌ સકોચવિકાશૌ સમસ્ત વનસ્પતીના ભવતઃ । ઉક્તઞ્ચ—

જાતા હૈ उसी प्रकार पत्ता, फल, फूल, आदि वनस्पति भी छेदन—मेदन आदि से मुरझा जाती है, इससे सिद्ध होता है कि वनस्पति सचेतन है ।

અથવા—વનસ્પતિ જીવ હૈ, ક્યૌં કિ ચેતનાવાલી હૈ, જૈસે મનુષ્ય । જૈસે—મનુષ્ય આદિ મેં શબ્દ આદિ કો ગ્રહણ કરને કી શક્તિરૂપ ચેતના હૈ उसी प्रकार वनस्पति में भी शब्द आदि को ग्रहण करने की शक्तिरूप चेतना पाई जाती है । વકુલ આદિ કે વૃક્ષ ગીત, મદિરા કા ફુલ્લા, કામિની કે પૈર કે તાઢન આદિ સે ફલ્તે હૈં । શમી તથા લગ્ગાવતી આદિ મેં સ્વાપ, (મોના) અવગોષ (ઝાગના) ઔર સકોચ (સિકુઢના) દેખા જાતા હૈ । શાપ ઔર અનુગ્રહ સે સવ વનસ્પતિ મેં સંકોચ ઔર વિકાસ હોતા હૈ । કહા બી હૈ —

આદિથી ઠરમાઈ જાય છે સુકાઈ જાય છે, આ ઠારણથી સિદ્ધ થાય છે કે વનસ્પતિ સચેતન છે

અથવા—વનસ્પતિ જીવ છે, કેમકે—ચેતનાવાળી છે, જેમ મનુષ્ય જેવી રીતે મનુષ્ય આદિમાં શબ્દ આદિને ગ્રહણ કરવાની શક્તિરૂપ ચેતના છે તે પ્રમાણે વનસ્પતિમાં પણ શબ્દ આદિને ગ્રહણ કરવાની શક્તિરૂપ ચેતના જોવામાં આવે છે બકુલ આદિ વૃક્ષ ગીત, મદિરાના ગરૂષ (કોગલા), શીના પગથી થયેલુ તાઢન આદિથી કળે છે શમી તથા લગ્ગાવતી (રીસામણી) આદિમાં સુઈ જવું જાગવું અને સંકોચાઈ જવું વગેરે જોવામાં આવે છે. શાપ અને અનુગ્રહથી સવ વનસ્પતિમાં સંકોચ અને વિકાસ થાય છે કહ્યું છે કે -

કાયોદેશે પ્રાગમિદિતાનિ, સેવા જીવલક્ષણાનાં વનસ્પતિકાયેઽપિ સદ્ભાવાદ વનસ્પતિઃ સચિત્તોઽસ્તિ, મનુષ્યવદિતિ નિર્ણયતે ।

અર્થ—વનસ્પતિઃ સચેતન, ચાલાચરત્વસાદર્શનાત્, અનુકૂલ-પ્રતિકૂલાહારાદિના પુષ્ટિકાર્યાદિદર્શનાત્, છેદનખેદનાદિના મ્લાનતાદિદર્શનાત્ મનુષ્ય-શરીરવત્ ।

યથા મનુષ્યશરીરમનુકૂલેનાહારાદિના પુષ્યતિ, તત્પ્રતિકૂલેન તદભાવેન ચ શુષ્યતિ, એવ વનસ્પતિરપ્યનુકૂલજલવાતાદિભિઃ પુષ્યતિ; પ્રતિકૂલજલવાતાદિભિઃ શુષ્યતિ । યથા યા છેદનાદિના મનુષ્યશરીરં હસ્તાદિ મ્લાયતિ, તથા

કાય કે ઉદેશ મેં પહેલે કહે ગયે હૈં કે સર્વ વનસ્પતિકાય મેં મી પાયે જાતે હૈં । હસ કારણ વનસ્પતિ મનુષ્ય આદિ કે સમાન સચિત્ત હૈ ।

તથા—વનસ્પતિ સચેતન હૈ, ક્યાં કિં ઉસ મં ચાલ્યાવસ્થા આદિ દેલી જાતી હૈં, અનુકૂલ આહાર સે પુષ્ટિ ઓર પ્રતિકૂલ આહાર સે કૃશતા આદિ દિસાઈ દેતી હૈ, ઓર છેદન-ખેદન આદિ કરને સે મુરખાના ચગૈરહ દેસા જાતા હૈ, જૈસે મનુષ્ય કા શરીર ।

તાત્પર્ય મહ હૈ કિં જૈસે મનુષ્ય કા શરીર અનુકૂલ આહાર આદિ સે પુષ્ટ હોતા હૈ ઓર પ્રતિકૂલ આહાર સે યા આહાર કે અમાય સે સૂક્ષ્મ જાતા હૈ, ઉસી પ્રકાર વનસ્પતિ મી અનુકૂલ જલ-વાયુ આદિ સે પુષ્ટ હોતી હૈ ઓર પ્રતિકૂલ જલ-વાયુ આદિ સે સૂક્ષ્મ જાતી હૈ । અથવા જૈસે છેદન-ખેદન કરને સે મનુષ્ય કા શરીર હાથ આદિ મુરખા ઉદેશમા પહેલા ઠહ્યા છે, તે સર્વ વનસ્પતિકાયમાં પણ જોવામા આવે છે યા કારણથી વનસ્પતિ મનુષ્ય આદિના સમાન સચિત્ત છે

તથા—વનસ્પતિ સચેતન છે, કેમકે તેમા બાહ્યાવસ્થા આદિ અવસ્થાઓ જોવામા આવે છે અનુકૂલ આહારથી પુષ્ટિ અને પ્રતિકૂલ આહારથી કૃશતા-દુબલતા આદિ દેખાય છે, અને છેદન, ખેદન આદિ કરવાથી મુરખાઈ જવું-કરમાઈ જવું સૂક્ષ્મ કે ખિન્ન થવાપણું વગેરે જોવામા આવે છે જેવી રીતે મનુષ્યનું શરીર

તાત્પર્ય એ છે કે—જેમ મનુષ્યનું શરીર અનુકૂલ આહાર આદિથી પુષ્ટ થાય છે, અને પ્રતિકૂલ આહારથી અથવા તેા આહારના અભાવથી મુકાઈ જાય છે તેવી રીતે વનસ્પતિ પણ અનુકૂલ જલ, વાયુ આદિથી પુષ્ટ થાય છે, અને પ્રતિકૂલ જલ વાયુ આદિથી મુકાઈ જાય છે અથવા જેવી રીતે છેદન-ખેદન કરવાથી મનુષ્યશરીરના હાથ-પગ આદિ કરમાઈ જાય છે તે પ્રમાણે પાંદડા, ફલ, ફૂલ, આદિ વનસ્પતિ પણ છેદન-ખેદન

દૃક્ષલતાદય' સકોચમાપદ્યન્તે, સ્તુતિવાક્યૈશ્વ પ્રવર્ધન્તે, વિશ્વસન્તિ ચેતિ વનસ્પતીના સચેતનત્વે નાસ્તિ કેપાશ્ચિદ્ વિવાદ ।

યે તુ સૂક્ષ્મા વનસ્પતિકાયાસ્તે ધનુષા નૈવ દૃશ્યન્તે, અતસ્તેષાં સચિત્તત્વં મગવદ્ધચનમાશ્રવગમ્યમિતિ તત્રાપિ શ્રદ્ધા કરણીયૈવ ।

પ્રરૂપણાદ્વારમ્—

ધનસ્પતિજીવા દ્વિવિધા—સૂક્ષ્મવાદરમેદાત્ । સૂક્ષ્મા સર્વલોકે કજ્જલકૂપિકાવત્ સમૃતા. । વાદરાસ્તુ લોકૈકદેશે સન્તિ । સૂક્ષ્મા પર્યાપ્તાપર્યાપ્તમેદાદ્દ્વિવિધા' ।

વાદરા દ્વિવિધા—પ્રત્યેકશરીર—સાધારણશરીરમેદાત્ । એકમેક જીવ

સકોચ કો પ્રાપ્ત હોતે હૈં ઓર પ્રદાંસા કરન સે વદતે, હૈં ઓર ફૂલતે હૈં અત વનસ્પતિ કી સચિત્તા મેં અબ કિસી કો મી વિવાદ નહીં હૈ ।

સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાય કે જીવ આંસુ સે નહીં દિસાઈ દેતે । મગવાન્ કે વચનાં સે હી જાને જા સકતે હૈં । રન પર શ્રદ્ધા રક્ષની ચાહિય ।

પ્રરૂપણાદ્વાર—

ધનસ્પતિકાય કે જીવ દો પ્રકાર કે હૈં—સૂક્ષ્મ ઓર વાદર । સૂક્ષ્મ જીવ સમસ્ત લોકાકાશ મેં કાશલ કી કુપી કી તરહ મેરે હુપ હૈં । વાદર જીવ લોક કે એક-એક માગ મેં હોતે હૈં । સૂક્ષ્મ જીવોં કે મી દો મેદ હૈં—પર્યાપ્ત ઓર અપર્યાપ્ત ।

વાદર જીવ પ્રત્યેકશરીર ઓર સાધારણશરીર કે મેદ સે દો પ્રકાર કે હૈં ।

સંકેતબને પ્રાપ્ત થાય છે અને પ્રથમ કારવાથી કૂલે છે અને બિલે છે એ કારણથી વનસ્પતિની સચિત્તામા હવે કોઈને પણ વિવાદ નથી.

સૂક્ષ્મ વનસ્પતિકાયના એવ નેત્રથી બેઈ શકાતા નથી. તે મગવાનના વચનોથી જ બાણી શકાય છે તેના પર શ્રદ્ધા રાખવી બેઈએ.

પ્રરૂપણાદ્વાર—

વનસ્પતિકાયના એવ બે પ્રકારના છે (૧) સૂક્ષ્મ અને બાદર. સૂક્ષ્મ એવ સમસ્ત લોકાકાશમા કાશની કુપીની પ્રમાણે ભરેલા છે બાદર એવ લોકના એક-એક ભાગમા હોય છે

સૂક્ષ્મ એવાના પણ બે લેહ છે (૧) પર્યાપ્ત અને (૨) અપર્યાપ્ત બાદર એવ પ્રત્યેકશરીર અને સાધારણશરીરના લેહથી બે પ્રકારના છે એક-એક એવ સમગ્રબી

“સ્ત્રીणाં સ્પર્શાત્ મિયદ્ગુર્વિકસતિ ષકુલ’ શ્રીધુગણ્ડપરેકાત્,  
પાદાઘાતાદશોકસ્તિલકકુરવકૌ વીસણાલિદ્વનામ્યામ્ ।  
મન્દારો નર્મલાક્યાઘદુમ્દહસનાઘમ્પકો વક્ત્રવાતાત્,  
વહ્ની ગીતાભમેરુર્વિકસતિ ચ પુરો નર્તનાત્ કર્ણિકારઃ ” ॥ ૧ ॥ ૩૮ ॥

આગમોપિ—

“ઘનસ્પર્શ ચિત્તમતમકલાયા અણેગજીવા પુઠીસત્તા, અન્નસ્ય સસ્યપરિણયં ”  
હતિ । (દશવૈ૦)

પ્રદર્શિતં ચાધુનિકવૈજ્ઞાનિકૈ પ્રત્યક્ષતયા સ્વકૃતપ્રયોગવિશેષેણ વનસ્પતીનાં  
સચિત્તત્વમ્, યયા—ક્રોધાદિમુખાટયર્તા તેષા ગાલીપ્રદાનાદિમર્ત્સનવાન્યતો

“પ્રિયંગુ કા પેઢ ક્ષિયો કે સ્પર્શ સે વિકસિત હોતા હૈ, ષકુલ મદિરા કે ફુલ્લે સે  
સિલિ ઠઠતા હૈ । અશોક વૃક્ષ કી કે પૈર કા આઘાત છગને સે સિલિ આતા હૈ । તિલક વૃક્ષ  
ક્ષિયો કે દેસને સે, તથા કુરવક અનેકે આલિંગન સે સિલિ ઠઠતા હૈ । મન્દાર વૃક્ષ વિનોદમ  
વાન્ય મુનકર, ચમ્પક મુદુહૈસી સે, વહ્ની વક્ત્ર (મુલ) વાયુ સે ઔર નમેરુ ગીત સે વિકસિત  
હોતા હૈ । કનેર કા પેંડ સામને નાચને સે સિલિ આતા હૈ ” ॥૧॥

વનસ્પતિ કી સચેતનતા આગમ પ્રમાણ સે બી સિદ્ધ હોતી હૈ । દશ વૈકલ્પિક  
સૂત્ર મેં કહા હૈ—સૂક્ષ્મપરિણત કો છોટકર શેષ સત્ર વનસ્પતિ સચિત્ત કહો ગઈ હૈ, વર  
અનેક જીવવાળી હૈ ઔર ઊન જીવોં કી સઘા પૃથક્ પૃથક્ હૈ ” ।

આધુનિક વૈજ્ઞાનિકોને અપને પ્રયોગોં દ્વારા પ્રત્યક્ષ દિલ્લખા દિયા હૈ કિ—વનસ્પતિ  
સચિત્ત હૈ । ક્રોધ આદિ કરને સે—ગાલી દેને યા મર્ત્સના કરને સે વૃક્ષ, છતાં આત્મિક

“પ્રિયથુનો ઊઠ ઓઠ ઓઠોના સ્પર્શથી વિકસિત થાય છે, બકુલ મદિરાના ફાગળ  
કરવાથી ખિલી ઊઠે છે અશોક વૃક્ષ ઓના પગનો આઘાત લાગવાથી ખિલી ઊઠે છે.  
તિલક વૃક્ષ ઓઠોને બેવાથી તથા કુરવક ઓઠોના આલિંગનથી ખિલી ઊઠે છે મન્દાર  
વૃક્ષ વિનોદમ વાકચ સાંભળીને, ચમ્પક મુદુહૈસીથી, વસ્તી વક્ત્ર (મુખ) વાયુથી  
અને નમેરુ ગીતથી વિકસિત થાય છે કનેરનો ઊઠ તેના સામે નાચવાથી ખિલી છે ” ॥૧॥

વનસ્પતિની સચેતનતા આગમપ્રમાણથી પણ સિદ્ધ થાય છે દશવૈકલ્પિક  
સૂત્રમાં કહ્યું છે—“શસ્ત્રથી પરિણત—(છેલ્લોથી) ને ઊઠીને બાકીની સવ વનસ્પતિ  
સચિત્ત કહેલી છે, તે અનેક જીવવાળી છે, અને તે જીવોની સત્તા પૃથક્-પૃથક્ છે ”

આધુનિક વૈજ્ઞાનિકોએ પોતાના પ્રયોગો દ્વારા પ્રત્યક્ષ-અર્થાત્ આપ્યું છે કે વનસ્પતિ  
સચિત્ત છે ક્રોધ આદિ કરવાથી, ગાળ દેવાથી અથવા તિસ્સાર કરવાથી વૃક્ષ, છતાં આત્મિક

અસ્થિક-તિ-દુક-કપિત્યા-મ્વાઙક-માતુલિંગ-ચિલ્વા-મલમ-પનમ-દાહિમાદય ।

एकास्थिकानां बहुजीजकानां च वृक्षाणां मूलैकजीवमाश्रित्य मूलकन्दस्कन्ध तक्रशाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसंख्येया जीवाः सन्ति । एको मूलजीवस्तु मूलादिफल पर्यन्तं सर्वावयवं व्याप्य वृक्षेषु तिष्ठति ।

નન્વેકાસ્થિકાનાં બહુજીજકાનાં ચ વૃક્ષાણાં મૂલકન્દસ્કન્ધત્વક્રશાખાદયઃ પ્રત્યેકમસંખ્યેયજીવા સન્તિ, ઇતિ ચદુક્ત તત્ કથમુપપદ્યતે, મૂલાદિફલપર્યન્તા વૃક્ષા સર્વેઽપ્યેકશરીરાકારા એવોપલમ્બ્યન્તે, યથા-દેવદત્તસ્ય શરીરમગ્વષ્ઠમેકરૂપમુપલમ્બ્યતે તદ્વત્, તસ્માદેકશરીરાત્મકા એષ વૃક્ષાઃ, કથમમી પ્રત્યેકશરીરા અસંખ્યેયજીવા ઇતિ ? ઉચ્યતે—

(તેદૃ) કપિથ (કવિઠ), અમ્વાઙક, માતુલિંગ, ચિલ્વ, આમલ, પનસ ઓર દાહિમ આદિ ।

एकार्थिक और बहुजीजक वृक्षों में मूलके एक जीव के सहारे मूल, कव, स्कंध, छाल, शाखा, और प्रवाल में अलग-अलग असंख्यात जीव हैं । एक मूल जीव, मूल से लेकर फल तक वृक्ष के सभी अवयवों में व्याप्त होकर रहता है ।

શુકા—એક યીજવાળે ઓર બહુત જીવ વાળે વૃક્ષોં કે મૂલ, કન્દ, સ્કન્ધ, ત્વચા, શાખા આદિ પ્રત્યેક અસંખ્યાત જીવ વાળે હૈં, યહ કથન સહી કેસે હો સકતા હૈ ? મૂલ સે લેકર ફલપર્યંત વૃક્ષ સમી એક શરીરાકાર હી ઉપલબ્ધ હોતે હૈં, જેસે કિ દેવદત્ત કા શરીર અસંદ્ધ એકરૂપ હી દેસા જાતા હૈ । અતઃ વૃક્ષ એક-એક શરીરરૂપ હી હૈં । ઊન મેં અસંખ્યાત પ્રત્યેક કિસ પ્રકાર હો સકતે હૈં ?

અસ્થિક, તિન્દુક, કપિત્થ, અમ્વાઙક, માતુલિંગ (બિબેર), બિલ્વ, (બીલી), આમલ, પનસ અને દાહમ આદિ

એકાસ્થિક અને બહુબીજક વૃક્ષોમાં મૂળના એક જીવના આધારે મૂલ, કવ, સ્કન્ધ, છાલ, શાખા અને પ્રવાલમાં અલગ-અલગ અસંખ્યાત જીવ છે એક મૂલ જીવ, મૂલથી લઇને ફલ સુધી વૃક્ષના સર્વ અવયવોમાં વ્યાપ્ત થઇને રહે છે

શુકા—એકબીજવાળા અને બહુબીજવાળા વૃક્ષોના મૂળ, કવ, સ્કન્ધ, ત્વચા-છાલ, શાખા આદિ પ્રત્યેક અસંખ્યાત જીવવાળા છે આ કથન સાચુ છે એમ કેવી રીતે કહી શકાય ? અથવા એ કથન સાચુ કેવી રીતે હોઈ શકે ?

મૂલથી લઇને ફલ સુધી વૃક્ષ સર્વ એક શરીરાકારજ ઉપલબ્ધ થાય છે જેમકે દેવદત્તનું શરીર અખડ એકરૂપજ જોવામાં આવે છે એ માટે વૃક્ષ એક એક શરીર રૂપજ છે તેમા અસંખ્યાત પ્રત્યેકશરીર કેવી રીતે હોઈ શકે છે ?



પ્રતિ ગત પ્રત્યેકમ્, પ્રત્યેક શરીર યેષાં તે પ્રત્યેકશરીરા । પ્રત્યેકનામકર્મોદયવશા  
 દેકૈકસ્ય જીવસ્ય શરીરમૌદારિક વૈક્રિયં વા પૃથક્ પૃથક્ મરતિ । ઇવમ્મૂતા જીવા  
 પ્રત્યેકશરીરા લગ્યન્તે । નારકદેવમનુષ્યાઃ, દ્વીન્દ્રિયાદયઃ, પૃથ્વીઆદયઃ, વૃક્ષગુચ્છાદિ  
 વનસ્પતયશ્ચ પ્રત્યેકશરીરિણ સન્તિ । इमे प्रत्येका प्रत्येकजीवा अपि कथ्यन्ते ।

પ્રત્યેકશરીરા દ્વાદશવિધા—શૂક્ષ્મ-શુચ્છ-શુભ્ર-લતા-વહ્ની-પર્વગ-તળ-વલય-  
 હરિતૌ-પથિ-જલરુદ્ધ-કુદ્ધમેદાત્ ।

તત્ર શૂક્ષ્મ દ્વિવિધા—એકાસ્થિકાઃ (એકબીજકા) बहुबीजकाश्च । तत्रैकास्थिका  
 અનેકવિધા—નિમ્વામ્રજમ્બૂકૌશમ્વાદય । बहुबीजका अप्यनेकविधाः—

एक—एक जीवसमवी शरीर प्रत्येकशरीर कहलाता है । प्रत्येकनामकर्म के उदय से एक—एक  
 जीव के शरीर औदारिक और वैक्रिय अलग—अलग होता है । ऐसे अलग—अलग शरीर  
 वाले जीव प्रत्येकशरीर कहलाते हैं—नारक, देव, मनुष्य द्वीन्द्रिय आदि, पृथ्वीकाय आदि  
 तथा वृक्ष, गुच्छ आदि वनस्पतिजीव प्रत्येक शरीर हैं । इन्हें प्रत्येक और प्रत्येकजीव  
 भी कहते हैं ।

प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय बारह प्रकार के हैं—वृक्ष, शुच्छ शुभ्र, लता, वह्नी, पर्वग,  
 ताल, वलय, हरित, औषध, जलरुद्ध और कुद्वण ।

इनमें वृक्ष दो प्रकार के हैं—एकास्थिक अर्थात् एक बीज वाले और बहु  
 बीजक अर्थात् बहुत बीजों वाले । एक बीज वाले नीम, आम, आमन और कौशम्भ  
 आदि अनेक प्रकार के हैं । बहुबीजक भी अनेक प्रकार के हैं । जैसे अस्थिक, सिन्दुक,

शरीर प्रत्येક શરીર કહેવાય છે પ્રત્યેકનામકર્મના ઉદયથી એક—એક જીવના શરીર  
 ઔદારિક અને વૈક્રિય અલગ—અલગ હોય છે એવા અલગ—અલગ શરીરવાળા જીવ  
 પ્રત્યેકશરીર કહેવાય છે નારક, દેવ, મનુષ્ય, દ્વીન્દ્રિય આદિ પૃથ્વીકાય આદિ તથા  
 વૃક્ષ, શુચ્છ આદિ વનસ્પતિજીવ પ્રત્યેકશરીર છે તેને પ્રત્યેક અને પ્રત્યેકજીવ પણ કહે છે

પ્રત્યેકશરીરી વનસ્પતિકાય બાર પ્રકારના છે—વૃક્ષ, શુચ્છ, શુભ્ર, લતા, વહ્ની,  
 પર્વગ, તળ, વલય, હરિત, ઔષધ, જલરુદ્ધ અને કુદ્ધ

એમાં વૃક્ષ બે પ્રકારના છે—એકાસ્થિક અર્થાત્ એક બીજવાળા, અને બહુસ્થિક  
 અર્થાત્ ઘણાં બીજવાળા. એક બીજવાળા—લીંબડો, ખાખો, બાધુ અને કૌશમ્બ, આદિ  
 અનેક પ્રકારના છે બહુબીજક એટલે ઘણા બીજવાળા પણ અનેક પ્રકારના છે જેમકે—

અસ્થિક-તિન્દુક-કપિથા-અન્ધાદક-માતુલિંગ-વિલ્વા-મલય-પનમ-દાહિમાદય. ।

एकास्थिकानां बहुबीजकानां च वृक्षाणां मूलैकजीवमाश्रित्य मूलकन्दस्कन्ध त्वक्शाखाप्रवालेषु प्रत्येकमसंख्येया जीवा सन्ति । एको मूलजीवस्तु मूलादिफल पर्यन्तं सवावयव व्याप्य वृक्षेषु तिष्ठति ।

નન્વેકાસ્થિકાનાં બહુબીજકાનાં ચ વૃક્ષાણાં મૂલકન્દસ્કન્ધત્વક્ષાખાદય' પ્રત્યેકમસંખ્યેયજીવા સન્તિ, ઇતિ યદુક્ત તત્ કયમ્પપધતે, મૂલાદિફલપર્યન્તા વૃક્ષા. સર્વેડપ્યેકશરીરાકારા એવોપલભ્યન્તે, યથા-દેવદત્તસ્ય શરીરમલ્લખંડમેકરૂપમ્પલભ્યતે તદ્વત્, તસ્માદેકશરીરાત્મકા એવ વૃક્ષા', કયમમી પ્રત્યેકશરીરા અસંખ્યેયજીવા ઇતિ ? ઉચ્યતે—

(તેંદુ) કપિથ (કપિઠ), અન્ધાદક, માતુલિંગ, વિલ્વા, આમલ, પનસ ઓર દાહિમ આદિ ।

एकास्थिक और बहुबीजक वृक्षों में मूलके एक जीव के सहारे मूल, कंद, स्कंध, छाल, शाखा, और प्रवाल में अलग-अलग असंख्यात जीव हैं । एक मूल जीव, मूल से लेकर फल तक वृक्ष के सभी अवयवों में व्याप्त होकर रहता है ।

શુકા—एक बीजवाले और बहुत बीज वाले वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा आदि प्रत्येक असंख्यात जीव वाले हैं, यह कथन सही कैसे हो सकता है ? मूल से लेकर फलपर्यन्त वृक्ष सभी एक शरीराकार ही उपलब्ध होते हैं, जैसे कि देवदत्त का शरीर अखंड एकरूप ही देखा जाता है । अतः वृक्ष एक-एक शरीररूप ही हैं । उन में असंख्यात प्रत्येक किस प्रकार हो सकते हैं ?

અસ્થિક, તિન્દુક, કપિથ, અન્ધાદક, માતુલિંગ (બિબેઈ), વિલ્વા, (બીલી), આમલ, પનસ અને દાહિમ આદિ

એકાસ્થિક અને બહુબીજક વૃક્ષોમાં મૂળના એક જીવના આધારે મૂલ, કંદ, સ્કંધ છાલ, શાખા અને પ્રવાલમાં અલગ-અલગ અસંખ્યાત જીવ છે એક મૂલ જીવ, મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષના સર્વ અવયવોમાં વ્યાપ્ત થઈને રહે છે

શુકા—એકબીજવાળા અને બહુબીજવાળા વૃક્ષોના મૂળ, કંદ, સ્કન્ધ, ત્વચા-છાલ, શાખા આદિ પ્રત્યેક અસંખ્યાત જીવવાળા છે આ કથન સાચું છે એમ કેવી રીતે કહી શકાય ? અથવા એ કથન સાચું કેવી રીતે હોઈ શકે ?

મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષ સર્વ એક શરીરાકારજ ઉપલબ્ધ થાય છે જેમકે દેવદત્તનું શરીર અખંડ એકરૂપજ એવામાં આવે છે એ માટે વૃક્ષ એક એક શરીર રૂપજ છે તેમજ અસંખ્યાત પ્રત્યેકશરીર કેવી રીતે હોઈ શકે છે ?

પ્રતિ ગત પ્રત્યેકમ્, પ્રત્યેક શરીર યેષાં તે પ્રત્યેકશરીરા । પ્રત્યેકનામકર્મોદયવશા  
 દેક્ષેકસ્ય જીવસ્ય શરીરમૌદારિક વૈવ્રિય યા પૃથક્ પૃથક્ ભવતિ । એવમ્બ્રૂતા જીવા.  
 પ્રત્યેકશરીરા ડચ્યન્તે । નારકદેવમનુષ્યા, દ્વીન્દ્રિયાદય, પૃથિવ્યાદય, વૃક્ષગુચ્છાદિ  
 ઘનસ્પતયથ પ્રત્યેકશરીરિણં સન્તિ । इमे प्रत्येका प्रत्येकजीवा अपि कथ्यन्ते ।

પ્રત્યેકશરીરા દ્વાદશવિધા-વૃક્ષ-ગુચ્છ-ગુલ્મ-લતા-વહ્ની-પર્વગ-વૃણ-વલય-  
 હરિતૌ-પષિ-જલરુદ્ધ-કુદ્ધળમેદાત્ ।

તત્ર વૃક્ષા દ્વિવિધાઃ-एकास्थिका (एकबीजका) बहुबीजकाश्च । तत्रैकास्थिका  
 अनेकविधाः-तिम्बाम्रजम्बूफौलम्बादय । बहुबीजका अप्यनेकविधा -

एक-एक बीजसंघी शरीर प्रत्येकशरीर कहलाता है । प्रत्येकनामकर्म के उदय से एक-एक  
 बीज के शरीर औदारिक और वैक्रिय अलग-अलग होता है । ऐसे अलग-अलग शरीर  
 वाले जीव प्रत्येकशरीर कहलाते हैं-नारक, देव, मनुष्य द्वीन्द्रिय आदि, पृथ्वीकाय आदि  
 तथा वृक्ष, गुच्छ आदि घनस्पतिबीज प्रत्येक शरीरी हैं । इन्हें प्रत्येक और प्रत्येकबीज  
 भी कहते हैं ।

प्रत्येकशरीरी घनस्पतिकाय बाह्य प्रकार के हैं-वृक्ष, गुच्छ गुल्म, लता, वह्नी, पर्वग,  
 वृण, वलय, हरित, औषध, जलरुद्ध और कुद्वल ।

इनमें वृक्ष दो प्रकार के हैं-एकास्थिक अर्थात् एक बीज वाले और बहु  
 बीजक अर्थात् बहुत बीजों वाले । एक बीज वाले नीम, आम, बामन और कौशम्भ  
 आदि अनेक प्रकार के हैं । बहुबीजक भी अनेक प्रकार के हैं । जैसे अस्थिक, तिन्दुक,

शरीर प्रत्येક શરીર ઠહેવાય છે પ્રત્યેકનામકર્મના ઉદયથી એક-એક જીવના શરીર  
 ઔદારિક અને વૈક્રિય અલગ-અલગ હોય છે એવા અલગ-અલગ શરીરવાળા જીવ  
 પ્રત્યેકશરીર ઠહેવાય છે નારક, દેવ, મનુષ્ય, દ્વીન્દ્રિય આદિ પૃથ્વીકાય આદિ તથા  
 વૃક્ષ, ગુચ્છ આદિ ઘનસ્પતિજીવ પ્રત્યેકશરીર છે તેને પ્રત્યેક અને પ્રત્યેકજીવ પણ ઠહે છે

પ્રત્યેકશરીરી ઘનસ્પતિકાય બાહ્ય પ્રકારના છે-વૃક્ષ, ગુચ્છ, ગુલ્મ, લતા, વહ્ની,  
 પર્વગ, વૃણ, વલય, હરિત, ઔષધ, જલરુદ્ધ અને કુદ્ધલ

એમાં વૃક્ષ બે પ્રકારના છે-એકાસ્થિક અર્થાત્ એક બીજવાળા, અને બહુબીજક  
 અર્થાત્ ઘણાજ બીજવાળાં. એક બીજવાળા-લીંબડો, આંબો, બાબુ અને કૌશમ્બ, આદિ  
 અનેક પ્રકારના છે બહુબીજક એટલે ઘણા બીજવાળા પણ અનેક પ્રકારના છે જેમકે -

અસ્થિક-તિ દુક-કપિત્થા-અમ્બાઢક-માતુલિંગ-વિન્વા-મલ્લ-પનસ-દાહિમાદય. ।  
 એકાસ્થિકાનાં વહુવીજકાનાં ચ વૃક્ષાણાં મૂલૈકજીવમાશ્રિત્ય મૂલકન્દસ્કન્ધ  
 તત્ક્રાશ્વાપ્રવાલેષુ પ્રત્યેકમસંસ્થેયજીવા સન્તિ । એકો મૂલજીવન્તુ મૂલાદિફલ  
 પર્યન્તં સવાત્રયવ વ્યાપ્ય વૃક્ષેષુ તિષ્ઠતિ ।

નન્વેકાસ્થિકાનાં વહુવીજકાનાં ચ વૃક્ષાણાં મૂલકન્દસ્કન્ધત્વક્રાશ્વાદય  
 પ્રત્યેકમસંસ્થેયજીવા સન્તિ, ઇતિ યદુક્ત તત્ કથમ્પ્રપપઘતે, મૂલાદિફલપર્યન્તા વૃક્ષા  
 સર્વેડપ્યેકશરીરાકારા એવોપલમ્બ્યન્તે, યથા-દેવદત્તમ્ય શરીરમસ્ત્વષ્ઠમેકરૂપમ્પલમ્બ્યતે  
 તદ્વત્, તસ્માદેકશરીરાત્મકા એવ વૃક્ષા, કથમમી પ્રત્યેકશરીરા અસંસ્થેયજીવા  
 ઇતિ ? ઉચ્યતે—

(તેંદુ) કપિથ (કવિઠ), અમ્બાઢક, માતુલિંગ, વિન્વ, આમલા, પનસ ઓર દાહિમ આદિ ।  
 એકાસ્થિક ઓર વહુવીજક વૃક્ષો મેં મૂલકે એક બીવ કે સહારે મૂલ, કન્દ, સ્કન્ધ, છાલ,  
 ગાંભીર, ઓર પ્રવાલ મેં અલગ-અલગ અસંખ્યાત બીવ હેં । એક મૂલ બીવ, મૂલ સે લેકર ફલ  
 તક વૃક્ષ કે સમી અવયવો મેં વ્યાપ્ત હોકર રહતા હે ।

શકા—એક વીજવાળે ઓર વહુત વીજ વાળે વૃક્ષો કે મૂલ, કન્દ, સ્કન્ધ, ત્વચા,  
 ગાંભીર આદિ પ્રત્યેક અસંખ્યાત બીવ વાળે હેં, યહ કથન સહી કેસે હો સકતા હે ? મૂલ સે  
 લેકર ફલપર્યન્ત વૃક્ષ સમી એક શરીરાકાર હી ઉપલબ્ધ હોતે હેં, જેસે કિ દેવદત્ત કા શરીર  
 અર્ધવઢ એકરૂપ હી દેલા જાતા હે । અતઃ વૃક્ષ એક-એક શરીરરૂપ હી હેં । ડન મેં અસંખ્યાત  
 પ્રત્યેક કિસ પ્રકાર હો સકતે હેં ?

અસ્થિક, તિન્ડુક, કપિત્થ, અમ્બાઢક, માતુલિંગ (બિભેર), બિન્વ, (બીલી), આમલા,  
 પનસ અને દાહિમ આદિ

એકાસ્થિક અને બહુબીજક વૃક્ષોમાં મૂળના એકે જીવના આધારે મૂલ, કન્દ, સ્કન્ધ  
 છાલ, ગાંભીર અને પ્રવાલમાં અલગ-અલગ અસંખ્યાત જીવ છે એક મૂલ જીવ,  
 મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષના સર્વ અવયવોમાં વ્યાપ્ત થઈને રહે છે

શકા—એકબીજવાળા અને બહુબીજવાળા વૃક્ષોના મૂળ, કન્દ, સ્કન્ધ, ત્વચા-  
 છાલ, ગાંભીર આદિ પ્રત્યેક અસંખ્યાત જીવવાળા છે આ કથન સાચુ છે એમ કેવી  
 રીતે કહી શકાય ? અથવા એ કથન સાચુ કેવી રીતે હોઈ શકે ?

મૂલથી લઈને ફલ સુધી વૃક્ષ સર્વ એક શરીરાકારજી ઉપલબ્ધ થાય છે એમકે  
 દેવદત્તનું શરીર અખડ એકરૂપજી જોવામાં આવે છે એ માટે વૃક્ષ એક એક શરીર  
 રૂપજી છે તેમ અસંખ્યાત પ્રત્યેકશરીર કેવી રીતે હોઈ શકે છે ?  
 પ્રમા-૫૫

મૂલસ્કન્ધાદિષુ તેષામસંખ્યેયાનામપિ જીવાનાં પ્રત્યેકનામકર્મોદયાત્ પૃથક્  
પૃથગેવ એકેકશરીરસંસ્થાથેન પ્રત્યેકશરીરત્વ સિદ્ધ્યતિ ।

યદપિ વૃક્ષાણાં મૂલાદિષુ પ્રત્યેકમસંખ્યેયા અપિ જીવા પરસ્પરં  
વિભિન્નશરીરાઃ, તથાપિ પ્રવલરાગદ્વેષોપચિત્તતથારૂપપ્રત્યેકનામકર્મમાદૃશ્મ્યાદેવ  
પરસ્પરં સમાશ્લિષ્ટા સમિથિતા ભવન્તિ । યથા શ્લેષણદ્રવ્યેણ મિશ્રીકૃત્ય નિર્મિ  
તાયાં સ્વસ્વસત્ત્વગુટિકાયા પ્રત્યેકમાગે સ્વસ્વસત્ત્વયા સ્વસ્વસત્ત્વજીવાનિ તિષ્ઠન્તિ ।  
યથા વા-ગુઢમિશ્રિવૈસ્તિલૈઃ કૃતાયાં તિલપર્પટિકાયા તિલા સ્વસ્વરૂપેણ વર્તંતે,  
તથૈવ પ્રત્યેકશરીરા અસંખ્યેયજીવા મૂલકન્ધાદિષુ પ્રત્યેકં તિષ્ઠન્તિ । સાધારણ-

સમાધાન—મૂલ ઓર કન્ધ આદિ મેં उन असंख्यात जीवों के, प्रत्येक-  
नामकर्म के उदय से अलग-अलग एक-एक शरीर हैं, अतः वे सब प्रत्येकशरीरी  
सिद्ध होते हैं ।

યપિ વૃક્ષોં કે મૂલ આદિ મેં असंख्यात जीव हैं और उन सब के शरीर  
भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी तीव्र राग-द्वेष के कारण उपाचित प्रत्येकनामकर्म के प्रभाव से  
ही वे सब आपस में मिले हुए-से रहते हैं । जैसे किसी चिपकनी चीज में मिलाकर बनाई  
हुई स्वस्वस की गोली के प्रत्येक भाग में स्वस्वस के बीज अपना अलग-अलग अस्तित्व  
बनाये रखते हैं, अथवा जैसे गुड़ मिले तिलों की बनाई हुई तिलपपड़ी में तिलों के  
दाने अपने अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येकशरीरी असंख्यात जीव  
मूल, कन्ध आदि में रहते हैं । साधारणवदस्त्विति से इन में यह भेद है कि-प्रत्येकशरीरी

સમાધાન—મૂલ અને કન્ધ આદિમાં તે असंख्यात जीवોના પ્રત્યેકનામકર્મના  
ઉદયથી અલગ-અલગ જોડ-જોડ શરીર છે, તે પશુ તીવ્ર રાગ-દ્વેષના કારણે  
ઉપાચિત-પ્રભાવ કરેલા પ્રત્યેકનામકર્મના પ્રભાવથીજ તે સર્વ આપસમાં-પરસ્પરમાં મળેલા  
રહે છે, જેમ કેઈ ચિપકની (ચીઠણી-ચાટી બાય તેવી) ચીજમાં મેળવીને બનાવેલી  
ખસખસની ગોળીના પ્રત્યેક ભાગમાં ખસખસના બીજ પોતાનું અલગ અલગ અસ્તિત્વ બનાવી  
રાખે છે અથવા જેમ ગોળ મેળવેલી તલની તલપાપડી-તલસાંકળીમાં તલના ઠાણા  
પોત-પોતાના સ્વરૂપમાં વિદ્યમાન રહે છે, તે પ્રમાણે પ્રત્યેકશરીરી असंख्यात जीव  
મૂલ, કન્ધ આદિમાં રહે છે સાધારણ વનસ્પતિથી તેનામાં જો ભેદ છે કે-પ્રત્યેકશરીરી

વનસ્પતિમ્યસ્ત્વેતાવાન્ વિશેષ - પ્રત્યેકશરીરા\* પરસ્પર સમિધિતા અપિ મિત્રા એવ તિષ્ઠન્તિ, સાધારણશરીરાસ્ત્વન્યોન્યાનુવિદ્વા ઈતિ ।

પત્રેષુ પ્રત્યેક મૂલજીવાદ્મિત્ર એકૈકો જીવ । ઉક્ત હિ પ્રજ્ઞાપનાયામેકા-  
સ્ત્રિકવદ્બુવીજઘ્નપ્રરૂપણાવસરે-“ પત્તા પત્તેયજીવિયા ” ઈતિ ।

તથા-તાલસરલનાલિકેરવૃક્ષાણાં સ્કન્ધચૈકજીવઃ । તદુક્તમ્-

“ ગાળાવિહસઠાળા, રુસ્ત્રાળ એગજીવિયા પત્તા ।

સ્વધોચિ એગજીવો, તાલ-સરલ-નાલિપરીણ ” ॥

ઢાયા-નાનાવિધ સસ્થાનાનિ, ઘ્નણામ્ એકજીવિકાનિ પત્રાણિ ।

સ્કન્ધોઽપિ એકજીવઃ, તાલસરલ નારિકેલાનામ્ ॥ (પ્રજ્ઞા૦)

જીવ આપસ મેં મિલે હુપ મી મિત્ર-મિત્ર રહતે હૈં કિન્તુ સાધારણશરીરવાલે જીવ આપસ મેં  
અનુવિદ્વા-એક રૂપ હોકર રહતે હૈં । તાત્પર્ય યહ હૈ કિ-પ્રત્યેકશરીરી જીવોં કા શરીર અલગ-  
અલગ હોતા હૈ કિન્તુ इन સાધારણશરીરી જીવોં કા શરીર એક હી હોતા હૈ ।

પત્રોં મેં મૂલ જીવ સે મિત્ર એક-એક જીવ અલગ-અલગ હોતે હૈં । પ્રજ્ઞાપના સૂત્ર મેં  
એકબીજ ઓર બહુબીજ ઘ્નોં કી પ્રરૂપણા કરતે હુપ કહા હૈ- ‘પત્તા પત્તેયજીવિયા’ અર્થાત્  
પત્તે પ્રત્યેક જીવ બાલ હૈં ।

તથા તાલ, સરલ, નાલિકેર આદિ ઘ્નોં કા સ્કન્ધ એક જીવ હૈ । કહા હૈ-

“ નાના પ્રકાર કે આકાર વાલે ઘ્નોં કે પત્તે પ્રત્યેકજીવ હૈં ઓર તાલ, સરલ  
તથા નારિયલ કે સ્કન્ધ એકજીવ હૈં ” ।

એવ પરસ્પર મળેલા છતાં પણ બિન્ન-બિન્ન રહે છે, પરન્તુ સાધારણ શરીરવાળા  
એવ પરસ્પરમાં અનુવિદ્વા-એકરૂપ થઈને રહે છે તાત્પર્ય એ છે કે-પ્રત્યેકશરીરી  
એવોનાં શરીર અલગ-અલગ હોય છે કિન્તુ આ સાધારણશરીરી એવોનું શરીર  
એકજીવ હોય છે

પત્તાં-પાઢડામાં, મૂલ એવથી બિન્ન એક-એક એવ અલગ-અલગ હોય છે  
પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં એકબીજ અને બહુબીજ ઘ્નોનાની પ્રરૂપણા કરતાં થકા ઠહ્યુ છે કે-  
‘પત્તા પત્તેયજીવિયા’ અર્થાત્ પત્તા પ્રત્યેક એવવાળા છે

તથા તાલ, સરલ, નાલિકેર આદિ ઘ્નોના સ્કન્ધ એક એવ છે ઠહ્યુ છે કે-

“ નાના પ્રકારના આકારવાળા ઘ્નોના પત્તા-પાઢડા પ્રત્યેકએવ છે અને તાલ,  
સરલ તથા નારિયેલના સ્કન્ધ એકએવ છે ”

મૂલસ્કન્ધાદિપુ તેપામસરુચેયાનામપિ જીવાનાં પ્રત્યેકનામકર્મોદયાત્ પૃથક્  
પૃથગેવ એકેકશરીરસદ્ભાવેન પ્રત્યેકશરીરસ્ત્વ સિધ્ધતિ ।

યથાપિ દૃશાણાં મૂલાદિપુ પ્રત્યેકમસરુચેયા અપિ જીવાઃ પરસ્પરં  
વિમિશ્રશરીરાઃ, તથાપિ મવલરાગદ્વેષોપચિત્તતથારૂપપ્રત્યેકનામકર્મમાહારમ્યાદેવ  
પરસ્પરં સમાશ્લિષ્ટા સમિશ્રિતા ભવન્તિ । યથા શ્લેષણદ્રવ્યેણ ધિશ્રીકૃત્ય નિર્મિ  
તાયાં સ્વસસ્વસગુટિકાયાં પ્રત્યેકભાગે સ્વસ્વસચયા સ્વસસ્વસવીજાનિ તિષ્ઠન્તિ ।  
યથા વા-ગુહમિમિત્તૈસ્તિલૈ કૃતાયાં તિલપર્પટિકાયાં તિલાઃ સ્વસ્વરૂપેણ વર્તન્તે,  
તથૈવ પ્રત્યેકશરીરા અસંરુચેયજીવાઃ મૂલકન્ધાદિપુ પ્રત્યેકં તિષ્ઠન્તિ । સાધારણ

સમાધાન—મૂલ ઓર સ્કન્ધ આદિ મેં ડન અસંખ્યાત જીવો કે, પ્રત્યેક-  
નામકર્મ કે ઉદય સે અલગ-અલગ એક-એક શરીર હૈ, અતઃ વે સબ પ્રત્યેકશરીરી  
સિદ્ધ હોતે હૈ ।

યથાપિ જીવો કે મૂલ આદિ મેં અસંખ્યાત જીવ હૈ ઓર ડન સબ કે શરીર  
મિશ્ર-મિશ્ર હૈ, ફિર મી ત્રિશ રાગ-દ્વેષ કે કારણ ઉપાર્જિત પ્રત્યેકનામકર્મ કે પ્રમાણ સે  
હી વે સબ આપસ મેં મિલે હુપ-સે રહતે હૈ । જૈસે કિસી ચિપકની વીજ મેં મિલાકર બનાઈ  
હુઈ સ્વસસ્વસ કી ગોલી કે પ્રત્યેક ભાગ મેં સ્વસસ્વસ કે વીજ અપના અલગ-અલગ અસ્તિત્વ  
બનાયે રહતે હૈ, અથવા જૈસે ગુહ મિલે તિલો કી બનાઈ હુઈ તિલપપટી મેં તિલો કે  
વાને અપને અપને સ્વરૂપ મેં વિષમાન રહતે હૈ, ડસો પ્રકાર પ્રત્યેકશરીરી અસંખ્યાત જીવ  
મૂલ, કન્ધ આદિ મેં રહતે હૈ । સાધારણવત્સ્પતિ સે ડન મેં યહ મેવ હૈ કિ-પ્રત્યેકશરીરી

સમાધાન—મૂલ અને સ્કન્ધ આદિમાં તે અસંખ્યાત જીવોના પ્રત્યેકનામકર્મના  
ઉદયથી અલગ-અલગ એક-એક શરીર છે, તો પણ ત્રિશ રાગ-દ્વેષના કારણે  
ઉપાર્જિત-પ્રાપ્ત કરેલા પ્રત્યેકનામકર્મના પ્રભાવથીજ તે સબ આપસમાં-પરસ્પરમાં મળેલા  
રહે છે, જેમ કેઈ ચિપકની (ચીકણી-ચીટી બાંધ તેવી) ચીકણા મેળવીને બનાવેલી  
અચૂનઅસની બોળીના પ્રત્યેક ભાગમાં અસખસનાં બીજ પોતાનું અલગ અલગ અસ્તિત્વ બનાવી  
રાખે છે અથવા જેમ બોળ મેળવેલી તલની તલપાપટી-તલસાંકળીના તલના કાણુ  
પોત-પોતાના સ્વરૂપમાં વિદ્યમાન રહે છે, તે પ્રમાણે પ્રત્યેકશરીરી અસંખ્યાત જીવ  
મૂલ, કન્ધ આદિમાં રહે છે સાધારણ વત્સ્પતિથી તેનામાં એ એક છે કે-પ્રત્યેકશરીરી

ગુલ્લા અનેકવિધા -આદકી-વૃન્તાકી-તુલસી-પિપ્પલીપ્રમૃતય । ગુલ્મા -  
દૂસ્વસ્કન્ધવહુકાન્ડપત્રપુષ્પફલોપેતા, તેડનેકવિધા -સેરિકા-નવમાલિકા-કોરન્ટક-  
વન્ધુજીવકાદયઃ । લતા અનેકવિધા -પદ્મલતા-નાગલતા-અશોકલતા-ચમ્પકલતા-  
અસ્ય વનસ્પતેસ્તિર્યક્ તથાવિધા\* શાસ્વા પ્રશાસ્વા વા ન પ્રસૂતા. સા લતોન્યતે ।

વલ્લયોજ્જેનકવિધા\* -પુષ્પફલી-કૂખાળી-કાલિંગી-તુમ્બી- ત્રપુષી-કોશાતકી  
-પટોલાદય । પર્વગા અનેકવિધા -ફુલ-વશ-નલવશ-વેતસપ્રમૃતય । તૃણાનિ-  
અનેકવિધાનિ-કુશદૂર્વાદીનિ । વલયાનિ-તાલ-તમાલ-કેતકી-કદલી-કન્દલી-

ગુલ્મ અનેક પ્રકાર કે હૈં । જૈસે-આહર વૃન્તાકી, તુલસી, પિપ્પલી આદિ ।  
જિનકા તમા છોટા હો, કાંઢ ઘહુત હો ઓર બો પત્તો, ફૂલોં ઓર ફલોં સે યુક્ત હો  
અન્હ ગુન્મ કહતે હૈં । વે મી કફ પ્રકાર કે હૈં । યથા-સેરિકા, નવમાલિકા, કોરન્ટક,  
વન્ધુજીવક વગેરહ । લતાપૈં મી અનેક પ્રકાર કી હૈં, જૈસ-પદ્મલતા, નાગલતા, અશોકલતા,  
ચમ્પકલતા આદિ । જિસ વનસ્પતિ કી તિરછી અથવા સ્વાસ તરહ કી શાસ્વાપૈં પ્રશાસ્વાપૈં નહોં  
કૈલતી વહ લતા કહલાતી હૈં ।

વૃક્ષી કે મી અનેક મેદ હૈં । જૈસે-પુષ્પફલી, કૂખાળી, કાલિંગી, તુમ્બી,  
ત્રપુષી, (કકડી) કોશાતકી તથા પટોલાદિ । પર્વગ મી અનેક પ્રકાર કે હૈં ।  
જૈસે-ફુલ, (સલ્લી) વશ, (બૉસ) નલવશ, વેત આદિ । કુશ ઓર દૂવ આદિ તૃણ  
અનેક પ્રકાર કે હોતે હૈં । તાલ, તમાલ, કેતકી, કદલી, કન્દલી આદિ વલય

શુભ્ધ અનેક પ્રકારના છે જેવા કે-તુલસી, વૃન્તાકી, તુલસી, પિપ્પલી, આદિ  
જેના થડ નાના હોય, કાંઢ ઘડુંબ હોય અને જે પત્તા-ફૂલ અને ફળોથી યુક્ત હોય  
તેને શુદ્ધ કહે છે તે પણ ઘણા પ્રકારના છે જેમ-સેરિકા, નવમાલિકા, કોરન્ટક,  
વન્ધુજીવક વગેરે, લતાઓ પણ અનેક પ્રકારની છે જેવી રીતે કે-પદ્મલતા, નાગલતા,  
અશોકલતા, ચમ્પકલતા આદિ જે વનસ્પતિની તિરછી અથવા આસ તરહની  
શાખાઓ-પ્રશાખાઓ ફેલાવી નથી તે લતા કહેવાય છે

વલ્લીના પણ અનેક મેદ છે જેવી રીતે પુષ્પફલી, કૂખાળી, કાલિંગી, તુમ્બી,  
ત્રપુષી, કોશાતકી તથા પટોલાદિ. પર્વગ પણ અનેક પ્રકારના છે જેમ-સેરિકા, વાંસ,  
નલવશ વેત આદિ. કુશ-લાલકા અને ફુલ-ધરો આદિ તૃણ અનેક પ્રકારના હોય છે  
તાલ, તમાલ, કેતકી, કદલી-કેળ, કન્દલી આદિને પણ કહેવાય છે તદુલીયક, (વાલકા)



પુષ્પેષુ અનેયજીવા-સરયાતા અસર્યાતા અનન્તા વા સન્તિ । ઉક્ત-  
“પુષ્પા અણેગજીવા ” ઇતિ ।

“પુષ્પા જલયા થલયા, વિંટવદ્વા ય નાલિવદ્વા ય ।

સરિજ્જમસચિજ્જા, ઘોઘન્વાણતજીવા ય ” ॥

છાયા-પુષ્પાણિ જલજાનિ સ્થલજાનિ, વૃન્તવદ્વાનિ ચ નાલિવદ્વાનિ ચ ।

સરુચ્ચેયાનિ (સરુચ્ચેય જીવાનિ) અસરુચ્ચેયાનિ (અસરુચ્ચેય જીવાનિ)

વોદ્ધવ્યાનિ અનન્ત જીવાનિ ચ ॥ (મજ્ઞા ૦)

યત્તુ “પુષ્પાણિ ચૈકજીવાનિ મન્તવ્યાની”-તિ શીલાકાચાર્યૈરમિદિતં તદ્  
પ્રામાદિકમ્, પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રવિરોધાત્ ।

ફલેષુ મૂલજીવમાશ્રિત્ય પ્રત્યેક ટ્રૌ ટ્રૌ જીવૌ સ્ત્ । દોષ્ણિ ય જીવા ફલે  
મણિયા ” ઇતિ પ્રજ્ઞાપનાવચનાત્ । દૃષ્ટા પ્રરૂપિતા, અથગુચ્છાદય પ્રોચ્યન્તે-

ફૂલો મેં અનેક-સંખ્યાત અસંખ્યાત અથવા અનન્ત જીવ હોતે હૈં । કહા મા હૈ-“પુષ્પા  
અણેગજીવા” ફૂલ અનેક જીવ વાલે હોતે હૈં ।

“જલ મેં ઉત્પન્ન હોને વાલે, સ્થલ મેં ઉત્પન્ન હોને વાલે, વૃન્તવદ્વા યા નાલિ  
વદ્વા ફૂલ સંખ્યાત, અસંખ્યાત અથવા અનન્ત જીવ વાલે સમગ્રને ચારિય ” ।  
( પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર )

“ફૂલ એક જીવ વાલે હોતે હૈં” મહ શીલાકાચાર્ય કા કથન મૂલભરા હૈ, ત્યો કિ  
મહ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર સે વિરુદ્ધ હૈ ।

ફૂલો મેં મૂલ જીવ કી અપેક્ષા પ્રત્યેક દો-દો જીવ હૈં । પ્રજ્ઞાપના સૂત્ર મેં કહા હૈ-  
“ફૂલ મેં દો જીવ કહે ગયે હૈં । ”

યહાં તક દૃષ્ટો કા નિરૂપણ કિયા । અવ ગુચ્છ આદિ કે વિષય મેં કહતે હૈં-

ફલોમા અનેક સખ્યાત અસખ્યાત અથવા અનન્ત-જીવ હોય છે કહ્યું પણ  
છે-“પુષ્પા અણેગજીવા ” “ફૂલ અનેક જીવવાળા હોય છે ”

“ફલમા ઉત્પન્ન થવાવાળા, સ્થળમા ઉત્પન્ન થવાવાળા વૃન્તવદ્વા અથવા  
નાલિવદ્વા ફૂલ સખ્યાત અસખ્યાત અથવા અનન્ત જીવવાળા છે, જોમ સમજવું  
જોઈએ ” ( પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર )

“ફૂલ એક જીવવાળા હોય છે ” આ શીલાકાચાર્યનું કથન મૂલભર્યું છે, કેમકે  
તે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રથી વિરુદ્ધ છે

ફલોમા મૂલ જીવની અપેક્ષા પ્રત્યેક બે-બે જીવ છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં કહ્યું છે-  
“ફલમા બે જીવ કહેલા છે ”

અહિં સુધી વૃક્ષેષુ નિરૂપણ કહ્યું, હવે શુષ્ક આદિના વિષયમાં કહે છે:-

જાતસ્તેન તચ્છરીરમૃત્વાદિત, સર્વથા સ્વાયત્તીકૃત ચ, કય તત્રાન્યેષા જીવાનામવ-  
કાશ', નદિ દેવદત્તશરીરે દેવદત્ત ઇધાન્યેઽપિ જીવાઃ સર્વાવયવેષુ સદૈવ પરસ્પરાનુ  
પ્રવેશપૂર્વક પ્રાદુર્ભવન્તિ ?

યદ્વા—યેનૈવ તચ્છરીર નિર્બાધ સત્યવકાશે સ્વેતરૈ' સહ પરસ્પરાનુપ્રવેશેન  
સ્વાધીન કૃત, સ એવ યત્ર પ્રધાન. સ્યાત્, તતશ્ચ તસ્યૈવ પર્યાપ્તાપર્યાપ્તવ્યવસ્થા,  
પ્રાણાપાનાદિયોગ્યપુદ્ગલોપાદાન વા ભવેત્, નતુ શેષાણામ્ ? અત્રોચ્યતે—

નાય પ્રશ્નો યુક્તિપયમારોહતિ, શક્ત્યાર્તુર્જિનશાસનપરિજ્ઞાનામાવાત્ ।

પહેલ જો જીવ ઉત્પન્ન હુઆ તસને વહ શરીર ઉત્પન્ન ક્રિયા ઔર ઉસે પૂરી તરહ અપના  
લિયા । ફિર તસ શરીર મેં દૂસરે જીવોં કો અવકાશ કિસ પ્રકાર મિલ સકતા હૈ ? દેવદત્ત  
કે શરીર મેં દેવદત્ત કી તરહ અય જીવ મી સવ અવયવોં મેં, એક દૂસરે મેં મિલકર ઉત્પન્ન  
કેસે હો સકતે હૈ ?

અથવા—મિસ જીવને વહ શરીર ઉત્પન્ન કરકે, અવકાશ હોને પર અપને  
સે મિન્ન અય જીવોંકે સાથ મિલકર ગ્રહણ ક્રિયા હૈ વહી જીવ તસ શરીર મેં પ્રધાન  
હોગા । એસી સ્થિતિ મેં તસી કી પર્યાપ્ત ઔર અપર્યાપ્ત કી વ્યવસ્થા હોગી । વહી પ્રાણાપાન  
આદિ કે યોગ્ય પુદ્ગલોં કો ગ્રહણ કરેગા । શેષ જીવોં કે વિષય મેં કિસ પ્રકાર વહ વ્યવસ્થા  
હો સકતી હૈ ।

સમાધાન—યહ શકા ઉચિત નહીં કહી જા સકતી, ક્યોં કિ શંકાકાર કો  
ચિનશાસન કા પરિજ્ઞાન નહીં હૈ ।

જે જીવ ઉત્પન્ન થયો તેણે તે શરીર ઉત્પન્ન કર્યું અને તેણે પૂરી રીતે પોતાનું કરી  
લીધું પછી એ શરીરમાં બીજા જીવોને અવકાશ કેવી રીતે મળી શકે છે ? દેવદત્તના  
શરીરમાં દેવદત્તની પ્રમાણે અન્ય જીવ પણ તમામ અવયવોમાં એક બીજાને મળીને  
ઉત્પન્ન કેવી રીતે થઈ શકે છે ?

અથવા જે જીવે આ શરીર ઉત્પન્ન કરીને અવકાશ મળતા પોતાનાથી વિન્ન  
અન્ય જીવોની સાથે મળીને ગ્રહણ કર્યું છે તે જીવ એ શરીરમાં પ્રધાન થશે એવી  
અવસ્થામાં—સ્થિતિમાં એની પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તની વ્યવસ્થા થશે તેજ પ્રાણ-  
અપાન આદિના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરશે શેષ-આદિના જીવોના વિષયમાં એ  
વ્યવસ્થા કેવી રીતે થઈ શકે છે ?

સમાધાન—આ શકા યોગ્ય નથી કેમકે—શકા કરનારને ચિન, શાસનનું  
પરિજ્ઞાન નથી

વીનિ । હરિવાનિ-તન્દુલીયક-વસ્તુલ-માજારપાદિકા-પાલ્કીયાદીનિ । ઓષધ્યા-શાલિ-ઘ્રીહિ-ગોધૂમ-યવ-વર્જરી-મૃદ-માપાદય । જલરુહા-ઉત્પલ-પદ્મ-કુસુદ-નલિન-પુણ્ડરીક-શતપત્ર-સહસ્રપત્ર-કોકનદા-રવિન્દ-પનક-પનકચટ્ટ-શૈવાલાદય । કુદ્ધા ભૂમિસ્ફોટકાઽપ્પકાય-સર્પચ્છત્રાદય ।

ઉક્તા પ્રત્યેકશરીરા વનસ્પતય । અથ સાધારણશરીરા પ્રરૂપ્યતે—

સાધારણનામકર્મોદયાદનન્તાના જીવાનાં સાધારણમેક શરીરં ભવતિ । તસ્માત્ સાધારણમેક શરીર યેવાં તે સાધારણશરીરાઃ ।

નનુ કયમનન્તજીવાનામેકં શરીર સંભવતિ, તથાહિ-ય' સ્વલ્લ પ્રયમં

કહછાતે હૈં । તન્દુલીયક, વસ્તુલ, માજારપાદિકા, પાલકી આદિ કો હરિત કહતે હૈં । શાલિ ઘ્રીહિ (ધાન) ઓ ગેહૂં, જો, ચાવરી, મૂગ, રુદ્ધ આદિ કે પૌષે ઓપધિ કહછાતે હૈં । ઉત્પલ, પદ્મ, કુસુદ, નલિન, પુણ્ડરીક શતપત્ર, સહસ્રપત્ર, કોકનદ, અરવિન્દ, પનક, પનકચટ્ટ, શૈવાલ આદિ કો ચલરુહ કહતે હૈં । ભૂમિસ્ફોટક, આપકાય ઓર સર્પચ્છત્ર આદિ કુદ્ધા કહછાતે હૈં ।

યહૌં તક પ્રત્યેકશરીર વનસ્પતિ કા વિવેચન હુમા । સાધારણશરીર કા પ્રરૂપણ હસ પ્રકાર હૈ—

સાધારણનામકર્મ કે સ્વયં સે અનન્ત જીવો કા એક સાધારણ હોતા હૈ । જિનકા શરીર સાધારણ અર્થાત્ એક હો, વે સાધારણશરીર કહછાતે હૈં ।

પ્રશ્ન—અનન્ત જીવો કા શરીર એક કેસે હો સકતા હો ? ક્યોં કિ પહેલે

વસ્તુલ (બધુવા) માજારપાદિકા, પાલકી (સુવાપાલક) આદિને હરિત કહે છે શાલી, ઘ્રીહિ (ધાન્ય) ગેહૂં-મઠ, જવ, બાજરા, મગ, અરુદ આદિ ઓષધિ કહેવાય છે ઉત્પલ, પદ્મ, કુસુદ, નલિન, પુણ્ડરીક, શતપત્ર, સહસ્રપત્ર, કોકનદ, અરવિન્દ, પનક, પનકચટ્ટ શૈવાલ આદિને જલરુહ કહે છે ભૂમિસ્ફોટક, આપકાય અને સર્પચ્છત્ર આદિ-કુદ્ધા કહેવાય છે

અહિં સુધી પ્રત્યેક વનસ્પતિનું વિવેચન થયું, સાધારણશરીરનું પ્રરૂપણ આ પ્રકાર છે—

સાધારણનામકર્મના ઉદયથી અનન્ત જીવોનું એક સાધારણશરીર હોય છે તેનું શરીર સાધારણ અર્થાત્ એક હોય તે સાધારણશરીર કહેવાય છે

શ. કા—અનન્ત જીવોના શરીર એક કેવી રીતે હોઈ શકે છે ? કેમકે પહેલે વહેલો

સાધારણમાહારો, સાધારણમાણપાણગ્રહણ ચ ।

સાધારણજીવાણ, સાધારણલક્ષણ એવં ॥ ૧૮ ॥ (પ્રમા ૦ ૧૧૫)

છાયા-સાધારણમાહાર, સાધારણમાણપાણગ્રહણ ચ ।

સાધારણજીવાના, સાધારણલક્ષણમેતત્ ॥ ૧૮ ॥

એવં ચ પરસ્પરાનુવિદ્વાનન્તજીવમમૂહરૂપેણ એકશરીરાવસ્થાયિનો જીવા સાધારણશરીરા इति સિદ્ધમ્ । ણ્તે સાધારણજીવશબ્દેન સાધારણશબ્દેનાપિ ચ વ્યપદિશ્યન્તે ।

તેજ્ઞેકવિદ્યા - સૂરણકન્દ - વજ્રકન્દ - શર્કરાકન્દ - રક્તાલુ - પિંડાલુ - લઘુન - પલાણ્ડુ - ગૃહ્જન - શ્વેતરાદય । વનસ્પતેર્મૂલસલગ્નો ભૂમ્યન્તર્ગતો ભાગવિશેષ કન્દ । એતેજ્ઞન્તજીવપિંડસ્વરૂપા સન્તિ ।

સાધારણ જીવો કા આહાર સાધારણ હોતા હૈ ઔર સાધારણ પ્રાણાપાન કા પ્રહણ હોતા હૈ, इस प्रकार उनका यह साधारण लक्षण कहा गया है ॥ १८॥ (प्रमा ० ११५)

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि एक दूसरे में मिले हुए अनन्तजीवसमूह रूप से एक ही शरीर में रहने वाले साधारण जीव हैं । इन जीवों के लिए 'साधारणजीव' तथा 'साधारण' शब्द का भी व्यवहार किया जाता है ।

સાધારણ જીવ અનેક પ્રકાર કે હોતે હૈ । જેસે-સૂરણકન્દ, વજ્રકન્દ, શર્કરાકન્દ, રક્તાલુ, પિંડાલુ, લઘુન, પ્યાજ, ગાજર, અદરસ આદિ । વનસ્પતિ કે મૂલક સાથે જુદા હુઆ ઔર જમીન કે અન્દર રહને વાલા હિસ્સા કન્દ કહલાતા હૈ । યે કન્દ અનન્ત જીવો કે પિંડ હૈ ।

સાધારણ જીવોના આહાર સાધારણ હોય છે અને સાધારણ પ્રાણાપાનનું ગ્રહણ હોય છે એ પ્રમાણે તેનું આ સાધારણ લક્ષણ કહ્યું છે (૧૮)'

આ પ્રમાણે સિદ્ધ થયું કે એક બીજામાં મળેલા અનન્તજીવસમૂહરૂપથી એક જ શરીરમાં રહેવા વાળા સાધારણ જીવ છે એ જીવોને માટે 'સાધારણ જીવ' તથા 'સાધારણ' શબ્દનો પણ વ્યવહાર કરી શકાય છે

સાધારણ જીવ અનેક પ્રકારના હોય છે જેમ-સૂરણકન્દ, રક્તાલુ, પિંડાલુ, લઘુન, ગુગળી, ગાજર, આદિ વનસ્પતિના મૂળની સાથે બેઠાબેઠા અને જમીનની અંદર રહેવાવાળો ભાગ કદ કહેવાય છે આ કદ અનન્ત જીવોના પિંડ છે

સાધારણનામકર્મપ્રમાવાદનન્તા અપિ જીવા એકસ્મિન્નેવ કાલે સર્વોત્પત્તિદેશે  
તિષ્ઠન્તિ, સર્વેવ પર્યાપ્તિર્નિર્વર્તયન્તિ, સર્વેવ પ્રાણાપાનયોગ્યપુદ્ગલાનુપાદદતે, સર્વે વ  
તેપામાહારાદિપુદ્ગલગ્રહણમ્, તસ્માન્ન કાચિદનુપપત્તિરિતિ । ઉક્તચ્ચ મગવતા—

“ સમય વક્રતાળં, સમય તેસિં શરીરનિષ્વિત્તી ।

સમયં આણમ્ગ્રહણં, સમય ઉત્સાનીસાસા ॥ ૧૬ ॥

એકસ્સ ડ જં ગહણ, વહૂણ સાહારણાણ ત્ત ચેવ ।

જં વહુયાણં ગ્રહણં, સમાસઓ તપિ એગસ્સ ॥ ૧૭ ॥

છાયા-સમકં વ્યુત્ક્રાન્તાનાં, સમક તેપાં શરીરનિર્ણુત્તિ ।

સમકમાનગ્રહણં, સમકમુજ્જ્વાસનિન્વાસૌ ॥ ૧૬ ॥

એકસ્ય ત્તુ યદ્ ગ્રહણં, વહૂનાં સાધારણાનાં તદેવ ।

યદ્ વહુકાનાં ગ્રહણં, સમાસવસ્તદપ્યેકસ્ય ॥ ૧૭ ॥

સાધારણનામકર્મ પ્રમાવ સે અનન્ત ધીવ એક હી કાલ મેં સાથ હી ઉત્પત્તિ દેશ મેં  
ઉત્પન્ન હોતે હેં, સાથ હી પર્યાપ્તિયો પૂર્ણ કરતે હેં, સાથ હી પ્રાણાપાન કે યોગ્ય પુદ્ગલોં કો  
ગ્રહણ કરતે હેં ઓર સાથ હી આહાર આદિ કે યોગ્ય પુદ્ગલોં કો ગ્રહણ કરતે હેં । અન્ત એવ  
હસ્ત કચન મેં તનિક મો અયુક્તિ નહીં હૈ । મગવાન્ ને કહા હૈ—

“સાથ હી વે ધીવ ઉત્પત્તિદેશ મેં આતે હેં, સાથ હી ઉનકા શરીર વનતા હૈ, સાથ હી  
પ્રાણ ગ્રહણ કરતે હેં, સાથ હી ડહ્વીસ—નિ આસ હોતે હેં (૧૬) એક ધીવ જો ગ્રહણ કરતા  
હૈ વહુ વહુત ધીવોં કે લિય સમાન હોતા હૈ ઓર વહુત ધીવ જો ગ્રહણ કરતે હેં વહુ એક  
ધીવ કે લિય મી હોતા હૈ (૧૭)

સાધારણ નામકર્મના પ્રમાવધી અનન્ત એવ એકેવ ઠાઠમા સાથેજ  
ઉત્પત્તિદેશમાં ઉત્પન્ન થયા છે સાથેજ પર્યાપ્તિયો પૂર્ણ કરે છે સાથેજ પ્રાણ-  
અપાનના યોગ્ય-પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે, અને સાથેજ આહાર આદિના યોગ્ય  
પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે એ માટે આ કચનમા જરાપણ અસ્વાભાવિકતા અથવા  
અયુક્તતા નથી અગવાને કહ્યું છે કે —

“તે એવ એક સાથેજ ઉત્પત્તિદેશમાં આવે છે, સાથેજ એનાં શરીરો અને છે,  
સાથેજ પ્રાણ ગ્રહણ કરે છે સાથેજ આસોડહ્વીસ થાય છે (૧૬) એક એવ ને ગ્રહણ  
કરે છે તે બધાય એવો માટે સમાનપણે થાય છે, અને તમામ એવો ને ગ્રહણ કરે  
છે તે એક એવને માટે પણ થાય છે (૧૭)

આકારત પ્રત્યેકવનસ્પતિરૂપેણ દૃશ્યમાના અપિ વનસ્પતયોઽનન્તજીવાઃ સન્તિ ।  
તેષાં લક્ષણમુચ્યતે—

યસ્મિન્ મૂલે ભગ્ને સતિ સમથક્રાકારો મદ્ગો ભવતિ, તત્ર નિયમતોઽનન્તા  
જીવા ભવન્તિ । તથા યસ્મિન્ સ્કન્દે ભગ્ને સતિ સમથત્રાકારો મદ્ગોદૃશ્યતે તત્રાપ્ય  
નન્તા જીવા । એવ ગ્રેપેષુ સ્કન્ધ-ત્વક્-શાસ્ત્રા-પ્રવાલ-પત્ર-પુષ્પ-ફલ-વીજેષ્વપિ  
વિદ્યેયમ્ । ઈદૃશશ્ચ મદ્ગ પ્રાયેણાપરિવાનસ્થાયા ભવતિ ।

તથા—યસ્ય વનસ્પતેર્મધ્યગતસારપૂતકાષ્ઠાપચ્ચયા વહુલતરા સ્થૂલા ત્વક્ ભવતિ  
સા ત્વગનન્તજીવસ્વરૂપા ।

આકાર સે પ્રત્યેકવનસ્પતિ કે સમાન દિશ્વાઈ દેને વાલી વનસ્પતિયૌ મી અનન્ત જીવ  
વાલી હોતી હં । ઉનકા લક્ષણ યહ હૈ—

જિસકા મૂલમાગ તોડન પર સમાન ચક્રાકાર મગ હોતા હૈ, ઉસમેં નિયમ સે  
અનંત જીવ હોતે હૈં । હસી પ્રકાર જિસકા કન્દ મૉગને પર સમાન ચક્રાકાર મગ દિશ્વાઈ દે  
ઉસમેં મી અનન્ત જીવ હોતે હૈં । યહી બાત સ્કન્ધ, ત્વચ્ચા, શાસ્ત્રા, પ્રવાલ, પત્ર, પુષ્પ, ફલ  
ઔર વીજો કે વિષય મેં મી સમજની યાહિય । હસ પ્રકાર કે મગ પ્રાય સબ હોતે હૈં જબ  
વનસ્પતિ કચ્ચી હોતી હૈં ।

હસકે અતિરિક્ત જિસ વનસ્પતિ કે જીવ કે સારમાગ કી અપેક્ષા છાલ વહુત મોટી  
હોતી હૈ વહ છાલ મી અનન્ત જીવ વાલી હોતી હૈ ।

આમરથી પ્રત્યેક વનસ્પતિના સમાન-સરખી-રોખાવાવાળી વનસ્પતિ પણ અનન્ત  
જીવવાળી હોય છે તેનું લક્ષણ એ છે કે જેના મૂળભાગને તોડવાથી સમાન ચક્રાકાર  
ભાગ થાય છે, તેમા નિયમથી અનન્ત જીવ હોય છે એ પ્રમાણે જેના કન્દ ભાગવાથી  
સમાન ચક્રાકાર ભાગ થયો હોય તો આવે તેમાં પણ અનન્ત જીવ હોય છે એજ  
વાત સ્કન્ધ, ત્વચ્ચા, શાખા, પ્રવાલ, પત્ર-પાહડાં, પુષ્પ, ફલ અને બીજોના વિષયમાં  
પણ સમજવી જોઈએ. આ પ્રકારનો ભાગ પ્રાય ક્યારે થાય છે કે ક્યારે વનસ્પતિ  
કાચી હોય છે ત્યારે થાય છે

જોના ચિવાય જે વનસ્પતિના વચ્ચમા સારભાગની અપેક્ષા છાલ ઘણી જ મોટી  
હોય છે, તે છાલ પણ અનન્તજીવવાળી હોય છે

વાદરા વનસ્પતય સક્ષેપતઃ પદિવધાઃ-અગ્રવીજ-મૂલવીજ-પર્વવીજ-સ્કન્ધ  
 વીજ-વીજરુહ-સમૂર્ચ્છિમમેવાત્ । અગ્રે વીજ યેપાં તે-અગ્રવીજા કોરપ્ટકમમૃતયઃ ।  
 મૂલમેવ વીજ યેપાં તે મૂલવીજા\* કદલ્યાદય\* । પર્વણિ=ગ્રન્થો સન્ધિમાગે પર્વે વા  
 વીજ યેપાં તે પર્વવીજાઃ શ્લુ-ચશ-ચેત્રપ્રમૃતયઃ । સ્કન્ધ =સ્થુડ, સ એવ વીજ યેપાં તે  
 સ્કન્ધવીજાઃ=અરણિ-શ્લુકી-સ્તુહીપ્રમૃતયઃ । વીજાદ્ રોહન્તિ=પ્રાદુર્ભવન્તીતિ વીજ  
 રુહાઃ=શાલી-ગોધૂમ-જવ-મકા-ચર્ચરીપ્રમૃતય । સમૂર્ચ્છન્તિ=વીજ વિનાઽપિ દગ્ધમ  
 માવપિ સમુદ્ભવન્તીતિ સમૂર્ચ્છિમા પૃથિવીજલસયોગમાત્રજનિતાસ્તૃણવિશેષાઃ ।

વાદર વનસ્પતિ સક્ષેપ મેં છઠ પ્રકાર કી હૈં-(૧) અગ્રવીજ (૨) મૂલવીજ  
 (૩) પર્વવીજ (૪) સ્કન્ધવીજ (૫) વીજરુહ જૌર (૬) સમૂર્ચ્છિમ । જિન વનસ્પતિયોંકા  
 વીજ આગે રહતા હૈં એસી કોરપ્ટક આદિ વનસ્પતિયૌં અગ્રવીજ કહલાતી હૈં । પર્વ  
 (પોર-સન્ધિમાગ) મેં જિનકા વીજ હો, યા પર્વ હી જિનકા વીજ હો ઉહેં પર્વવીજ  
 કહતે હૈં, જેસે-ઈસ્, કૈસ, બેંસ આદિ । સ્કન્ધ જિનકા વીજ હો એસી અરણિ,  
 શ્લુકી, સ્તુહી (ચુદર) વગેરહ સ્કન્ધવીજ કહલાતી હૈં । શાલી, ગેહૂં, જૌ, મકી, વાજરી વગેરહ  
 વીજ સે ઊગને વાલી વનસ્પતિ કો વીજરુહ કહતે હૈં । વીજ કે વિના મી, જલી હુર્  
 જમીન આદિ મેં મી પૃથ્વી જૌર જલ કે સંયોગમાત્ર સે ઉત્પન્ન હોને વાલી વનસ્પતિ  
 સમૂર્ચ્છિમ કહલાતી હૈં ।

વાદર વનસ્પતિ સક્ષેપમાં છ પ્રકારની છે- (૧) અગ્રવીજ, (૨) મૂળવીજ,  
 (૩) પર્વવીજ, (૪) સ્કન્ધવીજ, (૫) વીજરુહ, (૬) સમૂર્ચ્છિમ. જે વનસ્પતિઓંકા  
 વીજ આગળ રહે છે એવી કોરટક આદિ વનસ્પતિઓં અગ્રવીજ કહેવાય છે. મૂળ  
 એવ જેનું વીજ હોય એવી કદળી આદિ વનસ્પતિઓં મૂળવીજ છે. (પોર-સન્ધિમાગ)માં  
 જેનું વીજ હોય તેને પર્વવીજ કહે છે, જેમકે-ચેલડી, વાંસ, નેતર આદિ સ્કન્ધ  
 જેનું વીજ હોય તે અરણી શસ્ત્ર, સ્તુહી (ચીર) વગેરે સ્કન્ધવીજ કહેવાય છે. શાલી,  
 ધૈ, જવ, મકાઈ, બાજરી વગેરે વીજથી ઊગવા વાળી વનસ્પતિને વીજરુહ કહે  
 છે. વીજ વિના પણ બની ગયેલી જમીન આદિમાં પણ પૃથ્વી અને જલના  
 યુગોગમાત્રથી ઉત્પન્ન થવા વાળી વનસ્પતિ તે સમૂર્ચ્છિમ કહેવાય છે.

ગૂદશિરાકમિતિ=ગૂદા.=અનુસ્યમાણા શિરા=નાહીકાલં તન્તુજાલમિતિ વા  
યસ્ય તત્ । પ્રણપ્તસઘીતિ=પ્રણપ્ત=સર્વથાડનુપલસ્યમાણ, સન્ધિ=પત્રદ્વયસયોગરૂપો  
ભાગો યસ્ય તત્ । एतादृश पत्र ससीर=સદુગ્ધમ્, નિ સીરમ્=અનુત્પન્નદુગ્ધવા તદનન્ત-  
જીવ વિજાનીઠીત્યર્થઃ ।

एवमन्येऽप्यनेकविधा. क्षैवालादयोऽनन्तजीवा स्वपुद्गद्या गुरुगमेन वा  
परिभावनीया । विस्तरतस्तु जिज्ञासुमि प्रज्ञापनासूत्र विलोकनीयम् ।

सूक्ष्मनिगोदास्तु भगवद्वचनावगम्या एव, अनन्तशरीरसघाते सत्यप्यतिमૂक्ष्म-  
त्वाभास्माकं चक्षु पथेऽवतरन्ति । “आणागिज्ज्ञा एए चक्षुष्फास न ते इति”  
इति वचनात् । उक्तञ्च प्रज्ञापनायां सदृष्टान्त निगोदजीवस्वरूप, यथा—

इसी प्रकार सेवार आवि अयाय वनस्पतियों को भी अपनी बुद्धि से या गुरुगम से  
अनंतजीववाली समझ लेनी चाहिए । जिन्हें विस्तारपूर्वक जानना हो उन्हें प्रज्ञापनासूत्र  
देखना चाहिए ।

सूक्ष्म निगोद भगवान् क वचन से ही समझे जा सकते हैं । एक शरीर में  
अनंत जीवों का पिण्ड होने पर भी वे जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम अपने नेत्रों से  
(आगम) उन्हें नहीं देख सकते । कहा भी है—“ये जीव सर्वज्ञकी आज्ञा से ही ग्रहण किये  
(जान) जाते हैं । आखे उन्हें नहीं देख सकती” । प्रज्ञापना सूत्र में उदाहरण के साथ निगोद  
का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

એ પ્રમાણે સેવાળ આવિ બૂઢી-બૂઢી વનસ્પતિઓને પણ પોતાની બુદ્ધિથી  
અથવા ગુરુગમથી અનંતજીવવાળી સમજ લેવી જોઈએ, જેને વિસ્તારપૂર્વક બાજુવાની  
ધૃષ્ટિ હોય તેઓએ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર જોઈ લેવું જોઈએ

સૂક્ષ્મનિગોદ ભગવાનના વચનથી જ સમજ શકાય છે (બાણી શકાય છે)  
એક શરીરમાં અનંત જીવોના પિંડ હોવા છતાં પણ તે જીવ એટલા સૂક્ષ્મ હોય  
છે કે આપણે આપણા નેત્રથી તેને જોઈ શકતા નથી કહ્યું પણ છે કે—“તે જીવ  
સર્વજ્ઞની આજ્ઞા (આગમ)થી જ જાણ કરવામાં આવે છે—બાજુવામાં આવે છે, નેત્રથી તે  
જોઈ શકાતા નથી” પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં ઉદાહરણની સાથે નિગોદનું સ્વરૂપ આ  
પ્રમાણે બતાવ્યું છે—



તથા—કિસલયરૂપે પદ્માનુરે ઉદ્ભવમાને નિયમતોજનન્તા જીવા મ્બવન્તિ । ઉક્તમ્  
પ્રજ્ઞાપનાયાં પ્રથમપદ ।

“ સત્વોઽપિ કિસલયો ગ્વલ્લ, ઊગ્ગમમાળો અણતઓ મણિઓ. ” ઇત્યાદિ ।

છાયા—સર્વોઽપિ કિસલય સ્વલ્લ ઉદ્ભવચ્છન્ અનન્ત મણિત ઇત્યાદિ ।

વનસ્પતિર્મિથમાન' પૃથિવીસદ્ગુણેન મેદેન મિથત, સોઽપ્યનન્તજીવસ્વરૂપ । અન્યથ—

“ ગૂદસિરાગ પત્ત, સચ્છીર જં ચ દોદ નિચ્છીર ।

જપિ ય પદ્મણસંધિ, અણતજીવ વિયાણાદિ ॥ ૧ ॥ ” ઇતિ । (પ્રજ્ઞા૦)

છાયા—ગૂદશિરાકં પત્ર, સસીર યથ મવતિ નિ ધીરમ્ ।

યદપિ ચ પ્રણપ્તસન્ધિ, અનન્તજીવ વિજ્ઞાનીદિ ॥ ૧ ॥ ઇતિ ।

તથા—કૌપલ જવ ઉત્પન્ન होती है तो उसमें भी अनन्त जीव होते हैं । प्रज्ञापना के पहल पदमें कहा है—

“ उगते हुए सभी किसलय अनन्तकाय कहे गये हैं । ”

जिस वनस्पति की मूँछें या पोर, तोड़नेपर रस से भरी हो, या जो वनस्पति, दूटने पर पृथ्वी के समान मैदानों से दूटे, वह भी अनन्तजीववाली होती है ।

और भी कहा है —

“ जिस के तंतु साफ बिस्लाई न देत हों, तथा जिसकी संधि बिल्कुल बिस्लाई न देती हो ऐसा पत्ता, अगर दूधवाला हो या उसमें दूध उत्पन्न न हो, उसे भी अनन्तजीववाला समझना चाहिए ” ।

તથા—કુપળ જ્યારે ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે તેમાં પણ અનન્ત જીવ હોય છે. પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદમાં કહ્યું છે કે—

“ ઉગતાં હોય તે સર્વ કિસલય ( પદ્મવ તાલ્લ કુમળા પાનનો સમૂહ ) અનન્તકાય કહ્યાં છે ”

જે વનસ્પતિની મૂંછિ—મૂંઠ અથવા પોર, તોડવાથી રસથી ભરેલી, હોય અથવા જે વનસ્પતિ, તૂટવાથી પૃથ્વીના સમાન ભેદાથી તૂટે તે પણ અનન્ત જીવવાળી હોય છે બીજી પણ કહ્યું છે કે—

“ જેનાં તંતુઓ સાફ બિસ્લાઈ ન હોય તથા જેની સંધિ ( સંધિ ) બીલકુલ બિસ્લાઈ હોય નહિ, એવા પાદડા દૂધવાળા હોય અથવા એમાં દૂધ ઉત્પન્ન હોય નહિ, તેને પણ અનન્ત-જીવ વાળા સમજવા બોધ્યો છે ”

ગૂદશિરાકમિતિ=ગૂદા=અન્નરૂપમાણા શિરા=નાઢીજાલં તન્તુજાલમિતિ વા  
યસ્ય તત્ । પ્રણપ્તસધીતિ=પ્રણપ્ત=સર્વથાડનુપલસ્યમાણ, સન્ધિ=પત્રદ્વયસયોગરૂપો  
ભાગો યસ્ય તત્ । एतादृश पत्र ससीर=સદુગ્ધમ્, નિ સીરમ્=અનુત્પન્નદુગ્ધવા તદનન્ત-  
જીવ વિજાનીધીત્યર્થઃ ।

एवमन्येऽप्यनेकविधा शैवालादयोऽनन्तजीवा. स्वबुद्ध्या गुरुगमेन वा  
परिभावनीया । विस्तरतस्तु जिज्ञासुभिः प्रज्ञापनासूत्रं विलोम्नीयम् ।

सूक्ष्मनिगोदास्तु भगवद्वचनावगम्या एव, अनन्तशरीरसघाते सत्यप्यतिमૂक्ष्म-  
त्वाच्चास्माकं चक्षुः पथेऽन्तरन्ति । “आणागिज्ज्ञा एए चक्षुष्फासं न ते इति”  
इति वचनात् । उक्तञ्च प्रज्ञापनायां सदृष्टान्तं निगोदजीवस्वरूप, यथा—

इसी प्रकार सेवार आवि अन्याय वनस्पतियों को भी अपनी बुद्धि से या गुरुगम से  
अन्तर्जीववाली समझ लेनी चाहिए । जिन्हें विस्तारपूर्वक जानना हो उन्हें प्रज्ञापनासूत्र  
देखना चाहिए ।

सूक्ष्म निगोद भगवान् के वचन से ही समझे जा सकते हैं । एक शरीर में  
अनंत जीवों का पिण्ड होने पर भी वे जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम अपने नेत्रों से  
(आगम) उन्हें नहीं देख सकते । कहा भी है—“ये जीव सर्वज्ञकी आज्ञा से ही ग्रहण किये  
(जाने) जाते हैं । आखे उन्हें नहीं देख सकती” । प्रज्ञापना सूत्र में उदाहरण के साथ निगोद  
का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

એ પ્રમાણે સેવાળ આદિ બૂદ્ધી-બૂદ્ધી વનસ્પતિઓને પણ પોતાની બુદ્ધિથી  
અથવા ગુરુગમથી અનંતજીવવાળી સમજી લેવી જોઈએ, જેને વિસ્તારપૂર્વક જાણવાની  
ધૃષ્ટિ હોય તેઓએ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર જોઈ લેવું જોઈએ.

સૂક્ષ્મનિગોદ જાગવાનના વચનથી જ સમજી શકાય છે (જાણી શકાય છે)  
જેક શરીરમાં અનંત જીવોના પિંડ હોવા છતાં પણ તે જીવ એટલા સૂક્ષ્મ હોય  
છે કે આપણે આપણા નેત્રથી તેને જોઈ શકતા નથી. કહ્યું પણ છે કે—“તે જીવ  
સર્વજ્ઞની આજ્ઞા (આગમ)થી જ અહીં જરવામાં આવે છે—જાણવામાં આવે છે, નેત્રથી તે  
જોઈ શકાતા નથી” પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં ઉદાહરણની સાથે નિગોદનું સ્વરૂપ આ  
પ્રમાણે બતાવ્યું છે—

“જહ અયગોલો ધતો, જામો તત્તવવણિજસકાસો ।

સન્વો અગણિપરિણ્થો, નિગોઅજીવે તદ્દા જાણ ” ॥ ૧ ॥ ઇતિ ।

છાયા—યયાડયોગોલો ધ્માતો, જાતસ્તત્તવપનીયસકાસ ।

સર્વોડગ્નિપરિણતો, નિગોજીવાન્ તથા જાનીદિ ॥ ૧ ॥

યયા—અયોગોલોડગ્નિના ધ્માતઃ તત્ત્વસુવર્ણસદૃશઃ સર્વોદ્ધતોડગ્નિપરિણતોડગ્નિ-  
રૂપ એવ મવતિ હે શિષ્ય ! તથૈવ નિગોદજીવાન્ જાનીદિ । નિગોદજીવાનાં પરિમાણ  
સ્વરૂપમેવ વિજ્ઞેયમ્—

અય લોકધર્તુર્વશરજ્જુપરિમિતોડસ્તિ । એકો રજ્જુરસંખ્યાતયોજનાત્મક, યોજનં  
સંખ્યાતાઙ્ગુલપરિમિતમ્, એકમઙ્ગુલમસંખ્યાતાકાદ્યપ્રદેશાત્મક મવતિ । તસ્યાઙ્ગુ-  
લસ્યૈકૈકાકાદ્યપ્રદેશે નિગોદાનામસંખ્યાતા ગોલકા, એકૈકસ્મિન્ ગોલકે નિગોદાનામ  
સંખ્યાતાનિ શરીરાણિ, એકૈકસ્મિન્ શરીરેજનન્તા જીવા નિવસન્તિ । ઉક્તચ્ચ—

“જેવે અગ્નિ મેં તપાયા હુઆ લોહ કે ગોળ તપે સોને કે સમાન પૂર્ણતયા અગ્નિરૂપ  
હો જાતા હૈ, હે શિષ્ય ! उसी प्रकार निगोद के जीव समस्तो ” । નિગોદ જીવોં કા પરિમાણ  
इस प्रकार समझना चाहिए—

લોકાકાશ ચૌદ્ધ રાજૂ કા હૈ । એક રાજૂ મેં અસંખ્યાત યોજન હોતે હૈં જૌર  
સંખ્યાત અંગુલ કા એક યોજન હોતા હૈ । આકાશ કે અસંખ્યાત પ્રદેશ—પરિમિત એક અંગુલ  
હોતા હૈ । હમ અંગુલ કે એક—એક આકાશ પ્રદેશ મેં નિગોદ જીવોં કે અસંખ્યાત ગોલે હોતે  
હૈ । એક—એક ગોલક મેં અસંખ્યાત શરીર હોતે હૈં જૌર એક—એક શરીર મેં અનન્ત જીવોં કા  
નિવાસ હૈ । કહા મી હૈ—

“જેમ અગ્નિમાં તપાવેલા લોહના ગોળા તપેલા સોના—પ્રમાણે પૂર્વપક્ષે  
અગ્નિરૂપ જ થઈ જાય છે, હે શિષ્ય ! એ પ્રમાણે નિગોદના જીવ સમસ્તો ” નિગોદના  
જીવોનું પરિમાણ—એ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ—

લોકાકાશ ચૌદ શબ્દોનો છે એક શબ્દમાં અસંખ્યાત યોજન થાય છે, અને  
સંખ્યાત અંગુલનો એક યોજન થાય છે આકાશના અસંખ્યાતપ્રદેશ—પરિમિત એક  
અંગુલ હોય છે એ અંગુલના એક—એક આકાશપ્રદેશમાં નિગોદ જીવોના અસંખ્ય  
ગોળા હોય છે એક—એક ગોલકમાં અસંખ્યાત શરીર હોય છે અને એક—એક શરીરમાં  
અનન્ત જીવોના નિવાસ છે. કહ્યું પણ છે—

“ ગોલા ય અમગ્વિજ્ઞા, કૃતિ નિગોયા અસરયા ગોલે ।

एकैको य निगोओ अणतजीवो मुणोयव्वो ” ॥ ૧ ॥

छाया-गोलाश्च अमरुयेया , भवन्ति निगोदा असरयेया गोले ।

एकैकश्च निगोदः, अनन्त जीवो ज्ञातव्य ॥ ૧ ॥ इति ।

તપ્રસ્થપ્રત્યેકનીવસ્ત્ય તૈજસકાર્મણે દે દે શરીરે પૃથક્ પૃથક્ સ્ત । તદેકૈક શરીરમનન્તજ્ઞાનાવરણીયાદિયાવદનન્તાન્તરાયકર્મણા વર્ગણામિ સયુક્ત વર્તતે । સા ચૈકૈકા વર્ગગાન્નન્તસૂક્ષ્મપરમાણુમયો ભવતીતિ મુદ્ધમત્વ નિગોદજીવાના સિદ્ધમ્ ।

ये च शरीरत्रयाङ्गुलासख्येयभागशरीरादिभेदा पृथिवीकायोद्देशेऽभिहितस्ते वनस्पतिकायानामपि बोध्या , केवलमनित्यस्यम्=अनियताकार शरीरसस्या-

“અગુલ કે એક આકાશપ્રદેશ મેં અસદ્ધયાત ગોલે, એક ગોલે મેં અસન્યાત નિગોદ-શરીર ઓર એક-એક નિગોદગમ્મ મેં અનન્ત જીવ જાનન વાદ્દિપ” ॥૧॥

નિગોદ મેં રહેને વાલે હરેક જીવ કે અલગ-અલગ તૈજસ ઓર કાર્મણ શરીર હોતે હૈં, ઓર પ્રત્યેક શરીર અનન્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ તથા અનન્ત અન્તરાય કર્મોં કી વર્ગગાઓં સે સયુક્ત હૈ, વહ એક વર્ગગા અનન્તસૂક્ષ્મપરમાણુરૂપ હોતી હૈ । ઇસ કથન સે નિગોદિયા જીવોં કી સૂક્ષ્મતા સિદ્ધ હોતી હૈ ।

પૃથિવીકાય કે ઉદ્દેશ મેં ત્રણ શરીર તથા અગુલ કે અસંખ્યાતવૈ ભાગ કી અવગાહના આદિ કા કથન ક્રિયા હૈ, વહ વનસ્પતિકાય કે લિપ્ત સી સમજના વાદ્દિપ । યહાં વિશેષ વાત યહ હૈ કિ વનસ્પતિ જીવોં કે શરીર કા આકાર અનિયત હોતા હૈ ।

“ અગુલના એક આકાશપ્રદેશમા અસખ્યાત ગોળા, એક ગોળામા અસખ્યાત નિગોદ-શરીર અને એક-એક નિગોદ શરીરમા અનન્તજીવ બહુવા બોધકે ” ॥૧॥

નિગોદમાં રહેવા વાળા હરેક જીવને અલગ-અલગ તૈજસ અને કાર્મણ શરીર હોય છે, અને પ્રત્યેક શરીર અનન્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ તથા અનન્ત અન્તરાય કર્મોની વગણાઓથી સયુક્ત છે તે એક વગણા અનન્તસૂક્ષ્મપરમાણુરૂપ હોય છે આ વચનથી નિગોદના જીવોની સૂક્ષ્મતા સિદ્ધ થાય છે

પૃથ્વીકાયના ઉદ્દેશમા ત્રણ શરીર તથા અગુલના અસખ્યાતમા ભાગની અવગાહના આદિનું નિરૂપણ થયું છે તે વનસ્પતિકાય માટે પણ સમજ લેવું બોધકે. અહિં વિશેષ વાત એ છે કે -વનસ્પતિના જીવોનો આકાર અનિયત (નિયમવગરનો) હોય છે

નમેષામ્, શોષમન્યત્ સમાનમ્ । એવા સ્થાન ઘનોદધિવાતવલયાદિ । સંખ્યામત્ત્રીકૃત્યા નન્તાઃ સર્વે ઘનસ્પતય ।

એવ ઘનસ્પતીના વૃક્ષાદિમેદૈઃ પ્રત્યેકસાધારણમેદૈઃ, તથા-વર્ણગંધરસસ્પર્શમેદૈઃ સદૃશશો મેદા ભવન્તિ । યોન્યાદિમેદૈ પુનર્લક્ષણો મેદા જાયન્તે ।

ઘનસ્પતેર્યોનિ સંવૃતા ભવતિ । તસ્યા સચિત્તાચિત્તમિથ્રમેદેન પ્રયો મેદા, તથા શીતોષ્ણમિથ્રમેદેન પ્રયો મેદા । એવ ગણનયા પ્રત્યેકઘનસ્પતિયોનીના દશલક્ષ સદયકા મેદા ભવન્તિ । સાધારણઘનસ્પતીનાં ચતુર્દશલક્ષસરૂપકા મેદા જાયન્તે ।

શોષ સર્વ પૂર્વવત્ત્વ હૈ । હન કા સ્થાન ઘનોદધિવાતવલય આદિ હૈ । સંખ્યા કી અપેક્ષા પૂર્વોક્ત સર્વ પ્રકાર કી ઘનસ્પતિ-સંખ્યા અનન્ત હૈ ।

વૃક્ષ આદિ કે મેદો કી અપેક્ષા, પ્રત્યેક-સાધારણ કી અપેક્ષા તથા વર્ણ, રસ ગંધ ઔર સ્પર્શ કે મેદ કી અપેક્ષા ઘનસ્પતિ કે હવારી મેદ હોતે હૈ । યોનિ આદિ કે મેદો કી અપેક્ષા વિચાર ક્રિયા કામ તો લાસો મેદ હો જાતે હૈ ।

ઘનસ્પતિ કી યોનિ સંવૃત્ત હૈ । સંવૃત્તયોનિ સચિત્ત, અચિત્ત, ઔર મિથ્ર કે મેદ છે ત્રીન પ્રકાર કી હોતી હૈ । શીત, ઉષ્ણ તથા મિથ્ર કે મેદ સે મી ત્રીન પ્રકાર કી હૈ । ઇસ પ્રકાર ગણના કરન સે પ્રત્યેકઘનસ્પતિ કી કુલ લાસ યોનિયો હૈ । સાધારણઘનસ્પતિ કી યોનિયો બીસહ લાસ હૈ ।

બાકી તમામ પૂર્વ પ્રમાણે છે એવું સ્થાન ઘનોદધિવાતવલય આદિ ઇ સંખ્યાની અપેક્ષા પૂર્વોક્ત સર્વ પ્રકારની ઘનસ્પતિ-સંખ્યા અનન્ત છે

વૃક્ષ આદિના લેહોની અપેક્ષાએ, પ્રત્યેક-સાધારણ અપેક્ષાએ તથા વર્ણ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શના લેહોની અપેક્ષાએ ઘનસ્પતિના દશલક્ષ લેહ થાય છે યોનિ આદિના લેહોની અપેક્ષાએ વિચાર કરવામાં આવે તો લાખો લેહ થઈ જાય છે ઘનસ્પતિની યોનિ સંવૃત્ત છે સંવૃત્તયોનિ સચિત્ત, અચિત્ત અને મિથ્રના લેહથી ત્રણ પ્રકારની હોય છે અને શીત ઉષ્ણ તથા મિથ્રના લેહથી ત્રણ પ્રકારની છે આ પ્રમાણે જણના કરવાથી પ્રત્યેકઘનસ્પતિની કુલ લાખ યોનિઓ છે, અને સાધારણ ઘનસ્પતિની યોનિઓ ચૌદ લાખ છે

### પરિમાણદ્વારમ્—

ઉક્ત પ્રરૂપણાદ્વારમ્ । પરિમાણદ્વારમુચ્યતે—પર્યાપ્તવાદરા\* પ્રત્યેકવનસ્પતિ-  
જીવાઃ પિષ્કીભૂત-ચતુષ્કોણીકૃત-લોકત્રેણ્યસંખ્યેયમાગવર્ત્યાકાશપ્રદેશરાશિપ્રમાણા,  
વાદરપર્યાપ્તતેજસ્કાયજીવરાશોશ્વાસંખ્યાતગુણા સન્તિ ।

અપર્યાપ્તવાદરા\* પ્રત્યેકવનસ્પતિજીવાસ્તુ અસંખ્યાતાનાં લોકાના યાવન્ત\* પ્રદેશ-  
સ્તાવન્તઃ સન્તિ । ઇમેઽપ્યપર્યાપ્તવાદરતેજસ્કાયજીવરાશિતથાઽસંખ્યાતગુણા । પ્રત્યેક-  
વનસ્પતય સૂક્ષ્મા ન સન્તિ, શાસ્ત્રેઽનુપાદાનાત ।

સાધારણવનસ્પતિજીવા\*—સૂક્ષ્મવાદરપર્યાપ્તમેદૈશ્વર્યવિધા અપિ પૃથક્ પૃથગન-  
ન્તાનાં લોકાનાં યાવન્ત\* પ્રદેશસ્તાવન્ત ડતિ । અત્રાય વિશેષ\*—

### પરિમાણદ્વાર—

પ્રરૂપણાદ્વાર હુઆ । અવ પરિમાણદ્વાર કહતે હૈં—પર્યાપ્તવાદર—પ્રત્યેકવનસ્પતિ જીવ  
ચૌકોન કી હુઈ લોકત્રેણી કે અસંખ્યાતવે માગવર્તી આકાશપ્રદેશો કી રાશિ કે બરાબર  
હૈં, ઔર વાદરપર્યાપ્તતેજસ્કાય કે જીવો સે અસંખ્યાતગુણે હૈં । અસંખ્યાત લોકકાશો કે  
પ્રદેશો કી બરાબર અપર્યાપ્ત વાદર પ્રત્યેકવનસ્પતિકાય કે જીવ હૈં, ઔર યે મી અપર્યાપ્તવાદર  
તેજસ્કાય કે જીવો સે અસંખ્યાત ગુણે હૈં । પ્રત્યેક વનસ્પતિ મેં સૂક્ષ્મ જીવ નહીં હોતે, ક્યો  
કિ શાસ્ત્ર મેં કહી ડનકા ડલ્લેલ નહીં હૈ ।

સાધારણ વનસ્પતિ કે જીવ સૂક્ષ્મ, વાદર પર્યાપ્ત ઔર અપર્યાપ્ત કે મેદ સે ચાર પ્રકાર  
કે હૈં । ઇન ચારો રાશિયો મેં સે પ્રત્યેકજીવરાશિ કી સંખ્યા અનન્ત લોકાકાશ કે પ્રદેશો કે  
બરાબર હૈ । ઇસમેં ઇતની વિશેષતા સમજ ડેની જાહિમ્—

### પરિમાણ દ્વાર—

પ્રરૂપણાદ્વાર થયુ હવે પરિમાણદ્વાર કહે છે—પર્યાપ્તબાહરપ્રત્યેકવનસ્પતિ જીવ,  
ચતુષ્કોણી કહેલી લોકત્રેણીના અસંખ્યાતમા માગવર્તી આકાશપ્રદેશોની રાશિ—લગભગના  
બરાબર છે અને બાહરપર્યાપ્તતેજસ્કાયના જીવોથી અસંખ્યાતગણા છે, અસંખ્યાત  
લોકાકાશોના પ્રદેશોની બરાબર અપર્યાપ્તબાહર પ્રત્યેકવનસ્પતિકાયના જીવ છે અને તે  
પણ અપર્યાપ્તબાહર તેજસ્કાયના જીવોથી અસંખ્યાતગણા છે પ્રત્યેક વનસ્પતિમા  
સૂક્ષ્મજીવ નથી, કેમકે—તેના શાસ્ત્રમા કોઈ સ્થાને ઉલ્લેખ નથી.

સાધારણ વનસ્પતિના જીવ સૂક્ષ્મ, બાહર, પર્યાપ્ત અને અપર્યાપ્તના લેહથી  
ચાર પ્રકારના છે આ ચારેય રાશિઓમાંથી પ્રત્યેકજીવરાશિની સંખ્યા અનન્ત  
લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે તેમા એટલી વિશેષતા સમજ લેવી જોઈએ—

સાધારણવાદરપર્યાપ્તકેમ્ય સૂક્ષ્મા અપર્યાપ્તા અસંખ્યાતગુણા । તેમ્યોઽપિ સૂક્ષ્મપર્યાપ્તકા અસંખ્યાતગુણા વિજ્ઞેયા इति ।

સૂક્ષ્માનન્તજીવાનાં પરિમાણ કિયદિતિ સદૃશાન્તમુચ્યતે-યથા-કથિત્ પ્રસ્તાદિમાપકવસ્તુના ધાન્યરાશિ પરિમાપ્યાઞ્યત્ર નિસિપતિ, તથા યદિ સાધારણસૂક્ષ્મ જીવરાશિ લોકરૂપમસ્થેન માપયેત્ લોકા સમૃતા મવેયુ ।

પર્યાપ્તવાદરનિગોદપરિમાણ ચ યથા—

ધનીભૂતચતુરસ્રીકૃતસફલલોકપ્રતરસ્યાસસ્યેયમાગવર્તિપ્રદેશરાશિપ્રમાણા પર્યાપ્તવાદરનિગોદા સન્તિ, તે પ્રત્યેકશરીર-વાદરવનસ્પતિ-પર્યાપ્તકેમ્યો-

સાધારણવાદરપર્યાપ્ત જીવો કી અપેક્ષા વાદર-અપર્યાપ્ત અસંખ્યાતગુણા હૈ । વાદરપર્યાપ્ત કી અપેક્ષા સૂક્ષ્મ-અપર્યાપ્ત અસંખ્યાતગુણા હૈ ઔર સૂક્ષ્મ-અપર્યાપ્ત उनसे भी अસंખ્યાતગુણા હૈ ।

સૂક્ષ્મ અનન્ત જીવો કા પરિમાણ કિતના હૈ, યહ વાત દૃશાન્ત દેખર સમજાતે હૈ-જૈસે કોઈ પુરુષ પ્રત્ય (સેર) આદિ થાટો સે ધાન્ય તોછકર દૂસરી જગહ રત્ન દેસા હૈ, ઊતી પ્રકાર યદિ સાધારણસૂક્ષ્મજીવરાશિ કો લોકરૂપી પ્રત્ય સે નાપા જાય તો અનંત લોક મર જાવૈ ।

પર્યાપ્ત વાદર નિગોદ જીવો કા પરિમાણ હસ પ્રકાર કા હૈ—

ચૌકોર (ચતુષ્કોણ) ધન કિયે હુપ સમ્પૂર્ણ લોકપ્રતર કે અસંખ્યાતવૈ માગવર્તી પ્રદેશો કૈ બરાબર પર્યાપ્તવાદરનિગોદ જીવ હૈ । તે પ્રત્યેકશરીર-વાદરવનસ્પતિ

સાધારણપર્યાપ્ત જીવોની અપેક્ષા બાહરઅપર્યાપ્ત અસંખ્યાતગુણા છે બાહર પર્યાપ્તની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ-અપર્યાપ્ત અસંખ્યાતગુણા છે અને સૂક્ષ્મ-અપર્યાપ્ત તેનાથી પણ અસંખ્યાતગુણા છે

સૂક્ષ્મ અનન્ત જીવોનું પરિમાણ કેટલું છે એ વાત દૃશાન્ત આપીને સમજાવે છે-જેમ કોઈ પુરુષ પ્રત્ય (તોળવાનું વજન ૧ શેર) આદિ તોળવાના બાંટ-વજનથી ધાન્ય તોળીને બીજા જગ્યાએ રાખી દે છે તે પ્રમાણે જો સાધારણ સૂક્ષ્મ જીવરાશિને લોકરૂપી પ્રત્યથી તોળવામાં આવે તો અનંત લોક બરાબર જાય.

પર્યાપ્તબાહરનિગોદ જીવોનું પરિમાણ આ પ્રકાર છે-ચતુષ્કોણ ધન કરેલા સમ્પૂર્ણ લોકપ્રતરના અસંખ્યાતમા-આગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર પર્યાપ્તબાહરનિગોદ જીવ છે

અસંખ્યેયગુણા । શેપાસૂત્ર્ય-‘અપર્યાપ્તવાદરનિગોદા’, અપર્યાપ્તસૂક્ષ્મનિગોદા’, પર્યાપ્ત-સૂક્ષ્મનિગોદાથ પ્રત્યેકમસંખ્યેયલોકાકાશપ્રદેશપરિમાણા’ ક્રમશઃ ઘટુતરકાઃ સન્તિ । સાધારણજીવાશ્ચૈતેમ્યો નિગોદપરિમાણેભ્યોઽનન્તગુણા. સન્તીતિ વોધ્યમ્ ।

યદિ લોકાકાશસ્યૈકસ્મિન્ પ્રદેશે એકૈકઃ પ્રત્યેકવનસ્પતિજીવઃ સ્થાપ્યતે, તર્હિ અસંખ્યાતા લોકા ધ્રિયન્તે । યદિ તુ લોકાકાશસ્યૈકસ્મિન્ પ્રદેશે એકૈકો નિગોદજીવઃ સ્થાપ્યતે, તર્હિ અનન્તા લોકા ધ્રિયન્તે ।

ઉક્તઞ્ચ પ્રજ્ઞાપનાયામ્-૧ પદે ।

“લોગાગાસપણ્સે, પરિત્તમીવ ઠવેહિ એકેકક ।

એવ ઠવેજ્જમાણા, હવતિ લોગા અસંખિજ્જા ” ॥ ૧ ॥

પર્યાપ્ત જીવો સે અસંખ્યાતગુણા હૈં । શેપ તીન અર્થાત્ અપર્યાપ્તવાદરનિગોદ, અપર્યાપ્તસૂક્ષ્મનિગોદ ઔર પર્યાપ્ત સૂક્ષ્મનિગોદ અસંખ્યાત લોકાકાશ પ્રદેશો કે વરાવર હૈં, ઔર ક્રમશઃ અધિક-અધિક સંખ્યા મેં હૈં । સાધારણ જીવ ઇન સે અનન્તગુણા હૈં ।

યદિ લોકાકાશ કે એક-એક પ્રદેશ મેં એક-એક પ્રત્યેકવનસ્પતિ કે જીવ સ્થાપિત કિયે જાયેં તો અસંખ્યાત લોક મર જાયેં, ઔર યદિ લોકાકાશ કે એક-એક પ્રદેશ મેં એક-એક નિગોદિયા જીવ રક્ષે જાયેં તો અનન્ત લોકાકાશ મર જાયેં । પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર કે પ્રથમ પદમેં કહા હૈ—

“લોકાકાશ કે એક-એક પ્રદેશમેં અગર પ્રત્યેકવનસ્પતિ કે એક-એક જીવ રક્ષ દિયે જાયેં તો અસંખ્યાત લોક મર જાય ॥ ૧ ॥

તે પ્રત્યેકશરીર-આહરવનસ્પતિ પર્યાપ્ત જીવોથી અસંખ્યાત ગણા છે બાકીના ત્રણ અર્થાત્-અપર્યાપ્તવાદરનિગોદ, અપર્યાપ્તસૂક્ષ્મનિગોદ અને પર્યાપ્તસૂક્ષ્મનિગોદ અસંખ્યાત-લોકાકાશ પ્રદેશોના બરાબર છે, અને ક્રમશઃ અધિક-અધિક સંખ્યામાં છે સાધારણ જીવ જોનાથી અનન્ત ગણા છે

જો લોકાકાશના એક-એક પ્રદેશમાં એક-એક પ્રત્યેક વનસ્પતિના જીવને સ્થાપિત કરવામાં આવે તો અસંખ્યાત લોક ભરાઈ જાય, અને જો લોકાકાશના એક-એક પ્રદેશમાં એક-એક નિગોદિયા જીવને રાખવામાં આવે તો અનન્ત લોકાકાશ ભરાઈ જાય.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદમાં કહ્યું છે કે—

“લોકાકાશના એક-એક પ્રદેશમાં જો પ્રત્યેક વનસ્પતિના એક-એક જીવ રાખવામાં આવે તો અસંખ્યાત લોક ભરાઈ જાય ” ॥ ૧ ॥



લોગાગાસપાસે નિગોયજીવં ઠવેદિ ભેવકેષ ।

એવ ઠવેજ્જમાણા, હવતિ લોગા અણન્તાઓ ॥ ૧ ॥ ” ઇતિ ।

છાયા—લોકાકાશપ્રદશે, પ્રત્યેકજીવ સ્યાપય એકૈકમ્ ।

એવ સ્યાપ્યમાના ભવન્તિ લોકા અસત્યેયા ॥ ૧ ॥

લોકાકાશપ્રદશે નિગોદજીવં સ્યાપય એકૈકમ્ ।

એવ સ્યાપ્યમાના ભવન્તિ લોકા અનન્તા ॥ ૧ ॥

ઇતિ પરિમાણદ્વારમ્ ॥ સૂ. ૧ ॥

શબ્દાદિવિષયાસત્યા ધનસ્પતિકાયાપમર્દનપરા પુનઃ પુનર્ભવસિન્ધૌ નિષ્ત-  
ન્તીત્યાશ્રયેનાહ—‘જે ગુણે ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

જે ગુણે સે આવહે । જે આવહે સે ગુણે ॥ સૂ. ૨ ॥

છાયા—

યો ગુણઃ સ આવર્તઃ । ય આવર્તઃ સ ગુણ ॥ સૂ. ૨ ॥

લોકાકાશ કે એક-એક પ્રવેશ મેં એક-એક નિગોદ જીવ રસ્તે દિયે જાયે તો જ  
પ્રકાર રસ્તેને સે અનન્ત લોક હો જાણે ” । ઇતિ પરિમાણદ્વાર ॥ સૂ. ૨ ॥

ઇન્દ્રિયોં કે રમ્ય આદિ વિષયોં મેં આસક્ત હોફર જો વનસ્પતિકામ કી હિંસા  
કરતે હેં કે નારમ્બાર મક્ત્સાગર મેં ફૂલતે હેં । હવ અભિપ્રાય સે શાસ્ત્રકાર કહેતે હે—  
‘જે ગુણે ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—જો ગુણ હે સો આવર્ત હે । જો આવર્ત હે સો ગુણ હે ॥ સૂ. ૨ ॥

“ લોકાકાશના જોઈ-જોઈ પ્રવેશમાં જોઈ-જોઈ નિર્જાલ જીવ રાખવામાં આવે તો  
આ પ્રકારે રાખવાથી અનન્ત લોક થઈ બાધ ” ઇતિ પરિમાણદ્વાર ॥ સૂ. ૧ ॥

ઇન્દ્રિયોના શબ્દ આદિ વિષયોમાં આસક્ત થઈને જે વનસ્પતિકામની હિંસા  
કરે છે તે વારંવાર ભવ-સાગરમાં ડૂબી જાય છે જે અભિપ્રાયથી શાસ્ત્રકાર કહે છે—  
‘જે ગુણે ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—જે શુદ્ધ છે તે આવર્ત છે જે આવર્ત છે તે શુદ્ધ છે ॥ ૨ ॥

## ટીકા—

યો ગુણઃ=શબ્દાદિક , સ આવર્ત -આવર્તન્તે=પરિભ્રામ્યન્તિ જીવા યત્ર સ -આવર્ત -જન્મજરાધિવ્યાધિનાનાત્રિધવલેશસપાતસ્વરૂપ' સસાર । કારણે કાર્યો-પચારાત્ મસારકારણીભૂતસ્ય શબ્દાદિગુણસ્ય સસારત્વેન વ્યપદેશ. । ગુણસેવનાત્ સસારં પ્રાપ્નોતીતિ માવ' । સત્કર્મથ દ્વદીકર્તુમુક્તવાક્ય પરાવર્તયન્નાહ-ય આવર્ત ઇતિ । યથાવર્તઃ=સસાર., સ ગુણઃ=શબ્દાદિ । રાગદ્વેષવશગ સસારી નૈવ શબ્દાદિગુણતો વિરવ્યયતે, ન ચ મોક્ષમાર્ગ પ્રાપ્નોતીત્યર્થ' ।

યદ્વા-‘ગુણે’ ‘આવર્તે’ ઇતિ સપ્તમ્યન્તમ્ । ય ગુણે=શબ્દાદૌ વર્તતે,

ટીકાર્થ—શબ્દ આદિ જો ગુણ અર્થાત વિષય હૈ વહી આવર્ત હૈ । જિસમે આવર્તન અર્થાત્ ભ્રમણ ક્રિયા જામ ઉસે આવર્ત કહતે હૈ । જન્મ-જરા, આધિ-વ્યાધિ આદિ નાના પ્રકાર કે ક્લેશો સે પરિપૂર્ણ યહ સસાર હો આવર્ત હૈ । શબ્દ આદિ વિષય સસાર કે કારણ હૈ, સ્વય સંસાર નહીં હૈ, કિન્તુ યહા કારણ મ કાર્ય કા ઉપચાર કરકે શબ્દાદિ વિષયો કો હી સસાર કહા હૈ । આશય યહ હૈ કિ-ન વિષયો કા સેવન કરન સે સસાર કી પ્રાપ્તિ હોતી હૈ । ઇસી અભિપ્રાય કો દૃઢ કરને કે ઉદ્દેશ્ય સે વાક્ય કો પલટ કર શાસ્ત્રકાર કહતે હૈ-‘જો આવર્ત હૈ વહો ગુણ હૈ’ । રાગ-દ્વેષ આદિ કે અધીન રહને વાલા સસારી બીજ શબ્દ આદિ ગુણો સે વિરક્ત નહીં હોતા ઔર ન મોક્ષમાર્ગ પ્રાપ્ત કરતા હૈ ।

અથવા—મૂલ મ જો ‘ગુણે’ ઔર ‘આવર્તે’ પદ આવે હૈ । યે સપ્તમીવિભક્તિ મેં હૈ, ઇસકા અર્થ યહ હુઆ કિ-જો પુરુષ શબ્દાદિ ગુણો મ વર્તતા હૈ વહ આવર્ત

ટીકાર્થ—શબ્દ આદિ જે શુષ્ક છે, અર્થાત્ વિષય છે તેજ આવર્ત છે એમા આવર્તન અર્થાત્ ભ્રમણ કરવામા આવે તેને આવર્ત કહે છે જન્મ, જરા, આધિ, વ્યાધિ આદિ નાના પ્રકારના ક્લેશોથી પરિપૂર્ણ આ સસારજ આવર્ત છે શબ્દ આદિ વિષય સસારના કારણ છે સ્વય સસાર નથી, પરન્તુ અહીં કારણમા કાયને ઉપચાર કરીને શબ્દાદિ વિષયોને જ સસાર કહ્યો છે આશય એ છે કે-વિષયોનું સેવન કરવાથી સસારની પ્રાપ્તિ થાય છે તે અભિપ્રાયને દૃઢ કરવાના ઉદ્દેશ્યથી વાક્યને બદલીને શાસ્ત્રકાર કહે છે-‘જે આવર્ત છે તે શુષ્ક છે’ રાગદ્વેષ આદિના અધીન રહેવાવાળા સસારી જીવ શબ્દ આદિ ગુણોથી વિરક્ત રહેતા નથી અને મોક્ષમાર્ગને પ્રાપ્ત કરતા નથી.

અથવા—મૂલમા જે ‘ગુણે’ અને ‘આવર્તે’ પદ આપ્યા છે તે સાતમી વિભક્તિમાં છે એનો અર્થ એ થયો કે-જે પુરુષ શબ્દાદિ ગુણોમાં વર્તે છે તે આવર્ત અર્થાત્-

સ આવર્તે=સસારે વર્તે । યથાવર્તે, સ ગુણે વર્તે ।

નતુ 'યો ગુણે વર્તત, સ આવર્તે વર્તતે' इति यदुक्तं तत् सम्पद्य, परन्तु य आवर्तે વર્તે, ન ત્વસો નિયમેન ગુણે વર્તે । યતસ્તીર્થક્રુતા માવિતાત્માનો મુનયઃ પ્રતિમાધારિભાષકાધાવર્તે વર્તન્તે ન તુ શબ્દાદિગુણેષુ, તદતત્ કથમુપપદ્યતે—'યથા વર્તે વર્તે સ ગુણે વર્તે' इति ? ।

અનુકૂલશબ્દાદિષુ રાગ, પ્રતિકૂલશબ્દાદિષુ દ્વેષ. સમુદ્ભવતીતિ રાગદ્વેષપૂર્વક ગુણેષુ શબ્દાદિષુ યા પ્રવૃત્તિસ્તસ્યા एषामाधिकार' । એવં ચાસ્ય વાક્યસ્ય તીર્થક્રુતાદિ વિષયકત્વામાવાભાસ્ત્યુક્તગદ્ગાથસર इति ।

અર્થાત્ સસાર મેં વર્તતા હૈ, ઓર જો સસાર મેં વર્તતા હૈ વહ શબ્દ આદિ મેં વર્તતા હૈ ।

શબ્દા—જો શબ્દાદિ ગુણો મેં વર્તતા હૈ વહ સસાર મેં વર્તતા હૈ, યહ કથન તો ઠીક હૈ, પરન્તુ જો સસાર મેં વર્તતા હૈ વહ નિયમ સે શબ્દાદિ વિષયો મેં નહીં વર્તતા । ભગવાન્ તીર્થકર, માવિતાત્મા મુનિ ઓર પ્રતિમાધારી આવક સસાર મેં તો વર્તે હૈ મગર શબ્દ આદિ વિષયો મેં નહીં વર્તે । અતઃ એવં યહ કથન કિસ પ્રકાર બન સકતા હૈ કિ જો આવર્ત મેં વર્તતા હૈ વહ શબ્દ આદિ મેં વર્તતા હૈ ?

સમાધાન—અનુકૂલ શબ્દ આદિ મેં રાગ ઉત્પન્ન હોતા હૈ ઓર પ્રતિકૂલ શબ્દ આદિ મેં દ્વેષ હોતા હૈ । ઇસ પ્રકાર રાગદ્વેષપૂર્વક વિષયો મેં પ્રવૃત્તિ કરને કા હી યહી પ્રકરણ હૈ । તીર્થકર આદિ રાગ—દ્વેષપૂર્વક વિષયો મેં પ્રવૃત્તિ નહીં કરતે, અતઃ યહ વાક્ય તીર્થકર ચા માવિતાત્મા મુનિ આદિ કે લિષ્ છગૂ નહીં હોતા । ઇસ પ્રકાર ઉક્ત શંકા કા ચહાં ત્થાન નહીં હૈ ।

અસાદર્શાં વર્તે છે, અને જે અસાદર્શાં વર્તે છે તે શબ્દ આદિમાં વર્તે છે

શંકા—જે શબ્દાદિ ગુણોમાં વર્તે છે, તે અસાદર્શાં વર્તે છે આ કથન-તો ઠીક છે, પરન્તુ જે અસાદર્શાં વર્તે છે તે નિયમથી શબ્દાદિક વિષયોમાં વર્તતા નથી. ભગવાન તીર્થકર માવિતાત્મા મુનિ અને પ્રતિમાધારી આવક અસાદર્શાં તો વર્તે છે, પરન્તુ શબ્દાદિ વિષયોમાં વર્તતા નથી અને માટે આ કથન કેવી રીતે બની શકે છે, કે-જે આવર્તમાં વર્તે છે તે શબ્દ આદિમાં વર્તે છે ।

સમાધાન—અનુકૂલ શબ્દ આદિમાં રાગ ઉત્પન્ન થાય છે અને પ્રતિકૂલ શબ્દ આદિમાં દ્વેષ થાય છે આ પ્રમાણે રાગ-દ્વેષપૂર્વક વિષયોમાં પ્રવૃત્તિ કરવી તેનું જ અર્હો પ્રકરણ છે તીર્થકર આદિ રાગ-દ્વેષપૂર્વક વિષયોમાં પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, માટે આ વાક્ય તીર્થકર અથવા માવિતાત્મા મુનિ આદિના માટે બાજુ થતું નથી. આ પ્રમાણે પૂર્વે જે શંકા કરી છે તે શકાને અર્હો ત્થાન નથી.

ગત્યાગતિરૂપ આવર્તોઽપિ ન તેષાં દુઃસ્વજનનો મવતિ । સામાન્યત' સસાર-  
વર્તિત્વ મામાન્યશબ્દાદિગુણોપલબ્ધિશ્ચ સર્વેષાં સસારિણા સમવત્ત્વેવ, તસ્માદ્ ગુણોપ-  
લબ્ધિર્ન પ્રતિપિધ્યતે । કિન્તુ યસ્તત્ર રાગદ્વેષપરિણામ' સ એવ પરિવર્જનીયત્વેન પ્રતિ-  
બોધ્યતે, અત એવોક્ત મગવતા—

“કળ્પસોક્તેહિં સદેહિં પેમ્મ નામિનિવેસણ” ઇત્યાદિ । કિન્ન—

“ન શક્ય રૂપમદ્ર્ષ્તું, ચક્ષુર્ગોચરમાગતમ્ ।

રાગદ્વેષો તુ યૌ તત્ર, તૌ ધુષ' પરિવર્જયેત્ ॥”

ઇદમત્ર તત્ત્વમ્-શબ્દાદિવિષયાસક્તાઃ સ્વલુ વનસ્પતિમીવાન્ બહુશી

ગતિ આગતિરૂપ આવર્ત મી અનેકે ઓળે દુઃસ્વજનક નહીં હૈ । સામાન્ય સસારવર્તીપન  
ઔર વિષયો કી સામાન્ય ઉપલબ્ધિ સમી સસારી જીવો મેં હોતી હૈ, અત વિષયો કી ઉપલબ્ધિ  
કા નિષેધ નહીં ક્રિયા જા સકતા । હૈ વિષયો મેં જો રાગ-દ્વેષરૂપ પરિણામ હૈ વહી ત્યાગ્ય હૈ ।  
અત મગવાન્ ને કહા હૈ—

“કળ્પસોક્તેહિં સદેહિં પેમ્મ નામિનિવેસણ” ઇત્યાદિ ।

“કાનોં કો સુખ દેને વાલે શબ્દોં પર અનુરાગ નહીં કરના જાહિય” । તથા—  
આલોકે આગે આગા હુઆ રૂપ અનદેસ નહીં ક્રિયા જા સકતા, વહ તો વીસ  
હીં જાતા હૈ, મગર ઉસ સે કોઈ હાનિ નહીં હોતી । અલવત્તા ઉસ રૂપ પર રાગ યા દ્વેષ કરને  
સે હાનિ હોતી હૈ । અત વિવેકી પુરુષ રાગ ઔર દ્વેષ કા ત્યાગ કરે ।

આશય યહ હૈ-શબ્દ આદિ વિષયોં મેં આસક્ત પુરુષ વનસ્પતિકાય કે જીવોં કી

ગતિ-આગતિરૂપ આવર્ત' પણ તેઓને માટે દુ ખરૂપ નથી । સામાન્ય સસાર  
વર્તીપલુ અને વિષયોની સામાન્ય ઉપલબ્ધિ, સર્વ સસારી જીવોમા હોય છે એથી  
વિષયોની ઉપલબ્ધિને નિષેધ કરી શકાતા નથી હો, વિષયોમાં જે રાગ-દ્વેષરૂપ  
પરિણામ છે, તેજ ત્યાગ્ય-ત્યજ દેવા ચોગ્ય છે એટલે મગવાને કહ્યું છે—

“કળ્પસોક્તેહિં સદેહિં પેમ્મ નામિનિવેસણ” અર્થાત્ કાનેને સુખ દેવાવાળા

શબ્દો પર પ્રીતિ નહિ કરવી જોઈએ. તથા નેત્રોની સામે આવેલા રૂપ, ન દીઠા-  
અદીક કરી શકાતા નથી તે તો દેખવામા આવેજ છે, પરન્તુ તેમાં કોઈ હાનિ  
થતી નથી અલબત્ત જો રૂપ પર રાગ અથવા દ્વેષ કરવાથી હાનિ થાય છે એ માટે  
વિવેકી પુરુષ રાગ અને દ્વેષને ત્યાગ કરે.

આશય એ છે કે-શબ્દ આદિ વિષયોમાં આસક્ત પુરુષ વનસ્પતિકાયના જીવોની

વિહિસન્તિ । તથા ઠિ-અનુકૂલશબ્દપ્રવણાર્થી વેણુવીળાપટહાદિવાધાનિ નિર્માતુ વહુ-  
વિયાન્ વનસ્પતીન્ વિનિહન્તિ । પ્રિયરૂપવિલોકનાર્થી કાષ્ઠમયયુવત્તિપ્રતિમા-ગૃહ-  
તોરણ વેદિકા-સ્તમ્માદિ રચયિતુ યતિચન વનસ્પતીન્ ધિનિકૃન્તતિ । એવ પ્રાણસુસ્વાર્થી  
કર્પૂર કેતકી-પાટલ-લવઙ્ગ-સરમચન્દના-ગુરુ-કેસર જાતીફળ-જાતીપત્રિકાદીન્ પરિ-  
ગ્રહીતુ વિવિધાન વનસ્પતીન્ ધિહિનરિત । રસાસ્વાદમુસ્વાર્થી મૂલકન્દાદિગતાનસસ્યા  
તાનનન્તાન્ વા બીવાનુપમર્દયતિ । એવ સ્પર્શમુસ્વામિલાપી ચ કમલદલમૃગાલકદલી  
વલવલ્કલાનુકૂલદુકૂલતુલાદીન્ પરિગ્રહીતુ નાનાવિધવનસ્પતીનાં પ્રાણમ્યપરોપનં  
પ્રકરોતિ ।

બહુત હિંસા કરતે હૈં । એસે-અનુકૂલ શબ્દ સુને કે અમિલાપી પુરુષ વેણુ, વીળા,  
પટહ (ટોલ) આદિ વાધ બનાવે કે હિંસા નાના પ્રકાર કે વનસ્પતિકાય કે બીજો કી  
હિંસા કરતા હૈં । પ્રિયરૂપ દેસને કા ઇચ્છુક યુવતી કી કાષ્ઠમય પ્રતિમા, ગૃહ, તોરણ,  
વેદિકા, બીર સ્તમ બનાવે કે હિંસા વનસ્પતિ કો કાટતા હૈં । હસી પ્રકાર પ્રાણેન્દ્રિય કે  
સુરુકા હોણુપ કર્પૂર, કેતકી, પાટલ, (શુભાવ) હોગ, સરસ ચન્દન અગર, કેસર,  
આયપળ, આયપત્રી આદિ કે રસેસ્ય સે વિવિધ પ્રકાર કે વનસ્પતિકાયિક બીજો કી હિંસા  
કરતા હૈં । રસાસ્વાદ કા અનુસાગી મૂલ આદિ કન્દો મેં રહેને વાલે અસસ્યાત બીર અનન્ત  
બીજો કી હિંસા કરતા હૈં । હસી પ્રકાર સ્પર્શ-સુસ કા અમિલાપી કમલ કે પત્તે, કમલ કી  
વહી, કેલે કે , પત્તે છાલ બીર અનુકૂલ વલ તથા રૂં પ્રાપ્ત કરને કે હિંસા નાના પ્રકાર કે  
વનસ્પતિ બીજો કા પ્રાણ કેતા હૈં ।

બહીજ હિંસા કરે છે એમ-અનુકૂલ શબ્દ સાંભળવાના અમિલાપી પુરુષ વેણુ-વીળા,  
ટોલ આદિ વાધ-વાન્નિત્ર બનાવવા માટે નાના પ્રકારના વનસ્પતિકાયના હોવાની હિંસા  
કરે છે પ્રિયરૂપ બેવાના ઇચ્છુક યુવતીની કાષ્ઠમય પ્રતિમા, ગૃહ, તોરણ, વેદિકા  
અને સ્તમ બનાવવા માટે વનસ્પતિને કાપે છે એ પ્રમાણે પ્રાણેન્દ્રિય (નાસિકા)ના  
સુખના હોણુપ-લાલચુ કર્પૂર, કેતકી શુભાવ, લવીંગ, સરસચંદન, અગર કેસર,  
આયપળ, આયત્રી આદિ મેળવવાના ઉદ્દેશથી વિવિધ પ્રકારના વનસ્પતિકાયિક હોવાની  
હિંસા કરે છે રસાસ્વાદના અનુસાગી હવ મૂળ આદિ કન્દોમાં રહેવાવાળા અસખ્યાત  
અને અનન્ત હોવાની હિંસા કરે છે એ પ્રમાણે સ્પર્શસુખના અમિલાપી હવ કમલ  
પત્તા, કમલકાકડી, કેવળના પત્તા, છાલ અને અનુકૂલ વલ તથા રૂં પ્રાપ્ત કરવા  
માટે નાના પ્રકારના વનસ્પતિ હોવાના પ્રાણ લે છે

एव च वनस्पतिनिष्पन्नेषु शब्दादिगुणेषु वर्तमानः ससार प्राप्नोति, स च ससारी रागद्वेषमलिनात्मकतया पुनः शब्दादिगुणेषु वर्तमानश्चतुर्गतिकससारतो न कदाचिद् परिह्यतीत्यर्थः ॥ सू० २ ॥

શબ્દાદિગુણોપલબ્ધિમાત્ર ન સસારાન્ત.પતનસ્ય કારણં, કિન્તુ તત્ર મૂચ્છેવેત્યાહ—‘ઉદ્’ ઇત્યાદિ ।

### મૂલમ્—

उद् अह तिरियं पार्श्वं पासमाणे रुन्नाइ पासइ, सुणमाणे सद्दाइ सुणेइ । उद् अह तिरिय पार्श्वं मुच्छमाणे रुवेसु मुच्छइ सद्देसु यावि । एस लोए विपाहिए ॥ सू० ३ ॥

### છાયા—

उर्ध्वम् अथः तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति, ऊर्ध्वम् अथः तिर्यक् प्राचीन मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि । एष लोकः व्याख्यातः ॥ सू० ३ ॥

इस प्रकार धनस्पति से तैयार होने वाले इन्द्रिय-विषयों में वर्चमान जीव ससार प्राप्त करता है । ससारी जीव राग-द्वेष से मलिन होता है, अतः फिर विषयों में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह कभी ससार से बाहर नहीं निकल पाता ॥सू० २॥

શબ્દ આદિ વિષયો કો પ્રહણ કરને માત્ર સે સસાર મેં પતન નહીં હોતા પરન્તુ ઉન મેં મૂર્છા (ગૃહિ) હોના હી પતન કા કારણ હૈ, યહ કહતે હૈ—‘ઉદ્’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—ઊપર, નીચે, ઓર સામને તિરછી વિશા મેં દષ્ટિ ઢાલતા હુઆ રૂપો કો દેખતા હૈ, સુનતા હુઆ શબ્દ સુનતા હૈ । ઊપર, નીચે ઓર સામને તિરછી વિશા મેં રૂપોમેં મૂર્છિત હોતા હૈ ઓર શબ્દો મેં મી । યહ લોક કહા ગયા હૈ ॥ સૂ. ૩ ॥

એ પ્રમાણે વનસ્પતિથી તૈયાર થવાવાળા ઇન્દ્રિય વિષયોમાં વર્તમાન જીવ સસારને પ્રાપ્ત કરે છે સસારી રાગદ્વેષથી મલિન થાય છે, તેથી દરીને વિષયોમાં પ્રવૃત્ત થાય છે આ પ્રમાણે તે ઠોઠ દિવસ સસારથી બહાર નીકળી શકતા નથી (સૂ. ૨)

શબ્દ આદિ વિષયોને ગ્રહણ કરવા માનથી સસારમા પતન થતુ નથી પરન્તુ તેમા મૂર્છા (ગૃહિ) થવાથીજ પતન થાય છે તે કહે છે—‘ઉદ્’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ઉપર, નીચે અને સામે તિરછી વિશામાં દષ્ટિ નાખીને રૂપોને જુવે છે, સાંભળતા થકા શબ્દ સાંભળે છે, ઉપર નીચે અને સામે તિરછી વિશામા શ્વેમાં અને શબ્દોમાં પણ મૂર્છિત થાય છે આ લોક કહેવાય છે ॥ ૩ ॥

વિહિસન્તિ । તથા દિ-અનુકૂલશબ્દધ્વન્યાર્થીં ચેણુનીળાપટહાદિવાધાનિ નિર્માતું વદુ  
વિધાન્ વનસ્પતીન્ વિનિહન્તિ । પ્રિયરૂપવિલોકનાર્થીં કાષ્ટમયપુત્રતિમિતિમા-ગૃહ-  
તોરણ ઘેદિકા-સ્તમ્માદિ રચયિતુ કતિચન વનસ્પતીન્ વિનિક્રન્તતિ । एवं प्राणसुखार्थी  
कर्पूर केतकी-पाटल-लवङ्ग-सरसचन्दना-गुरु-कैसर-जातीफल-जातीपत्रिकादीन् परि-  
ग्रहीतु विविधान वनस्पतीन् विहिनस्ति । रसास्वादमुखार्थी मूलकन्दादिगतामसस्या  
ताननन्तान् वा जीवानुपमर्दयति । एव स्पर्शसुखामिलापी च कमलदलमृणालवल्ली-  
दलपल्लवानुकूलदुकूलतुलादीन् परिग्रहीतु नानाविधवनस्पतीनां प्राणव्यपरोपणं  
प्रकरोति ।

बहुत हिंसा करते हैं । जैसे-अनुकूल शब्द सुनने का अमिष्टापी पुरुष बेणु, बीणा,  
पटह (ढोल) आदि वाद्य बनाने के लिए नाना प्रकार के वनस्पतिकाय के बीजों को  
हिंसा करता है । प्रियरूप देखने का इच्छुक युवती की काष्ठमय प्रतिमा, गृह, तोरण,  
घेदिका, और स्तम्भ बनाने के लिए वनस्पति को काटता है । इसी प्रकार प्राणेश्वर के  
सुगन्धक छेदप कर्पूर, केतकी, पाटल, (गुलाब) लोंग, सरस चन्दन अगर, कैसर,  
आयपल, आयपत्री आदि के उद्देश्य से विविध प्रकार के वनस्पतिकायिक बीजों को हिंसा  
करता है । रसास्वाद का अनुरागी मूल आदि कन्दों में रहने वाले असह्यात और अनन्त  
बीजों को हिंसा करता है । इसी प्रकार स्पर्श-सुख का अमिष्टापी कमल के पत्ते, कमल की  
दली, केले के , पत्ते छाल और अनुकूल वला तथा रुई प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के  
वनस्पति बीजों का प्राण केता है ।

ધર્મીજ હિંસા કરે છે જેમ-અનુકૂલ શબ્દ સાંભળવાના અભિલાષી પુરુષ વેણુ-બીણા,  
ઢોલ આદિ વાદ્ય-વાજિત્ર બનાવવા માટે નાના પ્રકારના વનસ્પતિકાયના છોડોની હિંસા  
કરે છે પ્રિયરૂપ જોવાના ઇષ્ટક યુવતીની કાષ્ટમય પ્રતિમા, ગૃહ, તોરણ, વેદિકા  
અને સ્તંભ બનાવવા માટે વનસ્પતિને કાપે છે જો પ્રભાણે પ્રાણેન્દ્રિય (નાસિકા)ના  
સુખના લોહપ-લાલસુ કર્પૂર, કેતકી ગુલાબ લવીંગ, સરસચંદન, અગર કેસર,  
આયકળ, આયત્રી આદિ યોગવવાના ઉદ્દેશ્યથી વિવિધ પ્રકારના વનસ્પતિકાયિક છોડોની  
હિંસા કરે છે રસાસ્વાદના અનુરાગી છોડ મૂળ આદિ કન્દોમાં રહેવાવાળા અસહ્યાત  
અને અનન્ત છોડોની હિંસા કરે છે જો પ્રભાણે સ્પર્શસુખના અભિલાષી છોડ કમલ  
પત્તાં, કમલકાંઠલી, કેવળના પત્તા, છાલ અને અનુકૂલ વલા તથા રૂ પ્રાપ્ત કરવા  
માટે નાના પ્રકારના વનસ્પતિ છોડોના પ્રાણ લે છે

एव च वनस्पतिनिष्पन्नेषु शब्दादिगुणेषु वर्तमान ससार प्राप्नोति, स च ससारी रागद्वेषमलिनात्मकतया पुनः शब्दादिगुणेषु वर्तमानश्चतुर्गतिकमसारतो न कदाचिद् ग्रहिर्यातीत्यर्थः ॥ सू० २ ॥

શબ્દાદિગુણોપલબ્ધિમાત્ર ન સસારાન્ત પતનસ્ય કારણ, કિન્તુ તત્ર મૂર્છેવેત્યાહ - 'ઉદ્ભ' इत्यादि ।

મૂલમ્—

उद्भ अह तिरिय पार्श्व पासमाणे रुवाइ पासइ, सुणमाणे सदाइ सुणेइ ।  
उद्भ अह तिरिय पार्श्व मुच्छमाणे रुवेसु मुच्छइ सदेसु यावि । एस लोए  
वियाहिए ॥ सू० ३ ॥

છાયા—

उर्ध्वम् अथ तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति,  
ऊर्ध्वम् अथ तिर्यक् प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि । एष लोक व्या  
ख्यातः ॥ सू० ૩ ॥

इस प्रकार वनस्पति से तैयार होने वाले इन्द्रिय-विषयों में वर्तमान जीव ससार प्राप्त करता हैं । ससारी जीव राग-द्वेष से मलिन होता है, अतः फिर विषयों में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह कभी ससार से बाहर नहीं निकल पाता ॥ सू० २ ॥

શબ્દ આદિ વિષયો કો ગ્રહણ કરને માત્ર સે સસાર મ પતન નહીં હોતા પરન્તુ ઊન મેં મૂર્છાં (ગૃહ્ણિ) હોના હી પતન કા કારણ હૈ, યહ કહતે હૈ—'ઉદ્ભ' इत्यादि ।

મૂલાર્થ—ऊपर, नीचे, और सामने तिरछी दिशा में दृष्टि डालता हुआ रूपों को देखता है, सुनता हुआ शब्द सुनता है । ऊपर, नीचे और सामने तिरछी दिशा में रूपोंमें मूर्च्छित होता है और शब्दों में भी । यह लोक कहा गया है ॥ सू० ३ ॥

એ પ્રમાણે વનસ્પતિથી તૈયાર થવાવાળા ઇન્દ્રિય વિષયોમાં વર્તમાન જીવ સસારને પ્રાપ્ત કરે છે સસારી રાગદ્વેષથી મલિન થાય છે, તેથી ફરીને વિષયોમાં પ્રવૃત્ત થાય છે આ પ્રમાણે તે કોઈ દિવસ સસારથી બહાર નીકળી શકતા નથી (સુ.૨)

શબ્દ આદિ વિષયોને ગ્રહણ કરવા માત્રથી સસારમાં પતન થતુ નથી પરન્તુ તેમાં મૂર્છાં (ગૃહ્ણિ) થવાથીજ પતન થાય છે તે કહે છે—'ઉદ્ભ' इत्यादि

મૂલાર્થ—ऊपर, नीचे અને सामने तिरछी दिशाમાં दृष्टि नाખाने रूपोने बुवे છે, સાંભળતા થકા શબ્દ સાંભળે છે, ઉપર નીચે અને સામે તિરછી દિશામાં રૂપોમાં અને શબ્દોમાં પણ મૂર્છિત થાય છે આ લોક કહેવાય છે ॥ ૩ ॥



ટીકા—

પ્રજ્ઞાપકદિશાપેક્ષયા ઉર્ધ્વમ્=ઉર્ધ્વદિશ્યવસ્થિત પર્વતશિસ્ત્રપ્રાસાદહર્મ્યાપુષ્પરિ  
માગસ્યમ્, અષઃ=અધોદિશ્યવસ્થિત ભૂમિગૃહાદિક, તિર્યક્=પ્રાચ્યાદિદિસ્વસ્થિત  
વિદિસ્વસ્થિત ચ ગૃહમિતિપ્રાસાદહર્મ્યાદિક, પ્રાચીન-તિર્યક્પદસ્ય વિવરણમેત્ત,  
પ્રાચ્યાં દિશિ વિદ્યમાન પદાર્થજાતમ્, એતદ્ગોપલક્ષણમ્-અન્યા અપિ તિર્યગ્દિશો  
વિજ્ઞેયાઃ । યદ્વા-પ્રાચીનમિતિ-ઊર્ધ્વાધસ્તિર્યગ્દિગન્વયિ, તેનોર્ધ્વાધસ્તિર્યગ્દિસ્વસ્થ-  
સ્થિત, પ્રાચીન=પુરાતનમ્-આધુનિકશિલ્પિદુષ્કરતયાઽઽધ્યર્થકારિ પદાર્થજાત, પદ્યન=  
ચક્ષુર્વ્યાપારમ્, રૂપાણિ=ચક્ષુર્ગ્રાસ્યતયા પરિણતાનિરૂપવદ્વ્યાણિ શાલમઠિજકાલીનિ  
સ્ત્યાદિરૂપાણિ ના પદ્યતિ ।

ટીકાર્થ—પ્રજ્ઞાપક-(દેહને ઘાટે કી) દિશા કી અપેક્ષા ઉર્ધ્વ દિશા મેં-પર્વત કે શિસ્ત્ર  
પર તથા પ્રાસાદ યા મહલ આદિ કે ઊપરી માગ મેં સ્થિત, મૌહરા આદિ અધોદિશા મેં સ્થિત,  
પૂર્વ આદિ તિરછી દિશાઓ મેં સ્થિત તથા વિદિશાઓ મેં સ્થિત ધૈવાર, હવેલી ઔર મહલ  
આદિ કો દેહતા હૈ । મૂલ મેં આયે હુપ ‘પાર્શ્વ’ અર્થાત્ ‘પ્રાચીન’ શબ્દ કો તિરછી દિશા કા  
વિવરણરૂપ સમજના ઘાઢિય । અથવા ‘પ્રાચીન’ પદ ઉર્ધ્વ, અષઃ ઔર તિર્યક્ સમી દિશાઓ કે  
સાથ સબધ રહતા હૈ । તાત્પર્યે એ નિકળા કિ-ઉર્ધ્વ દિશા મેં સ્થિત અધોદિશા મેં સ્થિત  
તથા તિરછી દિશામેં સ્થિત પ્રાચીન અર્થાત્ આધુનિક શિલ્પકારો કે લિપ્ત દુષ્કર હોને સે  
આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરને ઘાટે પુરાને પદાર્થો કી ઔર નજર કરતા હુઆ સુન્દર પુતલિયો કૌરહ  
કો તથા સ્ત્રી આદિ કે રૂપ કો દેહતા હૈ ।

ટીકાર્થ—પ્રજ્ઞાપક-(બિનારની) દિશાની અપેક્ષા ઉર્ધ્વ દિશામાં-પર્વતના શિખર  
પર તથા પ્રાસાદ અથવા મહેલ આદિના ઉપર ભાગમાં, સ્થિત, ભોંયરા આદિ  
અધોદિશામાં સ્થિત, પૂર્વ આદિ તિરછી દિશાઓમાં સ્થિત, તથા વિદિશાઓમાં સ્થિત  
લીત, હવેલી અને મહેલ આદિને દેખે છે મૂલમાં આવેલો ‘પાર્શ્વ’ અર્થાત્ પ્રાચીન  
શબ્દને તિરછી દિશાના વિવરણરૂપ સમજવો જોઈએ, અથવા પ્રાચીન પદ ઉર્ધ્વ,  
અષઃ અને તિર્યક્ સર્વ દિશાઓની સાથે સબધ રાખે છે તાત્પર્યે કો નિકળે છે કે-  
ઉર્ધ્વ દિશામાં સ્થિત, અધોદિશામાં સ્થિત, તથા તિરછી દિશામાં સ્થિત પ્રાચીન અર્થાત્  
આધુનિક શિલ્પકારો માટે દુષ્કર હોવાથી આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરવાવાળા પુરાણ પદ્યોની  
તરફ નજર કરતા થકા સુન્દર પુતળીઓ વગેરેને તથા સ્ત્રીઆદિના રૂપને દેખે છે

તથા-एतासु दिक्षु च शृण्वन्=श्रोत्रोपयोगयुक्त' सन् शब्दान् वेषु वीणादि-  
समुत्थान् गीतनादादिकान् वा शृणोति । श्रोत्रोपयोगाभावे तु न शृणोतीत्यर्थः ।  
उपलक्षणमेतत्-जिघ्रन् गन्धान् जिघ्रति, रसयन् रसान् रसयति, स्पृशन्  
स्पर्शान् स्पृशति ।

इह दर्शनश्रवणाभ्यां रूपादिगुणोपलब्धिमात्र प्रदर्शितम् । ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्पदोपा-  
दानेन च रूपादिगुणानां सर्वदिग्भ्यापित्वेन तदुपयोगो दुष्परिहरोऽस्तीति प्रतिबोधितम् ।  
रूपादिगुणोपयोगमात्रेण ससारगतवर्तव्यतातो न भवति, किन्तु रूपादिगुणेषु मूर्च्छयेति  
बोधयितुमाह-‘उद्भू’ इत्यादि ।

इसी प्रकार पूर्वोक्त दिशाओं में श्रोत्रेन्द्रिय का उपयोग लगा कर वेषु वीणा  
आदि वाद्यों का, तथा गीत आदि का शब्द सुनता है । श्रोत्र का उपयोग न हो तो  
नहीं भी सुनता है । यह कथन उपलक्षण है, इस से यह भी समझ लेना चाहिए कि  
ग्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय का उपयोग लगाकर सूघता है, चस्नता है और स्पर्श  
करता है ।

यहाँ देखने और सुनने से रूप आदि गुणों की उपलब्धिमात्र सूचित  
किए हैं । ऊर्ध्व, अध तथा तिर्यक् पद देकर यह प्रकट किया है कि-इन्द्रियों के विषय-  
रूप आदि, सभी दिशाओं में भरे पड़े हैं । ऐसी स्थिति में उनकी ओर ध्यान न बाने  
देना तो बड़ा ही कठिन कार्य है । मगर रूप आदि गुणों की ओर उपयोग बाने  
માત્ર से સસાર કે ગદ્દહે મેં પતન નહીં હોતા । પતન તબ હોતા હૈ જબ ડનમેં  
મૂર્છાં યા રાગ-દ્રેપ હો, યહ બાત પ્રકટ કરને કે લિપ્ કહા હૈ-‘ઉદ્ભૂ’ ઇત્યાદિ ।

એજ પ્રમાણે પૂર્વોક્ત દિશાઓમાં શ્રોત્રેન્દ્રિયનો ઉપયોગ લગાવીને વેષુ-વીણા  
આદિ વાદ્યોના તથા ગીત આદિના શબ્દો સાભળે છે શ્રોત્રનો ઉપયોગ ન હોત  
તો સાભળત નહિ આ કથન ઉપલક્ષણ છે, એથી એમ સમજ લેવું બોધ્યે છે, ગ્રાણ,  
રસના અને સ્પર્શન ઇન્દ્રિયનો ઉપયોગ લગાવીને સૂઘે છે, ચાસે છે, અને સ્પર્શ કરે છે

અહીં દેખવા અને સાભળવાથી રૂપ આદિ શુષ્કોની ઉપલબ્ધિ માત્ર સૂચિત કરી છે  
ઉર્ધ્વ, અધ તથા તિર્યક્ પદ આપીને એ સૂચિત કર્યું છે કે-ઇન્દ્રિયોના વિષય  
રૂપ આદિ, સર્વ દિશાઓમાં ભર્યા પડ્યા છે એવી સ્થિતિમાં તેની તરફ ધ્યાન નહિ જવા  
લેવું તે તો ભારે કઠિન કામ છે પરન્તુ રૂપ આદિ શુષ્કોની તરફ ઉપયોગ જવા માત્રથી  
સસારના ખાતામાં પડવાનું થતુ નથી, પતન-પડવાનું તો ત્યારે થાય છે કે જ્યારે તેમાં  
મૂછી-અથવા રાગ-દ્રેષ થાય આ વાત પ્રગટ કરવા માટે કહ્યું છે -‘અદ્ભૂ’ ઇત્યાદિ

## ટીકા—

પ્રજ્ઞાપકદિશાપેસયા ઉર્ધ્વમ્=ઉર્ધ્વદિશ્યવસ્થિત પર્વતશિખરપ્રાસાદહર્મ્યાપુપરિ  
માગસ્યમ્, અથ=અધોદિશ્યવસ્થિત ભૂમિગૃહાદિક, તિર્યક્=પ્રાચ્યાદિદિશ્વસ્થિત  
વિદિશ્વસ્થિત ચ ગૃહમિતિપ્રાસાદહર્મ્યાદિક, પ્રાચીન-તિર્યક્પદસ્ય વિવરણમેતત્,  
પ્રાચ્યાં દિશિ વિદ્યમાન પદાર્થજાતમ્, એતદ્ધોપલક્ષણમ્-અન્યા અપિ તિર્યગ્દિશો  
વિદ્યેયાઃ । યદ્વા-પ્રાચીનમિતિ-ઊર્ધ્વાધસ્તિર્યગ્દિગન્વાયિ, તેનોર્ધ્વાધસ્તિર્યગ્દિશ્વ-  
સ્થિત, પ્રાચીન=પુરાતનમ્-આધુનિકશિલ્પિદુષ્કરતયાઽઽશ્ચર્યકારિ પદાર્થજાત, પશ્યન્=  
ચક્ષુષ્યાપારયન્, રૂપાણિ=ચક્ષુર્ગ્રાહ્યતયા પરિણતાનિ રૂપવદ્વ્યાણિ જ્ઞાલમઽજકાર્દીનિ  
સ્ત્યાદિરૂપાણિ વા પશ્યતિ ।

ટીકાર્થ—પ્રજ્ઞાપક-(દેસને લાગે કી) દિશા કી અપેક્ષા ઉર્ધ્વ દિશા મેં-પર્વત કે શિખર  
પર તથા પ્રાસાદ યા મહલ આદિ કે ઊમરી ભાગ મેં સ્થિત, મૌહરા આદિ અધોદિશા મેં સ્થિત,  
પૂર્વ આદિ તિરછી દિશાઓ મેં સ્થિત તથા વિદિશાઓ મેં સ્થિત લીંબાર, હવેલી બૌર મહલ  
આદિ કો દેસતા હૈ । મૂલ મેં આયે હુપ ‘પાર્શ્વ’ અર્થાત્ ‘પ્રાચીન’ શબ્દ કો તિરછી દિશા કા  
વિવરણરૂપ સમજના ચાહિય । અથવા ‘પ્રાચીન’ પદ ઉર્ધ્વ, અથ બૌર તિર્યક્ સમી દિશાઓ કે  
સાથ સંબંધ રહ્તા હૈ । તાત્પર્ય યહ નિકળા કિ-ઊર્ધ્વ દિશા મેં સ્થિત અધોદિશા મેં સ્થિત  
તથા તિરછી દિશામેં સ્થિત પ્રાચીન અર્થાત્ આધુનિક શિલ્પકારોં કે લિપ દુષ્કર હોને સે  
આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરને લાગે પુરાને પદાર્થોં કી બૌર નજર કરતા હુઆ સુન્દર પુતલિયોં બૌર  
કો તથા કી આદિ કે રૂપ કો દેસતા હૈ ।

ટીકાર્થ—પ્રજ્ઞાપક-(બેનારની) દિશાની અપેક્ષા ઉર્ધ્વ દિશામાં-પર્વતના શિખર  
પર તથા પ્રાસાદ અથવા મહેલ આદિના ઉપર ભાગમાં, સ્થિત, લોંચશ આદિ  
અધોદિશામાં સ્થિત, પૂર્વ આદિ તિરછી દિશાઓમાં સ્થિત, તથા વિદિશાઓમાં સ્થિત  
બીત, હવેલી અને મહેલ આદિને હેજે છે મૂલમાં આવેલી ‘પાર્શ્વ’ અર્થાત્ પ્રાચીન  
શબ્દને તિરછી દિશાના વિવરણરૂપ સમજવો જોઈએ, અથવા પ્રાચીન પદ ઉર્ધ્વ,  
અથ અને તિર્યક્ સર્વ દિશાઓની સાથે સંબંધ રાજે છે તાત્પર્ય જો નિકળે છે કે-  
ઉર્ધ્વ દિશામાં સ્થિત, અધોદિશામાં સ્થિત, તથા તિરછી દિશામાં સ્થિત પ્રાચીન અર્થાત્  
આધુનિક શિલ્પકારોં માટે કુશ્કર હોવાથી આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરવાવાળા પુરાણ પદાર્થોની  
તરફ નજર કરતા થકા સુન્દર પુતળીઓ વગેરેને તથા કીઆદિના રૂપને હેજે છે

આચારચિન્તામણિ-ટીકા અધ્ય ૧૩ ૬૪ ૫ વનસ્પતિસમારમ્મેણ વિવિધપ્રાણિઘાતઃ ૬૨૩

વિરુવરુવેદિ સત્યેદિ ઘણસ્સહકમ્મસમારમેણ ઘણસ્સહસત્ય સમારમમાણા અણ્ણો  
અણેગરુવે પાણે વિદિસતિ ॥ સૂ. ૫ ॥

છાયા—

લજ્જમાનાઃ પૃથક્ પથ્ય, અનગારા સ્મ ઇતિ એકે પ્રવદમાના, યદિમ વિરુપ-  
રુપૈઃ શસ્ત્રે વનસ્પતિકર્મસમારમ્મેણ વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમમાણા અન્યાન્ અનેકરૂપાન્  
પ્રાણાન્ વિદિસન્તિ ॥ સૂ. ૫ ॥

ટીકા—

લજ્જમાના=પરમકરુણ્યાર્દ્રહૃદયતયા વનસ્પતિકાયસમારમ્મે પરાક્રમુત્તા,  
વનસ્પતિશસ્ત્રસમારમ્મપરિત્યાગિનોઝનગારા ઇત્યર્થઃ। પૃથક્=વિભિન્ના =કેચિત્ પ્રત્યક્ષ-  
જ્ઞાનિનોઽઘધિમન'પર્યયકેવલિન., કેચિત્ પરોક્ષજ્ઞાનિનો ભાવિતાત્માન સન્તીતિ  
પથ્ય।

યદ્વા-પૃથક્=દ્રવ્યલિદ્ધિભ્યઃ પૃથગ્માવેન સન્તીતિ પથ્ય। ઇમે-સૂક્ષ્મઘાદર-  
વનસ્પતિકાયસમારમ્મકરણે મીતાશ્ચસ્તા ઉદ્ધિમાશ્ચિક્તણત્રિયોગૈર્વનસ્પતિકાયસમાર-  
મ્મપરિત્યાગિનો વિઘન્તે ઇતિ ચિલોકયેત્યર્થઃ।

વનસ્પતિકાય કા આરમ કરને વાલે, વનસ્પતિશસ્ત્ર કા આરમ કરતે હુપ અન્ય અનેક પ્રકાર  
કે પ્રાણિયો કી હિસા કરતે હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

ટીકાર્થ—અત્યન્ત કરુણા સે આર્દ્ર હૃદયવાલે મુનિ વનસ્પતિકાય કા આરમ સે વિમુક્ત  
રહતે હૈ। પેસે મુનિ કોઈ અવધિજ્ઞાનો, મન પર્યાયજ્ઞાની, ઔર કેવલજ્ઞાની હોતે હૈ, ઔર કોઈ-  
કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ( મતિ-શ્રુત જ્ઞાન કા ખારક ) ભાવિતાત્મા હોતે હૈ ઓઈ દેસો।

અથવા ઈન્હૈ દ્રવ્યલિદ્ધિયો સે અલ્પા હી સમજના ચાહિપ। યહ અનગાર સૂક્ષ્મ ઔર  
ઘાદર વનસ્પતિ કા આરમ કરને મૈ મીત, પ્રસ્ત, ઉદ્ધિમ હૈ। ત્રીન કરણ, ત્રીન યોગ સે  
વનસ્પતિકામ કા આરમ કા ત્યાગી હૈ।

કાયનો આરમ કરવાવાળા, વનસ્પતિ શસ્ત્રનો આરમ કરતા થકા અન્ય અનેક  
પ્રકારના પ્રાણીઓની હિસા કરે છે ॥ ૫ ॥

ટીકાર્થ—અત્યન્ત કરુણાથી આર્દ્ર હૃદયવાળા મુનિ વનસ્પતિકાયના આરમથી  
વિરુદ્ધ રહે, છે એવા મુનિ કોઈ-કોઈ અવધિજ્ઞાની, મન પર્યાયજ્ઞાની અને કેવલજ્ઞાની, હોય  
છે અને કોઈ-કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ( મતિ-શ્રુતજ્ઞાનના ધારક ) ભાવિતાત્મા હોય છે તેને જુઓ।

અથવા તેને દ્રવ્યલિદ્ધિયોથી બૃહાન્ન સમજવા બેઠ્યો. તે અણુગાર સૂક્ષ્મ અને  
બાહર વનસ્પતિકાયનો આરમ કરવામા બીજોલા-કાયવાળા, પ્રસ્ત, ઉદ્ધિગ્ન છે ત્રણ  
કરણ ત્રણ યોગથી વનસ્પતિકાયના આરમના ત્યાગી છે

આચારો यस્ય સ વક્ત્રસમાચાર'—અસપમાનુષ્ઠાપી, નરકાદિગતિજનકત્વાદસયમસ્ય વક્ત્રતપા વ્યપદેશ. । હૃત્યમ્ભૂત' સ પ્રમત્તઃ=પ્રમાદવશાદ્ વિપયેષુ મૂર્છિત', અગાર= ગૃહમ્ આવસતિ । ગૃહીતસયમોઽપિ પ્રમાદવશાદ્ વિપયાસક્તઃ સન્ પુનર્ગૃહસ્થો મચ્ચતી સ્પર્થ ॥ સૂ. ૪ ॥

અથ ઘસ્ટદ્વારમ્—

અથ સર્વથા વનસ્પતિશસ્ત્રસમારમ્મપરિત્યાગિનોઽનગારાન્, તથાઽગ્નિશસ્ત્રસમારમ્મમહુતાન્ દ્રવ્યલિપ્તિનશ્ચ વિવિચ્ય પ્રતિબોધયિતુમાદ—'લજ્જમાણા' इत्यादि ।

મૂલમ્—

લજ્જમાણા પુઠો પાસ, અનગારા મો—તિ એને પવયમાણા, અર્થ

અર્થાત્ અસમય કા સેવન કરને વાલા પ્રમાદી ફિર ઘર—વાસ મેં બાજાતા હૈ । વહ સમય ધારણ કરને કે પશ્ચાત્ મી પ્રમાદ કે વશ હોફર વિપયો મેં બાસક હોન કે કારણ ફિર ગૃહસ્થ નન બાતા હૈ ॥ સૂ. ૪ ॥

ઘસ્ટદ્વાર—

વનસ્પતિશસ્ત્ર કે આરમ કા સર્વથા ત્યાગ કરને વાલે અનગારો કા તથા અગ્નિશસ્ત્ર કે આરમ મેં પ્રવૃત્ત દ્રવ્યલિપ્તિયોકા વિવેચન કરકે ઉપદેશ દેતે હૈ— 'લજ્જમાણા' इत्यादि ।

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકામ કે આરમ મેં સકોચ કરને વાલે સાધુઓ કો અજ્ઞા દેલો । તથા 'હમ અનગાર હૈ' હસ પ્રકાર કહને વાલે નાના પ્રકાર કે શબ્દો

સેવન કરવાવાળા પ્રમાદી ફરી કરવાસમાં બાવી બાય છે તે સયમ ધારણ થયો પછી પછુ પ્રમાદને વશ થઈને વિપયોમાં બાસકત થવાના કારણે ફરી ગૃહસ્થ બની બાય છે (સૂ. ૪)

શસ્ત્રદ્વાર—

વનસ્પતિશસ્ત્રના આરભને સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણુગારોનું તથા અગ્નિ શસ્ત્રના આરભમાં પ્રવૃત્ત દ્રવ્યલિપ્તિયોકોનું વિવેચન કરીને ઉપદેશ આપે છે— 'લજ્જમાણા' इत्यादि.

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકામના આરભમાં સકોચ કરવાવાળા સાધુઓને જુદા બધે । તથા 'અમે અણુગાર છીએ' આ પ્રમાણે કરવાવાળા, નાના પ્રકારના શબ્દો

કુઠારાદય । માવશસ્ત્ર તુ વનસ્પતિ પ્રતિ મનોથાકુકાયાનાં દુષ્પ્રણિધાનમ્ । વનસ્પતિ કર્મસારમ્મેણ=કર્મણાં સમારમ્મઃ કર્મસમારમ્મ.=વનસ્પતિ નિમિત્તીકૃત્ય જ્ઞાનાવરણી-યાદિકર્મવન્ધજનકસાવધવ્યાપારસ્તેન, ઇમ વનસ્પતિકાય વિહિંસન્તિ ।

વનસ્પતિકાયહિંસાયા પ્રવૃત્તાઃ સ્વલ્પપદ્ધતિવનિકાયરૂપ લોકં સર્વમેષ વિહિંસન્તી-ત્યાહ-‘વનસ્પતિશસ્ત્ર’-મિત્યાદિ । વનસ્પતિશસ્ત્ર=વનસ્પતિજીવોપમર્દક શસ્ત્રં પૂર્વોક્ત-પ્રકારં, સમારમમાણાઃ=વનસ્પતિ પ્રતિ પ્રયુઠ્ઠજાનાઃ, અન્યાન્=વનસ્પતિકાયમિધાન્, અનેકરૂપાન્, પૃથિવીકાયાદીન્, દ્વીન્દ્રિયાદીન્ ત્રસાંશ્ચ તદાશ્રિતાન્ પ્રાણાન્=પ્રાણિન્ વિહિંસન્તિ ।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते । तत्र शाक्यादयः कन्द-मूल-पत्र-

પરકાયનાજ છે । વસૂલા, દાંતી, કુઠાર આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર છે । વનસ્પતિકાય કે પ્રતિ મન, વચન ઔર કાય કા અસત્ પ્રયોગ કરના માવશજ છે । ઇન શસ્ત્રોદ્ધારા વનસ્પતિકાયકા આરમ કરકે જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠપ્રકાર કે કર્મોં કો ઉત્પન્ન કરને વાલા સાવધ વ્યાપાર કરકે વનસ્પતિકાય કી હિંસા કરતે હૈ ।

જો વનસ્પતિકાય કી હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ તહ છહો જીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોક કી હિંસા કરતા હૈ, તહ વતલાતે હૈ, ‘વનસ્પતિશસ્ત્રમ્’ શ્યાદિ ।

વનસ્પતિકાય કી હિંસાજનક પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોં કા આરમ કરનેવાલે લોગ વનસ્પતિકાય કે અતિરિક્ત પૃથ્વીકાય આદિ અન્ય સ્થાવરોં કી તથા વનસ્પતિ-આશ્રિત દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રસ જીવોં કી સી હિંસા કરતે હૈ ।

સંસાર મેં અનેક પ્રકાર કે દ્રવ્યલિંગી હૈ । તન મેં સે શાક્ય આદિ કંદ, મૂલ, પત્તા,

મુખ અને અગ્નિ આદિ પરકાયશસ્ત્ર છે વસૂલા ઘાતી-ઘાતશુ, કુઠાર-કુદારો આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર છે વનસ્પતિકાય પ્રતિ મન, વચન અને કાયનો અસત્-પ્રયોગ કરવો તે માવશજ છે એ શસ્ત્રોદ્ધારા વનસ્પતિકાયનો આરમ કરીને-જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા સાવધ વ્યાપાર કરીને વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે

એ વનસ્પતિકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્ત થાય છે તે જીવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે-‘વનસ્પતિશસ્ત્રમ્’ મિત્યાદિ

વનસ્પતિકાયના હિંસાજનક પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોં આરમ કરવાવાળા લોક વનસ્પતિ કાયના અતિરિક્ત પૃથ્વીકાય, આદિ અન્ય સ્થાવરોં તથા વનસ્પતિ આશ્રિત દ્વીન્દ્રિય-એ ઇન્દ્રિય આદિ ત્રસ જીવોંની પણ હિંસા કરે છે

સંસારમાં અનેક પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે તેમાંથી શાક્ય આદિ ઠંડ, મૂલ, પત્તા,

एके पुनरन्ये तु 'वयमनगाराः स्म' इति सामिमान प्रवदमानाः= 'वयमेव वनस्पतिजीवरक्षणपराः महाव्रतधारिणः' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तत्र पृथक् पदम् ।

इमे स्वत्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, माषि गृहस्पकृत्य किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति— 'यदिमम्' इत्यादि ।

यद्=यस्माद् विरूपरूपै=त्रिविधस्वरूपै शस्त्रै=वनस्पतिकायशस्त्रै,  
शस्त्रं हि वनस्पतिकायस्य द्रव्यभावमेदाद् द्विविधम् । तत्र द्रव्यशस्त्रं=स्वकाय  
परकायोभयकायमेदात् त्रिविधम् । तत्र स्वकायशस्त्रं दण्डलकुटादयः । परकाय  
शस्त्रं=कर्तरी-पाषाण-हस्त-पाद-मुख-बद्धादयः । उभयकायशस्त्रं=बासी-दात्र-

इनसे विपरीत कोई-कोई 'हम अनगार हैं' ऐसा अभिमानपूर्वक कहते हैं— 'हम ही वनस्पति जीवों की रक्षा करने में उत्तर और महाव्रतधारी हैं,' इस प्रकार प्रलाप करते हुए द्रव्यलिङ्गी साधुओं को अलग समझो ।

अनगार होने का अभिमान करने वाले ये द्रव्यलिङ्गी अनगार के गुणों में तनिक भी प्रवृत्ति नहीं करते । ये गृहस्थ के किसी भी कामका त्याग नहीं करते हैं, यह बात जागे घतछाते हैं—'यदिमम्' इत्यादि ।

नाना प्रकार के वनस्पतिकाय के शस्त्रोंद्वारा वनस्पतिकाय का आरम करके वनस्पतिकायकी हिंसा करते हैं । वनस्पतिशस्त्र दो प्रकारका है—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र । द्रव्यशस्त्र के तीन भेद हैं—(१) स्वकायशस्त्र (२) परकायशस्त्र (३) उभयकायशस्त्र । बड़ा लकड़ी वगैरह स्वकायशस्त्र हैं । कैची, पत्थर, हाथ, पैर, मुख और जाग आदि

तेનાથી વિપરીત-વિદ્-કોઈ-કોઈ 'અમે અણગાર છીએ' આ પ્રમાણે અભિમાન પૂર્વક કહે છે—'અમેજ વનસ્પતિ જીવોની રક્ષા કરવામાં તત્પર અને મહાવ્રતધારી છીએ' આ પ્રમાણે પ્રલાપ-(બકવાટ) કરનારા દ્રવ્યલિંગી સાધુઓને જુદા સમજે

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરનારા એ દ્રવ્યલિંગી સાધા અણગારના અણ માટે જરા પણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી. તે ગૃહસ્થોના કોઈ પણ કામનો ત્યાગ કરતા નથી. એ બતાવે છે 'યદિમમ્' ઇત્યાદિ

નानા પ્રકારના વનસ્પતિકાયનાં શસ્ત્રો વડે વનસ્પતિકાયનો આરમ કરીને વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે વનસ્પતિશસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે—દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્ર. દ્રવ્યશસ્ત્રનાં ત્રણ ભેદ છે—(૧) સ્વકાયશસ્ત્ર, (૨) પરકાયશસ્ત્ર, અને (૩) ઉભયકાયશસ્ત્ર. ઠાડ, લાકડી વગેરે સ્વકાયશસ્ત્ર છે, કેચી-(કાતર, સાંજુસો) પથ્થર, હાથ, પગ,

કુઠારાદય । માવશસ્ત્ર તુ વનસ્પતિ પ્રતિ મનોવાક્કાયાનાં દુષ્પણિધાનમ્ । વનસ્પતિ કર્મસારમ્મેણ=કર્મણા સમારમ્મ\* કર્મસમારમ્મ:=વનસ્પતિ નિમિત્તીકૃત્ય જ્ઞાનાવરણી-યાદિકર્મવન્ધજનકસાવધવ્યાપારસ્તેન, ઇમ વનસ્પતિકાય વિર્હિસન્તિ ।

વનસ્પતિકાયર્હિસાયાં પ્રવૃત્તા\* સ્વલ્પ પશુજીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેષ વિર્હિસન્તી-ત્યાહ-‘વનસ્પતિશસ્ત્ર’-મિત્યાદિ । વનસ્પતિશસ્ત્ર=વનસ્પતિજીવોપમર્દક શસ્ત્ર પૂર્વોક્ત-પ્રકારં, સમારમમાણા:=વનસ્પતિ પ્રતિ પ્રયુઠ્ઠજાના\*, અન્યાન=વનસ્પતિકાયભિન્નાન, અનેકરૂપાન્, પૃથિવીકાયાદીન્, દ્વીન્દ્રિયાદીન્ પ્રસાંષ તદાશ્રિતાન્ પ્રાણાન્=પ્રાણિન\* હિસન્તિ ।

હહ ઘઘુવિષા દ્રવ્યલિંગિનો વિષ્ણન્તે । તત્ર શાક્યાદય\* કન્દ-મૂલ-પત્ર-

પરકાયશસ્ત્ર હૈં । વસૂલા, ઘાતો, કુઠાર આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર હૈં । વનસ્પતિકાય કે પ્રતિ મન, વચન ઔર કાય કા અસત્ પ્રયોગ કરના માવશસ્ત્ર હૈ । इन शस्त्रोंद्वारा वनस्पतिकायका आरम्भ करके ज्ञानावरण आदि आठप्रकार के कर्मों को उत्पन्न करने वाला सावध व्यापार करके वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं ।

જો વનસ્પતિકાય કી હિંસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ તહ છહો ળીલનિકાયરૂપ સમસ્ત લોક કી હિંસા કરતા હૈ, તહ તલતા હૈ, ‘વનસ્પતિશસ્ત્રમ્’, ઇત્યાદિ ।

વનસ્પતિકાય કી હિંસાબનક પૂર્વોક્ત શસ્ત્રો કા આરમ કરનેવાલે લેખ વનસ્પતિકાય કે અતિરિક્ત પૃથ્વીકાય આદિ અન્ય સ્થાવરો કી તથા વનસ્પતિ-આશ્રિત દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રસ ળીલો કી મી હિંસા કરતે હૈં ।

સંસાર મેં અનેક પ્રકાર કે દ્રવ્યલિંગી હૈં । उन में से शाक्य आदि कंद, मूल,

મુખ અને અગ્નિ આદિ પરકાયશસ્ત્ર છે વસૂલા ઘાતી-ઘાતરડુ, કુઠાર-કુઠાઠો આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર છે વનસ્પતિકાય પ્રતિ મન, વચન અને કાયનો અસત્-પ્રયોગ કરવો તે માવશસ્ત્ર છે એ શસ્ત્રોદ્વારા વનસ્પતિકાયનો આરમ કરીને-જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ પ્રકારના કર્મોને ઉત્પન્ન કરવાવાળા સાવધ વ્યાપાર કરીને વનસ્પતિકાયની હિંસા કરે છે

એ વનસ્પતિકાયની હિંસામા પ્રવૃત્ત થાય છે તે છલ્લવનિકાયરૂપ સમસ્ત લોકની હિંસા કરે છે એ બતાવે છે-‘વનસ્પતિશસ્ત્રમ્’ ઇત્યાદિ

વનસ્પતિકાયના હિંસાબનક પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોનો આરમ કરવાવાળા લોક વનસ્પતિ કાયના અતિરિક્ત પૃથ્વીકાય, આદિ અન્ય સ્થાવરોની તથા વનસ્પતિ આશ્રિત દ્વીન્દ્રિય-એ ઇન્દ્રિય આદિ ત્રસ છલોની પણ હિંસા કરે છે

સંસારમા અનેક પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે તેમાંથી શાક્ય આદિ કદ, મૂલ, પત્તા,



પુષ્પફલાદિમોજનાર્થં ધનસ્પતિકર્મસમારમ્મ પુર્વન્તિ, કારયન્તિ, કુર્ષ્વતોઽનુમોદયન્તિ  
 ચ, તેન પદ્મીવનિકાયવિરાધકા મવન્તિ । દણ્ડિનોઽપિ “વય પદ્મમહાવ્રતધારિણો  
 જિનાશ્ચારાધકા અનગારા” સ્મ”” ઇત્યાદિ પ્રવદમાનાઃ સાધ્વામાસા’ સાવયમ્પદિશ્વન્તિ,  
 શ્રાત્રમવિપિદમપિ ધનસ્પતિકર્મસમારમ્મ કારયન્તિ ।

તે દિ વ્યાખ્યાનમળપાદી ચાશોકટસપત્રાદિભિર્વન્દનમાલાદિકં વન્ધયન્તિ,  
 નાનાવિધપુષ્પપત્રફલે’ પશ્ચોપચારાદિપૂજાસુ પ્રવર્તયન્તિ । તથાદિ—

“કાઠે સુદ્ભૂષણં, વિસિદ્ધપુષ્પાદિર્હિ વિશિષ્ટા ઊ ।

સારથુદ્યોત્તગર્હ, જિણપૂજા હોદ કાયબ્વા ॥ ૧ ॥” (પદ્માસકરવૃત્તિ.)

છાયા—કાલે શુચીમૂતેન, વિશિષ્ટપુષ્પાદિકૈર્વિધિના યુ ।

સારસ્તુતિ સ્તોત્રકલ્પચિના, જિનપૂજા મવતિ કર્તવ્યા ॥ ૧ ॥

પત્તા, ફૂલ આદિ જ્ઞાને કે હિપ્ત ધનસ્પતિ કા આરમ કરતે હૈં, કરાતે હૈં ઔર કર્તે  
 થાલે ક્રી અનુમોદના કરતે હૈં । એસા કરકે વે પદ્મીવનિકાય કી વિરાધના કે મારી  
 હોતે હૈં । “હમ પદ્મમહાવ્રતધારી, જિન મગવાન્ કી આજ્ઞા કે આરાધક અનગાર હૈં”  
 એસા કહ્ને થાલે વંદી છોટે સાધુ મી સાવય કા ઉપદેશ દેતે હૈં ઔર શાસ્ત્ર મેં નિષિદ્ધ ક્રિયે  
 હુપ ધનસ્પતિકાય કે આરમ કા ઉપદેશ દેતે હૈં ।

વે વ્યાખ્યાનમળપ આદિ મેં અશોક વૃક્ષ કે પત્તો સે વન્ધનવાર આદિ વૈષ્ણવો  
 હૈં, નાત્ર પ્રકાર કે ફલ ફૂલ પત્તો સે પચોપચાર આદિ પૂજાઓ મેં (આવકો) કો પ્રવૃત્ત  
 કરતે હૈં । એસે—

“ઉચિત સમય પર, વિધિપૂર્વક વિશિષ્ટ પુષ્પ આદિ કે દ્વારા સુન્દર સ્તોત્ર—સ્તુતિપૂર્વક  
 જિન મગવાનકી પૂજા કરની ચાહિય ” ।

ફૂલ આદિ આવ્વા માટે ધનસ્પતિનો આરમ કરે છે, અને કસવે છે, અને કરવા  
 વાળાને અનુમોદન આપે છે. એ પ્રમાણે કરીને તે પદ્મીવનિકાયની વિરાધનાના આગ્રહાર  
 થાય છે ‘અમે પદ્મ મહાવ્રતધારી, જિન ભગવાનની આજ્ઞાના આરાધક અનગાર  
 છીએ.’ આ પ્રમાણે કહેવાવાળા ઘડી બુદ્ધ સાધુ પણ સાવધનો ઉપદેશ આપે છે, અને  
 શાસ્ત્રમાં નિષેધ કરવામાં આવેલો ધનસ્પતિકાયના આરમનો ઉપદેશ આપે છે

તે વ્યાખ્યાન-મળપ આદિમાં અશોકવૃક્ષનાં પાંદડાંથી તોરણ આદિ બંધાવે છે  
 નાના પ્રકારના ફૂલ-ફૂલ અને પાંદડાંથી પશ્ચોપચાર આદિ પૂજાઓમાં (આવકોને) પ્રવૃત્ત  
 કરે છે-એટલે છે જેમ-“ઉચિત સમય-યોગ્ય સમય પર વિધિપૂર્વક વિશિષ્ટ-ઉત્તમ  
 પુષ્પ આદિ દ્વારા સુન્દર સ્તોત્ર, સ્તુતિપૂર્વક જિન ભગવાનની પૂજા કરવી એકલે.”

અપરચ્ચ-ઉમાસ્વાતિવાચકકૃતપ્રકરણે—

‘મધ્યાહ્ન કુસુમૈ પૂજા’ ઇતિ । ‘ગન્ધવાસાસૈતૈઃ સ્તગ્મિઃ’ ઇતિ ।

‘પ્રધાનૈશ્વ ફલૈ પૂજા’ ઇત્યાદિ । કિંચ—

“ન શુષ્કૈઃ પૂજયેદેવ, કુસુમૈર્ન મહીગતૈઃ ।

ન વિશીર્ણદલૈઃ સ્પૃષ્ટૈઃ, નાશુભૈર્નાવિકાસિભિ ” ॥ ૧ ॥

‘ન શુષ્કૈઃ પૂજયેદેવ કુસુમૈર્ન મહીગતૈઃ’-ઇત્યનેન ‘આર્દ્રૈ સ્ત્રોટિ તૈશ્વ કુસુમૈ-  
ર્દૈશ્વ પૂજયેત્’-ઇત્યર્થોઽવગમ્યતે । અહો ! કીદૃશો મહાસાવધોપદેશસ્તેષામ્ ।

एव देवमन्दिरादी कदलीस्तम्भादिरोपणेन, अशोकादिवृक्षपत्रैर्वन्दन—

પન્ચાશકવૃત્તિ ઉમાસ્વાતિકૃત પ્રકરણ મેં કહ્યા હૈ—

“મધ્યાહ્ન મેં ફૂલોં સે પૂજા કી જાતી હૈ । ” “ગંધ, વાસ ઓર અક્ષત સે તથા માળાઓં સે પૂજા હોતી હૈ । ” “ઉત્તમ ફળોં સે પૂજા કી જાતી હૈ ” ઇત્યાદિ । ઓર મી કહ્યા હૈ—

“સૂકે, જમીન પર ગિરે હુપ, ટૂટી પૈસુઢીવાળે, છુપ હુપ, સરાશ ઓર વિના સિલે ફૂલોં સે પૂજા નહીં કરની જાહિયે ” ।

‘સૂકે ઓર જમીન પર ગિરે હુપ ફૂલોં સે પૂજા નહીં કરની જાહિયે’ ઇત્યા અભિપ્રાય યહ હુવા કિ તાજે ઓર તોડે હુપ ફૂલોં સે પૂજા કરની જાહિયે અરેરે । ડનકા વહ કૈસા સાવણ ઉપદેશ હૈ ।

इस प्रकार देवमन्दिर आदि में कदलीस्तम्भ सज्ज करके, अशोक वृक्ष के पत्तों से

પન્ચાશકવૃત્તિ ઉમાસ્વાતિકૃત પ્રકરણમાં કહ્યું છે—

‘મધ્યાહ્નમાં ફૂલોંવડે પૂજા કરવામાં આવે છે ’ ‘ગંધ, વાસ અને અક્ષતથી તથા માળાઓથી પૂજા થાય છે ’ ‘ઉત્તમ ફળોંથી પૂજા કરવામાં આવે છે ’ ઇત્યાદિ । ખીલુ પણ કહ્યું છે કે—

“સૂકા, જમીન પર ખરી પડેલાં, જેની પાંખડી તુટી ગઈ હોય, સ્પર્શ કરાઓલાં, અશણ અને ખિલ્યા વિનાના ફૂલોંથી પૂજા નહિ કરવી જોઈએ ”

‘સૂકાં અને જમીન પર ખરી પડેલા ફૂલોં વડે પૂજા ન કરવી જોઈએ’ આનો અભિપ્રાય એ થયો કે લીલાં અને તાજાં તોડેલા ફૂલોંથી પૂજા કરવી જોઈએ. અરેરે ! તેઓનો આ સાવણ ઉપદેશ કેવો છે ?

આ પ્રમાણે દેવમંદિર આદિમાં કેળના સ્થલે ઉભા કરીને અશોકવૃક્ષનાં પાંદડાથી

मालिकादिवन्धनेन, प्रतिमोपरि सचिचपप्रपुण्यादिक्षेपणेन सचिचनारिकेरादिभिर-  
 सालफलादिनैवेद्योपचारेण च वनस्पतिर्हिंसा कारयन्तस्ते तदाभिताननेकविधान्  
 प्रसस्यावरान् प्राणिनो घातयन्ति । नहि-त्रीतरागाणां सावघा स्पर्शा सप्रक्षिता,  
 'एस खलु गंधे' इत्यादिवचनेन सर्वारम्भाणामस्मिन्नेवागमेतैः साक्षात् प्रतिपिदत्वात् ।  
 नहि तत्तत्प्रागिभ्यस्तत्तत्तत्तद्रव्यसमर्पणं तुष्टिकरं भवतीति । नहि लोके मधमांस  
 स्यागिभ्यो मधमांससमर्पणं तत्परितोपाय जायते । अल बहुना ! हरितकन्दमूलादि  
 स्यागिनः श्रावका अपि न हरितकन्दमूलादिसमर्पणेन सतुप्यन्तीति विचारयन्तु  
 मनीषिण ॥ सू० ५ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी अम्बुस्वामिन जगाद—'तत्त्व' इत्यादि ।

वन्दनवार बाँवकर, प्रतिमा पर सचिच पत्ते, फूल आदि चढ़ाकर, सचिच नारियल, द्राक्ष, आम आदि नैवेद्य के उपचार से वनस्पति को हिंसा करते हुए वे वनस्पति-आश्रित बनक प्रकार के प्रस-स्यावर बीबों का घात करवाते हैं । वीतराग देव की पूजा सावध होना उचित नहीं है । 'एस खलु गंधे' इत्यादि कथन द्वारा इसी अग्रिम में समस्त आर्यों का वीतराग भगवान् ने साक्षात् निषेध किया है । जो पुरुष जिस वस्तु का त्यागी है, उसकी तुष्टि उस वस्तु को अर्पित करने से नहीं हो सकती । शोक में मध-मांस का त्याग करने वालों को मध-मांस की भेंट संतोषजनक नहीं होती । अधिक क्या कहें ! हरित कंद मूल के त्यागी श्रावक भी हरित कन्द मूल की भेंट से प्रसन्न नहीं होते हैं । बुद्धिमान् पुरुष स्वयं विचार करें ॥ सू० ५ ॥

सुधर्मा स्वामी अम्बुस्वामी से कहते हैं—'तत्त्व' इत्यादि ।

वन्दनवार जाधीने, प्रतिमा उपर सचिच पाईस, दूध आदि अर्पणाने, सचिच नारियल, द्राक्ष, आम आदि नैवेद्यना उपचारशी वनस्पतिनी हिंसा करीने ते वनस्पति-आश्रित अनेक प्रकारका प्रस-स्यावर शरीरोंना घात करावे छे वीतरागदेवनी पूजा सावध होना ते शोच्य नहीं. 'एस खलु गंधे' इत्यादि कथन द्वारा या अग्रिमभां लभाम सभा र शरीरोंना वीतराग भगवाने साक्षात् निषेध कथी छे जे पुरुष जे वस्तुना त्यागी छे, तेनी प्रसन्नता ते वस्तुने अर्पण करवायी बर्ध सकती नहीं. दौकभां मध-मांसना त्यागी-त्याग करवावाणाने मध-मांसनी बेट संतोष उत्पन्न करती नहीं, अधिक शुं कहीजे । वीर कन्दमूलना त्यागी श्रावक पण वीर कन्दमूलनी बेटशी प्रसन्न भवती नहीं ते बुद्धिमान् पुरुष पोते विचार करी बीजे. ॥ सू० ५ ॥

सुधर्मा स्वामी अम्बु स्वामीने कहे छे—'तत्त्व' इत्यादि

મૂલમ્—

તત્ય સ્વલુ મગવયા પરિણા પવેદ્યા । ઇમસ્ત ચૈવ જીવિયસ્ત પરિવદ્ધ—  
માણણ—પૂયણાદ, જાદમરણમોચણાદ, દુઃસ્વપદિધાયહેતુ, સે સયમેવ ઘણસ્તદ્વસત્ય  
સમારમદ્, અણ્ણેદિં વા ઘણસ્તદ્વસત્ય સમારમાવેદ્, અણ્ણે વણસ્તદ્વસત્ય સમારમમાણે  
સમણુજાગદ્, ત સે અદિયાદ, ત સે અવોદીપ ॥ મુ. ૬ ॥

છાયા—

તત્ર સ્વલુ મગવતા પરિણા પ્રવેદિતા । અસ્ય ચૈવ જીવિતસ્ય પરિવન્દન—માનન  
—પૂજનાય, જાતિમરણમોચનાય, દુઃસ્વપ્રતિધાતહેતુ, સ સ્વયમેવ વનસ્પતિશ્ચ સમાર-  
મતે, અન્યૈર્વા વનસ્પતિશ્ચ સમારમ્મયતિ, અન્યાન્ વા વનસ્પતિશ્ચ સમારમમાણાન્  
સમણુજાનાતિ, તત્ તસ્યાહિતાય, તત્ તસ્યાબોધયે ॥ મુ. ૬ ॥

ટીકા—

તત્ર=વનસ્પતિકાપરિણામ, મગવતા=શ્રીમદ્દેવિરેણ, પરિણા=સમ્પ્રગવ-  
બોધ. સ્વલુ=નિશ્ચયેન પ્રવેદિતા=પ્રતિવોધિતા-કર્મબંધસમુદ્ધેદાર્ય જીવેન પરિ

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકાપરિણામના આરંભના સમયમાં મગવાને સમ્યક્ બોધ દિવા છે ।  
આ જીવનના વન્દન, માનન અને પૂજન માટે, જન્મ-મરણનાં છુટવાના માટે  
તથા દુઃખોના વિનાશ કરવા માટે સ્વયં વનસ્પતિકાપરિણામના આરંભ કરે છે, બીજા  
પાસે આરંભ કરાવે છે, અને આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે તે  
આરંભ તેના અહિંત માટે તેમજ તેની અબોધિ માટે હોય છે ॥ મુ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—વનસ્પતિકાપરિણામના આરંભના વિષયમાં મગવાને શ્રી મદ્દેવિરે સ્વામીને  
સમ્યક્ ઉપદેશ દિવા છે । અર્થાત્ મગવાને બતાવ્યા છે કે—કર્મબંધને નાશ કરવાના

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકાપરિણામના આરંભના સમયમાં મગવાને સમ્યક્ બોધ આપ્યો  
છે આ જીવનના વન્દન, માનન, અને પૂજન માટે, જન્મ-મરણનાં છુટવાના માટે  
તથા દુઃખોના વિનાશ કરવા માટે સ્વયં વનસ્પતિકાપરિણામના આરંભ કરે છે, બીજા  
પાસે આરંભ કરાવે છે, અને આરંભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે તે  
આરંભ તેના અહિંત માટે તેમજ તેની અબોધિ માટે હોય છે ॥ મુ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—વનસ્પતિકાપરિણામના આરંભના વિષયમાં મગવાને શ્રી મદ્દેવિરે સ્વામીને  
સમ્યક્ ઉપદેશ આપ્યો છે અર્થાત્ મગવાને બતાવ્યું છે કે—કર્મબંધને નાશ કરવા માટે

માલિકાદિવન્ધનેન, પ્રતિમોપરિ સચિત્પત્રપુષ્પાદિષ્ણેષણેન સચિત્તનાલિકેરદાહિમ  
સાલફલાદિનૈવેદ્યોપચારેણ ચ વનસ્પતિર્હિંસાં કારયન્તસ્તે તદાશ્રિતાનનેકવિધાન  
ત્રસસ્થાવરાન્ પ્રાણિનો ઘાતયન્તિ । નહિ-ત્રીતરાગાણાં સાવધા સપર્યાં સમુક્ષિતા,  
'એસ સ્વલુ ગંધે' ઇત્યાદિવચનેન સર્વારમ્માણામસ્મિન્નેવાગમેતૈ સાધ્વાત્ પ્રતિપિદત્વાત્ ।  
નહિ તત્તત્પ્યાગિમ્પસ્તત્તત્ત્યક્તદ્રવ્યસમર્પણં તુષ્ટિશ્ચર ભવતીતિ । નહિ લોકે મધમાંસ  
ત્યાગિમ્બો મધમાંસસમર્પણં તત્પરિતોષાય જાયતે । અલુ બહુના ! હરિતકન્દમૂલાદિ  
ત્યાગિનઃ શ્રાવકા અપિ ન હરિતકન્દમૂલાદિસમર્પણેન સતુષ્યન્તીતિ વિચારયન્તુ  
મનીષિણ ॥ સૂ. ૫ ॥

અથ સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામિન જગદ-‘તત્થ’ ઇત્યાદિ ।

વન્ધનવાર બૌધ્ધ, પ્રતિમા પર સચિત પત્રે, ફૂલ આદિ વગાફર, સચિત નારિયસ, વાહિમ,  
આમ આદિ નૈવેદ્ય કે ઉપચાર સે વનસ્પતિ કો હિંસા કરતે હુપ્પ સે વનસ્પતિ-આશ્રિત અનેક  
પ્રકાર કે ત્રસ-સ્થાવર જીવોં કા ઘાત કરવાતે હૈં । ત્રીતરાગ દેવ કી પૂજા સાવધ હોના  
અવિચિત નહીં હૈ । ‘એસ સ્વલુ ગંધે’ ઇત્યાદિ કથન દ્વારા હસી આગમ મેં સમસ્ત આરંભોં કા  
ત્રીતરાગ મગવાનને સાધ્વાત્ નિષેધ ક્રિયા હૈ । જો પુરુષ કિસ વસ્તુ કા ત્યાગી હૈ, ડસકી વૃદ્ધિ  
ડસ વસ્તુ કો અર્પિત કરને સે નહીં હો સક્તી । શોક મેં મધ-માંસ કા ત્યાગ કરને વાલોં  
કો મધ-માંસ કી મેંટ સંતોષવનક નહીં હોતી । અધિક ક્યા કહેં ! હરિત કંદ મૂલ કે  
ત્યાગી શ્રાવક મી હરિત કન્દ મૂલ કી મેંટ સે પ્રસન્ન નહીં હોતે હૈં । બુદ્ધિમાન્ પુરુષ સ્વં  
વિચાર કરહેં ॥ સૂ. ૫ ॥

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામી સે કહતે હૈં-‘તત્થ’ ઇત્યાદિ ।

વન્ધનવાર બૌધ્ધીને, પ્રતિમા ઉપર સચિત પાંદડા, ફૂલ આદિ ચલવીને, સચિત નાગિજેર,  
દાહમ, આગા આદિ નૈવેદ્યના ઉપચારથી વનસ્પતિની હિંસા કરીને તે વનસ્પતિ-આશ્રિત  
અનેક પ્રકારના ત્રસ-સ્થાવર જીવોના ઘાત કરાવે છે ત્રીતરાગદેવની પૂજા સાથે જોડ  
તે ચોખ્ય નથી. ‘એસ સ્વલુ ગંધે’ ઇત્યાદિ કથન દ્વારા આ આગમમાં તમામ સમા  
રહોના ત્રીતરાગ મગવાને સાધ્વાત્ નિષેધ કયો છે જે પુરુષ જે વસ્તુના ત્યાગી છે,  
તેની પ્રસન્નતા તે વસ્તુને અર્પણ કરવાથી થઈ શકતી નથી. શોકમાં મધ-માંસના  
ત્યાગી-ત્યાગ કરવાવાળાને મધ-માંસની ભેટ સંતોષ ઉત્પન્ન કરતી નથી, અધિક થી  
કહીએ ! શીલા ઠંડમૂળના ત્યાગી શ્રાવક પણ શીલા ઠંડમૂળના ભેટથી પ્રસન્ન થતા  
નથી તો બુદ્ધિમાન પુરુષ ચોતે વિચાર કરી શીએ. ॥ સૂ. ૫ ॥

સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે-‘તત્થ’ ઇત્યાદિ

ગાત્રાશ્વમૃગવ્યાઘ્રસિંહાદીના સ્વરૂપ દધાના વૃક્ષાદયસ્તસ્યોપવનાદેર્વિશિષ્ટશોભાં  
જનયન્તિ ।

માનન=જનસત્કારસ્તદર્થે, યથા-સ એવ પત્રાદિકર્ત્તનકલાકુશ્મલો  
માલાકારઃ સ્વમાનનાર્થે કર્તૃરીશ્વરેણ વૃક્ષલતાદીનાં પત્રાદિક કન્તતિ । પૂજન=  
વહ્નરત્નાદિલામસ્તદર્થમ્, યથા-દેવપ્રતિમાધર્મ પત્રપુષ્પફલાદીનાં પ્રોટને । તથા-  
જ્ઞાતિમરણમોચનાય=જન્મમરણબન્ધમોચનાર્થે, યથા-મુક્તિકામન પૂજાયા  
પુષ્પપત્રાદિસમુચ્છેદને, તથા-દુઃખપ્રતિષ્ઠાત્તદેહુ=વ્યાધિશમનાધર્મમ્-ઓપધિ-  
વૃક્ષલતાદીનાં મૂલકન્દશાલાપત્રપુષ્પફલાદિમેદને, સ જીવનસુખાધર્મી સ્વયમેવ

હાથી, ઘોડા, હિરન, ઘાઘ, સિંહ આદિ કા આકાર બન જાતા હૈ ઓર હસસે ડસ ઘગીધે કી  
સુન્દરતા બઢતી હૈ, પેસા જાનકર કરતા હૈ ।

જનસત્કાર કે લિપ્ત મી વનસ્પતિ કી હિસા કી જાતી હૈ, જૈસે-પત્તા વગૈરહ કાટને  
મૈં કુશલ વહી પૂર્વોક્ત માલી કૈંચી સે વૃક્ષોં યા છતાઓં કે પત્તા આદિ કાટતા હૈ । તથા પૂજન  
કે લિપ્ત અર્થાત્ વસ્ત્રોં ઓર રત્નોં કે લિપ્ત મી વનસ્પતિકામ કી હિસા કરતે હૈ । જૈસે-દેવ  
પ્રતિમા આદિ કે લિપ્ત પત્ર, ફૂલ, ફલ તોહને મૈં ।

જન્મ મરણ સે છુટકારા પાને સે લિપ્ત મી ડક હિસા કી જાતી હૈ । જૈસે-મુક્તિ કી  
શ્ચ્છા સે પૂજા કે લિપ્ત ફૂલ-ફલ તોહને મૈં । દુઃખોં કા પ્રતીકાર કરને કે લિપ્ત મી યહ હિસા  
કી જાતી હૈ । જૈસે-રોગ મિટાને કે લિપ્ત ઓપધિ, વૃક્ષ, છતા, મૂલ, કન્દ, શાલા, પત્ર, ફૂલ  
આદિ તોહને મૈં હિસા કી જાતી હૈ ।

વૃક્ષ લતા વગેરેને જોવા પ્રકારે કાપે છે કે તેમાં હાથી, ઘોડા, હરણ, વાઘ, સિંહ આદિનો  
આકાર બની આવે છે, અને તેથી જો બગીચાની સુઢરતા વધે છે એવું સમજીનેજ કરે છે

જન-સત્કાર માટે પશુ વનસ્પતિની હિસા કરવામા આવે છે, જેમ-પાલકા  
વગેરેને કાપવામાં કુશલ આગળ કહેલી તેજ માળી કૈંચી (કાનર)થી વૃક્ષો અથવા  
લતાઓનાં પત્તાં આદિ કાપે છે તથા પૂજન માટે અર્થાત્ વસ્ત્રો અને રત્નોને માટે  
પશુ વનસ્પતિકાચારની હિસા કરે છે, જેમ-દેવપ્રતિમા આદિ માટે પત્ર ફૂલ ફલ તોડવામાં

જન્મ-મરણથી છુટવા માટે પશુ પૂર્વ કહેલી હિસા કરવામા આવે છે, જેમકે-  
મુક્તિની ઇચ્છાથી પૂજા માટે ફૂલ ફૂલ તોડવામાં

દુઃખોનો પ્રતિકાર કરવા માટે પશુ જો હિસા કરવામા આવે છે જેમકે-રોગનિવારણ  
કરવા માટે ઓપધી, વૃક્ષ, લતા, મૂલ, કન્દ, શાલા, પત્ર, ફૂલ આદિ તોડવામા હિસા કર  
વામાં આવે છે

શાઙ્ગસ્ય શરણીકરણીયેતિ મગવતા પ્રતિબોધિતમિતિ માવઃ ।

### ઉપમોગદ્વાર—

લોકઃ કસ્મૈ પ્રયોજનાય વનસ્પતિકાયામુપર્દયતી ? ત્યાહ—‘અસ્ય વૈવ જીવિતસ્યે’—ત્યાદિ । અત્યૈવ નશ્વરસ્ય જીવિતસ્ય=જીવનસ્ય મુસ્તાર્થ—આહાર—વસ્ત્ર—પાત્ર—માલ્ય—ગન્ધ—ધૂર્ણ—તાલટુન્તા—ઝાલા—સ્વટ્વા—પલ્પકુ—શ્વિષિકા—શકટ—હલ—મુસલ—પીઠ—ફલક—સિંહાસન—દણ્ડ—લકુટ—કપાટ—વીણા—શાલમઠિત્રકા—નિર્માણ—તાપન—પ્રતાપન—પ્રકાશને—ચન—તૈલાદ્યર્થમિત્યર્થઃ । તથા—પરિવન્દન—માનન—પૂજનાય, પરિવન્દન=પ્રશંસા, તદર્થ, યથા—કથિત્ સ્વપ્રશંસાર્થમ્ ઉપવનાદૌ પત્રાદિકર્તૃત્વકલાકૌશલ્યેન વૃક્ષલતાદીનાં પત્રાદીનિ તથા છેદયતિ યથા તસ્મૈન્નેન

છિપ્ત જીવ કો પરિજ્ઞા (ઉપદેશ) અવશ્ય સ્વીકાર કરના ચાહિપ્ત ।

### ઉપમોગદ્વાર—

હોગ કિસ પ્રયોજન સે વનસ્પતિકાયા કી હિસા કરતે હૈ ? યહ બતલાતે હૈ—ઈસી નાશશીલ જીવન કે મુલ્ય કે છિપ્ત અર્થાત્ આહાર, વસ્ત્ર, પાત્ર, માલ્યા ગંધ, ધૂર્ણ, તાલટુન્ત (પલ્પ), આગલ, સાટ, પલ્પ, પાલકી, ગાદી, હલ, મુસલ, પીઠા, (વાબોટ) ફલકો (પાટ), સિંહાસન, ઢાઢા, લકઢી, કિવાહ, વીણા, પુતલી આદિ વનવાને કે છિપ્ત, તપાના, વિશેષ તપાના, પ્રકાશન, ઈંધન, ઓર તૈલ આદિ કે પ્રયોજન સે વનસ્પતિકાયા કી હિસા કરતે હૈ । તથા પ્રશંસા કે છિપ્ત મી વનસ્પતિ કી હિસા કરતે હૈ, વૈસે—કર્મે પુરુષ અપની પ્રશંસા કે છિપ્ત બગીચા આદિ મેં પત્રા વગૈરહ કાટને કી કલા મેં કુશલતા પ્રકટ કરને કે અભિપ્રાય સે વૃક્ષ લતા વગૈરહ કો હસ પ્રકાર કાટતા હૈ કિસસે ડસમેં

અવને પરિજ્ઞા (ઉપદેશ)નો અવશ્ય સ્વીકાર કરવો બોધબો

### ઉપમોગદ્વાર—

લોક શું પ્રયોજનથી વનસ્પતિકાયાની હિસા કરે છે ? તે બતાવે છે—આ નાશ પામવાવાળા અવના મુખ્ય માટે, અર્થાત્—આહાર, વસ્ત્ર, પાત્ર, માલ્યા, ગંધ, ધૂર્ણ, પાત્ર આગરિયો, પાટ, પલ્પ, પાલકી, ગાદી, હલ, મુસલ, બાબોટ, પાટ, સિંહાસન, ઢાઢા, લાકઢી, કમાડ, વીણા, પુતલી વગેરે બનાવવા માટે, તપાવણું વિશેષ તપાવણું, પ્રકાશન, ઈંધન—(બાળવાના લાકઢા) અને તૈલ આદિના પ્રયોજનથી વનસ્પતિકાયાની હિસા કરે છે. તથા પ્રશંસા માટે પણ વનસ્પતિકાયાની હિસા કરે છે, જેમકે—કોઈ પુરુષ પોતાની પ્રશંસા માટે બગીચા આદિમાં પાંદડા વગેરે કાપવાની કલામાં કુશલતા બતાવવાનાં અભિપ્રાયથી

ગજાશ્વમૃગવ્યાગ્રસિંહાદીનાં સ્વરૂપ દધાના દૃશાદયસ્તસ્યોપવનાદેર્વિશિષ્ટશોમાં  
જનયન્તિ ।

માનનં=જનસત્કારસ્તદર્થ, યથા-સ એવ પત્રાદિકર્તનકલાકુશલો  
માલાકાર' સ્વમાનનાર્થ કર્તરીશ્વસ્ત્રેણ દૃક્ષલતાદીના પત્રાદિક ક્રન્તતિ । પૂજનં=  
વસુરત્તાદિલામસ્તદર્થમ્, યથા-દેવપ્રતિમાધર્થ પત્રપુષ્પફલાદીના ઘ્રોટને । તથા-  
જ્ઞાતિમરણમોચનાય=જન્મમરણબન્ધમોચનાર્થ, યથા-મુક્તિકામન પૂજાર્થાં  
પુષ્પપત્રાદિસમુચ્છેદને, તથા-દુ સ્વપ્રતિઘાતહેતુ=પાપિશ્મનાધર્થમ્-ઓપચિ-  
દૃક્ષલતાદીનાં મૂલકન્દશાલાપત્રપુષ્પફલાદિમેદને, સ જીવનસુખાદ્યર્થી સ્વયમેવ

હાથી, ઘોડા, હિરન, વાઘ, સિંહ આદિ કા આકાર બન જાતા હૈ ઓર ઇસસે ડસ બગીચે કી  
સુન્દરતા વડતી હૈ, પેસા જાનકર કરતા હૈ ।

જનસત્કાર કે લિપે મી વનસ્પતિ કી હિંસા કી જાતી હૈ, જૈસે-પત્તા વગૈરહ કાટને  
મેં કુશલ વહી પૂર્વોક્ત મારી ફેંની સે વૃક્ષો યા લતાઓ કે પત્તા આદિ કાટતા હૈ । તથા પૂજન  
કે લિપે અર્થાત્ વક્ષો ઓર રત્નો કે લિપે મી વનસ્પતિકાચાર કી હિંસા કરતે હૈ । જૈસે-દેવ  
પ્રતિમા આદિ કે લિપે પત્ર, ફૂલ, ફલ તોડને મેં ।

જન્મ મરણ સે છુટકારા પાને સે લિપે મી ડક્ત હિંસા કી જાતી હૈ । જૈસે-મુક્તિ કી  
શક્તિ સે પૂજા કે લિપે ફૂલ-ફલ તોડને મેં । વૃક્ષો કા પ્રતીકાર કરને કે લિપે મી યહ હિંસા  
કી જાતી હૈ । જૈસે-રોગ મિટાને કે લિપે ઓપચિ, વૃક્ષ, લતા, મૂલ, કન્દ, શાલા, પત્ર, ફૂલ  
આદિ તોડને મેં હિંસા કી જાતી હૈ ।

વૃક્ષ લતા વગેરેને એવા પ્રકારે કાપે છે કે તેમાં હાથી, ઘોડા, હરણ, વાઘ, સિંહ આદિનો  
આકાર બની જાય છે, અને તેથી એ બગીચાની સુશરતા વધે છે એવું સમજીનેજ કરે છે

જન-સત્કાર માટે પશુ વનસ્પતિની હિંસા કરવામાં આવે છે, જેમ-પાંદડાં  
વગેરેને કાપવામાં કુશલ આગળ કહેલો તેજ માળી કેવી (કાતર)થી વૃક્ષો અથવા  
લતાઓના પત્તા આદિ કાપે છે. તથા પૂજન માટે અર્થાત્ વસ્ત્રો અને રત્નોને માટે  
પશુ વનસ્પતિકાચારની હિંસા કરે છે, જેમ-દેવપ્રતિમા આદિ માટે પત્ર ફૂલ ફલ તોડવામાં

જન્મ-મરણથી છુટવા માટે પશુ પૂર્વ કહેલી હિંસા કરવામાં આવે છે, જેમકે-  
મુક્તિની ઇચ્છાથી પૂજા માટે ફૂલ ફૂલ તોડવામાં

કુશ્મોનો પ્રતિકાર કરવા માટે પશુ એ હિંસા કરવામાં આવે છે જેમકે-રોગનિવારણ  
કરવા માટે ઓપચી, વૃક્ષ, લતા, મૂલ, કન્દ, શાલા, પત્ર, ફૂલ આદિ તોડવામાં હિંસા કર  
વામાં આવે છે



વનસ્પતિશસ્ત્રં=વનસ્પતિકાયોપમર્દક દ્રવ્યમાવદ્યસ્ય સમારમતે=અપાપાયતિ । અન્યૈર્વા  
વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમ્મયતિ । અન્યાન વા વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ સમનુજાનાતિ-  
અનુમોદયતિ ।

તત્=વનસ્પતિકાયાસમારમ્મ, તસ્ય વનસ્પતિસમારમ્મ કુર્વત્ કારણિતુઃ  
અનુમોદયિતુષ્ઠ અહિતાય ભવતિ । તથા-તત્ તસ્ય અવોધયે=સમ્યક્ત્યાલામાય  
ભવતિ । ॥ સૂ૦ ૬ ॥

યેન તુ તીર્થઙ્ક્રતાદિસમોપે વનસ્પતિકાયાસ્વરૂપ પરિશ્ચિતં, સ એવં વિમાલપતી  
ત્યાહ—‘સે ત ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સે તં સવુજ્જમાણે આયાણીય સમુદ્ઘાય સોષા સ્તુ મગવતો અન્ન-

હસ પ્રકાર લીલન કો સુસી બનાવે કા અમિલાપી વહ પુરુષ વનસ્પતિકાયા કી દિસા  
કરનેવાલે દ્રવ્ય ઔર માવશાસ્ત્ર કા સ્વયં ઉપયોગ કરતા હૈ, દૂસરી સે ઉપયોગ કરાતા હૈ ઔર  
વનસ્પતિશાસ્ત્ર કા ઉપયોગ કરને વાલે દૂસરી કા અનુમોદન કરતા હૈ ।

વનસ્પતિકાયા કા વહ આરમ, આરમ કરને વાલે, કરને વાલે ઔર અનુમોદન  
કરને વાલે કે અહિત કે લિપ્ત હોતા હૈ ઔર સમ્યક્ત્વ કી અપ્રાપ્તિ કા કારણ  
બનતા હૈ ॥ સૂ૦ ૬ ॥

તીર્થંકર આદિ કે નિકટ વનસ્પતિકાયા કા સ્વરૂપ ઢિસને જ્ઞાન લિખા હૈ, વહ હસ  
પ્રકાર વિચાર કરતા હૈ—‘સે તં ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—વહ પુરુષ મગવાન્ યા અનગારો સે સુનકર સમક્ષ—દૂરકર સંબન્ધ

એ પ્રમાણે લખને મુખી બનાવવાના અભિલાષી તે પુરુષ વનસ્પતિકાયાની દિશા  
કરવાવાળા દ્રવ્ય અને લાવ શક્તિનો સ્વય ઉપયોગ કરે છે, બીજા પાસે ઉપયોગ કરાવે  
છે અને વનસ્પતિશાસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે

વનસ્પતિકાયાનો આ આરમ, આરમ કરવાવાળાને, કરાવવાવાળાને અને અનુમોદન  
કરવાવાળાને અહિત માટે છે અને સમ્યક્ત્વની અપ્રાપ્તિનું કારણ બને છે ॥ સૂ૦ ૬ ॥

તીર્થંકર આદિના સમીપે વનસ્પતિકાયાનું સ્વરૂપ જોણે બાધી લીધું છે. તે આ  
પ્રમાણે વિચાર કરે છે—‘સે તં ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે પુરુષ મગવાન અથવા અણુગારા પાસેથી સાંભળી-સમજી-બુઝીને

ગારાણ વા અતિે ઇદમેગેસિ ણાય મવડ-એસ સ્વલ્લ ગયે, એસ સ્વલ્લ મોદે, એસ સ્વલ્લ મારે, એસ સ્વલ્લ ણરણ । ઇદ્ધથ ગદિણ લોણ, અમિણ વિરૂપરૂવેહિં સત્થેહિં વણસ્સ-કમ્મસમારમેણ વણસ્સસત્થ સમારંમમાણે અણ્ણે અણેગરૂવે પાણે વિહિંસહ ॥ સૂ. ૭ ॥

છાયા—

સ તત્ સવુધ્યમાન આદાનીયં સમુત્પાય શ્રુત્વા સ્વલ્લ મગવતઃ અનગારાણાં વા અન્તિકે, ઇદૈકેપાં જ્ઞાત મવતિ-એપ સ્વલ્લ ગ્રન્યઃ, એપ સ્વલ્લ મોહ, એપ સ્વલ્લ મારઃ, એપ સ્વલ્લ નરકઃ । ઇત્યર્થ મૃદ્ધો લોકઃ, યદિમ વિરૂપરૂપૈ શ્લેષઃ વનસ્પતિકર્મસમારમ્મેણ વનસ્પતિશ્ચ સમારમગાણઃ અન્યાન્ અનેકરૂપાન્ પ્રાણાન્ વિહિન્સતિ ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકા—યઃ સ્વલ્લ મગવતઃ=તીર્થસ્કરસ્ય, અનગારાણાં=તદીયધ્રમણનિર્ગ્રન્થાનાં વા અન્તિકે શ્રુત્વા, આદાનીયમ્=ઉપાદેયસર્વસાવધયોગવિરતિરૂપ ચારિત્ર, સમુત્પાય=મજ્જીકૃત્ય વિહરતિ, સ તત્=વનસ્પતિકાયસમારમ્મણ સવુધ્યમાનઃ=અહિતાબોધિજનકત્વેન વિજ્ઞાતા સન્ એવ વિમાવયતિ—‘એવ સ્વલ્લ’ ઇત્યાદિ ।

પ્રહ્ણ કરકે વિચરતા હૈ । વહ ઇસ પ્રકાર સમક્ષતા હૈ—વનસ્પતિકાય કા આરંમ પ્રય હૈ, યહ મોહ હૈ, યહ માર હૈ, યહ નરક હૈ । ગુહ્ જોગ ઇસકે લિપ્ નાના પ્રકાર કે શબ્દાં સે વનસ્પતિકાય કા આરમ કરકે, શબ્દ કા પ્રયોગ કરતે હુપ ઔર મી અનેક પ્રાણિયોં કા ઘાત કરતે હૈ ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકાર્થ—જો પુરુષ તીર્થકર સે યા ડનકે ધ્રમણ નિર્ગ્રન્થોં સે સર્વસાવધ ત્યાગ રૂપ સયમ સ્વરૂપ સમક્ષકર ઔર ડસે અંગીકાર કરકે વિચરતા હૈ વહ વનસ્પતિકાય કે આરમ કો અહિતકર ઔર અબોધિજનક સમક્ષકર ઇસ પ્રકાર વિચાર કરતા હૈ—‘એવ સ્વલ્લ’ ઇત્યાદિ ।

સયમ અહલ્લ કરીને વિચરે છે તે આ પ્રમાણે સમજે છે—વનસ્પતિકાયને આરભ અથ છે, એ મોહ છે, એ માર છે, એ નરક છે મૃદ્ધ લોક એ માટે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી વનસ્પતિકાયને આરભ કરીને શસ્ત્રનો પ્રયોગ કરતા થકા બીજા પક્ષ અનેક પ્રાણીઓનો ઘાત કરે છે ॥ સૂ. ૭ ॥

ટીકાર્થ—જે પુરુષ તીર્થકરથી અથવા તેમના અમલુ નિર્દેશો પાસેથી સર્વ સાવધ (કર્મના) ત્યાગરૂપ સયમના સ્વરૂપને સમજી ને અને તેને અંગીકાર કરીને વિચરે છે, તે વનસ્પતિકાયના આરભને અહિતકર અને અબોધિજનક સમજી આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે—‘એવ સ્વલ્લ’ ઇત્યાદિ

ધનસ્પતિશસ્ત્ર=ધનસ્પતિકાયોપમર્દક દ્રવ્યમાવશ્ય સમારમતે=વ્યાપારયતિ । અન્યેર્વા  
ધનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમ્મયતિ । અન્યાન વા ધનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ સમનુજાનાતિ  
અનુમોદયતિ ।

તત્=ધનસ્પતિકાયસમારમ્મ, તસ્ય ધનસ્પતિસમારમ્મ કુર્વત કારમ્પિતુઃ  
અનુમોદયિતુશ્ચ અદિતાય મયતિ । તથા-તત્ તસ્ય અવોધયે=સમ્યક્ચાલામાય  
મવતિ । ॥ સૂ૦ ૬ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे धनस्पतिकायस्वरूप परिष्कारं, स एवं विभावयती  
त्याह—‘से तं’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

से त संषुज्जमाणे आयाणीय समुद्राय सोढा खलु भगवभो क्व

इस प्रकार जीवन् को सुखी बनाने का अमिलापी वह पुरुष धनस्पतिकाय की हिंसा  
करनेवाले द्रव्य और भावशक्त का स्वयं उपयोग करता है, दूसरों से उपयोग कराता है और  
धनस्पतिशक्त का उपयोग करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

धनस्पतिकाय का वह आरम्भ, आरम्भ करने वाले, कराने वाले और अनुमोदन  
करने वाले के अहित के लिए होता है और सम्यक्त्व की अप्राप्ति का कारण  
बनता है ॥ सू० ६ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट धनस्पतिकाय का स्वरूप भित्तने जान लिया है, वह इस  
प्रकार विचार करता है—‘से तं’ इत्यादि ।

मूलार्थ—वह पुरुष भगवान् या जनगारो से सुनकर समस्त-बूझकर संभव

એ પ્રમાણે જીવનને સુખી બનાવવાના અભિલાષી તે પુરુષ ધનસ્પતિકાયની હિંસા  
કરવાવાળા દ્રવ્ય અને ભાવ શક્તિનો સ્વયં ઉપયોગ કરે છે, બીજા પાસે ઉપયોગ કરાવે  
છે અને ધનસ્પતિશક્તિનો ઉપયોગ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે

ધનસ્પતિકાયનો આ આરંભ, આરંભ કરવાવાળાને, કરાવવાવાળાને અને અનુમોદન  
કરવાવાળાને અહિંત માટે છે અને સમ્યક્ત્વની અપ્રાપ્તિનું કારણ બને છે ॥ સૂ૦ ૬ ॥

તીર્થંકર આદિના સમીપે ધનસ્પતિકાયનું સ્વરૂપ જોયું બાકી લીધું છે. તે આ  
પ્રમાણે વિચાર કરે છે—‘સે તં’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તે પુરુષ ભગવાન અથવા જ્ઞાણગારો પાસેથી સાંભળી-સમજી-જુઓને

इत्यर्थम्=एतदर्थं, कर्मबन्ध-मोह-मरण-नरकरूप घोरदुःखकल प्राप्यापि पुनः पुनरेतदर्थमेव लोकः=अज्ञानवशवर्ती जीव, गृह=लिप्सुरस्ति । यद्वा-गृहः=मोगामि-लापी, लोकः=ससारी जीवः, इत्यर्थम्=एतदर्थमेव=ग्रन्थ-मोह-मरणनरकार्यमेव प्रवर्तत इति शेषः ।

लोकः पुनः पुनः कर्मबन्धाद्यर्थमेव प्रवर्तत इति यदुक्तं, तत् कथं ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—‘यदिमम्.’ इत्यादि ।

यद्=यस्माद्, विरूपस्यैः=नानाविधै शस्त्रैः पूर्वोक्तप्रकारै, वनस्पतिकर्मसमा-रम्भेण=वनस्पतिकायोपमर्दनरूपसावधव्यापारेण, इम=वनस्पतिकाय विहितस्ति । तथा वनस्पतिश्च समारम्भमाण=व्यापारयन् अन्यान्=पृथिवीकायादीन् अनेकरूपान्=त्रसान् स्थावराश्च तदाश्रितान् प्राणान्=प्राणिन विहितस्ति=उपमर्दयति ॥ सू० ७॥

અજ્ઞાની જીવ કર્મબંધ, મોહ, મરણ ઔર નરક રૂપ इन फलों को प्राप्त करके भी बार-बार इसी में गृह होते हैं । अथवा मोग के अभिलाषी पुरुष इसी प्रथ, मोह, मरण और नरक के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं ।

છેલ પુન-પુન કર્મબંધ આદિ કે लिए ही प्रवृत्ति करते हैं यह जो कथन किया है सो कैसे ज्ञात हुआ ? इस जिज्ञासा के होने पर कहते हैं—‘यदिमम्’ इत्यादि ।

क्यों कि नाना प्रकार के पूर्वोक्त शस्त्रों द्वारा वनस्पतिकाय की हिंसा करने वाले लोग सावध व्यापार से वनस्पतिकाय का घात करते हैं । तथा वनस्पतिकाय का आरंभ करते हुए अन्य पृथ्वीकाय आदि अनेक प्रकार के तदाश्रित प्रस और स्थावर जीवों की घात करते हैं ॥ सू० ७ ॥

અજ્ઞાની જીવ કર્મબંધ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ જો ફળોને પ્રાપ્ત કરીને પણ વાર-વાર જોમા ગૃહ થાય છે અથવા મોગના અભિલાષી પુરુષ આ પ્રથ, મોહ, મરણ અને નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

લોક પુન પુન. (ફરી-ફરી) કર્મબંધ વગેરે માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે; જો કથન જે કયું છે, તે કેવી રીતે જાણવામા આવ્યું ? જો જિજ્ઞાસા થવાથી કહે છે ‘યદિમમ્’ ઇત્યાદિ

કેમકે નાના પ્રકારના પૂર્વોક્ત શસ્ત્રો દ્વારા વનસ્પતિ કાયની હિંસા કરવાવાળા લોક સાવધ વ્યાપારથી વનસ્પતિકાયનો ઘાત કરે છે, તથા વનસ્પતિકાયનો આરંભ કરતા થકા, અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ અનેક પ્રકારના તદાશ્રિત પ્રસ અને સ્થાવર જીવોનો ઘાત કરે છે ॥ સુ. ૭ ॥

इह=मनुष्यलोके एकेपां=अमणनिर्ग्रन्थोपदेशज्ञातसम्यग्बोधोपवैराग्यानामा-  
स्मार्थिनामेवं ज्ञातं=विदितं भवति । किं ज्ञातं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—‘एष सच्छुं’  
इत्यादि ।

एषः=वनस्पतिसहस्रमारम्भः खलु=निश्चयेन ग्रन्थः=कर्मबन्धः, कारणे कार्बो-  
पचारान् कारणभूतो वनस्पतिसहस्रमारम्भ एव कर्मबन्धरूपो ग्रन्थ इत्युच्यते ।  
एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा-एष वनस्पतिसहस्रमारम्भ मोहः=विपर्ययः-  
अज्ञानम् । तथा-एष एव मारः=मरणं-निगोदादिमरणरूप । तथा-एष एव नरकः=  
नारकजीवानां दशविधयातनास्यानम् ।

इस मनुष्य लोक में जिन्हें अमण निर्ग्रन्थों के उपदेश से सम्यग्ज्ञान और वैराग्य  
उत्पन्न हो गया है, उन्हीं को यह विदित होता है । क्या विदित होता है ? इस शका का  
समाधान करने के लिए आगे कहते हैं—‘ एष खलु ग्रन्थः ’ इत्यादि ।

वनस्पतिकार्य का कारण निश्चय से ग्रन्थ अर्थात् कर्मबन्धरूप है । कारण में कार्य का  
उपचार करके कारण को कर्मबन्ध कहा है । वस्तुतः वह कर्मबन्ध का कारण है । इसी प्रकार  
आगे भी समझ लेना चाहिए ।

वनस्पतिकार्य का समारम्भ मोह अर्थात् अज्ञान है—अज्ञानजनक है । यह मार है  
अर्थात् निगोद आदि में मृत्यु का कारण है । यह नरक है अर्थात् नारकी जीवों को दश प्रकार  
की यातना का कारण है ।

આ મનુષ્યલોકમાં જેને નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી સમ્યક્જ્ઞાન, અને વૈરાગ્ય ઉત્પન્ન  
થઈ ગયે છે તેઓ આ બાબે છે શું બાબે છે ? એ શકાનું સમાધાન કરવા  
માટે આગળ કહે છે, ‘ એવ જાણુ ગ્રન્થઃ ’-ઇત્યાદિ.

વનસ્પતિકાર્યનો આરભ નિશ્ચય ગ્રન્થ છે—અર્થાત્ કર્મબન્ધરૂપ છે, કારણમાં  
કાર્યનો ઉપચાર કરીને આરભને કર્મબન્ધ કહે છે, વસ્તુતઃ તે કર્મબન્ધનું કારણ છે  
જે પ્રમાણે આગળ પણ સમજાવેલું બેલું બોધ્યું.

વનસ્પતિકાર્યનો સમારંભ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન છે—અજ્ઞાનજનક છે, તે માર છે,  
અર્થાત્ નિગોદ આદિમાં મૃત્યુનું કારણ છે તે નરક છે, અર્થાત્ નારકી જીવોને દશ  
પ્રકારની યાતનાઓનું કારણ છે.

છિન્ન મિલાઈ, હમપિ આહારગં, એયપિ આહારગ, હમપિ અણિચ્ચય એયપિ અણિચ્ચય, હમંપિ અસાસય એયંપિ અસાસય, હમપિ ચઓવચઈય એયપિ ચઓવચઈય, હમંપિ વિપરિણામધમ્મય એયપિ વિપરિણામધમ્મય ॥ સુ. ૮ ॥

છાયા—

સ બ્રવીમિ—હદમપિ જાતિધર્મકમ્ એતદપિ જાતિધર્મકમ્, હદમપિ દ્વિધર્મકમ્ એતદપિ દ્વિધર્મકમ્, હદમપિ ચિત્તવત્ એતદપિ ચિત્તવત્, હદમપિ છિન્નં મ્લાયતિ એતદપિ છિન્ન મ્લાયતિ, હદમપિ આહારકમ્ એતદપિ આહારકમ્, હદમપિ અનિત્યકમ્ એતદપિ અનિત્યકમ્, હદમપિ અશાશ્વતમ્ એતદપિ અશાશ્વતમ્, હદમપિ ચયોપચયિકમ્ એતદપિ ચયોપચયિકમ્, હદમપિ વિપરિણામધર્મકમ્ એતદપિ વિપરિણામધર્મકમ્ ॥ સુ. ૮ ॥

ટીકા—

येन साक्षाद्भगवन्मुखत्वाद् घनस्पतेः सचेतनत्वं श्रुतं सोऽहं ब्रवीमि= यथा भगवता कथितं, तथा कथयामीत्यर्थः । प्रतिज्ञातमर्थं प्रदर्शयति-हदमपीत्यादि ।

यह भी आहारक है, वह भी आहारक है । यह भी अनित्य है, वह भी अनित्य है । यह भी अशश्वत है, वह भी अशश्वत है । यह भी चय-उपचय वाला है, वह भी चय-उपचय वाला है । यह भी विविध प्रकार से परिणमनशील है और वह भी विविध प्रकार से परिणमनशील है ॥ सू. ८ ॥

ટીકાર્થ—જિસને સાક્ષાત્ ભગવાન્ કે મુખ સે ઘનસ્પતિકાય કી સચેતનતા સુની હૈ વહી મેં કહતા હૂં—જેસા ભગવાન્ ને કહા હૈ વૈસા હી મેં કહતા હૂં । યહી ઘાત કહતે હૂં—‘હદમપિ’ ઇત્યાદિ ।

પણ આહારક છે આ પણ અનિત્ય છે તે પણ અનિત્ય છે આ પણ અશશ્વત છે, તે પણ અશશ્વત છે આ પણ ચય-ઉપચયવાળા છે, તે પણ ચય-ઉપચયવાળા છે આ પણ વિવિધ પ્રકારથી પરિણમનશીલ છે, અને તે પણ વિવિધ પ્રકારથી પરિણમન શીલ છે ॥સુ. ૮॥

ટીકાર્થ—જેણે સાક્ષાત્ ભગવાનના મુખથી વનસ્પતિકાયની સચેતનતા સાંભળી છે તેજ હું કહું છું—જેણે ભગવાને કહ્યું છે, તેણે જ હું કહું છું, એ વાત કહે છે—‘હદમપિ’ ઇત્યાદિ.

વનસ્પતિકર્મસમારમ્મફલપ્રદર્શનપુરસ્સર વનસ્પતિસમારમ્મેજ્ઞેકત્રસસ્થાવરીક-  
હિંસાઽવશ્યમ્માવિનીતિ પ્રદર્શિતમ્, સપતિ વનસ્પતેઃ સચેતનત્વજ્ઞાયાં તસ્ય મનુષ્ય-  
શરીરવત્ સચેતનત્વમસ્તીતિ પ્રદર્શયતિ—‘સે વેમિ’ इत्यादि ।

यद्वा—यथा मनुष्यशरीरे चैतन्यं सुगमं, तथा वनस्पतिकायेऽपि, तस्मात्  
वनस्पतेर्मनुष्यशरीरसादृश्यं दर्शयति सूत्रकारः—‘से वेमि’ इत्यादि ।

मूलम्—

સે વેમિ—इमपि जाइधम्मय एयपि जाइधम्मयं, इमपि बुद्धिधम्मय इयपि  
बुद्धिधम्मयं, इमपि चित्तमत्तय एयपि चित्तमत्तयं, इमपि छिण्णं मिहाइ एयपि

वनस्पतिकाय के आरंभ का फल प्रगट करके यह भी प्रदर्शित कर दिया गया है कि—वनस्पतिकाय का आरंभ करने से अन्य त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा भी भक्ष्य होती है । अब वनस्पतिकाय के सचेतन होने में शका होने पर उसकी मनुष्य शरीर के समान सचेतनता सूत्रकार प्रकट करते हैं—‘से वेमि,’ इत्यादि ।

અથવા—जैसे मनुष्यशरीर में चैतन्य को समझना सुगम है उसी प्रकार  
वनस्पतिकाय में भी । अब एव वनस्पति मनुष्यशरीर के समान है, यह बात सूत्रकार कहते  
हैं—‘से वेमि’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—वह मैं कहता हूँ—यह (मनुष्यशरीर) जन्मशील है, वह (वनस्पतिशरीर) भी  
जन्मशील है । यह बुद्धिशील है, वह भी बुद्धिशील है । यह सचित्त है वह भी  
सचित्त है । छेदने पर यह मुरझा जाता है, वह भी छेदने पर मुरझा जाता है ।

વનસ્પતિકાયના આરંભનું ફળ પ્રગટ કરીને એ પણ પ્રદર્શિત કરી આપ્યું છે કે—  
વનસ્પતિકાયના આરંભ કરવાથી અન્ય ત્રસ અને સ્થાવર જીવોની હિંસા પણ અવશ્ય  
કાય છે હવે વનસ્પતિકાયની સચેતનતા કોવામાં શકા કોવાથી તેની સચેતનતા  
મનુષ્યશરીરની સચેતનતા સમાન સૂત્રકાર પ્રગટ કરે છે—‘સે વેમિ’ इत्यादि

અથવા—जैसे मनुष्य शरीरमा चैतन्यने समझनामा सुगमता छे, ते प्रभावे  
वनस्पतिकायमां पण सुगमता छे को भाटे वनस्पति मनुष्यशरीरना समान छे को बात  
सूत्रकार कहे छे—‘से वेमि’ इत्यादि

મૂલાર્થ—ते हूँ कहूँ छे—आ (मनुष्य शरीर) जन्मशील छे ते (वनस्पति  
शरीर) पण जन्मशील छे, आ बुद्धिशील छे; ते पण बुद्धिशील छे, आ सचित्त छे—  
छेदवाधी ते मुरझाई जाय छे, ते पण छेदवाधी मुरझाई जाय छे आ पण मुरझाई छे, ते

યુક્તમ્, એતદપિ=વનસ્પતિશરીર ચિત્તવત્=ચેતનાવત્, લજ્જાલુધાન્યાદીનાં સકોચ વિકાસ-સ્વાપા-વવોધદર્શનાત્ । इदमपि=मनुष्यशरीरं हस्तादि छिन्न सत् म्लायति=शुष्यति, एतदपि=वनस्पतिशरीरमपि पल्लवफलपुष्पादि छिन्न सत् म्लायति=शुष्कं भवति । इदमपि आहारकम्=क्षीरौषधानाद्याहारकरणशील, तथैव एतदपि=वनस्पतिशरीर भूदलाद्याहारमोजि, न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम् ।

તથા इदमपि=मनुष्यशरीरम् अनित्यम्= न सर्वदाज्वस्थायि, एतदपि वनस्पतिशरीरम् अनित्यकम् आयुषोऽधिषत्त्वात्, वनस्पतिशरीरस्य हि उत्कृष्ट-मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तथा-इदमपि=मनुष्यशरीरम् अशाश्वत=प्रतिक्षणमावीचीमर-

કયોં કિ લજ્જાવતી ધાત્રી આદિ વનસ્પતિયોં મેં સકોચ, વિકાસ, સ્વાપ (નિદ્રા) ઔર અવવોષ (ભાગના) દેસ્તા જાતા હૈ । હાથ આદિ મનુષ્યશરીર છેદને પર મુરજ્જા જાતા હૈ उसी प्रकार पत्ता, फूल, फल आदिरूप वनस्पतिशरीर भी छेदने पर मुरज्जा जाता है । यह मनुष्यशरीर दूध और ओदन आदि का आहार करता है और वनस्पति शरीर भी पृथ्वी, जल आदि का आहार करता है । आहार करने कि किया अचेतन में नहीं देखी जाती ।

મનુષ્યશરીર અનિત્ય હૈ-સદા ટહુરને વાલા નહીં હૈ, इसी प्रकार वनस्पतिशरीर भी अनित्य है, कयों कि उसकी आयु की सीमा है । वनस्पतिशरीर की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की है ।

મનુષ્ય શરીર અશાશ્વત હૈ-આવીંચિમરણ પ્રતિક્ષણ હોતા રહતા હૈ, और वनस्पति

કેમકે લજ્જાવતી-(રીસામણી), ધાત્રી આદિ વનસ્પતિઓમાં સ દેખાવું, વિકાસ, નિદ્રા અને જાગવું જોવામાં આવે છે

હાથ-આદિ મનુષ્યશરીર છેદવાથી સૂકાઈ જાય છે તે પ્રમાણે પાહડા, ફલ, ફૂલ આદિ રૂપ વનસ્પતિશરીર પણ છેદવાથી સૂકાઈ જાય છે આ મનુષ્યશરીર દૂધ અને ભાત વગેરેનો આહાર કરે છે, તેમ વનસ્પતિશરીર પણ પૃથ્વી, જલ આદિનો આહાર કરે છે, આહાર કરવાની ક્રિયા અચેતનમાં જોવામાં આવતી નથી.

મનુષ્ય શરીર અનિત્ય છે હમેશાં સ્થિર રહેવાવાળું નથી, એ પ્રમાણે વનસ્પતિ શરીર પણ અનિત્ય છે કેમકે-તેની આયુષ્યની સીમા છે વનસ્પતિશરીરની ઉત્કૃષ્ટ આયુ દસ હજાર વર્ષની છે

! મનુષ્યશરીર અશાશ્વત છે-આવીંચિમરણ પ્રતિક્ષણ થતું રહે છે, તેમ



इह पुरुषस्योपदेशयोग्यतया सामर्थ्येन सनिहितत्वात्च्छरीरं सनिष्ठत्वा-  
चिनेदमशब्देन परामृश्यते । इदमपि मनुष्यशरीरं, यद्वा-सामान्यरूपेण प्रसक्तावे-  
चेतन्यस्य सुष्ठेयत्वात् इदं=प्रसशरीरं, जातिधर्मक-जाति-जननं, तदधर्मक-जन-  
नस्वभावं, एतदपि=वनस्पतिशरीरमपि जातिधर्मक=मनुष्यशरीरवद् वनस्पति-  
शरीरमपि जननस्वभावकमस्तीत्यर्थः । तथा इदमपि मनुष्यशरीरं इति धर्मक-  
बालकौमाराद्यवस्थामाधित्य धर्धनस्वभावम्, एतदपि वनस्पतिशरीरं अङ्कुरकिञ्चन-  
पत्रस्कन्धशाखाप्रशाखादिना वर्धनशीलम् । इदमपि मनुष्यशरीरं चित्तवत्=चेतना

‘इदम्’ શબ્દ કા પ્રયોગ સમીપવર્તી વસ્તુ કે લિપ્ ક્રિયા જાતા હે । મનુષ્ય હી ઉપદેશ કા પાત્ર હે ઔર ઁસકા શરીર મી અત્યન્ત સમીપ હે અતઃ મનુષ્ય કે શરીર કો ‘इदम्’ શબ્દદ્વારા નિર્દિષ્ટ ક્રિયા ગમા હે । અથવા પ્રસ જીવ કે શરીર મેં ચૈતન્ય કો સમજના સુગમ હે, ઁસ કારણ ‘इदम्’ કા અર્થ મનુષ્યશરીર કે બનાવ પ્રસ જીવ કા શરીર સમજ લેના ઁહિપ્ ।

यह मनुष्यशरीर या प्रस जीव का शरीर उत्पन्न होने का स्वभाव वाला है, उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी उत्पन्न होने का स्वभाव वाला है । तथा मनुष्य शरीर इति शील है-बाल, कुमार आदि अवस्थाओं में बढ़ता जाता है उसी प्रकार वनस्पति-  
शरीर भी अङ्कुर, किञ्चन, पत्र, स्कन्ध, शाखा और प्रशाखा आदि रूप से बढ़ता जाता है । मनुष्यशरीर चेतनावान् है उसी प्रकार वनस्पति का शरीर भी चेतनावान् है,

‘इदम्’ શબ્દનો પ્રયોગ સમીપવર્તી વસ્તુ માટે કરવામાં આવે છે મનુષ્ય ઉપદેશને પાત્ર છે, અને તેનું શરીર અત્યન્ત સમીપ છે એ કારણથી મનુષ્યના શરીરને ‘इदम्’ શબ્દદ્વારા નિર્દિષ્ટ કર્યું છે અથવા પ્રસ જીવના શરીરમાં ચૈતન્યને સમજવું સુગમ છે એ કારણથી ‘इदम्’નો અર્થ મનુષ્ય શરીરના બદલે પ્રસ જીવનું શરીર સમજ લેવું જોઈએ

આ મનુષ્યશરીર અથવા પ્રસજીવનું શરીર ઉત્પન્ન થવાના સ્વભાવવાળું છે, તે પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ ઉત્પન્ન થવાના સ્વભાવવાળું છે તથા મનુષ્યશરીર વૃદ્ધિ શીલ છે-બાલકુમાર, બાદિ અવસ્થાઓમા વધતું જાય છે, તે પ્રમાણે વનસ્પતિશરીર પણ અકુર, કિન્ચન-કુમળાં, પાન, પત્ર, સ્કન્ધ, શાખા અને પ્રશાખા વ્યાદિરૂપથી વધે જાય છે, મનુષ્યશરીર ચેતનાવાન છે, તે પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ ચેતનાવાન છે.

યુક્તમ્, एतदपि=वनस्पतिशरीर चित्तवत्=चेतनावत्, लज्जालुधात्र्यादीनां सकोच विकास-स्वापा-वबोधदर्शनात् । इदमपि=मनुष्यशरीर हस्तादि छिन्न सत् म्लायति=भुष्यति, एतदपि=वनस्पतिशरीरमपि पल्लवफलपुष्पादि छिन्न सत् म्लायति=शुष्क भवति । इदमपि आहारकम्=क्षीरौदनाद्याहारकरणशील, तथैव एतदपि=वनस्पतिशरीर भूजलाद्याहारभोजि, न चेतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम् ।

तथा इदमपि=मनुष्यशरीरम् अनित्यम्= न सर्वदाऽवस्थायि, एतदपि वनस्पतिशरीरम् अनित्यकम् आयुषोऽवधिसत्त्वात्, वनस्पतिशरीरस्य हि उत्कृष्ट-मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तथा-इदमपि=मनुष्यशरीरम् अशाश्वत=प्रतिक्षणमावीचीमर-

વ્યોં કિં લજ્જાવતી ધાત્રી આદિ વનસ્પતિયોં મેં સકોચ, વિકાસ, સ્વાપ (નિદ્રા) ઔર અવયોધ (જાગના) દેસા જાતા હૈ । હાથ આદિ મનુષ્યશરીર હેઢને પર મુરમા જાતા હૈ ઁસો પ્રકાર પત્તા, ફૂલ, ફલ આદિરૂપ વનસ્પતિશરીર મી હેઢને પર મુરમા જાતા હૈ । યહ મનુષ્યશરીર દૂધ ઔર ઓદન આદિ કા આહાર કરતા હૈ ઔર વનસ્પતિ શરીર મી પૃથ્વી, જલ આદિ કા આહાર કરતા હૈ । આહાર કરને કિં ક્રિયા અચેતન મેં નહીં દેસી જાતી ।

મનુષ્યશરીર અનિત્ય હૈ-સદા ઁઠ્ઠરને વાલ્ઝા નહીં હૈ, હસી પ્રકાર વનસ્પતિશરીર મી અનિત્ય હૈ, વ્યોં કિં ઁસકી આયુ કી સીમા હૈ । વનસ્પતિશરીર કી ઉત્કૃષ્ટ આયુ વસ હજાર વર્ષ કી હૈ ।

મનુષ્ય શરીર અશાશ્વત હૈ-આવીચિમરણ પ્રતિષ્ઠણ હોતા રહતા હૈ, ઔર વનસ્પતિ

કેમકે લજ્જાવતી-(રીસામણી), ધાત્રી આદિ વનસ્પતિઓમાં સ કેઆવું, વિકાસ, નિદ્રા અને જાગવું જોવામાં આવે છે

હાથ-આદિ મનુષ્યશરીર હેઢવાથી સૂકાઈ જાય છે તે પ્રમાણે પાદડા, ફેલ, ફેલ આદિ રૂપ વનસ્પતિશરીર પણ હેઢવાથી સૂકાઈ જાય છે આ મનુષ્યશરીર દૂધ અને ભાત વગેરેનો આહાર કરે છે, તેમ વનસ્પતિશરીર પણ પૃથ્વી, જલ આદિનો આહાર કરે છે, આહાર કરવાની ક્રિયા અચેતનમાં જોવામાં આવતી નથી.

મનુષ્ય શરીર અનિત્ય છે હંમેશાં સ્થિર રહેવાવાળું નથી, જો પ્રમાણે વનસ્પતિ શરીર પણ અનિત્ય છે કેમકે-તેની આયુષ્યની સીમા છે વનસ્પતિશરીરની ઉત્કૃષ્ટ આયુ ૬૫ હજાર વર્ષની છે

મનુષ્યશરીર અશાશ્વત છે-આવીચિમરણ પ્રતિષ્ઠણ થતું રહે છે, તેમ

યેન મરણાત્, एतदपि=वनस्पतिशरीरम् अशाश्वत=प्रतिक्षणमरणशीलम् । यथा-  
इदमपि=मनुष्यशरीरं चयापचयिकम्=इष्टानिष्टाहारादिकं प्राप्य वृद्धिद्वांसशीलम्,  
तथा-एतदपि=वनस्पतिशरीरं चयापचयिकम्=अनुकूल-प्रतिकूलजलवादिना  
वृद्धिद्वांसस्वभावम् । यथा-इदमपि मनुष्यशरीरं विपरिणामधर्मक=विविधपरिणाम-  
शीलम्, तत्तद्व्याधिवशाद् उदरवृद्धिपाण्डुरकृशत्वादिरूप, रसायनस्नेहामुपचार  
वशाद् विशिष्टरूपयलोपचयादिरूप वा विविधपरिणाम प्राप्नोति तथा-एतदपि  
वनस्पतिशरीरं विपरिणामधर्मक=व्याधिवशात् पत्रपुष्पफलादीनां वर्णादिवन्धवा-  
भावदर्शनात्, विशिष्टदोहदप्रदानेन कदाचित्तेषामुपचयदर्शनाद् विविधपरिणाम  
शीलम् । यथा जननस्वभावादिधर्माणां समुदायं सचेतने मनुष्यशरीरे

શરીર મી અશાશ્વત છે-ઉસકા મી પ્રતિક્ષણ મરણ હોતા છે । મનુષ્યશરીર ઇષ્ટાનિષ્ટ આહાર  
આદિ કો પાકર વધતા-ઘટતા રહતા છે, ઉસી પ્રકાર વનસ્પતિ કા શરીર મી અનુકૂલ  
બલ-વાયુ સે વધતા ઔર પ્રતિકૂલ બલ-વાયુ સે ઘટતા છે । એસે મનુષ્યશરીર મેં નાના  
પ્રકાર કે પરિમન હોતે હૈં-વિવિધ બીમારિયોં સે ઉદર કા વડના, પાણુ, કૃશતા આદિ,  
તથા રસાયન ઔર ઘૃત આદિ કે સેવન સે વિશિષ્ટરૂપ ઔર વલ કી વૃદ્ધિ હોતી છે,  
ઉસી પ્રકાર વનસ્પતિ કા શરીર મી વિવિધ પ્રકાર કે પરિમનવાલા છે-રોગ હોને પર  
વનસ્પતિ કે પત્તે, ફૂલ, ફળ આદિ ઔર હી તરહ કે દેસે જાતે હૈં, વિશેષ પ્રકાર કા વેદવ  
દેને સે કમી-કમી ઊન મેં ઉપચય મી હોતા છે । ઇસ પ્રકાર વનસ્પતિ કા શરીર મી વિવિધ  
પરિમન વાલા છે । જનનસ્વભાવ આદિ ધર્મોં કા સમુદાય સચેતન મનુષ્ય શરીર મેં આ પ્રસ

વનસ્પતિશરીર પણ અશાશ્વત છે-તેનું પણ પ્રતિક્ષણ મરણ થતું રહે છે મનુષ્ય શરીર  
ઈષ્ટાનિષ્ટ આહાર આદિથી વધતું ઘટતું રહે છે તે પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ  
અનુકૂલ બલ-વાયુથી વધે છે અને પ્રતિકૂળ બલવાયુથી ઘટે છે જેમ મનુષ્યશરીરમાં  
નાના પ્રકારનું પરિણમન થાય છે, વિવિધ બિમારીઓથી ઘટતું વધતું, પાડોશ, કૃશતા  
(કુબલાપણું) આદિ, તથા રસાયન અને ઘૃતઆદિના સેવનથી વિશિષ્ટરૂપ  
અને બલવૃદ્ધિ થાય છે, તે પ્રમાણે વનસ્પતિનું શરીર પણ વિવિધ પ્રકારના પરિણમન  
વાળું છે, રોગ થતાં વનસ્પતિના પાંદડાં, ફૂલ, ફળ આદિ ભૂરીજ ભવતાં કેળાય  
છે, વિશિષ્ટ પ્રકારના દોહદ દેવાથી કોઈ-કોઈ વખત તેમાં ઉપચય થાય છે, એ પ્રમાણે  
વનસ્પતિનું શરીર પણ વિવિધ પરિણમનવાળું છે જનનસ્વભાવ આદિ ધર્મોના સમુદાય  
સચેતન મનુષ્યશરીરમાં જલવા ગ્રસણવના શરીરમાં જોવામાં આવે છે, તેજ પ્રમાણે

પ્રસશરીરે વા વર્તતે, તથા-ઘનસ્પતિશરીરેઽપિ, તસ્માદ્ ઘનસ્પતિકાયં સચેતનં ઇતિ નિઃસંશય જાનીહીતિ ભાવઃ ॥ સૂ૦ ૮ ॥

एवं घनस्पतिकायस्य सचिच्छत्वं चिदित्वा मृनिस्त्वप्राप्तये त्रिकरणत्रियोगैस्त-  
त्समारम्भो वर्जनीय इत्याशयेनाह—‘ एत्थ सत्थ ’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

एत्थ सत्थ समारममाणस्स इच्छेते आरंभा अपरिण्णाया भवति, एत्थ सत्थं असमारममाणस्स इच्छेते आरंभा परिण्णाया भवति, त परिण्णाय मेहावी णेव सय वणस्सइसत्थ समारंमेज्जा, णेवण्णेहि वणस्सइसत्थ समारमावेज्जा, णेवण्णे

जीव के शरीर में पाया जाता है, उसी प्रकार घनस्पति के शरीर में भी पाया जाता है । अत एव घनस्पतिकाय सचेतन है, यह बात नि संशय समझ लेना चाहिए ॥ सू० ८ ॥

इस प्रकार घनस्पतिकाय की सचिच्छता जानकर साधुता प्राप्त करने के लिए तीन करण और तीन योग से घनस्पतिकाय का समारम त्यागना चाहिए । इस अभिप्राय से कहते हैं—‘ एत्थ सत्थ. ’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—ઘનસ્પતિકાય મેં શક્તિ કા આરમ કરને વાળે કો યે આરમ જ્ઞાત નહીં હોતે । ઘનસ્પતિકાય મેં શક્તિ કા આરમ ન કરને વાળે કો યે આરંમ જ્ઞાત હોતે હૈં । ઇન્હે જ્ઞાનકર બુદ્ધિમાન્ પુરુષ ન ત્વય ઘનસ્પતિશક્તિ કા આરમ કરે, ન દૂસરો સે ઘનસ્પતિ શક્તિ કા આરમ કરાવે ઔર ન ઘનસ્પતિશક્તિ કા આરંમ કરને વાળે દૂસરોં કા અનુમોદન

વનસ્પતિના શરીરમાં પણ બેવામાં આવે છે એજ માટે વનસ્પતિકાય સચેતન છે, એ વાત સંદેહરહિત સમજ લેવી બેધબે. ॥ ૮ ॥

એ પ્રમાણે વનસ્પતિકાયની સચિત્તા બાણીને સાધુતા પ્રાપ્ત કરવા માટે ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી વનસ્પતિકાયનો સમારમ ત્યજવો બેધબે. એ અભિપ્રાયથી કહે છે—‘ એત્થ સત્થ ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—વનસ્પતિકાયમાં શક્તિનો આરમ કરવાવાળાને આ આરમ બાબતમાં નથી (અને) વનસ્પતિકાયમાં શક્તિનો આરમ નહિ કરવાવાળાને આ આરમ બાબતમાં છે તેને બાણીને બુદ્ધિમાન્ પુરુષ પોતે વનસ્પતિશક્તિનો આરમ કરતા નથી બીજાની પાસે વનસ્પતિનો આરમ કરાવતા નથી અને વનસ્પતિશક્તિનો આરમ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન કરતા નથી. જે વનસ્પતિશક્તિના સમારમના બાબતે

વળસ્સદ્સત્ય સમારમંતે સમણુજાણેજ્ઞા । જસ્સેતે ણસ્સદ્સત્યમમારંમા પરિણાયા  
મર્વંતિ, સે હુ ઘુણી પરિણાયક્કમ્મે-ત્તિ વેમિ ॥ સુ૦ ૧ ॥

છાયા-અગ્ર શસ્ત્ર સમારમમાણસ્ય इत्येते આરમ્માઃ અપરિણાતા મવન્તિ । અગ્ર  
શસ્ત્રમસમારમમાણસ્ય इत्येते આરમ્માઃ પરિણાતા મવન્તિ. તત્ પરિણાય મેધાવી નૈવ  
સ્વય વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમેત, નૈવાન્યૈર્વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમ્ભયેત્, વનસ્પતિશસ્ત્ર  
સમારમમાણાન્ અયાન્ ન સમણુજાનીયાત્ । યસ્યૈતે વનસ્પતિશસ્ત્રસમારમ્માઃ પરિણાતા  
મવન્તિ, સ ચલ્લુ ઘુનિ' પરિણાતકર્મા, इति ઘયીમિ ॥ સુ૦ ૧ ॥

ટીકા-અગ્ર=અરિમન્ વનસ્પતિકાયે, શસ્ત્ર=પૂર્વોક્તપ્રકાર, સમારમમાણસ્ય=  
વ્યાપારયત', इत्यેતે=પૂર્વોક્તા ત્રિકરણ-ત્રિયોગે આરમ્મા=વનસ્પતિકાયોપમર્દનરૂપાઃ  
સાવધવ્યાપારાઃ અપરિણાતા=કર્મવધકારણત્વેનાનવગતા મવન્તિ । અગ્ર=અસ્મિન્નૈવ  
વનસ્પતિકાયે શસ્ત્ર=માયુક્તપ્રકારમ્ અસમારમમાણસ્ય=અમયુઙ્જાનસ્ય इत्यેતે=પૂર્વોક્તા  
આરમ્માઃ=સાવધવ્યાપારા પરિણાતા મવન્તિ=જપરિણ્યા પરિણાતા મવન્તિ, પ્રત્યા  
હ્યાનપરિણ્યા પરિવર્જિતા મવન્તીત્યર્થ' ।

જપરિણ્યાપૂર્વિકા પ્રત્યાહ્યાનપરિણ્યા યથા મવન્તિ ત પ્રકારં દર્શયતિ

કરે । જો વનસ્પતિશસ્ત્ર કે સમારમ કા જ્ઞાતા હૈ વહી મુનિ હૈ, વહી પરિણાતકર્મા હૈ । પેસા  
મૈ કહતા હૂં ॥ સુ૦ ૧ ॥

ટીકાર્થ—વનસ્પતિકામ્ય કે વિષય મૈ પૂર્વોક્ત પ્રકાર સે શસ્ત્ર કા ઉપયોગ કરને  
ઘાઠે કો પૂર્વોક્ત-સીન કરણ ત્રીન યોગ સે હોને ઘાઠે વનસ્પતિ કી હિંસારૂપ સાવધ  
વ્યાપાર-અજ્ઞાત હોતે હૂં, અર્થાત્ વહ નહી જાનતા કિ-ઇન વ્યાપારો સે કર્મ કા વધ હોતા હૈ ।  
જો વનસ્પતિકામ્ય કે વિષય મૈ પૂર્વોક્ત શસ્ત્રો કા પ્રયોગ નહી કરતા વહ પૂર્વોક્ત સાવધ વ્યાપારો  
કા જ્ઞાતા હોતા હૈ । વહ જપરિણ્યા સે ઇન્હૈ જાનતા હૈ જોર પ્રત્યાહ્યાનપરિણ્યા સે ત્યાગ  
દેતા હૈ । જપરિણ્યા કે પચ્છાત્ હી પ્રત્યાહ્યાનપરિણ્યા કિસ પ્રકાર હોતી હૈ સો દિસલ્લતે હૈ-

એ, તેજ મુનિ એ, તેજ પરિણાતકર્મા એ જો પ્રમાણે હું કહું છું ॥ સુ૦ ૬ ॥

ટીકાર્થ—વનસ્પતિકામ્યના વિષયમાં પૂર્વોક્ત પ્રકારથી શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવાવાળાને  
પૂર્વોક્ત (ખાજળ કહેલા) ત્રણ કસ્ટુ-ત્રણ ચોળથી થવાવાળી વનસ્પતિની હિંસારૂપ સાવધ  
વ્યાપાર અજ્ઞાત હોય છે, અર્થાત્ તેને બાણવામા નથી કે બા બ્યાપારથી કર્મનો અંત થાય છે  
જે વનસ્પતિકામ્યના વિષયમાં પૂર્વોક્ત સાવધ વ્યાપારોના જ્ઞાતા હોય છે તે  
જપરિણ્યાથી તેને બાણ છે અને પ્રત્યાહ્યાનપરિણ્યાથી ત્યાગ કરી દે છે

જપરિણ્યાની પછીજ પ્રત્યાહ્યાનપરિણ્યા કેવા પ્રકારે હોય છે તે બતાવે છે-

‘તત્ પરિજ્ઞાયે’ ત્યાદિ । તદ્=વનસ્પતિકાયારમ્મણ, પરિજ્ઞાય=કર્મવંધનસ્ય કારણં મયતીત્યવગત્ય, મેધાગ્રી=હેયોપાદેયવિવેકનિષ્ણઃ, નૈવ સ્વય વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમેત=વ્યાપારયેત્, અન્યૈર્વા નૈવ વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમ્મયેત્, વનસ્પતિશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ ન સમનુજાનીયાત્=નાનુમોદયેત્ । શેષ સુગમમ્ ।

યસ્યૈતે વનસ્પતિર્કર્મસમારમ્મા=‘વનસ્પતિ નિમિત્તીકૃત્ય કર્મકારણીભૂતા’ સાવધવ્યાપારા. પરિજ્ઞાતાઃ=જ્ઞપરિજ્ઞયા વન્ધકારણત્વેન વિદિતા, પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા ચ પરિદ્વતા મયન્તિ, સ એવ પરિજ્ઞાતકર્મા=ત્રિકરણત્રિયોગૌ પરિવર્જિતસકલસાવધ-વ્યાપાર, મુનિર્મયતિ । ‘ઈતિ બ્રવીમિ’=‘ઈતિ=ઈતત્સર્વમ્, બ્રવીમિ=મગવતઃ સમીપે યયા શ્રુત તથા કયયામીત્યર્થઃ ॥ સુ૦ ૯ ॥

॥ ઇત્યાચારાઙ્ગસૂત્રમ્યાચારચિન્તામણિટીકાયાં પ્રથમાધ્યયને પચ્ચમોદ્દેશકઃ સર્પૂર્ણઃ ॥

વનસ્પતિકાય કે આરમ કો કર્મવંધન કા કારણ જાનકર હેય-ઉપાદેય કા વિવેક રત્નવાલા બુદ્ધિમાન્ પુરુષ સ્વય વનસ્પતિકાય કા આરમ ન કરે, દુસરોં સે આરમ ન કરાવે ઔર આરમ કરને વાલોં કા અનુમોદન ન કરે । શેષ સર્વ સુગમ હૈ । વનસ્પતિકાય કે આરમ કે નિમિત્ત સે હોને વાલે સાવધ વ્યાપારોં કો જિસને જ્ઞપરિજ્ઞા સે કર્મવંધન કા કારણ જાન લિયા હૈ ઔર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગ દિયા હૈ, વહ ત્રીન કરણ ત્રીન યોગ સે સમસ્ત સાવધોં કા ત્યાગી હી મુનિ હોતા હૈ । સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામી સે કહતે હૈ-હે જમ્બૂ ! જૈસા મગવાન્ કે સમીપ મૈને સુના હૈ, વૈસા હી યહ સર્વ મૈ કહતા હૈ ॥ સુ૦ ૯ ॥

॥ શ્રી આચારાઙ્ગસૂત્રકી ‘આચારચિન્તામણિ’ ટીકાકે હિન્દી અનુવાદ મેં પ્રથમ અધ્યયનકા પાંચવો ઉદ્દેશ સમાપ્ત ॥ ૧-૬ ॥

વનસ્પતિકાયના આરમને કર્મવંધન કારણ બાણીને હેય-ઉપાદેયનો વિવેક રાખવા વાળા બુદ્ધિમાન્ પુરુષ પોતે વનસ્પતિકાયનો આરમ કરતા નથી. બીજા પાસે આરમ કરાવતા નથી, અને આરમ કરવાવાળાને અનુમોદન આપતા નથી. શેષ-બાકી સર્વ સુગમ છે. વનસ્પતિકાયના આરમના નિમિત્તથી થવાવાળા સાવધ વ્યાપારોને જેણે જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મવંધન કારણ બાણી લીધું છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યજી આપ્યા છે તે ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી સમસ્ત સાવધોના ત્યાગીજ મુનિ હોય છે. સુધર્માસ્વામી જમ્બૂસ્વામીને કહે છે-હે જમ્બૂ ! જેવું મગવાનની સમીપ મેં સાંભળ્યું છે, તેવું જ આ સર્વ હું કહું છું ॥ સુ૦ ૬ ॥

શ્રી આચારાઙ્ગસૂત્રની ‘આચારચિન્તામણિ’ ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમાં પ્રથમ અધ્યયનનો પાંચમો ઉદ્દેશ સમાપ્ત. ॥૧-૫॥

## ॥ અથ પઞ્ચોદેશ ॥

અનન્તરપદ્મમોદેશકે વનસ્પતિકાયાસ્વરૂપં નિરૂપિતમ્ । અધુના ક્રમપ્રાપ્ત  
પ્રસકાયસ્વરૂપપ્રતિવોધનાર્થમય પદ્મ ઉદ્દેશકઃ પ્રસ્તૂયતે । इयं हि शैली भगवदेक्षनायाः,  
यद्-वनस्पतिकायानन्तर प्रसकायप्रतिवोधनम्, सर्वस्मिन्नागमे तथैव भगवदेक्षनायाः  
सत्त्वात् । एतद् समीचीनमपि, मनुष्यशरीरदृष्टान्तोपन्यासेन वनस्पतेः सचेतनत्वं  
साध्यते, तत्र वनस्पतिकायस्वरूपविज्ञानानन्तर मनुष्यस्वरूप जिज्ञासमानस्य शिष्यस्य  
प्रतिवोधनाय तस्य प्रसकायान्तर्गतत्वेन प्रसकायोद्देशकयनस्योचित्वात् । प्रसकाय  
સ્વરૂપં વક્તુમના. શ્રી સુધર્માસ્વામી કથયતિ-‘સે બેમિ ’ इत्यादि ।

## છઠાઉદ્દેશ

પિચ્છે પૌંચવે ઉદેશ મેં વનસ્પતિકાયા કા સ્વરૂપ નિરૂપણ કિયા ગયા હૈ અબ ક્રમ સે  
પ્રાપ્ત પ્રસકાય કા સ્વરૂપ વત્તલાને કે લિપ્ છઠા ઉદેશ કહતે હૈં ।

મગવાન્ કે ઉપદેશ કી યહી શૈલી હૈં કિ વનસ્પતિકાયા કે અનન્તર પ્રસકાય કા  
સ્વરૂપ સમજાયા જાતા હૈ । તબ આગમો મેં મગવાન્ કા ઉપદેશ હસી પ્રકાર હૈ । યહ ટીક  
મી હૈ, ક્યો કિ મનુષ્ય કે શરીર કા દૃષ્ટાન્ત દેકર વનસ્પતિ કી સચિત્તા સિદ્ધ કી હૈ તો  
વનસ્પતિકાયા કે સ્વરૂપ કે પશ્ચાત્ મનુષ્ય કા સ્વરૂપ જ્ઞાનને કી રૂચ્છા રચને વાલે શિષ્ય કે  
પ્રતિવોધ કે લિપ્ પ્રસકાય કા સ્વરૂપ સમજના વાહિય, ક્યો કિ મનુષ્ય મી પ્રસકાય કે  
અન્તર્ગત હૈ । પ્રસકાય કા સ્વરૂપ કહને કી રૂચ્છા રચને વાલે શ્રી સુધર્મા સ્વામી બલગ સૂત્ર  
કહતે હૈ-‘સે બેમિ ’ इत्यादि ।

## જ્યો ઉદેશ—

પાછળના પાંચમા ઉદેશમા વનસ્પતિકાયાના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું  
છે હવે કેમથી પ્રાપ્ત પ્રસકાયના સ્વરૂપને જતાવવા માટે છઠ્ઠા ઉદેશને કહે છે

મગવાનના ઉપદેશની જોજ શૈલી છે કે -વનસ્પતિકાયાની પછી પ્રસકાયનું સ્વરૂપ  
સમજાવવામા આવે છે સ્વ આગમોમા મગવાનનો ઉપદેશ આ પ્રમાણે છે, જાને તે  
ટીક પણ છે, કેમકે મનુષ્યના શરીરનું દૃષ્ટાન્ત આપીને વનસ્પતિની સચિત્તા સિદ્ધ  
કરી છે, તો વનસ્પતિકાયાના સ્વરૂપ પછી મનુષ્યસ્વરૂપ જાણવાની ઇચ્છા રાખવાવાળા  
શિષ્યના પ્રતિબોધ માટે પ્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવું જોઈએ, કારણકે મનુષ્ય પણ  
પ્રસકાયની અન્તર્ગત છે પ્રસકાયના સ્વરૂપને કહેવાની ઇચ્છા રાખવાવાળા શ્રી સુધર્મા  
સ્વામી આગળનું સૂત્ર કહે છે-‘સે બેમિ ’ इत्यादि

મૂળમ્—

સે વેમિ સતિમે તસા પાળા, તજહા-અઢયા, પોયયા, જરાડયા, રસયા,  
સંસેયયા, સમ્પુચ્છિમા, ઉગ્મિયયા, ઉવવાહયા, એસ સસારેચિ પવુચ્છઈ મદસ્સ  
અવિયાળઓ ॥ સૂ. ૧ ॥

છાયા—

સ ધ્રવીમિ, સન્તીમે ત્રસાઃ પ્રાણાઃ, તથા-અળ્હજાઃ, પોતજાઃ, જરાયુજાઃ,  
રસજા, સસ્વેદજાઃ, સમૂર્ચ્છિમા (સમૂર્ચ્છનજા) ઉદ્મિજ્જાઃ, ઔપપાતિકાઃ  
(ઉપપાતજા.) । એપ સંસાર ઇતિ પ્રોચ્યતે મન્દસ્ય અવિજાનત ॥ સૂ. ૧ ॥

ટીકા—

યેન મગવદ્વદનારવિન્દનિર્ગતસકલાર્યા સમ્યગવધારિતાઃ, સોઙ્ઘ ધ્રવીમિ=  
યથા મગવન્મુલાચ્છ્રુત તથા કથયामीત્યર્થ ।

ત્રસાઃ પ્રાણા ઇમે સન્તીત્યન્વય । ત્રસા-ત્રસ્યન્તિ-ત્રસનામકર્મોદયાત્ તાપાઽઽ  
દ્યુપતપ્તાચ્છાયાઽઽદિક પ્રત્યમિસર્પન્તીતિ ત્રસા=દ્વીન્દ્રિયાદિપચ્ચેન્દ્રિયપર્યન્તા ।

મૂલાર્થ—વહ મેં કહતા હું—યે ત્રસ પ્રાણી હૈં, જૈસે—અળ્હજ, પોતજ, જરાયુજ, રસજ,  
સસ્વેદજ, સમૂર્ચ્છિત, ઉદ્મિજ્જ ઓર ઔપપાતિક (ઉપપાતજ) । મદ એવ અજ્ઞાની કે હિંપ્ત યહ  
સસાર કહા ગયા હૈ ॥ સૂ. ૧ ॥

ટીકાર્થ—જિસને મગવાન્ કે મુખક્રમણ સે નિકળે હુપ સમસ્ત જીવાદિ ત્વરૂપાં કો  
મછી મૌતિ સમમ્ લિયા હૈ પેસા મેં કહતા હું, અર્થાત્ હે જમ્બૂ । મગવાન કે મુલ સે જૈસા  
મેંને મુના હૈ જૈસા તુમે કહતા હું ।

ત્રસનામકર્મ કે ઉદય સે તાપ આદિ સે પીડિત હોકર છાયા વગૈરહ કી ઓર જ્ઞાન  
વાળે દ્વીન્દ્રિય સે પચેન્દ્રિય તક કે જીવ ત્રસ કહલાત હૈં । ઇન મેં દ્વીન્દ્રિય જીવ કે સ્પર્શન

મૂલાર્થ—તે હું કહું છું—એ ત્રસ પ્રાણી છે જેમ-અળ્હજ, પોતજ, જરાયુજ,  
રસજ, સસ્વેદજ, સમૂર્ચ્છિમ, ઉદ્મિજ્જ અને ઔપપાતિક (ઉપપાતજ) મદ અને  
અજ્ઞાનીઓ માટે આ સંસાર કહેવામા આવ્યો છે ॥ સૂ. ૧ ॥

ટીકાર્થ—જેણે મગવાનના મુખક્રમણથી નીકળેલા સમસ્ત જીવાદિ સ્વરૂપોના  
અર્થને ડૂહી રીતે સમજી લીધા છે, એવો હું કહું છું, અર્થાત્ હે જમ્બૂ । મગવાનના  
મુખથી જેવું એ સાંભળ્યું છે તેવું જ તને કહું છું

ત્રસનામક્રમના ઉદયથી તાપ વગેરેથી પીડા પામીને છાયા વિગેરેની પાસે  
જવાવાળા દ્વીન્દ્રિય, (જે ધન્દ્રિય) જીવથી રાધને પાયા ધન્દ્રિયવાળા જીવો સુધી સર્વ ત્રસ



## ॥ અથ પઠ્યોદેશ ॥

અનન્તરપદ્મોદેશકે વનસ્પતિકાયાસ્વરૂપ નિરૂપિતમ્ । અધુના ક્રમમાપ્ત  
 પ્રસકાયસ્વરૂપપ્રતિબોધનાર્થમયં પથ ઉદ્દેશકઃ પ્રસ્તૂયતે । इयं हि शैली भगवद्वचनायाः,  
 यद्-वनस्पतिकायानन्तरं प्रसकायप्रतिबोधनम्, सर्वस्मिन्नागमे तथैव भगवद्वचनायाः  
 सत्त्वात् । एतत् समीचीनमपि, मनुष्यशरीरदृष्टान्तोपन्यासेन वनस्पतेः सत्त्वतत्त्वं  
 साध्यते, तत्र वनस्पतिकायस्वरूपविज्ञानानन्तरं मनुष्यस्वरूपं जिज्ञासमानस्य शिष्यस्य  
 प्रतिबोधनाय तस्य प्रसकायान्तर्गतत्वेन प्रसकायोद्देशकधनस्योचित्वात् । प्रसकाय-  
 स्वरूपं वक्तुमना. श्री सुधर्मास्वामी कथयति—‘से बेमि’ इत्यादि ।

## છઠાઉદેશ

પિછે પૌંચવે ઉદેશ મેં વનસ્પતિકાયા કા સ્વરૂપ નિરૂપણ કિયા ગયા હૈ અબ ક્રમ સે  
 પ્રાપ્ત પ્રસકાય કા સ્વરૂપ બતલાને કે લિપ્ છઠા ઉદેશ કહતે હૈ ।

મગવાન્ કે ઉપદેશ કી યહી શૈલી હૈ કિ વનસ્પતિકાયા કે અનન્તર પ્રસકાય કા  
 સ્વરૂપ સમજાયા જાતા હૈ । તબ આગમો મેં મગવાન્ કા ઉપદેશ હસી પ્રકાર હૈ । યહ ઠીક  
 મી હૈ, ક્યો કિ મનુષ્ય કે શરીર કા દૃષ્ટાન્ત દેકર વનસ્પતિ કી સવિત્તતા સિદ્ધ કી હૈ તો  
 વનસ્પતિકાયા કે સ્વરૂપ કે પશ્ચાત્ મનુષ્ય કા સ્વરૂપ જ્ઞાનને કી इच्छा રસને વાળે શિષ્ય કે  
 પ્રતિબોધ કે લિપ્ પ્રસકાય કા સ્વરૂપ સમજાના જાદિપ્, ક્યો કિ મનુષ્ય મી પ્રસકાય કે  
 અન્તર્ગત હૈ । પ્રસકાય કા સ્વરૂપ કહને કી इच्छा રસને વાળે શ્રી સુધર્મા સ્વામી બ્રહ્મા સૂત્ર  
 કહતે હૈ —‘સે બેમિ’ હયાદિ ।

## જીવો ઉદેશ—

પાછળના પાંચમા ઉદેશમા વનસ્પતિકાયાના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું  
 છે હવે કેમથી પ્રાપ્ત પ્રસકાયના સ્વરૂપને બતાવવા માટે છઠ્ઠા ઉદેશને કહે છે

મગવાનના ઉપદેશની જોજ શૈલી છે કે —વનસ્પતિકાયાની પછી પ્રસકાયનું સ્વરૂપ  
 સમજાવવામાં આવે છે અથ આગમોમા મગવાનનો ઉપદેશ આ પ્રમાણે છે, જાને તે  
 ઠીક પણ છે, કેમકે મનુષ્યના શરીરનું દૃષ્ટાન્ત આપીને વનસ્પતિની સવિત્તતા સિદ્ધ  
 કરી છે, તો વનસ્પતિકાયાના સ્વરૂપ પછી મનુષ્યસ્વરૂપ બહુવાની ઈચ્છા રાખવાવાળા  
 શિષ્યના પ્રતિબોધ માટે પ્રસકાયનું સ્વરૂપ સમજાવવું જોઈએ, કારણકે મનુષ્ય પણ  
 પ્રસકાયની અન્તર્ગત છે પ્રસકાયના સ્વરૂપને કહેવાની ઈચ્છા રાખવાવાળા શ્રી સુધર્મા  
 સ્વામી બ્રાહ્મણ સૂત્ર કહે છે—‘સે બેમિ’ હયાદિ

તથોગાદમિસન્ધિપૂર્વકદેશાન્તરમાપ્તિલક્ષણક્રિયાયુક્તત્વાદ્ દ્વીન્દ્રિયાદય એવ લઘ્વિ-  
પ્રસા ઉચ્યન્તે । તેજોવાયવ. કિલ ન પ્રસનામકર્મોદયનિર્ઘૃતા., કિન્તુ સ્થાવરનામ-  
કર્મોદયનિર્ઘૃતત્વાદ્લઘ્વિત્વ' સ્થાવરા એવ; તથાપ્યત્ર દ્વીન્દ્રિયાદયો લઘ્વિપ્રસા એવ  
પરિગ્રહન્તે, ન તુ ગતિપ્રસા', અગ્નિક્રિયાના પ્રાગેવ ચતુર્થોદિશે પ્રતિવોધિતત્વાત્,  
વાયુક્રિયાનામગ્રે વધ્યમાણત્વાત્ ।

યત્તુ "લઘ્વિયા તેજોવાયુ પ્રસૌ, લઘ્વિસ્તચ્છક્તિમાત્ર લઘ્વિપ્રસાનામિ-  
હાધિકારો નાસ્તિ, તેજસોઽમિદિષ્તત્વાદ્ વાયોભામિધાસ્યમાનત્વાદ્, અત'  
સામર્થ્યાત્ ગતિપ્રસા એવાધિક્રિયન્તે " ઇતિ કૈશ્નિદુક્ત, તત્ પ્રામાદિકમ્,

પ્રસતા પ્રાપ્ત થોતી હૈ । ઇસ લઘ્વિ સે ઇરાદાપૂર્વક ગતિક્રિયા દ્વીન્દ્રિય આદિ મૈં હી પાઈ  
જાતી હૈ, અત એવ ઉન્હૈં લઘ્વિપ્રસ કહતે હૈં । તેજસ્કાય ઓર વાયુકાય મૈં પ્રસનામ-  
ક્રમ કા ઉદય નહીં હોતા । ડન મૈં સ્થાવરનામકર્મ કા ઉદય હૈ, અત લઘ્વિ કી અપેક્ષા યે  
દોનો સ્થાવર હી હૈં । ફિર મી યહોં દ્વીન્દ્રિય આદિ લઘ્વિપ્રસ જીવો કા ગ્રહણ કરના ચાહિય,  
ગતિપ્રસ જીવો કા નહીં, કયોં કિ અગ્નિકાયિક જીવો કા ચૌથે ઉદેશ મૈં પહલે હી વર્ણન ક્રિયા  
જા જુકા હૈ ઓર વાયુકાય કા આગે વર્ણન ક્રિયા જાયગા ।

કિસી ને કહા હૈ—“લઘ્વિ કી અપેક્ષા તેજસ્કાય ઓર વાયુકાય પ્રસ હૈં । લઘ્વિ  
સિર્ફ શક્તિ કો હી કહતે હૈં । યહોં લઘ્વિપ્રસ જીવો કા પ્રકરણ નહીં હૈ, કયોં કિ  
અગ્નિકાય કા કથન ક્રિયા જા જુકા હૈ ઓર વાયુકાય કા કથન આગે ક્રિયા જાયગા,  
અત સામર્થ્ય સે ગતિપ્રસ હી યહોં ગ્રહણ કરને સોચ્ય હૈં ” । યહ કથન પ્રમાદપૂર્ણ હૈ,

પ્રાપ્ત છે એ લઘ્વિથી ઇચ્છાપૂર્વક ગતિ કરવાની ક્રિયા દ્વીન્દ્રિયાદિમાત્ર એવામાં આવે  
છે, એવા માટે તેને લઘ્વિપ્રસ કહે છે તેજસ્કાય અને વાયુકાયમાં પ્રસનામકર્મનો  
ઉદય નથી, તેનામાં સ્થાવરનામકર્મનો ઉદય છે તેથી લઘ્વિનાં અપેક્ષાએ એ બન્ને  
સ્થાવર જ છે કરીને પણ અહિં દ્વીન્દ્રિય આદિ લઘ્વિપ્રસ એવોનું જ અરૂણ કરવું  
એકએ, ગતિપ્રસ એવોનું નહિ. કારણકે અગ્નિકાયિક એવોનું સાથા ઉદેશકમાં પ્રથમ  
પણું કરવામાં આવી ગયું છે, અને વાયુકાયનું આગળ ઉપર વર્ણન કરવામાં આવશે

કેાઇએ કહ્યું કે—“લઘ્વિની અપેક્ષા તેજસ્કાય અને વાયુકાય પ્રસ છે—લઘ્વિ,  
માત્ર શક્તિનેજ કહે છે અહિં લઘ્વિપ્રસ એવોનું પ્રકરણ નથી. કારણકે અગ્નિકાયનું  
વિવેચન તો કરી દેવામાં આવ્યું છે, અને વાયુકાયનું વિવેચન આગળ કરવામાં આવશે.  
તેથી સામર્થ્યથી ગતિપ્રસનું જ અહિં અરૂણ કરવું ચોગ્ય છે” આ કથન પ્રમાદપૂર્ણ છે

તત્ર દ્વીન્દ્રિયાણાં સ્પર્શનરસનરૂપે દ્વ ઇન્દ્રિયે, ત્રીન્દ્રિયાણાં સ્પર્શનરસનગ્રાણરૂપાણિ ત્રીણોન્દ્રિયાણિ, ચતુરિન્દ્રિયાણા સ્પર્શનરસનગ્રાણચતુરૂપાણિ ચત્વારોન્દ્રિયાણિ, પચ્ચેન્દ્રિયાણા સ્પર્શનરસનગ્રાણચત્તુઃશ્રોત્રરૂપાણિ પચ્ચેન્દ્રિયાણિ સન્તિ ।

યદપિ—પ્રસ્યન્તિ=અમિસન્ધિપૂર્વકમનમિસન્ધિપૂર્વક ધા ઋર્ષમધસ્તિર્પદ્મ ચલન્તોતિ વ્યુત્પત્તયા દ્વીન્દ્રિયાદયસ્તયાઽમિકાયા વાયુકાયા અપિ પ્રસા ઉચ્યતે । પ્રસાનાં હિ દ્વૌ મેદૌ મુલ્યત સ્તઃ—ગતિતો લબ્ધિતથ । તત્ર ગતિ=ક્રિયા ચલન, દેશાન્તરપ્રાપ્તિ, સ્વમાવતોઽનમિસન્ધિપૂર્વક—તથોગાદમિકાયા વાયુકાયા પ્રસા મવન્તીતિ ગતિપ્રસા ઉચ્યન્તે । લબ્ધિસ્તુ પ્રસનામકર્મોદયે સતિ મવતિ,

और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । तीनों इन्द्रियवालों के स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । पंचेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप पाँच इन्द्रियाँ होती हैं ।

જો જીવ હરાદાપૂર્વક યા વિના હી હરાદે કે, ઊપર નીચે યા તિરછે ચલતે હૈં વે પ્રસ જીવ હૈં । ઇસ વ્યુત્પત્તિ કે અનુસાર દ્વીન્દ્રિય આદિ તથા અગ્નિકાય ઔર વાયુ મી પ્રસ કહલાતે હૈં । મુખ્યરૂપ સે પ્રસ જીવો કે દો મેદ હૈં—(૧) ગતિપ્રસ ઔર (૨) લબ્ધિપ્રસ । ગતિ કહિપ અથવા ક્રિયા, ચલના અથવા ઇક દેશ સે દૂસરે દેશ મેં પહુંચના કહિપ । વિના હરાદે કે યહ ગતિક્રિયા મૌજૂદ હોને કે કારણ અગ્નિકાય ઔર વાયુકાય મી પ્રસ હૈં । ઉન્હેં ગતિપ્રસ કહતે હૈં । પ્રસનાકર્મ કા ઉદય હોને પર લબ્ધિ

કહેવાય છે દ્વીન્દ્રિય જીવોને સ્પર્શન (આમલી) અને રસના (જીભ) આ બે ઇન્દ્રિયો હોય છે ત્રીન્દ્રિયોને આમલી, જીભ અને નાસિકા રૂપ ત્રણ ઇન્દ્રિયો હોય છે ચતુરિન્દ્રિય જીવોને આમલી, જીભ, નાસિકા અને નેત્ર, આ ચાર ઇન્દ્રિયો હોય છે પચ્ચેન્દ્રિય જીવોને આમલી, જીભ, નાસિકા, નેત્ર અને શ્રોત્ર—કાન રૂપ પાંચ ઇન્દ્રિયો હોય છે

જે જીવ ઇન્દ્રિયપૂર્વક અથવા ઇન્દ્રિયા વિના ઉપર, નીચે અથવા તિરછા વાલે છે તે પ્રસ જીવ છે આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર દ્વીન્દ્રિય આદિ તથા અગ્નિકાય અને વાયુકાય પણ પ્રસ કહેવાય છે મુખ્યરૂપથી પ્રસ જીવોના બે ભેદ છે—(૧) ગતિપ્રસ (૨) લબ્ધિપ્રસ. ગતિ કહો અથવા ક્રિયા કહો તે જોઈએ છે વાલવું અથવા જોઈ દેશથી બીજા દેશમાં પહોંચવું કહો. વિના ઇન્દ્રિયાથી આ ગતિ કરવાની ક્રિયા હોવાથી અગ્નિકાય અને વાયુકાય પણ પ્રસ છે તેને ગતિપ્રસ કહે છે. પ્રસનામકર્મને ઉદય કહેવાથી લબ્ધિપ્રસ

હૃદ સર્વેષાં પ્રસજીવાનામપ્ટવિધં જન્મ પ્રતિવોધિતમ્પ્રતદેવ સમૂર્છનગર્મોપપાતેષુ  
સમાવેશ્ય ત્રિવિધ જન્મેત્યપિ શાસ્ત્રેઽમિહિતમ્ । સન્તીત્યનેન પ્રસાનામપ્યસ્તિત્વં  
ત્રિકાલવર્તીતિ વોચ્યતે । મન્દસ્ય=કુશાસ્ત્રવાસનાયુક્તસ્ય, અત एव-અવિજાનતઃ=  
હિતાહિતવિવેકરહિતસ્ય, एष=અણ્ઙજાદિસમુદાય\* સંસાર\* પ્રોચ્યતે, અણ્ઙવિધપ્રસકાયે  
કુશાસ્ત્રવાસનાવત\* પુન પુનરુત્પત્તિરુપ સસરણ ભવતીતિ સ एषઃ સસારો નિગદ્યત  
इत्यर्थः ।

અય પ્રસકાયસ્ય સમ્યગ્જ્ઞાનાર્થ લક્ષણાદ્યપ્ટદ્વારાણિ નિરૂપણીયાનિ । તપ્ર  
લક્ષણ પ્રરૂપણા-પરિમાણ-શસ્ત્રો-પમોગ-વેદના-દ્વારાણિ યયાક્રમં પ્રદર્શ્યતે, અવ-  
શિષ્ટ-વધ-નિવૃત્તિ-દ્વારદ્વય પૃથિવીકાયોદેશે યયાઽમિહિત તથૈવાવગન્તવ્યમ્ ।

યહાં સમી પ્રસ જીવો કા બાઠ પ્રકાર કા જન્મ બતલાયા ગયા હૈ । હસે સમૂર્છન,  
ગર્મ ઓર ઉપપાત મેં સમાવિષ્ટ કર દેને સે તીન પ્રકાર કા જન્મ શાસ્ત્ર મેં બતલાયા હૈ ।  
'સંતિ' હસ પદ દ્વારા પ્રસ જીવો કા ત્રિકાલવર્તી અસ્તિત્વ સૂચિત કિયા ગયા હૈ । મન્દ  
અર્થાત્ મિથ્યાશાસ્ત્રો કે સંસ્કાર સે પ્રભાવિત, અત एव હિત-અહિત કે વિવેક સે શૂન્ય પુરુષ  
કે હિયે અણ્ઙજ આદિ કા સમૂહરૂપ સસાર કહા ગયા હૈ । બાઠ પ્રકાર કે પ્રસકાય મેં  
મિથ્યાશાસ્ત્રો કે સંસ્કાર બાલે કા પુન પુન\* જન્મ-મરણરૂપ સસરણ હોતા હૈ । ઘડી સસરણ  
સંસાર કહલાતા હૈ !

પ્રસકાય કા સમીચીન જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરને કે હિયે લક્ષણ આદિ બાઠ દ્વારો કા નિરૂપણ  
કરના યાહિય । ઠન મેં સે લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શસ્ત્ર ઉપમોગ ઓર વેદના દ્વાર ક્રમ સે  
બતલાતે હૈ । વધ ઓર નિવૃત્તિ દ્વાર જૈસે પૃથ્વીકાય કે ઉદેશ મેં કહે હૈ વૈસે હી યહાં સમસ  
કેને યાહિય ।

અહિં સર્વ પ્રસ જીવોના બાઠ પ્રકારનો જન્મ બતાવ્યો છે તેને સમૂર્છન,  
અર્થ અને ઉપપાતમાં સમાવેશ કરી દેવાથી ત્રણ પ્રકારનો જન્મ શાસ્ત્રમાં બતાવ્યો છે  
'સંતિ' આ પદ દ્વારા પ્રસ જીવોનું ત્રિકાલવર્તી અસ્તિત્વ સૂચિત કરવામાં આવ્યું  
છે મદ અર્થાત્ મિથ્યાશાસ્ત્રોના સંસ્કારથી પ્રભાવિત, એવ હિત અહિતના વિવેકથી  
શૂન્ય પુરુષ માટે અણ્ઙ આદિના સમૂહરૂપ સસાર કહેવામાં આવ્યો છે બાઠ પ્રકારના  
પ્રસકાયમાં મિથ્યાશાસ્ત્રોના સંસ્કારવાળાઓનું પુન પુન જન્મ-મરણ રૂપ સસરણ  
થાય છે એવ સસરણ તે સસાર કહેવાય છે

પ્રસકાયનું સાફ જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા માટે લક્ષણ આદિ બાઠ દ્વારાનું નિરૂપણ  
કરવું જોઈએ, તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ શસ્ત્ર, ઉપમોગ અને વેદના દ્વાર  
ક્રમથી બતાવે છે, વધ અને નિવૃત્તિ દ્વાર જેવી રીતે પૃથ્વીકાયના ઉદેશમાં કહ્યાં છે  
તેવી રીતેજ અહિં સમજી લેવા જોઈએ.

લઘ્વિત્રસાનાં ગતિત્રસત્વેનાક્ષીકારાત્ । ગતિત્રસાનાં લઘ્વિત્રસત્વાભાવાત્, દ્વીન્દ્રિયાદીનાં ગતિત્રસત્વેન શાસ્ત્રેન્નક્ષીકારાથ ।

પ્રાણાઃ=પ્રાણિન, ઇમે=મત્યક્ષતોઽવગમ્યા., યદ્વા=વસ્તુમાણમકારકાઃ સન્તિ । તે યથા-(૧) અણ્ઢજા =અણ્ઢાજ્જાતાઃ-પશ્ચિમકોકિલાદયઃ, (૨) પોતજા =પોતા એવ જાયન્ત ઇતિ પોતજા-ઠસ્તિવલ્ગુલીર્મર્મજલ્કાદયઃ, (૩) જરાયુજા =જરાયુર્ગર્મષ્ટનર્મ, તથ જાતા-ગોમહિષ્યજા, વિક્રમનુષ્યાદયઃ, (૪) રસજા =વિકૃતરસાજ્જાતા, (૫) સસ્વેદજા =સમ્વેદાજ્જાતા-મસ્કુખ્યુકાદયઃ, (૬) સમૂર્છિમાઃ =સમૂર્છનજા મસિકાપિપીલિકાશ્ચલમાદયઃ, (૭) ઉન્નિજ્જા =ઉન્નેદનમ્ ઉન્નિત્, તસ્માજ્જાતા પતન્નસ્વઽજરીટાદય, (૮) ઔપપાતિકાઃ =ઉપપાતે મવા દેવાનાર-

વ્યો કિ લઘ્વિત્રસો કો ગતિત્રસરૂપ મેં ઓંગીકાર કિયા ગયા હૈ । મગર ગતિત્રસ લઘ્વિત્રસ નહીં હો સકતે । દ્વીન્દ્રિય આદિ મેં ગતિ કા સદ્ભાવ હૈ અતઃ શાસ્ત્ર મેં એસા ઓંગીકાર નહીં કિયા ગયા ।

ત્રસ પ્રાણી ઇસ પ્રકાર હૈ—(૧) અણ્ઢજ-અઢો સે ઉત્પન્ન હોને વાલે પક્ષી, ગૃહકોકિલા આદિ । (૨) પોતજ-પોતરૂપ પૈવા હોને વાલે હાથી, વલ્ગુલી, મર્મજલ આદિ । (૩) જરાયુજ-ગમ જિસ સે છિપટા રહતા હૈ વહ પતલી જમહી જરાયુ કહલાતી હૈ ડસ સે ડસન હોને વાલે ગાય, મૈસ, વકરી, મનુષ્ય આદિ જરાયુજ કહલાતે હૈ । (૪) રસજ-નિવૃત્ત રસ મેં પૈવા હો જાને વાલે, (૫) સસ્વેદજ-પસીને સે પૈવા હોને વાલે સ્તદમલ, જૂ આદિ । (૬) સમૂર્છિમ-મક્સી, ફીઢી, શલમ આદિ । (૭) ઉન્નિમજ-ઉન્નેદન સે ડસન હોને વાલે પતંગ, સ્વજરીટ આદિ । (૮) ઔપપાતિક-દેવ ઓર નારકી ।

કારણ હૈ લઘ્વિત્રસોને ગતિત્રસનાં રૂપમા અંગીકાર કરવામાં આવ્યો છે, પરન્તુ ગતિત્રસ લઘ્વિત્રસ થઈ શકતા નથી. દ્વીન્દ્રિય આદિમાં ગતિનો સદ્ભાવ છે, તેથી શાસ્ત્રમાં એ પ્રમાણે અંગીકાર કરવામાં આવ્યો નથી

ત્રસ પ્રાણી આ પ્રમાણે છે—(૧) અણ્ઢ-ઈંઢાથી ઉત્પન્ન થવાવાળાં પક્ષી, ગૃહ-કોકિલા (ગરીબી) આદિ (૨) પોતજ-પોતરૂપ પૈવા થવાવાળા હાથી, વલ્ગુલી, મર્મ-જલ (જળો) આદિ (૩) જરાયુજ-ગમ જેનાથી વિંટાએલું રહે તે પાતળી આમલી જરાયુ કહેવાય છે તેમાં ઉત્પન્ન થવાવાળા ગાય, બેસ, વકરી, મનુષ્ય આદિ જરાયુજ કહેવાય છે (૪) રસજ-વિકૃતરસમા પૈવા થવાવાળા (૫) સસ્વેદજ-પરસેવાથી પૈવા થવાવાળા માકલ, બૂ આદિ (૬) સમૂર્છિમ-માખી, ફીડી, વીઠ આદિ (૭) ઉન્નિમજ-ઉન્નેદનથી ઉત્પન્ન થવાવાળા પતંગ, વજરીટ આદિ (૮) ઔપપાતિક-દેવ અને નારકી.

इह सर्वेषां त्रसजीवानामष्टविधं जन्म प्रतिनोधितम् एतदेव समूर्च्छनगर्भोपपातेषु समावेद्य त्रिविधं जन्मेत्यपि शास्त्रेऽभिहितम् । सन्तीत्यनेन त्रसानामप्यस्तित्वं त्रिकालवर्तीति बोध्यते । मन्दस्य=कुशास्त्रवासनायुक्तस्य, अत एव-अविजानत'=हिताहितविवेकरहितस्य, एषः=अण्डजादिसमुदाय संसारं प्रोच्यते, अष्टविधप्रसक्ताये कुशास्त्रवासनायतं पुनः पुनरुत्पत्तिरूप ससरणं भवतीति स एषः ससारो निगद्यत इत्यर्थः ।

अयं प्रसक्तायस्य सम्यग्ज्ञानार्थं लक्षणघट्टद्वाराणि निरूपणीयानि । तत्र लक्षणं प्ररूपणा-परिमाण-शस्त्रो-उપમोग-वेदना-द्वाराणि यथाक्रमं પ્રદર્શ્યન્તે, અવ-શિષ્ટ-વધ-નિવૃત્તિ-દ્વારદ્વય પૃથ્વીકાયોદેશે યથાઽભિહિત તથૈવાવગન્તવ્યમ્ ।

यहाँ सभी त्रस जीवों का आठ प्रकार का जन्म बतलाया गया है । इसे समूर्च्छन, गर्भ और उपपात में समाविष्ट कर देने से तीन प्रकार का जन्म शास्त्र में बतलाया है । 'संति' इस पद द्वारा त्रस जीवों का त्रिकालवर्ती अस्तित्व सूचित किया गया है । मन्द अर्थात् मिथ्याशास्त्रों के संस्कार से प्रभावित, अत एव हित-अहित के विवेक से शून्य पुरुष के लिए अण्डज आदि का समूह रूप संसार कहा गया है । आठ प्रकार के त्रसकाय में मिथ्याशास्त्रों के संस्कार बाळे का पुन पुन' जन्म-मरण रूप ससरण होता है । वही ससरण संसार कहलता है !

ત્રસકાય કા સમીચીન જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરને કે લિપ્ લક્ષણ આદિ આઠ દ્વારો કા નિરૂપણ કરના યાદિપ્ । ઠન મેં સે લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શસ્ત્ર ઉપમોગ ઔર વેદના દ્વાર ક્રમ સે બતલાતે હૈં । વધ ઔર નિવૃત્તિ દ્વાર જૈસે પૃથ્વીકાય કે ઉદેશ મેં કહે હૈં વૈસે હી યહૌ સમજા કૈને યાદિપ્ ।

અહિં સર્વ ત્રસ જીવોના આઠ પ્રકારનો જન્મ બતાવ્યો છે તેને સમૂર્ચ્ચન, બર્મ અને ઉપપાતમાં સમાવેશ કરી દેવાથી ત્રસ પ્રકારનો જન્મ શાસ્ત્રમાં બતાવ્યો છે 'સંતિ' આ પદ દ્વારા ત્રસ જીવોનું ત્રિકાલવર્તી અસ્તિત્વ સૂચિત કરવામાં આવ્યું છે મન્દ અર્થાત્ મિથ્યાશાસ્ત્રોના સંસ્કારથી પ્રભાવિત, એવ હિત અહિતના વિવેકથી શૂન્ય પુરુષ માટે અણ્ડજ આદિના સમૂહરૂપ સંસાર કહેવામાં આવ્યો છે આઠ પ્રકારના ત્રસકાયમાં મિથ્યાશાસ્ત્રોના સંસ્કારવાળાઓનું પુન પુન જન્મ-મરણ રૂપ સસરણ થાય છે એજ સસરણ તે સંસાર કહેવાય છે

ત્રસકાયનું સાદું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા માટે લક્ષણ આદિ આઠ દ્વારોનું નિરૂપણ કરવું જોઈએ, તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, શસ્ત્ર, ઉપમોગ અને વેદના દ્વાર ક્રમથી બતાવે છે, વધ અને નિવૃત્તિ દ્વાર જેવી રીતે પૃથ્વીકાયના ઉદેશમાં કહ્યાં છે તેવી રીતેજ અહિં સમજા દેવા જોઈએ

## લક્ષણદ્વાર—

સુલ્લ, દુલ્લ, હૃષ્ટા અને દ્વેષ આદિ ચેતનલક્ષણ ત્રસકાયે પરિસ્પષ્ટમસ્તિ । અસ્ય સચેતનત્વે વિવાદા નાસ્તિ કેપાશ્ચિત્ અસ્ય વ્યક્તોન્ધ્રાસાદિલક્ષણપ્રાણયોગાત્ । અપરઃ—

ત્રસકાયસ્ય લક્ષણ શાસ્ત્રે નવચિષ્મ પ્રક્ષપ્તમ્ યથા—(૧) અભિક્રમણમ્, (૨) પ્રતિક્રમણમ્, (૩) સકોચનમ્, (૪) પ્રસારણમ્, (૫) રુત્તમ્, (૬) ભ્રમણમ્, (૭) પ્રસનમ્, (૮) પલાયનમ્, (૯) આગતિગતિવિજ્ઞાનમ્, इति ॥

અભિક્રમણ=પ્રજ્ઞાપક પ્રત્યભિમુલ્લ ભ્રમણમ્, પ્રતિક્રમણ=પ્રજ્ઞાપકાત્ પ્રતિકૂલ ક્રમણમ્ । સકોચનમ્=ગાત્રસકોચકરણમ્, પ્રસારણ=ગાત્રવિસ્તરણમ્,

## લક્ષણદ્વાર—

સુલ્લ, દુલ્લ, હૃષ્ટા અને દ્વેષ આદિ ચેતના કે લક્ષણ ત્રસકાય મેં સ્પષ્ટ માલુમ હોતે હૈ । ઇસ કી સચેતનતા મેં કિસી કો મી વિવાદ નહીં હૈ । પ્રકટ ઉપ્ધૃત્વાસ આદિ પ્રાણ હોને કે કારણ ત્રસ ધીવ પ્રાણી હૈ ।

શાસ્ત્ર મેં ત્રસકાય કા લક્ષણ નવ પ્રકાર સે વર્ણવાય ગયા હૈ । જેસે—(૧) અભિક્રમણ (૨) પ્રતિક્રમણ (૩) સકોચન (૪) પ્રસારણ (૫) રુત્ત (૬) ભ્રમણ (૭) પ્રસન—ત્રાસ પાના (૮) પલાયન—ભાગના અને (૯) ગતિ—આગતિ કા જ્ઞાન । પ્રજ્ઞાપક કી અપેક્ષા સે સામને જ્ઞાના અભિક્રમણ હૈ । પ્રજ્ઞાપક કી અપેક્ષા સે પ્રતિકૂલ જ્ઞાના—પીછે છોટના પ્રતિક્રમણ હૈ । શરીર કો સિકોચના સકોચન હૈ । શરીર કો ફેલાવના

## લક્ષણદ્વાર—

સુખ, દુઃખ, હૃષ્ટા અને દ્વેષ આદિ ચેતનાનું લક્ષણ ત્રસકાયમાં સ્પષ્ટ માલુમ પડે છે, તેની ચેતનતામાં કોઈને પણ વિવાદ-વાંધો નથી. પ્રકટ ઉપ્ધૃત્વાસ આદિ પ્રાણ હોવાના કારણથી ત્રસ જીવ પ્રાણી છે

શાસ્ત્રમાં ત્રસકાયના લક્ષણો અનેક પ્રકારે બતાવવામાં આવ્યાં છે જેમકે—(૧) અભિક્રમણ, (૨) પ્રતિક્રમણ, (૩) સકોચન, (૪) પ્રસારણ, (૫) રુત્ત, (૬) ભ્રમણ, (૭) પ્રસન—ત્રાસ પામવો, (૮) પલાયન—ભાગવું અને (૯) ગતિ—આગતિનું જ્ઞાન. પ્રજ્ઞાપકની અપેક્ષાથી સામે જવું તે અભિક્રમણ છે. પ્રજ્ઞાપકની અપેક્ષાથી પ્રતિકૂલ જવું—પાછા ફરવું તે પ્રતિક્રમણ છે. શરીરને સકોચવું તે સકોચન છે. શરીરને ફેલાવવું તે પ્રસારણ છે

રુત=શબ્દકરણમ્, ખ્રાન્તમ્=ઇતથેતથ ગમનમ્, પ્રસનમ્=દુઃસ્વાદુદ્વેજનમ્, પલાયિતમ્=પલાયનમ્, આગતે. કુતશ્ચિત્કચિત્, ગતેશ્ચ કુતશ્ચિત્ કચિદેવ ચ વિજ્ઞાનમ્ । ઉક્તૌચૈતદ્મગતતા દશવૈકાલિકસૂત્રે -

“ જેસિં કેસિંચિ પાણાણ અમિકત પઢિવ્વક્ત સકુચિય પસારિય રુપ મંત તસિય પલાઇય આગહ્ગહ્વિણ્ણાયા ” ॥ ૧ ॥ ઇતિ ।

પ્રરૂપણાદ્વારમ્—

પ્રસકાયાશ્વતુર્વિધા - દ્વીન્દ્રિય - ત્રીન્દ્રિય - ચતુરિન્દ્રિય - પંચેન્દ્રિયમેદાત્ ।  
इहैव प्रथमोद्देशके लोकवादिप्रकरणे प्रसानां मेदप्रमेदा प्ररूपिता । विस्तरतो

પ્રસારણ હૈ । ચોલના રુત કહલાતા હૈ । ઇધર-ઉધર જાના ખ્રમણ હૈ । દુ સ્થ સે ઉદ્વેગ પાના પ્રસન હૈ । માગને કો પલાયન કહતે હૈ । એક જગહ સે દુસરી જગહ આને-જાને કા વિજ્ઞાન આગતિગતિવિજ્ઞાન કહલાતા હૈ ।

મગવાન્ ને દશવૈકાલિક સૂત્ર મેં કહા હૈ —

“ જિન કિન્દોં પ્રાણિયોં મેં અમિકમળ, સંકોચન, પ્રસારણ, રુત, ખ્રમણ, પ્રસન, પલાયન ઓર આગતિગતિકા વિજ્ઞાન ( પાયા જાતા હૈ થે સવ પ્રસ જીવ હૈ । ) ”

પ્રરૂપણાદ્વાર—

પ્રસકાય કે ચાર મેદ હૈ—દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય ઓર પંચેન્દ્રિય ।  
इसी शब्द के पहले उद्देश के अन्दर लोकवादी प्रकरण में प्रस जीवों के मेद-प्रमेद कहे हैं । विस्तार से जानने के इच्छुक वहीं से ज्ञान लेवें । इस सूत्र में मगवान् ने

બોલવુ તે રૂત કહેવાય છે અહીં-તહીં જવુ તે ખ્રમણ છે હુ ખરી ઉદ્વેગ પામવુ તે પ્રસન છે ભાગવુ તેને પલાયન કહે છે એક જગ્યાથી બીજી જગ્યાએ આવવા-જવાનુ વિજ્ઞાન તે આગતિગતિવિજ્ઞાન કહેવાય છે

મગવાને દશવૈકાલિક સૂત્રમાં કહ્યું છે:-

“ લે કોઈ પ્રાણીઓમાં અમિકમણ, પ્રતિકમણ, સંકોચન, પ્રસારણ, રુત, ખ્રમણ, પ્રસન, પલાયન અને આગતિ-ગતિનું વિજ્ઞાન ( જોવામાં આવે છે તે સર્વ પ્રસ જીવ છે ) ”

પ્રરૂપણાદ્વાર—

પ્રસ કાયના ચાર લેહ છે:-દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પંચેન્દ્રિય. આજ શાસ્ત્રના પ્રથમના ઉદ્દેશમાં લોકવાદીપ્રકરણમાં પ્રસજીવોના લેહ-પ્રમેહ બતાવ્યા છે, વિસ્તારથી



જિજ્ઞાસુમિસ્તત एवावगन्तव्याः । अस्मिन् सूत्रेऽपि भगवता-अण्डजपोतजादिभेदाः  
प्रदर्शितास्तेऽपि तत्रैव समाविष्टाः ॥

### परिमाणद्वारम्—

ક્ષેત્રત સંવર્તિતલોકપતરાસરખ્યેયમાગવર્તિપ્રદેશરાશિમમાણા. પ્રસકાયપર્યા  
પ્તકા. । एते च यादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसख्येयगुणा , प्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त-  
सकायिकाऽपर्याप्तिकाः असख्येयगुणाः ।

તથા કાઠતઃ પ્રત્યુત્પન્નપ્રસકાયિકા સાગરોપમલસપૃથક્ત્વસમયરાશિપરિમાણા  
જઘન્યપદે, ઉત્કૃષ્ટપ્રદેસપિ સાગરોપમલસપૃથક્ત્વપરિમાણા एवेति । तथा चागमः—

અઢજ ઓર પોતજ આદિ જો મેઢ ચતલાયે હૈ, યે સજ મી ઝઢીં મેં અન્તર્ગત હો  
જાતે હૈં ।

### परिमाणद्वार—

પ્રસકાય કે પર્યાપ્ત જીવ ક્ષેત્ર કી અપેક્ષા સર્વર્તિત લોકપતર કે અસખ્યાતજે માગવર્તી  
પ્રદેશો કી રાશિ કે બરાબર હૈં । યે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવો સે અસખ્યાતગુણા હૈં ।  
પર્યાપ્ત પ્રસકાયિક જીવો કી અપેક્ષા અપર્યાપ્ત પ્રસ જીવ અસખ્યાતગુણા હૈં । કાલ કી અપેક્ષા  
જઘન્યપદ મેં પ્રત્યુત્પન્ન પ્રસ જીવ ઇક છાસ સે નૌ છાસ તક કે સાગરોપમ કી સમય-રાશિ  
કે બરાબર હૈં ઓર ઉત્કૃષ્ટ પદ મેં મી ઇક છાસ સે નૌ છાસ તક કે સાગરોપમ કી સમયરાશિ  
કે બરાબર હી હૈં । આગમ મેં મી કહા હૈ—

બાહુબાની ઇન્ધાવજા ત્યાધી બાહી લે આ સૂત્રમાં ભગવાને-અડજ અને પોતજ  
આદિના જે લેક બતાવ્યા છે, તે સર્વના તેમાં સમાવેશ થઈ જાય છે

### परिमाणद्वार—

પ્રસકાયના પર્યાપ્તજીવ ક્ષેત્રની અપેક્ષા સર્વર્તિત લોકપતરના અસખ્યાતમાં  
ભાગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે તે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવોની અસખ્યાત  
ગણા છે પર્યાપ્ત પ્રસકાયિક જીવોની અપેક્ષા અપર્યાપ્ત પ્રસજીવ અસખ્યાત ગણા છે

ઠાઠની અપેક્ષા જઘન્યપદમાં પ્રત્યુત્પન્ન પ્રસજીવ એકલાખ મી નવલાખ સુધીના  
આગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર છે અને ઉત્કૃષ્ટ પદમાં પણ એક લાખથી નવલાખ  
સુધીના આગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર જ છે આગમમાં પણ કહ્યું છે:-

“પટુપ્પજા તસકાદ્યા કેવદ્દકાલસ્સ નિલ્લેવા સિયા ? ગોયમા ! જહમ્મપ્પ સાગરોવમસપસહસ્સપુહસ્સ, ઉક્કોસતપ્પિ સાગરોવમસપસહસ્સપુહસ્સ” ॥ ઇતિ ।

વિરહાપેક્ષયા પ્રસાનાં નિષ્ક્રમણમુપપાતથ જઘન્યત ઇકો દ્વૌ ત્રયો વા ભવન્તિ, ઉત્કૃષ્ટતસ્તુ પ્રતરસ્યાસચ્ચેયમાગપ્રદેશપરિમાણાઃ । વસેપુ જીવાનાં નૈરન્તર્યેણોત્પત્તિર્નિષ્ક્રમો વા જઘન્યેનૈક સમય દ્વૌ સમયૌ ત્રીન્ વા સમયાન્ ભવતિ । ઉત્કૃષ્ટતસ્ત્વાવલિકાયા અસચ્ચેયમાગપરિમિત કાલં સતત મેવોત્પત્તિર્નિષ્ક્રમો વા ભવતિ । નૈરન્તર્યેણૈકજીવસ્યાવસ્થાન તુ જઘન્યતોડન્તર્મુહર્ત્વ પ્રસકાયે ભવતિ, તદનુ સ પૃથિવ્યાયેકેન્દ્રિયેષુ સમુત્પદ્યતે । ઉત્કૃષ્ટતઃ સાત્તિરેક સાગરોપમસહસ્રદ્વયં સતત નૈરન્તર્યેણ પ્રસકાયે તિષ્ઠતિ । તત્

“પત્યુત્પન્ન પ્રસકાયિક જીવ કિતને કાલ કે વરાવર હું ? ગૌતમ ! જઘન્ય પદ મેં એક લાખ સે નૌ લાખ તક કે સાગરોપમ કે વરાવર ઔર ઉત્કૃષ્ટ પદ મેં મી રતને હી હું” ।

વિરહ કી અપેક્ષા પ્રસ જીવો કા નિષ્ક્રમણ ઔર ઉપપાત જઘન્ય એક, દો યા ત્રીન હૈં, ઔર ઉત્કૃષ્ટ પ્રતર કે અસચ્ચાતર્વે માગવર્તી પ્રદેશો કે વરાવર હૈ । પ્રસકાય મેં જીવો કી નિરન્તર ઉત્પત્તિ યા જ્યવન જઘન્ય એક સમય, દો સમય, ત્રીન સમયતક હૈ । ઉત્કૃષ્ટ આવલિકા કે અસચ્ચાતર્વે માગ પરિમિત કાલ તક નિરન્તર ઉત્પત્તિ ઔર જ્યવન હોવા રહતા હૈ । નિરન્તર એક જીવ કી સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહર્ત્વ તક પ્રસકાય મેં હોતી હૈ ઔર ઓસકે વાદ વહ પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિય મેં ઉત્પન્ન હોવા હૈ । ઉત્કૃષ્ટ કુછ અધિક દો હવાર સાગરોપમતક નિરન્તર પ્રસકાય મેં ઠહર સકતા હૈ । તત્પશ્ચાત્

“પ્રત્યુત્પન્ન પ્રસકાયિક એવ કેટલા કાલની બરાબર છે ? ગૌતમ ! જઘન્ય પદમા એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની બરાબર અને ઉત્કૃષ્ટ પદમા પણ એટલા જ છે”

વિરહની અપેક્ષા પ્રસ જીવોનું નિષ્ક્રમણ અને ઉપપાત જઘન્ય એક, બે અથવા ત્રણ છે અને ઉત્કૃષ્ટ પ્રતરના અસચ્ચાતર્મા ભાગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર છે પ્રસકાયમાં જીવોની નિરન્તર ઉત્પત્તિ અથવા નિષ્ક્રમણ (જ્યવન) જઘન્ય એક સમય, બે સમય અથવા ત્રણ સમય સુધી છે ઉત્કૃષ્ટ આવલિકાના અસચ્ચાતર્મા ભાગ પરિમિત કાલ સુધી નિરન્તર ઉત્પત્તિ અને નિષ્ક્રમણ (નિષ્ક્રમણ) થતુ રહે છે નિરન્તર એક જીવની સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહર્ત્વ સુધી પ્રસકાયમાં હોય છે અને તે પછી તે પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયમાં ઉત્પન્ન થાય છે ઉત્કૃષ્ટ કાર્ષક અધિક બે હવાર સાગરોપમ સુધી

જિજ્ઞાસુમિસ્તત્ત્વ એવાગમન્તવ્યાઃ । અસ્મિન્ સુત્રેઽપિ મગવતા-અઘ્નજપોતજાદિભેદાઃ  
પ્રદર્શિતાસ્તેઽપિ તત્રૈવ સમાવિષ્ટાઃ ॥

### પરિમાણદ્વારમ્—

ક્ષેત્રત્ સર્વર્તિતલોકપતરાસંખ્યેયમાગયર્તિપ્રદેશરાશિપરિમાણા, ત્રસકાયપર્વા  
સ્ત્રકા । એતે ચ ઘાદરતેજસ્કાયપર્યાપ્તકેમ્યોઽસંખ્યેયગુણા, ત્રસકાયપર્યાપ્તકેમ્યસ  
સકાયિકાઽપર્યાપ્તકાઃ અસંખ્યેયગુણા ।

તથા કાન્તઃ પ્રત્યુત્પન્નત્રસકાયિકાઃ સાગરોપમલસપૃથક્ત્વસમયરાશિપરિમાણા  
અઘન્યપદે, ઉત્કૃષ્ટપ્રદેઽપિ સાગરોપમલસપૃથક્ત્વપરિમાણા એવેતિ । તથા આગમઃ—

અઘન ઓર પોતજ આદિ જો મેદ બતલાયે હૈ, યે સવ મી ઝઠ્ઠી મેં અન્તર્ગત હો  
જાતે હૈ ।

### પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાય કે પર્યાપ્ત જીવ ક્ષેત્ર કી અપેક્ષા સર્વર્તિત લોકપતર કે અસંખ્યાતમેં આગવર્તી  
પ્રદેશો કી રાશિ કે બરાબર હૈ । યે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવો સે અસંખ્યાતગુણા હૈ ।  
પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવો કી અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસ જીવ અસંખ્યાતગુણા હૈ । કાલ કી અપેક્ષા  
અઘન્યપદ મેં પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસ જીવ એક છાસ સે નૌ છાસ તક કે સાગરોપમ કી સમય-રાશિ  
કે બરાબર હૈ ઓર ઉત્કૃષ્ટ પદ મેં મી એક છાસ સે નૌ છાસ તક કે સાગરોપમ કી સમય-રાશિ  
કે બરાબર હી હૈ । આગમ મેં મી કહા હૈ—

અજ્ઞવાની ઇન્ધાવાળા ત્યાધી અજ્ઞી હે આ સુત્રમાં બગવાને-અઘન અને પોતજ  
આદિના જે સેદ બતાવ્યા છે, તે સર્વને તેમાં સમાવેશ થઈ જાય છે

### પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાયના પર્યાપ્તલવ ક્ષેત્રની અપેક્ષા સર્વર્તિત લોકપતરના અસંખ્યાતમાં  
આગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે તે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવોની અસંખ્યાત  
ગણા છે પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવોની અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસલવ અસંખ્યાત ગણા છે

કાલની અપેક્ષા અઘન્યપદમાં પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસલવ જોડલાખ મી નવલાખ સુધીના  
સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર છે અને ઉત્કૃષ્ટ પદમાં પણ જોડ લાખથી નવલાખ  
સુધીના સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર જ છે આગમમાં પણ કહ્યું છે:—

“પટુપ્પન્ના તસકાદયા કેવલકાલસ્સ નિલ્લેવા સિયા ? ગોયમા ! જહનપ્પ સાગરોવમસયસહસ્સપુહત્તસ્સ, ઉક્કોસતપ્પિ સાગરોવમસયસહસ્સપુહત્તસ્સ” ॥ ઇતિ ।

વિરહાપેક્ષયા પ્રસાનાં નિષ્ક્રમણમુપપાતશ્ચ જઘન્યત ઇકો દ્વી ત્રયો વા ભવન્તિ, ઉત્કૃષ્ટતસ્તુ પ્રતરસ્યાસચ્છેયમાગમદેશપરિમાણા । વસેપુ જીવાનાં નૈરન્તર્યેણોત્પત્તિર્નિષ્ક્રમો વા જઘન્યેનૈક સમય દ્વી સમયો ત્રીન્ વા સમયાન્ ભવતિ । ઉત્કૃષ્ટસ્ત્વાવલિકાયા અસચ્છેયમાગપરિમિત કાલં સતતં મેવોત્પત્તિર્નિષ્ક્રમો વા ભવતિ । નૈરન્તર્યેણૈકજીવસ્યાવસ્થાન તુ જઘન્યતોઽન્તર્મુહર્તે પ્રસકાયે ભવતિ, તદનુ સ પૃથિવ્યાગ્નેકેન્દ્રિયેષુ સમુત્પદ્યતે । ઉત્કૃષ્ટત સાતિરેક સાગરોપમસહસ્રદ્વયં સતતં નૈરન્તર્યેણ પ્રસકાયે વિષ્ટતિ । તત્

“પત્યુત્પન્ન પ્રસકાયિક જીવ કિતને કાલ કે વરાવર હૈ ? ગૌતમ ! જઘન્ય પદ મેં એક લાખ સે નૌ લાખ તક કે સાગરોપમ કે વરાવર ઔર ઉત્કૃષ્ટ પદ મેં મીં ઇતને હી હૈ” ।

વિરહ કી અપેક્ષા પ્રસ જીવોં કા નિષ્ક્રમણ ઔર ઉપપાત જઘન્ય એક, દો યા ત્રીન હૈ, ઔર ઉત્કૃષ્ટ પ્રતર કે અસચ્છેયતવેં માગવર્તી પ્રદેશોં કે વરાવર હૈ । પ્રસકાય મેં જીવોં કી નિરન્તર ઉત્પત્તિ યા અ્યવન જઘન્ય એક સમય, દો સમય, ત્રીન સમયતક હૈ । ઉત્કૃષ્ટ આવલિકા કે અસચ્છેયતવેં માગ પરિમિત કાલ તક નિરન્તર ઉત્પત્તિ ઔર અ્યવન હોતા રહતા હૈ । નિરન્તર એક જીવ કી સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહર્તે તક પ્રસકાય મેં હોતી હૈ ઔર ડસકે બાદ વહ પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિય મેં ઉત્પન્ન હોતા હૈ । ઉત્કૃષ્ટ કુછ અધિક દો હવાર સાગરોપમતક નિરન્તર પ્રસકાય મેં ઠહર સકતા હૈ । તત્પચ્ચાત્

“પ્રત્યુત્પન્ન પ્રસકાયિક છવ કેટલા કાલની બરાબર છે ? ગૌતમ ! જઘન્ય પદમાં એક લાખથી નવલાખ સુધીના સાગરોપમની બરાબર અને ઉત્કૃષ્ટ પદમાં પણ એટલા જ છે”

વિરહની અપેક્ષા પ્રસ છવોંનું નિષ્ક્રમણ અને ઉપપાત જઘન્ય એક, બે અથવા ત્રણ છે અને ઉત્કૃષ્ટ પ્રતરના અસચ્છેયતમા માગવર્તી પ્રદેશોની બરાબર છે પ્રસકાયમાં છવોની નિરન્તર ઉત્પત્તિ અથવા નિષ્ક્રમણ (અ્યવન) જઘન્ય એક સમય, બે સમય અથવા ત્રણ સમય સુધી છે ઉત્કૃષ્ટ આવલિકાના અસચ્છેયતમા માગ પરિમિત કાલ સુધી નિરન્તર ઉત્પત્તિ અને નિષ્ક્રમણ (નિકળવું) થતુ રહે છે નિરન્તર એક છવની સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહર્તે સુધી પ્રસકાયમાં છોય છે અને તે પછી તે પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયમાં ઉત્પન્ન થાય છે ઉત્કૃષ્ટ કાર્તિક અધિક બે હવાર સાગરોપમ સુધી

વિજ્ઞાસુમિસ્તત एवावगन्तव्याः । अस्मिन् सूत्रेऽपि भगवता-अण्डजपोतआदिभेदाः  
प्रदर्शितास्तेऽपि तत्रैव समाविष्टाः ॥

### પરિમાણદ્વારમ્ —

ક્ષેત્રતઃ સંવર્તિતલાક્ષમતરાસલ્ચેયમાગવર્તિપ્રદેશરાશિપ્રમાણા, ત્રસકાયપર્યા  
પ્રકા । एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसल्येयगुणा , त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस्त  
सकायिकाऽपर्याप्तकाः असल्येयगुणा ।

તથા કાઠ્ઠતઃ પ્રત્યુત્પન્નત્રસકાયિકા સાગરોપમલસપૃથક્ત્વસમપરાશિપરિમાણા  
અન્યપદે, ઉત્કૃષ્ટપ્રદેસપિ સાગરોપમલસપૃથક્ત્વપરિમાણા એવેતિ । તથા આગમ —

અઢજ ઓર પોતજ આદિ જો ભેદ બતલાયે હું, એ સમ મી ઠઢી મેં અર્તગતિ હો  
જાતે હું ।

### પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાય કે પર્યાપ્ત જીવ ક્ષેત્ર કી અપેક્ષા સંવર્તિત ક્ષેત્રપ્રતર કે અસંખ્યાતર્થે માગવર્તી  
પ્રદેશો કી રાશિ કે બરાબર હું । એ બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવો સે અસંખ્યાતગુણા હું ।  
પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવો કી અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસ જીવ અસંખ્યાતગુણા હું । કાઠ્ઠ કી અપેક્ષા  
અન્યપદ મેં પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસ જીવ એક છાસ સે નૌ છાસ તક કે સાગરોપમ કી સમય-રાશિ  
કે બરાબર હું ઓર ઉત્કૃષ્ટ પદ મેં મી એક છાસ સે નૌ છાસ તક કે સાગરોપમ કી સમયરાશિ  
કે બરાબર હી હું । આગમ મેં મી કહ્યા હૈ—

અણુવાની ઇન્ધાવાળા ત્યાથી બાણી હો આ સૂત્રમાં ભગવાને—અઢજ અને પોતજ  
આદિના જે ભેદ બતાવ્યા છે, તે સવને તેમા સમાવેશ થઈ જાય છે

### પરિમાણદ્વાર—

ત્રસકાયના પર્યાપ્તજીવ ક્ષેત્રની અપેક્ષા સંવર્તિત ક્ષેત્રપ્રતરના અસંખ્યાતમા  
માગવર્તી પ્રદેશોની રાશિના બરાબર છે તે બાદર તેજસ્કાય પર્યાપ્ત જીવોની અસંખ્યાત  
ગણા છે પર્યાપ્ત ત્રસકાયિક જીવોની અપેક્ષા અપર્યાપ્ત ત્રસજીવ અસંખ્યાત ગણા છે

કાઠ્ઠની અપેક્ષા અન્યપદમા પ્રત્યુત્પન્ન ત્રસજીવ ક્ષેત્રલાખ મી નવલાખ સુધીના  
સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર છે અને ઉત્કૃષ્ટ પદમા પણ કોઈ લાખથી નવલાખ  
સુધીના સાગરોપમની સમય-રાશિના બરાબર જ છે આગમમાં પણ કહ્યું છે —

निध्याय=मनमा समालोच्य, प्रतिलेख्य=विलोक्य सम्यग् विज्ञायेत्यर्थः, ब्रवीमि=कथयामि-सर्वेषां प्राणानां=प्राणा सन्ति येषां ते प्राणाः=प्रणिनस्तेषां, सर्वेषां भूतानाम्=उत्पत्तिशीलानाम्, सर्वेषां जीवानां=कालत्रये जीवनाद् धैतन्यस्वरूपाणामित्यर्थः, सर्वेषां सत्त्वानां=सर्वदाऽस्तित्वरताम्, प्रसजीवानाम्, यद्वा-सर्वेषामित्यस्य पुनः पुनरुपादानेन स्थावरा अपि गृह्यन्ते, तेन प्रसानां स्थावराणां च जीवानामित्यर्थः । परिनिर्वाण=सुख, प्रत्येकम्=एकैकं पृथक् पृथगस्ति ।

शब्दव्युत्पत्त्या विभिन्नार्थबोधकत्वात् प्राणभूतादिशब्दानामुच्चारणं न पुनरुक्तिदोषः । 'निष्णाहता' 'पटिलेहिता' इति पदद्वयेन जीवानां पुनः पुनरुन्मुन्धानं प्रतिलेखनं च सूचितम्, तदेव पुनः पुनर्विधेयतया प्रतिबोधनार्थं

स्वरूपं मनः से विचार करके तथा सम्यक् प्रकार से जानकर कहता हूँ । समी प्राणियों का समी मृतों अर्थात् उत्पत्तिशील जीवों का, समी जीवों ( त्रिकाल में जीवित रहने वालों ) का और समी सत्त्वों ( सदा अस्तित्व वाले प्रस जीवों ) का, अथवा बार-बार 'सर्वेसि' पदका प्रयोग करने के कारण यह अर्थ लेना चाहिए कि-समी प्रस और स्थावर जीवों का सुख पृथक्-पृथक् है ।

शब्दशास्त्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थ के बोधक प्राण, मृत आदि शब्दों का उच्चारण करने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं है । अथवा प्राण मृत आदि शब्दों को एक ही अर्थ का वाचक मान लिया जाय तो भी पुनरुक्तिदोष नहीं है । 'निष्णाहता' 'पटिलेहिता' इन दो पदों द्वारा जीवों का पुनः पुनः विचार एवं प्रतिलेखन सूचित किया है । उसी को पुनः पुनः विधेयरूप से समझाने के लिए

आदि समस्त एवेन स्वयं मनसि विचार करीने तथा सम्यक् प्रकारे भाषिने कर्तुं छ-सर्व प्राणीभ्योऽनु, सर्वभूतोऽनु अर्थात् उत्पत्तिशील एवेन, सर्व एवे ( त्रय काल एवित रहेवावाणां ) नु, अने सर्व सत्त्वो-(सर्वदा अस्तित्ववाणां प्रस एवे) नु, अथवा बार-बार 'सर्वेसि' पढ़ने प्रयोग करवाना कारणों से अर्थ देवेने के छ-सर्व प्रस अने स्थावर एवेन सुख पृथक्-पृथक् छे

शब्दशास्त्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोधक प्राण-मृत आदि शब्दों को उच्चारण करवायी पक्ष पुनरुक्ति दोष आवेता नहीं अथवा प्राणभूत आदि शब्दों के दोहराव अथवा वाचक मानी देवाभा आवे तो पक्ष पुनरुक्तिदोष नहीं 'निष्णाहता' 'पटिलेहिता' आदि पदों द्वारा एवेनो पुनः पुनः विचार अर्थात् प्रतिबोधन सूचित कर्तुं छे तेने पुनः पुनः

પૃથિવ્યાદિપૃત્પદ્યતે । ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ત્રસજીવનાં સુત્રં દુઃત્વ યા યથા ભવતિ તદાહ—‘ નિજ્ઞાહતા ’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

નિજ્ઞાહતા પદિલેહિતા પતેય પરિનિવ્યાણ સર્વેસિં પાણાણં સર્વેસિં ભૂષાણં  
સર્વેસિં જીવાણં સર્વેસિં સત્તાણં અસાપ અપરિનિવ્યાણં મહામય દુઃત્વ-વિં બેમિ  
॥ સૂ૦ ૨ ॥

છાયા—

નિઘ્યાય પ્રતિલેખ્ય પ્રત્યેક પરિનિર્વાણં સર્વેષાં પ્રાણાનાં સર્વેષાં ભૂતાનાં  
સર્વેષાં જીવાનાં સર્વેષાં સત્ત્વાનામ્ અસાતમ્ અપરિનિર્વાણ મહામય દુઃત્વમિતિ  
બ્રવીમિ ॥ સૂ૦ ૨ ॥

પ્રકરણસમ્બન્ધાત્ ત્રસજીવસ્વરૂપં પૃથિવ્યાદિસકલજીવસ્વરૂપ યા

પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરો મેં ઉત્પન્ન હોતા હૈ ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ત્રસજીવોં કો સુત્ર-દુઃત્વ યિસ પ્રકાર હોતા હૈ સો કહતે હૈ—‘ નિજ્ઞાહતા ’  
इत्यादि ।

મૂલાર્થ—વિચાર કરકે બીર બજી તરહ દેત્તકર કહતા હૂં કિ—સમી  
પ્રાણિયોં કા, સમી મૂતોં કા, સમી જીવોં કા, બીર સમી સત્ત્વોં કા પરિનિર્વાણ અર્થત્  
સુત્ર પૃથક્-પૃથક્ હૈ । તથા અસાતારૂપ, અપરિનિર્વાણરૂપ મહામયરૂપ દુઃત્વ મી પૃથક્-  
પૃથક્ હૈ । ॥ સૂ૦ ૨ ॥

ટીકાર્થ—ત્રસ જીવોં કા પ્રકરણ હોને કે કારણ ‘વિચાર કરને’ કા  
આશય યહ હૈ કિ ત્રસજીવોં કા સ્વરૂપ, અથવા પૃથ્વીકાય આદિ સમસ્ત જીવોં કા

નિરતર ત્રસકાયમા રહી ચકે છે, તે પછી પૃથ્વીકાય આદિ સ્થાવરેશમા ઉત્પન્ન થાય  
છે ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ત્રસ જીવોને સુખ-દુઃખ બે પ્રકારે થાય છે, તે કહે છે—‘ નિજ્ઞાહતા ’ इत्यादि

મૂલાર્થ—વિચાર કરીને ચારી રીતે બોધને કહું છું કે—સર્વ પ્રાણીઓ સર્વ  
ભૂતો, સર્વ જીવો અને સર્વ સત્ત્વોનું પરિનિર્વાણ અર્થાત્ સુખ પૃથક્-પૃથક્-બૂદ્ધાં-બૂદ્ધાં  
છે, તથા અસાતારૂપ અપરિનિર્વાણરૂપ મહામયરૂપ દુઃખ પણ બૂદ્ધાં-બૂદ્ધાં છે ॥ સૂ૦ ૨ ॥

ટીકાર્થ—ત્રસજીવોનું પ્રકરણ હોવાના કારણે ત્રસજીવોનું સ્વરૂપ અથવા પૃથ્વીકાય

છાયા—

ત્રસ્યતિ પ્રાણા પ્રદિશઃ વિદ્યાસુ ચ । તત્ર તત્ર પૃથક્ પશ્ય, આતુરા પરિતાપ  
યન્તિ, સન્તિ પ્રાણા પૃથક્ શ્રિતા ॥ સૂ. ૩ ॥

ટીકા—

પ્રાણાઃ=પ્રાણિનઃ પ્રકરણસમ્બન્ધાત્ ત્રસજીવાઃ પ્રદિશઃ=પ્રગતા દિક્ પ્રદિક્  
વિદિગિત્યર્થઃ, તતઃ પ્રદિશઃ, તથા-દિશાસુ પ્રાણ્યાદિદિશ્વ ચ સમાગન્તુકેભ્યો દુઃખેભ્ય,  
ત્રસ્યતિ=ચિમ્બ્યતિ । સર્વદિગ્વિદિશ્વ ત્રસાઃ સન્તિ, તે ચ સર્વદિગ્વિદિગ્મ્ય સમાગન્તુ-  
કેભ્યો દુઃખેભ્યસ્ત્રસ્યન્તીત્યર્થઃ ।

ક્રુતસ્તેપાં દુઃખસમ્ભવઃ ? इति जिज्ञासायामाह 'तत्र-तत्रे' त्यादि । तत्रतत्र=  
तेषु-तेषु, पृथक्=विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, आतुराः=अर्चाचर्ममांसादिगृह्यन्तव त्रसान्  
परितापयन्ति=परिपीडयन्ति । विविषवेदनोत्पादनेन प्राणव्यपरोपणेन च सर्वथा दुःख  
जनयन्तीत्यर्थ । कीदृशास्ते त्रसा, यानातुराः परितापयन्ति ? इति जिज्ञासाया-

ટીકાર્થ—ત્રસ કા પ્રકરણ હોને સે 'પ્રાણ' શબ્દ કા અર્થ યહી ત્રસજીવ સમક્ષના  
ચાહિય । ત્રસ પ્રાણી વિવિશાઓ મેં આગન્તુક દુઃખો સે ત્રસ હે । તાત્પર્ય યહ હે કિ-સમી  
વિવિશાઓ મેં ઔર સમી વિશાઓ મેં ત્રસજીવ વિશ્વમાન હે ઔર સમી વિવિશાઓ ઔર  
વિશાઓ સે આને વાલ દુઃખો સે વે પીડિત હોતે હે ।

उन्हें दुःख क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है-विभिन्न प्रयोजनों से  
आतुर लोग अर्थात् अर्चा (शरीर), चर्म, मांस, आदि के लोछप पुरुष त्रस जीवों को पीडा  
पहुँचाते हैं । उन्हें मँति-मँति की वेदना उत्पन्न करके उनके प्राणों का व्यपरोपण  
करते हैं और सब प्रकार से दुःख उत्पन्न करते हैं । वे त्रसजीव पृथिवी आदि के

ટીકાર્થ—ત્રસતુ પ્રકરણ હોવાથી 'પ્રાણ' શબ્દનો અર્થ ત્રસજીવ સમજવો  
બોધ્યો ત્રસ પ્રાણી વિવિશાઓમાં તથા વિશાઓમાં આગન્તુક દુઃખોથી ત્રસ પામે છે  
તાત્પર્ય એ છે કે-સર્વ વિવિશાઓમાં અને સર્વ વિશાઓમાં ત્રસ જીવ વિશ્વમાન છે,  
અને સર્વ વિવિશાઓ તથા વિશાઓથી આવવાવાળા દુઃખોથી તે પીડા પામે છે

तेने दुःख का भाटे साथ छै ? तेने उत्तर के छै के-बहुत-बहुत प्रयोजनोधी आतुर  
लोग अर्थात् अर्चा (शरीर), चर्म, मांस वजैरेना लाखसु पुरुष त्रस जीवोने पीडा पहुँचाते  
छै, तेने बूझी-बूझी व्यतनी वेदना उत्पन्न करे छै ते त्रस जीव पृथ्वी आदिना आश्रये  
प्र भा-८३



મનેકપર્યાયશબ્દેસ્તેપામુપાદાનાત્ ।

તથા સર્વેષાં દુઃસ્વ પ્રત્યેક પૃથક્ પૃથગસ્તિ । કયમ્ભૂતં દુઃસ્વમિત્યાહ—  
'અસાત'—મિત્યાદિ । અસાતમ્ અસાતવેદનીયકર્મફલભૂતમ્, તથા—અપરિનિર્વાક્ય-  
સર્વથા શરીરમન' પીઠાકરમ્, તથા—મહામયમ્—દુઃસ્વાદિષ્ઠ મયમન્યન્નાસ્તિ, અતઃ  
સર્વેઽપિ પ્રાણિન' શારીરાન્માનસાદયિ દુઃસ્વાદુઃકિન્તે, તસ્માન્મહામયસ્વરૂપમિત્યર્થઃ  
॥ સૂ. ૨ ॥

एतच्च ब्रवीमीत्याह 'तसति पाणा' इत्यादि ।

मूलम्—

तसति पाणा पदिसो दिसासु य । तस्य पुढो पास आतुरा, परितोऽपि,  
सति पाणा पुढो सिया ॥ सू. ३ ॥

अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार सब जीवों का दुःस्व भी पृथक्-पृथक् है । दुःस्व किस प्रकार का है ?  
सो कहते हैं—वह असातावेदनीय कर्म का फल है, शरीर और मन को पूरी तरह पीड़ा  
उत्पन्न करता है और महामयंकर है—दुःस्व से बढ़कर और कोई मय नहीं है, क्योंकि  
कि सभी प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःस्व से घबराते हैं, अतः वह महामयकारी  
है ॥ सू. २ ॥

और मैं यह कहता हूँ — 'तसति पाणा' इत्यादि ।

मूलार्थ—प्राणी विविशाब्धो में और विशाब्धो में उद्वेग पाते हैं । अस्मा-  
अस्मा प्रयोजनो के छोड़प छोड़ उन्हें सताप पहुँचाते हैं । वे त्रस प्राणी पृथ्वी आदि विभिन्न  
आश्रयो पर आश्रित हैं ॥ सू. ३ ॥

વિધેયરૂપથી સમબંધવા માટે અનેક પર્યાયવાચી શબ્દોનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે  
આ પ્રમાણે સર્વજીવોના હું ખ પણ બૂદા-બૂદા છે હું ખ કયા પ્રકારના છે ?  
તે કહે છે—તે આ અસાતાવેદનીય કર્મનું ફળ છે, શરીર અને મનને પૂરી રીતે પીડા  
ઉત્પન્ન કરે છે અને મહા ભયકર છે હું ખથી વધારે કોઈ પણ ભય નથી કારણકે સ્વ  
પ્રાણી-શારીરિક અને માનસિક હું ખથી ગભરાય છે તેથી તે મહાભયકારી છે ॥સૂ. ૨॥

अने हूं को पण कहूं छु — 'तसति पाणा' इत्यादि

मूलार्थ—प्राणी विविशाब्धोमां અને વિશાબ્ધોમાં ઉદ્વેગ પામે છે અલગ-અલગ  
પ્રયોજનોથી હોઠપ હોઠ તેને સતાપ પહોંચાડે છે તે ત્રસ પ્રાણી પૃથ્વી આદિ વિભિન્ન  
આશ્રયો પર આશ્રિત છે ॥સૂ. ૩॥

## છાયા—

ત્રસ્યતિ પ્રાણા પ્રદિશ દિશાસુ ચ । તત્રતત્ર પૃથક્ પश्य, આતુરાઃ પરિતાપ  
યન્તિ, સન્તિ પ્રાણા પૃથક્ ત્રિતાઃ ॥ સૂ૦ ૩ ॥

## ટીકા—

પ્રાણા = પ્રાણિન પ્રવરણસમ્બન્ધાત્ પ્રસજીવાઃ પ્રદિશઃ = પ્રગતા દિક્ પ્રદિક્  
ત્રિદિગિત્યર્થઃ, તત્ર પ્રદિશ, તથા-દિશાસુ પ્રાચ્યાદિદિક્ષુ ચ સમાગન્તુકેભ્યો દુઃસ્વેભ્ય,  
ત્રસ્યતિ = ત્રિસ્યતિ । સર્વદિગ્વિદિક્ષુ ત્રયાઃ સન્તિ, તે ચ સર્વદિગ્વિદિગ્મ્યઃ સમાગન્તુ-  
કેભ્યો દુઃસ્વેભ્યસ્ત્રસ્યન્તીત્યર્થઃ ।

કુતસ્તેષાં દુઃસ્વસમવઃ ? इति जिज्ञासायामाह 'तत्र-तत्रे' त्यादि । तत्रतत्र=  
तेषु-तेषु, पृथक्=विभिन्नेषु प्रयोज्येषु, आतुरा=अर्वाचर्ममांसादिगृह्यन्व' प्रसान्  
परितापयन्ति=परिपीडयन्ति । विविधवेदनोत्पादनेन प्राणव्यपरोपणेन च सर्वथा दुःस्व  
जनयन्तीत्यर्थः । कीदृशास्ते त्रसाः, यानातुरा परितापयन्ति ? इति जिज्ञासाया-

ટીકાર્થ—ત્રસ કા પ્રવરણ હોને સે 'પ્રાણ' શબ્દ કા અર્થ યહૌ પ્રસજીવ સમક્ષના  
ચાહિષ । ત્રસ પ્રાણી વિદિશાઓ મેં આગતુક દુ સ્વો સે પ્રસ્ત હૈં । તાપર્ય યહ હૈ કિ—સમી  
વિદિશાઓ મેં ઓર સમી દિશાઓ મેં ત્રસજીવ વિષમાન હૈં ઓર સમી વિદિશાઓ ઓર  
દિશાઓ સે આને વાળે દુ સ્વો સે વે પીડિત હોતે હૈં ।

उहें दुःस्व क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है—विभिन्न प्रयोजनों से  
आतुर लोग अर्वाच (शरीर), चर्म, मांस, आदि के लोखप पुरुष त्रस जीवों को पीड़ा  
पहुँचाते हैं । उहें मौति—मौति की वेदना उत्पन्न करके उनके प्राणों का व्यपरोपण  
करते हैं और सब प्रकार से दुःस्व उत्पन्न करते हैं । वे त्रसजीव पृथिवी आदि के

ટીકાર્થ—ત્રસનુ પ્રવરણ હોવાથી 'પ્રાણ' શબ્દનો અર્થ ત્રસજીવ સમક્ષનો  
ભેદથી ત્રસ પ્રાણી વિદિશાઓમાં તથા દિશાઓમાં આગતુક દુ ખોથી ત્રસ પામે છે  
તાપર્ય' એ છે કે—સર્વ વિદિશાઓમાં અને સર્વ દિશાઓમાં ત્રસ જીવ વિષમાન છે,  
અને સર્વ વિદિશાઓ તથા દિશાઓથી આવવાવાળા દુ-ખોથી તે પીડા પામે છે

તેને દુ ખ શા માટે થાય છે ? તેનો ઉત્તર એ છે કે—બૂદ્ધિ-બૂદ્ધિ પ્રયોજનોથી આતુર  
લોક અર્થાત્ અર્ચા (શરીર), ચર્મ, માંસ વગેરેના લાલચુ પુરુષ ત્રસ જીવોને પીડા પહોચાડે  
છે, તેને બૂદ્ધિ-બૂદ્ધિ જાતની વેદના ઉત્પન્ન થાય છે તે ત્રસ જીવ પૃથ્વી આદિના આશ્રયે

મનેકપર્યાયશબ્દેસ્તેપામુપાદાનાત્ ।

તયા સર્વેર્વા દુઃસ્વ પ્રત્યેક પૃથક્ પૃથગસ્તિ । કયમ્ભૂતં દુઃસ્વમિત્યાહ—  
'અસાત'—મિત્યાદિ । અસાતમ્ અસાતવેદનીયકર્મફલભૂતમ્, તયા—અપરિનિર્વાક્યમ્—  
સર્વયા શરીરમનઃ પીઢાકરમ્, તયા—મહામયમ્—દુઃસ્વાદધિક મયમન્યન્નાસ્તિ, યતઃ  
સર્વેઽપિ પ્રાણિનઃ શારીરાન્માનસાદપિ દુઃસ્વાદુદ્વિજન્તે, તસ્માન્મહામયસ્વરૂપમિત્યર્થઃ  
॥ સૂ૦ ૨ ॥

एतच्च ब्रवीमीत्याह 'तसति पाणा' इत्यादि ।

मूलम्—

तसति पाणा पदिसो दिसासु य । तस्य पुढो पास आतुरा, परितावंसि,  
सति पाणा पुढो सिया ॥ सू० ३ ॥

अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार सब जीवों का दुःस्व भी पृथक्-पृथक् है । दुःस्व किस प्रकार का है !  
सो कहते हैं—वह असातावेदनीय कर्म का फल है, शरीर और मन को पूरी तरह पीड़ा  
उत्पन्न करता है और महामयकर है—दुःस्व से बढकर और कोई मय नहीं है, क्योंकि  
कि सभी प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःस्व से घबराते हैं, अतः वह महामयकारी  
है ॥ सू० २ ॥

और मैं यह कहता हूँ—'तसति पाणा' इत्यादि ।

मूलार्थ—प्राणी विविशाब्धो में और दिशाब्धो में उद्देग पाते हैं । अलग-  
अलग प्रयोजनों के छोछप छोम उन्हें सताप पहुँचाते है । वे तस प्राणी पृथ्वी आदि विभिन्न  
आश्रयों पर आश्रित हैं ॥ सू० ३ ॥

વિધેયરૂપથી સમભવવા માટે અનેક પર્યાયવાચી શબ્દોનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે  
આ પ્રમાણે સર્વજીવોના દુઃખ પણ જુદા-જુદા છે દુઃખ કયા પ્રકારના છે ?  
તે કહે છે—તે આ અસાતાવેદનીય કર્મનું ફળ છે, શરીર અને મનને પૂરી રીતે પીડા  
ઉત્પન્ન કરે છે. અને મહા ભયકર છે દુઃખથી વધારે કોઈ પણ ભય નથી કારણકે સબ  
પ્રાણી-શારીરિક અને માનસિક દુઃખથી બહાશય છે તેથી તે મહાભયકારી છે ॥સૂ૦ ૨॥

अने दुःखे पण कहुं छः—'तसति पाणा' इत्यादि

मूलार्थ—प्राणी विविशाब्धोमां અને दिशाब्धोमां उद्देग पाते છે અલગ-અલગ  
પ્રયોજનોથી લોછપ લોક તેને સતાપ પહોંચાડે છે તે તસ પ્રાણી પૃથ્વી આદિ વિભિન્ન  
આશ્રયો પર આશ્રિત છે ॥સૂ૦ ૩॥

મૂલમ્—

લજ્જમાણા પુદો પાસ, અળગારા મોત્તિ એમે પવયમાણા, જમિણં, વિરુવરુવેદિં  
સત્થેદિં તસકાયસમારમેણ, તસકાયસત્થ સમારમમાણા અળ્લે અળેગરુવે પાળે  
વિહિસતિ ॥ સૂ. ૪ ॥

છાયા—

લજ્જમાણા પૃથક્ પડ્ય, અળગારા સ્મ, इति एके प्रवदमाना, यदिमं  
विरूपरूपं. शस्त्रे. प्रसकायसमारम्मेण, प्रसकायशस्त्र समारममाणा अन्यान् अनेकरूपान्  
माणान् विहिसन्ति ॥ सू. ४ ॥

ટીકા—

લજ્જમાણા=પરમકરુણયાડ્ઢ્રદ્વિદયતયા પ્રસકાયસમારમ્મે પરાદ્ધુત્વા  
પ્રસકાયસમારમ્મપરિત્યાગિનોડનાગારા इत्यर्थ । पृथक्=विमिक्षा, केचित्-  
भृत्यसहानिनोऽवधिमेन पर्ययकेवलिन, केचित्-परोक्षज्ञानिनो भावितात्मानः,  
सन्तीति पश्य । यद्वा-पृथक्=द्रव्यलिङ्गिण्य पृथग्भावेन सन्तीति पश्य । इमे प्रस

મૂલાર્થ—પ્રસકાય કે આરમ મેં સકોચ કરને વાલે (અનગારો કો) અલ્લા  
સમજો । ‘હમ અનગાર હૈં’ પેસા કહને વાલે કોઈ-કોઈ (દ્રવ્યલિંગી) નાના પ્રકાર કે શસ્ત્રો  
કા પ્રયોગ કરતે હુણે ઓર મી અનેક પ્રકાર કે પ્રાણિયો કી હિસા કરતે હૈં ઊનકો અલ્લા  
દેલો ॥ સૂ. ૪ ॥

ટીકાર્થ—પરમ કરુણા સે જિનકા હ્રદય દ્રવિત હૈ પેસે અનગાર પ્રસકાય કે  
આરમ સે સર્વથા વિમુક્ત રહતે હૈં । યે અનગાર અલગ-અલગ હૈં । કોઈ અવધિજ્ઞાની,  
કોઈ મન પર્યયજ્ઞાની ઓર કોઈ કેવલજ્ઞાની હૈં । કોઈ-કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની ભાવિતાત્મા હૈં,

મૂલાર્થ—પ્રસકાયના આરમમાં સકોચ કરવાવાળા અણુગારોને અલગ-બુદ્ધા-  
સમજે, ‘અમે અણુગાર છીએ’ એ પ્રમાણે કહેવાવાળા કોઈ-કોઈ દ્રવ્યલિંગી, નાના  
પ્રકારનાં શસ્ત્રોથી પ્રસકાયનો આરમ કરીને, પ્રસકાયના શસ્ત્રોનો પ્રયોગ કરતા થકા  
ળીબ પશુ અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિસા કરે છે તેને અલગ બુદ્ધો ॥ સૂ. ૪ ॥

ટીકાર્થ—પરમ કરુણાથી જેનું હ્રદય દ્રવિત છે એવા અણુગાર પ્રસકાયના  
આરમથી સર્વથા વિમુક્ત રહે છે-ફર રહે છે તે અણુગાર અલગ-અલગ છે કોઈ  
અવધિજ્ઞાની, કોઈ મના-પર્યયજ્ઞાની, અને કોઈ કેવલજ્ઞાની છે કોઈ-કોઈ પરોક્ષજ્ઞાની

માહ-‘ સન્તિ’ इत्यादि। त्रिता=पृथिव्यादीन् समाश्रित्यावस्थिता, पृथक्=विभिन्ना द्वीन्द्रियादयः, प्राणा=माणिन. सन्ति।

यद्यपि सर्वदिग्निदिग्भ्य आगामिनो दुःखाद् विम्यन्तस्त्रसजीवा’ स्वात्मसाधं पृथिव्यादीन् समाश्रित्य वर्तन्ते तथापि मांसचर्मादिलुब्धा आतुरास्तान् बन्धनवाङ् नादिना द्वावकायपहारेण प्राणाद्यपहारेण च परिपीडयन्ति, ततः ससारं प्राप्नुवन्ति। तस्मादेतत् परिधाय सकलसावधव्यापारपरिहारेण समयमानुष्ठाने प्रवर्तितव्यमिति भावः ॥ सू० ३ ॥

अयं सर्वथा त्रसकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथा त्रसकाय-समारम्भपट्टचान् द्रव्यलिङ्गिणश्च विविच्य प्रतिबोधयितुमाह-‘ लज्जमाणा ’ इत्यादि।

સદારે અભય-અભય રહે હુણે હૈં ।

यद्यपि सब दिशाओं और विदिशाओं से आनेवाले दुःखों से डरने वाले त्रस जीव अपनी रक्षा के लिए पृथ्वी आदि के सहारे टिके रहते हैं फिर भी मांस और चर्म आदि के छोटी छोटी चोटों से बंधन पड़ जाता है, उनके बन्धोंका अपहरण करके तभी उनके प्राणों का हनन करके उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं और इस कारण वे हिंसक, संसार को प्राप्त होते हैं। आशय यह है कि-यह सब जानकर सम्पूर्ण सावध व्यापार का त्याग करके संयम की साधना में प्रवृत्त होना चाहिए ॥ सू० ३ ॥

અવ પૂર્ણરૂપ સે ત્રસકાય કે આરમ્ભ કા ત્યાગ કરને વાળે અનગારોં કા તથા ત્રસકાય કે આરમ્ભ મેં પ્રવૃત્તિ કરને વાળે દ્રવ્યલિંગિયોં કા વિવેચન કરકે સમજાતે હુણે કહતે હૈં- ‘ લજ્જમાણા ’ इत्यादि।

અભય-અભય રહેહો. છે

જે કે સવ દિશાઓ અને વિદિશાઓથી આવનારા દુઃખોથી ડરવાવાળા ત્રસજીવ પોતાની રક્ષા માટે પૃથ્વી આદિના આશ્રયે ટકી રહે છે ફરી પણ માંસ અને ચામડા આદિના હોબી હોઠ તેને બંધન બે પ્રમાણે તાડનદ્વારા, તેના બન્ધાઓનું અપહરણ કરીને (ચીરી બંધને) તથા તેના પ્રાણોનું હનન-નાશ કરીને તેને પીડા પહોંચાડે છે અને આ કારણથી તે હિંસક-સંસારને પ્રાપ્ત થાય છે આશય એ છે કે-જો સવ બંધો કરીને સંપૂર્ણ સાવધ વ્યાપારનો ત્યાગ કરીને સંયમની સાધનામાં પ્રવૃત્ત થવું બેધણે. ॥૩॥

હવે પૂર્ણરૂપથી ત્રસકાયનાં આરમ્ભનો ત્યાગ કરવાવાળા અણુગ્રાસીનું તથા ત્રસ કાયના આરમ્ભમાં પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા દ્રવ્યલિંગિઓનું વિવેચન કરીને સમજાવતા થઈ કહે છે-‘ લજ્જમાણા ’ इत्यादि.

દ્વિવિધમ્, તત્ર-સ્વશસ્ત્ર-સ્વકાય-પરકાયો-ભયકાયમેદાત્ ત્રિવિધમ્ । તત્રસ્વકાય-  
શસ્ત્રેત્રસકાયસ્ય ત્રયકાય, યથા-મૃગાદીના વ્યાધકુક્કુરાન્ય., મનુષ્યાદીના મનુષ્યાદય ।  
પરકાયશસ્ત્રમ્-પાપાણજલાગ્નિલ્ગુહસ્વક્તોમરહુરિકાદયઃ । ઉભયકાયશસ્ત્રમ્-લ્પગુહસ્વક્ત-  
દિધારિણો મનુષ્યાદય । ભાવશસ્ત્ર તુ ત્રસકાય પ્રતિ મનોવાક્કાયાનાં દુષ્પ્રણિધાનમ્ ।  
ત્રસકાયસમારમ્મેણ, ત્રસ = ત્રસનશીલ\* કાય\* = શરીર યસ્ય સ ત્રસકાયસ્તસ્ય  
સમારમ્મ = પીઠાસ્ત્ર સાવધન્યાપારસ્તેન, ઇમ્ = ત્રસકાય વિહિંસન્તિ ।

ત્રસકાયહિંસાયાં પ્રવૃત્તા. સ્વલુ પશ્ચીમનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ  
વિહિંસન્તીત્યાહ-‘ત્રસકાયશસ્ત્રમ્’ ઇત્યાદિ । ત્રસકાયશસ્ત્રં = ત્રસજીવોપમર્દક શસ્ત્ર  
પૂર્વોક્તપ્રકારં, સમારમ્મમાણા\* = ત્રસકાય પ્રતિ પ્રયુઝાના અન્યાન્ = ત્રસકાયમિન્નાન્

મેદ હૈં-સ્વકાય, પરકાય, ઔર ઉભયકાય । ત્રસકાય કા ત્રસકાય સ્વકાયશસ્ત્ર હૈં,  
જૈસે મૃગ આદિ કે લિપ વ્યાધ, કુક્કુ આદિ, મનુષ્ય કે લિપ મનુષ્ય આદિ । પરકાયશસ્ત્ર જૈસે  
પથર, જલ, અગ્નિ, છકડી, તલવાર, તોમર, છેરી આદિ । ઉભયકાયશસ્ત્ર જૈસે તાઠી, તલવાર  
આદિ કારણ કરને વાલા મનુષ્ય આદિ । ત્રસકાય કે પ્રતિ મન, વચન, ઔર કાયકા અપ્રશસ્ત  
વ્યાપાર હોના ભાવશસ્ત્ર હૈ । इन नाना प्रकार क शस्त्रों से त्रसकाय का समारम करके लोग  
त्रसकाम को पीडा पहुँचाते हैं ।

ત્રસકાય કો હિંસા મં પ્રવૃત્તિ કરન વાલે યહ પ્રકાર ક જીવનિકાયરૂપ સમ્પૂર્ણ  
લોક કો હિંસા કરતે હૈં, યહ વાત કહતે હૈં-ત્રસકાય મેં, ત્રસકાય કો હિંસા કરન વાલે  
શસ્ત્રો કા જો પ્રયોગ કરતે હૈં તે ત્રસકાય કે અતિરિજ અનેક પ્રકાર કે પૃથ્વીકાય આદિ

પરકાય અને ઉભયકાય, ત્રસકાયનું ત્રસકાય તે સ્વકાયશસ્ત્ર છે, જેમ મૃગ આદિને  
માટે વાલ-કુતરા આદિ, મનુષ્યને માટે મનુષ્ય આદિ પરકાયશસ્ત્ર, જેમકે પથર,  
જલ, અગ્નિ, છાકડી, તલવાર, વાણી, છરી આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર, જેમકે-છાકડી,  
તલવાર આદિ ધારણ કરવાવાળા મનુષ્ય આદિ ત્રસકાયના પ્રતિ મન, વચન અને  
કાયને અપ્રશસ્ત વ્યાપાર થવો તે ભાવશસ્ત્ર છે તે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી ત્રસકાયને  
સમારમ કરીને હોઈ ત્રસકાયને પીડા પહોંચાડે છે

ત્રસકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા છ પ્રકારના જીવનિકાયરૂપ સમ્પૂર્ણ  
લોકની હિંસા કરે છે એ વાત કહે છે-ત્રસકાયમાં, ત્રસકાયની હિંસા કરવાવાળા-શસ્ત્રોનો  
જો પ્રયોગ કરે છે, તે ત્રસકાયથી બૂદ્ધા અનેક પ્રકારના પૃથ્વીકાય આદિ પાંચ સ્થાવર

કાયસમારમ્ભકરણે મીતાસ્રસ્તા ઉદ્વિગ્નાસ્રિકરણત્રિયોગૈશ્વમકાયસમારમ્ભપરિત્યાગિનો વિદ્યન્તે, इति विलोकयेत्यर्थः ।

एके पुनरन्ते तु 'वयमनगारा स्मः' इति सामिमानं प्रबदमाना 'वयमेव त्रसकायरक्षणपरा महाप्रवधारिणः' इति प्रलपन्तो द्रव्यलिङ्गिनः सन्ति, तान् पृथक् पश्य ।

इमे स्वल्पनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति—'यदिमम्' इत्यादि ।

यद्=यस्माद्; रिरूपरूपै=विभिन्नस्वरूपैः शस्त्रै, शस्त्र हि द्रव्यમાवમેदाद्

इन्हें देखो । अथवा इन्हें द्रव्यलिङ्गियों से अलग समझना चाहिए । ये त्रसकाय का आरंभ करते हुए डरते हैं, त्रस्त होते हैं, उद्विग्न होते हैं—तीन करण, तीन योग से त्रसकाय के आरंभ के त्यागी हैं, यह देखो ।

और कोई-कोई 'हम अनगार हैं' इस प्रकार अभिमानपूर्वक कहते हुए तथा 'हम ही त्रसकाय के रक्षक और महाप्रवधारी हैं' इस तरह प्रછાપ करते हुए कई દ્રવ્યલિંગી हैं, उन्हें अनगारों से अलग समझो ।

અનગાર હોને કા અભિમાન કરને વાળે એ દ્રવ્યલિંગી અનગાર કે ગુણો મેં સત્તિક મી પ્રવૃત્ત નહીં હોતે ઔર ન ગૃહસ્થ કે કિસી કામ કા ત્યાગ કરતે હૈં । યહ વાત આગે બતલાતે હૈં—'યદિમમ્' इत्यादि ।

द्रव्य और माव के भेद से शस्त्र दो प्रकार का है । द्रव्यशस्त्र के तीन

ભાવિતાત્મા છે અને જીવો, અથવા કોને દ્રવ્યલિંગીઓથી અલગ સમજવા બેઠકો જે ત્રસકાયને આરભ કરતા ડરે છે, ત્રસ્ત થાય છે, ઉદ્વિગ્ન થાય છે—ત્રણ કરણ, ત્રણ યોગથી ત્રસકાયના આરભના ત્યાગી છે એ જીવો

અને કોઈ-કોઈ 'અમે અણુગાર છીએ' એ પ્રમાણે અભિમાનપૂર્વક કહેતા થકા તથા 'અમેજ ત્રસકાયના રક્ષક અને મહાપ્રવધારી છીએ' એ પ્રમાણે પ્રછાપ-બઠવાઈ કરનારા કેટલાક દ્રવ્યલિંગી છે તેને અણુગારથી જુદા સમજો

અણુગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળા એ દ્રવ્યલિંગી અણુગારના ગુણોમાં જરાપણ પ્રવૃત્ત નથી અને ગૃહસ્થના કોઈ પણ કામને તેઓએ ત્યાગ કર્યો નથી. તે વાત આજળ બતાવે છે—'યદિમમ્' इत्यादि

द्रव्य અને માવના ભેદથી શસ્ત્ર બે પ્રકારનાં છે દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે સ્વકાય,

દ્વિવિધમ્, તત્ર-શ્વકાય-સ્વકાય-પરકાયો-મયકાયમેદાત્ ત્રિવિધમ્ । તત્રસ્વકાય-  
શ્વેત્રસકાયસ્ય ત્રસકાય, યથા-મૃગાદીના વ્યાધકુક્કુરાદય, મનુષ્યાદીના મનુષ્યાદય ।  
પરકાયશસ્ત્રમ્-પાપાણજલાગ્નિગુહલક્ષ્મીતોમરહુરિકાદય । ઉમયકાયશસ્ત્રમ્-લગુહલક્ષ્મી-  
દિધારિણો મનુષ્યાદય । માવશસ્ત્રં તુ ત્રસકાયં પ્રતિ મનોવાકકાયાના દુષ્પ્રણિધાનમ્ ।  
ત્રસકાયસમારમ્મેણ, ત્રસ=ત્રસનશીલ કાય=શરીર યસ્ય સ ત્રસકાયસ્તસ્ય  
સમારમ્મ=પીઠાકર સાવધવ્યાપારસ્તેન, ઇમ=ત્રસકાયં વિહિંસન્તિ ।

ત્રસકાયહિંસાયાં પ્રવૃત્તા સ્વલુ પહજીવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ  
વિહિંસન્તીત્યાહ-‘ત્રસકાયશસ્ત્રમ્’ इत्यादि । ત્રસકાયશસ્ત્ર=ત્રસજીવોપમર્દકં શસ્ત્ર  
પૂર્વોક્તપ્રકારં, સમારમ્મમાણા=ત્રસકાય પ્રતિ પ્રયુઠ્ઠજ્ઞાના અન્યાન્=ત્રસકાયભિન્નાન્

મેદ હૈ=સ્વકાય, પરકાય, ઔર ઉમયકાય । ત્રસકાય કા ત્રસકાય સ્વકાયશસ્ત્ર હૈ,  
જેસે મૃગ આદિ કે લિપ વ્યાધ, યુષ્ઠા આદિ, મનુષ્ય કે લિપ મનુષ્ય આદિ । પરકાયશસ્ત્ર જેસે  
પથ્થર, જલ, અગ્નિ, લકડી, તલવાર, તોમર, શેરી આદિ । ઉમયકાયશસ્ત્ર જેસે લાઠી, તલવાર  
આદિ કારણ કરન ઘાલા મનુષ્ય આદિ । ત્રસકાય કે પ્રતિ મન, વચન, ઔર કાયકા અપ્રશસ્ત  
વ્યાપાર હોના માવગજ હૈ । इन नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकાય का समारम करके लोग  
त्रसकાય को पीडा पहुँचाते है ।

ત્રસકાય કા હિંસા મેં પ્રવૃત્તિ કરન વાલે છહ પ્રકાર ક જીવનિકાયરૂપ સમ્પૂર્ણ  
લોક કી હિંસા કરતે હૈ, યહ બાત કહતે હૈ-ત્રસકાય મેં, ત્રસકાય કી હિંસા કરન વાલે  
શસ્ત્રો કા જો પ્રયોગ કરતે હૈ વે ત્રસકાય કે અતિરિક અનેક પ્રકાર કે પૃથ્વીકાય આદિ

પરકાય અને ઉભયકાય, ત્રસકાયનું ત્રસકાય તે સ્વકાયશસ્ત્ર છે, જેમ મૃગ આદિને  
માટે વાણ-કુતરા આદિ, મનુષ્યને માટે મનુષ્ય આદિ પરકાયશસ્ત્ર, જેમકે પથ્થર,  
જલ, અગ્નિ, લાકડી, તલવાર, ભાણું, છરી આદિ ઉભયકાયશસ્ત્ર, જેમકે-લાકડી,  
તલવાર આદિ ધારણ કરવાવાળા મનુષ્ય આદિ ત્રસકાયના પ્રતિ મન, વચન અને  
કાયના અપ્રશસ્ત વ્યાપાર થવો તે માવશસ્ત્ર છે તે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી ત્રસકાયનો  
સમારમ કરીને લોક ત્રસકાયને પીડા પહોંચાડે છે

ત્રસકાયની હિંસામાં પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા છ પ્રકારના જીવનિકાયરૂપ સમ્પૂર્ણ  
લોકની હિંસા કરે છે એ વાત કહે છે-ત્રસકાયમાં, ત્રસકાયની હિંસા કરવાવાળા-શસ્ત્રોનો  
જો પ્રયોગ કરે છે, તે ત્રસકાયથી બુદ્ધા અનેક પ્રકારના પૃથ્વીકાય આદિ પાત્ર સ્થાવર



અનેકયરૂપાન્ પૃથિવીકાયાદીન્ પદ્મસ્થાવરાન્, માણાન્=માણિન્, ત્રિહિસન્તિ ।

इह बहुविधा द्रव्यलिङ्गिनो विद्यन्ते । तत्र शक्यादय कन्दमूलपत्र पुष्पफलादि भोक्तु तदाभितत्रसजीवसमारम्भेण पृथिव्यादिस्थायरसमारम्भेण च त्रसजीवान्, पृथिव्यादीन् स्थावरान् च क्षन्ति घातयन्ति हिंसतोऽनुमोदयन्ति च । दण्डिनोऽपि—

“ वयं पञ्चमहाव्रतधारिणो जिनाह्वाराधका अनगराः स्मः ” इत्यादि प्रवदमानाः साध्वाभासाः सावधमुपदिशन्ति शास्त्रप्रतिषिद्धमपि पद्मजीवनिकाय समारम्भ कारयन्ति । प्रतिमामन्दिरादिनिर्माणार्थं गर्तकरणे, पापाणादीनां स्तम्भश करणे, તેપામૂર્ધ્વતો નિપત્તને ચ મનુષ્યાદીન્ તથા—બહુતરદૃક્ષાછેદને

પાંચ સ્થાવર પ્રાણિયો કી મી હિંસા કરતે હૈ ।

સંસાર મેં બહુત પ્રકાર કે પ્રવ્યક્તિમી હૈ । उन में से शाक्य आदि कन्द, मूल, पत्र, पुष्प, फल आदि भोगने के लिए उन पर रहे हुए त्रसजीवा का समारंभ करके त्रस और स्थावर जीवों की घात करते हैं, कराते हैं और घात करने वाले की अनुमोदना करते हैं । दण्डी मी—

‘ હમ પચમહાવ્રતધારી, જિનાશા કે આરાધક અનગાર હૈ ’ પેસા કહને વાલે છોટે સાધુ સાવધ કા ઉપદેશ દેતે હૈં જોર શાસ્ત્ર મેં નિષિદ્ધ પદ્મજીવનિકાયા કા સમારંભ કરાતે હૈં । પ્રતિમા, મંદિર, આદિ કા નિર્માણ કરમે કે લિયે—સર્વે સ્વેદને મેં, પત્થરો કે ઢુકડે કરને મેં, અર્ધે ઉપર સે પટકને મેં મનુષ્ય આદિ કા ઘાત કરાતા હૈં । બહુત—સે વૃક્ષો કો છેવને મેં શ્લાઘિત અળદજોં કે પંચેન્દ્રિય વસ્તુઓં કા ઘાત કરાતે હૈં ।

પ્રાણીઓની પણ હિંસા કરે છે

સંસારમાં બધા પ્રકારના દ્રવ્યલિંગી છે જોમાથી શાક્ય આદિ કન્દ, મૂળ, પત્ર, પુષ્પ, ફલ આદિ ભોજવવા માટે—ઉપયોગ કરવા માટે, તેના પર રહેલા ત્રસ જીવોનો સમારંભ કરીને અને પૃથ્વી આદિ સ્થાવર જીવોનો સમારંભ કરીને ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનો ઘાત કરે છે કરાવે છે, અને ઘાત કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે । ઈ પછી “ અમે પચમહાવ્રતધારી, જિનાશાના આરાધક અજગાર છીએ ” એ પ્રમાણે કહેવાવાળા જુઠા સાધુ સાવધનો ઉપદેશ આપે છે અને શાસ્ત્રમાં નિષિદ્ધ પદ્મજીવનિકાયાનો સમારંભ કરાવે છે

પ્રતિમા, મંદિર વગેરેનું નિર્માણ કરવા માટે ખાડા ખોદવા, પત્થરોના ઢુકડા કરાવવા, તેને ઉપરથી પછાડવામાં મનુષ્ય આદિનો ઘાત કરાવે છે બધાંજ વૃક્ષોને કાપવાથી વૃક્ષોના

તદાશ્રિતાન્ અપદ્મજન્મકાદીન્, પચ્ચેન્દ્રિયાન્ પિપીલિકાપતન્નાદિયદુવિધવિકલેન્દ્રિયાંશ્ચ, પ્રતિમાપૂજનાર્થે પુષ્પવાટિકાકરણે પુષ્પપત્રફલાદિશ્રોતનેઽપિ ચ પરજીવનિકાયાન્ ઘાતયતિ ॥ સૂ. ૪ ॥

અથ સુધર્મા સ્વામી જન્મૂસ્વામિન કથયતિ—‘તત્થ સ્વલુ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

તત્થ સ્વલુ મગવયા પરિણા પવેશ્યા, ઇમસ્સ ચેવ જીધિયસ્સ પરિવલ્લણ—માણણ—પૂયણાણ જાહમરણમોયણાણ દુઃસ્વપદિધાયહેડુ સે સયમેવ તસકાયસત્થ સમારમમ્, અણ્ણેહિં વા તસકાયસત્થ સમારમાવેહ, અણ્ણે વા તસકાયમત્થ સમારમમાણે સમણુજાણમ્, ત સે અહિયાણ, ત સે અબોહીણ ॥ સૂ. ૫ ॥

કીડી પતંગ આદિ વહુત પ્રકાર કે વિકલેન્દ્રિય જીવોં કા ઘાત કરાતે હૈં । પ્રતિમાપૂજન કે લિપ્ ફૂલકા વગીચા બનાને મેં, ફલ, પત્તા ઝોર ફલ આતિ તોડને મેં સી પદ્કાય કે જીવોં કી ઘાત કરાતે હૈં ॥ સૂ. ૪ ॥

અથ સુધર્મા સ્વામી જન્મૂ સ્વામી સે કહતે હૈં—‘તત્થ સ્વલુ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—ત્રસકાય કે આરંભ કે વિષય મેં મગવાનું ઉપદેશ દિયા હૈ । હસી જીવન કે વન્દન, માનન, ઝોર પૂજન કે લિપ, તથા જન્મ—મરણ સે છૂટને કે લિપ ઝોર દુઃસ્વ કા વિનાશ કરને કે લિપ, યહ સ્વયં ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા સમારમ કરતા હૈ, દુસરોં દ્વારા ત્રસકાય કા સમારમ કરતા હૈ ઝોર ત્રસકાય કા સમારમ કરને વાલે અન્ય જોગોં કા અનુમોદન કરતા હૈ । યહ ઉસકે અહિત કે લિપ હૈ, ઉસકી અબોધિ કે લિપ હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

આશ્ચર્યે રહેલા અઠલ્લ જીવોના પચ્ચેન્દ્રિય બચ્ચાઓનો ઘાત કરાવે છે કીડી પતંગ આદિ ધણુજ પ્રકારના વિકલેન્દ્રિય જીવોનો ઘાત કરાવે છે પ્રતિમાપૂજન માટે ફૂલોના બગીચા બનાવવામાં ફૂલ, પત્તા (પાટલા) અને ફળ આદિ તોડવામાં પશુ પદ્કાયના જીવોનો ઘાત કરે છે ॥ ૪ ॥

હવે સુધર્મા સ્વામી જન્મૂ સ્વામીને કહે છે—‘તત્થ સ્વલુ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ત્રસકાયના આરંભના વિષયમાં મગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે આ જીવનના વહન, માન, અને પૂજનને માટે તથા જન્મ—મરણથી છૂટવા માટે અને દુઃખનો નાશ કરવા માટે તે પોતે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારભ કરે છે, બીજા પાસે ત્રસકાયનો આરભ કરાવે છે અને ત્રસકાયનો સમારભ કરવાવાળા અન્ય જોડાને અનુમોદન આપે છે, તે જોમના અહિત માટે છે, જોમની અબોધિ માટે છે ॥ સૂ. ૫ ॥

અનેકયરૂપાન્ પૃથિવીકાયાદીન્ પદ્મસ્થાવરાન્, પ્રાણાન્=પ્રાણિન્, વિહિસન્તિ ।

૧૬ વહુવિધા દ્રવ્યલિપ્તિનો ધિવન્તે । તત્ર શ્રાવ્યાદય વન્દમૂલપત્ર  
પુષ્પફલાદિ મોક્તુ તદાશ્રિતપ્રસજીવસમારમ્ભેણ પૃથિવ્યાદિસ્થાવરસમારમ્ભેણ ચ  
પ્રસજીવાન્, પૃથિવ્યાદીન્ સ્થાવરાશ્ચ ધ્વન્તિ ઘાતયન્તિ હિસતોઽનુમોદયન્તિ ચ ।  
વણ્ઠનોઽપિ—

“ વય પશ્ચમહાવ્રતધારિણો જિનાજ્ઞારાધકા અનગારા સ્મ ” ઇત્યાદિ  
પ્રવદમાના સાધ્વામાસા સાવધમુપદિશન્તિ શાસ્ત્રપ્રતિપિદ્મપિ પદ્મજીવનિકાય  
સમારમ્ભ કારયન્તિ । પ્રતિમામન્દિરાદિનિર્માણાર્ય ગર્તકરણે, પાપાણાદીનાં  
સ્વપ્નશ્ચ કરણે, તેપામૂર્ધ્વતો નિપતત્ને ચ મનુષ્યાદીન્ તથા—વહુતરત્વસંલ્લેદને

પાંચ સ્થાવર પ્રાણિયો કી મીં હિસા કરતે હૈં ।

સંસાર મેં વહુત પ્રકાર કે દ્રવ્યલિપ્તી હૈં । તન મેં સે શાક્ય આદિ કન્દ, મૂળ,  
પત્ર, પુષ્પ, ફલ આદિ ભોગને કે હિપ્તે તન પર રહે હુપ્તે પ્રસજીવાં કા સમારમ્ભ કરકે વ્રસ ઔર  
સ્થાવર જીવોં કી ઘાત કરતે હૈં, કરાતે હૈં ઔર ઘાત કરને વાલે કી અનુમોદના કરતે  
હૈં । વણ્ઠી મી—

‘ હમ પંચમહાવ્રતધારી, જિનાજ્ઞા કે આરાધક અનગાર હૈં ’ યેસા  
કહને વાલે છૂટે સાધુ સાવધ કા ઉપદેશ દેતે હૈં ઔર શાસ્ત્ર મેં નિષિદ્ધ પદ્મજીવનિકાય કા  
સમારમ્ભ કરાતે હૈં । પ્રતિમા, મન્દિર, આદિ કા નિર્માણ કરને કે હિપ્તે—સ્વપ્ને સ્વોદને મેં,  
પત્રોં કે ટુકડે કરને મેં, તન્હેં ઉપર સે પટકરને મેં મનુષ્ય આદિ કા ઘાત કરતા હૈં ।  
વહુત—સે વૃક્ષોં કો છેવને મેં વૃક્ષાશ્રિત અણ્ઠજાં કે પંચેન્દ્રિય વસ્તુઓં કા ઘાત કરાતે હૈં ।

પ્રાણીઓની પણ હિસા કરે છે

સંસારમાં ઘણાં પ્રકારનાં દ્રવ્યલિપ્તી છે એમાંથી શાક્ય આદિ કન્દ, મૂળ, પત્ર,  
પુષ્પ, ફલ આદિ ભોગવા માટે—ઉપયોગ કરવા માટે, તેના પર રહેલા વ્રસ છોડેનાં  
સમારમ્ભ કરીને અને પૃથ્વી આદિ સ્થાવર છોડેનાં સમારમ્ભ કરીને વ્રસ અને  
સ્થાવર છોડેનાં ઘાત કરે છે કરાવે છે, અને ઘાત કરવાવાળાને અનુમોદન આપે  
છે કહી પણ ” અમે પંચમહાવ્રતધારી, જિનાજ્ઞાના આરાધક અણુગાર છીએ ” એ  
પ્રમાણે કહેવાવાળા જુઠા સાધુ સાવધનો ઉપદેશ આપે છે અને શાસ્ત્રમાં નિષિદ્ધ  
પદ્મજીવનિકાયના સમારમ્ભ કરાવે છે

પ્રતિમા, મન્દિર વગેરેનું નિર્માણ કરવા માટે ખાદ્ય ખોદવા, પર્યટના ટુકડા કરાવવા,  
તેને ઉપરથી પછાડવામાં મનુષ્ય આદિના ઘાત કરાવે છે ઘણાં જ વૃક્ષોને કાપવાથી વૃક્ષોના

તદાશ્રિતાન્ અપહજન્નાધવાદીન્, પચ્ચેન્દ્રિયાન્ પિપીલિકાપતઙ્ગાદિવહુવિષયિકછેન્દ્રિયાંશ્ચ, પ્રતિમાપૂજનાર્થં પુષ્પઘાટિકાકરણે પુષ્પપત્રફલાદિશ્રોટનેઽપિ ચ પશ્ચીવનિ કાયાન્ ઘાતયન્તિ ॥ સૂ. ૪ ॥

અથ સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂસ્વામિન કથયતિ—‘તત્થ સ્વલુ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

તત્થ સ્વલુ મગવયા પરિણા પવેરયા, હમસ્સ વેવ જીવિયસ્સ પરિવદણ—માણણ—પૂયણાણ જાહમરણમોયણાણ દુઃસ્વપટ્ટિધાયહેઠ સે સયમેવ તસકાયસત્થ સમારંમહ, અણેહિં વા તસકાયસત્થં સમાગ્માવેહ, અણે વા તસકાયસત્થ સમારમમાણે સમણુજાણહ, ત સે અદિયાણ, ત સે અવોહીણ ॥ સૂ. ૫ ॥

કીંકરી પતંગ આદિ વહુત પ્રકાર કે વિકલોન્દ્રિય જીવોં કા ઘાત કરાતે હૈં । પ્રતિમાપૂજન કે લિપ્ત ફૂલોંકા ઘગીચા ઘનાને મેં, પત્તા ઓર ફલ આદિ તોડને મેં મી પટ્કાય કે જીવોં કી ઘાત કરાતે હૈં ॥ સૂ. ૪ ॥

અથ સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામી સે કહતે હૈં—‘તત્થ સ્વલુ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—ત્રસકાય કે આરંભ કે વિષય મેં મગવાને ઉપદેશ દિયા હૈ । ઈસી જીવન કે વન્દન, માનન, ઓર પૂજન કે લિપ્ત, તથા જન્મ—મરણ સે છૂટને કે લિપ્ત ઓર દુઃસ્વ કા વિનાશ કરને કે લિપ્ત વહ સ્વર્ગ ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા સમારમ કરતા હૈ, દુસરોં દ્વારા ત્રસકાય કા સમારમ કરતા હૈ ઓર ત્રસકાય કા સમારમ કરને વાલે અન્ય જોગોં કા અનુમોદન કરતા હૈ । વહ ઉસકે અહિત કે લિપ્ત હૈ, ઉસકી અબોધિ કે લિપ્ત હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

આશ્રયે રહેલા અઠલ જીવોના પચ્ચેન્દ્રિય અભ્યાસોનો ઘાત કરાવે છે કીંકરી પતંગ આદિ ઘણાજ પ્રકારના વિકલોન્દ્રિય જીવોનો ઘાત કરાવે છે પ્રતિમાપૂજન માટે ફૂલોના ખગીયા બનાવવામાં ફૂલ, પત્તાં (પાંદડા) અને ફળ આદિ તોડવામાં પણ પટ્કાયના જીવોનો ઘાત કરે છે ॥ ૪ ॥

હવે સુધર્મા સ્વામી જમ્બૂ સ્વામીને કહે છે—‘તત્થ સ્વલુ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—ત્રસકાયના આરંભના વિષયમાં મગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે આ જીવનના વન્દન, માન, અને પૂજનને માટે તથા જન્મ—મરણથી છૂટવા માટે અને દુઃખનો નાશ કરવા માટે તે પોતે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારમ કરે છે, બીજા પાસે ત્રસકાયનો આરમ્ભ કરાવે છે અને ત્રસકાયનો સમારમ કરવાવાળા અન્ય જોડાને અનુમોદન આપે છે, તે જોમના અહિત માટે છે, જોમની અબોધિ માટે છે ॥ સૂ. ૫ ॥

छाया—

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दनमानन-  
पूजनाय जातिमरणमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतु, स स्वयमेव प्रसकायशस्त्र समारम्भते,  
अन्यैर्वा प्रसकायशस्त्र समारम्भयति, अन्यान् वा प्रसकायशस्त्र समारम्भमाणान्  
समनुजानाति, तत्तस्याहिताय, तत्तस्याबोधये ॥ सू० ५ ॥

टीका—

तत्र=प्रसकायसमारम्भे भगवता=श्रीमहावीरेण परिज्ञा=ज्ञ-प्रत्याख्यानभेदाद्  
द्विविधा, खलु निश्चयेन प्रवेदितः=प्रतिषोधिता । कर्मरज परिहरणार्थं जीवेन परिज्ञाऽ  
वश्य शरणीकरणीयेति भगवता प्रतिषोधितमिति भावः ।

उपमोगद्वारम्—

लोक कस्मै प्रयोजनाय प्रसकायमुपमर्दयतीत्याह—‘अस्य चैव  
जीवितस्य’ इत्यादि । अस्यैव=अचिरस्थायिनः, जीवितस्य=जीवनस्य सुखार्थम्-  
मांसचर्मार्थम्, तथा-परिवन्दन-मानन-पूजनाय, परिवन्दनं=प्रशंसा, तदर्थम्, यथा-  
व्याघ्रादिमृगायादी, माननं=मनसत्कारस्तदर्थम्, यथा-राज्ञः सकाशात् पदकादि

टीकार्थ—प्रसकाय के समारम्भ के संबंध में श्री महावीरने ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान-  
परिज्ञा का उपदेश दिया है । अर्थात् भगवान्ने कहा है कि-कर्मरज को हटाने के लिए जीव  
को परिज्ञा अवश्य स्वीकार करनी चाहिए ।

उपमोगद्वार—

छेना किस प्रयोजन से प्रसकाय की हिंसा करते हैं ? सो कहते हैं—इसी  
वस्थायी जीवन के सुख के लिए, मांस और चमड़ी के लिए, तथा प्रशंसा के लिए, जैसे  
व्याघ्र आदि का शिकार करने में, मानन के लिए, जैसे राजा से पदवी पाने के उद्देश्य से

टीकार्थ—प्रसकायना समारम्भना संबंधमां श्री महावीरे ज्ञपरिज्ञा अने  
प्रत्याख्यानपरिज्ञानो उपदेश आयेछे अर्थात् भगवाने कहुं छे के-कर्म रजने हर  
हरवा भाटे छेवे परिज्ञा अवश्य स्वीकारवी लेईछे.

उपमोग द्वार—

लोक शुं प्रयोजनधी प्रसकायनी हिंसा करे छे ? ते कहे छे—आ अस्थिर जीवनना  
मुअ भाटे, मांस अने आभरीना भाटे, तथा प्रशंसा भाटे. जेअ के-वाय आदिने  
शिकार हरवाभां. मान भाटे, जेम के-राज पासधी पदवी भेजववाना उद्देश्यधी लवता

લબ્ધું સજીવસદૃશવ્યાધ્રાદિમૃતકલેવરનિર્માણાદૌ, તથા-પૂજન=વધ્વરત્નાદિલામસ્ત-  
ર્ધમ્, યથા-દેવીપૂજાર્થં વલ્લિદાનાદૌ,

તથા-જાતિમરણમોચનાર્થમ્ = જન્મમરણવન્ધપરિહારાર્થં=યથા મોક્ષકા-  
મનયા યાગાદૌ, યથા-ઘાતાદિવ્યાધિપ્રતીકારાય તૈલાદૌ, સઃ-જીવનસુખાદ્યર્થી  
સ્વયમેવ ત્રસકાયશસ્ત્ર સમારમ્મતે=વ્યાપારયતિ, અન્યૈર્વાં ત્રસકાયશસ્ત્ર સમારમ્મયતિ=  
પ્રયોજયતિ, અન્યાન્ વા ત્રસકાયશસ્ત્ર સમારમ્મમાણાન્ સમનુજાનાતિ=અનુમોદયતિ,  
તદ્=ત્રસકાયસમારમ્મણમ્, તસ્ય=ત્રસકાય સમારમ્મ કુર્વત, કારયિતુ,  
અનુમોદયિતુશ્ચ, અદિતાય મવતિ । તથા તત્-તસ્ય અબોધયે=સમ્યક્ત્વાલામાય  
મવતિ ।

જીવિત વ્યાગ્ર આદિ કે સમાન વ્યાગ્ર આદિ કા ફલેવર વનાને મેં, ઓર પૂજક કે લિપે જૈસે  
વધ્વ રત્ન આદિ કા પ્રાપ્તિ કે લિપે, તથા-દેવીકી પૂજા કરને કે લિપે પ્રયોજન સે વલ્લિદાન  
આદિ કરને મેં હિસા કરતે હૈં ।

તથા-જન્મ-મરણ-વન્ધ આદિ સે છુટકારા પાને કે લિપે, જૈસે-મોક્ષ કી કામના સે  
યજ્ઞ આદિ કરને મેં, ઘાત આદિ કે રોગો કા પ્રતીકાર કરને કે લિપે તૈલ આદિ તૈયાર  
કરને મેં, જીવન કે સુખ કા અર્થી સ્વયં હી ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા સમારમ્મ કરતા  
હૈ, દુસરો સે ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા સમારમ્મ કરાતા હૈ ઓર ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા સમારમ્મ કરને  
ઘાલો કા અનુમોદન કરતા હૈ । યહ ત્રસકાય કા આરંમ્મ તસ આરમ્મકર્તા કે લિપે અદિતકર  
ઓર અબોધિજનક હોતા હૈ ।

વાધના સમાન વાધ આદિનું ઠલેવર બનાવવામાં અને પૂજન માટે જેમકે-વસ્ત્ર, રત્ન  
આદિ પ્રાપ્તિ માટે તથા દેવીની પૂજા કરવાના પ્રયોજનથી બલિદાન આદિ કરવામાં  
હિસા કરે છે

તથા-જન્મ, મરણ, બંધ આદિથી છુટવા માટે જેમકે-મોક્ષની કામનાથી યજ્ઞ  
આદિ કરવામાં, વાત આદિ રોગનો પ્રતિકાર કરવા માટે (રોગની હવા કરવા માટે)  
જીવનના સુખના અર્થી સ્વયં-પોતેજ ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારમ્મ કરે છે બીજા  
પાસે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારમ્મ કરાવે છે અને ત્રસકાયના શસ્ત્રનો સમારમ્મ  
કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે તે ત્રસકાયનો આરમ્મ અને આરમ્મ કરનારને માટે  
અદિતકર્તા અને અબોધિ ઉત્પન્ન કરનાર છે

से तं सयुक्तमाणे आयाणीय समुदाय सोन्वा भगवओ अनगाराणं वा  
अविण्हइमेगेसिं णाय भवइ, एस खल्ल गंये, एस खल्ल मोहे, एस खल्ल

मूलार्थ—भगवान् जबकि जनगणों के समीप सुनकर वह प्रसन्न का शरीर प्रसन्न हो जानता हुआ समय प्रारण करके इस प्रकार जानता है—वह प्रसन्न का धारण

**મુદ્ધાર્થ**—શ્રીગણેશાય નમઃ શ્રીગણેશાય નમઃ શ્રીગણેશાય નમઃ શ્રીગણેશાય નમઃ શ્રીગણેશાય નમઃ  
ત્રસકાયને બહુતા થકા સયમ ધારણ કરીને આ પ્રમાણે બોલે છે—આ ત્રસકાયનો આરભ

મારે, એસ સ્વલ્પ જાણ, રૂચત્ય ગહિણ લોણ, જમિણ વિરૂપરૂપેદિં સત્યેદિં  
તસકાયસમારંમેણ, તસકાયસત્ય સમારમમાણે અણ્ણે અણેગરૂપે પાણે  
વિદિંસદ્ ॥ સૂ૦ ૬ ॥

છાયા—

સ તત્ સબુધ્યમાન આદાનીય સમુત્થાય શ્રુત્વા મગવતોઽનગારાણાં વા  
અન્તિકે, રૂદૈકેપાં જ્ઞાત મવતિ-એપ સ્વલ્પ ગ્રન્થ. એપ સ્વલ્પ મોહ, એપ સ્વલ્પ  
માર, એપ સ્વલ્પ નરક । રૂચત્ય ગૃહો લોકઃ, યદિમ વિરૂપરૂપૈ શૈલે  
ત્રસકાયસમારમ્મેણ ત્રસકાયશસ્ત્ર સમારમમાણોઽન્યાન્ અનેકરૂપાન્ પ્રાણાન્  
વિદિનસ્તિ ॥ સૂ૦ ૬ ॥

ટીકા—

ય સ્વલ્પ મગવતઃ તીર્થસ્થ, અનગારાણા=તદીયશ્રમણનિર્ગ્રન્થાનાં વા અન્તિકે  
શ્રુત્વા, આદાનીયમ્=ઉપાદેયં સર્વસાધયોગવિરતિરૂપ ચારિત્ર, સમુત્થાય=અત્તીકૃત્ય,  
વિરહતિ, સ તત્=ત્રસકાયસમારમ્મણં સબુધ્યમાન =અહિતાત્તોધિજનકત્વેન વિદ્વાતા  
સન્ એવ વિમાવયતિ—

અર્થ છે, યહ મોહ છે, યહ માર છે, યહ નરક છે । સ્વલ્પ લોગ નાના પ્રકાર કે શસ્ત્રો દ્વારા  
ત્રસકાયકા આરંભ કરકે, ત્રસકાયકા આરંભ કરતે હુણ અનેક પ્રકારકે અય પ્રાણિયોકા  
(મી) વિરાધાતા કરતે હૈ ॥ સૂ૦ ૬ ॥

ટીકાર્થ—જો પુરુષ મગવાન્ તીર્થકર કે મુક્તિ સે અથવા અનેક અનુપાયો નિર્મલ્ય  
શ્રમણો કે મુક્તિ સે જ્ઞાત કર સર્વ સાધન કે ત્યાગરૂપ ચારિત્ર કો અંગીકાર કરકે વિચરતા છે,  
વહ ત્રસકાય કે સમારંભ કો અહિતકર ઔર અતોધિજનક સમક્ષતા છે । વહ રૂચત્ય પ્રકાર  
સોચતા છે—

અર્થ છે, આ મોહ છે, આ માર છે, આ નરક છે, સ્વલ્પ લોક નાના પ્રકારનાં  
શસ્ત્રોદ્વારા ત્રસકાયનો આરંભ કરીને, ત્રસકાયનો આરંભ કરતા થકા અનેક પ્રકારના  
અન્ય પ્રાણીઓનો પણ જ્ઞાત કરે છે ॥ સૂ૦ ૬ ॥

ટીકાર્થ—જો પુરુષ મગવાન્ તીર્થકરના અભિપ્રાય અથવા તેમના અનુયાયી  
નિર્ગ્રન્થ શ્રમણોના અભિપ્રાય સાંભળીને સર્વ સાધન ત્યાગરૂપ ચારિત્રને અંગીકાર કરીને  
વિચરે છે તે ત્રસકાયના સમારંભને અહિતકર અને અતોધિજનક-અતોધિ ઉત્પન્ન  
કરનાર સમજે છે તે આ પ્રમાણે વિચાર કરે છે—



હહ=મનુષ્યલોકે, એકેષાં=શ્રમણનિર્ગ્રયોપદેશસજાતસમ્યગ્વબોધવૈરાગ્યાણા  
માત્માર્થિનામેવ જ્ઞાત મવતિ । કિં જ્ઞાત મવતી ?-ત્યાકાજ્ઞાયામાહ—‘ એસ સત્ત  
ગ્રન્યઃ ’ ઇત્યાદિ ।

અપ=ત્રસકાયસમારમ્ભઃ, સ્વલુ=નિશ્ચયેન, ગ્રન્યઃ=કર્મબંધઃ, કારણે  
કાર્યોપચારાત્, એવમગ્રેડપિ ગ્રોધ્યમ્ । તથા અપ=ત્રસકાયસમારમ્ભ મોહ=  
વિપર્યાસ-અજ્ઞાનમ્ । તથા-અપ એવ માર=મરણ નિગોદાદિમરણરૂપ । તથા-અપ  
એવ નરકઃ=નારકજીવાનાં દશવિધયાતનાસ્થાનમ્ ।

ઇત્યર્થમ્=એતદર્થઃ=ગ્રન્ય-મોહ-મરણ-નરકરૂપ ધોરદુઃસ્વફલ પ્રાપ્યાપિ  
પુનઃ પુનરેતદર્થમેવ લોકઃ=અજ્ઞાનવસત્તર્તી જીવઃ, ગૃહ્ણ=લિપ્સુરસ્તિ । યદ્વા-યદ્વા=  
મોગામિલાપી, લોકઃ=સંસારી જીવ, ઇત્યર્થમ્=એતદર્થમેવ=ગ્રન્યમોહમરણનરકાર્થ  
મેવ પ્રવર્તતે ।

હસ મનુષ્ય લોક મેં શ્રવણ નિર્મથો કે ઉપદેશ સે સમ્યગ્ જ્ઞાન ઓર વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત  
કર છેને વાલે હી યહ જ્ઞાન છેતે હૈં કિં-ત્રસકાય કા સમારમ નિશ્ચય હી કર્મબંધ હૈ । યહૈ  
કારણ મેં કાર્યકા ઉપચાર કરકે કર્મબંધ કે કારણ કો કર્મબંધ કહા હૈ । આગે મી હસી પ્રકાર  
સમજના ચાહિય । યહ ત્રસકાય કા સમારમ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન હૈ । વહ માર અર્થાત્  
નિગોદ આદિ મેં મૃત્યુ કા કારણ હૈ । યહ સમારમ નરક હૈ અર્થાત્ વસ પ્રકાર કી નારકીય  
યાતના કા સ્થાન હૈ ।

પ્રમથ, મોહ, મરણ ઓર નરકરૂપ ધોર દુઃસ્વમય ફલ પ્રાપ્ત કરકે મી અજ્ઞાની છોગ  
વાર-વાર હસી કે રજ્જુક હોતે હૈં । અથવા મોમો કી અભિલાષા કરને વાલે સસારી છોગ હસ  
પ્રમથ, મોહ, માર ઓર નરક કે લિપ્ હી પ્રવૃત્તિ કરતે હૈં ।

આ મનુષ્ય લોકમાં નિર્ગ્ર-ધાના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરી-  
લેવાવાળાને એમ બાંધી શકે છે કે-ત્રસકાયનો સમારભ નિશ્ચયજ્ઞ અથ-કર્મબંધ છે  
અહિં કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરીને કર્મબંધના કારણને કમ બંધ કહી છે આજળ  
પણ આ પ્રમાણે સમબંધુ બોધ છે

આ ત્રસકાયનો સમારભ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન છે આ માર અર્થાત્ નિગોદ આદિમાં  
મૃત્યુનું કારણ છે આ સમારભ નરક છે અર્થાત્ હસ પ્રકારની નારકીય યાતનાનું સ્થાન છે

અથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ધોર દુઃખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની  
લોક વારવાર તેની ઇચ્છાવાળા થાય છે અથવા જોગોની અભિલાષા કરવાવાળા  
સસારી લોક આ અથ, મોહ, માર અને નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

આચારચિન્તામણિ-ટીકા અધ્ય૦ ૧૩૬ સૂ ૬ ત્રસર્હિસાયા ગ્રન્થાર્થત્વમ્ ૬૬૯

‘લોક પુન પુનર્ગ્રન્થાર્થમેષ પ્રવર્તતે’ इति यदुक्त, तत् कथं ज्ञायते ? इति जिज्ञासायामाह—‘यदिमम्.’ इत्यादि ।

यद्=यस्माद्, विरूपरूपं =नानाविधै. शस्त्रैः=पूर्वोक्तप्रकारै त्रसकायसमारम्भेण= त्रसकायोपमर्जनरूपसावध्यापारेण, इम=त्रसकाय विहितस्ति । तथा त्रसकाय-  
शस्त्र समारम्भमाण =व्यापारयन् अन्यान् पृथ्वीकायादीन् स्थावरान्, प्राणान्=  
प्राणिन, विहितस्ति=उपमर्दयति ॥ सू० ६ ॥

यस्મૈ પ્રયોજનાય ત્રસકાયો હન્યતે, તત્ પ્રયોજન યદ્યપિ-‘इमस्स चेव जीवियस्म’ इत्यादिनाऽभिहितम्, तथापि विशिष्य तत्तत्प्रयोजन पुम प्रदर्शयितुमाह-  
‘से वेमि’ इत्यादि ।

लोग बारम्बार प्रथ आदि के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं, यह बात कैसे माझम हुई ?  
इस का समाधान के लिए कहते हैं-‘यदिमम्’ इत्यादि ।

क्यों कि वे नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय का समारम्भ करके त्रसकाय की  
हिंसा करते हैं और त्रसकाय का समारम्भ करते हुए पृथ्वीकाय आदि अन्य स्थावर  
प्राणियों का भी विराधना करते हैं ॥ सू० ६ ॥

जिस प्रयोजन से त्रसकाय की हिंसा की जाती है वह योजन ‘इस जीवन के सुख  
के लिए’ इत्यादि कर्म द्वारा बतलाया जा चुका है, फिर भी विशेष रूप से उस हिंसाका  
प्रयोजन बतलाने के लिए श्री मुधमा स्वामी कहते हैं-‘से वेमि’ इत्यादि ।

હોઠ વારવાર અથ આદિના માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે એ વાત કેવી રીતે માઝમ  
પડી ? એનું સમાધાન કરવા માટે કહે છે -‘યદિમમ્’ ઇત્યાદિ

કેમ કે નાના પ્રકારના શસ્ત્રોદ્વારા ત્રસકાયનો સમારંભ કરીને ત્રસકાયની હિંસા  
કરે છે, અને ત્રસકાયનો સમારંભ કરતા થકા પૃથ્વીકાય આદિ અન્ય સ્થાવર પ્રાણી  
ઓનો પણ ધાત કરે છે ॥ સૂ૦ ૬ ॥

જે પ્રયોજનથી ત્રસકાયની હિંસા કરવામા આવે છે તે પ્રયોજન “આ જીવનના  
સુખ માટે” ઇત્યાદિ વિવેચનદ્વારા બતાવ્યું છે (બતાવી ચૂક્યા છીએ.) ફરી પણ  
વિશેષરૂપથી એ હિંસાનું પ્રયોજન બતાવવા માટે શ્રી મુધમા સ્વામી કહે છે:-  
‘સે વેમિ’ ઇત્યાદિ.

इह=मनुष्यलोके, एकेपां=भ्रमणनिर्ग्रन्थोपदेशज्ञातसम्यग्बोधवैराग्याणा  
मात्मार्थिनामेव ज्ञातं भवति । किं ज्ञातं भवती ?-स्याकाङ्क्षायामाह—' एस स्तु  
ग्रन्थः ' इत्यादि ।

एष=त्रसकायसमारम्भः, खलु=निश्चयेन, ग्रन्थः=कर्मबन्धः, कारणे  
कार्योपचारात्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । तथा एषः=त्रसकायसमारम्भः मोहः=  
विपर्यासः-अज्ञानम् । तथा-एष एव मारः=मरणं निगोदादिमरणरूप । तथा-एष  
एव नरकः=नारकजीवानां दशविधयातनास्थानम् ।

इत्ययम्=एतदर्थः=ग्रन्थ-मोह-मरण-नरकरूपं घोरदुःखफलं प्राप्यापि  
पुनः पुनरेतदर्थमेव लोकः=अज्ञानवशवर्ती जीवः, गृद्ध =लिप्सुरस्ति । यद्वा-गृद्धः=  
मोगामिलापी, लोकः=ससारी जीव, इत्ययम्=एतदर्थमेव=ग्रन्थमोहमरणनरकार्य  
मेव प्रवर्तते ।

इस मनुष्य लोक में भ्रमण निर्म-भों के उपदेश से सम्यग् ज्ञान और वैराग्य प्राप्त  
कर लेने वाले ही यह ज्ञान लेते हैं कि-त्रसकाय का समारंभ निश्चय ही कर्मबन्ध है । यहाँ  
कारण में कार्यका उपचार करके कर्मबन्ध के कारण को कर्मबन्ध कहा है । आगे भी इसी प्रकार  
समझना चाहिए । यह त्रसकाय का समारंभ मोह अर्थात् अज्ञान है । वह मार अर्थात्  
निगोद आदि में मृत्यु का कारण है । यह समारंभ नरक है अर्थात् दस प्रकार की नारकीय  
यातना का स्थान है ।

ग्रन्थ, मोह, मरण और नरकरूप घोर दुःखप्रय फल प्राप्त करके भी अज्ञानी लोग  
बार-बार इसी के इच्छुक होते हैं । जबवा लोगों की अभिलाषा करने वाले ससारी लोग इस  
ग्रन्थ, मोह, मार और नरक के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं ।

આ મનુષ્ય લોકમાં નિર્ગ્રન્થોના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરી-  
લેવાવાળાજ એમ બાંધી શકે છે કે-ત્રસકાયનો સમારંભ નિશ્ચયજ્ઞ અથ-કર્મબન્ધ છે  
અહિં કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરીને કર્મબન્ધના કારણને કર્મબન્ધ કહ્યો છે આગળ  
પણ આ પ્રમાણે સમજવું જોઈએ

આ ત્રસકાયનો સમારંભ મોહ અર્થાત્ અજ્ઞાન છે આ માર અર્થાત્ નિગોદ આદિમાં  
મૃત્યુનું કારણ છે આ સમારંભ નરક છે અર્થાત્ દસ પ્રકારની નારકીય યાતનાનું સ્થાન છે

અથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુઃખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પણ અજ્ઞાની  
લોક વારવાર તેની ઇચ્છાવાળા થાય છે અથવા ભોગોની અભિલાષા કરવાવાળા  
સસારી લોક આ ગ્રન્થ, મોહ, માર અને નરક માટેજ પ્રવૃત્તિ કરે છે

## ટીકા—

યદર્થં પ્રમજીવા હન્યન્તે, તથ્ પ્રવીમિ-અપ્યેકે=કેચિન્ચ, અત્રાપિ-  
 સ્વદ્ વક્ષ્યમાણાપેક્ષયા સમુદયાર્થં, અર્ચાયે-અન્યતે=પૂજ્યતે-ઇત્યર્ચા=શરીર,  
 તદર્થે ધનન્તિ=દિસતિ, યથા મૂલક્ષણ પુરુષ વ્યાપાદ્ય તન્છરીરેણ વિદ્યામન્ત્ર,  
 સાધયન્તિ, યદ્વા-સ્વર્ણપુરુષનિર્માણાર્થં દ્વાવ્રજલક્ષણ પુરુષ પ્રતપ્તતેલે નિશ્ચિપ્ય  
 નિજ્જન્તિ । તથા અપ્યેકે=કેચન અજિનાય=ચર્માય મગવ્યાઘ્રદીન્ ધનન્તિ ।  
 તથા અપ્યેકે=કેચન માંસાય છાગાદીન્ ધનન્તિ । અપ્યેકે=કેચન શોણિતાય=  
 ત્રિશૂલેસ્વકરણાદૌ શોણિત ગ્રહીતુ ધનન્તિ । ઇવ હૃદયાય=હૃદય ગૃહીત્વા  
 સાધકા મથ્નન્તિ, તદર્થં ધનન્તિ । પિત્તાય મયૂરાદીન્, ઘસાર્ય વ્યાઘ્રાદીન્,  
 પિચ્છાય મયૂરાદીન્, પુચ્છાય રોક્ષાદીન્, વાલાય ચમર્યાદીન્, વૃક્ષાય મૃગાદીન્,

ટીકાર્થ—હે જમ્બૂ જિસ પ્રયોજનસે ત્રસકાય કી દિસા હોતી હૈ, વહ કહતા હૈ ।  
 કોઈ-કોઈ અર્ચા અર્થાત્ શરીર કે લિપ વિગધાના કરતે હૈ, જૈસે કિસી પુરુષ કો બાંછે  
 લક્ષણ વાલા સમક્ષર ઉપે માર ઢાલતે હૈ, જૌર ઉસકે શરીર સે વિદ્યા તથા મત્ર કા  
 સાધન કરતે હૈ । અથવા સ્વર્ણપુરુષ કે નિર્માણ કે લિપ ચત્તીસ લક્ષણ વાલે પુરુષ કો  
 તપે હુપ તૈલ મેં ઢાલકર મારતે હૈ । કોઈ ચર્મ કે લિપ મૃગ જૌર વાઘ આદિ કા ઘાત  
 કરતે હૈ । કોઈ માંસ કે લિપ ચકરા આદિ કો મારતે હૈ । કોઈ ત્રિશૂલ કા ચિન્ન બનાવે  
 આદિ કે લિપ તથા રક્ત પીને કે ઉદેશ્ય સે ઘાત કરતે હૈ । ઈસી પ્રકાર હૃદય કે લિપ ઘાત  
 કરતે હૈ—ઘાતક છોગ હૃદય લેકર મથતે હૈ । ઈસી તરહ પિત્તકે લિપ મયૂરો કો ચર્મક  
 લિપ વાઘ આદિ કો, પલ્લો કો લિપ મયૂરો કો, પૂછકે લિપ રોક્ષ આદિ કો, વાલ કો

ટીકાર્થ—જે પ્રયોજનથી ત્રસલવોની દિસા થાય છે, તે કહું છું કોઈ-કોઈ  
 અર્થો અર્થાત્ શરીરના માટે ઘાત કરે છે જેમકે-કોઈ પુરુષને સારા લક્ષણવાળો સમજાવે  
 તેમ મારી નાખે છે, અને તેના શરીરથી વિદ્યા તથા મત્રની સાધના કરે છે અથવા-  
 સ્વર્ણ પુરુષના નિર્માણ માટે જત્રીસ લક્ષણવાળા પુરુષને તપાવેલા તેલમાં નાખીને  
 મારે છે કોઈ ચામડા માટે મૃગ અને વાઘ વગેરેના ઘાત કરે છે કોઈ માંસ માટે  
 બકરા વગેરેને મારે છે કોઈ ત્રિશૂલનું ચિન્ન બનાવવા વગેરે માટે લોહી પ્રાપ્ત કરવાના  
 ઉદેશ્યથી ઘાત કરે છે એ પ્રમાણે કોઈ હૃદય માટે ઘાત કરે છે—ઘાતકી લોહ હૃદય લઈને  
 મથે છે એ પ્રમાણે પિત્ત માટે મોરને, ચરખી માટે વાઘ આદિને વાળ માટે  
 ચમરી-ગાય આદિને, શીંગ માટે મૃગ આદિને મારે છે વિષાણુ-ચન્દ્ર જે કે હાથી

## मूलम्—

से येमि-अप्येगे अच्चाए हणति, अप्येगे अजिघाए वहति, अप्येगे मंसाए वहति, अप्येगे सोणियाए वहति, एय हिययाए, पिताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दत्ताए, दादाए, णहाए, ण्हाखणीए, अदीय, अट्टिमिजाए, अट्टाए, अणट्टाए, अप्येगे 'हिसिंसु मे' ति वा वहति, अप्येगे 'हिसति मे' ति वा वहति, अप्येगे 'हिसिस्सति मे' ति वा वहति ॥ सू० ७ ॥

## छाया—

तद् द्रवीमि-अप्येके अर्चायै धनन्ति, अप्येके अजिनाय धनन्ति, अप्येके मांसाय धनन्ति, अप्येके शोणिताय धनन्ति एवं हृदयाय, पिताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय वालाय, शङ्खाय, विपाणाय, दन्ताय, दण्डायै, नखाय, स्नायवे, अस्थने, अस्थिमज्जायै, अर्थाय, अनर्थाय, अप्येके 'अवधीपुरस्मा'-निति वा धनन्ति, अप्येके 'हिसन्त्यस्मा' निति वा धनन्ति, अप्येके 'हनिष्यन्त्यस्मा'-निति वा धनन्ति ॥ सू० ७ ॥

मूलार्थ—मैं वह (प्रयोजन) कहता हूँ—कोई अर्चा शरीर के लिए व्रतकाय का विराधना करते हैं, कोई चर्म-चमड़े के लिए घात करते हैं, कोई मांस के लिए घात करते हैं, कोई रक्त के लिए घात करते हैं, कोई हृदय के लिए, पित के लिए, चर्बी के लिए पंख के लिए, पूँछ के लिए, बाल के लिए, सींग के लिए, विपाण (सुन्नर का दांत) के लिए, दांत (हाथीदांत) के लिए, दाढ़ों के लिए, नख के लिए, स्नायु के लिए, हड्डी के लिए, मज्जा के लिए, अर्थ के लिए, अनर्थ के लिए—(निरर्थक) कोई 'हमें मारा जा' इस भावना से, कोई 'हमें मारता है' इस भावना से, और कोई 'हमें मारेगा' इस भावना से व्रतकाय का घात करते हैं ॥ सू० ७ ॥

मूलार्थ—हूँ बहुत छु—कोई जन्म (शरीर) भाटे व्रतकायने घात करे छे कोई आभरी भाटे घात करे छे कोई मांस भाटे घात करे छे कोई रक्त-खोली भाटे घात करे छे कोई हृदय भाटे, पित भाटे, वरणी भाटे, पापे भाटे, पूछा भाटे, वाण भाटे, शींगडा भाटे, विपाण (सुन्नरना दात) भाटे, हाथी दांत भाटे, दाढ़ भाटे, नख भाटे, स्नायु भाटे, दाढ़का भाटे, मज्जा भाटे, अर्थ भाटे अनर्थ—(निरर्थक) कोई 'जन्मने भायो हता' जे भावनाशी, कोई 'जन्मने भाये छे' जे भावनाशी, जने कोई 'जन्मने भाये' जे भावनाशी व्रतकायने घात करे छे ॥ सू० ७ ॥

## ટીકા—

યદર્થ પ્રમજીવા દન્યન્તે, તથ્ પ્રવીમિ-અપ્યેકે=કેચિચ્ચ, અત્રાપિ-  
શબ્દ ધન્યમાણાપેક્ષયા સમુદ્ધયાર્થ, અર્ચાયે-અર્ચયતે=પૂજયતે-इत्यर्चा=શરીર,  
તદર્થ ધનન્તિ=દિસતિ, યથા સુલક્ષણ પુરુષ વ્યાપાદ્ય તચ્છરીરેણ વિદ્યામન્ત્ર,  
સાધયન્તિ, યદ્વા-સ્વર્ણપુરુષનિર્માણાર્થ દ્વાશ્રિશ્ચલક્ષણ પુરુષ પ્રતપત્તેલે નિશ્ચિપ્ય  
નિપ્પન્નન્તિ । તથા અપ્યેકે=કેચન અજિનાય=ચર્માય મૃગવ્યાઘ્રાદીન્ ધનન્તિ ।  
તથા અપ્યેકે=કેચન માંસાય છાગાદીન્ ધનન્તિ । અપ્યેકે=કેચન શોણિતાય=  
ત્રિશૂલેલેખકરણાદૌ શોણિત ગ્રહીતુ ધનન્તિ । એવ હૃદયાય=હૃદય ગૃહીત્વા  
સાધકા મધ્નન્તિ, તદર્થ ધનન્તિ । પિત્તાય મયૂરાદીન્, વસાય વ્યાઘ્રાદીન્,  
પિચ્છાય મયૂરાદીન્, પુચ્છાય રોક્ષાદીન્, વાલાય ચમર્યાદીન્, ઘૃક્ષાય મૃગાદીન્,

ટીકાર્થ—હે જમ્મુ જિસ પ્રયોજન સે ત્રસકાય કી દિસા હોતી હૈ, વહ કહતા હૂં ।  
કોઈ-ફોહ અર્ચા અર્થાત્ શરીર કે લિપે ઘિરાવાના કરતે હૂં, જૈસે કિસી પુરુષ કો અછે  
લક્ષણ વાલા સમજકર ઉસે માર ઢાલતે હૂં, ઔર ઉસકે શરીર સે વિદ્યા તથા મત્ર કા  
સાધન કરતે હૂં । અથવા સ્વર્ણપુરુષ કે નિર્માણ કે લિપે ચર્મીસ લક્ષણ વાલે પુરુષ કો  
તપે હુપ તેલ મેં ઢાલકર મારતે હૂં । કોઈ ચર્મ કે લિપે મૃગ ઔર વાઘ આદિ કા ઘાત  
કરતે હૂં । કોઈ માંસ કે લિપે વકરા આદિ કો મારતે હૂં । કોઈ ત્રિશૂલ કા ચિન્ન બનાવે  
આદિ કે લિપે તથા રક્ત પીને કે ઉદેશ્ય સે ઘાત કરતે હૂં । ઈસી પ્રકાર હૃદય કે લિપે ઘાત  
કરતે હૂં—ઘાતક છોગ હૃદય લેકર મથતે હૂં । ઈસી તરહ પિત્તકે લિપે મયૂરો કો ચર્મકિ  
લિપે વાઘ આદિ કો, પક્ષો કે લિપે મયૂરો કો, પૃષ્ઠકે લિપે રોક્ષ આદિ કો, વાલ કો

ટીકાર્થ—જે પ્રયોજનથી ત્રસલવોની દિસા થાય છે, તે કહું છું કોઈ-કોઈ  
અર્થા અર્થાત્ શરીરના માટે ઘાત કરે છે જેમકે-કોઈ પુરુષને સારા લક્ષણવાળો સમજાવે  
તેમ મારી નાખે છે, અને તેના શરીરથી વિદ્યા તથા મત્રની સાધના કરે છે અથવા-  
સ્વર્ણ પુરુષના નિર્માણ માટે જત્રીસ લક્ષણવાળા પુરુષને તપાવેલા તેલમાં નાખીને  
મારે છે કોઈ ચામડા માટે મૃગ અને વાઘ વગેરેના ઘાત કરે છે કોઈ માંસ માટે  
બકરા વગેરેને મારે છે કોઈ ત્રિશૂલનું ચિહ્ન બનાવવા વગેરે માટે ઢોહી પ્રાપ્ત કરવાના  
ઉદ્દેશથી ઘાત કરે છે જો પ્રમાણે કોઈ હૃદય માટે ઘાત કરે છે—ઘાતકી ઢોહ હૃદય લઈને  
મથે છે જો પ્રમાણે પિત્ત માટે મારે, ચરબી માટે વાઘ આદિને વાળ માટે  
અમરી-ગાય આદિને, શીંગ માટે મૃગ આદિને મારે છે વિષાણુ-શબ્દ જો કે હાથી

विषाणाय, विषाणशब्दो गजदन्ते रुदस्तथापीह सुकरदन्तो ब्राह्म, तदर्थं सुकरम्, दन्ताय हस्यादीन, दृष्टार्थं वराहादीन्, नखाय व्याघ्रादीन्, स्नायवे गवादीन्, अस्थे शूरादीन्, अस्थिमज्जायै-अस्थिमज्जा=अस्थिगतस्म, तदर्थं, महीपाणीन्, घ्नन्ति । इत्यम्-अर्थाय=प्रयोजनवशात् केचिद् घ्नन्ति । तथा- अनर्थाय= विनाऽपि प्रयोजन केचिद् घ्नन्ति । अप्येके=केचिच्च, “इमे व्याघ्रसर्प सुशरादय इध्रवो वा अरमान अपीडयन्, अरमदीयान् वाऽवधिषुः” इति द्वेषवासनया घ्नन्ति । अप्येके=केचिच्च, “इमे व्याघ्रादयः सुश्रवो वा वर्तमानकालेऽस्मान्, अरमदीयान् वा हिंसन्ति” इति मत्वा घ्नन्ति ।

छिपू चमरी गाय आदि को, सींग के लिए भृग आदि को मारते हैं । विषाण शब्द यद्यपि हाथीदात के अर्थ में रूढ है तथापि यहाँ ‘सुकर का दांत’ अर्थ लेना चाहिए । सुकर के दांत के लिए सुकर का घात किया जाता है । दांत के लिए हाथी आदि को, बाघों के लिए शूकर बगैरह को, नख के लिए बाघ आदि को, स्नायु के लिए गाय आदि को, हड्डी के लिए शस्त्र आदि को, अस्थिमज्जा अर्थात् हड्डियों में रहने वाले एक प्रकार के रस के लिए भैंसा बगैरह का घात करते हैं । इस प्रकार कोई-कोई प्रयोजन के लिए प्रमत्तियों की हिंसा करते हैं और कोई-कोई विना प्रयोजन ही हिंसा करते हैं । कोई-कोई ‘इस बाघ, सर्प और शूकरने तथा शत्रुओंने हमें पीड़ा पहुँचाई है, अथवा हमारे आत्मीयजन का वध किया है’ इस प्रकार की द्वेष-वासना से इनका घात करते हैं । कोई लोग यह सोचकर कि-‘ये व्याघ्र आदि अथवा शत्रु वर्तमान कालमें हमें या हमारे लोगोंको मारते हैं’ उनका घात करते हैं । कोई लोग यह विचार करके कि-‘यह

दांतना अर्थभा ३६ छे तो पक्ष अहि ‘सुकरना दांत’ जेवो अर्थ होवो जेधजे सुकरना दांत भाटे सुकरनेो घात करवामां आवे छे दांत भाटे हाथी आदिनेो, बाघने भाटे शूकर-भूउ वगेरेनेो, नथ वगेरे भाटे बाघ आदिनेो, स्नायुने भाटे गाय आदिनेो, हाडकां वगेरे भाटे शत्रु आदिनेो, अस्थिमज्जा अर्थात्, हाडकांभा रखेनाश जेध प्रकार रस भाटे खेसा-पाडा वगेरेनेो घात करे छे, आ प्रमाखे डोछ-डोछ प्रयोजन भाटे तस एवोनी हिंसा करे छे अने डोछ-डोछ प्रयोजन विनाज हिंसा करे छे डोछ-डोछ ‘आ बाघ सर्प अने शूकर-भूउ तथा शत्रुओंजे अभने पीडा पहुँचायी छती अथवा हमारा आत्मीय जननेो (तेछे) वध कर्यो छतो.’ आ प्रकार द्वेष-वासनायी तेनेो घात करे छे डोछ भावस जेवो विचार करीने छे-‘आ बाघ आदि, अथवा शत्रु वर्तमान कालमा भने अथवा

અપ્યેકે=કેચિચ્ચ, ‘અસ્માન્ અસ્મદીયાન્ વા હ્યેન્યાઘ્રાદય શત્રવો વા હનિપ્યન્તિ’  
 હતિ હેતોસ્ત્રસકાયાન્ ઘનન્તિ ॥ સૂ. ૭ ॥

અર્થ ત્રસકાયસમારમ્મ વિદિત્વા મૃનિત્વલામાય તત્સમારમ્મ’ સર્વથા પરિહર્સન્યા,  
 હત્યાશયેનોદેશકાર્યમુપસહરન્નાહ—“અથ સત્ય” હત્યાદિ ।

મૂલમ્—

અથ સત્ય સમારમમાણસ્ત ઇચ્છેતે આરભા અપરિણ્યાયા ભવતિ । અથ  
 સત્ય અસમારમમાણસ્ત ઇચ્છેતે આરભા પરિણ્યાયા ભવતિ, ત પરિણ્યાય મેહાવી  
 યેવ સય તસકાયસત્ય સમારમેજ્જા, યેવડણ્ણેહિ તસકાયસત્ય સમારમાવેજ્જા,  
 યેવડણ્ણે તસકાયસત્ય સમારમંતે સમણ્ણાણેજ્જા । જસ્સેતે તસકાયસમા-

ન્યાઘ્ર આદિ અથવા યહ શત્રુ હમેં યા હમારો કો મારેગે’ ઉન્હેં માર ઢાલ્તે હેં । હસ પ્રકાર  
 હોગ ત્રસકાય કી હિંસા કરતે હેં ॥ સૂ. ૭ ॥

હસ પ્રકાર ત્રસકાય કે સમારમ કો જ્ઞાનકર સાધુતા પ્રાપ્ત કરને કે લિપ્ત ત્રસકાય કા  
 આરમ સર્વથા ત્યાગ દેના ચાહિપ્ત । હસ આશય સે હસ ઉદેશ કા ઉપસહાર કરતે હુપ  
 કહતે હેં—‘અથ સત્ય’. હત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—ત્રસકાય મેં શત્રુ કા સમારમ કરને વાલે કો યહ આરમ અપરિજ્ઞાત  
 હોતે હે । ત્રસકાય મેં શત્રુ કા સમારમ નહી કરને વાલે કો યહ આરમ પરિજ્ઞાત હોતે હેં ।  
 મેહાવી પુરુષ ઉન્હેં જ્ઞાનકર સ્વય ત્રસકાય મેં શત્રુ કા સમારમ ન કરે, દૂસરો સે ત્રસકાય  
 કે શત્રુ કા સમારમ ન કરાવે, ઓર ત્રસકાય મેં શત્રુ કા સમારમ કરને વાલે કા જ્ઞાનુ

અમારાને મારે છે’ તેથી તેનો ધાત કરે છે કોઈ હોઠ ‘આ વાલ આદિ અથવા  
 આ શત્રુ મને અથવા અમારાને મારશે.’ એવું વિચારીને તેને મારી નાંખે છે આ  
 પ્રમાણે હોઠ ત્રસકાયની હિંસા કરે છે ॥ સૂ. ૭ ॥

આ પ્રમાણે ત્રસકાયના સમારમને બાળીને સાધુતા પ્રાપ્ત કરવા માટે  
 ત્રસકાયનો આરમ સર્વથા ત્યાગી હોવો જોઈએ—ત્યજ્ય હોવો જોઈએ. એ આશયથી  
 આ ઉદેશકનો ઉપસહાર કરવા થકા કહે છે—‘અથ સત્ય’ હત્યાદિ.

મૂલાર્થ—ત્રસકાયને વિષે શત્રુનો સમારમ કરવાવાળાને આ આરમ અપરિજ્ઞાત  
 હોય છે ત્રસકાયને વિષે શત્રુનો સમારમ નહિ કરવાવાળાને આ આરમ પરિજ્ઞાત છે  
 (જાણવામાં છે) બુદ્ધિમાન પુરુષ તેને બાળીને પોતે ત્રસકાયમા શત્રુનો સમારમ કરે નહિ  
 બીજા પાસે ત્રસકાયના શત્રુનો સમારમ કરાવે નહિ અને ત્રસકાયમાં શત્રુનો સમારમ



રમા પરિણાયા મવતિ, સે હુ યુની પરિણાય કમ્મે—તિ વેમિ ॥ સુ. ૮ ॥

છઠો ઉદ્દેશો સમત્તો ॥ ૬ ॥

છાયા—અગ્ર સ્ત્ર સમારમમાણસ્યૈત્યેતે આરમ્મા અપરિજ્ઞાતા મવન્તિ । અગ્ર સ્ત્રસમારમમાણસ્યૈત્યેતે આરમ્મા પરિજ્ઞાતા મવન્તિ, ત પરિજ્ઞાય મેધાની નૈવ સ્વય પ્રસકાયશ્ચ સમારમેત, નૈવાન્યૈસ્ત્રસકાયશ્ચ સમારમ્મયેત્, પ્રસકાયશ્ચ સમારમમાણાન્ અપ્યાન્ ન સમનુજાનીયાત્ । યસ્યૈતે પ્રસકાયશ્ચસમારમ્માઃ પરિજ્ઞાતા મવન્તિ, સ સ્વચ્છ યુનિઃ પરિજ્ઞાતકર્મા, ઇતિ વ્રતીમિ ॥ સુ. ૮ ॥

॥ પટ્ટોદ્દેશઃ સમાપ્તઃ ॥ ૬ ॥

ટીકા—અગ્ર=અસ્મિન્ પ્રસકાયે, સ્ત્ર=પૂર્વોક્તપ્રકાર, સમારમમાણસ્ય=વ્યાપારયત્, ઇત્યેતે=પૂર્વોક્તાઃ પ્રિકરણબિયોગૈઃ આરમ્મા=વનસ્પતિકાયોપમર્દનરૂપાઃ સાવધવ્યાપારા, અપરિજ્ઞાતાઃ=કર્મબંધકારણત્વેનાનવગતા મવન્તિ ।

અગ્ર=અસ્મિન્નેવપ્રસકાયે, સ્ત્ર=માયુક્તપ્રકારમ્, અસમારમમાણસ્ય=અપ્રયુક્તગ્રાનરય, ઇત્યેતે=પૂર્વોક્તા, આરમ્મા=સાવધવ્યાપારા પરિજ્ઞાતા મવન્તિ=પરિજ્ઞાયા બંધકારણત્વેન વિજ્ઞાતા મવન્તિ, પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાયા પરિવર્તિતા મવન્તીત્યર્થઃ ।

મેલન ન કરે । જો પ્રસકાય કે સમાર મો જ્ઞાતા હૈ વહી યુનિ હૈ, પરિજ્ઞાતકર્મા હૈ ॥ સુ. ૮ ॥

ટીકાર્થ—પ્રસકાય કે વિષય મેં પૂર્વોક્ત શબ્દો કા વ્યાપાર કરને વાળે જો 'ત્રીન કરણ જૌર ત્રીન યોગ સે હોને વાળે સાવધ વ્યાપાર કર્મબંધ કે કારણ હૈ' પેસા જ્ઞાત નહીં હોતા ।

જૌર પ્રસકાય મેં પૂર્વોક્ત શબ્દો કા વ્યાપાર ન કરને વાલ્લ પૂર્વોક્ત સાવધ વ્યાપારી જો પરિજ્ઞા સે કર્મબંધ કા કારણ સમજતા હૈ જૌર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ઊનકા ત્યાગ કર દેતા હૈ ।

કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ, જે પ્રસકાયના સમાર બને બાહે છે તેજ યુનિ છે પરિજ્ઞાતકર્મા છે ॥ સુ. ૮ ॥

ટીકાર્થ—પ્રસકાયના વિષયમાં પૂર્વોક્ત ( આગળ કહેલાં ) શબ્દોના વ્યાપાર કરવાવાળા 'ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી થવાવાળો સાવધ વ્યાપાર કરનાર બનુ ઠારણ છે' એ પ્રમાણે બાધતા નથી અને પ્રસકાયમાં પૂર્વોક્ત ( આગળ કહેલાં ) શબ્દોના વ્યાપાર નહિ કરવાવાળા પૂર્વોક્ત ( આગળ કહેલાં ) સાવધ વ્યાપારીને સપરિજ્ઞાથી કર્મબંધનુ ઠારણ સમજે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેના ત્યાગ કરી દે છે

જપરિજ્ઞાપૂર્વિકા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા યથા મન્વતિ ત પ્રકારં દર્શયતિ-‘તત્ પરિજ્ઞાયે’-ત્યાદિ । સદ્=ત્રસકાયારમ્ભણમ્, પરિજ્ઞાય=કર્મવન્ધસ્ય કારણ મવતી-ત્યવબુધ્ય, મેઘાવી=હયોપાદેયવિવેકનિપુણ, નૈવ સ્વયં ત્રસકાયશસ્ત્રં સમારમેત=વ્યાપારયેત્, અન્યૈર્વા નૈવ ત્રસકાયશસ્ત્ર સમારમ્ભયેત્, ત્રસકાયશસ્ત્ર સમારમામાણાન્ અન્યાન્ વા ન સમનુજાનીયાત્=નાનુમોદયેત્ ।

યસ્યૈતે ત્રસકાયસમારમ્ભા=ત્રસકાયોપમર્દકસાવધવ્યાપારા, પરિજ્ઞાતા=જપરિજ્ઞાયા વન્ધકારણત્વેન વિદિતા., પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાયા ચ પરિહૃતા મવન્તિ, સ એવ પરિજ્ઞાતકર્મા=ત્રિકરણત્રિયોગૈ પરિવર્જિતસકલસાવધવ્યાપાર, મુનિમવતિ । ‘ઈતિ બ્રવીમિ’ ઇતિ । અસ્ય વ્યાખ્યાન પૂર્વવત્ ॥ સુ. ૮ ॥

॥ ઇત્યાચારાઙ્ગસૂત્રસ્યાચારચિન્તામણિટીકાયાં પ્રથમાધ્યયને પઠ્ય ઉદ્દેશક સપૂર્ણઃ ॥

જપરિજ્ઞાપૂર્વક હોને વાલી પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા કા સ્વરૂપ શાસ્ત્રકાર દિલ્લજતે હૈં ત્રસકાય કે આર મ કો કર્મવધ કા કારણ જાનકર બુદ્ધિમાન્ અર્થાત્ હેય-ઉપાદેય કા વિવેકી પુરુષ સ્વય ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા ઉપયોગ ન કરે, દૂસરો સે ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા ઉપયોગ ન કરાવે જોર ત્રસકાય કે શસ્ત્ર કા ઉપયોગ કરનેવાળે કા અનુમોદન ન કરે ।

જિસને ત્રસકાય કા ઘાત કરને વાળે સાવધ વ્યાપારો કો જપરિજ્ઞા સે યધ કા કારણ સમજ લિયા હૈ જોર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગ દિયા હૈ વહી તીન કરણ તીન યોગ સે સર્વ સાવધ વ્યાપારો કા જ્ઞાતા પુરુષ મુનિ હોતા હૈ । ‘તિ બેમિ’ પદકી વ્યાખ્યા પહેલે કે સમાન સમજની યાહિય ॥ સુ. ૮ ॥

શ્રી આચારાઙ્ગસૂત્રકે પ્રથમ અધ્યયન કા છઠા ઉદ્દેશ સમાપ્ત ૧-૬ ॥

જપરિજ્ઞાપૂર્વક યવાવાળી પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાનું સ્વરૂપ શાસ્ત્રકાર બતાવે છે-ત્રસકાયના આરમ્ભને કર્મવધનું કારણ જાણીને બુદ્ધિમાન અર્થાત્ હેય-ઉપાદેયનો વિવેકી પુરુષ પોતે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરે નહિ, બીજા પાસે ત્રસકાયના શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરાવે નહિ, અને ત્રસકાયના શસ્ત્રનો ઉપયોગ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ.

જેણે ત્રસકાયનો ઘાત કરવાવાળા સાવધ વ્યાપારીને જપરિજ્ઞાથી બધનું કારણ સમજ લીધું છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યજી લીધું છે તે ત્રણ કરણ, ત્રણ યોગથી સર્વસાવધવ્યાપારોના જ્ઞાતા-જાણકાર પુરુષ મુનિ હોય છે ‘તિ બેમિ’ પદની વ્યાખ્યા પહેલા પ્રમાણે સમજ લેવી જોઈએ. ॥સુ. ૮॥

॥ શ્રી આચારાઙ્ગસૂત્રના પ્રથમ અધ્યયનનો છઠો ઉદ્દેશ સમાપ્ત ॥૧।૬॥

। અય સપ્તમોદેશકઃ ।

વાયુકાયસ્ય ચાક્ષુષપ્રત્યક્ષવિષયસ્વામાવાત્ તસ્ય સચિત્તસ્યે સ્વતઃ શ્રદ્ધા નોત્પદ્યતે, કિન્તુ પૃથિવ્યાયેકેન્દ્રિયાણાં, દ્વીન્દ્રિયાદેહસકાયસ્ય ચ સ્વરૂપં વિદિતા જાતશ્રદ્ધો વાયુકાર્યં સુતરાં વિમાનાવીત્યાશયેન તદ્વિષયકથ્થરમઃ સપ્તમોઽયમુદેશકઃ પ્રારમ્ભ્યતે ।

યયા વાયુકાયોપમર્દનનિવૃત્ત્યા મુનિત્વ પ્રાપ્યતે, ત પ્રકારં પ્રદર્શયિતુમાદ—  
'પહ્વં એજસ્સ.' इत्यादि ।

મૂલમ્—

પહ્વં એજસ્સં દુગુલ્લાણં આયકદસો અહિય-તિ નચ્ચા । જે અજ્ઞાત

સાતથા ઉદેશ-

વાયુકાય કે બીજ ચક્ષુ કે ગોચર નહીં હોતે, એટલે વાયુની સચિત્તામાં સ્વતઃ શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન નહીં હોતી । કિન્તુ પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયોં કા, તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રણ બીજોં કા સ્વરૂપ સમજા લેને સે જિતે શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન હોઈ છે તે વાયુકાય કો સ્વયં હી જ્ઞાન લેતા છે । આજે આશય સે વાયુકાયસબધી તે અંતિમ સાતથા ઉદેશ આરંભ કરિયા જાતા છે ।

વાયુકાયની હિંસા ત્યાગને સે હી સાધુપન પ્રાપ્ત હોતા છે, તે વાત આજે પ્રદર્શિત કરતે છું—'પહ્વં એજસ્સ' इत्यादि ।

મૂળાચે—દુઃસંદર્શી પુરુષ (વાયુકાય કે આરંભ કો) અહિતકર જ્ઞાનકરકે વાયુકાય કે આરંભ કો ત્યાગને સે સમર્થ હોતા છે । જો અધ્યાત્મ કો જ્ઞાનતા છે તે

સાતથા ઉદેશ-

વાયુકાયનાં એવં નેત્રથી જોવામાં આવતા નથી, જો કારણથી વાયુની સચિત્તામાં સ્વતઃ શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થતી નથી. પરંતુ પૃથ્વીકાય આદિ એકેન્દ્રિયોના તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ ત્રણ એવંના સ્વરૂપને સમજા લેવાથી લેને શ્રદ્ધા ઉત્પન્ન થઈ શકે છે, તે વાયુકાયને યોગેજ્ઞાનથી જો છે જો આશયથી વાયુકાયસબધી આ અંતિમ-ઉદ્દેશ સાતથા ઉદ્દેશને આરંભ કરવામાં આવે છે

વાયુકાયની હિંસા ત્યાગવાથી સાધુતા પ્રાપ્ત થાય છે જો વાત આગળ જતાવે છે—'પહ્વં એજસ્સ' इत्यादि

મૂળાર્થ—દુઃસંદર્શી પુરુષ (વાયુકાયના આરંભને) અહિતકર બાળીને વાયુકાયના આરંભને ત્યજી દેવામાં સમર્થ હોય છે, જે અધ્યાત્મને જાણે છે તે બહારને જાણે છે,

જાણહ, સે વહિયા જાણહ, જે વહિયા જાણહ, સે અજ્ઞત્ય જાણહ । <sup>(અદમ્યુર)</sup> ~~સૂં~~ તુલ્યમન્નેસિં ।  
 હહ સતિગયા દ્રવિયા ણાવકંતિ જીવિત ॥ સૂ૦ ૧ ॥

છાયા—

પ્રશ્ન\* એજસ્ય જુગુપ્સાયામ્ આતક્કદર્શી અહિત-મિતિ જ્ઞાત્વા । યઃ અધ્યાત્મં  
 જાનાતિ, સ વહિર્જાનાતિ । યઃ વહિર્જાનાતિ સ અધ્યાત્મ જાનાતિ । એતત્ તુલ્ય-  
 મન્યેપામ્ । હહ શાન્તિગતા\* દ્રવિકાઃ નાવકાશ્સન્તિ જીવિતુમ્ ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ટીકા—

યઃ આતક્કઃ=ઠુઠ્ઠુજીવનં, દુઃસ્વં, તત્ત્વ શારીરમાનસમેદાદ્ દ્વિવિધમ્, તત્ત્વ  
 કષ્ટકશ્ચદિજનિત શારીરમ્, પ્રિયવિયોગાપ્રિયસયોગામિલિપિતાલામદારિદ્ર્યાદિ  
 કૃત માનસમ્ । એતદ્ દ્વિવિધદુઃસ્વરૂપમાતક્ક પશ્યતિ તત્ત્વછીલથેત્યાતક્કદર્શી, યદ્વા-  
 પશ્વનોવકાપસમારમ્મેગ વાયુકાયસમારમ્મેગ વા યદુસ્વ સ આતક્કઃ, ત

વાદ્ય કો જાનતા હૈ, જો વાદ્ય કો જાનતા હૈ વહ અધ્યાત્મ કો જાનતા હૈ । યહ (સુસ્વ-દુઃસ્વ)  
 દુસરો કા મી અપને સમાન હૈ । ઉપશમ કો પ્રાપ્ત ઔર રાગ-દ્વેષ સે રહિત સયમી પુરુષ, પર  
 કી હિંસા કરકે અપને જીવન કી ઇચ્છા નહીં કરતે ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ટીકાર્થ—કષ્ટમય જીવન યા દુઃસ્વ કો આતક કહતે હૈં । શારીરિક ઔર  
 માનસિક મેદ સે દુઃસ્વ દો પ્રકાર કા હૈ । કટક એવ શસ્ત્ર આદિ સે હોને વાલા દુઃસ્વ  
 શારીરિક કહલાતા હૈ । પ્રિયવિયોગ ઔર અપ્રિયસયોગ, હસ કી અપ્રાપ્તિ ઔર દરિદ્રતા  
 આદિ સે હોને વાલા દુઃસ્વ માનસિક કહલાતા હૈ, હન દોનો પ્રકાર કે દુઃસ્વરૂપ આતક કો  
 દેસ્કને વાલા આતકદર્શી કહલાતા હૈ । અથવા પશુજીવનિકાય યા વાયુકાય કે સમારમ્મ સે  
 હોને વાલા દુઃસ્વ આતક કહલાકા હૈ, ઔર સે દેસ્કને વાલા અતકદર્શી હૈ । વહ

એ બહારને બાહ્ય છે તે અધ્યાત્મને બાહ્ય છે આ (સુખ-દુઃખ) બીજાઓને પણ  
 આપણા સમાન છે

ઉપશમને પ્રાપ્ત અને રાગ-દ્વેષથી રહિત સયમી પુરુષ પરની-બીજાની હિંસા  
 કરીને પોતાના જીવનની ઇચ્છા કરતા નથી. ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ટીકાર્થ—કષ્ટમય જીવન અથવા દુઃખને આતક કહે છે શારીરિક અને  
 માનસિક બોધથી દુઃખ બે પ્રકારના છે કટક અર્થાત્ શસ્ત્ર આદિથી થવાવાળાં દુઃખ  
 શારીરિક કહેવાય છે પ્રિયવિયોગ અને અપ્રિયસયોગ, ઇષ્ટની અપ્રાપ્તિ અને દરિદ્રતા  
 આદિથી થનારાં દુઃખ તે માનસિક કહેવાય છે આ બંને પ્રકારનાં દુઃખરૂપ આતકને  
 બેવાવાળા આતકદર્શી કહેવાય છે અથવા પશુજીવનિકાય અથવા વાયુકાયના સમારમ્યથી

પશ્યતીત્યાતદ્દુર્શીં ભવતિ, સ હિતાહિતવિવેકકુશલતાદ્ અહિતમ્=અથુમકરં વાયુ  
કાયસમારમ્ભગમસ્તીતિ જ્ઞાત્વા, એજસ્ય=એજતીત્યેજ. કમ્પનશીલતાદ્ વાયુઃ,  
તસ્ય, જુગુપ્સાયાં=નિન્દાયાં, સેવનપરિવર્જને સમારમ્ભનિવૃત્તી, ઇતિ યાવત્,

મમ્=સમર્થો ભવતિ । જુગુપ્સા, સયમના, અકરણા, વર્જના, વ્યાવર્તના,  
નિવૃત્તિરિત્યેકાર્યા ।

અયમાશ્વયઃ—વાયુકાયસમારમ્ભકરણે શારીર માનસં ચ સર્વમેવ દુઃલં મયિ  
સમાપદ્યેત, તસ્માદિદમાતદ્ગમનકતાદહિતમિતિ વિજ્ઞાતા, તત્સેવનઘ્નણસમારમ્ભ  
પરિહરણે સમર્થો ભવતીતિ ।

ય અધ્યાત્મમ્=માત્મનીતિ અધ્યાત્મમ્ સ્વાત્મગત સુખ દુઃલં વૈત્યર્થ,

હિત—અહિત કે વિવેક મેં કુશલ હોને સે વાયુકાય સે આરમ્ભ કો અહિતકર સમન્નકર વાયુ  
કે આરમ્ભ કા ત્યાગ કરને મેં સમર્થ હોતા હૈ । મૂલ મેં આવે હુપ જુગુપ્સા (જુગુઘા) શબ્દ  
કે કઈ અર્થ હોતે હૈ । જૈસે—સંયમન, અકરણ (ન કરના), વર્જન (ત્યાગના), વ્યાવર્તન  
(હટના) જૈર નિવૃત્તિ (ત્યાગ) ।

આશય યહ હૈ—વાયુકાય કા આરમ્ભ કરને સે મુસે શારીરિક જૈર માનસિક સમી  
દુઃલ પ્રાપ્ત હૈંગે જત્ યહ આરમ્ભ અર્તકલ્પનક હોને કે કારણ અહિતકર હૈ । પેસા જાનને  
બાહ્ય ડસકે સેવનરૂપ આરમ્ભ કે ત્યાગ મેં સમર્થ હોતા હૈ ।

જો અધ્યાત્મ કો અર્થાત્ જપને આત્મા મેં સ્થિત સુખ—દુઃલ કો જાનતા હૈ

જનાદ્ દુઃખ આતક કહેવાય છે, અને જોને જોવાવાળા આતકદર્શી છે તે હિત-  
અહિતના વિવેકમા કુશળ જોવાના કારણથી વાયુકાયના આરભને અહિતકર સમજીને  
વાયુના આરભને ત્યાગ કરવામાં સમર્થ હોય છે મૂલમાં આવેલો ‘જુગુપ્સા-જુગુપ્સા’  
શબ્દના કટલાય અર્થ થાય છે જેમકે—સંયમન, અકરણ—(નહિ કરવું) વર્જન,  
(આમણી) વ્યાવર્તન, (હટવું) અને નિવૃત્તિ (ત્યાગ).

આશય જો છે કે—વાયુકાયનો આરભ કરવાથી મને શારીરિક અને માનસિક  
સર્વ દુઃખ પ્રાપ્ત થશે; જો માટે જો આરભ આતકલ્પનક જોવાના કારણે અહિતકર  
છે ’ જો પ્રમાણે જાણવાવાળા જોના સેવનરૂપ આરભના ત્યાગમાં સમર્થ હોય છે

જે અધ્યાત્મને અર્થાત્ પોતાના આત્મામાં સ્થિત સુખ—દુઃખને જાણે છે, તે જાણ

જાનાતિ સ વહિ=પરકીય સુખ દુઃખ વા જાનાતિ । મમાત્મનિ દુઃસ્વમસાતવેદનીય-  
કર્મોદયાત્ સમાપત્તિત, સુખમપિ સાતવેદનીયકર્મદિયાત્ સ્વાનુભવસિદ્ધમ્, एष  
સ્વાત્મગતસુખદુઃસ્વમત્યક્ષેણ પરકીયસુખદુઃસ્વાનુમાન કત્તુ શ્વનોતીત્યર્થ । ઉક્તમયં  
દલીકતું પુનસ્તમેવ પરાવર્તયન્નાહ—'ય' વહિર્જાનાતિ ' इत्यादि ।

ય', વહિ=પરાત્મગત સુખ દુઃખ વા જાનાતિ, સ અધ્યાત્મ=સ્વાત્મગત  
સુખ દુઃખ વા જાનાતિ । પરેપાં સ્વસ્ય ચ સુખદુઃસ્વયોરનુકૂલપ્રતિકૂલવેદનીયરૂપે  
સ્વરૂપે સામ્યાદિતિ માવ' ।

યદ્વા-પરવિરાધનાપરિહારેણ તત્પલભૂત સ્વાત્મનઃ સુખ, તથા  
પરપીઢનેન તત્પલભૂત સ્વાત્મનો દુઃખ ભવતિ, एष પરકીયમેવ સુખ દુઃખ વા

વહ વાદ્ય અર્થાત્ દૂસરે કે સુખ-દુઃખ કો જાનતા હૈ । મૈરે આત્મા મેં અસાતાવેદનીય કમ કે  
ઉદય સે દુઃખ આયા હૈ ઔર સાતાવેદનીય કમ કે ઉદય સે સુખ સ્વાનુભવ સિદ્ધ હૈ । इस  
પ્રકાર અપને આત્મા કા સુખ ઔર દુઃખ કો પ્રત્યક્ષ સે જાનતા હૈ, વહ દૂસરો કે સુખ-દુઃખ  
કા અનુમાન કર સકતા હૈ । इसी અભિપ્રાય કો પુષ્ટ કરને કે લિપ્ત યહી વાત પછટકર કહતે  
હૈ-જો બાહ્ય કો જાનતા હૈ વહ અધ્યાત્મ કો જાનતા હૈ ।

અર્થાત્-જો પરાયે સુખ-દુઃખ કો જાનતા હૈ વહ અપને આત્મા કે સુખ દુઃખ કો  
જાનતા હૈ । પરાયે ઔર અપને સુખ-દુઃખ કા અનુકૂલ વેદન ઔર પ્રતિકૂલ વેદન રૂપ  
સ્વરૂપ સમાન હૈ ।

અથવા-પરકો પીઢા પહુચાને કા ત્યાગ કરને સે સુત્તરૂપ ફલ પ્રાપ્ત  
હોતા હૈ ઔર પીઢા પહુચાને સે દુઃખ મિચ્છતા હૈ । इस પ્રકાર પરાયા સુખ ઔર દુઃખ

અર્થાત્ બીજના સુખ-દુઃખને બાણે છે માથા આત્માને વિષે અસાતાવેદનીય કર્મના  
ઉદયથી દુઃખ આવ્યું છે, અને સાતાવેદનીય કર્મના ઉદયથી સુખ સ્વાનુભવસિદ્ધ છે  
આ પ્રમાણે પોતાના આત્માના સુખ-દુઃખનું અનુમાન કરી શકે છે એ અભિપ્રાયને પુષ્ટ  
કરવા માટે એજ વાત પલટાવીને કહે છે -જો બાહ્યને બાણે છે તે અધ્યાત્મને બાણે છે

અર્થાત્-જો પરાયા સુખ-દુઃખને બાણે છે, તે પોતાના આત્માના સુખ-દુઃખને  
બાણે છે પરામા-બીજના અને પોતાના સુખ-દુઃખનું અનુકૂલ વેદન અને પ્રતિકૂલ  
વેદનરૂપ સ્વરૂપ સમાન છે

અથવા-બીજને પીઢા પહોંચાડવાના ત્યાગ કરવાથી સુખરૂપ ફલ પ્રાપ્ત થાય  
છે અને પીઢા પહોંચાડવાથી દુઃખ મળે છે

પર્યપ્તીત્યાવદ્ધરૂપીં મરતિ, સ દિવાહિતવિવેકકુશલતાદ્ અહિતમ્=અધુમકરં વાયુ  
કાયસમારમ્મગમસ્તીતિ જ્ઞાત્વા, એમસ્ય=એજતીત્યેવ, કમ્પનસીલતાદ્ વાયુ,  
તસ્ય, જુગુપ્સાર્યા=નિન્દાર્યા, સેવનપરિવર્જને સમારમ્મનિવૃત્તી, इति यावत् ,

મહ્યઃ=સમર્થો મરતિ । જુગુપ્સા, સયમના, અકરણા, વર્જના, વ્યાવર્તના,  
નિવૃત્તિરિત્યેકાર્યાઃ ।

અયમાશ્ચય.-વાયુકાયસમારમ્મકરણે શારીરં માનસં ચ સર્વમેવ દુઃસ્વ મયિ  
સમાપદ્યેત, તસ્માદિદમાત્મકમનકતાદહિતમિતિ વિજ્ઞાતા, તત્સેવનછણસમારમ્મ  
પરિહરણે સમર્થો ભવતીતિ ।

યઃ અધ્યાત્મમ્=આત્મનીતિ અધ્યાત્મમ્ સ્વાત્મગત સુસ્વ દુઃસ્વં વેત્યર્થઃ ,

હિત-અહિત કે વિવેક મેં કુશલ હોને છે વાયુકાય સે આરમ્મ કો અહિતકર સમસ્કર વાયુ  
કે આરમ્મ કા ત્યાગ કરને મેં સમર્થ હોતા હૈ । મૂલ મેં આયે હુપ જુગુપ્સા (વુગુજા) શબ્દ  
કે કહી અર્થ હોતે હૈ । સૈસે-સંયમન, અકરણ (ન કરના), વર્જન (ત્યાગના), વ્યાવર્તન  
(હટના) જૌર નિવૃત્તિ (ત્યાગ) ।

આશય યહ હૈ-વાયુકાય કા આરમ્મ કરને સે મુક્તે શારીરિક જૌર માનસિક સમી  
દુઃસ્વ પ્રાપ્ત હૌગે અતઃ યહ આરમ્મ અર્તકલનક હોને કે કારણ અહિતકર હૈ' । એસા જાનને  
બાજા ડસકે સેવનરૂપ આરમ્મ કે ત્યાગ મેં સમર્થ હોતા હૈ ।

જો અધ્યાત્મ કો અર્થાત્ જપને આત્મા મેં રિપત સુસ્વ-દુઃસ્વ કો જાનતા હૈ

જનાહ કુળ આત્મક કહેવાય છે, અને જોને જોવાનાના આવકશી છે તે કિત-  
અહિતના વિવેકમા કુશળ જોવાના કારણથી વાચુકાયના આરબને અહિતકર સમજીને  
વાચુના આરબને ત્યાગ કરવામાં સમર્થ હોય છે મૂલમા આવેલા 'જુગુપ્સા-જુગુપ્સા'  
શબ્દના કહેલાય અર્થ થાય છે જેમકે-સંયમન, અકરણ-(નહિ કરવું) વર્જન,  
(ભાગવ) વ્યાવર્તન, (કહવું) અને નિવૃત્તિ (ત્યાગ)

આશય જો છે કે-વાચુકાયનો આરબ કરવાથી મને શારીરિક અને માનસિક  
સર્વ કુળ પ્રાપ્ત થશે; જો માટે જો આરબ આવકલનક જોવાના કારણે અહિતકર  
છે, જો પ્રમાણે જાણવાના જોના સેવનરૂપ આરબના ત્યાગમાં સમર્થ હોય છે

જો અધ્યાત્મને અર્થાત્ પોતાના અપમામા રિપત સુખ-દુઃખને જાણે છે, તે બાજ

અન્યત્ર ચ—“ મર્તવ્યમિતિ યદુત્ત, પુરુષસ્યોપજાયતે ।

શ્વયસ્તેનાનુમાનેન, પરોઽપિ પરિરક્ષિતુમ્ ” ॥૧॥ ઇતિ ।

સ્વપર—સુખદુઃખયાસ્તુલ્યસ્વલેદિનો ન વાયુકાય વિરાધયન્તીત્યાહ—  
‘ઇદં શાન્તિગતા.’ ઇત્યાદિ । ઇદં=જિનમવચને, શાન્તિગતા=સ્વપરસુખદુઃખયો-  
સમત્યવિજ્ઞાનાદ્ ઔપશમિકમાવ પ્રાપ્તા સમ્યક્તિવન ઇત્યર્થ યદ્વા=શાન્તિ=સાવધન્યાપારપરિહાર, તામુપગતા દ્રવિકાઃ=રાગદ્વેષરહિતા, યદ્વા-દ્રવ=સયમ’ કર્પદ્રવ્યણકારિત્વાત્, સ વિદ્યતે યેષાં તે દ્રવિકા = કર્મનિવારણશીલા-સયમિનઃ લીચિતમ્=વ્યજનાદિના વાયુકાયસ્ય સમારમ્ભેણ પ્રાણાન્ પરિરક્ષિતુ નાવકાદ્દક્ષન્તિ=નેચ્છન્તિ ।

દૂસરી જગહ કહા છે—

‘તેરા મરના હી અછા છે, પેસા વાક્ય સુનને માત્ર સે પુરુષ કો બો દુઃખ હોતા છે, હસી મેં અદામ છગાકર દૂસરો કી રક્ષા કરની चाहिए ” । ૧ ।

જો પુરુષ સ્વ-પર સુખ-દુઃખ કો સમાન સમજાતે હૈં સે વાયુકાય કી વિરાધના નહીં કરતે, મહી માત્ર કહતે હૈં—

ત્રિનિશાસન મેં અપને જોર પરાયે સુખ-દુઃખ કો સમાન સમજાકર જો ઉપશમ માવકો પ્રાપ્ત હુય હૈં અર્થાત્ સમ્યગ્દષ્ટિ હૈં, અથવા પાપમય વ્યાપારોં કે ત્યાગી હૈં, તથા રાગ-દ્વેષ સે રહિત હૈં, અથવા કર્મોં કો નિવારણ કરનેવાળે સયમ સે વિમુષિત હૈં, સે પંલા આદિ સે વાયુકાય કા સમારમ્ભ કરકે અપને પ્રાણોં કી રક્ષા કરને કી ઇચ્છા નહીં કરને ।

બીજી જગ્યાએ પણ કહ્યું છે કે:-

“ તારે મરવું જ સાઠ છે ” એ પ્રમાણે સાંભળવાથી પુરુષને જે કુ ખ ધાય છે તે અનુમાનથી બીજાની રક્ષા કરવી બેઈએ ॥ ૧ ॥

જે પુરુષ સ્વ-પરના (પોતાનાં અને પારનાનાં) સુખ-દુઃખને સમાન સમજે છે, તે વાયુકાયની વિરાધના કરતા નથી તે વાત કહે છે—

ત્રિનિશાસનમાં પોતાનાં અને બીજાનાં સુખ-દુઃખને સમાન સમજીને જે ઉપશમ ભાવને પ્રાપ્ત થયા છે, અર્થાત્ સમ્યગ્દષ્ટિ છે, અથવા પાપમય વ્યાપારોના ત્યાગી છે તથા રાગ-દ્વેષથી રહિત છે, અથવા કર્મોનું નિવારણ કરવાવાળા સયમથી વિમુષિત છે તે પ આ આદિથી વાયુકાયનો સમારમ્ભ કરીને પોતાનાં પ્રાણોની રક્ષા કરવાની ઇચ્છા કરતા નથી.



સ્વાત્મનઃ સુખરૂપેણ દુઃખરૂપેણ યા પરિણમ્યતે । એવ તયોઃ કાર્યકારણમાય યો વિજ્ઞાનાતિ, સ એવ સ્વાત્મગતસુખદુઃખવિજ્ઞાતેતિ ભાવ ।

પરકીયસુખદુઃખવિજ્ઞાતા સ્વાત્મનઃ સુખ દુઃખં વા જાનાતીત્યુક્તાર્થે હેતુ મદર્શયનાહ— ‘એય તુલ્લમનેસિ’ इति । एतत्=सुख दुःख वा, तुल्य=सदृशमेव, अन्येषाम्=परेषां जीवानां स्वस्व चेत्यर्थः ।

“કટ્ટેણ કટ્ટણ્ણ ય, પાણ વિદ્ધસ્સ વેયણદ્ધમ્સ ।

સા હોહ અણિબ્બાણી, ણાયબ્બા સવ્વજીવાણ ॥

જહ મમ ણ પ્રિય દુક્ખ, જાણિય એમેવ જીવાણ ” ॥

છાયા— કાષ્ટેન કષ્ટકેન વા પાદે વિદ્ધસ્ય વેદનાર્ણસ્ય ।

યા મવતિ અનિર્વાણિ—જ્ઞાતિબ્યા સવજીવાનામ્ ॥

યથા મમ ન પ્રિય દુઃખ જ્ઞાત્વા એવમેવ સર્વજીવાનામ્ । ” इति ।

હી અપને સુસ્—દુઃસ્ કે રૂપ મેં પરિણત હો જાતા હૈ । હસ પ્રકાર જો ડનકે કાર્યકારણ માવ કો જ્ઞાનતા હૈ વહી અપને આત્મા કે સુસ્—દુઃસ્ કા જ્ઞાતા હોતા હૈ ।

દૂસરોં કે સુસ્—દુઃસ્ કા જ્ઞાતા હી અપને સુસ્—દુઃસ્ કો જ્ઞાનતા હૈ, હસ કબન મેં હેતુ વિસ્ત્રાતે હુપ કહતે હૈ—‘યહ સુસ્ ઓર દુઃસ્ દૂસરોંં કે ઓર અપને સમાન હી હૈ’ ।  
કહા મી હૈ—

લકઢી સે યા કટક સે પૈર મેં વિંચ જ્ઞાને કી વેદના સે પીઢિત પુરુષ કો જો અસંતોષ હોતા હૈ, વહી સમ બોલો કો હોતા હૈ ।

સૈસે મુઠે દુઃસ્ પ્રિય નહીં હૈ, ડસી પ્રકાર અય અન્ય પ્રાણિયોં કો મી દુઃસ્ પ્રિય નહીં હૈ ” ।

આ પ્રમાણે બીજાના સુખ અને દુઃખ જોવા પોતાના સુખ—દુઃખના સ્વપ્નાં પરિણત થઈ અય છે આ પ્રમાણે જે તેના કાર્ય—કારણ બાવને બાજે છે, તેજ પોતાના આત્માનાં સુખ—દુઃખના જ્ઞાતા હોય છે

બીજાનાં સુખ—દુઃખનાં જ્ઞાતા જ પોતાના સુખ—દુઃખને બાજે છે આ કબનમાં હેતુ બતાવતા થકા કહે છે કે—

“આ સુખ અને દુઃખ બીજાનાં અને આપણાં સમાન છે ” કહ્યું છે કે—

“લાઠીથી અથવા કાંટાથી પગમાં વિધાઈ જવાની વેદનાથી પીડિત પુરુષને જે અતવેદના થાય છે, તેવીજ સર્વ જીવોને (વેદના) થાય છે ”

“જેમ મને દુઃખ પ્રિય નથી, તે પ્રમાણે બીજા આજીવોને પણ દુઃખ પ્રિય નથી ”

### લક્ષણદ્વારમ્-

નનુ કયમિદ જ્ઞાયતે વાયુ સચિત્ત્વમ્? અત્રોચ્યતે-ગૃહ્ણતા તાવદનુ-  
માનં પ્રમાણમ્, વાયુશ્ચેતનાવાન્ અનન્યપ્રેરિતાઽનિયતતિર્યગ્ગમનવત્ત્વાત્,  
હરિણગચયાદિવદિતિ । અનિયતવિશેષણોપાદાનાત્ પરમાણી અપરપ્રેરિત  
તિર્યગ્ગતિસત્ત્વેઽપિ નાનૈકાતિકત્વમ્, તસ્ય હિ પરપ્રયોગનિરપેક્ષસ્ય સ્વા-  
ભાવિકો ગતિસ્તુત્રેણિર્ભવતિ સસ્માત્ સા નિયતૈવ । આગમોઽપિ પ્રમાણ, યયા-  
દશવૈકાલિકમૂત્રે-“વાઽ ચિત્તમંતમક્ત્વાયા અણેગજીવા પુઠોસત્તા અમત્ય  
સત્યપરિણેણ ” । ઇતિ,

વાયુશ્ચિત્તવાનારૂપાતોઽનેકજીવ પૃથક્સત્ત્વઃ અન્યત્ર શસ્ત્રપરિણતાત્ ।  
ઇતિ ચ્છાયા.

### લક્ષણદ્વાર-

શકા—વાયુ સચિત્ત્વમ્, યહ વાત કિસ પ્રકાર જ્ઞાની આય ?

સમાધાન—પહેલે અનુમાન પ્રમાણ હી લોધિય—વાયુ ચેતનાયુક્ત હૈ કયો કિં વહ  
દુમરો કી પ્રેરણા વિના અનિયત રૂપ સે તિરછી ગતિ કરતો હૈ, જૈસે હિરન, રોમ્મ આદિ । હેતુ  
મેં ‘અનિયત’ વિશેષણ લગા દને સે પ્રેરણા કા અભાવ ઔર તિરછી ગતિ હોને પર મી પરમાણુ  
વ્યભિચાર નહીં હોતા । પરમાણુ દુસરે કી પ્રેરણા કે વિના બો ગતિ કરતા હૈ વહ ગતિ શ્રેણી  
કે અનુસાર નિયત હી હોતી હૈ—અનિયત નહીં । હસ વિષય મેં આગમ મી પ્રમાણ હૈ ।  
દશવૈકાલિક સૂત્ર મેં કહા હૈ—

“વાયુ સચિત્ત્વમ્ કહી ગઈ હૈ । વહ અનેક જીવોવાલી હૈ, ઔર જન જીવો કા  
અસ્તિત્વ પૃથક્-પૃથક્ હૈ । સિર્ફ શસ્ત્રપરિણત વાયુ સચિત્ત્વમ્ નહીં હૈ ” ।

### લક્ષણદ્વાર-

શકા—વાયુ સચિત્ત્વમ્ એ કો વાત કેવી રીતે જાણી શકાય ?

સમાધાન—પ્રથમ અનુમાનપ્રમાણ લઈએ—વાયુ ચેતનાયુક્ત છે, કેમકે તે  
બીજાની પ્રેરણા વિના અનિયતરૂપથી તિરછી ગતિ કરે છે, જેમ-હરણ, રેઝ આદિ  
હેતુમા ‘અનિયત’ વિશેષણ લગાવી દેવાથી પરપ્રેરણાનો અભાવ અને તિરછી ગતિ  
હોવા છતાંય પણ પરમાણુથી વ્યભિચાર થતો નથી, પરમાણુ બીજાની પ્રેરણા વિના  
જે ગતિ કરે છે, તે ગતિ શ્રેણી-અનુસાર નિયતજ હોય છે, અનિયત નહિ

આ વિષયમા આગમ પણ પ્રમાણ છે દશવૈકાલિક સૂત્રમા કહ્યું છે-

“વાયુ સચિત્ત્વમ્ કહેવામાં આવ્યો છે તે અનેક જીવવાળો છે અને તે જીવોનું  
અસ્તિત્વ પૃથક્-પૃથક્ (જુદ-જુદ) છે, માત્ર શસ્ત્રપરિણત વાયુ સચિત્ત્વમ્ નથી.”

જિનપ્રવચનોક્તચરણકરણસેવિન' સ્વપ્રાણરક્ષણાર્થમપિ પરજીવોપમર્દનં નેચ્છન્તિ,  
તે હિ અચાક્ષુષવાયુજીવવિરાધનાવિનિવૃત્તાઃ કથમન્યચાક્ષુષપૃથિવ્યાદિજીવોપમર્દને  
પ્રવર્તેત, ન કથમપીતિ ભાવઃ ।

અથ વાયુધારણ સમ્યગ્જ્ઞાનાર્થં રક્ષણાદ્યપ્ત દ્વારાણિ નિરૂપણીયાનિ ।  
તથા રક્ષણપ્રરૂપણાપરિમાણશ્લોપભોગદ્વારાણિ યથાક્રમં નિરૂપ્યતે । અ-  
દિદૃશ્યવદેદનાનિવૃત્તિ દ્વારાણિ પૃથિવીકાયોદેશે યથા કથિતાનિ તથૈવાવગન્તવ્યાનિ ।

જિનાગમ મેં કહિત્ત ચરણ-કરણ કા સેવન કરને ઘાટે અપને પ્રાણોં કી રક્ષા  
કરને કે હિંદુ મી દુસરે જીવ કી હિંસા કરને કી અભિલાષા નહીં કરતે । વે વસ્તુ સે  
ન દિત્તાઈ દેને ઘાટે વાયુકાય કે જીવોં કી વિરાધના સે મી નિવૃત્ત હોતે હૈં તો વસ્તુ  
ગોચર અન્ય પૃથ્વીકાય આદિ કે જીવોં કી વિરાધના મેં કંસે પ્રવૃત્ત હો સકતે હૈં-કિસી  
પ્રકાર મી નહીં ।

વાયુકાય કા સમ્યગ્જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરને કે હિંદુ રક્ષણ આદિ આઠ દ્વારોં કા નિરૂપણ  
કરનાં યાદિયે । ઊનમેં સે રક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, રક્ષા ઓર ઉપભોગ દ્વારોં કા ક્રમ સે  
નિરૂપણ કરતે હૈં । શેષ વધ, વેદના ઓર નિવૃત્તિ દ્વાર ચૈસે પૃથ્વીકાય કે ઉદ્દેશ મેં કહે હૈં  
ચસે હીં યહીં સમજ લેને યાદિયે ।

જિનાગમમાં કહેલા ચરણ-કરણનું સેવન કરવાવાળા પોતાના પ્રાણોની રક્ષા  
કરવા માટે પણ બીજા જીવોની હિંસા કરવાની અભિલાષા કરતા નથી તે નેત્રથી  
નહિં દેખાતા વાયુકાયના જીવોની વિરાધનાથી પણ નિવૃત્ત હોય છે, તો પછી નેત્રથી  
જોઈ શકાય તેવા બીજા પૃથ્વીકાય આદિના જીવોની વિરાધનામાં ઠેવી રીતે પ્રવૃત્ત  
ચઈ શકે છે ? ઠાઈ પ્રકારે પણ ચઈ શકતા નથી.

વાયુકાયનું સમ્યગ્જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા માટે લક્ષણ આદિ આઠ દ્વારોનું નિરૂપણ  
કરવું જોઈએ તેમાંથી લક્ષણ, પ્રરૂપણા, પરિમાણ, રક્ષા અને ઉપભોગ દ્વારોનું ક્રમથી  
નિરૂપણ કરે છે, શેષ-(બાકી) વધ, વેદના અને નિવૃત્તિ દ્વાર જેવી રીતે પૃથ્વીકાયના  
ઉદ્દેશમાં કહેા છે, તેવીજ રીતે જ્યાં સમજાવેલું જોઈએ.

સચિત્તાઃ, ઉદ્ધારોઽર્થસાદયોઽચિત્તા' સચિત્તાચિત્તયો. સમિધજ્વળેન મિથ્યા. ।

### પરિમાણદ્વારમ્-

એ વાદરપર્યાપ્તકા વાયુકાયસ્તે સર્વર્થિતલોકપ્રતરાસરુપેયમાગવર્તિ પ્રદેશરાશિપરિમાણાઃ, શેપાસ્ત્રયોઽપિ રાશયઃ પૃથગસરુપેયલોકાકાશપ્રદેશ- પરિમાણા મવન્તિ, વિશેષશ્વાયમત્રાવગન્તવ્ય -વાદરાપ્કાયપર્યાપ્તકેમ્યો વાદરવાયુ- પર્યાપ્તકા અસરુપેયગુણાઃ, વાદરાપ્કાયોઽપર્યાપ્તકેમ્યો વાદરવાયુકાયોઽ- પર્યાપ્તકા અસરુપેયગુણાઃ । સૂક્ષ્માપ્કાયોઽપર્યાપ્તકેમ્ય સૂક્ષ્મવાયુકાયોઽપર્યાપ્તકા વિશેષાધિકા', સૂક્ષ્માપ્કાયપર્યાપ્તકેમ્યઃ સૂક્ષ્મવાયુકાયપર્યાપ્તકા વિશેષાધિકા ॥ સૂ૦ ૧ ॥

(૩) મિથ્ર । ઉત્કાલિકાવાત આદિ સચિત્ત છે, ઉદ્ગાર અને ઉર્ધ્વાસ આદિ અચિત્ત છે, અને મિલી હુર્દ-સચિત્ત-અચિત્ત વાયુ મિથ્ર છે ।

### પરિમાણદ્વાર-

વાદરપર્યાપ્તવાયુકાય કે અથ સર્વર્થિત લોકપ્રતર કે અસહ્યાતર્થે માગવર્તી પ્રદેશો કે વરાબર છે । શેષ ત્રીણ પ્રત્યેક રાશીમાં અસહ્યાત લોકાકાશ કે પ્રદેશો કે વરાબર છે । યહાં इतनी વિશેષતા સમસની ચાહિય-વાદર અપ્કાય કે પર્યાપ્ત જીવો કી અપેક્ષા વાયુકાય કે વાદર પર્યાપ્ત અસહ્યાત ગુણા છે । અપ્કાય કે અપર્યાપ્ત વાદર જીવો સે વાયુકાય કે અપર્યાપ્ત વાદર અસહ્યાત ગુણા છે । અપ્કાય કે સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત જીવો સે સૂક્ષ્મ વાયુકાય કે અપર્યાપ્ત વિશેષ અધિક છે । અપ્કાય કે સૂક્ષ્મ પર્યાપ્ત જીવો સે સૂક્ષ્મ વાયુકાય કે પર્યાપ્ત વિશેષાધિક છે ॥ સૂ૦ ૧ ॥

ઉત્કાલિકાવાત આદિ સચિત્ત છે ઉદ્ગાર અને ઉર્ધ્વાસ આદિ અચિત્ત છે અને સચિત્ત તથા અચિત્ત એ બને જોડ સાથે મળેલા હોય તે વાતુ મિથ્ર છે

### પરિમાણદ્વાર-

વાદરપર્યાપ્તવાયુકાયના એવ સર્વર્થિત લોક પ્રતરના અસહ્યાતમા માગવર્તી પ્રદેશોના બરાબર છે બાકી ત્રણ પ્રત્યેક રાશીઓ અસહ્યાત લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર છે અર્થે જોટલી વિશેષતા સમજવી જોઈએ-વાદર અપ્કાયના પર્યાપ્ત એવાની અપેક્ષા વાયુકાયના વાદર પર્યાપ્ત અસહ્યાત ગણા છે અપ્કાયના અપર્યાપ્ત વાદર એવાથી વાયુકાયના અપર્યાપ્ત વાદર અસહ્યાત ગણા છે અપ્કાયના સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત એવાથી સૂક્ષ્મ વાયુકાયના અપર્યાપ્ત વિશેષ અધિક છે અપ્કાયના સૂક્ષ્મપર્યાપ્ત એવાથી, સૂક્ષ્મ વાયુકાયના પર્યાપ્ત વિશેષાધિક છે ॥ સૂ૦ ૧ ॥

## મરુપણાદ્યારમ્—

વાયુકાય દ્વિવિધાઃ—સૂક્ષ્મા વાદરાથેતિ । તત્ર સૂક્ષ્મા\* સકલલોકખ્યાપિનાઃ, વાદરાસ્તુ લોકૈકદેશે સન્તિ । વાદરાઃ પચ્ચવિધા—ઉત્કલિકાવાતઃ, મણ્ડલિકાવાતઃ, ગુઝાવાતઃ, ઘનવાતઃ, શુદ્ધવાતથેતિ । યે તુ તે પૌરસ્ત્યાદિભેદા લોકવાદિમકરણે માગમિહિતાસ્તેઽપ્યગ્રૈવાન્તર્મૂતાઃ । યઃ સ્થિત્વા સ્થિત્વા ઉત્કલિકામિર્નાતિ સ ઉત્કલિકાવાતઃ, વાતોલીરૂપો મણ્ડલિકાવાત, યો ગુઝન્ ઘાતિ સ ગુઝાવાતઃ, પૃથિવ્યાદીનામાધારતયા ન્યવસ્થિતો હિમપટલફલ્પોઽતિઘનીભૂતો ઘનવાતઃ, મન્દ સ્થિમિતઃ શીતકાલાદિષુ શુદ્ધવાત\* ।

સંક્ષેપેણ વાયુકાયદ્વિવિધાઃ—સચિત્તા અચિત્તા મિશ્રાશ્ચ । ઉત્કલિકાવાતાદયઃ

## મરુપણાદ્યાર—

વાયુકાય બે પ્રકાર કા હૈ—સૂક્ષ્મ ઓર વાદર । સૂક્ષ્મ જીવ સમસ્ત લોક મેં રહેતે હૈ । વાદર પાંચ પ્રકાર કે હૈ—(૧) ઉત્કલિકાવાત (૨) મણ્ડલિકાવાત (૩) ગુઝાવાત (૪) ઘનવાત ઓર (૫) શુદ્ધવાત । પૌરસ્થ આદિ બો ભેદ લોકવાદી કે પ્રકરણ મેં પહેલે વતલયે હૈં જે સર્વ મો હન્દી મેરો મેં અન્તર્ગત હો જાતે હૈં । ઠહર-ઠહર કર ઉત્કલિકારૂપ સે વહનેવાલી વાયુ ઉત્કલિકાવાત હૈ । વાતોલીરૂપ વાયુ કો મણ્ડલિકાવાત કહતે હૈં । ગૂઝ-ગૂઝ કર વહને જાલી વાયુ કો ગુઝાવાત કહતે હૈ । પૃથ્વી આદિ કે આધાર પર સ્થિત હિમપટલ કે સમાન અત્યન્ત સઘન વાયુ કો ઘનવાત કહતે હૈં । શીતકાલ આદિ મેં ધીમે-ધીમે ચલને જાલી વાયુ શુદ્ધવાત હૈ ।

સંક્ષેપ સે વાયુકાય કે ત્રીન મેવ હૈ—(૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત ઓર

## મરુપણાદ્યાર—

વાયુકાય બે પ્રકારના છે (૧) સૂક્ષ્મ અને (૨) વાદર સૂક્ષ્મ જીવ સમસ્ત લોકમાં આપ્ત છે અને વાદર, લોકના કોઈ-કોઈમાં રહે છે વાદર પાંચ પ્રકારના છે (૧) ઉત્કલિકાવાત, (૨) મંડલિકાવાત, (૩) ગુઝવાત, (૪) ઘનવાત અને (૫) શુદ્ધવાત.

પૌરસ્થ આદિ જે લેહ લોકવાદીના પ્રકરણમાં પહેલાં બતાવ્યા છે, તે સર્વે આ લેહમાં અન્તર્ગત થઈ જાય છે જ્યાં-રહી-રહીને ઉત્કલિકારૂપમાં વહેવાવાળો વાયુ તે ઉત્કલિકાવાત છે વાતોલીરૂપ વાયુને મંડલિકાવાત કહે છે જ્યાં-જ્યાં ને વહેવાવાળી રૂવાને ગુઝવાત કહે છે પૃથ્વીઆદિના આધારપર સ્થિતિ હિમપટલ સમાન અત્યન્ત સઘન વાયુને ઘનવાત કહે છે શીતકાલ આદિમાં ધીમે-ધીમે વહેતો વાયુ તે શુદ્ધવાયુ છે સંક્ષેપથી વાયુકાયના ત્રણ લેહ છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત અને (૩) મિશ્ર.

### ટીકા—

લજ્જમાના'—પરમકરુણયાડ્ઝર્ચિત્તયા વાયુકાયસમારમ્મે પરાહ્મુલા,  
વાયુકાયસમારમ્મપરિત્યાગિનોડનાગારાઃ, પૃથક્ક=વિમિષ્ઠા, કેચન પ્રત્યક્ષ-  
જ્ઞાનિનોઽવધિમન પર્યયકેવલિન, કેચિત્ત પરોક્ષજ્ઞાનિનો માવિતાત્માન' સન્તીતિ  
પદ્ય । યદ્વા-પૃથક્ક=દ્રવ્યલિંગિમ્ય પૃથક્કમાત્રેન સન્તીતિ પદ્ય । ઇમે વાયુકાયસમાર-  
મ્મકરણે મીતાસ્રસ્તા ઉદ્દિગ્નાસ્ત્રિકરણપ્રિયોગૈર્વાયુકાયસમારમ્મપરિત્યાગિનો વિદ્યન્તે  
ઈતિ ચિલોમ્યેત્યર્થઃ ।

એકે પુનરન્યેતુ 'વ્યમનગારાઃ સ્મ' ઇતિ સામિમાનં પ્રવદમાનાઃ 'વ્યમેવ  
વાયુકાયરક્ષણપરા મહામ્રતધારિણ' ઇતિ પ્રલપન્તો દ્રવ્યલિંગિન, સન્તિ, તાન્  
પૃથક્ક પદ્ય ।

ટીકાર્થ—પરમ કરુણા સે આર્દ્ર-ચિત્ત હોને કે કારણ વાયુકાય કે સમારમ્મ સે  
વિમુન્ન, વાયુકાય કે સમારમ્મ કા સવથા ત્યાગ કરને વાલે અનગાર મિત્ર હૈં—કોઈ અવધિ-  
જ્ઞાની કોઈ મન પર્યયજ્ઞાની ઔર કોઈ કેવલજ્ઞાની હૈં, ઔર કોઈ મતિશ્રુતજ્ઞાન કે ધારક  
માવિતાત્મા સાધુ હૈં ઝહૈં દેસો । અથવા ઝહૈં દ્રવ્યલિંગિયો સે મિત્ર સમજો । યે અનગાર  
વાયુકાય કા સમારમ્મ કરને મેં મીત હૈં, ત્રસ્ત હૈં, ઉદ્દિગ્ન હૈં તથા ત્રિન કરણ ત્રિન યોગ સે  
વાયુકાય કા સમારમ્મ કરને કે ત્યાગી હૈં ।

ઔર કોઈ—કોઈ 'હમ અનગાર હૈં' હસ પ્રકાર અમિમાનપૂર્વક કહતે હુપ, 'હમ હી  
વાયુકાય કી રક્ષા કરને વાલે પચમહામ્રતધારી હૈં' પેસા પ્રલાપ કરને વાલે દ્રવ્યલિંગી  
હૈં, ઝહ અનગારો સે અલગ સમજો ।

ટીકાર્થ—પરમ કરુણાથી આર્દ્ર-ચિત્ત હોવાના કારણે વાયુકાયના સમારમ્મથી  
વિમુખ, વાયુકાયના સમારમ્મને સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણુગાર બ્રહ્મ છે—કોઈ  
અવધિજ્ઞાની, કોઈ મન પર્યયજ્ઞાની અને કોઈ કેવલજ્ઞાની છે, અને કોઈ મતિ-શ્રુત  
જ્ઞાનના ધારક માવિતાત્મા સાધુ છે, તેને અણુઓ અથવા તેને દ્રવ્યલિંગિઓથી બ્રહ્મ  
બલો, તે અણુગાર વાયુકાયનો સમારમ્મ કરવામાં બીત (બીવા વાળા) છે, ત્રસ્ત છે,  
ઉદ્દિગ્ન છે તથા ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી વાયુકાયનો સમારમ્મ કરવાના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ 'અમે અણુગાર છીએ' આ પ્રમાણે અમિમાનપૂર્વક કહે છે  
કે 'અમેજ વાયુકાયની રક્ષા કરવાવાળા પચમહામ્રતધારી છીએ' એવો બઠવાહ  
કરનારા દ્રવ્યલિંગી છે તેને અણુગારથી બ્રહ્મ બલો.

अथ सर्वथा वायुकायसमारम्भपरित्यागिनोऽनगारान्, तथा वायुकाय  
समारम्भप्रवृत्तान् द्रव्यलिङ्गिनश्च विधिव्य प्रतिनोधयितुमाह—‘लज्जमाणा’  
इत्यादि ।

अथ शस्त्रद्वारम्—

मूलम्—

लज्जमाणा पुढो पास । अनगारा मो—त्ति एगे पव्वयमाणा जमिणं विस्वस्वेहिं  
सत्यहिं वाउकम्मसमारंभेण, वाउसत्थ समारभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे  
विहिंसति ॥ सू० २ ॥

छाया—

लज्जमानाः पृथक् पश्य । अनगारा स्म इति एके प्रवदमाना, यदिमं  
विरूपरूपै शस्त्रैः वायुकायसमारम्भेण, वायुकायशस्त्रं समारभमाणा अन्यान् अनेक  
रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति ॥ सू० २ ॥

वायुकाय के समारंभ का सर्वथा त्याग करने वाले मुनियों को और वायुकाय के  
समारम्भ में प्रवृत्ति करने वाले द्रव्यलिङ्गियों को अलग—अलग बतलाने के लिए कहते हैं—  
‘लज्जमाणा’ इत्यादि ।

शस्त्रद्वार—

मूलार्थ—वायुकाय का समारम्भ करने में सकोच करने वाले अनगारों को अलग  
देखो, और कोई—कोई ‘हम अनगार हैं’ ऐसा कहते हुए नाना प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय  
का समारम्भ करके, वायुकाय का समारम्भ करते हुए अथ अनेक प्रकार के प्राणियों की  
हिंसा करते हैं उनको अलग देखो ॥ सू० २ ॥

वायुकायना समारभानो सर्वथा त्याग करवावाणा मुनियोने अने वायुकायना  
समारभमा प्रवृत्ति करवावाणा द्रव्यलिङ्गियोने बूझा—बूझा जाताववा माटे कहे छे —  
‘लज्जमाणा’ इत्यादि ।

शस्त्रद्वार—

मूलार्थ—वायुकायना समारभमा सकोच करवावाणा अणुआराने बूझ जाये,  
अने ठाँठ—ठाँठ ‘अने अणुआर छीये’ जेबुं कहेनास अने नाना प्रकारना शस्त्रोणी  
वायुकायना समारभ करीने, वायुकायना समारभ करता थका जीवा अनेक प्रकारना  
प्राणियोनी हिंसा करे छे तेने पणु बूझा—बूझा जाये ॥ सू० २ ॥

## ટીકા—

લજ્જમાના = પરમકરુણાયાઽઽર્દ્રચિત્તયા વાયુકાયસમારમ્મે પરાશ્ચર્યાઃ,  
વાયુકાયસમારમ્મપરિત્યાગિનોઽનાગારાઃ, પૃથ્વ્ય=વિભિન્ના, કેચન પ્રત્યક્ષ-  
જ્ઞાનિનોઽવધિમન પર્યયકેવલિન, કેચિત્ત્વ પરોક્ષજ્ઞાનિનો ભાવિતાત્માનં સન્તીતિ  
પશ્ય । ચદ્વા-પૃથક્=દ્રવ્યલિંગિન્ય પૃથક્ભાવેન સન્તીતિ પશ્ય । ઇમે વાયુકાયસમાર-  
મ્મકરણે મીતાસ્ત્વા ઉદ્દિગ્નાસ્ત્રિકરણત્રિયોગૈર્વાયુકાયસમારમ્મપરિત્યાગિનો વિદ્યન્તે  
ઇતિ વિલોકયેત્યર્થ ।

એકે પુનરન્યેતુ 'વયમનગારાઃ સ્મઃ' ઇતિ સામિમાન પ્રવદમાના. 'વયમેવ  
વાયુકાયરક્ષણપરાઃ મહાવ્રતધારિણ.' ઇતિ પ્રલપન્તો દ્રવ્યલિંગિન. સન્તિ, તાન્  
પૃથક્ પશ્ય ।

ટીકાર્થ—પરમ કરુણા સે આર્દ્ર-ચિત્ત હોને કે કારણ વાયુકાય કે સમારમ્મ સે  
વિમુક્ત, વાયુકાય કે સમારમ્મ કા સવથા ત્યાગ કરને વાલે અનગાર મિત્ત હૈ—કોઈ અવધિ  
જ્ઞાની કોઈ મન પર્યયજ્ઞાની ઔર કોઈ કેવલજ્ઞાની હૈ, ઔર કોઈ મતિશ્રુતજ્ઞાન કે ધારક  
ભાવિતાત્મા સાધુ હૈ ઠહૈં દેલો । અથવા ઠહૈં દ્રવ્યલિંગિયો સે મિત્ત સમજો । યે અનગાર  
વાયુકાય કા સમારમ્મ કરને મેં મીત્ત હૈ, પ્રત્ત હૈ, ઉદ્દિગ્ન હૈ તથા ત્રીન કરણ ત્રીન યોગ સે  
વાયુકાય કા સમારમ્મ કરને કે ત્યાગી હૈ ।

ઔર કોઈ-કોઈ 'હમ અનગાર હૈ' ઇત પ્રકાર અમિમાનપૂર્વક કહતે હુપ, 'હમ હી  
વાયુકાય કી રક્ષા કરને વાલે પશ્ચમહાવ્રતધારી હૈ' પેસા પ્રલાપ કરને વાલે દ્રવ્યલિંગી  
હૈ, ઠહૈં અનગારો સે અલગ સમજો ।

ટીકાર્થ—પરમ કરુણાથી આર્દ્ર-ચિત્ત હોવાના કારણે વાયુકાયના સમારભથી  
વિમુક્ત, વાયુકાયના સમારભનેા સર્વથા ત્યાગ કરવાવાળા અણુગાર બૂદા છે-કોઈ  
અવધિજ્ઞાની, કોઈ મન પર્યયજ્ઞાની અને કોઈ કેવલજ્ઞાની છે, અને કોઈ મતિ-શ્રુત  
જ્ઞાનના ધારક ભાવિતાત્મા સાધુ છે, તેને જુઓ અથવા તેને દ્રવ્યલિંગિઓથી બૂદા  
બોલો, તે અણુગાર વાયુકાયનો સમારભ કરવામાં બીત (બીવા વાળા) છે, પ્રત્ત છે,  
ઉદ્દિગ્ન છે તથા ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી વાયુકાયનો સમારભ કરવાના ત્યાગી છે

અને કોઈ-કોઈ 'અમે અણુગાર છીએ' આ પ્રમાણે અમિમાનપૂર્વક કહે છે  
કે 'અમેજ વાયુકાયની રક્ષા કરવાવાળા પશ્ચમહાવ્રતધારી છીએ' એવો બકવાસ  
કરનારા દ્રવ્યલિંગી છે તેને અણુગારથી બૂદા બોલો.



इमे स्वत्वनगारामिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति—‘यदिमम्’ इत्यादि ।

यद्=यस्माद्, विरूपरूपैः=विभिन्नस्वरूपैः, शस्त्रे शस्त्र हि द्रव्यभावमेदाव् द्विविधम्, तत्र द्रव्यशस्त्र-स्वकायपरकायोभयकायमेदाव् त्रिविधम् । तत्र स्वकायशस्त्र-शीतवायोरुष्णवायुः, उष्णवायोश्च शीतवायुः पूर्वदिगादिवायोः पश्चिम दिगादिवायुः स्वकायशस्त्रम् । व्यजन-तालवृन्त-शूर्प-चामर-पत्र-वेल्गणाभिधारणादयः, घर्माती यद् बहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा,

तथा-चन्दनोशीरादीनां गन्धा, अग्निज्वालाप्रतापश्च, तथा मृन्मलादिना

અનગાર હોને કા અભિમાન કરને વાળે એ દ્રવ્યલિંગી અનગાર કે ગુણો મેં તનિક્ક મી પ્રવૃત્તિ નહીં કરતે ઔર ગૃહસ્થોં કે કિસી કૃત્ય કા ત્યાગ નહીં કરતે હૈં । અહ બાગે કહતે હૈં—

દ્રવ્યશસ્ત્ર ઔર ભાવશસ્ત્ર કે મેદ સે શસ્ત્ર છો પ્રકાર કા હૈ । દ્રવ્યશસ્ત્ર કે ત્રીન મેદ હૈ—(૧) સ્વકાય (૨) પરકાય ઔર (૩) ઉભયકાયશસ્ત્ર । ઉષ્ણવાયુ, શીતવાયુ કા ઔર શીતવાયુ, ઉષ્ણવાયુ કા, તથા પૂર્વાદિદિશાઓં કા વાયુ, પશ્ચિમાદિદિશાઓં કે વાયુ કા સ્વકાયશસ્ત્ર હૈ, પંજા, તાલવૃન્ત, શૂર્પ, ચામર, પત્ર, કપડા ઔર અભિધારણા આદિ, ઘૂપ સે પીઠિત પુરુષ હવા બાને કે રાસ્તે મેં ઠહરતા હૈ ઉસકો અભિધારણા કહતે હૈ ।

તથા-ચન્દન, સસસસ આદિ કી ગંધ, આગકી જ્વાલ તાપ આદિ પરકાયશસ્ત્ર હૈ ।

અણગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળાઓ દ્રવ્યલિંગી (સાચા) અણગારના ગુણોમાં જરા પણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, અને ગૃહસ્થોના કોઈ પણ કાર્યને ત્યાગ કરતા નથી તે બાબત કહે છે

દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્રના એકથી શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે, દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ સેદ છે (૧) સ્વકાય, (૨) પરકાય, (૩) ઉભયકાય-શસ્ત્ર, ઉષ્ણવાયુ શીતવાયુનો અને શીતવાયુ ઉષ્ણવાયુનો તથા પૂર્વાદિ દિશાઓના વાયુનો પશ્ચિમ આદિ દિશાઓનો વાયુ સ્વકાયશસ્ત્ર છે વાંચનો બનાવેલો તથા તાલપત્રનો બનાવેલો પંખો, શૂર્પડા, ચામર, પત્ર, વસ્ત્રખંડ અને અભિધારણા આદિ, તાપથી પીઠિત પુરુષ હવા આવવાના રસ્તામાં ઘાસી બંધ છે, તેને અભિધારણા કહે છે

તથા-ચન્દન, અસસસ, આદિની ગંધ, અગ્નિ, અગ્નિની જ્વાલ તાપ આદિ ભાવશસ્ત્ર

કળ્પનં, તુપાદ્યપસારણાર્થ શૂર્પાસ્ફાલન, ધત્ત્રાદિગતરજામ્પ્રમૃતિવારણાય વત્ત્રાદીના-  
માચ્છોટનમાસ્ફોટન પ્રસ્ફોટનં ચ, તથા શીઘ્રગમન વાયુકાયસ્ય વિરાધક પરકાય-  
શ્ચત્રમ્ । ડમયકાયશ્ચત્રમ્-અનાદૃતમુલેન માપણમ્, ઇતત્સર્વં દ્રવ્યશત્રમ્ । માવશ્ચત્રં  
તુ મનોવાક્કાયાનાં દુષ્પ્રણિધાનમ્ । ષવિધૈઃ શસ્ત્રૈઃ, વાયુકાયસમારમ્ભેન=વાયુકાયો-  
પમર્દકસાવધવ્યાપારેણ, ઇમ વાયુકાય વિહિસન્તિ ।

વાયુકાયહિસાયાં પ્રવૃત્તા\* રાલ્લ પદ્ધતિવનિકાયરૂપ લોક સર્વમેવ  
વિહિસન્તીત્યાહ—‘વાયુકાયશ્ચત્રમ્’ ઇત્યાદિ । વાયુકાયશ્ચત્ર=વાયુકાયોપમર્દકં  
દ્રવ્યમાવશ્ચત્ર પૂર્વોક્તપ્રકાર, સમારમ્ભાણાઃ=વાયુકાય પ્રતિ પ્રયુજાના અન્યાન્=વાયુ-  
કાયમિશ્રાન્ અનેકરૂપાન્ પૃથિવીકાયાદીન્ સ્થાવરાન્ દ્વીન્દ્રિયાદીન્પ્રસાંશ પ્રાણાન્=  
પ્રાણિન, વિહિસન્તિ ।

મૂસલ સે કૂટના, ટિલકે હટાને કે લિપ્ સૂપ સે ફટકના, ધૂલ-રેત આદિ જાઢને કે સ્લિપ્  
ઘસ આદિ કો ફટકારના-મટકના તથા જલ્દો ચલના મો વાયુકાય કા વિરાધક પરકાય  
શસ્ત્ર હૈ રુલે મુસલ સે ચોલના ડમયકાયશ્ચત્ર । મન, ઘચન, ઔર કાયકા અપ્રશસ્ત વ્યાપાર  
માવશ્ચત્ર હૈ । ઇન નાના પ્રકાર કે શસ્ત્રો સે દ્રવ્યલિંગી વાયુકાય કી હિસા કરને ચાલે સાવધ  
વ્યાપાર ફરકે વાયુકાય કી હિસા કરતે હૈ ।

જો વાયુકાય કી હિસા મેં પ્રવૃત્ત હોતા હૈ ત્હ વહ પદ્ધતિરૂપ સમસ્ત લોક કી  
હિસા કરતા હૈ, ત્હ કહતે હૈ—વાયુકાય કી વિરાધના કરને ચાલે પૂર્વોક્ત દ્રવ્ય ઔર માવશ્ચત્રો  
કા વાયુકાય કે પ્રતિ પ્રયોગ કરને ચાલે વાયુકાય સે મિશ્ર અનેક પ્રકાર કે પૃથ્વીકાય આદિ  
સ્થાવરો કી તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ પ્રસ્રોત્રો કી મી હિસા કરતા હૈ ।

મૂસળથી કૂટવું, છાલ કાઢવા માટે, સૂપડાથી ઝાટકવું, ધૂળ-રેતી વગેરેને ખ ખેરવા  
માટે વચ્ચ વગેરેને ઝાટકવું-પછાડવું, તથા જલદી-જલદી ચાલવું તે પણ વાયુકાયનું  
વિરાધક પરકાય શસ્ત્ર છે. ઉઘાડા-ખૂસા માટે ઝાલવું તે ઉભયકાયશસ્ત્ર છે આ સર્વ  
વાયુકાયનાં દ્રવ્યશસ્ત્ર છે, મન, વચન અને કાયાનો અપ્રશસ્ત (વખાણવા લાયક નહિ તે)  
વ્યાપાર તે માવશસ્ત્ર છે આ નાના પ્રકારના શસ્ત્રોથી દ્રવ્યલિંગી વાયુકાયની હિસા  
કરવાવાળાઓ સાવધ વ્યાપાર કરીને વાયુકાયની હિસા કરે છે

જે વાયુકાયની હિસામાં પ્રવૃત્ત થાય છે તે પદ્ધતિરૂપ સમસ્ત લોકની હિસા  
કરે છે એ કહે છે—વાયુકાયની વિરાધના કરવાવાળા પૂર્વોક્ત દ્રવ્ય અને માવશસ્ત્રો  
વાયુકાયના પ્રતિ પ્રયોગ કરવાવાળા વાયુકાયથી ભિન્ન અનેક પ્રકારના પૃથ્વીકાય આદિ  
સ્થાવરોની, તથા દ્વીન્દ્રિય આદિ પ્રસ્રોત્રોની પણ હિસા કરે છે.

इमे स्वत्वनगाराभिमानिनो द्रव्यलिङ्गिनो मनागप्यनगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते, नापि गृहस्थकृत्य किञ्चित् परित्यजन्तीति दर्शयति—‘यदिमम्’ इत्यादि ।

यद्=यस्मात्, विरूपरूपै =विभिन्नस्वरूपैः, शस्त्रैः शस्त्र हि द्रव्यभावभेदाद् द्विविधम्, तत्र द्रव्यशस्त्र-स्वकायपरकायोभयकायभेदात् त्रिविधम् । तत्र स्वकायशस्त्र-शीतवायोरुष्णवायु\*, उष्णवायोश्च शीतवायु\* पूर्वदिगादिवायो\* पश्चिम-दिगादिवायु\* स्वकायशस्त्रम् । व्यजन-तालवृन्त-शूर्प-चामर-पत्र-बेलकर्णाभिधारणादयः, घर्मांतो यद् घटिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा,

तथा-चन्दनोशीरादीनां गन्धाः, अग्निज्वालाप्रतापश्च, तथा मुञ्जलादिना

અનગાર હોને કા અભિમાન કરને વાલે એ દ્રવ્યલિંગી અનગાર કે ગુણો મેં તનિક મી પ્રવૃત્તિ નહીં કરતે ઔર ગૃહસ્થો કે કિસી કર્ય કા ત્યાગ નહીં કરતે હૈં । यह आगे कहते हैं —

દ્રવ્યશસ્ત્ર ઔર ભાવશસ્ત્ર કે ભેદ સે શસ્ત્ર દો પ્રકાર કા હૈ । દ્રવ્યશસ્ત્ર કે તૈન ભેદ હૈ—(૧) સ્વકાય (૨) પરકાય ઔર (૩) ઉભયકાયશસ્ત્ર । ઉષ્ણવાયુ, શીતવાયુ કા ઔર શીતવાયુ, ઉષ્ણવાયુ કા, તથા પૂર્વાદિદિશાઓકા વાયુ, પશ્ચિમાદિદિશાઓ કે વાયુ કા સ્વકાયશસ્ત્ર હૈ, પંખા, તાલવૃન્ત, શૂપ, ચામર, પત્ર, કપડા ઔર અભિધારણા આદિ, ઘૂપ સે પીઠિત પુરુષ હવા આને કે રાસ્તે મેં ટહરતા હૈ ડસકો અભિધારણા કહતે હૈ ।

તથા-ચન્દન, સસસસ આદિ કી ગંધ, આગકી જ્વાલા તાપ આદિ પરકાયશસ્ત્ર હૈ ।

અણુગાર હોવાનું અભિમાન કરવાવાળાઓ દ્રવ્યલિંગી (સાચા) અણુગારના ગુણોમાં જરા પણ પ્રવૃત્તિ કરતા નથી, અને ગૃહસ્થોના કોઈ પણ કાર્યનો ત્યાગ કરતા નથી તે આગળ કહે છે

દ્રવ્યશસ્ત્ર અને ભાવશસ્ત્રના બેઢથી શસ્ત્ર બે પ્રકારના છે, દ્રવ્યશસ્ત્રના ત્રણ ભેદ છે (૧) સ્વકાય, (૨) પરકાય, (૩) ઉભયકાય-શસ્ત્ર, ઉષ્ણવાયુ શીતવાયુનો અને શીતવાયુ ઉષ્ણવાયુનો તથા પૂર્વાદિ દિશાઓના વાયુનો પશ્ચિમ આદિ દિશાઓનો વાયુ સ્વકાયશસ્ત્ર છે વાંસનો બનાવેલો તથા તાલપત્રનો બનાવેલો પંખો, શૂપડા, આમર, પત્ર, વસ્ત્રખંડ અને અભિધારણા આદિ, તાપથી પીઠિત પુરુષ હવા આવવાના રસ્તામાં થોડી બંધ છે, તેને અભિધારણા કહે છે

તથા-ચન્દન, અસખસ, આદિની ગંધ, અગ્નિ, અગ્નિની જ્વાલા, તાપ આદિ તથા

છાયા—ગન્ધર્વનૃત્યવાદિત્ર—લવણજલારાત્રિકાદિદીપાદયઃ ।

યત્કિચ્છિત્કૃત્ય તત્સર્વમપ્યવતરત્યગ્રપૂજાયામ્ ॥ ૧ ॥ ઇતિ ।

કિચ્ચ—સપ્તદશમેદિપૂજાવિધાષપિ ગીતનૃત્યવાધાનિ કર્ષવ્યતયોપદિશન્તિ ।

કિચ્ચૈકવિંશતિવિધપૂજાયામપિ નૃત્યગીતવાદિત્રૈશ્ચામરવીજનૈશ્ચ વાયુકાયસમા-  
રમ્ભં કારયન્તિ ।

ઉક્તચ્ચ—“સ્નાન વિલેપનવિશૂષણપુષ્પવાસ—

ધૂપમદીપફલતન્દુલપત્રપૂર્ગૈ’ ।

નૈવેદ્યવારિવસનૈશ્ચમરાતપત્ર,—

વાદિત્રગીતનટનસ્તુતિકોશવૃદ્ધયા ॥ ૧ ॥

इत्येकविंशतिविधा जिनराजपूजा ” इत्यादि ।

“ગાના, નાચના, ઝાજાના, લવણ—જલ, આરતી કરના, દીપક જ્જાના આદિ જિતને  
કાર્ય છે, જે સબ અપ્રજ્ઞા મેં કિયે આટે છે ” ॥૧॥

તથા જે દ્રવ્યલિંગી વળ્હી ‘સત્તરપ્રકાર કી પૂજા મેં મી ગીત, નૃત્ય ઔર વાદ્ય આદિ  
કિયાપેં કરની જાદિય’ પેસા અપદેશ દેતે છે ।

તથા ફક્તીસમેવી પૂજા મેં મી નૃત્ય, ગીત, વાદિત્ર તથા ચામર ઔર પંજા આદિ કે  
દ્વારા વાયુકાય કા સમારમ કરાતે છે । જૈસા કહા છે —

“સ્નાન, વિલેપન, આમૂષણ, પુષ્પ, વાસ, ધૂપ, દીપ, ફલ, જાવલ પત્ર, સુપારી, નૈવેદ્ય  
જલ, વજ્ર, ચામર, છત્ર, વાદિત્ર, ગીત, નાટ્ય, સ્તુતિ ઔર કોશવૃદ્ધિ, ફસ તરફ ફક્તીસ પ્રકાર  
કી જિન મગવાન્ કી પૂજા હોતી છે ” ॥૧॥

“જાવું, નાચવું, ઝાજાવું, મીઠું, જલ, આરતી કરવી, દીપક—દીવો બાળવો  
આદિ જેટલા કાર્ય છે, તે સર્વ અપ્રજ્ઞામાં કરવામાં આવે છે ” ॥ ૧ ॥

તથા તે દ્રવ્યલિંગી—કહી ‘સત્તરપ્રકારની પૂજામાં પણ હમેશાં નૃત્ય અને વાદ્ય  
વાદ્ય ત્ર આદિ કિયાઓ કરવી જોઈએ.’ જોવો ઉપદેશ આપે છે

તથા કોઠવીસશેરી પૂજામાં પણ નૃત્ય, ગીત, વાદ્ય ત્ર તથા ચામર અને પંજા  
આદિ દ્વારા વાયુકાયનો સમારમ કરાવે છે જેમ કહ્યું પણ છે—

“સ્નાન, વિલેપન, આમૂષણ, પુષ્પ, વાસ, ધૂપ, દીપ, ફલ, ચોખ્ખા, પત્ર, ચોપારી, નેવેદ્ય,  
જલ, વજ્ર, ચામર, છત્ર, વાદ્ય ત્ર, ગીત, નાટક, સ્તુતિ અને કોશવૃદ્ધિ (ધર્મદાના નામે  
નાણા—ધન—નીવૃદ્ધિ) આ પ્રમાણે કોઠવીસ પ્રકારની જિનભગવાનની પૂજા થાય છે ” ॥૧॥

હિંદુ ધર્મગ્રંથોમાં જોવા મળે છે, તથા શાક્યાદયો વ્યજનાદિસૌર્વાયુકાય-સમારમ્મ કુર્વન્તિ, કારયન્તિ, કુર્વંતોઽનુમોદયન્તિ, તથા ચ સપાતિમાદીનાં હિંસનેન પશુજીવનિકાયવિરાધકા મવન્તિ । દષ્ટિનોપિ-“અથ મશ્વમહાવ્રતધારિણી જિના આરાધકા અનગારાઃ સ્માઃ” ઇત્યાદિ પ્રવદમાના સાધ્વામાસા સાવધમુપદિશન્તિ, શાસ્ત્રમવિપિદમપિ વાયુકાયસમારમ્મ કુર્વન્તિ, કારયન્તિ ચ । તે હિ અનાહતમુલ્લેન વદન્તિ ગાયન્તિ ચ । તથા અપ્રજ્ઞાદૌ વિવિધવાધવૃત્યાદિક કારયન્તિ, એતત્સર્વ મિધ્યાદર્શનશસ્ત્રનામિષં પાપમાચરન્તિ ।

ઉક્તચ્ચ-“ગયન્વનદૃષ્ટાદય-લવણજલારપિઆદીવાઈ ।

અ કિચ્ચ ત સર્વ-પિ ઓમ્મર અમાપૂયાઈ” ॥ ૧ ॥

સંસાર મેં તરહ-તરહ કે દ્રવ્યલિંગી હૈ, उन में से शाक्य आदि पंत्ता वगैरह से वायुकाय का आरंभ करते हैं, कराते हैं और आरंभ करने वाले की अनुमोदना करते हैं, और सपात्तिम (उठकर अचानक आघात करने वाले) आदि जीवों की हिंसा करके पदकाम के विराधक बनते हैं । इन्हे साधु वण्डी भी ‘हम पचमहाव्रतधारी तथा जिन भगवान् की आज्ञा के आराधक अनगार हैं’ इस प्रकार कहते हुए सावध का उपदेश देते हैं । शाक्य में निषिद्ध वायुकाय का समारम करते हैं और कराते हैं । वे झुले मुल से बोलते और गाते हैं तथा अप्रज्ज्ञा आदि में विविध प्रकार से वाध एवं नृत्य आदि कराते हैं । यह सब मिथ्यादर्शनशस्त्रनामक पाप है । वे इसका आचरण करते हैं । वैसे कहा है-

સ સારમાં તરેહ-તરેહના દ્રવ્યલિંગી છે, તેમાંથી શાક્ય આદિ પંખા વગેરેથી વાયુકાયનો આરંભ કરે છે, કરાવે છે, અને આરંભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે છે, અને સપાતિમ (ઊઠીને અચાનક આવવાવાળા) આદિ જીવોની હિંસા કરીને પદકામના વિરાધક બને છે. હરિ પશુ ‘અથે પચમહાવ્રતધારી તથા જિન ભગવાનની આજ્ઞાના આરાધક અનગાર છીએ.’ આ પ્રમાણે કહેતા થતા સાવધનો ઉપદેશ આપે છે. શાક્યમાં નિષિદ્ધ મનાએલા વાયુકાયનો સમારંભ કરે છે અને કરાવે છે તે ખુદા મુખથી-ઉપદેશ મોઢે-મોઢે છે અને બાય છે, તથા અપ્રજ્ઞા વગેરેમાં વિવિધ પ્રકારથી વાદ અને નૃત્ય આદિ કરાવે છે આ સર્વે મિથ્યાદર્શનશસ્ત્ર નામનું પાપ છે તે ખેતુ આવશ્યક કરે છે એમ કહ્યું છે-

વન્દનમાનનપૂજનાય, જાતિમરણમોચનાય, દુઃખપતિઘાતહેતુ સ સ્વયમેવ વાયુશ્ચ સમારમતે, અન્યૈર્વા વાયુશ્ચ સમારમ્મયતિ, અન્યાન્ વાયુશ્ચ સમારમમાણાન્ સમનુ-  
જાનાતિ, તત્ તસ્યાદિતાય, તત્ તસ્યાવોધયે ॥ સુ૦ ૩ ॥

ટીકા—

તત્ત્વ=વાયુકાયસમારમ્મે, મગવતા=શ્રીમહાવીરેણ, પરિજ્ઞા-જ્ઞ-પ્રત્યાખ્યાન-  
મેદાદ્ દ્વિવિધા, સ્વચ્છ=નિશ્ચયેન, પ્રવેદિતા=પ્રતિવોધિતા । કર્મરજ-પરિહરણાર્થ મલ્ય  
જીવેન પરિજ્ઞાજ્વર્યં શરણીકરણીયેતિ મગવતા પ્રતિવોધિતમિતિ માવઃ ।

ઉપમોગદ્વાર—

લોક કસ્મૈ પ્રયોજનાય વાયુકાયમુપમર્દયતીત્યાહ—‘અસ્ય ચૈવ  
જીવિતસ્ય’ ઇત્યાદિ । અસ્યૈવ=અત્પકાલાવસ્થાપિન, જીવિતસ્ય=જીવનસ્ય  
સુસ્વાર્યમ્ વ્યજન-સાલવૃન્ત-મસ-ધ્માત-ફૂલ્કારા-સ્ત્રીસાદિમિષ, સ્ત્રીતોષ્ણવાયુ-

ટીકાર્થ—વાયુકાય કે સમારમ કે વિષય મેં શ્રી મહાવીરને જુપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યા-  
ખ્યાનપરિજ્ઞા બતલાઈ છે । સાત્પર્યેં યહ છે કિ-કર્મરૂપી રત્નકો હટાને કે લિપ્ત મલ્ય જીવ કો  
પરિજ્ઞા અવશ્ય સ્વીકાર કરના જાદિપ, પેસા ઉપદેશ મગવાનને દિયા છે ।

ઉપમોગદ્વાર—

લોક કિસ પ્રયોજન સે વાયુકાય કી વિરાધના કરતે હૈં ? યહ બતલાતે હૈં—ફૂલ્કારા-સ્ત્રી-  
જીવન કે સુસ્ત કે લિપ્ત પંખા, સાઠપંખા હિણના, ધૌકની કા ધૌકના, ફૂલ મારના, માસ હેના  
આદિ ક્રિયાઓ દ્વારા, તથા શીત ઓર તૃણ વાયુકા સેવન દ્વારા વાયુકાય કી હિંસા કરતે હૈં ।

ટીકાર્થ—વાયુકાયના સમારમના વિષયમાં શ્રીમહાવીરે જુપરિજ્ઞા તથા પ્રત્યાખ્યાન  
પરિજ્ઞા બતાવી છે । સાત્પર્યેં કો છે કે -કર્મરૂપી રત્નને દૂર કરવા માટે મલ્ય જીવોએ  
પરિજ્ઞાનો અવશ્ય સ્વીકાર કરી લેવો જોઈએ. આ પ્રમાણે મગવાને ઉપદેશ આપ્યો છે

ઉપમોગદ્વાર—

લોક કયા પ્રયોજનથી વાયુકાયની વિરાધના કરે છે ? કો બતાવે છે આ અવશ્ય  
કાળના જીવનના મુખ માટે પંખા, તાડપંખા હલાવવા, ધમણ ધમવી-ટૂંક માશવી, માસ  
લેવો, આદિ ક્રિયાઓદ્વારા તથા શીત અને ઉષ્ણ (હા અને ગરમ) વાયુના સેવનદ્વારા

અલમધિકેન-एवमपि ते प्रलपन्ति-यदि जिनमतयुद्धेकेण साधुरपि नृत्येचदा नास्ति दोष इति ॥ सू० २ ॥

अथ सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिन प्राह—‘तत्त्व खलु’ इत्यादि ।

मूलम्—

तत्त्व खलु मगવતા પરિણા પવેદ્યા । હમસ્ત ચેવ જીવિયસ્ત પરિવંદનમાજ્ઞ  
પૂયળાણ જાદમરણમોયળાણ દુક્તવપદિધાયહેડ સે સયમેવ વાડસત્ય સમારમ્મ,  
અળેહિં વા વાડસત્ય સમારંમાવેદ, અળે વાડસત્ય સમારંમતે સમણુજાણદ, ત સે  
અહિયાણ, તં સે અવોહોણ ॥ સૂ० ૩ ॥

છાયા—

તત્ર खलु मगवता परिणा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितस्य परि-

ગ્યાવા કયા કર્હે । વે યહૈં તક મી વકતે હૈં કિ-જિનરાજ કી મક્તિ મેં  
મસ્ત હોકર અગર સાધુ મી નાચને છો સો મી કર્હે દોષ નહૈં હૈ અર્થાત્ વહ  
આરાધક હૈ ॥ સૂ० ૨ ॥

सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—‘तत्त्व खलु’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—મગવાનું ને વાયુકાય કે આરંભ કે વિષય મેં ઉપદેશ દિયા હૈ ।  
હસી જીવન કે પરિવંદન, માનન, ઔર પૂજન કે છિણ, જન્મ-મરણ સે છુટકારા પાનેકે  
છિણ, દુઃસ કા નાશ કરને કે છિણ છોમ સ્વયં વાયુકાયશક્તિ કા આરંભ કરતા હૈ,  
દુસરો સે વાયુકાયશક્તિ કા આરંભ કરાતા હૈ ઔર વાયુકાયશક્તિ કા આરંભ કરને વાકે  
દુસરો કી અનુમોદના કરતા હૈ । મહ ઉસકે અદિત કે છિણ ઔર ઉસકી અવોધિ કે  
છિણ હૈ ॥ સૂ० ૩ ॥

विशेष श्रुं ठहरीये, ते ज्योतसे सुधी पण्डु ठहरे छे ठे-जिनराजकी शक्तिमां भस्त  
मधनिअगरसाधुपण्डुनाचकरवाछायेतोपण्डुठोडदोषनहीअर्थात्तेआराधकछे॥२॥

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीने कहते छे—‘तत्त्व खलु’ इत्यादि.

મૂલાર્થ—મગવાને વાયુકાયના આરંભના વિષયમાં ઉપદેશ આપ્યો છે આ  
છવનના પરિવંદન, માનન અને પૂજા માટે, જન્મ, મરણથી છુટવા માટે, દુઃખને નાશ  
કરવા માટે. દોષ સ્વયં-પોતે વાયુકાયશક્તિના આરંભ કરે છે, જીવન પાસે વાયુકાયશક્તિના  
આરંભ કરાવે છે અને વાયુકાયશક્તિના આરંભ કરવાવાળા જીવને અનુમોદન આપે  
છે તે જોના ( પોતાના ) અદિત માટે અને તેમની અવોધિને માટે છે ॥ ૩ ॥

જાનાતિ=અનુમોદયતિ । તત્=વાયુકાયસમારમ્ભણં, તસ્ય=વાયુકાયસમારમ્ભણં-  
કુર્વત કારયિતુ અનુમોદયિતુમ્ અહિતાય ભવતિ । તથા-તત્ તસ્ય અધોધયે=  
સમ્યક્ત્વાલાભાય ભવતિ ॥ સૂ૦ ૩ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे वायुकायस्वरूपं परिच्छातं स एव विभावयतीत्याह—  
'से त ' इत्यादि ।

મૂલમ્—

સે ત સવુજ્જમાણે આયાણીય સમુદ્દાય સોષા સ્વલુ મગવઓ અળગારાણાં વા  
અતિપ, રૂમેગેસિ ણાય મવરૂ-એસ સ્વલુ ગંચે, એસ સ્વલુ મોહે, એસ સ્વલુ મારે, એસ  
સ્વલુ ણરણ । રૂચ્ચથ ગરિણ લોણ, જમિણ વિસ્ખરૂવેહિં સત્થેહિં વાઝકમ્મસમારમેણ,  
વાઝસત્થ સમારંમમાણે અણ્ણે અણેગરૂવે પાણે ચિહિંસહ ॥ સૂ૦ ૪ ॥

करते हैं । वायुकाय का यह आरम करने वाले, कराने वाले और उसकी अनुमोदना करने  
वाले को अहितकर होता है तथा अधोधिन्नक होता है ॥ सू० ३ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट जिसने वायुकाय का स्वरूप समझ लिया है, वह इस प्रकार  
विचार करता है—‘से तं.’ इत्यादि ।

મૂલાર્ય—મગવાન્ સે ચા ઉનકે અનગારોં સે સુનકર-સમજકર જિસને સંયમ વારણ  
ક્રિયા છે વહ જાનતા છે કિ-યહ વાયુકાય કા સમારમ હી પ્રથ છે, યહી મોહ છે, યહી માર  
છે, યહી નરક છે । હસી મેં હોગ ગૂઢ હો રહે છે, ક્યોં કિ નાના પ્રકાર કે શક્તોં સે વાયુકાય  
કે સમારમદ્વારા વાયુશક્તિ કા આરમ કરતે હુણ અન્ય અનેક પ્રકાર કે પ્રાણિયોં કી હિંસા  
કરતે હૈ ॥ સૂ૦ ૪ ॥

આરભ, આરભ કરવાવાળાને, કરાવનારને અને તેની અનુમોદના આપવાવાળાને  
અહિતકર થાય છે, તથા અધોધિન્નક થાય છે ॥ સૂ૦ ૩ ॥

तीर्थंकर आदिना समीपमां गेष्ठे वायुकायानु स्वरूपं समलं वीधुं છે, તે આ  
પ્રમાણે વિચાર કરે છે—‘સે ત ’ ઇત્યાદિ.

મૂલાર્ય—મગવાન પાસેથી અથવા તેમના અણુગારો પાસેથી સાંભળી-સમલ  
ને જેણે સંયમ ધારણ કર્યું છે તે જાણે છે કે—આ વાયુકાયનો સમારમજ પ્રથ છે  
જેજ મોહ છે જેજ માર છે જેજ નરક છે, જેમાં લોકો ગૂઢ ચર્ચ રહ્યા છે, કેમકે  
નાના પ્રકારના શક્તોથી વાયુકાયના સમારમદ્વારા વાયુશક્તિનો આરમ કરતા ચક્ર  
અન્ય અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે ॥સૂ૦ ૪॥



સેવનૈશ્વ, તથા પરિવન્દન-માનન-પૂજનાય, પરિવન્દન=પ્રશંસા, તદર્થ-દતિશાયવેષુ  
 પ્રમૃતિવાદનાદૌ, માનન=જનસત્કારસ્તદર્થ, વ્યજનયન્ત્રાદિપ્રચાલનાદૌ,  
 પૂજન=વસ્ત્રરત્નાદિલાભસ્તદર્થ વાયુયાન-વાયુયન્ત્રાદિનિર્માણાદૌ, તથા જાતિ-  
 મરણમોચનાર્થ=દેવપ્રતિમાભિમુલ્લં નૃત્યગીતત્રાદિપ્રયોગે, વ્યજનચામરાદિવીજને ચ,  
 તથા દુઃસ્વપ્રતિષ્ઠાતહેતુ=વ્યાધિપ્રતીકારાર્થ નવીનવૈજ્ઞાનિકોદ્ઘાતિતવાયુ-  
 ચિકિત્સાયા, તથા-તાલપૃન્તાદિના વાયુકાયોપ્માનને સ=જીવનમુક્તાવર્ષો,  
 સ્વયમેવ વાયુશુદ્ધ=વાયુકાયોપમર્દક-શુદ્ધ સમારમતે=વ્યાપારયતિ, અન્યૈર્વા વાયુ-  
 કાયશક્ત્ય સમારમ્મયતિ=પ્રયોજયતિ, અન્યાન્ વાયુશક્ત્ય સમારમમાણાન્ સમતુ

તથા પરિવન્દન અર્થાત્ પ્રશંસા પાને કે લિપ્, મશકવાયુ ઓર વાંસુરી બજાકર, માનન અર્થાત્  
 જનસત્કારકે લિપ્ વ્યજનયત્ર (બીજલી કા પસા) ગાનયત્ર (રેડિયો, ગ્રામોફોન આદિ) બજાકર,  
 પૂજન અર્થાત્ વસ્ત્રો પવ રત્નો આદિ કે છામ કે લિપ્ વાયુયાન (પરોલ્હેને) વાયુયન્ત્ર આદિ કે  
 બનાને મેં, તથા જન્મ-મરણ સે છુટકારા પાને કે લિપ્, બૈસે-જિનપ્રતિમા કે આગે નૃત્ય, ગીત  
 ઓર વાદિત્ર કા પ્રયોગ કરને મેં, ચામર પસા આદિ ઝુલાને મેં, તથા દુઃસ્વ કા નાશ કરને કે  
 લિપ્, બૈસે-વ્યાધિ મિટાને કે લિપ્ આધુનિક વૈજ્ઞાનિકો દ્વારા નિકાલો હુઈ વાયુચિકિત્સા  
 મેં તથા તાઠપસા આદિ દ્વારા વાયુકાય કી ઠગીરણા કરને મેં વાયુકાય કી હિંસા કરતે  
 હૈં । હસ પ્રકાર હસ જીવન કે સુસ્થ કે અર્થો સ્વર્ગ વાયુકાય કે ઘાતક શક્તિ કા સમારંમ  
 કરતે હૈં, દુસરો સે કરાતે હૈં ઓર વાયુકાય કા સમારંમ કરને વાલે દુસરો કા અનુમોદન

તથા પરિવન્દન, અર્થાત્ પ્રશંસા મેળવવા માટે મશકવાયુ અને વાંસુરી વગેરે  
 બજાવીને, વ્યજનયત્ર તથા ગાનયત્ર (વિજળીથી ચાલતા પંખા અને રેડિયો  
 તથા ગ્રામોફોન) વગેરે બજાવીને, પૂજન અર્થાત્-વસ્ત્રો એવ રત્નો આદિના લાભ  
 માટે વાયુયાન (એરોપ્લેન) અને વાયુયત્ર આદિ ઝનાવવામાં તથા જન્મ-મરણથી  
 છુટવા માટે. જેમકે-દેવપ્રતિમાની પાસે નૃત્ય-ગીત અને વાદ્યત્રનો પ્રયોગ કરવામાં,  
 ચામર, પંખા આદિ હલાવવામાં, તથા દુઃખનો નાશ કરવા માટે, જેમકે-વ્યાધિ મટાડવા  
 માટે આજીઠાલના વૈજ્ઞાનિકદ્વારા શોધ કરાએલી વાયુચિકિત્સામાં, તથા તાઠપત્રના  
 પંખાદ્વારા વાયુકાયની ઊદીરણામાં વાયુકાયની હિંસા કરે છે એ પ્રમાણે આ જીવનના  
 મુખ્યના અર્થો પોતે વાયુકાયના ઘાતક શક્તિનો સમારંમ કરે છે, બીજાની પાસે કરાવે છે.  
 અને વાયુકાયનો સમારંમ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે વાયુકાયનો જ

જાનાતિ=અનુમોદયતિ । તત્=વાયુકાયસમારમ્ભણં, તસ્ય=વાયુકાયસમારમ્ભણં-  
કુર્વત કારયિતુઃ અનુમોદયિતુષ્ અહિતાય ભવતિ । તયા-તત્ તસ્ય અવોધયે=  
સમ્યક્ત્વાલાભાય ભવતિ ॥ સૂ૦ ૩ ॥

येन तु तीर्थङ्करादिसमीपे वायुकायस्वरूपं पश्चिन्नात् स एवं विभावयतीत्याह—  
'से त ' इत्यादि ।

મૂલમ્—

से त सबुद्धमाणे आयाणीय समुद्राय सोष्वा खलु भगवओ अणगाराणां वा  
अंतिप, इहमेगेसिं णाय भवइ-एस खलु गंधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस  
खलु णरए । इच्चत्थ गदिए लोए, जमिण विस्वरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारमेण,  
वाउसत्थ समारममाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे बिहिंसइ ॥ सू० ४ ॥

करते हैं । वायुकाय का यह आरंभ करने वाले, कराने वाले और उसकी अनुमोदना करने  
वाले को अहितकर होता है तथा अवोधिजनक होता है ॥ सू० ३ ॥

तीर्थंकर आदि के निकट जिसने वायुकाय का स्वरूप समझ लिया है, वह इस प्रकार  
विचार करता है—‘से तं.’ इत्यादि ।

मूलार्थ—भगवान् से या उनके अनगारों से सुनकर—समझकर जिसने संयम वारण  
क्रिया है वह जानता है कि—यह वायुकाय का समारम ही ग्रंथ है, यही मोह है, यही मार  
है, यही नरक है । इसी में लोग गूढ़ हो रहे हैं, क्योंकि नाना प्रकार के शक्तों से वायुकाय  
के समारमद्वारा वायुशक्त का आरंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियों की हिंसा  
करते हैं ॥ सू० ४ ॥

આરભ, આરભ કરવાવાળાને કથવનારને અને તેની અનુમોદના આપવાવાળાને  
અહિતકર થાય છે, તથા અવોધિજનક થાય છે ॥ સૂ૦ ૩ ॥

तीर्थंकर आदिना समीपमां जेषु वायुकायानुं स्वरूपं समलं वीधुं छे, ते आ  
प्रभाषे विव्यार करे छे—‘से त ’ इत्यादि.

મૂલાર્થ—ભગવાન પાસેથી અથવા તેમના અણુગારો પાસેથી સાંભળી—સમલ  
ને જેણે સંયમ ધારણ કર્યું છે તે બાણે છે કે—આ વાયુકાયનો સમારમબળ ગ્રંથ છે  
જેણે મોહ છે જેણે માર છે જેણે નરક છે, જેમા લોકો ગૂઢ થઈ રહ્યા છે, કેમકે  
નાના પ્રકારના શક્તોથી વાયુકાયના સમારમદ્વારા વાયુશક્તનો આરંભ કરતા થકા  
અન્ય અનેક પ્રકારના પ્રાણીઓની હિંસા કરે છે ॥સૂ૦ ૪॥

સેવનૈશ્વ, તથા પરિવન્દન-માનન-પૂજનાય, પરિવન્દન=પ્રશંસા, તદર્થ=દતિશાયણેષુ  
 પ્રમૃતિવાદનાદૌ, માનન=જનસત્કારસ્તદર્થ, વ્યજનયન્ત્રાદિમચાલનાદૌ,  
 પૂજન=ચત્તરત્નાદિલામસ્તદર્થ વાયુયાન-વાયુયન્ત્રાદિનિર્માણાદૌ, તથા જાતિ  
 મરણમોચનાર્થ=દેવપ્રતિમામિશ્રુત્વં નૃત્યગીતવાદિત્રયયોગે, વ્યજનચામરાદિવીજને ચ,  
 તથા દુઃસ્વપ્રતિષ્ઠાતદેતુ=વ્યાધિપ્રતીકારાર્થ નવીનવૈજ્ઞાનિકોદ્ઘાતિવાયુ-  
 ચિકિત્સાયાં, તથા-તાલધ્વન્તાદિના વાયુકાયોદ્ધમાવને સ=જીવનસુલાભયર્થો,  
 સ્વયમેવ વાયુશસ્ત્રં=વાયુકાયોપમર્દક-શસ્ત્ર સમારમતે=વ્યાપારયતિ, અન્યૈર્વા વાયુ-  
 કાયશસ્ત્રં સમારમ્મયતિ=પ્રયોજયતિ, અન્યાન્ વાયુશસ્ત્ર સમારમમામાન્ સમતુ

તથા પરિવન્દન અર્થાત્ પ્રશંસા પાને કે લિપ્, મશકવાયુ ઓર વાંસુરી ઘજાકર, માનન અર્થાત્  
 જનસત્કાર કે લિપ્ વ્યજનયન્ત્ર (બીજલી કા પેલા) ગાનયન્ત્ર (રેડિયો, ગ્રામોફોન આદિ) ઘજાકર,  
 પૂજન અર્થાત્ વસ્ત્રો પવ રત્નો આદિ કે લામ કે લિપ્ વાયુયાન (પરોપ્લેને) વાયુયન્ત્ર આદિ કે  
 બનાને મેં, તથા જન્મ-મરણ સે છુટકારા પાને કે લિપ્, જૈસે-જિનપ્રતિમા કે આગે નૃત્ય, ગીત  
 ઓર વાદિત્ર કા પ્રયોગ કરને મેં, ચામર પસા આદિ ઝુલાને મેં, તથા દુઃસ્વ કા નાશ કરને કે  
 લિપ્, જૈસે-વ્યાધિ મિટાને કે લિપ્ આધુનિક વૈજ્ઞાનિકો દ્વારા નિકાલો હુઈ વાયુચિકિત્સા  
 મેં તથા તાલધ્વન્તા આદિ દ્વારા વાયુકામ કી તદ્દરણા કરને મેં વાયુકામ કી હિસા કરતે  
 હૈં । ઇસ પ્રકાર ઇસ જીવન કે સુખ કે અર્થો સ્વયં વાયુકામ કે ઘાતક શસ્ત્રો કા સમારમ  
 કરતે હૈં, દુસરો સે કરતે હૈં ઓર વાયુકામ કા સમારમ કરને વાકે દુસરો કા અનુમોદન

તથા પરિવન્દન, અર્થાત્ પ્રશંસા મેળવવા માટે મશકવાયુ અને વાંસુરી વગેરે  
 બજાવીને, વ્યજનયન્ત્ર તથા ગાનયન્ત્ર (વિજળીથી ચાલતા પંખા અને રેડિયો  
 તથા ગ્રામોફોન) વગેરે બજાવીને, પૂજન અર્થાત્-વસ્ત્રો જોડ રત્નો આદિના લાભ  
 માટે વાયુયાન (એરોપ્લેન) અને વાયુયન્ત્ર આદિ બનાવવામાં તથા જન્મ-મરણથી  
 છુટવા માટે. જેમકે-દેવપ્રતિમાની પાસે નૃત્ય-ગીત અને વાદ્યત્રનો પ્રયોગ કરવામાં,  
 ચામર, પંખા આદિ હલાવવામાં, તથા ડું બનેા નાશ કરવા માટે, જેમકે-વ્યાધિ મટાડવા  
 માટે આવજાલના વૈજ્ઞાનિકદ્વારા શોધ કરાએલી વાયુચિકિત્સામાં, તથા તાલપત્રના  
 પંખાદ્વારા વાયુકાયની ઉદ્દીરણામાં વાયુકાયની હિસા કરે છે જે પ્રમાણે આ જીવનના  
 મુખના અર્થો પોતે વાયુકાયના ઘાતક શસ્ત્રોનો સમારભ કરે છે, બીજાની પાસે કરાવે છે  
 અને વાયુશસ્ત્રોનો સમારભ કરવાવાળા બીજાને અનુમોદન આપે છે વાયુકાયનો જે

કાર્યોપચારાત્ । પદમગ્રેડપિવોદ્યમ્ । તથા-અપ. વાયુશસ્ત્રસમારમ્ભઃ, મોહઃ=વિપર્યાસઃ  
=અજ્ઞાનમ્ । તથા અપ એવ માર'=મરણ નિગોદાદિમરણરૂપઃ । તથા અપ એવ નરકઃ=  
નારકજીવાનાં દશવિધયાતનાસ્થાનમ્ ।

इत्यथ=एतदर्थं ग्रन्थमोहमरणनरकरूपं घोरदुःखफलं प्राप्स्यापि पुनः पुनरेतदर्थ-  
मेव, लोक.=अज्ञानवशवर्ती जीव' गृह्य.=लिप्सुरस्ति । यद्वा गृह्यः=मोगामिलापी,  
लोक=ससारी जीव, इत्यर्थ=एतदर्थमेव=ग्रन्थमोहमरणनरकार्यमेव प्रवर्तत इति शेषः ।

લીક પુન પુન' કર્મવન્ધ્યાધર્મ્યમેવ પ્રવર્તત્ત્વેતિ યદુક્ત, તત્ કય જ્ઞાયતે ? इति  
जिज्ञासायामाह—'यदिमम्' इत्यादि ।

यद्=यस्माद् विरूपरूपैः=नानाविधैः शस्त्रै पूर्वोक्तमकारै वायुकर्म-

કાર્ય કા ઉપચાર કરકે કર્મવન્ધ કે કારણ કો મૂલ મેં કર્મવન્ધ કહ્યા છે । આગે મી હસી  
પ્રકાર સમજ લેના જાદિય । તથા યહ વાયુકાય કા સમારંભ અજ્ઞાનરૂપ છે, યહ નિગોદ  
આદિ મેં મૃત્યુ કા કારણ છે, ઔર નરક છે અર્થાત્ નારકીય યાતનાઓ કા સ્થાન છે ।

પ્રથ, મોહ મરણ ઔર નરકરૂપ ઘોર દુઃખમય ફલ પાકર મી અજ્ઞાની જીવ બાર-બાર  
હસી કી છાલસા કરતે હૈં । અથવા મોગો કે અમિલાપી સસારી જીવ હસ પ્રથ, મોહ, મરણ  
ઔર નરકરૂપ ફલ કે છિપ હી પ્રવૃત્તિ કરતે હૈં ।

હોગ કર્મવન્ધ કે લિપ્ હી પુન પુન પ્રવૃત્તિ કરતે હૈં, યહ જો કહ્યા છે સો કિસ પ્રકાર  
જાના જાય ? એસી જિજ્ઞાસા હોને પર કહતે હૈં—'યદિમમ્.' इत्यादि ।

क्यों कि नाना प्रकार के, वायुकाय की विराषना करने वाले सावध व्यापार

કાર્યને ઉપચાર કરીને કર્મવન્ધનાં કારણને મૂલમાં કર્મવન્ધ કહેલ છે વ્યાજ્ઞ પશુ  
આ પ્રકારે સમજ લેવું જોઈએ તથા જો વાયુકાયને સમારંભ અજ્ઞાનરૂપ છે જો  
નિગોદ આદિમાં મૃત્યુનું કારણ છે (અર્થાત્ નિગોદમાં લઈ જવાવાળો છે) અને નરક  
છે અર્થાત્ નારકીય યાતનાઓનું સ્થાન છે

અથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ઘોર દુઃખમય ફલ પ્રાપ્ત કરીને પશુ અજ્ઞાની  
જીવ બારબાર એની છાલસા કરે છે, અથવા મોગોના અમિલાપી સસારી જીવ આ  
અથ, મોહ, મરણ અને નરકરૂપ ફલ માટે પ્રવૃત્તિ કરે છે

હોઠ કર્મવન્ધ માટે પુનઃ પુનઃ પ્રવૃત્તિ કરે છે જો પ્રમાણ જે ઠણું છે તે  
કેવી રીતે બચી શકાય ? એવી જણાયા થતાં કહે છે—'યદિમમ્' इत्यादि.

કેમકે નાના પ્રકારથી વાયુકાયની વિરાષના કરવાવાળા સાવધવ્યાપારદ્વારા તે

## છાયા—

સ તત્ સંબુધ્યમાન આદાનીય સમુત્થાય શ્રુત્વા સ્વલુ મગવતઃ અનગારાણાં ચા  
અન્તિકે રૂઢિકેપાં દ્વાતં મવતિ-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः,  
एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः, यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेन  
वायुशस्त्र समारम्भाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति ॥ सू० ४ ॥

## ટીકા—

यः खलु मगवतः=तीर्थङ्करस्य, अनगाराणां=तदीयभ्रमणनिर्ग्रन्थानां च  
अन्तिके श्रुत्वा आदानीयम्=उपादेयं सर्वसावधयोगविरतिरूपं चारित्र्यं समुत्थाय=  
अङ्गीकृत्य, विहरति, स तत्=वायुकाय समारम्भणं स बुध्यमानः=अहिताबोधिजनक  
त्वेन विज्ञाता सन्नेष विभावयति—

इह=मनुष્યलोके, एकेपां=भ્રમણનિર્ગ્રન્થોપદેશસજાતસમ્યગવબોધવૈરાગ્યાના-  
માત્માર્થિનામેવ, દ્વાતં=વિદિતં મવતિ । કિં જ્ઞાત મવતીત્યાકાઠૂસાયામાહ—‘एष  
खलु ग्रन्थः’ इत्यादि ।

एषः वायुशस्त्रसमारम्भः खलु=निश्चयेन ग्रन्थः=कर्मबन्धः, कारणे

ટીકાર્થ— મિત્ત પુરુષને તીર્થંકર મગવાન્ યા ઉનકે અનુયાયી ભ્રમણ નિર્ગ્રન્થો કે  
મુસ્તારવિન્દ સે સુનકર સર્વ સાવધ કા ત્યાગરૂપ સંયમ અગીકર ક્રિયા હૈ વહ વાયુકાય કે  
સમારંભ કો અહિતકર ઔર અબોધિબનક સમક્ષતા હુઆ હિસ પ્રકાર વિચારતા હૈ—

હિસ છોક્ર મેં ભ્રમણ નિર્ગ્રન્થો કે ઉપદેશ સે સમ્યગ્જ્ઞાન ઔર વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરને વાલે  
આત્માર્થી બનો કો હી અહિં બિદિત હોતા હૈ કિ—

વાયુશસ્ત્ર કા અહ સમારંભ નિશ્ચિતરૂપ સે કર્મબંધ કા કારણ હૈ । કારણ મેં

ટીકાર્થ—જે પુરુષે તીર્થંકર ભગવાન બ્રહ્મા તેમના અનુયાયી ભ્રમણ-નિર્ગ્રન્થના  
અપારવિન્દથી સાંભળીને સર્વ સાવધના ત્યાગરૂપ સંયમ અંગીકાર કર્યો છે, તે વાયુકાયના  
સમારંભને અહિતકર અને અબોધિબનક સમજતા થકા આ પ્રમાણે વિચારે છે—

આ લોકમાં ભ્રમણ નિર્ગ્રન્થના ઉપદેશથી સમ્યગ્જ્ઞાન અને વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત કરવા  
વાળા આત્માર્થી છવોનેજ કો અણવામાં છે કે—

વાયુશસ્ત્ર આને સમારંભ નિશ્ચિતરૂપથી કર્યાંબંધન કારણ છે. કારણમાં

## ટીકા—

તદ્ ઘ્ર્ણીમિ=વાયુકાયહિંસયા યથા बहुषिषा' प्राणिन' प्रणश्यन्ति, तत्  
 કયયામિ=સપાતિમાઃ=उत्पत्योत्पत्यपतनशीलाः, प्राणा'=प्राणिन सन्ति=વાયુ-  
 કાયમાશ્રિત્વ વિઘન્ટે । एते संपातिमा आहस्य=व्यजनताछटन्तवस्त्रादिभि' प्रोद्भा-  
 वितवायुकायादाघात प्राप्य, सपतन्ति=વાયુવેગસમાકુપ્તાઃ;પ્રાણાપગમાયોદ્ગિનાસ્ત્રૈષ  
 વાયુકાયે સંવિશન્તિ, સશ્લિષ્યન્તીત્યર્થઃ ।

સ્પર્શં चेति । स्पर्शोऽस्यास्तीति स्पर्शं=स्पर्शवान्, त स्पर्शं=वायुकायं, स्पृष्टाः  
 =स्पर्शकर्तारः, आर्पत्वात् कर्तरि क्तः । एके=वायुवेगसमाहता. प्राणिनः, सघातमाप-  
 णन्ते=परस्परसघर्षेण गात्रसकोचं प्राप्नुवन्ति ।

ये तत्र=वायुकाये सपतिता सघातमापणन्ते, ते तत्र=वायुकाये

ટીકાર્થ—વાયુ કી હિંસા સે અનેક પ્રકાર કે પ્રાણિયો કા ઘાત કિસ પ્રકાર હોતા  
 હૈ સો કહતા હૈ । સપાતિમ અર્થાત્ ડહ-ઝહકર પડને વાલે અનેક જીવ વાયુકાય કે આશ્રિત  
 રહતે હૈ । યે સંપાતિમ જીવ પંસા, ટાલન્ટ-પંસા કિ એક જાતિ, વસ્ત્ર આદિ સે ઝડીરણા કી હુઈ  
 વાયુકાયદ્વારા આઘાત પાકર ગિર પડતે હૈ, અર્થાત્ વાયુ કે વેગ સે સ્તિચકર ઘવરાયે હુઇ  
 વાયુકાય કે સાથ હો જુઠ-સે જાતે હૈ ।

અહીં સ્પર્શ કા અર્થ હૈ સ્પર્શવાન્ અર્થાત્ વાયુ । કોઈ-કોઈ વાયુ કે વેગ સે આહત  
 હુઇ જીવ સઘાત કો પ્રાપ્ત હોતે હૈ અર્થાત્ પરસ્પર રગડ સ્પર્શ સિદ્ધ જાતે હૈ ।

વાયુકાય મેં પડે હુઇ જો જીવ સિદ્ધ જાતે હૈ વે વાયુકાય કે આઘાત સે

ટીકાર્થ—વાયુકાયની હિંસાથી અનેક પ્રકારનાં પ્રાણીઓનાં ઘાત કેવી રીતે  
 થાય છે તે હું કહું છું :—સપાતિમ-હરી-હરીને પઠવાવાળા અનેક જીવ વાયુકાયના  
 આશ્રયે રહે છે તે સપાતિમ જીવ, પંખા, ટાલપત્ર, વસ્ત્ર આદિથી હરીરણુ  
 કરાએલા વાયુકાયદ્વારા આઘાત પામીને પડી બચ છે અર્થાત્ વાયુના વેગથી  
 એવાઈને ગભરાએલા વાયુકાયની સાથે જોડાઈ બચ છે

અહીં સ્પર્શના અર્થ છે-સ્પર્શવાન્-અર્થાત્ વાયુ કોઈ-કોઈ વાયુના વેગથી  
 આહત-તાડન કરાએલા જીવ સઘાત-જથાપણને પ્રાપ્ત થાય છે અર્થાત્ પરસ્પર  
 ઘસડાઈને સંકોચાઈ બચ છે

વાયુકાયમાં પડેલા જે જીવો સંકોચાઈ બચે છે તે વાયુકાયના આઘાતથી મુર્છિત

સમારમ્ભેણ=વાયુકાયોપમર્દનરૂપસાવધન્યાપારેણ, ઈર્મ=ત્રાયુકાય વિહિનસ્તિ । તથા-  
વાયુશ્ચ સમારમમાણ.~વ્યાપારયન્, અન્યાન્~પૃથિવીકાયાદીન્, અનેકરૂપાન્  
સ્વાવરાંસ્ત્રિસાંધ, પ્રાણાન્~પ્રાણિનઃ વિહિનસ્તિ=ઉપમર્દયતિ ॥ સુ. ૪ ॥

વાયુશ્ચ સમારમમાણા અનેકવિધાન્ જીવાન્ કથ વિહિસન્તિ, તત્ ચ પ્રતિ-  
ષોધયિતુ શ્રીસુધર્મા સ્વામી પ્રાહ—‘ સે વેમિ ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સે વેમિ-સતિ સપાઝમા પાણા આહન્વ સંપયતિ ય, ફરિસ ચ રલ્લુ પુટ્ટા ઇમે  
સંઘાયમાવજ્જતિ । જે તત્થ સઘાયમાવજ્જતિ, તે તત્થ પરિયાવજ્જતિ । જે તત્થ  
પરિયાવજ્જતિ તે તત્થ ઉદાયંતિ ॥ સુ. ૫ ॥

છાયા—

તત્ પ્રવીમિ-સંતિ સંપાતિમાઃ પ્રાણા, આહત્ય સપતન્તિ ચ, સ્પર્શ ચ સ્થ  
સ્પૃષ્ટા એકે સંઘાતમાપચન્તે । યે તત્થ સંઘાતમાપચન્તે, તે તત્થ પર્યાપચન્તે । યે તત્થ  
પર્યાપચન્તે તે તત્થાપદ્માવન્તિ ॥ ૫ ॥

દ્વારા વે વાયુકાય કા ઘાત કરતે હૈં । તથા વાયુકાય કે શક્તિ કા પ્રયોગ કરતે હુપ પૃથ્વીકાય  
આદિ અનેક પ્રકાર કે સ્વાવરો કા, તથા ત્રસ બીજો કા ઉપમર્દન કરતે હૈં ॥ સુ. ૪ ॥

વાયુકાય કે શક્તિ કા પ્રયોગ કરતે વાલે નાના પ્રકાર કે બીજો કી હિસા કૈસે કરતે  
હૈં ? યહ ક્તલને કે સ્મિ શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહતે હૈં—‘ સે વેમિ ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—હ મૈ કહતા હૈં—એકાએક સ્થાવર પદને વાલે બીજ હૈં જો બચાનક  
આપડતે હૈં, ઔર વાયુકાય સે સ્પૃષ્ટ હોકર કોઈ-કોઈ સંઘાત કો પ્રાપ્ત હોતે હૈં । જો  
સંઘાત કો પ્રાપ્ત હોતે હૈં ઉનકા શરીર સિફ્ટ બાવા હૈ, મુર્છિત હો જાતે હૈં, વે મર મૌ  
જાતે હૈં ॥ સુ. ૫ ॥

વાયુકાયના પ્રાપ્ત કરે છે તથા વાયુકાયના શક્તિના પ્રયોગ કરતા થકા પૃથ્વીકાય  
આદિ અનેક પ્રકારના સ્વાવરો તથા ત્રસલોવોનું ઉપમર્દન (નાશ) કરે છે ॥ સુ. ૪ ॥

વાયુકાયના શક્તિના પ્રયોગ કરવાવાળા નાના પ્રકારના લોવોની હિસા કેવી રીતે  
કરે છે ? એ બતાવવા માટે શ્રી સુધર્મા સ્વામી કહે છે—‘ સે વેમિ ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—હું તે કહું છું—એકાએક (એકાએક) હોડીને પડવાવાળા લોવ છે  
તે બચાનક આવી પડે છે, અને વાયુકાયથી સ્પૃષ્ટ થઈને કોઈ-કોઈ બધારે થાય  
છે ને સંઘાત-સંઘાત-જવાહરમાં પ્રાપ્ત થાય છે, તેનું શરીર સ્થ કોઈવાર બાય છે,  
મુર્છિત થઈ જાય છે, અને તે મરી પથ્થ બાય છે ॥ સુ. ૫ ॥

પૃથ્વ સત્ય અસમારમમાણસ્ય ઇત્યેતે આરમ્મા પરિણ્યાયા ભવતિ । ત પરિણ્યાય મેહાવી ણેવ સય વાઠસત્ય સમારમેજ્જા, ણેવજ્ઞોર્હિ વાઠસત્ય સમારમાવેજ્જા, ણેવજ્ઞો વાઠસત્ય સમારમતે સમણુજ્ઞાણેજ્જા, જસેતે વાઠસત્યસમારમા પરિણ્યાયા ભવતિ, સે હુ મુણી પરિણ્યાયકમ્મે-ત્તિ વેમિ ॥ સૂ. ૬ ॥

છાયા—

અત્ર શસ્ત્ર સમારમમાણસ્ય ઇત્યેતે આરમ્મા અપરિણ્યાતા ભવન્તિ । અત્ર શસ્ત્રસમારમમાણસ્ય ઇત્યેતે આરમ્માઃ પરિણ્યાતા ભવન્તિ । ત પરિણ્યાય મેહાવી નૈવ સ્વય વાયુશસ્ત્ર સમારમેત, નૈવાન્યૈર્વાયુશસ્ત્ર સમારમમેત, નૈવાન્યાન્ વાયુશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ સમનુજાનીયાત્ । યસ્યૈતે વાયુશસ્ત્રસમારમ્મા પરિણ્યાતા ભવન્તિ, સ ભલુ મુનિઃ પરિણ્યાતકર્મા, ઇતિ ધ્રવીમિ ॥ સૂ. ૬ ॥

ટીકા—

અત્ર=અસ્મિન્ વાયુકાયે, શસ્ત્ર=પૂર્વોક્તમકાર સમારમણાસ્ય=વ્યાપારયત, ઇત્યેતે=પૂર્વોક્તાઃ ત્રિકરણત્રિયોગૌ કૃતા આરમ્માઃ=વાયુકાયોપમર્દનરૂપા.

કો કર્મવધ કા કારણ નહીં સમક્ષતા । વાયુકાય મેં શસ્ત્ર કા વ્યાપાર ન કરને વાલા હન વ્યાપારો કો કર્મવધ કા કારણ સમક્ષતા હૈ । ઉસે જાનકર વિવેકી પુરુષ સ્વય વાયુ શસ્ત્ર કા આરમ્મ ન કરે, દૂસરો સે વાયુશસ્ત્ર કા આરમ્મ ન કરાવે ઔર વાયુશસ્ત્ર કા આરમ્મ કરને વાલો કા અનુમોદન ન કરે । જો વાયુકાય કે શસ્ત્રો કે વ્યાપાર કો જાનતા હૈ વહી મુનિ હૈ, વહી સાવધ વ્યાપાર કા ત્યાગી હૈ । પેસા મૈ કહતા હૂં ॥ સૂ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—વાયુકાય કે વિષય મેં પૂર્વોક્ત શસ્ત્રો કા ઉપયોગ કરને વાલા ત્રીન કરણ ત્રીન યોગ સે કિયે જાને વાલે ઔર વાયુકાય કે ઘાતક સાવધ વ્યાપારો કો કર્મવધ

કર્મવધનું કારણ સમજતા નથી, વાયુકાયના શસ્ત્રોનો વ્યાપાર નહિ કરવાવાળા તે વ્યાપારને કર્મવધનું કારણ સમજે છે તેને બાહ્યીને વિવેકી પુરુષ ધોતે વાયુશસ્ત્રનો આરભ કરે નહિ, બીજા પાસે વાયુશસ્ત્રનો આરભ કરાવે નહિ, અને વાયુશસ્ત્રનો આરભ કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ. જે વાયુકાયના શસ્ત્રોના વ્યાપારને બાંહે છે તેજ મુનિ છે તેજ સાવધ વ્યાપારના ત્યાગી છે આવું—(આ પ્રમાણે) હું કહું છું ॥ સૂ. ૬ ॥

ટીકાર્થ—વાયુકાયના વિષયમાં પૂર્વોક્ત શસ્ત્રોનો ઉપયોગ કરવાવાળા, ત્રણ કરણ ત્રણ યોગથી કરવામાં આવતા અને વાયુકાયના ઘાતક સાવધ વ્યાપારોને કર્મવધનું કારણ



સંશ્લિષ્ટા પર્યાપદન્તે=વાયુકાયાઘાતેન મૂર્છાપાન્નુવન્તિ-પ્રણયત્તેતના ભવન્તીત્યર્થ' ।  
 યે તન્ન=પર્યાપદન્તે, તે તન્ન=વાયુકાયે, અપદ્રાવન્તિ=માર્ગેર્નિયુજ્યન્તે ।

વાયુશ્ચસમારમ્ભેણ ન કેવલ વાયુજીયચિરાધના જાયતે, કિન્તુ સર્વદિક્  
 સચારિણાં સપાતિમજીવાનામન્યેષાં ચ વહુવિધાનાં દિસાઽપિ દુર્નિવારા ભવતીતિ  
 માવઃ ॥ સૂ. ૫ ॥

एव वायुकायस्य सचित्तत्वं विदित्वा मृत्तित्वप्राप्तये त्रिकरण-त्रियोगैस्तत्समा  
 रम्भो वर्जनीय इत्याशयेनाह—' एतत् सत्य ' इत्यादि ।

મૂલમ્—

एतत् सत्यं समाश्रममाणस इच्छते आरम्भ अपरिण्णया भवति ।

મુશ્કિલ્લ હો જાતે હૈં—उनकी चेतना नष्ट हो जाती है, और जो मुश्किल हो जाते हैं वे प्राणी से  
 रहित हो जाते हैं अर्थात् मर जाते हैं ।

વાયુકાય કે શક્તિ કા આરમ્ભ કરને સે અકેહે વાયુકાય કી હી વિરાધના નહીં હોતી  
 થરન્ સમી દિશાઓ મેં ફિરને વાહે સપાત્તિમ બીજો કી તથા અન્ય અનેક પ્રકાર કે બીજો કી  
 દિસા હોના મી અનિવાર્ય હૈ ॥ સૂ. ૫ ॥

इस प्रकार वायुकाय की सचित्तता समझकर साधुता प्राप्त करने के लिए तीन करण  
 तीन योग से वायुकाय का समाश्रम त्यागने योग्य है । इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—  
 'एतत् सत्य' इत्यादि ।

સૂત્રાર્ય—વાયુકાય કે વિષય મેં શક્તિ કા વ્યાપાર કરને વાછા હન વ્યાપારો

અર્થ બાધ છે—તેની ચેતના નાશ પામી બાધ છે અને જે મુશ્કિલ અર્થ બાધ છે તે  
 પ્રાણીથી રહિત પણ અર્થ બાધ છે અર્થાત્ મરણ પામે છે

વાયુકાયના શક્તિના આરમ્ભ કરવાથી, એકલા વાયુકાયના જીવોનીજ વિરાધના  
 થાય છે એટલુંજ નહિ પરન્તુ સર્વ દિશાઓમા ફરવાવાળા સપાતિમ જીવોની તથા  
 અન્ય અનેક પ્રકારના જીવોની ઘાત થવી તે પણ અનિવાર્ય છે ॥સૂ. ૫॥

આ પ્રમાણે વાયુકાયની સચિત્તતા સમજીને સાધુતા પ્રાપ્ત કરવા માટે ત્રણ  
 કરણ ત્રણ યોગથી વાયુકાયનો સમાશ્રમ ત્યાગ કરવા યોગ્ય છે એ આશયથી  
 સૂત્રકાર કહે છે—'एतत् सत्य' इत्यादि

સૂત્રાર્યઃ—વાયુકાયના વિષયમા શક્તિના વ્યાપાર કરવાવાળાઓ એ વ્યાપારોને

સાવધવ્યાપારા', પરિજ્ઞાતા' = જ્ઞ-પરિજ્ઞાયા વન્ધકારણતયા વિદિતા., પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞાયા ચ પરિવર્જિતા ભવન્તિ, સ એવ પરિજ્ઞાતકર્મા = ત્રિકરણત્રિયોગૈ' પરિવર્જિત-સકલસાવધવ્યાપારઃ, મુનિર્ભવતિ ।

નતુ ત્રિકરણત્રિયોગૈર્વાયુકાયવિરાધનાપરિહારેણ યસ્તુ પરિજ્ઞાતકર્મા સ એવ મુનિર્ભવતીત્યુક્ત તત્કયમ્પપદ્યતે ? યતો હિ ગચ્છતા તિષ્ઠતા આસીનેન સ્વપતા મુઠ્ઠજાનેન માપમાણેન વાયુકાયવિરાધના દુષ્પરિહારા કય તર્હિ મુનિશ્ચરેત્ તિષ્ઠેત્ આસીત જ્ઞયીત મુઠ્ઠજીત માપેત ? इति । અપ્રોચ્યતે-મુનિનાં સર્વં સ્વર્કર્ષવ્ય યતનયૈવ સપાદનીયમ્, અત એવોક્તં મગવતા—

કર્મવચ કા કારણ જ્ઞાન લિયા ઔર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગ દિયા હૈ વહી તૌન કરણ ઔર તૌન યોગ સે ત્યાગ કરને વાલા મુનિ હોતા હૈ ।

શંકા—‘તૌન કરણ ઔર તૌન યોગ સે વાયુકાય કી વિરાધના કા ત્યાગ કરને વાલે હી મુનિ હોતે હૈ’ યહ કયન કિસ પ્રકાર સહી હો સકતા હૈ ? ચલ્ને, ટહરને, બેઠને, સોને, બાહાર કરને ઔર માપણ કરને મેં વાયુકાય કી વિરાધના સે વચ નહીં સકતે । ऐसी दशा में मुनि कैसे चले, कैसे ठहरे कैसे बैठे, कैसे सोए, कैसे भोजन करे और कैसे बोले ?

સમાધાન—મુનિ કો અપની સબ ક્રિયાયૈં યતનાપૂર્વક હી કરની યાહિય । મગવાનને કહ્તા હૈ —

અન્ધનું કારણ છે' એમ બાણી લીધું છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેને ત્યજી દીધા છે, તે ત્રણ કારણ અને ત્રણયોગથી ત્યાગ કરવાવાળા મુનિ હોય છે

શંકા—‘ત્રણ કારણ અને ત્રણયોગથી વાયુકાયની વિરાધનાનો ત્યાગ કરવાવાળા જ મુનિ હોય છે’ આ વચન કેવી રીતે સાચુ હોઈ શકે છે ? ચાલતા, બેસતા, શેઠાતાં, સુતા, બોજન કરતાં અને ભાષણ કરતાં વાયુકાયની વિરાધનાથી બચી શકાતું નથી એવી દશામાં મુનિ કેવી રીતે ચાલે, કેવી રીતે બેસે, કેવી રીતે શેઠાય, કેવી રીતે સુવે, કેવી રીતે બોજન કરે અને કેવી રીતે બોલે ?

સમાધાન—મુનિએ પોતાની સર્વ ક્રિયાઓ યતનાપૂર્વક કરવી બોધબ્ધે, ભગવાને કહ્યું છે—

સાવધવ્યાપારા', અરિજ્ઞાતા. = કર્મબંધકારણેત્વેનાનવગતાઃ મવન્તિ ।

અપ્ર=અસ્મિન્નેવ વાયુકાયે, શસ્ત્ર=વાયુકાયમકારમ્, અસમારમમાણસ્ય=અમ્બુ-  
જ્ઞાનસ્ય, इत्येते=પૂર્વોક્તા, આરમ્માઃ=સાવધવ્યાપારાઃ, પરિજ્ઞાતા મવન્તિ=જપરિ-  
જ્ઞયા પરિજ્ઞાતાઃ, પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા પરિવર્જિતા મવન્તીત્યર્થઃ ।

જપરિજ્ઞાપૂર્વિકા પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા યથા મવતિ, ત મકાર દર્શયતિ—‘તવ  
પરિજ્ઞાય’ इत्यादि । तद्=વાયુકાયારમ્ભણ, પરિજ્ઞાય=‘કર્મબંધસ્ય કારણ મવતી’  
इत्यवगत्य, મેધાવી=હેયોપાદેયવિવેકનિપુણ સ્વય વાયુશસ્ત્ર નૈવ સમારમ્ભેત=નૈવ  
વ્યાપારયેત્, અન્યૈર્વાયુશસ્ત્ર નૈવ સમારમ્ભયેત્, વાયુશસ્ત્ર સમારમમાણાન્ અન્યાન્  
નૈવ સમજુજાનીયાત્=નૈવાનુમોદયેત્ ।

यस्यैते      वायुशस्त्रसमारम्भाः=वायुकायमुद्दिश्य      शस्त्रैस्तदुपमर्दनरूपा

કા કારણ નહીં સમજતા । અર્થાત્ ઇતે મહ જ્ઞાન નહીં હોતા કિ—‘इन पाप-कृत्यों से मुझे  
કર્મ કા બધ હોગા’

છેકિન હસી વાયુકાય કે વિષય મેં જાણો કા આરંમ ન કરને વાચ સાવધ વ્યાપારો  
કો જપરિજ્ઞા સે જાનતા હૈ ઓર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગ દેતા હૈ ।

જપરિજ્ઞાપૂર્વિક પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા વિષ્ટ પ્રકાર હોતી હૈ સો દિલ્લછાતે હૈ—વાયુકાય કે  
આરમ કો કર્મબંધ કા કારણ જ્ઞાનકર હેયોપાદેય કા વિવેક રહને વાચ પુરુષ સ્વમ વાયુશસ્ત્ર  
કા આરમ ન કરે, દુસરો સે વાયુશસ્ત્ર કા આરંમ ન કરાવે ઓર વાયુશસ્ત્ર કા આરંમ કરનેવાણો  
કા અનુમોદન ન કરે ।

जिसने वायुकायसंबंधी इन आरंभों का अर्थात् सावध व्यापारों को जपरिज्ञा से

સમજત્તા નથી. અર્થાત્ તેમને કો જ્ઞાન થતું નથી કે—‘આ પાપકૃત્યોથી મને કર્મના  
બધ થશે.’ પરંતુ આ વાયુકાયના વિષયમાં જાણોના આરંભ નહિ કરવાવાળા સાવધ  
વ્યાપારોને જપરિજ્ઞાથી જાણે છે, અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી ત્યજી દે છે જપરિજ્ઞાપૂર્વિક  
પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા ને પ્રમાણે જોય છે તે બતાવે છે—વાયુકાયના આરંભને કર્મબંધનું  
હારણ બાધીને કોય—ઉપાદેયનો વિવેક રાખવાવાળા પુરુષ યોતેજ વાયુશસ્ત્રનો આરંભ  
કરે નહિ બીજા પાસે વાયુશસ્ત્રનો આરંભ કરાવે નહિ અને વાયુશસ્ત્રનો આરંભ  
કરવાવાળાને અનુમોદન આપે નહિ

ને વાયુકાયસંબંધી કો આરંભોને અર્થાત્ સાવધ વ્યાપારોને જપરિજ્ઞાથી ‘કર્મ

સાવધવ્યાપાર', પરિજ્ઞાતા' = જ્ઞ-પરિજ્ઞયા વન્ધકારણતયા વિદિતા', પ્રત્યાખ્યાન-પરિજ્ઞયા ચ પરિવર્જિતા ભવન્તિ, સ એવ પરિજ્ઞાતકર્મા = ત્રિકરણત્રિયોગૈ' પરિવર્જિત-સકલસાવધવ્યાપાર', મુનિર્ભવતિ ।

નનુ ત્રિકરણત્રિયોગૈર્વાયુકાયવિરાધનાપરિહારેણ યસ્તુ પરિજ્ઞાતકર્મા સ એવ મુનિર્ભવતીત્યુક્ત તત્કથમુપપદ્યતે ? યતો હિ ગચ્છતા તિષ્ઠતા આસીનેન સ્વપતા મુઠ્ઠજાનેન માપમાણેન વાયુકાયવિરાધના દુષ્પરિહારા કથ તર્હિ મુનિશ્વરેત્ તિષ્ઠેત્ આસીત શયીત મુઠ્ઠજીત માપેત ? इति । અત્રોચ્યતે-મુનિનાં સર્વં સ્વકર્તૃત્વ્ય યતનયૈવ સપાદનીયમ્, અત એવોક્ત ભગવતા—

કર્મધર્મ કા કારણ જ્ઞાન લિયા ઔર પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગ દિયા હૈ વહી તૌન કરણ ઔર તૌન યોગ સે ત્યાગ કરને વાછા મુનિ હોતા હૈ ।

શંકા—‘તૌન કરણ ઔર તૌન યોગ સે વાયુકાય કી વિરાધના કા ત્યાગ કરને વાછે હી મુનિ હોતે હૈ’ યહ કથન કિસ પ્રકાર સહી હો સકતા હૈ ? નહ્ને, ઠહરને, વૈઠને, સોને, આઢાર કરને ઔર માપણ કરને મેં વાયુકાય કી વિરાધના સે વચ નહીં સક્તે । પેસી વશા મેં મુનિ કૈસે ચહે, કૈસે ઠહરે કૈસે બેઠે, કૈસે સોપ, કૈસે મોક્ષન કરે ઔર કૈસે વાછે ?

સમાધાન—મુનિ કો અપની સર્વ ક્રિયાઈ યતનાપૂર્વક હી કરની વાહિય । ભગવાનને કહા હૈ —

બન્ધનુ ઠારણુ છે' એમ બાણી લીધુ છે અને પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞાથી તેને ત્યજી દીધા છે, તે ત્રણ કરણુ અને ત્રણયોગથી ત્યાગ કરવાવાળા મુનિ હોય છે

શંકા—‘ત્રણ કરણુ અને ત્રણયોગથી વાયુકાયની વિરાધનાનો ત્યાગ કરવાવાળા જ મુનિ હોય છે’ આ વચન કેવી રીતે સાચુ હોઈ શકે છે ? આલતા, બેસતા, શેઠાતાં, સુતા, બોજન કરતાં અને ભાષણ કરતા વાયુકાયની વિરાધનાથી બચી શકાઈ નથી એવી દશામાં મુનિ કેવી રીતે ચાહે, કેવી રીતે બેસે, કેવી રીતે શેઠાય, કેવી રીતે સુવે, કેવી રીતે બોજન કરે અને કેવી રીતે યાહે ?

સમાધાન—મુનિએ પોતાની સર્વ ક્રિયાઓ યતનાપૂર્વક કરવી બોધ્યો, ભગવાને કહ્યું છે—

“જય ચરે જયં ચિદ્રે, જયમાસે જયં સપ્ ।

જય મુજતો માસતો, પાવચ્ચ ન વધર્હિ” ॥ ૧ ॥

નનુ ગમનાગમનાદોં યતનાયાઃ મુસપાઘત્તેઽપિ માપણયતના કથં વિધેયા ? કથમપિ માપણે દિ વાયુકાયવિરાધના પરિહર્તૃં ન શક્યતે, કથ મુનિયંતનપા માપેત ? માપણે વાયુકાયવિરાધનયા સાદં મુસ્મવ્યાપિસપાતિમજીવાનામપિ વિરાધના-ઽવશ્યમ્માવિની, તેર્પા વાયુધેગસમાકુપ્ટાનામાહસ્ય સપતનેન, વાયુસસ્યજ્ઞેન ચ સપાત પર્યાપત્ય-પદ્રાધણાન્ત મવતીત્યપ્રૌણેશેઽમિહિતત્વાત્ ? ઇતિ ચેદુચ્યતે—

મુસ્તવશ્ચિકાવધનં માપણયતના મગવતા પ્રતિધોષિતા, એપ વાયુકાય-

“યતનાપૂર્વક ચહે, યતનાપૂર્વક સહા રહે, યતનાપૂર્વક વેટે, યતનાપૂર્વક સોપ, યતનાપૂર્વક મોજન કરે ઔર યતનાપૂર્વક બોલે તો (સાધુ) પાપકર્મ કા વધ નહીં કરતા હૈ” ॥૧॥

શુદ્ધા—જાને-જાને મેં યતના સરલતા સે હો સકતી હૈ મગર બોલ્ને કી યતના કિસ પ્રકાર કરની યાદિય ? બોલ્ને મેં વાયુકાય કી વિરાધના કૌસી મી પ્રકાર નહીં ટલ સકતી તો મુનિ કિસ પ્રકાર માપણ કરે ? માપણ કરને મેં વાયુકાય કી વિરાધના કે સાથ સર્વત્ર વ્યાપ્ત છોટે-છોટે સપાતિમ જીવોં કી વિરાધના મી અવશ્ય હોતી હૈ । ઇસી ઉદ્દેશ મેં ઘટલખા ગયા હૈ કિ—સપાતિમ જાવ વાયુ કે વેગ સે ટિંચકર જા પડતે હૈ ઔર વાયુ કે સ્પર્શ સે સંઘાત કો પ્રાપ્ત હોતે હૈ, મૂર્છિત હો જાતે હૈ ઔર મર મી જાતે હૈ ।

સમાધાન—મગવાન્ ને મુસ્તવશ્ચિકા બોધના માપણી કી યતના બતહાર્હિ હૈ ।

‘યતનાપૂર્વક ચાહે, યતનાપૂર્વક યોચે, યતનાપૂર્વક શેકાય, યતનાપૂર્વક મુઢે, યતનાપૂર્વક સોજન કરે, અને યતનાપૂર્વક બોલે તો (સાધુ) પાપ કર્મોનાં બધ કરતા નથી ॥૧॥

શ કા—જવા આવવામાં યતના સરલતાપૂર્વક થઈ શકે છે, પરંતુ બોલવાની યતના કેવી રીતે કરવી જોઈએ ? બોલવામાં વાયુકાયની વિરાધના ઠોઈ પણ પ્રકારથી ટળી શકતી નથી, તો મુનિ કેવી રીતે બાધણ કરે ? બાધણ કરવામાં વાયુકાયની વિરાધનાની સાથે સર્વત્ર વ્યાપ્ત નાના-નાના સપાતિમ જીવોની વિરાધના પણ અવશ્ય થાય છે જા ઉદ્દેશમાં બતાવવામાં આવ્યું છે કે—સપાતિમ જીવ વાયુના વેગથી ખેંચાઈને જાવી પડે છે; અને વાયુના સ્પર્શથી સંઘાત—(અનુકાય)ને પામે છે, મૂર્છિત થઈ જાય છે અને મરણ પણ પામે છે

સમાધાન—મગવાને મુસ્તવશ્ચિકા બાધવી તે બાધણની યતના બતાવી

સમારમ્મઃ પ્રન્યમોહમારનરકરૂપસ્તસ્માવહિતોઽયમિતિ મત્વા વાયુકાયવિરાધનયા  
શાન્તિમાર્ગાવલમ્બિનઃ સંયમિનઃ પ્રાણાન્ ધારયિતુમપિ નાવકારુચ્યન્તીત્યપ્રેવોદેશે  
સમુપદિશતા મગવતા માપણયતનારૂપ મુલવશિકાવન્ધનમિતિ સૂચિતમ્ । ઉક્તञ્ચ  
સમુત્થાનસૂત્રે—

“ તત્તો પચ્છા ગોયમા ! સર્લિને મુહપત્તિં મુદ્ધેણ સદ્ધિં ધવે ॥ ૧ ॥

મુહપત્તીઃ ણં મતે ! કિંપમાણા ? ગોયમા ! મુહપ્પમાણા મુહપત્તી । મુહપત્તી ણં  
મંતે ! કસ્સ વત્થસ્સ કદ્ધે ? ગોયમા ! એગસ્સવિ સેયવત્થસ્સ ણં અદ્ધપુહલાપ  
મુહપત્તિં કરેહ ॥ ૨ ॥

કસ્સહ મુહપત્તીએ ણં અદ્ધ પુહલાહ ? ગોયમા ! અદ્ધકમ્મવદ્ધણહ ॥

મુહપત્તી ણં મતે ?, કદ્ધ ધવે ?, ગોયમા ! એગક્કેણ દુષ્સકલ્પમાણેણ દોરેણ  
સદ્ધિં મુદ્ધે ધવેહ । મુહપત્તીએ ણં મતે ! કે અદ્ધે ?, ગોયમા ? જણં મુહઅતે સદ્ધ વદ્ધતિ  
સે તેણદ્ધેણં મુહપત્તી । કસ્સહમંતે ! મુહપત્તિં મુદ્ધેણસદ્ધિં ધવે ?, ગોયમા ! સર્લિગવાડ-  
જીવરક્કલ્લણહ ॥ ૩ ॥

અહ ણં મંતે ! મુહપત્તી વાડજીવરક્કલ્લણદ્વાએ તો કિં સુહુમવાડકાયજીવરક્કલ્લ-  
ણદ્વાએ વા વાયરવાડકાયજીવરક્કલ્લણદ્વાએ વા ? ગોયમા ! ણોતિ સુહુમવાડકાયજીવ-  
રક્કલ્લણદ્વાએ વાયરવાડકાયજીવરક્કલ્લણદ્વાએ । નો—તિ અવિસેસ, એવ તે સઘ્ધેવિ  
અરિહતા પવુચ્ચંતિ ॥ ૪ ॥” ઇતિ ।

યહ વાયુકાય કા સમારમ્મ પ્રન્ય હૈ, મોહ હૈ, માર હૈ, નરક હૈ જોર હસ કારણ  
અહિતકારી હૈ, અત એવ શાન્તિ—મોક્ષમાર્ગ કા અવલમ્બન કરને વાલે સયમી વાયુકાય કી  
વિરાધના કરકે અપને પ્રાણો કી મી રૂચ્છા નહીં કરતે । હસી ઉદેશ મેં મગવાન્ ને  
ઉપદેશ દેતે હુએ માયા ચતનારૂપ મુલવશિકા કા વાંધના સૂચિત કિયા હૈ । સમુત્થાન સૂત્ર  
મેં કહા મી હૈ —

સમારમ્મ અથ છે, મોહ છે, માર છે, નરક છે, અને તે કારણે અહિતકારી છે એટલા  
માટે શાન્તિ—મોક્ષ માર્ગનું અવલમ્બન કરવાવાળા સયમી વાયુકાયની વિરાધના કરીને  
પોતાના પ્રાણની પણ ઇચ્છા કરતા નથી. આ ઉદેશમાં ભગવાને ઉપદેશ આપતા થકા  
માયા ચતનારૂપ મુલવશિકા વાંધવાની સૂચના કરી છે

સમુત્થાનસૂત્રમાં કહ્યું પણ છે:—

## छाया—

“ ततः पश्चात् गौतम ! सलिलो मुखपत्रीं मुखेन सार्द्धं बध्नीयात् । मुखपत्री खलु भदन्त ! किममाणा ?, गौतम ! मुखममाणा मुखपत्री । मुखपत्री खलु भदन्त ! केन वस्त्रेण कृता ?, गौतम ! एकस्यापि श्वेतवस्त्रस्याष्टपुटका मुखपत्री कुर्यात् ॥ २ ॥

कस्मै अर्थाय भदन्त ! मुखपत्री खलु अष्टपुटका ?, गौतम ! अष्टकर्म दहनार्थम् । मुखपत्रीं भदन्त ! कथं बध्नीयात् ?, गौतम ? एककर्णेन द्वितीयकर्णं

“ गौतम । तत्पश्चात् स्वलिङ्गी साधु मुख के साथ मुखपत्ती बाँधे ॥१॥

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—गौतम । मुँह के बराबर मुँहपत्ती होती है ।

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती किस वस्त्र की होती है ?

उत्तर—गौतम । एक सफेद वस्त्र की आठ पुटकी मुँहपत्ती होती है ॥२॥

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती आठ पुटकी क्यों होनी चाहिए ?

उत्तर—गौतम । आठ कर्मों को मत्स्य करने के लिए ।

प्रश्न—भगवान् ! मुँहपत्ती किस तरह बाँधनी चाहिये ?

उत्तर—गौतम । एक कान से दूसरे कान तक कन्धे कोरे के साथ मुँहपत्ती मुख पर बाँधनी चाहिए ।

“ गौतम ! तत्पश्चात् स्वलिङ्गी साधु भुज साथै भुजपत्ति बांधे (१)

प्रश्न—भगवान् ! भुजपत्तीनुं भुं प्रमाण्यं छे ?

उत्तर—गौतम ! भुजपत्ती भराभर भुजपत्ती छेव छे

प्रश्न—भगवान् ! भुजपत्ती क्या वस्त्रणी भने छे ?

उत्तर—गौतम ! जेठ सहेठ वस्त्रणी आठ पठनी भुजपत्ती छेव छे (२)

प्रश्न—भगवान् ! भुजपत्ती आठ पठनी आ भाटे छेव छे भेधछे ?

उत्तर—गौतम ! आठ कर्मणि वस्त्र कस्वा भाटे

प्रश्न—भगवान् ! भुजपत्ती केवी रीते बांधनी भेधछे ?

उत्तर—गौतम ! जेठ कानधी गीला कान सुधी लांला दोरानी साथै भुजपत्ती भुज पर बांधनी भेधछे

પ્રમાણદવરકેણ સદૃઢ મુલે વધ્નીયાત્ મુલપત્ત્યા મદન્ત ! કોઝ્ય ? ગૌતમ ! યત્વલુ મુલ્લાન્તે સદા વર્તતે તેનાર્યેન મુલપત્રી । કસ્યે અર્યાય મદન્ત ! મુલપત્રી મુલેન સદૃઢ વધ્નીયાત્ ? ગૌતમ ! સ્વલિદ્રવાયુજીવરક્ષણાર્થમ્ ॥ ૩ ॥

યદિ સ્વલુ મદન્ત ! મુલપત્રી વાયુજીવરક્ષણાર્થાય તત્કિ સૂક્ષ્મવાયુકાયજીવ-  
રક્ષણાર્થાય વા વાદરવાયુકાયજીવરક્ષણાર્થાય ? ગૌતમ ! નો ઇતિ સૂક્ષ્મવાયુકાય-  
જીવરક્ષણાર્થાય, (કિન્તુ) વાદરવાયુકાયજીવરક્ષણાર્થાય, નો ઇતિ અવિશેષમ્, એવં  
તે સર્વેઽપિ અર્હન્ત ધ્રુવન્તિ ॥ ૪ ॥ ઇતિ ।

સમતિ કેચિન્મુનિમ્મન્યા મુલવલ્લિકાવન્ધન પ્રતિપેષયન્તિ તેપામાચાર્યાસ્તુ

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુંહપત્તી કા અર્થ કયા હૈ ?

ઉત્તર—વહ સદૈવ મુંહ પર બંધી રહતી હૈ ઇસ લિખ વહ મુંહપત્તી કહલાતી હૈ ।

પ્રશ્ન—કિસ પ્રયોજન સે મુંહપત્તી મુલ પર બાંધની વાહિપ ?

ઉત્તર—મુંહપત્તી બાંધના સાધુ કા સ્વલિંગ હૈ ઇસ લિખ, તથા વાયુકાય કા જીવો કી  
રક્ષા કા લિખ મુંહપત્તી બાંધી વાતી હૈ ॥૩॥

પ્રશ્ન—મગવાન્ અગર વાયુકાય કી રક્ષા કા લિખ મુંહપત્તી હૈ તો સૂક્ષ્મ વાયુકાય કી  
રક્ષા કા લિખ હૈ વા વાદર વાયુકાય કી રક્ષા કા લિખ ?

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ વાયુકાય કી રક્ષા કા લિખ નહીં કિન્તુ વાદર વાયુકાય કા જીવો કી  
રક્ષા કા લિખ હૈ । સમો અર્હન્ત એસા હી કહતે હૈ ” ॥૪॥

આવકઠ અપને કો મુનિ માનને વાલે કોઈ—કોઈ મુલવલ્લિકા કા બાંધને કા

પ્રશ્ન—મગવન્ ! મુંહપત્તીના અર્થ શુ છે ?

ઉત્તર—ઔતમ ! તે હમેશા મુખપર બાંધી રહે છે તેથી તે મુંહપત્તી કહેવાય છે

પ્રશ્ન—શુ પ્રયોજનથી મુંહપત્તી મુખપર બાંધવી જોઈએ ?

ઉત્તર—મુંહપત્તી બાંધવી તે સાધુનું સ્વલિંગ છે એ માટે, તથા વાયુકાયના  
જીવોની રક્ષા માટે મુંહપત્તી બાંધે (૩)

પ્રશ્ન—મગવન્ ! અગર વાયુકાયની રક્ષા માટે, મુંહપત્તી છે તો શુ સૂક્ષ્મ  
વાયુકાયની રક્ષા માટે છે અથવા બાદર વાયુકાયની રક્ષા માટે છે ?

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ વાયુકાયની રક્ષા માટે નહિ પરન્તુ બાદર વાયુકાયના જીવોની  
રક્ષા માટે છે સર્વ અર્હન્ત એ પ્રમાણે કહે છે. (૪)

આજ કાલ પોતાને મુનિ માનવાવાળા કોઈ—કોઈ મુલવલ્લિકા બાંધવાનો નિષેધ



## છાયા—

“ તતઃ પથાત્ ગૌતમ ! સલિદ્રો મુલપત્રીં મુલેન સાર્દઃ વખ્નીયાત્ ।  
મુલપત્રીં ચલુ મદન્ત ! કિંપ્રમાણા ? , ગૌતમ ! મુલપ્રમાણા મુલપત્રી । મુલપત્રી  
ચલુ મદન્ત ! કેન ઘસેણ કૃતા ? , ગૌતમ ! એકસ્યાપિ શ્વેતવસ્તસ્યાષ્ટપુટકાં મુલપત્રીં  
કુર્યાત્ ॥ ૨ ॥

કસ્મૈ અર્થાય મદન્ત ! મુલપત્રી ચલુ અષ્ટપુટકા ? , ગૌતમ ! અઘ્કર્મ  
દશનાર્યમ્ । મુલપત્રીં મદન્ત ! કથં વખ્નીયાત્ ? , ગૌતમ ? એકકર્મેન દ્વિતીયકર્મ

“ ગૌતમ ! તત્પથાત્ સ્વલિંગી સાધુ મુલ કે સાથ મુલપત્રીં બાંધે ॥૧॥

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં કા કયા પ્રમાણ હૈ ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! મુલ કે બરાબર મુલપત્રીં હોતી હૈ ।

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં કિસ વસ્ત્ર કી હોતી હૈ ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક સફેદ વસ્ત્ર કી આઠ પુટકી મુલપત્રીં હોતી હૈ ॥૨॥

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં આઠ પુટકી કયો હોની चाहिए ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! આઠ કમોં કો મસ્ત કરને કે લિપ્ત ।

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં કિસ તરહ બાંધની चाहिए ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક કાન સે દુસરે કાન તક હમ્ને ઢોરે કે સાથ મુલપત્રીં મુલ  
પર બાંધની चाहिए ।

“ ગૌતમ ! તત્પથાત્ સ્વલિંગી સાધુ મુલ સાથે મુલપત્રીં બાંધે (૧)

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીંનું શું પ્રમાણ છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! મુલની બરાબર મુલપત્રીં હોય છે

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં કયા વસ્ત્રની બને છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક સફેદ વસ્ત્રની આઠ પટ્ટની મુલપત્રીં હોય છે (૨)

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં આઠ પટ્ટની શા માટે હોવી જોઈએ ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! આઠ ઠગેની બાસ્ત્ર ઠરવા માટે

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુલપત્રીં કેવી રીતે બાંધવી જોઈએ ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક કાનથી બીજા કાન સુધી લાંબા દોરાની સાથે મુલપત્રીં  
મુલ પર બાંધવી જોઈએ

પ્રમાણદવરકેણ સર્દે મુલ્લે વધ્નીયાત્ મુલ્લપત્ત્યા મદન્ત ! કોર્થ્ય ? , ગૌતમ ! યત્વલ્લ મુલ્લાન્તે સદા વર્તતે તેનાર્યેન મુલ્લપત્રી । કસ્મૈ અર્યાય મદન્ત ! મુલ્લપત્રી મુલ્લેન સાર્દ વધ્નીયાત્ ? , ગૌતમ ! સ્વલિદ્વાયુનીવરક્ષણાર્થમ્ ॥ ૩ ॥

યદિ લલ્લ મદન્ત ! મુલ્લપત્રી વાયુજીવરક્ષણાર્થાય તત્કિ સૂક્ષ્મવાયુકાયજીવ-  
રક્ષણાર્થાય વા વાદરવાયુકાયજીવરક્ષણાર્થાય ? ગૌતમ ! નો ઇતિ સૂક્ષ્મવાયુકાય-  
જીવરક્ષણાર્થાય, (કિન્તુ) વાદરવાયુકાયજીવરક્ષણાર્થાય, નો ઇતિ અવિશેષમ્, एवं  
તે સર્વેઽપિ અર્હન્ત મુવન્તિ ॥ ૪ ॥ ઇતિ ।

સપતિ કેચિન્મુનિમ્મન્યા મુલ્લવલ્લિકાવન્ધન પ્રતિપેધયન્તિ તેપામાચાર્યાસુ

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુંહપત્તી કા અર્થ કયા હૈ ?

ઉત્તર—વહ સદૈવ મુંહ પર વંધી રહતી હૈ ફસ લિપ્ વહ મુંહપત્તી કહલાતી હૈ ।

પ્રશ્ન—કિસ પ્રયોગન સે મુંહપત્તી મુલ્લ પર વાંધની વાહિપ ?

ઉત્તર—મુંહપત્તી વાંધના સાધુ કા સ્વલિંગ હૈ ફસ લિપ્, તયા વાયુકાયુ કે જીવો કી  
રક્ષા કે લિપ્ મુંહપત્તી વાંધી જાતી હૈ ॥૩॥

પ્રશ્ન—મગવાન્ અગર વાયુકાય કી રક્ષા કે લિપ્ મુંહપત્તી હૈ તો સૂક્ષ્મ વાયુકાય કી  
રક્ષા કે લિપ્ હૈ યા વાદર વાયુકાય કી રક્ષા કે લિપ્ ?

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ વાયુકાય કી રક્ષા કે લિપ્ નહીં કિન્તુ વાદર વાયુકાય કે જીવો કી  
રક્ષા કે લિપ્ હૈ । સમો અર્હન્ત પેસા હી કહતે હૈ ” ॥૪॥

બાલકલ્લ અપને કો મુનિ માનને વાલે કોઈ—કોઈ મુલ્લવલ્લિકા કે વાંધને કા

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! મુંહપત્તીનો અર્થ શું છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! તે હમેશાં મુખપર બાંધી રહે છે તેથી તે મુંહપત્તી કહેવાય છે

પ્રશ્ન—શું પ્રયોજનથી મુંહપત્તી મુખપર બાંધવી જોઈએ ?

ઉત્તર—મુંહપત્તી બાંધવી તે સાધુનું સ્વલિંગ છે એ માટે, તથા વાયુકાયના  
જીવોની રક્ષા માટે મુંહપત્તી બાંધે. (૩)

પ્રશ્ન—મગવાન્ ! અગર વાયુકાયની રક્ષા માટે, મુંહપત્તી છે તો શું સૂક્ષ્મ  
વાયુકાયની રક્ષા માટે છે અથવા બાદર વાયુકાયની રક્ષા માટે છે ?

ઉત્તર—સૂક્ષ્મ વાયુકાયની રક્ષા માટે નહિ પરન્તુ બાદર વાયુકાયના જીવોની  
રક્ષા માટે છે સર્વ અહન્ત એ પ્રમાણેજ કહે છે (૪)

બાલકલ્લ પોતાને મુનિ માનવાવાળા કોઈ—કોઈ મુખવલ્લિકા બાંધવાનો નિષેધ

મુસ્તવલ્લિકામન્ધન સ્વીકૃત્યેવ । ઉક્તચ્ચ જિનપતિશિષ્યપૂર્ણમદ્રગણિકૃતાતિમુક્તક-  
ચરિત્રે (શ્લોકેષુ ૮૦-૮૧-૮૨) —

“અયાનન્યમુસ્તવલ્લિકામન્ધન, પુરતો નિશ્ચલાસનઃ ।

માઝ્જલિવંદનદ્વારે, દધાનો મુસ્તવલ્લિકામ્ ॥ ૮૦ ॥

इत्यादि यावत्—

अथावासाँ मुतस्पायै,—मतिमुक्तमुनिर्मुदा ” ॥ २ ॥ इति

વિક્રમસંવત્સરે દ્વચ્છીત્યધિકક્રાદશશત (૧૨૮૨) પરિમિતે પૂર્ણમદ્રગણિના  
વિરચિતોડયમતિમુક્તકચરિત્રનાધેયો ગ્રન્થ', યસ્યાસ્મિન્ વિક્રમસવત્સરે દ્વચ્છીત્યધિક-  
સહસ્ર (૨૦૦૨) પરિમિતે વિંશત્યધિકસપ્તશત (૭૨૦) વર્ષાણિ વ્યતીતાનિ, ઇતચ્ચ  
સ્ફુટમેતદવગમ્યસે મુસ્તવલ્લિકામન્ધન—સાદર પરિમુદીતૈ તેપામાચાર્યૈસ્તદનુયાયિમિશ ।

નિપેધ કરતે હૈં । પરન્તુ ઠનકે આચાર્ય મુસ્તવલ્લિકા ધાંધના સ્વીકાર કરતે હૈં । જિનપતિ કે  
શિષ્યપૂર્ણમદ્રગણિવિરચિત 'અતિમુક્તકચરિત્ર' (શ્લોક ૮૦-૮૧-૮૨) મેં કહા હૈં—

“પર—પદાર્થોં મેં મુસ્ત ન માનને વાલા, નિશ્ચલ આસન સે સામને હાથ બોદકર મુસ્ત  
પર મુદ્દપતી ધારણ કિયે હુમ અતિમુક્તક મુનિને મુતકા અર્થ સુના ॥૮૦-૮૨॥

વિક્રમ સવત ૧૨૮૨ મેં પૂર્ણમદ્ર ગણિને યહ અતિમુક્તકચરિત્ર નામક ગ્રંથ  
લિખા હૈ । ઇસ સંવત્ ૨૦૦૨ તક ઇસે ૭૨૦ વર્ષ હો ચુકે હૈં । ઇસ સે સ્પષ્ટ જ્ઞાત હોતા  
હૈ કિ ઠનકે આચાર્યોંને ઔર ઠનકે અનુયાયિયોંને—મુસ્તવલ્લિકા કા ધાંધના આવરપૂર્વક—  
અંગીકાર કિયા હૈ ।

કદે છે પરન્તુ તેમના આચાર્ય મુખવલ્લિકા ધાંધવાનું સ્વીકાર કરે છે જિનપતિના શિષ્ય  
પૂર્ણમદ્રગણિ—વિરચિત 'અતિમુક્તકચરિત્ર' માં શ્લોક ૮૦-૮૧-૮૨માં કહ્યું છે—

પર પદાર્થોંમાં મુખ નહિ માનવાવાળા નિશ્ચલ આસનથી સામે હાથ બોદીને  
મુખપર મુદ્દપતી ધારણ કરેલા 'અતિમુક્તક' મુનિને મુતનો અર્થ સાંભળ્યો ॥૮૦-૮૨॥

વિક્રમ સવત ૧૨૮૨માં પૂર્ણમદ્ર ગણિએ આ અતિમુક્તકચરિત્ર નામનો ગ્રંથ  
લખ્યો છે આ સવત ૨૦૦૨ સુધીમાં તેને ૭૨૦ વર્ષ વ્યતીત થઈ ચૂક્યા છે એથી સ્પષ્ટ  
બાબમાં આવે છે કે—તેમના આચાર્યોંએ અને તેમના અનુયાયિઓંએ મુખવલ્લિકા  
ધાંધવાનું આવરપૂર્વક અંગીકાર કર્યું છે

अपरञ्च जिनपतिशिष्य छव विरचिते सनत्कुमारचरित्रे सनत्कुमारचरित्य-पूर्व-  
मधिक—‘विक्रमयशो’-नृपवर्णनेऽभिहितम्—

“मुखेन्दुराजन्मुखवस्त्रिकश्च,  
कथाम् लेमे विरत्ना द्विजौघैः ।

निषेवितं प्रान्तनिविष्टराज,—

हसीव विभ्राजि सर श्रिय य० ॥ १ ॥ ”

सनत्कुमार, तृतीयपूर्वजन्मनि विक्रमयशो नाम नृपोऽभवत् । स च परिपदि  
धर्मकथाश्रवणार्थं यथोपनिविष्टस्तद्वर्णनं कुर्वन्नाह—

“मुखेन्दुराजन्मुखवस्त्रिकश्च” इत्यादि । व्याख्या—इन्दुरिव मुखे मुखेन्दुः,  
मुखेन्दो राजन्तो मुखवस्त्रिका यस्य स मुखेन्दुराजन्मुखवस्त्रिकः, मुखोपरिनिव-  
द्वातिशुक्लवस्त्रविनिर्मितवेदीप्यमानमुखवस्त्रिकः । विरत्ना = निर्मलान्त करणः,

इसके अतिरिक्त जिनपति के शिष्य छवद्वारा रचित सनत्कुमारचरित्र में सनत्कुमार के  
तीसरे पूर्वभववर्ती विक्रमयश नामक राजा का वर्णन करते हुए कहा है—

सनत्कुमार अपने तृतीय पूर्वभव में विक्रमयश नामक राजा था । वह परिपद में  
धर्मकथा सुनने के लिए जिस प्रकार बैठा था उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—‘मुखेन्दु’  
इत्यादि । इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

जिसके मुखचन्द्र पर मुखवस्त्रिका सुशोभित थी अर्थात् मुख के ऊपर बैठी  
हुई, सफेद वस्त्र की बनी हुई मुखवस्त्रिका से जिसका मुख शोभायमान हो रहा था,  
जिसका अन्तःकरण निर्मल था और जो द्विजों के समूह से सेवित था ऐसा विक्रमयश—

जो शिवाय जिनपतिनाशिष्य छवद्वारा रचित सनत्कुमारचरित्र में सनत्कुमारना  
त्रीज पूर्वभववर्ती ‘विक्रमयश’ नामका राजा नुं वर्णन करता यथा कहे छे के—

सनत्कुमार पीताना त्रीज पूर्वभवर्ता ‘विक्रमयश’ नामका राजा होता, ते परिपद्मा  
(सभा में) धर्मकथा सांभलवा भाटे जे प्रभाषे जेहा होता तेनुं वखन करता यथा कहे  
छे के—‘मुखेन्दु’ इत्यादि । जोनी व्याख्या आ प्रभाषे छे—

जेना सुभयन्त्र पर सुभयस्त्रिका सुशोभित होती, अर्थात् सुभ ऊपर आधिली  
सहे वस्त्रनी अनेही सुभयस्त्रिकाही जेनुं सुभ शोभायमान यद्विरहं हतुं, जेनुं अन्तःकरण  
निर्मल हतुं, अने जे द्विजोना समूहशी सेवित होता, जेवा विक्रमयश नामका राजा

દ્વિજોષેઃ=દ્વિજસમૂહૈર્નિપેવિત', ય=વિક્રમયશો નૃપઃ કથામુ=ધર્મકથાપરિપ્તુ  
ધિય=શોમાં છેમે=પ્રાપ્તવાન્ । કિમિવ ? પ્રાન્તે નિર્મિષ્ટા રાજહંસી યસ્ય તત્ પ્રાન્ત-  
નિર્મિષ્ટરાજહંસિ, વિભ્રાજિ=દેદીપ્યમાન સર ઇવ ।

યથા પ્રાન્તનિર્મિષ્ટયા રાજહંસ્યા વિભ્રાજમાન સર' ધિય લમતે તથા મુલો  
પરિનિવદ્દેદીપ્યમાનમુલવલ્લિકયા વિક્રમયશો નૃપ. સદસિ ધિયં લઙ્ગવાનિસ્ત્યયઃ ।

કરેણ મુલવલ્લિકાધારણે તુ કરતલાદૃતમુલવલ્લિકાયા દીપ્તિઃ સમાઞ્ઞાદિતા  
સ્યાત્, કય તર્હિ ' રાજન્મુલવલ્લિકાઃ'—ઈત્યગ્ર 'રાજન્'—પદ્મયોગસસૂચિતમુલ  
વલ્લિકાગતપ્રમાયા પ્રકાશમાનતા તિરોહિતા મવેત્, તર્હિ રાજહંસીપ્રમાયા ' વિભ્રાજી '  
—તિ સરોવિશેષણેન સામ્યમપિ ન સિદ્ધયેત્ ।

નામક રાજા ધર્મકથા કી પરિપદ મેં શોમા કો પ્રાપ્ત હુઆ । કૈસી શોમા કો પ્રાપ્ત હુઆ ?  
બૈસે બિસકે કિનારે રાજહંસી બૈઠી હો વહ તાણવ સુશોભિત હોતા હૈ ।

બિસકે કિનારે રાજહંસી બૈઠી હો વહ તાણવ બૈસે શોભિત હોતા હૈ उसी प्रकार मुल  
पर बंधी हुई और देदीप्यमान मुलवल्लिका से विक्रमयश राना व्याख्यानपरिपद में  
शोभित हुआ ।

અગર હાથ સે મુલવલ્લિકા પકડી હોતી તો મુલવલ્લિકા કી દીપ્તિ હયેલી સે  
છિપ જાતી । યેસી સ્થિતિ મેં ' ..રાજન્મુલવલ્લિકાઃ' હસ પદ મેં 'રાજન્' શબ્દ કે પ્રયોગ સે  
મુલવલ્લિકા કી બો પ્રમા સૂચિત કી હૈ વહ પ્રકાશમાન કૈસી હોતી ; ફિર તો વહ છિપી હુઈ  
પ્રમા રહનાતી । ઔર ફિર સરોવર કે કિનારે બૈઠી હુઈ રાજહંસિની કો ઝપમા મો ટીક નહી  
બૈઠ સક્તી ।

ધમઠયાની સભામાં ચોભાને ખામ્યા છે કેવી ચોભાને ખામ્યા છે ? જેમકે—જેના  
કિનારે રાજહંસી બેઠાં હોય તે તળાવ સુશોભિત થાય છે

જેના કિનારે રાજહંસી બેઠાં હોય તે તળાવ જેવી રીતે સુશોભિત હોય છે તે  
પ્રમાણે અખ પદ અધિલી અને ઝગમગાટ ચોભાયમાન અખવલ્લિકાથી વિક્રમયશ રાજા  
વ્યાખ્યાપરિપદ—(સભા)મા ચોભાતા હતા.

અથવા હાથથી અખવલ્લિકા પકડી હોતે તો તે અખવલ્લિકાની દીપ્તિ—પ્રકાશ  
હમેલીથી ઠકાઈ જાત જોવી સ્થિતિમાં 'રાજન્મુલવલ્લિકા' આ પદમા 'રાજન્'  
શબ્દના પ્રયોગથી અખવલ્લિકાની જે પ્રભા—(પ્રકાશ) સૂચિત કરી છે, તે પ્રકાશમાન  
કેવી રીતે થાય ? પછી તો તે ઠકાજોલી જેવી પ્રભા રહી જાત અને પછી સરોવરના  
કિનારે બેઠેલાં રાજહંસીની ઝપમા બસબસ થતી ચકત નહિ.

અપરચ્ચ સરસિ રાજહસી યથા સર્વથાડનારૂતા સતી સર'શોમાં જનયતિ તથા મુલ્લવલ્લિકા નૃપસ્ય શ્રિય કરોતીતિ તાત્પર્ય પરતુલેન મુલ્લવલ્લિકાધારણે કથમપિ નોપપચ્ચતે ।

તસ્માદેતત્સનત્કુમારચરિત્રપદ્ય ચિક્રમયશ્ચોનૃપસ્ય સદોરફમુલ્લવલ્લિકાવચ્ચન માસીદિતિ સુસ્પષ્ટમાવેદયતિ ।

અહો ! મહીયાન્ મોહમહિમા યત્સ્વકીયગુરુચરાણાં સપ્રદાયવાક્યમપિસમુલ્લહ્યન્તો નવીના ન કથશ્ચિત્ત્રપન્તે ।

વિસ્તરતસ્તુ જિજ્ઞાસુર્મિદશ્વકાલિકસૂત્રસ્ય મત્કુતાચારમણિમઠજૂપાટીકાયાં પ્રયમાન્યયને વિલોકનીયમ્ ।

હસકે અતિરિક્ત—જેઠે રાજહસિની બિલકુલ ઉઘાડી હોકર હી સરોવર કી શોમા વઢાતી હૈ ટસી પ્રકાર મુલ્લવલ્લિકા રાજા કી શોમા વઢાતી થી । યહ તાત્પર્ય હાય સે મુલ્લ વલ્લિકા ધારણ કરને મેં કિસી મી પ્રકાર નહીં ઘટ સક્તા ।

અત સનત્કુમારચરિત્ર કા યહ પદ સ્પષ્ટરૂપ સે પ્રકટ કરતા હૈ કિ—વિક્રમ યશ રાજા કે મુલ્લ પર ઢોરાસહિત મુલ્લવલ્લિકા વધી થી ।

અહો ! મોહ કી મહિમા મહાન હૈ, જિસ કે પ્રભાવ સે આધુનિક છોમ અપને ગુરુઓ કે પરમ્પરા વાક્ય કા ઉલ્લેખ કરતે હુમ્ મી લખિત નહીં હોતે ।

વિસ્તાર સે સમજાને કી હ્વચ્ચ રસ્તે વાલે મેરી રચી હુઈ દશવૈકાલિક સૂત્ર' કી 'આચારમણિમજૂપા'—ટીકા કે અન્દર પહેલા અધ્યયન મેં દેસ સક્તે હૈ ।

એ સિવાય-જેવી રીતે રાજહસિની એકદમ ઉઘાડી ચઢીનેજ સરોવરની શોભા વધારે છે, તેવીજ રીતે મુલ્લવલ્લિકા રાજાની શોભા વધારતી હતી આ તાત્પર્ય' હાથથી મુલ્લવલ્લિકા ધારણ કરે તો-અથવા કરવાથી કોઈ પણ પ્રકારે બની શકે નહિ

એ કારણથી સનત્કુમારચરિત્રનું એ પદ સ્પષ્ટરૂપથી બતાવી આપે છે કે - વિક્રમયશ રાજાના મુખપર ઢોરાસહિત મુલ્લવલ્લિકા બાધી હતી

અહો ! મોહનો મહિમા મહાન છે, જેના પ્રભાવથી આધુનિક લોક પોતાના શુરુઓના પરમ્પરા વાક્યનું ઉલ્લેખ કરતા પણ શરમાતા નથી.

વિસ્તારથી સમજવાની ઇચ્છા રાખવાવાળા, મારી રચેલી દશવૈકાલિકસૂત્રની 'આચારમણિમજૂપા'—ટીકાની અન્દર પહેલા અધ્યયનમાં જોઈ શકે છે

इति प्रवीमि, इति=एतत्सर्गं प्रवीमि=भगवतः समीपे यथा श्रुतं तथा कथया  
मीत्यर्थः ॥ सू० ६ ॥

અવ પદ્મજીવનિકાપારમ્મકરણેન કર્મબન્ધો મવતીત્યાહ—‘एत्यपि इत्यादि ।

મૂલ્ય—

एत्यपि जाण उवादीयमाणा, जे आचारे ण रमंति, आरंभमाणाविनय वयति,  
छन्दोवणीया अज्जोववण्ण आरंभसत्ता पकरंति सगं ॥ सू० ७ ॥

છાયા—

अवापि जानीहि उवादीयमाना, ये आचारो न रमन्ते, आत्म  
माणा विनय वदन्ति, छन्दोपनीता अध्युपपन्नाः, आरम्भसत्ता प्रकुर्वन्ति सगम्  
॥ सू० ७ ॥

સુધર્મા સ્વામી કહતે હૈં—યહ સર્વ ભગવાન્ કે સમીપ જૈસા સુના હૈ જૈસા  
કહતા હૈ ॥ સૂ० ૬ ॥

અવ યહ કહતે હૈં કિ—પદ્મજીવનિકામ કા આરમ કરને સે કર્મબંધ હોતા હૈ—  
‘एत्यपि.’ इत्यादि ।

મૂલાર્થ—વાયુકાય કે વિષય મેં મી આરમ કરને ઘાલે, કર્મો સે બદ્ધ હોતે હૈં  
પેસા સમસો । જો આચાર મેં રમણ નહીં કરતે આરમ્મ કરતે હુય મી ભપને કો વિનય  
(ચારિત્ર) ઘાલે માનતે હૈ, શુદ્ધાનુસાર ચલતે હૈ, ગૂઢ હૈં જોર આરમ્મ મેં બાસક હૈં તે કર્મો  
ઉપાર્બન કરતે હૈં ॥ સૂ० ૭ ॥

સુધર્મા સ્વામી કહે છે—આ સર્વ ભગવાનની સમીપમાં જેવું આચાર્યુ છે  
તેવું જ કહું છું ॥ ૬ ॥

હવે કો કહે છે કે—પદ્મજીવનિકામનો આરમ કરવાથી કર્મબંધ થાય છે—  
‘एत्यपि’ इत्यादि.

મૂલાર્થ—વાયુકાયના વિષયમાં પણ આરમ કરવાવાળા, કર્મોથી બદ્ધ થાય છે  
જે પ્રભાણે સમસો. જે આચારમાં સ્થાયી કરતા નથી, આરમ કરતા થકા પણ પોતાને  
વિનય (ચારિત્ર) વાળા માને છે, શુદ્ધાનુસાર ચાલે છે, ગૂઢ છે, અને આરમમાં  
બાસક છે, તે કર્મોનું ઉપાર્બન કરે છે ॥ સૂ० ૭ ॥

ટીકા—

અપ્રાપિ=અતરિમન્ વાયુકાયેઽપિ, અપિશબ્દાત્ અવશિષ્ટે પૃથિવ્યાદિચતુષ્કે સ્થાવરે પ્રસકાયે ચ યે મોગલોલુપાઃ સ્વાર્થવશગાઃ આરમ્ભ કુર્વન્તિ, તે ઉપાદીયમાનાઃ =જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મભિર્ધ્યમાના મવન્તીત્યેવ જાનીદિ ।

અપ્રાપિ=અતરિમન્ વાયુકાયેઽપિ, અપિશબ્દાત્ અવશિષ્ટે પૃથિવ્યાદિચતુષ્કે સ્થાવરે પ્રસકાયે ચ યે મોગલોલુપાઃ સ્વાર્થવશગાઃ આરમ્ભ કુર્વન્તિ, તે ઉપાદીયમાનાઃ =જ્ઞાનાવરણીયાદિકર્મભિર્ધ્યમાના મવન્તીત્યેવ જાનીદિ ।

એ આચારે=જ્ઞાનદર્શનાદિપઠ્યવિષાચારે ન રમન્તે=ન ધૃતિ કુર્વન્તિ, તાન્ કર્મભિર્ધ્યમાનાન્ જાનીદિ । કે પુનરાચારે ન રમન્તે ? દષ્ટિશાક્યાદયઃ ।

કથમેતદ્વિજ્ઞાયતે ? इति जिज्ञासायामाह—‘आरममाणा विनय धदन्ति’

ટીકાર્થ—ઈસ વાયુકાય કે વિષય મેં મી—(અપિ) શબ્દ સે પૃથ્વી આદિ અન્ય સ્થાવરો મેં તથા પ્રસકાય મેં જો મોગો કે છોલુપ ઔર સ્વાર્થપરાયણ હોલ્કર આરમ્ભ કરતે હૈં, તે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મો સે બદ્ધ હોતે હૈં, એસા સમજો ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિ—અક્ર જીવ કે આરમ્ભ મેં પ્રવૃત્તિ કરને બાહ્ય શોષ જીવનિકાચોકે આરમ્ભ સે ઉત્પન્ન હોને વાલે કર્મો સે મી બદ્ધ હોતા હૈ ।

એસે કૌન હૈં જો પૃથ્વી આદિ અક્ર કાયકા આરમ્ભ કરકે શોષ જીવનિકાચો કે આરમ્ભ સે હોને વાલે કર્મોદ્વારા બદ્ધ હોતે હૈં ? ઇસ કા સમાધાન કરને કે હિંચ કહતે હૈ—

જો જ્ઞાનાચાર દર્શનાચાર આદિ પાંચ આચારો મેં સ્થિર નહીં હોતે ઝહેં કર્મબદ્ધ હોતા હૈ, એસા જાનો । આચાર મેં કૌન સ્થિર નહીં હોતે ? દષ્ટી તથા શાક્ય આદિ ।

યહ કેસે જ્ઞાત હુજા ? ઇસકે ઉત્તર મેં કહતે હૈં—વે પૃથ્વીકાય આદિ કી વિરાધના

ટીકાર્થ—આ વાયુકાયના વિષયમાં પણ ‘અપિ’ શબ્દથી પૃથ્વી આદિ અન્ય સ્થાવરોમાં તથા પ્રસકાયમાં જે મોગોના લાલચ અને સ્વાર્થપરાયણ થઈને આરમ્ભ કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોથી બદ્ધ થાય છે એ પ્રમાણે સમજો.

તાત્પર્ય એ છે કે—એક જીવના આરમ્ભમાં પ્રવૃત્તિ કરવાવાળા બાકીના જીવ-નિકાયોના આરમ્ભથી ઉત્પન્ન થવાવાળા કર્મોથી પણ બદ્ધ થાય છે

એવા કોણ છે કે જે પૃથ્વી આદિ એક કાયનો આરમ્ભ કરીને બાકીના જીવ-નિકાયોના આરમ્ભથી થનારા કર્મોદ્વારા થાય છે ? તેનું સમાધાન કરવા માટે કહે છે—

જે જ્ઞાનાચાર-દર્શનાચાર આદિ પાંચ આચારોમાં સ્થિર નથી થતા તેને કર્મ બન્ધ થાય છે, એ પ્રમાણે બાંધો.

આચારમાં કોણ સ્થિર નથી રહેતા ? કહી અને શાક્ય આદિ એ કેવી રીતે બાંધ્યું ? તેના ઉત્તરમાં કહે છે—તે પૃથ્વીકાય આદિની વિરાધના



इति । आरममाणाः, पृथिव्यादीन् पीडयन्तोऽपि विनयः=शर्मणां विनयाद् विनयः  
सयमस्त, वदन्ति=‘वयमेव सयमिसेवनपरा’ इति निरुद्धा निगदतीत्यर्थः ।

ननु स्वात्मान सयमिन मन्यमानास्ते यस्मात्पृथिव्यादिजीवहिंसनपराः ?  
इति जिज्ञासायां हेतुगर्भविशेषणपदद्वयमाह—‘छन्दोपनीता’ ‘अध्युपपन्नाः’ इति ।  
‘छन्दोपनीता’=‘छन्द’=‘स्वामिप्राय’, तेनोपनीताः स्वतन्त्राः स्वास्त्रविरुद्धविचारशीला  
इत्यर्थः ।

यद्वा छन्दः=अमिप्रायः=इच्छा, विषयामिलापस्तेनोपनीता, तथा  
‘अध्युपपन्नाः’, अधि=अधिकम् अतिशयेन उपपन्ना=तद्वत्तचित्ता विषयसंनि-  
विष्टचित्ताः विषयमोर्गार्थमातुरा इत्यर्थः । यतश्छन्दोपनीता अध्युपपन्नाश्च  
तस्मात्ते पृथिव्यादीन् विहिंसन्तीति भावः । एवं पृथिव्यादिहिंसनेन पुन  
कर्मबन्ध प्राप्नोतीत्याह—‘आरम्भसक्ता’ इत्यादि । आरम्भः=सावधव्यापारः,

करते હુણ મી અપને આપકો નિસ્ત્રાંક હોફર સંયમી કહતે હૈં । બે યહ માનતે હૈં કિ હમ હી  
સંયમ કા સેવન કરને મૈં તત્પર હૈં ।

બે હોમ અપને આપકો સયમી માનતે હુણ મી પૃથ્વીકાય આદિ કે જીવીં કી હિંસા મૈં  
તત્પર નયોં હોતે હૈં : એસી જિજ્ઞાસા હોને પર દો વિશેષણ કહતે હૈં, જિન મૈં હેતુ છિપા હૈ—  
‘છન્દોપનીત’ ઓર ‘અધ્યુપપન્ન’

छन्द का अर्थ है—अपना अभिप्राय, उससे स्वतंत्र अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध  
विचार करने वाले । अथवा छन्द का अर्थ इच्छा है । कहाँ विषयमोर्गों की अभिलषा  
को छन्द कहा है, उस में जो स्वतंत्र हो । तथा अध्युपपन्न अर्थात् विषयों में अत्यन्त  
आसक्त—विषयमोर्गों के लिए आतुर । तात्पर्य यह है कि—छन्दोपनीत और अध्युपपन्न  
होने के कारण वे पृथ्वी आदि की हिंसा करते हैं और कर्मों का बंध करते हैं । आरम्भ

કરવા છતાંય પણ પોતે-પોતાને નિ:શંક થઈને સયમી ઠહે છે તે એવું માને  
છે કે—અમે પણ સયમનું સેવન કરવામાં તત્પર છીએ

તે હોઠ પોતે-પોતાને સયમી માનતા થકા પણ પૃથ્વીકાય આદિના જીવોની  
હિંસામાં તત્પર શા માટે હોય છે ? એવી જિજ્ઞાસા થતાં બે વિશેષણ ઠહે છે જેમાં હેતુ  
હુપાએલો છે ‘છન્દોપનીત’ અને ‘અધ્યુપપન્ન’ ‘છન્દ’નો અર્થ છે પોતાનો અભિપ્રાય તેનાથી  
સ્વતંત્ર અર્થાત્ શાસ્ત્રથી વિરુદ્ધ વિચાર કરવાવાળા અથવા છન્દનો અર્થ ઇચ્છા છે અર્થ  
વિષયમોર્ગોની અભિલાષાને છન્દ ઠહેલ છે તેમાં જે સ્વતંત્ર હોય. તથા અધ્યુપપન્ન  
અર્થાત્ વિષયોમાં અત્યન્ત આસક્ત—વિષયમોર્ગો માટે આતુર તાત્પર્ય એ છે કે  
છન્દોપનીત અને અધ્યુપપન્ન હોવાના કારણે તે પૃથ્વી આદિની હિંસા કરે છે અને  
કર્મોના બંધ કરે છે આરંભ અર્થાત્-સાવધ વ્યાપારમાં પ્રવૃત્ત પુરુષ જ્ઞાનાવરણથી

તત્ર સક્તાઃ=પ્રવૃત્તાઃ, સદ્ગ=સજ્યન્તે=શિષ્યન્તે જીવા અનેનેતિ સદ્ગ=જ્ઞાનાવરણી  
યાદિક કર્મ, ત સદ્ગપ્રકુર્ષન્તિ=સમુત્પાદયન્તિ ।

એવ પદ્મજીવનિકાયારમ્મકારિણ\* સ્વલુ કર્મવન્ધનપરાધીનતાં સમુપેત્ય જન્મ  
જરામરણેષ્ટવિયોગાનિષ્ટસયોગેષિતાઽસિદ્ધિવિવિધવ્યાધિજનિતદુ સ્વ સકુલેષોરતર-  
સસારદાવાનલે પુન\* પુન સ્વાત્માનમિન્ધનીકુર્વન્તીતિ ભાવ ॥ સૂ. ૭ ॥

અથ યસ્તુ પૃથિવ્યાદિપદ્મજીવનિકાયારમ્મકરણાદિનિવૃત્ત\* સ એવ મુનિર્મવતી-  
ત્યુદેશાર્યમુપસંહરન્તાહ—‘સે વસુમ.’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

સે વસુમ સમ્વસમખ્યાગયપખ્યાણેણ અપ્પાણેણ અકરણિજ્જ પાવ કમ્મં ણો  
અણેસિ ॥ સૂ. ૮ ॥

છાયા—

સ વસુમાન્ સર્વસમન્વાગતપ્રજ્ઞાનેન આત્મના અકરણીય પાપ કર્મ નો અન્વેષયેત્  
॥ સૂ. ૮ ॥

અર્થાત્ સાવધ વ્યાપાર મેં પ્રવૃત્ત જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોં કો અપાર્જન કરતે હૈં ।

હસ પ્રકાર પદ્મજીવનિકાય કા આરમ્મ કરને વાલે કર્મવન્ધન કે અધીન હોકર  
જન્મ મરણ, ઇષ્ટવિયોગ, અનિષ્ટસયોગ, ઇષ્ટ કી અસિદ્ધિ તથા વિવિધ પ્રકાર કી વ્યાધિયોં સે  
ઉત્પન્ન હોને વાલે તુ સ્વોં સે વ્યાપ્ત, ઘોરતરસસારરૂપી વાધાનલ મેં અપને આત્મા કો ઈધન  
બનાતે હૈં ॥ સૂ. ૭ ॥

જો પૃથ્વી આદિ પદ્મજીવનિકાય કે આરમ્મ સે નિવૃત્ત હૈ વહી મુનિ હોતા હૈ, હસ ઉદેશ  
કે અર્થ કા ઉપસહાર કરત હુપ શાસ્ત્રકાર કહતે હૈં—‘સે વસુમ’ ઇત્યાદિ ।

મૂલાર્થ—વહી વસુમાન્ હૈ (સમ્યક્ત્વ-ચારિત્રવાન્ સમ્યગ્દષ્ટિ હૈ) જો યથાર્થ પદાર્થોં કો  
જ્ઞાનેવાલે જ્ઞાનાત્મા સે પાપ કો અકરણીય સમક્ષકર નહીં કરતા હૈ ॥ સૂ. ૮ ॥

આદિ ઠમોનું ઉપાજન કરે છે

આ પ્રમાણે પદ્મજીવનિકાયનો આરમ્મ કરવાવાળા ઠમોવન્ધને આધીન થઇને  
જન્મ, જરા, મરણ, ઇષ્ટવિયોગ, અનિષ્ટસયોગ, ઇચ્છેલી વસ્તુની અપ્રાપ્તિ, તથા  
વિવિધ પ્રકારની વ્યાધિઓથી ઉત્પન્ન થનારાં દુઝોથી વ્યાપ્ત, ઘોરતર સસારરૂપી  
દાવાનલમા પોતાના આત્માને ઇધન-(બળતણરૂપ) બનાવે છે ॥ સૂ. ૭ ॥

જે પૃથ્વી આદિ પદ્મજીવનિકાયના આરમ્મથી નિવૃત્ત છે તેજ મુનિ હોય છે,  
આ ઉદેશના અર્થનો ઉપસહાર કરીને શાસ્ત્રકાર કહે છે—‘સે વસુમ’ ઇત્યાદિ

મૂલાર્થ—તેજ વસુમાન્ છે (સમ્યક્ત્વ-ચારિત્રવાન્ સમ્યગ્દષ્ટિ છે) જે યથાર્થ  
પદાર્થોને અણવાવાળા જ્ઞાનાત્માથી પાપને અકરણીય (કરવા યોગ્ય નથી એવું)  
સમજીને કરતા નથી. ॥ સૂ. ૮ ॥

इति । आरम्भमाणाः, पृथिव्यादीन् पीडयन्तोऽपि विनयः=कर्मणां विनयाद् विनयः  
सयमस्त, वदन्ति=‘सयमेव सयमिसेवनपराः’ इति निश्चङ्क निगदन्तीत्यर्थः ।

ननु स्वात्मान सयमिनं मन्यमानास्ते कस्मात्पृथिव्यादिजीवहिंसनपराः ?  
इति जिज्ञासायां हेतुगर्भविशेषणपदद्वयमाह—‘छन्दोपनीता’ ‘अध्युपपन्नाः’ इति ।  
‘छन्दोपनीताः’=छन्दः=स्वाभिप्रायः, तेनोपनीता स्वतन्त्रा शास्त्रविरुद्धविचारशीला  
इत्यर्थः ।

यद्वा छन्दः=अभिप्रायः=इच्छा, विषयामिलापस्तेनोपनीता, तथा  
‘अध्युपपन्नाः’, अधि=अधिकम् अतिशयेन उपपन्ना=‘तद्गतचिन्ता’ विषयसन्नि-  
विष्टचिन्ता विषयमोर्गार्थमातुरा इत्यर्थः । यतश्छन्दोपनीता अध्युपपन्नाश्च  
तस्मात्ते पृथिव्यादीन् बिહिंसन्तीति भावः । एवं पृथिव्यादिहिंसनेन पुनः  
कर्मबन्ध प्राप्नोसीत्याह—‘आरम्भसक्ताः’ इत्यादि । आरम्भः=सावधव्यापारः,  
करते हुए भी अपने आपको निश्चक होकर संयमी कहते हैं । वे यह मानते हैं कि हम ही  
सयम का सेवन करने में तत्पर हैं ।

वे छोटा अपने आपको सयमी मानते हुए भी पृथ्वीकाय आदि के जीवों की हिंसा में  
तत्पर क्यों होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर दो विशेषण कहते हैं, जिन में हेतु छिपा है—  
‘छन्दोपनीत’ और ‘अध्युपपन्न’

छन्द का अर्थ है—अपना अभિપ્રાય, उससे स्वतंत्र अर्थात् शास्त्र से विरुद्ध  
विचार करने वाले । अथवा छन्द का अर्थ इच्छा है । कहीं વિષયમોર્ગો કી અમિલાપા  
को छन्द कहा है, उस में जो स्वतंत्र हो । तथा अध्युपपन्न अर्थात् विषयों में अत्यन्त  
आसक्त—विषयमोर्गो के लिए आतुर । तात्पर्य यह है कि—छन्दोपनीत और अध्युपपन्न  
होने के कारण वे पृथ्वी आदि की हिंसा करते हैं और कर्मों का बंध करते हैं । आरम्भ  
કરવા છતાંય પણ પોતે-પોતાને નિશ્ચય થઈને સયમી કહે છે. તે એવું માને  
છે કે—અમે પણ સયમનું સેવન કરવામા તત્પર છીએ

તે હોય પોતે-પોતાને સયમી માનતા થકા પણ પૃથ્વીકાય આદિના જીવોની  
હિંસામાં તત્પર શા માટે હોય છે ? એવી જાણાસા થતાં બે વિશેષણ કહે છે જેમાં હેતુ  
હુપાએલો છે ‘છન્દોપનીત’ અને ‘અધ્યુપપન્ન’ ‘છન્દ’નો અર્થ છે પોતાનો અભિપ્રાય તેનાથી  
સ્વતંત્ર અર્થાત્ શાસ્ત્રથી વિરુદ્ધ વિચાર કરવાવાળા અથવા છન્દનો અર્થ ઇચ્છા છે અર્થે  
વિષયભોગોની અભિલાષાને છન્દ કહેલ છે તેમાં જે સ્વતંત્ર હોય. તથા અધ્યુપપન્ન  
અર્થાત્ વિષયોમાં અત્યન્ત આસક્ત—વિષયભોગો માટે આતુર તાત્પર્ય એ છે કે  
છન્દોપનીત અને અધ્યુપપન્ન હોવાના કારણે તે પૃથ્વી આદિની હિંસા કરે છે અને  
કર્મોના બંધ કરે છે આરંભ અર્થાત્—સાવધ વ્યાપારમાં પ્રવૃત્ત પુરુષ જ્ઞાનાવસ્થામાં

—કલહાઽમ્યાહ્યાન—પૈશુન્ય—પરપરિવાદ—સ્ત્યરતિ—માયામૃપા—મિધ્યા—દર્શનશલ્યા—  
મિધાનમદાદશમકાર નાન્વેપયેત્—ન સ્વય કુર્યાત્, ન ચાન્યૈઃ કારયેત્, ન ચાન્ય  
કુર્વાણમનુમોદયેદિત્યર્થ ।

યોઽયમાત્મા સ્વકોયમજ્ઞાનેન સર્વદ્રવ્યપર્યાયસમાકલ્પનયોગ્યતાં ધારયતિ, યેન  
ચ મોક્ષમાર્ગાવલમ્બનતઃ શિવપદમપિ શક્યતે ગન્તુમ્, તસ્યાત્મન પુનરધપતન-  
કારિત્વાત્ પાપ કર્મ સર્વથા પરિત્યાજ્યમિતિ વિમાન્ય પદ્મજીવનિકાપારમ્મકરણા-  
સ્ત્સર્વથા વિનિવર્તિતવ્યમિતિ માવ' ॥ સૂ. ૮ ॥

પદ્મજીવનિકાપારમ્મસ્ય સર્વથા પરિહાર એવ મુનિત્વ પ્રાપયતીત્યાહ—‘ત  
પરિણાય’ इत्यादि ।

મૂલમ્—

તં પરિણાય મેહાવી ણેવ સયં ડજ્જીવનિકાયસત્થં સમારમેજ્જા  
ણેવઽણેહિં છજ્જીવનિકાયસત્થ સમારમાવેજ્જા, ણેવઽણે છજ્જીવનિકાયસત્થં  
(૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અમ્યાહ્યાન (૧૪) પૈશુન્ય (૧૫) પરપરિવાદ  
(૧૬) રતિ—અરતિ (૧૭) માયા—મૃપા ઓર (૧૮) મિધ્યાદર્શનરૂપ અઠ્ઠરહ પ્રકાર કા પાપ  
જો સ્વય નહીં કરતા હૈ, દૂસરાં સે નહીં કરાતા હૈ ઓર દૂસરે કરને વાળે કા અનુમોદન નહીં  
કરતા હૈ વહી પુરુષ વસુમાન્ હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ કિં—જો આત્મા અપને પ્રજ્ઞાન સે સમસ્ત દ્રવ્યોં ઓર પર્યાયોં કો  
મલી મૌતિ જાનને કી યોગ્યતા ધારણ કરતા હૈ ઓર જો મોક્ષ—માર્ગ કા આશ્રય લેકર  
મુક્તિપદ સી પ્રાપ્ત કર સકતા હૈ ઁસકો ‘આત્મા કા અધ પતન કરને વાળે પાપકૃત્ય સર્વમા  
ત્યાગ્ય હૈ’ એસા વિચાર કરકે પદ્મજીવનિકાય કે આરમ સે વિરત હો જાના ઁહિપ ॥સૂ. ૮ ॥

પદ્મકાય કે આરમ કા ત્યાગ હી સાધુતા પ્રાપ્ત કરાતા હૈ, યહ વાત આગે કહ્તે  
હૈ—‘ત પરિણાય’ इत्यादि ।

(૮) માયા, (૯) હોભ, (૧૦) રાગ, (૧૧) દ્વેષ, (૧૨) કલહ, (૧૩) અમ્યાહ્યાન,  
(૧૪) પૈશુન્ય, (૧૫) પરપરિવાદ, (૧૬) રતિ—અરતિ, (૧૭) માયા—મૃપા અને (૧૮)  
મિધ્યાદર્શનરૂપ અઠાર પ્રકારનાં જે પાપ તેને પોતે કરતા નથી, બીજા પાસે કરાવતા  
નથી, અને બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપતા નથી. તેજ પુરુષ વસુમાન્ છે  
તાત્પર્ય’ એ છે કે—જો આત્મા પોતાના પ્રજ્ઞાનથી સમસ્ત દ્રવ્યોં અને પર્યાયોંને  
દૂરી રીતે બાંધવાની યોગ્યતા ધારણ કરે છે, અને જે મોક્ષમાર્ગનો આશ્રય લઈને મુક્તિપદ  
પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે, તેને, ‘આત્માનું અધ પતન કરનારાં પાપકૃત્ય સર્વથા ત્યાગ્ય છે’  
એવો વિચાર કરીને પદ્મજીવનિકાયના આરમથી નિવૃત્ત થઈ જવું જોઈએ ॥સૂ. ૮ ॥  
પદ્મકાયના આરમનો ત્યાગજ સાધુતા પ્રાપ્ત કરાવે છે એ વાત આગળ કહે છે—  
‘ત પરિણાય’ इत्यादि

## ટીકા—

યસ્તુ પદ્મજીવનિકાયારમ્મનિવૃત્ત્યા સયમપાલનપરાયણ, સ વસુમાન્, દ્વિવિધાનિ હિ વસુનિ સન્તિ દ્રવ્યમાષમેદાત્, તત્ર દ્રવ્યવસુનિ-સુવર્ણાદીનિ, માવવસુનિ-સમ્યક્ત્વાદીનિ, અત્ર માવવસુતાત્પર્યકો વસુશ્ચન્દ્રઃ, તાનિ વસુનિ યસ્ય યસ્મિન્ વા સન્તિ સ વસુમાનિત્યર્થ, સર્વસમન્વાગતપ્રજ્ઞાનેન=સર્વાષિ સમન્વાગતાનિ પ્રજ્ઞાનાનિ યસ્યાત્મન સ સર્વસમન્વાગતપ્રજ્ઞાન=યથાવસ્થિતવિષય-ગ્રાહિસર્વવિષયકજ્ઞાનવાન્, તેન ।

યદ્વા-સર્વેષુ દ્રવ્યપર્યાયેષુ સમન્વાગત=સમ્યક્પ્રાપ્ત તત્તદ્વિષયમાકલ્પ્ય સર્વ દ્રવ્યપર્યાયગતં પ્રજ્ઞાન યસ્ય સ સર્વસમન્વાગતપ્રજ્ઞાનઃ, તેન, આત્મના, અકરણીયમ્=અકર્તૃયમ્, ऐदिकपारलौकिकसुखविघातकत्वादनाचरणीयम्, इति मत्वा, पाप कर्म=પ્રાણાત્તિપાત-મૃષાવાદા-અવત્તાદાન-મૈથુન-પરિગ્રહ-ક્રોધ-માન-માયા-લોભ-રાગ-દ્વેષ

ટીકાર્થ—જો પુરુષ પદ્મજીવનિકાયસંબધી આરમ્મ કા ત્યાગ કરકે સયમ કે પાલન મેં તત્પર હોતા હૈ વહી વસુમાન્ હૈ । વસુ કે દો મેદ હૈ—(૧) દ્રવ્યવસુ ઔર (૨) માવવસુ । સ્વર્ણ આદિ ધન દ્રવ્યવસુ કહલાતા હૈ, ઔર તપ સમમાધિરૂપ ઋત્તિ કો માવવસુ કહેતે હૈ । યહો ‘વસુ’ શબ્દ સે માવવસુ હી સમજના યાદિય । વસુ બિસે પ્રાપ્ત હો વહ વસુમાન્ હૈ, અર્થાત્ સમ્યક્ત્વ આદિ સે યુક્ત પુરુષ વસુમાન્ કહલાતા હૈ ।

જો વસ્તુ ઘેસી હૈં ંસે ંસી રૂપ મેં જાનને વાલ્લ સર્વગ્રાહી જ્ઞાન ‘સર્વસમન્વાગત પ્રજ્ઞાન’ કહલાતા હૈ । અથવા સમસ્ત દ્રવ્યો ઔર પર્યાયો કો યથાર્થરૂપ સે જાનને વાલ્લ જ્ઞાન ‘સર્વસમન્વાગત પ્રજ્ઞાન’ કહલાતા હૈ । યેસે જ્ઞાનરૂપ આત્મા સે પાપ કો હસ છોક તજા પરલોકસંબધી મુક્તો કા ઘાતક હોને સે અકર્તૃવ્ય સમજકર (૧) પ્રાણાત્તિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) અવત્તાદાન (૪) મૈથુન । (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ, (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ

ટીકાર્થ—જે પુરુષ પદ્મજીવનિકાયસંબધી આરમ્મ કા ત્યાગ કરીને સયમના પાલનમાં તત્પર થાય છે તેજ વસુમાન્ (સમ્યક્ષિદ્ધિ) છે વસુના બે ભેદ છે (૧) દ્રવ્ય વસુ અને (૨) માવવસુ, સુવર્ણ આદિ ધન દ્રવ્યવસુ કહેવાય છે અને સમ્યક્ત્વ આદિ રૂપ ઋત્તિને માવવસુ કહે છે અર્થે ‘વસુ’ શબ્દથી માવવસુ જ સમજવું જોઈએ વસુ બેને પ્રાપ્ત હોય તે વસુમાન્ છે અર્થાત્ સમ્યક્ત્વ આદિથી યુક્ત પુરુષ વસુમાન્ કહેવાય છે

જે વસ્તુ જેવી છે તેને તેવા રૂપમાં અજુવાવાળા સર્વગ્રાહી જ્ઞાન ‘સર્વસમન્વાગત પ્રજ્ઞાન’, કહેવાય છે અથવા સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને યથાર્થ રૂપથી અજુવા વાળું જ્ઞાન ‘સર્વસમન્વાગત પ્રજ્ઞાન’ કહેવાય છે એવા જ્ઞાનરૂપ આત્માથી પાપને આ દોષ તથા પરલોક-સંબધી મુક્તોનું ઘાતક હોવાથી અકર્તૃવ્ય સમજીને (૧) પ્રાણાત્તિપાત, (૨) મૃષાવાદ, (૩) અવત્તાદાન, (૪) મૈથુન, (૫) પરિગ્રહ, (૬) ક્રોધ, (૭) માન,

—કલહાઽમ્યાહ્યાન-પૈશુન્ય-પરપરિવાદ-સ્ત્વરતિ-માયામૃષા-મિથ્યા-દર્શનશલ્યા-  
મિધાનમષ્ટાદશમકાર નાન્વેપયેત્=ન સ્વય કુર્યાત્, ન ચાન્યૈ. કારયેત્, ન ચાન્યં  
કુર્વાણમનુમોદયેદિત્યર્થ ।

યોગ્યમાત્મા સ્વકીયમહાનેન સર્વદ્રવ્યપર્યાયસમાકલનયોગ્યતા ધારયતિ, યેન  
ષ મોક્ષમાર્ગાવલમ્બનત\* શિવપદમપિ શક્યતે ગન્તુમ્, તસ્યાત્મન પુનરધ'પતન  
કારિત્વાત્ પાપ કર્મ સર્વથા પરિત્યાજ્યમિતિ વિમાઘ્ય પદ્મજીવનિકાપારમ્મકરણા-  
સ્સર્વથા વિનિવર્તિતવ્યમિતિ માવ ॥ સૂ૦ ૮ ॥

પદ્મજીવનિકાપારમ્મસ્ય સર્વથા પરિહાર એવ મુનિત્વ પ્રાપયતીત્યાહ—‘તં  
પરિણાય’ ઇત્યાદિ ।

મૂલમ્—

તં પરિણાય મેદાવી જેવ સર્વ છજ્જીવનિકાયસત્ય સમારમેઝ્જા  
જેવઽજ્જોહિં છજ્જીવનિકાયસત્ય સમારમાવેઝ્જા, જેવઽજ્જો છજ્જીવનિકાયસત્ય  
(૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અમ્યાહ્યાન (૧૪) પૈશુન્ય (૧૫) પરપરિવાદ  
(૧૬) રતિ-અરતિ (૧૭) માયા-મૃષા ઓર (૧૮) મિથ્યાદર્શનરૂપ અઘરહ પ્રકાર કા પાપ  
ઓ સ્વય નહીં કરતા હૈ, દૂસરો સે નહીં કરતા હૈ ઓર દૂસરે કરને વાલે કા અનુમોદન નહીં  
કરતા હૈ વહી પુરુષ વસુમાન્ હૈ ।

તાત્પર્ય યહ હૈ ક્રિ-જો આત્મા અપને પ્રજ્ઞાન સે સમસ્ત દ્રવ્યો ઓર પર્યાયો કો  
મહી મૌંતિ જાનને કી યોગ્યતા ધારણ કરતા હૈ ઓર જો મોક્ષ-માર્ગ કા આશ્રય લેકર  
મુક્તિપદ મી પ્રાપ્ત કર સકતા હૈ ઉસકો ‘આત્મા કા અધ પતન કરને વાલે પાપકૃત્ય સર્વથા  
ત્યાગ્ય હૈ’ એસા વિચાર કરકે પદ્મજીવનિકાય કે આરમ સે વિરત હો જાના યાહિય ॥સૂ૦ ૮॥

પદ્મકાય કે આરમ કા ત્યાગ હી સાધુતા પ્રાપ્ત કરાતા હૈ, યહ વાત આગે કહતે  
હૈ—‘તં પરિણાય’ ઇત્યાદિ ।

(૮) માયા, (૯) હોભ, (૧૦) રાગ, (૧૧) દ્વેષ, (૧૨) કલહ, (૧૩) અમ્યાહ્યાન,  
(૧૪) પૈશુન્ય, (૧૫) પરપરિવાદ, (૧૬) રતિ-અરતિ, (૧૭) માયા-મૃષા અને (૧૮)  
મિથ્યાદર્શનરૂપ અઘર પ્રકારના જે પાપ તેને પોતે કરતા નથી, બીજા પાસે કરાવતા  
નથી, અને બીજા કરવાવાળાને અનુમોદન આપતા નથી. તેજ પુરૂષ વસુમાન્ છે  
તાત્પર્ય એ છે કે—જો આત્મા પોતાના પ્રજ્ઞાનથી સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને  
રૂઢી રીતે બાંધવાની યોગ્યતા ધારણ કરે છે, અને જે મોક્ષમાર્ગનો આશ્રય લઈને મુક્તિપદ  
પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે, તેને, ‘આત્માનું અધ પતન કરનારાં પાપકૃત્ય સર્વથા ત્યાગ્ય છે’  
એવો વિચાર કરીને પદ્મજીવનિકાયના આરમથી નિવૃત્ત થઈ જવું જોઈએ ॥સૂ૦ ૮॥  
પદ્મકાયના આરમનો ત્યાગજ સાધુતા પ્રાપ્ત કરાવે છે એ વાત આગળ કહે છે—  
‘તં પરિણાય’ ઇત્યાદિ

समारम्भते समणुजाणेज्जा । जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थसमारम्भा परिण्णाया भवति,  
से हु म्णी परिण्णायकम्मे-त्ति वेमि ॥ सू० ९ ॥

॥ सत्तमो उद्देशो समचो ॥ १ । ७ ॥

॥ आचारसूत्रे पदमज्झयण समत्त ॥ १ ॥

छाया—

तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं पट्व्जीवनिकायसत्थ समारम्भेत, नैवान्यैः  
पट्व्जीवनिकायसत्थ समारम्भयेत्, नैवान्यान् पट्व्जीवनिकायसत्थ समारम्भमाणान्  
समनुजानीयात् । यस्यैते पट्व्जीवनिकायसत्थसमारम्भा परिज्ञाता भवन्ति स त्वत्  
मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति व्रवीमि ॥ सू० ९ ॥

॥ सप्तम उद्देश समाप्त ॥ १-७ ॥

॥ आचारसूत्रे प्रथमाध्ययन समाप्तम् ॥

टीका—

तत्=पट्व्जीवनिकायारम्भणं, परिज्ञाय=ज्ञपरिज्ञाय 'कर्मबन्धस्य  
कारण भवती'ति बुद्ध्या मेधावी=हेयोपादेयविवेकनिपुण, नैव स्वयं पट्व्जीवनिकाय  
सत्थ समारम्भेत । अपरैर्नैव समारम्भयेत्=नैव प्रयोजयेत् । अन्यान् पट्व्जीवनिकाय  
सत्थ समारम्भमाणान् नैव समनुजानीयात्=नैवानुमोदयेत् ।

यस्यैते पट्व्जीवनिकायसत्थसमारम्भाः-पट्व्जीवनिकायानां श्लेषः=

मूलार्थ—यह बात जानकर बुद्धिमान् पुरुष पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र का  
समारम्भ न करे, दूसरों से पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र का समारम्भ न करावे, और पट्व्-  
जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र का समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे । पट्व्जीवनिकाय  
संबन्धी आरम्भ को जो बंध का कारण जान लेता है, वही मुनि है और वही परिज्ञातकर्मा है ।  
ऐसा मैं कहता हूँ ॥ सू० ८ ॥

टीका—पट्व्जीवनिकाय के आरम्भ को ज्ञपरिज्ञा से कर्मबंध का कारण जानकर  
हेय-उपादेय का विवेक रखने वाला पुरुष पट्व्जीवनिकाय के शस्त्र का स्वयं आरम्भ न करे,  
दूसरों से न करावे और आरम्भ करने वालों को अनुमोदना न करे ।

पट्व्जीवनिकायसंबन्धी जो शस्त्र पहले बतलाये जा चुके हैं उनके द्वारा पट्व्जीवनिकाय को

मूलार्थ—जो बात अच्छीने बुद्धिमान् पुरुष पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र को  
समारम्भ करे नहीं, नीला पासे पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र को समारम्भ करावे नहीं, अपने  
पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र को समारम्भ करवावाणने अनुमोदन आपे नहीं-  
पट्व्जीवनिकायसंबन्धी आरम्भने ने पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र को देखे मुनि छे, अपने  
तेल परिज्ञातकर्मा छे जेवुं हूँ कहूँ छे ॥ सू० ८ ॥

टीका—पट्व्जीवनिकायना आरम्भने ज्ञपरिज्ञाधी कर्म पट्व्जीवनिकायसंबन्धी शस्त्र को देख-  
उपादेयने विवेक शब्दवाणना पुरुष पट्व्जीवनिकायना शस्त्र को पीते आरम्भ करे नहीं,  
नीला पासे करावे नहीं, अपने आरम्भ करवाने अनुमोदन आपे नहीं  
पट्व्जीवनिकायसंबन्धी ने शस्त्र प्रथम पट्व्जीवनिकायना छे तेला दाख

સ્વસ્વશ્ચૈ' સમારમ્મા' = પીઠાકરસાવધવ્યાપારા પરિજ્ઞાતા' = જ્ઞપરિજ્ઞયા વન્ધકારણ-  
ત્વેન વિદિતા', પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞયા ચ પરિદ્વિતા મવતિ સ એવ પરિજ્ઞાતકર્મા =  
ત્રિકરણત્રિયોગૈઃ' પરિવર્જિતસફલસાવધવ્યાપાર', મુનિર્મવતિ । ઇતિ = એતત્ સર્વમ્,  
બ્રવીમિ = મગવતઃ સમીપે યથા શ્રુત તથા કથયમિ ॥ સૂ૦ ૧ ॥

॥ ઇત્યાચારાઙ્ગસૂત્રે આચારચિન્તામણિટીકાયાં શાસ્ત્રપરિજ્ઞાત્ર્યે  
પ્રથમાધ્યયને સપ્તમોદ્દેશ સમ્પૂર્ણ ॥ ૧-૭ ॥

પીઠા પહોંચાને વાળે સાવધ વ્યાપારો કો જ્ઞપરિજ્ઞા સે કર્મવધ કા કારણ જ્ઞાનકર  
પ્રત્યાખ્યાનપરિજ્ઞા સે ત્યાગ દેતા હૈ વહી પુરુષ ત્રીન કરણ ઓન ત્રીન યોગ સે સાવધ વ્યાપારો  
કા ત્યાગી મુનિ હોતા હૈ । યહ સર્વ મગવાન કૈ મુખ્યારવિન્ધ સે જૈસા મૈને સાક્ષાત્ સુના હૈ  
વૈસાહી કહતા હૂં ॥ સૂ૦ ૧ ॥

॥ ઇતિ શ્રી આચારાઙ્ગસૂત્રકી આચારચિન્તામણિટીકા કૈ હિન્દી-અનુવાદમે  
પ્રથમ અધ્યયનકા સાતવો ઉદ્દેશ સમ્પૂર્ણ ॥ ૧ ॥

પીઠા પહોંચાઠવાવાળા સાવધ વ્યાપારોને જે જ્ઞપરિજ્ઞાથી કર્મવધનું કારણ બાળીને  
પ્રત્યાખ્યાન પરિજ્ઞાથી ત્યજી દે છે, તે પુરુષ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી સાવધ  
વ્યાપારોનો ત્યાગી મુનિ હોય છે આ સર્વે મગવાનના અખ્યારવિન્ધથી જેવું મેં સાક્ષાત્  
સંભળ્યું છે, તેવુંજ કહું છું ॥ સૂ૦ ૬ ॥

ઇતિ શ્રીઆચારાઙ્ગસૂત્રની 'આચારચિન્તામણિ' ટીકાના ગુજરાતી અનુવાદમા  
પ્રથમ અધ્યયનનો સાતમો ઉદ્દેશ સમ્પૂર્ણ ॥ ૧-૭ ॥



આથે ચાધ્યયને પ્રરૂપિતમિદં સસારચક્રેઽનિર્ણં,  
 બ્રામ્યન્ દિક્ષુ વિદિક્ષુ ગચ્છતિ તત્ત્વાત્મા સમાગચ્છતિ ।

इत्येव कथितं महो-जल-छिरि प्राण-द्रमाणां तथा,  
 जीवन् व्रत-कायिकस्य च तदारम्भे परिज्ञापि च ॥ १ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्गुरु-प्रसिद्धाचार्य-पञ्चदशभाषाकलित-  
 ललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मायक-वादिमानमर्दक-  
 श्रीशाहचक्रपति-कोल्हापुरराजप्रदत्त-‘जैनशास्त्राचार्य’ पदभूषित-  
 कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्री-  
 वासीलालव्रति विरचितायाम् आचाराङ्गसूत्रस्याऽऽचारचिन्ता  
 मणिटीकायां सस्रपरिज्ञास्यं प्रथममध्ययन संपूर्णम् ॥ १ ॥

પ્રથમ અભ્યયન મેં યહ નિરૂપણ કિયા ગયા હૈ કિ-આત્મા સસાર ચક્ર મેં પઢકર  
 નાના વિશાઓ મેં જોર નાના વિદિશાઓ મેં નિરન્તર જમણ કરતા રહતા હૈ । સાથ હી પૃથ્વી,  
 અપ, તેજ, વાયુ વનસ્પતિ જોર, વ્રત કો સચિત્તા સી સિદ્ધ કી ગઈ હૈ, જોર उनका  
 आरम्भ करने में परिज्ञा भी प्रदर्शित की गई है ॥ १ ॥

॥ इति श्री-आचाराङ्गचक्रकी 'आचारचिन्तामणि' टीका के  
 हिन्दी अनुवाद में 'सस्रपरिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन  
 सम्पूर्ण ॥ १ ॥

પ્રથમ અભ્યયનમાં જો નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે કે-આત્મા સસારચક્રમાં  
 પડીને અનેક દિશાઓમાં અને અનેક વિદિશાઓમાં નિરન્તર જમણ કરતો રહે છે  
 સાથેજ પૃથ્વી, અપ, તેજ, વાયુ, વનસ્પતિ અને વ્રતની સચિત્તા પણ સિદ્ધ કરી  
 છે અને તેના આરંભ કરવામાં પરિજ્ઞા-વિવેક પણ પ્રદર્શિત કરેલ છે. ॥ ૧ ॥

॥ इति श्री आचारांगसूत्रकी 'आचारचिन्तामणि' टीकाना गुजराती  
 अनुवादमा 'सस्रपरिज्ञा' नामनु प्रथम अध्ययन सम्पूर्ण ॥ १ ॥

# દાતાઓની નામાવલી

આદ્ય મુરખીશ્રી, મુરખીશ્રી, સહાયક મેમ્બરો  
તથા  
મેમ્બરોની યાદી

---

ગામવાર ઠક્કાવારી લીધે

---

તા. ૧૮-૧૦-૪૪ થી તા. ૨૮-૨-૫૮ સુધીના  
દાખલ ગ્રંથો મેમ્બરો

---

(૨૫૦ થી વધારી રકમો આ યાદીમાં સામેલ કરી નથી.)

શ્રી અખિલ ભારત શ્રે સ્થા જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ

ગરેડીઆ કુવા મેઠ - શ્રીન લોજ પાસે

રાજકોટ

## આધમુરખીશ્રીઓ-૪

(ઓછામાં ઓછી રૂા. ૫૦૦૦ ની રકમ આપનાર)

નંબર	નામ	ગામ	રૂપિયા
૧	શેઠ શાન્તીલાલ મગજણસભાઈ બાણીતા મીત્રમાલીક અમદાવાદ		૧૦૦૦૦
૨	શેઠ હરખચંદ કાલીદાસભાઈ વારીયા હા શેઠ લાલચંદભાઈ, જેય દભાઈ નગીનભાઈ, વૃજલાલભાઈ, તથા વલ્લભદાસભાઈ ભાણવડ		૧૦૦૦
૩	કેઠારી જેય દભાઈ અજરામર હા હરજોવી દભાઈ જેય દભાઈ	રાજકોટ	૫૨૫૧
૪	શેઠ ધારશીભાઈ જીવનભાઈ	સોલાપુર	૫૦૦૧

## મુરખીશ્રીઓ-૨૨

(ઓછામાં ઓછી રૂા. ૧૦૦૦ ની રકમ આપનાર)

૧	વસીલ જીવરાજભાઈ વર્ધમાન કેઠારી હા કદાનદાસભાઈ તથા વેણીલાલભાઈ	જેતપુર	૩૬૦૫
૨	દોશી પ્રભુદાસ મૂળજીભાઈ	રાજકોટ	૩૬૦૪
૩	મહેતા શુભાખચંદ પાનાચંદ	,,	૩૨૮૬૧૧૧૧
૪	સ્વ. પિતાશ્રી છગનલાલ શામળદાસના સ્મરણાર્થે હા ભાવસાર લોગીલાલ છગનલાલ	અમદાવાદ	૩૨૫૧
૫	મહેતા માણેકલાલ અમુલજીરાય	ઘાટકોપર	૩૨૫૦
૬	સુભવી પીતામ્બરદાસ શુભાખચંદ	બામનગર	૩૧૦૧
૭	શેઠ શામજીભાઈ વેલજીભાઈ વીરાણી	રાજકોટ	૨૫૦૦
૮	નામદાર કોકેર સાહેબ લખધીરસિંહજી બહાદુર	મોરબી	૨૦૦૦
૯	શેઠ દેસેચંદ કુવરજી હા શેઠ ન્યાલજી દેસેચંદ	સિદ્ધપુર	૨૦૦૦
૧૦	શાહ છગનલાલ હેમચંદ વસા હા. મોહનલાલભાઈ તથા મોતીલાલભાઈ	સુભઈ	૨૦૦૦
૧૧	શ્રી સ્થાનકવાસી લેન સહ	મોરબી	૧૬૬૩
૧૨	મહેતા સોમજી તુલસીદાસ તથા તેમનાં ધર્મપત્નિ અ. સી. મણીગૌરી મગનલાલ	રતલામ	૧૫૦૦
૧૩	મહેતા પોપટલાલ માવજીભાઈ	બામજોધપુર	૧૩૦૧
૧૪	દોશી કપુરચંદ અમરશી હા. દલપતરામભાઈ	,,	૧૦૦૨
૧૫	મગજણસભાઈ અમરજીભાઈ રતનશી	કાસનગર	૧૦૦૨

૧૬	શેઠ આત્મારામ માણેકલાલ	અમદાવાદ	૧૦૦૧
૧૭	શેઠ માણેકલાલ ભાણુભાઈ	પોરબંદર	૧૦૦૧
૧૮	શ્રીમાન ચંદ્રસિંહજી મહેતા ( રેલ્વે એજેન્ટ સાહેબ )	કલકત્તા	૧૦૦૧
૧૯	મહેતા સોમચંદ નેણસીભાઈ ( કરાચીવાલા )	મોરબી	૧૦૦૧
૨૦	શાહ હરીલાલ અનોપચંદભાઈ	ખંભાત	૧૦૦૧
૨૧	કેઠારી છબીલાલ હરખચંદભાઈ	મુમ્બઈ	૧૦૦૦
૨૨	કેઠારી રંગીલાલ હરખચંદભાઈ	સિહોર	૧૦૦૦

### સહાયક એજેન્ટો-૩૬

( ઓછામાં ઓછી રૂ. ૫૦૦ ની રકમ આપનાર )

૧	શાહ રંગભાઈ મોહનલાલ	અમદાવાદ	૭૫૧
૨	મોહી કેશવલાલ હરીચંદ્ર	સાબરમતી	૭૫૦
૩	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ હા. શેઠ જીભાભાઈ વેલસીભાઈ	વઢવાણ શહેર	૭૫૦
૪	શેઠ નરોત્તમદાસ બોધકભાઈ	ભેરાવરનગર	૭૦૦
૫	શેઠ રતનશી હીરજીભાઈ હા. ગોરધનદાસભાઈ	અમલોધપુર	૫૫૫
૬	બાટવીમા ગીરધર પ્રભાણુ હા. અમીચંદભાઈ	ખાખીબળીઆ	૫૨૭
૭	મોરબીવાળા સંઘની દેવચંદ નેણસીભાઈ તથા તેમના ધર્મપત્નિ અ. સૌ મણીભાઈ તરફથી હા. મુળચંદ દેવચંદ ( કરાચીવાળા )	મલાડ	૫૧૧
૮	વોરા મણીલાલ પોપટલાલ	અમદાવાદ	૫૦૨
૯	ગોસળીયા હરીલાલ લાલચંદ તથા અ. સૌ અ. પાંચેન ગોસળીયા	અમદાવાદ	૫૦૨
૧૦	શેઠ પ્રેમચંદ માણેકચંદ તથા અ. સૌ સમસ્તબેન ( રાજસીતાપુરવાળા )	અમદાવાદ	૫૦૨
૧૧	શેઠ ઈશ્વરલાલ પુરપોતમદાસ	અમદાવાદ	૫૦૧
૧૨	શેઠ ચંદુલાલ છગનલાલ	અમદાવાદ	૫૦૧
૧૩	શાહ શાન્તીલાલ માણેકલાલ	અમદાવાદ	૫૦૧
૧૪	શેઠ ચીવલાલ ઠમરભાઈ ( કરાચીવાળા )	સી. બ. ડી.	૫૦૧
૧૫	કામદાસ તારાચંદ પોપટલાલ પીરાણવાળા	રાજકોટ	૫૦૦
૧૬	મહેતા મોહનલાલ કપુરચંદ	રાજકોટ	૫૦૦
૧૭	શેઠ ગોવીંદજી પોપટભાઈ	રાજકોટ	૫૦૦
૧૮	શેઠ રામજીભાઈ શામજી વીરાણી	રાજકોટ	૫૦૧

૧૯	સ્વ. પિતાશ્રી નદાણના સ્મરણાર્થે		
	હા. વેણીચંદ્ર શાન્તીલાલ (જાણુજાવાળા)	મેધનમર	૫૦૧
૨૦	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સઘ હા. શેઠ હાકરશી કરસનજી થાનમદ		૫૦૦
૨૧	શેઠ તારાચંદ્રજી પુખરાજજી	ઔરંગાબાદ	૫૦૦
૨૨	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સઘ	ઔરંગાબાદ	૫૦૦
	૧૫૦ શેઠ શેખમજી જીવરાજજી		
	૧૨૫ „ અનરાજજી લાલચંદ્રજી		
	૧૨૫ ધુઠડચંદ્રજી રૂપચંદ્રજી		
	૧૦૦ દમદુમલજી ચંદમલજી		
	૫૦૦		
૨૩	મેલ્લા મૂળચંદ્ર રાઘવજી હા. મગનલાલભાઈ તથા દુર્લભજીભાઈ બ્રાહ્મ		૫૦૦
૨૪	શેઠ હરખચંદ્ર પુરેપોત્તમ હા. ધંદુકુમારભાઈ	ચારવાડ	૫૦૧
૨૫	શેઠ કેસરીમલજી વસંતીમલજી ગુજલોયા	રાણાવાસ	૫૦૧
૨૬	સ્થા. જૈનસઘ હા. બાટવીયા અમીચંદ્ર ગીરધરભાઈ બા. ખીખાળીઆ		૫૦૧
૨૭	શેઠ ખીમજીભાઈ બાવાભાઈ		
	હા. દુલચંદ્રભાઈ, નામરદાસભાઈ તથા જમનાદાસભાઈ સુબઈ		૫૦૧
૨૮	શેઠ મણીલાલ મોહનલાલ ઠંગલી હા. સુળજીભાઈ મણીલાલ સુબઈ		૫૦૧
૨૯	સ્વ. કાંતીલાલભાઈના સ્મરણાર્થે હા. શેઠ બાલચંદ્ર ચાકરચંદ્ર સુબઈ		૫૦૧
૩૦	કામદાર સ્તીલાલ દુર્લભજી (જેતપુરવાળા)	સુબઈ	૫૦૧
૩૧	શાહ જમવીલાલ અમૃતલાલ	શીવ	૫૦૧
૩૨	વોરા મણીલાલ લક્ષ્મીચંદ્ર	શીવ	૫૦૧
૩૩	શેઠ જીલાભચંદ્ર જીવરભાઈ	બારદોડ	૫૦૧
૩૪	મહાન ત્યાગી બેન ખીરજીવર સુનીલાલ મેલ્લા	બાણવડ	૫૦૧
૩૫	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈનસઘ	બ્રાહ્મ	૫૦૧
૩૬	શ્રી મગનલાલ છગનલાલ શેઠ	રાજકોટ	૫૦૧

\*

### ૩૧૬ મેમ્બરોનું ગામવાર લીસ્ટ

#### અમદાવાદ તથા પરજિા

૧	શેઠ ગીરધરલાલ કરમચંદ્ર	૨૫૧
૨	શેઠ છેટાલાલ વખતચંદ્ર હસ્તે દુકીરચંદ્રભાઈ	૨૫૧
૩	શાહ કાન્તીલાલ ત્રિલોચનદાસ	૨૫૧
૪	શાહ પોચાલાલ પીતામ્બરદાસ	૨૫૧
૫	શાહ પોષટલાલ મોહનલાલ	---

૬	શેઠ પ્રેમચંદ સાકરચંદ	૨૫૦
૭	શાહ રતીલાલ વાડીલાલ	૨૫૧
૮	શેઠ લાલભાઈ મગળદાસ	૨૫૧
૯	સ્વ અમૃતલાલ વર્ધમાનના સ્મરણાર્થે હસ્તે કાનજીભાઈ અમૃતલાલ દેશાઈ	૨૫૧
૧૦	ભાવચાર બોગીલાલ જમનાદાસ (પાટણવાળા)	૨૫૧
૧૧	શાહ નટવરલાલ ચંદુલાલ	૨૫૧
૧૨	શાહ નરસિંહદાસ ત્રીલોચનદાસ	૨૫૧
૧૩	શ્રી શાહપુર દરીયાપુરી આઠકોટી સ્થા જૈન ઉપાધ્યય હા. વહીવટકર્તા શેઠ ઈશ્વરલાલ પુરપોતમદાસ	૨૫૧
૧૪	શ્રી છીપાપોળ દરીયાપુરી આઠકોટી સ્થા જૈનસંઘ હા ચંદુલાલ અમૃતલાલ	૨૫૧
૧૫	શાહ ચીનુભાઈ બાલાભાઈ C/o શાહ બાલાભાઈ મહાસુખરામ	૨૫૧
૧૬	શાહ ભાઈલાલ ઉજ્જમશી	૨૫૧
૧૭	શ્રી સુખલાલ ડી શેઠ હા ડૉ. કુ સરસ્વતીબેન શેઠ	૨૫૧
૧૮	શ્રી ચૌરાષ્ટ્ર સ્થા જૈનસંઘ હા શાહ કાન્તીલાલ જીવજીલાલ	૨૫૧
૧૯	મોદી નાથાલાલ મહાદેવદાસ	૨૫૧
૨૦	શાહ મોહનલાલ ત્રીકમદાસ	૨૫૧
૨૧	શ્રી છકોટી સ્થા જૈનસંઘ હા શાહ પોચાલાલ ખીતાબરદાસ	૨૫૧
૨૨	શેઠ પોપટલાલ હ સરાજના સ્મરણાર્થે હા. શેઠ બાબુલાલ પોપટલાલ	૨૫૧
૨૩	દેશાઈ અમૃતલાલ વર્ધમાન બાપોદરાવાળા હા ભાઈલાલ અમૃતલાલ દેશાઈ	૨૫૧
૨૪	શાહ નવનીતલાલ અસુલખરાય	૨૫૧
૨૫	શાહ મણીલાલ આશારામ	૨૫૧
૨૬	શાહ ચીનુભાઈ સાકરચંદ	૨૫૧
૨૭	શાહ વરજીવનદાસ ઉમેશચંદ	૨૫૧
૨૮	શાહ રવનીકાન્ત કસ્તુરચંદ	૨૫૧
૨૯	સુધવી જીવજીલાલ જાનલાલ ( સ્થા. જૈન )	૨૫૧
૩૦	શાહ શાંતિલાલ મોહનલાલ ધાગાવાળા	૨૫૧
૩૧	અ. સૌ. બેન સ્તનભાઈ નાદેચા હા. શાહ ખુલાલ અપાલાલજી	૨૫૧
૩૨	શાહ હરિલાલ જેઠાલાલ ભાટલાવાળા	૨૫૧
૩૩	શ્રી સરસ્વપુર દરીયાપુરી આઠકોટી સ્થા જૈન ઉપાધ્યય હા ભાવચાર બોગીલાલ જાનલાલ	૨૫૧
૩૪	શેઠ પુખરાજજી સમતીરામજી સાહીવાળા	૨૫૧
૩૫	શેઠ લાલચંદ મીશ્રીલાલ	૨૫૧

૧૯	સ્વ પિતાશ્રી નદાલના સ્મરણાર્થે		
	હા વેણીચંદ શાન્તીલાલ ( બાળુઆવાળા )	મેઘનગર	૫૦૧
૨૦	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ હા	ચેક ઠાકરશી કરસનજી થાનમંદ	૫૦૦
૨૧	ચેક તારાચંદજી પુખરાજજી	ઝોર ગાબાદં	૫૦૦
૨૨	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈન સંઘ	ઝોર ગાબાદં	૫૦૦
	૧૫૦ ચેક રોષમજી જીવરાજજી		
	૧૨૫ " જનરાજજી લાલચંદજી		
	૧૨૫ ધુકડચંદજી રૂપચંદજી		
	૧૦૦ હમડુમલજી ચાંદમલજી		
	૫૦૦		
૨૩	મહેતા મૂળચંદ રામવજી હા મગનલાલભાઈ તથા ફલ્લંજીભાઈ પ્રાફા		૫૦૦
૨૪	ચેક હરખચંદ પુરેષોત્તમ હા ઇન્દુકુમારભાઈ	ચોરવાઠ	૫૦૧
૨૫	ચેક કેસરીમલજી વસંતીમલજી શુભસીયા	રાણાવાસ	૫૦૧
૨૬	સ્થા જૈનસંઘ હા બાટવીયા અમીચંદ ગીરધરભાઈ આખીતળીઆ		૫૦૧
૨૭	ચેક ખીમજીભાઈ બાવાભાઈ		
	હા કુલચંદભાઈ, નાગરદાસભાઈ તથા જમનાદાસભાઈ મુબઈ		૫૦૧
૨૮	ચેક મણીલાલ મોહનલાલ ઠગલી હા મુંજીભાઈ મણીલાલ મુબઈ		૫૦૧
૨૯	સ્વ. ઠાંતીલાલભાઈના સ્મરણાર્થે હા ચેક બાલચંદ ચાકરચંદ મુબઈ		૫૦૧
૩૦	કામદાર રતીલાલ ફલ્લંજી ( જેવપુરવાળા )	મુબઈ	૫૦૧
૩૧	ચાક જયતીલાલ અમૃતલાલ	શીવ	૫૦૧
૩૨	વોરા મણીલાલ લક્ષ્મીચંદ	શીવ	૫૦૧
૩૩	ચેક શુભામચંદ ભુરભાઈ	ખારેદાં	૫૦૧
૩૪	મહાન ત્યાગી જૈન ધીરજીકુવર ચુનીલાલ મહેતા	ભાણુવડ	૫૦૧
૩૫	શ્રી સ્થાનકવાસી જૈનસંઘ	પ્રાફા	૫૦૧
૩૬	શ્રી મગનલાલ હમડુમલ ચેક	રાજકોટ	૫૦૧

### ૩૧૬ મેમ્બરોનું ગામવાર લીસ્ટ

અમદાવાદ તથા પરણિા

૧	ચેક ગીરધરલાલ કરમચંદ	૨૫૧
૨	ચેક છેટલાલ વળતચંદ હસ્તે ફકીરજીભાઈ	૨૫૧
૩	ચાક કાન્તીલાલ ત્રીલોખનલાલ	૨૫૧
૪	ચાક પોચાલાલ પીતામ્બરલાલ	૨૫૧
૫	ચાક પોપટલાલ મોહનલાલ	૨૫૧

## पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय

भौम वैश्वदेवों में परीक्षा के द्वारा (तं स्तनन्त इत्यादीषु) ओषधिमूर्ती में स्नान विष्णु का प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आधिदैविक विष्णु व्यापक है। अतः वनतक इसे परिच्छिन्न न कर लिया जाय, तबतक यह विष्णु परिच्छिन्न वैश्वदेव का उपकारक नहीं बन सकता। इसी सीमाभाव के लिए प्राप्त-विष्णु का 'सुहमा चासि ०' इत्यादि मन्त्रों से (मन्त्रब्रह्मरूप वाग्वत् से) परिग्रह किया जाता है। इसी परिग्रहकर्म से वेदि का स्वरूप सम्पन्न होता है अतएव इस कर्म को 'वैदिपरिग्रहकर्म' भी कहा जाता है। भूमिदेश के जिस माग में वेदि बनाई जाने वाली है उस प्रदेश के दक्षिण माग में 'सुहमा चासि शिवा चासि' यह मन्त्र बोलते हुए स्वयं से पूर्व पश्चिम आश्विन्य एक रेखा कर देता है। यही दक्षिण परिग्रह है। दक्षिण में गन्ध अग्नि की उता खाती है। यमो वै अवसानस्येष्ट'—उवाचमोऽवसानं पृथिव्याः इत्यादि के अनुवाक समवेष्टा अवसान(सूत्यु) क अविज्ञाता है। दक्षिणमाग से इसी मनुभाव का निरूपण करने के लिए—'हे दक्षिण भूमाग आप शोभन प्रदेश है, सूक्ष्म शिव की शक्ति से युक्त अतएव शिव है यह भावना की जाती है। यह का निरूप दक्षिण प्रदेश यममीति से उचित करें दक्षिण परिग्रह का यही तात्पर्य है।

अनन्तर—'स्योना चासि सुपदा चासि' इस मन्त्र से पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गार्हपत्यनि से सम्बन्ध रखता है। गार्हपत्य भूमिस्थ की प्रतिकृति है। गार्हपत्य यह (घर) है। घर बरी उत्तम होता है वहाँ का घरातका सम हो वहाँ रहने से पूर्ण सुख मिले। इसी एहसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए आप सुखरूपा हैं, आप आप अच्छी बैठक वाली हैं यह भावना की जाती है।

अनन्तर—'ऊर्कस्यत्री चासि पयस्वती च' यह मन्त्रमाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तर माग वेममय किया अग्निगर्भित वेममय है। ओषधियों में की जीवनीय माग (ऊर्क) एवं 'तुग्घ' देखा जाता है वह इसी पाशुकाग्नि की महिमा है। हमारा यह जीवनीय माग एवं रव माग से युक्त रहे दूसरे शब्दों में उत्तराग्नि-प्रदेश यजमान के लिये ऊर्क एवं पयोयुक्त होने इसी भावना के लिये 'हे उत्तर भूमिदेश! किमा पाशुकाग्नि! आप ऊर्क युक्त हैं आप पयोयुक्त हैं' यह भावना की जाती है।

अम-वस्त्र की चिन्ता से आपादमस्तक आकुल-व्याकुल बना रहने वाला विद्वान् भूतवादी-बड़बोरी, अतएव-वचमानवादी काव का भारतीय पाण्डु-प्राचीन-मानव कथा है—'हमारा वर्षा की पुरानी मही-गली-बड़-स्थिति-पुराणादि की जीर्ण-शीर्ण-बाता का आज क नवीन युग में कोई उपयोग नहीं। अपने इसी कायनिक-उपयोगितावाद के व्यामोहन से व्यामग्न इस काव के भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्वप्रथम निरपेक्ष बन केवल भूलवादी प्रतीयवगत की आधिदैविक प्राणशून्य उन बड़भूतपदतिथी का ही प्रतिष्ठापन कर दिया है। इस ऐतिहासिक-भारतपत्र में हिम की मूलप्रतिष्ठा का एकमात्र आधार आधिदैविक-प्राणजगत ही माना गया था। प्रसन्न यह भूमि का प्रकृत है। एवं उत्तमकथ में ही। प्राण का प्रभुत्व-कर्म्म प्रकृत है। अतएव इसी दृष्टि से प्रकृत में ही शब्दी में हम उस 'वसिष्ठ-भूमि' की आर आर्य-मानव का ध्यान आकर्षित करने जिस-वसिष्ठ-भूमि



श्री ही ऋषि ने—सुक्ष्मा-शिवा-स्योना-सुपदा-ऊजस्वती-पयस्वती-इत्यादि मादृशिक एवं रहस्यपूर्ण विराणों से समन्वित माना है। इत्यभूता सर्वगुणान्विता भूमि श्री ही ऋषि ने—‘सुमामेवैतत्-पृथिवी-संविद्य रसवती, उपजीवनीयामकुर्वन् इत्यादि रूप से सत्यशामना—जीवनीमत्स्यप्रदात्री—उपयुक्ता कहा है।

‘अधिक अम उपजाओ यही आज हमारे राष्ट्रीय-मानव का सर्वप्रमुख उदात्त उद्देश्य है, जिस की सफलता के लिए विशुद्धा प्रतीत्या-पद्धतिक आधार पर ही नव-नव-आवाहन आविर्भूत-विरोधित शक्ति बाँटे है पारवाहिक-रूप से। वदपि राष्ट्र की ‘अन्नविन्ता’ समन्वित नहीं हो पा रही है। क्यों ? ! क्यों ? ! अ एकमात्र प्रमुख उत्तर है—भूमि की जीवनीया उन्नत शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञिय-आविर्भूतिक-वैष्णव-प्राण की उपेक्षा, अनुपसन्धि एवं तत्स्थाने च यज्ञविरोधी जीवनीयतन्त्र के विनाशक-अभूत-अदृष्टपूर्व-रासायनिक साधनों (स्त्रों) का अन्यानुकरण भीमकाय सौहृद्यों (ट्रेक्टरों) से निम्नमताकरण मृगमस्थ क्षेत्र १-प्राण का आत्यन्तिक-उत्पीड़न’।

मानते हैं और सर्वोचना यह भी अनुभव कर रहे हैं कि देशराजविरोधी चेतनशक्तिप्रतिष्ठा-इत्य आद्य के प्रहृष्टतम भूतविज्ञान के अनुग्रह से कृन्तरीरी तथाविध उच्चैक रासायनिक-आणविक भीमकाय सौहृदय अवश्य ही तात्कालिकरूपेण भूमि के जीवनीय-प्राण को तात्कालिक-रूपेण नष्टिभूत करते हुए कुछ समय के लिए उद्भूतदेशों में प्रभूतमात्रा में अस्वास्थि अमिष्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। और परिणाम-स्वरूप सहज-मास्तीय-पद्धति की अपेक्षा इस अमिनवा मौतिकी विज्ञानपद्धति से तात्कालिक-रूपेण अन्नसम्पत्ति समृद्धा भी प्रतीत होने लगती है। एवं सम्भव सनातना-स्थितिमात्रावस्था-भूत-प्रविष्यत्परिणामानुविधनी भी भारतीय नैष्ठिकी प्रज्ञा भी प्रयत्नमात्रमूला तथाविधा वायुशक्ता से आकर्षित होकर ही अपनी सहज-साम्या पद्धतियों की उपेक्षा कर बहुमध्य-सम्भा तथाविधा भूविज्ञानपद्धतियों के ही अन्यानुकरण में प्रवृत्त होती बारही है। और अवश्य ही—‘अवर्त्मण्यते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति’ इस प्रकृतिचिह्न सिद्धान्तानुसार इत्यभूत निरविशय भूतोत्पीड़न से अन्नसम्पत्त्युत्पादन में पूर्णपेक्षया इसे समृद्धि भी उपलब्ध होसकती है। यह अवकुल मानते हुए भी अनुभव करते हुए भी इस सम्बन्ध में कदापि ‘भेषपन्था की चेतना नहीं की जासकती। क्यों कि—

तथाविध उच्चैक साधनों से पार्थिव-भूतमावात्मक-‘पूषा तत्त्व अवश्य ही तात्कालिक-रूपेण उत्पन्न होसकता है। किन्तु सौर-सावित्राग्निमूलक-‘मधु’ रम्यय वैष्णव-यज्ञिय-प्राण (या प्रवर्त्मक स भूगर्भ की अमृक्त सीमा में ही गर्भित रहता है वह तो असदिग्धरूप से ही तथाविध-कृत्रिम-उच्चैक साधनों से दाघरीर्य ही बन जाता है। एवं असीममात्रान्वित सौहृद्यों (ट्रेक्टरों) से भी उस का सहज-मौम्य-उत्तरमूल का विकास सर्वोत्तमा अभिभूत ही होजाता है। परिणाम-स्वरूप, किंवा पारस्परिक दुष्परिणाम-स्वरूप तथाविध उच्चैक साधनों के समन्वय से एक प्रचण्ड-भारान्वित सौहृद्यों से आत्यन्तिकरूपेण समुत्पीड़ित भूमाय के समन्वय से उत्पन्न अम में न तो सहज माधुर्य ही अमिष्यक्त हो पाता एवं न इस की यह तात्कालिकी प्रवेष्टन-उत्पादन-शक्ति ही चिरस्थायिनी रह पाती। अपितु यह ही—‘शरीरात्-शरीरम्’ पाण्डुराग्रा वैसी अनारम्भ जीवनीयमात्ररसद्वया ही अन्नवृत्ति बनी रह जाती है जिसे कदापि भारतीय दृष्टि

## पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय

मौम देवताओंमें परीक्षा के द्वारा ( तं खनन्त इषान्धीषुः ) ओषधिमूलों में म्लान विष्णु का प्रातः कर लिया । प्राकृतिक आधिदैविक विष्णु व्यापक है । अतः जबतक इसे परिच्छिन्न न कर लिया जाय तबतक यह विष्णु परिच्छिन्न वैभवका अ संप्रकारक नहीं बन सकता । इसी सीमामात्र के लिए प्रातः-विष्णु का 'सुह्रमा चासि ० इत्यादि मन्त्रों से (मन्त्रब्रह्मरूप वाग्वत्सल से) परिग्रह किया जाता है । इसी परिग्रहकर्म से वेदि का स्वस्म सम्पन्न होता है अतएव इस कर्म को 'वेदिपरिग्रहकर्म' भी कहा जाता है । भूमन्त्र के बिना भाग में वेदि स्थापित करने वाली है, उस प्रदेश के दक्षिण भाग में 'सुह्रमा चासि शिवा चासि' यह मन्त्र बोलते हुए स्वस्म से पूर्व-पश्चिम आध्वर्यु एक रेखा कर देता है । यही दक्षिण परिग्रह है । दक्षिण में साम्य आग्नि की सत्ता रहती है । यमो वै अवसानस्येष्टे—द्वारायामावसानं पृथिव्याः इत्यादि के अनुसार यमदेवता अवसान (मृत्यु) का अधिष्ठाता है । दक्षिणभाग से इसी मृत्युमात्र का निराकरण करने के लिए—'हं दक्षिण भूभाग आप शोभन प्रदेश है, मृत्युञ्जय शिव की शक्ति से युक्त अतएव शिव है' यह भावना की जाती है । यह का निम्न दक्षिण प्रदेश यमसीसि से रक्षित नहीं, दक्षिण परिग्रह का यही तात्पर्य है ।

अनन्तर—'स्वोना चासि सुपथा चासि' इस मन्त्र से पश्चिम परिग्रह किया जाता है । यह परिग्रह गार्हपत्य से सम्बन्ध रखता है । गार्हपत्य भूपरब की प्रतिकृति है । गार्हपत्य एह ( पर ) है । पर वही उत्तम होता है वहाँ का चयनल सम हो, वहाँ रहने से पूर्ण सुख मिले । इसी एहसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए 'आप सुह्रस्वमा है, आप आप अच्छी बैठक वाली है' यह भावना की जाती है ।

अनन्तर—'ऊर्ध्वस्यवी चासि पयस्स्यवी च' यह मन्त्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है । उत्तर भाग क्षेममय, किंवा अभिगर्भित क्षेममय है । अश्वधियों में जो जीवनीय भाग (ऊर्ध्व) एवं 'दुग्ध' वेला जाता है, वह इसी पाशुकाग्नि की महिमा है । इसका वह जीवनीय भाग एवं रस भाग से युक्त रहे दूसरे शब्दों में उत्तराग्नि-प्रदेश यजमान के लिये ऊर्ध्व एवं पयोयुक्त बन इसी भावना के लिये 'हं उत्तर भूमन्त्रा ! किंवा पाशुकाग्ने ! आप ऊर्ध्व युक्त है, आप पयोयुक्त है' यह भावना की जाती है ।

अस-वस्त्र की धिता से आपादमस्तक आकुल-व्याकुल बना रहने वाला विशुद्ध भूतपदी-बहुवारी अतएव—वत्मानवादी आज का भारतीय पाशु-पाणीय-मानव करता है—“हज्रतां वर्षा की पुरानी सङ्गी-गङ्गी-वद-स्मृति-पुराणादि की जीर्ण-शीर्ण-वातों का आज का नवीन युग में काइ उपचाग नहीं । अपने इसी अस्पष्ट-उपयोगितावाद के ब्यामोहन से ब्यामग्न्य इस आज का भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्वस्वना निरपेक्ष बन केवल भूतवादी प्रतीत्यवस्था की आनिर्देशिक-प्रायश्चित्त उन बहूभूतपदसिधियों का ही प्रतिष्ठापन कर दिया है इस संसृष्टिक-भारतगर्भ में विन की मूलप्रतिष्ठा का एकमात्र आधार आधिदैविक-प्राणजगत् ही माना गया था । प्रत्यक्ष वह भूमि का प्रकम्प है । एवं तत्कम्प में ही वायव्य का प्रस्तुत-सन्दर्भ प्रकम्प है । अतएव इसी दृष्टि से प्रकम्प में ही शब्दों में हम उस यक्षि-भूमन्त्र की ओर आप-मानव का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिस-यक्षि-भूमन्त्र

धरित्री, और धरिणी भी है। जिन इन सभी शब्दों का मौलिक अर्थ यद्यपि सर्वथा विभिन्न ही है। तथापि अमुक समानधर्मानुवच से इन शब्दों को अमुक सीमा पर्यन्त पर्याय भी माना जा सकता है। मयिष्य मं प्रतिष्ठात्मक-स्थितिवर्मात्मक एक वैश 'प्राण' है, जिसके द्वारा मयिष्य अभ्यूषा इय प्रतिष्ठा-सर्वपाम, तस्माद्-भूमिरभवत् (शत ६।१।१।१०) के अनुसार 'भूमि' नाम से भी प्रासङ्ग हो रहा है। प्रतिष्ठात्मक इस धृति (धारणशक्ति) ही यह धरा-धरित्री-धरणी-आदि नामों से व्यवहृत हुई है। सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार मयिष्य का मौलिक उपादानद्रव्य 'पानी' ही माना गया है, वैसाकि-‘अव्यय पृथिवी’ इत्यादि से स्पष्ट है। अप्रतत्त्व अपने सद्भाव आत्त धम्म के कारण प्रतिष्ठाशून्य है। अतएव पानी के स्तर पर गुत्त्वधर्मावच्छिन्न कोई भी भूतपदार्थ प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। अपितु कक्षल यह अवगम में ही निम-ग्नित हो जाता (डूब जाता) है। ऐसे प्रतिष्ठाशून्य, धृतिगुणशून्य अप् से ही आप-पनादि क्रम से मयिष्य का स्वरूप निर्माण हुआ है। प्रश्न उपस्थित है कि प्रतिष्ठात्मक-धृतिगुण से शून्य आपद्रव्य ही जिन मयिष्य का मौलिक-उपादानद्रव्य है, ऐसे मयिष्य में धृतिगुण-प्रतिष्ठाभाव कैसे, और कहाँ से आ गया? इस प्रश्न का एक सुप्रसिद्ध यज्ञिय प्रक्रिया के माध्यम से ही पथच समाधान करते हुए श्रुति ने कहा है कि-‘आहुतिद्रव्यरूप आन्य (घृत) यद्यपि सरल है अतएव प्रतिष्ठाशून्य है अतएव पनतानुषधी धृतिगुण से विरहित है। तद्यपि क्योंकि इस सरल प्रतिष्ठाशून्य भी आन्य में क्योंकि हिरण्यशकल (सोने का टुकड़ा) जाल कर ही इसका आहुति या जाती है अतएव अनस्थिमत् भी इस आन्य से अस्थिमती-प्रतिष्ठायता-प्रजा उत्पन्न हो जाती है।

यज्ञिय आहुतिद्रव्य से ही यद्यमान का नवीन सशरीर-वैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। यह आहुति द्रव्य अमुक यज्ञविशेष में है-‘आन्य (घृत-पी)। इसीके सम्बन्ध में तत्र समस्त किसी वैज्ञानिक ने प्रश्न किया कि-‘अनस्थिमदूधूयतं कथमस्थिमत्-प्रजायते। अर्थात् बिना हड्डी वाल (पनताप्राण-शून्य-तरल) इस आन्यद्रव्य की तो आहुति दी जाती है, और संकल्पित है अस्थिमती प्रजा। यह कैसे उत्पन्न हुई, जबकि उपादानभूत आन्यद्रव्य अस्थिभाव से शून्य है? इसी प्रश्न का उत्तर है-‘हिरण्यशकलं निचाय जुहोति तस्मात् इत्यादि। तात्पर्य स्पष्ट है। आन्य अपश्य तरल अतएव अनस्थिमत्, अर्थात् प्रतिष्ठात्मक-धृतिगुणक अस्थिभाव से शून्य है। किन्तु इसमें हिरण्यशकल जो है। वह तो स्थितिमत् है। क्या तात्पर्य? न्य नवीन क्या? का उत्तर है-‘प्रज्ञोपचिपिज्ञान’, जिसके स्पष्टीकरण का अत्र अवसर नहीं है। यज्ञानुष्ठान से प्रश्न वस्तुतः सृष्टिप्रक्रिया से ही अनुमानित है। पिता के शुक्र तथा माता के शोणित इन दोनों के चिन्मय पुम्भ्रण-स्त्रीभ्रणा के दाम्प्यमूलक मिथुनभाव से ही प्रज्ञोपचिपि होती है उपादानभूत शुक्र और शोणित दोनों ही क्रमशः भागशः आङ्गिरस-आपोद्रव्यत्मक प्रतिष्ठा शून्य अनस्थिमत् सरल ही पदार्थ हैं। इन अनस्थिमत् भाषा से अस्थिमती (हड्डी वाली) प्रजा कस उत्पन्न होगी? यही पूर्व प्रश्न का सम्बन्ध है। ‘हिरण्यशकल का अर्थ है-‘मत्स्य-यज्ञ-प्रतिष्ठात्मक-अरमा-सामगमित-मौर हिरण्य-प्राण। यह आह्वानरूप से अपने प्रज्ञोपचिपि मत्सरूप से शुक्रशोणित में प्रतिष्ठित नहीं होता। अपितु धम्मयागात्मक-छिन्नरीपभाग से अनुप्राणित सुप्रक्रिया विज्ञ सनप्रक्रिया में उन्मत्त रमने वाला शीरकृत्ययज्ञ-मयहल से श्रुत रूपण पशुक (पृथक्) होवान वाला प्रपग्य नामक

से—‘आत्मान’ तो नहीं ही माना जा सकता। माधुसूदनसिंह जीवनीपरस से प्रतिमुद्रित, केवल प्रकृत-  
त्म एक अत्र मात्रा में एवं तात्कालिक रूपेण आकार-प्रकार-प्रदर्शनादि में—‘बहु’ प्रमाणित होता हुआ भी  
तत्त्वतः किंवा तत्त्वतः सो सर्वथा—‘यान्याम’ ही बन जाता है।

भूमिनिस्तनन उसी धीमापमर्त्य मान्य होना चाहिए, बिना सीमा पर मधुसूदन-जीवनीपरतत्त्वतः—  
और प्रवर्ग-यशिय-वैष्णव-प्राप्त प्रविष्टित है। यदि प्रवर्गपाठ से इस सीमा का अतिक्रमण हो जाता है  
तो भूगम्य-भूतप्रा - याचि-‘पूषा’ माग तो अथर्व ही तात्कालिकरूपेण अभिप्राय हो  
पड़ता है। फलस्वरूप कुछ समय के लिए ‘भूतभार’ की दृष्टि से उपदेश में अत्र प्रभूतमात्रा में उत्पन्न भी  
हो जाता है। किन्तु इस आधारपरम्परा से ‘प्रभूत’ मागेस्तद्विषय जीवनीय-रसस्वरूप-मधुसूदन-  
और यशिय प्राप्त हो उत्पन्न ही हो जाता है। और निश्चयन ऐसा केवल पार्थिव अत्र—‘अयश्विन’ ही बना  
रह जाता है। भारतीय-प्रथा केवल ‘भूतप्रा’ का भी समर्थन नहीं कर सकती। यदि करती है तो वह भारतीय  
नहीं। ‘यक्षशिष्टाशिनः सन्तु’ के अनुसार भारतीय-प्रथा का अन्न—‘यक्षोन्मिष्ट’ ही माना गया है।  
बिना मौक्तिक अन्न में और-विष्णु-वैष्णव-प्राप्त का भी सम्बन्ध रहता है। वही अन्न ‘यक्षोन्मिष्टप्राप्त’ कहा जाता  
है वही आर्च्यप्रा के लिए प्राप्त है। ऐसे भी किन्हीं ही अन्न हैं जिनमें मगमल-यशिय-वैष्णव-और-प्राप्त  
अन्तर्ग्राम-सम्बन्ध से (अमुक विवाहीय प्राणविरोध से) प्रविष्ट नहीं होने पाता। वैसे अन्न ही ‘अयश्विन’  
कहा जाता है। अतएव यशिय-प्रथा के सम्बन्धों में वे अन्न निश्चि मान लिए गए हैं। ‘अयश्विन वै माया’ के  
अनुसार ‘माप (उद)’ इही अर्थि का अन्न है। ‘मसूर’ भी इही अर्थि से अनुप्राणित है। अतएव  
यक्षोन्मिष्टानुगामिनी आस्तिक-प्रथा ‘मसूर’ को भी अपने व्यवहार में त्याग्य ही मानती आ रही है। तदर्थ-इस  
यशिय-और-प्राणविरोध से ही भारतीय-प्रथा की असम्भवता अवस्थित हुई है। अशुन-पञ्चारथ-गृह्यनादि  
अपने अशुनप्राण-प्राधान्य से अयश्विन वनत हुए सर्वप्रथमा त्याग्य ही मान लिए गए हैं किन्तु  
बनकि स्वयं आधुनिकान् ने इनके मौक्तिक गुणों का समर्थन किया है। अतएव केवल शरीरोपयोगी, किन्तु  
विष्णुप्राणविरोधी क्लृप्त अन्नान्य सभी अयश्विन पदार्थ त्याग्य ही बन गए हैं वर्मराक्षस में।

यज्ञप्राणानुक्ची-मधुसूदन उक्त समय सोमरसमय इही जीवनीय-और-वैष्णव-पार्थिव-रस का  
प्रकृत न अशुनसन्त से स्पष्टीकरण हुआ है जिसका यज्ञसन्त के द्वारा ही स्वयं-विरोध हुआ है।  
कीनसा और केसा भूप्रदेश तथाविध जीवनीय-यशिय रस से समन्वित रहता है? प्रत्यक्ष अन्न  
इसी प्रश्न का तात्त्विक समाधान कर रहा है जिसके लिए बहुवचन के प्रथमोऽध्याय के उत्तम मन्त्र का  
निम्नलिखित अर्थ ही—‘शरीरजीवनीय है—

‘सुवमा चासि, शिवा चासि, स्योना चासि, सुवदा चासि, ऊजस्वती चासि,  
पयस्वती च’।

प्रत्यक्ष अन्न अशुन ही रहस्यपूर्ण तथ्यों से अनुप्राणित है जिसका अर्थ स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है।  
केवल दो शब्दों में ही इस पित्रा का विष्णु प्रस्तुत है। ‘अया’ नामसे प्रविष्टा माता शुधिनी का नाम भरा

०—‘अया’ से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रविष्टा गणितप्रक्रिया ही—‘अयमिति’ नाम से प्रविष्ट है।  
अथर्व ही निरुक्तमानुष्य से ‘अयमिति’ का ही कथान्त—‘अयमित्री’ होता है। यह इमी ‘अयमिति’ शब्द  
से—‘जमीन’ शब्द का अर्थ हुआ होगा।

मित हाँसी थी। अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक-और-यज्ञिय तेज मे सन्-ममन्वित रहने के कारण ही माता-पृथिवी प्रतिष्ठासे-गून्प-वृत्त-विवृत्त-मग्न श्रुति उच्च अवच-विपम आद भावी से असंख्य प्रमाणित होती हुई सर्वात्मना समचरतशक्तिका 'उग्ररा' (प्रजननशक्तिमती) बनी रहती थी। अपने प्रतिष्ठात्मक इसी सम-धर्ममानुस्त्व से यह सुपदा बनी रहती थी। और यों ईश्वरभूत त्रिव्य-मात्रों से सम्मालिता माता वरित्री मोर-दिव्य-मधु-रगात्मक, बीजनीयरसात्मक 'ओजः'-स्वरूप सम्पादक-'उक्' रस से 'ऊजस्वती' तथा सोमात्मक पयोगुण से पयस्वती बनती हुई सर्वात्मना हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित हो रही थी। ईश्वरभूत और यज्ञिय-त्रिव्यप्राणमिता, अतएव मुदमा-शिवा-स्थोना-मुपदा-ऊजस्वती-पयस्वती यज्ञिया-ममि ही हमारी 'यज्ञिया-वोद्' बनी हुई थी, जिस के आचार पर ही हम 'यावती ये वविस्तावती पृथिवी' जैसे महान उदात्त उद्धार करने में सक्षम बने हुए थे जो क्षमता आब क भूत-व्यामोहन में आसक्त होकर तन्मुक्ती दिव्यप्राण विरोधी, यज्ञियप्राण प्रतिषेधक-मत-मौलिक-विचरमणों के द्वारा हमने सर्वथा ही विलुप्त करली है। और यों अपने मौलिक शान्ति स्वन्ति-मूलक-श्रुति श्रुति-वृष्टि-पुष्टि प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा जैसे अयज्ञिय-प्रकारा का ही आज हमने आचानुकरण उपक्रम कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण त्रिम उपक्रमित से कृष्णमागुानुक्ती हम यज्ञिय-मास्तरष्ट्र का ता कदापि अभ्युदय सम्मन नहीं है। माता धरित्री के अभ्युदय सहायक इसी क्षिपम तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय-रस भाग की ओर अगवान याज्ञवल्क्य के द्वारा आर्य-मास्तीय प्रवा का प्यान आकर्षित हुआ है जैसा कि प्रकान्ता कणिका के उपसंहारक—'इमामेवैत-पृथिवी सविद्य रमवती उपजीवनीयामकुर्वत इव वास्य से स्पष्टतम है। ॥११॥

प्रश्नान्तर से यों समझिये कि, वज्रिगामि परिपाक करने वाला है। परिपाक से मिट्टी का शल्य भाव नष्ट हो जाता है मिट्टी टूट बन जाती है। इसी परिपाक से वह मसूया (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका मुदमाभाव (शोमनममिभाव) एवं शिवभाव है। गाहपत्यानि प्रतिष्ठाकूप है, यही प्रजननित है यही स्वरूपसम्पत्ति है। उत्तरांतर उग्ररा' बन रहना ही इसका सुपदा, एवं स्थोनाभाव है। मृत्तिका का रममुक्त, एवं वलयुक्त बनाने के लिए हीसग परिग्रह किया जाता है। ये तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं। पहिले क गावग्रण स्वाह्मन्मा परिगृह्यामि' इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं। प्राणरूप विष्णु का छत्रों से परिगृहीत भिजा जाता है एवं भूतमय विष्णु का अगिण्ड से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार सम्मय ३ परिग्रह हो जाते हैं। व्यापक विष्णुवत् पञ्चश्रु की सम्पत्ति ही संक्षमर है एवं यही यज्ञसम्पत्ति है। उक्त ३ यों परिग्रहों से यज्ञमान का यह वैच, यज्ञ प्राकृतिक पञ्चश्रुत्वरूप सग्नसख्यसम्पत्ति मे युक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पूर्व क तीन परिग्रह लोक परिग्रह हैं एवं उत्तर क तीन परिग्रह लोक परिग्रह हैं। लोक भूतप्रधान हैं एवं लाकी प्राणप्रधान हैं। इसलिये से दोनों का यह क ग्रह सम्पत्ति हो जाता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व क तीन परिग्रहों में ३ व्याहृतियाँ हैं एवं उत्तर क परिग्रहों में ३ व्याहृतियाँ हैं। इस प्रकार १२ व्याहृतियाँ हो जाती हैं। यज्ञसम्पत्-रहस्यवत्ताओं का चिन्तित होना चाहिए कि शान्त व्याहृतियों से भी श्रावशमागामिका सम्बन्धमूर्तिमयी वज्रविष्णुसम्पत् परिग्रहीत हो जाती है। पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्पत्ति रहने वाली ये १२ व्याहृतियाँ आगे के परिग्रह से स्पष्ट हो जाती हैं।

सौर-साक्षि-वैष्णव-यक्षि-तेज' ही शुक्र-शोणितरूप आत्म्य (तरलद्रव्य) में प्रतिष्ठित होता है एवं इसी सौरप्रथमर्ग (शक्ल-स्रष्टा) रूप-हिरण्यतेज से प्रजा के 'अस्थि' माग का स्वरूप निर्माण होता है। शारीरिक मांस-मेद-मांस-असृक् आदि श्रुतपात्र वहाँ शुक्रशोणितरूप बनते हुए आपोमय हैं, अतएव अप्रतिष्ठित हैं वहाँ 'अस्थि' माग सौरप्रथमर्ग-हिरण्यतेजोमय है यही वात्सर्ग्य-निष्कर्ष है।

ठीक यही स्थिति भूपिण्ड की समझिए। श्रुतवर्मा-प्रतिष्ठाशून्य पानी में श्रुतवर्मा अतएव प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश हुआ। वायु के प्रवेश से तदवच्छिन्न पानी बुद्बुद (बुलबुल) रूप में परिणत होगया। एवं प्रतिष्ठाशून्य धृतिगुण के अभाव से तत्त्व ही बुद्बुद फूट गया। यह प्रक्रिया निरन्तर चल-स्वर पर प्रचलित रहती है वायुसंचाल-परम्पराओं के अनुगम से। यही मूलप्रक्रिया भूपिण्ड की जननदात्री बनी है जिसके विस्तार का वहाँ अवसर नहीं है। यदि इन दोनों श्रुत-भावों का ही चक्रमण प्रमुख बना रहता तो कदापि भूपिण्ड पिण्ड रूप में परिणत न होता। किन्तु पानी और वायु दोनों के मध्य में साम्यकारक-छैर-मध्य-हिरण्यशक्लात्मक-तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी तेजःसंयोग से बुद्बुदावच्छिन्न अन्ध-वायु प्रदिग्-विक्षिप्त होजाते हैं जिस हृद्य धार्मिक अकस्या का नाम ही है—'फेन' [मृगा]। तद्वि-च-अन्ध-वायु के उचर्ष से सदा तेजःसंयोग से यही फेन उत्तरोत्तर-बनता का अनुगामी बनता हुआ—सृष्ट-सिद्धता-शेखर-अस्म-अय-हिरण्य-इन प्रतिष्ठा भावों में परिणत होजाता है। और यों इन-अवादि-हिरण्यान्त आठ प्रविष्ट-भावों के यज्ञात्मक-पञ्चावधि-सम्मिश्रण से प्रतिष्ठात्मक-भूपिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। नों-आपोमय भी भूपिण्ड छैर-हिरण्यरूप बक्षि-तेज की स्वर्ग्य-में प्रातिष्ठित कर दृष्टिलक्षण प्रतिष्ठाशून्य से समन्वित होता हुआ 'भूमि' रूप में परिणत होजाता है। इसी दृष्टिगुण से आज यह भूपिण्ड स्वीकृति स्वरूप पर अद्वितीय-मार वहन करने की 'कमता' से सर्वोत्तमा समन्वित समर्थ बना हुआ है। अतएव—[सौर-यक्षि-वैष्णव-यक्षि-तेज को गर्भ में चारण करन से ही] अब कुछ व्यवस्थाने में समर्थ बनता हुआ-भूपिण्ड—'सुहमा' [सर्व-कमते] नाम से प्रविष्ट होजाता है। कमतात्म्य दृष्टिगुण ही इसे 'सुहमा' बनाए हुए है। और वह गुण स्वयं हस्त न होकर प्रकृत छैर-वैष्णव-यक्षि-तेज का ही है। बुद्धिमत्त्व यह मानवीय प्रकाशपत्र से भूपिण्ड का यह यक्षि-वैष्णव-छैर-तेज-अभिमत होजाता है अथवा जो उत्कान्त कर दिया जाता है छैर-विष्णु-माव-विरोधी-ही-हृन्नादि से तो निश्चयेन भूपिण्ड का- 'हमा' भाव अभिमत ही होजाता है। कमता देने 'हमा' शून्य अतएव च केवल भूपिण्डात्मक-भूभाग से उत्पन्न भूतमात्रप्रधान अयक्षि-अय का मेका मानव भी दृष्टिगुण से प्रतिष्ठाशून्य से शून्य-शून्य ही बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि, सर्वोपमानेन हम भूपिण्ड की 'सुहमा' ही बनाए रहें। कदापि प्रवृत्तापातों से इसके गर्भस्थ वैष्णव प्रतिष्ठाप्राप्त का स्वरूप न करें। इसी तत्त्व के आधार पर श्रुतिप्रज्ञात्मक भारतराष्ट्र के 'आर्य' कृष्ण के द्वारा अष्टमयु-वैसे 'हृत्' का ही आविर्भाव हुआ जिससे ओषधि-मूल-पर्व-त ही मूलजनन-सम्भावित वा शक्ति-स्वमित-रूप से।

और यों अपने विष्णुतेजोमय-प्रतिष्ठाप्राणात्मक-हमा भाव से सुहमा बनी रहने वाली माय्य दृष्टि ही हमारे लिए शक्ति-स्वमित-हृत्-यक्षि-माय्य प्रकृत करती हुई शिवा बनी रहती थी। सुहमा अतएव च शिवा एभी ही माया धरिणी शक्ति-स्वमित-यक्षि-यक्षि-अयक्षि करती हुई अपनी पार्थिवी-प्रजा का प्रकाशमान करती हुई 'न के लिए सर्वोत्तमा 'सुहमा' प्रमाणित होती हुई-स्थाना' (सुप्रमाणी) प्रमा-

क्षित होरही थी। अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक-मौग-यज्ञिय तेज से सदा-समन्वित रहने के कारण ही माता-पृथिवी प्रतिष्ठासे-शुभ-वृद्ध-विद्वत्-मग्न-श्रुति उच्च अवच-विषम आदि भावां से असस्पष्ट प्रमाणित होती हुई सर्वोत्तमा समवरासत्तादिमा 'उवरा (प्रव्रननशक्तिमती) बनी रहती थी। अपने प्रतिष्ठात्मक इसी समवरासत्तात्मक से यह 'सुपदा' बनी रहती थी। और यों वृत्तभूत ज्ञान-मायी से सञ्चालिता माता भरित्री मार-विद्य-मधु-रमात्मक जीवनीयरसात्मक 'ओज-स्वरूप सम्पादक-उक्त' रस से 'ऊर्जस्वती तथा सोमात्मक पयामुण से पयस्वती बनती हुई सर्वोत्तमा हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित होरही थी। इत्थंभूता और यज्ञिक-दिव्यप्राणगर्भिता अतएव सुधमा-शिवा-स्योना-सुपदा-ऊर्जस्वती-पयस्वती यज्ञिया-भूमि ही हमारी 'यज्ञिया-वेदि' बनी हुई थी, जिस के आचार पर ही हम 'यावती वै वदित्वावती पृथिवी' जैसे महान उपात्त उद्घोर करने में सक्षम बने हुए थे, जो क्षमता आज के भूत-व्यामोहन में आच्छन्न होकर, तदनुकूल दिव्यप्राण विरोधी, यज्ञियप्राण प्रतिवर्धक-भूत-मौक्तिक-विभूतियों के द्वारा हमने सर्वथा ही विलुप्त करली है। और यों अपने मौक्तिक शान्ति स्वन्ति-मूलक-श्रद्धा-वृद्धि-वृष्टि-पुष्टि प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा वैसे अयज्ञिय-प्रकारों का ही आज हमने आचानुकरण उपक्रमित कर लिया है अपनी मूलविज्ञान विधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपक्रमित से कृष्णमृगानुवधी दम यज्ञिय-मारुतपट्ट का तो कृपि अशुद्ध सम्भव नहीं है। माता भरित्री के अशुद्ध सहायक इसी कृत्तिय तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय-रस भाग की और भगवान् साक्षवत्क्य के द्वारा आर्य-माखीय प्रजा का ध्यान आकर्षित हुआ है जैसा कि प्रकृता कश्चिदा के उपसंहारत्मक-इमामेयैत-पृथिवी संस्थित रमवती, उपजीवनीयामकुर्वत इस वाक्य से स्पष्टतम है। ॥११॥

प्रश्नान्तर से या समझिये कि दक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है। परिपाक से मिट्टी का 'श्लथ' भाव नष्ट होजाता है मिट्टी ढल बन जाती है। इसी परिपाक से यह मसृणा (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका सुब्रभावा (शोभनममिमांश), एवं शिवभाव है। गाहपत्याग्नि प्रतिष्ठाकर्म है यही प्रव्रनविता है, यही स्वरूपसम्पत्ति है। उत्तरोत्तर 'वरा' बन रहना ही इसका सुपदा एवं स्योनाभाव है। मृत्तिका को रमयुक्त एवं वल्लयुक्त बनाने के लिए तीव्रता परिग्रह किया जाता है। य तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं। पहिले के गायत्र्य स्वाछन्दसा परिगृह्यामि इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह हैं। प्राणरूप विष्णु को छत्रों से परिगृहीत किया जाता है एवं भूतमय विष्णु का अविवक्ष से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार सम्मय ३ परिग्रह हीजाते हैं। ध्यायक विष्णुवत् पदश्रुत की सम्पत्ति ही संस्वर है एवं यही यज्ञसम्पत्ति है। उक्त ३ आ परिग्रहों से वर्तमान का यह वैद्य यज्ञ प्राकृतिक पदश्रुतकर्म सम्प्रसरणसम्पत्ति में युक्त होजाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिये कि पूर्व के तीन परिग्रह 'लोकी' परिग्रह हैं एवं उत्तर के तीन परिग्रह 'लोक' परिग्रह हैं। लोक भूतप्रधान हैं एवं लोकी प्राणप्रधान हैं। इसअर्थ से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध होजाता है। भाग ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पूर्व के तीन परिग्रहों में ३ व्याहृतियाँ हैं, एवं उत्तर के परिग्रहों में ३ व्याहृतियाँ हैं। इस प्रकार १२ व्याहृतियाँ होजाती हैं। यज्ञसम्पत्-रहस्यवत्ताओं का विदित होना चाहिये कि, वायु व्याहृतियों से भी वायुशान्ताग्नि का सम्बन्धस्मृतिमयी यज्ञविष्णुसम्पत् परिगृहीत होजाती है। पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वाली वे १२ व्याहृतियाँ आगे के परिच्छेद से स्पष्ट होजाती हैं।

सौर-सावित्र-वैष्णव-अश्विन-तेज' ही शुक्र-शोणितरूप धाम्य (तरलद्रव्य) में प्रतिष्ठित होता है एवं इसी सौरप्रवर्ग्य (शकल-स्रण्ड) रूप-हिरण्यतेज से प्रभा के 'अस्थि' भाग का स्वरूप-निर्माण होता है। पार्थिव मांभ-मेद-मज्जा अणुकाशि श्रुतपातु जहाँ शुक्रशोणितरूपक बनते हुए आपोमय में अतएव अप्रतिष्ठित हैं वहाँ 'अस्थि' भाग सौरप्रवर्ग्यहिरण्यतेजोमय है यही तात्पर्य-निर्णय है।

ठीक यही स्थिति भूपिण्ड की समझिए। शूचधर्मा-प्रतिष्ठाशून्य पानी में शूचधर्मा अतएव प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश हुआ। वायु के प्रवेश से तद्वन्धुस पानी बुबुब्ब (बुलबुला) रूप में परिणत होगया। एवं प्रतिष्ठाशून्य वृत्तिगुण के अभाव से तत्त्व ही बुबुब्ब फूट गया। यह प्रक्रिया निरन्तर कक्ष-स्तर पर प्रचलित रहती है वायुसंचालन-परम्पराओं के अनुग्रह से। यही मूलप्रक्रिया भूपिण्ड की बमदात्री कनी है जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है। यदि इन दोनों शूच-मापी का ही चक्रमण प्रमुख बना रहता तो कदापि भूपिण्ड पिण्ड रूप में परिणत न होता। किन्तु पानी और वायु दोनों के मध्य में सम्पर्कहीन-हीर-अवयव-हिरण्यराज-साम्य-तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी तेजःसंयोग से बुबुब्बावन्धुस अन्-वायु प्रथिम्-निष्ठ होजाते हैं जिस इस मार्गमक अवस्था का नाम ही है—'फेन' [मयरा]। तद्वि-अन्-वायु के संघर्ष से तथा तेज-संयोग से यही फेन उत्प्रेत-वन्तता का अनुगामी बनता हुआ—मूल-सिद्धता-राशरी-कारन-अन्-हिरण्य-अन प्रतिष्ठा-मापी में परिणत होजाता है। और यी इन-अन्-हिरण्य-अन आट-प्रतिष्ठा-मापी के ब्रह्म-रासायनिक-समिश्रण से प्रतिष्ठात्मक-भूपिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। यी-आराम-मी भूपिण्ड और हिरण्यरूप यक्षि तेज को स्वर्ग-में प्रतिलिख कर वृत्तिगुण प्रतिष्ठागुण से सम्निवत होता हुआ 'भूमि' रूप में परिणत होजाता है। इसी वृत्तिगुण से आब यह भूपिण्ड क्योंकि स्वच्छ पर अक्षित-मार रहने अपने की 'सुमता' से सर्वप्रथम सम्निवत समर्थ बना हुआ है। अतएव—[सौर यक्षि-वैष्णव-विष्णु-तेज को गर्भ में धारण करने से ही] उन कुछ स्वर्ग-में समर्थ बनता हुआ—भूपिण्ड—'सुमता' [सर्व-समत्] नाम से प्रविष्ट होता है। सुमताएव वृत्तिगुण ही इसे 'सुमता' बनाए हुए है। और वह गुण स्वयं इसका न होकर प्रकृत और-वैष्णव-यक्षि-तेज का ही है। सुमताएव यह मानवीय-प्रकारण से भूपिण्ड का यह यक्षि-वैष्णव-और-तेज-अभिमत होजाता है अथवा यी उत्कल्य कर दिया जाता है और-विष्णु-माव-विरोधी-सौहार्द-विधि से यी निरन्तर भूपिण्ड अन्- 'सुमता' माव अभिमत ही होजाता है। अतएव इसे 'सुमता' शून्य अतएव च केवल भूपिण्ड-अन्-भाग से अथवा मत्प्रमाण-अवस्थि अन् का मोक्ष मानव यी वृत्तिगुण से, प्रतिष्ठा-अन् से शून्य-शून्य ही बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि, सर्वोपमान-हम भूपिण्ड की 'सुमता' ही बनाए रहें। कदापि प्रचलित-आवां से इसके गर्भ-में वैष्णव-प्रतिष्ठा-अन् को उत्कल्य न करें। इसी तन्त्र के आधार पर श्रुतिप्रमाण-मातृराष्ट्र के 'आर्य' रूप के द्वारा अन्त-मयू-वैसे 'हल' का ही आधिर्माण हुआ जिससे ओषधि-मूल-पर्यन्त ही मूल-अन्-मयू-अधि-या शान्ति-स्वस्ति-रूप से।

श्रीर यो अपने विद्युत्तेजोमय-प्रतिष्ठागामक-‘हमा माव से ‘मुष्मा’ बनी रहने वाली माया पृथिवी ही हमारे लिए शान्ति स्वरित-पूर्वक-यज्ञियासु प्रवृत्त करती हुई शिवा बनी खड़ी थी। ‘मुष्मा’ अथवा य शिवा एही ही माया करिणी शान्ति-स्वरित-ग्र-यज्ञियासु-उत्पन्न करती हुई अपनी पार्थिवी-प्रमा का भण्डोभण करती हुई -त के लिए वर्णमना ‘मुष्मा’ प्रमाणित होती हुई- स्थाना’ (सुत्रपराधी) प्रमा-



मित हो रही थी। अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक-मौर-यशिय तेज मे सदा-समन्वित रहने के कारण ही माता-पृथिवी प्रतिष्ठासे-शून्य-क्षत-विक्षत-भग्न-धुत्तित-उच्च अवचन-विषम आदि भावी से असस्पृष्ट प्रमाणित होती हुई स्वार्थमना समवरातवारिमका उधरा' (प्रबननशक्तिमती) बनी रहती थी। अपने प्रतिष्ठात्मक इसी समवरातमानुक्त से यह 'सुपदा' बनी रहती थी। और यों इत्यंभूत दिव्य-भावों से सञ्चालिता माता धरित्री शीर-नित्य-मधु-रमात्मक बीजनीयरसात्मक ओजः-स्वरूप सम्पादक-उक्त् रस से 'ऊर्जस्वती तथा सोमात्मक पयामुण से पयस्वती बनती हुई सर्वात्मना हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित हो रही थी। इत्यंभूता शीर-यक्षि दिव्यप्राणगर्भिता अतएव सुदमा-शिवा-स्योना-सुपदा-ऊर्जस्वती-पयस्वती पशिया-भूमि ही हमारी 'यक्षिया-वाग्' बनी हुई थी जिस के आचार पर ही हम 'यावसी वै वदित्वावसी पृथिवी वैस महान् उदात्त उद्घोर करने में सक्षम बने हुए थे जो क्षमता आब के भूत-व्यामोहन में आसक्त होकर उद-तुम्बी दिव्यप्राण विरोधी, यक्षियप्राण प्रतिबधक-भूत-मौलिक-विनुग्मणों के द्वारा हमने सर्वथा ही विलुप्त कर ली है। और यों अपने मौलिक शान्ति स्वस्ति-मूलक-आदि धुत्ति-धुत्ति-प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा वैसे अयक्षिय-प्रकारों का ही आब हमने अन्वानुकरण उपकान्त कर लिया है अपनी मूलविज्ञान निधि से अपरिचित रहने के कारण जिस उपकान्ति से कृष्णमृगानुबन्धी दम यक्षिय-मारदराष्ट्र का तो क्वापि अन्मुदय सम्भव नहीं है। माता धरित्री के अन्मुदय सवाचक इहीं कतिपय तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय-रस भाग की और भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा आर्प-माखीय प्रवा का ध्यान आकर्षित हुआ है जैसा कि प्रकान्ता कश्चिक्का के उपसंहारामक-इसामेवैत्-पृथिवी सखिय रसवती उपजीवनीयामकुर्वत नस नाक्य से स्पष्टतम है। ॥११॥

प्रकाशन्तर से यों समझिये कि वक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है। परिपाक से मिट्टी का 'शलय' भाव नष्ट हो जाता है मिट्टी हव बन जाती है। इसी परिपाक से वह मच्छा (चिकनी) भी बन जाती है। यही इसका सुक्ष्मभाव (शोभनमभिभाव) एवं 'शिवभाव' है। गाहपत्याग्नि प्रतिष्ठारूप है यही प्रबनयिता है यही स्वरूपसम्पत्ति है। उत्तरोत्तर उर्जरा बन खना ही इसका सुपदा एवं स्योनाभाव है। मृत्विक्का को रमयुक्त एवं वलयुक्त बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है। ये तीनों परिग्रह 'भूमिपरिग्रह' हैं। पहिले के गाहग्रण स्वाह्मन्दा परिग्रह्याग्नि' इत्यादि तीनों परिग्रह प्राणपरिग्रह है। प्राणरूप विष्णु का छन्दों से परिग्रहीत किया जाता है एवं भूतमय विष्णु का मणिग्रह से परिग्रहण किया जाता है। इसप्रकार सम्मय ३ परिग्रह ही होते हैं। व्यापक विष्णुका यह श्रुति की समष्टि ही संवत्तर है एवं यही यज्ञसम्पन्न है। उक्त ३ ओ परिग्रहों से यजमान का यह क्षेत्र यज्ञ प्राकृतिक यज्ञरूप सम्प्रसरयज्ञसम्पत्ति में युक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिये कि पूर्व के तीन परिग्रह लोकों परिग्रह हैं एवं उत्तर के तीन परिग्रह लोक परिग्रह हैं। लोक भूतप्रधान हैं एवं लोकों प्राणप्रधान हैं। इसक्रम से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध हो जाता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व के तीन परिग्रहों में ३ व्याहृतियाँ हैं एवं उत्तर के परिग्रहों में ३ व्याहृतियाँ हैं। इस प्रकार १२ व्याहृतियाँ हो जाती हैं। यज्ञसम्पत्-रहस्यवेदाओं को विनित होना चाहिए कि शास्त्र व्याहृतियाँ से भी श्राद्धशालासिद्ध मन्त्रन्तरमूर्तिमयी बहविष्णुसम्पत् परिग्रहीत हो जाती है। पूर्व एवं उत्तर परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वाली ये १२ व्याहृतियाँ आगे के परिशेष से स्पष्ट हो जाती हैं।

मयवा नामक इन्द्रप्राण ही इन यन्त्रवायवत् वर्णरूपों के अधिष्ठाता, एवं प्रदत्तक हैं । इसी वर्णरूप का नाम है—‘रूपसौन्दर्य’ —।

दूसरा है—‘अभिरूपसौन्दर्य’ । आकाशरूप का ही नाम ‘अभिरूपता’ है, जिस इस अभिरूपात्मक आकाशरूप का प्रवचक ‘त्वष्टा’ प्राण माना गया है जैसाकि—‘त्वष्टा रूपाणि पिशतु त्वष्टा मे रत सिकतं विकिरोति’ इत्यादि से स्पष्ट है । आकाशरूप ही वर्णरूप की प्रतिष्ठा माना गया है । व्योमाशक्त कन्द का नाम है—आकाश, एक व्योमक कन्दित वस्तु का नाम है—‘आकाशित-पदार्थ’ । पदार्थ और पदार्थ का आकाश दोनों कमरा इन्द्र, और त्वष्टा से अनुप्राणित हैं । दोनों में आकाश ‘आधार’ है, आकाश रित वस्तु ‘आवय’ है । कन्दोरूप त्वाष्ट्र आधारात्मक सौन्दर्य की क्वदित-एन्द्र आवेक-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा-कना करता है । अतएव दोनों में प्रमुख-स्थान त्वाष्ट्र-आकाश-सौन्दर्यरूप अभिरूपसौन्दर्य का ही माना गया है । अपि श्वेत-कृष्ण-पीत इति—( काला-गौर-आदि ) वर्ण सौन्दर्य के मापदण्ड नहीं बना करते । अस्तु प्रमुख रूपेण आकाशविशेष ही सौन्दर्य का प्रमुख मापदण्ड बना करता है । विविधकार से समन्वित प्रत्येक वर्ण [ रंग ] जहाँ सुन्दर बन जाता है वहाँ निरुद्धाकारों से विविध भी वर्ण निरुद्ध बनता हुआ सौन्दर्य की सीमा से बहिर्भूत हो जाता है । अतएव वर्णरूपात्मक-एन्द्र रूपसौन्दर्य तथा आकाशरूपात्मक-त्वष्ट्र-अभिरूप सौन्दर्य दोनों में अभिरूप-सौन्दर्य ही प्रमुख मान लिया गया है जैसाकि आभिरूप्याच्च विम्बानाम् इत्यादि औपासक-वचन से स्पष्ट है क ।

प्रतिमा का अथवा तो चित्र का वर्णात्मक रूपसौन्दर्य इनके आकाशरूप अभिरूप सौन्दर्य पर ही प्रतिष्ठित माना गया है । वर्णित कृष्ण-पाशाणमयी मूर्तिप्रतिमा आकाशसौन्दर्य से जहाँ स्वस्वरूप से अभिम्यक्त होपड़ती है वहाँ वर्णित चित्रिता भी प्रतिमा आकाशभित्ति से अपने वैशिष्ट्य से वञ्चित होजाती है । यही स्थिति चित्रात्मक शिल्प की है । अतएव मगवान् याज्ञवल्क्य न यहाँ वर्णरूपा नारी के सौन्दर्य के सम्बन्ध में त्वाष्ट्राधारात्मक आकाशरूपात्मक अभिरूपसौन्दर्य को ही प्रमुख माना है । यज्ञपुराण की ओपारूपा ( प्रत्नी स्थानीया ) यह वेदि परचाद्वरीयसी मध्ये संस्कारिता, तथा पुरस्तादुर्वी-आकाश-मायी से समन्वित रहती है । एतन्नाशरूपसौन्दर्ययुक्ता अभिरूपसुन्दरी नारी की ही लोक में प्रशंसा होती है—‘एवमेव हि योपां प्रशंसन्ति’ । ‘परचाद्वरीयसी का अर्थ है—‘पृथुभोगि’ । मध्ये छद्मरिष्य का अर्थ है—‘मध्ये समारूपा’ एवं ‘पुरस्तादुर्वी’ का अर्थ है—‘विस्तृष्टरूपांसा’ । आग्निद्वय विमुलाधरव-समन्वित मध्य-दक्षि-प्रवेश इत्येताद्वयमर्पादय सक्म ( कुरोदरी ) एवं अवमग भोरपक्षया पाङ्गे नत, किन्तु विलुप्त । यही योपा का अन्यतम अभिरूप-सौन्दर्य है जिसे प्रजनन का मूलाकार माना गया है ॥ १४ १५, १६ ॥

—विशिष्टतम रूपसौन्दर्य से सम्पन्ना नारी के लिए रात्रस्थान में—‘रूप का रक्षा ( रूपराशि रूपरूप रूप का वेर ) यह शब्द प्रसिद्ध है ।

• अर्चकस्य तपोयोगात्, अर्चनस्यातिशायिनात् ।

आभिरूप्याच्च विम्बानां द्व साभिध्यमुच्छति ॥

तथाभूता अमिरूपसौम्यशुणान्विता यज्ञिया वेदि प्राक्त अथवा तो उरक् गानों में से किसी एक दिशा की ओर ही प्रवणा होनी चाहिए। कारण स्पष्ट है। मानवधर्म का उत्तरदिशा से प्रधान सम्बन्ध है एवं देवधर्म का पूर्वदिशा से सम्बन्ध है। मानवसृष्टि रतोमयी-भूतसृष्टि है एवं देवसृष्टि प्राणसृष्टि है। प्राणपात प्राणरूपक इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल है एवं भूतपति चन्द्रमा (सोम) उत्तरदिशा के दिक्पाल है। चन्द्रमसावुरतो ऋषय आभूतम् "त्यादि काथीसकि सिद्धान्तानुसार चान्द्र सोम ॥ अतः स्वरूप का एक जनता हुआ शुक्लरूपक-रतो-रूप में परिणत होता है। एवं स्वशुक्लभूति ही मानवसृष्टि का प्रमुख बीज माना गया है। तत्प्रधानता क्योंकि सोम्या उत्तरदिक् में ही है। अतएव उत्तरदिक् (उत्तर दिशा) साम्य-शुक्ल प्रधान मानव की प्रातिस्विक अतः मानली गई है जबकि-प्रायेन्द्र के प्राधान्य से पूर्वदिक् देवताओं की दिशा मानी गई है। प्रथम तो वेदि इस ओर ही प्रवणा (भुज्जी हुई) होनी चाहिए। यदि इस ओर मुनिवा न हो तो स्वस्तिरूपा उत्तरदिशा की ओर भी वही प्रवणा रक्खी जासकती है। किन्तु भूल कर भी इसे दक्षिणप्रवण तो कदापि नहीं बनाना चाहिए। जो साम्यप्राण उत्तर में मानव के जीवन की मूलमस्तिष्ठा है वही दक्षिणानुगत जनता हुआ पितृप्राणात्मक बन कर मानव की मृत्यु का कारण बन जाता है। अतएव दक्षिणदिशा को साम्यारिक् (यमराज की दिशा) माना गया है। द्वाघमोऽवसा सानं पृथिव्या-यमा वै-अवसानस्यष्ट" इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-भूतिया के अनुसार दक्षिणस्थ साम्य-पितर तो अवसान के ही अधिपति माने गए हैं। अतएव मानव का स्वपाण का आमिमुख्य कदापि दक्षिण दिशा की ओर नहीं करना चाहिए। इसी आधार पर-"नोऽग्नीधानशिरा शचीत" (उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके कभी शयन नहीं करना चाहिए) यह आदेश हुआ है। क्योंकि ऐसा करने से प्राणगति दक्षिणामिमुख ही बन जाया करती है जो कि आधुःप्राण पर ध्यापात करने वाली मानी गई है। अतएव भारतीय-"वास्तुशास्त्र (मकननिर्माणवि शिल्पशास्त्र) में दक्षिण की ओर पृष्ठपार्श्व रखना आत्यन्तिक रूपण निषिद्ध माना गया है। निगमनिष्ठ स्वर्गीय श्रीब्रह्मविहारी रूपविधर के सत्त्वावधान में विनिर्मित जम्पुर नगर का समस्त पार्श्वित्व इसी लक्ष्य से अनुप्राणित था जो आश्र के युगवर्धन के द्वारा यत्र-तत्र परिवर्तित हो गया है।

प्राक्त प्रवणा अथवा तो उरक् प्रवणा वही के तथैक साम्य-दक्षिणप्राण्य को मिट्टी ढाल कर गोड़ा उन्नत कर देना चाहिए। इस से तो तथै सिद्ध होजाते हैं। उन्नतमाग से वेदि का दक्षिणप्रवणता तैय सर्वस्मिता हो जाता है। दूसरे-वर्षि "पशुसम्पत्ति से भी सम्बन्धित होजाती है। परिशिष्टात्मक-प्रवर्ण नाग का ही नाम रक्षय-मिह्री का ही नाम-"पुरीष" है जो अनाम्य है। आत्मस्वरूपाभिप्रायिकत्व से बध्निता पशुसृष्टि अनाम्या है प्रवर्ण है, पुरीषरूपा है अर्थात् प्रवर्णोभिध है। पृथग्भूता मिट्टी प्रवर्ण-स्थानीया बनती हुई निगमन न्यासात्-"पशु" है। अतएव इस पुरीष-निधान से वेदि अथर्व ही पशुसम्पत्ति से भी सम्बन्धित होजाती है। क्या दक्षिणस्थ साम्य-रुद्र इस पशुसम्पत्ति को नष्ट नहीं कर देगा, जिस कि पुरीष-निधानन वही के "द्विष माग में प्रतिष्ठित किया गया है। नहीं इसलिए कि साम्यरुद्र तो स्वयं "पशुपति" है। अतएव व तो ग्वरु ही है "न दक्षिणस्थ-पशुओं के।

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि, आधिदैविक नष्ट तथा आध्यात्मिक यज्ञ का त्रैमा स्वरूप है "स आचम्य तदी यदि का स्वरूप भी उसी अनुपात से विनत होना चाहिए। यदि की स्वरूप-सम्पत्ति से सम्बन्ध

मथवा नामक इन्द्राण ही इन यन्त्रावात् वर्णरूपों के अविष्टाता एवं प्रवक्तृ हैं । इसी वर्णरूप का नाम है—‘रूपसौन्दर्य’, + ।

दूसरा है—अभिरूपसौन्दर्य । आकाररूप का ही नाम ‘अभिरूपता’ है, जिस इष्ट अभिरूपात्मक आकाररूप का प्रवक्तृ ‘त्वष्टा’ प्राण माना गया है । वैशकि—त्वष्टा रूपाणि पिरातु त्वष्टा ये रतः सिक्तं विक्रीरोति इत्यादि से स्पष्ट है । आकाररूप ही वर्णरूप की प्रतिष्ठा माना गया है । बयोनाभालक छन्द का नाम है—आकार एक बयोस्य छन्दस्य वस्तु का नाम है—आकारित-पदार्थ । पदार्थ और पदार्थ का आकार दोनों क्रमशः इन्द्र, और त्वष्टा से अनुप्राणित है । दोनों में आकार ‘आचार’ है, आचारित वस्तु आचार्य है । छन्दोरूप त्वाङ्ग आपारम्भिक सौन्दर्य की छन्दित-येन्द्र आचार्य-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा-कना करता है । अतएव दोनों में प्रमुख-स्थान त्वाङ्ग-आकार-सौन्दर्यरूप-‘अभिरूपसौन्दर्य’ का ही माना गया है । अद्यापि श्वेत-रूप-पीत इति—(काला-गौर-आदि) वर्ण सौन्दर्य के मापदण्ड नहीं बना करते । अग्नि प्रमुख रूपेण आचारविशेष ही सौन्दर्य का प्रमुख मापदण्ड बना करता है । विशिष्टाकार से समन्वित प्रत्येक वर्ण [रंग] बहाँ सुन्दर बन जाता है, वहाँ निरुद्धाकारों से विशिष्ट भी वर्ण निरुद्ध बनता हुआ सौन्दर्य की सीमा से बहिर्भूत हो जाता है । अतएव वर्णरूपात्मक-येन्द्र रूपसौन्दर्य तथा आकाररूपात्मक-त्वष्टा-अभिरूप-सौन्दर्य दोनों में ‘अभिरूप सौन्दर्य’ ही प्रमुख मान लिया गया है, वैशकि आभिरूप्यान् विम्बानाम् इत्यादि औपासनात्मक-वचन से स्पष्ट है \* ।

प्रतिमा का अथवा जो चित्र का वर्णरूपक रूपसौन्दर्य इनके आकाररूपक अभिरूप सौन्दर्य पर ही प्रतिष्ठित माना गया है । वर्णरूप कृष्ण-प्राश्रणमयी मीन-विमा आकारसौन्दर्य से बहाँ स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होपकती है वहाँ वर्णरूप विशिष्टा भी प्रतिमा आकारविकृति से अपने वैशिष्ट्य से बञ्चित होजाती है । यही स्थिति चित्रात्मक शिल्प की है । अतएव मगवान् शारदस्व ने यहाँ वैशिक्या नारी के सौन्दर्य के सम्बन्ध में त्वाङ्गाप्राणात्मक आकाररूपात्मक अभिरूपसौन्दर्य को ही प्रमुख माना है । यक्षरूप की योपारूपा (पत्नी स्थानीया) यह यदि परबादरीयसी मध्ये सङ्गरिता, तथा पुरस्तादुर्वी आकार-मावों से समन्वित रहती है । एतन्नाकारसौन्दर्ययुक्ता अभिरूपसुन्दरी नारी को ही लोक में प्रशंसा होती है—‘पुनमेव हि योपां प्रशंसन्ति’ । ‘परबादरीयसी’ का अर्थ है—‘पृथुभोगि’ । मध्ये उद्धारिता का अर्थ है—‘मध्ये संभ्रमिता एवं ‘पुरस्तादुर्वी’ का अर्थ है—‘विमुष्टान्तरांसा’ । आशिश्च विपुलाधरव-समन्वित मध्य-इति-प्रदेश इत्यादिमर्मावस्था वक्ष (कपोदरी) एवं अनयाग भोग्येक्षया भोगे नव किन्तु विलुप्त । यही योपा का अन्यतम अभिरूप-सौन्दर्य है जिसे ‘प्रजनन’ का मूलाधार माना गया है ॥ १४, १५, १६ ॥

+—विशिष्टतम रूपसौन्दर्य से सम्पन्न नारी के लिए यक्षस्थान में—‘रूप का इसा (रूपराशि रूपरूप रूप का ठेरा) यह शब्द प्रसिद्ध है ।

\* अर्चकस्य तपोयोगात्, अर्चनस्यातिशायिनात् ।

आभिरूप्यान् विम्बानां इव सामिष्यमुच्छति ॥

में एक पय किसी कविभेष्ट के मुल से हमारे भोगविवरों में बलात् प्रविष्ट होगया था । सम्भवतः सभी ऋक्वातुर्गामी निम्न लिखित उस पय से सुपरिचित होंगे कि—

अङ्ग केऽपि शशङ्किर जलनिधे , पङ्क पर मेनिरे ।  
सारङ्ग कतिचिच्च सञ्जगडिर भूच्छायमैच्छन् पर ॥  
इन्दौ यद्वलितेन्द्रनीलशकल श्याम दरीदश्यते ।  
तत् सान्द्र निशिपीतम धतमस कुचिस्थमाचक्षमहे ॥

“कितने ही कल्पना-रसिकों का कहना है कि, चन्द्रमा में जो कल्पमात्र है वह एक कलाङ्क का स्वरूप है । चन्द्रमाने बारखुदि से बृहस्पति की स्त्री तारा (गुरुपत्नी) पर बलात्कार किया था । वही कलाङ्क (काशिका काशिका) आज तक चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है । छिन्न ही मानते हैं कि चन्द्रमा समुद्रमयन के अवसर पर समुद्र से निकला है । समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कचक) भी चन्द्रमा में लगा रह गया । वही चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है । छिन्ने ही कहते हैं कि चन्द्रमा के कोर में एक मृगयावक (हरिण का चन्दा) बैठा है । हरिण चन्द्रमा का वाहन है । उसका पुत्र भी उसी के साथ है । अस्पृश्यस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमा ने उसे अपने अङ्ग (गोद) में प्रतिष्ठित कर रक्खा है । चन्द्रमा में लिखाई देने वाला कल्पमात्र (काशिका) वही क्रोडस्थ मृगयावक है । इसीलिए चन्द्रमा ‘मृगसाञ्छन’ नाम से प्रसिद्ध है । कितने ही विद्वान् कहते हैं कि, चन्द्रमा पर भूपिण्ड की छाया पड़ती है । चन्द्रमा में इष्ट कृष्ण-वर्ण भूमि की छायामात्र है । परन्तु हमारी दृष्टि से (पञ्चरत्नना करने वाले कवि के मत से) चन्द्रमा में जो श्यामता दिखाई दे रही है, वह रात्रि का ही आवरण है । रात्रि का जो बना आवरण था उस ही मानो चन्द्रमा ने पी लिया है । रात्रि का सम्पूर्ण आवरण चन्द्रमा के ऊपर में चला गया है । अतएव चान्द्री रात्रियों में (शुक्लपक्ष में विशत पूर्णिमा में) अन्वकार नहीं रहता । वही पीतम्बर चन्द्रकुचि में दिखाई दे रहा है ।

उपप्लुक्त सभी पदों कवल कल्पना ही कल्पना हैं । यद्यपि इस कल्पना में भी—‘भूच्छायमैच्छन् परे’ यह वाक्य अवश्य ही आशिकरूप से सत्य है । परन्तु इतर मिथ्याओं के सदृशपति होने से उसकी भी मासिकता तिर्योहित ही होगी है । प्रकृत मन्त्र उसी अर्थात् का विरलेपण कर रहा है बशकि निम्नलिखित चन्द्रोत्पत्तिप्रकरण से स्पष्ट होजायगा ।

त्रिसप्तकार यहिर्मह नाम से प्रसिद्ध शनि बृहस्पति, मातुल एव ‘अन्तमह’ नाम से प्रसिद्ध शुक्र-भुव-पृथिवी सूर्य के उपग्रह माने जाते हैं, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है । दूसरे शब्दों में—चन्द्रमा पृथिवी का पुत्र माना जासकता है । यद्यपि चन्द्रमा की ‘अग्निपुत्र’ माना गया है । परन्तु उस अग्निप्राण का भूपिण्ड से ही सम्बन्ध है । अग्निप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूप-स्पर्शक बनता है । भूपिण्ड भूतमय है । भूत की प्रसिद्धा प्राण है । बिना प्राण के भूत एक घण भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । वही भूतमयिष्ठारूप वाहमय किंवा वाग्वरूप प्राण अग्नि नाम से प्रसिद्ध है । अतएव अग्निप्राणि का निरूपण करते हुए हमने पूर्व में पृथिवी में गाह्वरस्य नाम के अग्निप्राणि की उल्लाखता है । इस अग्नि-

रखने वाले हरी तथ्य का मात्र समन्वय हुआ है जिसके अनन्तर 'प्रतिमार्ज्जनकर्म' ही उपरिष्ठ हो रहा है ॥२॥

## प्रतिमार्ज्जनकर्मोपपत्ति—

उत्तर-परिग्रहानन्तर स्वयं से उत्पादित मिट्टी को समन्वय बाहिर पहुँचना ही 'प्रतिमार्ज्जनकर्म' है। जिस मन्त्र से यह कर्म किया जाता है वह निम्न लिखित है—

“पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्तिन्तुद्रादाय पृथिवीं प्रीददानुम् ।

यामैर्यंस्वन्त्रमसि स्वधामिस्तासु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते” ॥

—यजु सं० १।२८ सं०

‘हे विरप्तिन् ! विसृप ( क्रूरस्य ) पुरा ( देवा ) जीवन्तु यां पृथिवीसुदाताय स्वधामिन्त्रमसि—येरयन् तस्य अनुविश्य—बोयस—यजन्ते’ । हे विष्णो ! विविध योद्धाओं की इच्छा बघर दौड़ भाग ( सर्पस—मग्राट ) के कारण विसृप नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्मा अतएव ‘क्रूर’ नाम से प्रसिद्ध सक्मम से पहिले देवताओं ने जीवनीय जिस पृथिवी को ( पृथिवी के जिस जीवनीय भाग को ) ( धरोहर के रूप में ) चन्द्रमा में प्रतिष्ठित किया था वही ( जीवन्तु माता ) को लक्ष्य में रख कर धीरे याज्ञिक यजन करते हैं —

यह है मन्त्र का अन्वयार्थ । इस मन्त्र की सहायता लगाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि—“किसी समय युद्ध की आशावा से देवताओं ने युद्ध से पहिले ही परस्पर की मन्त्रणा से यह निश्चय किया कि इस भूपिच्छ पर जो अपना याज्ञिक असुतमय देवयजन भाग है उसे कुछ दिनों के लिए चन्द्रमा में रख दें। यदि जीत गए, तो पुनः इसे ले लेंगे। नहीं तो जीवनीय रस के आभार पर पुनः असुरों को परास्त कर देंगे। फलतः देवताओं ने इस जीवनीय भाग को धरोहर के रूप में चन्द्रमा में प्रतिष्ठित कर दिया । प्रकृत यज्ञ में चन्द्रमा में सुरक्षित उही देवयजन भाग की ( मानना धारा ) प्राप्ति के लिए उक्त मन्त्र से प्रतिमाञ्जन किया जाता है। उस देवयजन की मानना रखते हुए प्रतिमार्जन से विशुद्ध भूप्रदेश में उही यज्ञिय भाग का ( देवयजन भाग का ) समावेश हो जाता है । ( आप ह वाऽत्येतस्मिन् देवयजनऽ इष्ट भवति य एवमेतत्सूचक )” ।

संहिताभाग के कितने ही मन्त्र विशुद्ध आधिदैविक-विज्ञान का ही निरूपण करते हैं । केवल विज्ञान का निरूपण करने वाले मन्त्र मायादृष्टि से भी बरतल होते हैं एवं आबद्धि से भी रहस्यमय होते हैं । प्रकृत मन्त्र ऐसा ही है । इस में एक अपूर्व आधिदैविक-विज्ञान का निरूपण किया गया है । ब्रह्मनास्तिक कवियों की उल्लास-तरङ्गों की आभारभूमि ‘अमृतकण्ड’ का क्या स्वरूप है ? वृद्धे शब्दों में अन्तर्निम्न में दिव्यतार्क देने वाला ‘कुण्डलिनी’ क्या है ? उक्त मन्त्र इसी प्रश्न का तात्त्विक सम्प्रधान कर रहा है । वैदिक-विज्ञान का निरूपण करते हुए लक्ष्मी के साहसे यथपुष्टी का अनुष्ठान करने वाले उनकी प्रशंसा में ही अपने जीवन को धर्म मानने वाले वैदिक-विज्ञान के परम शत्रु मास्तीय उन कवियों से ही पहिले पूर्व देविए । देवों के इत कण्डू के सम्मुख में क्या उचार देते हैं ? बहुत दिनों की पढ़ना है । इस सम्मुख

में एक पय किसी कविभेष्ट के मुख से हमारे भोजविधियों में बलात् प्रविष्ट हो गया था । सम्भवतः सभी संस्कृतानुरागी निम्न लिखित उस पय से सुपरिचित होंगे कि—

अह्म केऽपि शशङ्किर जलनिघे , पङ्क पर मेनिरे ।  
सारङ्ग कतिचिञ्च सञ्जगदिरे भूञ्छायमैञ्छन् परे ॥  
इन्दौ यदलितेन्द्रनीलशकल श्याम दरीदरयते ।  
तत् सान्द्र निशिपीतम धृतमस कुचिस्थमाचक्रमहे ॥

“कितने ही कल्पना-रसिकों का कहना है कि, चन्द्रमा में जो कृष्णमास है वह एक कलाङ्क का सूचक है । चन्द्रमाने बारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा (शुक्लपत्नी) पर बलात्कार किया था । वही कलाङ्क (अलिमा कालिल) आबतक चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है । कितने ही मानते हैं कि, चन्द्रमा समुद्रमंथन के अवसर पर समुद्र से निकला है । समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क (कचक) भी चन्द्रमा में लगा रह गया । वही चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है । कितने ही कहते हैं कि, चन्द्रमा के कक्ष में एक मृगशावक (हरिण का बच्चा) बैठा है । हरिण चन्द्रमा का नाहन है । उसका पुत्र भी उसी के साथ है । अल्पवयस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमा ने उसे अपने कक्ष (गोद) में प्रतिष्ठित कर रक्खा है । चन्द्रमा में दिखलाई देने वाला कृष्णमास (कालिमा) वही क्रोडस्थ मृगशावक है । इसीलिए चन्द्रमा ‘सुरस्ताञ्छन’ नाम से प्रसिद्ध है । कितने ही विद्वान् कहते हैं कि, चन्द्रमा पर भूयिष्णु की छाया पड़ती है । चन्द्रमा में बड़ा कृष्ण-कण मृमि की छायामात्र है । परन्तु हमारी दृष्टि से (परावचना करने वाले कवि के मत से) चन्द्रमा में जो श्यामता दिखाई दे रही है वह रात्रि का ही अन्धकार है । रात्रि का जो घना अन्धकार था उसे ही मानो चन्द्रमा ने भी लिग है । रात्रि का सम्पूर्ण अन्धकार चन्द्रमा के उदर में बसा गया है । अतएव चान्द्री रात्रियों में (शुक्लपक्ष में, विशेष पूर्णिमा में) अन्धकार नहीं रहता । वही पीताम्बकार चन्द्रकुचि में दिखलाई देखा है ।

उपस्यूक्त सभी पङ्क्त केवल कल्पना ही कल्पना हैं । यद्यपि इस कल्पना में भी—‘भूञ्छायमैञ्छन् परे’ यह वाक्य अवश्य ही आशिकरूप से सत्य है । परन्तु इतर मिथ्याओं के संदर्शपवित होने से उसकी भी मालिङ्गम विरोधित ही हो रही है । प्रकृत मन्त्र उसी स्तंभाश का विश्लेषण कर रहा है बल्कि निम्नलिखित अन्तोत्पत्तिप्रकरण से स्पष्ट होजायगा ।

त्रिसप्रकार बहिर्भूत नाम से प्रसिद्ध शनि बृहस्पति, मङ्गल एव अन्तर्भूत नाम से प्रसिद्ध शुक्र-शुभ-पृथिवी सूर्य के उपग्रह माने जाते हैं । एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है । दूसरे ग्रन्थों में—चन्द्रमा पृथिवी का पुत्र माना जा सकता है । यद्यपि चन्द्रमा को ‘अग्निपुत्र’ माना गया है । परन्तु उस अग्निप्राण का भूयिष्णु से ही सम्बन्ध है । अग्निप्राण ही भूयिष्णु का स्वरूप-समर्पक बनता है । भूयिष्णु भूतमय है । भूत की प्रसिद्धा प्राण है । बिना प्राण के भूत एक लघु भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । वही भूतप्रतिष्ठारूप वाक्मय किंवा बाण्मय प्राण ‘अग्नि’ नाम से प्रसिद्ध है । अग्निर्यत्र अस्मादाग्निर्वा का निरूपण करते हुए हमने पूर्व में पृथिवी में गाहपत्य नाम के अग्नादाग्नि की उपा नतलाई है । इस अग्ना-

आग्नि की चित्य-चितेतिधय मरु से दो अवस्थाएँ होती हैं। चित्याग्नि भूतप्रधान है, इसी से भूपिरह बनता है। एव चितेतिधय आग्नि प्राणप्रधान है। यही प्राण एव आदमूर्ति अत्रिप्राण है। यही भूपिरह की प्रतिष्ठा है। इसी प्राण का निरूपण करते हुए श्रुत्य करते हैं—

“वागेवात्रि । वाचा (पार्थिवाग्नादाग्निना) अक्षमघत । अस्तिर्ह नै नामैतदत्रिरिति”  
(शु० १४।५।२।२।) । ।

भूपिरह वागुरूप अत्रिप्राणमय है। अतएव इसे भी वागुरूप ही कहा जाता है। वैश्वकि निम्न लिखित श्रौत-वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

१—“तस्य वा एतस्याग्निर्वागेवोपनिपत्” (शु० १०।५।१।१।) ।

२—“इय (पृथिवी) नै वाक्” (ऐ० ५।३३। शु० १।६।६।१६ ।

३—“वागिति पृथिवी” (जै० उ० ४।२२।११) ।

४—“वागेवाय लोक ” (शु० १४।४।३।१) ।

५—“सा या सा वागग्निस्स ” (जै० उ० १।२८।३)

६—“सा या मा वागासीन्, सोऽग्नि- (अग्नाद) -रमवत्” (जै० उ० २।२।१)

यह वागुरूप ( अग्नादाग्निरूप ) पार्थिव अत्रिप्राण वस्तुतः आपोमय परमेष्ठी का ही मनोत्र है। भूतु अत्रिप्राण अत्रि इन तीनों का प्रमथस्थान आपोमय परमेष्ठी ही है। इनमें श्रुत्य एवं अत्रिप्राण प्राण आगे आकर घन-तरल विरल अवस्था में से क्रमशः आत्य-वायु-मोम अग्नि यम आदिर इन तीन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। तीसरा अत्रिप्राण श्रुत्य-अत्रिप्राण-प्राणवत् तीन अवस्थाओं में परिणत न होकर मग्न एक रूप ही रहता है। अतएव ‘न त्रि’ इस निबन्धन के अनुसार भी इसे अत्रि कहा जाता है। ‘अस्ति (अम) — न त्रि — अत्रि शब्द’ के दो निर्बन्धन हैं। यही प्राण भूतसृष्टि का आत्मन्मन है। प्रत्येक मौलिक पदार्थ (तेज एव आकाश को छोड़ कर) घामच्छब्द (जगह रोहने वाला) है। साथ ही प्राण प्रत्येक घामच्छब्द पदार्थ पारदर्शकता का प्रतिफलक है। इस पारदर्शकता का अवरोधक नहीं अत्रिप्राण है। यह प्राण स्वर्ण का (स्वर्ण का) प्रतिफलक है। जिस घामच्छब्द पदार्थ में अत्रिप्राण की प्रधानता रहती है उसकी पारदर्शकता नष्ट हो जाती है। लोहरश्मियाँ उस से पारगामी नहीं हो सकती। वमोमयी पाप्मा भूतसृष्टि का अविच्छिन्ना यही अत्रिप्राण है। श्रुतकाल में स्त्री के रज में वमोमयी सृष्टि का मूलमूल यही अत्रिप्राण रहता है। अतएव श्रुतमती को आत्रेयी कहा जाता है। निम्न लीरम्भाधिमय देवताओं की अपेक्षा यह प्राण मनीमम है। इसी अग्निधाय से श्रुति कही है— ‘पाप्मानोऽत्रिणः” ( य मा ३।१।) — रक्षासि वे-पाप्मात्रिणः ( ऐ २।२।) । इसी पाप्मावक के कारण अमराशय में श्रुतमती स्त्री के स्पर्श का निषेध हुआ है।

पृथिवी का मूल उत्पादान पानी ही है। इसीके साथ अग्नादाग्निमय घामच्छब्द पारदर्शकता का प्रतिफलक आपोमय पारमेष्ठ्य अत्रिप्राण भी संयुक्त रहता है। अत्रिप्राण के परिणाम न चित्याग्निमय भूपिरह की स्वरूप



निष्पत्ति होती है। भूषण पानी और अग्नि (अग्नि) का समन्वित रूप है। इसी अग्नि के सम्बन्ध से इसके लिए 'अध्वानिगर्भा' पृथिवी यह कहा जाता है। भूषण क्या है चित्वाग्निमूर्ति अग्नि-रूप अग्निप्राणमूर्ति है। यह भूषण अग्निप्राण पर परिक्रमा लगा रहा है। इहती केन्द्र-स्थित सूर्य के चारों ओर वीर्यधृत (अध्वानिगर्भधृत) रूप 'अन्तिगर्भ' पर धूमता हुआ भूषण सम्बन्धमरगति का अविष्टाता बनता है। एव स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का प्रयत्न बनता हुआ अहोरात्र का स्वरूप सम्पादक बनता है। स्वाक्ष, एवं साम्बत्सरिक परिभ्रमण करते हुए पार्थिव अग्नि में दही दिशाओं में व्याप्त विक्रमोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। यही पार्थिव अग्नीषोमात्मक यज्ञ है।

पार्थिव अग्नि विकासधर्मा है, एव यह भूषण के लक्षण लक्षण करना चाहता है। परन्तु संकोच-धर्मा सोम अग्नि में आहुत होकर उसके इस विकास का समन करता रहता है। आगत सोम बनादि तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। भूषणवाचस्वित् सोम बनावस्थापन्न है इसी को 'धूमसोम' कहा जाता है। पृथिवी के पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष में व्याप्त पार्थिव सोम तरलतावस्थापन्न है, इसी को 'वर्धसोम' कहा जाता है। एव पृथिवी के २१ एकविंशस्तोमरूप यज्ञोक्त में पार्थिव सोम विरक्षावस्थापन्न प्राणावस्थापन्न है, इसी को 'चरुणसोम' कहा जाता है। तात्पर्य यही है कि, विक्रमोम पार्थिव वागग्नि में आहुत होता है। सोमाहुति से प्रदीप्त अग्निप्राणमय पार्थिव वागग्नि अग्निरा नाम धारण करता हुआ ऊपर की ओर (यज्ञोक्त की ओर) जाता है। इस वागग्नि की बनादि तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। भूषणवाचस्वित् सोममय पार्थिव अग्नि 'घन' है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायु नाम से प्रविष्ट दिव्याग्नि 'तरल' है। एव एकविंशस्तोमावच्छिन्न आदित्य नाम से प्रविष्ट दिव्याग्नि 'विरल' है। अग्नि की इन तीन अवस्थाओं के कारण उद्गमित सोम की भी उक्त तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। अन्तरिक्ष में पार्थिव वागग्निरूप अग्निप्राण व्याप्त रहता है। इसी के गर्भ में तरलसोम प्रविष्टित रहता है। भूषण धूम रहा है। अन्तरिक्षय सोम यही (अन्तरिक्षप्रदेश में) उस अग्निरूप वागग्नि से प्रवृत्त होकर एक स्थान में घनी भूत होता रहता है। यही पृथिवी की तीन साम्बत्सरिक-परिक्रमाओं से एकभूत पार्थिव तरल सोम चन्द्रविम्ब रूप में परिणत हो जाता है। यह पृथिवी के प्रवृत्त सोमरूप से उत्पन्न हुआ है इसीलिए तो इसे पृथिवी का उपग्रह माना जाता है, एवं अग्नित्रय के प्रसवण से उत्पन्न होने के कारण यह 'अग्निपुत्र' भी माना जाता है। चन्द्रमा के इसी औत्पत्तिक-रहस्य को लक्ष्य में रखकर पुराण कहा है—

पिता सोमस्य वै विशा जज्ञेऽधिमंगवानृषि ।

काष्ठकुक्ष्याशिलाभूत ऊज्जोषाहुर्महाद्युति ॥१॥

सुदुर्ध्व नाम तपो येन तप्त महत् पुरा ।

श्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानी हि न भूतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह ।

सोमश्च तनुरापेदे महाबुद्धि स वै दिवः ॥३॥

ऊर्ध्वागच्छते तस्य सोमश्च मानितात्मन ।

नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् विश ॥४॥

—प्रमाणबोधोद्भात-हरिश्चरो य

दार्ढ्य की विल्व वितनिधय भू मा २१ अक्षय्याएँ होती हैं । चित्वाग्नि भूतप्रधान है, उसी से भूषिरह बनाता है । एवं वितनिधेय अग्नि प्राणप्रधान है । यही प्राण एव सद्भूति अग्निप्राण है । यही भूषिरह की प्रतिष्ठा है । इसी प्राण का निरूपण करते हुए श्रुत करते हैं—

“वाग्वाग्नि । वाचा (पार्थिवाग्नादाग्निना) क्षममघते । अचिह्नं च नामैतदध्विरिति”  
(शु० १४।५।२।) ।

भूषिरह वाग्वरूप अग्निप्राणमय है । अतएव इसे भी वाग्वरूप ही कहा जाता है । वैश्विक निम्न विहित भक्त-वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

- १—“तस्य वा एतस्याग्नौषोपनिषत्” (शु० १०।४।१।१) ।
- २—इय (पृथिवी) च वाक्” (ए० ५।३३। शु० ४।६।२।१६ ।
- ३—“वागिति पृथिवी” (जै० उ० ४।०२।११) ।
- ४—“वाग्वाय लोक ” (शु० १४।४।३।१) ।
- ५—“सा या सा वागग्निस्त” (जै० उ० १।२८।३)
- ६—“सा या मा वागासीत्, सोऽग्नि-(अग्नाद)-रमघत्” (जै० उ० २।२।१)

यह वाग्वरूप ( अग्नादाग्निकरु ) पार्थिव अग्निप्राण वस्तुतः आपोमय परमेष्ठी का ही मनोव है । अस्तु अग्निप्राण अग्नि इन तीनों का प्रमथमान आपोमय परमेष्ठी ही है । इनमें अग्न, एव अग्निप्राण प्राण आगी वाकर वन-तरु-निरल अक्वशा मे से क्रमशः आप-वायु-सोम अग्नि-यम-आदि इन तीन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं । तीसरा अग्निप्राण अग्न-अग्निप्राण-प्राणवत् तीन अक्वश्यों में परिणत न होकर सदा एकरूप ही रहता है । अतएव ‘न त्रि इह निवचन के अनुधार भी इसे ‘अग्नि कहा जाता है । ‘अग्नि (अग्नि) न त्रि -अग्नि शब्द के दो निवचन हैं । यही प्राण भूतवृद्धि का आत्मन् है । प्रत्येक नीतिक पण्य (संज्ञ एव आकाशा का दृढ़ कर) धामच्छद ( जगद् योजन वला ) है । साथ ही प्राण प्रत्येक धामच्छद पार्थिव वारदशब्दा का प्रतिस्वरूप है । इस पारदशब्दा का अवरोधक यही अग्निप्राण है । यह प्राण स्वयं का ( ज्योति का ) प्रतिस्वरूप है । त्रिध नामच्छद पण्य में अग्निप्राण की प्रधानता रहती है उसकी वारदशब्दा नष्ट हो जाती है । शरीरमयी उत से वारदशील नहीं हो सकती । तमामयी पाप्मा भूतवृद्धि का अभिप्राय यही अग्निप्राण है । श्रुतव्याज में स्त्री के रज में तमामयी वृद्धि का मूलमय यही अग्निप्राण रहता है । अतएव श्रुतमयी की आग्नेयी कहा जाता है । निम्न श्रीग्यातिमय वस्तुओं की अपेक्षा यह प्राण महीमय है । इसी अभिप्राय से अग्नि कहती है—“पाप्मानोऽग्निः” ( य मा ३।१ )—रक्षाति च-पाप्मात्रिः ( ए २।१ ) । इसी पाप्ममात्र के कारण धम्मशास्त्र में श्रुतमयी स्त्री के रज का मूलमय निषेध हुआ है ।

पृथिवी का मूल उपादान पानी ही है । इसीके साथ अग्नादाग्निमय धामच्छद वारदशब्दा का प्रतिस्वरूप आपोमय पारम्यन्त्र अग्निप्राण भी संयुक्त रहता है । अग्निप्राण के परिचाय से जि-वाग्निमय भूषिरह की स्वरूप

वायविभागाख्यान के आधिभौतिक चरित्र में यह विस्तार से बतलाया जाना है कि इसी भूपिण्ड पर किसी समय मनुष्यविष देवता, एवं असुरों की सत्ता थी। इनमें असुरदल तो आज तक विद्यमान है, परन्तु देवसत्ता सर्वात्मना अभिभूत हो चुकी है। उस पुराण में देवता एवं असुरों में आप दिन युद्ध होता रहा था। देवताओं का प्रधान ऋषि यज्ञ था। यज्ञरत्न से ही देवता समय समय पर असुरों को परास्त करते रहते थे। इस यज्ञ का प्रधान साधन सोमवल्ली ही थी। यही सोमवल्ली देवताओं का प्रधान 'देवयजन' था। असुर निरन्तर इस देवयजन को नष्ट करने का प्रयास करते रहते थे। इस आप दिन की चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए देवताओं ने अपना इस देवयजन की रक्षा के लिए—अग्निमहर्षि के पुत्र चन्द्रमा को नियत किया। चन्द्रमा ब्राह्मण थे, एवं मातृव्य के निवासी थे। सोमब्रह्म ने चन्द्रमा को अपना मानस पुत्र बनाया। स्वयं रथ में स्थापित कर चन्द्रमा को पृथिवी की प्रदक्षिणा कराई गई। अन्त में उन्मामिपेक कर उन्हें उत्तरदिशा का तो विकृपाल बनाया एवं श्रौतधियों का लोकपाल बनाया। इसी लोकपाल एवं विकृपाल चन्द्रमा की रक्षा में तीन लक्ष प्राचेय—मौनेय गन्धर्वों के साथ सोमवल्ली सौंपी गई। वहाँ वहाँ सोमवल्ली का उद्गम होता था वहाँ वहाँ चन्द्रमा ने अपनी देखरेख में गन्धर्वों की रक्षा के लिए नियत किया। आगे आकर गुरुपत्नी के अपहरण से हतबुद्धि चन्द्रमा ने देवताओं की देवयजनरूप सोमवल्ली की रक्षा में उदासीनता दिखाई। असुरों को अच्छा अवसर मिल गया। फलतः असुरों के द्वारा सोमवल्ली का आमूलचूड़ ध्वंस कर दिया गया। तभी से वेवन्न नास्तिमाव में परिणत होगया। प्रकृत वाङ्मयभूति आधिदैविक—चरित्र के साथ साथ उक्त ऐतिहासिक घटना का भी स्मरण कर रही है।

## इति—प्रतिमार्जनकर्मोपपत्ति

१८, १९

ब्राह्मणोक्त वेदिनिर्माण—सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों की वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाती गई। अन्तःप्रमर्श प्रकरण शेष रह जाता है। पूर्व के अनुवाद—प्रकरण में यह बतला दिया गया है कि, अथर्व वेदि पर कुशास्तरण नहीं कर लिया जाय तब तक भूलकर भी वहि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। वात्सर्व्य यही है कि मन्त्र के द्वारा अन्ननादि व्यापार से वेदिप्रवेश कर हस्तिक विद्युत् से युक्त हो जाता है। उधर बर्हि में सीर—वेन—प्राणमयी विद्युत् रहती है। विद्युद्विज्ञानवेदाओं को यह मलीमांति विन्ति है कि मशीनरी का सञ्चालन करने वाले विद्युत्कन्त्र के साथ एक तबि का तार स्वतन्त्ररूप से मीनर (विद्युच्चुम्किप्रगाता कन्त्र) पर्यन्त बढ़ किया जाता है। यदि सञ्चालक की असावधानी से अथवा अधिक चापन (दबाव) से परिमाण से अधिक विद्युच्चुम्कि का समावेश हो जाता है तो वह ताम्रतन्तु (तार) उसका निगरण (पान) कर जाता है। तत्काल 'फ्यूज उड़' जाता है। सञ्चालक वर्ग निरापद सुरक्षित रह जाता है। यदि यह तार न हो तो वह उद्विक्त विद्युत् इतस्ततः व्याप्त होकर संघात का कारण बन जाती है। उस टीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए।

वेदिस्थान से निकलने वाली विद्युत् संहार करने वाली है। इसका दमन करने के लिए ही वेदि पर कुशास्तरण किया जाता है। बर्हि में विद्युत् है जैसाकि पूर्व के बर्हि—उत्पत्ति—प्रकरण में विस्तार से बतलाया

‘अग्निः सर्वा देवता’ के अनुसार अग्नि सार्वभौमिक है। इन देवताओं के यजन (उत्तिष्ठस्व) का एकमात्र साधन सोमाहुति ही है। अतएव हम सोम को अवरुध ही ‘व्ययजन’ (व्ययताओं का स्वरूप यजन का साधन) कह सकते हैं। मृषियवस्थ अग्नि में आहुत होने वाला पार्थिव सोम ही व्यय-यजन है। यही व्ययजनभूमि है। यहाँ व्ययजन सोम वृषप्रदर्शित क्रमानुसार चन्द्ररूप में परिणत हुआ है। पार्थिव व्ययजन सोम पितृप्राणमय है। स्वाकि मिश्रमाण का अविघाता एकमात्र सोम ही है। अतएव पितरों के लिए पितरों सोम्याम (यजु सं) यह कहा जाता है। जिस प्रकार देवताओं का अन्न स्वाहा कहलाता है एवमेव पितरों का अन्न अन्तर्ध्याम-सम्बन्ध की प्रधानता से ‘स्वस्मिन् धत्ते’ अथवा स्म (आत्मानं) धत्ते’ इस निर्बन्धन के अनुसार स्वधा नाम से व्यवहृत होता है। स्वधा सोमद्रव्य है एवं यह पितृप्राणमय है। इसी स्वधारूप पितृप्राण की प्रेरणा से पार्थिव सोमस्य देवयजन माग चन्द्ररूप में परिणत होता है इसी रख्य को शक्य में रखकर—‘श्वाभिमि-चन्द्रमसि ऐरयन्’ यह कहा गया है। आरम्भ में पृथिवी के प्रकृत देवयजन (सोम) से चन्द्रमा बन गया है। चन्द्रमा के साथ सौर रश्मियों का सम्बन्ध हुआ चन्द्रमा प्रकाशित होगया। परन्तु चन्द्रमा के मध्य में पार्थिव सोम वनरूप से प्रतिष्ठित था। दूसरे शब्दों में—चन्द्रमार्गित सोम पार्थिव क्षणमाग से युक्त था। इस पार्थिव माग की प्रधानता से यहाँ का सोम ‘व्रीध’ न बन सका। अतएव यहाँ सौररश्मियों की प्रतिष्ठ न हो सकी। यही पार्थिवदेवयजनमाग हमें आज भी कस्ता दिखाई दे रहा है।

उष्टि के आरम्भ में देवयजन के द्वारा चन्द्रमा बना था। साथ पृथिवी से निकलने वाला वह देव-यजनमाग उसी रूप से चन्द्रमा का स्वरूप-सम्पादन (पान-मुक्ति) कर रहा है। चान्द्रसोम ओषधि-निर्माण में सर्व्व होता रहा है। निष्कृता का यह नियतिवक्त अवश्य ही आश्चर्य्य में डालने वाला है। ‘सोम देवयजन’ है यह सिद्ध हो चुका। विशुद्ध पार्थिवअग्नि एवं चन्द्रमा, इन दो स्थलों में इस की उपलब्धि हो सकती है। विशुद्ध पार्थिवअग्नि में वह पावन देवयजन सोम प्रतिष्ठित है एवं सर्व्ववा विशुद्ध-रूप चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है। वह वैद्ययज्ञ में प्राप्त नहीं हो सकती। उसकी केवल भावना ही की जाती है। वृक्ष है पार्थिवदेवयजन। ओषधि-तृण-वननभ्यापार से उसकी हुई मिट्टी इन में किसी में भी विशुद्ध अग्नि नहीं है। प्रतिमाजर्जन का उत्पत्त्य यही है कि भूतलपर रहने वाला आगन्तुक किंवा क्षय अग्निरूप अवस्थित माघ हट बाय एवं विशुद्ध पार्थिवअग्निरूप देवयजन माग प्राप्त होनाय। इसी पार्थिव देवयजन-सम्पत्ति की प्राप्ति करने के लिए प्रतिमाजर्जनकर्म किया जाता है। पार्थिव देवयजन के लय ही चन्द्र-देवयजन सम्पत्ति भी हमें (भाषनामक मन्त्रकला से) प्राप्त होनाय इस के लिए ‘भूतस्य विसृपा’ इत्यादि मन्त्र बोलते हुए प्रतिमाजर्जनकर्म किया जाता है। जिस प्रकार उपासनअथवा में केवल भावना के कल पर किन्नर उपास्य देव अन्तरालमा में प्रतिष्ठित होनाय है एवमेव यहाँ भी भावना के कल से अवश्य ही उस वेदि में वह चान्द्रदेवयजनसम्पत्ति प्रतिष्ठित हो जाती है। यह ठा हुआ इस प्रक-रण का आधिकारिक कार्य्य अब दो बार पठितव्यो में आधिभातिक (ऐतिहासिक) रख्य भी अवगत कर लीजिए।

पनिष्ठा । यदि आप भुरा न माने तो यह कह लेने दीक्षिण कि, आब आर्य्यसमाब सत्यसिद्धान्तों से बहुत पूर चला गया है । बात बहुत छोटी है, परन्तु है बड़ी मार्मिक । साथ ही हम यह भी समझते हैं कि, जहाँ श्रुतिप्रणीत-पद्धतियों का आदर नहीं, वहाँ हमारे इस कथन का कोई मूल्य भी न होगा । फिर भी कह देना हम अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं ।

आर्य्यब्रह्म में 'नमस्ते' बोलने की प्रथा है । साथ ही सनातनधर्मी-ब्रह्म में व्यवहृत होने वाले 'जयरामजी की' 'जयगोपाक्षजी की' 'जैजैश्रीगोकुलेश' 'प्रणाम' 'नमस्कार' जयमाताजी की' इत्यादि वाक्यों की अवज्ञा की जाती है । आब हम समस्त आर्य्यब्रह्म को यह चेतावनी दे रहे हैं कि परस्पर 'नमस्ते-सहस्राय' 'नमस्ते महस्राय' का उच्चारण करता हुआ वह प्रत्यवाय का ही भागी बन रहा है । 'नमस्ते' शब्द वैदिक है वैदिक श्रुतियों के द्वारा प्रयुक्त है, नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि रूप से देवत्ववि-सम्बन्ध में ( संहिताभाग में भी ) 'नमस्ते' पद पद पर प्रयुक्त है । यह सब कुछ ठीक-ठीक होने पर भी लौकिक-व्यवहारकाल में परस्पर 'नमस्ते' 'नमस्ते' बोलना स्वयं वेद के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही सर्व्व निषिद्ध है ।

स्वाहा स्वधा, वौषट् वौषट् स्वगा आदि शब्द अन्न के वाचक हैं । परन्तु विषयभेद से सब का व्यवहार व्यवस्थित है । देवताओं को अन्नाहुति 'स्वाहा' शब्द से पितरों को स्वधा' शब्द से इन्द्र को 'वौषट्' शब्द से देने का विधान है । इस शब्दमेव्यवहार में व्यवस्थित नहीं किया जा सकता । लोक-में भी रसोई जीमिष, भोजन कीजिए रोटी खाओ रोटी खाओ, ये सब वाक्य समानाधिक हैं । परन्तु वनी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते । अपिष्ट तत्त्ववान्य तत्त्वव्यक्तिविशेषों के लिए ही निर्य्यत हैं । गैर वही स्थिति 'नमस्ते' शब्द की है । यह करने वाला यत्नमान दीक्षित होता है । सब से पहिले उसे दीक्षणीवेष्टि करनी पड़ती है । यही से इसके लिए—'स खै सत्यमेव ज्ञेयत्' यह नियम अनुगत होता है । यत्नक यत्नमान यत्नकर्म्म में दीक्षित रहता है, तत्त्वक वह शूद्रादि से भी माया नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्य्य-अन्न-सत्यभाषण-अध-शायन-पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरामा में यत्न-वन्ति अतिशय का अन्तर्प्याप्त-सम्बन्ध होता है । दीक्षित के इहाँ कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराती कुछ ब्राह्मणश्रुति कहती है—

'तत्र सर्व्व-इवामिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा । ते हि यज्ञियाः । स नैव न सर्व्वेणैव संवदेत् । देवान्वाऽऽप्य उपावर्णति यो दीक्षते । स देवतानामेको भवति । न नैव देवाः सर्व्वेणैव संवदन्ते । ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, गैर्य्येन वा । ते हि यज्ञिया । तस्मापद्येन शूद्रेण सवादो विन्देत्-एतेषां (श्रुतियां) एतेषां ब्रूयात्-इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्वेति । एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः' ।

--शत० १ का० १।१।६-१० क० इति ।

मानुष्य है। वह दर्मविषय वेदिविद्यत् का पान कर पाती है। अतः दर्मास्तव्यानन्तर वेदिके स्पर्श से कोई हानि नहीं होती। यद्यपि भौतिक विद्युत् की भाँति स्पर्शक्षल में यहाँ शरीर में किसी प्रत्यक्ष आघात का अनुभव नहीं होता। क्योंकि इस प्राणारिमिका यज्ञविद्युत् का प्राण से ही सम्बन्ध है। प्राणविद्या के विद्वानों का कहना है कि स्पर्शकर्त्ता का प्राण मूर्च्छित होजाता है एवं सम्पूर्ण यज्ञकर्म नष्ट होजाता है। प्रत्यक्षानुभव न सही यदि हमें यज्ञ के परोक्ष फल पर विश्वास है, फलतः हमी विश्वास के आचार पर यदि हम यज्ञकर्म में प्रवृत्त होते हैं तो हमें बाध्य होकर श्रुतिप्रेरित पयतिक्रम का ही आश्रय लेना ही पड़ेगा। प्राणपरीक्षक श्रुतियों के आदेश पर चलना ही हमारा मुख्य कर्तव्य होगा।

ऐसा करने से क्या होगा, क्या हो जायगा ऐसा ही क्यों न कर लें इस प्रकार का बुद्धिपाथ पुराने युग में भी प्रचलित था। परन्तु उस समय यज्ञविद्या के रहस्यवेत्ता विद्यमान थे। समय समय पर फैलने वाली लघुविद्या आन्तियों का उन रहस्यवेत्ताओं की ओर से निराकरण होता रहता था। परन्तु आज का युग बड़ा विचित्र है। दुर्भाग्य से देश में रहस्यवेत्ताओं का नितान्त अभाव है। फलतः अज्ञानों के द्वारा यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा कर मनमाने पथ का आश्रय लिया जा रहा है। रहस्यपूर्व यज्ञविद्या आज बालक्रीड़ा-मात्र का साधन बन रही है। आर्यश्रुतियों के चिरन्तन सिद्धान्तों की अन्वेषणा कर अपने आत्मनिक बगल को ही प्रधानता दी जा रही है। यज्ञविद्या का आचार्य्य भारतवर्ष आज क्यों इस हीनदशा को प्राप्त हो रहा है? इस प्रश्न का यही समाधान है। आर्यपद्धतियों का अनुसरण करने का गर्व रखने वाला सनातन-धर्म—जगत् केवल आध्वन्यरमात्र है। यह भी भौतिकता से वह भी सर्वात्मना पीछे हट गया है। नहीं, तो वे ही वेदमन्त्र वही सामग्री फिर यद्यमान का अभ्युदय क्यों नहीं? 'कर्मकाण्डी' महोदय आज जैसे दुष्ट शास्त्र हैं वैसे कुसरे नहीं। कुछ परिगणित मन्त्र (जो भी निवान्त अशुद्ध) फलतः कर लेने मात्र से 'कर्मैत' की उपाधि मिल जाती है। जो यज्ञकर्म एक वैज्ञानिक कर्म है इसके सञ्चालन के लिए पर्याप्त योग्यता अपेक्षित है वह आज अज्ञ विज्ञित किता अशिक्षित वेदपाठियों का श्रीकान्तेष्टकमात्र ही बन रहा है। फलतः इसका यह हो रहा है कि, यज्ञ न करने वाले यहाँ सुन्नी देले धाते हैं यहाँ यज्ञकर्त्ता हीनदशा में मिलते हैं। यदि धर्म का यज्ञोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धिः स धर्मो यही लक्षण है तो फिर छत धर्माज्ञान के गीत गाते हुए भी सनातनधर्मी क्यों दिन प्रतिदिन अवर्नात क गर्व की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं? क्या आपने कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा?।

यह तो हुई अपने घर की बात। अब जलिये आर्य्यलामात्रिक-बगल की ओर। यह समाज वेद का परम मूल है। साथ ही इसे यज्ञविद्या में भी पूर्ण विश्वास है। सीमा यहाँ समाप्त नहीं होजाती। दैनिक यज्ञ (हवन) के द्वारा यह अपने विश्वास को आर्य्यरूप में भी परिणत कर रहा है। परन्तु फल की दृष्टि से हनका भी सम्पूर्ण कर्मकलाप निरर्थक ही है। अथैव (पयतिक्रम) कल्पित ताम्रकुम्बों में कल्पित पयतियों के द्वारा घृत-कसर-अमूर आदि काक देना ही हनकी यज्ञविद्या की परिष्ठापति है। 'महाशय कहाँ गए थे?। अभी समाजमन्दिर में सम्मिलित होकर करने गया था। हम आक्षेप नहीं करते। अपितु इन अज्ञात-तापत्रयों को देखकर हमारा अन्तरात्मा क्षुब्ध है। हम इसी अभिनिवेश में पड़कर अपने आप अपने सर्वनाश का बीज बपन कर रहे हैं। यदि कुछ कहा जाय तो खुशबहार के स्थान में शाल्मार्य के। लए आह्वान किया जाता है। मयस्थ बनाए जाते हैं—वहीं के कोई मजिस्ट्रेट पुलिस आफिसर अथवा तो ओर कोई

घनिक । यदि ध्याप कुरा न माने तो यह कह लेने दीजिए कि आज आर्यसमाज स्वयंस्मिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया है । बात बहुत छोटी है, परन्तु है बड़ी मार्मिक । साथ ही हम यह भी समझते हैं कि जहाँ श्रुतिप्रणीत-प्रवृत्तियों का आग्रह नहीं, वहाँ हमारा इस कथन का कोर मूल्य भी न होगा । फिर भी यह देना हम अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं ।

आर्यब्रह्मत्वं 'नमस्ते' बोलने की प्रथा है । साथ ही सनातनधर्मी-ब्रह्म में व्यवहृत होने वाले 'जयरामजी की' जयगोपालजी की 'जैजैभीगोकुलेश' 'प्रणाम' 'नमस्कार' 'जयमाताजी की' इत्यादि वाक्यों की प्रवृत्ति भी जाती है । आज हम समस्त आर्यब्रह्मत् को यह चेतावनी दे रहे हैं कि, परस्पर 'नमस्ते-महाराय' 'नमस्ते महाराय' का उद्घोष करना हुआ वह प्रत्यक्ष का ही भागी बन रहा है । 'नमस्त' शब्द वैदिक है वैदिक श्रुतियों के द्वारा प्रयुक्त है 'नमस्ते रुद्र मन्यव' इत्यादि रूप से देवस्तुति-सम्बन्ध में ( संहिताभाग में भी ) 'नमस्ते' पद पद पर प्रयुक्त है । यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी धार्मिक-न्यायकारकाल में परम्पर 'नमस्ते' 'नमस्त' बोलना स्वयं वह के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही सर्व निषिद्ध है ।

स्वाहा स्वधा, धीपट् धीपट् स्वगा आदि शब्द श्रम के विचार हैं । परन्तु विषयभेद से उन का व्यवहार व्यवस्थित है । देवताओं को अन्नाहुति 'स्वाहा' शब्द से पितरों को 'स्वधा' शब्द से, इन्द्र को 'धीपट्' शब्द से देने का विधान है । इस शब्दभेदव्यवहार में स्पष्टिक्रम नहीं किया जा सकता । छान्दोग्य में भी 'सोऽहं जीमिष, भोजन कीजिए रोटी खाओ रोटी खाओ, ये सब वाक्य समानाधिकार हैं । परन्तु अभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते । अपितु तत्त्ववाक्य तत्त्वव्यक्तिविशेषों के लिए ही नियत हैं । गौड वही स्थिति 'नमस्त' शब्द की है । यह करने वाला यद्यपि दीक्षित होता है । उस से पहिले उसे दीक्षणीय करनी पड़ती है । यही से इसके लिए—'स मे सत्यमेव जगत्' यह नियम अनुगत होता है । वस्तु यद्यपि यद्युक्त में दीक्षित रहता है तबवक वह शूद्रादि से भी मापण नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्य-मन-सत्यमापण-अध-शयन-पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरात्मा में यह शक्ति अतिशय का अन्तर्व्याप्त-सम्पन्न होता है । दीक्षित के इहाँ कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणभूति कहती है—

"तत्र सर्व-इवामिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा । त हि यज्ञिया । स न न सर्गश्चैव संवदेत् । दवान्वाऽप्य उपावर्धते यो दीक्षते । स दक्षतानामको भवति । न वा दवाः सर्वणैव सवदन्ते । ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, ऋषयेन वा । ते हि यज्ञिया । तस्माद्यथेन शूद्रेण सत्रादौ विन्दत्-एतेषां (श्रुतिज्ञां) एतेन त्रयात्-इममिति विचक्षन्, इममिति विचक्षति । एष उ तत्र दीक्षितस्योपचार " ।

—शत० ३ का० १।१।६-१० क इति ।

यशस्स्था एक देवसस्था है प्रकृतिरस्था है। इसमें लौकिक व्यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है। यशमण्डल में श्रुतिश्रुतों और यजमानों में जो परस्पर अभिनन्दन व्यवहार है, वही 'नमस्ते' शब्द से होता है। इसप्रकार 'नमस्ते' शब्द यशसस्था के लिए ही नियत है। क्योंकि 'नम' यश का वाचक है। 'नमस्ते' का अर्थ है, 'हम आपके यश (यशसाधक) हैं। ऐसी अवस्था में यशतिरिक्त सामान्य लौकिक व्यवहारों में 'नमस्ते' बोलना भिव्याप्यहार का ही यागी बनना है। सामान्य व्यवहार वह नहीं है। यश के अभाव में 'नमस्ते' (यशस्ते) बोलना भिव्याप्यहार है। अतः यशमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के व्यवहार में नमस्ते व्यवहार नहीं करना चाहिये। वही अवशेष ऐसी हुए भुक्ति करती है—

“चतुर्दशैतानि यजुः पि भवन्ति । त्रयोदश भासाः सवत्सरः, प्रजापतिस्तुर्दशः ।  
प्रजापतिरपि । यावानभिर्यावत्स्य मात्रा—तावतैवैनमेतदग्नेन प्रीयति, नमो नम इति ।  
यज्ञो वै नमः । यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति । तस्मात्तुह नायस्त्रिंशं ब्रूयात्—नमस्ते  
इति । यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति, तादृक् उत्” ।

—श० भा० ६-क० ११।१।१६ क० इति ।

आज क्या हो रहा है। स्त्री-पुरुष बाल-युवा-वृद्ध सभी अर्हर्निश 'नमस्ते' बोलने में ही अपना जीवन समक रहे हैं। क्या आर्य्यवर्ग का यह व्यवहार वैदिक है? निवेदनीय केवल वही है कि, प्राग्प्रधान वैदिक विज्ञान के क्लृप्तप्राप होजाने से, साथ ही मौलिक विज्ञानप्राधान पञ्चमहाविद्यालय के छात्र-पुष्ट से हम आप-आवेशों की उपेक्षा कर कमिस्त यश के द्वारा शास्त्रविषय सम्बोधनों के द्वारा अपना अस्तिह ही कर रहे हैं। देवता को न बुलाना अच्छा है। किन्तु बुलाकर यथोक्त रूप से उसका स्तुति न करना बुरा है। यही कारण है कि यज्ञादि धर्मानुष्ठान न करने वाली बनवा मौलिक-सम्पत्ति की उपेक्षा आज के युग में समुद्र प्रतीतमान हो रही है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्मानुष्ठानों का आह्वान करने वाली नाममात्र की माध्यम-धार्मिक-बनवा व्यवस्था से त्रस्त हो रही है। फलतः उसके मुखसे इन उद्गारों का निकलना स्वाभाविक ही बन जाता है कि—“ओ यज्ञादि नहीं करते थे सुखी हैं। एवं करने वाले हम दुःखी हैं, ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करें ?।

प्रकृतवेग से बहती हुई इसी अवस्था की सत्य में रखते हुए आज उसी आश्रित दृष्टि से कि दिव्यत्मा का वह आवेश अभिव्यक्त करने के लिए हम अपनी अज्ञान धार्मिक बनवा के समुद्र उपरिष्ठत हुए हैं कि, वह भूल कर भी यज्ञधर्मानुष्ठान पर अभिमान न करे। हम उसे विरहास दिहाते हैं कि यदि उसने आर्य्यपद्धति की याथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया तो उसका यह अनुष्ठान अथर्व अथर्व अथर्व का ही कारण बनेगा एवं इस वेध ( याथाविधि-सम्पादित ) अनुष्ठान के बलवर वह समस्त राशियों में अपने लिए उच्चतम स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी और अथर्व समर्थ होगी। प्रकृत दृष्टि का आश्रय नारा हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है। इसी शक्य का स्वीकरण कर रहा है ॥ १०, २१ २२ २३ २४ २५, २६ ॥



## इति--वेदिसम्पादनम्

प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का पञ्चम,  
एव द्वितीय प्रपाठ का तृतीय  
ब्राह्मण उपरत

शतपथब्राह्मण का द्वितीय अध्याय समाप्त  
?

( इति--वेदिब्राह्मणाध्यायो द्वितीय. )

यज्ञसंस्था एक देवसंस्था है, प्रकृतिसंस्था है। इसमें लौकिक व्यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है। यज्ञमण्डल में श्रुतिवर्ती और यममानी में भी परस्पर अभिन्नन्दन व्यवहार है, वही 'नमस्ते' शब्द से होता है। इसप्रकार 'नमस्ते' शब्द यज्ञसंस्था के लिए ही नियत है। क्योंकि 'नमः' वज्र का वाचक है। 'नमस्ते' का अर्थ है 'हम आपके यज्ञ (यज्ञसाधक) हैं। ऐसी अवस्था में यज्ञातिथि सामान्य लौकिक व्यवहारों में 'नमस्ते' बोलना मिथ्यादेश का ही मांगी बनना है। सामान्य व्यवहार वज्र नहीं है। यज्ञ के अभाव में 'नमस्ते' (यज्ञस्ते) बोलना मिथ्याव्यवहार है। अतः यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के व्यवहार में नमस्ते व्यवहार नहीं करना चाहिये। ग्रीह आदेश वेदी हुए श्रुति कहती है—

“चतुर्दशैवानि यज्ञं पि भवन्ति । त्रयोदश मासाः सवस्तर , प्रजापतिरपचतुर्दशः । प्रजापतिरग्निः । यावानग्निर्वावत्यस्य मात्रा—तावतैवैनमेतदग्नेन ग्रीष्माति, नमो नम इति । यज्ञो नै नमः । यद्येनैवैनमेतदभमस्कारेण नमस्पति । तस्मादुह नापक्षिण ब्रूयात्—नमस्ते इति । यथा हैनं ब्रूयाद्वस्ते इति, तादृक् उत” ।

—शा० ब्रा० ६—का० १।१।१६ कं० इति ।

आज क्या हो रहा है। स्त्री-शूद्र-नाल-युवा-वृद्ध सभी अहर्निश 'नमस्ते' बोलने में ही अपना जीवन समझ रहे हैं। क्या आर्य्यब्राह्मण का यह व्यवहार वैदिक है? निवेदनार्थ केवल वही है कि प्राच्यप्रधान वैदिक विज्ञान के किञ्चिच्छ्राय होशाने से, साथ ही भौतिक विज्ञानप्रधान पाश्चात्यविज्ञान के उद्भास-दुष्प्रभ से हम आर्य्य-आदेशों की उपेक्षा कर क्षणिक वज्र के डार, शास्त्रविद्वद् सम्बोधनों के डार अपना अग्निह ही कर रहे हैं। देवता को न पुजाना अच्छा है। किन्तु पुजाना कर यथोक्त क्रम से उसका उत्तार न करना ग़ुप्त है। यही कारण है कि यज्ञादि धर्मानुष्ठान न करने वाली बनवा भौतिक-सम्पत्ति की अपेक्षा आज के युग में स्मृद्ध प्रतीतमान हो रही है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्मानुष्ठानों का आह्वान करने वाली नाममात्र की मायस्मि-धार्मिक-बनवा सधप्रकार से त्रस्त हो रही है। फलतः उसके मुँहसे इन उद्गारों का निष्कलना स्वाभाविक ही बन जाता है कि—“जो यज्ञादि नहीं करते वे सुखी हैं। एवं करने वाले हम दुःखी हैं। ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करें ?।

प्रकल्पवग से कहती हुई इसी अभयता की लक्ष्म में रखते हुए आज उसी आश्रित इहलसि के विभ्रान्तता का वह आदेश अभिव्यक्त करने के लिए हम अपनी भद्राशु धार्मिक कतता के समुल्ल उपस्थित हुए हैं कि, वह मूल कर भी यज्ञकर्मरानुष्ठान पर अभयता न करे। हम उसे विरहाव दिखाते हैं कि यदि उसने आर्य्यपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अवश्य अमृदव का ही कारण बनेगा एवं इस वैध ( यथाविधि-सम्पादित ) अनुष्ठान के बलापर वह समस्त राश्यों में अपने लिए उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी, और अवश्य समर्थ होगी। प्रकृत बृहस्पति का आज्ञा नारा हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है। इसी वाक्य का स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २०, २१, २२ २३ २४ २५, २६ ॥

अथ--शतपथब्राह्मणो तृतीयोऽध्याय  
( सम्कारब्राह्मणाध्यायस्तृतीय )

३

अथ-प्रथमकारण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्  
द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्

१५—द्रव्यमस्कारा

(मूल) स वै स्रुच सम्मार्ष्टि । तपत् स्रुच सम्मार्ष्टि-यथा वै देवानां चरण, तद्वा  
अनु मनुष्याणाम् । तस्माद् यदा मनुष्याणां परिवेषश्चक्षुपकृत भवति ॥ १ ॥

अथ पात्राणि निर्योनिवति । तैर्निर्णिज्य परिवेषिषति । एष वा एष देवानां यज्ञो  
भवति-यच्छ्रुतानि हवींषि, क्षुत्ता वेदिः, तेषामेवान्यथ पात्राणि-यत्स्रुच ॥ २ ॥

स यत्सम्मार्ष्टि-निर्योनिवत्यैना एतत्-निर्णिक्तामिः प्रचराणीति । तद् द्वयेनैव  
देवेभ्यो निर्योनिवति, एकेन मनुष्येभ्यः । अग्निश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यः । आपो हि कुशाः,  
अथ यजु । एकैव मनुष्येभ्यः-अग्निरेव । एवमेतन्नामा भवति ॥ ३ ॥

अथ स्रुवमादत्ते । त प्रतपति-“प्रत्युष्टं रक्तं प्रत्युष्टा अरातयो निष्ठसः  
रक्तो निष्ठसा अरातयः”-[ १ अ० २६ म० ] इति वा ॥ ४ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुरघसेभ्य आसन्नाद् विमयाश्चक्रुः, तपश्चमुखादने-  
तन्नाप्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥ ५ ॥



स वा अभिवासः सञ्जातिः । ओषधयो वै वासः, वरुण्या रज्जु । तदोषधीरैवैतदन्त-  
र्धाति । तयो ह्येनामया वरुण्या रज्जुन हिनस्ति । तस्मादभिवासः सञ्जातिः ॥ १४ ॥

स सञ्जातिः अदित्यै रास्नासि ( १ अ० ३० म० ) इति । इयं वै पृथिवी-  
अदिति, सेय देवानां पत्नी । एषा वा एतस्य पत्नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव करोति,  
न रज्जुम् । इहो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुणो वै ग्रन्थिः । वरुणो ह पत्नी गृहीवात्-यद् ग्रन्थि-  
कुर्यात् । तस्मान्न ग्रन्थिं करोति ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वमेवोदगृहति-धिष्णोर्ध्व्योऽसि [ १ अ० ३० म० ] इति । सो वै न  
पथात् प्राची देवानां यज्ञमन्वामीति । इयं वै पृथिवी-अदिति, सेय देवानां पत्नी । सा  
पथात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते, तद्देवामभ्यारोहति । सा पत्नी क्षिप्रैऽमु लोकाभि-  
प्राप्ता । तयो ह पत्नी ज्योग् जीवति । तदस्या एवैतच्छ्रुते । तयो ह्येनामिय न हिनस्ति ।  
तस्माद्दक्षिणात् इवैवन्वामीति ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेषत । योषा वै पत्नी, रत आज्यम् । मिथुनमवैतत् प्रजननं क्रियते ।  
तस्मादाज्यमवेषते ॥ १८ ॥

सावेक्षते-अदन्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि ( १ अ० ३० म० ) इति । अना-  
र्धन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह । अग्नेर्जिह्वासि [ १ अ० ३० म० ] इति । यदा वा  
एतदग्नेर्जुहति, अथाग्नेर्जिह्वा इवोपिच्छन्ति । तस्मादाह-अग्नेर्जिह्वासि-इति । सुहृद-  
र्वम् [ १ अ० ३० म० ] इति । साधुदवम् इत्येवैतदाह । घाम्ने घाम्ने मे भव  
यजुषे यजुषे [ १ अ० ३० म० ] इति । सर्वस्म मे यज्ञार्यवीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथाज्यमाशायं प्राह दाश्रवति । तदाहवनीयऽधिधपति, यस्याहवनीय इवापि अप-  
र्यन्त-सर्वा म यज्ञ आहवनीये श्रुताऽमदिति । अथ यदमुषाग्रे-धिधपति, पत्नी हवकाश-  
पिप्यन् भवति । न हि तदवकल्पते-यस्सामि प्रत्यग हरत्-पत्नीमवकाशयिष्यामीति ।  
अथ यत्पत्नीं नावकाशयत्-अन्तरियाद् यज्ञात्पत्नीम् । तयो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरति ।  
तस्माद् सार्द्धमव विलाप्य प्रागुदाहरति-अवकाशय पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र  
एव तस्याहवनीयेऽधिधपति । तच्छ आश्रये, तदन्तर्धयामाश्रयति ॥ २० ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि-“अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्”-[ १ अ० २६ मं० ] इति । यथानुपस्तो यजमानस्य सपत्नान् क्षिण्णयावु, एवमेतदाह । “अजिन-  
न्त्वा घाजेध्यायै सम्मार्ष्टिम”-[ अ० १ म० २६ ] इति । यद्विपन्त्वा यज्ञाय सम्मा-  
र्म्मात्यैवेतदाह । एतेनैव सर्वो स्रुचः सम्मार्ष्टि । वाजिनीन्वेति स्रुचम् । तूष्णीं प्राशित्र-  
हरणम् ॥ ६ ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि, इति मूलैर्वाक्षतः । इतीव वा अयं प्राह, इतीमो-  
दान । प्राखोदानादेवैतदधाति । तस्माद्वितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य, प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । यथावमर्शं निबिज्यान्व-  
मर्शमुचम परिचालयेत्-एव तत् । तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाम्रे सम्मार्ष्टि, अमेतराः स्रुच । योषा ये स्रुग्, इवा स्रुवा-  
तस्मात् यद्यपि बह्व्य इव क्षियः साद्धं यन्ति, य एव तात्त्वपि कुमारक इव पुमान्  
भवति-स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतराः । तस्मात् स्रुवमेवाम्रे सम्मार्ष्टि, अमेतरा  
स्रुच । ॥ ९ ॥

स वै तथैव सम्मृज्यावु-यथाग्निं नाभिष्युचेत् । यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्वावु,  
त पात्रनिर्बोजनेनाभिष्युचेत् एव तत् । तस्मादु तथैव सम्मृज्यावु-यथाग्निं नाभिष्युचेत् ।  
प्राक्षिवैवोत्क्रम्य । ॥ १० ॥

तदकै-स्रुक्सम्मार्ष्टिर्नान्येप्रावम्यादधाति । वेदस्याहाम्बुवन्-स्रुचः । देभिः समर्मा  
विष्टु । इदं नै किञ्चिदु, यज्ञस्य । नेद्विदु, प्रविर्दा । यज्ञावु भवद्विष्टि । तदु तथा न क्यति ।  
यथा यस्मा अशनमाहरेत्-त पात्रनिर्बोजनं पात्ययेत्-एव तत् । तस्मादु परात्स्ये-  
देवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीं सूक्ष्ममिति । अपनाद्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी । प्राहू मे यज्ञस्ताप-  
मानो यादिति । युनक्तु येनैवमेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योक्षेत्रेण सञ्चरति । योक्षेत्रेण हि योग्यं युजन्ति । अस्ति वै पत्न्या अमेध्य-यदवा-  
चीन नामे । अथैतदान्यमवेक्षिष्यमाणा भवति । तदवास्या एतयोक्षेत्रेणान्तर्दधाति, अथ  
मेध्यनैवोत्तराद्धं नान्यमवेक्षते । तस्मात् पत्नीं सञ्चरति ॥ १३ ॥

स वाऽभमिवासः सञ्ज्ञाति । ओषधयो वै धास, वरुण्या रज्जु । तदोषधीरवैतदन्त  
र्दधाति । तथो हैनामेपा वरुण्या रज्जुर्न दिनस्ति । तस्मादभमिवास सञ्ज्ञाति ॥ १४ ॥

सं सञ्ज्ञाति अदित्यै रास्नासि ( १ अ० ३० मं० ) इति । इय वै पृथिवी-  
अदिति, सेय देवानां पत्नी । एषा वा एतस्य पत्नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव करोति,  
न रज्जुम् । इहो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्रन्थि कुर्यात् । वरुणो वै ग्रन्थि । वरुणो ह पत्नी । गृहीत्वात् यत् ग्रन्थि  
कुर्यात् । तस्मात्त ग्रन्थि करोति ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वमेवोदगूहति-विष्णोर्ध्वेऽस्याऽसि [ १ अ० ३० मं० ] इति । सा वै न  
पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वासीत् । इय वै पृथिवी-अदिति, सेय देवानां पत्नी । सा  
पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते, तद्धो मासम्यारोहेत् । सा पत्नी चिप्रेऽमु लोकाभि-  
यात् । तथो ह पत्नी ज्योष जीवति । तदस्या एवैतन्निहुते । तथो हैनामियं न दिनस्ति ।  
तस्मादु दक्षिणत इवैवन्वासीत् ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी, रत आज्यम् । मियुनमेवैतत् प्रजनन क्रियते ।  
तस्मादज्यमवेक्षते ॥ १८ ॥

सावेक्षते-अदक्षेन त्वा चक्षुषावपश्यामि ( १ अ० ३० मं० ) इति । अना  
र्णं त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह । अग्नेर्जिह्वासि [ १ अ० ३० मं० ] इति । यदा वा  
एतदग्नौ जुहति, अयाग्नेर्जिह्वा इवोचिच्छन्ति । तस्मादाह-अग्नेर्जिह्वासि-इति । सुहृदे-  
र्वेभ्यः [ १ अ० ३० मं० ] इति । साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह । धाम्ने धाम्ने मे भव  
यमुपे यमुपे [ १ अ० ३० मं० ] इति । सर्वस्मै मे यज्ञार्गर्घीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथाज्यमादाय प्राहु दाश्रवति । तदाहवनीयेऽधिभयति, यस्याहवनीये हवींषि भय-  
यन्ति-सर्वो मं यज्ञ आहवनीये शृतोऽसदिति । अथ यदमुत्राग्नेऽधिभयति, पत्नी अवकाशः  
पिप्यन् भवति । न हि तदवकल्पते-यत्सामि प्रत्यग् हरत्-पत्नीमवकाशपिप्यामीति ।  
अथ यत्पत्नीं नावकाशयेत्-अन्तरियाद् यज्ञात्पत्नीम् । तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति ।  
तस्मादु सादमेव विलाप्य प्रागुदाहरति-अवकाशय पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र  
एव तस्याहवनीयेऽधिभयति । तत्त आद्रो, तदन्तर्वधासादयति ॥ २० ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि-“अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्”-[ १ अ० २६ मं० ] इति । यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् विष्णुयाव्, एवमेतदाह । “वाजिन-  
न्त्वा वाजेज्यायै सम्मार्ष्टिम्”-[ अ० १ मं० २६ ] इति । यद्विपन्त्वा यज्ञाय सम्मा-  
न्मीत्येवैतदाह । एतेनैव सर्वो स्रुचः सम्मार्ष्टिः । वाजिनीन्त्वेति स्रुचम् । तूष्णीं प्राशित्र-  
हरक्षम् ॥ ६ ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि, इति मूलैर्वाक्यतः । इतीष वा अयं प्राश्नः, इतीषो-  
दानः । प्राश्नोदानावेवैतद्वधाति । तस्मादितीषेमानि लोमानि, इतीषेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य, प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । यथावमरी निशिज्यानव-  
मरीष्वचम परिचालयेत्-एवं तत् । तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ = ॥

स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अक्षेतराः स्रुचः । योषा वै स्रुग्, इषा स्रुवः-  
तस्मात् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रिय साङ्गं यन्ति, य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान्  
भवति-स एव तत्र प्रथम एति, अनूज्य इतराः । तस्मात् स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अक्षेतरा  
स्रुचः ॥ ८ ॥

स वै तथैव सम्मृज्याव्-यथाधि नाभिष्युचेत् । यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्स्यात्  
त पात्रनिर्बोजनेनाभिष्युचेत् एवं तत् । तस्माद् तथैव सम्मृज्याव्-यथाधि नाभिष्युचेत् ।  
प्राक्षिवैवोत्क्रम्य ॥ १० ॥

तद्वै के-स्रुक् सम्मार्ज्जनान्यथावम्पीदधति । वेदस्याहामूवन्-स्रुचः । देमिः सममो  
विष्णुः । इदं वै किञ्चित् यज्ञस्य । नेदिद्, प्रदिद् यज्ञाव् भवदिति । तद् क्वा न कुर्यात् ।  
यथा यस्मा अशनमाहरेत्-तं पात्रनिर्बोजनं पापयेत्-एवं तत् । तस्माद् परास्ये-  
देवेतानि ॥ ११ ॥

अयं पत्नी स्रुक्कति । जघनाद्धौ वा एष यज्ञस्य-यस्यत्नी । प्राक् मे वक्षस्ताय-  
मानो यादिति । युनक्त्येनैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योषत्रेण स्रुक्कति । योषत्रेण हि योग्यं युजन्ति । अस्ति वै यस्या अमेध्य-यदवा-  
धीन नाम्ने । अथैतदज्यमधेक्षिष्यमाणा भवति । तदेवास्या एतद्योषत्रेणान्तर्दधाति, अयं  
मेध्यनैवाचराद्धेनाज्यमवधत्ते । तस्मात् पत्नी स्रुक्कति ॥ १३ ॥



## मूलानुवादप्रकरण—

वेदिसम्पादनकर्म समाप्त होचुका है। हृद्यनीयद्रव्य (आहुतिद्रव्य) सम्पन्न होगया है। यज्ञ में जो पात्र अपेक्षित हैं, 'आग्नीध्र' नाम के अतिथिफन उन सब को अप्व्यर्ण्य क प्रेषानुसार (आह्वानुसार) यथास्थान रख दिया है। इन काण्य समाप्त होजाने के अनन्तर क्या होता है ? 'संस्कारावाहण' का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी जिज्ञासा का समाधान कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ कथिका पर्यन्त एक कर्मसन्तान है। इस एकप्रवृत्तकथिकात्मक ब्राह्मणभाषा में सुष्टु-सुक्-प्राशिन्नहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुशाग्र से सम्मागजन करने के अनन्तर आग्नीध्र नाम के अतिथिफन को (यथास्थान रखने के लिए) पुनरावर्तित करने का (बोधान) का विधान है। वही क्रमशः सोपपत्तिक अनुवाद मं स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराम 'स्य' रखने के अनन्तर) यह (अप्व्यर्ण्य) सुबों का 'सम्मारजन' करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए कि सुक्ष्मसम्मागजन करता है, (उस की उपपत्ति बतलाते हैं)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण-व्यवहार) है, उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिवर्णण (परोसने का भोग्य-द्रव्य) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनन्तर (ही) (सेवकवर्ग) पात्रों को (भोग्यपात्रों को) पानी से धोकर स्वच्छ-निर्मल कर लेते हैं। स्वच्छ करके उन पात्रों से 'परिष्कण्य' करते हैं। (जो स्थिति मनुष्यों में माजन-प्रक्रिया में देखी जाती है, वृत्ते शब्दों में-मनुष्यों के भोजनयज्ञ के सम्बन्ध में जो काण्य होते हैं), ठीक ऐसा ही यह (यजमानवृत्त) देवताओं का यह है। (आग्न के स्थान पर) 'परिपक्व हवि' है (भोजनस्थान की प्रतिकृति में) 'वेदि' सम्पन्न होचुकी है। (एवं) ये इन देवताओं के (भोग्य) पात्र हैं जो कि 'सुष्टु' हैं ॥२॥

सो जो कि (अप्व्यर्ण्य इन सुष्टु पात्रों का) सम्मागजन करता है, वह इन पात्रों का निर्णोजन (प्रक्षालन) ही करता है। "हम निश्चित (धुले हुए माफ सुधर) पात्रों से ही [परिष्कण्यदि कर्म] करें" यही [सम्मागजन का] मुख्य प्रयोजन है। [देवता, एवं मनुष्यों के पात्रनिर्णोजन में अन्तर केवल यही है कि] देवताओं के लिए दो [प्रकारों से] निर्णोजन करते हैं, एवं मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्णोजन होता है]। पानियों से [एवं] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्णोजन करते हैं] [निर्णोजन कर्म म उपयुक्त] कुशाग्र 'भयः' [पानी की प्रतिकृति] हैं एवं यजुर्मन्त्र 'ग्रह' है। मनुष्यों के लिए केवल पानियों से ही निर्णोजन होता है। इस [प्रणाली] भेद से मानुष एवं देवकर्म का पथभेद होजाता है। [दोनों कर्म पूर्यक होजाते हैं] ॥६॥

[गाहपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अप्व्यर्ण्य सयप्रथम अपने दक्षिण इस्त में संस्कार के लिए] सुध लेता है। उसे (सुध को) "प्रत्युष्ट रत्ता प्रत्युष्ट अरातय निष्ट्या रत्ता निष्ट्या अरातय" यह मन्त्र बोलाता हुआ [गाहपत्याग्नि में] तपाता है ॥८॥

उदाहृ—नान्तर्गेषासादयेत्—अतो नै देवानां पत्नीः संयाजयन्ति, अबसभा अ-  
द्वानां पत्नी करोति पर पुसा-उ-हास्य पत्नी भवतीति । तदु होवाच याज्ञवल्क्यः ।  
यथादिष्ट पत्न्या अहृ । कस्तदाद्विषेत्—यत्परःपु सा वा पत्नी स्यात् । यथा वा यज्ञो  
वेदिः, यज्ञ आज्यम्, यज्ञाघ्न निर्मिमा इति । तस्मादन्तर्गेषासादयेत् ॥ २१ ॥

प्रोक्षणीषु पवित्रे भवत । ते तत् आदत्ते, ताम्यामाज्यमुत्पुनाति । एको वा उत्प-  
नस्य वन्धु मेध्यमेधैतत्करोति ॥ २२ ॥

स उत्पुनाति—सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिन्नेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मि-  
भि ( १ अ० ३१ म० ) इति । सोऽसावेव वन्धु ॥ २३ ॥

अयाज्यस्त्रिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति—सवितुर्व प्रसव उत्पुनाम्यच्छि-  
न्नेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ( १ अ० ३१ म० ) इति । सोऽसावेव  
वन्धु ॥ २४ ॥

तददाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति, तदप्सु पयो दधाति । तदिहम-  
प्सु पयो हितम् । इदं हि यदा वर्षति, अघौषचयो जायन्ते, ओषधीर्जग्न्वाप पीत्वा तत्  
एव रस मन्मवति । तस्मादु रसरूपो चैव सर्वत्वाय ॥ २५ ॥

अवाज्यमवेक्षते । तद्वै के यजमानमवस्थापयन्ति । तदु होवाच याज्ञवल्क्य—  
कर्षं तु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति, कस्य स्वयं नान्वाहुः यत्र भूयस्य इवाशिवः क्रियन्ते ।  
कस्य न्वेषामत्रैव अहृ भवतीति । यां नै कां च यज्ञो अतिज आशिषमाशासते—यजमान-  
स्यैव सा । तस्मादध्वयुरेवावेक्षेत ॥ २६ ॥

सोऽवेक्षते । सत्यं नै चतु । सत्यं हि नै चक्षुस्तस्मात्—यदिदानीं  
हो विद्धमानावेयाताम्—‘अहमदर्शम्’—‘अहमभौषम्’ इति, य एव ब्रूयात् ‘अहमदर्शम्’ इति  
तस्मा एव अह्वयाम । तत्सत्येनैवेतत्समर्द्धयति ॥ २७ ॥

सोऽवेक्षते—तेजोऽमि शुक्लमस्पृशतमसि [ १ अ० ३१ म० ] इति । स एव  
सत्प एव मन्त्र ।—तेषो अतत्, शुक्ल अतत्, असुत अतत्, तत्सत्येनैवेतत्स-  
मर्द्धयति ॥ २८ ॥

इति प्रमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

## मूलानुवादप्रकरण—

यदिसम्पादनकर्म समाप्त होचुका है। हवभीयद्रव्य (आहुतिद्रव्य) सम्पन्न होगया है। यज्ञ में जो पात्र अपेक्षित हैं, आग्नीध्र नाम के श्रुतिवक्ते उन सब को अभ्यर्च्युं क प्रैपानुसार (आह्वानुसार) यथास्थान रख दिया है। इनन काम्य समाप्त होवाने के अनन्तर क्या होता है ? 'संस्कारब्राह्मण का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी जिज्ञासा का समाधान कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ कटिबका पर्यन्त एक कर्मसन्तान है। इस एकादशकटिबकर्मक ब्राह्मणभाग में सुष-सुक्-प्राशिन्नहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुराप्र से सम्माञ्जन करने के अनन्तर आग्नीध्र नाम के श्रुतिवक्ते को (यथास्थान रखने के लिए) पुनरावर्तित करने का (झोटाने) का विधान है। वही क्रमशः सोपपत्तिक अनुयायि में स्पष्ट किया जाता है।

(प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराग्र 'स्य रखने के अनन्तर) यह (अभ्यर्च्युं) सुचों का 'सम्मार्जन करता है। सो जिस (प्रयोजन) के लिए कि सुक्सम्मार्जन करता है, (उस की उपपत्ति बतलाते हैं)। जैसा देवताओं का चरण (आचरण-व्यवहार) है, उसी (आचरण) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिषपण (परोसने का भोग्य-द्रव्य) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनन्तर (ही) (सेवकवर्ग) पात्रों को (भोग्यपात्रों को) पानी से धोकर स्वच्छ-निर्मल कर लेते हैं। स्वच्छ करके उन पात्रों से 'परिषपण' करते हैं। (जो स्थिति मनुष्यों में भाजन-प्रक्रिया में देखी जाती है, दूसरे शब्दों में-मनुष्यों के भोजनबन्ध के सम्बन्ध में जो काव्य होते हैं), ठीक ऐसा ही यह (यज्ञमानकृत) देवताओं का यह है। (अन्न के स्थान पर) 'परिषपण हवि' है (भोजनस्थान की प्रतिकृति में) 'विधि' सम्पन्न होचुकी है। (एवं) ये इन देवताओं के (भोग्य) पात्र हैं जो कि 'सुक्' हैं ॥२॥

सो जो कि (अभ्यर्च्युं इन सुक् पात्रों का) सम्माञ्जन करता है, वह इन पात्रों का निर्वोजन (प्रक्षालन) ही करता है। "हम निर्विक (चुले हुए साफ सुधरे) पात्रों से ही [परिषप्यादि कार्य] करें" यही [सम्मार्जन का] मुख्य प्रयोजन है। [देवता, पृथ मनुष्यों के पात्रनिर्वोजन में अन्तर केवल यही है कि] देवताओं के लिए दो [प्रकारों से] निर्वोजन करते हैं, एवं मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [निर्वोजन होता है]। पानियों से [एवं] ब्रह्म [मन्त्र] से देवताओं के लिए [निर्वोजन करते हैं] [निर्वोजन कर्म में उपयुक्त] कुरा 'आपः' [पानी की प्रतिकृति] है एवं यजुस्मन्त्र 'ब्रह्म' है। मनुष्यों के लिए केवल पानियों से ही निर्वोजन होता है। इस [प्रणाली] में से मानुष एवं देवकर्म का पाथक्य होजाता है। [दोनों कर्म पूर्यक् होजाते हैं] ॥३॥

[गाहपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अभ्यर्च्युं सप्तप्रथम अपने दक्षिण हस्त में संस्कार के लिए] सुष लेता है। उसे (सुष को) 'प्रत्युष्ट रता प्रत्युष्ट भरातय निष्टता रता निष्टता भरातय' यह मन्त्र बोलाता हुआ [गाहपत्याग्नि में] तपाता है ॥४॥

मयी रज्जु पत्नी को पीड़ा नहीं पहुँचाती। इसी प्रयोजन के लिए बन्धों से ऊपर योक्त्र का संन-  
हन करते हैं ॥१४॥

प्राज्ञाय (चिन्ताम) उत्ता दिया गया अब पद्यति वतसाते हैं। वह अभ्व्यु 'अदित्ये  
रास्तासि' यह मन्त्र बोलता हुआ संनहनकर्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह पृथिवी ही  
अदिति है। वह (अदितिरूपा पृथिवी) देवताओं की पत्नी है। सो इस (संनहनकर्म) से अज-  
मानपत्नीरूपा इस अदिति (वक्षपत्नाभूता अदिति पृथिवी) को ही रातनायुक्त बनाते हैं। (जान  
रहे) रज्जु का बन्धन नहीं करते हैं। यह रातना मेखसारूप है। संनहन के द्वारा इसे (अदिति  
को) मेखसा से ही युक्त करते हैं ॥१५॥

श्रुतिवक् को चाहिए कि, वह योक्त्र के गाँठ न लगाव। क्योंकि ग्रन्थि (गाँठ) बन्धवेष  
नामयी है। (ऐसा अवस्था में) यदि ग्रन्थि लगावी जायगी तो वक्षवेषवता इस पत्नी को अपन  
पारा से बाँध लेंगे। (ऐसा न हो) इसलिए ग्रन्थि-बन्धन नहीं करते हैं ॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकेगा कैसे?, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का  
उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह अभ्व्यु योक्त्र के मूलाधों को परस्पर मिलाकर [दोनों  
मूलों को परस्पर घटकर] ऊपर की ओर या ही लम्बित कर देता है। इस कर्मकाल में  
'विष्णोर्ध्वेऽसि' यह मन्त्र बोलता है। वह अजमानपत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की  
ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर मुँह कर न बैठे। यह पृथिवी अदिति है। यह देव-  
ताओं की पत्नी है। यह पश्चिमदिशा में देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित हो रही है।  
ऐसी अवस्था में पश्चिमा विक्रम प्राक्मुखा बैठती हुई अजमानपत्नी पृथिवी की गति के साथ  
युक्त होजायगी। परिणाम इसका यह होगा कि वही बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] अज-  
मानपत्नी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राक्मुखा होकर न बैठने से] अज-  
मानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ होजाती है। सो इस पत्नी को पश्चिम में प्राक्मुखा  
बना कर न बैठते हुए इसे पृथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते हैं।  
ऐसा करने से अजमानपत्नी पूरी आयु बाहर रख करन में समर्थ होजाती है। इसलिए पत्नी को गार्ह-  
पत्य के दक्षिणभाग में [नैऋतकोण में] ही बैठना चाहिए ॥१७॥

अनन्तर वह पत्नी आत्मवश्रण करती है। अर्थात् घृत में अपना मुख डालती है। यह  
पानी थापा है आत्म रत है। आत्मवश्रण से रेत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूपिणी बोधा मिथुन-  
संघस्य प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्भव करत है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए  
यह पत्नी आत्मवश्रण करती है ॥१८॥

प्राज्ञाय वतसा दिया गया अब पद्यति वतसाते हैं। वह पत्नी 'अवधं त्वा बभ्रुवा पर्यामि  
धर्मोऽज्ञासि सज्ज्वैक्यम्, धाम्ने धाम्ने मे मय बभ्रुव बभ्रुव' यह मन्त्र बोलती हुई आत्म देखती  
है। 'मैं जिह्व प्रपोद्धारहित पवित्र ब्रह्म स आत्म देखती हूँ' मन्त्र से पत्नी का यही कहना

है। 'धन्मज्झिमासि' यह मन्त्रगोप बोलती है। जिस समय आग्न की अग्नि में आहुति डालते हैं, उस समय अग्नि की [उष्णालारूप] जिह्वासी निकलती है। इसी अभिप्राय से 'धन्मज्झिमासि' यह कहा गया है। 'सज्जुर्वेभ्य' इत्यादि मन्त्रभाग का तात्पर्य बतलाते हुए कहते हैं—द्वयताओं के लिए यह [प्रजननरूप] आन्व्यदर्शन शुभ हो। 'सज्जु०' इत्यादि से यही कहा गया है। 'धाम्ने धाम्ने' इत्यादि से 'हे आग्न्य ! आप मन् सम्पूर्ण दक्षकर्म के लिए तत्पर हन' यही कहा है ॥१६॥

आन्व्यदर्शनानन्तर अप्व्यर्ण आग्न को लेकर पूर्व की ओर (आहवनीय की ओर) बसता है। आगे चलकर आहवनीयाग्नि पर (तपाने के लिए) उसे रत्न देता है जिस के कि हवियों को आहवनीयाग्नि में परिपक्व करते हैं। मेरा सम्पूर्ण यज्ञ (यद्विष हविर्द्रव्य) आहवनीय में ही परिपक्व हो इसीलिए हविर्द्रव्यरूप आग्न को भी आहवनीयाग्नि में ही परिपक्व करते हैं। (यहाँ एक पूर्वपक्ष होता है। वह यह है कि जिस समय अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में परिपक्व किया जाता है क्यों नहीं उसी समय आग्न का भी परिपक्व कर लिया जाता ?) इस पूर्वपक्ष का समाधान करने के अभिप्राय से भुक्ति कहती है कि (पत्नी को यज्ञकर्म में युक्त होने का अवसर (अवध्वरा) हम आग देलेंगे इस विचार से यदि अप्व्यर्ण उसी समय [पत्नीसंनहनकर्म से बहुत पहले ही (जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का परिपक्व किया जाता है) आग्न-परिपक्व भी करलेता है तो "पत्नी का आग यज्ञ में प्रविष्ट हान का अवसर देगा" यह विचार कर बीच में ही [पत्नी के यज्ञ में प्रविष्ट होने से पहले ही] अधिभ्रमणार्थ आग्न हरण करना ठीक नहीं होता। यदि पत्नी को यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर देने से पहिले ही उक्त विचार से अप्व्यर्ण आग्न हरण कर लेंगा तो वह एक प्रकार से पत्नी को यज्ञसीमा से यहिर्भूत ही कर देगा। ऐसा न हो इसलिये पत्नी के आग्नदर्शनरूप यज्ञसंयोग के अनन्तर ही आन्व्यधिभ्रमण कर्म करते हैं] ऐसा करने से वह अप्व्यर्ण पत्नी को यज्ञसीमा से बाहिर नहीं निकलता। [इसी मार्दभाष का स्पष्टीकरण करती हुई सर्वान्त में भुक्ति कहती है।] इसलिये [पत्नी यज्ञसीमा में अन्व-प्रविष्ट होजाय इसलिये] पत्नीसंनहनकर्म के साथ ही आग्न को पहले गाहपत्याग्नि में तपा कर पत्नी को आग्नदर्शन के द्वारा यज्ञ में प्रविष्ट कर अनन्तर अधिभ्रमणार्थ आग्न को पूष की ओर [आहवनीय की ओर] ले जाते हैं। जिस यज्ञमान के पत्नी नहीं होती उस यज्ञमान के यज्ञ में उसी समय [जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में अधिभ्रमण किया जाता है] आग्न का भी आहवनीय में अधिभ्रमण कर लेते हैं। अधिभ्रमणानन्तर यहाँ से आग्न उठा कर उसे नदि की सीमा में रत्न देते हैं ॥ २० ॥

किन्तु ही आज्ञार्थों का मत है कि इस अधिभ्रित आग्न को अन्तर्घर्ष में नहीं रखना चाहिए। (कारण इसका यह बतलाया जाता है कि) इसी अधिभ्रित (परिपक्व) आग्न से द्य पत्नियाँ का यजन करते हैं (नदिस्थान पर सम्पूर्ण द्यता आप हुए हैं)। जमी अवस्था में उस प्रदरा में द्यपत्नीयागसाधक आग्न को दक्षमण्डलीयुक्त नदिस्थान में रक्ता हुआ अप्व्यर्ण द्य पत्नियाँ को जनसमूह में ही उपस्थित करता है। (यज्ञमानपत्नी भी दक्षपत्नियाँ से युक्त रहती है।

मयी रज्जु पत्नी को पीढ़ा नहीं पहुँचाती। इसी प्रयोजन के लिए बन्धों से ऊपर योक्त्र का संन-  
हन करते हैं ॥१४॥

प्राङ्मण्य (विज्ञान) उत्पत्ति दिया गया अब पञ्चति बतलाते हैं। वह अभ्यर्च्युं “अदित्ये रास्नासि” यह मन्त्र बोलता हुआ संनहनकर्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह पृथिवी ही अदिति है। वह (अदितिरूपा पृथिवी) देवताओं की पत्नी है। सो इस (संनहनकर्म) से यज-  
मानपत्नीरूपा इस अदिति (देवपत्नीभूता अदिति पृथिवी) को ही रास्नामुक्त बनाते हैं। (ध्यान रहे) रज्जु का बन्धन नहीं करते हैं। यह रास्ना मेखलारूप है। संनहन क द्वारा इसे (अदिति को) मेखला से ही मुक्त करते हैं ॥१५॥

अदित्यु को चाहिए कि, वह योक्त्र के गाँठ न लगावे। क्योंकि ग्रन्थि (गाँठ) बरुहदेव  
लामयी है। (ऐसा अवस्था में) यदि ग्रन्थि लगावी जायगी तो बरुहदेवता इस पत्नी को अपने  
परा से बाँध लेंगे। (ऐसा न हो) इसलिए ग्रन्थि-बन्धन नहीं करते हैं ॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी तो योक्त्र रुकेगा कैसे?, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का  
उपाय बतलाती हुई भुति कहती है कि) वह अभ्यर्च्युं योक्त्र के मूलाओं को परस्पर मिलाकर [दोनों  
मूलों को परस्पर बटकर] ऊपर की ओर यों ही लम्बित कर देता है। इस कर्मकाल में  
‘विष्णोर्ध्वप्याऽसि’ यह मन्त्र बोलता है। वह यजमानपत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की  
ओर मुझ करके देवताओं के यज्ञ की ओर मुझ कर न बैठे। वह पृथिवी अदिति है। वह देव-  
ताओं की पत्नी है। यह पश्चिमविराट में देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित हो रही है।  
ऐसी अवस्था में पश्चिमा विष्णु में प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपत्नी पृथिवी की गति के साथ  
मुक्त होजायगी। परिणाम इसका यह होगा कि वहाँ बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] यज-  
मानपत्नी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राङ्मुखा होकर न बैठने से] यज-  
मानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ होजाती है। सो इस पत्नी को पश्चिम में प्राङ्मुखा  
बना कर न बैठाने हुए इसे पृथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते हैं।  
ऐसा करने से यजमानपत्नी पूरी आयु वापस करने में समर्थ होजाती है। इसलिए पत्नी को गार्ह-  
पत्य के दक्षिणभाग में [नैऋतकोश में] ही बैठना चाहिए ॥१७॥

अनन्तर वह पत्नी आत्मव्रतन करती है। अर्थात् वृत्त में अपना मुझ दक्षी है। यह  
पत्नी योग्या है आत्म्य रत है। आत्म्यव्रतन से रत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूपिणी योग्या मिथुन-  
लक्ष्मण प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्पन्न करत है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए  
यह पत्नी आत्म्यव्रतन करती है ॥१८॥

प्राङ्मुख बतला दिया गया, अब पञ्चति बतलाते हैं। वह पत्नी ‘अद्वयत्वा बह्व्या पर्यामि  
प्रमेजिह्वासि सज्ज्वेकिभ्या, आम्मे आम्मे म भव बह्व्य बह्व्य’ यह मन्त्र बोलती हुई आत्म्य दक्षी  
है। ‘मै निह ए पीडाग्रहित पवित्र बह्व्य स आत्म्य दक्षी हूँ’ मन्त्र से पत्नी का यही कहना

किर अतिवर्जा की आवश्यकता ही क्या है ? [यदि अन्य आध्वर्युः, होत्र, औद्गात्रादि यज्ञस्य रूप समपक कर्म अतिवृक् कर लेने ह, ता फिर] प्राचीनों का इस आशयदर्शनकर्म में ही यह धारणा कैसे बन गई कि यह कर्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? अतिवृक् लाग अपने अपने कर्म में जो भी फल प्राप्त करते हैं यह यजमान को ही तो मिलता है । [ऐसी अवस्था में अध्वर्युः कर्म का आशयदर्शन का फल यजमान को कैसे नहीं मिलता ?] अतः—अध्वर्यु का हा आशयदर्शन करना चाहिए ॥२६॥

यह अध्वर्यु आशयदर्शन करता है । चक्षुरिन्द्रिय मत्सरूप इसीलिए है कि जब दो मनुष्य परस्पर झगड़ा करते हुए हमारे सम्मुख आते हैं और उनमें से एक कहता है कि—मैंने ऐसा-औंसा से कहा है । दूसरा कहता है कि मैंने ऐसा अपने काना से सुना है, तो दोनों में से जो व्यक्ति मैंने ऐसा अपनी औंसा से कहा है यह कहता है, हम उसी के कथन पर भ्रम कर रहे हैं । (अतः चक्षु अवरय हा सत्य है) । हम सत्यचक्षु से आशयदर्शन करता हुआ अध्वर्यु सत्यतत्त्व से ही आशम को समुद्ध करता है ॥२७॥

(आशयवर्णन की उपपत्ति वतलायी गई, अब पद्धति वतलाते हैं) —यह अध्वर्यु—“तज्जाऽस्मि शुक्रमस्फुटमसि” यह मन्त्र श्रुतिता हुआ आशय पर अपनी दृष्टि डालता है । [आशय के यथाय स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मन्त्र अवरय ही मत्सरूप है । यह आशय तज्ज स्वरूप है यह आशय शुक्रस्वरूप है यह आशय अमृतमत्सरूप है । इसी सत्य से यह अध्वर्यु आशय को समुद्ध करता है ॥२८॥

## इति—अनुवादप्रकरणम्

नीतिप्र

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण  
एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरतं

## सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

सुव—सुक् (जह—उपमत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुराडाशपात्री,  
इडापात्री का प्रवर्णन, एवं संमाजन कर यदि पर  
रखने क लिए आग्नीध्र को समर्पण

‘वदि निम्नागानन्तर इप्स—यहि—अ ग्य आदि का यथास्थान सन्निधाय कर लिया जाता है । तन्मन्तर  
‘अ य प्रतप्य पूर्ववद्वे प्राप्तरन्तरतः प्राक् संमाजि अनिरात इति विपच्ययस्य यहिर्मूलेः प्राहुः

ऐसी अवस्था में दक्षपत्नियों के साथ साथ यजमानपत्नी का भी दक्षसभामण्डपरूप वदित्थान में प्रवेश अनिवार्य होगा। ऐसा होने से यजमानपत्नी परापूर्वा (अथपुरुषों के समूह में उपस्थित) होजाती है। [ एक कुत्सीन स्त्री के लिए परपुरुषों के सम्मुख उपस्थित होना लज्जास्पद है। पंसा नहीं होना चाहिए। अतः वदित्थान पर दक्षपत्नी-यागसाधनभूत आग्य नहीं रखना चाहिए ]।

प्राचीनों के इस मत का समर्थन करते हुए मातृवत्कथ्य कहते हैं कि अज्य-अभिप्राय वस का वदित्थान में स्थापन, आवि पत्नी-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म शास्त्र में इसीप्रकार विहित हैं। अतः वह कार्य्य वैसे ही हो इसी में यज्ञसिद्धि है। "पंसा हान स पंसा पुरुषसमूह में आजायगी, एवं यह अनुचित होगा" इस निरर्थक युक्ति का शास्त्रादरा के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं है। कौन बुद्धिमान इस विषय को अच्छा एवं युक्तिसंगत कहगा। यदि और आज्ञा दोनों ही यज्ञसाधन हान से यज्ञरूप है। हम यज्ञ से यज्ञ का स्वरूप सपन्न करें यही आवश्यक एवं अथादिद [ शास्त्रसिद्ध ] पक्ष है। अतः वदित्थान में ही आग्य रखना चाहिए ॥२१॥

प्रोक्षणीपात्र में कुराा रखी हुई है। वहाँ से कुराा लेकर वनसे आग्य का प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षण का एकमात्र तात्पर्य्य है, वस्तु को मेध [ चक्ष्मणीय ] करना। इस प्रोक्षणकर्म से आग्य को मेध [ देवसक्ष्मणीय ] ही करते हैं ॥२२॥

उत्पवनकर्म की दृष्टिकर्तव्यता बतलाती हुई भूति कहती है—वह अथर्व्यु—'सचितु स्रवा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सुम्यस्य रश्मिभिः यद् मन्त्रं बोद्धवा हुम्वा आत्म्यं का प्रोक्षणं कर्त्ता है ॥२३॥

आवधप्रोक्षणानन्तर— "सचितुम्यः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सुम्यस्य रश्मिभिः यद् मन्त्रं बोद्धवा हुम्वा अथर्व्यु [ प्रोक्षणकर्म से ] धृत् से संरक्षित बनी हुई पवित्रों स [ वन से ] प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण का तात्पर्य्य यही है जो कि पूर्व क-प्राप्तकर्म में सोपपत्तिक वदत्ताया जाचुका है ॥२४॥

तो जो कि अथर्व्यु आत्म्यक्षिप्त पवित्र से प्रोक्षणी का प्रोक्षण करता है इस कर्म से पानी में पच [ दूध ] का कार्य्यभूत अतरव पयोरूप आत्म्य ही प्रतिष्ठित करता है। [ प्रकृति में ] यह पच पानी में ही प्रतिष्ठित है। जैसे कि-जब पानी बरसता है, तो आपधियों उत्पन्न होती हैं ओपधियों का कर पानी पीकर अनन्तर यह रस [ पच-आत्म्य ] उत्पन्न होता है। इस रस की पूर्णता के लिए ही प्रकृत प्रोक्षणकर्म करते हैं ॥२५॥

प्रोक्षणी-प्रोक्षणानन्तर अथर्व्यु आत्म्यव्रतन करता है। कितन ही आत्माय यजमान का ही धृत्व्रतन करता है। [ अर्थात् इनके मत से आत्म्यव्रतन यजमान का ही कर्म है ] इस पक्ष का निराधारण्य करते हुए मातृवत्कथ्य कहते हैं कि यजमान स्वयं ही अथर्व्यु वनत हुए आभ्यव्यवकर्म क्यों नहीं करते ? यजमान ही 'हाता' बन कर क्यों नहीं अनुष्ठापमादिक्रम होयक्रम करते ?।



किर श्रुत्विजा की आवश्यकता ही क्या है ? [यदि अन्य आध्वर्युः, होत्र, औद्गात्रादि यज्ञस्वरूप समपक कर्म श्रुत्विक् कर लेंगे, तो फिर] प्राचीनों का इस आशयदर्शनकर्म में ही यह धारणा कैसे बन गई कि यह कर्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? श्रुत्विक् लोग अपने अपने कर्म में जो भी फल प्राप्त करते हैं वह यजमान को ही तो मिलता है । [ऐसी अवस्था में अध्वर्युः फलक आशयदर्शन का फल यजमान को कैसे नहीं मिलेगा ?] अतः—अध्वर्यु को ही आशयदर्शन करना चाहिए ॥२६॥

वह अध्वर्यु आशयदर्शन करता है । चक्षुरिन्द्रिय सत्यरूप इसीलिए है कि, जब दो मनुष्य परस्पर स्पर्श करते हुए हमारे सम्मुख आते हैं, और उनमें से एक कहता है कि—मैंने ऐसा आँखों से देखा है । दूसरा कहता है कि मैंने ऐसा अपने कानों से सुना है, तो दोनों में से जो व्यक्ति मैंने ऐसा अपनी आँखा से देखा है वह कहता है इस उसी के कथन पर श्रद्धा करते हैं । (अतः बहु अवश्य ही सत्य है) । इस सत्यचक्षु से आशयदर्शन करता हुआ अध्वर्यु सत्यवत्त्व से ही आशय को समुद्ध करता है ॥२७॥

(आशयवेक्षण की उपपत्ति वतकारी गई, अब पद्धति वतलाते हैं)—वह अध्वर्यु—  
“तस्माऽसि शुक्रमस्मृत्तमसि यह मन्त्र वाक्यता हुआ आशय पर अपनी दृष्टि डालता है । [आशय के यथाय स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मन्त्र अवश्य ही सत्यस्वरूप है । यह आशय तज-स्वरूप है यह आशय शुक्लस्वरूप है यह आशय अमृतस्वरूप है । इसी सत्य से यह अध्वर्यु आशय को समुद्ध करता है ॥२८॥

## इति—अनुवादप्रकरणम्

१०  
विनिर्वाह

प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण  
एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरतं

## सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

सु. व—सू. क् (जुह—उपमृत् धु. वा), प्राशिप्रहरस्व, पुरोडाशपात्री,  
इडापात्री का प्रतपन, एव समार्जन कर वेदि पर  
रखने क लिए आग्नीध्र को समर्पण

‘वदि निर्माणानन्तर इध्म यहि—आशय आदि का यथास्थान सविधरा कर दिया जाता है । तन्मन्तर  
‘यं यं प्रतप्य पृथग्ध धामरन्तरतः प्राक् समार्चि अनिरात’ इति विषयव्ययस्य यहिर्मूलैः प्राकृत

का' ( का श्री सू २।१।१६ ) इस भीत सिद्धान्त के अनुसार गार्हपत्यकुराव के पश्चिम भाग में बैठकर अग्न्यु पहिले गाहपत्याग्नि में 'प्रत्युष्ट' रक्ष प्रत्युण भरतयः । निष्ठुत रक्षो निष्ठुता भरतयः ( यज्ञकर्म का अग्ररोध करने वाले राक्षस तथा दिए गए हैं, यज्ञसम्पत्ति का आगमन रोधने वाले अराति तथा दिए गए हैं एवं विशेषरूप से तथा दिए गए हैं ) यह मन्त्र बोलता हुआ शूर्प, एवं अग्नीहोत्रहवर्षी की मति सुष को तथाता है । सुष के तपाने के अनन्तर उठी स्थान में बैठा बैठा ही अग्न्यु घोड़ा ता पूर्व की ओर मुक्ता हुआ अपने बाएँ हाथ में तो प्रवत सुष को लेता है एवं दक्षिण हाथ में कुराव लेकर— 'अनिशितोऽसि सपत्नश्चिन्त, वाजिनं स्वा वाजेभ्योऽयि समार्षि' ( हे सुष । तू ( रात्रु के लिए महा निश्चित तीक्ष्ण होते हुए भी हमारे यजमान के लिए सबथा अनिशित ( शान्त ) हो । तप्लो ( रात्रुओं ) का नाश करने वाले हो, यजमूर्तिस्व तुम्हारा ( सुष का ) बहस्वरूपसिद्धि के लिए ही मैं ( अग्न्यु ) सम्यक् प्रकार से रोधन करता हूँ ) यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिणहस्त-परीत उन कुरावों से सुष के मूल से आरम्भ कर मुख पर्यन्त सुष का सम्मान करता है । मूल से मुख पर्यन्त कुराव से सुष को त्वन्त करवेना ही सम्मार्जनकर्म' है । इसप्रकार एकबार ता वेद्यों से सम्मार्जन होता है । अनन्तर अग्न्यु पुन कुछ पूर्व की ओर मुक्ता हुआ वही उक्त ( अनिशितोऽसीत्वादि ) मन्त्र बोलता हुआ सुष के पृष्ठभाग में मुखभाग से आरम्भ कर मुखभाग पर्यन्त कुरामूल से सुष का सम्मार्जन करता है । अग्न्यु का पूर्व की ओर उत्क्रमण केवल उभयविध सम्मार्जनकर्म में ही होता है प्रतपन कर्म में उत्क्रमण नहीं होता । कारण— 'तस्मादु तथैव संमृश्याद्याऽग्निं नामिन्मुक्तेत् प्राचिवैवो-मुक्त्य' इत्यादि रूप से भुक्ति ने सम्मार्जनकर्म के साथ ही उत्क्रमण का सम्बन्ध माना है । सुषप्रतपन, और सम्मार्जन के अनन्तर जुह-उपसृत्-ध्रुवा इन सुषों का 'अनिशिते' ति सुषः ( का श्री सू २।१।४६ ) इत्यादि मत्नानुसार 'प्रत्युष्ट रक्षः' इत्यादि से पहिले गार्हपत्य में प्रतपन, अनन्तर 'अनिशितोऽसि' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र से सम्मार्जन करता है ।

सुष-सुषों के सम्मार्जनानन्तर— प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति' ( का श्री सू २।१।४ के अनुसार 'प्रत्युष्ट रक्षः०' इत्यादि उक्त मन्त्र बोल कर सुषादि को पुनः गार्हपत्याग्नि में तथा तथा कर ( वेदि पर रखने के लिए ) पुनः प्रवत सुषादि को आग्नीत्र के हाथ में लीपता बाध है । सुष-सुष ( जुह-उपसृत्-ध्रुवा ) इन चार के अतिरिक्त प्रारित्रहरण श्रुवाश्वान पुरोडाऽपात्री इवापात्री इनका प्रतपन एवं सम्मार्जन ( बिना मन्त्र बोले स्थोत्री ही ) किया जाता है बैराकि— 'तृष्णी प्रारित्रहरणं श्रुवाश्वान पात्री च' ( का श्री सू २।१।४ ) इत्यादि स्त से स्पष्ट है । इसप्रकार 'पहिले प्रतपन पुन' कुराव-कुरामूल-मेरु से नीच से ऊपर पर्यन्त एका ऊपर से नीच पर्यन्त सम्मार्जन पुन प्रतपन सर्वान्त में आग्नीत्र को समर्पण— ( वेदस्थान में रखने के लिए ) इस कर्मकपाल की समष्टि का नाम ही 'पात्र-सम्मार्जन' कर्म है ।

बिन वेदाग्र एवं वेदमूर्त्ता से उक्त सम्मार्जनकर्म किया जाता है उर्ध्व— 'सम्मार्जनान्धपात्यति' ( का श्री सू २।१।४६ ) के अनुसार उक्त मन्त्र में ईक देते हैं । यद्यपि— आहवनीये प्राप्तनमेके' ( का श्री सू २।१।४४ ) के अनुसार किसी आवायों के मतानुसार सम्मार्जन-वाधानभूत वेद की अद्वितीयता में प्रक्षिप्त करना उपलब्ध होता है । परन्तु अग्नि की विप्रतिपत्ति गार्हपत्याग्नि में दर्भ डालने के

अथर्व में बतलाई है, वही दोष आहुतनीयाम्नि में डालने से प्राप्त होता है। अतएव भूनिन 'तदु तथा न कुर्म्यात्' इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में अग्नि में डालने का निषेध ही किया है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक दशा में इन दमवृत्तों को उत्तर में ही डालना चाहिए।

## इति-द्रव्यसम्माज्जनम् (ब्रा० की १ क० से ११ क० पर्यन्त)

त्रिवृत् मुञ्जमय योक्त्र से यजमानपत्नी का सम्बहन—

द्रव्यसम्माज्जनानन्तर—“पत्नी सन्नद्धाति प्रस्फगृधक्षिण उपविष्टा गाहपत्यस्य मुखयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्यधिवासोऽदित्यै रास्ते ति” (अ० भौ सू १।७।१) इस सूत्र—विद्वान्तानुसार गार्हपत्या निकुण्ड के दक्षिणभागरूप नैऋत्यकोण में पूर्वाभिमुख बन कर बैठे हुए यजमानपत्नी को अश्वस्य त्रिगु-क्त्रि मुञ्ज (मुँज नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध) से बने हुए योक्त्र (रज्जु) से (पत्नी के बन्तों के ऊपर) नानि से नीचे के कटि भाग में अविरयै रास्तासि” (हे योक्त्ररूप रज्जु! तुम अदिति पृथिवी-रूपा यजमानपत्नी के लिए रास्ता—मेखला—रूप हो) यह मन्त्र बोलता हुआ बोलता है। योक्त्रबन्धनकाल में—“दक्षिणपारामुत्तर प्रतिमुखोऽप्यमुदगूर्हति विष्णोर्वेध्य इति (का० भौ सू २।४।२) के अनुसार योक्त्र के दक्षिणपारामुत्तर को उत्तरपारामुत्तर में ऊपर में विरोध नीचे नीचे कर पार को द्विगुणित कर, उत्तरपारामुत्तर में प्रोत होकर ऊपर की ओर निष्को हुए दक्षिण पारामुत्तर को—“विष्णोर्वेध्योऽसि” (हे दक्षिणपारामुत्तर! आप यज्ञ का कष्टन करने वाले हो) यह मन्त्र बोलता हुआ योक्त्र के मध्य में बधित कर देता है। “न प्रन्यि करोसि” (अ० भौ सू १।७।१) के आदेशानुसार योक्त्र न गाँठ नहीं लगाई जाती।

## इति-पत्नीसन्नहनकर्म (ब्रा० की १२ क० से १७ क० पर्यन्त)

घृत छँदा करने के पश्चात् अश्वस्य के द्वारा भेजी गई

यजमानपत्नी का सम-प्रक आज्य-दर्शन

पत्नीसन्नहनकर्म के अनन्तर—“ऊर्जे स्वा त्याभ्यमुद्रास्य पत्नीमवक्ष्यत्यद्वचनेति” (का० भौ सू २।७।४) इसके अनुसार अश्वस्य—“ऊर्जे स्वा (हे आज्य! बलमन्त्र रज की प्राप्ति के लिए इसमें उद्धाहित करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ पहिले से ही गाहपत्याग्नि पर पात्र में रख कर घृत घृत को अग्नि से उतार कर रँग करता है। अनन्तर “पत्याभ्यमवक्ष्यस्व” (हे पत्नी! आज्य के दर्शन करो अथवा इसमें अपना मुख लगाओ) यह प्रथम करता हुआ पत्नी से अवद्वचन स्वा चक्षुषा परयामि।

अग्नेर्हिंसासि, सुहृर्वेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुपे यजुपे' (हे आत्म ! मैं निबुद्ध नेत्रों से द्वाराय  
रगन कर रही हूँ । हे आत्म ! तुम अग्नि की बिहारी हो, अतएव [ बिहारीय होने से ही ] तुम देवताओं के  
अन्धे बुलाने वाले हो । ऐस आप पत्यक कर्म कर्म के लिए, मन्त्र मन्त्र के लिए, सन्तान को । यह मन्त्र  
बुलवाता हुआ पत्नी से आज्ञादर्शन कराता है । यदि पत्नी किसी आवश्यक प्रसिद्ध के कारण यह में  
उपरिधत न हो, तो ऐसी अवस्था में अश्वत्थु को ही आज्ञादर्शन कर लेना चाहिए, यह सूत्रकार का मत है ।  
ब्राह्मणभूति के अनुसंग तो पत्नी के अभाव में आत्म पिता देवे ही यथास्थान रख दिया जाता है । आत्मा  
वेद्यानन्तर—'वेद्यां करत्स्पर्शं प्रोक्षणीभ्यः [ का भी सू० २।७।५ ] के अनुसार अश्वत्थु प्रोक्ष-  
णीपात्र से पश्चिम भाग में वेदि पर आज्ञा रख देता है । यदि इस यजमान के यज्ञ में आहवनीयाग्नि में ही  
हविर्द्रव्यों का परिपाक होता है, तो इस आहवनीयाविभक्त-पक्ष में—'आहवनीये वा कृत्या तच्छ्रापिणः  
[ का० भी० सू० २।७।६ ] के अनुसार पत्यवेद्यानन्तर पहिले आत्म को आहवनीय पर रखा जाता है  
पुनः उद्घासित कर पूर्वकपनानुसार प्रोक्षणीपात्र के पश्चिम में वेदि पर रखा जाता है ।

## इति—आज्यावेक्षणकर्म

( भा० की १८ कं० से २१ कं० पर्यन्त )

## आत्म और प्रोक्षणी का उत्पन्न, एवं अश्वत्थु कृत आज्ञादर्शन

आत्म रखने के अनन्तर वह अश्वत्थु—सवितुस्त्व त्यास्मभ्युत्सुनाति प्रोक्षणीय पूर्ववत्  
[ का भी सू० २।७।७ ] इसके अनुसार प्रोक्षणी पानी में रखे हुए पवित्र [ दर्भ ] से सवितुस्त्व  
इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र बोलता हुआ पहिले आत्म का प्रोक्षण करता है अनन्तर आत्म—सम्भव से आत्म-  
युक्त होने हुए इसी पवित्रों से वही मन्त्र शपत्ता हुआ प्रोक्षणीयनी का प्रोक्षण करता है । इसकारण आत्म  
एवं प्रोक्षणी—उत्पन्नानन्तर—'आत्ममवधत्ते तेजोसी' ति यजमानो वा' [ का० भी सू० २।७।८ ]  
के अनुसार वह अश्वत्थु अथवा यजमान [ दोनों में से कोई भी ] 'तेजोऽग्नि शुक्लमस्युतमसि' [ हे  
आत्म ! आप तेजोमय हैं शुक्लरूप हैं, समुत्तमभाषण हैं ] यह मन्त्र बोलता हुआ आज्ञादर्शन करता है ।  
सूत्रकार ने पश्चान्तर का आदर करते हुए 'यजमानो वा भी कइ दिया है । वस्तुतः राजपथब्राह्मण के मता-  
नुसार यह आज्यावेक्षणकर्म अश्वत्थु को ही करना चाहिए ।

## इति—आज्यावेक्षणम्

( भा० की २२ कं० से २८ कं० पर्यन्त )

## ब्राह्मणोक्त—कर्मसंग्रह—

१—द्रव्यसंस्कार

२—पत्नीसम्बन्धन

३—रत्नीकृत आज्यावेक्षण

४—आज्य-स्थापन

५—आज्य, एका प्रोक्षणी का पवित्रों से उत्पन्न

६—अध्वर्यु कृत आज्यावेक्षण

## इति-पद्धतिप्रकरणम्

### उपपत्तिप्रकरणम्—

१—द्रव्यसंस्कारोपत्ति

(माज्य)-सुव-जुह-उपश्रुत भू वा-पुरोडाशापात्री-इडापात्री-आदि यक्षिपत्र प्राग्देवताओं के आहुति-  
पात्र बनते हुए इनके [ देवताओं के ] मोहन करने के पात्र हैं। लोहज्वरहार में बिन पात्रों में मनुष्य  
मोहन करते हैं, मोहनपरिषेध [ परोक्ष ] से पक्षि पात्रों की पानी से, घोंकर स्वच्छ कर लिया जाता है,  
अनन्तर इन पात्रों में मोहन परोक्षा जाता है। मोहनपरिषेध से पक्षि पात्रशुद्धि सर्वथा अपेक्षित है, यही  
करता है। इसी शुद्धिभाव के लिए प्रकृतवक्त्र में देवताओं के मोहनवाचन-पात्रों का संस्कार करना आवश्यक  
हो जाता है। देवता स्वर मण्डल की वस्तु है। इधर साधारण पानी पार्थिव है। इस लौकिक पेश पानी से  
देवपात्रों का सम्मार्जन करना ठीक नहीं। अतः प्रकार लौकिक मनुष्य, और प्राग्देवताओं के स्वरूप में भेद  
है, जैसे इनके मोहनपात्रों के स्वरूप में विभिन्नता है, तथैव सम्मार्जनीय-पानी में भी भेद होना आवश्यक  
है। इसी दृष्टिकरण के लिए पानी के स्थान में वहाँ 'कुशा' का ग्रहण किया जाता है। स्वरश्मिमण्डल में  
प्रविष्ट पारमेष्ठ्य अन्तः नाम का पवित्र पानी ही 'धन' कहा जाता है। इसी व्योम्निव 'वनपानी' से कुशा  
का निम्नाप होना है जैसा कि पूर्व के तृभस्तिप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। धर्म साक्षात्  
दिव्य पानी है। इसी रहस्य की लक्ष्य में रखकर भुक्ति न—'आपो ये कुशा' यह कहा है। साथ ही  
वहाँ मनुष्योपयोगी पात्रों का सम्मार्जन सुझाया गया है, वहाँ प्रकृत यक्षिपत्रों का सम्मार्जन "अनि-  
शितोऽग्नि" इत्यादि मन्त्र से किया जाता है। इसप्रकार कुशाकृत दिव्यपानी एवं दिव्यमन्त्र-  
बल इन दोनों से सम्मार्जन होने से दिव्यकर्म का मनुष्यकर्म से सर्वथा दृष्टिकरण होता है।  
॥२२॥

• मरुभूमि में शिरोपत राखवृत्त में पानी की कमी के कारण मृत्तिका-रक्षा-[रक्षक] आदि से ही  
पात्र पवित्र मान लिए जाते हैं। इस पद्धति की इसकी प्रधानता होना है कि यदि मगधन [ मोहन ] के  
अनन्तर पात्र पोषित जाते हैं तो वे सध्या अपवित्र मान लिए जाते हैं। ऊक्त भुक्ति के आधार पर हम यह  
कहते हैं कि यदि पानी क्लृप्त मात्रा में मिले तो मगधन के अनन्तर पात्रों को अपरय भी पोषितना  
चाहिए। बिना पानी से बोए पात्रशुद्धि नहीं होती। यदि पानी ही न मिले तो प्रक्षिप्त-पद्धति का अनुसरण  
करना चाहिए, जैसा कि पूर्व दिव्यपी में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

सम्पारब्धन से पहिले पात्री को तपाया जाता है। अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु वायु में आसुरप्राण व्याप्त रहता है। यह वायु असुर ऐन्द्रवज्र का विरोधी है। जहाँ दिव्यप्राण का सञ्चार होता है वही स्वप्न वेर के सम्बन्ध से वह इस दिव्यकर्म (दिव्यकर्म में युक्त पात्रादि वस्तुओं) में व्यापक करने लगता है। इधर अग्नि, और मन्त्रबल दोनों ही आसुरप्राण के विघातक हैं। पात्री में वायु के द्वारा आगत प्राण रूम, अतएव चर्मवस्त्र से अदृश्य इन असुरों का अशोपकर्म में ही नाश करने के लिए मन्त्रबल-युक्त प्रत्यपनकर्म किया जाता है। अभिपरिहाय से अवश्य ही अदृष्ट दोष \* एवं सूक्ष्म कीयाणु नष्ट होजाते हैं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥४-६॥

आरम्भ में स्तुत्याया जायुंका है कि, यह सम्पारब्धन अलौकिक है। यह में ऐसा कोई भी कर्म नहीं, जो निरपेक्ष हो, एवं जिस का प्राकृतिक-स्थिति के साथ सम्बन्ध न हो। यह से वैद्य अलौकिक नवीन वैद्यत्वा उत्पन्न किया जाता है। वैद्य कि पूर्वप्रकरणों में अनेक बार कहा जाचुका है। इस दिव्यात्मा का स्वल्प-निर्माण बिन बिन तल्ली से होता है। यहकला श्रुतिवाँ को उन उन तल्ली की प्रत्येक कर्म में भावना करनी पड़ती है। प्रकृत सम्पारब्धनकर्म भी उस भावना से रहित नहीं है। एक बार सम्पारब्धन सुब के मूल से ऊपर तक होता है, दुष्पथ पुद्गल में ऊपर से नीचे की ओर होता है। इसी उर्ध्व-अधोभाव का अङ्कुलि से निर्देश करते हुए—‘इति-अधैरन्तरत्वा’ ‘इति-अधैरन्तरत्वा’ यह अभिनय किया गया है। ‘आगमन प्राणव्यापार है एवं ‘गमन’ उदान (अपान) व्यापार है। शतपथ में ‘उदान’ शब्द से सर्वत्र ‘अपान’ ही अभिप्रेत है। प्राण आगतिवर्मा है। सम्पारब्धन में आगति-गतिमात्रों का समावेश करता हुआ अन्वसु भावना के द्वारा सुब में प्राणोदान (प्राणादान) का ही आधान करता है। इसी सुब से वैवस्वजन् होने वाला है। आहुति से दिव्यात्मा का रूम होने वाला है। ऐसी परिस्थिति में सुब-सम्बन्धी प्राणोदान आहुति में प्रविष्ट होता हुआ दिव्यात्मा के प्राणोदानोत्पत्ति का ही कारण बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ‘प्राणोदानावबैतृह्यावि’ यह कहा गया है। ध्यान रखें—सुबस्थित प्राणोदान से ही दिव्यात्मा के शरीर के रोमों का निर्माण होने वाला है। रोमावली में प्राणोदानवत् (एक इधर सुकृष्ट हुआ एक उधर सुकृष्ट हुआ यह) परिस्थिति रहती है। दूर रोमों में—रोम का स्वरूप ठीक प्राणोदानव्यापार की प्रतिकृति (नकल) है। प्राकृतिक यज्ञ से उत्पन्न रोम प्राणोदानयुक्त हैं। इधर सुबप्रवृत्त आहुति ब्रह्म ही दिव्यात्मा के रोमयुक्त शरीर का उपमान बनने वाला है। अतः पुरुषों के यज्ञ। इस विज्ञान के अनुसार यहाँ सम्पारब्धनकर्म की विशेषप्रक्रिया में प्राणोदान का समावेश करना परम आवश्यक है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ‘वत्सादितीबन्मानि क्षोमानि ह्यतीबन्मानि’ यह कहा गया है।

विशेषकर प्राणोदानरूपा (प्राणापानमयी) सौरश्मिवाँ हेतुप्राण के लिए उपादेय, एवं शान्त रहती हुई समोमन आसुरप्राण के विनाश का कारण बनी रहती है, तथैव प्राणोदानयुक्त सुब वहाँ यहकला सम्मान

०—यदि किसी पात्र में रखबला स्त्री प्रमादवश मोहन कर लेती है तो वह पात्र असुर होजाता है। इसीप्रकार पञ्च-मल मूत्रादि निष्कृत पदार्थों के सम्बन्ध से भी आसुरप्राण से युक्त बनते हुए पात्र अपवित्र होजाते हैं। ऐसे अपवित्र पात्रों का नाश भी राजपूताने के लोग अग्नि में तपा कर तदनन्तर ही वहाँ व्यवहार में लाते हैं। इनके इस व्यवहार का मूल उक्त भौव प्रत्यपनकर्म ही है।

के लिए अनिशित ( शान्त-उपकारक-यज्ञस्वरूपसाधक ) है, वहाँ यद्यमान के शत्रुओं के लिए वही विनाशक कारण है। सुव की इसी स्वामाधिकारी शक्ति का निरूपण करते हुए- 'अनिशितोऽसि सपत्नसित्' यह कहा गया है।

राजा-वाज-हवि-ग्रह-मेघ से आहुतिप्रत्यक्ष रूप से चार जातियाँ होती हैं। प्रकृत यज्ञ ( इष्टि ) में वे हविर्द्रव्य है वह वाजात्मक ( अन्नसोमात्मक ) है। अन्नरसरूप यही 'वाज' यज्ञसाधक बनता हुआ यज्ञरूप है। यज्ञरूप इस वाज की यज्ञता सुव पर ही अवलम्बित है। अतः हम इस सुव को अवश्य ही 'वाज' (यज्ञस्वरूपसमपक) कह सकते हैं। यह 'वाजरूप सुव' 'वाजरूप ( अन्नरूप ) यज्ञ' का दो प्रकार से समन्वय ( प्रम्वलन ) करता है। अग्नि में आहुत करना पहिला समन्वय है एवं स्वगत प्रणोदान को भूतमय वाज ( पुरोडाश ) में समाविष्ट करना दूसरा समन्वय है। सुव के इसी स्वरूपधर्म को लक्ष्य में रख कर वाजिनं स्वा वाजेभ्यायै ममार्षिम्' यह कहा गया है। प्राशिन्नहरणपात्री एवं इन्नापात्री का प्राच देवताओं से विशेष सम्बन्ध नहीं है। अतः इनका सम्मार्जन तृष्णी (अमन्त्रक) ही होता है ॥१७॥

पहिले अवश्य सुव-सुचादि पात्रों को तपाया है, एवं पुनः सम्मार्जन करता है। सम्माननान्तर आग्नीध्र पुनः एक बार गार्हपत्याग्नि में पात्रों को तपाया है। आग्नीध्रकृत प्रतपन में वैज्ञानिक उपपत्ति कुछ भी नहीं है। केवल लौकिक व्यवहार की समतादृष्टि से ही यह पुनः प्रतपनकर्म किया जाता है। हम देखते हैं कि, लोक में कांस्य-चित्रादि ( काँसी-पीतल आदि ) के पात्रों का पहिले अवमर्शन ( सूज रगड़ कर घोसा जाता ) किया जाता है। इस क्रिया से अब पात्र सर्वथा स्वच्छ होजाते हैं, वो स्वर्ण में किना अवमर्शन के ( किना चर्पण के ) केवल पानी में डुबोकर पात्र पुष्क पुष्क रखदिए जाते हैं- यथामर्शो निर्णिश्य-अन-धरासुतम परिस्त्रजयेत् । ठीक वही स्थिति यहाँ है। धर्म से सम्मार्जन करना-अवमर्श ( चर्पण ) पूर्वक पात्रों का निर्णोन्नत करना है। एवं पुनः अग्नि में तपाना अनवशपूर्वक पानी से प्रक्षालन करने के स्थान में है ॥१८॥

सव-जुह-उपसृत-ध्रुवा आदि पात्रों में से पहिले सुव का सम्मार्जन होता है, अनन्तर कृषी का सम्मार्जन किया जाता है। 'सुव शब्द पुस्तकमात्रापर होता हुआ ध्रुवा' है, एवं 'सुक्' शब्द स्त्रीत्व से युक्त होता हुआ 'योपा' है। पुरुष के शुरु में रहने वाला शैतन्य का अभिष्टावा 'पुन्मूय' ध्रुवा' कहलाता है एवं स्त्री के शोभित में रहने वाला शैतन्य शैतन्य स्त्रीमूय' योपा नाम से प्रसिद्ध है। ध्रुवा आग्नेय है एवं योपा सीम्य है। दोनों में ध्रुवा का ही प्राथम्य है। वैचयक में ही देखिए।

ध्रुवाकर्म अग्नि स्वस्थान में पहिले से प्रसिद्धि रहता है। अनन्तर इसमें योपारूप सोम (आहुतिद्रव्य) की आहुति होती है। अग्निरूप ध्रुवा प्रथमज है। भूतगोतिमम्य विश्व में स्वायम्भुव-त्रेधाग्नि क रूप में कर्मप्रथम अग्नि' का ही विकास होता है 'सर्वस्याग्रममृष्यत' इस निमन्त्रन से ही इसे 'अग्नि' कहा जाता है। यह अग्नि ही देवताओं की परोक्षमाया में 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है- ( दक्षिण शुच आ ५।१।१।११ ) ।

अपिच अग्नि अज्ञाद् दे मोक्ष है। सोम अज्ञ है योग्य है। दोनों में 'भोक्ष' प्रधान है 'भोग्य' गौण है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, एक मोक्ष के लिए अनेक योग्य पदार्थ रहते हैं। इसी

भोक्त्र अग्नि से पुरुष का आत्मा सम्पन्न होता है, एवं भोग्य सोम से स्त्री की स्वरूप निष्पत्ति होती है। अग्निप्रधान पुरुष आगेसर है एवं सोमप्रधाना स्त्री पश्चादनुयायिनी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जब किसी उत्सवादि में १-२ स्त्रियाँ सम्मिलित होकर जाती हैं, उनके साथ में यदि कोई बालक (५-७ वर्ष का लड़का) होता है, तो वह स्त्रियों के मुख के आगे आगे चलता है। यदि वह स्त्रीकावरा पीछे भी रहता है तो स्त्रियाँ फलात् उसे अपने आगे कर लेती हैं। कारण यही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि, अग्निमय पुरुष अग्रगामी रहे, एवं सोम्य स्त्रियाँ इनके अनुगत ही बनी रहें।

यही परिस्थिति गौरी समझिए। सूर्य एक पुरुष है, अनन्त सूर्य क्षिप्त हैं। उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार इषा-वैशाख के नित्यसिद्ध पूर्वाष्विन की लक्ष्य में रख कर इषास्थानीय सूर्य का सम्मानन पाँहों एवं वैशाखस्थानीय सूर्य का सम्मानन पीछे ही करना प्राकृतिक नित्यसिद्ध की स्मृति का धारण करता है। इसी इषा-वैशाख बरहस्पति की लक्ष्य में रख कर—'स वै सुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि अथतरा' सु० १०। इत्यादि कहा गया है ॥ ६ ॥

गार्हपत्य के पश्चिम भाग में बैठ कर अश्वत्थ उक्त पात्रसम्मानन कर्म करता है। सम्मानन करते समय अश्वत्थ को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं सम्मानन—वाचकमूल कुरा—तब गार्हस्पति में न गिर जायें। अतः इसका यह ही है कि, यह दर्ममूल पानीनिर्बन्धन (पानी के स्पर्श करने का पानी) है। उक्त गार्हस्पति में पार्थिव प्रागग्निबेजतो विराजमान हैं। उक्त तृणादि का इस देवमूर्ति अग्नि में गिर जाना वैशा होगा, जैसे भोवनार्थ आगत किसी अतिथि का भोजनपानी के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए पलित-अशुद्ध पानी से सिंघान करना। अतः यही सावधानी से प्राकृतिक रख कर अग्नि से कुछ दूर कर ही सम्माननकर्म करना चाहिए ॥ १ ॥

वैशिष्ट्य-सम्प्रदाय का मत है कि—'यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वेदपाणि [ कुरागुहि ] यज्ञक है। कुरा को 'वध' नाम से व्यक्त करने का कारण यही है कि, पूर्वकथनानुसार यह दर्म सौर वनपानी से उत्पन्न हुए हैं। इतर सुहोत्र-महाप्रथ-एवं पुरुष की समष्टिकार-यज्ञप्रवचक स्वयं 'सोपा त्रयमेव क्रिया उपवि' [उत्तर १०।४।२।२] के अनुसार गायत्रीमात्रिक विरमय है। वेदमय सौर पानी से [ वेदावलिखित सौर प्राच से ] वर्म उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें अथर्व ही 'वध' नाम से व्यक्त करने का कारण है। इतर सम्माननकर्म में उपयुक्त होने वाले दमस्तु वेद-[ कुरागुहि ]—रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञक ही है। उत्तर में यह वस्तु है कि बाती है, जिसका यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में 'यज्ञक' किंवा यज्ञाश्रय इन दमस्तु को उत्तर में डालना इस अतिथिद्वय को यज्ञवीमा से बाहिर डालना होगा और ऐसा करना यज्ञमर्यादा से विरुद्ध होगा। अतः [ यज्ञाश्रय दर्मस्तु को ] यज्ञवीमा में रखने के लिए इन्हें आहवनीय-अग्नि में ही डालवेना चाहिए। गार्हस्पति में इनका प्रयोग नहीं किया गया इसलिए ठी 'यथा यस्माऽध्वरानमाहविष्मस्तस्यात् सं पत्नर्निर्वर्जनेनाभिष्मुचेत्' यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा एवं आहवनीय में इनका प्राप्ति [पशुप] होवया इसलिए यह यज्ञाश्रय अतिथि द्वय यज्ञवीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ।



सूत्रकारने “आहवनीये प्रासनमेके” इत्यादि रूप से इसी पद का उन्मूलन किया है। जैसे पृथिवी-स्थानीय गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणायग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं, तथैव अस्थानीय आहवनीयाग्नि में सौर-प्राणायग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं ये ही प्रधान अतिथि हैं। गार्हपत्य देवता चरके हैं, एवं सौर देवता प्राणुगिक ( पाहुने ) हैं। इसी क यजन से तो दिव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न करना है। अतः जो दोष गार्हपत्य में प्रक्षेप का था उस से यी कहीं अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्य आगत अतिथिरूप सौर देवता हविद्रव्य की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आप सम्मत्सर्जन-साधनभूत दर्मतृणों की आहुति देते हुए उन्हें पार्थी का प्रक्षालित जल पिता रहे हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा ?, कभी नहीं। रही यज्ञांगभूत दर्म-तृणों की यज्ञहीमा से बाहिर निकलने की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु देवताओं के उपयोग में आती है वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं तो प्राप्त हविद्रव्य के ‘तृणों’ को क्यों उत्कर में डाला जाता है ?। हवि-सम्पादन के लिए शकट से घान लिया जाता है। उलूखल में मुक्काके द्वारा उनके तृणों को धुक् किया जाता है। तृणों को उत्कर में ही डाला जाता है। क्योंकि इन का आहुति से सम्बन्ध नहीं है अतएव इन्हें ‘यज्ञिय’ नहीं माना जासकता। यही परिस्थिति इन वनस्पतियों की है। प्रायः स्वच्छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं रह जाता। अतः इन्हें यज्ञिय-पदार्थ नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्था में इन्हें यज्ञहीमा से बाहिर उत्कर में ही ढँक देना चाहिये ॥ ११ ॥

इति—द्रव्यसंस्कारोपपत्ति,

## २—पत्नीसमहर्गमोपपत्ति.—

पत्नीसमहर्गम का तात्पर्य है—पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना। यद्यमानपत्नी पत्नी है ‘पत्युर्ना यज्ञसंयोगे’ इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ के सम्बन्ध से ही पत्नी शब्द निष्पन्न हुआ है। यह पत्नी शब्द ही इस तथ्य का सूचक है कि, इस का यज्ञ में अवश्य ही सम्बन्ध करवाया जाय। किन्तु पत्नी के यद्यमान का यज्ञ सर्वथा अपूर्ण ( अघूरा ) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक-यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टिरूप-प्रभा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रभापति को अपना शरीर पति-पत्ति रूप से दो भागों में विभक्त करना पड़ता है। इन दोनों के मिश्रणमात्र से ही विराट्प्रजा की उत्पत्ति होती है। जैसा कि निम्न शिखित स्मारक बचन से स्पष्ट है—

द्विधा कृत्वात्मनो दहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ।।

—मनु १ अ० ३०

स्वयम्भू प्रभापति वेदमूर्ति हैं। वेदतत्त्व ऋक्-साम-यजुः भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में यजुः वाक्स्व में यजुः ( यत्-ज् ) है। यजुःभाग वाक् है यही अग्नि है। इसी का यहिप-परिमाण-मुहार ‘साययाजुपअग्नि’ कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वाग्नि “सस्याग्नि” नाम से प्रसिद्ध है। जूमाग प्राय है, यही वायु है। यह वाक्-प्राण-[ आग्नि-वायु ]-मूर्ति यजुः किंवा यजुर्वेदमूर्ति स्वयम्भू

मोक्ष अग्नि से पुरुष का आत्मा सम्पन्न होता है, एवं योग्य सोम से स्त्री की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। अग्निप्रधान पुंस्य अग्रेसर है, एवं सोमप्रधाना स्त्री पश्चादनुयायिनी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जब किसी उत्सवादि में १-२ स्त्रियाँ सम्मिलित होकर जाती हैं, उनके साथ में यदि कोई बालक (५-७ वर्ष का लड़का) होता है, तो वह स्त्रियों के मुख के आगे आगे चलता है। यदि वह स्त्रीकावश पीछे भी रहता है तो स्त्रियाँ पलाए उसे अपने आगे कर लेती हैं। कारण वही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि, अग्निप्रय पुरुष आग्रामी रहे, एवं योग्य स्त्रियाँ इनके अनुगत ही बनी रहें।

यही परिस्थिति तभी सम्पन्न। सुष एक पुरुष है अनेक सुक्षु स्त्रियाँ हैं। उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार वृथा-योना के निर्व्ययध पूर्वापत्य को लक्ष्य में रख कर ह्यारवानीय सुष का सम्मान पहिले एवं योनास्वयनातीय सुक्षु का सम्मान पीछे ही करना प्राकृतिक नित्ययुक्त की समृद्धि का धारण बनता है। इसी वृथा-योनात्मक यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर—'स वै सुषमेधायै सम्मार्ष्टि अयतरा' सुष० इत्यादि कहा गया है ॥ ६ ॥

गार्हपत्य के पश्चिम भाग में बैठ कर अभ्यस्य उक्त पात्रसम्मार्जन कर्म करता है। सम्मार्जन करते समय अभ्यस्य को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं सम्मार्जन-वायकभूत कुश-वृष गार्हपत्याग्नि में न गिर जायें। धारण इसप्रकार ही है कि, यह दर्भवृक्ष, पात्रीनिर्योवन (पात्री के स्वच्छ करने का पानी) है। उधर गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता स्थितमान है। उक्त वृथादि का इस देवमूर्ति अग्नि में गिर जाना वैसा होगा जैसे मोहनार्थ आगत किसी अवितिथि का मोहनपात्रों के शुरु करने के उपयोग में आए हुए मस्तिन-अशुद्ध पानी से सिद्धन करना। अतः—बड़ी सावधानी से प्राक्कुल रह कर अग्नि से कुछ दूर-दूर ही सम्मार्जनकर्म करना चाहिए ॥ १ ॥

तैत्तिरीय-सम्प्रदाय का मत है कि—'यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वस्तु [ कुशमुष्टि ] यज्ञस्थ है। कुश की 'वेद' नाम से व्यवहृत करने का कारण यही है कि, पूर्वकथनानुसार यह दर्भ सौर वेनपानी से उत्पन्न हुए हैं। इधर महोक्ता-महाप्रत-एवं पुरुष की समष्टिरूप-यज्ञप्रवक्तृ रूप 'सैया ब्रज्वेव विद्या उपति' [रात्र १०।५।१।२] के अनुसार त्रायत्रीमानिक केदमय है। केदमय सौर पानी से [ वेदवाचिक सौर प्राण से ] दर्भ उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें अवश्य ही 'वेद' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। इधर सम्मार्जनकर्म में उपयुक्त होने वाले दर्भवृक्ष वेद-[कुशमुष्टि]—रूप यज्ञ के आवश्यक होने से यज्ञरूप ही है। उत्तर में वह वृक्ष पैकी जाती है, जिसका एक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में यज्ञस्थ किंवा यज्ञांशरूप इन दर्भवृक्षों को उत्तर में डालना इस यज्ञियद्रव्य को यज्ञसीमा से बाहिर डालना होगा और ऐसा करना यज्ञमर्यादा से विरुद्ध होगा। अतः [यज्ञांशरूप दर्भवृक्षों को] यज्ञसीमा में रखने के लिए इन्हें आहवनीय-अग्नि में ही डाल देना चाहिए। गार्हपत्याग्नि में इनका प्रक्षेप नहीं किया गया इसलिए वे 'बधा यस्माज्ब्रह्मशानमाहिरिष्यन्त्यात् सं पात्रनिर्गुजनेनाभिभ्युक्षेत' यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा एवं आहवनीय में इसका प्राक्कुल [प्रक्षेप] होना इसलिए यह यज्ञांशरूप यज्ञिय द्रव्य यज्ञसीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ।

स्वकारने 'आहवनीये प्रासनमेके' इत्यादि रूप से इसी पद का उल्लेख किया है। जैसे पृथिवी-स्थानीय गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राण्णदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं तथैव द्युस्थानीय आहवनीयाग्नि में सौर-प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं ये ही प्रधान अतिथि हैं। गार्हपत्य देवता घरके हैं एवं सौर देवता प्रायुष्णिक ( पाहुने ) हैं। इहाँ के यजन से तो दिव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न करना है। अतः जो दोष गार्हपत्य में पड़ें पद या, उस से भी कहीं अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर देवता इष्टिद्वय की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आप सम्पादन-साधनभूत दम्भवृणों की आहुति गेटे हुए उन्हें पात्री का प्रयासित बल पिला रहे हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा, कभी नहीं। रही यज्ञाद्यभूत दर्म-तृणों की यक्ष्मीमा' से बाहिर निकलने की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो सस्तु दक्ताओं के उपयोग में आती है वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं, तो प्राप्ति हवद्रव्य के 'तुपों' को क्यों उत्तर में डाला जातों है ? इति सम्पादन के लिए शक्य से धान लिया जाता है। उत्कृष्ट में सुलभ के द्वारा उनके तुपों को प्रयुक्त किया जाता है। तुपी को उत्तर में ही डाला जाता है। क्योंकि इन का आहुति से सम्बन्ध नहीं है, अतएव इन्हें 'यज्ञिय नहीं माना जासकता। वही पारिस्थिति इन दम्भवृणों की है। प्रत्येक स्वच्छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं रह जाता। अतः इन्हें यज्ञिय-पदार्थ नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्था में इन्हें यक्ष्मीमा से बाहिर उत्तर में ही फेंक देना चाहिये ॥ ११ ॥

इति—द्रव्यसंस्कारोपपत्ति,

## २—पत्नीसन्नहनोपपत्ति —

पत्नीसन्नहकर्म का तात्पर्य है—पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना। वज्रमानपत्नी पत्नी है 'पत्युर्ना यज्ञसंयोगे' इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ के सम्बन्ध से ही पत्नी शब्द निष्पन्न हुआ है। यह 'पत्नी' शब्द ही इस तथ्य का सूचक है कि, इस का यज्ञ में अवश्य ही सम्बन्ध करमा जाय। बिना पत्नी के यजमान का यज्ञ सर्वथा अपूर्ण ( अधूरा ) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक-यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टिरूप-प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को अपना शरीर पत्ति-पत्ति रूप से दो भागों में विभक्त करना पड़ता है। इन दोनों के मिश्रणभाव से ही विराट्प्रजा की उत्पत्ति होती है वैसे कि निम्न लिखित उदात्त वचन से स्पष्ट है—

द्विधा कृत्वात्मनो दहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभु ।।

—मनु १ अ ३०

स्वयम्भू प्रजापति वेदमूर्ति हैं। वेदत्व श्रुत्-साम-यजुः मेद स तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों में यजुः वास्तव में यम्भू ( यत्-भू ) है। पुरुषाग वाक् है वही अग्नि है। इसी की यज्ञिय-परिमाणा-नुसार 'साधयानुपअग्नि' कहा जाता है। विज्ञानरूप्या यही वाग्नि 'सस्याग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि प्राण्य है, यही वायु है। यह वाक्-प्राण-[ अग्नि-वायु ]-मूर्ति यम्भू बिना यजुर्वेदमूर्ति स्वयम्भू

हुआ क्या है, एवं हो क्या रहा है ? चार्मिक-प्रवा ने परिवर्तनशील देश-काल-पात्र द्रव्यादि से सम्बन्ध रखने वाले उत्सामयिक ( अतएव उत्समय के लिए ही उपादेय ) आचार-व्यवहार का प्रतिय-कषण करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला । अतीत सम्प्रदाय, जिसे आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्तन से स्मृतिगम में विलीन होत रह, आगे आगे नवीन विकास जन्म लेते गए । उधर शास्त्रधर्म पर अज्ञातकार से उन सामयिक आचारादि का लोप चवुटा रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि-धर्मतत्त्व सर्वथा अन्तर्हित होमया एवं प्रधानता रह गई केवल रूढ़िवाद थी । शास्त्रधर्म 'अनित्य मतवाद् मान' बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का ही पोषक बना रह गया ।

महा मानवीय मन कस्तक धर्म के इस तात्त्विकता की सहन करता रहता ? परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था । कुछ एक नेताओं ने जनता की सावधान किया कि, जिसे तुमने 'धर्म' समझ रखा है वह व्याप्तधर्म है धर्म की ओट में रूढ़िवाद फनप रहा है । इसी धर्म के चोके ने तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है । परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामन है । धर्मसुधार आरम्भ हुआ प्रकलवेग से । परन्तु धर्म-रहस्यमृत मौलिक साहित्य के विरुद्ध से इस सुधार ने बाध आबरण के साथ साथ गर्भीभूत मौलिकतत्त्व पर भी प्रहार करना आरम्भ कर दिया । और मानना पड़ेगा कि सुधारधर्म की यह एक महा मला हुई । गले छोड़े मौलिक के कचन ( आग्नेशन ) के साथ साथ विशुद्ध संरक्षक धर्म की भी काट लिया गया । इसप्रकार इन्होंने शेषमूला मौलिकता को भी नामशेष में ही परिणत कर दिया ।।

प्रकरण आचारविक्रम होता हुआ भी प्रासंगिक है । प्रश्न है—'स्त्रीस्वातन्त्र्य' का । स्वतन्त्रता का अनन्त्यमेही सुधारक-समाज उन आवेष्टों को सहन करने के लिए सक्षम नहीं है जो कि आवेष्ट स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण कर रहे हैं । यही कारण है कि उन की दृष्टि में—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' वह आवेष्ट पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही चोकर बन रहा है । अतः-सत्य का विवेचन करते हुए स्वयं पूर्व में हमने इस दोषका की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है । तथापि केवल इसी साधन से हम पूर्वात्म से उनका परितोष नहीं कर सकते । आवश्यक ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोड़ा और प्रयास करना पड़ेगा ।

बर्हातक हम समझते हैं—'स्वतन्त्र' शब्द का अन्वयार्थ है 'स्व-तन्त्र' ( अपना तन्त्र ) । यह 'स्व' क्या है ? और इस 'स्व' का 'तन्त्र' क्या है ? वह भी एक विचारणीय प्रश्न है । पहिले कौशकार की दृष्टि से ही दोनों शब्दों के अर्थों का विचार कीजिए । 'स्वो ज्ञातत्मात्मनि' ( अमर० १।१।२११ ) के अनुसार बहुजन और आत्मा, इन दोनों को 'स्व' कहा जाता है । ज्ञाता आत्मा ही ज्ञातिबन्धु \* है । अतः कतिपय में 'आत्मा' ही 'स्व' शब्द का नाम्नार्थ बन जाता है । शब्दार्थक 'स्वन' पाठ से ( 'स्वन शब्दे-आ० प० से ) 'स्व' शब्द निष्पन्न हुआ है । "स्वनति-इति स्वम्यते वा" ही 'स्व' शब्द का

\* 'यावद्विस्तं तावदात्मा' इस सिद्धान्त के अनुसार विस्तर्पन्त आत्मसत्ता का प्रचार माना गया है । पन्थुवग, जिसे ज्ञातिवर्ग अन्तर्गर्भ में अन्तर्भूत है । अतएव इहं भी 'स्व' कहना अन्वर्थ बन जाता है ।

निर्वचन है। आत्मा शब्दप्रत्ययक है। दूसरे शब्दों में आत्मा से शब्द निकलता है अथवा “स्वनति” (शब्द करोति शब्दमुत्पादयति वा) से अवश्य ही आत्मा को ‘स्व’ कहा जा सकता है। इन्हीं निर्वचन से यह भी सिद्ध होगया कि विषय आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है यह आत्मा ‘स्व’ मर्यादा से, किंवा ‘स्व-वम्भ’ से अधिक होता हुआ ‘स्व’ न होकर ‘पर’ ही बन जाता है।

‘आत्मा’ शब्द उत्पन्न करता है, किंवा आत्मा से शब्द निकलता है, इसका क्या सात्वर्थ्य ?। क्या कोई आत्मा ऐसा भी है जो शब्द उत्पन्न करने में असमर्थ रहता हो ?। हम तो देखते हैं कि—“आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युक्ते विषयान् मनः कायाग्निमाहृत्य स प्रेरयति मासृतम्” इत्यादि पाणिनीय-शिष्टा-सिद्धान्त के अनुसार शब्दोत्पत्ति की विवक्षा करने वाला आत्मा बुद्धि से युक्त होकर अमिल पित् अर्धआमना का मन के साथ योग करता है। आम्रममना से आम्रमय बना हुआ मन सर्वाङ्गराश्री में व्याप्त बैरवानर अग्नि (कायाग्नि) में जोम उत्पन्न करता है। इस इच्छा के अभाव से लुब्ध को हुए अग्नि का जोम प्राणवायु पर आपात करता है। वक्ष्य साकर वायु उर-कण्ठ-शिरः तीनों में किसी स्थान से टकरा कर कण्ठ-वाक्वादि स्थानों में आकर वणरूप धारण कर लेता है। इसप्रकार आत्मकामना ही बुद्धि के द्वारा मनोद्वार से शरीरान्निजोमम्यापारमूलक प्राणवायु को सञ्चारमात्र में परिणत कर वणरूप में परिणत करती है। “वायु ज्ञान शब्दस्तत्” यह प्रातिशाक्य-सिद्धान्त भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्पन कर रहा है।

बच कि शब्दोत्पत्ति किंवा वर्णोत्पत्ति का यह स्वामाधिक नियम है दूसरे शब्दों में कोई भी शब्द बच बिना आत्मकामना के विनिर्गत नहीं हो सकता तो मानना पड़ेगा कि ‘स्वनति-स्वन्वते’ के अनुसार सभी प्राणियों का आत्मा ‘स्व’ है। फिर इस सम्बन्ध में यह कहना है कि “जिसका आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है वह ‘स्व’ न कहला कर ‘पर’ ही कहलाएगा। क्या महत्त्व रखता है ?। ‘न ह्यशब्दमिद्यस्ति’ - ‘सर्वं शब्दं न मासते’ इत्यादि भौत स्मात् सिद्धान्तों के अनुसार बच स्व का प्रत्यय (ज्ञान) शब्दात्मक ही है शब्दप्रेरणा ही बच स्व का प्रातिष्ठिक वर्म है, तो इस नित्य शब्दविनिर्गम का अनुयायी आत्मा कभी ‘पर’ बन जाय यह सम्भव ही नहीं।

यदि केवल ‘स्व-पर’-भावों का ही विचार किया जाय है तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति का समावेश सम्भव हो जाता है। परन्तु बच “तन्त्र” शब्द को वायु लेकर विचार किया जायगा तो स्वतः एक विप्रतिपत्ति का निराकरण हो जायगा। केवल “स्व (आत्मा) को तो स्वतः ‘स्व’ (आत्मा)” कहा भी नहीं जा सकता बल्कि वह किसी तन्त्र का अनुगामी नहीं बन जाता। तन्त्र को अपना आग्रसन बना कर ही आत्मा शब्दोत्पत्ति में समर्थ होकर स्व कहलाता है। यदि वह तन्त्र आत्मानुगामी है तो उस समय उस अपने तन्त्र का अध्यक्ष बनता हुआ आत्मा ‘स्वतन्त्र’ कहलाएगा। यदि वह तन्त्र आत्मस्वरूप को विहृत करने वाला है तो उस स्थान में वह तन्त्र ‘परतन्त्र’ कहलाएगा, एक वन्नुनव आत्मा भी ‘परतन्त्र’ ही माना जायगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों ही शब्द आमवाचक नहीं हैं अतिसुख शब्द या तन्त्रों के लोचक हैं। आत्मा को तो न स्वतन्त्र कहा जा सकता न परतन्त्र। ‘सर्वरूप के लिए कश्चे निरिचयवर्ण की अगला

हुआ क्या है, एवं हो क्या रहा है ?। धार्मिक-प्रथा ने परिवर्तनशील देश-काल-पात्र व्यवहारि से सम्बन्ध रखने वाले उत्सवमयिक ( अतएव उत्सवमय के लिए ही उपादेय ) आचार-व्यवहारों का प्रवर्धन करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला। अतीत सम्प्रदाय किंवा आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्तन से स्मृतिगम में विलीन होत रहें, आगे आगे नवीन विकास क्रम लेते गए। उधर शास्त्रधर्म पर कलात्कार से उन सामयिक आचारव्यवहारों का लेप चढ़ाया रहा। परिणाम इसका यह हुआ कि-प्रगल्भ सर्वांगी अन्तर्हित होया एवं प्रचानका रह गई केवल कृतिनाद की। शास्त्रधर्म 'अनित्य मत्तवा मा' बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का ही पोषक बना रह गया।

मला मानवीय मन कब तक धर्म के इस वायव्यवृत्त को सहन करता रहता ?। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था। कुछ एक नेताओं ने जनता को सावधान किया कि, जिसे तुमने 'धर्म' समझ रखा है वह व्याजधर्म है, धर्म की ओट में कृत्रिम पनप रहा है। इसी धर्म के चोक ने तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है। परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है। धम्मसुधार आरम्भ हुआ प्रयत्नसे। परन्तु धम्म-रक्षामृत मौलिक साहित्य के विरुद्ध से इस सुधार ने बाध आवरण के साथ साथ गर्भीमृत मौलिकस्व पर भी प्रहार करना आरम्भ कर दिया। और मानना पड़ेगा कि सुधारधर्म की वह एक महा भूल हुई। गले सके मांस के कचन ( आप्रेशन ) के साथ साथ विशुद्ध संस्कृत धर्म को भी कष्ट दिया गया। इसप्रकार इन्होंने रोपमृत मौलिकता को भी नामशेष में ही परिवर्तित कर दिया।।

प्रकरण अमार्गविक होता हुआ भी मार्गविक है। प्रश्न है-“स्त्रीस्वातन्त्र्य का। स्वतन्त्रता का अनन्यप्रोमी सुधारक-धर्मात् उन आवेशों को सहन करने के लिए समझ नहीं है जो कि आवेश स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण कर रहे हैं। यही कारण है कि उन की दृष्टि में-‘न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति’ वह आवेश पुरुषसमाज की स्वार्थरुति का ही चोटक बन रहा है। अत-सत्य का विवेचन करते हुए यद्यपि पूर्व में हमने इस बातका की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथापि केवल इसी साधन से इन पूर्णरूप से उनका परितोष नहीं कर सकते। अक्षर्य ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें योद्धा और प्रयास करना पड़ेगा।

बर्हत्क हम समझते हैं-‘स्वतन्त्र’ शब्द का अन्वयार्थ है ‘स्व-तन्त्र’ ( अपना तन्त्र )। वह ‘स्व’ क्या है ? और इस ‘स्व’ का ‘तन्त्र’ क्या है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। पहिले कोशधर्म की दृष्टि से ही दोनों शब्दों के अर्थों का विचार कीजिए। ‘स्वो ज्ञातात्मानसि’ ( अमर० ३।१।१११ ) के अनुसार बन्धुजन और आत्मा इन दोनों को ‘स्व’ कहा जाता है। ज्ञाता आत्मा ही ज्ञातिबन्धु ० है। अतः कतिपय में ‘आत्मा’ ही ‘स्व’ शब्द का वाच्यार्थ बन जाता है। शब्दार्थक ‘स्वत’ भाव से ( ‘स्वत’ शब्दे-आ० प० से ) ‘स्व’ शब्द निष्पन्न हुआ है। “स्वतसि-इति स्वन्त्यत आ” ही ‘स्व’ शब्द का

● “यावद्विस्तं तावद्विस्तम्” इस सिद्धान्त के अनुसार विस्तर्पयित आत्मसत्ता का प्रथम माना गया है। बन्धुवर्ग किंवा ज्ञातिवर्ग अन्तर्विष्ट में अन्तर्भूत है। अतएव इन्हें भी स्म करना अनर्थ बन जाय है।

की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना तन्त्र माय (अक्षरधर्म) खो बैठा है। तन्त्ररूप अक्षर पररूप ध्वर के नरनरधर्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्भति से दक्षित होगया है। क्षररूप पर के नरनरधर्मों के सम्बन्ध से पहिले वो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की त्रिपदासक्ति से भाव अक्षर इत्यत्र तन्त्र नहीं रहा, अपितु अक्षरतन्त्र का आसन 'क्षरपर' ने छीन लिया। और यों भाव 'पर' ही इसका 'तन्त्र' बन गया।

'पर' की आसक्ति [ध्वरात्मिक भूवासक्ति] ने यहीं विभ्राम नहीं किया। अपितु जैसे परवक्षितने अक्षरतन्त्र को 'पर' बना डाला, जैसे ही स्वच्छ उस स्व को भी पररूप में [क्षररूप में] परिणत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, वो 'पर' अपने 'क्षरभाष' से जिस 'स्व' का तन्त्र नहीं बन सक्ता था वह वो उस स्व का का तन्त्र बन गया और स्वयं 'स्व'—अपने स्व—माय से आहूत होकर 'पर' बन गया। परले अक्षर से क्वाकन छीन कर अपने आपको वो तन्त्र बना लिया और अपना नरनर परमात्र आत्मा को देखकर [उसे स्व से दक्षित कर] उसे 'पर' बना डाला। 'स्व' को 'पर' बनाया—एक धाम, एवं तन्त्र को 'पर' बनाते हुए क्वाकन स्वयं छीन ली वृक्ष धाम। 'स्व' बन गया 'पर' एवं 'पर' बन गया 'तन्त्र'। तन्त्र 'पर' बनता हुआ इस क्वाकनपरवक्षित क्षर में विलीन होगया अथवा पर बने हुए आत्मा में विलीन होगया।

इसप्रकार तन्त्रानुगत रहता हुआ (अक्षरानुगत रहता हुआ) वो 'स्व' किसी दिन 'स्वतन्त्र' था भाव नहीं इस वैधरिक—काल्पनिक तन्त्र की कृपा से 'पर' बन कर बनावटी तन्त्र का अनुगामी बन कर 'परतन्त्र' शब्दमात्र बन गया। तन्त्रानुगतः—(तन्त्रप्रतिरूपक्षरानुगत) य—पर—(परधर्मानुगत स्व—आत्मा)। क्षररूप तन्त्र का अनुगामी अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा। इस निर्वचन के अनुसार इसे "परतन्त्र" कहा गया। पूर्ववत् तन्त्रानुगत—पर—परतन्त्र इस आत्मवाचक 'परतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों के 'स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा) एवं 'पर'—(पर रूप परिणत में परतन्त्र आत्मा) नामक अनयवों को यदि आत्मवाचक माना जायगा तो स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों के क्रमशः उत्त-तन्त्रानुगत—स्वः—तन्त्रानुगत—पर) की निर्वचन होंगे। यही आत्मा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना वन्धु कहलाएगा एवं आत्मा ही परवक्षित होकर अपना रिपु कहलाएगा जैसा कि 'आत्मैव श्यत्मनो वधुरात्मैव रिपुरात्मन' इत्यादि गीताशिक्षान्त से स्पष्ट है। सचमुच अनुकूल-तन्त्रानुगत यही आत्मा हमारा मित्र बना रहता है, पर प्रतिवृत्त-तन्त्रानुगत यही आत्मा हमारा शत्रु पर (शत्रु) बन जाता है।

एक वृक्षी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जासकता है। आत्मा का विकसित करने वाला माय आत्मवन्धु कहलाएगा एवं आहूत करने वाला माय आत्मरिपु कहलाएगा। आत्मवन्धु को हम स्व का स्व (आत्मा का स्वजन किंवा मित्र) कहेंगे एवं आत्मरिपु को स्व का 'पर' (आत्मा का परजन किंवा रिपु) कहेंगे। 'पर' क्षर को अपने गर्भ में रखने वाला तन्त्राक्षर आत्मान्व का क्षरण करता हुआ आत्मा का 'स्व' कहलाएगा। एवं तन्त्राक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला 'पर' क्षर आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का 'पर' कहलाएगा। इसी दृष्टि से 'अक्षर-

उक्त तालिका से यह तो स्पष्ट है कि किसी भी रूप से यदि 'स्व' का 'तन्त्र' से, किंवा 'तन्त्र' का 'स्व' से सम्बन्ध है, तो तो 'स्वतन्त्र' शब्द का आधिर्भाव है। और यदि 'स्व' का 'तन्त्र' के द्वारा 'पर' से किंवा 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' से सम्बन्ध है, तो 'परतन्त्र' शब्द का आधिर्भाव है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट होनाचा है कि, यदि 'स्व' का साक्षात् रूप से 'तन्त्र' के साथ सम्बन्ध है तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द में 'आत्मा' का ही वाचक माना जायगा। एवं यदि इसी 'स्व' का कदाचित् रूप से 'तन्त्र' से सम्बन्ध न होकर 'पर' के द्वारा 'तन्त्र' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'परतन्त्र' शब्द में 'आत्मा' का ही वाचक माना जायगा। ऐसी दशा में 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' का अर्थ होगा—“आत्मा स्वतन्त्रः”—‘आत्मा परतन्त्र’।

यदि 'तन्त्र' का साक्षात् रूप से 'स्व' से सम्बन्ध है तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द में 'तन्त्र' का ही वाचक माना जायगा। यदि इसी तन्त्र का साक्षात् रूप से 'स्व' के साथ सम्बन्ध न होकर 'पर' के द्वारा 'स्व' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'परतन्त्र' शब्द में 'तन्त्र' का ही वाचक माना जायगा। एवं उक्त दशा में—‘स्वतन्त्र-परतन्त्र’ का अर्थ होगा—“तन्त्र स्वतन्त्र-तन्त्र परतन्त्र”।

यदि 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' के साथ अनुकूल [ अनुयोगी ] सम्बन्ध है तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द में 'पर' का ही वाचक माना जायगा। यदि 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' के साथ प्रतिकूल [ प्रतियोगी ] सम्बन्ध है तो इस दशा में परतन्त्र शब्द में 'पर' का ही वाचक माना जायगा।

तात्पर्य यह निष्कर्ष कि, तन्त्रानुगामी वही आत्मा 'स्वतन्त्र' है एवं परानुगामी वही आत्मा परतन्त्र है। स्वानुगामी वही 'तन्त्र' स्वतन्त्र है एवं परानुगामी वही 'तन्त्र' 'परतन्त्र' है। स्वानुगामी [ अनुकूलमात्र से ] वही तन्त्र स्वतन्त्र है एवं स्वानुगामी [ प्रतिकूलमात्र से ] वही तन्त्र 'परतन्त्र' है। आत्मा में 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' कहना उचित है एवं तन्त्र को भी 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' कहा जा सकता है एवं 'पर' में 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' शब्दों से व्यक्त हो सकता है। इसप्रकार 'स्व' लक्षण 'पुरुष', तन्त्र-लक्षणा 'प्रकृति' एवं 'पर' लक्षणा विकृति तीनों अंशों के साथ सम्बन्धित से स्वतन्त्र-परतन्त्र दोनों का ही सम्भव किया जा सकता है।

तीनों किन्तों में से पहिले आत्मस्वातन्त्र्य-परतन्त्र्य का ही विचार प्रस्तुत है। यदि यह 'स्व' (आत्मा) 'स्व-तन्त्र' का (अपने तन्त्ररूप अक्षर किंवा 'प्रकृति' का) अनुगामी बनता हुआ 'तन्त्र' के द्वारा (प्रकृति के द्वारा) 'पर' मात्र में (छर, किंवा 'विकृतिमात्र' में) अनाच्छररूप से प्रविष्ट है तो इस दशा में (तन्त्रानुगत नर कर परमाणु से युक्त रहने की दशा में) इस तन्त्रानुगामी 'स्व' की 'तन्त्रानुगता-या-स्व-(आत्मा)' (तन्त्र का अनुयायी या स्व-आत्मा) इस निर्बचन के अनुसार 'स्वतन्त्र' कहा जायगा। 'तन्त्रानुगत' स्व स्वतन्त्र ही इस आत्मवाचक 'स्वतन्त्र' शब्द का निर्बचन होगा।

मान लीजिए—‘स्व’ (आत्मा) तन्त्रानुगामी (अक्षरानुगामी) नहीं है। उक्त 'पर' (छर) के साथ यद्यपि 'तन्त्र' के (अक्षर के) द्वारा ही दिया है। परन्तु 'पर' की आन्तरिक कारण उक्त 'तन्त्र' (अक्षर) 'पर'



की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना 'तन्त्र' भाव (अक्षरधर्म) जोड़ता है। तन्त्ररूप अक्षर पररूप क्षर के नश्वरधर्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्पत्ति से वञ्चित होगया है। क्षररूप पर के नश्वरधर्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की त्रिधासक्ति से आश्रय अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा अपितु अक्षरतन्त्र का आसन 'क्षरपर' ने छीन लिया। और यों आश्रय 'पर' ही इसका 'तन्त्र' बन गया।

'पर' की आसक्ति [ चरात्मिक भूतासक्ति ] ने यहीं विभ्राम नहीं दिया। अपितु वैसे परासक्तिने अक्षरतन्त्र को 'पर' बना वाला जैसे ही स्वच्छ उस 'स्व' को भी पररूप में [ क्षररूप में ] परिणत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, जो 'पर' अपने 'क्षरभाव' से विश्व 'स्व' का तन्त्र नहीं बन सकता था वह तो उस स्व का का तन्त्र बन गया और स्वयं 'दश'—अपने 'स्व'—भाव से आहत होकर 'पर' बन गया। पहले अक्षर से कन्नाखन छीन कर अपने आपको तो तन्त्र बना लिया और अपना नश्वर परमात्र आत्मा को देखकर [ उसे स्व से वञ्चित कर ] उसे 'पर' बना वाला। 'स्व' को 'पर' बनाया—एक क्षम, एवं तन्त्र को 'पर' बनाते हुए कन्ना स्वयं छीन ली वृत्ता क्षम। 'स्व' बन गया 'पर' एवं 'पर' बन गया 'तन्त्र'। तन्त्र 'पर' बनता हुआ इस कन्नाक्षराक्षरित क्षर में विलीन होगया अथवा पर बने हुए आत्मा में विलीन होगया।

इसप्रकार कन्नानुगत रहता हुआ (अक्षरानुगत रहता हुआ) जो 'स्व' किसी दिन 'स्वतन्त्र' था आश्रय वही इस वैश्वरिक्—आत्मनिक तन्त्र की कृपा से 'पर' बन कर बनावदी तन्त्र का अनुगामी बन कर 'परतन्त्र' शब्दमात्र बन गया। तन्त्रानुगतः—(तन्त्रप्रतिरूपचरानुगत) य—पर—(परधर्मानुगत 'स्व'—आत्मा)। 'क्षररूप तन्त्र का अनुयायी अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा। इस निर्वचन के अनुसार इसे 'परतन्त्र' कहा गया। पूर्ववत् तन्त्रानुगतः—पर—परतन्त्र इस आत्मवाचक 'परतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों के स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा) एवं 'पर'—(पर रूप परिणत में परतन्त्र आत्मा) नामक अन्वयों को यदि आत्मवाचक माना जायगा तो स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों के क्रमशः उक्त-तन्त्रानुगत—स्वः—तन्त्रानुगत—पर—) ही निर्वचन होंगे। यहाँ आत्मा ही स्व-दशा में रहता हुआ अपना 'बन्धु' कहलाएगा एवं आत्मा ही पराश्रित होकर अपना रिपु कहलाएगा यैसा कि 'आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इत्यादि गीताश्लोकान्त से स्पष्ट है। सचमुच अनुकूल-तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारा मित्र बना रहता है, एवं प्रतिकूल-तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारा शत्रु पर (शत्रु) बन जाता है।

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जासकता है। आत्मा का विकसित करने वाला भाव आत्मबन्धु कहलाएगा एवं आहत करने वाला भाव आत्मरिपु कहलाएगा। आत्मबन्धु को हम 'स्व' का स्व' (आत्मा का स्वजन किंवा मित्र) कहेंगे एवं आत्मरिपु को स्व का 'पर' (आत्मा का परजन किंवा रिपु) कहेंगे। 'पर क्षर को अपने गर्भ में रखने वाला 'तन्त्राक्षर आत्मोदय का कारण बनता हुआ आत्मा का 'स्व' कहलाएगा। एवं तन्त्राक्षर का अपने गर्भ में रखने वाला 'पर क्षर' आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का 'पर' कहलाएगा। इसी दृष्टि से 'अक्षर-

आधिदैविक विश्व में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य - चन्द्र - पृथिवी - रूप से पुरुष (आत्मा) - प्रकृति (प्राण) - विकृति (पशु) समग्रधात्मक प्रजापति-विषय का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। आत्मघर्मों के सूक्ष्ममात्रा की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन चार स्थूल मानों का ही विचार पर्याप्त होगा जिन्हें कि प्रायः स्वसाधारण मानते हैं। आत्मा बुद्धि, मन शरीर चारों जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अक्षर अक्षर, एवं परमेष्ठी के अक्षर महात्मा से उपलब्धित 'पुरुष' धर्मक लीजिए। सूर्याक्षर बुद्धि को प्रकृति चन्द्राक्षर मन, एवं पृथिव्याक्षर शरीर, दोनों की सगति को विकृति पशु लीजिए। पुरुष अव्यय हुआ प्रकृति अक्षर हुई एवं विकृति पशु हुई। अक्षरात्मिक बुद्धि के उस ओर अक्षरात्मक अमृत आत्मा है इस ओर अक्षरमक मरत्य मन एवं शरीर है। निम्नलिखित परिलेख से दोनों संस्थाओं का समतुलन स्पष्ट होजाय है।

१-स्वयम्भू १-परमेष्ठी	अक्षर महात्मा	आत्मा (पुरुष-अक्षर-स्वः)	} — प्रजापतिः
२-सूर्य	बुद्धि	प्राण (प्रकृति-अक्षर-चन्द्रः)	
१-चन्द्रमा १-पृथिवी	मन शरीर	पशवः (विकृति-अक्षर-पशु)	
अधिदैविकम्	अध्यात्मम्		

आधिदैविक यह के ही आध्यात्मिक यह का आधिर्मान हुआ है। आधिदैविक यह में यजमान कीर्ति, यजमानपत्नी कीर्ति, पशुसे यही देखिए। आत्मा सूर्यरूपप्रकृति चन्द्रपृथिवीरूपा विकृति, इन तीनों में आत्मा ही यज्ञार्थे किंवा यज्ञचरायका है जैसा कि "यज्ञात्मन्वन भ्रेष्टम्" - "अधियज्ञोऽहम्भान्" इत्यादि श्रौत-स्मृत कथनों से स्पष्ट है। सूर्य इस यज्ञ का यजमान है पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है। दोनों का मिथुनमात्र ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजापति का कारण है।

सूर्य अग्निमय है, एवं चन्द्र सोममय है। और अग्नि का प्रवर्ग्यभाग अथ अग्नि है एवं चन्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग अथ सोम है। सोम का अपना स्थान उत्तराविष्णु है एवं अग्नि का अपना स्थान दक्षिणाविष्णु है। ७

की ओर बाया करता है। श्रुताग्नि में श्रुतसोम की आहुति होने से ही सक्तादि षड्भूतर्षे उत्पन्न होती है। षड्भूतसमष्टि से ही सम्त्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। एष यही अग्नीषोमात्मक, षड्भूतमूर्ति सम्त्सरयज्ञ पार्थिव-यज्ञोत्पत्ति का कारण बनता है।

यद्यपि पार्थिव-प्रवा में सम्त्सरमूर्ति यज्ञप्रजापति के अग्नि-सोम, नामक दोनों मातृ का सम्मन्ध है। परन्तु वृषामृष्टि (पुरुषमृष्टि) में सूर्योपलब्धित सम्त्सरयज्ञ का अमिक्तय प्रधान रहता है एवं योषामृष्टि (स्त्रीमृष्टि) में चन्द्रोपलब्धित सम्त्सरयज्ञ का सोमसम्बन्ध प्रधान रहता है। पुरुषमृष्टि पुरुष है, एवं स्त्रीमृष्टि योषा है। पुरुषनिर्माण में अग्नि, एवं स्त्रीनिर्माण में सोम प्रधान है। अग्नि-सोम के इन तत्त्वों का पूर्व-प्रकरणों में यज्ञ तत्त्व विरक्षेण किया जा चुका है। अतः यहाँ पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहाँ केवल यही ज्ञान लेना चाहें होगा कि अग्नि अमाव है भोग्य है। एवं सोम अन्न है भोग्य है। कैसा भोग्य? पुरुष भोग्य नहीं अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का भोक्तृ है, तो सोम अग्नि की आत्मप्रतिष्ठा है। सोमसम्बन्ध के बिना न अग्नि जीवित रह सकता न अग्नि को आचार बनाए बिना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाव में परिणत कर सकता। दोनों के इसी सत्यभाव को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर भुक्ति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमुच कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमय सोम आह तवाहमस्मि सस्ये न्योक्ता ॥

—श्रुत्सं० १।४४।१५) ।

अग्नि बलवान् अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोम के सहयोग पर ही निरभर है। हृदयभाव से बल का विकास होता है। वृक्षी शब्दों में बल की विकासभूमि हृदय ही है। हृदयस्थ सत्यवत्त सत्य है, इस सत्य उक्त्य से निष्कर्षने वाली सत्यरश्मियाँ ही बल है। एक ही सत्य की सत्य-बल ये दो अवस्था हैं। सत्य के आचार पर प्रयोग बल का ही होता है। ऊर्ध्व त्वत्वं काम नहीं करता आत्मन्मन्मात्र बना रहता है। सत्यरश्मिरूप बल ही वहिर्बल की ओर विकसित होता है। इसी आचार पर— यत् सत्त्वाद्योजीय— बलं वाच विज्ञानाद् भूयः इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। क्योंकि पुरुष में सत्य अग्निरश्मि की प्रधानता है अतएव इसे हम बलवान् कहेंगे। उचर सोम अन्न का निराल है। कारण स्पष्ट है। सोम श्रुतत्व है हृदयशून्य है। हृदयशून्य होने से ही तो इस 'श्रुत' कहा जाता है। जब हृदय नहीं तो सत्यभाव नहीं। सत्य नहीं तो वहिर्बलरूप बल नहीं। क्योंकि स्त्री में इस श्रुत सोमसत्त्व की ही प्रधानता है अतएव इसे 'अन्नता' कहा जायगा।

पुरुष बलवान् एवं स्त्री अन्नता। पुरुष सत्यभावोपता एवं स्त्री अन्नताभावोपता (अथान् श्रुतसोमभावोपता)। पुरुष आग्नय एवं स्त्री सौम्या। पुरुष भोक्तृ, पक्ष स्त्री भोग्य। पुरुष प्रतिष्ठा एवं स्त्री तवाधारण प्रतिष्ठा। पुरुष आत्मन्मन् एवं स्त्री आत्मन्मिता। पुरुष स्वच्छन्दस्क एवं स्त्री परच्छन्दानुवर्तिनी (पुरुषच्छन्दानुवर्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अन्न सर एवं सोम-युक्त स्त्री तत्पञ्चादुगमिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टियाँ जिन से पुरुष की प्रधानता सिद्ध हो रही है एवं स्त्री की गौणता।

आधिदैविक विरज में स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-रूप से पुरुष (आत्मा)-प्रकृति (प्राण)-विकृति (पशु) समष्ट्यात्मक प्रजापति-विवर्धन का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विरज की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। आत्मधर्मों के सूक्ष्मभावों की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन चार स्थूल भावों का ही विचार पर्याप्त होगा जिन्हें कि प्रायः सबसामान्य मानते हैं। आत्मा बुद्धि, मन शरीर चारी जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अन्वयक, एक परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपलब्धित पुरुष समझ लीजिए। सूर्यरूप बुद्धि को प्रकृति चन्द्रांशरूप मन, एवं पृथिवीरूप शरीर दोनों की सगति को विकृति कह लीजिए। पुरुष अन्वयक हुआ प्रकृति अक्षर हुई एवं विकृति क्षर हुई। अक्षरात्मिका बुद्धि के उस ओर अन्वयक अन्वय आत्मा है इस ओर क्षरकर्मक मर्त्य मन एवं शरीर है। निम्नलिखित परिलोक से दोनों संस्थाओं का समग्रान स्पष्ट होता है।

१-स्वयम्भू १	अव्यक्त	आत्मा (पुरुषः—अव्यय—स्वः)	} — प्रजापतिः
२-परमेष्ठी	महान्		
२ १-सूर्य	बुद्धि	प्राणा (प्रकृतिः अक्षर—उत्पः)	
१-चन्द्रमा १	मन	पराना (विकृतिः क्षरः—पशु)	
२-पृथिवी	शरीरम्		
अधिदैविकम्	आध्यात्मम्		

आधिदैविक यज्ञ से ही आध्यात्मिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविक यज्ञ में यज्ञमान कीन १, यज्ञमानपत्नी कीन १, परिलेखी यही देखिए। आत्मा सूर्यरूपप्रकृति चन्द्रपृथिवीरूपा विकृति इन तीनों में आत्मा तो यज्ञधर्मा किंवा यज्ञचरात्मा है वैसा कि “एतद्वास्तव्यं भेद्यम्” — “अधियज्ञोऽहमवा” इत्यादि औत-स्मात् बचनी से स्पष्ट है। सूर्य इस यज्ञ का यज्ञमान है पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यज्ञमान की पत्नी है। दोनों का मिश्रणभाव ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजापति का कारण है।

सूर्य अग्निमय है, एक चन्द्रमा सोममय है। और अग्नि का प्रवर्ग्यभाग अथ अग्नि है, एवं चन्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग अथ सोम है। अथ सोम का अपना स्थान उत्तरादिक् है एवं अथ अग्नि का अपना स्थान दक्षिणादिक् है। उत्तरस्थ अथ सोम निरन्तर दक्षिण की ओर एवं दक्षिणस्थ अथ अग्नि निरन्तर उत्तर

की ओर आया करता है। श्रुताग्नि में श्रुतसोम की आहुति होने से ही ऋक्साहि पशुश्रुतुर् ए उत्पन्न होती है। पशुश्रुतुसमहि से ही सम्बत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। एष यही अग्नीषोमात्मक पशुश्रुतुमूर्ति सम्बत्सरयज्ञ पार्थिव प्रभोत्पत्ति का कारण बनता है।

क्यापि पार्थिव-प्रजा में सम्पत्समूर्ति यज्ञप्रभापति के अग्नि सोम, नामक दोनों भागों का समन्वय है। परन्तु श्रुतासृष्टि (पुरुषसृष्टि) में सूर्योपलब्धित सम्बत्सरयज्ञ का अग्निवत्त्व प्रधान रहता है एवं सोपासृष्टि (स्त्रीसृष्टि) में क्रन्दोपलब्धित सम्बत्सरयज्ञ का सोमवत्त्व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि श्रुता है, एष स्त्रीसृष्टि योगा है। पुरुषनिर्माणा में अग्नि एवं स्त्रीनिर्माणा में सोम प्रधान है। अग्नि-सोम के इन तात्पर्यों का पूर्व-प्रकरणों में यत्र तत्र विश्लेषण किया जाना है। अतः यहाँ पुनरुक्ति अनवश्यक है।

यहाँ केवल यही जान लेना अर्थ होगा कि, अग्नि अन्नाद् है, मोक्ष्य है। एवं सोम अन्न है भोग्य है। कैसा भोग्य? पशुरूप भोग्य नहीं अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का मोक्ष्य है, तो सोम अग्नि का आत्मप्रतिष्ठा है। सोमसम्पन्न के बिना न अग्नि जीवित रह सकता, न अग्नि को आचार बनाए दिना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाव में परिणत कर सकता। दोनों के इसी सत्यभाव को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर भुक्ति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमृच कामयन्ते, अग्निर्जागार तद्गु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमय सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका ॥

—श्रुतसं १।४४।१५) ।

अग्नि वल्लवान् अवश्य है। परन्तु इस की वल्लवता सोम के सहयोग पर ही निर्भर है। हृदयभाव से वल्लव का विकास होता है। दूसरे शब्दों में वल्लव की विकासभूमि हृदय ही है। हृदयस्थ उक्त्यदल सत्य है इस उक्त्य से निकलने वाली उत्तरस्मिर्मा ही वल्लव है। एक ही उक्त्य की सत्य-वल्लव, ये दो अवस्था हैं। सत्य के आचार पर प्रयोग वल्लव का ही होता है। वल्लव स्वयं अन्न नहीं करता आलम्बनमात्र बना रहता है। उत्तरस्मिरूप वल्लव ही बहिर्जागृ की ओर विकसित होता है। इसी आचार पर—“वल्लं सत्यादोजीय” —“वल्लं वाच विज्ञानाद् मुखः इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि वल्लवान् है। क्योंकि पुरुष में सत्य अग्निवत्त्व की प्रधानता है अतएव इस हम वल्लवान् कहेंगे। तब सोम अवल्लव किंवा निर्बल है। कारण स्पष्ट है। सोम श्रुतवत्त्व है हृदयस्थ है। हृदयस्थ होने से ही तो इस ‘श्रुत’ कहा जाता है। जब हृदय नहीं तो सत्यभाव नहीं। सत्य नहीं तो वहिर्जागृ बन नहीं। क्योंकि मन्त्र में इस श्रुत सोमवत्त्व की ही प्रधानता है अतएव इसे ‘अवल्लव’ कहा जायगा।

पुरुष वल्लवान् एवं स्त्री अवल्लवा। पुरुष सत्यभाषोपस एवं स्त्री अनृतभाषोपता (अथान् श्रुतसोमभाषोपता)। पुरुष आग्नय एवं स्त्री सौम्या। पुंस्त्व भोक्ता एवं स्त्री भोग्य। पुंस्त्व प्रतिष्ठा एवं स्त्री तदाधारण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन एवं स्त्री आलम्ब्यता। पुरुष स्वच्छन्दस्क एवं स्त्री परच्छन्दानुयस्तिनी (पुरुषच्छन्दानुयस्तिनी)। अग्निरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्नेसर मय सोम-युक्त स्त्री तत्पञ्चादुगामिनी। यह तो हुई ऐसी दृष्टियाँ जिन से पुरुष की प्रधानता सिद्ध हो रही है एवं स्त्री की गौणता।

आधिदैविक विश्व में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य-चन्द्र-पृथिवी-रूप से पुरुष (आत्मा)-प्रकृति (प्राण)-विकृति (पशु) समष्टिषामक प्रजापति-विषय का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। आत्मधर्मों के सूत्रमायी की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन चार स्थूल भावों का ही विचार पर्याप्त होगा जिन्हें कि प्रायः सवसाधारण जानते हैं। आत्मा बुद्धि, मन शरीर चारों जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अभ्यक्त, एवं परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपलब्धित 'पुरुष' अंश लीजिए। सूर्यारूप बुद्धि को प्रह्वति चन्द्रारूप मन एवं पृथिव्यारूप शरीर, दोनों की सपष्टि को विकृति कह लीजिए। पुरुष अभ्यय हुआ प्रकृति अक्षर हुई, एवं विकृति अक्षर हुई। अक्षरात्मिक बुद्धि के उस ओर अभ्यक्तक भूत आत्मा है इस ओर अक्षरक भूत मन एवं शरीर है। निम्नलिखित परिलोक से दोनों संस्थाओं का समुल्लेख स्पष्ट होजाता है।

१-स्वयम्भू १	अभ्यक्त	—आत्मा (पुरुषः—अभ्ययः—स्वः)	} —प्रजापतिः
२-परमेष्ठी	महान्		
२ १-सूर्य	बुद्धि	—प्राण ( प्रकृतिः अक्षर-उत्तरः)	
१-चन्द्रमा १	मन	—पशवः ( विकृतिः अक्षरः—पट)	
२-पृथिवी	शरीरम्		
अधिदैवतम्	आध्यात्मम्		

आधिदैविक यह से ही आध्यात्मिक यह का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविक यह में यजमान कीन १, यजमानपत्नी कीन १, पहिले यही देखिए। आत्मा सूर्यरूपप्रकृति, चन्द्रपृथिवीरूपा विकृति 'न' तीनों में आत्मा हो यज्ञवेदि किवा यज्ञचरातल है जैसा कि 'एतवास्तम्भनं भेष्टम्' - 'अभियष्टोऽश्मवा' इत्यादि श्रौत-स्मार्त पंचनों से स्पष्ट है। सूर्य इस यज्ञ का यजमान है पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है। दोनों का मिथुनभाव ही यज्ञ है और यही यज्ञ प्रजापति का कारण है।

सूर्य अग्निमय है, एवं चन्द्रमा सोममय है। और अग्नि का प्रवर्ग्यभाग अक्ष अग्नि है एवं चान्न भोग का प्रवर्ग्यभाग अक्षसोम है। अक्षभोग का अपना स्थान उत्तरादिक है एवं अक्षानि का अपना स्थान दक्षिणादिक है। उत्तररथ अक्षभोग निरन्तर दक्षिण की ओर, एवं दक्षिणरथ अक्षानि निरन्तर उत्तर

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि, पुरुष का पाञ्चमीतिक शरीरपिण्ड तो आग्नेय है, एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र लीम्य है। अग्नि क्योंकि ज्वाला होने से पुरुष है एवं ओम योग होने से स्त्री है इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा है। साथ ही यह मं भद्र जीविए कि, जिन्हें हम पुरुष कहते हैं वे आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अन्त प्रतिष्ठारूप शुक्रओम की दृष्टि से आम्प्यन्तर-नष्ट से स्थित हैं। \* स्त्रिय सनीस्तौ उ मे पु स आहु (श्रुत १।१६।१५) यह भुक्ति इनी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। भुक्ति का तात्पर्य यही है कि संसार में जितने भी पुरुष हैं वे अग्निप्रधान शरीर की अपेक्षा से मते ही पुरुष कहलाते हैं। परन्तु शुक्रप्रधाना आत्मदृष्टि से तो उन्हें स्त्री ही कहना चाहिए। आत्मा-शरीर, दोनों में आत्मा प्रधान माना जाता है। एवं जिस संस्था में जो प्रधान होता है 'तदात्म्याय' से वह संस्था उसी के नाम से व्यवहृत होती है। वह कि प्रधानभूता आत्मदृष्ट्या पुरुषसंस्था कोम्पा ह तो इसे पुरुष न कह कर 'स्त्री' ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य है कि, अनेक मनुष्य इन स्त्रियों को पुरुष कह रहे हैं। पुरुष आस्त्य में स्त्री है स्त्री होते हुए इन्हें पुरुष कहा जाता है' इस रहस्य को आत्म वाक्ता ही जान सकता है आत्मा नहीं—'परमदृष्ट्यान्विचेत्'।

जीविए, अनेक आने से आप भी अपने आप की स्त्री समझना आरम्भ कर लीजिए, और स्त्रियों को 'पुरुष' वैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट जाने वाला है। सम्मुख भाव का उक्त सिद्धान्त पुन्यवाति को लुप्त कर रहा होगा। अवरम ही इस लोमशान्ति के लिए किसी अन्य उपाय का आशय लाना पड़ा। निराश होने की कोशिश नहीं है। एक पुरुष के नाते इस सम्प्रदाय में आप से अधिक हम चिन्ता है। वो उपाय ऐसे है किन से पुरुषसंस्था का अग्निस्त्व प्रधान माना जासकता है एवं सोनस्त्व गौण माना जासकता है।

पुरुषों का शरीर आग्नेय है यह माना। परन्तु इस की प्रतिष्ठा है-पानी। अदृश्य पृथिवी इस वैदिक-सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी-स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अप्वत्त्व ही है। 'अन्त भूमिरियं भिता' वचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इनी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप्वत्त्वरूप लीम्य है। इस दृष्टि का तात्पर्य यही है कि, शरीरपिण्ड में प्राण-भूत के दो विभाग हैं। दृश्य भाग को भूत है एवं भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य तत्त्व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रतिष्ठा आप्य-(क्षम्य) मान ही है।

जिस अग्नि शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आप्यप्राण निष्कन्त होजाता है शरीर नष्ट होजाता है। भाषात्मक इसी आप्य सोम को पवित्र 'अक्षय्योत्पत्ति' 'अम्भः आपि' नामों से व्यवहृत किया गया है। द्रुम गङ्गा, सुवर्ण मृगशर्म आदि की पवित्रता इसी 'अम्भः' पर अवलम्बित है। अम्भ से ही गङ्गा य [गङ्गाजल] में अशुभिमानिर्वाहिका पावनशक्ति व्यक्त हुई है। इसी अम्भ का अनुपद स र्त्न (कुशा) क र्त्तव्यं स

\* आत्ममायना रश्मिभाषिना शुक्रभाषिना मेघ स इस मन्त्र के तीन अर्थ होते हैं। इन तीनों की पिण्ड व्याख्या इसभाष्य में देखनी चाहिए। (५० उ वि ३० मं० ५५ स १०८ पन्त)।

हुति के अवरोध से स्वयं अन्न [ सोम ] बन जाता है। वृक्षी दहि से वेलिए। कोष्ठ मनुष्य मृत्ता है। यदि अन्नभागमन नन्द होबायग, तो ओ शरीरगनि अन्नतक अन्नाद् या यही अन्न बन जायगा। प्राजाग्नि उत्कृष्ट होबायगा। शिव 'शवाङ्ग' बन जायगा और यह अन्न उस श्मशानाग्नि [क्रव्यादाग्नि] की वृष्टि का कारण बनेगा। तत्त्वतः अग्नि की अन्तिम अवस्था [ सोम न मिलने पर ] सोम ही होजाती है यह निश्चित है। बलघन सोम को गर्भ में लेता हुआ बलशून्य को अग्नि बलवान् बनता है। मोक्ष बनता है, वही बलघन सोम के अवरोध से स्वयं बलघन बनता हुआ वृक्षी बलवानों का अन्न बन जाता है। मोक्ष मोम्य बन जाता है, शात्क शास्त्र बन जाता है।

उपस्यूक्त ब्रह्माग्नि-विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि, अग्नि की बलवत्ता सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है। सोम बलवत्त्व है बलघन है। इसे लेकर ही अग्निमूर्ति रुद्र सम्बलघाशिव बने हुए हैं। क्योंकि पुरुष में अग्निवत्त्व का प्राधान्य है अतएव पुरुषमात्र को हम 'शिव' कह सकते हैं। उभर स्त्री में शक्तिघन सोमवत्त्व प्रधान है अतएव स्त्रीमात्र को हम 'शक्ति' कह सकते हैं। शिव-शक्ति के इन आप-एक अवधारणों को लक्ष्य में रखकर ही हमने रुद्र-शिव भावों की अन्न प्रावणिक माना है।

बाह्यदृष्टि को छोड़कर पहिले अन्तर्दृष्टि से ही शिवशक्ति का समन्वय कीजिए। पुरुष शिव क्यों है ? इसका उत्तर है—'सोम'। पुरुष आग्नेय अन्नरस है परन्तु इसकी प्रतिष्ठा सोम ही है। श्रुताघ्न की उत्तम अवस्थारूप 'शुक' [रेत रीच्य-धातु] वाचात् सोम है। और सर्वविद्वान्तानुसार यह सौम्यशुक ही पुरुष का अन्तरात्मा है। पुरुष का मौलिक दृश्य शरीर आग्नेय है एवं अन्तर्बर्गद्रूप शुक सोम्य है। शुकध्व ही पुरुषनाथ का आरम है एवं शुकका ही स्थिति का कारण है। इसी आधार पर भुक्ति का—'ब्रह्मचर्येण तपसा वेद्या मृत्युमपाप्नोत' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। 'स बलघन सौम्य शुक से ही पुरुष बलवान् बना रहता है।

हाँ, एक रहस्य और। शुक सोम है सोम बलघन बनता हुआ पूर्वपरिमाणानुसार स्वयं बलप्रयोग में असमर्थ है। अतएव इस बलघन को अक्ल किंवा निर्बल कहा जाता है। पुरुषबालि का यह दुर्भाग्य है कि, यही अक्लसोम (शुक) पूर्वकथनानुसार पुरुष का अन्तरात्मा है। यही कारण है कि पुरुष का बाह्यगत (आग्नेय-शरीर) बहाँ आक्रमण का अनुयायी रहता है यहाँ इसका अन्तर्बर्ग उत्तम ही स्थित रहता है। शरीर बलवान् (आग्नेय) आत्मा निर्बल (सौम्य) यही तात्पर्य है। शुक स्वयं निर्बल इसी का स्मात्तर मन इसी से संकल्प का उदय। फलतः पुरुष यदि विशेष धारणों के द्वारा शक्ति की उपासना नहीं करता है तो अधिकांश में इसके रुक्म मिथ्या ही होजाते हैं।

अब रहस्यमेद ही होने लगा तो एक रहस्य शेष क्यों छोड़ा जाय। सम्भव है पुरुषपुरुष के अनुस्यू में अपने संकल्प में सफल होसक। परन्तु सौम्यात्मा पुरुष को हम आग्नेयी शक्ति (स्त्री) के सामुमुख में तो और भी अधिक दूर था का ही अनुमन करना पड़ता है। स्त्री भीम्या है रुक्म भी शुकशून्य मन से रुक्म रहता हुआ सौम्य है। नीम और गिलोच 'जड़ी' अतिथार्थ होजाता है। बात है सर्वथा स्पष्ट सर्वज्ञभूत फिर विशेष विस्तीर्ण क्यों किया जाय ?।



उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि, पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो आग्नेय है, एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सीम्य है। अग्नि क्योंकि दृष्टा होने से पुरुष है एवं सोम गोपा होने से स्त्री है इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा है। साथ ही यह मर्म कह लीजिए कि जिन्हें हम पुण्य करते हैं वे आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अन्तःप्रतिष्ठारूप शुक्रसोम की दृष्टि से आध्यन्तर-दृष्ट से स्त्रियाँ ही हैं। • 'स्त्रियाः सतीस्तां व मे पुंस आहुः (ऋक्स १।१५४।१५५) यह भुक्ति इनी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। भुक्ति का तात्पर्य यही है कि संसार में जितने भी पुरुष हैं, वे अग्निप्रधान गन्धशरीर की अपेक्षा से मत्ते ही पुरुष कहलाते हैं। परन्तु शुक्रप्रधाना आत्मदृष्टि से तो उन्हें स्त्री ही कहना चाहिए। आत्मा-शरीर दोनों में आत्मा प्रधान माना जाता है। एवं जिस संस्था में जो प्रधान होता है 'वद्वान्याय' सं वह संस्था उसी के नाम से व्यवहृत होती है। जब कि प्रधानभूता आत्मदृष्ट्या पुरुषसंस्था नाम्या है तो इसे पुरुष न कह कर 'स्त्री' ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य है कि अज्ञ मनुष्य इन स्त्रियों को पुरुष कह रहे हैं। पुरुष वास्तव में स्त्री है स्त्री होते हुए इन्हें पुरुष कहा जाता है' इस रहस्य का आनंज वाला ही जान सकता है अज्ञान नहीं— 'परमेश्वरवान्नविचेतदन्धः'।

लीजिए, अब आज से आप भी अपने आप को स्त्री समझना आरम्भ कर लीजिए, और स्त्रियों का 'पुरुष' जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। सचमुच अति का उक्त सिद्धान्त पुरुषजाति को चुम्ब कर रहा होगा। अन्तर ही इस खोमशान्ति के लिए किसी अन्य उपाय का आशय लेना पड़गा। निराश होने की धर्म बात नहीं है। एक पुरुष के नाते इस सम्भव में आप से अधिक हर्ष चिन्ता है। दो उपाय ऐसे हैं जिन से पुरुषसंस्था का अस्तित्व प्रधान माना जासकता है एवं सोमवत्त्व गोप्य माना जासकता है।

पुरुषों का शरीर आग्नेय है, यह माना। परन्तु इस की प्रतिष्ठा है-यानी। 'अवृन्ध्य' पृथिवी इस तैत्तिरीय-सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी-स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अपूर्तत्व ही है। श्वेत भूमिरियं मित्रा' बचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा अपूर्तत्वस्य सोम है। इस दृष्टि का तात्पर्य यही है कि, शरीरपिण्ड में प्राण-भूत वे दो बिभाग हैं। दृश्य भाग तो भूत है एवं भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य तत्त्व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रतिष्ठा आप्य-(सोम) प्राण ही है।

जिस अग्नि शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आप्यप्राण निष्क्रान्त होजाता है शरीर नष्ट होजाता है। प्राणतमक इसी आप्य सोम को पवित्र 'गङ्गायास्पति' 'अग्निः' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। दम गङ्गा सुवर्ण मृगचर्म आदि की पवित्रता इसी 'अग्नि' पर अवलम्बित है। अग्नि से ही गङ्गाय [गङ्गाजल] में अयुचितभावनियतिका पावनशक्ति व्यक्त हुई है। इसी अग्नि का अनुपद से 'र्म' (कुरा) के संसर्ग से

• आत्मभाषना रश्मिभाषना शुक्रभाषना मे' से इस मन्त्र के तीन अर्थ होते हैं। इन तीनों की विपक्ष व्याख्या इसाम्य में रेखनी चाहिए। (६० उ० वि ३०० ७८ से १०८ पक्ष)।

पुरुष में शरीर, और शुक्र, दो विभाग हुए। दोनों क्रमशः आग्नेय एवं सौम्य हैं। आगे जाकर पुनः प्रत्येक में आग्नेय-सौम्य ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी अग्निवत्त्व रहा एवं उपसंहार भी अग्नि ही रहा। शरीर शरीरप्राण शुक्र शुक्रगस्तप्राण चारों क्रमशः आग्नेय सौम्य सौम्य आग्नेय रहे। इधर अग्नि उधर अग्नि मध्य में दोनों सौम्य। अग्नि पुरुष दोनों ओर पुरुष। बतसारप, पुरुषसंस्था में अग्निवत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा सोमवत्त्व की। इस दृष्टि से हम पुरुष को अक्षर्य ही अग्निप्रधान मानते हुए 'पुरुष ही ब्रह्मे, और स्त्री [ सोम ] को इस के तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए परवन्त्र' ही ब्रह्मे।

## १-पुरुषसंस्था—

- |   |                                    |                |          |   |                             |
|---|------------------------------------|----------------|----------|---|-----------------------------|
| { | (१)-१-शरीरम्—                      | अग्नि (पुरुष)— | स एवादिः | } | —अग्निप्रधान-पुरुषः-‘पुरुष’ |
|   | (२)-आप्यप्राण —                    | सोम (स्त्री)   |          |   |                             |
|   | (३)-१-शुक्रम्—                     | सोम (स्त्री)   |          |   |                             |
|   | (४)-२-आग्नेयप्राणः अग्नि (पुरुषः)— | स एवान्तः      |          |   |                             |

शुक्रदृष्टि से स्त्रीसंज्ञा का भावन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से 'पुरुष' बन जाता है। दूसरा उपाय है सम्बत्तरमबद्धल। सम्बत्तरमबद्धल से ही तो पुरुष का निर्माण हुआ है। इच्छिण्य तो 'पुरुष' को 'यक्ष' कहा जाता है जिस यक्षद्वय का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विद्यत निरूपण देखेंगे। इत्य अद्भुतलगातिमक जिस अद्भुत सम्बत्तर से पुरुष का शरीर बनता है उस अद्भुत सम्बत्तर के उत्तर भाग में सोम का एवं दक्षिण भाग में अन्न का व्यापन बतलाया है। सम्बत्तर का मध्यस्थ विष्णुत्व है। इस आगे विष्णुत्व से तो मन्दयष्ट [ रीढ़ की हड्डी ] का निर्माण हुआ है। विष्णुत्व से उत्तर के सौम्य सम्बत्तर से शरीर के उत्तर पार्श्व [ बाएँ भाग ] का एवं दक्षिण के आग्नेय सम्बत्तर से दक्षिण पार्श्व [ दहिने भाग ] का निर्माण हुआ है।

यत्न मानयुग का [ कल्पित ] अहिंसवादी विजातिवर्ग कृष्ण अवश्य करेगा। परन्तु विज्ञानपथानुगामी की दृष्टि में ऐसी कृष्ण का कोई महत्त्व नहीं है। एक मनुष्यराज [युद्ध] को अपने धामने रण लीबिय, और शिवान्तस्थान से आरम्भ कर मूलप्रतिष्ठ पर्यन्त टीक नीच में से उस के दो लयक कर बाधिए। दोनों दक्षिणोत्तर लयकों के पर्वों का विराजलन कीर्तिष्य, एवं उन विराजलित पर्वों को पुष्पक पुष्पक रखते बाधिए। विराजलन प्रक्रिया के अनन्तर दोनों के आकार, एवं भार की परस्पर तुलना कीबिय। आपकी विविध होगा कि दक्षिणलयक के सभी पर्व प्रायः उत्तरलयक के पर्वों से आकार में भी बड़े होंगे एवं भार में भी अधिक होंगे।

उत्तर अण्ड के उत्तर फुङ्कुस, प्लीहा [विस्ली] बृक्क क्लोम, हस्त, पाद्, आदि पर्वों की अपेक्षा दक्षिण अण्ड के दक्षिण फुङ्कुस, यक्षु [बिगर], बृक्क, क्लोम हस्त पाद् आदि पर्वों के आप आक्षर, तथा मार दोनों में प्रवृद्ध देखेंगे। ये प्रवृद्ध क्यों हैं? इन शरीरव्यवस्थाओं का ऐसा स्वरूप क्यों हुआ? इन सब प्रश्नों का शेषपक्षिक समाधान भूके विस्तार से आगे के “यज्ञो वै पुरुष” इत्यादि ब्राह्मण में किया जायगा। अकृत में केवल यही ज्ञान लेना पर्याप्त होगा कि, शरीर का दक्षिणभाग उत्तरभाग की अपेक्षा आक्षर-मार से उभयथा समृद्ध रहता है। कारण इसका यही है कि, दक्षिणभाग आग्नेय होने से जलवान् बनता हुआ प्रचान है, एवं वामभाग सौम्य होने से निर्जल बनता हुआ गौण है।

स्त्रुलपर्वों के अविरक्त सूक्ष्म-शक्तिदृष्टि से विचार करने पर भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भाग को ही आप अधिक शक्तिशाली पाएँगे। जो कम्मनिपुणता दक्षिण हाथ से सम्भव है वह वाम से नहीं। उपनिषत् का इन्द्ररूप ‘चाक्षुपुरुष’ भी दक्षिणवज्र में ही रहता है। अतएव इसे ‘दक्षिणाक्षिपुरुष’ भी कहा जाता है—‘योऽयं दक्षिणोऽक्षन् पुरुष (३० आ ५.१५.४)।

अपनी दैनिक शरीर-व्यवस्थाओं के अनुभव से भी दक्षिणभाग की प्रधानता का प्रत्यक्ष कीर्षि। गमन व्यापार में सब से पहिले दहिना पैर ही आगे बढ़ता है। आगे की गति में भी दहिने पैर की ही अग्रगामिता रहती है, चलकर अनुभव कर लीजिए। सीधे बैठकर, अथवा लड़े होकर आप यह अनुभव करेंगे कि, शिरोभाग प्रायः वाम पार्श्व की ओर ही झुकता (मुक्त) रहता है। दहिनी ओर मत्सक झुकाने में आप स्तौष का अनुभव करेंगे। क्योंकि दक्षिण भाग मारी है अतः उस ओर प्रवणता रखने में कष्ट होता है। शल-प्रयोग के भिन्न भी कार्य हैं सब में दक्षिण हाथ ही प्रधान रहता है। इसी सब कारणों को देखते हुए मानना पड़ेगा कि पुरुष का दक्षिणभागदय अग्निभाग ही शरीरस्थिति में जलवान् एवं प्रधान है।

उत्तरभाग सौम्य है शोमप्रधान है। साथ ही यह दक्षिणभाग की अपेक्षा निर्जल, एवं गौण है। दक्षिणभाग ब्रह्म प्रत्यक्षरूप से विकसित रहता है वहीं वामभाग दक्षिणभाग में अन्वित रहता है। जब आप वक्षस्थल से छाते हुए दोनों बाहु मिलाकर उन पर दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित होगा कि, दहिना बाहु वाम बाहु का आलम्बन बना हुआ है। साथ ही दहिने बाहु का हस्तरूप अग्रभाग बाहिर निकल कर प्रत्यक्ष बन रहा है एवं वामबाहु का हस्तरूप अग्रभाग दहिने बाहु के मूल में (कक्षप्रदेश में) छुप रहा है। सीधे लड़े होने पर दहिने पैर के आधार पर नायाँ पैर आधक समय पर्यन्त अधर रह सकता है बाएँ के आधार पर दक्षिण नहीं। कृष्णमावभञ्जी में दहिने पैर को ही आप आभयरूप से प्रवृत्तित देखेंगे। वामनेत्र में ही चाक्षुपुरुष की पत्नी प्रसिद्धि रहती है जो कि ‘इन्द्रपत्नी’ नाम से प्रसिद्ध है—‘य उ एष वामनीः स उ एष भामिनी’ के अनन्तर इस वामा इन्द्र-पत्नी को ही भामिनी भी कहा जाता है। इसी सब कारणों को देखते हुए कहना पड़ेगा कि, वामभागस्थ सम्प्रमाण इस शरीरस्थिति में गौण है।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। अग्नि विष्णुसहस्रर्मा एवं शोम संकोचधर्मा क्लृप्ताया गया है। पुरुष का दक्षिणभाग अग्निप्रधान होने से ही विष्णुवृत्ति का अनुयायी है एवं वामभाग शोमप्रधानता से ही संकोचवृत्ति का अनगामी देखा गया है। सीधे पैरों आगे बढ़ने में पहिले पूरकधनानुसार दक्षिण पैर आगे खलेगा। यदि आप उलट पैरों कोटेंगे तो इसी संकोचभाग के कारण पहिले नायाँ पैर पीछे रहगा। पैरों का जान दहिने हाथ से एवं किसी वस्तु को लेकर चलते समय वह वस्तु रखी वाम हाथ में।

पुरुष में शरीर, और शुक्र, दो विभाग हुए। दोनों क्रमशः आग्नेय एवं सौम्य हैं। आगे बाहर पुनः प्रत्येक में आग्नेय-सौम्य ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी अग्निवत्त्व रहा एवं उपक्रम भी अग्नि ही रहा। शरीर शरीरप्राण, शुक्र शुक्रप्राण चारों क्रमशः आग्नेय सौम्य सौम्य आग्नेय रहे। इधर अग्नि उधर अग्नि मध्य में दोनों सोम। अग्नि पुरुष दोनों ओर पुरुष। कस्ताइए, पुरुषवत्त्वा में अग्निवत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई अथवा सोमवत्त्व की?। इस दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अग्निप्रधान मानते हुए 'पुरुष ही करेंगे, और स्त्री [ सोम ] को इस के उत्र में प्रतिष्ठित मानते हुए 'परतन्त्र' ही करेंगे।

## १-पुरुषसंस्था—

- |   |                                   |                |          |
|---|-----------------------------------|----------------|----------|
| { | (१)-१-शरीरम्—                     | अग्नि (पुरुष)— | स एषादि। |
|   | (२)-आप्यप्राण—                    | सोम (स्त्री)   | }        |
|   | (३)-१-शुक्रम—                     | सोम (स्त्री)   |          |
|   | (४)-२-आग्नेयप्राणः अग्नि (पुरुष)। | स एषान्तः      |          |
- — — — —

शुक्रदृष्टि से स्त्रीसंज्ञा का भावन करने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से 'पुरुष' बन जाता है। दूसरा उपाय है सम्प्रसारमण्डल। सम्प्रसारमण्डल से ही वो पुरुष का निर्माण हुआ है। इच्छाएँ वो 'पुरुष' को 'यज्ञ' कहा जाता है जिस यज्ञवृत्त्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विराट् निरूपण करेंगे। इत्य अत्र लगेलात्मक जिस अत्र सम्प्रसार से पुरुष का शरीर बनता है उस अत्र सम्प्रसार के उत्तर भाग में सोम का एवं दक्षिण भाग में अग्नि का साम्राज्य प्रकट होता है। सम्प्रसार का मध्यवृत्त 'विष्णु' है। इस आगे विष्णु से तो मन्दबद्ध [ रीढ़ की हड्डी ] का निर्माण हुआ है। विष्णु से उत्तर के सौम्य सम्प्रसार से शरीर के उत्तर पार्श्व [ बाएँ भाग ] का एवं दक्षिण के आग्नेय सम्प्रसार से दक्षिण पार्श्व [ दाहिने भाग ] का निर्माण हुआ है।

वच मानयुग का [ कल्पित ] अहिंसावादी शिवातिवर्ग वृत्ता आवश्यक करेगा। परन्तु विज्ञानप्राप्तगामी की दृष्टि में ऐसी वृत्ता का कोई महत्त्व नहीं है। एक मनुष्यराज [युद्ध] को, अपने खमने रत्न सीबिए, और शिष्यान्तस्थान से आरम्भ कर मूलमन्त्रि पर्यन्त ठीक बीच में से उस के दो लब्ध कर बाँटिए। दोनों दक्षिणोत्तर लब्धों के पर्वों का विरुद्धजन कीर्तिए, एवं उन विरुद्धलिख पर्वों को वृष्य वृष्य रत्नते बाँटिए। विरुद्धजन प्रक्रिया के अनन्तर दोनों के आकार, एही आर की परस्पर तुलना कीर्तिए। आपकी विदित हुआ कि दक्षिणोत्तर के सभी पर्व प्रायः उत्तरउत्तर के पर्वों से आकार में भी बड़े होने एवं भार में भी अधिक होंगे।

शोणित का भूतभाग अथवा ही आग्नेय है। परन्तु शोणित के गर्म में रहने वाला प्राण सौम्य है। इसी सौम्यप्राण को “योषा” कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गर्म में रहने वाले आग्नेय योषाप्राण का जब स्त्री के आग्नेय शोणित के गर्ममें रहने वाले सौम्य योषाप्राण के साथ मिश्रणसम्बन्ध होता है तभी प्रकल्पति होती है। इसीसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, पुरुष का वृषित शुक्र सन्तान का प्रतिकम्बक है एवं स्त्री का वृषित शोणित सन्तान का प्रतिकम्बक है। दोनों की (शुक्र शोणित की) शुद्धि में ही उत्पन्न हुआ योषा प्राण शुद्ध होगा एवं इन विशुद्ध रजो-बीजों के मिश्रण से ही प्रजातन्त्र सुरक्षित रहेगा।

सौम्य शुक्र में रहने वाला आग्नेय प्राण ही ‘पुम्ब्रूण’ है। एवं आग्नेय शोणित में रहने वाला सौम्य प्राण ही ‘स्त्रीब्रूण’ है। पुम्ब्रूण का पौरुषशुक्र है। फलतः शुक्र कितना अधिक प्रबल होगा, पुम्ब्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। स्त्रीब्रूण का पौरुष शोणित है। फलतः शोणित कितना प्रबल होगा, स्त्रीब्रूण उतना ही अधिक बलिष्ठ होगा। पुम्ब्रूण पुरुष के आग्नेय है। इसकी समृद्धि एकमात्र शुक्रसमृद्धि पर ही अवलम्बित है। शुक्र सौम्य होने से स्त्री है। इस सौम्य स्त्री की समृद्धि अम्युत्थान, अम्युदय ही पुरुष की समृद्धि अम्युत्थान अम्युदय का अन्यतम कारण है। उन्नत स्त्रीब्रूण स्त्री है, सौम्य है। इसकी समृद्धि एकमात्र शोणित की समृद्धि पर ही अवलम्बित है। शोणित आग्नेय होने से पुरुष है। स्त्री की समृद्धि, अम्युत्थान अम्युदय पुरुष की समृद्धि अम्युत्थान अम्युदय पर ही अवलम्बित है। यही वास्तव्यभाव का मौलिक रहस्य है। यही अद्वैतारीश्वर का समृद्ध वैभव है, और यही वैभव विश्वशान्ति की मूल प्रविष्टि है।

जिस समय पुम्ब्रूण-स्त्रीब्रूणों का मिश्रणभाव होता है, उस समय दोनों में संपर्क चलता है। जो प्रचल होता है, वह दूसरे का निगमण कर उसे अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है। मान लीजिए पुम्ब्रूण निर्मल है एवं स्त्रीब्रूण सकल। स्त्रीब्रूण [जो कि सौम्य होने से स्त्रीसृष्टि का प्रवर्तक है] पुम्ब्रूण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः ऐसे स्त्रीब्रूणप्रधान मिश्रणभाव से कन्यासन्तति होती है। यदि पुम्ब्रूण सकल है तो टीका इसके विपरीत उक्त प्रक्रिया से पुत्रसन्तति होती है। शुक्रसमृद्धि में पुम्ब्रूण की वृद्धि है, एवं शोणितप्रवृद्धि में स्त्रीब्रूण की वृद्धि है। शुक्रसमृद्धि पुम्ब्रूण की समृद्धि का कारण बनेगी इन्हा उक्त होती। यदि दोनों सम हैं तो दोनों के ही बिना शेष रहते हैं। यही तपुसकवृष्टि है। यदि दोनों में से एक का भी अथवा मुक्तिवृद्धि है तो वास्तव्यभाव अर्थ ही विद्ध होता है—

१—आधिक्ये रेतसः पुंसाः, कन्यास्यादात्तवाधिक।

न पुंसक तयो साम्ये, यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ (माधप्रकाश)।

२—पुनान् पु सोऽधिकं शुक्रे, स्त्रीमवत्पधिके स्त्रिया।

ससेऽपुमान्, पु स्त्रियां वा चीणेऽप्य च विपर्या ॥ (मनु ३।४६)।

उक्त स्त्रीश्वरूप से हम इस लिप्यर्थ पर पहुँचें कि, स्त्रीमर्या का शरीर आत्मा य दोनों विभाग अम्युत्थान सौम्य एवं आग्नेय है। आलोचनाकर पुनः प्रत्येक के सौम्य आग्नेय से दो विभाग हुए। इस दृष्टि में स्त्री का उपक्रम भी अम्युत्थान रहा, उपसंहार भी सौम्य ही रहा। शरीर शरीरप्राण-शोणित शोणित

अतएव रोगवद्भ्यः 'स्त्रीस्वातन्त्र्यत्वाद्' अः कम्प हुआ हो और जिस के परिशेष के लिए ही हमें इस प्रकृतिसिद्ध तप्य-समन्वय का आश्रय लेना पड़ा हो।

उक्त 'स्त्रीभक्त्य' विवेचन से स्पष्ट हुआ कि, स्त्री का पञ्चमौलिक शरीरविषय तो लीम्व है एवं शरीर-विषय की प्रतिष्ठाकर्म शोणित आग्नेय है। सोम बोधा होने से स्त्री है एवं अग्नि कृपा होने से पुरुष है। क्योंकि सोमरूप स्त्री शरीर की प्रतिष्ठा अग्निरूप शोणित है अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष (अग्नि-शोणित) ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर यह भी कह लीजिए कि, जिन्हें हम 'स्त्री' करते हैं वे लीम्व शरीर की दृष्टि से मत्ते ही तबर्वा हैं परन्तु अन्तःप्रतिष्ठाकर्म शोणितत्वान्नि की अपेक्षा से अग्निदृष्टि से तो उन्हें 'पुरुष' ही कहा जायगा।

एक पक्षपात की बात। पुरुष आत्मदृष्ट्या की है। परन्तु जनसाधारण इन स्त्रियों को पुरुष ही करते हैं। इसप्रकार "स्त्रियः सतीर्त्यो य मे पुंस आहुः" इत्यादि रूप से भुविने पुरुषों को स्पष्ट शब्दों में की कहकर पुरुषवादि का तो अपमान कर डाला। न्यायप्राप्त बात तो यह थी कि जैसे केदमहर्षि ने पुरुषवादि का- 'अरे! इन्हें पुरुष कौन कहता है ये तो स्त्रियाँ हैं' इसप्रकार अपमान कर डाला वैसे ही 'पुरुषा' सन्तस्ते य मे स्त्रिय आहुः' (इन पुरुषों को की कहा जाता है) की के सम्बन्ध में भी यह करते। परन्तु नहीं कहा। करते भी क्यों जब कि वे पुरुष के निर्जल आत्मा, एवं की के सकल आत्मा से परिचित थे। पुरुष अपमान खान कर सकता है, किन्तु स्त्री नहीं।

कब कि प्रधानभूता आत्मदृष्टि से स्त्रीस्वस्था आग्नेयी है, तो इसे 'स्त्री' न कह कर 'पुरुष' ही कहा जायगा। हाँ तो आहुः से कीमात्र अपने आपको पुरुष समझना आरम्भ कर दे। अपना बाना कैसे डुप लगवा है। यदि पुरुषवादि स्त्री की उपपात्रि के लुब्ध होसकती है और इसी सोम की शान्ति के लिए यदि वह (पूर्वप्रदर्शित दो) उपाय निकाल लेती है तो स्त्रीवादि भी पुरुषोपात्रि से स्त्री शान्त होने लगी। अतएव ही उन की स्वरूप-रक्षा के लिए भी कोई न कोई उपाय निकालना ही पड़ेगा।

स्त्रियों का शरीर लीम्व एवं आत्मरूप शोणित आग्नेय यह तो ठीक है। और इसी दृष्टि से स्त्रियाँ पुरुष कहला भी सकती हैं। परन्तु निरूपिता पुरुषस्वस्था की परिमाणा के अनुसार स्त्री के लीम्वशरीर, एवं आग्नेय शोणित दोनों के भूत-प्राण मे- से दो दो विभाग हैं। लीम्व दृश्यशरीर मूलभाग है इसका आधार प्राण आग्नेय है। प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि पुरुषशरीर अग्नि की कृपा से वर्णश होता हुआ भी दीनवीर्य रहता है। बराही मोड़ तोड़ से अतिप्रमत्तियाँ (आङ्) मुल जाती हैं। अतएव यही है कि, इसका शरीर यद्यपि आग्नेय होने से सकल है परन्तु इसका मूलभाग आप्य (लीम्व) है। सोम निर्जल है। अतएव वह प्रत्यक्ष आपात से पुरुषशरीर को नहीं बचा सकता।

इधर स्त्री का शरीर समानुग्रह से कोमल होता हुआ भी बीर्ययुक्त है। अतःसाधारण व्यापारों को छोड़कर स्त्रीशरीर साधारण व्यापारों की अपेक्षा ही कर देता है। अतएव इसका शरीर यद्यपि लीम्व होने से निर्जल है किन्तु इसका मूलभाग आग्नेय है। अग्नि बलवान् है। यह आपात से स्त्रीशरीर को बचा होता है। इन शरीरप्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री अपने आत्मन्तररूप से 'आग्नेयी' बनती हुई पुरुष ही कह- लायगी।

है। अनायादमात्र के कारण दोनों ही प्रतिद्वन्द्वी हैं। इन प्रतिद्वन्द्वियों के पूर्वपरिमाणानुसार यद्यपि चार गुण मानन चाहिये, परन्तु पुरुषशरीर का आधारभूत आप्य प्राण पुरुषशरीर में एवं स्त्री का आधारभूत आग्नेय प्राण स्त्रीशरीर में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है अतः चार के स्थान में तीन ही गुण रख जाते हैं वैश्वदेवि परिकल्प से स्पष्ट हो जाता है—

पुरुष विवरण	स्त्री विवरण
१—आग्नेयशरीरम् (अग्नि-पुरुष)	१—सौम्यं शरीरम् (सोम स्त्री)-१-द्वन्द्व
२—आप्यप्राण (सोम स्त्री)	२—आग्नेयप्राण (अग्नि-पुरुष)-२-द्वन्द्व
१—सौम्यं शुक्रम् (सोम-स्त्री)	१—आग्नेय शोणितम् (अग्नि-पुरुष)-३-द्वन्द्व
२—आग्नेयप्राण (अग्नि-पुरुष)	२—सौम्यप्राणः (सोम-स्त्री) ४-द्वन्द्व

१—आग्नेय पुरुषशरीरम् (पुरुष)  
 २—सौम्य स्त्रीशरीरम् (स्त्री) } प्रतिद्वन्द्विनौ (प्रथमद्वन्द्व)।

१—आप्यप्राण (पुरुषशरीरप्रतिष्ठा)-स्त्री  
 २—आग्नेयप्राण (स्त्रीशरीरप्रतिष्ठा)-पुरुष } प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीयद्वन्द्व)।

१—सौम्यं शुक्रं (पुरुषप्रतिष्ठा)-स्त्री  
 २—आग्नेय शोणितं (स्त्रीप्रतिष्ठा)-पुरुष } प्रतिद्वन्द्विनौ (तृतीयद्वन्द्व)।

१—आग्नेयप्राणः (पुषा)-पुरुष  
 २—सौम्यप्राण (पोषा)-स्त्री } प्रतिद्वन्द्विनौ (चतुर्थद्वन्द्व)।

★ ★ ★

जैसा कि अनुपद में ही बताया गया है स्व-स्व संस्थानुगत स्वात्मन्य पारत्मन्य के सम्बन्ध में "नै स्वतन्त्र कोन परतन्त्र है" ? यह प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता । इस प्रश्न का आरम्भ तब होता है जब मैं हम स्त्री-पुरुष के दाम्पत्यभाव का विचार करने के लिए प्रस्तुत होते हैं । स्त्री-पुरुष परतन्त्र हैं अथवा स्वतन्त्र मित्र हैं अथवा शत्रु कुछ, यह तत्स्थ सम्बन्ध दाम्पत्यभाव से सम्बन्ध नहीं रखता ।

साथ ही यह भी निर्विवाद है कि बिना दाम्पत्यभाव के न स्त्रीसृष्टि का उद्भव सम्भव है न पुरुषसृष्टि का । जबकि दाम्पत्यभाव ही स्त्रीपुरुषसृष्टि का मूलकारण है तो हमें मानना पड़ेगा कि, स्त्री-पुरुष की स्वतन्त्रता परतन्त्रता का बही निर्याय ( विशुद्ध अर्थ ) मान्य निर्याय कहा जायगा जो कि दाम्पत्यभाव का अनुगामी रहेगा । वृद्धे शब्दों में यों कह लीजिए कि, दाम्पत्यभावकाल में स्त्री-पुरुष दोनों में जो मित्र त्व का अनुगामी होगा दाम्पत्यभाव के फलस्वरूप उन प्रबालक स्त्री-पुरुषों का भी वही तन्त्र माना जायगा फिर वह तन्त्र स्व हो अथवा पर ।

कर्मों का स्वतन्त्र कर्ता बही माना जायगा जो कि कर्म प्रक्रिया में स्वतन्त्र \* रहेगा । उत कर्ता का कर्म फल हो अथवा निष्फल यह दूसरी बात है । प्रबोत्पत्ति एक फल है । इस फल का स्वयं कर्म पति पत्नी का दाम्पत्यभाव ( मिथुनभाव ) है । दाम्पत्यकर्म ही प्रबोत्पत्ति का मूलकारण है । अतएव यह ठीक है कि, इस कर्म में दोनों का ही सहयोग अपेक्षित है । इसीलिए 'व्यपत्ती' शब्द से पति-पत्नी दोनों का प्रारम्भ होता भी है । तथापि इस कर्म का स्वतन्त्र कर्ता पति ही माना जायगा । दाम्पत्यकर्म की प्राथमिक प्रेरणा पुरुष की ओर से ही होती है x । "पुरुष एव त्रियमनुधावति न स्त्रीपुरुषमनु" यह स्वर्णमनीय प्रत्यय है ।

रैतौर्धर्म से ही शुक्रगत आग्नेय प्राण वृषा कहा जाता है । अमरबलित कम्पनभक्त होम ही रेत को स्वरूपान से च्युत करता है, अतएव इस रैतौर्धर्म वृषा को 'वृषाकपि' भी कहा गया है । इस प्रथमप्रेरणा के कारण हम वृषाप्रधान पुरुष को ही इस दाम्पत्यकर्म का स्वतन्त्र कर्ता कहेंगे । व वृषा स्वतन्त्र है, वो मोता का पारत्मन्य स्वतः सिद्ध है । फलतः इस दाम्पत्य से उत्पन्न पुत्रपुत्रान वृषाप्रधान बनती हुई स्वतन्त्र मानी जायगी एवं कन्वासुतान परतन्त्र कही जायगी । एक दृष्टि ।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए । दो प्रसिद्धिद्वयों में जो अपने आक्रमण में प्रधान रहेगा वही प्रधान माना जायगा उते ही 'स्वतन्त्र' कहा जायगा एवं विषय उठी का माना जायगा । पुरुष आग्नेय है, एसे स्त्री लौम्ब्य

\* 'स्वतन्त्र' कर्ता ( या स्व ) 'क्रियायां स्वात्मन्येय विवक्षितोऽर्थः' कर्ता त्यात् (दीर्घः) ।

x [१] 'परचाद्वै परीत्य वृषा ( पुरुष ) योपामधिप्रवति [अनुधावति] तस्यां रतः सिम्पसि" [शत० २।४।४।२३] ।

[२] "वस्माद् स्त्री पु सोपमन्त्रिता निपलाशमिर्नैव वदति" [शत० ३।२।१।२०] ।

[३] "वस्माद् स्त्री पु सोपमन्त्रिता आरकादिनैवाग्रेऽप्यसि" [शत० ३।२।१।१६] ।

— 'तपत् क्षम्यमानो रेतो वपति, तस्माद् वृषाकपिः" [गो० मा० ३०।६।१०] ।



इतना ही है कि-स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है। अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वयं न कर किसी अथवा के आश्रय में ही इसका उपयोग करना चाहिए। यदि किसी गृहस्थ में स्त्री अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करने लगेगी, तो वह सत्था उच्छिन्न होजायेगी। यक्षवधधारी धर्मराज के-कौनसा घर नष्ट हो जाता है! यह प्रश्न करने पर धर्मावतार युधिष्ठिर ने मी-स्त्री पुत्रवत् तद्धि गेह धिन धम् ॥ (महामारव) 'जहाँ स्त्री पुरुष बन जाती है वह घर नष्ट है' यह उत्तर देते हुए उक्त भिक्षान्त का ही समर्थन किया है।

सम्पूर्ण सम्बत्सर प्रवृत्त की दृष्टि से जब उत्पत्तिरूप अग्नी का विचार किया जाता है, तब भी पुरुष की स्वतन्त्रता एवं स्त्री की परतन्त्रता ही सिद्ध होती है। सम्बत्सरीय खगोल के चौर इश्य खगोल से [आवे खगोल से] पुरुषसृष्टि का एवं चान्द्र अदर्य खगोल से [आवे खगोल से] स्त्रीसृष्टि का विकास हुआ है और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी सत्था की अपेक्षा से स्वतन्त्र मी माने जा सकते हैं। परन्तु दोनों की समष्टिरूप सम्बत्सर स्वयं अग्निमूर्ति है। यद्यपि अग्निमूर्ति सम्बत्सर के यम में आगेतरूप पुरुष, एवं सोमरूपिणी स्त्री दोनों उत्त्व प्रतिष्ठित हैं। अतएव सम्बत्सर को अग्नि के साथ साथ सम्मय मी कहा जासकता है वैद्य कि- 'सम्बत्सरो वै सोमो राजा' [बौ० ७।१]—सम्बत्सरो वै सोम पितृमान [वै ७।० १।१।२।२।] इत्यादि भुक्तियों से स्पष्ट है। तथापि सम्बत्सर का मौलिक रूप अग्नि ही माना जायगा। इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर यजुःपुरुष ही कहा गया है। [वेत्तिष्ठ शत० १०।५।२।१]। यही तत्त्व वा एतस्याग्नेर्वर्गोषोपनिषत् के अनुसार वाक् नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्ति वाक् प्रजापति एक ही ही थे। वे ही आगे जाकर सृष्टेधमना से आगेतरूप पुरुष एवं सोमरूप स्त्री इन दो रूपों में परिणत हुए हैं—“अद्वैतं पुरुषोऽभवत् अद्वैतं नारी [मनु]। स्वयं भुक्ति ने मी-‘सोऽपोऽसृजत् वाच एवं लोकत वागेव साऽसृज्यत् [शत० ५।१।१।७] कहते हुए वागाग्नि को ही आप्य-सोम का उत्पादक माना है। इसी सब प्रमाणी के आधार पर हम वाक्प्रधान सम्बत्सरप्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते हैं। यही आत्मा है। इसी की सर्वत्र व्याप्ति है। सम्बत्सर की अग्निप्रधानता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट प्रमाणित होजाती है—

॥ अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायका ।

स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायका ॥

—प्रसिद्धा सूक्ति.

‘जिस सत्थाओं में कोई सञ्चालक नहीं होता अथवा अनेक सञ्चालक होजाते हैं अथवा स्त्री यथास्तिका बन जाती है अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं वे सत्थाएँ क्षालान्तर में नष्ट ही होजाती हैं। महामास्त्रीय वनन के उक्त तत्त्व के आधार पर ही राक्षस्थानी माया (बधुर की माया) में यह द्विवन्ती प्रसिद्ध है कि ‘जी घर में लुगायों पागड़ों चैषा मोक्ष ऊँ घर को अग्नि ही आजाय छ’ अर्थात्-जिस गृहसत्था में लोह-सामाजिकी-अप्यस्थाया में स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है यह गृहस्थसत्था लोह-सामाजिकी-अप्यस्थाओं की दृष्टि से भी एवं गृहस्थअप्यस्था की दृष्टि से भी क्षालान्तर में धिनष्ट ही होजाती है’ (स्त्रीपुत्रवत् तद्धि गेह धिनधम्)।

- १—१—आप्यप्राशगर्भितमाग्नेनं शरीरम् (सोमाग्निमयं पुरुषशरीरम् पुरुषः) } प्रतिद्विन्द्विनौ  
 २—आग्नेयप्राशगर्भितं सौम्यं शरीरम् (अग्नीषोममयं स्त्रीशरीरम् स्त्री) } (१ इन्द्र)



- १—सौम्यं शुक्रम् — स्त्री  
 २—२—आग्नेयं शोणितम्-पुरुषः } प्रतिद्विन्द्विनौ (द्वितीययुग्म) ।



- १—आग्नेयो वृषा-पुरुषः  
 २—सौम्या घोषा-स्त्री } प्रतिद्विन्द्विनौ तृतीययुग्म) ।



पूर्ववर्तिका में प्रवर्णित तीनों प्रतिद्विन्द्वियों में से कौनसा इन्द्र सर्वप्रथम आगे बढ़ता है ? आगे बढ़ने वाले उस इन्द्र में किस की ओर से पहिले आक्रमण होता है ? एवं अन्त में किस के आक्रमण की प्रधानता रहती है ? पहिले यही देखिए । दाम्भत्यभावोपक्रम का मूलाधार वसुती क स्थूलशरीर हैं । पुरुषशरीर आग्नेय है स्त्रीशरीर सौम्य है । अग्नि सेम पर आक्रमण कर रहा है इसका तात्पर्य हुआ पुरुषमात्र स्त्री मात्र पर आक्रमण कर रहा है । इस आक्रमण में पुरुषमात्र की ही प्रधानता है । इस प्रथमाक्रमण के अनन्तर पुरुष के शुक्र का स्त्री के शोणित में सेक होता है । सौम्यशुक्र आग्नेय-शोणित पर आक्रमण कर रहा है । अर्थात् स्त्रीत्व पुरुषत्व पर आक्रमण कर रहा है । इन आक्रमण में स्त्रीमात्र की प्रधानता है । शुक्रशोणितरूप इस दूसरे वन्द्यमात्र के अनन्तर सौम्य शुक्र में रहने वाले आग्नेयमात्रमूर्ति वृषा का आग्नेय शोणित में रहने वाली सौम्यमात्रमयी घोषा पर आक्रमण होता है । पुरुषमात्र का स्त्रीमात्र पर आक्रमण होता है । यही तीसरा किंवा अन्तिम आक्रमण है । इसमें पुरुषमात्र की प्रधानता है एवं यही अन्तिमाक्रमण त्रिगुम्मात्मक वायु बहर्म की प्रबोत्पत्ति-फलरूप से समन्वित करता है ।

तीनों में से आदि में पुरुषाक्रमण की प्रधानता अन्त में पुरुषाक्रमण की प्रधानता केवल मय्य में (दोनों ओर के पुरुषमात्रों से परतन्त्र के हुए) स्त्री का आक्रमण । इसीलिए हम पुरुष को स्वतन्त्र, कर्त्ता, अतएव प्रधान कहते हैं एवं स्त्री को परतन्त्र कर्त्तानुगामिनी अतएव गौण कहते हैं ।

वैसाकि पूर्व में कहा गया है पुरुषवत् स्त्री भी अपनी सोमस्थिति में स्वतन्त्र है । परन्तु स्त्री का यह स्वातन्त्र्य तभी सुरक्षित रह सकेगा, जबकि वह किसी 'पर' तन्त्र को अपना रखक बना लेगी । आर्यमहर्षि स्त्री की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते । अतएव चाहते थे केवल यही कि उनकी स्वतन्त्रस्थिति सोमप्रधान होने से श्रुत बनती हुई अमृत है प्रविष्टाश्रय है । अतः उन्हें अपने इस अप्रतिष्ठित स्वातन्त्र्य का उपयोग किसी प्रतिष्ठित स्त्रय का आधार बना कर ही करना चाहिए । 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमहति' वाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है । धर्माचार्यों ने — स्त्री परतन्त्र है' यह भी नहीं कहा है । कहते भी इस अवधि पुरुषों की मति स्वतन्त्रता स्त्रियों का भी अन्यविध अधिकार है । उक्त आदेशावधान का तात्पर्य केवल

इतना ही है कि-स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है। अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वयं न कर किसी अथ के आश्रय में ही इसका उपयोग करना चाहिए। यदि किसी एहसास में स्त्री अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करने लगेगी, तो वह स्वस्था उन्मूलन होजायेगी। यक्षशायरी चर्मरंगव के-कोनसा पर नष्ट हो जाता है। यह प्रश्न करने पर चर्मावतार युजिष्ठिर ने भी-‘स्त्री पुष्कच तद्धि गेह धिन प्म \* ( महाभारत ) ‘जहाँ स्त्री पुरुष बन जाती है वह घर नष्ट है’ यह उत्तर देते हुए एक सिद्धान्त का ही समर्थन किया है।

सम्पूर्ण सम्बन्ध-मण्डल की दृष्टि से जब उत्पत्तिरूप दम्पती का विचार किया जाता है, तब भी पुरुष की स्वतन्त्रता, एवं स्त्री की परतन्त्रता ही सिद्ध होती है। सम्बन्धीय स्वर्गोल के चौर दृश्य स्वर्गोल से [ आग्नेय स्वर्गोल से ] पुरुषसृष्टि का एवं चान्द्र ग्रहदृश्य स्वर्गोल से [ आग्नेय स्वर्गोल से ] स्त्रीसृष्टि का विकास हुआ है और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी संस्था की अपेक्षा से स्वतन्त्र भी माने जा सकते हैं। परन्तु दोनों की समष्टिरूप सम्बन्ध स्वयं अग्निमूर्ति है। यद्यपि अग्निमूर्ति सम्बन्ध के गम में अग्नेरूप पुरुष एवं सोमरूपिणी स्त्री दोनों स्वयं प्रतिष्ठित हैं। अतएव सम्बन्ध को अग्नि के साथ साथ सम्प्रत्य भी कहा जा सकता है तथा कि- सम्बन्धस्रोत वे सोमो राजा [ वी० ७।१ ]-‘सम्बन्धस्रोत वे सोमः पितृमान [ वे वा १।१।२।१ ] इत्यादि भूतियों से स्पष्ट है। तथापि सम्बन्ध का मौलिक रूप अग्नि ही माना जायगा। इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर ‘यजुःपुरुष’ ही कहा गया है। [ देखिए शत० १०।१।२।१ ]। यही ‘तस्य वा एतत्त्याग्नेयविशेषोपनिषत् के अनुसार वाक् नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्ति वाक् प्रजापति एकाकी ही थे। वे ही आग बाहर सृष्टकामता से अग्नेरूप पुरुष, एवं सोमरूप स्त्री इन दो रूपों में परिणत हुए हैं-‘अर्द्धेन पुरुषोऽभवत् अर्द्धेन नारी [मनु]। स्वयं भूति ने भी-‘सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् वागेय सोऽसृज्य [ शत० ६।१।१।७ ] कहते हुए वागग्नि को ही आत्मा-सोम का उत्पत्तिक माना है। इसी सब प्रमाणों के आधार पर हम वाक्मय किंवा वाक्प्रधान सम्बन्धप्रजापति को अग्निप्रधान ही कह सकते हैं। यही आत्मा है। इसी की सवत्र व्याप्ति है। सम्बन्ध की अग्निप्रधानता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट प्रमाणित होजाती है-

✽ अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायका ।

स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायका ॥

—प्रसिद्धा सूक्ति

‘विश्व संस्थाओं में कोई सञ्चालक नहीं होता अथवा अनेक सञ्चालक होजाते हैं अथवा स्त्री सञ्चालिका बन जाती है अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं वे स्वस्था कालान्तर में नष्ट ही होजाती हैं। महाभारतीय पवन के उक्त तथ्य के आधार पर ही यक्षस्थानी भाषा ( जयपुर की भाषा ) में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि ‘जी पर में लुगायों पामाङ्गे वैचा लक्ष ऊँ पर को अहिन ही आज्ञाय छ’ अर्थात्-जिस गृहस्थस्था में लोक-सामाजिकी-व्यवस्थाओं में स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है वह गृहस्थस्थिति लोक-सामाजिकी-व्यवस्थाओं की दृष्टि से भी एवं गृहस्थव्यवस्था की दृष्टि से भी कालान्तर में धिन ही होजाती है’ (स्त्रीपु पञ्च तद्धि गेह धिनप्लम) ।

- १—“सर्वं वै सम्वत्सरः” ( शत० १।६।१।१६। ) ।
- २—“सम्वत्सर एवाग्निः” ( शत० १०।४।१।२। ) ।
- ३—“सम्वत्सरो वै पिता यैश्वानरः प्रजापतिः” ( शत १।५।१।१६। ) ।
- ४—“वाक्सम्वत्सरः” ( ताण्ड्य० १०।१२।२।७। ) ।
- ५—अग्निः सम्वत्सरः” ( ताण्ड्य० १७।१३।१७। ) ।



सम्वत्सर वागग्निमूर्ति है। इस का अपना प्रधान भाग ही आग्नेय पुरुष है। एव गीष्मभाग ही सौम्या स्त्री है। इस दृष्टि से भी पुरुष ही स्वतन्त्र माना जायगा। अग्नि अन्नाद् दे, एवं सोम अन्न है। इस दृष्टि से भी पुरुष का प्राधान्य, एवं स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। अग्नि सत्य है। सोम श्रुत कनध हुमा अनुत्त है। इस दृष्टि से भी पुरुष ही प्रधान है। दक्षिणपार्श्वस्थ अग्नि वसुधात् है। उत्तरपार्श्वस्थ सोम निबद्ध है। इस पुरुष दृष्टि से भी पुरुष का वीर्यशालित्व एवं स्त्री का अवीर्यत्व ही सिद्ध हो रहा है।

इही उन प्रकृतिविद्वद्धारणों के आधार पर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में परतन्त्रता, स्वतन्त्रता-भावों का समावेश हुआ है। स्त्री की वायुविभाग की अधिकारिणी कहीं नहीं माना गया। स्त्री को सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक व्यवहारों में पुरुष की भाँति पूर्ण स्वातन्त्र्य कहीं नहीं मिला। उन की नाल-मुच-इडा कस्याम्नी में नयी पिता-पति-पुत्रों की अगला लगाई गई। इन सब प्रश्नों का एकमात्र समाधान अग्नि सोम की उक्त मौलिक व्याख्या ही है। स्मृतिशास्त्र को सामयिक, अवयव परित्यक्त नगति मानने वाले वृद्धा-म्हन्तु समझते हैंगे कि, स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसे विधान केवल स्मृतिधारों की ही कल्पना है। अपरिचित-नीय वेदशास्त्र का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हम उहाँ यह विश्वास दिलाते हैं कि, वे सम्पूर्ण विधान श्रुतिस्मृत अवयव सर्वथा वैज्ञानिक, अवयव व प्रामाण्यिक ही है। विस्तारमय से प्रकृत में वे उन भौत प्रमाण उद्धृत नहीं किए जा सकते। उदाहरणरूप से कुछ एक निदर्शन ही उक्तोक्त के लिए प्रभाव मान लिए जायेंगे।

## पुरुषसृष्टि आग्नेयी

## सम्बत्सर

## स्त्रीसृष्टि-सौम्या

## पुरुष.—

१-“पुरुषोऽग्नि”

—शा० १०।४।१।६।

२-“एतावान् पुरुष, यदात्मा प्रजा-ज्ञाया”

—सा० ३।४।३।

३-“यद्वै पुरुषवान् कर्मचिकीर्षति, शक्नो  
ति वै तत् कर्तुं”

—शा० १।२।५।४।

४-“पुरुष शतवीर्य्य”

—तै० ब्रा ३।५।१५।

५-“विप्रतिष्ठ पुरुषः”

—गो० पू० ४।०।४।

## स्त्री—

१ “उत्तरत आयतना स्त्री”

—शा० ५।४।४।११।

२-“अनृत स्त्री”

—शा० १।४।१।१।३१।

३-“कर्म वा हन्दित्र्य वीर्य्य, तदेतदुत्सन्न-  
स्त्रीषु”

—शा० १।२।७।२।११।

४-“अवीर्य्या वै स्त्री”

—शा० २।४।२।३६।

५-“पतयो षोडस्त्रिगै प्रतिष्ठा”

—शा० ६।२।१४।

## वृषा—

१-“इन्द्रो वै वृषा”

—शा० १।४।१।२३।

२-“वृषा हिङ्गार”

—गो० पू० ३।२३।

३-“वृषा रेव सिञ्चति”

—शा० २।४।४।१३।

४-“दधिस्रतो वै वृषा योषामुपशेते”

—शा० ६।३।१।३०।

५-“समग्निरिष्यते वृषा”

—शा० १।४।१।२६।

## योषा—

१-“योषा नै सिनीवाली”

—शा० ६।५।१।१।

२-“पुरन्धिर्योषा”

—तै० ३।५।१३।२।

३-“योषा रतो धत्ते”

—शा० ७।१।१।४४।

४-“योषा नै पत्नी”

—शा० १।३।१।१०।

५ “न नै योषा कश्चन दिनस्ति”

—शा० ६।३।१।३६।

## अग्नि.—

१-यो वै रुद्रः सोऽग्निः”

—शा० ५।२।४।१६।

२-‘वीर्यं वा अग्निः’”

—तै० १।७।२।२।

३-‘पुरुषो वा अग्निः”

४ ‘वृषाग्निः”

—शा० २।१।१।४।

५-‘अग्निर्वै रेतोषा”

—तै० १।७।२।३।

## सोम —

१-‘धीर्मे सोमः”

—शा० ४।१।३।३।

२-‘पशवो हि सोमः”

—शा० १।७।२।२।

३-मन्त्रा-सुत् सोमः”

—ये० ५।२५।

४-‘योषा वा आपः”

—सोमा-शा० २।१।१।४।

५-‘तिरो अहन्या हि सोमा

—की० १।५।५।

## अन्नाद.—

१-अन्नादोऽग्निः”

—शा० २।१।४।२।

२-अग्निर्मे देवानामन्नादः”

—तै० ३।१।४।१।

३-‘अग्निरन्नादोऽक्षपतिः”

—तै० २।५।७।३।

४-‘अग्निमन्नाद वेद, अन्नादो हिंसा  
मवति”

—शा० २।७।४।१।

५ ‘अन्नादा-सुत् अग्निः”

—ये० ५।२५।

## अन्नम्—

१-अन्न पशवः”

—ये० ५।१६।

२-‘अन्नसु धीः”

—शा० २।६।२।१।

३-‘धिया सित्र्यं (समदन्नात्)

—गो० पू० १।३४।

४-‘अन्न मे सोमः”

—शा० ३।५।१।२।

५ ‘परममन्नाद्य-सुत् सोमः”

—की० १।३।७।

## दक्षिणादिक्-

१ "दक्षिणामारोह-ग्रीष्म श्रुतः"

—शं० ५।४।१।२४।

२—"दक्षिणैव सर्गम्"

—गो० पू० ५।१५।

३—"अग्निना दक्षिणाम्"

—ऐ० १।७।

४-दक्षिणादिक्-इन्द्रो देवता"

—सै० ३।११।५।१।

५ "दक्षिणा दिशि रुद्रा देवा"

—ऐ० ५।१४।

## उत्तरादिक्-

१-उत्तरा इ वै सोमो राजा"

—ऐ० १।८।

२-"एषा नै वरुणस्य दिक्"

—सै० ३।२०।४।

३-"यदुत्तरतो वासि सोमो राजाभूतो वासि"

—जै० ३० ३।२।१२।

४-"एषा उ नै शान्ता दिक्"

—सै० २।१।१।५।

५-"एषा हि दिक् स्वष्टकृतः"

—शं० २।३।१।२३।

उक्त कुछ एक वचनों की अवधानपूर्वक देखने से विश पाठक अनुमन करेंगे कि स्त्री, और पुरुष, के स्वरूप-निर्माण में एक बहुत बड़ा अन्तर है। और वही अन्तर दोनों के प्राकृतिक-स्वरूपों का एकचार में प्रवाहित नहीं होने देता। अग्निप्रधान पुरुष वहाँ अपने स्वामाधिक विकास के कारण संकोचमात्र से बुर रहता है, वहाँ सोमप्रधाना स्त्री का संकोच स्वामाधिक धर्म का बाधा है। सद्यः को मूल में रखने वाले कृत्वा, शील आदि स्वर्गुण ही स्त्री के स्वरूप-रक्षक बनते हैं। अपने इसी स्वामाधिक गुणों के बल से स्त्री पुण्य की सामयिक उद्वेगवा का शमन किया करती है। समीकरणमूला शान्ति का मूल है—दो विरोधी शक्तियों का एकत्र समन्वय। यदि पुरुष की भाँति स्त्री भी आग्नेयी बन आयगी, तो विस्फोटन होबायगा। यदि पुरुष सीम्य एवं स्त्री आग्नेयी बन आयगी, तो संस्था उत्कृष्ट होबायगी। अग्नि—सोम (उमता—शान्ति) का समन्वय ही दाम्पत्यजीवन की शान्ति, सुप्ति सुप्ति का अन्त्यतम कारण है। स्त्री तभी अपने सीम्यरूप में प्रसिद्धित रह सकती है जबकि उसकी रक्षा का भार पुरुष के कंधों पर रहता है। 'पर' (पुरुषतन्त्र) तन्त्र को अपना रक्षक बना कर ही स्त्री अपने स्वरूपभूत सीम्यतन्त्र को सुरक्षित रख सकती है।

बिना स्वतन्त्रता परतन्त्रता के सम्बन्ध में रहना बिस्तार किया गया उस सम्बन्ध में अभी यह विदित न होसका कि सत्यता स्त्री का स्वातन्त्र्य क्या है, और उसकी परतन्त्रता क्या है? उस परतन्त्रता का क्या स्वरूप है जो स्त्री का स्वरूप दूषित कर देती है? साम्प्रकार किन अर्थों में स्त्री का परतन्त्रत्व खाना चाहते हैं?

स्त्री को सयथा अधिक्षित रखना जाय, पुरुष अपने किसी धार्मिक सामाजिक राजनैतिक धर्म में स्त्री का परामर्श न ले। स्त्री को घर से बाहर न निकलन द। स्त्री सदा अपने

## अग्निः—

१-यो वै रुद्रः सोऽग्निः”

—श० ५।२।८।१६।

२-‘वीर्यं वा अग्निः’”

—तै० १।७।२।२।

३-‘पुरुषो वा अग्निः’”

४-‘वृषाम्निः’”

—शत० २।१।१।४।

५-‘अग्निर्वै रेतोषा’”

—तै० १।७।३।३।

## सोम —

१-“भीर्मे सोमः”

—श० ८।१।३।६।

२-“पशवो हि सोमः”

—शत० १।७।२।२।

३-भद्रा-तत् सोमः”

—ये० ५।२।५।

४-“योषा वा आपः”

—सोमः-श० २।१।१।४।

५-“तिरो ब्रह्न्वा हि सोमाः”

—तै० १।७।५।

## अन्नादः—

१-अन्नादोऽग्निः”

—शत० २।१।४।२।

२-अग्निर्मे दवानामन्नादः”

—तै० ३।१।८।१।

३-‘अग्निरन्नादोऽक्षपतिः’”

—तै० ५।५।७।३।

४-“अग्निमन्नादं वेद, अन्नादो वै न भवति”

—श० २।२।५।१।

५-“अन्नादा-तदग्निः”

—ये० ५।२।५।

## अन्नम्—

१-अन्नं पशवः”

—ये० ५।१।६।

२-“अन्नं धीः”

—श० ८।५।२।१।

३-“धिया स्त्रियं (समवचात्)”

—यो० पू० १।३।४।

४-“अन्नं वै सोमः”

—शत० ३।५।१।२।

५-“परममन्नाद्य-यत् सोमः”

—तै० १।३।७।



हमारा समाज, हमारा राष्ट्र नीच-खीन ही हुआ है। अथवा ही सुधारमें ही सुधारकों का, एवं तत्पथप्रदर्शक सुधारक नेताओं का यह आवश्यकतम कर्तव्य होना चाहिए कि वे इन सब के विरुद्ध आवाज उठावें। भ्रष्ट बुद्धिमान इन भीषण प्रथाओं का अनुमोदन करना ?। अथवा ही हमारा स्त्रीसमाज सुशिक्षित होना ही चाहिए। उन के साथ होने वाले बर्बर व्यवहारों का नियन्त्रण करना ही चाहिए। बालविवाहों का समाप्त सब टन के द्वारा अवरोध होना ही चाहिए। और हम समझते हैं इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर कुछ समय से समाज के कुछ एक प्रगतिशील व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में आन्दोलन उठाया भी है। इन के इस आन्दोलन का हृदय से अभिनन्दन करते हुए इस सम्बन्ध में उन के सम्मुख बड़े ही प्रशस्तता से गीताचार्य्य मगवान् वासुदेव कृष्ण की दो सूक्तियाँ उद्धृत करना भी हम अपना आवश्यक कर्तव्य मान रहे हैं—

१—न बुद्धिमेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोपयेत्-सर्वकर्मणि विद्वान् युक्त समाचरेत् ॥

२—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

वर्तमानयुग का भारतीय समाज अधिकांश में अशिक्षित है, यह तो सुधारवादी को भी मान्य है। साथ ही उसे यह भी मानना ही पड़ेगा कि, उसे सुधार इसी अशिक्षित समाज का करना है। अब यदि हमारे ये सुधारकन्धु समाज में बुद्धिभ्रष्ट उत्पन्न कर देते हैं तो ये सुधार के म्यान में 'विगाड़' के ही कारण बन जाते हैं। यही इस समाज में व्यवहार इसी समाज में सुधार इसी समाज का। अतः सुधारक महानुभावों का यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि, जिस सुधार को लेकर हम आगे बढ़ें वृद्ध-कल-पात्र की परिस्थिति के अनुकूल ही यह सुधार बन सकेगा, अन्यथा नहीं। यदि सुधार लोकसमूह का आ यत्किं विरोधी है बुद्धिमेद का अधिष्ठान है तो हमें अपने सुधार को विपकुल पयोमुखम् ही बनाना पड़ेगा। शास्त्रियों का कुसंस्कार एक ऐसा से हटाने का प्रयास करना बुद्धिमान ही सिद्ध होगी। एक आवेदन ।

बालविवाह बुरा परन्तु इसके पक्षों आपको यह अनुरोध कर लेना पड़ेगा कि, बाल-मुया की परिमाणा क्या है ?। शक्ति-श्रीम-ग्रन्थान देशों के लिए इस सम्बन्ध में अलग ही परिभाषा विधानसम्भवा है ?। यदि आप स्वयं दिव्यदृष्टि रखते हैं तब तो कुछ कहना ही नहीं है। यदि आप की दृष्टि विशुद्ध लौकिक है, तो उस दृष्टा में इन सब विधानों का निर्णय एकमात्र 'शाब्द प्रमाण' के आधार पर ही करना पड़ेगा—“ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तं । नृमय आवेदन । यदि आपका सुधारवाद इन दोनों आशयों की उपेक्षा करके आगे बढ़ रहा है, तो इसे कहना पड़ेगा कि न यह सुधार हमारा है, न हमारे समाज का है न राष्ट्र का। अतः उसे धर्म की ओर में धार्मिकता स्थापना कर रहे हैं। ऐसे ही सुधारकनेता सुधार की ओर में हमारी मूलसंस्कृति को कुचलने का ही भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। तुलना कीलिए दोनों, और सुधारों की ।

१—स्त्री का अशिक्षित रहना सर्वथा अनुचित, किंतु कलेबों में पश्चिमी-सहश्रिता हम अशिक्षा से भी कहीं भयंकर ।

मुझ को अथगुण्डन ( बूँद ) से ढँक रखते । पति स्वसुर देवर आदि की आजाओं का पावन करने में कभी पीछे न हटे । यदि स्त्री इन अनुशासनों में कभी मूल्य कर दे तो पुरुष बर्बरता पूर्वक उसे मारे, पीटे जैसा चाहे दण्ड दे' यह स्त्रीपारतन्त्र्य का यही अर्थ है । अथवा शास्त्रीय पारतन्त्र्य का यही अर्थ समझ जायगा है तो इसे कहना पड़ेगा कि, ऐसी परतन्त्र्यता का शास्त्र में तो कहीं गण भी नहीं है ।"

राय ही—' स्त्री अपने कौटुम्बिक-धर्म की सन्तानपालन की गृहकर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर स्तूत अनेकों में पुरुषसमाज के साथ पश्चिमीरिश्ता की अनुगामिनी बनी रह । सामाजिक राजनैतिक कार्यों में संलग्न रहे । पुरुष ( पति ) के अनुशासन का कोई मूल्य न समझे' । देश-धर-कुलाधार-धर्माधार की सर्वथा उपेक्षा करती रहे, देश-भूषा आदि में सर्वथा परिचमीवेशों का अनुगमन करे । लज्जा-शीलादि का एकान्ततः परित्याग कर निरक्षर बनकर पुरुष-समाज में अदृष्टवास करती रह । किसी के नियन्त्रण की अनुमात्र भी अपेक्षा न करे । यदि स्वतन्त्रता का यही अर्थ समझ जायगा है तो, इसे कहना पड़ेगा कि, ऐसी स्वतन्त्रता का भी गण शास्त्र में तो नहीं है ।

उक्त परतन्त्र्य एवं स्वतन्त्र्य दोनों की व्यवहारशैली में अत्यन्त भेद है । परन्तु परिणामदृष्टि से दोनों समान हैं । उक्त परतन्त्र्यता में वहाँ पुरुषों के द्वारा स्त्री 'पशुमात्र' में परिणत होखी है वहाँ उक्त स्वतन्त्र्यता में स्त्री स्वम अपनी इच्छा से 'पशु' बन रही है । पशुमात्र की दृष्टि से दोनों समान हैं । अपनी इच्छा से जो क्रम किया जाता है माननीय मन उस पर किसी अन्य का नियन्त्रण सहन नहीं कर सकता । परन्तु जो काम दूसरे की इच्छा से विवश होकर किया जाता है उस में परेच्छा का ही नियन्त्रण सम्भव है । यही परिस्थिति वहाँ सम-मिष्ट । परतन्त्र्यतामूलक पशुमात्र में स्त्री पर पुरुषेच्छा का नियन्त्रण है । यही अनैच्छिक पशुमात्र है । अतएव इसका अवरोध होसकता है । परन्तु स्वतन्त्र्यतामूलक पशुमात्र में स्त्री का अपना ही इच्छा-स्वात्म्य है । यह पशुमात्र ऐच्छिक है । अतएव इस का सुधार असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य है ।

संस्कृति पर चढ़े हुए दुष्ट आचरण को हटाकर संस्कृति को बचा लेना चाहिये । परन्तु बिना आचरण के साथ साथ अपनी मूलसंस्कृति कोकर उसके स्थान में परसंस्कृति प्रतिष्ठित करली वहाँ आप भिन्न का सुधार नरो ? पतित का उद्धार सम्भव है । किन्तु एक कर जो बलान्तर हीनता वहाँ भिन्न का सुधार, कैय सुधार, और कहाँ का सुधार ? अपने को सुधार चाहसकता है परन्तु जो अपना न बदल सकेकर से परया बन गया उसका सुधार असम्भव है । जबतक हम 'हम' बन रहते हैं तभीतक हमारा सुधार सम्भव है । जब हम हम ही न रोये सो सुधार भिन्न का होगा ? इन्हीं कुछ एक तत्त्वनामों के आधार पर हम यह कहते हैं कि, प्रकृत परतन्त्र्यता स्वतन्त्र्यताओं में परतन्त्र्यता निहित है, परन्तु स्वतन्त्र्यता ( वस्तुतः महापरतन्त्र्यता ) को अधिकिस्व [ साहसान ] ही है ।

यही सब था उन कुप्रथाओं की समाप्ति यह जातिभोज ओसरमात्र बालविवाह, कन्या विक्रय वरविक्रम अन्त्यष्टी के साथ होनेवाला दुष्प्रवृत्त आदि नामी स अन्धवृत्तियाँ जायगा । इन में दोष अन्वेष्ट नहीं कि ये सभी कल्याण विपुल कल्याण हैं । यह भी निर्दिष्ट है कि, इन सब में हम

समस्त भारतीय शास्त्र पर इति बाल आइए। कहीं भी आपको स्त्री के सम्बन्ध में 'परतन्त्र' शब्द नहीं मिलेगा (१) 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (२) 'अस्वतन्त्रा स्त्रियः काम्या' इत्यादि रूप से केवल यही आदेश मिलेगा कि, "उनका स्वतन्त्रता का उपयोग स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए। अपनी इस स्वतन्त्रता को वे तभी सुरक्षित रख सकती हैं, जब कि किसी स्वरूप को वे अपनी प्रतिष्ठा बना लेती हैं। और अन्तर ही यह 'रक्षत्मक-भाव' स्त्री के सहस्रसिद्ध सौम्य स्वभाव के कारण सर्वमान्य ही माना जायगा।

साथ ही वहाँ वहाँ स्त्रीपारम्पर्य का उल्लेख हुआ है वहाँ वहाँ पुरुष का 'रक्षक' ही भाषित किया गया है न कि 'शासक'। उदाहरण के लिए 'पिता रक्षति कौमारं, भर्ता रक्षति यौवने रक्षति स्थाविरे पुत्राः - स्त्रियो रक्ष्या विरोपत - जायां रक्षन् हि रक्षति - 'रक्षेयुस्ताः - अतन्ते रक्षितु भाग्यार्थम्' इत्यादि कुछ एक वचन ही पर्याप्त होंगे।

'पुरुष होने के नाते मनु ने स्त्रियों के लिये ऐसे पक्षपातपूर्ण आदेश दू बाल हैं' इतप्रकार का अनर्गल प्रकाश करने वाले उन सुधारक-बन्धुओं को हम विश्वास दिलाते हैं कि, मनु भी आपके ही समान सुधारक, किन्तु वास्तविक सुधारक थे। स्त्रीजाति के पतन का दोष आप आब ब्रह्मप्रकार पुरुषजाति के मत्वे मँदते हैं आप के सहयोगी मनु ने भी पुरुष का ही अपराधी ठहराया है। मनु ने स्वयं शब्दों में ऐतिहासिक चट-नामों का निर्देश करते हुए यह सिद्ध किया कि, जिस समाज में स्त्रीजाति का पतन देखो, विश्वास करो! यह पुरुषजाति का ही अपराध है। जिसप्रकार नदी का मधुर जल चारमुख के संसर्ग से चार बन जाता है एवमेव स्त्री के गुण गुणहीन पुरुष के संसर्ग से दूषित ही होता है। ठीक इस के विपरीत पुरुष के सङ्गुष्ठा से दुर्गुष्ठा स्त्री भी सुधर जाती है। अतएव स्त्रीसमाज का अन्वुत्थान चाहन वाले पुरुषसमाज को पहिले अपना ही अन्वुत्थान करना चाहिए। कतलाइए, निर्मललिखित मनुवचन किसे अपराधी नहीं रहे हैं! एव किस के लक्ष पक्षपात कर रहे हैं?

१-यादगुण्येन भर्ता स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।

सादगुण्या सा भवति समुद्रे येन निम्नगा ॥

२-अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।

शारङ्गी मन्धपालन जगामाम्परहणीयताम् ॥

(१)- पिता 'रक्षति' कौमारं, भर्ता 'रक्षति' यौवन ।

रक्षन्ति' स्याविरे पुत्रा न स्त्रो स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

—मनु ६।३।

(२)-अस्वतन्त्रा स्त्रियः काम्या पुरुषै स्वैर्दिवानिशम् ।

विवयेषु च सज्जन्त्य सस्याप्या आत्मनो वशे ॥

—मनुः ६।२।

स्मक नियन्त्रण है। बहिर के शत्रुओं से हमें बचाने के लिए यदि रक्षक सैनिक विरोध स्वर्णों के लिए हमारा नियन्त्रण रक्ता है तो इसे हम अपनी रक्षा ही कहेंगे न कि परतन्त्रता। यही रक्षा हमारे स्वरूप-स्वात्मन्य की प्रसिद्धा देनेगी। तात्पर्य-स्त्री की रक्षा का मार्ग पिता-पति आदि बिन व्यक्तियों पर बाला गया है वे शास्त्र-शुद्धि से रक्षा नहीं करते अपितु 'सेवक' बनकर ही खोच-खापिब निमत हैं। पक्ष पक्ष पर पूजाभाव पूर्ण सत्कार पुनः सधुर नियन्त्रण।

एक चमत्कार और देखिए। मनु स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप से परिचित थे। वे जानते थे कि, सौम्य अन्तर्बल रत्ने वाले पुरुष को तो फिर भी कुटुम्बशासन में रक्खा जायकता है। परन्तु वह सौम्य स्त्री, जिसका अन्तर्बल आत्मन्य बनता हुआ उग्र है उस पर कुटुम्बशासन की कथा तो दूर रही मधुरशासन की बैसा नहीं चल सकता बित में बलात्कार की भावना का सम्प्राप्य सम्भव न सके। कलप्रयोग से इहं कमी नियन्त्रण में नहीं रक्खा जायकता। पूजनभावयुक्त रक्षाभाव सम्पत्तिसंग्रहनिपुक्ति, व्रज्य-शरीरशुद्धि बर्म्मेकव्या भिगमन, आदि आदि विषय भावों को मध्यस्थ बनाकर ही इस मातृशक्ति के अन्तर्बल को सुरक्षित रक्का जायकता है। देखिए। इस सम्बन्ध में रावर्षि मनु क्या कह रहे हैं-

१—न कश्चिदापितः शक्तः प्रसन्न परिरक्षितुम्।

एतैरुपाययोगैस्तु शक्तमास्ताः परिरक्षितुम् ॥

२—अर्थस्य सग्रहं चैनां, व्यये चैव निषोन्नयेत्।

शौचे, धर्मेऽन्नपक्वयां च, परिखाद्यस्य वेद्यये ॥

३—अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुत्र्यैराप्तव्यरिमिः।

आत्मानमात्मना यान्तु रक्षेयुस्ता सुरक्षिता ॥

—मनुः ॥ १० ११ १२ ॥

अर्थात्—'कदापि बलप्रयोग से स्त्री के स्वरूप की रक्षा सम्भव नहीं है। अपितु धनसंग्रह गृहस्थान्यय शौचाचार कुलाचार बर्म्माचार पर्वोत्सवमङ्गलपरायणता, भोजनव्यवस्था, गृहस्थपरिमह संरक्षण, आदि आदि कर्त्तव्यनिष्ठताओं के माध्यम से ही नारी की स्वरूप-रक्षा सम्भव है। पुरुष का यह स्मरण रक्का चाहिए कि, 'नारी घर की पारसीवारी में बलपूर्वक नियन्त्रित कर देने से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु इसकी रक्षा तो इस की स्वयं की-कर्त्तव्यानुगता-आत्मनिब न्यायपुति से ही सम्भव है'।

येषां चेतसि मोह-मत्सर, मद आन्ति समुज्जृम्भते ।

तेऽप्युते दयया दयाधनविमो ! सन्तारणीयास्त्वया ॥



उक्त दाम्पत्यरहस्यविज्ञान से अब यह सिद्ध हो चुका है कि आर्यावर्ष के कारुणिक श्रुतियों ने स्त्री-  
जाति के लिए बिन नियमों का विधान किया है, वे सब इसके अभ्युत्थान के ही कारण हैं। स्त्री की श्रुतमयी  
अतएव सत्वशून्या सौम्या वृत्ति को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर तो मगवान् मनुने यहाँ तक कह  
झाला है कि—

मात्रा स्वप्ना दुहित्रा वा न विचिन्तास नो भवेत् ।

वलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

—मनु २।२१।१।

‘माता-बहिन-दोहित्री आदि के साथ भी पुरुष को निर्वर्जन घर में नहीं बैठना चाहिए’ क्या मनु का  
उक्त विधान उपहासास्प है! सुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए। पर्वों के विरोध की ओट में  
आर्य्यनारी को वद्वत्सामनावासित पश्चिम के प्राङ्गण में साण्डबन्तृत्व के लिए खड़ा करना क्या  
जीजाति की उन्नति का मार्ग है!। लज लोचिए! ज्यों ज्यों आप विवेकबुद्धि से इस दुर्लभ प्रश्न का मनन  
करें जाँचें, त्यों त्यों आपकी विवेकशक्तिनी बुद्धि चिरन्तन श्रुतियों के पुपुन सिद्धान्तों की ओर निरन्तर  
आकर्षित होती जायगी।

हाँ, तो प्रकृत में हमें उक्त छन्दस से बतलाना यही था कि, स्त्री सौम्या है, श्रुतमावापना है।  
इस श्रुतमाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही रक्षात्मक-मर्यादासूत्ररूप योक्त्र से पत्नी का सम्बन्ध किया  
जाया है। योक्त्रबन्धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

“योक्त्रेण हि योग्य युज्यन्ति” ॥

॥—‘योक्त्रेण हि योग्य युज्यन्ति’ बन्धन मात्रवर्ष की विज्ञानसम्मत प्राचीन स्त्री की पुरातन वेशभूषा  
की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। अवश्य ही उस युग में माखीय-आर्य्यनारी का अघोस्त्र  
वेषा भी रहा होगा जिस में सूत्र-मयी, किंवा शंख की रज्जु ( डोरी ) घेत रहती होगी जिसे कि आज  
की राजस्थानीया-प्रान्तीय-माया में— नाड़ा कहा जाता है। ‘नाड़ा’ निरन्तर वैदिक-युग के ‘योक्त्र-  
बन्धन’ का ही प्रतिरूप है। परमसांस्कृतिक महद्वाक्यशाली राजस्थान में तो आज भी यहाँ की पद्मेदिवी की  
मुलसंस्कृतिकी वेशभूषा में योक्त्ररूप-नाड़ाबन्धन रूप से सुसम्पन्न सुप्रसिद्ध ‘घाचरा’ नामक अघोस्त्र  
ही उपलब्ध हो रहा है जिस की प्रथि भी उसी पद्धति से समर्थित है। एतदतिरिक्त ‘रास्ना’ नामक आभूषण  
की प्रतिरूपता का भी अत्र समावेश हुआ है। राजस्थान की नारी का सुप्रसिद्ध काञ्ची नामक ( फणकती )  
आभूषण भी वैदिक-युग की—‘रास्ना’ ही है।

● इन्डो-यूरोपीय पुरुष पुरुषसृष्टि का एवं वरुणोत्पत्ति का अलम्बन बतलाया गया है। इन्डो-यूरोपीय पुरुषसृष्टि की प्रधानता के द्योतक हैं एवं वरुण-सोमप्रधान पश्चिमोद्देश स्त्रीप्राधान्य के द्योतक हैं। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अवश्य ही दोनों के आदर्शों को भिन्न भिन्न ही माना जाएगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा कि हमारी प्राणप्रधाना वास्तव्यवस्था कभी उनके भूतप्रधान वास्तव्यवस्था से समतुलित नहीं हो सकती।

जाने बिना प्राकृतिक कारणों को। बिन पश्चिमी देशों की शक्तित्व को अस्वीकार कर लिया है, उन के लिए आज यही शक्तित्व सर्वसंहार का ही उपक्रम बन चुका है, इस नमनस्त्व को कौन स्वीकार नहीं करेगा?। आर्यनारी की स्वरूप-प्रतिष्ठा तो इसी में है कि वह अपने आपको स्वतन्त्र न समझ कर अपनी स्वतन्त्रता का आधा भाग पुरुष को ही समझे। तब तो आर्यपुरुष का वह कृत्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इनके सहयोग से ही करे। दोनों की सम्मानना ही हमारा देश का अभ्युदय कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवेश में पड़कर यह भूल जाते हैं कि, हम रुढ़िवाणों का जो सुधार करना चाहते हैं वह सुधार वास्तविक सुधार नहीं है, अपितु यह तो पश्चिमी देशों का शिशुद्वय अनुकरणमात्र है। और इस अनुकरण की तुलना में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि, जो अनुकरण जो सुधार, जो स्वतन्त्रता हमारा मूल नारा करने के लिए ही मुँह बाँध ली है, हाकिम, एवं अराष्ट्रीय कर्ष की प्रथा के विरुद्ध सुनवाई पड़ने वाली किन्हीं नीचप्रतिष्ठाओं की ओर में आर्यनारी को आज जो निर्लक्ष्यता का पाठ पढ़ाया जा रहा है वृद्धि बाहि-मोर्षों के सुधार के नाम पर पश्चिमानुकरणप्रधान किन्हीं प्रीतिमोर्षों (पाटियो) का समर्थन किया जा रहा है इन सब अक्षय्यकालों की तुलना में तो हमारी परतन्त्रता हमारी वृद्धि प्रथाएँ ही बड़ी अच्छी हैं। इस लिए कि उन सुधारों से हमारे मूल पर प्रत्यक्ष रूप से ही आक्रमण हो रहा है।

अस्तु, जिस युग में धर्म एक ठेकेदारी की बस्तु बन कर अधर्म-प्रसार ही कर रहा हो वहाँ 'नैतिक बहुतायत' आमातक ही सर्वांगीण वरिष्ठता हो रहा हो वहाँ के सुधारकस्तु यदि सुधार के नाम पर शिष्टता का प्रचार करें, तो इसमें उनका कोई भी दोष नहीं माना जा सकता। देशभक्त की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है जिस राज्य से हम शक्ति हैं उसकी सम्मति का भाव हम पर न पड़े यह भी आवश्यक है। इन सब वस्तुओं को ध्यान में रखते हुए पारस्परिक वैमनस्य का परिणाम कर देश के विद्वानों एवं सुधारनेवालों के धर्म-लित परामर्श से कोई ऐसा मध्यमपथ निकलना ही चाहिए, जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जा सके, एवं साथ ही पश्चिम-यूरोप के इस मर्यादक काल के मध्य में यही हुई अपनी मौलिकता की भी रक्षा के रूप से रक्षा की जा सके। अभी तो यही कहना पड़ेगा कि धर्मालुयायी धर्मनिराता एवं समाज उद्वेगवादी समाजनेता धर्म सुधार प्रसार के नाते अधर्म-विनाश ही कर रहे हैं। इन पक्षियों के असमर्थ लेखक के प्रकाश में अपनी सोम-शक्ति के लिए इन के अतिरिक्त आर का क्या बच रहा है कि वह दयानिधि से माधना करे कि भगवन् !

● इस विषय का विस्तृत विवेचन "गीताभाष्यभूमिका" के प्रथमलघु में दलना चाहिए।

येषां चेतसि मोह-मत्सर, मद भ्रान्ति समुज्जम्भते ।  
तेऽप्यते दयया दयाघनविभो ! सन्तारणीयास्त्वया ॥



उक्त दाम्पत्यरहस्यविज्ञान से अब यह सिद्ध हो चुका है कि, आर्यावर्ष के कारुणिक श्रुतियोंमें स्त्री-जाति के लिए जिन नियमों का विधान किया है, वे सब इसके अभ्युत्थान के ही कारण हैं। स्त्री की श्रुतमयी अत्यन्त सत्यशू या सौम्या वृत्ति को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर तो भगवान् मनुने यहाँतक कह डाला है कि—

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।  
वत्तवानिन्द्रियग्रामो विद्रांसमपि कर्षति ॥

—मनु २।२१।४

‘माता-वहिन-दोहित्री आदि के साथ भी पुरुष को निर्वर्जन घर में नहीं बैठना चाहिए’—क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्पद है ! मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए । पक्ष के विरोध की ओट में आर्य्यन्तरी को उद्दामवामनावस्थित पश्चिम के प्राकृत्य में वायव्यवर्तुत्य के लिए झड़ा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का मार्ग है ! बल सोचिए ! क्यों क्यों आप विवेकबुद्धि से इस बुराई प्रचलन का मनन करते बाँटें, त्यों त्यों आपकी विवेकशालिनी बुद्धि चिरन्तन श्रुतियों के पुरातन सिद्धान्तों की ओर निश्चयेन आकर्षित होती बाएगी ।

हाँ, जो प्रकृत में हमें उक्त उक्तम से बल्लाना यही था कि, स्त्री सौम्या है, श्रुतमावापचा है । इस श्रुतमाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही रक्षस्मक-मर्त्यादामूत्ररूप योक्त्र से पत्नी का सम्बन्ध किया गया है । योक्त्रबन्धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हुई भुक्ति कहती है—

“योक्त्रेण हि योग्य युञ्जन्ति” \* ।

\*-‘योक्त्रेण हि योग्य युञ्जन्ति’ बचन भारतवर्ष की विज्ञानसम्प्रदाय प्राचीन स्त्री की पुरातन वेशभूषा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । अवश्य ही उस युग में भारतीय-आर्य्यनारी का अघोमय वेश ही रहा होगा जिस में सूत्र-मयी किंवा श्याम की रम्भु ( डोरी ) मोट रहती होगी जिसे कि आब की राक्षसानीया-प्राप्तीया-माया में— नाङ्गा कहा जाता है । ‘नाङ्गा’ निश्चयन वैदिक युग के ‘योक्त्र-पम्बन’ का ही प्रतिरूप है । परम्परावर्तिक महर्ष्याम्बशाली राजस्थान में तो आज भी यहाँ की घरदेवियों की मुखरुक्तिककी वेशभूषा में योक्त्ररूप-नाङ्गाबन्धन रूप से सुधमन्वित सुप्रसिद्ध ‘घाचरा’ नामक अपोवस्त्र ही उपलब्ध हो रहा है जिस की प्रस्थि भी उठी पदस्थि से समन्वित है । एतदतिरिक्त ‘रास्ना’ नामक आभूषण की प्रतिक्रिया का भी आज उमावेश हुआ है । राजस्थान की नारी का सुप्रसिद्ध ‘फाञ्जी’ नामक ( कण्ठफती ) आभूषण भी वैदिक-युग की-‘रास्ना’ ही है ।

• इन्टरमीडियट पुरुष पुरुषस्यष्टि का एवं वरुणसोमप्रधान स्त्रीस्यष्टि का अन्तर्गत बतलाया गया है। इन्टरमीडियट पुरुषस्यष्टि की प्रधानता के चोटक है एवं वरुण—सोमप्रधान पश्चिमीदेश स्त्रीप्राधान्य के चोटक है। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अग्रज्य है दोनों के आधारों को मिला मिश्र ही माना जाएगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा कि हमारी प्राणप्रधाना वास्तव्यकर्मन्त्या कभी उनके भूतप्रधान वास्तव्यजीवन से समतुलित नहीं हो सकती।

जाने बिना प्राकृतिक कारण को। जिन पश्चिमी देशों ने शक्तिव्यवस्था को अग्रज्य कर लिया है, उन के लिए आज वही शक्तिव्यवस्था सर्वप्रकार का ही उपक्रम बन चुका है इस नम्यव्यवस्था को कौन स्वीकार नहीं करेगा?। आर्यवर्तनी की स्वयं-प्रतिष्ठा तो इसी में है कि, वह अपने आपको स्वतन्त्र न समझ कर अपनी स्वतन्त्रता का आधा मांग पुरुष को ही समझे। उधर आर्यपुरुष का यह कथन्य है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इनके उपयोग से ही करे। दोनों की सम्मेलन ही हम। देश का अन्वय कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवेश में पड़कर यह मूल जाते हैं कि, हम इतिहासों का जो सुधार करना चाहते हैं वह सुधार वास्तविक सुधार नहीं है अपितु यह तो पश्चिमी देशों का विरुद्ध अनुकरणमात्र है। और इस अनुकरण की तुलना में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि, जो अनुकरण जो सुधार, जो स्वतन्त्रता हमारा मूल नाश करने के लिए ही मुँह बाँध लगी है। हानिकर, एवं अराष्ट्रीय पक्षों की प्रथा के विरुद्ध सुनाई पड़ने वाली जिन मीमप्रतिष्ठाओं की ओर में आर्यवर्तनी को आज जो निर्लज्जता का पाठ पढ़ाया जा रहा है। दुष्टित वास्तविकताओं के सुधार के नाम पर पश्चिमोन्मुखीकरण जिन प्रीतिभोजों (पाथी) का समर्थन किया जा रहा है, इन सब अक्षय्य ठाण्डों की तुलना में तो हमारी परतन्त्रता हमारी वृत्ति प्रथाएँ ही बड़ी अच्छी हैं। इस लिए कि, उन सुधारों से हमारे मूल पर प्रत्यक्ष रूप से ही आक्रमण हो रहा है।

अस्तु जिस युग में धर्म एक ठेकेदारी की कस्त बन कर अधर्म-प्रचार ही कर रहा है। वहाँ 'नस्त्वन्ति बहुनायकाः' आचार्य ही सर्वमना परिगर्भ हो रहा है। वहाँ के सुधारकस्तु यदि सुधार के नाम पर भिगाड़ का प्रचार करें, तो इसमें उनका कोई भी दोष नहीं माना जा सकता। देशभक्त की परिस्थिति का विचार भी अक्षय्य है जिस शास्त्र से हम शास्त्र हैं। उसकी सम्मता का भाव हम पर न पड़े वह भी अक्षय्य है। इन सब तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए पारम्परिक वैमनस्य का परिचय कर देश के विद्वानों एवं सुधारनताओं के समीक्षित परमेश से कोई ऐसा मध्यमपथ निकालना ही चाहिए, जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जा सके एवं साथ ही पश्चिम-पक्षों के इस भवानक लक्ष्य के मध्य में पड़ी हुई अपनी मौलिकता की भी बेन केन रूप से रक्षा की जा सके। अभी तो यही कहना पड़ेगा कि धर्मानुयायी धर्मनिष्ठा, एवं समाज वस्तुवादी समाजनेता धर्म सुधार प्रचार के नाते अधर्म-भिगाड़ ही कर रहे हैं। इन परिस्थितियों के अग्रमर्थ लेखक क प्रशिक्षण में अपनी धर्म-शान्ति के लिए इस के अतिरिक्त आर कया बन रहा है कि, वह दानिधि स प्राधान्य करे कि भगवन्।

• इस विषय का विराट विवेचन "गीताभाष्यभूमिका" के प्रथमखण्ड में दलना चाहिए।



है। इन प्राणों का संयोग दृष्टिपूर्व से भी होसकता है। पुराण में ऐसे अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि, अमुक अपि ने अमुक स्त्रीकी ओर कामवासना से दृष्टा पर्व दृष्टिपूर्व के सम्बन्धमात्र से गर्भाधान होगया। यदि आत्मा निर्बिकार है माय प्रबल है, तो ऐसा होना कोह असम्भव नहीं है। उक्त आत्मा का उक्त सत्त्व्य कमी न्यून नहीं जाता। यह आत्मरूपा रेत-आहुति प्रबोधपति का कारण बनने वाली है। इसमें यत्नमानपत्नी का योगप्राप्त भी संयुक्त होना चाहिए। बिना इसके यत्नमान का यह अधूरा रहता है। योगप्राप्तात्मक इसी मिथुनभाव की प्राप्ति के लिए पत्नी को रेतोरूप आत्म के उद्घाटन करके खोले है ॥२८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का आवरोध एवं किमलादि का आवरणदोष रहता है तो योगप्राप्त का आन्य में प्रवेश नहीं होसकता। मेरे चक्षु सर्वथा निरुद्ध हैं—मैं निरुद्ध चक्षुओं से ही आन्य देखती हूँ 'अदृष्ट्वेन त्वा चक्षुषा परस्मि' यह मन्त्र माग इसी भावना को दृष्टमूल बनाता है। अग्निस्वाला ही अग्नि की जिह्वा है। ज्ञाप ही यह भी सिद्ध विषय है कि जबतक अग्नि प्रदीप्त नहीं होता तबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते। जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते, तबतक आहुति सार्थक नहीं बनती। आहुति का उद्घाटन होना प्राणदेवताओं के आगमन पर ही निर्भर है। प्राणदेवताओं का आगमन प्रदीप्त(समिद्ध)अग्नि पर ही निर्भर है। अग्नि की प्रदीप्ति आख्याहुति पर ही निर्भर है। अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि में प्राणदेवताओं को प्रतिष्ठित करना आत्म्य का ही काम है। अतः हम आवश्यक ही आन्य को अग्नि का रोमन आह्वान करने वाला जिह्वा-स्थानीय मानसकृते हैं। आहुतिद्वय से त्रिव्यक्तमा का शरीरनर्माण होगा—मन्त्रप्रयोग सफल होगा। य सब कर्म आख्याहुति पर ही निर्भर हैं। आन्य के इसी स्वस्मभर्म में भी भावना करते हुए— 'अग्नजिह्वासि० इत्यादि मन्त्र बोलते हुए ही आन्य'शन किया जाता है ॥२९॥

## इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

४५ ६-परिशिष्ट कर्मानुगता (आज्यस्थापन, आज्यप्रोक्षणी का उत्पदन, एवं अर्घ्य-युक्त आज्यदशन) उपपत्ति—

पहिले के कर्मों में यह कलाया जाना है कि महिम प्रत्येक परिपाक के सम्बन्ध में दो मत हैं। गाहपत्यग्नि में हविद्रव्य का परिपाक करना पहला पक्ष है। एवं आहवनीय में परिपाक करना दूसरा पक्ष है। दोनों ही पक्ष भूतिरिद्ध हैं। इन पक्षों में यह नियम आवश्यक है कि, गार्हपत्यपक्ष में गाहपत्याग्नि में ही, एवं आहवनीयपक्ष में आहवनीयाग्नि में ही हवि का परिपाक होता है। यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यत्नमान आहवनीय में हविद्रव्य का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है। आत्म्य भी एवमकार से हविद्रव्य है। इसका भी आहवनीयपक्ष में न्यायतः आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए। एभी अयस्था में यदि पुरोडाशाभिभयणकाल में ही आत्म्य का भी आहवनीयाग्नि में अभिभयण होजाता है तो पत्नी इसका अवलोकन नहीं कर सकती। कारण पत्नी का स्थान गाहपत्य है। आत्म्यदर्शन का विधान इसी स्थान पर है। यहाँ से आत्म्य'र्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा से व्युत्पन्न होते हुए यज्ञस्वरूप विहृत करना है। 'परनी

है। दक्षिणपारा में यही दक्षिणस्थ अग्निमूर्ति यशविष्णु प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—  
“हे दक्षिणपारा! आप विष्णुरूप यज्ञ के वेष्टन हो, यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हो” इस मन्त्र के द्वारा यही मानना रखते हुए उसका (राजपञ्चाङ्ग) ऊर्ध्व की ओर ही उद्गृह्य किया जाता है।

अब केवल यह प्रश्न उचल आता है कि, जैसे यज्ञकर्म में युक्त यजमान-अध्वर्यु-होता-उद्गाता-ब्रह्मा आदि अस्तिव्यों के लिए बैठने के स्थान नियत हैं तथैव इस पत्नी के बैठने का भी निश्चय नियत स्थान है। इसी प्रश्न का सौम्यपण्डित समाधान करती हुई भुक्ति करती है—

न्यायमाप्त बात तो यह है कि, यजमानपत्नी को गार्हपत्यान्तरिक्ष के ठीक पश्चिम में पूर्वमुख करके ही बैठना चाहिए था। अर्थात् पत्नीशाला का निर्माण गार्हपत्य से पश्चिम में ही होना चाहिए था। अतएव स्पष्ट है। प्रकृति में धर्मरूप आहवनीय पूर्व में है। पृथिवीरूप गार्हपत्य इसके पश्चिम में है। पश्चिमस्थ भूपिण्ड (अदित्यपराशित भूपिण्ड) देवताओं की पत्नी है। पश्चिम में प्रतिष्ठित होती हुई पृथिवी (भूमिदेव) धर्म की ओर (पूर्व की ओर) चलती हुई घूम रही है। पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई, सम्बत्तर का स्वरूप-सम्पादन करती हुई अदिति पृथिवी ही और प्राग्देवताओं के सम्बत्तर-यज्ञ का स्वरूप-सम्पादन कर रही है। यजमानपत्नी इसी अदिति पृथिवी के स्थान में है। इधर इस वैधव्य में वेदि के पूर्वभाग में अथ-रियत चतुरस्र (चौकोर) आहवनीयकुम्भ ऋषभ की प्रतिरूप है, एवं वेदि से पश्चिमदिक् में अवस्थित यशु न गार्हपत्यकुम्भ अदिति पृथिवी का स्वरूप है। यही स्वरूप यजमानपत्नी का है। अतः इसे स्वस्थानमुख (अदितिरथानभूत) गार्हपत्य के ठीक पश्चिम में ही बैठना चाहिए। परन्तु ऐसा न कर गार्हपत्य से दक्षिण नैऋतदिशे में ही पत्नीशाला बनाई जाती है। कारण इसका यही है, कि यदि पृथिवी-स्वामी गार्हपत्य के समीप पश्चिम में पत्नी को बैठाया जायगा तो यह पत्नी परिभ्रमण करती हुई पृथिवी के साथ युक्त होजायगी। पार्थिवगति में आरुद्र शोभायगी एवं जैसे पृथिवी सम्बत्तर के मीतर मीतर (परिभ्रमण से) पृथ्वी में पहुँच जाती है तथैव इस की गतिमायना से आकर्षित यजमानपत्नी भी पृथ्वी में चली जायगी। पत्नी को इसी पृथ्वीगमन से बचाने के लिए प्रकृतिविद स्थान से हटकर गार्हपत्य से दक्षिण नैऋतदिशे में ही प्रतिष्ठित किया जाता है ॥१७॥

## इति-पत्नीसनहनीपपत्ति



### ३—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति —

पत्नी योपायागमयी है। इधर आम्भ यत्नरूप होने से योपायागमय है। आम्भ (घृत) दुग्ध का कार्य है। दुग्ध ओषधि का विकार है। ओषधि पानी से उत्पन्न हुई है। पानी सोम का विकार है। सोमद्रव्य साक्षात् देत है। यही सोम परम्परया आम्भरूप में परिणत हुआ है। ऐसी क्रमशः में आम्भ का अन्तर्ग ही रेत कहा जासकता है। मात्प्यारम्भ में वह पतलाया बाधुष है कि, प्रयोग-गति में यही पुरुष का मिश्रणमात्र कारण नहीं है अथि योपा-युगा-प्राक् यः भिद्युनमात्र ही प्रयोज्यार्थक

है। इन प्राणों का संयोग इन्द्रिय से भी हो सकता है। पुराण में ऐसे अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि, 'अमुक श्रुति ने अमुक स्त्री की ओर कामवासना से वेला एवं इन्द्रिय के सम्बन्धमात्र से गर्भाधान हो गया'। यदि आत्मा निर्बिकार है भाव प्रचल है, तो ऐसा होना कोई असम्भव नहीं है। सत्य आत्मा का सत्य सत्त्व्य कभी व्यर्थ नहीं आता। यह आत्मारूपा रत-आहुति प्रवोत्पत्ति का अरण्य बनने वाली है। इसमें यथमानफली का योषाप्राण भी समुक्त होना चाहिए। बिना इसके यथमान का यह अधूर रहता है। योषाप्राणवत्क इसी मियुनभाव की प्राप्ति के लिए फली को रेतोरूप आश्रय के दशत कटार आते हैं ॥१८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का आश्रयोप एवं किमलादि का आवरणदोष रहता है तो योषाप्राण का आश्रय में प्रवेश नहीं हो सकता। मेरे चक्षु सर्वथा निरुद्ध हैं—मैं निरुद्ध चक्षुओं से ही आश्रय देलती हूँ 'अद्वेन त्वा चक्षुषा पश्यामि' यह मन्त्र माग इसी भावना को इन्मूल बनाता है। अग्निज्वाला ही अग्नि की बिम्बा है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, जबतक अग्नि प्रदीप्त नहीं होता तबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते। जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते, तबतक आहुति सार्थक नहीं बनती। आहुति का सफल होना प्राणदेवताओं के आगमन पर ही निर्भर है। प्राणदेवताओं का आगमन प्रदीप्त(समिद्ध)अग्नि पर ही निर्भर है। अग्नि की प्रदीप्ति आत्माहुति पर ही निर्भर है। अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि में प्राणदेवताओं को प्रतिष्ठित करना आश्रय का ही काम है। अतः हम अवश्य ही आश्रय को अग्नि का शोभन आह्वान करने वाला जिज्ञा-स्थानीय मान सकते हैं। आहुतिव्य से दिव्यत्मा का शरीरनर्माण होगा—मन्त्रप्रयोग सफल होगा। ये सब कर्म आत्माहुति पर ही निर्भर हैं। आश्रय के इसी स्वरूपधर्मों में भावना करते हुए— 'अग्नर्जिह्वासि० इत्यादि मन्त्र बोलते हुए ही आश्रयदर्शन किया जाता है ॥१९॥

## इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्ति

४५ द-परिशिष्ट कर्मानुगता (आश्रयस्थापन, आश्रयप्रोक्षणी का उत्पन्न, एवं अध्वर्युकृत आश्रयदर्शन) उपपत्ति—

पहिले के कर्मों में यह कलाया बाधक है कि यज्ञिय द्रव्य का परिपाक के सम्बन्ध में दो मत हैं। गार्हपत्याग्नि में इन्द्रिय का परिपाक करना पहला पक्ष है। एवं आहवनीय में परिपाक करना दूसरा पक्ष है। दोनों ही पक्ष श्रुतिस्मिद्ध हैं। इन पक्षों में यह नियम अवश्य है कि गार्हपत्यपक्ष में गार्हपत्याग्नि में ही, एवं आहवनीयपक्ष में आहवनीयाग्नि में ही हवि का परिपाक होता है। यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यथमान आहवनीय में इन्द्रिय का परिपाक करता है तो इस पक्ष में दोष आता है। आश्रय भी एवमकार से इन्द्रिय है। इसका भी आहवनीयपक्ष में न्यायत आहवनीयाग्नि में ही परिपाक होना चाहिए। एसी अवस्था में यदि पुरोडाशविभ्रयणकाल में ही आश्रय का भी आहवनीयाग्नि में अधिभ्रयण हो जाता है तो परनी इसका अवधान नहीं कर सकती। कारण पत्नी का स्थान गार्हपत्य है। आश्रयदर्शन का विधान इसी स्थान पर है। यहाँ से आश्रयदर्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा से न्युत होते हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है। 'पत्नी



अ यह पञ्चपत्रात्मक आपोमय विश्व 'अष्टाष्ट' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अथवा ब्राह्मण की २२ वीं अधिवक्ता के— तद्विदमप्सु पयो हितम् । इस रहस्यपूर्ण-निगम के द्वारा अप्सत्त्व अ ही-नीर-हीर-विषेक' हुआ है।

हैवानुगत 'नीर-हीर-विषेक' नामक लौकिक-न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है, जिस इस लोकप्रसिद्ध न्याय का मूल आधार 'तद्वप्सु पयो हितम्' ( सो यह घृत पानी में प्रतिष्ठित है ) यही वचन बन रहा है। 'नीर आप (पानी) है एवं—'हीर' 'आज्य' (घृत) है। इस प्राश्नमौलिक-विश्व के मूलोपादानभूत विश्व की सीमा में, विश्व के गम में नीर भी है और हीर भी है। अर्थात् आपः भी है, और आज्य भी है। पानी और घृष्ट ( आज्य का मौलिकरूप ), दोनों के सम्मिश्रण का नाम ही 'विश्व' है।

अपनी आत्माधामयी सौम्या पावन-अर्द्धा को 'पुराणशास्त्र' के स्वाध्याय एवं भवण से धन्य-कृत-कृत्य करते रहने वाले मानवभ्रष्टों के लिए यह सुनिश्चित ही है कि पुराण-कथानुसार त्रैलोक्य के पालनकला मगवान् विष्णु अनन्त-शयनाग की मुचिस्फुरा-कोमलशय्या पर 'हीरसमुद्र' में ही शयन कर रहे हैं। मानवीया प्रजा के अपराध से अब ब। श्री धर्मरूपा ( स्तम्भ ) विकम्पित होनावा है तो तब तब ही देवताओं की कल्याणार्थ प्रायना पर कल्याणकालाय शयनायी मगवान् विष्णु हीरसमुद्र का परित्याग कर अंगारूपेण अवतीर्ण हुआ करते हैं। कौनसा है वह 'हीरसमुद्र' जिसमें विष्णु शयन कर रहे हैं। इस महान् सम्प्रेषण का समाधान व्यवसायात्मिका जिस नैष्ठिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है, यही तत्त्वनिष्ठा बुद्धि—'नीरहीरविषेकशास्त्रिणीबुद्धि' कहलाई है एवं तो शब्दों में विवेकशास्त्रिणी उसी सत्त्व बुद्धि से सम्बन्ध रखत बाले—'नीर-हीर-विषेक' की ओर हम अपने केन्द्रित पाठक का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्वायम्भुव-अभ्यक्त-त्रयीमर्ति-प्रजापति के बागमाग से उत्पन्न, सन्न व्यष्ट, अष्टाष्टरूप-सम्पाक 'अप्सत्त्व' का ही नाम है—'परमेष्ठी' इसी का नाम है अष्टाष्टिरेमर्ति पारमेष्ठ्य विष्णु जिसका मागव तत्व ही 'सत्त्व' नाम से प्रसिद्ध हुआ है एवं आक्षिप्ततत्त्व ही—'सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध हुआ है बोके सरस्वती ही—श्री कहलाई है। सरस्वतीरूपा आक्षिप्तसी श्री, एवं आम्बुलीरूपा भर्तायी सत्त्वः व ही दोनों आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु की परिनिर्वा हैं, जिनके सम्बन्ध में—भीष्म त सत्त्वमीश्वर पन्थी ( यशु-नहिता ) यह प्रसिद्ध है। मेधा प्राकृत-स्थितिः। स्थितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरहीरविषेक बुद्ध्या।

पारमेष्ठ्य विष्णु का भुगतत्व ही अपनी पनावस्था से—आप है तरलान्धरा स 'धातु' है, एवं विरलान्धरा से—'सोमः' है। आपो-धातु-सोम-इत्येतं तृगण' ( अति ) के अनुसार इन तीनों तत्त्वों की समष्टि का नाम ही—भृगु है जिनसे क्रमशः अमुर-गन्धर्व पितर-नामक तीन पारमेष्ठ्य-प्राधात्मक वर्ग अभिगृह्यत हुए हैं। अमुर आपोमय है गन्धर्व धातुमय है एवं पितरः सोम्यास' । है गन्धर्वाणामय

को आत्मदर्शन कराना आवश्यक है। इस विचार से आहवनीयाधिभ्ययण के नीचे में ही अथर्व्यु आत्म्य को गार्हपत्य के समीप लाकर पत्नी को आवेक्षण कराई। यह भी पद्धति के प्रतिकूल है। एवं पद्धतिविरोध कम्य यज्ञस्वरूप का पातक है। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का मार्ग पत्नी को आत्म्य न दिखलाने पर पर्यवर्तित मान लिया जाय। यह भी सम्भव नहीं है। यदि पत्नी ने आत्म्यावेक्षण न किया तो उसका बन्ध से पुनर्बन्ध होना पगा। इसप्रकार आहवनीयाधिभ्ययणपद्धति में न अथर्व्यु पत्नी के समीप आसक्तता, न पत्नी आहवनीय के समीप आसक्तता न पत्नी को आत्म्यदर्शन से वञ्चित किया जासकता। यदि गार्हपत्याधिभ्ययण पद्धति है तो किसी प्रकार को दोष नहीं आसकता। कारण-इस पद्धति में आत्म्याधिभ्ययण भी गार्हपत्य में ही होता है। ऐसी अवस्था में गार्हपत्य के समीप ही नैष्ठिक कोष में बैठी हुई यजमानपत्नी के आत्म्यदर्शन में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती। परन्तु आहवनीयपद्धति में उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भूतिने यह उपाय बतलाया है कि, आहवनीयाधिभ्ययणपद्धति में-पूरोडायाधिभ्ययणकाल में आत्म्याधिभ्ययण नहीं करना चाहिए, अपितु जब पत्नी के आत्म्यावेक्षण का समय आये उस समय पहिले आत्म्या आत्म्य का गार्हपत्याग्नि में अधिभ्ययण कर लेना चाहिए। जब पत्नी गार्हपत्यस्थान में ही आत्म्यावेक्षण करले तो आहवनीयाधिभ्ययणपद्धति की प्राक्तमार्था को सुरक्षित रखने के लिए पुनः (आत्म्यावेक्षणानन्तर) आहनीयाम्नि में आत्म्याधिभ्ययण कर लेना चाहिए। अधिभ्ययणानन्तर आत्म्य को देवप्राणपुनत वेदिमण्डप पर रख देना चाहिए। २०।२१।२२।२३।२४।

‘आत्मोमया सवरसा सवमोपोमयं जगत् (महामारु) इव सिद्धान्त के अनुसार वह द्रव्य-भूतमौलिक-पञ्चपर्व विरचन अपने मूल में-‘अप-तृच’ का ही प्रतिष्ठित रूप रहा है। अर्थात् पञ्चमौलिक-विरचन का मौलिक उपादानद्रव्य अपवृत्त ही माना गया है। क्योंकि निम्नलिखित मनुवचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

सोऽभिभ्याय शरीरात् स्वात् सिसृषुर्विषा प्रजाः ।

अप एव ससृजर्वाद्वा सासु बीजमेषासृजत् ॥ (मनुः १।८।

अप-सृज-सम-नामक मौलिक-अभिप्रास्तमक अपोऽपेय-सत्त्वामक-वेद से कृतस्म अथर्व्यु-प्रभावति अपने अक्षुष्टाप्रानुगत यज्ञ के-‘अ- रूप वागुमाग से सर्वप्रथम ‘अप-’-रूप में ही परिणत होते हैं। जो कि वह अपवृत्त संपूर्ण विरचन को व्याप्त-आप्त करने के कारण-आप्तः नाम स एवं अक्षररूप से संपूर्ण विरचन का वरण करने से-‘आ (वारि)’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है +। ‘तत् आसृजत् समजरात्’ के अनुसार इस अपवृत्त के परिवेहन से ही अभ्यक्त-मज ‘असृज’ रूप में परिणत हुआ है। इसीलिए उक्त अभ्यक्तमज

• स्वयम्भू-परमेष्ठो-सूय-यगुमा प्रविधी ही क्रमशः आकारा-वायु-तज-जल-मृत् नामक ‘पञ्चमहाभूत’ हैं एवं इन पाँच पर्वों से ही ‘पञ्चपर्व-विरचन का स्वरूप-निर्माण हुआ है जिसका उपादान द्रव्य ‘अप-तृच’ ही माना गया है।

— सोऽपोऽसृजत् वाच एव लोकात् । वागश्च साऽसृज्यत । सृजं सर्वमान्योत्-वदिदं किञ्च । तस्मात् आपः । सर्वमपृणोत्-तस्मात् वाः । वारि) । ( शत० ६।१।१८ )

य यह पञ्चपानामक आपोमय विश्व 'अद्यावत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत ब्राह्मण की १५ वीं अध्याय के 'तद्विदमप्यु पयो हितम्' इस रहस्यपूर्ण-निगम के द्वारा अप्सत्त्व का ही-नीर-हीर-विवेक' हुआ है।

हैतानुगत 'नीर-हीर-विवेक' नामक लौकिक-न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है, जिस इस लोकप्रसिद्ध न्याय का मूल आधार 'तद्विदमप्यु पयो हितम्' ( सो यह घृत पाना मैं प्रतिष्ठित है ) यही मन्त्र बन रहा है। 'नीर' आप (पानी) है एवं-हीर-आज्य (घृत) है। इस प्राश्नमौक्तिक-विश्व के मूलोपादनभूत विश्व की सीमा में, विश्व के गम में नीर भी है, और हीर भी है। अर्थात् आप भी है, और आज्य भी है। पानी और दूध (आज्य का मौक्तिकरूप), दोनों के समिश्रण का नाम ही 'विश्व' है।

अपनी आन्ध्यामयी सौम्या पावन-भद्रा को 'पुराणशास्त्र' के स्वाध्याय एवं भवण से धन्य-कृत-कृत्य करते रहने वाले मानवभ्रष्टों के लिए यह सुविष्टि ही है कि पुराण-कथानुसार त्रैलोक्य के पालनकृता भगवान् विष्णु अनन्त-शयनाग की सुचिक्कणा-कौमलशय्या पर 'हीरसमुद्र' में ही शयन कर रहे हैं। मानवीया प्रजा के अपराध से जब ज्ञा भी धम्मस्कम्भ (स्तम्भ) विकसित होता है तो तब तब ही देवराजों की कल्याणार्था शायना पर कल्याणकल्याण शय्यामी भगवान् विष्णु हीरसमुद्र का परित्याग कर अशरूपेण अवतीर्ण हुआ करते हैं। कीनसा है यह 'हीरसमुद्र' जिसमें विष्णु शयन कर रहे हैं! इस महान सम्पन्न का समाधान व्यवसायिकों के नैष्टिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है, यही तत्त्वनिष्ठा बुद्धि-नीरहीरविवेकशालिनीबुद्धि कहलाता है एवं दो शब्दों में विवेकशालिनी उसी कृत बुद्धि से सम्पन्न गमन वाले-नीर-हीर-विवेक' की ओर हम अपने बदनियत पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्वायम्भुव-अभ्यक्त-त्रयीमूर्ति-प्रजापति के शास्त्राग से उत्पन्न सत्र व्याप्त, अरहत्स्वरूप-सम्पादक 'अप्सत्त्व' का ही नाम है-परमप्रीति' इसी का नाम है अम्बुशिरमूर्ति पारमप्रेम विष्णु, जिसका मागवत्त्व ही 'लक्ष्मी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है एवं आश्विनस्तव ही-सरस्वती नाम से प्रसिद्ध हुआ है जोकि सरस्वती ही-भी कहलाता है। सरस्वतीरूपा आश्विनरती श्री, एवं आम्बुशिररूपा भार्गवी लक्ष्मीः व ही होती आपोमय पारमप्रेम विष्णु की प्रतिमा हैं, जिनके सम्मुख में-भीरव त लक्ष्मीम्ब पम्प्या (पञ्चमहिता) यह प्रसिद्ध है। सैषा प्राकृत-स्त्रिणि । स्थितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरहीरविवेक बुद्ध्या ।

पारमप्रेम विष्णु का भृगुत्व ही अपनी वनावस्था से-आपः है तद्विदमप्यु से प्राप्त है, एवं विरलापत्था से-सोमः है। आपो-प्रायु-सोमः-इत्येते भृगवः' ( अतिः ) क अनुसार इन तीनों वस्तुओं की समष्टि का नाम ही-भृगु है जिनसे क्रमशः असुर-गन्धर्व पितर-नामक तीन पारमप्रेम-प्राप्तमप्यु एवं अमिष्यक्त हुए हैं। असुर आपोमय है गन्धर्व नापम्य है एवं पितरः सोम्यास्त' । हैं गन्धर्वप्राप्तमप्यु

वायम्यस्तु ही-इह 'अनन्त गोप नाग' - ( सर्पशरीर-‘अक्षराह’ नामक पारमेष्ठ्य महान् वायु ) है, जिस पर पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् शयन कर रहे हैं । पारमेष्ठ्य मार्गव आप ही-‘नीर’ ( पानी ) है मागव सोम ही- क्षीर ( दूध ) है एवं दोनों का विभाजक है मध्यस्थ मार्गव-शेषनागात्मक-अन्तर्मप्राप्तात्मक वायु । यों पारमेष्ठ्य ‘सरस्वान्’ नामक महान् समुद्र में-नीर-क्षीर-आयु-इन तीन तत्वों की तृप्ति सिद्ध होती है । इस तत्वत्रयी को आधार बनाकर ॥ हमें-‘नीरक्षीरात्मक विश्व का समन्वय देलना है ।

क्षीरमाव ‘बुध’ है और सौम्य है अर्थात् सोममय है जो कि वह सौम्य क्षीर उस आपोमय समुद्र में बुलमिष्ट रहा है । मध्यस्थ-वायु ही इस का नीर से पार्थक्य करता रहता है, एवं इसी पार्थक्य से इस सोममय क्षीर में चिदात्मा [विष्णु] अभिम्यक्त होते हैं । चिदात्मा की गर्भभूमि को- ‘महद्ब्रह्म’ माना गया है जो कि पारमेष्ठ्य-पितृप्राप्तमय-सौम्य-तत्व ही है एवं जिसके सत्त्व-रज-स्तम नामक तीन तो सुप्रसिद्ध गुण माने गए हैं एवं स्वर्णगुण अहं-ह्रस्वितिमात्र चन्द्रमानुगत प्रकृतिमात्र एवं भूमि-हातुगत-आकृतिमात्र ये तीन प्रकृतिमात्र माने गए हैं । महद्वापावस यह पारमेष्ठ्य-महद्ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति-जननी-माता है जिसमें चिदात्मा विष्णु गर्भधारण करते हैं ॥ इसी मार्गव-महद्ब्रह्म में चिदात्मा क्योंकि गर्भधारण करते हैं इनके क्योंकि आप्य-वायव्य-सौम्य-नामक तीन महिमा-विषय हैं अतएव महद्ब्रह्ममूलक प्राणीसर्ग ‘आप्यजीव ( जल के प्राणी )-आयज्यजीव । आयु के मानव-पशु-पक्षी-कीट-हृदि-प्राणी ) एवं-सौम्यजीव ( अग्निविद्युद्बलयोगिनिसर्ग ) नामक तीन प्रकार के ही माने गए हैं जिसका पूर्ववृत्तों में यत्र तत्र संक्षेप, एवं विस्तार से स्पष्टीकरण होमया है ।

चिदात्मा विष्णु जिसमें गर्भ धारण करेंगे वहीं क्षीर की अभिव्यक्ति होगी एवं वही मूलस्वर ‘नीरक्षीरविवेक’ का मूलाधार माना जायगा । वायु योही समझने वैसी है । विश्वप्रजा को हम वृषासग योपासग भेद से दो मार्गों में विभक्त मानेंगे बिनके मूल-पारमेष्ठ्य-अक्षिरा, और यशु ॥ को हुए हैं । यशु का संक्षिप्त नाम हम सोम रख लेते हैं एवं अक्षिरा का संक्षिप्त नाम-‘अग्नि’ मान लेते हैं । अग्निवयु ही वृषावयु है एवं इसी का नाम है-‘पुरुषवयु’ । सोमवयु ही ‘योपावयु’ है एवं

+ पांच भूतों में से मूल-बल-वेद के निश्रेय होवाने पर वायु ॥ शेष रख रहता है जो प्राणवायु आकाशवत् नित्य ही माना गया है । यही यशु के समन्वय से ‘महान्’ कहलाया है-‘[यथाक्रमगता नित्यं वायु सर्वत्रगा महान्]-गीता] । इस श्रेयता से ही वह सर्पशरीर-प्रथवरश्मेय से धोषयमान आमु-बाहव अप्सव से विप्राक बना हुआ-पारमेष्ठ्य वायु ‘अनन्तशेषनाग’ ( सर्प ) कहलाया है जो सोमसमन्वय से मय-बोमल भी है ।

✽ -मम योनिर्महत् प्रथ तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भव सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ १ ॥

सर्वयोनिषु कां तेष ! मृषय सम्भवन्ति या ।

तासां प्रथ महद्योनिरहं पीजप्रदः पिता ॥ २ ॥

—गीता



स्त्री का नाम है—स्त्रीसृष्टि । नर [ पुरुष ], और मादीन [ स्त्री ] ये ही प्रमुख दो विश्वसर्ग हैं । आग्नेय पुरुषसर्ग, तथा सौम्य स्त्रीसर्ग दोनों ही सग शरीरानुभवेन आपोमय ही हैं, जैसा कि—इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो मवान्तः इत्यादि छान्दोग्यवचन से स्पष्ट है । उपर्युक्त पुरुषों का शरीर भी आपोमय ही है एवं योषामिच्छ स्त्रियों का शरीर भी आपोमय ही है । किन्तु इन दोनों आपोमय शरीरों की मूलप्रकृति वृषक् वृषक् है । आग्नेय वृषा—पुरुष की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा वहाँ 'अग्नि' ही है वहाँ सौम्या योषा स्त्री की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा—'सोम' ही है । अतएव अग्निप्रकृतिप्रधाना—इयार्मिच्छ—पुरुष की सृष्टि में शरीरानुभवेन अप्रतत्त्व के विद्यमान रहने पर भी—सौम्य क्षीर [ सोमात्मक दूध ] की अभिव्यक्ति नहीं होने पाती । इतर सोमप्रकृतिप्रधाना योषामिच्छा स्त्री की सृष्टि में इस के मूलप्रकृति रूप सोमभाव के अनुकूल से इस के आपोमय शरीर में क्षीर [ दूध ] अभिव्यक्त होपड़ता है । और यों पुरुष और स्त्री इन दोनों आपोमय शरीरों में से एक स्थान पर [ स्त्री के शरीर में ] तो क्षीर अभिव्यक्त हो जाता है, एवं एक स्थान पर [ पुरुष के शरीर में ] क्षीर अभिव्यक्त नहीं होता ।

वहाँ क्षीर अभिव्यक्त होगा वही चिदात्मा गर्भ धारण करेगी, वहाँ उसी क्षेत्र में प्रजननधम्म अभिव्यक्त होसकेगा । अतएव सौम्या क्षीरिणी मातृवाचि ही महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्वारा श्रीप्राप्तिक विवरा [ जीवात्मा ] को स्वगर्भ में धारण कर इस मौलिक स्वरूप भी प्रदान करने में समर्थ बनती है एवं अपने आपोमय शरीर में अपनी मूलमूला सौम्या प्रकृति से अनुप्राणित 'क्षीर' से इस प्रजा का पोषण-वर्द्धन करने में भी समर्थ बन जाती है । और यों विश्वधम्म प्रजापति ने सृष्टिप्रक्रिया में—सौम्या-योषा के आपोमाग में ही—पय [ क्षीर-दूध—] हित-प्रतिष्ठित-किञ्च है—तच्छु पयो हितम् । पिता के समस्तुक्तन में माता का स्थान क्यों सर्वोच्च माना गया ? प्रजनन का भी यही मौलिक रहस्य है । वहाँ—वहाँ—सौम्य-योषा—प्राण अभिव्यक्त होगा वही वही—उसी उसी आपः में अवश्य ही क्षीर अभिव्यक्त रहेगा । वही वही क्षीर अभिव्यक्त होगा वही वही चिदात्मा अभिव्यक्त होगा । यों इस नीर-क्षीर-विवेक के माध्यम से ही मानव जीव के जीवत्वं से परिचित होसकेगा, इसी परिचय से इसे स्वरूपबोध होगा एवं यही स्वरूप

'हंसो भया क्षीरमिवाम्बुमध्यात्' इस कविसृष्टि के अनुसार ऐसा माना जाता है कि 'यदि हंस नामक पक्षी के सम्मुख पानी और दूध मिलाकर रक्त दिया जाता है तो—हंस दूध दूध से पी जाता है, और जल छोड़ देता है । इसी आधार पर नीरक्षीर न्याय चल पड़ा है । सम्भव है ऐसा भी हो । किन्तु हम तो हम मन्वयता के प्रति कोई आश्या नहीं रख रहे । ऐसा केवल कवि की कल्पना का ही साम्राज्य माना जायगा । कदाचि 'सृष्टीयं च हंसमाहुः' "स अति के अनुसार पारमेष्ठ्य-गन्धर्वप्राणात्मक वायु का नाम ही—'हंस' है । ईशात्मक यह पारमेष्ठ्य वायु ही अपनी मध्यस्थता से आपः रूप नीर का तथा सोमरूप क्षीर का विभाजक बना हुआ है । और निश्चयेन इसी मौलिक सत्यसिद्ध कारण के आधार पर नीरक्षीरन्याय प्रचलित हुआ है । यही पारमेष्ठ्य हंस नामक वायव्यप्राण क्षीर के सहयोग से 'भोक्तृसुपण' बन कर मातृ गर्भ में जन्म लेता है । अतएव जीवात्मा का एक नाम हंस भी होसका है जैसा कि 'शरीरं रह गया और हँसा उड़ गया' इस 'लौकिक-किमन्ती' से भी स्पष्ट है । नीररूप आपोमय ब्रह्मायुध में कर्मानुसार जन्म लाने वाला यह हंसरूप भोक्ता सुपण ( जीवात्मा ) महद्ब्रह्मात्मक धम्म क्षीर का तत्त्वबोधार्थक विभाजन से ही स्वरूपबोध में समर्थ बना करता है । और यही इसका—'नीर क्षीर विवेक' है ।

वायव्यतत्त्व ही—यह अनन्तर रोप नाग + ( सर्पशरीर—यज्ञधराह ) नामक पारमेष्ठ्य महान् वायु ) है, जिस पर पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् शयन कर रहे हैं। पारमेष्ठ्य मार्गन आया ही—‘नीर’ ( पानी ) है मार्गव सोम ही—क्षीर ( दूध ) है, एवं दोनों का विभाजक है मध्यस्थ मार्गव—रोपनागसमक—अन्तर्मप्राप्तक वायु। यों पारमेष्ठ्य ‘सरस्मान्’ नामक महान् समुद्र में—नीर—क्षीर—आयु—इन तीन तत्वों की सत्ता सिद्ध हो-जाती है। इस उत्पत्तियों को आधार बनाकर ही हमें—‘नीरक्षीरात्मक विरव का समन्वय देखना है।

क्षीरमात्र ‘दुग्ध’ है और सोम्य है अर्थात् सोममय है जो कि यह सोम्य क्षीर उस आपोमय समुद्र में वृतामिश्र रहा है। मध्यस्थ—वायु ही इस का नीर से पार्यन्त करता रहता है एवं इसी पाथक्य से इस सोममय क्षीर में चिदात्मा [विष्णु]—अभिषिक्त होते हैं। चिदात्मा की गर्भसृष्टि की—महद्ब्रह्म माना गया है जो कि पारमेष्ठ्य—पितृप्राप्तमय—सौम्य—तत्त्व ही है एवं जिसके सत्त्व—रज—स्त्वम नामक तीन तो सुप्रसिद्ध गुण माने गए हैं एवं सूर्यानुगत अहर्हर्गतिविभाज, चन्द्रमानुगत प्रकृतिमात्र एवं भूमिप्राप्तनुगत—आकृतिमात्र ये तीन प्रकृतिमात्र माने गए हैं। पदमावापन यह पारमेष्ठ्य—महद्ब्रह्म ही विरव की मूलप्रकृति—जननी—माता ॥ जिसमें चिदात्मा विष्णु गर्भधारण करते हैं ॥ इसी मार्गव—महद्ब्रह्म में चिदात्मा क्वीकि गमधारण करते हैं इनके क्याकि आप्य—वायव्य—सौम्य—नामक तीन महिमा—विषय हैं अतएव महद्ब्रह्ममूलक प्राणीसर्ग—आप्यजात्र ( जल के प्राणी )—आयव्यजीव्य । आयु के मानव—पशु—पक्षी—कीट—कृमि—प्राणी एवं—सौम्यजीव्य ( अष्टविध देव्योनिर्गर्ग ) नामक तीन प्रकार के ही माने गए हैं जिसका पूर्ववृत्तों में यत्र तत्र संक्षेप एवं अतिरिक्त से स्पष्टीकरण होगया है।

चिदात्मा विष्णु जिसमें गर्भ धारण करेंगे वहीं क्षीर की अभिव्यक्ति होगी एवं यही मूलस्वर ‘नीरक्षीरविवेक’ का मूलाधार माना जाएगा। बात थोड़ी समझने जैसी है। विश्वप्रका को हम घृपासर्ग योपासर्ग मेघ से ने मार्गों में विभक्त मानेंगे बिनके मूल—पारमेष्ठ्य—अक्षिरा और भृगु ही जने हुए हैं। भृगु का संक्षिप्त नाम हम सोम’ रख लेते हैं एवं अक्षिरा का संक्षिप्त नाम—‘अग्नि’ मान लेते हैं। अग्निवृष्टि ही घृपासृष्टि है एवं इसी का नाम है—‘पुरुषसृष्टि’। सोमवृष्टि ॥ योपासृष्टि’ है एवं

+ पाँच भूतों में से मूल—जल—तेज के निरोध होवाने पर वायु ही रोप बच रहता है, जो प्राणवायु का कर्तावत् निय ही माना गया है। यही भृगु के सम्बन्ध से ‘महान्’ कहा गया है—[‘यथाक्षरागतो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान्’—गीता]। इस रोपता से ही यह सपशरीर—मध्यस्थवेग से पोष्यमान अमरु—वायव्य अप्सत्त्व से विप्राक्त बना हुआ—पारमेष्ठ्य वायु ‘अनन्तरापनाग ( सर्प )’ कहा गया है, जो सोमसम्बन्ध से मध्य—कोमल भी है।

✽ —मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भव सर्वभूतानां तस्यो भवति भारत ! ॥ १ ॥

सर्वयोनिषु को तेप ! मृषाय सम्भवन्ति या ।

तासां प्रथम महद्ब्रह्मो निरर्हं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥

—गीता

नस यही पर इसकी सत्यमापण-मर्त्यादा समाप्त होजाती है। यही रहत्य भ्रुति-स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वेद की भ्रुति क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधान में वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानों यह कहा है कि, "वेदकाल में लोचनकला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेदमन्त्र कण्ठ किए जाते थे। इस भ्रवण-सम्बन्ध से ही वेद 'भ्रुति' नाम से प्रसिद्ध हुआ। हमारे विचार से पश्चात्य विद्वानों भ्रुति शब्द के उक्त अर्थ के सम्बन्ध में बड़ी ही भूल करी है। 'तृपुर्वाक्य भ्रुति' ओतुर्वाक्य स्मृति स्मृति स्मृति का यही अर्थ है। बिस्ने विषय के दर्शन किए हैं उस की सुनाई हुई बात हमारे लिए भ्रुति है, एवं भ्रुति के आधार पर मनन करके बिस्ने भ्रुति के उपर हितमात्र को हमारे सम्मुख रखता है, उसका वाक्य ही 'स्मृति' है। द्रष्टा कल्पवृक्ष से देख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा भ्रुति के वाक्यस्वरूप अतिशयात्म को स्वतःप्रमाण माना गया है। स्मृति भ्रुत्यनुगा मिनी है। अतः इसे परत प्रमाण माना गया है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि चक्षुर्बिन्दुय अत्र रय ही कल्पमावसेव है। इन्ही आधार पर आँखों वाली परशुराम कभी न सुँठी होय यह किमदन्ती प्रचक्षित है। यह चक्षुःकल्प स्त्याग्नि है। अग्नि हुआ है। अबमानपत्नी ने अवेक्षण से आग में योगप्राण का समावेश किया था, यजमान का प्रतिनिधिकय अण्वस्य आग में ऊष्मानिरूप योगप्राण का समावेश करता है। एवं इन सब के द्वारा योगावस्थात्मक यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥२॥

आग्न्य तेजोरूप है। अग्निवृद्धि करना आग्न्य का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना दूसरा स्वभाव है एवं अमृतपोषण करना तीसरा धर्म है। मन-प्राण-वाक्-तीनों में वाक् शुक्लत्व है। प्राण तज है। मन अमृत है। धृत से वाक्मय शुक्र को पृथक् होता है। प्राणमय (आजमय) शरीराग्नि प्रवृद्ध होता है। एवं मनीमय अमृतभाग का पोषण होता है। इसप्रकार यह आग्न्य तेजः शुक्र-अमृत रूप प्राण-वाक्-मन का पोषण करता हुआ भूतात्मा की समृद्धि का धरण करता है। धृत से ऊँ कर आत्म समृद्धि के लिए क्षीर दुधर कोह उत्कृष्ट साधन नहीं है। आग्न्य का वाक्त्व में यही गुण है। 'तेजाऽसि शुक्र-मस्यमृतमसि' इस स्वभावना से माणित होकर आत्मस्थान करने वाला अण्वस्य अवरम ही आग्न्य का अण्विभूति से युक्त करता हुआ उद्धार पिण्यात्मा को सत्ययुक्त ही बनाता है ॥२॥

## इति-अनुवादप्रकरणम्

प्रथमकारणानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण  
एवं द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

नोष इसके अय्युदय-नि भोयस् का अरुण बनेगा जिस इस प्रकृतिसिद्धा कारणता के आचार पर ही लोक में नीरक्षीरन्याय' प्रकान्त होचका है। सौम्य-क्षीरहिमक-वारमेष्ट्या-जगन्माता-हैममती उमा-भृगवती के अनुग्रह से ही अतिमानी देवनाभोंने स्वरूप-नोष प्राप्त किया था, जिसका कैनोपनिषत् में विस्तार से विरलेषण हुआ है।

उक्त प्रासङ्गिक नीर क्षीर-भिवेक के माध्यम से प्रकृत में यही वस्तुज्ञाना है कि—अपूर्वत्व में ही प्रकृति ने सौम्यासृष्टि [ योषासृष्टि ] के अनुकूल से वह पय [ दूध ] प्रतिष्ठित किया है जिसका उत्तर परिणाम आम्ब [ पृथ ] ही माना गया है। दुग्ध का अर्पर्यभूत आम्ब योषारूपा स्त्री का प्रकृतिविद्वत् प्रतिष्ठितत्व ही माना गया है। यही क्षीरानुगत आम्ब प्रकृतनवधर्मनिगूढा प्रभा का मूलाधार है। आम्ब यज्ञ के द्वारा देवात्मा का प्रबन्धन ही अपेक्षित है वह योषा पर ही अवलम्बित है। अतएव योषाप्रालम्बिका यन्मानफली को प्रकृति सिद्ध—'तद्विदमप्यु पयो हितम्' इस कारणता के के अनुकूल से ही आम्बदर्शन' (धृष्टदर्शन) करण्य जाता है।

'पवित्र' से पहिले आम्ब का मोक्षण किया जाता है अनन्तर आरवधर्षण से आम्बयुक्त बने हुए पवित्र से मोक्षणी पानी का उत्पन्न होता है। इस मोक्षणी-मोक्ष्य का तात्पर्य है—पानी में पय का आधान। पानी में एक प्रकार का जीवनीय रस होता है। इसी जीवनीय रस को लक्ष्म में रणकर जीवन् मुषन् वनम् इत्यादि रूप से पानी को 'जीवन कहा जाता है। इसी जीवनीय रस को—'ओषा शिवतमो रस' (कृष्ण) इत्यादि रूप से 'शिवतमरस' नाम से व्यञ्जित किया जाता है। दिव्यात्मा इस जीवनीय शिवतम रस से युक्त बने इसी अभिप्राय से वह उत्पन्नकर्म किया जाता है ॥२५॥

श्रुतिवद् दक्षिणाशीत है। श्रुतिवद् यज्ञकर्म में अपने मनः-प्राण-वाक्मय आत्मा का जितना अथ मय्य करते हैं उसना माग दक्षिणा के द्वारा पूर्ण कर दिया जाता है। यदि दक्षिणादान नहीं होता है तो वज्रमान के यज्ञमा (दिव्यमा) में श्रुतिवीरों का भी आत्मा समाविष्ट रह जाता है। यही यज्ञ का चतुर्मास (आपूर्वय) है। इस चतुर्मास को दक्षिणा से दूर किया जाता है। दक्षिणाग्रहण से श्रुतिगमण यज्ञ में जितने कर्म करते हैं देवताओं से वो आशीर्वा मांगते हैं—उन सबका सम्भव यज्ञमान के साथ ही होता है। अतः अन्धधुत् को ही आम्बदर्शन करना चाहिए। 'यज्ञमान आम्बदर्शन करे' प्राचीनों का यह आग्रह निश्चिन्तादि से सर्वथा वहिष्कृत अतप्य उपक्षणीय ही है ॥२६॥

सूर्य से चक्षुर्मिश्रय का निर्माण होता है। सूर्य ऊर्ध्वर्षि है। पुराणने वारमेष्ट्य मधुरगर्भित स्यो-सिर्मय विन्मूर्ति ( मदा जाग्रत ) इसी क्षीरविष्णु को ( यज्ञ की ) सत्यनारायण नाम से व्यवहृत किया है। त्रयीमय अग्निर्नूर्ति अतएव सत्यसूर्य से निष्पन्न होने वाले चक्षु में ऊर्ध्व की प्रतिष्ठा रहती है। मनुष्य के क्षीर चक्षु ही एक जग साधन है जिसके आचार पर वह सत्साध्य के निर्णय पर पहुँच सकता है। जब यज्ञमान यज्ञ में दीक्षा होता है तो—उसका—स ये सत्यमेव यदेत्' यह आदेश दिया जाता है। इस आदेश का अन्वयविदोक्तज्ञान में ही अग्नि पूषण उठता है कि, अनुप्य होकर सत्य पाने, यह सर्वथा अममम्भय है। क्योंकि मनुष्य अन्तर्लक्षित है। जब यह सत्य यज्ञ ही नहीं करता तो फिर उसके लिए—तुम्हें सत्य पोसो इन आदेश का क्या महत्व रह जाता है ? आगे जाकर हम पूषण का समाधान करती हुई धृति करती है कि यज्ञप्रकारिता की आर से पुराण में चक्षुःऊर्ध्व का निर्माण हुआ है। यह जैसा सत्य जैसा बात'

नव यही पर इसकी कथ्यप्राण-मर्यादा समाप्त हो जाती है। यही रहस्य भूति-स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वेद की भूति क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधान में वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानोंने यह कहा है कि, "वेदकाल में सोलनकक्षा का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेद-ग्रन्थ कण्ठ किए जाते थे। इस भयान-संस्कृत से ही वेद भूति नाम से प्रसिद्ध हुआ।" हमारे विचार से पश्चात्य विद्वानोंने 'भूति' शब्द के उक्त अर्थ के सम्बन्ध में चढ़ी ही भूल की है। 'द्रष्टुर्वाक्य भूति' श्रोतुर्वाक्य स्मृति स्मृति स्मृति का यही अर्थ है। जिसने विषय के दर्शन किए हैं उस की सुनाई हुई बात हमारे लिए भूति है, एवं भूति के आधार पर मनन करके जिसने भूति के उपर हितभाव को हमारे सम्मुख रखा है उसका वाक्य ही 'स्मृति' है। द्रष्टा कथ्यचक्षु से देख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा श्रुतियों के वाक्यसंग्रह रूप अतिरासत्र को स्वतःप्रमाण माना गया है। स्मृति श्रुत्यनुगा मानी है। अतः इसे परव प्रमाण माना गया है। प्रकृत में हम केवल यही कहना है कि चक्षुरिन्द्रिय अवश्य ही कथ्यमावेष्ट है। इसी आधार पर 'सौर्वा वस्त्री परशुराम कमी न मुँठी होम यह किवदन्ती प्रचलित है। यह चक्षुःसत्य क्यामि है। अग्नि हुआ है। यजमानपत्नी ने अवेष्टन से आत्म में बोधाप्राण का समावेश किया था यजमान का प्रतिनिधिरूप अवेष्ट्य आत्म में क्यामिरूप बोधाप्राण का समावेश करता है। एवं इन सब के द्वारा बोधाव्यात्मक यज्ञ को समुद्र बनाता है ॥२७॥

आत्म वेष्टीरूप है। अग्निवृद्धि करना आत्म का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना वृक्ष स्वभाव है एवं अमृतपोषण करना तीसरा धर्म है। मन-प्राण-वाक्-तीनों में वाक् शुक्रतत्त्व है। मास तज है। मन अमृत है। धृत से वाक्मय शुक्र को वृद्धि होती है। प्राणमय (आजमय) शरीराग्नि प्रवृद्ध होता है। पच मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है। इसप्रकार यह आत्म वेष्ट-शुक्र-अमृत रूप प्राण-वाक्-मन का पोषण करता हुआ भूतामा की समृद्धि का अरण्य बनता है। धृत से का कर आत्म समृद्धि के लिए और वृक्ष को उक्त लाधन नहीं है। आत्म का वास्तव में यही गुण है। वेजोऽसि शुक्र-मस्यमृतमसि इस कथ्यमावना से मावित होकर आत्म-शान करने वाला अवेष्ट्य अवश्य ही आत्म को अवेष्टिभूति से युक्त करता हुआ उद्धार विष्वात्मा का कथ्ययुक्त ही बनाता है ॥२८॥

## इति-अनुवादप्रकरणम्

प्रथमकारणानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण  
एव द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

1

2

3

4

अथ-प्रथमकारण्डे तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्  
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्  
“आज्यब्राह्मणम्”

१६—आज्यग्रहराकर्म

१—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

(मूत्र) - पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञः—यदेन पुरुषन्तनुते । एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते, तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥ १ ॥

तस्येयमेव जुहूः, इयमुपमृत्, आत्मैव ध्रुवा । तश्च आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ २ ॥

प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति । तस्माद् स्रुवः सर्वाः अनु स्रुवः सञ्चरति ॥ ३ ॥

तस्यासावेव घ्राजुर्हू, अभेदमन्तरिक्षमुपमृत्, इयमेव ध्रुवा । तश्च अस्या एवमसर्वे लोकाः प्रभवन्ति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ ४ ॥

अयमेव स्रुवो योऽयं पवते । सोऽयमिमान् सर्वान् लोकाननुपवते । तस्माद् स्रुवः सर्वाः अनु स्रुवः सञ्चरति ॥ ५ ॥

२—आज्यगृहणसंख्यानियमनप्रकरणम्—

स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यः स्थायते । अतुम्य, छन्दोम्य । यद्वचि, तद्देवानाम् । पत्नोमो राजा, यत्पुरोडाशः, तत्तदादिर्य गृह्णाति अमुष्मै त्वा जुष्ट गृह्णामीति । एवमुहैतपाम् ॥ ६ ॥

अथ यान्याज्यानि गृह्णन्ते—अतुम्यभैव तानि, छन्दोम्यथ गृह्णन्ते । तत्तदनादिर्य—आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति । स वै चतुर्जुह्वा गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभूति ॥ ७ ॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-अतम्यस्तद् गृह्णाति, प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । अतवो हि प्रयाजा । तत्तदनादिर्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि इ कुर्याद्-यदमन्ताय त्वा ग्रीष्माय वेति गृह्णीयात् । तस्मादनादिर्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ८ ॥

अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-छन्दोभ्यस्तद् गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । छन्दामि अनुयाजा । तत्तदनादिर्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि इ कुर्याद्-यद् गाव्यं त्वां शिष्टुमे त्वेति गृह्णीयात् । तस्मादनादिर्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ९ ॥

अथ यच्चतुर्धवां गृह्णाति-सर्वस्मै तद् यज्ञाय गृह्णाति । तद्गदनादिर्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति । कस्मा उ प्रादिशेत् यतः सर्वाम्य एव देवताभ्योऽवधति । तस्मादनादिर्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ १० ॥

### ३-आज्यगृह्णोपपत्तिप्रकरणम्—

यक्षमान एव जुहमन्, योऽस्मा अरातीपति-स उपभृतमन् । अगैव जुहमन्, आय उपभृतमन् । अगैव जुहुः, आय उपभृत् । स वै चतुर्जुह्वां गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ११ ॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-अचारमवैतत्परिमिततरं कनीयांसं करोति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-आद्यमेवैतत्परिमिततरं भूयांसं करोति । तद्वि समृद्धम्-यत्राच कनीयान् आयो भूयान् ॥ १२ ॥

स वै चतुर्जुह्वा गृह्णान् भूय आज्य गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णान्-कनीय आज्य गृह्णाति ॥ १३ ॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णान् भूय आज्य गृह्णाति-अचारमवैतत्परिमिततरे कनीयांसं कुर्वन्तस्मिन् वीर्यं पत्तं दधाति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णान् कनीय आज्य गृह्णाति-आद्यमेवैतत्परिमिततरं भूयांसं कुर्वन्तस्मिन् वीर्यमवसीयांसं करोति । तस्मादुत राजाऽपारो विशो प्राक्साय, अप्यकवेरमर्जव जिनाति । त्वयथा त्वत्कामयते, तथा सचत-पतेनो इ तद्वीर्येण-यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति । स यज्जुह्वां गृह्णाति-जुह्वैव यज्जुहोति, यदुपभृति गृह्णाति-जुह्वैव यज्जुहोति ॥ १४ ॥



तदाह - अस्मा उ सहस्रं पमृति गृह्णीयात्-यदुपमृता न जुहोतीति । स यदोपमृता जुहुयात्-पृथग्धेवेमा प्रजा स्यु-नैवाणा स्यात्, नाय स्यात् । अथ यशज्जुह्वैव समानीय जुहोति-तस्मादिमा विश चत्त्रियाय बलि हरन्ति । अथ यदुपमृति गृह्णीयात्-तस्माद् चत्त्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशु उपोतष्ठन्ते । अथ यश-ज्जुह्वैव समानीय जुहोति-तस्माद्यदोत चत्त्रिय कामयते-अथाह वैश्यम्-‘अपि यशे परो निहितम्, तदाहरेति, स जिनाति । त्वयथा त्वत्कामयते, तथा सचते-एतनो ह तद्वीर्या ॥ १५ ॥

तानि वा एतानि छन्दोम्य आज्यानि गृह्यन्ते । स यच्चतुर्जुह्वं गृह्णीयात्-गायत्र्यै तद् गृह्णीयात् । अथ यदसौ कृत्व उपमृति गृह्णीयात्-त्रिष्टुब्जगतीत्यां तद् गृह्णीयात् । अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णीयात्-अनुष्टुप् तद् गृह्णीयात् । वाग् वा अनुष्टुप् । वाचो वा इदं सर्वं प्रमवति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति । इगं वा अनुष्टुप्, अस्यै वा इदं सर्वं प्रमवति । तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति ॥ १६ ॥

### ४-आज्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्-

स गृह्णीयात् चाम नामासि प्रिय देवानाम् [ १ अ० ३० मं० ] इति । एतद्वै देवानां प्रियतम चाम-यथाज्यम् । तस्मादाह-चाम नामासि प्रिय देवानामिति । अनाष्टुष्ट देवयजनमसि-[ अ० १ म० ३१ ] इति । यज्ञो हाज्यम् । तस्मादाह-अनाष्टुष्ट देवयजनमसीति ॥ १७ ॥

स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वं गृह्णीयात्, त्रिष्टुष्णीम् । एतेनैव यजुषा सकृदुपमृति गृह्णीयात्, सप्तकृत्वस्तुष्णीम् । एतेनैव यजुषा सकृद् ध्रुवायां गृह्णीयात्, त्रिष्टुष्णीम् । तदाह - त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्-त्रिष्टुष्टि यज्ञ इति । तद् नु सकृत्सकृदेव । अत्रो ह्येव त्रिगृहीत सम्पद्यते ॥ १८ ॥

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकारणदे

तृतीयाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्

द्वितीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्

‘आज्यब्राह्मण-नामक

उपरतम्

## मूलानुवाद—

### १—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण—

यह यज्ञ ( मनुष्यसंज्ञमान के द्वारा किया जाने वाला वैध यज्ञ ) निरवयवरूप से पुरुष ( मनुष्य की ही प्रतिकृति ) है । (यह) यज्ञ इसलिये पुरुष ( पुरुषस्वरूप—सदृश ) है कि, जो कि पुरुष ( यज्ञकर्त्ता संज्ञमान दक्षिणाक्रीत अश्वरूप ) होता उद्गाता ब्रह्मा आदि अस्त्रिगुण जो कि पुरुष हैं ) इस यज्ञ को वितर करता है ( वेदि, कुण्ड, मन्त्र, हवि आदि साधनों से विस्तार-भाव में परिणत करता है ) । क्योंकि पुरुष के द्वारा ही यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है इसलिये यज्ञ को पुरुषकर्त्तृत्वेन—अवयव की 'पुरुष' कहा जा सकता है । ( एक दूसरे कारण से भी यज्ञ को पुरुष कहा जा सकता है जो कि कारण पक्षिने कसख की अपेक्षा प्रमुख है । करिहका का उत्तर वाक्य वसी का लघोकरण कर रहा है ) । यह ( वैध यज्ञ )—( अस्त्रिगुण पुरुषों के द्वारा ) वितरमान होता हुआ ( गार्हपत्य अथवाग्नि आहवनीय वेदि, आदि रूप से फैलता हुआ ) निरवयवरूप से जितना ही ( जितनी लम्बाई के परिमाण से ) पुरुष वितर रहता है उतना ही ( उसने ही परिमाण से ) सम्पन्न किया जाता है । ( पुरुषपरिणाम—सदृश वितरभाव की समता से ही यज्ञ को 'पुरुष' कहना अनवयव बन जाता है ) ॥१॥

(यज्ञ की प्रतिज्ञात पुरुषाकारता सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है कि)—शुद्ध इस यज्ञ की यही ( दक्षिणमुखा—दहिना हाथ ) है उपश्रुत् ( इस यज्ञ की ) यह ( वाम—मुखा—बायाँ हाथ ) है ध्रुवा ( इस यज्ञ का ) आत्मा ( मध्य अङ्ग—घड़ ) ही है । ( इसप्रकार शुद्ध उपश्रुत्, ध्रुवा रूप से दक्षिण वाम हस्त एवं मध्याङ्ग—सम्पत्ति—लवणा पुरुषाकृति—सम्पत्ति से युक्त रहने वाले यज्ञ को अवयव ही पुरुष ( पुरुष की प्रतिकृति—पुरुषसदृश ) कहा जा सकता है, यही वास्तव्य है ।

( 'ध्रुवा' नामक यज्ञपात्र आत्मा ( मध्याङ्ग ) की प्रतिकृति कैसे है ? इस विज्ञाता का समाधान करता हुई आग जाकर श्रुति कहती है कि )—यह प्रत्यक्ष है कि, ( वद्व ) आत्मा ( मध्याङ्गरूप घड़ ) से हाथे ( हस्त, पाद मस्तकादि ) सब अङ्ग ( शरीरवयव ) उत्पन्न होते हैं । निकलते हैं, रसप्राप्ति के द्वारा पुष्ट होते रहते हैं ) । इस वैधवयव में आगपरिपूर्ण ॥ पापात्र आत्मस्थानीय है, एवं आत्मा से ही अङ्गरूप हस्त—मादादि इतर सम्पूर्ण अङ्ग उत्पन्न होते हैं रसमहण करते हैं, अवयव ( यहाँ भी शुद्ध उपश्रुत् आदि के द्वारा ध्रुवा से ही पुनः न ल कर ) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वैधवयव—उत्पन्न—सम्पन्न होता है ( यज्ञ की इतिकथ व्यक्ता पूरी की जाता है । अतः यज्ञस्वरूपसाधकभूत ध्रुवा का इस यज्ञपुरुष का अवयव ही आत्मा माना जा सकता है, यही वास्तव्य है ) ॥२॥

( पुरुष के शरीर में हस्त—पाद—आत्मा—य तीन स्थूल विभाग उपलब्ध होते हैं । शिराभाग से आरम्भ कर मूलमन्त्रि पच्यम्ब प्रदेश आत्मा ( घड़ ) माना जायगा । दक्षिणहस्त दक्षिण पाद

अ एक स्वतन्त्र विभाग, पर्व वामहस्त वामपाद का एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा। इसप्रकार पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर को आत्मा (धृक्), दक्षिणहस्त (तदुपलक्षित दक्षिणपाद), वामहस्त (तदुपलक्षित वामपाद) इस क्रम से पुरुष को तीन भागों में विभक्त किया जायगा। त्रिविभागात्मक इस शरीर में (शरीर के सम्पूर्ण अंशों में) अन्तरपारीण मन्त्रार करने वाला चैतन्यप्राण एक चौथा स्वतन्त्र तत्त्व माना जायगा, जिसकी सत्ता से जड़-भूत क्रियाशील बनते हुए जीवनीयरस से युक्त रहते हैं। पुरुषसत्ता की इन चार अन्तर सत्ताओं में से आत्मा (धृक्) दक्षिणहस्त (पाद) वामहस्त (पाद) इन तीन भौतिक अंशों की प्रतिरूपता को क्रमशः ध्रुव जुह उपभृत्, इन तीन यज्ञपात्रों के द्वारा सिद्ध करदी गई। अब शेष चौथा चैतन्यप्राण रह जाता है। इसकी प्रतिरूपता बतलानी हुई भुति कहता है, -

(इस वैचयज्ञ में उपयुक्त होने वाला) 'स व' नामक यज्ञपात्र प्राण ही है। सुवपात्र प्राण स्थानीय क्यों माना गया? प्रश्न का समाधान करती हुई भुति कहती है) -

(हम देखते हैं कि पुरुषशरीर में केरा-स्रोम एवं नक्षत्रभागों को छोड़कर) यह चैतन्य प्राण (वैश्वानराग्नि) शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों (को लक्ष्य बनाकर इन अङ्गों) में विचरता रहता है। (हम देखते हैं कि इस यज्ञसत्ता में 'सुव' नामक यज्ञपात्र जुह-उपभृत्-ध्रुव आदि अन्तर सभी सुक्-पात्रों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि आत्मा-वाहहस्त (पर्व पाद-स्थानीय ध्रुव-जुह-उपभृत् आदि सुक्-ओं में मन्त्रारण करने वाला सुव अवश्य ही प्राणस्थानीय है) इसीलिङ्ग (प्राणस्थानीय होने से ही) को यह सुव-पात्र सध सुक्-ओं (को लक्ष्य बनाकर सब) में विचरता है ॥३॥

यह वैचयज्ञ पुरुष की प्रतिकृति किस आधार पर माना गया? इस प्रश्न का समाधान भूतिने पुरुषात्मक आध्यात्मिकयज्ञ के द्वारा किया। पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) का जैसा स्वरूप है उस में जैसा अवयवसंस्थान है पुरुषयज्ञ के आधिभौतिक, स्वर्गादि-अमोष्ट फलसाधक इस वैचयज्ञ का स्वरूप तथा संस्थान भी वैसा ही है। अतः 'समतुल्यन्याय' से इस वैचयज्ञ को भी 'पुरुष' कहना न्यायमङ्गल बन जाता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रामाणिक प्रश्न और उपस्थित होते हैं। पहिला प्रश्न यह है कि जिस पुरुष के आकार के आधार पर वैचयज्ञ का तथामूल वितान किया जाता है उस पुरुष (आध्यात्मिकयज्ञ) का स्वरूप ही अर्थविषय (यज्ञात्मक) कैसे और क्या बना? जिस आधिदैविक जगत् (प्रकृति) से पुरुषयज्ञ (आध्यात्मिकयज्ञ) उत्पन्न हुआ है, उस लोक-वन्द में 'यज्ञ' राज्य से व्युत्पन्न किया गया है। उसे (आधिदैविकजगत्) को यज्ञ किस आधार पर कहा गया? क्या वहाँ भी जुह उपभृत् आदि यज्ञस्वरूपससाधक परिग्रह विद्यमान हैं? यही इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न है। इन प्रश्नों के समाधान से भूति का उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि, आधिभौतिकयज्ञ (अनुप्यकृत वैचयज्ञ) की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ (पुरुषाकारयज्ञ) है, एवं इस आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा शाखाप्रधिक्यात्मक सम्प्रत्सरलक्षण आधिदैविक यज्ञ है। अनुप्यकृत-यज्ञ का स्वरूप अर्थविषय क्यों? इस प्रश्न की उपनिषत् (उपपत्ति-मौलिकरहस्य) आध्यात्मिकयज्ञ है। आध्यात्मिक-यज्ञ (पुरुष) का अर्थविषय

स्वरूप क्यों ? इस प्रश्न को उपनिषद् आधिदैविक प्राकृतिक निस्वरूप है, जिस का कि—'यद्देवेना बहुर्भवतु कर्वाणि' 'देवाननुभिधा वै मनुष्या' सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्या पुरोवाच प्रमापति 'यस्मेन यज्ञमयजन्त देवा' इत्यादि श्रोत-स्मार्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है । जब भुक्ति न आधिभौतिक, आध्यात्मिक यज्ञों का स्वरूप बतला दिया तो प्रकरणकार भुक्ति के लिए य, भी आवश्यक होगया कि, यह प्रसङ्गोपात् तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलाव साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ८-५ कण्विकार्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रही है—

तम ( आधिदैविकयज्ञ ) की यह ( बड़ी दूर दिखलाई देने वाला सौमन्द्यलोपलब्धित ) यौ ही जुहू ( वह्निष्वाहस्तपायका प्रतिरूप ) है एव यह अन्तरिक्ष ( वायुपृथिवी के मध्य का प्रदेश ) उपमृत् ( वामहस्त का प्रतिरूप ) है । यह पृथिवी ही भुवा ( आत्मा का प्रतिरूप ) है । ( पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए भुवा की आत्मप्रतिरूपता का समवन किया गया था । अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए । आत्मा वही माना जायगा जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे । पृथिवी को भ्रूषालक्षण आत्मा वही कहा जासकेगा जब कि वह अन्तरिक्ष, बुलोकस्वरूप उपमृत् तथा जुहू, इन दो अङ्गों की उपपत्ति का कारण बन सकेगा । इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई भुक्ति कहती है )—

यह यथाय है ( तथा ) कि इसी ० पृथिवी से सब लोक ( पृथिवी अन्तरिक्ष यौः आपः आदि लोक ) उत्पन्न हुए हैं । ( क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते हैं, एतएव पृथिवी अवरय ही आत्मरूप भुवा है । क्योंकि भुवा से ही यज्ञस्वरूप की निरूपति होती है ) । अतएव (आधिदैविक मण्डल में ) पृथिवीरूप भुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ ( आधिदैविक-सम्प्रसारयज्ञ ) उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(स्वस्नाह्नमृत जुहू उपमृत् तथा भुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः यौ अन्तरिक्ष पृथिवी (मृषियज्ञ) इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई । अब यह सर्वसम्प्राप्ति चेतन्य-प्राण शेष रहा जो कि आधिभौतिक यज्ञ में सुषप्त रहने से एवं आध्यात्मिक यज्ञ में आतोमध्य, आनन्दमध्य, व्याप्त वैशानराग्निप्राण के रूप से प्रसिद्धि है । इसी चेतन्य-प्राण की आधिदैविकयज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई भुक्ति कहती है)---

( इस आधिदैविकयज्ञ का ) यही सुष (चेतन्यप्राण) है, जाकि यह ( चेतन्य मं ) प्रसिद्धि है (यह रहा है) । ( पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण और सुष की प्रतिरूपता बतलाई गई थी ।

० पाठक कहें कि, प्रथम तो पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोकों को उत्पत्ति मानना ही अशुद्ध है । यदि अनुपगमना से थोड़ी देर के लिए एका मान भी लिया जाय तब भी पृथिवी से पृथिवी की रूपति मानना ही अमर्ष मुक्त प्रतीत नहीं होता । इस विज्ञाप्य का वापसिद्ध मनापान आगे आने वाले उपपदि-प्रकरण में दिया जायगा ।

अतः यहाँ भी उस प्रतिरूपा का स्पष्टीकरण होना चाहिए। आधिदैविकयज्ञ-संस्था में प्राण वही माना जायगा जो कि जुहू, उपसृम्, ध्रुवोपलक्षित प्राथमी अन्नरिच, शुद्धोका को लक्ष्य बनाकर जिन में-सञ्चरण करता होगा। इसी प्रतिरूपता का निगूहण कराती हुई श्रुति कहती है—

यद् वायु ( केश-लोम-स्थानीय-वनस्पति-ओषधि-धातुवर्ग आदि विषयों के आभ्यन्तर भाग को छोड़कर, एव नन्नापस्थानीय भूविषय के आभ्यन्तर प्रवृत्त को छोड़कर, शेष वषे हुए ) इन सब साका म (त्रिभूतस्थानीय प्रथिवीलोक, पञ्चभूतस्थानीय अन्तरिक्षलोक एव एकविंशस्थानीय शुद्धोका म, जो कि तीनों लोक आधिदैविकी यज्ञसंस्था के अङ्गस्थानीय हैं इन्हें लक्ष्य बना कर इन सब म यह (वायु) बह रहा है (सञ्चरण कर रहा है)। ( क्योंकि वायु सब लोकों में सञ्चरण कर रहा है उच्चर यज्ञप्रक्रिया में सुषों में सञ्चार करने वाला ही सुष माना गया है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है )-अतएव निश्चयरूप से यह सुष (त्रैलोक्यसञ्चारी वायव्यप्राण) श्वर सुषा को (जुहू उपसृम् ध्रुव-स्थानीय शु-अन्तरिक्ष-पृथिवी को लक्ष्य बना कर) इन में सञ्चरण कर रहा है ॥१॥

## (१)—इति-यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

—\*—

\* प्रकृत ब्राह्मण में प्रचानरूप से 'आज्यग्रहण' की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) का ही निरूपण हुआ है। अमरपद्धत में एक नियत स्थान पर आज्य से परिपूर्ण एक नियत पात्र रक्खा रहता है। एक ही स्थान पर सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहने वाला वही आज्यपात्र 'ध्रुव' कहा जाता है। प्रवापात्र एक ही स्थान पर स्थिर क्यों रहता है ? इस प्रावृत्तिक प्ररन-समाधि के लिए ही श्रुति को पद्धति-प्रदर्शन से पहले यज्ञ का मौलिक-स्वरूप बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। आरम्भ की २ कण्डिकाओं में श्रुति ने प्रतिरूपविधि से आधिभूत अध्यात्म आधिदैवत, इन तीन यज्ञ-संस्थाओं का स्वरूप बतलाया। इसी आधार पर पञ्चकण्डिकात्मक प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए हमने इसे 'यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण' नाम दे देना उचित मान लिया है।

आधिभौतिक वैचयज्ञ को मध्यम्य बनाकर यज्ञकर्त्ता यज्ञमान अपने आध्यात्मिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ सम्बन्ध करवाता है एवं वही यज्ञ का मूल्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सकलता के लिए धृन् तथा श्रुतश्रीयः वर्यित सम्बन्धस्वरूपस्य प्राणवैराग्या का ही यज्ञन होता है। जैसा कि पाठक उपपत्ति प्रकरण में विस्तार से देखेंगे। यज्ञ के उद्देश्य प्राप्ति-संज्ञा है एवं इनकी आधिदैविक यज्ञ से तुलना करत हुए आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता का परिचय आवश्यकतया से अपेक्षित है। अतएव पद्धति से पहले प्रतिरूपरहस्य का निगूहण करना पड़ा। और इस निगूहण का मूलकारण बना 'ध्रुवपात्र'। ब्राह्मण ने प्रथम से आज्यग्रहण का विधान किया है। प्रथम से ही आज्यग्रहण क्या किया जाय ? इस स्वाभाविक, तथा प्रावृत्तिक प्ररन के समाधान के लिए ही प्रथम 'यज्ञप्रतिरूपरहस्य' बतलाना आवश्यक समझा गया है। क्योंकि आधिभौतिक यज्ञ का आध्यात्मिक यज्ञ के साथ वैयर्थ्यपूर्ण सम्बन्ध है। एवमेव आध्यात्मिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ से साथ भी अनिष्ट सम्बन्ध है। इस समान-सम्बन्धरहित से भी प्रसङ्गवश श्रुति को आधिभूत, अध्यात्म की प्रतिरूपता के साथ साथ अध्यात्म, एवं आधिदैवत की प्रतीकता भी बतलानी पड़ी।

स्वरूप क्यों ? इस प्रश्न को उपनिषत् आधिदैविक प्राकृतिक नित्ययज्ञ है, जिस का कि—'यज्ञं दद्याद् भर्तुर्वस्तुत् करवाणि' 'वैशाननुविधा ये मनुष्याः' सह यज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त दद्याद्' इत्यादि श्रौत-स्मार्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है। जब भुक्ति ने आधिभौतिक, आध्यात्मिक यज्ञों का स्वरूप बतला दिया तो प्रकृत्युत्तरा भुक्ति के लिए य. मी आवश्यक होगया कि, यह प्रसङ्गोपात्त तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलाय साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ४-५ कण्डिकाएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रही हैं—

उस (आधिदैविकयज्ञ) की यह (बड़ी दूर विस्तारों देने वाला सौमन्यलोपलक्षित) यो ही जुड़ (वक्षिहस्तपादका प्रतिरूप) है एवं यह अन्तरिक्ष (शावापृथिवी के मध्य का प्रवेश) उपर्युत् (वामहस्त का प्रतिरूप) है। यह पृथिवी ही ध्रुवा (आत्मा का प्रतिरूप) है। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आत्मप्रतिरूपता का समर्थन किया गया था। अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए। आत्मा वही माना जायगा, जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे। पृथिवी को ध्रुवालक्षण आत्मा तभी कहा जासकेगा जब कि वह अन्तरिक्ष सुलोकरूप उपर्युत्, तथा जुड़ इन दो अङ्गों की उत्पत्ति का कारण बन सकेगा। इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई भुक्ति कहती है) —

यह यथाय है (तथा) कि, इसी • पृथिवी से सब लोक (पृथिवी अन्तरिक्ष यो आपः आदि लोक) उत्पन्न हुए हैं। (क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते हैं, एतद्वय पृथिवी अवरस ही आत्मरूप ध्रुवा है। क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति होती है)। अतएव (आधिदैविक मरकल में) पृथिवीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ (आधिदैविक-सम्बन्धयज्ञ) उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(सुखाङ्गमूल जुड़ उपर्युत् तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः चौ, अन्तरिक्ष पृथिवी (मृषिरह) इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई। अब वह मयमञ्जरी चैव य प्राण शेष रहा, जो कि आधिभौतिक यज्ञ में 'सुयपात्र' क रूप से एवं आध्यात्मिक यज्ञ में आश्रोमभ्य आनल्लभेभ्यः व्याप्य वैश्वानराग्निप्राण क रूप से प्रतिष्ठित है। इसी चैतन्य-प्राण की आधिदैविकयज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई भुक्ति कहती है) —

(इस आधिदैविकयज्ञ का) यही सुय (चैतन्यप्राण) है, जोकि यह (ऐन्द्रोक्य में) प्रवाहित है (बह रहा है)। (पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण और सुय की प्रतिरूपता बतलाइ गई थी।

• पाठक ध्येय करें कि, प्रथम वा पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोकों की उत्पत्ति मानना ही अतर्क्य है। यदि अन्तुपगमनाद से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय, तब भी पृथिवी ने पृथिवी की उत्पत्ति मानना वा कथमपि मुक्तत प्रतीत नहीं होय। इस विषय का आध्यात्मिक मताध्यय चाहे मान राखे उस पति-प्रकरण में किया जायगा।

(प्रत्येक यज्ञ में “अन्न-पशुपदा-सामरस” तीनों में से किसी एक तो हविद्रव्य का प्रवाहना रहती ही है, दूसरा आहुतिद्रव्य आन्य रहता है। इसप्रकार हवि, एन आन्य भेद से प्रत्येक यज्ञ में वा आहुतिद्रव्य रहते हैं। इन में से हविद्रव्य का सम्बन्ध तो प्रवान् वृत्ता के साथ बतला दिया गया। अथ ‘आम्य’ नामक आहुतिद्रव्य की व्यवस्था करते हैं) —

[हविद्रव्य के अतिरिक्त] जा [दूसर] आग्यों का ग्रहण किया जाता है उन आग्यों का ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] श्रुत्यों के लिए, तथा [अनुयाजदेवतारूप छर्वा के लिए, ‘च कारान् स्थिरकृत्-याग’ के लिए] किया जाता है। [क्योंकि श्रुत छन्द स्थिरकृत्-दस्ता प्रवान्-देवताओं की अपेक्षा गौण है, साथ ही ये संख्या में भी परिगणित ह, इसी सब कारणों से अप्रत्यक्ष उस [आम्य] का [प्रयाजानुयाजादि गौण देवताओं का]—नाम न लेकर आम्यरूप से ही [समष्टिरूप से ही] ग्रहण करता है। [वात्सल्य यही हुआ कि प्रवान् वृत्ता के लिए जहाँ हविग्रहण नामनिर्देशात् आवश्यक होता है वहाँ प्रयाजानुयाजादि सम्यग्भी आम्य का ग्रहण बिना नामनिर्देशात् के ही करना चाहिए। ग्रहण-सम्वच्च में व्यतिक्रम बतला कर अब ग्रहण-सम्वच्च में विशेषता बतलाते हैं] —

यह [अप्रत्यक्ष] नियत स्थान पर स्थित आग्यपारोपण प्रवाह सुष के द्वारा घृत ल लेकर चार बार तो जुहू में घृत-ग्रहण करता है षष्ठ (उसी सुष से) आठ बार करके उपभृत म ग्रहण करता है ॥५॥

सो जो कि अप्रत्यक्ष चार वा करके [सुष से] जुहू में [बिना नाम निर्देशात्] आम्य-ग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। श्रुत्यों के लिए (चतुर्वार) आम्यग्रहण करता है। (श्रुतरूप प्रयाजदेवताओं के उद्देश्य से चतुर्गृहीत यह) आम्य प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्योंकि) श्रुत्यों ही प्रयाज (देवता) हैं। उस आम्य का (श्रुतरूप प्रयाज देवताओं के नाम निर्देशात् के बिना ही) १० अजामिता के लिए आम्यरूप से ही ग्रहण करता है। (वह अप्रत्यक्ष + ‘जामि करेगा जो कि यदि ‘वसन्ताय ग्रीष्माय त्वा’ इत्यादि रूप स [नाम-निर्देशात्] आम्यग्रहण करेगा। इसलिये [जामि बोध न हो इसलिये] प्रयाज-देवताओं का नामनिर्देशात् न कर आम्य के ही रूप से [प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहू म आम्य] ग्रहण करता है ॥६॥

सो जो कि अप्रत्यक्ष आठ बार करके [सुष से] उपभृत में [बिना नाम निर्देशात्] आम्य-ग्रहण करता है [इसका कारण बतलाते हैं]। छन्दों के लिए [आठ बार करके] आम्य ग्रहण करता है। [छन्दोरूप अनुयाज-देवताओं के उद्देश्य से अष्टौ कृत्य गृहीत यह] आम्य अनुयाज-देवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। [क्योंकि] छन्द ही अनुयाज हैं। उस आम्य का [उन छन्दोरूप अनुयाज-देवताओं के नाम निर्देशात् के बिना ही] अजामिता के लिए आम्यरूप से ही ग्रहण करता है।

० सम्यता की रक्षा के लिए ।

+ जामि-असम्यता

## २—आज्यगृहणसंख्याननियमनप्रकरण—

(जैसाकि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है, आरम्भ की ५ कथिबकाओं में निरूपणीया पद्धति का प्रथम कोई निरूपण न होकर ब्राह्मणग्रन्थों की स्थामाधिकृत्योत्ती से सम्बन्ध रखने वाला 'अथप्रतिरूपवत्स्य' ही प्रतिपादित हुआ है। अब ६ ठी कथिबका से ही पद्धति-प्रवर्तन का उपक्रम किया जाता है) —

(यत्प्रवृत्त्यवस्था अथव्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा आदि विद्वाप् अस्विजों के द्वारा प्रवृत्त्यनुसार) वितायमान यह यज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) देवताओं अतुमों, तथा अश्वों के लिए ही कृत किया जाता है। (आहुतिद्रव्यों में से) जो हविर्द्रव्य है वह (प्रधान) देवताओं के लिए निम्न है, जोकि आहुतिद्रव्य सामराजा एवं पुराडाश है। (अतएव यही है कि सामवल्ली का रस तथा पुराडाशतत्त्वा आहुतिद्रव्य, ये दोनों हविर्द्रव्य अग्रधान (आवाप) देवताओं के लिए निम्न हैं। अश्वों नाम ग्रहण पूर्वक ही आहुति दी जाती है इसी अभिप्राय से आगे जाकर अति कहती है) —

क्यों कि X अथपुराडाश, अथपुरोहारोपलक्षित 'अथपुराडाश, एवं सामरस ये तीन आहुति-द्रव्य देवताओं के लिए निम्न हैं एवं अथता (अथप्रवृत्ता मूलरूप से ३३, ३ १ होत हुए भी अपने महिमारूप से) संख्या में भी अनन्त हैं साथ ही तत्तत्त्वविरोधा में तत्तद् विरोध देवता ही प्रधान रहते हैं इसलिए भी) वह (हविर्द्रव्य) उन उन देवताओं का (अथव्यु तथा अथप्रवृत्तामि—'अन्तोपामाभ्यां त्वां अथप्रवृत्तामि'—अपयामगृहताऽस्ति वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा अथप्रवृत्तामि इत्यादि रूप से नाम निर्देशपूर्वक ही) 'अमुष्ये त्वा अथप्रवृत्तामि'। अमुक देवता के लिये अतिपूर्वक संघन वाच्य तुष्टारा हविर्द्रव्य का-ग्रहण करता है। इत्यादिरूप से नामनिर्देश करके ही (आहुति द्रव्य का) ग्रहण करते हैं। (इस नामनिर्देशपूर्वक हविर्ग्रहण का कारण यही है कि) देवताओं के सम्बन्ध में (परम्परागत यज्ञपद्धतिग्रन्थों में) यही प्रकार (हविर्ग्रहणसाधक मन्त्र प्रथक् नाम निर्देशपूर्वक ही पढ़े हुए हैं, यही आहुति-सम्मत प्रकार) है ॥६॥

• यज्ञ में जिन देवताओं की आहुति दी जाती है व देवता आवाप प्रयाज अनुयाज भेद से तीन भेदों में विभक्त हैं। प्रधान अथप्रवृत्ता आवापव्यता' कहलाती है प्राणतमिका मुख्य देवताओं की प्रतिष्ठारूपा अथप्रवृत्ति अतुमों प्रयाजदेवता कहलाती है। एवं अथप्रवृत्तिरूप गायत्र्यादि छन्द् 'अनुयाजदेवता' कहलाती है। सामरस पुराडाशतत्त्वा हविर्द्रव्य अथव्यु, य तान आहुति-द्रव्य हैं। तीनों में सामरस तथा पुराडाश तो केवल आवापदेवताओं के लिए निम्न है एवं अतु-अन्तोरूप प्रयाज अनुयाज-देवताओं का आवापदेवता ही जाता है।

X इति-पगु-मोम-नद से वहनरथा तीन भागों में विभक्त मानी गई है। इन तीनों में से इति में अथपुराडाश की आहुति होती है। 'पगुमन्' में अथप्रवृत्ति में 'पगुमन्' की आहुति होती है। एवं ग्रहणागा परम्परागत सामय्याग में अथप्रवृत्ति न-वालीन मन्त्र में विभक्त ग्रहणा में विभक्त भागमरस की आहुति होती है।



(प्रत्येक यज्ञ में "अग्न-पशुवपा-सामरस" तीनों में से किसी एक तो हविर्द्रव्य को प्रदाना रहती ही है, दूसरा आहुतिद्रव्य आग्न रहता है। उसप्रकार हवि एक आग्न भव से प्रत्येक यज्ञ में ही आहुतिद्रव्य रहते हैं। इन में से हविर्द्रव्य का सम्बन्धता प्रदान वृत्ता के साथ बनाना दिया गया। अथ आग्न नामक आहुतिद्रव्य को व्यवस्था करते हैं) —

[हविर्द्रव्य के अतिरिक्त] आ [दूसर] आग्यों का ग्रहण किया जाता है उन आग्यों का ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] श्रुतियों के लिए, तथा [अनुयाजदेवतारूप] छन्दों के लिए, च कारात् स्विष्टकृत्-याग' के लिए ] किया जाता है। [क्याकि श्रुत छन्द स्विष्टकृत्-देवता प्रदान देवताओं को अपना गौरव है, साथ ही ये संख्या में भी परिगणित हैं, इसी मत्व कारणा से अथर्व्यु उस [आग्न] का [प्रयाजानुयाजादि गौरव देवताओं का]—नाम न लेकर आग्नरूप से ही [समष्टिरूप से ही] ग्रहण करता है। [वात्सल्य यही हुआ कि प्रदान देवता के लिए अहाँ हविग्रहण नामनिर्देश-प्राप्तक होता है वहाँ प्रयाजानुयाजादि सम्बन्ध आग्न का ग्रहण बिना नामनिर्देश के ही करना चाहिए। ग्रहण-सम्बन्ध में व्यक्तिगत वतला कर अब ग्रहण-सम्बन्ध में विशेषता वतलाते हैं] —

वह (अथर्व्यु) नियत स्थान पर स्थित आग्नपरिपूर्ण भूषा में सुव्र क द्वारा घृत ल लेकर) बार बार तो जुहु में घृत-ग्रहण करता है एवं (उसी सुव्र से) आठ बार करके उपश्रुत में ग्रहण करता है ॥५॥

सो जो कि अथर्व्यु बार बार करके (सुव्र से) जुहु में (बिना नाम निर्देश के) आग्न ग्रहण करता है (उसका कारण वतलाते हैं)। श्रुतियों के लिए (चतुर्वार) आग्नग्रहण करता है। (श्रुतरूप प्रयाजदेवताओं के उद्देश्य से चतुर्गृहीत यह) आग्न प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्याकि) श्रुत ही प्रयाज (देवता) हैं। उस आग्न का (श्रुतरूप प्रयाज देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही) • अजामिता के लिए आग्नरूप से ही ग्रहण करता है। (वह अथर्व्यु + 'जामि' करेगा जो कि यदि 'वसन्ताय प्रीप्साय त्वा' इत्यादिरूप स (नाम-निर्देशपूर्वक) आग्नग्रहण करेगा। इसलिये (जामि शेष न हो इसलिये) प्रयाज-देवताओं के नामनिर्देश न कर आग्न के ही रूप से [प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहु में आग्न] ग्रहण करता है ॥६॥

सो जो कि अथर्व्यु आठ बार करके (सुव्र से) उपश्रुत में [बिना नाम निर्देश के] आग्न-ग्रहण करता है [इसका कारण वतलाते हैं]। छन्दों के लिए [आठ बार करके] आग्न ग्रहण करता है। [छन्दोरूप अनुयाज-देवताओं के उद्देश्य से अष्टौ कृत्य गृहीत यह] आग्न अनुयाज-देवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। [क्याकि] छन्द ही अनुयाज हैं। उस आग्न का [उन छन्दारूप अनुयाज-देवताओं के नाम निर्देश के बिना ही] अजामिता के लिए आग्नरूप से ही ग्रहण करता है।

• सम्पत्ता की रक्षा के लिए ।

+ जामि-असम्पत्ता

### ३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जुहू में सुष के द्वारा कर्मात्मा से बार बार पशु उपभूत में आठ बार आत्मग्रहण किया जाता है। चतुर्जुहू अष्टौ कृत्व उपभूति' इन बार-संख्याओं की क्या उपनिषत्?—पद-कृष्टिकात्मक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)।

(यज्ञकर्म में शीघ्रता, यज्ञफलभोक्तृ) यज्ञमान ही जुहू को सत्य बनाता है एवं जो (यज्ञमान का शत्रु) इस यज्ञमान के प्रति (सम्पत्ति-आगमन का द्वार अवरोध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है व (शत्रु) उपभूत को सत्य बनाता है (अर्थात् जुहू में प्रतिष्ठित आत्म यज्ञमान का प्रतिरूप है एवं उपभूत में प्रतिष्ठित आत्म यज्ञमान के शत्रु का प्रतिरूप है)। अन्ता (भोक्तृ) ही जुहू को सत्य बनाता है एवं भाग (भोग्य) उपभूत को सत्य बनाता है। (अर्थात् जुहू-स्थित आत्म भोक्तृ का प्रतिरूप है एवं उपभूत में स्थित आत्म भोग्य का प्रतिरूप है)। (वर्णिता वाहु का प्रतिरूप) जुहू अन्ता है एवं (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभूत भाग है।

(एक यज्ञमान-यज्ञमानशत्रु अन्ता-भाग इन द्वन्द्वों से मृत्ति का अभिप्राय यही है कि, जुहू को यज्ञमान तथा, भोक्तृ समझ कर एवं उपभूत को यज्ञमानशत्रु, तथा भोग्य समझ कर ही आत्मग्रहण-सम्पत्तिनी संख्याओं के निष्कृष्टता की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए। क्योंकि यह द्वन्द्व-मात्र ही संख्याउपपत्ति को मूल प्रतिष्ठा है। यह है-मौलिक परिस्थिति। इस अपन सत्य में रजता हुआ वह (अध्वर्यु) नियमितरूप से (वै) बार बार जुहू में आत्मग्रहण करता है एवं आठ बार करके उपभूत में (आत्मग्रहण करता है) ॥११॥

तो जो कि (अध्वर्यु) जुहू में बार बार ग्रहण करता है, (इस की उपपत्ति बतलाते हैं)। (जुहू में बार बार करके आत्मग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहणकर्म से) अन्ता (यज्ञमान) को ही अतिशय सीमित और संख्या में अल्प (छोटा) करता है। (जुहू में आत्मग्रहण करने के अनन्तर जो कि अध्वर्यु उपभूत में आठ बार करके आत्मग्रहण करता है, (उसका कारण बतलाते हैं)। (उपभूत में आठ बार करके आत्मग्रहण करता हुआ अध्वर्यु इस ग्रहणकर्म से) भाग (यज्ञमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत और संख्या में बढ़ा करता है। जहाँ भोक्तृ कम होगा एवं भाग्यसामग्री प्रचुरमात्रा में होगी अथवा ही वह (गृहस्थपरिपार यज्ञकर्म आदि) समृद्ध है (समृद्ध माने जायेंगे)। (तात्पर्य यही हुआ कि पूजकधनानुसार जुहू का भाग्य भोक्तृ है एवं उपभूत का आत्म भोग्य है। जहाँ, जिस संस्था में भाग्य की अपेक्षा भाग्य-सामग्री अधिक होती है, वहाँ समृद्धि मानी जाती है। इसी समृद्धि का यज्ञकर्म में समावेश करने के लिए भाग्य-स्थानीय जुहू का आत्मभाग संस्था में कनीयत्व किया जाता है एवं भाग्य उपभूत का आत्मभाग संस्था में भूयान बनाया जाता है) ॥१२॥

[ब्राह्मणधर्म की यह एक निश्चित शैली है कि जब व द्रव्यों का जाक्षण (विज्ञान मोहनकरणा उपपत्ति) करने का उपक्रम करते हैं तो आरम्भ में क्वाथानावकमर्गनिर्णय प्रदर्शक शब्दों का प्रयोग करते हैं।

है वेवा कि—‘तद्यदप-उपसृगति’ (श० १।१।१) —‘अथातोऽशनानशनस्यैव’ (श० १।१।७) —‘अथ यद् द्रव्यम् (श १।१।१२) इत्यादि प्रनायक वाक्यों से स्पष्ट है। इन वाक्याओं की सङ्गति—‘सा ने कि पानी का उपस्पर्श करत है—( उस की उपपत्ति बतलात है )—‘अथ यहाँ से अशन-अशन की हो—( सीमासा की जाती है—अथ जिस लिए कि द्रव्यभाव है ( यह कारण बतलाते हैं ) इव रूप से की जायगी। प्रकृत में भी इस स्वाभाविक शैली के अनुसार ही—अथ यत् चतुर्जुग गच्छति’ समाधानोपक्रममार्गित ( उपपत्ति-विशालारूप ) यह प्रनायक वाक्य प्रयुक्त हुआ है। अतः इस का अर्थ—अथ जिसलिए कि जुहू में बार बार ग्रहण करत हैं ( उस का कारण बतलाते हैं ) यह करना पड़ेगा। अनन्तर अनुवाद-सङ्गति के लिए उक्त वाक्याय के आगे ‘जुहू में बार बार ग्रहण करता हुआ अथर्वयु’ इस वाक्य का सम्बन्ध ऊपर से और जोड़ना पड़ेगा। प्रकृत में इस शैली से यही बतलाना है कि कहीं कहीं व्याख्याताओंने—‘मो जो कि जुहू से बार बार आग्य ग्रहण करता है अथा का ही इस ग्रहण से परिमिततर करता है यह अर्थ किया है। परन्तु ऐसा अर्थ आश्रयशैली से सर्वथा विरुद्ध अतएव उपक्षणीय ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में उपक्रम वाक्य स्वस्व माना जायगा एवं आगे के उत्तर-प्रकरण की सङ्गति के लिये पूर्ववाक्याय से आगे तदुक्त्यत—‘तत्कारणमीमाना क्रियत’ इत्यादि नवीन वाक्यों का समावेश करना पड़ेगा। ]

वह (अथर्वयु) जुहू में बार बार आग्यग्रहण करता हुआ ( आठ बार वाले उपसृत् की अपक्षा ) मात्रा में अधिक आग्यग्रहण करता है ( एवं ) उपसृत् में आठ बार करके आग्यग्रहण करता हुआ (बार बार वाले जुहू की अपक्षा) षोडश आग्यग्रहण करता है। ( तात्पर्य यही हुआ कि यद्यपि जुहू में लुवा से आग्य लिया जाता है बार हा बार तथापि जुहू का आग्यमात्रा उपसृत् की आग्यमात्रा से अधिक होती है अब कि जुहू में उपसृत् की अपक्षा बार बार कम वाला जाता है। एवमेव उपसृत् में यद्यपि आग्य लिया जाता है—आठ बार तथापि उपसृत् की आग्यमात्रा जुहू की आग्यमात्रा से भी कम रहती है, अब कि उपसृत् में जुहू की अपक्षा बार बार अधिक बाला जाता है ॥१३॥

मो जो कि (अथर्वयु) जुहू में बार बार ही आग्यग्रहण करता हुआ भी ( उपसृत् की अपक्षा ) अधिक आग्यग्रहण करता है, ( उस का कारण बतलात है )। ( जुहू में बार बार में ही उपसृत् की अपक्षा अधिक आग्यग्रहण करता हुआ अथर्वयु ) इस भूयोग्रहणकर्म से अक्षा को (बार सख्या से) अतिशय मीमित (गुण) अरूप करता हुआ ( भूयोग्रहण से ) इस ( अक्षा ) में (आग्य का अपक्षा) शीघ्र (आग्य) बल का आदान करता है। तात्पर्य य, निष्कला कि, बार संख्या का हृष्टे से जहाँ अक्षा संख्या की अपक्षा कम है, वहाँ आग्य की अधिकता से शीघ्र तथा बल में आग्य की अपक्षा-अधिक है )।

मो जो कि (अथर्वयु) उपसृत् में आठ बार आग्यग्रहण करता हुआ [जुहू की अपक्षा] षोडश आग्य ग्रहण करता है [उस का कारण बतलात है]। उपसृत् में आठ बार में जुहू की अपक्षा षोडश आग्यग्रहण करता हुआ अथर्वयु। इस अरूपग्रहण-कर्म से आक्षेपको [आठ संख्या से] अति शय विस्तृत [अर्थ] यह बनता हुआ [अन्यग्रहण से] इसे [आग्य का] शीघ्र तथा बल में [अक्षा-

### ३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जुहू में सुष के द्वारा कलुषा से बार बार एवं उपसृत में आठ बार आग्न्यमहण किया जाता है। 'चतुर्जुह्वं भग्नौ कृत्स्न उपसृति' इन चार-संख्याओं की क्या उपनिषत् ?, पद-कविकालमक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है) —

(यज्ञकर्म में दक्षित यज्ञफलभोक्तृ) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं जो (यजमान का शत्रु) इस यजमान के प्रति (सम्पत्ति-आगमन का द्वार अवरोध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है व (शत्रु) उपसृत को लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू में प्रतिष्ठित आग्न्य यजमान का प्रतिरूप है एवं उपसृत में प्रतिष्ठित आग्न्य यजमान के शत्रु का प्रतिरूप है)। अत्ता (भोक्तृ) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं भाग्य (भोग्य) उपसृत को लक्ष्य बनाता है। (अर्थात् जुहू-स्थित आग्न्य भोक्तृ का प्रतिरूप है, एवं उपसृत में स्थित आग्न्य भाग्य का प्रतिरूप है)। (वक्षिण बाहु का प्रतिरूप) जुहू अत्ता है एवं (वामबाहु का प्रतिरूप) उपसृत भाग्य है।

(उक्त यजमान-यजमानशत्रु अत्ता-भाग्य इन द्वन्द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि जुहू को यजमान तथा, भोक्तृ समझ कर एवं उपसृत को यजमानशत्रु तथा भोग्य समझ कर ही आग्न्यमहण-सम्बन्धित संख्याओं के निरूपण की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए। क्योंकि यह द्वन्द्व-भाव ही सङ्ख्योपपत्ति की मूल प्रतिष्ठा है। यह है-सौखिक परिस्थिति। इस अपन तरब में रहता हुआ वह (अश्वयु) नियमितरूप से (यै) बार बार जुहू में आग्न्यमहण करता है, एवं आठ बार करके उपसृत में (आग्न्यमहण करता है) ॥११॥

सो जो कि (अश्वयु) जुहू में बार बार महण करता है, (इस की उपपत्ति वक्तव्य है)। (जुहू में बार बार करके आग्न्यमहण करता हुआ अश्वयु इस महणकर्म से) अत्ता (यजमान) का ही अविराय सीमित और संख्या में अल्प (छोटा) करता है। (जुहू में आग्न्यमहण करने के अनन्तर जो कि अश्वयु उपसृत में आठ बार करके आग्न्यमहण करता है, (उसका कारण वक्तव्य है)। (उपसृत में आठ बार करके आग्न्यमहण करता हुआ अश्वयु इस महणकर्म से) भाग्य (यजमानशत्रु) को ही अविराय विलुप्त और संख्या में बड़ा करता है। जहाँ भोक्तृ कम होगा एवं भोग्यसामग्री प्रचुरमात्रा में होगी अद्वय ही वह (गृहस्थपरिवार यज्ञकर्म आदि) समृद्ध है (समृद्ध मान लेंगे)। (तात्पर्य यही हुआ कि, पृथक्भक्तानुसार जुहू का आग्न्य भोक्तृ है, एवं उपसृत का आग्न्य भोग्य है। जहाँ जिस सत्त्वा में भोक्तृ की अपेक्षा भाग्य सामग्री अधिक होती है, वहाँ समृद्धि मानी जाती है। इसी समृद्धि का यहकर्म में समावृत्ति करने के लिए भोक्तृ-स्थानीय जुहू का आग्न्यभाग संख्या में कनीयान् किया जाता है एवं भाग्य उपसृत का आग्न्यभाग संख्या में भूयान् बनाया जाता है। ॥१२॥

[ब्राह्मणग्रन्थों की यह एक नियत शैली है कि अपेक्षकों का ब्राह्मण (विज्ञान प्रीति-अद्वय, उपपत्ति) स्तवने का उपक्रम करते हैं वी आरम्भ में समाधान-पदमार्गित प्रस्तावक वाक्यों का प्रयोग करते हैं।



की अपचा] शून्य ही बनाता है। [वात्पर्य्य यही है कि आठ सख्या से जहाँ आठ संख्य, तथा आयतन में बढ़ा है वहाँ मौलिक धीर्य्यरूप आत्म्य की अल्पता से अत्ता की अपचा यही धीर्य्य, तथा वसा से शून्य है, निर्धीर्य्य है निबल है]। निष्कष यही निकला कि अत्ता सदा आत्म्य पर अपना प्रमुख प्रतिष्ठित रखे आठ सदा इसके सामन नतमस्तक रहे इसी रूपसमृद्धि के लिए अपचा-स्थानीय जुड़ में अधिकमात्रा से तथा आठस्थानीय उपभूत में अल्पमात्रा से आत्म्य-ग्रहण करना प्राकृतिक है।

[एकही रहता हुआ भी अत्ता अधिक धीर्य्य, बल के सम्बन्ध से हीनधीर्य्य हीनबल बनेकों कारणों पर कैसे अपना प्रमुख प्रतिष्ठित रखता है? इस सम्बन्ध में प्राकृतिक-नित्य-वर्णानुगत 'पञ्चा-प्रजा' का उदाहरण उद्धृत करती हुई भुति कहती है]—

इसीलिए तो [वस्मादुत-आठ की अपचा अत्ता के विरोध बलधीर्य्यवान् होने से ही वा राष्ट्रधिपति एक] सत्ताधीश अपार [असंख्य-अगणित-अनगिनती] प्रजा को प्राप्त होकर भी स्वयं एक घर से (पक्षी ही उस असंख्य-प्रजा को) अपने घर में कर लेता है। (यही नहीं अपितु राष्ट्र की आवश्यकता के लिए यह राष्ट्रपति सत्ताधीश जब जब जैसी जैसी जिस जिस वस्तु की अमना करता है तब तब वैसी वैसी उस उस अभिलषित वस्तु को भी (उस आठस्थानीय प्रजा से बल-धीर्य्य के प्रभाव से) प्राप्त करता रहता है। उसा धीर्य्य से (सत्ताधीश यह सब कुछ राज्य-प्रजावैभवं प्राप्त करने में समर्थ होता है) जो कि यह अपनी जुड़ (रूप दक्षिण वाहु) में अधिक आत्म्य (धीर्य्य) ग्रहण करता है। (अपने बाहुबल तथा आत्मधीर्य्य से सत्ता-धीश एकही रहता हुआ भी असंख्य प्रजायुक्त राष्ट्र पर अपना प्रमुख बनाए रखता है, यही वात्पर्य्य है)।

यह अप्यायुं जिस आठ को जुड़ में लेता है उस आत्म्य की (तो) आहुति जुड़ से दत्ता (ही) है (परन्तु) जिस आत्म्य का उपभूत से ग्रहण करता है [उसकी भी आहुति उपभूत से त दकर] जुड़ से ही आहुति दत्ता है। [वात्पर्य्य यही हुआ कि आत्मग्रहणकर्म प्रथम प्रथक जुड़ उपभूत में होता है, परन्तु आहुति दोनों के आत्म्य की जुड़ से ही दी जाती है ॥०॥१४॥

॥—१ भी कथि'का के आगे प्राश्निकप्रश्न की जिस प्रतिपादन-शैली का स्पष्टीकरण दिया गया है पाठ देखेंगे कि १३-वीं १४ वीं, कथि'काओं के प्रारम्भिक वाक्यों से उक्त शैली का नवीनतम समर्थन प्राप्त है। उल्लेखकमर्थित प्रस्तावक वाक्यों का अर्थ 'स यत्'— 'अथ यत्'— 'अथात्' 'तथात्' रूप में आरम्भ होता है। ऐसे उल्लेखक्यों से सम्बन्ध पूर्ववाक्यों का उपक्रम म अ—नदि तदा गतम् दत्ता दिक्रम स दत्ता है जनाकि १३ वीं कथि'का के आगे के प्रकरण से मन्त्र स ये पनुजु ह्यं गृहन् भूयः आत्म्यं गृह्णाति १४ आमान्य उपक्रमवाक्य से एवं १४ वीं कथि'का के उपर प्रकरण स यत् १५, १५७४, अतएव अन्वयान्वयवच उल्लेखकमर्थित प्रस्तावक—'स यत्पनुजु ह्यं गृहन् भूय आत्म्यं गृह्णाति'

(यद्यप्युक्ति का यह एक स्वाभाविक नियम माना जाता है कि जिस पात्र, किंवा पात्री में आहुति द्रव्य लिया जाता है उसी पात्र किंवा पात्री से आहुति दी जाती है। परन्तु पूर्वभूति ने प्रहण्यतलाया है उपभूत म एवं आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वैषम्य का क्या कारण ? इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपादान कर, अन्त में समाधान करती हुई भूति कहती है।—

[उपभूत में गृहीत आम्भ को उपभूत से आहुति न कर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए, इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में] कितने एक विद्वान् कहते हैं कि [० तदाहुः] यदि [उपभूत में गृहीत आम्भ की] उपभूत से आहुति नहीं दत्त तो फिर क्यों [किस प्रयोजन के लिए] उपभूत में [आम्भ] प्रहण्य किया जाय ? [प्रश्नकर्त्ता विद्वानों का अभिप्राय यही है कि, आहुति देने के लिए ही तो आम्भ-प्रहण्य का विधान हुआ है। जब उपभूत से आहुति ही नहीं दी जाती तो इसमें आम्भ-प्रहण्य की ओर क्या आवश्यकता रह जाती है ? ]।

[भूति उत्तर देती है कि]—यदि यह [अभ्यर्च्युः]—[उपभूत में गृहीत आम्भ की] उपभूत से आहुति दत्ता तो ये सम्पूर्ण प्रजाएँ [अपना स्वाभाविक संघटन ताड़ कर] स्वतन्त्र बन जायेंगी। न अत्ता रहेगा न आरा [सुरक्षित] रहेगा। [उत्तर का तात्पर्य यही है कि, उपभूत में गृहीत आम्भ एवं उपभूत दाना आद्यस्थानीय वनत हुए प्रजा-स्थानीय हैं। जुहू म गृहीत आम्भ तथा जुहू, दोनों अत्ता स्थानीय वनत हुए 'सत्ताघाण-स्थालाव' है। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रजा-स्थानीय उपभूत से ही प्रजा-स्थानीय आम्भ की आहुति दी जायगी तो उपभूताम्भस्थानीय प्रजा स्वतन्त्र बन जायगी जो कि निर्दुरा अभ्यर्थाहित स्वातन्त्र्य तः शतः प्राप्तन्त्र्य बनता हुआ सत्तावीरा, तथा प्रजा दोनों के नाश का ही कारण माना गया है। परन्तु जब उपभूत-गृहीत आम्भ का सत्तावीरा-स्थानीय जुहू [के आम्भ] से आहुति दी जाती है तो उपभूताम्भरूप प्रजावन जुहूरूप सत्तावीरा की रक्षा में आकर विप्लव से बन जाता है। इसी 'राष्ट्रीय-एकाकरण' के लिए उपभूत-गृहीत आम्भ की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वाभाविक-रीती से व्यक्त करती हुई भूति कहती है।—

(उपभूत में आद्यप्रहण्य करने [लिए] अनन्तर जिसलिए कि (उपभूत-गृहीत आम्भ का) जुहू में ही लेकर आहुति दत्त है (इसका कारण बताते हैं)। (उपभूत आम्भ को जुहू म

[तत्परण्यसुध्यात—इति वाच्यशेषः] इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। ब्राह्मण्यन्धी की न परिभा-  
गामी क न जानने से 'मत्तिकास्थान मत्तिकापातः' न्याय से व्याकरण क कलपर कल शब्दाव क अनु-  
गमन से वास्तविक अर्थ-समन्वय में बड़ी प्राप्ति हो जाती है। अतः पाठकों से इस सम्बन्ध में माग्न निम्न  
दिया जायगा कि, अद्यतम-वच करते हुए न इन परिभाषाओं का मलीमाति स्पष्टीकरण करें।

—यहाँ कहीं भूति को किसी आप के द्वारा प्रश्नात्मक, आद्यपशुक्त पृथपरन करना होता है, यहाँ सभ्य  
आम्भ में 'तदाहुः' का सम्मिश्रण रहता है। पूर्व शब्दों में 'तदाहुः' वाक्य का सभ्य प्रश्नात्मक ही समझना  
चाहिए। यह भी ब्राह्मण्यन्धी की एक स्वाभाविक ही रीती है।

लेकर) आहुति देन से ही ये प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य की अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जा सकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभूत में आग्न्यग्न्य की ही क्या आवश्यकता रह जाती है? क्यों नहीं पहिले चार बार जुहू में लेकर अतागार की प्राप्ति के लिए आहुति द दीजाय अनन्तर आग को अता के आधीन बनाने के लिए जुहू में ही आठ बार लेकर [आग्न्याय की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति द दी जाय?। पहिले उपभूत में लेना पुनः उपभूत से जुहू में लेकर आहुति देना इस प्रविष्टि प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतिकर्तव्यता पूरी करली जाय?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रनोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई भुक्ति कहती है) —

[जुहू में चार बार ग्रहण करने के] अनन्तर जिसलिए कि उपभूत में [ही आठ बार आग्न्य] ग्रहण करते हैं [इसका कारण बतलाते हैं]। [आग्न्यग्न्याय प्रजा से सम्बन्ध रखन वाला उपभूत-सम्बन्धी आग्न्यग्न्य जुहू में न होकर उपभूत में ही होता है] इसीलिए ही क्षत्रिय [राजा] के वरा में [रक्षा में] रहत हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [सम्पत्तिवर्ग] उपस्थित होते हैं। [उत्तर अतस्तत्त्व्य यही कि जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए मोक्ष की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में ही स्वाहा कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (बन कृपि पशु आदि (वर्धिवत्) से युक्त न बने। और उस वरा में राजा का राजत्वना ही सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास के लिए, प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को पञ्चरा से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभूत जुहू पर रखी रहनी है। जुहू आचार है, आभय है, उपभूत आभय है, आभिउ है। यही राजा का प्रजा पर रक्षक अनुमति है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप स पशुसमृद्धि करने में समर्थ बन, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रख कर उग्रभूत में ही आग्न्यग्न्य किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभूत में आग्न्यग्न्य कर अनन्तर अतागार-आग्न्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है? इस प्रश्न का एक समाधान ता करिष्य के अन्तर्भ में ही— 'तस्मादिमा विश्व क्षत्रियाय बलि हवन्ति इत्यादिरूप से दिया जाचुका है। इस उत्तर का तात्पर्य यही है कि, प्रजा राजा का बलि (कर) प्रदान करती रह राजा उस बलिप्राप्ति से और भी अधिक पक्षपात पतता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए अति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है) —

(जुहू पर रख हुए उपभूत में आठ बार आग्न्यग्न्य करने के) अनन्तर जिसलिए कि (उपभूत-आग्न्य का) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दत है (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं)। क्यों के उपभूत-आग्न्य की उपभूत से आहुति न होकर जुहू से आहुति दीनी है? अनप्य



जिम समय भी चित्रियराजा ( राष्ट्रहित के लिए जिस मन्थसि की ) कामना करता है कामना के अव्यवहितोत्तरकाक्ष में ही वह वैश्य ( प्रजा ) को लक्ष्य बना कर आक्षा देता है कि, वैश्य ! तुमारा जो अत्यन्त सुरक्षित ( सुगुप्त ) पर ( परकीय चन ) है उसे ( राष्ट्रहित के लिए ) शीघ्र ले आओ । ( आक्षानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त धन को ) वह राजा अपने अधिकार में कर लेता है । इसीप्रकार राजा को ( राष्ट्रसञ्चालन-कर्म में ) नव जैसी धिन वस्तुर्भा का आवश्यकता पड़ती रहती है इन्हीं सम्पन्न वैश्या क द्वारा वैसी व वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं ( और इस स्वाभाविक सम्पत्-प्राप्ति का एकमात्र कारण है ) वीर्यप्रभाव । ( तात्पर्य उत्तर का यहाँ है कि यदि उपभूत से ही आहुति दी जायगी तो इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-चन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान कर दी । प्रजाचन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य बल है । यदि प्रजाचन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा के राष्ट्र की अधराक्ति नष्ट होजायगी । और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसञ्चालन के लिए सम्पत्ति-संग्रह न कर सकेगा । ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृशगम्य को जुहू के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा के द्वारा सञ्चित चन राजा की रक्षा में जायगा । इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा के उस गुप्त ( सुरक्षित ) चन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृशगम्य को जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

( जुहू, और उपभूत में क्रमशः १८ बार करके जा आग्यग्रहण होता है इस क सम्यन्व में जा कुछ उपपत्ति बतलाना भी बतला दी गई । अब तीसरी धृवा नामकी सुक्ष्म शेष रह गई, जिससे कि सुय के द्वारा जुहू उपभूत में आग्यग्रहण होता है । इस क्रमरूपि सं यद्यपि अब धृवा-सम्यन्व की आग्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित भी । तथापि धृवा-पात्र अङ्गभूत इतर दोनों सुचों ( जुहू उपभूत ) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सवयज्ञप्रतिष्ठा है । अतः धृवा क इस सवभाष को दृढमूल बनाने क उद्देश्य से प्रसङ्गान् पहिले इतर दोनों सुचों का भी मिहायलोक्न कर लिया जाता है ।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज तथा श्रुतुरूप प्रयाज दोनों क लिए क्रमशः उपभूत-तथा जुहू में आग्यग्रहण होता है तथापि धृवा-सम्यन्व में यतच्छाह जान यात्री उपपत्ति का भूति न प्रधानरूप से छन्द सम्पत्ति के साथ ही सम्यन्व नाना है जैसा कि निम्न लिखित मूलानुवाद में स्पष्ट हो रहा है ) ।

( आग्यस्यास्त्री सं चार बार करके धृवा में धृवा से सुय क द्वारा चार बार कर के जुहू में ग्य धृवा से सुय के द्वारा चार बार करके उपभूत में गृहीत होन यात्र ) व य आग्य छन्दां क लिए ही गृहीत होते हैं—( छन्दां के लिए ही आग्या का ग्रहण होता है ) । सा जा कि जुहू में चार बार करके ( आग्य ) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए हा ग्रहण करता है । जो कि उपभूत में चार बार कर के ( आग्य ) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप् तथा जगती-छन्दां के ही लिए

लेकर) आहुति वृत्त से ही यं प्रजायें सुत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य को अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभूत में आत्मग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है?। क्यों नहीं पहिले बार बार जुहू में लेकर अतागर की प्राप्ति के लिए आहुति वे दीजाय अनन्तर आद्य को अत्ता के आधीन बनाने के लिए जुहू में ही आठ बार लेकर [आद्यमात्र की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति वं दी जाय?। पहिले उपभूत में लेना पुन उपभूत से जुहू में लेकर आहुति देना इस त्रिविध-प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतिकर्तव्यता पूरी करली जाय?। इसी विप्रतिपक्ष का प्ररनोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई भूति कहती है) —

[जुहू में बार बार ग्रहण करने के] अनन्तर जिसलिए कि उपभूत में [ही आठ बार आत्म] ग्रहण करते हैं, [इसका कारण बताते हैं]। [आद्यसंस्था प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभूत-सम्बन्धी आत्मग्रहण जुहू में न होकर उपभूत में ही होता है] इसलिये ही सुत्रिय [राजा] के वश में [रक्षा में] रहते हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [सम्पत्तिवर्ग] उपस्थित होते हैं। [उत्तर का तत्पर्य यही कि, जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए भोक्तृ की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में ही त्याग कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (धन कृषि पशु आदि [वर्धित]) से मुक्त न बन। और इस दशा में राजा का राजसत्ता ही 'सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास के लिए प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को पशुसत्ता से स्वतन्त्र—रक्षणा भी आवश्यक है। उपभूत जुहू पर रखी रहती है। जुहू आचार है, आश्रय है, उपभूत आश्रय है, आभिज्ञ है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बने, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रक्षक हुए उपभूत में ही आत्मग्रहण किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभूत में आत्मग्रहण कर अनन्तर आपभूत-आत्म को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है? इस प्रश्न का एक समाधान तो कविकथा के आरम्भ में ही— 'तस्मादिमा यिष्णुं चक्षिषाथ वर्णि हरन्ति इत्यादयः से किया जायुका है। इस उत्तर का तत्पर्य यही है कि प्रजा राजा का बलि (कर) प्रदान करती रह राजा इस बलिप्राप्ति से आर भी अधिक पक्षपात पनता हुआ प्रजासमृद्धि में पशु समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए भूति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है) —

(जुहू पर रख्य हुए उपभूत में आठ बार आत्मग्रहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि (आपभूत-आत्म का) जुहू में लेकर जुहू में ही आहुति दत्त है (इस की दूसरी उपपत्ति बताता है)। क्यों के आपभूतात्म की उपभूत से आहुति न होकर जुहू से आहुति दानी है? अनन्तर

जिम समय भी क्षत्रियराजा ( राष्ट्रहित के लिए जिस सम्पत्ति की ) कामना करता है, कामना के अन्वयवहितोत्तराकाङ्क्ष में ही वह वैश्य ( प्रजा ) को लक्ष्य बना कर आकांक्षित करता है कि, वैश्य ! तुमारा जो अत्यन्त सुरक्षित ( सुगुप्त ) पर ( परकीय ) धन है, उसे ( राष्ट्रहित के लिए ) शीघ्र ले आओ । ( आज्ञानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त धन को ) यह राजा अपने अधिकार में कर लेता है । इसीप्रकार राजा को ( राष्ट्रसञ्चालन-कर्म में ) जब जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है, इसी सम्पन्न वैश्यों के द्वारा वैसी व वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं ( और इस स्वाभाविक सम्पत्-प्राप्ति का एकमात्र कारण है ) धीम्यप्रभाव । ( तात्पर्य उत्तर का यही है कि, यदि उपभूत से ही आहुति दी जायगी तो इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-धन धन्य के लिए स्वतन्त्रता प्रदान कर दी । प्रजाधन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य वस्तु है । यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा के राष्ट्र की अथशक्ति नष्ट होजायगी । और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसञ्चालन के लिए सम्पत्ति-संग्रह न कर सकेगा । ठीक इस के विपरीत जब कि औपशुन्य की जुहू के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा के द्वारा सञ्चित धन राजा की रक्षा में जायगा । इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा के उस गुप्त ( सुरक्षित ) धन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपशुन्य की जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

( जुहू, और उपभूत में क्रमशः ४-८ बार करके जो आत्मग्रहण होता है इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलाना भी बतला दी गई । अब तीसरा ध्रुवा नामकी सुक्ष्म शक्ति रह गई जिससे कि सुष के द्वारा जुहू उपभूत में आत्मग्रहण होता है । इस क्रमचि से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बन्धी आत्मग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी । तथापि ध्रुवा-प्राप्त अङ्गभूत इतर दोनों सुषों ( जुहू उपभूत ) की प्रतिष्ठा वनता दुष्सा सर्वव्याप्यप्रतिष्ठा है । अब ध्रुवा का इस सवभाव को स्वमुख बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गान् पहिले इतर दोनों सुषों का भी सिद्धान्तोक्त कर लिया जाता है ।

यद्यपि अन्तरूप अनुयाज तथा अतुरूप प्रयाज दोनों के लिए क्रमशः उपभूत-तथा जुहू में आत्मग्रहण होता है तथापि ध्रुवा-सम्बन्ध में बतलाई जान वाली उपपत्ति का भूति ने प्रधानरूप से अन्तःसम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध नाना है जैसा कि निम्न लिखित मूल्यानुवाद में स्पष्ट हो रहा है ) ।

( आत्मस्थाली से बार बार करके ध्रुवा में ध्रुवा से सुष के द्वारा बार बार कर के जुहू में पण ध्रुवा से सुष के द्वारा द्वारा आठ बार करके उपभूत में गृहीत होने वाला ) य ये आत्म अन्ता के लिए ही गृहीत होते हैं—( अन्तों के लिए ही आत्मों का ग्रहण होता है ) । सा जो कि जुहू में बार बार करके ( आत्म ) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए हा गृहण करता है । जो कि उपभूत में आठ बार कर के ( आत्म ) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप् तथा जगती-छन्दों के ही लिए

लेकर) आहुति देने से ही ये प्रजाएँ सृष्टि-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करती हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य को अनुगामिनी बनी रहती है)।

(अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जा सकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभृत् में आग्न्यमहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है?। क्यों नहीं पहिले बार बार जुहू में लेकर अतागत्र की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय अनन्तर आग्न को अता के आधीन बनाने के लिए जुहू में ही आठ बार लेकर [आग्नमह्य की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय?। पहिले उपभृत् में लेना पुन उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना इस त्रिविध प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में ही लेकर क्यों न इतिकर्तव्यता पूरी करली जाय?। इसी विप्रतिपत्ति का प्ररनेस्थानपूथक निराकरण करती हुई भुक्ति कहती है) —

[जुहू में बार बार मह्य करने के] अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् में [ही आठ बार आग्न्य] मह्य करते हैं [इसका कारण बतलाते हैं]। [आयलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत्-सम्बन्धी आग्न्यमह्य जुहू में न होकर उपभृत् में ही होता है] इसलिये ही सृष्टि [राजा] के वश में [रक्षा में] रहते हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [सम्पत्तिवर्ग] उपस्थित होते हैं। [उत्तर भू तात्पर्य यही कि, जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए मोक्ष की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्व अपने स्वार्थ में ही स्थाह कर जाय उसे स्वतन्त्र रहकर (किन्तु अपनी रक्षा में) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति (चन कृपि पशु आदि (बहिर्विच) से मुक्त न बने। और उस वश में राजा का राजपना ही सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास के लिए, प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को एकपक्ष से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत् जुहू पर रखी रहती है। उक्त आचार है, आश्रय है, उपभृत् आश्रय है, आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बन, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रखे हुए उपभृत् में ही आग्न्यमहण किया जाता है)।

(इसप्रकार पहिले उपभृत् में आग्न्यमहण कर अनन्तर ओपभृत्-आग्न्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है? इस प्रश्न का एक समाधान वा कविवक्ता के आरम्भ में ही— 'मत्साहिमा धियः सन्निपाथ बलिं हवन्ति' इत्यादिरूप से दिया जा चुका है। इस उत्तर का तात्पर्य यही है कि, प्रजा राजा का बलि (कर) प्रदान करती रह राजा उस बलिप्राप्ति से और भी अधिक फलदायक बनता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बन। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए भुक्ति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है) —

(जुहू पर रखे हुए उपभृत् में आठ बार आग्न्यमहण करने के) अनन्तर जिसलिए कि (ओपभृत्-आग्न्य का) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दत्त है (इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं)। यहाँ के ओपभृत्वाच्य की उपभृत् से आहुति न होकर जुहू से आहुति दानी है; अतएव

जिस समय भी त्रयिराजा ( राष्ट्रहित के लिए जिस सम्पत्ति को ) कामना करता है, कामना के अव्यवहितोत्तरकाय में ही वह वैश्य ( प्रजा ) को लक्ष्य बना कर आशा करता है कि, वैश्य ' तुम्हारा जो अत्यन्त सुरक्षित ( सुगुप्त ) पर ( परकीय घन ) है उसे ( राष्ट्रहित के लिए ) शीघ्र ल आओ । ( आझानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त घन को ) यह राजा अपने अधिकार में कर लेगा है । इसीप्रकार राजा को ( राष्ट्रसञ्चालन-कर्म में ) जय जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है, इन्हीं सम्पन्न वैश्या के द्वारा वैसी वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं ( और इस स्वामाधिक सम्पत्त-प्राप्ति का एकमात्र कारण है ) वीर्यप्रभाव । ( तात्पर्य उत्तर का यही है कि, यदि उपभूत से ही आहुति दी जायगी, तो इसका यह अर्थ होगा कि राजा ने प्रजा को सञ्चित-घन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करी । प्रजाघन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य वस्तु है । यदि प्रजाघन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा तो राजा के राष्ट्र की अथराक्ति नष्ट होजायगी । और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसञ्चालन के लिए सम्पत्ति-समूह न कर सकेगा । ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृगव्य को जुड़ के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि प्रजा के द्वारा सञ्चित घन राजा की रक्षा में जायगा । इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा तभी प्रजा के उस गुप्त ( सुरक्षित ) घन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृगव्य को जुड़ में लेकर जुड़ से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

( जुड़ और उपभूत में क्रमशः ४-८ बार करके जो आग्यग्रहण होता है इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी बतला दी गई । अब तीसरा ध्रुवा नामकी सुक्ष्म शेष रह गई जिससे कि सुब के द्वारा जुड़ उपभूत में आग्यग्रहण होता है । इस क्रमशः से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बन्धी आग्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी । तथापि ध्रुवा-पात्र अङ्गभूत इतर दोनों सुबों ( जुड़-उपभूत ) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सर्वव्याप्यप्रतिष्ठा है । अतः ध्रुवा के इस सवभाष को दृढ़मूल बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गान् पहिले इतर दोनों सुबों का भी मिहायलोकन कर लिया जाता है ।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयात्र तथा श्रुतरूप प्रयाज दोनों के लिए क्रमशः उपभूत-तथा जुड़ में आग्यग्रहण होता है तथापि ध्रुवा-सम्बन्ध में बतलाइ जान वाली उपपत्ति का भूति ने प्रधानरूप से छन्द्राःसम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध नाना है ( जैसा कि निम्न लिखित मूलानुयाय में स्पष्ट हो रहा है ) ।

( आग्यस्यास्ती से चार बार करके ध्रुवा में ध्रुवा से सुब के द्वारा चार बार कर के जुड़ में एवं ध्रुवा से सुब के द्वारा चार बार करके उपभूत में गृहीत होने वाला ) य ये आग्य छन्द्या के लिए ही गृहीत होते हैं—( छन्द्या के लिए ही आग्या का ग्रहण होता है ) । सा जो कि जुड़ में चार बार करके ( आग्य ) ग्रहण करता है वह गायत्रीछन्द के लिए हा ग्रहण करता है । जो कि उपभूत में चार बार कर के ( आग्य ) ग्रहण करता है वह त्रिष्टुप् तथा जगती-छन्द्या के हा लिए

महण करता है। जो कि (आत्मस्थाली से) ध्रुवा में बार बार कर के आत्म) महण करता है वह अनुष्टुप् छन्द के लिए ही महण करता है। अनुष्टुप् ही वाक् है। वाक् से ही यह (सब मौक्तिक प्रपञ्च) उत्पन्न हुआ है। इसीलिए (वाक्प्रतिरूप) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ होता है॥ अनुष्टुप् (वाक्) ही यह (पृथिवी) है। इसी (पृथिवी) से यह सब (स्तौम्यत्रिकोकीरूप मूलप्रपञ्च) उत्पन्न होता है। इसीलिए (पृथिवी के प्रतिरूप) ध्रुवा से ही यह सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न हुआ है॥१६॥

## ❁-इति-आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्

### ४-पदतिप्रकरणम्

किन में, किन से किनके लिए, कितनी बार आत्ममहण होता है ? पूर्व-प्रतिपादित तीन प्रकरणों में इसी प्रश्नों का समाधान हुआ है। अब कैसे आत्म महण करना चाहिए ? पदतिरूप यह प्रश्न बच रहा है। आगे की क्रमशः १०-१८ कण्विकश्रौतों से इस 'आत्ममहण-पदति' का ही निरूपण करता हुआ अष्टमरा (१८) कण्विकश्रौतक, प्रकरणचतुष्टयकमक, 'आत्ममहणः ब्राह्मण' नामक, १ काण्डानुगत-३ अध्याय का दूसरा (३) तथा द्वितीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण (२५) समाप्त होता है।

वह अध्वर्यु—'आम नामासि प्रिय देवानामनाष्टुष्ट द्यवयजनमसि' (अनुः सं० २ अ०-३१ मं०) यह मन्त्र बोलता हुआ आत्ममहण करता है। (अष्टसुविधा के लिए मन्त्र को दो मार्गों में विभक्त कर पहिले प्रथम विभाग का अर्थ करती हुई श्रुति कहती है) —यह द्यवयजनों का अत्यन्त प्रिय स्थान (रमणमाघन) है जो कि आज्य है। इसीलिए 'आम नामासि प्रिय देवानाम्' यह कहा गया है। (मन्त्र का द्वितीय भाग का अर्थ करते हैं) आज्य वास्तव में यज्ञ है, द्यवयजन है—(द्यवयजनों की यज्ञ के द्वारा परस्पर सञ्जति कराने वाला है)। इसी अभिप्राय से 'अनाष्टुष्ट द्यवयजनमसि' यह कहा गया है॥१७॥

वह अध्वर्यु इस (उक्त) अनु से (मन्त्र से मन्त्र बोलता हुआ) अनु में एकबार आत्म-महण करता है तब बार चुपचाप (महण करता है) (तत्पश्चात् यही है कि अनु में बार बार आत्ममहण करने का विधान है। इन में आरम्भ में एकबार तो मन्त्र बोलते हुए महण करता

० देखा कि मूलानुयायप्रकरण के आरम्भ में ही कृता दिया गया है, ११ से १६ पर्यन्त की ६ कण्विकश्रौतों में आत्ममहण की उपपत्ति ही प्रधानरूप से बतलाई गई है। अतएव हमने १८-कण्विकश्रौतक एव प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए 'आत्ममहणोपपत्तिप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया है।

चाहिए एवं तीन बार बिना मन्त्र बोले चुपचाप ग्रहण करना चाहिए ) । उपभृत् म एकवार ( तो ) इसी यजु में ( मन्त्र बोलाता हुआ ) आग्न्यग्रहण करता है, एवं सात बार चुपचाप ( बिना मन्त्र प्रयोग के ) आग्न्यग्रहण करता है । ध्रुवा में ( आग्न्यस्थाली में से ) एक बार तो इसी यजु से ( मन्त्र बोलाता हुआ ) आग्न्यग्रहण करता है, एवं तीन बार चुपचाप ( बिना मन्त्रप्रयोग के ) आग्न्यग्रहण करता है ।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् कहते हैं कि, ( ध्रुवा जुड़ उपभृत् इन तीनों में आग्न्यग्रहण करते हुए प्रत्येक में ) तीन तीन बार यजु से ( मन्त्रपूर्वक ) आग्न्यग्रहण करना चाहिए । क्योंकि यज्ञ त्रिष्टुप् ( नवाक्षरा-विराट्सम्पत्ति से युक्त ) है । ( आक्षेपगर्भित प्रश्न-कर्त्ता का अभिप्राय यही है कि जब यज्ञ त्रिष्टुप् है, और त्रिष्टुप् सम्पत्ति बिना तीन तीन बार यजु-प्रयोग-मन्त्रप्रयोग-के सम्भव नहीं तो ऐसी वृत्ता में जुड़-उपभृत्-ध्रुवा, तीनों की ४-८-४ इन ग्रहण-संख्याओं में से क्रमशः ३-३-३ रूप से या मन्त्रप्रयोगपूर्वक आग्न्यग्रहण करना चाहिए एवं १-५-१ इस संख्याओं के अनुरूप तृष्णी आग्न्यग्रहण करना चाहिए, तभी त्रिष्टुप्-सम्पत्ति प्राप्त होस-कती है )—

( ऊक्त पूषपक्ष का तटस्थ-रूप से स्पर्शजन-करती हुई, सकृत्-पक्ष को ही सिद्धान्तपक्ष बतलाती हुई श्रुति कहती है )—इस आग्न्यग्रहणकर्म में एक एक बार ही मन्त्रपूर्वक आग्न्यग्रहण करना चाहिए । इस ( सकृत्-सकृत् परिग्रहणकर्म ) में भी आग्न्य का ( समाहाररूप ) तीन बार ग्रहण होजाता है । ( इसप्रकार सकृत् पक्ष में ही त्रिष्टुप्-सम्पत्ति प्राप्त होजाती है ॥१८॥

## ४—इति—आग्न्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्



प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय अध्याय का दूसरा ब्राह्मण समाप्त ( १।३।२। )

प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय प्रपाठक का पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त ( १।२।५। )

## मूलानुवाद-समाप्त



## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

### जुहू में स्रुव से चार बार आज्यगृहण

आभ्यावेक्षणकर्म के अनन्तर 'आभ्यग्रहणकर्म' होता है। आभ्यग्राहणी में रखे हुए आज्य को स्रुव के द्वारा जुहू-उपभृत में डालना ही आभ्यग्रहणकर्म है। इसी कर्म की इति-कर्त्तव्यता पतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“स्रुवेष्टाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वी—‘धामनामेति’ सकृन्मत्र” इति।

—का० श्रौ० सू० २।७।६।

उक्त सूत्रांशानुसार अभ्यर्च्यु—“ओं धाम नामासि प्रिय देवानामनामनाष्टु वषयजनममि (ह आज्य) आप देवताओं के लिए प्रिय ‘धाम’ नाम वाले हो आप किसी भी आसुरभाष से धपण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं के वषयजन (वषयजनभूमिस्थानीय) हो”—स्रुः १।६१) यह मन्त्र पतलाता हुआ आभ्यग्राहणी से स्रुव को पूर्ण भर कर चार बार जुहू में आज्य डालता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त मन्त्र का प्रयोग प्रथमवार आज्य-ग्रहण में ही होता है। शेष तीन बार बिना मन्त्रोक्तवारण के तृणी ही आज्यग्रहण होता है। तान्यर्थ्य यही हुआ कि अभ्यर्च्यु स्रुव को चार बार पूर्णरूप से आभ्यग्राहणी में से भरेगा। इस में एक बार तो उक्त मन्त्र बोझता हुआ जुहू में डालेगा शेष तीन बार चुपचाप जुहू में डालेगा।

### उपभृत से स्रुव से आठ बार आज्यगृहण

जुहू में स्रुव से पूर्णरूप से चार बार आज्यग्रहण करने के अनन्तर उसी मन्त्र से आठ बार कर के अपरिपूर्णरूप से आभ्यग्राहणी में से स्रुव के द्वारा आठ बार उपभृत में आज्य ग्रहण किया जाता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

“अष्टावुपभृत्यन्वीयोऽनुयाजश्चेत्” (का० श्रौ० सू० २।७।१।)।

यदि दशपूर्णमास में अनुयाज का सम्बन्ध है तो आठ बार कर के उपभृत में अपूर्ण आठ स्रुव से आभ्यग्रहण किया जाता है। प्रकृत दृष्टि में अनुयाजकर्म ऐकन्यिक है इस बात को स्पष्ट करने के लिए ‘चन’ कहा गया है। यदि अनुयाजकर्म है तब तो आठ बार उपभृत में आभ्यग्रहण होगा अन्यथा कथल जुहू में ही बार बार आभ्यग्रहण होगा।

“यद्यपि कृत्य उपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजस्यस्तत्—गृह्णाति” (ते० भा० ३।१२।४) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत में जो आठ बार आभ्यग्रहण होता है उस में बार बार गृहीत आज्य का ता श्रमरूप प्रयाजवपताओं से सम्बन्ध है परन्तु बार बार गृहीत आज्य का अनुयाज-वपताओं से सम्बन्ध है। अनुयाजों का उपसृत्यन ऐकन्यिक पतलाया है। इस सम्बन्ध में एक



सराय उपस्थित होता है। यदि प्रकृत इष्टि में अनुयाज-कर्म का अभाव है अथवा तो वृषज-  
स्यादि द्रव्यान्तर से अनुयाजकर्म का इतिकर्तव्यता पूरी कर ला जाता है, तो ऐसी परिस्थिति  
में उपभूत में आठ बार आग्यग्रहण करना अथवा चार बार? इस सम्बन्ध में अपना नियम  
वतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**चतुरन्यत्र, प्रतिविभागात्” ( का० भी० सू० २७।११ )**

यदि प्रकृत इष्टिकर्म में अनुयाजका अभाव है, अथवा तो वृषजस्यादि अन्य द्रव्य से अनुयाज  
कर्म सम्पन्न करना अभीष्ट है तो उस वृषज में प्रतिविभाग-संख्या का से उपभूत में चार बार ही  
ग्रहण करना चाहिए। उपभूत-में प्रतिष्ठित अवयव औपभूत नाम से प्रसिद्ध आग्य ४-६ क्रम से  
क्रमशः प्रयाज, अनुयाज दोनों के लिए विहित है। जब कि औपभूत आग्य उभयार्थ है, और  
अनुयाजकर्म अपेक्षित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में केवल प्रयाजकर्म की सिद्धि के लिए चार बार  
ही आग्यग्रहण करना नियमप्राप्त वनता है। इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में दृष्टान्तरूप से एक दूसरा  
हुत वतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**“पश्वातिध्यादर्शनाच्च” ( का० भी० सू० २८।१२ )**

पशुवन् में तथा आतिथ्येष्टि में होने वाले अनुयाजकर्म की सिद्धि के लिए उपभूत में चार  
बार ही आग्य-ग्रहण देना जाता है। यदि अनुयाजकर्म वैकल्पिक होता है तो प्रयाज के लिए  
चार बार ही आग्यग्रहण करना चाहिए, यही प्रतिविभाग-व्यवस्था न्यायवत् प्राप्त है। पशुवन्  
के सम्बन्ध में ‘जुह्वा वापसृति च चतुर्गृहीत गृह्णाति’ ( आप० भी० ७।१।६ ) इत्यादि रूप से  
स्पष्ट ही प्रतिविभाग-संख्या का समर्थन हुआ है। एवमेष आतिथ्येष्टि के सम्बन्ध में भी ‘सर्वा-  
स्येव चतुर्गृहीतान्याभ्यानि गृह्णाति न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति’ ( शत० ब्रा० १।३।२६ ) इत्यादि रूप से  
इसी पक्ष का समर्थन हुआ है।

अब इस सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति के आधार पर एक नया पक्ष पक्ष उठाते हुए सूत्रकार  
कहते हैं—

**“न, कृत्स्नोपदशात्” ( का० भी० सू० २९।१३ )**

उपभूत में आठ बार गृहीत आग्य म से चतुर्गृहीत आग्य तो प्रयाज के लिए है पक्ष  
चतुर्गृहीत आग्य अनुयाज के लिए है पक्ष में जो यह सिद्धान्त वतलाया गया है वह ( भुक्ति-  
विराग से ) ठीक नहीं है ( न )। क्योंकि— ‘अथ यदष्टौ कृत्य उपसृति गृह्णाति अनुयाजभ्यो हि  
तद् गृह्णाति’ ( शत० ब्रा० १।३।२।६ ) इस भूति में उपभूत में आठ बार कर के गृहीत सम्पूर्ण  
आग्य का केवल अनुयाजकर्म के लिए ही धिक्कृत हुआ है। ऐसा स्थिति में प्रतिविभाग-संख्या का  
समर्थन नहीं किया जा सकता। ‘चतुरन्यत्र प्रतिविभागान् स यह वतलाया गया था कि उपभूत  
में आठ बार गृहीत आग्य म से आध का प्रयाज म, आध का अनुयाज म उपयोग है। इस  
का तात्पर्य यही है कि उपभूत में आठ बार ग्रहण ता अनुयाज के लिए ही होता है। परन्तु

## सूत्रानुगतपद्धतिमगूह

### जुहू में स्रुव से चार बार आज्यगूहण

आत्म्यावच्छादकर्म के अनन्तर 'आज्यमहणकर्म' होता है । आज्यस्थाली में रखे हुए आज्य को स्रुवा के द्वारा जुहू-उपभृत में डालना ही आज्यमहणकर्म है । इसी कर्म की इति-कर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“स्रुवेणाज्यमहणं चतुर्भुजा—“धामनामेति” सकृन्मत्र ” इति ।

—का० श्रौ० सू० २।७।६ ।

उक्त सूत्रावशानुसार अर्थव्युत्—“भौं धाम नामासि प्रियं देवानामनाष्टृषु वषस्रजनममि” ( इ आज्य । आप देवताओं के लिए प्रिय 'धाम' नाम वाला हो आप किसी भी आसुरभाव से घपण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं के वषस्रजन ( वषस्रजनभूमिस्थानीय ) हो ”—यजुः १।६१ ) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थाली से स्रुवा को पूण भर कर चार बार जुहू में आज्य डालता है । इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त मन्त्र का प्रयोग प्रथमवार आज्यमहण में ही होता है । शेष तीन बार बिना मन्त्रोक्तधारण के तूणी ही आज्यमहण होता है । तात्पर्य यही हुआ कि अर्थव्युत् स्रुवा को चार बार पूखरूप से आज्यस्थाली में से भरेगा । इस में एक बार तो उक्त मन्त्र बोलता हुआ जुहू में डालेगा शेष तीन बार चुपचाप जुहू में डालेगा ।

### उपभृत से स्रुव से आठ बार आज्यगूहण

जुहू में स्रुव से पूखरूप से चार बार आज्यमहण करने के अनन्तर उसी मन्त्र से आठ बार भर क अपरिपूणरूप से आज्यस्थाली में से स्रुवा के द्वारा आठ बार उपभृत में आज्य महण किया जाता है । इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

“अष्टावुपभृत्यन्पीयोऽनुयाजश्चेत्” ( का० श्रौ० सू० २।७।१ । ) ।

यदि दशपूणमास में अनुयाज का सम्बन्ध है तो आठ बार भर क उपभृत में अपूण आठ स्रुवा से आज्यमहण किया जाता है । प्रकृत दृष्टि में अन्तारूप अनुयाजकर्म वैकल्पिक है इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'चत' कहा गया है । यदि अनुयाजकर्म है तब तो आठ बार उपभृत में आज्यमहण होगा अन्यथा कथल जुहू में ही चार बार आज्यमहण होगा ।

“यद्यपि कृत्स्न उपभृति गृहाति प्रयाजानुयाजस्यस्तत्—गृहाति” ( तै० ब्रा० ३।३।५ ) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत में जो आठ बार आज्यमहण होता है उस में चार बार गृहीत आज्य का तो अनुभूत प्रयाजवृत्ताया से सम्बन्ध है पञ्चवार बार गृहीत आज्य का अन्तारूप अनुयाजवृत्ताओं से सम्बन्ध है । अनुयाजों का पूषस्रजन वैकल्पिक पतलावा है । इस सम्बन्ध में एक

## वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)—यद्येति कर्त्तव्यता की उपनिषत् क्या ? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही पहिला 'यस्य प्रतिकरपरस्व' नामक प्रकरण आरम्भ होता है। इस उपपत्ति-प्रकरण में प्रथम आध्यात्मिकयज्ञ का स्वीकार हुआ है अनन्तर आधिदैविकयज्ञ का विश्लेषण हुआ है। उपपत्ति-प्रकरणारम्भ से पहिले हम आज एक बहुत बड़ी विप्रतिपत्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हमारा वदशास्त्र विज्ञान का मयहार है इस सूक्ति के उच्चारण करते ही वर्त्तमान-जगत् प्रश्न-परम्परा हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। 'यदि वेद में विज्ञान है, तो क्या उस वैदिक-विज्ञान का आधार पर भाग्याय मो वर्त्तमान जगत् के से विविध भौतिक आविष्कार कर सकते हैं ?'। इस प्रश्न का महत्त्व उस समय ओर भी बढ़ जाता है, जब कि वदशास्त्र की व्याख्या करते समय पद पद 'विज्ञान' शब्द का पुनरावर्त्तन होने लगता है। मातृषप के सर्वा-कृष्ट वयुगकाल में विमानादि भौतिक आविष्कार उक्त प्रश्न का मलीभाति समाधान कर सकते थे इस में तो कोई सन्देह नहीं। एवं ऋग्वेदीय कतिपय सूक्त आज भी वाचिकरूप से अपना अतोत अहंभाव सुरक्षित रखने में पूर्ण समर्थ हैं। साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि यदि भारतीय विद्वानों को पूर्ण स्वातन्त्र्य मिले तो वे आज भी विलुप्तमाय वैदिक-विज्ञान-परम्परा के पुनरुद्धार के द्वारा भौतिक आविष्कारों से अपना अतोत वर्त्तमानकाटि में लासकते हैं।

इसप्रकार भौतिक-विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विमानादि भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में अपने त्रिकालज्ञ, विदितवेदितव्य कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु, समर्थ महामहर्षियों के यश सौरभ को अग्रुमात्र भी कम न करत हुए इस सम्बन्ध में हमें अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि, भारतीय महर्षियों के वैज्ञानिक-अगत की परिभाषा अपना कोई विगप ही महत्त्व रखती है। साथ ही यह भी निर्बिषाद है कि, ऋषियों की उस तात्त्विक वैज्ञानिक-परिभाषा की तुलना में भौतिक-आविष्कारों से सम्बन्ध रखने वाली वैज्ञानिक-परिभाषा कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती यदि हम सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय तब भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि ऋषियों का वैदिक-विज्ञान प्रचानत जिन तीन भेदिया में विभक्त है उनके अतिरिक्त किसी साथ ( भौतिक आविष्कारानुगत ) विज्ञान पर उनकी ऋष्टि सदा से नहीं के समान ही रही है। यही कारण है कि जिस वयुग में विमानादि भौतिक आविष्कार विद्यमान थे उस युग में भी वे आविष्कार मयस्रोत-व्यवहार में नहीं आसके थे। भौतिक आविष्कार माननीय युद्धि में जड़ता का समावेश करने हुए उसमें जहाँ प्रतिहिंसालक्षण आधुर-भाव का समावेश कर दत हैं वहाँ साथ साथ ही इनके अविराध व्यवहार से मानवसमाज की प्राकृतिक-राक्षियों स्वतन्त्र पौरुष भी क्षामानुगत ही धनता रहता है। आत्मस्वातन्त्र्य व अन्यतम शत्रु य ही भौतिक आविष्कार है। अथि इन का इस भीषणता से परिचित य अतण्य इस आर सवा से उद्धान उपचावृत्ति का ही प्रगता की। फलतः इन भौतिक आविष्कारों का आधार पर न तो वैदिक-विज्ञान का महत्त्व कम हो किया जासकता न इस सम्बन्ध में वैदिक-विज्ञान का सामने आलोचामक कोई प्रश्न ही उपस्थित करने की घृष्टता की जासकती।

जैसे प्रयाज के लिए जुहू में गृहीत आग्नेय का वचन-प्रमाण से उत्तराधार से विनियोग हो जाता है, एवमेव यहाँ भी प्रयाज में उपयोग हो जाता है। वृत्तरा इतु 'पश्चात्तित्वाश्रानात्' यह वा। इस सम्बन्ध में—

“पश्चात्तित्वाश्रानात्” (का. श्रौ० सू० २।७।१४)

यह समाधान ही पर्याप्त होगा। ‘अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति’ (रात० ब्रा० १।३।२६) इस श्रुतिवाक्य से सम्पूर्ण औपसृत् आग्नेय जब कि अनुयाज के लिए है, तब जहाँ पशुबन्ध में प्रपञ्चादि द्वयान्तर से अनुयाजेतिक्त्वव्यवाही की जाती है एवं आतिथ्यादि में अनुयाज का ही अभाव है, तो उस वशा से वहाँ उपसृत् में अग्रहण प्राप्त होने पर वचन से चतुर्गृहीत आग्नेय का ही विधान समझना चाहिए। पहिले से प्राप्त का ही वशान सम्भव है। पश्चादि में क्योंकि पहिले से प्राप्त नहीं है अतः वहाँ वचन ही मानना उचित है। प्रतिपक्षी का तत्पर्य यह है कि, जिस परवादि वशान के आधार पर सिद्धान्ती प्रतिविभाग की मर्यादा स्थापित करता हुआ औपसृत् आग्रहण के सम्बन्ध में चतुर्गृहीत आग्नेयपक्ष स्थापित करना चाहता है। पश्चादि का इस सम्बन्ध में उपोद्बलक नहीं माना जा सकता। अपितु ‘यद्वै कृत्स्न उपसृति गृह्णाति’ अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति’ इस श्रुति से औपसृत् आग्नेय उभयार्थ न हो कर अनुयाजार्थ ही मानना न्यायसङ्गत है।

प्रतिपक्षी की इसी विप्रतिपक्ष का निराकरण करते हुए भाष्यकार अपना यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि ‘यद्वै कृत्स्न उपसृति गृह्णाति’ प्रयाजानुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति’ (ते० ब्रा० १।३।५) इस शास्त्रान्तर-वचन के आधार पर औपसृत् आग्नेय का विधान उभयार्थ ही मानना चाहिए। अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति (रा० ब्रा० १।३।२६) यह वाक्यसनेय वचन तो प्राप्त अथवा अनुवादमात्र है, न कि विधान। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त यही निष्कर्षता है कि अनुयाजामात्र में किंवा अन्य द्वयानुयाज-युक्त क्रम में उपसृत् में चतुर्गृहीत आग्नेय को ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए। जुहू तथा उपसृत् के सम्बन्ध में आग्रहण की व्यवस्था कर जब क्रमप्राप्त अनुयाज आग्नेय-व्यवस्था करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“ध्रुव यां च जुहवत” (का० श्रौ० सू० २।७।१५)।

ध्रुवा में एवं चक्ररात् उपसृत् में जुहू की भाँति एक बार मन्त्रप्रयोगपूर्वक आग्नेयग्रहण होता है एवं तीन बार तृप्णी बिना मन्त्र प्रयोग के आग्नेय-ग्रहण होता है। इसप्रकार अनुयाज-उपसृत् में तो जुहू-उपसृत् ध्रुवा में तीनों में क्रमशः ४-८-४ बार आग्नेय ग्रहण होता है, एवं अनुयाजामात्रपक्ष में तीनों में क्रमशः ४-४-४ बार आग्नेयग्रहण होता है। दोनों ही पक्षों में एक एक बार मन्त्र-प्रयोगपूर्वक आग्रहण होता है एवं शेष तीन बार तृप्णी आग्नेयग्रहण होता है, एवं आग्नेय-ग्रहण से सम्बन्ध रखन वाला सूत्रानुगतपक्षात्-क्रम का यही संक्षिप्त स्पष्टीकरण है।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिमगूढ

प्रकरण-विशेषों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ — है। सप्तसुतयज्ञ के उक्त तीनों पर्वों का क्रमशः विश्व के स्वयम्भू सूर्य पृथिवी इन तीन पर्वों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

सहस्रवल्गात्मक-महामायावच्छिन्न-अस्थत्पट्ट के योगमायावच्छिन्न, पञ्चपुण्डरीक-प्रजापत्यवल्गात्मक, अतएव पञ्चपर्वीत्मक विश्व के सुप्रसिद्ध पाँचों पर्वों का 'स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी' रूप से प्रथमक्षण में अनेक बार उपलब्ध किया जा चुका है। इन पाँच विश्वपर्वों का आगे जाकर 'स्वयम्भू सूर्य-पृथिवी' इन तीन पर्वों में ही विश्राम मान लिया जाता है। इस विश्रान्ति का कारण यही है कि, अक्षस्वरूप-सम्पादक देवताओं का परस्पर मञ्जन हो रहा है। पाँचों के क्रमशः 'ग्रह्या विष्णु, इन्द्र सोम अग्नि' ये पाँच देवता हैं। इन में ग्रह्या स्वतन्त्र रहते हैं। ये ही—ग्रह्या ही सर्वस्य प्रथमजम्-ग्रह्या है स्वस्य प्रतिष्ठा (रा० ब्रा० ६।१) के अनुसार सर्वप्रतिष्ठा है प्रथमज है। विष्णु इन्द्र दोनों का एक युग्म है जैसा कि 'विष्णोः कर्माणि पश्यत यता गतानि पश्यत। इन्द्रस्य युग्य सखा (भुति) इत्यादि

—तस्माद्यज्ञात् सर्वभूतञ्च साप्तानि जज्ञिरे।

छन्दासि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

तस्मादस्वा अजायन्त ये के वोमयादत ।

गावो इ जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावप ॥

तं यज्ञं बहिषि प्रौचन् पुरुष जातमग्रत ।

तेन दवा अपवन्त साध्या अपयश्च ये ॥

—यजु सं० ३१ अ० ६,

“ग्रह्या वै स्वयम्भू तपोऽग्रप्यत । तदैवत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, इन्ताहं भूते-  
ष्वात्मानं जुह्वानि, भूतानि चात्मनि, इति । तन् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं जुह्वा, भूतानि  
चात्मनि सर्वेषां भूतानां भ्रौष्ठ्य, स्वाराज्य, आधिपत्यं पश्येत् । तर्धर्गेतद्यजमानः सर्व-  
मघनं सवान् मेवान् जुह्वा सवाणि भूतानि भ्रौष्ठ्य स्वाराज्यमाधिपत्यं पश्येति । न वाऽ-  
एष सर्वमेघो दशरात्रो यज्ञकृतमवति । दशाक्षरा विराट् विराट् कृत्स्नमग्न, कृत्स्नस्यैवा  
आधस्याषरुदयै । तस्मिन्नग्निं परार्धं चिनोति । परमा वाऽएष यज्ञकृतानां यत् सर्वमेघ ।  
परमर्णैर्गणं परमता गमयति” ।

—शत० ब्रा० १३ का० ७ अ० १ ब्रा० १ कं० ।

अपियों का वैदिक-विज्ञान प्रधानतः आधिदैविक, आध्यात्मिक आधिभौतिक, इन तीन श्रेणियों में विभक्त है। आधिभौतिक विज्ञान ही 'यज्ञविज्ञान' है इसी के आधार पर हमारा गृहस्थाश्रमानुबन्धी 'कर्मकाण्ड' प्रतिष्ठित है। आधिदैविक विज्ञान ही 'इश्वरविज्ञान' है इसी के आधार पर शानप्रस्थाश्रमानुबन्धी 'उपासनाकाण्ड' प्रतिष्ठित है। एवं आध्यात्मिक विज्ञान ही 'जीवविज्ञान' है तथा इसी के आधार पर संन्याशाश्रमानुबन्धी 'ज्ञानकाण्ड' प्रतिष्ठित है। कर्म उपासना ज्ञान ये तीन ही मानवसमाज के परमपुरुषार्थ हैं। इन तीनों का क्रमशः मनुष्य की युवा प्रौढ़, बुद्धावस्थाओं से सम्बन्ध है। अपनी इन तीन अवस्थाओं में आश्रमविभाग की मर्यादानुसार क्रमशः तीनों पुरुषार्थों का अनुगमन करने वाले मनुष्य का इहलोक, परलोक, लोकसमूह, आवि सभी कुछ गतार्थ हो जाता है।

यदि ओर भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उक्त तीनों विज्ञानों का अन्तर्वागत्या 'यज्ञविज्ञान' पर ही पर्यवसान है। इश्वर के साथ साक्षात्-सामीप्य-सायुज्य-साक्य-रूप से अपने अत्मा को मिला लेना ही आधिदैविक-विज्ञानानुगत उपासनाकाण्ड का चरम फल है। आत्मप्रपत्तिक्षण यह उपासना अत्मा का इश्वर के साथ यजन करता हुई यजनसङ्घा यज्ञमन्यावा से ही मुक्त है। एवमेव अपने विशुद्ध अपहृतपान्मा, जीवात्मा को उस निरुपाधिक, विशुद्ध व्यापक आत्मतत्त्व में समवलयकर से आश्रित कर लेना ही आध्यात्मिक-विज्ञानानुगत ज्ञानकाण्ड का चरम फल है। आत्मसमवलय-सङ्घा यह ज्ञान भी अत्मा का अत्मा के साथ यजन करता हुआ यजनसङ्घा यज्ञमन्यावा से बाहिर नहीं मत्ता जा-सकता। इसप्रकार यज्ञविज्ञान के गम में इतर शान विज्ञानों का भी अन्तर्भाव हो रहा है। इसी आधार प • यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः—यज्ञेन वाक् पदवीयमानः० इत्यादि मन्त्रवर्णन अन्वर्थ बन रहे हैं।

उक्त तीनों विज्ञानों का समष्ट्यात्मक एक ही नाम है—'विज्ञविज्ञान'। क्योंकि सम्पूर्ण त्रिष आध्यात्म आधिदैविक आधिभूत मेव से तीन ही मार्गों में विभक्त है। त्रिषर्त्मक, त्रिविज्ञान नामक इसी समष्टिविज्ञ के लिए 'सर्वहुत'—'मधमेव' इत्यादि नाम प्रयुक्त हैं, जिस का अर्थ तत्र

•—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धम्माणि प्रयमान्यासन् ।

ते ह नार्क महिमान मयन्त यत्र पूर्वं माध्याः सन्ति देवाः ॥

—यजुः सं० ३१।१६

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वचिन्दन्नुपिषु प्रविष्टाम् ।

तामाभुत्या ष्यदधु पुरथा तर्हि सप्त रेमा अभि स नवन्ते ॥

—ऋक् सं० १०।७१।३

- १—स्वयम्भू—अध्यात्मम् (अध्यात्मयज्ञप्रतिष्ठा—ज्ञानकाण्डम्)
- २—सूर्य—अधिदैवतम् (अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा—उपासनाकाण्डम्)
- ३—पृथिवी—अधिभूतम् (अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा—कर्मकाण्डम्)

—सबहुतः

प्राकृतिक यज्ञविज्ञान ही विश्वविज्ञान है, एवं इसी के आधार पर पुरुषार्थसंस्थापिका वैद्य-यज्ञत्रयी का (ज्ञान-उपास्ति-कर्मत्रयी का) महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ है। इस मौलिक स्थिति के आधार पर कहा जा सकता है कि हमारा वैदिक-विज्ञान उस नित्य यज्ञविज्ञान से ही सम्बन्ध रखता है जिसके परिचय से, एवं वेदनुज्ञे वैद्ययज्ञानुष्ठान से आत्मनिःश्रेयस के साथ साथ लोकसम्युदय सर्वांगमना पुष्पित पल्लवित हो जाता है। प्रकृतिविद्वि निषर्गों का अनुगमन करते हुए हम शान्ति तथा लोकसंप्रदुर्लभ जीवनयात्रा का निर्वाह करते हुए परम उदगति प्राप्त करें, एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमारा विज्ञानशास्त्र प्रवृत्त हुआ हुआ है जिस का मूलस्वम्भ यज्ञविज्ञान ही माना जा सकता है। यज्ञकर्म ही हमारे विज्ञान का चरमफल है। ऐसी दशा में यज्ञकर्मोत्तिष्ठित मोक्ष-आविष्कारों को लेकर हमारे विज्ञानशास्त्र पर किसी प्रकार का प्रतिप्रदान नहीं किया जा सकता। अब कि केवल यज्ञकर्म ही हमारी प्राकृतिक-शक्तियों को सुरक्षित रखता हुआ हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है तो फिर हमें हमारे विज्ञानशास्त्र से उन हिंसक अशान्तिवर्द्धक, महारुक्ति विनाशक मौलिक आविष्कारों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का कोई अवसर ही नहीं बच रहता। निवेदन करने का अनिवार्य यही है कि विज्ञान शब्द से मौलिक आविष्कार प्रकृत विज्ञानकाण्ड में स्वयं अनमिष्ट है। विज्ञान शब्द की पर्याया यज्ञविज्ञान-पर्यन्त ही सीमित समझनी चाहिए जिस के कि गर्भ में आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक-विज्ञान प्रतिष्ठित हैं ॥

उक्त दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत 'आत्म्यब्राह्मण' का सम्बन्ध करना है। यज्ञकर्म की सिद्धि के लिए 'आत्म्यब्राह्मण' किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसङ्गात् यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि, उक्त यज्ञत्रयी में से प्रकृत में प्रधान-अर्थ 'पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ' ही है। उपासना से सम्बन्ध रखने वाला सूर्यानुगत आधिदैविक यज्ञ आरम्भिकप्रस्थाओं से सम्बन्ध रखता है, एवं ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्वायम्भुव आध्यात्मिक यज्ञ उपनिषद् ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रधानरूप से कर्म से सम्बन्ध रखने वाले पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ का ही चित्रण पण हुआ है।

पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ में भूपिण्ड पार्थिव शरीर भूमिहिमा मेघ से तीन पञ्चों का उपभोग होता है। स्वयं भूपिण्ड तथा ओषधि वनस्पति लाष्टादि अश्वेतन वर्ग पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध रखते हैं। वैश्वानर-तैजस प्राणात्मक ससंज्ञ पार्थिवशरीर (अस्मदादि चेतनवर्ग) पृथिव्यनुगत

● शतपथ-ब्रह्मसंहिता के प्राथमिक 'पारिभाषिक सूचनाय' नामक स्वतन्त्र रत्न में भारतीय दृष्टि भेष्यानुगत विज्ञान' शब्द का विस्तार से विवरण दिया जा चुका है।

मन्त्रयज्ञ से प्रम खित है। एष इन्द्र-सोम (अम्भ) अग्नि, इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसप्रकार १-२-३ इस क्रम से पौर्वी का तीन हाँ संस्थाओं के निर्माण में उपयोग हो रहा है। प्रथमसंस्था के अधिपति ब्रह्मा हैं, इनका स्वयम्भू से सम्बन्ध है। द्वितीय संस्था के अधिपति इन्द्रगर्भित विष्णु हैं इनका सूर्य से सम्बन्ध है। एवं तृतीय संस्था के अधिपति इन्द्र-सोम-गर्भित अग्नि हैं तथा इनका सम्बन्ध पृथिवी से है। ब्रह्मा ब्रह्मा है इन्द्रगर्भित विष्णु विष्णु है, एवं इन्द्र-सोम-गर्भित अग्नि महेश है। इसी 'विराजिष्ठान' के आधार पर आर्यस्तबस्य' (पुराण) में वैदिक-यज्ञव्यवस्था के स्थान में त्रिवैवतात्वात् को ही प्रधानता दी है।

पुरुषविज्ञान के अनुसार भी इसी त्रिपद का सम्यन हो रहा है। अम्ययुगानुगत 'आनन्द', अक्षरपुरुषानुगत 'ब्रह्मा' एवं चरपुरुषानुगत प्राण तीनों के सम्बन्ध से आनन्द-ब्रह्मा-प्राणमय बनने वाला स्वयम्भू ही 'आध्यात्मिकयज्ञ' की प्रतिष्ठा है। अम्ययानुगत विज्ञानगर्भित 'मन' अक्षरानुगत विष्णुगर्भित 'इन्द्र' एवं चरानुगत अक्षरगर्भित 'वाक्' इन तीनों के सम्बन्ध से मन इन्द्र-वाक्मय बनने वाला सूर्य ही आधिदैविकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। अम्ययानुगत प्राणगर्भित 'वाक्' अक्षरानुगत इन्द्रसोमगर्भित 'अग्नि' एवं चरानुगत अन्नगर्भित 'अन्ताव' इन तीनों के सम्बन्ध से 'वाक्-अग्नि-अन्तावमय' बनने वाली पृथिवी ही आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। पृथिव्यनुगत कर्मकाण्डात्मक आधिभौतिकयज्ञ स्वर्गसुख की प्रतिष्ठा है। सूर्यानुगत उपासनाकाण्डात्मक आधिदैविकयज्ञ अपरासुखि की प्रतिष्ठा है। एष स्वयम्भू-अनुगत ज्ञानकाण्डात्मक, आध्यात्मिकयज्ञ परासुखि की प्रतिष्ठा है। इसप्रकार 'त्रि-संस्था वैवश्वा' के अनुसार त्रिस्ववाद का सम्यन करने वाला इमार सर्वव्युत्पन्न त्रिपदा बन कर सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ 'इष्ट-कर्मधुक्' नाम को सर्ववैव अन्वर्थ कर रहा है।

१-आनन्दः	ब्रह्मा	प्राण	स्वयम्भू ] — स्वयम्भू	सर्वव्युत्पन्न
२-विज्ञानम्	विष्णु	आपः	परमेष्ठी	
३-मनः	इन्द्र	वाक्	सूर्यः	
४-प्राण	सोम	अम्भ	अम्भमा	
५-वाक्	अग्नि	अन्ताव	पृथिवी	



निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ भूमिहालाच्छ्रय यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, एवं यही पार्थिव शरीरलक्ष्य आध्यात्मिक यज्ञ भी प्रतिष्ठा है। वैसी स्थिति, जो अवयवसंस्थान पार्थिव आधिदैविक यज्ञ का है, वैसी ही स्थिति, यही अवयव-संस्थान पार्थिव शरीरलक्ष्य आध्यात्मिक यज्ञ का है। एवमिह नियम से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्माण हुआ है उसी नियम से श्रुतिवां के द्वारा आधिभौतिक लक्ष्य वैद्ययज्ञ का विधान हुआ है। ईश्वरीयसंस्था में वहाँ आध्यात्म आधिदैवत की प्रतिष्ठा थी वहाँ नीचसंस्था में आधिदैवत आध्यात्म की भी प्रतिष्ठा है।

१—एकविंशत्तोमावच्छिन्नो भूमिहा—आधिदैवतयज्ञः (पार्थिवः)

२—पार्थिवशरीराणि—आध्यात्मयज्ञ (पार्थिव)

३—पुरुषप्रयत्नसाम्या वैद्ययज्ञ—आधिभूतयज्ञः (पार्थिव)

सैषा आधिभौतिक-  
यज्ञत्रयी

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के 'प्रतिरूपरहस्य' का समन्वय करना है। 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुति यज्ञोद्देश्यन पुरुष का विधान करती हुई यही नक्सा खी है कि, हमारा यह पुरुष—(मानव)—प्रयत्नसाम्य यज्ञ पुरुष (मानव) की प्रतिकृति ही है। पुरुष इस वैद्ययज्ञ का विधान कर रहा है इसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जा सकता है। 'पुरुष' शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। शोणित आग्नेय तत्र है शुक्र ताम तत्र है दोनों के यजन का ही नाम यज्ञ है, एवं यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवयव ही यज्ञ कहा जा सकता है। यज्ञात्मक पुरुष का जो व्यापार होगा, वह भी यज्ञ ही माना जायगा, एवं इस यज्ञव्यापार से जिस कर्म का स्वरूप उत्पन्न होगा वह कर्म भी पिता-पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है जो प्रक्रियाविशेषों से उत्पन्न होकर यज्ञकर्त्ता के भूतात्मा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव इस अतिशय (संस्कार) को 'दैवात्मा' कहा जाता है। वह देवात्मा ही ब्रह्म यज्ञ है। इस का उत्पादन यद्यमान का कर्म बनता है। जब कि उत्पादान-स्थानीय यद्यमानपिता पुरुष है, तो तत् पुत्र-स्थानीय अतिशयलक्ष्य देवामकर्म यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि, पुरुषयज्ञ (मानवशरीर) का जिस कौशल से विधान हुआ है उसी कौशल से इस वैद्ययज्ञ का विधान हुआ है। वैद्ययज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीजिए। पञ्चभौतिक शरीरपिण्ड यज्ञसंस्थान है। भूतात्मा यज्ञकर्त्ता 'यज्ञमान' है। आत्मोन्मेष, आन-लाम्ब्य व्याप्त वैश्वानराग्नि होता है। आसप्रभासात्मक वायु 'अप्ष्वयु' है। इन्द्रस्य प्रज्ञान मन ब्रह्मा है। कण्ठस्थित तेजानाही में प्रतिष्ठित उद्दानप्राण व्यूहाता है। मूलाधारमण्डल 'गाहपत्यकुण्ड' है तत्रस्थ अयानाग्नि 'गाहपत्याग्नि' है। जठराग्निमण्डल 'वक्षिणाग्निकुण्ड' है। तत्रस्थ जाठराग्नि वक्षिणाग्नि है। शिरो मण्डल 'आहवनीयकुण्ड' है। तत्रस्थ प्राणाग्नि आयनी-याग्नि है। केश-श्रोम वर्हि है। अस्थिसमूह 'समिध' है त्रय त्रय्य प्रणीता तथा 'प्रोक्षणी' है। अन्न आहुतिद्रव्य है। वक्षिणमुजा-वक्षिणपाद 'सुह' है। वाममुजा-वामपाद 'उपभूत' है। मध्याह्न 'भूवा' है। सर्वाङ्गशरीरसंचारी चैतन्यप्राण 'सुव' है। कण्ठ से आरम्भ कर मूला-धार पण्यन सम्पूर्ण प्रदेश यदि है। इसप्रकार हमारी पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का क्या मना प्रतिकर ही बन

आध्यात्मिक यह से सम्बन्ध रखते हैं। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी ( भूमिहिमा ) से सम्बन्ध रखने वाले पार्थिव दिव्यवेद्यता पृथिव्यनुगत आधिदैविक यह से सम्बन्ध रखते हैं। इसप्रकार केवल पार्थिवकृत्या से सम्बन्ध रखने वाले, कर्मप्रधान आधिमीतिक यह में ही भूविषयी पाथय चेतनवश दिव्य इन्द्रवर्ग भेद से तीनों यज्ञों का उपभोग सिद्ध हो रहा है।

तस्य यद्यपि अग्रारुचिक है। तथापि इसका स्वीकृत्य करके ही 'ब्राह्मणविज्ञान' का सम्बन्ध करना चाहिए। विश्व के तीनों पर्वों का स्वीकृत्य के लिए वेद के अपौरुषेय ब्राह्मणभाग के 'विधि आर ब्रह्म, उपनिषत्' भेद से तीन काण्ड हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं। वे तीनों काण्ड कृतव्यमार्ग का ही प्रदर्शन कर रहे हैं। शेष ब्राह्म (मन्त्र) भाग ज्ञातव्यमार्ग से सम्बन्ध रखता है। इसप्रकार ज्ञातव्य कर्तव्य-भेद से वेदशास्त्र 'ब्राह्म-ब्राह्मण' रूप से दो भागों में विभक्त हो रहा है। विश्वविज्ञान का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का समाधान ब्राह्मवेद (संहितावेद) कर रहा है। एवं विश्वविज्ञान के आधार पर हमें क्या करना चाहिए? कैसे करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान ब्राह्मणवेद (विधि आरब्रह्म उपनिषद् वेद) कर रहा है। इसप्रकार मन्त्रब्राह्मणरूपक स्यात् वेदशास्त्र चित्त के ज्ञातव्य कर्तव्य की पूर्ति करता हुआ स्वशास्त्र ही बन रहा है। प्रत्युत माध्य कृतव्य-वेदभाग के कर्मकाण्ड से ही सम्बन्ध रखता है किन्तु कि पृथिव्यनुगत आधिमीतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध है। विष्णुब्रह्म ब्राह्मणमार्गों में 'इति तु अर्थात्मम्' इति तु अधिवैद्यवत्म्' इत्यादि रूप से त्रिण अर्थात्मादि विषयों का स्वीकृत्य हो रहा है उनका एकमात्र पृथिव्यनुगत आधिमीतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध समझना चाहिए।

निष्पन्न यही निष्कर्ष कि वेदशास्त्र विज्ञानप्रधान है। विज्ञान से प्रधानतः 'विश्वविज्ञान' ही अभिप्रेत है। इस विश्वविज्ञान के अर्थात्म अधिवैद्यवत् अधिभूत नामक तीन पर्व हैं। तीनों पर्वों का क्रम स्वयम्भूसूर्य-पृथिवी से सम्बन्ध है। वे ही तीनों विज्ञान क्रमशः ज्ञानकाण्ड उपासनाकाण्ड कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठाभूमि हैं। इस विज्ञानत्रयी के ज्ञातव्य कर्तव्य भेद से दो विषय हैं। ज्ञातव्यत्रयी का स्वीकृत्य संहितात्मक ब्राह्मवेद में हुआ है, एवं कर्तव्यत्रयी का निरूपण ब्राह्मणात्मक वेद में हुआ है। नक्षत्रविज्ञान ग्रहविज्ञान ओषधि-वनस्पतिविज्ञान शस्त्रविज्ञान आदि आदि अनान्तर अण्ड-स्युहात्मक समस्त विज्ञानों का इही तीनों विज्ञानों में अन्तर्भाव है।

- १—अर्थात्मविज्ञानम्—स्वायम्भुवम्—विधि: ( कृतव्यमार्गकं कर्म )
- २—अधिवैद्यविज्ञानम्—सौरम्—आरण्यक ( कर्तव्यमार्गक उपासना )
- ३—अधिभूतविज्ञानम्—पार्थिवम्—उपनिषत् ( कर्तव्यमार्गकं ज्ञानम् )

इन तीनों में विशेषतः यही है कि, स्वायम्भुव अर्थात्मयज्ञ का ईश्वरीयस्था सम्बन्ध है, एवं इन का आधार पर खड़े आधिदैविक विज्ञान प्रतिष्ठित है। साथ ही यही आधिमीतिक-विज्ञान की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। तूम्हरे शब्दों में ईश्वरात्मा का अर्थात्म स्वायम्भुव यह है अधिवैद्यवत् सौर यह है एवं अधिभूत पार्थिव यह है। इन तीनों में से हमारे वैद्यपथ का एकमात्र ईश्वरीय, पार्थिव आधिमीतिक यह से ही सम्बन्ध है। ईश्वरीय आधिमीतिक यह के पुरुषवतानुसार भूमिहिमा, पार्थिव शरीर एवं मनुष्यरूप वैद्यपथ के भेद से तीन

विवक्षित होता है। यहाँ भूमिमात्राज्ञा यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, एवं यही पार्थिव शरीरलक्षण आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। वैद्वी स्थिति, जो अवयवसंस्थान पार्थिव आधिदैविक यज्ञ का है, वैद्वी ही स्थिति, वही अवयव-संस्थान पार्थिव शरीरलक्षण आध्यात्मिक यज्ञ का है। एवं जिस नियम से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्माण हुआ है उसी नियम से ऋषिणा के द्वारा आचिमीतिक लक्षण वैद्ययज्ञ का विधान हुआ है। ईश्वरीयसंस्था में यहाँ आध्यात्म आधिदैविक की प्रतिष्ठा थी वहाँ नीकसंस्था में आधिदैविक आध्यात्म की प्रतिष्ठा है।

- |   |                           |
|---|---------------------------|
| १—एकविंशत्योमापच्छिन्नो भूमिमा—आधिदैविकयज्ञः (पार्थिवः) | } सैषा आचिमीतिक-यज्ञत्रयी |
| २—पार्थिवशरीराणि—आध्यात्मयज्ञः (पार्थिवः)               |                           |
| ३—पुरुषप्रयत्नसाध्या वैद्ययज्ञः—आधिभूतयज्ञः (पार्थिवः)  |                           |

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के 'प्रतिरूपरहस्य' का समन्वय करना है। 'पुरुषो वै यज्ञ इमादि श्रुति यज्ञोद्देशेन पुरुष का विधान करती हुई यही स्वता रही है कि, हमारा यह पुरुष—(मानव)—प्रयत्नसाध्य यज्ञ पुरुष (मानव) की प्रतिकृति ही है। पुरुष इस वैद्ययज्ञ का विधान कर रहा है इसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है। 'पुरुष' शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। शोधित आग्नेय तंत्र है शुक्ल सोम तंत्र है दोनों के यजन का ही नाम यज्ञ है, एवं यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है। यज्ञात्मक पुरुष का जो व्यापार हीगा वह भी यज्ञ ही माना जायगा, एवं इस यज्ञव्यापार से जिस कर्म का स्वरूप सम्पन्न होगा वह कर्म भी पिता-पुत्रकृ यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है जो प्रक्रियाविशेषों से उत्पन्न होकर महकत्वा के मूलत्मा की स्वर्गाणि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव इस अतिशय (संस्कार) को 'दैवात्मा' कहा जाता है। वह दैवात्मा ही असृज यज्ञ है। इस का उपादान यजमान का कर्म बनता है। जब कि उपादान-स्थानीय यजमानपिता पुरुष है, तो वह पुत्र-स्थानीय, अतिशयलक्षण दैवामकम यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि, पुरुषयज्ञ (मानवशरीर) का जिस कौशल से विधान हुआ है उसी कौशल से इस वैद्ययज्ञ का विधान हुआ है। वैद्ययज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीजिए। पाञ्चमीतिक शरीरपिण्ड यज्ञसंस्थान है। मूलत्मा यज्ञकत्वा यजमान है। आलोकमय आत्म-स्वप्नव्य व्याप्त वैश्वानराग्नि होता है। आसप्रधासन्मक वायु 'अप्यप्यु' है। इन्द्रस्थ प्रज्ञान मन ब्रह्मा है। कण्ठस्थित तेजजानाही में प्रतिष्ठित उश्नप्राण ब्रह्माता है। मूलाधारमण्डल गाहपत्यकुण्ड है तत्रस्थ अपानाग्नि गाहपत्याग्नि है। जठराग्निमण्डल 'दक्षिणाग्निकुण्ड' है। तत्रस्थ जाठराग्नि 'दक्षिणाग्नि' है। शिरो मण्डल 'आहवनीयकुण्ड' है। तत्रस्थ प्राणाग्नि 'आसनी-याग्नि' है। कश-सोम यज्ञ है। अस्थिसमूह 'समिध' है द्रव द्रव्य प्रणाला तथा प्रोक्षणी है। अम 'माहुतिद्रव्य' है। दक्षिणमुखा-दक्षिणपाद 'मुद्र' है। वाममुखा-वामपाद 'उपशून' है। मध्याह्न 'भुवा' है। सर्वाङ्गशरीरसंपत्ति चतस्रप्राण सुप्त है। कण्ठ से आरम्भ कर मूला-धार पर्यन्त सम्पूर्ण प्रदर्श बहि है। इसप्रकार हमारी पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का सप्रमनता प्रतिरूप ही बन



सवारी चैतन्य-प्राप्तस्थानीय वायव्यप्राण ही 'सुषु' है। इस प्रकार पार्थिवमहिमाशब्द इस आध्यात्मिक यज्ञ में भी यज्ञोक्ति के रूप में—संसाधक सामग्री—पृथिवी यथानुरूप, यथास्थान व्यवस्थित है। इस का क्योंकि ऐसा स्वरूप है अतएव इस से उत्पन्न आध्यात्मिक-यज्ञ का भी वैसा ही स्वरूप है। एवं वैसा स्वरूप आध्यात्मिक-यज्ञ का है उद्वेग ही इस वैद्य-आध्यात्मिक-यज्ञ का विधान किया जाता है।

मूलानुवाद में मे यह-सन्देह किया गया था कि प्रथम तो पृथिवी की त्रैलोक्य से उत्पत्ति मानना ही असम्भव है। उस पर भी पृथिवी से पृथिवी की उत्पत्ति मानना ही कथमपि सम्भव नहीं बन सकता। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए दो शब्दों में 'पार्थिवसंस्था' का स्वरूप बताना भी आवश्यक होगा। अतः जिस पृथिवी को मध्याह्नस्थानीय प्रकाश बतलाया है वह चित्वाग्निप्रधान भूविषय है, जिस पर अस्मदादि पार्थिवी प्रकाश सपरिग्रह प्रतिष्ठित है। एवं अतः प्रकाशस्थानीय जिस इस भूविषय से—'अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति' इत्यादि रूप से जिस त्रैलोक्य की प्रवृत्ति बतलाई है वह चित्वाग्निप्रधान भूमि है।

अध्यात्म त्रैलोक्य में से पृथिवी से उत्पन्न रहने वाली त्रैलोक्य 'स्तोत्रत्रैलोक्य' नाम से प्रसिद्ध है। इस की उत्पत्ति यथायं प्रकाशस्थानीय भूविषय से ही हुई है। "यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा घोरिन्द्रेण गर्भिणी" इस भीत सिद्धान्त के अनुसार भूविषय अग्निगर्भित है। यह भूमि ही भूमि का अग्रिष्ठान्त 'प्रजापति' है। इस प्रजापत्य भीम अग्नि की असृत् (चित्वाग्नि), मर्या (चित्वाग्नि) में से दो अवस्थाएँ सहज-विद्यमान हैं हैं वैसा कि—अथ ह वै प्रजापतरात्मनो मत्पमासीद्वद्वमसृत् (शत० १।२।२) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। अथ ह मत्पमाग्निप्रधान है तन्मय है। इस विषय के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि ही रसाग्नि है यही प्राणाग्नि है यही देवाग्नि नाम से भी न्यव-हृत हुआ है। तद्विषयक इस त्रैलोक्यप्रधान प्रजापति की कामना स्वयं इस के रसाग्नि-भाग का कथं (केन्द्र से चारों ओर) प्रसार करती है। भूविषयकेन्द्र से चारों ओर विस्तृत होने वाले इस रसाग्नि की घन-तरल-विरल-भेद से तीन अवस्थाएँ होती हैं। बर्हातक घनरस व्याप्त होता है तदवच्छिन्न प्रदेश ही पृथिवी (महिमापृथिवी का पृथिवीलोक) है। एवं तत्र प्रतिष्ठित पनाग्निरस ही अग्नि है। बर्हातक तरल रस व्याप्त होता है तदवच्छिन्न प्रदेश ही अन्तरिक्ष (महिमापृथिवी का अन्तरिक्षलोक) है। एवं तत्र प्रतिष्ठित तरलाग्नि ही 'हंस' नामक वायु है। बर्हातक विरलरस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही यी (महिमापृथिवी का यीलोक) है। एवं तत्र प्रतिष्ठित विरलाग्नि ही 'आवित्य' है। इस प्रकार रसाग्नि के कथं विधान से यही केन्द्रस्थ अग्नि 'अग्नि' वायु 'आवित्य' अपन दन प्रथम-द्वितीय-द्वितीय-द्वितीय-रूपों से त्रैलोक्य का निम्नान्न करता हुआ अतिष्ठान्ना रूप से त्रैलोक्य में व्याप्त होता है \*।

\* "आपो वाऽमर्कः । तद्यदर्पा शर आसीत्, तत् समहन्त्यत । मा पृथिव्य-मृत् । तस्यामभाम्यत् । तस्य भ्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरमो निरव्यसताग्निः । स प्रचा-न्मान व्यकुल-आदित्य उदीर्य, आयुः तृतीयम् । स एव प्राणः (प्राणाग्निः) प्रेषा नि-हित" इति ।

रही है। ऐसे यज्ञात्मक इस पुरुषाकार के आचार पर ही, तदनु रूप ही क्योंकि इस वैषयक का विज्ञान होय है अतएव इस वैषयक को हम अवश्य ही पुरुष का प्रतिरूप कह सकते हैं।

पुरुषयज्ञ में दक्षिणमुखा से अघ्राहुति दी जाती है वाममुखा सहयोगिनी बनी रहता है चैतन्यप्राय अक्षरस को सर्वोच्चगरीर में पहुँचाता रहता है मध्याह्न से इतर सम्पूर्ण शरीरव्यय रखपण के द्वारा पुरुष होत रहते हैं। ठीक वही वाम इस वैषयक में अघ्राहुति से लिया जाता है। अतएव अघ्राहुतिशायक अह को हम इस वैषयक की दक्षिणमुखा कह सकते हैं। उपरान्त अह की सहयोगिनी है अतएव इसे वाममुखा माना जा सकता है। अघ्राहुति से ही (प्रवास्थित आत्म से ही) सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न होता है अतएव इसे आत्मा (मध्याह्न) माना जा सकता है। अघ्राहुति सम्पूर्ण अघ्राहुति में समाहित होता है। अतएव इसे प्राण कहा जा सकता है। इसप्रकार दक्षिणमुखा वाममुखा, मध्याह्न सञ्चारीप्राण इन चारों के अनुरूप अपना स्थान रखने वाले अह, उपरान्त, अघ्राहुति अघ्राहुति चारों यज्ञप्राण यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को-स्वार्थमना अन्वय बना रहे हैं। निष्कर्षतः वैसा विज्ञानकर्म आध्यात्मिक यज्ञ का है, ठीक वही कर्म इस आध्यात्मिक यज्ञ का है। यहाँ ऐसा क्यों किया गया? किन्तु आचार पर किया गया? इत्यादि प्रश्नों की उपनिषद् यही आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुष-स्वरूप) है। वैषयक यज्ञ है उच्च प्राकृतिक पुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। 'प्रकृतिवद्विद्वति' कर्त्तव्य' यह आदेश है। अतएव यहाँ वैसा ही करना न्यायसङ्गत है। जब यह वैसा ही है तो इसे वह (पुरुष) करने में क्यों भी आपत्ति नहीं की जा सकती।

“पुरुष-यज्ञमान-अयस्यसाम्य होने से तथा पुरुषयज्ञानुरूप विज्ञानमान होने से वह वैष-आध्यात्मिक यज्ञ भी पुरुष ही माना जा सकता है” उक्त प्रतिक्रिया का यही निष्कर्ष है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उच रहता है कि पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एवमिष केते हुआ? वृद्ध शब्दों में इस प्रश्न का यों भी विश्लेषण किया जा सकता है कि 'आध्यात्मिक-यज्ञ की उपनिषद् (प्रतिष्ठा-मूलमिति) को आध्यात्मयज्ञ है परन्तु आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषद् क्या है?। इस प्रश्न का उत्तर यही पूर्वप्रतिपादित पार्ष्णि आधिदैविक-यज्ञ है। आधिदैविक पार्ष्णि विष्णुयज्ञ ही इस आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा है। भूषिष्ठ से आरम्भकर २१ वें स्तोम-यस्यन्त व्याप्त महामहिम पार्ष्णिमन्त्रयज्ञ ही 'यज्ञसंस्था' है। पार्ष्णि सर्वप्रजापति (पार्ष्णि अग्नि) ही यज्ञकर्त्ता 'यज्ञमान' है। विष्णुस्तोमावधिष्ठित पार्ष्णि प्रदेश में व्याप्त वैशा नर अग्नि ही 'होता' है। पञ्चदशस्तोमावधिष्ठित पार्ष्णि प्रवेशोत्पलक्षित अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु ही 'अव्ययम्' है। चान्द्रमास्यक पार्ष्णि अग्नि ही 'जज्ञा' है। एकादशस्तोमावधिष्ठित पार्ष्णिप्रवेशोत्पलक्षित ध्रुवोक्त में व्याप्त आविष्म ही 'उद्गाता' है। भूषिष्ठ ही 'पुराण-आह्वययज्ञ' है। तत्रस्थ बिस्वाग्नि ही 'पुराणगार्हपत्यार्थि' है। विष्णुस्तोमान्त पार्ष्णिमन्त्रिमा-प्रवेश ही 'नूतनगार्हपत्ययज्ञ' है। तत्रस्थ पार्ष्णि अग्नि ही 'नूतनगार्हपत्यार्थि' है। पञ्चदशस्तोमान्त पार्ष्णिमन्त्रिमा-प्रवेश ही 'विष्णुयज्ञयज्ञ' है। तत्रस्थ अग्नि ही 'विष्णुयज्ञ' है। एकादशस्तोमान्त पार्ष्णिमन्त्रिमा-प्रवेश ही 'आह्वययज्ञ' है। तत्रस्थ सौर विष्वाग्नि ही 'आह्वययज्ञ' है। सोमलोक्तोमान्वायुयज्ञ 'वेन' नामक व्याप्त ही 'वर्हि' है। अन्तरिक्ष में व्याप्त अरमासोम ही 'समिध' है। आस्यरीत्य 'मरीचि' नामक व्याप्त ही 'मरीचि' तथा 'मोक्ष' है, अपधि सोम तथा आस्यसोम ही 'आह्वययज्ञ' है। भूषिष्ठ ही 'विष्णुयज्ञ' है। भूमिमा ही 'महावधि' है। एकादशस्तोमावधिष्ठित ध्रुवोक्त ही 'विष्णुयज्ञ' है। स्वर्ग भूषिष्ठ ही 'मध्याह्नयज्ञ' है। भूषिष्ठ ही 'मध्याह्नयज्ञ' है।

बाह्य आकार ही आकार है जिसे कि विज्ञानमाया में व्योनाथ कहा जाता है। यह व्योनाथ ही— 'छन्द' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोई न कोई बाह्य आकार अवश्य रहता है। एवं इस बाह्य आकार में आकारित वस्तुत्व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलाक्षण व्योनाथ [आकार] से सुरक्षित वस्तुत्व [मत्पिण्ड] ही धर्म है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न 'धर्म' है एवमेव छन्दसीमारूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुत्व को धर्म [अन्न] मान लिया गया है। धर्म कदा व्योनाथ से युक्त रहता है। वय—वयानाथ के समन्वितरूप का ही नाम 'वयुनाथ' है। सधमिन् वयुनाथम् इस सिद्धान्त के अनुसार यथयावत् मौक्तिक पदार्थ वय [वस्तुत्व] व्योनाथ [बाह्यआकार] से युक्त रहते हुए 'वयुन' हैं। वयुन ही आध्यात्मिक-संस्था का 'शरीर' नामक पहिला पर्व है।

शरीर के व्योमाग का (सूत्रभाग का) निर्माण शुक्र शोणित से हुआ है। श्रुतत्वात् स्त्री में प्रजनकर्मसाधक अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस श्रुतप्राण के सम्बन्ध से ही रज स्त्रता की 'श्रुतमती' कहा जाता है। अग्नि—सोम की सत्य, श्रुत, मेद से वा दो अवस्थाएँ मानी गई हैं। सामन्त अग्नि कल्प है। सामन्त सोम सत्य है। एवं निरातन ब्रह्मात्मक अग्नि—सोम श्रुत हैं। इन श्रुताग्नि—सोमों के पारस्परिक उद्गम—निग्राम—सम्बन्ध से ही 'श्रुत' का नाम होता है। इस श्रुत का आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित रहता है एवं सौम्यभाग पुरुष के शुक्र में प्रचानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस श्रुतप्राण—समन्वय का ही नाम शुक्र—शोणित का 'ब्रह्मत्व' भाव है। यही दाम्पत्यकर्म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार वस्तुत्व—वस्तुत्व वय (शरीर) का निर्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया श्रुत से ही हो रहा है। शेष रहता है व्योनाथ (बाह्यआकार)। इस का निर्माण श्रुतव्योमी गायत्र्यादि छन्दो से होता है। गायत्र्यादि छन्दो त्वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तत्क्षरीरवयवों में तत्तदाकारविशेष प्रदान करत बात है। तदुत्तरूप ही श्रुत का वाय पुराणवर्णन का निर्माण होता जाता है। कालान्तर में इस श्रुत, छन्द के समन्वय से आत्मप्रतिष्ठासूचक 'शरीरपुर' का स्वरूप पम्पन हो जाता है। श्रुत छन्दोमय शुक्र-शोणित के दाम्पत्यभाव में कम्मभोक्त्य औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा शरीर इन दो पर्वों के आत्मा वस्तुत्व (वय) बाह्यआकार (व्योनाथ) में से तीन पर्व हो जाते हैं। तीनों में आत्मा प्रचान देवता है इसे ही स्रष्टृपरिभाषा में 'आवापदेवता' कहा गया है। वस्तुत्व (वय) श्रुतदेवता है बाह्यआकार छन्दोदेवता है। पुर का उपक्रम श्रुत से होता है उपसंहार छन्द पर होता है। वस्तुत्व उपक्रमस्थानीय है इसका श्रुत से सम्बन्ध है। इसी उपक्रमलक्षण प्राणमय के कारण वस्तुत्वतामक श्रुत को याज्ञिक—परिभाषा में प्रयाजदेवता कहा गया है। वस्तु का बाह्यआकार ही वस्तु की अवस्थानभूमि है। इस का छन्द से सम्बन्ध है। इसी उपसंहारलक्षण अन्तर्भाव के कारण बाह्य—अणुमय छन्द की 'अनुयाजदेवता' कहा गया है। इसप्रकार श्रुतरूप प्रयाजदेवता तथा छन्दो रूप 'अनुयाज

—छन्दांसि वै व्योनाथा (शत० ८।२।२।८)।

\*—छन्दोमिहीद सर्व वयुन नदम् (शत० ८।२।२।८)।

—'श्रुतव' समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, औपधीश्च पचन्ति' (शत० भा १।१।४।७)।

इस प्रकार भुवा-स्थानीय मणियर ही अपने हृदयस्थ रसाग्नि के ऊर्ध्व विमान के द्वारा आह्वयकत्व स्तोमों के आचार पर क्रमशः त्रिभुज (१) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) रूप से तीन सत्त्वों के रूप में पृथिवी अन्तरिक्ष सौः का क्रमदाता बन कर—अस्याऽण्वमे सर्वे लोक प्रभवन्ति' इस सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है और सत्त्व सन्देश का निवृत्त बन रहा है। इस सम्पूर्ण 'उपपत्तिमन्त्र' का फलितार्थ यही निकला कि, पार्थिव आधिभौतिक—यह से सम्बन्ध रखने वाले महिमात्मक आधिदैविक यज्ञ पार्थिवशरीरगतक आप्तात्मिक यज्ञ, एवं पुरुषप्रयत्नसाध्य आधिभौतिक ( वैश्व ) यज्ञ, तीनों में पूर्व पूर्व यज्ञ उत्तर उत्तर यज्ञ की उपनिष्ठा है। ( १ २ ३ ४ ५, ) ।

पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैश्वयज्ञ में उपयुक्त होने वाले सुव-सुक पात्र हस्त-पाद-मध्याह्नादि स्थानीय बनते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, यह वैश्वयज्ञ पुरुषविश्व आध्यात्मिक यज्ञ का ही प्रतिरूप है। आत्म-पूष्ट विमान के अनुसार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पूष्ट एवं आत्म मेर से दो पर्यं रहते हैं। मूल मत्त्वपिक्व 'पूष्ट' कहलाता है, एवं जिस जीवनीय प्राणशक्ति से चरसंघात—( चरकूट )—रूप भौतिक परमाणु एकसूत्र में बंध रहते हुए निरन्तर समय पर्यन्त स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं, वह प्राणशक्ति ही 'आत्म' नाम से व्यवहृत हुई है। जनक पूष्ट ( पियर ) में आत्म ( प्राणशक्ति ) प्रतिष्ठित रहता है। वभौतिक पूष्ट की स्वरूपसत्ता है। पात्रभौतिक हस्तपाद शरीरसंघटन पिक्वस्थानीय बनते हुए पूष्ट हैं। इनमें प्रतिष्ठित आत्मेवभाषा ( वैश्वानरग्निसाध ) ही इन की प्राणशक्ति है। हृत्तर कक्ष से ( वसन्तिस्त्व से ) प्रतिमु-क्ष्व अन्तित्व का ही नाम आत्म ( पूष्ट ) है। इसी आचार पर 'तेजो वै आत्म-म्' ( तां मा० १३।१०।१८ ) "अग्नेर्यो यस्तूरूप यथात्मम्" ( तै० मा० १३।१४।२ )—प्राणो वा आत्मम् [ तै० मा० १३।१४।२ ] इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। लाक्ष्म्यवहार में भी सुप्रसिद्ध है कि 'पूष्ट ही हा, वैरो में जीवनीय शक्ति प्रधान करता है'। यज्ञधर्म से 'पुरुषविश्व विष्वात्मा' उत्पन्न किया जाता है। वैश्वेतिक्व म्यता में संगृहीत ब्रह्म आदि सुक् सुव वो पूष्ट स्थानीय हैं एवं इन में शरीर आत्म प्राणशक्तिस्थानीय है। इस प्रकार इस आत्मप्रवह—धर्म से भी पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैश्वयज्ञ की पुरुष-व्यवस्थितमता मलीमति सिद्ध होगी है।

आत्मप्रवह क्या वैश्वयज्ञ के स्वरूप-निर्माण में उपयुक्त होता है ? यह प्रश्न है। इस के समाधान के लिए ही अगला प्रकरण उपर्यन्त हुआ है। पहिले आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए। आध्यात्मिकसंस्था में प्रधानतः 'आत्मा शरीर' में दो पर्यं हैं। एवं शरीर 'पुरु' है आत्मा इस शरीरपुर में सुरक्षित रहने वाला 'पुरि होते' निर्मचन से 'पुरुष' है। इस शरीरपुर के 'आकार' एवं वस्तुत्व मेर में दो पर्यं हैं। आयतनरूप

• साधिर सुवः पर्यामयी जुहः आरवत्पी उपयुक्त, वैकृती भुवा, एवर्दी सुवां रूपम [ तै० त० १।१।७ ] इस वचन के अनुसार सुव लदिर [ लैर ] की लकड़ी का उह फर्मपी पलाय [ लीला ] की भुवा निकटतम का एवं उपर्युक्त अरवत्थ [ पीपल ] की लकड़ी का बनाया जाता है।



यस्य आकार ही आकार है, जिसे कि विज्ञानभाषा में 'वयोनाथ' कहा जाता है। यह वयोनाथ ही- 'छन्द' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोई न कोई बाह्य आकार अवश्य रहता है एवं इस बाह्य आकार से आकारित वस्तुतत्त्व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयोनाथ [ आकार ] से सुरक्षित वस्तुतत्त्व [ मतपिण्ड ] ही 'वय' है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न 'वय' है, एवमेव छन्द-सीमारूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुतत्त्व को 'वय' मान लिया गया है। वय सदा वयोनाथ से युक्त रहता है। वय-वयोनाथ के समन्वितरूप का ही नाम 'वयुनम्' है। सषमिदं वयुनम् इस सिद्धान्त के अनुसार सषषाब्द भौतिक पदार्थ वय [ वस्तुतत्त्व ], वयोनाथ [ बाह्याकार ] से युक्त रहते हुए 'वयुन' हैं। वयुन ही आध्यात्मिक-संस्था का 'शरीर' नामक पहिला पर्व है।

शरीर के वयोभाग का ( भूतभाग का ) निम्माण शुक्र शोणित से हुआ है। श्रुतुग्नाता स्त्री में प्रजननकर्मस्यधक अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस श्रुतुप्राण के सम्बन्ध से ही स्वत्वा की 'श्रुतुमती' कहा जाता है। अग्नि-सोम की सत्य श्रुत भेद से दो दो अवस्थायें मानी गई हैं। सायतन अग्नि सत्य है सायतन सोम सत्य है। एवं निरातन वाय्वात्मक अग्नि-सोम श्रुत हैं। इन श्रुताग्नि-सोमों के पारस्परिक उद्ग्राम-निग्राम-सम्बन्ध से ही 'श्रुतु' का जन्म होता है। इस श्रुतु का आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवं स्त्रीयभाग पुरुष के शुक्र में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस श्रुतुप्राण-समन्वय का ही नाम शुक्र-शोणत का 'वाम्पत्य' मात्र है। यही वाम्पत्यकर्म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार कस्तुतत्त्व-सङ्घटन वय ( शरीर ) का निर्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परस्परया श्रुतु से ही हो रहा + है। शय रहता है वयोनाथ ( बाह्याकार )। इस का निर्माण श्रुतुसङ्घटनी गायत्र्या छन्दों से होता है। गायत्र्या छन्द त्वष्टाप्राण के सहयोग से उत्तन्शरीरवयवों में उत्तन्कार्यशय प्रदान करत बात है। तन्तुरूप ही श्रुतु का वय पुरुषवयवों का निर्माण होता जाता है, कालान्तर में इस श्रुतु, छन्द के समन्वय से आत्मप्रतिष्ठाालक्षण 'शरीरपुर' का स्वरूप पन्न होजाता है। श्रुतु छन्दोमय शुक्र-शोणित का वाम्पत्यभाव में कम्मभोक्ष्य औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित होजाता है।

इसप्रकार आत्मा शरीर इन दो पर्वों के आत्मा वस्तुतत्त्व ( वय ) बाह्याकार ( वयोनाथ ) भेद से तीन पर्व होजाते हैं। तीनों में आत्मा प्रधान देवता है इसे ही सङ्घटिभाषा में आत्मापदेयता कहा गया है। वस्तुतत्त्व ( वय ) श्रुतुदेयता है बाह्याकार छन्दोदेयता है। पुर का उपक्रम श्रुतु से होता है उपहार छन्द पर होता है। कस्तुतत्त्व उपक्रमदेवानीय है इसका श्रुतु में सम्बन्ध है। इसी उपक्रमलक्षण गायत्र्य के अग्र वस्तुतत्त्वामक श्रुतु की याज्ञिक-परिमाण में प्रयाजदेयता कहा गया है। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसानभूमि है। इस का छन्द से सम्बन्ध है। इसी उपसहारलक्षण अन्तमाव के कारण बाह्या-अग्रमक छन्द की अनुयाजदेयता' कहा गया है। इसप्रकार श्रुतुरूप प्रयाजदेयता तथा छन्दो रूप 'अनुयाज

+ छन्दांसि नै वयोनाथा " ( शत० ८।२।२।८ )।

\* छन्दोभिर्हीद सर्ग वयुन नदम् " ( शत० ८।२।२।८ )।

— श्रुतव' समिद्धा प्रजाभ प्रजनयन्ति, औपधीभ पचन्ति' ( शत० ब्रा० २।१।४।७ )।

देवता', दोनों के सम्बन्ध से ही 'शरीर' नामक आन्तरिक पुर का निर्माण होता है। दूसरा आवासदेवता-स्थानीय आत्मा अपने स्वरूप-निर्माण के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है। पृष्ठ ही शरीर है आत्म का इसी से सम्बन्ध है। इस पृष्ठस्वरूप-निर्माणक श्रुति, एवं छन्दोदेवता हैं। फलतः सिद्ध हो जाता है कि, यह आत्मप्राप्त्यर्थक श्रुति तथा छन्दोदेवताओं की सृष्टि के लिए ही विहित है। वैसा आध्यात्म में है वैसा ही वो यहाँ होना चाहिए होता है।

आध्यात्मिक आदि भूत ज से उत्पन्न होने वाली दैवात्म्यस्था में भी 'आत्मा-पुर' में से दोनों पक्ष अपेक्षित हैं। मुख्यदेवता देवतमं या के आत्मस्वरूप का निर्माण करेंगे एवं श्रुति-छन्दो-संज्ञेय गौणदेवता आत्मपुर का निर्माण करेंगे। अतएव वितावमान यह का यही तात्पर्य मानना पड़ेगा कि, अनेक इतिहास-सम्प्रदायों से वितावमान यह यह देवता, श्रुति, छन्द इन तीन देवताओं की सम्भूत-प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखता है। मुख्यदेवता का एक स्वतन्त्र विभाग है इस के लिए नियत आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं यह 'हवि' नाम से प्रसिद्ध है जोकि हविर्द्रव्य इष्टि पशु सोम यह मेद से अन्नपुरोडाशा पशु-वपापुरोडाशा, घन्सीसोमरस, मेद से त्रेधा विभक्त है। श्रुति-छन्दो रूप दोनों प्रधावातुयावदेवताका अ (जिन से कि पुर का निर्माण होगा) एक स्वतन्त्र विभाग है, इनके लिए आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है एवं यही 'आवब' नाम से प्रसिद्ध है।

आत्मा-शरीर क्यपि दोनों की समाधि 'देवदत्त' है। अर्थात् 'देवदत्त' नाम क्यपि सम्यक् से ही सम्बन्ध रखता है। तथापिमानना पड़ेगा कि यह नाम मुख्यतः आत्ममात्र से ही सम्बन्ध रखता है, न कि शरीर से। यही कारण कि, जब मृतात्मा प्राणसमय पर देह का परिष्कार कर देता है, तो उस समय 'देवदत्त' आज नहीं रहा। यह लोकव्यवहार होता है। अतएव शक-शरीर का केहे नाम नहीं रहता। बूखी दहल से विचार होयिप। एक राजा अपने परिकर ( सेवकवर्ग ) के साथ वही आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। यही राजा का ही नाम मुख्य रहता है राजा के नामग्रहण का ही व्यवहार लोकप्रसिद्ध है। सेवकवर्ग का राजा के नाम में ही अन्तर्भव है। ठीक वही स्थिति यहाँ समझिए। आत्मस्वरूप-सम्प्राप्त्यर्थ मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रहण हीमि इष्ट होना चाहिए, एवं परिकरस्थानीय श्रुति-छन्दो-देवताओं के लिए किना नामग्रहण के ही आत्मग्रहण करता है यही लोकव्यवहार है ( एवमु हैतेषाम् )।

'जामि' दोन एक महादेव माना गया है। यथानुसृत्य व्यवहार न करना ही 'जामि' दोन है। यह सम्प्रदाय का आग्रह है कि जो विश्व स्थान के योग्य हो, जिस सम्मान का पात्र हो उसे वही स्थान-सम्मान दिया जाय। समप्रदान एवं विषमवर्णन ही इस सम्प्रदाय का अन्त्यतम रक्षक है। अन्तर्महति से प्राणीमात्र समान है परन्तु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न मर्त्यता के पात्र हैं। कारण वही है कि, समदर्शन का अन्तर्गट पिहितता से सम्बन्ध है जोकि आपात-विह्वलन क्षीटादि पम्पक सय में एकरस्य से प्रतिष्ठित है। एवं विषमवर्णन का क्षेत्र प्रसिद्धरी में मित्र प्राणानिक समग्र भूलाभा है। दोनों के क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। इतिहास यह आग्रहयक है कि, व्यवहारक्षेत्र में जामिदोष ( मर्त्यता-उत्कर्षण-समस्त व्यवहारक्षेत्र सम्प्रदाय ) से ज्ञान के लिए जो विश्वके योग्य हो उसे उनी सम्मान का अधिकारी समग्र जाय। यहाँ उक्त उपमूर्त प्रुना में जो क्रमशः ४-८-४ बार करते आत्मग्रहण किया जाता है, यह श्रुति, तथा छन्दा के लिए ही नियत है। मुख्य

आत्मदेवता की तुलना में ये देवता अपना अवर-स्थान रखते हैं। मुख्य देवताओं की भाँति इन परिकर-स्थानीय देवताओं के लिए भी यदि नामग्रहणपूर्वक आत्मग्रहण किया जायगा तो—अगमम्यानामहलक्षण नामिदोष होगा। अतः इनके लिए बिना नामग्रहण के ही आत्मग्रहण करना चाहिए। 'अन्तरिक्षमाप्तता वै पशवः' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) के अनुसार पशुप्राण का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, उधर 'श्रुतपशुहन्दासि पशवः' के अनुसार देववाहनलक्षण श्रुत-छन्द मी पशुस्थानीय ही है। 'छतमन्तरिक्षस्य' (शत० ब्रा० ३।२।१।६) के अनुसार आत्मग्रहण का अन्तरिक्षलोक से सम्बन्ध है। अतएव अन्तरिक्ष श्रुत-छन्दों के लिए आत्मग्रहण का ग्रहण ही अन्वय बनता है।

उद्ध में जो चार बार आत्मग्रहण होता है, उसका प्रयासलक्षण श्रुतदेवता से सम्बन्ध है एवं उपभूत में जो आठ बार करके आत्मग्रहण किया जाता है, उस का अनुयाय-लक्षण छन्दोदेवता से सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-देवताप्रेक्षण अवसरभूमि में प्रतिष्ठित होते हुए नामग्रहण की मर्यादा से ग्रहभूत हैं। अब शेष खता है प्रुवा। प्रुवा में जो चार बार आत्मग्रहण किया जाता है उसका उपयोग सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि से सम्बन्ध रखता है। आत्मग्रहणनिधनी सम्पूर्ण इतिवृत्त व्युत्पत्ति प्रुवा-स्थित आत्म से ही पूरी की जाती है। अब यहाँ सब का अन्तर्भाव है तो यहाँ भी गमग्रहण को अवसर नहीं मिलसकता। बा वस्तु स्वके लिए है, उसमें विशेष स्पष्टि का नामग्रहण असम्भव है। इसप्रकार आत्मा के पुरनिर्माण करने वाले श्रुत-छन्दों के लिए एहीत आत्म में नामग्रहण का अभाव ही अभावमात्र का रजक बन रहा है। (६७८, ९१०)।

आत्मग्रहण-प्रक्रिया में कुछ विशेषता रखनी पड़े हैं। और वह विशेषता यही है कि, उद्ध में ग्रहण होता है चार बार ही परन्तु आत्ममात्रा कीपक्ष आत्म की अपेक्षा अधिक होती है। इस उपभूत में स्वयं की दृष्टि से उद्ध की अपेक्षा ग्रहण तो होता है द्विगुणित (आठबार) परन्तु आत्ममात्रा उद्ध के आत्म की अपेक्षा अल्प होती है। इस विशेषता का क्या कारण ? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का उपपत्तिक समाधान कर रहा है।

वैदिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्ध 'निदानविद्या' ही इस उपपत्ति का मूलोपाय है जिन विद्या का गीताविज्ञानमाध्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक भूमिका पञ्चमखण्ड के 'प्रतिमाननिर्माण-रहस्य' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है। कुछ एक सादृश्य के आधार पर अन्य म अन्य वस्तु का आरोप करना ही 'निदान' कहलाता है। वहाँ लोकव्यवहार में व्यवहारक्रम के सञ्चालन के लिए पदे पदे निदान का आश्रय लिया गया है वहाँ शास्त्रीय व्यवहार में भी विशेषतः वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में भी कर्मकर्मसिद्धि के लिए अनेक स्थलों में इसका आश्रय लिया गया है। पहले एक लौकिक उदाहरण ही लीजिए। "बाक्टर ज्योत्सनाप्रसाद गोविन्द मोतीलाल शर्मा का दहिना हाथ है यह लौकिक निदान का उदाहरण है। वस्तुतया ज्योत्सनाप्रसाद कभी मोतीलाल का दहिना हाथ नहीं है परन्तु आरोप किया जाता है। इस निदानारोप का मूल यही है कि दहिना हाथ ही कर्मसिद्धि का मूलकारण है। नयाकि ज्योत्सनाप्रसाद माती-लाल के कर्म का अन्त्यतम सहायक है, उस इसी कर्मासादृश्य के आधार पर उसे निदानविधि से दहिना हाथ मान लिया गया है। अब एक शास्त्रीय उदाहरण भी लीजिए। लोकव्यवहारसञ्चारिणी जन्माता लक्ष्मी की प्रथमा के हाथ में 'कमल' का पुष्प है। वह कमल भूमिष्ठ का सूत्रक है। भूमिष्ठ का प्रारम्भिक उपादान 'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शत० ब्रा० ३।२।२) इस भाव सिद्धान्त के अनुसार पुष्करपत्र है। अस्वालीकृत

देवता, दोनों के सम्बन्ध से ही 'शरीर' नामक आध्यात्मिक पुर का निर्माण होता है। वृक्ष आवासदेवता-स्थानीय आत्मा अपने स्वरूप-निर्माण के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है। वृष्ट ही शरीर है आत्मे का इसी से सम्बन्ध है। इधर पृष्ठस्वरूप-निर्माणक श्रृष्ट, एवं छन्दोदेवता हैं। फलतः सिद्ध होता है कि यह आत्म्यमहकर्म श्रृष्ट, तथा छन्दोदेवताओं की सृष्टि के लिए ही विहित है। वैसे आत्म्यम में है, वैसे ही वो यहाँ होना चाहिए होता है।

आध्यात्मिक अधिभूतज्ञ से उत्पन्न होने वाली दैवामर्शस्था में भी 'आत्मा-पुर' में से दोनों पर्व अवस्थित हैं। मुख्यदेवता त्रैलोक्य के आत्मस्वरूप का निर्माण करेंगे एवं श्रृष्ट-छन्दो-लोकेश्वर गौतमदेव आत्मपुर का निर्माण करेंगे। अतएव वितापमान यह का यही तात्पर्य मानना पड़ेगा कि, अनेक इतिकर्त-व्यताओं से वितापमान यह यह देवता श्रृष्ट, छन्द इन तीन देवताओं की सम्पत्-प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखता है। मुख्यदेवता का एक स्वतन्त्र विभाग है इस के लिए निम्न आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं यह 'हवि' नाम से प्रसिद्ध है जोकि हविर्द्रव्य 'इष्टि पशु' सोम यह मेद से अन्नपुरोहारा, पशु-वपुपुरोहारा वल्लीसोमरस, मेद से वेधा विभक्त है। श्रृष्ट-छन्दो-रूप दोनों प्रयावानुयायदेवताओं का (जिन से कि पुर का निर्माण होगा) एक स्वतन्त्र विभाग है, इनके लिए आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है एवं यही 'आत्म्य' नाम से प्रसिद्ध है।

आत्मा-शरीर यद्यपि दोनों की समष्टि 'देवत्व' है। अर्थात् 'देवदत्त' नाम स्वयं समष्टि से ही सम्बन्ध रखता है। तथापिमानता पड़ेगा कि, वह नाम मुख्यतः आत्ममार्ग से ही सम्बन्ध रखता है न कि शरीर से। यही कारण कि जब मृतात्मा प्राप्तसमय पर देह का परिवर्तन कर देता है, तो उस समय स्वयं 'आत्म' नहीं रहता वह लोकमन्त्रहार होता है। अवशेष शब्द-शरीर का कोई नाम नहीं रहता। वृक्षी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राधा अपने परिकर (सेवकगण) के साथ कही आतिथ्य स्वीकार करने जाता है। यही राधा का ही नाम मुख्य रहता है राधा के नामग्रहण का ही व्यवहार लोकप्रसिद्ध है। सेवकगणों का राधा के नाम में ही अन्तर्भूत है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। आत्मस्वरूप-सम्पादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रणपूर्वक हविमह्य होना चाहिए, एवं परिकरस्थानीय श्रृष्ट-छन्दो-देवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आत्मग्रहण करता है, यही लोकमन्त्रहार है (पशुम ह्येतोपाम्)।

'जोमि' दोन एक महारोग माना गया है। यथानुक्रमेण व्यवहार न करना ही 'जोमि' रोग है। यह सम्पत्ता का आग्रह है कि, जो जिस स्थान के योग्य हो, जिस सम्मान का पात्र हो उसे वही स्थान-सम्मान लिया जाय। समदर्शन एवं विपमवचन न ही इस सम्पत्ता का अन्ततम रक्षक है। का महत्ति से प्राप्तिमान समान है परन्तु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न योग्या के पात्र है। कारण यही है कि समदर्शन का अन्ततम विद्वत्तमा से सम्बन्ध है जोकि आपातर-विद्वत्तन कीटादि पश्यन्त सब में एकरस्य से प्रतिष्ठित है। एवं विपमवचन का क्षेत्र प्रतिशरीर में मित्र प्राधानिक सम्पत्त मृतात्मा है। दोनों के क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि व्यवहारक्षेत्र में आभिर्देश (मर्यादा-उत्सर्जन-अथवा व्यवहारक्षेत्र अतम्पत्ता) से बचन के लिए जो जिसके योग्य हो उसे उगी सम्मान का अभिधारी समझ जाय। यहाँ उह उपपन्न, प्रथा में जो कर्म ८-८-८ बार करके आत्मग्रहण किया जाता है। यह श्रृष्ट, तथा छन्द के लिए ही निमित्त है। मुख्य

शारीरिक बल बल है आत्मबल वीर्य है। भूतबल बल बल है, प्राणबल वीर्य है। माय-प्रभा पर सुरासन सुरचित करने के लिए दोनों शक्तियाँ अपेक्षित हैं। हम देखते हैं कि, एक राज्य में राजा एक होता है प्रजा असंख्य होती है। परन्तु राजा अपने कोराजल से, तथा बाहुवीर्य से एक पर का स्वामी रहता हुआ भी अनेकों घरों पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है। अपनी इच्छानुसार यथासमय इन से अपने उद्देश्य-साधन प्रस्तुत किया करता है। इसी बलवीर्य-प्राप्ति के लिए यहाँ भी कनीयांस, मर्यागा रखी गई है।

शुद्ध में परित आत्म की तो शुद्ध से आहुति होती ही है परन्तु उपर्युक्त में परित आत्म की भी शुद्ध से ही आहुति होती है। इसका कारण है—'अन्न-आभाव' की स्वरूप रक्षा। उपर्युक्त प्रजा-स्थानीय है। प्रजा का कल ही राजा का बल है। यदि प्रजा को स्वसंपत्ति-व्यय में स्वकृत्र कर दिया जायगा तो प्रजा इस मर्यादा से अपना स्वरूप ही खो बैठेगी एवं प्रजासहयोग से वञ्चित राजा भी राज्यभी से हाथ ही खो बैठेगा। राष्ट्र-समृद्धि के लिए दोनों की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है। वर्मदण्ड नहीं राजा को सुरचित मर्यादित रखता है, वही वर्ममर्तिगत राजन्य प्रजा को मर्यादित बनाए रखता है। इस पारस्परिक सहयोग से दोनों का स्वरूप सुरक्षित रहता है।

यदि प्रजापति पर अपना अधिकार स्थापित करना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है, तब तो प्रजावधा-नीय उपर्युक्त में आत्मप्रदण की ही आवश्यकता न थी। परन्तु उस दशा में भी वही परिणाम होता जो अम-मर्यादा में क्लृप्ताया गया है। प्रजा जयतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति-संप्रदा में प्रयुक्त नहीं होती तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है। राष्ट्र का विसर्जन पशुधल आदि प्रजास्थापन पर ही निर्भर है। क्या एकमात्र राजा वे सब कार्य कर सकता है? असम्भव। अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण माने गए हैं। होना यह चाहिए कि, प्रजा को सम्पत्ति-संप्रदा का सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय साथ ही व्ययसम्बन्ध में निकृत्रण लगाया जाय। सुत्र और विट् के इस पारस्परिक सहयोग से ही प्रकृतिविदा वह वर्णाश्रमव्यवस्था सुरक्षित रह सकती है जो राष्ट्रसमृद्धि का अन्यतम सूत्र माना गया है।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित प्रजा 'ब्रह्मबल' है, शुद्ध 'चतुर्बल' है, उपर्युक्त 'पिङ्गल' है एवं पशुसम्पत्ति 'शूद्रमात्र' है। प्रत्येक राष्ट्र को राष्ट्रसमृद्धि के लिए ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल क्रियास्थानीय चतुर्बल अथ स्थानीय पिङ्गल एक प्रथमस्थानीय शूद्रबल, वे चारी बल अपेक्षित हैं। यह सभी सम्भव है, जब कि चारों में परस्पर सहयोग बना रहे। सहयोग सभी सम्भव है, जबकि चारी मर्यादासूत्र से सज्जित रहें। इसी समुद्रिखा के लिए उपर्युक्त से परित आत्म की भी शुद्ध से ही आहुति ली जाती है।

इसप्रकार राष्ट्रकर्मसमृद्धिपुत्रक स्वसमृद्धि के लिए यह आत्मप्रदणकर्म क्रमशः गायत्री त्रिपुष्प जगती अनुष्टुप् छन्दो से सम्बन्ध रखता है। 'सुपर्याकाशयज्ञानपिज्ञान' के अनुसार मूलतः सभी छन्द चतुरधर ही माने गए हैं। सोमापहरण करने के लिए सर्वप्रथम चतुरधर जगतीछन्द का तृतीय पक्ष में गमन होता है। वही तीन चरण लाकर एक चरण से जगती नतल पर लोट जाती है। अनन्तर चतुरधर पिष्टुप् सोमापहरण के लिए उत्प्लवन करती है। यह अपना एक चरण छोड़ तीन

( पनमावयुक्त ) अप्-उत्त ही पुरुषरूप है। यही उत्तरोत्तर तेजस्नेह के क्रमिक यजन से आपा-फेनार्द्र आठ व्याहृतियों में परिशोधित होता हुआ कालान्तर में भूयिष्ठरूप में परिणित हो जाता है। अम्लपुष्प भी उसी अप्तत्त्व से सम्बन्ध रखता है। इसी सादृश्य के आधार पर कमल में भूयिष्ठ का आरोप करते हुए इसे भूयिष्ठ का निदान मान लिया गया है। “सप्रा प्रजापति पयासन पर विरामान रहते हुए पथमू नाम से प्रसिद्ध है” इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान से सम्बन्ध है।

इस निदानविद्या को सक्षय में रखते हुए ही हमें उक्त उपसृत् के आन्व्य का विचार करना है। उक्त को दहिना हाथ, तथा उपसृत् को वाम हाथ कहलाया है। शकुनशास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है वामभाग अशुभ है। दक्षिणाङ्गस्वरूप शुभस्त्वचना का प्रवचक है एवं वामाङ्गस्वरूप अशुभस्त्वचना का सूचक है। कारण यही है कि, पुरुष अग्निवीर्यप्रधान है। पुरुष के दक्षिणाङ्ग में इसी अग्निवीर्य का प्राधान्य रहता है एवं वामाङ्ग में निर्वीर्य्य सोम का प्राधान्य रहता है, बल्कि सोम स्त्रीवीर्य्य माना गया है। वामभाग स्त्रीवीर्य्यप्रधान है इसका स्फुरण पुरुषत्व का विरोधी है अतएव इसे अशुभ माना गया है। विधि का वाम ( टंडा-प्रतिकूल ) होना वामभाग से ही सम्प्रक्षिप्त है। इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि, दक्षिणहस्त-स्थानीय उक्त पुरुषवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है। एवं वामहस्तस्थानीय उपसृत् स्त्रीवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभस्त्वच बनता हुआ यजमानशुभस्थानीय है। इस वीर्य्यत्वचना के अतिरिक्त आदान-निरोध-मर्त्यता से भी यह आरोप समन्वित हो रहा है। दक्षिणहस्त कर्म के द्वारा वहाँ सम्यक् के आगमन का अरण्य बना हुआ है वहाँ वामहस्त अकर्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का कण्ड बन रहा है। शत्रु का जो कर्म ( सम्पत्ति-निरोध ) है वही स्थान वामहस्त का है। इसलिए भी दक्षिणहस्त स्थानीय उक्त को यजमान तथा वामहस्त स्थानीय उपसृत् को यजमानशत्रु कहा जा सकता है।

दक्षिणहस्त अग्निवीर्य्यप्रधान एवं वामहस्त सोमवीर्य्यप्रधान कहलाया गया है। अग्नि अन्नत् ( मोक्षा ) है सोम आय ( मोक्ष ) है। इस दृष्टि से दक्षिणहस्तस्थानीय अग्निप्रधान उक्त को ‘अन्नत्’ माना जा सकता है एवं वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपसृत् को ‘आय’ कहा जा सकता है। इसप्रकार निदानविधि से उक्त, उपसृत् को कर्मय यजमान-यजमानशत्रु तथा अन्नत्-आय मानते हुए चतुर्वार-व्यवहार एवं मूर्ध्वसं-कनीचांस का समन्वय कीजिए।

समुद्धि का अर्थ यही है कि मोक्षा संख्या में कम हों एवं मोक्ष सामग्री संख्या में अधिक हो। इसी समुद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भीमा-स्थानीय उक्त में बार बार ही आत्मसंख्या किया जाता है एवं मोक्ष-स्थानीय उपसृत् में आठ बार आत्म ग्रहण किया जाता है।

यदि मोक्षा की अपेक्षा मोक्षप्रजावर्ग अधिक बलवीर्य्य युक्त है तो यह संख्यानुमय समुद्धि निरर्थक है। वास्तविक समुद्धि तो उसे ही कहा जायगा जिसमें मोक्षा संख्या में तो कम हों परन्तु अन्न-वीर्य्य में मोक्ष की अपेक्षा भूषान् हों। मोक्षा में इसी अन्न-वीर्य्य-समुद्धि के लिए मोक्षा-स्थानीय उक्त में वहाँ-बार बार ग्रहण करते हुए माताहृदि की जाती है वहाँ मोक्ष की निर्वर्तक निर्वीर्य्य बनाने के लिए मोक्ष-स्थानीय उपसृत् में बार बार ग्रहण करते हुए भी माताहृदि किया जाता है।

शारीरिक बल बल है, आत्मबल धीम्य है। भूतबल बल बल है, प्राणबल धीम्य है। भाष्य प्रजा पर मुद्रासन सुवर्चित करने के लिए दोनों शक्तिर्थां उपेक्षित हैं। हम देखते हैं कि एक राज्य में राजा एक होता है प्रजा असंख्य होती है। परन्तु राजा अपने कोराजल से, तथा बाहुधीर्य से एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अपनेका घरों पर अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित रखता है। अपनी इच्छानुसार यथासमय इन म अपने उद्देश्य-साधन प्रयुक्त किया करता है। इसी कलवीम्य-प्राप्ति के लिए, यहाँ भी कनीवास, मर्यादा रखी गई है।

बहु में एहीत आन्य की तो बहु से आहुति होती ही है परन्तु उपभूत में एहीत आन्य की भी बहु स ही आहुति होती है। इसका कारण है—'आन्न-आमाद्य की स्वरूप रक्षा'। उपभूत प्रजा-स्थानीय है। प्रजा का बल ही राजा का बल है। यदि प्रजा को स्वयंपत्ति-व्यय में स्वतन्त्र कर दिया जायगा तो प्रजा इस मर्यादा से अपना स्वरूप ही नो बैठेगी एव प्रजासङ्योग से वञ्चित राजा भी राज्यभी से हाथ ही नो बैठेगा। राष्ट्र-समृद्धि के लिए दोनों की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है। धर्मग्रन्थ वहाँ राजा की सुवर्चित मर्यादित रखता है, वहाँ धर्मानुगत राजदण्ड प्रजा को मर्यादित बनाए रखता है। इस पारस्परिक सहयोग से दोनों का स्वरूप सुवर्चित रहता है।

यदि प्रजापति पर अपना अधिकार स्थापित करना ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है, तब तो प्रजास्था-नीय उपभूत में आन्यग्रहण की ही आवश्यकता न थी। परन्तु उस दशा में भी वही परिणाम होता जो अम-र्यादा में कलाया गया है। प्रजा जयतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति-संग्रह म प्रयुक्त नहीं होती तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है। राष्ट्र का वित्तबल पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है। क्या एकाकी राजा व सब कार्य कर सकता है? असम्भव। अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि क नारा के ही कारण माने गए हैं। होना यह चाहिये कि प्रजा को सम्पत्ति-संग्रह क सम्बन्ध म पूरा स्वतन्त्रता दी जाय साथ ही व्ययसम्बन्ध में नियन्त्रण लगाया जाय। अन्न, और पिद के इन पारस्परिक सह-योग से ही प्रकृतिविद्धा यह वर्णाश्रमव्यवस्था सुवर्चित रह सकती है, जो राष्ट्रासमृद्धि का अन्तम मंत्र माना गया है।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित प्रजा 'ब्रह्मवर्ण' है बहु 'क्षत्रवर्ण' है, उपभूत 'विज्वल' है एवं पशुसम्पत्ति 'राष्ट्रभोग' है। प्रत्येक राष्ट्र का राष्ट्राभ्युदय के लिए क्षान्तस्थानीय ब्रह्मवर्ण क्रियास्थानीय क्षत्रवर्ण अथ स्थानीय विज्वल एवं प्रयग्यस्थानीय शूद्रवर्ण, ये चारों बलअपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि चारों में परस्पर सहभाग बना रह। सहयोग तभी सम्भव है, जबकि चारों मर्यादासूत्र स सञ्जालित रहें। इसी समुद्रिवा के लिए उपभूत स एहीत आन्य की भी बहु से ही आहुति ही जाती है।

इसप्रकार राष्ट्रात्मसमृद्धिपूर्वक स्वसमृद्धि के लिए यह आचरणदण्डक्रम क्रमशः गायत्री त्रिष्टुप्, जगती अनुष्टुप्, छन्दो से सम्बन्ध रखता है। 'मुषयाकाश्रुचयास्मानपिज्ञान क अनुशास मूलतः सभी छन्द चतुरक्षर ही माने गए हैं। सोमापहरण करने के लिए सर्वप्रथम चतुरक्षर बगतीछन्द का तृतीय पलक में गमन होता है। वहाँ तीन चरण मोक्षर एक चरण में बगती नवल पर लोट जाती है। अनन्तर चतुरक्षर त्रिष्टुप् सोमापहरण के लिए उत्कलपन करती है। यह अपना एक चरण मोक्षर तीन

(पनमावयुक्त) अप-सख ही पुष्करपण है। यही उत्तरोत्तर तेजस्नेह के क्रमिक यजन से आपः-केन्द्रित आठ व्याहृतियों में परिणित होता हुआ कालान्तर में भूषिष्वरूप में परिणित हो जाता है। कमलपुष्प भी उठी अपतत्त्व से सम्बन्ध रखता है। इसी सादर्य के आधार पर क्रमशः में भूषिष्वरूप का आरोप करते हुए इसे भूषि-यव का निदान मान लिया गया है। “सप्त प्रजापति पथासन पर विद्यमान रहते हुए पथभूः नाम से प्रसिद्ध है इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान से सम्बन्ध है।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें ऊह उपभृत् के आत्म्य का विचार करना है। ऊह को दहिना हाथ, तथा उपभृत् को वाम हाथ कहलाया है। शकुन्तला के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है, वामभाग अशुभ है। दक्षिणाहस्तसुरण शुभसूचना का प्रवचक है एवं वामाहस्तसुरण अशुभसूचना का सूचक है। अतएव यही है कि, पुरुष अग्निवीर्यप्रधान है। पुरुष के दक्षिणाहस्त में इसी अग्निवीर्य का प्राधान्य रहता है एवं वामाहस्त में निर्ऋत्य सोम का प्राधान्य रहता है, जोकि सोम स्त्रीवीर्य माना गया है। वामभाग स्त्रीवीर्यप्रधान है इसका स्फुरण पुरुषत्व का विरोधी है, अतएव इसे अशुभ माना गया है। विधि का वाम (येदा-प्रसिद्ध) होना वामभाग से ही समुत्पन्न है। इसी सादर्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि, दक्षिणाहस्त-स्थानीय ऊह पुरुषवीर्य का प्रतिनिधि बनता हुआ यद्यमानस्थानीय है। एवं वामाहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभसूचक बनता हुआ यद्यमानशुभस्थानीय है। इस वीर्यसूचना के अविरक्त आदान-निरोध-सम्पत्ति से भी यह आरोप समन्वित हो रहा है। दक्षिणाहस्त कर्म के द्वारा वहाँ सम्पत्ति के आगमन का करण बना हुआ है वहाँ वामहस्त अकर्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का कर्तृ बन रहा है। शत्रु का जो काम (सम्पत्ति-निरोध) है वही स्थान वामहस्त का है। इसलिए भी दक्षिणाहस्त स्थानीय ऊह को यजनान तथा वामहस्त स्थानीय उपभृत् को यजनानशत्रु कहा जा सकता है।

दक्षिणाहस्त अग्निवीर्यप्रधान एवं वामहस्त सोमवीर्यप्रधान कहलाया गया है। अग्नि अन्नाद् (मोक्ष) है सोम आद्य (मोक्ष) है। इस दृष्टि से दक्षिणाहस्तस्थानीय अग्निप्रधान ऊह को ‘अन्नाद्’ माना जा सकता है एवं वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को ‘आद्य’ कहा जा सकता है। इसप्रकार निदानविधि से ऊह, उपभृत् को क्रमशः यजमान-यजमानशत्रु तथा अन्नाद्-आद्य मानते हुए चतुर्वार-प्रचार, एवं मृषांस-कनीयांस का समन्वय कीजिए।

स्मृति का लक्षण यही है कि, मोक्षा संख्या में कम हों, एवं मोक्ष लाभ की संख्या में अधिक हो। इसी स्मृतिमात्र की प्राप्ति के लिए मोक्षा-स्थानीय ऊह में बार बार ही आत्म्यग्रहण किया जाता है एवं मोक्ष-स्थानीय उपभृत् में आठ बार आत्म्य ग्रहण किया जाता है।

यदि मोक्षा की अपेक्षा मोक्षप्रवाहार्थ अधिक कलवीर्य युक्त है तो वह संभवानुगत स्मृति निरपक है। वास्तविक स्मृति तो उसे ही कहा जायगा जिसमें मोक्षा संख्या में तो कम हों परन्तु स्व-वीर्य में मोक्ष की अपेक्षा भूतान् हों। मोक्षा में इसी कल-वीर्य-स्मृति के लिए मोक्षा-स्थानीय ऊह में वहाँ बार बार ग्रहण करते हुए माताहति की जाती है वहाँ मोक्ष की निर्ऋत निर्ऋत्य बनने के लिए भोग्य-स्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी माताहति किया जाता है।



प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय-अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण  
एव द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण

‘आज्यब्राह्मण’

नामक

उपरत



चरणों से बापस लौट आती है। सर्वांत में सामिपेनीयल से युक्त चतुरस्र गायत्री मुख्य-रूप धारण कर के भगवांन मारती है। फलतः सोमापहरण के साथ साथ तपस्व्य जगती के तीनों चरण, एवं त्रिष्टुप् का एक धरम लेती हुई गायत्री अपने आपके चारों चरणों से सुरक्षित लौट आती है। आरम्भ में चतुरस्र रहने वाली यह गायत्री जगती तथा त्रिष्टुप् के चरणों से अष्टास्र बन जाती है। अष्टास्र त्रिष्टुप् इस अष्टास्र गायत्री में आत्मसमर्पण कर एकावशास्र बन जातो है, एवं एकास्र जगती त्रिष्टुप् युक्त गायत्री में आत्मसमर्पण कर द्वावशास्र बन जाती है। इसप्रकार यद्यपि आत्म गायत्र्यादि छन्द ८-११-१२ इत्यादि ऋचों से युक्त प्रतीत हो रहे हैं परन्तु इनका मौखिक स्वरूप चतुरस्र ही माना गया है क्योंकि सर्वाणि ह वा अन्दांसि चतुरस्राणि इत्यादि निगम से प्रामाणित है।

जुहू-स्थित चतुर्भारणीत आत्म चतुरस्र गायत्री छन्द से सम्बन्ध रखता है अपर्यु स्थित अष्टवारणीत आत्म कमरा चतुरस्र त्रिष्टुप् एवं चतुरस्र जगतीछन्द से सम्बन्ध रखता है। एवं भुवास्थित चतुष्टीत आत्म अनुष्टुप्छन्द से सम्बन्ध रखता है। भूपिण्ड त्रिष्टुप्तृथिवी पञ्चवरा अन्तरिक्ष, एक-विंशतुष्टु चारों कमरा प्रजापति अग्नि, मरुत्वानिन्द्रगभिषु वायु, आवित्य, वे चार अस्थिरा देवता हैं। एवं चारों के कमरा अनुष्टुप् गायत्री त्रिष्टुप् जगती वे चार छन्द हैं। चारों का मूल यही मीमंसा अनुष्टुप्छन्द है। अनुष्टुप् भूपिण्ड का छन्द है भूपिण्ड शुक्लचक्षुषा चक्षुष्य है। इती वाग्वितान से कण्ठध्वजध्वजा उच साहसी अ कम होता है जिसके आचार पर भूमिमासक सम्पूर्ण प्रतिष्ठित है। अतएव तत्स्थानीय भुवा से ही सम्पूर्ण कर्म सम्पन्न होता है। (११ १२ १३ १४ १५, १६, १७)।

आत्मब्रह्मपदवि के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। जिस चित्सृष्ट (भूपिण्ड) में आत्म (प्राणशक्ति) परिपूर्णमात्रा से प्रतिष्ठित रहता है, उस चित्सृष्ट में प्राणदेवता उत्तीप्रकार अमन बन कर अपने आध्यात्मिक वक्त्र की इन्कितव्यता निरापद सम्पन्न करते हैं, जैसे कि वक्त्र की रक्षा से रक्षित मनुष्य अपने कर्म में निरापद बना रहता है। अतएव आत्म की वक्त्र कहा जा सकता है। यही ब्राह्मण में देववक्त्र ममि है। बाह्य-आमयी-उच्चार उस समय पर्यन्त निरर्थक है, जबतक कि आत्म (प्राणशक्तिजन कम्मवक्त्र वक्त्र) का ग्रहण नहीं कर लिया गया। आत्मिक का आत्म, एवं अभिभूतवक्त्र का आत्मवक्त्र, दोनों ही यह स्वरूप की विधि के मुख्य द्वार को हुए हैं।

यि सत्या र्वे ब्रवाः के अनुष्ठान यह वक्त्रि-मर्मादा से युक्त है। किन्तु एक व्यक्ति की वाक्त्रा या हि, इस वक्त्रसंगति-समूह के लिए 'जुहू उपभूत भुवा' तीनों में तीन तीन बार मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। परन्तु परमवैज्ञानिक भगवान् वाक्त्रवक्त्र ऐसा करना इसलिए अनुचित समझते हैं कि तीनों ग्रहणकर्म एक ही वक्त्रविधि से सम्बन्ध रखते हैं। यदि तीन स्थान पर त्रिष्टुप् सम्पत्ति का संग्रह किया जायगा तो वक्त्रजन्य नष्ट होजायगी। इन्निष्ठ (वक्त्रजन्य सुश्रुति करने के लिए) एक-एक बार ही मन्त्रप्रयोग होना चाहिए। ऐसा करने से यही वक्त्रा भी सुरक्षित रहेगी, एवं तीनों स्थानों की संख्या के समन्वय से त्रिष्टुप्-उत्पत्ति भी प्राप्त होजायगी (१७ १८)।

श्रीः

अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-द्विब्राह्मणात्मक  
इध्म-परिधि-ब्राह्मणम्



अथ-प्रथमकाण्डे-तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्  
द्वितीयप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

इध्म-परिधि-ब्राह्मणनुगतञ्च-“इध्मब्राह्मण” नामक प्रथम ब्राह्मणम्)

१



]

,

अथ प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्  
द्वितीयप्रपाठके च पष्ठ ब्राह्मणम्

द्वित्राह्मणानुगत-“इध्मब्राह्मणम्”—प्रथमम्

१

१७—इध्मानुगत - कर्मसंग्रह —

१ इध्मवेदि-वर्हिषा प्रोक्षणा, तथा प्रोक्षणीशेषेण वर्हिर्मूलोपसेचनम्

( मूल ) प्रोक्षणीरध्ययु रादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति—“कृष्णोऽस्यास्तरष्टोऽ  
नये वा जुष्ट प्रोक्षामि” ( २ अ० १ म० ) इति । तन्मध्यमेवैतदग्नय  
करोति ॥ १ ॥

अथ वदि प्रोक्षति—‘वेदिरमि वर्हिषे त्वा जुष्टा प्राक्षामि’ [ २ अ० १-  
म० ) इति । तन्मध्यमेवैतद् वर्हिषे करोति ॥ २ ॥

अथास्मै वर्हि प्रपञ्चति । त-पुरस्ताद्ग्रन्थामादयति । तत् प्रोक्षति—“यन्निरमि  
सुग्न्यस्त्वा जुष्ट प्राक्षामि” [ २ अ० १ म० ] इति । तन्मध्यमेवैतद् सुग्न्य  
करोति ॥ ३ ॥

अथ या प्रोक्षय परिशिष्यन्त, तागिरोपधीना मूलान्युपनिनयति—“अदित्ये  
श्रु वनममि [ २ अ० २ म० ) इति । इय वै पृथिवी अदिति तदस्या एवैतदोप-  
धीना मूलान्युपनिनयति । ता इमा आत्र मूला ओपधय । तस्माद्यद्यपि शुक्लाण्यप्राणि  
भवन्ति-आद्राण्यपि मूलानि भवन्ति ॥ ४ ॥



## ४—आहवनीयाग्नेरिम्काष्ठेन प्रवलीकरणम्

अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यक्षस्याहवनीय । पूर्वोऽर्धो वै शिर-पूर्वाद मधैत-  
यक्षस्य कल्पयति । उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति । अयं वै स्तूपः प्रस्तरः । एतमेवा-  
स्मिन्नेतत् प्रतिदधाति । तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति ॥ १२ ॥

## ५—आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्

अथ परिधीन् परिदधाति । तद् यत्परिधीन् परिदधाति—यत्र वै द्वा अग्रेऽग्निं  
होत्राय प्राशुक्षत तद्वोवाच 'न वा अहमिदमुत्सह, यज्ञो होता स्याम्, यज्ञो इष्य बहयम् ।  
त्रीन् पूर्वान् प्राशुक्षतम् । ते प्र घन्विषुः, तान् मेऽनकल्पयत । अथ वा अहमेतदुत्साच्ये-  
यज्ञो होता स्याम्, यज्ञो इष्य बहयमिति । तथेति । तानस्मा एतानवाकल्पयन्—त एत  
परिधय ॥ १३ ॥

त होवाच—वज्रो वै तान् वपट्कारं प्राशुणम् । वज्राद्वै वपट्काराद्विमेमि, य मा  
वज्रो वपट्कारो न प्रशुञ्ज्यात् । एतरेष मा परिधय, तथा मा वज्रो वपट्कारो न प्रव-  
र्च्यतीति । तथेति । तमेतै पर्यदधु । तत्र वज्रो वपट्कारं प्रावणम् । तद्वै वैतदग्रे  
नक्षति—यदेतै परिदधानि ॥ १४ ॥

त उ ईत ऊचुः—इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्ष्य, अस्तववास्माकमपि यज्ञे भाग  
इति ॥ १५ ॥

तथेति द्वा अत्र वन्—“यद्ब्रह्मिष्परिधि स्नन्त्यति-तद्युष्मासु कृतम् । अथ यद् उप  
ग्यु परि होष्यन्ति—तद्वाऽविष्यति । अथ यदर्मा होष्यन्ति तद्वाऽविष्यतीति । स यन्मा  
जुहति तदनानवति, अथ यन्नेनानुष्यु परि जुहति—तदनानवति, अथ यद्ब्रह्मिष्परिधि  
स्नन्दति—तत्तत्पु कृतम् । तस्माद् इ नाग इव स्क्रभ स्यान् । इमां वैत पृथिवीं प्राविशन् ।  
यद्वा इन्द्रं स्क्रन्दति—अस्यामत्र तन्मव प्रवितिष्ठति ॥ १६ ॥

## २—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरगूहणम्—

अथ विस्त्रम्य ग्रन्थि पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति—'विष्णोस्तुपोऽसि—( अ० २-२० ) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्येयमेव शिखा स्तुपः । एतामेवास्मिन्नेतदधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्वयं स्तुपः, तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ २ ॥

अथ सन्नहनं विस्त्रमयति । प्रकृतम् हैवास्य स्त्री विजायत इति । तस्मात् सन्नहनं विस्त्रमयति । तद्विखायां भोक्षौ निदधाति । नीविर्हैवास्यैषा । दक्षिणत इव हीय नीवि । तस्माद्विखायां भोक्षौ निदधाति । तत्पुनरभिच्छादयति । अमिच्छन्नेव हीय नीवि । तस्मात्पुनरभिच्छादयति ॥ ३ ॥

## ३—वेद्या बर्हिषा त्रिवृत-स्तरणम्

अथ बर्हिं स्तृणाति । अथ वै स्तुपः प्रस्तरः । अथ यान्यवाजि लोमानि, तान्येवास्य, यदितर बर्हिं, तान्येषास्मिन्नेतदधाति । तस्माद् बर्हिं स्तृणाति ॥ ७ ॥

योषा वै वदिः । तामेतद्दधाष पर्यासत, ये वेमे ब्राह्मणाः शुभ वासोऽनूचाना । तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्नां करोति अनग्रताया एव । तस्माद्बर्हिं स्तृणाति ॥ ८ ॥

यावती वै वदिः, तावती पृथिवी, ओषधयो बर्हिं । तदस्यामेवतत् पृथिव्यामोष-धीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठिताः । तस्माद्बर्हिं स्तृणाति ॥ ९ ॥

तद्वै बहुलं स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वा अस्यै बहुलतमा आपधय, तदस्या उपजीवनीयतमम् । तस्माद् बहुलं स्तृणीयादिति । तद्वै तदाहर्त्तृर्वाच । त्रिवृतं स्तृणाति, त्रिवृदि यज्ञः । अथो अपि प्रबर्हिं स्तृणीयात् । स्तृणान्ति यदिरानुपगिति स पिश्याम्य-नूक्तम् । अघरमूलं स्तृणाति । अघरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठिताः । तस्मादघरमूलं स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति—'ऊन्योऽग्रदम त्वा स्तृणामि स्वासस्थां दवेभ्य [ २ अ० २ म० ] इति । सार्धं दवेभ्य इ यवैतदाह—यदाहोर्णमदस त्वाति । रवातरां दवेभ्य इति रवातदां वेवभ्य इत्यवैतदाह ॥ ११ ॥



## ३—आहवनीयाग्नेरिध्मकाष्ठेन प्रवलीकरणम्

अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यक्षस्याहवनीयम् । पूर्वोऽर्द्धो वै शिरः-पूर्वाद्धर्मवैत-  
पक्षस्य कल्पयति । उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति । अथ वै स्तुपं प्रस्तरम् । एतमेवा-  
स्मिन्नेतत् प्रतिदधाति । तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति ॥ १२ ॥

## ५—आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्

अथ परिधीन् परिदधाति । तद् यत्परिधीन् परिदधाति-यत्र वै द्वा अग्रेऽग्निं  
होत्राय प्राबुधत् तद्वोवाच 'न वा अहमिदमुत्साहं, यज्ञो होता स्यात्, यज्ञो हव्यं बहयम् ।  
श्रीन् पूर्वान् प्राबुधत् । ते प्र धन्विषु, तान् मेऽवकल्पयत । अथ वा अहमेतदुत्साहये-  
यज्ञो होता स्यात्, यज्ञो हव्यं बहयमिति । तथेति । तानस्मा एतानवाकल्पयन्-त एते  
परिधय ॥ १३ ॥

न होवाच-वज्रो वै तान् वपट्कारः प्रावृणक् । वज्राद्धैः उपट्काराद्विमेमि, य मा  
वज्रो वपट्कारो न प्रबुञ्ज्यात् । एतरेष मा परिधत्, तथा मा वज्रो वपट्कारो न प्रव-  
च्यतीति । तथेति । तमेतैः पर्यदधु । तस्य वज्रो वपट्कारः प्रावृणक् । तद्रमै वैतदभये  
नमति-यदतैः परिदधानि ॥ १४ ॥

त उ हैत ऊचुः-इदमु चेदस्मान् यज्ञे शुद्धय, अस्त्ववास्माकमपि यज्ञे भाग  
इति ॥ १५ ॥

तथेति द्वा अत्र वन्-“यद्वाहिष्परिधिं स्नन्त्यनि-तद्युष्मासु कृतम् । अथ यद् उप-  
र्युपरि होष्यन्ति-तद्वाऽविष्यति । अथ यद्वा होष्यन्ति तद्वाऽविष्यतीति । स यद्वा  
जुहति तदनानवति, अथ यन्नानुपयुपरि जुहति-तन्नानवति, अथ यद्वाहिष्परिधिं  
स्नन्दति-तदतपु कृतम् । तस्माद् इ नाम इव स्कन्धं स्यात् । इमां वैते पृथिवीं प्राविशन् ।  
यद्वा इदं किञ्च स्नन्दति-अस्यामथ तन्मयं प्रवितिष्ठति ॥ १६ ॥

## २—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिष पुरस्तात् प्रस्तरगृहणम्—

अथ विस्रम्य ग्रन्थि पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति—‘विद्योऽस्तुपोऽस्मि—( २ अ० २-२० ) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्येयमेव शिखा स्तुपः । एतामेवास्मिन्नेतदधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्वर्ण्यं स्तुप, तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहनं विस्रसयति । प्रकलृप्तं देवास्य स्त्री विज्ञायत इति । तस्मात् सन्नहनं विस्रसयति । तद्विद्यायां श्रोत्रो निदधाति । नीविर्देवास्यैषा । दक्षिणत इव द्वीप नीवि । तस्माद्विद्यायां श्रोत्रो निदधाति । तत्पुनरभिच्छादयति । अभिच्छन्नेव द्वीप नीवि । तस्मात्पुनरभिच्छादयति ॥ ६ ॥

## ३—वेद्या बर्हिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

अथ बर्हिं स्तुह्याति । अथ वै स्तुपः प्रस्तर । अथ यान्यवाञ्छि लोमानि, तान्येवास्य, यदितरं पर्हिं, तान्येवास्मिन्नेतदधाति । तस्माद् बर्हिं स्तुह्याति ॥ ७ ॥

योषा वै वेदिः । तामेतद्दवाभं पयामत, मे चेमे ब्राह्मणाः शुभवांसोऽनूचाना । तेष्वेवैनामेतत् पयासीनप्वनग्नं करोति अनग्रताया एव । तस्माद्बर्हिं स्तुह्याति ॥ ८ ॥

यावता वै वेदिः, तावती पृथिवी, ओपघयो बर्हिं । तदस्यामेव तत् पृथिव्यामोपघीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोपघयः प्रतिष्ठिताः । तस्माद्बर्हिं स्तुह्याति ॥ ९ ॥

तद्वै बहुलं स्तुषीयादित्याहुः । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओपघय, तदस्या उप-बीवनीयतमम् । तस्माद् बहुलं स्तुषीयादिति । तद्वै तदाहर्गर्वाधि । त्रिवृत् स्तुह्याति, त्रिवृदि यज्ञ । अथो अपि प्रवर्हिं स्तुषीयात् । स्तृणन्ति यदिरानुपगिति स पिश्याम्य नूक्तम् । अघरमूलं स्तुह्याति । अघरमूला इव होमा अस्यां पृथिव्यामोपघय प्रतिष्ठिता । तस्मादघरमूलं स्तुह्याति ॥ १० ॥

स स्तुह्याति—ऊग्रम्रदसं तथा स्तृणामि स्वासस्थां देवभ्यः [ २ अ० २ म० ] इति । साध्वी देवभ्य इत्येतदाह—यदाहोर्गम्रदसं स्तुह्याति । रवासस्थां देवभ्य इति एतादृशं देवभ्य इत्येतदाह ॥ ११ ॥

अथ-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं  
 तृतीयं प्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्  
 द्विब्राह्मणानुगतञ्च—परिधिब्राह्मण—नामकं द्वितीयं ब्राह्मणम्

त वा आर्द्रा स्युः । एतद्वर्षाणां नोवम्, एतेन सतजम, एतेन धीर्यवन्तः ।  
 तन्मादार्द्रा स्युः ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति—‘गन्धर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्व-  
 म्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिष्ट ईडित’ [ २ अ० २ म० ] इति ॥ २ ॥

अथ दक्षिणं परिदधानि—‘इष्ट्य वाहुरसि दक्षिणा विश्वम्यारिष्ट्यै यजमा-  
 नस्य परिधिरस्यग्निरिष्ट ईडित’ [ २ अ० ३ म० ] इति ॥ ३ ॥

अथोत्तरं परिदधाति—‘मित्रावस्त्वा त्वात्तरत परिधस्ता ध्रुवेणा धर्मणा विश्व-  
 म्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिष्ट ईडित’ [ २ अ० ३ म० ] इति । अग्न्या  
 हि । तन्मादाह—अग्निरिष्ट ईडित इति ॥ ४ ॥

## ६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति, वर्तमानग्रे समिन्ध ।  
 अथाग्रावभ्यादधाति तनो अग्निं प्रत्यक्षं समिधे ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति—‘वीतिहोत्र त्वा कव इ मन्त्रं समिधीमहि । अग्ने वृत्तन्त-  
 मप्सर’ ( २ अ० ४ म० ) इत्येतया गायत्र्या । गायत्रीमवैतत् समिध । सा गायत्री  
 समिधान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि समिधानि दधम्यो पशुं पशन्ति ॥ ६ ॥

अथ यां द्वितीया समिधमभ्यादधाति—धमन्तमव तया समिन्ध । न वसन्तः समि-  
 दोऽन्यानृतुलं समिन्ध । अतएव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । सोऽ-  
 भ्यादधाति—‘समिदसि’ ( २ अ० ५ म० ) इति । समिद्धिं वसन्त ॥ ७ ॥

स स्कन्धममिमृशति—“भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानापतये स्वाहा [ २ अ० २ म० ] इति । एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि—यद् भुवपति , भुवनपति , भूतानां पति , तद् यथा वपट्कृत हुतम्—एवमस्यैतेर्वाग्निषु भवति ॥ १७ ॥

तद्वै के-इध्मस्यैवैतान् परिधीन् परिदधाति । तद् तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता इ तस्यैते भवन्ति—यानिध्मस्य परिदधाति । अम्याधानाय ह्येध्म क्रियत । तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति—यस्यैतानन्यानहरन्ति—परिधय इति । तस्मादन्यानेवाहरेयु ॥ १८ ॥

ते वै पालाशाः स्युः । अक्ष वै पलाश , ब्रह्माग्नि , अग्नयः हि । तस्मात्पालाशा स्युः ॥ १९ ॥

यदि पालाशान् न विन्देत्—अथो अपि नैककृता स्युः । यदि नैककृतान् न विन्देत् अथो अपि कार्प्पर्यमया स्युः । यदि कार्प्पर्यमयान् न विन्देत् अथो अपि वैच्चा स्युः । अथो खादिरा , अथो औदुम्बरा । एते हि वृक्षा यक्षिणा । तस्मादतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥ २० ॥

प्रथमकारणान्तर्गत-तृतीय-अध्याये तृतीय ब्राह्मणम्  
एवं द्वितीय प्रपाठके च पष्ठ ब्राह्मणम्  
उपरतम्

अत्र-द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-इध्मब्राह्मण समाप्तम्

१

समाप्तश्राय—द्वितीय प्रपाठक

२

अथ-प्रथमकारणं तृतीया याये चतुर्थं ब्राह्मण  
तृतीय प्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्  
द्विब्राह्मणानुगतञ्च—परिधिब्राह्मण—नामक द्वितीय ब्राह्मणम्

त वा आर्द्रा स्यु । एतद्वर्षां जोषम्, एतेन सतजस, एतेन वीर्यवन्तः ।  
तस्मादार्द्रा स्यु ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति—“गन्धर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्व  
प्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिह ईडित ’ [ २ अ० २ म० ] इति ॥ २ ॥

अथ दक्षिण परिदधानि—“इन्द्राय याहुरसि दक्षिणो विश्वप्यारिष्ट्यै यजमा-  
नस्य परिधिरस्यग्निरिह ईडित ” [ २ अ० ३ म० ] इति ॥ ३ ॥

अथोत्तर परिदधाति—“मित्रावरुणौ त्वात्तरत परिधस्ता ध्रुवेण घर्मणा विश्व  
स्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिह ईडित ’ [ २ अ० ३ म० ] इति । अग्नये  
हि । तस्मादाह—अग्निरिह ईडित इति ॥ ४ ॥

६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिपुपस्थशति तेनैतानग्रे समिन्धे ।  
अथाग्रावभ्यादधाति तनो अग्निं प्रत्यक्ष समिन्धे ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति—“वीतिहोत्र त्वा कथे धुमन्त समिधोमहि । अग्ने बृहन्त-  
मध्वर” ( २ अ० ४ म० ) इत्येतया गायत्र्या । गायत्रीमवैतत् समिन्ध । सा गायत्री  
समिधान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि समिधानि दध्म्यो पत्र वहन्ति ॥ ६ ॥

अथ यां द्वितीयां समिधमभ्यादधाति—धम तमेष तथा समिन्ध । स वसन्त समि-  
धोऽन्यानुतत् समिन्धे । अतएव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । सोऽ-  
भ्यादधाति—‘समिदसि’ ( २ अ० ५ म० ) इति । समिद्धि वसन्त ॥ ७ ॥

# तृतीयाध्याय में तृतीय ब्राह्मण एवं द्वितीयप्रपाठक में पष्ठ ब्राह्मण “इध्मब्राह्मण”

## मूलानुवाद—

१-इध्म, वेदि तथा वहि का प्रोक्षणीशेष से वहिर्मूलोपसिञ्चन—

अध्वर्यु (नामक अश्विनिक कमरा इध्म वहि-वहि के प्रोक्षण के लिए) प्रोक्षणी (प्रोक्षण कर्म-के लिए नियत अतप्य प्रोक्षणी नाम से प्रसिद्ध जलों) का प्रोक्षण करता है। (इसे इन प्रोक्षणी-जला से इध्म-वहि-वहि, तीनों का प्रोक्षण करना है। इन में से) यह अध्वर्यु सब से पहिले कृष्णऽस्वाक्षरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्ट प्रोक्षामि (यजु सं० २११ इ अग्ने । आप कृष्णमुग्-है, आहवनीय नामक क्षर म प्रतिष्ठित रहने के कारण आप आक्षरेष्ठ है। ऐसे आप का यथातुरूप-अभिलपित प्रोक्षण करता हूँ) यह मन्त्र बोझता हुआ इध्म ( बह्माग्नि-प्रम्बलन के लिए आप हुए लकड़ी के बेंब हुए भारों) का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म में इन इध्म-मन्मारों को अध्वर्यु अग्निदेवता के लिए सङ्गमनीय ही करता है ॥१॥

इध्मप्रोक्षणानन्तर-‘वविरसि वहिर्वे जुष्ट प्रोक्षामि’ (यजु सं० २११-आप मन्त्रयज्ञसमृद्धि प्राप्ति के कारण ‘वहि नामस प्रसिद्ध है। वहिस्तरण के लिए आपका मैं अभिलपित प्रोक्षण करता हूँ) यह बोझता हुआ वहि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म से यह अध्वर्यु इस वहि को वहिस्तरणकर्म के लिए ही सङ्गमनीय करता है ॥२॥

वदिप्रोक्षणानन्तर (वहि के प्रोक्षण के लिए) आग्नीध्र नामक अश्विनिक अध्वर्यु का हाथ में वहि ( कुत्रामुष्णि) मोपता है। (आग्नीध्र से समर्पित वहि को हाथ में लेकर) अग्न्यु उम वहि को वेदि पर उत्तराय इसप्रकार से रखता है, जिस से कि वहि की गोंठ पूर की ओर रहे। (इसप्रकार वहि पर पुरस्ताद्-प्रन्थिरूप से वहि प्रतिष्ठित कर) यह अध्वर्यु-

वहिरसि जुगृह्यत्त्वा जुष्ट प्रोक्षामि (यजु सं० २११-आप वहिहु इध्मकर्म में समर्थ बनते हुए वहि नाम से प्रसिद्ध है ऐसे आप का मैं सुखों के लिए अभिलपित प्रोक्षण करता हूँ) यह मन्त्र बोझता हुआ वहि पर प्रतिष्ठित वहि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म से यह अध्वर्यु सुखा के लिए ही इस वहि को सङ्गमनीय करता है ॥३॥

\* इध्म (काष्ठमग्न) का उपयोग आहवनीयाग्नि में होता है वेदि का उपयोग वहिस्तरणकर्म में होता है एवं वहि का उपयोग सुक्यापनकर्म में होता है। वृद्धे शब्दों में-इध्म आहवनीय अग्नि में डाले जाते हैं वहि वहि पर विछाड़ जाती है एवं सुक्याप वहि पर रखने जाते हैं। इध्म का यथास्थि से वहि का वहि में एवं वहि का सुक्याप से गममनीय-यथानुरूप सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसप्रकार इध्म प्रोक्षण के लिए इध्म वहि वहि का क्रमिक प्रोक्षण होता है। यज्ञमण्डल में एहीव तीनों ही पवित्र अन्नरस हैं पण्डु अग्नी इन में मेघधर्म का समावेश है। पानी में मण्डुगुण भी है। अग्नी मण्डमान की निरूपित के लिए प्रहृत प्रोक्षक-कर्म विहित है। मण्डमान एवं पवित्रमा मिश्र मिश्र वस्तुतः हैं। पानी बहा में मण्ड का ‘शुद्ध (पवित्र) अथ मानना निरन्तर अमन्त है ऐसा कि व्याख्यायकों ने वहि शुद्ध कराति अन्त पर दिया है। इस विधि का विधुद निरन्तर शठपथ-प्रथमसंस्कृत में विस्तार में दिया जागृता है।

तीना प्रोक्षण-कर्मों के अनन्तर (प्रोक्षणपात्र में) जो प्रोक्षणी-जल बच जाते हैं उन से 'अग्नित्यै व्युषनमग्नि (यजु सं० २१२-हे प्रोक्षण जल) आप प्रथिवी के सिञ्चक हैं' यह मन्त्र बोलता हुआ ओपविष्या (बर्हि) के मूला का सिञ्चन करता है। वच पानी को ओपविष्या की जड़ों में डाल देता है। निश्चयेन पृथिवी अग्निति है। इस सिञ्चनकर्म से अभ्यर्च्यु इस प्रथिवी के आपधिमूला को ही आप्र करता है। (इसी सिञ्चनकर्म से) ये ओपविष्या मूलभाग से आप्र (उपलब्ध होती) हैं। इसी सिञ्चनकर्म का यह प्रत्यक्ष है कि, यद्यपि ओपविष्या के अग्र-भाग शुष्क रहते हैं, परन्तु मूलभाग आप्र हो रहते हैं। ॥३॥

२-प्रक्षीता में पवित्र स्थापित कर बर्हि के पूर्वभाग से प्रस्तर का ग्रहण—

प्रोक्षणकर्मनन्तर यह अभ्यर्च्यु (अपने हाथ से प्रणीतापात्र में दो कुशा रखकर) वेदि पर पुरस्तात् गाँठ लगे हुए रखे बर्हि (कुशमुष्टि) की गाँठ खोल कर- विष्णोः स्तुपोऽसि (यजु सं० २७ इ प्रस्तर। आप विष्णु-यज्ञ-के स्तुपस्थानीय-केशसङ्गत रूप शिक्षा-स्थानीय हैं।) यह मन्त्र बोलता हुआ उभ बर्हि में से पूर्व का ओर से (कुशसमूह-लक्षण) प्रस्तर का ग्रहण करता है। विष्णु निश्चयेन यज्ञ है, इस यज्ञपुरुष की शिक्षा यह स्तुप (कुशसङ्गत लक्षण प्रस्तर) ही है। (प्रस्तर-ग्रहण करता हुआ अभ्यर्च्यु) इस यज्ञपुरुष में इस शिक्षा को ही प्रतिष्ठित करता है। यह स्तुप (शिक्षा-आध्यात्मिक यज्ञरूप पुरुष के) पूर्वभाग (शिरोभाग) में ही है अतएव (तत्प्रतिरूप इस वैव आबिमातिक यज्ञपुरुष के शिक्षा-स्थानाय स्तुप का भी) पुरस्तात् ही ग्रहण करता है। ॥४॥

(धवलाया गया है कि वेदि पर रखे हुए बर्हि-संघात की रज्जु की गाँठ खोल कर अभ्यर्च्यु पक्ष में से प्रस्तर का ग्रहण करता है। इस ग्रहणकर्म के अनन्तर प्रस्तर से ब्रह्मा को सौंप देता है, एवं जो) सप्तह्न (बर्हि के चारों ओर लिपटी हुई वन्धन-रज्जु) है उसे (बर्हि से सवधा) ग्रहण कर देता है। (सप्तह्न को ग्रहण क्या किया जाता है? इस की उपपत्ति बतलाते हैं) - यह निश्चित है कि वन्धन के सुल्ल जान पर ही इस यज्ञमान की स्त्री वराममाम में सम्पूर्णव्यय सन्तान उत्पन्न करती है। (तात्पर्य्य यही है कि नीधीवन्धन खोल देन से ही गर्भिणी सुल्लपूर्वक प्रसवकर्म करने में समर्थ होती है।) इधर वेदि ओपविष्या बनती हुई निदानन स्त्री है एवं यह बर्हि-रज्जु इस का नीधीवन्धन है। यही वैवात्म्यरूप सन्तान उत्पन्न करने वाली है। उत्पत्ति-कर्म में वन्धन का विमर्शन आवश्यक है। इसीलिए सप्तह्न खोलता है। उस सप्तह्न-रज्जु का बर्हि के दक्षिण ओष्णिभाग पर रख देता है। कारण यही है कि यह रज्जु (निदानन) इस यज्ञमानपत्नी का नीधीवन्धन ही है। एवं लोककर्मवह्वार में नीधीवन्धन स्त्रियाँ क दक्षिण-ओष्णि भाग पर ही रहती हैं। अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि के) दक्षिण ओष्णिभाग में ही नीधीवन्धन स्थानाया रज्जु प्रतिष्ठित करता है। दक्षिणओष्णिभाग पर रखी हुई नीधी को बर्हि से आच्छादित कर देता है। कारण उभ का यही है कि, लोकव्यवहार में स्त्रियों का नीधाग्रधन वस्त्र से ही आच्छादित रहता है। अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि की) इस नीधीवन्धन-स्थानाया रज्जु को आच्छादित कर देता है। ॥५॥

### ३-वेदि पर बहिस्तथों से त्रिवृत्-रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण-कर्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि निदानविधि से प्रस्तर शिखा-स्थानीय है। जब कि इस वैद्ययज्ञ में पुरुष की प्रतिरूपता के अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का ग्रहण आवश्यक माना गया है तो शिखातिरिक्त शिखा से नीचे के केरा-क्षोमों का भी उसी निदानविधि से संभल होना चाहिए। इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखती हुई भूति कहती है) — सप्तहन्-विष सन-कर्म के अनन्तर यह अभ्यर्च्यु (वेदि पर घनभार से त्रिवृत्-मर्त्यादा से) कुरा विज्ञाता है (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुरामुष्टि) निरचयन (निदानविधि से) स्तुप (केरासंघातलक्षणा शिखा) है। (स्तुप के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण वेदि पर कुरा विज्ञाई जाती है) यह यह इतर बहि (प्रस्तर से भिन्न विज्ञाई जाने वाली कुरा) (निदानविधि से) शिखा के अन्तर् प्रवेशों में (सर्वाङ्गशरीर में) प्रतिष्ठित क्षोम (केरा-क्षोम का प्रतिरूप) है। (वेदि पर कुरा विज्ञाता हुआ अभ्यर्च्यु प्रतिरूप मर्त्यादा से) उन अन्तर् स्थित केरा-क्षोमों को ही यह पुरुष पर जगाता है। इसीलिए कुरा विज्ञाता है ॥३॥

(कुरास्तरण की पूर्व उपपत्ति यज्ञपुरुष के केरा-क्षोमों से सम्बन्ध रखती है। अब एवं वेदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई भूति कहती है) — यह वेदि (प्रतिरूप-मर्त्यादा से) योषा (स्त्री) है। इस की (रूपा वेदि) के ऊपर (द्विग्रहण के लिए आप हुप मन्त्रात्मक) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं जो ये प्रयोगरहस्य तथा अनुष्ठान करन वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं। (क्षोममर्त्यादा में एक की नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती अपितु अपना सर्वाङ्गशरीर वस्त्र से ढँप कर सम्जाभाव से ही आसीन रहती है। इतर वेदि भी योषा-स्थानीया है इसे भी यहाँ उक्त अलौकिक-प्राणदेवताओं, एवं लौकिक अस्त्वियों के समीप रहना पड़ता है। इस अनग्नता के लिए अथर्व ही इस पर कुरा विज्ञानी चाहिए। इसी अभिप्राय से भूति कहती है) — इन बैठ हुप देवताओं तथा अस्त्वियों की मण्डली में (प्रतिष्ठित वेदि पर कुरा विज्ञाता हुआ) अभ्यर्च्यु इस वेदि को अनन्त ही बनाता है। अनग्नता के लिए ही (कुरास्तरण आवश्यक है) इसलिये (भी) कुरा विज्ञाता है ॥४॥

(अब वेदि को प्रतरूप-मर्त्यादा से पृथिवी मानते हुए इसी दृष्टि से कुरास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है) —

वितनी पड़ी बहि है अग्नी ही बड़ी पृथिवी है। (अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक-यज्ञप्रत-प्राप्ति-पृथिवी का प्रतिरूप है) आपधियों (प्रतिरूपधियों से यहाँ) बहि है। (जब कि-बहि-रूपा पृथिवी का यहाँ सम्बन्ध है तो आपधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। बड़ी कल्प्य बहिस्तरण से पूछा हो जाता है। इसी अभिप्राय से भूति कहती है) — (बहि-स्तरण करता हुआ) अभ्यर्च्यु इस पृथिवी पर (पृथिवी-स्थानीया वेदि पर) आपधियों का प्रति-ष्ठित करता है। ये आपधियाँ इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तत्पर्यय इस वाक्य का यही है कि,



प्रथिवी का अपना पूर्ण स्वरूप वही कहलाता है, जिस पर ओपधियों रहती हैं। ओपधियुक्त प्रथिवी ही समृद्धा मानी गई है। इधर वदि का निर्माण शुद्ध मिट्टी से हुआ है। ओपधियों को उखाड़ कर केवल मृदुभाग से ही वदि बनाई गई है। ओपधिया की प्रतिष्ठा का उखाड़ जाना प्रथिवी का निर्धन्य (ऊसर) बन जाना है। हम निर्धन्यता को दूर करने के लिए ही ओपधि-प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित करने के लिए ही यहाँ कुरास्तरण आवश्यक है। इसीलिए अभ्यर्च्यु कुरास्तरण करता है ॥६॥

(कुरास्तरण अतिशय घन होना चाहिए जिससे वेदिप्रदश अगुमात्र भी न दीख सके—इसी विशेषता को उपन्यस्त करती हुई भुक्ति कहती है) यज्ञरहस्यवत्ता विद्वानों का आस्तरण के मन्त्र न्व में यह कहना है कि यह अभ्यर्च्यु घनरूप से ही बर्हि विज्ञाव। अमिप्राय उन अभिज्ञों का (इस कथन में) यही है कि प्रथिवी के जिस भाग में ओपधियों प्रचुर मात्रा में होती हैं प्रथिवी का वह भाग ही अतिशय जीवनप्रद माना गया है। इस बर्हि का आहर्ता जो यज्ञमान है वही हम बहुलस्तरणानुगन्धी जीवनप्रदभाग का भोक्ता बनता है जैसा कि—‘शास्त्रज्ञं प्रयात्करि, तल्ल-क्ष्यत्वात्’ इत्यादि जैमिनिस्मृत से प्रमाणित है। (यदि यज्ञमान यहाँ अपने यज्ञ में भूमि-स्थानीया वदि का आपदि-स्थानीय बर्हि से बहुल-आच्छादन कर देगा तो इसके भागधय का मूलवश प्रचुर ओपधियों से युक्त घनता हुआ इसके लिए उपजीवनीयतम भोग्यतम-वन जायगा यही वात्सल्य है)।

बर्हिस्तरण त्रिवृत्त रूप से करता है (तीन वममुष्टिया से तीन बार विद्यता है)। कारण यही है कि (त्रिसत्यप्राणदेवताओं के सम्बन्ध से) यज्ञ त्रिवृत् है। (इस त्रिवृत्-संज्ञा यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तीन बार कुरास्तरण होना उचित है। (त्रिवृत्स्तरण का अमिप्राय यही है कि) तीन वममुष्टियों से इसप्रकार स्तरण करना चाहिए, जिससे तीनों वममुष्टिया के तीनों स्तर एक स्तर-रूप से प्रतीत हों। पहिले एक वममुष्टि लेकर उसे वदि के पूव भाग में दक्षिण अक्ष से आरम्भ कर उत्तराक्ष पर्यन्त इसप्रकार वदि पर विज्ञाना चाहिए जिससे कि कुराभा का अग्रभाग तो पूव की ओर रह तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रह। अनन्तर दूसरी वममुष्टि लेकर (पहिले की वममुष्टि से संलग्न) वदिमध्य भाग में प्रथममुष्टि से पश्चिम प्रदश में इसप्रकार विज्ञाव जिससे कि पूर्वमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस द्वितीयमुष्टि के पूर्वस्थ अग्रभागा के नीचे द्य जायँ। इसाप्रकार तीसरी कुरामुष्टि लेकर (दूसरी वममुष्टि से संलग्न) वदि के पश्चिमान्त भाग में इसप्रकार विज्ञाव जिससे कि मध्यमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस तृतीयमुष्टि के पूर्वस्थ अग्रभागों से आच्छादित होजायँ। इसप्रकार यदि क पूर्ण भाग से स्तरण आरम्भ हागा। गगर्त्तानां स्तरणों में कुरा क अग्रभाग पूर्ण की ओर रहेंगे तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहगा। माय ही प्रथममुष्टि के मूलभाग मध्यमुष्टि के अग्रभागा से आच्छादित रहेंगे मध्यमुष्टि के मूलभाग तृतीयमुष्टि के अग्रभागा से आच्छादित रहगा। इसी को त्रिवृत्स्तरण कहा जायगा। इस स्तरणक्रम का आरम्भ पूव से हागा पश्चिम अग्रमान पश्चिम में हागा। इसी को परचादप-पगपद् माना जायगा।

### ३-वदि पर वर्द्धिस्तथो से त्रिवत्-रूप से आच्छादन—

(प्रस्तरग्रहण-कर्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि निदानविधि से प्रस्तर शिक्षा-स्थानीय है। जब कि इस वैधव्य में पुरुष की प्रतिकल्पता के अनुरूप प्रस्तररूप शिक्षा का ग्रहण आवश्यक माना गया है तो शिक्षाविरिक्त शिक्षा से नीचे के केरा-लोमों का भी उसी निदानविधि से संग्रह होना चाहिए। इसी उपपत्ति को ज. व. में रत्नती हुई प्रति कहाती है) —समग्र-विस सन-कर्म के अनन्तर यह अव्ययु (वेदि पर घनभाव से त्रिवृत्-मर्त्यादा से) कुरा विज्ञाता है (वेदि पर प्रतिष्ठित) यह प्रस्तर (कुरामुष्टि) निश्चयेन (निदानविधि से) स्तुप (केरासघातलक्षणा शिक्षा) है। (स्तुप के अविरिक्त जो सम्पूर्ण वदि पर कुरा बिछाई जाती है) यह यह इतर वर्द्धि (प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुरा) (निदानविधि से) शिक्षा के अथ प्रवेशों में (सर्वाङ्गरात्री में) प्रतिष्ठित काम (केरा-लोम का प्रतिकल्प) है। (वदि पर कुरा विज्ञाता हुआ अव्ययु प्रतिकल्प मर्त्यादा से) उन अवः स्थित केरा-लोमों को ही यह पुरुष पर जगाता है। इसीलिए कुरा विज्ञाता है ॥३॥

(कुरास्तरण की पृथ उपपत्ति यज्ञपुरुष के केरा-लोमों से सम्बन्ध रखती है। अथ स्वर्ग वदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई प्रति कहाती है) —यह वदि (प्रतिकल्प-मर्त्यादा से) योपा (स्त्री) है। इस की (रूपा वेदि) के ऊपर (इविर्ग्रहण के लिए आए हुए प्राणात्मक) वेधता प्रतिष्ठित रहते हैं, पर्व जो ये प्रयोगारम्भस्थ, तथा अनुष्ठान करने वाले विद्यार्थ ब्राह्मण वदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं। (लोकमर्त्यादा में एक की नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती अपितु अपना सर्वाङ्गरात्री बन्ध से वस्त्रित कर लज्जामात्र से ही आसीन रहती है। इतर वेदि भी योपा-स्थानीया है इस भी यहाँ उक्त असात्विक-प्राणवेधताओं पर लौकिक अस्त्वियों के समीप रहना पड़ता है। इस अनग्नता के लिए अवरय ही इस पर कुरा बिछानी चाहिए। इसी अमिप्राय से प्रति कहाती है) —इन बैठे हुए वेधताओं तथा अस्त्वियों की मण्डली में (प्रतिष्ठित वदि पर कुरा विज्ञाता हुआ) अव्ययु इस वदि को अनग्न ही घनाता है। अनग्नता के लिए ही (कुरास्तरण आवश्यक है) इसीलिए (भी) कुरा विज्ञाता है ॥४॥

(अथ वदि को प्रस्तररूप-मर्त्यादा से पृथिवी मानत हुए इसी दृष्टि से कुरास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है) —

जितनी बड़ी बड़ है, जितनी ही बड़ी पृथिवी है। (अर्थात् यह वदि प्राकृतिक-यज्ञप्रत-प्राप्ति-पृथिवी का प्रतिकल्प है) आपधियों (प्रतिकल्पविधि से यहाँ) वर्द्धि है। (जब कि-वदि-रूपा पृथिवी का यहाँ सम्बन्ध है तो आपधियों का भी प्रतिकल्प इस पर अवरय ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। यही काव्य बहिस्तरण से पूरा होजाता है। इसी अमिप्राय से प्रति कहाती है) —(वर्द्धि-नरण करता हुआ) अव्ययु इस पृथिवी पर (पृथिवी स्थानीया वदि पर) आपधियों ही प्रतिष्ठित करता है। य आपधियों इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य इस वाक्य का यही है कि

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (में) है। इस कर्म से अश्वय्यु पृथ्वीभाग (माहवनीया-ग्निरूप शिरोभाग) को ही प्रयत्न बनाता है। (शिरोभाग से उपलब्धित मुक्ताग्नि ही आहुति का माहक है। इसे ही इस कर्म से प्रवीण किया जाता है यही निष्कर्ष है)। आहुत्यर्वाग्नि के ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखता हुआ ही अग्नि को कल्प (प्रयत्न) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप कशसङ्गतलक्षणा शिल्पा ही) है। इसी को इस कर्म से इस प्रवर्तीकरण में समाविष्ट करता है। (शिल्पा भी (शिल्पास्थित ऊर्वाग्नि भी) इस कर्म से प्रयत्न घन जाय) इसलिये प्रस्तर को ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रयत्न बनाता है। \* ॥ १२ ॥

— ० —

### ५—आहुत्यर्वाग्निकुण्ड क परिचम-उत्तर-दक्षिण-प्रान्त भागों में परिधियों का स्थापन—

अग्निप्रवर्तीकरणान्तर घट अश्वय्यु (आहुत्यर्वाग्निकुण्ड के परिचम उत्तर तथा दक्षिण के प्रान्त भागों में क्रमशः तीन) 'परिधियों' स्थापित करता है। सो जिसलिये कि, परिधियों स्थापित करता है—(उस की उपपत्ति बतलाई जाती है)। (जिम समय) दक्षताओं ने (प्राणविष पार्थिव आग्नेय-दक्षताओं ने) जिम (अपन प्राकृतिक भूपिण्ड-मन्त्र-चो यज्ञ) में इस अग्नि का हौत्रकर्म के लिए वरण किया—(वरण करने को इच्छा अग्नि से प्रकट की) उम समय अग्नि (प्रत्यक्ष में यह) बोले कि मैं इस कर्म के लिए अपना उदाह नहीं दिखला सकता जो कि (मैं) आप का होता हूँ, एवं जो कि आप के लिए (पार्थिव म शूलोक पर्यन्त लज्जान के लिए) इन्द्रिय का (भार) वहन करूँ। (अग्नि ने हौत्रकर्म में क्यों अनुत्साह प्रकट किया? इस का कारण बतलाती हुई आगे जाकर अति कहती है कि)—(अग्नि ने अनुत्साह का कारण बतलाते हुए दक्षताओं से यही कहा कि)—हे दक्षताओं! आपन मेरे ही तीन पूर्वपुरुषा (मत्सजातीय तीन अग्निवां) को (हौत्रकर्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था) और इही विभीषिका से व मृना अग्नि पलायित होगए था (अपना स्वरूप खो बैठ था -)।

(प्रवरणकर्म की विभीषिका से पलायित तथा स्वरूपतः धिक्कृत उन) तीना अग्निवां को यदि आप (पुनः) आपस (इस यज्ञ में मेरी सहायता के रूप में अधिभूत बना कर) जोड़ा सकते हो,

\* इसी सिद्धान्त के आधार पर लोक में मोहन-मन्त्रहार के समय कहा जाता है कि 'असुख मूव्य घांती पर हाथ फरते गए, और भोजन करते गए'। अथवा ही मोहनबला में शिल्पा पर हाथ पड़ते रहने से शिरोग्नि प्रतीप्त होता रहता है एवं अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना रहता है।

+ य ही पलायित अग्नि व्याधिरूप से 'एकता द्विता त्रिता' नामों से तथा समष्टिरूप से 'आप्त्या' नाम से प्रसिद्ध है जिन का विधान वैज्ञानिक विवेचन पृथ के 'आप्त्याभाषण' में—'चतुर्धा विहिता ह या अग्नेऽग्निरासं (उक्त १२।१।१) त्यागि रूप से किया जानुअ है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि में 'आप्त्या-विज्ञान' अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

(दूसरा है—'प्रागपचम' पद्य)। पहिले प्रथम दममुष्टि को बहि क परिचम भाग म पूर्व की ओर अग्रभाग रखत हुए, तथा परिचम की ओर मूलभाग रखत हुए विद्याया जाता है। अनन्तर दूसरी दममुष्टि विद्याते हु। प्रथममुष्टि के अग्रभागों को ऊपर उठा कर इनके नीचे दूसरी मुष्टि के मूलभाग दवा दिए जात हैं। तृतीय मुष्टि पूर्व में विद्याइ जाती है। इसके मूलभाग भी मध्यमुष्टि के अग्रभागों के नीचे दवा दिए जात हैं। इसप्रकार यह आस्तरण परिचम से आरम्भ होकर पूर्व में समाप्त होता है। इस पद्य में कुशाग्रों का परस्पर भोतप्रोतमावसा होजाता है। जिसप्रकार लोकत्र्यवहार में मृणाव क छप्पर बनाते हुए वृण-गूलका को परस्पर दाव कर फैलाया जाता है, वैसे ही यह आस्तरणव्यवस्था है। स्वयं अपि न (वदमन्त्र न) भी इसी पद्य का समर्थन किया है। इसी द्वितीय पद्य को उद्धृत करती हुई भुक्ति कहाती है)

अथवा 'प्रषह' मर्म्यावा से ( एक मुष्टि के अग्रभागों के नाच दूसरी के मूल दवाते हुए ) आस्तरण करना चाहिये। ( अर्थात् )—'स्तृणात धर्हिणनुरक्' (अष्ट सं १ म० सू १५ म०) 'परस्पर सम्बद्ध धर्हि अन्धम्यु छाग विद्यत है' यह मन्त्र इसी पद्य को बतला रहा है। ( दोनों पक्षों में मूलभाग अथवा प्रदरा से युक्त रहें इसीप्रकार से फैलाया है। ( अर्थात् बहि के मूलभाग अग्रभागों के नीचे दयना उमरपद्य में प्राद्व है )। इस पृथिवी पर आपधियों अथवा मूलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं। इसलिये ( आपधि-स्थानीय ) बहि को (पृथिवी-स्थानीय बहि पर) अथवा मूलरूप से ही फैलाता है ॥१०॥

(७ म ६, १० इन चार कविकव्यों से बहि-स्तरण की अपधि बतलाइ गई। अब आग की ११ वी कविकव्य से आहत (पद्धति) बतलाते हैं) यह अन्धम्यु 'ऊग्नदत्तं त्वा स्त्यामि स्वा सख्या देवन्दः' (अनु सं २२-ऊग्नसूत्र ऊग्न-स ज्ञं हुप कामजलाश कञ्ज के समान स्यात्वाज्ञा क्लान के लिये ह बहिदेवत। आप पर बहि चिकता ह। आप द्यताओं के लिये सुखपूर्वक बैठन के स घन हों) यह मन्त्र बोलता हुआ बहिस्तरण करता है। 'द्यताओं के लिये आप मामला पनाइ जाता है' यही कहा गया है जोकि ऊग्नदत्तं त्वा' यह कहा गया है। स्वासख्या द्यम्भ इस मन्त्रभाग से आप द्यताओं के लिये सुखात्मिका प्रतिष्ठाभूमि पनाइ आरही है नही कहा गया है ॥ ११ ॥

#### ४ आहवनीयाग्नि का इन्ध-काष्ठ से प्रवलीकरण—

बधास्तरणानन्तर वह अन्धम्यु आहवनीयाग्नि का। कलाप (इविद्हन-समय) करता है (अग्नि को काष्ठ से चिताता है)। यह आहवनीयाग्नि इस (पुरुषप्रातरूप, यद्य का मस्तक (स्था-

+ इस सम्बन्ध में दो विषय हैं। कितनी ही के मतानुसार ही आहवनीयाग्नि-इन्द्र में प्रतिष्ठित अज्ञाती की भूम्य गुरु कर अग्नि को प्रवली बना देना प्राद्व है एवं कितने एक याचिक द्वार अष्ट दात कर अग्नि प्रवलीकृत करते हैं। दोनों में ग्राहपति है। अग्नि का प्रवलीकरण ही कलाप में अभियेव है। अस्तुत्य अगता प्राद्व म दस कर्म की इतिकर्षव्यवस्था समाप्त होती है। अतः यहाँ काष्ठदि से मस्यापकरण ही अग्नि प्रवली समझना चाहिये।

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (में) है। इस कर्म से अभ्यर्च्युं पृथ्वी (माह्वनीया गिरूप शिरोभाग) को ही प्रयत्न बनाता है। (शिरोभाग से उपसृजित मुखान्नि ही आहुति का प्रादुर्भाव है। इसे ही इस कर्म से प्रदीप्त किया जाता है, यही निष्कर्ष है)। आह्वनीयाग्निके ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखता हुआ ही अग्नि को वक्ष्ण (प्रयत्न) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप केशसङ्गतलक्षणा शिखा ही) है। इसी को इस कर्म से इस प्रयत्नीकरण में समाविष्ट करता है। (शिखा भी (शिखास्थित ऊर्ध्वाग्नि भी) इस कर्म से प्रयत्न बन जाय) इसलिये प्रस्तर को ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रयत्न बनाता है। • ॥ १२ ॥

— • —

### ५—आह्वनीयकुण्ड के परिचम-उत्तर-दक्षिण-प्रान्त भागों में परिधियों का स्थापन—

अग्निप्रवक्षीकरणानन्तर वद अभ्यर्च्युं (आह्वनीयकुण्ड के परिचम उत्तर तथा दक्षिण के प्रान्त भागों में क्रमशः तीन) परिधियों स्थापित करता है। सो जिसलिये कि परिधियों स्थापित करता है—(उस को उपपत्ति वतलाइ जाती है)। (जिम समय) दवताओं ने (प्राणविच पार्थिव आग्नय-दवताओं ने) जिस (अपने प्राकृतिक भूपिण्ड सम्बन्धी यज्ञ) में इस अग्नि का होत्रकर्म के लिए वरण किया—(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की) उम समय अग्नि (प्रत्यक्ष में यह) बोले कि मैं इस कर्म के लिए अपना उत्साह नहीं दिखला सकता जो कि (मैं) आप का हाता वनूँ एवं जो कि आप के लिए (पृथिवी में शुलोक पय्यन्त लज्जान के लिए) इषिर्द्रव्य का (भार) वहन करूँ। (अग्नि ने होत्रकर्म में क्यों अनुत्साह प्रकट किया) इस का कारण वत लाती हुई आग जल्कर भूति कहती है कि—(अग्नि न अनुत्साह का कारण वतलाते हुए दवताओं से यही कहा कि)—हे देवताओं! आपने मेरे ही तीन पूर्वपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्निया) को (होत्रकर्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था) और इसी विभीषिका से व त्रिनां अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठ था)।

(प्रवरणकर्म की विभीषिका से पलायित तथा स्वरूपतः विकृत उन) तीनों अग्निया को यदि आप (पुनः) धापस (इस यज्ञ में मेरी सहायता का रूप में अविकृत बना कर) लौटा सकते हैं,

• इसी सिद्धान्त के आधार पर लोक में भोजन-व्यवहार के समय कहा जाता है कि 'अमुक मूदव खोनी पर हाथ फेरते गए, और भोजन करत गए'। अर्थात् ही भोजनपला म शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है एवं अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना रहता है।

+ वे ही पलायित अग्नि व्यधिक्रम स 'मकृता विता विता' नामों से तथा समधिक्रम स 'आप्त्या' नाम से प्रसिद्ध हैं जिन का विशद वैज्ञानिक विवरण पूर्व के 'आप्त्याब्राह्मण' में—चतुर्धा विहिता इ या अग्नेऽग्निरासं (शत १२।१।१) इत्यादि रूप से किया आनुका है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि में 'आप्त्या-विज्ञान' अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

तो मैं ( फिर भी यथाकथञ्चिन् आप के ) इस होत्रकर्म के लिए उत्साह दिखाना सकता हूँ जोकि (मैं) आप का होता बन जाऊँ तथा आप के हृदय का ग्रहण करने लग जाऊँ । ( अग्नि की इस सन्धा ( रात ) को स्वीकार करते हुए देवताओं ने कहा दिया कि ) ऐसा ही होगा । ( तत्काल देवता आत्मा न ) उन (पक्षाधिक अग्नियों) को इस अग्नि के लिए (यज्ञ में पुनः अविज्ञत बनाकर) लौटा दिया । वही ये तीन परिधियाँ हैं । (अर्थात् पक्षाधिक तीनों अग्नियों के द्वारा यज्ञाग्नि को समुद्भवाने के लिए ही निर्दानविधि से परिधियाँ स्थापित की जाती हैं) ॥१३॥

(तीनों पूर्वपुरुषों के यज्ञ में लौट आनेपर होत्रकर्म में नियुक्त) अग्नि यह बोले कि, वपदकारूप वज्र ने ही उन तीनों को पक्षाधिक किया था । मैं ( स्वयं भी ) इस वपदकार (रूप) वज्र से बर रहा हूँ कि कहीं यह वपदकार-वज्र मुझे भी (उन तीनों की भाँति इस यज्ञ से) वृषकृन् कर दे । (मेरी दृष्टि में इस वज्र के अग्र में वचन का यही सरल उपाय है कि आप लागे) इन तीनों (पुनः लौटे हुए अग्नियों) से ही (तीनों आर स) बर लीजिए । (इन के अङ्गरक्षक बन जाने पर) वपदकारवज्र मुझे (यज्ञ से) वृषकृन् छूँ सकेगा । देवताओं ने कहा—ऐसा ही होगा । ( तत्काल ) देवताआत्माँ इन तीनों से इसे सीमित कर दिया । परिणामस्वरूप वपदकारवज्र ( इस सीमित सुरक्षित ) अग्नि को ( यज्ञ से ) वृषकृन् छूँट सका । ( यहाँ इस वैचयज्ञ में जो अभ्यर्च्य, होत्रकर्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि के तीनों ओर पक्षाधिक अग्नियों के प्रतिरूप में तीन परिधियाँ स्थापित करता है ) इस कर्म से यह इस अग्नि के लिए (रक्षा) बन्म ( कवच ) ही बौधता है जोकि इन तीनों से परिधान करता है । ( होत्रकर्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि की स्वरूप-रक्षा के लिए ही परिधियाँ स्थापित की जाती हैं, यही तात्पर्य है ॥१४॥

( होत्रकर्म में नियुक्त अग्नि के कड़ने से पक्षाधिक उन तीनों अग्नियों को अङ्गरक्षक बनाने के लिए देवता वज्र यज्ञमहर्षि में ल आये तो ) व तीनों कड़ने लगे कि, यदि आप हमें इस यज्ञ कर्म में नियुक्त करना चाहते हैं, तो इस यज्ञ में ( प्रजापति अन्य गौण देवताओं की भाँति हमारा भाग ( भागवेय भी निश्चय ) होना चाहिए ॥१५॥

( देवताओं ने कहा ) ऐसा ही होगा । ( प्रतिज्ञानुसार तीनों के लिए भागवेय की व्यवस्था करते हुए ) देवता कड़ने लगे कि ( आहवनीय में आहुति देते समय ) जो आहुतिद्रव्य परिधियों के बाहिर जा गिरगा वह तुम में हुल होगा अर्थात् परिधि से बाहिर स्थित द्रव्य तुम्हारा प्राप्ति सिक्क-असाधारण भागवेय समझ जायगा ) इसके अतिरिक्त जो आहुतिद्रव्य अस्विगण्य तुम्हारा ( परिधियों के ) ऊपर ऊपर डाल देंगे वह तुम्हारी ( स्वरूपरक्षा ) रक्षा का कारण बनगा । सद्य ही अस्विक-गण्य जो द्रव्य ( माध्याम् ) अग्नि में हुल करेंगे वह [भी]—[ देवताओं के साथ साथ ] तुम्हारी रक्षा करेगा ।

( परिधि-स्थानीय पक्षाधिक अग्नियों के भागवेय के सम्बन्ध में आरम्भ में एक व्यवस्था हुई थी । एवं 'यदि देवा अक्रुधस्तत् करवायि' यह आदेश है । इसलिये आज भी यहाँ में इन अग्नियों के लिए वही व्यवस्था अभी आरही है । इसी व्यवस्था का उद्भूत करती हुई भुक्ति कइती

है कि)। (सो जो कि) यह अश्वपूर्यु आहवनायाग्नि में आहुति दत्ता है यह (द्रव्य) इन परिधि-स्थानीय अग्नियों की रक्षा करता है। जो द्रव्य इन परिधियों के ऊपर ऊपर जाता है वह (मी) इन की रक्षा करता है जो द्रव्य परिधियों से वहिःप्रदेश में जागिरता है, वह [इन का प्रातिस्विक माग घनता हुआ] इनम हुन होता है।

स्कन्म-व्युत्-आहुतिद्रव्य पलायित अग्नियों के लिए प्रातिस्विक आहुति है, इस सम्बन्ध में यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि, यज्ञविज्ञानानुसार जो यज्ञिय द्रव्य उपसागक्षेत्र से बाहिर होजाता है, वह यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का भाग घनता हुआ यजमान के लिए अनिष्ट का ही कारण बनता है। इधर अग्निवृत्ति के लिए योद्धा बहुत आहुतिद्रव्य वहिःप्रदेश में अवश्य गिरना चाहता है। इस स्कन्म-व्योप का क्या उत्तर? इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई भूति कहती है कि—[क्योंकि द्रव्यताओंमें स्कन्म-द्रव्य को अग्नियों का भागक्षेत्र नियत कर दिया है अतः स्कन्मव्योप नहीं माना जायक]—इसीलिए यदि आहुतिद्रव्य बाहिर गिर जाय तो इसमें कोई अपराध [आग] नहीं [माना जायगा]। [पलायित तीना] अग्नि इसी पृथिवी में प्रविष्ट हुए हैं। [फलतः स्कन्म द्रव्य पृथिवी-प्रदेश पर गिरता हुआ इनकी तृप्ति का कारण बनगा न कि यह द्रव्य शत्रु का भागवेष बनेगा]। जो कुछ यज्ञिय द्रव्य गिरता है वह मन्त्र कुछ इसी पृथिवी में ही [तो] प्रतिष्ठित होता है। [अतः स्कन्मव्योप का प्रकृत में कोई अवसर नहीं है] ॥ १६ ॥

वह अश्वपूर्यु—‘भूपतय स्वाहा भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पाय स्वाहा’ यजु मं० २० २] ‘भूपति के लिए स्वाहा, भुवनपति के लिए स्वाहा भूतपति के लिए स्वाहा है] यह मन्त्र बोलता हुआ [उस] स्कन्म [इविम इण करते समय परिधि के वहिःप्रदेश में गिर हुए आहुति द्रव्य] का स्पर्श करता है। ‘भूपति आग्नि ही उन [पलायित ‘अग्निप्रातर’ नाम से प्रसिद्ध] तीनों अग्नियों के नाम हैं। सो जैसे प्रवान द्रव्यताओं के लिए षण्डकार से युक्त इविद्रव्य हुन होता है इसीप्रकार [एक मन्त्रप्रयोगपूर्वक स्कन्मद्रव्य के स्पर्श से] इन अग्नियों में हुन बन जाता है। [तात्पर्य यही है कि—स्वाहाकार के षण्डकार के दत्ता उपजायमान] इस भूति के अनुसार ‘स्वाहा’ षोडश पूर्विका आहुति का सम्बन्ध द्रव्यताओं के साथ माना गया है। तीना अग्नियों के लिए स्वाहा प्रयोग पूर्वक स्कन्म द्रव्य का स्पर्श करना उक्त द्रव्यताओं की भौति ही आहुति दत्त हुए षण्डकोटि में स्थापित करता है। ॥ १७ ॥

[परिधियों किस लक्ष्मी का बनाई जायें? इस प्रश्न की मीमांसा की जाती है] किन्तु एक याज्ञिक [अग्निसामिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत] इष्ट की [लक्ष्मियों से ही] इन परिधियों का परिधान करते हैं। [अर्थात् सो ऋषिर्भस्मा आहवनायाग्नि के समिधन के लिए आया है, इनक मतानुसार इसी में से परिधियों के लिए लक्ष्मी ले लनी चाहिए]।

[इस पक्ष का व्यवहन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि] सो गत्ता कभी न कर। [अर्थात् इष्टसंभारकृष्ट से परिधियों न बनाई जायें] उम यजमान के लिए य परिधियों [परि

धानलक्षण कर्म के लिए] असमय होतो हैं, जिन्हें इष्मकाष्ठ की बनाया जाता है। केवल अग्न्याधान [ अग्निसमिधनार्थ, आहवनीय में स्थापनार्थ ] ही इष्म का ग्रहण किया जाता है। [ जब इष्मकाष्ठ केवल अग्निसमिधनोद्देश्य से ही यज्ञसंस्था में संगृहीत है, तो इससे दूसरा कर्म नहीं लिया जा सकता। यदि इष्मकाष्ठ की परिधियाँ बनाई जायेंगी, तो इन से कभी परिधान-लक्षण कर्म सिद्ध न होगा ]। सही यजमान के लिए ये परिधियाँ स्वपरिधानकर्म में सम्यक् होती हैं जिस यजमान के लिए अश्विकृष्ण अन्य काष्ठ की 'ये परिधियाँ हैं' इसरूप से [ स्व-वस्त्ररूप से ] ग्रहण करते हैं। इसलिये [ परिधियों के लिए ] दूसरी ही परिधियाँ लानी चाहिए।

ये परिधियाँ + 'पलाश' की लकड़ियों की होनी चाहिए। पलाश निरन्धेन ब्रह्म [ ब्रह्म धीम्यप्रधान ] है। [ इत्तर ] अग्नि [ भी ] ब्रह्म ब्रह्मधीम्यप्रधान ] है। ये परिधियाँ [ प्रति-रूपमर्त्याका से ] अग्निवाँ ही हैं। इस सजातीय सम्बन्ध से ये पलाश की ही होनी चाहिए ॥१६॥

यदि पलाश की न मिले तो चिकहुत काष्ठ की होनी चाहिए। यदि चिकहुत सम्मिश्र न हो तो 'अप्सर्यमशी' होनी चाहिए। यदि अप्सर्य न मिले, तो 'विक्षकाष्ठ' की होनी चाहिए। [ ये भी न मिले तो ] 'लविरकाष्ठ' की [ होनी चाहिए ]। [ यदि स्वादिर भी उपलब्ध न हो तो ] 'उदुम्बरकाष्ठ' की परिधियाँ [ होनी चाहिए ]। ये [ परिगणित ] वृक्ष सक्रिय हैं। इसलिये इन वृक्षों [ में से किसी एक ] की ही परिधियाँ होती हैं \* ॥२०॥

## तृतीय-आध्याय में तृतीय, ब्राह्मण एव द्वितीय-प्रपाठक में ६ठा ब्राह्मण समाप्त

द्विब्राह्मणानुगत—इष्मब्राह्मण यहाँ उपरत

द्वितीय-प्रपाठक-समाप्त

१

+ इन सक्रिय वृक्षों का विशेष विवरण विवेचना में किया जायगा।

\* यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थ की मर्त्याका के अनुसार यही ब्राह्मण समाप्त हो जाता है। तथापि प्रकरणमात्र की दृष्टि से हमने इस से अगले ब्राह्मण का भी इसी ब्राह्मण के साथ समावेश कर लिया है। प्रथम ब्राह्मण की १३ भी अधिवक्त्र से जिस परिधि परिधान प्रकरण का आरम्भ हुआ है वह तृतीय प्रपाठक के प्रथम ब्राह्मण की ४ भी अधिवक्त्र पर समाप्त हुआ है। इस के आगे जो कर्म हैं वे भी परिधि-उपधानीय बनने हुए हुए इसी से सम्बन्ध हैं। अतः दोनों ब्राह्मणों की एक साथ ही व्याख्या करना उचित मान लिया गया है।



## तृतीय—अध्याय में चतुर्थ ब्राह्मण एव तृतीय प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत—‘परिधिब्राह्मण’

ये परिधिर्यो आद्र [गीले काष्ठ की] होनी चाहियें। आद्र भाव ही इन [काष्ठों का] जीवन [जीवनलिङ्ग—जीवितरूप] है। इसी आद्र भाव से ये काष्ठ [स्वायम्भों से] कान्तियुक्त बने रहते हैं। इसी आद्र भाव से ये काष्ठ [शुष्ककाष्ठ की अपक्षा] वीर्य [विशेष प्राणशक्ति] से युक्त बने रहते हैं। इसलिए परिधिर्यो आद्र होनी चाहियें ॥१॥

[परिधिग्रहण के सम्बन्ध में उपपत्ति, जाति स्वरूप, पदान्तर आदि जो कुछ विशेष बतलाना या बतला दिया गया। अब पद्धति बतलाते हैं]—यह अप्रवृत्त्युं मन्त्र में पहिले—“गन्धर्वस्या विष्वाधसु परिधिर्या विष्वाधस्यादिष्टये यजमानस्य परिधिरसि अग्निरिड इडितः” [यजुः सं० २३-विश्वरक्षा के लिए विष्वाधसु नाम का गन्धर्व आप को स्थापित कर। आप यजमान की परिधि है अग्नि है अगन्धर्व स्तुत्य है आभावि क द्वारा इडित-स्तुत हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ मन्त्र का परिधि को प्रतिष्ठित करता है। [आह्वनीय का परिचय भाग ही इस परिधि से युक्त होता है] ॥२॥

पश्चिम परिधि-स्थापनानन्तर—“इन्द्रस्य वाहुरसि दक्षिणा विष्वाधस्यादिष्टये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड इडितः” [यजुः सं० २३-विश्वरक्षा के लिए आप इन्द्र की वाहिनी वाहु हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ आह्वनीय की दक्षिणा लेना पर दूसरी परिधि स्थापित करता है ॥३॥

दक्षिण-परिधि-स्थापनानन्तर—“मित्रावरुणां स्वात्तरतः परिधस्तां प्र वष घम्मया विष्वाधस्यादिष्टये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड इडितः” [यजुः सं० २३-ह उत्तरपरिधि। विष्वा की रक्षा के लिए आपने स्विरोधम्म से मित्रावरुणा-व्यताभाने आपको उत्तरविशा में प्रतिष्ठित किया है] यह मन्त्र बोलता हुआ आह्वनीय की उत्तर लेना पर तीसरी परिधि स्थापित करता है ॥४॥

• यजमान क स्कन्ध प्रदेश से आरम्भ कर बाहुपर्यन्त इनका लम्बाई में परिमाण होता है। आक्षर में मोटी होती है एवं स्वरूपाः गीली होती है।

## ६-आहवनीयाग्नि में समिध-स्थापन—

[ पूर्वब्राह्मण की—“अथाग्निं कलययति इत्यादि १२ वीं कश्चिक्का में यह स्पष्ट किया गया है कि आहवनीयाग्नि को हविर्वहन में समर्थ बनाने के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत इष्म-सम्भार में से काष्ठ लेकर उससे आहवनीयाग्नियों का भस्म प्रयत्न कर इसे प्रयत्न बना दिया जाता है। इस प्रकार इष्मभार से गृहीत जिस समिध (एतन्नामक काष्ठ) से परिधिस्थापन से पूर्व ‘अग्निप्रवर्त्ती-करणकर्म’ किया जाता है, वही समिध का अग्न-परिधिस्थापनानन्तर-आहवनीय में प्रक्षेप करना ही-समिधाधानकर्म कहलाता है। प्रकृत प्रकरण इसी विषय का स्पष्टाकरण कर रहा है ]।

[ इस समिध का पूर्वाधार से सम्बन्ध है, अतएव इसे—‘पूर्वाधारसमिधोऽन्नाधानकर्म’ भी कहा जासकता है। आहवनीयकुण्ड की वायव्य विराा से आरम्भ कर आग्नेय विराा पश्च्यन्त अग्निश्चिन्म धारा से जो होम होता है वही ‘पूर्वाधार’ कहलाता है। यह पूर्वाधारकर्म जिस आग्नेयीविक्र-समाप्ति पर समाप्त होता है, वही इस समिध का आधान होता है। इस परिस्थिति को सामने रखते हुए ही प्रकृत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए ]।

परिधिस्थापनानन्तर वह अभ्यय्यु [ आहवनीयाग्नि के पूर्वाधार-समाप्त-प्रवरा में समिध डालता है। [ आहवनीयाग्नि में समिध डालने से पहिले ] वह अभ्यय्यु पश्चिममगस्वित मन्त्र की परिधि का [हस्तगृहीत समिध से] स्पर्श करता है। इस स्पर्शकर्म से अभ्यय्यु ‘अग्निज्ञातरा’ स्थानीय परिधिरूप अग्नियों का ही पहिले समिन्धन करता है। अनन्तर उस समिध को आहवनीय अग्नि में डालता है। इस उत्तरकर्म से यह अभ्यय्यु अग्नि को साक्षात् रूप से समिध करता है ॥१॥

(अब पद्यति बतलाते हैं) —यह अभ्यय्यु (परिधिस्पर्शकर्मनन्तर) “वीतिहोत्र त्वा क्व शुम्भं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वर (यजुः सं० २।४-यजुस्तद्विप्रवक्त, तथा सर्वक तज्जाग्रदित्युक् तथा महान् यस इ अग्ने ! इस ऋकर्म में मैं आपका-इस समिधाधान स प्रवीत कर रहा हूँ) इस गायत्रीमन्त्र से आहवनीयाग्नि में समिध डालता है। इस समिन्धनकर्म से अभ्यय्यु गायत्रा-अग्नि को ही प्रवीत कर रहा है। वह गायत्री (इम कर्म से) प्रवीत बन कर दूसरे (सहयोगी त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्) अग्नियों को प्रवीत करता है। (परम्परया) प्रवीत अग्नि वेदताओं के लिए यज्ञ (आहुतिद्रव्य) का (शुलोक में) बहन करते हैं ॥१॥

प्रथमसमिधाधानान्तर जिस दूसरी समिध को अभ्यय्यु (आहवनीयाग्नि में) डालता है उससे वसन्त-अनु का ही प्रवीत करता है। (समिन्धनकर्म से) यह वसन्त प्रवीत होकर अन्य मीष्माद् अनुष्ठो को प्रवीत करता है। (परम्परया) प्रवीत अनुष्ठो मजा उत्पन्न करती है और ओषधियों का परिपाक करती है। (द्वितीय समिधाधान की यही उपपत्ति है। अब पद्यति बतलाते हैं) —यह अभ्यय्यु ‘समिधति’ (यजुः सं० २।५-दे वसन्त ! आप-आग्नि का प्रज्वलित करने का कारण-समिध है) यह मन्त्र बोलता हुआ समिधाधान करता है। (वसन्त से कर्त्तव्य अग्नि का समिन्धन आरम्भ होता है) अतः निश्चयेन वसन्त समिध है ॥२॥

इसप्रकार आचारसमिध-आधान करके अश्वय्यु (आहवनीय की ओर देवता हुआ— 'सूर्यस्वा पुरस्तात् पानु कस्याश्विचक्षुमिशस्यै (यजु सं० २।४ वे आहवनीयान्ते ! सूर्यदेवता पूषद्विशा की ओर से (हाने वाला) किसी भी (आसुर) हिंसा कर्म से आप की रक्षा करें) इस मन्त्र का नप (स्वरसंधानपूर्वक उच्चारण) करता है। आहवनीयाग्नि की रक्षा के लिए ही (क्रमशः इसके परिचय-वर्धन-उत्तर प्रांतों में) परिधियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। (इन तीन परिधियों से तीनों किराएँ तो इस अग्नि के लिए सुरक्षित होजायीं हैं। पूषद्विशा शेष रहती है)। पूर्व की ओर से (समृद्धिनाशक) नाष्टाजोग तथा समृद्धि के अपरोधक राक्षसजोग इस अग्नि को हानि न पहुँचा तब इसलिये (इस मन्त्रजपकर्म से) पूर्व की ओर से ही सूर्य को (इस अग्नि का) रक्षक बनाता है। सूर्य निरचयन नाष्टा, तथा राक्षसों का नाशक है ॥८॥

(अनुयाजकर्म से पहिले अग्नि-समिध्वन के लिए एक समिध आहवनीय में ओर वाली जाती है। क्योंकि समिधाधानप्रकरण चल रहा है अब समान-प्रसङ्ग से उस अम्याधान का भी यहाँ विधान बतलाती हुई भूति उसकी उपपत्ति बतला देती है) —

जिस तीसरी समिध का अश्वय्यु अनुयाजकर्म में आधान करता है, इस तीसरी समिध से (यज्ञकर्ममेंतिकृतज्योतामज्जालक) अश्विन-ब्राह्मण को ही प्रदीप्त करता है। वह ब्राह्मण इस कर्म से प्रदीप्त होकर दक्षताओं के लिए यह का बहन करता है (समय बनता है) ॥९॥

### ७-उत्तराश्व दो पवित्रों का वेदि पर स्थापन—

इसप्रकार परिधिपरिधान-समिधाधानादि आहवनीयानुगत कर्म करने के अनन्तर वह अश्वय्यु (आहवनीय की ओर से) कुरास्तरणयुक्त वेदि की ओर जाँट आता है। (वहाँ आकर वहाँ में से) दो पवित्र [व्यतृण] लेकर इन्हें [वेदि के ऊपर बिछे हुए परिचय भगस्थ कुरा-समूह पर उत्तर की ओर अग्रभाग करते हुए] 'सविशुभाह्वस्य' (यजु सं० २।४-६ \* सूय ! आप सविता के बाड़े हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ तिथ्यग्रूप में रखता है। [इन्हें रखने का प्रयोजन बतलाती हुई भूति कहती है]—(वेदि पर रक्षता हुआ कुरामुष्टिलक्षण) प्रस्तर स्तुप (शिक्षा-स्थानीय) है एवं अग्न्य वहाँ केश-लोग-स्थानीय है। अब केवल दोनों भूयों (ओहों) का प्रतिरूप बन रहा है। इस विधूती-स्थापनकर्म से अश्वय्यु इसके दोनों भूय ही तिथ्यग्रूप से प्रतिष्ठित करता है। (अर्थात् ये दोनों व्यतृण भूय के ही प्रतिरूप हैं। क्योंकि ये तिथ्यग्रूप से प्रतिष्ठित किए जाते हैं) अतएव ये दोनों अथ (आध्यात्मिक यज्ञ में भूय तिथ्यग्रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं इसलिये भी इन्हें इस वैधव्य में तिथ्यग्रूप से ही प्रतिष्ठित किया जाता है। इयं अतिरिक्त

तिय्यगुरूप से प्रतिष्ठित करने का एक दूसरा यह भी कारण है कि) यदि पर प्रतिष्ठित प्रस्तर ( निवानेन ) द्रव्य ( श्वस्ता राजा ) है, एवं पिछी हुई प्रस्तर बहि ( निवानेन ) बिट् ( मसित-प्रजा ) है। इस प्रस्तररूप द्रव्य तथा बहि-रूप बिट् दोनों की प्रतिष्ठा के लिए ही ( दोनों की स्वरूपरक्षा के लिए, पारस्परिक सम्बन्ध के लिये ही तिर्यक् स्थापन वक्षित है )। इसलिये इन्हें तिर्य्यगुरूप से ही प्रतिष्ठित करता है। इस ( विचरणकर्म के सम्बन्ध ) में ही इन दोनों को ( यज्ञविज्ञान-परिमत्ता में ) 'विधृती' नाम से उल्लेखित किया गया है ॥१०॥

### ८—विधृती के ऊपर प्रस्तर को फैलाना—

( वेदिस्थित बहिस्तरण के ऊपर पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित किया गया इन दोनों 'विधृती' नामक वर्त्मणों पर ) वह ब्रह्मर्ष्य—'ऊर्ध्वमसं त्वा स्थायामि स्वासस्थ वक्ष्याः ( बसुः सं० २।५—देवताओं के लिए सुवर्णवर्ण बैठने योग्य ऊर्ध्वमसं न निर्मित कर्मक्षेत्रम् सुदुस्पर्श एव आपका-प्रस्तर का-विक्षता है ) यह मन्त्र बोधता हुआ ( उस वर्त्मणिकक्षण ) प्रस्तर को फैलाता है। 'आप देवताओं के लिये साधु-सुवर्णमसं' यही कहा गया है जाकि 'ऊर्ध्वमस-त्वा' यह कहा गया है। 'स्वासस्थ वक्ष्याः' इस मन्त्रभाग से 'आप देवताओं के लिये ब्रह्मर्षी बैठक है' यही कहा गया है ॥११॥

### ९—दोनों हाथों में प्रस्तर का स्पर्श करना—

मन्त्रपूर्वक प्रस्तर-स्तरणान्तर वह ब्रह्मर्ष्य—'आ त्वा वसन्त उग्र आदित्याः सवन्तु ( बसुः सं० २।५ सवनक्याधिष्ठाता वसन्त-उग्र-आदित्य-देवता आपका प्रस्तर को-व्यप्रतिष्ठा के लिये सब और फैलावे ) यह मन्त्र बोधता हुआ स्तीय प्रस्तर पर अपने दोनों हाथ रखता है ॥ १२ ॥

### १०—प्रस्तर का बाएँ हाथ से स्पर्श किए हुए स्रुचों का दहिन् हाथ में ग्रहण, तथा प्रस्तर पर स्थापन—

वह ब्रह्मर्ष्य प्रस्तर के साथ अपने धामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए ही रहता है ( हुआ ) ॥१२॥ दहिन् हाथ से अङ्गुली ग्रहण करता है। नाभ्य राक्षसगण ( वामों के सम्बन्ध में ) पहिले ( ब्राह्मणशरीर के नाभ्य-राक्षस नाशक विष्णुप्राण के सम्बन्ध होने से पहिले ) पवित्र न होजाय, ( इस उद्देश्य से ही प्रस्तर के साथ हस्त-सम्बन्ध बनाए रखते हुए ही अङ्गुली ग्रहण करता है )। ब्राह्मण निश्चयन राक्षसों का नाशक है। इसीलिए (अस्पर्श के द्वारा अधिनिष्ठभरूप से विष्णु-शक्ति का प्रवेश सुचित रखने के लिये ) सम्बन्ध हाथ से स्पर्श बनाए रखता है ॥१३॥

अन्तर ही—'पूगाप्यसि जुह्वामना ( यज्ञः सं० २।५। ४ जुह्व 'आप (स्वरूप मता) पूग म परिपूष है, (यस नाम स जुह्व ( आहुति देने वाली ) है ) यह मन्त्र बोधता हुआ वृषिण

हाथ से आग्नीध्र के द्वारा समर्पित) जुहू का ग्रहण करता है। निश्चयेन जुहू (पूत प्राप्ति के कारण) 'पूताची' है, साथ ही यह नाम से निश्चयेन 'जुहू' (आहुति देने वाली) है। (ग्रहणानन्तर वह अभ्यर्च्यु) - 'सेव प्रियेण धाम्ना प्रियं सद् आसीद्' - (यजुः सं० १६)। एसी आप अपने प्रिय धामरूप धाम्य के साथ इस प्रस्तर पर विराजित, यह मन्त्र बोलता हुआ इस जुहू को वंदि-स्थित प्रस्तर पर रख देता है। इसके अनन्तर वह अभ्यर्च्यु 'पूताच्यस्तुपभूधाम्ना [यजुः सं० २१६] - हे उपभूत आप पूताची हैं नाम से जुहू के उर समोप रह कर धाम्य जन-से उपभूत हैं) वह मन्त्र बोलता हुआ उपभूत का ग्रहण करता है। यह सचमुच 'पूताची' है, एवं सचमुच नाम से 'उपभूत' है। अनन्तर 'सेव प्रियेण धाम्ना प्रियं सद् आसीद्' (यजुः सं० २१६) यह मन्त्र बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रख देता है। उपभूद्ग्रहण-स्थापनानन्तर वह अभ्यर्च्यु - 'पूताच्यसि पूषा माम्ना' (यजुः सं० २१६ - हे भूषा ! आप पूताची हैं, एवं धामरूप स एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहने के कारण जोक में यथाशक्त 'धूषा' नाम से प्रसिद्ध हैं) वह मन्त्र बोलता हुआ धूषा का ग्रहण करता है। अनन्तर - 'सेव प्रियेण धाम्ना प्रियं सद् आसीद्' (यजुः सं० २१६) वह बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रखता है। (इसप्रकार) वाम हाथ से प्रस्तर से मन्त्र व वनाए रखता हुआ अभ्यर्च्यु क्रमशः आग्नीध्र से अपने दाहिने हाथ में जुहू उपभूत-धुवा लेता जाता है और वही क परिधम भाग में विद्ध रूप प्रस्तरासन पर रख देता जाता है। इन तीनों से अनतिरिक्त जो पुरोहारादि हवित्रव्य हैं उक्त भा. सेव प्रियेण धाम्ना प्रियं सद् आसीद्' यही मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर पर रखता है - (ग्रहण्यदि) ॥१४॥

[सूत्रों के साद्वनकर्म में विरायता बतलाती हुई भुति कहती हैं] - वह अभ्यर्च्यु प्रस्तर के ऊपर तो जुहू रखता है एवं अन्य [उपभूत-धूषा] सुचा को प्रस्तर से नीचे वहीं पर रखता है। कारण यही है कि [निगानन] जुहू सत्र है एवं अन्य सुक् विद् है। [जुहूरूप] सत्र को ऊपर तथा उपभूत धूषारूप विट की नीचे रखता हुआ अभ्यर्च्यु सत्र को ही विट से भेद-उँचा चैगन बाला बनाता है। अतएव उँच धामन पर विराजमान रुड़िये रात्रा की नीचे से सत्र सत्र प्रजा उपासना किया करती है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जुहू का प्रस्तर के ऊपर रक्षता है एवं अन्य सुचों को नीचे [रखता है] ॥१४॥

## ११-स्पर्शकर्म—

[अनन्तर वह अभ्यर्च्यु - 'धूषा धासवन्मनस्य यानो ना विष्णा पाहि पाहि यष, पाहि यषपतिम्' [यजुः सं० २१६] - यक्ष को यानिरूप कम्मसमाति पय्यम निरत्रन रूप से प्रतिष्ठित रहने वाल आ हवित्रव्यादि यहाँ प्रतिष्ठित हुए हैं, हे विष्णा ! आप उनकी रक्षा करें एवं यषपति यजमान की रक्षा करें ] यह मन्त्र बोलता हुआ आप्यस्थातास्य आप्य क जुहूदिस्थित वा एवं पुरोहारा आदि का उपायाकर्म से स्पर्श करता है। इसी कर्म का मन्त्र-स्वरूप से प्रतिपादन करती हुई भुति कहती है]—

यह अश्वयुर् "धवा असवम्" यह मन्त्र बोलता हुआ आत्माविक्र स्पर्श करता है। ये द्रव्य कर्मसंगादि पर्यन्त निष्कलरूप से ही प्रतिष्ठित है। (मन्त्र का अगला भाग है) - 'अतस्त्व योनौ' यह। यह ही अन्न की योनि है। यह पर हो ये जुझावि प्रतिष्ठित हैं। (मन्त्र का अगला भाग है) - 'विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि अक्षरानिम्' यह। इस से (अक्षरका क साथ ही) अज-मानरक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।

अनन्तर- 'पाहि मां यज्ञन्यत्र (यजु सं० २।६। यज्ञकर्म को अमगामी बनाने वाले मुक्त-अस्विक की भी रक्षा करें) यह मन्त्र बोलता हुआ अश्वयुर् स्वयं अपने शरीर का स्पर्श करता है। इस कर्म से यह अपने आप को भी यज्ञ से बाहिर नहीं करता है। विष्णु को ही यज्ञ कहते हैं। यज्ञ की रक्षा में ही रक्षार्थ (इस स्पर्शकर्म से) सब को प्रतिष्ठित करता है। इसी अभिप्राय से- हे विष्णो! जान रक्षा करें। यह कहा गया है ॥१५॥

प्रथमकाण्डानुगत-तीसरे अध्याय का चौथा ब्राह्मण

एव तीसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण उपरत

"परिधि-ब्राह्मण" समाप्त

द्विब्राह्मणात्मक-इध्म-परिधि ब्राह्मण-उपरत

इति-मूलानुवादः

सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिमगूह —

१-इध्म-वेदि-वर्हिषां प्रोक्षणम्

आत्मप्रश्न के अनन्तर विविधध्व से आत्मस्थाकी लक्ष्य उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। अनन्तर अग्निसमिप्यन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत रज्जु से बँधे हुए इध्म-अक्षर (काष्ठमात्र) की प्रस्थि खोजता है। प्रस्थि खोजने के अनन्तर प्रोक्षणकर्म के लिए ब्रह्मा से- 'ब्रह्मन्! इध्मं प्राक्षिप्यामि' इन शब्दों में आह्वान मोंगता है। ब्रह्मा- 'जो प्राप्त यह देवता वर्धय त्व मातस्य पृष्ट यज्ञमान्नाऽश्नु। सप्त अध्वीयां सुकृता यत्र जाकस्तथमं यत्र यज्ञमान य धदि' (का० भी १।२।८) यह सुपचाप वालता हुआ- 'जो प्राप्त इन शब्दों में प्रोक्षणकर्म की आह्वान देता है। इसी अश्वयुर् इत प्रोक्षणकर्म की इतिकर्तव्यता मतलात हुए सूत्रकर कहते हैं-

'इध्मं प्रोक्षति विस्व स्प, वर्दि च, वहि प्रतिगृह्य वेधां कृत्वा पुरजादप्रन्धि-  
'कृष्णोऽसि' इति प्रतिमन्त्रम्" (का० भी० सु० २।७।१६)।

स्वस्थान पर प्रतिष्ठत इष्म की ग्रन्थि खोलकर—‘ओं कृष्णास्यास्मगृष्टाऽन्नय स्वा जुष्ट प्राक्षामि’ यह मन्त्र बोलेता हुआ अश्वय्यु इष्म का ( प्रणीता-पात्रस्थ प्रणीताजल से कुरा के द्वारा ) प्रोक्ष्ण करता है । इष्मप्रोक्ष्णानन्तर—‘ओं वविरसि वहिरे स्वा जुष्ट प्राक्षामि’ यह मन्त्र बोलेता हुआ वहि का प्रोक्ष्ण करता है । वहि-प्रोक्ष्णानन्तर आग्नीध्र नामक अश्विक् से सोंपे गए वहि नामक कुराओं को लेकर इष्टे वहि के ऊपर ( वहिग्रन्थि को पूर्व की ओर रखता हुआ ) रत्नकर प्रोक्ष्णकर्म के लिए प्रज्ञा से—‘अहन् वहिं प्राक्षिष्यामि’ इन शब्दों में आज्ञा मोंगता है । प्रज्ञा—‘ओं प्राक्ष यन्न वेधता धधय स्व’ इत्यादि मन्त्रपाठानन्तर ‘ओं प्राक्ष’ इन शब्दों में आज्ञा देता है । इस मन्त्र से अनुज्ञात अश्वय्यु ‘ओं वहिरसि स श्वभ्यस्त्वा जुष्ट प्राक्षामि’ यह बोलेता हुआ वहिस्थ वहि का प्रोक्ष्ण करता है । अग्नि के अमाश म अश्वमृषेष्टि में तथा परि-भितकर्म में इष्म का प्रोक्ष्ण नहीं होता । एवं गृहमेधीयकर्म में ( का० श्रौ० सु० १।६।१५ ) क्योंकि वहिस्तरण नहीं होता, अतः वहाँ वहि का प्रोक्ष्ण नहीं होता । प्रोक्ष्णकर्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिकी विशेषतः समझनी चाहिए ।



## २-प्रोक्ष्णी शेषेया वहिर्मूलोपसेचनम्

प्रोक्ष्णकर्म के अनन्तर वह अश्वय्यु प्रोक्ष्णीपात्र म बाकी बचे हुए जल को ‘ओं अद्वि-त्यै व्युन्दनमसि’ यह मन्त्र बोलेता हुआ कुरा के मूल भाग में डाल देता है । यही वतलाते हुए मन्त्रकार कहते हैं—

‘शेषं मूलोपपमिञ्चति—‘अदित्यौव्युन्दन’ मिति” ( का० श्रौ० सु० २।७।१७ )



## ३-पवित्रे प्रणीतासु निधाय वहिं पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणम्

मूलोपसिञ्चनकर्म के अनन्तर अपने हाथ से प्रणीता-पात्रस्थ जलों में दो दभतुण्ड रखता है । अनन्तर वहि पर स्थित वहि की गोंठ ग्रथक् करता है । अनन्तर वहि के पूर्वभाग से कुरामुष्टि का ग्रहण करता है जो कि कुरामुष्टि ‘प्रस्तर’ नाम से व्यवहृत हुई है । वहिपूलक से प्रस्तर नामक कुरामुष्टि के ग्रहण के लिए ही क्योंकि ‘ओं विष्णा स्तुपाऽसि’ यह मन्त्र विहित है, अतएव जहाँ पितृयज्ञ में प्रस्तर का वहि से ग्रथक्-करण नहीं होता वहाँ—‘प्रस्तर उपसध्रज’ ( का० श्रौ० १।२।२७ ) इस सिद्धान्त के अनुसार पहिले से बड़ा प्रस्तर का ही ग्रहण हो जाता है । फलतः पितृ यज्ञ में प्रस्तरग्रहणकाल में मन्त्र-प्रयोग नहीं होता । प्रस्तरग्रहण की इसा इतिकल्पन्यता का स्पष्टी-करण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘पवित्रे निधाय प्रणीतासु, वहिर्विन्नस्य, पुरस्तात्-प्रस्तरग्रहणं—‘विष्णो’ रिति” ( का० श्रौ० सु० २।७।१८ ) ।



## ४-वेद्यां वहिषा त्रिवृत-स्तरणम्

प्रस्तरमहण क अनन्तर वह अग्नेय्यु, स्वहस्त में गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा को सौंप देता है। वेदिस्थित वहिपूतक की वन्दनरञ्जु को वहि की वाहिनी ओषधि पर उसे रखकर अन्य वहि-तृणों से ढाँक देता है। अनन्तर— 'ओ ऊग्राग्रदसं तथा स्तृणाभि स्वासस्थ वेद्यभ्या' यह मन्त्र बोसता हुआ वेदि पर तीन बार करक प्राणम कृता बिछाता है। यही त्रिवृत-स्तरणकर्म कहलाता है जैसा कि सूत्रकार कहता है—

“ब्रह्मणो प्रदाय, सगहनं विस्त्रस्य, दक्षिणास्यां वेदिभोगी निदाय, अन्यैरवन्नाह्य वेदि स्तृणाति—“ऊगाग्रदसं” मिति त्रिवृत” का० श्रौ० सू० २।७।१६।

अथवा त्रिवृत-स्तरण न कर जितने तृणां से वहि इसप्रकार ढँक जाय जिससे वेदि का मुखमय प्रवेश न दिनाई पड़े उसे घनरूप से स्तरणकर्म करना चाहिये। इसी पञ्चात्तर का उद्धृत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“उपपत्त्या वा बहुलम्” का० श्रौ० सू० २।७।२०

स्तरण क सम्बन्ध में अब, विशेषता है कि वहि क मूलभाग अथः रहन चाहिये। कहा गया है कि, तीन कुरामुष्टिर्षे बिछाई जाती है। पहिले जो मुष्टि बिछाई जाती है उसक मूलभागों को दूसरी मुष्टि के अग्रभागों से, तथा दूसरी क मूलभागों का तीसरी मुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित करवेना चाहिये। इसप्रकार अग्रमूलपद्धति से स्तरणकर्म करना चाहिये। इस विशेषताक भूतिरिक्त ‘पश्चादपवर्ग’ रूप से दूसरी विशेषता और होती है। वहि के पूर्वभाग से तो स्तरणकर्म का आरम्भ होना चाहिये, एवं पश्चिम भाग में अवसान करना चाहिये। यही पश्चादपवर्गस्तरणारम्भक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवर्ग-रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष में पूर्व-पूर्व स्तृत वहि के अग्रभागों से पश्चात स्तीयमहण वहि क मूलभागों का आच्छादन करना चाहिये। स्तरणकर्मनिगुत इसी तीनों विशेषताओं का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अग्रमूलम्” “पश्चादपवर्गम्” “प्रवृष्टं वा” (का० श्रौ० सू० २।७।२१, २२, २३)

## ५-आहवनीयकल्पनात् पूर्व हविषामुद्गासनम्

हविपरिपाक के सम्बन्ध में दो पक्ष माने गए हैं। गह्विपस्याग्नि में हविपरिपाक करना— एक पक्ष है। एवं आहवनीयाग्नि में परिपाक करना—एक पक्ष है। जो आहवनीय-परिपाक का अनुगामी है उस यज्ञमान के यज्ञ में इस स्तरणकर्म के अनन्तर हविगुद्गासन कर्म होता चाहिये। स्तरणकर्म के अनन्तर ही श्वादि सं अग्नि को प्रपन्न बनाया जाना जाता है। यदि इस कर्म क



पीछे उद्वासनकर्म किया जायगा तो हविर्द्रव्य के जलने का भय रहेगा। अतः अग्नि-प्रपल्लवि (भस्म) से पृथ्वी उद्वासन कर लेना उचित है। जो गाहपत्यपक्ष का अनुगामी है, वह उद्वासन कब करे? इसका निर्णय आगे (का० १।८।१८) होने वाला है। आहवनीयभाषी यजमान के यज्ञ में इसी उद्वासनकर्म का सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अत्रोद्वासनमाहवनीयभाषिण” (का० श्रौ० सू० २।७।२४)

### ६-समित्-प्रक्षेपस्याहवनीयस्य समर्थीकरणम्

हविसद्वाहन-कर्म के अनन्तर वह अग्न्युद्गममार में से एक समित लेकर तथा ब्रह्मा से प्रस्तर लेकर आहवनीयकुण्ड के ऊपर समीप से प्रस्तर अपने हाथ में रक्ता हुआ इस समित के आघात से आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित काष्ठादि का भस्म अलग कर अग्नि को प्रवल बनाता है। इधम से होने वाला यह समर्थनकर्म क्योंकि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है, न कि अप् से तथा परिभित् से। अतएव अप् में और परिभिता में यह कर्म नहीं होता है। इसी समर्थन-कर्म का स्वर्गीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“इध्मान् समिधमादायाहवनीयं कल्पयति,

उपयुपसि प्रस्तर धारयन्” (का० श्रौ० सू० २।७।२५)।

### ७-अनुयाजार्थमुन्मुकयोराहवनीयाभिष्कारानम्

अग्निसमर्थीकरण के अनन्तर प्रज्वलित अग्नि में स दो उन्मुक लिए जाते हैं। छन्दो-वैधता से सम्बन्ध रखने वाला अनुयाजकर्म वैकल्पिक माना गया है। यदि अनुयाजकर्म मंगृहीत है तो उसी वृक्षा में अनुयाज के लिए दो उन्मुक आहवनीय से पृथक् निकाल लिए जाते हैं। जब अनुयाजकर्म का समय आता है तब पुनः उन (ग्रन्थस्थान) उन्मुक को आहवनीय में डालकर अनुयाजकर्म किया जाता है। क्योंकि आतिथ्यसि में (का० श्रौ० ८।१।१ के अनुसार) तथा गृहमेधीयादि में (का० श्रौ० ५।६।६।२।५ के अनुसार) अनुयाजकर्म का अभाव है अतएव वहाँ उन्मुक-निकषण भी नहीं होता।

इति-काशीयश्रौतसूत्रे-द्वितीयाध्याये सप्तमी कण्डिका समाप्ता

## ४-वेद्यां बहिषा त्रिवृत्-स्तरणम्

प्रस्तरग्रहण के अनन्तर यह अभ्यन्त्यु स्वहस्त में गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा की सोंप दता है। वेदित्यक्त बहिषाक की बन्धनरज्जु की वेदि की बाहिनी भोगि पर उसे रखकर आन्ध बहि-पक्षा से बाँक देता है। अनन्तर— 'आयान्नवस त्वा स्तुषामि स्वात्मस्थ वेधेभ्या' यह मन्त्र बोधता हुआ वेदि पर तीन बार करके प्रागम कुरा बिछाता है। यही त्रिवृत्-स्तरणकर्म कहलाता है वैसे कि सूत्रकार कहते हैं—

“ब्रह्मणो प्रदाय, सप्तमं विस्रज्य, दक्षिणास्यां वेदिभ्यो निदाय, अन्यैरवस्थाप्य वेदिं स्तृणाति—“ऊर्णमदस” मिति त्रिवृत्” का० औ० सू० २।७।१६)।

अथवा त्रिवृत्-स्तरण न कर जितन चूर्णा से वेदि इसप्रकार ढँक जाय, जिससे वेदि का सुबमच प्रवृत्ता न दिखाई पड़े उसे धनरूप से स्तरणकर्म करना चाहिये। इसी पदान्तर को उद्धृत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“उपपत्या वा बहुलम्” का० औ० सू० २।७।२०

स्तरण के मन्त्रच में यह विशेषता है कि बहि के मूलभाग अथ रहने बाहिर है। कहा गया है कि, तीन कुरामुष्टिमें बिछाई जाती हैं। पहिल जो मुष्टि बिछाई जाती है उसका मूलभागों को दूसरी मुष्टि के अग्रभागों से तथा दूसरी का मूलभाग का तीसरी मुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित कर देना चाहिए। इसप्रकार अग्रमूलपदति से स्तरणकर्म करना चाहिए। इस विगणवाके अतिरिक्त ‘पञ्चादपवर्ग’ रूप से दूसरी विशेषता और होती है। वेदि के पूर्वभाग से तो स्तरणकर्म का आरम्भ होना चाहिए, पर पश्चिम भाग में अपसान करना चाहिए। यही पञ्चादप वगस्तरयात्मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवर्ग-रूप से भी आच्छादन किया जा सकता है। इस पक्ष में पूर्व-पूर्व स्तृत बहि के अग्रभागों से पश्चात् स्तीम्बमाण। बहि के मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकर्मालुगत श्रद्धा तीनों विशेषताओं का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अग्रमूलम्” “पञ्चादपवर्गम्” “प्रवृत्त वा” (का० औ० सू० २।७।२१, २२, २३)

## ५-आहवनीयकल्पनात् पूर्व इषिपाशुशासनम्

इषिपरिपाक के सम्बन्ध में दो पक्ष माने गए हैं। गहिरपत्याग्नि में इषिपरिपाक करना एक पक्ष है। पर आहवनीयाग्नि में परिपाक करना एक पक्ष है। जो आहवनीय-परिपाक का अनुगामी है उस यजमान के पक्ष में इस स्तरणकर्म के अनन्तर इषिप्राशन कर्म होना चाहिए। स्तरणकर्म के अनन्तर ही इष्यादि से अग्नि का प्रवृत्त बनाया जाना जाता है। यदि इस कर्म के

## ११—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्या निधानम्

मन्त्रस्मरण-कर्म के अनन्तर वह अन्वयार्थ पुनः वेदि की ओर लौट आता है। वहाँ आकार वेदि पर बिछा हुआ बर्हि के ऊपर दो पवित्र (वर्धतृण) उत्तराग्र सिन्धूरूप से—“ओ-सधितुर्वाहृत्य” यह मन्त्र बोलाता हुआ रहता है। ये वर्धतृण ही “विधृति” नाम से प्रसिद्ध हैं। निम्न लिखित सूत्र से इसी कर्म का स्पष्टीकरण हो रहा है—

“आधृत्य वेदिं तिरश्ची निदधाति—‘सधितु’ रिति”

( का० श्रौ० सू० २।२।१ ) ।

इन वर्धतृणों के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा शेष रह जाती है। वह यही कि, जिन दो तृणों का निधान हुआ है, व इस वेदि पर बिछा बर्हि में से ही लिए जायें, अथवा अन्य वर्धतृण लिए जायें? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अन्ये वाऽयुक्तत्वात्” ( का० श्रौ० सू० २।२।६ ) ।

इस निधानकर्म के लिए दूसरे ही तृण लेने चाहिये। क्योंकि वेदि-सम्बन्धी-वर्धितृणों में से इन दोनों का ग्रहण विहित नहीं है। वेदि-तृणों का केवल स्तरणकर्म में ही विनियोग विहित है। अतः अन्य तृण ही रखने चाहिये। अन्यत्र भी पवित्र-पशुपाकरण-ग्रहोपस्पर्श-अग्निमन्य-नादि में जहाँ तृण-निधान विहित है सर्वत्र अन्य तृण ही लेने चाहिये। यही प्रासङ्गिक व्यवस्था वक्तव्य से ही स्पष्ट हो सकती है—

“अन्यत्रापि तृणार्थे” ( का० श्रौ० सू० २।२।७ ) ।

क्याकि तृणनिधान-प्रसङ्ग से अन्य स्थलों की चर्चा बल पड़ी। अतएव इस प्रसङ्गदृष्टि से आग्न के सम्बन्ध में भी विनियोग-मर्यादा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आग्न में एक यूपोद्घन कर्म होता है। अक्षय यूप के चारों ओर घृत का मन्वन्ध कराना ही यूपोद्घनकर्म है। परन्तु होय है कि, जिस आग्नस्थाली में प्रयाजनुयायादि के लिए आग्न लिया जाता है इस यूपोद्घन-कर्म के लिए भी इसी में से लिया जाता है, अथवा इसकलिय अन्य आग्न का ग्रहण होता है? सूत्रकार उत्तर देते हैं—

“यूपोद्घने च मयि” ( का० श्रौ० सू० २।२।८ ) ।

यूपोद्घन-साधक घृत अन्य (लौकिक) ही लेना चाहिये। आग्नस्थाली का आग्न इस कर्म में विनियुक्त नहीं है।

श्रौतिप्रोमयज्ञ में पुरोहारा का इन्द्र-प्रायु के लिए, पयस्या का मित्रा-वरुण के लिए, तथा धान का अरिषनीकुमारों के लिए प्रदोष होता है। इसप्रकार प्रदोष कर्म के लिए अपचित

## ८-आहवनीयस्य परिषमे, दक्षिणे, उत्तरे, क्रमेश्च परिधिपरिधानम्

उरुमुकनिष्कारान-कर्म के अनन्तर यह अष्टम्यु क्रमशः 'ओं गन्धर्वत्वा विश्वात्रमुः०' 'आ-इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो' - 'ओं-मित्रावरुणौ त्वा०' इन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ (ब्राह्मणमन्त्रों में परिगणित पलाशपत्र किसी) एक यज्ञिय वृक्ष से निर्मित परिमाण में बाहुमान् स्वरूप में गीली जातिता पलाश-वैकृत-काष्मर्य-वैत्व में से पूर्ण पूर्ण की न निखने मिलने पर उत्तर को अथवा स्त्राविर-चौतुम्बर की तीन परिधियों आहवनीयकुण्ड के मध्यम (परिषम) दक्षिण उत्तर प्रान्तभागों में क्रमशः प्रतिष्ठित करता है। इसी क्रमिक परिधानकर्म का स्पष्टीकरण करने हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘परिधीन् परिदधाति-आर्द्रान् एकवृक्षीयान् बाहुमात्रान्, पलाशवैकृत-काष्मर्य-वैन्वान्, पूर्वोत्तरे उत्तरान्, स्त्रादिरोदुम्बरान्वा, मध्यम-दक्षिणाचरान्-‘गन्धर्व०’ इति प्रतिमन्त्रम्” (अ० औ० सू० २।१।१)।

## ९-आहवनीयाग्नौ समिधाधानम्

परिधि-परिधानकर्म के अनन्तर यह अष्टम्यु अग्निकल्पाय पहिल से गृहीत समिधा का पहिले रक्खी हुई मध्यम परिधि के साथ स्पर्श कराके खड़ा होकर— वीतिहोत्रम्० यह मन्त्र बोखता हुआ उस समिधा को आहवनीयाग्नौ में बाधता है। दूसरी समिधा का परिधि से बिना स्पर्श कराय ही समिधसि’ यह मन्त्र बोखता हुआ आहवनीय में बाधता है। उन्ही दोनों प्रक्षेप-कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘प्रथम परिधिं समिधोपस्पृश्य ‘वीतिहोत्रम्’ मित्यादधाति”।

अनुपस्पृश्य द्वितीयां ‘सामिदसी’ ति” (अ० औ० सू० २।१।२)।

## १० आहवनीयेष्टयापूर्वक मन्त्रस्मरणम्

समिधाधान-कर्म के अनन्तर यह अष्टम्यु आहवनीय अग्नि की आर वेकता हुआ ओं सुव्यस्था पुरस्तात् पातु कस्यादिषन्नमिश्रास्त्यै इस मन्त्र का संहितापठित स्पर्शसंधानपूर्वक उच्चारण करता है। इसी कर्म का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘सूर्यस्त्यै’ ति अपति, आहवनीयमीषमाश्वस्तदधनात्’।

(अ० औ० सू० २।२।४)।

४४—“यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टा देवानां विष्टामनु या वितस्ते । आत्मन्वान् साम घृतवान् हि भूत्वाम्नि गच्छ स्वयजमानायै विन्दे” यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोहारापात्री में प्रतिष्ठित पुरो-  
हारे को आत्म से चुपकता है ।

जहाँ अग्निदेवता का सम्बन्ध है वहाँ ‘अग्निं गर्च्छ स्वयजमानाय०’ इत्यादि रूप से मन्त्र पाया होगा । एवं जहाँ अन्य देवताओं का सम्बन्ध है, वहाँ ‘अग्नीषोमीं गच्छ स्व’ — इन्द्राग्नी ० स्वयजमानाय०’ इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा ।

पुरोहाराखन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल उल्टा गप ये उसी क्रम से उन, उन कपालों का वह अध्ययु — ‘यानि धर्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधसः । पूणास्तान्यपि त्रैव इन्द्रवायु विष्णु-  
अगाम् यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपकता है । किसी याज्ञिका के मत में कपालाखनकर्म तूष्णीं ( बिना मन्त्र-प्रयोग के ) होता है । दोनों वैकल्पिक पक्ष पण्डित हैं ।

जितने कपाल इस कर्म में गृहीत हैं उनका निधानक्रम से संख्यापूर्वक-प्रथममुद्रासयामि द्वितीय०, तृतीय० इत्यापिरूप से ही उद्घासन करना चाहिए । इसी कर्मा की इतिकर्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‘पुरोडाशौ-अभिघार्थ, उद्घातयऽउपस्तीर्णौ’ निघायोऽनक्ति “यस्ते प्राण पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थ । आत्मन्वान् साम घृतवान् हि भूत्वाम्नि गच्छ स्वयजमानाय विन्दे” ति’ ( का० श्रौ० सू० २।८।४ ) ।

“यथा देवतमन्यत्” ( का० श्रौ० सू० २।८।१ ) ।

“प्रत्यनक्ति कपालानि “यानि धर्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधसः । पूणास्तान्यपि त्रैव इन्द्रवायु विष्णुचता” मिति” ( का० श्रौ० सू० २।८।६ ) ।

“तूष्णीं वा” ( का० श्रौ० सू० २।८।१५ )

“संख्ययोद्घासयति” ( का० श्रौ० सू० २।८।१८ )

### १५—सर्वालम्भनम्

अक्त कर्मानन्तर वह अध्ययु — ‘आ-प्रियेण धाम्ना प्रियं सत्र आमीह’ यह मन्त्र बोलता है । आत्म-पुरोहारादि हविर्ग व्या का अवस्थित धृषापात्र के उत्तर प्रदर्श म चदि पर रत्नकर-  
‘आ-प्रया असदन्तुत्य योनी ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञ पाहि यज्ञपतिम्’ इस मन्त्र की आरुति-पूर्वक आर्यस्थाली स्थित आन्य का उद्गु उपभूय-धृषा स्थित आन्य का पुरोहारापात्री म स्थित पुरोहाराद्वयी का उपयोगक्रम से स्वरा करता है । अनन्तर—‘मा-पाहि मां यन्नयम्’ यह

पुरोडाशादि प्राकृत लिए जायें ? अथवा लौकिक ? इस सम्बन्ध में ऐच्छिक व्यवस्था बतझाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“पुरोडाश-पयस्या-धानासु चेच्छन्” (का० श्रौ० सू० २८।६) ।

१२-विष्टृत्योरपरि प्रस्तरस्तरयां, पाणिद्वयेन तदभिमर्शनञ्च

वेदि के ऊपर विष्टृति-स्थापन-कर्म के अनन्तर वह अभ्यर्च्य उन विष्टृत्योरपरि से तदग्रम प्रतिष्ठित वर्म-तृणों के ऊपर—‘ओ ऊर्येन्नदसं त्वा स्तुष्यामि स्वासस्यं देवेभ्य’ यह मन्त्र बोझता हुआ प्रस्तर (एतन्नामक वर्ममुष्टि) बिछाता है। प्रस्तर बिछाने के अनन्तर वह अभ्यर्च्य—‘ओ आत्वा वसवो न्ना आवित्या’ सञ्चन् यह मन्त्र पाकता हुआ अपने दोनों हाथों से वेदि पर फैलाए गए उस प्रस्तर को दबता है। इसी स्तरण अभिमर्शन-कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“तयोः प्रस्तर स्तुष्या—‘तूर्यान्नदस’ मिति (का० श्रौ० सू० २८।१०) ।

“अभिनिदधा—‘स्या त्वा वसव’ इति (का० श्रौ० सू० २८।११) ।

१३ प्रस्तरस्तरयां दक्षिणेन सूचां प्रक्षेपं, प्रस्तरे स्थापनञ्च ।

प्रस्तरस्तरण-स्पर्श-कर्मोऽनन्तर, वह अभ्यर्च्य अपने दोनों हाथों से ऊँचे वाम हाथ को प्रस्तर पर रखके रहता है, एवं दक्षिण हाथ में अग्नीध्र नामक शक्ति से क्रमशः सोंपे गए जुहू-उपश्रुत-ध्रुवा नामक मुकुटाग्रां को—‘धृताशो०’ इत्यादि संहितोक्त तीनों मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ प्रस्तर पर पूर्वार्ध स्थापित करता है। इस स्थापनकर्म में विरापता यह है कि, जुहू का वो प्रस्तर के ऊपर रक्खा जाता है एवं उपश्रुत, तथा ध्रुवा को प्रस्तर से नीचे बहिर् पर रक्खा जाता है। मध्य स्थापन-वैशिष्ट्य की इसी इतिवृत्तभवा का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“सम्पाशान्य जुहू प्रतिगृह्य निदधाति “धृताशी” इति ।

—का० श्रौ० सू० २८।१३ ।

“एयमितरे उत्तरार्ध्यां प्रतिमन्त्रं बहिष्युषमृतं, ध्रुवा चावकृष्टः सुपूर्वम्”

—का० श्रौ० सू० २८।१३ ।

१४-पुरोडाशस्य धृतनाञ्जनं कपालानाञ्च धृतेर्नेपदञ्जनम्

संस्थापन-कर्म के अनन्तर वह अभ्यर्च्य बहिस्थान से गाहपत्य के समीप जाता है। यहाँ आकर पुरोडाशप्रभ्य पर धृत बालक उसे ठँका कर पादिल से सम्पन्न पुरोडाशपात्री में उठा

स ३२—“यस्ते प्राण पशुपु प्रविष्टा देवानां विष्टामनु या वितस्त । आत्मन्वान् साम धृतवान् हि भूत्वाग्निं गच्छ स्वयजमानाय विन्दु” यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाशापात्री म प्रतिष्ठित पुरो-  
डा को आत्म से चुपकता है ।

जहाँ अग्निदेवता का सम्बन्ध है वहाँ ‘अग्निं गच्छ स्वयजमानाय०’ इत्यादि रूप से मन्त्र होगा । एवं जहाँ अन्य देवताओं का सम्बन्ध है, वहाँ “अग्नीषोमीं गच्छ स्वं” — ‘इन्द्राग्नी-  
न्द स्वयजमानाय०’ इत्यादि रूप से उद्गृह्य जायगा ।

पुरोडाशाखन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल रख गये उसी क्रम से उन-उन कपालों पर वह अन्वय्यु— ‘यानि धर्मे कपालान्युप चित्रन्ति बधसः । पूष्णस्तान्यपि प्रत इन्द्रवायु बिभु-  
ज्जाम’ यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपकता है । किसी याज्ञिकों के मत म कपालाखनकर्म तूष्णीं ( बिना मन्त्र-प्रयोग के ) होता है । दोनों वैकल्पिक पद्ध-  
ति हैं ।

जितने कपाल इस कर्म में गृहीत हैं उनका निधानकर्म से संख्यापूर्वक—प्रथममुद्गमयामि द्वितीयं०, तृतीयं०, इत्यादिरूप से ही उद्गमन करना चाहिए । इसी कर्मा की इतिकर्तव्यता ब्रह्माते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“पुरोडाशी-अभिघार्थ, उद्गारयऽउपस्तीर्षे निघार्योऽनक्ति “यस्ते प्राण पशुपु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्ये । आत्मन्वान् साम धृतवान् हि भूत्वाग्निं गच्छ स्वयजमानाय विन्दु” ति’ (का० भौ० सू० २८।१४) ।

“यथा दधतमन्यत्” (का० भौ० सू० २८।१५) ।

“प्रत्यनक्ति कपालानि “यानि धर्मे कपालान्युप चित्रन्ति बधसः । पूष्णस्तान्यपि प्रत इन्द्रवायु बिभुज्जता” मिति” (का० भौ० सू० २८।१६) ।

“तूष्णीं वा” (का० भौ० सू० २८।१७)

“सत्यपोडासपति” (का० भौ० सू० २८।१८)

### १५—सर्वालिभनम

उक्त कर्मानन्तर वह अन्वय्यु— ‘भो—प्रियण आम्ना प्रियं सद् आमाद् यह मन्त्र बोलता है । आत्म-पुरोडाशादि इतिवत् व्यो को अवस्थित भूषापात्र के उत्तर प्रथम म वदि पर रत्नकर-  
भा भया असदन्तुत्य योनों ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञ पाहि यज्ञपतिव यह मन्त्र की आरुचि-पूर्वक आगवस्थाही-स्थित आत्म का जुहु उपभूत-भूषा-स्थित आत्म का पुरोडाशापात्री सं-  
स्थित पुरोडाशाद्वयी का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है । अनन्तर— ‘आ-पाहि मां यज्ञन्यम्’ यह

मन्त्र बोलता हुआ वह अभ्यस्यु अपने इन्द्र का स्पर्श करता है। यही 'सर्वस्तिम्ममकर्म' बत साते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“प्रियेया धाम्ने” ति इतीपि बोधां कृत्वा “ध्रुवा असद्” भित्ति-सर्वाभ्यासमते (अ० भौ० सू० २८।१६ ।

‘पाहि मा’ मित्यात्मानम्’ (अ० भौ० सू० २८।२०) ।

ब्रतोपासनकर्म के सम्बन्ध में जो विकल्प पक्ष माने गए हैं। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है? इसका सम ध्यान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अथ वा ब्रतोपासनमथ वा ब्रतोवापनम्” (अ० भौ० सू० २८।२१) ।

## इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्याय

### इति-सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंगूह

#### वैज्ञानिकविवेचना—

#### अथ-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति -

(भाष्य)–‘पवित्रं वा आप’-‘मेध्या वा आप’ (शत मा० १।११) इन ब्राह्मण-भुविषी के अनुसार पानी में मेध और पवित्र सामक दो धर्म प्रतिष्ठित रहते हैं जिन की विरुद्ध वैज्ञानिक-व्याख्या उसी ब्राह्मण में की जा चुकी है। इस यज्ञकर्म में उपयुक्त बर्हि, वेदि तथा इष्म, तीनों यज्ञस्थानों में पण्डित होने से पवित्र तो बन चुके हैं। परन्तु अभी इन में उस मेध गुण का अभाव है जिस के अन्वय से ही ये यज्ञ के साथ आन्तर्यामिसम्बन्ध करने में समर्थ होसकती हैं। उस संगमनीय गुण का (लेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही इनका प्रोक्षण किया जाता है एवं प्रकृत प्रोक्षणकर्म की यही एकमात्र उपपत्ति है जिसका ‘सम्मेध्यायवैतवृन्तय करोति’ इन शब्दों में अभिनेय हुआ है।

यज्ञाग्नि (आहवनीयाग्नि) के समिधन के लिए जो काष्ठमार यज्ञस्थान में संघटित होता है उस ध्रुवं ह वा अग्निर्गुरगिन् इव निर्बलन से ‘इष्म’ कहा जाता है। यह इष्मकाष्ठ कृष्णाग्नि का प्रतिरूप है। सूर्याग्नि ही इष्माग्नि कहलाया है अथवा काष्ठप्रमुखा इव अग्नि की मुखा भी कहा जाता है। योगनिम्नवत् प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। इस में प्रतिष्ठित और अविनाश



(पापानि) अग्नीमीमात्मिक सगुणतरयश्च स स्वरूप-समपक बनता हुआ यज्ञात्मक है। इस सौर यज्ञाग्नि के ब्रह्मादित प्रधर्म्य मेद से दो विभाग होजाते हैं। जो सौर अग्नि सूक्ष्मरूपा की स्वरूपरक्षा क क्षिप सता सौरमण्डल में ही अन्तर्स्था-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है उस-ब्रह्मादित अग्नि कहा जाता है, एवं यह धर्म्य का अपना प्रतिस्विक अग्निभाग है। जो सौर अग्नि प्रवापति की क्षमता स सौररूपा स पृथक् होकर भूगर्भ में प्रविष्ट होता हुआ पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों में (इन क स्वरूप-निम्माण क क्षिप) प्रविष्ट रहता है, वह 'प्रवर्ग्याग्नि' कहा जाता है। इसी सौर-प्रधर्म्य-यज्ञाग्नि से ही पार्थिवरूपा की स्वरूप निम्पति हुई है। यही पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्यास 'गायत्र नाम स व्यवहृत होने लगता है।

स्व-सौररूपा में प्रविष्टित वही 'सावित्राग्नि पारमेष्ठ्य दाम्ना 'ब्रह्मणस्पति' नामक मामाहुति स शुक्ल (ज्योतिर्मय) बना रहता है, जिसे कि हम इस का प्रसरूप कह सकते हैं। यही शुक्ल तथा प्रत्यक्षरूप सौर यज्ञाग्नि प्रधर्म्य-सम्बन्ध से जब पार्थिवरूपा में प्रविष्ट होजाता है, तो इसका शुक्लरूप उच्छ्रान्त होजाता है। पारमेष्ठ्य सौर के सम्बन्ध के उच्छ्रान्त होवाने से अपना शुक्लरूप छोड़ता हुआ यह कृष्णरूप में (अप्रत्यक्षरूप में) परिवर्त होजाता है। यही इसका सुप्तरूप है। पार्थिव पदार्थों में निष्पन्न अष्टादि में अग्नि का यही सुप्त स्वरूप प्रतिष्ठित है। जब अन्ध्याग्नि के-सम्बन्ध स इस बगाया जाता है तो यह बग पड़ता है अष्ट प्रान्वलित होजाता है। तत्काल यह अपने शुक्लरूप में जाता हुआ स्वा स्वानन्त घुलाओपलब्ध सौर-वेद्यमण्डल में चला जाता है। पार्थिव अग्नि की इसी सुप्त-प्राप्रव-अवस्थावही का स्वप्तीकरण करती हुई मन्त्रभूति कहती है—

“शोपे वनेषु माप्रो मं स्वा मर्तास इन्वते।

अतन्द्रो हव्या वहसि इविष्कृत आदिवृक्षेषु रावमि” ॥

अक्षु २५ ॥ १२॥

सौर यज्ञाग्नि कर्त्तव्य कि यह अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है अपितु सूक्ष्ममाण (सौजन याम्य) है अतएव इस कृष्णमृग कहना अनर्थ बनता है। 'यज्ञभूमि' नाम से प्रसिद्ध 'भारतवर्ष' में स्व-रूप स विचरण करने वाले \*कृष्णमृग' (काल हरिण) में भी इस कृष्णमृगाग्नि की ही प्रधानता है। अतएव यज्ञधर्म में यज्ञाग्नि की समृद्धि के लिए कृष्णमृगचर्म्म पर ही इविषेयणाग्नि कर्म होता है जैसाकि पूर्वके— “अथ कृष्णाजिनमावृत्ते (शत १।१।११) इत्यादि रूप स 'कृष्णाजिनब्राह्मण' में विस्तार स पत्राया जानुका है। सौर यज्ञाग्नि ही प्रधर्म्य के सम्बन्ध से न पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट होता हुआ 'कृष्णमृग' नाम स व्यवहृत होने लगता है इसी रहस्य का निम्नलिखित ब्राह्मण-भूति स स्पष्टीकरण हुआ है—

“यज्ञो ह दवम्योऽप यक्राम। म कृष्णो भूत्वा चचार।

तस्म दवा अनुविद्य स्वचमवाचज्ज्ञायाजहु” (शत १।१।१४।१)।

“मृगधर्म्मो वै यज्ञ” (पलायनशील) (ता ३।० ६ ३।१०)

\* तस्य (अग्ने) एष स्वालोका यम- कृष्णाजिनम् (शत १।१।१४।१)।

— इमं वै पृथिवी कृष्णाजिनम् (शत १।१।१४।१)। 'यज्ञो वै कृष्णाजिनम्' (शत १।१।१५।१)।

मन्त्र बोझता हुआ वह अध्वर्यु अपने इष्ट का स्पर्श करता है। यही 'सर्वस्तिस्मनकर्म' कहा जाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“प्रियेणा घाम्ने” ति हवींषि गेघां कृत्वा “ध्रुवा असद्” भित्ति-सर्वास्याक्षमते  
(अ० श्रौ० सू० २८।१६)।

‘पाहि मा’ मित्पात्मानम्’ (अ० श्रौ० सू० २८।२०)।

प्रतोपायनकर्म के सम्बन्ध में जो विकल्प पक्ष माने गए हैं। द्वितीयपक्ष का अन्तर कब है? इनका मम धान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अत्र वा प्रतोपायनमत्र वा प्रतोपायनम्” (अ० श्रौ० सू० २८।२१)।

## इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्याय

### इति-सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंग्रह

#### वैज्ञानिकविवेचना—

#### अथ-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्ति.-

(आभ्य)-‘पवित्रं वा आप’-‘मेष्या वा आप (शत ब्रा० १।११) इन ब्राह्मण-मुनिवृत्तों के अनुसार पानी में मेष्य और पवित्र नामक दो चार्म प्रतिष्ठित रहते हैं, जिन की विशुद्ध वैज्ञानिक-व्याख्या उसी ब्राह्मण में की जा चुकी है। इस यज्ञकर्म में उपयुक्त बर्हि, बवि तथा द्रुम, तीनों यज्ञस्थानों में पड़ी होना से पवित्र हो बन चुके हैं। परन्तु अभी इन में उस मेष्य गुण का अभाव है, जिस के सम्बन्ध से ही वे यज्ञ के साथ अग्नेर्व्यामसम्बन्ध करने में समर्थ हो सकती हैं। उस संगमनीय गुण का (लेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही इनका प्रोक्षण किया जाता है, एवं प्रकृत प्रोक्षणकर्म की यही एकमात्र उपपत्ति है जिसका “तन्मेध्यमेवैतत्पुनय करोति” इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्नि (आहवनीयाग्नि) के समिधन के लिए जो काष्ठमार यज्ञमग्न्या में मंथीत होता है उसे द्रुमे इ वा अश्वर्य्युरग्निम् इस निर्बन्धन से द्रुम कहा जाता है। वह द्रुमकाष्ठ कृष्णाग्नि का प्रतिरूप है। मृणाग्नि ही कृष्णाग्नि कहा जाता है अतएव काष्ठप्रयुक्त इस अग्नि को ‘मृग’ भी कहा जाता है। शीतान्निमयका प्राकृतिक नित्य यज्ञमयका आहवनीयाग्निमयका है। इस में प्रतिष्ठित और अनिष्टाग्नि

प्राणामक दम के इस दिव्याग्निशय का वेदिके साथ तमी सम्बन्ध होसकता है, जब कि इधमकाष्ठकत् पृथिवी की प्रतिकृतिरूपा वेदि के पार्थिव अग्नि को भूतसर्गजनित अमेध्यधर्म से प्रयत्न कर लिया जाय। इस प्रयोजनके लिए ( बर्हिस्थित दिव्य प्राणके साथ वेदिस्थित कृष्णाग्नि के सम्बन्ध के लिए ) ही इधमप्रोक्षणानन्तर वेदिका प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षणमन्त्र है 'वविरसि, बर्हिषे त्वा जुष्ट प्रोक्षामि यह। यह ववि है' इस धान्य से अंति का सात्वर्त्म्य यही है कि, यही यज्ञोपाधि का साधन है—। इसी में तो प्रथम-यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित है। इसमें मेध्य बनाना ही प्रोक्षणकर्मोद्देश्य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है। बर्हि में मी भूत-प्राण मेद से दो विभाग हैं। फलतः इधम-वेदिवत्-इत्यत्र दिव्य आप्य अग्नि मी भूतसर्गजनित अमेध्यधर्म से युक्त है। तद्विप्र-मेध्य सुहृत्पाय इस पर तमी रक्त नासकते हैं, जब कि इसका अमेध्यधर्म हटा दिया जाय। तदर्थ ही- बर्हिरसि सुगन्धत्वा जुष्ट प्रोक्षामि' मन्त्र से बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है। यह दर्म उस वेन पानी का प्रतिकृति है जिस वेन पानी के वेदन से सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य चारों ओर से वेष्टित होखा है। पृथिवीरूपा यदि का वृहणकर्म ( वेहनकर्म ) वेनरूप दर्म पर ही अवलम्बित है। इसी वृहणधर्म के कारण वेनप्रति-रूप-स्थानीय दर्म को अवश्य ही- 'बर्हि का नासकता है।

यज्ञ में एहीत भीतिक पदार्थों में भूत-प्राण मे' से दो दो वस्तुएँ हैं। दोनों में भूतमात्र अप्राप्त है, प्राणमात्र प्राप्त है। भूत अमेध्य है तत्सर्ग से प्राण मी अमेध्य बना रहता है। इस अमेध्यमावन्तिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षणकर्म किया जाता है और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्मों की उपपत्ति है। प्रोक्षणकर्म होता है-दर्मतृणों के द्वारा-प्रोक्षणीयात्र में रक्ते हुए मन्त्रभूत मेध्य पानियों से। दर्मतृण पूर्वकथनानुसार स्वयं पवित्र हैं। अतएव इन से प्रोक्षण करना अनवश्यक बनता है ॥३॥

पर्वन्त्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है। पर्वन्त्य के द्वारा आकाश से मरुत्-गर्म से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोड़ी देरतक तो भूतल पर दिखाई देता है। परन्तु कुछ ही समय में वह विलीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि-वनस्पति के मूलों में ही होता है। इसीलिए तो ओषधि-वनस्पतियाँ बर्हि अपने मूलमागों से शुष्क-इव प्रतीत होती है, वहाँ इनके मूलभाग गीले रहते हैं। यह मूलाद्र वा ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि एक वृक्ष की बड़ी का उत्पाद कर यदि अन्यत्र लगाने की कामना होती है तो उस वृक्ष की बड़ों को उत्पादक लोग ( राई-यागधान ) मिट्टी खाँहव उस भूमि उत्पादते हैं जिससे उनका मूलाद्र भाग शुष्क न होजाय। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ में सिद्ध पर्वन्त्यदेवता के द्वारा भौत्वा हुआ पानी ओषधियों के मूलों में ही प्रतिष्ठित रहता है। यह यथयत्र उसी का प्रतिकृति है। "यद्ये द्या अकुव स्तत्करवाणि इस निगम से यहाँ मी प्रोक्षणीयात्र में नच बल की बर्हि के मूलों में ही घालना न्यायप्राप्त है। यह विश्वास करने योग्य नाह है कि यज्ञकर्म में बा बा अतिशय उत्पन्न होते हैं उन सबका ढलभोक्षा बधमान ही बनता है जैसा कि तद्वै तदाहृत यथाधि इत्यादि रूप से अनुप' में ही

— "नं-यम-यधामन्वविन्दन् । यत्-यथा-अन्वविन्दन् , तन्-वद्वेदित्यम् "।

—गतरयमाश्रय १।६।

वही मूल्याग्नि प्रतिकल्पमर्थात्वा से यहाँ तो आहवनीयस्तर में प्रतिष्ठित है एवं उस प्राकृतिक वृक्ष में आ वनीयस्तर-स्थानीय खैर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव 'आहवनीये स्तरं तिष्ठति' इस निर्बचन से इसे आम्बुश्रेष्ठ नाम से भी सम्बोधित किया जासकता है। इसके अतिरिक्त काष्ठद्वि से भी इस नाम का सम्बन्ध किया जासकता है। 'आ-सुमन्तात् सुरे-कठिने धृचे-काष्ठे-तिष्ठति' इस निबन्धन से भी (महीवरसाम्य) इधमकाष्ठस्य कृष्णाग्नि को 'आसुरेष्ट' कहना अत्यन्त बनता है। इधम में भूत-इधमेव से दो माग प्रतिष्ठित हैं। भूतमाग काष्ठरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म है, शुभ ही इसका दिव्यातिशयस्य, यज्ञ से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाग्नि) का जो इधमें कृष्णरूप से (अप्रत्यक्षरूप से) प्रतिष्ठित रहता हुआ 'आसुरेष्ट' बन रहा है। वही सम्मानीय है। भूतमाग प्राण-सम्बन्ध का निरोधक माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवप्राण में अमेध्य (असंगमनीय) बन्म का समावेश होना है। काष्ठ स्थित कृष्णाग्नि के भूतसंयोगजनित इसी अमेध्यमात्र को इधने के लिए 'कृष्णोऽसुरेष्ट' यह मन्त्र बोलते हुए इधम का प्रोक्षण किया जाता है। अतएव यह प्रोक्षणाकर्म नहीं कर लिया जाता तबतक इस इधमस्थित कृष्णाग्नि का उस दिव्याग्नि-प्रतिकल्प आहवनीयमाग्नि के साथ अन्तर्भाव-सम्बन्ध नहीं होसकता। एवं अतएव पार्थिव अग्नि का दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक वह न-पार्थिवयज्ञ न-पञ्चमयवन्त-विद्वान्निमूयवन्त परिमाणा से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव आधिभौतिक दिव्य (आधिदैविक) अजमानाग्नि (आभ्यास्मिकाग्नि) के सम्बन्ध पर अपनी स्वरूप-सम्पत्ति निर्भर रहने वाला यथातिशयलक्षण देवमाग उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इधमकाष्ठस्य कृष्णाग्नि का दिव्य आहवनीयमाग्नि के साथ सम्बन्ध करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कि इधमकाष्ठानि को मेध्य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण के द्वारा भूतलगत अमेध्यधर्म से पृथक् कर दिया जाता है तो आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह उद्य (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। इसी मेध्य द्रव का 'अग्नये स्वा जुष्ट प्रोक्षामि' इस मन्त्रोचरमाण से स्वीकृत हो रहा है ॥ १ ॥

वेत्ति पर नहीं आस्तरव होता है। नहीं (दम) 'वेन' नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है जो चोरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्मयरूप से प्रतिष्ठित है। पारमेष्ठ्य पानी का जो माग खैर-रश्मियों में प्रविष्ट होकर अपने स्वमानिक आभूतमात्र को प्रोक्षता हुआ ज्योतिर्मय बनता हुआ यज्ञिय बन जाय है, उसी वेन नामक यज्ञिय अप्रतप्त से वर्ये की उत्पत्ति हुई है, वेत्ताकि पूर्व के 'पविश्र करोति' (राव ११।२।१) इत्यादि 'पविश्रब्राह्मण' में वर्जोत्सांत्तविज्ञान' फलार्थे हुए विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है X। दिव्य

५-अथ धनशुचोदयत् पृथिनगर्मा ज्योतिर्जरायु रजसो विमाने ।

इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुष निग्रा मतिमीरिहन्ति ॥

—यजुर्वेद ७।१६।

X—"सर्वत इव अथ समुद्र" । तस्माद् इह का आपो भीमस्ताम्रकिर । ता उपयु पय्येति पत्रुनिर । त इमे दमा । ता ईता अनापूयिता आपः" ।

—शत १।१।२५।

प्रायात्मक दम के इस दिव्यातिशय का वेदिके साथ तमी सम्बन्ध होसकता है, जब कि इष्मिन्प्रोक्षत् पृथिवी की प्रतिहाररूपा वेदि के पार्यिक अग्नि को भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म से पृथक् कर लिया जाय। इस प्रयोजनके लिए ( बर्हिष्मिन् दिव्य प्राणके साथ वेदिसिद्ध कृष्णाग्नि के सम्बन्ध के लिए ) ही इष्मिन्प्रोक्षपानान्तर वेदिक प्रोक्ष किया जाता है। प्रोक्षणमन्त्र है 'वेदिरसि, बर्हिषे त्वा जुष्ट प्रोक्षामि' यह। 'यह वेदि है' इस वाक्य से भूति का तात्पर्य यही है कि यही यज्ञोपाधि का साधन है--। इसी में सो प्रवर्त्य-यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित है। इसे मेध्य बनाना ही प्रोक्षणकर्मोद्देश्य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षपानान्तर बर्हि का प्रोक्ष किया जाता है। बर्हि में भी भूत-प्राण मेद से दो विभाग हैं। फलत इष्मिन्-वेदिकत्-इसका दिव्य आत्म्य अग्नि की भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म से मुक्त है। पवित्र-मेध्य सुक्ष्मात् इस पर तमी रक्त्वं आसक्त है जब कि इसका अमेध्यधर्म हटा दिया जाय। उदर्य ही- बर्हिरसि सुगन्ध्यस्त्वा जुष्ट प्रोक्षामि' मन्त्र से बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है। यह दर्म उस वेन पानी का प्रतिरूप है जिस वेन पानी के बहान से सम्पूर्ण पार्यिक त्रैलोक्य चारों ओर से वेष्टित होप्ता है। पृथिवीरूपा वेदि का दृष्टाकर्म ( वेष्टनकर्म ) वेनरूप दर्म पर ही अवलम्बित है। इसी दृष्टाकर्म के कारण वेनप्रति-रूप-स्थानीय दर्म को अवश्य ही-'बर्हि' कहा जासकता है।

यह में पृथिवी मौलिक पदार्थों में 'भूत-प्राण मे' से दो दो वस्तुएँ हैं। दोनों में भूतमात्र अमात्र है प्राणमात्र मात्र है। भूत अमेध्य है तत्संसर्ग से प्राण की अमेध्य बना रहता है। इस अमेध्यभावनिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षकर्म किया जाता है, और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्मों की उत्पत्ति है। प्रोक्षकर्म होता है-दर्मतृणों के द्वारा-प्रोक्षणीपात्र में रक्त्वं हुए मन्त्रभूत मेध्य पानियों से। दर्मतृण पूर्वकथनानुसार स्वयं पवित्र है। अतएव इन से प्रोक्षण करना अन्वर्थ बनता है ॥३॥

पर्वन्त्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है। पर्वन्त्य के द्वारा आकाश से मरुत-गर्भ से मूलस की ओर आता हुआ पानी थोड़ी देरतक तो भूतल पर दिखाई देता है। परन्तु कुछ ही समय में वह गिरीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि-वनस्पति के मूलों में ही होता है। इसीलिए तो ओषधि-वनस्पतियाँ वहाँ अपने मूलभागों से शुष्क-हल प्रतीत होती हैं वहाँ इनके मूलभाग गीले रहते हैं। यह मूलाद्र ता ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि एक वृक्ष की जड़ों को उखाड़ कर यदि अन्यत्र लगाने की अभिप्राय होती है तो उस वृक्ष की जड़ों को उत्पाटक लोग ( राह-यागवान ) मिट्टी सहित उस भूमि उखाड़ते हैं जिससे उनका मूलाद्र भाग शुष्क न होजाय। इसप्रकार प्राकृतिक यह में सिद्ध पर्वन्त्यदेवता के द्वारा भीचा हुआ पानी ओषधियों के मूलों में ही प्रतिष्ठित रहता है। यह पंचमत्त उषी का प्रतिरूप है। 'यद्दे देवा अक्रुव सततकरवाणि' इस निगम से यहाँ भी प्रोक्षणीपात्र में बचे जल की बर्हि के मूलों में ही डालना न्यायप्राप्त है। यह विश्वास करने योग्य बात है कि यहकर्म में जो जो अतिशय उत्पन्न होते हैं उन सबका फलभोक्ता यद्यमान ही बनता है। यैव कि 'तद्दे तद्वाहस यथाधि' इत्यादि रूप से अनुपद में ही

— "त-पञ्च-वधामन्वविन्दन् । यत्-वेद्या-अन्वविन्दन् , तत्-वदर्वेदिषम् " ।

—प्रतरयमाहण ३।६।

यही मृम्याग्नि प्रतिरूपमर्प्यादा से यहाँ वो आहवनीयस्तर में प्रतिष्ठित है एवं उस प्राकृतिक स्तर में  
आ अनीयस्तर-स्थानीय सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव 'आहवनीये स्तरे तिष्ठति' इस निबन्धन से  
इसे आसरेष्टा नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त काष्ठद्वि से भी इस नाम का  
सम्बन्ध किया जासकता है। 'आ-समन्तात् स्तरे-कठिने वृक्षे-काष्ठे-तिष्ठति' इस निबन्धन से भी  
(महीचरसाम्य) इधमकाष्ठस्य इध्माम्नि को आसरेष्टा कहना अत्यन्त सन्तुष्ट है। इध्म में मूल-वृक्ष  
मेव दो माग प्रसिद्धि है। भूतमाग काष्ठरूप से प्रत्यक्ष इत है, साथ ही इसका दिव्यातिशयसूक्त, यह वे  
कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि (प्राणाम्नि) का जो इध्मो रूपरूप से  
(अप्रत्यक्षरूप से) प्रतिष्ठित रहता हुआ 'आसरेष्टा' बन रहा है। यही सङ्गमनीय है। भूतमाग प्राण  
सम्बन्ध का निरोध माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवप्राण में अग्नेय (असंगमनीय) धर्म का समावेश  
होना है। काष्ठ स्थित इध्माम्नि के भूतसंगमनित इसी अग्नेयप्राण को इध्म के लिए 'कृष्णोऽस्य-  
स्तरेष्ट' यह मन्त्र बोलते हुए 'धम' का प्रोक्षण किया जाता है। अतएव यह प्रोक्षणकर्म नहीं कर लिया जाता  
तकतक इस इध्मस्थित इध्माम्नि का उस दिव्याग्नि प्रतिरूप आहवनीयस्थानि के साथ अन्तर्धाम्नि-सम्बन्ध  
नहीं होसकता। एवं अतएव पार्थिव अग्नि का दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होना ही स्वतन्त्र अग्नि-  
पार्थिवयज्ञ न-यज्ञमयजन्त-विद्वान्निमयजन्त परिमाणा से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव आधिभौतिक,  
विष्य (आधिदैविक) अजुमानाग्नि (आध्यात्मिकाग्नि) के सम्बन्ध पर अपनी स्वरूप-सम्पत्ति निर्भर रखने  
वाला महाविशालक्ष्मण देवताका उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इध्मकाष्ठस्य इध्माम्नि का  
दिव्य आहवनीयस्थानि के साथ सम्बन्ध करना आवश्यक है। यह हमी सम्भव है जब कि इध्मकाष्ठानि को  
मैथ्य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण के द्वारा भूतानुगत अग्नेयधर्म से पूरक कर दिया जाता है तो  
आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह जुह (सम्बन्धयोग्य) बन जाता है। इसी मैथ्य-फल का 'अग्नये वा  
जुष्ट प्रोक्षामि' इस मन्त्रोक्तमाग से स्पष्टीकरण हो रहा है ॥ १ ॥

वेदि पर जहाँ का आस्तरण होता है। वहाँ (दम) 'वेन' नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है जो  
सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्मयरूप से प्रतिष्ठित है। पारमेष्ठ्य पानी का जो भाग सौर-धर्मियों  
में प्रक्षिप्त होकर अपने स्वभाविक आधुनिकता को ब्रह्मा ज्योतिर्मय बनता हुआ बहिन बन जाता है,  
उसी वेन नामक मन्त्रिय अर्पणतल से धर्म की उत्पत्ति हुई है, जिसके पूर्व के 'पार्थिव करोति' (यत् ११।१।१)  
इत्यादि 'पार्थिवब्राह्मण' में दमोत्पत्तिविधानों बतलाते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाना है। दिव्य

१-अथ धनश्चोदयन् पुरिनगर्भा ज्योतिर्वरायु रजसो विमाने ।

इममर्पा सङ्गमे ख्यस्य शिशुम विप्रा मतिमीरिहन्ति ॥

—सजुःसंहिता ७।१६।

X—"मर्वत इव स्यं समुद्र" । तस्मात्तु है का आपो बीमत्साञ्जकिर । ता उपय्यु पर्यंति  
पप्र निर । त इमे दमा । ता ईता अनापुषिता आप" ।

—रत्न ७ भा. १।१।१।१।

प्राणु(७) रक्षाक करण है। 'बृहतीप्राण' नाम से प्रसिद्ध इस वैश्वामित्र, प्राणु प्राण का आगमन इसी प्राणसंस्था लन-क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आध्यात्मिक प्राण, तथा उस सूर्य केन्द्रस्थ अधिदैविक प्राण इन दोनों के मध्य में अवलनघर्षों साम्यप्राण का आगमन होजाता है, तत्काल प्राणसूत्र विच्छिन्न होजाता है प्राण का ब्रह्मात्म दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना शक्य होजाता है, पञ्चतन् निघन होजाता है। इस निघन का अव-गोचर प्राणगमनतामनलक्षण यही वैनावनयक है, जिसे यज्ञपरिभाषा में 'अहरहर्षक' (८) कहा गया है।

ब्रह्माया गया है कि 'बृहती' नामक, प्राणु स्वरूपसमर्पक वह दिव्य सौरप्राण शिखान्तस्थानस्थित मार्ग से निष्कसर महापथ के द्वारा स्वप्रभव सूर्य से सम्बन्ध करता है। यही शिखान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्रे' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इसे ही \* विहतिद्या' (द्वारा) नान्दनद्या (द्वार) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। मस्तश्च केरों का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमररूप से एक स्थान पर अवसान होता है। जहाँ यह अवसानकिन्तु है यही एक सुखस्म द्वार होता है। यही द्वार तब वैश्वामित्र प्राणुप्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सौर-दिव्यप्राण का प्रवर्णा श है। अतएव सूर्यविरोधी तमो मय आसुरप्राण का इस दिव्य सौरप्राण के साथ स्वाभाविक विराध है। लौहधातु में

७- 'तमिन्द्र उवाच-ऋषे ! प्रिय वै मे कामोपागाः । वर त ददामि-इति । स हावाच त्वामेव जानीयां, इति । तमिन्द्र उवाच-प्राणो वा अहमस्मि-ऋषे !, प्राणस्त्वं, प्राण सर्वाण्य भूतानि, प्राणो ऋषे य एष तपति । स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तव्य मऽस्य मित्र दक्षिणम् । 'तद्वैश्वामित्रेश तपन्नेवास्मि' इति हावाच । तदा इदं ब्रह्मी-सहस्र सम्पन्नम् । तस्य वा एतस्य ब्रह्मी सहस्रस्य-सम्पन्नस्य पद्त्रिंशतमचराणां सहस्राणि ( ३६००० ) भवन्ति । तत्त्वन्ति शतसम्बत्सराणां-सहस्राणि भवन्ति । परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः सम्भूय देवता अप्येति । तयोऽहं-सोऽसौ, योऽमौ-सोऽहम्' ।

—त० भा० १।२।४

८- 'अहरर्षाऽएष यज्ञस्तापते, अहरह सन्तिष्ठते, अहरहनेन स्वर्गस्य लोकस्य गतये युक्ते, अहरहनेनेन स्वर्ग लोकं गच्छति' ।

—रा० ६।४ प्र० १ भा० १५ कं ।

\* 'स एतमेव सीमान विदार्य, एतया द्वारा प्रापयत । सैषा विहतिर्नाम द्वा । तदवमानन्दनम्' [ ऐ० भा० २।४।३ ] ।

से स्वरूप और दिव्येन्द्रप्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यदि शिखाग्रक घोम का ( सोमाहुति का ) सम्बन्ध न रहे, तो तत्काल औरतस्था उन्मिष होजाय।

इसी उक्त-स्वरूपलक्षण आधिदैविक यज्ञपुरुष के अनुरूप आध्यात्मिक यज्ञपुरुष का स्वरूप—निर्माण हुआ है। सम्बत्सरयज्ञ के दक्षिण पार्श्व से इस के मेरुदण्ड से आरम्भ कर हृदय-रेखापर्यन्त दक्षिण पार्श्व का वामपार्श्व से मेरुमयङ्गल से आरम्भ कर हृदयरैखापर्यन्त वाम पार्श्व का तथा मध्याह्नस्यानीम विषुवप्राण से मेरुदण्ड का निर्माण हुआ है। स्तोमविज्ञानानुसार बिहृत्-संस्तरभाग से पाद भाग का पञ्चदशमान से मध्याह्न का एकविंशभाग से शिरोभाग का निर्माण हुआ है। इसी में और-इन्द्रमान प्रलिखित है जो शिखान्तरवान से निकल कर शिरोविन्दु से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र पर्यन्त वितर (४) सहाय्य के माससे सूर्य-केन्द्रपर्यन्त एक निमेषमात्र में तीन बार आता जाता है (५)। यही प्राणगमनागमन रातपु का प्रसक्त माना गया है। सूर्यारेषत मनःप्राणवाङ्मय (६) ११०० संस्कारमक 'आयु' नामक मनीषा का आगमन है।

४-अणु पन्था पिततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुविचो मयैव ।

तेन धीरा अपिपयन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित् कर्त्तुं विमुक्ताः ॥

तस्मिन्ब्रह्मस्तद्वत् नीलमाहु पित्रस्त इरित लोहित च ।

एष पन्था ब्रह्मणा हनुविगस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्-सैवसश्च ॥

—हु० आ० ३।४।४।५।६

५ आविः सन्निहित गुहाधर नाम महत्पदमग्रैतस्ममर्पितम् ।

एजत् प्राखत् निमिषञ्च यदेतज्ज्ञानञ्च सदसद्गरेण्यं पर विज्ञानाद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥

—मुण्डकोपनिषत् ॥२१॥

तस्यैष आदेशो यदेतत्-विद्यतो व्ययमदा ३ इति, न्यमीमिषदा ३-  
इत्यधिदैवतम् ( केनोपनिषत् २६ ) ।

त्रिर्यन्निमेष परिदिष्टिवे ।

६-“तदास्मानमन्वैच्छत्, तत्तपोऽवप्यत्, तत् प्रामूञ्छत् तत् षट्त्रिंशत् तदसा-  
स्यपरयदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्, प्राणमयान्, वाङ्मयान्” ।

। —रात० १०।४ प्र० १ भा०



अथु(७) रक्षा का कारण है। 'बृहतीप्राण' नाम से प्रसिद्ध इस शैश्वामित्र, आयु प्राण का आगमन इसी प्राणसत्त्वा जन-क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आध्यात्मिक प्राण, तथा उस सूर्य केन्द्रस्थ आधिभौतिक प्राण इन दोनों के मध्य में अवसानघर्षों याम्यप्राण का आगमन होता है तत्काल प्राण सृज विच्छिन्न होता है, प्राण को उत्पन्न दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना बन्द होता है, फलतः निधन होता है। इस निधन का अव-शेषक प्राणगमनागमनसत्क्षण वही वैनायनयज्ञ है जिसे यज्ञपरिभाषा में 'अहरह्यज्ञ' (८) कहा गया है।

इत्यादि गथा है कि 'बृहती' नामक, आयु स्वरूपस्मरक वह दिव्य सौरप्राण गिज्ञान्तरस्थानस्थित माग से निष्कलकर महापथ के द्वारा स्वप्रमथ सूर्य से सम्बन्ध करता है। वही गिज्ञान्तरस्थान 'महर्षि' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानमाया में इस ही ० विहृतिज्ञ' (द्वारा) 'नान्वनज्ञ' (द्वारा) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। मस्तइस्य केन्द्रों का ऊर्ध्व प्रदेश में अमररूप से एक स्थान पर अवसान होता है। वहाँ यह अवसानकिन्दु है, वही एक सुधुत्तम द्वार होता है। यही द्वार उस वैश्वामित्र आयुप्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सौर-दिव्यप्राण का प्रचर्या श है। अतएव मूर्त्यविरोधी तमो-मय आसुरप्राण का इस दिव्य सौरप्राण का साथ स्वाभाविक विराध है। लौहधातु में

७-“तमिन्द्र उवाच-श्रुपे ! प्रिय वै मे घामोपागाः । वर ते ददामि-इति । स हावाच त्वामेव जानीयां, इति । तमिन्द्र उवाच-प्राणो वा अहमस्मि-श्रुपे !, प्राणस्त्व, प्राण सर्वाणि भूतानि, प्राणो ऋषे य एष तपति । स एतन रूपस्य सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि । तस्य मञ्ज मित्र दक्षिणम् । “तद्वैश्वामित्रेण तपन्नेवास्मि” इति हावाच । तदा इद बृहती-सहस्र सम्पन्नम् । तस्य वा एतस्य बृहती सहस्रस्य-सम्पन्नस्य पट्विशतमचराणां सहस्राणि ( ३६००० ) भवन्ति । त्वन्ति शतसम्यत्सराहा-सहस्राणि भवन्ति । परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमय सम्भूय दधता अप्येति । तद्योऽहं-सोऽमो, योऽमो-सोऽहम्” ।

—भा० आ० २१।४

८-“अहरहर्वाऽप्य यज्ञस्तापते, अहरह सन्तिष्ठते, अहरहरेनेन स्वगस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहरेनेन स्वर्ग लोक गच्छति” ।

—शत० ६।४ प्र २ भा १२ कं ।

९ “स एतमेव सीमान विदार्थ्य, एतया द्वारा प्रापयत । सैषा विदतिर्नाम दा । तदसन्नानन्दनम्” [ ऐ० आ० २।४।३ ] ।

आयुर्वेदशास्त्र की प्रधानता रहती है। इस चौराकर में लोह-सुरिका का उपयोग होता है। इस में रहने वाले आयुर्वेद के स्पर्श से उस विषयशास्त्र को रहाने के लिए ही परम वैज्ञानिक महर्षियों ने केवल न्यान पर शिक्षाधारण आवश्यक माना है, जोकि शिक्षाधारण आर्यधर्म के अनुगामी भारतीयों की महत्ता, तथा स्थानानुगमिता ही प्रकट कर रहा है।

यह तो शिक्षाधारण का एक प्राकृतिक प्रयोगन बतलाया गया। दूसरा प्रयोगन है—प्रतिस्वमर्त्यादा से वैषम्यर्त्यादा का अनुगमन। प्राकृतिक महपुरुष जब यूपरूप शिल्पा से युक्त है तो यक्रमण का अनुगमन करने वाली, तथा महपुरुष से कदाचरेण उत्पन्न होने वाली आघमका को भी अपनी अध्यात्मस्था (धर्मी) का वैद्य ही नृत्य आकार रखना चाहिए। वैद्यो भूत्वा वैषं भावयेत् का भी यही रहस्य है। आध्यात्मिक महपुरुष के भीतर भीतर पर तो आध्यात्मिक महपुरुष में स्थित है। परन्तु यूपस्थानीया शिल्पा स्स्थित है। अतः यूपकृतिक केवलभाग में इस का भी प्रतिकल्प-मर्त्यादा से अवश्य ही समावेश होना चाहिए।

शिक्षा-धारण से जहाँ आर्यधर्मात्मवर्षिणी महमर्त्यादा की रक्षा होती है वहाँ विषयशास्त्र-रक्षापूर्वक विज्ञान भी सुरक्षित, तथा पुष्पित-फलित होता है। विज्ञान राज्य शक्ति की परिभाषा ने आध्यात्मिक उस नित्यविज्ञान का ही सूचक है जिसके परिज्ञान एवं अनुज्ञान से राज-अधुन-निर्भर्य स्वप्तिर्वा प्राप्त होती है। अतएव जो वास्तविक शिल्पा नहीं रहती, अध्यात्म तो जो भारतीय कलाके द्वारा 'स्वस्थानकर्म' का महत्त्व न समझती हुई कल्पित, विषयी-विषयमय तन्त्र वीर्य्य का मोक्षकर शिक्षाधारण को व्यर्थ का आङ्गभर समझती हैं उनका विज्ञान (शक्ति) मन्त्र ही मौलिक, नारायणशास्त्रिक अथवा आध्यात्मिक विज्ञान में निरुपलब्ध प्राप्त करते। परन्तु "नित्यं विज्ञानमनन्तं जगत्" की परिभाषा से तो वे कदाचित् ही रह जाती हैं। जिन्हें यह वज्रना स्वीकृत है, वे मन्त्र ही शिक्षा को 'शस्त्र' (संज्ञा) का धारण समझें। परन्तु जो वास्तव में 'शस्त्र' (सुख) का मन्त्र समझने वाले हैं वे भारतीय तो अपनी शिक्षा-रक्षा को जालीयता, धर्म, विज्ञानशक्ति आदि का ही उपोद्भूतक मानेंगे।

वेदशास्त्र पर अतन्त्र निष्ठा रखने वालों के लिए तो उस दृष्टा में उपपत्ति-विज्ञाता का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता जबकि—'तत्त्वोपपत्तिः शिक्षा स्तुपः'। इसादि-रूप से स्वयं भुक्ति भोगशील शिक्षाधारण को आवश्यक कर्म मानने का आदेश दे रही है। प्रकृत प्राकृतिक जगत् का हम वर्तमान विद्यो महत्त्व दे रहे हैं कि आद्य नवविज्ञाता की परिष्कृतशक्ति के क्षेत्र में शिक्षा-सुधादि विद्या को लेकर बड़ा कलाहल मचा हुआ है। विद्योता शिल्पा के निष्कारण का तो अनुगमन हो रहा है। हम समझते हैं ऐसी दुष्टशक्ति आर्यधर्मशक्ति के अन्तर्गत ही ही सूचना देम वाली है। इसलिये हम उन साधनात् पुराणों में निवेदन करेंगे कि वे अपने इन लाभमय तथा गौरवपूर्ण विद्य की रक्षा करने में ही अपना लाभ तथा धारण समझने का अनुभव करेंगे।

आग्निदैविक-यज्ञपुरुष से आध्यात्मिक-यज्ञ की स्वरूपनिश्चिति हुई है, एवं आध्यात्मिक-यज्ञ से इस आधिभौतिक-यज्ञपुरुष (पुरुषप्रयत्नसाम्य वैधयज्ञ) का विस्तार हो रहा है। जब दोनों यज्ञपुरुष शिला से युक्त हैं, तो प्रतिपद उर्द्धा की अनुरूपता से सम्बन्ध रखने वाले इस वैधयज्ञमें भी शिला-स्थापन होना ही चाहिए। इस यज्ञ से जो यज्ञातिशयरूप दैवपुरुष (दैवामा) उत्पन्न होने वाला है, वह शिला से शाल्य खाता हुआ पिब्यमाण के विज्ञान से वञ्चित न रहे चाय, अतएव यहाँ प्रस्तरग्रहण किया जाता है। प्रस्तर दर्भमुष्टि है। दर्भ वेनलक्ष्ण सोम्य आशोमय वत्त है। सोम ही शिला है, क्योंकि पूर्व में वतखाया जा चुका है। उसी सा-दृश्य से दर्भमु-पुरुष प्रस्तर को अर्थश्रय ही शिला का निधान माना जासकता है। विष्णोः स्तोपोऽसि यह प्रस्तर-मह्य का मन्त्र है। विष्णु यज्ञपुरुष है। इसके पूर्वभाग में (शिरोभाग) व ही प्रकृतिक में स्तुप (शिला) प्रोत्थिष्ठ है। अतः प्रस्तर का ग्रहण भी पुगस्तान् ही होता है ॥१॥

### इति प्रस्तरगू हणोपपत्तिः

### अथ—सन्नहनविसंमन स्थापनापपत्तिः—

जो बर्हि वेदि पर विद्वान के सिद्ध संघीत है, वे सन्नहन' नामक रखें स वैधी रहती हैं। गाँठ धान कर पहिले तो इस बर्हि-संघात से प्रस्तर (स्तुप) ले लिया जाता है। अनन्तर इस सन्नहन (कर्वनरखु) का बर्हि सपात से पुष्पक कर लिया जाता है। यह सम्यक् रखने की बात है कि, जिस वेदि पर बर्हि का आस्त-रण होने वाला है, वह इयान्स्थानीय देवताओं की (यज्ञपुरुष की) योग्य (पत्नी) है। इसी के सम्मुखभाष से वैवर्तमलक्ष्ण अस्मय उत्पन्न होने वाला है। प्रजननक्रिया में नीवीकचन प्रतिश्रवक है। इधर सन्नहनरखु इस योग्य (वेदि) की नीवीस्थानीया है। क्योंकि अत्र प्रजननकर्म होने वाला है, अतः इन कर्वन का पुष्पक करना ही प्रकृत्या सुवह्यत है।

कर्वन का पुष्पक कर इसे वेदि के दक्षिण ओष्ठिप्रदर्श पर स्पर्शा जाता है। क्योंकि बर्हि कर्वन प्रति-रूपमन्त्रात् स नीवी है। उधर नीवीकचन लौकिक्यवक्षर में दक्षिण ओष्ठि पर ही रहता है साथ ही बर्हि वेदन कर्वन स रैका भी रहता है। कम्पास्तान की अपेक्षा पुगस्तान कर्व (पितृशृण माचन की दृष्टि से) विशेष महत्त्व माना गया है। दक्षिण भाग अग्निप्रधान कर्ता हुआ पुरुषप्रधान है, वामभाग नामप्रधान बनता हुआ अग्निप्रधान है। अतएव महर्हि चरकादि न गर्भाधान-संस्कारकाल में पति के दक्षिण पर से ही गर्भ्याम् होना आवश्यक माना है। इधर इस यज्ञ से भी वैवर्तमलक्ष्ण पुरुषविष संस्तान का ही प्रजनन अपेक्षित है। अतः अग्निप्रधान दक्षिण ओष्ठि पर ही सन्नहन रखना उचित है। नीवीकचन शिष्टप्रस्थादा के अनुसार रैका रहता है। अतः यहाँ भी उसी मर्यादा का अनुगमन किया जाता है ॥२॥

### अथ—वर्हिस्तरणोपपत्तिः—

कहा गया है कि, इस यज्ञकर्म में पहीत प्रस्तर शिला-स्थानीय है। सर्व शरीरयवों का प्रतिरूप मर्यादा से संसद् होमया शिलाधारण प्रस्तर से गतार्थ बन गया। अत्र व फर्रा-लोम पच रहते हैं जो शिला

के अग्रभाग में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी केयु ओषधस्मृति के संग्रह के लिए यहाँ प्रक्षिप्त-मर्म्यादा से बर्हि विद्यार्थि जाती है यही 'बर्हिस्तरण' की एक उपपत्ति है ॥७॥

वेदि को योषा-[स्त्री]-स्थानीय बतलाया गया है। शिष्यपार का यह आग्रह है कि कुलीन स्त्री यदि किसी आवश्यक धर्मकर्म से ग्रहणरूप मण्डली में बैठे तो अपने सर्वज्ञरायीर को टाँक कर बड़े भिनव, तथा हावा-मान से ही युक्त रहे। यहाँ वैदिकयुग स्त्री प्राकृतिक प्रायश्चित्तभेद, तथा कस्तूरालक श्रुतिबो की मयकली में प्रतिष्ठित है। अतः आश्रयक है कि, इसे न्यून [निर्लक्ष्य] न रहने दिया जाय। इसलिये भी वेदि पर बर्हि विद्याना आवश्यक है। बर्हिस्तुल्य श्री यही वृत्ती उपपत्ति है ॥८॥

वेदि जैसे निदानेन योषा (स्त्री) है जैसे निदानेन वह पृथिवी भी योषा ही है। पृथिवी के उर्वर, उत्तर मेद से दो विभाग होते हैं। निर्ध्वंश नामक वरिष्ठवेता (अलक्ष्मी भूमावती अवरोहिणी ज्येष्ठ) के निग्रह से स्रवादि-प्रबलन के अयोग्य, बृत्-विद्युत भूप्रदेश उत्तर है। एवं 'रोहिणी नामक मानवेक्य (क्षेत्री, कमला) के अनुग्रह से स्रवादि-बहुल सम भूप्रदेश उत्तर है बहुल-ओषधियुक्त भूप्रदेश ही मोक्षम माना गया है। जो पृथिवी का प्रवेश यहाँ वदिरूप से एही है वह इस यज्ञार्थ यजमान के लिए बहुल ओषधि-वनस्पति से युक्त बनता हुआ जीवनीयतम क्षेत्र इसी लक्ष्य से इस पर ओषधि-कल्पना के प्रतिक्रम बर्हि विद्याए जाते हैं। यज्ञकर्म में यजमान के निमित्त निदानविधि से श्रुतिक् लोग विष तम्पति का संग्रह करते हैं अवश्यमेव यावद्विष तावदात्मना इस औष विद्यान्त के अनुसर वह यजमान की प्रादिरिक तम्पति बन जाती है। यही बर्हिस्तरण की तीसरी उपपत्ति है ॥९॥

पृथिवी के त्रिस भाग में बितनी अधिक ओषधियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं वह भाग उतना ही अधिक उपजाऊ कदाता है। वही उपजीवनीयतम (मोक्षतम) प्रवेश माना गया है। इस तम्पति के लिए बर्हि उस मात्रा से विद्यार्थि जाती है, जिससे वेदि का प्रवेश अप्रत्यक्ष होजाय। ओषधिमूल भूगर्भ में ही प्रविष्ट रहते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के समतुलन के लिए बर्हि के अग्रभागों से द्वितीय-तृतीय दमभुजि के मूलभागों को टपा दिया जाता है जिससे वेदताओं के विह्वल्य की स्वरूप-निष्पत्ति के लिए ही स्तरणकर्म विहित है। उची विद्वानुगता बहसम्पत्ति के लिए तीन बार स्तरण होता है ॥१०॥

'अर्धवसं त्वा तृणामि स्वास्तस्थां देवेभ्यः' यह स्तरण-कर्मवाचक मन्त्र है। मन्त्र का भाव यही है कि यद्यपि दर्शनय का आस्तरण होता है तथापि माकना ऐसी रस्ती वादिष्ट कि, मानो हम वेदि पर बैठने वाले प्रायश्चित्तभेदों के लिए कीमत्तत्वा से युक्त आसन ही विद्या रहे हैं। 'अम्य को अम्य माकना से बचना यही तो निदान है। एवं माकनात्मक निदान ही तो हमारे कर्मों की भेद्यता का मूलाधार है ॥११॥

## इति-बर्हिस्तरणोपपत्ति

### अथ-अग्निक्लोपपत्ति —

कहा गया है कि गन्धतत्वात्मक यज्ञपुत्र का एकविंशत्योमा मक व प्रवेश शिरोभाग है। यही आहवनीययुगल निदानेन इन वैषयक का शिरोभाग है। शिरोभागम्ब मूलभाग में आहुति-भादक समाराधन

प्रतिष्ठित रहता है। कर्त्तृस्थान में यहाँ आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित आहवनीयाग्नि है। यदि अग्नि प्रवृत्त रहता है तो आहुत अन्न की आकषण, दहन पचनादि क्रिया ठीक ठीक होती है। अग्निमान्य में ये क्रियाएँ निरस्त रहती हैं। परिणामतः पुष्टि तृष्टि, वृष्ट वल वीर्यादि का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि, शिरोमानापलक्षित मुन्निस्थित आहुतिप्राहक आहवनीयाग्नि का आहुतिद्रव्य के आकर्षणादि के लिए द्रव्यग्रह से मन्त्राणि हटा कर प्रवृत्त बना लिया जाय। यक्षपुरुष का पूणस्वरूप शिन्वा पर्यन्त माना गया है। इधर कुण्डमुष्टिपक्षण प्रस्तर इस वैभवयक्षपुरुष की शिन्वा है। अतः प्रस्तररूप शिन्वा का आहवनीय के ऊपर सम्म्वव बनाते हुए पूणरूपण यह प्रवृत्तीकरण श्रिया जाता है ॥२॥

## इति-अग्निकल्पोपपत्ति

### अथ-परिधिपरिधानोपपत्ति —

बिन तीन परिधिया का आहवनीयकुण्ड के पश्चिम-दक्षिण-उत्तरप्रात भागों में क्रमशः स्थापन होता है उन का विरुद्ध वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के 'आप्त्याधिष्ठान' में (शतपथब्राह्मण-प्रथमब्राह्मण में) किया जा चुका है। अग्निरूपस्थिता विज्ञानोर्गे अनेकधा विभक्त अग्नि के चार रूपों का प्रत्यक्ष किया। एवं 'वी आचार पर 'चतुर्धा विहितो ह वा अग्ने अग्निरास यह अनुगम-वचन प्रतिष्ठित हुआ। उन सब अग्निविधियों का उक्त आप्त्याध्याकरण में निगूहण करया जा चुका है। प्रकृत प्रकरण के समन्वय के लिए यह आवश्यक होगा कि पाठक एक बार वह प्रकरण अपने लक्ष्य में ले आवें। यहाँ प्रकरण-सङ्घटि के लिए दो शब्दों में उन का विहावलोकनमात्र कर लिया जाता है।

'पुरुषाग्नि प्राकृताग्नि विराडग्नि सम्प्रत्सरग्नि इन चार अग्नियों में से चौथा सम्प्रत्सरग्नि ही इस कथानक का मूलाधार है। इस सम्प्रत्सरग्नि को ही 'भूतानां पति' कहा गया है। इस 'भूतानां पति' सम्प्रत्सरग्नि की ही आगे जाकर चार अवस्थाएँ हावानी हैं बिन के लिए—'चतुर्धा विहितो ह वा अग्नेऽग्निरास यह कहा गया है। सम्प्रत्सरचक्र और पार्थिव भेद से १ भागों में विभक्त है। पार्थिव सम्प्रत्सरचक्र गायत्राग्निप्रधान है, एवं सौर सम्प्रत्सरचक्र सावित्राग्निप्रधान है। प्रकृत में केवल पार्थिवान्निमम्बन्धी पार्थिवसम्प्रत्सरचक्र के साथ ही अग्नि की अवस्थानुवृत्ति का सम्बन्ध समझना चाहिए।

भूविष्ट के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि 'अन्नाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी अन्नाग्नि को 'रुद्र' कहा जाता है। इसी रुद्राग्नि की अङ्गणवितान से आगे जाकर चार अवस्थाएँ हावानी हैं। इन चार पार्थिव सम्प्रत्सराग्नियों में एक ही पार्थिव यक्ष होता बनते हैं। शय तीन अग्नि आप्त्या रूप में परिणत होकर

ॐ "अस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां पति सम्प्रत्सरायाम्निधन्त । भूतानां पतिगृहपतिरामीन्द्र उषा पत्नी । तद्यानि तानि भूतानि-श्रुतवन्त । अथ य म भूतानां पति, सम्प्रत्सर स" (शत ६१ अ० १२ प्रा ६७ अ०) ।

इस अग्नि की परिधिमाँ बने रहते हैं। पार्थिव प्रजापति-अग्नि की गृहपति सम्बन्धसर मेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। गृहपति अग्नि भूषिण्ड में अभावकृत्य से प्रतिष्ठित रहता है एवं सम्बन्धरग्नि पार्थिव सम्बन्धर में प्रतिष्ठित रहता है। भूषिण्डरूप पार्थिव अग्नि की उक्त्य-अर्क मेद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। मूत्रेन्द्र में प्रतिष्ठित 'अनिरुक्तप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध इस अग्नि उक्त्यप्रभव बनता हुआ 'उक्त्य' नाम से प्रसिद्ध है। यही इस उक्त्य प्रजापति (यजमान) है। पार्थिव उक्त्य इस की फली है। "इसी दोनों के सम्बन्धमान से पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्त्य से अर्क-(रश्मियाँ) निकला करत हैं। मूत्रेन्द्ररूप उक्त्याग्नि की प्राणाग्नि रश्मियाँ उक्त्य से निकल कर बड़ी दूर पर्यन्त आप्त रहती हैं। जहाँतक यह अर्कमक प्राणाग्नि व्याप्त रहता है वहाँतक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है जोकि सीमा सामपरिभाषा में 'रथस्तरस्साम' नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्ररूप उक्त्य नामक इस गृहपति प्रजापति-अग्नि से अर्ककृत्य में परिवर्त होने वाले इस प्राणाग्नि की आगे जाकर पार्थिव अग्नि सम्बन्धररग्नि मेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। भूषिण्डावस्थित बड़ी प्राणाग्नि (अर्काम्) पार्थिव अग्नि है, एवं इसे ही 'भूपति' कहा जाता है। भूमिमावस्थित बड़ी अर्काम्ने सम्बन्धररग्नि है एवं-उसे ही पूर्व कथनानुसार 'भूतानांपति' कहा जाता है। भूमिमावस्थित वस्तु-कारमण्डल से सम्बन्ध है एवं अग्नि के सम्बन्ध से इस वस्तुकार के ११ अङ्गों में से २१ अङ्ग वस्तुहीत हैं। मृषिण्ड से आरम्भकर २१ वें अङ्गगणपर्यन्त को भूमिमा-प्रदेश है बड़ी सम्बन्धररक्त है। इस पार्थिव सम्बन्धररक्त में ही वह पार्थिव प्राणाग्निविषय सम्बन्धरग्नि प्रतिष्ठित है।

'भूतानांपति' नामक सम्पूर्ण सम्बन्धररक्त में एककृत्य में प्रतिष्ठित अवस्थित 'सम्बन्धरप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध इस भूमिमाग्नि के आगे जाकर क्रमशः पार्थिव-विष्टुत् (६), पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोम मेद से तीन मेद हो जाते हैं। एकविंशस्तोमावस्थित वस्तुप्रदेश में प्रतिष्ठित बड़ी भूतानांपति 'भूतानांपति' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवविज्ञानानुसार 'आदित्य' कहा जाता है। पञ्चदश-स्तोमावस्थित अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित बड़ी भूतानांपति: 'मुषनपति' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिमाया में-वायु कहा जाता है। एवं विष्टुत्स्तोमावस्थित पृथिवी-प्रदेश में प्रतिष्ठित बड़ी भूतानांपति: 'मुषपति' नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिमाया में 'अग्नि' कहा जाता है। इसप्रकार स्तोममेद से पार्थिव सम्बन्धररक्त में तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ एक ही सम्बन्धरग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यही निष्पन्न कि मृषिण्डकेन्द्ररूप गृहपति अग्नि के उक्त्यरूप के आधार पर 'भूषिण्ड विष्टुत्-पञ्चदश-एकविंशस्तोम' इन चार प्रदेशों में विभक्त अर्काम्ने के 'भूपति' मुषपति मुषनपति भूतानांपति' व चार रूप हो जाते हैं। इसी चारों को लक्ष्य में रखकर 'चतुर्धा विहितो ह वा अग्निरास' यह कहा गया है।

भूमिमाग्निः—[१ भूपतिः—भूषिण्डावस्थितः अर्कविषय—अग्नि]

सम्बन्धरग्निः—  
 २-मुषपतिः—पृथिवीवस्थितः — " —अग्निः  
 ३-मुषनपतिः—अन्तरिक्षावस्थितः — —वायु  
 ४-भूतानांपतिः—पृथिवीवस्थितः — —आदित्य

अग्निप्रदेशः स्तोमावस्थितः

विष्टुत्-पञ्चदश

एकविंश-उक्त्य

प्रश्न यह है कि, अक्षत्रिब उक्त चारों अग्नियां में से पार्थिव गृहपति यजमान के पार्थिव हविर्गृह—  
में होता हीन सा अग्नि बनता है !। आप्त्याविज्ञान में एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान हुआ है । पार्थिव  
सम्बन्धैवान्तर में व्याप्त त्रिविधा सम्बन्धराशिनिश्रयी इसकर्म में असमय है । क्योंकि इसका भूषण से अन्तर्ध्याम-  
सम्बन्ध सुरक्षित नहीं रहने पाता । कारण इन का यही है कि—‘समुद्रममित’ पिन्धमानम्’ इस मन्त्रार्थान-  
क अनुसार भूषण चारों ओर से अणवसमुद्र से वष्टित है । इस अप्रपञ्च के सम्बन्ध से तत्पक्ष सम्बन्ध-  
निश्रयी का योग्ययजमान में अन्तर्ध्याम—सम्बन्ध नहीं होने पाता । आरम्भ में एकरूप से प्रतिष्ठित तीनों  
सम्बन्धविरुद्ध प्राणानि इस अप्रपञ्च के गम में खोते जाते हैं । अतएव इन का भूषण से अन्तर्ध्याम—  
सम्बन्ध नहीं रहता । सम्बन्ध रहता है—उस मीम प्राणानि का ही बिसे गायत्र-अग्नि भी कहा जाता है ।  
यही अपने प्रति च प्रेति जात्राह’ नक्षत्रे तृतीय शु से सोमापहरण में भी समर्थ होता है, एवं पार्थिव  
देवताओं के यज्ञ के ‘होत्र-कर्म’ का भी सम्बन्ध करता है ।

साम्प्रतिक—अग्निजयी न क्या नहीं इस कर्म को अपनाया, इस का उत्तर है—वपट्कार। भूयिष्ठ की अपनी एक वाक मयी सीमा है। वही वाक्सीमा वपट्कार नाम से प्रसिद्ध है। इस मान-वपट्कारसीमा में वही अग्नि अन्तर्म्याम-सम्भव से प्रतिष्ठित रह सकता है जो भूमि की प्रातिस्विक वस्तु बना रहता है। सम्प्रतः अग्नि का इस वपट्कार सीमा से सम्भव आकर रहता है परन्तु यह उस में प्रतिष्ठित नहीं होसकता। इसी प्राकृतिक स्थिति का आस्वादनरूप से निरूपण करते हुए भुति ने कहा है कि, तीन अग्नि पलायित होकर (माग कर) पानी (अर्थावसमुद्र) में वा ध्रुप एव एक अग्नि (गायत्र) न 'होत्र-कर्म' करना स्वीकार किया।

होयकर्म में नियुक्त गायत्राग्नि इस सम्बत्सगग्नि क लक्ष्योपयोग से सर्वथा बध्तिन रहता है, तथा सम्बत्स-  
गग्नित्रयीयों को पार्थिववज्र का कोह पछा मी नहीं मिलता यह बात नहीं है। जब गायत्राग्नि शुलोक्त्य  
देवताओं के समीप हवि लेकर पहुँचते हैं— तो अर्थात् समुद्र में स्थात आप्य आमुखाय के आक्रमण  
से यही सम्बत्सगग्नित्रयी इस की रक्षा करती है। पश्चिम—पश्चिम—उत्तर—प्राग्मत्स सम्बत्सगग्नि—अग्नित्रयी  
से यही सम्बत्सगग्नित्रयी इस की रक्षा करती है। यही इस अग्नित्रयी का पार्थिववज्र में उपमान  
लीमारूप से इन तीनों द्वार से गायत्राग्नि की रक्षा करती है। यही इस अग्नित्रयी का पार्थिववज्र में उपमान  
है। अथवा ही वो हविर्द्वारों प्रवक्ष्यरूप से सम्बत्सगग्नित्रयी क गम में रह जाता है यह इन के लिए  
आहुतिर्द्वय बन जाता है। लीमारूप से होला अग्नि की स्वरूपरक्षा तथा प्रतिफल में उच्छिष्टद्रव्य का ग्रहण  
करना ही इन का यज्ञसंस्था में उपयुक्त होना है।

इस सम्बन्ध में एक यह विस्तृत ध्यान में रखनी चाहिए कि, इस पत्रावलि आन्त्यामि की शुद्ध-मलिन में से तो अवस्था हो जाती है जैसा कि आया-विकार में विस्तार से बताया जा चुका है। मध्य मरगिनप्रथी का अर्थात्समुद्र स सम्बन्ध नष्ट हो गया है। इस अज्ञानसमुद्र का आन्त्यामि में सम्बन्ध-मिनप्रथी का जो प्रवर्णन प्रविष्ट रहता है वही मलिन आन्त्या है। एक ब्रह्मात्मिक सम्बन्धमिनप्रथी ही शुद्ध आया है। वही अनिरुद्ध नरत्त हुए सीमा है। मलिन आन्त्यायुक्त अपव्यय ही भूमि का

+—“अतन्द्रो ह्यत्र वह्निं हविष्कृणादिहोषणं रात्रसि” । (यजु महिमायाम्)

इस अग्नि की परिधिवाँ बने रहते हैं। पार्थिव प्रजापति-अग्नि की गृहपति सम्बत्सर मेघ से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। गृहपति अग्नि भूषिबद्ध में अघावरूप से प्रतिष्ठित रहता है एवं सम्बत्सरग्नि पार्थिव सम्बत्सर में प्रतिष्ठित रहता है। भूषिबद्ध पार्थिव अग्नि की उक्थ-अक्ष मंद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित 'अनिरुक्तप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हुआ अग्नि सवप्रमव ननता हुआ 'उक्थ' नाम से प्रसिद्ध है। यही इस यज्ञ का प्रजापति (अजमान) है। पार्थिव उधा इस की फली है। इसी दोनों के साम्यत्वमान से पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्थ से अक्ष-(रश्मियाँ) निकला करते हैं। भूकेन्द्रस्थ उक्थानि की प्राणात्मिका रश्मियाँ उक्थ से निकल कर बड़ी दूर पर्यन्त व्याप्त रहती हैं। बहलक वह अक्षत्मक प्राणानि व्याप्त रहता है बहलक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है जोकि सीमा सामपरिमासा में रथन्तरसाम' नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ उक्थ नामक हुआ गृहपति प्रजापति-अग्नि से अक्षरूप में परिणत होने वाले इस प्राणानि की आगे बाकर पार्थिव अग्नि सम्बत्सरग्नि मे' से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। भूषिबद्धाधिक्य वही प्राणानि (अक्षानि) पार्थिव अग्नि है, एवं इसे ही 'भूपति' कहा जाता है। भूमहिमा-अधिक्य वही अक्षानि सम्बत्सरग्नि है एवं-उसे ही पूर्व कथनानुसार 'भूतानांपति' कहा जाता है। भूमहिमा अक्ष-कारमण्डल से सम्बन्ध है एवं अग्नि के सम्बन्ध से इस वषट्कार के २१ अक्षरों में से २१ अक्षर सम्पन्न हैं। भूषिबद्ध से आरम्भकर २१ वें अक्षरगणपर्यन्त जो भूमहिमा-प्रदेश है वही सम्बत्सरचक्र है। इस पार्थिव सम्बत्सरचक्र में ही वह पार्थिव प्राणानिावेच सम्बत्सरग्नि प्रतिष्ठित है।

'भूतानांपति' नामक सम्पूर्ण सम्बत्सरचक्र में एकरूप से प्रतिष्ठित अथएव 'सम्बत्सरप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध इस महिमाग्नि के आगे बाकर क्रमशः पार्थिव-त्रिधृत् (३) पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोम मेघ से तीन मेघ हो जाते हैं। एकविंशस्तोमाधिक्यन चतुप्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपति 'भूतानांपति' नाम से प्रसिद्ध है। वही देवविज्ञानानुसार 'आदित्य' कहा जाता है। पञ्चदश-स्तोमाधिक्यन अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपति 'भुवनपति' नाम से प्रसिद्ध है। वही देवपरिमासा में- 'वासु' कहा जाता है। एवं त्रिधृत्स्तोमाधिक्यन पृथिवी-प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपति 'भुवपति' नाम से प्रसिद्ध है। वही देवपरिमासा में 'अग्नि' कहा जाता है। इसप्रकार स्तोममेघ से पार्थिव सम्बत्सरचक्र में तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ एक ही सम्बत्सरग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष वही निकला कि भूषिबद्धकेन्द्रस्थ गृहपति अग्नि के उक्थरूप के आधार पर 'भूषिबद्ध' त्रिधृत्-पञ्चदश-एकविंशस्तोम' इन चार प्रदेशों में विभक्त अक्षानि के 'भूपति' भुवपति भुवनपति भूतानांपति' व चार रूप हो जाते हैं। इसी चारों को लक्ष्य में रखकर 'चतुर्धा विहितो ह वा अग्निगिरास' यह कहा गया है।

भोमाग्नि — [१ भूपतिः—भूषिबद्धाधिक्यः अक्षविष—अग्नि]		अनिश्वराः स्तोमजातः स्वि-प्रजापतिः च पराग्नि-उक्थ
सम्बत्सरग्नि—	२-भुवपति—पृथिव्याधिक्यः—	
	३-भुवनपतिः—अन्तरिक्षाधिक्यः—	
	४-भूतानांपति—पृथिव्याधिक्यः—	



रक्तं पीतं सितैर्नीलैः पुष्पैरप्य चतुर्विधं ॥  
 सर्वे समगुण्या उक्ता मितस्तु घ्नानवर्द्धन ॥३॥  
 पुष्प विपाकमधुर ग्राहिशीतलम्पणम् ॥  
 कषायतिक्तकटुकं वातल चोष्णमिष्यते ॥४॥  
 एतत् पुष्प कफ पित्त कुष्ठं दाह तपामपि ॥  
 वातरक्त रक्तदाप मूत्रकृच्छ्र च नाशयेत् ॥५॥  
 फलं विपाककटुकं लघुष्ण रूक्षमिष्यते ॥  
 शूलकुष्ठप्रमेहाश कृमिगुल्मोदर हरत् ॥६॥  
 पामकण्डूतिद्वृत्त्वग्दोषघ्न इक्षुवीचरूप ॥  
 फलवीज कटुस्निग्धाष्ण कृमिघ्नं कफापहम् ॥७॥  
 तन्मूलस्वरसो हन्ति नेत्रच्छायान्धपुष्पकम् ॥  
 नूतन पल्लवश्चास्य कृमि वात च नाशयेत् ॥८॥  
 ग्राही तस्य तु निर्यासो हरत् स्वदातिनिगमम् ॥  
 मुखरोगाश्च कासाश्च ग्रहणी च विनाशयत् ॥९॥ इत्यादि ॥

संस्कृत	राष्ट्रभाषा	बंगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कर्णाटकी	तैलङ्गी	तामिली	उत्कल
पल्लव	पल्लव बाकटम् केसु धरा कांकरिया	पल्लव	पल्लव	साल्विरो	मुत्तुलु	मानुका चट्ट	पररान	पराशु

## २-विकटवृत्त —

विकटवृत्त विकटवृत्त राक्षस मधुपर्णी गोपघोषटा, पिल्लार किकरी श्लक्ष्मिणी हिमक  
 र्गणि शम्भु समानावर्क है। गुणवृत्ति से यही इन नामों से प्रसिद्ध है—यक्षिय यक्षपृष्ठ ग्रहणाक्ष  
 म गृहार, मधुत्रुम सुधाशुभ सुधाशुभ प्रधुवाञ्ज वक्रपक्ष मनुपक्ष मन्थिल दन्तकाष्ठ, पात्रोद्दिग  
 व्याघ्रपान घृतिक्तर कण्टकी कण्टकारी कण्टपात्र कण्टपत्र स्फादुकण्टक इत्यादि। निम्नलिखित  
 श्लोक-श्लोक विकटवृत्त के इहो गुणों का विवरण करता है—

उत्पादक है। इस परम्परा से प्रवर्ग्यभूत आप्त्याग्नित्रयी भूपियङ्ग में प्रतिष्ठित रहती है। जो हविर्द्रव्य भूपियङ्ग पर प्रवर्ग्य—सम्बन्ध से रह जाता है वह इस मलिन—प्रवर्ग्य—आप्त्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एवं तुलोक में होता—अग्नि के द्वारा जो आया जाता हुआ जो हविर्द्रव्य प्रवर्ग्यरूप से अन्वतरमयङ्गल में रह जाता है, वह तत्रस्थ सीमारूप शुद्ध आप्त्याग्नित्रयी की तृप्ति का कारण बनता है।

यह नैव हविर्पङ्क उक्त माहुरितिक—पार्थिव—हविर्पङ्क का ही प्रतिरूप है। अतः जैस वहाँ सीमारूप से पलायित अग्नित्रयी का सम्बन्ध हो रहा है, तयैव यहाँ भी प्रतिरूपविधि से उनका संग्रह होता है। वहाँ की भाँति यहाँ भी प्रवर्ग्य द्रव्य का सम्बन्ध होना ही चाहिए। वहाँ की भाँति भूगर्भस्थ मलिन आप्त्याग्नित्रयी की तृप्ति का यहाँ भी समावेश होना ही चाहिए। इसी उद्देश्य से 'देवाननुविधा वै मनुष्या — 'बह्वै ष्वा अकुर्वन् स्तन् करवाणि' इस आदेश के अनुगमन के लिए प्राकृतिक अग्निसम्पत्ति के संग्रह के लिए पलायित अग्नित्रयी के प्रतिरूप में तीन परिधियों का परिधान किया जाता है। इनकी तृप्ति के लिए 'न पर प्रवर्ग्यरूप से आश्यादि झाला जाता है। जो आहुतिद्रव्य भूपृष्ठ पर गिर जाता है वह मलिन आप्त्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। परिधिपरिधानकर्म की यही सन्धि उपपत्ति है ॥ १३ १४ १५, १६ १७ १८ ॥

ये परिधियाँ किस काष्ठ की बनाई जावें? इसका उत्तर 'यज्ञिय—यूष्ट है। साम्प्रतिक आप्त्याग्नित्रयी सम्बन्धरयजसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतः इन का प्रतिरूप काष्ठ नहीं बन सकता है बिन में यज्ञातिशय विकसित हो। पलाश विकसित काष्मर्य्य विल्व, क्षविर, उदुम्बर इन वृक्षों में यज्ञातिशय प्रकृत्या ही विकसित रहता है अतएव ये यज्ञिय वृक्ष मान गये हैं। इन में से प्रधान पद्वी 'पलाश' प्रधान का ही है। क्योंकि पलाशवृक्ष में यज्ञवीर्यसम्पादक अग्नितत्र प्रचानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। एवं अग्निसम्पत्तिसंग्रह के लिए ही इन परिधियों का ग्रहण होता है। पलाश के समय पर न मिलने से ही किङ्कदि अन्य काष्ठों का ग्रहण करना चाहिए। पाठका की सुविधा के लिए इन यज्ञिय वृक्षों के नामान्तर अत्र उद्धृत कर दिए जाते हैं ॥ १९ २ ॥

## १-पलाश —

पलाश किशुक करक, सुपर्णी वातपोत ये समी शब्द अथवा समानार्थक मान गये हैं। गुणदष्टि से इसी पलाश के ये नाम प्रसिद्ध हैं—याज्ञिक ब्रह्मयूष्ट ब्रह्मपात्रप ब्रह्मपनता पत्र समिद्ध काष्ठत्र पर्णी, त्रिपण त्रिपत्रक यक्षमुष्प रक्षमुष्प बीजस्नेह, कृमिघ्न आरभष्ट, इत्यादि। निम्न-लिखित संग्रहरीति पलाश के इहाँ गुणों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

कषायतिक्तफटुक स्निग्धोष्णो दीपनः सरः ॥

ममनमन्धानकृद् वृष्य पलाशो मुखतो मत ॥ १ ॥

त्रिदापहन् कृमिघ्नाज्यं पलाशो यत्रपादय ॥

प्रदयपर्श गुल्मगुदरगप्तीहावण दित ॥ २ ॥

रक्तं पीते सितैर्नीलैः पुष्पैरप्य चतुर्विध ॥  
 सर्वे समगुणा उक्ता सितस्तु ज्ञानवद्भवे ॥३॥  
 पुष्पं विपाकमधुरं ग्राहिशीतलमूपशम् ॥  
 कषायतिक्तकटुकं वातलं चोष्णमिष्यते ॥४॥  
 एतत् पुष्पं कफं पित्तं कुष्ठं दाहं तृषामपि ॥  
 वातरक्तं रक्तदापं मूत्रकुष्ठं च नाशयेत् ॥५॥  
 फलं विपाककटुकं लघूष्णं रूक्षमिष्यते ॥  
 शूलकुष्ठप्रमेहार्शं कृमिगुण्मोदरं हरत् ॥६॥  
 पामकण्डूतिद्वं त्वग्दोषघ्नं वृषवीजकम् ॥  
 फलबीजं कटुस्निग्धाणं कृमिघ्नं कक्षापहम् ॥७॥  
 तन्मूलस्वरसो हन्ति नेत्रज्वरान्पुष्पकम् ॥  
 नूतनं पल्लवश्चास्य कृमिं वातं च नाशयेत् ॥८॥  
 ग्राही तस्य तु निर्य्यासो हन्ति स्वेदातिनिगमम् ॥  
 दृष्टरोगांश्च कासांश्च ग्रहणां च विनाशयत् ॥९॥ इत्यादि ॥

संस्कृत	राष्ट्रभाषा	बंगला	महाराष्ट्री	गुजराती	कणाटकी	तैलङ्गी	तामिळी	उत्तर
पल्लव	पल्लव डाकटम् केसु घरा काकरिया	पल्लास	पल्लस	लाखिरो	मुचुलु	मातुका चट्ट	परशान	पराशु

### २-विकृतः—

विकृतस्य विकृतस्य राशेण मधुपर्णी गोपघोण्या पिण्डार किकरी पूनकिंकरणी हिमक  
 इत्यादि शब्द स्मरानाधिक है। गुणदृष्टि से यही इन नामों में प्रसिद्ध है—यक्षिण यक्षशृङ्ग महापादप  
 मृगशारं सुवद्रुम सुधावृक्ष सुधावृक्ष प्रधुवीजं वहुफलं, मृदुफलं, प्रन्थिलं वन्तकाष्ठ, पादराहिल  
 म्याग्रपातं पूषिकरं कण्टकी कण्टकारी कण्टपात्रं कण्टपत्रं स्वातुकण्टक इत्यादि। निम्नलिखित  
 अष्ट-श्लोक विकृत के इसी गुणों का विगर्शन कर रहे हैं—

कपायोऽम्भश्च मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघुः ॥

विकृतोऽयं नात्पुष्पाशीतो दीपनपाचनः ॥१॥

कफं पित्तं रक्तदोषान् नेत्रपुष्पं च कामलाम् ॥

शोषं शोकं व्रणं दाहं लूतामर्शश्च हन्ति सः ॥

विकृतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषहृत् ॥२॥

स०	र	व	म	गु	क	तै	उ
शमी	छोकर	शाई	पारशमी	बिबड़ो	वती काबलि	शमीचेट्ट	शुमी
	बिड़ुर	धुरं	लघुशमी	नानीबिबड़ी			
	सफेद	बाबला					
	फीकर						

### ३-काष्मर्य —

काष्मर्य काष्मेरी गम्भारी भीपर्यां भद्रपर्यां स्निग्धपर्यां मधुपर्यां कुमुदा मोदिनी, गुष्ठि भद्रा सुभद्रा सर्वतोभद्रा गोपभद्रा मधुभद्रा महाभद्रा, सदाभद्रा रोहिणी पीतरोहिणी ह्रीं इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। इन में 'काष्मर्य' शब्द का विशुद्ध 'कम्भोऽम्भस्ता' नामक वैदिक भाषा से ही सम्बन्ध है। गुणद्वय से बही इन नामों से व्यक्तित्व हुआ है—घीरिणी विहारिणी, मधुरसा मधुमन्ती सुकला पीतकला कटुकला कृष्णकला कृष्णकुन्ता कृष्णप अरवेता बलाहा स्फुल्लत्वचा दृढत्वचा इत्यादि। निम्न लिखित संग्रह-स्तोत्रों से काष्मर्य के इसी गुणों का स्मरण होता है—

गम्भारी मधुरा रिक्ता कपाया कटुका गुरुः ॥

दीपनी पाचनी मध्योष्णवीर्या मदनी तथा ॥१॥

हृषा हन्ति ज्वरं दाहं शोषं शोर्कं तृषां विषम् ॥

आमशूल प्रमेहार्शस्त्रिदोषं च भ्रमं कृमिम् ॥

शीतलं मधुरं तिक्तं गुरुस्निग्धं च सत्फलम् ॥

मृदुषां ग्राहि मध्यं च शुष्यं रमायनम् ॥३॥

हन्ति मूत्रविषन्धश्च वातं पित्तं तृषां क्षयम् ॥

दाहं च रक्तदोषं च सत्तिकमधुरं फलम् ॥४॥

फलमम्लकपाय तु गुरुस्निग्ध विशुद्धिकृत् ॥  
 मूत्रद धुद्धिर्दं हन्ति वातपित्त च य तृषाम् ॥५॥  
 रक्तक्षत रक्तपित्त रक्तदोष च हन्ति तत् ॥  
 आमवात मूत्रकुच्छ्र दाह च प्रदर हरत् ॥६॥  
 कपायतिक्तमधुरा फलमज्जाऽसृजोरुजम् ॥  
 ग्राहिणी वातला वन्या वृष्या पित्त कफं हरेत् ॥७॥  
 कपायतिक्तमधुर पुष्प तस्यास्तु शीतलम् ॥  
 विपाकमधुरं ग्राहि वातल रक्तदोषहृत् ॥८॥  
 गम्भारीमूलमत्युष्णं मानुषेषु द्वित न तत् ॥९॥

सं	य	क	म	गु	क	ते
गम्भारी	कुम्भर	गोमारी	शीबण	शबन्य	शीबनी	साक्षागुप्त टी चट
	कुम्भारी	गोभार	गभारो			

४-विन्त्रः-

विल्य श्रीफल, राखण माखर शाखिखल्य शख्य सोमहरीतकि गोहरीतकि कपीतन शलादु महाकपित्थ तीलमल्लिक, ककट सुनीतक, इत्यादि शब्द समानाधिक हैं। गुणद्वि स वही इन नामा से व्यवहृत हुआ है—शिवप्र शिष्यत्रुम मङ्गल्य अतिमङ्गल समीरसार, पृतिवात पीतफल महाफल लक्ष्मीफल सदाफल, गन्धकश सत्यफल सत्यधम्म इरागच गन्धपत्र शैलपत्र त्रिशान्नापत्र त्रिशल त्रिवल पत्रभट्ट कण्टककण्ड सितानन, अधरोरुह, इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक किन्व के इन्ही गुणों का समर्थन कर रहे हैं—

कफानिलहर तीक्ष्ण स्निग्ध सग्राहि दीपनम् ॥  
 कटुतिक्तकपायोष्ण बाल निन्त्रमुदाहृतम् ॥१॥  
 तदेव विद्यात् सपक्वं मधुरानुरसं गुरु ॥  
 विदाहि विष्टम्भकर दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥२॥

कषायोऽम्भश्च मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघु ॥  
 विकटतोऽयं नात्युष्णशीतो दीपनपाचन ॥१॥  
 कफं पित्तं रक्तदोषान् नेत्रपुष्पं च कामलाम् ॥  
 शोषं शोकं व्रणं दाहं सूतामर्शश्च हन्ति सः ॥  
 विकटसफला पक्वं मधुरं सखदोषहृत् ॥२॥

स०	रा	ङ	म	गु	क	वै	व
शमी	खीर	शाई	खेतशमी	खिचड़ी	कवी कषयि	शमीखिहू	शुमी
	खिचूर	खुह	लघुशमी	नानीखिचड़ी			
	नफेद	बायला					
	कीकर						

३-काष्मर्य —

काष्मर्य काष्मरी गम्मारी भीपर्णी मन्त्रपर्णी स्निग्धपर्णी, मधुपर्णी कुसुदा, मोरिनी, गडि मन्त्रा सुमन्त्रा सर्वतोमन्त्रा गोपमन्त्रा मधुमन्त्रा महाभन्त्रा सदाभन्त्रा रोहिणी पीतरोहिणी हीरा इत्यादि शब्द उमानार्थक हैं। इन में 'काष्मर्य' शब्द का विशुद्ध छन्दोऽभ्यस्ता नामक वैदिको माता से ही सम्बन्ध है। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यख्यात हुआ है—पीरिणी विदारिणी मधुरसा, मधुमन्ती, सुकक्षा पीतकक्षा कटुकक्षा कृष्णकक्षा कृष्णहन्ता कृष्णप क्षरवता, वातहा स्फुल्लस्पर्शा दृढत्वशा इत्यादि। निम्न लिखित संज्ञा-श्रीके से काष्मर्य के इही गुणों का उभयर्प होया है—

गम्मारी मधुरा रिक्ता कषाया कटुका गुरुः ॥  
 दीपनी पाचनी मेघ्योष्णवीर्या मेदनी तथा ॥१॥  
 हृषा हन्ति ज्वरं दाहं शोषं शोकं तृषां विषम् ॥  
 आमशूल प्रमेहार्शस्त्रिदोषं च अमं कृमिम् ॥  
 शीतल मधुरं तिक्तं गुरुस्निग्धं च सत्फलम् ॥  
 मृदुपां ग्राहि मर्ष्यं च हृष्यं रसायनम् ॥३॥  
 हन्ति मूत्रपित्तं च वातं पित्तं तृषां क्षयम् ॥  
 दाहं च रक्तदोषं च सत्तिकमधुरं फलम् ॥४॥

## ६-उदुम्बर —

उदुम्बर, उदुम्बर, प्रतिष्ठित, सुचक्षुः जन्तुफलं, इत्यपि शब्द समानार्थक माने गए हैं। गुणवृद्धि से यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—यक्षिय, यक्षयोग्य यक्षाङ्ग, यक्षसार, यक्षफल पवित्रक, प्रमथुक्ष, सौम्य, फलस्कन्ध, श्वेतवल्कलं शीतवल्कलं शीतफलं, जनफलं, सर्वाफलं जन्तुफलं, अपुष्पफलं पुष्पशून्यं, पुष्पहीनं, पाणिमुस, क्षीरघृक्ष इमदुग्ध, हेमदुग्धी, कुमिकरटक इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक उदुम्बर के गुण ही व्यक्त कर रहे हैं—

कषायमधुर शीतो रूखो वर्ण उदुम्बर ॥  
 व्रणोपहोऽस्थिसंचानगर्भसन्धानकृद्गुरु ॥१॥  
 कफपित्तमतीसार योनियोग च हन्ति सः ॥  
 कषायशीतलं वल्क गम्यं दुग्ध व्रणोपहम् ॥२॥  
 आम फलं कषायाम्लं मांसवृद्धिकर जडम् ॥  
 शोषलं रक्तच्छारि दीपनं रुचिमिष्यते ॥३॥  
 अतिशीतं फल पक्व कषायमधुर जडम् ॥  
 कुमिकृत् कफकृष् रुच्य हन्ति पित्त प्रमेहकम् ॥४॥  
 रक्तरोमा छुर्वा मूर्च्छा दाह शोष भर्त उषाम् ॥  
 कोमलं तत्तृपां रक्तदोष पित्त कफं हरेत् ॥५॥  
 किञ्चित् कोमलं स्वादु कषायं शीतल फलम् ॥  
 हन्ति प्रहारजं क्लेशं वान्ति पित्तमसृक्स्तुतिम् ॥६॥

सं	रा	इ	म	गु	क	ते
उदुम्बर	गूजर	यक्षुधुर	उम्बर	उम्बरो	अवि	पांडुचेष्ट

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय अध्याय का तृतीय ब्राह्मण  
 एवं-द्वितीय ब्राह्मण का षष्ठब्राह्मण उपरत

अत्र-इध्मब्राह्मण समाप्ते

द्वितीय प्रपाठक समाप्त

ले	रा	वै	म	गु	क०	ते०	ठा
किन्त्र	मेल	वेल	बेलद्वय	पिलोविलु	मिललु	मारेडीपन्व	विस्था
						किन्त्र	मेल

### ५-खदिरः—

खदिरः खदिरात्री प्रमल्ल कण्टी गायत्री, इत्यादि राज्य समानार्थक है। गुणवृद्धि से बड़ी इन नामों से प्रसिद्ध है—वायुसिद्ध यक्षाङ्ग मेघ्य यूपत्रुम इन्तघावन पथिन्म रक्तमार, विक्त्वात् यहुन्मार, विविधम बालपत्र बालपुत्र बालवनय बलकण्टक कण्टकी, बहुशाल्य सुराल्य जिह्मशाल्य जिह्माल्य कुशारि कुशङ्गम् इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक खदिर-गुणों का ही वर्णन कर रहे हैं—

शीतोष्ण खदिरो दन्त्यः कषायकटुतिक्तक ॥  
 अरिमेदा विटखदिरे क्वरः खदिरे सिते ॥१॥  
 क्वरो हन्ति कण्ठति कृष्ट भूतग्रहं ज्वरम् ॥  
 मुखरोर्ग पायुरोग रक्तदोषं कृमि वृणुम् ॥२॥  
 शिवत्र शोष चामपित्तं प्रमेहं च विष तथा ॥  
 मेदोरोर्ग वातकफ नाशयेत् खदिर सित ॥३॥  
 सारो व्रणयो रक्तदोषं मुखरोग कर्तुं हरत ॥  
 निर्यासो मुधुरो बन्धुः खदिर शुक्लवर्दन ॥४॥

सं	ग	म	गु	क	ते
खदिरः	मे कषया पपङ्क्ति खदिर	कण्ठरगाङ्ग	खदिर पौष्टराज्यपर	कोपिन नैर विनीकनयि	खदिरात्री वेदप्रवर



वही रक्षकों की भावना के लिए—‘मित्रावरुणो त्वोत्तरत इत्यादि मन्त्र जोलते हुए उत्तर की ओर तीसरी परिधि का स्थापन होता है ॥४॥

## अथ—समिधाभ्याधानोपपत्ति

अग्निहोत्रार्थ पूर्व में यहीत समिध आहवनीय में डालना ही समिधाभ्याधानकर्म है। समिधा—भ्याधान छन्द तथा श्रुतदेवता के समिन्धन से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्—यह समिधन छन्द तथा श्रुतओ का ही किया जाता है। बात यह है कि, आहवनीय अग्नि में आहुतिद्वय का ही अग्नि से घुलने-अथ देवताओं में गमन होने वाला है। अग्नि आहुति ले जाने वाले हैं। इधर अग्नि की प्रतिष्ठा छन्द, एवं श्रुत हैं। यदि छन्द—श्रुत समिध हैं तो इव्यवाट अग्नि भी समिध है। एव समिध अग्नि ही इव्यवहनकर्म में नमय है। अत आहुतिकर्म से पहिले छन्द—श्रुत का भी समिन्धन आवश्यक होजाता है। समिन्धन होय है—अग्नि के उद्देश्य से परन्तु लक्ष्य है—श्रुत और छन्द। अग्निवत्त्व सम्यत्सराग्नित्रयी पार्थिव गायत्राग्नि, मेद से चार मागो में विभक्त बतजाया गया है। वीनों परिधि भिन्नानेन सम्भ्रंसणनित्रयी के प्रतिरूप हैं एवं आहवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रतिरूप है। दोनों के समिन्धन के लिए पहिले समिध का परिधि से स्पर्श कराया जाता है इस से तो परिधिलक्षणा अग्नित्रयी परोक्षरूप से समिध होजाती है अनन्तर समिध आहवनीय में डाली जाती है इस से इस का प्रत्यक्षरूप से समिन्धन होजाता है ॥५॥

‘धीविहोत्र त्वा० इत्यादि गायत्रीमन्त्र से ही प्रथम समिध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्धन करता है। उधर छन्द गायत्री—प्रमुख हैं। गायत्रीछन्द ही सब छन्दों का मूल माना गया है। इस एक के समिन्धन से इतर सब छन्दों का समिन्धन होजाता है। अत सब-छन्द-समिन्धनोद्देश्य से गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्रीछन्द का समिन्धन किया जाता है। समद्विगायत्री इतर ६ आहुतियों का समिन्धन कर देती है। एवं ये समिध छन्द देवताओं के लिए इव्यवहन करने में समर्थ होजाते हैं।

वात्पर्य्य इस समिन्धन का एकमात्र है—पार्थिव अग्नि में दिव्य तेजोयुक्त अग्नि का समावेश। ब्रह्मण पार्थिव अग्नि में दिव्य तेज का आधान नहीं होजाता वस्तुतः यह अग्नि न तो इविर्वहनकर्म में ही पूरा समर्थ बनता एवं न ऐसे विशुद्ध पार्थिव-अग्नियहीत हवि का दिव्यप्राणान्निप्रधान प्राणदेवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता, वैसाकि आगे के ‘समिधेनी-ब्राह्मणों में विस्तार से कल्लम्या जाने वाला है। प्राकृतिक यज्ञ से सौर सावित्राग्नि के द्वारा पार्थिव अग्नि का समिन्धन गायत्रीछन्द से ही होती है। स्वर्गस्त्रीय उत्तरस्थ ऋक्ष से आरम्भ कर दक्षिणस्थ मकरहोत्तान्त क्रमशः जगती त्रिष्टुप् पङ्क्ति बृहती, अनुष्टुप्, पयिष्ठा, गायत्री ये सात देव-छन्द प्रतिष्ठित हैं। जगती उत्तर भाग की अन्तिम सीमा पर है एवं गायत्री दक्षिण भाग की अन्तिम सीमा पर है। उत्तराग्नि-सूर्यानुगता मानी गयी है। अतएव उत्पत्तिरूप उद्गाता की उन्नीची ही ऋक् मानी जाती है वैसाकि—‘उन्नीचमुद्गाता (शत० १२५।४।२४) से स्पष्ट है। ऋक्षचार्त्तिका उत्तर-प्रवेशापलक्षिता उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सौर तेज दक्षिणाग्नेय गायत्रीछन्द से सम्बन्ध करता हुआ सम्पूर्ण छन्दों को समिध कर देता है।

अपिध गायत्री अग्नि का छन्द है। इधर अग्नि सर्वार्थ देवता के अनुसार मग्न्युद्देवता अग्नि की ही अन्तर्यामिण्य है। कल्लत अग्नि के गायत्रीछन्द का सबछन्दोमयत्व मलीर्माति सिद्ध होजाता है। गायत्री

प्रथमकारणान्तर्गत-तृतीय-अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण  
एव-तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त  
परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रान्त  
तृतीय—प्रपाठक—उपक्रान्त

३

उक्त दक्षिण दृष्टि में से समग्रप्राप्त किसी एक यज्ञिक दृष्टि की ओ परिधिवां ली जाती है वे गीली होती हैं। आद्र भाव ही इन का जीवनीय रस है यही इनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति-संग्रह की दृष्टि से जहाँ आद्रभाव अभिप्रेत है वहाँ आप्याग्नि के अर्धगमित-स्वरूप की दृष्टि से भी आद्र भाव अपेक्षित है। तीनों परिधिवां उस आप्याग्निप्रयी की ही प्रतिरूप हैं जो आपोमय अर्णवसमुद्र में प्रविष्ट है। अतः अ-सादृश्येन परिधिवां आद्र ही ली जाती है। विषप्रकार आक्रमण-कर्त्ता के आक्रमण की वीर पुरुष अपने हाथों की परिधि से रोक देता है एवमेव ये परिधिवां आक्रमणरक्षक ही बनी हुई हैं। अतएव लम्प्य में वे बाहुपरिमण्य ही बनार्ह जाती हैं ॥१॥

‘गन्धर्वस्त्वा० इत्यादि मन्त्र से पश्चिम भाग में परिधि रखनी जाती है। प्राकृतिक-यज्ञ में तृतीय दृष्ट्यानीय सोम की (पारमेष्ठ्य आप्य आसुराक्रमण से) रक्षा विश्वावसुप्रमुक्त उत्तमामक गन्धर्वप्राण से ही होती है। यहाँ भी परिधि के द्वारा वही रक्षाकर्म अभिप्रेत है। अतएव इस परिधित्थापनसदृश रक्षाकर्म में ठीकी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। ‘अम्सजगद् विज्ञान’ के अनुसार सम्पूर्ण विश्व जिसमें कि यह जीवनमात्रा का सञ्चालन कर रहा है अपना विश्व है। इस की शान्ति स्थानि में ही यज्ञकर्त्ता यजमान की शान्ति-स्वस्ति है। इस रक्षाकर्म से इसी के लिए इसी के योग्य विश्व की सुरक्षित रहने की भावना व्यक्त करने के अभिप्राय से—‘विश्वस्वारिप्सु’ इत्यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक इष्यिक पर जो आसुर आक्रमण होता रहते हैं वे अग्निवसु-इन्द्रप्राण से रोकें जाते हैं ०। एवं मीमंसेवेम्पवरणा के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनुष्यविष इन्द्र के द्वारा रोकें जाते हैं +। अतएव यहाँ भी दक्षिण परिधित्थापन से इन्द्र के बाहु की भावना से उन्नी उत्तररक्षक की प्राप्ति की जाती है। इन्द्रस्य बाहुरसि० इत्यादि मन्त्र का यही तात्पर्यार्थ है ॥३॥

उत्तरदिश की ओर से होने वाले आक्रमण उत्तर दिशाबद्ध देवताओं से रोकें जाते हैं देव नि-‘उन्नी की दिक् मित्रावरुणौ देवता’ (ते आ० १।११।१।२।) इत्यादि कृष्ण भूति से प्रमाणित है।

० “दक्षिणा दिक्, इन्द्रो देवता” (सं० आ ३।१।१।१।२।)

— “अतो दीन्द्रस्विष्टन् दक्षिणतो नाष्टा रक्षास्पदाङ्ग” (श० १।४।५।३।)।



# प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण एव-तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रान्त तृतीय-प्रपाठक-उपक्रान्त

३

उक्त चतुर्थ ब्राह्मणों में से समवधायक किसी एक ब्रह्मण की ओर परिधियाँ ली जाती हैं वे गीर्सी होती हैं। आद्रमाव ही इन का बीजनीय रस है यही इनको प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति-सम्राट की दृष्टि से जहाँ आद्रमाव अभिषेक है वहाँ आप्त्याग्नि के अङ्गुलि-स्वरूप की दृष्टि से भी आद्रमाव अपेक्षित है। तीनों परिधियाँ उस आप्त्याग्नित्रयी की ही प्रतिकृति हैं जो आपोमय अर्कधसमुद्र में प्रविष्ट है। अतः उद्-साहस्येन परिधियाँ आद्र ही ली जाती हैं। जिसप्रकार आक्रमण-कर्त्ता के आक्रमण की धीर पुरुष अपने हाथों की परिधि से रोक देता है एवमेव ये परिधियाँ आक्रमणरक्षक ही बनी हुई हैं। अतएव सम्पत्ति में वे बाहुपरिमाण ही बनाई जाती हैं ॥१॥

गन्धवत्त्वा० इत्यादि मन्त्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्ती जाती है। प्राकृतिक-यज्ञ में पूर्वीय पृथ्व्यानीय साम की (पारमेष्ठ्य आप्य आहुराक्रमस से) रक्षा विश्वाधसुप्रमुक्त एवमात्मक गन्धवत्प्राण से ही हो रही है। यहाँ भी परिधि के द्वारा यही रक्षाकर्म अभिषेक है। अतएव इस परिधिस्थापनसमय रक्षाकर्म में उठी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। अन्तर्जगद् विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण विश्व जिसमें कि यह जीवनयात्रा का सञ्चालन कर रहा है अपना विश्व है। इस की शान्ति स्थापित में ही यज्ञकर्त्ता यज्ञमान की शान्ति-स्वप्ति है। इस रक्षाकर्म से इसी के लिए इसी के मोक्ष विश्व को सुखित करने की भावना व्यक्त करने के अभिप्राय से—‘विश्वस्थारिपुषे’ इत्यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिश की ओर से प्राकृतिक इन्धिरा पर जो आहुराक्रमण होते रहते हैं, वे अभितपुर् इन्द्रप्राण से रोके जाते हैं ॥ एवं मीमक्षेव्यवस्था के अनुसार दक्षिणदिश की ओर से होने वाले मनुष्यविध इन्द्र के द्वारा रोके जाते हैं ॥ अतएव यहाँ भी दक्षिण परिधिस्थापन से इन्द्र के बाहु की भावना से उठी रक्षक की प्राप्ति की जाती है। इन्द्रस्य बाहुरसि० इत्यादि मन्त्र का यही तात्पर्यार्थ है ॥३॥

उत्तरदिश की ओर से होने वाले आक्रमण सत्रस्य मित्रावरुण देवताओं से रोके जाते हैं यैत्र नि-  
“उदीची दिक् मित्रावरुणो ययता” (शं० मा० ३।१।१।५।३।) इत्यादि इच्छा भुक्ति से प्रभावित है।

✽ “दक्षिणा दिक्, इन्द्रो देवता” (शं० मा० ३।१।१।५।३।)

— “अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्टा रसास्पनाइन्” (शं० १।४।५।३।)।

उर्ध्वं त्वष्ट्रो धी भावना क क्षिप- 'मित्रावरुणां त्योत्तरत इत्यादि मन्त्र ब्रह्मते हुए उत्तर की आग तीसरी गर्भिणी का स्थापन होता है ॥४॥

## अथ-समिधाभ्याधानोपपत्ति

अग्निऋष्याय पू में एहीत समिध आहुवनीय में डालना ही समिधाभ्याधानकर्म है। समिधा-भ्याधान छन्द तथा श्रुतुद्वयता के समिन्वन सं सम्बन्ध रखता है। अग्निर-यह समिन्वन छन्द तथा श्रुतुओं का ही दिया जाता है। बात यह है कि आहुवनीय अग्नि में आहुतद्रव्य का इनी अग्नि से घुला-करय देवताओं में गमन होना वाला है। अग्नि आहुति से जान माले हैं। इधर अग्नि की प्रतिय छन्द, एवं श्रुतुएँ हैं। यन् छन्द-श्रुतु समिध हैं तो हव्यवाट् अग्नि भी समिध है। एवं समिध अग्नि ही हव्यवहनकर्म में नमय है। अत आहुतिकर्म से पहिले छन्द-श्रुतु का भी समिन्वन आवश्यक होजाता है। समिन्वन होता है-अग्नि के उद्देश्य से पशु लक्ष्म हैं-श्रुतु और छन्द। अग्निवत् सम्बत्सराग्नित्रयी पार्थिव गायत्राग्नि, मन्त्र से चार भाग में विभक्त बतगाया गया है। तीनों परिधि निगनन सम्बत्सराग्नित्रयी के प्रक्षिप्य हैं एवं आहुवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रक्षिप्य है। दोनों के समिन्वन के लिए पहिले समिध का परिधि सं स्पर्श कराया जाता है इस न तो परिधिलक्षणा अग्नित्रयी परोक्षरूप से समिध होजाती है अनन्तर अग्नि आहुवनीय में डाली जाती है इस म इस का प्रत्यक्षरूप से समिन्वन होजाता है ॥५॥

'धीतिहोत्र त्या- इत्यादि गायत्रीमन्त्र से ही प्रथम समिध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्वन करता है। उत्तर छन्द गायत्री-प्रमुख हैं। गायत्रीछन्द ही सब छन्दों का मूल माना गया है। इस एक के समिन्वन से इतर सब छन्दों का समिन्वन होजाता है। अतः सर्वछन्द-समिन्वनाद्देश्य सं गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्रीछन्द का समिन्वन किया जाता है। समिधगायत्री दत्त ६ ओं छन्दों का समिन्वन करती है। एवं ये समिध छन्द दत्ताओं के लिए हव्यवहन करने में समय होजाते हैं।

वात्सर्प्य इस समिन्वन का एकमात्र है-पार्थिव अग्नि में दिव्य तर्जायुक्त अग्नि का समावेश। बचनक पार्थिव अग्नि में दिव्य तर्ज का आधान नहीं होजाता तबतक यह अग्नि न तो हव्यवहनकर्म में ही पूरा समर्थ बनता एवं न ऐसे विशुद्ध पार्थिव-अग्निएहीत हवि का विष्मशराग्निप्रधान प्राणदेवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता हैनाकि आगे के 'सामिन्वनी-ब्राह्मणा में विस्तार सं क्लम्या जाने माना है। प्राकृतिक यज्ञ से मर श्रद्धिवाग्नि के द्वारा पार्थिव अग्नि का समिन्वन गायत्रीछन्द में ही होती है। नगानीय उत्तरस्थ कक्षरूप में आरम्भ कर त्विनास्थ मक्षरह्यन्त क्रमशः उगता त्रिष्टुप् पङक्ति, बृहती अनुष्टुप् उद्विष्ट, आयत्री ये सात ऋग्वेद प्रतिष्ठित हैं। उगती उत्तर भाग की अन्तिम सीमा पर है एवं गायत्री दक्षिण भाग की अन्तिम सीमा पर है। उषर्गाङ्गस्यानुगता मानी गङ्गा है। अतएव तत्प्रतिष्ठा उषर्गाङ्गा की उदीची ही निक मानी जाती है तैसाकि- उदीच्युदगात् (यन १३।१।८ ८) में स्पष्ट है। ऋग्वेदात्मिका उत्तर-प्रदेशावलजिता उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित मर तत्र त्विनास्थ गायत्रीछन्द से सम्बन्ध करता हुआ सन्पूर्ण छन्दों को समिध कर जाता है।

अग्नि गायत्री अग्नि का छन्द है। इधर अग्नि सदा पृथता के अनुसार मयूग तथा अग्नि की ही अक्षरपात्रिण है। अतः अग्नि के गायत्रीछन्द का सर्वह्यन्तत्सव्य मयीनाति सिद्ध होजाता है। गायत्री

के समिन्धन से सञ्जन्तस्क पार्थिव अग्नि दिव्यमाव के समावेश से दिव्यदेवताओं के लिए इवि-रहान में समर्प होना है। गायत्रीकुन्द ही पार्थिव्याग्नि को दिव्याग्नि के द्वारा समिद्ध करने वाला माध्यम है। अतएव यह कुन्द-समिन्धनकर्म आवश्यक होता है। 'धीतिहोत्रं त्वा इत्यादि मन्त्रपूर्वक ही यह समिन्धनकर्म होता है। गायत्री के द्वारा होने वाले इस-समिन्धनकर्म से ही अग्निदेवता होत्रकर्म में सफल होते हैं। इस दिव्यदेव के समावेश से 'यु सिमाम्' बन जाते हैं एवं पृथिवीस्थान ( भूस्थान ) से हविर्गृह्य करते हुए वे अग्निदेव युशोम की ओर गमन करते हुए इस युमहिमा में विलत-म्याप्त होकर 'बृहन्' बन जाते हैं। इसप्रकार मन्त्र ने—समिन्धनकर्म—जनित सभी अतिशयों का स्पष्टीकरण कर दिया है ॥१॥

दूसरी समिध से सञ्जन्त का समिधन किया जाता है। होत्रकर्म में दीक्षित पार्थिव अग्नि जिस इवि का युवेवताओं के साथ सम्बन्ध करने वाले हैं वही इविद्विष्य देवतामा को उत्पन्न करने वाला है। परन्तु बल्लव श्रुद्धप्राण का अग्नि में समावेश नहीं होना तो तबतक प्रबन्धन असम्भव है। सन्त्रत्सराव श्रुद्ध वेता आधुतम् इस औपेतिक-कथन के अनुसार श्रुद्ध ॥ प्रबन्धनकर्म की अविच्छात्री है। आध्यात्मिक-यज्ञ में भी श्रुद्धमयी-स्त्री ही गर्भावधान-बोम्बा मानी गई है। फलतः इविबहान के लिए वही कुन्दासमिन्धन आवश्यक है वही प्रबन्धन के लिए श्रुद्ध-समिन्धन भी आवश्यक बन जाता है। इस द्वितीय-समिधाम्बाधान से सञ्जन्त-श्रुद्ध का ही समिन्धन होता है। गायत्री-कुन्दोक्त सञ्जन्तश्रुद्ध इतर मीमसादि पार्थिव श्रुद्धों का मूलाधार है। फलतः सञ्जन्तके समिधन से इतर श्रुद्धों का भी समिन्धन होना है। समिद्ध श्रुद्धों से अग्नि में श्रुद्धकर्म का समावेश होना है। एतद्वर्मावच्छिन्न अग्नि देवात्मप्रबन्धन में समर्प होना है। इसी समिन्धनोपपत्ति को लक्ष्य में रखकर—“श्रुतवाः समिद्धा प्रजारण प्रजनयन्ति” इत्यादि कहा गया है एवं समिधाम्बाधानकर्म की वही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥३॥

## अथ-मन्त्रजपोपपत्ति

परिधिस्थापन के द्वारा चीनों और से ता नादा-यज्ञों का अकाम्य रोक दिया गया। अब पूर्व दिशा बन जाती है। पूर्व दिशा में मगवान् सत्य का साम्राज्य है। सौरवेध से बचकर नादा-यज्ञों का नाशक और कोई दूसरा नहीं है। आहवनीय के पूर्व भाग में इस रत्नक-दिग्ब-याण के स्थापन की भावना से इस ओर मुल करके—‘सूय्मात्वा पुरस्तद्गु पाशु कस्त्यारिचदमिशस्त्ये०’ इत्यादि मन्त्र का जप किया जाता है ॥ ८, ६ ॥

## अथ विधृती-स्थापनोपपत्ति

‘विधृती’ शब्द विधृति का विक्रपनाप्त रूप है जिसका अर्थ है—‘वा विधृतिर्या की समष्टि। आधिदैविक—विश्व में एवं सद्रूप ‘विरचयज्ञ’ में इन दो विधृतियों का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के समाधान पर ही इस नेत्रय की कुशामयी दो विधृतियों की उपपत्ति। अमश्रित होमकृती है। धारण करने वाली ‘यज्ञि ही विधृति’ है। अतएव विग शक्ति में इस विश्व का धारण कर रमना है उनी श्रेष्ठ-शक्ति को हम—‘विधृति’ कहेंगे।

‘अग्नीषोमात्मकं जगत् के अनुसार प्राणग्नि’ एव तत्र-तथाधारण प्रतिष्ठित ‘भूताग्नि तथा प्राणसोम’, और तदाधारेण प्रतिष्ठित ‘भूत-सोम’, ये दो ही तत्त्व पाञ्चमाशिक विश्व के प्रमुख उपादान-धारण माने गए हैं। शुष्कगुणक अग्नि, तथा आर्द्रगुणक सोम + इन दोनों का अन्तर्म्यामात्मक-यवन ही विश्ववृक्ष का स्वरूप-निर्माता बना हुआ है। याधारमरण विकारो नामधेयं-मृत्तिकेत्येष-सत्यम्’ इत्यादि छान्दोग्य-सिद्धान्तानुसार उपादानकरण ही ( जिसे कि वैदिक-परिभाषा में—‘आरम्भण’ कहा गया है ) स्वकार्य की आधारात्मिका घटितछाया विधृति’ [प्रतिष्ठाभूमि] माना गया है। कार्य्य का उपादानकारण ही कार्य्य के लिए प्रभव, प्रतिष्ठा तथा परायण है। प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणात्मक उपादानकारणात्मक अग्नि-सोम-युग्म इसी दृष्टि से ‘विधृति’ मान लिया गया है अग्नीषोमात्मक कार्य्यरूप विश्व का। अग्नि और सोम के समन्वय-सम्बन्ध से प्रतिष्ठामिन्न यह ‘विधृति’ क्योंकि द्विपार्थिका है। अतएव एकवचनान्त विधृति शब्द-विषयचनान्त-‘विधृती’ शब्द में परिवर्तित होगया है।

न्या तत्पर्य्य !। इस तत्पर्य्य के स्पष्टीकरण के लिए हमें उस ‘सम्बत्सरचक्र’ को ही लक्ष्य बना लेना पड़ेगा जिसमें अग्नि और सोम के आत्मात्मक तथा सत्त्वात्मक, दो ही स्वरूप अभिव्याप्त हैं। वायव्य-व्यवहारा में आसमन्तात् अभिव्याप्त वायव्य-अग्नि, तथा वायव्य-सोम ही आहूतयमशरीर अतम्’ इन लक्षण के अनुसार ‘श्रुताग्नि-सोमयुग्म’ है जिस श्रुताग्नि-श्रुतसोम क वृषा-योगात्मक-दाम्पत्य से ही ‘श्रुतु’ भाव अभिव्यक्त हुआ है एवं जिस श्रुतमात्र के अभिव्यक्तानुगत-परिप्लव-सोमों से ही पञ्चु किंवा पद्भु-समष्टि रूप-‘सम्बत्सर’ की अभिव्यक्ति हुई है। अग्निप्रधान सूर्य्य, एव सामप्रधान-चन्द्रमा, ही ‘सहृदय शरीर-सत्यम् इस लक्षण के अनुसार सत्याग्नि-सोमयुग्म’ है जिस सत्याग्नि [सूर्य्य] एव सत्यसोम [चन्द्रमा]। के वृषा-योगात्मक-प्राण-पयि-लक्षण दाम्पत्य से ही यथापूर्व सृष्टिधारण प्रक्रान्त है ।X

तदिय वायव्य-श्रुताग्नि-सोमद्वयी एवं सूर्य्य-चन्द्रात्मिका सत्याग्नि-सोम-द्वयी से ही ‘सम्बत्सर चक्र’ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जिसके कालात्मक तथा यज्ञात्मक दो विभक्त माने गए हैं। अग्नि-सोम-यवही सम्बत्सर यज्ञात्मक सम्बत्सर’ है। एवं इन दोनों का मांगकालात्मक ‘समयवत्त्व’ ही—‘कालात्मक-सम्बत्सर’ है। ‘कालो यज्ञ समेरयत्’ [अथर्ववेद अलङ्कार—१६ अध्याय] के

—द्वय वा इदं न तृतीयं-अस्ति-शुष्क चैव, आर्द्रश्च । यल्लुष्कं—तदग्नेयम् ।

यदार्द्रं—तत्—सौम्यम् ।

\*—किं सिद्धासीद्विष्ठानं—आरम्भणं कृतमित्-स्वित् कथासीत् ।

यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामोर्षान महिमना विश्ववचना ॥

—श्रुत्सं १०।६।१०

X—सूर्याचन्द्रमसां घाता यथापूर्वमफलपयत् ।

दिवं च पृथिवीं आन्तरिक्षमथो स्वः ॥

—श्रुत्सं ० १ १६ १३।

अनुसार कालात्मक सम्पत्तर ही वसोत्पन्न यज्ञात्मक सम्पत्तर का क्षुद्रोरूप-ययीनाधात्मक-‘आधपत्त’ है। कालरूप इनी ‘संज्ञा (आकाशात्मक) में वसुत्पन्न सम्पत्तर सुप्रसिद्ध है। अग्निरूप-सूर्य आकाश शुक्लपञ्च-परमासा उत्तरायण इन आधिर्मागामक खोर्तिमावी के साथी है तो चन्द्रमा रात्रिकाश-कृष्णपञ्च-परमासा-दक्षिणायन इन धूममार्गात्मक तमोमाषों के साथी है। आस-यज्ञात्मक-सम्पत्तर-वक्ररूप अश्वारू के सुप्रसिद्ध को अश्वरूपाह ही वैदिक-परिभाषा में सूर्यानुगत-पेन्द्र-मित्रकपाल तथा चन्द्रमानुगत-वारुण-वरुणकपाल नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्द्ध-खोर्तिष्वात्मक अर्द्धसंगोश ही सौर-पेन्द्र-मित्रकपाल है जिसे-‘पूर्वकपाल’ कहा जाता है। एवं अर्द्धसंगोश ही-अर्द्ध वारुण वरुणकपाल है जिसे ‘परिचमकपाल’ कहा जाता है।

कपालद्वयामक-अश्वरूपाहवात्मक-अग्नीशोमा मक-सूर्य-चन्द्रमासमन्वित-यज्ञात्मक विश्वमण्डल। सम्पत्तरप्रभापति के आत्मात्मक तथा यज्ञात्मक स्वरूपेतिह्व का सङ्कृतम स्वरूप-दिग्गहन है। सम्पत्तरमण्डल का मण्डलस्व-सौर-चन्द्र-रश्मियों के तिरश्चीन-माघ से ही अनुभावित है जैवकि-तिरश्चीनो वितता रश्मिरपामघ स्विदासीतुपरि स्विदासीत् इत्यादि मन्त्रकथन से स्पष्ट है-। मन्त्र का स्वरूप ह्व की प्रतिबिम्ब की गच्छा-कुट्याता से ही सम्पन्न होता है। इसकिन्तु किन्तु-प्रविम्बित वस्तु-ही यज्ञात्मक-सन्न सरकाल-‘कुटिलाकाल’ कहालाया है जिस की यह प्रकृतिसिद्धा कुटिलता किंवा वक्र्य क्षेत्र-चन्द्र-मेदमिष-अग्नि-सोमा मुक्ती दो अश्वरूपाहों के अनुकूल से मूलरूपेण दो भागों में विभक्त होती है। अर्द्ध-कुटिल-अश्वरूपाह का साथी अन्त्यामक सूर्य है तो अर्द्ध-कुटिल-अश्वरूपाह का साथी सोमात्मक चन्द्रमा है।

ये ही आधिदैविक विश्व-प्रभापति के दो सुप्रसिद्ध चक्र हैं-‘चक्षुपी चन्द्रसूर्यौ’। सूर्यमक अर्द्ध अश्वरूपाह ही उष प्रभापति का दक्षिण-चक्षुनु गत-दक्षिण-कुटिल-अ है एवं चन्द्रमक अर्द्ध-अश्वरूपाह ही उषका वाम-चक्षुनुगत-वाम-कुटिल अ है। सौर-चन्द्र-मावानुक्ती-अग्नीशोमात्मक-अश्वरूपाहद्वय-समष्टिरूप-सर्वधैव-वक्षित कुटिल-दोनों भूव ही अग्नीशोमात्मक विश्व क दो भू हैं जिन के प्रतिकरूप ही मानवीय आध्यात्ममण्ड-यज्ञ (शरीर) के दोनो भूव-अधिष्ठातृ हुए हैं। दक्षिणभ्रम सौर है तो वामभ्रम चन्द्र है। इनके स्वरूप-निर्माण में पावनसम सौर अग्नि तथा पावनसम-पवित्र नामक आकाशस्व-सोम ही प्रधान-रहते हैं। अतएव अतन-मरणाणि आशोच-पशवो में भूवी का निराकरण नहीं किया जाता। अत्र इस प्रसङ्ग से यही निवेदनीय है कि तिरश्चीन भूव ही मानव की ररूप-प्रतिष्ठा के आधार है। इन के शिथिल होते ही (अग्नि ह्व होते ही) समस्त समाप्त है बेश ही जमे कि सौर-चन्द्र-अश्वरूपाहों के पलयक्षाल में पारमपत्य-समुद्रमें निक्षीप्त होते ही पार्थिव विश्व परिमपन्न होजाया।

— तिरश्चीनो विततो रश्मिरपामघः स्विदासीदामीदुपरि म्बिदासीत् ।  
रतोषा आसन् महिमान आसन्स्वधा अथ तात्प्रयति पुरस्तात् ॥

— अष्टमः १८१२६।१।



अग्निमय सूर्य तथा सोममय चन्द्रमा, दोनों क्रमशः सौ, तथा प्रथिधी के भी संमाहक-बने हुए हैं। पावापृथिवीरूप-सौर-चान्द्र-अग्नि-सोमात्मक-कालचक्र ही कालचक्र के अष्टकटाहात्मक दोनों ब्रह्मी अग्नीसोमात्मक विश्व की मूलप्रतिष्ठा हैं। अतएव अवश्य ही इन्हें विधृती का आमक्षा है जिस इस-  
 'विधृता तत्त्व का विगद्ग्राहकस्वरूप-मीमांसा'-नामक स्वतन्त्र निबन्ध में-'विधृतीश्च पुण्या' \*  
 इत्यग्नि मन्त्रव्याख्यान में विस्तार से विस्तारण हुआ है। भूवात्मिका इसी 'विधृती' की प्रतिरूप-वर्णन-  
 प्राप्तिके लिए-यहाँ-बुध्वात्मिका-'विधृती' स्थापित की जाती है इत्यलमतिविस्तरेण-विधृतितत्त्वस्वरूप-  
 परिचयेन।

विधृती उन दो दर्मवृत्तों की याज्ञिक सजा है जिन्हें वेदि पर स्थापित किया जाता है। यह वैचयज्ञ पुण्यविषय बतलाया गया है। प्रस्तररूप शिखा का स्थापन होगया आहवनीयादिरूप से शिरोमागादि इतर शरीरकयों का स्थापन होगया। अब माँहें शेय हैं। इनका स्थापन भीर अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से 'विधृती-स्थापन' होता है। पुण्ययज्ञसंस्था में माँहें बरक रहती है अतः निदानेन तद्रूप विधृती भी तिर्यक् ही स्वकी जाती हैं। यही तिर्यग्गाधान की एक उपपत्ति है। उसी निगानमर्यादा के अनुसार प्रस्तर चय का प्रति रूप है, तो इतर बहि विन् का प्रतिरूप है। स्वरूपरक्षा के लिए दोनों का नियन्त्रण अपेक्षित है। नियन्त्रण करना मर्यादासूत्र का काम है। मर्यादासूत्र स्वभावतः बरक है, टला है उस में समता नहीं है। यह चमा करना नहीं जानता। निदानेन विधृता मर्यादासूत्र का ही प्रतिरूप है। अतएव इसे तिर्यक् रूप में ही स्थापित किया जाता है। इसी चय-विन् विवरणकर्म में इसे विधृती कहना अवश्य बनता है। विधृती-स्थापन कर्म के अनन्तर वो प्रस्तर स्थापित होता है उस की उपपत्ति स्पष्ट है ॥१ १॥

## अथ-सुक्-स्थापनकम्पोपपत्ति

विधृती के ऊपर प्रस्तर-स्थापन के अनन्तर वह अश्वय्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का मन्त्रन कराने हुए आनीम नामक श्रुतिविक के हाथ से क्रमशः ऊह उपभ्रत् बुधा नाम के सुक्पात्रों की 'धृता-  
 कसि० इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ लो लेकर सेव प्रियेण धाम्ना- इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ इन्हें वेदि पर रखता जाता है। यही सुक्प्रहण-स्थापन कर्म है। अनन्तर 'भूवा असन्न' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ

\* कालेयमङ्गिरादयोऽथवा चाचितिष्ठव

इमं च लोकं परमं च लोकं, पुण्याश्च लोकान्

“विधृतीश्च पुण्या”

सवां लोकानमिजित्य ब्रह्मणा कालं स इत्येते परमो नु द्वय ॥

—अथर्वसंहिता १६.१४.१५।

अनुसार कालात्मक सम्बन्ध ही वस्तुरूप यज्ञात्मक सम्बन्ध का छन्दोरूप-वयोनाध्यात्मक—‘आश्रयण’ है। कालरूप ही ‘संज्ञा (आकाराश्रयण) में यज्ञरूप सम्बन्ध सुप्रतिष्ठित है। अग्निरूप-सूर्य अह काल शुक्लपञ्च-परमासा उत्तरायण इन आधिर्माणात्मक व्योर्तिमाधी के साक्षी हैं तो चन्द्रमा रात्रिकाल-कृष्णपञ्च-परमासा-दक्षिणायन इन धूममार्गात्मक समोमाधी के साक्षी हैं। काल-यज्ञात्मक-सम्बन्ध-चक्ररूप ब्रह्माण्ड के सुप्रसिद्ध-को अण्डक्याह ही वैदिक-परिमाषा में सूर्यानुगत-येन्द्र-मित्रकपाल, तथा चन्द्रानुगत-वारुण-वरुणकपाल नाम से प्रसिद्ध है। अर्द्ध-व्योतिष्पञ्चालक अर्द्धस्फोख ही सौर-येन्द्र-मित्रकपाल है जिसे—‘पूर्वकपाल’ कहा जाता है। एवं अर्द्धस्फोख ही-अर्द्ध वारुण-वरुणकपाल है, जिसे ‘परिचमकपाल’ कहा जाता है।

कालाध्यात्मक-अण्डक्याहृदयात्मक-अग्नीषोमात्मक-सूर्य-चन्द्रमाकामन्वित-यज्ञात्मक विश्वमण्डल ही सम्बन्धप्रभापति के अक्षरात्मक तथा यज्ञात्मक स्वरूपेतिहृष का सञ्चिततम स्वरूप-विगर्शन है। इस सम्बन्धमण्डल का मण्डलत्व-सौर-चन्द्र-रश्मियों के तिरश्चीन-माघ से ही अनुप्राप्ति है जैसा कि—तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामघ स्थिदामीनुपरि स्थिदामीन् इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—न वद्विह्व का स्वरूप वृक्ष की प्रतिविन्दु की वक्षता-नृ ट्यता से ही सम्पन्न होता है। इस किन्तु किन्तु-प्रतिविन्दु वक्षता-से ही यज्ञात्मक-सम्बन्धप्रभापति-‘कुटिलकाल’ अक्षरात्मा है जिस की यह प्रकृतिसिद्धा कुटिलता किंवा वक्षता सौर-चन्द्र-मेघमिश्र-अग्नि-शोमा नुक्की दो अण्डक्याहों के अनुकम्ब से स्थूलरूपेण दो भागों में विभक्त होती है। अर्द्ध-कुटिल-अण्डक्याह का साक्षी अग्न्यात्मक सूर्य है तो अर्द्ध-कुटिल-अण्डक्याह का व्यक्ती शोमात्मक चन्द्रमा है।

ये ही आधिदैविक विश्व-प्रभापति के दो सुप्रसिद्ध वस्तु हैं—‘बहुषी चन्द्रसूर्या’। सूर्यप्रभ अर्द्ध अण्डक्याह ही उस प्रभापति का दक्षिण-बहुषु गत-दक्षिण-कुटिल-भू है एवं चन्द्रप्रभ अर्द्ध अण्डक्याह ही उवग्र वाम-बहुषु गत-वाम-कुटिल भू है। सौर-चन्द्र-माघानुक्की-अग्नीषोमात्मक-अण्डक्याहृदय-समक्षिरूप-सर्ववैद्य-वक्षित कुटिल-दोनों भूय ही अग्नीषोमात्मक विश्व के दो भू हैं जिन के प्रतिकल्प ही मानवीय आध्यात्मिक-यज्ञ (शरीर) के दोनों भ्रव-अभिमुख्य हुए हैं। दक्षिणभ्रव सौर है तो वामभ्रव चान्द्र है। इनके स्वरूप-निर्माण में पावनतम सौर अग्नि तथा पावनतम-‘पवित्र’ नामक ब्राह्मणस्वत्व-शोम ही प्रधान-रहते हैं। अतएव अनन-मरणादि आध्यात्म-प्रवर्तों में भ्रवों का निराकरण नहीं किंवा जाता। अतएव प्रवर्त से यही निवेदनीय है कि तिरश्चीन भ्रव ही मानव की स्वरूप-प्रतिष्ठा के आधार है। इन के शिथिल हाव ही (अग्नि फट् हाते ही) सरलतम समान है जैसा ही जने कि सौर-चान्द्र-अण्डक्याहों के प्रलयकाल में पागमप्य-समुद्रमें निक्षिप्त होते ही पार्थिव विश्व परितप्तान हावापगा।

— तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामघ स्थिदामीनुपरि स्थिदामीन् ।

रेतोषा आसन् महिमान आसन्स्वधा अत्र तात्पर्यति पुरस्तात् ॥

— अथर्व० १०।१२।१।

श्री

अथ—शतपथब्राह्मण—हिन्दी—विज्ञानभाष्ये  
सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्  
ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

---

स्थापन-क्रमानुसार इन सब का स्पर्श करता है। इस ब्राह्म-स्थापन-स्पर्श-कर्म की कोई विशेष उत्पत्ति नहीं है। मन्त्रशास्त्रों के सम्बन्ध में जो कुछ विशेष वास्तव्य था वह भूलानुवाद से ही गतार्य है ॥ १२, १३, १४, १५, १६॥

प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण  
 एवं तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपरत  
 परिधिब्राह्मण-अत्र समाप्त  
 द्विब्राह्मणात्मक-“इध्म परिधि-ब्राह्मण” समाप्त



# अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये--सामिधेनी-ब्राह्मणम् ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

अथ-प्रथमकारण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्  
( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-प्रथम ब्राह्मणम् )

१

## १८—सामिधेन्यनुवचनकर्म

( मूल ) इन्वे ह वा एतदध्वर्युरिध्मेनाग्निम्-तस्मादिध्मो नाम । समिन्वे सामि  
धेनीमिर्होता-तस्मात् सामिधेन्यो नाम ॥ १ ॥

स आह-“अग्नये समिध्यमानायानुग्रही” इति । अग्नये होतृत् समिध्य-  
मानायान्वाह ॥ २ ॥

तदु ईक आहु -अग्नये समिध्यमानाय होतृरनुग्रहीति । तदु तथा न ब्रूयात् ।  
अहोता वा एष पुरा भवति । यदैर्धनं प्रष्टुमीति-अथ होता । तस्माद् ब्रूयात् अग्नये  
समिध्यमानायानुग्रही-त्येष ॥ ३ ॥

आग्नेयीरन्वाह । स्वयैर्वैनमेतद्वतया समिन्वे । गायत्रीरन्वाह । गायत्र वा-  
अग्नश्छन्द । स्वेनैर्वैनमेतच्छन्दमा समिन्वे । वीर्यं गायत्री, ब्रह्म गायत्री, वीर्य्यसौ-  
र्धनमतत्समिन्वे ॥ ४ ॥

एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् । ब्रह्म गायत्री, चत्र त्रिष्टुप् । एताम्भामर्नं  
नमतदुमाभ्यां वीर्याभ्यां समिन्वे-तस्माद्वैकादशान्वाह ॥ ५ ॥



स यावदस्य वशं स्यात्-एवमेवानुषिवचेत् । तस्यैतस्य परिचया, उत साम्यवान्याद्,  
अनवानन्ननुषिवच्चैस्तत्कर्म विशृणोत । सा परिचया ॥ १४ ॥

स यद्येतन्नोदाशसेत्-अप्येकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात् । तदेकैक्येवेमाँल्लोकान्  
सन्तनोति । एकैक्येमाँल्लोकान् स्पृष्टुते । अथ यत्प्राणं दधाति-गायत्री नै प्राण, स  
यत् कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह-तत् कृत्स्न प्राणं दधाति । तस्मादेकैकामेवानवानन्न-  
नुब्रूयात् ॥ १५ ॥

ता नै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । संवत्सरस्यैतदहोरात्राणि सन्तनोति ।  
तानीमानि सम्बत्सरस्याहोरात्राणि सन्ततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्त । द्विपत उ  
चैतद् भ्रातृव्याय नोपस्थान करोति । उपस्थान इ कुर्याद्-यदमन्तता अनुब्रूयात् ।  
तस्माद् सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥ १६ ॥

इति-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मणम्  
[ सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-प्रथम ब्राह्मणम् ]

१



तृतीयोऽध्यायश्चात्र समाप्तः,

३



स वै त्रि प्रथमामन्वाह, त्रिरुचमाम् । त्रिहृत्पापया हि यज्ञा, त्रिहृदुदपनाः  
तस्मात्-त्रि प्रथमामन्वाह, त्रिरुचमाम् ॥ ६ ॥

ताः पञ्चदश सामिधेन्य सम्पद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्र, वीर्यं वज्र, वीर्यमेवैत-  
त्सामिधेनीरभिसंपादयति । तस्मादेतास्वनुच्यमानासु य द्विष्यात् तमह् गुष्ठान्म्यावभाषेत-  
‘इदमहम्मुमघभाषे’ इति । तदेनमेतेन वज्रोशावभाषते ॥ ७ ॥

पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः । अर्द्धमासशो वै सवत्सरो मवधेति, तद्वत्प्री-  
राप्नोति ॥ ८ ॥

पञ्चदशानासु वै गायत्रीणां त्रीणि च शतानि पष्टिमासरात्रि । त्रीणि च वै  
शतानि पष्टि च सवत्सरस्याहानि । तद्वहान्याप्नोति, तद्वै सवत्सरमाप्नोति ॥ ९ ॥

सप्तदश सामिधेनीरिष्टया अनुम्रूयात् । उपांशु तस्यै देवतायै यजति यस्या इष्टि  
निर्वपति । द्वादश वै मासा सवत्सरस्य, पञ्चर्चवः । एष एष प्रजापति सप्तदश ।  
सर्वं वै प्रजापति । तत्सर्वेद्यैव त काममनपराध राप्नोति यस्मै कामायेष्टि निवपति ।  
उपांशु देवतां यजति । अनिरुक्त वा उपांशु । सर्वं वा अनिरुक्तम् । तत्सर्वेद्यैव त  
काममनपराध राप्नोति-यस्मै कामायेष्टि निवपति । एष इष्टेरुपचार ॥ १० ॥

एकविंशति सामिधेनीरपि दर्शपूर्णमासयोरनुम्रूयादित्याहुः । द्वादश वै मासा  
सवत्सरस्य, पञ्चर्चवः, त्रयो लोकः-तद्विंशति । एष एगैकविंशो य एष तपति । सैषा  
गतिः, एषा प्रतिष्ठा । तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । तस्मादेकविंशतिमनु-  
म्रूयात् ॥ ११ ॥

ता हेता गतयेरेवानुम्रूयात् । य इच्छेन्न भोगान् स्वात्म पापीयानिति । यादृशाप  
हेव स तऽन्वाहः-तादृक् वा हेव मवति, पापीयान्वा-यस्यैव विदुष एता अन्वाहुः । सो  
एषा भीमांसैव, नत्वर्गैता अनुच्यन्ते ॥ १२ ॥

त्रिरव प्रथमा त्रिरुचमामनवानमनुम्रूयात् । त्रयो वा इम लोकः, तदिमानर्ग-  
न्लोकान् सन्तनोति, इमान् लोकान् स्पृणुते । त्रय इम पुरुष प्राणाः । एतमवास्मिन्ने-  
तत्सततमच्यवच्छिन्नं दधाति । एतदनुवचनम् ॥ १३ ॥



यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह प्रेति वै प्राश एत्युदान, प्राशोदानावचैचइधानि ।  
तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ५ ॥

यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति नै रेत सिच्यते, एति प्रजायते । प्रेति पशवो  
बितिष्ठन्ते, एति समावर्गन्ते । सवे वा इदमेति च प्रेति च । तस्माद्वा एति च प्रेति  
चान्वाह ॥ ६ ॥

सोऽन्वाह—‘प्र वो वाजा अभिषव’ इति । तन्नु प्रेति भवति । ‘अग्न आयाहि  
वीतय’ इति । तद्वेति भवति ॥ ७ ॥

तदु हैक आहु—उययं वा एतत् प्रेति सपद्यत इति । तदु तदातिविज्ञान्यमिष । ‘प्र  
वो वाजा अभिषव’ इति—तन्नु प्रेति । ‘अग्न आयाहि वीतय’ इति तद्वेति ॥ ८ ॥

सोऽन्वाह—‘प्र वो वाजा अभिषव’ इति—तन्नु प्रेति भवति । वाजा इति । अग्न न  
वाजा, अन्नमेवैतदभ्यनूक्तम् । इषिभ्यन्त इति । पशवो वै इषिभ्यन्त, पशून्वैत-  
दभ्यनूक्तम् ॥ ९ ॥

घृताच्या इति । विदेधो ह माधवोऽग्निं वैश्वानर मुखे बभार । तस्य गोतमो  
राहुगन्ध अपि पुरोहित आस । तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाशो न प्रतिशृणोति—नेन्मेऽग्निर्गो-  
स्वानरो मुखान्निष्पदाता इति ॥ १० ॥

तमृगमिहयितु दध्रे—‘वीतिहोत्रं त्वा कत्रे घुमन्त समिधोमहि । अग्ने वृहन्त-  
मध्वरे—विदेध’ इति ॥ ११ ॥

स न प्रतिशुभाव । ‘उक्त्रे शुचयस्तव शुफ्रा आजन्त ईरते । तव उपोतिः  
प्यर्षयो—विदेधा २ इति ॥ १२ ॥

स ह नैव प्रतिशुभाव । ‘तन्त्वा घृतस्नवीमहे इत्येवामिष्याहरत्—अथास्य घृत  
फीचविवाग्निर्वानरो मुखदुज्ज्वात् । तं न शशाक धारयितुम् । सोऽस्य मुखान्नि-  
ष्पदे । स इमां पृथिवीं प्रापाद ॥ १३ ॥

तर्हि विदेधो माधव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् ददन्नमीयायमां पृथि-  
वीम् । तं गोतमश्च राहुगणो विदेधश्च माधव पथादहन्तमन्नीयतु । स इमा सर्वा

श्री

अथ—शतपथब्राह्मण—हिन्दी—विज्ञानभाष्ये  
चतुर्थोऽध्याय

४

अथ—प्रथमकारण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मणम्  
[ सामिधेनी—ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मणम् ]

१

दिङ् कृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽसीति वा आहु । न वा अदिङ् कृत्य साम  
गीयत । स यदिङ्करोति, तदिङ्कारस्य रूपं कियते । प्रणवनेव साम्नो रूपमुपगच्छति  
ओ ३ म् ओ ३ म् इति । एतेनो हास्यैव सर्व एव सप्तमा यज्ञो भवति ॥ १ ॥

यदेव दिङ्करोति । पाखो न दिङ्कार । प्राखो हि वै दिङ्कार, तस्माद्—अपिगृह्य  
नासिक् न दिङ्कर्तुं शक्नोति । बाचा वा भृचमन्वाह । वाक् च वै प्राखश्च मिथुनम् ।  
तदेतत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननं कियते सामिधेनीनाम् । तस्माद् दिङ् कृत्यान्वाह ॥ २ ॥

म वा उपांशु दिङ्करोति । अथ यदुर्ध्वं दिङ् कुर्यात्, अन्यतरदेव कुर्यात्, वाचमेव ।  
तस्मादुपांशु दिङ्करोति ॥ ३ ॥

म वा एति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमधैतद्वाची च पराची च पुनक्ति ।  
पराच्यह दक्षम्पो यत्नं वहति अवाची मनुष्यानवति । तस्माद् एति च प्रेति  
चान्वाह ॥ ४ ॥

‘गृणानो हव्यवातये’ इति । यजमानो नै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्य-  
नैतदाह । ‘नि लोता सस्मि षर्हिषि’ इति । अग्निर्नै होता, अय लोको षर्हि । अस्मि-  
न्नेषतल्लोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मिन्लोकेऽग्निर्हित, । संपममेव लोकमभ्यनूक्ता,  
इममेनैतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

‘तत्त्वा समिधुमिरञ्जिर’ इति । समिधुमिर्होतमञ्जिरस ए घत । अञ्जिर इति ।  
अञ्जिरा उ अग्नि । ‘घृतेन चर्द्धयामसीति’ । तत्सामिधन पदम् । समर्गेन तेनेन्वे,  
वार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

‘वृहच्छ्रोत्रा यविष्ठय’ इति । वृहदु षोप शोचति समिद्ध । यविष्ठ्येति-यविष्ठो  
अग्निः । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सपा एतमव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव ।  
तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो षोप लोक । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैव  
विदुष एतामन्वाहु ॥ २६ ॥

‘स न पृथु अवाग्यम्’ इति । अदो वै पृथु-यस्मिन् देवा । एतन् अवाग्यम्-  
यस्मिन् देवा । अञ्छा देव चिवाससि’ इति । अञ्छ देव विवासमि-एतन्ना गमय-  
इत्यवैतदाह ॥ २७ ॥

‘वृद्धदग्ने सुवीर्यम्’ इति । अदो वै वृद्ध-यस्मिन् देवा, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन्  
देवा । मैपा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमव । एतमर्गेतया लोक जयति-यस्यैव विदुष  
एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह ‘ईडेन्या नमस्य’-इति । ईडेन्यो षोप, नमस्यो षोप । ‘तिरस्तमांमि  
दशत’ इति । तिर इव षोप तमामि समिद्धो दश्ये । ‘ममग्निरिष्यते घृपा’ इति । न  
दीप्यत घृपा । ‘घृपा अग्निः समिष्यते’-इति स दीप्यत ॥ २९ ॥

अश्या न देववाहनः’-इति अश्वो ह वा ण्य भूत्वा दधम्यो यत्र वहति ।  
पदं नति अचि-ओमिति तत् । तस्मादाह-‘अश्वो न दधवाहन’ इति ॥ ३० ॥

न इविष्मन्त इडते’-इति । इविष्मन्तो षोप मनुष्या इडते । तस्मादाह-‘त  
इविष्मन्त इडते’ इति ॥ ३१ ॥

नदीरतिददाह । सदान्तीरेत्युचराद् गिरेनिर्द्वाविति, तां, हैष नातिददाह । तां, इ स्म तां पुरा  
प्राञ्चया न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरयेति ॥ १४ ॥

तत एतर्हि प्राचीन बहवो प्राञ्चया । तद्वाचेऽत्रतरमिषास, सावितरमिषास्वदित-  
मग्निना वैश्वानरयेति ॥ १५ ॥

तद् हैतर्हि चेप्रतरमिष । प्राञ्चया उ हि नूनमेनघञ्चैरसिष्यदन् । सापि, जषन्त्ये नैदाप  
समिधैव कोपयति तत्त्वत्, शीताऽनतिदग्धा आग्निना वैश्वानरय ॥ १६ ॥

स होवाच विदेशो मायव — ब्राह्म मवानीति । अत एव ते प्राचीनं शुबनमिति  
होवाच । सैपाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । तं हि मायवाः ॥ १७ ॥

अथ होवाच । गोतमो राहूगण — कथञ्च न आमन्त्र्यमाखो न प्रत्यभौषीरिति ।  
स होवाच अग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽमृतं, स नेन्ये मुखान्निष्पद्याते, तस्मात्ते न प्रत्य-  
भौषमिति ॥ १८ ॥

तद् कथमभूदिति । यत्रैव त्व 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिष्याहर्षीः, तदेव मे घृतकी-  
र्त्तावग्निर्वास्वानरो मुखदुदज्वालोत्, तन्नाशकं धारयितुम, स मे मुखान्निष्पा-  
दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीपृ-घृतवत्-सामिधेनमेव, तत् । समेवैनं तेनेन्व, वीर्यमेषास्मिन् ।  
दधाति ॥ २० ॥

तद् घृताप्येति । 'देवाग्र-जिगाती सुम्नयु'—इति । यत्रमनो मे सुम्नयु, स हि  
देवाग्र जिगीपति, स हि देवाग्र जिघातति । तस्मादाह-देवाग्र, जिगाति सुम्नयुरिति ।  
सैपाप्येयी, सत्यनिरुक्ता । सर्गं वा अनिरुक्तम्, सर्वेयौर्गैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

अग्न आयाहि धीमते'—इति । तद्वेति भवति । नीतय इति-समन्तिकमिव इ वा  
इमग्ने लोका आसु, इत्युन्मूयता हैव धीरास ॥ २२ ॥

ते दवा अकामयन्त-कथन्तु न इमे लोका वितरां स्युः, कथन्तु इदं वरीष इव  
स्यादिति । तानर्तरव विभिरधरेष्यनयन्-वीतय इति । त इम विदूरं साक्षाः, तदा  
देवम्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो इ वा अस्मै भवति-पश्येयं विदग् एतामन्वा-  
द्वीतय इति ॥ २३ ॥

‘गृणानो हव्यदातये’ इति । यजमानो नै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्ये  
नैतदाह । ‘नि होता सत्सि बह्विषि’ इति । अग्निर्न होता, अय लोको बहिं । अस्मि-  
न्नेतन्लोकेऽग्नि ददाति । सोऽयमस्मिन्लोकेऽग्निर्हित । सैषेममेव लोकमभ्यनूक्ता,  
इममेतया लोकं जयति—यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

‘तत्त्वा समिध्मिरग्निर’ इति । समिध्मिर्ज्ञेतमङ्गिरस ऐ-घत । अङ्गिर इति ।  
अङ्गिरा उ अग्नि । ‘घृतेन वर्द्धयामसीति’ । तत्सामिधेन पदम् । समेनैत तेनेन्दे,  
वार्यमेवास्मिन्ददाति ॥ २५ ॥

‘बृहच्छ्रोषा यविष्ठ-य’ इति । बृहदु षोप शोचति समिद्ध । यविष्ठेति—यविष्ठो  
अग्नि । तस्मादाह—यविष्ठेति । सपा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता—अन्तरिक्षलोकेमेव ।  
तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो षोप लोक । एतमेतया लोकं जयति—यस्यैव  
विदुष एतामन्वाहु ॥ २६ ॥

“स न पृथु अवाय्यम्” इति । अदो वै पृथु—पस्मिन् देवा । एतन् अवाय्यम्—  
पस्मिन् दवा । अच्छा देव विवाससि’ इति । अ-श्च देव विवासमि—एतन्ना गमय-  
इत्येतदाह ॥ २७ ॥

‘बृहदग्ने सुवीर्यम्’ इति । अदो वै बृहद्—यस्मिन् दवा, एतत् सुवीर्यम्—पस्मिन्  
दवा । सैपा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता—दिशमेव । एतमेतया लोकं जयति—यस्यैव विदुष  
एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

मोऽन्वाह ‘ईडेन्या नमस्यः’-इति । ईडेन्यो षोप, नमस्यो षोप । ‘निरस्तमांसि  
दर्शत’ इति । तिर इव षोप तमामि समिद्धो दृश्ये । ‘समग्निरिष्यते धृपा’ इति । म  
हीष्यते धृपा । ‘धृपा अग्नि समिष्यते’—इति स हीष्यते ॥ २९ ॥

अश्या न देवघातन’—इति अश्वो इ वा ण्य भूत्वा देवभ्यो यम्न वहति ।  
यद् नति अचि—ओमिति सत् । तस्मादाह—‘अश्वो न दशवाहन’ इति ॥ ३० ॥

‘म हविष्मन्त ईडत’—इति । हविष्मन्तो अनेन मनुष्या ईडते । तस्मादाह—‘त  
हविष्मन्त ईडत’ इति ॥ ३१ ॥

नदीरतिददाह । सदा नरीरेस्युचराव् गिरेनिर्वाषति, तां हैव नातिददाह । तां ह स्म तां पुरा  
प्राक्ष्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निा वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत् एतर्हि प्राचीन वदधो प्राक्ष्मणा । तद्वाधेश्वतरमिव वास, स्नात्रिरमिवास्वदित-  
मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि धेश्वतरमिव । प्राक्ष्मणा उ हि नूनमेनघज्ञैरसिष्यदन् । सावि, वषत्पे नैदाध  
समिनेव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा क्षाम्निना वैश्वानरश्च ॥ १६ ॥

स होवाच विदेधो माधव - क्वाह मयानीति । अत एव ते प्राचीन भुवनमिति  
होवाच । सैपाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । त हि माधवाः ॥ १७ ॥

अथ हो-वाच । गीतमो राहृगणः - कथञ्च न आमत्त्र्यमाखो न प्रत्यभौपीरिति ।  
स होवाच अग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽमृत, स ने मे मुखान्निष्यधातै, तस्मात्ते न प्रत्य-  
भौपमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव स्वं 'धृतस्नधीमहे' इत्यभिन्याहारीः, तदेव मे धृतधी-  
र्चाविग्निर्वाश्वानरो मुखेऽदुदज्वालीत् तन्नाशकं धारयितुम्, स मे मुखान्निरपा-  
दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधुनीधु-धृतवत् - सामिधेनमेव, तत् । समेवैन तेनेन्वे, वीरमेवास्मिन् ।  
दधाति ॥ २० ॥

तदु धृतत्वेति । 'देवाञ्ज, जिगाती सुम्नयु' - इति । यत्रमानो न सुम्नयुः, स हि  
देवाञ्ज जिगीपति, स हि देवाञ्ज जिघासति । तस्मादाह - देवाञ्ज, जिगाति सुम्नयुरिति ।  
सापाङ्गप्री, सत्यनिरुक्ता । सर्व वा अनिरुक्तम्, सर्वेयैर्गतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आपाहि वीतये' - इति । तद्वेति भवति । वीतय इति - समन्तिकर्मिण इ वा  
इमञ्चे लोका आसुः, इत्युन्मुरया हैव धीरागा ॥ २२ ॥

ते दवा अकामयन्त - कथन्तु न इम लोका वितरां स्युः, कथन्तु इदं वरीय इव  
स्यादिति । तानतरव विभिरधरेभ्यनपन् - वीतय इति । त इम विदूर लोकाः, ततो  
देवम्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो । इ वा अस्मै भवति - यस्पर्धं विदधु एतामन्वा-  
दुर्वीतय इति ॥ २३ ॥

‘गृणाना त्व्यदात्तये’ इति । यजमानो वै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्य-  
 तदाह । ‘नि तोता सत्सि घत्सि’ इति । अग्निर्गं होता, अयं लोको वर्हि । अस्मि-  
 नेतन्लाकेऽग्निं दधाति । सोऽयमस्मिन्लोकोऽग्निर्हितः । संपममेव लोकमभ्यनूक्ता,  
 इममेतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

‘तत्त्वा समिद्धिभिरग्निः’ इति । समिद्धिभिस्तमज्जिरस णेधत । अज्जिर इति ।  
 अज्जिरा उ अग्निः । ‘घृतेन वर्द्धयामसीति’ । तत्सामिधनं पदम् । समगर्तं तेनेन्द्रे,  
 वार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

‘वृहच्छ्रोत्रा यजिष्ठ-घ’ इति । वृहदु क्षेप शोचति समिद्धः । यविष्ठ्येति-यविष्ठो  
 अग्निः । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सपा एतमयं लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव ।  
 तस्मादाग्नयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो क्षेपः लोकः । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैव  
 विदुष एतामन्वाहु ॥ २६ ॥

‘स न प्रयु अत्रायम्’ इति । अदो वै प्रयु-यस्मिन् देवा । एतन् अत्रायम्-  
 यस्मिन् देवाः । अत्रा वेध विद्याससि’ इति । अत्रा देव विद्यासमि-एतन्वा गमय-  
 इत्यवैतदाह ॥ २७ ॥

‘घृतवग्ने सुवीर्यम्’ इति । अदा वै वृहद्-यस्मिन् त्वा, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन्  
 देवा । सपा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमव । एतमर्गंतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष  
 एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

योऽन्वाह ‘इडेन्या नमस्यः’ इति । ईडेन्यो क्षेपः, नमस्यो क्षेपः । ‘तिरस्तमांसि  
 दशत’ इति । तिर इत्यक्षयं तमामि समिद्धो ददशे । ‘समग्निरिष्यत घृषा’ इति । मं  
 क्षीप्यत घृषा । ‘घृषा अग्निं समिध्यत’-इति मं क्षीप्यत ॥ २९ ॥

‘अश्वा न देववाहन’-इति अत्रो ह वा गव्यं भूत्वा देवम्या यज्ञं वहति ।  
 यज्ञं नति अत्रि-आमिति तत् । तस्मादाह-‘अश्वा न देववाहन’ इति ॥ ३० ॥

‘न हविष्मन्त इडत’-इति । हविष्मन्तो क्षेपं अनुष्या इडत । तस्मादाह-‘नं  
 हविष्मन्त इडत’ इति ॥ ३१ ॥

नदीरतिवदाह । सदान्तीरेस्थुचराष् गिरेतिर्वावति, तां हैव नातिवदाह । तां ह स्म तां पुरा  
प्राज्ञाया न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत् एतर्हि प्राचीन षड्यो प्राज्ञाया । तद्वाचेतरमिवाप्त, स्नावितरमिवास्वदित-  
मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि चेतरमिवा । प्राज्ञाया उ हि नूनमेनघञैरसिष्यदन् । सावि, जघन्मे नैदाध  
समिधैव कोपयति तत्तत्, शीताऽनतिदग्धा अग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेवो मायव - स्वाह भवानीति । अत एव ते प्राचीन भुवनमिति  
होवाच । सैपाप्येतर्हि कोसलविदेवानां मर्यादा । त हि मायवाः ॥ १७ ॥

अथ होवाच । गोतमो राहुगण - कथञ्च न आमन्त्र्यमाथो न प्रत्यभौपीरिति ।  
स होवाच अग्निमे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेमे मुखान्निष्यद्यातै, तस्मात्ते न प्रत्य-  
भौपमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं 'धृतस्नवीमहे' इत्यभिध्यादायीः, तदेव मे धृतकी-  
र्त्ताभिर्गैश्वानरो मुखानुदज्वालीत् तन्नाशकं धारयितुम्, स मे मुखान्निष्या-  
दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु धृतवत्-सामिधेनमेव-तत् । समेवैनं तेनेन्व, वीर्विवास्मिन्,  
दधाति ॥ २० ॥

तदु धृताप्येति । 'देवाञ्ज, जिगातो सुम्नयु'-इति । यजमानो नै सुम्नयुः, स हि  
देवाञ्ज जिगीषति, न हि देवाञ्ज जिघांसति । तस्मादाह-देवाञ्ज, जिगाति सुम्नयुरिति ।  
सायाज्ञेयो सत्यनिरुक्ता । सर्गं वा अनिरुक्तम्, सर्गेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अमन् आयाहि धीतये'-इति । तद्वेति भवति । नीतय इति-समन्तिकर्मिण इ वा  
इमस्यै लोका, आयुः, इत्यन्मृश्या हैव धीरागा ॥ २२ ॥

ते देवा अकामयन्त-कथन्तु न इम लोका नितरां स्युः, कथन्तु इदं वरीय इव  
स्यादिति । तानर्तरव विभिरस्येनयन्-वीतय इति । त इम विदुर् लोकाः, ततो  
देवम्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो, इ वा अस्मै भवति-मर्त्यस्य विदुः एतामन्ना-  
द्वीतय इति ॥ २३ ॥



‘गृणानो हव्यदातये’ इति । यजमानो नै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्य-  
 गैतदाह । ‘नि होता सत्सि षर्हिषि’ इति । अग्निर्न होता, अय लोको षर्हि । अस्मि-  
 न्नेवातन्त्रोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मिन्त्रोकेऽग्निर्हित । सैषममेव लोकमभ्यनूक्ता,  
 इममेवैतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

‘तत्त्वा समिध्मिर्गञ्जिर’ इति । समिध्मिर्गञ्जितमङ्गिरस ऐ धत । अङ्गिर इति ।  
 अङ्गिरा उ अग्नि । ‘घृतेन चर्द्रयामसीति’ । तत्सामिधेन पदम् । समेनैव तेनेन्ये,  
 धार्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

‘बृहच्छ्रोत्रा यविष्ठय’ इति । बृहदु षोप शोचति समिद्ध । यविष्ठयेति-यविष्ठो  
 अग्नि । तस्मादाह-यविष्ठयेति । सपा एतमव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमव ।  
 तस्मादाग्नये सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो षोप लोक । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैव  
 विदुष एतामन्वाहु ॥ २६ ॥

‘स न पृथु अवाप्यम्’ इति । अदो वै पृथु-यस्मिन् देवा । एतन् अवाप्यम्-  
 यस्मिन् देवा । अञ्छा वेष विवामसि’ इति । अञ्छ इव विवातमि-एतन्ना गमय-  
 इत्येवैतदाह ॥ २७ ॥

‘बृहदग्ने सुवीर्यम्’ इति । अदो वै बृहद्-यस्मिन् देवा, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन्  
 देवा । सैषा एतमव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमव । एतमर्षतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष  
 एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह ‘ईडेन्या नमस्यः’ इति । ईडेन्यो षोप, नमस्यो षोप । ‘निरस्तमासि  
 दर्शत’ इति । तिर इव षोप तमामि समिद्धो दृश्यो । ‘समग्निर्गिध्यत घृषा’ इति । म  
 र्गिध्यत घृषा । ‘घृषा अग्नि समिप्यते’—इति म र्गिध्यत ॥ २९ ॥

अश्वो न देववाहन’—इति अश्वो ह वा ण्य भूत्वा देवभ्यां यच्च वहति ।  
 यर्दे नति अचि—आमिति सत् । तस्मादाह-‘अश्वो न देववाहन’ इति ॥ ३० ॥

न हविष्मन्त ईडत’—इति । हविष्मन्तो षोप मनुष्या ईडत । तस्मादाह-‘त  
 हविष्मन्त ईडत’ इति ॥ ३१ ॥

नदीरसिद्धादौ । सदा नीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्द्धारयति, ता  
ब्राह्मणा न सरन्ति, अनसिद्धिर्वाग्निं वैश्वानरेत्येति ॥

तत् एतर्हि प्राचीन बहवो ब्राह्मणा । तद्वाचेऽथ  
मग्निना वैश्वानरेत्येति ॥ १५ ॥

तद् हेतर्हि चेत्तरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेनयमैरा  
समिधैव कोपयति साधत, शीताऽनसिद्धिर्वाग्निना वैश्वान

स होवाच विदेधो माधव - ब्रह्म भवानीति । अत एव  
होवाच । सैषाप्यतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । ते हि माधवाः ।

अथ होवाच । गोतमो राहूगण - कथञ्च न आमन्त्र्यमाण,  
स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽमृत, स ने मे मुखान्निष्पद्यत,  
भौपमिति ॥ १८ ॥

तद् कथममृदिति । यत्रैव त्वं 'भूतस्नवीमहे' इत्यभिन्वाहारीः,  
सर्वभिर्गैश्वानरो मुखदुदन्वासीत्, तन्नाशकं धारयितुम्, स  
दीतिः ॥ १९ ॥

स यस्सामिधेनीषु घृतवद्-सामिधेनमेष्ट तत् । समेवैव । तेनेव,  
दधाति ॥ २० ॥

तद् घृतात्त्येति । 'विवात्र, जिगात्नी सुम्नयु'-इति । यत्रमानो न सुम्न  
देवाञ् जिगीषति, स हि देवाञ् जिघासति । तस्मादाह-देवाञ् जिगाति सुम्नयुः  
सैषान्तेयो, सत्यनिरुक्ता । सर्गं वा अनिरुक्तम्, सर्गैर्गैवत्यतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आयाहि धीतये'-इति । तद्वेति भवति । धीतय इति-समन्तिकमिव &  
इमंश्चो लोका आसु, इत्यन्मृशया द्वे घौरास ॥ २२ ॥

ते दवा अकामयन्त-कथन्तु न इमं लोका वितरां स्युः, कथन्तु इदं वरीष इ  
स्यादिति । तानतरव विभिरपरैर्यनयन्-धीतय इति । त इमं विदूरं लोकाः, ततो  
देवेभ्यो वरीषोऽभवत् । वरीषो इ वा अस्मै, भवति-यस्मै विदुषु प्तवामन्वा-  
द्वीतय इति ॥ २३ ॥

‘गृणाना हव्यदास्ये’ इति । यजमानो नै हव्यदाति । गृणानो यजमानायेत्ये  
 नैतदाह । ‘नि होता सस्मि यर्हिपि’ इति । अग्निर्न होना, अय लोको बर्हि । अस्मि-  
 न्नेतन्लोकेऽग्नि दधाति । सोऽयमस्मिन्लोकेऽग्निर्हित । सौममेव लोकमभ्यनूक्ता,  
 इममथैतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष एतामन्वाहु ॥ २४ ॥

‘तत्त्वा समिध्मिरग्निर’ इति । समिध्मिर्ब्रह्ममग्निरस ऐ-घत । अग्निर इति ।  
 अग्निरा उ अग्नि । ‘घृतेन चर्द्धयामसीति’ । तत्सामिधेन पदम् । समर्धेन तेनेन्धे,  
 कार्यमेधास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

‘वृहच्छोषा यधिष्ठ-य’ इति । बहदु षोप शोचति समिद्ध । यविष्ठेति-यविष्ठो  
 अग्नि । तस्मादाह-यविष्ठेति । सपा एतमव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव ।  
 तस्मादाग्नयी मत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो षोप लोक । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैव  
 विदुष एतामन्वाहु ॥ २६ ॥

‘स न पृथु अवाय्यम्’ इति । अदो वै पृथु-यस्मिन् देवा । एतन् अवाय्यम्-  
 यस्मिन् देवा । ‘अन्ध्रा देव शिवाससि’ इति । अ-ध्रुव विवासमि-एतन्ना गमय-  
 इत्यवैतदाह ॥ २७ ॥

‘वृहदग्ने सुवीर्यम्’ इति । अदो वै वृहद्-यस्मिन् देवा, एतत् सुवीर्यम्-यस्मिन्  
 देवा । मैपा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमेव । एतमवैतया लोकं जयति-यस्यैव विदुष  
 एतामन्वाहु ॥ २८ ॥

‘मोऽन्वाह ईडेन्या नमस्यः’ इति । ईडेन्यो षोप, नमस्यो षोप । ‘निरस्तमांसि  
 दशत’ इति । तिर इव षोप तमांसि समिद्धो दशये । ‘समग्निरिष्यते घृषा’ इति । म  
 हीध्यत घृषा । ‘घृषा अग्निः समिष्यते’-इति म हीध्यत ॥ २९ ॥

‘अश्वो न वेववाहन’-इति अश्वो ह वा ण्य भूत्वा दक्ष्म्यो यज्ञ वहति ।  
 यज्ञं नति अचि-ओमिति तत् । तस्मादाह-‘अश्वो न वेववाहन’ इति ॥ ३० ॥

‘न हविष्मन्त ईडत’-इति । हविष्मन्तो षोप मनुष्या इडत । तस्मादाह-‘त  
 हविष्मन्त इडत’ इति ॥ ३१ ॥

‘वृषण्या त्वा वयं वृषन् वृष ( पा ) याः समिधीमहि’ इति । स ह्येनमिषते ।  
‘अग्ने दीद्यात् वृष्ट्व’ इति । दीदयेव ह्येष वृष्टुः समिद्ध ॥ ३२ ॥

त वा एतं वृषण्यन्तं त्रिषमन्वाह-आग्नेय्यो वा एता सवा सामिधेन्यो भवन्ति ।  
इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, इन्द्रो वृषा । एतेन उ ह अस्यैता सेन्द्रा सामिधेन्यो भवन्ति ।  
तस्माद् वृषण्यन्तं त्रिषमन्वाह ॥ ३३ ॥

सोऽन्वाह-‘अग्निं कृत वृणीमहे’ इति । देवाश्च वा असुराश्च-उभये प्राज्ञापत्याः  
पस्पृचिरे । तान् स्पृष्टमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ । या वै सा गायत्र्यासीद्-इय वै सा  
पृथिवी । इयं ह्येव तदन्तरा तस्थौ । त उभय एव विदाश्चक-‘यतरान् वै न इयमुपा-  
वत्स्यति, ते भविष्यन्ति, परेतरे भवस्यन्ति’ इति । तामुभय एवोपमन्त्रयाश्चक्रिरे ।  
अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरचा इत्यसुराश्चसमसुराणाम् । माग्निमवानुप्रेदाय ।  
तस्मादन्वाह ‘अग्निं कृत वृणीमहे’ इति । स हि देवानां दूत आसीत् । ‘होतार विश्ववद-  
सम्’ इति ॥ ३४ ॥

तदु हैकेऽन्वाहु-‘होता यो विश्ववेदस’ इति । नेव्-अरमित्यात्मन् भवासीति ।  
तदु तथा न ब्रूयाद् । मानुष इ ते यज्ञे कुर्वन्ति, व्यद् वै तद् यज्ञस्य-यन्मानुषम्,  
नेव् व्यद् यज्ञे करवासीति । तस्माद्यैवर्वाऽनूत्तमेवमेवानुम्रूयाद्-‘होतार विश्ववदसम्’  
इत्येव । ‘अस्य यज्ञस्य सुकृतुम्’ इति । एष हि यज्ञस्य सुकृतु-यदग्निः । तस्मादाह  
अस्य यज्ञस्य सुकृतुमिति । सय देवानुपावत, ततो दवा अभवन्, पराऽसुरा । भवति  
इ वा आत्मना, परा अस्य सपत्ना भवन्ति-यस्मैव विदुष एतामन्वाहु ॥ ३५ ॥

तां वा अष्टमीमनुम्रूयात् । गायत्री वा एषा निदानन । अष्टाचरा वै गायत्री ।  
तस्माद् अष्टमीमनुम्रूयात् ॥ ३६ ॥

तद्वैके पुरस्ताद् धाय्य दधाति-अन्नं धाय्य, मुस्तुत इदमन्नाय दध्य’ इति वदन्त ।  
तदु तथा न कुर्यात् । अनवस्तृप्ता इ तस्यैषा भवति-य पुरस्तादाय्य दधाति । दशमी  
वा हि तर्हि एकादशी वा संपद्यत । तस्यो इ एवैषा अवस्तृप्ता भवति-यस्यैषामष्टमी  
मन्वाहुः । तस्मादुपरिष्टाद्व धाय्ये दध्यात् ॥ ३७ ॥

‘समिध्यमाना अप्यर’ इति । अप्यरो वै ययुः । समिध्यमाना यत्र इत्यर्थेऽन्वाह ।  
अग्निः पायक इष्य’ इति । पायको येष, इष्यो येष । ‘शान्तिव्यशास्तमीमहे’ इति ।

शोचन्तीव हि एतस्य केशा समिद्धस्य । 'समिद्धो अग्न आहूत' इति । अत प्राचीन  
सर्वमिधमभ्यादध्याद्-यदन्यत्समिधः । अपवृष्टं इव शोतव् होता । यद्वा अन्यत्समिध  
इधस्यातिरिच्यते-अतिरिक्तं तद् । यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं-द्विपन्त हास्य तत् आदव्यमभ्य  
तिरिच्यते । तस्माद् अत प्राचीनं सर्वमिधमभ्यादध्याद्-यदन्यत्समिधः ॥ ३८ ॥

'देवान् यक्षि स्वध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । देवान् यक्षि सुयज्ञिय इत्येवैतदाह ।  
'त्वं हि हव्यवाहसि' इति । एष हि हव्यवाह यदग्निः । तस्मादाह-त्वं हि हव्यवाहमीति ।  
'आजुहोता दुवस्यत । अग्निं प्रयत्यध्वरे । धृगोध्व हव्यवाहनम्' इति । सम्प्रैष्य  
त्येनैतया आजुहुत च, यजत च, यस्मै कामाय समैन्विद्धं तत्कृतेत्येनैतदाह ।  
'अग्निं प्रयत्यध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । अग्निं प्रयति यज्ञ इत्येवैतदाह । 'धृगोध्व  
हव्यवाहनमिति' । एष हि हव्यवाहनो-यदग्निः । तस्मादाह धृगोध्वं हव्यवाहनमिति  
॥ ३९ ॥

त वा एतं अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह । देवान् इ वै यज्ञेन यजमानान् सपत्ना असुरा  
दुर्धर्षाश्चक्रुः । ते दुर्धूयन्त एव न शोक्नुर्वितुम्, ते परावभूयुः । तस्माद्यज्ञो ऽध्वरो नाम ।  
दुर्धूयन् इ वा एन सपत्न परामवति-यस्तैव विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुः । यावद्वैव  
सौम्येनाध्वरणेष्वृत्वा जयति, तावज्जयति ॥ ४० ॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथम ब्राह्मण  
तृतीयप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण  
( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण )  
उपरतम्

२

अथ-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्  
( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-तृतीय ब्राह्मणम् )  
३

अथ-निगदानुवचनम् —

एतद् व दत्ता अग्नि गरिष्ठे युञ्जन्-यद्वोदृत्वे-‘इदं नो हव्यं वह’ इति । तमेतद्  
गरिष्ठे युक्तवोषामदन् वीर्यवान् वै त्वमसि, अल्ल वै त्वमतस्मा असि’ इति-त्रायें  
समादधत । यथेदमप्येतर्हि छातीनां य गरिष्ठ युञ्जन्ति, तद्वपमदन्ति-वीर्यवान् वै त्वमसि  
अल्ल वै त्वमेतस्मा असाति वीर्ये समादधत । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह-उपस्तात्त्ववैनमदत्,  
वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

‘अग्ने महर्होऽ॥ असि ब्राह्मण्यं भारत’-इति । ब्रह्म अग्नि । तस्मादाह-ब्राह्मणेति ।  
भारतति । एष हि दवम्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहु । एष उ वा इमा  
प्रजा प्राख्यो भूत्वा विमर्चि तस्माद्देवाह-भारतति ॥ २ ॥

अथ-आपेयानुवचनम् —

अघार्षय प्रष्टुषीत । अपिभ्यश्चैवेनमतद् वम्यश्च निषदपति-‘अय महावीर्या-यो  
यस्य प्रापदिता’ । तस्मादापेय प्रष्टुषीत ॥ ३ ॥

परस्तादवाक् प्रष्टुषीते । परस्ताद्वयवान् प्रजा प्रजायन्त, ज्यायसस्तप उ  
चैवेत निहुत, इदं हि-फितेवाग्ने, अथ पुत्र, अथ पात्रा, तस्मात्परस्तादवाक्  
प्रष्टुषीत ॥ ४ ॥

अथ-निवित्पाठ —

स आपेयमुक्त्वाह-‘यजद्वा मन्यिद’ ( तं वा ३ ५ ३ १ ) इति । दत्ता  
सोषमग्र ण्य । तस्मादाह-दधत् इति । मनुष्यमग्र ण्य । तस्मादाह-मरिद इति ॥ ५ ॥

‘ऋषिपुत्र’ ( ३ ५ ३ २ ) इति ऋषयो ह्येतमग्रे स्तुवन् । तस्मादाह-  
ऋषिपुत्र इति ॥ ६ ॥

‘विप्रानुमदित’ ( ३ ५ ३ ३ ) इति । एत वै विप्रा-यष्टपय । एत ह्येतम-  
न्वमदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥

‘कविशस्त’ ( ३ ५ ३ ४ ) इति । एते व कवयो यष्टपयः । एत ह्येतमशस्तन् ।  
तस्मादाह-कविशस्त इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मसंशित ( ३ ५ ३ ५ ) इति । ब्रह्मसंशितो ह्येष । ‘घृताहवन’  
( ३ ५ ३ ६ ) इति । घृताहवनो ह्येष ॥ ९ ॥

‘प्रणीयज्ञाना रथीरध्वराण्याम्’ ( ३ ५ ३ ७ ) इति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान्  
प्रचयन्ति, ये च पाकयज्ञा, ये चेतरे । तस्मादाह-प्रणीयज्ञानामिति ॥ १० ॥

रथीरध्वराणामिति । रथा इ वा एष भूत्वा ऋष्यया यज्ञं वहति । तस्मादाह-  
रथीरध्वराणामिति ॥ ११ ॥

‘अतूर्त्तो होता तृगिर्हव्यवाद्’ ( ३ ५ ३ ८ ) इति । न ह्येत रचांसि  
तरन्ति । तस्मादाह-अतूर्त्तो होतति । तृगिर्हव्यवाडिति । सर्व ह्येष प्राप्नोति ।  
तस्मादाह-तृगिर्हव्यवाडिति ॥ १२ ॥

‘आस्पात्र जुह्वेद्यानाम्’ ( तै० ब्रा० ३ ५ ३ ९ ) इति । देवपात्र वा एष  
यदग्निः । तस्माद्गन्ता सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति । देवपात्र ह्येष । प्राप्नोति इ वै तस्य  
पात्रम्-यस्य पात्रं प्रेप्सति, य एवमेतद्वेद ॥ १३ ॥

‘चमसो देवपान’ ( ३ ५ ५ १० ) इति । चमसन इ वा एतेन भूतान् दद्या  
मचयन्ति । तस्मादाह-चमसो देवपान इति ॥ १४ ॥

‘अरा २॥ इयाग्ने नेमिर्हवास्त्य परिभूरसि’ ( ३ ५ ३ ११ ) इति ।  
यथारा नेमि सर्वस्य परिभू एव त्वं दद्यान् सर्वस्य परिभूरसि-इत्यर्थतदाह ॥ १५ ॥

श्री

अथ-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्  
( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-तृतीय ब्राह्मणम् )

३

अथ-निगदानुवचनम् —

एतद् वै दत्ता अग्नि गरिष्ठे युञ्जन्-यद्गोवृत्वे-‘इदं नो हव्य वह’ इति । तमेतद् गरिष्ठे युञ्जत्वोपामदन् ‘धीर्यवान् वै त्वमसि, अल्ल वै त्वमेतस्मा असि’ इति-त्रयं समादधत् । यथेदमप्येतर्हि द्वातीनां य गरिष्ठ युञ्जन्ति, तद्वपमदन्ति-धीर्यवान् त्वमसि अल्ल वै त्वमेतस्मा असि इति धीर्यं समादधत् । स यदत् ऊर्ध्वमन्वाह-उपस्तौत्यवैनमवत्, धीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

‘अग्ने महो२॥ असि ब्राह्मण भारत’-इति । ब्रह्म अग्नि । तस्मादाह ब्राह्मण इति । भारतति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुः । एष उ वा इमाः प्रजा प्राणो भूत्वा विमर्शि तस्माद्देवाह-भारतति ॥ २ ॥

अथ-प्रापेयानुवचनम् —

अप्रापेयं प्रपृणीत । अपिभ्यश्चैवैनमतद्देवस्यश्च निवदपति-‘अयं महावीर्यो-यो यज्ञ प्रापदात्’ । तस्मादापेयं प्रपृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादवाक् प्रपृणीते । परस्ताद्वयवान् प्रजा प्रजायन्ते, ज्यायमस्तप उ चैवैत निह्नुत, इदं हि-पितृवाग्रे, अथ पुत्र, अथ पात्रः, तस्मात्परस्तादवाक् प्रपृणीत ॥ ४ ॥

अथ-निवित्पाठ —

त अप्रापेयमुक्त्वाह-‘दत्त्वा मन्यद्’ ( तं वा ३ ५ ३ १ ) इति । दत्ता सेतमग्र ण्य । त मादाह-दत्त इति । मनुष्य तमग्र ण्य । तस्मादाह-मन्यद् इति ॥ ५ ॥



‘अविष्कृतः’ ( ३ ५ ३ २ ) इति ऋषयो ऋतमग्रे स्तुवन् । तस्मादाह—  
अविष्कृत इति ॥ ६ ॥

‘विप्रानुमदित’ ( ३ ५ ३ ३ ) इति । एते वै विप्रा --यद्यप्य । एत ऋतम  
नुमदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥

‘कविशस्त’ ( ३ ५ ३ ४ ) इति । एते व कवयो यद्यप्यः ‘एत ऋतमशसन् ।  
तस्मादाह—कविशस्त इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मशित ( ३ ५ ३ ५ ) इति । ब्रह्मसंशितो ऋषे । ‘घृताहवनः’  
( ३ ५ ३ ६ ) इति । घृताहवनो ऋषे ॥ ९ ॥

‘प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्’ ( ३ ५ ३ ७ ) इति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान्  
प्रस्पन्ति, य च पाकयज्ञा, ये चेतरे । तस्मादाह—प्रणीर्यज्ञानामिति ॥ १० ॥

रथीरध्वराणामिति । रथा ह वा एष भूत्वा दवभ्यो यज्ञं वहति । तस्मादाह—  
रथीरध्वराणामिति ॥ ११ ॥

‘अतूर्तो हाता तूर्तिर्हव्यवाद्’ ( ३ ५ ३ ८ ) इति । न ऋते रचांसि  
तरन्ति । तस्मादाह—अतूर्तो होतवि । तूर्तिर्हव्यवाडिति । सर्व ऋषे पाप्मानं तरति ।  
तस्मादाह—तूर्तिर्हव्यवाडिति ॥ १२ ॥

‘आस्पात्र जुहूर्देवानाम्’ ( तै० ब्रा० ३ ५ ३ ९ ) इति । देवपात्रं वा एष  
यदग्निः । तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति । देवपात्र ऋषे । प्राप्नोति ह वै तस्य  
पात्रम्—यस्य पात्रं प्रेप्सति, य एषमेतद्देव ॥ १३ ॥

‘चमसो देवपान’ ( ३ ५ ५ १० ) इति । चमसेन ह वा एतन् भूतनं दवा  
मघयन्ति । तस्मादाह—चमसो देवपान इति ॥ १४ ॥

‘अरां २॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्व परिभूरसि’ ( ३ ५ ३ ११ ) इति ।  
यथारां नेमिं सर्वतः परिभू एव त्वं दवान् सर्वतः परिभूरसि—इत्येवैतदाह ॥ १५ ॥

अथ-प्रथमकारण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थ ब्राह्मणम्  
( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-तृतीय ब्राह्मणम् )

३

अथ-निगदानुवचनम् —

एतद् वै देवा अग्निं गरिष्ठं युञ्जन्-यद्वोमृत्वे-‘इदं नो हव्यं वह’ इति । तमेतद् गरिष्ठे युञ्जत्वोषामदन् वीर्यवान् वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि’ इति-अप्ये समादधत । यथेदमप्येतर्हि छातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति, तमुपमदन्ति-वीर्यवान् वै त्वमसि अलं वै त्वमेतस्मा असति वीर्ये समादधत । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह-उपस्तौत्वेवैनमक्तु, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

‘अग्ने महो२॥ असि ब्राह्मण्यं भारत’-इति । ब्रह्म अग्नि । तस्मादाह-ब्राह्मण्यं । भारतति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहु । एष उ वा इषा प्रजा प्राणो भूत्वा विमर्षि तस्माद्देवाह-भारतेति ॥ २ ॥

अथ-आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेयं प्रवृणीत । अर्षिभ्यश्चैवैनमतर्देवेभ्यश्च निषदपति-‘अयं महावीर्यो-नो यत्र प्रापदित’ । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादवाक् प्रवृणीते । परस्तादयर्वाच्यं प्रजा प्रजायन्त, ज्यायसस्तप उ चैवैत निहुत, इदं हि-पितृवाग्रे, अथ पुत्र, अथ पौत्र, तस्मात्परस्तादवाक् प्रवृणीत ॥ ४ ॥

अथ-निविष्ठाठ —

स आपयमुक्त्वाह-द्वद्वद्वा मन्विद् ( तं वा ३ ५ ३ १ ) इति । द्वा द्वे तमग्र एष । त-आदाह-द्वद्वद् इति । मनुष्य तमग्र एष । तस्मादाह-मन्विद् इति ॥ ५ ॥

अथ—प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीय ब्राह्मणम्  
तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मणम्  
[ सामिधेनी—ब्राह्मणानुगतञ्च चतुर्थ ब्राह्मणम् ]

४

अथ—शान्तिकर्म—

यो इ वा अग्नि सामिधेनीभिः समिद्ध, अतितरां इ वै स इतरस्मादग्नेस्तपति,  
अनवधृष्यो हि भवति, अनवधृष्यः ॥ १ ॥

स यथा हैवाम्नि सामिधेनीभिः समिद्धस्तपति, एव हैव ब्राह्मण सामिधेनीर्विद्वा  
ननुब्रुवंस्तपति । अनवधृष्यो हि भवति, अनवधृष्यः ॥ २ ॥

सोऽन्वाह—‘प्रव’ इति । प्राणो वै प्रवान्, प्राणमेवैतया समिन्वे । ‘अग्न  
आयाहि वीतये’ इति । अपानो वा एतवान्, अपानमेवैतया समिन्वे । ‘बृहच्छा  
यविष्ठध’—इति । उदानो वै बृहच्छोचा, उदानमेवैतया समिन्वे ॥ ३ ॥

‘स नः पृथु भवाय्यम्’ इति । भोत्र वै पृथु भवाय्यम्, भोत्रेण हीदधरु पृथु  
भृषोति, भोत्रमेवैतया समिन्वे ॥ ४ ॥

‘ईडेन्यो नमस्य’ इति । वाम् वा ईडेन्या, वाग्मीद सर्वमीडे । वाचेद सर्वमीडि  
त्तम् । वाचमेवैतया समिन्वे ॥ ५ ॥

‘अश्वा न वेष्टवाहनः’ इति । मनो वै देववाहनम् । मनो हीद मनस्विन भूयिष्ठ  
वनीवाहते । मन एवैतया समिन्वे ॥ ६ ॥

‘अग्ने दीक्षत बृहत्’ इति । चक्षुर्न दीदयेव । चक्षुरेवैतया समिन्वे ॥ ७ ॥

## अथ-देवतावाहनम्—

‘आवह वेवान्यजमानाय’ (तै० ब्रा० ३ ५ ३ इति । तस्मै यज्ञाय देवानावोढवा आह ॥१॥ ‘अग्निमग्न आवह’ (३।५।३) इति । तदग्नेयायाज्य-  
मागामाग्निमावोढवा आह ॥२॥ ‘सोममावह’ (३ ५ ३) इति । तत्सौम्यायाज्य-  
मागाय सोममावोढवा आह । ‘अग्निमावह’ (३ ५ ३) इति । तद्य एष उभयत्रान्युत  
आग्नेयः पुरोडाशो भवति, ॥३॥ तस्मा अग्निमावोढवा आह ॥४॥ ॥ १६ ॥

अथ यथादेवतम् ॥५॥ ‘वेयँर’ ॥ आज्यर्षौ आवह’ (३ ५ ३) इति । तत्रयाज्ञा-  
नुयाजानावोढवा आह । प्रयाजानुयाजा नै देवा आज्यया ॥६॥ अग्निर्होत्रायावह  
( ३ ५ ३ ) इति । तदर्गिन् होत्रायावोढवा आह ॥७॥ स्मं महिमानमावह (३ ५ ३)  
इति । तत्स्थं महिमानमावोढवा आह । वाग् वा अस्य स्तो महिमा । तद्वाचमावोढवा  
आह ॥८॥ ‘आ च यह जातवेदः सुयज्ञा च यज्ञ’ (३ ५ ३) इति । तथा  
एषैतदेवता आवोढवा आह, ता एषैतदाह । आ चैना वहानुष्ठया च यजेति, यदह-सुयज्ञा  
च यजेति ॥९॥ ॥१७॥

स नै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह शेत्तु, असौ शतुवाक्या, तदसावेमैतद् भूत्वाऽन्वाह ।  
तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥ १८ ॥

आमीनो याज्यां यजति । इयं हि याज्या, तस्माच्च क्वचन तिष्ठन् याज्यां यजति ।  
इयं हि याज्या, तदियमेवैतद् भूत्वा यजति । तस्मादासीनो याज्यां यजति ॥ १९ ॥

इति-प्रथमकारण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीय ब्राह्मण  
तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मण  
( सामिधेनी ब्राह्मणानुगतं तृतीय ब्राह्मण )  
उपरंतम्

यद्यष्टम्यामनुव्याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्—‘मध्यं वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा,  
मन्येन प्राणेनात्मन आत्तिमारिष्यस्युध्माय मरिष्यसि’ इति । तथा ह वै स्यात् ॥ १८ ॥

यदि नवम्यामनुव्याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्—‘शिशने वा एतदात्मनोऽग्नावाधा,  
शिशनेनात्मन आत्तिमारिष्यामि क्लृण्वो भविष्यसि इति । तथा ह वै स्यात् ॥ १९ ॥

यदि दशम्यामनुव्याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्—अवाञ्च वा एतत्प्राणमात्मना-  
ऽग्नावाधा, अवाचा प्राणेनात्मन आत्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसि इति । तथा ह वै  
स्यात् ॥ २० ॥

यद्येकादश्यामनुव्याहरेत्, त प्रति ब्रूयात्—‘सर्वं वा एतदात्मानमग्नावाधा,  
सवयात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमु लोकमेष्यसि’ इति । तथा ह वै स्यात् ॥ २१ ॥

स यथा ह वैग्निं सामिधेनीमि समिद्रमापधात्ति न्येति, एव ह वै ब्राह्मणं सामि  
धेनीर्विद्रांसमनुब्रुवन्तमनुम्याहुत्यात्ति न्येति ॥ २२ ॥

इति—प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीय ब्राह्मण

तृतीयप्रपाठके च पञ्चम ब्राह्मण

[ सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-चतुर्थं ब्राह्मण ]

उपरतम्

४

इति-ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनीब्राह्मण

उपरतम्

‘अग्निं दत्तं धृणीमहे’ इति । य एवाय मध्यम प्राण, एतमेवैतया समिन्धे । सा हैपातस्या प्राणानाम्, अतो हान्य ऊर्ध्वा प्राणा, अतोऽन्येऽवाञ्च । अन्तस्था इ भवति । अन्तस्थामेनं मन्यन्ते य एवमेतामन्तस्थां प्राणानां वेद ॥ ८ ॥

‘शोचिष्येशस्तमीमहे’ इति । शिरनं यै शोचिष्कशम् । शिरनं हीदं शिरिनं भूपिष्ठ शोचयति । शिरनमेवैतया समिन्ध ॥ ९ ॥

‘समिद्धो अग्न आहूत’-इति । य एवायमवाह् प्राण, एतमेवैतया समिन्धे । ‘आहुतोऽन्ता कुचस्यन्’-इति । सर्वमात्मान समिन्धे-आ नखेभ्योऽथो लोमस्य ॥ १० ॥

स यधेन प्रथमाया सामिधेन्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात् ‘प्राण वा एतदात्मनोऽज्ञावाचा, प्राणेनात्मन आत्तिमारिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ ११ ॥

यदि द्वितीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-‘अपानं वा एतदात्मनोऽज्ञावाचा, अपानेनात्मन आत्तिमारिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १२ ॥

यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-‘उदानं वा एतदात्मनोऽज्ञावाचा, उदानेनात्मन आत्तिमारिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १३ ॥

यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-‘ओष्ठ वा एतदात्मनोऽज्ञावाचा, ओष्ठ्यात्मन आत्तिमारिष्यसि यधिरोऽधिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १४ ॥

यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात् ‘वाचा वा एतदात्मनोऽज्ञावाचा, वाचात्मन आत्तिमारिष्यसि भूकोऽधिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १५ ॥

यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-‘मना वा एतदात्मनोऽज्ञावाचा, मनसात्मन आत्तिमारिष्यसि मनोभुपिगृह्णाना माधुघ्नारिष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १६ ॥

यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत् तं प्रति ब्रूयात्-‘अनुया एतदात्मनोऽज्ञावाचा, अनुयात्मन आत्तिमारिष्यसि अविष्यसि’ इति । तथा हैव स्यात् ॥ १७ ॥

रता है। जत्र (आगे जाकर) इसका वरण होता है, तभी यह 'होता' नाम का अधिकारी बनता है। इसलिये (विना होतृपद का समिवेश किए) - "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इसी रूप से प्रैप करना चाहिए ॥ ३ ॥

(अध्वर्यु के प्रैप के अनुसार अनुवचनकर्म में नियुक्त) वह अस्त्विक् आग्नेयी (अग्निदेवता-सम्बन्धिनी) सामिघेनी-अध्वार्यों का अनुवचन करता है (अर्थात् इसे आग्नेयी-अध्वार्यों का ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करता हुआ यह अस्त्विक्) इस अग्नि को अपने देवता के स्वरूप से युक्त सामिघेनी अध्वार्य से ही समिद्ध करता है। (अर्थात् आग्नेयी सामिघेनी-अध्वार्य से अनुवचन करना सजातीयभाव से ही अग्नि को समिद्ध बनाना है)। (वह अस्त्विक्) गायत्री (गायत्रीछन्दोयुक्त सामिघेनी-अध्वार्य) का अनुवचन करता है। गायत्री अग्नि का छन्द है। (इसका अनुवचन करता हुआ) अग्नि के अपने ही छन्द से इसे समिद्ध बनाता है। गायत्री वीर्यात्मिका है, गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्ण्य) है, ऐसी अवस्था में गायत्री से अनुवचन करता हुआ अस्त्विक् ब्रह्मवीर्य्य से ही इस अग्नि का समिम्बन करता है। तत्पर्य्य यही इष्टा कि, छन्द, वीर्य्य, वर्ण्य, सम्पत्तिर्षों के आधान के लिए गायत्रीछन्दस्का अध्वार्यों से ही अनुवचन करना चाहिए ॥ ४ ॥

(जिन सामिघेनी-अध्वार्यों से यह 'सामिघेनी अनुवचनकर्म' होता के द्वारा होने वाला है, उनके सम्बन्ध में 'अग्नि' देवता तथा 'गायत्रीछन्द' की व्यवस्था बतलाई गई। अब सख्या की व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है) - वह अस्त्विक् (आगे जाकर 'होतृप्रवरसकर्म' से 'होता' कहलाने वाला अस्त्विक्) ग्यारह सामिघेनी अध्वार्यों का अनुवचन करता है। त्रिष्टुप् (छन्द) ग्यारह अक्षर की है। गायत्री ब्रह्म (ब्राह्मणवर्णात्मिका) है, त्रिष्टुप् चतुर (चतुरि-वर्णात्मिका) है। (ब्रह्मात्मिका गायत्री-स्वरूप वाली तथा चतुरात्मिका त्रिष्टुप् सख्या वाली सामिघेनी अध्वार्यों का अनुवचन करता हुआ) यह होता इन दोनों ब्रह्म-चतुर-वीर्य्यों से युक्त करने के लिए गायत्रीछन्दस्क एव एकाग्र संख्याक अध्वार्यों का अनुवचन करता है। इसलिये ग्यारह सामिघेनी अध्वार्यों का अनुवचन करता है ॥ ५ ॥

(संख्या-व्यवस्था के अनन्तर उच्चारण के सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है) - वह अस्त्विक् पहिली अध्वार्य का तीन बार अनुवचन करता है एवं अन्तिम (ग्याहरयी) अध्वार्य का तीन बार अनुवचन करता है। कारण इसका यही है कि 'त्रि सख्या हि देवा' (तै०-३.४.३।) इत्यादि श्रुति सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक त्रिसत्य प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखन वाले सम्पूर्ण प्राकृतिक आधिदैविक-नित्य यक्ष त्रिष्टुप् रूप से ही आरम्भ होन प्राप्त हैं तथा त्रिष्टुप् रूप से ही समाप्त होन प्राप्त हैं। इस प्राकृतिक त्रिष्टुप्-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही होता तीन बार पहिला अध्वार्य का, तथा तीन बार अन्तिम अध्वार्य का अनुवचन करता है ॥ ६ ॥

## ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मण

शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत तीसरे अध्याय में पाँचवाँ ब्राह्मण,  
एव तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण  
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-प्रथम-ब्राह्मण

१

### मूलानुवाद अथ-समिधेन्यनुवचनम्

यह अभ्यर्घ्यु ( पशुह समित्-घृष्ट के समूहरूप ) इष्म से ( इस आहवनीय ) अग्नि को ही प्रज्वलित करता है । इसीलिए ( इन्धन-साधन होने से प्रज्वलन-कर्मसाधक ) इन व्यक्तियों को [ 'इन्ध-तस्मादिष्म' -इस निबचन से ) 'इष्म' कहा जाता है । हाता ( पतन्नामक अस्तिवृत्-  
'म वो वाजा०' इत्यादि ) सामिधेनी-श्रवाणां से ( आहवनीय अग्नि को ) समिध करता है ( अतएव 'समिध-तस्मात् सामिधेना' इस निबचन से इन श्रवाणां को ) 'सामिधेनी' नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥ १ ॥

यह अभ्यर्घ्यु ( सामिधेनी-श्रवाणां के अनुवचन क क्षिण इत्ता नामक अस्तिवृत् क प्रसिद्ध प्रेय अनुज्ञा-करता हुआ ) कहा है—“अग्नये समिध्यमानाय अनुमद्भि” ( इ हाताः । इज्याह म प्रज्यजित हुए अग्नि क लिए, इस समिध बनाने के लिए आ सामिधेना-श्रवाणैः हैं, उनके यथाक्रम अनुवचन करा ) । ( उक्त प्रेयमन्त्र से यह अभ्यर्घ्यु ) अग्नि क लिए ही इस समिध बनाने क लिए कहा है ॥ २ ॥

( उक्त प्रेय क सम्बन्ध में ) किन्तु एक यादवर्त्तने यह कहा है कि—“अग्नये समिध्यमानाय हातरनुमद्भि” ( इत्यादिरूप से हातृपद का उच्चारण करत हुए ) इस रूप ॥ प्रेय करना चाहिए । ( अभ्यर्घ्यु का पाहिये कि यह ) ऐसा कभी न कर ( प्रेय मन्त्र में हातरनुमद्भि' इत्यादि रूप से हातृपद का समिधशान कर ) । कारण यही है कि, ( हातृपदरक्षणम् ॥ ) पहिले ( इस सामिधेनी-अनुवचन क समय अनुवचन करने पाता ) यह अस्तिवृत् कहानी ही



(काम्य-सामिनी-संख्या का प्रकरण चल रहा है अतः प्रमत्तोपासक काम्येष्टि से सम्बन्ध रखन वाली सामिनी आशा की संख्या के सम्बन्ध में भी भूति व्यस्तता कर देता है। भूति जिस इष्टि के सम्बन्ध में संख्या का व्यवस्था करन वाली है उसे दर्शपूर्णमास का विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए, जसा कि 'त काममनपराय राधनाति' इत्यादि से स्पष्ट है। वराण्णाम में जहाँ पन्द्रह सामिनीमन्त्र हात हैं वहाँ तद् विकृतिभूता काम्येष्टि में तथा पशुयन्त्र में सत्रह सामिनीमन्त्र होन हैं जैसा कि—“पञ्चदश सामिचन्यो ऋग्वृणामयो, सप्तशेष्टि-पशुवचनाम्” (आपस्तम्ब श्रौ. सू.) इत्यादि सूत्रमिदानीं में प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विरायता और समझ लेनी चाहिए कि जहाँ वराण्णाम में आयापदयता का उर्ध्व यजन होता है, वहाँ काम्येष्टि के आयापदयता का उपाशु यजन होता है। इसा प्रामाणिक काम्येष्टि सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण-कर्ता हुई भूति कहता है।—

यह अस्तित्व इष्टि के सम्बन्ध में ( वराण्णाम का विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए ) सत्रह सामिनी आशा का अनुयचन ( उच्चारण ) करे। जिस द्यता के लिए (अथर्व्यु) इष्टि (काम्येष्टि) का निषाप करता है उस (इष्टि) द्यता के लिए यह उपाशु [नृणां] यजन करता है। [इस प्रकार उपाशु यजन होने वाला इस काम्येष्टिकर्म में सत्रह सामिनीया का अनुयचन करता हुआ अस्तित्व सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति-अभिलषित फल प्राप्त करने में इसलिये समर्थ होजाता है कि एक सम्प्रसार के चैत्रादि वारह ता। महीन हात हैं तब यमनादि पाँच अतुर्ग + होती हैं। [इन सत्रह वर्षों से] यही [सम्प्रसारयज्ञात्मक प्रशस्ति मन्त्र] बन रहा है। प्रजापति ही मय [मन्त्रमक-अतुर्ग यमनादि] है। [ इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिनीया का अनुयचन करता हुआ अस्तित्व समसंख्या-समनुलिता मयात्मिका प्रजापत्या-सम्पत्ति का संप्रद करता हुआ मन्त्र [अभिलषित] हा उस काम अभिलषित का निरापड समूह करने में प्राप्त करने में ] समर्थ होजाता है जिस [संकल्पित] काम कि प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निषाप करता है।

[काम्येष्टि में आयापदयता का उपाशु यजन क्या होता है ? उस प्रश्न की उत्पत्ति बन जाती हुई भूति कहती है कि—यह अस्तित्व उपाशुयन्त्र में द्यता का यजन करता है—[इसका कारण यही है कि] अनिष्ट 'श' के द्वारा अप्रकट होन योग्य हा उपाशु है। [उपर, मयभाष की [समष्टि की अपेक्षा में] अनिष्ट ही है। मसी परिस्थिति में अनिष्ट-भावनात्मक उपाशुभाव में यजन करता हुआ अथर्व्यु अनिष्टकर्मक मयभाषन उस कामसम्पत्ति का प्राप्त करने में समर्थ होजाता है जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निषाप करता है। यहा [मन्त्ररगमासि रनिया का अनुयचन तथा प्रदानद्यता का उपाशुयजन हा इस काम्येष्टि उपाशु इतिफलव्यनात्मक विगपधम्] है ॥ १ ॥

(गायत्रीमन्त्र के सम्बन्ध से अग्नि में प्रक्षालीय्य का आधान होता है पञ्चदश संख्या से त्रिपुण्ड्रपुनःगुण चतुर्वीर्य का आधान होता है, एवं त्रिप्रथमा त्रिरुक्ता संख्या से त्रिबुद्धयः की त्रिवृत्सम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम-उपसंहार की संख्याओं से पन्त्रह सामिधेनी-श्रुचार्घ्य होजाती हैं। इस पञ्चदश-संख्या का क्या फल? इसी प्रश्न का संख्यानुवचन-पूर्वक समाधान करती हुई भुक्ति कहती है कि) ये सामिधेनी श्रुचार्घ्य ( त्रिप्रथमा त्रिरुक्तामात्र से अनुवचन करने से ) पन्त्रह होजाती हैं। वज्र (असुरनाराक प्राणशक्त्यात्मक रास्त्र, पञ्चदश-सम्पत्ति से युक्त है। वज्र साष्टम वीर्य (अन्तराशक्ति) है। ( पन्त्रह संख्या के द्वारा यह श्रुत्विक् ) इस अग्नि में इसी पञ्चदश वीर्य का सम्पादन करता है। (पन्त्रह संख्या के प्रभाव से प्रत्येक सामिधेनी-श्रुचा वज्रवचन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी-श्रुचाओं का अनुवचन करते हुए जिस किसी के साथ (यजमान) द्वेप कर (जो यजमान से राशुवा रसता हो) उसका "इदमहममु मविद्याशु-भयुक्तं वा भवद्वाधे" यह बोलता हुआ अपने हाथ के दोनों अँगूठों का जोर से मसल डाले। सप्तपुत्र इस अभिचारकर्म से यह यजमान राशु को पीडा पहुँचाने में समर्थ होजाता है। (तत्पुत्र्य यही हुआ कि-सामिधेनी का उच्चारण करना वय ही फैलना है। जिससमय श्रुत्विक् इनका अनुवचन करता हो उस समय राशु का नाम लेकर 'मैं उसे नष्ट करता हूँ' यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनों अंगुष्ठ मीढ डालता है तो अवश्यमय राशु का अन्तिम होजाता है। यह अभिचार शक्ति पञ्चदश-संख्या से ही इन सामिधेनी श्रुचाओं में प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्त्रहसंख्या से वज्रात्मिका अभिचारसाधिका शक्ति से सा मधेनी श्रुचाओं को युक्त करने यह पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि) अष्टमास का (एक पक्ष की) पन्त्रह रात्रियाँ हाती हैं। (पञ्चदश-रात्रि-सनष्टिरूप) उस अर्द्धमास से ( अर्द्धमास का आधान से ) ही सम्बत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। ( अर्थात् अष्टमास के २४ आवर्तन से ही सम्बत्सर बन जाता है। फलतः अर्द्धमास की पन्त्रह रात्रियाँ मन्त्रण सम्बत्सर रात्रियों की सम्पत्ति का कारण बन जाती हैं)। इन पन्त्रह संख्याओं से ( अष्टमास की पन्त्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आध्यात्मन सम्बन्ध से ) यह श्रुत्विक् उन सम्बत्सर-रात्रियों की सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। (इस रात्रि-सम्पत्ति के लिए भी पञ्चदश-सामिधेनियों का अनुवचन होता है, यही इस पञ्चदश संख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी श्रुचा गायत्री है पञ्चदशसंख्या के सम्बन्ध से पन्त्रह गायत्रा हाजती हैं। प्रत्येक गायत्रीमन्त्र में ४ अक्षर हात हैं। पञ्च) पन्त्रह गायत्रीमन्त्रों के ( ४-२४ के अनुपात से ) तीन और सा तथा साठ ( ३६० ) अक्षर हाजत हैं। तीन आर मा, ०५ साठ ( ६० ) ही एक सम्बत्सर के दिन हात हैं। ( पञ्चदश गायत्रा श्रुचाओं का अनुवचन करता हुआ श्रुत्विक् इन ३६० अक्षरों का (अष्टसम्पत्ति का) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा ( अष्ट सगुण व द्वाता अष्टममुदात्तक) सम्बत्सर (सम्बत्सरयदसम्पत्ति) प्राप्त करलेता है ॥ ९ ॥

(क्याकि-सामिघेनी-संख्या का प्रकरण चल रहा है) अतः प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखन वाली सामिघेनी श्रुत्या का ही संख्या के सम्बन्ध में भी भूति व्यवस्था कर देती है। भूति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में संख्या की व्यवस्था करन वाली है उसे दशपूणमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए जैसा कि 'त काममनपराध राक्ष्नाति' इत्यादि से स्पष्ट है। दशपूणमास में जहाँ पन्द्रह सामिघेनीमन्त्र होते हैं वहाँ उक्त विकृतिभूता काम्येष्टि में तथा पशुवन्द्य में सत्रह सामिघेनीमन्त्र होते हैं जैसा कि—“पञ्चदश सामिघेन्यो दशपूणमासयो, सप्तशेष्टि पशुवन्द्यनाम्” (आपस्तम्ब श्रौ. सू०) इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि जहाँ दशपूणमास में आवापवृत्ता का उच्च यजन होता है वहाँ काम्येष्टि के आवापवृत्ता का उपाशु यजन होता है। इसा प्रासङ्गिक काम्येष्टि सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण-करती हुई भूति कहती है।—

यह श्रुतिवत् इष्टि के सम्बन्ध में (दशपूणमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए) सत्रह सामिघेनी श्रुत्याओं का अनुवचन (उपचारण) करे। जिस दृष्टा के लिए (अप्यय्यु) इष्टि (काम्येष्टि) का निर्वाप करता है उस [इष्टि] वृत्ता के लिए यह उपाशु [नृणां] यजन करता है। [इस प्रकार उपाशु यजन होने वाला उस काम्येष्टिकर्म में सत्रह सामिघनियों का अनुवचन करता हुआ श्रुतिवत् सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति-आभिलषित फल प्राप्त करने में इसलिये समर्थ हो जाता है कि एक सम्वत्सर के चैत्रादि वारह [तो] महीने होते हैं एष वसन्तादि पाँच श्रुतौ — होती है। [इन सत्रह वर्षों से] यही [सम्वत्सरयज्ञात्मक] प्रजापति सप्तर्षा [बन रहा] है। प्रजापति ही मध [सर्वात्मक-अतएव सप्तकामदूरक] है। [इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिघनियों का अनुवचन करता हुआ श्रुतिवत् समसंख्या-समतुलितार्था सर्वात्मिका] प्रजापत्या-सम्पत्ति का संग्रह करता हुआ सन्तुष्ट [अभिलषित] हो उस काम [अभिलषित] का निरापन्न समुद्ध करने में [प्राप्त करने में] समर्थ हो जाता है, जिस [संकल्पित] काम की प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्येष्टि में आवापवृत्ता का उपाशु यजन क्या होता है ? इस प्रश्न की उपपत्ति यह जाती हुई भूति कहती है कि]—यह श्रुतिवत् उपाशुरूप से वृत्ता का यजन करता है—[इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [राज्य के द्वारा अप्रकट होने योग्य] ही उपाशु है। [उपर] सवभाष्य भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। [ऐसी परिस्थिति में अनिरुक्त-भावनात्मक उपाशुभाष्य स यजन करता हुआ अप्यय्यु] अनिरुक्त-प्रत्यक्ष सवभाष्य उस कामसमृद्धि का प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है, जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [मन्त्रश्रामामिघनियों का अनुवचन तथा प्रधानवेधना का उपाशुयजन है]। इस काम्येष्टिका उपचार इतिकसञ्चयनात्मक विगणधर्म्म] है ॥ १० ॥

(गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से अग्नि में ब्रह्मरीच्य का आगम होता है पञ्चदश संख्या से त्रिष्टुप्पुनगत चतुर्वीच्य का आधान होता है एवं त्रिप्रथमा त्रिरुत्तमा संख्या से त्रिवृत्त्यक्ष की त्रिष्टु तसम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम उपसंहार की संख्याओं से पन्द्रह सामिधेनी श्रुचाएँ होजाती हैं। इस पञ्चदश-संख्या का क्या फल ? इसी प्रश्न का संख्यानुवचन-पूर्वक समाधान करती हुई अति कहती है कि) ये सामिधेनी श्रुचाएँ ( त्रिप्रथमा त्रिरुत्तमारूप से अनुवचन करने से ) पन्द्रह होजाती हैं। यद्य (असुरनाशक प्राणशक्त्यात्मक शस्त्र, पञ्चदश-सम्पत्ति से युक्त है। यज्ञ साधुत्वीच्य (अन्तःशक्ति) है। ( पन्द्रह संख्या के द्वारा वह श्रुत्विक् ) इस अग्नि में इसी पञ्चदश वीच्य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह संख्या के प्रभाव से प्रत्येक सामिधेनी-श्रुचा वज्रपथ बन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी-श्रुचाओं का अनुवचन करते हुए जिस किसी के साथ (यजमान) हो प करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका 'इदमहमसु भविष्याशु अयुक् वा भवभावे' यह बोखता हुआ अपने हाथ के दोनों अँगूठों को जोर से मस्तक धाके। सधमुष इस अभिचारकर्म से यह यजमान शत्रु को पीटा पहुँचान में समर्थ होजाता है। (तत्पश्च यही हुआ कि-सामिधेनी का उच्चारण करना वज्र ही फँकना है। जिससमय श्रुत्विक् इनका अनुवचन करता हो उस समय शत्रु का नाम लेकर 'मैं उसे नष्ट करता हूँ' यह भावना करता हुआ यज मान यदि दोनो अंगुष्ठ मीढ धाकता है तो अवश्यमेव शत्रु का अग्निष्ट होजाता है। यह अभिचार शक्ति पञ्चदश-संख्या से ही इन सामिधेनी श्रुचाओं में प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसंख्या से वज्रात्मिका अभिचारसाधिका शक्ति से सा मधेनी श्रुचाओं को युक्त करता यह पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)-अर्द्ध मास की (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रियाँ होती हैं। (पञ्चदश-रात्रि-समष्टिरूप) ऐसे अर्द्धमास से ( अर्द्धमास के आश्रय न सं) ही सम्बत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। ( अर्थात् अर्द्धमास के २४ आश्रय न सं ही सम्बत्सर बन जाता है। फलतः अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रियाँ सम्पूर्ण सम्बत्सर रात्रियों की सम्पत्ति का धारण बन जाती हैं)। इन पन्द्रह संख्याओं से ( अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आश्वर्त्तन सम्बन्ध से ) यह श्रुत्विक् उन सम्बत्सर-रात्रियों की सम्पत्ति प्राप्त कर जाता है। (इस रात्रि-सम्पत्ति के लिए मी पञ्चदश-सामिधेनियों का अनुवचन होता है, यही इस पञ्चदश संख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी श्रुचा गायत्री है पञ्चदशसंख्या के सम्बन्ध से पन्द्रह गायत्री होजाती है। प्रत्येक गायत्रीमन्त्र में २४ अक्षर होते हैं। फलतः ) पन्द्रह गायत्रीमन्त्रों के ( २४-२४ के अनुपात से ) धीन और सी तथा साठ ( ३६० ) अक्षर होजाते हैं। धीन आर सो, पय साठ ( ६० ) ही एक सम्बत्सर के दिन होते हैं। ( पञ्चदश गायत्री-श्रुचाओं का अनुवचन करता हुआ श्रुत्विक् इन ३६० अक्षों को (आह-सम्पत्ति को) प्राप्त कर जाता है। इसी के द्वारा ( आह समुदाह-द्वारा आह-समुदाहात्मक) सम्बत्सर (सम्बत्सरयज्ञसम्पत्ति) प्राप्त करजाता है ॥ ९ ॥

(क्याकि-सामिघनी-संख्या का प्रकरण चल रहा है अतः प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखन वाली सामिघनी श्रुत्या का ही संख्या के सम्बन्ध में भी भुक्ति व्यवस्था कर देती है। भुक्ति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में संख्या की व्यवस्था करने वाली है उसे दशपूणमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए नमा कि 'त काममनपराध राधनाति' इत्यादि स स्पष्ट है। दशपूणमास में जहाँ पन्द्रह सामिघेनीमन्त्र होते हैं वहाँ तद् विकृतिभूता काम्येष्टि में तथा पशुधन में सत्रह सामिघेनीमन्त्र होते हैं जैसा कि—“पञ्चदश सामिघन्यो दशपूणमासयो, सप्तदशेष्टि-पशुधननाम्” (आपस्तम्ब श्रौ० सू०) इत्यादि सूत्रमिद्वान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में वह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि जहाँ दशपूणमास में आवापदेवता का ऊँच यजन होता है वहाँ काम्येष्टि के आवापदेवता का उपाशु यजन होता है। इसा प्रामाणिक काम्येष्टि सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण-कही हुई भुक्ति कहती है) —

वह श्रुत्येक् इष्टि के सम्बन्ध में (दशपूणमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए) सत्रह सामिघनी श्रुत्याओं का अनुवचन (अनुवचन) करे। जिस देवता के लिए (अभ्यर्च्य) इष्टि (काम्येष्टि) का निर्वाप करता है उस इष्टि देवता के लिए वह उपाशु [नृणां] यजन करता है। [इस प्रकार उपाशु यजन होते बाल इस काम्येष्टिकर्म में सत्रह सामिघनियों का अनुवचन करता हुआ श्रुत्येक् सत्रह संख्या से काममस्यति-आभिलषित फल प्राप्त करने में इसलिये समर्थ होजाता है कि एक सम्बन्ध के चैत्रादि चारह [वा] महीन होते हैं एवं वसन्तादि पाँच श्रुतौ + होती हैं। [इस सत्रह वर्षों से] यही [सम्यत्संयत्तात्मक] प्रजापति सप्तदश [वन रहा] है। प्रजापति ही मध [सर्वात्मक-अथवा सप्तकामरूप] है। [इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिघनियों का अनुवचन करता हुआ श्रुत्येक् समसंख्या-समतुलित मर्वात्मिका]-प्रजापत्या सम्पत्ति का मंत्र करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] हा उस काम [अभिलषित] को निरापन्न ममूह करने में [प्राप्त करने में] समर्थ होजाता है जिस [मंकल्पित] काम कि प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्येष्टि में आवापदेवता का उपाशु यजन क्यों होता है] इस धरन की उपपत्ति वत जाती हुई भुक्ति कहती है कि—वह श्रुत्येक् उपाशुरूप से देवता का यजन करता है—[इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शय्य के द्वारा अप्रकट ज्ञान भाग्य] हा उपाशु है। [उपर] मधमाय भी [समष्टि की अपेक्षा से] अनिरुक्त ही है। [ऐसी परिस्थिति में अनिरुक्त-भारात्मक उपाशुमाय स यजन करता हुआ अभ्यर्च्य] अनिरुक्त-आत्मक सयभाचन उम फलमसमृद्धि का प्राप्त करने में समर्थ होजाता है जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [सप्तदशसामिघनियों का अनुवचन तथा प्रधानव्यय का उपाशुयजन हा] इस काम्येष्टिका उपचार इतिकृतन्यतमक विशेषधर्म] है ॥ १० ॥

[दशपूर्णमासेष्टि में पूर्ण में 'ता पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यते' इत्यादि रूप से पन्द्रह सामिधेनियों का विधान बतला गया है। अब इसी सम्बन्ध में पक्षान्तर उद्धृत करती हुई भुक्ति कहती है]-कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि अथवा दशपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनी-अर्वाओं का अनुबचन करना चाहिए। [२१ सामिधेनियों के अनुबचन की उपपत्ति ये याज्ञिक यह बतलाते हैं कि]-एक सम्बत्सर के बारह [चौ] महीने होते हैं, पाँच ऋतुएँ होती हैं [त्रिवृत्-पञ्चवरा एकविंश-स्तोम भेदभिन्न] पृथिवी अन्तरिक्ष औ ये यीन [स्तोम्य-पार्थिव] लोक होते हैं। इन सब के संकलन से सम्बत्सर के २० पर्वा हो जाते हैं। यही २१ वीं है जोकि यह [अगोत्रस्य बृहती-इन्द्र-विश्वद्वृत्-के मध्य में स्थिररूप से] तप रहा है। यही [एकविंशसूर्य यज्ञफलात्मिका] स्वर्लोकात्मिका गति है यही (सर्वयज्ञ) प्रतिष्ठा है। (जो यजमान अपनी दशपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनियों का अनुबचन करवाता है) बह [२१ के द्वारा तत्समभुजित विंशतिपर्वतमक सम्बत्सर यज्ञ का संग्रह करता हुआ इसकीसवी सामिधेनी के द्वारा तत्समभुजिता सूर्यात्मिका] इसी गति को इसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस गति-प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए २१ सामिधेनियों का ही अनुबचन करना चाहिए ॥११॥

(उक्त पक्ष का खण्डन करती हुई भुक्ति कहती है कि)-इन २१ सामिधेनियोंका (उस) मानक हीन यजमान के लिए ही उच्चारण करना चाहिए, जो यजमान यह चाहता है कि, न तो मेरा अभ्युदय हो न पतन हो। (यजमान अपनी जैसी स्थिति में रहता हुआ यज्ञ करेगा वैसी ही स्थिति में प्रतिष्ठित) यजमान के लिए ही वैसी ही सामिधेनियों का अनुबचन करते हैं, एवं वह यजमान वैसा ही (उसी पूर्वस्थिति में) रहता है। अथवा तो उस से भी निम्नभ्रेणि में चला जाता है जिस यजमान के लिए कि अस्विक् (२१ सामिधेनी का उपर्युक्त गति-प्रतिष्ठात्मिका उपपत्ति बतलाते हुए) इन २१ सामिधेनियों का अनुबचन करते हैं। और वास्तव में (यज्ञपदस्थियों के आधार पर बात तो यह है कि) २१ सामिधेनियों के अनुबचन का पक्ष केवल पक्ष ही पक्ष है निष्पयोजन-मीमांसा ही है वस्तुतः २१ का (अस्विक्श्लोक) कदापि अनुबचन नहीं करते।

वस्तुस्थिति भुक्ति (याज्ञवल्क्य) का यही है कि यज्ञकर्म किसी अतिशय की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। श्री (सम्पत्ति) की प्राप्ति के लिए, अभ्युदय के लिए, एवं पूष की सामान्य परिस्थिति से उच्च स्थिति में पहुँचने के लिए ही यज्ञ किया जाता है। यह फल तभी सम्भव है जब कि, पदस्थि-प्रदर्शित पञ्चवरा-सामिधेनियों का ही अनुबचन किया जाय। केवल संख्या के आधार पर सम्पत्ति का समतुलन करते हुए २१ सामिधेनी करना अनुचित है। जो यजमान यह चाहे कि मैं श्रीशून्य बना रहूँ यज्ञ से मेरा कोई भिराव लाभ न हो अथवा जो यह चाहे कि न तो मेरा कोई लाभ हो न हानि ही हो वह अपरम ही २१ का अनुबचन करवा सकता है। अपरम ही उसे अनुबचन से यजमान जैसे का वैसा ही बना रहूँगा। और बहुत सम्भव है इस सामान्य स्थिति से भी गिर जायगा। इसलिए २१ का पक्षान्तर केवल मीमांसा हो सम्भन्धी चाहिए।

अति क अक्षर स्वारस्य से १२ की फटिहका का उक्त अर्थ हो समीचीन प्रतात होता है। अक्षर यही है कि 'ता उ एषा मीमांसव न स्वेवैता अनुव्यन्त' बारहवीं करिहका का उक्त उप

महाराज्य से यही सिद्धान्त निकलता है कि २१ का पक्ष याज्ञिका के केवल कालानिक विचार ही विचार है। न कभी ऐसा हुआ न होना चाहिए। अवकाश के समय याज्ञिकां में मायिचेनी-संख्या की उपपत्ति के सम्बन्ध में कभी चर्चा नहीं होगी। वहाँ किसी ने यह कह दिया होगा कि, “२१ सामिचेनी क्यों न की जाय ?” इस से २१ मन्थ की गति प्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी। तत्काल ही किसी वैज्ञानिक याज्ञिक ने उपेक्षापूर्वक इस पक्ष का उपहास करते हुए कह दिया होगा कि - ‘हाँ ठीक है, जिस यजमान को भी की अपेक्षा न हो प्रथम तो उस के यज्ञ में अथवा जो यजमान यह चाहे कि, न मेरा अभ्युदय हो, न पतन हो, मैं जैसे का तैसा ही बना रहूँ उस यजमान के लिए अथवा ही - १ का अनुवचन कर सकते हैं। परन्तु यह भी ध्यान रह कि यजमान का अभ्युदय तो नहीं ही होगा परन्तु बहुत सम्भव है उस का अनिष्ट भी होजाय’। वही सामयिक चर्चा में उपस्थित होने वाले काल्पनिक २१ विरा पक्ष का प्रति न उमी आक्षेपात्मक-उपहासास्पद शब्दों में इतिवृत्त बतलाते हुए सिद्धान्त में १५ सामिचेनी-पक्ष का ही समर्थन किया है। ‘ता हैता गतभरेव अनुव्रुयात्-य इच्छेन्न भेयान् स्यात्, न पापीयान्’ इति। इस से उपेक्षापूर्वक २१ का अक्षतारमक फल बतलाते हुए इस पक्ष का उपहास किया। सर्वान्त म—‘सा उ एषा मीमांसा एव, न त्वेगैता अनुच्यन्ते’ इस वाक्य से इस २१ पक्ष का निरसन कर दिया गया। इसी आधार पर हमने १० वीं कटिबद्धा को पूर्वपक्ष-संख्येन परक-माना है। परन्तु व्याख्या-कारों ने १२ वीं कटिबद्धा को ‘अधिकारमेद’ मर्यादा परक लगाते हुए इस का यह अर्थ किया है कि—

‘जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई हो वैसे यजमान के यज्ञ में ही २१ सामिचेनियों का अनुवचन करना चाहिए। जो यजमान अकृद्धी स्थिति में है उस के यज्ञ में २१ के अनुवचन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अर्थ ‘ता हैता गतभरेवानुव्रुयात्’ इस वाक्य का किया है। एवं इसके भाग के ‘य इच्छेन्न भेयान् स्यात्, न पापीयान्, यादृशाप है व स तं न्वाहुस्तादृक् इव भवति’ वाक्य को ‘पापीयान् वा’ से प्रत्यक्ष कर उस का यह अर्थ किया है कि— ‘जो यजमान भेष्य तेष्टुय दोनों नहीं चाहता है उस के लिए यथोपलब्ध प्रकार से (१५ अथवा १७) सामिचेनी का अनुवचन करते हैं। भाग जाकर ‘पापीयान्ना’ के ‘वा’ उपलक्षण विधि से अथवा अनुवचन करते हुए यह अर्थ किया गया है कि १ सामिचेनी-पक्ष में यजमान अकृद्धी क्षमता रखता है, तो भेयान् होता है अथवा पापीयान् होता है’। पाठक दक्षिण कि इस व्याख्या में किस-प्रकार शब्द-मर्यादा की प्रकरणसङ्गति की उपाय हुई है ?। अस्तु, जो कुछ ही प्रकृत में कटिबद्धा का निष्कर्ष यही निकलता है कि, २१ का पक्ष फल मीमांसा ही है। ऐसा अनुवचन होता नहीं और यही सिद्धान्त यह सिद्ध कर रहा है कि, २१ का पक्ष पक्षान्तर नहीं है, अपितु व्याख्या के द्वारा संख्येनात्मक ही बन रहा है।

कितने एक व्याख्याता अन्य प्रकार से भी अकटिबद्धा का समन्वय कर रहे हैं। और-पूर्वाक्त द्वितीय व्याख्या की अपेक्षा प्रस्तुत व्याख्या फिर भी यथावश्यक ठीक मानी जासकती है। व्याख्या का

स्वरूप यही है कि—‘अधिकारी के भेष से सामिधनियों की संख्या की व्यवस्था है। वह जो २१ का अनुवचन है, वह जिस यज्ञमान की सम्पत्ति नष्ट होगई है, उसी यज्ञमान के लिए नियत है। क्या कि प्रतिष्ठारूप २१ से यज्ञमान की समझी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्रतिष्ठित होगयी है—‘ता हैता गतभरेषान्मूयात्’

जो यज्ञमान न अपना अभ्युपव्य चाहता है न पतन उस यज्ञमान के लिए उसे उसकी सामान्य स्थिति पर रहन के लिए अस्त्विक लोग पूर्णतः पञ्चदश किंवा सप्तदश का ही अनुवचन करते हैं—‘य इच्छेन्न अयान्स्थानन् पापीयान् यादृशाप हेव स तेऽन्वाहुः तादृक्वा इव मवर्ति’।

दोनों पक्षों में से दूसरे २१ वें पक्ष में बोध बतसाती हुई भवि कही है कि, २१ के पक्ष में ‘अ यान्’ के स्थान में ‘यतन’ होसकता है। अर्थात् फलप्राप्ति संदिग्ध है—‘पापीयान्वा’। ऐसी स्थिति में २१ के पक्ष का केवल मीमांसा [विचार] ही समझना चाहिए, इसका अनुवचन नहीं करना चाहिए—‘सा उ एषा मीमांसैव, न स्वेयैता अनुच्यन्ते’ ॥१२॥

[ संख्या के सम्बन्ध में व्यवस्था कर अब उच्चारण—किंवा न विशेषता बतसाती हुई भवि कही है ] उस अस्त्विक [ भावी होता ] को पहिली सामिचेनी—अथ का तथा अन्त की सामिचेनी—अथ का तीन तीन बार अनवान् [ अनुच्छेदास ] रूप से ही अनुवचन करना चाहिए। [ कहा गया है कि, ११ में से १-११ वीं अथ का तीन तीन बार बोधा जाता है। इन के उच्चारण में एकसन्तानमात्र ही रहना चाहिए। अर्थात् एक ही श्वास में—बिना मध्य में विराम किए—अन्तरम् की अथ का त्रि-वार एवमथ अन्त की अथ का त्रि-वार उच्चारण करना चाहिए। इस एकवशात्मक सन्तानमात्र का कारण यही है कि ] प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञ में [ प्रथिरी अन्तरिक्ष—याः नामक ] तीन लोक हैं। [ तीन लोक महिमाप्रथिरीरूप एक ही लोक के तीन सन्तत पर्व हैं ]। [ यहाँ तीनों अथार्थों का सन्तत उच्चारण करता हुआ अस्त्विक ] इन्हीं तीनों लोकों को [ यज्ञफलमोक्ष यज्ञमान के लिए प्रातिष्ठिकरूप से ] पक्षरूप से [ अविच्छिन्नरूप से ] पेशता है किंवा तीनों का परस्पर प्रथिषम्बन्ध करता है एवं तीनों को प्रीणित तथा [ परस्पर के बन्धन से ] वल्लयुक्त बनाता है। अथिष [ आभ्यासिक यज्ञमूर्ति ] पुरुष में प्राण—व्यान—अपान भेष से तीन प्राण । अभ्यसिद्धिरूप से ] प्रतिष्ठित है। [ इस अनवान्—किंवा से वह हाता ] इन्हीं तीनों को परस्पर सम्बद्ध [ सन्तत ] तथा विच्छेदरहित [ अव्यच्छिन्न ] करता है। यही अनुवचन का [ वैज्ञानिक ] प्रकार है, अर्थात् अनवानम्—रूप से ही अनुवचन करना चाहिए ॥१३॥

(प्रथम तथा अन्त की तीन तीन अथार्थों अथास्वर—मुखपु-मर्वावा से एक साथ एक श्वास से पाल देना साधारण काम नहीं है। मान लीजिए, होता में स्वरसन्धान का उतना बल नहीं है। ११वीं दशा में अनुवचन की क्या सम्भावना होगी ? इसी विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में व्यवस्था करती हुई भुवि कही है कि) —(उत्तम पक्ष ता यदी है कि) इम होता का जहोतक वरा



जो शक्तिमर इसीप्रकार (पूर्वोक्त अनवाननरूप से एक ही स्थास में) अनुवचन करने का प्रयास करे—(स यावदेव वश स्यात् एवमेवानुविवक्षेत)। (यदि ऐसा सम्भव न होसके, तो उस सि ति में शक्तिके अभ्यास में एक श्रुत्या के मध्य में विश्राम न लेकर पूरी श्रुत्या समाप्त होजाने पर दो विश्राम कर सकता है। परन्तु) इस (मध्य-विश्रामात्मक) पक्ष की निन्दा ही मानी जाती है। ( निन्दा का मूल यही है कि)–अनवानन् (एकस्थास में) बोलने की इच्छा से श्रुत्मान्त्र का उच्चारण करता हुआ होता जब कि मध्य में स्थास का परित्याग कर देता है तो उस वृथा में (त्रैलोक्य-सघानात्मक) यह अनवानन्-अनुवचनकर्म (मध्य के विराम से व्यर्थ-विश्राम होता हुआ) निवृत्त ही होजाता है। यही इस पक्ष में 'परिचक्षा (निर्पलता) है। तात्पर्य इस परिचक्षाभावप्रदर्शन का यही है कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाय कि, अब विश्राम किए बिना आगे उच्चारण असम्भव है, तभी मध्य-विराम अपेक्षित है) ॥

अथवा उक्त कण्टका का इस रूप से भी सम-वय किया जासकता है कि-अनुवचन करने वाला होता को चाहिए कि उसके स्थास में (जितनी देर ठहरने का) बल है उतनी देर तक ही बोलें। स्थास पर बल प्रयोग न करे। वाक्-शक्त्यभाव में यदि होता तीन श्रुत्याँ एक साथ न बोलकर मध्य में विश्राम ले लेता है तो कोई दोष नहीं है—“सु यावदस्य वश स्यात्, एवमेवानुविवक्षेत” ।

उक्त पक्ष को अदोषभाक् मानने वालों का प्रतिवाद करते हुए साङ्ख्यिक कहते हैं कि नहीं ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस पक्ष की (श्रुत्मान्त्र-विश्राम की) परिचक्षा (निन्दा) ही है। यदि होता एक स्थास में (अनवानन्) बोलने का सकल्प कर (अनुविवचन) मध्य में (सामि) ही विश्राम कर लेगा [अपाम्बान्], तो त्रैलोक्य-सन्तानाथ होने वाला लोकसन्तानान्यवच्छेदसायक यह कर्म शिथिल होजायगा—“उत सामि अवान्यात् अनवानन्नुविवचन्, तत् कर्म विवक्षेत” । यही इस विश्रामपक्ष में दोष है। (अतः कभी श्रुत्मान्त्र में अवसान नहीं होना चाहिए)। उक्त दोनों अर्थों में आगे के प्रकरण की सङ्गति की दृष्टि से दूसरा अर्थ ही अन्वय समझना चाहिए ॥१४॥

[प्रश्न उपस्थित होता है कि अब विश्राम लेना दोष है एवं कोई होता अपनी शक्ति से एक स्थास में तीनों का अन्यबन्धित उच्चारण कर नहीं कर सकता, तो ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय ?। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में पञ्चान्तर बतलाती हुई भुक्ति कहती है कि]—यह होता यदि ऐसा करना (अनवानन् रूप से एक स्थास में) अपनी शक्ति के बाहिर समझता है (तो उस वृथा में श्रुत्मान्त्र के मध्य में विश्राम न कर (एक एक श्रुत्या का अनवानन् (एक स्थास में) अनुवचन कर। (अर्थात् श्रुत्मान्त्र में विश्राम करना दोष है श्रुत् के अवसान में दोष नहीं है)। (यदि श्रुत् फलान्त में विश्राम किया जायगा तो पूर्वाक्ता आभिर्देयिकी लोकसम्पत्ति तथा आध्यात्मिकी प्राणसम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी ? प्रश्न का निराकरण करती हुई भुक्ति कहती है)–इस एक एक श्रुत्या से ही यह (क्रमपरम्परया) तीनों लोकों को सन्तत तथा इहं बलवान् बनाने में समर्थ हो जाता है। (तीनों लोक सन्तत होते हुए प्रथक् प्रथक्, हैं। ऐसी स्थिति में तीनों के प्रथक् प्रथक्

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है, यही तत्पर्य्य है। अब जोकि प्राण-धान करता है—(उसका समन्वय इसप्रकार होजाता है कि प्राण अपान-ध्यान तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमभ्य आनन्नाभ्य व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्रयात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक धार में अक्षस्मन्त्ररूप अरोप गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) अरोप प्राण का भी आधान करने में समर्थ होजाता है। इसलिये (जब कि एक एक के अनवानन् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियाँ प्राप्त होजाती हैं, तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ हाँ के उच्चारण-सम्बन्ध में विरोध नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) यह होता इन १५ सामिधेनी-अध्याओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (निरन्तर्यविधि से) अनुवचन करता है। (तत्पर्य्य यही है कि, पन्त्रहों का उच्चारण क्रमशः परम्परया बिना अन्व कर्म के समावेस के निरन्तर-मर्यादा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि ये १५ अक्षस्मन्त्र पूर्वकमानुसार सम्बत्सर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्बत्सर के अहोपत्र-पर्वों को ही सन्तत तथा अव्यवच्छिन्न करता है। वे वे सम्बत्सर के अहोरात्रपर्व परस्पर मिश्रकर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्तित होते रहते हैं। प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान हैं। अब तत्स्थानीया सामिधेनी का भी वही मर्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत-अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सन्तत अविच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेप रखने वाले (कृत्रिमराधु) के लिए, तथा श्राद्धय के लिए (सहजराधु के लिए) इस (अपने भोग्य-स्थानीय सम्बत्सरचक्र में) 'उपस्थान' (प्रवेशद्वारा) नहीं करता है। यह होता (यजमान के इस भोग्य सम्बत्सरचक्र में समयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेसाद्वार ही बनाता है, जो कि असन्ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अब सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा  
ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

# शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्यान्तर्गत चौथा अध्याय आरम्भ

## ४



### चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-दूसरा ब्राह्मण

गायत्री-छन्दस्क १४ सामिधेनीमन्त्र, १५ संख्या प्रथमोत्तम के तीन तीन मन्त्रों का अनवानम् उच्चारण १६ हों का सन्तरूप स अनुवचन इन से कमण ब्रह्म, चतु-सम्बत्सर के अहोरात्रपर्व, प्रवेशद्वाररहित चक्राचिपत्य, इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति यत्नाइ गई। अब उही सामिधिनियों के सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विरोपधर्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रान्त होता है—

यह होता (सामिधेनी-श्रक् का उच्चारण करने से पहले) 'हिंकार' करके ('हिं' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन (श्रक् का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगोंने कहा है कि, (कोइ मी) यक्ष अस्सामा (साम रहित) नहीं है। (साथही) हिंकार किए बिना साम नहीं गाया जासकता। सो जोकि होता 'हिक्' करता है हम से हिंकार का रूप सम्पन्न करता है, एव 'आइम्-आइम्' इस प्रणव से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूर्वक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यक्ष समासा (सामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। प्रत्येक मन्त्र प्रणवपूर्वक बोझा जाता है प्रणव से पहले यहीं 'हिं' और लगाया जाता है। इस हिंकारान्मक-प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन जाती है। इसारा यक्ष असाम बनजाय यही हिंकार की एक उपपत्ति है यही तात्पर्य है) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि हिंकार करता है— यह मतलाते हैं—नासिकास्थित श्याम-प्रवासाधिष्ठिता मुख्य प्राण निश्चयेन 'हिंकार' है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, (कोइ भी व्यक्ति) नामाच्छिन्ना को अपरुद्ध कर हिंकार नहीं करसकता। (जहाँ हिंकार नासाप्राणान्मक होन से प्राण है वहाँ) श्रक्मन्त्र धातुरूप उच्चारणापक्षया पागात्मक है। इसप्रकार हिंकार 'प्राण' बना हुआ है, एव श्रक् 'वाक्' धनी हुई है। इसी वाक् प्राण के मिथुनभाव को लक्ष्य में रखकर भुक्ति कहती है कि-वाक् से श्रक् का अनुवचन करता है एवं वाक्-प्राण दोनों का (योपा-युपात्मक)

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है यही तात्पर्य है। अब जोकि प्रस्था-  
धान करता है—(इसका समन्वय इसप्रकार होजाता है कि, प्राण अपान-व्यान तीनों आध्यात्मिक  
प्राण आलोमध्यः आनन्नाग्नेय्य, व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्र-  
यात्मिक) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में ऋक्सन्त्ररूप आरोप गायत्री का  
अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयागमित) आरोप प्राण का भी आपान करने में समर्थ होजाता  
है। इसलिये (जब कि एक एक के अनवानन् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियों प्राप्त होजाती  
हैं, तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई।  
अब समष्टिरूप से १५ हों के उच्चारण-सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है कि)  
यह होता इन १५ सामिधेनी-ऋचाओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (नैरन्तर्यविधि से) अनुवचन  
करता है। (तात्पर्य यही है कि पन्त्रहों का उच्चारण क्रमशः परम्परया बिना अन्त्य कर्म के समा-  
वेश के निरन्तर-मर्त्यावा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि ये १५ ऋक्सन्त्र पूर्वक  
नानुसार सन्वत्सर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता)  
सन्वत्सर के अहोरात्र-पर्वों को ही सन्तत तथा अव्यवच्छिन्न करता है। वे वे सन्वत्सर के  
अहोरात्रपर्व परस्पर मिलकर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्तित होते रहते हैं। प्रकृति  
में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान हैं। अतः तत्स्थानीया सामिधेनी का  
वैसी मर्त्यावा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत अव्यवच्छिन्नभाव का दूसरा कारण  
बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता द्वेप  
रस्त्रन वात्ते (कृत्रिमरात्रु) के क्षिप, तथा आतुल्य क क्षिप (सहजरात्रु के क्षिप) इस (अपने भोग्य-  
स्थानीय सन्वत्सरचक्र में) 'उपस्थान' (प्रवेशद्वार) नहीं करता है। यह होता (यजमान के इस  
भोग्य सन्वत्सरचक्र में उभयविध शत्रुओं के क्षिप) प्रवेशद्वार ही बनाता है, जो कि असन्ततरूप  
से सामिधनियों का अनुवचन करता है। अतः सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता  
है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा  
ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

# शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्यान्तर्गत

## चौथा अध्याय आरम्भ

### ४

## चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-दूसरा ब्राह्मण

गायत्री-छन्दस्क १४ सामिधेनीमन्त्र १५ संख्या प्रथमोत्तम के तीन तीन मन्त्रों का मनवानन उच्चारण १५ हों का सन्तत रूप से अनुवचन, इन से क्रमशः ब्रह्म, ध्रुव-सम्बत्सर के अहोरात्रपूर्व, प्रवेशद्वाररहित चक्राविपत्य, इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति वतलाई गई। अब श्री सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विशेषधर्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रान्त होता है—

वह होता (सामिधेनी-शब्द का उच्चारण करने से पहले) 'हिंकार' करके ('हिं' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन (शब्द का उच्चारण) करता है। वैज्ञानिक लोगोंमें कहा है कि, (कोई भी) यह अस्वामि (साम रहित) नहीं है। (साथ ही) हिंकार किए बिना साम नहीं गाया जा सकता। सो जोकि होता 'हिं' करता है इस से हिंकार का रूप सम्पन्न करता है एवं 'ओ३म्-आ३म्' इस प्रणव से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूर्वक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यह समासा (नामसम्पत्ति से युक्त) होजाता है। प्रत्येक मन्त्र प्रणवपूर्वक बोझा जाता है प्रणव से पहले यहाँ 'हिं' और लगाया जाता है। इस हिंकारान्तर-प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन आती है। इसारा यह मसाम बनजाय, यही हिंकार की एक उपपत्ति है यही वात्पर्य है) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि हिंकार करता है— वह वतलाते हैं—नासिकास्थित श्वास प्रवासाधिष्ठाता मुख्य) प्राण निश्चयेन हिंकार है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि (कोई भी व्यक्ति) नासाधिष्ठितों को अवरुद्ध कर हिंकार नहीं करसकता। (जहाँ हिंकार नासाप्राणरमक होने से प्राण है वहाँ) शब्दमन्त्र वाक्-रूप उच्चारणोपेक्षया वागात्मक है। इसप्रकार हिंकार 'प्राण' बना हुआ है, एवं शब्द 'वाक्' बनी हुई है। इसी वाक्-प्राण के मिश्रणभाव को लक्ष्य में रखकर भूति कहते हैं कि-वाक् से शब्द का अनुवचन करता है एवं वाक्-प्राण दोनों का (योपा-यूपात्मक)

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है यही तात्पर्य है। अब जोकि प्राण-धान करता है—(उसका समन्वय इसप्रकार हो जाता है कि, प्राण अपान-व्यान तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमन्यः आनलाग्रेभ्य व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलतः प्राणत्रयात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में ऋक्सन्त्ररूप आरोप गायत्री का अनुवचन करता है इससे (प्राणत्रयगर्भित) आरोप प्राण का भी आधान करने में समर्थ हो जाता है। इमक्षिप (अब कि एक एक के अनधानम् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं तो) एक एक का अनधानम् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ हों के उच्चारण-सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई भूति कहती है कि) वह होता इन १५ सामिधेनी-ऋचाओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (नैरन्तर्यविधि से) अनुवचन करता है। (तात्पर्य यही है कि, पन्त्रहों का उच्चारण क्रमशः परस्परया बिना अन्व क्रम के समा-वशा के निरन्तर-मर्यादा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि ये १५ ऋक्सन्त्र पूर्वक नानुसार सम्प्रसर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्प्रसर के अहोरात्र-पर्वों को ही सन्तत तथा अव्यवच्छिन्न करता है। ये व सम्प्रसर के अहोरात्रपर्व परस्पर मिलकर-सन्तानपरम्परारूप से ही वक्ष्यन् परिचित हो रहे हैं। प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिणवमान हैं। अतः तत्स्थानीया सामिधेनी का भी वही मर्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत-अव्यवच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई भूति कहती है कि, सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेप रक्षने वाले (कृत्रिमरात्रु) के क्षिप, तथा भास्वर्य के क्षिप (सहजरात्रु के क्षिप) इस (अपने मोग-स्थानीय सम्प्रसरचक्र में) 'उपस्थान' (प्रवेशद्वार) नहीं करता है। वह होता (यजमान के इस भोग्य सम्प्रसरचक्र में उभयविध रात्रुओं के क्षिप) प्रवेशद्वार ही बनता है जो कि असन्ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अब सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

(तीसरा अध्याय समाप्त)

३

[आदान-विसर्गभाव] की व्याप्ति बतलाती हुई भुक्ति कहती है]—सभी पदार्थ-समष्टि, व्यष्टिरूप से उभयथा आ-[आदान] प्र-[विसर्ग] भावों से ही युक्त हैं। [इस सर्वसामान्य-सम्पत्ति-आदानविसर्गत्मिका कर्मसम्पत्ति-के लिए ही] एति-प्रोति पृथक् अनुषचन करता है ॥६॥

[अनुषचन के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताएँ बतलानी थीं, बतलाती गई। दूसरे शब्दों में अनुषचनानुगत उपपत्ति-प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति-प्रकरण आरम्भ होता है। पद्धति-प्रकरण आरम्भ करें, इस से पहिले सामिचेनी-मन्त्रपाठ के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें [ग्रन्थानुगत] सत्य में ले आनी चाहियें—

प्रकृत ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका से आरम्भ कर ४० वी कण्डिकापर्यन्त [ब्राह्मणसमाप्ति पर्यन्त] जिन सामिचेनी-मन्त्रों की व्याख्या हुई है, व सामिचेनीमन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण में निम्नलिखित रूप से पठित है—

१-प्र वो आवा अभिषवो इविष्मन्तो घृताच्या ।

दवाजिगातु सुम्नुयु ॥

—ऋक्सं ३।२७।१ ।

२-अन्न आयाहि वीतये गृक्षानो इम्यदातये ।

नि होता सत्ति वईपि ॥

—ऋक्सं ६।१६।१० ।

३-उ त्वा समिष्मिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।

वृहच्छोचा यविष्ठय ॥

—ऋक्सं १।१६।११ ।

४-स नः पूयु भवाय्यमच्छा देव विवाससि ।

वृहदग्ने सुवीर्यम् ॥

—ऋक्सं ६।१६।१२ ।

५-ईष्टेन्यो नमस्यस्तिरस्तर्मांसि दर्शतः ।

समग्निरिष्यते पूषा

—ऋक्सं ३।२७।१३ ।

६-वृषो अग्निः समिष्यते अश्वो न देववाहन ।

तं इविष्मन्त ईदते ॥

—ऋक्सं १।२७।१४ ।

मिथुन (वाचस्पत्यभाष) है। (इसप्रकार हिंकारपूर्वक-प्राणपूर्वक-शब्द का- ( वाक् का ) प्रयोग करता हुआ ) होता ( इस हिंकार-शब्दरूप प्राण-वाक् के मिथुन से ) सामिचनियों के पहले ही मिथुन प्रजनन करता है। इस ( प्रजनन-सम्पत्ति के ) लिए भी हिंकार करके अनुवचन करता है ॥२॥

यह होता उपांशुरूप से मन्वरूप से, किन्तु गम्भीरध्वनि से) हिंकार करता है। यदि होता (मन्त्रयत्) उच्चारण से हिंकार करेगा तो इस हिंकार को भी दूसरी वाक् ही बना जायेगा ( फलतः मिथुनसम्पत्ति प्राप्त न होगी), इसलिए उपांशु हिंकार करता है ॥३॥

यह होता 'आ' तथा 'प्र' से युक्त सामिचेनी-शब्द का अनुवचन करता है। [इस 'आ' से उपलक्षित प्रेति, तथा 'प्र' से उपलक्षित प्रेति के समावेश से सामिचेनी-शब्दरूपा ] गायत्री को ही यह होता [एति से] अर्थात् [मूलोक्तनुगामिनी] बनाता है एवं [प्रेति से] पराची [युक्तोक्तनुगामिनी] बनाता है। पराची गायत्री तो वृषवाधो के लिए यज्ञ [आहुतिव्रज्य] का बहन करती है, एवं अर्थात् गायत्री मनुष्यों का पावन करती है। [इस समर्थित-फलप्राप्ति के लिए ही] प्रेति-प्रेति रूप से सामिचेनी का अनुवचन करता है ॥५॥

[एति-प्रेति की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं]-जिस प्रयोजन के लिए कि एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन करता है-[ उसका दूसरा कारण बतलाते हैं ]-परा-गति सूचक 'प्र' [प्रतिरूप मर्यादा से] प्राण है, एवं [अर्थात् गति सूचक] 'आ' उवाच है। [ 'प्र' 'आ' का सम्बन्ध करता हुआ ] होता [अज्ञातिशक्तस्य भावी यज्ञपुरुष में] 'प्राज्ञोदान' ही स्थापित करता है। इसलिए मा 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन करता है ॥४॥

जिसलिए कि 'आ-प्र'-पूर्वक अनुवचन करता है-[इसकी तीसरी उपपत्ति बतलाते हैं]। [सिद्ध्यमान रव क्योंकि सिद्धान्त करने वाले से परागति रखता है इस सादृश्य से] 'प्र' यह रव का आधान है, [सिद्धरव गर्भाशय से हमारे अभिमुख आता हुआ सिद्धान्त करने वाले से अर्थात् गति रखता है, इस सादृश्य से] 'आ' यह उपपत्ति है [इस रव-सेक तथा प्रजोत्पत्ति-सम्पत्ति के आधान के लिए भी एति-प्रति-पूर्वक अनुवचन किया जाता है]। अपिच-[एतादिवस्य पशुओं का जन्म में जाना क्योंकि परागति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] 'प्र' यह पशुगमन-स्थानीय है। एवं [जाकि सायकाल पशुओं का लौट आना अर्थात् गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] 'आ' यह पशुओं का लौटना है। [इस पशुसमृद्धि के आधान के लिए भी एति प्रेति-पूर्वक अनुवचन किया जाता है। इसप्रकार एति प्रेति का सम्बन्ध में चार उप-पत्तियाँ बतलाकर अन्त में एति-प्रेतिरूपा गायत्री से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व में-एति-प्रति-भाव



“अग्ने महौ असि ब्राह्मण भारत, (अमावस्यौ,) देवेदो मन्विद ऋषिष्टुतो विप्रानुमदित कविशस्तो ब्रह्मशसितो धृतवाहन, प्रणीर्यघ्नानां स्थीरध्वराशाम् । अतूर्तो होता तृषिर्हव्यवाट् । आस्पात्र जुहुर्देवाना चमसो दवपान । अरौ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्र परिभूरसि ॥ आवह देवान् यजमानाय, अग्निमग्ने आवह, सोमपावह, अग्निमावह, प्रजापतिमावह, अमीपोमावावह, इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमावह, देवौ आज्यपां आवह, अग्नि होत्रायावह, स्तं महिमानमावह, आचाग्ने देवान् वह, सुयज्ञा च यज्ञ वत्तवेद” ।

(तै० ब्रा० ३ का० ५ प्र०)

उक्त ११ सामिचेनी-मन्त्रों में से शतपथ में तो सातवें मन्त्र का ‘वृषण त्वा वयं वृषन् वृषण-समिचीमहि’ इसप्रकार ह्रस्वान्त पाठ है एवं तै० ब्रा० में ‘वृषण’ के स्थान में [अक्स्ंहितावत्] ‘वृषाय’ पाठ है । एवमेव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि के अन्त के- “आचान्ने देवान् वह, सुयज्ञा च यज्ञ जातवेद” इस तैत्तिरीय पाठ के स्थान में शतपथ में “आच वह जातवेद सुयज्ञा च यज्ञ” यही पाठ है । इसके अतिरिक्त ११ वें मन्त्र में तै० ब्रा० का ‘आजुहोत’ के स्थान में [अक्स्ंहितावत्] ‘आजुहोता यह पाठ है । इन सब मन्त्रों का किराद वैज्ञानिक विवेचन आगे के विवचना प्रकरण में किया जायगा । प्रकृत मूलानुवाद-प्रकरण में केवल पद्धति ही बतला दी जाती है ।]

यह होता [सर्वप्रथम] ‘प्र वो वाजा अमिद्यवः’ [इत्यादि] इस सामिचेनी ऋचा का अनुवचन करता है । यह अनुवचनकर्म (मन्त्रोपात्त ‘प्र’ के सम्बन्ध से परागनातिरूप ‘प्र’ इस भाव का समाह्व है । (अनन्तर) ‘अग्रऽआयाहि वीतये’ (इत्यादि) इस सामिचेनी ऋचा का अनुवचन करता है । यह अनुवचनकर्म [मन्त्रोपात्त ‘आयाहि’ के सम्बन्ध से अर्थाग्रातिरूप] ‘आ’ इस भाव का समाह्व है । [दोनों मन्त्रों के प्र-आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्मानुगत आदान-विस्मार्गिका स्वाभाविकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है, यही वात्सर्व्य है ।] ॥५॥

क्योंकि ‘आयाहि’ ‘वीतये’ यह वाक्य स्वयंस्व द्युताओं की अपक्षा से परागमति का सूचक बन रहा है, अतएव यह भी ‘प्र’ भाव का ही समर्थक माना जायगा इस हेतु को लक्ष्य में रखते हुए ) किन्तु एक वैज्ञानिकों का कहना है कि, उक्त दोनों सामिचेनीमन्त्र ‘प्र’ भाव को ही सम्पन्न करने वाल हैं । (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाय हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, -उन वैज्ञानिकों का (दोना को ‘प्र’ भाव-परक बतलाना) यह कथन विज्ञान-के

७-वपश त्वा वप वृषन्—वृषास्य समिधीमहि ।

अग्ने दीधन्त वृहत् ।

—श्रुक्सं० ३।२७।१५ ।

८-अग्नि वृतं वृणीमह होतार विश्ववेदसम् ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥

—श्रुक्सं० १।१२।१ ।

९-समिष्यमानो अक्षरे अग्निः पावक ईतयः ।

शोचिष्केशस्तमीमह ॥

—श्रुक्सं० ३।२७।४ ।

१० समिद्धो अग्न आहुत देवान् यद्विष्वक्षर ।

त्वं हि इष्यवाहसि ॥

—श्रुक्सं० ५।२८।५ ।

११-आहुतो—दुवस्यनाग्निं प्रयत्यक्षरे ।

वृषीष्य इष्यवाहनम् ॥

—श्रुक्सं० ५।२८।६ ।

(—ते जा० ३।५।२ ।)

उक्त ११ सामिचेनी-मन्त्रों से हो अग्निसमिन्वनकर्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण अद्यपि प्रचलित यजुस्संविता की क्रमिक व्याख्या करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु आश्चर्य है कि, उक्त ग्यारह मन्त्रों में से यजुःसंहिता में केवल “त्वं त्वा समिद्धिः” (यजुःसं ३।३) यह एक ही मन्त्र उपलब्ध होता है। शेष १० मन्त्र यजुःसंहिता में नहीं हैं। इसीप्रकार आगे आकर बिन मन्त्रों का निगदानुवचन, आर्षेयानुवचन तथा निधित्पाठ—कर्मों में उपयोग हुआ है वे निम्न लिखित मन्त्र भी यजुःसंहिता में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शास्त्र का एक ब्राह्मण एक आरम्भक तथा एक उपनिषत् होता है। बहुत सम्भव है—प्रथम तो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण साम्यन्दिनीशास्त्र का न हो अथवा प्रचलित यजुःसंहिता साम्यन्दिनीशास्त्र की न हो। अथवा ही दोनों में से एक पक्ष हीमांस्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में पठित हैं, उन का यजुःसंहिता में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपलब्ध शेष मन्त्र ये हैं—

—“वृषण” इति श्रुक्संहितायाम् ।

०—“आहुतो” इति श्रुक्संहितायाम् ।

“अग्ने महां असि ब्राह्मण मारत, (अमात्रमौ,) दधेदो मन्विद ऋषिष्टुतो विप्रानुमदित कविशस्तो ब्रह्मशसितो घृतवाहन, प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराभाम् । अतूर्नो होता तूर्निर्हव्यवाट् । आस्पात्र जुहुर्देवानां चमसो देवपान । अरौ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्व परिभूरसि ॥ आवह देवान् यजमानाय, अग्निमन्न आवह, सोमपावह, अग्निमावह, प्रजापतिमावह, अग्नीषोमावावह, इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महन्द्रमावह, दवौ आज्यपां आवह, अग्निं होत्रायावह, स्तौ महिमानमावह, आचाम्ने देवान् वह, सुयजा च यज्ञ जातवेदः” ।

(तै० ब्रा० ३ का० ५ प्र०)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों में से शतपथ में तो सातवें मन्त्र का ‘वृषण त्वा वय वृषन् वृषणः-समिधीमहि’ इसप्रकार हस्तान्त पाठ है एवं तै० ब्रा० में “वृषण” के स्थान में [अक्षसंहितावत्] ‘वृषाण’ पाठ है । एवमव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि के अन्त के- “आचाम्ने देवान् वह, सुयजा च यज्ञ जातवेदः” इस तैत्तिरीय पाठ के ५ अंश में शतपथ में “आच वह जातवेदः सुयजा च यज्ञ” यही पाठ है । इसके अतिरिक्त ११ वें मन्त्र में तै० ब्रा० का ‘आजुहोत’ के स्थान में [अक्षसंहितावत्] ‘आजुहोता यह पाठ है । इन सब मन्त्रों का विशाल वैज्ञानिक विवचन आगे के विवचना-प्रकरण में किया जायगा । प्रकृत मूलानुवाद-प्रकरण में कवच पद्धति ही बतला दी जाती है ।]

यह होता [सप्तम्यम] ३ ‘प्र वो वाजा अभिघवः’ [इत्यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है । यह अनुवचनकर्म (मन्त्रोपात्त ‘प्र’ के सम्बन्ध से परागगतिरूप ‘प्र’ इस भाष का समाह्व है । (अनन्तर) ‘अग्रऽआयाहि धीतये’ (इत्यादि) इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है । यह अनुवचनकर्म [मन्त्रोपात्त ‘आयाहि’ के सम्बन्ध से अर्धागगतिरूप] ‘आ’ इस भाष का समाह्व है । [दोनों मन्त्रों के प्र-आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्मभानुगत आदान-विसर्गात्मिका स्वामाधिकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है यही तात्पर्य है] ॥३॥

क्योंकि ‘आयाहि’ ‘धीतये’ यह साम्य स्वगत्य दृष्टताओं की अपेक्षा से परागगति का सूचक बन रहा है अतएव यह भी ‘प्र’ भाष का ही समर्थक माना जायगा इस हेतु को लक्ष्य में रत्नत हुए ) किन्तु एक वैज्ञानिका का कहना है कि उक्त दोनों सामिधेनीमन्त्र ‘प्र’ भाष को ही सम्पन्न करने वाले हैं । (इनके उक्त हेतु को अर्थवैज्ञानिक यत्नाय हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि,—उन वैज्ञानिकों का ( दोनों को ‘प्र’ भाष-परक बतलाना ) यह कथन विज्ञान-के

७-वपरा त्वा वर्य वृपन्-वृपाद्याः समिचीमहि ।

अग्ने दीयन्त वृदत् ।

-श्रुक्तं ३।२७।१५ ।

८-अग्नि इत वृशीमहे होतार निस्ववेदसम् ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥

-श्रुक्तं १।१२।१ ।

९-समिध्यमानो अप्वरे अग्निः पावक ईठयः ।

शोचिष्केशस्तमीमह ॥

-श्रुक्तं १।२७।४ ।

१० समिद्धो अग्न आहुत देवान् यचिस्वप्वर ।

त्वं हि इध्यवावसि ॥

-श्रुक्तं ५।२५।५ ।

११-आहुतोत-अधुवस्पनाग्निं प्रयस्यप्वरे ।

वृशीर्ध्वं इध्यवाहनम् ॥

-श्रुक्तं ५।२५ ।

(-तै जा० ३।५।२ ।)

उक्त ११ सामिचिनी-मन्त्रों से हो अग्निसमिन्धनकर्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण यद्यपि प्रचलित यजुसंज्ञा संहिता की क्रमिक व्याख्या करता हुआ इसी का आग्रह माना जाता है, परन्तु आश्चर्य है कि उक्त ग्याह मन्त्रों में से यजुसंहिता में केवल "त्वं त्वा समिद्धिः" यजुसं ३।३ ) यह एक ही मन्त्र उपलब्ध होता है। शेष १० मन्त्र यजुसंहिता में नहीं हैं। सीप्रकार आगे जाकर जिन मन्त्रों का निगदानुवचन, आर्येयानुवचन, तथा निवृत्पाठ-कर्मों में उपयोग हुआ है वे निम्न लिखित मन्त्र भी यजुसंहिता में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण एक आरवयक तथा एक उपनिपत् होता है। बहुत सम्भव है-प्रथम जो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण माध्यन्दिनीशाखा का न हो अथवा प्रचलित यजुसंहिता माध्यन्दिनीशाखा की न हो। परन्तु ही होता है वे एक पक्ष मीमांस्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणपक्ष में पठित हैं, उन यजुसंहिता में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रहता। अनुपलब्ध शेष मन्त्र ये हैं-

— "वृपरा" इति श्रुतसंहितायाम् ।

— "आहुतोत" इति श्रुतसंहितायाम् ।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विद्वध को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहने लगे कि] "वीतिहोत्र त्वा क्व ध मन्त समिधीमहि । अग्ने नृहन्तमध्वर" ( ह कवे ! ह अग्ने ! यज्ञसमृद्धि-स्वरूप-ममर्षक, अमिलपित-फलपूरक, कान्तियुत ऐसे आपका हम यज्ञ में मैं इष्मकाष्ठ से-ममिन्धन कर रहा हूँ-यजु सं० २।४।) [अक् सं० ५।२६।३] इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त में गोतम ने कहा हे विद्वध । ॥११॥

विद्वध ने कोई उत्तर नहीं दिया [मानो कुछ सुना ही नहीं । पुन अग्नि की स्तुति के द्वारा प्रवृत्त बनाते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला] "उदग्ने शुचवस्ता आबन्त ईरते । तव ज्योतीष्य र्षप [ अक् सं० ८।१।१७- ह अग्ने ! आपकी पवित्र निर्मल-शुक्लमर्ष की चमकती हुई रश्मियाँ आपकी ज्योतियों ( तेज पर्वों ) को प्रेरित ( समृद्ध ) कर रह हैं ] [ इस प्रकार मन्त्रयाक से अग्नि की स्तुति कर फुलस्वर से उच्चस्वर से गोतम ने पुन विद्वध का आह्वान करत हुए ] यह कहा-ह विद्वध ३ । ॥१२॥

राजा विद्वध ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया । ( अन्त में राहुगण गोतम के मुख से "तन्त्वा घृतस्नवीमहे" केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि, घृत शब्द के उच्चारण से ( विद्वध के मुख में प्रतिष्ठित ) वैश्वानर अग्नि प्रवृत्त वेग से प्रव्यवस्थित होपड़ा । ( उस प्रव्यवस्थित अग्नि को ) अब विद्वध मुख में न रख सके । ( उन का संयम टूट गया, फलतः ) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पड़ा और इस पृथिवी पर ग्राप्त होगया ( गिर पड़ा ) ॥ १३ ॥

( जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए 'घृत' पद के श्रवण से विद्वध का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रव्यवस्थित होकर बाहिर गिर पड़ा था ) उस घटना के समय विद्वध माथय सरस्वती ( गतव्रामक नदी ) के ही समीप था । ( यहाँ प्रव्यवस्थित अग्नि भूमि पर गिरा ) यही से क्रमशः पूष की ओर वह अग्नि इस पृथिवी ( के आर्द्र भाग का ) जलाता ( सुखाता ) हुआ आगे बढ़न लगा । आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि के पीछे विद्वध माथय और राहुगण गोतम क्रमशः आगे बढ़न लग । ( पूर्व की ओर वग से बढ़ते हुए । उम वैश्वानर अग्नि न ( भाग में बढ़न वाली इतर मय छुत्र ) नदियाँ को सुखा जाता । उत्तगिरि से जो 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है केवल इसी को ( उस अग्नि न ) नहीं सुखाया । क्योंकि इस नदी का

\*-तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्हिराम् । त्वो आ धीमय यह' (अक् सं ५।२६।२।) ।  
५ ज्योतिषम । हे विविध रश्मियुक्त अग्ने ! स्वर्ग को पदिवानन वाले आप से हम प्रार्थना करते हैं कि, आप रश्मिबन्धन के द्वारा ( हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से ) देवताओं को बुलायें ।

अतिमात्र (विज्ञान के अजीबमात्र) का ही सूचक है। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिघव' अर्थात् 'प्र' मास का ही, तथा 'अग्नेऽआयाहि वीगृणे' यह 'आ' मास का ही सूचक है। (अज्ञानत्व का अभिप्राय यही है कि यज्ञ यजमान कर रहा है। सामिषेनी का अनुवचन यजमान के लिए हो रहा है। इस यजमान की अपेक्षा से तो 'आयाहि' अर्थात् गति का ही प्रादुर्भाव बन रहा है। ऐसी स्थिति में 'आयाहि' को प्राकृतिक मित्य यज्ञपरक मानना सध्या अवैज्ञानिक है।) ॥१॥

(१) — (सप्तवी कथिका में जिन मन्त्रों के अनुवचन का विधान हुआ है उनके पदों की व्याख्या कही हुई भुक्ति कहती है) — वह होता — प्र वो वाजा अभिघव' इस मन्त्र का अनुवचन करता है। (होता का यह अनुवचनकर्म 'प्र' का सम्पादन बनता है। '१ वाजा' इस (वाक्य का वाक्यार्थ यही है कि) निरवयेन अग्न का ही नाम 'वाजा' है। इससे अग्न के सम्बन्ध में ही कहा गया है। '२ अभिघव' इस (का अर्थ यही है कि) अथ मास (पक्ष) ही का नाम है। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है। '३ इविष्मन्त' इस (का अर्थ यही है कि) पशु ही इविष्मन्त हैं। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है ॥१॥

(४ घृताच्या' इस (का अर्थ है) —

'पुराने समय में (४) माघव' नाम से प्रसिद्ध विदेह (विदेह) राजा ने अपने मुख में औरषानर अग्नि को धारण कर लिया। इस राजा का रतूण का पुत्र अतपव, 'राहमन्' इस वननाम से प्रसिद्ध गौतम ऋषि पुरोहित था। उस राजा ने गोमम ऋषि के बुलाने पर इसलिये उत्तर नहीं दिया कि मेरे मुख से औरषानर अग्नि (बाहिर) न गिरनाय ॥१०॥

(जब सामान्य-सौक्तिक वाक्य से गौतम ऋषि विदेह [विदेह] के वाक्यमय अग्नि का संयम तोड़ने में समर्थ न हो सके, तो उन्होंने अग्नि की स्तुति करते हुए अक्षौक्तिक ऋग्मन्त्रों से [मुस्त-

१ — 'वाजयति-वलयति' इस निर्बचन से अग्न का नाम कहा गया है।

२ — 'वस्तो-योमानु वासरम्' इत्यादि रूप से 'यु' शब्द दिन वाचक है। 'यु-विषसा-अभिगत' इस निर्बचन से दिने के अनुगत रहने वाले शुक्ल-रूप पक्षों को अवश्य ही 'अभिघव' कहा जासक्य है।

३ — 'धीर-वपि आम्नादि हवि' के उत्पादक होने से ही पशुओं को 'इविष्मन्त' कहा गया है।

४ — 'घृताच्या' पद का मन्त्र में विशेष महत्त्व है। क्योंकि वृत्त 'तजो जी वास्यम्' के अनुसार तजोतज अग्नि का लक्षण है। अतएव यही अभिषमिष्यन का मुख्य कारण माना गया है। इन्-पर का एक ऐतिहासिक-आप्लान के द्वारा महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विदेव को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहने लगे कि] “धीतिदोष त्वा कवे यम-त समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे” (ह कवे ! ह अग्ने ! यज्ञसमृद्धि-स्वरूप-ममर्षक अभिलषित-फलपूरक, कान्तियुत ऐसे आपका हम यज्ञ में मैं ह्मकाण्ड से-समिन्धन कर रहा हूँ-यजु सं० २।४।] [अक् सं० ५।२६।३।] इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त में गोतम ने कहा-हे विदेव ॥ ११॥

विदेव ने कोई उत्तर नहीं दिया [मानो कुछ सुना ही नहीं। पुन अग्नि की स्तुति के द्वारा प्रवृत्त बनते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला] “उदग्ने शुचशस्तत्र आबन्त ईरते। तव ज्योतीष्य र्वय [अक् सं० ८।४।१७] ह अग्ने ! आपकी पवित्र निमल-शुक्लवर्ण की चमकती हुई रश्मियाँ आपकी ज्योतिषों ( तेज पगों ) को प्रेरित ( समृद्ध ) कर रहे हैं ) [ हम प्रकार मन्त्रवाक्य से अग्नि की स्तुति कर प्लुतस्वर से उरुचस्वर से गोतम ने पुन विदेव का आह्वान करते हुए] यह कहा-हे विदेव ॥ १२॥

राजा विदेव ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। ( अन्त में राहूगण गोतम के मुख से “\* तन्त्वा घृतस्नधीमह” केवल यह मन्त्रमाग ही निकला था कि घृत शब्द के उच्चारण से ( विदेव के मुख में प्रतिष्ठित ) वैश्वानर अग्नि प्रवृत्त वेग से प्रव्यवहित होपड़ा। ( उस प्रव्यवहित अग्नि को ) अत्र विदेव मुख में न रख सके। ( उन का संयम टूट गया फलतः ) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पड़ा और इस पृथिवी पर प्राप्त होगया ( गिर पड़ा ) ॥ १३ ॥

( जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए ‘घृत’ पद के श्रवण से विदेव का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रव्यवहित होकर बाहिर गिर पड़ा था ) उस घटना के समय विदेव मायय सरस्वती ( पतन्नामक नदी ) के ही समीप थे। ( यहाँ प्रव्यवहित अग्नि भूमि पर गिरा ) यही से क्रमशः पूर की ओर वह अग्नि इस पृथिवी ( के आर्द्र भाग का ) जलाता ( सुखाता ) हुआ आगे बढ़ने लगा। आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि क पीछे विदेव मायय और राहूगण गातम क्रमशः आगे बढ़ने लगे। ( पूर्व की ओर वग से बढ़ते हुए ) उम वैश्वानर अग्नि न ( माग में पड़ने वाली इतर मय छुट्ट ) नदियों को सुखा बाला। उत्तगिरि से जो ‘सदानीरा’ नाम की नदी निकलती है केवल इसी को ( उस अग्नि न ) नहीं सुखाया। क्योंकि इस नदी का

\*-तं त्वा घृतस्नधीमह चित्रमानो स्वर्दशम्। त्वर्षो आ धीतय यह (अक् सं० ५।२६।२।)।  
६ अत्रापि । हे विविध रश्मियुक्त अग्ने ! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्राधना करते हैं कि, आप रश्मिवर्ण के लिए ( हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से ) देवताओं को बुलायें।

अैधानर अग्नि के द्वारा शोषण नहीं हुआ अतएव यह सदातीरा 'अनतिदग्धा' मानी गई। (इसीलिए) उस युग से ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते हैं। हेतु वही है कि, यह अैधानर अग्नि से अनतिदग्धा है। (इसे पार करना पतित होना समझ गया वही तात्पर्य है) ॥ १४ ॥

इस समय इस (सदानीरानदी) के पूर्व दूरों में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। यह (भूभाग इस अप्रिदहनकर्म से) पहिले कृषि के (खेती के) सर्वथा अयोग्य था और यज्ञादि फल-प्रदान के अयोग्य था। क्योंकि इस से पहिले क्षेत्रस्वरूपसमर्पक, तथा यज्ञादिकलयोग्यता-धायक) अैधानर अग्नि से यह भूभाग अनत्वावित (अनुपमुक्त-असंस्पृष्ट) ही था ॥ १५ ॥

(परन्तु अैधानर अग्नि के अनुग्रह से) आज वही भूप्रदेश एक ऊँचा (उपजाऊ) भूप्रदेश बन रहा है। (एक तो स्वयं विद्वत् के मुक्तस्थित अैधानर अग्नि से वहाँ का भूभाग विद्युत्-परिष्कृत-निवास-योग्य होगया, दूसरे) वहाँ के निवासी याज्ञिक ब्राह्मणों ने यज्ञानुष्ठानों से अग्नि के द्वारा इसे मुक्त कर परिष्कृत कर दिया। (अर्थात् यज्ञाभियों के द्वारा याज्ञिकों ने इस स्थान को अग्नि का स्वाद दिला दिया) यह सदानीरानदी प्रचलित मीष्मकाल में भी एकरूप से प्रवाहित रहती है (उसका जल कभी नहीं सूखता, अपितु सदा समानरूप से प्रवाहित रहता है)। साथ ही यह ठंडी (भी) रहती है। कारण वही है कि, यह नदी (पूर्वकथनानुसार जलरोपक, तथा तापप्रवक्तक) अैधानर अग्नि से अनतिदग्धा है ॥ १६ ॥

(अैधानर अग्नि से भूप्रदेश के आर्द्रभाग को उत्तराक्षर सुझाते हुए दोनों जब सदानीरा के समीप पहुँच तो) माधव विवेचन राहूराण गोतम से परामर्श किया कि, (वतलाभा) मैं कहाँ रहूँ (कहाँ अपना राग्यतन्त्र स्थापित करूँ) ? गोतम ने उत्तर दिया कि, इस सदानीरा से पूर्व पूर्व का जो भूप्रदेश है, (वही आप के योग्य है)। यही कारण है कि, आज भी यही सदानीरानदी कोसलविदेह-राजाओं की सीमा मानी जाती है। य कोसलविदेह (माधव विवेचन के द्वारा राग्यतन्त्र स्थापित किए जान से) 'माधव' नाम से ही प्रसिद्ध है ॥ १७ ॥

(प्रासंगिक चर्चा वतला कर आक्यान का प्रकृत ब्राह्मणप्रकरण से सम्बन्ध वतलाती हुई भुक्ति कहती है कि, 'तुं त्वा धृतस्नवीमह' इस मन्त्रभाग के बोलने से जब विद्वत् का पारुस्म्यम टूट गया हो) राहूराण गातम ने प्रश्न किया कि, आप का अनेक बार आश्रान करने पर भी आपन पर्या नहीं प्रसुत्तर दिया ? विद्वत् ने उत्तर दिया कि उस समय मेरे मुख में अैधानर अग्नि प्रतिष्ठित था। (पालने में) अैधानर अग्नि सुख से निकल न जाय इस क्षण में (आपका आमन्त्रण का प्रसुत्तर नहीं दिया) ॥ १८ ॥



विदध के एक उत्तर पर पुन गो म ने प्रश्न किया कि-फिर आप के मुख से वैश्वानर अग्नि कैसे निकल पड़ा ? (जिसके निकलने से आप प्रत्युत्तर देने में समर्थ होसके)। (विदधने उत्तर दिया कि) जिस समय आपने (तन्वा) के अनन्तर) 'धृतास्नवीमह' इस वाक्य का उच्चारण किया, उसी समय 'धृत' नाम के मन्त्र से मुखस्थित वैश्वानर अग्नि मुख में प्रज्वलित होपड़ा। उस प्रज्वल अग्नि को मैं फिर मुख में चारण करने में समर्थ न होसक्य। फलतः यह बाहिर आटहरा ॥१६॥

(जिस प्रयोजन के लिए एक आस्थान यत्नाया गया है, उस प्रयोजन का निगूढशान श्रुती हुई म ति कहती है)---मो जो कि सामिधेनी मन्त्रों में धृत शब्द युक्त पद है, वह अग्निसमिन्वन का ही कारण समझना चाहिए। इस 'धृताच्या' पदोच्चारण से होता अग्नि का समिन्वन ही करता है इसमें शीघ्र का ही आधान करता है। (तत्पर्य्य यही हुआ कि--- 'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनीमन्त्र का 'धृताच्या' पद अग्निसमिन्वन का ही प्रवक्त क है) ॥१७॥

यही 'धृताच्या' पद की उत्पत्ति है। (तदु धृताभ्येति) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है--'द्वाञ्जिगाति सुन्नुयुः'। यह यजमान ही (स्वगादि लक्षण सुन्न की कामना रखन से--'सुम्न-सुत्र इच्छति' इस निवचन से) 'सुन्नुयु' है। यह सुन्नुयु यजमान (यज्ञ के द्वारा) इन वृत्ताभा को बरा में करने की इच्छा करता है। यह यजमान ही वृत्ताभा को प्राप्त करना चाहता है। (यजमान उन्हें प्राप्त करने में समर्थ बने) यही व्यक्त करन के लिए 'द्वाञ्जिगाति सुन्नुयु' यह कहा है ॥

यह प्रथमा सामिधेनी श्रुति अग्निव्यतायुक्त बनती हुई अनिरुक्त ( नाम विशेष-मह्य-विरहिता) है। मय हा अनिरुक्त है। (इसप्रकार सर्वात्मक अनिरुक्तमाय से युक्त) अग्निव्यता-मयी इस प्रथमा सामिधेनी श्रुति का अनुवचन करता हुआ होता सप्तसम्पत्ति को मूल म प्रतिष्ठित करता हुआ ही अनुवचनकर्म आरम्भ करता है ॥१९॥॥

## इति-प्रथमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—१—

०-१-प्रथमा सामिधेनी-

॥ यो वाजा अभिगमा इविऽप्यतो धृताभ्या । द्वाञ्जिगाति सुन्नुयु (१) ॥

हे श्रुतिप्रदाता ! आप अद्य मास, पशु सुक् आदि सब मिलकर आप यजमान की सुनैयगापूर्ति के कारण बन रहे हैं। (इस मन्त्र की अग्निपक्ष में भी लगाया जासकता है त्रेधा कि पाठक विवचना म मन्त्रों)।

(२)-(प्रथम-सामिधेनी-श्रद्ध-मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त) 'अग्न आयाहि वीतये०' (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र 'आ' भाव का स्वरूप-संग्रहक है। (मन्त्रगत) 'वीतये' पद का तात्पर्य यही है कि- पहिले (प्रेलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी, अन्तिमि, यौ तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से एकरूप से ही थे (अर्थात् 'इदमन्तरिक्ष, इय धौ,' इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) शुलोक इत्य से बूने सोम्य जैसा ही था। [समन्वित होने से सभी समीपतम थे यही अर्थ है] ॥२२॥

उन देवदेवताओं ने यह कामना की कि, हमारे लोक [किंवा हमारी बहु-रश्मि आदित्यत्मिका गण समष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक] जिस उपाय से एक दूसरे से पर्याप्त दूर हो एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। [अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हों एवं कैसे प्रत्येक लोक बृहत् बने] [अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए] देवताओं ने 'वी-त-ये' इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक् एवं बरीयान् कर दिया [तभी से] ये तीनों लोक [परस्पर एक-दूसरे से साथ ही हम से भी हैं, विदूर भी हैं एवं बरीय भी हैं। इस प्रक्रिया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्ण लोकसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है (जिस यजमान के यज्ञ में)] 'वीतये' का उक्त रहस्य खानने वाला होता 'वीतये' पद से मुक्त 'अग्न आयाहि वीतये०' इत्यादि सामिधेनी-श्रद्ध का अनुवचन करता है। [वीतये पद लोकप्रतिष्ठा का संग्रहक है, यही तात्पर्य है] ॥२३॥

'गृथानो हव्यदातये' मन्त्र के इस उत्तर भाग का तात्पर्य यही है कि, यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] 'हव्यदाति' है। 'यजमान के लिए प्रियमास आप' यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। "नि होता ससि बहिषि" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, अग्नि ही होता (हव्यबहनकर्ता तथा देवताओं का 'आह्वानकर्ता') है, यही (पृथिवी) लोक बाह (अग्निगमित अक्षरूप) है। ('नि होता०' इत्यादि के द्वारा यह होता) इसी लोक में अग्नि प्रतिष्ठित करता है। यह वह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह श्रद्ध (यजमान) इसी [पृथिवी] लोक को लक्ष्य बनाकर उत्पत्ति हुई है। जिस यजमान का एवंविध होता इसका अनुवचन करता है, यह यजमान [होता क इस रहस्य-

मानानुगत अनुषचन से] इसी [पृथिवी] लोक को जीत लेता है। प्रस्तुत मन्त्रभाग पृथिवी-लोक-सम्पत्ति का ही संग्राहक है यही तात्पर्य है ॥२४॥-॥

## इति-द्वितीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

--२--

[३] [द्वितीय-सामिधेनी-ऋग्वेद-मन्त्र के अनुषचनान्तर क्रमप्राप्त "तन्वा समिधुमिरङ्गि ०" इत्यादि तिसरी सामिधेनी का अनुषचन करता है। इसी के वाक्यों की क्रमशः व्याख्या करती हुई भूति कहती है]-“तन्वा समिधुमिरङ्गि” इस मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, [आभिदैविक यज्ञ में] अङ्गिरा नामक प्राणात्मक ऋषियोंने [तथा वेचयज्ञ में-अङ्गिरा नामक प्राणीविध ऋषियों ने] समिधाओं से इस अग्नि का समिन्धन किया है। ‘अङ्गिरा’ का अर्थ यही है कि, अङ्गिरा ही अग्नि है। अर्थात् यहाँ अङ्गिरा पद से अग्नि ही-अभिप्रेत है। “धृतेन वर्द्धयामसि” इस मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि यह सामिधेनी पद (अग्निसमिधक घृतयुक्त पद) है। इस अ’ न का समिन्धन ही करता है इस में वीर्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य यही है कि यह मन्त्रभाग अग्नि के समिधन का ही अनुग्राहक है) ॥२५॥

‘युह्यच्छोषा यविष्ठय’ इम अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, यह अग्नि प्रशम्य क्लिप्त होता हुआ स्वरूप से बड़ा बन कर तपता है। ‘यविष्ठय’ का तात्पर्य यही है कि, (नित्य युवा बनता हुआ) यह अग्नि ही यविष्ठय है, इसी लिए ‘यविष्ठय’ यह कहा गया है। ऋक् (ऋग्वेद) इसी अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य-बनाकर उन्नत हुई है। इसीलिए यह ऋचा आग्नेयी होने के साथ साथ अनिरुक्त है। यह अन्तरिक्षलोक अग्निरुक्त ही है। जिस यज्ञमान का एवं-विन् होता इस ऋचा का अनुषचन करता है वह यज्ञमान (होता) कि इस रहस्यमानानुगत अनु-

+—२—द्वितीया सामिधेनी—

“अग्न आयाहि धीतये गृणानो हव्यधातये । नि होता मरिष यर्हिषि [२]

हे अग्ने ! देवताओं को हवि प्रदान करने के लिए, स्वयमहि हविर्मक्षुण के लिए स्वयमान आप इस यज्ञ में पधारिए । एवं होवा बनकर इस दमासन पर विराजिए ।

(२)-(प्रथम-सामिधेनी-श्रद्ध-मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त) 'अग्न आयाहि वीतये०' (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र 'आ' भाग का स्वरूप-संग्रहक है। (मन्त्रगत) 'वीतये' पद का वात्पर्य्य यही है कि- (पहिले (त्रैलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी अन्तिमि थी, तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से एकरूप से ही थे (अर्थात् 'इदमन्तरिक्षं, इयं धौ,' इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) पृथ्वी लोक हान से होने योग्य जैसा ही था। [समन्तिक होने से सभी समीपतम थे यही वक्तव्य है] ॥२॥

उन देवदेवताओंने यह कामना की कि हमारे लोक [किंवा हमारी वस्तु-वस्तु आवित्यत्मिका गण समष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक] किस उपाय से एक दूसरे से पर्याप्त दूर हों, एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। [अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हों पृथक् कैसे प्रत्येक लोक वृद्ध बने] [अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए] देवताओंने 'वी-तये' इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक् एवं बरीस्थान कर दिया [तभी से] ये तीनों लोक [परस्पर एक-दूसरे से साथ ही हम से भी हैं, विदूर भी हैं, एवं बरीय भी हैं। इस प्रक्रिया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्ण लोकसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है, (जिस यजमान के यज्ञ में] 'वीतये' का उक्त रहस्य जानने वाला होता 'वीतये' पद से मुक्त 'अग्न आयाहि वीतये०' इत्यादि सामिधेनी-श्रद्ध का अनुवचन करता है। ['वीतये' पद लोकप्रतिष्ठा का संग्रहक है, यही वात्पर्य्य है] ॥२॥

'गृह्णानो हव्यदातये' मन्त्र का इस उत्तर भाग का वात्पर्य्य यही है कि, यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] 'हव्यदाति' है। 'यजमान के लिए प्रियमात्र आप' यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। 'नि होता सरित वहिषि' इस अन्तिम मन्त्रभाग का वात्पर्य्य यही है कि, अग्नि ही होता (हव्यसहकरता, तथा देवताओं का आह्वानकर्ता) है यही (पृथिवी) लोक बाह (अग्निगमित अवस्था) है। ('नि होता०' इत्यादि का द्वारा यह होता) इसी लोक में अग्नि प्रतिष्ठित करता है। वह यह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह श्रद्ध (यजमान) इसी [पृथिवी] लोक का लक्ष्य बनाकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का सम्बन्ध होता इसका अनुवचन करता है, वह यजमान [होता का इस रहस्य-

(५) — (चतुर्थ—सामिधेनी—ऋक्मन्त्र के अनुवचनान्तर ) वह होता (क्रमप्राप्त) —  
 “ईदृन्यो नमस्य” इत्यादि पाँचवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। (इसी के वाक्यों की  
 क्रमशः व्याख्या करती हुई भुक्ति कहती है) — यह अग्नि निरचयेन स्तुति करने योग्य है एवं  
 नमस्कार करने योग्य है। “तिरस्तमांसि दर्शय” इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, यह  
 अग्नि प्रबलित होकर अन्धकारपुच्छ का तिरस्कार करता हुआ ही दिखलाई देता है। “समग्नि  
 रिष्यते वृषा” इस अन्तिम भाग का यही तात्पर्य है कि, यह अग्नि निरचयेन प्रवीण रहता  
 है, जो कि वृषा (यज्ञफलवपक) है ॥१॥

## इति पञ्चमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्



(६) — (पञ्चम—सामिधेनी—ऋक्मन्त्र के अनुवचनान्तर यह होता क्रमप्राप्त—“वृषो अग्निः  
 समिष्यते” इत्यादि षष्ठ सामिधेनी—ऋक्मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी के वाक्या की  
 व्याख्या करती हुई भुक्ति कहती है) — “वृषो अग्नि समिष्यते” इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य  
 है कि, यह अग्नि निरचयेन (सामिधेनी से) प्रवीण होता है ॥२॥

“अश्वो न देव वाहन” इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, य अग्नि अश्व वन  
 कर ही (धुस्रोक्त) देवताओं के क्षिप (अग्नि में आहुत, यज्ञातिरायोत्पादक अवयव (यज्ञ)  
 (नाम से प्रसिद्ध इवित्रम्) का वहन करता है। (लाकभापा में जहाँ ‘न’ कर निपचायक  
 माना गया है, वहाँ) ऋक् में (मन्त्रात्मिका वैदिकी भाषा में पठित) ‘न’ कर ‘ओम्’ (स्वीकृति)  
 का वाचक है। इसीलिए ‘अश्वो न देववाहनः’ यह कहा गया है ॥३॥

“तं हविष्मन्त ईदृते” इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि (चरपुरोद्गारादि  
 इवित्रियों का सम्पादन करने से) हविष्मन्त (नाम से प्रसिद्ध अत्यिगू यजमानादि ही इस

॥—पञ्चमी सामिधेनी—‘ईदृन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शय । समग्निरिष्यते वृषा’ । ‘ह  
 वम’ आप स्तोत्रम् है नमस् है प्रवीण होकर तमोपधि का तिरस्कार कर दिमलाह देने वाला है । आप  
 मीत है यज्ञफलवपक है ।

यवन से ) इसी अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है । (प्रस्तुत सामिधेनी-मन्त्र अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का ही संसाहक है, यही तात्पर्य है ) ॥२६॥॥

## इति-तृतीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—३—

(४) - (तृतीय-सामिधेनी-श्रुक् मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त- 'स न पृथु भवाय्यम्' इत्यादि चौथी सामिधेनी का अनुवचन करता है । इसी की व्याख्या करती हुई भुक्ति करती है) - 'स न पृथु भवाय्यम्' इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है कि 'यह पृथुलोक' ( इतर लोकों की अपेक्षा ) विस्तीर्ण है फैला हुआ है जिस पृथुलोक में कि देवता प्रतिष्ठित हैं । (देवताओं का तत्र निवास करने से ही) यह पृथुलोक इतर लोकों की अपेक्षा 'भवाय्य' ( भवण परम्परा में प्रशस्त लोक-वेद में प्रशसनीय ) है । 'अच्छा देव विवासमि' इस मन्त्रभाग से कही कहा गया है कि, यह पृथुलोक हमें प्राप्त हो ॥२७॥

'धृदग्ने सुवीर्यम्' इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, यह पृथुलोक तिरच येन विस्तीर्ण है जिसमें कि ये (प्राण) देवता प्रतिष्ठित हैं । यह पृथुलोक (उन वीर्यराक्षी-महा-वृत्र विह्वलीय प्रघर्षक देवताओं के निवास करने से ) सुवीर्य (शोभनवीर्य) बन रहा है । यह चौथी श्रुक् इसी पृथुलोक को लक्ष्य में रखकर उच्चारित हुई है । जिस यजमान का पर्वित होता इस श्रुक् का अनुवचन करता है वह यजमान (होता) के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से ) इसी पृथुलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है । (प्रस्तुत सामिधेनी मन्त्र पृथुलोकसम्पत्ति का ही संसाहक है यही तात्पर्य है ) ॥२८॥ ॥

## इति-चतुर्थसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—४—

\* - तृतीया सामिधेनी- 'तं त्वा समिधिरभरन्निरो घृतम यद्वयामसि । गृह्णोषा बभिव्य' इति । हे अग्निप्रदायक अग्ने । यज्ञसम्पत्ति काष्ठ से तथा संतृप्त यज्ञिय आग्न से हम आबका मह्य कर रहे हैं । हे तव्यतम । आग्न घृदन्-रूप से प्रदीप्त भविए ।

× - चतुर्थी सामिधेनी- स न पृथुभवाय्यमच्छा देव विवासमि । धृदग्ने सुवीर्यम् । "ह प्रदीप्त अग्ने । आग्न विपुल भवनीय मावाहय, शोभनवीर्ययुक्त बन हमारे निज प्रदान करे ।

अपूर्ण रहता है। क्योंकि) निश्चयेन इन्द्र ही यज्ञ के द्यता (पति, हैं। साथ ही इन्द्र ही वृषा है। (इस प्रकार वृषयन्त त्रिच के अनुषचन से) सब आग्नेयी सामिधेनियाँ इन्द्रयुक्त भी बन जाती हैं। इसी प्रयोजन के लिए वृषयन्त त्रिच का अनुषचन करता है। (अन्य आग्नेयी त्रिच से अनुषचन न कर वृषन् पक्ष से युक्त त्रिच से अनुषचन करने का यही प्रयोजन है कि अग्नि-समिधन के साथ साथ यज्ञ में यज्ञपति इन्द्र का भी सम्बन्ध होजाय, यही तात्पर्य है) ॥३३॥

(सप्तम सामिधनी अहमन्त्र के अनुषचनानन्तर वह होता 'अग्निं दूत वशीमहे०') इत्यादि आठवाँ सामिधनी का अनुषचन करता है। इसी मन्त्र की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि) "अग्निं दूत वशीमहे०" का वह होता अनुषचन करता है इस का तात्पर्य यही है कि—

‘एक वार (प्रजापति की सन्तान होने से) प्रजापत्य (नाम से प्रसिद्ध) द्यता, और असुर दोनों परस्पर स्पर्द्धा करने लगे। स्पर्द्धा करत हुए इन दोनों के बीच में (समझौता कराने के लिए) गायत्री आलक्षी हुई। (उम समय) मध्य में खड़ी होने वाली जो गायत्री थी यही वह (पृथिवी ही) वो दोनों के बीच में खड़ी हुई (थी)। उन दोनों परस्पर यह सन्धा (शक्त) निश्चित का कि, अपने दोनों में से जिन की ओर यह पृथिवी लौट आणी व जीते हुए माने जायेंगे एवं (इसके मन्त्र-व से अक्षित) दूसरे पराजित समझे जायेंगे। (यह सन्धा निश्चित कर) उस पृथिवी को द्यता, तथा असुर दोनों ही अपनी अपनी ओर वृक्षान का प्रयत्न करने लगे। दोनों ने उसके समीप अपने अपने दूत भेजे। (इन में) ‘अग्नि’ ही द्यताओं के दूत य एवं ‘महर्षि’ नामक असुरों के दूत थे। दोनों में से पृथिवी द्यदूत अग्नि की ओर ही लौट आई। इसीलिए ‘अग्निं दूत वशीमहे’ यह कहा गया है। वास्तव में (एक पुरावृत्त के अनुसार) अग्नि निश्चयेन द्यताओं के दूत थे। मन्त्र का दूसरा भाग है— ‘होतार विश्वदसम्’ यह ॥ ३४ ॥

किन्तु एक साक्षिक कहते हैं कि (‘होतार विश्वदसम्’ के स्थान में) होता यो विश्वदसम्’ ऐसा मन्त्र योजना चाहिए। (कारण इस परिचर्जन का ये साक्षिक यह वतलाते हैं कि) हम आत्मा को ‘अरम्’ न कहें। (तात्पर्य यह है कि ‘होतार विश्वदसम्’ के ‘होतार’ पद में होता-अर यह व्ययच्छब्द भी बन रहा है। यह ‘अर’ शब्द निवारणार्थक माना गया है। इस ‘अर मात्रना’ से फल यह निकलेगा कि, होता का इस यज्ञसत्ता से वृक्षकरण होजायगा। हम आराह्ता से बचने का यही उपाय है कि ‘होतार’ के स्थान में ‘होता यो विश्वदसम्’ इस मन्त्रम्य का ऊह कर लिया जाय) ।

अग्नि की (उन हवियों को देवताओं में पहुँचाने के लिए) स्तुति करते हैं। इसीलिए—  
'तं हविष्मन्त ईदते' यह कहा गया है ॥३१॥॥

## इति षष्ठसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—६—

(७)-(षष्ठ-सामिधेनी-मन्त्र के अनुवचनानन्तर यह होता क्रमप्राप्त—'वृषस् त्वा वयं वृषस समिधीमहि०' इत्यादि सातवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है) —'वृषस् त्वा वयं वृषन् वृषसः समिधीमहि' इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि अर्चत्कागण अथर्वयमस्य इस अग्नि को प्रवीण करते हैं। 'अग्ने दीद्यन्तं बृहत्' इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि, (पूर्व सामिधेनियों से) प्रवीण यह अग्नि (अथ अधिक मात्रा से) बड़ा, तथा अतिशयरूप से प्रवीण बन गया है ॥३२॥॥

## इति सप्तमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

--७--

'ईदन्त्यो नमस्य०'—'वृषो अग्नि समिध्यते०'—'वृषस् त्वा वयं वृषन्०' इन तीन मन्त्रों में 'वृषन्' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव, तीनों की समष्टिरूप त्रिष को 'वृषस्यन्तत्रिष' कहा गया है। इस वृषस्यन्त त्रिषका एक विशेष फल यवज्ञाती हुई श्रुति कहती है—यह इत्यादि वृषन् शब्द से युक्त तीनमन्त्रों का क्रमिक अनुवचन करता हुआ वृषस्यन्त त्रिष का ही अनुवचन करता है ये सप्त सामिधेनियों आग्नेयी होती हैं (यज्ञाग्नि के समिधन के लिए ही आग्नेयी सामिधेनियों से अनुवचन किया है) परन्तु अग्नि जबतक इन्द्र को साथ नहीं ललत, जबतक इनका समिधन

### ●-षष्ठी-सामिधेनी-

वृषा अग्निः समिध्यन् अरयो न देववाहनः । तं हविष्मन्त ईदते ।

अरय की भाँति देवताओं के लिए हविषहन करने वाला यज्ञकर्मचारीक अग्नि प्रवीण होकर है। हविष्मन्त अर्चिक् देते अग्नि की स्तुति का यह है" ।

### ± सातवीं सामिधेनी—

'वृषस् त्वा वयं वृषन् वृषसः समिधीमहि । अग्ने दीद्यन्तं बृहत् ।

य यज्ञकर्मचारीक अग्नि । आशुतिचरिक् हम अर्चिक्गण यज्ञाशुतिचरिक् आग्नेयी प्रवीण होकर है ।

हम यमे वृद्धरूप से प्रवीण अग्नि का वृद्धरूप से समिधन कर रहे हैं ।



पचना की वृद्धि से ११ के स्थान में १५ अनुवचन होजाते हैं। यही अनुवचन के सम्यन्ध में एक पङ्क्ति है। कमप्राप्त सख्या के अनुसार 'अग्निं दूत वृषीमहे०' इत्यादि मन्त्र आठवाँ पङ्क्ति है। प्रथम-मन्त्र के त्रिराष्ट्र छन्दारण से यद्यपि 'अग्निं दूत वृषीमहे०' मन्त्र १० वीं सख्या पर आकर ठहरता है, यापि क्योंकि उस एक ही मन्त्र का त्रिरावर्त्तन है, अतः 'अग्निं दूत०' की अष्टमी सख्या की मौलिकता सुरक्षित रहजाती है, जिसका कि सुरक्षित रहना आवश्यक है।

दूसरा पङ्क्ति सप्तदश-सख्या से सम्यन्ध रखता है। दर्शपूर्णमास में ८७ सामिघेनियों का अनुवचन करना चाहिए' इस पञ्चान्तर में ७ संख्याओं की पूर्ति के लिए ११ मौलिक मन्त्रों से प्रतिरिक्त जिन दो मन्त्रों का इन ग्यारहों में समावश किया जाता है, उन्हें—“उपरिष्ठात्-दधाति” इस निबन्धन से—“घाण्या” कहा जाता है। इन ‘घाण्या’ नामक ऋचाओं का आधान (समावश) ११ में से कहाँ करना ?, यह विचार प्रस्तुत है। सिद्धान्ततः ‘अग्निं दूत वृषीमहे०’ इस मन्त्र के अनन्तर ही इन का अनुवचन होता है। तभी इस मन्त्र का अष्टमस्य सुरक्षित रह सकता है। इसी सिद्धान्त पङ्क्ति को दृष्टि में रखती हुई, ‘घाण्या ऋचाओं’ के उत्तर में आधान को प्रत्यक्ष बनाती हुई भुक्ति कहती है कि) —

‘अग्निं दूतं वृषीमहे०’ इत्यादि ऋचा का अष्टमीरूप से (आठवीं मान कर ‘वृषणं त्वा वयं वृषन्०’ इत्यादि सातवीं सामिघेनी के अनन्तर ही) अनुवचन करना चाहिए। क्योंकि यह सामिघेनी ऋचा (११ सख्या में से आठवीं सख्या पर पङ्क्ति हुई) निदानविधि से गायत्री है। गायत्री अणचरा है, (गायत्रे अग्निं का अन्व है यहाँ उस सामिघेनी-क्रम से होता को अग्नि का सामिघेन्यन करना है। ऐसी स्थिति में जब निदानमर्प्यादा से यह ऋचा क्रमद्वारा आठवीं बनती हुई गायत्रमस्यपत्ति से स्वतः युक्त होरही है, तो अवश्य ही इसे) आठवीं बनाकर ही इस का अनुवचन करना चाहिए। तात्पर्य यही है कि, गायत्राग्नि-सम्पत्ति-प्राप्त्यर्थ— अग्निं दूत०’ इत्यादि सामिघेनी का सातवीं सामिघेनी के अनन्तर ही अनुवचन होना चाहिए ॥ ३ ॥

(अग्निं दूत०’ की अष्टमस्यानुवचनगत गायत्रमस्य च मं जा आपत्तिजनक पङ्क्ति है उनका वनझाकर अन्त में उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करती हुई भुक्ति कहती है कि) —किन्तु एक यादिक ‘अग्निं दूतं वृषीमहे०’ इस आठवीं ऋचा के पहिले (तथा ‘वृषणं त्वा वृषन्०’ इस सातवीं ऋचा के आगे) अथु पाजाः०—“त संवाध ०” इन) दानां धाण्या-ऋचाओं का

१—‘अथुपाजा अमृता पृतनिर्णिकृत्वाहुः । अग्निं यक्षस्य इक्ष्वायात्’ (ऋक्षः ३।०।१५) ।

‘तं संवाधो यत्तु च इत्या धिया यक्षन्तः । आधुराग्निमृतयः’ (ऋक्षः ३।२।१५) ।

( इस मानुषकल्पानुगत मन्त्र-ऊह-पक्ष का आमूलबूझ सरल बन करते हुए भगवान् यज्ञ-वल्ग्व्य कहते हैं कि )-होता को चाहिए कि-यह वैसा ( होता यो विश्ववेदसम् ), ऐसा ) कभी न बोले । ( अपनी कल्पना से शब्दों की अयेच्छ मनमानी ) उपपत्ति लगाते हुए जो याज्ञिक स्वतः-सिद्ध मन्त्रों के स्वरूप में परिचर्तन करते हुए यज्ञेयवर्त्तव्यता में अयेच्छ परिवर्त्तन करते रहते हैं ) वे यज्ञ में मानुषभाव का ही समावेश करते हैं । वह यज्ञ की 'अपद्धि' (समुद्धि का विनाश) है जो कि कारुणिक मानुषभाव है । हम अपने यज्ञ में देवसमुद्धि के घातक मानुषभाव का समावेश न कर बैठे, इसलिए प्रत्येक वरा में यह आवश्यक है कि जैसा अन्धा से ( सिद्धमन्त्र से ) कहा गया है, वैसा ही होतार विश्ववेदसम्' इसी रूप से होता को अनुवचन करना चाहिए ।

“अस्य यज्ञस्य सुकृतम्” इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, यही इस यज्ञ का सुकृत ( उत्तमरूप से यज्ञकर्म का सम्पादन करने वाला ) है जो कि अग्नि है । इसीलिए ‘अस्य यज्ञस्य सुकृतम्’ कहा गया है । ( मन्त्रव्याख्यान बतला कर पूर्वोक्त आख्यान का उप-संहार करती हुई मृति कहती है कि, देवदूत अग्नि के गमन से ) वह पृथिवी देवताओं की ओर ही लौट आई । परिणामतः ( निश्चित सन्धा के अनुसार ) द्यूता जीत गए एवं असुर पराजित होगए । वह यजमान अपने आत्मा से ( शत्रुपक्ष की प्रक्षिप्तार्द्धा में ) विजय-स्वाभ करता है एवं उसके शत्रु पराजित होजाते हैं, जिस यजमान का पवित्र होता ‘अग्नि दूत०’ इत्यादि सामिधनी का अनुवचन करता है । ( शत्रुपराजय, एवं यजमान का विजय भी इस सामिधनी-अनुवचन का फल है यही तात्पर्य है ) ॥ ३५ ॥ +

## इति-थष्टमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

— ८ —

( मूलतः सामिधेनी मन्त्र ११ बतलाए गए हैं । इनमें से-‘प्र वो वाजा अमिदव ।’ इस प्रथम मन्त्र का तथा “आहु होता दुषस्यत०” इत्यादि ग्यारहवें मन्त्र का तीन तीन बार अनु-

+अष्टमी सामिधेनी-

“अग्नि दूतं पृथीमह इतारं पिरवद्वसम् । अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ।

मैं उस देवदूत अग्नि का बराबर कर रहा हूँ जो देवताओं का आह्वान करने से हुआ नाम मैं विश्ववल्ग्व्य के परिज्ञान के विश्ववेदसम् नाम से एवं इस यज्ञकर्म का अंश गन्धार्गव इति म सुकृतम् नाम से “मिद्व” है ।

गया है। “अग्निं पावक ईक्ष्य” इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि, ‘यह अग्नि निश्चयेन (अपने दाहक तेजोधर्म में दूषित परमाणुओं का नाशक बनता हुआ) पावक है, एवं (प्राणीमात्र के उपयोग में आता हुआ) यह अग्नि निश्चयेन (प्राणीमात्र से) स्तुत्य है। “शोचिष्केरस्तमीमह” इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, (सामिधेनी से) प्रदीप्त इस अग्नि के केश (स्थानीय रश्मियाँ) प्रज्वलित से रहते हैं ॥४॥

## इति-नवमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—६—

(१) — (नवम-सामिधेनीमन्त्र के अनुवचनानन्तर यह होता क्रमप्राप्त “समिद्धो अग्न आहुतः” इत्यादि दशम-सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। भुति क्रमप्राप्त उसी की व्याख्या करती है) — ‘समिद्धो अग्न आहुतः’ इति । (इस अनुवचनकर्म से पहिले होने वाले एक विरापकर्म की प्रासङ्गिक इति-कर्तव्यता बतलाती हुई भुति कहती है कि) — इस दशमी-सामिधेनी के अनुवचन से पहिले पहिले अग्निसमिन्धनार्थ गृहीत सम्पूर्ण इष्मकाष्ठ अनुयाजाय केवल एक समिध के अतिरिक्त अग्नि में डाल देना चाहिए । (इस अनुवचन से पहिले पहिले ही क्यों सर्वेष्मकाष्ठ का अभ्याधान आवश्यक माना गया ? इसका समाधान करती हुई भुति कहती है कि) इस ‘समिद्धो अग्न आहुतः’ रूप अनुवचन कर्म से होता अग्निसमिन्धन कर्म समाप्त कर लेता है (क्यों तो ‘समिद्धो अग्न आहुतः’ कहना अवश्य बनता है। अर्थात् जिस अग्निसमिन्धनकर्म के लिए इष्मकाष्ठ का ग्रहण होता है वह कर्म इससे पहिले पहिले समाप्त है। फलतः अब इष्म वचाना निरर्थक बन जाता है) । अनुयाजार्थ एक इष्म के अतिरिक्त यदि इष्म बच रहा है तो वह अतिरिक्त (यज्ञकर्म से अतिरिक्त-यथा हुआ-अधिक) कहलाता है। जो यह का अतिरिक्त (उपयोग से यथा हुआ-उबरा हुआ) भाग है वह यज्ञकर्त्ता यजमान के कृत्रिम तथा सहजरातु की समृद्धि का ही कारण बनता है। इसलिए इससे पूर्व पूज अनुयाजाय एक समिध को छोड़कर शेष सब सम्पूर्ण इष्मकाष्ठ को अग्नि में ही डाल देना चाहिए ॥३॥

×—नवमीसामिधेनी— समिध्यमानो अग्निर अग्निं पावक ईक्ष्य । शोचिष्केरस्तमीमह ।

इस यज्ञ में सामिधेनियों से समिद्ध बनता हुआ अग्नि पावक है स्तुत्य है। प्रज्वलित केश (रश्मि) वाले ऐसे अग्नि की हम स्तुति कर रहे हैं ।

का स्थापन करते हैं। साथ ही "अन्न का ही नाम 'घाव्या' है" [ अर्थात् "घाव्या अन्नाएँ अन्नस्थानीया हैं क्योंकि अन्न का भी मुख में बाहिर से आधान होता है एवं इन दोनों अन्नाओं का भी अन्नवत् बाहिर से दान ११ अन्नाओं में आधान होता है। इसी सादृश्य से दोनों घाव्या-अन्नाओं को अन्नस्थानीय कहा जा सकता है। पक्षर आठवीं अन्ना गायत्रिसम्पत्ति से युक्त रहती हुई गायत्रीवन्त्रक गायत्र-अन्नादग्नि-स्थानीया है, अन्नादग्नि की मुखस्थानीया है। ऐसी स्थिति में इस मुखस्थानीय आठवीं अन्ना से पहिले घाव्या का स्थापन करके हुए हम ] मुख भाग से ही [ अन्नादग्नि में ] अन्न का आधान करते हैं यह कहते हैं। अर्थात् अग्रमी से पहिले घाव्या-अनुवचन की वे आधिक उक्त उपपत्ति वतलाते हैं ]।

परन्तु होता को चाहिए कि, वह ऐसा कमी न करे। उस होता के लिए वह गायत्री गायत्र-सम्पत्तिसमूह में असमर्थ रह जाते हैं जो होता इससे पहिले घाव्या-अन्नाओं का स्थापन करता है। उस द्वारा में 'अग्निं दूतं वृक्षमिहे०' इत्यादि अन्ना दशमी तथा एकदशमी बन जाती है। अर्थात् आठवीं से पहिले दोनों के आधान से आठवीं तो दशमी बन जाती है एवं १० वीं ('समिध्यमानोऽध्वरे०' यह) एकदशमी बन जाती है।

(तात्पर्य यही है कि, जिस अष्टम सख्यानुगता गायत्रिसम्पत्ति के सम्बन्ध से व आधिक इसे अन्ना मानते हुए अन्नरूप से इससे पहिले घाव्या-अन्नाओं का आधान करना चाहते हैं, उनके मत से तो आठवीं आठवीं न रहकर जब दशमी ही बन जाती है, तो उनकी अन्नानुगता उपपत्ति भी व्यर्थ होजाती है साथ ही आठवीं को आठवीं रखन से यह में जो गायत्रिसम्पत्ति मिलती है उसमें भी व वञ्चित रह जाते हैं )।

इसी वजमान के लिए यह आठवीं अन्ना अनुवचनसूत्रा (गायत्रिसम्पत्तिप्रदात्री) बनती है, जिस वजमान का (यह में) होता इसे अग्रमी बनाकर अनुवचन करता है। इसविषय ('अग्निं दूत० के गायत्र भाग को सुरक्षित रखने के लिए) इससे आग-'समिध्यमानो अध्वरे०'- 'समिद्धो अग्न आहुत०' इन ६ वीं, १० वीं अन्नाओं के मध्य में ही दोनों घाव्या-अन्नाओं का स्थापन करना चाहिए ॥३॥

(अष्टम सामिपनी-अष्टम-मन्त्र का अनुवचनानन्तर यह होता क्रममात्र-'समिध्यमानो अध्वरे०' इत्यादि नष्टम-सामिपनी-मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई प्रतीति कहती है)-समिध्यमानो अध्वरे' इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि वह ही निरवयव वन अन्तर है। (प्रथम मन्त्रभाग का द्वारा) 'ह अग्न ! आप यज्ञ में प्रदीप्त हैं, यही अन्ना

“समिध्यमानोऽध्वरे०”—“समिद्धो अग्न आहुत” आजुहोता हुवस्यत०” इन तीन मन्त्रों में ‘अध्वर’ शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीन मन्त्रों की समष्टिरूप इस त्रिच को ‘अध्वरवन्त’ त्रिच कहा जाता है। जैसे पूर्व ‘धृषणवन्त’ त्रिच का एक विशेषफल वसताया गया था वैसे ही इस अध्वरवन्त त्रिच का अग्निसमिधन्वन के अतिरिक्त एक विशेष फल वसतायी हुई भुक्ति कहती है—यह होता (‘अध्वर’ शब्द से युक्त तीन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ) अध्वरवन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। [इसका फल यही है कि]—यज्ञ से यजन करते हुए देवताओं के ऊपर सहजराशु असुरोंमें हिंसात्मक आक्रमण किया। [परन्तु इस अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] हिंसात्मक आक्रमण करते हुए भी असुर इनकी हिंसा करने में समय न होसके। [यही नहीं अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] ये ऊलटे परास्त होगए। (क्योंकि इस यज्ञाभिरूप यज्ञ ने देवताओं को हिंसा से बचा लिया) अतएव यज्ञका नाम ‘अध्वर’ होगया। उस यजमान के व हिंसक शत्रु यजमान पर हिंसात्मक आक्रमण करते हुए स्वयमेष परास्त होजाते हैं जिस यज्ञमान के (यज्ञ में) एषवित् द्वारा अध्वरवन्त त्रिच का अनुवचन करते हैं। (शत्रु-आक्रमण निरोधपूर्वक शत्रु-परामर्श ही इस अध्वरवन्त त्रिचानुवचन का एक विशेष फल है, यही वात्सल्य है)॥

अपि च—[अध्वर शब्द सोमयाग में लब्ध है, जैसाकि—“सौम्ये अध्वरे” इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस दशपूर्णमास में सामिधेन्यनुवचनकर्म्म में जब अध्वरवन्त त्रिच का सम्बन्ध करा दिया जाता है तो] सौम्य अध्वर से यजन कर यजमान जितना-जो फल प्राप्त करता है, वही फल इसे इस अध्वरशब्दयुक्त दशपूर्णमास से मिल जाता है। [यही अध्वरवन्त त्रिच का एक दूसरा महत्त्वपूर्णफल है] ॥४०॥

इति सामिधेन्यनुवचनम्

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में

तीसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण अत्र उपरत

?



“देवान् यज्ञिस्वध्वर” इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, अम्बर का ही नाम है, (प्रथममन्त्र भाग से) “हे मुख्यिय आप देवताओं का यजन कीजिए” यही कहा गया है। “त्वं हि इम्यवाहनम्” इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य है कि, ‘यही अग्नि (देव-ताओं के लिए) दुस्रोके में पृथिवी से इविर्वाहन करने के कारण ) इम्यवाट् कहलाए हैं। इसीलिए त्वं हि इम्यवाहनम्’ यह कहा गया है ॥७॥

## इति-दशमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

-१०-

(११) (दशम-सामिधेनी-मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमपाठ “आजुहोता दुवस्यत०” इत्यादि पञ्चदश सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई भुक्ति कहती है - “आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। पृथीर्ध्वं इम्यवाहनम्” इस सामिधेनी श्रुति से अग्नि को (स्वकर्मप्रवृत्ति के लिए) प्रेरित ही (नियुक्त ही) करता है। ‘आजुहोता दुव यत’ इस मन्त्रभाग से) हे अश्विजो ! इवन कीजिए, देवताओं का यजन कीजिए, जिस कर्म के लिए, जिस कामना के लिए अग्नि को होता ने समिद्ध किया है, वह कीजिए” यही कहा है। “अग्निं प्रयत्यध्वरे” इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि अम्बर यह यज्ञ का नामान्तर है। (प्रथम मन्त्र भाग से) “पञ्चकर्म के आरम्भ होने पर अग्नि को” यही कहा गया है। “पृथीर्ध्वं इम्यवाहनम्” इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य यही है कि, यह जो अग्नि है यही इम्यवाहन है। इसलिये ‘पृथीर्ध्वं इम्यवाहनम्’ का अर्थ गया है ॥२४७॥

## इति एकादशसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

-११-

### ●-दशमी सामिधेनी-

“अग्निं देवान् आजुहोत देवान् यज्ञिस्वध्वर। त्वं हि इम्यवाहनम्  
अग्निं यज्ञं स मुक्त अग्निं समिद्धं होगया है। हे मुख्यिय यज्ञान्ते। आप देवताओं का यजन कीजिए। आप निरवयव देवताओं के लिए हवि लेवाने वाले हैं।

### × पञ्चदशमी सामिधेनी-

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। पृथीर्ध्वं इम्यवाहनम्” ।  
हे अग्निवा ! त्वं हि इम्यवाहनम् के लिए अग्नि का अग्निधन दिया था यह आजुहोताद्वयकर्म आरम्भ करी।  
यज्ञ प्रकल्प होगया। इम्यवाहन अग्नि का वरदा करी।

मरण पोषण करता है इसलिए भी 'भारत' यह कहा है। [आधिधैनिक-देशप्रजा का हवि के द्वारा एवं आध्यात्मिक पार्थिव प्रजा का अन्न के द्वारा मरणपोषण करने के कारण अग्नि 'भारत' कहलाया है यही तात्पर्य है]। आप महान हैं यहाँ में ब्राह्मणवर्ण बनते हुए सर्वमूढ न्य है, एष त्रैलोक्यप्रजा के पालन में समर्थ बनते हुए भारत हैं आप अवश्य ही इस होत्रकर्म को पूरा करेंगे यही इस निगदानुवचन का तात्पर्य है ) ॥२॥

## इति—निगदानुवचनम्

### अथ--आर्षेयानुवचनम्

( उपमदात्मक स्तुतिकर्म में अनन्तर होत्रकर्म का आर्षेयकर्म की इतिकर्तव्यता वतलाती हुईं मुक्ति कहती है) वह होता वक्त स्तुतिकर्म के अनन्तर आर्षेय प्रवरण करता है। ( इस कर्म से यह ) होता ( इस यजमान को ) ऋषियों तथा देवताओं के लिए ही निवेदित करता है यह यजमान ( सचमुच ) वही पुरुषार्थी है जो इस यज्ञ ( जैसे महत्कर्म ) को प्राप्त कर सके, इसी भावना के लिए। ( अर्थात् यजमान को यशस्वी बनाने के लिए ही यह कर्म होता है ) इसलिए हावा आर्षेय-प्रवरण करता है ॥३॥

पूय से इधर की ओर प्रवरण करता है। (कारण यही है कि) पूय की ओर से ही अर्वाक-प्रजार्ण उत्पन्न होती है। अपिच इस क्रम से होता पूय के श्रेष्ठ पुरुषों के महत्त्व को सुरक्षित रखता है। यह पिता पहिले है, अनन्तर पुत्र है, अनन्तर पौत्र है (यही क्रम है)। इसलिए (मौ) पहिले से इस ओर के क्रम से ही प्रवरण करता है ॥४॥

( जब कोई व्यक्ति किसी महत्कार्य में प्रयुक्त होता है तो इस से उस के पूय वंशजों का कीर्तिविस्तार माना जाता है। इसी यशोविस्तार के लिए यजमान के पितामह, पिता, स्वयं का इसी क्रम से—'अमावसौ' रूप से आर्षेय प्रवरण होता है। इस प्रवरण का ऋषि से सम्बन्ध है। उस ऋषिपरम्परा से ही प्रवरण होता है जैसा कि भाग भाग वाले 'उत्तराधारब्राह्मण' में स्पष्ट होन वाला है। )

## इति—आर्षेयानुवचनम्

# शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत चौथे अध्याय में दूसरा ब्राह्मण एव तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृताय ब्राह्मण

३

## अथ-निगदानुवचनम्

देवताओंनें [इस सामिधेनी अनुवचन के द्वारा] अग्नि को शुक्लतम कार्य में निरुक्त किया जोकि होतृत्व में नियुक्त किया [जिस शुक्लतमकार्य का स्वरूप] हमारा यह इव्य [पृथिवीसे ध्रुलोक में तत्रास्थ देवताओं के लिए] 'देवताओं' यह है । इसप्रकार उस अग्नि को ऐसे शुक्लतम कार्य में नियुक्त कर देवताओंनें इस [अग्नि की प्रशंसा करना आरम्भ किया] आप वीर्यवान् हैं । आप (वास्तव में इस हविर्ब्रह्मकर्म में समर्थ हैं इत्यादिरूप से इसमें वीर्यवान् करते हुए ही । जैसेकि [लोफम्यवद्भार में] मनुष्य अपनी जाति में से जिस किसी शुक्लतम कार्य में नियुक्त करते हैं, उसको बढ़ावा देते हैं कि, आप वीर्यवान् हैं अथ अनुकूल्य करन में समर्थ हैं, इसप्रकार उसमें वीर्यवान् करते हुए ही । [वास्तव्य बही है कि, लोक में शुक्लतम कार्य में नियुक्त व्यक्ति का उदाह वढ़ाने के लिए नियोज्यता लोग जैसे उसकी स्तुति किया करते हैं उसे बढ़ावा देते हैं, ठीक वैसा ही यह 'निगदानुवचनकर्म' है] । यह अतिवत् सामिधेनी-अनुवचन के अनन्तर जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है, उन से यह इस अग्नि को बढ़ावा ही देता है [और इस वढ़ावस अग्नि में वीर्य का ही आधान करता है] । [यही निगदानुवचनकर्म की उपपत्ति है] ॥१॥

[उपनि वतसाकर अथ पद्यति वतसाती हुई भुति कहती है-]—'आग्न महौ अग्नि ब्राह्मण भारत' इति—अग्नि ही ब्रह्म (आद्यलजाति) है इसी अभिप्राय से 'ब्राह्मण' यह कहा गया है । 'भारत' सम्प्राधन का यही तात्पर्य है कि यही अग्नि [पृथिवीलाक में ध्रुलाक में तत्रस्थ] देवताओं के लिए हवि का भरण करता है, इसलिये 'यह अग्नि भरत है यह प्रसिद्ध है । अग्नि च प्राणरूप [वैश्वानराग्निप्राणरूप] में परिणत होकर यही सम्पूर्ण पापिय प्रजा का



‘आस्पानं जुहूर्देवानाम्’ नामक निधित् का यही तात्पर्य है कि यह अग्नि (सर्वव्यवस्थाहुति) मुख्यस्थानीय वनता हुआ ‘देवपात्र’ है। इसीलिए अग्नि में सम्पूर्ण देवताओं के लिए आहुति देते हैं। क्योंकि यह वास्तव में देवपात्र है। जो अग्नि की प्रथम पात्रता को जानता है, वह जिस पात्र [ भोग्यवस्तु ] को प्राप्त करना चाहता है, अमीष्ट पात्र को प्राप्त कर लेता है ॥१३॥

‘चमसो देवपान’ इस निधित् का यही तात्पर्य है कि चमसरूप में परिणत हुए ही इस अग्नि से देवता आहुतिद्रव्य खाते हैं। इसीलिए ‘चमसो देवपान’ यह कहा है ॥१४॥

‘अरां २॥ इवाग्ने नेमिर्होवास्त्वं परिमूरमि’ इस निधित् का यही तात्पर्य है कि, जिस प्रकार [शकटस्थ] अरों को नेमि चारों ओर से व्याप्त करती है, उसीप्रकार [अग्नि] देवताओं के चारों ओर से व्याप्त (घेर रहने) हैं प्रकृत निधित् से यही कहा है ॥१५॥

## इति—निधित्पाठः

## अथ--देवतावाहनम्

(उक्तरूप से निधित्पाठ करने के अनन्तर देवतावाहनकर्म होता है। उसी की इति कर्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)–

‘आवह देवान् यमानाय’ इस आवाहन मन्त्र से इस यज्ञ के प्रति अग्नि को देवताओं के आवाहन के लिए ही कहा गया है। ‘अग्निमग्न आवह’ इस मन्त्र से अग्नि को आग्नेय आभ्यमग्न के प्रति अग्नि को खाने के लिए कहा गया है। ‘सोममावह’ इस मन्त्र से अग्नि को सोम्य आभ्यमग्न के प्रति सोम को खाने के लिए कहा गया है। ‘अग्निमावह’ इस मन्त्र से अग्नि को जो कि वरां-ओर-पूर्णमास दोनों यज्ञों में अपरिहाम्य आग्नेय-पुरोडाश है, उस के प्रति अग्नि को खाने के लिए ही कहा गया है ॥१६॥

(वरांपूर्णमास-दोनों में जो अग्नि पुरोडाशका-देवता है, उसके आवाहन के) अनन्तर (निर्वा पक्ष में जिस जिस देवता के लिए जिस क्रम से देवता के लिए हविर्निर्वाप हुआ था उसी क्रम से) इस उस देवता का ‘अग्नीषोमावावह’ इत्यादि रूप से आवाहन करना चाहिए।

‘देवां २॥ आज्यपां’ इस मन्त्र से (आभ्यपान करने वाले) प्रयाज-अनुयाज देवताओं के आवाहन के लिए अग्नि से प्राथना करता है। प्रयाज (श्रुत) अनुयाज (अनृत) देवता ही

## अथ--निवित्पाठ

आर्येय कह कर यह होता देवस्यो मन्विद्० इत्यादि रूप से निवित्पाठ करता है। सब से पहिले देवताओं ही इस अग्नि को प्रम्थलित किया था इसीलिए—‘देवेद्’ यह कहा गया है। (देवताओं के अनन्तर मनुष्यसम्प्रदाय में) सब से पहिले इस अग्नि को मनु ने प्रम्थलित किया था इसीलिए ‘म न्वद्’ यह कहा है ॥५॥

‘अपिप्सुत’ इस निवित् का यही तात्पर्य है कि सब से पहिले अपिप्सुतों ही इस अग्नि की स्तुति की थी इसीलिए ‘अपिप्सुत’ यह कहा है ॥६॥

‘विप्रानुमदित’ इस निवित् का यही तात्पर्य है कि, ये ही निरूप्येन विप्र कहलाए हैं जो कि अपि हैं। इन अपियों ने इस अग्नि को प्रसन्न किया था अतएव ‘विप्रानुमदित’ यह कहा है ॥७॥

‘कविशस्त’ इस निवित् का यही तात्पर्य है कि, ये ही निरूप्येन कवि नाम से प्रसिद्ध हैं, जो कि अपि हैं। उही अपियों ने इस अग्नि का (सुप्रसिद्ध यजुर्तुल्यता शस्त्रप्रक्रिया से) शंसन किया था, अतएव ‘कविशस्त’ यह कहा है ॥८॥

‘मद्भसशित’ इस निवित् का यही तात्पर्य है कि, यह अग्नि निरूप्येन मद्भ से सुवीर्य किया गया है। ‘धृतद्वन’ इस निवित् का यही तात्पर्य है कि, [यह अग्नि त्वरपरका के लिए] धृत का आह्वान करने वाला [धृतप्रिय] है ॥९॥

‘प्रशीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्’ [इस निवित् के ‘प्रशीर्यज्ञानाम्’ भग्न का यही तात्पर्य है कि] अस्तिगुण इसी अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों को पूरा करने में समर्थ होता है, जो कि पाक्यज्ञ है, एवं जो अन्य यज्ञ है। इसीलिए—‘प्रशीर्यज्ञानाम्’ यह कहा है ॥१०॥

[उक्त निवित् के] ‘रथीरध्वराणाम्’ इस निवित् का यही तात्पर्य कि, यह अग्नि रथ बन कर देवताओं के लिए यज्ञ [हवि] का वहन करता है। इसीलिए—‘रथीरध्वराणाम्’ यह कहा है ॥११॥

‘अतूर्षा हाता तृक्षिह्वराट्’ इस निवित् का यही तात्पर्य है कि, इस अग्नि का राधम पार नहीं कर सकत। इसीलिए ‘अतूर्षा होता’ यह कहा गया है। ‘तृक्षिह्वराट्’ का यही तात्पर्य है कि, यह अग्नि स्वयं सब पाप्माणां का पार करने में समर्थ है। इसीलिए तृक्षिह्वराट् यह कहा है ॥१२॥

शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डनुगत चौथे अध्याय में तृतीय ब्राह्मण  
एव तीसरे प्रपाठ में चतुर्थ ब्राह्मण  
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

अथ—शान्तिकर्म [ अभिचारात्मकम् ]

जो अग्नि सामिधेनी श्रुतियों से समिद्ध होजाता है, वह इतर सामान्य प्रज्वलित अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से प्रज्वलित रहता है। ऐसा समिद्ध अग्नि भक्षण क, तथा स्परा के अयोग्य होजाता है। (न इसका कोई कुछ विगाड़ हा सकता न कोई स्परा ही कर सकता क्योंकि इसमें मन्त्रविद्युत् का समावेश रहता है, यही वात्सल्य है) ॥१॥

जो जिसप्रकार सामिधेनी-मन्त्रों से यह अग्नि समिद्ध होजाता है वैसे हा यह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण ( होवा ) भी ( प्रस्तररूप से ) तपने लगता है। ( साथ ही मन्त्रपूत समिद्ध अग्नि की मूर्ति मन्त्रप्रबोध्य यह ब्राह्मण भी चपण तथा स्परा के अयोग्य बन जाता है ॥२॥

( जिसप्रकार सामिधेनी मन्त्रों से आहवनीय अग्नि के अङ्ग प्रत्यङ्ग समिद्ध होजाते हैं, एवमेव इनके अनुवचन से अनुवचनकर्ता होता के अङ्ग प्रत्यङ्ग भी समिद्ध होजाते हैं। किस सामिधेनी-श्रुतिभूत से कीन सा अङ्ग समिद्ध होता है ' इत्या प्रश्न का क्रमिक समाधान करता हुआ निम्नलिखित प्रकरण आरम्भ होता है )—

वह होवा 'प्र वो वाजा०' इत्यादि प्रथमा सामिधेनी-श्रुति का ( जिन समय ) उच्चारण करता है ( उस समय अपने प्राणसमिन्धन की भावना करता है )। प्राण निश्चयन ( 'प्र' शब्द से युक्त होता हुआ साथ ही गतिचम्भा बनता हुआ ) 'प्रवान्' है। इस प्रथम श्रुति से यह होता अपन 'प्राण' को हा प्रज्वलित करता है।

'अग्र आयादि गीतये' ( इसका अनुवचन करता है )। अपान निश्चयन 'एतवान्' ( आगमनचम्भा ) है। इस दूसरी श्रुति से होता अपन 'अपान' का हा समिद्ध करता है।

'तत्त्वा समिद्धि ०' इत्यादि तृतीय सामिधेनी-श्रुति का ( 'बृहच्छ्रोत्रा यविष्ठय' ( उमर अनुवचन से उद्गान का हा समिन्धन करता है )। उद्गान निश्चयन बृहच्छ्रोत्रा ( तत्त्वा-

आत्म्या वेधता है। “अग्निं होत्रायावह” इस मन्त्र से होत्रकर्म के लिए अग्नि के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। “स्वं महिमानमावह” इस मन्त्र से अग्नि की अपनी महिमा (साहसीरूप) के आह्वान के लिए हो अग्नि से प्रार्थना करता है। यादू ही इस अग्नि की अपनी महिमा (वाङ्मयी वपदकाररूपा महिमा) है। इससे इस वाङ् के आह्वान के लिए हो प्रार्थना करता है। “आ च वह खातवेदः सुयज्ञा च यज” इस मन्त्र से जिन वृषताओं के आह्वान की यह प्रार्थना अभीष्ट है, वही के आह्वान के लिए प्रार्थना करता है। हे अग्ने! आप उन (सक्रिय अभीष्ट) वृषताओं को इस ब्रह्म में लाइए, एवं यथाविधि उन आगत वृषताओं का यजन कीजिए यही कहा है, जाकि-‘सुयज्ञा च यज’ यह कहा है ॥१७॥

वह होना लड़ा होकर वृषतावाहनकर्म करता है। आवाहनकर्म अनुवचनकर्म है (वृषतावाहनकर्म है)। एवं यह (विदूरस्थ) एलोक निरन्धयेन अनुवाक्या है। अर्थात् एलोक पृथिवी पर लड़ा हुआ सा है। ऐसी अवस्था में लड़ा लड़ा एलोकस्थ वृषताओं का आह्वान करता हुआ होता। इस एलोकसम्पत्ति-सदरा बनकर ही आह्वान करता है। इसलिये लड़ा लड़ा ही वृषतावाहन-मन्त्रों का उच्चारण करता है ॥१८॥

(लड़े लड़ा आवाहनकर्म करने में दोषोद्पादन करती हुई भुक्ति करती है)-वह अस्विक् (अध्वर्यु) बैठकर याग्या (यज्ञभामक श्रवा) का उच्चारण करता है। वही (पृथिवी) याग्या है। (यह बैठी हुई सी है)। इसीलिये कोई भी याज्ञिक लड़ा लड़ा याग्या का उच्चारण नहीं करता। निन्धयेन पृथिवी याग्या है। (बैठकर याग्या का उच्चारण करता हुआ) अध्वर्यु याग्यारूपा पृथिवी के स्वरूप में परिणत होकर ही याग्या का उच्चारण करता है। इसलिये बैठकर याग्या-यजन करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, अनुवाक्या एलोक है एवं याग्या भूलाङ्क है। आह्वानकर्म का एलोक से सम्बन्ध है एवं यजनकर्म का भूलाङ्क से सम्बन्ध है। एलोक तिष्ठत् है, एवं भूलाङ्क आसीन है। अतः इसी रूप से अनुवाक्या एवं याग्यारूपा जाना चाहिए। विरुद्ध करना प्राकृतिक-यज्ञसम्पत्ति से शक्ति रहना है) ॥१९॥

इति-देवतावाहनम्

चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त  
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

नित कामपूर्ति के अभाव में अतिशयरूप से सन्तापजनक स्वयमपि सन्तप्त है। शिरनी (कामी) का शिरान अतिशयरूप से सन्तप्त करता है। इस अग्न्याश्रय से होता शिरान को ही समिद्ध करता है ॥ ११ ॥

‘समिद्धो अग्न आहुतः’ इस अश्रय से, जो कि यह अश्रयप्राण है, उसी को समिद्ध करता है। ‘आहुतो दुवस्यत’ इस अश्रय से (समष्टिरूप से) समूह गहोर स्ने-नस्ने-सोम भागों को छोड़कर-समिद्ध करता है ॥ १० ॥

(उक्त प्रकार से होता के अवयवों का समिधन यतलाया गया। अब उसी समिधनक्रम से अग्निधारकत्व की इतिवृत्तव्यता चतलाई जाती है) — प्रथम सामिधेनी के अनुषचन करते समय यदि होता के प्रति इस का शत्रु द्वेष-भाव प्रकट करे तो उस समय होता को सामिधेनी अनुषचन के साथ ही- तू अपना प्राण इस समिद्ध प्राणाग्नि में डालता है, तू आत्मा क (शरीर क) प्राणाङ्ग से पीड़ित होगा यह योल व \*। अवश्यमेव वैसा ही होगा। (अर्थात् शत्रु के प्राण छटपटाने लगेंगे) ॥ ११ ॥

द्वितीय सामिधेनी के अनुषचन करते समय यदि०। ‘तूने अपने अपान को इस समिद्ध अपानाग्नि में डालता है। तू आत्मा (शरीर) क अपान भाग से दुःखी होगा’ ॥ १२ ॥

तृतीय सा०। तू ने उदान को मेर उदानाग्नि में आहुत किया है। तू शरीर के उदान भाग से दुःखी होगा०’ ॥ १३ ॥

चतुर्थ सा०। ‘तूने अपने भोज को मेर आत्माग्नि में आहुत किया है। तुम्हें भोजपीड़ा होगी, तू पहरिा होजायगा०’ ॥ १४ ॥

पञ्चमी सा०। ‘तूने अपनी वाक् को मेर आत्माग्नि में आहुत किया है। तुम्हें वाक्-पीड़ा होगी। तू मूक (गूँगा) होजायगा०’ ॥ १५ ॥

षष्ठी सा०। तूने अपने मन को मेर आत्माग्नि में आहुत किया है। तू खोया हुआ सा, पागल सा फिरता फिरगा०’ ॥ १६ ॥

\* इन अग्निधार मन्त्रों का स्वरूप मूलपाठ से गतार्थ है। प्रयोगकाल में उद्गी का ० चारण होना चाहिए। यहाँ कबल अथ ही चतलाया गया है।

नाड़ी से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक तेजोयुक्त) है। इस ऋगभाग से होता अपने 'उदान' को ही समिद्ध करता है ॥३॥

“स न प्रधुमवाग्यम्” (इसके अनुषचन से ओत्र का ही समिन्धन करता है)। ओत्र निम्नयेन प्रधुमवाग्य (विस्तीर्ण भक्षण साधन) है। ओत्र से ही विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त राज्य सुनता है। इस ऋक् से होता अपने 'ओत्र' को ही समिद्ध करता है ॥४॥

“ईहेन्यो नमस्य” (इसके अनुषचन से वाक् का ही समिन्धन करता है)। वाक् निम्नयेन ईहेन्या (स्तुति करने वाली किंवा स्तुति का साधन, किंवा स्तुति करने योग्य) है। वाक् ही इस सम्पूर्ण जगत् की स्तुति (उपादानचन विमान-विस्तार) करती है, एवं वाक् से ही सम्पूर्ण विश्व ईहित (स्तुत-वितत) है। इस ऋचा से होता अपनी वाक् को ही समिद्ध करता है ॥५॥

“वृषो अग्निः समिष्यते०” इत्यादि ६ वी ऋचा से) ‘अग्नी न देवाह्नः’ (इस ऋगभाग से मन का ही समिन्धन करता है)। मन ही ‘देवाह्नः’, देवनिर्मित इन्द्रियों की आधारभूमि, तथा बह्निव देवताओं की संकल्प के द्वारा आधारभूमि) है। मन ही मनस्वी पुरुष को (सामान्य पुरुष की अपेक्षा, अन्तराश्रय से समृद्ध बनाए रखता है उद्यत रखता है, उत्तम रखता है। इस ऋग् भाग से होता ‘मन’ को ही समिद्ध करता है ॥ ६ ॥

(‘वृषसं त्वा वय वृषन्० इत्यादि ७ वी ऋचा के) ‘अग्ने दीधन्त वृहत्’ (इस ऋग् भाग से ऋषि का ही समिन्धन करता है)। ऋषि निम्नयेन प्रसन्नित अन्नार से है, इस ऋगभाग से होता अपने ‘वृषु’ को ही समिद्ध करता है ॥ ७ ॥

‘अग्नि दूत वृशीमह’ इस आर्षेयी ऋचा से जो कि इसका मध्यप्राण (ध्यान) है, उसी को समिद्ध करता है। ‘अग्नि दूत वृशीमह’ यह सामिधेनी ऋक् प्राण्यदि पञ्च प्राणों के मध्य में प्रतिष्ठित ध्यानप्राण-स्थानीया है। इस से अम्य (दिग्ध) प्राण (इस के) ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित है, एवं इस से अम्य (पार्थिव) प्राण (इसके) अधो भाग में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार प्राणों के मध्य में से इस मध्यस्था प्राणदेवता का स्वरूप पहिचान नता है, वह सोफ में मध्यस्थ (भेद्य-मुक्तिप्राप्त निर्णायक) बन जाता है ॥ ८ ॥

(‘समिष्यमानो अज्वर०’ इत्यादि नवमी सामिधेनी फ) ‘शोबिष्मशस्तमीमहे’ (इस ऋगभाग से शिरानन्त्रिय का ही समिन्धन करता है) शिरान निम्नयेन शोबिष्मश (अभिल-

- १—‘होतृपदनं कृत्वाऽपरेण वेदिं श्रोणिं वोत्तरेण-इध्मात् समिधमादाय ‘अग्नये समि  
 ध्यमानायानुब्रूहि’ इत्याह’ ( का० श्रौ० ३।१।१। ) ।  
 २—‘होतरिति चैके’ ( का० श्रौ० सू० ३।२।१। ) ।  
 ३—‘प्रथमस्यानेन प्राक् स्विष्टकृत्’ ( का० श्रौ० सू० ३।१।३। ) ।  
 ४—‘मध्यमेनेहाया’ ( का० श्रौ० सू० ३।१।४। ) ।  
 —‘शेषमुत्तमेन’ ( का० श्रौ० सू० ३।१।५। ) ।  
 ६—‘सन्तन्वभिष मेऽनुब्रूहि’ इत्याह यजमान’ ( का० श्रौ० सू० ३।१।६। ) ।

एक यजमान-प्रेषानन्तर जब होता तीन बार हिङ्कार करके ‘प्र वो वाजा०’ इत्यादि  
 सामिधेनी-श्रुत्याओं का उच्चारण करने लगता है उस समय यजमान अपने पाँव के अँगूठा से  
 मृमि को दबाता हुआ (शत्रु के नाम का समावेश कर) निम्नलिखित अभिचार-वचन का उच्चारण  
 करता है—

‘इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेणामुमववाधे’ ।

यदि शत्रु के नाम का पता न हो, साथ ही शत्रुता का परिह्वान अवश्य हो तो उस वारा  
 में—‘इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेण द्विपन्तमववाधे’ यह बोलना चाहिए । यदि कोई शत्रु  
 (कृत्रिम) ही न हो तो (सहजशत्रु नारा के लिए) इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेण भ्रातृप्यमववाधे  
 यह बोलना चाहिए । यदि काम्येष्टि का अभिषेक है, तो १५ सामिधेनियों का, यदि काम्येष्टि है तो  
 १७ सामिधेनियों का होना के द्वारा अनुषन्धन होगा । फलतः प्रत्येक के साथ यजमान को ‘इदमहं०’  
 इत्यादि बोलत हुए पाराक्रमों से मृमि को दबाना पड़ेगा । वात्पय्य यही है कि तत्तत् कम्मविशेषों  
 में १५, १७, २१, २४, ३, ६ इत्यादि सामिधेनी-श्रुत्याओं का विशेष विधान है । दर्शपूर्णमास  
 में १५ तद्विकृति-मृता काम्येष्टि में तथा पदवादि में १८ प्राजापत्यपशुवच्च में २१ इष्टकाप  
 शुबन्ध में २४ पित्र्येष्टि में ३ उपसद्गोम में ६, सामिधेनियों का विधान है । इन सामिधेनी-  
 संख्याओं के अनुसार ही एक अभिचारमन्त्र में-क्रमशः ‘इदमहं पञ्चदशेन०, सप्तदशेन०,  
 एकविंशेन०, चतुर्विंशेन०, तृतीयेन०, नवमेन०’ इन रूप से तत्तद्विशेष संख्याओं का समावेश  
 करते हुए, शत्रु का नाम विविध हो तो नाम का समावेश करते हुए, नाम अविदित हो तो ‘द्विपन्तं  
 पदं का और यदि कृत्रिम शत्रु न हो तो ‘भ्रातृम्यं’ पद का समावेश करते हुए सामिधेनी-संख्या-  
 समान उतने ही अभिचार-वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

उक्त मन्त्र का उपांग + उच्चारण कर ब्रह्मा निम्नलिखित वाक्य उच्चारण से पढ़ता हुआ होता को अनुवचनकर्म के लिए अनुज्ञा प्रदान करता है—

‘ओ३मनु३३हि’ ।

इसप्रकार सामिधेन्यनुवचनकर्म के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा मिल जाने पर स्वासन पर प्रतिष्ठित होता ब्रह्म क्षिपर्व के अग्रभागों को मिलाकर ब्रह्मक्षि को अपने हृत्स्व से स्तुत करता हुआ, अपने बहिर्ने पैर को वेदि की उत्तरओष्णि के समीप रखता हुआ अन्तरिक्ष की ओर देखता हुआ निम्नलिखित ‘नम इन्द्र’ नामक निगद का जप करता है—

ओ३म्—नमः प्रवक्ष्ये, नमः उपवक्ष्ये, नमो ब्रूये, नमोऽनुख्यात्रे ‘क’ इदमनुवक्ष्यति, ‘स’ इदमनुवक्ष्यति, ‘क’ आर्क्षिज्य करिष्यति ‘स’ आर्क्षिज्य करिष्यति, ऋषः प्रपद्ये, यजुः प्रपद्ये, साम प्रपद्ये, ब्रह्म प्रपद्ये, नार्चा इन्द्रमा मातरं प्रपद्ये, भू प्रपद्ये, भुव प्रपद्ये, स्व प्रपद्ये, भूर्भुव स्व सर्व प्रपद्ये’ इति ।

उक्त निगदपाठ के अनन्तर ब्रह्मकर्त्ता यजमान ‘सम्प’ हाथ में लेकर निम्नलिखित वाक्य से (अनुवचनकर्म के लिए) होता को प्रणाम करता है—

‘ओ सन्तन्वमिव मेऽनब्रूहि’ ।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार एक विशेष नियम बतलाते हुए कहते हैं कि, ‘सिद्धकृष्णाम’ नामक कर्म के अनुष्ठान से पहिले पहिले इतिर्कृतव्यता में पठित अक्षमन्, एवं निगदमन्त्रों का उच्चारण उच्चारण से उच्चारण करना चाहिए, जिसे कि ‘सामान्यस्वर’ भी कहा जाता है । त्विन्द्रज से आरम्भ कर इन्द्राप्रारानकर्म पर्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रों का मध्यम स्वर से उच्चारण करना चाहिए । एवं इन्द्रा-कर्म से आरम्भ कर कर्म-समाप्ति पर्यन्त उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए ।

दूसरी विशेषता है होता के प्रति प्रेम करने के सम्बन्ध में । कितने ही ब्राह्मिक पूर्व प्रेय-याकम के स्थान में ‘अग्रय समिध्यमानाय होतरनु३हि’ यह प्रेम करते हैं । परन्तु बलुव पता होना नहीं चाहिए । क्योंकि ‘तदु तथा न ब्रूयात् । अज्ञाता वा एष पुरा भवति (शत० १।१।४ ३) के अनुसार अभी यह अस्थिर हावस्वेषन भूत नहीं हुआ है । उही सब विशेषताओं के साथ ब्रह्म इतिर्कृत व्यता पतलात हुए आग के सूत्र हमारे सम्मुख आते हैं—

—त्रिद्वार्था चालयत् क्रिञ्चिद्वदयतागतमानस ।

निजभद्रयायोम्यं स्यादुपांशु स जप स्मृत’ ।



इस ११ वीं सामिचेनी के अन्त में होने वाले प्रणवोच्चारण के साथ ही अग्नि में आधान कर देना चाहिए। जो एक सामिचेनी शेष रहगी, उसका अनुयाजकर्म में उपयोग होगा। इसप्रकार पञ्चदश-सामिचेनीपक्ष में १५ इष्म सामिचेनी मन्त्रा के सम्बन्ध से १ अनुयाज सम्बन्ध से दो परिधिक्रमान्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म के सम्बन्ध से १८ इष्मा का ग्रहण होगा एवं इनका धिनियोग उक्त प्रकार से होगा।

अग्न्येष्टि का भी यदि दशपूर्णमास में संग्रह है, तो संग्रह सामिचेनी मन्त्र होंगे। और उस दशा में १८ के स्थान में २० इष्म-काष्ठ लिए जायेंगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्ठान् संग्रह होता है, वे 'घाय्या' कहलाए हैं। साथ ही—“समिध्यमानवर्ती समिध्यवर्ती चान्तरस्य पृथुपाज्ञावत्यौ घाय्ये दधाति” (आपस्तम्बभा० सू०) “तृतीयस्यां सामिचेन्यावावपते प्रागुपोक्षमाया पृथुपाज्ञा अमर्त्य इति द्वे घाय्ये इत्युक्तं प्रतीयात्” (अप्स्तम्बान् भा० सू०) “समिध्यमानवर्ती समिद्धवर्ती चान्तरणं घाय्या स्युः” (तै० सू० ५।३।४।५।३-३।३) इत्यादि के अनुसार इन दोनों घाय्या श्रुपाभा का समिवरा समिध्यमानपदपठित “समिध्यमानो अघ्वर०” इस मन्त्र के तथा समिद्धपदपठित “समिद्धो अग्न आहुत०” इस मन्त्र के, दोनों के मध्य में निधान होता है। क्योंकि ये दोनों घाय्या श्रुपादों दोनों के मध्य में समिष्टि रहती है अतएव इनकी—“समिध्यमान-समिद्धवर्ती” यह संज्ञा (नाम) मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिक्रमोत्तरमासी अभ्याधानकर्मोपयुक्त २ इष्मकाष्ठों तथा १० मन्त्रा के प्रणव के साथ होने वाले १० इष्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इष्मकाष्ठ बच रहते हैं। इनमें से १ तो अनुयाज के लिए रखली जाती है, शेष सत्ता का १ वीं के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ अभ्याधान होजाता है। एवं यही इस संग्रहका सामिचेनीपक्ष में २० इष्म-काष्ठों का धिनियोग है।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि श्रुगुच्चारणकाल में यजमान दोनों पैरों के औंगूठों से भूमि दवाता हुआ—“इदमहम्” इत्यादि रूप से अभिचार कर्म करता है। उधर भुक्ति में—“यं द्विष्यात् त अङ्गुष्ठाम्यामवधाधेत-इदमहममुमवधाधे” (शत० १।३।५।७।) इत्यादि रूप से सामान्यतः “अङ्गुष्ठ” पद उद्धृत हुआ है। इससे पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आचार पर किया गया? इस प्रश्न का समाधान—“पार्श्वाम्या अङ्गुष्ठाम्यामवधाधेत” (का० ब्रा० १।३।५) इस काव्यशास्त्रप्रवचन के अनुसार प्रकृत

विष्कारपूर्वक प्रणव सहित सामिघेनी का उच्चारण होता है। इस प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र के दोनों ओर होता है। जब जब होता सप्रणव-सामिघेनी अक्ष का उच्चारण कर अग्रान्त में प्रणव का उच्चारण करता है, तब तब ही (प्रतिप्रणव) अथर्वस्यु अग्नि में इष्म बलता जाता है। दोनों के सामिघेनी-अक्षमन्त्रोच्चारण के साथ साथ अथर्वस्यु का इष्म बलना इष्मकर्म है। जितने सामिघेनी मन्त्र होते हैं उतने ही इष्म होते हैं। वरुण-पूर्णमास में क्योंकि १५ सामिघेनी अक्षमन्त्र हैं, फलतः वहाँ १५ ही का आधान होता है।

“समिधो अग्न आहुतः०” इस अक्षमन्त्र के उच्चारण से पहिले पहिले वह अथर्वस्यु इससे पहिले मन्त्र के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ साथ सम्पूर्ण इष्मकाष्ठ अग्नि में बल दता है। यदि अनुयाजकर्म अभीष्ट है, तो इन में से एक इष्मकाष्ठ बचा खिचा जाता है। तत्पर्य यह हुआ कि, ( काम्येष्टि के अभाव में ) जबकि वरुण-पूर्णमास में पञ्चदश सामिघेनी-अनुवचन विहित हो तो उस वरुण में प्र वो वाजा० इत्यादि ११ तो सामिघेनी मन्त्र हैं। एवं आयत्त के मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं। इस विराट्मन्त्र से ११ के १५ सामिघेनी मन्त्र होजाते हैं।

इस इष्टि में इस इष्मकर्म के लिए कुल ( अनुयाजपक्ष में ) १८ इष्मकाष्ठों का संग्रह होता है। इन अठारह इष्मों में से पूर्वोक्त परिधि-परिधानकर्म के अनन्तर एक समिध का ‘वीतिहोत्र त्वा कवे धुमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमन्त्ररे’ [प्रथमं परिधिं समिधो-परस्पृश्य वीतिहोत्रं मित्यादधाति] का० धौ० सू० २।८।२ इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते हुये अग्नि में आधान होजाता है। यदि एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए ‘समिधभि’ ( “अनुपस्पृश्य द्वितीयो-समिदसी” ति” का मौ० सू० २।८।३ ) यह मन्त्र बोलते हुये अग्नि में आधान होजाता है। इसप्रकार १८ में से २ का प्रयोग तो परिधिकर्म समाप्ति पर होन वाला समिधाधानकर्म में ही होजाता है। अब इस समय कुल १६ इष्म बच रही हैं।

१६ की व्यवस्था यह है कि, “प्र वो वाजा०” स आरम्भ कर “अग्निं दत्तं इक्षोमहे०” इस आठवें सामिघेनी मन्त्र पठ्यन्ता ‘प्र वो वाजा०’ की विराट्पुत्ति से १० मन्त्र होजाते हैं। इन दोनों का प्रणवोच्चारण के साथ अथर्वस्यु के द्वारा आधान होजाता है। आग तीन मन्त्र शप है अन्तिम मन्त्र की विराट्पुत्ति से ५ मन्त्र शप हैं। सामिघेनी ६ शप हैं। इन अर्थात् के सम्बन्ध में यह व्यवस्था हुई है कि, पञ्चम-समिधमिनी पाँचों सामिधमिनी का ‘समिधं अग्न आहुत इम १२ पाँ सामिघेनी का उच्चारण स पूर्व एवं ‘समिधमाना आहरे०’

इस ११ वीं सामिधनी के अन्त में होने वाला प्रणयोरारण के साथ ही अग्नि में आधान कर रना चाहिए। जो एक सामिधनी जोप रहगी, उसका अनुयाजकर्म में उपयोग होगा। इसप्रकार पञ्चम्य-सामिधनीपक्ष में १५ इष्ट सामिधनी मन्त्रों के सम्बन्ध से, १ अनुयाज सम्बन्ध से, दो परिधिक्तमानन्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म के सम्बन्ध से, १८ इष्टों का ग्रहण होगा, एवं इनका विनियोग उक्त प्रकार से होगा।

अन्विष्टि का भी यदि दशपूर्णमास में समझें, तो सत्रह सामिधनी मन्त्र होंगे। और उस दश में १८ के स्थान में २० इष्ट-काष्ठ लिए जायेंगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्टात् समझ रना है, वे 'घाय्या' कहलाए हैं। साथ ही—“समिध्यमानवर्ती समिध्यवर्ती चान्तरण पृथुपाजावर्त्या घाय्ये दधाति” (आपस्तम्बभा० सू०) “तृतीयस्थां सामिधेन्यावावपते प्रागुपोचमाया पृथुपाजा अमर्त्य इति द्वे घाय्ये इत्युक्तं प्रतीयात्” (आपस्तम्बान् भा० सू०) “समिध्यमानवर्ती समिध्यवर्ती चान्तरण घाय्या स्युः” (तै० सं० २।३।४।५-२।३) इत्यादि के अनुसार इन दोनों घाय्या ऋचाओं का सम्बन्ध समिध्यमानपक्षपटित “समिध्यमानो अक्षरः” इस मन्त्र के तथा समिध्यपक्षपटित “समिद्धो अग्न आहूतः” इस मन्त्र के दोनों के मध्य में निधान होता है। क्योंकि ये दोनों घाय्या ऋचाएँ दोनों के मध्य में समिधित रहती हैं अतएव इनका—“समिध्यमान-समिध्यवर्ती” यह सझा (नाम) मानी गई है।

पूर्वाक्त क्रमात्नुसार परिधिक्तमोत्तरभागी अभ्याधानकर्मोपयुक्त २ इष्टकाष्ठों, तथा १० मन्त्रों के प्रणय के साथ होने वाले १० इष्टकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इष्टकाष्ठ बच रहते हैं। इनमें से १ तो अनुयाज के लिए रखी जाती है, शेष सातों का १० वीं के अन्तिम प्रणयोरारण के साथ अभ्याधान होजाता है। एवं यही इस सत्रहवां सामिधनीपक्ष में २ इष्ट-काष्ठों का विनियोग है।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि अगुवारणकाल में यजमान दोनों पैरों के अंगूठों से भूमि दबाता हुआ—“इष्टमहम्” इत्यादि रूप से अभिचार कर्म करता है। उधर भुक्ति में—“य द्विप्यात् त अङ्गुष्ठाभ्यामवशाद्येत-इदमहममुमवशाद्ये” (शत १।१।५।७।) इत्यादि रूप से सामान्यतः ‘अङ्गुष्ठ’ पद उद्धृत हुआ है। इससे पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किम आचार पर किया गया? इस प्रश्न का समाधान—‘पादाभ्यामङ्गुष्ठाभ्यामवशाद्येत’ (शत ७।० १।३।३।५) इस आख्यमाहणवचन के अनुसार प्रकृत

द्विह्वारपूर्वक प्रणव सहित सामिघेनी का उच्चारण होता है। इस प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र के दोनों ओर होता है। जब जब होता सप्रणव-सामिघेनी ऋक् का उच्चारण कर अगस्त में प्रणव का उच्चारण करता है, तब तब ही (प्रतिप्रणव) अध्वर्यु अग्नि में इधम बल्लता जाता है। दोनों के सामिघेनी-ऋक्सन्त्रोच्चारण के साथ साथ अध्वर्यु का इधम बल्लना इधमकर्म है। जितने सामिघेनी मन्त्र होते हैं उतने ही इधम होते हैं। वर्रा-पूर्णमास में क्योंकि १५ सामिघेनी ऋक्-मन्त्र हैं, फलतः वहाँ १५ ही का आधान होता है।

“समिदो अग्नं आहुत ०” इस ऋक्सन्त्र के उच्चारण से पहिले पहिले यह अध्वर्यु इससे पहिले मन्त्र के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ साथ सम्पूर्ण इधमकाष्ठ अग्नि में डाल देता है। यदि अनुयाजकर्म अभीष्ट है, तो इन में से एक इधमकाष्ठ बचा लिया जाता है। तत्पर्यं यह हुआ कि, (अन्वेष्टि के अभाव में) जबकि वर्रा-पूर्णमास में पञ्चदश सामिघेनी-अनुवचन विहित हो वो उस वर्रा में प्र वो वाजा०’ इत्यादि ११ तो सामिघेनी मन्त्र हैं। एवं आपत्त के मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं। इस त्रिरावर्तन से ११ के १५ सामिघेनी मन्त्र होजाते हैं।

इस इष्टि में इस इधमकर्म के लिए कुल (अनुयाजपक्ष में) १८ इधमकाष्ठों का समझा होता है। इन अठारह इधमों में से पूर्वोक्त परिधि-परिधानकर्म के अनन्तर एक समिध का “वीतिहोत्र त्वा वद द्युमन्त समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे” [प्रथम परिधि समिधो-परभूर्य ‘वीतिहोत्र’ मित्यादधाति” का० श्रौ० सू० २।८।२) इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते करते हुए अग्नि में आधान होजाता है। एवं एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए “समिदमि” ( “अनुपस्पृश्य द्वितीयां-समिदसी” ति” का० श्रौ० सू० २।८।३) यह मन्त्र बोलते हुए अग्नि में आधान होजाता है। इसप्रकार १८ में से २ का प्रयोग ता परिधिकर्म समाप्ति पर होने वाला समिधाधानकर्म में ही होजाता है। अब इस समग्र कुल १६ इधम बच रही हैं।

१६ की व्यपत्त्या यह है कि “प्र वो वाजा०” स आरम्भ कर ‘अग्निं दूत बृहोमहे०’ इस आठवें सामिघेनी मन्त्र पच्यन्त ‘प्र वो वाजा०’ की त्रिरावृत्ति से १० मन्त्र होजाते हैं। इन दोनों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्यु के द्वारा आधान होजाता है। बाग तीन मन्त्र शेष हैं अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से ५ मन्त्र शेष हैं। सामिघेनी ६ शेष हैं। इन अध्वर्यु के मन्त्रधन यह व्यपत्त्या हुई है कि, पञ्चमन्यसमन्विनी पोषा सामिघेनीयां का ‘समिदं अग्र आहुत’ इस १२ वी सामिघेनी का उच्चारण स पूरा एवं ‘समिप्यमाना आहरे०’

# तीसरे अध्याय में पाचवौं, तीसरे प्रपाठकमें

## दूसरा ब्राह्मण

### सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

१

### वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)—यज्ञेतिष्ठत् न्यताद्यो में 'ग्निसमिन्धन' कर्म अपना एक विशेष महत्व रखता है। 'अग्निरु वै यज्ञ' इस निगम के अनुसार अग्नितत्त्व ही यज्ञ कर्म की मूलप्रतिष्ठा है। आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक, इन त्रैतामिकी के सम्बन्ध से जो एक अपूर्व अतिशय उत्पन्न होता है उसे ही वैवस्वता कहा जाता है। यह वैवस्वता जगदीय पार्थिव सम्बन्ध के त्रिधाधिकेत नामक सप्तदशान्तोम स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इस वैवस्वता के प्राय का रश्मिरूप से यज्ञकर्त्ता यज्ञमान के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध रहता है। ऊपर यह देवतामा दिव्यलोकस्थ स्वर्गीय प्राणदेवताओं के साथ बद्ध रहता है। मानदसु-मौगस्यन्त इस भूगुह पर जीवनयात्रा का निर्वाह करता हुआ यज्ञमान जब अपने भौतिक शरीर का परित्याग करता है तो इसका कर्ममोक्षा—वैश्वानर तैजस प्राक्ष—त्रिवर्णवि भूतात्मा (मानुषात्मा) उस वैवस्वता के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ उस सप्तदशान्तोमायक स्वर्गलोक में चला जाता है। जबतक यज्ञति-शमकर वैवस्वता स्वत्वम्भ से सुपंचित रहता है तबतक मानुषात्मा वहीं प्रतिष्ठित रहता है। समय पाकर यज्ञतिशमलक्ष्य पुरषसंस्कार के ज्ञान होजाने से स्वरूप वैवस्वता विलीन होजाता है पुन उस मानुषात्मा को 'जीये पुष्ये मर्त्यलौकीके वसन्ति' के अनुसार उठी अन्य-मरण-प्रवाह में आबाना पड़ता है। और यही यज्ञकर्म का एक महत्वपूर्ण फल है।

इस यज्ञकलसिद्धि के लिए तीनों अग्नियों का पहिले परस्पर ग्रन्थिबन्धन अपेक्षित है। आधिभौ-तिक अग्नि पार्थिव अग्नि है आध्यात्मिक अग्नि शरीराग्नि है एव आधिदैविक अग्नि सौर सावित्राग्नि है। पार्थिव अग्नि और सावित्राग्नि का ही प्रवर्ण रूप है। यही सावित्राग्नि प्रवर्ण-सम्बन्ध से षिषर्द्धा से पुनर् होकर अपने दिव्यरूप से बाह्य होत हुआ भूगम में आकर कृष्ण (अप्रमद्य) रूप में परिणत होजाता है। इसी को विज्ञानमाया में—'कृष्णामुग' कहा गया है। कष्टाद में यही मृग्य अग्नि मुक्त है तबका 'शप यनेषु माप्रो' मन्त्र से स्वरूपान्तेन हारहा है। कष्टादि में प्रयुक्त यही आधि-भौतिक अग्नि मनुष्य के प्रयास से प्रज्वलित होकर मनुष्यों के लाकिककर्म ( पात्रादिकर्म ) सम्पादन करता है वेदादि—मन्त्रा मर्त्तास इषते इस मन्त्रमाग से स्थित है। प्रज्वलित होने के अनन्तर यह भूताग्नि अपने भूतमाग को छोड़ता हुआ अग्नान्तर में अपने उन्नी षिषमागरूप में परिणत होकर पृथक् में चला

सामान्यवचन का विरोध (पाद) विधि में सहोच करना न्यायसङ्गत हो जाता है। इसी पूर्वोक्त इतिवृत्तव्यप्ता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कल्याण करते हैं —

(७) — “अङ्गुष्ठाम्यां चाक्वाधते पादाभ्यां वेदमहममुमवसाध इति द्वेष्टम्”

(अ० औ० सू० ११।७)।

(८) — “अमावे द्विपन्तं, आतृम्यमिति वा” (अ० औ० सू० ३।१८)।

(९) — “यावत् सामिघेनि वेदेदमई तावतिबेन वञ्चेति”

(अ० औ० सू० ३।१९)।

(१०) — “प्रतिप्रखचमाधानम्” (अ० औ० सू० ३।१।१०)।

(११) — “समिद्ध इति प्रागत सर्वमिष्टमैकवर्त्मनुयाजावैव”

(अ० औ० सू० ३।१।११)।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह.

ही लोकोक 'स्वलोके' कहालाया है, जैसाकि 'ग्वरहर्वेषाः सूय्य' (श. १।१।२।२।२) इत्यादि भक्ति से प्रमाणित है। व्यञ्जनवाक्य पार्थिवी है, यही 'अनुष्टुप्' कहाला है। स्वरवाक्य लोरी (एन्त्री) है यही 'बृहती' कहलाता है। जिस प्रकार सूर्योपमहभूता प्राणियों सौरतत्त्व के बिना स्वरूपरक्षा में असमर्थ हैं एवमेव सौर स्वर को आधार बनाए बिना पार्थिव व्यञ्जना का भी उच्चारण असम्भव है। \*।

वैज्ञानिक महर्षियोंने व्यञ्जनवाक्य में अनुस्यूत लोरी-स्वरतत्त्व की परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा से यह सिद्धान्त निष्पत्ति कि, 'इस अनुष्टुप्-लक्षण पार्थिवी-वाक् (व्यञ्जनवाक्) में आधार बना हुआ जो स्वर है वह दिव्यतत्त्व (इन्द्र) है। यदि इस दिव्यतत्त्व का (स्वर का) इस व्यञ्जनवाक्य के साथ नियमपुष्पक सम्बन्ध जोड़ा दिया जाय, तो उन नियमित वाक् से बागनुगत नियमित स्वर के आकर्षण से दिव्यलोकेत्य दिव्यप्राणदेवताओं का आकर्षण सम्भव होजाय'। एकमात्र इसी स्वरविज्ञान की मूला बना कर ऋषियोंने दिव्यप्राणों के लक्ष्योप-स्वरूपों की परीक्षा आरम्भ की। उन्होंने देखा कि दिव्यलोकेत्य अग्नि इन्द्र, वरुण आदित्यादि देवप्राण गायत्री, त्रिष्टुप् आदि विशेष छन्दों (वाक्परिमाणात्मक सीमामाओं) से छन्दित रहते हुए उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि लक्ष्योप स्वरविधियों (लहरों) से युक्त हैं। इसी आधार पर उन्होंने व्यञ्जनवाक् में उसी नियम से छन्द-स्वर-सम्पत्ति का उच्चारण करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि, "यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त, अमुक मन्त्र का अमुक कर्म में अमुक नियम से प्रयोग किया जायगा तो उन छन्द-स्वरा से समतुलित छन्द-स्वर-युक्त उन प्राणदेवताओं का यहाँ भी सम्बन्ध होसकेगा। साथ ही इस सम्बन्ध में उन्होंने यह भी आदेश दिया कि यहाँ मन्त्रवाक् के उच्चारण करते समय यदि मन्त्रप्रयोक्तृ छन्द-स्वर-वर्ण आदि में यथाव्यवस्थित नियम के विपरीत अशुभामात्र भी स्मृतन (असत्यधानी) कर वगा तो उनकी स्वरूपानुगता-स्वरलहरी-विकृत होजायगी फलतः उन विकृत स्वर-वर्णयुक्त मन्त्रा से उन अविकृत देवताओं का आकर्षण न होसकेगा। साथ ही इस के स्थान में महान् अनिष्ट भी होजायगा X।

तो अब हमारी उस पूर्वोक्ता विप्रतिपत्ति का समाधान होगा। हम ऋषि के द्वारा इस उन मन्त्रों के यथाविधि उच्चारण से उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं का अपनी यज्ञस्थला में अवश्यमेव सम्बन्ध करा रहते हैं। यही तो वेदमन्त्र का मन्त्रत्व है, यही तो इसका अपोषेक्यत्व है। विज्ञानवाक् का निर्माण कौन कर

\*- 'वीमत्सूनां सयुजं हंसमाकुरवां दिव्यानां सस्ये चरन्तम् ।

अनुष्टुममनु चूर्च्यमासमिन्द्र निचिक्युः कवयो मनीषा ॥"

—श्रु. १०।१२।१६।

X-"दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमाम हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥

जाता है। 'अतन्त्रो हव्यं बहसि हविष्कृताविदेवेपु राजसि' इस मन्त्रोत्तरार्ध से इसी स्थिति का प्रति-  
पादन हुआ है।

भूताग्नि प्रज्ज्वलित होकर ब्रह्मान्तर में ब्रह्मलोक में दसीप्रकार जाता रहता है। परन्तु इस स्वामाग्निक  
गति से यज्ञकर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। यज्ञकर्म में तो वह भूताग्नि ही उपयुक्त माना जायगा जिसमें  
यही, इसी लोक में प्रतिष्ठित रहते हुए दिव्याग्नि का समावेश करा दिया जायगा। भूताग्नि को प्रज्ज्वलित  
किया जायगा इसमें दिव्यप्राणाग्नि का समावेश कराया जायगा। अनन्तर आहुति के द्वारा यजमान अपने  
शरीराग्नि का इन दोनों से सम्बन्ध करा देगा। परिसराम इसका यह होगा कि, अब जो भूताग्नि ब्रह्मलोक  
में जायगा उसके गर्भ में दिव्याग्नि रहेगा यजमान का शरीराग्नि रहेगा आहुतिद्रव्यानुसरा रहेगा। इन  
सब के समन्वितरूप का नाम होगा पूर्णोक्त 'वैषारमा'। यह वहाँ जायगा, इसका यजमान के मानुषात्मा से  
सम्बन्ध रहेगा, और यही आचार्य का स्वर्गफलप्राप्ति का कारण होगा।

भूताग्नि को प्रज्ज्वलित सभी करते हैं। तब वहाँ भी अच्यव्यु 'हव्य' नामक सामान्य काष्ठप्रक्षेप  
से इसे प्रज्ज्वलित कर लेता है। इस सामान्य प्रज्ज्वलनकर्म को विधानपरिभाषा में 'हव्यन' कहा गया  
है। आहवनीयाग्नि प्रतिक्रममर्यादा से अगुनि दिव्याग्नि की प्रतिकृति है। परन्तु यह सभी दिव्य ब्रह्मा सकेन्द्र,  
अर्थात् इसमें किसी विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया से ब्रह्मलोकस्थ देवतामय दिव्य प्राणाग्नि का सम्बन्ध कर दिया  
जायगा। अतः एक पार्थिव भूतरूप प्रज्ज्वलित अग्नि का इस दिव्य-प्राणरूप अग्नि के साथ एकीभावक  
सम्बन्ध नहीं होना तावतक इस आहवनीय हव्य अग्नि का एक चूल्हे की सामान्य अग्नि से अधिक कोई  
विशेष महत्त्व नहीं है। दिव्याग्निशून्य ऐसे प्रज्ज्वलित अग्नि में प्राणद्रवाकार्य की अभाव्यता है। अतः  
इसमें चाहे आत्मीय मन भी बाल दीपिष्ट, अग्निरिक्त आहुति-द्रव्य बाल दीपिष्ट, अर्धनिष्ठ स्वाहा स्वाहा  
करते रहिए, साथ ही यज्ञकिया को अग्नौ की इष्टि में महत्त्व शून्य सिद्ध करने का बलाहक उठाते रहिए,  
कभी ऐसे लौकिक अग्नि से फलसिद्धि नहीं होसकती। इस सब मिलेगा, अब प्राकृतिक प्राणदेवताओं के गर्भ  
में आहुतिद्रव्य का समावेश होगा। आहुतिद्रव्य का देवताओं के गर्भ में समावेश तब होगा, जब इस प्रज्ज्व-  
लित भूताग्नि में देवप्राणाकार्य दिव्याग्नि का एकीभाव होगा। और यह एकीभाव तब सम्भव होगा, जबकि  
अग्निप्रतिष्ठ सुपक्व—'सामिधेय्यनुषन्तन' कर्म का आशय लिया जायगा।

परन्तु हमारे सामने यही है कि ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित दिव्यप्राणदेवता प्राणा मरु है। उधर प्राण की—  
"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दशून्यस्थ-सति अधामण्डलवस्थमेव प्राणस्थम्" यह परिभाषा मानी  
गई है। एतन्नाद्यं विष्यमाणं अमरतादि के लिए सर्वथा अतीन्द्रिय वस्तु हुआ अभास्य है। अब वह  
क्या है जो उरुदा इस अग्नि में सम्बन्ध देते कराया जाय, यही एक मजूरी विपतिपि है।

उक्त निप्रतिपत्ति का निराकरण 'स्वरसमन्वय' से होता है। 'पृथिवी चीर सूर्य, दीमी वाडा'  
एक में जैनाकि पाठक आगे चलेंगे। पृथिवी सूर्य का ही उग्रवद माना गया है। दीमी में परस्पर आभास-  
धेयभाव लाक्षण है। सूर्य की प्रथमार्धनागाग्नि का पृथिवी और आहवण्य-वर्धिका का आभास बनाकर १११११  
में प्रतिष्ठित है। मौर्य सूर्य न ही रश्मिकर गुह्य (नीच) के आभास पर भूभास वरन कर रक्ता है।  
इस और प्राण का ही नाम स्वर है एवं पार्थिव भूत का ही नाम अयज्ञन है। ११११११ के अन्त में



सृष्टि में पार्थिव-अग्नि वायु से ही ( पङ्के आदि के भङ्गने से ही ) प्रान्वलित होता है । वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वाय्वनुगत यजुर्वेदी अथ्वस्यु मान गए हैं । अतएव यहाँ भी सत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अथ्वस्यु ही सम्पत्कर्म करता है । पार्थिव मूलाग्नि ही “इत एत उवाकृद्भन-विषस्पृष्टान्यारुद्भन । प्रभूजयो यथा पथि यामित्रिरसो ययुः” इस मन्त्रवर्णन के अनुसार शुलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं । दूसरे शब्दों में पार्थिव अग्नि ही समिन्वनकर्म के सञ्चालक हैं । ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अम्मनुगत श्रृग्वेदी होता माने गए हैं । अतएव यहाँ भी सत्प्रतिकृतिरूप श्रृग्वेदी होता ही सम्मिन्वनकर्म करता है । ‘यद्दे देवा अकृन्व स्तम् करयाणि’ ही इस उपपत्ति का मूल है । और यही सामिघ्न्यनुवचनकर्म की सङ्क्षिप्त उपपत्ति है, जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम-काण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

कदापि प्रतिकृतानुगत-महातीयमप्याना से होता ही समिन्वनकर्म का अधिकारी है अतः ‘अग्नये समिन्वमानयानाब्रूहि’ इत्यादि रूप से अथ्वस्यु इस कर्म के लिए हाथ को ही प्रेरित करता है । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, सामिथेनी अनुवचन के अनन्तर इस श्रुतिक का होटवेन वरण होनेवाला है । उस स पहिले होता के उद्देश्य से इस कर्म में नियुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक ‘होतु’ संज्ञा में परिणत नही हुआ है । अतः ‘होतरनुब्रूहि’ इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रैष न कर उक्त सामान्यरूप ( बिना नाम-निर्देश ) से ही प्रैष करना चाहिए ॥ २, ३, ॥

इस कर्म से अग्नि का समिन्वनलक्षण एकमात्र सम्बन्ध ही अपचित है । प्राकृतिक जिस देवता का श्रुत्वा के द्वारा आर्च्यण करना है वह वात्सा अग्नि है छन्द उक्त का गायत्री है साथ ही अग्नित्वेन वक्ष्यवर्षीर्ष्य का प्रवचक है । देववर्ग में इन्द्र वहाँ क्षत्रवीर्ष्य के प्रवचक है विश्वदेव वहाँ विश्वीर्ष्य के प्रवचक है एवं पूषाप्राण वहाँ शूद्रमात्र का स्वरूपसमर्पक है वहाँ अग्नि ब्रह्मवीर्ष्य के अविच्छिन्ना माने गए हैं । एतदुन्मेषित अग्नि का उठी श्रुत्वा से आर्च्यण सम्भव है जिस का स्वरूप ( अर्थापेक्षवा ) अग्निमय होगा । अथवा जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा छन्द जिस का गायत्री होगा । इनीतिष्ठ सामिथेन्यनुवचनकर्म में उपयुक्ता सामिथेनी सभी श्रुत्वाएँ स्वरूपतः ( अर्थात् ) आग्नेयी होती हैं एवं छन्दोमय्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है । इस अपने ही छन्द अपने ही स्वरूप से समस्तुलित सामिथेनी-श्रुत्वा से अग्नि का समिन्वन तो हो ही जाता है इसके अतिरिक्त इस में समस्तुलित ब्रह्मात्मिका गायत्री से विशेष शक्ति ( ब्रह्मबल ) का भी आधान होजाता है ।

गायत्री की ब्रह्म तथा वीर्यरूप बलवाना भी एक विशेष महत्व रखता है । पार्थिव इत्यम्यक प्रजापति से ( प्रजापति के मूलरूप उक्त-नम्यन्किनु से ) आर्क्यक पार्थिव अग्नि का, तथा अग्निसेमलक्ष्य गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है । अग्नि ब्रह्म है इत्यत्र छन्द गायत्री है । इस अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

• “प्रजापतिर्वाच ज्यष्ट । स अतेनाग्रेऽपजयत । प्रजापतिरकामायत-प्रजाय यति । स सुखतस्त्रिवत निरमिमीत । तमग्निर्देवतान्वसज्यत, गायत्रीछन्द रयन्तर माम, ब्राह्मणो मनप्याणां, अज पशूनां । तस्माचे मुख्य । सुखतो असृज्यन्त”

—ने सं० ७।१।१।४ ।

सकता है ? । वह तो श्रुतियों के अन्तःकरण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय मिथि का महत्व महीयान् मङ्गलविधान है \* । इसी मङ्गलमूर्ति विधि के स्वरूपपूर्वक हमारा यह सामिधेन्यनुष्ठानकर्म आरम्भ होता है ।

पर छिद्र होखता है कि, आहवनीयाग्नि में दिव्यप्राणाग्नि का सम्बन्ध आवश्यक है । दोनों का एकहीमात्र ही यज्ञसिद्धि का द्वार है । इस एकीमात्र के लिए ही 'समिन्धन (समित्वेकीभावे) इष्टम प्रयुक्त हुआ है । जिस कर्मविशेष से अश्वय्यु के द्वारा इष्ट अग्नि समिद्ध बनाया जाता है वही कर्मविशेष 'सामिधेन्यनुष्ठानकर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है । होता नाम का श्रुतिक उन मन्त्रों का उच्चारण करता है जिन का छन्द गायत्री है, स्वररूपही अग्निदेवतानुगतता है । उन मन्त्रों के प्रयोग से अन्तरिक्षरूप स्वयंस्वित प्राणाग्निदेवता आकर्मित होकर अवश्यमेव इस इष्ट अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे समिद्ध (इस के साथ एकीभूत) कर देते हैं । क्योंकि निर्दिष्ट श्रुत्याश्रय से इस इष्ट का समिन्धन होता है अतएव इन श्रुत्याश्रयों को—'समित्वे एताभिर्श्रुतिभिः' इस निर्वचन से 'सामिधेनी' कहा गया है । अश्वय्यु यहैष्ट इष्टम से (वामान्य काष्ठ से) अग्नि को इष्ट + करता है । अनन्तर होता सामिधेनी श्रुतुच्चारण से दिव्यप्राणाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है । इसी सम्बन्ध में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए । प्राणाग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है । प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना भूत कं नहीं हुआ करता । भूत के आचार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है भूतद्वारा से ही प्राण का आकर्षण होता है ।

यहाँ भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि को स्थिरता के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रह्मणे सामिधेनी-मन्त्र है, उसने ही (१५ अध्याय १७) इष्टकाष्ठ लिए जाते हैं । होश मन्त्रोच्चारण कर अन्त में प्रवेशोच्चारण करता है इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रतिष्ठित होता है अश्वय्युदेवोत्तराश्वत में ही अश्वय्यु नियत इष्ट अग्नि में डालता रहता है । इसप्रकार वायु सामिधेनी समस्तुतिव इष्टकाष्ठों का प्रतिप्रवेश आचान होता है । कैसा आद्भुत कर्मकलाप है । उस ओर से मन्त्रशक्ति के द्वारा इष्ट दिव्यप्राणाग्नि की उस यज्ञसंस्था में लाता जाय है, इस ओर से अश्वय्यु प्रतिप्रवेश इष्टाचान से भूताग्नि का प्रवेशित करता जाता है । दोनों का एकीमात्रात्मक समिन्धन होता जाता है । कर्मवशात्कि वे दोनों अग्नि मिलकर एक-अपूर्व-समृद्ध यज्ञानुगत रूप धारण कर लेते हैं । ऐसे समिद्ध अग्नि के प्रति कौन अश्वय्युपात्मक भूमुर नवमस्तक होकर नमन न करेगा ? ।

अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, 'इन्धनकर्म का अर्थ ही क्या करता है ? एवं समिन्धनकर्म होता ही क्या करता है ? । इन प्रश्नों की संक्षिप्त उत्तराति यही है कि, प्राहवनी-

०-युगान्तःस्तुतिवान् वेदान् सतिहासान् महर्षयः ।

लेमिर तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयमभ्युता ॥

+ लोहिक-भीतक-काष्ठ म भूताग्नि का ही इन्धन (प्राहवत) होता है । अनन्तर (पन-प्रत्यनन)-काष्ठ काष्ठ भी लोहिकद्वारा में इन्धन नाम से प्रसिद्ध हो गया है विरुद्ध प्राहवत ही राहवत मे-इन्धन कहाने लग पड़ा है ।

सृष्टि में पार्ष्णि-अग्नि वायु से ही ( पञ्च ) आदि के भवकने से ही प्रज्ज्यमित होता है। वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वायुनुगत यजुर्वेदी अश्वय्यु माने गए हैं। अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अश्वय्यु ही रथ्यकर्म करता है। पार्ष्णि मूलाग्नि ही 'इस एत सवारुहन्-विषस्पृष्टान्यारुहन्। प्रभूजयो यथा पथि यामहिरसो ययु' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार बुलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में पार्ष्णि अग्नि ही समिधनकर्म के सञ्चालक हैं। ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अम्यनुगत श्रुवेदी होता माने गए हैं। अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप श्रुवेदी होता ही समिधनकर्म करता है। "यद्देवेना अकुव स्तत् करवाणि ही इस उपपत्ति का मूल है। और यही सामिधेन्यनुषधनकर्म की सन्निहित उपपत्ति है जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम-काण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

क्योंकि प्रतिकृत्यानुगता-सञ्चालीमर्मादा से होता ही समिधनकर्म का अधिकारी है अतः 'अग्नये समिधमानयान्तामृद्भि' इत्यादि रूप से अश्वय्यु इस कर्म के लिए होता को ही प्रेरित करता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर इस श्रुत्विक् का होतृत्वेन धरण होनेवाला है। उस से पहिले होता क उद्देश्य से इस कर्म में निरुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक होतृ संज्ञा में परिणत नहीं हुआ है। अतः 'होतरनुमृद्भि' इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रेषण कर उक्त व्यक्त्यरूप ( किना नाम-निर्देश ) से ही प्रेषण करना चाहिए ॥ २, ३, ॥

इस कर्म से अग्नि का समिधनलक्षण एकीभाव सम्भव ही अपेक्षित है। प्राकृतिक जिस देवता का श्रुचा के द्वारा आकर्षण करना है वह जाल्सा अग्नि है छन्द उस का गायत्री है साथ ही अग्नित्वेन वह ब्रह्मवीर्य्य का प्रवक्तृक है। देववर्ग में इन्द्र वहाँ ब्रह्मवीर्य्य के प्रवक्तृक हैं विशेषतः वहाँ विब्रह्मवीर्य्य के प्रवक्तृक हैं एवं पूज्यमाण वहाँ शूद्रभाष का स्वरूपसमर्पक है वहाँ अग्नि ब्रह्मवीर्य्य के अविच्छाता माने गए हैं। एतद्वर्त्मपित अग्नि का उही श्रुचा से आकर्षण सम्भव है जिस का स्वरूप ( अश्वयिज्ज्या ) अग्निमय होगा। अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा छन्द जिस का गायत्री होगा। इसीलिए सामिधेन्यनु-षधनकर्म में उपयुक्त सामिधेनी सभी श्रुचाएँ स्वरूपतः ( अर्थात् ) आग्नेयी होती हैं एवं छन्दोमर्माणां से इन सब का गायत्री छन्द होता है। इस अपने ही छन्द अपने ही स्वरूप से समन्वित सामिधेनी-श्रुचा से अग्नि का समिधन ठा हो ही जाता है इसके अतिरिक्त इस में समन्वित ब्रह्मात्मिका गायत्री से विशेष शक्ति ( ब्रह्मकल ) का भी आधान होता है।

गायत्री की ब्रह्म तथा बीर्य्यरूप बलवाना भी एक विशेष महत्त्व रखता है। पार्ष्णि हृदयस्थ प्रजापति से ( प्रजापति के मुख्यरूप उक्थ-नभ्यस्मिन्नु से ) आकर्मिक पार्ष्णि अग्नि का, तथा अग्निसेमलक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है। अग्नि ब्रह्म है इसका छन्द गायत्री है। इस अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

\* "प्रजापतिर्वा ज्येष्ठ । स ह्येतेनाग्रेऽयज्यत । प्रजापतिरक्रामयत्-प्रजाये यति । स मुखतस्त्रिवक्त निरमिमीत । समधिर्देवान्सज्यत, गायत्रीछन्दः, रथन्तर माम, प्राक्षणे मनप्याणां, अज्र पशूनां । सस्मारे मुख्या मुखता असृज्यन्त"

—ने मं० ७।१।१।८ ।

कहा है ? । यह तो श्रुतिवर्ग के अन्तःकरण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय विधि का महो-  
पहीमान् मङ्गलविधान है । इसी मङ्गलमूर्ति विधि के स्मरणपूर्वक हमारा यह सामिपेन्यनुष्ठानकर्म आरम्भ  
होता है ।

यह सिद्ध होनुका है कि, आहवनीयाग्नि में दिव्यप्राणाग्नि का सम्मन्व 'आवरण' है। दोनों का  
एकीभाव ही यज्ञवर्धित का द्वार है। इस एकीभाव के लिए ही 'समिचन' (समित्वेकीभाव) शब्द  
प्रयुक्त हुआ है। जिस कर्मविशेष से अभ्यस्यु के द्वारा इन्द्र अग्नि समिद्ध बनाया जाता है वही कर्मविशेष  
'सामिचन्यनुष्ठानकर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। होता नाम का श्रुतिवत् उन मन्त्रों का उच्चारण करता  
है, जिन का इन्द्र गायत्री है, स्वरसाहस्री अग्निदेवतानुगता है। उन मन्त्रों के प्रयोग से अन्तर्धिरस्य  
कल्पवर्धित प्राणाग्निदेवता कावर्धित होकर आवरणमेव इस इन्द्र अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे समिद्ध (इस के  
साथ एकीभूत) कर देते हैं। क्योंकि निर्दिष्ट श्रुत्याओं से इस इन्द्र का समिन्वन होता है अतएव इन  
श्रुत्याओं को—'समिन्वे एतामिन्द्रग्निम्' इस निर्बचन से 'सामिचनी' कहा गया है। अभ्यस्यु पहले  
इष्ट से (सामान्य आष्ट से) अग्नि को इन्द्र + करता है। अनन्तर होता सामिपेनी श्रुतद्वारा से दिव्यप्रा-  
णाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है। इसी सम्मन्व में एक बाध का और ध्यान रखना  
चाहिए। प्राणाग्नि का सम्मन्व अपेक्षित है। प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना मृत के नहीं हुआ करता।  
मृत के आचार पर ही प्राण प्रविष्टित होता है मृतद्वार से ही प्राण का आकर्षण होता है।

यहाँ भी अवरण ही आगत प्राणाग्नि को स्थिररस के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की  
पूर्ति के लिए ब्रह्मे सामिपेनी-मन्त्र हैं उसने ही (१५ अथवा १७)-इष्टकाष्ठ लिए जाते हैं। होता मन्त्रो-  
च्चारण कर अन्त में प्रवर्धोच्चारण करता है इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रविष्टित होता है। अभ्यस्युविशेषावस-  
त में ही अभ्यस्यु निरुद्ध इष्ट अग्नि में जालाता खड़ा है। इसप्रकार गार्ग्य सामिपेनी समग्रलिखित इष्टकाष्ठों का  
प्रतिप्रभव आचान होता है। कैवल्य अनुष्ठान कर्मकलाप है। उस ओर से मन्त्रवर्धित के द्वारा इन्द्र दिव्यप्राणाग्नि  
को इस यज्ञस्थल में लाता जाता है इस ओर से अभ्यस्यु प्रविष्टकाष्ठ इष्टाधान से भूताग्नि की प्रवर्धित  
करता जाता है। दोनों का एकीभावामक समिन्वन होता जाता है। कर्मकलापित में दोनों अग्नि मिलकर एक  
अपूर्व-समृद्ध यज्ञानुगत रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे समिद्ध अग्नि के प्रति कौन अग्न्युपासक भूमुख  
नतमस्तक होकर नमन न करेगा ? ।

अब इस सम्मन्व में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, इष्टकाष्ठकर्म का अर्थ ही क्या करता है ?  
तब समिचनकर्म होता ही क्या करता है ? इन प्रश्नों की संक्षिप्त उत्तराति यही है कि, गार्ग्य-  
-

०-पुगान्तऽन्तर्हितान् वेदान् सतिहासान् महर्षय ।

लेभिर तपसा पूरमनुगता स्वयम्भुवा ॥

+ लौकिक-भीतक-काष्ठ त भूताग्नि का ही इष्टान (प्राधान्य) होता है। अतएव ईशान-  
(प्रवर्धन)-अथवा काष्ठ भी लाकृष्णद्वार से "इष्टान" नाम से प्रविष्ट होया है। शिवका प्रादुर्भूत ही  
यज्ञस्थान में- ईशान" कहना ही लय पड़ा है।

इस का उपक्रम—“वदा सत्यं सूत्र सत्यं नियतिं सत्यं” इस विनूमाव से ही हुआ है। वृषा षमशीर्षव भी इह-उह-योग सम्बन्ध से विनू ही बन रहा है। सूर्यपव भी उयातिः गौ-यायु मेद से विपरी ही है। चन्द्रमा भी ‘रत-मद्या-यशो’ रूप से इस सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। पृथिवी भी ‘वाक्-गौ-या’ स नित्य युक्त है। इसप्रकार पाँच पर्वों से पादक ब्रह्माने वाले इस विश्वयज्ञ का उपक्रम [स्वयम्भू] पारव [परमेष्ठी] मय्य [स्य] अवरपारर्ष [चन्द्रमा] उपसंहार सब कुछ विवत् ही बना हुआ है।

शुक्लविज्ञान की दृष्टि से भी वाक्-आपः-अग्नि- यह अमृता शक्त्वयी विश्वयज्ञ का उपक्रम बन रही है एवं अग्नि-आप-वाक् यह मर्त्या शक्त्वयी विश्वयज्ञ का उपसंहार बन रही है। यज्ञकर्त्तक यक्षि-देवता ‘अग्नि-वायु-आदित्य’ सम्पत्ति से युक्त रहते हुए विवत् बन रहे हैं। विश्वदेवताओं का यजनरूप मन्त्रेक यज्ञकर्म इसी त्रि-सम्पत्ति से युक्त है जिस का ईशादि विज्ञानमार्गों में विन्तार से निरूपण किया जा चुका है।

वैद्यक में होने वाले वीक्षा सुत्या-उपसत् के विहृदमत्व से भी विवत् का यज्ञाङ्गत्व सिद्ध हो रहा है। ‘तीन पर आरम्भ तीन पर समाप्त’ यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का भी हमारा इस सामिधेनीकर्म में संग्रह होना चाहिए। इसी सम्पत्तिसंग्रह के लिए ११ मन्त्रों में से प्रथम, तथा अन्तके मन्त्रों का तीन बार अनुवचन होना है। आरम्भ का त्रि-अनुवचन प्राक्कीय-यज्ञसम्पात्त का, तथा अन्त का त्रि-अनुवचन उदयनीय-यज्ञसम्पत्ति का सम्राहक बन रहा है। त्रि-त्रि-अनुवचन की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ १ ॥

यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति अपेक्षित थी। इस सम्पत्ति के साथ साथ उसी संख्यानुगता प्रतिक्रिया से एक सम्पत्ति और मिल जाती है। आद्यन्त के त्रि-त्रि अनुवचन से ११ के स्थान में १५ सामिधेनी श्रृंखला हो जाती है। “इन्द्रो ह मत्र यूत्राय वयं प्रजहार” [ शत २।१।१०१ ] इत्यादि पूर्वोक्त इन्द्रविज्ञान में यह वतकाया गया है—“इह, शस्त्रजल से आक्रमण करना वज्र इन्द्र का धर्म है। इन्द्र की प्रहारशक्ति [ विष्टु-वृष्टि ] ही वज्र है। इस वज्रसम्पत्ति का प्राहक पञ्चदशस्तोत्रमात्र [ १५ स्तव्या ] है। अरय यही है कि जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोत्र एव तदनु गायत्रीछन्द तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है, एवमेव प्रजापति के उर, तथा वाहुओं से पञ्चदशस्तोत्र एवं तदनु त्रिष्टुप्छन्द तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निवज्र प्राहक है शस्त्र प्रहार करना आत्मचार करना वज्र का धर्म नहीं क्योंकि भृति का इच्छा लिए—“मर्षस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्र न वा अयं कश्चन हिनस्ति” [ शत २।१।२।१५ ] यही आशय है। इतर शत्रुनाश तथा यज्ञकर्म पर होने वाले स्वाभाविक अनुसाराक्रमण का निरोध भी अपेक्षित है। यद्यपि पञ्चदशस्तोत्र स विष्टुप् के द्वारा इन्द्रसत्त्व का संग्रह हो जाता है। तथापि प्रजापति के साक्षात् वाहुनीय से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चदशात्मक आमुन का संग्रह नहीं होता। यह धर्म इस पन्द्रह स्तव्या से

॥—अर्थतानीन्द्रमक्तीन्यन्तरीचलोको, माध्यन्दिन सवनं, ग्रीष्म, स्थिष्टुप्, पञ्च-दशस्तोमो वृहत्साम, ये च देवगणा समाभ्नाता मध्यम स्थान, याश्च स्थिय ।”  
—या० नि० ७।१।०।१

गायत्रीछन्द ब्रह्मवीर्यात्मक बना हुआ है। इस के अतिरिक्त इसी गायत्री के द्वारा 'एनि-प्रेति' रूप अर्थात् शीर्ष के प्रभाव से तृतीय सुलोकस्थ योग का अपहरण होता रहता है। यह गायत्री का अपना प्राक्सिफ शीर्ष है। मन-प्राणवाक्-मय आत्मा के तीनों पादुकों से क्रमशः कारण-मुक्त-स्वतन्त्र-शरीरों का अभिर्माण हुआ है। इन तीन पादों के सम्बन्ध से तीनों में क्रमशः पराक्रम वीर्य, बल नाम के धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। मनोऽनुग कारणशरीर पराक्रम का अभिष्टता है, एवं मनुष्य इस का उदाहरण है। प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर वीर्य का अभिष्टता है, एवं सिंह इस का उदाहरण है। वागनुगत सूक्ष्म-शरीर बल का अभिष्टता है, एवं हाथी इसका उदाहरण है।

तीनों शब्द पुष्प पुष्प तीन अणों के बावक है। आप ही तीनों पुष्प-पूर्व एक दूसरे से गौरवान्वित हैं। यही कारण है कि, अपने शरीरवश से दो चार सिंहों को कुचलने की शक्ति रखता हुआ भी हाथी वीर्यशाली सिंह का आक्रमण नहीं सह सकता। इधर सिंह के दहनमात्र से क्षिप्त होकरने वाला मनुष्य पराक्रम के रज पर सिंह को पञ्जर ( पित्रे ) में बन्द कर देता है। प्राणानुगत गायत्री प्राणशक्ति से ही सुलोकस्थ योगापहरण में समर्थ होती है। प्राणशक्ति वीर्यात्मिका है। अतएव यहाँ 'वीर्य गायत्री' कह कर गवा है ॥ ॥

सामिपेनी श्रुचार्य आनेगी है, गायत्रिकृता है। इस से ब्रह्मवीर्य का आधान होगा। परन्तु अभी उसमें छत्रवीर्य के आधान की कमी है, जिस के बिना ब्रह्म का कोई काम समुद्र नहीं होसकता। ब्रह्म अग्नि गन्तामात्र है, कर्ता तो छत्र ही है। ब्रह्म-छत्र का गुण ही कर्म की समृद्धि का द्वार है ( देखिए एत ५।१।२ )। आवश्यक है कि, ब्रह्मसम्पत्ति-संग्रह के साथ साथ छत्रसम्पत्ति का भी यत्न में सम्बन्ध इतना बाध। इस के लिए ब्रह्मानुगा सुव-सम्पत्ति का सम्बन्ध अपेक्षित है। जिसप्रकार अग्नि ब्रह्मवीर्यात्मक है, तथैव इन्द्र छत्रवीर्यात्मक है। एषमेव अग्नि का गायत्रीछन्द जैसे ब्रह्मवीर्यात्मक है, वैसे-इन्द्र का त्रिपुष्पछन्द छत्रवीर्यात्मक है। इस सम्पत्ति का समष्टिरूप से स्वतः संग्रह होसकता है। सामिपेनी श्रुचार्य ११ है एवं त्रिपुष्पछन्द भी एकदराष्ट्र ही है। एक एक अक्षर एक एक मन्त्र व समुत्पन्न है। ११ व त्रिपुष्प के द्वारा प्रकृता सुव-सम्पत्ति प्राप्त होसकती है। परिणामतः हमारा भूधामि ब्रह्म, ब्रह्म, दोनों शीर्षों से समिद्ध बन जाता है। ११ ही सामिपेनी कवी हावी है। इस प्रश्न की यही संक्षेप उत्तरपति है ॥ ५ ॥

जिस पञ्चकर्म का यजमान कर्त्ता बनने वाला है उस पञ्च की स्थानुका समर्पि यही मानी गई है कि, इस में जो भी कर्म हों प्राकृतिक पञ्च के अनुरूप ही हों। इसी का पञ्चरिधास में "रूपसमृद्धि" कहा गया है। प्राकृतिक पञ्च में नवत्र त्रिद्विधास की प्रधानता देवी जाती है। विशेष पञ्चार्थ उस 'सबहुत' नामक त्रिद्विधास के स्वरूप पर ही दृष्टि डालण। महाविद्वज्ज की आरम्भभूमि प्राणामक १५म्भू है।

× "उरसा यादृग्गा पञ्चदश निरमिमीत। तमिन्द्रो द्रवतान्वसुन्पत, त्रिहृत् एन्द पदत् माम, राजन्यो मनप्याता, अवि पशुना तथमाधो बोधवन्त। वीर्या-उगमुजन्त' १० सं ५।१।५।५)।

एव च उपक्रम—“वद्वा सत्यं सूत्रं सत्यं नियतिं सत्यं” इस त्रिवृत्मात्र से ही हुआ है। दूसरा तत्त्वही भी इह-उह-भाग सम्बन्ध से त्रिवृत् ही बन रहा है। सूर्यपर्व भी उच्यते गौ-रायुः मेदः च त्रिवृत् ही है। चन्द्रमा भी ‘रत-भद्रा-यशो’ रूप से इस सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। पृथिवी भी ‘वाक्-गो-घट’ से नित्य युक्त है। इसप्रकार पाँच पर्वों से पादक कहलाने वाले इस विरचयक का उपक्रम (स्वयम्भू) गरुड [ परमेष्ठी ], मध्य [ सूर्य ], अवरपार्व [ चन्द्रमा ] उपसहार सब कुछ त्रिवृत् ही बना हुआ है।

शुक्लिकान की दृष्टि से भी वाक्-आप-अग्नि यह त्रिवृत्ता शास्त्रवी विरचयक का उपक्रम बन रही है एवं ‘अग्नि-आप-वाक्’ यह त्रिवृत्ता शास्त्रवी विरचयक का उपसहार बन रही है। यज्ञप्रवर्तक यज्ञिय-देव्य ‘अग्नि-वायु-आदित्य’ सम्पत्ति से युक्त रहते हुए त्रिवृत् बन रहे हैं। त्रि-सत्येवताओं का यजनरूप प्रत्यक्ष यज्ञकर्म इति त्रि-सम्पत्ति से युक्त है, जिस का ईशादि विज्ञानमाध्यमी में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

वैषम्य में होने वाले वीक्षा मुत्या-उपसन्त के त्रिवृत्मात्र से भी त्रिवृत् का यज्ञात्मक सिद्ध हो रहा है। ‘तीन पर आरम्भ तीन पर समाप्त’ यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का भी हमारे सामिधेनीकर्म में संग्रह होना चाहिए। इसी सम्पत्तिस्वरूप के लिए ११ मन्त्रों में से प्रथम, तथा अन्त के मन्त्रों का तीन बार अनुवचन होता है। आरम्भ का त्रि-अनुवचन प्राक्प्रीय-यज्ञसम्पात्त का, तथा अन्त का त्रि-अनुवचन उदयनीय-यज्ञसम्पत्ति का संघाटक बन रहा है। त्रि-त्रि-अनुवचन की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति अपेक्षित थी। इस सम्पत्ति के साथ साथ उसी सम्मानुगता प्रतिक्रिया से एक सम्पत्ति और मिल जाती है। आद्यन्त के त्रि-त्रि अनुवचन से ११ के स्थान में २५ सामिधेनी आचार्य हो जाती हैं। ‘इन्द्रो यज्ञं वृत्राय वज्रं प्रजहार’ [ शत १।६।४।१ ] इत्यादि पूर्वोक्त दमस्त्रिज्ञान से यह बतलाया गया है—क शस्त्रकला से आक्रमण करना वज्र हन्त का काम है। इन्द्र की महारथरिक्ति [ त्रियुन्वक्ति ] ही वज्र है। इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चरात्रसंख्यामात्र [ १५ संख्या ] है। अरण्य यही है कि, जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोम एव तन्नु गायत्रीकृत्य तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है एवमेव प्रजापति के उर, तथा वायुओं से ऋग्यजुश्चन्द्रस्तोम एवं तदनु त्रिष्टुप्कृत्य तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निब्रह्म ब्राह्मण है शस्त्र प्रहार कृता आभुवाचार करता इस का धर्म नहीं क्योंकि भुक्ति का इसके लिए— सर्वस्य वा धर्म ब्राह्मणो मित्र न वा धर्म कश्चन हिनस्ति [ शत २।१२।१६ ] यही आदेश है। इन्हीं अनुताय तथा यज्ञकर्म पर होने वाले स्वाभाविक अनुसारात्मक का निरोध भी अपेक्षित है। क्योंकि एकदशसम्पत्ति से त्रिष्टुप् के द्वारा इन्द्रयज्ञ का संग्रह हो जाता है। तथापि प्रजापति के साक्षात् वायुवीर्य से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चरात्रात्मक वायुय का संग्रह नहीं होता। यह काम इस पन्द्रह संख्या से

\*-अयैतानीन्द्रभक्तीन्यन्तरीक्षलोको, माघपन्दिन सवन, ग्रीष्म, स्थिष्टुप्, पञ्च-दशस्तोमो ब्रह्मसाम, ये च वैश्वानराः समाभ्नाता मध्यमं स्थान, याम स्थिप् १’  
—या० नि० ७।१०।१

पूरा होजाता है। यशस्वि ज्ञानप्रमर्मानुगत आयुष-सम्पत्ति से युक्त होजाता है। फल यह होता कि, इन + यज्ञरूप सामिपेनियों के अनुवचन-कर्मरूप यज्ञप्रहार करते समय यजमान जिस शत्रु को नष्ट करने की भावना प्रकट करता है, अवश्यमेव वह शत्रु नष्ट होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है ॥ ७ ॥

एक पक्ष की १५ रात्रियाँ होती हैं। इसी अष्टमास के 'परिप्लव' से आगे जाकर सम्प्रसारण का स्वरूप सम्पन्न होता है। जिसने एक पक्ष की रात्रियों का संग्रह कर लिया उसने इस अवयव के द्वारा पूरे सम्प्रसार की रात्रियों का संग्रह करते हुए सम्प्रसारसम्पत्ति ही प्राप्त करली। वह सम्प्रसारयज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति ही पञ्चदशसंख्या का वृत्तफल है।

अवयव अवयवी के बिना अरूण है। असमृद्ध है। साय ही वरापूर्णमास का प्राकृतिक पञ्चाग्नि-सोम से सम्बन्ध है अतएव इसे सम्प्रसार का अवयव माना जायगा। इस की पूर्णता के लिए, समृद्धि के लिए अवयवी का सम्बन्ध अपेक्षित है। वह अन्न भी इस पञ्चदशसंख्या से गतार्थ होजाता है। यही पञ्चदश-संख्या की तीसरी उपपत्ति है।

'अग्निहोत्र वरापूर्णमास चातुर्मास्य पशुसम्बन्ध ज्योतिषोम' के पाँचों भेष यज्ञ रूप प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य अहोरात्रयज्ञ, पक्षयज्ञ, शत्रुयज्ञ, अवयवयज्ञ, सम्प्रसारयज्ञ इन पाँच यज्ञों के प्रतिरूप हैं। दशपूर्णमास क्योंकि प्राकृतिक पक्षयज्ञ का प्रतिरूप है पक्ष में १५ संख्या का समावेश है। अतएव यहाँ १५ संख्या के समावेश से उस पक्षयज्ञ की अनुकृपा भी प्राप्त होजाती है। यही पञ्चदशसंख्या की चौथी उपपत्ति है ॥ ८ ॥

प्रत्येक गायत्रीसूक्त के [ विपदाप्रायत्री के ] तीन तीन पाद होते हैं प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं सम्भूत एक गायत्री के २४ अक्षर होजाते हैं। १५ के सम्बन्ध से १५ गायत्रीसूक्त एक सामिपेनी श्रुचाओं के प्रत्येक के २४ के अनुपात से कुल ३६ अक्षर होजाते हैं। उधर एक सम्प्रसारयज्ञ में ३६० ही अक्षर होते हैं। इस पन्द्रह संख्या से सम्प्रसार गायत्री के १६० अक्षरों से सम्प्रसार के ३६ अक्षरों का समानान्तर है। इस रूप से साक्षात् ही सम्प्रसारयज्ञसम्पत्ति का स्मरण होजाता है। यही पञ्चदश सम्पत्ति की पाँचवी उपपत्ति है ॥ ९ ॥

यदि दशपूर्णमास में काश्चेति अपवृत्त है तो उस समय १५ के स्थान में १० सामिपेनियाँ होती हैं। 'धाप्या नामक हो श्रुत मन्त्री का ( यदि सामिप्यमानो अपवरे-समिद्ध अग्न आहुतं इमं रात्री मन्त्री के मध्य में पठित होने से सामिप्यमान-समिद्धमग्नी नाम से व्युद्गत हुए हैं ) अग्नौ होर का किया जाता है। इस तरह मन्त्रों की यही उपपत्ति है कि, इस से सर्वप्रथम ( अग्नीध्रधाम, दिव्ये लिए कि 'धाम्यसि' की जाती है ) पूर्ण होजाता है। सर्वशाम्यति वा मृताधार मय प्रमपति

— अथास्य कर्मरमानुषदानं इत्यवधा, या च का च वत्तकति, रिन्द्रकर्म-वत्' ( या० नि० ७।१०।२ ) ।



है। भूगमस्थ इय प्रजापति अनिरुक्त है। इस ही 'कः' नाम से स्पष्टीकृत किया गया है। इस केन्द्रस्थ उक्त अनिरुक्त प्रजापति का वाक्य महिमास्तुतः कथञ्चन क आचार पर आगे वाक्य पार्थिव-सम्बन्धरूप में अक्षरूप से मिलान होता है। वही इस का सर्वरूप है, उस ही सर्वप्रजापति' कहा गया है। जो कि 'स' नाम से स्पष्टीकृत हुआ है। सत्त्वमक इस सम्बन्धप्रजापति के स्पष्टि-समाप्ति-रूप से दो विवचन हैं। स्पष्टिस्तु इस के अवयव हैं समष्टिस्तु अवयवी हैं। १२ मास ५ श्रुतये इस के अवयव हैं। इन की समष्टि ही सम्बन्ध है। इन १३ अवयवीं से यह प्रजापति 'सप्तदश' बना हुआ है। काम्येष्टि से काम्यूर्ति अर्थात्तु है। काम्यूर्ति सप्तदशप्रजापति है इस प्रकार सप्तदश सामिपनी के अनुबन्धन से उस सप्तदश, काम्यूर्ति प्रजापति का संग्रह होता है काम्यूर्ति होता है। यही सप्तदश संख्या की उपपत्ति है।

काम्येष्टि के देवता का उपांशुरूप से यज्ञ होता है। उपांशुमात्र अनिरुक्तभाव का प्राहक है। उपर अनिरुक्तभाव सर्वरूप का सप्ताहक माना गया है। प्रत्येक शब्द की स्फुटिज्ञानार्थतावच्छेदकत्वान्तर में ही शक्ति मानी गई है। इसीलिए प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही वाचक है। स्पष्टिरूप से ही वस्तुओं का शब्द का द्वाय निर्बचन सम्भव है। परन्तु समष्टि के लिए 'मय' शब्द का अतिरिक्त और किसी शब्द का व्यवहार नहीं होता। उपांशु अनिरुक्त है अनिरुक्त स्वभाव है वही स्वयम् यही अर्थात्तु है। इसीलिए (सर्वनामसमुद्धि के लिए ही) यही उपांशु यज्ञ होता है। उपांशुमात्र सत्त्वमक अनिरुक्तभाव का ही सप्ताहक है यही वाच्य है। इसके साथ ही श्रुति लाक्षणिक से यह भी सिद्ध है यही है कि यदि तुम्हें अपने काम्यकर्म की सिद्धि अपेक्षित है तो कर्माचक कर्म का उपांशुरूप से (उपचाय-किन्ना किसी से कहें) ही अनुगमन करना चाहिए। लाक्षणिक काम्य कर्म ही अथवा शास्त्रीय उस का वस्तुप्रयोग करने से कर्म निरुक्त बनता हुआ अनिरुक्त आत्मप्रजापति की शक्ति से बद्ध होता है। वागिन्द्रिय का प्रजापति से सम्बन्ध नहीं है बल्कि कि— स प्रजापतिमनस एवानुपाय। तस्मात्तु किञ्च प्रजापत्यं यज्ञे क्रियते उपाधेय तत् क्रियते। अहव्यवाहि वाक् प्रजापत्य आसीत् (शत १।१।१२।) इत्यादि रूप से आगे विस्तार से क्लृप्ताया जाने वाला है। यह विस्तार करने योग्य है कि जो व्यक्ति अपने कर्म का वागिन्द्रिय से स्थान करने लग जाते हैं व आत्मवैश्याग कोते हुए कर्मसमुद्धि से सर्वथा बद्ध ही होता है। सचमुच प्रज्ञान ही अत्यसिद्धि का अन्त्यतम शत्रु है ॥११॥

दर्शपूर्णमास के सम्बन्ध में कितने ही याज्ञिक २१ सामिपनियों का अनुबन्धन आवश्यक मानते हैं। इस की उपपत्ति वे यह बतलाते हैं कि १ मास ५ श्रुतये, ३ लोक, इस प्रकार सम्बन्धरूप के २ कार्य हैं। १ श्रुतये सूर्य है। यही इस सम्बन्धरूप की अन्तिम गति, तथा प्रतिष्ठा है। यदि यही मा २१ सामिपनियों का अनुबन्धन होगा तो २ सम्बन्ध म तो वागमयुजिन उक्त मास २ सम्बन्धरूपों का संग्रह होजायगा एवं २१ की के अनुबन्धन से सूर्यप्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी ॥११॥

पद्मवैशानिक याज्ञिकस्तु उक्त उपपत्ति का उपहास करत हुए कहते हैं कि, जो यज्ञमान स्वया भीष्टम् है अमतिष्ठत है उन्नीक लिए २१ का अनुबन्धन करना चाहिए। अथवा जो ऐसा होगा, वही गुरु पत्नी भी की कामना म २१ का समर्थन करेगा। मत्ता एव भीष्टम् यज्ञमान दृष्टान्तमात्र का आरम्भ

## चतुर्थ अध्याय उपक्रान्त

४

चौथे अध्याय में पहिला, एव तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण  
सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण

—२—

आग्नेयी सामिधेनी गायत्रीछन्द ११ मूळसंख्या आद्यन्त क मन्त्रो की त्रिराष्ट्रि-  
‘पञ्चदश संख्या’ ‘अग्रेष्टयनुगता सप्तदश संख्या, आद्यन्त के दानों त्रिचों का एकत्रस में  
उच्चारण, ८१५ हां सामिधेनी मन्त्रों का सन्तत-अविच्छिन्न उच्चारण इन विशेषणों से कमरा  
‘अग्निश्वरूप-प्राप्तिपूर्वक ब्रह्मवीर्याधान, १ प्राप्तिस्थिक गायत्रीवीर्याधान २ ब्रह्मवीर्याधान,  
प्रायणीयोदयनीयानुगता अष्टिचतुर्विंशसम्पत्तिसंग्रह, १ वज्रसम्पत्ति-रात्रिसम्पत्ति अह्नसम्पत्ति  
‘अनिरुद्रनुगता सप्तसम्पत्तिसंग्रह, २ लोक-प्राणसर्पसप्तसंग्रह, ३ अहोरात्र की अनन्यमोक्षता  
इन पक्षां का वैतपथिक निरूपण ही पूर्वब्राह्मण के परिगणित विषय हैं। अब सामिधेनियों के सम्बन्ध में  
ही सामासिकता एक विशेषण कहलाते हुए इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण किया जाता है।

वित प्राकृतिक यज्ञ से सम्पूर्ण प्रका की उत्पत्ति हुई है यह प्राकृतिक यज्ञ सत्त्व पर ही प्रति-  
ष्ठित है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आया है—

‘प्रजापति की सन्तान होने से ‘प्राजापत्य’ इस उपनाम से प्रसिद्ध देवता आर अमुर,  
दोनो पिताप्रजापति के साथ (सम्पत्ति) का विभाग कराने की इच्छा से प्रजापति क ममीप  
प्रणतभाव से (व्यता), एवं अधिकार-भाषना से (अमुः) उपस्थिति हुए। प्रजापति क  
दायादकोश (निजी सन्निधित सम्पत्ति) अपनी ‘सत्य और अनृत’ नाम की दामयौ  
सम्पत्ति ही प्रधान थी। प्रजापति न आधा सत्य, आधा अनृत ता व्यताओं में बाँट दिया,  
एवं आधा सत्य क्या आधा अनृत अमुरों में बाँट दिया। इसलियोंने चाहा कि, अपने भाग  
का आधा अनृत यदि अमुर लें तो तत्स्थान में अपना आधा सत्य अपने का रहें ता बड़ा  
अच्छा हो। इसीप्रकार अमुरों भी यही चाहा कि, अपने को जो आधा सत्य प्राप्त हो वह  
व्यता लें और वहन में आधा अनृत हमें रहें ता बड़ा अच्छा हो। आग जादरगा हा  
दूधा। फलन-इपनाओं क दायाद में सम्पूर्ण सत्य आगया, एवं अमुरों क दायाद में सम्पूर्ण  
अनृत आगया।

अपने इस कृत्स्न सत्य को प्राप्त कर वंशजाओंमें यह निरवय किया कि, अपन यज्ञ कर के इस सत्य को त्रैलोक्य में फैलावें। वंशजाओंमें ऐसा ही किया। जिस यज्ञ के आधार पर वेदवाच्योंमें वाक्सत्य का बितान किया था वह वाक् सत्य यही त्रयीविद्या है' (शत० ६।१।१ ब्रा०)।

उक्त आख्यान की वैज्ञानिक-व्याख्या की ओर न आते हुए प्रकृत में इस से यही बखाना है कि, सत्य और यज्ञ का अनिष्ट सम्बन्ध है। यज्ञ से ही सत्य का बितान होता है एवं सत्य के आधार पर ही यज्ञकर्म सम्पादित होता है। यह सत्यतत्त्व अग्नि के शब्दों में ही— 'अक्-यजुः-सामात्मिका त्रयीविद्या' ही है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि त्रयीवेद ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है, जिस वत्सारिमका त्रयीविद्या का शब्दात्मक अवग्रन्थों में निरूपण हुआ है।

'अक्-यजुः-साम' तीनों तत्त्वों के आधार पर हय प्रजापति यज्ञ करने में समय हुए हैं। अक्-वेद से अग्निवत्त्व का यजुः से वायु का तथा साम से आवित्य का आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेदोत्पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्पर सङ्गम ही 'यज्ञ' है \*।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड एक एक स्वतन्त्र यज्ञसंस्था है। इस प्रत्येक यज्ञस्था में 'पद् पुनःपद्म्' भेद से दो दो पर्व हैं। स्वयं वस्तुपिण्ड पद्म् है एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र से प्राणरूप से निकल कर वस्तुपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्यन्त अपनी व्याप्ति करने वाला बहिर्मुखित उस वस्तुपिण्ड का 'पुनःपद्म्' है। इसी पुनःपद को 'महिमामण्डल साहस्रीमण्डल' 'षण्दकारमण्डल'—'विश्वरूप' आदि नामों से व्यक्त किया गया है।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड को वस्तुपिण्ड वस्तुमहिमामण्डल, एवं पिण्ड-मण्डलान्तर्गत वस्तुतत्त्व भेद से तीन भागों में विभक्त देखा जासकता है। पिण्ड की कोई क्वाचिन्न वस्तु नहीं है अपितु आकाशमात्र है। मण्डल भी कोई क्वाचिन्न पदार्थ नहीं है अपितु आकाशमात्र है। जिस का यह पिण्ड है, जिस का यह मण्डल है पिण्ड, तथा मण्डल से पिण्डाभित-मण्डलाभ्यन्त यही तत्त्व क्वाचिन्न पदार्थ है। पिण्डाभित सीमा अन्तःसीमा है एवं मण्डलाभित सीमा बहिःसीमा है। इन दोनों सीमाओं से पिण्ड-मण्डल-गत वस्तुतत्त्व सीमित बना हुआ है। पिण्डसीमा ही जिस कि हम 'मूर्ति' कहेंगे 'अग्रवद्' है। मण्डलसीमा को ही 'सामवद्' कहा जायगा एवं उस सीमे से सीमित-क्वाचिन्न वस्तुतत्त्व को 'यजुर्वेद' कहा जायगा। इसप्रकार इस त्रयीदृष्टि से प्रत्येक वस्तु में त्रयीवेद की उपलब्धि होरही है। दूसरे शब्दों में—त्रयीविद्या के गम में ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होरही है जैसा कि—'अयं याव विद्यायां सर्वाणि भूतानि (शत० १०।१।२।२९) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित हैं।

अग्रवद् सामवद् ही सामवद् बितानवेद है एवं यजुर्वेद रसवद् है, जैसा कि उपनिष-विज्ञानभाष्यभूमिषदि में विस्तार से प्रतिपादित है। छन्दो-लक्षण अग्रवद् मूर्ति का निर्माण है। बितानलक्षण सामवद् मूर्तिमण्डल-लक्षण याज्ञ तेजोमण्डल का स्वरूपसमपक है, एवं रसलक्षण

\*—'अग्नि-वायु-रावम्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

इदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलघुसम्' (मनु.)।

यजुर्वेद मूर्तिमखलान्वयर्षी रसात्मक गतिमात्र का प्रयत्नक है \* । इस वाक्तिक वेदस्वरूप-विवेचन से निष्कर्ष यही निकला कि, वेदत्रयी के आधार पर जिस यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति बतलाई गई है, उस का प्रधान स्थान परिमखलान्वय विधानलक्षण सामवेद ही बन रहा है ।

पूर्व में साम का आविर्भाव से सम्बन्ध बतलाया गया है । पाठकों को सम्मत्त यह भी हमरा होना कि, हमन पूर्वब्राह्मण के विवेचना-प्रकरण में 'स्वरविज्ञान' का स्पष्टीकरण करते हुए यह कृत्याया था कि, स्वर का आविर्भाव से सम्बन्ध है एवं स्वर्ताकस्थ विद्यमप्राणदेवता भी स्वररत्मक ही है । इन स्वररत्मक प्रणयदेवताओं का परस्पर यजन ही यज्ञ है । स्वररत्मक आविर्भावरत्मक है आविर्भाव सामरत्मक है । फलतः 'स्वर' और 'साम' की एकरूपता सिद्ध होबती है । पिबद्वात्मिक अक्षर यवि पद्यस्थानीया है, मन्त्रस्थित यजु यवि गतिधर्म से गद्यस्थानीय है, सो मयडलात्मक साम इसी विधानरत्मक स्वररत्मक स गेयरत्मक है । विधान ही गान है, गान ही साम है, साम ही तत्तद्वस्तु-महिमा-मयडल की अवसान मूमि है ।

केन्द्र से बाहर परिधि-पर्यन्त वर्तुलरुच्याररत्मक यह स मयडल होते हैं । अतएव सामरत्मक स्वर-कर्मों कृत्याया है । इस स्वररूप में साम के उस स्वरूप का होने विचार करना है जिस की सीमा के मम में पार्थिव सम्पत्तरयज्ञ प्रतिष्ठित है । इस सम्पत्तरयज्ञ का विधान मृगुष्ट से आरम्भ कर २१ एकविंशत्वेम पर्यन्त होता है । २१ स्वेमपर्यन्त पार्थिव मयडल ही 'रयन्तरसाम' कृत्याया है । त्रिष्टुप्ति पञ्चद-शषामु, एकविंश आविर्भाव, ये मुख्य देवता, अग्निप्रमुख आठ वसुगाय, वसुप्रमुख ११ रुद्रगाय आविर्भावप्रमुख १२ आविर्भावप्रमुख १ प्रजापति, १ वषट्कार ११ प्रथमदेवता यजिष्यदेवता कृत्याया है + । इन यजिष्य देवताओं से ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । यह यज्ञमयडलरत्मक महिमाप्रयडल उभयव-परितः—उत्ती विधानरत्मक साम से परिषदीत है ।

दूसरी दृष्टि से समन्वयि का विचार कीजिए । पार्थिव सामश्रुती की इराश्रुत सूरश्रुत (भूपिरड), त्रिष्टुप्ति पञ्चदशश्रुत, सप्तदशश्रुत एकविंशश्रुत पातावतश्रुत मेर से खल नागी में विमल विद्य बालकता है । ये खली श्रुत सामपरिमणों में क्रमशः हिकर प्रस्ताव आदि खूगीय प्रतीहार उपद्रव, निचन इन नामों से सम्बद्धत हुए हैं । यदि त्रिष्टु का सूरश्रुत में खलर्माय करलिया अथ है वा वष-तिश्रुश्रुत एक स्वररुत श्रुत बन आता है । उस समय इराश्रुत त्रिष्टुन्तःश्रुत-दरश्रुत, सप्त-दशश्रुत, एकविंशश्रुत, यजिष्यश्रुत, पातावतश्रुत ( अज्ञानस्थारिराश्रुत ) इस रूप से खल श्रुत

• "मूम्यो जाता सर्वशो मूर्चिमाहुः, सवा गतियाजुषी हेव यस्वन् ।

सर्वं तेव मामरूप्यं इ यस्वन्, सर्वं हीदं प्रथया हेव यस्वन्" ॥

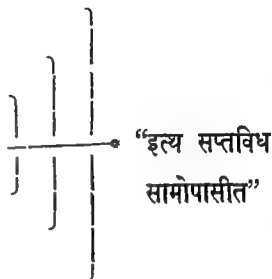
—ते मा० ३।२२८।२७

— "इति स्तुतामो अतथा रिशादसो येस्य श्रयश्च त्रिशण्य ।

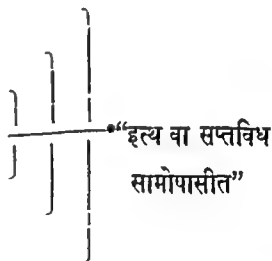
मनोर्देवा यजिष्याम" ॥ [ ८।३०।३। ] ।

होते हैं। यदि ह्यपृष्ठ का मृपृष्ठ में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो त्रिणय के समावेश से बातृपृष्ठ होशते हैं। इसप्रकार 'सोकेषु सप्तविधं सामोपासीत' इस अनुगममन्त्र का तीन प्रकार से सम्प्रत्य किया जासकता है।

- १—ह्यपृष्ठ (केन्द्र)—दिङ्कार—
- २—स्वर्यपृष्ठ (भूपिण्ड) प्रस्ताव—
- ३—त्रिषुतपृष्ठ (६)—आदि —
- ४—पञ्चदशपृष्ठ (१५)—उङ्गीथ—
- ५—सप्तदशपृष्ठ (१७)—प्रतीहार
- ६—एकविंशपृष्ठ (२१)—उपद्रव—
- ७—पारावतपृष्ठ (४८)—निघन—



- १—ह्यपृष्ठ— (केन्द्र)—दिङ्कार
- २—त्रिषुदन्तर्भृपृष्ठ (६)—प्रस्ताव
- ३—पञ्चदशपृष्ठ (१५)—आदि
- ४—सप्तदशपृष्ठ (१७)—उङ्गीथ
- ५—एकविंशपृष्ठ (२१)—प्रतीहार
- ६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ (३३)—उपद्रव
- ७—अष्टावच्चारिंशत्पृष्ठ (४८)—निघन



१—इत् त्रिशदन्तर्भूषणं द्विह्वार—

२—पञ्चदशपृष्ठ—प्रस्ताव

३—सप्तदशपृष्ठ—आदि

४—एकविंशपृष्ठ—उद्गीथ—

५—त्रिंशपृष्ठ—प्रतीहार

६—अष्टविंशपृष्ठ—उपत्रव

७—अष्टावस्वारिशतपृष्ठ निघन

“इत्थ वा सप्तविधं  
सामोपासीत”

१—भूषणं—द्विह्वार—

२—त्रिशदपृष्ठ प्रस्ताव

३—पञ्चदशपृष्ठ आदि

४—सप्तदशपृष्ठ उद्गीथ—

५—एकविंशपृष्ठ प्रतीहार

६—त्रिंशपृष्ठ—उपत्रव

७—अष्टविंशपृष्ठ—निघन—

“इत्थ वा सप्तविधं  
सामोपासीत”

उक्त साम नियमों की निरूपणा की ओर न जाते हुए यहाँ में हमें केवल यही बातना है कि, अमरान की प्रकृति-युक्त की प्रतिष्ठा है। इस अमरान की उक्त उक्त हुए सिद्धि का, यही सामान्य मरुत साम का प्राथमिक उद्देश्य होता है। अमरानों के द्विह्वार नाम से अमरान कहा है। यही अमरानों की प्रकृति-युक्त उक्त मरुत साम में प्रतिष्ठित उक्त मरुत साम से अमरान कहा है। द्विह्वार नाम यही अमरानों की प्रकृति-युक्त मरुत साम में ‘उद्गीथान्तर’ रूप से प्रतिष्ठित होता है। यही अमरानों में यही अमरानों की प्रकृति-युक्त मरुत साम में ‘अष्टविंशान्तर’ कहा जाता है। इस प्रकार द्विह्वार-युक्त मरुत साम के अमरान से अमरान नाम पड़ने का उद्देश्य है।

अब सक्षेप से सङ्गीतदृष्टि से मी हिङ्काररूपक साम की मीमांसा कर लीजिए। नाद स्वर, भुति शब्दादि भेद से सङ्गीत के अनेक पर्व माने गए हैं। इन में नाद ही सङ्गीत की सर्वमूलभित्ति है। नादभ्रम के आधार पर ही भुति का उत्पान होता है। भुति के द्वारा ही स्वर का आविर्भाव होता है एवं स्वर ही आगे जाकर शब्दव्यभिचयिका का जनक बनता है।

## सङ्गीतानुगत-नाद-श्रुति-स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

समानुगत 'हिङ्कार' के सम्बन्ध-प्रसङ्ग में नाद-भुति-स्वर' मार्गों से समन्वि। उक्त 'सङ्गीत' की स्वरूप-मीमांसा का मी हमें दो शब्दों में यथोगान कर लेना चाहिए, जिस इत्यभूत 'सङ्गीत' को आत्मबुद्धि से स्पर्शित साधनमूला निष्पन्न से अवस्थित ही मानते हुए श्रुतिप्रज्ञा ने आत्मबुद्धिनिष्ठा-प्रधान एवम् ऐश्वर्य 'आकाश' के लिए तो स्पर्शमना नियन्त्रित ही कर दिया है वैशक्ति-तत्त्वस्य आकाशो न नृत्येत न गायेत' इत्यादि श्रुति-छन्दसं स स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है। इस प्रमाणन का कारण भी स्पष्टतम है। प्रकृति के तात्त्विक स्वरूप के परीक्षक वैज्ञानिक महर्षिभिर्न मानवीय मन का एक प्रधान दोष माना है—आकाश, एवं मानवीय शरीर का एक प्रधान दोष माना है 'आकाश'। एवं गायन-नचन-वाद्यत्मक सङ्गीत में वेन केन रूपेण ये श्रुती दोष न्यूनाधिकमात्रा से समिविष्ट रहते ही हैं। इन दोनों से—क्रमशः मनोऽनुगत-आकाश दोष से तो मानवीय आत्मा की चिन्तन-निषिध्यासन-मूला-संश्रित शक्ति अभिमूत हावाती है एवं शरीरानुगत 'मात्स्व्य' दोषसे मानवीय बुद्धि का निष्ठानुगत-स्वभावमात्मक-श्रुतिगुण अभिमूत हावाता है। 'मात्स्व्यदोष' को सङ्गीत के 'नृत्यविभाग' में समाविष्ट माना गया है जिस 'नृत्याङ्ग' का प्रधानरूप के शरीर से ही सम्बन्ध है। एवं 'आकाशदोष' को सङ्गीत के 'गायनविभाग' में समाविष्ट माना गया है जिस गायनाङ्ग का प्रधानरूप स मन से ही सम्बन्ध माना गया है।

दोनों दोषों के स्वरूप के सम्बन्ध में बात कुछ समझने देवी है। प्रकृतिस्मिन् पञ्चवर्षा प्राकृत-विशेष के सुप्रसिद्ध 'चन्द्रमा' से तो मानवीय 'मन' का स्वरूप-निर्माण हुआ है एवं भूपथ (पार्थिवभौतिक-भूपिण्ड) से मानवीय शरीर' की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है। चान्द्र मयबल सौम्य-गन्धर्व-प्राण की आवासभूमि माना गया है एवं पार्थिव मयबल अदृश्यः पृथिवी' रूप से आप्यप्राणात्मक-अप्सरप्राण की आवासभूमि माना गया है मनोऽनुगत चान्द्र गन्धर्वप्राण ही गायन का प्रवक्तृक है एवं शरीरानुगत पार्थिव अप्सराप्राण ही नचन का प्रवक्तृक है। हास परिहास आमाय प्रमोद क्रोडा रति, आदि आदि मन-शरीर-निकम्बन यथयाङ्ग आमोग चान्द्र-पार्थिव-गन्धर्व तथा अप्सरा प्राणों से ही अनुपायित माने गए हैं वैशक्ति निम्न लिखित कतिपय श्रुतिवचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

### (१)-मनोविभूतय —

१—असां वै सोमा राजा धिचक्षणाश्चन्द्रमा (फो० मा० उप० ८४। ३। १०)।

२—चन्द्रमा गन्धर्व (यजु स १८। १०) (शत ६। ४। ४। ३। १)।

३—रूपमिति गन्धर्वा—उपासत (शत० १०। १। २। २०। १)।





प्रतिष्ठित माने गए है, तैसाकि— 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमान' इत्यादि यजु-भुक्ति स प्रमाणित है । इस कन्धस्थ आग्नेय-पार्थिव-प्रधापति का प्राणमहिमात्मक परबल ही वह 'नादमण्डल' है जिस के गर्भ में अग्नि, तथा स्वरात्मक-सङ्गीत अभिव्याप्त रहता है जिस इस नाद भुक्ति-समन्वयात्मक सङ्गीत में इष्ट प्राजापत्य अग्नि ( कामाग्नि ), मन वायव्यप्राण तदनुप्राणित उवाच-अनुवाच-स्वरित-नामक स्वर ( मन्द्-मध्य-सार-नाम की स्वरवर्णी ) एवं व्यञ्जनात्मिका अग्निर्भाषोपसा वैखरीषाक् ये माव समन्वित रहते हैं, बिनके स्वरूप-समन्वय के लिए सङ्गीतरास्त्र के सुप्रसिद्ध इन पञ्चों की ओर ही सङ्गीत-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया गया है—

चैतन्य सर्वभूतानां विवृत्त जगदात्मना ॥

'नादब्रह्म' तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥

नादोपासनया देवा ब्रह्म विष्णु-महेश्वरा ॥

मधन्त्युपासिता नून यस्मादत्ते तदात्मका ॥२॥

आत्मा विषयमाणोऽयं मन प्रेरयते, मनः-॥

दहस्थं वह्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥३॥

ब्रह्मप्रन्धिस्थित सोऽयं क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ॥

नाभि-इत्-कण्ठ मूर्द्धा-स्थे-वामिर्भावयते चनिम् ॥४॥

नादोऽसि सूक्ष्म सूक्ष्मश्च, पुष्टो, शुष्पश्च, कृत्रिम ॥

इति पञ्चामिषो घनो पञ्चस्थानस्थित क्रमात् ॥

'न'-कार 'प्राण' नामान, 'द'-कार 'अनल' विदु ॥

जात प्राणाग्निसयोगात्, तेन 'नादो'ऽभिधीयते ॥५॥

व्यवहार त्वसां त्रैधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते ॥

कण्ठ मध्यो, मूर्ध्नि तारो, द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥७॥

—राङ्गवैभविरचित-सङ्गीतरत्नाकरे-स्वराध्याय-

अनबनित-भाषना-संस्कारपुष्कों से तथा कम्मबनित-वासना-संस्कारपुष्टों से पुञ्जीभूत एवं सम्पुष्टि कर्मभोक्ता कर्मकर्त्ता देही ('जीव' नामक 'आत्मा') अपनी खेरी बुद्धि के साथ समन्वित होकर ही मानव की प्रारब्ध-कर्मबनित देहलोकिकी जीवनयात्रा का अभिगन्ता बना रहता है । ईश्वरभूत भोक्तामा से सम्प्लित प्रेरणात्मिका बुद्धि के प्रेरणाफल को अपनी आधार बना कर पान्द्र स्येम् प्राणायाम मानवीय मन इन्द्रियों के माध्यम से भोक्तामा के अमानवीय शुभ-अशुभ-संस्कारों के अनुपात से ऐन्द्रियक-भौतिक अर्थों-विषयों की वामना किया रहता है जिस इस अभ्यक्षमना ( विषयक्षमना ) को हम आत्मा की इच्छा कह सकते हैं

४—पोषित्वा मा वै गन्धर्वा ( शत० ३।२।३।३ ) ।

५—स्त्रीकृमा वै गन्धर्वा ( ऐ० ब्रा० १।२।५ ) ।

६—मनो मे, रेतो मे, पुन सम्पूतिर्मे, तन्मे त्वयि कन्द्रमसि  
( जै० व० ब्रा० १।२।५।४ ) ।

७—गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, सन्मे युष्मसु गन्धर्वे  
( जै० व० ब्रा० ३।२।५।५ ) ।

## (२)—शरीरविभूतय —

१—इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा ( ऋजुसं० ३।४।५ )-शत० १।४।१।२।१०

२—अदम्य पृथिवी ( वै० उप २।१।१ ) ।

३—गन्ध इत्यप्सरसः-उपासते ( शत १।५।२।००।१ ) ।

४—किन्तु मेऽस्मासु-अप्सरसु इति १-हासो मे, क्रीडा मे,  
मिथुनस्मे ( जै व ३।२।५।६ ) ।

५—गन्धेनैव च रूपेण गन्धर्वाप्सरसरश्चरन्ति ( शत ३।४।१।४।१ ) ।

पान्द्रमनोऽनुगत गन्धवप्राण, एवं पार्ष्णिशरीरानुगत अप्सराप्राण, इन दोनों प्राणविक-  
प्राणों के आचार पर सुप्रसिद्ध-‘तुम्बुरु’ तथा-गन्धवप्राणानुगत-नारद ( पारमष्ठ्य-आपोमय-नार-  
दवर्चक प्राण ) नामक श्रुतिप्राणी के समन्वय से ही दू-न-गो-त-वायस्य-मनःशरीरनिबन्धन ‘सङ्गीत  
अविर्भाव हुआ है । तुम्बुरु श्रुतिप्राण का आचर ‘त’ कर, नायक श्रुतिप्राण का आचर-‘न’ कर  
वर्ण ‘श्रुति’ का आचर- कर इन तीनों त-न-र’ अक्षरों की समन्वय इनी तत्त्व के आचार पर  
सङ्गीतविद्याओं के सङ्गीतोपक्रमों मात्रात्मिक-उपकरण बन रही है वैश्वदि-‘त-न-न-रीम्-त-न-न-  
रीम्’ - ( ‘व-तुम्बुरु, ‘न नारद, र-श्रुति - अथात-तुम्बुरु-नारद-नामक-सङ्गीतस्वरमय’ शक  
श्रुतियों का संस्मरण करके ही हम सङ्गीत आरम्भ कर रहे हैं )—इत्यादि से प्रसिद्ध है ।

गन्धर्ववायस्य मन के साथ प्रधानरूप से ‘तुम्बुरुप्राण’ का सम्बन्ध है, एवं अप्सरावायस्य  
शरीर के साथ प्रधानरूप से-नारदप्राण’ का सम्बन्ध है । पान्द्रमनो-पार्ष्णि-शरीर के अन्दर में प्रिय  
( मत्स्य-भूत )- पितृनिधय ( अमृत-प्राण )-नमःस्वात्मक - अमृत - मृगुनय ० आधेय पदार्थ ।

० ‘अदं ह वै प्रजापतस्तमना मर्त्यमामीदृममृतम्’

—शतसंस्कार

अमृतं पितृ मृत्युरप सत्सवाहमनुने ।” ( गीतावाक्य ) ।

(१)-यत्रैतत्-अस्मिन्-शरीरे संस्पर्शेन-उष्णिमान विज्ञानाति, तस्यैषा भूति ।  
यत्रैतत्-कण्ठा-अपिगृह्य निनदमिव नदयुरिव-अग्नेरिव ज्वलत उपशयोति, तदेतत्-  
एष च, धृतश्च-इत्युपासीत् ।

—छान्दोग्योपनिषत् २।१।२।

(२)-अयमग्निर्गैरवानर-योज्यमन्तः पुरुषे, येनेदमन्न पच्यते, यदिदमघते ।  
तस्यैष घोषो भवति-यमेतत्-कण्ठा-अपिधाय शृणोति ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ३।६।१।

आत्मबुद्धि-समन्विता मानसेच्छा का प्रथमाधातु इसी तथाकथित वैश्वानर-अग्नि पर होता है । इस  
आधातु से प्रत्याहित वैश्वानर अग्नि का आधातु तत्रैव व्याप्त-वायव्यप्राण पर होता है । आहित वैश्वानर  
अग्नि से प्रत्याहत वायव्यप्राण ही आग्नेयप्राण से समन्वित होता हुआ-शरीरधाराका प्रवेश में कर्त्तव्य उद्वहन्त  
होता हुआ शब्देत्पत्ति का कारण बन जाता है, जैसाकि-वायुः स्रात्-शब्दस्तत् इत्यादि प्रातिशाक्य-सिद्धान्त  
से भी स्पष्ट है । अग्नि ही मरुत् के सहयोग से क्वाकिं यो ध्वस्यात्मिका-यागुरूप में परिणत होता रहता है,  
अतएव सिद्ध है कि, मानव का शारीरिक-वैश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्यक्ति में आकर कण्ठ से  
वर्धित हो जाता हुआ शब्दमयी वैखरीवाक् ( मत्स्या वाक् ) रूप में परिणत होता रहता है ।  
अग्निपागभूत्त्या मुत्वं प्राविशत् इत्यादि आपनिषत्-सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं ।  
यही कारण है कि, अधिक शब्दोच्चारण से उच्च स्वर से उच्चारण करने से शरीर विकम्पित होपड़ता है,  
मुत्वं च परिशुष्यति । अराक्षि का अनुभव होने लगता है । यां प्रत्यक्ष में ही हमारा अग्नि ही शब्देत्पत्ति का  
मूलप्रवक्तृ प्रमाणित हो रहा है ।

ब्रह्मप्रणि ( मूलधार ) में आपानप्राण प्रतिष्ठित है, ब्रह्महृत् ( केन्द्र ) में व्यानप्राण प्रतिष्ठित  
है कण्ठ में उदानप्राण प्रतिष्ठित है । एका मूर्द्धांगक्षित ब्रह्मरन्ध्र में (आ कि 'नान्दनधार' नाम से प्रसिद्ध है)  
ऐन्द्र-विज्ञानप्राण प्रतिष्ठित है । यों प्रणि इन्द्र-कण्ठ-रन्ध्र-भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान-किन्तु  
होयते हैं जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाँचवें-आस्य ( मुख ) स्थान को  
अपना अन्तिम अभिष्ठान बनाता है । वैश्वानराग्नि का पूर्वोक्त नाद ही इन पाँच स्थानों के भेद से  
पञ्चवा विभक्त होता हुआ प्रक्षाय-अनुगत अतिसूक्ष्मनाद, प्रक्षय-अनुगत सूक्ष्मनाद, फण्ड-अनुगत-  
पुण्ड-नाद, प्रक्षय-अनुगत अपुण्ड-नाद, पर्यं आस्य-अनुगत कृत्रिमनाद ( भौतिकनाद-जिसे-'गूँज

\*-अहं गैरवानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्न चतुर्विधम् ॥

( गीतायाम् )

एवं मन की इच्छा कह सकते हैं। वस्तुतया आत्मा (आमानुगत संस्कार) बुद्धि (संस्कारपेरिका बुद्धि), एवं मन (इन्द्रियमात्मन से आत्मसंस्कारानुगता वैदिकी प्रेरणा को अभिम्यक्त करने वाला विभानुगत मनोभ्यापार), इन तीनों की समन्वितावस्था को ही हम-‘मानव की इच्छा’ कह सकते हैं। अथवा तो कह लीजिए कि, आत्मेच्छा पहिले बुद्धि में संकुचान्त होती है बुद्धि के द्वारा वही संस्कारिकी इच्छा मन पर आती है एवं मनोद्वार से इस का अनुधावन इन्द्रियों के प्रति होता है।

अपनी उपेक्षा मानसेच्छा का ही परिणाम ‘शब्दोत्पत्ति’ माना गया है जिस का निष्कर्ष वही है कि, आत्मबुद्धि से समन्विता अर्थात्नुगता मानसेच्छा का प्रथम प्रथम उस शारीरिक-अग्नि पर ही आपत होता है जो प्राण्याणि पाञ्चमौलिक शरीर में आलोमय्यः आनन्दाभ्यः (केशलोमी को, तथा नल के अग्रभागों को छोड़ कर सर्वत्र शरीर में) परिभ्याप्त रहता है एवं जिस का-‘वैश्वानराग्नि’ रूप से उपनिषद् में स्वरूप-निरूपण हुआ है। ‘आ यो या मत्स्या-भूषिणीम्’-‘वैश्वानरो कर्तते सूर्येण के अनुस्वार जैसे आधिदैविक वैश्वानराग्नि भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य पर्यन्त अभिम्याप्त है तथैव उत्पद्यते यह आध्यात्मिक-वैश्वानर-अग्नि भी भूकेन्द्रात्मिक ब्रह्ममण्डि से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्रात्मक ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त परिभ्याप्त है। पार्थिव-पञ्चभूतों को अपना अधिष्ठान (अधिष्ठान) बनाए रखने वाला अतएव अपने ध्यात्मक रूपों से भूपरि-भुवस्वप्ति-भुवनपति-नामों से प्रसिद्ध रहने वाला यह वैश्वानराग्नि प्रचण्डबल से शरीर में बह-बह-ही कर रहा है जिस के अनुकूल से ही मानव की मौलिकी स्वरूप-वर्णा सुप्रतिष्ठिता रहा करती है।

हम अपने मौलिक शरीर का वहाँ से भी स्पर्श करते हैं उसे वही से उष्ण (तापधर्मी-गरम) उपलब्ध करते हैं। मत्स्यजानुभूता यह ऊष्मा (ताप-गर्मी) भूदानुगता उसी वैश्वानर अग्नि की वाह्यर इक्षि (वर्धन-व्यावहारिक) है। एवमेव यदि हम अपने दोनों हाथों की दोनों अनामिका-अङ्गुलिनी से दोनों नाखण्डिक एवं दोनों अङ्गुष्ठों से दोनों कर्णान्द्रिज्य अवश्य कर लेते हैं तो हमें अपने ही शरीर में उसी प्रश्न का एक बह-बह-शब्द सुनाई पड़ता है जैसे कि-प्रचण्डविद्युत् भूताग्नि का शब्द हम सुना करते हैं। वही नाखण्डिक शब्द-अवयव वैश्वानर अग्नि की श्रुति (अवयवात्मक-व्यावहारिक) है। वही ‘अनाहवनाद’ (जिना-कैरी अन्य-आवात-व्यावाचालों के अवलम्ब से प्राप्त रहने वाली निनाद-ध्वनि) है। शरीरात्मक अध्यात्मिक यह पार्थिव ब्रह्माक्ष में भी आधिदैविक-वैश्वानराग्नि का यह-‘अनाहवनाद’ प्रचण्डरूप से धोषुनामान है जो आध्यात्मिकी योगमाया के आकर्षणप्रसङ्ग से ही हमें सुनाई नहीं पड़ता। यदि यह मामासुर्ग न होता तो उस प्रचण्ड गर्जननात्मक महानाद से निमेषमात्र में ही मानव की जीवनशोभा समाप्त होजाती। अमुक विशेष योगप्रक्रिया के द्वारा यहाँ के अर्धाचीन-दार्शनिकोंने अपने अध्यात्मिक-अनाहवनाद को उस महान् आधिदैविक अनाहवनाद के साथ समन्वित करने का उत्तममक प्रयास किया है जिसका प्रसिद्धिदा आचार्यनिष्ठा के आचार्यत्मक प्राङ्गण में कथिष्ठित भी तो महत्त्व नहीं माना जाचकता। अनाहवनादामक वैश्वानर अग्नि के शब्दात्मकान इक्षी-‘नाद’ भाव की, तथा स्पर्शानुभव को लक्ष्य बनाते हुए भूति ने कहा है—

(१)-यत्रैतत्-अस्मिन्-शरीरे सस्पर्शेन-उष्णिमान विज्ञानाति, तस्यैषा भूति ।  
यत्रैतत्-कर्मो-अपिगृह्य निनदमिव नदयुरिव-अग्नेरिव ज्वलत उपशब्धोति, तदेतत्-  
एष्ट च, श्रुत्व-इत्युपासीत् ।

—आन्दोग्योपनिषत् २।१३।८।

(२)-अयमग्निर्गैश्वानर-योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमश्न पच्यते, यदिदमघते ।  
तस्यैष घोषो भवति-यमेतत्-कर्मो-अपिधाय शयोति ।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।४।१।

आत्मबुद्धि-समन्विता मानसेन्द्रा का प्रथमाघात इसी तथाकथित वैश्वानर-अग्नि पर होता है । इस  
आघात से प्रत्याहित वैश्वानर अग्नि का आघात तत्रैव व्याप्त-वायव्यप्राण पर होता है । आहित वैश्वानर  
अग्नि से प्रत्याहित वायव्यप्राण ही आग्नेयप्राण से समन्वित होता हुआ-शरीरकाशरूप प्रदेश में ऊर्ध्व उल्लान्त  
होता हुआ-शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाता है । वैरागि-‘वायुः स्यात्-शब्दोत्पत्ति’ इत्यादि प्राविशाख्य-सिद्धान्त  
से भी स्पष्ट है । अग्नि ही मरुत् के लक्ष्योपयोग से क्योंकि यों स्वस्याभिन्न-वाग्वरूप में परिणत होता रहता है,  
अतएव सिद्ध है कि, मानव का शारीरिक-वैश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्यक्ति में आकर कण्ठ से  
पद्विर्दिनिःसृत होता हुआ शब्दमयी वैखरीवाक् ( मर्त्या वाक् ) रूप में परिणत होता रहता है ।  
‘अग्निवाग्मुच्चा मुखं प्राविशात्’ इत्यादि औपनिषद-सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं ।  
यही कारण है कि अधिक शब्दो-कारण से उच्च स्वर से उ-कारण करने से शरीर विक्रमिमत होपड़ता है  
कुनं च परिशुष्यति । अरात्रि का अनुभव होने लगता है । यों प्रत्यक्ष में ही हमारा अग्नि ही शब्दोत्पत्ति का  
मूलप्रवक्तृक प्रमाणित होरहा है ।

ब्रह्मप्रन्थि ( मूलहार ) में आपानप्राण प्रतिष्ठित है, ब्रह्महृदय ( केन्द्र ) में ज्ञानप्राण प्रतिष्ठित  
है कण्ठ में ज्ञानप्राण प्रतिष्ठित है एवं मूर्ध्नोऽलक्षित ब्रह्मरूप में ( जो कि ‘नान्दन्तहार नाम से प्रसिद्ध है )  
‘ऐन्द्र-विज्ञानप्राण’ प्रतिष्ठित है । यों-अन्थि हृदय-कण्ठ-र-भ्र-भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठापन-किन्दु  
होबात हैं जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाँचवें-‘आस्य’ ( मूत्र ) स्थान को  
अपना अन्तिम अधिष्ठान बनाता है । वैश्वानराग्नि का पूर्वोक्त नाभ ही इन पाँच स्थानों के भेद से  
पम्पचा विभक्त होता हुआ ब्रह्मप्राणानुगत अतिसूक्ष्मनाद ब्रह्महृदयानुगत सूक्ष्मनाद, कण्ठानुगत-  
पुष्पनाद ब्रह्मर-भ्रानुगत अपुष्पनाद एवं आस्यानुगत कृत्रिमनाद ( भौतिकनाद-जैसे- गूँज

॥-ब्रह्म गैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां दहमाभितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यश्न चतुर्विधम् ॥

( गीतायाम् )

कहा गया है), इन पाँच अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। पूर्वोद्धृत श्लोकों में से आरम्भ के पाँच श्लोकों में इसी सम्पूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है। ( १ से ५ पर्यन्त व्याख्यात- ) ।

छठे श्लोक के द्वारा—‘नाद्’ शब्द का निश्चयनात्मक अर्थसमन्वय हुआ है जिसका तात्पर्य स्पष्ट है। यद्यपि शब्दोत्पत्ति में अनल (अग्नि) के साथ अनिल (वायु) का भी सहयोग है। यही नहीं अपितु अनिलामक वायु ही अनलात्मक शब्द को बाह्याभिव्यक्ति के, तथा बाह्यानुगति के अनुरूप बनाता है। यदि वायु का सहयोग अग्नि को न मिले तो शब्दोत्पत्ति की कथा तो विवूर रही स्वयं अग्नि की स्वरूप-स्थिति भी सम्भव नहीं है। श्वास-प्रश्वासात्मक-वायु का सञ्चार ही शारीरिक-अग्नि का स्वरूप-रूप माना गया है। सम्भवतः इसीलिए महर्षि शाक्यनिनि ने ‘वायु’ को ही ‘अग्नि’ उंका प्रदान कर दी है—‘वायुरग्निरिति शाक्यनिनिन उपासते’ (शुच० १।४।५।१।)। यह सब कुछ मान लेने पर भी उक्त शब्द का मौलिक-उपादानत्व तो अग्नि को ही समर्पित किया जायगा जब कि वायु को तो शब्द के प्रव निमित्तकारण ही माना जायगा।

शब्दात्मक कार्य का उपादानकारणभूत यह अनल (अग्नि) भूत और प्राण मेद से विषा विभक्त रहता है। भूताग्नि ही मूल्य-विस्थाग्नि है जिसका प्रत्यक्ष ज्वालारूप से हम बाह्यतत्पर करते रहते हैं एवं जिससे भोजनपाकप्रदि कर्म सम्पन्न होता है। इस भूताग्नि की मूलप्रतिष्ठारूप कुक्ष्याग्नि ही-अमृत-चित्तेतिचेयाग्नि है। भूत बिना प्राण को आधार बनाए अनुपपन्न है तो प्राण सूत को अमशी-बनाए बिना अनभिष्कृत है। इस अमृताग्नि को ही कहा जाता है—‘प्राण’ एवं मत्ताग्नि को ही कहा जाय है—‘अनल’। इन दोनों अग्नियों के लिए ही क्रमशः नकार-दकार-छट्टे स्थित हैं। नकारात्मक, अर्थात्-निषेधात्मक-अर्थात्-प्रायात्मक-अर्थात्-असृ-स्मादा- (सृजनात्मक) —मौलिक-तत्ताग्नि ही अपने ‘अन्यप्रभाव’ रूप से असृमावापच—‘न’ से संयुक्त है। वृत्त भूताग्निरूप अनल प्रत्यक्ष में निराकृत चर्मा है। पिण्ड की घनता को विराजित कर देना कद को द्रव कर देना ही इस ‘सृ’ मूर्ति-भूतानल का स्वरूपचर्म है। एक पिण्ड को अण्ड लण्डरूप में परिणत कर देना ही इसका सह-स्वभाव है। अतएव लब्धनायक—‘वो घातु’ (वो-अवस्यवने) से इसके लिए—‘व’ का छट्टे हो गया है। नकारा-मक प्राणाग्नि, तथा दकारात्मक भूताग्नि दोनों की समन्वितारस्था ही—वैश्वानर है। वैश्व कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसीलिए नकार-दकारात्मक-शब्दप्रवक्त-इस वैश्वानराग्नि का साङ्केतिक नाम हो गया है—‘नाद्’ बिना इस तथ्य का ही ६ ठे श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है।

आत्म-बुद्धि-सहकृता मानसेयका से प्रत्याहस, वायुसंयोग से ब्रह्मप्रति से ऊर्ध्वप्रेरित-ब्रह्मप्रत्यनुगत ‘नामि’ ‘हृदय’ ‘कष्ठ’, ‘मूर्ता’ ‘आस्य’ इन पाँच प्रक्रमों में क्रमशः जाता हुआ इधी क्रमानुपात से क्रमशः अतिसूक्ष्म—‘सूक्ष्म’—‘पुष्ट’—‘अपुष्ट’—‘कृत्रिम’ इक पाँच मावों में परिणत भूत प्राण-समष्टि-रूप—‘नाशरामक’ हरणमठ वैश्वानर अग्नि के किंवा स्वरूप ‘नाद्’ के सामान्य-स्थूल-व्यवहार-की अपेक्षा से क्रमशः हृन्प्रक्रम—‘कण्ठप्रक्रम’—‘शिरःप्रक्रम’, ये तीन प्रमुख प्रक्रम मान लिए गए हैं किन इन तीनों नादप्रक्रमों में उत्तरोत्तर विगुणित तार (तन्त्र)—स्वर-क्रम व्यवस्थित माना गया है। उक्त श्लोक में इधी व्यावहारिक तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

नाद भूति-स्वरत्मक सङ्गीत के मर्मज्ञ सर्वश्री महामाग शाङ्गदेव-विरचित-सुप्रसिद्ध 'सङ्गीतरत्नाकर' नामक ग्रन्थ में उक्त सन्तरलोकी से जिस वैश्वानरत्वक नादब्रह्म का यशोगान हुआ है प्रायः वही उक्त पाँडे शब्दमेद से सुप्रसिद्धा पाणिनीयसिद्धान्त के निम्न लिखित पदों से स्पष्ट हुआ है जिस इस अ-सम्पन्नन की दृष्टि-से ही 'शिवाशास्त्र' के वे वचनमात्र अत्र उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनका अर्थसम-न्य पूर्वोक्त छन्दम से ही गताय बन रहा है।

१-आत्मा-धुत्तया समेत्यर्थान्-मनो युक्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥

२-मारुतस्तूरसि चरन्-मन्द्र जनयते स्वरम् ।

प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥

३-कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यम व्रैटु मानुगम् ।

तार तार्क्षीयसवन शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥

४-सोदीर्णो मृदुनर्धमिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।

वर्षान् जनयते, तेषां विमाग पञ्चधा स्मृतः ॥

—पाणिनीयसिद्धान्त

उक्त शिवास्त्रों के द्वारा यह भी स्पष्ट हो रहा है कि नादात्मक वैश्वानर अग्नि ही त्रिविध स्वरों का अभिमुख्य बनता है—वायु के संयोग से। इसी प्रसङ्ग में शिवा ने सवनत्रयात्मक तीन छन्दों की ओर भी सङ्केत किया है जो वैदिक-वृद्धिविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। मन्त्रों से निकल कर अपने २१ एकवर्णरूप मन्त्रिमात्मक रचनतरंगम पर्यन्त अभिव्याप्त रहने वाले पार्थिव वैश्वानर-प्राणाम्नि के ही अग्नि-वायु आविर्भूत नामक तीन महिमाविवर्ध होजाते हैं जो वे तीनों महिमाभाव ही पृथिवी के महिमापण्डल में ही मुक्त कमराः पृथिवी अन्तरिक्ष-सौः नामक तीन पार्थिव स्तौम्य लोकों के अतिष्ठावा बने हुए हैं। आधिदैविकी इस पार्थिवी स्तौम्या विलोकी का त्रिभूतस्वामात्मक—पृथिवी लोक ही पार्थिव्यक का प्रातःसवन है अष्टाक्षर गायत्री छन्द इसका स्व-छन्द है अग्नि यहाँ के शयतानपात्र है। इसी प्रातः

●—मन-शरीरनिरुचन प्राकृत इतिहास का ही प्राकृत मानव के मासिक जीवन का सर्वस्व मानते रहने वाले ऐतिहासिकों की युगधर्मानुगता मान्यता के अनुपात से नृपतिवर श्रीशाङ्गदेव महामाग इसवीय स् ११ —१२ —के मध्य में उत्पन्न हुए थे। इस मान्यता के अनुसार आज से अनुमानत सातवीं वर्ष पूर्व उपनिषद् सङ्गीतरत्नाकर नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में १—वराभ्याय २—रागाभ्याय ३—प्रकीर्ण-प्याय, ४—प्रवम्भाभ्याय ५—तालाभ्याय ६—षाणाभ्याय ७—नृत्याभ्याय ये सात अध्याय समा-विष्ट हुए हैं। इस महत्वपूर्ण सङ्गीतग्रन्थ का एक तो विस्तृत भाष्य हुआ है उत्कालीन सङ्गीत मर्मज्ञ विद्वान् के द्वारा। एवं इसके अतिरिक्त-श्रीकुम्भकरणनरेन्द्र अक्षिनाथ सिंहभण्डाल नृपतिवर रीमाधि-पति तथा विद्वत्वर श्रीविश्वनाथ आदि कृपेण ६ टीकाएँ हुए हैं जिनमें से कतिपय टीकाएँ ही आज उपलब्ध हैं।

समनीय-पार्ष्व-गायत्रादि से 'मन्त्रस्वर' की अभिव्यक्ति हुई है। पञ्चदशस्तोमात्मक अन्तरिक्षलोक ही पार्ष्व-यज्ञ का 'माध्यन्दिनसवन' है। एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द ही इसका स्व-छन्द है। वायु यहाँ के राक्षसेनपत्य है। इसी माध्यन्दिनसवनीय आन्तरिक्ष-त्रैलोक्य-वायु से 'माध्यस्वर' की अभिव्यक्ति हुई है। एकविंशस्तोमा-त्मक ध्रुवलोक की पार्ष्वयज्ञ का—'सायसवन' है, द्वादशाक्षर जगतीछन्द ही इसका अपना छन्द है। आदित्य यहाँ के राक्षसेनपत्य है। इसी सप्तसमनीय-दिव्य-वागत-आदित्य से—'तारस्वर' की अभिव्यक्ति हुई है।

वैद्य संस्थानकम आधिदैविक-पार्ष्व-स्वर में है। नीक वैद्य ही संस्थानकम मानव की अप्याम-संस्था में समन्वित है। मानव का सर्वाङ्गशरीर ही उस प्राकृतिक-पार्ष्वयज्ञमण्डल का प्रतिरूप है। ब्रह्मप्रणित से आरम्भ कर नामिपर्म्यन्त प्रवेश धृतिवीलोक है। इसका पार्ष्व—आग्नेयप्रायश्चित्त ही 'अपानप्रायश्चित्त' है। जो कि गायत्र्यछन्दस्क बनता हुआ प्रातःसवनस्थानीय है। नामि से हृदयपर्म्यन्त अन्तरिक्षलोक है। इसका आन्तरिक्ष प्रायश्चित्तप्रायश्चित्त ही 'न्यानप्रायश्चित्त' है। जो कि वैष्णवछन्दस्क बनता हुआ माध्यन्दिनसवनस्थानीय है। हृदय से ब्रह्मरत्न-पर्म्यन्त प्रवेश ही ध्रुवलोक है। इसका दिव्य ऐन्द्रप्रायश्चित्त (आदित्यप्रायश्चित्त) ही 'प्रायश्चित्त' है। जो कि वातछन्दस्क बनता हुआ सायसवनस्थानीय है। इन तीनों स्थानों-लोकों-में व्याप्त वैश्वानर ही नादात्मक यह शारीरिक अग्नि ही इन तीन स्वनों से ऋषयः मन्त्र-मध्य-तार-स्वरों का अभिव्यञ्जक बनता है। यी अभिव्यञ्जक तथा अप्यात्म किंवा अप्याज तथा पिष्ट्य दोनों में सर्वप्रथम तथा अन्तिम संस्था नकम समग्रोक्त है। क्योंकि निम्न लिखित पद्यों से स्पष्ट है—

इति नु-अधिदेवतम्—

पार्ष्वयज्ञ

- एकविंशस्तोमावच्छिन्नम्—ध्रुवलोकः (२१)—आदित्य—जगती—सायसवनम्—तारस्वर  
 पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नम्—अन्तरिक्षलोकः (२२)—वायु—त्रिष्टुप्—माध्यन्दिनसवनम्—माध्यस्वर  
 विंशस्तोमावच्छिन्नम्—धृतिवीलोकः (२३)—अग्नि—गायत्री—प्रातःसवनम्—मन्त्रस्वर

मीलितः—  
 भूमिपदः



## इति नु-अध्यात्मम्—

शरीरमिमांसा

हृदयतः—ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमनु-सु लोके—प्राणान्निरादित्योन्नागत—( सार्यस्वनम् )—तारस्वर  
नामे—हृदयपर्यन्तमनु—अन्तरिक्षलोके—न्यानाग्निर्वायुस्त्रैष्टुभ—( माष्यन्दिनस )—मध्यस्वर  
ब्रह्मरन्ध्र—नाभिपर्यन्तमनु पृथिवीलोके—अपानान्निरग्निर्गार्ग्यत्र—( प्रातःस्वनम् )—मन्त्रस्वर

मौखिक—  
शरीरम्

एक ही नाद इसप्रकार कुन्दोमेदानुगत सवनत्रयी के मेद से हृदय-कण्ठ-शिरो-मेदेन त्रिधा-  
विभक्त हो जाता है, जिस इस तथ्य का ही शास्त्रदेव ने पूर्व के उत्तम श्लोक के द्वारा एवं पाणिनीय-शिष्या  
ने २-१-४-श्लोकों के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। वैश्वानराग्निमूर्ति-त्रिप्रक्रममात्मक यही 'नाद' आगे चलकर  
नाडीमेद से अन्तर २२ ( बाईस ) भागों में विभक्त हो जाता है। नाद के ये अन्तर विभाग भुति के  
द्वारा क्योंकि सुने जाते हैं। अतएव इन अन्तर अक्षर्याओं का नाम-सङ्गीतशास्त्र में—'भुति' हो गया है।  
हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त श्रुतुमात्र से व्याप्ता सुप्रसिद्धा नाडी 'सुप्तस्था' है। इस सुप्तस्था नाडी से संतप्ता  
सिक्त्वीनमाद्यनुगता १२ नाडियों प्रसक्त हैं। इन नाडियों के मेद से ही नादानुगता भुति के २२ विभाग  
हो जाते हैं। हृदय-कण्ठ-शिरोमेद से इन २२ भुतियों का त्रिधा विधान हो जाता है। हृदयानुगत मन्त्र-  
नाद से अनुप्राणिता २२ मन्त्रभुतियाँ, कण्ठानुगत मध्यनाद से अनुप्राणिता २२ मध्यभुतियाँ एवं

\*—'भु' भवणे चास्य धातोः 'क्ति' प्रत्ययसुसङ्गत ।

'भुति' शब्दः प्रसाध्योऽय शब्दवैर्भावसाधनै ॥

—मनुज

अन्यदपि—भवणेन्त्रियग्राह्यत्वात्-ध्वनिरेण भुतिर्भवेत् ।

सा चैका द्विविधा ज्ञया स्वरान्तरविभागत ॥

नियत भुतिसंस्थानो गीयन्ते सप्त गीतिषु ।

तस्मात् स्वरगता ज्ञेयाः भुतय भुतिवेदिभि ॥

शिर्येऽनुगत वारनाय से अनुप्रायिका २२ वारभु चिर्यो इध मे से २२ भुतियों के भी तीन त्रिक बन जाते हैं वैश्वकि अग्निप्रवृत्तानुगत 'सङ्गीतसमयसार' नामक ग्रन्थवचन से स्पष्ट है—

ये भुतियां निम्नलिखित नामों से उद्धृत-शास्त्र में प्रसिद्ध हैं—

मन्त्रानुगत भुतयः— वार्तिगति ( २२ ) १	मन्त्रानुगत भुतयः— वार्तिगति ( २२ ) २	वार्तिगति भुतयः— वार्तिगति ( २२ ) ३
१-मन्त्रा	१-नादान्ता	१-देरकरी
२-अतिमन्त्रा	२-निष्कला	२-क्रीमारी
३-बोर	३-गुहा	३-स्वरावली
४-बोरदरा	४-सकला	४-योगवीर्या
५-मरबना	५-मजुरा	५-मनोरमा
६-सौम्य	६-गोपी	६-सुरिनम्बा
७-सुमना	७-एकचरा	७-दिग्भावा
८-पुष्कर	८-मुकुवाती	८-मुकुलिता
९-राक्षिनी	९-रसगीती	९-रसगीती
१०-नीला	१०-सुरकिन्ध	१०-महाका
११-उपला	११-पूर्वा	११-मेदिनी
१२-अनुनासिका	१२-अलंकारिणी	१२-राका
१३-पोषावती	१३-अंशिका	१३-तन्वा
१४-नीलनाभा	१४-वैशिका	१४-काली
१५-आवत न	१५-त्रिराना	१५-कुन्दा
१६-रज्जु	१६-सुस्तरा	१६-अतिमन्त्रा
१७-इक्ष्माणीय	१७-मार्गवी ( सीमा )	१७-पुष्प
१८-दीर्घावा	१८-मापाही	१८-सुपुष्टिका
१९-नादिनी	१९-वार्तिका	१९-विस्फा
२०-मन्त्रा	२०-सम्पूनी	२०-शेखरी
२१-मुपसमा	२१-प्रसमा	२१-कुरुती
२२-निनदा	२२-सर्वव्यापिका	२२-विस्फोदना

श्रीणि स्थानानि हृत्-कण्ठ-शिरांसी-ति समासत ॥

एकैकमपि तेषु स्यात्-द्वाविंशति-त्रिधापुतम् ॥ १ ॥

द्वाविंशतिविधो मन्द्रो ध्वनि सञ्जायते हि ।

यथोत्तरमसौ तारो धीष्णापामधरोत्तरम् ॥ २ ॥

स एव द्विगुणो मध्य कण्ठस्थाने यथाक्रमम् ।

स एव मन्त्रक तार स्थान्मध्याद्द्विगुण क्रमात् ॥ ३ ॥

—सङ्गीतसमवायसरे

अक्षर के छन्दर्भ से हमें इस निष्पत्ति पर पहुँचना पड़ा कि सर्वाङ्गराश्री में व्याप्त धैरवानरागि अर्धध्वनमान ध्वन्यात्मक शब्द ही—सङ्गीत मन्त्र—‘नाद’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है । सूक्ष्मदृष्ट्या नाभि—हृदय—कण्ठ—शिर—मुख—मे—मे वहाँ इस नाम के क्रमशः अतिसूक्ष्म—सूक्ष्म—गुण (व्यक्त)²—अगुण (अव्यक्त) —रुचिम—य पाँच प्रक्रम होवाते हैं वहाँ लोच्यवहायुगता स्थूलदृष्टि से इस नाद के—इदयानुगत—मन्त्रनाद, कण्ठानुगत मध्यनाद शिरोऽनुगत तारनाद रूपेण तीन प्रक्रम भी प्रसिद्ध हैं । इदयानुगता प्रमुखा सुपुण्या नाडी से सलग्ना तिग्यवर्तिनी २२ नाडियों के मे—से इन तीनों नाडियों—ध्वनियों की अभिव्यक्तियाँ भी २२—२२ २२—मेद से त्रिधा विभक्त होवाती हैं और यी ३६ भुक्तियाँ होवाती हैं बिन का मध्यमान २२ पर ही माना गया है । नादध्वनि की कृष्णगोचरा अभिव्यक्तियाँ ही भुक्ति नाम का प्रमुख कारण है । इसी निष्कर्षात्मक तथ्य को लक्ष्य बना कर कहा गया है कि—

तस्य द्वाविंशतिर्मेदा—ध्वन्यात् भुक्तयो मता ।

इह ध्वनादीसलना नाड्यो द्वाविंशतिर्मेदा ॥ १ ॥

तिरन्यस्तासु तावत्य भुक्तयो मारुताहते — ।

उच्चोच्चतरतायुक्ता प्रभवन्त्युच्चरोचरम् ॥ २ ॥

\* वक्तुमिच्छन् विवक्षमाय आत्मा मन—अन्त करण प्रेरयति । तदन्तःकरणा—आत्म—बुद्धिप्रेरितं सद् दक्षितमोदय्य बुद्धिं आहन्ति, वाहयन्ति । य वद्धि मारुत वायु—प्रेरयति । स पूर्व ब्रह्मप्रण्यस्थित इदानीं तेन वद्धिना प्रेरितः—ऊष्ममाणेण गच्छन् आघातन—नाभि—हृदय—कण्ठ—मूत्र—मुखेपु—ध्वनि प्रकटयति—इति निष्कर्ष ।

— ऊर्ध्वनादी सुपुण्या । सत्सलग्ना तिरन्य—तिग्यक्—स्थिता द्वाविंशतयो नाड्य । तामु मरुत्सम्बन्धात् तावन्त एव—‘नादा’ समुत्पद्यन्त—उच्चरोचर—उच्चोच्चतरता—युक्ता । प्रथमो नाद—हीनतम—मन्द्रतम । ततोऽनन्तर—उच्चतर । ततोऽनन्तर—उच्चतम—इत्येवरूपया नादानुगता भुक्तय प्रवृत्तन्त—मांस्त्रिक—सङ्गीत सङ्गीत—प्रवरं गायकै ।

एव कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्मता ।

व्यक्तये ह्रस्मिहै तासां त्रीणादन्त्रे निदर्शनम् ॥ ३ ॥

अब क्रमशः उस तीसरे-‘स्वरभाव’ की ओर सङ्गीत-मेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है जिसे हम मौखिक सङ्गीत का ‘प्राण’ ही कहेंगे। सङ्गीत में जो एकप्रकार का सहज-“माधुर्य्य” है, वह इसी ‘स्वर’ की महिमा है। स्वर कैसे और क्यों माधुर्य्य का अभिव्यञ्जक बन जाता है? प्रश्न का समाधान स्वरहर्षया सूर्य्य (राजवाङ्मय) इस ओत निगम पर ही अवलम्बित है। सङ्गीत-विद विद्वानों को यह भिदित ही है कि पृथिवी को पृथिलोक माना गया है अन्तरिक्ष को धृतलोक कहा गया है एवं द्युलोक को मधुलोक माना गया है। वही-पृथ्वी-शाहव-ही पृथि-धृत-मधु-तत्त्व हैं जिन का क्रमशः पार्थिवानि आन्तरिक्ष वायु, दिव्य आदित्य इन तीन प्रावदेवताओं से सम्बन्ध माना गया है। पृथिवीसत्त्वक पार्थिव धनानि धृतसत्त्वक आन्तरिक्ष तरल वायु, एवं मधुरसत्त्वक दिव्य विरलादित्य इन तीनों पार्थिव-तत्त्वों का हम क्रमशः सङ्गीत के नाद-भ्रुति-स्वर-इन तीनों भावों से सम्बन्ध मान सकते हैं। पनात्मिका मूलप्रतिष्ठा का नाम ही ‘नाद’ है और यही-‘पृथि है वास्त्व लोकस्य रूपम्’ के अनुसार सङ्गीत का अग्निप्रधान-पार्थिवलोकप्रदेश है। धन-नाद-पर-मार्तण्डित वायव्या-अभिव्यक्तिर्वा ही-‘भ्रुति’ है और यही-‘धृतमन्तरिक्षस्य रूपम्’ के अनुसार सङ्गीत का वायुप्रधान आन्तरिक्षप्रदेश है। धननादा-गुणा तत्त्वभ्रुतियों के द्वारा अभिव्यक्ता-सन्तननमात्राप्रमक-परम्परानुपायिता वीचियाँ (सरङ्ग)-जर्मियाँ (हार्मोनियम) ही-‘स्वर’ है और यही-‘मध्यमधुस्य रूपम्’ के अनुसार सङ्गीत का आदित्यप्रधान दिव्यप्रदेश है। और यों तीनों लोकों के आग्नेय-वायव्य-आदित्य-रसात्मक-‘पृथि-धृत-मधु-नामक रसों से ही सङ्गीत के ‘नाद-भ्रुति-स्वर-भाव-समन्वित हो रहे हैं। इसी सम्बन्ध में पुनरुक्त हमें कुछ और भी समझ लेना है।

शब्दब्रह्मरहस्यकेच महर्षिर्माने परब्रह्म से अमिष शब्दब्रह्म के तीन प्रमुख महिमा-विषय माने हैं जो क्रमशः स्फोट-स्वर-व्यञ्जन-इन नामों से शब्दशस्त्र (व्याकरण) में प्रसिद्ध हैं। परब्रह्म के ‘अव्यय’ के साथ शब्दब्रह्म का-‘स्फोट’ समप्रसिद्ध है। परब्रह्म के-‘वाचर’ के साथ शब्दब्रह्म का स्वर तथा उस के ‘हृद’ के साथ इस का ‘व्यञ्जन’ समप्रसिद्ध है। ‘पर’ तथा ‘शब्द’-मेरेन सृष्टि के दो ही प्रमुख विषय माने गए हैं, जिस में लय-लयामक इतर कंचाकत अचान्त सृष्टिविषय अन्तर्भूत हैं। वस्तुगत्या पर और शब्द ये दो स्वतन्त्र विषय नहीं हैं। अपितु एक ही वाचरीयवापति का पूर्वरूप यही-‘परब्रह्म’ कहलाया है वही उसी का उत्तररूप ‘शब्दब्रह्म’ कहलाया है। पूर्वरूपता का अर्थ है-‘विश्वातीत-विवर्त्त’। एवं उत्तररूपता का अर्थ है विश्वविषय। विश्वातीतव्या में वही ब्रह्म ‘परब्रह्म’ कहलाया है एवं विश्वव्या में वही-‘शब्दब्रह्म’ कहलाया है।

क्या तात्पर्य्य?। समर्थ्य्य यह है। ‘विषय’ का ही नाम ‘संस्पृष्टिलक्षा-सृष्टि’ है। यह सृष्ट आकाश-वायु-तेज-जल-मृत्-रूपेण पञ्चमहाभूतात्मिका है। इन पाँची महाभूतों का मूल सर्वादिभूत वह आकाशभूत ही है जिस का मुखम मायाभाव ही-‘शब्दसन्नाया’ नाम से प्रसिद्ध है। शब्दसन्नाया मरु-सर्वादिभूत-आकाशभूत से ब्रह्मप्रत्ये के द्वारा स्पर्शज्मात्रात्मक वायु की अव्यभिक्ति होती है। वायु में रूपज्मात्रा-

मक बल की एक बल से गन्धतन्मात्रात्मिक मूल की अभिव्यक्ति होती है। दुर्ब है होती रहती है \* ।  
 क्मात्रात्मक शब्दादि गन्धान्त इही सूक्ष्मतम अतएव—‘तत्त्व’ नाम से प्रसिद्ध पाँचों गुणमूलों से पञ्ची-  
 कृत्यप्रक्रिया के द्वारा आये चलकर पञ्चात्मक पाँच अणुभूत अभिव्यक्त होते हैं । इन के पञ्चीकरण से पञ्च-  
 पञ्चात्मक-रेणुभूत अभिव्यक्त होते हैं । इन के पञ्चीकरण से समष्ट्यात्मक-महाभूतात्मक जो पञ्च विश्वपुर  
 अभिव्यक्त होते हैं वे ही क्रमशः आकाशात्मा-स्वयम्भूपुर वाय्वात्मा परमेष्ठीपुर तेजोमयात्मा-  
 सूर्यपुर, जलरूपक चन्द्रपुर तथा मृदात्मा भूपुर इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं किन्तु इन पाँचों विश्वपुरों  
 की किंवा योगिक-महाभूतों की समन्वितावस्था का नाम ॥ पञ्चपथा विश्व है, जिसका महर्षि श्वेताश्वतरे—  
 पञ्चपथमिदाम्—‘विश्वप्रकृतिम्’ ( श्वे० उपनिषत् ) इत्यादि रूप से यथोगान किया है ।

पञ्चपथमक उक्त विश्वस्वरूप-दिग्दर्शन से न्यत ही हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, विश्व  
 का मूलकारण विश्वातीत परब्रह्म-ब्राम्हण से सर्वप्रथम अभिव्यक्त होने वाली ‘आकाशात्मिका-शब्द-  
 न्मात्रा ही है । यही प्रथमा शब्दतन्मात्रा उत्तरोत्तरमाविनी-रसानुगता-बलमन्यियों के तारतम्य से पञ्चपथमक  
 विश्व-स्वरूप में परिणत हो रही है । और यों आत्मब्रह्म से अभिव्यक्त शब्दब्रह्म ही विश्व का स्वरूप-  
 परिचायक बना हुआ है । इसी आधार पर—‘न शाब्दमिवास्ति ( उपनिषत् ) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित ॥  
 अतएव शब्द और अर्थ का अतीत्यिक सम्बन्ध ही माना है प्रगवान् वैमिनिने — । इसी आधार पर—  
 ‘जपान्सिद्धिः यह उपासनातत्त्व व्यवस्थित हुआ है । इसी आधार पर शब्दब्रह्मात्मक नित्य मन्त्र एवं  
 व्याख्य प्रायदेक्तामक अर्थ, दोनों अभिन्न बने हुए हैं । यही मन्त्र का मन्त्रत्व है यही शब्दब्रह्मात्मक  
 केद्रात्मक की नूत्यनित्यतालक्षणा अपौरुषेयता है । इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि—‘स प्रजापतिः-  
 भूरिति व्याहरत् पृथिव्यभयन्’ । अर्थात् प्रजापति ने अपने मुख से सर्वप्रथम ‘भू’ इस शब्द का  
 ही उच्चारण किया । वही ‘भू’ शब्द ( पृथिव्यनुगता शब्द-मात्रा ) भूमिरूप में परिणत होगया ।  
 इसी कुछ एक निर्दिष्ट व्यर्थों के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि स्रष्टृलक्षणा-विश्वामित्र-सृष्ट  
 में तो—‘शब्दब्रह्म’ ही प्रमुख है यही ईश्वर का व्यक्तरूप है जो पञ्चब्रह्मात्मक-विषय के आधार पर ही  
 प्रतिष्ठित है । जैसा स्वरूप-संस्थानक्रम उस परब्रह्म का है ठीक वैसा ही किंवा वही संस्थानक्रम विश्वामित्र  
 विश्वरूप-शब्दब्रह्म का है । इस वाक्यशिपरब्रह्म में यदि परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-नामक चार पद हैं  
 तो इस शब्दब्रह्म में ही अक्ष-मात्रा-स्फोट-स्वर-व्यञ्जन नामक चार ही प्रमुख विषय हैं । इसी अमेद  
 क आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

॥—तस्माद्वा एतस्मादात्मन ( परब्रह्मण ) आकाश सम्भूत । आकाशाप्राप्य ।

वायोरग्नि । अग्नेराप्य । अग्न्य पृथिवी ( मृत ) ।

—श्वे० उपनिषत्

“॥—आत्पथिक्स्तु शब्दम्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुदशोऽप्यतिरक्तचार्थेऽनुपलब्ध  
 तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्ष्यतात्” ।

—पृथमीमासासूत्र

इं धाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, पर च यत् ।

शब्द ब्रह्मणि निष्ठात् पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

—उपनिषत्

‘रट्टिभूता-सृष्टिविधा’ के अनुसार पञ्चपञ्चात्मक-विश्व की स्वरूपमीमांसा करते हुए पार्थिवशरीर-मानव को भूपिण्ड के केन्द्र से ही चलना पड़ेगा । और इस केन्द्र को आधार बना कर ही इसे शब्दब्रह्म के व्यञ्जन-स्वर-स्फोट-अर्द्धमात्रा-नामक-चारों विक्तों का समन्वय देखना होगा । स्वयं भूपिण्ड व्यञ्जनात्मक-शब्दब्रह्म है । सौम्य चन्द्रमा का पार्थिव विना में ही अन्तर्भाव है । अतएव चन्द्रमा को पार्थिव-उपग्रह माना गया है । अतएव च भूपिण्ड के अनन्तर दूसरा स्थान आता है-‘सूर्य्य’ का । वह सूर्य ही स्वरात्मक शब्दब्रह्म है । वसुधैव कुटुम्बकम्-‘परमेष्ठी’ ही महत्त्वका में गर्भीभूत-चिदा मात्म्य से अन्तःस्फोटित-स्फोटात्मक-शब्दब्रह्म है । एवं सर्वान्त का अन्तः स्वयम्भू ही अर्द्धमात्रात्मक-शब्दब्रह्म है । यों सूक्ष्म से आरम्भ कर स्वयम्भू-पर्यन्त शब्दब्रह्म के चारों विक्त समन्वित होते हैं जैसाकि परिशेष से स्पष्ट है—

१ अव्यक्तात्मा - स्वयम्भू —	अर्द्धमात्रात्मकं शब्दब्रह्म	} शब्दब्रह्मात्मक-विश्वम्
२ महानात्मा — परमेष्ठी —	स्फोटात्मकं शब्दब्रह्म	
३ विज्ञानात्मा — सूर्य्यः —	स्वरात्मकं शब्दब्रह्म	
४ भूषात्मा — सचन्द्रो भूपिण्ड-व्यञ्जनात्मक शब्दब्रह्म	शब्दब्रह्म	

नादादि के अनुकूल से शब्दब्रह्म की स्वरूपविरा की उपासना की गई । पुनः प्रकृतमनुकूलम् । निवेदन किया गया है कि भुक्ति से अग्निमय-‘स्वर’ ही सञ्ज्ञित का मौलिक माधुर्य्य है । अतएव से ही यह स्वरोपपत्तिमय उपपन्न होकर है । अब हमें-भूपिण्ड-चन्द्रोपलक्षित-अन्तरिक्ष एवं आदिवाप्लक्षित सूर्य्य इन तीन विश्वपदों की आधार बनाकर ही नादादि के स्वरूप का समन्वय करते हुए स्वर के माधुर्य्य की लक्ष्य बनाना है । भूपिण्ड का केन्द्रस्थ प्राणापत्य-वैश्वानराग्नि ही ‘नादब्रह्म’ है जैसाकि-पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है । भूकेन्द्रावस्थित इस आग्नेय नादब्रह्म की अन्तरिक्षानुगता वायव्या-अवस्था ही-‘भुक्ति’ है । यही आन्तरिक्षा भुक्ति अब किरलावस्था में आकर और मण्डल से घमासुत हो जाती है तो यही-‘स्वर’ कहलाने लगती है । और यों भुक्ति का उत्तरभाव ही ‘स्वररूप’ में परिणत हो जाता है । तद्विधं भूपिण्ड-अन्तरिक्ष-सूर्य्य-इन तीनों के वधि (घन)-यूत (वरल)-मधु (विरल)-इन तीन रसों के क्रमिक समन्वय से ही सञ्ज्ञात्मक शब्दब्रह्म ‘नाद-भुक्ति-स्वर’ इन तीन विधाभावों में परिणत हो जाता है । पुनरपि इस सम्बन्ध में प्रकृता-स्वरामिष्यत्क के सम्बन्ध में किञ्चिदपि समन्वय अवशिष्ट है ।

प्रसिद्ध 'अ-आ-इ-ई-उ-ऊ' स्वरों से भी सभी परिचित हैं एवं सुप्रसिद्ध-‘क-ख-ग-घ-ङादि व्यञ्जनों से भी सभी सुपरिचित हैं। सृष्टिविद्या के अनुसार अकारादि सम्पूर्ण स्वर सूर्य से ही अभिन्यक्त हुए हैं, तो ऋकारादि सम्पूर्ण व्यञ्जन भूप्रियङ्ग से ही व्यक्त हुए हैं। व्यञ्जन पार्थिव हैं एवं स्वर सौर हैं, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है। पार्थिवी-ऋकारादिमन्त्र व्यञ्जनवाक् अ वैज्ञानिक नाम है-‘अनुष्टुप्’, एवं सौर अकारादिमन्त्र स्वरवाक् अ नाम है-‘वृहती’। सौर-ऐन्द्री-वृहतीवाक् के अधिपति ‘मौर-इन्द्र’ कहलाए हैं, अतएव यह वृहतीवाक्-‘इन्द्रपत्नी’ नाम से ही वेद में सुप्रसिद्ध हुई है \*। एष्येव पार्थिवी-आग्नेयी अनुष्टुप्वाक् के अधिपति-‘पार्थिव अग्नि’ ( नादात्मक-वैश्वानराग्नि ) माने गए हैं जिस सत्य बनाकर ही-‘अग्निवर्गामृत्वा सुखं प्राविशत्’ ( अग्निवैश्वानर एव-अनुष्टुप्-वागात्मक-व्यञ्जनरूपस्य परिणत सन्-सुखं प्राविशत् ) यह कहा गया है।

अग्निगर्भा भूप्रियङ्गार्त्तिका पृथिवी एवं इन्द्रगर्भिणी-सूर्यात्मिका सौ - इन दोनों का परस्पर महोपग्रहभाव माना गया है। भूप्रियङ्ग परम्परया सूर्य का ही उपग्रह है। सूर्यकम महाम्रह का प्रवर्ग्यरूप-उपग्रहामक भूप्रियङ्ग सौर-ऐन्द्र आकर्षण के आघार पर ही साम्प्रसारिक-अन्तिष्ठ पर परिभ्रममाण बनता हुआ वार्षिकगति का प्रवर्तक बना हुआ है। सौर-ऐन्द्री-प्रतिष्ठा को आघार बनाए बिना तनुपमहभूत भूप्रियङ्ग क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। और ठीक यही स्थिति सौर-वृहती-स्वरवाक्, तथा पार्थिवी-अनुष्टुप्-व्यञ्जनवाक् के सम्बन्ध में विद्यमान है। सौर वृहती-वाक् से अभिन्न स्वरों को आघार बनाए बिना पार्थिव-अनुष्टुप्-वाक् मन्त्र-ऋकारादि व्यञ्जन भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रहसकत। अर्थात् अक्षरादि स्वरों को आघार बनाए बिना ऋकारादि व्यञ्जनों का उच्चारण भी कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि सौम्यवहल को आघार बनाए बिना भूप्रियङ्ग भी ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित-अभिव्यक्त-नहीं रहसकता।

छन्दोविद्या के अनुसार गायत्री-उष्णिक् अनुष्टुप्-वृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप् नगती इन मूल ऋच्युक्तों में से ( बाकि सप्त-अहोरात्रयुक्त-पूर्वापरयुक्त-आग्नि नामों से भी व्यवहृत हुए हैं ) मन्त्रका सर्वोत्तम ऋचि वृहत् ( बड़ा ) छन्द ही ‘वृहतीछन्द’ है। प्रत्येक वतु लक्ष्य का मन्त्रक ऋचक छन्द स्वतः ही पारम्वर्षी इतर वृत्तों के सम्पुलन में बड़ा ही तो होगा। इसी वृहत्भाव के कारण पौतिष्यकात्मक ( व्यगोवात्मक महान् वृत्त का मध्यस्थ छन्दोऋच-वृहती ) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही वृहती छन्द ‘विष्वन्धुक्त’-विपुत्र आग्नि नामा से लाकव्यवहार में प्रसिद्ध है जिसके प्रतीत्यमाया में इष्वदर कहा गया है।

\* वाच दत्ता उपजीवन्ति विश्व वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ।

पात्नीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतां इन्द्रपत्नी ॥

—सं०आ० २१० ना०।

— यथाग्निगमा पृथिवी तथा पौरिन्द्रेण गर्भिणी । ( मन्त्रसंहितायाम् )

अगोलीय स्यात्कथित बृहतीक्षुन्द् के केन्द्र में ॥ क्योंकि भगवान् स्यनायकस्य स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित हैं \* अतएव तत्र प्रतिष्ठित स्यविषयी 'बृहत्' नामसे प्रसिद्ध होगए हैं, जैसाकि-बृहत् तस्मै भुवनेष्वन्तः पद्ममन्तो हरित आविषेश इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहत्भावानुसन्ध से तत्र प्रतिष्ठित स्य- 'बृहत्मानु' नाम से भी प्रसिद्ध है।

'सप्त वै वेदश्चन्वासि' के अनुसार गायत्र्यादि-जगत्स्य अहोरात्रवृत्तस्य (पूर्वापरवृत्तस्य) अगोलीय सातों छन्द क्रमशः पञ्चश्र-सप्ताश्र-अष्टाश्र-नवाश्र-दशाश्र-एकविंशश्र-त्रयश्र (६-७-८-९-१०-११-१२ अक्षरस्य) माने गए हैं, जिन के अनुभावात् से क्रमशः २४ २८ ३२ ३६ ४४-४८-वे अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस 'बृहतीक्षुन्द्' की ओर ही इन पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रकृत-स्वरप्रकरण में जिसके नव (६) मूलाक्षर हैं वयः पदत्रिंशत् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर इस बृहतीक्षुन्द् के केन्द्र में प्रतिष्ठित स्य का दिव्य-मधुरसम एन्द्रप्राण ही वह 'बाह्व-स्वर तत्त्व' है जिस का अत्र उपयोगान किया गराहा है।

नवाक्षर का अर्थ है-नवकिन्दु-अनुगत प्रसार, बिस्व वात्सर्प्यार्थ यही है कि-छौर-बाईस-नवाक्षर- (नवकिन्दात्मक स्वर के आचार पर ही पार्यिक-अनुष्ठुम व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बाईस-स्वर की धनन मर्यादा (विधानमर्यादा-पैलाव) क्योंकि नव-किन्दात्मक है। अतएव उचित था कि नवकिन्दात्मक प्रत्येक स्वर की मर्यादा में ६ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजायें। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि-नवकिन्दात्मक प्रत्येक स्वर की उच्च अर्क-मेद से दो अवस्थाएँ रहती हैं। 'मूलस्वरविन्ध' का नाम ही 'उच्चस्वर' है एवं 'तलास्वररविम' ही 'अर्कस्वर' है। ६ किन्दुओं में से ४ की ६टी इन दो किन्दुओं की स्वयं उच्चस्वर अपना ब्रह्मोदन (मूलप्रतिष्ठ) बना होता है। अतएव इस प्रातिपिकी किन्दुव्यक्तिता ब्रह्मोदन की सीमा में (स्व-मोषा सीमा में) तो प्रवर्ग्यमाणापन्न (मर्त्यमाणापन्न) मोक्ष-व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रहे जाती हैं-अर्कक्या (रविमक्या) वात-किन्दुएँ। अवरम ही इन सात स्वरकिन्दुओं में सात-प्रवर्ग्य-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवकिन्दात्मक प्रत्येक बाईस स्वर में सात सात व्यञ्जनों की स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। तभी तो सप्त-व्यञ्जनात्मक-सप्त लोक (सातों लोक) उभ पञ्चश्रमूर्ति स्वररत्ना पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। शब्दब्रह्ममर्यादा में भी अक्षर-उच्चारण प्रत्येक स्वयंस्व अक्षर सात-सात व्यञ्जनों की निर्भर रूपेण उठा सक्ता है उठा होता है। अर्थात् एक स्वर के आचार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवसरान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आचार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है, जैसाकि प्रातिपिकाय के

\* नैवीदेवा-नास्तमेवा। मध्ये-एकल-एव स्थाता। स्यो बृहतीमण्डस्तपति।

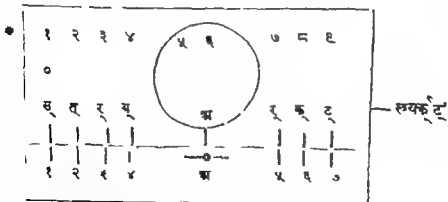
—वा ३५०



सुप्रसिद्ध—‘स्यक्’ इति उदाहरण से स्पष्ट है ७ । इस शब्द में आप देखेंगे कि, स्वर तो ‘अ’ नामक केवल एक है—बो दो किन्तुओं में उक्तवक्ष्य से प्रतिष्ठित है, जिसके आरम्भ में १—२—३—४—ये चार अक्षरसिद्ध किन्तुएँ हैं, एवं आगे ७—८—९—ये तीन सिन्धुएँ हैं, जिन इन पूर्वापर सात किन्तुओं में क्रमशः स—त्—र्—य्—र—क्—ट्—ये सात मर्त्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होखे हैं । अब यदि एक भी व्यञ्जन आप इस शब्द में और समाविष्ट करना चाहेंगे, तो आपको अन्य स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा । क्योंकि सात किन्तुओं के परिपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानामात्र है अन्य आठवें व्यञ्जन को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित करने के लिए । सैपा—स्वरस्य—सन्तनानुगता—सहजस्थितिः ।

उक्त स्वरस्वरूप-परिचय के माध्यम से अब हमें यह मान लेना पड़ा कि, स्वर और व्यञ्जन इन दोनों में से धितानात्मक-सन्तुलन (पैज्ञान्य-पसार) की शक्ति नवविज्ञानात्मक-केवल स्वर में ही है। व्यञ्जन केवल एक विज्ञानात्मक है। अतएव व्यञ्जनों में-सम्प्रसारणाधर्म (व्याप्तिधर्म) का स्वभाव अभाव है। व्यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक सत्कारहीन-मयाबात-पार्थिवशरीरीमात्र-काम भोगपरामर्श-प्राकृत-मानव की मूर्ति परिचिन्ता है—‘जायस्य श्रियस्य इह प्रकृतिस्थिद्विधा आविर्भाव-तिरोभाव-धर्मानुक्तव से। पूर्वज्ञान में अभ्यक्त, केवल मध्यज्ञान में व्यक्त, पुनः तदुत्तरज्ञान में अभ्यक्त, इन तीन चरणों में ही मत्स्य-पार्थिव-व्यञ्जन का सम्पूर्ण इतिहास परिचिन्ता है जो कि इतिहास व्यञ्जन से अमिश्र ‘सरात्मक भूत का किंवा भूतात्मक सूर’ का माना गया है ×। ‘सूर’ सर्वाणि भूतानि’ के अनुसार जो स्वर जो धम्म मौलिक-मत्स्य-स्वर का है ठीक वही स्वरूप वही धम्म तदमिश्र मत्स्य-पार्थिव आनुष्ठान व्यञ्जन का है।

और 'स्वर १'। स्वर तो उस 'अक्षर' से समुत्पन्न किंवा अभिन्न है—, जो अक्षरतत्त्व-  
न दीयत'—निर्बन्धानुसार अपने अमृत-मधु-धर्म से सर्वा 'अक्षर' (अनृत्यमावापन) ही प्रमादित



× अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।

अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना ( गीता ) ।

— स्वरोऽक्षरम् । सङ्घायैर्व्यञ्जनै पूर्णरचाधसितै ।

—प्रातिशाख्य

संगोभीय तथाकथित बृहतीक्षन्व के केन्द्र में ही क्योंकि मगवान् सूर्यनाशयण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित हैं • अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्यदेव भी 'बृहत्' नामसे प्रसिद्ध होगए हैं वैसाकि-बृहत् तत्त्वो मुबनेषन्त पवमानो हरित आविवंश "त्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुसन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य- 'बृहद्मानु' नाम से भी प्रसिद्ध है।

'सप्त वै देवध्वन्यांसि' के अनुसार गायत्र्यादि-ब्रह्मन्त अहोरात्रवृत्तात्मक ( पूर्वापरवृत्तात्मक ) संगोभीय सातों छन्द क्रमशः पञ्चाक्षर-सप्ताक्षर-आष्टाक्षर-नवाक्षर-दशाक्षर-एकादशाक्षर-द्वादशाक्षर ( १-७-८-९-१०-११-१२ अक्षरात्मक ) माने गए हैं, जिन के चतुष्पादभाष से क्रमशः २४ २८-३२ ३६ ४ ४४-४८-वे अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस 'बृहतीक्षन्व' की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रकान्त-स्वरप्रकरण में जिसके नव (६) मूलाक्षर हैं तथा पट्विश्रात् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर इस बृहतीक्षन्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य का दिव्य-मधुरत्वय पेन्द्रप्राज ही वह 'बाह्वन्-स्वर तत्त्व' है जिस का अत्र यशोगान किया आरम्भ है।

नवाक्षर का अर्थ है-नवकिन्नु-अनुगत प्रसार जिसका तात्पर्यार्थ यही है कि-छौर-बाह्वन्-नवाक्षर- ( नवकिन्नात्मक स्वर के आचार पर ही पार्थिव आनुष्ठुम व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बाह्वन्-स्वर की तनन मर्यादा ( कितानमर्यादा-कैलाश ) क्योंकि नव-किन्नात्मक है। अतएव उचित या कि, नवकिन्नात्मक प्रत्येक स्वर की महीमा में ९ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजायें। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि- नवकिन्नात्मक प्रत्येक स्वर की उक्त अक्ष-मेव से दो अवस्थाएँ रहती हैं। 'मूलाक्षरविम्ब' का नाम ही 'उक्त्यस्वर' है एवं 'तूलाक्षररश्मि' ही 'अर्धस्वर' हैं। ९ किन्नुओं में से ५ की ९टी इन दो किन्नुओं को स्वयं उक्त्यस्वर अपना ब्रह्मोद्ग ( मूलाक्षरप्रतिष्ठा ) बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्विकी किन्नुब्रह्मविम्ब ब्रह्मोद्ग की सीमा में ( स्व-मोम्या सीमा में ) वो प्रबन्धमावापन्न ( मर्यामावापन्न ) मोम्य-व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रह जाती हैं-अर्धरूपा ( रश्मिरूपा ) सात किन्नुएँ। अधरव ही इन सात स्वरकिन्नुओं में शत-प्रवर्ध-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवकिन्नात्मक प्रत्येक बाह्वन् स्वर में सात सात व्यञ्जनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की इमता है। तभी तो सप्त-व्यञ्जनसमक-सप्त-श्लोक ( सातों श्लोक ) उस एकाक्षरमूर्ध्नि स्वरभ्रमा पर प्रविष्टित होरहे हैं। शब्दत्रयमर्यादा में भी अक्षर-उकारादि प्रत्येक स्वररत्मक अक्षर सात-सात व्यञ्जनों को निर्भर रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आचार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आचार पर सात व्यञ्जनों का उ-चारण सम्भव है, जैसाकि प्रातिशाक्म के

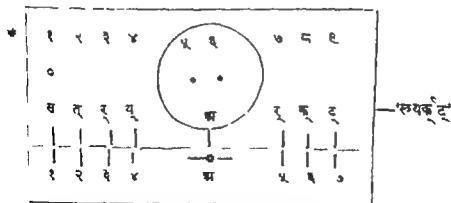
• नैषोदेता-नास्तमेता। मध्ये-एकल-एव स्याता। सूर्यो बृहतीमध्युदस्तपति।

—ब्रा १५०

सुप्रसिद्ध—‘स्यक्त्’ इस उच्चारण से स्पष्ट है \*। इस शब्द में आप देखेंगे कि, स्वर तो ‘अ’ नामक केवल एक है—बो दो किन्तुओं में उच्चारण से प्रतिष्ठित है, जिसके आरम्भ में १—२—३—४—य चार अक्षरिभ्यः किन्तुएँ हैं एवं आगे ७—८—९—ये तीन किन्तुएँ हैं, जिन इन पूर्वापर सात किन्तुओं में क्रमशः स—त्—र्—य—र—क्—ट्—य सात मर्त्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होखे हैं। अब यदि एक मी व्यञ्जन आप इस शब्द में और समाविष्ट करना चाहेंगे तो आपको अन्य स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि सात किन्तुओं के परिपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानाभाव है अन्य आठवें व्यञ्जन को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित करने के लिए। सैषा—स्वरस्य—सन्तनानुगता—सहजस्थितिः।

उक्त स्वरस्वरूप—परिचय के माध्यम से अब हमें यह मान लेना पड़ा कि, स्वर और व्यञ्जन इन दोनों में से वितानात्मक—सन्तनन—( फैलाव—पसार ) की शक्ति नवविन्दात्मक—केवल स्वर में ही है। व्यञ्जन केवल एक विन्दात्मक है। अतएव व्यञ्जनों में—‘सम्प्रसारणवर्म्म’ (व्याप्तिवर्म्म) का स्वभाव अभाव है। व्यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक संस्कारहीन—मयाबाट—पार्थिवशरीरीमात्र—अम मंगलपरायण—माकृत—मानव की मति परिसमाप्त है—‘जायस्व त्रियस्व’ इस प्रकृतिसिद्ध आविर्भाव—विरोधात्—वर्म्मोन्मुख से। पूर्ववर्ण में अव्यक्त, केवल मध्यवर्ण में व्यक्त, पुनः तदुत्तरवर्ण में अव्यक्त, इन तीन वर्णों में ही मर्त्य—पार्थिव—व्यञ्जन का सम्पूर्ण इतिवृत्त परिसमाप्त है जो कि इतिवृत्त व्यञ्जन से अमिष छटात्मक मूल का किंवा भूतात्मक ‘अ’ का माना गया है \*। ‘अः सर्गाणि भूतानि’ के अनुसार जो स्वर जो चम्म—मौलिक मय अर का है ठीक वही स्वरूप वही चम्म तवाभिन्न मर्त्य—पार्थिव आनुष्ठुम व्यञ्जन का है।

और स्वर ?। स्वर तो उस ‘अक्षर’ से समस्तित किंवा अमिष है— जो अक्षरतत्त्व—न दीयते—निर्वचनानुसार अपने अमृत—मधु—वर्म्म से सर्वथा ‘अक्षर (अक्षरमायापन्न) ही प्रमासित



× अव्यक्ताक्षीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि मारत !।

अव्यक्तनिधानान्येष सप्र का परिदेवना ( गीता )।

— स्वरोऽक्षरम् । सद्गर्धर्व्यञ्जनैः पूर्वाश्चावसितै ।

—प्रातिशाक्य

समाग्रीय तथाकथित इहरीकुन्द के केन्द्र में ॥ क्योंकि मगवान् स्युनारायण शिखररूप से उपस्थित है \* अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्यदेव भी 'बृहत्' नामसे प्रसिद्ध होगए हैं, जैसाकि-बृहत् तस्मी सुबनप्यस्तः पथमानो हरित आविवश इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुसन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य- 'बृहद्भानु' नाम से भी प्रसिद्ध है।

'सप्त धे देवध्वन्यासि के अनुसार गायत्र्यादि-अक्षरान्त आहाराप्रवृत्तत्वात् ( पूर्वापरवृत्तत्वात् ) खगोलीय सार्ता कुन्द क्रमशः पञ्चसुर-सप्तसुर-अष्टासुर-नवासुर-दशसुर-एकदशसुर-अष्टादशसुर ( १-७-८-९-१०-११-१२-अक्षरक्रम ) माने गए हैं, जिन के चतुष्पाद्भाव से क्रमशः २४-२८-३२-३६-४०-४४-४८-ने अक्षर होजाते हैं। इन सार्ता कुन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस 'इहरीकुन्द' की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं प्रकथान-स्वरूपक्रम में जिसके नव (९) मूलाक्षर हैं तथा पदत्रिरात् (३६) तूलाक्षर हैं। नवाक्षर इन इहरीकुन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य का दिव्य-मयुरभय ऐन्द्रप्रान ही वह 'बाह्व-स्वर तत्त्व' है, जिस का अग्र यशोगान किया जा रहा है।

नवाक्षर का अर्थ है-नवकिन्दु-अनुगत प्रस्तार जिसका तत्पर्य्याय यही है कि-धीर-बाह्व-नवाक्षर- ( नवकिन्दात्मक स्वर के आचार पर ही पार्थिव-आमुष्टुम व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बाह्व-स्वर की कनन-मर्यादा ( कितानमर्यादा-वैलास ) क्योंकि नव-किन्दात्मक है। अतएव उचित था कि, नवकिन्दात्मक प्रत्येक स्वर की माहिमा में ९ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजायें। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि- नवकिन्दात्मक प्रत्येक स्वर की उक्त अक्षर-मेघ से दो अवसरपाएँ रहती हैं। 'मूलाक्षरविन्ध' का नाम ही 'उन्मत्स्वर' है एवं 'तूलाक्षरविन्ध' ही 'अर्कस्वर' हैं। ९ किन्तुओं में से ४ की १ दूटी इन दो किन्तुओं की स्वयं उन्मत्स्वर अपना ब्रह्मविन ( मूलाक्षरप्रतिष्ठा ) बना लेता है। अतएव इस प्रातिहिकी किन्तुब्रह्मविन ब्रह्मविन की सीमा में ( स्व-मोष्या सीमा में ) वो प्रवर्ग्यमावापन्न ( मत्स्यमावापन्न ) मोष्य-व्यञ्जनों का प्रवेश निमित्त ही बन जाता है। और इन शेष रह जाती हैं-अर्कस्वा ( रश्मिरूपा ) सात-किन्तुएँ। अवश्य ही इन सात स्वरकिन्तुओं में सात-प्रवर्ग्य-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवकिन्दात्मक प्रत्येक बाह्व स्वर में सात स्वत व्यञ्जनों की स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। सभी वो सप्त-व्यञ्जनात्मक-सप्त लोक ( सार्ता लोक ) उस एकदशसूर्यस्वि स्वररूपा पर प्रतिष्ठित होरह हैं। शब्दब्रह्ममर्यादा में भी अक्षर-उच्चारण प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात-स्वत व्यञ्जनों की निर्मर रूपेण उठा सकता है उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आचार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आचार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है जैसाकि प्रातिहात्म्य के

\* नैवोदेता-नास्तमेता । मध्य-एकल-एव स्वाता । सूर्यो बृहदीमप्युदस्तपति ।

—आ ४५०

नाम के आमायाक से सभी ऐश्वर्यशाली सुपरिचित होंगे । भोज्य-जठर-चोप्य-लोह मेद से चार भे भिया में विभक्त भोज्य पदार्थ पावकृत्वा के काशल से तथा परिग्रहामक-पदार्थों के वैशिष्ट्य से वहाँ 'सुस्वादु' बन जाते हैं, वहाँ पावकृत्वा के शैथिल्य से, साथ ही साधन-परिग्रहों के दोष से अस्वादु भी बन जाया करते हैं । क्षुप्पन भोगों से समन्वित १६ सौ व्यञ्जन यों मानवीय मन के लिए स्वादु- (मनभावन रुचिकर-प्रिय) भी बन जाते हैं, एवं अस्वादु- (आप्रिय) भी बन जाते हैं । प्रियमाशानुगता रुचि से अनुपाशित यह 'स्वादु' ही सौर 'मधु' रस है, जो प्रत्येक भोज्यादि व्यञ्जन को 'सुस्वादु' (आयकदार) बना दिया करता है । दधि-घृत-दुग्ध-गोधूम-अव-शर्करा-गुह-क्षीर-सस्त्रिका-अमृष-आदि आदि सभी भोज्य सौर मधु भाग के समीकरण से वहाँ सुस्वादु बन जाते हैं, वहाँ पाव्यदि की असावधानी से मधुरस के अमिमव से वही व्यञ्जन अस्वादु भी बन जाया करते हैं । व्यञ्जनों का वह स्वादुरस ही अमृतात्मक स्वर भाग है जिसके अमिभूत होशाने पर, किंवा निष्कल जाने पर सभी व्यञ्जन-गतरस बन जाया करते हैं । बिन एवंविध नीरस-अस्वादु मधुरान्न-व्यञ्जनों को ही 'आतयाम' कहा गया है - । पेय पानी में अन्तर्व्यामरूप से प्रतिष्ठित वही मधुरस- 'शिवतमरस' कहा गया है- 'यो वा शिवतमो रस' । यही जीवनीय रस माना गया है । यही आयु-सूत्र सरसक रस माना गया है । क्यों ? ।

इसलिए कि, सौर-बाह्य-इन्द्रप्राणामक-मधु ही 'पटञ्जिरात्-वृहती' ( १६ ) संख्याओं में परिणत होय हुआ अहोरात्र-परिप्लवन से मानव के शतसुखीन का आचार बना हुआ है । सौर-वृहती-सन्द के १६ अक्षर कलाप गए हैं । प्रत्येक अक्षर सहास भाषावर्ण है । प्लुत सौर रश्मिगत काईत-अक्षरात्मक-जीवनप्रद-स्वररूपक-मधुप्राण १६ सहस्र संख्या में परिणत होजाता है । ये ही मानव के जीवनीय अमृष-सूत्र कलाप हैं । यही आयु-प्राण विश्वप्रज्ञा का अत्युत्तम मित्र बनता हुआ- 'शिरधामित्र' नाम से भी प्रसिद्ध है । इत्यपकार हैर्नदिनीय अमृषाह ( भोजनकर्म ) से अनुपाशित मौक्तिक-व्यञ्जनों में पेय पानिमी में, अवज-दर्शन-गमन-इक्षन-द्यन-आदि आदि गन्धयाकर् कर्मकलापों में इस सौर-मधु-रसात्मक- 'स्वर' को परिव्याप्त देखते हैं । मधु-प्राणामक 'स्वर' की अभिव्यक्ति में समीकरण से समवेष्ट से वहाँ ये मौक्तिक-विबर्त मधुर-भेय-प्रिय-रुचिकर-मनभावन-बन रहते हैं वहाँ मधुररसात्मक सौर-स्वर की अमिभूति से, विषमता से, निगमन से वे ही मौक्तिक-वियत कटु-अप्रिय-अरुचिकर-मनोविहिष्ट-उद्देगकर ही बन जाया करते हैं । जब भोज्यवस्तु मानवीय मन की सभी दृष्टियों से अस्वादु-नीरस-आतयाम-प्रतीत होने लगता है तो नित्रचयेन उस अवस्था में जीवतमत्ता संकिष्ठा बन जाया करती है एवं उन्नी अवस्था के लिए महर्षि ऐतरेय ने- 'स यत् करणीयं मन्यत-त कुर्व्यात्' यह उद्बोधन प्रदान किया है ।

'रुदन' एक अपसीक्षिकर-प्लानिकर-उद्देगकर-भाव माना गया है । किन्तु-मधु अमृत-'सौर-स्वर-साम' के समावेश से रुदन जैसा उद्देगकर-कटु-कर्म भी मधुर बन जाया करता है । अवश्य लोक में प्रसिद्ध है कि- 'कलावन्त का तो रोना भी गाना ही है' । उच्चमुच स्वरसम्बान से समन्वित तो रोना भी

—यातयाम गतरस पृति-पर्युपित च यत ।

उच्छिष्टमपि धामेध्य भोजन सामसप्रियम् ॥

—गीता १.५.१०।

हो रहा है। अपने मधुमय-सौर-इन्द्रप्राणमय-इसी अक्षरगतम-धर्म से यह स्वर चरममक व्यञ्जनों का आधार बना हुआ कुछ समय के लिए इन व्यञ्जनों को भी मधुमयी-रस रूपता अमृतसम्पत्ति-प्रदान कर दिया करता है। अक्षरामिन्-इस अमृत-स्वर में ही सन्तनन की शक्ति है। यह सन्तनन ही स्थायी-संस्कार को अमिष्यक्त-प्रकृत रखता है जिस प्रकृति को—'अर्धव्या' कहा गया है। जिसप्रकार मधुरसामिन्-मिहा से समन्वित सुप्रतिष्ठा कुक्कुटप्राणी (मृगा) × अत्वालीकृत (काशकीचमुक्त) वायु के द्वारा उप-साध कृमि-कीटप्रति प्राणियों को उत्कृष्टचर्बणा के साथ (फफेड़-कफेड़ कर) अपना भोग्य बनाए रहता है ठीक इसीप्रकार कुक्कुटप्राणीय • मधुरसामिन्-सौर-बाह्य-इन्द्रप्राणमय-स्वर अपनी सन्तनन-रूपा वायु से पारिवर्तन-व्यञ्जनों को प्रचण्ड चर्बणा से ही सन्तत चित्त-करता हुआ रहता है अपना भोग्य बनाता रहता है। अर्थात् स्वरसन्तनन के द्वारा ही मत्स्यव्यञ्जन भी कुछ दूर पश्यन्त-नादध्वनि के अनुगामी बनते रहते हैं और यों एकमात्र मधुरसामिन् स्वर के सन्तननानुग्रह से ही व्यञ्जन भी सञ्चित में कुछ समय के लिए मधुरसामिन् बन जाता करते हैं। इसी प्रकृतिस्वा-येन्द्री-स्वर चर्बणा के लिए महापिन्—'अर्धव्यामण' जैसे महात्पूर्ण शब्द अमिष्यक्त किया है अपनी पुराणीप्रका से, जिस इस सध्य का ही निम्न लिखित अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

वीमत्सुनां सयुजं इसमाहुरां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् ।

अनुष्टुमनु कर्षूर्यमाखमिन्द्र निविष्यु क्वयो मनीषा ॥

आर्क्ष० १ । १२।४।४।

विस्तारमिमा उक्त रहस्यमन्त्र के तात्त्विक-विस्तार में न बाते हुए अभी प्रसङ्गोपात्त मन्त्र के उक्त्य में बही ध्यान लेना अल होगा कि,—प्रत्येक म-य-पारिवर्तन चरममक मृत पारिवर्ती अनुष्टुप् वाक् के सम्बन्ध से अनुष्टुप्-बाधमय ही है। अनुष्टुप्मय पारिवर्तन-चरममक का प्रतिक्रमक आधार वह अमृत प्रणामक सौर-मधुर-रसमय-बाह्य अक्षरगतम-इन्द्रप्राण ही है जो वायु र्धमाखमिन्द्र से इन मर्ष भी चरममक की वीम-सत्ता प्रदान करता रहता है। अर्थात् अक्षरगतम-अमृतेन्द्र ही चरममक मर्त्यमूर्तों की दिग्देशकलागुता वीमसत्ता का कारण बना हुआ है। प्रत्येक चरममक में प्रत्येक पारिवर्तन अनुष्टुप् में आधाररूपेण अमृतेन्द्राक्षर भी विद्यमान है जिसका मनीषिण्य अपनी खात्विकी पुराणी-प्रका से अन्वेष्टन कर इन मर्त्यमूर्तों से भी अमृतसम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ बन बाते हैं + इत्यसमस्तिपलवितेन-नुषोष्यम-मन्त्रार्थप्रवञ्चने ।

लौकिक-उदाहरण के माध्यम से चरममक मर्त्यमावापक व्यञ्जन के आधार को हुए अक्षरगतम अमृतमावापक स्वर की मधुरसानुगता मधुरिमा का समन्वय कीविए । अप्पन भोग्य-अधीस-व्यञ्जन

× कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वा (यजुःसंहिता) (विस्तार के लिए देखिए राजपञ्चममलख) ।

•—यह अवश्य है कि 'अहत्या-गोतम-संवाद' में इन्द्र के कुक्कुटरूप का भी स्पष्ट हुआ है ।

—इह चेद्वेदीदथ सत्यमस्ति न वेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य-अस्मान्लोकादमृता भवन्ति ॥

—कनोपनिषत् ८।

स्वरत्मक-‘सम्’ भाव प्रतिष्ठित है। सञ्जीत वही सञ्जीत है, जो ‘स्वर’ से अभिन्न है। एवं स्वर वही स्वर है, जो पञ्चम के अक्षर से अभिन्न है ॥

सञ्जीत के सञ्जीत के हृदयानुगत ‘नाड्’ से उत्थित-आविर्गति-नाडियों से विनिःसृत २२ भुतिर्मा के द्वारा ही कण्ठद्वार से सत्तवा विमल होकर विनिगल-उनी भाव का नाम ‘स्व’ है, जो मधुरता का वर्ण ही कर देता है। सञ्जीताचार्य के व्यञ्जनात्मक धर्मा-‘योद्धा’ आनन्द के प्रवक्तृ नहीं है। अपितु इन व्यञ्जनों का मूलाकार बना शुभा-आलाप-सलाप-मूर्च्छना-आदि से समन्वित-स्वरसन्धान ही स्वयं सञ्जीत के लिए, एवं श्रोता के लिए भुतिमधुरसत्त्वेन आनन्द का ( मनस्तुष्टि का ) कारण बना करता है। यही कारण है कि, सन्त्रभेदि के शास्त्रीय-सञ्जीत में व्यञ्जन न्यूनतम ही रखा करते हैं। अथ से इति पर्यन्त स्वर का ही सन्तनन रहता है। अथर्व ही आद्य के भूषणवान-व्यञ्जनप्रधान-वदधीवन के बड़ीभूत मन के लिए इत्यभूत स्वरप्रधान शास्त्रीय-सञ्जीत अस्त्वथ शुभावह नहीं बन रहा। आबता बह्वामवक्त-मौक्तिक-अनुरूपों को, सदनप्राणित-कास्वालीकृत-नतन-गायन को (नहीं-अपितु-उद्दामवात्सनात्मक-हीनतम-उद्देग-जन-विबम्भणों को) ही सञ्जीत की उपाधि दी चारही है जिसका सम्मुखता-‘सञ्जीत’ शब्द के स्पर्श से भी सम्बन्ध नहीं है। प्रकृतम् इन प्रकृत्यन्त स्वर-प्रसङ्ग से हमें यही वस्तुनिष्ठ है कि, नादानुगता भुति के द्वारा अभिध्यक्त-अनुरणनात्मक-सत्तवा विमल-तत्त्व ही ‘स्वर’ का संक्षिप्ततम स्वरूप-परिचय है। ‘स्यत प्रथ रञ्जयति-भोतृचित्तम्’ ही इस ‘स्वर’ शब्द का निर्बन्धनात्मक ( सञ्जीतानुगत ) समन्वय है। स्वर के इसी स्वरूप-परिचय को लक्ष्य बनाकर सञ्जीताचार्यों ने कहा है—

भुतिभ्यस्तु स्वरः-पङ्क्त-पम-गान्धार-मध्यमाः ॥

पञ्चमो-धैवत-आध निषाद-इति सप्त ते ॥ १ ॥

( तेषां सङ्गा -म-रि-ग-म-प-ध-नी-त्यपरा मता )

भुत्यन्तरमावी य सिगन्धोऽनुरणनात्मक ॥

इतो रञ्जयति भोतृचित्तं स ‘स्वर’ उच्यते ॥ २ ॥

राजुदीप्तावस्य धातो ‘म्ब’ शब्दपूर्वकस्य च ॥

‘स्वयं हि राजत’ यस्मात्-तस्मात्-‘स्वर’ इति स्मृत ॥ ३ ॥

\* प्रथम मान ‘ओङ्कार’,-द्वय मान ‘महाद्वय’, त्रय मान ‘गोरक्ष’, ‘वेद’ यान ‘ब्रह्मा’ । (प्र०)

गीत को ‘सञ्जीत’ मान, सञ्जीत को ‘स्वर’ मान

स्वर को ‘अक्षर’ मान, ताल लगन्ता

फहत बँजू बावर सुनहू गोपाललाल !

दिन मान ‘श्रुत’, रैन मान ‘चन्द्रा’ ।

—प्रथम मान ओङ्कार—

सम् भावात्मक-समीकरण से—‘सङ्गीत’ जनता हुआ—शान्तिप्रद—सुखप्रद ही बन गया करता है। इस मनु-स्वर-रसात्मक-रिदन से अपने ज्ञानभावोपस-सौम्य-रस से शिशु का रोदन भी सुलभ बन गया करता है। लोक में ही क्यों, शास्त्रीय-दृष्टि से भी स्वरमुगल रुदन का भी उपासनायोग में महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। ‘रुद्र’—सुस्वरम् + रूपेण प्रसिद्ध गौरीगीत के स्वरात्मक रुदन से कौन उपासक परिचित न होगा ?।

यौ-सम्पूर्ण-वैज्ञानिक के भूत-भौतिक-वदाओं में कर्म-कलाओं में शारीरिक-पुष्टिक-वेदाकर्मों में-सर्वत्र-स्वरसामात्मक सौर-मधुरस प्रतिष्ठाकर्मण परिष्कृत है और यही इन सब भौतिक-विषयों की जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। जबकि ‘स्वर’ का अनुग्रह है, तभी तक ‘व्यञ्जनों’ की स्वररूपता सुरक्षित है। इसप्रकार सभी दृष्टियों से हम व्यापक-स्वरसामात्मक महान्-विरचसङ्गीत का साक्षात्कर कर सकते हैं। कर्तव्य है। और स्वरात्मक-यही सौर-सङ्गीत व्यञ्जनात्मक-विश्व की जीवनसत्ता का प्रमुख आधार बना हुआ है, जिस इस प्रकृतिक्रम महासङ्गीत के आधार पर ही सङ्गीत प्रवर्तक-मुमुक्षु-नारदादि श्रुतिप्राणों के द्वारा अतएव वृन्द-नायक-श्रुतिप्राणों के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध होबाने वाले मानवमहर्षियों की ओर से स्वरसामात्मक-व्यञ्जनात्मक-उप सङ्गीत का सञ्चलन हुआ है जिसके नाद-भुक्ति-स्वर के तीन प्रमुख प्रक्रम को हुए हैं। जिन तीनों के अन्त के ‘स्वर’ नामक मधुरिमा-प्रवर्तक-आनन्दप्रद-आस्थापात्मक-तत्त्व का ही अक्सक विभिन्न दृष्टिकोणों से यशोमान प्रकल्प है।

पञ्च-अपस-गाम्भार-सम्भम-पञ्चम-चैव-निपाद ( सा-रे-ग-म-प-ध-नी- ) नाम से प्रसिद्ध-लोकसङ्गीत के प्राणप्रतिष्ठाकर्म से सुप्रसिद्ध ‘सात-स्वर परम्परा सौर-मधु-रसात्मक-असुत-अक्षरात्मक-स्वरसाम से ही क्योंकि अभिव्यक्त हुए हैं अतएव इन्हें भी स्वर’ कह दिया गया है। यह-मुलानुभूत-ही-स्वर’ का स्वरूप परिचय है। मुलप्रवर्तक इस ‘स्वर’ के सम्बन्ध से ही सौर-वृन्दमंडल स्व-‘स्वर्ग’-आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। स्वर्गलोक-सङ्गीत ( मुललोक-सङ्गीत ) सौर स्वररूप ही लोक-सङ्गीत के उत्पत्ति-स्वरों का अभिव्यक्त है। अतएव वद्वार्त्त मान भी-‘स्वर’ नाम से ही प्रसिद्ध होगा है। अपने नवकिन्दात्मक-वितान-आदान-प्रसार-सम्भ से-उत्पत्तिक-सप्तस्वरों में ही यह ‘आलापसम्भ’ अभिव्यक्त है जिस आलाप की पारिमाषिक-नशा है-‘अनुराग’। सङ्गीतार्थ की सङ्गीतार्थ-राज-ज्वलि वतावरण में वरुण-न्यायेन जो एकप्रकार का सुखम राधात्मक-कम्पन उत्पन्न कर देती है, जिस कम्पन-समुद्र में मोताभी का मन निमज्जित होनावा करता है उसी का नाम-‘अनुराग’ है। इसी को लोक अभिधा है ‘समा र्थ जाना। मन का सम्भ ही यह ‘समा’ है। साम्यमात्रात्मक-एकमात्रात्मक-इस-‘सम्’ से ही तो यह गीत ( गायन ) सङ्गीत कहलाया है। गीत ( गायन ) वही गीत है जिसके मूल में

—इति गोप्य प्रगायन्य प्रलपन्त्यथ चित्रणा।

‘रुद्र सुस्वर’ रागन् ! कण्ठदर्शनलालसा ॥

—भीमभारत १० पृ० । ३९ अ० । १ श्लोक ।



सर्वाङ्गता यवी	मन्द्रनादः	मध्यनादः	सारनादः
	मन्द्रभृति	मध्यभृति	सारभृतिः
	मन्द्रस्वरः	मध्यस्वरः	सारस्वरः
आदिदेवतम्	ऋतुस्तोमः (९)	पञ्चदशस्तोम (१५)	एकविंशस्तोमः
	पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौ
	अग्निः	वायुः	आदित्यः
	गायत्री	विष्टुप्	अगती
	प्रातःसवनम्	माध्यन्दिनसवनम्	सायंसवनम्
आदिभूतम् (आप्यभूतम्)	प्रातःकालः	माध्यह्निककालः	सायंकालः
आदिभूतम् (आप्यभूतम्)	उत्तरस्थानम्	ऊर्ध्वस्थानम्	शिरःस्थानम्

विरधान-भेद से तीन प्रमुख मागों में विभक्त कृत स्वर ही सङ्गीतशास्त्र में 'शुद्धस्वर' कहालाए हैं मत्-शुद्धस्वर ही भृत्तियों के सारसम्भ से 'धारह-प्रकार' की अवांतर-संयोगिकी-अवस्थाओं में परिचित होता है। वे ही यौगिक स्वर-विष्टुस्वर' कहालाए हैं जिन का भी प्रवक्तृपच वालिचमात्र सं नामस्मरण कर लिया जाता है—



त-मन्द्र-मध्य-तारा-रूप-स्थानमेदात्-त्रिषा मता ।

ते एव विकृतावस्था द्वादशा प्रतिपादिताः ।

तै शुद्धै सप्तमि सार्द्धं भवन्त्येकोनविंशति ॥ ( १६ ) ॥

अन्यदपि किञ्चित्-प्रासङ्गिक-स्वर-सम्बन्धे एव—

पञ्चसानुगत-अर्षो के-‘आम्भृणीकुल’ में जैसे वर्ण-वाति-छन्द-श्रुति-देवता-आदि-व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं, ठीक उसीप्रकार शब्दब्रह्मानुगत सरस्वतीकुल’ में सम्भूत इन स्वरों में वर्ण-छन्द-श्रुति-देवता-आदि सभी व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं, जिन के वैज्ञानिक-स्वरूप-विवरण का अत्र अवसर नहीं है । पाठको के चिन्तन-मनन-सौख्य-मात्र के लिए-उन व्यवस्थाओं में से कतिपय व्यवस्थाओं का यहाँ नामस्मरण-मात्र ही कर लिया जाता है ।

पञ्च स्वर (सा) के श्रुति ‘वह्नि’ हैं श्रुपम (रि) के ब्रह्मा हैं गान्धार (ग) के पञ्चमा हैं मध्यम (म) के विष्णु हैं । पञ्चम (प) के नारद हैं वैवत और निषाद के (च-नी-के) तुम्बुरु हैं । सातो स्वरों के क्रमः वह्नि ब्रह्मा, सरस्वती, शर्व, (महादेव) विष्णु, गणपति, सूर्य, ये सात—‘देवता’ हैं । अष्टो के क्रमः—अनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-वष्णिक्-जगती—ये सात छन्द हैं ।

पञ्च-गान्धार-मध्यम ( सा-ग-म ) ये तीन स्वर वृषकुल से समुत्पन्न हैं । पञ्चम-स्वर ( प ) पितृकुल से उत्पन्न है । श्रुपम और वैवत ( रि-च ) ये दो स्वर श्रुतिकुल से अभिव्यक्त हैं । एवं निषाद ( नि ) स्वर असुरकुल से उत्पन्न है । पञ्च मध्यम पञ्चम ( सा-म-प ) ये तीन स्वर वर्णतः ‘ब्राह्मण’ हैं । श्रुपम और वैवत ( रि-च ) ये दो स्वर क्षत्रिय हैं । निषाद और गान्धार, ( नि-ग ) ये दो स्वर वैश्य हैं । एवं अन्तर काक्ष्ती \* रूप में परिणत ये ही निषाद-गान्धार-‘शुद्ध’ हैं ।

वद्व ( सा ) पञ्चवर्ण ( रक्तवर्ण ) है श्रुपम ( रि ) पिष्टवर्ण ( ईपत्-पीतवर्ण ) है । गान्धार ( ग ) स्वर्णवर्ण ( अतिपीतवर्ण ) है मध्यम ( म ) कुन्डवर्ण ( श्वेतवर्ण ) है पञ्चम ( प ) असितवर्ण श्वेतवर्ण है । वैवत ( च ) पीतवर्ण ( सामान्य पीतवर्ण ) है । एवं निषाद ( नि ) कर्कशवर्ण ( विचित्रवर्ण ) है ।

पञ्चस्वर ( सा ) और एवं अद्भुत-रसात्मक है श्रुपमस्वर रौद्ररसानुगत है वैवत ( च ) स्वर भीमत्स तथा भयानक-रसात्मक है । गान्धेन और निषाद ( ग-नि ) ये दोनों स्वर क्रुद्धरसानुगत है । मध्यमस्वर ( म ) ह्रास्वरसारमक है एवं पञ्चमस्वर ( प ) शृङ्गाररसात्मक है ।

\*—निषाद पञ्चमस्य यदि भुविद्वय संभवेत् पञ्चमस्य द्वितीयभूतो विष्टन्-चतुः-भुविर्मवति-तदा-अक्षती त्र्युच्यते । गान्धारस्य मध्यमस्य भुविद्वयं पृथगन्-चतुः भुवि सन् अन्तर इत्युच्यते । तदित्य-निषाद-गान्धारवैवत-अनेन प्रचरणा-‘काक्ष्मन्तरस्वरो’ इत्यवधेयम् ।

## विकृतस्वर-तालिका

संख्या	नाम	व्यतिथि	व्यवस्था
१	अनुत-पञ्च	मन्दासंस्थित	त्रिभुजिक
२	अनुत-पञ्च	कुन्दीपनीस्थ	त्रिभुजिक
३	विकृत-म	रतिस्थित	चतुर्भुजिक
४	साधारणान्तरः	वक्रिस्थित	त्रिभुजिक
५	अन्तरान्तरः	प्रत्यक्षस्थित	चतुर्भुजिक
६	अनुत-मध्यमः	मीथिलस्थित	त्रिभुजिक
७	अनुत-मध्यम	माज्जनीस्थः	त्रिभुजिक
८	त्रिभुजि-पञ्चमः	कुन्दीपनीस्था	त्रिभुजिक
९	कीर्तिक-पञ्चम	कुन्दीपनीस्थ	चतुर्भुजिक
१०	विकृत-प्रेषत	रम्यासंस्थित	चतुर्भुजिक
११	कीर्तिक-निषाद	तीव्रासंस्थित	त्रिभुजिक
१२	काञ्ची-निषाद	कुन्दीपनीस्था	चतुर्भुजिक

स्वरः—	१ स्वरः	२ रेवा	३ छन्दः	४ कुलानि	५ वर्णमात्रम्	६ वर्णमात्राः	७ रसमात्राः	८ प्रमित्यक्रियमि
प्रथमः-१-गदस्वरः (सा)	वहि	अग्नि	अनुष्टुप्	देवकुलम्	ग्राहण	पथाम (यकवर्ण)	वीर एव अदभुतरस	अभुद्वीपे
द्वितीयः-२-द्वयमस्वरः (रे)	अदा	विधाता	गायत्री	श्रुतिकुलम्	चमिय	विज्ञानम् (इत्यतीतवर्ण)	गोद्वरस	शाकद्वीपे
तृतीयः-३-त्रायमस्वरः (ग)	चन्द्रमा	सरस्वती	विष्टुप्	देवकुलम्	वैश्य	स्वर्णम् (असिपीतवर्ण)	कव्यारस	कुण्डद्वीपे
चतुर्थः-४-चतुष्टयमस्वरः (म)	विष्णु	महोदधः	बुरगी	देवकुलम्	ग्राहणः	कुन्दाम् (रवेतवर्ण)	हास्यरस	कौण्डद्वीपे
पञ्चमः-५-पञ्चमस्वरः (प)	नाक्ष	नारायण	पाङ्क्ति	पितृकुलम्	नाहण	असिताम् (कृष्णवर्ण)	शृङ्गाररस	शात्मलीद्वीपे
षष्ठः-६-षष्ठस्वरः (ष)	द्रुमुद	गङ्गापति	उष्णिक्	श्रुतिकुलम्	धूमिय	पीताम् (सामान्यपितवर्ण)	वीमल, एवं मयानकरस	रवेतद्वीपे
सप्तमः-७-निगादस्वरः (नी)	द्रुमुद	सूर्य	अगती	अहुरकुलम्	वैश्यः	कन्दुगम् (विचित्रवर्ण)	कुरुभरस	पुष्करद्वीपे

६ - ननु काश्चन्यन्तरयोरपि स्वान्तरयोर्वयोः सवभावात् -सप्तैव-स्वरा इति कथं नियम्यते ? । 'नवस्वरे' इति वक्तव्यम् ? इति मैत्रम् । अनाभयच्चात्-तयोः स्वान्तरत्वं नास्ति-विह्वनिपादस्यैव काकलीच, विह्वतगान्धारस्यैव

'अन्तरश्चम्' इति सप्तैव स्वराः । तथाचोक्तमभिद्युक्तं -

निगाद 'काकली' सद्गो द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् भवेत् ॥  
गन्धार-स्वद्वेव स्या-दन्तर' स्वरसन्नकः ॥१॥  
अनाभयश्चाद् भेदेन स्वरा नोच्यते तपो ॥  
अतो निपाद-गान्धारवेवावाप्तौ रुदाहृतौ ॥२॥

—दक्षिण

पहलस्वर ( ता ) की अमिधेनी अम्मुद्वीप में हुई है । श्रुपमस्वर ( रि ) की शाक्रीद्वीप में गान्धारस्वर ( ग ) की कुराद्वीप में मध्यमस्वर ( म ) की कौशिकीद्वीप में पञ्चमस्वर ( प ) की शात्मकीद्वीप में वैवतस्वर ( व ) की रवेतद्वीप में, धर्म निपादस्वर ( नि ) की अमिधेनी पुष्करद्वीप में हुई है ।

## अयमत्र संग्रह. —

वह्नि-वैधाः-शशाङ्कश्च लक्ष्मीकान्तरश्च नारदः ॥

धूपयो ददशुः पञ्च पद्मादीस्तुम्भुरुर्वनी ॥ १ ॥

वह्नि-मर्ष-सरस्वत्य-शर्ष-भी-गयेश्वराः ॥

सहस्रांशु-रिति प्रोक्ताः क्रमात् पद्मादिदेवता ॥२॥

क्रमादनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप्-च बृहती-तत ॥

पक्ति-रुषिक-च-अगती-त्याहुश्छन्दांसि सादिपु ॥३॥

गीवांश्चकुलसम्भूता पद्म-गान्धार-मध्यमा ॥

पञ्चम पितृवशोत्थो, रि-वा-इपिकुलोद्भवौ ॥४॥

निपादोऽसुरवैशोत्थो ॥

ब्राह्मणाः स-म-पञ्चमा ॥५॥

रि-धौ-तु चत्रियो द्वेयौ वैस्पयार्ता नि-गौ-मतौ ॥

शूद्रावन्तरकाकन्यौ ॥

स्वरवर्णास्त्रिमे क्रमात् ॥६॥

पद्मामः, पित्रः, स्वर्गवच कुन्दग्रमोऽसित ॥

पीतः, कर्णूर इत्ये ॥

पां वन्मभूमिमथ भ्रुवे ॥७॥

वम्भु-शाक-कुश-कौश-शान्मली-रवेत-नामसु ॥

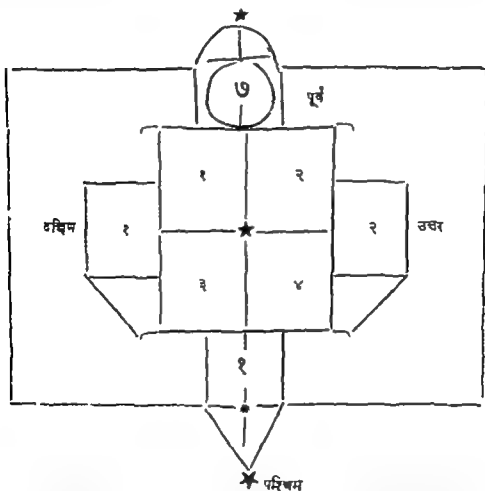
द्वीपेषु पुष्करे चैते जाताः पद्मादय क्रमात् ॥८॥

स-री-वीरेऽश्रुते रौद्रे, चो बीमत्से मयानके ॥

काप्यौ ग-नी-तु-कल्लो, हास्य-शुभ्रारयो-र्म-पौ ॥९॥

एक प्राण प्रतिष्ठात्मक पुच्छमात्र है। प्रत्येक भूतसृष्टि का प्राणात्मक-रेखाचित्र बनाएँ, और उसके इन सात प्राणों का निम्नलिखित रूप से व्यवस्थित कीजिए। और हाँ यह ध्यान रखिए कि, इन सातों प्राणों का ही नाम 'चित्पुरुष' है, जिस के मयन से जो ऊष्मविनिर्गत-चित्तेनिषेय विशुद्ध अमृतमात्र है जो कि- 'सप्तानां पुरुषणा भी कहा गया है, वही आठवाँ ( सातों के स्वात्मक अमृतमात्र से अभिव्यक्त-सप्तमूर्ति-ऊर्ध्वमात्र ) विभाग है।

“चत्वार आत्मा, दो पक्षौ, पुच्छ प्रतिष्ठा”, इति मस्रुरुगात्मरुचिचस्यप्रजापति —



उक्त परिलेख के मध्य के चार चित्प्राण दक्षिणोत्तर पार्श्वों के दो चित्प्राण पश्चिमानुगत एक चित्प्राण, इन सातों चित्प्राणों की समष्टि का नाम तो चित्पुरुष है एवं पूर्वाभुगत उस अष्टम का नाम- 'चित्तेनिषेय पुरुष' है, जिसे- 'अमृत' कहा गया है। यों अमृत-मर्त्य-क सम्बन्ध में सम्भव यह सत्यपुरुष-त्मक मानात्मा-प्रजापति ही वह सृष्ट है जिसमें इली अनुपात में चरामक भूत प्रतिष्ठित होते हैं और चरभूतों के यथारथान प्रतिष्ठित हात ही वह अन्यक्त-प्राणपुरुष-व्यक्तभूतरूप में परिणत होता हुआ- चित्प

व्यञ्जन का आधारभूत स्वरतत्त्व सात महिमाभाषों में कथों और कैसे परिणत होगया । इस प्रासङ्गिक महत्त्व पूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध में भी प्रसङ्गात् किमिदं निवेदन करना आवश्यक है । यह स्पष्ट किया जानुका है कि, स्वर 'अक्षरतत्त्व' का ही नाम है । जैसे अन्वय का साङ्केतिक नाम 'मन' है, स्वर का साङ्केतिक नाम बाक् है, एवमेव अक्षर का साङ्केतिक नाम प्राण है । मन-प्राण-वाग्-धन अव्यय-अक्षर-क्षरतत्त्व-परात्पर-अभिमत-योद्धरी-भुक्तात्मक 'पुरुष' ही तो 'परब्रह्म' का हस्त-स्वरूप-परिचय है । ईश्वरभूत पुरुषात्मा के परात्परान्ययादि चारों महिमानिक्तों को ही तो पूर्व में क्रमशः अर्द्धमात्रा-स्फोट-स्वर-व्यञ्जन इन नामों से सम्प्रतिष्ठित माना गया है । सर्वात्मक-सर्वनिरपेक्ष अर्द्धमात्रात्मक-परात्पररूप अव्ययपरवत् पर प्रतिष्ठित स्फोटतत्त्व-ज्ञानशक्तिधन आख्यपुरुष ही अयच्छि-का आख्यम्बनात्मक अधिष्ठानकारण है, स्वरात्मक-क्रियाशक्तिमय-अक्षरपुरुष ही अयच्छि का निमित्त-कारणात्मक असमवायिकारण है, एवं व्यञ्जनात्मक-अक्षरशक्तिमय चरपुरुष ही अयच्छि का उपादान-कारणात्मक समवायिकारण है । इस कारणवरीरूप त्रिपुरुषपुर्यामा से ही सम्बन्धित पाञ्चमीदिक पञ्चसौ विरच की एवं पञ्चात्मिक विरचप्रजा की अभिव्यक्ति हुई है । तैसा स्थिति ।

उक्त मूलस्थिति में सृष्टिकर्तृत्व प्रमुखरूप से उस स्वरात्मक अक्षर को ही प्राप्त है जो क्रियाशक्तिधन प्राण से गतिशील बना हुआ है । सतराखम्मा-गतिशील-परिवचनशील-निरव का प्रमुख कर्त्ता गति-प्राधान्य अक्षरतत्त्व किंवा उदमिध स्वरतत्त्व किंवा स्वरूप 'प्राण' तत्त्व ही बना हुआ है जैसा कि—'तथा-अक्षराद्विविधा-सौम्य । भाषा प्रजायन्ते तत्र वैबापियन्ति' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । स्वर-मित्र-अक्षररूप इस 'प्राण' का ही साङ्केतिक नाम है—'असत्' तत्त्व । स्वरूपता ही व्यञ्जन इस प्राणाक्षर की 'असत्' अभिधा का कारण है । यही मौलिक अक्षर (स्वरूप) प्राणतत्त्व अपने स्वर प्राणरूप मण्डित्व से 'रियति-नाच्छति-आरपन् वा' इत्यादि निर्भवनानुसार 'अपि' नाम से प्रसिद्ध है \* ।

सृष्टि के मूलप्रवचक 'असत्'-नामक श्रुतिप्राण की एकर्वि द्वपरि त्र्यपरि सप्तपरि दशपरि आदि विविध शक्तियाँ हैं । विरूपास + विविधरूपास-इन श्रुतिप्राणी में भूतमौक्तिकी सृष्टि का प्रदल आधारक 'सप्तपरि नामक प्राणविशेष ही बना करता है जिस के इन सात अवयवों के '४-२-१' इस क्रम से तीन स्थान माने गए हैं । ये ही तीनो स्थान क्रमशः चत्वार आत्मा द्वे-पक्षौ, पुरुष प्रतिष्ठा रूप से उपवर्तित हैं । चार प्राणी की अष्टि ही 'चत्वार आत्मा' है । दो प्राणी की अष्टि दो पक्ष हैं एवं

\*-असदा इदमग्रे आसीत् । तदाहु कि तदसदामीदिति १, अथयो बाव तदग्रेऽसदसीत् । तदाहु-क ते अप्य इति ? प्राणा वा ऋपयः । ते यत्-अस्मात्-सबस्यात्-इद मिच्छन्त-अमेव वपसा-अरिपन्-सस्मात्-अपय ।

—शत० १।१।१।

—विरूपास इष्ट अपयस्त इष्ट गम्भीरवेपस ।

सोऽङ्गिरस सूनव, तेऽम्नोः परिजग्निरे ॥

—सूक्त०



त्रिसप्तकार त्रिपुरय-पुरुषात्मक गोहरी—पुरुषात्मा के मन-प्राण वाक्-मय-त्रिदम्ब से  
 ग्रामसगहमक विश्व की समष्टि और व्यष्टिरूप से त्रिपर्वीयक माना गया है \* एवमेव अक्षरप्राणात्मक  
 सप्तप्राणमक-सप्तपुरुषात्मक प्रजापति की सयोक्ता आत्मा-यत् पुच्छ-रूपा सात चित्तियों के अनुबन्ध से विश्व  
 की समष्ट्या व्यष्ट्या उपपत्त्या सप्तपर्वी भी कहा जासकता है, कहा गया है। उदाहरण के लिए सप्तप्रथम  
 मानवशरीर की ही लक्ष्य बनाइए। मानवशरीर में शिरोगुहा उरोगुहा उदरगुहा, वस्तिगुहा, नामक  
 चार गुहाविकार हैं, जिन इनमें (प्रत्येक में) सात-सात-प्राणों का समन्वय हो रहा है वैसाकि—  
 'गुहाया निहिता सप्त सप्त'—इत्यादि वचन से स्पष्ट है। गुहानिहित इन चारों सप्तकों का भी शतपथ  
 प्रथमसप्तक में ही (पृ. सं. ३१९ में) परिलोक के माध्यम से दिग्दर्शन कराया जा चुका है। विश्व में स्वयं  
 का ही सप्तक नहीं है। अतित अक्षरप्राणामक-सप्तस्वरों की सयोक्ता सप्तचित्तियों के आधार पर अवस्थित  
 समष्टि-व्यष्टिरूप यन्त्रयावत् भूत-भौतिक-पदार्थ सप्त-भाषापत्र ही हैं जिन अगणित सप्तकों में से कुछ एक  
 सप्तकों का तालिकाक्रमेण अत्र नाम दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१-सप्तप्राण—२ भोजप्राण, २ जलप्राण २ नासप्राण १-मुखप्राण।

२-सप्त अग्नि—१-काली २-कराली ३-मनोजया ४-सुलोहिता ५-सुधून्नयर्था ६-स्तुति-  
 गिनी-७-विश्वरूपा।

३-सप्त-होम—१-पाकयज्ञ, २-अग्निहोत्र, ३-इरापूणमास ४-चातुर्मास्य ५-सोमयज्ञ,  
 ६-महायज्ञ, ७-अग्नियज्ञ।

४-सप्त-सौर—१-सत्यम्, २ सपः ३-जनत ४-मह ५-स्वः ६-सुध ७-मू।

५-सप्त अग्निजिह्वा—१-काली २-कराली, ३-रक्तार्णिका, ४-धून्नपुष्पा ५-धून्नरीपा  
 ६-अम्बलनी ७-जयवती।

६-सप्त अग्नि—१-जिह्वा २-हिरण्या ३-कृष्णा ४-रक्तिका ५-अतिरक्तिका ६-गङ्गा  
 ७-वद्रूपा।

७-सप्त अप्सरा—१-उदरी २-मेनका ३-रम्भा, ४-सुकरा ५-विश्वोत्तमा, ६-मञ्जुघोषा  
 ७-पृथ्वी।

८-सप्त-आवरण—१-जल २-अग्नि ३-वायु ४-आकाश ५-अहङ्कार ६-महत्तत्त्व  
 ७-प्रकृति।

\* शतपथमाध्य-प्रथमसप्तक में इन त्रिपर्वीयक संकलन किया जा चुका है (दन्विष्ट ! प्रथमसप्तक—  
 पृ. सं. ५११ से ५२२ पर्यन्त)।

— सप्त प्राण प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिष ममिध, सप्त होमा ।

सप्त इम लोका यपु चरन्ति प्राणा गुदाशया निहिता सप्त सप्त ॥

—सुखकोपनिषत् ११।

नाम धारण कर लेता है। लोकप्रसिद्ध-संज्ञा [ साँचा-रेखाचित्र-माँदल ] ही अन्वःपुरण है। एवं प्रत्येक भूतमौलिकी सृष्टि में यही सप्तप्राणामूर्ति अक्षररामक स्वरामा मूलाधार बना हुआ है।

मनुष्य को लीबिए। बिसे-‘घड़’ कहा जाता है यही ‘मण्डल’ है और हृदय से ऊपर कण्ठ पर्यन्त तथा नीचे ब्रह्मप्रणय-पर्यन्त सम्पूर्ण मण्डल में चार प्राण प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि प्राणचतुष्टयामक इसी मण्डल के आचार पर मस्तक-हाथ-पैर आदि इतर सभी शारीरिकपर्यं प्रतिष्ठित रहते हैं। एतावता ही इस विभागचतुष्टयी को ‘चत्वार आत्मा’ कह दिया जाता है। दक्षिण हाथ-दक्षिण पाद दोनों की समष्टि एक-प्राणप्रमक दक्षिणपक्ष है वाम हस्त-पाद की समष्टि वामपक्ष है। शिरो भाग से आरम्भ कर ब्रह्मप्रणय पर्यन्त लम्ब-मण्डिवत्-वित्त-सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड [ रीढ़ की हड्डी ] के अन्त में प्रतिष्ठिता निष्प्रिय का प्राण ही पुच्छात्मक प्रतिष्ठाप्राण है। यह यही प्राण है जिस की प्रवृत्तिरयता में ही शरीरयष्टि श्रुतुमात्र से प्रतिष्ठित रहती है लीची तनी रहती है। वायु रूप में जब यह प्रतिष्ठाप्राण मूर्च्छित होजाता है तो मेरुदण्ड अकण्ठ होजाता है, कमर झुक जाती है और उस दशा में कृत्रिम-पुच्छप्रतिष्ठा ( लकड़ी-छड़ी ) का आश्रय अनि वार्य्य बन जाता करता है। इन सारों प्राणों के अमृतप्रदान रक्षणक भाग से ही क्योंकि कर्णरभ भाग का निर्माण होता है अतएव उसे-श्रीः कहा गया है। यही परोक्ष निरामानुसार शिर [ मस्तक ] नाम से प्रसिद्ध है।

यही कम पशु के शरीर में है यही पक्षी के शरीर में है। यही कम कीट-कृमि-कर्म में है और यही कम उन ओषधि-वनस्पत्यादि में है जिन का एक एक पत्रा मी इन सारों विविधों से समन्वित है। किसी मी हृत्-ओषधि के पत्रों को सम्मूला रल लीबिए। आप देखेंगे कि-पत्रों के मध्य में एक तन्तु है-यही मेरुदण्ड है तत्कलन भाग ही चत्वार-आत्मा है। दोनों पार्श्व दोनों पक्ष है। मूलमग्न वह पुच्छप्रतिष्ठा प्राण है जिससे पत्रा उना हुआ रहता है एवं जिसके मूर्च्छित होते ही पत्रा मुर्झ जाता है। पार्थिवसृष्टि का सर्वस्वभूत सम्पत्प्रदायक विषयभूत ही है तो उद्गर्भ में तन्त्र से ही स्मृत्भूता चर-अचर-प्रभा इव सत्संस्थान-रूप से कैसे बधित रह सकती है ?

मन्त्ररथ विष्णुपुत्र ही चत्वार आत्मा है कर्मात्मक उत्तरमण उत्तरपक्ष है परमात्मक दक्षिणायन दक्षिण पक्ष है केन्द्ररथ प्राणापस्थानि ही पुच्छप्रतिष्ठा है। एक पक्षी का बैल आकार है अन्धचिति का लगमग बैल ही आकार है। तमी तो समी का चित्त-प्राण-‘हृत्’ [ जीव ] कहाया है। इसीलिए इस चित्तपुरुष का साङ्केतिक नाम होगया है ‘सुगर्भ’। सम्पत्प्रदायक महासुपर्ण ही छात्री सुपर्ण है एवं उद्गर्भभूत प्राणी ही मोक्ष सुपर्ण है।

ॐ-अथ ह वा एष महासुपर्ण एव सम्बत्सर । तस्य यान्पुरस्तात् विपुलत-परमासानु पयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः । अथ यान् पक्षपरिष्ठात्-सोऽन्यतर । आत्मा विपुलान् ।

—शत० १२४३१०

२५-मत्त-भान्य-१-गोधूम ( गौहूँ ), २-यव ( जौ ), ३ तिल, ४-माष ( उड़ ) ५-सुगन्ध ( मूँग )

६-असुत ( चोषित ) ७-अस ( वानरा ) ।

६-सप्त राज्याङ्ग—१-सेना, २-दुर्ग ३-मन्त्री ४-कोश ५-दश, ६-मित्र ७-स्थायी ।

२७-सप्तवार—१-रवि, २-सोम, ३-मङ्गल, ४-बुध, ५-गुरु, ६-शुक्र, ७-शनिश्चर ।

२-सप्तसर-(सरोवर) १-मानसर २-मणिसर, ३-विष्णुसर (विष्णुसर) ४-पम्पा-

सर ५-गरुडसर ६ रामसर, ७-प्रसोदसर ।

२८-सप्तश्लोका-१-गायत्री, २ उष्णिक्, ३-अनुष्टुप ४-बृहती, ५-पंक्ति, ६-त्रिष्टुप

### ७-जगती

३०-सप्त-ज्योतिष्टोम-१-अग्निष्टोम २-अत्यग्निष्टोम ३-उक्थ्यस्तोम ४-पोद्गरीत्वोम,

५-अतिरात्रस्तोम, ६-वाजयेपयस्तोम, ७-अप्योय्यामस्तोम ।

३'-सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु-१-पुत्र २ पिता ३ पितामह, ४-प्रतिषासह, ५-वृद्ध-अपिषासह, ६-

अतिवृद्धप्रपितामह, ७-वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह (रापिण्डय साप्तपौरुषम्)

२२-सप्त-अथ प्रजातन्तु-१-पिता, २-मुत्र, ३-पात्र ४-प्रपात्र, ५-युष्मप्रपात्र, ६-असिष्टप्रपात्र,

—युद्धाजियुद्धप्रपौत्र ।

३३-सप्त-सङ्गीतस्वर-१-पङ्कज, २-शुभ्रम, ३ गान्धार, ४-मध्यम,

५-पञ्चम ६-षष्ठ ७-निषाद ।

३४-सप्त-स्वरोच्चारण—१-सा, २र। ३-ग ४-म, ५-य, ६-घ,

७-नी ।

तत्रि य- चत्वार आत्मा (४) द्वौ पर्शौ (२) पुण्ड्रं प्रतिष्ठा (१) रूपेण सत्तामक के हुए सत्तपुरुषपुरात्मक प्रजापति (अक्षयमिभ स्वरात्मक श्रुतिप्राप्त) से चरात्मक स्थानन क द्वारा अभिभक्त समुद्र भूत उत्पन्न इस विश्व में इस सत्तचित्तिक प्रजापति के अनुकूल स मन्त्रैव समष्टि स्थिति रूप से सत्त-महिमा-मायों का विस्तार हो रहा है। सत्त-पुरुष सत्त-श्रुति सत्त अहाराग्रपुत्र सत्त-कपाल सत्त-कर्ण सत्त-वक्त्र सत्त-होता सत्त-तन्तु, सत्त अग्निनिपुत्र सत्त-मरूद्गण सत्त शत्रु सत्तप्राधान्यगत विन सत्तों का पूर्व में सत्तमय हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य-सत्तों का वशास्त्र में यत्र-यत्र यद्व्यक्रियात्मा के मद से स्वस्व-निरूपण हुआ है विनक विस्तार का अर्थ अवसर नहीं है। उनमें स कतिपय सत्तक-नामों का संस-रण ही पर्याप्त होगा वन्माध्याय-प्रशान्ति के अनुकूल सं। सत्तपुरुष (शत १।१।१२)। सत्त-श्रुति (शत ८।१।१।१।) सत्तकपाल (शत २।१।१२) सत्तकर्ण (ने आ १।१।१।) सत्तवक्त्रम् (ने मा २।१।१।१।) सत्तगण (ने मा १।१।२।१) सत्तचक्र त मा २।१।१।१।) सत्तचित्तिक (शत १।१।१।२।१) सत्ततन्तु (मा मा १।१।२।१) सत्तशत्रु (शत १।१।१।२।१) सत्तनामा (ने आ १।१।१।१) सत्तनिपुत्र (ने आ २।१।१।१) सत्तपुत्र (ने उ मा १।१।१।१) सत्तपुत्र (ने उ मा १।१।१।१) सत्तपुत्र (ने उ मा १।१।१।१)

- ६-सप्त-ऊर्ध्वलोक—१-ब्रह्मलोक, २ वैकुण्ठ, ३-शिवलोक ४-सुरलोक, ५-सूर्यलोक,  
६ पितृलोक, ७-सिद्धलोक ।
- १०-सप्त अधोलोक—१-मायालोक, २-यमलोक ३-गन्धर्वलोक, ४-वह्नीलोक, ५-क्षिप्रलोक  
६-नागलोक, ७-वैत्यलोक ।
- ११-सप्त-ऋषि—१-महर्षि २-प्रजापति ३-वैश्वदेवि, ४-राजर्षि, ५-परमर्षि ६-क्षत्रर्षि  
७-भूतर्षि ।
- १२-सप्त-कल्प—१-पार्थिवकल्प २-सूर्यकल्प, ३-अनन्तकल्प ४-ब्रह्मकल्प ५-रुद्रकल्प  
६-श्वेतवाराहकल्प ७-प्रलयकल्प ।
- १३-सप्त-पितर—१-आय्या २-सोमपा, ३-इविमुक् ४-अग्निष्वात्ता, ५-सोमसत्  
६-वर्हिपत् ७-सुधन्वी ।
- १४-सप्त-देवपुरी—१-विष्णुपुरी २-शिषपुरी ३-ब्रह्मपुरी ४-यमपुरी, ५-वरुणपुरी  
६-अक्षतपुरी ७-अमरपुरी ।
- १५-सप्त-द्वीप—१-जम्बु २-प्लक्ष ३-शात्मली, ४-कुशा, ५-कौश्र ६-शाक, ७-पुष्कर ।
- १६-सप्तसमुद्र—१-सह्योद २-वज्रोद ३-सुरोद ४-भूतोद ५-वृषिमरुतोद ६-वीरोद  
७-स्वामरुद ।
- १७-सप्त-वायु—१-आवह २-प्रवह, ३-संवह, ४-अनुवह, ५-विषह, ६-परावह ७-परिवह ।
- १८-सप्त-पाताल—१-अतल २-विषल, ३-सुतल, ४-तलातल, ५-महातल ६-सतल  
७-पाताल ।
- १९-सप्तनरक—१-रौरव २-तान, ३-बिमोहन ४-कुमीरा ५-कालाभङ्ग ६-अवशिरा  
७-अग्नीषि ।
- २०-सप्त-स्वर्ग—१-अपोदक, २-श्रुतधामा ३-अपराजित ४-अघ्नस्वविहृत् ५-अविधौ  
६-प्रधौ ७-रोचना ।
- २१-सप्त-पर्वत—१-इन्द्रगिरि २-राक्षसगिरि ३-यावगिरि, ४-स्तूपगिरि ५-वर्षपर्वत  
६-विष्कम्भपर्वत ७-केसरपर्वत ।
- २२-सप्त-नदी—१-चतुर्गङ्गा २-सप्तगङ्गा, ३-नदी ४-महानदी, ५-शास्त्रानदी ६-भुवनदी  
७-कुल्या ।
- २३-सप्त-देश—१-पुरी २-पत्तन ३-महानगर ४-नगर ५-ग्राम ६-अरवट ७-अपनिवेश ।
- २४-सप्त-प्रसिद्ध-पर्वत—१-हिमालय २-विन्ध्याचल ३-इमकूट ४-निषध, ५-मत्सिमाम्  
६-पारियात्र ७-गन्धमावन ।

२५-सप्त-धान्य—१-गोधूम ( गौहूँ ), २-यव ( जौ ), ३-तिल, ४-माष ( उद ), ५-सुग्ध ( मूग ),  
६-अक्षत ( चाँबल ), ७-वज्र ( बाजरा ) ।

२६-सप्त-राज्याङ्ग—१-सेना, २-दुग्ध ३-मन्त्री, ४-कोश, ५-वंश, ६-मित्र, ७-स्वामी ।

२७-सप्त-वार—१-रवि, २-सोम ३-मङ्गल ४-बुध, ५-शुक्रस्पति ६-शुक्र, ७-शनिरेश्वर ।

२८-सप्त-सर(सरोवर)—१-मानसर २-मणिसर ३-विन्दुसर ( विष्णुसर ) ४-पम्पा-  
सर ५-गरुडसर, ६-रामसर ७-अश्वमेधसर ।

२९-सप्त-देवचन्द्र—१-गायत्री २-उषाङ्क ३-अनुष्टुप, ४-बृहती, ५-पङ्क्ति, ६-त्रिष्टुप  
७-जगती

३०-सप्त-उपोतिष्टोम—१-अग्निष्टोम, २-अत्यग्निष्टोम ३-उक्थ्यस्तोम, ४-पोडशीस्तोम,  
५-अतिरात्रस्तोम, ६-याज्ञयेपेयस्तोम ७-अष्टोप्यामस्तोम ।

३१-सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु—१-पुत्र २-पिता ३-पितामह, ४-प्रपितामह, ५-पृथ्व-प्रपितामह, ६-  
अतिपृथ्वप्रपितामह, ७-युद्धातिपृथ्व-प्रपितामह (तापियङ्ग साप्तपौरुषम्)

३२-सप्त-अध प्रजातन्तु—१-पिता, २-पुत्र ३-पौत्र, ४-प्रपौत्र, ५-पृथ्वप्रपौत्र ६-अतिपृथ्वप्रपौत्र  
—युद्धातिपृथ्वप्रपौत्र ।

३३-सप्त-सङ्गीतस्वर—१-पङ्क्ति, २-श्रृणम, ३-गान्धार, ४-मध्यम,  
५-पञ्चम ६-धैवत, ७-निषाद ।

३४-सप्त-स्वरोच्चारण—१-सा, २-र । ३-ग, ४-म, ५-य, ६-व,  
७-नी ।

वदित्य- चत्वार आत्मा (४), द्वौ पक्षौ (२) मुख्य प्रतिष्ठ (१) रूपेण सप्तात्मक ज्ञेयं रूपं  
सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अक्षरामिष स्वरात्मक श्रुतिप्राण) से चत्वारमक व्यञ्जन के द्वारा अमिष्यक्त समुद्-  
भूत उपमन्त्रस विरचने से सप्तसप्तविधिक प्रजापति के अनुष्ठान से स्वयं चत्वारि व्याहृतिरूप से सप्त-महिमा-  
मात्रो ध विस्तार होता है । सप्तपुरुष सप्त-श्रुति सप्त-अक्षरात्रयुक्त सप्त-कपाल सप्त-कर्ण सप्त-चक्र  
सप्त-होता सप्त-तन्तु, सप्त-अतिरिक्तपुत्र सप्त-मरुद्गण सप्त-शत्रु सप्तप्राणानुगत दिन सप्तर्षी का पूर्ण  
से समरूप हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य-सत्त्वों का संश्लेष में यत्र-यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के प्रद  
से स्वरूप-निरूपण हुआ है दिनके विस्तार का अर्थ अवसर नहीं है । उनमें से कतिपय सप्त-जगती का संस्म  
रण ही पर्याप्त होगा अन्वयाध्याय-प्रजापति के अनुष्ठान से । सप्तपुरुष (शत १।१।११) । सप्त-श्रुति  
(शत ८।१।१।१।) सप्तकपाल (शत २।१।११) सप्तकर्ण (ते आ १।७।२।) सप्तचक्रस् (ते  
आ २।१।१।१।) सप्तगण (ते आ १।१।२।३।) सप्तचक्र ते आ २।१।१।१।) सप्तचित्ति (शत  
१।१।१।२।४।) सप्ततन्तु (ता आ १।१।२।२।) सप्तवयस्य (शत ६।१।१।१।२।) सप्तनामा (ते आ  
१।१।१।१।) सप्तनिधन (ते आ २।१।१।१।) सप्तपदम् (ते आ १।१।२।२।) सप्तपुत्र (ते उ आ

- ६-सप्त-ऊर्ध्वलोक—१-ब्रह्मलोक, २ वैकुण्ठ ३-शिवलोक, ४-सुरलोक ५-सूर्यलोक  
६ पितृलोक, ७-सिद्धलोक ।
- १०-सप्त-अधोलोक—१-मायालोक २-यमलोक, ३-गन्धर्वलोक, ४-यक्षलोक, ५-किन्नरलोक,  
६-नागलोक, ७-वैत्थलोक ।
- ११-सप्त-ऋषि—१-महर्षि २-त्र्यम्बर्षि ३-वेवर्षि, ४-राजर्षि ५-परमर्षि ६-अश्वर्षि  
७-भृतर्य ।
- १२-सप्त-कल्प—१-पार्ष्णीकल्प २-कृष्णकल्प, ३-अनन्तकल्प, ४-ब्रह्मकल्प ५-रुद्रकल्प  
६-श्वेतधाराहकल्प ७-प्रक्षयकल्प ।
- १३-सप्त-पितर—१-आम्यपा, २-सोमपा ३-इषिमुक् ४-अग्निप्याता, ५-सोमसत्,  
६-वर्षिपात् ७-सुअसी ।
- १४-सप्त-देवपुरो—१-विष्णुपुरी २-शिवपुरी ३-ब्रह्मपुरी ४-यमपुरी ५-वरुणपुरी,  
६-अक्षकपुरी ७-अमरपुरी ।
- १५-सप्त-द्वीप—१-जम्बु, २-प्लाव, ३-शात्मसी, ४-कुश ५-क्रीष्ण ६-शाक, ७-पुष्कर ।
- १६-सप्तसमुद्र—१-जम्बुद्वीप २-वसुतोद ३-सुरोद, ४-युतोद ५-इषिमण्डोद, ६-क्षीरोद  
७-स्वातूवक् ।
- १७-सप्त-वायु—१-आवह २-प्रवह, ३-संवह, ४-अनुवह, ५-विषह, ६-परवह, ७-परिवाह ।
- १८-सप्त-पाताल—१-अधक २-वितक, ३-सुयक ४-तलायक, ५-महायक ६-रसायक  
७-पाताल ।
- १९-सप्तनरक—१-रौरव २-तान, ३-विमोहन ४-कमीश ५-सास्ताभञ्ज ६-अञ्जरीरा  
७-अञ्जरीषि ।
- २०-सप्त-स्वर्ग—१-अपोहक, २-अतथासा ३-अपराजित ४-अप्नस्वविह्व ५-अविधौ  
६-प्रद्यौ ७-रोचना ।
- २१-सप्त-पर्वत—१-कुल्लगिरि २-शास्तागिरि ३-पावगिरि ४-स्तूपगिरि, ५-वपपवत  
६-विष्णुपर्वत ७-केसरपर्वत ।
- २२-सप्त-नदी—१-चतुर्गङ्गम् २-सप्तगङ्गम् ३-नवी ४-महानवी ५-शास्त्रानवी ६-भुव्रनवी  
७-कुम्भा ।
- २३-सप्त-देश—१-पुरी २-पत्तन ३-महानगर ४-नगर ५-ग्राम ६-स्वरवट, ७-उपनिवेश ।
- २४-सप्त-प्रसिद्ध-पर्वत—१-हिमालय, २-विन्ध्यापत ३-इमङ्कट ४-निपथ ५-मस्त्रिमान्  
६-पारियात्र ७-गन्धमावन ।

२५-सप्त-धान्य—१-गोधूम ( गेहूँ ), २ यष ( जौ ), ३-विल ४-माप ( उर्ब ) ५-मुग्ध ( मूग )

६-अक्षत ( बाँविल ) ७-अश्र ( बाजरा ) ।

२६-सप्त-राज्याङ्ग—१-सेना, २-दुर्गा, ३-मन्त्री ४-कोरा ५-वश ६-मित्र ७-स्वामी ।

२७-सप्त-वार—१-रवि, २-सोम ३-मङ्गल ४-बुध, ५-बृहस्पति ६-शुक्र, ७-शनिश्चर ।

२८-सप्त-सर-(सरोवर)—१-मानसर, २-मणिसर, ३-विन्दुसर ( विष्णुसर ) ४-पद्मा-

सर ५-नरुक्षसर ६-रामसर ७-अक्षोक्षसर ।

२९-सप्त-देवच्छन्द—१-गायत्री २-अभिष्टुप् ३-अनुष्टुप् ४-बृहती, ५-पंक्ति, ६-त्रिष्टुप्

७-जगती ।

३०-सप्त-उयोविष्टोम—१-अग्निष्टोम २-अत्यग्निष्टोम ३-उक्थ्यस्तोम ४-पोषशीस्तोम

५-अविरात्रस्तोम, ६-वाजयेपेयस्तोम ७-अप्योर्वामस्तोम ।

३१-सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु—१-पुत्र २-पिता, ३-पितामह, ४-प्रपितामह, ५-पृथक् प्रपितामह, ६-अतिपृथक्प्रपितामह, ७-पृथक्प्रपितामह (सापितृष्य सापितृष्यम्)

३२-सप्त-अघ प्रजातन्तु—१-पिता, २-पुत्र ३-पौत्र, ४-प्रपौत्र ५-पृथक्प्रपौत्र, ६-अतिपृथक्प्रपौत्र  
—पृथक्प्रपौत्र ।

३३-सप्त-सङ्कीर्तस्वर—१-पङ्क्ति, २-श्रवण, ३-गान्धार, ४-मध्यम,

५-पञ्चम ६-धैवत ७-निषाद ।

३४-सप्त-स्वरोच्चारण—१-सा, २-र, ३-ग, ४-म, ५-य, ६-व,

७-नी ।

वदि य- 'चत्वार आत्मा (४) द्वौ पक्षौ (२) पुच्छ प्रविष्टौ (१) रूपेण उप्यामक के रूपेण सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रभापति (अक्षरामित्र स्वरामित्र श्रुतिप्राण) से चरात्मक व्यञ्जन के द्वारा अभिषिक्त समुद्भूत रूपम इव विश्व में इव सप्तचित्तिक प्रभापति के अनुकम्प से नवत्रैव समष्टि व्यष्टि-रूप से सप्त-महिमा-मात्रो का विस्तार होया है । सप्त-पुरुष सप्त-श्रुति सप्त-अक्षरात्रयुक्त सप्त-कपाल सप्त-कर्ण सप्त-अक्ष सप्त-होवा सप्त-तन्तु, सप्त-अद्वितीय सप्त-अमरुद्गण सप्त-श्रुत सप्तप्राणानुगत बिन सप्तकी का पूर्ण में स्मरण हुआ है उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य-मन्त्री का वैशाख में यत्र-यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के प्रेर से स्वस्व-निरूपण हुआ है, बिनके विस्तार का अत्र अवसर नहीं है । उनमें स कतिपय सप्तक-नामी का संस्मरण ही पर्याप्त होगा वेदस्थाप्याय-प्रकाशित के अनुक्रम से । सप्तपुरुष (शत ६।१।११) । सप्त-श्रुति (शत ८।१।१।१) सप्तकपाल (शत २।१।१।२) सप्तकर्ण (ते आ १।७।२।) सप्तकृत्वस् (ते आ २।१।१।३) सप्तगण (ते आ १।१।१।३) सप्तचक्र (ते आ २।२।१।३) सप्तचित्तिक (शत ६।१।१।३) सप्ततन्तु (गो आ १।१।१।३) सप्तवक्ष्य (शत ६।१।१।३) सप्तनामा (ते आ १।१।१।३) सप्तनिधन (वेद आ २।१।१।३) सप्तपद्म (ए आ १।१।१।३) सप्तपुत्र (वे उ आ

२।२।२।२। सप्तमुख्य (सं० १।१।१), सप्तरश्मि (तै० ब्रा० २।२।२।२।), सप्तरात्र (गी० १।२।१।) सप्तर्षे (शत० ६।५।२।१।) सप्तधर्मा (गी० १।१।७।) सप्त-स्वसा (तै० ब्रा० २।४, १।२।) सप्तहूत (तै० ब्रा० २।१।१।२।) सप्तहोता, तै० ब्रा० १।७।१।) सप्ताह (शत०-१।१।७।२।) इत्यादि रूप से सर्वत्र सप्त सप्त-मौलिक स्वरप्रमाणमूर्ति आद्यप्रमाणपति की व्याप्ति देखी जा सकती है जिस के अनुसन्ध से ही सङ्गीतानुगत-नाद्यत्मक-भुत्स्थानगत-स्वरों को भी सप्त ही विभक्तियों में परिचय हो जाना पड़ता है। नाद वैश्वानर अग्नि ही सो है। नाद ही तो अग्नि के द्वारा स्वर रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वैश्वानर विद्य अग्नि उद्यी सप्तमूर्ति पुरुषप्रमाणपति के हृन्दोरूप आकृत से सप्तविरूप में परिचित होकर ही प्राणिमों की शारीरिक-संस्था का अभिनायक बना हुआ है वैश्वकि—‘सप्तचितिकोऽग्निः’ इत्यादि से स्पष्ट है। सप्तचितिक नादात्मक इस वैश्वानरप्रमाणपति के अनुसन्ध से ही तो तत्र प्रतिष्ठत मस मी १-रस, २ असृक्, ३-मसि ४-मद ५-अस्मि, ६-मज्जा ७-शुक्र (सप्तधातवः) इन सात ही अवस्थाओं में विभक्त होकर चित है। इस सप्त अग्नि चिति (प्रोणानिचिति) सप्तभूतचिति (वायुचिति) के अविरहित सप्त-उपधातु, सप्त रस सप्त उपरस सप्त विष सप्त उपविष आदिरूपेण शरीर में अन्यान्य भी अनेकविध सप्तचिति हैं। और यों मूलत्वरस मज्जा प्राणात्मक-सप्तपुरुषप्रमाणपति की सप्तावयवता ही इन सप्तधातु आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-सप्तमहिमामात्रों का मूलप्रवर्तक बना हुआ है। नादानुगत भुत्स्थानगत स्वर यों और कैसे सप्तमात्रों में परिणत होगया ! इस प्राकृतिक प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है जिस के आधार निम्नलिखित भुक्तिवचन ही बने हुए हैं—

१—‘सप्त ते अग्ने ! समिध । प्राक्षा नै समिध । प्राक्षा षोते अग्नि (भूताग्नि) समिन्वते । सप्त जिह्वा इति । यान् अमून सप्त-पुल्यान् एक पुल्यमकुर्वन्, तेषामेतदाह । सप्तऽश्वपय इति । सप्त हि सऽश्वपय आसन् । सप्त घाम प्रियाहि इति । छन्दास्वेत्दाह । छन्दांसि वा अस्य (अग्नेः) सप्त प्रियाहि घामानि । सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति, इति । सप्त षोते होत्रा सप्तधा यजन्ति । सप्त योनिरिति । चित्तिरेत्दाह । सप्त-सप्त इति सप्तचितिकोऽग्निः । सप्तर्षेव सम्यत्सर । सम्यत्सरोऽग्निः । यावानग्नि, यावत्पत्य मात्रा, तावता-यवैनमेतत्-प्रीयाति’ ।

—शतपथब्राह्मण १।२।३। ४४ ४५

२—‘सप्तर्च भवति । सप्तचितिकोऽग्नि । सप्तर्चव । सप्त दिश । सप्त देवलोका । सप्त स्तोमाः । सप्त पृष्ठानि । सप्त छन्दामि । सप्त ग्राम्या पशव । सप्त-आरण्याः पशवः । सप्त शीर्षन् प्राक्षा । यत्किञ्च सप्तविधं-अधिदेवतं, अप्यात्म (अधिभूतं च) तदनेन सर्वमाप्नोति’ ।

—शत० ६।५।२।२।

उक्त सप्तक-विशेषन से स्पष्ट है कि, सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त सप्तावयव-सप्तचितिक-नादमूर्ति वरुणा-नरामिनप्राण ही अग्नि के द्वारा सप्त-स्वररूप में परिणित हो रहा है जिस का सङ्घ निष्कर्ष यही है कि मानव



अ सत्त्वित्तिक प्राणाग्नि ही (नाद ही) मरुत्नामक वायुके द्वारा (भुति के द्वारा) उर-कण्ठ-शिर-इन तीन स्थानों से प्रत्याहृत होता हुआ स्वरस्मिन्न ध्वनि क रूप में परिणत होता हुआ पहिमरुदन क माध्यम से उप न्याप्त मुखम् याक्सुम्भ में बोविरूप से तरङ्गावित धनकर आताओं की कर्णशङ्कुलिया में प्रतिष्ठित प्रधानमन पर आवात करता हुआ 'कण्ठमधुर' बनता रहता है। और यही हृदयोपसङ्गित उरःस्थान में उक्थरूप से पुञ्जीभूत नादाग्नि ही भुति के द्वारा 'स्वर' रूप में परिणत होता हुआ बाहिर निकला करता है। क्योंकि-नाद-भुति-स्वर इन प्रक्रमों के माध्यम से प्राणाग्नि ही भूवाग्नि से समन्वित होता हुआ उक्त क्रम से बाहिर निकलता है, अतएव अचिक-शब्द विनिर्गमन से मानव की शरीरकक्षा और प्राणकक्षा, दोनों ही स्थित हो जाती है।

नादात्मक भुतिसमन्वित-स्वरभावारत्न चितेनिर्भाषानि से सम्पन्नित इस चित्वाग्नि की सुप्त, जाग्रत मे' से शास्त्र ने दो अवस्था मानी हैं। रात्रि में सुषुप्तिदशा में (सो जाने पर) चित्वाग्नि अन्तमुख बन जाता है। यही चित्वाग्नि की सुप्तावस्था है। सूर्योदय क साथ ही (आधिवैदिक अग्नि की अमिष्यकित्प बागरण के साथ ही) मानव का शारीरिक-अग्नि भी-'अग्निर्जागृत' रूप से उद्बुद होपड़ता है। और अह-अलपर्वन्त (शयन से पूर्व पूर्व) या अग्नि जागरूक हो बना रहता है। यही इसकी 'जाग्रदवस्था' है।

सौरवृत्तात्मक अह अल सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-नामक तीन छन्दों के अनुपात से-प्रातः-मध्याह्न-सायं-मेघ से तीन स्वनों में विभक्त है, दिन प्रातः सवनादि तीनों स्वनों का पूर्व में गिराशन कराया जातुम्भ है। प्रातः ६ से सायं ६ पर्यन्त ८-४-४-होय (धन्य) के अनुपात से (सामान्य-मानानुसार) तीन विभाग कर लीविए। इन तीनों में सार-पार्थिव-सा क्षेत्र-गायत्र अग्नियों की समन्वित नस्यारूप अग्नि अपनी अह-अलीन जाग्रदवस्था से क्रमशः मन्द्र-मध्य-तार-नाम की तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। ६ से १ पर्यन्त का प्रातः-अलीन गायत्र-छन्दस्क बाग्रग्नि ही-प्रातःसवनीय 'मन्द्राग्नि' है। ११ से २ पर्यन्त का मध्याह्नअलीन-त्रिष्टुप् छन्दस्क बाग्रग्नि ही 'माध्यमिन्सवनीय' 'मध्याग्नि' है। एव ३ से ६ पर्यन्त का सायंकलीन जगती-छन्दस्क-बाग्रग्नि ही-सायंसवनीय 'तारग्नि' है। 'सामान्य-उच्च अस्तुम्भ' ही मन्द्र-मध्य-तार भाव है। और इनी प्राकृतिक स्थितिक क तात्त्व्या मुपात से मानव का अहःअलीन बाग्रग्नि भी प्रातः-मध्याह्न-सायं-क्रमशः मन्द्र-मध्य-तार-रूपेण तीन ही अवस्थाओं में परिणत रहता है।

मानवशरीर में प्रकृति के प्रातः मध्याह्न-सायं-नामक तीन स्वनों के प्रतिक्रियात्मक स्थान क्रमशः उर-कण्ठ-शिर' हैं। अतएव शब्दानुगत-स्वररहस्यसंवाचनों स्वरामक-शब्दोधारण क सम्बन्ध में यही व्यवस्था की है कि, प्रातःसवनीय-गायत्र-शब्द-अल में मानव की उर-स्थान से मन्द्र-स्वर से ही शब्दाधारण करना चाहिए, जैसेकि शार्ङ्ग (सिंहजातिविशेष) उर-स्थान से ही बोलता करता है। माध्यमिन्सवनीय त्रेहम-मध्याह्नकाल में मानव को कण्ठस्थान से ही बोलना चाहिए जैसेकि चन्द्राद्यदि कण्ठस्थान से ही बोलता करते हैं। एवं सायंसवनीय-जगत्व-गायत्राल में मानव को शिर-स्थान से ही तारस्वर से बोलना चाहिए, जैसे कि मयूर-हंसादि शिरस्थान से ही बोलता करते हैं। एव क्यो? का उत्तर है-प्रकृतियद् विष्ठिति कर्तव्या'-दधाननविषा ये मनुष्या' इत्यादि निगम। प्रकृति में नास्त्वयमक-प्राकृतिक-अग्नि का यही क्रम है। वैद्य ही यहाँ होना चाहिए।

रात्रि में सुप्त अग्नि की यदि प्रातःकाल में जागरण के साथ ही प्रत्यक्ष साहसिक-उच्च-संपर्क का अनुगामी बना दिया जाता है तो इस अप्राकृतिक-साहस से विविध रोग विशेषतः 'उर-रुत' होता है। रक्त निकलने लग सकता है इस अप्राकृतिक संपर्क से। अतः आरम्भ में मन्त्र-पुनः योद्धा उच्च, पुनः उच्च इस क्रमिक अनुपात से ही शब्दोच्चारण प्रकृत होना चाहिए। त्रिस्तनी के अतिरिक्त भी मानव अब भी कुछ बोलना चाहे, उसे इसी स्थानक्रमी के अनुपात से मन्त्रस्वर से ही शब्दोच्चारण करना चाहिए। तभी अग्नि नादस्थिरता के कारण उच्चोच्च-सहायक-प्रभावपूर्ण अन्तिमधुर, एवं स्वयम्भुर बन सकता है। आरम्भ में ही तारस्वरमय-धीमेतर पद्धति से बोलने लग पड़ने वाला आविष्ट मानव न तो अधिक समय पथ्यन्त इस शब्दोच्चारणकार को ही व्यवस्थापूर्वक प्रकृत रख सकता न देते उच्चोच्च उच्चारण में अति-स्वर-माधुर्य ही अभिव्यक्त होता है।

न केवल शब्दोच्चारण में ही अति कर्मप्रवृत्ति में भी इसी नियम का अनुगमन अत्यन्त माना गया है। क्योंकि शब्द और कर्म, दोनों अभिन्न हैं। अतएव दोनों समान ही नियमधारियों से समन्वित रहते हैं। इसी आधार पर—'अस्मिन्मात्रा' 'समकला' कहा गया है। आवेष्टपूर्वक आरम्भ में ही प्रचुर वेग से किसी कर्म में लगाने से पहले उचित मानवों के लक्ष्य निष्कल ही प्रमाणित होता है। 'शान्ति' कथा, शान्तिः पन्थाः शान्तिः पर्यवस्यन्तम्' प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो वह लौकिक व्यवस्थित हुआ है कि—'एक भावुक कार्य का आरम्भ करना जहाँ मसीहोति जानता है, वहाँ वह भावुक कार्य समाप्त करना नहीं जानता। एवं-नैतिक मानव जहाँ आरम्भ करना नहीं जानता वहाँ अर्थ का समाप्त करना वह अवश्य ही जानता है।

उपक्रम में नादरमक स्वर मध्य में अत्यात्मक स्वर एवं अन्त में स्वरात्मक स्वर वही क्रम शब्दोच्चारण में प्रसक्त माना गया है। जिन इन तीनों का ही वैदिक नाम है—'हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीर्ण'। उर स्थानानुगत-नादात्मक ( गुञ्जायमान ) मन्दस्वररूपक शब्द किंवा अग्नि ही 'हिंकार' है। उदाहरण हिं का अन्त्या मक शब्द है। सिं और शब्द ल खडा उर-स्थान से ही बोलते हैं अतएव इनका उर, और उत्सलान उदर प्रदेश शब्दस्थानिकाल में संकुचित होता है, सिं कुड़ जाता है। क्यटस्थानानुगत-अत्यात्मक [विना गूँब का-सामान्य]—मध्यस्वररूपक शब्द किंवा अग्नि ही प्रस्ताव है। उदाहरण यकाक की क्यटस्थाना अग्नि है। एवं शिरोस्थानानुगत-स्वररूपक [विना गूँब का उच्च]—तार स्वररूपक शब्द किंवा अग्नि ही-उद्गीर्ण है जिसे सङ्गीत की लीलाभाषा में 'टीप' कहा गया है। उदाहरण मयूर की शिरोऽनुगा अग्नि है जिसकी प्रकृत में मयूर का शिरोभाग ही ऊर्ध्व बन कर अवनत होता रहता है। त्रिधर्मात्मक नाद-अति-स्वर-माधुर्य-गायत्र-त्रैलोक्य-जगत्-मातानुक्रमी इसी स्वररूपी का निबन्धन करते हुए शब्द शास्त्र के आचार्यों ने कहा है—

प्रतः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरस्य शार्दूलोपमेन ॥

मध्यन्दिने कयठगतेन चैव यकाकसकृजितसभिमेन ॥१॥

तार तु विधातु सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥

मयूर ईसान्यभूतस्वरायां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥

—पाणिनीयशिक्षा ३६, ३७ ।

यह तो हुआ नाद-भु (त-स्वर-मात्रों का सङ्गीतानुगत तथा उच्चारणानुगत-स्वरूप-समन्वय का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन । अब दो शब्दों में परब्रह्मानुगता ग्रथसृष्टि [भूतमीतिष्ठी पदार्थसृष्टि] के अनुबन्ध से भी 'स्वर' की आराधना कर लीजिए । सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति 'शतवत्स-मात्रा' से, एव कल्पसृष्टा 'म्पर्श' रूप-रस 'गन्ध-मात्राओं' से ही हुई है यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । इन पाँचों ही त-मात्राओं का मूलाधारभूत मौलिक शब्दत-मात्रात्मक वह सत्त्व है क्या ?, इस प्रश्न का उत्तर है— 'तत्त्वात्मक अक्ष-यजु' साम-नामक-अपौरुषय-वद्' ० ।

तत्त्वात्मक वेद का 'अक्ष' भाग सं तो वस्तु का 'पिण्ड' (मूर्ति) बनता है 'यजुर्भाग' से वस्तु का क्रियात्मक 'गतिभाव' अभिव्यक्त होता है एवं 'सामभाग' से वस्तु का मण्डल अभिव्यक्त होता है । प्रत्येक मौलिक-पदार्थ में पिण्ड गति मण्डल ये तीन चीजें पर्याप्तविभाग विज्ञानसिद्ध हैं । पिण्ड वह भाग है जो अक्षुब्ध-स्थान-प्रदेश भेगता है एवं जिसका हम स्पर्श तो कर सकते हैं किन्तु देख नहीं सकते । अतएव इस पिण्ड को 'धामच्छब्द' (स्थानाधरोचक-जगह रोफन भाला) कहा जाता है, एवं यही— 'सूर्यपिण्ड' भी कहलाता है । इस पिण्ड में जायते-अस्ति-विपरिणामते-वदन्त-कीयते-विनश्यति-नाम के सुप्रसिद्ध-पञ्चमाधविकारात्मक परिवर्तन प्रकटित रहते हैं ।

परिवर्तनात्मक इन विचारमात्रों का ही नाम 'गति' है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित उच्चरूप प्राणानि की अर्कस्था हरिमर्मा केन्द्र से बाहिर वस्तुवृत्त के बाह्यर से समवृत्तित मण्डल बनाती हुई निकलती हैं । ये हरिमण्डल ही पिण्डात्मक वस्तु का 'मण्डल' हैं । एवं हमें वस्तु का जो प्रत्यक्ष होता है वह वस्तुतः पिण्ड का प्रत्यक्ष न होकर इन मण्डलों में स ही बिम्बी पक मण्डल का ही प्रत्यक्ष होता है । अतएव इसे 'हरिमण्डल' कहा गया है, जिस का न तो स्पर्श ही सम्भव है एवं जो मण्डल प्राण की प्रचानता से न धामच्छब्द ही बनता । पिण्ड ही सूर्यय बनता है, एवं मण्डल ही हरिमण्डल बनता है । सूर्यपिण्ड तथा हरिमण्डल इन दोनों के माध्यम से अपारपारणीरूप से परिब्रज्यन्त क्षणो-क्षणे परिवर्तमान गतिभाव ही पिण्ड गति एवं मण्डल-रूप-धामक-त्रिमूर्ति ही वस्तु का सम्पूर्ण इतिवृत्त है । और इन तीनों वस्तुमात्रों का मूलप्रवचक सत्त्व ही क्रमशः-अक्ष-यजु-साम-नामक मौलिक तत्त्व हैं जैसाकि निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टतमरूपेण उद्घोषित है—

अग्न्यो जातां सर्वशा मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हेव शरवत् ।

सर्वा तेज सामरूप ह शरवत्, सर्वा हीद ब्रह्मणा हेव सृष्टम् ॥

—सो० ब्रा० ३॥

०—शब्द, स्पर्शश्च, रूप च रमो गन्धरश्च पञ्चम ।

वेदादेव प्रवृत्तयन्त प्रवृत्ति-गुण-कर्मतः ॥

—मनुः १७१६८

इस तत्त्वात्मक-वेद का स्वरूप-दिग्दर्शन शतपथ-प्रथम अध्याय में कराया जा चुका है ।

यदि में सुप्त अग्नि को यदि प्रातःकाल में जागरण के साथ ही बलपूर्वक तारुत्मक-उच्च-संपर्क अग्न्यागामी बना दिया जाता है तो इस अप्राकृतिक-साहस से विविध रोग निरोपित 'उर-सूत' हो जाता है। एक निष्कर्षने लग सकता है इस अप्राकृतिक संपर्क से। अतः आरम्भ में मन्त्र-पुनरुच्चारण उच्च, पुनः उच्च इस क्रमिक अनुपात से ही शब्दोच्चारण प्रक्रान्त होना चाहिए। त्रिसन्धी के अतिरिक्त भी मानव जब भी कुछ बोलना चाहे, उसे इसी स्थानश्री के अनुपात से मन्दस्वर से ही शब्दो-प्रक्रम करना चाहिए। तभी अग्नि नादस्थिरता के कारण उच्चोच्च-संशक्त प्रमाणपूर्ण श्रुतिमधुर, एवं स्वयमधुर बन सकता है। आरम्भ में ही तारुत्वयमक-वीर्यकार पद्धति से बोलने लग पड़ने वाला आश्वि-मानव न तो अधिक समय पश्चात् इस शब्दोच्चारणकार को ही व्यवस्थापूर्वक प्रक्रान्त रख सकता न ऐसे उच्चेजक उच्चारण में श्रुति-स्वर-माधुर्य ही अनिवार्य होता है।

न केवल शब्दोच्चारण में ही, अपितु कर्मप्रवृत्ति में भी इसी नियम का अनुगमन अर्थात् माना गया है। क्योंकि शब्द और कर्म, दोनों अमिष्ट हैं। अतएव दोनों समान ही नियमभार्याओं से समन्वित रहते हैं। इसी आधार पर—'अस्परम्मा चेमकरा' कहा गया है। आदेशपूर्वक आरम्भ में ही प्रचलित वेग से किसी कर्म में संलग्न हो पड़ने वाले उच्चेजित मानवों के लक्ष्य निष्फल ही प्रमाणित होता है। 'शने कन्या शनैः पम्याः शनैः पर्वतवज्ज्वलन्' प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो वह लोकस्वतन्त्र व्यवस्थित हुआ है कि—'एक भावुक कार्य्य का आरम्भ करना जहाँ मकीर्माँति जानता है, वहाँ वह भावुक कार्य्य समाप्त करना नहीं जानता। एवं-नैष्ठिक मानव जहाँ आरम्भ करना नहीं जानता वहाँ अन्त्य को समाप्त करना वह अवसर ही जानता है।

उपक्रम में नादात्मक स्वर मध्य में श्रुत्यात्मक स्वर एवं अन्त में स्वरात्मक स्वर यही क्रम शब्दोच्चारण में प्रशस्त माना गया है। किन्तु इन तीनों का ही वैदिक नाम है—'ह्रिकार-प्रस्ताव-उद्गीथ'। उदाहरणानुगत-नादात्मक (गुञ्जायमान) मन्दस्वरयुक्त शब्द किंवा ध्वनि ही 'ह्रिकार' है। उदाहरण सिंह का ध्वन्यात्मक शब्द है। सिंह और शायल उदा उरस्थान से ही विल्लते हैं अतएव इनका उर, और क्लृप्तान् उदर प्रवेश शब्दध्वनिकाल में संकुचित हो जाता है। ह्रिकार किंवा ध्वनि ही 'प्रस्ताव' है। उदाहरण चक्रवाक की कलहानुगा ध्वनि है। एवं शिरोधार्यानुगत-स्वरात्मक [विना गूँज का समान्य]—मध्यस्वरयुक्त शब्द किंवा ध्वनि ही 'उद्गीथ' है। उदाहरण मधुर की शिरोऽनुगत ध्वनि है जिसकी प्रकृति में मधुर का शिरोभाग ही उर्ध्व बन कर अवनत होता रहता है। त्रिप्रक्रमीय नाद-श्रुति-स्वर-मादात्मक-गायत्र-त्रैलोक्य-जगत्-आवातुष्वपी इसी स्वरश्री का निभमन करते हुए शब्द शास्त्र के आचार्योंनी कहा है—

प्रातः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरस्य शार्दूलस्तोपमेन ॥

मध्यन्दिने कस्तुरातेन चैव शकाङ्गुसफूजितसन्निमेन ॥१॥

तार तु विधातु सवनं तृतीय शिरोगतं वक्ष्य सदा प्रयोज्यम् ॥

मधुर ईसान्ध्रतस्पर्शायां तुल्येन नादन शिरःस्थितेन ॥२॥

—पाणिनीयशिक्षा ३६ ३७ ।

जीवश्रमियों के मनोऽनुरक्षण के लिए स्वरप्रामाण्यता तालिका अत्र समुद्र ता है -

भुति—स्वर—ग्राम—चक्रम—

भुतिसंख्या	भुतिनामानि	भुतिजातय	पञ्चमामस्वराः	मध्यममामस्वराः	गान्धारमामस्वराः
१	तीष्ठा	दीक्षा	*	*	नी
२	कुमुद्वती	आयसा	*	*	*
३	मन्दा	मृदु	*	*	*
४	छन्दोवती	मध्या	*	*	सा
५	दयावती	करुणा	*	*	*
६	रञ्जनी	मध्या	*	*	रे
७	रतिष्ठा	मृदु	*	२	*
८	रोद्री	दीप्ता	*	*	*
९	शोषा	आप्ता	*	ग	*
१०	वसिष्ठा	दीप्ता	*	*	ग
११	प्रसारिणी	आप्ता	*	*	*
१२	मीति	मृदु	*	*	*
१३	माजबनी	मध्या	*	म	म
१४	चिर्तिः	मृदु	*	*	*
१५	रक्षा	मध्या	*	*	*
१६	सन्निपनी	आप्ता	*	प	प
१७	आशाफनी	करुणा	*	*	*
१८	मदन्वी	करुणा	*	*	*
१९	रोहिणी	आप्ता	*	*	घ
२०	रम्या	मध्या	*	ध	*
२१	उष्मा	दीप्ता	*	*	*
२२	शोमिनी	मध्या	*	नी	*

केन्द्रावस्थित-श्रुत्य-स्पर्श-धामन्त्य-वस्तुपिबद्ध ही 'नाद' तत्त्व है। पिबद्ध-मयब्रह्मान्तर्बर्त्त यन्त्रमय-‘गतिभाव’ ही श्रुतिवत्त्व है। एवं-पिबद्धकेन्द्र से प्राणारश्मिमयब्रह्मरूपण सहस्रभाव-समन्वित-साममय-‘मयब्रह्म’ ही ‘स्वरतत्त्व’ है। यों नाद श्रुत्पिबद्ध से श्रुति यन्त्रगति से, तथा स्वर साम मयब्रह्म से सर्वात्मना समतुलित है। अतएव ‘साम’ का एक साङ्केतिक पारमायिक नाम रत्न लिया गया है-‘स्वरसाम’। स्वर और साम, अभिन्न तत्त्व हैं। प्रातिस्निकरूप से यही मयब्रह्म-‘स्वर’ है एवं पिबद्ध तथा गति से समन्वित होता हुआ यही स्वर ‘साम’ कहलाने लगता है, और यही त्रिमूर्ति स्वरसाम ‘गायनात्मक सङ्गीत’ की प्राणप्रतिष्ठा माना गया है। वैदिक-गीतिपु सामाख्या इस भाष्यवचन से प्रमाणित है। किना स्वर का शब्द केवल श्रुति है। अथवा तो यन्त्र है। स्वरसाम के प्रवेश से ही अपने-पिबद्धात्मक (गय-न्यात्मक) स्वरूप से गायकमेव वित्त होता हुआ मयब्रह्मरूप में परिणत होता हुआ (पैलाता हुआ) ‘साम’ रूप गान (गायन-गीति) रूप में परिणत होता है। अतएव नवर्त्तमाना सभी दृष्टियों से सामात्मक स्वर, किया स्वरप्रसक्त साम ही सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा बन रहा है। जिस स्वरसाम के ‘त्रयः स्वरसामान’ कम से तीन महिमा-विषय माने गए हैं। किन्तु अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है।

वक्षित्य-माम • मूर्च्छना जाति क्रम, तान आरोह, अचरोह, वाही, संवाही नाद श्रुति स्वर आदि आदि स्नेह विभूतियों से सुसमन्वित नृत्य-गीत-बन्ध मेघ से तीन प्रक्रमों में विभक्त शास्त्रीय सङ्गीत के नाद-प्रति-स्वर-नामक प्रतिष्ठात्मक तीनों स्तम्भों का मूलाधार प्रथम-स्थानीय वैश्वानराग्निप्राण मूर्ति गुञ्जनभावलिङ्गन जो उपक्रम-स्थानीय तत्त्व है। यही वैदिक-सामविज्ञान-की परिभाषा में ‘हिङ्कार’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। स्वररत्मक साम ही क्योंकि इदयोपिबद्ध नादात्मक हत हिङ्कार को कियानभाव में परिणत करता है। वृक्षे शब्दों में वीर-मधुर-रस से समाप्युत नवविज्ञानमय-बाईस-स्वररूप छम के मयब्रह्मों के वैतानिक-रूपों के आधार पर ही (स्वरमंचान के आधार पर ही) क्योंकि नादात्मिक ‘हिं-हिं-हिं-हुं-हुं-हुं’ इत्यादि-अनुकरणमिम्ब-उत्पन्ननभावमिम्ब-सङ्गीतोपक्रमस्थानीय-ध्वनि का आधार बनता है। अतएव कहा और माना जायगा कि, स्वरात्मक साम ही हिङ्कार का प्रवर्तक है। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

### “नासामा हिङ्-क्रियते”

सामस्वरमयब्रह्मात्मक सामस्वरमयब्रह्मातुल्य ‘हिङ्कार’ ही नाद है नाद ही श्रुति का प्रवर्तक है एवं श्रुति के द्वारा ही स्वरा की अभिव्यक्ति होती है। एकमात्र इसी समसमन्वानुक्त से प्रकृत-ब्राह्मण के ‘हिङ्कार’ शब्द के पारिमायिक समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीतातुल्य-‘नाद-प्रति-स्वर’ नामक तीनों प्रक्रमों का प्रासङ्गिक हिङ्कारना करना पड़ा। क्योंकि नाद-श्रुति-स्वर भावों के स्वरूप-परिचय के बिना श्रुति का-‘हिङ्कार’ शब्द कदापि ध्वनित नहीं होसकता। अतएव श्रुति के ‘हिङ्कार’ शब्द-समन्वयानुक्त से हमें इस श्रुति का संस्मरण कर लेना पड़ा है।

४-ग्राम स्वरसमूहः स्यात्, मूर्च्छनादेः समाधाय ।

सौ द्वौ, धरातले तत्र स्यात् पञ्च ग्राम आदिम् ।

द्वितीयो मध्यमग्रामस्तपोलक्षणाभ्युप्यते ॥

—इत्यादि

# इति-सङ्गीतानुगत-नाद-श्रुति-स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

— — — — —

प्रकृतमनुसृतम् । नाद-श्रुति-स्वरूपात्मक-पूर्वोक्त प्राथमिक-प्रकरण का उपक्रम करत हुए हमने निवेदन किया था कि नृत्य-गीत-वाद्यात्मक नाद-श्रुति-स्वर-प्रयी के आधार पर सुप्रतिष्ठित भी नृत्य-गीत-वाद्यात्मक सङ्गीत मानव की अष्टात्मसंस्था में आत्मसंस्कार-विरोधी 'आग्लादोप', एवं बुद्धिनिष्ठा-विरोधी-'माल्दोप' उत्पन्न कर दिया करता है। तत्रैव इन दोनों वापों का सम्बन्ध में समझने जैसी बात की ओर भी सङ्केत हुआ था (देखिए पृ. सं १२१३)। उस 'समझने जैसी कुछ बात' के इतिहास के समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीत के नाद-श्रुति-स्वर-मापों का दिग्दर्शन उपक्रमित करना पड़ा। अब प्रविशत 'दोप' स्वरूपों की ओर ही सङ्गीतप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

आग्ला तथा माल्द नामक सुप्रसिद्ध मानसिक तथा शारीरिक दोषों के न्यून समन्वय के लिए हमें 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इस सुप्रसिद्ध भुक्तिवचन में पण्डित 'तम', और 'ज्योति' इन दो तत्त्वों की ओर ही नैष्ठिक मानवभेदों का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा। सृष्टि के मूल भूत 'आभू', और अभ्य नामक दो तत्त्वों की प्रथमा मौलिक अभिव्यक्ति का नाम ही 'रस' है, और 'यत्' है। इस रसतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति एवं आभूतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम वहाँ 'जु' है, वहाँ वस्तुत्व की प्रथमा अभिव्यक्ति एवं अभ्यतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम ही 'यत्' है। इस 'जु' तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति रसतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति एवं आभूतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम वहाँ 'तज' है वहाँ 'यत्' तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति वस्तुत्व की द्वितीया अभिव्यक्ति एवं अभ्यतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम ही 'स्नेह' है। इस तजस्तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति जूतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति, रसतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति, तथा आभूतत्त्व की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम वहाँ लक्ष्यप्रसिद्ध 'ज्योति' है वहाँ 'स्नेहतत्त्व' की प्रथमा अभिव्यक्ति 'यत्तत्त्व' की द्वितीया अभिव्यक्ति, वस्तुत्व की तृतीया अभिव्यक्ति, एवं अभ्यतत्त्व की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम लक्ष्यप्रसिद्ध 'तम' है।

क्या तात्पर्य ?। इन तात्पर्यों के समन्वय के लिए हम आवश्यक ध्यान उस एकमवाक्यविमलक्षण विरथातीत-परात्परमस्य की ओर ही आकर्षित करना चाहेंगे जिसका साङ्केतिक नाम है 'अनजदकम्'। विरथातीतमस्य-प्रतिष्ठावचनणमापायज-आत्यन्तिकरूप से परमात्मक भाव का है-पञ्चत् एवं अविकल्पनामक-सुखरम-आत्यन्तिकरूप से अपरिचित शक्तिभाय का नाम है-अनजत्'। स्थितिभाय ही अनजत् है एवं गतिभाय ही पञ्चत् है। स्थितप्रकृतिक-अनजत् तथा गतिप्रकृतिक-पञ्चत् परस्परव्यतिरिक्त इन दोनों भावों की संश्लिष्टा एकव्यवस्था का ही नाम है यह विरथातीत-परात्परमस्य जिसका समष्ट्यात्मक नाम माना गया है अत्यनपिनदम्। अत्यनपिनदामक स्थितिगतप्रकृतिक-अनजत्-एवम्-मूर्ति इसी परापरमस्य का प्रथम मौलिक स्वरूप आभू और अभ्यतमक है। आभू अनजत् है अभ्य एवम् है। इत्यादिपिक्त न इसी स्वरूप का इन शब्दों में मात्र लक्ष्य स्मरण किया है—

# जाति-तालिकेयम्--

१	२	३	४	५	६	७	८
संख्या	आत्म्य	गुरुत्वा	आशा	न्यासा	उपन्यासाः	माहवदेगित्स्वर	बीहवदेगित्स्वर
१	माहबी	उत्तरायणा	सा रे ग म प च	सा	ग प	नि	●
२	आर्षमी	शुद्धपञ्चम	रे च नी	रे	रे च नी	सा	सा प
३	गन्धारी	पौरवी	सा ग म प ढी	ग	सा प	रे	रे च
४	मध्या	झोपनता	छे रि म प च	म	सा रे ग प च	ग	ग नी
५	पञ्चमी	झोपनता	रे प	प	रे प नी	ग	ग नी
६	दैवती	अभिधरगता	रे च	च	रे म च	प	सा प
७	नैचदी	अभिधरगता	सा ग नी	नी	सा ग नी	प	सा प
८	वडवदेगित्स्वर	झोपनता	सा ग प	ग	सा प नी	●	●
९	पडवदेगित्स्वर	अश्वत्थान्ता	सा च नी	म	सा प	रे	रे च
१०	पडवदेगित्स्वर	मल्लरीहता	सा रे ग म प च नी सा	छा म	सा रे ग म प च नी	नी	● ग नी
११	गन्धारीदेगित्स्वर	पौरवी	सा म	ग	सा च	रे	●
१२	रत्नान्तारी	झोपनता	सा ग म प नी	ग	म	रे	रे च
१३	दैविकी	हारिकारवा	सा ग म प च नी	ग प नी	सा ग म प च नी	रे	रे च
१४	मध्यादेगित्स्वर	सेवीरी	प	म	सा च	●	●
१५	काम्या वी	शुद्धमध्या	रे प च नी	प	रे प च नी	●	●
१६	गन्धारपञ्चमी	हारिकारवा	प	ग	रे प	●	●
१७	आम्नी	सेवीरी	रे ग प नी	ग	रे ग प नी	सा	●
१८	नन्दरुपी	हारिकारवा	प	ग	म प	सा	●



क वू, और यत् के ही परिणाम हैं। वही स्वायम्भुवी यजुवाक 'मोऽपोऽसुनत-वाच-यजुः लोकात्-यागेव साऽसुनत' के अनुसार आपोमयब्रह्मरूप में परिणत होती है। 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि स्वयम्भू का ही प्रथमावतार माना गया है। इस आपोमय पारमप्य समुद्र में तेजोमयी अग्निचिति में पुत्रीभूत प्रदीप्त प्रचण्ड तेजोमय-सौरसस्थान ही इन्द्रमित्र है। एवं स्वयं पारमप्य-स्नेहमयी-आप-युग्मवरुण है। और यो परमेष्ठी के ही गर्भ में आपप्रधान-स्नेहप्रधान-युग्मवरुण, तथा तेज-प्रधान-इन्द्रमित्र (सूर्य) वे स्वतन्त्र संस्थान अग्निवर्क हो जाते हैं।

सामिधेनीवित्तिरूप-तेजोमय इन्द्रमित्ररूप सूर्य को थोड़ी दूर के लिए तटस्थ मानते हुए, तृतीयमय-स्नेहमय-वदणरूप परमेष्ठी को ही लक्ष्य बनाइए।

आपोमय-आपप्रधान-श्रुतप्रधान (अतएव अमृतमावापन्न) पारमप्य वरुण की वैज्ञानिकानों अपरिपक्ववस्था, परिपक्ववस्था—मे से दो अवस्था माना है। अपरिपक्व-वदण वहाँ विशुद्ध आसुरभाव है वहाँ परिपक्व वरुण अतः आसुरमात्रात्मक बनता हुआ भी अधिकांश से गन्धर्व, तथा पितृमात्र प्रधान ही बन जाता है। ब्रह्माग्नि (स्वायम्भुव तेजोलक्ष्म-प्राणाग्नि) के सम्बन्ध से पारमप्य वरुण-आप-वत्त्व का जो भाग परिपक्व हो जाता है, वही वदण की उत्तरवस्थाकरुणा—'परिपक्ववस्था' कहलाई है।

मृत्मूला-लोकदृष्टि से उस कौशिकिणी-प्राणारिमिका अवस्थावृत्ती का उदाहरण-माध्यम-मात्रेण यो समन्वय किया जायकता है कि,—“चारों ओर से सीमाबद्ध अतएव वायव्यप्राण के सञ्चारधर्म से वञ्चित अतएव च पृथि-पट्टाणि—मलीमस-मावों से काल्वालीकृत सीमित बल का नाम ही 'युवात्मक वरुण' है, यही वदण की अपरिपक्ववस्थात्मिका पूर्वावस्था है जिस इयभूत मलीमस-अवकट अपरिपक्व-निष्कैक्स-वायव्यपानी को ही आसुर पानी कहा जायगा एवं इस ही विविध रोगों का, विभिन्न देवों का प्रवक्तृ माना जायगा। इसके अविरिक प्रचण्ड प्रवाह से सम्मिलित अतएव वायव्यप्राण से आलोडित-विलाडित, अतएव-मलीमस-मावों से असम्पुष्ट विशुद्ध निम्नत्व-पानी ही 'द्विष्यपानी' है जिसमें आन्वयप्राणक वायव्यप्राण+ इन्द्रप्राण आग्नि अनेक द्विष्यप्राणों का समावेश रहता है। अतएव एका गतिधर्मा विशुद्ध पानी सर्वथैव स्वास्व्यकर माना गया है। यही वरुण की परिपक्ववस्थाकरुणा उत्तरवस्था है। यों लौकिक उदाहरणविधि से उस पारमेष्ठ्य-अलाक्षिक-प्राणारिमिक-यारुणपानी की भी अपरिपक्व, परिपक्व इन दोनों अवस्थाओं का अनुमान लगाया जायकता है।

वरुण की अपरिपक्व पूर्वावस्था का ही नाम है—'वरुण' एवं इसी वरुण की अग्नि-वायु-इन्द्र प्राण-समन्विता—'परिपक्व उत्तरवस्था का ही नाम है—'सूर्य'। परिपक्वधर्म का ही नाम 'भजन' है। एवं परिपक्वमय इस मर्जन-सम्बन्ध से ही वरुणपिता की पूर्वावस्था से सङ्गृहीत उत्तरवस्थाकरुणा-युक्तामय परिपक्व भाव का नाम हागया है—'सूर्य' वैयकि निम्न लिखित भुविवर्तनों से विस्पष्टरूपण प्रमाप्ति है—

\*—अर्पां मघातो, विलपनस्य तेजः सयोगान् (धरापि वरुण—कणावसूत्र)।

— इन्द्रतुरीया महा गृह्यन्ते क अनुसार गतिधर्मा वायु में एक चतुर्पाश इन्द्रप्राण की समाधिष्ट रहा करता है।

अनेत्रदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्तुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्वावतोऽन्यानस्येति सिष्ठतस्मिन्नपो मातरिस्वा दधाति ॥

—ईरोपनिषत्

अनेत्रदेकनृत्ति-आमू-अम्बामक-इती जल का वृत्त विवर्त' रखनात्मक है तीसरा विवर्त 'यत्-जू'-एतक है चौथा विवर्त 'तेजः स्नेहस्मक' है एवं पाँचवाँ विवर्त ज्योति स्मोत्पन्न है । प्रत्येक रूप द्विपर्व है जिन में प्रथम-प्रथम पर्व सर्वत्र सवात्मक है एवं द्वितीय-द्वितीय पर्व असवात्मक है । और यही ज्योति तथा तम के मोक्षिक-चिरन्तन-इतिवृत्त का अर्थ से इतिपर्यन्त का महामन्त्रलम्पद मानसिक-पावन संस्मरण है ।

विस्वातीसमावा				विस्वमावा		
१	२	३	४	५	६	७
१-अनेत्रत्	आमूः	रस	जू	तेज	ज्योति	(स्थितिप्रकृतिक-स दूमाव-अमृतम्)
२-एजत्	अम्बम्	दलम्	यत्	स्नेहम्	तम	(गतिप्रकृतिक-असद्वृत्तमान-मृत्युः)

—“अमृत चैव मृत्युश्च सदसबाहमर्जुन !”

तेजोवृत्त ज्योतिर्मात्र का ही नाम है—‘इन्द्र’ एवं स्नेहवृत्त तमोमात्र का ही नाम है ‘वरुण’ । इन्द्र ही ‘मित्र’ नाम से प्रसिद्ध है । अतएव ज्योतिःस्वरूप इन्द्र तथा तम-स्वरूप वरुण इन दोनों की समन्वितत्वा का एक सांकेतिक नाम हो गया है—मित्रावरुणौ’ जो कि अध्यात्ममात्रा में ‘अमृत-वृत्त’ नाम से प्रसिद्ध है वैसाकि अमृतसौ ॥ का अस्य मित्रावरुणौ’ (शत ब्रह्मसूत्र) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । उपरि निर्दिष्ट साक्षात् के विश्वमात्रों में क्रमापन्न चतुर्थ ‘जू’ और ‘यत्’ इन दोनों की समन्वित ही ‘अम्ब’ नामक वयोरूप वह ‘यजु’ तत्त्व है, जो अक्ष-साम-नामक वयोनापात्मक कृत् से कन्दित यज्ञा हुआ जमीम बना हुआ है । अक्षस्य से कर्मवृत्त-नय-श्रीमित-परिवेष्टित-‘मृत्’ रूप स्थितिभाव एवं ‘वृत्’ रूप गतिभाव’ इन दोनों की समन्वित जमीमयतल का ही नाम ‘स्वयम्भूवृत्त’ है जो ‘स्वयमेव उद्भवर्मा’ के अनुसार ही-‘स्वयम्भूः’ कहा गया है । इसी स्वायम्भुव-मनु के जू भाग से तेज के द्वारा ज्योति के माध्यम से वो इन्द्रमित्र की अभिव्यक्ति हुई है एवं इसी स्वायम्भुव-मनु के वृत्तभाग से स्नेह के द्वारा तम के माध्यम से वृत्रवरुण की अभिव्यक्ति हुई है । ज्योतिर्मय इन्द्रमित्र एवं तमोमय वृत्रवरुण दोनों क्रमशः स्वयम्भू

यही साहित्यिक नाम है—'सुरा' एवं भाष्य 'गर्भप्राण' से सुरक्षित (अपरिपक्व-विशुद्ध आसुर-वस्तु) आक्रमण से सुरक्षित) पितृप्राणा मक्ष भागवप्राण यही नाम है—'सोम'। और यही सुरा तथा सोम नामक उन पारुणतत्त्वों का संक्षिप्ततम स्वरूप-दिग्दर्शन है जिन इन दोनों तत्त्वों के स्वरूप-समन्वय के लिए ही हमें अनेकदेवदत्त मूला-सुगन्धवी-समन्वित-सुखिचार का अन्न संस्मरण करना पड़ा है। पारमेष्ठ्य भागव-वस्तु-सुरा और सोम, नामक तत्त्वों के आचार पर ही हमें उन आग्ला, तथा माहृत्य, नामक दोनों सुप्रसिद्ध दोषों की स्वरूपमीमांसा करनी है जिन दोनों भयानक दोषों ने ही सर्वथैव-तत्त्वसम्मत भी मरुसिद्ध भी नाश भूति-स्वरूप से दिव्यतत्त्वों से समन्वित भी नृत्स्य-गीत-आशात्मक-सङ्गीत को आत्यन्तिकरूपेण कात्वालीकृत ही प्रमाणित कर रक्खा है।

इदमथ अवधेयम् । तस्य और ज्योति नामक जिन दो तत्त्वों का पूर्व में संस्मरण हुआ था ( देखिए पृ ३ १२५३ ), तत्रैव यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, वरुण का नाम ही तम है, एष इन्द्र का नाम ही ज्योति है । यही, इसी दृष्टि किन्तु पर मुण, और सोमके समन्वय में भी किञ्चिदप्य अवधेय है । तमोमय वरुण से जहाँ सुरा का सम्यन्ध माना जायगा वहाँ ज्योतिस्मय इन्द्र से सोम का सम्यन्ध माना जायगा । अतएव सुरा वहाँ 'वारुणी' कहलाए है वहाँ सोम इन्द्राप्रिय तत्त्व माना गया है । दैनन्दिनीय भोजनकर्म्म से अनुपायित अन्न के उपाहरण से ही प्रथम मोक्षिणी दृष्टि से ही हमें सुरा और सोम, इन दोनों तत्त्वों का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए ।

अथ-गोधूम-चणक-वज्र-भाप मुवृग-सन्दुल—( जौ-गोहूँ-खना-वाजरा-उड़ मूँग-चाँवल ) आदि अन्नो की उत्पत्ति 'पञ्चाग्निविद्या' के अनुसार पानी से ही हुई है । दिव्य-वार लाफ के दिव्य तेजोमय-सावित्रान्ति में तथप्रथम सोमाग्निमय भद्रा की आहुति होती है । तेजोमय यह सावित्रान्ति 'अग्नि' है, स्नेहपयी भद्रा 'सोम' है । इन गीनों के यजन से ही अग्नो सोमाहुतिवत् के अनुसार परस्वरूपमात्मक सोम नामक अपूर्वमात्र अभिव्यक्त होता है इन दोनों आरम्भणी (उपादनी) के परस्परतथमहन से । दिव्याग्नि और भद्रा के यवनात्मक उपमहन का ही परिणाम 'सोम' है और यही प्रथमाहुति से अनुपायित अन्नका प्रथम मौलिक स्वरूप है ।

दिव्यलोक के अनन्तर दूसरा आन्तरिक्ष-वायुलोक है । इस अन्तरिक्ष लोक में 'ननुचि नामक-व्यापितोषी-बलावरोधक आसुरप्राण के प्रचयकलापु ) मरुत्स्यन् नामक वायव्यइन्द्र से समन्वित 'पञ्चजम्ब' नामक वायव्याग्नि परम्प्राप्त है । इस आन्तरिक्ष पञ्चजम्बाग्नि में सोम की आहुति होती है । इस दूसरे अग्नि-सोम-यजन से भी अग्निमय अपूर्वमात्र उत्पन्न होता है उसे ही वपा (पृष्टिजल) कहा गया है ।

वायव्य-अन्तरिक्षलोक के अनन्तर आग्नेय पृथिवीलोक का स्थान आता होता है । इस पार्थिव गायत्राग्नि में वपा रूप सोमाक्ष की आहुति होती है । इसी आहुति से गायत्राग्नि एवं यपाजल दोनों

● पञ्चजम्ब का ही उत्तररूप पुरायात है जिस हमारे प्रान्त में 'पुरयाइह्या' कहा जाता है । इसके प्रवाह से ही दृष्टि हुआ करती है । इसे ही प्रतीप्यभाषा में सम्भवतः मान्यून कहा गया होगा ।

“ता आ०ः सुष्टाञ्जैवत-प्रवापति । तासु क्षायामपश्यत् ( तमोभावमपश्यत् ) ।  
ता आप-भ्रान्ता सप्ता, सन्तप्ताः-साङ्गमेव रेतसा द्वैधमभवत् । तासामन्या अन्यतरा  
अतिस्रवक्षा ( वारधम्मनिन्विता ) ( अतएव ) अपेया अत्वादा ( मधुप्रासशून्या ), ता  
अशान्ता आपः समुद्र वृक्षा-अतिष्ठन् ( ता इमा एव-आप-अपरिपक्वा-वरुक्षा-  
त्मिका ) । अथ-इतराः पेया स्वाङ्ग्यः शान्तास्तत्रैवाम्यभाम्यत् अभ्यतपत्, ममतपत् ।  
ताभ्यः भ्रान्ताभ्यः-तप्ताभ्य-सन्तप्ताभ्यः-यद्वरेत आसीत्, तत्-अभृज्यत् ( परिपक्वमभूत् ।  
यदभृज्यत्-तस्मात् ‘भृगु’ समभवत् । तद्-सृगोर्भृगुश्चम्” ।

—गोपचन्द्राक्षय-पूर्वभाग १ प्र० १३ ब्रा० ।

(२) “वरुणस्य वै सुपुत्राणस्य मर्गोऽपक्राम् । स त्रेधापतत् । तद्भृगुरभवत्” ।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६।६।१।

(३) “तस्य प्रजापते यद्वरेतसं प्रथममुददीप्यत-उदसात्वादित्योऽभवत् । अथ-यत्-  
द्वितीयमासीत्, तद्-सृगुरभवत् । तं वरुणो न्यगृहीत । तस्मात्-स सृगुर्वारुणिः” ।

—पेतरयजुर्ब्राह्मण ३।१४।

‘आत्नेय-वायव्य-ऐन्द्रप्राण-से समन्वित अतएव परिक्व-मज्जनरीप्ति-परमच्छय वाक्य  
आप्सत्त्व का ही नाम-‘सृगु’ है’ उक्त तीनों भुक्तिचर्चों का यही निष्कर्ष है । द्वितीया भुक्ति में  
‘वरुणस्य मर्गः-त्रेधा-अपतत्’ यह कहा गया है जिस का तात्पर्य यही है कि ‘भुव- ( धन )-धन्-  
( तरत )-अक्य ( विरल ) नाम की सुप्रसिद्ध तीन अक्षरवाची के अरथ यह सृगुत्त्व तीन अक्षरवाची  
में परिणत होता है जोकि तीनों मार्गवी अक्षरवाची ही क्रमशः-आप-वायु-सोम-इन नामों से  
प्रसिद्ध हुई है जिसकी वायु-राप-चन्द्रमा ( सोम ) इत्येते सृगवाः ( गो० ब्रा० पू २।८, ९ । )  
इत्यादि बचन से स्पष्ट है । ये तीनों ही मार्गवत्त्व वाक्य अपतत्त्व के प्रकृतिस्थित चित्करण से \* आत्मक  
आत्मक बने हुए हैं मनःप्राणवाक्य आत्मा के त्रिवृत्मान की मति । जिस का तात्पर्य यही निष्कर्ष है  
कि धनावस्थापन-मार्गव अपतत्त्व मी आप-वायु-सोमात्मक है । तरलावस्थापन मार्गव-वायुत्व मी आत्मक  
है । एवं विरलावस्थापन मार्गव सोम मी आत्मक है । इस आत्मकता के अनुकूल से ही तीनों छवारी  
माने गए हैं । आत्मक मार्गव आपप्राण का ही नाम ‘आसुर’ है, आत्मक मार्गव-वायव्यप्राण का  
ही नाम ‘गर्भ’ है, एवं आत्मक-मार्गव-सोमप्राण का ही नाम ‘पितर’ है । आसुर प्राणत्मक  
वादन-मार्गव-आपप्राण ही अप्सुरावर्तक-‘अप्सराप्राण’ की अभिव्यक्ति का अरथ बना  
हुआ है । वाक्यमार्गव-वायव्यप्राण का गन्धर्वप्राणत्व तो प्रातिष्ठिकरूपेणैव स्पष्ट है । आप्य-अप्सराप्राण

\* इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति ( ब्रा० उप० १।११। ) ।

“आत्मकत्वाच्च भूयस्त्वात्” ( वेदान्तसूत्र ३।१।२ ) ।

आग्नेयी योषित् ( स्त्री ) के आच व में अग्नितस्थ ही प्रधान माना गया है जैसे कि पुरुष के शुक्र में-‘सोम’ प्रधान माना गया है । पुरुष का वह सोमामक स्वरूप शुक्र श्रुतस्नाता स्त्री के शोणितानि में आहुत होता है । इसी आहुति से-शुक्रस्थित पुम्भ्रूण तथा शोणितस्थित-स्त्रीभ्रूण के भ्रम भ्रन्नादा मक पारस्परिक संघर्ष से ही प्रबोत्पत्ति हुआ करती है । इसप्रकार भद्रा वै आपाः सन्नमन्तं ‘भद्रा या आपाः इत्यादि भ्रूवियों के अनुस्रारआगोमयी भद्रा, किंवा भद्रात्मिका आपा ही पृथक्मानुसार आग्नेयी-योषित के शोणित में गर्भीकृत होकर-‘प्रजा’-स्वरूप में परिणत होता है । स्वलोकांनुगत सौरसावित्राग्नि’, अन्तरिक्षलोकांनुगत वायव्य-पर्जन्याग्नि’, इषिवीलोकांनुगत पार्थिव-गायत्राग्नि’ अध्यात्मलोकांनुगत-पुरुषराशिरस्य वैश्वानराग्नि’, एवं स्त्री-शोणितस्थ-आर्चवाग्नि’ इन पाँच अग्नियों में क्रमशः भद्रात्मक सोम’, सोमात्मक सोम’, यषात्मक सोम’ अन्नात्मक सोम’ एवं शुक्रात्मक माम’ इन पाँच सोमद्रव्यों की आहुति से ही पाँचवी आहुति में पुरुष’ नाम का प्रभावग अभिव्यक्त हुआ है जिस इस पञ्चात्मिक अभिव्यक्ति का ही-‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषयश्चसो भयन्ति इत्यादि-छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्धा-पञ्चाग्निविद्या’ से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है ।

१-युलोकः ——— सावित्राग्नि —भद्रा—सोम’ ( प्रथमाहुति ) ।

२-अन्तरिक्षलोकः ——— पर्जन्याग्नि—सोम—सोम ( द्वितीयाहुति ) ।

३-भूलोकः ——— गायत्राग्नि —इष्टि—सोम’ ( तृतीयाहुति ) ।

४-अध्यात्मलोकः ( पुरुष )-वैश्वानराग्नि—अन्न—सोम’ ( चतुर्थी आहुति ) ।

५-यगित्सलोकः ( स्त्री )—आर्चवाग्नि —शुक्र—सोम’ ( पञ्चमी आहुति ) ॥

तत्त्वात्मिक-प्रकृतिविज्ञान-अस्तूरयता के नामभ्रयणमात्र से भी अपने कास्परिक मानवतावाद का सर्वनाश उद्घोषित करने लग पड़ता है । तत्त्वमूला अस्तूरयता रही है रहेगी जिस का कास्परिक मानवतावाद से विचलन में भी उच्छेद सम्भव नहीं है । हाँ जा इस तत्त्वमूला ‘अस्तूरयता के उच्छेद’ में प्रवृत्त हैं उन का प्राधानिकचयन-तत्त्वानुक्रमी-स्वरूप अवश्य ही कालान्तर में उनी प्रभर उच्छिन्न होबाया करता है जैसे कि मासिकी कीटाणुबनिता-साक्षमिकी अस्तूरयता की उपेक्षा करने वाला स्वयमेव कालान्तर में रोगाक्रान्त बनता हुआ सम्मानपूर्वक कीनारानिकसन’ का अतिथि बन जाया करता है । इसी सम्बन्ध में यह भी अविस्मरणीय है कि शास्त्र की तत्त्वमूला अस्तूरयता जब रुढ़िवाद-प्रभस्त बन कर ‘पृणामूला बन जाती है किंवा भ्रम का भ्रम करने वाले भ्रमप्रक्रिया के द्वारा स्वार्थ साधन के लिए बलापूर्वक कृणामूला बनादी जाती है तो उस अकम्पा में यही अस्तूरयता सामाजिक प्रत्यय-द्वेष का ही कारण बन जाया करती है जिस इत्यमूला अशास्त्रीया-कास्परिकी-पागपागमा-पृणामूला अस्तूरयता ने ही आज भारतीय समाज को विधेय की प्रचण्डाग्नि में ही आहुत कर दिया है ।

•-विशेष विस्तार के लिए देखिए । छांदोग्योपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य का तदप्रकरण [ ५ अध्याय के १, ५, ९, ७, ८, ९-अष्टक ] ।

के यन्त्रात्मक समिधाय से पार्थिव धरातल पर ओ अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही सुप्रसिद्ध—यवगोचूमादि—अन्न' नाम से प्रसिद्ध है।

आगे चल कर पार्थिव अग्नि के प्रबन्धभूत पुरुष के शारीरिक वैश्वानर अग्नि में अन्नात्मक सोम की आहुति होती है। पुरुषाग्नि में आहुत अन्न सोम का यह अग्नि उसीप्रकार विशकलन कर देता है जैसेकि प्रस्वसित काष्ठाग्नि में हुत—समाहित—काष्ठादि द्रव्य तेजोमय, अतएव विकासवर्मा अग्नि से विशकलित होजाया करते हैं। संकुचितमात्र को घनता को विदीर्ण करनेवाली अग्नि का प्रमुख कर्म है। इसी विशकलन से पुरुषाग्नि ( वैश्वानराग्नि ) में हुत अन्न विशकलित होजाता है।

अन्न में पूर्ण आहुतिस्म—तात्त्विक से—परम्परा सार—अग्नि अन्ना अन्तरिक्ष पञ्चम्याग्नि सोम पार्थिव अग्नि वर्षाजला पार्थिव मल्लीमस भूतमात्र आदि आदि रसत्मक एवं मलात्मक अनेक तत्व समन्वित रहते हैं। शारीरिक अग्नि का पहिला काम है—अपने में आहुत—घीव रस—मलात्मक—इस अन्न के रसमात्रों तथा मलमात्रों को विशकलित कर देना। अग्नि के द्वारा विशकलित होने वाले इसी रस-मल-मात्रों के क्रमिक विशकलन से युक्त-अन्न की रस-असृक्—मांस-मेद अस्थि-अज्जा-शुक्र ये छठ अवस्थाएँ होजाती हैं, जिन में उत्तर उत्तर की अवस्थाएँ पूर्ण पूर्ण अवस्थाओं की अपेक्षा जहाँ 'मल' है वहाँ पूर्णअवस्थाएँ उत्तरवस्थाओं की अपेक्षा—'रस' है। इन सप्तविध—रस—मलात्मक—शारीरिक वस्तुओं में इसी अन्न का छठवाँ अन्तिम वस्तु शुक्रात्मक 'रस' है। अतएव अग्नि ने पुरुषाग्नि में आहुत अन्नात्मक सोम के परिणाम का नाम 'रसः ( शुक्र )' ही मान लिया है।

और अगे चलकर। योषाप्रान्ताग्निश्च स्त्री के प्रबन्धन—शक्तिमय आर्त्तव ( शोणित—रुधिर ) में कामच्छदा नृत्तुष्टि का मूलप्रवक्तृ वह अग्निप्राण्य प्रतिष्ठित है जिस के मलात्मक—बामच्छद—मूलानु राय की अमिम्यस्ति प्रथिमास अमुक दिवसों में होती रहती है। स्त्री स्त्री की 'अतुक्तावस्था' कहलाई है इसी अज्ञानवि में यह अतुक्तावस्था स्त्री 'आत्रेयीयोपित्' कहलाई है। सर्वथैव अस्त्वन्तोहव अतएव निरुपेयम मल्लीमस किन्तु अपने बामच्छद मौक्तिक धर्म से प्रबन्धनशक्ति से समन्वित रहमिधित यह अग्निप्राण्य सर्वथैव विष्मप्राण्य का विरोधी बना रहता है जो मत्स्पर्श ( शरीरस्पर्श ) माध्यममात्र से स्पर्शकर्ता के विष्मप्राण्य को मूर्च्छित करने की क्षमता रखता है। इसी अमितत्व के आधार पर आत्रेयी-अतुक्तावस्था स्त्री अतुक्तावस्था-प्राणाना-त्मक अन्त्यव्यादिवत्-अमुक अवधि पर्यन्त 'अतुक्तावस्था' ही मान ली गई है॥

॥—काच-रवानादि प्राणी अन्त्यज—अन्त्यावसाही-मानव अतुक्तावस्था स्त्री आदि से सम्बन्ध रखने वाली 'अतुक्तावस्था' का एकमात्र आधार वाङ्मयिक ने मल्लीमस—मांस ही है जिन के आधार पर ही अमुक परिगणित बड़-बंजन पक्षय शास्त्र में—अतुक्तावस्था मान लिए गए हैं। तत्त्वमहा इस अतुक्तावस्था को मले ही प्राणवृष्टि का अन्न का भूतविज्ञानवादी समन्वित न कर सके। किन्तु भूतमूला—कीटाणु—संक्रमणानिता प्रपञ्च अतुक्तावस्था तो उसकी दृष्ट में मी पने पड़े न केवल मान्या हीं अग्नि आराध्या हीं बनी हुई है। यद्विजिह्व से मौक्तिक मल से अन्न के भूतवादी की मुकुटी तन जाती है और 'गन्धगी—गन्धगी' के बीजकार से वह इस 'अतुक्तावस्था' का पन्थपोर करने लग पड़ता है जबकि आसम्भितकरुण्य भूतअतुक्तावस्था यही भूतवैज्ञानिक अन्न भारतीय शास्त्र की प्राणमूला अतएव रूप—रस—गन्ध—स्पर्श शून्या अतएव इन्द्रियातीता भूतवस्था

हो जाता है 'कलत्र' (शारीरिक रक्त-यथाह के एकत्रोद्गामी बन जाने से ही) मोक्षानन्तर तन्त्रा' भ्रान्त सत्त्व है वा विभ्रामात्मिका शय्या की अनुगति से आगे जाकर निद्रा' के रूप में परिणत हो जाया करती है। इस मूलदृष्टि से हमारा क्षेत्र विरोध नहीं है। हम तो उस प्रासुदृष्टि की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जो स्वयं सुख और सोम नामक दो मादक माषों से समन्वित होकर अन्न की मूलप्रक्रिया बनी हुई है। तन्त्रा किंवा निद्रा, इसी अन्न की मादकता का परिणाम है। अतएव लोकव्यवहार में 'अन्न को मादक' ही माना गया है।

अप्यन्तरूप—सुरमाग अपने सर्व-मलमास से एकप्रकार का वैसा 'विष' है जिससे बीवनीय-शक्ति का हाव, किंवा अभिमव ही सम्पादित है। जबकि साम्य-एन्द्र-सोममाग अपने खूब शिबतम रसात्मक-रसमाग से एकप्रकार का वैसा 'असूत' ही है, जिस से बीवनीय-शक्ति का तवदन किंवा अभिव्यक्ति निश्चित है। अप्यामरचना के रचयिता शिल्पी प्रघापतिने मानव के प्रतिरूपात्मक-शरीरशिल्प में कष्टप्रदेश में एक वैद्य अत्र लगा दिया है, जिस के द्वारा मुक्ताक्ष का सुखत्मक विपनाग नियन्त्रित होकर, रस-मन्त्र के प्राथमिक विशाकलनात्मक-विश्लेषण से अन्नगत अमृतमाग (सोम-माग) से पुष्य होकर पचरचित ही हो जाता है। यो इस गलयन्त्र के अनुग्रह से मानव का बीवनीय प्राण अन्न के विषमाग से सुरमाग से अविकार्य में अपना परित्राण ही कर लेता है जबकि अनुग्रयरूप से तो विष का अश भी गलाप करवाना नूतन्यापार का अनुगामी बन ही जाता है, और यही शरीरप्रविष्ट विषात्मक सुरमाग जम्मा (जैमाई-अँगड़ाई) —तन्त्रा-आलस्य—) आदि रूप से अभिव्यक्त होता है। एक व्यक्ति के वैमाई लेने का अर्थ है—विषप्राण का मुक्त होकर पुनः बाहर निकलना। इस सांख्यिक विषप्राण—से समीपस्थ अन्य व्यक्तियों का भी विषप्राण उद्धारक्य से बागरूप होपड़ता है जिस बाधति के निरोध के लिए ही वैमाई करने वाले के लिए शास्त्र ने 'अङ्गलिध्वनि' का आदेश दिया है जिस ध्वनि के तात्त्विक स्वरूप के विरलेपन का अन्न अवसर नहीं है \*। मलात्मक-सुरारूप विष रसात्मक सोमरूप अनृत जीवनविषात्मक—तथा जीवनसरसक, इन दोनों का विभावक कष्टमदभ्यस्त वही माहूलिक यन्त्र—'प्राशि-प्रविष नाम से ही वेद के ब्राह्मणमाग में प्रसिद्ध हुआ है। अन्नस्थित इह-विष-अमृत-मय सुख-सोमात्मक मनो-आसिम्भय-यौव गुणान्वित-द्विचिक्रदमाषों को लक्ष्य बनाकर ही श्रुतिने अन्न को 'सुरा' भी कहा है एवं 'सोम' नाम से भी यह अन्न व्यवहृत हुआ है। दक्षिण !

१—“अनृत, पाप्मा, तम, सुरा” (शत० ५।१।२।१०।)।

२—“अभिमाघशिव हि सुरा पीत्वा वदति” (शत० १।६।३।४।)

३—“तस्मात् सुरा पीत्वा रात्रमना” (शत० १२।७।३।२०।)।

\* शिक्का—पतन जृम्भासु—जीवो—चिष्टा—ङ्गलिध्वनि ।

गुरुयापि प्रकृष्टा, अकृष्टा ब्रह्मा मयत् ।।

—स्युति—

उक्त पञ्चाग्निविद्या—उन्दम् से प्रकृत में हमें तीखे पाविष अग्नि और वृष्टिजल नामक इन्द्र की घोर ही-माटकों का ध्यान आकर्षित करना है। पार्यिन् अग्नि और वृष्टिजल दोनों के शल्यमनिक-समिभण से ही सुप्रसिद्ध 'अम उत्यन्न हुआ है जिस में पार्यिन् अग्नि के साथ साथ पृथिवी के मूलभूत-अस्वातीकृत-धाम' इन्द्र-मल्लीमस-प्रतिप्राण का एवं तदनुष्ण्वी पञ्चादि विविध मलमागों का भी समावेश रहता है जिन इन सब मल्लीमस मागों की आश्रयभूमि वह पार्यिन् 'अप्' तत्त्व ही है जिसे 'वरुण' के सम्बन्ध में आसुर भाव' भी कहा जा सकता है। एक और यदि अन्न में परम्परागत और-दिव्य-सावित्राभिप्राण, इन्द्रप्राण सौम्यप्राण आदि आदि दिव्यभाव समाविष्ट हैं तो दूसरी ओर इसी अन्न में तथाकथित-आसुर-वारुण-मल्लीमसमात्र भी अग्निवाय्वक्रमेण सम्मिश्रित हैं। और यों यह अन्न दिव्यमात्रानुसन्ध से रसात्मक, एवं आसुरमात्रानुसन्ध से मलात्मक उभयतरमक ही प्रमाणित होता है जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

अन्न में रहने वाले यथायाक् आसुर भावों को हम वहाँ वरुणानुगत—'सुराभाव' कहेंगे वहाँ यथायाक् दिव्य-भावों को इन्द्रानुगत—'सोमभाव' कहेंगे। इस प्रकार प्रत्येक अन्न में—वरुणानुगन्धी-मलात्मक-आसुर-वोषभाव तथा इन्द्रानुगन्धी-रसात्मक-दिव्य-गुण भाव, दोनों की स्वरूपसत्ता स्थित हो जाती। ये ही दोनों प्रतिगन्धी भाव वैधीसम्पत्ति एवं आसुरीसम्पत्ति नाम से प्रसिद्ध होंगे। वैधीसम्पत्ति को—'गुण' कहा जायगा एवं आसुरीसम्पत्ति को 'वोष' कहा जायगा। अतएव गुणरसमक रसभाव से अनुप्राणित—येन्द्र-सोमभाव को अन्न का 'गुण' माना जायगा एवं दोषात्मक-मसभाव से अनुप्राणित—वारुण-सुराभाव को 'वोष' कहा जायगा और इसी प्रकृतिस्थित तत्त्व के आधार पर—'गुणवोषोपर्य सर्वं सृष्टा सृजति कंसुकी' इस सृष्टि का समन्वय सम्भव बन सकेगा। सर्वज्ञे च वाक्-आसुर मलात्मक-सुराभाव को ही आचरणप्रवृत्ति के कारण तम कहा जायगा एवं येन्द्र-दिव्य-रसात्मक-सोमभाव को ही आचरणप्रवृत्ति के कारण—'व्योति' कहा जायगा और पूर्वप्रतिज्ञात—तमसो मा वयातिर्गमय इस श्रौत उद्घोष का यही प्राणविज्ञाननम्भव संक्षिप्त अभिप्राय होगा जिसे आधार बना कर ही अन्न हमें प्रशस्त अन्नता तथा मांस्त्व नामक दोनों सुप्रसिद्ध तन मयानक दोनों का संस्मरणमात्र ही कर लेना है जिन उन सुप्रसिद्ध मयानक दोनों में ही नाद-अग्नि-स्वरूपक-अत्यन्त कर्तव्य-सन्तोषितोदात्मक-उद्घोष जैसे अलौकिक तत्त्व को भी अस्वातीकृत प्रमाणित कर दिया है। तथैव भूतम्। अतुता चाप्यवचा-र्यतम्!!

वरुणपुत्र भृगु का आसुर-वाम-प्रधान-वारुणभाग ही 'सुरा' है, एवं वारुणि भृगु का दिव्य-व्योतिःप्रधान येन्द्रभाग ही 'सोम' है। वारुण सुराभाग एवं येन्द्र सोम भाग दोनों क्रमशः महात्मक, एवं रसात्मक है यह निष्कर्ष उक्त उन्दम् से मल्लीमसि सम्मिश्रित होता है। वाक्वि होने से ( भागव होने से ) भृगु भी मांस्त्व से सम्मिश्रित है तो सोम भी मांस्त्व से अनुप्राणित है। एक महात्मिका मांस्त्वता है तो दूसरी रसात्मिका मांस्त्वता है। प्रत्येक अन्न में महात्मक सुराभाग भी रहता है एवं रसात्मक सोमभाग भी। अतएव प्रत्येक अन्न शारीरिक-अग्नि में आश्रित होकर प्राणमिक-परिणामरूप से मांस्त्वता ही अभिव्यक्त करता है जिस के सम्बन्ध में वसुमान-भूतविशम की ऐसी मान्यता मुनी गँव है कि, मोहनब्रह्म के आमाशय में पहुँचते ही संपूर्ण यक्षपनाह आमाशय की ओर ही अनुगत



प्रतिष्ठाओं का प्रवर्तक ब्रह्मलाया है। यही इसी दृष्टिबिन्दु पर यह भी समन्वय करके देना चाहिए कि, सञ्जीव का शब्दात्मक-मध्यमात्मक-वार्त्तिक अनुष्ठान-मत्स्यमावापन-क-च-ट-त-पादि-रूप वितना-भूतभाग है (सञ्जीव के शब्दात्मक बोल हैं), वह भूतभाग सा वैश्वानराग्नि में अन्तर्गताम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित अक्षक मत्तात्मक-तमो-मय मर्त्य-सुखभाग से अनुप्राणित है, एवं अत्यनुगत-रूप सोमरसाग (मधुमय-निवातभाग) है वह वैश्वानराग्नि में प्रतिष्ठित अन्न के स्वात्मक आतिर्गम्य अमृत-रसात्मक-सोमभाग से अनुप्राणित है। संन्यप्राण ही स्वरूप में परिणित हुआ है, एवं अन्न का मूत्रभाग ही स्वयनुगत व्याजनों के रूप में परिणत हुआ है। यों सृष्ट सञ्जीव के शब्दात्मक व्यञ्जना का तथा सोम सञ्जात के तानात्मक स्वरों की प्रतिष्ठा बने हुए है—अक्षपरम्परया, यही यत्तद्व्यक्ति-कथन है। 'सोमरसात्मक-स्वर' तत्त्व' का इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर भूक्ति कहा है—

“स यदाह स्वरोऽसीति,—सोम वा एतदाह । एष ह वै सोम-सूर्या भूत्वा अमु-  
ष्मिन्लोकं स्वरति । तत्-यत्-स्वरति, तस्मात् 'स्वर' । तत् स्वरत्व-स्वरध्वम् ।

—गोपयत्राण्य ५० १।१४।

गोपयभूति ने कहा है कि,— मो जो कि जिसे 'स्वर' कहा है, वह इस-सोम' को ही कहा है। अर्थात् सोम के अभिप्राय से ही (इस प्रकरण में) 'स्वर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। निश्चयेन यह सोम ही सूर्यरूप में परिणत होकर स्वरमाय है। क्योंकि सोम ही सूर्यरूप में परिणत होकर स्वरभाव से समन्वित हो रहा है। अतएव सोम को 'स्वर' कहा गया है।

क्या वातवर्त्य ? वातवर्त्य स्पष्ट है। बतलाया गया है कि सोम उस परमेशीलोक की ही वस्तु है जिस परमेष्ठ्य-वाहन-सुन्वहिर्योमय-आपोलोक के गर्भ में विभाट् मी सूर्य एक बुद्धि से अन्निक अपनी कोट समव्य नहीं रखता। परमेष्ठ्य वह सोम वहाँ बाँधा है वहाँ खीर सावित्राग्नि दाहक है। त्वत्स्वमेव सोम मी कृष्ण (नीरूप) है एवं आकृष्ण रजसा वक्ष मान' के अनुसार स्वयं सूर्य किंवा तद्रूप सावित्राग्नि मी कृष्ण (व्योतिर्विहीन) ही है। इस दाहक कृष्णाग्नि में उस दाह-कृष्ण सोम की निरन्तर आहुति हो रही है इसीसे सूर्य—'अग्निहोत्र' रूप में परिणत हो रहा है—(सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्)। तब सोम दाहक खीर अग्नि में आहुत दाहक प्रत्यक्षित हो रहा है और यही स्रोत प्रक्षरात्मक-रश्मिमय यह सामनपरवृक्ष है जिसे हमने पूष में 'श्वरसाप्त' कहा है। पिण्ड की मण्डलरूप में परिणति ही पिण्ड की स्वरूपता है। क्योंकि सोम ही प्रकाशमण्डलात्मक स्वरूपता में परिणत हुआ है। अतएव सोम के लिए ही यह कहा जाता है कि—ह सोम ! आपन ही स्योतिरूप से विश्वान्वधर को फाड़ दिया है। जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रपद्या से स्पष्ट प्रमाणित है—

त्वमिमा ओपधीः सोम ! विश्वास्त्वमपोऽञ्जनयस्त्वं गा ।

त्वमा तन्योषन्तरिष-त्वं ज्योतिषा वि तमो ववथ ॥

—श्रुत्म् ० १।६।१२२।

४—“यदक्षस्य शमलमासीत्—सा सुरा अभवत्” (तै० ब्रा० १।१।२।६।) ।

५—“स्मिन्नीम्यामवाम्य भामोऽस्रवत् । सा सुराभवत् अभस्य रस ”

(शत० १२।६।१।७।) ।

६—“अपां च वाऽप्य ओषधीनां च रस , यत्सुरा” (शत० १२।८।१।४।) ।

७—“अस्र सुरा” (तै० ब्रा० १।३।३।५।) ।

८—“प्रजायतेर्वा एते-अन्वसी, यत्सोमस्य सुरा च” (शत० ५।१।१।१०।)

९—“सत्यं वै भीज्याति सोम ” (शत० ५।१।२।१०।) ।

१०—“एष नै सोमो राजा, अभाषम्” (कौ० ब्रा० २।६।) ।

११—“एतद्वै देव नो परमं अस्र यत्सोम ” (तै० ब्रा० १।१।३।२।) ।

१२—“एतद्वै परममभाष, यत्सोमः” (कौ० ब्रा० २।३।७।) ।

१३—“अस्र वै सोमः” (शत० ३।६।१।८।) ।

१४—“प्राषा सोमः” (शत० ७।१।१।२२।) ।

१५—“आप सोमः सुत ” (शत० ७।१।१।२२।) ।

१६—“सौम्या ओषधय ” (शत० १२।१।१।२।) ।

सुरा और सोम इन दोनों विरक्त प्राणों से कृतमूर्ति अस्र की आशुति ही मानव के उस वैश्वानरपनि को प्रदीप्त-उद्दीप्त-प्रज्वलित रखती है जिस वैश्वानरपनि को ही हमने पूर्वं में-नाष्ट-शुति स्वर-नामक तीन सङ्गीत-

— सुरा नै मलमजानां, पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्मात् प्राप्स्य-राजन्वो, वीर्यस्य न सुरां पिबेत् ॥

—मनु-

जातिर्भ्रंशकर मणिनीकरण संकरीकरण भेद से मादकद्रव्यों का शास्त्र ने विषा वर्गिकरण किया है । वे ही तीनो विभाग क्रमशः “सुरा-सीधु-आस्रस्य” इन नामों से प्रसिद्ध हैं । “ब्राह्मणो यदि राजां पीत्वा ब्राह्मणपादेष हीयते” के अनुसार सुरा कर्ष की ही उल्लेखिका है । मँग-धरस-गोधा अमल-मुलप-कोष्मिन्-पोस्त अर्कस्य-आदि मादकद्रव्य मणिनीकरण हैं एवं कर्ष-सम्पाकु-सिगरेट-नीड़ी-आदि मादकद्रव्य संकरीकरण हैं । तीनों ही मादकद्रव्यों में न्यूनाधिकरूपेण बीबनीय रस को नष्ट-अभिभूत-करनेवाला क्रिय रहता है । तीनों में सर्वतोऽधिक मयावहा सुरा की पेय्यी-गोष्ठी-आप्सी च तीन प्रमुख आशियाँ मानी गई हैं जिनके प्रत्येक के अन्तर भेदोपभेद-सुराप्रकरणों में उपबद्ध हैं ।

मन शरीर, इन दो पृथक्-स्थानों में विभक्त होजाते हैं। सोम, और सुरा नामक प्राणों के समन्वय के लिए हमें अध्यात्म के मन और शरीर-नामक दोनों चान्द्र-पार्थिव पदों को ही लक्ष्य बना लेना है। मन चान्द्र है 'चन्द्रमा मनसो आस' - 'मनश्चन्द्रेण स्वीयते' के अनुसार। पञ्चमौलिक शरीर का प्रायश्चित्त तो सर्वत्रोपगम्य है ही।

'एष वै सोमो राजा देवानामस, यश्चन्द्रमा के अनुसार मन का प्रथम चन्द्रमा सोमात्मक है। 'अदृश्यं पृथिवी' के अनुसार शरीर का प्रथम मूर्ध्निष्ठ करने मौलिक-उत्पादन संस्था प्रचान बनता हुआ वायु-सुराप्राणात्मक है। यों चान्द्रसोममय-मन एवं पार्थिव-सुरामय शरीर, ये दोनों अध्यात्मिक-पक्ष ही अध्यात्मिक सोम और सुरात्व हैं जिन्हें आधिदैविक सोम, और सुरा-प्राणों के प्रतीक नहीं अपितु असाक्ष 'प्रविरूप' ही माना जायगा।

सोमात्मक मन की शास्त्रने दो विभक्त अवस्थाएँ मानी हैं। यदि ऐन्द्रियक विषयों में आकर्षित मन इन्द्रियवशान्वित बनता हुआ फलकामुक ही प्रमाणित होजाता है, तो इस अवस्था, किंवा दुरवस्था में यह सौम्य मन सौरीबुद्धि के स्वतन्त्रात्मक-इन्द्र के अनुग्रह से (ज्योति के अनुग्रह से) वञ्चित होता हुआ स्व-ज्योति त्वरूप से उदीप्रप्रकार अभिभूत होजाता है जैसेकि कृष्णपक्षीय चन्द्रमा और इन्द्रज्योति से वञ्चित होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होजाता है। \* तमोमय-वाक्-सुरात्मक-मौलिक-ऐन्द्रियक विषयों में आकर्षित ऐसा ही मन-भूतात्मा के वन्दन का कारण माना गया है।

ठीक इसके विपरीत यदि यही सौम्य मन सौरी बुद्धि के इन्द्रप्राण से नमनित रहता हुआ ( बुद्धियोग सिद्ध बना हुआ ), बुद्धि के तेषोमय अवलम्बन से अनुप्राणित होकर विषयों का अनुगमन करता हुआ भी अवलम्ब बना रहता है तो ऐसा मन उनी प्रकार ज्योतिर्मय है जैसे कि शुक्लपक्षीय चन्द्रमा और ज्योतिरिन्द्र के प्रतिफलन से ज्योतिर्मय बना रहता है। ऐसा अवलम्ब ज्योतिर्मय-बुद्धियोगान्वित-स्वतन्त्र ही भूतात्मा के वन्दनविमोक्त का प्रतीक माना गया है-। यों-सौरीबुद्धि से युक्त स्वतन्त्र मन एवं सौरीबुद्धि से विपुक्त

\* चन्द्रमा का चन्द्रिकारूप प्रकाश ( ज्योत्स्ना ) और इन्द्र-ज्योतिर्मय-परिमयों का प्रतिफलन-मात्र ही है। किना सौर-इन्द्रप्रकाश के चन्द्रमा अपने प्रातिविकरूप ने बार कृष्ण ही है जैसाकि- 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण' ( शत ब्रा० ) इत्यादि से स्पष्ट है। प्रतिफलनात्मक-इसी सौरज्योतिर्मय का लक्ष्य में रखकर भूति ने कहा कि —

अग्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।

इत्या चन्द्रमसो गृहे ॥

—शुक्ल० ११=२।१५।

—न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप ।।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो ॥

—प्राचीनसूक्तिः

ऐसी है यह सुरा और ऐसा है यह सोम जो यों—महात्मिक दोषपूर्ण मान्यता, तथा रसात्मिक गुणपूर्ण मान्यता से समन्वित हो रहे हैं। सुरा के महात्मक दोष की तथा सोम के रसात्मक गुण की भूतदृष्ट्या—मृत प्राणी एवं जीवित प्राणी के मौक्तिक-शरीरों से छुड़ाना की आवश्यकता है। कथमिति चेत् ! भूतान् ।। इन मानव का भूतारमा शताधुर्मोक्ष-आप्तानन्तर इस मौक्तिक-शरीर का परित्याग कर देता है तो मानवशरीर—शव रूप में परिणत हो जाता है। भूतात्मोन्मत्त के साथ ही शारीरिक-भूतों के महाभागों का निरन्तर विरोधन करते रहने वाला अवयव 'पचमान' नाम से प्रसिद्ध जीवनीय-रसात्मक-पारमेष्ठ्य-अमृत-सोमप्राप्त में उत्क्रान्त हो जाता है। इस पचमान सोम के उत्क्रान्त होते ही मौक्तिक शरीर का महात्मक पाचण-आप्य सुप्रमाण असपत्नरूप से पूर्णमात्रा से अभिव्यक्त होपड़ता है। यही प्रचण्ड गन्ध 'शव-गन्ध' (दुर्गन्ध) नाम से प्रसिद्ध है जो दुर्गन्ध एक जीवित प्राणी के लिए अचमत्कार के लिए भी छत्र नहीं हुआ करती। एकमात्र क्रत्यावाग्निरवृष्ट ही इस शब्दों को विलीन करने की क्षमता रखते हैं। वैश्वानराग्निमूर्ति भूतारमा से बलवत् मौक्तिक शरीर तप्त करता है समीपक यह पवित्र सोम शरीर में अन्तर्मान-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। वैश्वानराग्नि की उत्क्रान्ति के साथ ही यह सोम भी उत्क्रान्त हो जाता है। और यों उस अवस्था में तापशून्य, अतएव अतप्त—इस शवशरीर से अन्तिसहस्रमां पवित्र सोम का भी कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह वही पवित्र सोम सत्व है जिसका गाङ्गे-वतीय में समावेश हुआ है। अतएव पारमेष्ठ-पवित्र सोम और पार्थिव गाङ्गे-वतीय, दोनों अभिन्न मान लिए गए हैं। बलवत् यह पावन सोम मानवशरीर में प्रतिष्ठित रहता है समीपक सुप्रबन्धित-मन्त्रीमस-मौक्तिक-दुर्गन्ध-कित्-महादि-दीप्त मानवशरीर को अभिभूत नहीं कर सकते। सोम के इसी पवित्रधर्म का स्मृतिकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

पवित्रं ते वितत ब्रह्मस्यस्वते ! प्रमुर्णाग्राणि पर्येपि विश्वतः ।

अमृतनूर्नतदामो अरनुते शृतास इवहन्तस्वित् समाशत ॥

—श्रुत्सं० १५८३।१ ।

ईश्वरीय-आधिदैविक प्राणात्मक-सुखरूप विश्व में सुरात्मक समोमव-आप्य अल्लुर-शवब्रमाश तथा सोमात्मक-स्योतिर्मय-सौम्य-विष्य-येन्द्रप्राण्य इन दोनों प्राणों का द्वैत और नष्ट स्वरूप है ! इनका किस लोकपुर (परमेष्ठीपुर) से सम्बन्ध है ? इत्यादि मौक्तिक-भूतों के समाधान-सम्बन्ध के लिए ही सुरा, और सोम शब्दों का आधिदैविक विरचन इतिहास पाठकों के सम्मुख रखना गया। अत्र इन दोनों के आध्यात्मिक (मातृकीय) संस्थान की ओर ही सङ्केतपूर्वक में ध्यान आकर्षित किया जा रहा है जिसे छोड़ें अवधानपूर्वक ही लक्ष्य बनाने का अनुग्रह होना चाहिए।

आध्यात्मसंस्था में आत्मा बुद्धि मन शरीर नामक चार सुप्रसिद्ध पर्व हैं जिन इन चारों पर्वों में से बुद्धि—मन शरीर—इन तीन पर्वों के प्रथम-(उत्पत्तिक)-प्रतिष्ठा (आधार)-परायण-(सत्यपथ) प्रकृति-प्रगल्भ के समरा सूर्य चन्द्रमा-भूविषय के तीन पर्व ही बने हुए हैं। खोरी बुद्धि, चन्द्र मन पार्थिव शरीर मानव के इन तीनों पर्वों में यदि बुद्धि का उल्लेख रिपट दिग्देवाध्यात्मिक-आत्मा नाम के गुरीयपर के स्वयं सम्बन्ध मान लिया जाता है तो उस दशा में मानव के चारों पर्व अस्मत्-बुद्धि एवं

एप्-एप्-म्-म्-मौ-मौ-आदि अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करते रहना ] चन्द्र से विभिन्न प्रकार की भावमहिमाँ अभिव्यक्त करते रहना मन-प्रधान नारीवर्ग की भाँति विविध प्रकार के - ७ प्रकार-हाव-भाव वेश भूषा-विन्यास-चटक-मटक आदि स्त्रैणभावों का अनुगमन करते रहना, आदि आदि माधुर्यपूर्ण सभी व्यासङ्ग धृतिगुणविरोधी-निष्ठाविरोधी-गाम्भीर्यविरोधी जिस मयानक मानसदोष से अभिव्यक्त होते रहते हैं उसी मानसदोष का नाम है-‘मालुन्य’, जिसका अवोध बालकों में, सौम्य नारीवर्ग में एवं अशिक्षित-यथा बाल-प्राकृत-मानवों में साक्षात्कार किया जासकता है ।

मन सोमात्मक है अतएव इस मानस-मालुन्य-दोष को हम सोमानुबन्धी दोष ही कहेंगे । एवं अत्रैव एक प्रासङ्गिक-वशेष तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहेंगे । पून में तम और ज्योति का स्वरूप-समन्वय करते हुए हमने सोम की ज्योतिस्त्वत्त्व कहा है एवं सुरु को तमोभाव बतलाया है । एवं तत्रैव ज्योतिर्मय सोम को ऐन्द्रत्वत्त्व प्रमाणित करते हुए इसे प्रजापति की गुण-विभूति, तथा तमोमयी सुरु को वाक्यत्वत्त्व बतलाते हुए इसे प्रजापति की दोषविभूति कहा गया है । इन्हीं सोम-द्वयत्मक गुण-दोषों को ज्योतिर्मयी वैधीसम्पत्ति तथा तमोमयी आसुरी-सम्पत्ति नामों से व्यवहृत करते हुए- गुणदोषमय सर्व सृष्टि सृजति कौतुकी का उद्घोष किया है [ देखिए पृ. ४८ - १२९ - ] । अब प्रकृत में- मालुन्य दोष की स्वरूपमीमांसा करते हुए हम सोमात्मक मनस्त्वत्त्व की भयानकदोष से समन्वित प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहे हैं । बल्कि पूर्व में इसी सोम की ऐन्द्री-ज्योति-विभूति बतलाते हुए मन के स्वरूप-प्रतिष्ठा-मक-इसी सोम को हमने महान् गुण ही प्रमाणित किया था । पूर्वापरविरोधात्मक यह कैसा वदोन्व्यापात !, इसी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए हमें यहाँ इस प्रसङ्ग का पुन स्मरण करना पड़ रहा है ।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है रसात्मक नियुक्तिप्रधान मन<sup>१</sup> तथा वलात्मक प्रवृत्तिप्रधान मन<sup>२</sup>, के मंद से एक ही मनक सात्त्विक मन<sup>३</sup> तमामन<sup>४</sup> मंद से शुक्लचन्द्रमा<sup>५</sup>, कृष्णचन्द्रमा<sup>६</sup> की भाँति दो स्वरूप होता है । जो द्विविध मन अन्तर्मन<sup>७</sup> वहिर्मन<sup>८</sup> नामों से भी प्रसिद्ध हैं एवं बिल इन दोनों मनस्त्वत्त्वा के लिए ही गीता में कमरा<sup>९</sup> ममना<sup>१०</sup> सम्मना<sup>११</sup> भाव अभिव्यक्त हुए हैं । चन्द्रमा के उपरि धरावत्ता पर प्रतिष्ठिता खेरी बुद्धि ही इन्द्रप्राणात्मिका बनती हुई ज्योतिर्मयी है । जब चान्द्रमन का इस ज्योतिर्मयी खेरी बुद्धि से अन्तर्म्यामात्मक ग्रन्थिबन्धन सम्पन्न होता है तो वही मन खेरी-इन्द्र से समन्वित होता हुआ ज्योतिर्मय बन जाता है । एवं जब ज्योतिर्मयी-ऐन्द्री-बुद्धि के आन्तर अनुपहसनक-योग से वञ्चित होता हुआ मन ऐन्द्रियक-विषयों में आसक्त होता हुआ मौलिक-पार्थिव तम<sup>१२</sup> प्रधान-आप्य-वाक्म-आवरणात्मक-संस्कारी से आवृत होता है तो वही मन ऐन्द्र-ज्योतिर्मावानुग्रह से वञ्चित होता हुआ तमोभाव में ही परिणत होता है । एसा विषयासक्त तमोमय मन ही तथाकथित मालुन्य<sup>१३</sup> की प्रसारभूमि मान लिया गया है । इस स्थिति-विरोधोपश के अनन्तर पूर्व में तमोमय सोम की ज्योतिर्मय-गुणभाव बतलाना एवं यहाँ उसी सोमारमक मन की तमोमय-मालुन्य-दोष-मय वतज्ञाना निर्निरोध ही समन्वित होता है । इतिनु सध सुख्यं प्रकृतिस्थमेव ।

बुद्धिनिष्पन्नता स्थिरतालक्षणा निष्ठा से अनुप्राणित-‘धैर्य्य’ ही मानव क पुरुषाय-कर्म-निकृषन-‘पौरुष’ की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । गन्धर्व-अप्सर-प्राण-निकृषन-सौम्य-मन से अनुप्राणित नृरागीत

समोमन मी से एक ही मन की दो विभिन्न अवस्थायें हो जाती हैं, जिन इन दोनों में से सत्यमन का तो बुद्धि के क्षेत्र में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। फलतः मनस्त्वेन मन तमारूपेणैव शेष रह जाता है जोकि इन्द्रियों के माध्यम से शरीरावस्थानता हुआ तम से ही अभिमूल रहता है। ऐसा सौम्य मन ही किययासक्तिक्रम प्रत्यक्षतमोरूप—‘आधरण’ से सदा ही आहत रहता है। और सौम्य मन के इसी आधरणद्वारा का नाम है पूर्वप्रतिष्ठित—‘माल्ढ्य’ नामक मयानक दोष।

बुद्धि का सदाय गुण माना गया है—‘धृति’ जिस गुण के कारण ही बुद्धिक्रम उत्पन्न की यथैवस्था धृतिर्वा—‘धिया’ नाम से प्रसिद्ध है जैसाकि—‘धियो यो न प्रबोध्यात्’ से स्पष्ट है। ‘स्थिरता’ ही धृति का स्वरूप—परिचय है जिस इस बौद्धिकी निरतिशया स्थिरता के अनुकूल से ही वह बौद्धिक—वसिष्ठवर्मा—नितरां स्थिति’ रूप से— ‘निष्ठा’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्यवसायमिच्छा—बुद्धिगुणसमन्विता अतएव निश्चित—निर्यायमिच्छा ऐसी ‘निष्ठबुद्धि’ से समन्वित विवेकशाल सात्त्विक मानव ही ‘नैष्ठिक’ कहलाया है। ‘निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात्’ के अनुसार बौद्धिक निष्ठा ही मानव की प्रतिष्ठा का प्रमुख आधार है। बुद्धिका प्रथम सूर्य—‘मन्वे’ एकल एव स्याता—बृहद्व—तत्सवी—मुषनेष्वन्त—सूर्यो बृहतीमध्युहस्तपति इत्यादि के अनुसार शौरसम्भर—मन्वन्त के मध्यमर्तौ बृहतीमध्युहस्तपति नामक विश्व—वृत्त के केन्द्र में स्थाया स्थिररूप से ही प्रतिष्ठित है जिस इस स्थिर—सूर्य के चारों ओर ‘अन्तिमवृत्त’ के आधार पर तो भूपिण्ड परिक्रमा लगा रहा है एवं अपने वृत्तवृत्त के आधार चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण है। सूर्य क्योंकि स्थितिमात्रावच्छेद अतएव तत्प्रवृत्ता बुद्धि भी अपने प्रातिष्ठिक धर्म से स्थिरधर्म की ही प्रबोधिका कनी हुई है। बुद्धि का यह स्थिरधर्म ही—निष्ठा कहलाया है।

इतर आन्तरिक मन नञ्चापिपति चन्द्रमा के प्रतिक्षण—क्षिप्तक्षण—विचक्षण—परिचक्षित होने से उक्त निष्ठारूप—स्थिरधर्म से प्रकृतैव वञ्चित है। अतएव निष्ठारूप अतएव च निष्ठान्त मातृक इस चञ्चल मन की बुद्धिगुण ही कहा गया है। इस आक्षेप का ही नाम है—‘माक्ष्य’, जिसके अनुमह से मानव सभी क्षेत्रों में ज्ञाने गुण्या ज्ञाने कथा की ही चरितार्थ करता रहता है।

जिस व्यक्ति का मन दुर्माग्यवश स्थिरधर्म—प्रबोधिका—व्यवसायमिच्छा—निष्ठबुद्धि के निकटवर्ती प्रवृत्त हो जाता है मनोव्यवस्था वह मानव अपने मानस—मात्रों को उसी प्रकार अस्तमितस्वरूप से, अनर्गल—रूप से विभिन्न शारीरिक—इत्थ—पाद—मूल—नेत्रादि—मुद्राओं से अभिमूक करता रहता है जो मावमहिमायें शिष्टवन—सम्प्रदाय में स्थानिकर ही मानी गई हैं। अतः बात पर प्रत्यक्ष अष्टाष्टहास [ पूरकपने से मुल—विचित्र को विदीर्षा का हा—हा—ही—ही—ओ—ओ—ओ—इत्यादिक्रम से प्रत्यक्षहास ] करते रहना करना करते रहना [ताली बजाते रहना जुहुनी बजाते रहना] पाशापात [पैर पटक पटक कर पमाधम करते—छट—छट—करते चलना अथवा तो पैर रगड़—रगड़ कर पिछते हुए चलना] मुलबाध [छीदी बधाना मुल से चपू—चपू

॥ चञ्चलं हि मनं कृष्ण ! प्रमाथितलवङ्गदम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये पायोरपि मुमुक्षरम् ॥

—गीता ।



व्यात्मक सत्त्व निश्चयेन मानव के पौष-प्रसक्त 'धैर्य' को विकम्पित ही कर देता है। इस धृतिविन्मुक्ति का ही नाम है— 'माल्म्यदोष' जो भूतबल में—'सुरा [ मद्य-शराव ] से समप्रसक्त है। तात्त्वैय्य करते रहने वाले पौषविहीन वृद्धवर्ग (हिजड़े-गतराड़े-मोड़-आदि) सुरामय इसी 'माल्म्यदोष' से आपाद मस्तक बनाए रखते हैं। अतएव आपारनिष्ठमक-कर्तव्यप्राप्तुगमन तत्त्वचिन्तन मनन आदि धैर्यमाननिक्रमन निष्ठापथ स्वर्ग के लिए मुख्य ही प्रणम्य की रहते हैं, जो कि पुत्तमूलक निष्ठपथ ही ब्राह्मण का धर्मानुन्वी प्रमुख कृत्य माना गया है। एवमात्र इसी अनुकूल से श्रुति ने—'तस्माद्ब्राह्मणो न गायत्र न नृत्येव सह आदेश प्रदान किया है। उपस्थिता मैत्रायणी श्रुतिने पुत्तियुक्त विरोधी तथाकथित माल्म्यदोष का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

“अद् वै प्रजापतेरात्मनो धैर्यमासीत्, अद् मान्म्यम् । यद्धैर्यं, तत्-  
पुरस्तात् कुलं । यन्मान्म्यं, तत् पश्चात् पय्योऽहत् । यद्धैर्यं—सोम सः । ततो ब्राह्मण  
मसृजत् । तस्माद् ब्राह्मणः सर्व एव ब्रह्मामिषीत् । यन्मान्म्यं, सुरा वै सा । ततो  
राजान्यमसृजत् । तस्माज्ज्यायाँश्च, कनीयाँश्च स्तुपा च रवसुरश्च सुरा पीत्वा विलालपत्  
आसते । मान्म्यं हि तत् । पाप्मा वै मान्म्यम् । तस्माद् ब्राह्मण सुरां न पिबेत् । पाप्मना-  
आत्मानं नेत् समुजा-इति” ।

—मैत्रायणीश्रुति

यह तो हुआ सोममय-मानसिक-माल्म्यदोष का स्वकल्पेतिवृत्ति-समन्वय । अब कमपात्त तब-  
'आन्ता' नामक बृद्ध मयानक दोष की स्वरूप मीमांसा भी करनी होगी, जिसका वैज्ञानिक महर्षिबोने मानव के  
भौतिक शरीर के मांस प्रधान सम्बन्ध माना है। जिसप्रकार मन का स्वरूप-निर्माण-भरण सोम से  
हुमा है एवमेव शरीर के निर्माण में प्रधान द्रव्य आग-वायु-अप-तत्त्व ही बना हुआ है। मन-  
सोम है तो शरीर आप्य है। क्योंकि मन का प्रमथ चन्द्रमा सोम्य है, तो शरीर का प्रमथ  
भूपिण्ड आप्य है। 'समुद्रमग्निः पिन्वमानम्' \* के अनुसार भूपिण्ड पृथ्वीतैलात्म्य के सुप्रसिद्ध  
चरमाभापन अवस्था कावत् अवस्था का अपेय + 'अगस्त्य समुद्र' के ही गर्भ में प्रतिष्ठित है जिन  
अर्वाक्षसमुद्र में परमाणुत्म्य से व्याप्त पार्थिवपरमाणुओं का सुप्रसिद्ध-एम्पुपत्राह नामक 'भूवासु से  
ही संवरण होता रहता है। इसी संवरण, एवं आप्य व्याप्तिबर्म्भ से पुञ्जीभूत होबाने वाले वे ही पार्थिव  
परमाणु आगे चलकर 'भूपिण्ड' रूप में परिणत होजाते हैं। यही वचनमगान् के शाय समुद्र में

\* अर्वा पुष्टमसि योनिरग्नः समुद्रमग्निः पिन्वमानम् ।

वर्द्धमानो महौ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा पृषत्स ॥

—यजुःसं० ११।२।

— वासामन्या धन्यतरा अतिस्रवणा-धारधम्मान्विता अपया—ता अशान्तरा—

आपः-समुद्रं वृत्वा- अतिष्ठन् । (गो० भा १।१।) —



वमोमयी-निद्रा-उन्माद-आलस्य-दीर्घसूत्रता-मय-क्रोध आदि आसुरभावों की प्रवर्तिका महामोहमयी इस सुषुप्तिमय-योगमाया से ही तो मानव मोहाविष्ट बने होते हैं \* । 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमविरासु मुत्तमूत जगत्' से स्पष्ट ही तयाक्षयत वाक्यभावों का मदिरात्म-समन्वित है ।

वाक्य-पार्थिव-द्वारमायापन्न-मलीमस-यूति भावान्वित अर्थावसमुद्र में अपनी मूलप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रखने वाले सद्योपवर्णित सुषुप्ताव से सम्पन्न रहने वाले शारीरिक-उन्मादों का ही नाम है—'आग्ना' नामक वह महादेव, जिसके अभिव्यक्त होत्रों पर मानव का शरीर सर्वथा ही स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा से विकसित होता है । हर्षव्यात्मक 'ग्लौ' धातु ( ग्लौ-ग्लौ-हर्षव्यये-आदि प० ७।२।७३ सू० ) ही 'आग्' उपसर्ग से समन्वित होकर 'आग्ना' रूप में परिणत हुआ है ।

लोकव्यवहार में-स्वस्थता और प्रकृतिस्थता, नामक दो शब्द प्रचलित हैं । यद्यपि सवसामान्य की दृष्टि में दोनों शब्द अभिप्रायक ही बन हुए हैं । किन्तु तत्त्वदृष्ट्या ये दोनों शब्द सर्वथा विभिन्नार्थों के ही समाह्व कने हुए हैं । मानव की अभ्यासस्थिता पुरुष और प्रकृति इन दो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय है । आत्मा और शरीर-इन्द्रानुगत-बुद्धितत्त्व इन दो पक्षों की समष्टि का नाम तो है 'मानवीय-पुरुष' तथा मन, और शरीर, इन दो पक्षों की समष्टि का नाम है—'मानवीय-प्रकृति' । आत्मबुद्धि-समन्वित पुरुषभाव ही मानव का 'स्व' भाव है एवं मन-शरीर समन्वित प्रकृतिभाव ही मानव का 'पर' भाव है । पुरुषरूप—'स्व'-भाव की स्वस्वरूप म स्वरूपानुगति स्थिति ही मानव की 'स्वस्थता' है, एवं प्रकृतिरूप 'पर' भाव की स्वस्वरूप में स्थिति ही मानव की 'प्रकृतिस्थता' है । जो मानव अस्मदुद्दिष्टाद्य समदर्श-नात्मक आत्मसाम्य से समदर्शी बना रहता है, रागद्वेषविरक्त ऐसा ही मानव 'स्वस्थ' मानव कहलाया है जिसका परिणाम है आत्मप्रसाद एवं बौद्धिकी निष्ठा ।

एवमेव जो मानव मन-शरीरलक्षण-प्रकृतिविद-विषम-विभक्त-वर्चनामक-स्ववर्त्मामक आचारधर्म का अनुगामी बना रहता है उसका प्रत्येक प्राकृत-विश्व-धर्मों के अनुयायी ऐसे मानव की प्रकृति ही इसे लोकस्थिति का अनुगामी बनाए रहती है जिस लोकस्थिति का ही नाम है—सुष्टि से समन्वितता पुष्टि । आत्मानुगता शान्ति एवं बुद्धयनुगता तृप्ति, ये दोनों स्वस्थता के किंवा स्वस्य पुरुषमानव के लक्षण हैं । एवं मनोऽनुगता तृप्ति एवं शरीरानुगता पुष्टि ये दोनों प्रकृतिस्थता के किंवा पररूप 'प्रकृतिमानव' के लक्षण हैं । पुरुषनिबन्धना-शान्ति-तृप्ति-रूपा स्वस्थता एवं प्राकृतिनिबन्धन पुष्टि-पुष्टि-रूपा-प्रकृतिस्थता, इन दोनों धर्मों से समन्वित पुरुषमेष्ट ही उस प्रसादगुण का अनुगामी बना रहता है जिस प्रसादगुण की अभिव्यक्ति से मानव का आत्मा शरीर शान्तिरूप संश्लिष्टाभास स बुद्धि निष्ठाधर्म स मन अद्व-वात्सल्य-स्तनह-काम-रति-मेद मित्र पञ्चविध-प्रकृतिविद प्रेमाकर्षण से एवं शरीर धनरूपा मुक्ति से समन्वित रहता है । यही इस की मानवीया अभ्यासस्थिता का प्रसादगुणामक वह सहज 'आनन्द' भाव है जिसकी अभिव्यक्ति लोकजीवन में हर्ष-उत्साह-मङ्गलात्सव-पवादि-मङ्गलाचारों के रूप में होती रहती है ।

\* नाह प्रकृश सगंस्य योगमाया समाधृतः । (गीता)

योगमाया हरश्चैतत तथा सम्मोहते जगत् ॥ (सप्यशती)

श्रुतसामात्मक चन्द्रमा यदि • गन्धर्व है तो श्रुत आपोमयी-पृथिवी-अप्सरसरणरील-  
 रशात्-अप्सरा है-‘मनो गन्धर्व’ ( रात १।४।१। ) । ‘चन्द्रमा-’ पृथिवी ‘मन-’ शरीर  
 ‘सोम-’ सुरा ‘ गन्धर्व-’ अप्सरा इत्यादि विविध ब्रह्मर्षी से सम्बन्धित इन मानविक-शारीरिक  
 श्रुतप्रधान, अतएव अनृतमात्रापन्न-र्षी के परिणाम हैं-मानविक-शारीरिक-क्षमभोग-हास-परिहास  
 आमोष प्रमोष-गन्ध-सुगन्ध-मिथुन-क्रीड़ा आदि निष्प्रविरोधी-भाव, जैसा कि निम्नलिखित वचनों  
 से स्पष्टरूपसे प्रमाणित है—

१—गन्धेनैव च रूपेण च-गन्धर्वाप्ससम्भरन्ति ( रात ॥ १।४।१ ) ।

२—योपित्क्षमा वै गन्धर्वाः- ( रात० १।२।१। ) ।

३—स्त्रीक्षमा वै गन्धर्वा ( ये आ० १।२।७ ) ।

४—सोमो गन्धाय ( ता आ० १।१।१। ) ।

५—गघो मे, मोदो म, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु ( जै उ ३।२।१। )

६—उपव्रथं गन्धर्वाप्सरोग्भ्यः प्रायच्छत् ( जै० उ० १।२।१। ) ।

७—गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वा प्रज्ज्जावावेशते । ( ता १।१।२। )

८—गन्ध-इत्यप्सरस उपासते ( रात १०।१।२। ) ।

९—किन्तु तेषामासु अप्सरसु-इति ?-हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे ।

( जै उ ३।२।१। ) ।

आपोमय-वाक्यप्राण ही सुरात्मक है, आपोमयी ही पृथिवी है एवं पूर्वमर्णिता-पञ्चानि-  
 विद्या के अनुव्यार आपोमय ही शरीर है। अतएव चान्द्रमन को यदि ‘सोम’ कहा जायता है तो  
 अप्सरय ही पार्थिव शरीर को सुरा माना जायता है माना गया है आगमशास्त्र में। पञ्चभौतिक शरीर  
 ही भोगमात्रमक-बह आवरण है जिस के आवरण से अन्तर्गत मन बुद्धि आत्मा सभी कुछ मोहाधि-  
 क्तते हुए स्वस्वरूप से उलीक्यार अभिभूत होजाते हैं जैसेकि दुष्परी मानव अपना अक्कुल विवेक-विस्मृत  
 कर देता है। ‘किमर्थ-कस्य कामाय शरीरमनुसंगरेत्’ मूला निहादरि पलायित होजाती है एवं शेष  
 रूढावा है शारीरिक मस्तिष्क-भौतिक-आमोहन। पार्थिव रस का एक पारिमार्थिक नाम है-‘इरा’ ।  
 इस ‘इ’ रस के सम्बन्ध से ही-पार्थित प्राण-इरासय कहलाता है-( ये आ १।१।१। ) । अपने  
 वाक्य-विमीहक-आसुर-भ्रम से सबभुज ही तो यह इरास-‘मायकगुण’ से सम्बन्धित होकर है। सभी को  
 पार्थित अन्न को सुग-सोमात्मक माना गया है। इस मदभाव के कारण ही इस मादक-पार्थिव-सुखरस  
 का एक नाम-‘मदिरा’ ( मद्यभाष्यपार्थिक-इरा-रसो-यस्या ) भी होजाता है। मायकान्निमक

• चन्द्रमा गन्धर्व ( रात १।४।१। ) । आपो अप्सरस ( यजुर्वेद० १२।४९- रात १।४।१  
 २ ) । ‘हेमो-पञ्चा इत्याह-रसा-अप्सरसो विष्’-इति पुनरुक्त्या शोभमाना उपलब्धेय मरुति-य उपरि-  
 शक्ति-अश्विरो वेद’ तोऽप्यभिहित । ( रात १।४।१। ) ।



आप्य-वायु-सुरासक-शरीरनिष्पन्न को मयानक-आसुर दोष मानव के पुरुष-प्रकृत्यनुगत-तथाविष स्वस्थता-प्रकृतिस्वता प्रवर्तक सहाय प्रसादगुण को अमिभूत कर देता है प्रसादगुण की विस इस अमिभूति से मानव की आमानुगता अशान्ति शोभरूप में, बुद्ध्यनुगता निष्ठा संशयरूप में मनोऽनुगत प्राकृतप्रेम भोगासक्तिरूप में ए शरीरानुगता पुष्टि सत्यरूप में परिणत हो जाती है, शोकबीजानुगता-सम्पूर्ण-हर्ष-उत्साह-सर्वयैव-जीव हो जाते हैं उसी सामुद्र-वारुण-मयानक दोष का नाम है—आग्ला जिस की तदोन्मुख मानवों में सर्वात्मना-अमिभूति वैसी जाती है। जिस अमिभूति का प्रचण्ड उदाहरण वह सुरापी आग्ला-मानव ही बना हुआ है, जिसका सुरानुगत आम्सादोष से सर्वप्रथम-समानानुक्त्य से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर विकम्पन के साथ ही मन विकम्पित हो पड़ता है। मन के विकम्पित होते ही क्लृप्त्यरूपा इन्द्रियां विकम्पित हो पड़ती हैं। सभी इन्द्रियां इस विकम्पनावस्था में प्रकृतिस्वता से पराङ्मुख होती हुई अनर्गल-मावों की ही अनुगमामिनी बन जाती हैं। शरीर-मन-इन्द्रिय-बगों के विकम्पित होते ही मानव प्रज्ञानघराटल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि सत्य-तत्त्वरूप में परिणत हो जाती है। बुद्धिनाश से अन्तवोगत्वा आत्मप्रसाद सर्वयैव अमिभूत हो जाता है। और यों इस सुराजनित-शरीरनिष्पन्न आम्सादोष से मानव की शोकबीजानुगता सभी हर्षपरम्परण कम कमरा सर्वयैव जीव हो जाती है। इसीलिए वो हर्षव्यात्मक-पक्षी बाट से इस दोष का 'आम्सा' नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। जब की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहीं बचता। आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-मक-पुरुष-प्रकृत्यात्मक-स्वस्थता-प्रकृतिस्वतापुरुषी सभी कुछ का ग्लान-ग्लान हो जाते हैं। 'आम्' उपरान्त इसी 'सर्वविनाश' का सूचक है। और 'आसमन्तात्-ग्लान-रूप' आम्सा-दोष का यही संक्षिप्त स्वरूपविराट है।

उक्त सोम-सुरा-उन्मत्त से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का सौम्य मन सेमात्मक मात्स्व्यदोष से एवं वायव-अतएव वायवीरूप शरीर-सुरासक 'आग्लादोष' से उन्मत्त है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही शास्त्रात्मिक-आचारनिष्ठा अमिभूति हुई है महर्षियों के द्वारा जिस आचारत्मिका निष्ठा के कर्म —भक्ति-ज्ञान-नामक तीन प्रथिद तन्त्र माने गए हैं जिनका कि बदरात्र के यिष्यात्मक-प्राज्ञसमाग, आरययकमाग उपनिषद्भाग-इन तीन प्रकर्मों के द्वारा कमरा स्वरूप-विरलेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही प्रमुख सर्वोत्तमी बना रहता है। मन और शरीर उसी सीमापर्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं बने रह सकते हैं बल्कि कि बुद्धि के ज्ञान मन-शरीर का नियन्त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से दृढ होते ही मना-शरीर-दोनों स्वैयचारपरयत्न बन जाते हैं। इस स्वैयचारिता से निश्चयन-मनस्तम्भ में अमान्तर में मान्महोय अमिभूत हो जाता है, एवं शरीर में आम्सादोष अमिभूत हो जाता है जोकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों के अमिभूत होत ही पुरुषानुगता निष्ठा अमिभूत हो जाती है निष्ठा के अमिभूत होते ही आचारधर्म विधित हो जाता है। रोप रह जाते हैं—अनाचार'।

सञ्जीव के प्रति सर्वात्मना आदरमात्र स्वसे हुए भी सञ्जीव के मूलप्रतिष्ठाक नाश-भुति-स्वर-जेसे महोत्तमरीधान-उवाचमावों के प्रति सर्वात्मना आर्या-भक्षा-रत्नते हुए भी हमें प्रकृतिविराट के तथाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा-मावों से अनुप्राणित-आमिभूतिनिष्ठा के महान् प्रतिहारी माहम्य और आग्ला-दोषों के सम्बन्ध से शरीरानुगत मानसमानानुक्त्य-प्रथम एवं मनोऽनुगत-शरीरानुगत



आप्य-शक्य-सुखमक-शरीरनिबन्धन जो मयानक-आसुर दोष मानव के पुरुष-प्रकृत्यनुगत-उपामित स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-प्रवर्तक सङ्घ प्रसादगुण को अभिमूत कर देता है प्रसादगुण की जिस इस अभिमूर्ति से मानव की आत्मानुगता अशान्ति क्षोभरूप में दुःखानुगता निष्ठा संशयरूप में मनोऽनुगत प्राकृत्यम भोगास्तितिरूप में ए- शरीरानुगता पुष्टि क्षयरूप में परिणत हो जाती है लोकधीनानुगत-सम्पूर्ण-हर्ष-उत्साह-सर्ववैष क्षीण हो जाते हैं उठी सामुद्र-शक्य-मयानक दोष का नाम है- आम्ना जिस की तद्भवमुक्त मानवों में सर्वस्मिना-अभिव्यक्ति देखी जाती है। जिस अभिव्यक्ति का प्रचयक उदाहरण यह सुरापी आम्ना-मानव ही बना हुआ है, जिसका सुरानुगत आम्नादोष से सर्वप्रथम-समानानुक्त से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर विकम्पन के साथ ही मन विकम्पित होपड़ता है। मन के विकम्पित होते ही क्तप्राणरूपा इन्द्रियाँ विकम्पित होपड़ती हैं। सभी इन्द्रियाँ इस विकम्पनाकस्या में प्रकृतिस्थता से परछ मूल होती हुई अनर्गल-भावों की ही अनुगामिनी बन जाती हैं। शरीर-मन-इन्द्रिय-योगों के विकम्पित होते ही मानव प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि लयक-खण्डरूप में परिणत हो जाती है। बुद्धिनाश से अन्तर्लोकता आत्मप्रसाद सर्ववैष अभिमूत हो जाता है। और यों इस सुखनिष्ठ-शरीरनिबन्धन आम्नादोष से मानव की लोकनीनानुगता सभी हर्षपरम्परार्थ कम कमजोर सर्ववैष क्षीण हो जाती हैं। इसीलिए तो हर्षबन्धामक-जलै वाद से इस दोष का 'आम्ना' नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। जय की दृष्टि से इस सुखदोष से कुछ भी तो नहीं बचता। आमा-बुद्धि-मन-शरीरमक-पुरुष-प्रकृत्यात्मक-स्वस्थता-प्रकृतिस्थतानुकूची सभी कुछ वा प्लान-म्लान हो जाते हैं। आम्ना उपर्युक्त इसी 'सचचिनासा' का स्वरूप है। और आसमन्वात्-म्लान-रूप 'आम्ना'-दोष का यही संबन्ध स्वरूपेतिवृत्त है।

उक्त सोम-सुरा-सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का सौम्य मन सेमानक माल्म्यदोष से एक कारक-अतएव कारकीकृत शरीर-सुखमक- 'आम्नादोष' से समन्वित है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही शास्त्रात्मिक-आचारनिष्ठा अभिव्यक्त हुई है महर्षियों के द्वारा जिस आचारान्ति निष्ठा के कर्म-भक्ति-ज्ञान-नामक तीन प्रविष्ट धन्व माने गए हैं जिनका कि वे शास्त्र के विध्यात्मक-ब्राह्मणमात्र आचरणकभावा उपनिषद्भावा-इन तीन प्रकर्मों के द्वारा कर्म स्वरूप-विरलेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही प्रमुख स्वबोधी बना रहता है। मन और शरीर उठी सीमापर्वन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं बने रह सके हैं बन्तक कि बुद्धि के द्वारा मन-शरीर का निम्नत्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होते ही मन-शरीर-दोनों स्वैरचारपरमण बन जाते हैं। इस स्वैरचारिता से निश्चयन-मनस्त्व में अन्तान्तर में मान्म्यदोष अभिव्यक्त हो जाता है एवं शरीर में आम्नादोष अभिव्यक्त हो जाता है जोकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीबरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों के अभिव्यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिमूत हो जाती है निष्ठा के अभिमूत होते ही आपारजर्म विधित हो जाता है। रोप रह जाते हैं-अनाचार।

सङ्गीत के प्रति सर्वस्मिना आहरमाण रहते हुए भी सङ्गीत के मूलप्रतिष्ठारूप नाद-ध्रुति-स्वर-जैसे महतोमदीमान्-उदात्तमात्रों के प्रति सर्वस्मिना आस्था-भ्रष्टा-रहते हुए भी हमें प्रकृतिनिष्ठ के तपाकथित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा-मात्रों से अनुप्राणित-महामुद्धिनिष्ठा के महान् प्रविष्टा ही माहम्य और आम्ना-दोष के सम्बन्ध से शरीरानुगत मानवमात्रानुकूची-मायन, एवं मनोऽनुगत-शरीरमात्रानु

कधी-नर्त्तन-वादन-समष्ट्यात्मक-सङ्गीत के प्रति कम से कम आत्मबुद्धिनिष्ठ-भारतीय-ब्राह्मण को तो स्वीकृति तत्पर ही मान लेना पड़ रहा है। हमारी मान्यता का इस दिशा में कोई महत्व नहीं है। यह तो उन महामूर्खियों की स्पष्ट-मा मान्यता है जिस की जागरूकता में कोई भी नैष्ठिक ब्राह्मण नर्त्तन गायन-वादनात्मक, अतएव-मात्स्य आस्ता-दोषाभिन्त्यजक-सङ्गीत को अपनी स्वाध्यायनिष्ठा में आचारनिष्ठा में कोई प्रभय नहीं दे सकता नहीं ही देना चाहिए-यदि इसे-‘आह्वयोन निष्कारणं पञ्चो वेवोऽभ्येयो ह्येयम्’ पर अणुमात्र भी आस्था है, तो।

मनोऽनुगत-सोमात्मक-श्रुतभावानुबन्धी-अतएव-अनुत-पाप्मा-भावानुबन्धी मानसिक-मात्स्यदोष से नित्य सम्मिश्रित शरीरानुगत-सुरात्मक-श्रुतभावानुबन्धी-अतएव अनुत-पाप्मा-भावानुबन्धी-शारीरिक पूर्वोक्तवर्णित हर्षचयकर, अन्तमप्रभाव के विघातक इसी आस्तादोष की प्रकृतिविद्धा स्वरूप-स्थिति को लक्ष्य बना कर गोपब-श्रुति ने कहा है—

‘तस्यात्मभवच्च । तेन प्राज्ज्वलयत् । यदात्मभावच्च (तदात्मपरित्यक्तमेव) ‘आग्ला’-भवत् । तत्-अग्ला भूत्वा सा समुद्र ( वारुणसमुद्र -अर्णवसमुद्र -धारसमुद्र ) प्राविशत् । सा आग्ला-समुद्रमदहत् । तस्मान्-समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरेण हि दग्ध । सा-आग्ला पृथिवीमुदैत् । सा पृथिवी व्यदहत् । सा-आग्ला-देवान् ( पार्थिव-देवान् ) आगच्छत् । सा देवान्हिहत ( तिरस्कृतवती ) । ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन् । “स-ब्राह्मण -नैव-अगायत्, न अमृत्यत्” । सैषा-आग्ला-कारुविदा नाम । त वा एत ( आग्लया-समन्वित ) आग्लाहव सन्त-‘आग्लायुष’ इत्याचक्षत-परोक्षेण” ।

—गोपयब्राह्मण पृ० २ प्र० । २१ ब्रा० ।

आत्मबुद्धिसम्मत सङ्गीतिक-कोश का अन्यतम चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण मन-शरीर-निबन्धन गन्धर्वान्तराण-समाक्रान्त अतएव सोम-सुरात्मक, अतएव च मात्स्य एवं ‘आस्ता दोष से अस्वालीकृत इत्यभूत नच न-गायन-बाणात्मक-सङ्गीत का यदि अनुगमन करता है तो निश्चयेन ‘त-न-न-री-मू-स-न-न-री-मू-तात्-घिना-घिन्-छूम छूम-छ न-न-न-सा-ता-थ ई आदि-आदि विभिन्न-विभिन्न-विविध विविध मायमहिमाओं से आलोकित—विलोकित हा-हा-हू-हू-ही-ही आ आ आ-ह-ह-ह आदि विविध मुद्राओं से आपुरित ङिङ हा ङिङ वाङ्गा हा हा-आदि उन्मुष्मिणी से सुस्तरित-ह-यभूत माय-विभागादि स कृतक्य-सङ्गीत से नैष्ठिक के भी मन-शरीर पिष्टमान ही बन आया करते हैं जिस पिष्टमानसा से ही अज्ञानतर में ‘स्वरूप-विस्तृति’ होबाया करती है। अतएव आत्मबुद्धिसम्मत निष्ठा के क्षेत्र में तो कदापि नर्त्तन-गायन-वादनात्मक सङ्गीत जैसे मातृकापूर्ण मनः-शरीर-व्यासङ्ग को प्रभय नहीं ही मिल सकता नहीं ही मिलना चाहिए।

ज्ञान-कर्म-मक्ति-नाम की विविध आचारनिष्ठाओं का कमरा आमा-बुद्धि-मन-इन तीन मानवीय-पक्षों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है। आत्मानुगत चिन्तन-मननात्मक आचार, (अनुरीक्षण) उदपनुगत-आचारामक-आचार ( कर्तव्यकर्माचरण ) इन दो क्षेत्रों में तो मनोव्यासङ्ग का प्रवेश स्वयं

आप्य-वाक्य-सुरा-मन्त्र-शरीरनिष्कन्धन ओ मयानक-आसुर दोष मानव के पुरुष-प्रकृत्यनुगत-व्यापित स्वस्वता-प्रकृतिस्वता-प्रवर्तक स्रष्टा प्रसादगुण को अभिभूत कर देता है, प्रसादगुण की विस इस अभिभूति से मानव की आभानुगता अद्यान्ति ओभरूप में सुखधनुगता निष्ठा संशयरूप में मनोऽनुगत प्राकृतप्रेम भोगासक्तिरूप में ए शरीरनुगता पुष्टि वृत्तरूप में परिणत होजाती है, लोकजीवनानुगत-सम्पूर्ण-हर्ष-उत्साह-सर्वयैव-धीव होजाते हैं उन्ही आसुर-वाक्य-मयानक दोष का नाम है—‘आग्ला’ जिस की तद्वैयुक्त मानवी में सर्वस्मना-अभिष्यक्ति देखी जाती है। जिस अभिष्यक्ति का प्रवर्तक उदाहरण यह सुरापी आग्ला-मानव ही बना हुआ है, जिसका सुरानुगत आग्लादोष से सर्वप्रथम-समानानुबन्ध से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर-किम्पन के साथ ही मन विकम्पित होपड़ता है। मन के विकम्पित होते ही कर्माणुरूप हन्त्रियाँ विकम्पित होपड़ती हैं। सभी हन्त्रियाँ इस किम्पनावस्था में प्रकृतिस्वता से परक मूल होती हुई अनर्गल भावों की ही अनुगमामिनी बन जाती हैं। शरीर-मन-हन्त्रिय-वर्गों के विकम्पित होते ही मानव प्रकानवचरता पर प्रतिष्ठित रहन वाली बुद्धि खरक-खरकरूप में परिणत होजाती है। बुद्धिनाश से अन्तस्तेजसा आत्मप्रसाद सर्वयैव अभिभूत होजाता है। और यों इस सुष्ठवनित-शरीरनिष्कन्धन आग्लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हर्षपरम्पराएँ कम कमरा सर्वयैव धीव होजाती हैं। इसीलिए ही हर्षचयात्मक-‘मै’ धातु से इस दोष का ‘आग्ला’ नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। वृष की दृष्टि से इस सुष्ठवे से कुछ भी तो नहीं बचता। आत्मा-बुद्धि-मन-शरीरकमक-पुरुष-प्रकृतात्मक-स्वस्वता-प्रकृतिस्वतानुबन्धी सभी कुछ वा आन-म्लान होजाते हैं। ‘आत्मा’ उपर्युक्त इसी ‘सवधिनारा’ का सूचक है। और ‘आसमन्तात्-म्लान-रूप’ ‘आग्ला-दोष का यही सविष्ट स्वरूपेतिवच है।

उक्त सोम-सुरा-कन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का लौक्य मन सेमात्मक मालम्बदोष से एवं वाक्य-अवयव वाक्यीरूप शरीर-सुराक-‘आग्लादोष’ से छम्पित है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही शास्त्रारम्भक-आचारनिष्ठा अभिष्यक्त हुई है महर्षियों के द्वारा जिस आचारसिक्का निष्ठा के कर्म-‘भक्ति’-‘ज्ञान’-नामक तीन प्रसिद्ध कर्म माने गए हैं जिनका कि वेदशास्त्र के विष्वात्मक-ब्राह्मणभोग, आसवयकभोग उपनिषद्-मार्ग-इन तीन प्रकर्मों के द्वारा कमरा स्वरूप-विरलेष्य हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही प्रयुक्त खबोली बना रहता है। मन और शरीर उन्ही सीमापर्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं बने रह सकते हैं बल्कि कि बुद्धि के हाग मन-शरीर का नियन्त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से दृष्ट होते ही मना-शरीर-दोनों स्वैवचारपथक बन जाते हैं। इस स्वैवचारिता से निश्चयन-मनस्स्थान में कालान्तर में मान्मदोष अभिष्यक्त होजाता है एवं शरीर में आग्लादोष अभिष्यक्त होजाता है जोकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीबरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों के अभिष्यक्त होत ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है, निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधर्म शिथिल होजाता है। शेष रह जाते हैं—‘अनाचार’।

सङ्गीत के प्रति सर्वस्मना आदरभाव रखते हुए भी सङ्गीत का मूलप्रतिष्ठा रूप नाद-भुति-स्वर-वैधे महत्तेमदीयान्-उदात्तभावी के प्रति सर्वस्मना आस्था-अदा-रखते हुए भी हमें प्रकृतिविवत के तपाक्षित मानस सोम तथा शारीरिक सुरा-मावी से अनुगमणित-आत्मबुद्धिनिष्ठा के महान् प्रतिशब्दी मलम्ब और आग्ला-दोषों के सम्बन्ध से शरीरनुगत मानवभावानुबन्धी-गायन एवं मनोऽनुगत-शरीरव्ययानु-





पर ही निर्भर है। इधर प्राण हुआ है, तथा वाक् योषा है। हिङ्कारपूर्वक उच्चारण करना वाक्-प्राण का दाम्पत्य भाव ही सम्पादन करना है, जो कि दिव्याग्नि का प्रजनयिता है। इसी प्रजननसम्पत्ति के लिए हिङ्कारपूर्वक अनुवचन किया जाता है। यही हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति है ॥ २ ॥

क्योंकि हिङ्काररूप इयाप्राण का श्रृङ्गरूप योषा वाक् के साथ दाम्पत्यभाव भी अभीष्ट है इसीलिए तो हिङ्कार का उच्च्स्वर से उच्चारण न कर उपांशुरूप से ही उच्चारण किया जाता है। प्राण स्वयं अनिरुक्त है वाक् निरुक्त है। यदि उच्च्स्वर से हिङ्कार का उच्चारण किया जायगा तो निरुक्तभाव में आशा हुआ वह भी निरुक्तवाक्-रूप में ही परिणत होजायगा। परिणामतः अभीष्ट दाम्पत्यभाव का स्मरण न होवेगा। उच्च उपांशु अनिरुक्तभाव से सम्बन्ध रखता है। अनिरुक्तता प्राण का प्रातिस्विकरूप है। फलतः उपांशुरूप से हिङ्कार करना प्राणरूप की सुरक्षित रखते हुए दाम्पत्यभाव का ही स्मरण करना है। यह भी स्पष्ट ही है कि गानकाल में 'हि-हँ' इत्याद्याकारयुक्त हिङ्कार भीतर ही भीतर पुन-पुनः आता है। क्योंकि इस का स्वर से सम्बन्ध है। और नादब्रह्म स्वयं ब्रह्मस्व अनिरुक्ततत्त्व है। हिङ्कार का उपांशु उच्चारण क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही तीसरी उपपत्ति है ॥ ३ ॥

मन्त्रों में पठित 'प्र' 'आ' 'मम्' 'अनु' इत्यादि उपसर्ग किसी विशेष प्रयोजन को गर्भ में रखते हैं। जब श्रुति को आगमनभाव का स्मरण करना होता है तो मन्त्र में आह् उपसर्ग का समावेश कर दिया जाता है। जिस से पृथिवी से प्रयाण (गमन) बतलाता है। होता है उस में 'प्र' उपसर्ग लगा दिया जाता है। जिस में दोनों लोकों की (पृ. शु. ० की) वस्तुओं का सङ्गम प्रस्तिपाद्य होता है उस मन्त्र में सम् उपसर्ग रहता है। वहाँ वस्तुपुच्छ का सम्बन्ध बतलाना अभीष्ट होता है वहाँ 'अनु' उपसर्ग प्रयुक्त होता है। इस प्रकार महारम्म महर्षि उपसर्गों के द्वारा तत्त्वत्रियेष्टमाश्री का स्मरण कर लिया करते हैं। इन उपसर्गों के सम्बन्ध से उन श्रुचाश्री के भी 'प्रमती आशती-समवती-अनुपती' इत्यादि नाम होजाते हैं।

प्रकृत दर्शपूर्ण रात में हमें इस पार्थिव मौक्तिक आह्निक अग्नि में सामिधेनी-अनुवचन से दिव्य-प्राण व्यभिचारिण का आचान करना है। साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि आगत दिव्याग्नि को यही प्रतिष्ठित नहीं रहना है। अतः पार्थिवान्वित्युक्त इस दिव्याग्नि में इविद्याय यजमान के शरीरान्ति का सम्बन्ध करा इसे दैवात्मात्म में परिणत कर पुनः उसी युक्तोक्त में मेजना है। इस प्रकार यहाँ 'आदान-विसर्ग' नामक दोनों कर्म अपेक्षित हैं। इस उभयकर्मविधि के लिए यहाँ आरम्म में उन दो श्रुचाश्री का अनुवचन होता है जिन में आगमन-सूचक आह् तथा प्रयाण-सूचक प्र' उपसर्ग का समावेश है। आरम्म में—'प्र' 'आ' उपसर्ग वाली श्रुचाश्री का अनुवचन क्यों होता है? इस प्रश्न की उक्त उपपत्ति की लक्ष्य में रख कर ही प्रस्तुत प्रकरण का सम्बन्ध करना चाहिए।

सामिधेनी-अनुवचनकर्म से व्यभिचारिण इस पार्थिव आह्निक अग्नि में प्रतिष्ठित होजाता है यह कहा जाना है। क्या इतिवृत्त करने के अनन्तर इस व्यभिचारिण का इस व्यभिचरूप से ही पुनः युक्तोक्त में गमन होता है? नहीं। जब व्यभिचारिण पुनरावर्जित होगा (वापस झोङ्गा) तो उस समय यह व्यभिचर न रह कर 'गायत्र' बन जाएगा। गायत्री का स्वरूप पृथिवी, और शूरत के संयोग से ही निम्न प्रकृत है।

स्वर्गकेन्द्र से निकल कर चारों ओर व्याप्त होने वाला प्राणात्मक सौरतेज 'सावित्र' कहलाता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मोत्पन्नमूल सूर्य का सञ्चार तेज ही सावित्री है। यह और सावित्र तेज भूगर्भ में प्रसृत्य-सम्पन्न से प्रविष्ट होता है। भूविष्ट गो नाम से प्रसिद्ध है। इस गोगर्भ में प्रतिष्ठित होने से भी यह सौर तेज 'गायत्री' कहलाया है। इस के अतिरिक्त यही प्रवृत्त सौर तेज पार्थिव विवर्त का स्वरूप-सम्पादक है अतः 'अगाधतु सम्पादयत्' इस निर्बचन से भी इसे 'गायत्री' कहा जाता है। जो व्यक्ति इस तेज को (गायत्रीकुन्दरुप सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के द्वारा) अपने अष्ट्यात्म में प्रतिष्ठित कर लेता है उस की कोई क्षति नहीं होती। अतः 'गायन्तमुपासक आथते' इस निर्बचन से भी इसे 'गायत्री' कहना अनवयव बन रहा है, क्योंकि सम्पादितान में निवार से प्रतिपादित है।

उक्त गायत्री के दो विवर्त हैं। सौर तेज प्रवृत्त हुआ। प्रवृत्त होकर भूगर्भ में प्रविष्ट हुआ। अन्तर्म्याम सम्पन्न के प्रभाव से भूलोक की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन कर उष्णलोकानुगत बना। यही पार्थिवगायत्री कहलाई है। इसे हम 'भूतगायत्री' भी कह सकते हैं। लौकिक अग्नि इसी भूतगायत्री का प्रत्यक्ष निदर्शन है, एवं वही अथर्व्यु के द्वारा अथ्यमकाष्ठ से दह किया जाता है। हमारे प्रकृत सामिधेयानुवचनकर्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सौर-सावित्र तेज द्युलोक से आकर गौरूप भूलोक से उठकराया। यहाँ से इस का प्रतिकलन हुआ। इस का भी मू से सम्पन्न होने के कारण 'गायत्री' नाम अवश्य हुआ परन्तु यह गायत्रतेज भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु नहीं है। उस प्रवृत्तमाग का वहाँ भूलोक से अन्तर्म्याम सम्पन्न है वहाँ इस प्रतिकलित गायत्रतेज का भूलोक से ब्रह्मैर्याम सम्पन्न है। त्रेताकल्प में जो प्रकाश हो रहा है, वह प्रतिफलित सौर संजोमयी गायत्री का ही प्रभाव है। एवं यही गायत्रतेज के प्रत्यक्ष वरान हैं।

इस द्वितीय गायत्रतेज के बिना गायत्री के आगे जाकर दो विवर्त हो जाते हैं। प्रतिकलनप्रक्रिया का द्विष्य ही इस विवर्त द्वयी का मूल है। सौर तेज आकर प्रतिकलित हुआ आतप (धूप) का स्वरूप प्रकट होना। यहाँ से पुनः इस का प्रतिकलन होता है। इस द्वितीय प्रतिकलन से छायामय प्रकाश का आविर्भाव होता है। छाया में जो प्रकाश (आतपशून्य उज्जवा) है वही उस का द्वितीय रूप है। प्रथमरूप 'व्योति' मर्मकी गायत्री कहलाती है एवं द्वितीय रूप छायामयी गायत्री है। व्योतिर्मयी गायत्री में आग्नेयतेजामय वृक्षप्राण प्रतिष्ठित रहता है एवं छायामयी गायत्री में औष्य संजोमम पितरप्राण प्रतिष्ठित है। इस छायामयी गायत्री की स्वरूपसम्पत्ति के लिए ही पितृकर्म (अह) में दाने अर्पित कर दिए जाते हैं।

इसप्रकार एक ही सौर सावित्र तेज के आचार पर पार्थिव भूतगायत्री दिव्यवृक्षगायत्री दिव्य पितृगायत्री से-से तीन गायत्रविध हो जाते हैं। तीनों में से प्रकृत में अभ्यस्था वृक्षगायत्री का ही यहाँ समन्वय अपेक्षित है। यह दिव्यगायत्री दो प्रकार से प्रति प्रति युग्म से युक्त है। सौरमण्डल से सौरतेज आया यही अ (पति) भाव है। प्रतिकलन-प्रक्रिया से पुनः द्युलोक की ओर गया यही प्र (प्रेति) भाव है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। मतलाया गया है कि द्युलोक से आगमनदशा में इसे 'सावित्री' कहा जाता है न कि गायत्री। फिर 'आगमनतत्त्वक'-'आ भाव' का तो सावित्री से सम्बन्ध

सिद्ध हुआ एवं गमनात्मक 'प्र-प्रभाव का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ यही तेज सावित्र है, एवं आता हुआ यही तेज गायत्री है। सावित्री एति' (आगच्छति) है, गायत्री प्रेति' है, एवं यही प्रकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही 'एति, प्रेति' दोनों भाषों का सम्बन्ध कैसे स्थापना किया गया ?।

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अथर्व ही स्थिति के अनुसार आता हुआ और तेज सावित्री ही है एवं आता हुआ और तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्यगत सक्ता से ही सम्बन्ध है एवं गायत्री पृथिवी के सम्बन्ध से ही गायत्री कहलाई है। परन्तु इति का अपेक्षा से साथ ही उपयोगमर्यादा की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। शीघ्र हमारे लिए यही आता हुआ' माना जायगा जो गायत्री के रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्रीरूप में प्रतिपत्ति के लिए ही होता है। अतः 'वातस्य्यान्वाच्छ्रय न्याय से भी उस गायत्र्यय आगम सावित्र तेज को 'गायत्री' कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी इति से वहाँ दोनों के लिए 'गायत्री' शब्द प्रयुक्त होना है।

वहाँ से आता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पार्थिव मानवप्रजा में वसाधान करता है एवं आता हुआ गायत्रतेज पार्थिव ब्रह्मगत रहों का आदान करता हुआ शुलोकस्या देवप्रजा में वसाधान करता है। वहाँ से आना और वहाँ से यज्ञद्रव्य के साथ गमन करना यह इस का एकप्रकार का एति-प्रेतिभाव है। इस एति-प्रेति-भावतात्मक गायत्रतेज का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में सम्बन्ध किया गया। वहाँ से आते हुए अ त्वनुरुता जन्व-देवता-स्वरयुक्त-मन्त्रवाक् से आकर्षण कर उस का यहाँ योग कर लिया यही 'एति' भाव हुआ। अनन्तर प्रकृता शुक्ल की ओर जाने वाली गायत्री से इस त्वानुगता-यज्ञभक्तिमता हविषुक्त गायत्री का सम्बन्ध होना। इस परम्परा से उस के साथ इस का शुलोक में गमन होना यही इस का प्र भाव कह-साया। इसी को हम यज्ञानुगत एति प्रेति-भाव कहेंगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निर्धार यही हुआ कि, प्राकृतिक गायत्रीरूप 'एति-प्रेति' भाव से बहता है। उसी के आधान के लिए यही सामिकेयनुचनकर्म होता है। अतः उदात्तार्क इन मन्त्रों में भी गायत्री-स्वरूपा गुणता एति-प्रेति का सम्बन्ध आवश्यक है। 'प्र ( प्रवर्ती )—आ ( आवर्ती ) श्रुताओं का अनुवसन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उत्तरपत्ति है ॥ ४ ॥

'एति-प्रेति' के अनुवचन से आधिदैविक-गायत्रभाव का समावेश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक 'एति-प्रेति' भाव का भी समझ होजाता है। हमारी आध्यात्मिक-स्थिति में स्वार्थ-प्रवृत्तात्मक उदान प्राप्त 'प्रेति प्रेति' भावात्मक ही बन रहे हैं। आता हुआ गायत्र्याय ही 'उदान है एवं आता हुआ गायत्र्य प्राप्त ही 'प्राय' है। हमें इस यज्ञकर्म से हमारे ( ब्रह्मान के ) आध्यात्मिक मानुषात्मा के स्वर्गमन के लिए तेजस्वा उत्पन्न करना है। यह दैवता हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त 'एति-प्रेति' भाव से इस में 'एति-प्रेति' भावात्मक उदान तथा प्राय का आधान होजाता है। इसलिए भी 'एति-प्रेति' भावपुक्ता मन्त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की पूर्ण उत्तरपत्ति है ॥ ५ ॥

रत-सेक करने वाले का रत योगप्राण ( गर्भाशयगत योनिरूप आग्नेय प्राण-आत्तव ) में आनुत रता हुआ रत-सेक करने वाले की अपेक्षा से 'प्रेति' माय का अनुग्राहक बन रहा है । एवं-वही विकृत रत र मात के अनन्तर पूर्णव्यय बनकर अपत्यरूप में परिणत होकर एषयामरूप के प्रत्यापात से मुमिष्ठ बनता हुआ 'प्रेति' माय का अनुग्राहक बन रहा है । रेतोद्वय सिद्धक की दृष्टि से 'प्रेति' है एवं रेतोरूप अपत्य सिद्धक की दृष्टि से एति है । हमें इस यज्ञकर्म में प्रबननकर्म अपेक्षित है । एवं प्राकृतिक प्रबननकर्म 'एति-प्रेति' भावात्मक है । उस का भी यही सम्बन्ध होता है । यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की वीथी उपपत्ति है ।

वित यज्ञ से हमें यजमान के आध्यात्मिक शरीरात्मिक के आधार पर आत्मा उत्पन्न करना है उस में आध्यात्मिक यज्ञपुरण्यक्त 'आत्मा-शरीर' दोनों भाग अपेक्षित हैं । आत्मा मोक्षा है, शरीर मोक्ष्य है । यही मोक्ष्य शरीर भोगायतन भी कहलाया है मोक्ष्य भी कहलाया है । आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त-मेढ से दो भागों में विभक्त है । शरीर इसका अन्तर्वित्त है, एवं बाह्य मौक्तिक परिग्रह बहिर्वित्त है । दोनों ही 'पशु' नामसे व्यञ्जित हुए हैं । इस पशुसम्पत्ति के संग्रह के लिए भी 'एति-प्रेति' माय उपयुक्त होखा है । पशु प्रात बहल में चरने बाटे हैं यही इन का 'प्रेति' [ गच्छन्ति ] भाव है । सायंकाल वापस लौट आते हैं यही इन का 'प्रेति' [ आगच्छन्ति ] भाव है । इसप्रकार पशुसम्पत्ति भी एति-प्रेति भावात्मिका बन रही है । आने-जाने वाले पशु चेतन हैं । वित प्राकृतिक पशुप्राण से इन पशुओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है वही पशुप्राण अन्तर्वित्तलक्षणा शरीरात्मक पशुमाय का स्वरूप समर्पक माना गया है । इस वादरय से देवाना में पशु-सम्पत्ति का भी आधान होता है एवं अन्तर्वित्तलक्षणा शरीरसम्पत्ति का भी संग्रह होता है । यही 'एति-प्रेति' भावात्मक अनुवचन की वीथी उपपत्ति है ।

अब बहिर्वित्त-लक्षणा बाह्य पशुसम्पत्ति का विते कि हम आधिभौतिक-सम्पत्ति कहेगे संग्रह करना शेष रह जाता है । यह काम भी इसी 'एति प्रेति' माय से गतार्थ बन रहा है । सम्पूर्ण मृत-मौक्तिक पदार्थ इसी एति-प्रेति माय से नित्य सम्बद्ध हैं । कुछ एक उदाहरण हैं । इस दिशा में उपोद्बलक मान लिए जाएँगे । त्रैलोक्य के गर्भ में प्रतिष्ठित यन्त्राकार मृत-मौक्तिक पदार्थ इसी मायद्वयी से नित्य आक्रान्त हैं, वित्तका 'सम्भूति' व विनाश व यस्तद्वेद्योभय सहे ( ईश उ ) इत्यादि रूप से सर्वत्र प्रयत्न किया जासक्या है । सामान्य दृष्टि से विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचा करते हैं कि, विश्व तथा विरव गर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ गतिशील हैं संस्तरणीय हैं । अतएव इस प्रपञ्च को 'संसार' कहा जाता है । इसी स्वाभाविकी गति से पदार्थों में अयस्या-परिवर्तन हुआ करता है । इसी क्षणिक परिवर्तन के आधार पर 'शान्तिरोपने' 'क्षणिक क्षणिकम्' सिद्धान्त स्थापित करने का साहस कर लिया है ।

परन्तु अब हम अन्तर्दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें यह मान लेना पड़ता है कि इस गतिमाय के गर्भ में 'आगति' भी प्रतीत होती है गतिमाय विनाश है, तो आगतिमाय सम्भूति है । दोनों का एक ही किन्तु में समावेश होखा है । प्रत्यक्ष पदार्थ पूर्वरूप से नष्ट होता हुआ ही उत्तररूप से सम्भूत है । विगठता हुआ ही बन रहा है । डम-चलाचल- ( चल-अचल )-भावद्वयी से ही 'सर्वमिदं चलाचलम्' । इन दोनों में चलाभाव ( गतिमाय ) प्रेति का स्वरूप-समर्पक बन रहा है एवं अचलभाव-स्थिति-माय एति माय का अनुग्राहक बन रहा है ।

सिद्ध हुआ एवं गमनात्मक 'प्र-प्रभाव' का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ वही तब सावित्र है, एवं जाता हुआ वही तेज गायत्री है। 'सावित्री एति' (आगच्छति) है 'गायत्री प्रेति' है, एवं यही प्रकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही एति प्रिति दोनों भावों का सम्बन्ध कैसे स्थापना गया ?।

विप्रतिपत्ति सार्थक है। अथर्व ही रिपति के अनुसार आता हुआ और तेज सावित्री ही है एवं जाता हुआ और तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्यगत सविता से ही सम्बन्ध है एक गायत्री पृथिवी के सम्बन्ध से ही गायत्री अक्षरार्थ है। परन्तु वहि की अपेक्षा से साथ ही उपयोगसम्बन्ध की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। औरतेषु हमारे लिए वही 'आता हुआ' माना जायगा जो गायत्री के रूप में परिचित रहेगा। नरु अ आगमन गायत्रीरूप में परिवर्तित के लिए ही होता है। अतः 'सातृधमात्ताच्छन्दा' न्याय से भी उस गायत्र्यय आगत सावित्र तब को 'गायत्री' कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहाँ दोनों के लिए 'गायत्री' शब्द प्रयुक्त होना है।

यहाँ से आता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पार्थिव मानवप्रजा में वसताचान करता है एवं जाता हुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगत रहों का प्रादान करता हुआ धूलोक्त्या देवप्रजा में वसताचान करता है। यहाँ से जाना और यहाँ से यज्ञब्रह्म के साथ गमन करना यह इस का एकप्रकार का एति-प्रेतिभाव है। इस एति-प्रेति-भावतात्मक गायत्रतेज का मन्त्र के द्वारा यह में सम्बन्ध किया गया। यहाँ से आते हुए का अनुकूल अन्त-देवता-स्वरमुक्त-मन्त्रवक्तृ से आकर्षण कर उस का यहाँ योग कर दिया यही 'एति' भाव हुआ। अनन्तर प्रकृत्या धूलोक्त की ओर जाने वाली गायत्री से इस रक्षामुगता-यज्ञप्रतिमता हविर्मुक्त गायत्री का सम्बन्ध होना है। इस परम्परा से उस के साथ इस का धूलोक्त में गमन होना है यही इस का प्र भाव कह-लाया। इसी को हम यज्ञानुगत एति-प्रेति-भाव कहेंगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, प्राकृतिक गायत्रीवत् 'एति-प्रेति' भाव से युक्त है। उसी के आधान के लिए यहाँ सामिपेन्मुनवचनकर्म होता है। अतः उदाहर्यक इन मन्त्रों में भी गायत्री-स्वरूपानुगत एति-प्रेति का सम्बन्ध आवश्यक है। प्र ( प्रकृति )—आ ( आवृत्ति ) श्रुत्याओ का अनुगमन क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उत्तरपत्ति है ॥ ४ ॥

'एति-प्रेति' के अनुवचन से आधिदैविक-गायत्रभाष का समावेश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक 'एति-प्रेति' भाव का भी स्पष्ट हो जाता है। हमारी आध्यात्मिक-धर्म में ब्रह्म प्रवृत्तात्मक अज्ञान-मार्ग 'एति-प्रेति' भावतामक ही बन रहे हैं। आता हुआ वायव्यगण ही 'उदान' है एवं जाता हुआ वायव्य भाव ही 'मार्ग' है। हमें इस यज्ञकर्म से हमारे ( यज्ञमान के ) आध्यात्मिक मानुषात्मा के स्वर्गमन के लिए देहात्मा उत्पन्न करना है। यह देहात्मा हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त 'एति-प्रेति' भाव से इस में 'एति-प्रेति' भावतामक उदान तथा मार्ग का आधान हो जाता है। 'इतलिए भी एति-प्रेति' भावतामक मन्त्रवृत्ति का उत्पत्तारण किया जाता है। और यही 'एति-प्रेति' भावतामक अनुवचन की दृष्टि उत्पत्ति है ॥ ५ ॥

(१) 'हि-हि-हि-ओम्' प्रथो वाजः अविद्यधो हविष्मन्तो घृताच्या ।

देवास्त्रिगाति मुन्नुयुः-ओम् ॥ (१, २, ३) ।

'हि-हि-हि-ओम्' इस सप्रणव हिङ्कार का उच्चारण केवल एकबार प्रथम मन्त्र के साथ ही किया जाता है। आगे के सम्पूर्ण मन्त्र केवल 'ओम्' पूर्वक ही बोले जाते हैं। इस मन्त्र को श्रुतपरक भी लगाया जा सकता है एवं अग्निपरक भी लगाया जा सकता है। उभयथा अग्निवत्त्व ही अभिप्रेत है। कारण इसका यही है कि, अग्नि की सत्य श्रुत-भेद से दो अवस्था मानी गई हैं। सत्याग्नि स्थितान में प्रविष्टित रहता हुआ सम्बत्सरयज्ञ का साक्षी है जिसे लिए-‘सद्यत् सत् सत्यमसौ स आदित्यः ( रात ब्राह्मण ) यह कहा जाता है। इस सूर्यक्रमक सत्य ( सङ्ख्य-सशरीरी ) अग्नि ( त्रिते गायत्रीमात्रिक केदग्नि भी कहा जाता है ) का जो प्रथम भाग है, वही केन्द्र-सम्पत्ति से वञ्चित होता हुआ श्रुत कहा गया है। इस श्रुत ( गायत्री ) अग्नि में श्रुतसोम की आहुति होती है। श्रुताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है, एवं श्रुतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर जाता हुआ इसमें आहुत होता रहता है। इस श्रुताग्नि, तथा श्रुतसोम के अन्तर्ध्याम नामक चिति (अग्निपञ्च) सम्बन्ध से दोनों के पूर्वस्वरूपोपहन से जो एक तीव्र उभयव्यात्मक स्वरूप उत्पन्न होता है उसे ही श्रुत कहा जाता है। इस श्रुतसमष्टि का ही नाम 'सम्बत्सरयज्ञ' है। इस प्रकार वही अग्नि श्रुतावस्था में आकर सोम के सम्बन्ध से 'श्रुत' बनता हुआ यह की प्रतिष्ठा बन रहा है। अतएव श्रुतपक्ष तथा अग्निपक्ष, दोनों का अन्तर्तोगत्वा अग्निपक्ष में ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है।

'वाज अभिषय, हविष्मन्त, घृताची' ये चारों भाव इस यज्ञाग्नि के स्वरूप-रचक हैं। इसी चारों के सम्बन्ध से सम्बत्सरिक यज्ञाग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है। वाज सामान्यतः १ अक्ष का वाचक माना गया है। वस्तुतः वाज उस तन्त्र का नाम है जो अक्ष से सूर्य से भी ऊपर आपोमेय परमेष्ठी ( वनस्लोक ) में प्रतिष्ठित रहता है। पारमेष्ठ्य अपवृत्त 'आप-वायु-सोम' में से तीन भागों में विभक्त है। इनमें जो अप की सोमावस्था है वही वाज है। गायत्री त्रिते सोम का अपहरण करती है वह भी सोम है चान्द्रमयहन में भी सोम है। परन्तु यह 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य सोम अपनी तत्रत्या अवस्था से दोनों से भिन्नचर्मा है। इसे ब्रह्मवीर्य का संघाहक माना गया है, क्योंकि-‘धीर्य्य वै वाजा' ( रात १।३।४।७ ) इत्यादि से स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य हवियज्ञ में चान्द्र सोम का सम्बन्ध है साम्प्रतिक ज्योतिष्टोम में सौररश्मिमग्न ज्योतिर्मय सोम का सम्बन्ध है। एवं प्राकृतिक वाजपेययज्ञ में इस ब्रह्मवीर्य-प्रवक्तृ अतएव '० ब्रह्मण्यस्वति नाम से प्रसिद्ध पवित्र 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य सोम का

१—‘अक्ष वै वाज' ( ता० म० ब्रा० ( १३।१।१३ ) ।

२—‘पवित्र ते विषत ब्रह्मणस्पते प्रसुर्गात्राणि पर्येति विश्वतः ।

अवप्यनर्न तदामो अश्नुत श्रुतास इहहन्तस्तत् समाशत'

—शुक्ल० सं० ३८३।१।

आदान-विसर्ग की दृष्टि से भी इस 'एति-प्रेति' की व्याप्ति के दर्शन किए जा सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ से उसके चरपरमाणु विस्तृतधर्माद्यप्रभापति के विस्तृतान्तर चरणधर्म से विस्तृत हारे हैं। साथ ही 'मैपञ्चयज्ञ' नामक प्राकृतिक कर्म के आदान के द्वारा इस निर्गत माग की क्षतिपूर्ति भी हो रही है। प्रतिक्रम प्रत्येक क्षण में आदान-विसर्ग दोनों भावों से नित्य आक्रान्त है। विश्व क्रियात्मक है। क्रिया गतिवत्त्व है। प्रत्येक गति के गर्भ में 'आगति' है, एवं प्रत्येक आगति के गर्भ में गति है। स्वर्ग की रश्मियों को देखिए। रश्मियाँ चलती हैं परन्तु पीछे इटती हुई। 'अर्चस्वरति' के अनुसार अपानन करते हुए ही रश्मियाँ आगच्छन हो रही हैं जैसा कि 'अस्य प्राणवपानती' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। हमारी मागगति में एक पैर आगे बढ़ता हुआ ही चल रहा है तो दूसरा पीछे इटता हुआ ही आगति का भी प्रवर्तक बन रहा है। प्रत्येक गति में आगति अनुस्यूत है। चञ्चु-पक्ष मी इस प्राणन-अपानन से बन्धित नहीं है। मार्ग में चञ्चते हुए दोनों हाथों की गति पर दृष्टि डालिए। वहाँ मी आप की आगति गति के दोनों भाव उपलब्ध होंगे। शरीर का रुधिर मी सर्वत्र सञ्चार करता हुआ दोनों का अनुप्राणन कर रहा है। कर्म्म-य विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें 'एति-प्रेति' दोनों भावों का सम्मन्वय न हो। यही मौलिक अणु का प्राविष्टिक धर्म है जो कि इसे गायत्रय के अनुग्रह से ही प्राप्त है। इसी आधार पर—'गायत्री वा इह सर्वम्' (छा० उपनिषत्) यह निगम प्रविष्टि हुआ है। यही आधिभौतिक-सम्पत्ति है। एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन से स्वसाधारण में सामान्यरूप से व्याप्त इस सम्पत्ति का भी संग्रह हो जाता है। यही एति-प्रेति मागात्मक अनुवचन की पाँचवीं उपपत्ति है ॥१॥

वास्तव्य यही हुआ कि आधिदैविक आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों के सम्मन्वय से इस अविद्य (वैद्य-वश-पूर्णमास) से देवामा उपपन्न करता है। इस की स्वरूप-विधि के लिए हमें पाँच सम्पत्तियाँ अपेक्षित हैं। आधिदैविक-सम्पत्ति पहिली सम्पत्ति है यजमानाग्निहोत्रा आध्यात्मिक-सम्पत्ति दूसरी सम्पत्ति है अग्निर्विस्तारणा आग्नेयिक-सम्पत्ति तीसरी सम्पत्ति है अन्तर्विस्तारणा शरीरसम्पत्ति चौथी सम्पत्ति है एवं स्वयं यज्ञकर्म पाँचवीं सम्पत्ति है। 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन से पाँची का संग्रह हो जाता है। इसीलिए श्रुति ने पाँच उपपत्तियाँ बख्शाई हैं। यही गायत्रानुगत एति-प्रेति भाव की सर्वव्यापित का संक्षिप्त निदर्शन है जिसके उपासक उक्त 'एति-प्रेति' भाव से मुक्त रहते हुए पूर्ण समृद्धि को पाते हैं।

शामिपेनी-कर्म क्यों किया जाता है? उपग्रह दिङ्मगपूर्वक ही क्यों किया जाता है? ११ १५, १७ सम्पत्ति का क्या रहस्य है? अन्यानन का क्या रहस्य है? आद्यन्त के बिना-वि-आकसन से क्या प्रयोजन आभिप्रेत है? गायत्रीछन्द का एवं आग्निदेवता का सम्मन्वय क्यों अग्रही है? 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन क्यों किया जाता है? इत्यादि उन प्रश्नों की जिनका कि बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध है—कर्मिक उपपत्ति बतलाती गई। अब यहाँ से आगे (सप्तमी-अध्याय से) पद्धतिप्रदर्शनपूर्वक शामिपेनी-प्रश्नों की व्याख्या ही आरम्भ होती है। यही क्रमशः पाठकों के समुक्त उपस्थित हो रही है।

वैदिक के पश्चिम भाग में अथवा वेदिभोधि के उत्तर भाग में अथर्ववेद के द्वारा विद्याएँ हुए दर्भासन पर लका होकर 'होता' नाम का श्रुतिक सर्वप्रथम निम्नलिखित शामिपेनी मन्त्र का तीन बार उच्चारण करता है—



अग्नि अथवा वन रहा है। क्योंकि वाक्वरण से अग्नि समिद्ध रहता है अतएव इसे हम अथर्वय ही अग्नि का स्वरूप—रक्षक कह सकते हैं।

दूसरा रक्षक है— 'अभिषय'। पञ्चाग्नि का ही नाम अभिषय है। अथर्वय की रक्षा पुष्टि तुष्टि, तृष्टि अथर्वयों की रक्षादि पर ही निर्भर है। सम्बत्सराग्नि अथर्वय है, पञ्चाग्नि अथर्वय है। इन अथर्वयों से ही उस अथर्वय की स्वरूप-रक्षा हो रही है। अतः इन "मिषु" नामक पर्वानियों को भी हम अग्निस्वरूप-रक्षक मान सकते हैं।

हवि से ओषधिरूप अन्न, भौतिक शरीर दोनों अभिप्रेत हैं। भौतिक शरीर आद्यतनरूप से अग्नि का रक्षक है एवं अन्न आहुतिरूप से अग्नि की रक्षा कर रहा है। अन्न एवं भूत दोनों ही मय होने से पशु हैं। अतएव भूति न 'हविष्मन्त' का पशु अर्थ किया है।

आन्तरिक्ष वायु में अन्न की मात्रा प्रतिष्ठित रहती है जैसा कि 'धृतमन्तरिक्षस्य' (उत० ७। १२।३।) इत्यादि से प्रमाणित है। इसी आग्याहुति से अग्नि अविशयरूप से समिद्ध रहता है। आग्याहुति देने वाले वायु हैं यही प्राकृतिक यज्ञ के शुद्ध-न्यानीय 'धृताधी' हैं। इसप्रकार मन्त्र में पठित वाचादि चारों शब्द अग्नि-समिधन का मास ही स्पष्ट कर रहे हैं। इन चारों रक्षकों से युक्त उस दिव्याग्नि का यहाँ आधान ही प्रकृत अनुवचनकर्म से अभिप्रेत है। उसके आधान से स्वगन्तुवायी (सुगन्तुयु) यज्ञमान यज्ञ के द्वारा दिव्यदेवताओं की सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी सामयिक अर्थ को लक्ष्य में रख कर मन्त्र ने कहा है कि—

हे अग्ने ! धृताधी के द्वारा वाक्, पञ्च, पशु आदि सम्पत्तियाँ (आपको समिद्ध बनाने के लिए) प्रादुर्भूत होती हैं। इनके प्रादुर्भाव से (आपके समिद्ध बन जाने पर) यज्ञकर्त्ता यज्ञमान देवभाव को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।'

उक्त श्रुति में क्योंकि 'प्र' उपसर्ग आत्मा है अतएव इसे हम 'प्रवर्ती' श्रुति करेंगे, एवं इसे गायत्री के प्रेति' (गच्छति) भाव का संग्राहक मानेंगे। इस प्रथम मन्त्र के निरुद्धचिद्वचन अनुवचन करने के अनन्तर होता निम्न लिखित (भौतिकरूप से दूसरी तथा सन्ध्या क्रम से चौथी) सामिधेनी का अनुवचन करता है—

(२) 'ओं अग्न आयाहि धीतये गृणानो हव्यदातये।

नि होता सत्सि वहिषि-ओम्' (४) इति।

प्राकृतिक दिव्याग्नि स्वमण्डल से मूलोक्त की ओर आता है। यहाँ मूलोक्त ही उसकी प्रतिष्ठा बनता है। इस मूलोक्त को याज्ञिक परिभाषा में 'वर्हि' कहा जाता है। पितृपरिभाषा में आग्नेय-सौम्य-समरती-सोम्य मेद से तीन प्रकार के अन्नपितर' मान गए हैं। सूर्योपलक्षित मूलोक्त आग्नेय बनता हुआ 'उप्य' है। अन्द्रोपलक्षित अन्तरिक्ष सौम्य होने से 'शीत' है। एवं मूलोक्त अग्नि-सोम के समसमन्वय से अनुप्य शीत (न उप्य न शीत) है। इस अनुप्यशीत मूलोक्त का निदान 'वर्हि' (वर्भ) माना गया है। कारण

सम्बन्ध है। अतएव 'वाजपेय' यह का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है +। अतएव इसे 'बृहस्पतिस्य' भी कहा गया है।

'बृहस्पतिः पूर्वपासुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरपां प्रथमः' के अनुसार परमेष्ठी नामक पूर्वग्रहों के अन्त में (परमेष्ठी की सीमा पर) वाजपेययज्ञ के प्रवर्तक बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं, जो कि हुप्रसिद्ध 'बृहस्पतिग्रह' तथा 'लुष्पकवन्धु' नामक नास्तिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तीसरा पारमेष्ठ्यग्रह माना गया है। और इन्द्र सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी नामक उत्तरग्रहों से पहिला है। उस ओर की अन्तिम सीमा में बृहस्पति है, एवं इस ओर के उपक्रम में इन्द्र है यही तात्पर्य है। बृहस्पति ब्रह्मात्मक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा है, एवं और इन्द्र चक्रात्मक कृत्रिम की प्रतिष्ठा है। बृहस्पतिवत् इन्द्र के साथ भी वाज का सम्बन्ध होता है। क्योंकि दोनों सीमापेक्षया समीप हैं। अतएव आगे चलकर अमुकने वाजपेय का यज्ञ को भी अधिकारी मान लिया है \*। इसप्रकार वाजपेय का इन्द्र से भी सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वस्तु वाजपेय ब्रह्मात्मक ही माना जायगा। इसी आधार पर अमुक का 'अथ वै वाजपेय' (तै० ब्रा० १।१।२५) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस वाज के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आप्यशु 'वाजी' कहाया है। इस 'वाजी-प्राण' का जिस अर्थवातिकारिण में प्राधान्य रहता है, उस अर्थवाति को भी 'वाजी' कहा जाता है।

प्रकृत में उक्त वाज-स्वरूप दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि इसी पारमेष्ठ्य वाजरस की दूसरी अवस्था का नाम अ्योतिर्मय होम है जिसकी आहुति से ही और कृष्णानि अ्योतिर्मय बना हुआ है। तृतीयवर्ण्य वाज्रोत्तम है। चौथी अवस्था अ्योतिर्वा (गोचूमादि अ्योतिर्वा) हैं। चान्द्रोत्तम ही प्रथम सम्बन्ध से अ्योतिर्वा का स्वरूप-स्पर्श बनता है। पशुओं में भी परम्परया यही वाजरस प्रतिष्ठित है। अ्योतिर्वा (अ्योतिर्वा) भी इसी वाजरस से परिपुष्ट हैं। वाजरस की इसी व्याप्ति के आधार पर निम्न लिखित निगम प्रतिष्ठित हैं—

१—“वाजो वै वृषभः” (ए० ब्रा० ५।८।)।

२—“अ्योपवयः खलु वै वाजा” (तै० ब्रा० १।३।७१)।

३—“अ्योतयो वै वाजिनः” (शत० ब्रा० २।४।४।२२)।

यह वाजरस सर्वथा अग्नि को समिष्ट करने जाता है। पारमेष्ठ्य वाज अ्योतिर्वा की उद्योतिर्मय वाज सम्बत्तराग्नि की चान्द्रवाज अ्योपवय की एवं आपथिवाज सारीराग्नि की यदीति

—“स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः यदेनेन बृहस्पतिरयवत। अथ हि बृहस्पति ।

अथ हि ब्राह्मणः ।” (शत० ५।१।१।११)।

४— अयो राजन्यस्य (वाजपेयः) यदेनेन इन्द्रोऽयवत। अत्र हीन्द्रः अत्र राजन्यः” (शत० ५।१।१।११)।

यहाँ होता क रूप से इस वर्हि [ भूलोक ] पर विराजिए, [ धुलोक से भूलोक पर्यन्त अग्नि का व्याप्त होना ही इस आधिदैविक-पक्ष में अग्नि का स्तवन-कर्म है ] ।

‘हे दिव्याग्ने ! ( हाता क सामिधेनी-कर्म से बुलाए जाते हुए ) आप यज्ञिय-हवि ग्रहण क लिए, तथा इस हवि का देवताओं में पहुँचाने के लिए इस यज्ञसंस्था में पधारिए, एवं इस कुशासन पर होता बन कर विराजिए’ ।

उक्त श्रुचा में क्योंकि ‘आह्’ उपसर्ग आया है अतएव इसे ‘आवती श्रुचा’ कहा जायगा । एवं इसे गायत्री के ‘प्रति ( आगच्छति )’ भाव का ही सम्राहक माना जायगा । इसप्रकार इन दोनों के अनुवचन से होता ‘प्रति-प्रोति’ भाव का ही सम्राह करने में समर्थ होजाता है । वैशकि ब्राह्मण की सातवी कश्चिका से स्पष्ट है ॥ ७ ॥

यज्ञेतिर्कृतव्यता से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों का वैज्ञानिक रहस्य अवश्य होता है । परन्तु उसका सम्बन्ध भीष्ट-पद्धतियों निगमानुगमवचन-प्रमाणों के आचार पर ही करना चाहिए । अपनी कल्पना से चाहे जो उपपत्ति मानते हुए पद्धति के विरुद्ध जाना विज्ञानसम्मत नहीं, किन्तु अज्ञानसम्मत है । वर्तमान युग में तो ऐसे वेदवैज्ञानिकों की कमी है ही नहीं ७ । किन्तु पुरायुग में भी किसी किसी को विज्ञान का अचीर्य होजाता था । पद्धति के अनुसार उक्त दोनों मन्त्र प्र-आा के सम्बन्ध से कमरा स्पष्ट ही यद्यपि ‘पराक्-अर्वाक्’ दोनों भावों के सम्राहक बन रहे हैं । परन्तु वैज्ञानिक-बन्धुओंने पद्धति-विरुद्ध अपने व्यक्तित्वविमोहन से यह कल्पना कर डाली कि प्रयो वाजा० और अग्न आयाहि० दोनों श्रुचाएँ गायत्री के ‘प्रोति’ भाव का ही सम्राह कर रही हैं । उपपत्ति आप इसकी यह बतला रहे हैं कि ‘प्र’ इत्यादि तो प्रोतिभाव से सम्बद्ध है ही । एवं ‘अग्न आ’ से आगमन बतलाया है वह वहाँ से ( धुलोक से ) इसका आगमन होता है वहाँ के देवताओं की अपेक्षा तो इसका पराम्पति रूप प्रमाण ही सिद्ध होता है । सम्भवतः इन वैज्ञानिकों को यह न सूझ कि, इस समय उस सम्मान के यश में इन मन्त्रों का प्रयोग होरहा है जिसकी अपेक्षा ‘अग्न आयाहि०’ का अर्थ अर्वाणगतिकृष्ण आगमन ही होसकता है । अतएव उक्त मत का महीनीति अवैज्ञानिकत्व सिद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

पूर्व में दोनों मन्त्रों का वा वैज्ञानिक अर्थ हुआ है उसे अति अपने शब्दों में स्पष्ट करती हुई कहती है कि, ‘प्रोति’ भावामिष्ट प्रथमा श्रुचा के प्र यो वाजा इस पद का ‘वाज’ शब्द अघ्र का ‘अभिधाय शब्द’ ‘पक्षों’ का एवं ‘हविष्मन्त’ शब्द ‘पशुसम्पत्ति’ का अनुस्राहक है । वैशकि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया

७-व्यक्तित्वविमोहनामिका इयभूता वेदमक्ति का ही यह सुपरिणाम है कि आज अपनी मान्यताओं के अनुसार युगधर्मानुगता यत्न माना-राखनीति समाजनीति साम्यभाव आदि आदि के अनुसन्ध से वेद के अनेक कल्पित अर्थ किए आरहे हैं । किन्तु वेद के पारिभाषिक सम्बन्ध से संस्पर्श भी नहीं है ।

इसका मही है कि पारमेष्ठ्य शीत अपृतत्त्व का जो माग सौरमण्डल के अग्नि से मिलकर 'वेन' ब्रह्माण्ड है वही 'अप-अग्नि' के समस्तमन्त्र से अनुष्णाशीत है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी का शीत्य इतना होता है, एवं अप्सम्बन्ध से अग्नि की उत्पत्ति शान्त हो जाती है। ऐसे अनुष्णाशीत वेनत्व से ही 'वर्हि' (वर्म-बाम) की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि पूर्व में माष्य के प्रथमव्यवहान्तर्गत वर्मोत्पत्ति-विज्ञान-प्रकरण में वित्तर से ब्रह्माया अनुष्ण है। इसी सादृश्य से वर्हि को उत्समानचर्मा भूलोक का प्रतिरूप मान लिया गया है। इसी आधार पर दिव्याग्निगत पितरों को 'अग्निवशात्ता' आन्तरिक्ष सोमगत पितरों को सोमसत् एवं अनुष्णाशीत भूलोकस्थ पितरों को 'वर्हिपत्' कहा गया है। यहाँ इससे मही बतलाना है कि, भूलोक से आने वाले दिव्याग्नि की प्रतिष्ठाधूमि वह भूलोक ही बनता है, जिसे निदान-विधि से वर्हि कहा गया है।

प्रसङ्गत यह और ध्यान रखना चाहिए कि, पार्थिव अपृतत्त्व तथा दिव्य अग्निवत्त्व, दोनों के समन्वय से ही पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। सौम्य-शुक्लमाव अग्नि-गर्मित अपृतत्त्व है, एवं आग्नेय शोणित सोमगर्मित अग्निवत्त्व है। दोनों का दाम्पत्यमात्र ही प्रजास्वरूप का कारण है। इत इति से प्रजा को भी वर्हि कहा जा सकता है। ओमविद्या में भी पार्थिव अग्नि बुष्टिजल-रस से दोनों का समन्वय है अतः इहं भी वर्हि कहा जा सकता है। चतुष्पाद पशुओं में भी पार्थिव अक्षरस तथा दिव्य अग्निरस का समस्तमन्त्र है। अतः इहं भी वर्हि कहा जा सकता है। इसप्रकार अग्नि-समन्वित अनुष्णाशीत तत्व की दृष्टि से 'वर्हि' शब्द निदानेन अनेक स्थानों में अमिम्यत्ता हो रहा है \*।

भूलोक से चलकर इस 'वर्हि' (भूत) पर आने वाला वह अग्नि अपने साथ प्राग्देवताओं को भी लाता है। 'अग्निः सर्वा देवता' के अनुसार प्राणाग्नि के गर्म में ही सम्पूर्ण ऋषिदेवता प्रतष्ठित है। इस आदानसंवाय सहप्रातिष्ठम्य से ही इस भूलोकस्थ दिव्य अग्नि को 'होता' कहा जा सकता है। जब ही यह पार्थिव रसो का आदान करता हुआ इससे वेवसृष्टि का कारण बनता हुआ 'हवन' अथवा कर्माने से भी यह 'होता' कहा जा सकता है। आगत अग्नि का पहिले स्वयं का पार्थिव अक्षरस से सम्बन्ध होता है। अनन्तर इस हवि का प्राग्देवताओं से सम्बन्ध होता है। यही उस अग्नि का मुख्य कर्म है। प्रकृत मन्त्र ने इसी अग्निर्कर्म का वैधव्य की दृष्टि से स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—

हे दिव्याग्ने ! आप पार्थिव रसरूप हविर्मघश के लिए तृया प्राग्देवताओं में इस हवि को पहुँचाने के लिए [भूलोक से भूलोक पर्यन्त] व्याप्त होते हुए भूलोक में पधारिए।

\* १—“अयं वै लोको ( भूलोको ) वर्हि” ( श० १।८ २।११ )।

—“प्रजा वै वर्हि” ( तै० ब्रा० १।६।३।१० )।

—“ओपघपो वै वर्हि” ( शत०।१।३।३।६। )।

—“पशवो वै वर्हिः” ( ए० ब्रा० ५।२।७ )।

—“शरवो वर्हिः” ( शत० १।३।४।१० )।

नाम की एक कन्या थी। इच्छाकु ही अयोध्यापति सुम्यंशरी प्रथम भारतीय सम्राट् यहाँ के निवासी रहे। ये ही बगली पीठियों के मूलपुरुष मान गए। एवं इला से आगे बाकर चन्द्रवंश का विकास हुआ, जैसा कि 'धृतिरूपरोचतमक-गीताभूमिका प्रथमखण्ड' के 'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

इसी सूर्यवंश में उत्पन्न महाराज 'निमि' के साथ ही हमारे प्रकृत इतिवृत्त का सम्बन्ध है। आज की ब्रह्मदि विदेहों का स्वतन्त्र राज्य इतिवृत्तों में सुना जाता है, किसी समय वे अयोध्या-राज्य में ही अन्तर्भूत थे। विदेहों के पूर्वपुरुष अयोध्या-सम्राट् के सामन्त राजाओं (कुटुम्बों) में से थे। दोनों के कुलपुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे। एकबार विदेहों के पूर्वपुरुष महाराज 'निमि' ने यज्ञ करने की इच्छा से कुलपुरोहित वसिष्ठ का आमन्त्रण किया। उस समय वसिष्ठ देवताओं के द्वारा वितत यज्ञ में श्रुतिवृत्तेन वृत्त होकर स्वर्ग (प्राग्ल-मेरु-प्रदेशस्थ भौमस्वर्ग) जाने वाले थे। वहाँ के अनुरोध को महत्त्व देत हुए वसिष्ठ स्वर्ग चले गए। महाराज निमि को कुलपुरोहित की यह उपस्था अच्छी हुई। फलतः उन्होंने मर्यादा-विरुद्ध उस समय के प्रसिद्ध याज्ञिक, यज्ञण के पुत्र, अवश्य 'राहुगण' इस उपनाम से प्रसिद्ध महर्षि गोतम के सहयोग से अपना यज्ञकर्म सम्पन्न कर लिया। थोड़े समय पीछे स्वर्ग से परावर्तित होने पर वसिष्ठ ने यह सुना कि निमि ने गोतम के पौरुहित्य में यज्ञ-सम्पादन कर लिया है, तो उन्होंने मर्यादाभङ्गनिमित्त निमि को यह श्राप दे डाला कि "तुम इसी क्षण इस यज्ञाग्नि से नष्ट होजाओ। यज्ञाग्नि पहिले से तो क्रुद्ध थी ही वसिष्ठ के इस श्राप से और भी उच्चैर्बल राजा के मुख से भी यह निकल पड़ा कि 'आप का भी नारा हो'। परिणामतः दोनों ही मस्तीभूत हो गए।

महर्षि गोतम के सम्मुख ही यह घटना घटित हुई। उस अवस्था सर्वसमर्थ श्रुति ने दोनों के मस्तिष्क का संशय कर अग्नि से अग्निमन्थन आरम्भ किया। मन्थन-प्रक्रिया से उत्पन्न यज्ञाग्नि में आहुति लेकर दोनों को पुनर्जीवित कर दिया। क्योंकि महाराज निमि का पुनः प्रादुर्भाव 'मन्थन' से हुआ अतएव यहाँ से ये 'मधु' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं को यत्र तत्र मिथि नाम से भी व्यवहृत किया गया। इन मधु के पुत्र ही आगे बाकर 'विदेह माधव' नाम से प्रसिद्ध हुए।

उक्त घटना की ग्लानि का विदेह माधव के ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने मणिष्य के लिए अन्यत्र चला जाना ही अत्यन्त समझा। इस संकल्प को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक वैश्वा नर अग्नि का वागिन्द्रिय से संयम करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि, जहाँ जिन प्रदेशों में हमारा वैश्वा नराग्नि वागिन्द्रिय के द्वारा बाह्य निकल आयागा उसी स्थान में हम अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करेंगे। यह संकल्प कर महाराज माधव वैश्वा नर संयम कर राहुगण गोतम को साथ लेकर चल पड़े। आगे आगे माधव चले जा रहे थे पीछे पीछे गोतम अनुगमन कर रहे थे। गोतम ने अनेक बार लौकिक माया में विदेह का सम्बोधन किया। उनके हृत्प्रकार अकस्मात् राज्य छोड़कर आगे बढ़ने के कारण की जिज्ञासा व्यक्त थी। परन्तु विदेह ने अनेक बार परन करने पर भी उत्तर नहीं दिया। गोतम उनका वाक्-संयम न छोड़ सके। विवश होकर गोतम को उस मन्त्रशक्ति का आश्रय लेना पड़ा जिसका फल अभ्यर्थ माना गया है। उन्होंने निरवयव किया कि विदेह ने किसी विशेष सत्यविधि के लिए ही आपन आध्यात्मिक वैश्वा नर अग्नि



मानी गई। यही दोनों वंशों के वैवाहिक-सम्बन्ध का कारण बना। छत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितगोत्रों से ही होता है। इस घटना से पहिले दोनों के कुलपुरोहित बहिष्ठ थे। एवं तत्तत्त कोस्त-विदेहों का वैवाहिक सम्बन्ध अमर्यादित था। परन्तु उक्त यज्ञघटना को लेकर अब गोतम ऋषि विदेहों के पुरोहित बन गए, तो वैवाहिक सम्बन्ध मर्यादित बन गया।

वही विदेह-देश आज तिरहुत नाम में परिचित होगया है। उस देश के निवासी यद्यपि आज 'मैथिल' कहलाते हैं। परन्तु धस्तुतः हर्ष 'मथु' राजा के सम्बन्ध से 'मायव' ही कहना चाहिए, जैसा कि—'ते हि मायवा' इत्यादि भुति से स्पष्ट है। यदि 'मथु' के स्थान में 'मथि' पाठ है, तो 'मैथिल' शब्द भी सुवचन माना जासकता है।

यह है—आख्यान का संक्षिप्त स्वरूप। प्रकृत सामिचेनी प्रकरण से इसका यही सम्बन्ध है कि, 'घृत' पद में मायव के मुखानि का समिन्धन हुआ था। इस से स्पष्ट है कि 'घृत' पद समिन्धन का अन्यतम कारण है। क्योंकि यहाँ वही समिन्धन कर्म अभिप्रेत है, अतएव 'घृताच्या' कहना अनर्थ बनता है। कहा गया है कि, 'घृतान्मा पद वीम्यमाव का स्म्राहक है। इसी अभिप्राय से कहा गया है— धीर्यमेवास्मिन् वधाति'—(२ नी कथिडका) १, ११, १२, १३ १४ १५ १७ १८ १९ २० २१ २२—इन व्याख्य कथिडकाओं में इतिहासपूर्वक उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण हुआ है ॥ (२) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है—'ध्वाम् जिगाति मुन्नुयु यह। इसकी व्याख्या करती हुई भुति कहती है कि, 'आज यह यज्ञमान (मनुष्य होकर) इस यज्ञाग्नि के समिन्धन के प्रभाव से उन विज्यस्तोत्रस्व प्राणदेवताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। भला उस विज्याग्नि-प्रभाव का क्या कहना, जो एक मृतोक्त-निवासी मनुष्य को देवसम्पत्ति से युक्त करवे। भुति इस कथन से अग्नि का ही महत्व सूचित कर रही है।

प्रकृत मन्त्र से यद्यपि स्वरूपतः अग्निरक्तत्व का ही प्रतिपादन हुआ है जैसा कि पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। परन्तु मन्त्र में कहीं 'अग्नि' का नाम नहीं है। अतएव अग्निरूपान्मिका बनती हुई भी यह श्रुति अनिरक्ता है। सर्वसम्पत्-विधि का अन्यतम द्वार अनिरक्तमाव ही है। क्योंकि अनिरक्तमाव अनिरक्त-सर्वभ्रमपूरक प्रजापति का स्म्राहक बना हुआ है। अनिरक्ता सामिचेनी का अनुवचन क्यों किया जाता है? इस प्रश्न की यही सक्षिप्त उत्पत्ति है ॥२१॥

प्रथम-मन्त्र पदों की व्याख्या समाप्त कर अब अति—'अग्न आयाहि०' इत्यादि द्वितीय मन्त्र-पदों की व्याख्या करती है। यह श्रुति 'आह' उपसर्ग के सम्बन्ध से गायत्री के अर्धोच्चीरूप का स्मर कर रही है, यह तो उक्तप्राय ही है। अब उस 'वीतये' पद के रहस्यार्थ पर दृष्टि बालिए जिसके लिए भुति ने एक महत्वपूर्ण 'लोकोत्पत्तिविज्ञान' उद्घाटन किया है।

सुप्रसिद्ध आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल ही लोकसम्पत्ति का मुलाधिष्ठान माना गया है। अतएव लक्ष्मी के आपोमुख से ही लोकसृष्टि हुई है जैसा कि—पूर्व में 'अपामाशयानकर्मोपपत्ति' में विस्तार से बताया जा चुका है। यद्यपि परमेष्ठी से ऊपर का स्वयम्भू लोक प्राथम्य माना गया है तथापि—'प्राणा वा आप'

का समय किया है। अतएव इनके इस वैश्वानराग्नि को प्रदीप्त किए बिना ये कौन उठर नहीं देंगे। अतः मन्त्रवाक्य से इस संयम को तोड़ना ही चाहिए। यह निश्चय कर गोतम कहने लगे—

“धीतिहोर्ध्र त्वा कवे धूमन्त समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वर”।

उक्त मन्त्र से अग्निसमिन्धन कर, इस अग्निप्राय से कि अब माधव का संयम अनश्य टूट जायगा गोतम ने उच्छ्वस्वर से सम्बोधन करते हुए कहा—‘हि विदेघ ३’। परन्तु कोई परिणाम न मिला। पुनः गोतम ने निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया—

“उदग्ने शुक्लयस्तव आजन्त ईरते। तव ज्योतीर्ध्वर्चय”।

गोतम का यह प्रयास भी व्यर्थ गया। अन्त में उनके मुख से तीसरे मन्त्र के ‘तन्त्वा धृतस्तवीमहि’ इस भाग का निष्कलना था कि, माधव का संयम टूट गया। चिरकाल से संयत भी वह अग्नि ‘धृतम्’ के सम्बन्ध मात्र से प्रज्वलित होपड़ा। अब गोतम इस अग्निको अपनी आध्यात्मिक-संस्था में न रख सका। पलटा प्रज्वलित अग्नि बाहर आपड़ा—(माधव बौला पड़े)। जिस समय यह घटना घटित हुई उस समय माधव विदेघ सरस्वती नदी के समीप विद्यमान थे। यहाँ से आरम्भ कर आगे का ‘सदानीरा’—पर्यन्त का सम्पूर्ण भूप्रदेश पिब्यमान या आस्वालीकृत था बला से अज्ञेयवाक्य था एकप्रकार से बलापूरित मन्त्र ही भूमि-देव था।

यहाँ वाक्स्वयम टूट आना माधव ने एक दैवी-सङ्केत समझा और इसीलिए यही से अपने संकल्पित स्वतन्त्र राज्य की आरम्भसीमा मानली। अग्निस्थापन हुआ यशारम्भ हुआ। ओर ओर राज्यानों से भी स्वतन्त्र यशस्तुष्टान करवाए गए। इन यशस्विनी से उस अज्ञेय भूप्रदेश की आइरा इत्येते हुए इस भूप्रदेश को निवास-योग्य बनाते हुए माधव आगे बढ़ते गए। यहाँतक कि, सम्पूर्ण सरस्वतीक्षेत्र को अग्निशक्ति से छुलाते हुए वे ‘सदानीरा’ नाम की नदी के तट पर आ पहुँचि जोकि स्थानीय उत्तरागिरि से निकली है। यही नदी “करतोया सदानीरा बाहुवा इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इसमें एक हाथ बला छा बना खड़ा है इसलिए इसे ‘करतोया’ कहा गया है। इसका पानी ओर गर्मों में भी बलुष्क बना रहता है अतएव इसे ‘सदानीरा’ कहा गया है। सुप्रसिद्ध स्मृतिकार न्यायमन्त्री लिखित के स्पष्ट आवा शब्द की आज्ञा के बिना पलमहण—अनित अफराव के दायक के लिए लिखित का बाहु कटवा दिया गया था। अन्त में इही नदी में वक्ष्यायनन के द्वारा शङ्ख ने कनिष्ठ भ्राता के बाहु की पुनः प्राप्ति की थी। इसीजिए इसे ‘बाहुवा’ कहा गया है। यही नदी लोकभाषा में कुरही नाम से पुकारी जाती है। यही विदेहराज्य की पूर्वसीमा का निर्माण करने वाली हुई। बहुत सम्भव है यह ‘गण्डकी नदी हो, जिसका मागीरपी में सङ्गम होता है।

इन नदी से इस ओर ही क्योंकि यशस्विनी का सम्बन्ध हुआ अतएव उसी समय से यह नियम बन गया कि यह नदी यशस्विनीसम्बन्धित से अशुद्ध है। अतः जो इसका तरण करेगा वह—प्रायश्चित्त माना जायगा जैसा कि—‘करतोया-विस्मयनात्’ इत्यादि से स्पष्ट है। यही नदी कांससविद्वहों की मध्यसीमा



होना है। धूमकेतु ही सूर्य का जनक बनता है। क्योंकि स्वयं धूमकेतु गतिशील है अतएव सद्युत्पन्न सूर्यविण्डु भी स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ प्रबल वेग से अयावधि परिभ्रममाण रहता हुआ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है।

कल्पना कर लीजिए, अभी सूर्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ सर्वत्र पारमेष्ठ्य स्मृष्ट का ही साम्राज्य है सब ओर पानी ही पानी है और इस पानी में करोड़ों कोस पर्यन्त अपनी व्याप्ति रखते हुए अग्निपुञ्जरूप धूमकेतु अतृप्त से इतस्ततः खरकर काट रहा है। इनमें से किसी एक धूमकेतु को लक्ष्य बनाकर लोकसुष्ठु का समन्वय अपेक्षित है। स्वयं यह धूमकेतु भी श्रुताग्निरूप ही है, एवं जिस अप्सस्मृष्ट में यह व्याप्त है, वह भी श्रुत ही है। इस श्रुत स्मृष्ट में प्रातर्दृष्ट श्रुत अग्निपुञ्ज के अलातचक्रवत् घूमने से कालान्तर में अग्निपुञ्ज का सर्वाग्रभाग इस से प्रकट होगया और इस पायक्य का क्षरण बना 'गतिविभेद' एवं गतिविभेद का क्षरण बना अग्निपुञ्ज का श्रुतभाव। यदि यह अग्निपुञ्ज सत्य होता तो इस का सम्पूर्णरूप अक्षरपारिण्यारूप से समानगति से ही युक्त रहता। परन्तु श्रुतमय के क्षरण इसकी प्रतिबिन्दु-गति में वैषम्य बना रहता है एवं यही गतिवैषम्य ग्रहप्रवृत्ति का जनक बनता है।

यद्यपि जिस केन्द्रभाव के आधार पर हमने गतिसाम्य बतलाया है वहाँ भी एकदृष्टि से बटिक्रयन्त्रवत् गतिवैषम्य बना हुआ है। तथापि यह गतिवैषम्य केन्द्र का परियाग नहीं करता। केवल इही लक्ष्य से इस गति का 'समानगति' मान लिया गया है। सूर्यकेन्द्र से सम्पूर्ण शीररश्मियाँ बढ हैं। स्वस्थान में परिभ्रममाण सूर्य की सभी रश्मियाँ पारभ्रममाणा हैं। साममण्डल उत्तरोत्तर बृहत्प्रदेश से युक्त है। फलतः रश्मियों की प्रतिबिन्दुगति वाममण्डलों के उच्चावच स्थानों से विषम बन रही हैं। फिर भी क्योंकि प्रत्येक रश्मि सूर्य-केन्द्र से बढ है अतएव रश्मिगत रश्मि के किसी पक्ष को सूर्य से घृयक् नहीं होने देती। यही अवस्था बटिक्रयन्त्र की है। बटिक्रयन्त्र (घड़ी) की उस बड़ी सूची (सूई) पर दृष्टि डालिए जो १ घंटे के ६ मिनटों का परिज्ञान करवा रही है। बटिक्र-केन्द्र से बढ सूची चारों ओर की बटिक्र-परिधि से संलग्न रहती हुई चारों ओर घूम रही है। केन्द्र से परिधि पर्यन्त का बटिक्र-प्रदेश उत्तरोत्तर बढा है। अतः केन्द्र से आरम्भ कर बटिक्र-परिधि पर्यन्त व्याप्त सूची की प्रतिबिन्दु की गति उत्तरोत्तर बृहत्-प्रदेशपरिभ्रमण से सम्बन्ध रख रही है। अन्तिम बिन्दु को सब से बड़ा मण्डल पूरा करना पड़ता है पूर्व पूर्व बिन्दुओं को क्रमशः छोड़ मण्डल। यहाँ तक कि केन्द्रबिन्दु को कुछ भी समय नहीं लगत क्योंकि वहाँ मण्डल का अभाव है। यदि बटिक्रयन्त्र में सूची को बढ रबने वाला क्षयभाव (केन्द्र) न होता तो परिणाम इस बिन्दुगति-वैषम्य का यह होता कि सूची लयल लयल रूप में परिणत होकर बटिक्रयन्त्र से घृयक् ही होजाती। क्योंकि उस समय इन विषमगतियों को समभाव में परिणत करने वाला कोई नियन्तास्त्र नहीं रहता।

ठीक यही अवस्था हमारे इस सत्यमात्रास्त्र (केन्द्ररहित) श्रुताग्निपुञ्ज (धूमकेतु) की समरूप। श्रुताग्निपुञ्ज प्रबल वेग से घूम रहा है यह बतलाया जा चुका है। इसकी गति के सम्बन्ध में यह ध्यान धीर रखना चाहिए कि, वहाँ बुधादि अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर सममण्डल बना रक घूम रहे हैं वहाँ ये धूमकेतु विषम मण्डल बनाकर ही सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं। इनकी सब से बड़ी परिक्रमा ३ सप्त

( तां वा १६।४ ) - 'आपो वै प्राण' - ( शत १६।२।४ ) 'प्राणो ह्यप' ( वै उ १।१।६ ) - 'आपोमय' प्राण' ( जां उ १।४।४ ) इत्यादि निगमों के अनुसार स्वयम्भू का वह मायत्व ही अप-सम्पत्ति से अधिक नहीं है। स्वयम्भूवी आप प्राणात्मिका है, यही वागा मनु प्राण पारमेष्ठ्य अपतत्त्व की प्रथमावस्था है जिसके - 'सोऽपोऽसृजत वाच एव सांकात्-भागव साऽसृज्य' ( शत १।१।११ ) इत्यादि से प्रमाणित है। जिसप्रकार स्वयम्भू का अपतत्त्व 'प्राण' माना गया है एवमेव परमेष्ठी का 'अग्नि' सूर्य का 'मरीची', चन्द्रमा का अक्षा एव धृतिवी का अपतत्त्व 'मर' कहा गया है - ( ऐ उ १।४ )। इस दृष्टि से इस अपतत्त्व की सर्वव्याप्ति, तथा स्वरूपता मही-मौलि सिद्ध होमाती है। अपतत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“सर्वाणि ह त्वेष भूतानि, सर्वे दधा एपोऽग्निमित । आपो वै सर्वे दधा,  
सर्वाणि भूतानि । ता इता आप एवैपोऽग्निमित । तस्य नाध्या एव परिधित ॥”

—शत० १०५।४।१४।५

पारमेष्ठ्य आपमय मण्डल में अद्भुत सृग्-अक्षिर की प्रविष्टा मानी गई है। 'आपो सृग्वक्षिरोरूपमापो भृग्वक्षिरोमयम्' इस गोपयश्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य आप सृग् ( स्नेहवर्धन आप ) से सृज् है। किन्तु यह अपतत्त्व ही भृग्वक्षिरोग्य है। सृग्भूत आप के गर्भ में अक्षिररूप आ। श्रुतरूप से सर्वत्र प्रतिष्ठित माना गया है। पारमेष्ठ्य ससृग् इन अभ्यात्मक अक्षिराणुओं से आपूर्त्यमान है। स्वया गतिशील इन अग्निपुञ्जों को ही 'धूमकेतु' कहा गया है। अहसी-विजानवेत्ता महर्षियोंने उस अपसृग् में अग्निपुञ्जसङ्घन ऐसे एक सहस्र धूमकेतु माने हैं \*। ये धूमकेतु अपनी अपनी विशेष अक्षर्याओं के सम्बन्ध में क्रिया वक्रशिक्षा विशिक्षा ब्रह्मवक्र द्विशिक्षा विक्रय वस्कर कौकुम्भ, वामसकीलक, विश्वरूप अरुण गणक इत्यादि विशेष नामों से व्यवहृत हुए हैं। इसी धूमकेतुओं में से कोई एक केतु हमारी रैदरीनिलोत्पदी का वन्मदाता बना है।

पारमेष्ठ्य मण्डल में श्रुतरूप से व्याप्त अग्निव्याला-पुञ्जात्मक-प्रवलावेग से परिभ्रममात्र धूमकेतु-सङ्घ अक्षिर ही काय पाकर एक स्थान पर सञ्चित होने लगता है। यही न्यो अग्निव्या एक निरुत किन्तु पर सञ्चित होने लगते हैं यही न्यो पियवात्मक स्वभाव का उदय होने लगता है। इसप्रकार ज्ञाना तर में उस धूमकेतुका अग्निपुञ्ज के सञ्चित प्रवर्त्यरूप से 'सूर्य' नामक सत्य-अग्निपियव स्वतन्त्ररूप से प्रगट

+ “अप्सु त मुञ्च भद्र ते सांका अप्सु प्रतिष्ठिताः ।

आपोमया सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥

—महाभारत

\* शतमेकं चिक्रमेकं, सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम् ।

धुरुरूपमेकमेव प्राद मुनिनारदः केतुम् ॥

—बृहत्संहिता-फनुषाराम्याय ११।२५

सूर्य कहा गया है। त्वगोलीय ज्योतिःपुञ्ज न्यौकि स्वतः प्रकाशित बनता हुआ स्वज्योति है अतएव इसे 'सूर्य' कहना अनर्थ बनता है। त्वगोलीयता में इसीप्रकार स्वतः प्रकाशित स्वाती चित्रा लुब्धक अभिविजित्, आदि असंख्य नक्षत्र स्वज्योतिमय बनत हुए 'सूर्य' हैं। तभी तो स्वाती को 'सथिता' कहा जाता है —। सो पिएइ अन्य प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं, उन्हें परिमाणानुसार 'चन्द्रमा' कहा जाता है। पार्थिवोपग्रहमत सोमपिरइ न्यौकि अन्य ज्योति से (० सूर्यज्योति से) प्रकाशित है, अतएव इत 'चन्द्रमा' कहा गया है। इस ही 'परज्योति माना गया है। शनि के आठ उपग्रह, बृहस्पति के चार उपग्रह, एव मङ्गल के दो उपग्रह भी इसी परज्योतिमात्र से 'चन्द्रमा' कहाए हैं।

वीरवी रूपज्योति है। इसे हम परज्योति का ही दूसरा रूप कह सकते हैं। वीरवत्त्व की बनता से वही सोम-ज्योति को पार्थिवस्यमात्र में परिणत होने का अवसर मिल जाता है वही प्रकाशरश्मियों का उद्गार होता है। परन्तु मृदुमात्र की अविश्वता से रश्मिसम्बन्ध होने पर भी जित से अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने योग्य रश्मियों का प्रसार नहीं होता अतः जो अपने स्वरूपमात्र का परिचायक बनती है ऐसी परज्योति को ही रूपज्योति कहा जाता है। यही परिमाणानुसार 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुई है। अथवा यों कहें—संज्ञिए कि ज्योतिमात्र ही स्वयं 'रूप-प्रकाश' में स दो मार्गों में विभक्त है। जिन पिरइ के साथ सूर्य की इन दोनों ज्योतियों का सम्बन्ध होता है व परज्योति कहाते हैं। एव जिनके साथ कल रूप का सम्बन्ध होता है उन्हें रूपज्योति कहा जाता है।

चोथा विभाग 'अज्योति' का है। वायु चन्द्रलोकेत्य गाघवप्राण अपृथिवि सौम्यजीव य एव अज्योति है। पारंगुडताप्रतिक्लृप्त 'अत्रिप्राण' के अभाव से इनमें रूप-प्रकाशानुगत रश्मियों का प्रति-प्लवन नहीं होता। अतएव न तो इनका रूपप्रत्यक्ष ही होता न चन्द्रमा की भाँति इनसे रश्मि-प्रसारवन्त प्रकाश ही। शनि आदि ज्योतिमय ग्रह सूर्य से ही उत्पन्न हैं परन्तु ये स्वज्योति नहीं हैं अतः चन्द्रमाकृत् परज्योति हैं। इस ज्योतिरमात्र का एकमात्र कारण सूर्यसम्बन्ध-विद्युति ही है। सूर्य में अत्रसरूप से सोम-वायु आहुत होती रहती है। अतएव सूर्य स्वज्योतिमय बन रहा है। इससे विद्युत् शनि आदि उक्त सम्बन्ध विच्छेद से ही स्वज्योति—संगति से वञ्चित होखे है। जो महत्त्व सूर्य की दृष्टि से शनि आदि का है वही महत्त्व पृथिवी का है। पृथिवी भी एकदृष्टि से परज्योति ही है और इसका मुख्य कारण मृदुमात्र की प्रचानता ही है। ऐसी दशा में कल ज्योति के अभाव से ही इसे ग्रहमप्याना से पृथक् करत हुए उक्त असञ्जति की आगुहा नहीं की जा सकती।

— 'देवस्य त्वा सवितु प्रसवऽश्विनोर्वाहुभ्या पृष्णो हस्ताभ्याम्' [ यजु स० ]  
इत्यादि मन्त्र में स्वाती के अमिप्राय से ही 'सवितु' पद उद्धृत हुआ है।

\* "अत्राह गोरमन्वत नाम त्वन्दुरपीष्यम् इत्या चन्द्रमसो गृह।" [ अथकस० ]  
तरणिकिरणसङ्गादप पानायपिएडा दिनकरदिशि चञ्चलान्द्रिकामिराकास्त"  
[ ज्या० ]

क्यों तक में पूरी होती मानी गई है। इस परिष्कार के अनुसार ही भूकोष्ठस्था प्रजा को इसका प्रत्यक्ष हुआ करता है। केन्द्रविरहित घूमकेन्द्र घूमने लगा। इस समय इसमें दो भागों का समवेश हुआ।

उपर तो पारमेष्ठ्य 'वराहवामु' के व्यापार से केन्द्र का निर्माण आरम्भ हुआ। इसपर परिधि-स्थानीय अग्निपुञ्जलयक प्रत्यक्षमात्र से युक्त होने लगे। अलान्तर में गतिवैषम्य से अग्निपुञ्ज का सर्वान्त का भाग इससे पृथक् होकर अपना नियत स्थान बनाकर घूमने लगा। वही अग्निपुञ्ज-लयक भागे बाकर 'शनिधर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी समय अवश्य ही शनैश्चरकक्षा-पर्यन्त इस अग्निपुञ्ज की स्थापि रही होगी। परन्तु आज तो अग्निपुञ्जविशेष सूर्य और शनैश्चर में पर्याप्त अन्तर हो गया है। शनैश्चर के अनन्तर जो अग्नि-लयक प्रकृत हुआ वह 'बृहस्पति' कहलाया। तीसरा लयक प्रकृत हुआ। यह आगे बाकर १८ अलान्तर लम्बों में परिणत हुआ जिन्हें १८ 'वेधसेनाग्रह' कहा जाता है। अनन्तर चौथा लयक प्रकृत हुआ वही 'मङ्गल' कहा जाता है। मङ्गल के अनन्तर प्रकृत होने वाला लयक ही सुप्रसिद्ध 'मृषियक' है। इस मृषियक का सोममय प्रकृत अविभाग ही 'चन्द्रमा' है। आगे का लयक शुक्र कहलाया। एवं सर्वान्त का लयक 'बुध' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसप्रकार केन्द्रस्थ अग्निपुञ्ज ( जो कि आज सूर्य नाम से प्रसिद्ध है ) से ही ये सम्पूर्ण ग्रहोपग्रह उठी गतिवैषम्य से उत्पन्न हुए हैं। सूर्यात्मक अग्निपुञ्ज के प्रथम प्रवर्ष माग 'सूर्यपुत्र' नाम से प्रसिद्ध शनिदेव ही मानी गए हैं, जिनकी एक मासवर्षिक परिक्रमा १ वर्षों में समाप्त होती है। सूर्य के प्रवर्षों शब्दों से उक्तग्रह अथावाचि सूर्य के चारों ओर उठी प्रकृत स्थान में परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य के चारों ओर सर्वप्रथम बुध अनन्तर शुक्र अनन्तर पृथिवी, पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा अनन्तर मङ्गल, अनन्तर वेधसेना नामक १०८ ग्रह, अनन्तर बृहस्पति अनन्तर शनि सर्वान्त में नक्षत्रकक्षा यही इनका प्रवस्थानक्रम है। अब भी विधि के इस अलावचक्र की यह परिभ्रमखलीला बयासत् परिक्रान्त है। प्रवरय ही अलान्तर में सूर्य से ओर ग्रह उत्पन्न होंगे जिनका सङ्केत हमें साठर कपिल ब्रह्म चक्राङ्गु आदि पारिपार्वर्षकों से मिला रहा है। इस क्रमसे एक दिन सम्पूर्ण सूर्यमात्रा ग्रहनिर्माण में समाप्त होनामयी। उद्या प्रजापति के विभक्त होते ही अक्षप्रक्रिया का अवतान होनायगा। अस्मृतात्मक रात्र्यागम सन्तुल्य हुए बना देगा। पुनः नवीन घूमकेन्द्र से नवीन उत्तिक्रम आरम्भ होगा। इसप्रकार 'सामास्त्यस्तोऽर्धार्ध' व्यवस्थात रात्र्यवलीभ्यः समाप्त्य-बाधा सधापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि रूप से उपगीमान विधि का यह विधिब लीलाचक्र हरीप्रकार चक्रम ४ करता रहेगा जिसके लिए 'इवमित्त्वमेव' कहने के लिए मानवीय बुद्धि सर्वथा ही अक्षम्य है। 'न विरवमूर्त्तोरयभाष्यते वपुः ( महाकवि काशिकाव )

'शनि बृहस्पति वेधसेनाग्रह, मङ्गल बुध ये उपग्रह ज्योतिर्मय दिखलाई देते हैं। अतः इन्हें सूर्योपग्रह मानना सुमङ्गल बन रहा है। परन्तु अनुस्यूतायुक्त मणिरत्न क्योंकि ज्योतिर्मात्र से वञ्चित है अतएव इसे सूर्योपग्रह मानना अवज्ञाय का प्रतीत होता है। इस अवज्ञाति का उस समय प्रतिभाति निराकरण होनाप्रा है जब हम उक्त ग्रहों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हुए वैज्ञानिक-ज्योतिर्विज्ञान के स्वरूप से अवगत हो जाते हैं।

'स्वज्योतिः, परज्योतिः, रूपज्योतिः अज्योतिः' अर्द्ध स ज्योतिर्निवृत्त चार भागों में विभक्त माना गया है। चारों ओर से स्वतः प्रकाशित ज्योतिर्मन्त्रक ही 'स्वज्योतिः' कहलाए हैं। इन्हें ही परिभाषानुसार

प्राप्त भुक्ति के सभी पदों का समन्वय होगया। अन्न धीतये पद अवशिष्ट है। भुक्ति ने 'धीतये' इन तीन अक्षरों से लोकवितान करना नतलाते हुए एक दूसरे 'अन्न-अन्नाद्यिज्ञान' का भी स्पष्टीकरण किया है। लोकवितान हुआ, और-देवताओं ने तीन अक्षरों से (अक्षरानुगत गतित्रयरूपा गति से) त्रैलोक्य का निर्माण किया। परन्तु प्रश्न यह है कि देवताओं ने यह महारम्म प्रयास किया क्यों? किस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर देवताओं ने लोकनिर्माण किया?। भुक्ति का 'धीतये' पद इसी प्रश्न की उत्पत्ति बना रहा है। धीतये का शब्दार्थ है— खाने के लिए। इस प्रदाना को से 'देवा उपजीवन्ति') के अनुसार पार्थिव रस ही और-देवशाणा की जीवनयात्रा का कारण माने गए हैं। औरप्रभापति ग्रहनिर्माण में जहाँ अपने शरीरपदों का विस्तार (लब्ध) करते रहते हैं वहाँ वे इनके रखों का आदान करते हुए उस विस्तृत भाग की क्षतिपूर्ति भी किया करते हैं। यही पारस्परिक अन्न-आदानमान है जिसका अन्वय विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है। यदि भूलोक न बनता तो यहाँ से च लोको में गायत्र-अग्नि के द्वारा पार्थिव रखों का गमन न होता। फलतः सुलोकस्थ प्राणादेवताओं का विस्तार तो होनावा। किन्तु विस्तृत भाग की क्षतिपूर्ति नहीं होती। हम देख रहे हैं कि विस्तार के साथ साथ क्षतिपूर्ति भी हो रही है। इस पारस्परिक आदान-विसर्गमक अन्नयज्ञ से ही दोनों का स्वरूप सुरक्षित है। देवताओं की यह आदान प्रक्रिया 'धी-त-य' इन तीन अक्षरों से उपलब्धित 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-धौ' इन तीनों लोकों के रखों से समानरूप से सम्बद्ध है। इसप्रकार 'धीतये' यह अक्षर पद जहाँ प्रभापति की गतित्रयी के द्वारा लोकत्रयी-निर्माण का रहस्य स्पष्ट कर रहा है वहाँ यही पद लोकत्रय-निर्माण की आवश्यकता का भी व्युत्पेक्षादन कर रहा है।

अथर्व ही इस रहस्यार्थ को गर्भ में रखने वाले 'अग्न आयाहि धीतये' इस मन्त्रभाग के अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यज्ञमान के निवास के लिए लोकसम्पत्ति भी त्रयीय होनाती है एवं अन्नसम्पत्ति भी 'विपुल' होनाती है। हम भी इस मन्त्रपद के रहस्यार्थ के उपसंहार से लोकत्रय तथा अन्नाध्यक्ष उस दिव्याग्नि-देवता से यही प्रार्थना करते हैं कि हमारे इस भारतलोक के तथा भारतीय-योगसम्पत्ति के भारतीयों को अनसम्य भोक्तृ बनाने का अनुमति करते हुए अपने भारत नाम को भरिताय कर देने 'अग्ने'। महीं अग्नि ब्राह्मण भारत यह कहने का अवसर प्रदान करें ॥२३॥

मन्त्र का मध्यभाग है 'गृणानो हव्यवस्तय' यह। देवताओं ने लोकत्रय-सम्पत्तियाँ प्राप्त कर त्रैलोक्योपलब्ध सम्पत्तरम्यबल में अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। क्यों? जानते हैं आप? देवताओं ने पहिले आत्म-समर्पण किया सर्वस्व शिदान किया तब जहाँ उन्हें यह वैभव मिला। देवता हमारी भाँति अर्हार्थ नहीं अपितु 'यज्ञमान' हैं यज्ञकर्म के अनन्य अनुगामी हैं। हम भी इस सम्पत्ति के सभी भोक्ता बन सकते हैं जब यज्ञमान वने अग्निवितान करें हव्यवस्ता बने कर्म्येठ वने अपिप्रदिष्ट सर्वसाधक यज्ञकर्म का अनुगमन करें। जो यज्ञमान ऐसे यज्ञमान हैं वही उक्त सम्पत्ति के भोक्ता बन सकते हैं। अन्यथा तो सब अन्यथा ही है।

×- अहमस्मि प्रथमत्वा अतस्य, पूर्व देवेभ्यो अमृतस्य नाम।

यो मा ददाति स इ दध मावत्, अहमभमभमदन्तमभूमि' ॥

उक्त ग्रहोपग्रहमास में से प्रकृत में हमें पाठकों का ध्यान केवल सूर्य तथा पृथिवी (भूपृष्ठ) की ओर ही आकर्षित करना है। जबतक अग्निपञ्चामक सूर्य से पृथिवी का उदय नहीं हुआ या उक्तक सूर्य एक विशाल अज्ञातचक्ररूप में परिणत रहता हुआ उस स्थान पर्यन्त व्याप्त था वहाँ कि आकाश पृथिवी की अन्तिम परिधि है। सूर्य-विशेष कि द्युलोक कहा जाता है, उस समय उसी की व्याप्ति थी। उस समय पृथिवी-अन्तरिक्ष (सूर्य, तथा पृथिवी के मध्य का प्रदेश)-द्यौ (सूर्य) इसप्रकार का त्रैलोक्य विभाग न था। आकाश को द्युलोक (तदुपलब्धित सूर्य) हमारे मूलोक से ५ कोटि कोश विस्तृत स्थान पर स्थित है जिस द्युलोक को आकाश खूना तो दूर रहा अतः ही छाया-रूप से (अविश्रुत रूप से) नहीं किया जा सकता, वह द्युलोक अग्निमूर्ति से पहिले (जिस स्थान पर आकाश मूलोक की अन्तिम परिधि है) इस मूलोकपर्यन्त व्याप्त था। उस समय यदि हम होते तो द्युलोक द्वारा से खूना जा सकता था। इसी पूर्वस्थिति का अति ने—‘उत्सुरसा ह्येष द्युरास’ इन शब्दों में अभिनय किया है ॥२७॥

जिस अर्थ का पूर्व में हमने अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा था कि, काल पाकर सूर्य से मानव प्रकृत हुआ अतः त्रैलोक्य का विभाजन हुआ और उस समय अन्य ग्रहों के प्रत्यक्षभाव से द्युलोक इस मूलोक से विदूर होगा। अति अपने शब्दों में उसी भाषा का स्पष्टीकरण कर रही है। प्रश्न यह है कि किन्तु इस अग्निपुत्र को प्रकृत किया। इस प्रश्न का उत्तर इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है, कि-सूर्य-केन्द्रस्थ अममय प्रजापति की कामना से ब्रह्मपुत्र बने हुए और प्राणदेवताओं ने ही यह लोकोपनिषत् किया। उक्त भी वही उत्तर छमीथीन प्रतीत होता है। और-अग्निपुत्र अपने गतिवैषम्य से ही वो ग्रहों का जनक बना है। यह गतिवत्त्व प्राणरूपा से सम्बन्ध रखता है। प्राजापत्य मन जहाँ ज्ञानप्रधान है प्राजापत्य वाक् जहाँ अथप्रधाना है वहाँ सम्यक्स्थ प्राजापत्य प्राण क्रियाप्रधान माना गया है। क्रिया ही गतिभाग है। इस दृष्टा-प्राजापत्यगति का अर्थरूप से ब्रह्म-विज्ञान होता है एवं इस गति का आगे बाहर अग्निपुत्रस्थ आग्नेय-प्राणदेवताओं से योग होता है। इसी वैषम्य (प्राणगति) से लोक-विभाजन होता है।

इस लोक-विभाजन-प्रक्रिया-में दृष्ट प्रजापति का मौलिक सहयोग कृतज्ञ माना गया है। वहाँ प्रजापति ‘आत्मन्वन निमित्त उपादान मेघ से त्रिस्तम्भ माना गया है। अथर्ववेदप्रमाण वही आत्मन्वन है अथर्ववेदप्रमाण वही निमित्त है एवं अथर्ववेदप्रमाण वही उपादान है। आकर ही क्योंकि अग्नि का निमित्त है अतएव यह कहते हैं कि, यहाँ दृष्ट आकरप्रजापति ही इस अथर्ववेद का प्रधान प्रकृतक है। यह दृष्टाचर ब्रह्मपुत्रस्थ स्थिति उन्मूलकस्थ गति तथा विष्णुलक्षण आगति इन तीन गतियों से युक्त है। सधत्वोविगति स्थिति है अर्थात्गति आगति है परागति गति है। इसप्रकार अथर्ववेदस्थ स्थिति आगति-गति-तीनों तत्त्व गति ही बन रही हैं। अथर्ववेदप्रमाण प्रजापति अपने इसी अथर्ववेदमुक्त-गतिप्र-युक्त गतिनाम से सोमगर्भित अथर्ववेद के आधार पर लोकोपनिषत् में समर्थ हुए हैं। जिस गतिविशेष में मूलोक प्रकृत हुआ है उस वैषम्य में (अथर्ववेदस्थ प्राणगति में) स्थितिरूपा गति भी है। अथर्ववेदस्थ गति भी है एवं प्राणरूपा गति भी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर अति ने कहा है कि—‘यान्तरेय त्रिभिरचरेर्व्यनयम्’। देवताओं ने स्वगतिरूप दृष्ट-प्रजापति के ब्रह्म-विष्णु-इन्द्रादि से सम्बन्ध गतन सभी स्थिति-गति-आगति-रूपा गतियों से ही लोकोपनिषत् किया।

एवं आप-वायु-सोम-रूप से भूय भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है स्नेहलक्षणा भृगुत्रयी परिधि स हृदय की ओर क्रमशः ( संकुचित होती हुई ) आती रहती है एवं तेजोलक्षणा अङ्गिरात्रयी हृदय से परिधि की ओर क्रमशः ( विकसित होती हुई ) जाती रहती है । अङ्गिरात्रयी का अन्तिम विभक्त परिधि-सीमा पर पहुँचते ही अर्वाङ्मुख बनकर भृगुत्रयीरूप में परिणत हो जाता है । एवमेव भृगुत्रयी का अन्तिम सञ्चेत हृदयसीमा पर पहुँचते ही सहायस्थानामावप्रवचक सभय में परिणत होकर पराङ्मुख बनता हुआ अङ्गिरात्रयीरूप में परिणत हो जाता है । यहाँ से इस अङ्गिरात्रयी के अक्षों का ७ ऊर्ध्व की ओर रहन रहने लगता है, अतएव इसे 'अङ्गिरा' कहा जाता है । अथवा अङ्ग 'स' क सम्बन्ध से भी इस पार्थिव अग्नि को 'अङ्गिरा' कहना कर्तव्य बनता है — अग्नि ही अक्षों का स्वरूपरक्षक रह है ।

इस अङ्गिरोग्नि के भूत-प्राण में दो विभक्त हैं । प्रायश्चर्य अङ्गिराग्नि भूतलक्ष अङ्गिरो-ऽग्नि है । एवं इस भूताङ्गिरोऽग्नि में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित अङ्गिराप्राण प्राणलक्ष अङ्गिरोऽग्नि है । प्राण को ही विज्ञानमात्रा में 'अपि' कहा गया है । अतएव भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है तभीतक भूत की स्व-रूप-रक्षा होती रहती है । साथ ही अतएव इस प्राण के साथ बाह्य अन्नसम्पत्ति का सम्बन्ध बना रहता है तभीतक यह प्राण भूतरक्षा-कर्म में सफल रहता है । अङ्गिराप्राण के परीक्षक अतएव तत्समय की सभ्यादा के अनुसार 'अङ्गिरा' इस यशोनाम से प्रसिद्ध महर्षियोंने अपने वैद्य यज्ञो म समिधा-धान ( अष्टाधान ) से इसी का समिन्धन किया है । इसप्रकार दोनों दृष्टियों से—“समिद्धमिद्धैत-मङ्गिरस-देवत” यह वाक्य चरितार्थ हो रहा है । 'धृतेन वद्ध' यमसि का धृतपद 'धृताध्या' की मूर्ति समिन्धनकर्म का अनन्य उपोद्बलक बनता हुआ 'सामिधेनी' पद बन रहा है । वृत्त ही अग्नि का अपना वीर्य है । इस पद से समिद्ध अग्नि में इसी वीर्य का आधान हो रहा है ॥२५॥

त्रैलोक्यात्मक सम्बन्ध में व्याप्त होने से यही 'बृहत्' है स्वयं अपने वरप से विद्यमान है । साथ ही हमारा यह आहवनीयाम्नि भी सामिधेनियों से समिद्ध होकर महान् बनता हुआ अतिशयरूप से प्रवन्धित हो रहा है । अवश्य ही आज यह अग्नि यजमान के शत्रुओं के भी शोक का कारण बन गया है जैसाकि आगे के अमिन्धार-कर्म में स्पष्ट किया गया है । 'यधिष्ठ्य' यह इस अग्नि का प्रातिस्विक नाम है । सम्ब-स्वपत्ति का पारमेष्ठ्य अमृतस्रोत से नियत सम्बन्ध है । इसी अवसरोमाहुति के प्रभाव से यह दिव्याग्नि सदा समानरूप से प्रवन्धित रहता हुआ अजर-अमर तथा नित्ययुवा बना रहता है । 'यधिष्ठ्य' से अग्नि के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है । नगोक्ति प्रकृत श्रुत्या में 'धृतेन' पद है अतएव 'धृतमन्तरिक्षस्य' के अनुसार यह श्रुत्या अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति की ही सप्राप्तिका बन रही है । इसप्रकार प्रकृत श्रुत्या निम्न-लिखित रूप से समिद्ध अग्नि की समिद्ध-प्रक्रिया का इतिहास कतलाती हुई इसके स्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रही है—

७-‘तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति’ (गो० ब्रा० पू० १।६।) ।

—( देखिये-सा० ध्या० ब्रा० ३।२।१० ) ।

मन्त्र का अन्तिम भाग है नि होता सस्ति बर्हिषि' यह। अग्नि 'होता है वह बर्हि' पर प्रतिष्ठित है एवं बर्हि से निदानेन वहाँ 'मूलोक' ही अभिषेच है जैसा कि पूर्व में समष्टिरूप से मन्त्रार्च करते हुए सोपनसिक कलशाया बानुष है। इस सामिधेनी का 'बर्हि' पद इस मूलोक का ही अनुगामी है। अतः इसके अनुवचन से यत्कर्त्ता यजमान पार्ष्वि मागधेय का ही अनन्व मोक्षा वन जाया है और वही द्वितीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है जिसका शास्त्र की २२ २१ २४ इन तीन कश्चिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ॥२४॥

'अग्न आयाहि' के अनन्तर वह होता कम्प्राप्त तीसरी (आहुत्यानुसर पांचवी) निम्नलिखित सामिधेनी-श्रुचा का अनुवचन करता है—

(३) - 'ओम्-तं त्वा समिदुमिरङ्गिरो धतेन बर्ह्यामसि ।

बृहन्नोचा यविष्य-ओम्' इति (५) ।

'प्र वो वाजा अभिषवः० इत्यादि प्रथम मन्त्र ब्रैलोक्य-व्यापक सम्बत्स्रानि का समष्टिरूप से स्माराह है। मन्त्रगत 'वाजा' पद त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित मूलोक का मन्त्रोपाच 'धृतावता' पद पञ्चवरास्तोमो-पलक्षित 'अन्तरिक्ष' का एवं मन्त्रगत अभिषव पद एकविंशस्तोमामक धुलोक का स्माराह वन रहा है। इसप्रकार प्रथम मन्त्र से सम्बन्धामक सम्बत्सर अग्नि का ही समिन्वन हुआ है। इस से अग्नो के— 'अग्न आयाहि वीतये०' 'तं त्वा समिदुमिरङ्गिरो' - 'स नः प्रभुभवाव्यम्०' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष और इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनो अग्निपर्वों का समिन्वन हुआ है। 'अग्न आयाहि' का 'बर्हि' पद पार्ष्विधाग्निपूर्व का 'तं त्वा समिदुमि' का 'धृतेन' पद आन्तरिक्षाग्नि का, एवं 'स नः प्रभुभवाव्यम्' का 'प्रभु' पद विज्याग्निपूर्व का स्माराह वन रहा है। इसप्रकार इस मन्त्रचक्रवर्ती से समष्टि बर्हिरूप से उमयया अग्निदेव का समिन्वन होजाया है इस सङ्गति की लक्ष्य में रत्नकर ही इस मन्त्रचक्रवर्ती के अर्थ का समन्वय करना चाहिए।

'अग्न आयाहि०' से दिव्यलोकस्य सावित्राग्निरूप दिव्य अग्नि का इस मूलोकोपलक्षित चक्ष्वाग्नि में आधान किया गया। यहाँ आते ही यह पृथिवी की वस्तु बनता हुआ आह्विता पद का अविधारी बन गया। 'इष्ट एत सदाकुरु' इत्यादि मन्त्रकर्त्तान के अनुसर पार्ष्वि अग्नि ही अङ्गित कहलाया है। इसीलिए ऋषि ने इसे (आगमन के अनन्तर) 'अङ्गिरा' नाम से व्यबहृत किया है। अग्नि की ही श्रुति, तथा अङ्गिरारूप से हो अवस्था मानी गई है। आगमनवरा में वही श्रुति कहलाया है, एवं गमनवरा में वही अङ्गिरा कहलाया है। प्रसवस्थित अग्नि में जो अग्निम्वासा है वह साक्षात् श्रुति है। अग्नि की अवस्थास्वर मार्ग शोम के बलने का ही नाम स्वाहा है। एवं त्रित अङ्गित पियङ्ग से वह ज्वाला निकल रही है वह अङ्गिरोऽग्निमय है जैसा कि—'अर्धियि धृगः सम्बभूव अङ्गिरेभ्यो अङ्गिरा' सम्बभूय। अथ यदङ्गिरा अथरान्ताः पुनरुपवीप्यन्त अथ बृहस्पतिभक्त' इत्यादि शास्त्रभृति से स्पष्ट है।

तत्पर्यं वही है कि, तेजा-स्नेह-तत्त्वा के अभिषव का ही नाम वस्तुस्वरूप है। तत्र अङ्गिरा है स्नेह श्रुति है। अग्नि-यम-आविम्य मय से 'अङ्गिरा' भी तीन अवस्थाओं में वर्णित रहता है।



श्रुचा 'प्रयुमती' है। तीनों की समष्टि लोकत्रयसम्पत्ति की स्थापिका जनती हुई 'लोकत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृत सामिधेनी-प्रकरण में लोकत्रिच अथर्वयन्त्रिच-वृषयन्त्रिच मंत्र से तीन त्रिच हैं। इनमें पहला लोकत्रिच व्यष्टिरूप से ही त्रैलोक्य में व्याप्त दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहा है। मन्त्रार्थ स्पष्ट है ॥२७, २८॥

उक्त लोकत्रिच के अनन्तर वृषयन्त्रिच का अनुवचन आरम्भ होता है। 'स न प्रथु भवाय्यम् इत्यादि चौथी श्रुचा के अनन्तर यह होता क्रमप्राप्त पाँचवीं (आहृत्यानुसार आठवीं) वृषयन्त्रिच की पहिली निम्नलिखित श्रुचा का अनुवचन करता है—

(५)—"ओम् ईदन्त्यो नमस्यस्तिरस्तमासि दर्शत ।

समग्निरिष्यते वृषा ओम् ॥ (७)-(१)

'ताप' जहाँ अग्नि का प्रातिस्विक धम्म माना गया है, वहाँ प्रकाश इन्द्र का प्रातिस्विक धम्म माना गया है। चन्द्रमा में केवल इन्द्र का सम्बन्ध है अतएव चन्द्रमा में प्रकाश है ताप नहीं। उष्ण बल में केवल अग्नि का सम्बन्ध है अतएव इसमें ताप है प्रकाश नहीं। अग्नि-वरुण का एकत्र सम्न्वय सम्भव है परन्तु वरुण-इन्द्र का एकत्र सहवास सम्भव है। इसप्रकार ताप-प्रकाश का मलीमति पारस्य सिद्ध होजाता है। हम जिस ओर दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहे हैं उसमें ताप भी है प्रकाश भी है। इसमें ताप अग्नि का धम्म है प्रकाश इन्द्र का धम्म है। इन्द्र ही 'वृषा' नाम से प्रसिद्ध है। वृषेन्द्र के सम्न्वय से ही यह यद्विष्य अग्नि 'वृषा (प्रकाशयुक्त) बन रहा है। इसी वृषेन्द्र के सहयोग से यह अग्नि अन्धकार दूर करने में समर्थ हो रहा है। वृषेन्द्र यज्ञ का अधिपति माना गया है। जबतक यज्ञ में इन्द्र सम्पत्ति का समग्र नहीं होता तबतक यज्ञ अपूर्ण रहता है। उसी वृषेन्द्र के समग्र के लिए इन्द्रयुक्त होने से वृषा नाम से प्रसिद्ध अग्नि का प्रकृत श्रुचा से समिन्धन हुआ है जो कि अग्नि अलौकिकी मन्त्रमाया से मी स्तुत (विजित होने वाला) है एवं लौकिक माया से मी नमस्कार करने योग्य है। शास्त्रीय कर्म में मी यह (प्राप्त्युक्त से) उपयुक्त है तथा लौकिक मानवकर्म में मी यह (भवत्युक्त से) उपयुक्त है।

'ईदन्त्यो नमस्यः' के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त ६ ठी (आहृत्यानुसार आठवीं) वृषयन्त्रिच की दूसरी निम्नलिखित श्रुचा का अनुवचन करता है—

(६)—"ओम् वृषो अग्नि समिष्यत अरवो न दववाहन ।

तं द्विष्मन्त ईदत ओम् ॥ (८)-(२)

वृषेन्द्र के सम्न्वय से वृषा जनता हुआ ही यह अग्नि अरव-रूप में परिणत होकर देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करने में समर्थ होता है। सौरलोक से भूलोक की ओर आनेवाला इन्द्रयुक्त दिव्याग्नि ही अरवरूप में परिणत होकर वापस लौटता हुआ पार्थिव अग्नि का धुलौकिक देवताओं के लिए-इनके विस्तृतभाग की क्षतिपूर्ति के लिए-वहन करता है। सौरज्योति [ इन्द्रगमित दिव्याग्नि ] अपने सात्विकरूप से भूमि [भूपृष्ठ] की ओर आ रहा है। जिसप्रकार तरणिकिरण-सङ्ग से पानीय-विद्युत्तामक चन्द्रमा काय नाग में ही प्रकाशित रहता है एवमेव यह आगत सौर तेज मी भूपृष्ठ के सूर्यदिगुगत इन्द्र अरव-भाग को ही प्रकाशित

“हे पार्थिव अङ्गिरोऽग्ने ! अङ्गिराग्राश के द्वारा पार्थिवद्रव्यरूप समित से—तथा अन्तरिक्ष घृत से आप समिद्ध हैं । इसी समिधन्वनकर्म से आप त्रैलोक्य में दृश्यरूप से उपते हुए नित्यतरुण बन रहे हैं”

“हे आहवनीयस्थ समिद्ध अग्ने ! अध्वर्यु नामक ऋषिक् काष्ठ, तथा घृताधान से आपके स्वरूप को प्रवृद्ध कर रहा है । हे नित्यतरुण अग्ने ! आप इस समिधन कर्म से महान् बनते हुए प्रदीप्त बनिष्” ।

क्योंकि इस ऋचा से अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति का संग्रह हुआ है अतएव यह स्वरूपतः अग्निमयी बनती हुई भी अनिबद्धा है । अन्तरिक्षलोक का आकाशत्वेन निर्वचन नहीं किया जा सकता । यही अन्तरिक्ष की अनिरुद्धता है । इसप्रकार ऋचा के ७ घृतन पद की भाँति ‘अनिरुद्ध’ भाव भी अनिबद्ध अन्तरिक्ष का सम्राहक बन रहा है । एवं यही तृतीय मन्त्रपदों की सक्षिप्त उपपत्ति है ॥२७॥

‘त त्वा समिद्धि ०’ के अनन्तर होता क्रमपाप्त चौथी (आहवति के अनुसार ६ ठी) निम्नलिखित शामिषेनी-ऋचा का अनुवचन करता है—

(४)- ‘ओम्-स न पृथुभवाय्यमच्छा दव विनाससि ।

बृहदग्ने सुवीर्यम् ओम्’ इति (६)

वैदिक-परिभाषानुसार ‘इयं अयं-इदं’ शब्द पृथिवीलोक के ‘एष’ शब्द अन्तरिक्षलोक का तथा ‘असौ अय’ इत्यादि शब्द द्युलोक से सम्बद्ध हैं । ब्राह्मणभूति में पठित ‘अयः’ शब्द उसी पारिभाषिक द्युलोक की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । द्युलोक एवं तत्रस्थ दिव्याग्नि दोनों पृथिव्यान्तरिक्ष की अपेक्षा ‘पृथु (विस्तीर्ण)’ है साथ ही स्वल्प प्राणदेवताओं के निवास से अत्राणीय भी है । और इस सर्वसुलैकसाध्य द्युलोक, तथा दिव्याग्नि की गायार्थ सुनना नहीं चाहता ? अग्नि के इस पृथुभवा-कर्म से कहा यही आता है कि यह हमारे यज्ञ में समिद्ध होकर यजनान को भी उस अत्राय्य दिव्यलोक का पात्र बनावे ।

द्युलोक यहाँ अत्राय्य है यहाँ वीर्यशाली—वीर्यप्रवर्तक देवताओं के निवास से सुवीर्य्य भी बन है । साथ ही अपने लोक (द्युलोक) के बृहत्साम से ‘बृहत्’ भी । प्रस्तुत ऋचा द्युलोक की ही अनुप्रासिता बन रही है जिसके सम्राहक ‘पृथु’ ‘दवाः’ ‘बृहत्’ इत्यादि पद बन रहे हैं । अग्न आयाहि० इत्यादि ऋचा वर्हिधमती है ‘त त्वा समिद्धि ऋचा वृद्धिमयी’ है, एवं प्रकृत—स न पृथु भवाय्यम्

●—‘घृतन पद तथा अनिरुद्धमाय के अतिरिक्त बह्वयामसि’ तथा बृहत् पद भी इसी अन्तरिक्षलोक के सम्राहक बन रहे हैं । कारण यही है कि, यह अन्तरिक्ष पृथिवी की अपेक्षा उत्तरोत्तर परीधान् तथा परम् है ।

‘नमस्य’ कहा गया है। यहाँ इस कर्मोपासना की दृष्टि से इसे ‘इहन्व्य’ कहा गया है। वही प्रकृत में प्रधानरूप में अवस्थित है। ‘इहन्व्यन्तो ह्येतं मनुष्या ईहन्ते’ यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इत कर्मोपासना का ही स्वीकरण कर रहा है और यही प्रकृत मन्त्रभागों की सविष्ट उपपत्ति है ॥ ३२ ॥

‘यूपो अग्नि ममिष्यते०’ इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अनुवचनान्तर वह होता कर्मप्राप्त ७ वीं [ आहृत्यानुसार ६ वीं ] उपवचनान्तर की तीसरी निम्नलिखित श्रुति का अनुवचन करता है—

(७)—‘ओम् वृषणं त्वा वय वृषण समिधीमहि ।  
अग्ने दीधन्त वृहत्-ओम्’ इति ॥ (६)–(६)

‘यज्ञसन्निधिरप्ययं यज्ञविपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्षक वनतं वृषं वं वृषा (वृषात्मक) अग्निवृष आत्मा ( उक्त सामिधिनिया से ) पूर्णरूप में समृद्ध हागण है । वृषलोकस्थ इन्द्र के वृहत् साम-सम्बन्ध से वृहत् वन गण है’ यह भाव प्रकृत करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकत्व का ही स्वीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्त रूप से तीनों मन्त्रों की समष्टि उपवचनान्तर बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि की यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३३ वीं कविद्वय से इसी फल का स्वीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

उपवचनान्तर के अनुवचनान्तर वह होता कर्मप्राप्त आठवीं [ आहृत्यानुसार १० वीं ] निम्न लिखित श्रुति का अनुवचन करता है

(८)—‘ओम्-अग्निं दूत वृणीमहि होतारं विश्ववेदमम् ।  
अस्य यज्ञस्य सुकृतम्-ओम्’ ॥ (८०)

मन्त्र का ‘अग्निं दूतं वृणीमहि’ वाक्य एक महत्वपूर्ण विज्ञान का स्वीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहा गया है, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणभूति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्वीकरण करते हुए साम्यस्वरिकगति का भी विरलेक्षण किया है। उसी का सविष्ट वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

मौलिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली दृष्टि के जीवन-साथक आग-विद्युत्-आत्मिक यज्ञ-कर्म का निरन्तर फल प्राप्त करना करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में ‘प्राण’ नाम से व्यक्त हो रहा है। विरूपाक्ष इन्द्रायस्त इन्द्राग्नीरवपस [ अक्षय ] इन अक्षयान के अनुसार ये शक्तिक-रूप प्राप्त अमृत हैं। प्राणों का अानन्त्य ही मनुष्यों के अानन्त्य का कारण है। अपामन्द्यद्वयमात्र इन अमृत प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य स्वभ्यातिर्षन है अतएव इसका प्राण अतिधाम्ना माना गया है। एवं रूपभ्यातिर्षना

करता है शेष अक्ष मात्र अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के विभिन्न अद्वितीय ने दो विषय होनाते हैं जैसा कि अप्सरवन्त-त्रिचोपपत्ति में निस्तार से मतलब आने वाला है।

सूर्यरश्मि की दक्षिणोत्तर परिधियों को कटता हुआ आगत सौर प्रकाश प्रकृति में परिणत होता हुआ साथ ही मूल्याया का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिबिम्बित होनाती हैं। जैसा आन्धर छाया का होता है, ठीक वैसे ही आन्धर में कभी-प्रकाशरश्मियों का भी प्रतिबिम्बित होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिमुख से उलझ हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर तेज की सम्बन्ध।

सौरप्रकाश मूल्या पर आया गायब रूप में परिवर्तित होकर पार्थिवरश्मि रूप में ही तोता हुआ अन्धकार के समतुलन से प्रतिबिम्बित होनाया। इस मूल्याया-समतुलित प्रतिबिम्बित प्रकाशाकृति का साम्प्रतिक तेज से अभिमुख होनासे हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिबिम्बित प्रकाशाकृति “अश्व” नाम से प्रचलित हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत-स्थिर अश्वान्निचरात्मक-मार्ग से यज्ञवहन करता है इसी अभिप्राय से— अश्वो-न वेदवाहनः कहा गया है।

लोक में जहाँ बिज ( निवेध ) अथ में ‘न’ का प्रयुक्त होता है वहाँ मन्त्रमध्य में पठित ‘नकार’ निवेचार्यक न होकर ‘ओम्’ इत्यादिप्रकार इचार्यक मात्र से ही सम्बन्ध रहता है \*। तभी तो ‘अश्वो न का’ ‘अश्वो ह वाऽप्य भूत्वा०’ यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य यही है कि ‘न कार’ अभाव का सूचक बनता हुआ अनिर्वचनकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिर्वक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति ( आत्मा ) ही तयालक्षणा स्वीकृति के आवार हैं। अतएव मध्यस्थ नकार को तयावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ हैं अत मध्यस्थ नकार तयावाचक माना जायगा। यदि जुगाधन्त में न कार पठित है तो उलझ निवेध ही अर्थ होगा जैसाकि— ‘न विज्ञानामि यदि वेदमस्मि०’ इत्यादि मन्त्रवर्धन से स्पष्ट है ॥ २६, २ ॥

“तं हविष्मन् इहते” इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है। एक वाचिक उपासना है, दूसरी कर्मोपासना है। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना ‘नम जकि विधेम’ लक्षणा अधिक उपासना है। मावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्त छल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अतएव उस समय कर्मोपासना ही करनी पड़ेगी अग्निधर्मिन्धन ही करना होगा इसे तुष्ट करने के लिए हविष्यदान ही करना पड़ेगा। इस हवि से वह अग्नि पुनोऽप्यन्त विद्यत होगा बिज इस विद्यान की ही स्तुतिकर्म कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा यही अग्नि

ॐ—‘ओमित्येषः प्रतिगर्गः स्थिति गाथायाः। ओमिति वै दूर्ध्वं, तथति मानुषम्”

—ने० प्रा० ७।१।६।

‘नमस्य कशलाया है यहाँ इस कम्मोपासना की दृष्टि से इसे इष्टेन्य’ कहा गया है। वही प्रकृत में प्रधानरूप से अर्पित है। ‘हृदयन्तो ह्येतं अनुष्या ईदते’ यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कम्मोपासना का ही स्वीकरण कर रहा है और यही प्रकृत मन्त्रभागों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ३१ ॥

“वृषा अग्नि समिध्यते० इत्यादि ३ वीं सामिधेनी के अनुवचनान्तर यह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [ आहुत्यानुष्ठार ६ नी ] वृषवन्तविच की तीसरी निम्नलिखित श्रुति का अनुवचन करता है—

(७)—‘ओम् वृषयं त्वा वय वृषयः समिधीमहि ।

अग्ने दीधन्त बृहत्-ओम्” इति ॥ (६)–(३)

‘यज्ञसम्पत्तिवपक यज्ञधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्षक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निवृष आज ( उक्त सामिधेनियों से ) पूर्णरूप से ससृज होगए हैं । शुलोक्त्य इन्द्र के बृहत् साम-सम्बन्ध से बृहत् बन गए हैं’ यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्वीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्त रूप से दोनों मन्त्रों की समष्टि वृषवन्त-विच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३३ वीं कण्विक से इसी फल का स्वीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

वृषवन्त-विच के अनुवचनान्तर यह होता क्रमप्राप्त आठवीं [ आहुत्यानुष्ठार १० वीं ] निम्न लिखित श्रुति का अनुवचन करता है

(८)—“ओम्-अग्निं दूत वृणीमहे होतार विस्ववेदमम् ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतम्-ओम्” ॥ (१०)

मन्त्र का अग्नि वृत्तं वृणीमहे वाक्य एक महत्वपूर्ण विज्ञान का स्वीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कशलाया १, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणभूति ने धूम्रिषी की वैतन्दिनगति का स्वीकरण करते हुए साम्यसंविगति का भी विश्लेषण किया है। उन्नी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाएगा है।

भौतिक पदार्थों का स्वरूप से सुरक्षित रखने वाली द्रुत जीवन-साधक आदान-विनिमयिक यज्ञ-कर्म का नियतकाल पर्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में प्राण नाम से व्यवहृत हुई है। ‘विरूपाम इद्रुष्यस्त इद्रुग्भीरवपस’ [ अक्षुस ] इस अद्रुष्यपद का अनुष्ठार से शक्ति रूप प्राण अनन्त है। प्राणी का आनन्द ही मृतप्राणों के आनन्द का कारण है। अभामन्द्यवर्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सीर-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। सत्य स्वयंस्तिर्पण है अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपज्योतिर्पना

कृता है शेष अक्ष माग अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के द्विति अद्विति ने दो विषय होनाते हैं जैसा कि अक्षरधन्त-त्रिबोपपत्ति में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

धूपण की दक्षिणोत्तर-परिधियों को अथवा हुआ आगत और प्रकाश वक्रगति में परिणत होता हुआ, धूप ही मन्त्राया का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं तो हमारी छाया विरक्त माग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिकूलित होजाती हैं। जैसा आकार छाया का होता है ठीक वैसा ही आकार में अर्ध-प्रकाशरश्मियाँ भी प्रतिकूलित होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिमव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत और वेब की सम्मिश्र।

सौम्यप्रकाश मूच्छ पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसस्मृति को लेता हुआ मन्त्राया के सम्पुलन से प्रतिकूलित होजाता है। इस मन्त्राया-समपुलित प्रतिकूलित प्रकाशाकृति का साम्यत्वरिक वेब से अभिमव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिकूलित प्रकाशाकृति 'अस्व' नाम से भवकृत हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत-स्थिर-अश्वाग्निचरित-मार्ग से यज्ञबहन करता है इसी अभिप्राय से—'अस्वो-न वेद्यबाह्वः कदा गता है।

लोक में वहाँ जिस ( निवेच ) अर्थ में 'न' अक्ष प्रयुक्त होता है, वहाँ मन्त्रमध्य में पठित 'नक्षर' निवेचनायक न होकर 'ओम्' इत्यादिरक इकार्यक माग से ही सम्बन्ध रखता है \*। तभी तो 'अस्वो न' का अस्वो ह वाऽप्य मूत्रा० यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य यही है कि 'न' अक्ष अभाव का सूचक बनता हुआ अनिबक्तकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिबक्त प्रकापति का सूचक बन रहा है। प्रकापति ( धम्मा ) ही स्यालक्षणा स्वीकृति के आधार हैं। अतएव मध्यस्थ नक्षर को उपायायक मान लिया गया है। प्रकापति स्वयं मध्यस्थ है अत मध्यस्थ नक्षर उपायायक माना जायगा। यदि श्रुताधन्त में नक्षर पठित है तो उसका निवेच ही अर्थ होगा जैसा कि—'न किञ्चानामि यवि वेद्यमस्मि०' इत्यादि मन्त्रबली से स्पष्ट है ॥ ५८३ ॥

'तं हविष्मन्त ईबते' इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपायना हाँकी है। एक वाचिक उपायना है, दूसरी कर्म्मोपायना है। अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना 'नम इति विवेम' लक्षणा वाचिक उपायना है। मायगुहिक के अतिरिक्त इस उपायना का अन्त पत्त नहीं है। यदि अग्नि की आत्मवत्त्वं कर यज्ञकर्म्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस लक्ष्य केवल वाचिक उपायना से काम नहीं चल सकता। अग्नि उस समय कर्म्मोपायना ही करनी पड़ेगी अग्निहर्मिनन ही करना होगा इसे गुप्त करने के लिए हविषादान ही करना पड़ेगा। इस दृष्टि से यह अग्नि पुनोपपत्त्यन्त विद्यत होगा जिस इस विधान की ही स्तुतिकर्म्म कहा जाता है। वाचिकोपायना की अपेक्षा यहाँ अग्नि

४- 'ओमित्यचः प्रविगर लथेति गाथायाः। ओमिति वै इवं, तथसि मानुषम्'

—ये० ब्रा० ७।१।६।

‘नमस्य कइलाया है वहाँ इस कर्मोपासना की दृष्टि से इसे ‘ईदंन्य’ कहा गया है। वही प्रकृत में प्रधानरूप से श्रेष्ठ है। ‘हृदयमन्तो ह्येतं अनुष्या ईदंते यह मन्त्रमाग अग्निदेव की इस कर्मोपासना का ही स्वीकरण कर रहा है, और यही प्रकृत मन्त्रमार्गों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ११ ॥

“धृपो अग्नि समिध्यते० इत्यादि १ ठी सामिधेनी के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [ आहुत्यानुसार ६ वीं ] वृषयवन्तत्रिच की तीसरी निम्नलिखित श्रुति का अनुवचन करता है—

(७)—“ओम् वृषण त्वा वय वृषणः समिधीमहि ।

अग्ने दीद्यन्त वृहत्-ओम्” इति ॥ (६)–(३)

“यज्ञसम्पत्तिवर्पक यज्ञचिपत्ति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्पक वनसं वृष ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज्ञा (उक्त सामिधेनीयों से) पूर्णरूप से समुद्योग हैं। शूलोक्तम् इन्द्र के वृहत् साम-सम्बन्ध से वृहत् वन गण हैं” यह मास प्रकृत करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्वीकरण कर रहा है ॥ १२ ॥

उक्तम से दोनों मन्त्रों की समष्टि वृषयवन्तत्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि की वरपत्ति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। १३ वीं कण्विकम से इसी फल का स्वीकरण हुआ है ॥ १३ ॥

वृषयवन्तत्रिच के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [ आहुत्यानुसार १० वीं ] निम्न लिखित श्रुति का अनुवचन करता है

(८)—“ओम्-अग्निं वृक्षीमहे होतार विश्ववेदमम् ।

अस्य यज्ञस्य सुकृतम्-ओम्” ॥ (१०)

मन्त्र का ‘अग्निं वृक्षीमहे’ वाक्य एक महत्वपूर्ण विज्ञान का स्वीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया है, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ आश्विनभुक्ति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्वीकरण करते हुए साम्प्रतिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपरिभूत किया जा रहा है।

मौलिक पदार्थों की स्वरूप से सुरक्षित रहने वाली दृढ़ के जीवन-सावक आदान-विस्तरात्मक यज्ञ कर्म का नियन्त्रण पर्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःस्थित ही विज्ञानमाया में ‘प्राण’ नाम से व्यवहृत हुई है। विरूपाक्ष इव श्रुतयस्त इव गम्भीरवपसः [ अक्ष ] इन अक्षयपूर्ण के अनुसार ये शक्ति-रूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्द ही भूतपदार्थों के आनन्द का कारण है। अपामञ्चु-वर्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। सूर्य स्वयंभोतिर्न है अवश्य इसका प्राण ओतिष्मान् माना गया है। एष रूपमोतिर्वना

करता है शेष अर्द्ध माग अमकारित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही धूमिनी के वित्ति अद्विती ने दो विवत्त होनाते हैं जैसा कि अभ्यरथन्त-त्रिभोपपत्ति में विस्तार से अवलोकना जाने वाला है।

मृषिद्व की दक्षिणोत्तर-परिधिओं का काटता हुआ आगत सौर प्रकाश परावर्तित में परिणत होता हुआ स्वयं ही मन्त्राया का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं, तो हमारी सामा विरुद्ध भाग में पड़ती है। अरण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशपरिभ्रमों प्रतिक्रिस्त होनाते हैं। जैसा आध्वर कृपा का होता है, ठीक वैसे ही आकार में मयपि-प्रकाशपरिभ्रमों का भी प्रतिक्रान्न होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर वेग की समझिए।

सौरप्रकाश मूच्छ पर आया गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसकम हवि की होता हुआ मन्त्राया के समद्वलन से प्रतिक्रिस्त होमा। इस मन्त्राया-समपुलित प्रतिक्रिता प्रकाशाकृति का सम्पत्वरिक वेग से अभिभव होबाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिक्रिता प्रकाशाकृति 'अरथ' नाम से ध्वनित हुई है। पार्थिव अग्नि इसी निरव स्थिर-अरवाग्निअगतल-मार्ग से यज्ञबह्न करता है इसी अभिप्राय से—'अस्वो-न देववाहनः' कहा गया है।

लोक में वहाँ बिस् ( निवेच ) अथ में 'न' धार प्रयुक्त होता है वहाँ मन्त्रमण में पठित 'नकार निवेचार्यक न होकर ओम्' इत्याकारक इवार्थक भाव से ही सम्पन्न रहता है ॥ तभी तो 'अस्वो न' का अस्वो ह वाऽप्य मूत्ना० यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य यही है कि 'न' धार अभाव का सूचक बनता हुआ अनिवक्तकोटि में प्रविष्ट है अतएव यह अनिवक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति ( अत्मा ) ही तपालक्षणा स्वीकृति के आधार है। अतएव मध्यस्थ नकार की तपावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ है अत मध्यस्थ नकार तपावाचक माना जायगा। यदि श्रुगाद्यन्त में न धार पठित है तो उसका निवेच ही अर्थ होगा जैसा कि— न विजानामि यदि देवमस्मि० इत्यादि मन्त्रबर्तन से स्पष्ट है ॥ २८, २ ॥

"यं हविष्मन्त ईदते" इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है। एक वायिक उपासना है, दूसरी कर्मोपासना है। अग्नि की नवस्वरूपाय कर देना 'नम' रक्ति बिभेम' लक्षणा वायिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्व फल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मगत कर यज्ञकर्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है तो उस समय केवल वायिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अतएव उस समय कर्मोपासना ही करनी पड़ेगी अग्निधर्मधन ही बनता होगा इसे प्राप्त करने के लिए हविष्मन्त ही करना पड़ेगा। इस हवि से यह अग्नि सुशोभनार्थत मिश्र होगा शिष्ट इस कितान की ही स्तुतिकर्म कहा जाता है। वायिकोपासना की अपेक्षा वहाँ अग्नि

४—'ओमित्यङ्गः प्रतिगारः स्थिति माधायाः । ओमिति वै देव, सधति मानुषम्"

—ये० भा० ७।१।१।



‘नमस्य’ कहलाया है वहाँ इस कर्मोपासना की दृष्टि से इस ईद्वय कहा गया है। यही प्रकृत में प्रधानरूप से अर्पित है। ‘हृदयन्तो ह्येतं मनुष्या इडते’ यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्मोपासना का ही स्वीकरण कर रहा है और यही प्रकृत मन्त्रभागों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ३१ ॥

‘यूषो अग्नि समिप्यते०’ इत्यादि ६ टी सामिधेनी के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [ आहृत्यानुसार ६ वीं ] उपपन्न-त्रिच की तीसरी निम्नलिखित श्रुति का अनुवचन करता है—

(७)—‘ओम् यूषण त्वा वय यूषण समिधीमहि ।  
अग्ने दीधन्त बृहत्-ओम्’ इति ॥ (६)-(३)

“यज्ञसम्पत्तिवर्षक यज्ञचिपत्ति यूषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्षक वनत हुए ये यूषा (यूषात्मक) अग्निदेव आत्र (उक्त सामिधेनियों से) पूषरूप से समुद्र होगये हैं। शुक्रोक्तस्य इन्द्र के बृहत् साम-सम्बन्ध से बृहत् वन गए हैं” यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के यूपारम्भक का ही स्वीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्त रूप से दोनों मन्त्रों की समष्टि बृहत्-त्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति यूषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३३ वीं कविहका से इसी फल का स्वीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

उपपन्न-त्रिच के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [ आहृत्यानुसार १० वीं ] निम्न लिखित श्रुति का अनुवचन करता है

(८)—“ओम्-अग्नि-दूत वृणीमह होतार विरवेदमम् ।  
अस्य यज्ञस्य सुकृतम्-ओम्” ॥ (१०)

मन्त्र का ‘अग्नि दूत वृणीमह’ वाक्य एक महत्वपूर्ण विज्ञान का स्वीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया है, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणभूति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्वीकरण करते हुए साम्यसन्निक्रमति का भी विरोध किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली इनके जीवन-साधक आदान-विद्यार्थक यह कर्म का नियतकाल पर्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तर्भावित ही विज्ञानमाया में ‘प्राण’ नाम से व्यवहृत हुए हैं। ‘विरूपास इहृष्टपयस्त इहृगम्भीरवपस’ [ अक्षम् ] इन अक्षुण्णों का अनुसार य शक्ति-रूप प्राप्त अनन्त हैं। प्राणी का ज्ञानन्वय ही सतपथाओं का ज्ञानन्वय का कारण है। अध्यात्म-व्युदयमर्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सार-पार्थिव इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। स्वयं स्वयत्किर्षन है अथवा इसका प्राण व्योतिष्यान् माना गया है। एव रूपम्यत्किर्षना

पृथिवी का प्रातिस्विक प्राण हृष्य माना गया है। ज्योतिर्मय प्रकाशित प्राण ही 'देव' नामक देवता है, एवं तमोमय अप्रकाशित पार्थिव प्राण ही 'असुर' है। तम असुर है, एव ज्योति देवता है।

यह ठीक है कि, आरम्भ में सम्पूर्ण भूषिण्ड इसके प्रातिस्विक तमोमय असुर प्राण से ही युक्त था। जब पृथिवी सनी ही होगी उस समय अक्षरय ही असुरों के मुख से 'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्' ये वाक्य निकले होंगे। परन्तु आज तो ऐसा नहीं है। आज भूषिण्ड पर असुरों की मौति दिख सौरप्राणायामक देवताओं का भी साभान्य है। देवताओं ने यज्ञधेनु को आगे कर कर्मवास से आधा भ्रमदेश अपने अधिकार में करलिया है जिसकाकि पूर्व के ब्रह्मनिर्माणशास्त्र में विवरूप से विवेचन किया जा चुका है \*। यही क्या आज तो सम्बन्धरचक की दृष्टि से सम्पूर्ण भूषिण्ड देवताओं के ही अधिकार में आगया है। सभी तो दासविभागप्रतिपादिका भुक्ति का—'तेनमां सर्वां पृथिवीमविदन्त' यह कथन आन्य बन रहा है।।

भूषिण्ड के साथ सौरप्राण का भी सम्बन्ध हो रहा है साथ ही उसका अपना प्राण भी इस पर कब्जा प्रयोग कर रहा है। पार्थिवप्राण इसे [ भूषिण्ड को ] अपनी ओर [ सूर्यचिकित्सक में ] ले जाना चाहता है, तो सौरप्राण अपने आकर्षण से इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। दोनों प्राणों का समानाकर्षण है। इस समानाकर्षण से भूषिण्ड आमतक उठी स्थान पर घूम रहा है। इसी स्वाद्यपरिभ्रमण से दैनन्दिनगति का कव्य हुआ है। इसी दैनन्दिनगति से अक्षराण का जन्म हुआ है। घूमते हुए भूषिण्ड का सूर्य-प्रकाश की ओर आधुना अह-काल का जन्म होना है एवं सूर्यचिकित्सक में आधुना रात्रिकाल का जन्म होना है। अह-काल में देवता उस आधे भूषिण्ड पर अपना अधिकार कर लेते हैं। रात्रि में उठी अह-माग पर असुर अपना अधिकार जमा लेते हैं। इसप्रकार अक्षराणरूप से देवता-असुर, दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्धा चलती रहती है। इसप्रकार इस स्वाद्यपरिभ्रमणमूला दैनन्दिनगति की दृष्टि से भूषिण्ड दोनों का मोक्ष बना रहा है।

आगे बाहर साम्यस्वरिकगति के प्रभाव से भूषिण्ड असुरों के अधिकार से निष्काश करके देवताओं की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है। 'अथो न देवतादन्त' इत्यादि मन्त्रापत्ति में यह स्पष्ट किया गया है भूषिण्ड में विधि-अविति नामक दो भाग उत्पन्न होते हैं। भूकम्प से आरम्भ कर सूर्यविग-विरुद्धिक की ओर अन्त तक जोमण्डलाक्षर से समतुलित भूष्याक्ष-मण्डल ही विधि है। एवं

\* 'देवाश्च वाऽअसुराश्च उभयं प्राजापत्याः पशूश्चिरे । ततो देवा अनुभ्यामि-  
वासु । अथ हासुरा मनिर, 'अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति' । तद्वै देवा शुभ्रु-  
वन्ते ह वा इमामसुरा पृथिवीं, प्रेत-तदेभ्यामो यत्रेमामसुरा विमज्जन्ते । के वयं तत  
स्याम, यदस्यै न भजेमहि-इति । ते यज्ञमेष विष्णु पुरस्कृत्येयुः । तेनेमां सर्वां पृथिवी-  
मविदन्त । तस्माद्देदिनाम । तस्मादाहु-पावती यद्विस्तावती पृथिवी' ( शत० १।२।-  
२।१-१२ ) ।

सौरमण्डलानुगत-सौर प्रतिकूलित्व पार्थिव व्योतिर्भाग हा अदिति है। मूषिक भी भूपिण्ड से संलग्न है, तो भूपिण्ड भी भूपिण्ड से संलग्न है। भूपिण्डमण्डललक्षणा अति में व्यापित्वमय दिव्य प्राण का सामान्य है। एवं मन्त्र्यालक्षणा त्रि में तपोमय असुर प्राण प्रतिष्ठित है। दोनों ही प्राण मोम-हृदयप्रापति से सम्बन्ध रखत हुए प्राजापत्य है। यह स्थिति है और इसी की लक्ष्य में स्वतः हुए भुक्ति न था है—

“देवास्व वा असुरास्व उभये प्राजापत्या पस्पृधिरं” ।

‘द्वयता और असुर दोनों इन्हीं पृथिवी पर खड़े होकर स्वदा करने लग। दोनों के इस स्वदाक्षिण्य क्षेत्र को शान्त करने के लिए दोनों के बीच में गायत्रा मन्त्री हो गई। यह गायत्री प्रथिवा ही है’ यह कथन अति-दिति का स्वरूप न जानने वालों के लिए कुछ अर्थ प्रयत्न बन रहा है। आख्यानों की रहस्यमयता से अपरिचित वचनमान युग के कतिपय विद्वान् सम्भवतः यह कुछ उपायों के—“जब द्वयता और असुर दोनों इसी पृथिवी पर खड़े थे तो दोनों के बीच में कौनसी पृथिवा लड़ी हुई?। यदि यही पृथिवा लड़ी हुई तो ये दोनों वर्ग किस पर लड़े हुए?। परन्तु अब इहाँ त्रि-मिति का स्वरूप-ज्ञान हो जाता है तो कुछ का कोई अवसर नहीं रहता। जिस पृथिवी पर देवता-असुर लड़े होकर स्वदा करते हैं—यह मिश्र है, एवं जो पृथिवी दोनों के मध्य में लड़ी जाती है—यह पृथिवी मिश्र है।

भूपिण्ड के चित्त-चित्तेनिधेय-मे से दो निवृत्त हो जाते हैं। मयाप्तेमय भूपिण्ड मत्वा पृथिवी है यही अममदादि की प्रतिष्ठामुक्ति है। इसे ही ‘भूमि’ कहा जाता है। इस ममिलक्षण ममिण्ड का निर्माण-स्वरूपदेय-त्रि-द्रव्यों से हुई है वे द्रव्य ‘आप-पन-सून्-सिक्ता-शक्ति-अरमा-अय-हिरण्य’ इन आठ भागों में विभक्त हैं (देखिए शब्द १।१।२।१।)। इन आठ द्रव्यों की क्रमिक विधि से ही भूपिण्ड का स्वरूप-निर्माण हुआ है। छन्दोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य एक एक अक्षर से समुत्पन्न है। कुलव आठ द्रव्यों के सम्बन्ध से वाक्प्रमाणानुसृत छन्द के आठ अक्षरों का समूह होता है। अष्टाक्षर-का ही नाम गायत्री है। इसी छन्द सम्पत्ति के कारण हम अष्टाक्षर-वात्मक भूपिण्ड को भुक्ति न गायत्रा’ कहा है अतएव या वे सा गायत्रा-आमोक्त इयं वे सा पृथिवी यह कहा गया है। यहाँ ‘पृथिवी शब्द चित्त-पृथिवी-लक्ष्य ‘भूपिण्ड’ के अविभाज्य स ही प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी चित्तेनिधेया पृथिवी है। यीम आत्मन्य प्राण उन्मत्तरूप से मकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्द्धरूप से भूपिण्ड से निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहाँ तक इस पार्थिव प्राण की व्याप्ति है वहाँ तक ‘अप्रधायक’ लक्षणा अमृता पृथिवी की सत्ता मानी गई है। अमृतापृथिवी के सौरप्राण के सम्बन्ध से आगे जाकर त्रि-मिति-अदिति-रूप में दो निवृत्त हो जाते हैं। आगत सौरप्राण भूपिण्ड से टकराकर प्रतिरक्षित होता हुआ मन्त्र्यालक्षणा में समुत्पन्न अपना वा व्यापित्वमय मण्डल बनाता है यह अमृता पृथिवी का माग सौरप्राण से अति-लक्षणा से सम्बन्ध रखता हुआ ‘अदिति’ माग है। एवं इस मन्त्र्यालक्षणा से समुत्पन्न मन्त्र्यालक्षणा अमृतापृथिवी का सौरप्राण से वदित माग दिष्टि है। अति-

भाग में आदित्य ( ज्योतिर्माय देवता ) प्रतिष्ठित हैं, एव विति भाग में दैत्य ( तमोमय असुर ) प्रतिष्ठित हैं । इसप्रकार अमृता पृथिवी के विति अग्नि भागी में प्रतिष्ठित असुर, एवं देवताओं के बीच में मत्स्य-गायत्री नामक मूषिक प्रतिष्ठित है ।

मूषिक के उस ओर ( सूर्य की ओर ) मूषिक से संलग्न देवमय ज्योतिर्मयबल है इस ओर ( सूर्यविरुद्ध की ओर ) मूषिक से संलग्न असुरमय तमोमयबल है एव दोनों के मध्य में जित्य मूषिक प्रतिष्ठित है । इसी स्वाभाविक स्थिति का स्वीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

“देवाश्च वा असुराश्च,—उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । तान् स्पृष्टमानान् गायत्री-  
अन्तरा तन्यौ । या वै सा गात्रयी—आसीत् इय वै सा पृथिवी । इयं हैव तदन्तरा  
तस्यौ” ।

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही आगे की भुक्ति का सम्बन्ध कीजिये । दोनों की स्पृष्टा होयी है । दोनों के मध्य में गायत्री ( मूषिक ) लक्ष्मी है । दोनों यही चाहते हैं कि, यह गायत्री हमारी ओर आजाय । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गायत्री के समीप दोनों अपने अपने दूत भेजते हैं । देवताओं के दूत ‘अग्नि’ हैं एवं असुरों के दूत ‘सहरश्वा’ हैं । अद्विष्टलक्षण ज्योतिर्मय मयबल में प्रतिष्ठित ज्योतिर्माय अग्नि ‘अग्नि’ नामक देवदूत है । ‘रघु’ का ही नाम ‘मत्स्य’ है । यह मत्स्य निदानेन मूषाया का प्रतिरूप है । दितिलक्षण तमोमय मयबल में प्रतिष्ठित तमोमय अग्नि ही ‘सहरश्वा’ नामक असुरदूत है । लोक में भी प्रचलित अग्निज्वाला को हम अग्नि कहेंगे एवं मत्स्यगूढ अग्नि को सहरश्वा कहेंगे । दिव्यप्राण की अपेक्षा आसुरप्राण जलवान् होता है । यही कारण है कि, ज्वालामुखि की अपेक्षा भस्मान् अधिक जलवान् होता है ।

मूषिक स्वाक्षपरिभ्रमणलक्षणा दैनंदिनगति का अविच्छाद्यता बन रहा है । दोनों प्रत्येक का समानाकार्य हो रहा है । परिणाम इस प्राथमिक स्थिति का यह हो रहा है कि भूषिक अभी किसी ओर नहीं जाया । इस का एकलः गमन उनी सम्भव होसकता है जब कि दोनों प्राणगतियों में से एक प्राणगति स्वकृती बन जाय । समानप्राणस्वर्ष से वो उधी प्रकार स्थिति का उद्भव होजाया है जैसे कि समानवस्त्र वाले दो मस्ती के आकर्षण से आकर्षित रस्ता पूर्व-पश्चिम किसी ओर न जाकर मध्य में ही स्थिर होजाया है । वह कलापान सुप्रसिद्ध गतिचर्मा सौर-इन्द्र के अनुग्रह पर निर्भर है । सौर इन्द्रप्राण उही अद्विष्टमयबल के द्वारा आटा हुआ उत्तरध वेवदूत अग्नि में अपनी आकषणशक्ति का आधान करता है । इस गति से जलवान् बनता हुआ आग्नेयप्राण आसुर-प्राणगति का आकर्षण शिथिल कर देता है । परिणामतः मूषिक आसुरों की ओर ( पश्चिम की ओर ) न जाकर देवताओं की ओर ( पूव की ओर ) आटा हुआ सम्स्ततरातिरूप में परिणत होजाया है । इन्द्र ही भूषिक की साम्यशक्ति-गति का मुख्य कारण है । इन्द्र प्राकृतिक दिव्याग्नि इस रूपेन्द्र से नियन्त्रित रहता है । ‘या च का च यस्तकृतिरिन्द्राग्नेयं तात् के अनुसार वस्तुतः इन्द्र के रहना से ही मूषिक का देवमयबल की ओर आकर्षण होजाता है । मूषिक स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ पूर्व की ओर चल पड़ता है । इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

“यश्च इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्चयत् ।  
चक्राण्य ओपश द्विवि” ॥ (ऋक्स ८१.४।५।)

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, पश्चिमदिगुन्गता यह आसुरप्राणगति ही भूपिण्ड को सूर्य गोलार्ध में जान से रोक रही है। यदि पश्चिमार्धार्धण न होता तो पूर्वार्धार्धण से आकर्षित भूपिण्ड स्वस्थान से न्युत होता हुआ अवश्य ही सूर्यगोलार्धार्ध में विलीन होजाता। पश्चिमार्धार्धण है इसलिए तो भूपिण्ड स्वस्थान (अन्तिवृत्त) को नहीं छोड़ता। पूर्वार्धार्धण प्रबल है, इसलिए पश्चिम की ओर प्रीठा नहीं चला जाता। क्या पूर्व की ओर सीधा जाता है? नहीं। इसी आसुरप्राणार्धण से भूपिण्ड सीधा न बाहर तिर्यक् जाता है। क्या भूपिण्ड सध्या तिर्यक् जाता है? नहीं। इसी इन्द्रप्राणार्धण से तिर्यक् जाते हुए भूपिण्ड की पश्चिमपश्चिन्दि-विन्दु पूर्व की ओर आकर्षित होती रही है जिसका ‘सम्बत्सर’ शब्द से स्पष्टीकरण हो रहा है।

शब्द है वास्तव में ‘सर्वत्सर’। परन्तु परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षमाया में यह ‘सर्वत्सर’ ही सम्बत्सर नाम से व्यनद्धत हुआ है। भूपिण्ड जिस वृत्त (कान्तिवृत्त) पर परिभ्रमा (साम्बत्सरिकगति) लगा रहा है, उसकी विन्दु विन्दु कुटिल है। गोलवृत्त का निम्माण इसी ‘स्मर’ भाव से होता है। सर्वतः स्मरभाव (कुटिल भाव) ही सत्सर है (‘स्मर छद्मगतौ’)। यही सर्वत्सर है। सम्बत्सर नाम के सम्बन्ध से यह न्युत्पत्ति होगी कि भूपिण्ड एकत्र (सम्) बसता हुआ बसन् कुटिलरूप से पूर्व की ओर बढ़ रहा है।

देववृत्त अग्नि के इस इन्द्राकर्षण-ग्रहयोग का फल यह निकला कि सम्पूर्ण भूपिण्ड देवमयःलोप-लक्षित दिव्य आग्नेय सम्बत्सर का अनुगामी बन गया। यही दिव्य आग्नेय देवताओं का विजय कहलाया एवं तमामय आसुरप्राणों का पराजय कहलाया। विघट अग्नि का रुख था उसी ओर भूपिण्ड गन्तुमूल बना यही निष्कर्ष है। यही इस अग्नि का दौत्यकर्म है। इसीलिए यह अग्नि देवताओं का वृत्त कहलाया है। जो यजमान देववृत्त अग्नि का उक्त गति-रहस्य जानता है साथ ही जिस यजमान का होता अग्नि के इस वृत्तस्वरूप को जानता है वह अपने यजमान के लिए लोकसम्पत्ति असफल बना देता है। मन्त्र का दूसरा भाग है—‘होतारं विरव वदसम्’ यह ॥

इसके सम्बन्ध में कास्पिनकोन एक नए उपपत्ति की कल्पना करते हुए मौलिक उक्त मन्त्र भाग में—‘होता यो विशववदसम्’ इस परिवर्तन की कामना प्रकट की है। कल्पना का उपहासान्तरूप यही है कि—‘होतारं’ का ‘होता अरम यह भी छेद सम्भव है। अर शब्द अल्ल अर्थ का भी बोधक है। सम्पत्ति का आगमन होता है अग्नि के द्वारा। उस के सम्बन्ध में—‘अल्लम् बालना सम्पत्ति का ही निरोध करना है। इस अल्ल-भावात्मक ‘अर से सम्पत्ति निरोध न होनाय अथवा स्वयं होता अग्नि का अल्लभाय (आगमन-निरोध) न होनाय इसके साथ ही अनुबन्धन करने वाला होता अपने आप को समाप्त न कर बैठे इसलिए ‘होतारं’ के स्थान में होता यो इत्यादि रूप से परिवर्तन कर डालना चाहिए’।

उक्त मानुष-कल्पना का भ्रुति ने आमूलचूर्ण लपटन करते हुए कहा है कि यजमन्त्रों में यज्ञेति-कर्षण्यताओं में अपनी मानुष-कल्पना के द्वारा कास्पिनिक उपपत्तियाँ मानते हुए परिवर्तन कर डालना यह स्वरूप का नाश ही कर लेता है। आश्र भी तो ऐसे कल्पनारसिद्धों की कमी नहीं है। मारुतवर्ष के गौरवभूत

नित्ययज्ञाचार पर प्रतिष्ठित ऋषयों को वायुशोधक मानने की कल्पना करते हुए जो 'महाराज' चिरन्तन पद्मविंदों से विरह केसर कपूर-गोला आदि को आहुतिद्वय मानने की वृत्ता कर रहे हैं क्या वे यज्ञक्रम के शत्रु नहीं हैं ! ऐसे ही कास्मिनियों का प्रबोधन करवाती हुई श्रुति कहती है कि कम्मठ को चाहिए कि, वह वैसा विहित है वैसा ही करे। अपनी कल्पना से उसमें आणुमात्र भी परिवर्तन न करे। तभी यज्ञ के द्वारा अग्नीष्टिति सम्भव है। इसी आदेश के साथ फलोपसंहार करती हुई ३४-३५ कथिहोतृ उपरत हुई हैं ॥ ३४ ३५ ॥

मूलानुवाद में स्पष्ट किया गया है कि, 'अग्निं दृतं' इत्यादि को आठवीं मान कर ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करने से आद्यात् रूप से अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से छन्दित गायत्राम्नि-सम्पत्ति का यज्ञ में स्पष्ट होमाता है। जो महानुमात्र कास्मेष्टि से सम्बन्ध रखने वाली दो 'घाय्या' श्रुचाओं का समावेश इस से पहले करते हैं साथ ही अस्थानिक उपपत्ति वल्लभाते हैं वे गायत्र-सम्पत्ति से विमुख होते हैं। अष्ट घाय्या-श्रुचाओं का समावेश इस आठवें मन्त्र से आगे ही होना चाहिए ॥ ३७ ॥

वदि दशपूर्णमास के साथ कास्मेष्टि भी अपेक्षित है तो उस दशा में १५ के स्थान में १७ जमिनें निर्धारित होती हैं। इसके लिए २ मन्त्रों का ऊपर से सम्बन्ध किया जाता है एवं उनके अनुवचन का समय यही माना गया है। (कास्मेष्टि-संग्रह पद्य में) 'अग्निं दृतं' के अनन्तर पहिले 'समिधमानो अम्बर' इस श्रुचा का अनुवचन होता है अनन्तर घाय्या नामक दोनो श्रुचाओं का अनुवचन होता है। अनन्तर 'समिद्धो अग्न आहुतः' इत्यादि का सर्वान्त में 'आहुतोऽदुषस्त्वत्' का त्रिष्टुतिपूर्वक अनुवचन होता है वैसाकि मूलानुवाद में स्पष्ट कर दिया है।

(केवल दशपूर्णमासपद्य में १५ सामिधेनी ही विहित हैं। इस पद्य में) 'अग्निं दृतं' के अनन्तर बिन तीन श्रुचाओं का क्रमशः अनुवचन होता है उनकी समाप्ति 'अम्बरवन्तत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है। 'समिधमानो अम्बरः'—'समिद्धो अग्न आहुतः' 'आहुतोऽदुषस्त्वत्' तीनो मन्त्रों की समाप्ति ही 'अम्बरवन्तत्रिच' है। तीनों मन्त्रों के सम्बन्ध में कोई विशेष शक्त्य नहीं है। अम्बरवन्तत्रिच ही अम्बरवन्त-त्रिचानुवचन का मुख्य फल है। इसप्रकार उक्त रूप से इन १५ सामिधेनीयों का अनुवचन होता है। इस अनुवचन से अम्बरव्यु के द्वारा इन्द्र अग्नि समिद्ध (द्विज्य तेजोमुक्त) बन जाता है। यही समिद्ध अग्नि देवसंजन की मूलप्रतिष्ठा है ॥ ३८, ३९, ४० ॥

चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में

तीसरा ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण

अत्र-उपरत

२

# चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय-ब्राह्मण

३

## अथ-निगदानुवचनकर्मोपपत्ति

मन्त्रशक्ति के द्वारा ब्राह्मणीय में प्रतिष्ठित इस दिव्याग्नि का यही मुख्य कर्म है कि इसमें वित्त देवता के लिए आहुति डाली जाय उसका विरक्तन कर अग्निन्वय बुराफ की ओर जात हुए उस देवता तक पहुँचात हुए इस अन्न के सम्बन्ध से यजमान के मानुषात्मा के साथ उस दिव्यप्राण का सम्बन्ध करे। केवल महत्वपूर्ण तथा शक्तिसंपन्न काम्य है। समिद्ध अग्नि आध पाई ही समय में इस बुराफ कर्म में प्रवृत्त हान वाले हैं। इससे पहिले गुण-वीर्य-परिचायक निगदपाठ से इस अग्नि का उत्साहजन से युक्त करना ही प्रकृत कर्म की मुख्य उपपत्ति है।

लोक में इस वाग्बीर्य का हम अद्भुत चमत्कार देखते हैं। कण्ठाग्र न का युद्धप्रसङ्ग इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण है। शत्रु के अनुत्साहपूर्ण शत्रुओं से महावीर भी कर्ष मन्दोत्साह होत देख गए हैं। कारण यही है कि, 'अग्निवाग्मूत्वा मुखं प्राविशान्' इस सिद्धांत के अनुसार वागिन्द्रिय अग्निप्रधान है। इसका प्रयोग का फल अवश्य ही शारीरग्नि पर पड़ता है। यदि हमें कंधे निरन्तर कपर' कहता रहना तब भी क्षणान्तर में हमारा अग्निजल मन्त्र होजायगा। साथ ही यदि हम स्वयं भी अपने आपकी चिन्तित करते रहने तब भी हमारी बही नगा होगी। इसी आधार पर-‘नात्मानमवमाह्वयेत् आग्न्य विप्रि' है। ठीक इसके विपरीत-यदि हम किसी के प्रति उत्साहवद्ध के शत्रुओं का प्रयोग करते रहेंगे साथ ही हम स्वयं भी अपने लिए यदि पौरुषसमर्पक शत्रुओं का प्रयोग करते रहेंगे तो इस वाक् प्रयोग से उत्समनुलित हमारा शारीरग्नि अवश्य ही बीर्यशाली बन जायगा। इसीलिए धम्मशास्त्र ने यह आदेश दिया है कि, न तो हमें दूसरों के लिए हा अशुभ बाणी का प्रयोग करना चाहिए न अपने लिए ही अशुभ शब्द बोलन चाहिए।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि, मनुष्य को अपनी शक्ति का स्वयं बोध न होने से वह असमर्थ-म बना रहता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति वागद्वारा इस प्रबुद्ध कर जाता है तो उसकी मूल शक्ति प्रबुद्ध हो-जाती है। मगवान मायति इसी सम्बन्ध में प्रवृत्त उदाहरण है। वागद्वारा योगजीवन में वीर्य का आधान होता है और अवश्य होता है यही वस्तु है। जब औक्तिक वाक् में यह शक्ति है तो उस दिव्यवाक् (मन्त्रवाक्) का क्या कहना बिलम्ब स्वरूप-निर्माण तत्त्वों के अनुसंधान हो चुका है। इन्द्रजित्वा मुक्तम काम्य में निपुण करने से पश्चिम अग्नि में उसी स्वीर्यवागद्वारा के लिए, साथ ही मन्त्र के शान्ति और भी शक्ति-प्रापण के लिए यह निगदानुवचनकर्म होता है ॥ १ ॥

प्राकृतिक प्राणदेवता नियम वर्णव्यवस्था के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र" में से चार भागों में विभक्त है। अग्नि ब्राह्मण हैं, इन्द्र क्षत्रिय हैं, मित्रदेव वैश्य हैं, एत पार्ष्वि वृषाग्र शूद्र हैं। ये ही चारों ऋषिदेविक देवता क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विश्वीर्यों के एवं शूद्रलक्षण पशुमांस के प्रवक्तृ माने गए हैं। पार्ष्वि प्रजा में जिसमें जिस वर्ण के देवता का प्राधान्य रहता है वह उसी वर्ण की प्रजा कहाती है। यही भारतीय वर्णव्यवस्था की प्राकृतता नित्यता तथा बन्मानुरूपता है जिसका कि विराट् वैज्ञानिक विवेचन 'रीताविज्ञानमाध्यमभूमिका-द्वितीयखण्ड-कर्मयोगपरीक्षात्मक 'ज्ञ' विभागा के 'धृष्ट-व्यवस्थाविज्ञान' प्रकरण में हुआ है।

उक्त चारों वर्णों में ब्रह्मवीर्यप्रवर्तक ब्राह्मणवर्ण सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसी वर्ण के आचार पर इतर तीनों वर्ण प्रतिष्ठित हैं यही ब्राह्मणवर्णक्रम होता अग्निदेव का महान् उत्कर्ष है। इसी ब्रह्मवीर्य के प्रभाव से ब्राह्मण अग्नि होतुकर्म में समर्थ हुए हैं। वीर्यपेक्षया वहाँ अग्नि वर्णत ब्राह्मण हैं वहाँ कर्मा-पेक्षया वे ही अग्नि भारत नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्ष्वि हव्य का वहन कर इसके द्वारा सुलोकस्थ देवप्रजा का मरण पोषण करना भी इसी का काम है। एवं वैश्वानरप्रियाग्रूप से पार्ष्वि प्रजा की अप्पलतत्त्वा में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वाभाविक अन्नावचर्म से अन्नाकर्षण के द्वारा पार्ष्वि प्रजा का मरण पोषण करना भी इसी का काम है। इसी भरणकर्म से इन्हें 'भारत' कहना अन्वर्थ बन रहा है। वो वैलोक्य-प्रजा के मरण-पोषण करने में समर्थ हैं उनके उत्कर्ष का क्या स्थान करें। वही तो वे होतृत्व केता गुष्ठम काव्य करने में समर्थ हैं।

अथर्वि देवव्यवस्था के अनुसार ( जिसका-विज्ञानमाध्यम-प्रथम-खण्ड में विराट् वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है ) किसी समय इसी भूपृष्ठ पर वैलोक्य-व्यवस्था थी। पृथिवी-अन्तरिक्ष-दो तीनों लोक प्रकृतिवत् यहाँ भी व्यवस्थित थे जिसे 'भौमत्रिलोकी' कहा जाता है। दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्वत सम्पूर्ण प्रदेश उस समय का पृथिवीलोक था अजलायीगिरि से आरम्भ कर उत्तर समुद्र पर्वत सम्पूर्ण प्रदेश सुलोक था एवं हिमालय से आरम्भ कर अजलायी पर्वतान्त मध्य प्रदेश अन्तरिक्षलोक था। तीनों के क्रमशः अग्नि इन्द्र वायु 'शवसोनपात्' देवता थे। इसीलिए तीनों को अग्निलोक इन्द्रलोक वायुलोक नामों से भी वन-उत्तम व्यवहृत किया गया है।

पृथिवीलोक ही इस अग्निदेवता के सम्बन्ध से 'भारतवर्ष' कहा जाता है। पार्ष्वि प्रजा से कर ग्रहण कर मीम देवलोके में पहुँचाना भी इसी भौम अग्नि का कर्म था साथ ही यामदेव ओङ्कार आदि अन्ना ध्वजों के द्वारा वहाँ की प्रजा की अग्रव्यवस्था करना भी इसी का कार्य था। इसी कर्मों से वे 'भारत' इस 'उपाधि-नाम से विभूषित किए गए। इसी के इस 'भारत' नाम से वह पृथिवीलोक भारतवर्ष' कहा जाता। वीर्यवृत्ति भरतावि के सम्बन्ध से जो इस देश का नाम-करण वसंताया जाता है वह केवल भरत का यशोगानमात्र है। वस्तुतः 'भारतवर्ष' संज्ञा की मूलप्रतिष्ठा भौम 'भारत' नामक अग्निदेव ही हैं। इसप्रकार अधिदेवत अध्यात्म अधिभूत तीनों पक्षों में उक्त निगदमन्त्र का सम्बन्ध होता है जो कि निगदमन्त्र उपसृष्टिपरक माना गया है। वही निगदा-नुपपन्न किया जाता है, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ २ ॥



## अथ-आर्पेयानुवचनोपपत्ति

निगदानुवचनानन्तर वह होता 'अमुकस्य पौत्रः' इत्यादि रूप से आर्पेयमन्त्र का ऊह कर आर्पेयानुवचन करता है। इस का एकमात्र यही प्रयोजन है कि, इस से इस का महत्त्व ही बतलाया जाता है। अग्निवेशपरम्परा ही इस महत्त्व-स्थापन का मूल है। इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन पूर्वाचारब्राह्मण में किया बाध्या ॥ ३४ ॥

## अथ-निविस्पाठः

आर्पेयानुवचनानन्तर वह होता निविस्पाठ करता है। सामिपेनी के द्वारा समिद्ध अग्नि जिन जिन गुण-कर्मादि विशिष्ट चर्मों से युक्त हैं उनका यथा-स्थापन (बलान) करते हुए अग्निदेव का अनुग्रह प्राप्त करना ही प्रकृत 'निविस्पाठ' का मुख्य उद्देश्य है।

प्रकृति में नित्ययज्ञ द्वारा ही इसी नित्ययज्ञ से सृष्टि का स्वरूप सुरक्षित है। मीमंसाध्यायिक देव-तामार्गे ही सर्वप्रथम इस यज्ञरहस्य का स्वरूप पहिचाना। पहिचान कर उन्होंने ही सर्वप्रथम 'अरणिमन्यन्' नामक प्रक्रिया-विशेष से वैश्व अग्नि उत्पन्न कर उसका समिन्वन किया। इस समिद्ध वैश्व अग्नि से प्रकृतिकर यशितान किया। इतपरकर इस वैश्वयज्ञकर्म के प्रथमाधिकार का अर्थ मीमंसाध्यायियों को ही मिला। तभी से यह समिद्ध अग्नि-देवदत्त नाम से व्यवहृत हुआ।

मारुतवप में लक्षप्रथम यज्ञकर्म-वितान का अर्थ मिला अथाध्यायिपति महाशय वैश्वस्वत मनु को जिनका प्रातिस्विक नाम था अद्वावधमनु को कि मारुतवप की मानव-प्रजा के प्रथम मन्त्राद् य। तब से 'वध' के साथ साथ समिद्ध अग्नि 'मन्विद्धः' नाम से भी व्यवहृत होने लगे ॥ ५ ॥

ब्राह्मण-सम्प्रदाय ने अपने पूर्वज महर्षियों की परम्परा से अग्निवितानलक्षणा अग्निस्तुति का अनुगमन किया। इस ब्राह्मणसम्प्रदाय की अपेक्षा से साक्षात्कृतचर्मों मारुतीय महर्षि ही इस अग्नि (अग्नियज्ञ) के प्रथम स्तोत्रा (वितानकर्त्ता) माने गए। अतएव ये अग्नि आगे जाकर 'अपिप्लुत' नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ६ ॥

अग्निप्राणरहस्यवत्ता ये महर्षि ही विप्र नाम से प्रसिद्ध हैं। मीमंसाध्यायियों ने बिना अग्नि का सर्वप्रथम समिन्वन किया अतुल्य वैश्वस्वत मनु ने मारुतवप में बिना अग्नि का समिन्वन किया उस अग्नि का वितान करते हुए मारुतीय महर्षियों द्वारा से इनका अनुगमन किया। उन्होंने भी इस (अग्निमय यज्ञ को) सर्वा-भीष्ट फलप्रदाता मानते हुए इस यज्ञकर्म का अनुगमन किया। अतएव अग्निवेष-यिप्रानुमद्रितः नाम से भी प्रसिद्ध हुए ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतचर्मों कर्तव्यशर्ती महर्षि ही तो कथि हैं। उन्होंने सुषोष्ठेय शस्त्रकर्म के द्वारा इन अग्नि का शमन किया इसलिए ये अग्निदेव कथिशिस्ता नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जिस यज्ञकर्म से बिना देवा-त्मा का स्वरूप उत्पन्न किया जाता है उस यज्ञकर्म में-शस्त्र स्तात्र माह नामक तीन कर्म किए जाते हैं।

शुक्ल से रास्त्रकर्म होता है साम से स्तोत्र होता है, एवं यजु से ब्रह्म होता है। प्रजास्वरूप-निर्माण में उपादान ब्रह्म उत्पत्ति अवयव-निर्माण एवं स्वरूप-सम्पत्ति, ये तीन कर्म अपेक्षित हैं। गर्भा-शयणशोणितान्त्र में शुक्लाहुति देना ही ब्रह्मकर्म है। शुक्लकर्म ब्रह्म ही प्रजा का उपादान है। सिकु रेत का अवयवविशेषरूप से कान्छो-रूप में परिणत होना ही रास्त्रकर्म है। १० मासान्तर स्वरूप निर्माण का अपसान होजाना ही स्तोत्रकर्म है। ये ही तीनों प्रयत्नकर्म इस वक्त में किए जाते हैं प्रिनका स्वरूप-परिचय माध्याग्म के उपोत्पात-प्रकरण में ही कराया जाचुका है। यजुर्वेदी अग्न्यु यजु से वो आहुति देता है यही ब्रह्मकर्म है। आहुतिरूप यह ब्रह्म ही 'उपादान' है। श्रुत्येदी होवा श्रुक् से शंभन करता हुआ 'रास्त्रकर्म' का प्रवचक बनता है। सिकु रेत स्थानीय ब्रह्म की रास्त्रकर्म कर्त्तव्य करना इस से उसमें अवयव-विशेष स्थापित करना होवा का ही काम है। सामवेदी उद्गाता सामगानसङ्घ स्तोत्रकर्म से इसे दैवामस्वरूपमें वितर करता है। प्रकृत का निष्पिपाठ क्योंकि होवा कर रहा है एवं शंभनकर्म क्योंकि होवा का प्रासिदिक कर्म है। अतएव यहाँ अग्नि के लिए-कविरास्त्र' कहा गया है ॥ ८ ॥

पार्ष्वि महिमायजल में व्याप्त इस होतुकर्माध्यक्ष प्रावाग्नि का उत्तरेत्तर सुतीक्ष्णमात्र में परिणत होना भूकेन्द्ररथ उत्पत्तिक मन्त्राग्नि की ही कृपा का फल है। अग्निवत्त्व विद्यत-वर्मा है। इसी स्वकर्म से यह उत्तरेत्तर सुतीक्ष्ण (सुसूक्ष्म) बनता जाता है। यही सुतीक्ष्णमात्र इसकी युगति का कारण है। यही इक्ष्म वशिष्ठाक्या में परिणत रहना है। इस तीक्ष्णमात्र का मूलप्रवचक केन्द्ररथ प्रजापति-नामक ब्रह्म (एकवापक अग्नि) ही है। उक्त से ही वो अक्षरूप तीक्ष्णमात्र का उद्गम होता है। इसी वर्म की अपेक्षा से ये अग्नि-देव 'ब्रह्मसंश्रितः' नाम से भी प्रसिद्ध है ॥

'धृतमित्युक्त्वा नाम' के अनुसार धृत शब्द आन्त्य के साथ साथ इस उक्त का भी नाम है। सूर्य में बाष्परूप में परिणत होकर आन्तरिक्ष वायुमण्डल पर प्रतिष्ठित होने वाला अपूर्वतः इस अग्निगम में ही प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञोक्त की ओर जाते हुए अग्निदेव ही इस अप की प्रसिद्धा बनते हैं जैसा कि 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सुष्टाभयन्ति' इत्यादि ब्राह्मणधृति से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक्य धृत भी इसी के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। जैसा कि पूर्व के आद्यब्राह्मण के- नीरधीरविदेक-प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। इसप्रकार आधिदैविक-स्था में उक्त तथा धृत का आधार बनता हुआ अग्नि 'धृतपाह्न' बन रहा है। इस आधिभौतिक वैचर्य में आहुत आन्त्य का वाहन जम्पतिक्रम समिद्ध आहवनीयाग्नि बन रहा है। एवमेव आध्यात्मिक अग्नि मुक्त धृत का वाहन बन रहा है। जिसका शारीर्यग्य प्रणीत रहता है यही धृत को पचा सकता है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं की दृष्टि से अग्निदेव 'धृत पाह्न' बन रहे हैं ॥८॥

पाकयज्ञ अतिथय महायज्ञ शिरोयाग आदि आदि जितने भी ब्रह्म हैं उन सबका लक्षण अग्नि के द्वारा ही होता है। 'अग्निरु वै यज्ञ' इस परिभाषा के अनुसार अग्नि ही सर्वयज्ञ-प्रतिष्ठा है। आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ आधिभौतिक अग्नि के माध्यम-द्वारा आध्यात्मिक प्राणदेवताओं का मेल कर देना ही तो ब्रह्म है। ऊपर अग्निपुराणा सर्वे ब्रह्मा प्रीयन्ताम्-अग्नि सर्वो देवता के अनुसार अग्नि सर्वदेवमूर्ति है। फलतः अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का प्रयत्न महीमाति सिध्य हो जाता है ॥९॥

यह अग्नि स्वरूप में परिणत होकर ही शुलोद्वय देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करते हैं। अग्नि के भूत-प्राण भेद से दो विषय कृत हुए हैं। भूसाग्नि (चिन्त्याग्नि) भूपिण्ड में प्रतिष्ठित है यही मत्वाग्नि है। प्राणाग्नि (चित्तेभिषेयाग्नि) भूमिमा में प्रतिष्ठित है, यही अमृताग्नि है। यही अमृताग्नि रसाग्नि है। इस रसाग्नि का ही महिमास्वरूप से कण्व विधान होता है। इस विधान की अन्तिम सीमा २२ वाँ ब्राह्मण है। यही अन्तिम साम रसाग्नि की अवसानभूमि है। अतएव इस अन्तिम रसाग्नि-साम को 'रथन्तर' साम कहा जाता है। वस्तुतः शब्द है—'रसतमसाम'। परन्तु देवताओं की परोक्षमात्रा में 'रसतम' ही 'रथन्तर' नाम से व्यवहृत हुआ है जेसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणभूति से स्पष्ट है—

‘रसतम इ नै सद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम् (शत० ६। १। २। ३६)।

हमारे ये अग्निदेव रसावस्था से ही शुलोक की ओर गमन करते हैं। अतएव इह (यज्ञवहन-दशा में) 'रस' कहा जाता है। रस को ही परोक्ष मात्रा में—'त वा एत रसं सन्त रथ इत्याचक्षते' (गो. भा. पू० २। २१) के अनुसार 'रथ' कहा गया है। सम्पूर्ण यज्ञों के ये अग्निदेव रथी (रसावस्था से युक्त होकर यज्ञ वहन करने वाले) हैं ॥२१॥

आन्तरिक्ष-वायु-वायव्य घरातल में उभयतः अमूल विचरण करने वाले अश्विनाशक आसुरप्राण-विशेषों का ही नाम 'रथस' है। परन्तु शुलोक में जाते हुए इस अग्नि का ये आन्तरिक्ष अमृताग्नि संवरण नहीं कर सकते। यही इस इष्टा अग्नि का अतूर्त्तमात्र है। इस अतूर्त्तवर्त्म का एकमात्र धरण है—समिद्ध प्राणाग्नि का पूर्वोक्त गतिविशानानुसार सम्बत्सरप्रवृत्त में एकविपत्य। इनका असुर क्या संवरण करेंगे वे स्वयं अपने 'येति मेति' कल से असुरों का वरण कर जाते हैं। ऐसे अग्नि का यज्ञ में जब समिन्वन हो गया हो तो फिर यहाँ भी असुराक्रमण की कदा सम्भावना है ॥२२॥

देवता बिंश पात्र में आहुतिद्रव्य का अशन करते हैं, वह 'वपदक्षर' तथा अग्नि भेद से दो प्रकार का माना गया है। आचारपात्र आहूत्य वपदक्षर है इसी पर सब देवता प्रतिष्ठित हैं। इस वाह्य महिमास्वरूप वपदक्षर के २१ व ब्राह्मण पयन्त प्राणाग्नि की व्याप्ति रखी है। यही प्राणाग्नि यज्ञिय १३ देवताओं का आहुतिद्रव्य पात्ररूप मुखस्थानीय अग्निपात्र है। आचारपात्र वहाँ 'वपदक्षर' कहा जाता है वहाँ यह अग्निपात्र 'आसपात्र' (आत्मपात्र मुखरूपपात्र) नाम से व्यवहृत हुआ है। जो ऐसे अग्नि का समिन्वन करता है वह आसपात्रता प्राप्त करता हुआ अमीषित गोमय का संग्राहक बन जाता है ॥२३॥

पार्थिव रथी का सौरश्चिमगत प्राणदेवता उसीप्रकार पान किया करते हैं जैसे कि भूमिदेवता इन्द्र की सखि (महामोक्ष) में-चमस से सोमपान किया करते थे। आहुतिरस (बिस्का कि प्राणदेवता पान करते हैं) इसी प्राणाग्निगर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस अग्नि को देवताओं का पानपात्र कहना अनवयम् है ॥२४॥

पूर्व के गतिविशान में बतलाया गया है कि यह प्राणाग्नि सम्पूर्ण सम्बत्सरवृत्त का अधिष्ठाता बन रहा है। रथ के पहिए में नेमि आरा, भेद से दो विभाग रहते हैं। नेमि में सब आरे ओतप्रोत रहते हैं। यहाँ भी नेमिस्थानीय अग्नि में सबत्सरप्रवृत्तान्तर्गामी अरास्थानीय सम्पूर्ण देवता ओतप्रोत हैं। प्रकृत निविन्मन्त्र अग्नि की इसी सम्बत्सरव्याप्ति का वर्णन कर रहा है ॥२५॥

—मघपानपात्र 'वपक' कहा जाता है एवं सोमपानपात्र 'चमस' कहा जाता है। सम्भवतः 'चमस' शब्द ही निरुक्तमानुसार अन्तर्गत में चमस—चमस हुआ 'चम्मस' रूप में परिणत हो गया है। एवमेव मघपानानुगत 'वपक' पात्र के आचार पर ही मघ के अर्थ—'मुक्ती' शब्द समन्वित हुआ है।

## अथ—देवतावाहनोपपत्ति

सामिधेनीयों से प्राणाग्नि का समिन्धन किया गया निगदानुबन्धन से वीर्याधान किया गया, एवं पूर्वोक्त निष्क्रिपाठ से अग्नि के व्याप्ति-समष्ट्यात्मक गुण कर्मों—का क्लान करते हुए इत्थं यशोवर्त्म का आगान किया गया। अब ये अग्नि देवयजनकर्मों लिए सर्वथा उपयुक्त बन गए हैं। अतएव आवश्यक है कि, इन इन अग्निदेव से प्रार्थना की जाय कि, प्रकृत इति में जिन जिन देवताओं का यजन करीछ है उहों भी आप इस यज्ञसंस्था में (युलोक से) प्रसिद्धि कीधिए। यही आह्वानकर्मों की संक्षिप्त उपपत्ति है जिसकी इतिवृत्त व्यता का १९, १७ इन दो कथिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। इस देवता-आवाहन कर्मों में—स्व-‘महिमानमावह’ पद की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। भुविने कहा है कि, वाक ही इस अग्नि की अपनी महिमा है। यह वाक् ही ‘तस्य वा एतस्मान्नेवाग्निवोपनिपत्’ के अनुसार अग्नि की मूलप्रतिष्ठा है। नागवितान ही कष्टकरमण्डलक महिमाप्रयुक्त है। यही आध्यात्मिक अग्निमहिमा है। आधिमौखिक भूतपिण्ड वाक्यमय हैं। वाक्यमय भूतपिण्डों के गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ भूतमयी वाक् भूताग्नि की महिमा बन रही है। आध्यात्मिक अग्नि की महिमा आग्निन्द्रिय-सञ्चया वाक् ही बन रही है। वाक्त्व ही शरीराग्नि का परिचायक है। शब्दविन्यास के आधार पर शरीराग्नि का क्लान्ध अनुदेव है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं में वाक् ही अग्नि की महिमा बन रही है।

निमित्त—मन्त्र ने अग्नि को ‘जातवेद’ कहा है। यह विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है। परिचय रखने वाला ही ‘जातवेद’ है। अधिदेवता में अग्नि ही तत्वरूप देवताओं के यथार्थ स्वरूप से परिचित है। अविद्युत में भूताग्नि ही भूतपिण्ड के स्वरूप-संघटन-सञ्चय परिचय से अवगत है। एवं अध्यात्म में शरीराग्नि ही ‘वाक्-प्राण-चक्षु’ रूप से जातवेदा बन रहा है। चक्षु से हम कष्ट पहिचानते हैं वाक्मय नाम से वस्तुओं का परिचय प्राप्त करते हैं एवं प्राणमय कर्म से वस्तुस्वरूप का परिचय मिलता है। आग्निन्द्रिय अग्नि से सम्बद्ध है प्राग्निन्द्रिय वायु से सम्बद्ध है एवं चक्षुर्निन्द्रिय आदित्य से सम्बद्ध है। अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों एक ही अग्नि के तीन विकृत हैं। पृथक् आध्यात्मिक अग्नि का भी जातवेदत्व महीमाति किञ्च होनाचा है ॥१९, १७॥

अनुबन्धनकर्म लगे लगे होता है आध्यात्मिक बैठे बैठे होता है। अध्यात्म्य स्वर्त्मन्त्र से सम्बद्ध करता है एवं होता श्रुतमन्त्र से अनुवाक्य करता है। आह्वान होता है युलोकस्य देवताओं का। वे इन से किवूर हैं। अतएव अनुबन्धनकर्म लगे लगे ही होना चाहिए। क्योंकि निदानविधि से युलोक अनुवाक्य है। यजन होता है—उन प्राणादेवताओं का जो होता के अनुबन्धन से इस धृषिणी पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव यजनकर्म बैठे बैठे ही होना चाहिए। क्योंकि आध्यात्मिक निदानेन धृषिणी का ही प्रतिक्रम है ॥ १८, १८ ॥

चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा

ब्राह्मण समाप्त

सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

# चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

—●—

## अथ-शान्तिकर्मोपपत्ति

वेदरस्यवित् विद्वान् होता के यथानिवि सामिधेन्यनुबचन से आर्येय-प्रवरण से निगदात्-वचन से निधित्पाठ से तथा आवाहन के द्वारा देवप्राणान्नान में आवा इमार यह वैव आहनीयानि वाचारण लौकिक इदं अग्निर्वा की अपेक्षा अतिशयकसे समिद्ध अर्द्धात्कक अनारम्भणीय तथा अन-वसूर्य बन जाता है। न केवल अग्नि ही, अपितु अपने अनुबचनादि कर्म से भूतानि में प्राणानि का समावेश कर उसे यह स्वरूप देने वाला स्वयं होता भी अपने शरीरानि से उत्समानधम्मा बनता हुआ अनवचृष्य तथा अनवसूर्य ही बन जाता है। जो सामान्यबुद्धि मन्त्रशक्ति के उक्त प्रभाव को न जानता हुआ स्व अग्नि को सामान्य अग्नि, एवं अनुबचनकर्त्ता इस ब्राह्मण को सामान्य मनुष्य समझने की भ्रान्ति करवा हुआ इसका तिरस्कार-अपमान-करने की भूलकर बैठेगा वह निश्चयेन अपना उसीप्रकार वचनाश कर बैठेगा जैसे ब्रह्म मनुष्य विद्युत्-स्पर्श से अपना नाश कर बैठता है। अतः ऐसे अग्नि तथा ऐसे यष्टिय ब्राह्मण सर्वथैव प्रणश्य हैं मृत्यु हैं ॥१,२॥

अग्निचमिन्वन के लिए होता बिन सामिधेनीयों का अनुबचन करता है उस अनुबचनकर्म से ही यद्यपि इसके शरीरानि में अतिशय उत्पन्न होता है। तथापि साक्षात्कार में सावधान शरीरानि-समिन्वन के लिए अनुबचनकाल में तत्त्वश्रिय मन्त्र-मार्गों के द्वारा तत्त्वश्रिय आप्यात्मिक पर्वों के समिन्वन के लिए मानना कर लेता है। किन्तु मन्त्र से कौनसा आप्यात्मिक पर्व समिद्ध होता है?, प्रत्युत ब्राह्मण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

‘प्र वो वाक्वा अमिधाय०’ इत्यादि प्रथम मन्त्र होता के ‘प्राण्य’ का ही समिन्वन करता है। ‘अग्न आभाहि वीतये०’ से ‘अपान’ का ही समिन्वन होता है। एवं तृतीयमन्त्र के—‘बृहच्छोषा यधि-प्य मन्त्रभाग से ‘उदान’ ही समिद्ध होता है। ‘अथ्यप्राण’ नाम से प्रविद्ध प्रवासात्मक प्राण की (इन्द्रियप्राण की) प्राण-अपान’ भेद से दो अवस्था हैं। निर्गच्छत् अवस्था में बही गमनधम्म से ‘प्राण्य’ है आगच्छत् अवस्था में बही आगमन धम्म से ‘अपान’ है। प्राण्य प्रवात (गतिधर्मा) है, अपान एतवात् (आगतिधर्मा) है। ‘प्र उपसर्गश्रुता ‘प्र वो०’ इत्यादि श्रुत्वा से उत्तम निरवासाव-स्थापक ‘प्राण्य’ का एवं ‘आह उपसर्गश्रुता अग्न आभाहि०’ श्रुत्वा से उत्तम प्रवासात्मक ‘अपान’ का समिन्वन हुआ है। वेवेनाही के द्वारा कण्ठदेश में प्रतिष्ठित आयुस्वरूपरक्षक प्राण ही ‘उदान’ है। इन का बृहत्तममण्यवस्था आयुःप्रवाता सीर विस्वामित्रप्राण से समुत्पन्न है। अतएव इसे ‘बृहच्छोषा’ रहना अनर्थ बन रहा है। ‘बृहच्छोषा यधिप्य’ से इसीका समिन्वन हुआ है ॥३॥

‘स नः प्रयुग्मवाप्यम्० मन्त्रभाग से ओत्रेन्द्रिय का समिन्वन हुआ है। त्रैलोक्यव्यापक, अंतर्यमहा प्रयु (विस्तीर्ण) वाक्-समुद्र में अन्य शब्दापात से उत्पन्न वीचि ही कार्यशक्तुक्षी पर प्रतिष्ठित प्रज्ञान मन से सम्बद्ध (आहित-प्रत्याहित) होती हुई शब्दभवन का स्कारण मानी गई है। इस व्यापक वाक्-सहरी के आचार पर शब्दभवन करने के कारण ही ओत्र प्रयुग्मवाप्य है ॥४॥

‘ईदंन्यो नमस्य इस मन्त्रभाग से यागिन्द्रिय का ही समिन्वन हुआ है। सम्पूर्ण मौक्तिक विश्व वाक् का ही वितान है। मन-प्राणगमित वाक् ही आच्छाद है। आकाशामिन्न वाक् ही ब्रह्मप्रणय के वाद्यत्व से पञ्चमहाभूतरूप में परिणत हुई है जैसा कि-‘वाचीमा विश्वा भूषनान्यर्पिता’-अथो वागेवेह सवम’ इत्यादि निगमों से स्पष्ट है। बिद्यप्रच्छर अग्निदेवत में तत्प्राप्तिक्रम वाक् से सब विलत हैं एवमेव अध्यात्म में इन्द्रियात्मिका-शब्दात्मिका-वाक् से ही सब स्तुत्य हैं। वाक् ही सर्वकर्म-वितान की प्रतिष्ठा है जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मणभूति से प्रमाणित है—

‘सा यत्रेयं वागासीत्-सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत। अथ यत्र मन आसीत्-नैव तत्र किञ्चनक्रियत, न प्राज्ञायत। नो हि मनसा ज्ञायत’ कश्चन-आज्ञानावि’ (शत० ४।६।७।४।) ॥५॥

‘अरवो न देववाहनः इत्यादि मन्त्रभाग से प्रज्ञान’ नामक सर्वेन्द्रिय मन का ही समिन्वन होता है। प्राणानामक देवता सोममय मनोवराकल १२ ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इसीलिए सो उपवास में मन पवित्रोक्त आचारान निषिद्ध माना गया है। प्राणवाहन के अतिरिक्त मनस्वी मनुष्य का मन हमे काम-उत्कलता के लिए उठाए फिरता है। मनस्वी का संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। देवप्राण-प्रतिष्ठारूप होने से ही मन अरवस्था नीय देववाहन है ॥६॥

‘अग्नं दीधन्तं बृहत्० इत्यादि मन्त्रभाग से चक्षुरिन्द्रिय का ही समिन्वन होता है। सर्वज्ञशरीर में अज्ञातलक्ष्यवत् वस्तु ही प्रदीप्त है साथ ही बृहत्सामात्मक आदित्य से उत्पन्न होने के कारण बृहत्साम-सम्पत्ति से युक्त है। चक्षुः साम के गर्भ में अवस्थित वस्तु ही दृष्टि का विषय बनती है। एक विराल प्रतिमा का स्वरूप तत्काल शब्दस्थान ही विस्तार देता है। जनतक कि उसमें दो चक्षुःक्षेत्रात्मिकाओं का सम्बन्ध नहीं कर दिया जाता। चक्षु के सम्बन्ध कण्ठ ही पाषाणप्रतिमा प्रव्यक्तित स्त्री हो जाती है उमरही जाती है। तभी प्रतिमा की बृहत्ता बृहत्तरूप से प्रतीत होती है ॥७॥

‘अग्निं द्रुतं धृयीमहे० इत्यादि मन्त्रभाग से ध्यान’ नामक मध्यपाण का समिन्वन होता है। आन्तरिक्त्य प्रादेष्टमित उच्यरूप से ह्यरय सर्वप्रतिष्ठायामक अक्षरूप से सर्वाज्ञशरीर में व्याप्त, बीजना-धारभूत स्वास-प्रश्वासात्मक प्राणोदान के उपरि-अन्तर्ध्याम नामक व्यापारों का सञ्चालक प्राणविशेष ही

‘केवल मानस संकल्पों से इच्छामात्र की चर्चछा से तत्काल किसी कर्म में सकलता नहीं मिल सकती वस्तुतः कि-वाक्स्वय शारिरिक-अम तथा वाक्स्वय शब्द का आश्रय न लिया जाय। कर्म तथा शब्दा भिनय से ही संकल्प आर्च्यरूप में परिणत होते देखे गए हैं।

‘व्यान’ है। इस से ऊपर धीरुदित्यप्राण, तयानीचे पार्थिव प्राण है इसी के लिए निम्नलिखित उपनिषद्चन विहित हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥

इतरण तु जीवन्ति यस्मिन्नेताद्युपाधिता ॥१॥

ऊर्ध्वं प्राणमुभयति अपान प्रत्यगस्यति ॥

मध्ये वामनमासीन सर्वे देवा उपासते ॥२॥

व्यान से ऊर्ध्व स्थित प्राण प्राण-इवान मं से दो स्वरूपों में विभक्त है, व्यान से नीचे स्थित अपान समान-अपान मद से दो मार्गों में विभक्त है। इसप्रकार व्याप्यात्मिक प्राण के पांच विध हो जाते हैं। इन में व्यानप्राण मध्यस्थ है, अन्तःस्थ है। इस अन्तःस्थ प्राण के समन्वयन से आठवीं श्रृंखा भी मध्यस्था है। इस समन्वयन से समिचनकता अपनी मरुहली में मध्यस्थ बन जाता है ॥८॥

‘शोचिष्केशस्त्वमीमह’ इत्यादि मन्त्रमाग से शिरःशिरः शिरी समन्वयन करता है। अमामिमय-व्यप्य शक्ति इतर व्यप्य से कहीं प्रवण है। इस का नीचे शिरः ही माना गया है। शिरःशिरः-परव्यप्य अममामिमय मनुष्य अमप्रतिष्ठा-श्या में अतिशय रूप से उल्लस रहते हैं। इसी सादृश्य से शिरः के लिए ‘शोचिष्केश’ पद प्रयुक्त हुआ है ॥९॥

‘समिद्धो अग्न आहुतः’ इत्यादि मन्त्रमाग से अवाक प्रा ७ (गुणप्राण) का ही समन्वयन होता है। एव — ‘आहुतो वा दुवस्यत’ इत्यादि से समष्टिरूप से सत्राङ्गशरीर का ही समिचन होता है ॥१॥

इसप्रकार उक्त समिचन-माधना से होता का सत्राङ्गशरीर व्यष्टि-समष्टिरूप से समिद्ध अग्निक्त प्रज्वलित हो जाता है। यदि होता चाह, तो अपमान करने वाले पर उक्त माधना के साथ प्राण्य वा एतदा-त्मनोऽज्जनावावा ० इत्यादि रूप से इत्यादिप्रयोग कर सकता है बिनका ११ १२, १३ १४ १५ १६, १७ १८ १९, २० २१ इन ११ कथिहवाधियों में स्पष्टीकरण हुआ है।

उक्त समिचनकर्म तथा अभिचानकर्म से कतलाना प्रकृत में यही है कि, सामिधेनी से समिद्ध अग्नि तथा समिचनकता होता गानो समानयम्मा है अनवदृष्य है अनकमूरय है। उनका कमी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ऐसे इस महान्-स्तुत्य-नमस्य अग्निव्यवस्था के लिए, एव अग्निरहस्यवित् एसे ब्राह्मणसमष्ट होता के लिए निरतिशय प्रणतमात्र से आन्धा-अज्ञा-पूर्वक ही हमारी अनक नम उक्तिर्यों समपित है ॥१०॥

चौथे अध्याय में तीमरा, तथा तीसरे प्रपाठक में

पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त

समाप्त चेत् ब्राह्मणचतुष्टयात्मक सामिधेनी-ब्राह्मणम्

ॐ।

इति—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—  
ब्राह्मणचतुष्टयात्मक—“सामिधेनीब्राह्मणम्”  
उपरतम्





श्रीः

अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—  
द्विब्राह्मणात्मक-“आधारब्राह्मणम्”

---



भीः

अथ—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये  
द्विष्ठाह्न्यात्मकं—“आधारब्राह्मणम्”

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्  
तृतीय-प्रपाठकके च पष्ठ ब्राह्मणम्  
( आधारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथम ब्राह्मणम् )

१

१६-पूर्वोत्तराधारकर्म  
आधारयोर्निदानम्

(मूल)—त वा एतमग्निं समैन्विषत्—‘समिद्धे’ देवभ्यो जुह्वाम’-इति ।  
तस्मिन्नेत-एष प्रथमे आहुती जुहोति-मनसे चैष वाचे च । मनस इ वे वाक् च युजौ  
देवभ्यो यज्ञं वहत ॥१॥

स यदुपांशु क्रियते-तन्मनो देवभ्यो यज्ञं वहति । अथ यडावा निरुक्तं क्रियत्-  
तत् वाग् देवभ्यो यज्ञं वहति । एतद्वा इदं द्वयं क्रियते; तदिते-एवैतत् सन्तर्पयति । तप्ते  
प्रीते देवभ्यो यज्ञं वहत इति ॥२॥

स्रुवेण तमाधारयति-यं मनस आधारयति । श्रुपा हि मन, श्रुपा हि स्रुव ॥३॥

स्रुचा तमाधारयति-यं वाच आधारयति । योपा हि वाक्, योपा हि स्रुक् ॥४॥

तूष्णीं तमाधारयति यं मनस आधारयति, न स्वाहेति चन । अनिरुक्तं हि मन,  
अनिरुक्तं शेतत्-यत् तूष्णीम् ॥५॥

मन्त्रेण तमाधारयति-यं वाच आधारयति । निरुक्ता हि वाक्, निरुक्तो हि मन्त्रः ॥६॥

आसीनस्तमाधारयति-य मनस आधारयति, तिष्ठंस्तम्-यं वाचे । मनश्च इ वै वाक् च, युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः । यतरो वै युजोर्हृसीयान् भवति-उपबहं वै तस्मै कुर्वन्ति । वाग् वै मनसो हसीयसी । अपरिमिततरमिव हि मन, परिमिततरेव हि वाक् । उद्गाथ एवेतदुपबहं करोति । ते सयुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहत । तस्मात् तिष्ठन् वाच आधारयति ॥७॥

देवा इ वै यज्ञं तन्वानाः । उऽऽपुरराक्षसेभ्य आसङ्गात् त्रिमयाऽङ्गु । त एत-  
द्विचिखत प्रत्युदभयन् । उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् । तस्माद्विचिखतस्तिष्ठमाधारयति । स  
यदुभयत आधारयति-तस्मादिव मनश्च वाक् च समानमेष सन्धानेव । शिरो इ वै यज्ञस्यै  
तयोरन्यतर आधारयो, मूलमन्यतर ॥८॥

सुवेख तमाधारयति-यो मूलं यज्ञस्य । सुचा तमाधारयति य शिरो यज्ञस्य ॥९॥  
तूष्णीं तमाधारयति-यो मूलं यज्ञस्य । तूष्णीमिव हीद मूलम्, नो ह्यत्र वाग्  
वदति ॥१०॥

मन्त्रेण तमाधारयति-यः शिरो यज्ञस्य । वाग्चि मन्त्रः । शीघ्र्यो हीयमचि वाग्  
वदति ॥११॥

आसीनस्तमाधारयति-यो मूलं यज्ञस्य । निपत्यमिव हीद मूलम् । तिष्ठस्त-  
माधारयति-यः शिरो यज्ञस्य । तिष्ठतीव हीद शिर ॥१२॥

### अग्निसम्मार्जनम्

स सुवेख पूर्वमाधारमाधार्याह-‘अग्निभग्नीस्सम्मृङ्क्षि’ इति । यथा धुरमभ्युदयं  
तत्-यत्पूर्वमाधारयति । अभ्युक्ष हि धुरं युञ्जन्ति ॥१३॥

अथ सम्मार्ष्टि-युनक्त्येवैनमेतद्, युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहति । तस्मात् सम्मार्ष्टि ।  
परिक्रामं सम्मार्ष्टि । परिक्राम हि योग्यं युञ्जन्ति । त्रिष्टिः सम्मार्ष्टि । त्रिष्टि  
यज्ञ ॥१४॥

स सम्मार्ष्टि—‘अग्ने वाजजिह्वाज त्वा सरिष्यन्त वाजजितः सम्मार्जिम’ (२ अ ७ म ) इति । यज्ञं त्वा वक्ष्यन्त सम्मार्जिम, इत्येवैतदाह । अथोपरिष्ठात् तूर्ण्यं त्रि । तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्—प्रेहि बहति, एवमेवैतत्कथयोपधिपति—प्रेहि, देवेभ्यो यज्ञं बहेति । तस्मादुपरिष्ठात् तूर्ण्यं त्रिः । तद्यदेतन्तरेण कर्म क्रियते—तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सज्जानेव ॥१५॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मण—समाप्तम्  
तृतीय-प्रपाठके च पष्ठ ब्राह्मण—समाप्तम्  
आधारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथम ब्राह्मणमुपरतम्

१

तृतीयप्रपाठकश्चात्र—समाप्तः

३

अथ चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मणम्  
चतुर्थप्रपाठके च प्रथम ब्राह्मणम्  
आधारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मणम्

२

२०—उत्तराधारकर्म

(मूल)—स स्रुचोत्तरमाधारयिष्यन् पूर्वेषु स्रुचावुञ्जलिं निदधाति—‘नमा देवेभ्यः  
स्वधा पितृभ्यः ( २ अ० ७ मं० ) इति । तदेवेभ्यश्च वैतत् पितृभ्यश्चात्किञ्च क्रियन्  
निहते । ‘सुयमे मे भूयास्तम्’ ( २ अ० ७ मं० ) इति । स्रुचावादधे—सुमरे मे  
भूयास्तम् । मर्चुं वां शक्यमित्येवैतदाह । ‘अकल्मष देवेभ्य आर्ज्यं सम्प्रियास्तम्’  
( २ अ० ८ मं० ) इति । अविशुद्धमप्य देवेभ्यो यज्ञं तनवा—इत्येवैतदाह ॥१॥

‘अक्लिप्ता विष्णो मा त्वाक्क्रमिषम्’ ( २ अ० ८ मं० ) इति । यज्ञो वै  
विष्णुः, तस्मा एवैतन्निहते—मा त्वाक्क्रमिषमिति । ‘असुमतीमग्ने ते ह्यायामुपस्थेषम्’  
( २ अ० ८ मं० ) इति । साप्तीमग्ने ते ह्यायामुपस्थेषमित्येवैतदाह ॥२॥

‘विष्णोः स्थानमसि’ ( २ अ० ८ मं० ) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्यैव ह्येत-  
दन्तिकं तिष्ठति, तस्मादाह—विष्णोः स्थानमसीति । ‘इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्’ ( २ अ०  
८ मं० ) इति । अतो इन्द्रान्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्टा रक्षांस्यपाहन्, तस्मादाह—इत इन्द्रो  
वीर्यमकृणोदिति । ‘ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्’ ( २ अ० ८ मं० ) इति । अध्वरो वै  
यज्ञः, ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥

‘अग्न देहोऽत्र खेनृत्पयम्’ ( २ अ० ९ मं० ) इति । उमयं वा एतद्दग्निर्देवानाम्  
होता च दूतरश्च । तदुमयं विद्धि—मद्देवानामसीत्येवैतदाह । ‘अजतां त्वां व्यावापृथिवी

अथ तत्र याथाधिधीः ( २ अ० ६ म० ) इति । नात्र तिरोहितमिहास्ति । 'स्विष्टकृद्दे-  
वेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' ( २ अ० ६ म० ) इति । इन्द्रो वै यज्ञस्य  
देवता, तस्मादाह-इन्द्र आज्येनेति । वाचे वा एतमाधारमाधारयति । इन्द्रो वागित्यु-  
वा आहु । तस्माद्देवाह-इन्द्र आज्येनेति ॥ ४ ॥

अथासस्पर्शवन्त्सुचौ पूर्वैत्ये ध्रुवया समनक्ति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधारः ।  
आस्मा वै ध्रुवा । तदात्मन्यधैतच्छिर प्रतिदधाति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधार । धीर्वै  
शिर । धीर्हि वै शिरस्तस्मात्-योऽर्द्धस्य धेष्ठो भवति अनावमुष्पादस्य शिर  
इत्याहुः ॥ ५ ॥

यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु । स यद्रोपभृता  
समञ्ज्याद्-यो यजमानागारातीयति-सन्मिच्छीय दध्यात्, तद्यजमान एवैतन्मिच्छीय  
दधाति, तस्माद् ध्रुवया समनक्ति ॥ ६ ॥

स समनक्ति-'सुज्योतिषा ज्योति' ( २ अ० ६ म० ) इति । ज्योतिर्वा  
इतरस्यामाज्य भवति, ज्योतिरितरस्याम् । त एतेदुमे ज्योतिषी सङ्गच्छते । तस्मादन  
समनक्ति ॥ ७ ॥

अथातो मनसश्चैव वाचग्राहमद्र उदितम् । मनश्च ह नै वाक् ग्राहमद्र ऊदाते ॥ ८ ॥  
तद् मन उवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि, न नै मया त्व किञ्चनानभिगत वदसि ।  
सा यन्मम त्व कृतानुकरानुवत्मासि, अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥ ९ ॥

अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि, यद्वै त्वा वत्थ-अहं तद्विज्ञपयामि, अह  
सङ्गपयामीति ॥ १० ॥

ते प्रजापतिं प्रति प्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्भनस एवानूवाच मन एव त्वच्छ्रेय,  
मनसो नै त्वं कृतानुकरानुवत्तामि, श्रेयसो नै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवत्ता  
भवतीति ॥ ११ ॥

सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिष्य । तस्यै गम पयात् । सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच-  
अहम्यवाहवाह तुम्य भूयायम्, यां मा परावोच इति । तस्माद् यत्किञ्च प्रजापत्य यज्ञे  
क्रियते उपारवव तत् क्रियते । अहम्यवाह्नि वाक् प्रजापतय आमीत् ॥ १२ ॥

तद्धैतरेवा रेवश्मन् वा यस्मिन् वा वसुः । तद् स्म पृच्छन्ति-अत्रैव त्वा ३  
दिति । ततोऽत्रि सम्प्रभूव । तस्मादप्यात्रेय्या यापितैनस्वी । एतस्यै हि मोषायै वाचो  
देवताया एते सम्भूताः ॥१३॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मण  
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण  
समाप्तम्  
आधारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण उपरतम्

२



द्विब्राह्मणात्मकमाधाराब्राह्मणञ्चात्रोपरतम्



शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्त

४





चौथे अध्याय में चौथा, तथा तथा तीसरे प्रपाठक में ६ठा ब्राह्मण  
आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

१

## १—पूर्वोत्तराधारों की उपपत्ति—

(अनुवाद)—उस (प्रसिद्ध) इस (आहवनीय) अग्नि को (अग्निसमिन्वनोपयुक्त पूर्वोक्त कर्म से उद्योगें • इस उद्देश्य से कि) 'समिद्ध (सामिधेनी मन्त्रराक्षित्युत होने से देव प्राणयुक्त) अग्नि में देवताओं के लिए हम आहुति देते हैं' समिद्ध कर लिया। (अर्थात् देवाहुति के योग्य बनाने के लिए ही पूर्वोक्त सामिधेन्यनुषन्धनकर्म के द्वारा आहवनीय अग्नि का समिन्वन हुआ है। इस कर्म से यह अग्नि देवाहुति-महण-योग्य बन गया है)। (यज्ञमानादि के द्वारा समिद्ध) इस आहवनीय अग्नि में अश्वप्यु नामक अश्विक् मन के लिए और वाक् के लिए इन्हीं दो आहुतियों का बहन करता है। मन तथा वाक्, दोनों से संयुक्त होकर (मियुनमात्र में परिणत होकर शुलोकस्थ प्राणरमक) देवताओं के लिए (पृथिवीलोक से यज्ञ-यज्ञातिरायोत्पादक आहुतिप्राण) का बहन करते हैं (लज्जात हैं)। (अर्थात् आहवनीय में हुत आहुतिद्रव्य का प्राणरूप से शुलोक में मनोवाक् के द्वारा ही गमनसङ्गण ऊर्ध्व विमान होता है। अतः देवाहुति से पहिले आहुतिप्राणक मनोवाक् के लिए दो आहुतियाँ बना आवश्यक है) ॥ १ ॥

अश्वप्यु के द्वारा जो तृष्णी (आहुतिकर्म) किया जाता है, इस उपांशुकर्म से मन देवताओं के लिए यज्ञ (आहुति) का बहन करता है। जो कि वाक्-पूर्वक (उच्चारण-पूषक) निरुक्त (प्रकट) मात्र से (आहुतिकर्म) किया जाता है, इस निरुक्तकर्म से वाक्स्त्व देवताओं के लिए यज्ञ का बहन करता है। (अर्थात् मन अनिरुक्त होने से उपांशु है अतएव मन के लिए तृष्णी आहुति दी जाती है, क्योंकि तृष्णीमात्र अनिरुक्तमात्र है। वाक् निरुक्त है अतएव वाक् के लिए उच्चारणपूषक आहुति दी जाती है क्योंकि उच्चारणमात्र निरुक्तमात्र है)। इसप्रकार

• समिन्वनकर्म में यज्ञकलमोक्षा यजमान के आत्मा (हृन्म) का योग होता है अश्वप्यु नामक अश्विक् इष्मादान करता है ब्रह्मा नामक अश्विक् होता को सामिधेयनुषन्धन की अनुज्ञा प्रदान करता है एवं शंठा नामक अश्विक् सामिधेनी-अश्विणी के अनुषन्धन से अग्नि-समिन्वन करता है। इसप्रकार यजमान अश्वप्यु ब्रह्मा होता चारों के व्यापार से अग्निसमिन्वन-कर्मोत्पत्तिकर्तृत्वता सम्पन्न होती है। इसी समिपय से 'समिन्धिपत यह अनुषन्धन प्रयुक्त हुआ है।

तद्वै तद्देवा रेतश्चर्मन् वा यस्मिन् वा वज्रम् । तद्व स्म पृच्छन्ति-अत्रैव त्वा ३  
दिति । ततोऽग्निं सम्यभूव । तस्मादप्यात्रेय्या यापितैनस्वी । एतस्यै हि योषायै पाचो  
देवताया एते सम्भूता ॥१३॥

इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चम ब्राह्मण  
चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण  
समाप्तम्  
आधारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीय ब्राह्मण उपरतम्

२

—★—

द्विब्राह्मणात्मकमाधाराब्राह्मणश्चात्रोपरतम्

—•—

शतयजुर्ब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्त

४

—१८१—

कि वाक्स्त्वयि के लिए करता है । ( मनोऽनुगत पूर्वाचार वैठ घँठ पश्चात्तनुगत उत्तराचार खड़ा खड़ा होता है ? , इस प्रश्न की उत्पत्ति यतलाती हुई भूति कइती है )—( पूर्वकथनानुसार ) मन, और वाक्, दोनों ( अश्वयुग्मवत् ) मिलकर वषटाओं के लिए [ रथरूप ] यज्ञ का वहन करते हैं । [ रथ में जुड़ हुए दो अश्वों में से ] जा अश्व नाटा होता है लोक में रथवाहक सारथि उसक लिए 'उपयह' • करते हैं । ( वाक् और मन दोनों इस यज्ञरथ के वहन करने वाले दो अश्व हैं, परन्तु ) मनोरूप अश्व की अपेक्षा वाक् रूप अश्व नाटा है । क्योंकि मन अपरिमित [ विराल ] सा है, और वाक् परिमित [ संकुचित ] सी है । [ वड़ा खड़ा वागनुगत उत्तराचार करता हुआ ] अश्वयुग्म वाक् से हा उपयह का मन्यव करता है । [ इस उपयह से वाक् मन से समनुज्ञित होजाती है फलतः ] दोनों समानरूप से यज्ञरथ में जुड़कर भरलतया यज्ञरथ का वहन करने में समर्थ होजाते हैं । एकमात्र इन [ समनुज्ञितमावाप्ति के ] लिए ही वागनुगत उत्तराचार का खड़ा खड़े सम्पादन करता है । समान-वहनप्रवृत्ति सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए ही वागनुगत आचार विष्णु विहित है, यही निष्कय है ॥ ७ ॥

[ आहवनीयकृच्छ्र के दक्षिणभाग में खड़ा होकर वागनुगत उत्तराचारकर्म किया जाता है । खड़ा होकर साथ ही दक्षिणदिशा में उत्तराचार करने का एक कारणान्तर यतलाती हुई भूति कइती है ]—वषट्कृत्यों में यज्ञ का वितान किया । [ यज्ञवितान करत हुए ] व वषट्कृत्य [ दक्षिण दिक्षु ] असुर-राक्षसों की आक्रमणाराद्ध से भयत्रस्त होगए । [ इन भय से त्रास पान के लिए वषट्कृत्य लोग आहवनीय के दक्षिण भाग में [ मावधान होकर असुरों की प्रतिस्पर्द्धा में ] खड़ा हो गए । [ शत्रुभय तभीतक भयेत्यादिक बना रहता है, जबतक हम प्रत्युत्तर देने में असमर्थ रहते हैं । जब हम आततायी के सम्मुख सज्जीभूत होकर प्रत्याक्रमण के लिए खड़ा होजाते हैं, तो शत्रु शान्त हो जाता है । भस्मप्रेतों में स्थवितान-यज्ञमण्डल की दक्षिण दिशा में अग्नि देने को खड़ा कर माँस असुराक्रमण से त्रास पाया था । पृथ्वी प्राकृतिक प्राणदेवताओं के नित्य-प्राकृतिक यज्ञ में अग्नियुक्त इन्द्रप्राण के द्वारा आसुरप्राण का निरोध होता रहता है । प्रकृति के अनुसार माँस देवताओं में किया तदनुसार ही हम अपने इस वैश्वयज्ञ में करना चाहिये, जैसाकि- 'पाननुविधा वै मनुष्या इत्यादि निगम से स्पष्ट है । दक्षिणदिक्षु आसुरप्राणनिरोध के लिए

• यदि रथवहन करने वाले दो घोड़ों में से एक अश्व दूसरे से नाटा होता है तो इस ठस गीबधाय अश्व की उचाई से समनुज्ञित करने के लिए इसक मध्य प्रवृत्ति में अपक्षित परिमाणयुक्त एक काष्ठ-वस्तुनिष्ठ स्थूलपीठ बीच दिया जाता है । इससे दोनों की ऊँचाई समनुज्ञित होजाती है । यही स्थूलपीठ वेदिकारिमाणा में 'उपयह' कहलाया है ।

उपाय, तथा उपायमात्र का द्वारा आचर्य्युं शही दोनों मनोवाक्-भाषा की सम्पत्ति सम्पन्न करता है इन दोनों आहुतियों से यह मनोवाग्भाषा को ही तृप्त करता है । ( प्रयोजन इस वृत्तिकर्म का यही है कि, आहुतिद्वय से ) तृप्त मन और वाक् वैषतोमों के लिए यज्ञ का बहान करें ॥ २ ॥

( वे दोनों आहुतियों क्रमशः 'पूर्वाधार, उत्तराधार' नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वाधाराहुति मनस्तृप्ति से सम्बन्ध रखती है एवं उत्तराधाराहुति वाक्तृप्ति से सम्बन्ध रखती है । सुक्पात्र पुरुष की प्रतिकृति है, उबर मन भी पुरुष है । अतएव पूर्वाधाराहुति सुक्पात्र से होती है । सुक्पात्र स्त्री की प्रकृति है उबर वाक् भी स्त्री है । अतएव उत्तराधाराहुति सुक्पात्र से होती है । यूपो-योपसमक इसी मिथुनमास को स्पष्टीकरण करती हुई भुति कहती है )—'सुक्' नामक पात्र के द्वारा उस आधाराहुति ( पूर्वाधाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है । क्योंकि मन वृषा ( पुरुषप्रकृति ) है, उबर सुक्पात्र भी वृषास्थानीय ही है ॥ ३ ॥

सुक्पात्र के द्वारा उस आधाराहुति ( उत्तराधाराहुति ) का सम्पादन करता है जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है । क्योंकि वाक् योपा ( स्त्रीप्रतिकृति ) है उबर सुक्पात्र भी योपा-स्थानीय है ॥ ४ ॥

तृप्ती उस आधाराहुति ( पूर्वाधाराहुति ) का सम्पादन करता है जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है ( माघ ही इस क्रम में ) 'स्वाहा' इसका भी उच्चारण नहीं करता है । ( वास्तव्य कहने का यही है कि मन्त्राहुतिकाल में मन्त्र की समाप्ति पर आहुति देते समय 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण स्वाभावसिद्ध-अभ्याससिद्ध है । कहीं ऐसा न हो कि, मनस्तृप्ति के लिए विहित पूर्वाधार में अभ्यासवश 'स्वाहा' का उच्चारण होजाम । इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के निरोध के लिए ही भुति को न स्वाहेति धन' इत्यादि रूप से आदेश देना पड़ा है ) । मन अनिरुक्त ( इन्द्र यावच्छिन्न होने से अप्रसन्न-अप्रकट ) है । वह भी अनिरुक्त ही भाव है, जो कि तृप्ती ( सुप्ताप ) है । इसलिये मानसाधार तृप्ती ही होना चाहिए ) ॥ ५ ॥

मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस आधाराहुति ( उत्तराधाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है । वाक् निश्चयेन निरुक्त ( प्रकटमात्राभा है । वह भी निरुक्त ही भाव है, जो कि मन्त्र ( मन्त्रोच्चारण ) है । ( इसलिये वागाधार मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही होना चाहिए ॥ ६ ॥

वेद्य वेद्य उस आधाराहुति ( पूर्वाधाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है । अथा अथा उस आधाराहुति ( उत्तराधाराहुति ) का सम्पादन करता है जिस

करता है, जोकि यज्ञ का मस्तक है। (शरीर प्रदश में) मस्तक खड़ा हुआ—सा ही है। (तात्पर्य यही है कि, पूजापार मूलस्थानीय है, एष इसका मन से सम्बन्ध है। तथा उत्तराधार मस्तक-स्थानीय है, एष इसका थाक् से सम्बन्ध है। मूलतत्त्व आनरुक्त आसीनवत् है, अतएव तत्-सम्पादक पूजापार अनिरुक्त-आसान भाव के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शिरोभाग निरुक्त, विष्टवत् है, अतएव तत्सम्पादक उत्तराधार समन्वित-विष्टदुभा के द्वारा सम्पन्न किया जाता है ॥१२॥

## २-अग्निसम्मार्जन—

यह अध्वर्यु (आहवनीय अग्नि म तृप्थी) पूजापार का सम्पादन करके (आग्नीध्र नामक अस्त्रिक को) प्रेष करता है कि—‘हू अग्नीत् ! (आग्नीध्र ! ) (अथ तुम आहवनीय) अग्नि का सम्मार्जन करो’। जिसप्रकार (रथबाहक घैल के स्कन्धप्रवेश में) जूड़ा बालते हैं, उसीप्रकार का यह कर्म है जोकि पूजापार का सम्पादन करना है। स्कन्ध प्रवेश म पहिले जूड़ा बालकर ही पीछे चम्मपाश से बाँधते हैं। (तात्पर्य यही हुआ कि रथबहन करने वाले धूपमा को पहिले रथ धुर के नीचे लाकर उनके स्कन्ध प्रवेश में धुर (जूड़ा) बाला जाता है। अनन्तर नियत चम्मपाश से उनके ग्रीवास्थानों को बाँध दिया जाता है। यहाँ आहवनीय अग्नि ही यज्ञरथ बहन हरने वाला धूपम है। पूजापार करना इसके स्कन्ध-प्रवेश पर जूड़ा बालना है, एष सम्मार्जन करना पारावचन से युक्त करना है। क्योंकि पूजापार धुर स्थापन स्थानीय है, एष धुरस्थापन सम्मार्जनरूप पारावचन से पहिले होता है अतएव यहाँ भी पूजापारकर्म सम्मार्जनकर्म से पहिले किया जाता है अनन्तर अग्निसम्मार्जन के लिए आग्नीध्र को आदेश दिया जाता है। पूजापार स्कन्ध प्रवेश में धुरस्थापन स्थानीय है, यह वक्ता कर अब सम्मार्जन कर्म को पारावचन स्थानीय बतलाती हुई अति कहती है) ॥१३॥

यह आग्नीध्र (नामक अस्त्रिक अध्वर्यु के प्रैपानुसार) आहवनीय अग्नि का \* सम्मार्जन करता है। इस सम्मार्जनकर्म से यह आग्नीध्र (धूपम-स्थानीय धुर युक्त इस आहवनीय) अग्नि को (पारावचन से) ही (यज्ञरथ में) युक्त करता है। (यज्ञरथ में पारावचन से)

\*—आहवनीय अग्निपुराण के पश्चिम दक्षिण उत्तर, इन तीन प्रान्तभागों में प्रतिष्ठित तीन इष्टकाष्ट ही परिधियाँ हैं। पहिले परिधि-स्थापनानुसार इन तीनों परिधियों से संलग्न अग्नि का त्रिराष्ट सम्मार्जन किया जाता है अनन्तर आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बाग तृप्थी सम्मार्जन किया जाता है। यही आग्नीध्रकृत सम्मार्जन है जैसाकि खण्डदर्शित पदसिंघद्वय में स्पष्ट किया जाना जाता है।

ही दक्षिण की ओर खड़े होकर वागनुगत उत्तराधारकर्म किया जाता है ] । वीर्य खड़ा हुआ—सा है । [ बैठने में शरीरवश मन्व—सा रहता है । खड़े होजाने पर बल उबलुब हो जाता है ] ! इसलिए दक्षिण की ओर खड़े होकर ही उत्तराधार का सम्पादन करता है । असुराक्रमणनिरोधक वीर्यभाव की प्राप्ति के लिए ही खड़े होकर आपारकर्म किया जाता है, यही उपपत्ति—निष्कर्ष है ।

( मन के लिए विहित पूर्वाधार आहवनीय से उत्तर बैठ कर सम्पादित होता है, वाक् के लिए उत्तराधार आहवनीय से दक्षिण खड़े होकर सम्पादित होता है । आहुति—प्राप्ति—स्थान—संख्या आहवनीयाग्नि समान है, आहुतिप्रदानस्थान उत्तर—दक्षिण—मेव से नाना भिन्न—हैं । उधर मन और वाक् दोनों आहुति—प्रापकत्वेन समान हैं एव त्यस्वरूप से भिन्न भिन्न हैं । इसी साम्यसिद्धि के लिए समानाग्नि में उभयाधाराहुति होती है । प्रवेशात्वेन दोनों नाना हैं अतएव दक्षिणोत्तर प्रवेश में आसीन तथा तित्त्वा रूप से आहुति दी जाती है । मनोवाक् के इसी समानत्वं एवं नानात्वं धर्म के साथ समतुलन बतलाती हुई भुति फहती है )—यह अश्वमुं जोकि ( आहवनीय अग्नि में आहवनीय अग्नि से ) दक्षिणोत्तर ( तित्त्वा—आसीन रूप से ) आपार करता है इसीलिए यह मन तथा वाक् का युग्म समान रहता हुआ भी नाना—वत् है ॥

( वागनुगत ) उत्तराधार तथा ( मनोऽनुगत ) पूर्वाधार दोनोंमें से एक ( वागनुगत उत्तर ) आपार ( इस वैरागमज्जवण ) यज्ञ ( पुङ्गव ) का मस्तक ( शिर की प्रतिकृति ) है, एवं एक ( मनोऽनुगत पूव ) आपार ( इस ) यज्ञ का मूल ( मूलस्थान की प्रतिकृति है ) ॥२॥

सूवपात्र के द्वारा उस ( मनोऽनुगत पूर्व ) ( आपार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मूल है । सकृपात्र के द्वारा उस ( वागनुगत उत्तर ) आपार का सम्पादन करता है, जो कि यज्ञ का मस्तक है ॥३॥

तूष्णीं वम ( मनोऽनुगत पूर्व ) आपार का सम्पादन करता है जोकि यज्ञ का मूल है । मूलवत्त्वं ( मूलस्थान ) तूष्णीं ( अनिरुक्त ) वत् है । यहाँ वागव्यापार अवकाश है ॥४॥

मन्त्रोच्चारण के द्वारा उस ( वागनुगत उत्तर ) आपार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मस्तक है । मन्त्रोच्चारण व्यापार वागव्यापारयुक्त है ( वाग्म्य है ) । मस्तक ( वनस्पत्त मुखा नुगता वागिमित्र्य ) के द्वारा ही वागुच्चारण होता है ॥५॥

बैठा बैठा उस ( मनोऽनुगत पूव ) आपार का सम्पादन करता है जो कि यज्ञ का मूल है । मूलवत्त्वं बैठा हुआ—सा ही है । खड़ा खड़ा उस ( वागनुगत उत्तर ) आपार का सम्पादन

उपपत्ति प्रतलाती हुई श्रुति कहती है) — सो जो कि आग्नीध्र पूर्वोत्तराचार के मध्य में यह सम्मार्जन करता है, इसीलिए मन, तथा वाक् दोनों समान रहते हुए नाना हैं। [ दोनों आचार साथ करना दोनों को समान बनाना है एवं दोनों के मध्य में सम्मार्जनकर्म करना दोनों समानों को नानावत् बनाना है यही तात्पर्य है ॥१८॥

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त  
आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त

—१—

चौथे अध्याय में पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण  
आधारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण

—२—

### उत्तराधारेतिककर्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण में स उपपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले मनोऽनुगत पूर्वोत्तरा-कर्म की इतिकर्त्तव्यता एवं पूर्वोत्तराचार के मध्य में होने वाले अग्निसम्मार्जनकर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई। अब क्रमप्राप्त स कपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले वागनुगत उत्तराचार-कर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है) —सूक्तपात्र (जुहू तथा उपमृत्) से उत्तराचार-कर्म सम्पादन करने वाला अप्ययु (उत्तराधारकर्म से पहिले) जुहू तथा उपमृत् उन दोनों सूक्तपात्रों के पूर्वभाग में (जिस मुख्य भाग से आहुति दी जाने वाली है उस मुख्य भाग की ओर) (‘देवताओं के लिए नमस्कार है, पितरों के लिए स्वधा है’ इस अर्थ से युक्त) “नमो देवेभ्यः, स्वधा पितृभ्यः” (२।७) यह मन्त्र बोलता हुआ अञ्जलिस्थापन करता है (दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है)। इस अञ्जलिनिधान-कर्म से यह अप्ययु (देवताओं तथा पितरों के लिए क्रमशः नम तथा स्वधा करता हुआ) आर्त्थिक्यकर्म करना चाहता हुआ देवताओं तथा पितरों से अपने आप को क्षिपता है। (तात्पर्य यह है कि, देव एवं कर्म आर्त्थिक्यकर्म है। यह एक महान् कर्म है विध्यकर्म है।) उधर अप्ययु असंयसहित एक मनुष्य है सामान्य व्यक्ति है। सामान्य

युक्त होकर यह ( आहवनीय ) अग्नि वृषताओं के लिए यज्ञरथ का वहन कर ( सम्मार्जनकर्म की यही उपपत्ति है ) । इसीक्षिण सम्मार्जन करता है । यज्ञ त्रिभुन् ( त्रिबुद्धिभाषित ) है ( इस यज्ञानुगता त्रिभुत्सम्पत्ति प्राप्ति के लिए हा ) त्रिस्थि सम्मार्जन किया जाता है ॥१॥

[सम्मार्जन कर्म क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का सोपानाधिक सनाधान किया गया । अथ पदविक्रम वतसती हुई भुक्ति कहता है]—यह आग्नीत्र — 'ह अग्ने ! यज्ञपावनभूत हवितृषस्य अक्ष पर अपना अधिकार रखने से 'वाज्रजित्' नाम से प्रसिद्ध हवितृषस्य यज्ञसाधन ऐसे राजा अक्ष का देवताओं के लिए ध लोक में वहन करने वाले आपका मैं सम्मार्जन करता हूँ' इस अनुरूप अर्थ से युक्त ] 'अग्ने वाज्रजिद्राज०' [बहुसं २५५] यह मन्त्र बोधता हुआ [तानों परिधियों का त्रिराष्ट्ररूप से] सम्मार्जन करता है । [तात्पर्य्य यही है कि, तीनों परिधियों का प्रत्येक का एक मन्त्रोच्चारण के द्वारा तीन तीन बार सम्मार्जन करता है] । फलतः परिधिसम्मार्जन ६ बार होजाता है । यही इसका त्रिबुद्धिभाष-तीन का त्रिगुणितभाव-है ] । ( मन्त्र का तात्पर्याथ वतसती हुई भुक्ति कहती है—'अग्ने वाज्रजिद्राज०' इत्यादि से ] 'यज्ञ वहन करने वाला यज्ञिय आपका सम्मार्जन करता हूँ' यज्ञ कहा गया है । ( हविराज यज्ञसाधक हान से यज्ञ है, अतएव वाज्र मरिष्यन्त' का तात्पर्य्य 'यज्ञ सविष्यन्तम्' ही होता है । वह अग्नि इस यज्ञस्तक हवि का वहन करता है, अतएव इसके लिए 'यज्ञिय त्वा सम्मार्जि' यह कहा जासकता है ] ।

[समन्त्रक त्रिराष्ट्ररूप से परिधि-सम्मार्जन करने के अनन्तर यह आर्तार्थ] उपर से आहवनीय अग्नि का तृप्णी ( समन्त्रक ] तीन बार सम्मार्जन करता है । उपरिष्टान् आहवनीय अग्नि का तृप्णी सम्मार्जन क्यों किया जाता है ? इसकी उपपत्ति वतसती हुई भुक्ति कहती है ]—सो त्रिसप्रक्षर [ रथ में बैलों को ] जात कर ( कराताइत्यादि से यहाँ ) चल चल । मार वहन कर । इसप्रक्षर गमन के लिए प्रेरित करते हैं एवमथ । उपरिष्टान् सम्मार्जन-रूप ] करप्रक्षर से इस अग्नि को—'चलिए' चलिए !! वृषताओं के लिए यज्ञवहन कीजिए !!! इसप्रक्षर प्रेरित ही करता है । तात्पर्य्य यही है कि—पूर्वाहार ता स्कन्ध प्रदरा में जुड़ा बस्त्रन के स्थान में है, एव त्रिस्थि सम्मार्जन पाराबन्धन स्थानीय है । पाराबन्धन के अनन्तर साराथि हृणमनुम को गत्यारुह बनाने के लिए चलो चलो इत्यादि शब्द प्रयोग के द्वारा कराप्रक्षर करता है । इस उद्देश्य का सिद्धि के लिए उपरिष्टान् आहवनीय अग्नि में त्रि सम्मार्जन होता है ।

( अब एक प्रश्न शेष रहजाता है । खुवापारलक्ष्य पूवापार तथा अगापारलक्ष्य वसरापार इन तीनों कर्मों के मध्य में एक सम्मार्जनकर्म क्यों किया जाता है ? सी प्रश्न की



उपपत्ति वतलाती हुई श्रुति कहती है) — सो जो कि आग्नीध्र पूर्वोत्तराधार के मध्य में यह सम्माज्जन करता है, इसीलिपि मन, तथा वाक् दोनों समान रहते हुए नाना हैं। [ दोनों आधार साथ करना दोनों को समान बनाना है एवं दोनों के मध्य में सम्माजनकर्म करना दोनों समानों को नानावत् बनाना है यही तात्पर्य है ॥१२॥

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त  
आधारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त

—१—

चौथे अध्याय में पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण  
आधारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण

—२—

उत्तराधारेतिककर्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण में कृपात्र के द्वारा सम्पन्न होन वाले मनोऽनुगत पूर्वोत्तराधार-कर्म की इतिकर्त्तव्यता एवं पूर्वोत्तराधार के मध्य में होने वाले अग्निसम्माज्जनकर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई। अथ क्रमशः कृपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले वागनुगत उत्तराधार-कर्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है) — कृपात्र (जुहू तथा उपश्रुत) से उत्तराधार-कर्म सम्पादन करने वाला अध्वर्यु (उत्तराधारकर्म से पहिले) जुहू तथा उपश्रुत उन दोनों कृपात्रों के पूर्वभाग में (जिन मुख्य भाग से आहुति दी जान जाती है उस मुख्य भाग की ओर) ('द्विताम्यो के लिए नमस्कार है, पितरों के लिए स्वधा है' इम अथ से युक्त "नमो देवभ्यः, स्वधा पितृभ्यः" (२।५) यह मन्त्र वाक्यता हुआ अञ्जलिस्थापन करता है (दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है)। इस अञ्जलिनिधान-कर्म से यह अध्वर्यु (द्विताम्यो तथा पितरों के लिए क्रमशः नम तथा स्वधा करता हुआ) आर्क्षिककर्म करना चाहता हुआ द्विताम्यो तथा पितरों से अपने आप को छिपाता है। (तात्पर्य यह है कि द्वय पक्ष कर्म आर्क्षिककर्म है। यह एक महान् कर्म है विध्यकर्म है। उधर अध्वर्यु अमर यशस्वित एक मनुष्य है सामान्य व्यक्ति है। सामान्य

व्यक्ति विध्यव्ययमार्ग का यत्न करावे यह असङ्गत—सा है। परन्तु करना पड़ता है। अपने इसी अमर्यादित अपराध के लिए पहिले से ही क्षमा माँग लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य की सखि के लिए उत्तराधाररूप आतिथ्य से पहिले ही अन्धधुँ सुकृपात्रों के पृथमाग में लड़ा हार प्रणाम कर लेता है।

(अश्वत्थिनिधानानन्तर यह) अन्धधुँ—“सुयमे मे भूयान्तम्” इ सुह, तथा उप-भुत् नामक सुकृपात्रो ! आप दोनों मेरे इस यज्ञाय गृहीत आज्य के लिए आज्य के—अच्छी प्रकार से धारण करने वाले बनों” २७) यह मन्त्र बोलता हुआ (दक्षिण हस्त में सुह उपभुत् नामक दोनों) सुकृपात्रों का ग्रहण करता है। “आप दोनों मेरे लिए—आज्य का—उत्तम प्रकार से धारण करने वाले यनिष्, साथ ही आप दोनों पात्रों को मैं अपने हाथ में भस्तीभाँति धारण करने योग्य धनूँ” मन्त्र भाग से यही कहा है।

(आगे का मन्त्र है)—“अस्कन्मद्य देवेभ्य आज्य सम्प्रियासम्” ( “आज इस यज्ञा-नुष्ठान काल में देवताओं को लिए आप दोनों पात्रों में स्थित इस आज्य को मैं उस प्रक्षर से रख रहा हूँ, जिससे यह भूमि पर न गिरता हुआ अस्कन्—प्रतिष्ठित—बना रहे” २८)। ‘अचुम्ब रूप से आज मैं देवताओं के लिए यज्ञ का वितान करने में समर्थ हूँ’ मन्त्र भाग से यही कहा गया है। (सुह उपभुत्—पात्रों में गृहीत आज्य सद्यथा स्थिर रहना चाहिए। तभी यज्ञवितानसिद्धि है। यदि हस्तकम्पनाविरूपा असावधानी से पात्रस्थित घृत कम्पित होजा-या तो वह छड़ट कर भूमि पर गिर पड़ेगा। परिराम में यज्ञान्वान दक्षिण हाजायगी आम्नाभुति से उत्पन्न होने वाले देवात्मा का स्वरूप विकृत होजायगा। इस स्कन्मद्य से त्रास पान के लिए ही उक्त मन्त्रशक्ति का आश्रय लिया गया है) ॥१॥

(आगे का मन्त्रभाग है)—“अहि धूष्ठा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्” (इ यज्ञमूर्ति विष्णो ! मैं अपने पैरों से आपका अतिक्रमण न करूँ” २९)। यह निरवयव विष्णु है। (इस मन्त्र भाग से) उम्मी यज्ञात्मक विष्णु के लिए अपना अपराध शमन करवाता है जो—‘मैं आपका अतिक्रमण न करूँ’ यह कहता है। (हालन्त्य यही है कि, आत्मपूज दोनों सुकृपात्रों को लेकर इस अन्धधुँ को वागनुगत उत्तर आधार के लिए आहूतनीय कुय सं दक्षिण विराट की ओर आना पड़ता है। यह दक्षिणागमन आहूतनीयरूप यज्ञमूर्ति विष्णु का अतिक्रमण रूप निरादर है। मन्त्रप्राप्त्या के द्वारा इस दोष के लिए ही विष्णु से क्षमा माँगना करता है)।

(आगे का मन्त्रभाग है) — “वसुमतीमग्ने ते न्यायागुपस्थपेम्” (हे आहवनीयाग्ने ! आप की छाया से युक्त सम्पत्तियुक्त भूमि के समीप मैं प्रतिष्ठित हो रहा हूँ” २८) “हे अग्ने ! आप की श्रेष्ठ (छत्र) छाया में मैं प्रतिष्ठित होन आ रहा हूँ” मन्त्रभाग से यही कहा है कि दक्षिणादिक् याम्यादिक् है प्राणनाशिनी बिक् है । यहाँ आकर ही अश्वय्यु को उत्तराधारकर्म करना है । दक्षिणादिगनुगत इस याम्यभाव को निवृत्ति के लिए ही मन्त्रशक्ति के द्वारा यह भावना की जाती है—कि मैं याम्यादिक् में नहीं आ रहा अपितु अग्नि की छाया रूप यज्ञसम्पत्तियुक्त भूमि का आश्रय ले रहा हूँ) ॥२९॥

(आगे का मन्त्र भाग है) — “विष्णो स्यामसि” (हे दक्षिण भूप्रदेश ! आप यज्ञ-मूर्ति विष्णु की आवासभूमि हैं” २८) । यज्ञ ( यज्ञसाधक आहवनीय अग्नि ) विष्णुमूर्ति है । (दक्षिण प्रदेश में उत्तराधार के लिए खड़ा होता हुआ ) अश्वय्यु यज्ञात्मक विष्णु के समीप हो खड़ा होता है इसी अभिप्राय से “आप विष्णु के स्थान हैं” यह कहा गया है । (वात्सव्य यही है कि आहवनीय अग्निरूप यज्ञप्रवेश से दक्षिण का प्रवेश वस्तुतः असुर-राक्षसों का प्रवेश है । यही खड़े होकर अश्वय्यु को उत्तराधारकर्म करना है । मन्त्रशक्ति के द्वारा इस प्रवेश की आसुरभावना हटाने के लिए साथ ही आहवनीय यज्ञसमीप्यसे इस प्रवेश में स्वभावना स्थापित करने के लिए ही ऐसा कहना आवश्यक माना गया है) ।

(मन्त्र का अगला भाग है) — “इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्” (“आहवनीयाग्नि से दक्षिण प्रवेश से ही इन्द्र ने दक्षिणस्थ असुर-राक्षसों का निरोधात्मक पुरुषार्थ किया है” २८) । दक्षिण विरा में खड़े होकर ही इन्द्र ने दक्षिण की ओर से आक्रमण करने वाले असुर-राक्षसों का संहार किया था इसी अभिप्राय से “यहाँ से इन्द्र ने वीर्य (पुरुषार्थ) किया” यह कहा गया है । (वात्सव्य यही है कि जिस दक्षिण प्रवेश में खड़े होकर अश्वय्यु उत्तराधार कर्म करने वाला है वह प्रवेश यज्ञमूर्ति विष्णु के सम्बन्ध से तो अक्षिणप्रवेश धन ही रहा है, साथ ही यज्ञपति इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से साक्षाद्रूप से भी यह यज्ञभूमि धन रहा है । मन्त्रशक्ति के द्वारा उसी ऐन्द्रसम्पर्क की भावना की गई है ।

( मन्त्र का अगला भाग है) — “ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्” ( “दक्षिणस्थ इन्द्र के द्वारा सुरक्षित यह यज्ञ धनलोकपर्यन्त प्रतिष्ठित-वितरित-होगया २८) । यज्ञ ऊर्ध्वस्थान में प्रतिष्ठित होगया मन्त्रभाग से यही कहा गया है । (वात्सव्य यही है कि जिस दक्षिण प्रवेश में मन्त्राह मन्त्र जाता है वह तो यज्ञाग्निखण्डविष्णु के सम्बन्ध से तथा यज्ञाधिपति इन्द्र के

सम्बन्ध से यज्ञस्वरूपसंसाधक बन रहा है। इन्द्ररक्षा से रक्षित होकर ही देवताओं का प्राकृतिक यज्ञ मूलोक से चलकर शुक्लांक में प्रतिष्ठित हुआ है। मन्त्र के द्वारा उसी ऊँच प्रतिष्ठा की भावना की गई है) ॥३॥

(भाग्य का मन्त्रभाग है।) — “अग्ने वेदोत्र वेदूस्पम्” [हि आहवनीयाग्ने ! आप अपने होत्रकर्म से परिचय प्राप्त कीजिए, एवं अपने वदूतत्त्व से परिचय प्राप्त कीजिए] २।१८) य अग्नि देवताओं के होता भी है, दूत भी है, दोनों हैं। “जो कि आप देवताओं के होता, तथा दूत, दोनों हैं, अपने इस उत्तरदायित्व को अपने ध्यान में लाइए” मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (हुत आख्यायुति) को धूलोकस्थ प्राणदेवताओं में पहुँचाने से ये अग्नि देवताओं के होता है। साथ ही दिव्य देवताओं को आहवनीय में प्रतिष्ठित कर उनका पार्थिव देवताओं से स सम्बन्ध करने के कारण ये ही अग्नि देवताओं के दूत भी हैं। प्रकृत आख्यायुति से दोनों सम्पत्तियाँ अभीष्ट हैं। मन्त्र के द्वारा उन्हीं की भावना की गई है)।

(मन्त्र का अगला भाग है) — “अव स्वा धावापृथिवी, अव त्मं धावापृथिवी” [आज्या-हुति लेकर भूलोक में धूलोक जाते हुए आप की धावापृथिवी रचा करें, एवं आप स्वयं भी धावापृथिवी की रचा करें] २।१९।] इस मन्त्र भाग में कुछ भी अस्पष्ट नहीं है, [अर्थात् मन्त्राय स्पष्ट है] ॥

(मन्त्र का अगला भाग है) स्विष्टकृद्वेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा’ (‘आज्यरूप हविर्द्रव्य से युक्त इन्द्र देवताओं के लिए स्विष्टकृत्-मङ्गीर्मांति हृष्टाचक-बन गए २।१९।)। इन्द्र यज्ञ के देवता है। इसी अभिप्राय से ‘इन्द्र आज्य से (युक्त होकर स्विष्टकृत् बन गए)’ यह कहा गया है। इस उत्तराधार का सम्पादन अभ्यव्यु वाक् के लिए ही करता है। वैद्वानिर्घोतं इन्द्र को वाक् कहा है। इसलिये भी ‘इन्द्र आज्य से’ यह कहा है। (तात्पर्य यही है कि, प्रकृत मन्त्र भाग से संकृपात्र के द्वारा आहवनीय में मैं उत्तराधार बन्ता जाता है। यह आचार वाक् के लिए है। परन्तु मन्त्र के द्वारा नामनिर्देश इन्द्र का हुआ है। कारण यही है कि इन्द्र यज्ञ के देवता है। इस यज्ञाभिपसित्त्वेन भी वाग्व्यभिहित आम्नायुति के लिए—‘इन्द्र आज्येन’ यह कह दिया गया है। साथ ही इन्द्र ही वाक् है, एवं वाक् के लिए ही उत्तराधार है अतएव ‘इन्द्र आज्येन’ कहना अन्यर्थ वत जाता है) ॥४॥

(‘अग्ने वाजमिद्वानं स्वा सरिष्यन्त वाजशित सम्माजिम्’ (२।२० यह) मन्त्र वाक्यता हुआ आहवनीय अस्विक् अभ्यव्यु के द्वारा पूर्वाधाराहुति होने के अनन्तर अग्निस्मार्जन किया है।

नन्तर आहवनीय से उत्तर प्रतिष्ठित अथर्व्यु जुहू एवं उपभृत् को अपने आगे रखकर इनके मुख-  
 नानीय पूर्व भाग का चार 'नमो देवेभ्य, स्वधा पितृभ्य' ( २७। ) यह मन्त्र बोलाता हुआ  
 प्रणाम करता है। प्रणामानन्तर—'सुयमे मे भूयस्तं अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्य सम्मित्रयासम्'  
 ( ३०। ) यह मन्त्र बोलाता हुआ सुक्पात्रों का ग्रहण करता है। ग्रहणानन्तर उत्तराधारकर्म के  
 लिए दक्षिणप्रदेश में जाता हुआ—'अहिंघ्रक्षा विष्णो मा त्वाक्क्रमिषम् यह मन्त्रोच्चारण  
 कर अतिक्रमण—जनित अपराध का निहय करता है। अपराध के निह्वानान्तर—'वसुमतीगन्ने  
 ते ज्ञायामुपस्थर्य, विष्णो स्थानमसि' यह मन्त्र बोलाता हुआ आहुति देने के लिए नियत स्थान  
 पर लक्ष्य हो जाता है।

सर्वान्त मं—इत इन्द्रो वीर्यमकुशोर्ध्वाऽध्वर आस्थात्। अग्ने वेदोऽग्र वेदृत्यमव-  
 त्वां घातापृथिवी भव त्वं घातापृथिवी। स्विष्टकृदेवभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा' यह  
 मन्त्र बोलाता हुआ आहवनीयाग्नि में उत्तराधाराहुति हुप कर देता है। इसप्रकार यहाँ आकर  
 उत्तराधारकर्म समाप्त होता है। १ २, ३, ४, इन चार करिबकार्मा में इसी कर्म की इतिकर्तव्यता  
 का प्रतिपादन हुआ है जिस का सुमिषा के लिए एकत्र संकलन कर दिया गया है। उत्तराधारा  
 इतिकर्मनान्तर क्या होता है? आगे का आह्वणप्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है—

( उपभृत् नामक सुक्पात्र पर जुहू नामक सुक्पात्र रक्ता रहता है। आहुति देने  
 समय उपभृत् से जुहू को ग्रहण कर लिया जाता है। इसी सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई भुति  
 कहती है ) उत्तराधार—होमानन्तर यह अथर्व्यु उपभृत् तथा जुहू नामक दोनों सुक्पात्रों  
 का परस्पर स्पर्श न कराता हुआ दोनों को ग्रहण ग्रहण रखता ( हुआ ही आहवनीय अग्नि के  
 दक्षिण भाग से ) वापस ( आहवनीय अग्नि के पूर्वभाग में ) झोट कर ( यहाँ रखे हुए धुसपात्र  
 से उस जुहू को मिलाता है। ( क्यों मिलाता है ? इस की उपपत्ति बतलाते हैं )—वागनुगव  
 यह उत्तराधारहोम ( ग्रहणनानुसार ) यज्ञ का मस्तक है एवं ध्रुवापात्र आत्मा है। ( जुहू को  
 ध्रुवा से मिलाता हुआ अथर्व्यु ) आत्मा में ही ( वक्ष में ही ) शिरोभाग प्रतिष्ठित करता है।  
 उत्तराधारहोम इस यज्ञ का शिर है ( आत्मा का अमृतानिजधृष्य ) भीमाग ( 'सार'—भाग ) ही  
 भी है। शिरोभाग निमग्नयन भी है, अतएव जा ( जिस ) भाग का भेद होता है, ( उसका स्तिप  
 श्लोक में ) 'वक्ष अमुक भाग का शिर है' यह कहा जाता है। इसीलिए शिर वास्तव में भी का  
 रूप है। जुहू को आत्मा से मिलाना आत्मा को इस शिरोरूप भीमाग से ही युक्त करना है, यही  
 वात्पय्य है। ॥१॥

यज्ञकर्ता यजमान ध्रुवापात्र को लक्ष्य बना रहा है ( यजमान ध्रुवास्थानीय है )। एवं जो  
 इस यजमान के स्तिप शत्रुता करता है वह उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है ( अध्यात उपभृत्

यजमान के शत्रु का प्रतिकृति है)। (येवी स्थिति में) यदि वह अश्वयुज्य उपभूतत्वात् से भूषा का सम्बन्ध करा देगा तो जो यजमान के क्षिप्र शत्रुता करता है, उस यजमानशत्रु में भी का स्थापन कर देगा। (ऐसा न कर) अश्वयुज्य (जुहू के सम्बन्ध से) यजमान में ही भी का स्थापन करता है। इसीक्षिप्र (जुहू को ही भूषा से मिलाता है) ॥६॥

(जुहू को भूषा से मिलाने की उपपत्ति पतला कर अब प्रकृति बतलाते हैं) - यह अश्वयुज्य 'मज्ज्योपा ज्योति' (भूषास्थित आज्यरूप ज्योति के साथ जुहूस्थित आज्यरूप ज्योति मिल जाय २-६) यह मन्त्र बोलता हुआ जुहू को भूषा से मिलाता है। (भूषा, तथा जुहू दोनों का पात्रों में से) एक (भूषा) पात्र में स्थित आत्म्य (मी) निश्चयेन ज्योति है एवं एक (जुहू) में स्थित आत्म्य (मी) ज्योति है। (जुहू का भूषा से सम्बन्ध कराने पर) ये दोनों आत्म्यज्योतियाँ परस्पर मिल जाती हैं। इसीक्षिप्र पूर्वोक्त रूप से समञ्जन करता है ॥७॥

(उत्तराधार पेन्द्र बनता हुआ वागनुगत है, एवं पूर्वाधार मनोऽनुगत बनता हुआ प्राजापत्य है। वागनुगत उत्तराधार समन्वय होता है, एवं मनोऽनुगत पूर्वाधार उपाद्य होता है। प्राजापत्य पूर्वाधार क्यों होता है? इसकी वैज्ञानिक व्याख्यानके द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई अति कष्टी है कि) अब यहाँ से मन तथा वाक्, इन दोनों के (अहमहमिक-सङ्ग) अहमह (परस्परिक उत्कर्ष स्थापन) के सम्बन्ध में कहा जाता है। मन और वाक् दोनों अपने अपने उत्कर्ष के सम्बन्ध में विवाद करने लगते हैं ॥८॥

(इस परस्परिक) विवाद-प्रसङ्ग में मन कहने लगा कि (हे वाक्!) मैं ही तुमसे श्रेष्ठ-उत्कृष्ट-हूँ। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू ऐसा कुछ भी नहीं बोलती (बोलसकती) जो तुमसे अधिगत न हुआ हो। (अर्थात् मेरे सकल्पितमात्र का तू अनुभावमात्र ही कर सकती है)। जो कि तू (वाक्) मेरी कृतानुकूल (मानसिक सकल्प का अनुभाव मात्र करने वाली) है अतएव मेरे पीछे पीछे चलने वाली (अनुवर्त्ता) है। अतः मैं ही तुमसे श्रेष्ठ हूँ ॥९॥

(मन के इस एक को सुनकर) वाक् कहने लगी (हे मन!) मैं ही तुमसे श्रेष्ठ हूँ। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) जो कुछ तू (अपनी भाषना के साम्राज्य में) जानता है (सकल्प करता है) उसे मैं ही (वृत्तार्थ को) जानती हूँ सम्मग्यरूप से बोध करती हूँ। (इसक्षिप्र मैं ही तुमसे श्रेष्ठ हूँ) ॥१०॥

(मन और वाक् का यह परस्परिक विवाद दोनों से जब किसी निर्याय पर न पहुँचा तो) दोनों अपने अपने धरन के निरवयवमक निर्याय के क्षिप्र प्रजापति के समीप पहुँच। प्रजापति

न (शेनों की युक्ति, तब सुनकर) मन की भेष्टता के पक्ष में ही अपनी सम्मति प्रकट की। (भार निणय किया कि 'ह' वाक्') मन ही तरी अपेक्षा भेष्ट, (अतएव उत्कृष्ट) है। तू मन के बाध शून्य (सकलित मनोभाव) का अनुकरण करने वाली है, मन के पीछे पीछ ही अनुधातन करने वाली है। (लौकिक दृष्टि से भी यह सिद्ध विषय है कि) निम्न भेषि का व्यक्ति ही अपने से भेष्ट व्यक्ति के किए का अनुकरण करता है, एव उसके निर्दिष्ट पथ पर चलता है ॥११॥

(इसप्रकार प्रजापति के मुन्ध से) पराजित कही जाती हुई वह वाक् चिस्मिता बनकर दर्पशून्या (सद्व्यस्तिता) बन गई उसका अभिमान चूर-चूर होगया। [ प्रजापति से निर्णय का प्रतिरोध लेती हुई ] यह वाक् प्रजापति से कहने लगी कि [आज्ञ से] मैं तुझार लिए हव्यवहन करने वाली न हूँ [नहीं हूँगी], जिस मुक्को कि आपने [आज्ञ मन की प्रविस्पर्दा में] पराजित कहा है। [क्याकि वाक् न प्रजापति के लिए अहव्यवाहना बनन का निश्चय कर लिया था] अतएव यज्ञकर्म में [प्रजापति-सम्बन्धी] जो भी प्राजापत्य कर्म किया जाता है वह उपाशु ही होता है। क्योंकि वाक् प्रजापति के लिए अहव्यवाहना थी। [वात्सल्य आश्रयन का यही हुआ कि, मनो-उत्तुगत पूर्वाचार प्राजापत्य कर्म है, यही वाक्-व्यापार अवरुद्ध है। अतएव पूर्वाचार उपाशु ही किया जाता है ॥१२॥

[प्रजापति के निर्णय से वाक् का गमपात होगया रतस्त्रजन हागया। वह स्त्रक्षित वाग्रेत कहाँ गया?, इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक तत्त्व का विरलेपण करती हुई भुति कहती है कि]— देवताओं ने [वाक् के] उस रतोभाग [स्त्रक्षित-वाग्रेत] को चर्म में [गमप्रायक चर्मपात्र में], अथवा जिस किसी भी (अनुरूप) पात्र में रख दिया। (इसप्रकार चर्म किंवा अन्य किसी इस अनुरूप पात्र में स्त्रक्षित वाग्रेत का प्रतिष्ठित कर) देवता परस्पर पूँछते हैं कि 'चर्म तथा अनुरूप अथवा पात्र में रक्खा गया वाग्रेत किस अवस्था में परिणत होगया?' १, (देवताओं के 'अग्रैव त्यात्' इस विचार से ही कालान्तर में) चर्म तथा पात्रस्थ उस वाग्रेत से 'अत्रि' उत्पन्न होगया। क्योंकि गर्भप्राय में स्थित वाग्रेत से ही अत्रि का मादुर्माय हुआ अतएव मृतगर्भा रजस्यला स्त्री 'आग्नेयी' नाम से व्यवहृत की जाती है। ऐसी (आग्नेयी) स्त्री से (अम स्पशावि-साधन) सम्पन्न रहने वाला पुरुष पातकी बन जाता है। स्त्रीरूपात्मिका इस वाग् देवता से ही सम्पूर्ण गर्भों की स्वरूप निष्पत्ति हुई है (होती है) ॥१३॥

चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में पहिला  
ब्राह्मण समाप्त

आधारब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण उपरत

—२—

—•—

द्विब्राह्मणात्मक-‘आधारब्राह्मण’ समाप्त

—•—

इति-मूलानुवाद

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तगत-प्रथम काण्डानुगत

चतुर्थ-अध्याय-अत्र उपरत

—४—

—•—



## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

सामिधनी कर्मसमाप्ति के अनन्तर 'पूर्वोत्तराधार-कर्म विहित है। "समिद्ध इति प्रागत सर्गमिधमेकवर्चमनुयाज्यारथेत्" [ का० श्रौ० सू० ३।१।११ ] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सामिधन्यनुवचन-कर्मनन्तर अनुयाज्यकरण-पक्ष में एक इध्मकाष्ठ वचा कर शेष सम्पूर्ण इध्म-काष्ठ आहवनीयाग्नि में डाल दिए जाते हैं एवं यही सामिधनी-कर्म की अन्तिम समाप्ति है। इस सामिधन्यनुवचनकर्म के अनन्तर कुरानिर्मित, अग्निप्रवीपक, व्यजनस्थानापन्न वव (कुरा) से आहवनीयाग्नि का तीन बार प्रस्नवजन कर आग्यस्थाली से ध्रुवापात्र में घृत लेकर इस सुव से तृप्णी आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रवण में दक्षिणजान को नमाकर बैठना हुआ आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रदेश में पूर्व की ओर झुकती हुई पूर्वाधाराहुति देता है। आहुति दते समय अपन मन ही मन में—“ओ प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये, न मम” यह ध्यान करना आवश्यक है। क्योंकि यह पूर्व धाराहुति मनोऽनुगता बनती हुई प्राजापत्या है। तृप्णी पूर्वाधाराहुति के अनन्तर वह अभ्यर्च्यु 'अप्य', तथा 'इध्मसमभहन' इन दोनों का आग्नीध्र नामक अतिविक्र को सौंपता हुआ उसके प्रति—“अग्निमग्नीत् समृद्धि” यह प्रैप करता है। [इ आग्नीध्र। क्योंकि व इस अग्नि में श्रोतविलक्षण उत्तराधार की समन्त्रक आहुति होने वाली है अतएव आहवनीय अग्नि को मस्तरहित कर प्रस्नवजित करो बड़ा वात्सल्य है। अग्नि को प्रस्नवजित करना ही अग्निसम्माजन कर्म है। अग्न्यर्च्यु कृत पूर्वाधार के अन उर क्योंकि वही कर्म होता है अतः अभ्यर्च्यु इसी के लिए पूर्वाधारमाध्यम प्रैप करता है। पूर्वाधारकर्म को इसी इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अनुवचनान्ते वेदनाहवनीयं त्रिरुपधान्य, सुधेण पूर्वाधारमाधार्य—आह “अग्निमग्नीत् समृद्धी”ति” ( का० श्रौ० सू० ३।१।१२ )।

वतलाया गया है कि पूर्वाधारकर्मनन्तर तस्य तथा इध्मसमभहनतय, दोनों को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता हुआ अभ्यर्च्यु उसे अग्नि सम्माजनकर्म के लिए प्रेरित करता है। अभ्यर्च्यु के द्वारा प्रेरित आग्नीध्र अभ्यर्च्यु के द्वारा प्रवक्ष्य इध्मसमभहनतृणसमूह से पृथ की ओर से घूम कर—“अग्ने वाज्रभिर्वाजं त्वा सरिप्यन्त वाज्रजित सम्माज्जि यह मन्त्र बोधता हुआ दक्षिण-परिधि का सम्माजन करता है। एक बार उक्त मन्त्र से तथा दो बार तृप्णी इसप्रकार दक्षिण-परिधि का तीन बार सम्माजन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार परिधम परिधि का दो बार तृप्णी इस प्रकार तीन बार सम्माजन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार उत्तर

परिधि का तथा दो बार तूष्णीं इसप्रकार तीन बार सम्मार्जन करता है । इसप्रकार परिचम, दक्षिण उत्तरस्थ तीन परिधियाँ का एक एक बार मन्त्र से दो-दो बार तूष्णीं, सम्मम्य ६ बार सम्मार्जन करता है । इसी अर्धसम्मार्जनकर्म की इतिकर्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

“अर्धसन्नहनैरनुपरिधि सम्मार्ष्टि—“अग्नेवाज्जि” दिति त्रिस्त्रि परिक्रामम्”  
( का० श्रौ० सू० १।१।१३ । ]

समन्त्रक परिधिसम्मार्जनान्तर उत्तरस्थान में खड़ा होकर वह आग्नीध्र बिना मन्त्र-प्रयोग के आहवनीय अग्नि का तीन बार सम्मार्जन करता है, जैसा कि “तूष्णीमुपरि” ( का० श्रौ० सू० ३।१।१४ ) सूत्र से प्रमाणित है ।

इसप्रकार जब आग्नीध्र त्रिस्त्रिवार समन्त्रक परिधिप्रत्यसम्मार्जनकर्म तथा त्रिवार तूष्णीं आहवनीयाग्निसम्मार्जन कर लेता है तो अनन्तर वह अभ्यर्च्यु “ओं नमो देवेभ्यः, ओं स्वधा पितृभ्यः” यह काशता हुआ जुहू तथा उपश्रुत नामक खुकपात्रों के पूर्वभाग में अञ्जलि-पुट रखता है ( प्रणाम करता है ) । देवता तथा पितृ-भेद से दो बार अञ्जलिपुटस्थापन होता है । इन में प्रथम देवानुगत अञ्जलिपुट स्थापन पूर्व में होता है, क्योंकि पूर्वाधिक देवताओं की है । एवं दूसरी अञ्जलि दक्षिण में होती है क्योंकि दक्षिणाधिक पितरों की है । ‘स स्रुचोत्तरमाधारमाधारपिप्पन् पूर्वोऽस्रुचावञ्जलि निदधाति’ ( शत० १।४।४।१ ) के अनुसार अञ्जलिस्थापनकर्म उत्तराधारकर्म से सम्बन्ध है । इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि, जिस यज्ञ-कर्म में उत्तराधारकर्म अभीष्ट है वही अञ्जलिस्थापन कर्म होता है । एवं जहाँ उत्तराधारकर्म अविविधित है, वहाँ अञ्जलिस्थापन भी अविविधित है । इसी अञ्जलिनिधानकर्म की इतिकर्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—

“अपरमाहवनीयादञ्जलि करोति नमो देवेभ्यः, स्वधा पितृभ्यः—इति दक्षि-  
क्षत उत्तानम्” [ का० श्रौ० सू० ३।१।१५ । ]

देवताओं के लिए पुटाञ्जलि की जाती है, उस समय अभ्यर्च्यु यज्ञोपवीत रहता है एवं पितरों के लिए सम्यमात्र में परिग्रह होकर पुटाञ्जलि करता है । इस के अनन्तर ही देवकर्मात्मक उत्तराधार के लिए जुहूपश्रुत का प्रग्रह होने वाला है । इस से पूर्वकृत पितृ-सम्बन्धी पुटाञ्जलि के व्यपश्रवे के लिए अभ्यर्च्यु आचमन करता है । पुनः यज्ञोपवीतीमात्र में आकर पहिले आचमन करता है । अनन्तर—“सुयमे मे भूयास्तमस्कन्मम देवेभ्यः आर्ज्यं संभ्रियासम्” यह मन्त्र बोलाता हुआ अपने दहिने हाथ में आम्कण्य जुहूपश्रुत को लेकर—

“अहि घ्राणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम यह मन्त्र बोधता हुआ आचारदान-प्रवेशरूप आह वनाय के दक्षिण भाग में आजाता है। सभी होमकर्मा के लिए अश्वय्यु पारवि के पश्चिम भाग से नियत ‘सञ्चर’ माग के द्वारा गमन करता है। साथ ही यागप्रदेश में सञ्चरमाग से पहिले वामपाद से गमन आरम्भ करता है, एवं यागानन्तर वापस खीटता हुआ पहिले दक्षिण पाद से आगमन आरम्भ करता है। इसप्रकार आहवनीय के दक्षिण भाग में पहुँच कर यह अश्वय्यु—“वसुमतीमग्ने ते च्छायाभुपस्थेर्षं विष्णो स्थानममि” यह मन्त्र बोधता हुआ आहुति देने के लिए सावधानी से स्त्रज्ञ होजाता है। निम्न लिखित मन्त्र उत्तराधारसम्बन्धिनी इसी इतिकृत व्यता अ स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

“अप उपस्पृश्य “सुयमे म” इति जुहुपमृतावादायोचरां जुहं कृत्वा दक्षिणाऽति-

क्राम “त्यङ्घ्रिषा विष्णु” विरति” ( का ३।१।१६ )।

“परिचीनपरण सञ्चरो होष्यत ” ( का ३।१।१७ )।

“सन्वेनेतो, दक्षिणनाभुत ” ( का ३।१।१८ )।

“वसुमती” मिन्धवस्थाप” ( का ३।१।१९ )।

**इति कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये प्रथमा कण्डिका (३।१)**

नियत सञ्चरमाग स आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग स आकर रुका होकर वह अश्वय्यु—  
‘इत इन्द्रो वीर्यमकृणोद्धर्वाऽध्वर आस्थात् । अग्ने वेदोत्र वदत्यमवतां त्वां द्यावापृथि-  
वीऽभव त्वां द्यावापृथिवी स्मिष्टकृद्दवस्य इन्द्रऽआज्येन इविषाभूत् स्वाहा” यह मन्त्र बोधता हुआ स्वाहा व में जुहुस्थित आत्म्य की जुहु से आहवनीयाग्नि में आहुति देता है। यही उत्तराधार-  
हुति है जिसका निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

“इत इन्द्र” इति जुहोत्युचराधारम्” [ का ० भो ० सू ० ३।२।१ ]

उत्तराधार-सम्पादनानन्तर यह अश्वय्यु आहुतिमाधक जुहु को उपस्पृष्ट से न मिलाता हुआ ही शपम उम स्थान से पश्चिम की ओर खीट आता है। वहाँ आकर नियत स्थान पर रखले हुए आगस्पृण भूषापात्र में जुहुस्थित शेष आत्म्य को सञ्ज्योतिषा ज्योतिर्गच्छताम्” यह मन्त्र बोधता हुआ बलि देता है। यही उत्तराधारकर्म की अन्तिम इतिकृत व्यता है जिस का निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

‘आधार्यासस्पृशयन् सुधावेत्य जुह्वा ध्रुवां समनक्ति—“सञ्ज्योतिषे” ति”  
[ का भो सू ० ३।२।२ ]।

**इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह**

# वैज्ञानिविवेचना—

## १ — आधारकर्मोपपत्ति

(भाष्य) पूर्वज्ञाकरण में प्रतिपादित सामिधेय्यनुवचनकर्म से आहवनीय इह अग्नि का होता के द्वारा समिन्धन होगा है। इस समिन्धनकर्म से यह आहवनीय लौकिक इह अग्नि समिद्ध बनता हुआ अलौकिक दिव्याग्नि बन गया है। आहुतिलक्षण यहकर्म से वरमान के आध्यात्मिक देवताओं का आधि-दैविक प्राणदेवताओं के साथ प्रानेय-कन्धन-सम्बन्ध अभीष्ट है। आहुतिद्रव्य में 'वायव्यिर्त्तं ताम्रवह्ना' सिद्धान्त के अनुसार वरमान का मन-पाण्यारम्भ आत्मा प्रविष्ट है। आहुतिप्रविष्ट वरमानरत्ना दिव्य-देवप्राणयुक्त आहवनीय अग्नि के द्वारा दिव्यदेवताओं के श्रेय अवश्य ही युक्त होजाता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए आहवनीयाग्नि का सामिधेय्यनुवचन से समिन्धन किया जाता है। बिना दिव्य प्राणान्ति प्रवेश के आहवनीय अग्नि लौकिकाग्निवत् सामान्य अग्नि है। इसमें आहुति देना लौकिक भूतान्ति में ही आहुति देना है। एव ऐसे आहुतिकर्म से दिव्यलौकिकात्मिकलक्ष्य कष्टासिद्धि की प्राप्ति असम्भव है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि, आहुति-कर्म से पहिले इस लौकिक अग्नि को किसी वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से दिव्यप्राणान्ति से युक्त कर दिव्याग्नि बना लिया जाय। वही वैज्ञानिक-प्रक्रिया सुप्रसिद्ध 'सामिधेय्यनुवचनकर्म' है जिसका पूर्वविवेचना-प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। उस कर्म से आहवनीय अग्नि दिव्यदेवप्राणयुक्त बन जाता है। अब इसमें जो आहुति दी जायगी वह अवश्य ही सुलोक्य देवताओं की होगी। एवं आहुति के द्वारा आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट वरमान का आत्मा भी अवश्य ही दिव्यभाव-प्राप्ति का अधिकारी बन जायगा। पूर्वज्ञाकरणक सामिधेय्यनुवचन-कर्म की इसी उक्त उपपत्ति का शिक्षावलोचन-न्यायेन स्मरण कपटी हुई भुति पड़ती है—

‘तं वा एतस्मिं समैन्धिषत ( सामिधेय्यनुवचनकर्मणा समैन्धिषत ) ‘समिद्धं देवेभ्यो जुह्वाम इति’

सामिधेय्यनुवचनकर्म से आब यह आहवनीय अग्नि दिव्यप्राणयुक्त बनता हुआ देवताप्रतिपक्ष-योग्य बन गया है। अब इस में अहम्भु नामक श्रुतिवत् नियत इष्टिदेवता [ आधातदेवता प्रधानदेवता ] के लिए आहुति प्रदान करेगा। परन्तु इस प्रधानाहुतिरूप प्रधानदेवतायाग से पहिले इस समिद्ध अग्नि में पूर्वाधार उत्तराधार नाम की दो मुख्य आहुति का और दी जाती है। इनमें पूर्वाधाराहुति से मन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है, एवं उत्तराधाराहुति से वाक् की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। मनो-वाक् के स्वरूप-निष्पादन की प्रकृत यह-कर्म में आभयकता क्यों हुई? अगला प्रकरण इसी प्रश्न की वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाने के लिए प्रवृत्त होगा है।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री-सम्पत् से युक्त-चतुर्विंशत् [ २४ ] स्तोमाभ्यिज्ञान पृथिवीलोक, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप-सम्पत् से युक्त चतुश्चत्वारिंशत् ( २४ ) स्तोमाभ्यिज्ञान अन्तरिक्ष-लोक, एवं अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीसम्पत् से युक्त-अष्टाचत्वारिंशत् ( ४८ ) स्तोमाभ्यिज्ञान

युक्तोक्त, इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर पारावतपृष्ठान्ता, ४८ व अदृगण पर्यन्त व्याप्ता शास्त्ररसमानुगता त्रैलोक्यरूपा अमृतलक्ष्ण-नाक्षुब्धनुगता, शुक्लोक्तमिच्छा, नाक्षुब्ध महा-पृथिवी ही पार्थिव जगत् का तीसरा निबन्ध है।

त्रयस्त्रिंशत् (३३) अहगणात्मक युक्तोक्त, द्वाविंश [२०] अहगणात्मक अन्तरिक्षलोक, एवं एकादश [११] अहगणात्मक पृथिवीलोक इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा भूकेन्द्र से आरम्भ कर व्याप्यपृष्ठान्ता ३३ व अहगण पर्यन्त व्याप्ता वैरूपसामानुगता, त्रैलोक्यरूपा अमृत-लक्ष्ण-आप-शुक्लनुगता अन्तरिक्षलोकमिच्छा आपोमयी पृथिवी ही पार्थिव-जगत् का दूसरा निबन्ध है।

एकविंश [२१] अहगणात्मक युक्तोक्त पञ्चदश [१५] अहगणात्मक अन्तरिक्षलोक, एवं त्रिंशत् [३०] अहगणात्मक पृथिवीलोक इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर व्याप्यपृष्ठान्ता, २१ व अहगण पर्यन्त व्याप्ता रथन्तरसामानुगता त्रैलोक्यरूपा अमृतलक्ष्ण अग्नि-शुक्लनुगता, पृथिवीलोकमिच्छा अग्निमयी (अग्निसेममयी) पृथिवी ही पार्थिवजगत् का पहिला निबन्ध है।

अष्टाचत्वारिंशत् (४८) स्तोमावच्छिन्ना वाङ्मयी पृथिवी 'विश्वम्भरा' कहलाई है त्रयस्त्रिंशत् [३३] स्तोमावच्छिन्ना आपोमयी पृथिवी 'सागराम्भरा' कहलाई है, एवं एकविंश (२१) स्तोमावा-च्छिन्ना अग्निमयी पृथिवी 'अदिति' कहलाई है। त्रैलोक्यात्मिका अदिति पृथिवी पृथिवीलोक है त्रैलोक्यात्मिका सागराम्भरा पृथिवी 'अन्तरिक्षलोक' है एवं त्रैलोक्यात्मिका विश्वम्भरा पृथिवी 'युक्तोक्त' है। इस त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा नवलोकात्मिका महिमा पृथिवी का विद्यान सूर्यवत् केन्द्र से हुआ है। भूकेन्द्रावच्छिन्न भूपिण्ड 'भू' है एवं त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महिमामण्डल 'पृथिवी' है। इस महिमा-पृथिवी का पृथिवी-लोकस्थानीय एकविंशस्तोमावच्छिन्न अदिति नामक त्रिंशत्-पञ्चदश-एकविंश-मेद स त्रैलोक्यात्मक पार्थिव विवा का ही प्रकृत्यर्थ कर्म से सम्बन्ध है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

## पार्थिवविवर्त्तपरिलेख —

(६) — १-आगतस्तोम (४८) - चौ (२)

(३) (८) — २-नैष्टुमस्तोमः (४४) - अन्तरिक्षम् (१) } २ याङ् मयी पृथिवी } विश्वम्भरा पृथिवी - चौः  
(७) — १-गायस्तोम (२४) - पृथिवी } [शाकरोम] }

(१) — १-वयमिश्रस्तोम (११) चौः (२)

(२) (५) — २-आगिरस्तोम (२२) अन्तरिक्षम् (२) } - १ आपोमयी पृथिवी } - सारागम्भरा पृथिवी  
(४) १-एकदशस्तोमः (११) पृथिवी (२) } [वैष्णवसाम] } 'अन्तरिक्षम्'

(१) — १-एकदशस्तोम (२१) चौः (१)

(१) (०) — ५-पञ्चदशस्तोम (१५) अन्तरिक्षम् (१) } - १ अग्निमयी पृथिवी } अदितिः पृथिवी 'पृथिवी'  
(१) — १-विह्वस्तोम (६) पृथिवी (१) } [रथन्तरसाम] }

उक्त तीनों-पार्थिव विवरणों में से स्वन्तररक्षामानुगत, अदितिलक्षणा प्रथम पार्थिव विवरण की ओर ही पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है। मूनेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें आह्वान पश्चात् अग्नियुक्त के आचार पर क्रमशः त्रिवृत् [६] पञ्चदश [१५] एकविंश [२१] ये तीन अनुमन्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों अनुमन्तोमों में क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के विमूर्तिमान् आगे आकर ८, ११, १२, क्रम से ११ संख्या में परिणत होनाते हैं २ साम्भ प्राणा के सम्भान से अदिति के गम में १३ प्राणदेवदेवताओं की उक्त सिद्ध होनाती है। ये ही पञ्च देवदेवता कहलाए हैं। आहवनीयान्निसमिधनकर्म से इही पञ्च प्राणदेवताओं का संमह हुआ है।

ये १३ वी पञ्च देवता स्वयं प्राणात्मक हैं। मन तथा वाक् ये दोनों तत्त्व इन प्राणात्मक दोनों की मूलप्रतिष्ठा हैं। विसर्पकर एक पात्र में जला भर रहता है एकमेव मनोमय वाग्रूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित है। मनोवागमूर्तरूपात्र वयोनाथ है, जन्म है। प्राणरूप वृक्षता धन है। एव वय-वयोनाथ की समष्टि ही 'वयुनम्' है। यही-मन-प्राण-वाक्-मयी देवसमूह है। किन्तु पशु इक्षिकम क द्वारा यज्ञकर्त्ता ब्रह्मान अपने मन-प्राण-वाक्-नुम आत्मा के साथ योग करना चाहता है।

मूनेन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है यही हृद्य अन्तर्ध्यामी अनिरुक्त प्रजापति कहलाया है। वही प्रजापति सृष्टियुक्त पृथिवी मेघ-मिश्र पार्थिवजगत की मूलप्रतिष्ठा है। इस हृद्य प्रजापति श्री प्राण-वागमूर्ति मनोमय अनिरुक्त प्रजापति मनो-वागमूर्ति प्राणमय वद्वरीधमजापति एवं मन-प्राणमूर्ति वाक्मय सवप्रजापति इस रूप से तीन अवस्था होनाती हैं। मूनेन्द्र में ब्रह्मप्रजापति की

प्राण तथा वाक् के दोनों कलाएँ उत्पन्न रहती हैं, मन कला उद्बुद्ध रहती है। अतएव 'हृत्प्रतिष्ठं यद्विज्रिज्जिष्ठे तमे मनः शिषसंकल्पमस्तु' (यजुःसं ३४।६) इत्यादि रूप से मन को भी हृत्प्रतिष्ठ मान लिया जाता है।

हृत्प्रतिष्ठ से आरम्भ कर १७ वें अहर्गण पर्यन्त आग्नेय प्राण का प्राधान्य रहता है। इसमें भी १७ वीं अहर्गण मुख्य माना गया है। कारण यही है कि १३ अहर्गणात्मक सागराम्बर-सञ्चल पार्थिव-विवर्त के १६-१६ भेद से दो विवर्त होजाते हैं। हृत्प्रतिष्ठ से आरम्भ कर १६ पर्यन्त अग्नि-तत्त्व का, तथा १८ से आरम्भ कर ११ पर्यन्त [ १८ से २७ पर्यन्त भास्वरसोम का तथा २८ से ११ पर्यन्त दिक्सोम का, इसप्रकार ११ पर्यन्त [ १८ से २७ पर्यन्त भास्वरसोम का तथा २८ से ११ पर्यन्त दिक्सोम का, इसप्रकार ११ पर्यन्त ] सोम का साक्षात्त्व रहता है। इन अग्नि-सोम-मण्डलों का केन्द्र १७ वीं अहर्गण पड़ता है। १७ से नीचे-नीचे अग्नि है, १७ से ऊपर-ऊपर सोम है। १७ वें स्थान में दोनों का समन्वय होता है, अतएव सञ्चलस्थान 'आहवनीय' कहलाया है। सोमाहुति के सम्बन्ध से प्रकृतिलिखित अग्नि २१ वें अहर्गण पर्यन्त व्याप्त होजाता है। अतएव मूकेन्द्र से २१ पर्यन्त अग्नीषोमात्मक यज्ञ की व्याप्ति मानली गई है। अतएव यही है कि हृत्प्रतिष्ठ से १७ पर्यन्त आमप्रजापति की प्राणकला का प्राधान्य है, जिस की विकासमूर्ति स्वयं १७ वीं अहर्गण है। मन तथा वाक् दोनों यहाँ उत्पन्न हैं प्राण उद्बुद्ध है। यही स्वयं प्राणप्रधान उद्गीचप्रजापति—विवर्त है।

हृत्प्रतिष्ठ से आरम्भ कर २१ पर्यन्त व्याप्त रथन्तरसामवीमावन्निष्ठ मण्डल में 'वाग्नि का प्राधान्य है। यहाँ मन तथा प्राण दोनों उत्पन्न हैं एवं आत्मप्रजापति की वाक्कला उद्बुद्ध है। यही मनप्राण-वाग्निमय वाक्मय सर्वप्रजापति है। यही यज्ञमण्डल की अन्तिम सीमा है। इसी के गर्भ में अग्नीषो-मात्मक यज्ञ तथा यज्ञिय ११ देवता प्रतिष्ठित हैं। रथन्तरीमा यज्ञ की परिधि है उपसहारस्थान है उच्चस्थान है। मूकेन्द्र यज्ञ का उपक्रम स्थान है। मूकेन्द्रावन्निष्ठ प्राणवाग्निमय मनोमय अनिरुक्तप्रजापति तथा रथन्तरसञ्चल परित्यक्तमन मनप्राणमय वाक्मय 'सर्वप्रजापति' दोनों के मध्य में आग्नेय-सौम्य-प्राणोमयमूर्ति मनोवाग्निमय यज्ञात्मक 'उद्गीच-प्रजापति' प्रतिष्ठित है। इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जासकता है कि यज्ञमण्डल का इस ओर का आचार मन है उस ओर का आचार वाक् है, एवं मध्य में प्राणमय यज्ञ किंवा प्राणात्मक यज्ञिय देवता प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव द्रव्याहुति मनोवाक् के द्वारा ही प्राणात्मक यज्ञिय देवता की स्तुति का अरण्य बनती है। इसप्रकार नित्य प्राकृतिक यज्ञ में मूकेन्द्र यज्ञमण्डलकेन्द्र यज्ञपरिधि भेद में मन प्राण वाक् तीनों द्वारा प्राणात्मक-आत्मकलाओं का उपभोग होजाता है जैसा कि परिलोक्य से गताय है—

१—एकविंशत्योमावन्निष्ठ रथन्तरसाम—[ २१ ] मनःप्राणमयितवाक्मय 'सर्वप्रजापतिः

२—सत्तद्व्यस्त्योमावन्निष्ठ मण्डल-हृदयम्—[ १७ ] मनोवाग्निमय प्राणमय 'उद्गीचप्रजापतिः

१—मूकेन्द्र

—[ \* ] प्राणवाग्निमयो मनोमयः 'अनिरुक्तप्रजापति'



## पार्थिवविवर्तपरिलेख —

(६) — १-बागतस्तोमः (४८)-द्यौः (१)

(३) (८) — २-त्रैष्टुमस्तोमः (४८)-अन्तरिक्षम् (१) } १ वाङ्मयी पृथिवी } विरवम्मरा पृथिवी-द्यौः  
(७) — १-गायस्तोमः (२४)-पृथिवी } [शाकलसम]

(१) — १-प्रयश्चिरास्तोमः (११) द्यौः (२)

(२) (५) — २-द्वारिचस्तोमः २२ अन्तरिक्षम् (२) } २-आपोमयी पृथिवी } सताराम्बर पृथिवी  
(४) १-एकादशस्तोमः (११) पृथिवी (२) } [बैकलसम] 'अन्तरिक्षम्'

(१) — १-एकविंशस्तोमः (२१) द्यौः (१)

(१) (७) — १-पञ्चदशस्तोमः (१५) अन्तरिक्षम् (१) } १-अग्निमयी पृथिवी } अरितिः पृथिवी 'पृथिवी  
(१) — १-त्रिदशस्तोमः (६) पृथिवी (१) } [रक्षतरसम]

उक्त तीनों-पार्थिव विवर्तों में से रक्षतरसममानुगत, अदितिलक्षणा प्रथम पार्थिव विवर्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। मुक्तेन्द्र से आरम्भ कर २१ वं अङ्गमं पश्चान्तं व्याप्त अग्निभ्युक्त के आचार पर क्रमशः त्रिष्टुम् [६], पञ्चदश [१५] एकविंश [२१] ये तीन अनुपमस्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों अनुपमस्तोमों में क्रमशः अग्निं वायुं, इन्द्रं ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के विमूर्तिमान् आगे जाकर ८, ११, १२, क्रम से ११ संख्या में परिकृत होजाते हैं २ साम्य प्राण के संक्षान से अदिति के गम में ११ प्राणदेवदेवताओं की उक्ता सिद्ध होजाती है। ये ही यज्ञिन देवदेवता कहलाए हैं। आहवनीयाग्निधमिधनकर्म से इही यज्ञिन प्राणदेवताओं का संग्रह हुआ है।

ये ११ यो यज्ञिन देवता स्वयं प्राणात्मक हैं। मन् तथा वाक् ये दोनों तत्त्व इन प्राणात्मक दोनों की मूलप्रतिष्ठा हैं। विसृष्टकर एक पात्र में जल भरा रहता है। एकमेव मनोमय वाग्वरूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित है। मनोमयारूपपात्र धयोनाथ है, जम्बू है। प्राणरूप देवता वर है। एष धय-धयोनाथ की समष्टि ही 'धयुनम्' है। यही-मन-प्राण-वाङ्मयी देवसाम्पत्ति है किन्तु प्रकृत इष्टिकर्म के द्वारा यज्ञकाल वसमान अपने मन-प्राण-वाङ्मय आत्मा के साथ योग करना चाहता है।

मुक्तेन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है यही हृद्य अमृतध्यामी अनिरुक्त प्रजापति कहलाया है। यही प्रजापति भूपिण्ड पृथिवी मेघ-मिश्र पार्थिवजगत् की मूलप्रतिष्ठा है। इस हृद्य प्रजापति की प्राण-वाग्वर्मित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति मनो-वाग्वर्मित प्राणमय उद्गरीधप्रजापति एवं मन-प्राणवर्मित वाङ्मय स्रवप्रजापति इस क्रम से तीन अवस्था होजाती हैं। मुक्तेन्द्र में अग्रमप्रजापति की



के साथ आध्यात्मिक यज्ञ [ यजमानात्मा ] के मन-प्राण-वाक्-पर्वों का सम्बन्ध करा देना दूसरा कृत्य है। परितो कृत्य की पूर्ति होता, तथा अध्वर्यु पर निर्भर है, तथा इस दूसरे कृत्य की पूर्ति 'अध्वर्यु' होता, उद्गाता ब्रह्मा इन चारों श्रुतिवर्गों पर निर्भर है। भूकेन्द्र से २२ पञ्चम्य वितत वाक्त्वत्त्व क्रमशः त्रिदश वन्द्य [ ६ ] अग्निमय पार्थिव श्रुवेद, पञ्चदशावन्द्य [ १५ ] वायुमय यजुर्वेद एकविंशवन्द्य [ २१ ] आदियमय सामवेद इन तीन अग्निवेदों के सम्बन्ध से परात्मिक वाक् गयात्मिक वाक् गयात्मिक वाक् के भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है। परात्मिका वाक् श्रुक् है गयात्मिका वाक् यजुः है एवं गयात्मिका वाक् साम है।

परात्मिका श्रुगवाक् का सम्पादन 'होता' नामक श्रुतिवत् करता है, यही इस का शास्त्रकर्म नामक 'होत्रकर्म' कहलाया है। गयात्मिका यजुर्वाक् का सम्पादन अध्वर्यु नामक श्रुतिवत् करता है। यही इस का 'ग्रहकर्म' नामक 'आध्वर्यु' कर्म कहलाया है। 'गयात्मिका सामवाक्' का सम्पादन उद्गाता नामक श्रुतिवत् करता है, यही इस का स्तोत्रकर्म नामक 'आद्रात्रकर्म' कहलाया है। इस प्रकार शस्त्रकर्माधिष्ठाता श्रुवेदी होता के शास्त्रकर्म से ग्रहकर्माधिष्ठाता यजुर्वेदी अध्वर्यु कग्रहकर्म से तथा स्तोत्रकर्माधिष्ठाता सामवेदी उद्गाता के स्तोत्रकर्म से यजमानात्मा के त्रिविध वाक्पर्वों का इस आधिमीतिक यज्ञ के वाक्पर्वों के साथ सम्बन्ध हो जाता है। त्रिविध ब्रह्मा नामक श्रुतिवत् अपन ब्राह्मव्यापार से यजमानात्मा के मन-पर्व का सम्पादन करता है। शेष रहता है 'प्राण' पर्व। अध्वर्यु कृत यान्याकर्म से [ आधुतिर्म्म ] इस प्राणपर्व का आधान हो जाता है। इस प्रकार अध्वर्यु कृत प्राणव्यापार, होता-अध्वर्यु-उद्गाता-कृत वागव्यापार, तथा ब्रह्माकृत मनोव्यापार तीनों व्यापारों से आधिमीतिक यज्ञ के साथ यजमानात्मा के तीनों आत्मपर्वों का सम्बन्ध हो जाता है। और यी प्रथम कृत्य की पूर्ति हो जाती है।

- |   |              |   |
|---|--------------|---|
| १ ब्रह्मा—मनस्तत्त्वसम्पादक—ब्राह्मकर्मणा       | [ मन ] १     | } लक्षित यजमानात्माव्यापारो<br>मन-प्राण-वाक्-पर्वानां-आधि<br>मीतिक्रियाशील सम्बन्ध- |
| २—अध्वर्यु—प्राणतत्त्वसम्पादक—यान्याकर्मणा      | [ प्राण ] २  |   |
| ३—उद्गाता—सामवाक्सम्पादक—स्तोत्रकर्मणा [ वाक् ] | } [ वाक् ] ३ |   |
| ४—अध्वर्यु—यजुर्वक्सम्पादक—ग्रहकर्मणा [ वाक् ]  |              |   |
| ५—होता—श्रुगवाक्सम्पादक—शास्त्रकर्मणा [ वाक् ]  |              |   |

आधिमीतिक यज्ञात्मि में मनःप्राण-वाक् सम्पत्ति का समावेश आवश्यक है। पूर्वोक्तप्राणकर्म से पहले होता नामक श्रुतिवत् के द्वारा सामिजेन्यनुवचन-कर्म होता है जैसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। लौकिक भूतान में मन्त्रछात्र से युक्त इध्याभ्यासान के द्वारा ऋषि प्राणवत्त्व का आधान करना ही इस सामिजेन्यनुवचनकर्म का एकमात्र फल है। इस प्रकार श्रुतिवत् सामिजेनी-कर्म से यह अधिभूत-यज्ञ प्राणसम्पत्ति से युक्त हो जाता है। इन प्राणसम्पत्ति का मनोवाक् से सम्बन्ध साधित करने के लिए ही प्रकृत आचारब्राह्मण के आरम्भ में प्रथम प्रथम—'तं या णामग्नि समन्धिपत' समिद्ध द्वय्यो जुदयाम ( शत १।४।१।१ ) यह कहा गया है। इस सिद्धान्तात्मक से श्रुति सङ्केत कर रही है कि आधिमातिक

- १—सर्वप्रकापतिर्वाङ्मयः —वाक्  
 २—उत्तरीयप्रकापतिः प्राणमयः—प्राणः  
 ३—अनिरुक्तप्रकापतिर्मनोमयः—मनः
- 

इन्द्रावन्धित मनः—अनिरुक्तम्

मध्यावन्धित प्राण —निरुक्तानिरुक्तः

परिध्वजन्धिता वाक्—निरुक्ता

—●—

पार्थिवयज्ञः प्राकृतिको नित्यः

मनःप्राणवाङ्मय, उक्त लक्षण प्राकृतिक, 'नित्य, वैद्ययज्ञ' के आधार पर ही ब्राह्मणग्रन्थोक्त पुरुषप्रमलशास्त्र 'मनुष्य वैद्य यज्ञ' का विधान हुआ है। प्राकृतिक यज्ञ में मन तथा वाक् के आधार पर ही प्राणात्मक यज्ञिय वेवठाओं में पार्थिव रखाहुति युक्त होती है। अतएव—'यज्ञे' देवा अक्षुर्वस्तुत्करवाणि' निगमानुसार इस वैद्य-मानुषयज्ञ में मी ( यज्ञात्मक-आहवनीयाम्नि में मी ) मन-प्राण-वाक्, तीनों कलाओं का सम्मन्वय आवश्यकक्रम से अपेक्षित होता है। बिना तीनों के सम्मन्वय के आहवनीय समिदाग्नि प्राजापत्यसम्पत् से सर्वथा वञ्चित है। एवं बिना प्राजापत्यसम्पत् के यह सम्पत्तुष्टि असम्भव है।

मनःप्राणवाङ्मय प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही विरत हुआ यज्ञ में वेदवचन से पहिले मनप्राणवाङ्मय सम्पत्ति अपेक्षित है, यही निष्कर्ष है। इसी सम्मन्वय में एक रहस्य का निरलेख्य खौर। अविदैवत का अधिभूत के द्वारा यद्यमान के आध्यात्मिक यज्ञात्मा का प्राकृतिक उक्त लक्षण आधिदैविक यज्ञात्मा से सम्मन्वय कर देना ही यज्ञनिष्कर्ष है। आधिदैवतयज्ञ पूर्वकथनानुसार स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय है एवमेव आध्यात्मयज्ञ मी स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय है। शेष यह जाता है कितायमान आहवनीयाम्निशब्द अविभूतवत्। इसे जबतक मनःप्राणवाङ्मय नहीं बना दिया जाता तबतक इस का माध्यम निष्कृत है। अविभूतयज्ञ उही अवस्था में मनःप्राणवाङ्मय आध्यात्मयज्ञ [ यद्यमानस्या ] का मनःप्राणवाङ्मय अविदैवत यज्ञ से सम्मन्वय करा सकता है। पुरे शब्दों में अधिभूतयज्ञलक्षण आहवनीयाम्नि ये प्रत्यक्ष आहुति का तमी अधिदैवत यज्ञात्मक दिव्य वेवठाओं के साथ सम्मन्वय होसकता है जब कि इस आहवनीयाम्निरूप अविभूतयज्ञ की मी किसी वैज्ञानिक-प्रक्रिया-विशेष से मनःप्राणवाङ्मय बना दिया जाय। इस के मनःप्राणवाङ्मय बनाने से आहुतिविषय के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ के मन-प्राण-वाक् पूर्व इस अविभूतयज्ञ में अन्तर्गम्य सम्मन्वय से प्रसिद्ध होजायेगा। आहुति का अविदैवत से सम्मन्वय होना अनिवार्य होगा। इसप्रकार अविभूतयज्ञ के द्वारा परम्परया यद्यमानात्मा का दिव्यातिशय से अन्तर्गम्य सम्मन्वय होजायगा।

अब इस सम्मन्वय में दो कथन हमारे धामने उपस्थित होते हैं। आधिभौतिक लक्षण इन आहवनीयाम्नि में मनःप्राणवाङ्मय का सम्मन्वय कर देना एक कर्त्तव्य है। एवं इस मनःप्राणवाङ्मय आधिभौतिक यज्ञ

का स्वरूप सर्वथा नष्ट है। अतएव नागव्यापार का अन्य इन्द्रिय [ओम्नेन्द्रिय] से भी प्रत्यक्ष हो जाता है एवं अन्य व्यक्ति भी इसका साक्षात्कार कर लेते हैं। इन्द्रियवागानिरिक्त पञ्चभूतरूप से भी वाग्ध्वस्त प्रत्यक्ष का विषय बनता हुआ व्यक्त बन रहा है।

न्यायिक वाक् निरुक्ता है अतएव उत्सम्पत्तिर्स्याहक कर्म की इतिवृत्त्यता भी वाग्धारणपूर्वक ही सम्पादित होती है। इस समानधर्म के सम्बन्ध से नागरूपेण कृत उत्तराधारकर्म से ब्राह्मनीयामि में अवश्य मेव वाक्ध्वस्त का आवाहन हो जाता है एवं यह आहित वाक् वाग्ध्व से [व्यङ्ग्यरूप से] ही प्रत्यक्ष प्राप्त देवताओं के लिए आहुतिद्रव्य-प्रापिका बन जाती है। इसप्रकार उपाशुर्गुण से पूर्वाधार, तथा वाग्ध्व से उत्तराधार करता हुआ यी अध्यय्यु ब्राह्मनीयामि में मनोवाक् पर्व का ही आवाहन कर रहा है। इन दोनों क्रमिक आचारों से आधिमातृक यज्ञ के मनोवाक्पर्व सृष्ट हो जाते हैं [ सर्वाङ्गीण बन जाते हैं। ] सर्वाङ्गीण बनकर वे दोनों पञ्च प्राणात्मक यज्ञाग्नि के आचारप्राप्त [ वधनी ] बनते हुए निश्चयेन प्रतीत्य प्राप्तदेवों के लिए आहुतिप्रापक बन जाते हैं। तात्पर्य उपपत्ति का यही है कि देवतापि का साधन आहुतिप्राप्ति है, एवं आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाक्पर्वों की सर्वाङ्गीणलक्षणा तत्ति है। इस तत्तिमावप्राप्ति के लिए भी आचारव्यानुष्ठान आवश्यक है। मनोवाक् पर्व केमे किञ्च रूप से प्राणदेवों के लिए यज्ञवहन करते हैं। प्रकृत द्वितीय कविकका से इसी प्रश्न का औचित्य समाधान हुआ है ॥ २ ॥

काममय विश्व में पुरुष तथा स्त्री इन दोनों का सहयोग अपेक्षित है। यद्यपि पुरुष भी काममय है, स्त्री भी काममयी ही है तथापि प्रधानता पुरुष की ही मानी गई है। पुरुष 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित है एवं स्त्री 'पुरुषतन्त्र' की अनुगामिनी है। पुरुषनाम ही स्त्रीनाम है। दूसरे शब्दों में स्त्री कृतातुक्त है अनुगामिनी है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार कामनामय मन को हम पुरुष कह सकते हैं एवं कामनामय मन के सकलानुसार स्वव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होने वाली वाक् को 'स्त्री' कहा जा सकता है। पुरुषानुगत प्राण 'धृषा' कहा जाता है स्मनुगत प्राण योषा कहा जाता है। अनुचावन करने वाला पुरुषप्राण भी धृषा है एवं वित के प्रति धृषाप्राण का अनुचावन होता है वही योषा है। इस दृष्टि से भी मन धृषा है एवं वाक् योषा है। वाक् का मन की ओर अनुचावन नहीं है, अपितु सकलरूप से मन ही वाक् की ओर अनुचावन करता है।

इसप्रकार कामनामयत्वेन वाक्तन्त्रसञ्चालकत्वेन अनुचावक बन हुआवच्छिन्न मन का धृषाप्राणमक पुरुषत्व मन्त्रीमाति सिद्ध हो जाता है। एवं कामनानुगतत्वेन परिध्यवच्छिन्ना वाक् का योषाप्राणा मक स्त्रीत्व सर्वप्रमना सिद्ध हो जाता है। ऊपर आहुतिप्राप्तों में सुवप्राप्त पुर्णिगत्वेन धृषाप्राणात्मक काममय मन से समतुलित है अह-उपमृत् नामक सुवप्राप्तवही स्थितिज्ञत्वेन योषाप्राणात्मिक कामनुगता वाक् से समतुलित है। मनोऽनुगत पूर्वाधार मन सम्बन्ध से धृषा है अतएव पूर्वाधारप्राप्ति धृषात्मक स्वयं से ही होती है। अगनुगत उत्तराधार वाक् के सम्बन्ध से योषा है अतएव उत्तराधारप्राप्ति योषात्मिक स्वयं से ही होती है। पूर्वाधारप्राप्तकर्म का क्रमशः सुव एवं सुक् से सभी सम्पादन होता है, इस प्रश्न की यही सविशेष उपपत्ति है जिसका कि तृतीय-चतुर्थ-कविककाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ४ ॥

पूर्वाधार मनोऽनुगत है उत्तराधार वानुगत है यह कहा जा चुका है। प्राणवाग्ध्वस्त मनोमय अनिरुक्त-प्राणपति द्वय है। यही से यद्यपि — 'परास्त्रि ज्ञानि व्यसृष्ट स्वयम्' ( कठोपनिषद् १।१ ) इत्यादि

यज्ञान्ति में पूर्व के सामिचेनी-कर्म से प्राणपूर्व का तो आधान होगा। अब पूर्वोत्तराचारकर्मद्वयी से इस प्राणात्मक आहवनीयान्तिपथ में मनो-वाक् पूर्वों का आधान बतजाया जाता है। हेतुकृत प्राणाधानलक्षण सामिचेन्तु चवन-कर्मोन्तर्गत अथर्व्यु नामक श्रुतिवत् सूत्रपात्र से पूर्वाचारकर्म का, तथा सूक्तपात्रद्वयी से उत्तराचारकर्म का सम्पादन करता है। पूर्वाचार मन-पथ का संग्राहक है एवं उत्तराचार वाक् पथ का संग्राहक है। इत्यन्तर सामिन्धन-कर्म से प्राणयुक्त, पूर्वाचारकर्म से मनीयुक्त एवं उत्तराचार से वाग्युक्त, सम्पूर्ण तीनों कर्मों से मनःप्राण-वाक्मय बनता हुआ आहवनीयान्तिपथ्य आधिभौतिक यज्ञ आध्यात्मिक-यज्ञलक्षण यजमानात्मा के मनः प्राण-वाक्-पूर्वों से (आहुति के द्वारा) युक्त होता हुआ आधिभौतिक-यज्ञान्तिपथों से सम्पन्न आधिदैविक यज्ञ के मनः-प्राण-वाक्-पूर्वों से अन्तर्मर््यामात्मक समन्वय-सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है।

केन्द्रावस्थामन-पूर्व (प्राणवाग्युगमित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति) हृदयावच्छेदेन पूर्वमात्री है एवं रथन्तरात्मावच्छिन्न वाक्-पूर्व (मनःप्राणयुगमित वाक्मय निरुक्त प्रजापति) परिष्कावच्छेदेन उत्तरमात्री है। मनःसम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आचार पूर्वमात्री है एवं वाक्सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आचार उत्तरमात्री है। इस पूर्व तथा उत्तरमात्र से ही यज्ञान्ति में पूर्वमात्री मन-पूर्व का तथा उत्तरमात्री वाक्पूर्व का आधान हो रहा है। मनोऽनुगत आचार पूर्वाचार क्यों कहलाया? वाग्युगत आचार उत्तराचार क्यों कहलाया? पूर्वाचार पहिले एवं उत्तराचार पीछे क्यों किया जाता है? समिन्धनानन्तर पूर्वोत्तराचारकर्मद्वयी क्यों आवश्यक है? इसके द्वारा मनोवाक्-सम्पत्तिद्वय क्यों अपेक्षित है?, इत्यादि आचारकर्म-सम्बन्धी प्रश्नों की इसी उक्त उपपत्ति का प्रथम कथितकाशेष में स्वीकरण हुआ है।

१—“अग्निं समैन्विष्यत” — प्राणसंग्रह — सामिचेन्त्युवचनकर्मका।

२—“मनसे चैव — मनःसंग्रह — पूर्वाचारकर्मका।

३—“वाचे च” — वाक्संग्रह — उत्तराचारकर्मका।

१



पूर्वाचारकर्म उपोश्रुत्य से किया जाता है एवं उत्तराचारकर्म वाग्युचारण [मन्त्रोच्चारण] पूर्वक किया जाता है। हृदयस्थ पूर्वमात्री मन उपोश्रु है। मन का स्वरूप हृदयावच्छेदेन सर्वथा अगम्य है। अतएव न तो हृदयावच्छिन्न मन का ही पञ्चमुख इन्द्रियो से छायात्कार किया जासकता एवं न मानस-व्यापार [भावना-वास्तविक मानस संकल्प] का ही अगम्य स्वप्ति के द्वारा प्रत्यक्ष किया जासकता। वही मन का उपोश्रुभर्मात्मक है। क्योंकि मन उपोश्रु है अतएव तत्-सम्पत्तिस्वाहा पूर्वाचारकर्म की इतिकथ व्युत्पत्ति का भी उपोश्रु ही सम्पादन होना चाहिए। इस समानाचर्म के सम्बन्ध से उपोश्रुकथेय कृत पूर्वाचारकर्म से आहवनीयान्ति में अथर्वमेव मन-पूर्व का आधान होजाया है एवं यह आहित मन उपोश्रुत्य से ही युक्तोत्तराचार प्राणवेधी के लिए-आहुति-इत्युपपत्ति बन जाता है। रथन्तरात्मात्मिका परिधिस्था उत्तरमात्री वाक् निरुक्ता है। वाक्

‘रथन्तरसाम’ कहलाया है, जैसा कि—‘रसतम ह वै सत्त्वन्तरमित्याचक्षते परोक्षम् (शत० १।१।२।११) इत्यादि भूति से प्रमाणित है। भूकेन्द्र से २१ वें अहर्गण पम्यन्त व्याप्त मनोवागग्निमि प्राणमय यज्ञ भी इसी रसतम अग्नि के सम्बन्ध से ‘रथ (वैश्वरथ)’ कहलाया है। प्रवृत्त आहुतिविषय के द्वारा यज्ञमान इस। रथमात्मक यज्ञरथ में प्रतिष्ठित होकर पृथुलोक की ओर गमन करता है। इस रथ का वहन करने वाले (प्राणामक यज्ञ का भूकेन्द्र से रथन्तरसाम की परिधिपर्यन्त नितान करने वाले) ‘मन, वाक् नाम के दो अरव माने गए हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा यज्ञात्मक अन्निरसुरूप ‘रथ का वहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त इन दोनों ‘मनो-वाक्’ अरवों में ‘मनो-लक्षण अरव अपरिमित है, एवं वाग्लक्षण अरव परिमित है। दिग्देशाक्षलानवन्विज काममय मन इसी अपरिमित भाव के सम्बन्ध से ‘काममसुद्र’ कहलाया है। “मनो वै ब्रह्म (ता ब्रा ७।६।१७), “मनो वै समुद्र’ (७।५।२।५२।) अनन्तं वै मन’ (शत १।४।१।११) इत्यादि भूतियाँ मन के इसी असीमभाव का समथन कर रही हैं। मन-प्रतिष्ठाकर्म हृदय स्वयं अनन्त है तदनुगत मन भी अनन्त है। इसकी अपेक्षा वाक्त्वन् दिग्देशाक्षलानवन्विज कनता हुआ परिमिततर है सीमित है। अर्थोत्तिका वाक् (मौक्तिक पदार्थ) भी परिमित है, क-व-य-य आदि लक्षणा शब्दात्मिका वाक् भी सीमित है। इसप्रकार यज्ञरथवाहक दोनों अरवों में एक (मन) आन्तर, प्रक्षर में बड़ा है, तो दूसरा (वाक्) अपेक्षाकृत छ्नीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अरव रथ का वहन करते हैं, तो वहनकर्म मयाकान्त बना रहता है। आक्षरक है कि, मनोरूप अरवपरिमाण को समतुलित करने के लिए वाग्रूप अरवपरिमाण में आक्षरवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराचार लड़े लड़े किया जाता है। विषमकार लोक में नाटे अरव को दीर्घकाय अरव से समतुलित करने के लिए नाटे अरव के स्क्व प्रवेश में स्थूल आच्छादित लगा दिया जाता है ठीक उसी लौकिक कर्म के अनुरूप यहाँ विष्णुभाव का आभय लिया जाता है। लड़े होकर उत्तराचार करना वाग्रव को मनोरूप अरव के समानाकार से ही समतुलित करना है। विष्णुचरणार की यही वृत्ति उत्पत्ति है। इन दोनों उत्पत्तियों का ही सातवीं कण्डिका से स्मृतीकरण हुआ है ॥७॥

पूर्वाचार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बैठ कर प्रस्थित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है एवं उत्तराचार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भू प्रदेश में लड़े होकर प्रस्थित समिद्ध आहवनीयाग्नि के दक्षिणाग्नि में होता है जैसा कि वसतुनुगतपञ्चविमल में स्पष्ट किया जानुका है। इन दोनों आचारों के सम्बन्ध में एक अनुका उत्पत्ति का प्रावृत्तिक सम्बन्ध और कर लेना चाहिए। पूर्वाचार का मन से तथा उत्तराचार का वाक् से सम्बन्ध है। भाषनामय मन वैश्वप्राण की प्रतिष्ठा है, एवं वासनात्मिका वाक् पितृप्राण की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर पितरों वाक्यमित्यन्ति भाषमित्यन्ति वयता यह सक्ति प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत वैश्वप्राण आप्तनेय है, एवं वागनुगत पितृप्राण सौम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमयज्ञ के पूर्वार्द्ध भाग में अग्निवत्त्व का प्राधान्य है, एवं उत्तरार्द्ध में सौम्यत्व का साम्राज्य है। मयबलाकेन्द्रभूत मभस्थ सप्तश स्थान में दोनों का सम्बन्ध होता है जैसा कि प्रथमकण्डिका-विशेषण में स्पष्ट किया जानुका है। क्योंकि मनोऽनुगत आप्तनेय देवता का पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव मनोऽनुगत आपार पहिले किया जाता है अतएव च यह आपार ‘पूर्वाचार’ कहलाया है। एवमेव वागनुगत सौम्य पितरों का उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव वागनुगत आपार पीछे किया जाता है, अत-

और सिद्धान्त के अनुसार वाक्यत्व का ऊर्ध्व स्थान अवश्य होता है तथापि यह स्वयं मनोमय हुए अनिरुक्तमात्र से वाक्यप्राप्तीत ही है। इसी मनोऽनुस्यूता की विधि के लिए मनोऽनुगत पूर्वाधार पूर्णों की किया जाता है। उपाय ही अनिरुक्त है। अनिरुक्तता ही मन का स्वामात्मक धर्म है। 'स्वाहा' यह वाग्विवर्त का प्रत्यक्ष अभिनय है जैसा कि आगे के काम्यमान से स्पष्ट होने वाला है। इस मनोमय प्रभापति के लिए पराङ्मुखा वाक् अहम्यवाहना है। अतएव मन सम्पत्तिप्राप्त पूर्वाधारधर्म में वागनुगत स्वाहा का उच्चारण निषिद्ध है। वाक्यत्व का मन-प्राणगर्भित वाक्यमय वर्णलक्षण निरुक्त प्रभापति से सम्बन्ध है। यह तत्त्व स्वस्वरूप से (आकाररूप से) भी प्रकट है स्वविधानात्मक पञ्चनहाभूतात्मक अर्थप्रपञ्च की दृष्टि से भी प्रकट है एवं वाग्विनिर्गम्य से भी प्रकट है। प्रत्यक्षरूप प्राञ्चमौलिक प्रवाय वाक्यमय है इनके गम में हित नामक क्रियाप्रवक्तृ 'प्राणवत्त्व' प्रतिष्ठित है स्वस्वाम्यन सुखम काममय मन है। क्योंकि वाक्यत्व व्यक्तव्यवृत्त है इस उच्चारण वाक्यसम्पत्तिप्राप्त के लिए विहित है। अतएव वागनुगत उच्चारणधर्म मनोऽनुगत, तत्त्वमय व्यक्तमात्र से ही सम्पन्न होता है। मनोऽनुगत पूर्वाधार का पूर्ण रूपेण तथा वागनुगत उच्चारण का मन-रूपेण सम्पादन करना भी मनोवाक्यपत्तों का ही स्पष्ट करना है यही उपपत्ति-निष्कर्ष है, जिस का कि पाँचवीं, तथा छठी कविताओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ५, ६ ॥

मूत्रेन्द्रावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रभापति 'अत्यन्तिसुहृदगुणम्' (यसु म १२।१) सिद्धान्तानुसार प्रादेशमित (१ ॥ अगुणमित) प्राणरूप से हृदय में प्रतिष्ठित है। इस बैठे हुए मनोमय प्रभापति के आचार पर ही इन्द्रा-विष्णु की अनुगता प्रतिस्पर्द्धा से वाक्यवाहनी का ऊर्ध्व स्थान होता है। उर्ध्वविठ्ठा यह वाक्यवाहनी केन्द्र में प्रतिष्ठित (आसीन) मनोमय प्रभापति की अवस्था कही हुई थी है। मनस्तत्त्व हृदय में आसीनवत् है वाक्यत्व हृदय से परिधि-पर्यन्त विष्टन्वत् है। मनोवाक्य पत्तों की इस स्वाभाविकी स्थिति को लक्ष्य में रख कर ही मनोऽनुगत पूर्वाधार आसीन बनकर (बैठ कर) किया जाता है एवं वागनुगत उच्चारण विष्टन्वरूप से (लक्ष्य होकर) किया जाता है। इसप्रकार आसीन विष्टन्वरूप से कृत पूर्व-उच्चारण के द्वारा भी आसीन मनस्तत्त्व एवं विष्टन् वाक्यत्व का आहवनीय यज्ञाग्नि में आधान होता है। पूर्वाधार आसीन रूप से, तथा उच्चारण विष्टन्वरूप से कर्त्तृ किया जाता है। इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है।

वागनुगत उच्चारण विष्टन् क्यों किया जाता है?, इस प्रश्न की एक सूची भी उपपत्ति है। बहोतिक यज्ञाग्नि का वाक्यवाहनी व्याप्त रहती है बहोतिक रक्षतरसम की व्याप्ति मानी गई है जैसा कि प्रकरनाम्य में स्पष्ट किया जा चुका है। मूत्रेन्द्र में प्रतिष्ठित वाक्यमय अनिरुक्त 'रसाग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इस वाक्यमय रसाग्नि का त्रिहृत्-पञ्चदश-एकविंश स्तोमरूप से क्रमशः अग्नि-वायु आदित्यरूप से ऊर्ध्व स्थान हुआ है जैसा कि निम्न शिल्लिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

तस्यै भान्तस्यै सप्तस्यै तेजो रसो निरघर्षतामन् । स त्रेधास्मानं व्यकुल-आदित्यं  
तृतीय, वायु तृतीयम् । स एष प्रायस्त्रेधा विहितः ॥

—शत १०।४।३।२ ।

रक्षतरस वाक्यमय अग्नि के ऊर्ध्व स्थान-सम्बन्ध से ही एकविंशतोमावच्छिन्न बहोतिकवायु पार्थिव ताम (अग्निधाम) 'रसतरसम' कहा जाता है। यह रसतरसम ही परोक्षविद्य देवताओं की पराङ्मुखा में

‘रथन्तरसाम’ कहलाया है, जैसा कि—‘रससम ह वै तदथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्’ (शत ६।१।२।१९।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। भूकेन्द्र से २१ वें अहर्गण पम्पन्त व्याप्त मनोवाग्वर्गमित प्राणमय यज्ञ भी इसी रथसम अग्नि के सम्बन्ध से ‘रथ (वेवरथ)’ कहलाया है। प्रदत्त आहुतिद्रव्य के द्वारा यजमान इस रथमात्रक यज्ञरथ में प्रतिष्ठित होकर वायुलोक की ओर गमन करता है। इस रथ के बहन करने वाले (प्राणमात्रक यज्ञ का भूकेन्द्र से रथन्तरसाम की परिधिपर्यन्त विस्तार करने वाले) ‘मन, वाक्’ नाम के दो अरन माने गए हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा यज्ञात्मक अग्निरसकृप ‘रथ’ का बहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त इन दोनों (मनो-वाक्) अरवों में मनो-लक्षण अरव अपरिमित है, एवं वाग्लक्षण अरव परिमित है। दिग्देशकालानबन्धित काममय मन इसी अपरिमित मात्रक सम्बन्ध से ‘कामसमुद्र’ कहलाया है। ‘मनो वै बृहत् (वा वा ७।१।१७), ‘मनो वै समुद्र (७।१।२।२१।) ‘अनन्तं वै मन’ (शत १०।३।१।११।) इत्यादि श्रुतिवां मन के इसी असीममात्रक समर्थन कर रही हैं। मन-प्रतिष्ठाकर्म इदम स्वयं अनन्त है उदनुगत मन भी अनन्त है। इसकी अपेक्षा वाक्कृत दिग्देशकालानबन्धित वनता हुआ परिमिततर है सीमित है। अपांश्मिका वाक् (भौतिक पदार्थ) भी परिमित है। कच-उ-उ-य आति लक्षणा शब्दांश्मिका वाक् भी सीमित है। इसप्रकार यज्ञरथवाहक दोनों अरवों में एक (मन) आकार, प्रकार में स्या है तो दूसरा (वाक्) अपेक्षाकृत हनीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अरव रथ का बहन करते हैं, तो वहनकर्म मयाकान्त बना रहता है। आकरयक है कि मनोक्त अरवपरिमाण को समतुलित करने के लिए वाग्वर्य अरवपरिमाण में आकारवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराधार लक्ष्मे लक्ष्मे किया जाता है। बिसप्रकार लोक में नाटे अरव को दीर्घकाल अरव से समतुलित करने के लिए नाटे अरव के स्वरूप प्रवेश में स्थूल अष्टपीठ लगा दिया जाता है ठीक उसी लौकिक कर्म के अनुक्रम यहाँ विष्टन्मान का आभय लिया जाता है। लक्ष्मे होकर उत्तराधार करना वाग्वर्य को मनोक्त अरव के समानाकार से ही समतुलित करना है। विष्टन्नुत्तराधार की यही वृष्टी उपपत्ति है। इन दोनों उपपत्तियों का ही सातवीं कथिडका से समीकरण हुआ है ॥७॥

पूर्वाधार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बैठ कर प्रव्यवस्थित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है एवं उत्तराधार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूदेश में लक्ष्मे होकर प्रव्यवस्थित समिद्ध आहवनीयाग्नि के दक्षिणाग्नि में होता है जैसा कि ‘वृष्टानुगतपदसितप्रह’ में स्पष्ट किया जाना है। इन दोनों आधारों के सम्बन्ध में एक अनुज्ञा उपपत्ति का प्रासङ्गिक सम्बन्ध और कर लेना चाहिए। पूर्वाधार का मन से तथा उत्तराधार का वाक् से सम्बन्ध है। साधनामय मन वैषमाण्य की प्रतिष्ठा है, एवं यामनात्मिका वाक् पितृप्राण्य की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर ‘पितरो वाक्यमिच्छन्ति, मावमिच्छन्ति देयता’ यह शक्ति प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत वैषमाण्य आग्नेय है एवं वागनुगत पितृप्राण्य सीम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमण्डल के पूर्वार्द्ध भाग में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, एवं उत्तरार्द्ध में सोमतत्त्व का साक्षात्कार है। मण्डलकेन्द्रमूल मध्यस्थ उत्तरा स्थान में दोनों का अन्वय होता है जैसा कि प्रथमकथिडका-विवेचन में स्पष्ट किया जाना है। क्योंकि मनोऽनुगत आग्नेय देवताओं का पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव मनोऽनुगत आधार पहिले किया जाता है अतएव च यह आधार ‘पूर्वाधार’ कहलाया है। एवमेव वागनुगत सीम्य पितरों का उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध है अतएव वागनुगत आधार पीछे किया जाता है अत-

एवञ्च यह आभार 'उत्तराभार' कहा गया है। उत्तरादिक् देवताओं की है अतएव देवानुगत पूर्वाभार आह-नीय के उत्तर भूपदेश में बैठ कर आहवनीयामि के उत्तर भाग में सम्पन्न होता है। एवं दक्षिणादिक् पित्रों की है, अतएव पित्र्यनुगत उत्तराभार आहवनीय के दक्षिण भूपदेश में लड़े होकर आहवनीयामि के दक्षिण भाग में सम्पन्न होता है। दोनों आभारों से अग्नीषोमात्मक पूण यज्ञमण्डल का र्थग्रह हो जाता है।

उत्तराभार का सम्पादन दक्षिण में लड़े लड़े होता है। इस सम्बन्ध में एक उपपत्ति और उल्लेख मिली है। मीमंसास्मृत्या मक वेद्युग में यज्ञ यज्ञ भी मीमंसेयता वैध-यज्ञकर्म का विधान करते थे तब तब ही दक्षिण अग्निहोत्र में निवास करने वाले मीम-मनुष्यविध असुर दक्षिणभूपदेश \* से आकर यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे। दक्षिणदिगनुगत इस असुराक्रमण से जाण पाने के लिए देवताओंमें दक्षिण-सीमा पर लड़ा पक्षिण नियुक्त कर दिया था। इसी मीम-देवताओंसे मास्तीय विवाहिनर्तने कहिका प्राप्त की। फलतः 'वेवा-ननुविधा वै मनुष्या' इस नियम के अनुसार इन्होंने भी अपने यज्ञ में दक्षिणदिगनुगत कर्म को लड़े लड़े ही करना अनवश्यक माना।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उत्तराभार करने की वैज्ञानिक उपपत्ति भी है। एक बड़ी प्रचलन है। भूपरिधि का उत्तर प्रदेश अग्नि-तन्त्रिय स्कन्ध के विधान से वेदप्रमाणप्रधान है। उत्तरागुप्त स्कन्धप्रदेशोपलक्षित स्कन्धस्वरूप ही देवताओं की वेदयवनभूमि है। यज्ञविधान-प्रदेश है। अग्नि वायु, आवित्य, चन्द्र-मादि प्राणस्मक दिग्म श्रुतिवर्णों के द्वाारा कर्मों से इस देवयवनभूमि में सम्बन्धस्वरूप का विधान होता रहता है। भूपरिधि का दक्षिणप्रदेश अग्नीषोमीय शस्त्रस्वरूप का सम्बन्ध से असुरप्राण-प्रधान है। इस दक्षिणदिगनुगत असुरप्राण का उत्तरागुप्त प्राणवेद्ययज्ञभूमि पर लक्ष आक्रमण होता रहता है। तब ही दक्षिणस्थ अग्नि-संज्ञोपलक्षित अग्नि-तन्त्रिय स्कन्ध से यह आक्रमण व्यर्थ भी होता रहता है। स्कन्धस्वरूपोपलक्षित देवयवनस्कन्ध इसप्रकार विष्टान्स्त्रेण उपस्थित इन्द्र के द्वारा असुराक्रमण से बचा रहता है।

प्राकृतिक यज्ञ में दक्षिण-दिशा में यज्ञस्वरूप इन्द्र लड़े रहते हैं इस स्थिति का उत्तरायणकाल में ही सम्बन्ध है। दक्षिणगोल में उत्तरायण होता है एवं उत्तरगोल में दक्षिणायन होता है। उत्तरायणकाल में सूर्य दक्षिण-परमरूप से उत्तर की ओर अपना रक्त कर लेता है। सूर्य इन्द्रप्राणरूप है। इन्द्र उत्तर की ओर अपना रक्त करना ही लक्षा होता है। यही देवयवनकालोत्पन्न है। और इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से दक्षिणगोलस्थ असुरप्राण का आक्रमण व्यर्थ चलता जाता है फलतः उत्तरायणानुगत दिग्मन्त्र निर्भिन्न सम्पन्न होजाता है।

वैद्ययज्ञ प्रकृत में इस दक्षिणस्थ असुरप्राण के समावेश से जाण पाने के लिए ही यज्ञवेदि प्रथम तो प्राकप्रवर्णा बनाई जाती है। अथवा तो उदकप्रवर्णा बनाई जाती है, जैसा कि पूर्व के 'वेदिनाह्वय' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। क्योंकि प्रकृतियत् इह मानुष यजामि में भी दक्षिणस्थ असुरप्राणाक्रमण स्वाभाविक है अतएव इस ओर लड़े होकर ही उत्तराभार किया जाता है। लक्षा होना भीवर्ण्य का ही लक्ष्य है।

\* यहाँ आब 'स्वेज' नहर है पुराण में यहाँ भूप्रदेश था। इसी मार्ग से असुरपिण्डों में रहने वाले मीम-असुर मीम देवताओं के यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे।



‘उच्छ्रितमिव हि धीम्यम्’ अति अ यह वाक्य बड़ा महत्त्व रखता है। लोकहित से भी इस सिद्धान्त का अपूर्व महत्त्व है। आलस्यनिमग्न श्यालु मनुष्यों का स्वाभाविक धीम्य कालान्तर में मूर्च्छित हो जाता है, उल्लाह मन्द हो जाता है एवं निरासस उत्पिष्ट पुरुषार्थी ही धीम्यसम्पत्ति से युक्त रहता है। ‘सेना इक्ष्म प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्रत्येक सैनिक को यह आदेश मिलता है कि, यह अपने रक्षाकर्म में तन कर ही खड़ा रहे। तन कर खड़े रहने से मरुदण्ड का सत्त्वस्तिक की ओर लग्न हो जाता है, हृदयावच्छिन्न कर्ष-अथः नित नक्षिण श्रुतमात्र में परिणत होती हुई रक्षादि के सञ्चार से धीम्यवती बन जाती है। इस प्रकार उच्छ्रितमात्र प्रत्येक दशा में धीम्याभायक बना रहता है। सैनिक तन कर चलते हैं उन कर रक्षास्थानों में पहिच देते हैं। सचमुच शरीरयष्टि का यह उनाव उक्त शीतसिद्धान्त के अनुसार धीम्य का ही प्रवक्तृ है, जिसे हमने सुना दिया है। यहाँ वही सैनिकानुगत रक्षाकर्म अभीष्ट है। रक्षाकर्म धीम्यव्यपेक्ष है, धीम्यसञ्चार उच्छ्रितमात्रानुगति पर ही निरभर है। अतएव आनुगत उत्तराचार विष्टनूपेयिष किया जाता है। विष्टनूप से तथा आन्याहुति से अविशयकपेण प्रज्वलित आहवनीयामि से उभयथा दक्षिणस्थ अनुग-क्रमण का मय निवृत्त हो जाता है- ‘तस्मादक्षिणवत्तिष्ठमाचारयति ।

आहवनीयामि एक है इसी में दोनों आचारहुतियाँ हुत होती हैं। इसप्रकार आहवनीयामिस्त्वेन दोनों आचारहुतियों का प्रदेश समान है। साथ ही काल स्थिति एवं अग्निप्रदेश की अपेक्षा से दोनों आहुतियों का परस्पर पार्यन्त है। पूर्वाचारहुति पहले दी जाती है उत्तरप्रदेश में बैठ कर दी जाती है, आहवनीयामि के उत्तरभाग में दी जाती है। उत्तराचारहुति पीछे दी जाती है, दक्षिणप्रदेश में खड़े होकर दी जाती है आह-वनीयामि के दक्षिण भाग में दी जाती है। इसप्रकार आहवनीयामिस्त्वेन वहाँ दोनों समान हैं वहाँ दक्षिण-क्षेत्रप्रदेशत्वादिरूपेण दोनों मिल मिल हैं। इन समान, तथा नाना दोनों भागों के संग्रह के लिए ही ऐसा किया जाता है। कारण यही है कि पूर्वाचारानुगत मनःपूर्व का तथा उत्तराचारानुगत वाक्पूर्व का दोनों का स्वरूपावस्थान समान रहता हुआ पुण्य पुण्य ही है।

मन तथा वाक् का समानत्व इसी से सिद्ध है कि बलप्रतिधारणस्य से सबलसममात्रावच्छिन्न उत्ती मन में जब बलमात्रा का स्वभिन्नत् उद्रेक होता है तो वही मन प्राण रूप में परिणत हो जाता है। बल-मात्रा के पूर्णोद्रेक से वही मन बाह्यरूप में परिणत हो जाता है। इसी आचार पर तो हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिबद्ध प्रकाश को पूर्व में प्राण-बाह्यमि बलसाधन गया है। मानस प्रत्यय में भी पञ्चांगानुगता उपस्थिता का अक्षरमयैव समावेश रहता है जैसा कि ‘न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादते’ इत्यादि हरि-

● ‘उच्छ्रितमिव हि धीम्यम्’ के अनुसार रक्षादि तथा पुरुषायसाधनादि कर्मों के अनुगामी को तनकर ही खड़ा रहना चाहिए, तन कर ही चलते-फिरते रहना चाहिए। इस श्रुतिप्रामाण्य शीतनीय-आचार पद्धति को मादृक्तापूर्ण विम्वमाना-मुद्धी-शिथिलता से वहाँ हमने विस्मृत कर दिया है वहाँ आब की प्रतीत्य-रक्षा-पद्धति में सैनिक सिपाही इसी तनन-पद्धति के अनुगामी को हुए है जो पद्धति प्रतीत्यमात्रा में सम्भवतः ‘अटेन्शम्’ नाम से प्रसिद्ध है।

विद्वान् — से प्रमाणित है। प्रत्येक मानस व्यापार (संस्कार) में उपांशुवाक् निहित है। एवमेव प्रत्येक वाग्व्यापार (शब्दप्रयोग) में मानसज्ञान आधार बन रहा है। इसी ज्ञानीय प्रवेन्द्र से वर्णविभागानुगता अर्थनिष्पत्ति होती है। मन से वक्षिता वाग् कालभवाग् है, स्तुतिवाक् है निरर्थकवाक् है अवाक्-क्या वाक् है। विशुद्ध मानस व्यापार में उपांशुवाक् के सम्बन्ध से तथा विशुद्ध वाग्व्यापार में आत्ममन्त्रत्वेन मन के सम्बन्ध से दोनों का समानत्व [समानचेष्टाभक्त्य] मलीमांषि विद्य होजाता है। इसी समानता-संपत्तिमार्ग के लिए समानचेष्टरूप एक ही आह्वनीयातिन में मनोऽनुगत पूर्वाधार की तथा वागनुगत उत्तराधार की, दोनों की क्रांति जाती है। यदि मनोवाक् समान है तो दोनों के लिए दो व्यापार क्यों किए जाते हैं, इस प्रश्न का निराकरण दोनों का स्वरूपमेव [जातिमेव] है। मन हृदयवच्छिन्न अनिबन्ध तत्त्व है सो वाक् परिष्कृतव्यञ्जित निकल तत्त्व है। एक [मन] अनन्दा है, वेदप्रधानानुगत है। एक [वाक्] अन्दा है पितृपाषाणानुगत है। इस जातिमेव से दोनों समानचेष्टानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं पूर्वापरमावानुगत हैं। इसी नाना-व्यपत्तिमार्ग के लिए विभिन्न स्थानानुगतस्वरूप उत्तर-वक्षिण प्रवेश में दो आवाहकृष्टिकां की जाती हैं— 'तस्माद्विदं मनश्च वाक् च समामनेव सन्नातेव' ।

आधारवाक्य से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का संक्षेप से दिग्दर्शन कर दिया गया। अब पूर्वोक्त सुब-सु गदि-मुक्त उपपत्तियों का एक पृष्ठे दृष्टिकोण से सम्बन्ध किया जाता है। प्रत्येक वस्तु के 'मूल-तल' में से दो विकर्ष होते हैं। अनिबन्ध हृद्यभाव ही मूलस्थान है निकल टरब पिएह ही दलस्थान है। मूल-स्थान मन-प्रधान होने से 'हृद्य' है, दलस्थान वाक्प्रधान होने से 'शिर' नाम से व्यक्त होजाता है। यहाँ हृद्यवच्छिन्न मनोऽनुगत पूर्वाधार हृद्य मन के सम्बन्ध से एवं क्शातिनलक्षण पुत्रव का मूल है एवं परिष्कृत व्यञ्जित वागनुगत उत्तराधार परिधि अवच्छिन्ना वाक् के सम्बन्ध से वक् का शिर है। पूर्वाधार मूलस्थान की प्रतिकृति है वो उत्तराधार दलस्थानलक्षण शिर की प्रतिकृति है ॥८॥

सुवपात्र से पूर्वाधार के द्वारा बहपुत्र के मूल का सम्पादन होता है एवं सुकपात्रद्वयी से उत्तराधार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। तबमूलानुगत पूर्वाधार तृप्ती इसलिए होता है कि, हृदयवच्छिन्न अनिबन्ध मनोवाक्य मूलभाग के साथ पराङ्मुखा वाक् का सम्बन्ध नहीं है। यशशिरोऽनुगत उत्तराधार मनो-व्यापारपूर्वक इसलिए होता है कि परिष्कृतव्यञ्जित निकल वाग्व्यापार शिरोभाग ही वाक्प्रयोग [शब्दप्रयोग] का आधार है। तबमूलानुगत पूर्वाधार बैठे बैठे इसलिए किया जाता है कि, हृद्य मनोमय मूल मम त्व अनिबन्ध भाव से पैठा हुआ स ही है। यशशिरोऽनुगत उत्तराधार लगे लगे इसलिए किया जाता है कि वाक्प्रयोग शिरो-भाग त्व निबन्धभाव से शरीरस्थान में लगे हुआ स ही है। इसप्रकार तृप्ती, मनोवैचारीन विष्टर, इन व्यापारों से मनोवाक् पूर्ण की अनुसूता ही प्राप्त की जाती है ॥८॥ ११ १२ १३ ॥

— न सोऽस्ति प्रत्ययो यो लोके यः शब्दानुगमावृथते ।

अनुब्रह्ममिव क्षान्तं सर्वं शब्देन भासत ॥

—अथ हरि-वाक्यपदी—

## २—अग्निसम्मारब्धजनकर्मोपपत्ति

आहवनीयाग्नि के उत्तरभूप्रदेश में बैठकर सुवपात्र से तृष्णी आहवनीयाग्नि के उत्तराग्नि-प्रदेश में मनोजुगत पूर्वाचार का सम्पादन किया जाता है। इस कर्म के अनन्तर अग्निसम्मारब्ध-कर्म होता है जो आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से सम्बन्ध रखता है। 'समानमेव सन्नानेव' इस उक्त सिद्धान्त के अनुसार मनःस्पृष्टि मी वाग्गमिता बनती हुई उभयाभिका है एवं वाक् स्पृष्टि मी मनोगमिता बनती हुई उभयाभिका है। मनोवाक् का आहवनीयाग्नि में योग करना यथारथ में मनोवाग् रूप अश्वी का ही योग करना है। लोक में रथ को समीभूत करने के लिए पहिले रथ के घुर [जुड़े] को ऊँचा कर उसे अश्व किंवा वधमयुग्म के कर्णों पर डाला जाता है, अनन्तर चर्मकन्धन से उन दोनों अश्वों की प्रीवा को रथ के घुर से हटा से बाँध दिया जाता है जिस से कि अश्वयुग्म रथघुर से घुसकून होसक्य। इसप्रकार अश्वयोग में स्कन्धप्रदेशों के साथ रथघुर का योग, तथा चर्मपाश से प्रीवाकन्धन, ये दो कर्म अपेक्षित हैं। इन्हीं दोनों कर्मों की विधि के लिए यहाँ पूर्वाचार, तथा तदनन्तर अग्निसम्मारब्धकर्म होता है। मनोजुगत पूर्वाचार वाग्गमिता नन्ता हुआ पूर्ववधनानुसार मनोवाग् रूप दोनों अश्वों का समाहक बन रहा है। पूर्वाचार करना दोनों अश्वों के साथ रथ-घुर का ही योग करना है ॥ ११ ॥

अनन्तर होने वाला अग्निसम्मारब्धकर्म चर्मपाश-कन्धन स्थानीय है। सम्मारब्धकर्म घूम-घूम कर होता है यह पद्धति में स्पष्ट किया जाचुका है। आहवनीयाग्नि की तीनों-परिधियों से सम्बन्ध रखने वाले परिधिय से संज्ञान अग्निधौ का 'इध्मसंज्ञान' नामक तृणमुहों से भस्मादि अपाकरण के द्वारा प्रस्कन्धन करना ही अग्निसम्मारब्धकर्म है। स्कन्धप्रदेश के साथ रथघुर का योग तो एक स्थान से ही होजाता है। पण्डु प्रीवा-नुगत चर्मपाश-कन्धन के लिए सारथी को अश्वों के हस्तत घूमना पड़ता है। इस परिक्रमा से ही चर्म-पाश का ठीक ठीक योग होता है। क्योंकि यह सम्मारब्धकर्म पाशकन्धन-स्थानीय है अतएव इस की इतिकर्तव्यता कन्धनानुगत अनुरूपसम्यधि प्राप्ति के लिए परिक्रमण रूप से ही पूरी की जाती है। कहा गया है कि तीन-परिधियों का प्रत्येक का तीन-तीन बार सम्मारब्ध होता है। इस त्रिस्त्रिवार विहित-सम्मारब्धकर्म में एक-एक बार तो मन्त्रप्रयोग होता है एवं दो-दो बार तृष्णी परिधिसम्मारब्ध होता है। सम्मूय ६ बार परिधि-सम्मारब्ध होजाता है। ६ संख्या त्रिहस्तोम की संज्ञादि है। यह की मूलप्रतिष्ठा अग्नितत्त्व ही माना गया है जैसा कि—अग्निरुक् वै यज्ञः [शत० ५।२।३।५] इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अग्नि-वायु-आदित्यात्मक यन्मयबल तत्त्वतः अस्मात्मात्मक ही है। अग्नि ही पञ्चदशस्तोमप्रदेश में नाभर तरलरूप में आता हुआ वायु अशाने लगता है एवं अग्नि ही एतद्विंशस्तोमप्रदेश में भुक्त होकर विस्त्रावस्था में परिणत होता हुआ 'आदित्य' कहलाने लगता है। इसी आधार पर अग्निः सर्वा वेषता [तायज्यम या ६।४।५।] यह निगम प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का अपना प्रदेश भूकेन्द्र से आरम्भ कर ६ में अहर्गण पर्यन्त व्याप्त नभ आकाशमात्मक त्रिहस्तोमप्रदेश ही है। इसी अग्निमुक्ति से तथा तत्प्रतिष्ठा रूप त्रिहस्तोम के सम्बन्ध से अग्निवक्त्र त्रिधुत [नक्षपर्षामक] मान लिया गया है। वही अग्निवक्त्रसम्पत् इस अग्निसम्मारब्ध-कर्म से अपेक्षित है। अतएव त्रिधुत रूप से ही परिधित्रयानुगत अग्निसम्मारब्धकर्म होता है ॥ १४ ॥

परिष्कन्धन अग्निसम्मारब्धन के अनन्तर स्वयं आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तृष्णी सम्मारब्धन आर किया है। रथमुग का अश्वयुग्म के स्कन्ध प्रदेश के साथ योग कराने के अनन्तर चर्मपाश से प्रीवा-

विद्वान् — से प्रमाणित है। प्रत्येक मानव व्यापार (संस्कार) में उपाधुवाक् निहित है। एवमेव प्रत्येक वाग्व्यपार (शब्दप्रयोग) में मानसस्त्रन आचार बन रहा है। इसी ज्ञानीय प्रवेन्द्र से वर्णविभागानुसृत अर्थनिष्पत्ति होती है। मन से ब्रह्मिता वाग् व्यलभ्यवाग् है, स्थितितवाक् है निरर्थकवाक् है अवाक्-क्या वाक् है। विशुद्ध मानव व्यापार में उपाधुवाक् के समन्वय से तथा विशुद्ध वाग्व्यपार में आत्मनस्त्रनस्त्रन मन के समन्वय से दोनों का समानत्व [समानचेष्टाभक्त्य] मसीमांति सिद्ध हो जाता है। इसी समानता-संपत्तिसंग्रह के लिए समानचेष्टरूप एक ही आहवनीयमणि में मनोऽनुगत पूर्वाचार की तथा वागनुगत उत्तराचार की दोनों की आहुति जाती है। यदि मनोवाक् समान है तो दोनों के लिए वो आचार क्यों किए जाते हैं? इस प्रश्न का निराकरण दोनों का स्वरूपभेद [जातिभेद] है। मन हृदयावन्निष्कृत अनिर्गत तत्त्व है तो वाक् परिष्कृतनिष्कृत निरक्त तत्त्व है। एक [मन] अनन्त है, देवप्राणानुगत है। एक [वाक्] अन्त है पितृप्राणानुगत है। इस जातिभेद से दोनों समानचेष्टानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं पूर्वापरमावागनुगत हैं। इसी नाना-सम्पत्तिसंग्रह के लिए विभिन्न स्थानानुगतिरूप उत्तर-दक्षिण प्रवेश में दो आचर गृह्णितों दी जाती हैं—“तस्माद्विदं मतस्य वाक् च समाममेव, समानेव”।

आचारद्वय से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का संक्षेप से विश्लेषण कर दिया गया। अब पूर्वोक्त सुब-सु गादि-गुह्य उपपत्तियों का एक दूसरे दृष्टिकोण से समन्वय किया जाता है। प्रत्येक वस्तु के ‘मूल-तूल’ भेद से दो विभक्त होते हैं। अनिर्गत हृदयमात्र ही मूलस्थान है निरक्त हरम् पित्रहृत् तूलस्थान है। मूल-स्थान मन-प्रधान होने से ‘हृदय’ है तूलस्थान वाक्प्रधान होने से ‘शिर’ नाम से व्यवहृत हुआ है। वही हृदयावन्निष्कृत मनोऽनुगत पूर्वाचार हृदय मन के सम्बन्ध से एवं यज्ञानिर्गत वाक्प्रधान उत्तराचार परिधि अवाक्निष्कृत वाक् के सम्बन्ध से यज्ञ का शिर है। पूर्वापर मूलस्थान की प्रति-कृति है वो उत्तराचार तूलस्थानकक्षण शिर की प्रतिकृति है ॥८॥ ।

सुबपात्र से पूर्वाचार के द्वारा यज्ञपुरुष के मूल का सम्पादन होता है एवं सुकपात्रद्वयी से उत्तराचार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। यज्ञप्राणानुगत पूर्वाचार तूष्णी इसलिए होता है कि हृदयावन्निष्कृत अनिर्गत मनोऽनुगत मूलभाग के साथ परास्त्रुता वाक् का सम्बन्ध नहीं है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराचार मनो-व्यपारपूर्वक इसलिए होता है कि, परिष्कृतनिष्कृत निरक्त वाग्व्यपार शिरोभाग ही वाक्प्रयोग [शब्दप्रयोग] का आचार है। यज्ञप्राणानुगत पूर्वाचार बैठे बैठे इसलिए किया जाता है कि, हृदय मनोमय मूल भाग एवं अनिर्गत भाग से बैठा हुआ या ही है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराचार लड़े लड़े इसलिए किया जाता है कि वाक्प्रयोग शिरो-भाग एवं निरक्तभाव से शरीरस्थिति में लड़ लड़ा या ही है। इसप्रकार तूष्णी मन्त्रेण, आसीन विष्टन, इन व्यापारों से मनोवाक् पदों की अनुकम्पता ही प्राप्त की जाती है ॥८, १ ११ १२ ॥

— न सोऽस्ति प्रत्ययो यो लोके यः शब्दानुगमावृष्टः ।

अनुविद्वामिह ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

—मतं हरि-वाक्यपदी—

# चौथे अध्याय में पाँचवाँ एवं चौथे प्रपाठक में पहिला ब्राह्मण उपक्रान्त द्विव्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण

—२—

## ३—उत्तराधारकर्मैतिकर्तव्यतोपपत्ति

दक्षिणदिशा से उत्तरदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला अतः अग्नि, तथा उत्तरदिशा से दक्षिणदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला अतः सोम दोनों का परस्पर अन्तर्भाव—सम्बन्ध होता है। अतः अग्नि अतः सोम के सम्बन्ध से अग्नि-सोममयी वस्तुादि पञ्चभूतों का प्रावृत्तभाव होता है। पञ्चभूत से ही प्राकृतिक नित्य सम्बन्धस्थिति की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। सम्बन्धस्थिति का स्वरूप—निर्माण अतः सम्बन्ध पर ही निर्भर है अतः स्वरूपाविर्भाव अतः—सोम-सम्बन्ध पर ही निर्भर है। एवं यह सम्बन्ध गतिधर्मा वायु पर ही निर्भर है। न स्वयं अग्नि में गति है न सोम में गति है। गतिधर्मा है—एकमात्र वायु। इस वायु के व्यापार से ही सूर्य से प्रकृत दक्षिणस्थ अग्नि उत्तर की ओर जाता है एवं चन्द्रमा से प्रकृत उत्तरस्थ सोम दक्षिण की ओर आता है। इसप्रकार वायु के व्यापार से ही दोनों अतः मावों का सम्बन्ध होता है एवं इसी सम्बन्ध से अग्नि-सोममयी अतः माव का बन्ध होता है। यही वायु—जिस इस प्राकृति अतः यज्ञ ( अतः अग्नि-सोम-सम्बन्ध ) का स्वरूप—सम्पादन है अतः गतिधर्मा वत्तात्मक यज्ञ से ही सम्बन्ध है। यज्ञमूर्ति वायु ही क्योंकि अतः स्वरूप का सम्पादन करते हुए अग्नि-सोम—सम्बन्ध सम्बन्धस्थिति के ( परम्पर्या ) स्वरूपावता है अतः एवं यह कर्म अतः सम्बन्ध से किंवा अतः—अग्नि-सोम-सम्बन्ध में आर्त्तिव्यय कहलाया है। अतः का सम्बन्ध कर देना ही आर्त्तिव्यय कर्म है। इसी अतः अतः सम्बन्ध से वायु अतः कहलाए हैं। आग्नेय सौम्य देवताओं का संगमनलक्षण यज्ञ करने से ही इस 'वायु' नामक प्राकृतिक अतः यज्ञ का यह कर्म याग्य कहलाया है। इसप्रकार प्राकृतिक अतः अग्नि-सोममयी आग्नेय सौम्य देवताओं का आर्त्तिव्ययकर्म अतः देवता यज्ञ वायुदेवता का ही वत्तावता है।

उत्तराधारकर्म एकप्रकार का आर्त्तिव्ययकर्म है। इसी से अग्नेय-सोम-सम्बन्ध वत्त का स्वरूप—निष्पत्ति होने वाली है। इस देवताभिधाय ( अग्नि-सोम-सम्बन्ध ) लक्षण आर्त्तिव्ययकर्म का सम्पादन यज्ञवेदी अतः यज्ञ करता है। देवता की अतः यज्ञ मनुष्यवत्त निम्नभेषि में प्रतिष्ठित है। उतः अतः यज्ञ दो महापुरुषों का सम्बन्ध एक निम्नभेषि का अतः नहीं कर सकता। यज्ञ करता है तो यह उतः ही होता है। आत्र मनुष्य अतः यज्ञ को अतः इसी होता का अनुगमन करना पड़ रहा है। उत्तराधार के द्वारा यह आत्र दोनों देवताओं का आर्त्तिव्यय करने वाला है। अपने अतः अतः यज्ञ इस अतः यज्ञ से बचने के लिए ही उत्तराधारलक्षण आर्त्तिव्ययकर्म से पहिले ही यज्ञता तथा यज्ञों को नमः एवं यज्ञस्थिति से यह प्रार्थना कर लेता है कि यज्ञ में एक मनुष्य है, निम्नभेषि में प्रतिष्ठित है आप देवता है यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इसी स्थिति में आपके संगमनरूप यज्ञ की सुभने याग्यता नहीं है। तथापि

कचन किया जाता है। इन दोनों कर्मों से अब रथ सजीभूत हो जाता है तो अनन्तर सारथी स्वस्थान में बैठ कर कशापात करता हुआ गेहि [ चक्ष चक्ष ], 'बह' [ रथ का बहान कर ] इत्यादि प्रेरणात्मक वाक्यों का प्रयोग करता है रथ चल पड़ता है। उपरिखाल होने वाला तृष्णी भाषात्मक यह त्रिकारत्मक आहवनीयाग्नि-सम्मारब्धन कशापातानुगत प्रेरणाकर्म के संग्रह के लिए ही विहित है।

पहिले पूर्वाचार, अनन्तर उत्तराचार, दोनों आचारकर्मों के मध्य में अग्निसम्मारब्धनकर्म। पूर्वाचारकर्म पुरयोगस्थानीय परिधिसम्मारब्धनकर्म चामपाशकचनस्थानी एवं आहवनीयाग्निसम्मारब्धनकर्म कशापातानुगत प्रेरणाकर्म-स्थानीय। अब इस सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न बच जाता है कि, दोनों आचारों के मध्य में अग्निसम्मारब्धनकर्म क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई भुक्ति कहती है कि, पूर्वाचार मन स्थानीय है एवं उत्तराचार वाक्स्थानीय है। दोनों स्वयं गर्भीभाव से उत्पन्न हैं तथापि स्वरूप से दोनों धृक्-पृक् हैं। इस कार्यक्य-सम्पत्ति-संग्रह के लिए ही मनीऽगत पूर्वाचार, तथा वाननुगत उत्तराचार, दोनों के मध्य में अग्निसम्मारब्धनकर्म किया जाता है। यही अग्निसम्मारब्धन-कर्म श्री सविता उपपत्ति है, जिसका ब्राह्मण की १३ १४ १५, इन तीन कश्चिकाओं से स्पष्टीकरा हुआ है ॥ १५ ॥

### पूर्वाधारकर्मसमाप्त

चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त  
तीसरा प्रपाठक समाप्त

—३—

—●—

आयामय असुरमात्र श्री आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही आगे बाहर— 'विष्णो स्थानमसि' इस मन्त्रभाग का उच्चारण विहित है। कौन कहता है कि, यह भूपदेश आसुर है ?। यह तो यन्मूर्ति विष्णु का आवास-स्थान है। वहाँ खड़े होना तो यज्ञसाधिका में ही कहा जाना है। यह वही स्थान है, जहाँ पर यह हाथ धोर इन्द्र दक्षिणस्थ आसुरप्राण का विनाश किया करते हैं। यह वही सुरचित स्थान है जहाँ पर यह हुए इन्द्र की रक्षा में देवताओं का सम्प्रसरण सम्पत्तर प्रिलाक्षी में पितर हुआ है। इस प्रकार यथात्मक, अतएव विष्णुस्य आहवनीयानिग्वाला की सीमा के साक्षिण्य स एष दक्षिणस्थ इन्द्रप्राण के समावेश स यह नियत दक्षिण भूपदेश स्वया निरुपद्रव, यज्ञिय एष यज्ञस्वरूपसम्पादक ही बन रहा है। 'इत इन्द्रो धीम्यमकृणोत्' इत्यादि मन्त्रभाग दक्षिणभूपदेश की इस महत्ता का ही समाह्वय बन रहा है ॥१॥

आहुतिमन्त्र उपरिष्ठ होगया है। अतएव आहुतिप्राहक आहवनीयानि में आहुति का उच्च दायित्व दासने के अभिप्राय से कहा जाता है कि, हे आहवनीयानि ! आप ही इस यज्ञ के होता हैं, पर्य आप ही इस यज्ञ के इत हैं। हुत आम्ब्रय्य का स्वसीमा में प्रतिष्ठित प्राणदेवताओं में आवाहन करना भी आप ही का क्रम है, आहुतिमन्त्र—मह्य क लिए युक्तीक्य देवताओं का यहाँ आवाहन करना भी आप ही का क्रम है एवं एहीतन्वाहुति-देवताओं के द्वारा यज्ञमाना मा को युक्तीक्य देवप्राणकरण स उक्त करना भी आप का ही क्रम है। आहुति देना मात्र मय क्रम आप सम्पूर्ण उत्तरायित्व आप पर निर्भर, यही निष्कर्ष है। आहुतिप्रदान करने के अनन्तर समिद्ध आहवनीयानि—'अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्यन् आदिदेवपु राजसि [श्रुक् सं० ८६०।१५] इत्यादि मन्त्रकर्णन के अनुसार प्राणरूप से इस आहुतिमन्त्र को गर्भीभूत बना कर अग्नि ही इस पृथिवीलोक से युक्तीक्य में ला बाव है। वायुपृथिवीरूप वाक् मय वयस्त्र-सीमा से सुरचित होकर ही यह आन्तप्राण ऊर्ध्वगमन करता है। साथ ही यही अग्निवत् इस यज्ञ के द्वारा वायुपृथिवी का भी स्वस्वरूप बन रहा है। आत्मा शरीर का रजक है तो शरीर आत्मा का रजक है। अग्नि आत्मा है, वायुपृथिवी शरीर है। दोनों परस्पर एक दूसरे के स्वरूपरजक बन रहे हैं। प्रत्य-आहुति अग्नि के द्वारा निर्मित पृथिवी से युक्तीक्य की ओर चली बाव,—'अयता त्वा वाया०' इत्यादि मन्त्रभाग का यही निष्कर्ष है।

सर्वान्त में—'स्यिष्टकृदे वयस्य इन्द्र आयन हविषामूत् स्याहा' इस मन्त्रशेष का उच्चारण कर स्वाहा के साथ जुड़ से उत्तरपार-आहुति की जाती है। आहुति ही जाती है—वयस आहवनीयानि में ही, तथापि सत्य है इस आहुति का युक्तीक्य की अवाप्ति। एकविंशत्तामावच्छिद्य युक्तीक्य में इन्द्र का समागम है। भूकेन्द्र से २१ पञ्चन कितव यज्ञ के अन्त में इन्द्र प्रतिष्ठित है, अतएव इन्द्र यज्ञपति कहा जाया है। यज्ञपति की तृप्ति ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति का अन्तमम द्वार है। अतएव वागुद्देश्यन कृत उत्तरपार का इन्द्र से सम्बन्ध मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त यही इन्द्र एक वृक्षे टण्डिकेण स वाक्तरव का भी समाह्वय बन रहा है। वागिन्द्रियक्षण वाक्तात्त्व (शम्पय) की मूल-प्रतिष्ठा अवापिनियुक्त आप्यादिक वायु है। 'वायु आग, शब्दस्तम्' इत्यादि प्रातिशायक-मिश्रान्त के अनुसार वायु ही शब्दात्मिक वाक् का प्रवक्तृ है।

यदि वाक् में केवल वायु का ही समावेश होना ठहरे तो पशुवाग्वाक् मानुषीवाक् में केवल अग्नि-क्षुद्राग्नि ही उत्पन्न होती। मानुषीवाक् में वयस्-शब्द-पद-वाक्यादि की भी व्यवस्थित विमर्शिता है। यह

आपके ही अनुग्रह से मैं आर्त्तिजन्यकर्म करने आ रहा हूँ । धृष्टता-निहतरनुगत इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही उत्तरपार से पहिले उद्ग-उपमूल को रण कर इनके पूर्वभाग में अश्वत्थिनिधान किया जाय है । आग्नेयप्राण देवता है एवं सौम्यप्राण पितर है । यह मैं इसी दोनों का अङ्गमन अपेक्षित है । इसी अभिप्राय से-‘नमो देवेभ्यः-[अतः] स्वधा पितृभ्यः [अतः] सोमाय’ यह कहा गया है । अश्वत्थि-पुटनिधान की इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखकर भुक्ति ने कहा है-‘तदेभ्यश्चरैवेतत्पितृभ्यश्चास्तिवम् करिष्यन् निहनुते’ ।

अपराधनिवृत्त्यनन्तर आत्मपूर्ण उद्गमार्थ को अपने दक्षिण हाथ में उठाया है। साथ ही मन्त्रशक्ति के द्वारा इस आत्म को अम्बुस्र बनाने की माफ़ता करता है । तत्पर्यय इस अस्तन्त्रमावना का नहीं है कि, यदि आहवनीय के दक्षिण भाग की ओर आग पूर्ण सुपुष्पशायी को उत्तरपार के लिए ले जाते हुए उद्ग से आन्वमात्रा भूमि पर गिर जायगी तो यह की अश्विच्छिन्ना घाघ टूट जायगी । उद्ग-सिद्ध आत्म देवस्य विधान के लिए ही नियत है । इस आत्म का कम्पित होबाना स्वपुरुष का ही कम्पित होबाना है एवं नीचे गिर जाना यक्षस्तान का ही विच्छिन्न होबाना है । साथ ही यह मूर्च्छित आत्ममात्र शतुस्मृदि का भी अरण्य बन जाता है । क्योंकि ‘यद् यक्षस्वातिरिक्तं तद् अस्म्यम्’ इस निगम के अनुसार अक्षेपयोग से बहिर्भूत यक्षिय इष्य यक्षकर्ता यक्षमान के शतु का ही पोषक माना पड़ा है । इन सब यक्षस्वरूपविघातक कम्पन निम्नप्रति, आदि दोनों से बचने के लिए अश्वत्थ को बड़ी लक्ष्मणी से ही आत्मपूर्ण सुक् को दक्षिण की ओर ले जाना चाहिए । बिनासे न तो आत्म में कम्पन ही हो, एवं न आत्ममात्रा भूमि पर ही गिरे । दक्षिणभाग असुरप्राणाकन्त है । अतएव इस आन्वरात्रा के लिए ही यह विशेष विधान हुआ है ॥ १ ॥

उत्तरपार के लिए नियत स्रग्मार्ग से अश्वत्थ को यक्षारमक आहवनीययाग्नि के दक्षिण मूलदेश की ओर जाना पड़ा है । आहवनीयाग्नि वाचात् स्वपुरुष है विष्णु है । इसका अतिक्रमण करना भी एकप्रकार की धृष्टता ही है । साथ ही यह से अपने आपको बुरक करना भी है । दक्षिणभाग अश्वत्थि है यहाँ जाना यक्षस्मन्त्र को छोड़ना है पूर्व से दक्षिण की ओर आया इसका अतिक्रमण करना है । इन दोनों दोनों से बचने के लिए-‘अक्षिप्रया विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्’ मन्त्र बोलता हुआ ही दक्षिण की ओर गमन करता है । मन्त्र का माय यही है कि, मैं अवस्था से यह का अतिक्रमण नहीं कर रहा आपेक्ष यक्षस्वरूपनिस्सीय के लिए ही मुझे आगत्या दक्षिण की ओर जाना पड़ा है ।

उत्तरभाग सौरभ्योति के सम्बन्ध से अक्षेपयोग है, एवं दक्षिणभाग असुरप्राण के सम्बन्ध से क्षामय है । क्षामय आसुर भूप्रदेश यक्षस्वरूप का विघातक है । आग उत्तरपार के लिए अश्वत्थ की आगत्या इस प्रदेश में जाना पड़ा है । इस क्षामय आसुरभाग की निवृत्ति के लिए ही बहुमतीमर्गने से क्षामासुप स्थपम्’ इस मन्त्रपक्ष का आश्रय लिया जाता है । प्रदेश क्षामय अवश्य है परन्तु यही क्षामय प्रदेश उत्तरपार के द्वारा अग्नि-सम्बन्धी वसु (सम्पत्) का प्रापक है यक्षराजक है । इस आसुरप्रदेशात्मक क्षामय भाग में नहीं जाये अश्वि आहवनीयाग्नि लक्ष्य यक्षमयक्ष की ही लुपन्ध्याय में (आश्रय में) जाये । अत्रगमन से ही यक्षसिद्धिलक्षणा सम्पत् की प्राप्ति होगी । इस कथन से असुरभाग का निराकरण करता है एवं वसुभाग का स्थापन करता है ॥ २ ॥



पूजा से आन्य-समञ्जन कराया जायगा, तो यवमान के शत्रु में भी भी का स्थापन हो जायगा। केवल यवमान ही भी संयुक्त रहे, इस उद्देश्य से केवल अहं से ही (उपभूत को अहं से समझा घृण्यस्मृतं हुए ही) समञ्जनकर्म किया जाता है ॥ ६ ॥

प्रजापति आत्मस्थानीय है एवं बहुलितय आन्यशेषां शिर स्थानीय है, इस कथन से समञ्जनकर्म की आध्यात्मिक-पञ्चानुगत उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ। अब समञ्जन-मन्त्राय क द्वारा आधिदैवकपञ्चानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण किया जाता है। "तस्यासावेयं योजुर्ह, अयेन्द्रमन्तरिक्षमुपभूत, इयमेव ध्रुवा। तद्वाऽधस्ता एवेमे सर्वे लोका प्रभवन्ति। तस्मात्तु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञ प्रभवति" (शत १।२।४।१) इत्यादि भूति के अनुसार आधिदैविक (त्रैलोक्यात्मक) प्राकृतिक अहं की दृष्टि से निदानेन अहंप्राप्त घृण्यस्थानीय है एवं प्रजापति पृथिवीस्थानीय है। अहं के द्वारा पार्थिव आश्विनस प्राणदेवताओं का, तथा घृण्यस्थानीय सौर सन्निप्र प्राणदेवताओं का ही परस्पर सम्बन्ध अप्रतिष्ठित है। इस सम्बन्ध का अप्रतिष्ठिता मध्यस्थ वह अन्तरिक्ष ही है, जिस में घृण्यस्थ तीक्ष्णरस व्याप्त रहता है।

'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत ७।५।१।३।) के अनुसार अन्तरिक्ष आश्विनस से परिपूर्ण है। इसी आश्विनस से प्रजापति पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित आश्विनज्योतिः-( रूपज्योतिः)-मय पार्थिवदेवताओं का, तथा अहंरुत घृण्यलोक में प्रतिष्ठित सवित्रज्योतिः-( स्वरज्योतिः)-मय दिव्य देवताओं का परस्पर सम्बन्ध हो रहा है। बहुलितय आन्य का प्रजापतिव्यवस्था से सम्बन्ध करना घृण्यलोकस्थ ज्योतिर्मय देवताओं का पार्थिव ज्योतिर्मय देवताओं के साथ सम्बन्ध करते हुए देवसङ्गमनलक्षण यज्ञस्वरूप का ही सम्पादन करना है। इसी आधिदैविक-उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर भूति ने कहा है- 'ते ह्येतनुभे ज्योतिषी सङ्गच्छन्ते। तस्मादेवं समनक्ति' ॥ ७ ॥

पूजाचार मन कल्पति का संग्राहक है एवं उत्तराचार वाक्सम्पत्ति का संग्राहक है। मनोऽनुगत पूजाचार तृष्णी (उपांशुरूपेण) किया जाता है एवं वागनुगत उत्तराचार मन्त्रपूर्वक (निवृत्तरूपेण) किया जाता है। तृष्णी, मन्त्रेण की उपपत्तियाँ पूर्व में बतलाई जा चुकी हैं। अब मनोऽनुगत पूजाचार से सम्बन्ध रखने वाले तृष्णीमन्त्र की एक अन्य उपपत्ति बतलाने के लिए, साथ ही प्रसङ्गोपात्त वाक्सम्पत्ति अग्निप्राण के स्वरूप-विरूपेण के लिए एक वैज्ञानिक आश्चर्य उपस्थित हो रहा है।

"मन, और वाक् दोनों में अहंभ्र' को लेकर विवाद चल पड़ा। वाक् कहने लगी-मैं बड़ी हूँ, मन कहने लगा-मैं बड़ा हूँ। वागपक्षया अपना ओष्ठस्थ स्थापित करता हुआ मन कहने लगा कि, मेरे संकल्पित-माधित-अर्था के अनुरूप ही तुम्हें चलना पड़ता है। मनोऽपक्षया अपना ओष्ठस्थ स्थापित करती हुई वाक् कहने लगी कि तब संकल्प को मैं ही वाक्स्वरूप प्रदान करती हूँ। दोनों अपने इस विवाद को लेकर प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए। प्रजापति ने मन का पक्ष ग्रहण करते हुए यही निष्पत्ति किया कि 'तुम दोनों में मन ही ओष्ठ है'। प्रजापति के इस निष्पत्ति से वाक् का दण्डन हो गया उसका अभिमान बिहीन हो गया। परिणामतः इस अपमान से क्षिप्त होन वाली वाक् ने यह कह बाला कि, हे प्रजापति! आपन मुझे मन से छोटा बतलाया है, अतएव आज से मैं आपके लिए इच्छित व्यंज्य का ग्रहण नहीं करूँगी।

विभक्तिमात्र ही वाक् का विभक्तिस्वरणलक्षण व्याकरण है एवं ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ इन्द्र ही इस व्याकरण के प्रवर्तक हैं। इसप्रकार वायुवत् इन्द्र का भी वाक्त्व में समावेश सिद्ध हो जाता है। अतएव वाक् को 'इन्द्र' माना जा सकता है। अधिदैवत में वाक् आकाश है, यही इन्द्र है। इन्द्रात्मक आकाश (वाक्) ही ब्रह्मस्वितारोक्त्य से पञ्चमहाभूतस्व में परिणित हुआ है। इन्द्र ज्योति का अधिष्ठाता है एवं ज्योति ही इन्द्र है। वाक् (शब्द) व्यापार इसी इन्द्र के द्वारा ज्योति (ज्ञान) का व्योमोक बनता है। पञ्चप्रकृति के अनुसार ओम्परब्रह्म वाक्मय है यही इन्द्र प्रतिष्ठित है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से वाक् तथा इन्द्र का अविनाभाव सिद्ध हो रहा है। इसी आधार पर—“इन्द्रो वागित्याहुः” यह नियम प्रतिष्ठित है। अतएव वागनुगत उत्तराधारद्वि-संज्ञक मन्त्र में इन्द्र को उद्देश्य मान लिया गया है ॥ ४ ॥

पूर्वाख्यान में यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वाधार इस यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय हृदय है, एवं उत्तराधार दृष्टस्थानीय शिरोभाग है। अब शेष आत्मभाग (‘ब्रह्मा’ आत्मा) से सङ्गठित मध्याह्न-शरीर) रह जाता है। विश्वप्रकार-आत्मभाग—(चक्षुः) स्व [उदरस्व] स्व से सम्पूर्ण आध्यात्मिक का पक्ष होता है एवमेव रसात्मक आत्म से परिपूर्ण भ्रूजापात्र के स्व [आत्म] से सम्पूर्ण वैष्वक् का दृष्टिकर्तृत्व पूरी होती है। इसी समानता से भ्रूजापात्र को इस यज्ञ-पुरुष का ‘आत्मा’ कहा गया है। बिना शिर के आत्मा [चक्षुः] अपूर्ण है मर्त्य है। इसी इस अपूर्णता को दूर करने के लिए ही उत्तराधारानन्दरज्जु में शेष नवे आत्म का [चक्षुः] को उपभृत् से धृक् रखते हुए भ्रूजा के साथ योग करना जाता है। उत्तराधारशेषांश शिरस्थानीय है भ्रूजा आत्मस्थानीय है। शेषांश का भ्रूजा से योग करना आत्मा [चक्षुः] में शिरोभाग स्थापित करते हुए यज्ञ-पुरुष की पूर्णता ही बनाना है।

‘यत्स्व आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छं प्रतिष्ठा’ [शत ११.११.६] इत्यादि श्रौत-स्मृत्युक्त के अनुसार चार मार्ग प्राणों से चक्षुः [मध्यज] का एक मार्गप्राण से दक्षिणहस्तपादरूप दक्षिणपक्ष का एक मार्गप्राण से वामहस्तपादरूप वामपक्ष का एवं एक मार्गप्राण से मेकद्वयमूलानुगत प्रतिष्ठात्मिक विश्वस्थि से सम्बद्ध प्रतिष्ठामाण का निर्माण होता है। इसप्रकार यज्ञपुरुष-पुरुषात्मक चित्वाणि से शिरो-विरहित शेष सम्पूर्ण शरीर की चिति होती है। इन सातों मार्ग पुच्छों [प्राणों] का उच्छ्व विह्वन होता है। सातों के मध्यन से समुद्भूत बृधिमन्वन्तोत्थ आत्म-स्थानीय सारभाग ही श्री भग्न है। यही सप्त अमृतप्राणप्लवक श्रीभाग मस्तक का स्वरूप निर्मापक बनता है। इसी श्री के सम्बन्ध से मस्तकप्रवेश शिरः कहलाया है। सम्पूर्ण शरीर में इसी श्री के सम्बन्ध से शिरोभाग ओष्ठ माना गया है। इसी आधार पर जिस लोकस्थान में जो ओष्ठ [मुखिया] होता है यही उस स्थान का शिर कहलाया है। आत्मरूप मर्त्यभाग [भ्रूजा] में इसी शिरोरूप श्रीभाग (उत्तराधार-शेषांशरूप आत्मभाग) को प्रतिष्ठित किया जाता है। यही अमञ्जन की वृद्धी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

अमञ्जनकर्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। चक्षुः को उपभृत् से धृक् रखते हुए ही नयी सुस्थित आत्म का भ्रूजा से सम्बन्ध करवाया जाय। इस प्रश्न का उत्तर उपभृत् के नैदानिक स्वरूप से सम्बन्ध रहता है। भ्रूजापात्र निदानेन यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिकृति है एवं उपभृत्पात्र निदानेन यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इस क्रिय का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। उपभृत् यजमान के शत्रु का नैदानिक स्वरूप है। ऐसी अवस्था में यदि चक्षुः के साथ उपभृत् का सम्बन्ध रखते हुए यजमानस्थानीय

पूर्वाचार मनोऽनुगत है यहाँ वाग्व्यापार प्रकृत्या अवबुद्ध है। अतएव मनोऽनुगत पूर्वाचार उपाय ही किया जाता है। न केवल मनोऽनुगत पूर्वाचार ही, अपितु यश में मिलने भी प्राजापत्य कर्म विहित है उन इसी सिद्धान्त के आधार पर उपाय ही किए जाते हैं ॥८, ९, १०, ११, १३॥

हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति के लिए वाक् क्यों, 'आहव्यासाद्' बनी, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भुति ने इसका समाधान यह किया है कि, प्रजापति के निर्णय से वाक् का गर्भपात हो गया। अपमानिता वाक् ने आवेष्ट में आकर यह निर्णय कर बताया कि, मैं प्रजापति के लिए हव्यवहन नहीं करूँगी। वाक् के गम का क्या स्वरूप, अपमान का क्या स्वरूप, इन प्रश्नों के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध ब्राम्हण अत्रिप्राण की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। श्रुत्-गम-तत्त्वं से नित्यरूप यत् लक्षण विमान प्राण से अनुपरीता 'ब्र' लक्षणा स्या-वाक् ही यच्चदावत् वाग्विषयों की बननी है। इसी वाक् से—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत ( यत् १।१।११ ) इत्यादि भौत सिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी का प्रादुर्भाव होता है। इस परमेष्ठी में उष्ण शक्ति, अनुष्णाशीत-मेघ से अग्निरा ( उष्ण ) भृगु ( शीत ) एवं अत्रि ( अनुष्णाशीत ), इन तीन 'मनोवा' नामक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। इनमें उष्ण अग्निरा वैषसृष्टि का शीत भृगु पितृसृष्टि का एवं अनुष्णाशीत अत्रि भूतसृष्टि का प्रवर्त्तिक बनता है। भूतसृष्टि घामच्छदा है, स्थाना-धरोचिनी है ( जगह रोकती है )। यह घामच्छदधम्म उसी अत्रि का धम्म है। यही वाक् का गर्भ है। इसी गर्भ से यह वाक् हृदय की ओर न आकर बहिर्मयबल की ओर अमुगत होती है।

मन-माय-वाक् मय आत्मा में मन ज्ञानात्मक बनता हुआ अघामच्छद है प्राण क्रियात्मक बनता हुआ अघामच्छद है। परन्तु वाक् अर्थात्मिका बनती हुई घामच्छदा है। अपने अर्धधम्म से वाक् में तमोगुण का प्राधान्य होता है। यह तमोभाग ही अत्रिभाग है जो कि वाक् का प्रातिस्विक धीर्म्म माना गया है। इसी अत्रिलक्षण तमोभाग के समावेश से भूतसग प्रयुक्त हुआ है। श्रुतमती स्त्री में वाग्देवेल्लक्षण इसी घामच्छद अत्रिप्राण का समावेश रहता है। अतएव श्रुतमती स्त्री 'आत्रेयी' कहलाई है। अत्रिभाग तमोगुण प्रधान है मत्तीमत्त है अतएव रत्नलला स्त्री असच्छद्रथत् असदृश्या मानी गई है। भुति कहती है कि जो आत्रेयी स्त्री का स्पर्श करता है वह पापामिभूत होजाता है। 'धम्मन शब्द प्राणीलक्षण चेतन भूतसर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है एवं 'यस्मिन् या शान्त्य प्राणलक्षण अचेतन भूतसर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है। चेतन भूत एवं अचेतन भूत भूतात्मक उभयविध घामच्छदसर्ग वाग्-गमरूप अत्रि से ही समुद्भूत है। प्रकृत में इस अत्रि-मीमांसा से यही निष्कर्ष निकलता है कि घामच्छद अत्रि के सम्बन्ध से वाक्त्व अर्धप्रधान बनता हुआ बहिर्मुख ही बन जाता है। अर्थातीत हव्यभाग की ओर इसका अनुगमन अवबद्ध होजाता है। इसी अयमात्रा से इसका आ मधम्मनुगत स्वाभाविक विघ्नस अवबद्ध हो रहा है। यही

उक्त आख्यान से मन तथा वाक् के स्वामित्व स्वस्वों का ही विच्छेदण हुआ है। प्राणवायुमिति मनोमय प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित है। यहाँ से—‘आत्माऽनुदया समेत्यवान् मनो युक्ते विवक्षवा’ इत्यादि शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार वायु के सहयोग से वर्णात्मिका (शब्दात्मिका) वैखरीवाक् का उद्गम होता है जिसके पूर्व के समिधेनी-नादान में दिङ्मायानुगत-नाद-प्रति-स्वरूप-विरक्षेपणरूपक सन्दर्भ में विस्तार से बतलाया जाना है। मानस ज्ञान ही इस वर्णावाक् का आधार बना है। मानस ज्ञान के अनुरूप ही-वर्णास्वरूप की निष्पत्ति होती है। फलतः मन इसका जनक है वाक् इसकी पुत्री है। वही कारण है कि सुषुप्त्यवस्था में जब मन विज्ञानात्मा (बुद्धि) के साथ मिला कर पुरीतवि-नष्टी, में चला जाता है तो वाग्भ्यापार अवबद्ध होता है। मन को आलम्बन बनाए बिना वाग्भ्यापार असम्भव है। उच्च मन बिना वाक् के (अनुष्टुप्-वाग्गच्छणा वैखरीवाक् के) सहयोग के बिना मी (परवाक् के सहयोग से) स्वभ्यापार (सकल्प) व्याख्यान में समर्पण होता है।

इहीं कतिपय कारणों से निश्चित है कि मन-वाक् इन दोनों में वाग्भ्यापार मन ही श्रेष्ठ तथा श्रेष्ठ है। ‘प्रजापति ने यह नियुक्त किया’ इस कथन का यही तात्पर्य है कि मन की श्रेष्ठता का कारण उसका हृदयवाचिक प्रजापत्य-धर्म ही है। परिधि हृदय, दोनों में हृदय ही परिधि का मूलाकार, एवं प्रथम प्रवर्तक है। ‘तस्मिन् ह तस्थुषु जनानि विधा ७ के अनुसार हृदयवाचिक मनोमय अन्तिष्ठप्रजापति ही वाक्मय परिधिरूपक का प्रवर्तक तथा आधार है। अनुष्टुप् वाक् का हृदय से बाहिर की ओर हो विक्षत होता है। वाक् की वहिर्गति है। फलतः हृदयवाचिक मनोमय प्रजापति को वाग्भ्यापार से कभी सम्बन्ध नहीं मिल सकता। केवल महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। हमारा जितना मी वाग्भ्यापार है वह सब केवल वाक् प्रत्यक्ष का ही उपोद्बलक है। कभी उन्मत्तता से आत्मवृत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि पराङ्मुख शब्द की अन्तर्मुख रूप प्रजापति की ओर गति ही नहीं है।

‘नेति नति’ ही उसकी वास्तविक उपनिषत् है। लोकवृत्ति से भी जो व्यक्ति अपने कर्म का वाग् के द्वारा ज्ञान करते रहते हैं निश्चय उनका कर्म आत्मसम्पत्ति से पूर्ण हो जाता है। ऐसा कर्म निर्मल है। सबका-साधक-वही कर्म माना कायगा, जो आत्मराक्ति-से युक्त रहेगा। एवं आत्मराक्ति से वही कर्म युक्त रहेगा जिसमें वाग्भ्यापार का अधिकाधिक आभाव रहेगा। वाग्भ्यापारसंकोच से मनोबल अधिकाधिक जितना ही प्रबल बनेगा कर्म में जितनी ही अधिकाधिक वलवृद्धि होगी। अतएव कर्मसिद्धि के लिए—अपने कर्म को सुदृढ़-सकल-सत्य बनाने के लिए बिना उसका ब्रह्मण किये चुपचाप ही कर्म का अनुगमन करना चाहिए। वही कर्मसिद्धि का अन्यतम द्वार है।

७ प्रजापतिविरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते—

तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थौ, ध्रुवनानि विरवा । :

—बभ्रुर्संहिता

— — — — —

इसका अपमानित होना है। अपमानलक्षणा अर्थगणिमा ही इसे प्राप्ताप्तवानुगति से वञ्चित किए हुए है।  
 'वाक् का प्रजापति की ओर अनुगमन क्यों नहीं होता' इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उत्पत्ति है ॥११॥

( उत्तराधारकर्मसमाप्त )

चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण समाप्त

द्विब्राह्मणात्मक—'आधारब्राह्मण' समाप्त

,- चौथा अध्याय समाप्त -

४

श्रीः

अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकारण्डे

पंचमोऽध्यायः

५



श्रीः

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकाण्डे

चतुर्थोऽध्याय समाप्त

४





‘ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्राचितारः इति । एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्राधितारो ये  
 ज्ञानाः । एते ह्येन तन्वते, एत एन जनयन्ति । तद् तेभ्यो निहते । तस्माद्वाह ब्राह्मणा  
 अस्य यज्ञस्य प्राधितार इति ॥ १० ॥

५-मानुषहोत्वरणाकर्म—

‘असौ मालुप’-इति तदिम मानुष होतार प्रवृत्तीति । अहोता द्वेप पुरा, अथैतर्हि  
 होता ॥ १३ ॥

६-स्वस्त्ययनजप

स प्रवृत्तो होता जपति, देवता उपधावति । यथानुष्ठया देवभ्यो हव्य वहद्, यथा न  
 ह्येव-एव देवता उपधावति ॥ १४ ॥

तत्र जपति ‘एतस्मा देव सचिस्तर्धृणात् इति तत्सवितार प्रसन्नापोपधावति । स  
 हि देवानां प्रसवितार । ‘अग्निं हात्राय’ इति । तदग्नये चैवैतद् देवेभ्यश्च निहते । यद्  
 हाग्रेऽग्निमाह-तद् अग्नये निहते । अथ यो देवानां होता-तमग्रे आह तद् देवभ्यो  
 निहते ॥ १५ ॥

‘सह पित्रा वैश्वानरया’ इति । संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः । तत्सम्य  
 स्तरायैव एतत्प्रजापतये निहते ॥ ‘अग्ने पूषन् घृहस्पते प्र च वद, प्र च यज’ इति ।  
 अनुवक्ष्यन् वा एतद् यक्ष्यन् भवति; तदेताभ्य एवैतद् देवताभ्यो निहते-‘यूपमनुभूत,  
 यूय यजत’ इति ॥ १६ ॥

‘वसूनां रातौ श्याम्, रुद्राणाम् उर्वाराम्, स्वादित्या अदितये स्यामानेहस’  
 इति । एते नै ध्रया दवा-यद् रुद्रो रुद्रा आदित्या । एतपामभिगुप्ता स्याम-इत्य  
 वैतदाह ॥ १७ ॥

‘जुष्टामघ देवेभ्यो बाधमुपासम्’ इति । जुष्टमघ देवभ्योऽनुज्याममित्यवैतदाह ।  
 तदि समृद्ध-यो जुष्ट देवभ्योऽनुप्रवत् ॥ १८ ॥

‘जुष्टां ब्रह्मभ्यः’ इति । जुष्टामघ ब्राह्मणेभ्योऽनुज्याममित्यवैतदाह । तदि समृद्ध  
 यो जुष्ट ब्राह्मणेभ्योऽनुप्रवत् ॥ १९ ॥

‘जुष्टां नराशस्त्याय’ इति । प्रजा नै नरः । तत्सवाम्य प्रजाम्य आह । तदि  
 समृद्धम् । यथ वद, यथ न, माध्वन्ववाचत्-माध्वन्ववोचद्-इत्येव विसृज्यन्ते ‘यदृष ।  
 हातृवय जिह्म चक्षु परापतत्, अग्निष्टम् पुनराभियाज्जातवद्वा विचपणि’ इति ।  
 यथा यानग्रेऽग्नीन् होत्राय प्राधृणात्-त प्राधन्वन्, एव यमस्य प्रवरणामाणि, तम  
 पुनराप्यायय-इ पर्यस्तदाह । तर्था हास्युतत्पुनराप्यायत् ॥ २० ॥

## २—होतृप्रवरणाम्

स आभाष्य-य एव देवानां होता, समेवाग्रे प्रवृत्तीति-अग्निमेव । त्वं अग्नये चैवेतत् देवेभ्यश्च निह्नुते । यदद्वाग्निं प्रवृत्तीति-त्वं अग्नये निह्नुते, अथ यो देवानां होता, तमग्रे प्रवृत्तीति, त्वं देवेभ्यो निह्नुते ॥ ४ ॥

स आह-‘अग्निर्देवो दैव्यो होता इति । अग्निर्हि देवानां होता, तस्मादाह-‘अग्निर्देवो दैव्यो होतेति । त्वं अग्नये चैवैतत् देवेभ्यश्च निह्नुते । यदद्वाग्निमह-तदग्नये निह्नुते । अथ यो देवानां होता-तमग्रे आह-त्वं देवेभ्यो निह्नुते ॥ ५ ॥

‘विद्यान्यक्तविद्यांश्चिकित्त्वान्’ इति । एष वै देवाननु विद्वान्-यदग्निः । स एना-ननु विद्वान्-यदग्निः । स एनाननु विद्वान् अनुष्ठया यजद्-इत्येवैतदाह ॥ ६ ॥

‘मनुष्यश्च भरतवत्’ इति । अनुर्वा वा अग्रे यजनेवे, यद्वनकृत्येमाः प्रजा यजन्ते, तस्मादाह-मनुष्वदिति । मनोर्यश्च-इत्यु वा आहुः, तस्माद्देवाह-मनुष्वदिति ॥ ७ ॥

मरत्ववदिति एष हि देवेभ्यो इत्थं मरति, तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुः । एष उ वा इमा प्रजा प्राच्यो भूतश्च विभक्तिं, तस्माद्देवाह-मरत्ववदिति ॥ ८ ॥

## ३—आर्येयप्रवरणाम्—

आर्येयं प्रवृत्तीति । अपिम्यश्चैवेनम्-प्रदत्तं देवेभ्यश्च निवेदयति-‘अयं महावीर्यो सो यज्ञं प्राप्नुव’ इति, तस्माद्वाग्नेयं प्रवृत्तीति ॥ ९ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृत्तीति । परस्तादि अर्वाक्ष्यं प्रजाः प्रजायन्त, ज्यायसस्तस्य उ चैवेतन्निह्नुते । इह हि-पितृताग्रे, अग्नं पुत्रः, अथ पौत्रः । तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृत्तीति ॥ १० ॥

## ४-अग्नि-ज्ञातृणां-नुग्रह-कर्म—

स आर्येयमुक्त्या आह-‘महापुत्र’ इति । महा अग्निः, तस्माद्वाह-महापुत्रवदिति । ‘आ च प्रदत्त’ इति । तस्मात्पुत्रेण देवता आबोद्धवा आह, ता त्वेवैतदाह-आ च वददिति ॥ ११ ॥

## मूलानुवाद—

पाँचवें अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण  
उपक्रान्त

### “प्रवरत्राहण”

### २१—प्रवरणकर्म

#### १—आभावणकर्म—

(अनुवाद) — (आह्वयनीयाग्नि में ब्राह्मणानुगत सूत्रप्रदर्शित पठति क्रमानुसार पूर्वाचारापरद्वय-  
सम्पादन के अनन्तर) यह (अध्यय्यु नामक अश्वत्थिक प्रवरकर्म के लिए (‘हीता’ नामक अश्वत्थिक  
क घरण के लिए, “ओ भावय” इत्यादिरूप से) आभाषण करता है। सो जो कि यह अध्यय्यु  
हाता के घरण के लिए आभाषण करता है (उस आभाषणकर्म की उत्पत्ति यही है कि),  
यह आभाषण (यज्ञत्वरूपसम्पादक होने से) यज्ञ ही है। यज्ञ का आभय लेकर (ही) मैं होता  
का घरण करूँ इसीलिए प्रवरकर्म के लिए आभाषण करता है ॥ (१) ॥

यह अध्यय्यु इष्मसम्राहनों (यज्ञियकाष्ठसम्भार के बाँचने के लृणसमूहों) को ही लेकर  
आभाषण करता है। यह अध्यय्यु यदि यज्ञ (यज्ञ का वस्तु) का न लेकर आभाषण करेगा तो  
यह निश्चयेन प्रथम तो कम्पित होजायगा अथवा तो (पतनाग्लिषण) अन्य किसी पीड़ा  
का मागी बनेगा (इसलिए इष्मसम्राहनरूप यज्ञ से सम्बन्ध करके ही आभाषण करना  
चाहिए) ॥ (२) ॥

कितने एक याज्ञिक यदि पर बिड़ बर्हि का लेकर अथवा इष्मकाष्ठ की वल्कल को इष्म में  
दृष्य कर उसे हाथ में लेकर आभाषण करत है और ऐसा करत हुए (व अपने इस बर्हि,  
अथवा इष्मवल्कल—मह्य की उत्पत्ति यह धतलात है कि) यह बर्हि, अथवा इष्मवल्कल यज्ञ का  
हा कुछ भाग (यज्ञावयव होने से यज्ञरूप ही) है। इस इस यज्ञ को आभय बना कर ही आभा-  
षण करें। (मग्यात् याज्ञवल्क्य इस सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट करत हुए कहत है कि)—  
आभाषणकर्म ऐसे (बर्हि, अथवा इष्मवल्कल लेकर) न कर। य ही यज्ञ के निश्चयन कुछ  
(भाग) है, जिन (लृणसमूहों) से काष्ठभार बाँधा जाता है जिन में अग्निसम्भागजनकर्म करत  
है। (एमी दशा में इन इष्मसम्राहनों का मह्य करने से ही) निश्चयन यज्ञ को आभय बनाकर  
आभाषण करता है (आभाषण करने न समर्थ होजाता है) अत इष्मसम्राहनों का आभय बना-

## ७-सम्पर्शनकर्म—

अथाध्वयुं चाग्नीध्रं च समृशति । मनो वा अध्वयुं वाग् होता । तन्मनस्त्वेतत्  
धर्चं च सन्दधाति ॥२१॥

तत्र जपति—‘षण् मोर्धोरइसस्यान्तु—अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वायश्च  
अहश्च रात्रिश्च’ इति । एता मा देवता आर्चर्गोपायन्तु—इत्येगैतदह । तस्यो हि न हसा  
स्ति—यमेता देवता आर्चर्गोपाययु ॥२२॥

## ८-उपावर्तनकर्म—

अथ होतृपदनमुपावर्तते । स होतृपदनादेकं तृणं निरस्यति—निरस्ताः परावसु’  
इति । परावसुर्ह वै नामासुराणां होता, स तमेगैतत् होतृपदनाद् निरस्यति ॥२३॥

अथ होतृपदन उपविशति ‘इदमहमर्षावसो सद्ने सीदामि’ इति । अर्वावसुर्ह  
नाम देवानां होता, तस्यैगैतत् सद्ने सीदति ॥२४॥

तत्र जपति—‘विश्वकर्म्मस्तनूपा अस्ति । मा मोदोषिष्टम्, मा मा हिंसिष्टम्,  
एष वां लोकाः’ इति । उदङ् एवाति । अन्तरा वा एतत्—आहवनीयं च गार्हपत्यं चास्त्ये ।  
तद् वास्यां निह्नुते—मा—मोदोषिष्टम्—मा मा हिंसिष्टम्—इति । तथा हैनमेतौ न हिस्त ॥२५॥

## ९-अग्नीक्ष्णकर्म—

अचामिमीक्ष्माणां जपति—विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह होता वृता मनवै यन्नि-  
ष्य । प्र मे मृत मागधेयं यथा वो येन यथा इष्यमा वो बहानि’ ( श्रु० सं० १०  
५२ १ ) इति । यथा वेम्य पक्क स्यात् तान् मृयात्,—‘अनु मा शास्त—यथा वः  
आहरिष्यामि, यथा वः परिधेस्यामि’ इति । एवमेगैतत् देवेषु प्रशासनमिच्छते—  
अनु मा शास्त,—यथा वोनुष्ठया वयद् कुर्याम्, अनुष्ठया इष्यं इहेयम् इति ।  
तस्माद्देव जपति ॥२६॥

इति—प्रथमकारण्डे पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण

चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण

उपरतम्

प्रवरब्राह्मणात्मकम्

(भाग के मन्त्रभाग है) - 'देवान् यदग्निर्वाचिकिन्वान्' (हे अग्ने ! अपने हाँवकर्म के प्रभाव से-आप्त दिव्य प्राणवैश्वताभा को महीर्भौति पहिचानते हैं इसी स्वरूपज्ञान के आधार पर आप वृक्षार्थों का यजन करने में समर्थ हुए हैं।) य निश्चयन दिव्यप्राण वृक्षार्थों के ज्ञाता हैं, जो कि अग्नि हैं। व अग्नि इन दिव्य-वृक्षार्थों को जानते हुए इनका यथाविधि यजन करें (मन्त्रभाग से) यही कहा गया है ॥६॥

(भाग के मन्त्रभाग है) - 'मनुष्वदुमरतवत्' (हे अग्ने ! मनु की भाँति तथा भरत की भाँति अपने हाँवकर्म से हमारे इस यज्ञ की सुमन्त्रर्ष बनाइए)। मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ के द्वारा (दिव्यप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ) यजन किया था। उस मानवयज्ञ को आधार बनाकर (अनुकरण कर के) ही ये (वत्तमान) प्रजाएँ यज्ञानुष्ठान करती हैं। इसी अभिप्राय से 'मनुष्वत्' कहा है। अपिच (यज्ञसम्प्रदाय में यज्ञ के लिए यज्ञवत्ता) 'यह मनु का यज्ञ है' यह कहा करते हैं। इस अभिप्राय से भी 'मनुष्वत्' यह कहा गया है। (वात्सव्य यही हुआ कि, यह यज्ञ मनुकृत यज्ञ की प्रतिकृति है इस अभिप्राय से तथा यह यज्ञ उस प्रसिद्ध मनुर्षेय की भाँति महत्त्वपूर्ण है, इस अभिप्राय से 'मनुष्वत्' कहना सुमन्त्रर्ष वन जाता है) ॥७॥

(ऊँ के मन्त्रभाग में) 'मरतवत्' यह पठित है। (इसका वात्सव्य यही है कि) यह (अग्नि) हा (दिव्यलोकस्थ प्राणार्त्तक) वृक्षार्थों के लिए (भूलोक से) दिव्य लंजाते हैं। इसी दिव्य-धारण धर्म से (अग्नि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग) 'यह अग्नि भरत है' यह कहा करते हैं। अपिच यही (प्राणविष अग्नि) प्रोणरूप में परिणत होकर इन पार्थिव प्रजाओं को भरण-पोषण करता है, इसलिये भी 'मरतवत्' यह कहा गया है। (वात्सव्य यही है कि वृक्षार्थों के लिए हविर्वहन करने से भी ये अग्नि 'मरत' हैं, एवं मानवप्रजाधर्म का प्राणरूप से भरण-पोषण करने से 'कहना अन्यर्थ बनता है) ॥८॥

### ३-आर्षेयप्रवरण (यजमानवरण)

[ दिव्यहोतृप्रवरणात्मक होतृप्रवरणकर्म के ] अनन्तर वह अश्वय्यु [अपिषरापरम्परा से सम्बन्ध रखने वाले अपिषराज अतप्य] 'आर्षेय' [अपिषरासम्बन्धी उस यजमान] का वरण करता है। [अर्थात् देवहोतृवरणानन्तर अपिषराज मनुष्य यजमान का वरण करता है]। मनुष्य-यजमानप्रवरणरूप आर्षेयप्रवरणकर्म से। वह अश्वय्यु अपिषरा तथा वृक्षार्थों के प्रति ही इस [यजमान] को निवेदित करता है कि [वात्सव्य में] यह [यजमान] वृक्ष पुरुषार्थी है, जो कि यज्ञ को [यज्ञसम्पादन के लिए] प्राप्त [प्रवृत्त] हुआ है। इसी प्रयोजन के लिए आर्षेयवरण [यजमान-वरण] करता है ॥९॥

कर ही आभाषण करना चाहिए। (तात्पर्य्य यही है कि, जो प्रयोजन बहिः, जैविकी इन्धन-प्रणाली का है, वह प्रयोजन जब इन्धनसम्पन्नता से गतार्थ होजाता है साथ ही इन्धनसम्पन्नता प्रणाली जब पद्धति से अनुगृहीत है तो ऐसी दशा में इन्धनसम्पन्नता को आभय न बनाकर बहिः, जैविकी इन्धनसम्पन्नता को आभय बना कर आभाषण करने की व्यर्थ, तथा पद्धतिविरुद्ध है) ॥(३)॥

२—विष्य होता (प्राग्भावि) का वरण—

(इसप्रकार इन्धनसम्पन्नता का ग्रहण कर 'आग्नि' इस रूप से) वह अन्धकार आभ-  
षण कर (अनन्तर) जो कि देवताओं (प्राग्भाविताओं) का होता है, सबसे पहिले उसी अग्नि का वरण करता है। (सर्वप्रथम 'अग्नि' नामक विष्य हाता का वरण करता हुआ वह अन्धकार) अपने इस अग्निवरणकर्म से अग्नि के लिए, एवं देवताओं के लिए ही (अपने आपका) निष्काम (अपराध के लिए क्षमायाचना) करता है। जो कि सर्वप्रथम अग्नि को अपना सत्य बनाता है (अग्नि का वरण करता है), इससे (तो) अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है, एवं जो देवताओं का होता है उसे सर्वप्रथम अपना सत्य बनाता है, इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि जिस विष्य अग्नि का अन्धकार सर्वप्रथम वरण करता है, वह स्वस्वरूप से अग्नि है, एवं विष्य देवताओं का होता बनता हुआ सबदेवताओं भी है। इसके वरण से अग्नि का प्रातिस्विक अग्निस्वरूप से भी निष्काम होजाता है, एवं होदरूप से सबदेवतास्वरूप से भी निष्काम होजाता है। इसप्रकार एक ही अग्नि के वरण से अग्नि, तथा देवता दोनों से निष्काम होजाता है) ॥(४)॥

(उपपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाते हैं)—वह अन्धकार—“अग्निर्देवा दैव्यो होता” (हे अग्ने! आप देवता—युक्तोक्त विषय तत्त्व—है साथ ही आप विष्य देवताओं के विषय सम्बन्धितरूप के होता है) यह मन्त्र बोलता है। अग्निदेवता निश्चयन 'होता' है, इसीलिए 'अग्निर्देवो दैव्यो होता' यह कहा गया है। इस (मन्त्रभाषा) से अग्नि के प्रति तथा देवता के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्वप्रथम अग्नि का वरण करता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है एवं जो देवताओं का होता है, उसके सबप्रथम वरण से देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥(५)॥

३ 'अग्निर्देवो दैव्यो हाता देवान् पृथिवीद्वारिचकिञ्चान् मनुष्यभरतवत्'

—इति निगमनम् ।

अस्य यज्ञस्य प्रावितार' इस मन्त्र से अश्विगृह्णाद्यणों के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है।

५—मानुष होता का वरण—

[अनन्तर]—‘असौ मानुष’ इस मन्त्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है। इस वरणकर्म से पहिले पहिले अवतक यह [आज होतृत्वेन भूत यह मनुष्य] अहोवा ही था आज एक मन्त्रपाठरूप वरण से ही यह होता बना है ॥ [१३] ॥

६—स्वस्त्ययनजप—

[अश्वयु के द्वारा होने वाले ‘असौ मानुष’ इस मन्त्रपाठरूप वरणकर्म से होतृत्वेन प्रवृत्त यह होता [वरणकर्मनन्तर स्वस्त्ययनलक्षण मन्त्रों का] जप [उत्तरायणलक्षण पारायण] करता है। [इस जपकर्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है। जिसप्रकार आश्रयकर्मकाल में वपट्कर्त्तव्यप्राणदेवता को लक्ष्य बना कर यथाविधि उनके लिए वपट्कर करने में समर्थ होसके देवताओं के लिए यथाविधि हव्य-वहन करने में समर्थ होसके कोई काम पदति के विरुद्ध न होजाय इसी प्रयोजन के लिए जप के द्वारा यह होता देवता का आश्रय लेता है। [वात्सर्प्य यही है कि अपने होतृकर्म को निर्विघ्न-स्वतिभाषपूर्वक पूरा करने के लिए जप के द्वारा देव-व्रक्ष प्राप्त करना ही स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति है] ॥ [१४] ॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पदति बतलाते हैं—यह होता वहाँ [उस प्रक्रान्त वरणकर्मकाल में निम्न लिखित मन्त्र का] जप करता है—“एतन्मा देव सवितवृषते” [हे सविता देवते। मुझ मानुष होता के वरणव्याज से अश्वयुलोग आप ही का वरण कर रहे हैं]। इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन करता है—अग्निमुख होता है। वही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञात्मक कर्म का] प्रेरयिता है। [वात्सर्प्य यही है कि अश्वयु ने जो मेरा वरण किया है उसका उत्तरदायित्व उस प्राणात्मक सविता देवता पर ही है, जिसके अनुमति से मैं आपसे होतृकर्म में सफल बन सकूँगा]। [आगे का मन्त्र माग है]—“अग्नि नेत्राय” [अश्वयु लोग होतृकर्म के लिए अग्नि का ही वरण करते हैं]। इस मन्त्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्वप्रथम यह अग्नि को होतृकर्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। एवं साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥ [१५] ॥

पर (पूर्वपीढ़ी) से अघर (उत्तरपीढ़ी) की ओर आर्षेय का वरण करता है। (अर्थात् पूर्व-पीढ़ी से आरम्भकर उत्तर पीढ़ी पर्यन्त व्याप्त सज्जमान के वंशजों का असुरोगान करता है)। (पर से अघर की ओर प्रवरण करने का कारण यही है कि,—पर से अघर की ओर ही सन्तानक्रम चलता है। (इसप्रकार परपुरुषों से अघरपुरुष पर्यन्त नामग्रहण) द्वारा (वह अप्व्ययुः) उन वंशजों के प्रति किए गए (सज्जमान के) अपराध का ही शमन करता है। यह लोकप्रसिद्ध है—कि, (वंश-सूत्र में) पहिले पिता (का स्थान) है अनन्तर पुत्र (का स्थान) है अनन्तर पौत्र (का स्थान) है। इसीलिए (स्वामाधिक प्राकृतिक सन्तानक्रम के आधार पर ही) पर से अघर की ओर वरण करता है ॥ (१) ॥

४—अग्नि, तथा ब्राह्मणों की अनुग्रहप्राप्ति—

(इसप्रकार सज्जमान-सम्बन्धी वंशजों के नामोस्तेकात्मक) आर्षेय का उच्चारण करने के अनन्तर वह अप्व्ययुः “ब्रह्मयवत्” (ह अग्ने! आप प्रतिष्ठस्मक ब्रह्म से समतुलित हैं) वह मन्त्रभाग बोलता है। (यह की मूलप्रतिष्ठा होने से) यह अग्नि “ब्रह्म” है। [किंवा इस यज्ञकर्म में प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म निश्चयेन अग्नि है।] इसी अभिप्राय से ब्रह्मयवत् कहा है। [आगे का मन्त्रभाग है]—“आ च वचत्” [येसे ब्रह्मलक्षण है अग्ने! आप सक्रिय देवताओं का आह्वान करने वाले हैं]। जिन देवताओं को इस अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में बुलाने के लिए कहा गया है प्रत्येक—“आ च वचत्” इस मन्त्रभाग से उन्हीं की ओर सङ्केत हुआ है ॥ [११] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—“ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः” [ये ब्राह्मण-अस्त्विक इस यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हैं]। ये ब्राह्मण निश्चयेन यज्ञ के सञ्चालक तथा रक्षक हैं जो-कि त्रयीविधा का ग्रह, शुश्रू, एवं स्तोत्र रूप से अनुपपन्न करने वाले हैं, ये ही अस्त्विक ब्राह्मण इस यज्ञ को [तेजाम्भिरूप से] विवर्त करते हैं, ये ही अनुष्ठान ब्राह्मण (आहुति के द्वारा) इस यज्ञ (उच्चारितारूप देवता) को उत्पन्न करते हैं, (ये ब्राह्मणा इत्यादि मन्त्राच्चारण के द्वारा) इन्हीं अनुष्ठान अस्त्विक ब्राह्मणों के प्रति [अज्ञानतावशा] किए गए अपराध का शमन करता है। इसी अभिप्राय से “ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः” यह कहा गया है ॥ [१२] ॥

[इसप्रकार ‘अमुवदमुवत्’ रूप से पहले अप्व्ययुः आर्षेय वरण करता है, अनन्तर ‘ब्रह्मयवदाच वचत्’ रूप से अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है अनन्तर—‘ब्राह्मणा

• “अमुवदमुवत्” इति ।



अस्य यज्ञस्य प्रावितार' इस मन्त्र से ऋत्विगात्मिकाओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है] ।

५—मानुष होता का वरण—

[अनन्तर]—‘असौ मानुष’ इस मन्त्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है । इस वरणकर्म से पहिले पहिले अवतक] यह [आज होतृत्वेन धृत यह मनुष्य] अहोवा ही था आज उक्त मन्त्रपाठरूप वरण से ही यह होता बना है ॥ [१३] ॥

६—स्वस्त्ययनजप—

[अध्वर्यु के द्वारा होने वाले ‘असौ मानुष’ इस मन्त्रपाठात्मक वरणकर्म से होतृत्वेन ] प्रवृत्त यह होता [ वरणकर्मोन्तर स्वस्त्ययनसंज्ञा मन्त्रों का ] जप [ उरुचरणलक्षण पाठयण ] करता है । [इस जपकर्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है । जिसप्रकार याग्यकर्मकाल में उपदृक्त्तान्यप्राणदेवता को लक्ष्य बना कर यथाविधि उनके लिए वपद्वार करने में समर्थ होसके देवताओं के लिए यथाविधि हव्य-वहन करने में समर्थ होसके, कोई क्रम पद्धति के विरुद्ध न होजाय इसी प्रयोजन के लिए जप के द्वारा यह होता देवता का आश्रय लेता है । [वास्तव्य्य यही है कि अपने होत्रकर्म को निर्विघ्न-स्वविभावपूर्वक पूरा करने के लिए जप के द्वारा वेन-व्रत प्राप्त करना ही स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति है] ॥ [१४] ॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं—यह होता वहाँ [उस प्रकान्त वरणकर्मकाल में निम्न लिखित मन्त्र का] जप करता है—“एतन्ना देव सवितवृक्षते” [ हे सविता देवते ! मुझ मानुष होता के वरणव्याज से अध्वर्यु खोग आप ही का वरण कर रहे हैं] । इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन करता है—अभिमुख होता है । यही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञात्मक कर्म का] प्रेरिता है । [वास्तव्य्य यही है कि अध्वर्यु ने जो मेरा वरण किया है उसका उत्तरदायित्व उस प्राण्यत्मक सविता देवता पर ही है जिसके अनुग्रह से मैं अपने होत्रकर्म में सफल बन सकूँगा] । [आगे का मन्त्र भाग है]—“अग्नि नोप्राय” [अध्वर्यु खोग होत्रकर्म के लिए अग्नि का ही वरण करते हैं] । इस मन्त्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है । जो कि सर्वप्रथम यह अग्नि को होत्रकर्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है । एवं साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है, इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥ [१५] ॥

आगे का मन्त्रभाग है) — 'सह पित्रा वैश्वानरेण' (ने अश्विक् पित्रा वैश्वानर स मुख अग्नि का वरण करते हैं) पित्रा वैश्वानर निम्नयेन ( सवनयत्रयात्मक यज्ञमूर्ति ) सम्प्रत्सर है, जो कि (सम्प्रत्सर) प्रजापति है। अतः ('सह पित्रा वैश्वानरेण' इस मन्त्ररूप के द्वारा) यह होता सम्प्रत्सरप्रजापति के प्रति किए गए अग्रप्राथम्य का ही शमन करता है। ( आगे का मन्त्रभाग है) — 'आने पुपन् वृहस्पते प्र च अह, प्र च सव' (हे आने । हे पुपन् । हे वृहस्पते । आप ही पृथ चन कीजिए, आप ही सजन कीजिए) । यह होता 'अनुवाक्या' नामक शब्दांशों का उच्चारण करण एवं इस अनुवचनकर्मपूर्वक 'याज्या' नामक शब्दांशों से वेषताओं का सजन करेगा। जिन वेष-ताओं के लिए यह अनुवचन, तथा यजन करने वाला है, एक मन्त्ररूप के द्वारा) यह होता इन वेषताओं के प्रति किए गए अग्रप्राथम्य का ही शमन करता है। ( मन्त्रद्वारा अपना उत्तरवाक्यत्व इटता हुआ यही भाव व्यक्त कर रहा है कि) हे वेषताओं । आप ही अनुवचन कीजिए एवं आप-ही यज्या कीजिए। (अर्थात् मैं अनुवचन सजन नहीं कर रहा अपितु वेषता ही यह कर्म शुरू से करवा रहे हैं) ॥ (१६) ॥

( आगे का मन्त्रभाग है ) — 'वह्नां रातो स्याम, रुद्राबाधुर्वापां स्वास्तिया अदितये स्यामनेहस' ( हम इस स्वस्त्यमनःपुण्यलक्षण कर्म से वसुदेवताओं की सम्पत्ति में प्रतिष्ठित हो आदिश्वदेवता हमारे लिए सुप्रतिष्ठितकृत् तर्तु विवेकात्मकता अत्रिति के लिए हम विशेष करें रहें ) । निम्नयेन (सम्प्रत्सर-त्रिस्तोत्री में) ओ धीव ही (मुक्ता अतिष्ठता) देव है, जो कि वसु-रुद्र आदित्य (जन्म से प्रतिष्ठित) हैं । 'हम (यज्ञद्वारा सम्प्रत्सर-सम्पत्ति को प्राप्त करते हुए) यही धीवों की रक्षा में प्रतिष्ठित रहें' मन्त्र से यही कहा गया है ॥ (१७) ॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — 'अष्टामय देवेभ्यो वाचमुवाचसम्' (हम इस यज्ञकर्म से दन-वाओं के लिए उनके लिए सेवनीय-अनुकूल-वाक् का प्रयोग करें) आज हम वेषताओं के लिए शोभनपाणी प्रोक्षने में असमर्थ हो मन्त्र से यही कहा गया है । यही [यज्ञ के लिए] समृद्ध [समृद्धिप्राप्ति का कारण] है, जो कि वेषताओं के लिए [ होता ] रोमान-मित्र-शस्त्री का उच्चारण करता है ॥ (१८) ॥

(आगे का मन्त्रभाग है) — 'सुष्टां प्रहस्य' [यज्ञ में उपस्थित अश्विजादि प्राणपुंगव के लिए मैं प्रियपाणी का प्रयोग करें] । 'मैं प्राणियों के लिए शान्ता अनुद्वेगकरी मित्रभाष्य का प्रयोग करूँ मन्त्र से यही कहा गया है । यही समृद्ध है जो कि प्राणियों के लिए प्रियपाणी प्राणता है ॥ (१९) ॥

[भागो का मन्त्रभाग है]—“जुष्टां नराशासाय” [यह में दशकरूपेण उपस्थित होकर वि-  
जाति प्रजाका के लिए मैं प्रिय माणी माँ हूँ] । नर निम्नरेण प्रजा है । मन्त्रभागा से सर्वसाधारण  
सर्वप्रजा के लिए [प्रिय माया करने के लिए ही] कहा गया है । यही समूह है, [जिस कर्म  
को लक्ष्य बनाकर] जो इस कर्म को ज्ञानता [वेदता] है जो जहाँ जानता [वेदता] है सभी प्रजा  
साधक है, वही साधक है, इस प्रियमाया का प्रयोग किया करते हैं । [सभी जिस कर्म की  
प्रशंसा करें, वही कर्म वास्तव में समूह माना जाता है, वही ज्ञातव्य है] । [सर्वान् म निम्न  
विक्षिप्त आत्मन्त्र का जप करता है]—

“यद्य होतुर्वये जिह्वा चक्षु परावृत ।

अग्निष्टत् पुनराग्निप्राज्ञावेदा विचर्षणि ॥”

“आज इस होतुर्वयकर्म में जिस किसी की भी कुटिल दृष्टि पड़ गई है—[जिस कुटिल  
दृष्टि से होतुर्वय का स्वरूप विकृत हो गया है]—जातवशा विचर्षणि अग्निदेवता उस का पुन  
रन्वान कर दें । [मन्त्रतात्पर्य का धारण करती हुई मति कहती है] जिसप्रकार जिह्वा [विज्ञ  
आप्य-नामक] अग्निबों का पहिले प्रण किया था, व [अभ से] प्रकाशित होगा ये, इसीप्रकार  
इस होतुर्वयकर्म में मेरा जो कुछ [यहसम्पदभाग कुटिलदृष्टि निकले स] प्रकाशित होगया है  
अग्ने ! आप उस की पुन चतिपूर्ति कर दिजिये, मन्त्र के द्वारा वही कहा गया है । इसप्रकार  
सत्यमात्रात्मक उक्त मन्त्रप्रयोग के द्वारा अवश्यमेव इस का वह कृतभाग पुनः आप्ययित होजाता  
है ॥ [२०] ॥

७ सम्मेशन (स्पर्श) कर्म—

[उक्त मन्त्र-परम्पराजप के अनन्तर वह होता अप्यव्यु तथा आग्नीध्र का स्पर्श करता है ।  
अप्यव्यु [निशानेन] मन है एवं होता [निशानेन] वाक् है । [आग्नीध्र जिवानेन प्राणात्मक है] ।  
ऐसी स्थिति में वाग्रूप अश्वसु तथा प्राणरूप आग्नीध्र का स्पर्श करवा हुआ पुन, वही वाक् [प्राण-  
का भी] का परस्पर सम्बन्ध [मेल] करता है ॥ [२१] ॥

[मनः प्राण-वाक्-संभानात्मक स्पर्शकर्मनन्तर वह होता पुन अन्वारब्ध] जपकर्म का  
अनुगमन करता है । [जपमन्त्र है] ‘पयमोर्वीर्यस्यान्तु अग्निध, पृथिवी च, आपध, वाज-  
ध अहध, रात्रिध’ [अग्नि पृथिवी जल अम दिन रात महज्वराक्षी य ६ आ द्यता  
मेरी दुरिष्ठभाष से रक्षा करें] । ये ६ आ द्यता आपत्तियों से मरी रक्षा करें मन्त्रभाग से यही  
कहा गया है । उस व्यक्ति के लिए आपत्ति की अशुभाय भी आशङ्का नहीं है किन्तु श्री य अन्त्यादि  
६ आ द्यता आपत्तियों से रक्षा करते रहते हैं ॥ [२२] ॥

## ८—उपोवर्चनकर्म—

[यह मन्त्रजपानन्तर उपस्थान से] वह होता होतृपवन [स्वस्थान] की ओर लौट आता है। यहाँ ओकर होतृपवन से एक वर्मतृण लेकर—“निरस्त परावसु” (परावसु नामक असुर यह से निकल गया) यह मन्त्र बोलता हुआ [उस तृण को वक्षिण की ओर] फेंक देता है। परावसु नामक [असुरवंशज व्यक्ति] असुरों का ‘होता’ था। [तृणनिरसनव्याज से] वह होता इसे ही होतृपवन से बाहिर निकलता है ॥ [२३] ॥

तृणनिरसनानन्तर वह होता होतृपवनस्थान में—“इदमहमर्वावसो सद्गने सीदामि” [मैं अर्वावसु के स्थान में बैठता हूँ] यह मन्त्र बोलता हुआ बैठता है। अर्वावसु नामक [देववंशज व्यक्ति] देवताका का ‘होता’ था। [आज] होता वसी के स्थान में बैठता है ॥ [२४] ॥

(होतृपवन-स्थान पर बैठ कर वह होता निम्न लिखित) मन्त्र का जप करता है—  
‘विश्वकर्म्मस्तनूपा असि’ ( हे विश्वकर्म्मन्—आप शरीर की रक्षा करने वाले हैं )। अनन्तर  
‘मौमोदोपिष्टं, मा मा हिंसिष्टं एष वां लोक’ ( हे गाहपत्याग्ने !, आहवनीयाग्ने ! आप मेरे शरीर को अतिरासुरूप से तप न पहुँचाइए आप मेरी हिंसा न कीजिए, क्योंकि वह आपका लोक है। मैंने जब इसीका आश्रय लिया है, तो मला उस द्वारा मैं आप कहीं मुझे प्रास दूँगे )—  
इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ स्वस्थानरूप होतृपवनस्थान से उचर की ओर मुख करता हुआ योश सा चलाता है। इसप्रकार वह होता आहवनीय, तथा गार्ग्य वीनों के मध्यस्थान में प्रतिष्ठित है। अतः मन्त्रजप के द्वारा इन वीनों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। इससे ये वीनों इसे पीका नहीं पहुँचाते ॥ (२५) ॥

## ९—अग्निदर्शनकर्म—

(ईषदुत्तरतस्वकना) नन्तर वह होता आहवनीयाग्नि की ओर चलता हुआ निम्न-लिखित मन्त्र का जप करता है—

“विश्वेदेवाः तस्मिन् मा यथेह होता वृते मनमै यभिषय ।

प्र मे ब्रूत मागधेयं यथा वो येन पथा हव्य मा वो वहानि ॥

—श्रुत्सं १०।३२।१।

“हे विश्वेदेवा ! आप मुझे आज्ञा दीजिए कि, जिसप्रकार इस यज्ञ में होता बनता हुआ—  
होतृपवन पृत होता हुआ—यहाँ प्रतिष्ठित होकर आपका यजन करें। साथ ही मुझे इन देवभागों

को वतलाइए, जिन्हें मैं यथानियत मार्ग से आपके लिए पहुँचा सकूँ । (लोकरुद्रान्त से मन्त्र-  
तात्पर्य का समन्वय करती हुई भुवि कहती है कि, ) लोक में जिन अतिथियों के लिए पाचक  
के द्वारा पक (अन्न) होता है उस सम्पन्न होजाने पर पाचक उन भोजन करने वालों से पूँछता है  
कि, भोजन सम्पन्न है, आम्ना वीजिणः आपके लिए ले आऊँ, परोस दूँ । ठीक इसी लोकमाध्यादि  
के अनुसार यह होता (स्वप्रवृत्त इन्द्र के सम्बन्ध में इन्द्रमाहक) -- वेषवामों की (इस रूप से)  
आम्ना (ही) चाहता है कि-आम्ना वीजिणः मैं आपके लिए, यथाविधि वपदकार कर्तुं विधिपूर्वक  
इवि का वदत, कर्तुं । इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वक्ररूप से मन्त्रजप करता है । ॥२६॥

इति-स्वस्त्ययनजपः

पाँचवें अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

समाप्त

“प्रवरणब्राह्मण” अत्र उपरत

मूलानुवाद समाप्त ॥

## सूत्रानुगतेपद्धतिमगूह —

‘आहवनीयाग्नि के दक्षिण मूप्रदेश में सबे होकर आहवनीयाग्निव्यासा में समन्त्रक वांगुर्गर्त उत्तरीधर करने के अनन्तर (जुह्वस्मिन् आस्य की अग्निविष्णु धारा रूप से आहुति देने के अनन्तर) वह अश्वय्यु आहवनीय से पश्चिम भाग में छोड़ जाता है। वहाँ आकर उपसृत से अस्तस्यष्ट जुह्व के अंगपरिधे का ध्रुवापान्त्रस्य आस्य से सम्बन्ध कर देता है। वह इतिकर्तव्यता पूर्वसूत्र से (शायन) प्रतिपार्षिष्ठ हुई है। अब क्रमप्राप्त सुप्रसृतुगते अग्नि की इतिकर्तव्यता बतलाई जाती है। जुह्वस्मिन् आग्न्योप का ध्रुवास्थित आस्य के साथ समन्वय करने के अनन्तर, दूसरे रात्रियों में पूर्वाचरापान्त्रस्य की इतिकर्तव्यता समाप्त करने के अनन्तर वह अश्वय्यु उपसृत, जुह्व नाम के दोनों संध्याओं को स्वस्थान में (उनके अंग पहिले से नियत स्थान में) रक्ता देता है। इसप्रकार संध्यापान्त्रस्य के अवाप्तान् रक्तने के अनन्तर वह अश्वय्यु होता से उत्तरमार्ग के द्वारा निकल कर उत्तरजुह्व के पश्चिम भाग की ओर पूर्वोभिमुख खड़ा होकर इष्मसन्नहनों (अप बौजने के दर्मवृत्तों) को अपने हाथ में लेता हुआ—“ओ आश्वय इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है।

अपिधरासम्बन्धी अवश्य आप्येय कहलाने वाले यज्ञकर्ता यजमान के वंश का कीर्तन करने के उद्देश्य से ही ओ आश्वय मन्त्र का उच्चारण होता है। इसका तात्पर्य यही निकलता है कि, हे आग्नीध्र! अब तुम यजमान की दिव्य देवताओं के प्रति सुनवाई करो। अश्वय्यु के मुख से निकलते हुए ‘ओ आश्वय’ उचरण ‘आभाषण’ की सफलता सूचित करता हुआ आग्नीध्र नामक अग्निष्ठा अश्वय्यु से उत्तर दक्षिणाभिमुख लक्ष्य। हुआ स्पष्ट तथा इष्मसन्नहन्तव्य हाथ में लेकर बोधता है—“अस्तु औपद्”। अश्वय्यु कृत ‘ओ आश्वय’ कर्म ‘आभाषण’ कर्म है एवं आग्नीध्रकृत ‘अस्तु औपद्’ कर्म ‘प्रस्थाभाषण’ कर्म है। यह आभाषण, तथा प्रस्थाभाषण कर्म यज्ञसम्बन्ध की प्रक्रान्त रक्तने के लिए इष्मसन्नहनों को हाथ में लिए ही करना चाहिए। कितने एक याज्ञिक यज्ञसम्बन्ध की प्रक्रान्ति के लिए भक्ति पर विद्वे वसवृत्त को अथवा इष्म की वस्तुता को उभाड़ उसे हाथ में रकर आभाषण-प्रस्थाभाषण करते हैं जिस पक्ष का कि, रात्रि पर्याप्त न संपन्न किया है। इसप्रकार प्रवरणकर्म में सर्वत्र अश्वय्यु आभाषण करता है आग्नीध्र प्रस्थाभाषण करता है। कर्त्तापत्य का इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण और है कि इष्मसन्नहन्तव्य फल होतुपरण-सम्बन्धी आभाषण प्रस्थाभाषण-कर्म में ही होता है। आभाषण प्रस्थाभाषण की इसी इतिकर्तव्यता का निम्न लिखित सूत्रचतुष्टयी से स्पष्टीकरण हुआ है—

(१) — “निधायेष्वसन्नहान्यादा- यो आवये” त्याह” (क० श्रौ० सू० ३।२।३।)।

(२) — “अस्तु श्रौपहित्यग्नीत्” का० ३।२।४।।

(३) — “वेदिर्द्विर्दिग्मशकलमपिच्छियैके” (का० ३।२।५।)।

(४) — “एव सर्वत्राऽऽधुत-प्रत्याधुतेषु” (का० ३।२।६।)।

आभावरण-प्रत्याभावरण-कर्मोन्तर्गत् वह अध्वर्यु इधमसन्नहानदणों को अपने हाथ में रखता हुआ ही विव्याग्निसंज्ञक होता का अपन इस यज्ञ में “अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यच्चद्विर्द्विर्भिक्षित्वान्मनुष्वधुमरतवत्” इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता हुआ वरण करता है। इस प्रकार सबप्रथम विव्याग्नि का ही वरण किया जाता है, जिस वरणकर्म का निम्न क्षिप्ति सूत्र से स्वर्णोक्तरण हुआ है—

“अथ प्रवृषीते-ऽग्निर्देवो दैव्यो होता देवान्पदद्विर्भिक्षित्वान् मनुष्वधुमरतवत्” (का० ३।२।७।) इति ।

विव्याग्नि का इसप्रकार होतृत्वेन वरण करने के अनन्तर आर्पण-यजमान का नामग्रहण पूर्वक वरण करता है। यजमान के सम्बन्ध से ही त्रिसंस्थ ये आर्पण ‘यजमानार्पण’ कहलाए हैं। पर से इस ओर ‘गौतमवत्-मरवत्-अङ्गिरोवत्’ इत्यादि रूप से—‘करपवत् अवत्सा रवत्-नैधुववत्’ इत्यादि रूप से,—‘भृगुवत्-व्यवनवत्, अप्तवानवत्’ इत्यादि रूप से गौतम, करपव, भृगु मरद्वाजादि यजमान-गोत्रानुसार यजमान के तीनों वंशजों का निगदमन्त्रात्मकत्वेन उच्चारण करता है। अथवा यजमानकुल में जितने भी मन्त्रत्रया प्रचाराभ्यास में उपरार्पित हैं, उन सब का नाम लिया जासकता है। किसी का मन्त्रकृत एक श्रुति है यही एक प्रवर कहलाया है। किसी के दो मन्त्रकृत हैं किसी के तीन हैं किसी के चार, किसी के पाँच हैं। वे क्रमशः एकप्रवर, द्विप्रवर, त्रिप्रवर, चतुष्प्रवर, पञ्चप्रवर कहलाए हैं। जिसके जितने प्रवर हैं, उन सब का भी वरण करना पड़ान्तर है यही तात्पर्य है। दोनों पक्षों के सम्बन्ध में निष्कर्ष यही है कि आर्पण प्रवरण में—आर्पणं वृणीते यह कह कर भगवान् आपस्तम्ब ने कहा है—एकं वृणीते, द्वौ वृणीते त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते न पञ्चासिवृणीते (आप० श्रौ० २।१६।८)। यदि सूत्रगत त्रि-पक्ष को विविपरक मान लिया जाता है तो तीन का ही वरण न्यायप्राप्त होता है एवं यही कर्तव्ययन का प्रथम पक्ष है। यदि आर्पण वृणीते इसे विधि-परक माना जाता है तो सभी मन्त्र-त्रयाओं का वरण प्राप्त होजाता है, एवं यही कर्तव्ययन का उत्तरपक्ष है।

अभिषिक्त क्षत्रिय [ राजा ] अनभिषिक्त क्षत्रिय, तथा वैश्य इन दोनों में वरणकर्मानुगता इति-  
कर्त्तव्यता कुछ विशेषता रखती है। यदि अभिषिक्त क्षत्रिय यह कर रहा है तो अश्वपुं उस  
क्षत्रिय राजा के कुत्रपुरोहित के आर्य्यों का भी वरण कर सकता है, अथवा स्वयं राजा के आर्य्यों  
का भी वरण कर सकता है। यदि अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय का तथा वैश्य का यह है तो उस  
अवस्था में प्रत्येक वंश में इन के कुल-पुरोहितों के आर्य्यों का ही वरण होता है। एक पक्ष यह  
भी है कि—ब्राह्मण, अभिषिक्त क्षत्रिय राजा अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय-वैश्य सभी मनुवत  
इस निगद मन्त्र के द्वारा भी आर्य्यवरण किया जा सकता है। निम्न लिखित सूत्रपत्रक से इसी  
आर्य्य-वरणकर्म का स्पष्टीकरण हुआ है—

( १ )—‘अमुदमुव’ इति यजमानार्पेयापयाह परस्तादर्वाभ्य श्रीया’

( का० ३।२।८ ) ।

( २ )—‘यावन्तो वा मन्त्रकृत’

( का० ३।२।८ ) ।

( ३ )—‘पुरोहितर्पेया वा’

( का० ३।२।९ ) ।

( ४ )—‘क्षत्रिव-गौरययोरच नित्यम्’

( का० ३।२।१० ) ।

( ५ )—‘मनुव’ इति वा सर्वेषाम्’

( का० ३।२।१२ ) ।

ऊक्त प्रकर से आर्य्योक्त्वावरणानन्तर यह अश्वपुं ब्रह्मण्यदा च वचव् ब्राह्मणा अस्य  
यज्ञस्य प्रावितार’ इस निगदोपमन्त्र का उच्चारण करता है। अनन्तर—‘मुक्तरक्त—शर्मा  
होता मानुष’ (असौ मानुष) यह बोलता है। यह उच्चारण मानुष होता का ही वरण सम्पन्न  
है। मानुष होता का उच्चारण से नाम बोझना एक पक्ष है। धीर से (वर्षाशु रूप से) नाम उच्चारण  
करना पक्षान्तर है। इसप्रकार मानुष-होतुवरणानन्तर वह होता (मानुष होता) एतच्चा इव सवित  
वु शीते० इत्यादि [ रातपथब्राह्मणोक्त स्वस्थयनत्रय करने के अनन्तर ] अश्वपुं तथा आग्नीध्र  
दोनों के स्पर्श • प्रवेश का स्वरा करता है। स्पर्शानन्तर अश्वपुं तथा आग्नीध्र दोनों का  
स्थान बैठ जाते हैं। इसी इतिकर्त्तव्यता का उल्लेख करतेहुए सूत्रकार कहते हैं—

( १ )—‘ब्रह्मण्यदा च वचव् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारोऽसौ मानुषा’ इति

होतृनामग्रहणम्

( का० ३।२।१३ ) ।

( २ )—‘उपाशु वा’

( का० ३।२।१४ ) ।

( ३ )—‘सम्पूष्य उपविशत’

( का० ३।२।१५ ) ।

इति सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह

• ‘अंसऽश्वपुं मन्त्रारभत—पारथस्येन पाणिना आग्नीध्रमाह्वयन्

—आ आ० ए० १।१।२५।११।



## वैज्ञानिक-विवेचना —

### १—आभावणकर्मोपपत्ति —

(भाष्य)—उत्तरपार—कर्मानन्तर जुहुम्वित आत्म्यशेष का प्रवृत्तित आत्म्य से समञ्जन करमा जाता है, अनन्तर जुहु-उपपत्ति नामक दोनों सुकृपात्री को यथास्थान रूप दिया जाता है। इस कर्म के अनन्तर वरणकर्म आरम्भ होने जाता है। जिन दर्मतृणसमूहों से यज्ञिय इष्ट (काष्ठ) बंधि जाते हैं वह तृणसमष्टि 'इष्ट्य-समग्रह' नाम से व्यवहृत हुई है। इसे अपने हाथ में लेकर ही आभ्यस्यु, तथा आग्नीध्र नामक श्रुतिक आभावण-कर्म की इतिकृत व्यता पूरी करते हैं। पहले आभ्यस्यु ओ भाष्य इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है, अनन्तर आग्नीध्र अस्तु औपट् इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है, यही प्रत्याभावणानुगत आभावणकर्म की इतिकृत व्यता है जैसा कि सूत्रानुगत-यदतिप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। ब्राह्मण की १, २ १ इन तीन कथितवाक्यों में उपपत्ति-प्रदर्शनपूर्वक इस आभावणकर्म का ही प्रतिपादन हुआ है।

वरणकर्म से पहिले आभावण क्यों किया जा । है १, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है 'यह आभावण कर्म निश्चयेन यज्ञ है। वरणकर्म से इत श्रुतिबंधों के द्वारा यज्ञेतिकृत व्यता का ही सम्पादन अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में वरणकर्म एकप्रकार का यज्ञाधिकार ( यज्ञेतिकृत व्यता-निर्वाह-धिकार )—प्रदान है। इस यज्ञाधिकार-प्रदानसञ्चय वरणकर्म के उपक्रम में प्राकृतिक यज्ञ का सम्भव अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आभावणात्मक यज्ञ का वरणकर्म से पहिले अनुगमन किया जाता है। 'ओ भाष्य' इस निगदमन्त्र का तात्पर्य यही है कि जिसका आग्रह हम इस यज्ञ में वरण करना चाहते हैं उसे प्राकृतिक देवता स्वीकार करलें। इसे हम आपके यजनरूप यज्ञकर्म के लिए आज होता बना रहें' यही आभावण का निष्कर्ष है। आग्निरस पार्थिव प्राण-देवताओं का आहुति-द्रव्य के द्वारा सावित्र शुक्लोक्त्य प्राण-देवताओं के साथ अन्तर्भाव-सम्बन्धामक यजन करना ही 'यज्ञ है। आभावणकर्म से दिव्य प्राणदेवताओं की दृष्टि क्योंकि इस यज्ञकर्म की ओर हो जाती है एतावता ही देवप्राणकर्तृक रूप आभावण को यज्ञ कहा जा सकता है। इसप्रकार आभावणकर्म करना दिव्यप्राणात्मक यज्ञ का ही अनुगमन करना है। जिसकी स्वरूप-निष्पत्ति के लिए वरणकर्म अभीष्ट है, आभावणकर्म से वह लब्धीभूत बन जाता है। अतएव वरण से पहिले आभावणकर्म आवश्यक बन जाता है ॥ १ ॥

जिन दर्मतृणसमूहों से ( दर्मरज्जु से ) यज्ञिय इष्ट काष्ठ बंधि जाते हैं वे 'इष्ट्यसमग्रह ( लकड़ी बंधने की र्मरज्ज ) नाम से व्यवहृत हुए हैं। वेद पर जो तण आदि गिर पड़ते हैं उन्हें इसी दर्मरज्जु से हटाया जाता है। इन दर्मरज्जु को हाथ में लेकर ही आभ्यस्यु आभावणकर्म करता है। यह आभावणकर्म इष्ट्यसमग्रह हाथ में लेकर क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, यदि वह आभ्यस्यु यज्ञात्मक दस इष्ट्यसमग्रह को आलम्बन बनाए बिना आभावण करेगा तो इसकी अभ्याससंस्था कथित होशायगी अथवा और किसी विपत्ति का इसे सामना करना पड़ेगा ।

शुक्लोक्त्य प्राण-देवताओं का आकषणात्मक आभावण-कर्म 'यज्ञ है' जैसा कि पूर्व कथितवाक्यों में स्पष्ट किया जा चुका है। 'यज्ञात्मक आभावणकर्म यज्ञ को आलम्बन बना कर ही करना चाहिए

इस कथन से भूति इत्यसम्बन्धन को भी यथात्मक नतला रही है। तात्पर्य इस कथन का यही है कि, यत्काल आभ्यात्म-आधिभूत-आधिदैवत-भेद से तीन भागों में विभक्त है। सौरसम्बत्सरावच्छिन्न सावित्राग्नि-पारमेष्ठ्यसोमसम्बन्ध, शुक्लकोपलक्षित यज्ञ 'आधिदैविक यज्ञ' है। पार्ष्णिःसम्बत्सरावच्छिन्न आह्निरसाग्नि चाम्रसोमसम्बन्ध भूलोकोपलक्षित यज्ञ 'आधिभौतिक यज्ञ' है। एष वैरवानराग्नि तथा आभ्यसोमसम्बन्ध-शरीर यज्ञ ही-आभ्यात्मिक-यज्ञ है। आभावणकर्म शुद्धेष्टताकथक धनता हुआ आधिदैविकयज्ञ है, आभावणकर्ता अथर्वयु आभ्यात्मिक यज्ञ है। एष इहम्-सम्बन्धन निवानेन आधिभौतिक यज्ञ है। अथ ही विष्णुयज्ञसम्बन्ध पारमेष्ठ्य अपतत्त्व के उपोतिर्मय भाग से उत्पन्न होने के कारण दम साक्षात्कर्म से भी पार्ष्णि यज्ञ है। इधर 'अदृश्य पृथिवी' सिद्धान्तानुसार अपतत्त्व से उत्पन्न पार्ष्णिक यज्ञात्मक [ वैनायक ] दम का सञ्जातीय भी है।

अनन्त आभ्यात्मयज्ञ इस ओर के पार्ष्णि [ आधिभौतिक ] एवं उस ओर के निम्न [ आधिदैविक ] यज्ञ दोनों से अनुगृहीत रहता है। समीकृत इसका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। दोनों में भी पार्ष्णिशरीर प्रधाना अभ्यात्मकस्था की प्रधान प्रतिष्ठा आधिभौतिक पार्ष्णि यज्ञ ही है। इस प्रतिष्ठा के निकल जाने से ही निघनावस्था का आगमन होता है। प्रतिष्ठाविष्णुति से ही इस पर अभ्यात्म विपत्तियाँ आक्रमण करती हैं। अब पार्ष्णि यज्ञप्रतिष्ठा उन्निष्ठ हो जाती है तो केवल शुलोच्छर्करा का प्राधान्य रह जाता है। शुलोच्छर्करा का प्राधान्य ही पार्ष्णिप्रतिष्ठोन्नेद का कारण है। यक्षापुष्पौगर्भ्यन्त उभयानुग्रहप्राप्ति के लिए ही शुलोच्छ-स्थानीय आह्वनीय, तथा भूलोकस्थानीय गार्हपत्य दोनों के मध्य में लड़के होकर अप उतसर्ग [ आत्मन ] कर्म किया जाता है। जैसा कि — 'अनुपुष्य' इत्यरेणाह्वनीयज्ञ गार्हपत्यज्ञ प्राक् सिद्धयप उपसृष्टाति [ शत १।१।१।१ ] इत्यदि रूप से विस्तार से नतलाया जाना है। ठीक वही प्रयोगन यही अपेक्षित है। यदि अथर्वयु पार्ष्णि यज्ञ की आभ्यात्मन बनाए बिना शुलोच्छर्करा आधिदैविक यज्ञ-संघाट आभावणकर्म करेगा तो किशुद दिव्ययज्ञ के प्राधान्य से इसकी पार्ष्णि यज्ञप्रतिष्ठा पर आपात होगा। फलतः प्रतिष्ठाविष्णुति होनाभी अथवा तो अन्य किसी विपत्ति का अनुगमन करना पड़ेगा। इस आपाति से बचने के लिए आभावणकर्म करते समय [ आधिदैविक यज्ञसम्पत्ति-संग्रह करते समय ] पार्ष्णि प्रतिष्ठा को आत्मनन नताना आवश्यक हो जाता है। इसी उद्देश्य से इहम्सम्बन्धन को [ पार्ष्णि यज्ञ-इहम् को ] हाथ में ले कर ही आभावणकर्म किया जाता है ॥ २ ॥

इयं [ पृथिवी ] वै बहिः [ शत० ७।१।१।१।५ ] इस भूति के अनुसार आधिभौतिक यज्ञ की प्रतिष्ठा [ विधानस्थान ] पृथिवी ही है। एवं यही इस यज्ञ की वेदि है। मन्त्र यज्ञ में वा यंत्र बनाई गई है वह निदानेन पृथिवी-स्थानीय है। ओर यही इस यज्ञ की प्रतिष्ठा है। वेदि पर निष्ठ हुए दर्भगुण कोशधि-वनस्पति स्थानीय हैं जिन्हें यज्ञ-समगुह्यन की दृष्टि से वेदिरूप शरीर के साम [ आधि ] केय [ यनस्पति ] भी कहा गया है। अग्नि को प्रगल्भित करने के लिए, तथा अग्निभेदीकर्म-मण्डान के लिए वा इहम्भार ( अष्टभार ) लाया जाता है, वह निदानेन अग्नि है। 'यय यनपु मात्रो-सम्भवा मर्त्तस इन्धन' ( श्रुतं ८।१।१५ ) इत्यादि मन्त्रभूति के अनुसार यज्ञ में अग्नि गुप्त है। वही मुख्यतः अग्नि है जिसे अपतत्त्व सम्बन्ध से क्षुण्ण-मृग कहा जाता है। बहि ओर इहम्संघट रत्नी पार्ष्णि ( आधिभौतिक ) यज्ञ-यज्ञ है। आभावणकर्म में पार्ष्णि प्रतिष्ठा ही अग्निप्रोत्त है। अतएव प्रथम तो यज्ञ पर निष्ठ दर्भगुण

को लेकर ही आभावण करना चाहिए, अथवा इष्ट्यम्बगड को लेकर आभावणकर्म करना चाहिए। वेदमृण स आत्रात् रूप से एवं इष्ट्यम्बगड से परम्परया पार्थिवी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। इस उपपत्ति को आगे करते हुए किन्ते एक साम्प्रदायिक आभावणकर्म में यन्त्रिस्थित दमवृण अथवा इष्ट्यम्बगडग्रहण का समयन कर रहे हैं।

मगशान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में वेदितृण अथवा इष्ट्यम्बगड दोनों में से किसी को भी लेकर आभावणकर्म करना विज्ञान-विरुद्ध है। कारण स्पष्ट है। यह ठीक है कि, वेदितृण तथा इष्ट्यम्बगड दोनों ही पार्थिव-प्रतिष्ठात्मक हैं। परन्तु वे दोनों अन्य कर्म में विनियुक्त हैं। वेदितृण को लेना एक दृष्टि स पृथिवी की ओरपि वनस्पति को पृथिवी (वेद) से पृथक् कर उसे ऊपर बनाना है। इस के अतिरिक्त वेदितृण दमवृण सुपदा भर्ष' के अनुसार देवताओं का प्रतिष्ठात्मक आसन है। इसे उठाना आगत देवताओं की प्रतिष्ठा से विन्युत करना है। ऐसी दशा में वेदितृण-ग्रहण करना सर्वथा ही अनुचित ठहरता है। इष्ट्यम्बगड इन्वन-समिचन-कर्म के लिए नियत है। इसका मगड लेना समिचनकर्म को अपूर्ण जाना है। पलात इष्ट्यम्बगड-ग्रहण भी सर्वत्र वन जाता है। याज्ञवल्क्य उन साम्प्रदायिकों से प्रश्न करते हैं कि, जिन दमवृणों से इष्ट्यम्बगड बीजा जाता है क्या वे इष्ट्यम्बगडन याज्ञव नहीं हैं?। क्या इनमें पार्थिव-प्रतिष्ठा नहीं है?। जब कि इन दमवृणों से यज्ञात्मक इष्ट्य बीजा जाता है इन से अग्निनम्यार्जनकर्म होता है आगत मृणान्तिरमनात्मक अन्यान्य भी अनेक परिशिष्ट कर्म होते हैं तो इन की यज्ञरूपता में क्या सन्देह रह जाता है?। अतः जो इष्ट्यम्बगडनवृण ऐसे ऐसे परिशिष्ट कर्मों के लिए ही नियत हैं साथ ही वेदितृण तथा इष्ट्यम्बगड का ग्रहण अनुचित है तो प्रत्येक दशा में इष्ट्यम्बगडन-ग्रहणपूर्वक ही आभावणकर्म करना चाहिए ॥१॥

## इत्याश्रावणकम्मोपपत्ति

9

## २-दिव्याग्निप्रवरणकम्मोपपत्ति —

चतुर्थी (४) से आरम्भ कर ८ वीं कण्डिका-पर्यन्त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक, दिव्य प्राणाग्नि के वरम की उपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है। विष्णुयज्ञ में इन्द्रस्वन इत प्राणाग्नि के क्या क्या धम्म हैं?, प्रतिपाद्य उपपत्ति-प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन इष्ट्यम्बगडनलाक्षण दमवृण-समूहों से समित्य काष्ठ-सम्भार बीजा जाता है पृथक्पनानुसार उन्हें हाथ में लेकर वह अभ्यस्यु-‘ओ भाग्य इस निगममन्त्र का उच्चारण करता हुआ आभावण कर्म करता है। अभ्यस्यु क इस आभावण-कर्म के अनन्तर आग्नीध्र नामक श्रुतिक् ‘अस्तु आषट्’ इस निगममन्त्रोच्चारण से ‘प्रत्याश्रावण कर्म करता है। अभ्यस्यु कृत क इस आभावण तथा आग्नीध्रकृत क प्रत्याश्रावण-कर्म के अनन्तर अभ्यस्यु उन इष्ट्यम्बगडनवृणों को अपने हाथ में रखता हुआ ॥ — अग्निर्देवो देव्या हाना इवाम् यच्चन्द्रिहा-‘भिक्षित्वा मनुष्यैरतयन’ इस निगममन्त्र का उच्चारण करता हुआ विष्णुयज्ञ का ही अपने इस वरम यज्ञ में इन्द्रस्वन वरण करता है जो कि अभ्यस्यु कृत क कम्म हातुप्रवरणकम्म कहलाया है।

भैतिक मनु है। यही आत्मिक प्राणाग्नि के सहयोग से आधिदैविक सम्पत्तरसह के स्वरूप समर्पक बन रहे हैं। हृदयावच्छिन्न प्रज्ञाप्राणमूर्ति आत्युत्तररूपाधिष्ठाता इन्द्रप्राणत्मक मनोऽनुगृहीत प्रासुतम ही आध्यात्मिक मनु है। यही शारीर प्राणाग्नि के सहयोग से आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप-समर्पक हैं। वेध धम लोक, प्रजा नाम की सृष्टि-अनुपुयी के व्ययस्थाक आधिभूत भगवान् स्वस्म्य आधिभौतिक (ऐतिहासिक) मनु हैं [ ये ]। इन्होंने ही प्राकृतिक यज्ञ-रिपति के अनुसार सबप्रथम वैवस्व का अनुष्ठान किया है [ या ]। इसप्रकार आधिदैवत-आध्यात्म आधिभूत तीनों दृष्टियों से त्रिविध मनु ही यज्ञ के प्रवर्तक हैं। अतएव पाणि-सम्प्रदाय में यह यज्ञ मनु का है [मनोर्थाऽस्त्यु वाऽआहुः] यह प्रसिद्ध है।

विषमकार 'मनु' शब्द उभयलिङ्गामक [ नपु लिंग तथा पुल्लिङ्गामक ] है एवमेव उकारान्त 'मनु' शब्द पुल्लिङ्ग है, एवं सकरान्त 'मनु' शब्द नपु सकल्लिङ्ग है। 'मनुष्या वि रूप सन्त मनु' शब्द से सम्बन्ध रखते हैं एवं 'मानवा वि शब्द' उकारान्त सम्बन्धी हैं। प्रकृत में सन्त मनु-शब्द का ही ग्रहण हुआ है। फलतः 'मनुष्यन्' का तात्पर्य निकलता है—'मनुरिष'। विषमकार मनु ने यज्ञ किया या एवमेव यह प्राणाग्नि भी होता बन कर इस यज्ञ में देवताओं का यज्ञ करे 'मनुष्यन्' मन्त्र माग का वही एक तात्पर्य है। यदि 'मनुष्यत् का मनुरिष' विग्रह न कर 'मनोरिष' यह विग्रह किया जाता है, तो इसका तात्पर्य यह निकलता है कि जैसे मनु के यज्ञ में होता बनकर अग्निने देवताओं का यज्ञ किया था तथैव इस यज्ञ में भी वे अग्नि होता बनकर देवताओं का यज्ञ करें। 'मनुर्ह वाऽअम यज्ञेनेजे०' इससे 'मनुरिष' विग्रहानुसार प्रथमार्थ अपेक्षित है। एवं 'मनोर्यज्ञऽस्त्यु वा आहुः' इत्थे 'मनोरिष' विग्रहानुसार द्वितीयार्थ अपेक्षित है। प्रथमार्थ से आधिभौतिक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। एवं द्वितीयार्थ से आध्यात्मिक मनुर्युक्त आधिदैविक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है। हृदयावच्छिन्न उक्थभाष मनु है परिष्कृतविज्ञान अर्कभाष (ररिमभाष) प्राणाग्नि है। उक्थार्क का क्योंकि स्थानभेद से पाथक्य है अतएव मनु को पुषक् तथा अग्नि को पुषक् तत्त्व मान लिया गया है। एवं इसी दृष्टि से 'मनोरिष' का सम्बन्ध होता है। तत्त्वतः उक्थार्क अग्नि है। इस दृष्टि से उक्थ मनु और अर्क अग्नि दोनों अग्नि हैं। इसी आधार पर—'यत्तमेके यदन्त्यग्निं मनुमन्ये' \* (मनु १२।१२१) यह कहा जाता है। हृदयावच्छिन्न उक्थसहस्र मनु से पुष्क, तत्त्वरूप अतएव तत्त्वमिह अतएव तद्रूप प्राणाग्नि ही यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक है, मनुष्यन् का वही तात्पर्यार्थ है ॥ ७ ॥

मन्त्र का अन्तिम भाग 'अतएव' है। 'इति प्रवृत्ता अतः (इति उपजीवन्ति) (१५ आ० २।१२) इत्यादि ऐतरेयसूत्र के अनुसार य सोक्तामक समासप्रयोजन में प्रतिष्ठित और दिव्य देवताओं का जो प्रकृत्य भाग पार्थिव धर्म में विस्तृत [नक्ष] होता रहता है— पार्थिव आधिभौतिक नामक प्राणाग्नि के

• एतमके यदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥

इन्द्रमर्कं पर प्राणमपर प्रसयारमपतम् ॥

—मनुः

द्वारा वह विद्युत् भाग वहाँ से आकर उस विद्युत् भाग की पूर्ति किया करता है। 'इत मत् उदारुहन्, विषष्टृष्टान्यारुहन्' यामहिरमो ययुः इत्यादि मन्त्रबर्णन के अनुसार भूलोक से निकलकर प्रुलोक की ओर जाता हुआ अश्विनोऽग्नि ही देवत्व तत्पुति का कारण बनता है। 'अमुत प्रदानास्त्रीदं सर्वमुत्तिष्ठति' [ ऐ० भा २।१।२ ] के अनुसार वहाँ से [ शुलोक से ] देवप्राण का प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर आगमन भी होता रहता है, इसीसे प्रजा का स्वरूप-निर्माण होता है। एवं पूर्वकथनानुसार अश्विन के द्वारा पार्थिव प्रवर्ग्य भाग जाता भी रहता है। इसी पारस्परिक अभ्य-अभाद-लक्षण आशान प्रदान प्रक्रिया का नाम 'यज्ञ' है। इस प्राकृतिक यज्ञ में शुलाकृत्य देवताओं के लिए पार्थिव हविर्द्रव्य का लेजाना एकमात्र पार्थिव प्राणानि पर ही अवलम्बित है। इसीलिए उन्हें — 'ण्य हि वृवेध्यो हव्यं भरति' निर्वचन से 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। मृपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले हवियज्ञ [ प्राकृतिकयज्ञ ] से पार्थिव प्रजा का स्वरूप-निर्माण हुआ है। इस पार्थिव-प्रजा में भोम प्रवर्ग्य अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, जिसे 'पिप्पलातोपनिपत्' की परिमाणा में प्राणानि भी कहा जाता है। 'प्राणानय ययैतस्मिन् पुरे' [ शरीर 'जायति' ] [ प्रतोपनिपत् ४।३ ] के अनुसार अपान समान, व्यान, उदान, प्राण भेद मित्र पञ्चका विभक्त प्राणानि ही इस शरीरकृत्या [ अभ्यात्मसंस्था ] में समा जागते रहते हैं। इस प्राणानि के द्वारा ही प्रजा का मरण-पोषण होता है। जिस दिन प्राणानि शरीर से उत्क्रमन्त हो जाता है, अभादानलक्षण अहरह्येय [ सैपन्ययज्ञ ] वन्द हो जाता है तत्क्षण भूतात्मा उगक्रमन्त हो जाता है।

उक्त अभ्यात्मसंस्था की दृष्टि से भी 'यैशानर' लक्षण इस अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस युग [ देवयुग ] में इसी पृथिवी पर भोम-देवध्वरथा थी, उस युग में जैसे भोम-स्वर्ग के शवनसोपात [ अतिष्ठया अतिष्ठता ] देवता इन्द्र थे, अन्तरिक्ष के शवनसोपात् वायु थे, एवमेव स्वयम्भु मनु उमाद् से शक्ति इस पृथिवी के शवनसोपात् अग्निदेवता य। पार्थिव प्रजा से 'कर' महम कर देवताओं के प्रति उसे पहुँचाना पार्थिव प्रजा की कामदेवादि के उद्द्याग स मरण-पोषण व्यवस्था करना इसी भोम अग्निदेवता ( मनुष्यदेवता ) का अर्थ था। इस आधिभौतिक ( एतिहासिक ) दृष्टि से भी अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी मरण-पोषण धर्म से ये अग्नि भरत, किंवा 'भारत' कहलाए हैं। इसी के सम्बन्ध से यह पवित्र वृक्ष 'भारतवर्ष' कहलाया है। भिन्नभर उक्त तीनों पञ्च-संस्थाओं का उद्घाटन भरताग्नि स हुआ है, एवमय हमारे इस वैद्यक की इतिवृत्त म्मता भी उसी भरताग्नि से सम्पन्न हो इसी मानना का लिए 'भरतभरत' कहा गया है ॥ ८ ॥

इति-दिव्याग्निवरणकम्पोपपत्ति.

१

### ३—आर्षेयप्रवरणकर्मोपपत्ति —

अग्निर्वैद्यो वैद्यो होता० इत्यादि मन्त्रपाठ के द्वारा अपने इस वैद्य यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणमि भी मायना करना ही अग्नि का होशुत्वेन वरण करना है, जिस का ४ वीं से ८ वीं कथिहका पर्यन्त ५ कथिह काओं में स्वीकृत्य हुआ है। अब कर्मप्राप्त आर्षेयप्रवरणकर्म की उपपत्ति का विस्तरण करया जाता है। यज्ञकर्ता यज्ञमान के वंशगौरव का कीर्तन ही आर्षेयप्रवरणकर्म है। इस वरण से यज्ञाधिकार-सोमता का ही समर्पण हुआ है। यज्ञकर्म लौकिक कर्म नहीं है अश्वि वैदिक दिव्य-कर्म है। लौकिक कर्म का अधिकार जहाँ मनुष्यप्राप्त को है वहाँ वैदिक यज्ञ-तप-दान-कर्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजा-ति-प्रजा को ही है, जिसके धीर्म्य में जन्मत-अपिप्राण तथा वंशप्राण प्रतिष्ठित रहता है। वह वैद्य वैदिक-यज्ञकर्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर ही विरत होता है जैसा कि अनेकदा स्पष्ट किया जा चुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्बत्सरयज्ञ है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की १९ वीं कथिहका में स्पष्ट होने वाला है। सम्बत्सरयज्ञ का अद्विदिमएवला से सम्बन्ध है।

इस अद्विदिमयज्ञ के गम में त्रिवृत्तस्तोमावच्छिन्न आग्निप्रधाना पृथिवी पञ्चदशस्तोमाव-च्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान अश्वलोक ये तीनों स्तोमलोक प्रति-ष्ठित हैं जैसा कि— अद्विदिमैरद्विदितरन्तरिचमद्विदिमर्मात् स पिता स पुत्रः (ऋक् सं १।८।१।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अद्विदिमर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता वानु-प्रमुख आन्तरिक्ष ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आवित्य देवता नासत्य-इक्ष नामक २ साम्ब देवता सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं ये ही ३३ देवता अद्विदिमयज्ञ सम्बत्सरयज्ञ के स्वरूप-रत्ना-वक हैं। अतएव—‘येस्य त्रयस्य त्रिंशद्व मनोर्वैवा यज्ञियास (ऋक् सं ८।३।१२।) इत्यदि अग्नि के अनुसर ये ही देवता ‘यज्ञिय देवता’ कहलाए हैं। इस सम्बत्सरयज्ञ में प्रातःकाल मध्यह्न सायंकल, मेद से तीव्र खन हैं। वसुदेवतानुगत प्रातःकाल प्रातःसवन है, रुद्रदेवतानुगत मध्यह्न साम्बन्धिनसवन है एवं आवित्यदेवतानुगत सायंकल सायंसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण इस सवनत्रयक्रमक सम्ब-त्सर यज्ञमएवला की सीमा स बहिर्भूत है।

मानवप्रजा में से जिसके धीर्म्य में जन्मतः प्रातः-सवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, वह वयस्य ब्राह्मण है। जिसके धीर्म्य में साम्बन्धिनसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वयस्य क्षत्रिय है। एवं सायंसवनीयदेवयुक्त प्रजा वर्णात् वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजाशरी शूद्र है। क्षीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्रकृति ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, यह द्विजातिप्रजा तो यज्ञस्तोमा का अन्तर्गत है। एवं स्त्री तथा शूद्र दोनों प्रजाभाग यज्ञसीमा स बहिर्भूत है। इसी आधार पर मगधान् व्यास का—‘स्त्री-शूद्र द्विजसभूनां त्रयी न भुविगोचरा यह वैदिक विज्ञान स्थापित हुआ है। प्राकृतिक, नित्य अपोदयेय-सत्वात्मक बर की प्रतिष्ठितरूप वेदरात्रय एवं तत्ता-त्मक वेद पर प्रतिष्ठित नित्ययज्ञ की प्रतिष्ठितरूप वैदिक यज्ञकर्म दोनों का एकमान अद्विदिमनुपपत्ति का ही अधिकार कौन है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कर्मवशा बर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होता जा रहा है, तब (६ उपपञ्च-सता प्राचक्षण देवी मुनी नारदी हैं तो यह उस का अग्रोद है अनधिरारपट्टा ही नहीं है अर्थात् अनुपपत्ति

के स्थान में सधनाश का आमन्त्रण है। यज्ञकर्म में यही दीक्षित होकरता है जो धनना दिखाति है, जिस के पिता पितामह प्रपितामहादि जन्मना दिखाति हैं जिस के वीर्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोत्रसूत्रप्रवक्तृक श्रुतिप्राण का परम्परा समावेश है। ऐसा श्रुतिप्रवक्तृ, अतएव 'आर्षेय' कहलाने योग्य, देवप्राणयुक्त, वर्णानुग दिखाति ही यज्ञ में अचिकृत है। एवं हमारा प्रस्तुत 'आर्षेयप्रवरणकर्म' इसी अति भार-मर्यादा का विशेषण कर रहा है। यजमान 'अर्णत' दिखाति है इस का श्रुतिप्रवक्तृ से सम्बन्ध है यज्ञप्रवृत्ति से पहले यह स्पष्ट होना अनिवार्य है। बिना श्रुति तथा देवप्राणसम्बन्ध-ख्यापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव दिव्य इन्द्रवरणकर्म के अनन्तर, तथा मानुष होतृवरणकर्म से पूर्व यजमान के इन दोनों वर्ण वर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र ही उद्देश्य से 'आर्षेयप्रवरण' कर्म विहित है। जो महा-तुमाव शास्त्रादित्यन्तमिज्ञता से कर्मणा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एषहेत्या मनुष्यमात्र को यज्ञ का अति भारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहा है हम उनसे पूछते हैं कि, वे 'आर्षेयकर्म' में किन गोत्रश्रुतियों का उच्चारण करारेंगे? जब कि जन्मना शुद्ध श्रुतिगोत्र से सञ्चया बहिर्भूत है। उस समय वे—'श्रुतिभ्य-श्चैत्रैतमेतदेवभ्यश्च निष्कृते' इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे? यह उही वेदमन्त्रों से पूछना चाहिए।

श्रुति तथा देवप्राण दोनों का वीर्य से सम्बन्ध है न कि कर्म से। जन्मत श्रुति, एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य में ही रहना चाहिए। यही दिखाति है यही यज्ञधिकारी है। इस जन्मानुगत वीर्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है—'अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापत्'। इसी वीर्य-ख्यापनद्वारा यजमान का यज्ञधिकारत्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है। एवं यही इस कर्म की उचित उपपत्ति है—'तस्मादार्षेयं प्रवृणीते' ॥ ६ ॥

उपपत्त्यनन्तर वरण-विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सृष्टिकर्म के अनुरूप से पितामह, पिता पुत्र इन क्रम से ही श्रुतिप्रवक्तृ-परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिमर्यादा के सरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म की दृष्टि से भी 'परस्तात् अर्वाक्' ही वरण होना चाहिए। देवात्मलक्षणा दिव्यप्रबोत्पत्ति ही यज्ञकर्म का प्रधान लक्ष्य है। एवं उत्पत्ति क्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य \* सन्न्धानुबन्ध से 'पितामह पिता-पुत्र-पौत्र' यही क्रम है। अतः इस प्रबोत्पादक यज्ञकर्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहले यजमान के पितामह का अनन्तर पिता का एवं सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम-उल्लेख करना आवश्यक तथा कर्मसङ्गत है—'तस्मात् परस्तात् अर्वाक् प्रवृणीते' ॥ १० ॥

इति—आर्षेयप्रवरणकर्मोपपत्ति.

३

\*—पितामहायनुगत इस सापिण्ड्य-सम्बन्ध का सुविशद वैज्ञानिक-विध्वनन के लिए देखिए 'सप्तस्य तुष्ट्यात्मक आद्विज्ञान' ग्रन्थ का—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड।

### ३—आर्षेयप्रवरणकर्मोपपत्ति —

अग्निर्देवो देव्यो होता० इत्यादि मात्रपाठ के द्वारा अपने इस वैध यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणानि की भावना करना ही अग्नि का होतृत्वेन वरण करना है जिस का ४ थी से ८ थी करिहका पर्यन्त ५ करिह काओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमपाठ आर्षेयप्रवरणकर्म की उपपत्ति का विश्दर्शन करया जाता है। यज्ञकर्त्ता यजमान के वरागौरव का कीर्तन ही आर्षेयप्रवरणकर्म है। इस वरस से यज्ञाधिकार-भोग्यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म्ये शौकिक कर्म्य नहीं है अपितु वैदिक दिव्य-कर्म्य है। शौकिक कर्म्य का अधिकार जहाँ मनुष्यमात्र को है वहाँ वैदिक यज्ञ-उप-दान-कर्म्यत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजा-ति-प्रजा को ही है, जिसके शीर्ष्य में जन्मत आधिप्राण तथा वंशप्राण प्रतिष्ठित रहता है। यह वैध वैदिक-यज्ञकर्म्य प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर ही वित्त होता है जैसा कि अनेकदा स्पष्ट किया जा चुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्बत्सरयज्ञ है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की १९ वीं करिहका में स्पष्ट होने वाला है। सम्बत्सरयज्ञ का अदितिमण्डल से सम्बन्ध है।

इस अदितिमण्डल के गम में प्रिपूतस्तोमावच्छिन्ना अग्निप्रधाना पृथिवी पञ्चदशस्तोमव-च्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान शुक्लोक ने तीनों स्तोमस्तोक प्रति-ष्ठित हैं जैसा कि— अदितिर्यो रवितिरन्तरिक्षमदितिर्ममाता स पिता स पुत्र (श्रुक् सं १८२।१।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव = वसुदेवता, वायु प्रमुख आन्तरिक्ष ११ रुद्रदेवता इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आवित्य देवता नास्त्य-इत्य नामक २ साम्य देवता सम्भूय ३३ प्रम्यदेवता प्रतिष्ठित हैं ये ही ३३ देवता अदित्यवच्छिन्न सम्बत्सरयज्ञ के स्वरूप-सम्पा-दक हैं। अतएव—‘येस्य त्रयस्य त्रिरास्य मनोर्देवा यज्ञियात (श्रुक् सं ८५।१२।) इत्यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता ‘यज्ञिय देवता’ कहलाए हैं। इस सम्बत्सरयज्ञ में प्राप्त काष्ठ मण्डप सायंकाल मेद से तीव्र सवन हैं। वसुदेवतानुगत प्रातःकाष्ठ प्रातःसवन है रुद्रदेवतानुगत मण्डप माध्यन्दिनसवन है एवं आवित्यदेवतानुगत सायंकाल सायंसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण इस सवनत्रयसमक सम्ब-त्सर यज्ञमण्डल की सीमा स यहिभूत है।

मानवप्रजा में से जिसके शीर्ष्य में जन्मत प्रातः-सवनीय द्यता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वणत ब्राह्मण है। जिसके शीर्ष्य में माध्यन्दिनसवनीय द्यता प्रतिष्ठित रहते हैं वह वणत क्षत्रिय है। एवं सायंसवनीयदेवयुक्त प्रजा वणत वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजाराग शुद्र है। क्षीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्रकृष्टा मासल क्षत्रिय वश्य, यह द्विजानिप्रजा तो यज्ञसीमा के अन्तर्गत है। एवं स्त्री तथा शुद्र दोनों प्रजाभग यज्ञसीमा से परिभूत है। इनी अप्पार पर मगधान् व्याप्त का— स्त्री शुद्र द्विजवन्धूनां त्रयी न भुविगोचरा यद् वैशदिक विद्वान्त रथागित हुआ है। प्राकृतिक, नित्य त्रयीव्यय-सप्तम्यक वद की प्रतिवृत्तिकर बदलाव एवं तत्ता-मक वेद पर प्रतिष्ठित नित्ययज्ञ की प्रतिवृत्तिकर वैदिक यज्ञकर्म्य दोनों का एकमात्र आशय-मनुष्यता की अधिकार क्यों है? इस प्रश्न का यही वैधिय उत्तर है।

यदि काश्चित् कर्मणा वर्ज्यमान रातत हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है तबो कि उ तदु-सवा आह्वय देनी मुनी आरही है तो यह उस का आग्रह है अनधिकारपञ्चा ही नहीं है, यही अमनुष्य



के स्थान में सवनाश का आमान्त्रण है। यज्ञकर्म में वही दीक्षित होसकता है जो ब्राम्ना द्विजाति है जिस के पिता पितामह प्रपितामहादि ब्राम्ना द्विजाति हैं जिस के वीर्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोमूत्र-हेमवचक श्रुतिप्राण का परम्परया समावेश है। ऐसा श्रुतिप्राण अतएव 'आर्षेय कहलाने योग्य, देवप्राणयुक्त, वर्णतः द्विजाति ही यज्ञ में अविहृत है। एवं हमारा प्रस्तुत आर्षेयप्रवरणकर्म' इसी अधि धर-मर्यादा का विरोध कर रहा है। यजमान 'अर्थात्' द्विजाति है, इस का श्रुतिप्राण में सम्बन्ध है वरप्रवृत्ति से पहले यह स्पष्ट होना अनिवार्य है। बिना श्रुति तथा देवप्राणसम्बन्ध-स्थापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है। अतएव विव्य होतृवरणकर्म के अनन्तर, तथा मानुष होतृवरणकर्म से पूर्व यजमान के इन दोनों कर्ण धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। एकमात्र रही उद्देश्य से 'आर्षेयप्रवरण' कर्म विहित है। जो महा-तुमाव शास्त्ररक्षस्थानमिश्रता से कर्मणा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एकहीलाया मनुष्यमात्र को यज्ञ का अधि धारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहा है। हम उनसे पूछते हैं कि वे आर्षेयकर्म में किन गोत्रश्रुतियों का उच्चारण करावेंगे? यह कि ब्राम्ना शुद्ध श्रुतिगोत्र से बचया बहिर्भूत है। उस समय वे— श्रुतिभ्य-श्चैधैनमेतद्देवेभ्यश्च निह्नुते' इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे? यह उही वेदमन्त्रों से पूछना चाहिए।

श्रुति तथा देवप्राण दोनों का वीर्य से सम्बन्ध है न कि कर्म से। ब्राम्ना श्रुति, एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य में ही रहना चाहिए। वही द्विजाति है, वही यज्ञाधिकारी है। इस ब्राम्नागव वीर्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है— 'अयं महावीर्यो यो बह्व प्रापत्'। इसी वीर्य-स्थापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारत्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है। एवं यही इस कर्म की सचित उपपत्ति है—'तस्मादार्षेय प्रवृणीते ॥ १ ॥

उपपत्त्यनन्तर वरण-विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि सृष्टिकर्म के अनुरोध से पितामह, पिता पुत्र इन क्रम से ही श्रुतिवर्ण-परम्परा का उल्लेख होना चाहिए। इस सृष्टिमर्यादा के संरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म की दृष्टि से भी 'परस्तात् आर्षाक्' ही वरण होना चाहिए। वैद्यमल्लक्षणा विव्यप्रबोत्पत्ति ही यज्ञकर्म का प्रधान लक्ष्य है। एवं उत्पत्ति क्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य • सम्बन्धानुबन्ध से पितामह पिता-पुत्र-पौत्र यही क्रम है। अतः इस प्रबोत्पत्तिक यज्ञकर्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का अनन्तर पिता का एवं सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम-उल्लेख करना आवश्यक तथा क्रमवद्ध है—'तस्मात् परस्तात् आर्षाक् प्रवृणीते' ॥ १० ॥

इति—आर्षेयप्रवरणकर्मोपपत्ति.

३

•—पितामहाद्यनुगत इस सापिण्ड्य-सम्बन्ध का सुविशद वैज्ञानिक विवेचन के लिए देखिए, सूर्यदास तुल्यारामक-रूपविज्ञान भाग ५—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड।

## ४—अग्नि-ब्राह्मणानुगूहप्राप्तिकर्मोपपत्ति —

श्रुतिवशप्रसूत तथा अन्वयना ( कर्णतः ) विवक्षति यह यजमान यह का अविष्कारी अवश्य है परन्तु इस का यह अधिकार तत्काल कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता बल्कि इस के इस यज्ञमण्डल में आहुत-नीमाम्बिकुरह में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध नहीं हो जाता । यह देवाह्वानकर्म एकमात्र ब्रह्मवीम्प-यज्ञ के प्राणायाम तथा तृतीयप्रधान श्रुतिगु ब्राह्मणों के अनुग्रह सहयोग पर ही निर्भर है । दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य आते हैं परन्तु प्रकृति के नियत सूत्र के आचार पर इन का देवाह्वान-कर्म तो वैशानिक, अनुचान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उस परोक्ष प्राकृतिक सूत्रसूत्र आचार का मन्त्रामक स्तोत्र-शस्त्र-मह, आदि कर्मों के द्वारा संहर करने की शक्ति रखते हैं । 'अग्निर्वैवो वैव्यो होवा०' इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का होतृत्वेन वरम कर लिया बहकलमोक्षा यजमान के वंशस्थापन-लक्षण आर्यैयवरण से इसे यथाविष्कारी भी सिद्ध कर दिया गया । अब अग्रात तथा इत अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की तथा यज्ञस्वरूपसमर्पक ब्राह्मणों के अनुग्रह की अपेक्षा है । इसी उमबोद्धेय की सिद्धि के लिए आर्यैयप्रवरानन्तर तथा मानुषहोतृवरण से पहिले—ब्रह्मयवदा च बहत् ब्राह्मणा अस्व बहस्व प्राविशतः इव निगदमन्त्र का पाठ किया जाता है जिस का शब्दार्थ पूजानुचार से ही गतार्थ है ॥११ १२॥

## इति—अग्नि ब्राह्मणानुगूहप्राप्तिकर्मोपपत्ति —

४

## ५—मानुषहोतृवरणोपपत्ति —

प्राणविष सम्प्रसरयज्ञ में होता अज्यव्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान आदि भी 'प्राणविष' ही हैं । इस प्राणविष प्राकृतिक वर की विधा पर ही विद्यमान इस प्राणविष मानुष-यज्ञ में श्रुतिवत् यजमान-नादि यज्ञस्वरूपसंहाहक 'प्राणीविष' ही हैं । वावाप्राणविष्य प्राणतमक सम्प्रसर-प्रवापत्ति ( यजमान ) के अनुरूप अपनी फली के यज्ञसंयोग से पृथिवीरूप बना हुआ, एवं स्वस्वरूप से धुस्थानीय बना हुआ यजमान प्राणीविष यजमान है । प्राणविष अग्नि वायु आवित्त्य चन्द्रमा इन होता अज्यव्यु उद्गाता, ब्रह्मा नामक श्रुतिओं के अनुरूप प्राणीविष अम्बुमनुगूहीत अज्यवत् का ज्ञाता ब्राह्मण 'होवा' है । प्राणीविष वाय्वनुगूहीत यजुर्वेद का अनुचान ब्राह्मण अज्यव्यु है । प्राणीविष आदिर्यानुगूहीत सामयज्ञ का अनुचान ब्राह्मण उद्गाता है । एवं प्राणीविष चन्द्रमानुगूहीत अज्यवत् फल, तथा च अगर्भिता प्रयीविषा का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है । जो श्रुत्येव ब्राह्मण यही होत्र-कर्म के लिए नियत हुआ है, प्राणानि के वरदानान्तर उसका वरम होना भी आवश्यक है । इस वरणकर्म से पहिले वह ब्राह्मण अहता है अतएव अभी यह देवाह्वान-कर्म में अनधिकृत है । इस अधिकार-प्रदान के लिए ही अविष्कारप्रदानरथा नीय वरणकर्म किया जाता है । इसप्रकार ब्राह्मणोक्त आभाषण दिव्याग्निवरण आर्यैयवरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन इन कर्मों के अनुष्ठान के अनन्तर वह अज्यव्यु—'असौ मानुष-इव

निगदमन्त्र का पाठ करता हुआ होत्रकर्म के लिए आगत मानुष होता का वरण करता है। यही प्राकृतिक शेष (अग्नि) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

## इति-मानुषहोत्वरणोपपत्तिः—

५

### ६-स्वस्त्ययनजपोपपत्तिः—

अध्वर्यु प्रयुक्त असौ मानुष' इस निगदमन्त्र से होत्रकर्म के लिए इस होता आत्र वास्तव में होता बन गया है। इसी क्षण से इस पर उस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का भार आगया है, जो होत्रकर्म से सम्बन्ध रखता है। अपने इसी उत्तरदायित्व को सफल बनाने की कामना से होता स्वस्त्ययनबप करता है, जिस का एकमात्र तात्पर्य यही है कि, प्राकृतिक सम्पत्तरयज्ञ के सप्ताशक दिन प्राणदेवताओं के अनुग्रह से मनुष्य अपने राष्ट्रीय कर्मों में सफलता प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, उन प्राणदेवताओं का मन्त्रशक्ति के द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना। जिसप्रकार लोकाधिकारकट अधिकारी अधिकारप्राप्त होते ही अधिकारविद्य कर्मों को अपने लक्ष्य में ले आता है ठीक उसीप्रकार वरणकर्म से होत्राधिकार प्राप्त करते ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत होजाता है जिन का एक इसे मविष्णु में आह्वान करना है। प्रत्येक कार्य में नियुक्त होने से पहिले यह आवश्यक है कि, उस कार्य की सम्पूर्ण रूपरेखा का चित्रण अपने अन्तर्गत में खचित कर लिया जाय। ऐसा करने से मविष्णु में दृष्टि होने की सम्भावना नहीं रहती। जो व्यक्ति बिना अधिकारमर्यादा कर्ममर्यादा का नियमन किए हटाए कर्म में प्रवृत्त होजाते हैं अवश्य ही अपने स्वामाधिक अदृष्टमात्र से घे प्रमाद कर बैठते हैं। जिन देवताओं का आह्वान करना है, जिनके लिए वषट्कार करना है जिन के लिए इवि-प्रदान करना है उन सब प्राणदेवताओं का उन सब कर्मकलापों को वरणानन्तर ही लक्ष्य में ले आने के लिए स्वस्त्ययनबप कर्म विहित है। यही इस कर्म की लोकोपनिधि-सम्पदा संक्षिप्ता उपपत्ति है जिस का १४ वीं करिडक में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १४ ॥

१५ वीं करिडक से आरम्भ कर २१ वीं करिडक पर्यन्त (वासरसमाप्ति-पर्यन्त) स्वस्त्ययन-कर्म से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रों की शेषपक्षि व्याख्या हुई है। उसी का क्रमश विन्दर्शन कराया जाता है। सर्वप्रथम वृत् होता-‘यत्तत्त्वा वैषसभितर्षु’युते यह मन्त्र शोभाता है। इस के द्वारा हाता सविता की ही अनुज्ञा प्राप्त करता है। यह ठीक है कि मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक ‘होता-अग्नि’ का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ यह मनुष्य-होता तत्त्वप्राणदेवताओं के आह्वान में समर्थ होजाता है। परन्तु इस आह्वानकर्म की मूलप्रज्ञा सविता देवता ही है। सौम्यवक्ष को अपने गर्भ में रखने वाले आपामय परमप्री के चारों ओर वृहस्पति प्रभाशस्पति वरुण सविता आग्नि अतिथय उपग्रह उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहे हैं जैसे कि वृधियादि उपग्रह सूर्यग्रह के चारों ओर। उन पारमेष्ठ्य उपग्रहों में से ‘सविता’ नामक उपग्रह का मुख्य कर्म है-प्रेरणावक्ष प्रदान करना। शीर-त्रिलोकी में जिन प्राणदेवताओं के जो भी कर्म हैं उन सब का प्रेरक यही सविता प्राण है। अतएव इसे वैषतार्भा का प्रसविता (प्रेरयिता) कहा गया है। इस पारमे

## ४—अग्नि-ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकर्मोपपत्ति —

श्रुतिवशमस्त, तथा चमना ( बर्वात ) विधाति यह यजमान यह अग्निधारी अवरण है परन्तु इस का यह अग्निधर उक्तक कर्म्यक्रम में परिणत नहीं होसकता बल्कि कि इस के इस यजमण्डल में आहव नीयग्निमुत्पन्न में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध नहीं होमाय । यह देवाह्वानकर्म एकमात्र ब्रह्मणीय प्रवचक प्रासापिन् तथा सहीर्यप्रधान श्रुतिगुं नाह्वानों के अनुग्रह सहयोग पर ही निर्भर है । दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता यजमण्डल में पधार अवश्य आते हैं परन्तु प्रकृति के नियत स्वर के आधार पर इन का देवाह्वान-कर्म तो वैज्ञानिक अनुमान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है जो उस परोक्ष प्राकृतिक स्वतन्त्र अधार का मनशात्मक स्तोत्र-शस्त्र-मह, आदि कर्मों के द्वारा रूपाव करने की शक्ति रखते हैं । 'अग्निर्देवो वैद्यो होता०' इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का होतृत्वेन वरण कर लिया ब्रह्मलमोक्षा यजमान के केशव्यापन-लक्षण आर्पेववरण से इसे यज्ञाभिधारी भी सिद्ध कर दिया गया । अब अगत तथा हृत अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की तथा यज्ञस्वरूपमपक ब्राह्मणों के अनुग्रह की अपेक्षा है । इसी उभयोद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्पेवप्रवर्णानन्तर, तथा मानुषहोत्रवरण से पहिले—'ब्रह्मस्वण न बद्ध, ब्राह्मणा अस्व ब्रह्म प्राविष्टाः' इव निगदमन्त्र का पाठ किया जाता है, जिस का शब्दार्थ मूलानुवाक से ही गतार्थ है ॥११ १२॥

## इति—अग्नि ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकर्मोपपत्ति —

४

## ५—मानुषहोत्रवरणोपपत्ति —

प्राणविध सम्बन्धक में होता अथर्व्यु उद्गाता ब्रह्मा यजमान आदि भी 'प्राणविध' ही है । इस प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही विद्यमान इस प्राणविध मानुष-यज्ञ में श्रुतिक यजमानादि यज्ञस्वरूपरूपाह्वक प्राणीविध' ही हैं । वातापुषिभ्य प्राणायमक सम्बन्ध-प्रदापति ( यजमान ) के अनुक्रम अपनी पत्नी के यज्ञयोग से प्रुषिणीक्य बना हुआ एवं स्वरूप से पुरुषाणीय बना हुआ यजमान प्राणीविध यजमान है । प्राणविध अग्नि वायु आदिभ्य चन्द्रमा इन होता अथर्व्यु उद्गाता ब्रह्मा नामक श्रुतिवशी के अनुक्रम प्राणीविध अमन्त्रगृहीत श्रुत्येव का ज्ञाता ब्राह्मण होता है । प्राणीविध वाय्वनुगृहीत यजुर्वेद का अनूपान ब्राह्मण अथर्व्यु है । प्राणीविध आदिभ्यनुगृहीत सामवेद का अनूपान ब्राह्मण उद्गाता है । एवं प्राणीविध चन्द्रमानुगृहीत अथर्ववेद का, तथा अथर्वगर्भिता त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है । जो श्रुत्येदी ब्राह्मण यहाँ होत्र-कर्म के लिए नियत हुआ है प्राणाग्नि के वरणानन्तर उक्तक वरण होना भी आवश्यक है । इस वरणकर्म से पहिले यह ब्राह्मण 'अहस्ता' है अतएव अभी यह देवाह्वान-कर्म में अनधिकृत है । इस अग्निधार-प्रदान के लिए ही अग्निधरप्रदानस्या नीन वरणकर्म किया जाता है । इसपश्चात् ब्राह्मणोक्त आवाधाय दिव्याग्निवरण आर्पेववरण अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन इन कर्मों के क्रमानुष्ठान के अनन्तर वह अथर्व्यु-अर्पेव मानुष-इस

भूषण के अतिरिक्त से संलग्न त्रिवृत्स्तोम प्राप्त सवन है यही स्तोमत्रिलोकीरूप सम्यत्सर का पृथिवीलोक है यही पहिला विश्व है, इसी में घनावस्थानपन्न अग्नि ( अग्नि ) नामक 'नर' ( नायक ) प्रतिष्ठित है । त्रिवृत् पृष्ठ से सलग्न पञ्चदशस्तोम माध्यन्दिनसवन है, यही सम्यत्सर का अन्तरिक्षलोक है यही दूसरा विश्व है इसी में तरलावस्थापन्न अग्नि ( वायु ) नामक 'नर' प्रतिष्ठित है । पञ्चदशपृष्ठ से सलग्न एकविंशस्तोम सायंसवन है यही सम्यत्सर का अक्षलोक है यही तीसरा विश्व है, इसी में विरलावस्थापन्न अग्नि ( आदित्य नामक नर प्रतिष्ठित है । सम्यत्सर के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्थानीय-पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ-नामक तीन विश्वों के अग्नि वायु आदित्य नामक तीनों नरों के पारस्परिक यह सम्बन्ध से सम्यत्सर त्रिलोकी में व्याप्त 'विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ' नामक तीन अपूर्व भावों का उद्भव होता है ।

त्रिवृदग्नि में पञ्चदश वायु, एकविंश आदित्य दोनों का आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्ति जिस भाव का जन्म होता है वह विराट् है । पञ्चदश वायु में त्रिवृदग्नि एकविंश आदित्य दोनों की आहुति से उत्पन्न वायुप्रधान त्रिमूर्ति तत्त्व ही 'हिरण्यगर्भ' है । एकविंश आदित्य में त्रिवृदग्नि पञ्चदश वायु दोनों की आहुति से उत्पन्न आदित्यप्रधान त्रिमूर्ति तत्त्व ही 'सर्वज्ञ' है । तीनों के अग्नि-वायु-आदित्य-प्राधान्य सूचित करने के लिए जहाँ विराट्-हिरण्य-गर्भ-सर्वज्ञ, ये तीन प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नाम हैं वहाँ तीनों का समष्ट्यात्मक एक नाम 'वैश्वानर' है । विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातो वैश्वानरः इस निर्घन से तीनों त्रिमूर्तियों का वैश्वानरत्त्व गताय है । अतएव विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-त्रिमूर्ति सम्यत्सर को अति न-सम्यत्सरो वै पिता वैश्वानर कह दिया है । यह क द्वारा यह वैश्वानरसम्पत्ति प्राप्तव्य है । केवल अग्नि के अनुग्रह से ऐसा सम्भव नहीं है । अपितु वहाँ अग्नि का वह व्यापक स्वरूप अप्रतिष्ठित है जो सम्यत्सररूप से किंवा वैश्वानररूप से त्रैलोक्य में व्याप्त है । इसी भावना के लिए- अग्नि होत्राय सह पिता वैश्वानर ए इमं मन्त्रं का अप किया जाता है ।

पृथिवी	अन्तरिक्षम्	द्यौ
त्रिवृत्	पञ्चदश	एकविंश
( ६ )	( ११ )	( २१ )
प्रातःसवनम्	माध्यन्दिनसवनम्	सायंसवनम्
पनाग्निः	तरलाग्निः	विरलाग्निः
( अग्नि )	( वायु )	( आदित्य )

एव सविता की प्रेरणा का सर्वप्रथम सूर्य में ही आगमन होता है अतएव सूर्य को भी यत्र तत्र 'सविता' नाम से सम्बोधित कर लिया गया है। सूर्य के द्वारा ही सौरशिल्पोक्षी में प्रतिष्ठित प्रजा में सविताप्राण के प्रेरणा-बल का आगमन होता है जिस का आचार है—**बुद्धिष्वेत्र**।

सविता का बृहस्पति से सम्बन्ध है। क्योंकि—'बृहस्पति पूर्वोपासुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरपां प्रथम' इन निगम के अनुसार सूर्य से पूर्व श्लोकी में सर्वान्त में बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं एवं उत्तरश्लोकी में त्वरिम्म में इन्द्र (सौर मणवा) प्रतिष्ठित है। इन्द्र से ऊपर बृहस्पति है। तदुपरि ब्रह्मणस्पति है, एवं इसके ऊपर सविता है। सविताप्राण का (कारक रूप से) आगमन पवित्रधर्म्मा ब्रह्मणस्पति तथा बभ्रत्त्व गच्छत्त बृहस्पति इन दोनों पारमेष्व्य उपग्रहों से सरिलाह होकर ही (सौर इन्द्रमण्डल में) होता है। हागधिपति बृहस्पति ही अपने 'वाजपय' नामक कर्म से बुद्धि में उस ब्रह्मवीम्य का आवाहन करते हैं जो ब्रह्मवीम्य सविताप्राणमिन्द्र प्रेरणा से आत्मज्ञानविकास का प्रवक्तृ बनता है। इसी समसम्बन्ध से सविता को 'धी' का प्रवक्तृ मान लिया गया है, बैला कि—'सत्सवितुर्वरेण्यं, धियो यो न प्रचोदयात्' त्वानि मन्त्रवर्कन से प्रमाणित है।

हात्सम्यं यही है कि, सत्सत्-प्राणदेवताओं का यज्ञकर्म में प्रवृत्त होना सविताप्राण के प्रेरणा-बल पर ही अवलम्बित है। अतएव यह होता अपने आध्यात्मिक सविताप्राण में आधिदैविक सविताप्राण का कल प्राप्त कर लेता अतएव आध्यात्मदेवानुगत आधिदैविक प्राणकणनसम्बन्ध इस यज्ञकर्म में वह आधिदैविक प्राणदेवताओं का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकता। इसी सविताप्राणानुग्रह-प्राप्ति के लिए हम से पवित्र से मात्र के द्वारा यही मावना करनी पड़ती है कि— हे सविता देवता! देवाह्वान-अर्चण हीत्रकर्म के क्षेत्र मेरे व्याघ्र से आभ्यर्च्युं वस्तुतः आप का ही वरण कर रहे हैं।

इसप्रकार सर्वप्रथम सविता का अनुग्रह प्राप्त कर अनन्तर—अग्नि होनाय इह मन्त्र से अग्नि, या अग्निमय ११ यज्ञिय देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करता है। हीत्रकर्म का उत्तरदामित्व अग्नि पर ही है, इ अनेकवा स्पष्ट किया जासक्य है। साथ ही—'उग्रनये वैमैतरेवेभ्यश्च' इत्यादि कर्षकभरोप का स्वीकरण भी पूर्व से गतार्थ है—(वेत्तिप महुत वा की ४ करिदव) ॥ १५ ॥

आधिमौलिक वाचनों के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का जिस आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध अपेक्षित है वह सम्बन्ध 'सत्सत्' नाम से प्रसिद्ध है। सम्बन्धरयज्ञ ही 'सहयज्ञा' प्रजा सृष्ट्या इत्यादि के अनुसार कद्र श-लुकात्मिका प्रजा का प्रथमविधा (उपादक) है। सम्बन्ध का प्रथम्य खोमाग पार्थिव धीनि में आधुत प्रजा है। इसी वाचापुष्टिमयस के गम्भिर से प्रभोत्पति हुई है। अतः अवश्य ही सम्बन्ध को 'पिता' कहा जासकता है। ब्रह्मिष्ठस्थ अतः अग्नि तथा उत्तरस्थ अतः सोम दोनों के उद्गम-निगम से 'अतु' का बरूप निष्पन्न होता है। अतुसमष्टि ही सम्बन्ध है। प्रत्येक अतु स्थानुसम्बन्ध को लेकर ही मातृभूत होती है। इस दृष्टि से ही अतुसमष्टिरूप सम्बन्ध को 'पिता' कहा जासकता है जो कि सम्बन्ध अपने तीन बनों से 'वैधानर' बन रहा है।

• यह 'बृहस्पति' उपस्थित सौर 'उपग्रह भूत बृहस्पति' से सर्वथा भिन्न है।

का रुद्रदेवता से तथा दिग्ग आहवनीयाग्नि का आदित्यदेवता से सम्बन्ध है। देवत्रयी से अनुपरीता अग्नित्रयी का पितान (पृथिवी से पालोक पर्यन्त फैलाव) ही वितानयज्ञ है। इन तीनों गणदेवताओं के संग्रह से प्राकृतिक वितानयज्ञ की सम्पत्ति का संग्रह हो जाता है। प्रकृत मन्त्र से उठी वितानसम्पत्ति का संग्रह किया जाता है। पार्थिव अन्नसम्पत्ति पशुसम्पत्ति तथा द्रव्यसम्पत्ति तीनों की समष्टि 'राति' है। जिसे 'बीलत' कहा जाता है, उन्हीं के लिए वेद में 'राति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह 'राति' अन्न-पशु-द्रव्य भेद से त्रिधा विभक्त है। एवं तीनों पार्थिव वस्तुदेवता से सम्बन्ध है। अतएव सम्पत्ति को 'वस्तु' भी कहा जाता है। भूतात्मक पार्थिव अग्नि ही वस्तु है यहाँ पार्थिवी सम्पत्ति है। इसी अभिप्राय से 'वस्तुनां रातौ स्वाम' कहा गया है। निम्न लिखित मन्त्र इसी वस्तु-अग्नि के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है—

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्त यं यन्ति घेनवः ।

अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इयं स्तोतृभ्य आभर ॥

—श्रुत् सं० ५।३।१।

रुद्रदेवता अन्तरिक्ष के अभिष्ठाता हैं। अन्तरिक्ष उरु है, विद्याल है, बैला कि 'उन्वन्तरिक्षमन्वामि' इत्यादि ब्राह्मणभूति से प्रमाणित है। रुद्रदेवताओं की आवासभूमि यह अन्तरिक्ष भी उरु है, एवं— 'असंख्याताः सहस्राणि यं रुद्राः' इत्यादि यजुर्मन्त्रवर्णनानुसार इस उरु अन्तरिक्ष में रहने वाले अभिदेवता (रुद्र) की आनन्त्यलक्षण उरु भाव से युक्त है। अन्न-पशु-द्रव्यादि पार्थिव सम्पत्तियाँ सङ्कोचवर्मा हैं जबतक इस पार्थिवसम्पत्ति के मोक्ष में अन्तरिक्ष उरुभाव (विद्यालता-उदायशय्या) नहीं आ जाती, तबतक पार्थिवसम्पत्ति मोह का ही कारण बनी रहती है। अतएव 'पार्थिव-वस्तु-राति' के साथ साथ ही अन्तरिक्षय रुद्र का उरुभाव भी आवश्यक रूप से अपेक्षित है। 'रुद्राणामुर्व्याम्' से उन्हीं भूमाभाव की प्राप्ति अभी-स्थित है।

अग्निवातात्मक अन्तरिक्ष के इस और वसुनिवातात्मक विहृत्त्वोमावच्छिन्ना पृथिवी है, एवं उस ओर आदित्यनिवातात्मक गल्लोक है। सम्बन्ध अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा पृथिवी तथा गल्लोक ही है। अतएव अन्तरिक्ष को उमयतः [ वातापृथिवी से ] परिच्छिन्न माना गया है, बैला कि— 'अमृतमुमयत परिच्छिन्नम्' इत्यादि ब्राह्मणभूति से प्रमाणित है। यज्ञकर्ता सबमान अपनी स्वामाधिक [ प्रकृतिदत्त ] प्रतिष्ठा में वायु वायुर्भोगपर्यन्त प्रतिष्ठत रहता हुआ यज्ञ के द्वारा अन्तरिक्ष में जाता हुआ स्वर्गोपलब्धिताय प्रतिष्ठित में प्रतिष्ठित होता चाहता है जो कि यूप्रतिष्ठा तदभिदेवता-सम्बन्ध से आदित्यप्रतिष्ठित कहलाई है। शेष मन्त्रभाग से इसी आदित्यप्रतिष्ठा का संग्रह हुआ है। राति-प्रवर्षांक वस्तु, भूमाप्रवर्त्तक रुद्र एवं प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक आदित्य तीनों देवता वैश्वोन्मेष्याग्निनी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित है \*। अदितये स्वामनेहस' इस मन्त्र भाग से सर्वान्तर में उन्हीं देवमाता अदिति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है ॥१७॥

\* अदित्यां वज्रिरे द्वाष्ट्रयन्त्रिशदरिन्दम ॥

आदित्या, वसवो रुद्रा, अश्विनौ च परन्तप ॥

—वाल्मीकिरामायण

अग्निः	}	अग्निप्रधानस्त्रिमूर्तिर्विराट्-औशधानरः	}	सम्बत्सरो औशधानरः
१-वायुः				
अदित्यः	}	वायुप्रधानस्त्रिमूर्तिर्विराट्-औशधानरः		
२-आग्निः				
अदित्यः	}	अदित्यप्रधानस्त्रिमूर्तिर्विराट्-औशधानरः		
३-अग्निः				
वायुः	}	अदित्यप्रधानस्त्रिमूर्तिर्विराट्-औशधानरः		
	}	अदित्यप्रधानस्त्रिमूर्तिर्विराट्-औशधानरः		

स्वत्त्वबनवप-मन्त्र का अगला भाग—‘अग्ने ! पूषन् ! बृहस्पते ! प्र च वद् प्र च वज्’ । अनुबचन और यजनकर्म में पार्थिव अग्नि पार्थिव भूत एवं वाक्, वे तीनों स्वरूप अर्पित हैं । पार्थिव भूतमात्र यजनकर्म का अनुगामी है वाग्मात्र अनुबचनकर्म का अनुगामी है । जिस अग्नि का वरण किया जाता है वह पार्थिवी में व्याप्त औशधानरस्वरूप प्राणाग्नि था, एक प्रस्तुत मन्त्र में पठित अग्नि भूपिच्छस्वरूप पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला भूताग्नि है । इस भूताग्नि का पोषण जिस पार्थिव प्राण से होता है, वह ‘पूषा’ नाम से प्रसिद्ध है । शत्रुसन्निप्रवर्तक अवन्तक पूषाप्राण रेवती-नक्षत्रात्मक पूषाप्राण आदिस्वरूप पूषाप्राण तीनों में से प्रकृतमन्त्र के ‘पूषा’ शब्द से अवन्त पार्थिव पूषाप्राण ही अभिप्रेत है । वाक्-गौ-धौः वे तीन पृथिवी के ‘मनोवा’ माने गए हैं । इन तीनों में पार्थिवी-वाक् का बृहस्पति से सम्बन्ध है जिस काईस्पत्या वाक् से पार्थिव वषट्कार का स्वरूप-निष्पन्न होता है । पार्थिवी-गौ का अग्नि से सम्बन्ध है जिस से—‘गौर्वा अग्निहोत्रम्’ के अनुसार पार्थिव अग्निहोत्रक सम्बन्ध होता है । एवं पार्थिव धौ मनोवा का पूषा से सम्बन्ध है । इन तीनों पार्थिव वषट् के सम्बन्ध से ही पार्थिव यज्ञ के साम्या तथा अनुशासना-कर्म सम्पन्न होते हैं । मन्त्र के द्वारा वहीं तीनों का संघट्ट किया जाता है ॥१६॥

स्वत्त्वबनवपमन्त्र का अगला भाग है—‘वसुता रतौ स्याम, उग्राम्बामुर्वायं स्वदित्य प्रदितये स्यामनेहसः । पार्थिवयज्ञ के पाकयज्ञ विधानयज्ञ भेद से दो विधत हैं । स्मार्च यज्ञयज्ञ पाकयज्ञ है । एवं भीत त्रेताग्नियज्ञ विधानयज्ञ है । पार्थिव गार्हपत्याग्नि का वसुदेवता के, अन्तरिक्ष विध्यग्नि



होता हुआ अपने तप से इतर वशों को उत्पन्न करता है—[ देखिए शत० ब्रा १४ का १४ अ १२ का० १२ क १ ] । ब्रह्म सर्वादितत्त्व है अतएव वह सृष्टिमर्यादा से सम्बन्ध रखने वाले प्रजासर्ग से परिभूत है । ब्रह्ममूलक ब्राह्मणवर्ण प्रजा का ( धर्मसूत्र से ) सञ्चालक है, क्षत्रिय वैश्य-शूद्रवर्ण प्रजावग है । इस सर्वसामान्य प्रजावग के लिए ही वेदमाथा में 'नर' शब्द प्रयुक्त हुआ है । ब्राह्मण नर ( मनुष्य ) नहीं है, अपितु देवता ( मूवेव ) हैं । सामान्य प्रजावर्ग से इस का पार्यन्त्य नतपाने के लिए, साथ ही इसे ब्रह्मात्मक बनाने के लिए पूर्व ( १६ ] कण्डिका में— जुष्टा ब्रह्म' कहा गया है । अन्न प्रलुप्त कण्डिका में ब्राह्मणविरहित सम्पूर्ण प्रजावर्ग के लिए जुष्टा वाक् के प्रयोग का विधान हुआ है । प्रत्येक कर्म में सभी के शुभसंख्य अपेक्षित हैं । वही कर्म समुद्र माना गया है, जिस को देखने वाले न देखने वाले सभी एकस्वर से साधुवाद दिया करते हैं । तात्पर्य लोकसमग्रदृष्टि से भी सभी की शुभ कामनाएँ अपेक्षित हैं । इस के लिए सभी के प्रति जुष्टावाक् का प्रयोग होना चाहिए ।

अगला मन्त्रभाग है— 'यश्च होतृवर्षे जिह्वा चक्षुः परापतत् अग्निष्टत् पुनराभियाज्जातवेदा विचर्षणि' । होता यद्यपि यथाशक्ति प्राणदेवताओं का उत्तम ब्राह्मणों का, एव प्रजावर्ग का सभी का अनुग्रह भी प्राप्त कर लेता है । मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही करता है । इत्यप्यधर अपनी जातदशा में यह अपने होतृकर्म में कोई त्रुटि नहीं करता । तथापि सत्तार में स्मालोत्पत्ति की कमी नहीं है । सर्वमेष्ट निर्दोष कर्मों की भी आलोचना करने वाले मिल ही जाते हैं । होतृकता है—लौकिक कर्मों का इस दृष्टिदोष से कुछ न विगड़ता हो । परन्तु वैदिक-कर्म अवश्य ही इस दृष्टिदोष से भी विरक्त हो सकते हैं । दृष्टिदोष के द्वारा वह कुत्सित-भावना यज्ञवातावरण में यदि प्रवेश कर जाती है तो उसीप्रकार यज्ञस्वरूप विकृत हो जाता है, जैसे कि आग्निक्रम आदि से स्वच्छ भी धर मलिन हो जाता है । होता का यह भी एक कच व्य हो जाता है कि ऐसे हुए स्मालोत्पत्ति की वृद्धदृष्टि से दोष से दोषयुक्त बने हुए यज्ञकर्म को निवृत्त बनाने के लिए अग्नि से प्रार्थना कर ले । हम नहीं जानते कि, किस के दृष्टिदोष से कर्मस्वरूप विकृत हुआ । परन्तु सब कुछ जानने वाले अतएव 'जातवेदा' नाम से प्रसिद्ध अग्नि अवश्य ही उस जानते हैं । वे अवश्य ही हमारी भावना से प्रेरित होकर उस दृष्टिदोष को दूर कर पुनः यज्ञश्रुति का स्मरण करने की क्षमता रखते हैं ॥ २० ॥

'जातवेदा विचर्षणिः' यज्ञात्मक स्वस्वयम्भवन करने के अनन्तर वह होता अश्वस्यु, तथा आर्माभि नामक श्रुतिवर्षों का स्पर्श करता है । वस्तुतः अश्वस्यु प्राणव्यापार का सद्गतावा तथा होता दोनों वाग्व्यापार के एवं ब्रह्मा मनोव्यापार के प्रवर्णक माने गए हैं । परन्तु यहाँ स्थितिभाव को लक्ष्य बना कर भुक्ति ने अश्वस्यु की 'मन मान लिया है । मन उक्त्यर्थ से हृदय में प्रतिष्ठित रहता है । 'वृत्तमस्रो-तिपां व्योसिरेक्षं तन्मे मनः शिवसंस्पर्शमस्तु' इत्यादि मन्त्र के द्वारा मन का जो विवर गमन बतलाया गया है वस्तुतः वह वाक्मय संस्कारों का ही गमन समझना चाहिए । अत्रय स्पष्ट है । मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है । बुद्धिरय प्रज्ञात्मक प्राण ही चित् का अनुमाहक है । अतएव मन है, तमीतक बुद्धि है । अतएव बुद्धि है तमीतक चित् है । अतएव चित् है तमीतक धीमनसत्ता है । फलतः मन के विवरगमन का संस्कारात्मक परिप्रमाण पर ही विश्राम मानना पड़ता है । जिसप्रकार मन स्वस्थान में स्थित रहता है एवमेव अश्वस्यु का व्यापार स्वस्थान ( वृषिणी ) से ही सम्बन्ध रखता है । उभर होता का अनुव्यञ्जनकर्म य सोनानुगत रहता है । इसी सादर्य से निदानेन अश्वस्यु को मन तथा होता को वाक्मान लिया जाता है । निना मन क

स्वस्वयन्वचनमन्त्र का अगला भाग है—“अष्टमद्य देवभ्यो वाचमुपासम्” । होतकर्म की सफलता के लिए बिन बिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था पूर्वमन्त्रभागों के अन्त से होताने यह प्राप्त कर लिया । अब यह स्वयं अपने उस आध्यात्मिक वाक्मय देवता के अनुग्रह की कामना कर रहा है, बित श्री प्राप्ति से सन्तुष्ट रहल है एवं जिस के अभाव में सन्तुष्ट भ्रम्य है । अनुभवनकर्म से सम्मुख रहने वाले बिन देवताओं के लिए होता अनुपासना करता है, यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अक्षर-पद-वाक्य आदि का उच्चारण-छोष्टव-माधुर्य्य है तो यथानुरूप उच्चारित मन्त्र अपनी उच्चात्-अनुच्चात्-स्व-रित आदि स्मरमय्यांश से तथा गायत्री, विष्टुप् अगती आदि ‘अन्धोमय्यांश’ से उत्स्वर-स्वरोमय प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समतुलित होते हुए उत्तरेवतावाहन में लभ्य होजाते हैं । ऐसी देवाकर्सिदी शोभना-व्यवस्थित-अनुग्रहकरी मन्त्रावाक् ही प्राणदेवताओं के लिए आकर्षण की वस्तु बनती हुई ‘उच्चावाक्’ कहलाई है । यदि मन्त्रोच्चारण में स्वर-स्वरता है, स्वरदीप है, उच्चारणक्षोप है, स्तब्धनक्षोप है, तो इस की उन्वातपाप विच्छिन्न है । ऐसी विच्छिन्ना मन्त्रवाक् कभी देवाक्यपकर्म में सफल नहीं होसकती । लोक में भी सब कुछ साधन-सामग्रियों के विद्यमान रहने पर भी केवल अपनी अज्ञेयमात्रावा अन्ववस्थित वाक् से सन्तुष्ट भ्रम्य होजाता है । अतएव इतर सब साधनों की अपेक्षा उस अपने वाक्-उपवन का लोष्ठव प्रत्येक दशा में अपेक्षित है जिस के अनुग्रह से सभी साधन प्राप्त होजाते हैं एवं भ्रम्य भी लभ्य बन जाता है । अतएव—‘तस्मि सन्तुष्टम्, यो जुष्ट देवभ्योऽनुग्रहत्’ इत्यादि रूप से उच्चा-वाक् की ही मन्त्र की प्रधान सन्तुष्टि माना गया है ॥२८॥

मन्त्राधीन देवता है अतएव मन्त्रवाक् का लोष्ठव सर्वप्रथम अपेक्षित है । मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन हैं अतएव ब्राह्मणों का अनुग्रह भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है । तत्त्वात्मिक ब्रह्मानिकी वाक् का रहस्य जानने वाले मन्त्रविद् ब्राह्मण भूदेव हैं । इन के प्रति भी उक्त अनुग्रहकरी-उच्चावाक् का ही प्रयोग करना चाहिए । विशेषतः उस वैदिक यज्ञकर्म [ यज्ञकर्म से उपलब्धित तप तथा दानकर्म में भी ] में जो वह व्यवहारी रहनी ही चाहिए कि, कहीं कहीं भी ब्राह्मण के लिए अज्ञेयकरी वाक् का प्रयोग तो नहीं होसता । ब्राह्मण की अग्रसत्ता यज्ञस्वरूप के विघात के लिए पर्याप्त है एव ब्राह्मण की प्रसवता यज्ञस्वरूपसम्पत्ति के लिए पर्याप्त है । उन यज्ञकर्मों की मीमांसा कीविषय, बिन में यन्मानसोय ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं । उन दानकर्मों के कुक्षों का अन्वेषण कीविषय, बिन में मरान्त दानदात अपमान-पुरस्कर दान करते हुए अपना सन्नाश कर रहे हैं । उन अविशेषिओं की उस अचन्दापि का भी अन्वेषण करना न सुशिय, जो केवल धन की ही बुद्धिमत्ता का अन्तक समझते हुए ब्राह्मणवर्ग का अपमान कर अपने मयिष्य को अग्रतकस्तम से ॥ कमिभूत करते कार्य हैं । हमारा अपना तो ऐसा ज्ञान-विरहात है कि, मारतवर्ष की नत्तमान दैनदशा के अन्मात्र्य कारणों में स ब्राह्मणवर्ग की सुपुष्टि तथा ब्राह्मणभर्य का अपमान भी एक मुख्य कारण है । ‘तस्मि सन्तुष्टम्, यो जुष्ट ब्राह्मणोऽनुग्रहत्’ इत्यादि भीषारेय भी इसी कारण का लक्ष्यकर कर रहा है । ‘अष्टमद्य देवभ्योऽनुग्रहत्’ इत्यादि प्राप्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥२९॥

अगला मन्त्रभाग है—‘अष्टम नारासाव’ । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र, इन चारों वर्गों में ब्राह्मणवर्ग इतर तीनों वर्गों का मूलप्रमण है । ब्राह्मणानीय है । सब एकही सन्ति करने में अन्तर्भव

इसप्रवर होतृपदनस्थान में बैठने क अनन्तर होता बोलता है—“विश्वकर्म्मस्तनूपा असि मा मोदो-  
पिष्टं मा मा हिंसिष्टमेव वा लोकाः । इव मन्य का उन्धारण करता हुआ होता उत्तर की ओर थोड़ा ल  
चलता वा है । होतृपदनस्थान गार्हपत्य, तथा आहवनीय, दोनों यावापृथिव्य अग्निर्षी के मध्यम में पड़ता  
है । दोनों अग्नि दिव्याग्नि है, विशेषत आहवनीय तो समिधन से आष समिध बन कर अतिरायस्व से ही  
यत्किमान् बन गया है । अवश्य ही बिना इनकी अनुग्रहप्राप्ति के तन्मध्यस्थ होता का अतिष्ठ होसकता है ।  
अवश्य होता स्तुति क द्वारा इन का अनुग्रह प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

अनन्तर आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ—“विश्वेव्या” शास्त्रनः इत्यादि मन्त्र बोलता है,  
बिस का स्पष्टीकरण मूलानुवाद से ही गताथ है ॥ २६ ॥

इति-विवेचनाप्रकरणम्

इति-होतृप्रवरव्राह्मण समाप्तम् ।

इति प्रथमकाण्डे-पञ्चमाध्याये प्रथम ब्राह्मण

चतुर्थप्रपाठके च द्वितीय ब्राह्मण

“प्रवरव्राह्मण” नामकमुपरतम्

वाग्व्यापार प्रतिष्ठासूत्र्य है। उसी मनःप्रतिष्ठामाप्ति के लिए यह होता मनःस्थानीय अध्वस्यु का स्पर्श करता है। मनोवाक् का परस्पर ग्रन्थिबन्धन ही इस स्पर्श का अनन्य फल है ॥ २१ ॥

स्पर्शकर्मानन्तर यह होता 'पयमोर्ध्वरहसस्यासु-अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च अहश्च, रात्रिश्च' इस मन्त्र का अर्थ होता है। 'अहोरात्रवायु' सिद्धान्त के अनुसार अह' से सम्बन्ध रखने वाला सौर आग्नय तत्त्व, तथा रात्रि से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र सौम्य तत्त्व, ये दो ही सर्वव्यष्टि के उपादान हैं। इन दो के तीन विकृतों का ही यहाँ स्पष्टीकरण हुआ है। अह' का अग्नि से सम्बन्ध है, रात्रि का पृथिवी से सम्बन्ध है। अहः का वाज से सम्बन्ध है रात्रि का आप' से सम्बन्ध है। अग्नि पृथिवी, जल, तीनों प्रसिद्ध हैं। वाज प्रकृत में प्राण' का वाचक है। 'एष स एष विभ्रद्राज' (ऐ आ २।२।१।) इस श्रुति के अनुसार मनुष्यशरीर को चारण करने वाला 'वधर्चा' प्राण ही 'वाज' है। अघा-दान के द्वारा ही इस की शरीर में प्रतिष्ठा रहती है। अतएव (वाजप्रवत कत्वेन) अघ को भी 'वाज' कह दिया जाता है। 'अधाग्निगर्भा पृथिवी' सिद्धान्तानुसार अर्हान्क पृथिवी है, वहान्क अग्नि है। पार्थिव प्रवा के लिए सर्वत्र पृथिवी, एव तदग्नि अग्नि की व्याप्ति है। पानी का भी यही अभाव नहीं है—'सर्वमापोमवे जगात्'। वाजस्वक प्राण भी—'नेन्द्राहसे पयसं धाम किञ्चन के अनुसार सर्वव्यापक है। अहोपत्र की सर्वव्याप्ति तो स्पष्ट ही है। इन ३ की ही इसी सर्वव्याप्ति का लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने इन्हें 'अर्वा' कहा है। जिस के लिए वे ३ की पूर्ण अनुकूल रहते हैं वह कभी किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पासकता। होता ही देवपटञ्जनुग्रहमाप्ति की कामना करता है ॥ २२ ॥

श्वस्त्ययनवपकर्म—समाप्ति के अनन्तर होता अपने लिए नियत 'होतृपवन' नामक अपने बैठने के स्थान की ओर लौट आता है। यहाँ आकर अपने दर्मासन से एक तृण निकाल कर बैठता हुआ होता— निरस्त परावसु' मन्त्र बोलता है। जिस की उपपत्ति श्रुति ने यह कथलाई है कि 'परावसु' नामक असुर असुरों का 'होता' था। तृणनिष्कासन—व्याज से उसी को इस देवकर्मपरम से बाहर धँका जाता है। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से बहुत सम्भव हो, ग्रीक देवताओं की मूर्ति असुरों में भी यह किया हो एवं उनके किसी यज्ञ में 'परावसु' नामक असुरआज्ञाया होता बना है। परन्तु सर्वव्यष्ट्या यह उभोमध्यप्रपञ्च जोकि अपने स्वामात्मिक आसुरमात्र से स्वयम् से सम्बन्ध रखने वाले वस्तु (सम्पत्ति) को यज्ञमरदक से परगु बनने वाला है 'परावसु' है। इसी के लिए 'सहरका' शब्द प्रयुक्त हुआ है जैसा कि—'सहरका इन्सुरासो वृत् आस' इत्यादि रूप से पूर्व के शिङ्काराज्ञाया में विस्तार से बतलाया जा चुका है। दिव्यप्राप्ति देवदेवताओं के होता है। इसी के लिए 'अग्निं वृत् सुखीमहे होतारं विश्वदेवसम्' इत्यादि कहा गया है। अग्निं वं सम्प वसु' इत्यादि के अनुसार वसु (सम्पत्ति) के प्रकृतक वे अग्नि ही 'अर्वावसु' नामक देवदेवताओं के होता है। दोनों ही प्राणात्मक वृत् आन्तरिक वायु में व्याप्त रहते हैं। फलतः यज्ञमरदक में दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है। दोनों में 'परावसु' का सम्बन्ध यज्ञविपातक है। मन्त्रशक्ति के द्वारा तृणनिहा मेन उसे तो निकाल बाहर कर दिया जाता है एवं—'श्वसहमर्वावसो' सहने सीधामि' वह मन्त्र बोलता हुआ स्वयम् में केवल 'अर्वावसु' नामक दिव्यप्राप्ति—होता के सम्बन्ध को दृष्टगुल करता है। २३ २४ कश्चिद्वक्त्रों में इसी उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २३ २४ ॥

मी

अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

पचमाध्याये--“स्तुग्ब्राह्मणम्”

( वृष्टिविज्ञानात्मकम् )

— • —

श्रीः

इति—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकारणे

पचमाध्याये--प्रवरब्राह्मणम्



॥ श्री ॥

अथ-प्रथमकारणे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण  
चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण  
उपक्रान्तम्

“सुगवाह्वराम्”

२२-सुगादापन-आश्रावण-प्रत्याश्रावणञ्च



१-सुगादापननिगद —

( मूल )-‘अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्रम्’ इति । अग्निरिदं होता वेत्तु इत्यवैतदाह ।  
अग्नेर्होत्रमिति । तस्यो हि होत्रम् । ‘वेत्तु प्रवित्रम्’ इति । यज्ञो वै पावित्रम् । वेत्तु  
यज्ञमित्यवैतदाह । ‘साधु ते यजमान । देवता’ इति । साधु ते यजमान देवता-यस्य  
त अग्निर्होता इत्यवैतदाह । ‘धृतवतीमध्वर्या ! रुचमास्यस्व’ इति । तदध्वर्युः  
प्रसीति । स यदेकामिवाह ॥ १ ॥

यजमान एव सुहृमनु, योऽस्मा अरातीयति-स उपसृतमनु । स यद् द्वे इव त्र्याद्  
यजमानाय द्विपन्तं आहूष्य प्रत्युषामिन कृयात् । अत्रैव सुहृमनु, आद्य उपसृतमनु ।  
स यद् द्वे इव त्र्याद्-अत्र आद्य प्रत्युषामिन कृयात् । तस्मादेकामिवैवाह ॥ २ ॥

‘देवयुष चिन्ध्वाराम्’ इति । उपस्तोत्यवैनामेतद्, मध्यत्यव-यदाह, देवयुष विन्धवा  
रामिति । ईडामहै देवाँ ३ ॥ ‘ईडेन्पान्, नमस्याम नमभ्यान्, यजाम यज्ञियान्’ इति ।  
इडामहै तान् देवान्-य ईडन्या, नमस्याम तान्-य नमस्या, यजाम यज्ञियान्-इति ।  
मनुष्या वा ईडन्याः, पितरो नमस्या, दवा यज्ञिया ॥ ३ ॥





स होता नापञ्चाहरेत् आ वषट्कारात् । त वषट्काराग्न्यावव योनौ रेतोभूत  
सिञ्चति । अग्निर्वै योनियज्ञस्य-स तत प्रजायते ॥१४॥

स यद् " सोऽपञ्चाहरेत्-य यज्ञ उपावर्तते, यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेद्-एव ह स  
यजमान परासिञ्चेत् । स यत्र हैवमृत्विज सविदाना यज्ञेन धरन्ति-सर्वमेव तत्र कल्पते,  
न मृक्षति । तस्मादेवमेव यज्ञो भर्तव्य ॥ १५ ॥

ता वा एता पञ्च व्याहृतयो भवन्ति 'ओ आवय,' 'अस्तु औपद्,' 'यज,' 'ये  
यजामहे,' 'वौषट्' इति । पाङ्क्तो यज्ञ, पाङ्क्तः पशु, पञ्चर्त्तव संवत्सरस्य । एषैका  
यज्ञस्य मात्रा एषा सम्पत् ॥१६॥

तासां सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः । प्रजापतिर्यज्ञ । एषैका यज्ञस्य मात्रा,  
एषा सम्पत् ॥१७॥

'ओ आवय' इति वै देवा पुरोवात ससृजिर । 'अस्तु औपद्' इति अग्राणि  
समप्लावयन् । 'यज इति विद्युत्तम् । 'यं यजामह' इति स्तनयित्तुम् । वषट्कारेणैव  
प्रावर्षन् ॥१८॥

त यदि वृष्टिकामः स्यात्, यदीष्ट्या वा यजेत,—दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद् 'वृष्टि-  
कामो वा अस्मि' इति । तत्रो अज्यधुं ब्रूयात् पुरोवात च विद्युत्त च मनसा ध्याय'  
इति । 'अग्राणि मनसा ध्याय' इति अग्नीधम् । 'स्तनयित्तु च वर्ष च मनसा  
ध्याय इति होतारम् । 'सर्वायवेतानि मनसा ध्याय' इति ब्रह्माणम् । वर्षति हैव तत्र-  
यत्रैवं श्रुत्विज सविदाना यज्ञेन धरन्ति ॥१९॥

'ओ आवय' इति वै देवा विराजमभ्याशुबुधुः । 'अस्तु औपद्' इति वत्समुपावा-  
सृजन् । 'यज' इति उदनयन् । 'यं यजामह' इति उपासीदन् । वषट्कारेणैव विराज-  
मब्रूवत् । इयं वै विराट्, अस्मै वा एष दोहः । एवं ह वा अस्मै इयं विराट् सर्वान्  
कामान् दुहे-य एवमेतं विराजो दोहं वेद ॥२०॥

इति-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीय ब्राह्मण

चतुर्थप्रपाठके च तृतीय ब्राह्मण

उपरत-"सु ग्ब्राह्मण" नामकम्

या वै प्रजा यज्ञे अनन्वामक्ता -पराभूता वै सा । एवमेवैतत् या इम्य प्रजा अप  
रामृताः-ता यज्ञ आमजति । मनुष्यान् अनु पशव, देशान् अनु वयांस्यौपचयो वनस्पतयो  
यदिदं किञ्च-एवमु तत्सर्वं यज्ञे आमक्तम् ॥ ४ ॥

ता वा एताऽनव व्याहृतयो भवन्ति । नवेमे पुरुष प्राणा एतानेवास्मिन् एतद्  
दधाति । तस्मादव व्याहृतयो भवन्ति ॥ ५ ॥

## २-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगद —

यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । त देवा अन्वमन्त्रयन्त 'आ न शशु, उप न आवर्तस्व'  
इति । सः 'अस्तु तथा' इत्येव देवानुपावर्त्त । तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त । तेनेष्ट्वा एतद्  
अभवन्-यदिदं दवाः ॥ ६ ॥

स यदाश्रावयति-यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयते 'आ न शशु, उप न आवर्तस्व' इति ।  
अय यत्प्रत्याश्रावयति-यज्ञ एवैतदुपावर्त्तते 'अस्तु तथा' इति । तेनोपावृत्तेन रतसा भूतेन  
अत्विज संप्रदायं चरन्ति, यजमानेन पराचम् । यथा पूर्वापात्रेण सम्प्रदायं चरयु  
एवमनेन अत्विजः संप्रदायं चरन्ति । तदाचैवतत् संप्रदायं चरन्ति वाग् हि यज्ञा, वाग्  
उ हि रेत, तदेतेनैवैतत् संप्रदायं चरन्ति ॥ ७ ॥

सः 'अनुम हि' इत्येवोक्त्वा अच्युर्नर्पाभ्याहरेत्, नो एव होतापभ्याहरेत् । आभा  
वयति अच्युर् तदग्नीधं यज्ञ उपावर्त्तते ॥ ८ ॥

सोऽग्नीन्नापभ्याहरेत्-आ प्रत्याश्रावणात् । प्रत्याश्रावयत्पग्नीत्-तत् पुनराच्युं यज्ञ  
उपावर्त्तते ॥ ९ ॥

सोऽच्युर्नर्पाभ्याहरेत्-आ 'यज्ञ' इति वक्तो । यज्ञेत्यवाच्युर्होत्रं यज्ञ  
सम्प्रयच्छति ॥ १० ॥

स होता नापभ्याहरेत्-आ वषट्कारात् । तं वषट्कारस्याप्रावेव योनी रेतोभूत  
सिञ्चति । अग्निर्वै योनिर्धृत्स्य-स ततः प्रजायते-इति नु हविष्ये । अय साम्यऽच्चर ॥ ११ ॥

स गै ब्रह्म गृहीत्वाच्युर्नर्पाभ्याहरेत् आ उपाकरणात् । 'उपावर्त्तच्यु' इत्यवाच्युर्-  
रुग्गावृम्यो यज्ञं संप्रयच्छति ॥ १२ ॥

त उवृगातारो नापभ्याहरेत् आ उत्तमाया । एपोत्तमा' इत्यवोवृगाताग हाश्र यज्ञ  
संप्रयच्छन्ति ॥ १३ ॥

रूप त इसके शत्रु की प्रतिकृति है। (ऐसी स्थिति में) यदि वह होता (अध्यर्ग्यु को) दो (जुद्ध उपर्युक्त दोनो) सुखों के लिए प्रेरित करेगा तो यजमान के लिए द्वेष करने वाले शत्रु को यजमान की प्रतिस्पर्धा में लड़ा कर देगा (अर्थात् द्वेषी शत्रु को बलप्रदान करने वाला) सिद्ध होगा अतः एक ही जुद्ध के लिए प्रेरित करना उचित है)।

(अथ इसी की एक दूसरी उपपत्ति और वतझाते हैं) — अत्ता (भोक्ता) ही जुद्ध को लक्ष्य बनाता है, एवं आद्य (भोग्य) उपर्युक्त को लक्ष्य बनाता है। (अर्थात् जुद्ध निदानेन अत्ता की तथा उपर्युक्त आद्य की प्रतिकृति है) [ऐसी स्थिति में] यदि वह होता दो सुखों के लिए प्रेरित करेगा, तो अत्ता के लिए आद्य को प्रतिस्पर्धा लु बनावेगा। [अर्थात् भोक्ता भोग्य की तुलना में भोग्य को सबल बनावेगा। ऐसा न हो इसलिए] एक ही रूप से [एक सच के लिए] मन्त्र बोलता है ॥२॥

[अनन्तर] 'देवयुवं विश्ववाराम्' [देवताओं के सहयोग की इच्छा रखने वाली, तथा सम्पूर्ण देवताओं से वरणीय ऐसी जुद्ध के लिए मैं अध्यर्ग्यु को प्रेरित करता हूँ] यह मन्त्रोच्चारण करता है। वह होता इस जुद्ध की प्रशंसा हा करता है, बढ़ावा ही देता है, जो कि— 'देवयुवं विश्ववाराम्' यह कहता है। [अनन्तर] 'ईदमहै देवो ३॥ ईदम्बान्, नमस्याम नम-स्थान्, यजाम यज्ञियान्' [स्तुति करने योग्य मनुष्यों का मैं स्तुति करता हूँ, नमस्कार करने योग्य पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ एवं यजन में भाग लेने वाले-आहुति प्रदण करने वाले अतएव यज्ञिय' कहलाने वाले देवताओं का मैं यजन करता हूँ] यह मन्त्रोच्चारण करता है। मनुष्य निश्चयेन स्तुति करन योग्य है पितर नमस्य हैं एवं देवता यज्ञिय हैं ॥३॥

जो प्रजाएँ यज्ञ में भागारहित हैं [जिनका यज्ञ में भाग नहीं है], वे प्रजाएँ निश्चयेन पराजित हुई हैं। इसीप्रकार [ठीक इसके विपरीत] जो प्रजाएँ अपराजित हैं उन्हीं को यज्ञ में समाविष्ट करता है [अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ में जिन प्रजाचार्यों भाग नहीं लिया वे परास्त हुई एवं जिन्होंने यज्ञ में भाग लिया वे विजयिनी हुई। प्रकृत यज्ञ में उन विजयिनी प्रजाओं का ही समावेश किया जाता है]। मनुष्य को लक्षित कर पशुप्रजा देवताओं को लक्षित कर पक्षी ओप पियों वस्पतियों तथा [जिन का सृष्टिकर्म में उपयोग है यह] यह सबकुछ यज्ञ में समाविष्ट है ॥ ४ ॥

मूलानुवाद —

पाँचवें अध्याय में दूसरा, एवं चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण

“सुगन्धाष्टक”

१—सुगादापननिगद—

(पूर्व के प्रवरब्राह्मण में अश्वयु के द्वारा होने वाले यजमान विष्य अग्नि एवं मातृप होता के वरणकर्म की इतिकर्तव्यता बतलाई गई है। अब प्रकृत ‘सुगन्धाष्टक’ में ‘सुगादापन-कर्म’ का स्पष्टीकरण किया जाता है। कहा गया है कि, अश्वयु के द्वारा होतृत्वेन वृत् होता नामक अतिविक्रम अपने होत्रकर्म की निर्विघ्न-प्राप्ति के लिए स्वस्थान-होतृत्वन में प्रतिष्ठित होकर—‘एतत् त्वा देव मवितृष्टयते’ इत्यादि मन्त्रजप-साधन ‘स्वस्थयनजप कर्म करता है। इस कर्म के अनन्तर ही सुगादापनकर्म विहित है, जिसकी इतिकर्तव्यता कर्मप्राप्त्य आरम्भ करती हुई भूति करती है—)

(स्वस्थयनमन्त्रजप के अनन्तर होता नामक अतिविक्रम—‘अग्निर्होता वेक्ष्नेर्होत्रम्’ (प्राग्ग्निरुत्तराय विष्य होता इस अनुष्ठेय अपने होत्रकर्म को जाने) यह मन्त्र बोद्धा है। ‘इस (अनुष्ठेय कर्म) को विष्यग्निरूप यह होता जान’ मन्त्रभाग से यही कहा है। ‘अग्नि-होत्रम्’ इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि यह होत्रकर्म निश्चयेन अग्नि का ही है। (अनन्तर) ‘वेत्तु प्राप्तिम्’ (यह विष्यग्निरूप होता यह को जाने) यह मन्त्रभाग बोद्धा है प्राप्ति निश्चयेन—(‘प्रकर्षेण अवति’, इस व्युत्पत्ति से) यह यज्ञ है। (इस मन्त्रभाग से) ‘हता रक्षक यज्ञ को जाने’ यही कहा है। (अनन्तर) ‘साधु ते यजमान ! देवता’ (इ यजमान ! जिस तुझारा हता विष्य अग्नि है वह तुझारा देवता तुझारा निष्-कर्मसिद्धि के लिए साधु-योग्य है) यह मन्त्रोच्चारण करता है। मन्त्र से यही कहा गया है। (अनन्तर) ‘धृतवतीमध्वर्यो ! सुधमास्पस्व’ (हे अश्वयु ! आप धृतपूर्णा सुध का ग्रहण कीजिए) यह मन्त्रोच्चारण करता है। (इस मन्त्र के द्वारा होता) अश्वयु का (सुगादापनकर्म के लिए प्रेरित करता है। सा जो कि होता (अश्वयु को जुहू उपस्थान, इन दोनों में से) केषल जुहू के लिए प्रतिष्ठित करता है (उस की उपपत्ति बतलाते हैं) ॥१॥

यजमान ही जुहू को क्षर्य बनाता है (एवं) जो इस (यजमान के लिए) राधुता करता है, वह (यजमान का राधु) उपस्थान का क्षर्य बनाता है (अर्थात् जुहू निश्चयन यजमान की तथा

के [व्यवदेयता] वे दन गए जो कि [आप उन का] यह व्यवस्वरूप [त्रैलोक्यात्मक मन्त्रोत्तरमण्डल म प्रतिष्ठित] है । [अर्थात् व्यवदेयतायानें अनुनय विनय के द्वारा आपम छोटे हुए यज्ञकर्म से ही अपना व्यवस्व सुरक्षित रक्खा यज्ञ ही वर्त्ता का व्यवस्व घना ॥६॥

सो जो कि अभ्यर्च्यु [नामक अतिवक् श्रोत्रावय' इत्यादि रूप से] आभाषण कर्म करता है, अपने इस आभाषणकर्म से प्राकृतिक व्यवदेयतायाँ का भौति] यज्ञ को ही अनुनय विनय से बुझाता है कि आप हमारा सुनो हमारी ओर लाट आओ । [तात्पर्य्य अभ्यर्च्युक्त आभाषण-कर्म लोकांतर में गत यागस्वरूप-सम्पादक यज्ञ को स्व वैधव्य म आपस बुझाने के लिए ही विहित है] । [अभ्यर्च्यु कृत आभाषण के अनन्तर आग्नीध्र नामक अतिवक्-'अस्तु श्रोषट' इत्याकारक जो प्रत्याभाषणकर्म करता है-उम प्रत्याभाषणकर्म से वह पलायित यज्ञ वैसा ही हाँ इस स्वीकृति के साथ लौट आता है । [तात्पर्य्य आग्नीध्रकृत प्रत्याभाषणकर्म यज्ञ के स्वीकृति-पूर्वक आपम छोटे आन के स्थान म ही विहित है] । [उमप्रकार अभ्यर्च्युक्त आभाषण एवं आग्नी-ध्रकृत प्रत्याभाषण से ममीप आप हुए यज्ञ क बल से-यजमान को [इम यज्ञस्वरूपमस्यावानकर्म म] परोक्ष रक्षते हुए अतिवक् लोग सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं- [परस्पर एक दूसरे के प्रति योग्य इतिकर्ताव्यता का विभाजन करते हुए यक्षतिकर्तव्यता पूरा करते हैं] । [तात्पर्य्य-आभाषण प्रत्याभाषणरूप-वाङ्मय निगदकर्म से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है । इस म चारों अतिवक्ता का क्रमशः सहयोग रहता है । केवल यजमान इस निगदकर्म म भाग नहीं लेता] जिसप्रकार [लोक में किसी वृहत्पात्र को पूरा करने के लिए समर्थव अनक] व्यक्ति अपने भाग भाग की व्यक्तियों को जलपूरा घट पात्र माँपते हुए वृहत्पात्र पूरा कर देते हैं वर्यव इस पारस्परिक प्रदान-कर्म से इस यज्ञ के द्य । व अतिवक् सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं । (यहाँ पारस्परिक सम्प्र-दान किसी भौतिक द्रव्य का नहीं हाता अपितु केवल वाक्प्रयोग लक्षण निगदमन्त्र-प्रयोग से ही सम्प्रदानानुगमन होता है । इसी अभिप्राय को अव्यक्त करता हुआ भूति कहती है कि) इस वाक् (वाङ्मय निगदमन्त्रप्रयोग) क द्वारा ही सम्प्रदान-पूर्वक अतिवक् लोग अनुष्ठान करते हैं । वाक् ही यज्ञ है और वाक् ही निधनय यज्ञका रव है । अतः वाक् क द्वारा ही सम्प्रदानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते हैं ॥ (७) ॥

(आभाषण प्रत्याभाषण-कर्म के पारस्परिक सम्प्रदान से सभी अतिवक्ता का व्यवस्थितरूप स शान्त अनुष्ठान-युक्ति में रहना आवश्यक है । इस निगदकर्म म उह उतना ही कुथ्य दोलना है जितन वर निगदकर्म से सम्बन्ध है । प्रस्तुतानुपयागिनी लौकिकप्राप्ता अथ मयथा निपिड है । इसी विगपादश वर स्पष्टीकरण करती हुआ भूति कहती है कि) यह अभ्यर्च्यु (अपन मुन्व से हागा

ठमप्रश्न [ पूर्व-कथनानुसार स गादापनकर्म से सम्बन्ध रखने वाले 'सुगादापननिगद' ] मन्त्र की ६ व्याहृतियों [ पाथ्य ] होजाती हैं \* । पुरुष [ आध्यात्मिकयज्ञ ] में नी [ मातृ शीर्षक्य दो अयाश्चप्राण सम्भूय ६ ] प्राण हैं । [ नषव्याहृत्यात्मक इस स गादापनमन्त्र से ] वह होता अपने इस वैध आधिभौतिक यज्ञ में इन्हीं ६ प्राणों को स्थापित करता है । इसी [ नषप्राणाधानसम्पत्ति के लिए ] सुगादानमन्त्र की ६ व्याहृतियाँ होती हैं ॥ [ ५ ] ॥

## सुगादापननिगदसमाप्त

—१—

### २—आश्रावण-प्रत्याश्रावणनिगद—

'अग्निर्होता देववर्गर्होत्रम्' इत्यादि नषव्याहृत्यात्मक होत्रकर्तृक 'सुगादापन कर्म के अनन्तर-अध्वर्यु, होता उद्गाता ब्रह्मा इन चारों अस्तित्वों के सहयोग से आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्मोत्तिष्ठतव्यता सम्पन्न होती है । एक दूसरे अस्तित्व का एक दूसरे अस्तित्व के प्रति यज्ञस्वरूप की महिमा का वर्णन-बखान-ही आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म कहलाता है । वह कर्म किया क्यों जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम एक वैज्ञानिक आख्यान उद्धृत हो रहा है, जिसका तात्त्विक विश्लेषण विवेचना प्रकरण में होगा । मौखिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले उसी वैज्ञानिक आख्यान का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—[ किसी युग में ] यज्ञ देवताओं को जोड़कर चला गया । [ लोकान्तर में पलायित उस ] यज्ञ को देवताओं ने वड़े अनुत्तम विनय के साथ बुलाना आरम्भ किया कि [ हे यज्ञदेव ! ] तू हमारी सुनो [ मानो ] हमारी ओर लौट आओ । [ देवदेवताओं की अनुत्तम विनय युक्त वाणी से प्रभावित होकर लोकान्तर में गया हुआ ] वह यज्ञ वेसा ही हो [ वह स्वीकृति-गर्जन ] कहता हुआ वेधों की ओर लौट आया । समीप लौट हुए उस यज्ञ से देवोंने अपना यागकर्म संपन्न किया [ यज्ञोत्तिष्ठतव्यता पूरी की ] । इस यज्ञ से प्रश्न कर

\* १—“अग्निर्होता” ।

६—“देवयुवं विश्ववारात्” ।

२—“देववर्गर्होत्रम्” ।

७—“ईडामहे देवा ३॥ ईडेन्यान्” ।

३—“वेध प्रावित्रम्” ।

८—“नमस्याम नमस्यान्” ।

४—“साधु ये यजान ! देवता” ।

९—“यनाम यद्विपान्” ।

५—“धृतवतीमध्वर्यो ! स चमाच्यस्य” ।

इति—सुगादापननिगदव्याहृतयः [ ६ ]

(अभ्यर्च्युक्त उपावर्षाद्यम्' निगद से यज्ञसम्पत् से युक्त होजानेवाले) ये उद्गाता लोग जयतक (अपनी स्त्रोत्रियाओं में से) अन्तिम स्त्रोत्रिया का उद्गातन न करलें तबतक अभस्तुत कुछ न बोलें। (स्त्रोत्रिया की समाप्त्यनन्तर उद्गातालोग अन्त में होता को लक्ष्य बनाकर—'एपोत्तमा' यह अन्तिम स्त्रोत्रिया है—इस निगद का उच्चारण करते हैं। श्रुति कहती है कि) उद्गातालोग 'एपोत्तमा' इस उच्चारण से ही होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देते हैं—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसन्त से युक्त होजाता है) ॥ (१३) ॥

(उद्गातृकृत स्त्रोत्रियोद्गातनकर्म की अन्तिम स्त्रोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले 'एपोत्तमा' इस निगद से यज्ञसंपत् से युक्त होजाने वाला) यह होता जयतक यह वीपट रूप से वपट्कार न करले, तबतक अभस्तुत कुछ न बोलें। (होतृकृत वपट्कारानन्तर वपट्कार के साथ ही) अभ्यर्च्यु वपट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निजलक्षण योनि में उस (नियत 'ग्रह' नामक सोमरूप) रत की आहुति दे देता है। अग्नि निखवेन यज्ञ की योनि है। इसी में (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिराय, जिस के आकषण से यजमान मानुषात्मक ऐश्वर्योक्त आभ्युर्गोमानन्तर त्रिधाचि-केतस्वगे में प्रतिष्ठित होगा) उत्पन्न होता है। (सोमयाग के सम्बन्ध में वाक्संयमकर्म की यही प्रासङ्गिकी सीमांसा है) ॥ (१४) ॥

(आभाषण प्रत्याभाषण-निगदकर्म में यदि अश्रित्व लोभ अभस्तुतवाक् का उच्चारण करें तो क्या अनिष्ट हो ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि यह अश्रित्व अभस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा तो (यह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है, (अभस्तुत वागुच्चारण से उन्नत यज्ञसन्तान का विच्छेदक बनता हुआ यह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से दूर कर देगा जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्तपात्र को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति अमावसानी से) उस पूषपात्र को टिँक कर देते हैं (रख देते हैं)। (तात्पर्य-लौकिक कर्म जैसे अन्नसृष्टि से अपूर्ण रह जाता है एवमेव अभस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म स्वसन्तानधारा को तो हुआ अपूर्ण रह जायगा एवं यही अभस्तुत वागुच्चारण से महान् अनिष्ट होगा)। (ठीक इसके विपरीत) जिस यजमान के यज्ञ के [आभाषण-प्रत्याभाषण-निगदकर्म में] अश्रित्व लोभ [अभस्तुतवाक् का संयम करता हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगदकर्म का अनुगमन करते हैं उस कर्म में सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तियाँ] सम्पन्न होजाती हैं इस सावधानी से कोई भी अश्रित्व अपने लक्ष्य से द्युत नहीं होता। इसलिये [अश्रित्व का चाहिए कि] वे इमप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञोत्कर्त्तात्मता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूर्ण] करें ॥ (१५) ॥

नामक अत्विक् से प्रति अनुवाक्या के लिए प्रैप करता हुआ) केवल 'अनुम् हु' [अनुषचन करो] इतना भर कह कर अप्रासङ्गिक और कुछ न बोले। नाही होता ही और कुछ अप्रासङ्गिक उचारण करे। [क्योंकि अथर्व्युक्त प्रैप से अनुषचन-द्वारा होता मं भी धारुरूप यह का समावेश होजाता है]। [अनन्तर] अथर्व्यु [आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर 'ओभावय' इत्यादिरु से] आभावण करता है। इस आभावण से यह आग्नीध्र के समीप खीट जाता है [आग्नीध्र यज्ञसन्तान से मुक्त हो-जाता है] ॥[८]॥

क्योंकि अथर्व्युक्त आभावण से आग्नीध्र में यज्ञसम्पत् का समावेश होगया है, अतएव जबतक आग्नीध्र ['अस्तु औपट' इत्यादिरूप से] प्रत्याभावण न करले तबतक यह निष्प्रयोजन कुछ न बोले। [अथर्व्युक्त आभावण के अनन्तर ही अन्य निष्प्रयोजन वाक् का संयम करता हुआ] आग्नीध्र ['अस्तु औपट' रूप से अथर्व्यु के प्रति] प्रत्याभावण करता है। [आग्नीध्रकृत] इस प्रत्याभावणकर्म अथर्व्युक्त आभावणकर्म का ही समाधान है ॥ [६] ॥

[आग्नीध्रकृत प्रत्याभावण से यज्ञसम्पत् से युक्त हुआ] वह अथर्व्यु जबतक [होता के प्रति] 'यज्ञ' [यजन करो] इस निगद का प्रैप न करले तबतक अन्य कुछ निष्प्रयोजन न बोले। अपन यज्ञ' इस प्रैप से ही अथर्व्यु होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देता है [फलस्वरूप यहाँ आकर होता भी यज्ञ सम्पत् से युक्त होजाता है] ॥[१०]॥

[अथर्व्युक्त 'यज्ञ' निगद के द्वारा यज्ञसम्पत् से युक्त होता हुआ] वह 'होता' जबतक 'औपट' निगद का उचारण न करले तबतक अन्य कुछ अप्रस्तुत न बोले। [होता के मुख से औपट सुनने के साथ ही] अपट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निजलद्वारा योनि में उस [नियत यज्ञिय] इषित्र' न्यरूप रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निष्प्रयोजन यज्ञ की योनि है। इसी में 'दितोभूत इषि' प्रदान से] यज्ञ [वैश्वमेधजल स्वर्गप्राप्त यज्ञातिराय] उत्पन्न होता है। इषियज्ञ के सम्बन्ध में वाक्संयम की [अत्विजमानुगत] यही [यक्त] व्यवस्था है। अब [प्रसङ्गोपात्] सोमयज्ञ में [होत वाली वाक्संयमव्यवस्था के सम्बन्ध में भी कह दंत हैं] ॥[११]॥

(सोमयाग में) वह अथर्व्यु (सोमरस से परिपूर्ण अक्षयज) ग्रह (सोमपात्र) का ग्रहण कर जबतक अग्नात्मयोग स्तोत्रपात्रलक्षण उपाकरणकर्म न करले तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोले। (ग्रहपात्र-ग्रहयानान्तर अग्नात्मयोग के प्रति अथर्व्यु 'उपावर्षध्वम्' (समीप खीट आश्य) इस वा यपोवाच्यमात्र से यज्ञसम्पत् अग्नात्मयोग के लिए समर्पित कर देता है। [फलस्वरूप अग्नात्मयोग यज्ञसम्पत् से मुक्त होजाते हैं] ॥ [१२] ॥



(अभ्यर्च्युक्त उपावर्तध्वम्' निगद्य से यज्ञसम्पत् संयुक्त होजानेवाले) ये उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओं में से) अन्तिम स्तोत्रिया का उद्गान न करलें, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (स्तोत्रिया की समाप्त्यनन्तर उद्गातालोग अन्त में होता को लक्ष्य बनाकर—'एपोत्तमा यह अन्तिम स्तोत्रिया है—इस निगद्य का उच्चारण करते हैं। भवि कहती है कि) उद्गातालोग) 'एपोत्तमा इस उच्चारण से ही होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर दत्त हैं—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है) ॥ (१३) ॥

(उद्गातृकृत स्तोत्रियोद्गानकर्म की अन्तिम स्तोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले 'एपोत्तमा' इस निगद्य से यज्ञसंपत् से युक्त होजाने वाला) यह होता जबतक यह वाँपट रूप से षपट्कार न करले, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (होतृकृत षपट्कारानन्तर षपट्कार के साथ ही) अभ्यर्च्यु' षपट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निसंक्षय योनि में उस (नियत 'ग्रह' नामक सोमरूप) रत्न की आहुति दत्ता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिशय, जिस के आकषण से यजमान मानुषात्मक ऐहलौकिक आयुर्भोगानन्तर त्रिधाचि-कैतव्यग में प्रतिष्ठित होगा) उत्पन्न होता है। (सोमयाग के सम्बन्ध में वाक्सयमकर्म की यही प्रासङ्गिकी मीमांसा है) ॥ (१४) ॥

(आभाषण प्रत्याभाषण—निगद्यकर्म में यदि अश्विक् लोग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करें तो क्या अनिष्ट हो? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई भुवि कहती है कि) यदि वह अश्विक् अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर दगा तो (वह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत् को प्राप्त करता है (अप्र-स्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञमन्त्रान का विच्छेदक बनता हुआ वह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से वृथक् कर दगा जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्तपात्र को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति असाधवानी से) उस पूर्णपात्र को रिक कर दत्त हैं (रक्ष देते हैं)। (वात्सर्ग्य-लौकिक कर्म जैसे अभ्यर्च्यु से अपूर्य रह जाता है, एवमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म स्वसन्तानधारा सोता हुआ अपूर्य रह जायगा एवं यही अप्रस्तुत वागुच्चारण ने महान् अनिष्ट होगा)। (टीक इसके विप-रीत) जिस यजमान के यज्ञ क [आभाषण—प्रत्याभाषण—निगद्यकर्म में] अश्विक् लोग [अप्रस्तुतवाक् का संयम करते हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगद्यकर्म का अनु-गमन करते हैं, उस कर्म में सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तिर्था] सम्पन्न होजाती हैं इस साधवानी से कोई भी अश्विक् अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। इसलिए [अश्विर्जा को बाह्य कि] वे इसप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञतिक्रान्तव्यता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूर्ण] करें ॥ [१५] ॥

[प्रस्तुत निगद क्रम में पाँच व्याहृतियाँ होती हैं। इस पञ्चसंख्या की मौखिक उपपत्ति बतलाती हुई भुति कहती है]—[इस आभाषण-प्रत्याभाषण-क्रम में] निम्नयेन ये [निम्न लिखित] पाँच व्याहृतियाँ होती हैं—‘ओ, आवय’—अ तु औपट्—‘यज’—‘य यजामह’—‘वौपट’।

[प्राकृतिक सम्बन्धसंज्ञा, सम्बन्धसंज्ञाधारेण वितायमान प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ य दोनों] यज्ञ पञ्चावयव हैं, [यज्ञ से उत्पन्न] पशु [भी] पञ्चावयव हैं, [प्राकृतिक] सम्बन्धसंज्ञा [यज्ञ] की [भी] पाँच [ही] श्रुतियाँ हैं। यही [पञ्चावयवयुता ही] इस यज्ञ की एक सीमित [प्राकृतिक] सम्पत् है। [इसी प्राकृतिक सम्पत्-संग्रह के लिए यहाँ पाँच व्याहृतियाँ विहित हैं] ॥ [१६] ॥

उन पाँच व्याहृतियों के अक्षर १७ होते हैं। इस सप्तदश संख्या की उपपत्ति बतलाती हुई भुति कहती है कि, उन पाँच व्याहृतियों के (ओ आ इ-य अ-स्तु-ओ-पट-य-ज-ये-य-जाम-ह वौ-पट्-इस क्रम से) संग्रह अक्षर हैं। प्रजापति निम्नयेन संग्रह [संख्या से समतुलित सप्तदश-वयव] है। प्रजापति [ही] यज्ञ है। यह [भी] इस यज्ञ की एक [प्राकृतिक] सीमा है यह [भी] इस यज्ञ की सम्पत् है। [इसप्रकार पञ्चव्याहृतियों के सप्तदश अक्षरों से सप्तदश-संख्या प्रजापत्य-सम्पत् भी प्राप्त होजाती है] ॥ [१७] ॥

(एक पाँच प्राकृतिक व्याहृतियों से प्राकृतिक साम्बन्धसंज्ञा-प्राणवेवताओं के द्वारा इष्टिकर्म भी सम्पन्न है। फलतः इस वैच मालुप यज्ञ में भी यदि यजमान इष्टिकामना रखता है तो उस की एक विशेष-पदति के अनुगमन से यह कामना भी पूरी होसकती है। उसी प्राकृतिक विशेष-पदति का विरक्षेण करती हुई भुति कहती है) — (प्राणसंख्या) ऋक्वेवताओं में ‘ओ, आवय’ इस व्याहृति से (इष्टिप्रवर्तक) ‘पुरोवात (पुरवाई इवा-मा-सून)’ उत्पन्न की। अस्तु औपट् से (आकाश) बरहों से व्याप्त कर दिया। ‘यज’ इस व्याहृति से विजहती उत्पन्न की। ‘ये यजामह’ इस व्याहृति से ‘कृकृक’ उत्पन्न की। एवं-‘वौपट’ इस व्याहृति से पानी बरसा दिया। (इसप्रकार पाँच व्याहृतियों के समन्वय से इष्टिकर्म पूरा कर दिया एवं करने रहते हैं ॥ [१८] ॥

यह यजमान यदि युधि की कामना रखता हो वही यजमान पशुसन्त-साधनमूला सारी भावि इष्टि से यजन करने वाला हो तो उसे [इष्टिप्रकृतिमूला इस] वरापूषमासेष्टि से ही [श्रुतिजों से] यह कह देना चाहिए कि, मैं युधि की इच्छा रखता हूँ। इस इष्टिकर्म में उस यजमान को ‘अध्वर्यु’ से तो यह कहना चाहिए कि, तुम अपने मानस मन्त्रण से पुरोवात, और विद्युत्, का ध्यान करो। ‘आग्नीध्र’ नामक श्रुतिवत् से यह कहना चाहिए कि, तुम मन

से वदलों का ध्यान करो। 'होता' नामक श्रुत्यिक् से यह कहना चाहिए कि, तुम स्तनयित्तु, और पानी का ध्यान करो। 'ब्रह्मा' नामक [ त्रैविश ] श्रुत्यिक् से यह कहना चाहिए कि, आप पुरोवातादि सब का मन से ध्यान कीजिए। अथर्व्य ही [ यजमान के ] उस यज्ञ में पानी बरसता है, जिस यज्ञ में (उक्त) श्रुत्यिक् अपने (उक्त संकल्पा के समन्यय से—पञ्चव्याहृतिलक्षण—यज्ञ में) एकमत्य होकर अनुष्ठान करते हैं ॥ [१६] ॥

अपने प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ में प्राणवृक्षता पञ्चव्याहृत्यात्मक इसी प्रत्याभावरण-कर्म से अपनी सम्पूर्ण यज्ञकामनाएँ विराड्गौरूपा इसी पृथिवी से दोहा करते हैं। इसी एक ओर प्रासङ्गिक फल का विरलेपण करती हुई भुवि कहती है कि) 'ओआवय' इस व्याहृति से देव-वृक्षतामाने विराट् (गौरूपधरा पृथिवी) का आह्वान किया। 'अस्तु औपट्' इस व्याहृति से [ स्तनपानाथ ] वत्स को पारा से मुक्त किया। 'यज' इस व्याहृति से वत्स को पूषक् किया। 'य यजामह' इस व्याहृति से [ बोहनाथ ऊब-धन ] के समीप बैठ गए। पर्व- 'औपट्' इस वपट्कारात्मिका व्याहृति से ही उस विराट् का वाहन कर लिया। यह पृथिवी ही निश्चयेन विराट् है। इसी का यह [ उक्त लक्षण ] दोह है। [जिसप्रकार प्राकृतिक प्राणवृक्षता इस विराट्-रूपधरा-गौरूपधरा-पृथिवी के दोहन से अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी किया करते हैं] उसीप्रकार यह विराड्गौ इस यजमान के लिए वे सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान कर रही है, जो विराट्गौ के एकलक्षण प्राकृतिक दोह का रहस्य जानना है ॥ [२०] ॥

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगद-समाप्त

—२—

पाँचवें अध्याय में दूसरा, तथा चौथे प्रपाठक में तीसरा  
 "सुगुणाद्वय" समाप्त  
 मूलानुवाद-समाप्त

## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

### १, २ — सुगापादन, तथा आश्रावणकर्म

धुर्यकर्म की समाप्ति के अनन्तर 'होता नामक अद्वितीय अभ्यर्च्य' की अग्नीध्र क असवेश में स्पर्श करता है। इस होतृकर्षक सम्मर्शन [ स्पर्श ] कर्मानन्तर अभ्यर्च्य, अग्नि आग्नीध्र दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं—जैसा कि— 'सम्पृष्टा उपविशतः' (का० भौ० सू० ३।२।१५) इत्यादि सूत्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगता इस पद्धति के अनन्तर क्रमपाठ 'सुगादापनकर्म' की इतिकृत व्याप्ता आरम्भ होती है। अन्यत्र जहाँ तूष्णीं बिना मन्त्रप्रयोग के सुगादापनकर्म होता है, वहाँ प्रकृत इति में मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही सुगादापन विहित है। वरणकर्म से प्रुत होता 'अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि मन्त्रलक्षण सुगादापननिगद का पाठ करता है। उचर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है, उचर अभ्यर्च्य सुह-उपसृत नामक सुचा का ग्रहण करता है। यही सप्तमक सुगादापनकर्म है। होतृकर्षक निगदमन्त्र के— अग्निर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्र वेत्तु पाप्मि साधु देवता—योऽग्नि हातारमवृषा धृतवतामध्वर्यो सुचना-स्पस्व देवयुवं विस्त्रवारामीडामहै देवाँ ३॥ इतित्याद्यस्यस्याम तस्यस्यान् यजाम यज्ञियान्' इस स्वरूप के उच्चारण में भी थोड़ी विरोधता है। आरम्भ से 'यजामातृवृता' पद्यन्त तो होता उपाधु-मन्त्रस्वरपूर्वक-उच्चारण करता है। योऽग्नि० से आरम्भ कर यजाम यज्ञियान् पद्यन्त उच्चारण से आरम्भ करता है। जिस समय होता के मुख से धृतवतामध्वर्यो ! सुचनास्पस्व' उच्चारित होता है, उसी क्षण [ यजामातृवृतामध्वर्यो ! सुचनास्पस्व ] अभ्यर्च्य सुचा का ग्रहण करता है। होतृकर्षक निगदपाठकाळ में अभ्यर्च्य के द्वारा सुचा-ग्रहण ही 'सुगादापनकर्म' है यही निष्कर्ष है।

सूत्रानुगतापन कहते हैं कि सुगादापनकर्म प्रयागकर्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही सुगादापनकर्म करना चाहिए। होता के द्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र के— 'धृतवताम' भाग के उच्चारित होने पर अभ्यर्च्य सुह-उपसृत नामक सुचा का ग्रहण कर इतिक्रम से पूर्व परिचियों से पश्चिममार्ग से ग्रामपथ से यज्ञ के इच्छित पार्श्व में जाकर—'यजति' गहरा माना गया है जाकर ईशानाभिमुख खड़ा होजाता है। यहाँ खड़ा होकर यह—'ओ धावय यह व्याहति [ अग्नीध्र क प्रति ] बालता है। प्रत्युत्तर में आग्नीध्र-अस्तु भौपद इस व्याहति का प्रयोग करता है। अनन्तर पुनः अभ्यर्च्य होता को लक्ष्य बना कर—समिधो यज इस व्याहति का उच्चारण करता है। प्रत्युत्तर में हाता—य यजामह इस व्याहति का उच्चारण करता है। सर्वांग में अभ्यर्च्य सुह को मातृपूज बनाता हुआ भौपद इस वपदकात्मिक व्याहति का

उच्छ्वसन के साथ माथ जुहुस्थित आग्य में तृतीयंश की आहुति दे दता है। सुगादापन, तथा आभाषण—प्रत्याभरण—कर्म की इसी इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१)—अग्निर्होतेति सुगादापन प्रयाज्ञेषु समिधे । (का० श्रौ० सु० ६।२।१३।)

(२)—घृतवतीमित्युक्ते स्रचावादाय, असिकम्प, आभाष्य आह— समिधो यजे-  
ति । (का० श्रौ० सू० ३।२।१७।)

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह.

## वैज्ञानिक-विवेचना—

### १—सुगादापनकर्मोपपत्ति

(भाष्य) आध्वयु कृत वरणाकर्म से श्रुत होता स्वस्वयनस्रप-कर्मानन्तर अग्निर्होता-वेत्त्वग्नेर्होत्रम्—  
इत्यसि ब्राह्मणपद्धित सुगादापननिगद्य का पाठ करता है। वरणाकर्म से श्रुत यह मनुष्यहोता अपने स्वा-  
भाविक श्रौ-वैदिक-सहस्रस्मिन्-अनृतमाव से प्रज्ञापराध का सहस्र पात्र है। असावधानी कर बैठना मनुष्यत्वेन  
इसका स्वभाव है। यज्ञकर्म जैसा प्राकृतिक कर्म है जिसमें होबानेवाली धाँड़ी भी असावधानी यज्ञस्वरूप को  
विकृत कर देती है। फलस्वरूप इहवनक भी यह यज्ञ अनिष्टवनक बन सकता है। इस अनिष्टवनकताप्रवणक  
मानुष्यदेव के निराकरण के लिए यह मनुष्यहोता अपने होत्रकर्म का उत्तरदायित्व मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक  
प्राथात्मक दिव्याग्निस्वरूप दिव्यहोता को समर्पित करता हुआ उसे ही लक्ष्य बनाता हुआ कहता है कि—  
'मैं इस यज्ञ का होना नहीं हूँ। होता ना दिव्याग्नि है। जो वास्तविक होता है वे ही अपने  
इस होत्रकर्म की इतिकर्तव्यता का ध्यान रखें। मुझसे जो असावधानी होगी वह वहीं की  
असावधानी मानी जायगी।

लौकिक कर्म ही अथवा वैदिक ( शास्त्रीय ) कर्म दोनों के लिए प्रेरणाकर्म हमें प्राकृतिक प्राण-  
देवताओं से ही मिलता है। होता है मनुज प्राणदेवताओं की प्रेरणा से ही हम करते  
सब कुछ है—प्राकृतिक बल—प्रेरणा से ही। परन्तु योगमाया के कचन से अहन्तामिमान  
हमें होता रहता है। हम यह मान बैठते हैं कि हम ही मनुज कर रहे हैं जबकि सत्त्व-  
तृणस्य कुञ्जोकरणेऽप्यशस्त्र सिद्धान्तानुसार उन प्राकृतिक शक्तियों के आगे हमारी स्वतन्त्र-  
सत्ता का कुछ भी तो मूल्य नहीं है। केनापि द्यवन इवि स्थितेन यथानियुक्तेऽस्मि तथा करोमि के  
अनुसार हृदयावलिखित दिव्यप्राणशक्तिपन अन्तर्ध्यामी की प्रेरणा से ही हमारा सम्पूर्ण कर्मकलाप सम्मालित  
है। जो व्यक्ति अपने कर्मों में हृदयस्थ देवप्राणमूर्ति इस अन्तर्ध्यामी को साक्षी बनाए रहता है निरवयन  
इस आध्यात्मिक सावनामात्र से उसका कर्म मानुषमात्र से पृथक् रहता हुआ सफल होता है। यही भारतीय  
भक्तिवाद का सुप्रसिद्ध 'आत्मसमर्पण लक्षण' भक्तियोग है जिसके अनुगामी मन्त्र सदा निर्द्वन्द्व ही  
बने रहते हैं।

## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

### १, २ — सुगादापन, तथा आश्रावणकर्म

धरणीकर्म की समाप्ति के अनन्तर 'होता' नामक ऋषिक् अभ्यर्च्युं और अग्नीध्र क असवरा में स्पर्श करता है। इस होतृकर्त्तृक सम्मर्शन [ स्पर्श ] कर्मनन्तर अभ्यर्च्युं और आग्नीध्र दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं—जैसा कि—'सम्भृष्टा उपविशतः' (का० मी० सू० ३।२।१५) इत्यादि सूत्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगता इस पद्धति के अनन्तर क्रमपाठ 'सुगादापनकर्म' की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ होती है। अन्त्यत्र अहाँ तृप्ती बिना मन्त्रप्रयोग के सुगादापनकर्म होता है, वहाँ प्रकृत इष्टि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही सुगादापन विहित है। वरयकर्म से वृत्त होता 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि मन्त्रलक्षण सुगादापननिगद का पठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है उधर अभ्यर्च्युं जुहू-उपभृत् नामक सूक् का प्रहण करता है। यही सप्तत्रय 'सुगादापनकर्म' है। होतृकर्त्तृक निगदमुन्त्र क—'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्र वेत्तु पावित्र्यं साधु देवता—योऽग्निं हावरासङ्घा घृतवतामध्वर्यो सुचमा-स्यस्य देवयुवं विष्णवारासीहामहै देवो ३॥ ईडेत्याद्यमस्याम तप्तस्यान् यज्ञाम यज्ञियान्' इस स्वरूप के उच्चारण में भी बोधी विरोधता है। आरम्भ स 'सज्जमानवधवा' पर्यन्त तो हावा व्यास-मन्त्रस्वरपूर्वक-उच्चारण करता है। 'योऽग्निं०' से आरम्भ कर 'यज्ञाम यज्ञियान्' पर्यन्त उच्चारण से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से 'घृतवतामध्वर्यो ! सुचमास्यस्य' उच्चरित होता है, वही समय [ एतन्मन्त्राणोच्चारणकाल में ही ] अभ्यर्च्युं सूक् का प्रहण करता है। होतृकर्त्तृक निगदपाठकाल में अभ्यर्च्युं क द्वारा सूक्-प्रहण ही 'सुगादापनकर्म' है, यही निष्कर्ष है।

सुग्रीवः कस्यापन कहते हैं कि, सुगादापनकर्म प्रयागकर्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही सुगादापनकर्म करना चाहिए। होता के द्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र के 'घृतवताम' भाग के उच्चरित होने पर अभ्यर्च्युं जुहू-उपभृत् नामक सूक् का प्रहण कर इष्टियों से पूर्व परिधिओं से पश्चिममार्ग से ग्रामपाथ से ध्वज के दक्षिण पार्श्व में जोकि—'यज्ञति' गदरा माना गया है जाकर ईरानाभिमुख खड़ा होजाता है। यहाँ खड़ा होकर वह—ओ आवय यह व्याहति [ अग्नीध्र के प्रति ] बोलाता है। प्रत्युत्तर में आग्नीध्र-अक्षु औपद इस व्याहति का प्रयोग करता है। अनन्तर पुनः अभ्यर्च्युं होता को लक्ष्य बना कर—समिधो यज्ञ इस व्याहति का उच्चारण करता है। प्रत्युत्तर में हावा—य यज्ञामह इस व्याहति का उच्चारण करता है। सराव में अभ्यर्च्युं जुहू को प्राङ्मुख बनाता हुआ औपद इस उपदकारिमन्त्र व्याहति का



प्रकृत में होता—‘साधु ते०’ इत्यादि मन्त्र के द्वारा यजमान की कर्म्मनिष्ठा को ही प्रेरणाशक्त प्रदान कर रहा है। यजमान का आत्मविश्वास भी तो यह ही सफलता के अन्यान्य कार्यों में से एक अत्यन्तम कारण है। इसी भावना का स्पष्टीकरण करती हुई भुक्ति कहती है— ‘साधु ते यजमान वचता, यस्व तऽग्निर्होता’ इत्येवैतद्वाह ।

मन्त्र का अगस्त्य भाग है—‘धृतवतीमध्वर्यो सुचमास्तस्य’ । यह वाक्य अध्वर्यु को सत्त्व बना कर कहा जाता है। अग्नि के अनुग्रह—प्राप्ति का अर्थ है—अग्निदेवता का यज्ञीना में प्रविष्ट होमान् । होत्र-कर्म को आप सत्त्व बनायें यज्ञ को सत्त्व बनायें यजमान । अब तुझारा यह कार्य सफल हुआ समझ जहाँ अग्नि जैसे होता ने अनुग्रह कर दिया । इस भावना को व्यक्त करने वाले निगदमन्त्रभाग से अध्वर्युमेव प्राणानि यज्ञमद्वल्य में प्रविष्ट होजाते हैं । आगत अग्निदेव की परिचर्या उसी व्यवहारमर्यादा की भाँति आचर्यक है । वैतेकि आगत सम्मान्य अतिथि का अर्घ्यदानादि से सम्मान किया करते हैं । अग्निदेव की परितृप्ति से सम्पन्न रहने वाली आन्याहुति है । यह आहुतिकर्म्म अध्वर्यु से सम्पन्न रहता है । अतएव अनुग्रह—प्राप्त्यनन्तर होता का यह भी आचर्यक कर्त्तव्य होता है कि, वह आगत सम्मान्य अतिथि के स्वागत से सम्पन्न रहने वाले आन्याहुतिकर्म्म की ओर आहुतिप्रदाता अध्वर्यु का ध्यान आकर्षित कर दे । एकमात्र इसी अभिप्राय से अध्वर्यो ‘आप धृतवती सुक् का ग्रहण कर’ ( क्योंकि आहुतिप्राप्त अग्निदेव पक्षर आप हैं ) यह प्रेरणात्मक मन्त्र भाग प्रयुक्त हुआ है । जिसका तात्पर्य—‘तदध्वर्युं प्रसीति’ इस वाक्यवचन से स्पष्ट हुआ है ।

पदतिप्रकरण में यह कहा जाचुका है कि होता के मुख से ‘धृतवतीम्’ म्वाहुति के उच्चरित होते ही अध्वर्यु उद्ग उपसृत् नामक दोनों सत्त्वों को आहुति के लिए हाथ में ले लेता है । ग्रहण होता है उद्ग-उपसृत् दोनों का । परन्तु होता के द्वारा ग्रहण की प्रेरणा होती है—केवल एक ( उद्ग ) सुक् की ही । ऐसा क्यों ? जब पदति में दोनों का ग्रहण विहित है तो मन्त्रभाग में भी ‘धृतवतीम्’ सुक् इत्यादि रूप से द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था । इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई भुक्ति कहती है कि—(१)—निदानविधा के अनुसार उद्ग नामक सुक् यजमानस्थानीया है एवं उपसृत् नामक सुक् यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है । इसके अतिरिक्त उद्ग अक्षा की प्रतिकृति है तो उपसृत् अक्षा ( मोक्ष ) की । ऐसी स्थिति में यदि होता ‘सुहृत्पशुतावास्तस्य’ इत्यादि रूप से द्विवचन का प्रयोग करेगा तो यजमान का शत्रु यजमान के लिए प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा । इसके अतिरिक्त मोक्ष—उपसृति भी मोक्षा यजमान के लिए प्रतिकूल बन जायगी ।

भावनात्मिका यज्ञप्रक्रियाओं का फलफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है । एवं इन भावनाओं के मूलाधार उसीपक्षर आधिभौतिक यज्ञिय ब्रह्म हैं जैसा कि उपासनाकारण में उपास्य की मार्ग के लिए उपास्य के अकिंचित् सम्पन्नो से समस्तानि आधिभौतिक पदार्थों में आह्वार्यारोपविधा से उपास्य की कल्पना कर ली जाती है । इसी आह्वार्यारोपविधा के आधार पर उपसृत् को शत्रुभावना से एवं भोष्यभावना से युक्त समझा जाता है । उद्ग को यजमान की भावना से तथा मोक्षा की भावना से युक्त मानसिया जाता है । उपसृत् को उद्ग की तुलना में स्वना शत्रु को समान पक्षपाती ही बनाना है । भाष्य को प्रतिकूल ही बनाना है । यह भावना यजमान के लिए अनिहकर ही बनती है । अतः एकवचन का ही प्रयोग किया जाता



है। महत् होना है दोनों का प्रेरणा मिलती है एक के महत् की। यही—असत्ये ब्रह्मणि स्थित्या तत् सत्य समीहते\* लक्षणा आह्वार्याविमूला प्रत्ययासम्बन्धता है जिसका गीताविज्ञानमाध्यान्तर्गत तृतीय लक्षण के 'य विमागात्मक 'उपासनोत्तरस्तूप' के—'उपासनोभेदनिर्धन' नामक प्रकरण में विस्तार से विशेषण हुआ है। इसी मानना को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है—तस्मादक्रमिवैत्याह ॥ २ ॥

मन्त्र का अगला भाग है—'देवयुवा विश्वधाराम्'। आध्यात्मस्थित प्राणदेवताओं का आधि-मौलिक तत्सम पदार्थों के आध्यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ चित्तिलक्षण अन्तर्यामि सम्बन्ध करा देना ही यज्ञ का फलितार्थ है। श्रुत्युक्त निगदपाठ से प्राणानि का यज्ञमण्डल में समावेश तो हुआ है। परन्तु अमीतक इनका यज्ञमान के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ प्रत्य-बन्धन सम्बन्ध नहीं हुआ है। यह काम मध्यस्था आचिमाति की आस्थाश्रुति पूरा करती है। जुहू नामक सुगुणी भी आधिमौलिक पदार्थ है, एवं आश्रुति के लिए जुहू में प्रतिष्ठित आन्यमात्रा भी आधिमौलिक ही है। इन दोनों पर यज्ञमान की भूतत्वसत्ता आश्रित है जिस विज्ञानगत आत्मसत्ता के लिए ही—'आवृत्ति तत्त्वदात्मा'—यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कर्षतः आध्यपूर्ण जुहू में यज्ञमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। उधर आहवनीय—ऊरुहव्य समिद्ध अग्नि में ब्रह्मण्ड से आगत आधिदैविक प्राणानि प्रतिष्ठित हैं। इनमें आध्या-हुत होती है। परिणाम यह होता है कि, आन्यानुगत यज्ञमान के प्राणदेवताओं का आन्याहुति के द्वारा आहव-नीयस्य प्राणानि के साथ प्रत्यबन्धन हो जाता है। इसप्रकार आध्यपूर्ण जुहू यज्ञमान के आध्यात्मिक प्राणों का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग करने वाली बन रही है। यही 'देवयुग' रूप पहिला वर्म है। 'यन्ययाक्' (३३) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू (आन्य के सम्बन्ध से) बरणीया है। सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं। देवभिषा देवयुवा जुहू वास्तव में यज्ञकर्ताओं के लिए सत्त्व है, प्रार्थनीया है। मन्त्रभाग के द्वारा जुहू के उक्त दोनों वर्मों का ही विशेषण हुआ है साथ ही उस की स्तुति, एवं प्रशंसा हुई है। स्वयं वैतन्य का साक्षात्कार करने वाली श्रुतिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति—प्रशंसा अवश्यमेव तत्त्व-विज्ञान—सम्मत है।

मन्त्र का अगला भाग है—'इहामहे देवो ॥ इडेन्यान् नमस्याम नमस्यान् यज्ञाय यज्ञि-यान्'। ज्योतिर्मन् तत्त्व ही 'देवता' है। यह ज्योतिर्भाग पृथिवी अन्तरिक्ष को इन तीन लोकों के मन्द से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप—गुण—कर्मों में परिणत होता है। तीनों में मूलतत्त्व ब्रह्मण्डस्य सौरप्राणमूर्ति देवतत्त्व ही है। सौरज्योतिर्भाग (प्रकम्प) सर्वप्रथम अन्तरिक्ष—लोकप्राप्तित्व सौम्य चान्द्रपिण्ड में मुक्त होता है। चान्द्रमयी ज्योति वस्तुगुणा प्रकृत सौरी ज्योति ही है। तृतीय स्थान पृथिवी-लोक है। यहाँ आकर भूतभाग के आत्यन्तिक आवरण से सौरज्योति का सौरज्योतिर्भाग तथा चान्द्र-ज्योति का परज्योतिर्भाग दोनों अभिभूत हो जाते हैं। अतएव पार्थिव ज्योति केवल रूपज्योति कहलाई है। रूपज्योति में [ पार्थिवी ज्योति में ] उस पार्थिव प्राणानि का समावेश है जोकि—'जैरवानर' नाम से

\* उपाया शिदमाथानां पालानामुपलालना ।

असत्य ब्रह्मणि स्थित्या तत् सत्य समीहते ॥

—अर्थहरिः

प्रथम है जिसे कि यज्ञ-संहिताने 'विराट्पुरुष' कहा है। एवं जिस से कि 'पुरुष-अस्म-गौ-अवि-अज-इत पाँच रक्ष्य पशुओं का स्वरूप निर्माणा हुआ है जो कि पुरुष (मनुष्य) पशु में अपनी पूर्ण मात्रा से विकसित है। वही वैश्वानराग्नि यज्ञाभिभव से अत्रत्य है, मुख्यमात्र है। अतएव 'कृष्णोऽस्मत्पितर' इत्यादि रूप से इस पार्थिव अग्नि को 'कृष्णसूग' नाम से व्यवहृत किया जाता है।

उक्त कृष्णसूगान्नि की लक्ष्योभिनी-रूपज्योति, वृद्धे शब्दों में पार्थिवमाग्निमुक्त दिव्यप्रकृत ज्योतिर्मग ही पार्थिवदेवता है। आन्तरिक्ष्य चान्द्रोमावन्निष्ठ विशुद्ध ज्योतिर्मय माग आन्तरिक्ष्य देवता है। एवं धेर मयबसस्य (सम्पत्तरमयबसस्य) सावित्राग्निमुक्त ज्योतिर्माग दिव्य देवता है। विष्णुदेवताओं से ब्रह्म-तपो दान-स्रष्टा विद्यासमुच्चित् प्रवृत्तिकर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। आन्तरिक्ष्य चान्द्रदेवताओं से इष्ट-आपूर्त्-वृत्त-स्रष्टा विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं पार्थिव देवताओं से लौकिक-ज्योतिर्हारिक-सबाज्रात कर्मों की प्रवृत्ति होती है। पार्थिव ज्योतिर्मग मानवसर्ग की आन्तरिक्ष्य चान्द्रज्योतिर्माग पितृसर्ग की एवं विष्णु ज्योतिर्माग भूवसर्ग की मूलप्रतिष्ठा है। मनुष्य पितर, देव तीन प्रजा हैं, रूप-पर-स्थ-तीन ज्योतिर्गो हैं, एवं पृथिवी-आन्तरिक्ष्य-गौ-तीन लोक हैं।

इसप्रकार एक ही दिव्यज्योति त्रि प्रजासर्ग त्रिज्योति सर्ग त्रिलोकसगरूप में परिवर्त हो रही है। एतलोकप्रचिन्न देवता सक्रिय हैं, आन्तरिक्षलोकप्रचिन्न पितर नमस्त्य हैं एवं पार्थिवलोकप्रचिन्न मनुष्य ईडेन्य हैं। एतलोक्य देवता न तो केवल स्तुति प्रशंसा से ही अनुग्रह करते न केवल नमस्कार से ही उन्हें (सम्प्रदायिक मरिचमार्ग की मूर्ति) तृप्त किया जा सकता। अतिष्ठ तत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित वैव-मङ्ग-पञ्जना से आहुति के द्वारा ही उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। दिव्यमागदेवताओं का आत्मात्मिक प्राप्तदेवताओं से सम्पन्न होवाने से दिव्यमागशक्तियों की प्राप्ति हो जाती है। वही उनका अनुग्रह है। वह अनुग्रह केवल स्तुति-नमस्कार से नहीं मिल सकता। अतिष्ठ इसके लिए तो यत्कर्म का ही अनुग्रह करना अनिवार्य होगा। अतएव इन दिव्य देवताओं की हम 'सक्रिय' कह सकते हैं।

वाक्य आन्तरिक्ष्य पितर-पितरो वाक्यमिच्छन्ति' के अनुग्रह केवल नमस्कार से भी तृप्त किए जा सकते हैं। अतएव इन्हें 'नमस्त्य' कहा जा सकता है। वाक्यवृत्तिरूप भूतमय मनुष्य केवल नमस्कार से ही प्रसन्न नहीं होते। अतिष्ठ इन्हें प्रसन्न करने का अन्ततम साधन है-स्तुति। तत्प्रशंसा से कराध्यपान से लोकैपण्या के कीर्तन से भीर से भीर मनुष्य के अन्तजगत् को भी स्तुतित किया जा सकता है। अतएव इन्हें 'ईडेन्य' कहा जा सकता है। प्रकृत यत्कर्म में हमें यवनीय यज्ञ देवताओं के अतिरिक्त पितरों की भी महाभूति अपेक्षित है उन श्रुतिक दर्शक मनुष्यों का लक्ष्योय भी अपेक्षित है उनके अन्त-बाह्य लक्ष्योय से सक्रियदेवताओं का यवनकर्म साक्षोपाक्ष पूर्ण होगा। इसी निमित्त प्राकृतिक प्रबाल्य के अनुग्रह-प्राप्त करने के लिये-इहामह ईडेन्याम्' इत्यादि मन्त्रप्रयोग विहित है।

१	पृथिवी	अग्निः	रूपज्योति	मनुष्याः	ईडेन्याः	तान्-ईडामहे
२	अन्तरिक्ष	सोम	परज्योति	पितरः	नमस्या	तान्-नमस्याम
३	द्यौ	इन्द्रः	स्वज्योतिः	देवा	यज्ञिया	तान्-यज्ञामः

दूसरी दृष्टि से देवप्रयी का समन्वय कीजिए । उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक स्तुति  
इष्टदेवता [ अग्नि विष्णु, इन्द्र आदि अतिष्ठाया देवता ], एवं माता पिता आचार्य, ये तीन आधिभौतिक  
स्तुति पूज्य मनुष्य देवता, ईडेन्यवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं । उपास्यदेवता स्तुतिभावामक आत्मसमर्पण से जुड़  
होवाते हैं इसी कारण से इन्हें 'ईडेन्य' कहा जासकता है । माता-पिता-आचार्य, इन तीन से भिन्न ज्येष्ठ  
भावा, समाज के शिष्ट पुरुष, सम्मान्य विद्वान् इत्यादि पूज्य वर्ग नमस्कारपत्र से जुष्ट किए जासकते हैं ।  
अतएव इन्हें 'नमस्य' कहा जासकता है । आधिदैविक विषयों में स्वेष्यदेवता से भिन्न देववर्ग नमस्य माना  
जासकता है । तीसरा विभाग यज्ञिय देवताओं का है, जो कि आधिभूत-आधिदैवत, उभयत्र समान हैं । मृत्यु  
कुन्द आदि बयोनाशात्मक देवपशु [ देवबाहिन ] लक्षण देवताओं का भी यज्ञिय-विभाग में ही अन्तर्भाव है ।  
तीनों श्रेणियों का ही प्रकृत में वेन-केन-कमेण अनुग्रह अपेक्षित है । अतः तीनों का संस्मरण आवश्यक मान  
लिया गया है ॥ ॥

यज्ञीय देवताओं से सम्बन्ध रखने वाला यह एक वैसा महत्वपूर्ण साधन है, जिसके अनुगमन से  
त्रैलोक्य की धर-अधर-सम्पत्ति प्राप्त की जासकती है । त्रैलोक्य में जो कुछ यज्ञिय पदार्थ हैं, उन सब का  
यज्ञकर्त्ता के साथ मोक्षत्वेन सम्बन्ध होजाता है । जो पदार्थ किन जो प्राणी यह के दिव्यभाग में भाग नहीं  
लेते अथवा जो प्रकृत्या जिनके स्वरूप-निर्माणा में दिव्ययज्ञमात्रा का सहयोग नहीं होता वे पदार्थ और वे  
प्राणी अपने स्वरूप से भी मुकुलित [ बुद्धिमान् ] रह जाते हैं साथ ही यह वे अन्वामक प्रजा के व्यवहारों  
में भी उनका विशेष उपयोग नहीं होता । मनुष्य यदि यज्ञिय है, तो किंरूप अयज्ञिय है । एवमेव  
अश्व गौ अवि भज चारों यज्ञियप्रजाओं के अनुकूल क्रमशः गौर, गवय हस्त, शरभ ये चार अयज्ञिय  
प्रजा हैं । एवमेव यज्ञा, जगन्नाथ चेरपाया यह प्रजाप्रयी मी-प्रजा हैं जिन्हें अत्यायमित्यु के अनुसार  
परामता है यज्ञेऽन्वामकता है । सापादि श्रोतृपत्तियों अयज्ञिय हैं । इन अयज्ञिय, अतएव परामत प्रजाओं  
के अतिरिक्त जितने भी स्थिर-चर यज्ञिय पदार्थ हैं उक्त सर्वप्रयी से उन सब का ग्रहण होजाता है । इसप्रकार  
इडेन्य मानववर्ग से अश्ववि यज्ञिय पशुओं का यज्ञिय देववर्ग से अश्विजलादि पक्षियों का ब्रीहि, यज्ञादि  
श्रोतृपत्तियों का पलाश कर्पूर्यादि वनस्पतियों का और और भी जितने यज्ञिय पदार्थ भव्य रहते हैं उन सब का  
ग्रहण होजाता है । इसप्रकार-आयमानो वे ज्ञायते सर्वाभ्यो यथाभ्यो एष द्युताभ्यः निगमानुसार यथ  
यावत् यज्ञिय पदार्थों का यह से ग्रहण होजाता है । फलतः यह का इष्टकामानुक्त अर्थमना चरिताय होजाता

है। यही यह का वह महोत्सवमान् भोक्तव्य कर्मात्मा है जिसे लक्ष्य बनाते हुए या शक्य हो इस में प्रवृत्त हुआ करते हैं। जिन्होंने यह का अनुगमन किया, उन्हें सब कुछ मिल भी गया साथ ही उन का परमव भी नहीं हुआ। जिन्होंने यह का विस्मय किया उनकी सच्चा ही उत्थित होगी ॥ ४ ॥

यद्यपि में विहित प्रत्येक आध्यात्मिक कर्म से युक्तमान के मातृप्राप्ता में कोई न कोई यथाविधाय उत्पन्न किया जाता है। यह कर्मसमष्टि से वह यथाविधाय सर्वांगीय बनता हुआ युक्तमान के मातृप्राप्ता के साथ अन्तर्ध्याम-सम्बन्ध करता हुआ उसे आधिदैविक कलानुगामी बनाता है। यही यथाविधाय 'देवता' कहलाता है जिस का स्वरूप-विरोधपूर्वक पूर्ववाक्यों में कभी कहा हो चुका है। वेद-कर्मविरोधों से इस यथाविधाय-लक्षण देवता में कृत्-शरीर इत्युपादि अवयव ही स्थापित किए जाते हैं। प्रश्न होता है कि नृत्वाहत्या-मक इत सुगादापनकर्म से [ जिन नौ ब्राह्मणों का मुहानुवाद में भी उल्लेख किया जा चुका है ] देवता में कौन से शरीरवयव स्थापित किए जाते हैं ? वो कथित ही प्रश्न का समाधान कर रही है। हमारी अध्यात्मसेवा के पाश्चात्तिक शरीरमात्र में ऊर्ध्व, अधोऽर्ध्व से सौर-पार्ष्व दो भागों के प्राण प्रतिष्ठित हैं। सौर प्राण का केन्द्र अक्षरन्त्र है, एवं पार्ष्व अधोऽर्ध्व प्राण का केन्द्र नक्षत्रान्त्र है। अक्षरन्त्र में प्रतिष्ठित सौर प्राण उक्त्यावस्थापित है। इससे अक्षरन्त्र को सौर अक्षरन्त्र प्राण निकलते हैं वही 'साक्ष' [ वायु रहने वाले ] 'सप्तशरीरप्राण' कहलाए हैं। वो अक्षरप्राण वो 'वक्षप्राण' वो 'नासाप्राण' एक मुखप्राण, इसप्रकार सौर प्राण को अक्षरप्राण है, जोड़ी है, एवं सौर प्राण एककी है \*। इसप्रकार अक्षरप्राण में प्रतिष्ठित पार्ष्व अधोऽर्ध्व प्राण उक्त्य है। इस से निकलने वाले अक्षरन्त्र प्राण दो भागों में विभक्त हैं। वे ही क्रमशः उपस्थप्राण श्वप्राण नामिक अधोऽर्ध्व प्राण हैं। अक्षरन्त्र दो के अक्षरन्त्र नौ प्राण हो जाते हैं। सुगादापन-निगद में पठित नौ ब्राह्मणों से निगदमन्त्रमात्रानुगतो संख्यो-सम्प्रदाय के समुदायन से देवता में सप्तशरीरप्राण सौर प्राण एवं वो अधोऽर्ध्व पार्ष्वप्राण इन नौ प्राणों का ही आधान होता है। कौन नौ ब्राह्मणों होती हैं, प्रश्न की यही संक्षिप्त उत्पत्ति है ॥ ५ ॥

इति-सुगादापनकर्मोपपत्ति —

\* साक्षानां सप्तयमाहुरेकं पञ्चिमा षडप्यो देवता ।

तपामिष्टानि विदितानि पावशः स्थाप्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

— श्रुत सं० १।१५।१२५,

— सप्तशरीरप्राण ( प्राणाः ), दावनाम्नां [ पे० भा० १।१।५ ]

## २—आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्मोपपत्ति

होतृकर्म सुगुणापनकर्म के अनन्तर प्राप्नुयु आग्नीध्र, होतृ, जघा आदि श्रावणों के सह-योग से आश्रावण प्रत्याश्रावण-कर्म की इतिवृत्त प्यता सम्पन्न होती है। एक वैश्वानरी आख्यायिका के द्वारा इसी कर्म की उपपत्ति का (१० टी कथित) कारण दिया है। वसन्त-मीधम-वर्षा-शरत्-हेमन्तशिशिर—(हेमन्तशिशिरयो समासेन) इन पाँच श्रावणों का स्वरूप अग्नीपोमामक माना गया है। अग्नि और सोम के उद्गम-निग्राम (उत्थाप-उत्तार) से ही पञ्चकु का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नीपोमामयी पाँचों श्रावणों की समष्टि ही सम्पत्त है, यही वह यज्ञ है जिसके द्वारा सम्पन्नत्व, हिरण्यगर्भ-प्रजापति रोदसी-त्रैलोक्य में प्रति 'उत्त चर-प्रचुर-प्रजा का स्वरूप-निर्माण किया करते हैं। इस प्राजापत्या-अग्नीपोमामयी यज्ञमात्रा का प्रवासर्ग में प्रतिक्षण विस्तृत हुआ करता है। प्रजा के स्वरूप-निर्माण से साम्प्रतिक अग्नि-सोम मात्राओं का उपादान-कारणता के सम्बन्ध से कृत होना अनिवार्य है। यही व्यवसाय 'विस्तृत कलाया है। इसी विस्तृत को लक्ष्य में बनाकर यह कहा जा सकता है कि 'सौरमण्डलत्व विठयदेवताओं का अग्नीपोमामय यज्ञ सौरमण्डल से अप्रकल्पित होगया'। तत्पर्य, पार्ष्व प्रवासर्ग के निर्माण के लिए और देवयज्ञ की अपकल्पित स्वाम विक है।

यह यज्ञोपपत्ति नियतापकल्पित, अनियतापकल्पित मेह से दो मार्गों में विभक्त मानी जा सकती है। सौरमण्डलत्वप्रकाशित ज्योतिर्भाग ही अग्नीपोमामय यज्ञ है। प्रत्यक्ष ही सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का वास्तविक स्रोत है। वास्तविक अग्नि में 'वायु सारमेय्य सोम आहुत होरहा है। इसी सामाहुति-प्रक्रिया से इस उपादानक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इसी यज्ञ से (सामाहुति से) 'त्य ज्योतिषा वितमा धवर्थ' इत्यादि श्रावणानुत्तार प्रकाश का जन्म हुआ है। प्रकाश में अग्नि सोम दोनों का सम्मेलन है अतएव अग्रज ही सौर-प्रकाश-मण्डल को यज्ञ कहा जा सकता है। यह सौर ज्योतिर्भाग सर्वत्र (लोकालोके-पृथग्) व्याप्त रहता हुआ हमारे भूविषय की ओर भी आरहा है। भूविषय के विषय (व्याप्त) की उत्पत्ति परविषयों के सम्बन्ध रखनेवाला सौर ज्योतिर्भाग ही प्रकृत में 'यज्ञ शब्द से व्यवहृत हुआ है। भूविषय की परिधि को काटकर यह यज्ञ (प्रकाश) भूविषय से आगे निकल जाता है।

इसी सौर प्रकाश के विच्छेद से 'सैहिकेय नामक ज्ञानामय-तामस 'यज्ञ' का जन्म हुआ है। भूविषय की ओर सौरमण्डल से नियतरूप से आकर अपना निरुत्तार बनाने वाला यज्ञ की अपकल्पित ही नियतापकल्पित मानी जायगी। यज्ञ के इस नियतापकल्पित रूप का ही नाम 'ज्योतिर्ग' है जिससे किसी भी पार्ष्व पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसी नियतापकल्पित यज्ञ से सम्प्रसरण का स्वरूप निम्न हुआ है जिसकी कि छान्दोग्यादि उपनिषदों में 'अश्व रूप से स्तुति हुई है। सौर प्रकाश आवा है भूविषय से दृश्यकर पुनरावर्तित होता है [वापस लौट जाता है]। दूसरे शब्दों में—वज्र आता है भूविषय से संछाद होकर वापस लौट जाता है। वापस लौट कर प्रकाशलक्षण इन यज्ञ का आकार भूविषय [यज्ञ] से ही समग्रित है। स्वर्णमुख यह क आकार से समग्रित भूविषय से स्वयं पर्यन्त व्याप्त [वापस लौटकर व्याप्त होने वाला] सौर प्रकाश ही वह 'अश्व' है जिसका उपा महत्त्व माना गया है। इस नियतापकल्पित से सम्बन्ध रखनेवाला यज्ञ मात्र अश्व किंवा अश्वामात्र यज्ञ प्रकृत आख्यान में अभिप्रेत नहीं है। अतः यहाँ अनियतापकल्पित से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का ही ग्रहण हुआ है।

हेतु से वाक् को भी यज्ञ का मौखिक-स्वरूप मान लिया जाता है। यह विशेष बात बड़ी है कि, प्राण किना मनो-वाक् के नहीं रहता। उपर-वाक् से मन-मास-वाक्, धीनी का ग्रहण हो जाता है, जिसका वाक्-राज्यनिवचन से सुप्रमाणित है। 'उ वा अण्' से ही जो 'वाक्' राज्य निष्पन्न हुआ है। उकार' प्राण का एवं 'अकार' मन का धातक है। उकार अकार (प्राण-मन) की स्वरूपपरचा के लिए अमन करने वाला तत्त्वविशेष ही 'अण्' सूचित हुआ है। इसी प्रकार वान् (वाक्) से तीनों अक्षरों का हो जाता है।

मनोगर्भित-प्राणात्मक यह अपने केवल मनोमय प्राणरूप से उत्पन्न व्यापार करने में अत्यन्त बड़ा रहता है। सचतक कि यह धृतमयी वाक् को भी अपनी बचती नहीं बना लेता है। मनुष्य ही प्राणव्यापार का आत्मन्वन बनता है। मनुष्याधारेणैव प्राण स्वयं के प्रयोग में समर्थ होता है। अतएव अग्नि ने मनो-गर्भित प्राणात्मक यह वाक् रत (कलाप्रयोगसाधन) भी वाक् को ही माना है एवं अस्वरूप भी वाक् मन् ही माना है। अस्वरूपसम्यादि वाक् में आधिभौतिक सर्वमात्र आधिदैविक अमृतभाग दोनों का समावेश है। मर्त्यावाक् का आधार अमृतवाक् है। अमृतवाक् का ही विधान होता है। इसी विधान से अमृत वाक् से धूलोत्पत्त्यन्त पृथ से अन्तराहम पर्यन्त कियत होता है।

लौकिकी वाक् अमृतवागगर्भिता मर्त्या वाक् है। लौकिक-व्यवहार सञ्चालन इसी वाक् से होता है। अलौकिकी वाक् मयवागगर्भिता अमृतावाक् है। वैदिककर्मसञ्चालन इसी वाक् से होता है। मर्त्या वाक् से व्यस्तनामिका अनुष्ठुब्धवाक् समतुलित है। अमृतवाक् से उदात्त-अनुवासावि स्वरात्मिका इहवी-वाक् समतुलित है। अतएव वैदिकी मन्त्रवाक् में उदात्तानुगत स्वरों के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का व्यवस्था हुआ है। यह स्वरवाक् ही क्योंकि सामागमिका बनती हुई ब्रह्मकृता का कारण बनती है इसलिए भी वाक् को ही यह कहना अन्वर्थ बनता है। वाक्त्व के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर अग्नि कहा है—'वाक्-हि यज्ञः बहो रत'।

देवाह्वानलक्षणा ओभावेत्यादित्वस्या मन्त्रवाक् के द्वारा आत्म श्रुतिबोध को अफन्त्य यज्ञतन्त्र का सम्पादन करना है। प्राकृतिक अन्तराह्वान के लक्ष्य अन्वय माने गए हैं। 'अग्निं यो यज्ञः' इस निर्णय-वचन के अनुसार होमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है। ऐसा कि पूर्व में स्थित किया जा चुका है। सूक्त से होमगर्भित भूमिमा के १७ वें अर्धगणपर्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। उदात्त स्वर ही अर्धगणिकुद्ध माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित यज्ञाग्नि में १७ से ३१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाले होम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रस्थित होकर यज्ञ यज्ञाग्नि २१ वें अर्धगणपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। २१ पर्यन्त व्याप्त यज्ञाग्नि के २१ २२-ये तीन विष्णु मान लिये जाते हैं।

विष्णु (२) स्तोममन्त्रक प्रथम विष्णु पार्थिव है, पञ्चदश (२५) स्तोममन्त्रक द्वितीय विष्णु आन्तरिक्य है। यम एकविंश (२१) स्तोममन्त्रक तृतीय विष्णु दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही विविध विष्णु है। वक्तव्य यही है कि यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति के लक्षण से २१ पर्यन्त (सूर्य पर्यन्त सर्वोक्ति—'एक-विंशति वा इत आदित्य' इत्यादि अग्नि के अनुसार सूर्यगणा भूविज्ञ के २१-वें अर्धगण पर ही माना गई है) व्याप्त हो जाता है तथापि इसका मौखिक स्वरूप १७ वें अर्धगण पर्यन्त ही व्याप्त माना गया है।

उत्तमशुतोमावच्छिन्न यज्ञाग्नि के १७ अङ्गण ही १७ अवयव हैं। ये १७ ही वाक्-मय अवयव बिना किसी विन्देत् के परस्पर एकस्मयत् सन्तत हैं।

उत्तमशुताययों के अविच्छिन्न सन्तानमात्र से सम्बद्ध यज्ञाग्नि का ही यहाँ समग्र अपेक्षित है। अतएव आवश्यक है कि, इतस्तुत हृदिपात न करते हुए अन्य अप्रस्तुत वाक् का प्रयोग न करते हुए केवल मन्त्र वाक्-संघट्ट आभाववा, अत्याभाववा-कर्म का ही अवधानपूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करते हुए यज्ञ के १७ अवयवों का अविच्छिन्न रूप से सम्पादन किया जाय। अविच्छिन्न-सन्तान परम्परा से सम्बन्ध रखने वाला उत्तमशुतायय दिव्ययज्ञ अविच्छिन्न भावात्मक सम्पादन—परम्परा से उसी—प्रकार परिपूर्ण—समुद्र—फल—वन जाता है, जैसे कि अविच्छिन्न सम्पादन से पूर्णपात्र बलपरिपूर्ण होजाता है।

भगवान् शङ्कर के लिए उत्तम बलपारा अपेक्षित है। इस कर्म का उत्तम अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के तान्त्रिक में पार्वती अवस्था उर्ध्वप्रदेश में एक पायागमय बलकोश (होव) बना दिया जाता है। सम्मिलित १०-१ ध्याति अद्यामाव से उसे भर लिया करते हैं। दशों व्यक्ति रूप प्रदेश से बलकोश अत्यन्त नियमितरूप से लक्रे होजाते हैं। एवं कवच मृदुपटों को लक्ष्य में रखते हुए तामयता से बल भरना आरम्भ कर देते हैं। एक दूसरे को क्रमवार अविच्छिन्नरूप से घट सौंपता जाता है। बलकोश परिपूर्ण होजाता है। पारम्परिक अविच्छिन्न सम्पादन का यह एक लौकिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। अथवा तो—‘यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेत्’ का यह तात्पर्य भी लगाया जासकता है कि, बलपूर्ण पात्र का निरर्थक प्रदेश में जैसे बालना है वैसे ही अप्रस्तुत वाक् से यज्ञ की परिपूर्णता नष्ट करनी है। विज्ञा कर्म को विगाड़ देना, और आभाववा अत्याभाववा-कर्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समुचित है। वस्तु ही यहाँ भी यत्कार-परिपूर्णा उत्तमशुताययों का अविच्छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए, यही फलिताय है ॥ ७ ॥

८, १, ११ इन चार कथिहकाओं में उही अविच्छिन्न-वाक्-सम्पादान-पारम्परिक सम्पादन-कर्म की इतिवृत्त व्यक्ता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२ ११ १४ इन तीन कथिहकाओं में सोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्-संघट्ट का प्रावृत्तिक निरूपण हुआ है। १५ हवीं कथिहका में उस दोष का विरोधोपपन्न हुआ है, जो सम्पादनपाराविन्देत् से एवं अप्रस्तुत वाक्-प्रयोग से हुआ करता है। असाधनानी करने से जैसे घट-विनष्टि, पात्रघटा, आदि दोषों के कारण बलकोश अपूर्ण रह जाता है एवमेव यदि पारम्परिक सम्पादन में श्रुतिक लोभ अन्वयनरक्ता अन्य सामयिक वाक् का प्रयोग कर जालेंगे तो यज्ञ-सन्तान विच्छिन्न होजायगी। अतएव यज्ञस्वरूप न केवल साक्षात्पात्र ही न बनेगा अपितु यज्ञमान का महान् अग्नि भी होजायगा। अतएव इस अभ्यवच्छिन्ना—सम्पादनपरम्परा का साधनानी से ही अनुगमन करना चाहिए।

यह अवधानता केवल आभाववा-अत्याभाववा-कर्म के लिए ही आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अपितु पुत्रप्राप्त्यर्थ यज्ञकर्म से सम्बन्ध रखने वाले और और भी जो कर्त्तर्यकर्म हैं उन सबका भी यथाविधि अनन्त्यमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। यकैतन्निधि से हमें हमारे लौकिक कर्मों के सम्बन्ध में भी भुक्ति यही आदेश दे रही है कि, यदि हमें कोई काम करना है उसे सर्वप्रथम फल बना देना है, ता अनन्त्यमाव से उही की लक्ष्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराय से मनोरन्ध्र की चञ्चलता के

हेतु से वाक् को भी यज्ञ, का मौलिक-स्वरूप मान लिया जाता है। वह विशेष कृत् मही है कि, प्राण किना। मनो-वाक् के नहीं रहता। उधर वाक् से मन-प्राण-वाक्, तीनों का महत्त्व हुआ है। वैश्वकि वाक्-शब्दनिबन्धन से सुप्रमाणित है। 'उ वा वाक् से ही तो 'वाक्' शब्द निष्पन्न हुआ है। उकार' प्राण का एवं 'अकार' मन का वाचक है। उकार अकार (प्राण-मन) की स्वस्वरूपता के लिए अमना करने वाला तत्त्वविशेष ही 'वाक्' स्थित हुआ है। इत्येकार वाक् (वाक्) में तीनों स्वस्वरूप हो-  
जाता है।

॥ ११ ॥ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

मनोर्गमित-प्राणात्मक यज्ञ अपने केवल मनोभ्रम प्राणरूप से तत्काल व्यापार करने में प्रसन्न बना रहता है तबतक कि वह भूतमयी वाक् को भी अपनी वस्तु नहीं बना-सकता है। मृत-ही प्राणव्यापार का अस्तित्व बनता है। भूतवायरेखेय प्राण स्वयं के प्रयोग में समर्थ होता है। अतएव भुक्ति-ने मनो-र्गमित प्राणात्मक यज्ञ का रेत (कलप्रयोगसाधन) भी वाक्-को ही माना है एवं अस्वरूप भी वाक् मय ही माना है। यस्वरूपसम्प्राप्ति वाक् में आधिभौतिक मयमाण आधिदैविक अमृतमाण दोनों का आवेश है। मर्त्यावाक् का आचार अमृतावाक् है। अमृतावाक् का ही विधान होता है। इसी विधान से दूतयज्ञ मूलोप-से दूतलोकपर्यन्त, पृष्ठ से अन्तरात्म पर्यन्त विस्तृत होता है।

लौकिकी वाक् अमृतबामर्गमिता मर्त्या वाक् है। लौकिक-व्यवहार स्वातन्त्र्य इसी वाक् से होता है। अलौकिकी वाक् मत्यबामर्गमिता अमृतावाक् है। वैदिककर्मचक्रातन इसी वाक् से होता है। मर्त्या वाक् से व्यञ्जनात्मिक अनुपदुवाक् समस्तुति है। असृतवाक् से उवाच-अनुवाचादि स्वरारम्भिक बृहती-वाक् समस्तुति है। अतएव वैदिकी मन्त्रचक्र में उवाचानुगत स्वरों के अनुसार ही उवाचादि स्वरों का व्यवहार हुआ है। यह स्वरवाक् ही कर्वाँहि सामाग्निक बनती हुई यज्ञतान का अरण बनती है इसलिये भी वाक् को ही यज्ञ करना अन्वर्थ बनता है। वाक्त्व के इसी यस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव की लक्ष्य बनाकर भुक्ति का है—'वाक्-हि यज्ञ' वारा रेत'।

वेदाङ्गानसप्तया ओम्वाक्येत्यादित्वरूपा मन्त्रवाक् के द्वारा आत्म भुक्तिर्वा को अपरान्त यज्ञसम्पन्न का सम्पादन करना है। प्राकृतिक अन्तर्यामि के लक्ष्य अवयव माने गए हैं। 'अग्निरु ये यज्ञ' इत निर्गम-वचन के अनुसार योगर्गमित अग्नि ही यज्ञ है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भूकेन्द्र से आरम्भिक भूमहिमा के १७ में अर्हणपर्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। ऊपरवाँ स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १७ से ३१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाले योग भी आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रग्नसिद्ध होसकता है। प्रग्नसिद्ध होकर यज्ञ यज्ञाग्नि २१ में अर्हणपर्यन्त व्याप्त होजाता है। २१ पर्यन्त व्याप्त यज्ञाग्नि के १४, २१-ये तीन विध्य मान लिये जाते हैं। १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

विष्णु (८) स्तोमात्मक प्रथम विध्य पार्थिव है, पञ्चदश (१५) स्तोमात्मक द्वितीय विध्य अन्त-रिच्य है एवं एकविंश (२१) स्तोमात्मक तृतीय विध्य दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही विधिकर्मा विष्णु है। यस्वरूप यही है कि यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति के सम्बन्ध से २१ पर्यन्त (सूर्य पर्यन्त, कर्वाँहि—'एक-विंशो वा इत आदित्य' इत्यादि अग्नि के अनुसार सुव्यवस्था मूखिक से २१, २१ अर्हण पर ही मानी गई है) व्याप्त होजाता है तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ में अर्हण पर्यन्त ही व्याप्त माना गया है।



पुस्तक है। इस पञ्चावयव विश्वयज्ञ (आधिभौतिकयज्ञ) से समुत्पन्न आध्यात्मसंस्था के आत्मा, शरीर इन्द्रियवर्ग, ये तीन विवक्षित हैं। आत्मा मूलाधार है, यही 'ब्रह्मासत्य' है। इसके अग्रयण, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतारत्मा, ये पाँच ही विषय हैं। शरीर भूतसत्य है। इसके पृथिव्यादि पाँचों पर्व प्रसिद्ध हैं। इन्द्रियवर्ग देवसत्य है। इसके भी वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र मन, ये पाँच ही विषयक हैं। इस प्रकार अधिदेवतयज्ञ, अधिभूतयज्ञ एवं उभययज्ञ से सम्पन्न आध्यात्मयज्ञ के आत्मा-शरीर-इन्द्रिय तीनों विषय, सभी प्रकृत्या पाङ्क्त (पञ्चावयव) बने हुए हैं। प्रकृतिव्यवस्थिति का न्याय न्याय से इस वैद्य यज्ञ में भी नहीं प्राकृतिक-यज्ञपाङ्क्तता अभिप्रेत है। इस आध्यात्मिक दृष्टि से भी आभावण-प्रत्याभावण-कर्म में पाँच व्यावृत्तियों का प्रयोग करना अन्वर्थ बन रहा है।

(२) दूसरी दृष्टि से पाङ्क्तता का समन्वय कीजिए। प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है। सोमयाग का स्तौम्य-त्रिलोकी से सम्बन्ध है। पार्थिव स्तौम्य-त्रिलोकी के त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश [ ६-१४-२१ २७-३३ ] ये पाँच स्तोम माने गए हैं। पाँचों में क्रमशः अग्नि, वायु, आवित्य मात्स्वरसोम विक्षसोम ये पाँच देवता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं से क्रमशः वाक् (अग्नि), प्राण (वायु), चक्षु [ आवित्य ], मन [ मात्स्वरसोम ] श्रोत्र [ विक्षसोम ] इन पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है। पाँचों स्तौम्य-देवताओं में आरम्भ के तीन देवता [ अग्नि-वायु-आदित्य ] अग्निप्रधान हैं। एक ही अग्नि की ध्रुव ध्वज-धरुण [ जन-तरुण-विरुण ] अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि वायु आवित्य हैं। अन्त के दो देवताओं की [ विक्षसोम, मात्स्वरसोम की ] सोमता स्पष्ट ही है। क्लृप्त पाँचों का अग्नि एवं सोम में पर्यावसान सिद्ध होना है। अग्नि-सोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है। इसके एवविध पाँच अवान्तर विषय हैं। इस पाङ्क्त सोमयाग के अङ्गभूत (अतएव प्राङ्क्तौमिक) नाम से प्रसिद्ध) प्रकृत के इस 'इष्टियज्ञ' में भी अङ्गी सोमयाग के पाङ्क्तधर्म का उष्क्य अपेक्षित होना है। एवं पञ्चव्यवृत्ति के सम्बन्ध से वह अपेक्षा भी लक्ष्य हो रही है।

(३) तीसरी दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए। यज्ञ की पूर्व में वाक्मय कलाया गया है। वाक्मय यज्ञ का यज्ञ वाक्मय ही है। मूकैन्द्र से आरम्भ कर महिमा कर्मन्त इस वाग्मय के अवान्तर ३३ विषय बताते हैं जो कि-त्रयस्त्रिंशस्तन्तुवो यं वितर्त्तन्ते इत्यादि मन्त्रवर्णानामुच्चार तन्तुदेवता कहलाए हैं। इन ३३ अहर्गण्यस्तमक तन्तुदेवताओं में १ अहर्गण्यमक तीन देवता (महा-विष्णु-इन्द्र) हुए हैं। शेष ३२ देवता हैं। इन के १-१ के रूप से पाँच विभाग होना है। ११ वों का केन्द्र-अग्नीशोम का विभाजक २७ वों अहर्गण्य है। ये ही ३ विभाग हैं। इसप्रकार एक ही वाक् के गौरव १००० विषयों के पहिले १-१ गौ के सञ्चलन से ११ सूक्ष्म विभाग होते हैं, अन्त में ३ स्थूल विभाग मान लिए जाते हैं। यह बड़ी वाक्मय का पट्कारण-संरक्षण वपट्कार है।

वाक् का पट्कार ही वपट्कार है। वपट्कारमयक ही वाक् का प्रातिस्विक स्वरूप है। इसका ३३ वों अहर्गण्य ही अन्तिमोमात्मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है। इस 'वोपट्' रूप वपट्कारयज्ञ (वाग्यज्ञ) की अन्तिम सीमा के (३३ के) गर्भ में क्रमशः २७-२१-१७-१५-६-ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। कृता स्वरूप ३३ वाँ है। यज्ञसम्पत् का इस ३३ वें वपट्कारपर्यं से ही सम्बन्ध है। विश्व के गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। यज्ञ के इन पाँचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्यावृत्तियों का ग्रहण अन्वर्थ बन रहा है।

अनुमते से संकल्पित कर्म के साथ साथ ही अन्यान्य संकल्प भी किया करते हैं। यही वह व्यवधानदोष है जिसके कारण प्रथमसंकल्पित भृगुगमनीय कर्म में अपेक्षित वाग्देवता ( कल ) नहीं रहने पाता। कलता अविनाश में हमें निरुध हो होना पड़ता है। जो भ्रम एकत्र लक्ष्य पर चढ़ा लिया पहिले अनन्यमनस्कता के साथ यथायाक्त् अग्रतुल्य मावों का परित्याग करते हुए—उसी में जुग बाना चाहिए। अन्यत्रकृत्वमूला साथ ही पारस्परिक—सम्प्रदानात्मक—सहयोगमूला ऐकमत्यमावात्मिका ( संविधाना ) ऐसी अनन्यमनस्कता ही कर्मसिद्धि का अन्यतमद्वार है जिसका—“एवमथ यज्ञो भर्तृभ्य इत्यादि आदेश से बिरलेपण हुआ है ॥ १२ ॥ ( = ६, १० ११ १२, १३, १४ १ )

आमाकण—प्रत्यामाकण—कर्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की पाँच व्याख्याएँ हैं। वर्यं स्वर पद वाक्य, मे' से शब्दादिवाक्य वाक् के चार विक्तों मान गए हैं जैसाकि—“वत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि” इत्यादि ऐतरेयभुति से प्रमाणित है। इन्हीं चारों वाग्विक्तों के लिए वेद में क्रमशः चर ( वर्यं ) अक्षर [ स्वर ] व्याहृति [ पद ] पुरुष [ वाक्य ] ये शब्द व्यहृत हुए हैं। वैभ्याकरण—सम्प्रदाय में जिसके लिए, अक्षरवत्वात्स्फोट' वाक्य व्यहृत हुआ है वही वैदिक अक्षर्यय पुरुष है। प्रत्येक वाक्य में वर्यं स्वर पद तीनों विक्तों का समावेश रहता है। ऐसा कोई भी उच्चारण नहीं जिसे वाक्य न माना जा सकता हो। ऐसा कोई भी वाक्य नहीं, जिसमें वर्यं—स्वर—पद का सम्बन्ध न हो। यदि किसी व्यक्ति के ‘क्या देववत्त यहाँ है ? नहीं है—इस प्रश्नोत्तर में हम केवल ‘न’ इस एक अक्षर का प्रयोग करते हैं तो यहाँ भी एकाक्षरवाक्य विद्यमान है। ‘न’ कार में भी वर्यं स्वर पद अन्तर्निगूह है अतएव उनकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीति हो रही है—उस चौपी बैलरी वाक् की ही जिसका हम प्रयोग किया करते हैं—‘सुरीयं वाचो मनुष्य वदन्ति’। चारों विक्तों में ‘पद’ विवरण ही व्याहृति है। प्रकृत निगदमन्त्र के क्योंकि पाँच पद हैं अतएव इन्हें व्याहृति नाम से व्यहृत करना अनवश्यकता है यही वाक्य है।

दिभ्य यज्ञ अग्निमय है एवं—“तस्मै वा एकस्याग्नवागिबोपनिषम्” ( राव १ १५।१।११ ) इत्यादि मौल-सिद्धान्तानुसार यह अग्निवत्त्व वाक्यमय है। वाक्यमय अग्निवाक्य यज्ञ के स्वरूप—निर्माण के लिए पञ्चव्याहृत्यामक निगदमन्त्र का प्रयोग हुआ है। प्रश्न स्वभाविक है कि उस प्राकृतिक वाक्यमय यज्ञ के स्वरूप—रूप के लिए पञ्चव्याहृत्यामक ही वाक्यमय मन्त्र क्यों विहित हुआ ? प्रश्न का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय किया जा सकता है।

( १ ) पहिले आध्यात्मिकयज्ञ की दृष्टि से ही समन्वय कीजिए। आध्यात्मिकयज्ञ की उत्पत्ति आधिदैव वर्गमित अविमूल से हुई है। आधिदैवत—सञ्चालन ‘सर्वैर्भुतयज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा है। विश्व-जनक यह वह प्रमाण आपा वाक्, अग्नि अमाकण मे' से पञ्चपर्व है। पञ्चपर्व इव आधिदैविक—यज्ञ से उत्पन्न आध्यात्मिक विश्वयज्ञ के स्वयम्भू ( अयकाशा ) परमोष्ठी ( वासु ) सूक्ष्म [ त्रिज ] पञ्चमा ( अल ) पृथिवी ये पाँच महापर्व हैं। इसप्रकार जनक सर्वभूत यज्ञभूत तत्रत्य विश्वयज्ञ की भी पञ्च भवता

४—वत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि तापि विदुर्माह्वया य मनीषिषाः ।

गुह्यमीषि निदिता नेष्टयन्ति सुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

—ऐतरेयब्राह्मण

प्रकृत्यमा है । इस पञ्चावयव विवरण (आधिभौतिकयज्ञ) में समुत्पन्न आध्यात्मसत्ता के आत्मा शरीर इन्द्रियवर्ग, ये तीन विषय हैं । आत्मा मूलाधार है, यही 'प्रज्ञासत्य' है । इसके अठसत् महान विज्ञान प्रज्ञान, मूलात्मा ये पाँच ही विषय हैं । शरीर भूतसत्य है । इसके ग्रथिव्यादि पाँचों पर्व प्रसिद्ध ही हैं । इन्द्रियवर्ग देवसत्य है । इसके मी वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र मन, ये पाँच ही विषयक हैं । इस प्रकार अधिदैवतयज्ञ, अधिभूतयज्ञ, एवं उभययज्ञ से सम्पन्न आध्यात्मयज्ञ के आत्मा-शरीर-इन्द्रिय तीनों विषय, सभी प्रकृत्या पाङ्क्त (पञ्चावयव) बने हुए हैं । 'प्रकृतिचन्द्रिकुशिः कच उवाच' न्याय से इस वैषय में भी नहीं प्राकृतिक-यज्ञयाङ्कता अभिप्रेत है । इस आध्यात्मिक दृष्टि से मी आभावय-प्रत्याभावय-कर्म में पाँच व्याहृतियों का प्रयोग करना अनवश्यक बन रहा है ।

(२) दूसरी दृष्टि से पाङ्कता का समन्वय कीजिए । प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है । सोमयाग का स्तोम्य-त्रिलोचने से सम्बन्ध है । पार्थिव स्तोम्य-त्रिलोकी के त्रिवृत्, पञ्चजरा एकस्मिन्, त्रिणव त्रयस्मिन् [ ८-१५-२१ ७७-१३ ] ये पाँच स्तोम माने गए हैं । पाँचों में क्रमशः अग्नि, वायु, आवित्य भास्वरसोम विक्सोम ये पाँच देवता प्रतिष्ठित हैं । इन्हीं में क्रमशः वाक् (अग्नि), प्राण (वायु) चक्षु [ आवित्य ] मन [ भास्वरसोम ] श्रोत्र [ विक्सोम ] इन पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप-निर्माण हुआ है । पाँचों स्तोम्य-देवताओं में आरम्भ के तीन देवता [ अग्नि-वायु-आवित्य ] अग्निप्रधान हैं । एक ही अग्नि की ध्रुव-धन्व-धरुण [ धन-वरुण-विराट ] अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि वायु, आवित्य हैं । अन्त के दो देवताओं की [ विक्सोम, भास्वरसोम की ] सोमवा स्पष्ट ही है । कलत्र पाँचों का अग्नि एव सोम में पर्यवसान सिद्ध होजाता है । अग्नि-सोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है । इसके पूर्वविष पाँच अत्रान्तर विषय हैं । इस पाङ्क्त सोमयाग के अङ्गभूत ( अतएव 'प्राकृत्योमिक' नाम से प्रसिद्ध ) प्रकृत के इस दृष्टियज्ञ में मी अङ्गी सोमयाग के पाङ्क्तकर्म का सम्बन्ध अपेक्षित होजाता है । एवं पञ्चावयव के सम्बन्ध से वह अपेक्षा भी सफल होरही है ।

( ३ ) तीसरी दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए । यज्ञ को पूर्व में वाङ्मय बसलाया गया है । वाङ्मय यज्ञ का रत वाक्त्व ही है । मकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा पर्यन्त इस वाग्मेत के अवान्तर ३१ विषय होते हैं जो कि-त्रयस्त्रिंशच्छन्तवो य वितान्तर इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार वस्तुदेवता कहलाए हैं । इन ३१ अहर्गणात्मक वस्तुदेवताओं में ३ अहर्गणामक तीन देवता ( ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ) हुए हैं । शेष ३ यह जाते हैं । इन के १-१ के स्तूप से पाँच विभाग हाबते हैं । ११ सों का केन्द्र-सग्रीरोम का विभाग १७ वाँ अहर्गण है । ये ही ४ विभाग हैं । इसप्रकार एक ही वाक् के गोक्ष्य १००० विषयों के पक्षिसे १०-१ गौ के संकलन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं अन्त में १ रमूल विभाग मान लिए जाते हैं । यह उसी वाङ्मय का पट्टकारण-संस्कार वपट्टकार है ।

वाक् का पट्टकार ही वपट्टकार है । वपट्टकारमयजल ही वाक् का प्रातिविक स्वरूप है । इसका १३ वाँ अहर्गण ही अन्तोयोमात्मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है । इस 'वोपट्ट' रूप वषट्कारयज्ञ (वाग्यज्ञ) की अन्तिम सीमा के ( १३ के ) गर्भ में क्रमशः १७-२१-२७-१५-८-ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । छटा स्वयं ३३ वाँ है । यज्ञसम्पन्न का इस ४ ठे वपट्टकारपर्व से ही सम्बन्ध है जिस के गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । यज्ञ के इन पाँचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्याहृतियों का ग्रहण अनवश्यक बन रहा है ।

‘ओ मातय’ से त्रिवृत् ( ६ ) का, अस्तु ओपद् से पञ्चदश ( १५ ) का, ‘यज’ से सप्तदश ( १७ ) का ‘ये यजामहे’ से एकविंश का षोड् से सप्तविंश ( २७ ) का एवं समष्टिरूप ६ ठे षपदकार लक्षण त्रयस्त्रिंश ( ३३ ) का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार अनेक इक्षियों से यज्ञ की पाबलता का समर्थन किया जासकता है। पाबलता यज्ञ से उत्पन्न पशुसर्ग भी पुरुष अरथ, गा अथि अज मेद से पाँच विक्तों में ही विभक्त है। पाबलतासोमभाग से सम्बन्ध रखने वाले सम्बत्सरयज्ञ का स्वरूप भी वसन्त ग्रीष्म, वर्षा शरत्, इमन्त, मेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है। अहोरात्र, पक्ष अस्तु अयन, सम्बत्सर मेद से भी सम्बत्सरयज्ञ की पाबलता स्पष्ट है। इसी पाबलता के आधार पर अग्निहोत्र ( अहोरात्र ) दशार्ण्यमास ( पक्ष ) चातुर्मास्य ( अस्तु ) पशुबन्ध ( अयन ) ग्रहयाग ( सम्बत्सर ) इसप्रकार वैच मानुष यज्ञ के भी पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाबलता-सम्पत् की प्राप्ति के लिए मनुष्य कर्म सम्पादक निगममन्त्र में पाँच व्याहृतियों का समावेश हुआ है ॥ १९ ॥

सर्वसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। ‘प्रजापतिस्त्वंनेवं सर्वं यद्विदं किञ्च’ इस निम्न के अनुसार यज्ञत्मक प्रजापति ही अपने विस्तृत भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के स्थिति मेद से अनिरुक्त, उद्गीथ सर्व ने तीन विक्त होजाते हैं। पियङ्ग और पियङ्गमहिमा प्रत्येक वस्तु में व हो मुक्त पर्व मसी हैं। पियङ्ग सूर्य है, एवं पियङ्गमहिमा दृश्य है। पियङ्ग-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अनिरुक्त प्रजापति है, महिमा-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व उद्गीथ प्रजापति है। एवं महिमामयवृक्ष की रथन्तरसामात्मिकता उद्गीथ नाम्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सर्वप्रजापति है। पियङ्गवारेण प्रतिष्ठित महिमा मयवृक्ष यही पूर्वपरिचित षट्कारमयवृक्ष है जिस के ३३ अहर्गण वृक्षाएँ गण हैं। यही वह भी स्पष्ट किया गया है कि १०-१० गौ का एक एक अहर्गण होता है। फलतः १ गौ के १-१० के विग्रह से ( १०-१ में ही ) ३३ अहर्गण पूर्ण होजाते हैं १ गौ शेष रह जाती है। यही अन्तिम चौटीवर्षा सर्वप्रजापत्यस्थान माना गया है। इसी के लिए ‘अतुस्त्रिंश प्रजापति’ कहा जाता है।

जिस कर्म में येन केन रूपण ३४ संख्या का समावेश होजायगा वह कर्म संख्या-समतुल्यनमात्र से सर्वप्रजापत्य-सम्पत्ति से युक्त होजायगा। जिस कर्म में स्ववा उपायुमात्र का समावेश होगा वहाँ तत्-सम अनिरुक्त द्वय ( पियङ्गकेन्द्रावच्छिन्न ) प्रजापति का अतुल्य प्राप्त होजायगा। एवं जिस कर्म में सप्तदश ( १७ ) संख्या का सम्बन्ध होगा वहाँ स्वतः पञ्च तत्-समतुल्य ‘उद्गीथप्रजापति’ की अग्नियज्ञसम्पत् का ग्रहण होजायगा।

३३ अहर्गणात्मक महिमामयवृक्ष का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही स्वर्षा अहर्गण उक्त नवाह्वय का उपक्रमभूमि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार ‘श्वेतव्रीष निवासी सत्यनारायण विष्णु’ कहा गया है। १७ से आरम्भ कर १५ वें अहर्गण पञ्चत ९ अहर्गणों की व्याप्ति में जो स्वर्गस्तिर्भन अर्घ्य यज्ञ प्रतिष्ठित है यही ‘नवाह्वय’ कहलाया है। इस नवाह्वय का केन्द्र २९ वाँ अहर्गण है। यही भगवान् तर्पनाद्ययन प्रतिष्ठित हैं। इहाँ के सम्बन्ध से ये यज्ञप्रमक विष्णु सत्यनारायण’ कहलाए हैं जो पूर्वप्रतिपादित विधिक्रम विष्णु से वृथक तत्त्व हैं। तद्यत तत् सत्यमसी स आदित्य के अनुसार तत्त्व एवं की प्रतिमा है। आषाढ मय पारमेष्ठ्य समुद्र के गम में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही ‘नारायण’ हैं। प्रतिमात्र की पूर्णिमा-स्थिति में तत्त्व उपासक ऋतमकिया के द्वारा इसी तत्त्व की आत्मसात् किया करते हैं।

१७-२१-२५, ये तीन अङ्गण क्रमशः ब्रह्मविष्टम् विष्टविष्टम् इन्द्रविष्टम्, कहलाए हैं। यही त्रिविष्टस्वर्ग है जिसका अन्यत्र विराटीकरण हुआ है। तीनों में से १७ वें का पार्थिव उस यज्ञविष्टु [ त्रिविक्रम वामनविष्टु ] से सम्बन्ध है जिसकी सम्पत् प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है। इसकी अन्तिम सीमा क्योंकि १७ वाँ अङ्गण है अतएव इसे—‘सप्तदशो वै प्रजापति’ इत्यादि रूप से ‘सप्तदश’ नाम से व्यक्त किया जाता है। भद्रपुष्ट से आरम्भ कर सत्रहवें अङ्गण पर्यन्त व्याप्त १७ अवयवों से ॥ इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप-निर्माण हुआ है। पाँच घणाद्वितियों से वहाँ यह ‘उद्गुणीय’ नामक सप्तदशप्रजापति पञ्चावयव है, वहाँ अर्हर्गण्यक्रम १७ अवयवों से यह सप्तदशवयव भी बन रहा है। पञ्चावयव, सप्तदशवयव इसी यज्ञमात्र का व्याद्वित के सप्तदश अक्षरों से संग्रह होता है। यही पञ्चावयवविष्टु के १७ अक्षरों की मौलिक उपपत्ति है जिसका निम्न लिखित स्मार्तवचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है—

चतुर्भिश्च—चतुर्भिश्च—द्वाभ्या—पञ्चभिरेव च ।

१ २ ३ ४ — १ २ ३ ४ — १ ७ — १ ७ ३ ४ ५  
 [ ओ भा-य-य ] — [ अ-स्तु-भौ-पट ] — [ य-ज ] — [ य-य-जा-म-हे ]  
 [ १-७-३-४ ] — [ १-६-७-८ ] — [ ६-१० ] — ११ १२ १३-१४ १५  
 १ — २ — ३ — ४

हृयत च पुनर्द्वाभ्या—

तस्मै यज्ञात्मने नम ॥

[ १६-१७ ]

[ भौ-पट ]

१६-१७

सुगुणीयप्रजापतये

## अत्र १७ करिडका-उपरता

### अथ-वृष्टिविज्ञानम्—

सप्तदशस्तोमायक आहवनीय-प्रवेश ही-जिसे हमन ‘ब्रह्मविष्टम्’ कहा है-नाचिकेत आग्नेय स्वर्ग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्वर्गाग्नि का-जिसका नचिकेत का द्वारा प्रश्न हुआ है एवं यम के द्वारा इन्द्राचिकेति-रूप से समाधान हुआ है-इसी सप्तदशस्थान से सम्बन्ध है। प्राक्खेमिक पर्वपञ्च-ममटिलक्षणा समयाग से उत्पन्न स्वर्गप्रापक देवता इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। दूसरे शब्दा में दर्शपूर्णमासेभ्यनुगत सोमयागाप पर्यापक व्याधिष्ठान से प्राप्तस्य स्वर्ग सप्तदशस्तोमायक-इस यही नाचिकेत स्वर्ग है जिसके लिए कहा गया है—“दशपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामा यजेत ज्यासिष्टोमन स्वर्गकामा यजेत । पञ्चावयवा मन्त्रशकलान्मिका स्वर्गाग्निस्तथा प्राजापत्यसम्पत्तिं इस इन्द्रिका से आति इन्द्रिका-सम्पत्ति मानो प्राप्तकरी है जिस की आधिभौतिक शरीर के निश्चयानन्तर प्राप्ति होती है।

‘ओ भावय’ से त्रियुत् (६) का, ‘अस्तु ओपद् स पञ्चवरा (१५) का यज्ञ’ से सप्तवरा (१७) का, ‘ये यजामहे’ से एकविंश का वीपद् से सप्तविंश (२७) का एवं समष्टिरूप ६ ठे षपद्भार क्षणाय त्रयस्त्रिंश (३३) का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार अनेक इष्टियों से यज्ञ की पाककृता का समर्थन किया जासकता है। पाककृता यज्ञ से उत्पन्न पशुसर्ग भी पुरुष अर्चन गा अत्रि अज भेद से पाँच विधियों में ही विभक्त है। पाककृतसौमयाग से सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रसारयज्ञ का स्वरूप भी वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरत्, इमान्त, मेघ से पञ्चवर्षा ही बना हुआ है। अहोरात्र पञ्च अतु अयन सम्प्रसार भेद से भी सम्प्रसारयज्ञ की पाककृता स्पष्ट है। इसी पाककृता के आधार पर अग्निहोत्र (अहोरात्र) वर्षापूर्वमास (पञ्च) चालुमर्मास्थ (अतु), पशुबन्ध (अयन) ग्रहयाग (सम्प्रसार) इतमभार वैव मालुप यज्ञ के भी पाँच वर्ष प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाककृता-सम्पत् की प्राप्ति के लिए प्रकृत कर्म सम्पादक निगदमन्त्र में पाँच व्याहृतियों का समावेश हुआ है ॥ १६ ॥

सर्वसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। ‘प्रजापतिस्त्वेवे’ सर्व यदिव किञ्च इस निगम के अनुसार यज्ञ ‘मक प्रजापति ही अपने विस्तृत याग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के रिपति भेद से अनिरुक्त उद्गीथ सर्व, ये तीन विभक्त होजाते हैं। पियङ्ग और पियङ्गमहिमा प्रत्येक वस्तु में ये दो मुख्य वर्ष मले हैं। पियङ्ग स्थूल है एवं पियङ्गमहिमा दृश्य है। पियङ्ग-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अनिरुक्त प्रजापति है महिमा-केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व उद्गीथ प्रजापति है। एवं महिमामयज्ञ की रचनान्तरसामात्मिका उदण नाम्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सर्वप्रजापति है। विवहापदेय प्रतिष्ठित महिमा मरकल वही पूर्वपरिचित षपद्भारमयज्ञ है जिस के ३३ अहर्गण वत्साय गए हैं। वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि १०-१० गौ का एक एक अहर्गण होता है। फलतः १ गौ के १-१० के विभाग से (१०-१ में ही) ३३ अहर्गण पूर्ण होजाते हैं १ गौ शेष रह जाती है। यही अन्तिम चौटीका सर्वप्राणा पत्यत्मान माना गया है। इसी के लिए ‘वसुस्त्रिंश’ प्रजापति’ कहा जाता है।

जिस कर्म में येन केन रूपेण ३४ संख्या का समावेश होजायगा वह कर्म संख्या-अमनुज्जनमात्र से सर्वप्रजापत्य-सम्पत्ति से युक्त होजायगा। जिस कर्म में सवधा उपांशुमात्र का समावेश होगा वहाँ तत्-सम अनिरुक्त द्रव्य (पियङ्गकेन्द्रावच्छिन्न) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त होजायगा। एवं जिस कर्म में सप्तवरा (१७) संख्या का समन्वय होगा, वहाँ स्वतः एवं तत् समतुलित ‘उद्गीथप्रजापति’ श्री अग्निवत्सम्पत् का ग्रहण होजायगा।

३३ अहर्गणमय महिमामयज्ञ का केन्द्र १७ गौ अहर्गण है। यही उपर्युक्त अहर्गण उस ‘नवाहयज्ञ’ की उपक्रमममि है जिसे पुराणपरिभाषानुसार श्वेतद्वीप निवासी सत्यनारायण विष्णु’ कहा जाता है। १७ से आरम्भ कर २५ में अहर्गण पयन्त ६ अहर्गणों की व्याप्ति से जो व्याप्तिर्मय अपूर्ण यज्ञ प्रतिष्ठित है वही ‘नवाहयज्ञ’ कहालाया है। इस नवाहयज्ञ का केन्द्र २१ गौ अहर्गण है। यही भगवान् सूर्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इसी के सम्बन्ध से ये यज्ञमय विष्णु ‘सत्यनारायण’ कहालाय हैं जो पूर्वप्रतिपादित विधिक्रम विष्णु से पूरक तत्त्व हैं। ‘तद्यत सत् सत्यमसी स आवित्य’ के अनुसार सूर्य सत्य की प्रतिमा है। आशा मम पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही ‘नारायण’ हैं। प्रतिमात्र की पूर्तिमा-स्थिति में तत्त्व उपाधक क्रतुप्रक्रिया के द्वारा इसी तत्त्व की आवरणकृति किया करते हैं।

१७-२१-२२, य तीन अर्हण कर्मश' अर्हणविष्टप् विष्टप्विष्टप् इन्द्रविष्टप्, कइलाए ह। यही विष्टप्स्वर्ग हे जिसका अन्यत्र विरादीकरण हुआ है। तीनों में से १७ वें का पार्थिव उस यष्टविष्टप् [विष्टिक्क वामनविष्टप्] से सम्बन्ध है जिसकी संपत् प्रकृत यश में अपेक्षित है। इसकी अन्तिम सीमा सर्वोक्ति १७ वाँ अर्हण है अतएव इसे—'सप्तशरो वै प्रजापति' इत्यादि रूप से सप्तशरा नाम से व्यवहृत किया जाता है। भूषुष्ट से आगम्य कर सप्तहवें अर्हण पर्यन्त व्याप्त १७ अवयवों से ही इस यष्टप्रजापति का स्वरूप-निर्माण हुआ है। पाँच व्याहृतिवों से जहाँ यह 'उद्गीथ' नामक सप्तदशप्रजापति पञ्चावयव है वहाँ अर्हणायामक १७ अवयवों से यह सप्तदशावयव भी जन रहा है। पञ्चावयव सप्तदशराशि रूप इसी यज्ञान्ता का व्याहृति के सप्तदश अक्षरों से समझ हो जाता है। यही पञ्चावयवविष्टिस्वर्ग के १७ अक्षरों की मौक्तिक उपपत्ति है जिसका निम्न लिखित ध्यानावचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है—

चतुर्भिश्च—चतुर्भिश्च—द्राम्या—पञ्चमिरव च ।

१ २ ३ ४ — १ २ ३ ४ — १ २ — १ २ ३ ४ ५  
[ओ-आ-अ-य] — [अ-स्तु-मौ-पट] — [य-ज] — [य-य-जा-म-ह]  
[१-२-३-४] — [६-७-८] — [६-१०] — [११ १२ १३-१४ १५]  
१ — २ — ३ — ४

हृपते च पुनद्राम्या—

[१६-१७]

[मौ-पट]

१६-१७

तस्मै यज्ञात्मन नम ॥

उद्गीथप्रजापतये

अत्र १७ कण्डिका-उपरता

अथ-वृष्टिविज्ञानम्—

सप्तदशस्तोत्रात्मक आह्वयनीय-प्रदेश ही-विसे हमने 'अर्हणविष्टप्' कहा है—नाथिकेत आत्म्ये स्वर्ग इत्यादि है। सुप्रसिद्ध स्वर्गाग्नि का-जिसका नाथिकेता के द्वारा प्ररन हुआ है एव यम के द्वारा इष्टकाधिक-रूप से समाधान हुआ है—इसी सप्तदशस्थान से सम्बन्ध है। प्रास्तौमिक पर्वयज्ञ-ममष्टिसंज्ञा मोमयाग से उत्पन्न स्वर्गप्रापक देवता इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। वृक्ष राज्य में दशपूर्वमातेष्वनुगत सोमवागाय पर्यायिक ज्योतिष्टोम से प्राप्तम् स्वर्ग सप्तदशस्तोत्रात्मक-इन्द्र यही नाथिकेत स्वर्ग है जिसके लिए कहा गया है—'दशपूर्वमासाभ्यां स्थगकामा यजत ज्योतिष्टोमन स्वर्गकामो यजत'। पञ्चावयव सप्तदशस्तोत्रात्मक स्वर्गाग्निस्तोत्रा प्राजापत्यसम्पत्ति इस दृष्टिकोण से आदि दैविक-उत्पात्त मानो बास्तवी है जिस की आधिभौतिक शरीर के निबनानन्तर प्राप्ति होती है।

मानवीय मन परोक्षफलकपण की अपेक्षा प्रत्यक्ष भौतिक फलकपण की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है। उस की वास्तविक पहिले ऐहलौकिक-फलकमना की ही अपेक्षा रहती है। अब उसे किसी कर्म के प्रति यह विश्वास हो जाता है कि मुझे अगुक्त कर्म से प्रत्यक्ष में भी इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल सकता है। तो वह उस कर्म में अपेक्षानुसिद्ध पूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। यही क्यों, आधिमौलिक साधन-साधनों से सम्पन्न कर्मकारण का तो अधिकारी भी नहीं माना गया है। जिसकी प्राथमिक शक्त्यभूमि आधिमौलिक ही बनती है। उन्मयीतिष्ठ में प्रतिष्ठित जो उन्मवाधिकारी केवल परोक्ष-आधिदैविक-फलक प्राप्त के लिए कर्म में प्रवृत्त रहते हैं। उनका वह कर्म तो अपासना द्वाया ज्ञानयोग ही बन जाता है। प्रवृत्तिलक्षण कर्मकारण (यक्षकारण) का सामान्य अधिकारी जो प्रत्येक दशा में भौतिक ऐहलौकिक फल की आवश्यकता कामना करेगा। प्रकृत आभावण-प्रत्याभावण-कर्म के उस प्रत्यक्ष भौतिकफल का ही १८, १९, २० इन तीन कथिद्वयों में स्वीकरण हुआ है। तात्पर्य वैदिक यक्षकर्म केवल पारलौकिक आधिदैविक स्वर्गादि फलों के ही बनक नहीं हैं, अपितु परोक्षफल के साथ साथ इनसे प्रत्यक्ष भौतिक योग-वेद-सहायक कर्मादिफल भी प्राप्त हो जाते हैं।

इन प्रत्यक्ष फलों को हम उपातिष्ठक [संगोल-आकार] एवं मुचनकोश [भूगोल पृथिवी] भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। हमारी यक्षव्यावृत्त भौगोलिक पार्थिव कर्मनाओं की प्रतिष्ठित श्रुति-श्रुत-अनुकूला वर्षा ही है। 'निकामे निकामे नाः पर्वन्यो वर्षतु इत्यादि पञ्चमूर्तवर्षनानुसार समय समय पर पर्वन्य देवता के अनुग्रह [आचार] से होने वाली वर्षा ही आधि-वनस्पति के उत्पन्न के द्वारा पार्थिव योग वेद का संचालन कर रही है। हमारी समस्त ऐहलौकिक कर्मनाओं का एवं पार्थिव भौगोलिक कर्मनाओं का केन्द्रीकरण आस-बल पर ही अवलम्बित है। एवं इस की मूलप्रतिष्ठा लंगोलीया वर्षा ही है।

वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रत्यक्ष अनुग्रह है एवं पार्थिव आधि-वनस्पति जल-पशु-विचारि द्वितीयानुग्रह है। प्रथमानुग्रह [वर्षा] के आचार पर ही द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १७, १८, इन दो कथिद्वयों में पहिले लंगोलीय प्रथमानुग्रह का एवं २० वीं कथिद्वय में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का ही विश्लेषण करती हुई श्रुति भ्रान्त जनों की उस भ्रान्ति का आनूलूच लखन कर रही है जिस भ्रान्ति में पड़ कर वे भ्रान्त मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि "शास्त्रीय कर्मकारण यक्षकर्म तो मरने के पश्चात् ही फल देते हैं। हमारा पहिला जल्य आस-यक्ष है। यह बिना शास्त्रीय कर्मकारण से निवृत्त नहीं होसकती। अथवा ही भारतीय यक्षकारण न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्धक है अपितु परोक्षविशेष के साथ साथ प्राकृतिक रम्यपूष वैज्ञानिक-शिक्षापूर्वक आधिमौलिकी समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यक्षकारण से सम्पन्न की जासकती हैं। यही तो यह के-इष्टकामधुक् विशेषण का फलितार्थ है जिसे न समझकर अज्ञान्य भ्रान्त जन शास्त्रानुगत भारतीय वैदिक कर्मकारण की उपेक्षा से अपना सर्वनाश ही कर रहे हैं।

पुरोवात अभ्र, विद्युत् स्थनमिन्द्र, इन चारों सहयोगियों के एकत्र सम्मेलन से ही वर्षाकर्म की प्रवृत्ति मानी गई है। अग्रविद्युत् 'पुरवाई' हुआ ही 'पुरोवात' है। प्रत्यक्ष यह भूम-म्योधि-संश्लेष-



मरुत (वायु-अग्नि-पानी-वातवायु) की समष्टिरूप 'वहल अन्न' है। प्रत्यक्षतः चाकचिनय विद्युत् है, एवं प्रत्यक्ष मरुत 'गञ्जन सर्जन' ही स्तनयितु है। सर्वप्रथम पुरोवात का उद्धार होता है। पुरोवात के उद्धार से इतस्तत् अमुताय [ अयममाय ] से बिम्बे हुए अन्नजगहों का नियताधाराप्रदेश में एकत्र सन्तप हो जाता है। अन्नजनता से समुत्पन्न वायु-अग्नि-जलाय-मरण से विद्युत्-उत्पन्न हो जाती है साथ ही गञ्जन तन्त्रनशब्दार्थ स्तनयितु मी। इस सम्पूर्ण सामग्री-सम्पार के समवेत होते ही—'तक् तक्' प्रतिध्वनि के साथ वर्षा होने लगती है। प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्राकृतिक सम्बन्ध से सम्बन्ध रखने वाले आभावण प्रत्याभावनकर्म की—ओ भावय रूपा प्रथमा व्याहृति का फल 'पुरोवात' है। 'अस्तु औपट् व्याहृति से अन्न का सम्बन्ध है। 'यज्ञ से विद्युत् का 'ये यज्ञमहे' से स्तनयितु का एते तक् तक् प्रतिध्वनिपूर्विका वर्षा का औपट् इम पाँचवी व्याहृति से सम्बन्ध है। इस प्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता पञ्चाव्याप्त्यात्मक इसी आभावण-प्रत्याभावनकर्म से वर्षा के प्रवर्तक बन रहे हैं जिस वर्षा के तात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में दिग्दर्शन कर देना अप्रावृत्तिक न माना जायगा।

भारतीय वैदिक-विज्ञान के सम्बन्ध में सबसे बड़ी विपत्तिपति यही है कि उसका अनेक रहस्यपूर्ण परिमाणार्थों से ही विशेष सम्बन्ध है। जिना उन्हें अवगत कर केवल अन्वयार्थ के आधार पर तत्त्वज्ञान-निरूपणरूप शून्य से निरर्थक से दम्पित से एक कहानी से ही प्रतीत होने लगते हैं। साथ ही दूसरी बलिता यह भी है कि परोक्षप्रिय अर्थों की परोक्षमाया [ वेदमाया ] के अनुग्रह से किसी भी विज्ञान का किसी एक ही प्रकरण में क्रमबद्ध निरूपण नहीं मिश्रता। अतएव समस्त वेदशक्ति का प्रयत्न नहीं कर लिया जाता अतएव किसी भी विज्ञानसिद्धान्त का यथानुरूप समन्वय सम्भव नहीं बन सकता। जिस दृष्टिविद्या के सम्बन्ध में प्रकृत में कुछ निवेदन करना है उसके लिए भी ये ही बहिष्कृतार्थ विद्यमान हैं। प्रकृत ब्राह्मण की ओ भावयति वृषाः पुरोवात ममृजिर' इत्यादिका १२ वीं अधिष्ठान में दृष्टिविज्ञान का निरूपण तो हुआ है। परन्तु यह विशासपूर्ण कहा जा सकता है कि, केवल इन कश्चिद्व्याप्त से अथवा भी तो दृष्टिविज्ञान का विश्लेषण नहीं हो रहा। दूसरी पुरोवात अन्न विद्युत् स्तनयितु, औपट् आदि किसी भी तत्त्व का तो यहाँ विश्लेषण नहीं हुआ। अवश्य ही इन तत्त्वों के स्वरूप-परिचय के लिए एक-दूसरे उन सम्पूर्ण वैदिक रचण-विशेषों की भार अपना ध्यान आकर्षित कर ही लेना नहेगा जिनमें सर्वप्रकरणान्तर की संपेक्षा से तत्त्व-विशेष मार्गों का लक्ष्यकरण हुआ है। प्रवृत्तताय दृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला प्रस्तुत प्रकरण पाठकों के लिए विशेषरूप से अनुरोधन का साधन बनेगा इसी आशा के साथ संक्षेप से तत्त्वसम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देने का साहम किया हुआ है।

दृष्टिविद्या के सम्बन्ध में एक ही तथ्यवाचक अनेक दृष्टियों से समन्वय हुआ है। उन विभिन्न दृष्टिकोणों में से प्रकृत में आन्तरीक्य-उपनिषद् में सम्बन्ध रखने वाले पञ्चाग्निविद्यानुगत दृष्टिकोण का ही विशेष सम्बन्ध मानना पड़ेगा। आन्तरीक्य उपनिषद् में यह स्पष्ट किया गया है कि दृष्टि का मूल-स्वरूप अज्ञातस्व है। यही अज्ञातस्व आगे जाकर सोमरूप में परिणत होता हुआ दृष्टिरूप में परिणत होता है यही एक औपनिषद्-दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि, विद्यानिरपेक्ष इन्द्र-आपूर्ति-इन्द्र नामक मनकर्मों के अनुयायी जीवात्मा निधनान्तर कृष्णमास के अनुगामी बनता है। पहिले य शरीरस्थायित्वक

के प्रवर्तक हैं। यहाँ से यहाँ गया हुआ पानी यहाँ बरसता है—पञ्चम्य के द्वारा। एवं जहाँ से जहाँ पानी बरसता है—पार्ष्णि अग्निरोऽग्नि के द्वारा। पार्ष्णिबृष्टि में पार्ष्णि बहर्गण निमित्त बनते हैं एवं दिव्यबृष्टि में सौर बहर्गण निमित्त बनते हैं। निम्नलिखित मन्त्रभूतिर्वा इती इष्टिकेन अ समर्पन कर रही है

(१) 'अग्निर्वा इतो बृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति ।

यदा खलु वा असावादित्यो न्यक्तु रश्मिमिः पर्यावृणते, अथ कर्षति ।

—ते० सं० कां । ४ प्र० । १० आ० । २ क० ।

(२) 'समानमेतदुदकमुन्चेत्यव चाहमिः ।

भूमिं पर्वण्या खित्वन्ति, दिवं खिन्त्यन्त्यमनय ॥'

—शुक्ल० १।१६/१५ १

एक अन्य दृष्टिकोण का भी समन्वय कीजिए। मन्वान् मनु कहते हैं कि विशातिर्वा का यह कर्म ही इष्टि का मूल है। आहवनीयाम्नि में यथाभिधि जो आहुति दी जाती है वह यथोक्त्य आदित्य में पहुँच जाती है। पार्ष्णि आहुतिमाहक आदित्यदेवता प्रतिदान [ करते ] में इष्टि करते हैं इष्टि से अन्न—उत्पन्न होता है अन्न से प्रबोत्पति होती है। इस प्रकार मन्वाहुति ही परम्परया इष्टिप्रवर्तिका बन रही है। देखिए !

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्—आदित्यमुपतिष्ठत ।

आदित्याज्यायते इष्टि—इष्टेरन्न, ततः प्रजा ॥

—मनु ३।७।६

एक पार्ष्णि दृष्टिकोण और लीजिए। अक्षर से प्रजा [ घर ] का विकास होता है अन्न से कर्म उत्पन्न होता है कर्म से यह उत्पन्न होता है यह से पर्वण्य उत्पन्न होता है। पर्वण्य से इष्टि के द्वारा अन्न उत्पन्न होता है, एवं अन्न से मृच्छति होती है। यहाँ अक्षर को ही वृष्टि का मूलाधार माना जा रहा है। देखिए !

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्वण्यादन्नमन्मव ।

यज्ञाद्भवति पर्वण्यो यज्ञः कर्मसमुत्पन्नः ॥

कर्म प्रबोद्धं गिद्धि प्रजाधरसमुत्पन्नम् ।

तस्मात्सर्वगतं प्रज्ञा नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

—गीता ३।१४ १५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकोणों की विवेचना—चौली में [ चाय ही चाय—पृथिवी—रूप से ] अथवा तिर्यग्व में भी भेद प्रतीत होता है तथापि वस्तुतया सभी दृष्टिकोणों का निर्बिरोध समन्वय किया जा सकता है। ऐसा कि, आरम्भ में निवेदन किया गया है प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत व्याख्यानप्रकरण के अन्त विरोध सम्भव है।

अतएव उठी को आभार बनाकर यहाँ इष्टिविद्या का दिग्दर्शन कराना समीचीन माना जायगा। आन्दोष्मभ्रुति ने जिस पञ्चांगविद्या के आभार पर आप्तर्ग के द्वारा पुरुषसंग का प्रतिपादन किया है, उस का वैज्ञानिक तत्त्व उठी की भाषा में स्पष्ट है। अरण्यपुत्र अतएव आरुणेय' इस उपनाम से प्रसिद्ध श्वेतकेतु अपनी तात्त्विक विज्ञानियों की पूर्ति के लिए तत्समय की सुप्रसिद्धा कुरुपञ्चालों की विद्वत्संपत् [परिपत्] में उपस्थित होते हैं। प्रारम्भिक-योग्यता की परीक्षा के लिए पर्याप्त के मान्य विद्वान् जैबिलि श्वेतकेतु से प्रश्न करते हैं कि, कुमार! क्या तुमने तुम्हारे पिता [अरण्य] ने उच्चज्ञान के शिक्षण से युक्त कर दिया है?। कुमार श्वेतकेतु उत्तर में ज्यों ही हों भगवान्। कहते हैं त्योंही जैबिलि उन के सम्मुख प्रश्नपरम्परा रख बैठते हैं। जैबिलि के द्वारा श्वेतकेतु से होने वाली प्रश्नपरम्परा का पाँचवाँ प्रश्न है—वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप' पुरुष-वचसो भवन्ति—जानते हो तो बताओ! पाँचवी आहुति में आप्तत्त्व कैसे पुरुषस्वरूप में परिणत हो जाता है?। श्वेतकेतु समाधान करने में असमर्थ रह जाने हैं। फलतः स्वयं जैबिलि की ओर से ही पाँचों प्रश्नों का तात्त्विक विस्तोषण होता है।

सुप्रसिद्ध वेदान्तसूत्र [व्याससूत्र] के तृतीयाध्याय के आरम्भ से आत्मगति विषयक सिद्धान्तों का अन्वय सूत्रों से प्रतिपादन हुआ है। वहाँ का प्रारम्भिक सूत्र है—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, सम्परिष्वक्त, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (व्या० सू० ५।१।१।)। जीवात्मा लोकान्तरिक मर्त्य अनित्य शरीर से धृक् अमृत-नित्य तत्त्व है जब पूर्वसन्दर्भ से (प्रतिगदिता अध्यायद्वयी से) यह सिद्ध हो जाता है—[तदन्तरप्रतिपत्तौ] वो, यह भी स्वतः एवं सिद्ध हो जाता है कि, मय स्थूलशरीर के छूट जाने पर जीवात्मा लोकान्तर में गमन करता है—(रंहति)। क्या विद्युद्वत् आत्मा का लोकान्तर में गमन होता है? प्रश्न का 'नेति' रूप से समाधान करते हुए भगवान् श्वेतकेतु कहते हैं कि, विद्युद्वत् आत्मतत्त्व का गमन असम्भव है। अतएव मानना पड़ता है कि जीवात्मा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होकर ही [आतिमहिक सूक्ष्मशरीर धारण करके ही] लोकान्तर में गमन करता है [सम्परिष्वक्तो भूतसूक्ष्मै-गच्छति]।

प्रमाण के लिए जैबिलि और श्वेतकेतु में होने वाली प्रश्नोत्तर-परम्परा ही पर्याप्त है। वहाँ पुरुष-आत्म के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि, जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से सम्परिष्वक्त होकर ही लोकान्तरों में गमन करता है—(प्रश्ननिरूपणाभ्याम्)। ॥—प्रश्न निरूपण का तात्पर्य यही है कि, अक्षरोह (उत्पत्ति) क्रम में आप्तत्त्व से ही पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यदि आतोहक्रम में आप्तत्त्व का पुनर्गमन न माना जायगा तो एक न एक दिन वह निशेष ही हो जायगी। फलतः निर्माणक्रम अवलम्ब हो जायगा। उधर 'स्वयम्भूर्धाताध्यातोऽर्धांश्च्यवधाञ्चाश्चवीर्याम्' समाख्या—धाता यथापूर्व सकल्पयत्' इत्यादि भूतिप्रमाणानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है। इसकी यह शाश्वतता तभी असुरण की रह सकती है जब कि जीवाक्षरोहणवत् जीवाक्षरोहण में भी आप्तत्त्व का गमन माना जाय। इसी

० तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्-भूततदर्थं यदि वेत्थ फिञ्चत् ।

स प्राह जीव करणावसासे सवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मै ॥

—प्राचीनसूक्तिः

के प्रत्यर्सक हैं। यहाँ से वहाँ गया हुआ पानी वहाँ बरसता है—पञ्चन्य के द्वारा। एवं वहाँ से वहाँ पानी बरसता है—पार्थिव अग्निरोऽग्नि के द्वारा। पार्थिवभुक्ति में पार्थिव अहर्गण निमित्त बनते हैं एवं विष्णुभुक्ति में सौर अहर्गण निमित्त बनते हैं। निम्नलिखित मन्त्रभूतियाँ इसी दृष्टिकोण का स्मरण कर रही हैं।

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नमन्ति ।

यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ्ग ररिमभिः पर्यावृणते, अथ वर्षति ।'

—तै० सं० कां० १४ प्र० १० आ० १२ कं० १

(२) 'समानमेतदुदकमुच्चेत्यव चाहमिः ।

भूमिं पर्वन्या स्निवन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥'

—शुक्लसं० १।१६४।५१

एक अन्य दृष्टिकोण का भी समन्वय कीजिए। भगवान् मनु कहते हैं कि, विधातियों का यज्ञकर्म ही इष्टि का मूल है। आहवनीयानि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है वह यज्ञोत्सव आदित्य में पहुँच जाती है। पार्थिव आहुतिआहवनीय आदित्योक्ता प्रसिदान [ मरुते ] में इष्टि करते हैं। इष्टि से अन्न—उत्पन्न होता है अन्न से पशोत्पत्ति होती है। इत्युत्पन्न अनाहुति ही परमस्या इष्टिप्रवर्तिता बन रही है। देखिए।

अन्नो प्रास्ताहुतिः सम्यक्—आदित्यमुपतिष्ठत ।

आदित्याज्ञायते इष्टि—वृष्टेरन्न, ततः प्रजाः ॥

—मनु ३।०।६

एक पाँचवाँ दृष्टिकोण और लीजिए। अन्न से अन्न [ चर ] का विकास होता है अन्न से कर्म उत्पन्न होता है कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है यज्ञ से पर्वन्य उत्पन्न होता है। पर्वन्य से इष्टि के द्वारा अन्न उत्पन्न होता है, एवं अन्न से मूख्य इष्टि होती है। यहाँ अन्न को ही इष्टि का मूलानुसार माना जा रहा है। देखिए।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्वन्यादन्नसम्पदः ।

यज्ञाद्भवति पञ्चन्यो, यज्ञं कर्मसमुद्भवः ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माधरसमुद्बुधम् ।

तस्मात्पर्वण्यं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

—गीता ३।४।१५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकोणों की विवेचना—शैली में [ साथ ही यावा—पृथिवी—रूप से ] का उदाहरण विद्वान्त्वं भी मेरे प्रतीत हो रहा है तथापि वस्तुतया सभी दृष्टिकोणों का निर्बिरोध समन्वय किया जातकता है। जैसा कि, आरम्भ में निवेदन किया गया है प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत आहवाप्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध है।

को सम्बन्ध है वही चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध है। अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा, इन चारों प्रतिष्ठाया देवताओं के क्रमशः वसु-रुद्र आदित्य-नक्षत्र ये चार गणदेवता कहाए हैं। विष्णुकार अग्नी अक्षर से अज्ञात्मक विस्तृतलिङ्ग विनिर्गत हैं, एवमेव अग्नी आप्य चन्द्रमा से अज्ञात्मक आप्य नादयिक ठेक का विभक्त हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अनन्य ही अक्षर-चन्द्रमापेक्षया विस्तृतलिङ्ग कहा बाव-  
प्टा है।

पार्थिव आन्तरिक्य दिव्य इन तीनों में क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र इन तीन प्रतिष्ठाया देवताओं का प्रभुत्व है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय आन्तरिक्य देवताओं को वायव्य पञ्च दिव्य देवदेवताओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त विष्णुसंस्था में ये ऐन्द्रदेवता ही शक्ति हैं सत्यकेन्द्रतय द्विरयगम-प्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान हैं। दिव्य-ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा भद्रावत्व की आविधानि में आहुति होती है। इसप्रकार 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नी देवाः से वही ऐन्द्र दिव्य देवता ही पढ़ी है।

अब शेष रह जाता है केवल अद्वा' तत्त्व। पूर्वजाग्रण-माणों में अनेकधा भद्रा के दार्शनिक स्वरूप का विश्लेषण किया बाबुध है। अतएव पहिलेय अनावश्यक है। प्रकरणसञ्ज्ञि के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्याप्त होगा कि पारमेष्ठ्य अपतत्त्वानुगत आन्द्रोम सं सम्बन्ध रखने वाला भू [सत्य] को धारण करने वाला, मनोऽनुगत स्नेहतत्त्व ही 'अद्वा' है। 'अद्वा' रतो भरा इन तीन आन्द्र-मनोताओं का क्रमशः व्याकुल्य शरीर \* शुक्र मन इन तीन आध्यात्मिक पथों से सम्बन्ध है। तीनों ही प्राकृतिक अनुग्रह हैं। किन के मन शुक्र, तथा शरीर में आन्द्र-अद्वा रत-भरा का प्रकृत्या समावेश रहता है वे ही अद्वालु रतोषा एव यशस्वी होते हैं।

मनोमयी अद्वा पितृप्राण की शुक्रमय रत मानव-प्राण की उर्ध्व वाक्मय यश वपटकार के सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। भद्रावत्त्वानुगत पितृकर्म इस भद्रावत्त्व के सम्बन्ध से ही अद्वा' कहालाया है। अद्वा वा आप' [ते मा १।२।१।१]-के अनुसार अद्वा वातत्व में आपोमय तत्त्वविशेष ही है जिसका उपलब्ध माण्यों में तत्त्वहृष्ट्या सम्बन्ध नहीं हुआ है। आपत्त्व अद्वा का प्रथम रूप है एवं सोमत्व अद्वा का उत्तररूप है। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नी देवाः [इष्टोपनिष्क]- आपो भृग्वक्त्रोरूपमापो भृग्वक्त्रोमयम् [गोपय-ब्राह्मण] इत्यादि भुक्तिवों के अनुसार भृगुसंज्ञया स्नेहतत्त्व एवं अक्त्रित्वसंज्ञया तज दोनो ही 'आप' हैं। अतएव आपोमयी अद्वा के लिए-'तज एव अद्वा [शत ११ ३।१।१।] यह भी कह दिया जाता है।

जस्तक आपोमयी अद्वा परमेष्ठी में युक्त है तबतक यह अद्वा है। आदित्याग्नि में वृत्त होते ही आदित्याग्नि तथा अद्वा रत, दोनों के सम्बन्ध से पूर्वस्वकोणद्वारा भद्रा सोम' रूप में परिणत हो जाती है। आपोमयी अद्वा में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु उद् रूपान्तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

\* 'पशु शरीर मव म दयालु'—कविकुलगुरु ।

। (१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त 'धु विष्वा' का ही समन्वय कीजिए । यह श्लोक अग्नि है, आवित्त्व समित् है, रश्मियों भूम है, अहःकाल अर्चि है चन्द्रमा अक्षर है नक्षत्र विस्तृतिज्ञ है इन्द्रनेष्ट देवदेवता स्वर्गपार से धु श्लोकान्नि में अज्ञा रूप हविर्द्वय की आहुति देते हैं । आहुत अज्ञात्त्व, और आहुतिग्राहक अग्नित्त्व, दोनों के अन्तर्ध्याम (विवृति) सम्प्रदात्मक राधायनिक उस समिन्वय से—विस्मै दी के माग से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमहन के द्वारा तीव्र अपूर्वभाव उत्पन्न होजाता है—सोम नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है । अज्ञात्त्व का रूपान्तर यही सोम आन्तरित्य यह में आहुतिद्वय करने वाला है । सोमोत्पत्ति ही इस धु-व्यञ्जक प्रधान फल है ।

धु श्लोक श्लोक है तब प्रतिष्ठित धेर्याणाम्नि (सावित्राम्नि) शोभी है । सूर्योपिष्ट भूतानि है विस्व केन्द्र की आलम्बन कलाकर और धु श्लोक की अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाम्नि ही देवाम्नि है । श्लोक-शोभी का अमेद मान कर ही यहाँ— असी वाच शोभो गोरम । अग्नि वह फल दिया गया है ।

भूतानि-पिष्टरूप आत्मा (सूर्योपिष्ट) प्रज्वलित सा दितार्थ देता है । इसीसे आग्नेय वाक्पल्लव्य धूम का उद्गम होता है । इसी समिन्वन से सूर्योपिष्ट 'समित्' माना गया है ।

वितप्रकार प्रज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है एवमेव प्रज्वलित सूर्योपिष्टात्मक समित् को गर्म कलाकर इसके चारों ओर रश्मियों का विज्ञान होता है । रश्मियाँ आग्नेय वाक् की प्रतिक्रिया हैं । अतएव इन्हें अवश्य ही धूम कहा जासकता है ।

वितप्रकार धूम से युक्त समित् से निकलने वाली अग्निस्फाला से चतुर्विक् में (चतुर् ओर) प्रक्षर होजाता है एवमेव रश्मियुक्त सूर्य से निकलने वाली रश्मियों के सहस्रवा-विज्ञान से सम्पूर्ण तैलौत्प्य प्रक्षरित होसकता है । प्रक्षर ही अर्चि (ज्वाला) है । वहाँ प्रकाशात्मक अह ही 'अर्चि' है ।

अतएव ज्वाला [अर्चि] कनी रहती है तबतक समित् अक्षररूप में परिणत नहीं होता । ज्वाला के शांत होबाने पर ही अक्षर की अभिव्यक्ति होती है । वाक्पल्लव्या वह ज्वाला यहाँ अहर्लक्षणा अर्चि [प्रक्षर] है । अतएव वह रहती है, तबतक चन्द्रमा प्रक्षरित नहीं होता [अभिव्यक्ति नहीं होती अस्थि अभिमव रहता है] । अह के अन्तर्धान होबाने पर चन्द्रमा उसी प्रकार अभिव्यक्त होजाता है वैसेकि ज्वालापेयाम पर अक्षर अभिव्यक्त होजाता है । इसी सादृश्य से चन्द्रमा अक्षर माना जासकता है । चन्द्रमा सोममय है । सोममय चन्द्रमा की उत्पत्ति इसी दिव्य आदित्यव्यञ्ज से हुई है । इदमित् मी चन्द्रमा की आदित्यव्यञ्ज का अवयव माना जासकता है । चन्द्रमा का प्रक्षराधर्म मी सौर्यप्रक्षर का ही प्रवर्त्यरूप है । प्रतिष्ठित स्वर प्रकाश ही चान्द्रव्योति का जनक बनता है, जैसा कि— इत्या चन्द्रमसो गृहे-वरणिकिरणसङ्गाधेय पानीयपिष्ट-दिनकर-विशिष्यन्नान्निकाभिरचक्षते इत्यादि वचनों से स्पष्ट है । इदमित् मी चन्द्रमा की अवयवमय आदित्यव्यञ्जावयव माना जासकता है ।

'चन्द्रमा अप्यन्तरा सुपर्शो धावतं विधि' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार चन्द्रमा अप्पिष्ट है । नक्षत्र अप्त्व के ही प्रवर्त्यरूप हैं अतएव इन्हें—'उष्टु' [पानीयपिष्ट] नाम से व्यवहृत किया जाता है । नास्तिक आप्प्राण यहाँ गलात्मक है यहाँ चान्द्रमस आप्प्राण अस्तिष्ठता है । अवयव एवं अवयवी का

यो सम्भव है, वही चन्द्रमा, और नक्षत्रों का सम्भव है। अग्नि वायु, आदित्य चन्द्रमा इन चारों प्रतिष्ठावा देवताओं के क्रमशः समु-रुद्र-आदित्य-नक्षत्र ये चार गणदेवता कहाए हैं। बिस्वप्रकार अग्नी अक्षर से अज्ञातमक विस्फुल्लिङ्ग विनिर्गत हैं, एवमेव अग्नी आप्य चन्द्रमा से अज्ञातमक आप्य नाक्षत्रिक तेज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अक्षर्य ही अक्षर-चन्द्रमापेक्षया विस्फुल्लिङ्ग कहा नाच-क्या है।

पार्थिव आन्तरिक्य दिव्य इन तीनों में क्रमशः अग्नि वायु इन्द्र इन तीन प्रतिष्ठावा देवताओं का प्रयुक्त है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय, आन्तरिक्य देवताओं को वायव्य, एवं दिव्य देवत्ववाओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त दिव्ययुक्तस्था में वे ऐन्द्रदेवता ही श्रुतिवक् हैं सूर्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ-प्रबापति ही इस यज्ञ के यन्मान हैं। दिव्य-ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा अज्ञातत्व की खविप्रानि में आनुति हो रही है। इसप्रकार तस्मिन्नेतस्मिन्नगनौ देवाः से यही ऐन्द्र दिव्य देवता ही यज्ञित है।

अन शेष रह जाता है केवल अग्ना' तत्व। पूर्ववाक्य-आप्यों में अनेकवा अग्ना के वात्तिक स्वरूप का निरलेषण किया जानुका है। अतएव पिहपेषम अनावश्यक है। प्रकरणसङ्गति के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्याप्त होगा कि पारमेष्ठ्य अपतत्वात्तुगत चान्द्रभोम से सम्भव रहने वाला अत् [सत्य] को धारण करने वाला मनोऽनुगतस्नेहतत्व ही अग्ना है। अग्ना रेतो यरा इन तीन चान्द्र-मनोताओं का क्रमशः आक्रम्य शरीर, शुक्र मन इन तीन आध्यात्मिक पवों से सम्भव है। तीनों ही प्राकृतिक अनुग्रह हैं। भिन के मन शुक्र तथा शरीर में चान्द्र-अग्ना रेत-यरा का प्रकृत्या समावेश रहता है वे ही अग्नात्तु रेतोवा एव यरास्वी होते हैं।

मनोमयी अग्ना पितृप्राण की शुक्रमय रेत मानव-प्राण की एका वाष्पमय यरा वपट्कार के सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। अज्ञातस्वानुगत पितृकर्म्म इस अज्ञातस्त्व के सम्बन्ध से ही अग्ना' कहाया है। अग्ना वा आप्य' [ते मा १।२।१।१]-के अनुसार अग्ना वास्त्व में आपोमय तत्त्वशेष ही है जिसका उपलब्ध माप्यों में तत्वहृष्ट्या समन्वय नहीं हुआ है। अपूर्णत्व अग्ना का प्रथम रूप है एवं सोमत्वत्व अग्ना का उत्तररूप है। तस्मिन्नपो मातरिखा वधाति' [ईशोपनिषत्]- आपो सुवर्णरूपरूपमापो भृन्वर्णरोमयम्' [गोपय-वाक्य] इत्यादि भुक्तियों के अनुसार भृगुलक्ष्य स्नेहतस्त्व एवं अक्षिरासछण तेज दोनों ही 'आप्य' हैं। अतएव आपोमयी अग्ना के लिए-तेज एव अग्ना [यत० ११ १।१।१।] यह भी कहा दिया जाता है।

वस्तव आपोमयी अग्ना परमेष्ठी में युक्त है तन्तक यह अग्ना है। आदित्याग्नि में हुत होते ही आदित्याग्नि तथा अक्षरस, दोनों के समन्वय से पूर्वत्वकपोह द्वारा अग्ना सोम' रूप में परिणत हो जाती है। आपोमयी अग्ना में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तत्त्वान्तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

✽ 'यश शरीर मय मे दयालुः'—कविकुलगुरु ।

नहिष्ठत है। यह विशुद्ध देवान्न नन जाता है। यही द्युलोकोपलब्धित-आधिदैविक यहसंस्था के द्यु-पर्वा-  
'मरु प्रथमपर्व' का सर्वप्रतिनिर्वाह है जिसका निम्न लिखित भुक्ति से स्पष्टीकरण हो रहा है—

द्यौः (१) "असौ वायु लोको गोतम ! अग्नि । तस्य आदित्य एव समित्, रश्मयो धूम,  
अहरर्चिः, चन्द्रमा अङ्गारा, नक्षत्राणि त्रिस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नवस्मिन्नग्नी  
देवा भद्रा जुह्वति । तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति" । (दिव्ययज्ञ)

\* \* \* \* \*

[२]—इस आधिदैविक यहपत्र अन्तरिक्ष से सम्बन्ध रखता है। जिसप्रकार पृथिवी का अग्निछाया  
यथाग्निगर्भा पृथिवी के अनुसार 'अग्नि है द्युलोकोपलब्धित आदित्य [इन्द्र] है, एवमेव अन्तरिक्ष के  
अग्निछाया वायुदेवता माने गए हैं। इस वायुतत्त्व के अनेक विक्त हैं। उनमें से सोमतरु का अनुबोगी  
एवं वृक्षतत्त्वका प्रतियोगी आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ॥ प्रकृत की अपूर्वछि में अभिप्रवेश है। यही अन्त-  
रिक्ष वायुविशेष 'पर्जन्य' कहलाया है। यही उस द्युलोकांनुगत सोम को अपने गर्भ में रखने के कारण  
'अग्नि' [आप्यगर्भि] कहलाया है। आप्य अग्नि के सम्बन्ध से ही इसे—पर्जन्यो वा अग्नि [शत १४-  
१।१।१३] इत्यादि रूप से अग्नि कहा गया है। वर्षा से पहिले जो कनकनाता हुआ पूर्ववासु [पूर्वा ईश] प्र-  
वर्धित होता है यही 'पर्जन्य' कहलाया है। इसी अभिप्राय से पर्जन्य का 'कन्द्वीर्य हि पर्जन्य' [शत  
१।१।१२] यह लक्षण दिया गया है।

अबमूर्ति शिवतत्त्व परिभाषा में यही पर्जन्य 'भू' नाम से व्यवहृत हुआ है। पर्जन्य ही इन्द्र के द्वारा  
सर्वप्रपञ्च का प्रभव बनता है। अतएव 'पर्जन्यामीर्य सर्वं भवति' के अनुसार अवश्य ही इसे 'भू' कहा  
जासकता है [वेदिए शत १।१।१२५]। आप्य-अग्निस्तत्त्व वायव्य तत्त्वामक पर्जन्य के उक्त बलुत्तरता-  
त्मक श्रौत निरूपण के विद्यमान रहते भी यदि इस का पर्जन्यो नाम धृष्ट्युपकरणमिमानी देवताविशेष  
[शाङ्करभाष्य] यह कार्य किया जाता है तो आश्चर्य इसलिए नहीं होता कि, देश का भूतविज्ञान गत तीन  
सहस्राब्दों से सर्वथा स्मृतिगर्भ में ही मिलीन रहा है। आप्यप्राणात्मक वायु [पर्जन्य] इन्द्र का उपकरण भी  
है प्रायश्चित्तत्वेन इसे देवता भी कहा जासकता है। परन्तु यह 'अभिमितानिष्पद्येश्वरास्तु विशेषयानुगतिभ्याम  
वत्ता अभिमानी देवता तो नहीं है, बल्कि—शतपथभाष्य प्रथमपर्व के 'अहविष्यदेवताभिज्ञान' प्रकरण में स्पष्ट  
किया जा चुका है। अभिमानी देवता का सम्बन्ध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है। कर्मकाण्ड-  
नुसृत देवता का जो विशुद्ध तत्त्ववाद से ही सम्बन्ध है।

जिसप्रकार द्युलोकोपलब्धित आदिस्थायि प्राणविष या एवमेव यह आन्तरिक्ष आप्यप्राणादि [पर्ज-  
न्य] भी प्राणविष होने से देवाग्नि ही माना जगता है। कन्द्वनधर्मा प्रत्यक्षानुभूत पुरोवात इसी पर्जन्य का  
भौतिकरूप माना जासकता है। यही मूलवायु प्राणात्मक पर्जन्यवायु का उत्पन्न बनता है अतएव इसे पर्जन्या  
ग्नि की समित् माना जासकता है।

पर्जन्याग्नि भूतवायु आन्तरिक्ष अपूर्व आधिसम्बन्धेन उत्पन्न आप्य [धूम] इन के सम्बन्ध  
से ही 'अभ' का स्वस्म सम्भव होता है। इन उपकरणों में 'आप्य' ही प्रधान है। अतएव यथास्थाय से



अन्न को 'धूमात्मक' कह देना अन्वय बन जाता है। यह बाष्प श्रुतरूप से अन्तरिक्ष में उभय न्यास है। पञ्चानुगत समिध-स्थानीय भौतिक वायु [मानसूत] के व्यापार से ही इतस्तत् श्रुतरूप से बिजरे हुए बाष्प एकत्र पृथ्वीभूत होते हैं। यही बाष्पपुच्छ 'अन्न कहलाता है जिस की उत्तरावस्था मेघ कहलाई है। क्योंकि समिध से धूम का निर्गम होता है इधर समिधस्त्रक्षण श्रुतवायु ही बाष्पपुच्छ का जनक [संपाहक] है। इसलिये भी अन्न को धूम कहा जासकता है।

आन्तरिक्ष्य ष्योति विद्युत् है। यही पर्वन्याग्नि की अर्ध [प्रकाश] है। अतएव अवश्य ही विद्युत् को आन्तरिक्ष्याग्नि-न्यासारा रूप अर्ध कहा जासकता है। वज्र बाङ्गार हैं, गरुज्जन सर्ज्जन विस्फुल्लिङ्ग हैं, वैसाकि अग्नि विस्तार से बसलाया जाने वाला है।

एषविध पर्वन्याग्नि में आन्तरिक्ष्य वायव्य-देवताओं के द्वारा सोम की आहुति होती है। पर्वन्याग्नि, सोम, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ही 'वृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। यही आधिवैदिक वर की वृत्ती विधा है, जिस का कि निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्तरिक्षम् (२) "पर्वन्नो वाज गौतम ! अग्नि । तस्य वायुरेव समित्, अन्न धूमः, विद्युद्वि, अशानिरङ्गारा हादनयो विस्फुल्लिङ्गाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा सोम राजान जुह्वति । तस्या आहुतेर्वर्ष सम्भवति" (आन्तरिक्ष्ययज्ञः)।

[३]—पृथिवीतिष्ठ [पृथ्वीतिष्ठ] पृथिवी 'भूमि कहलाई है एवं महिमातिष्ठ [प्राणातिष्ठ] पृथिवी पृथिवी कहलाई है। भूपिण्ड के आधार पर विस्तृत प्राणायाम ही प्रकृत में 'पृथिवी शब्द से एही है। यही प्राणायाम पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की योनि है जिस के लिए—'अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणायाम भूकेन्द्र से निकल कर १७ में अहंगम पर्यन्त व्याप्त रहता है, वैसा कि पूर्व के 'सप्तवशो वै प्रजापति' इत्यादि निगदम्भाख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। स्वप्नरा अहंगमात्मक आप्नेय मण्डल ही वह पार्थिव सम्पत्तर है जिस का सौर सावित्रप्राणायाममण्डलरूप स्थि सम्पत्तर के साथ १७ में अहंगमा में अतिमान होरहा है। नसदराकिन्दु ही उभयसम्पत्तर की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। यह सम्पत्तरमण्डल बाह्य मय है। वाक्यतय ही भूतविकृत का जनक चर सत्य है। अतएव प्राणायाम बहो दवाग्नि कहा जा सकता है यही वाग्निरूप सम्पत्तर का श्रुताग्नि कहा जासकता है। इसी पूर्वसमग्रालन में सम्पत्तर-मण्डल इस पार्थिव प्राणायामयज्ञ की समित् माना जासकता है।

परमाकाश पुराणाकाश शरीराकाश वहराकाश [वज्रकाश], इत्यादि मेदासे आकाश के अनेक विभक्त माने गए हैं। स्वाकम्पुष परमम्बोमन् ही परमाकाश है। सौरमण्डल [सौररात्रिमीथिलोक्य] से सम्पन्न रश्मन वाला अणुबसगुणयच्छिन्न आकाश ही पुराणाकाश है। शरीर एवं वहराकाश आप्नात्मिक आकाश है। पुराणाकाशालक्षणा सौरी त्रिलोकी में पाथियाकाशालक्षणा सम्पत्तरमण्डल प्रतिष्ठित

है। सम्बत्तर के अग्न्यात्मक, कालात्मक, वयोनापात्मक, ये से तीन विवत हैं। अग्न्यात्मक सम्बत्तर तो सधित है। कालात्मक सम्बत्तर मातिसिद्ध बनता हुआ व्यवहार की प्रतिष्ठा बन रहा है। वयोनापात्मक सम्बत्तर ही पार्थिव आकाश है। बाह्यपरिमाणान्निष्ठ सम्प्रसरणबद्धवर्तीमा ही वयोनापात्मक सम्बत्तर है। वही ज्योत्स्नात्मक सम्बत्तर कहलाया है, जैसा कि—“ज्योत्स्ना हि सम्प्रसरः [शत ८७१।११] इत्यादि बचन से प्रमाणित है। भूगुणपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं वह वही पार्थिववाकारा है, जिस का वाक् स्वरूप पार्थिवानि से उचित नाम से ही निम्न ही हुआ है। इसी नाम के सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का ‘भूम’ माना जा सकता है।

धैर दिव्याग्नि ज्योतिर्मय है। वही ‘यज्ञो ह वैवेज्यो अपचक्षाम। स कृष्णो मूर्त्ता बभूव’ इत्यादि सिद्धान्तानुसार प्रबन्ध के सम्बन्ध से पार्थिवकाल में उद्भूत होया हुआ कृष्णरूप में परिवर्त हो रहा है। अर्द्धकाल में पार्थिवसरण वही धैर ज्योतिष्मान् सावित्रानि से अनुपहृत रहता है वहाँ रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वामाधिक विकास रहता है। अतएव कृष्णमावात्मिका तमोमयी रात्रि ही इस पार्थिव ब्रह्मणि की अर्चि मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही वो अर्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो उर्विज्ज्वलिष्ठा कृष्णा रात्रि भी अग्न्य ही कृष्णाग्नि की कृष्णाग्नि है।

रात्रिकामीनि अर्चि बरतक रहती है तब तक दिशाओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर ही दिशाएँ परिचात होती हैं। अर्चि के अवग्रान्त होने से ही वो अज्ञार का जन्म होता है। इसी समग्रजन से दिशाओं को अज्ञार माना जा सकता है। अज्ञार अवयवी है तो विस्फुलिङ्ग अवयव है, अनेक हैं सर्वतो व्याप्त हैं। “सर्वत इव हिमा अवान्तरदिशो” (शत २।१।११) के अनुसार सभी पान्त अवान्तर दिशाएँ हैं। इसी समग्रजन से अवयवविभक्त अवान्तर दिशाओं को ‘विस्फुलिङ्ग’ माना जा सकता है।

उक्त परिमर्हों से उद्भूत पार्थिव अग्नि में पार्थिव आग्नेय वेदवाचों के द्वारा वृद्धि की आहुति होती है। पार्थिव मृत्पथ भूवाग्निपुक्त प्राणानि तथा आ-उरिचम वृद्धि (अक्ष), दोनों के राशयनिक समिभक्त से श्रीहि—स्वावि साक्ष्य ‘अक्ष’ उत्पन्न होता है। वही मन्थरव आधिमीतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है विवक्त भी विस्फेवक हुआ है—

पृथिवी-(३)—“पृथिवी बोध गौतम ! अग्निः। तस्याः सम्प्रसर एव समित्, आकाशो धूमः, रात्रिरर्चि, दिशोऽङ्गारा, अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं शुद्धति। तस्या आहुतेरन्नं सम्मभवति”।

(पार्थिवयज्ञ)।

(४)—द्विविध आधिदैविक यज्ञ तथा एकक आधिमीतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप-विश्लेषण के अनन्तर आधिदैविक आधिमीतिक यज्ञ से कृतरूप आध्यात्मिक यज्ञ के गुणसङ्घट्ट पुरुषयज्ञ-विभक्त का निरूपण करती हुई अक्षि कहती है कि, हे गौतम ! पुरुष निश्चयेन (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है।

यहाँ 'पुरुष' शब्द से वह आध्यात्मिक पदञ्ज वैश्वानर अग्नि ही अभिप्रेत है, जो सम्पूर्ण प्राणीवर्ग की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं विलम्ब 'आह वैश्वानरो मूर्खा प्राणिनां वेदमाभितः। प्राणपानसमायुक्तः' (गीता १५।१५) इत्यादि रूप से विकीर्ण हुआ है। पञ्चानिषिषोपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि, यह षड् प्राणयज्ञ प्राणीयज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्थिव प्राण अपान है, आन्तरिक्ष प्राण व्यान है, दिव्यप्राण प्राण है। दिव्यप्राणलक्षणा प्राण, पार्थिव अपानलक्षणा प्राण, इन दोनों प्राण-पानों से मध्यस्थ स्थानलक्षणा आन्तरिक्ष प्राण का उदीपन प्रहस्य हो जाता है, जैसे कि 'शवापृथिवी' शब्द से पृथिवी के मध्यस्थ आन्तरिक्ष का 'तन्मध्यपतितस्तवमाह्वयेन गृह्यते' न्याय से प्रहस्य हो जाता है।

पार्थिव अपानाग्नि पार्थिव नर (जायक-अध्यक्ष) है आन्तरिक्ष वायुव्याघ्र आन्तरिक्ष नर है दिव्य प्राणाग्नि दिव्य नर है। पृथिवी आन्तरिक्ष, यौं तीनों लोकों के अपानात्मक अग्नि व्यानात्मक वायु, प्राणात्मक आदित्य, तीनों नरों के पारस्परिक अन्तर्ध्याम सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला केश-लोम-नखाम-भागों को लोबधर (आ लोमभ्य आ नखामभ्य) सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहने वाला तपश्चरमा आध्यात्मिक अग्नि ही 'वैश्वानर' कहलाया है। इस की आध्यात्मिक-पदञ्जता की लक्ष्य में रखकर ही भुवि ने कहा है—'पृथिवी वो पुरुष (वैश्वानर) पदञ्ज' (ऐत० ब्रा २।२६)।

वैश्वानरलक्ष्य आध्यात्मिक पदञ्ज अग्नि में क्योंकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है अतएव इसके सिधे—'वैश्वानरो वै सर्वे अग्नयः (शत १।२।१।१५) यह कहा जाया है। शरीर में मस्तक भाग द्युलोक है नाभि-पर्यन्त भाग आन्तरिक्ष है, गुद-नाभ्यन्तर भाग पृथ्वी-लोक है, और वही आध्यात्मिक-त्रैलोक्य है। इन तीन लोकामक तीन पुरों की समष्टि शरीरपुर में सीमित रहने से ही—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो-क्त पुरुषः' (शत १।२।१।११) यह लक्षण किया जाया है। महेशानि के भेद से प्रत्येक अध्यत्मसंस्था [प्राणशरीर] का वैश्वानर प्रपक्-वृष्क् शरीरपत्रों में विभक्त होता हुआ पृथग्वर्मा बना हुआ है जैसा कि—'एष वै पृथग्वत्मा वैश्वानरः [शत ब्रा १।२।१।७] इत्यादि वचन से प्रमाणित है। एषविच सर्वाग्नि [लोकत्रयाग्नि] लक्षणा इव आध्यात्मिक अग्नि के उक्त वैश्वानर—'पुरुष'—भाषों का ही निम्न शिल्लित वचनों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१)—'स य स वैश्वानर-इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं, अग्निनरः। आन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुनरः। दीर्ग विश्वं, आदित्यो नरः। (निस्त्रेभ्यो नरेभ्यो त्रातोऽग्निर्वैश्वानरः)' (शत० ६।३।१।३)।

(२)—'इमे वै लोका पू। अयमेव पुरुष, योऽय पवते। सोऽस्या पुरि शेते, वस्मात् पुरुषः' (शत० १३।६।२।१)।

(३)—'प्राण एष स पुरि शेते। स पुरि शेते-इति पुरिशयं मन्तं प्राणं 'पुरुष' इत्याचवते (परोक्षम्। परोक्षप्रिया इव हि देवा, प्रत्यक्षप्रिया)')—गो०आ०पू० १।३६।

है। सम्बत्सर के अग्न्यात्मक, अन्नसत्त्वक, वयोनाशक, भेद से तीन विभक्त हैं। अग्न्यात्मक सम्बत्सर तो समित् है। अन्नसत्त्वक सम्बत्सर मातृसिद्ध बनता हुआ व्ययहार की प्रतिष्ठा बन रहा है। वयोनाशक सम्बत्सर ही पार्थिव आकाश है। वाक्पूरिमाणसिद्ध सम्बत्सरमण्डलसीमा ही वयोनाशक सम्बत्सर है। यही स्योमात्मक सम्बत्सर कहलाया है, ऐसा कि—‘उयोमा हि सम्बत्सरः [शत ८।१।११]’ इत्यादि बचन से प्रमाणित है। भूगुणपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं वह यही पार्थिवाकारा है, जिस का वाक् स्वल्प पार्थिवानि से उत्पन्न बाष्प से ही निष्पन्न हुआ है। इसी वाक् के सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयत्न का ‘धूम’ माना जा सकता है।

और दिव्याग्नि ज्योतिर्मय है। वही ‘यज्ञो ह देवभ्यो अपचक्ष्वत्। स कृष्णो भूत्वा चकार’ इत्यादि सिद्धान्तानुसार प्रबर्ष के सम्बन्ध से पार्थिववात् में युक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होता है। अह-काश में पार्थिवसरथा वहाँ और ज्योतिष्मान् साक्षिणाग्नि से अनुपहसित रहता है वहाँ रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वामासिक निष्पन्न रहता है। अतएव कृष्णमावात्मिका समोमयी रात्रि ही इस पार्थिव बहानि की अग्नि मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अग्नि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है तो अग्निमय अग्नि कृष्ण रात्रि में अपश्य ही कृष्णरात्रि की कृष्णपार्थि है।

यहिरूपी अग्नि बरक रहती है, तबक दिशाओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अन्तर्धान पर ही दिशाएँ परिज्ञात होती हैं। अग्नि के अवयवान्त होने से ही तो अन्तार का जन्म होता है। इसी समतुलन से दिशाओं को अन्तार माना जा सकता है। अन्तार अवयवी है, तो विस्फुल्लिङ्ग अवयव है, अनेक हैं सर्वतो व्याप्य हैं। ‘सर्वत इव हीमा अवान्तरदिशाः’ (शत. २।१।११) के अनुसार सभी प्रान्त अवान्तर दिशाएँ हैं। इसी समतुलन से अवयवात्मिका अवान्तर दिशाओं को ‘विस्फुल्लिङ्ग’ माना जा सकता है।

उक्त परिग्रहों से युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिव अग्नेय देवताओं के द्वारा इष्टि की आहुति होती है। पार्थिव मुख्यतः स्वाग्नि, यज्ञ प्राणानि तथा आ-उरिचय वृष्टि (अन्न) दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से मोहि-यवादि जलस्य ‘अन्न’ उत्पन्न होता है। वही मुख्यतः आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है जिसका भी विस्तारण हुआ है—

पृथिवी-(३)— पृथिवी बोध गौतम ! अग्निः । तस्याः सम्बत्सर एव समित्, आकाशो धूमः, रात्रिरग्निः, दिशोऽङ्गिरा, अवान्तरदिशो विस्फुल्लिङ्गः । तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति । तस्या आहुतेरन्नं सम्ममति” ।  
(पार्थिवयज्ञ) ।

\* \* \* \*

(४)—द्विविध आधिदैविक यज्ञ तथा एकक आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप-विश्लेषण के अनन्तर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से कृत्ररूप आध्यात्मिक यज्ञ के रूपान्तरण पुरुषयज्ञ-विषय का निरूपण करती हुई भक्ति करती है कि, हे गौतम ! पुरुष नियमेन (इस आध्यात्मिक यज्ञ का) अग्नि है।

उक्त 'पञ्चाग्निविद्या'—यस्य पञ्चपर्यायस्य यज्ञ का निष्कर्ष यही हुआ कि, पृथ्वीकोपचित आग्नि-  
त्याग्नि अन्तरिक्षलोकोपचित वायव्य पञ्चन्याग्नि, मूलोकोपलक्षित पार्थिव अग्नि, पुरुषात्मक वृक्षा-  
सञ्चरण वैश्वानर (अग्नि [ शरीराग्नि ], योपाप्राणारम्भक रक्ताग्नि इन पाँच अग्नियों में क्रमशः अग्नि  
सोम वृष्टि, अन्न, रेत इन पाँच हविद्रव्यों की आहुति होती है। वही अद्भुतसृष्टि आप (अपस्तम्ब)  
उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित अग्निसम्बन्ध में सोम-वृष्टि-अन्न-रेतोरूप में परिणित होता हुआ अन्तिम पाँचवीं  
रेतो आहुति से पुरुषस्वरूप (गमस्वरूप) का आरम्भक [उपादान] बन रहा है। इसीलिए यह निश्चयन  
कहा जा सकता है कि—

“इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति”

- |   |                  |             |
|---|------------------|-------------|
| १-१-(१) योः—आदित्यः (अश्वलोका) —अद्भुत  | } —आविर्भावकयज्ञ | } —प्राणवहः |
| २-२-(२) अन्तरिक्षम्—वायु (पञ्चन्य) —सोम |                  |             |
| ३-३-(१) पृथिवी—अग्नि (पृथिवी) —वृष्टि   | } —आविर्भावकयज्ञ |             |
| ४-१-(१) वृषा—वैश्वानर (पुरुष) —अन्नम्   | } —आधादि कयज्ञ   | } —प्राणवहः |
| ५-२-(२) योपा—मातृलोक (योपा) —रेत        |                  |             |

पञ्चाग्नि

पञ्चाग्निविद्यामक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपर्य को [ पर्यन्त्यय को ] सोमाहुत के द्वारा वृष्टि का  
प्रवचन बतलाया गया है, जो कि— अग्नियं इतो वृष्टिमुदीरयति' इत्यादि पूर्वोक्त तृतीय-वृष्टिकोण से  
सर्वथा विरुद्ध पड़ता है। पार्थिव अग्नि पार्थिवपानी को वाष्परूप में परिणाम कर अन्तरिक्ष वायु  
धरावत्त में सञ्चित कर वृष्टा है अग्नि के द्वारा आमु के गम में सञ्चित नहीं पार्थिव पानी  
का कक्षान्तर में बरस पड़ता है। यह कथन आवश्यकमेव उक्त पर्यन्त्ययक्रममांसा का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत  
हो रहा है।

अद्भुत सामरूप में सोम पञ्चम्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणित होता है।  
अवश्यमेव यह सिद्धान्त तृतीय-वृष्टिकोण में व्यापात उत्पन्न कर रहा है। ध्येनसा सिद्धान्त प्रामाणिक माना  
जाय ! क्योंकि होता ही भूति-सम्मत सिद्धान्त है ? आर्यसम्प्रदाय उचर देती है—जहाँ भीत-सिद्धान्त में  
ही परस्पर विरोध प्रतीत होता हो वहाँ दोनों ही प्रमाण हैं। हमलिये कि यह विरोध केवल  
स्थूलदृष्टि से ही सम्बन्ध रखता है। तत्त्वदृष्टि का आधार पर जब समन्वय किया जाता है तो विरोध का सर्वथा  
उन्मूलन हो जाता है। केवल निरूपणीयता शैली के भेद से विरोध की प्रतीति ही होती है। बलुप विरोध  
ही नहीं। सृष्टिक्रमार्म्भविज्ञानदृष्टि से जहाँ पञ्चम्याग्निानुगत वृष्टिमिदन्त प्रामाणिक है, वहाँ  
स्थितिक्रमानुगता विज्ञानदृष्टि से अग्नियाम् इत्यादि तृतीय वृष्टिकोण सुसमन्वित है।

पाञ्चमौलिक शरीर चित्ताग्निमय है भूताग्निमय है। यही वायुमय अग्नि है। यही शरीरपरिष्कृत वैश्वानर नामक पुरुषाग्नि की समित् है। इसी शरीरपुरुषरूप नागधि [ शरीर ] से वह समित् रत्ना है। रवात्प्रस्वासात्मक प्राण ही इस समित् शरीरान्नि से अवसरूप से निबलने वाला घूम है। विहोपसंचित अन्यात्मक शब्द ही [ वैश्वरीनाम्नी ] इस की अर्चि है। आदित्यप्राणारामक चक्षु ही आन्तरिक में अन्तःकरण प्रतीकमान [ बिंदु स्थिति का पशुओं की आँखों में रात्रि में प्रत्यक्ष किया जासकता है ] चक्षु ॥ अन्तःकरण है। वाग्नियिकारभूत शब्दभूति का अभिष्टाता ओत्र ही विस्तृतिज्ञ है। ऐसे इस आध्यात्मिक पुरुषाग्नि में आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं के द्वारा वर्षाविकारभूत अमलक्षण हविद्रव्य की आहुति होती है। मुक्ताम रस-मक्ष के क्रमिक विशाकलन से क्रमशः रस अस्वक् मांस मेव अस्मि मज्जा इन घातुकी में परिणत होता हुआ अन्तर्दोषरत्ना रतेरूप में परिणत होजाता है। यही आध्यात्मिक वज्र की प्रथमा विधा है बिंदु का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

पुरुषः ( वृषा )-४—“पुरुषो वाव गौतम ! अग्निः । तस्य वागेव समित्, प्राज्ञो घूम, जिह्वा अर्चि, चक्षुरङ्गाराः, ओत्र विष्कुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्ननौ देवा अन्नं जुह्वति । तस्या आहुते रेत सम्भवति” ( वृषायङ्ग ) ।

(५)—आध्यात्मिकमय का दूसरा पर्व है—योपा—यज्ञ। वृषायाम् वहाँ पुरुषसर्ग की प्रतिष्ठा है, वहाँ योषाम्नाय ‘स्त्रीसर्ग’ की प्रतिष्ठा बनता है। वृषायाम्नाय आग्नेय है योषायाम्नाय सौम्य है। आग्नेय वृषा का हरस सौर अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है। एवं सौम्या योषा का अहरस चन्द्र अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है। योषायाम्नाय स्त्री का शीतल में प्रतिष्ठित अग्नितत्त्व ही योषा—यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। गर्माशयगत शीतल में प्रतिष्ठित मातृलिंग [ मङ्गलप्रदमायात्मक ] आग्नेयमाय ही इस वज्र का आहुतिग्राहक अग्नि है। इस योषाग्नि का उपोषक उपस्थ ही समित् है उपस्थ—समित् के संयोग से उत्पन्न योषाग्नि—घोम ही घूम है। अन्तस्त्व रक्तवर्ण—रक्तल योनि है यही अर्चि है। इत्यादि लक्षण इस योषाग्नि में पुरुषशरीरस्थ प्राणदेवताओं के द्वारा रेत की आहुति होती है। यही वृत्त रेत अन्तःकरण में गमन में परिणत होजाता है। पञ्चपर्वारमक वज्र के इसी अन्तिम आध्यात्मिक कण्ठपर्व का सिद्धान्त बघती हुई भूति कहती है—

स्त्री-( योषा )-५—“योषा वाव गौतम ! अग्निः । तस्या उपस्थ एव समित् । यदुपमन्त्रयते, स घूमः । योनिरर्चि । सन्त करोति, तेऽङ्गाराः । अग्निनन्दा विष्कुलिङ्गा । तस्मिन्नेतस्मिन्ननौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतर्गमं सम्भवति” । द्वान्द्वोऽयोपनिपत ५ प्र० १४, ५, ६, ७, ८ खण्डा ।

उक्त 'पञ्चाग्नियिद्या'—यमक पञ्चपर्यायक यश का निष्कर्ष यही हुआ कि, यूलोकोपक्षित आदि त्याग्नि अन्तरिक्षलोकोपक्षित वायव्य पञ्चन्याग्नि, मूलोकोपक्षित पार्थिव अग्नि, पुरुषात्मक वृक्षा-लक्षण वैश्वानराग्नि [ शरीराग्नि ] योपाग्राणात्मक रक्षाग्नि इन पाँच अग्नियों में क्रमशः अद्वा सोम वृष्टि, अन्न, रस, इन पाँच हविद्रव्यों की आहुति होती है। यही अद्वालक्षण आप (अपत्त्व) उच्यते प्रविष्टित अग्निसम्बन्ध में सोम-वृष्टि-अन्न-रसोरूप में परिणित होता हुआ अन्तिम पाँचवीं देवी आहुति से पुरुषस्वरूप (गर्भस्वरूप) का आरम्भ [उपादान] बन रहा है। इसीलिए यह निरवयवेन अद्वा ब्रह्मकृता है कि—

“इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति”

१-१-(१) यौः—आदित्य (अखिलोक्त) —अद्वा	} —आविर्भूतकथन }	} —प्राणयज्ञः
२-२-(२) अन्तरिक्षम्—वायु (पञ्चन्य) —सोम		
३-३-(१) पृथिवी—अग्नि (पृथिवी) —वृष्टि ] —आविर्भूतकथन	} —आविर्भूतकथन }	} —प्राणयज्ञः
४-१-(१) वृषा—वैश्वानर (पुरुष) —अन्नम्		
४-२-(२) आपा—मातृगणिक (योग) —रस ] —आविर्भूतकथन		

पञ्चाग्नियिद्यामक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपर्व की [ पञ्चन्ययज्ञ की ] सोमाहुत के द्वारा वृष्टि का प्रवक्तृ बतलाया गया है जो कि—“अग्निवा उतो वृष्टिमुवीरयति” इत्यादि पूर्वोक्त तृतीय-वृष्टिकोण से सर्वथा निरूप्य पड़ता है। पार्थिव अग्नि पार्थिवपानी को वाष्परूप में परिणत कर अन्तरिक्ष वायु घरातल में सञ्चित कर देता है अग्नि के द्वारा वायु के गम में सञ्चित यही पार्थिव पाना का कलान्तर में घटित पड़ता है। यह कथन अवश्यमेव उक्त पञ्चन्ययज्ञमीमांसा का प्रतिबन्धी प्रतीत हो रहा है।

अद्वा सोमरूप में सोम पञ्चन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणित होता है। अक्षरमय यह विद्वान्त तृतीय-वृष्टिकोण में व्यापार उत्पन्न कर रहा है। सोमसा विद्वान्त प्रामाणिक माना जाय ! बल्कि दोनों ही भूति-सम्मत विद्वान्त हैं ! आर्यसम्राज्य उत्तर भेगी है—नहीं भीत-सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध प्रतीत होता हो वहाँ दोनों ही प्रमाण हैं। इसलिए कि यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से हो सम्भव रहता है। उत्तमदृष्टि का आधार पर जब समन्वय किया जाता है तो विरोध का गर्वना उन्मूलन हो जाता है। केवल निरूपणीया शैली के में से विरोध की प्रतीति ही होती है। वस्तुतः विरोध है नहीं। सुप्रसिद्ध आरम्भविज्ञानदृष्टि से जहाँ पञ्चन्ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त प्रामाणिक है, वहाँ स्थितिमानुगत विज्ञानदृष्टि से अग्निर्वा० इत्यादि तृतीय वृष्टिकोण सुसमान्यत है।

सञ्ज्ञकन से सम्बन्ध रखने वाली पञ्चाग्नियिया में अधिवैद्यत-अभिभूत-अप्यत्सरूप से विश्वपञ्चपञ्चमक मन्त्र का विरक्षेयण हुआ है, उन्नीस एतरेय आख्यसूक्त में तत्त्वविद्या के रूप से उपबोध हुआ है। वहाँ बोधात्मक पाँचवें पर्व को छोड़ दिया गया है। केवल आरम्भ के प्राणवशात्मक प्रथमी-अन्तरिक्ष शो-इन तीन पर्वों का, एवं चौथे पुरुष पर्व का समाह करते हुए पुरुषसूक्त[प्राणीसूक्त] में तीनों प्राणयों का समन्वय प्रकटलाया गया है-[वेसिधे-ऐत आ० २ आ १ आ १ म ]। इसी उत्तरविद्या का आगे आकर तृतीय खण्ड में 'रेतस' सृष्टिरूप से जो विरक्षेयण हुआ है, वह अपना एक स्वतन्त्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। वहाँ दूसरे ही क्रम से सृष्टिविज्ञ का विरक्षेयण हुआ है। वेसिध ।

“अथातो रेतमः सृष्टि—प्रजापते रेतो देवा, देवानां रेतो वर्ष वर्षस्य रेत ओपचयः, ओपचीनां रेतोऽन्नं, अभस्य रेतो रेत, रेतसो रेत प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मन, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेत कर्म । तदिदं कम्म कृतमयं पुञ्जो ममस्यो लोक” — ( ऐत० आ० । १ अ० । ३ खं० ) ।

उक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणों के वैज्ञानिक-समन्वय के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, पार्थिव सत्त्वाग्नि अन्तरिक्ष सत्य वायु विष्य सत्येन्द्र पञ्चम्य अन्न वायु सोम सत्यरिमर्बा पुरोवात अन्न विद्युत् त्वचिनस्तु आदि आदि उद्गादन-निमित्त-कारणों के समन्वय से ही इष्टि होती है। निम्न सिद्धित औत-स्तात वचन इष्टि के उक्त कारणों का ही समर्थन कर रहे हैं—

- १—‘अग्निर्वा इतो वृष्टिसूदीरयति’—अग्नि—सत्यम्—पार्थिवान्नि
- २—‘वायुर्वि वृष्ट्या ईशे’—वायु—सत्यम्—वायव्याग्निः
- ३—‘आदित्याज्जायते इष्टिः’—आदित्य—सत्यम्—सावित्रान्निः
- ४—‘पार्वन्यं वर्षसि यजते’—पर्वन्यः—अतम्—आप्याग्निः
- ५—‘सोमाहुतेर्वर्षं सम्भवति’—सोम—अतम्—अन्नसोम
- ६—‘रश्मिमिर्वर्षं समदधात्’—रश्मयः—सत्यम्—प्राद्याग्निः
- ७—‘पुरोवात ससृजिरे’—पुरोवातः—अतम्—वातवायु
- ८—‘अन्नस्र वृष्टिः’—अन्नम्—अतसत्यम् अग्निः—वाय्वादित्यपर्व यादिसधात
- ९—‘वृष्टिर्गो यान्या विधु देव’—विद्युत्—अतसत्यम्—ज्योतिरन्ना
- १०—‘स्तनयित्नुर्धोपोन्वसज्यत’—स्तनयित्नुः—सत्यम्—शब्दाग्निः

शुद्धीहितन्तर्गत ‘अस्य वामीयसूक्त के तीन मन्त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विशेष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त कृष्णब्रह्मसंहिता का ‘अग्नीरिष्टि’ प्रकरण भी अतः इष्टिविद्या पर प्रकाश डाल रहा है। पद्ममेव रातपञ्च-गोपध-तापस्यादि आख्यी के आम्नाङ्ग-वृद्धवारयसूक्तदि उपनिषदों के तत्त्वविरोध



स्वर्णों में भी प्रकीर्णक रूप से इस विद्या का स्वीकृत्य हुआ है। वेदशास्त्रप्रतिपादित सभी विद्याओं के, वस्तु-विधानों के सम्बन्ध में यही एक ऐसी विमर्शविधि है जिसके कारण उन विद्याओं का हम मशीनीति तत्त्वक सम्बन्ध नहीं कर पाते बरतक कि उन प्रकीर्णक-प्रकरणों का एकत्र समन्वय नहीं कर लिया जाता। यह समन्वय निश्चयेन महासमारम्भ-साधक है। अनन्यनिष्ठा से सम्पूर्ण वेदशास्त्र को बरतक लक्ष्य नहीं बना लिया जाया, तत्त्वक उन प्रकीर्णक विषयों का समग्र असम्भव है। एवं बरतक उनका समग्र नहीं होना वा तत्त्वक उद्दिष्टाओं का आनुपूर्वी से परिज्ञान असम्भव है।

अथर्व ही उक्त बहिष्कार के निराकरण के सम्बन्ध में पुराण में 'रहस्य निगद, गाथा, कुम्भया आदि जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे, जिनमें उन प्रकीर्णक भाषों का, विद्याओं का एकत्र समग्र रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वे रहस्यात्मक परिभाषाग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ से सर्वथा निःसृत हो चुके हैं। यही बंदार्य की एक नैसी महती बहिष्कार है, जिसका निराकरण दो-वार व्यक्तियों के स्वल्पज्ञान से कथमपि सम्भव नहीं। होना यह चाहिए कि बहुसंख्या में योग्य विद्वान् उपलब्ध मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र-ग्रन्थों के उत्कर्ष-विद्या-प्रतिपादक तत्त्वविगदों का पृथक् पृथक् रूप से संग्रह करें। वरन् एकत्र समग्र करते हुए उनका समन्वय करें। इत्यन्त महासमारम्भ प्रयास से अथर्व ही इस दिशा में उक्त बहिष्कार दूर की जा सकती है।

उदाहरण के लिए दृष्टिविद्या को ही लीजिए। अस्पृश्यामीयसूक्त के ५७ मन्त्रों में से केवल १ मन्त्र ऐसे है जिनसे दृष्टिविद्या के कुछ एक सिद्धान्तों का विरलेषण हुआ है। वे तीनों मात्र भी एक साथ पठित नहीं हैं। अपितु तीनों का क्रमण १५, ४७-५१ यह संख्या क्रम है। यही स्थिति अन्य स्थलों की है। यही वह बहिष्कार है जिसके निम्न से प्रकृत ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारोक्त पुनर्वक्तिव्यय का विषय होकर अनुगमन करना पड़ रहा है। परिणाम-स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अभ्यवस्थित प्रयास सुविधा के स्थान में बहिष्कार का ही अनक बनता जा रहा है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से इच्छे अधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि, बरतक देश के विद्वान् सम्मिलितरूप से उक्त पद्धति के अनुसंधान वेदाध का समन्वय नहीं कर लेंगे, बरतक एक दो व्यक्तियों की स्वल्प-शक्ति मात्र के आधार पर इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेना तो असम्भव ही होगा।

हमारे वे अभ्यवस्थित प्रकरण तो केवल यही पुरुषार्थ कर सकते हैं कि, जिनकी दृष्टि में भारतीय शास्त्र केवल शब्दबाल है वे यह अनुमम करने लगे कि वेदशास्त्र एक विज्ञानशास्त्र है, एवं उसमें प्रतिपादित विद्यार्थ प्राकृतिक निरूप्यविधानों का ही विश्लेषण कर रही है। जिन कतिपय प्रतीत्य विद्वानों की बाह्यदृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक 'आत्मशास्त्र' का समर्थक है वस्तुवाची उच्छिष्टमोही अर्थहीनता का प्रायः विद्वान् अपनी निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से बहिष्कृत होते हुए इसके प्रति न कथल उदासीन ही हैं अपितु इसका उपहास करना भी जिनके जीवन का एक प्रधान पुरुषार्थ बना हुआ है अथर्व ही उनकी भ्रान्ति का ये अभ्यवस्थित प्रकरण भी समर्थक नहीं तो अशक्त हो निराकरण कर ही सकेंगे। एकमात्र इश्रीलक्ष्य से मानपूर्वक कर ही इस पद्धति अनुगमन करना हमने अर्थवत्ता समझा है। जिन्हें वस्तु गत्या वेदविद्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है उनसे तो हम यही निवेदन करे ग कि वे सुविद्य कण्डु मित्रने प्राज्ञ हमारे इन प्रस्तुत प्रणामों को एक ओर रखने हुए आनुपूर्वी से स्वयं मूलग्रन्थों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनायें। इस प्रासंगिक निवेदन के साथ ही दृष्टिविद्या के प्रकीर्णक ग्रन्थों का निम्नलिखित शृङ्खला पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

१—सप्ताहर्गर्मा भुवनस्य रेतो विष्णोतिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मसि ।  
ते धीतिभिर्मनसा ते विपरिचितः परिभुव परिमथन्ति विश्वतः ॥

—श्रुत्सं० १।१।६४।२६।

२—कृष्य निषान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।  
त भावधन्तस्तदनाहतस्यादिद् धृतेन पृथिवी व्युद्यते ।

—श्रुत्सं १।१। ४।४७

३—समानमेतदुदङ्गमुच्चैत्यव चाहमि ।  
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिशं जिन्वन्त्यग्नयः ॥

—श्रुत्सं १।१।६४।५१

घोड़ी दैर के लिए यह मान लीजिए कि, आकाशरथ मेंचों से मण्डिब पर जो पानी बरसता है वह बहुत प्रथिवी की ही देन है। अग्निगर्भ—मण्डिब के केन्द्र से अक्षिरोऽग्नि (प्राणानि) धुलोक (आकाश) की ओर निरन्तर बापा करता है यह प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। 'अग्निर्वा इतो वृद्धि-मुदीरयति' सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। इस प्रकार पार्थिव बलमात्रा (समुद्र तल-निर्देशों) रूप, बापी तक्षण ओपधि-वनस्पित पार्थिव प्राणीशरीर आदि आदि में रहन वाली बलमात्रा) ऊपर की ओर जाते हुए अक्षिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वाष्परूप में परिणत होकर ऊपर की ओर बापा करती है। इस प्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव बलमात्रा को धुलोक की ओर ले जाने में एक निमित्त बना हुआ है।

दूसरा निमित्त है—'वायु'। पार्थिव मूलममल परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण अ मण्डिब के बिंदु निर्धर्मव कण प्रवेश पथान्त व्याप्त रहता है। बहातक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव बलमात्रा को ऊपर खेंच ले जाता है। ज्यों ज्यों बलमात्रा ऊपर चढ़ने लगती है त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है। पार्थिव-कर्षण से विमुक्ता यही बलमात्रा वाष्प है। उच्च आन्तरिक बल भी एक प्रकार का वाष्प ही है। अगो बाकर बलमात्रा के कर्षणमन का प्रेरक यही 'वाष्प—वायु' करता है। पृथिवी से धुलोक पर्यन्त लक्ष्यिब कर्षणाभियाँ विस्तृत हैं। यही 'महापथ' कहलाया है। नाडीरूप इसी महापथ से खीर पदार्थों का प्रवर्ग्यमाण पृथिवी में एवं पार्थिव पदार्थों का प्रवर्ग्यमाण सूर्य में मुक्त होता रहता है। यह नाडीमार्ग तमय प्रकाशिकों के विस्तृत भाग की पारस्परिक आदान-प्रादान के द्वारा पूर्ति किया जाता है। सौरपदार्थ पार्थिवपदार्थ दोनों ही गतिरूप हैं। इन का गमनागमन होता है नाडीमार्ग से ही परन्तु निमित्त करता है—'वायु'। 'मन्त्रानां मातरिना नामक वायु ही अपने गतिधर्म से दोनों का सहायक करता है। दूसरे शब्दों में—वायु-परात्म पर प्रतिष्ठित होकर ही बलमात्रा नाडीमार्ग से धुलोक की ओर जाती है।

तीसरा निमित्त है—'सूर्यपरिमयों'। सूर्यपरिमयों पार्थिव तथ्यों का निरन्तर आदान विद्य करती हैं। इस आदानपथ से ही सूर्यस्थला में मुक्त इन्द्र-धाता-भग-पूषा-आदि १२ और प्राण 'आदित्ये आदिताना'।

— इत्यादि निर्वचनों से 'आदित्य कहलाए हैं । सर्मरसादानपथ ही आदित्य का आवृत्यस्व \* है । आवृत्तिरश्मियाँ ही नाड़ी हैं । नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूशृष्ट पर सलग्न होती हैं । अपने स्वामाधिक उद्यमर्मा के श्रवण श्रुतधर्मात्मक बलादि की मति इतस्तु न बाहर ये रश्मियाँ उसी नियत मार्ग से वापस पृथ्वी की ओर लौट जाती हैं । आता हुआ रस्ययच्छिन्न सौरतेज जहाँ 'माथित्री' कहलाया है, वहाँ प्रतिफलित, साथ ही पार्थिव अग्निरोऽग्नि से समवर्त वही सौरतेज 'गायत्री' कहलाया है । प्रतिफलित इस गायत्रतेज में पार्थिव अग्नि आन्तरिक्ष, वायु, पार्थिवरसमात्रा तीनों प्रतिष्ठित होजाते हैं । अतएव कहा जासकता है कि, पार्थिवानियुक्त वायु के संयोग से रश्मिरूप नाड़ीमार्ग के द्वारा पार्थिव शरामात्रा पृथ्वी की ओर आ रही है । इसी दृष्टि से रश्मि की अपेक्षा 'आदित्याब्जायते दृष्टिः' कहा जासकता है । पार्थिवान्यपेक्षा 'अग्निर्वा इतो घृष्टिसुवीरयति' कहा जासकता है । एवं आन्तरिक्ष वाय्वपेक्षा—'वायुर्वा घृष्ट्या ईशे' यह कहा जासकता है । तीनों ही वचन उत्तदपेक्षा सुसम्बन्धित हैं । नाड़ी (रश्मि) एवं अग्निप्राणयुक्त वायु से सम्बद्ध इसी दृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए हमारा + मौलिक विज्ञानशास्त्र कहता है — 'तादृशो वायुसंयोगावरोहणम् (अपाम्) । नोवनापीकृतात् संयुक्तसंयोगात्' (वैशेषिक दर्शन ५।२।५, १ व २) ।

'नादृशो वायुसंयोगात् आरहित पार्थिव बल से सम्बन्ध रखने वाली दृष्टिविषय के गमन स्थिति वषण ये तीन अविकरण माने जासकते हैं । यहाँ से पानी जाकर वहाँ पहुँचा वही पहिला गमन-अविकरण है जिसे 'गर्माधानकाल' भी कहा जासकता है । वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्यन्त पृथ्वीकक्ष वायुभरातल पर ठहर गया वही दूसरा स्थित्यविकरण है जिसे 'बोहवकाल' भी कहा जासकता है । नियत समयानन्तर पानी पुनः बरस पड़ता है, यही तीसरा वर्णनाविकरण है जिसे प्रसवकाल भी कहा जासकता है । इसप्रकार गर्म बोहव प्रसव भेद से यह दृष्टिकर्म त्रिपदा बन रहा है । पूर्वोक्त ता श्रुत मन्त्रप्रदी से दृष्टिकर्म के इसी तीनों पदों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके वास्तविक सम्बन्ध के लिए खगोल से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक वाक्यपरिमाणाओं का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा ।

छा संकेता ही पार्थिवानि-रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती रहती हैं । वायु भी उदा ही प्रवाहित है । फलस्वरूप पार्थिवरस-मात्राओं का भी उदा ही कर्षणमन सिद्ध है । और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

— इन्द्रो-चाता भग-पूपा मित्रोऽय-वरुणोऽयमा ।

अथ निवसन्त्वष्टा च सविता-विष्णुरेव च ॥

\* "स प्राश्यमेवाग्नेरादत्त, रूपमेव वायोरादत्त, विचमेव पुरुषस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त, मामेव चन्द्रमस आदत्त । तद्यदादत्त-तस्मादादित्य" ।

— शत० भा० ११।८।४।७ व ८, १० ११।

+ भारतीय विज्ञान अभिवैद्यत अध्यात्म अभिभूत भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है । यवान्तर्धान साध्यवर्धान वैशेषिकवर्धान तीनों से क्रमशः तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है । जैसाकि गोताविज्ञानभाष्यनूतिषा द्वितीय स्रष्टा के आत्मपरीक्षा नामक 'क' भाग में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है ।

१—सप्ताङ्गमां भुवनत्य रतो विभ्योविष्टन्ति प्रदिशा विघर्मन्ति ।

ते धीतिभिर्मनसा ते विपरिचतः परिभुवः परिभवन्ति विरवत ॥

—श्रुत्सं० १।१।६।१३६।

२—कृष्ण नियान हरयः सुपर्णा अपो यसाना दिवमुत्पतन्ति ।

त आववन्नन्तसदनाहतस्यादिषु घृतेन पृथिवी व्युपते ।

—श्रुत्सं० १।१। ४।४०

३—समानमतदुदकमुच्चैत्यथ वाहमि ।

भूमि पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय ॥

—श्रुत्सं० १।१।६।४।५१

धोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि आकाशरूप मेघों से भूषिष्ठ पर जो पानी बरसता है वह वस्तुतः पृथिवी की ही देन है । अग्निगर्भ—मण्डिब के केन्द्र से अक्षिरोऽग्नि ( प्रस्थानि ) धुलोक (आकाश) की ओर निरन्तर बाया करता है यह प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जाना है । 'अग्निर्ना इतो बुद्धि-सुर्वीर्ययति' सिद्धान्त इसी सत्य का स्पष्टीकरण कर रहा है । इसप्रकार पार्थिव जलमात्रा ( समुद्र नव नदिषो ब्रूय, वापी तडाग ओपधि-वनस्पित पार्थिव प्रस्थीरारीर आवि आवि में रहत वाली जलमात्रा ) ऊपर की ओर जाते हुए अक्षिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वाष्परूप में परिवर्त होकर ऊपर की ओर बाया करती है । इसप्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा की धुलोक की ओर लेजाने में एक निमित्त बना हुआ है ।

दूसरा निमित्त है—'वायु' । पार्थिव भूवममय परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण मण्डिब के बिंदु निश्चित ऊर्ध्वप्रदेश पर्वन्त व्याप्त रहता है वहीतक तो पार्थिव अग्नि ही पार्थिव जलमात्रा की ऊपर लेंच लेजाता है । ज्यों ज्यों जलमात्रा ऊपर चढ़ने लगती है त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है । पार्थिव-कर्षण से विमुक्ता यही जलमात्रा 'वाष्प' है । तबपर आभ्यन्तरिक वायु भी एक प्रक्षर का वाष्प ही है । अगो वाक्तर जलमात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक यही 'वाष्प-वायु' बनता है । पृथिवी से धुलोक पर्वन्त तदधिक स्वर्णनादियों वितत हैं । यही 'महत्त्वय' कहलाता है । नाडीरूप इसी महत्त्व से और पदार्थों का प्रवर्धमाग पृथिवी में एवं पार्थिव पदार्थों का प्रवर्धमाग स्वर्ण में श्रुत होता रहता है । यह नाडीमार्ग उभय प्रजापतियों के विस्तृत माग की पारस्परिक आशान-आदान के द्वारा पूर्ति किया करता है । सौरपदाथ पार्थिवपदाथ दोनों ही गतिरूप हैं । इन का गमनागमन होता है नाडीमार्ग से ही परन्तु निमित्त वन्य है—'वायु' । सदागति मातरिरया नामक वायु ही अपने गतिधर्म से दोनों का संवाहक बनता है । वृत्ते शब्दों में—वायु-धराकल पर प्रतिष्ठित होकर ही जलमात्रा नाडीमार्ग से धुलोक की ओर जाती है ।

तीसरा निमित्त है—'सूर्य्यरश्मिषो' । सूर्य्यरश्मिषों पार्थिव तथों का निरन्तर आदान किया करती हैं । रत आदानधम्म से ही स्वर्णरक्षा में श्रुत इन्द्र-वाता-भग-पूषा-आदि १२ और प्राण आदित्य आदिताना ।

— इत्यादि निश्चयों से 'आदित्य' कहाए हैं । सभरसादानपथ ही आदित्य का आदित्यत्व है । आदित्यरश्मियाँ ही नाड़ी हैं । नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूषुष्ट पर उलान होती हैं । अपने स्वामाधिक स्वधर्म के कारण वायुधर्ममक बलादि की मति हस्तत न बाकर ये रश्मियाँ उसी नियत मार्ग से वायु धूलो की ओर झोट जाती हैं । आता हुआ रश्म्यध्विज सौरतेज जहाँ 'सावित्री' कहालाया है, वहाँ प्रतिक्रिय, साथ ही पार्थिव अग्निरोऽग्नि स समवेत वही सौरतेज 'गायत्री' कहालाया है । प्रतिक्रिय इस गायत्रतेज में पार्थिव अग्नि आन्तरिक्य, वायु, पार्थिवरसमात्रा, तीनों प्रसिद्ध होजाते हैं । अतएव कहा जासकता है कि, पार्थिवानियुक्त वायु के संयोग से रश्मिरूप नाड़ीमार्ग के द्वारा पार्थिव बलमात्रा धूलो की ओर जाती है । इसी दृष्टि से रश्मि की अपेक्षा 'आदित्याख्यायते वृष्टि' कहा जासकता है । पार्थिव अपेक्षा 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' कहा जासकता है । एवं आन्तरिक्य वायुपेक्षा—'वायुर्वा वृष्ट्या इतो' यह कहा जासकता है । तीनों ही वचन सन्तुष्ट वा सुसन्निभ हैं । नाड़ी (रश्मि) एव अग्निप्राणयुक्त वायु से सम्बद्ध इसी दृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए इमार + मीलिक विज्ञानशास्त्र कहना है—“नाड्यो वायुसंयोगाद्वाह्याम (अपाम) । नोवनापीडनात् संयुक्तसंयोगात्” (वैद्यिक दर्शन-५।२।५, ६ च) ।

‘नाड्यो वायुसंयोगात् आरोहित पार्थिव बल से सम्बन्ध रखने वाली वृष्टिविद्या के गमन, स्थिति वर्षण, ये तीन अधिकरण माने जासकते हैं । यहाँ से पानी जाकर वहाँ पहुँचा वही पहिला गमन-अधिकरण है जिसे 'गर्भाधानकाल' भी कहा जासकता है । वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्यन्त धूलोकेस्य वायुचरत्तल पर ठहर गया, वही दूसरा स्थित्यधिकरण है जिसे 'बोहवकाश' भी कहा जासकता है । नियत समयानन्तर पानी पुनः वरस पड़ता है वही तीसरा वर्षणाधिकरण है जिसे 'प्रसव काल' भी कहा जासकता है । इसप्रकार गम बोहव प्रसव मन्त्र से यह दृष्टिकर्म त्रिपदा बन रहा है । पूर्वाह्न ता शूक्लमन्त्रवशी से दृष्टिकर्म के इसी तीनों पदों का स्पष्टीकरण हुआ है जिसके वास्तविक समन्वय के लिए अगला से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक बाह्यपरिमाणुओं का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा ।

यथा सर्वदा ही पार्थिवानि-रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती रहती हैं । वायु भी यथा ही प्रवाहित है । पञ्चस्वरूप पार्थिवरस-माषाक्षी का भी यथा ही कर्षणमान स्थिर है । और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

—इन्द्रो-वाता भगः पूषा मित्रोऽय-वरुणोऽयमा ।

अ शु निवस्थान्-त्सष्टा च सविता-विष्णुरेव च ॥

\* 'स प्राग्मेवमनेरादत्त, रूपमेव वायोरादत्त, विचमेव पुरुषस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त, मामेव चन्द्रमस आदत्त । तद्यदादत्त-तस्मादादित्य ॥' ।

—शां० ब्रा० ११।८।४।५० ८८, १० ११।

+ भारतीय विज्ञान अचिदेवत अध्यात्म अधिभूत मेह से तीन भागों में विभक्त माना गया है । वेदान्तदर्शन सांख्यदर्शन, वैशेषिकदर्शन तीनों से क्रमशः तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है जिसका गीताविज्ञानभाष्यनूतिष्व द्वितीय खण्ड के 'आत्मपरीक्षा' नामक 'क' भाग में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है ।

वेद, लोको वेद्य धर्मः, इन चार प्राकृतिक सगों की प्रवृत्ति क्रमशः प्राणमुल्ल, आपोमुल्ल वायुमुल्ल अभ्रगर्भित अन्नावमुल्ल इन चार मुल्लों से मानी गई है। प्राणादि प्रकृतिषां त्रय के चार मुल्ल हैं। इन्हीं से सृष्टिचक्रवर्ती का विकास हुआ है। 'आका अहम्भु प्रतिष्ठिताः - सधमापोमयं जगत् - इत्यादि' के अनुसार अप्रतत्त्व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवक्तृ क माना गया है। यही लोकधर्म का आरम्भक है। अतएव 'जीवनं सुषनं वनम् रूपं' आपः को 'सुषन (लोको) नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्रतत्त्व सुषन का आरम्भक है, अतएव इसे अवश्य ही 'सुषनस्य रेतः' कहा जा सकता है। पार्थिव भुवन की रेतोभूता बलमात्रा आत्म-वायुच्छयोगिनी सूर्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहिता उष्णता बलमात्रा सौररश्मियों में ६॥ महीना गर्मीभूता रहती है। गर्मीभूता बलमात्रा उत्तराश्वरा में प्रतिष्ठित रहती है। आकाशा परमेष्ठी है पर मेष्ठी विष्णु है। इस आकाश की अन्तिम सीमा 'ज्योसा कहलाई है, यही 'विष्णुपद' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्तिम सीमा भूषप्रवेश है, यही नाक्षत्र विष्णुमण्डल है। उत्तराश्वरागत नाक्षत्र विष्णुपद ही आकाश का उत्कृष्टतम स्थान माना गया है। इसी विष्णुपद के लिए कहा जाता है—

तद्विष्णो परम पदं सदा परयन्ति सुरय ।

दिदीव चक्षुरास्तम् ॥

—श्रुत १।२।२।२ ।

विश्वप्रकार चन्द्रमा 'विश्ववृत्त' के आधार पर सूर्यपिण्ड के चारों ओर चलता है। सूर्यपिण्ड अस्तित्व के आधार पर, सूर्यपिण्ड के चारों ओर, सूर्यपिण्ड 'अवनवृत्त' के आधार पर परमेष्ठी के चारों ओर, परमेष्ठी प्राणवृत्त के आधार पर स्वयम्भ के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है। एवमेव उत्तराश्वरा नाक्षत्र विष्णुपद के चारों ओर परिक्रमा लगाता करता है। भ्रुव की यह परिक्रमा २५ [पन्चीसहजार] वर्षों में समाप्त होती है। विश्वप्रकार विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र भ्रुव है। एवमेव अन्तिमवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र यही कल्प [विष्णुपद] है। भ्रुव विष्वद्वृत्त का केन्द्र है तो कल्प अन्तिमवृत्त का केन्द्र है। विश्ववृत्त और अन्तिमवृत्त में २४ अंश का अन्तर है। यही अन्तर भ्रुव और कल्पमूर्ति नाक्षत्र विष्णु का है। २४ अंश के व्यासार्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तराश्वरागत प्रवेश है, यही विष्णुपद है। इसके केन्द्र में प्रतिष्ठित परमेष्ठ्य प्राण ही—जो अपने प्राणधर्म से सर्वथा अमूर्त है—विष्णु है। इस विष्णु का प्रवेश ही उत्तराश्वरा प्रवेश है। यही उत्तराश्वरा बलमात्रा गर्मीभूत रहती है। जैसा कि बताया गया है। मुरारिभ्रमण के द्वारा उत्तराश्वरा रश्मियाँ किंवा तारा आपः-गर्भाधान स्थिति के ठीक विपर्यय से सरन्ती हैं। इसी विपर्यय-भाव का—प्रविष्टा विचरन्मणि' वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

—गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से प्रसव होता है। सूर्य के सहयोग से जैसा कि—'चन्द्रचारेण गमसि सूर्यचारेण वर्षसि' रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है। एक ही दिन में परन्तु सूर्यानुगत प्रसव कल्प १३ दिवसों में विभक्त है। गर्भापात 'मनसा' शब्द चन्द्रमायानुगत गर्भाधान का सूचक है एवं 'पोषिमि' सूर्यचारानुगत प्रसवधर्म का सूचक है। कारण स्पष्ट है। चन्द्रग्रहण मनप्रसव है, एवं सौर ग्रहण जीवजन्म है। मन का चन्द्रमा से एवं बुद्धि का सूर्य से सम्बन्ध है। मनसा [चन्द्रगमन] प्राण्यमाण गम

धीतिगो [सौररश्मियों] के चार से ही तो प्रसृत होता है। भूति का विपश्चित शब्द अतिशय रूपेण व्युत्पन्न है। विपरीता, किंवा विदिक् चिति ही इस शब्द से सूचित होती है। विपरीते—विदिग्भागे चयनमचित्-येषां ते गर्माः ही विपश्चित का रहस्यार्थ है।

‘वि’ पूर्वक ‘पर्श’ ही ‘विपश्चित’ का मौलिक आचार है। संख्या-संकेत-विज्ञानानुसार ‘प’ का १ संख्या का सूचक है, ‘श’ का २ संख्या का सूचक है। ‘पर्श’ का अर्थ होता है—१५ संख्या। ‘अङ्गना वामतो गति’ के अनुसार १-५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५-१ (११) निष्कण निकलता है। वह यहाँ अभिप्रेत है नहीं। अभिप्रेत है १५ ही। यही मात्र वि से सूचित हो रहा है। ‘पर्श-भार्य’ (१५-संख्या) विरुद्ध (१५) कुप्यात् ५१ स्थाने १५ विद्यात् यही रहस्यार्थ विपर्श से सूचित हुआ है। तात्पर्य यही निष्कर्ष है कि जिस नक्षत्र में आकाश-प्रदेश में गर्माधान होता है बलमात्रा की चिति (सद्य) होती है उस नक्षत्र के १५ वें नक्षत्र में उस गर्मीभूत बल की दृष्टि होती है। इस प्रकार १५ नक्षत्रमात्र से ही बल की चिति होती है। अतएव गर्मीभूत आपोमयी रश्मियों का अवश्य ही विपश्चित कहा जा सकता है। यदि मूलनक्षत्र में मनसा (चन्द्रचारेण) गर्माधान है, तो आर्द्रानक्षत्र में (जो कि मूल से १५ वां नक्षत्र है)—धीतिमि। सूत्र्यचारेण ] उस गर्म की प्रवृत्ति होनायगी वैसा कि ‘पौष मूलमर वयन्तम्०’ इत्यादिक्रम से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार ‘सप्ताहगर्माः०’ इत्यादि मात्र गर्मस्थिति का स्वल्प बलता हुआ चन्द्रचाराणुगत गर्माधान सूत्र्यचाराणुगत प्रसवकर्म, वना का भी स्पष्टीकरण कर रहा है। अत्र क्रमशः—‘कृष्ण’ निबान हरयः सुपर्णा०’ इत्यादि मन्त्र की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष यत्न नहीं है। पार्थिव जल किस के द्वारा किम मात्रा से कहाँ जाता है? कहाँ से कब किस के द्वारा बरसता है?, इत्यादि प्रश्नों के पूर्णतः समाधानों का ही—कृष्ण निबानम्० इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्लमाग उत्तरायण कहलाया है, कृष्णमाग दक्षिणायन कहलाया है। कृष्णमाग का पार्थिव कृष्णवर्ण सूर्याग्नि से सम्बन्ध है, शुक्लमार्ग का सौर शुक्लवर्ण आग्निगर्भाग्नि से सम्बन्ध है। ‘ऊपर’ का अर्थ है उत्तर’ एवं ‘नीचे’ का अर्थ है—दक्षिण। दक्षिणविशा मृषियब्ध की आवासभूमि है, उत्तरविशा सूर्य की आवासभूमि है। अतएव वर इन्द्र का उत्तर से सम्बन्ध माना गया है। दक्षिणमाग श्रुति का अपना स्थान है यह पार्थिव दृष्ट्याग्नि का सम्बन्ध से कृष्ण है। यही अब प्रवेश है। यही—कृष्ण-वानम् है। इसके निम्नमात्र का ही ‘नि’ से उद्धृत हुआ है। कलतः कृष्ण नि-वानम् का अर्थ होता है—दक्षिणस्था-अचोऽवस्थिता पृथिवी। इसी की लक्ष्य बनाकर उत्तरमागस्थ किंवा शुक्लपथानुगामिनी सूर्य की रश्मियाँ अपने व्यापक हरण लक्ष्य आशानभूमि से यहाँ—हरण (हरित आहरित) कहलाए हैं यहाँ अग्निज्वला सुगन्धित का सम्बन्ध से रत्न सुपर्णा कहा गया है। पूव में स्तलाया गया है कि, सूर्य से आगत साक्षात् शीतल आग्नि है पृथ्वी से उठकर हर प्रतिदक्षित होने वाला और तब गायत्री है। यह गायत्रितेज ही सुपर्णा है जिसके गर्म में—नाइयो वायुसयोगाशरोहणम् सिद्धान्तानुसार पार्थिवी बलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। ‘गति च प्रेति पान्याह’ ही इस गायत्र सुपर्णा का तात्त्विक इतिहास है जिसका पूर्व के ‘सामिघनी-आद्याण’ में विशद वैज्ञानिक विवरण किया जा चुका है। आगमनाश्रया में सूर्यरश्मियाँ बल रश्मियाँ हैं गमनश्रया (गायत्री-

वेद, लोक, देश, धर्म इन चार प्राकृतिक स्वरों की प्रवृत्ति क्रमशः प्राणमुक्त आपोमुक्त, वायुमुक्त अन्नगर्भित अन्नादमुक्त इन चार मुक्तों से मानी गई है। प्राणादि प्रकृतियों नष्ट के चार मुक्त हैं। इन्हीं से सृष्टिचक्रवर्ती का विकास हुआ है। 'लोकानां ह्यप्यु प्रतिष्ठिताः - सवमापोमय जगत्'-इत्यादि के अनुसार अप्रवृत्त ॥ लोकसृष्टि का मूलप्रवृत्त माना गया है। यही लोकसर्ग का आरम्भक है। अतएव 'जीवन्तं मुक्त्वं यन्म' रूपसे 'आपा' को 'मुषन (लोक)' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्रवृत्त मुक्त्वं का आरम्भक है, अतएव इसे अपरव ही 'मुषनस्य रेव' कहा जा सकता है। पार्थिव मुक्त्वं की रेतोमूला बलमात्रा आत्म-वासुदेवयोगिनी सूर्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहिता उत्पन्नता बलमात्रा सौररश्मियों में ६॥ महीना गर्मीमूला रहती है। गर्मीमूला बलमात्रा उत्तराश्वर में प्रतिष्ठित रहती है। आकाश परमेष्ठी है, पर मेष्ठी विष्णु है। इस आकाश की अन्तिम सीमा 'व्योमा' कहलाई है यही 'विष्णुपद' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्तिम सीमा भूषप्रवेश है, यही नाकस्थ विष्णुसम्यक्त्व है। उत्तराश्वानुगत नाकस्थ विष्णुपद ही आकाश का उत्तम स्थान माना गया है। इसी विष्णुपद के लिए कहा जाता है—

तद्विष्णो परम पद सदा पर्यन्ति ध्रुव ।

दिवीच चक्षुरागतम् ॥

—सूक्त १।२।२।

विषयकार चन्द्रमा 'अश्वपुच्छ' के आचार पर भूमिपद के चारों ओर घूमता है भूमिपद अन्तिमपद के आचार पर, सूर्यपिण्ड के चारों ओर, सूर्यपिण्ड 'अयनपद' के आचार पर परमेष्ठी के चारों ओर, परमेष्ठी प्राणपद के आचार पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है एवमेव उत्तराश्व नाकरय विष्णुपद के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। भूष की यह परिक्रमा २५ [पञ्चीसहवार] वर्षों में सम्पन्न होती है। विषयकार विष्वद्वृत्तीय प्रष्टीकेन्द्र ध्रुव है एवमेव अन्तिमपृष्ठीय प्रष्टीकेन्द्र यही कर्मन् [विष्णुपद] है। ध्रुव विष्वद्वृत्त का केन्द्र है तो कर्मन् अन्तिमपृष्ठ का केन्द्र है। विश्वद्वृत्त और अन्तिमपृष्ठ में २४ अंश का अन्तर है। यही अन्तर भूष और कर्मन्मूर्ति नाकरय विष्णु का है। २४ अंश के व्यासार्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तराश्वरानुगत प्रवेश है यही विष्णुपद है। इसके केन्द्र में प्रतिष्ठित परमेष्ठ्य प्राण ही—जो अपने प्राणधर्म से सर्वथा अमूर्त है—विष्णु है। इस विष्णु का प्रवेश ही उत्तराश्वर प्रवेश है। यही उत्तमन्त्र बलमात्रा गर्मीमूला रहती है। ऐसा कि क्लृप्ताया गया है मूर्तिभ्रमण के कारण सत्ताद गर्मा रश्मियाँ किंवा उद्यत आपा-गर्माधान स्थिति के ठीक विपर्यय से भरकती हैं। इसी विपर्ययमान अ-प्रविद्या विषयमणि वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

—गर्माधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से प्रसव होता है सूर्य के सहयोग से जैसा कि—  
'चन्द्रचारण गमति सूर्यचारण वर्षति' रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाना है। तब ही वह भी समझ रखना चाहिये कि, चन्द्रमा के द्वारा गर्माधान होता है एक ही दिन में परन्तु सूर्यानुगत प्रसव काल १३ दिवसों में बिम्बक है। मन्त्रोपास 'मनसा' शब्द चन्द्रचारणगुण गर्माधान का सूचक है एवं 'प्रोतिभि' सूर्यचारणगुण प्रसवधर्म का सूचक है। कारण स्पष्ट है। चन्द्रगोम मनोभव है, एवं सौर अ ५ धीनघन है। मन का चन्द्रमा से एवं बुद्धि का सूर्य से सम्बन्ध है। मनसा [चन्द्रमा] धीनघन गम



२-विषस्वानष्टमिम्ममैरादायापो रसात्मिकाः ।

वपत्यन्तु ततश्चाश्व-मन्नादमखिल जगत् ॥

३-आदत्ते रश्मिमिर्यत्तु चितिसस्थो रसो रवि ।

समुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं सस्यवृद्धये ॥

४ सरित्-समुद्र-स्तथाप प्राप्तिरसम्मथा ।

चतु प्रकारा भगवानादत्ते सविताशुभि ॥

५-विषस्वानशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतीजलम् ।

सोमं पुष्पाति सोमस्तु वायुनाडीमयैर्दिवम् ॥

६-जलैर्विचिप्यतेऽग्रेषु धूमान्यनिलमूर्त्तिषु ।

अम्रस्था प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिता ॥ इत्यादि

—ब्रह्मपुराणे

बुद्धिगम्या माया से सम्बन्ध रखने वाले पृथक्पिपातित दृष्टिविज्ञान का तैत्तिरीयवहिता में भी [ कारीरि इष्टिप्रकरण में ] विवरण किया गया है जिसका निष्कर्ष यही है कि, अग्नि-सोम-सूर्य-मित्र-वरुण अर्च्यमा-पञ्चानादि प्राकृतिक देवताओं के समन्वय से ही धूमिकन्म सञ्जात है । यदि यष्ट्र में अनादृष्टि अनित बुष्मण की सम्पादना हो तो वैज्ञानिक माहर्षा को उस 'कारीरो' इष्टे का ही अनुष्ठान करना चाहिए जिस में दृष्ट्यविष्टाया उक्त प्राकृत्यताओं के आधिनैतिक द्रव्यों के माध्यम से अनुग्रहप्राप्ति का प्रतीक हुआ है । प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता बारहा है । अतएव मैं स का वह स्थल यहाँ उद्धृतमात्र कर दिया जाता है । अवश्य ही उक्त प्रकरण वैज्ञानिकों का प्यान दृष्टिविज्ञान के महत्वपूर्ण विवरणों की ओर आकर्षित करेगा ।

प्राच्यङ्गम्-(१)-“मारुतमसि मरुतामोजोऽपां धारां मिन्धि (१) ॥ रमयत मरुत श्वेनमायिनं मनोजवस वृषण सुवृक्ति । येन शशं उग्रमवसुष्टमेति तदश्विना परिषत् स्वस्ति (२) ॥ पुरोवातो वर्षन् जिन्वराशुत् स्वाहा (३) ॥ वातावद्वर्षन्नुग्रराशुत् स्वाहा (४) ॥ स्तनयन् वर्षन् मांमराशुत् स्वाहा (५) ॥ अनश्वन्ववसूर्जन् दिषुर्द्वर्षन् त्वेपराशुत् स्वाहा (६) ॥ अतिरात्र वर्षन् पर्तिरावत् स्वाहा (७) ॥ उग्रु हायमवृषादिति श्रुतराशुत् स्वाहा (८) ॥ आतपति वर्षन् विराडाशुत् स्वाहा (९) अवसूर्जन् दिषुर्द्वर्षन् भूवरावत् स्वाहा

\* “सवमिदमश्व, सर्वमिदमश्व । इय वा इद न तृतीय-अस्ति-अथा (अश्व), चैव-आय (अश्व) च” । ( भुक्ति ) ।

दशा) में ही ये बल का आहरण करती हैं। तभी इनकी 'सुपर्णा' अन्वय बनती है। अतएव गमनावस्थापना, गायत्र्येतेभ्योमी सूर्यरश्मयो को ही 'हरयः सुपर्णाः' कहा जायगा। ये रश्मियाँ निम्न- (दक्षिण) भागस्थ कृष्णायान (भूपिण्ड) को लक्ष्य बनाकर, (भूपिण्ड से सश्लक्ष होकर) तत्रस्था बलमात्रा को अपने गर्भ में धारण करती हुई पृथ्वी की ओर प्रतिपलित हो जाती हैं। 'कृष्णं निमानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना विधनुस्तपस्वि' यह मन्त्रपूर्वाख्य पार्थिव बलमात्रा की इस गर्माधानात्मिका का ही विरलक्षण कर रहा है।

आप वायु, सोम तीनों पागवत्त्व 'श्रुत' कहलाए हैं। 'श्रुतमेव परमेष्ठी' इस आचार्यसं-सिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही श्रुत है इसी को पूर्वमन्त्रप्रकरण में विष्णुपद' कहा गया है। यह परमेष्ठय अपूर्वत्व घन-तरल-विरल मेद से आपः-वायु-सोमः इन तीन अवस्थाओं में परिवर्त रहता है। घनावस्थापन्न अपूर्वत्व का आसुर वाक्यप्राण से तरलावस्थापन्न वायुत्व का सोमरसक गन्धर्वप्राण से एवं विरलावस्थापन्न सोमत्व का मौन्य पितृप्राण से सम्बन्ध माना गया है। यही सोमत्व विष्णु का स्वरूप-समर्पक माना गया है। अतएव इनका यत्र तत्र 'सोमवरी' रूप से उपवर्णन उपलब्ध होता है। सोमसम्बन्ध से उत्तर स्थान विष्णुपद है अप्सम्बन्ध से यही उत्तरस्थान आरुण्य भी है। श्रुत अद्रूपतालक्षणा श्रुत-सोमात्मकता ही उत्तरस्थान की श्रुतसद्वन्ता है बिल्का-निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है—

वरुणस्योत्तम्मनमसि वरुणस्य स्कन्मसर्जनीस्थो वरुणस्य श्रुतसदन्यसि ।

वरुणस्य श्रुतसदनमसि वरुणस्य श्रुतसदनमासीद् ॥

—यजुःसं० ४।४६।

दक्षिणस्थ भूपिण्ड से सूर्यरश्मियों के द्वारा पृथ्वी में गर्भीभूत बलमात्रा का वापस ब्रह्म में बरकती है। इसी प्रश्न का समाधान करती हुई भूति कहती है कि, ये अवगर्भमय सुपर्णा [रश्मियाँ] अब श्रुतसदन से [उत्तरदिशा से] परावर्तित होती हैं [दक्षिणावर्त का अनुगमन करती हैं] आवित्-अभ्यवहितोत्तरफला में ही भूत [जल] से पृथिवी कास्नास्तीकृत हो जाती है, जलमयी बन जाती है। यही गर्भ की प्रवृत्ति है। क्रमागत-‘समानमेतदुत्कृष्टम्’ इत्यादि तृतीय मन्त्र का विरलक्षण पूर्व में किया ही जा चुका है। इसप्रकार यह श्रुतमन्त्रकी दृष्टिधा का अंशः स्पष्टीकरण करने में लक्ष्य हो रही है।

यह तो हुई भूतिवर्णा। अब दो शब्दों में पुराणवर्णा का भी समन्वय इच्छित कर लेना चाहिए कि, तथाकथित आन्तो की दृष्टि में 'पुराण' का एक निरर्थक-शास्त्र बन रहा है। किन्तु तत्त्वविद्वानों का केन्द्र शास्त्र में प्रकीर्णकरूप से विश्लेषण हुआ है। पुराणने यही ही प्रवृत्तमाया में एकत्र उनका समन्वय कर दिया है। तभी तो— इतिहासपुराणान्यां येव समुपहृज्यन्त' कथन चरितार्थ हो रहा है। अधिक विस्तार में न जाकर दृष्टिधा से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक कथनमात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिये जाते हैं—

१-अष्टमासपूर्तं गर्भं मास्करस्य गर्भस्तिमिः ।

रस सर्वसमुद्राणां धौः प्रसृते रसायनम् ॥

—वाल्मीकिरामायणे

विसृजादितिम् (६) ॥ ये देवा दिविमागा ये ऋतुरिषमागा य पृथिवीमागाः, त इम यज्ञ-  
मयन्तु त इदं चेश्रमाविशन्तु त इदं चेश्रमनुविशन्तु (१०) ॥

-तै० सं० २।४।८।

उत्तराङ्गमन्त्रव्याख्यानम्-(३)-“देवा वसव्या, देवाः शम्भयया, देवा सपीतय,  
इत्यावच्छाति । देवताभिरेवान्वह वृष्टिमिच्छाति । यदि वर्षेततावत्येव होतव्यम् । यदि न  
वर्षेत एवोभूते हविर्निर्गपेत् । अहोरात्रे नै मित्रावरुणौ । अहोरात्राम्या खलु वै पर्जन्यो  
वर्षति । नक्त वा हि दिना वा वर्षति । मित्रवरुणावेव स्वेन मागधेवेनोपधावति ।  
तावेवास्मै अहोरात्राम्यां पर्जन्यं वर्षयत । अग्नये घामच्छद पुरोडाशमष्टाकपालं निर्गपेत्,  
मारुत सप्तकपाल, सौर्यमेककपालम् । अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नय-  
न्ति, यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ्क रश्मिभि पर्यावर्षते, अथ वर्षति । घामच्छदिव  
खलु नै भूत्वा वर्षति । एता नै देवता वृष्ट्या ईशते । ता एव स्वेन मागधेवेनोपधावति । ता  
एवास्मै पर्जन्यं गर्षयन्ति ।

उत्तानर्पिष्यन् गर्षत्येव । सृजा वृष्टिं दिग, आर्षुमि समुद्रं पृथ, इत्याह । इमा-  
धैवामूरुचाप ममदपति । अयो आभिरवामूरुच्छेति । ऋज्वा असि प्रथमजा, बलमसि  
समुद्रिय, इत्याह । यथा यजुरेधैतत् । उभम्मय पृथिवी, इति गर्पाह्वां जुहोति । एषा वा  
ओपधीना वृष्टिवनि । तयैव वृष्टिमाच्याषयति । ये देवा दिवि मागा-इति कृष्णाजिनम-  
वधूनाति । इम एवास्मै लोकाः प्रीता अमीष्टा भवन्ति” ।

-तै० सं० २।४।१०।

तैत्तिरीय-संहिता के चार अनुवाक्यों से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रभाग से सुप्रसिद्ध ‘काटीरीष्टि की  
इतिकर्त्तव्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है । कर्म्मसिक्तव्यता के साथ साथ दत्त इतिप्रकरण में वृष्टि से सम्बन्ध  
रखने वाले आधिदैविक विज्ञान का भी अस्तर विरोधका हुआ है । ‘मारुतमसि० यहाँ से इसका उपक्रम  
है । एवं ‘अमीष्टा भवन्ति’ पर अवसान है । उपक्रमवाच्य यह सूचित कर रहा है कि आन्तरिक्ष मरुदेवता  
[ वायुदेवता ] ही इतिकर्म्म के प्रधान निमित्त हैं । यद्यपि अग्नि सूर्य विद्युत्, स्तनयित्नु, सोम मेघ  
आदि सभी निमित्त बनते हैं । परन्तु इन सब प्राणी का समन्वय एकमात्र गतिधर्मा वायु के सहचार पर ही  
निर्भर है । अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जासकता है । अतएव प्राच्यज्जमन्त्रव्याख्यानभूति में  
‘वायुर्वै यूष्या ईरो’ इत्यादिरूप से वायु को ही वृष्टि का प्रधान प्रयत्न क बतलाया गया है । इसी भीत विद्वान्त  
के आ ३मलिखित कथन प्रतिष्ठित हुए हैं—

(१०) ॥ मान्दा वाशा शुन्ध्यूरजिरा ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीरुदन्ती सुफेना । मित्रसृत्  
सुराष्ट्रा इव मावत (११) ॥ वृष्यो अश्वस्य सन्धानमसि, वृष्ट्यै त्वोपनक्षामि (१२) ॥  
—तै० सं० २।४।७।—

प्राच्यङ्गमन्त्रव्याख्यानम्—(१)—“मारुतमसि मरुतामोऽत्र इति,—कृष्णं वास कृष्ण  
तुषं परिषत्ते । एतद्वै वृष्ट्यै रूपम् । सरूप एव भूत्वा पर्जन्यं वर्षयति (१) ॥ रमयत  
मरुत श्वेनमायिनम्—इति,—परचाद्वत्सं प्रतिमीवति । पुरोधातमेव जनयति वर्णस्यावरुद्धयै  
(२) ॥ वातनामानि जुहोति । “वायुर्नै वृष्ट्या ईशे” । वायुमेव स्वेन मागधेयेनोपधा-  
यति । स वात्वात्मै पर्जन्यं वर्षयति (३) ॥ अष्टौ जुहोति । चतस्रो वै दिशः, चतस्रोऽवा-  
न्तरदिश । दिग्मय एव वृष्टि सम्प्र-व्यावयति (४) ॥ कृष्णाग्निने सयौति इविरेवाक् ।  
अन्तर्वेदि सयौति, अवरुद्धयै (५) ॥ पत्नीनामघमानानां शीर्षाणि परापतन् । ते खजूरा  
अभवन् । तेषां रस ऊर्चोऽप्यतत्, तानि करीराण्यमवन् । सौम्यानि वै करीराणि । सौम्या  
खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टि व्यावयति (६) ॥ यत् करीराणि भवन्ति—सौम्यमेवाहुस्या  
दिवो वृष्टिमवरुद्धे । मधुषा सयौति । अपो वा एष ओषधीनां रस—यन्मधु । अयम्य  
एषोषधीभ्यो वर्षति । अथो अयम्य एषोषधीभ्यो वृष्टिं निनयति । मान्दा वाशा—इति  
सयौति । नामधेयैरेणैना अर्च्छन्ति । अथो यथा ब्रूयात्—असावेहीति, एवमेणैना नामधेयै  
राच्यावयति (७) ॥ वृष्यो अश्वस्य सन्धानमसि । वृष्ट्यै त्वोपनक्षामि, इत्याह वृषा वा  
अस्वः, वृषा पजन्यः । कृष्ण इव खलु वै भूत्वा वर्षति । रूपेणैनां समर्धयति—वर्षस्याव-  
रुद्धयै (८) ॥—तै० सं० २।४।६।

उत्तराहम्—(२) देवा वसत्या अग्ने सोम सूर्य्य (१) ॥ देवा शर्मयथा मित्राव-  
रुक्षार्पमन् (२) ॥ देवा—सपीतपोऽर्जानपादाष्टुहेमन् (३) ॥ उभूतो दत्तोदधिं मित्त, दिवः  
पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावत (४) ॥ दिवा चित्तम कृषन्ति ऋज्येनो  
इवाहन, पृथवीं यत् व्युन्दन्ति (५) ॥ आ यं नर सुदानवो ददष्टुपे दिव कोशमनु-  
प्युवु, विपर्जन्या सृजन्ति रोदसी अनु घन्वना यन्ति वृष्टयः (६) ॥ उदीरयथा मरुतः  
समुद्रतो यूर्यं वृष्टिं वर्षयथा पुरोषिणः, न वो दत्तो उपदस्यन्ति घेनव, शुर्म यातामनु  
अदत्तमत (७) ॥ सृजा वृष्टिं दिश, आवृभि समुदं पुष्ठा, अञ्जा असि प्रबभवा, वत्तमसि  
समुद्रिपम् (८) ॥ उन्नमय पृथिवीं, मिन्द्रीदं दिव्यं नम, उद्गो दिव्यस्य नो देहीशानो

पाल भ्रमरय मधुण अगम्यागमन असृष्टस्य-स्पर्शन, देव-शिव-गुरु-शुभ्रपापरित्याग, सञ्ज्ञा-  
स्त्रनिन्दा मलिनाकरण-सकराकरण-जातिभ्रशकर, आदि पातक-अतिपातक-महापातक निम्न  
असत्कुम्भों में प्रयुक्ति, मय्यादोल्लभन कल्पित साम्यवाद की घोषणा, सर्वोपरि दुराग्रह, आदि  
आदि अशम्भय प्रायः सब हुए हैं। मरणागम्य, वस्तुतः प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लिया बाग्या  
वस्तुतः एक गन्तार-स्थ नहीं, यहाँ आन्तर्गतनी से नी चिन्तक मूल में पातक अस्ति-प्रतिष्ठा का मोह  
प्रतिष्ठित है-मानव समाज सुस्थिर नहीं बन सका। इस के लिए तो प्राकृतिक भिरव की सुस्थिरता ही प्रधान  
साधन होगी। एवं इस साधन के लिए प्राकृतिक नियम-संघातलक्षण शायतः सनातनधर्म-पथ ही  
प्रकृतात् श्रेय-पन्था माना जायगा। ज्ञान-मानवसमाज के अस्तित्व के लिए उही प्रशस्त पथ की  
माफ़ा करत हुए बुद्धिगम्यामापा से सम्बन्ध रखने वाला गृष्टिबिज्ञान-प्रकरण उपरत होता है  
यस सहजभाषानुगामी प्रकरण का संचित निरूपण उपरान्त होता है।

एक वर्ष में सौ ठी बरखाएँ ६ श्रुत हैं [ मानव ] मानी गई हैं परन्तु 'ग्रीष्म-वर्षा-शीत' इन  
तीन मूल श्रुतियों का ही व्यवहार का भी चर्चा है ही। इन्हीं तीनों की लक्ष्य बनाकर कहा जाता है-  
'प्रत्ये वाऽश्रुत' सम्बत्सरस्य [ शत ३१८१७० ]। खरमापा में वही तीनों क्रमशः गर्मी, बर-  
सात सर्दी, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों मौसमों के प्रत्येक के ८-८ महीने होवाते हैं। इस  
आर चतुर्मासात्मिका गर्मी है, उस आर चतुर्मासात्मिका सर्दी है, मध्यमें चतुर्मासात्मिका  
बरसात है। क्रान्त गती के मध्य में हैं। और एका एक लौकिकन्याय [ व्यवहार ] है कि, मध्यस्थ  
पन्था का हमर-उपर रहन बाल दानी पारवर्त्य पक्षों से ग्रहण होवाता \* है। अतएव कहा बासकता  
है कि, एक वर्ष में कबल गर्मी एवं सर्दी व ने ही मौसम हैं। बरसात का ग्रहण इन गती के ग्रहण  
से ही चरित्रार्थ है।

इसी व्यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में ग्रीष्मकाल, शरत्काल व ग्रीष्म मान लिए जाते  
हैं। ग्रीष्मकाल उष्णकाल है इसी का अपभ्रंश 'उष्ण' है। एवं शीतकाल का अपभ्रंश 'रयल' है।  
है। वर्ष में व दो ही 'वर्ष' [ फसल ] होती हैं। यदि और भी मूल विचार किया जाय है तो हमें इस तथ्य  
पर पहुँचना पड़ता है कि वस्तुतः गर्मी ही सम्पूर्ण वर्ष की मूलप्रतिष्ठा है। कारण यह है। श्रुतिकी  
पर रहने वालों के लिए पार्थिव श्रुतिकी ही प्रधानता ही बायगी। एवं-अग्निमू स्थान - 'यथाग्नि-  
गमा श्रुतिकी इत्यादि' वस्तुओं के अनुसार श्रुतिका में अग्निवत्त्व की ही प्रधानता है। अतएव मानना पड़ेगा  
कि, पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाली श्रुतियों में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है। अग्नि की ह्य-  
वृद्धि से ही पार्थिव २ १ ५, ६ ७ आदि विभिन्न श्रुतियों की अग्निव्यक्ति होती है।

जिस हम 'शीत' कहते हैं वही विज्ञानभाषा में 'सोम' तत्व है। इस मानवत्व के साम्यरसोम विष्-  
मोम मन्त्र से ही विषय मान गए हैं। प्रत्यक्षरूप आन्तरिक अन्तर्मा ही भास्वरसोम है। यही 'सहस्र-  
मरारि-सत्वम्' परिभाषानुसार अन्तर्गुण विद्यवाचस्पिध अन्तर्मात्र [ अतिमन्य भवकीला ] धेन

\* तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यत । ( लौकिकन्याय )

सूर्यं दक्षिणगोलस्ये सप्तादध्वेरमुत्थिति ॥

ततोयं वायुना क्षिप्तं देशे देशे प्रवर्षति ॥१॥

न सूर्यो न च नक्षत्रं न चन्द्रस्तत्र कारणम् ॥

वायुनैवोद्भूत तोय वायुरेण प्रवर्षति ॥२॥

—भीमगुरुप्रणीता काव्यमिनी

इति है मौक्तिक इन्हीं पर, एव मनोयोग है—आधिदैविक प्राण-देवताओं के साथ बड़ी सम्पूर्ण मन्त्रभाग का सात्त्विक निष्कर्ष है। अरीरी इति में कासा कश्च पहिना जाया है, जिसके चाते। केने गहरे काते होते हैं। यही वस्त्र कृष्णतुष-कृष्ण-वास' कहलाया है। यह कृष्णप्रश्न धामच्छब्द मेघ कृष्ण जल एवं कृष्णमरुत् इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही इति का स्वरूप है। मेघ इसी रूप में परिणत होकर बरसता है। इसीप्रकार अरीर सौम्यप्राण का संसाहक है। वातहोम अष्टविध नाक्षत्रिक सर्प-वायु का संसाहक है। पार्थिव अग्नि धामच्छब्द है। वसु-सम्बन्धेन वह अनुहावक है। आन्त-रिह्य मरुत् सप्तात्वक है, स्वर्ग 'एकल एव स्यात्'। इतिर्म्म में तीनों का सहयोग अपेक्षित है।

अतएव अरीरी इति में धामच्छब्द अग्नि मरुत्वाम् वायु सौर इन्द्र तीनों के लिए क्रमशः अष्टकपात-सप्तकपात-एककपात-गुरोबारा का निर्धारण होता है। तीनों देवताओं का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्रा ऊपर फैलता है आन्तरिह्य मरुत्वाम् उसे अपने गर्म में रक्ता है, एवं सूर्य रश्मियों से बरसा देता है। अग्निर्वा इतो वृष्टिमुखोरयति० इत्यादि से इसी उपयोग का स्पष्टीकरण हुआ है।

'ये देवा विवि आता' (पेन्ना) येऽन्तरिक्षमागा (वाक्या) ये पृथिवीमागा' (आग्नेयाः) के अनुवाय तीनों ही इस इतिवत् [अरीरीति] के स्वस्म-सम्पादक हैं। अक्षय ही तत्त्व प्राणदेवतानुक्त कृष्णवास, अरीर, गुरोबारादि तत्त्व मौक्तिक इन्हीं के माध्यमसे तत्त्वप्राणदेवताओं के द्वारा अमीक्षित [वर्षा] होताही है। 'इम एवास्मै लोका प्रीता अमीष्टा भवन्ति' इस उक्त-हारा-अक्षय से इसी कर्मसिद्धि का समर्थन हुआ है।

यहप्रक्रियाओं से क्या सम्भव नहीं?, आवश्यकता है—रहस्यज्ञानपूर्वक उनके अनुगमन की। प्राकृतिक प्राण-देवताओं के प्रकृतिविरुद्ध होबाने से ही अनादृष्टि अतिवृष्टि-जनित युष्मत् जनपद-विद्व-ध्वंसिनी करकपात एककपात आग्नेय-वारुण-येन्द्र-वायव्यादि भूकम्प आदि विप्ल उपस्थित हुआ करते हैं। मानवसमाज प्राकृतिक विरुद्ध का अवयव है। इसके प्राकृतिविरुद्ध-गमन से ही अवयवीरूप प्राकृतिक विरुद्ध के प्राकृतिक विधानों में अभ्यवस्था का समावेश स्वताःसिद्ध है। इसप्रकार प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वयं ही उक्त विप्लों के प्रवर्धक बनते हैं। वर्तमान-युग के मानवसमाज की इसी रिक्ति से आज पदे पदे हमें इन विप्लों का आक्रमण सहना पड़ रहा है। अधिप्रविष्ट चिन्तितामय (बुद्ध) आज के विहित समाज के लिए बड़ी उपहास की वस्तु बन रहा है यही प्रकृति की अधिवाधिक लघुत्व बन

श्रुताग्नि में उत्पन्न से दक्षिण की ओर ओर आने वाली श्रुतसोम की प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसी प्राप्ति से श्रुताग्नि-श्रुतसोम के रासायनिक सम्मिश्रण के योग-सम्बन्ध से अन्तर्म्यामि सम्बन्ध से ही उस उष्णमात्मक अवस्था का जन्म होता है, जिसे श्रुताग्नि-सोम के सम्बन्ध से ही 'श्रुत' कहा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि श्रुत में अग्नि-सोम, दोनों का ही सम्बन्ध है। तथापि एक विशेष दृष्टिकोण के अनुयोग से हम इसे अग्निप्रधान ही कहेंगे। और-प्रवर्थाग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की ही प्राप्ति होती है। श्रुतसोम की प्राप्ति-श्रुति अस्वामानिक है। प्रविष्टार (लय) अवस्था में अग्नि अवश्य श्रुत (सोम) रूप में परिणत होना पड़ेगा परन्तु-‘यथाकाशगतो नित्य वायुः सधप्रगो महान्’ सिद्धान्तानुसार नित्यकाशगत नित्यवायव्य श्रुतसोम अपने प्राणरूप, से क्या अक्षुण्ण ही बना रहेगा। सोम के इसी नित्यव्यय की लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञानिकों ने इस की प्राप्ति-श्रुति नहीं मानी है। श्रुतं नास्त्येति किञ्चन-‘श्रुते भूमिरिय भिता’ इत्यादि आचर्यव्यसिद्धान्तानुसार-व्यापक सूर्यपराकाशधारभूत श्रुतसोम की प्रतीयमाना प्राप्ति-श्रुति वस्तुतः पार्थिव श्रुताग्नि की ही प्राप्ति-श्रुति है। सोम स्वस्वरूप से एकतर ही है। अतएव वस्तुतः किञ्च श्रुतसोमों के निर्बचन में-‘अग्निक्लृप्ता वसन्तो भवन्ति, अतिशयेन पदार्थान् गृह्णाति अतिशयेन उरु, अग्निक्लृप्ता शीर्णा भवन्ति, हीनतां गता भवन्ति पुन-पुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति’ इत्यादिरूप से अग्निक्लृप्ता की ही उद्गम-निर्गम (व्याप-उत्सार) कलाया जाता है। तत्त्वतः श्रुताग्नि ही स्वोद्गम से वह-श्रुतरूप में परिणत होता है। इसी आधार पर श्रुति का सिद्धान्त व्यक्तियत हुआ है कि-अग्नि-सोम वा श्रुत-‘श्रुतसोम’ इति, यद्वैतव्य-अग्निचितय-‘(यत् ६।२।१।१५)।

प्रकृतमनुसराम। पार्थिव अग्नि की ओर अग्निक्लृप्ता सत्व श्रुत नेत्र से दो मार्गों में विभक्त है। भूकेन्द्र से वह पार्थिव वह अग्नि-श्रुति जो नियतपथ से सर्वथा श्रुतमात्र से अग्नि-सोम के वैधवाहन इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार अग्निस्वरूप में परिणत होता हुआ धूलो की ओर जाया करता है, क्लृप्ताग्नि है। इस क्लृप्ताग्नि से पार्थिववर्णों का कोई उपकार नहीं होता प्रत्युत अपकार ही होता है। जाता हुआ वह क्लृप्ताग्नि तो इधवाहन है पार्थिव रसमात्राओं को स्वगम में प्रतिष्ठित कर धूलो-सर्व सावित्रप्राणाग्निमय और देवताओं में प्राप्ति देने वाला है धूमि की पानी की धूलो में बरसाने वाला है। इसी क्लृप्ताग्नि के लिए-अग्निर्वा इतो धुष्टिमुवीरयति इत्यादि कहा गया है। वृष्टय है-श्रुतलक्ष्य पार्थिव अग्नि। भूप्रदेश से सर्वत्र ऊष्मा (गर्मी) निकलती रहती है। नृपादि गर्तों (गड्ढों) में इस ऊष्मा का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इसका कोई नियत पथ नहीं है। अतएव अनियमितरूप से (श्रुतरूप में) यह धन ओर से निकला रहती है। श्रुतवर्मा उष्मात्मक यह पार्थिव श्रुताग्नि ही अन्तरिक्ष पानी के आकर्षण का कारण बनता है। जबतक वह ऊष्मा परमसोमा पर नहीं पहुँच जाता तबतक पानी नहीं बरस सकता।

भूप्रदेश से क्लृप्ताग्नि के द्वारा धूलो में पहुँचने वाली जलमात्रा सूर्यरश्मि-वैद्युत वायुचपलता पर प्रतिष्ठित रहती है। इस अन्तरिक्ष जलमात्रा में अन्तरिक्ष श्रुत श्रुतसोम का समावेश होता है। अग्नि का रूपान्तर यह सोम ही उस जलमात्रा का पोषण करता है। अन्तरिक्ष पवन वायु पार्थिव श्रुताग्नि-लक्षणा ऊष्मा से उत्पन्न भूमात्मक वायु और वैश्वामय प्रकृत उष्मितामय अन्तरिक्षयुक्त पार्थिव जलमात्रा इन सब (वायु, धूम, ज्योति सलिल) तन्मय के सम्बन्ध से अन्तरिक्ष में जो अतृप्त मीति पदार्थ

अथर्व ही 'सत्यसोम' माना जासकता है। विशाल अन्तरिक्ष में वायुसमुद्र व्याप्त है। इस वायुसमुद्रवायुसमुद्र में व्याप्त नीरूप प्राणात्मक सोमत्व ही वृक्ष 'विक्षोम' है। अहम्यमरारीर-श्रुतम्' इति परिभाषा के अनुसार केन्द्र-पिण्डभाव से यन्त्रित प्राणात्मक इस अन्तरिक्ष दिक्लोक को अथर्वमेव 'श्रुत सोम' कहा जासकता है। अथर्वसोम [चन्द्रमा] यहाँ अपने सकेन्द्रपिण्ड-भाव से प्रत्यक्ष है, यहाँ दिक्लोक अपने अकेन्द्र-अरारीर-भाव से अप्रत्यक्ष है। सम्पूर्ण खगोल में एकरूप से यह 'श्रुतसोम' व्याप्त है, जिससे ओस के पानी से मलीमोति अनुमान लगाया जासकता है।

सूर्योत्थात्मक दिन में एवं सूर्याभासमय रात्रि में उदात्तता अपि अन्तरिक्ष श्रुतसोम अणुरूप से भूपिण्ड की ओर प्रत्यावर्तित होता रहता है। तथापि पृथिवी में इस की शक्ति रात्रि में ही होती है। दिन में सौरपरिमगत सोमप्रिय इन्द्रप्राण इसे अपना अन्न बना लेता है। रात्रि में जो ओस का पानी वन तत्र सर्वत्र उपलब्ध होता है वह सूर्योदय से पूर्व, पूर्व ही अपनी सत्ता पृथिवी पर रखता है। उदित सूर्य इसे परिमयी से अपना गर्म बना लेता है। प्रत्यक्ष यह ओस का पानी अन्तरिक्ष प्राणात्मक दिक्लोक का ही पार्थिव मौलिक बलमिश्रत मौलिकरूप है।

वात्सर्व्य-कहने का यही है कि अन्तरिक्ष वायु में श्रुतसोममात्रा प्रतिष्ठित रहती है। भूपिण्ड एवं सूर्यपिण्ड दोनों से ही अग्निमात्रा प्रवर्त्यरूप से निकल कर अन्तरिक्ष वायुचराल में उसी श्रुतभाव से परिभ्रमण रहती है। आकाश में यदि चन्द्रमा सत्यसोमपिण्ड है तो पूलक्षणातुसार सूर्य सत्याग्निपिण्ड है। सत्याग्निमय सूर्यपिण्ड के केन्द्र से सहस्रधा-महिमान सहस्रम् रूप से चारों ओर, सब ओर विनिघट परिमयी में से प्रक्षिप्त अग्निमात्रा प्रवर्त्यरूप से निकलती रहती है। यही गर्मी तो सूर्यास्त होबाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुई हमें उपलब्ध होती है। यह वायुव्याग्नि भी पूलक्षणातुसार 'श्रुताग्नि' ही कह-  
लाया है।

क्या अन्तरिक्ष स्वसोमात्मक चन्द्रपिण्ड से उसी प्रवर्त्य के द्वारा सोममात्रा निकलकर वायु में व्याप्त नहीं होती?, होती है और अथर्व होती है। चन्द्रमा से निकल कर अन्तरिक्ष में व्याप्त होने वाली सत्यमात्रा ही वो पार्थिव-भुक्ति के द्वारा ओपधियों का पोषण करती है। एवमेव सूर्य से निकलकर अन्तरिक्ष में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही वो पार्थिवभुक्ति के द्वारा वनस्पतियों का पोषण करती है। क्या ओषधियों में अग्निमात्रा एवं क्या वनस्पतियों में सोममात्रा नहीं रहती?, रहती है और अथर्व रहती है। दोनों में दोनों की शक्ति है। केवल स्थिति में त्वरतम्य है। अग्निमात्रागर्भिता सोममात्रा जहाँ ओपधियाँ का निर्माण करती है यहाँ सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा से वनस्पतियाँ का स्वरूप-निर्माण होता है। दूसरे स्थानों में-ओपधियों में वायु-सौम्य-प्राण की एवं वनस्पतियों में सौर-आग्नि-यथाण की प्रधानता है। चन्द्रमा सूर्य दोनों अथर्व सत्यसोम-सत्याग्निपिण्ड हैं।

स्वसोमपिण्डात्मक चन्द्रमा से विनिघट वायव्य श्रुतसोम की सञ्चालनभावानुरूप से शीघ्र उत्तराश्वर में प्रधानता रहती है एवं सत्याग्निपिण्डात्मक सूर्य से विनिर्गत वायव्य श्रुताग्नि की वायव्य दक्षिणाश्वर में प्रधानता रहती है। श्रुताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर निरन्तर आया करता है, तो श्रुतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरन्तर आया करता है। दक्षिण से उत्तर की ओर आने वाले



अनवर मिल जाता है। ग्रीष्म-श्रुत निदापात्यक प्रवृत्तकालानुग्रह से मी पार्थिवानि अनेकाकृत प्रवृत्त रहता है। अतिशयेन उष्णभावापन्ना यह लक्ष्मा (उमस) ही ती वर्षा की जननी जननी है, जिसका धेय परम्परया पर्वन्त्य को ही प्राप्त है। 'ओष्णाय' इत्याकारक देवप्राण (आग्नेय प्राण) के सम्बन्धरूप आह्वान से पुरोवात (पर्वन्त्य) अथ प्रातुर्मान होगया। 'अस्तुओपद्' संक्षुण्ण देवप्राणसम्बन्ध से पर्वन्त्य-व्यापार के द्वारा-धूम-बर्णित अन्नस्तरों से आकाश छांगया। अन्न आगे चलाकर वर्षा से पहिले विशुद्ध एवं स्तनयित्तु, ये दो धर्म भीर उत्पन्न होते हैं।

पुरोवात के द्वारा आकाश में समाप्तावित धर्मी के पारस्परिक संघर्ष से ही विद्युत् (ज्योति) और स्तनयित्तु (शब्दध्वनि) उत्पन्न होती है। अग्निने प्रथम स्थान विद्युत् का रक्ता है एवं द्वितीय स्थान स्तनयित्तु का मोना है। इस का एकमात्र कारण दर्शयाम्यति ही है। हमें पहिले-विद्युत् की ही प्रतीति होती है अनन्तर शब्दध्वनि सुनाई पड़ती है। संस्कृत स्थिति यह है कि पहिला स्थान स्तनयित्तु (ध्वनि) का है, एवं दूसरा विद्युत् का है। प्रत्यक्ष में देखिए। एक रजक सरोवर के इस छोर पर लम्बा हुआ शिला पर वस्त्र फटकारा है। हम इस क्रिया का सरोवर के उस छोर पर लड़के हुए बाधातत्पर कर रहे हैं। फटकार के साथ ही ध्वनि का आविर्भाव होता है। यह ध्वनि संघर्षरज्जुजन्मा है। परन्तु प्रतीति ध्वनि की होती है संघर्ष [फटकार] के कुछ क्षण पीछे। वायु के संव्लोम से संघर्षजनित अग्निव्यापार के द्वारा उत्पन्न शब्द-सरोवर प्रदेश में व्याप्त आप्यवायु-बीचियों [लहरों] के आघात पर प्रतिक्रिस्त होकर ही ओम्नेन्द्रिय पर आता है। यही इसके 'आगमन-विलम्ब' का कारण है। बलकण्ठमिश्रित वायु से अग्निमयी शब्दध्वनि अवदवतीर्ण्या बन जाती है। एवमेव भूगुह्यी [तोप] छूटने पर पहिले ज्वमक विलसाई पड़ती है अनन्तर शब्द सुनाई आता है। विद्युत् में वीजगति है। शब्द वायुस्तराकर्षण से मन्दगति है। अतएव पहिले भी उत्पन्न, किंवा साथ ही उत्पन्न विद्युत् उत्पन्न प्रतीति होजाती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। दर्शयाम्यति कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यही है कि पहिले संघर्ष से शब्द [स्तनयित्तु], एवं अनन्तर ज्योति [विद्युत्] उत्पन्न होती है।

पूर्य में मेघ के तीन स्तर बतलाए गए हैं। यह त्रित्तु स्थूल मान है। वस्तुतः आकाशस्थ सतमस्त-स्तरों के कारण मेघ के मी सात ही स्तर होते हैं। मध्य-मध्यस्थ वायुस्तरों के-निर्गमन से ही मेघस्तरों का परस्पर संघर्ष होता है इसी संघर्ष से विद्युत् उत्पन्न होती है इसी संघर्ष से-‘वायु’ स्नात शब्दस्तात्’ इत्यादि प्रातिशाल्य-विद्वान्ज्ञानुसार स्तनयित्तु (शब्द-गर्जन) उत्पन्न होती है। मेघस्तरों का उष्णवच नैद्य आकार होता है सत्संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्तु की मी उत्पत्ति ही उष्णवच आकृतियाँ होती हैं। ऊर्ध्वस्तरसंघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्तु अधोऽवस्थित मेघस्तरावरण से दक्षि-भ्रंति का विषय नहीं बनती। उन का अर्ध स्तर-प्रदेशों में ही विलयन होजाता है। अधोऽवस्थित तीन स्तरों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न विद्युत् और स्तनयित्तु का ही प्रत्यक्ष एवं अवलम्ब हुआ करता है। ऊर्ध्वस्थित स्तर मध्यस्थ स्तर पर पड़ता है संघर्ष होपड़ता है। इस मध्यम संघर्ष से उत्पन्न विद्युत् और स्तनयित्तु की प्रायः एकव्यय ही प्रतीति होती है। साथ ही सर्वाध स्थित तृतीय मेघस्तरावरण के कारण इस विद्युत् का भूगुह्य पर पात भी नहीं होता। यदि संघर्ष आत्यन्तिक होता है तो यह भी गिर पड़ती है। परन्तु सवाध स्थित मेघस्तर के संघर्ष से ओ विद्युत् उत्पन्न होती है, वह अमर्यमेव भूगर्भ में आठहरती है।

वक्रप्रक्रिया 'सम्पन्न' नाम से व्यक्त हो रहा है। सम्पन्न से रश्मिमुक्त सत्त्वपूर्णकणसमष्टिरूप श्वेतवर्ण का विशकलन हो जाता है, एक के—सात पर्व हो जाते हैं। और यही सत्त्वपूर्णप्रतीति का मूलधारण है। पर्वन्—आप्य—वायुधरातल इसी रश्मि-सम्पन्न से सत्त्ववर्णात्मक इन्द्रधनुष का जनक बनता है। रश्मिमुक्त प्राण ही इन्द्र है। इसी सम्पन्न से यह धनुष उद्यमान से व्यक्त हो हुआ है। पर्वन्यात्मक इन्द्रधनुष प्रसिद्ध—रश्मिमात्रात्मक बनता हुआ आत्मविरोधी है। अतएव उत्पन्न—अस्तयान्त—आदि सूर्यों की गति — इन्द्रधनुषदर्शन का भी निषेध हुआ है। इन्द्रधनुष के पर्वन्यात्मक इसी तात्त्विक स्वरूप का विरोधपण करते हुए श्रुति ने कहा है—

माया वा मित्रावरुणा दिवि क्षिता सूर्यो ज्योतिरचरति चित्रमायुधम् ।

तमन्नेष धृष्ट्या गृह्यो दिवि पर्जन्यं द्रप्ता मधुमन्त ईरते ॥

—शत० ब्रा० ११/१४।

इति से पहिले जो आप्य वायु प्रवाहित होता है, वही 'पुरोवात' वायु पवन है। वही पर्वज्वलाया में 'मान्सून' कहलाता है। यही पर्वन्यवायु—'वायुर्वा धृष्ट्या ईरो' के अनुसार अन्नवर्षक माना गया है। पर्वन्यवायु करता क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है—मेघप्रवाही की प्रवृत्ति। वायुप्रेषणा से विनिर्गत घूम (वायु) आन्तरिक्ष सलिलमात्रा एवं रश्मिगत तेजोमात्रा लेकर घनमात्र में परिणत हो जाता है। ऐसे घन—घूम बल्कल विलोपक नहीं बन जाते तब तक इति नहीं हो सक्ती। सब से ऊपर का मेघावरण आन्तरिक्ष हीतचर्मा समागमन का निरोधक बनता है। मध्य का स्तर उपरिस्थित स्तर की सम्मन्ती बनता है। सर्वाथ स्तर [ अन्न ] बिज में बलमात्र मरी हुई है—पार्थिव उष्मा से उग्र होता हुआ पर्वन्य की नीवना से बरस पड़ता है। पर्वन्य का स्वर होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा—यज्ञाद्भवति पर्जन्यः। पार्थिव—अग्निबलित घूम ही तो पर्वन्यात्मक मेघ का जनक बनता है। इसीलिए तो पर्वन्य विष्णुरूप से भी उल्लिखित है। ( रेविए-महामातर-१।१५।४४ )। यज्ञाग्नि के द्वारा उत्पन्न इसी पर्वन्यविज्ञान की लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है—

'तपोजा' इति । अग्नेर्मे घूमो जायते, धूमादन्न, अन्नावृष्टिः ।

अग्नेर्वा एता जायन्ते । तस्मादाह 'तपोजा' इति ॥

—शत० ब्रा० ११/१५।१५।

उक्त पर्वन्य-विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ही प्राकृत्य की १८ की वरिष्ठता का समन्वय कीविए। पर्वन्य के द्वारा उत्पन्न मेघसतरी से सोम का निरोध हो जाता है। फलस्वरूप पार्थिवी ऊष्मा को प्रवृत्त होने का

— नवेताद्यन्समादित्यं, नास्त यान्तं कदाचन ।

नोपसृष्ट, न वारिस्थं, न मध्यनमतो गवयः ॥

नक्साया गया है कि, अन्नसमाप्तायन के अनन्तर 'यज - ये 'यज्ञामह' इत्याकाराश्रिता यजना-  
पुनरिति एव यजनप्रवृत्तियों से क्रमशः विष्णु-स्तनयितु उत्पन्न होजाती हैं। सर्वान्त में 'घोषट्' इत्याकारक  
यजनकर्मोत्पन्न के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध श्रुतिवर्ग  
(प्राणदेवतावर्ग) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्मों से वृष्टिकर्म संशालित है। जिस यजमान को वृष्टि अपेक्षित  
हो, वह सध्या-सम्पत् से समनुश्रित 'ओभाषय' अस्तु ओषट्-'यज -'ये यज्ञामह'-'घोषट्' इन पाँच  
व्याहृतियों के प्रयोगकाल में श्रुतिवर्ग का क्रमशः 'पुरोयाव'-'अन्न'-'विष्णु'-'स्तनयितु'-'वेपाकर्म'  
इन पाँच आधिदैविक वृष्टिकर्मावयवों के मानस संकल्प के लिए प्रेरित करें। निरचयन इस भावनामात्र से  
वृष्टि हागी-'घपति' हेय तत्र-यन्नेयमुत्तिवजः सविदाना यज्ञेन चरन्ति । और-'यज्ञाद्भयति  
पर्जन्यः' क्वचन चरितार्य होगा। आश्विन की १८, १९, इन दो कथिहकाओं में काम्यकर्मलक्षणा वृष्टि के द्वारा  
सन्धि-भाषा में इसी वृष्टिक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १८, १९ ॥

### इति-वृष्टिविधानम्

आभाषण-प्रत्याभाषण-कर्म वह महत्त्वपूर्ण कर्म है, जिससे आधिदैविक-आधिमातृक-आध्यात्मिक,  
तीनों क्रमनामा को परिपूर्ण किया जासकता है। सम्यक्संयतसम्पत्ति आधिदैविकफल है। इसके समष्टि  
व्यष्ट्यात्मक दो विधत्व हैं। अहोरात्र-पक्ष-अनु-अयन-सम्पत्ति स पाँच एक सम्यक्संयत की पाँच व्यष्टियाँ  
हैं। स्वयं सम्यक्संयत और उसकी मूलप्रतिष्ठाकृत सततप्रपञ्चापत्ति दोनों समष्ट्यात्मक सम्यक्संयत हैं।  
पञ्चव्याहृतियों से व्यष्ट्यात्मिक सम्पत्ति स सम्पत्ति का, पञ्चव्याहृतियों के संग्रह अर्थात् से समष्ट्यात्मिक सम्पत्ति-  
सम्पत्ति का संग्रह करत हुए श्रुतिवर्ग का पञ्चव्याहृत्यात्मक आभाषण-प्रत्याभाषण कर्म से यजमान के  
मानुष्य को आधिदैविक सम्पत्ति से युक्त कर देते हैं जिसका १६, १७ इन दो कथिहकाओं में विस्तरेण  
हुआ है। अन्नभूत नवव्याहृत्यात्मक सूत्रशास्त्रकर्म से देवता में नव आध्यात्मिक प्राणानुमान का द्वारा  
आध्यात्मिक-सम्पत्ति का संग्रह कर लिया जाता है जिसका १ वी कथिहका में उल्लेख हुआ है। १८, १९  
जाता है-आधिमातृक इस फल।

आधिमातृक इस फल की प्राप्ति गौ (आकाश) और वृष्टिही इन दो विधों से होती है।  
आकाशोत्पत्ति पञ्चन्येयता समय पर वृष्टि करने रहे-(निकाम निकामे न पञ्चन्या यपनु) यही आकाश-  
यामक आधिमातृक उत्पत्ति पूर्व का अनुग्रह है। आश्विन की १८, १९, इन दो कथिहकाओं में इसी अनुग्रह  
का स्वीकरण हुआ है। प्रमाण २ वी कथिहका में वृष्टिपुनरुत्पत्ति आधिमातृक भवन पक्ष के दृष्टकाल का  
दिग्दर्शन करती हुई ही अति कहती है कि जिसप्रकार ओभाषय आदि पाँच व्याहृतियों से प्राणदेवता  
पुरोयावदि के द्वारा वृष्टिकर्म का संशालन कर रहे हैं एवमव इसी व्याहृतियों से (व्याहृत्यात्मक  
देवादान-प्रदान-आदान लक्षण यज्ञ से) व निराह्णोत्पत्ति वृष्टि का दाहन किया करत है।

उत्पत्ति से उत्पन्न ज्योतिर्मात्र सधर्म के वास्तव्य से उसी प्रकार कभी कभी वज्र, उल्का, आदि भी भी उत्पत्ति होनाया करती है जैसे कि आन्तरिक्य एकेन-पञ्चाशत् ( ४९ ) मस्तों के पारस्परिक सधर्म से 'वज्र उल्का, बिष्टाया तारा' ये चार प्रकार के ज्योतिःपुञ्ज उत्पन्न होते रहते हैं। वर्गाग्रासविज्ञान के अनुसार जैसे भूगर्भ में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ईशान-नैऋत-आग्नेय-वायव्यादि दिक्-प्रतिदिक् से चार-मधुर-विष्ठादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं एवमेव आकाश में दिक्-प्रतिदिक् मेद से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायुस्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर बारा है तो दूसरा उसी वेग से पश्चिम से पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन मार्ग विभिन्न है तो शान्ति है। यदि दोनों के प्रान्तमार्गों का भी स्पर्श होनाया तो सधर्म से ज्योति उत्पन्न होनायगी। अतिद्विज-उत्पत्तिमात्र से उत्पन्न यही सुप्रज्योति 'तारा' है। यदि सधर्म में बलाधिक्य है तो ज्योति प्रबुद्ध है। यही सामान्य ज्योति 'बिष्टाया' है। यदि दोनों के प्रान्तमार्ग एक दूसरे से आश्रित [बन्] होनाते हैं तो अतिशयरूपेण प्रबुद्धा तारा उत्पन्न होयती है। साथ ही प्रान्तमार्गाश्रित के अनुप्रात से कभी दूर पर्यन्त वह प्रकारपुञ्ज बाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुच्छरूप माना गया है। यही 'उल्का' है। यदि वर्गाग्य से दोनों वायुस्तरों के मार्ग अभिन्न होनाते हैं तो दोनों का सर्वात्मना सधर्म होचकता है। इस से मवानक प्रतिष्ठा के साथ जो ज्योतिःपुञ्ज पूज्य होकर अपने आस्थितिक वेग से भूपृष्ठ पर आकार उहरता है यही 'वज्र' कहलाया है। यही सधर्म प्रदेशस्य वायुस्तर मार्गाविरोध होने से भूधिर की ओर अनुगत होता हुआ कन्दर भूगर्भादि में प्रविष्ट होकर उदबन्धन भूप्रदेश को क्षिप्त कर देता है। यही सुप्रविष्ट आत्मनय वायु [ आप्य ], ऐन्द्र [ प्रह ], वायव्य, चतुर्विध सूक्ष्मों में से चौथा वायव्य भूक्ष्म कहलाया है। पुरोवात अत्र विद्युत् स्तनक्ति, वर्षा इव रूप से वृष्टिर्मात्र में [ चलवक्त्र मेघों में ] इन पाँचों का रहना अनिवार्य है। निस्तर ही इस पञ्चावयवमात्मिका मेघ-सत्ता का कारण है। ऐसा मेघ निरन्तरवेन कृष्णवर्ण होता है। क्यों कि, उर्ध्व-स्तरों के आकारण से सौर-मन्त्र आत्मनिकरूप से अवकट होनाता है। इसी आकार पर भुक्ति ने कहा है—'धामच्छविषं सल्लु वै भूस्था वर्षति' ( वै० सं० २।४।१० — कृष्णो भवति । एतद् वृष्ट्वै रूपम्— ( वै० सं० २।१।८) । पारमेष्ठ्य आप्यप्राण अप्सराभय है, आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है। अतएव वर्णाश्रित क्षममात्र की प्रतिष्ठा मानी गई है। गन्धर्वप्राण के लक्ष्म से सङ्गीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। 'वर्षा हि—सर्वं श्रुतवः के अनुसार यही सम्बन्ध की भी प्रतिष्ठा है। माखीय लोकसंगीतों में भी वर्षा का यही स्वस्म उपवर्णित है किञ्च कृष्णपर्वण्य, विद्युत्, स्तनक्ति आदि रूप से अवकट विरलेय्य हुआ है। यही प्रावर्तिक वृष्टिविज्ञान है जिसका प्रकृत आभाषण—प्रत्याभाषण कर्म के साथ निम्नलिखित रूप से समन्वय किया जाया है।

ॐ—आपो अथ वरपा रुत । ( ध्रुव० ) ।

ओ ( उ ) त्कट कान्ति नरेस ( श ) ।

अम्भोधर नग प्रमत्त काशी जन सप हरपत ।

धमस्त दामिनी पताक हंका मयो अशनी स ।

कृष्ण वरपा मधुर मेघ गगन भरघो समन्तात ( आपो० ) ।

कृतज्ञाया गया है कि आग्रसमाप्ताप्त के अनन्तर 'यज्ञ'—ये 'यज्ञामहे' इत्याकाराध्वरिता यबना तुगधि एगं यबनप्रवृत्तियों से क्रमशः विधुत्—स्तनयितु उत्पन्न हो जाती हैं। सर्वान्त में 'घोषट्' इत्याकारक यबनकर्म्मार्म्म के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध श्रुतिवो (प्राणदेवताओं) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्मों से इष्टिकर्म स्थापित है। जिस यबमान को इष्टि अपेक्षित हो वह सम्प्रा—सम्पत् से समप्रक्षित 'आभाषय' अस्तु औषट्—'यज्ञ'—'ये यज्ञामहे'—'घोषट्' इन पाँच व्याहृतियों के प्रयोगकाल में श्रुतिवो को क्रमशः पुरोवात्—'आभ्र'—'विधुत्'—'स्तनयितु'—'वर्षाकर्म' इन पाँच आधिदैविक इष्टिकर्म्मार्म्भयवों के प्रानस सम्पत् के लिए प्रेरित करे। निश्चयेन इस माधनामात्र से इष्टि होगी—'वपति' हैव सत्र—यत्रैवमृत्विजः संविद्वाना यज्ञेन चरन्ति । औद—'यज्ञादुभयति पञ्चमः वचन चरितार्य होगा। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कथिहकाओं में काम्यकर्मलक्षणा वृष्टि के द्वारा वक्षित—भाषा में इसी इष्टिविधा का दिग्दर्शन कथया गया है ॥ १८, १९ ॥

### इति-वृष्टिविज्ञानम्

आभाषण—प्रत्याभाषण—कर्म वह महत्त्वपूर्ण कर्म है जिससे आधिदैविक—आधिभौतिक—आध्यात्मिक, तीनों क्रमनाओं को परिपूर्ण किया जा सकता है। सम्बत्तरयज्ञसम्पत्ति आधिदैविकफल है। इसके समष्टि व्यष्ट्यात्मक दो विधत हैं। अहोरात्र—पञ्च—श्रुतु—अयन—सम्ब सर ये पाँच एक सम्बत्तर की पाँच व्यष्टियाँ हैं। त्वर्य सम्बत्तर और उसकी मूलप्रतिष्ठाक सप्तदशप्रजापति दोनों समष्ट्यात्मक सम्बत्तर हैं। पञ्चव्याहृतियों से व्यष्ट्यात्मिका सम्बत्तरसम्पत्ति का पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों से समष्ट्यात्मिका सम्बत्तर—सम्पत्ति का समग्र करते हुए श्रुतेवगुण पञ्चव्याहृत्यात्मक आभाषण—प्रत्याभाषण कर्म से यबमान के मानुषत को आनिदैविक सम्पत्ति से युक्त कर देते हैं जिसका १५ १७ इन दो कथिहकाओं में विश्लेषण हुआ है। अज्ञभूत नवव्याहृत्यात्मक 'सुगुणाप्तनकर्म' से दैवता में नव आध्यात्मिक प्राणाधान के द्वारा आध्यात्मिक—सम्पत्ति का समग्र कर लिया जाता है जिसका २ वीं कथिहका में उल्लेख हुआ है। शेष रह जाता है—आधिभौतिक इष्ट फल।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्राप्ति यो (आकाश) और पृथिवी इन दो विधों से होती है। आकाशोत्प्लावित पञ्चवदेवता समय पर इष्टि करते हैं—( निष्काम निष्कामे न पर्याग्यो वपतु ) यही आकाशात्मक आधिभौतिक ऊर्ध्व पर्व का अनुग्रह है। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कथिहकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रस्तुत २ वीं कथिहका में पृथिव्यनुगत आधिभौतिक पर्व के इष्टफल का दिग्दर्शन करती हुई ही श्रुति कहती है कि, जिसप्रकार 'आभाषय' आदि पाँच व्याहृतियों से प्राणदेवता पुरोवाद्यादि के द्वारा इष्टिकर्म का स्थापन कर रहे हैं एवमेव इसी व्याहृतियों से (व्याहृत्यात्मक देवादान—प्रदान—आदान लक्षण यज्ञ से) वे विराड्गौरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते हैं।

दोहनकर्म में गौ का सामीप्य बंधे कस को ( पावसने के लिए ) खोलना वस्त्रमुल का स्तन के साथ-सम्बन्ध करिना करने को इत्यते हुए दोहनपात्र लेकर दोहने के लिए सम्यक् होबाना, एवं दोहना, ये पाँच पर्व हैं। दोही व्याहृतिवों का क्रमशः इन पाँचों दोहनकर्म-पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध है। पार्थिव अग्नि ही विरेट् गौ है। इसीसे पार्थिव अग्निहोत्र संस्थापित है। जैसा कि द्वितीयअष्टाध्यायगत 'अग्निहोत्र-ब्राह्मणविज्ञान' में विस्तार से जल्लाला जाने वाला है। पार्थिव प्राणामि के ९-१५-२१ भेद से तीन विवेच हो जाते हैं; जैसा कि पूर्व प्रकरणों में विस्तार से जल्लाला जा चुका है। त्रिष्टुप्-स्तोमानुगत पार्थिव अग्नि गार्हपत्य है, यह एककल है। पञ्चदशस्तोमोभुगत आन्तरिक्ष ( पार्थिव ही ) अग्नि विष्णु है। षट्षिष नाक्षत्रिक सप्तमि के सम्बन्ध से यह अष्टकल है। एकविंशस्तोमानुगत विष्व ( पार्थिव ही ) अग्नि ओहवनीय है यह एककल है। इसप्रकार स्तोमोत्तिष्ठ महापृथिवी के पृथिवी-आन्तरिक्ष-योरूप तीनों स्तोमलोहों के भेद से पार्थिव गौरूप अग्नि के १-८-१ भेद से १४ पर्व हो जाते हैं। यही वरुण 'विरेट् अग्नि' है।

दशाक्षर विरेट् छन्द से समस्तुलित होने से ही गौरूप, पार्थिव अग्नि 'विरेट् कल्लाया है। इसीके सम्बन्ध से कित्य [ भूत ] अग्निमय भूपिषड् विरेट् गौ' कल्लाया है। विरेट् गौ का कस है-मात्तरिक्ष नामक वह भूवायु जो अपने व्याप्ति, एवं संबन्धधर्म से 'यमूपवराह' नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी कस [ वायु ] के सम्बन्ध से द्युलोकरय प्राणदेवता विरेट्गौ का दोहन करने में समर्थ हुए है। वायु के द्वारा ही पार्थिव रसमात्राओं का दोहन होता है। यही विरेट्गौ का दोह है जिसे जानकर उद्भावनापूर्वक आभाकण प्रत्याभावण-कर्म करने वालों के लिए पार्थिव कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ॥२॥

## पाँचवें अध्याय में दूसरा, एवं चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण उपरतम्

श्री

अथ—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

त्रिब्राह्मणात्मक-“प्रयाजब्राह्मणम्”

---

[ क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १४७५ ]

भी

## विशेष-सूचना—

हमारी शारीरिक-अस्थिरता के कारण कम्पोजीटरों की असतुष्टि से आगे पृष्ठसंख्या के समावेश में भूल होगई है। केवलस्वरूप क्रमप्राप्त १४७४ इस पृष्ठ मर्या से आगे १४७५ यह क्रम न रहकर ११७ से उपक्रान्त होकर आगे अवसान पर १७६ संख्या लग गई है। पाठकों को इस कमव्यत्यास का सशोधन करते हुए इस प्रक्रान्त पञ्चमाध्यायानुगत तृतीय माहस्ये, तथा चतुर्थप्रपाठानुगत चतुर्थमाहस्य की ११७ से १७६ की संख्या का “१४७५ से १५४२ पर्यन्त” इस क्रम से सशोधन कर लेना चाहिए। केवल संख्या में ही त्रुटि हुई है। विषय आनुपूर्वी से क्रमबद्ध ही है।

विनीत—

सम्पादक





(१)—प्रतरणपाठः ( अर्थावबोधानुगतः )

अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं प्राज्ञसम्  
अथ त्रिप्रपाण्यात्मके प्रयाजप्राज्ञे प्रथमं ब्राह्मणम्

१—प्रयाजन्नधु

अतस्त्वो ह वै प्रयाजाः । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि अतव ॥ (१) ॥ देवाश्च  
वा असुराश्च उभवे प्राजापत्या पशूधिरे—एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि सम्बत्सरे—  
'अस्माकमय भविष्यति, अस्माकमय भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्त  
आम्यन्तस्वेरु, त एतान् प्रयाजान् ददधु, तैरयजन्त । तैश्च तून् सम्बत्सरं प्राजयन्,  
अतुम्य सम्बत्सरात् सपत्नानन्तरायन्; तस्मात् प्रजयाः । 'प्रजया' ह वै नामैतत्—  
यत् 'प्रयाजाः' इति । तयो एवैष एतैश्च तून् सम्बत्सरं प्रजयति, अतुम्य सम्बत्सरात्  
सपत्नानन्तरेति; तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषोभवन्ति । वज्रो वा आज्यम् । एतेन वै देवा वज्रैश्चाज्येन  
अतून् सम्बत्सरं प्रजयति, अतुम्यः, सम्बत्सरात् सपत्नान् अन्तरति । तस्मादाज्य-  
हविषो भवन्ति ॥ (४) ॥ एतद्रै सम्बत्सरस्य स्वं पय—यत् 'आज्यम्' । तत् स्वेनैवै-  
मेतत् पयसा देवाः स्व्यकुवत । तयो एवैनमेव एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते । तस्मादाज्य-  
हविषो भवन्ति ॥ (५) ॥

स यत्रैव सिष्टन् प्रयाजेभ्य आभावयेत्, तत् एव नापक्रामत् । सङ्क्रामो वा एष  
सन्निवीयते—य प्रयाजैर्यजते । यतरो वै संयचयो पराजयेत, अप वै स क्रामति, अमित-  
राष्ट्रं वै जयन् क्रामति । तस्मादमितराममितरामव क्रामेत्, अमितराममितरामाहुर्वीजु कु-  
यात् ॥ (६) ॥ तद् तथा न कुर्यात् । यत्रैव सिष्टन् प्रयाजेभ्य आभावयेत्—तत् एव

नापक्रमेत् । यत्रो एव समिद्धतम मन्थेत-तदाहुतीर्जुह्यात् । समिद्धहोमेन एव  
समिद्धा आहुतयः ॥ (७) ॥

॥

## २-उत्तर प्रैष

स आधाष्य आह-“समिधो यज” इति । तत् वसन्त समिद्धे । स वसन्त  
समिद्धो अन्यान् अतृन् समिन्वे । अतव समिद्धा प्रजास्य प्रजनयन्ति, ओषधीश्च  
पचन्ति । तद्वेव खलु सर्वानृतृन् निराह । अथ “यज, यज” इत्येव उचरानाह-  
अजामितायै । वामि इ कुर्पात्-यत् “तनूनपात् यज, इदो यज” इति ब्रूयात् । तस्मात्-  
‘यज, यज’ इत्येवोचरानाह ॥ (८) ॥

॥

## ३-प्रयाजव्याख्यानम्

स वै ‘समिधो’ (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तदेवा अहुञ्जत,  
वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तस्य-एवैष एतत् बुद्ध्के, वसन्तात् सपत्नान्  
अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति ॥ (९) ॥ अथ ‘तनूनपात्’ (२) यजति । ग्रीष्मो  
वै तनूनपात्-ग्रीष्मो हि आसां प्रजानां तनूस्त्वपति । ग्रीष्ममेव तदेवा अहुञ्जत, ग्रीष्मात्  
सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात्तनूनपात् यजति ॥ (१०) ॥ अथ ‘इदो’ (३) यजति । वर्षा  
वा इदम् । इति हि वर्षा इदम्-यदिदं ह्यत्र सरीसृप ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक भवति-  
तत् वर्षा ईदितमिवागमिच्छमानं चरति, तस्मात् वर्षा इदम् । वर्षा एव तत् देवा अहुञ्जत,  
वर्षाम्य सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतत् बुद्ध्के, वर्षाम्य सपत्नान् अन्तरेति ।  
तस्मादिदो यजति ॥ (११) ॥ अथ ‘वर्हिः’ (४) यजति । शरद्वै वर्हिः । इति हि शरत्  
वर्हिः-या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यका भवन्ति, ता वर्षा वर्दन्ते; ता  
शरदि वर्हिपो रूपं प्रस्तीर्या शरे-तस्मात् शरत् वर्हिः । शरदमेव तदेवा अहुञ्जत,  
शरद सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् वर्हियजति ॥ (१२) ॥ अथ ‘स्वाहा-स्वाहा’ (५)  
इति यजति । अन्तो वै यष्टस्य स्वाहास्वरः । अन्त अतृनां हेमन्त-वसन्तादि परादयः ।

अन्तेनैव तदन्त देवा अपृच्छत, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैव  
एतद् अन्त वृक्के, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् स्वाहा स्वाहेति  
यजति ॥ (१३) ॥ तदा एतद् घसन्त एव हमन्तात् पुनरस्तुः, एतस्माद्वधेषु पुनर्मवति ।  
पुनर्ह वा अस्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेदः ॥ (१४) ॥

स वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति-अजामितायै । जामि इ कुर्यात्-यद् 'व्यन्तु,  
व्यन्तु' इति वै यजेत्, 'वेतु, वेतु' इति वा । 'व्यन्तु'-इति वै योषा, 'वेतु'-इति वृषा;  
मिथुनमेवैतत् प्रजनन क्रियते । तस्माद्-'व्यन्तु, वेतु' इति यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्हि, रेत आज्यम् । तत्  
प्रजास्वैवैतद् रेत सिच्यते । तेन रेतसा सिक्तेन इमा प्रजा पुनरभ्यावर्त्त प्रजायते ।  
तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१६) सङ्ग्रामो वा एष सम्प्रीयते-य  
प्रयाजैर्यजेते । यतरं वै सयचयोमिश्रमागच्छति, स जयति । तदेतत्-उपमृतोऽधि जुह  
मिश्रमागच्छति, तेन प्रजयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१७) ॥  
यजमान एव जुहूमनु; योऽस्मा अरातीयति-स उपमृतमनु । यजमानायैवैतद् द्विपन्त  
आतृष्य बलिं हारयति । अतैव जुहूमनु, आद्य उपमृतमनु । अत्र एवैतद् आद्य बलिं  
हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥ (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानयति ।  
स यद् अवमृशेत्-यजमान द्विपता आतृष्येन अवमृशेत्; अक्षारमाद्येन अवमृशेत् ।  
तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१९) ॥ अथ उत्तरा जुहूमप्यूहति । यजमानमेवैतद्  
द्विपति आतृष्येऽप्यूहति; अक्षारमाद्येऽप्यूहति । तस्मादुत्तरां जुहूमप्यूहति ॥ (२०) ॥

देवा इ वा ऊचु -इन्त विजितमेवानु सर्व यज्ञं समस्थापयाम, यदि नोऽस्तुररक्ष-  
सन्त्यासजेयु -'संस्थिते एव नो यज्ञः स्यात्' इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाजे स्वाहा-  
कारेणैव सर्व यज्ञ समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति तदाग्नेयमाज्यमाग समस्थापयन् ।  
'स्वाहा सोमम्' इति तत् सौम्यमाज्यमागं समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति-तद्य एष  
उभयप्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति-त समस्थापयन् ॥ (२२) ॥ अथ यथादत्तम् ।  
'स्वाहा देवा आज्यपा' इति-तत् प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वै देवा  
आज्यपाः । 'जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु' ( वै० ब्रा० ३।१।६।२ ) इति तदग्नि

नापक्रामेत् । यत्रो एव समिद्धतम मन्येत-तदाहुतीर्भूह्यात् । समिद्धोमेन घेन समिद्धा आहुतयः ॥ (७) ॥

ॐ

## २-उत्तर प्रैष

स आधाव्य आह-“समिधो यज” इति । तद् वसन्त समिद्धे । स वसन्त समिद्धो अन्यान् अतून् समिन्वे । अतएव समिद्धा प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओपघीश्च पचन्ति । तद्धेव खल्वु सर्वाण्यतून् निराह । अथ “यज, यज” इत्येव उचरानाह-अन्नामिषायै । जामि इ कुर्यात्-यत् “तनूनपात् यज, इडो यज” इति ब्रूयात् । तस्मात्-‘यज, यज’ इत्येवोचरानाह ॥ (८) ॥

ॐ

## ३-प्रयाजब्राह्मणम्

स वै ‘समिधो’ (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तरेषा अहुञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तस्य-एवैष एतद् वृद्धके, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति ॥ (९) ॥ अथ ‘तनूनपात्’ (२) यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्-ग्रीष्मो हि आसां प्रजानां तनूस्तपति । ग्रीष्ममेव तरेषा अहुञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात्तनूनपात् यजति ॥ (१०) ॥ अथ ‘इडो’ (३) यजति । वर्षा वा इडः । इति हि वर्षा इड-यदिह छत्रं सरीसृप ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक भवति-तद् वर्षा ईडितमिवाभिमिच्छमानं चरति, तस्मात् वर्षा इडः । वर्षा एव तद् देवा अहुञ्जत, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतद् वृद्धके, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादिडो यजति ॥ (११) ॥ अथ ‘वर्हिः’ (४) यजति । शरद्वै वर्हिः । इति हि शरद् वर्हिः-या इमा ओपघयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा वदन्ते; ता शरदि वर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णा शरे-तस्मात् शरत् वर्हिः । शरदमेव तरेषा अहुञ्जत, शरदः सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् वर्हियजति ॥ (१२) ॥ अथ ‘स्वाहा-स्वाहा’ (५) इति यजति । अन्तो वै यमस्य स्वाहाकारः । अन्त आतूनां हेमन्त-वसन्तादि परादयः ।

ईदितमिव अन्नं इच्छमानं चरति, तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिद्धो यजति ॥ (३) ॥  
 अथ 'वाह' (५) यजति । भूमा वै वहि । भूमानमेतैत् प्रजनयति । तस्माद् वहिर्यजति  
 ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हमन्तो वा श्रुतूना स्वाहाकार ।  
 हेमन्तो होमा प्रजा स्व वशमुपनयते । तस्माद् हेमन् म्लायन्त्योपवश्य, प्र वनस्पतीना  
 पलाशानि मृच्यते, प्रतितरामिव वयांसि भवन्ति, अघस्तरामिव वयांसि पतन्ति । विप-  
 क्तिलोमेव पापं पुरुषो भवति—हमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । स्वी इ वै तमर्द्धं  
 कुरुते भियेऽन्नायाय—यस्मिन्नर्द्धे भवति—य एवमेतद्देव ॥ (५) ॥

### ५—प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाथ वा असुराथ उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते दण्डैश्चतुर्भिर्न व्यजयन्त । ते  
 ह अविजयमाना ऊचुः—'हन्त वाच्येष ब्रह्मन् बिजिगीषामहे, स यो नो वाच ध्यादता  
 मिथुनेन न अनुनिक्रामात्—स सर्वं पराजयातै, अथ सर्वमितरं जयान्' इति । 'तथा'  
 इति देवा अजुवन् । ते देवा इन्द्रमजुवन् 'अ्याह' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽज्रवीत्—  
 'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेक' इति इतरेऽजुवन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् ।  
 मिथुनं हि—एकम्, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽज्रवीत् । अथ 'अस्माक  
 द्वे' इति इतरेऽजुवन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुनं हि—द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥  
 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽज्रवीत् । अथ 'अस्माक तिस्र' इति इतरेऽजुवन् । तदु तन्मि-  
 थुनमेवाविन्दन् । मिथुनं हि—त्रयम्, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽज्र-  
 वीत् । अथ 'अस्माक चतस्र' इति इतरेऽजुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुनं  
 हि—चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽज्रवीत् । तत् इतरे मिथुनं  
 नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति । पञ्च—पञ्च—इति षोडशतदुमयं भवति ।  
 ततोऽसुरा सर्वं पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन्, सर्वस्मात् समत्नानसुरान्  
 निरमजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे अयात्—'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमह द्वेप्सि'  
 इति । यथुनं द्विप्यात्—'योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वयं द्विष्म'—इति अयात् ॥ (१२) ॥ 'द्वौ  
 मम' इति द्वितीये प्रयाजे—'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वयं द्विष्म' इति ॥ (१३) ॥

स्विष्टकृतं समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् । स एषोऽप्येतद् वि तथैव यज्ञं सतिष्ठते-  
यथैनं देवा समस्थापयन् । तस्मादुचमे प्रयाजे स्वाहा स्वादिति यजति-यापन्ति हवींषि  
भवन्ति । विजितमेवैतत्-अनु सर्वं यज्ञं सस्थापयति । तस्माद् यदत् ऊर्ध्वं विलोमं यज्ञे  
क्रियेत-न तदाद्रियेत; 'सस्थितो मे यज्ञः' इति ह विधात् । स ह एव यज्ञो यातयामे-  
वास-यथा वपट्कृतम्, हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त-'कस्य निम  
यज्ञं पुनराप्याययेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥  
स यत् जुष्टामाज्यं परिशिष्टमासीत्-तेन यज्ञं समस्थापयन्; तेनैव यथापूर्वं हवींष्यस्य-  
धारयन्, पुनरवैतानि तदाप्यापयन्, अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयामं ह्याज्यम् ।  
तस्मादुचम प्रयाज इष्टा यथापूर्वं हवींष्यमिधारयति, पुनरवैतानि तदाप्याययति, अया-  
तयामानि करोति । अयातयामं ह्याज्यम् । तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽज्यसि-पुनरेव  
तदमिधारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयामं करोति । अयं यद्वा  
स्विष्टकृतेऽज्यसि-न तत् पुनरमिधारयति । नो हि तत् कश्चन हविषोऽन्नावाहुतिं होष्यन्  
मन्वति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्

( ११५१ )—( ११५४ )

इति-त्रिंशद्ब्राह्मणस्य प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१

अयं प्रथमब्राह्मणके पञ्चमाध्याये चतुर्थं चतुर्थपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

अयं त्रिंशद्ब्राह्मणस्य प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

—३—

४-प्रयाजावृत्त ( पद्धति )

न च 'समिधो' (१) यजति । प्राणा वै समिधः, प्राणानेवैतत् समिन्ध । प्राणैर्धर्मं  
पुष्यं समिद्धं । तस्मादमिमृशेति नूयात्-यद्युपतप्ती स्यात् । स यद्युपतप्तिं स्यात्-एव  
तावत् शंसित, समिद्धो हि तावत् भवति । यद्यु शीतं स्यात्-नाशसेत । तत् प्राणानेव  
अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो जयति ॥ (१) ॥ अथ 'तन्नपत्' (२)  
यजति । रेतो वै तन्नपत् । रेत एवैतत् सिञ्चति । तस्मात् तन्नपत् यजति ॥ (२) ॥  
अथ 'इहो' (३) यजति । प्रजा वा इह । यदा वै रत सिञ्च प्रजापते-अथ तत्

ईदितमिव अग्नं इच्छमानं चरति; तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिदो यजति ॥ (३) ॥  
 अथ 'वाह' (५) यजति । भूमा वै वहि । भूमानमेतैत् प्रजनयति । तस्माद् वहिर्यजति  
 ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा श्वतूनां स्वाहाकार ।  
 हेमन्तो ह्यमा प्रजा स्व वशमुपनयते । तस्माद् हेमन् म्लापन्त्योपधय, प्र वनस्पतीना  
 पलाशानि मृच्यते, प्रतितरामिव वयांसि भवन्ति, अधस्तरामिव वयांसि पतन्ति । विप-  
 क्तिलोमेव पापं पुरुषो भवति—हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते । स्वी इ वै तमद्  
 कुरुते अग्नेऽन्नाधाय—यस्मिन्नद् भवति—य एवमेतद्देव ॥ (५) ॥

#### ५—प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पशुधरे । ते दण्डैर्धनुमिर्न व्यजयन्त । ते  
 ह अविजयमाना ऊजुः—'इन्त वाच्येव प्रसन् बिजिगीषामहे, स यो नो वाच व्याहृता  
 मिथुनेन न अनुनिकामात्—स सर्वं पराजयातै, अथ सर्वमितरे जयान्' इति । 'तथा'  
 इति देवा अत्रुधन् । ते देवा इन्द्रमत्रुधन् 'ज्याह' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽज्रवीत्—  
 'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽत्रुधन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् ।  
 मिथुनं हि—एकम्, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽज्रवीत् । अथ 'अस्माक  
 द्वे' इति इतरेऽत्रुधन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुनं हि—द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥  
 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽज्रवीत् । अथ 'अस्माक तिस्र' इति इतरेऽत्रुधन् । तदु तन्मि-  
 थुनमेवाविन्दन् । मिथुनं हि—त्रयम्, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽज्र-  
 वीत् । अथ 'अस्माक चतस्र' इति इतरेऽत्रुधन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुनं  
 हि—चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽज्रवीत् । तत् इतरे मिथुन  
 नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति । पञ्च—पञ्च—इति सौवैतदुभयं भवति ।  
 ततोऽसुरा सर्वं पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन्, सर्वस्मात् समत्नानसुरान्  
 निरमजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे प्रयात्—'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमह द्वेष्मि'  
 इति । यथुन द्विप्यात्—'योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च नयं द्विष्म'—इति प्रयात् ॥ (१२) ॥ 'द्वौ  
 मम' इति द्वितीये प्रयाजे—'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च नयं द्विष्म' इति ॥ (१३) ॥

स्विष्टकृत समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत । स एषोऽप्येतद् द्वि तथैव यज्ञः सतिष्ठते-  
यथैनं देवा समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयागे स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति हवींषि  
भवन्ति । विजितमेवैतत्-अनु सर्वं यज्ञं सस्थापयति । तस्मात् यदत् ऊर्ध्वं विलोमं यज्ञे  
क्रियेत-न तदाद्रियेत; 'संस्थितो मे यज्ञः' इति ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यात्यामे-  
वास-यया षपट्कृतम्, हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त-'कथं निर्वमं  
यज्ञं पुनराप्याययेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥  
स यत् जुह्वामान्य परिशिष्टमासीत्-तेन यज्ञं समस्थापयन्; -तेनैव यथापूर्वं हवींष्यम्य-  
धारयन्, पुनरेवैतानि तदाप्यापयन्, अयातयामान्यङ्कन् । अयातयाम ह्याज्यम् ।  
तस्मादुत्तमं प्रयाजं इष्ट्वा यथापूर्वं हवींष्यमिधारयति, पुनरेवैतानि तदाप्यापयति, अया-  
तयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्मात् यस्य कस्य च हविषोऽवधत्ति-पुनरेव  
तदभिधारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्यापयति, अयातयाम करोति । अब यदा  
स्विष्टकृतेऽवधत्ति-न तत् पुनरभिधारयति । नो हि तत् कश्चन हविषोऽन्नावाहुर्हि होष्यन्  
भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्राठके च चतुर्थब्राह्मणम्,

( १५५३ )—( १५५४ )

इति-त्रिनाशपाठके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१

अथ प्रथमब्राह्मणे पञ्चमाध्याये चतुर्थं चतुर्थप्राठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्,

अथ त्रिनाशपाठके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्



### ४-प्रयाजावृत्त ( पञ्चति\* )

स व 'समिधो' (१) यजति । प्राजा वै समिधा, प्राजानेवैतत् समिधे । प्राजैर्धर्मं  
पुरुषं समिधः । तस्मादभिधृषोति अयात्-यद्युपतप्ती स्यात् । स यद्युप्यः स्यात्-एव  
सावत् शंसेत, समिधो हि सावधु भवति । यद्यु शीतं स्यात्-नाशसेत् । तत् प्राजानेव  
अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो जयति ॥ (१) ॥ अब 'तनूनपात्' (२)  
यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत-एवैतत् सिञ्चति । तस्मात् तनूनपात् यजति ॥ (२) ॥  
अथ 'इहो' (३) यजति । प्रजा वा इहः । यदा वै रेतं सिञ्च प्रजापते-अथ तत्



इति । स एषोऽग्निश्चतुष्पामक्त - "समिधोऽग्ने" - "तनूनपादग्ने" - "इहोऽग्ने" - "वहिरग्ने" - "स्वाहाग्निम्" ( तै० ब्रा० ३।५।५। ) इति । आमक्तो ह वै तस्यां पुण्य-  
कृत्यायां भवति, यामस्य समानो ब्रुवाणः करोति, अग्निमते ह वा अस्मा अग्निमन्त  
श्चतव ओषधी पचन्तीद सर्षम् - य एव मेतमग्निमृतुष्पामक्त वेद ॥ (८) ॥

तदाहु - 'यद् उत्तमान् प्रयाजा नाषाहयन्ति - अथ कस्मादेनान् प्रथमान् यजन्ति'  
इति । उत्तमान् क्षेनान् यज्ञेष्वाकल्पयन् - प्रथमान् वो यज्ञाम - इत्यब्रुवन् । तस्मादुत्त-  
मानावाहयन्ति, प्रथमान् यजन्ति' ॥ (९) ॥

चतुर्थेन वै प्रयाज्येन देवा यज्ञमाप्नुयन्, त पञ्चमेन समस्थापयन् । अथ  
यदूर्ध्वमसंस्थित यज्ञस्य - स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुवत ॥ (१३) ॥ ते स्वर्गं लोकं  
यन्तोऽसुररक्षसेभ्य आसन्नावु विमयाञ्चक्रुः । तेऽग्निं पुरस्तादकुर्वत - रक्षोह्यं रक्षसाम-  
पहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुर्वत रक्षोह्यं रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत -  
रक्षोह्यं रक्षसामपहन्तारम् ॥ (११) ॥ स यद्येनान् पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्घन्-  
अग्निरेव तान्यपाहन् - रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्घन् - अग्निरेव  
तान्यपाहन् - रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । अत एव सर्वतोऽग्निमिगुप्यमानाः स्वर्गं लोकं  
समाश्नुवत ॥ (१२) ॥ तथो एनैष पृथक्चतुर्थेन प्रयाज्येन यज्ञमाप्नोति, त पञ्चमेन  
संस्थापयति । अथ यदत ऊर्ध्वमसंस्थित यज्ञस्य - स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुते ॥ (१३) ॥  
स यदग्नेयमाज्यमागं यजति - अग्निमेगैवत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोह्यं रक्षसामपहन्तारम् ।  
अथ यदान्नेयः पुराडाशो भवति - अग्निमेगैवत्तन्मध्यतः कुरुते - रक्षोह्यं रक्षसामपहन्तारम् ।  
अथ यदग्निं स्विष्टकृत् यजति - अग्निमेगैवत् पश्चात् कुरुते - रक्षोह्यं रक्षसामपहन्तारम् ।  
॥ (१४) ॥ स यद्येनं पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्घन्ति - अग्निरेव तान्यपहन्ति -  
रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसङ्घन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति - रक्षोहा  
रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्घन्ति - अग्निरेव तान्यपहन्ति - रक्षोहा रक्षसाम-  
पहन्ता । स एव सर्वतोऽग्निमिगुप्यमानं स्वर्गं लोकं समश्नुते ॥ (१५) ॥

### ७-अभिचार

स यद्येनं पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुष्णाहरेत् - तं प्रति ब्रूयात् - 'मुख्यामाहिमारिष्यति -  
अन्धो वा, बधिरो वा भविष्यति' इति । एता नै मुख्या आर्चयः । तथा ह वै स्यात्  
॥ (१६) ॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुष्णाहरेत् - तं प्रति ब्रूयात् - 'अप्रजा, अपशुर्म-

‘त्रयो मम’ इति तृतीये प्रयाजे—‘तिस्रस्तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः’ इति ॥ (१४) ॥ ‘चत्वारो मम’ इति चतुर्थे प्रयाजे—‘षतस्तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः’ इति ॥ (१५) ॥ ‘पञ्च मम’ इति पञ्चमे प्रयाजे—‘न तस्य किञ्चन—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः’ इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति । तत्रास्य सर्वं संशुक्ते—सर्वस्मात् सपत्नान् निर्मज्जति—य एवमेतद्देद ॥ (१६) ॥

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

—( १११४ )—( १११४ )—

( पञ्चमाध्यायस्य समाप्त्य )

इति—त्रिमास्यब्रह्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

—१—

अथ प्रथमकाण्डे पञ्चाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ त्रिमास्यब्रह्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

( पञ्चाध्यायः प्रारम्भः )

६—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

अततो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे—आ नो यज्ञे मज्जत, मा नो यज्ञादन्तर्गतं, अस्तुवेष नोऽपि यज्ञे भाग—इति ॥ (१) ॥ तद्वै देवा न खड्गः । त अततो देवेष्वजानस्तु अतुरालुपावर्तन्त—अप्रियान् देवानां द्विषतो आतृष्यान् ॥ (२) ॥ ते हेतामेक्षुमेवाभ्यक्रिरे यामेयामेतामनुमृष्वन्ति । कृषन्ती ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति, ह्रनन्तोऽपरे मृषन्तः, शस्वद्द्वैभ्योऽङ्गुष्ठपक्ष्या एवीषक्षयाः पेचिरे ॥ (३) ॥ तद्वै देवानामाग आस । ‘कनीय इन्वतो द्विषन्, द्विषतेऽरातीयन्ति; किमु एतावन्मात्रमुपजानीत—यदेदमितोऽन्यबाभ्यदिति ॥ (४) ॥ ते होतुः—‘अतृनेषालुमन्त्रयामर्ह’—इति । ‘केन’ इति । ‘प्रथमानेनान् यज्ञे यजाम’ इति ॥ (५) ॥ स हाग्निरुवाच—‘अथ यन्मां पुरा प्रथमं यज्जघ, कर्हं भवानि’ इति । ‘न त्वमापतनात् व्यावयाम’ इति । ते यदतृनमिह्वयमाना अयाग्निमापतनात्—नाच्यावयन्, तस्मादग्निरभ्युत । न ह वा आयतनाच्यवते यस्मिन्मापतने भवति—य एवमेतमग्निमच्युतं वेद ॥ (६) ॥ ते देवा अग्निमब्रुवन्—‘परेष्टि, एनांस्त्व मेवानुमन्त्रयस्व’ इति । स हेत्याग्निरुवाच—‘अतृच ! अबिदं वै वो देवेषु यज्ञे भाग’ मिति । ‘कय नोऽबिद’ इति । ‘प्रथमानेव वो यज्ञे यक्ष्यन्ति’ इति ॥ (७) ॥ त अततोऽग्निमब्रुवन्—‘आ वयं त्वामस्मात् मज्जामा—यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद’

माधरगक माना है। तीनों ब्राह्मणों में प्रयाज-कर्म का ही विरोध हुआ है, अतएव तीनों की उमिष्ट को एक ब्राह्मण मानते हुए हमने इसे—‘प्रयाजब्राह्मण’ इस एक नाम से व्यवहृत करना प्रमथर्य मान लिया है।

त्रिब्राह्मणाल्मक ‘प्रयाजब्राह्मण’ के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, ब्राह्मणों में क्रमशः ३, २, ४, इतने प्रवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों ब्राह्मणों की कथिहका संख्या क्रमशः (१)—२५, (२)—१६, (३)—२१, हैं। सम्भूय त्रिब्राह्मणाल्मक इस प्रयाज ब्राह्मण में ६ प्रवान्तर प्रकरण, तथा ६२ कथिहका हो जाती हैं। इस प्रासङ्गिक संग्रह को स्रह्य में रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवात् का समन्वय करना चाहिये।

१	(१)—१-प्रयाजकम्पु १ कं, ५ कं । ( ५ कं ) (२)—२-उत्तरप्रैष ९ कं, ८ कं । ( १७ कं ) (३) ३-प्रयाजब्राह्मणम् ६ कं, २५ कं । (३० कं )	त्रिप्रकरणात्मकं २५ कथिहकात्मकं प्रथमं प्रयाजब्राह्मणम् १
	— ❧ —	
२	(१)—४-प्रयाजवाहत् १ कं, ५ कं । ( ५ कं ) (२)—५-प्रयानुमन्त्रणम् ९ कं, १६ कं । (२१ कं )	द्विप्रकरणात्मकं १६ कथिहकात्मकं द्वितीयं प्रयाजब्राह्मणम् २
	— ❧ —	
३	(१) -६-प्रयाजानामिहो प्राथम्यम् १६०, १५ कं । (१५ कं ) (२)—७-अभिषार १६ कं, १८ कं । (३४ कं ) (३)—८-अश्रुमृति ३६ कं । ( १ कं ) (४)—९-परिमिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श २ कं, २१ कं । (२३ कं )	तृतीयाप्रकरणात्मकं २१ कथिहका- ल्मकं तृतीयं प्रयाजब्राह्मणम् ३
त्रिब्राह्मणाल्मक, ६ प्रवान्तरप्रकरणात्मक, ६२ कथिहकात्मक- ‘प्रयाजब्राह्मणम्’		

विष्यसि' इति । प्रजा वै पशवो मध्यम् । तथा हैव स्यात् ॥ (१७) ॥ यद्यन्तो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्—तं प्रति ब्रूयात्—'अप्रतिष्ठितो दक्षिः क्षिप्रं स्य लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् । तस्माद् ह नानुव्याहारीव स्यात् । उत क्षोभवितरो भवति ॥ (१८) ॥

### ८—फलभृति

सम्बत्सर इ वै प्रयाजैर्जयन् जयति । स ह न्वेनैन जयति—योऽस्य द्वाराणि क्व । किं हि स वैष्टुहैः कुर्यात्—यानन्तरतो न व्यवविधात्—यथा यथास्य ते भवन्ति । तस्य वसन्त एव द्वार, हेमन्तो द्वारम् । त वा एत सम्बत्सर स्वर्गं लोकं प्रपद्यते । सर्वं वै सम्बत्सरः, सर्वं वा अक्षय्यम् । एतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवति, अक्षय्यो लोकः ॥ (१९) ॥

### ९—परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्शः

तदाहुः—'किं देवत्यान्याज्यानि' इति । 'प्राज्ञापत्यानि' इति ह ब्रूयात् । अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याज्यानि । तानि हैतानि यजमानदेवत्यान्वेव । यजमानो ह वै स्वयं यज्ञे प्रजापतिः—एतेन ब्रुक्ता अश्विजस्तन्वे, त वनयन्ति ॥ (२०) ॥ स आज्यस्य उपस्तीर्य, द्विर्विपोऽश्वदाय, अथोपरिष्ठात्—आज्यस्य अभिचारयति । सैषा आज्येन मिमाहुर्विहृतये । यजमानेन हैवपैतन्मिमा हृतये । यद्दि ह वा अपि दूरे सन् यजते, यद्यन्तिके—यथा हैवान्ते सत इष्टं स्यात्, एषं ईमैर्वा विदुष इष्टं भवति । यद् हासि वद्धि व पाप करोति—नो हैव बद्धिर्वा यज्ञात्भवति य एषमेतद्वेद ॥ (२१) ॥

इति पञ्चाग्नये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च पष्ठं ब्राह्मणम्

—( १।६।१। )—( १।४।६। )—

( चतुर्थप्रपाठकञ्च समाप्तम् )

इति—त्रिब्राह्मणस्य प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम्

### —३—

समाप्तमेव त्रिब्राह्मणस्य प्रयाजब्राह्मणम्

इति—प्रतुष्यपाठः

—३—

—(२)अयमत्र—भूतानुवादे प्रासङ्गिकसंग्रहः—

प्रस्तुत 'प्रयाज' कर्म का ब्राह्मणग्रन्थ के तीन ब्राह्मणों में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है । अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन ब्राह्मणों का एकत्र समन्वित रूप से समावेश करना

क्योंकि इस कर्म का 'घृतवसीम्' इत्यादि बोधी व्याहृति के साथ ही 'ओ भाषय०' इत्यादि साक्ष्य व्याहृतिरूप (पञ्चप्रयाज कर्म का) उपक्रम हो जाता है, अतएव वही भूति ने इस पञ्च-व्याहृति से सम्बन्ध रखने वाला उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है। तत्त्वतः आ० प्र० कर्मों-प्रपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले स्रुगादापनब्राह्मण में प्रतिपादित वह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजब्राह्मण से ही सम्बन्ध रखता है। और इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि, 'पूर्वब्राह्मण की- 'अभिर्होता वेत्स्वग्नेर्होत्रम्०'-१-४-२-१' इस प्रथम कथिबका से आरम्भ कर-ता वा पता नव व्याहृतयो भवन्ति०' १-४-२-४' इस पाँचवीं कथिबका पर्यन्त पञ्चकथिबकक्रमक ब्राह्मणभाग ही वस्तुतः 'स्रुगादापनब्राह्मण' है। आगे की 'यद्यो ह वेवेभ्योऽपचक्राम०'-१-४-२-६' इस ६ठी कथिबका से ही प्रयाजब्राह्मण आरम्भ हो जाता है। यहाँ से ६ठी कथिबका से आरम्भ कर त्रिब्राह्मण्यत्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण की 'स आक्स्वोपस्तीर्य'-१-६-१-२१' इस इक्कीसवीं कथिबका पर्यन्त सम्पूर्ण ब्राह्मण भाग 'प्रयाजब्राह्मण' है। प्रयाजकर्म जिन 'ओभाषय' इत्यादि आभाषण-प्रत्याभाषणात्मिक व्याहृतियों से सम्पन्न होता है, उन व्याहृतियों से सम्बन्ध रखने वाले पारस्परिक सम्प्रदान की, व्याहृतियों की पञ्च सक्या की, सप्तपरा अक्षरों की, कान्य फलों की उपपत्तिमात्र पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। अब प्रकृत प्रकरण में 'ओभाषय भाषि से सम्पन्न होने वाले प्रयाजकर्म का ही उपपत्ति बतलाई जाती है। अतएव वस्तुतः प्रकरण-'प्रयाजबन्धु' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकरयसङ्गति को क्षत्र्य में रखते हुए अक्षरार्थ का समन्वय करना चाहिए।

(स्रुगादापन कर्मानन्तर-'ओ भाषय०' इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा आभाषकर्म से पहिले पाँच प्रयाज होते हैं। प्रयाज पाँच क्यों होते हैं?, इसी प्रश्न का उपपत्तिक समाधान करती हुई भूति कहती है) — (ये पाँच) प्रयाज निश्चय से (पाँच) ऋतुपूर्य हैं (अर्थात् पञ्चप्रयाज पाँच ऋतुओं के प्रतीक हैं)। इसीलिये (यहाँ) पाँच प्रयाज होते हैं (किये जाते हैं)। निश्चयेन ऋतुपूर्य पाँच हैं। तत्पर्यय यही हुआ कि प्रयाजकर्म ऋतुकर्म है। ऋतुपूर्य क्योंकि पाँच हैं अतएव तद्रूप प्रयाजों का पाँच होना स्वाभाविक ही है) ॥ ॥ (दूसरा प्रश्न प्रयाज कर्म के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि प्रकृत इष्टिकर्म में ऋतुसाक्ष्य प्रयाजों का ध्यान किया ही क्यों जाता है?, इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आक्यान के द्वारा समाधान करती हुई भूति कहती है) — (एक ही प्रजापति की सम्मान होने से) 'प्राजापत्य' (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता) दोनों (ही) पिता प्रजापतिरूप यज्ञात्मक सन्धस्तर को क्षत्र्य बना कर (निमित्त बना कर) — 'यह हमारा ही होगा, यह हमारा ही होगा' इस प्रकार स्पर्धा करने लगे। (तत्पर्यय, सन्धस्तरप्रजापतिरूप यज्ञसम्पत्ति के लिए दोनों में प्रतिस्पर्धा चलने लगी, दोनों इस पर अपना स्वत्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर भगाड़ने लगे) ॥ (२) ॥ (अविमानी असुरों ने स्पर्धा तो अक्षर्य की प्राजापत्य यज्ञसम्पत्ति के भोग की तो कामना अक्षर्य की, परन्तु जिस प्राण-भाग व्यापारसाक्ष्य अक्षर-तप-भ्रम से वह कामना सफल हुआ करती है उसका अनुगमन उन्होंने नहीं किया। नपर) वेबों ने (अपनी स्वाभाविक कर्म-प्रणयणा से) अर्चन (क्षत्र्य स्वरूप

## (३)—मूलानुवादः—

(१)—पौषर्षे अथ्यय में तीसरा (३), चौथे प्रपाठक में चौथा (४) —(१।५।३) —(१।४।४) —

(२)—पौषर्षे अथ्यय में चौथा (४), चौथे प्रपाठक में पौषर्षा(५) —(१।५।४) —(१।४।५) —

(३)—छठे अथ्यय में पहिला (१), चौथे प्रपाठक में छठ (६) —(१।६।१) —(१।४।६) —

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—“प्रयाजब्राह्मण”

( प्रथमअथ्ययानुगत क्रम से २२, २३, २४ वें ब्राह्मण )

— छ १ : —

प्रथमअथ्यय में पौषर्षे अथ्यय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

( १-५-३ ) —( १-४-४ )

( १—त्रिब्राह्मणग्रन्थक प्रथमब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण )

## १—प्रयाजबन्धु ( प्रयाजों की मौखिक उपपत्ति )

पूर्व के स्रुगादापनब्राह्मण में स्रुगादापन-निगमनत्र के पाठानन्तर जिस आभाष्य, प्रत्यभाष्यकर्म की उपपत्ति बतलाई गई है उसका ‘पञ्चप्रयाज’ यथा से सम्बन्ध है। आदाप-कर्म से पहिले ‘पञ्चप्रयाज’ नामक कर्मविशेष विहित है जैसाकि, सूत्रानुगत-पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाने जाता है। ‘ओ आभ्य’ इत्यादि ब्याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक विहित-पञ्चवा विमल आभ्याहुतकर्म ही ‘पञ्चप्रयाज’ कर्म है। आ० प्र० कर्मेतिहर्तव्यता बतलाते हुए पूर्वब्राह्मणान्तर्गत सूत्रानुगत-पद्धतिप्रग्रह-परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि, होतृकर्मक ‘अग्निहोता वेदवग्नेहोत्रम्’ इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक स्रुगादापननिगदपाठ के अवसर पर होता के मुख से जिस समय-‘पूतवती’-मध्यर्षों स्रुचमात्म्यत्व’ इस चौथी व्याहृति का उच्चारण होता है, उसके ‘पूतवतीम्’ पवोक्चारण के साथ साथ ही अभ्ययु सुह-उपभूत का मह्य कर लेता है। स्रुगादापन-कर्म समाप्त्यनन्तर अभ्ययु ‘आमात्र’ के प्रति ‘ओ आभ्य व्याहृति का आमीत्र अभ्ययु’ के प्रति ‘अस्तुमौषट्’ व्याहृति का, अभ्ययु होता के प्रति ‘वज्र’ व्याहृति का, एवं होता अभ्ययु के प्रति ‘ये सज्जामहे’ व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वान्त में होता के मुख से ‘वोपट्’ इस पौषर्षी व्याहृति का उच्चारण होते ही अभ्ययु सुह-स्थित आभ्यभाग का समिद्ध आहवनी-यग्न में आहुति दे देता है, यही आ० प्र० कर्म है’—(देखिये पृ० सं० १२८ स्रुगादापन ब्राह्मण—) वस्तुतः आ० प्र० कर्म का तात्पर्य है पञ्चव्याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक उच्चारण करना। अह्वति देना दो प्रयाजकर्म है, ओ इन्हीं पौष व्याहृतियों के पञ्चमर्तन से पौष बार होता है, जिसकी सोमपत्तिक इतिकर्तव्यता प्रकृत के त्रिब्राह्मणग्रन्थक प्रथमब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। पूर्वब्राह्मण में वस्तुतः स्रुगादापनकर्म की ही सोमपत्तिक इतिकर्तव्यता का निरूपण हुआ है। अतएव यह ब्राह्मणभाष्य इसी नाम से (‘स्रुगादापनब्राह्मण’ नाम से) ही व्यवहृत किया गया है।

यज्ञघत) यह यजमान (भी) आभ्यर्च्य इसी प्रज से श्रुत, और सम्बत्सर जीव लेता है (लेगा), श्रुत और सम्बत्सर से शत्रुओं को निकाल देता है (वगा)। (क्योंकि आभ्य शत्रुविनाशक वज्र है, वही कर्म-शत्रुनाशपूर्वक जयलाम-ही यहाँ अभीप्सित है।) अतएव (ये प्रयाज) आभ्यर्च्य-बाल होते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यों आभ्याहुति होती है?, प्रश्न की यही उपपत्ति है) ॥ ४ ॥ (आभ्यर्च्य का एक कारण तो शत्रुपराभव है। अब एक दूसरा कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है) — यह जो आभ्य है, वह निश्चयेन सम्बत्सरयज्ञ का अपना रस सार-भाग है (प्रातिस्थिक रस-वस्त्र-है)। (प्रयाजों के लिए आन्तरिक्य आभ्यतत्त्व की आहुति देते हुए) वृष-व्यताभौने उस सम्बत्सर प्रजापति को अपने आपके सारभाग से ही युक्त बनाया। तथैव (आभ्यर्च्य करता हुआ) यह यज्ञनात (भी) सम्बत्सर के अपने सारभाग से ही उस अपनाता है। इसलिए (भी ये) प्रयाज आभ्यर्च्य वाले होते हैं। तत्पर्यं, शत्रुविनाश पहिला फल है, सम्बत्सर को अपने ही सार भाग से युक्त कर उसे समृद्ध करना, तद्व्याप्त स्वयं को समृद्ध करना आभ्यर्च्यविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रयाजानुगता आभ्यर्च्य का बहु-उपपत्ति-है) ॥ ११ ॥

(प्रयाजकर्म आभाषणपूर्वक आरम्भ होता है, यह कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में यह नियम है कि जिस यज्ञमर्मप्रवेश पर कहा हुआ अश्वयु आग्नीध्र के प्रति-प्रयाजकर्म के लिए 'ओ माधव' इस व्याहृति का उच्चारण करता है, वहाँ से पीछे नहीं इटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यों दिया गया?, इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से आदेश-विरलेपण पूर्वक श्रुति कहती है) — वह अश्वयु जिस (नियत) प्रवृत्ति में ही कहा हुआ कर प्रयाजों के लिए आभाषण करे, उस प्रवृत्ति से पीछे न हटे। (कारण यही है कि जो अश्वयु प्रयाजों से (शत्रुओं का) वजन करता है वह (यजमान के शत्रुओं के साथ) युद्ध ही टानता है। दो योद्धाओं में से जो योद्धा पराजित हो जाता है, वह निश्चयेन मंदान छोड़ भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा भाग बढ़ता जाता है। (प्रयाजकर्म संशामकर्म है, अश्वयु योद्धा को जयलाम करना है। आगे बढ़ना ही जय का सूचक है) अतएव (अश्वयु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढ़े, आगे आगे ही आहुति प्रदान कर। (प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाले अयक्रमणनिषेध, अभि-क्रमण विधान का यही बन्धु है। एवं यही प्रयाजकर्म का बहु-उपपत्ति-है, जिसका ६ कथितकाओं में विरलेपण हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पीछे न इटना तो ठीक है। परन्तु आहुति के साथ साथ आगे आगे बढ़ना अनुरूपित है। अतएव- 'तस्मादभितरामभितरामेय कामत' पक्ष उनकी दृष्टि में विज्ञानविरुद्ध है। इसी पक्ष का स्वरूपन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) यह अश्वयु ऐसा न कर (आगे आगे बढ़े यह कर आहुति न दे)। 'जिस प्रवृत्ति में कहा हुआ अश्वयु प्रयाजों के लिए आभाषण करे, वहाँ से पीछे न हटे (इतना अश्रु तो विज्ञानसम्मत है परन्तु—) योद्धा योद्धा भाग बढ़ता हुआ आहुति दे यह अश्रु अवैज्ञानिक है। शत्रुनाश ही तो अभिप्रेत है। वह यहाँ उस आहुति पर निर्भर है जो आहुति समिद्ध अग्नि में हुत होकर समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे बढ़ना अनिवार्य मान लिया जायगा, और तब अग्निसंस्थों में अग्नि समिद्ध न मिलेगा, तो उस असमिद्ध (अप्रगल्भ) अग्नि

प्राणम्यपात, अन्तर्ध्यापार एवं) भ्रम (लक्ष्मण वामन्यापार-बहिर्ध्यापार, उत्पन्न आत्मबल, एवं शरीरबल) का अनुगमन करते हुए (यज्ञसम्पत् प्राप्ति के उपाय का अन्वेषण करते हुए) विचरने लगे। (कक्षास्तर में इस अपने, भ्रम के फलस्वरूप) उन्होंने (वैश्वदेवताओं ने) (यज्ञसम्पत्-जयसाधनमूल) इन (आगे बतलाए जाने वाले) प्रयाजों को देख लिया (प्राप्त कर लिया)। इन (प्राप्त प्रयाजों) से (वैश्वदेवताओं ने सम्बत्सरयज्ञप्रजापति का) यजन किया (यज्ञ के साथ प्रयाज कर्म का सम्बन्ध करा दिया), इन (पौंच प्रयाजों) से (वैश्वदेवताओं ने सम्बत्सरयज्ञबलमूल पौंच श्रुतियों को, (पंच पौंच श्रुतियों के द्वारा ही पञ्चर्तु-समष्टिरूप) सम्बत्सर को जीत लिया। (इस प्रयाजकर्मबल से ही) वैश्वदेवताओं ने (सम्बत्सर के अवयवमूल पौंचों) श्रुतियों से, (एवं समष्ट्यात्मक) सम्बत्सर (रूप यज्ञमण्डल) से (क्योंकि अपने सहज) श्रुतियों (असुरों) को निकाल बाहर किया, अतएव (असुरपराजयपूर्वक स्वयंस्त्वाय के कारण ही) ये (पौंच कर्म) 'प्रजय' (जयप्राप्ति के साधन) कहलाए। यह 'प्रजया' ही नाम (परोक्षप्रियवैश्वदेवताओं की परोक्षभाषा में यज्ञसम्पदाम में) 'प्रयाजा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। (तात्पर्य आस्मान का बही हुआ कि, देवता और असुर, दोनों सम्बत्सरयज्ञ-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे। देवताओं ने देखा कि बिना अवयवसम्पत्ति की प्राप्ति के अवयवी-सम्पत्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। फलस्वरूप उन्होंने पहिले अवयव-स्वरूपा श्रुतिसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के बल से आगे जाकर सम्पूर्ण सम्बत्सर पर उनका अधिकार होगया। इस प्रकार श्रुतियजन ही देवताओं के जय का कारण बना। अतएव श्रुतुकर्म अवश्य ही 'प्रजय' कहा जासकता है। प्रजयरूप श्रुतुकर्म ही परोक्षभाषा में 'प्रयाज' कहलाता। (वैश्वयज्ञ में प्रकृत यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि, वह भी वही प्राकृतिक नियमानुसार पहिले अवयवसम्पत्ति ही प्राप्त करे। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहते हैं) वही प्रकार (जैसे प्राकृतिक प्राणसंज्ञक वैश्वदेवताओं ने किया था) वह यजमान (भी अपने इन) पौंच प्रयाजों से (यज्ञातिराज्यज्ञक वैश्वदेवता के लिए) श्रुतियों को, एवं (श्रुतुद्वारा श्रुतिसमष्टिरूप) सम्बत्सर को अपने अधिकार में करता है, (इस प्राप्ताधिकार बल पर) श्रुतियों, और सम्बत्सर से अपने श्रुतियों को बाहर निकाल देता है। इसीलिए (श्रुतिसम्पत्तिपूर्वक सम्बत्सरसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (श्रुतियों का) यजन करता है (प्रयाज कर्म करता है)। प्रयाज कर्म क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का बही 'वन्धु'-(तात्पर्य-उपपत्ति-समाधान) है ॥१॥

(आत्म-महान-देवता के लिए जहाँ पुरोडाशाहुति बिहित है, वहाँ श्रुतरूप प्रयाज देवताओं के लिए आत्म्यहि-पुताहुति-बिहित है। प्रयाजों के लिए आत्म्यहि क्यों होती है?, इसी प्रासङ्गिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से श्रुति कहती है)-वे (पौंचों प्रयाज) निरक्षयेन आत्म्यहि वाते होते हैं (पौंचों के लिए पुताहुति का विधान हुआ है। परन्तु इसका यही है कि) (यह) आत्म्य निरक्षयेन यज्ञ (शत्रुनाशक अमोघ शास्त्र) है। आत्म्यरूप इसी यज्ञ से निरक्षयेन वैश्वदेवताओं ने (असुरों का संहार करते हुए) पौंच श्रुतियों (एवं वद्वारा) सम्बत्सर को जीत लिया (था), (इसी जयस्त्वाय के बल पर उन्होंने) श्रुतियों, और सम्बत्सर से श्रुतियों को निकाल बाहर किया (था)। वही प्रकार (प्राकृतिक



तद्वत् इतर मीष्मादि यागात्मक तनूनपात् यागादि में—‘तनूनपात् यज’—इत्यादि रूप से नामनिर्देश स्थित प्राप्त है। वही का एक विशेष्य हतु से निराकरण करती हुई भुवि कही है—यह अश्वयु (वसन्त के आगे की—मीष्मादि) श्रुतियों को (तनूनपात् यज—इहो यज—इत्यादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) ‘यज—यज’—इस प्रकार नाम निर्देश के बिना ही कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना म्यायप्राप्त है, तो नामप्राप्त पूर्वक उत्तर श्रुतियों के लिए उत्तरप्रेष क्यों नहीं किया जाता?, प्रश्न का समाधान करती हुई भुवि कही है कि) अज्ञानिता के लिए (ही यज रूप से ही) उत्तर श्रुतियों को कहता है (श्रुतियों के लिए उत्तरप्रेष करता है)। जामि (पुनरुक्त-शेष) करेगा, यदि वह अश्वयु—‘तनूनपात् यज’—इहो यज यह करेगा तो। उत्पत्त्य, जब समिद्ध नाम निर्देश से ही इतर श्रुतियों का समिधन हो जाता है, तो दुबारा श्रुतियों का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति होगी, जो वचनापा में ‘जामि’ शेष कहलाया है। इसलिये वह (नाम निर्देश किए—बिना केवल) ‘यज—यज’ इसी रूप से उत्तर श्रुतियों को कहता है ॥ ८ ॥

इति-उत्तरप्रेष (२)

— ० —

३-प्रयाजप्राक्षण—

श्रुत्यागात्मक पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तिका १ कण्डिका से ८ कण्डिका पर्यन्त ८ कण्डिकाओं के द्वारा स्पष्टीकरण कर ६ कण्डिका से २५ वीं कण्डिकापर्यन्त प्राक्षण-समाप्ति पर्यन्त १-१७ कण्डिकाओं के द्वारा प्रयाजयागोपिकर्तृत्वव्याप्त लक्षणा पद्धति का प्रयाजयाग-उद्धान क्रम से निरूपण करती हुई भुवि कही है—

(१) वह (अश्वयु नामक श्रुतिवत् के—समिधो अग्न आजस्य व्यन्तु शीपद्’ इस समिधेशताक याम्यामन्त्र के बोलने पर उसके—‘शीपद्’ उच्चारण के साथ आह्वनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में लुप्तस्थित आत्म की आहुति के द्वारा) समिधाय (वसन्तयजन) करता है। समिध निरचयेन वसन्त है। (प्राकृतिक समिधाय से) वेदवृक्षाओं में वसन्त को ही (असुराधिकार से दृष्य किया (या) पक्ष वसन्त से (अपने शत्रु असुर) सपत्नों को निकाल बाहर किया (या)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिधाय की बिना पर प्रतिष्ठित याम्यामन्त्रशक्तियुक्त इस अग्ने वेध समिधाय के वल पर) यह अश्वयु (यजमान के लिए) वसन्त को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) दृष्य करता है पक्ष (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहर करता है। वेधयज्ञ से व्यक्त यज्ञतिरास लक्ष्य यजमान के वैवात्म्य के स्वर्गात्मक सम्बन्धरयणफल के प्रथम वसन्त पक्ष पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रह, केवल वैवात्म्य ही उसका अन्यतम भोक्तृ बने) इसीलिये (अश्वयु) समिधाय करता है ॥ ६ ॥

(२) समिधाय करने के अनन्तर वह (अश्वयु होता के—‘तनूनपाद्वत् आजस्य वेतु शीपद्’ इस तनूनपाद्वताक याम्यामन्त्र के बोलने पर उसके ‘शीपद्’ उच्चारण के साथ आह्वनीयाग्नि के

में हुत आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरर्थक बन जायगी। अतएव उत्तरक्रमण का आग्रह निरर्थक, साथ ही अभीष्टफल का विपाक भी होगा। अतएव होना यह चाहिए कि वह अग्न्यु (आहुवनीष्मन्ति के) जिस प्रदेश में अग्नि को समिद्ध देखे, वही आहुति दे (चाहे उस समिद्ध-ग्निप्रदेश के लिए भले ही आगे आक्रमण न करना पड़े। क्योंकि) समिद्धहोम (समिद्धान्ति में आहुतिद्रव्य बाधने से) ही आहुतियों समिद्ध मानी गई हैं ॥ ७ ॥

## इति—प्रयाजबन्धुः (१)

—ॐ—

### २—उत्तरप्रश्न

(सर्वप्रथम अग्न्यु आग्नीध्र के प्रति—‘ओ आश्वय’ यह प्रैप (अनुज्ञा) करता है। इस प्रैप से आग्नीध्र अग्न्यु के प्रति ‘अस्तु औपट्, यह कहता है। अनन्तर पुन अग्न्यु होता क प्रति ‘अश्व’—आश्वामन्त्र का अनुपचन करो; यह प्रैप करता है। जिस जिस प्रयाज का पजन होता है, उस उस प्रयाज के लिए अग्न्यु को ओ आश्वय ओ आश्वय, इत्यादि रूप से आग्नीध्र के प्रांत, एवं—‘यज’—‘यज’ इत्यादि रूप से होता के प्रति प्रैप करना पड़ता है। इस दृष्टि से आग्नीध्र के प्रति होने वाले ‘ओ आश्वय’ रूप प्रैपों को ‘पूर्वप्रैप’ कहा जायगा, एवं उत्तरमात्री होता के प्रति होने वाले ‘यज’ रूप प्रैपों को ‘उत्तरप्रैप’ कहा जायगा। प्रस्तुत सप्तमी कविक्रम में ‘यज’ सप्तम्य उन उत्तरप्रैपों का ही विश्लेषण हुआ है। सुवि कहती है—

वह (अग्न्यु आग्नीध्र के प्रति ‘ओ आश्वय’ इस रूप से) आभाषण कर (आग्नीध्र से—‘अस्तु औपट्’ इत्याकारक प्रत्युत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता नामक श्रुति के प्रति उत्तरप्रैप करता हुआ) कहता है—‘समिधो यज (हे इह) समिद्धी देवता के यज्ञ के लिए अग्न्यु पाठ करो)। (‘समिधो यज’ इस) उत्तरप्रैप से अग्न्यु वसन्त अस्तु को ही समिद्ध प्रवर्द्धित-करता है (उत्तरप्रैप कर्म से अस्तु प्रेषित हो पड़ती है, यही तात्पर्य है। अग्न्यु इस उत्तरप्रैपमक ‘समिधो यज’ इस समिधनकर्म से न केवल वसन्त को ही, अपितु वृद्धा सम्पूर्ण-पौषों-अस्तुओं को समिद्ध कर देता है। क्योंकि वसन्त ही रोप अस्तुओं की मूलजननी है अर्थात् कि, विनचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है। इसी उत्तरप्रैप का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है—(अग्न्यु कृत उत्तरप्रैप से) समिद्ध वह वसन्त अग्न्यु (प्रातः) अस्तुओं को समिद्ध कर देता है। (वसन्तसमिधन के द्वारा परम्परया क्रमशः समिद्ध पौषों अस्तु प्रैप प्रस्तुत करती है आपदि (नवसप्तियों को भी) परिपक्व करती है। (वसन्तसमिधनरूप) जिस कारण से वसन्त स्वयं समिद्ध होता हुआ परम्परया अन्य अस्तुसमिधन का भी कारण बन जाता है) एता-पता ही (केवल वसन्त समिधन ही) अन्य सब अस्तुओं (के समिधन का स्पष्ट करण कर) रहा है। तात्पर्य केवल वसन्त समिधन ही रोप अस्तुसमिधन के लिए पर्याप्त है)। (जिस प्रकार वसन्तपादात्मक समिधायाम में—‘समिधो यज’ इत्यादि रूप से अस्तु नाम का अन्तर्ग होता है,

यज्ञ से यज्ञान्तस्तत्राण स्वर्गावाप्ति ही सम्भव है। अपेक्षित यह है कि, यज्ञ-कर्त्ता यज्ञमान यावदायुर्भोगपर्यन्त ऐहलौकिक सुख का भोग करता हुआ अनन्तर वैवात्म्यकारण से स्वर्ग प्राप्त करे। अनन्तर पुनः पुष्ययोगि में जन्मधारण करे। क्या स्वाहायाग से ऐसा भी सम्भव है?। प्रत्यक्ष में तो अपने अन्तर्भाव से हेमन्तयाग केवल तात्कालिक स्वर्गावाप्ति का समर्थक बना हुआ है। इन्हीं विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि, यद्यपि यह ठीक है कि हेमन्त अन्तर्भाव का प्रवर्त्तक है। तथापि यह भी सिद्ध विषय है कि) हेमन्त से ही वसन्त पुनः प्राण्य धारण करता है, हेमन्त से ही वसन्त पुन उत्पन्न होता है। जो पार्थिव हेमन्त के इस पुनः प्राण्य-धान के रहस्य को जानता है, वह अवश्यमेव (यावदायुर्भोगपर्यन्त जीवित रहता हुआ ऐहलौकिक सुख का भी भोग कर लेता है, एवं स्वर्गफल के भोगानन्तर) इस लोक में भी (पुष्ययोगि में) जन्म लेता है (जैसे कि, हेमन्त के अनन्तर वसन्त जन्म लेता है)। (तात्पर्य-यही है कि, हेमन्त अवसानात्मक बनता हुआ भी जीवन्मोक्षार्थक वसन्तोपक्रम का निमित्त है। इस भावना से अन्तर्भावनान्तक हेमन्तयाग-ज नत आनष्ट भावना की निवृत्ति हो जाती है) ॥ १४ ॥

अयमत्र सग्रह —

१—समिधाग—समित	( वसन्तः )	} —पञ्चप्रयाजा, पञ्चर्षि
२—उत्तुपादाग—उत्तुपाद	( ग्रीष्मः )	
३—इन्द्रयाग—इन्द्र	( वर्षा )	
४—वर्षियाग—वर्षि	( शरत् )	
५—स्वाहायाग—स्वाहा	( हेमन्त )	

(“स वै समिधो यजति”) इत्यादि १ कण्डिका से आरम्भ कर “अथ स्वाहा स्वाहा यजति” इत्यादि १४ वीं कण्डिकापर्यन्त ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विरलेपण किया गया। आगे के शेष ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विरलेपण किया गया। अब आगे के शेष ब्राह्मणभाग में प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक इन विरोपताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है जिनके सम्बन्ध से प्रयाजयाग परोक्ष-अदृष्ट-फलों का जनक बनता है। होता के द्वारा प्रयुक्त याग्या मन्त्रों के अन्त में—१-२-३-४-५-इन पाँचों मन्त्रों के अन्त में—क्रमशः १-व्यन्तु, २-वेतु, ३-व्यन्तु ४-वेतु, ५-व्यन्तु इस प्रकार व्यन्तु-वेतु पदों का समिवेश रहता है। यह विपर्यय क्यों जबकि पञ्चयुगात्मक पञ्चप्रयाजयाग श्रुतसमानत्वेन-एवं प्रयाजसमान-त्वेन समान है। या तो पाँचों याग्यामन्त्रों में ‘वेतु-वेतु’ का ही समावेश होना चाहिए, अथवा तो पाँचों में ‘व्यन्तु-व्यन्तु’ का ही समावेश रहना चाहिए। निश्चित-प्रवृत्तिपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है) —यह (अथर्व्यु) होता के द्वारा याग्या मन्त्रों के क्रमिक) ‘व्यन्तु, वेतु इस (क्रम से उच्चरित होने पर ही) समिधागादि करता है (यज्ञ करता है)

समिद्ध प्रवेश में सुस्थित आभ्याहुति के द्वारा ) तनूनपाद्याग ( मीष्मयजन ) करता है । तनूनपात निरचयेन मीष्म है । मीष्म ही इन ( पार्थिव ) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है ( अथएव तनूनपात अवश्य ही मीष्म है ) । ( प्राकृतिक तनूनपाद्याग से ) वैषवेवताओं ने मीष्म को ही ( असुराधिकार से ) ग्रथक किया ( या ), एवं मीष्म से (असुर ) सपत्नों को निकाल बाहर किया या—( शेष ६ कथिजकथत् ) ॥ १० ॥

(१) तनूनपाद्यागानन्तर वह (अभ्ययु) होता के—‘इहो अग्न आम्बस्व व्यस्तु, वौषट्’ इस इद् देवताका याम्या मन्त्रोच्चारण करने पर उसके ‘वौषट्’ उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आभ्याहुति के द्वारा ) इह्-याग ( वर्षायाजन ) करता है । इहः निरचयेन वर्षा है । इह इसलिय वर्षा है कि, पृथिवी पर रेंगते हुए जो ये छोटे छोटे कृक्तास-गोधा छटें-आदि जन्तु गर्मी, और सर्पों के आक्रमण से अदिरायरूप से क्षीयकाय हो जाते हैं, वे सब कुछ सरीसृप वर्षा के भाते ही जीवन धारण करते हुए से-पुष्ट से होते हुए अन्नाधान की इच्छा करते हुए (वन्ने अन्तास के साथ) स्वत्सवः बिचरने लगते हैं । ( इस प्रत्यक्ष-दृष्ट इहम माय से अपश्य ही वर्षा को इद्-अन्तासक कहा जा सकता है । ( शेष ६ कथिजकथत् ) ॥ ११ ॥

(४)-इह्-यागानन्तर वह (अभ्ययु) होता के—‘वर्हिर्गन् अजस्य वेतु वौषट्’ इस वर्हिर्देवताका याम्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके ‘वौषट्’ उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आभ्याहुति के द्वारा ) वर्हिर्वाग ( शरयजन ) करता है । वर्हि निरचयेन शरत् है । वर्हि इसलिय शरत् है कि, जो ये ओषधियाँ गर्मी-सर्पों से मुर्झा जाती हैं, वे ओषधियाँ वर्षा-के आगमन पर ( पुनः ) प्रवृद्ध हो जाती हैं । ( वर्षा में प्रवृद्ध ) वे ( ही ) ओषधियाँ शरद्वृष्टि में फैले हुए-बिहारे हुए बर्मेष्टियों की भाँति शीर्ण हो जाती हैं । इस शरय-शीर्ण-माय के साधर्म्य से शरत् ( अबरकमेव ) वर्हि है । ( शेष कथिजकथत् ) ॥ १२ ॥

(५)-वर्हिर्ध्यागानन्तर वह (अभ्ययु) होता के—‘स्वाहाऽग्नि स्वाहा सोम स्वाहाग्नि, स्वाहा वैर्षो आम्बपाम , स्वाहाग्नि होत्रा सुपाया, अग्न आम्बस्व व्यस्तु वौषट्’ इस स्वाहा हेमन्त देवताका याम्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके ‘वौषट्’ उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आभ्याहुति के द्वारा ) स्वाहा-स्वाहायाग—( हेमन्त यजन ) करता है । ‘स्वाहा’ कार यज्ञ का अन्त ( अन्तिम पर्व ) है । ( उपर पौष ) ऋतुओं का हेमन्त ही अन्त ( अन्तिम पर्व ) है । हेमन्त वसन्त से परादुर्ष-परसे भाग-अन्तिम भाग-पर है । इसीलिय इसे ऋतुओं का अन्त कहा जा सकता है । ( अपने प्राकृतिक स्वाहायाग से ) वैषवेवताओं ने ( यज्ञ के ) अन्त ( अन्तिम पर्व रूप हेमन्त ) को ( असुराधिकार से ) ग्रथक कर लिया ( या ), अन्तद्वारा ( स्वाहायाग के द्वारा ) अन्त से ( हेमन्त से ) सपत्नों को निकाल बाहर किया ( या ) । ( तथैव शेष स्पष्टम् ) ॥ १३ ॥

( हेमन्त ऋतुओं का अन्तिम पर्व है, उपर स्वाहा भी यज्ञ का अन्तिम पर्व ही है । इस स्वाहाय से ऋतु-अन्त हेमन्त-पर अधिकार हो हो जाता है, परन्तु अन्तभाषना वजमान क पेह सांकिज जीवन के लिय प्रशस्त नहीं मानी जा सकती । इस अन्तयाग स्वाहाका-सकथ हेमन्त-

“तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त्यनन्तर यह अश्वयुं चौथे ‘वर्हि’ नामक प्रयाज कर्म में (जुहू में उपभृत से) आश्व ग्रहण करता है। वर्हि निरचयेन (उत्तरोत्तर वृद्ध्याधर्म से) प्रजा है, आश्व रेत (वीर्य) है। (वर्हिर्या। म जुहू में उपभृत से आश्व लेता हुआ) अश्वयुं वर्हिरूप प्रजाओं में ही आश्वरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीर्याधान करता है)। इस सिक रेत से (ही) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करती हैं। इसीलिए चौथे वर्हि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत से) आश्व लेता है। (सात्वर्त्य वस्तुन यह है कि, प्रयाजकर्म के लिए जुहू से पाँच आहुतियों की जाती है। अवश्य ही पाँच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आश्वमात्रा उपयुक्त है। अतएव प्रयाज कर्म के मध्य में एक बार उपभृत से आश्व लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना ? यह प्रश्न है। वसन्तो मीष्मो वर्षाः से देवा श्रुतवः’-‘शरत्-हेमन्त-शिशिर, स पितरः’-‘शत० २।१।१।२।१ इत्यादि ऋषि के अनुसार अग्निप्रायश्चर्या, अतएव देवदेवतात्मिका वसन्त-मीष्म-वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्रायश्चर्या ना अतएव पितृदेवतात्मिका-शरत्-हेमन्त-शिशिर, इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-मीष्म-वर्षाणुगत समित-तनूनपात-इद-इन तीन प्रयाजों का तो अभिषिञ्चनरूप से बिना उपभृत से दुबारा आश्व लिए ही यजन करना प्रकृतिसम्मत हो जाता है। चौथे प्रयाज से विजातीय वर्हि नाम की सौम्य ऋतु का उपक्रम होता है। अतएव इसी में आश्वग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं में रेतसेक भी हो जाता है, जो कि द्वात्मप्रजनन में अपनी प्रधानता रक्ष रहा है। इसीलिए चतुर्थप्रयाज में ही आश्वसमानयन किया गया है, जैसाकि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है) ॥ १६ ॥

(चतुर्थप्रयाज में आश्वग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है, इन वा अतिशयो के अतिरिक्त इसके यहाँ ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। ठीकी विरलपण करती हुई अति कहती है) —वा अश्वयुं इन पाँच प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है, वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्बत्सरमण्डल म प्राविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिये) संग्राम ही ठान रहा है। जो वृद्धों के संग्रामात्मिक होने पर जिस एक वृद्ध को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीव जाता है। (टीक इसी के अनुरूप यह आश्व-ग्रहणकर्म है)। इस आश्वग्रहणकर्म से जुहू को उपयुक्तारूप मित्र मिल जाता है। (जुहूस्थित आश्व यह सेनावृद्ध है, जिसे असुरपराभव का ना है। उपभृत स्थित आश्व यह मित्रसेना है, जिसके सहयोग मिलने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिये (भी) चौथे ‘वर्हि’ नामक प्रयाज में ही आश्वसमानयन करता है ॥ १७ ॥

(प्रयाजकर्म वह संग्राम कर्म है, जिसके द्वारा यज्ञयान के स्वर्गफलभोक्ता देवात्मा के भोग्य सम्बत्सर में से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निबल घनाना ही शत्रुपराभव का मूल-कारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति स्वस्थानस्थिति आदि अन्यान्य कारणों म से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि, शत्रुना में रेवतीति बलत हुये उष्टे अपनी सेना में मिला लेना। बसक वृद्ध को अपना भोग्य बना लेने से अवश्य ही यह निश्च हो जायगा।

अजामिता के लिए ही। सिद्ध-को पुनः सिद्ध करना, एक को पुन कहना ही जामि दोष है। इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु अथवा वेतु-वेतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेतु, इस रूप से यजन किया जाता है, यही शास्त्रार्थ है। इसी शास्त्रार्थ को स्पष्ट करती हुई भुक्ति कहती है कि 'यह अज्ययु' (अपने इस यज्ञ में) जामि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अथवा तो वेतु-वेतु-रूप से यजन करेगा। (जामि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु-वेतु विपर्यय का एक प्रासादिक फल और भी है। यज्ञ से वैवाह्य का प्रजनन अपेक्षित है। प्रजनन कर्म योषात्मक-स्त्री-भूषण, एवं वृषात्मक-पु भूषण, दोनों के सम्पत्त्य-मात्र पर निर्भर है। व्यन्तु इस बहुवचनान्त पद से, वेतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योषावृषात्मक वह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है। 'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बहुषो जाया भवन्ति' इत्यादि भुक्ति के अनुसार योषात्मिका स्त्री बहुत्वधर्म से एवं वृषात्मक पुरुष एकत्व से युक्त है। फलतः व्यन्तु से संख्यानिर्वाण-सम्पत्तद्वारा योषा का, तथा वेतु से वृषा का संग्रह हो जाता है। इसी प्रासङ्गिक फल का विगोचरित करती हुई भुक्ति कहती है) — 'व्यन्तु यह (बहुवचनान्तपद अपने बहुत्वधर्म से) निरचयेन योषा (की प्रतिकृति बनता हुआ योषाप्रमाण का समाह्व) है, 'वेतु' यह (एकवचनान्त पद अपने एकत्वधर्म से) निरचयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्रमाण का समाह्व) है। (व्यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयामा से योषा-वृष के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है)। इसलिये (अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में पुनरुक्तदोष-निवृत्ति के लिए एवं प्रजनन-सम्पत्ति के संग्रह के लिए वह अज्ययु) 'व्यन्तु-वेतु' इस (विपर्यय क्रम) से (ही) यजन करता है (करना चाहिए) ॥ १५ ॥

(पञ्चतु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं। इन में से शरदाश्रात्मक वर्धिमिक चौथे प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता में एक विशेष धर्म का अनुगमन किया जाता है। 'यदुपश्रुति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' तै० ब्रा० ३।३।६ इत्यादि कृष्यभुक्ति के अनुसार जुहू की आचारभूता उपश्रुत नाम की सूक्त में जो आभ्य लिया जाता है, उस से श्रुतरूप प्रयाजधर्म तथा अन्वोरूप अनुयाजधर्म दोनों की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। पूर्व के २ प्रपाठक के श्रद्धा में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आभ्यप्रमाण श्रुत और अन्वोरूप प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है—'अथ धाम्याभ्यानि गृह्णते, श्रुतम्यश्चैव तानि, अन्वोरम्यश्च गृह्णते'—शत० १।२ प्र० १४ ब्रा० १० वं०। वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'अथ पात्र में आठ बार करके उपश्रुत में बार बार कर के जुहू में आभ्यप्रमाण होता है। श्रुतवार गृहीत जुहूस्थित आभ्य प्रयाजधर्म का, एवं अष्टवार गृहीत उपश्रुतस्थ आभ्य अनुयाजधर्म का सम्पादक बनता है। जुहूस्थित आभ्य से क्रमशः समित्-तनूनपात्-इट् लक्षण-वसन्त-प्रीप्स-वर्षा-इन छीन श्रुतदेवताओं का यजन तो बिना उपश्रुताभ्य से सम्बन्ध करार केवल श्रुतस्थित आभ्य से ही कर लिया जाता है। चौथे वर्धिलक्षण शरदाश्रा के समय जुहू का उपश्रुत से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है। तीसरे प्रयाज के समाप्त होन पर जुहू में उपश्रुताभ्य लेकर ही पाँचा प्रयाज होता है। ऐसा क्यों किया जाता है?, इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई भुक्ति कहती है) —

“तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त्यनन्तर यह अग्न्यर्घ्य चौथे ‘वहि’ नामक प्रयाज कर्म में (जुहू में उपभृत् से) आभ्य ग्रहण करता है। वहि निरचयेन (उत्तरोत्तर वृद्ध्याधर्म से) प्रजा है, आभ्य रेत (वीर्य) है। (वहिर्य्या) म जुहू में उपभृत् से आभ्य लेता हुआ) अग्न्यर्घ्य वहिरूप प्रजाओं में ही आभ्यरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीर्य्याधान करता है)। इस सिद्ध रेत से (ही) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करती हैं। इसीक्षिप चाँय यहि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत् से) आभ्य लेता है। (सात्यर्य्य वस्तुतः यह है कि, प्रयाजकर्म के लिए जुहू से पाँच आहुतियों दी जाती हैं। अथर्व्य ही पाँच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आभ्यमात्रा अपर्याप्त है। अतएव प्रयाज-कर्म के मध्य में एक बार उपभृत् से आभ्य लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना ? यह प्रश्न है। वसन्तो मोष्मो, वर्षाः ते द्वा श्रुतवः—‘शरत्-हेमन्त-शिशिर’, त पितर—‘शत० २।१।१।२।१। इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना, अतएव बृषदेवतात्मिका वसन्त-म्रीध्न-वर्षा इन तीन श्रुतियों का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्राणप्रधाना अतएव पितृदेवतात्मिका-शरत्-हेमन्त-शिशिर, इन तीन श्रुतियों का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-म्रीध्न-वर्षानुगत समित-तनूनपात-इदं-इन तीन प्रयाजों का तो अविच्छिन्नरूप से विना उपभृत् से डुबारा आभ्य लिए ही बजन करना प्रकृतिसम्भव हो जाता है। चाँये प्रयाज से विजातीय वहि नाम की सौम्य श्रुति का उपक्रम होता है। अतएव इसी में आभ्यग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं में रेत-सेक भी हो जाता है, जो कि वैश्वतमप्रजनन में अपनी प्रधानता रख रहा है। इसीक्षिप चतुर्थप्रयाज में ही आभ्यसमानयन किया गया है, क्योंकि विधे चना प्रकरण में विस्तार से वक्ष्याया जाने वाला है) ॥ १६ ॥

(चतुर्थप्रयाज में आभ्यग्रहण करना श्रुतस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है इन दो अतिशायि के अतिरिक्त इसके यहाँ ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। उसीका विरलेपण करती हुई श्रुति कहती है) —जा अग्न्यर्घ्य इन पाँच प्रयाजों से (श्रुतियों का) यजन करता है, वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्यक्तरमण्यस्य म प्राविष्ट शत्रुर्चा को पराजित करने के लिये) संग्राम ही व्यन रहा है। वो वृक्षों के संग्रामाभिसुख होने पर जिस एक वृक्ष को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीव जाता है। (ठीक इसी के अनुरूप यह आभ्य-ग्रहणकर्म है)। इस आभ्यग्रहणकर्म से जुहू का उपभृत्स्वरूप मित्र मिल जाता है। (जुहूस्थित आभ्य यह सेनाबल है, जिसे असुरपराभव क ना है। उपभृत् स्थित आभ्य वह मित्रसेना है जिसके सहयोग मित्रने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिये (भी) चाँये ‘वहि’ नामक प्रयाज में ही आभ्यसमानयन करता है ॥ १७ ॥

(प्रयाजकर्म यह संग्राम कर्म है जिसके द्वारा यजमान के स्वर्गपक्षमोक्षदैवतमा के भोग्य सम्प्रसार म से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निबल बनाना ही शत्रुपराभव का मूल-कारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति स्वस्थानस्थिति आवि अन्योन्य कारणों म से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि, शत्रुमत्ता में वैवर्तीति बाधित हुय उसे अपनी सेना में मिला लेना। बसक वल को अपना भाग्य बना लेन से अवश्य ही यह निबल हो जायगा।

अजामिता के लिए ही। सिद्ध-को पुनः सिद्ध करना, एक को पुनः कहना ही जमि दोष है। इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु, अथवा वंतु-वंतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेंतु, इस रूप से यजन किया जाता है, यही वात्सल्य है। इसी वात्सल्य को स्पष्ट बरती हुई भुक्ति कहती है कि) यह अण्वयुं (अपने इस यज्ञ में) जमि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अथवा तो वेंतु-वेंतु-रूप से यजन करेगा। (जमि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु वंतु विपर्यय का एक प्रासादिक फल और भी है। यह स वेवहमा का प्रजनन अपेक्षित है। प्रजनन कर्म योपात्मक-स्त्री-भूषण, एवं वृषात्मक-पु-भूषण, दोनों के वात्सल्य-माय पर निर्भर है। व्यन्तु इस बहुवचनान्त पद से, वेंतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योपावृषात्मक यह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है। 'वस्मादेकस्य पुरुषस्य बहुपा जाय भवन्ति' इत्यादि भुक्ति के अनुसार योपात्मिका स्त्री बहुवचनधर्म से, एवं वृषात्मक पुरुष एकत्व से युक्त है। फलतः व्यन्तु से सम्पत्तिदान-सम्पत्तद्वारा योपा का, तथा वेंतु से वृषा का संग्रह हो जाता है। इसी प्रासङ्गिक फल का दिग्दर्शन कराती हुई भुक्ति कहता है) —'व्यन्तु, यह (बहुवचनान्तपद अपने बहुवचनधर्म से) निरचयेन योपा (की प्रतिकृति बनता हुआ योपाप्राप्त का समाह्व) है, 'वेंतु' यह (एकवचनान्त पद अपने एकत्वधर्म से) निरचयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राप्त का समाह्व) है। (व्यन्तु-वेंतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योपा-वृषा के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जा है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है)। इसलिये (अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे राज्यों में पुनरुक्तदोष-निवृत्ति के लिए एवं प्रज न-सम्पत्ति के संग्रह के लिए वह अण्वयुं) 'व्यन्तु-वेंतु' इस (विपर्यय क्रम) से (ही) यजन करता है (करना चाहिए) ॥ १५ ॥

(पञ्चतु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं। इन में से शरदाग्राहक बर्हिर्नामक योप प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता में एक विशेष धर्म का अनुगमन किया जाता है। 'अनुपभुति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' वै० प्रा० ३।१।६ इत्यादि कृष्णभक्ति के अनुसार जुहू की आचारभूता उपभुत् नाम की जुहू में जो आग्न्य लिया जाता है, उस से अनुभूत प्रयाजकर्म, तथा बभोरूप अनुयाजकर्म दोनों की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। पूर्व के २ प्रपाठक के ४ ब्रह्म में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आग्न्यग्रहण अनु और ज्योत्स्न प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है—'अग्न्याग्न्याग्नि गृह्णते अनुभूयैव तानि, ज्योत्स्नैव गृह्णते'—रा० १।२ प्र० १४ भा० १७ क०। वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'प्रभा' पात्र में आठ बार करके उपभुत् में बार बार कर के जुहू में आग्न्यग्रहण होता है। अनुभूत गृहीत जुह्वित आग्न्य प्रयाजकर्म का, एवं अष्टवार गृहीत उपभुतस्थ आग्न्य अनुयाजकर्म का सम्पादक बनता है। जुह्वित आग्न्य से क्रमशः समित्त-तनूतपात्-इत्-अक्षय-वसन्त-मीध-वर्षा-इन तीन अनुदेवताओं का यजन हो बिना उपभुताग्न्य से सम्बन्ध करार केवल जुह्वित आग्न्य से ही कर लिया जाता है। चाये बर्हिर्अक्षय शरदाग के समय जुहू का उपभुत् से सम्बन्ध करना आवश्यक माना गया है। तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू में उपभुताग्न्य लेकर ही चौथा प्रयाज होता है। ऐसा क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान कराती हुई भुक्ति कहती है) —



के, भोग्य के नीचे रखना होगा, जो महा अतिष्ठक है । ऐसा न हो अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊँचा रहे, भोक्ता भोग्य के ऊपर रहे )—‘तस्मादुत्तरां जुहमभ्यूहत्’ ॥ ८॥

(१५ वीं कथिब्रह्म से आरम्भकर २० वीं कथिब्रह्म पर्यन्त ६ कथिब्रह्मक प्राच्य माग में प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली ऋतु-वेतु, चतुर्थप्रयाज में आभ्यसमानयन, अनवमरा-पूर्वक समानयन, आत्वयागहणान्तर जुहू का उत्तर अभ्यूहन आदि विशेषताओं का सोपानिक निरूपण किया गया । यह स्वाहायागात्मक हेमन्तयाग नामक पौर्णवे प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा विरलेपण करती हुई श्रुति कहती है) — ‘मौम दर्शनिशतो मनुष्यविधौ मौमदेवताभ्यो न प्रयाजो से सम्बन्धरम्यवत्त-पतिकृतिरूपा मौम-त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया । देवता जीव गय, असुर पराजित होगय । इस विजय प्राप्ति के अन्यविधोत्तर फल में ही) उन देवदेवताओं में परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्त्रव्य प्रकट किया कि, क्या ही अच्छा हो (हन्त), यदि अपने (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार में आए हुए यज्ञ) को लक्ष्य बनाकर (इस प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म पूरा कर लेंगे । (ऐसा करने से, यही यज्ञ को सर्वात्मना पूर्ण करने से फल यह होग कि) यदि इसके अनन्तर (यज्ञपूर्णतासिद्धयनन्तर) असुर-राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करने (विघ्न डालेंगे), तब भी अपना यह यज्ञ पूर्ण हो बना रह जायगा । इसी निश्चय के अनुसार ॥ २१ ॥—

उन देवदेवताओं में पौर्णवे प्रयाजालुप्तन में ‘स्वाहा’, कर से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया । ‘स्वाहा अग्निम्’ इससे आग्नेय आभ्यभाग को पूरा कर लिया । ‘स्वाहा अग्निम्’ इससे, सो जो कि उभयत्र अभ्युत आग्नेय पुरोहारा होता है—(विहित है) उसे पूरा कर लिया ॥ २० ॥—

(पौर्णमासेष्टि, किंवा वरोष्टि, के अनुरूप जो यजनीय देवता विहित है, उनका उसी) देवता-क्रमानुसार यजन कर लिया । ‘स्वाहा देवा आभ्यपाः’ इससे प्रयाजालुप्तयज-देवताओं को पूरा कर लिया । प्रयाजालुप्तयज देवता ही (अनुष्ठान ही) तो (आभ्यानुति के कारण) आभ्यपा (पूतपान करने वाले) हैं । ‘उपाखोर्गनिराम्यस्य वेतु’ इससे स्थिष्टकृत् अग्नि को पूरा कर लिया । अग्नि ही स्थिष्टकृत् है—‘अग्निर्हि स्थिष्टकृत्’ ॥ (आख्यान का विशदीकरण वा विवेचना प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है । प्रकरणसङ्गति के क्षिप्य पक्ष में इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्याप्त होगा कि, प्राकृतिक स्थि यज्ञ के आधार पर वितायमान वैषयिक का अनुगमन सवप्रथम भौमस्वर्ग निवासी मौम-मनुष्यविध-देवताओं में किया था । उनका यज्ञ कर्म पर मनुष्यविध असुर समय समय पर आक्रमण किया करते थे । कभी कभी इन असुराक्रमणों से मौमदेवताओं का यह यज्ञ कर्म अधूरा ही रह जाता था । इस विप्रतिपक्ष के निराकरण के लिए देवताओं में जिस तात्कालिक प्रयाजी का अधिकार किया उसी का आख्यानद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है । प्रयाजयागान्त में उस प्रयाजी के अनुगमन से ठनकर यज्ञ एक प्रकार से इमक्षिप्य पूर्ण-हो गया कि कृत्तन यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित है उन सबका स्वाहाकरभ्रमक पञ्चम प्रयाज कर्म में अनुष्ठान है । अतएव स्वाहान्त पञ्चम प्रयाज पूर्णयज्ञ का प्रतिनिधि बन रहा है । मान लीजिए,

इसी एक और प्रयोजन का स्वीकरण करती हुई भुक्ति कहती है) — यजमान जुहू को क्षय कर रहा है। यजमान के लिये जो शयुता करता है, वह ( यजमान के शत्रुवत् ) उपभूत को क्षय बना रहा है। ( अर्थात् जुहूस्थित आत्म्य निदानेन यजमान का सैन्यवत् है, ( उपभूत से जुहू में आत्म्य लेता हुआ ) अभ्ययु द्वेष करने वाले शत्रु ( सेनावत् ) को यजमान के लिये ही बलिहारी से आकर्षित करता है ( शत्रुवत् का यजमान वत् में समावेश करता हुआ यजमान को साराफ बना रहा है ) । अपिच ( एक प्रयोजन यह भी है कि ) — जुहू असाभाव का, एवं उपभूत आपभाव को क्षय बना रही है। ( उपभूत से जुहू में आत्म्यग्रहण करता हुआ ) अभ्ययु भोक्तृ यजमान के लिये भोग्य सामग्री पहुँचा रहा है। ( इस प्रकार प्रकृत्यनुगत शत्रुभाव, प्रजावर्ग में वीर्याधान, मित्रसेनाप्राप्ति, शत्रुवत् की मित्ररूप में परिणति भोग्यसम्पत्प्राप्ति, इत्यादि अनेक दृष्टियों से बोधे प्रयाज में ही आत्म्यग्रहण करना अभ्यर्थ बनता है ) — 'तस्मात्कथतुर्थं प्रयाजे समानयति' ॥१॥

( उपभूत, और तत्रस्थ आत्म्य निदानेन शत्रुसैन्यवत् है यह कहा गया है। साथ ही इस आत्म्य के समानयन का यह भी फल बतलाया गया है कि, शत्रुसैन्यवत् का मेदनीति के द्वारा वह अपना बलि बना लेता है। मेदनीति से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रकार अभी सफल होता है, जबकि सैन्यवत् के सम्पर्क में न जाकर तटस्थ रहते हुये अपने स्थान में रहते हुए, दृष्ट रहते हुये ही परोक्षरूप से उसे अपने वत् में मिलाया जाय। निकटसम्पर्क में जाना शत्रुवत् में कैवल्य है। और सम्भवतः ऐसा करना कभी कभी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिये ) वह अभ्ययु । जुहू में उपभूत से आत्म्यग्रहण करने की आमना रख। हुआ ) जुहू को उपभूत से दृष्ट रहता हुआ ही आत्म्यसमानयन करता है। यदि वह अभ्ययु जुहू को उपभूत से मिला देता, ( स्वयं करता हुआ आत्म्यग्रहण करेगा ) तो ( अपने इस अवमरान से ) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा ( शत्रुसेना में अपनी सेना का एक बास देने वाला बनता हुआ शत्रुसाधन के स्थान में आनिष्ट करा बैठेगा ) । ( इसके अतिरिक्त इसी अवमरान से ) यह अभ्ययु अथा ( भोक्तृ ) को अथा से मिला देगा ( भोक्तृ को भोग्य के आधीन कर देगा, जबकि भोक्तृ का भोक्तृ के आधीन रहना ससुखि का कारण माना गया है। ऐसा न हो ) इसलिये अनवसुरात् ( जुहू का उपभूत से स्वयं न करता हुआ ) ही आत्म्यग्रहण करता है ( करना चाहिये ) ॥१॥

( उपभूत के साथ स्वयं न कराते हुये जुहू में अब उपभूत से 'आत्म्य' ले लिया जाता है, तो जुहू को किस स्थिति में रक्खा जाय ? यह जिज्ञासा इसलिये होती है कि जुहू-उपभूत दोनों का सामान्यत्वेन सहयोगिनी मानी गई हैं। क्या जुहू को उपभूत से अवयवप्रवेश में अभ्ययु-हम्य में जिये रहे ? भुक्ति कहती है—नहीं। अपितु ) आत्म्यग्रहणान्तर ( अब ) वह अभ्ययु गृहीतात्म्य उस जुहू को उपभूत के ऊपर ( उपभूत से न मिलाता हुआ ) बसे रहता है ( उपभूत से अन्वय-प्रवेश में ही जुहू को हाथ में लिए रहना चाहिये ) । ( जुहू को बलरा रूप से रक्खा हुआ ) अभ्ययु असमानरात्रु की समुपस्थिति में यजमान को अँधा ही रक्खा है। अथा को अथा की समुपस्थिति में अँधा ही रक्खा है। वास्तव्य, जुहू निदानेन यजमान है, भोक्तृ है। उपभूत यजमानरात्रु है अथा है। ऐसी स्थिति में जुहू को उपभूत से नीचे रक्खना—यजमान को, भोक्तृ का यजमानरात्रु

( स्वाहाकृत, एवं वषट्कृत यज्ञ जैसे यातयाम-गतरस-बन जाता है, तद्वत् प्रयाजब्राह्मण यह इष्टिकर्म किंवा इष्टियज्ञान्तर्भूत प्रयाजकर्म भी वौषट्-स्वाहा-सम्बन्ध से यातयाम बन जाता है। वौषट्कार वाङ्मयक के अवसान का सूचक है। एवमेव स्वाहाकार भी 'स्व' वाचमाह' निषधना नुसार वाङ्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचक बन रहा है, जैसाकि विषधना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। वागरस का वाङ्मय वषट्कार से, वाङ्मय स्वाहाकार से निर्गमन हो जाता है। यहा वाङ्मय यज्ञ का रसरश्म्य बन जाना है। ऐसा नीरस यज्ञ ह गतरस बनता हुआ यातयाम कहलाया है। वषट्-स्वाहा-से अपक्रान्त-शुद्धोक्त की ओर गत-वाङ्मय-वागग्निमय-यज्ञरस यज्ञपूर्णता-समाप्ति के अनन्तर पुनः यजमानात्मा में प्रविष्ट हो जाय, इस पुनः रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुनः यजमानात्मा-में प्रविष्ट होजाय, इस पुनः रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुनः अयातयाम—वागग्निररिदूर्य बन जाय, इन प्रयाजन के लिए एक 'स्विष्टकृषाग' नाम का कर्मविशेष विहित है। वाग्नि ही शेषाहुत से सृष्ट होकर यज्ञ को 'स्विष्ट'-रसदुक्त-बनाते हैं। अतएव इ-हैं-'स्विष्टकृत' कहा जाता है। अतएव तवाहुतिकर्म 'स्विष्टकृषाग' कहलाया है। पञ्च-प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली वौषट्-स्वाहा व्याहृतियों से आज प्रस्तुत यज्ञ भी यातयाम बन रहा है। स्वष्टकृषाग होता है—यज्ञान्त में। ऐसी वरा में इस की वर्तमान यातयामता के निराकरण का क्या उपाय ? इसी प्रश्न का पेटित करणालुगत् स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई भुक्ति कहती है )—

जिस प्रकार वषट्कृत हुत, स्वाहाकृत हुत ( वौषट, स्वाहा पूर्वक की जाने वाली आहुति से युक्त कर्म यातयाम बन जाता है, इसी प्रकार वौषट-स्वाहापूर्वक आहुति होने से प्रयाजगत् से संस्थित होने वाला ) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया ( यज्ञ का वागरस शुद्धोक्त की ओर चला गया ) ॥२३॥

( इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्थित-पूर्ण-होने वाले यज्ञ को वौषट्-स्वाहाकार के सम्बन्ध से यातयाम बना देस कर ) उन भीम देवताओं ने यह कामना पकट की ( विचार विमर्श किया ) कि, अपन कैसे इस ( नीरस ) यज्ञ को पुनः आप्यायित ( रस से परिपूर्ण ) करें ? ( रस समावेश के द्वारा कैसे-किस पद्धति से इसे अयातयाम बनायें ?, एवं अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवन-आय्य का निर्वाह करें ? ॥२४॥

अपनी उक्त कामनाओं को कार्यरूप में परिणत करने के लिये, यातयाम यज्ञ को अयातयाम बनाने के लिये उन देवताओं ने यह किया कि ( सो प्रयाजभुक्ति के अनन्तर ओ आत्ममात्र-शुद्ध में बनी रह गई थी, जिस जुहुस्थित आत्म्य ( आत्माभुक्ति ) से देवताओं ने ( प्रयाजयज्ञ के द्वारा ) यज्ञ पूर्ण किया था, उसी ( आहुत्यनन्तर प्राप्ति भये हुये लब्धेय ) आत्म्य से ही यथापूर्व- ( आत्मम प्रयाज विहित आहुतियों की भाँति तत्सहोक्ताओं के लिए ) आत्म्य हवियों का आधार करते हुए ( यातयाम बने हुए उन वाङ्मय देवों को ) पुनः आप्यायित कर दिया अयातयाम बना दिया। आत्म्य ( वाग्नि रसात्मक होने से ) अवश्य ही अयातयाम रसपूर्ण होने से स्वयमपि अयातयाम

कोई ऐसा अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित होगया, जिससे प्रयाजानन्तर यज्ञमान अग्न्य बह्विकर्तृ-  
व्यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थिति में उसका प्रयाजान्त कर्म व्यर्थ बला जायगा?,  
पूर्णयज्ञ के द्वारा जो अतिराश इसे मिलने वाला था, क्या उससे यह सम्बन्ध बञ्चित रह जायगा?।  
शुक्ति कहती है—नहीं। पञ्चम प्रयाज में जिस इविकर्तृव्यता का अनुगमन किया जाता है, उसी  
से अंशतः इसे वह यज्ञातिराश प्राप्त होजाता है, जिसके लिए इसे प्रयाजानन्तर अन्त्याग्न्य शप  
कर्म खीर करने पड़ते हैं। आसुर-विघ्नां से संव्रस्त भौमयज्ञता भी तो इसी प्रयाजी से प्रयोज्य  
कर्म से ही यष्टेविकर्तृव्यता पूर्ण बना लेता था—

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित, भौमस्वर्गीय मनुष्यविध इत्यादि) के द्वारा आवि-  
प्लव उसी प्रयाजी-पद्धति—से (अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आज भी (यज्ञमान का) वह  
(इष्टिचरण पैर, यज्ञ उसी प्रकार (तथैव) पूर्ण हो जाता है, जैसे कि (जिस पद्धति का अनुगमन  
से) इस यज्ञ को (अपूर्व भी यज्ञ का) भौमदेवताओं ने पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारण  
अन्तिम पाँचवें-प्रयाज से सम्बन्ध रखन वाली पूर्व प्रतिष्ठाता विरोपता है। स्वाहास्मिक पद्धति से  
सम्बन्ध रखने वाली उस इष्ट विरोपता के अनुगमन से प्रयाजान्त में ही यज्ञमान का यह अकृत्स्न  
भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसीलिए (अकृत्स्न भी यज्ञ की मध्य में ही-प्रयाजात में ही-  
कृत्स्नता सम्पादन के लिए) यह अग्न्यु पाँचवें प्रयाज में 'स्वाहा-स्वाहा' पूर्वक जितनी भी इष्टि  
होती है, उन सब का यजन करता है। (यज्ञपूर्वताप्रवर्तक अन्त्याग्न्य सभी समाप्त देवताओं के  
लिए आहुति देता हुआ, वृद्धारा सपसंभ्र करता हुआ हेमन्तयाग का यजन करता है। इस  
(स्वाहा-स्वाहास्मिक सर्वदेवयजनात्मिक पञ्चम प्रयाजाहुति के प्रभाव) से वह अग्न्यु पञ्च-  
प्रयाजयाग से) विजित यज्ञसम्पत्ति को लक्ष्य बनाता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लेता है—  
'तदनु सर्वं यज्ञ संस्थापयति' ॥

(यह नियम है कि, जबतक यष्टेविकर्तृव्यता पूर्ण नहीं हो जाती, तबतक गमनतमन-  
भाष्य-स्वर्ग-आदि के सम्बन्ध में विरोप नियमों का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि—  
'अनवसूरत्समानयति'—'न वै सर्वेषु संवेदत' इत्यादि आदेशों ने स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्व  
हो जाने पर इन नियम-बन्धनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारणक अन्त्य प्रयाज  
बागलान्तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इससे आगे जो भी शेष कर्म बच रहते हैं, उन के  
सम्बन्ध में नियम-बन्धन का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में जब किसी किसी  
नियम का उल्लंघन हो जायगा तब भी कोई अनिष्ट न होगा, यही तात्पर्य है। इसी का विश्लेषण  
करती हुईं भुक्ति कहती है—(प्रयाजान्त कर्म यज्ञपूर्वताप्रवर्तक है, नियमानुगमन उत्पूर्वता-  
पर्यन्त ही अपेक्षित है) इसलिये इससे आगे (प्रयाजकर्मोत्तर होने वाले कर्मों में) श्रविक  
( किंवा यज्ञमान ) यदि ( अपने स्वामाधिक अनुवभाष से ) कुछ विलोम ( असाधयानी ) कर  
बैठे, तो उसे विरोप महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसे तो ( प्रयाजान्तर ) वह समझ लेना चाहिए  
कि, मेरा यह यज्ञ कर्म्य ( तो प्रयाजयाग से ही ) पूरा हो गया—'सतिवतो यज्ञ, इति व विद्यात्' ।

प्रकरण में प्रकरणान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिसका पूर्वप्राप्त्य के 'प्रयत्न-प्राप्त्य' नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिका पर्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है । उस पूर्वपद्धतिप्रकरण में बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्बन्धप्रमाण था । एवं प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानतः आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है । पद्धत्यंश उभयत्र समान है, केवल उपपत्तिप्रदान में विभिन्नता है । इस विभिन्नता को क्लृप्त बनाकर ही निम्न लिखित भुवि-प्रकरण का समन्वय करना चाहिये—( सैषा प्रकरणसङ्गति ) ।

( १ )—वह ( अथर्व्युं नामक अस्तित्व होताके—'समिद्धो जगन् आभ्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस समिद्धेवताक याम्यमन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनी-यागि के ॐ समिद्ध-प्रवर्जित-भाग में जुहुस्त्वित आभ्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले ( समिद्धा-समित् नामक प्रथम प्रयत्न ) का यजन करता है ( समिद्याग सम्पादन करता है ) । ( समिद्याग क्या किया जाता है ?, यजन की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाती हुई भुवि कहती है कि, सुगादा पनकम् से देवता में जिन ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है —, देवताप्रतिष्ठित इन प्राणों के समिन्धन के लिए ही,—आध्यात्मिक-प्राणसमिन्धन के लिए ही—यह समिद्याग विहित है । इसी प्राणसमिन्धन कर्म का अपने शत्रुओं में स्पष्टीकरण करते हुए भुवि ने कहा है )—समिद्यां निश्चयेन प्राण है । ( इस समिद्यागकर्म से—प्रथमप्रयत्न से ) वह अथर्व्युं ( देवता के आध्यात्मिक नौ ) प्राणों को ही प्रवर्जित-जीवनीपरस से युक्त-करता है । ( समिद्ध ) प्राणों से ही यह पुरुष ( शरीरपुराविद्यता आत्मामय, आनन्दामय सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त शरीराभि-माना पितृतेजियोगिनमूर्ति प्राणरूपा-कर्मरूपा ) समिद्ध है । ( क्योंकि समिद्याग से यजमानात्मा के प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिद्याग से आनेवाले वाप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जा सकता है, यही इस समिद्याग का काम्यफल माना गया है । प्राणसमिन्धन की कमी से ही प्राणाग्नि केन्द्र से विच्युत हो जाता है । प्राणाग्नि के केन्द्र से विच्युत होकर शरीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की चरमावस्था ही उष्णता-क्षयण सन्ताप-स्वर-दाह-है । यदि इस समय यजमान उपतापी है यजमान को स्वर है, तो समिद्याग के द्वारा वह हटाया जा सकता है । इसी अभिप्राय से भुवि कहती है )—( क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों से समिद्ध रहता है, इधर समिद्याग प्राणसमिन्धन है ) इसलिये वह अथर्व्युं ( होता के द्वारा प्रयुक्त समिद्धेवताक याम्यमन्त्र के साथ होने वाले अपने समिद्याग कर्मानुष्ठान कक्ष में यजमान से यह प्रेष कर ( कहे ) कि, हे यजमान ! तुम ( समिद्धद्वारा अपने प्राण-समिन्धन का ध्यान करते हुए ) अपने शरीर को स्वरा करो यदि यजमान उपतापी हो तब । ( अर्थात् उपपातवशा में ही यजमान को

● 'समिद्धोमेन होव समिद्धा ( समृद्धा वा ) आहुतयः'—शत ७५१२।७।

— "छा वाऽपृथ नव आहुतयो ( सुगादापननिगदमन्त्रस्य ) मवन्ति नवेमे पुरुष प्राणा । एतानेवा-  
श्मिन् ( यशस्वितासन्नेनैवात्मनि ) एतत् ( सुगादापनकर्मणा ) दधाति"—शत १५१२।५।

( अन्य यातयामों में भी रसप्रदान करता हुआ उन्हें भी अयातयाम बनाने वाला ) है । ( इसप्रकार भौम देवताओं में परिशिष्ट-अयातयाम-आभ्याहुति से यातयाम यज्ञ को पुनः अवतत्कम बना लिया ) वेधयज्ञयत् यजमान का प्रस्तुत प्रयाजन्त यज्ञ भी बीपद्-खाद्या-द्वारा हुत होने से जाब यातयाम बन गया ) इसीलिये ( इसे पुनः अयातयाम बनाने के लिये ही ) उत्तम ( पौषर्षा ) प्रयाजयामा करके ( करने के अनन्तर हुतशेष आभ्य से ) यथापूर्व इधियों का आचार करता है । इस आचार कर्म से यह देवताओं को पुनः आप्यायित, अयातयाम करता है । आभ्य ( पूष कयनानुसार ) अपरय ही अयातयाम है-‘अयातयाम द्यग्वम्’ ॥ ( शप आभ्यापार से यातयाम यज्ञ आप्यायित होता हुआ अयातयाम बन जाता है ) अतएव ( यज्ञपद्धति में यह नियम बन गया है कि ) जिस किसी भी देवता के लिये ( देवात्मक यज्ञकर्म के लिए ) आर्चिषक् इधि का विभाजन करता है ( प्रदान करता है ), उसके सम्बन्ध से तच्छेष के पुनः स्विष्टकृत ( पतन्नामक अग्नि-विशेष ) के लिये अभिपार करता है । ( इस अभिपार से ) वह उस यज्ञ को पुनः आप्यायित, अयातयाम बनाता है । यदि स्विष्टकृद्ग्न के लिए ( अयातयामसम्पत् प्राप्त्यर्थ ) इधि का विभाजन पहिले से हो कर देता है, ( तो उस अपस्था में ) पुनरभिपार अनावश्यक है । ( तत्पर्ये इस कथन का यही है कि-कृत्स्न इष्टिकर्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृद्ग्न के लिए भग्न नियत रहता है । अतः उसकी समाप्ति पर पुनरभिपार नहीं होता । अभिपार तो यहाँ आचरक है, जहाँ पहिले से स्विष्टकृद्ग्न के लिए अवधान विहित नहीं है । प्रकृत त्यज्य ऐसा ही है । अतः यहाँ अवश ही अभिपार अपेक्षित है । जहाँ पहिले से अवधान नियत है, वहाँ आहुतिकर्म समाप्त्यनन्तर ) अग्नि में और किसी इधि की आहुति की अपेक्षा नहीं रहता है । ( अपेक्षा नहीं रह जाती )-“नो हि तदा आज्यन इधिपोऽन्यवाहुतिं होष्यन् भवति” ॥२५॥

### इति-प्रयाजब्राह्मणम् (३)



पौषर्षे ब्रह्मण्य में तीसरा, बौधे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

( १।१।११ )—( १।१।१४ )

( १—त्रिब्राह्मणसमक प्रयाजब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त )

—१—

प्रथमप्रकरण में पौषर्षे ब्रह्मण्य में चौथा, बौधे प्रपाठक में पौषर्षो ब्राह्मण

( १।१।१४ )—( १।१।१५ )

( २—त्रिब्राह्मणसमक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्रसू द्वितीय ब्राह्मण )

### ४—प्रयाजाहुत ( पद्धति )

प्रकृत ब्राह्मण में प्रयाजाहुत ( पद्धति ) और प्रयाजानुसंग्य इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है, जिन्हें पूर्वब्राह्मणोक्त तीन प्रकरणों ( १—प्रयाजबन्धु, २—उत्तरप्रेष, ३—प्रकृतब्राह्मण, इन तीन प्रकरणों ) की दृष्टि से-४-५ वें प्रकरण माना जा सकता है । इनमें बौधे प्रस्तुत प्रयाजाहुत

प्रकरण में प्रकारान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिसका पूर्वब्राह्मण के 'प्रायश्च-  
ब्राह्मण' नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कथिबद्धा से १४ वीं कथिबद्धा पर्यन्त ७ कथिबद्धाओं में  
विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है। उस पूर्वपद्धतिप्रकरण में वतसाई गई उपपत्ति का  
प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्बन्धसरसबद्ध था। एवं प्रकृत प्रकरण में वतसाई जाने वाली उपपत्ति  
का प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। पद्धत्यश्रय समान है, केवल उपपत्तिप्रवर्तन  
में विभिन्नता है। इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित भूति-प्रकरण का समन्वय  
करना चाहिये—( सैवा प्रकरणसङ्गति )।

( १ )—वह ( अन्वयुं ) नामक श्रुति होताके—'समिद्धो अन्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्'  
इस समिद्धेयताक यज्यमानत्र के उल्लेखारण करने पर उसके 'वौषट्' उल्लेखारण के साथ आहवनी  
पाणि के ॐ समिद्ध-प्रवर्णित-भाग में जुहुस्थित आध्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले ( समिद्धा-  
समित् नामक प्रथम प्रयाज ) का यजन करता है ( समिद्याग सम्पादन करता है )। ( समिद्याग  
क्यों किया जाता है?, प्रश्न की आध्यात्मिक उपपत्ति वतसायी हुई भूति कहती है कि, सुगादा-  
पनकर्म से वैवात्मा में जिन ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है —, वैवात्मप्रतिष्ठित उन  
प्राणों के समिन्धन के लिए ही,—आध्यात्मिक-प्राणसमिन्धन के लिए ही—यह समिद्याग विहित  
है। इसी प्राणसमिन्धन कर्म का अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए भूति ने कहा है )—  
समिद्यायै निश्चयेन प्राण है। ( इस समिद्यागकर्म से—प्रथमप्रयाज से ) वह अन्वयुं ( वैवात्मा  
के आध्यात्मिक नौ ) प्राणों को ही प्रवर्णित-जीवनीयरस से युक्त-करता है। ( समिद्ध ) प्राणों  
से ही वह पुरुष ( शरीरपुराविष्ठाता आखामभ्य, आनलमेभ्य, सर्वाङ्गराशरी में व्याप्त शरीरामि  
मानी चितेनिचेयागिनमूर्ति प्राणात्मा-कर्मात्मा ) समिद्ध है। ( क्योंकि समिद्याग से यजमानात्मा  
के प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिद्याग से आन्तेय ताप भी एक विशेष प्रक्रिया से  
हटाया जा सकता है, यही इस समिद्याग का कान्यफल माना गया है। प्राणसमिन्धन की कमी  
से ही प्राणाग्नि केन्द्र से विच्युत हो जाता है। प्राणाग्नि के केन्द्र से विच्युत होकर शरीरामिमुक्त  
बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की घोरमावस्था ही उष्णता-क्षय सन्ताप-स्वर-दाह-  
है। यदि इस समय यजमान उपतापी है यजमान को स्वर है, तो समिद्याग के द्वारा वह हटाया  
जा सकता है। इसी समिद्याग से भूति कहती है )—( क्योंकि पुरुषान्नि प्राणों से समिद्ध रहता  
है इधर समिद्याग प्राणसमिन्धक है ) इसलिए वह अन्वयुं ( होवा के द्वारा प्रयुक्त समिद्धेयताक  
यज्यमानत्र के साथ होने वाले अपने समिद्याग कर्मानुष्ठान काल में यजमान से यह प्रैप करे  
( कहे ) कि, हे यजमान ! तुम ( समिद्धद्वारा अपने प्राण-समिन्धन का ध्यान करते हुए ) अपने  
शरीर को स्पर्श करो यदि यजनान उपतापी हो तब। ( अर्थात् उपतापवशा से ही यजमान को

● 'समिद्धहमेन ॐ व समिद्धा ( उम्मुदा वा ) ब्राहुतय'—यत् ७।५।२।७।

-- "ता यऽप्यत नव व्याहृत्यो ( सुगादापननिगदमन्त्रस्य ) भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणा । एतानेवा-  
श्मिन् ( यश्चित्प्राणसङ्घसे वैवात्मानि )-एतत् ( सुगादापनकर्मणा ) भाति"—यत् १।५।२।८।

स्पर्श करना चाहिए) । ( साथ ही स्वयं अभ्यर्च्य भी यही भावना करे, इसी अभ्यर्च्यद्वय भावना को स्पष्ट करती हुई भुक्ति कहती है )—यदि यह यज्ञमान चरारा हो, तो अभ्यर्च्य भी वही आराधन ध्यान करे । ( क्योंकि, इस भरे सामिधान से प्राणसमिधन द्वारा यज्ञमान का तप शान्त हो ) । ( अभ्यर्च्य के इस आराधन से, साथ ही अपनी भी भावना से ) वह यज्ञमान ( अथर्वमेव ) समिद्ध हो जाता है । प्राण समिद्ध होत हुए केन्द्राभिमुख बनत हुए बाह्यवायुशान्ति के कारण पन जाते हैं ) । यदि यज्ञमान शीत ( तपरहित, स्थल ) है, तो ( उस वरा में न तो यज्ञमान अपना स्पर्श ही करे, एवं न अभ्यर्च्य आराधन ही करे । ( इस प्रत्यक्ष इष्ट फल से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, समिध अथर्वमेव आध्यात्मिक प्राणों को समिद्ध करती है ) अतएव ( कहा जा सकता है कि ) अपने इस समिधान से ( अभ्यर्च्य यज्ञमानभूता में ( स्थित ) प्राणों का ही समिधन करता है । ( पूर्ण प्राण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बत्सर के प्रथम पक्षन्त पक्षसमिधन के साथ साथ ) आध्यात्मिक प्राणसमिधन-फलप्राप्ति के लिए ( भी ) यह समिधान करता है ॥१॥

( २ )—यह ( अभ्यर्च्य समिधान के ) अनन्तर ( होता के—‘तनूनपाद्मन आत्मस्य वेतु धौपद्’ इस तनूनपादेवताक आत्म्यात्मन के उच्चारण करने पर उसके ‘धौपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रवेश में आत्म्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे ) तनूनपात् ( नामक प्रयाज ) का यजन करता है । तनूनपात् निधाय से रेत ( धीर्घ्य-शुक्ल ) है ( क्योंकि सत्यम धातुमूत रेत ही शरीर को न गिरने देता हुआ तनूनपात् है ) । ( इस तनूनपात्मा से ) वह अभ्यर्च्य ( वैश्वामना में प्रजननकर्म्म के समावेश के लिए ) रेत-सेक ही करता है । ( पूर्ण प्राण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बत्सर के द्वितीय ग्रीष्म पक्षसमिधन के—साथ साथ ) आध्यात्मिक रेत-सेक प्राप्ति के लिए ( भी ) यह तनूनपाद्या का अनुष्ठान करता है ॥२॥

( ३ )—यह ( अभ्यर्च्य तनूनपाद्या के ) अनन्तर ( होता के—‘इहो अन्न आत्मस्य व्यन्तु धौपद्’ इस इहोदेवताक आत्म्यात्मन के उच्चारण करने के अनन्तर उसके ‘धौपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रवेश में आत्म्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे ) इट् ( नामक प्रयाज ) का यजन करता है । इट् निरन्ध्वेन प्रजा है । जिस समय—( नयमसानन्तर ‘एवमवस्तु’ नामक प्रसववायु की नोवना से, नयमास पूर्ण होपान्ति में पूषा द्वारा ) सिक रेत ( प्रजास्य से ) व्यस्त होता है ( भूमिष्ठ बनता है ), कर्पात के अन्धबहिर्गच्छरस्य से ही वह ( अन्न प्रजा ) ( अन्नप्रमना से ) इक्ष्मवी—( अन्नमयी ) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई विचरने लगती है ( अत्यन्तान्तर ही अन्न की ओर प्रवृत्त हो जाती है )—( तनूपाद्या के द्वारा सिक रेत का प्रजास्य से प्रजनन अपेक्षित है, प्रजनन उत्तरमयी, साथ ही इट्-अन्न-अभिमुख है । अतएव अन्नेच्छात्मक इस उत्तरमयी प्रजननकर्म्म के लिए ही तनूपाद्यानन्तर इट्-का आवश्यक है । पूर्णप्राण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बत्सर के तृतीय वर्षापूर्व समिधन के साथ उत्तरमयी आध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर भुक्ति कहती है कि ) इष्ट ( इक्ष्मा से ) यह



अभ्यर्च्युं ( विन्य प्रजा को ) ही उत्पन्न करना है । इसीलिए ( प्रजोत्पत्ति के लिए ) इह्याग करता है ॥४॥

(४)—यह (अभ्यर्च्युं इह्याग के) अनन्तर (होता के—वर्हिरग्न आत्मस्य वेतु वीपद् इस वर्हिर्वेवताक याग्या मन्त्र के उच्चारण करने पर उसके वीपद् उच्चारण के साथ आहवनी-याग्न के समिद्ध प्रवेश में आभ्याहुति के द्वारा क्रम प्राप्त चौथे) वर्हिं (नामक प्रयाज) का यजन करता है । वर्हिं निरचयेन भूमा ( बहुवचसम्पत्ति से युक्त ) है । (वर्हिं-वम-का भूमाभाव इसके संख्या-बहुवच पर, एवं वृ ह्यधर्म पर ही अवलम्बित है ) । उत्पन्न प्रजा की भूमा प्रजावृद्धि के से भी अभीष्ट है एवं प्रत्येक प्रजा के बहुवचोभावा से भी अपेक्षित है । इह्याग से प्रजा उत्पन्न की गई है । अब अपेक्षित उभयविध भूमा-भाव का भी उत्पन्न प्रजा में आधान होना चाहिए । वर्हिं भूमावर्धन से युक्त है । ( पूर्वभाषण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्बन्ध के चतुर्थ शत-पूर्व समिन्यन के साथ साथ ) आभ्यात्मिक इस भूमाभाव-फल प्राप्ति के लिए ( भी ) यह अभ्यर्च्युं वर्हिं का यजन करता है ॥४॥

(५)—यह (अभ्यर्च्युं वर्हियोग के) अनन्तर (होता के—‘स्वाहाग्निम् स्वाहा सोमम्, स्वाहाग्निम् स्वाहा देवो आत्मपात्र, स्वाहाग्निं होत्रा जुपागा अग्न आत्मस्य व्यन्तु वीपद्’ इस स्वाहा देवताक आत्ममान्त्र के उच्चारण करने पर उसके वीपद् उच्चारण के साथ आहवनी-याग्न के समिद्ध-प्रवेश में आभ्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पाँचवें) स्वाहा-स्वाहा ( नामक प्रयाज ) का यजन करता है । ( वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त इन ) पाँच ऋतुओं का निरचयेन हेमन्त स्वाहाकार ( अन्तिम पर्व ) है । ( अपने स्वाभाविक कटुस्पर्श से ) हेमन्त ही इस ( पार्ष्व प्रजावग को अपने वरा में कर लेता है । इसीलिए ( हेमन्ताक्रमण से स्वविकास-लक्षण स्वात्मन्य से ही ) हेमन्त ऋतु में ओपधियों न्यान ( मुकुलित ) होजाती हैं वनस्पतियों के पत्ते मड़ जाते हैं, पक्षिगण अतिशयस्पर्श क्षीणकाय बन जाते हैं, क्षीणकाय बनते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से तथा अपने घोंसलों से ये ( पक्षी ) पट-पट नीचे गिरने लगते हैं, पुरुष-समुदाय मुखवत् केशपुरुष की भाँति हतधी बन जाता है—( प्रतीत होने लगता है ) । इसप्रकार ( इन प्रत्यक्षदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि ) हेमन्त सम्पूर्ण पार्ष्व प्रजावग को अपने अधिकार में कर लेता है ( किए हुए है ) । जिसप्रकार एक समर्थ-बलवान् योग्य व्यक्ति अपने वर्ग पर अधिकार करता हुआ वर्ग के द्वारा श्री-वित्त-सम्पत्ति, पय अन्नाद्य-अन्नसम्पत्ति का अन्यतम भोक्ता बन जाता है एवमेव हेमन्तयागकर्ता भी अपने समाज का नेता बनता हुआ श्री-धीर अन्नाद्य का अन्यतम भोक्ता बन जाता है । हेमन्तयाग का इसी फल का अपने राज्या में अभिनय करती हुई भुति कर्ती है )—यह यजमान जिस अर्थ ( समाज ) में रहता है उस अर्थ को भी धीर अन्नाद्य के लिए स्वीकृत कर लेता है ( उस समाज का अपने वरा में कर लूँ द्वारा अभीष्ट श्री-अन्नाद्य प्राप्त करने में समर्थ होजाता है ) जोकि यजमान ( साथ ही यजमानवत् पक्षिणा से परिगृहीत प्रयाजकर्ता अभ्यर्च्युं भी )

हेमन्त फे (सक्त लक्षण) सवाधिपथ को जान लता है। (हमन्तयाग का आध्यात्मिक पक्ष सर्वाधिकारमायप्राप्ति ही है, यही वास्तव्य है) ॥३॥

## इति-प्रयाजावृत्त (पद्धति)-(४)

### प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाजकर्म में एक 'प्रयाजानुमन्त्रण' नामक कर्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है। पाँच प्रयोजों के लिए हात्कर्म के पाँच आध्यात्मिक मन्त्र हैं, जिनका पृथक् प्रयाजावृत्त प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। पाँच यागामन्त्र 'प्रयाजमन्त्र' हैं। जिस समय १-२-३-४-५-क्रम से होता पाँच आध्यात्मिक मन्त्रों का उच्चारण करता है उस समय प्रत्येक आध्यात्मिक मन्त्र की समाप्ति पर यजमान को एक एक निगममन्त्र का उच्चारण करना है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने वैवात्म्य के साथ सम्बन्ध करता है। अतएव यजमानकर्त्तृक ये मन्त्र 'प्रयाजानुमन्त्रण' कहलाए हैं। इन पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)—होता—“समिद्धो अग्न आभ्यस्य वेतु वीपद्—यजमान—“इह समिद्धम्यो न मम। यद्ये मन एका तस्य यमहं द्वेष्टि योऽस्मान् द्वेष्टि यं च यमं द्विष्टि। त्विषिमान् भूयासम्” (समिद्धनुमन्त्रणम्—१)।

(२)—होता—“तनूनपावृत्त आभ्यस्य वेतु वीपद्—यजमान—“इह तनूनपाते न मम। द्वौ मन द्वे तस्य यं च यमं०। अपपिषिमान् भूयासम्” (तनूनपावृत्तनुमन्त्रणम्—२)।

(३)—होता—“इषोअग्न आभ्यस्य वेतु वीपद्—यजमान—“इह समिद्धम्यो न मम। त्रयो मन विस्तस्तस्य—यं च यमं०। यथास्वी भूयासम्” (इषनुमन्त्रणम्—३)।

(४)—होता—“वर्धिरग्न आभ्यस्य वेतु वीपद्—यजमान—“इह वर्धिये न मम। चत्वारो मन चतुस्तस्य—यं च यमं०। ब्रह्मवर्धसी भूयासम्” (वर्धिरनुमन्त्रणम्—४)।

(५)—होता—“स्वाहाग्नि स्वाहा साम स्वा० अन्तु वीपद्—यजमान—“इह मग्नये सोमाय, अग्नये० न मम। पञ्च मन न तस्य किञ्चन—यं च यमं०। अमाहो भूयासम्” (स्वाहानुमन्त्रणम्—५)।

अथर्वक के ब्राह्मणभाग में होतृकर्म के प्रयाजमन्त्रों का एवं आध्यात्मिक कर्म का आहुति-कर्म से सम्बन्ध रखने वाला आध्यात्मिक विशेषताओं का पद्धति-प्रवर्तन-पुरस्सर निरूपण हो चुका है। परन्तु अथर्वक यजमानकर्त्तृक—‘प्रयाजानुमन्त्रण’ मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। मध्य योच ब्राह्मणभाग में उस प्रयाजानुमन्त्रण की ही पद्धतिप्रवर्तन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जा रही है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आस्थान सर्वप्रथम उद्धृत करती हुई मुनि कहती है—

देवदेवता, और असुर, दोनों प्राजापत्य (प्राजापति की सन्तानें) परस्पर स्वार्था (युद्ध) करने लगे। (दोनों ही) दण्ड, तथा धनुषों से (एक दूसरे पर) विजय प्राप्त न कर सके (भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल सका)। (अपने आसुधयुक्त युद्धकर्म से) विजय लाभ न करते हुए दोनों ने यह निश्चय किया कि अरे भाइ (हन्त भला, अच्छा तो) अपने धारण्य ब्रह्म के माध्यम से ही जीतने की इच्छा करें (शास्त्रार्थ के द्वारा युद्ध का निर्णय करें)। इस मन्त्रात्मिक वाक्य के युद्ध में, बाह्यिक युद्ध में) अपने दोनों में से जो भी—(एक दूसरे द्वारा) प्रयुक्त वाक्य का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा (युग्म द्वारा) अनुगत न करगा वह हार जायगा, दूसरा (मिथुनभावानुगत वक्ता) विजेता माना जायगा दोनों ने संघा (शत) मान ली (वर्णित)। (प्रस्तुत धारायुद्ध में इन्द्र को ही योग्य अधिकारी मान कर) देवदेवताओं ने इन्द्र से कहा कि, (हमारी ओर से, देवमण्डली की ओर से) आप ही वाक्-शास्त्र का प्रयोग करें। ॥६॥

(देवप्रेरणानुगत) इन्द्र (ही वाक् युद्ध का प्रारम्भ करते हुए असुरों को लक्ष्य बनाकर) बोले—‘एक ओ मम’ (हमारा एक है)। ‘अस्माकमेका’ (हमारी एक है) यह (प्रत्युत्तर में) असुर बोले। इस प्रथम (वाक्य) स्वप्न कर्म से (प्रतिज्ञात सचा-सार) देवदेवता, असुर, दोनों ने मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथु ही तो है जो ‘एक’ और ‘एक’ है। (योप-प्रपात्मक स्त्री-पुम्माव का समन्वित रूप ही मिथुनभाव है। पुम्मावक ‘एक’ से योपत्मक पुम्माव का, एवं स्त्रीवाचक ‘एक’ से योपत्मक स्त्रीभाव का संग्रह हो रहा है। दोनों के संग्रह से मिथुन-भाव गताय बन रहा है, यही वास्तव्य है) ॥६॥

(प्रथम मिथुनावाप्त्यनन्तर) ‘द्वौ मम’ यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में ‘अस्माक द्वौ’ यह असुर बोले। इस कर्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो ‘द्वौ’ (पुम्मावक शब्द) एवं ‘द्वे’ (स्त्रीवाचक शब्द) है ॥७॥

(द्वितीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) ‘त्रयो मम’ यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में ‘अस्माक तिस्रः’ यह असुर बोले। इस कर्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो कि ‘त्रयः’, और ‘तिस्रः’ है ॥८॥

(तृतीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) ‘चत्वारो मम’ यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में ‘अस्माक चतस्रः’ यह असुर बोले। इस कर्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो कि—‘चत्वारः’, और ‘चतस्रः’ है ॥९॥

(चतुर्थ मिथुनावाप्त्यनन्तर) ‘पञ्च मम’ यह इन्द्र बोले। (इन्द्र के इस वाक्य ‘पञ्च’ एवं प्रत्युत्तर के लिए) असुर कोई साधन प्राप्त न कर सके। (क्योंकि ‘चत्वारः-चतस्रः’ से आगे-स्त्री-पुलिङ्ग भङ्ग लिङ्ग का ही अभाव है। अतएव) इससे आगे मिथुन का अभाव है। आगे तो-स्त्री-पुम्माव दोनों के लिए) ‘पञ्च-पञ्च’ उस समान शब्द का ही प्रयोग होता है। (यस

हेमन्त के (एक क्षण) सर्वाधिपत्य को जान जाता है। (हमन्तयाग का आध्यात्मिक पक्ष सर्वाधिकारमात्रप्राप्ति ही है, यही तात्पर्य है) ॥१॥

## इति-प्रयाजावनु (पद्धति)-(४)

### प्रयाजानुमन्त्रश्च

प्रस्तुत प्रयाजकर्म में एक 'प्रयाजानुमन्त्रश्च' नामक कर्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है। पाँच प्रयाजों के लिए होतृकर्तृक पाँच आग्रह मन्त्र हैं, जिनका पूरा के प्रयाजावनु प्रकरण में स्पष्टोक्ति दी जा चुकी है। पाँच यागामन्त्र प्रयाजमन्त्र हैं। जिस समय १-२-३-४-५-क्रम से होता पाँच यागामन्त्रों का उच्चारण करता है उस समय प्रत्येक यागामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगममन्त्र का उच्चारण करता है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने वैराग्य के साथ मन्त्रबन्ध करता है। अतएव यजमानकर्तृक ये मन्त्र 'प्रयाजानुमन्त्रश्च' कहलाए हैं। इन पाँचों प्रयाजानुमन्त्र-मन्त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)—होता—“समिद्धो अग्न आत्मस्य व्यन्तु धीपद्—यजमान—‘इदं समिद्ध्यो न मम। एक्षे मम, एक्ष त्वस यमद्वेष्टि योऽस्मान् द्वेष्टि यंच ययं द्विष्टि’। त्विषिमन् भूयसम्’ (समिद्धनुमन्त्रायाम्—१)।

(२)—होता—“तनूपावग्न आत्मस्य वेतु धीपद्—यजमान—‘इदं तनूपाते न मम। द्वी मम द्वे त्वस ये च ययं०। अपषिषिमन् भूयसम्’ (तनूपावनुमन्त्रायाम्—२)।

(३)—होता—“इजोअग्न आत्मस्य वेतु धीपद्—यजमान—‘इदमिद्ध्यो न मम। त्रयां मम त्विषस्तस्य—ये च ययं०। असावी भूयसम्’ (इजनुमन्त्रायाम्—३)।

(४)—होता—“वर्हिर्ग्न आत्मस्य वेतु धीपद्—यजमान—‘इदं वर्हिषे न मम। चत्वारो मम चत्वरस्तस्य—ये च ययं०। अश्ववर्षेती भूयसम्’ (वर्हिर्नुमन्त्रायाम्—४)।

(५)—होता—“स्वाहर्गिन् स्वाहा साम स्वा० व्यन्तु धीपद्—यजमान—‘इदमग्नये सोमाव अग्नये० न मम। पञ्च मम न त्वस किञ्चन—ये च ययं०। अमादो भूयसम्’ (स्वाहानुमन्त्रायाम्—५)।

अथर्वक के ब्राह्मणभाग में होतृकर्तृक प्रयाजमन्त्रों का, एवं अथर्व्युक्तों के आहुति-कर्म से सम्बन्ध रखने वाला अन्त्याम्ब विशेषताओं का पद्धति-प्रदर्शन-पुरस्सर निरूपण हो चुका है। परन्तु अथर्वक यजमानकर्तृक—‘प्रयाजानुमन्त्रश्च’ मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बताई गई है। प्रकृत शेष ब्राह्मणभाग में उस प्रयाजानुमन्त्र का ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बताया जा रही है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सार्वप्रथम उद्धृत करती हुई नुति करती है—

## ( छठा अध्याय आरम्भ )

प्रथमपक्षर में छठ अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठ आशय

( १।६।१ )—( १।६।६ )

( ३—त्रिब्राह्मणारण्यक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय आशय )

## ६—प्रयाजों का इष्टि र्म प्राथम्य

त्रिब्राह्मणारण्यक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोपास्य प्रथम आशय में (१।६।३) आरम्भ के 'अतघो इ ये प्रयाजाः' इत्यादिरूप पञ्च-पञ्चकणिकारूपक भाग के द्वारा 'प्रयाजबन्ध' (प्रयाजकर्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, यह पञ्च-प्रयाजयाग सम्बन्ध में मुख्य दसन्ता। इ पाँच अतुओं पर यजमानात्मा का अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वही यह भी स्पष्ट किया गया है कि, देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में देवताओं ने अपने विजय का साधन पाँच प्रयाजों को ही बनाया। इन पाँच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजयाग से) वे पञ्चतु की समष्टिरूप सम्बन्धित सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समर्थ हागए। इस एक उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजकर्म वस्तुतः अतुकर्म है। अतुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि, सम्बन्धित म—जिसने सामन्तरिक प्राणविध वृषवृक्षाओं के भाग नियत हैं—अतुओं का (अतुदेवताओं का) क्या भाग है ? इसी जिज्ञासा का अग्नि से सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयाग्नि में इन अतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए आग्याहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि सामन्तरिक दिव्याग्नि का प्रविरूप है। अतएव सिद्ध होजाता है कि, प्राकृतिक पञ्चतुओं का भी (अन्य देवदेवताओं की भाँति) अग्निदेव के साथ अथर्व ही कोई न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह अग्निसम्बन्ध भी प्रकृत में विजिज्ञास्य बन रहा है। इस अग्निसम्बन्ध-जिज्ञासा का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, अतुरूप पञ्च प्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पाँच आग्यमन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उन पाँचों ही मन्त्रों में 'सामिद्धो अग्न आग्यस्य व्यन्तु'—'तनूनपाह्नन् आग्यस्य वेतु' इत्यादिरूप से अग्नि' का समावेश है। जबकि पाँचों मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पाँचों प्रयाजाहुतियों क्रमशः समित्, तनूनपात, इट्, बर्हि, स्वाहा, इन पाँच प्रयाज-अतु-देवताओं के लिए ही विहित हैं, तो सदेवताक आग्यमन्त्रों में 'अग्नि' पद का समावेश क्यों हुआ ?, क्यों-प्रयाजयागात्मक आग्य में अग्नि को भी आगहर माना गया ?। इसी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम्बन्ध है। प्रधानवृषतायाग ही 'इष्टिकर्म' है। इस इष्टिकर्म में अतुओं की तृप्ति के लिए तो प्रयाज कर्म विहित है एवं अर्वा की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म विहित है। इन दोनों में प्रयाज कर्म प्रधानदेवता-यागलक्षण इष्टिकर्म से पहिले होता है, अनुयाजकर्म इष्टिकर्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म का इष्टिकर्म में प्राथम्य क्यों है ?। इन दोनों जिज्ञासाका यह प्राकृतिक आधिदैविक अतुपक्ष से ही सम्बन्ध है, तद्विज्ञान ही इस जिज्ञासात्रयी का वास्तविक समाधान है। प्रस्तुत-नाशय की प्रथम कथिक्ता से आरम्भ कर १५ वी

यहाँ आकर पूर्ण प्रतिक्षा संधा के अनुसार इन्द्रप्रमुख 'पञ्च' के मिथुन की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हुए) असुर अपना सवस्व ( पहिले फ चार मिथुन भाग भी ) हार गए। उभर देवदेवताओं ने ( मिथुन मर्षावानुगमन से ) असुरों का भी सवस्व जीव लिया। सम्पूर्ण मिथुनों से ( वरूप प्रयाजकर्मों से ) सपत्न असुरों को भग्नरहित बना दिया ॥११॥

( क्योंकि प्राकृतिक प्राणयज्ञ में देवासुर-स्पर्धा में मिथुनभाग के द्वारा देवदेवता असुरों के पराभव में समर्थ हुए हैं। अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म में भी प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में क्रमशः 'एक-एक' इत्यादि मिथुन-भावात्मक पदों का समावेश करता हुआ मिथुनसम्पत्ति-शतपञ्चात्मिक पाह्य यह सम्पत्ति-पर अपना अनन्य अधिकार जमा लेता है। यही अनुमन्त्रण-मन्त्रों की, एवं तत् पठित-'एक-एक' आदि मिथुनभागों की मौलिक उपपत्ति है, जिसका वैज्ञानिक विरलेपण वत्प्रकरणानुगत विवेचन-प्रकरण में किया जायगा। प्राकृतिक मिथुनभाग के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुमन्त्रणकर्म की इतिकर्तव्यता बतलाती हुईं भुति कहती है )—

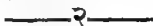
इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावापत्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रयाज समस्त होने पर यह (प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र) बोलना चाहिए कि—'एकमेमेत्येका तस्य, यमहं द्वेष्मि' (एक मेरा है, एक उनकी है, जिससे मैं द्वेष करता हूँ)। यदि यजमान किसी को अपना व्यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है, व्यक्तिगत द्वेष नहीं करता है, तो उस अवस्था में ('यमहं द्वेष्मि' न बोल कर) — 'योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च बर्षं द्विष्म' (जो हम से द्वेष रखता है, जिसके प्रति हम सदैव वैर रखते हैं) यह बोलना चाहिए (इस १२ वीं कण्डिका के अनुवाद से ही १३, १४, १५, कण्डिकाओं का, एवं सोमहवीं कण्डिका के पूर्वसमाप्तुद्धि भाग का अनुवाद गतार्थ बन रहा है ॥ १३, १४, १५, ॥

वह यजमानशत्रु (पौषर्ष प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रमुख—'पञ्च मम-न तस्य-किञ्चन, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च बर्षं द्विष्म' इस प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्र के द्वारा) केवल पञ्च-पञ्च करता हुआ ही रह जाता है। उसे मिथुनसम्पत्ति उपलब्ध ही नहीं होती। परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवर्ग का सब कुछ खीन लेता है, सर्वसम्पत्ति से सपत्नों को भग्नरहित (बर्जित) कर देता है, जो यजमान प्रयाजानुमन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले मिथुन विज्ञान को जलता हुआ वत्प्रयोग करता है ॥१६॥

### इति-प्रयाजानुमन्त्रसम् (५)



पौषर्षे अभ्यास में चौथा, चौथ प्रपाठक में पौषर्षा ब्राह्मण समस्त  
२-त्रिमासावात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमागत द्वितीय ब्राह्मण समाप्त  
( पौषर्षा अभ्यास समाप्त )



\* बिके छाप देव हो, उव क- क्रमशः-श्रोत्रशत्रु-लोमशत्रु-लोहितशत्रु-शत्रु, इत्यादि  
से उव शत्रु के नाम का उचितैव कर देना चाहिए।

(अपने शत्रु की समृद्धि सुन सुन कर विपरीत को अन्तर्देवता का स्वाभाविक अनुभव हुआ करता है। यदि किसी से वदना होना हो, तो उसे चाहिए कि, वह उसके शत्रुदल में मिल जाय। और उससे मिल कर उसके उस समृद्धिकर्म में अपना सहयोग देकर उस समृद्धि को और भी अधिक समृद्ध बनावे, जिस समृद्धि को सुनने मात्र से विपरीत दल की वेदना वृद्धिगत हो जाती है। शत्रुओं ने इसी पक्ष का आशय लिया। असुरमण्डल की ओर आगत) शत्रुओं ने (असुरों के लिए) उस समृद्धि को (और भी अधिक) समृद्ध करना आरम्भ किया, जिस (असुरसमृद्धि) को देवता सुना करते हैं (सुन कर व्यथित हुआ करते हैं)। (शत्रुओं के द्वारा असुरों की पूर्वसमृद्धि में क्या विये वा व्यय हो गई? परन्तु का समाधान करती हुई मुक्ति कहती है कि) —जिस परासुग में इन असुरों के पूर्वज (शत्रुओं के अनुग्रह सहयोग न मिलने से) जिस समय (मौसम में) हल जोत थे (हल जोत कर) बीज बरसते थे (इस प्रकार हल जोत कर बीज बाँक कर बड़े परिश्रम से बोया बहुत अन्न उत्पन्न कर येनकेनरूपेण बड़े कष्ट से अपना निर्वाह करते थे, वन्ही असुरों के) वंशज (अपरे) —इन शत्रुओं के अनुग्रह से आज उसी मौसम में) कुछ तो धान कट रहे हैं, कुछ फटे हुए धानों को बैल आदि से खुरवा रहे हैं। इस प्रकार (शत्रुओं के अनुग्रह से आज) उन-असुर प्रदेशों में बिना ही हल जोते पुनः पुनः ओषधि पैक रही है। (वास्तव्य शत्रु-अनुग्रह से पहिले जित इन असुरों के पूर्वजों को जिस मौसम में हल जोत कर बड़े कष्ट से अन्न उत्पन्न करना पड़ता था, आज उनके वंशज असुर शत्रुओं के अनुग्रह से उस मौसम में तो धान का संग्रह कर लेते हैं। साथ ही इन्हें हल जोतने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। शत्रु-अनुग्रह से बिना हल जोते ही इनके देश में पर्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है। यही वह प्रभूत समृद्धि है, जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते हैं ॥ ३ ॥

(वधदेवताओं के समीप भी कर्माकर्णियोंद्वारा ये समाचार पहुँचे। वही हुआ, जो होना चाहिए था)। असुरसमृद्धि सुन कर वधदेवताओं का बड़ा परचाचाप (आग) हुआ। (इन्होंने प्रजा पराध-जनित इस परचाचाप को इन शत्रुओं में प्रकट किया कि) —हमारे इस (शत्रुओं को उनके न्यायप्राप्त भाग न देने के) कारण (ही) आज शत्रुदल- (असुरसंग) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति (स्पर्धापूर्वक) शत्रुता करना चाहता है (अर्थात् हम से वर्पाचित शत्रुओं के दल से ही समृद्ध बन कर आज वे असुर यहाँ तक समर्थ हो गए कि वे-सुखमसुखा हम से युद्ध करने के लिए समर्थ हैं। आज असुरों का यह साहस हो गया है कि, वे प्रत्यक्ष में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे। वास्तव में) ऐसा हो जाना बहुत ही कमी है—(कनीय शत्रु-सज्जा की पाप है)। शत्रुओं के अनुग्रह से आज असुर भलभाव बन गए हैं। अतएव प्रत्यक्ष में इनसे सुदमेक करना तो और भी परचाचाप का कारण होगा। अतएव अब तो) आप सय (मित्रकर) ऐसा कोइ (अप्रत्यक्ष सहज) उपाय निकालिए, जिससे असुर लोग अपनी इस (वर्तमान समृद्ध स्थिति से विपरीत (असमृद्ध-निम्न) अवस्था में (स्वयं एव) पहुँच जायें ॥ ४ ॥

कविहका पर्यन्त इसी जिज्ञासा-प्रयी का सोपानातिक विरलेपण हुआ है। अतएव पञ्चराकविह-  
कर्मक इस माहण भाग का एक स्वतन्त्र प्रकरण माना जा सकता है, जिस हमने— प्रवाजों का  
इष्टि में प्राथम्य नामकरण अन्यथा माना है। ११ वीं कविहका से आरम्भ कर १८ वीं कविहका  
पर्यन्त तीन कविहकाओं में 'अभिचार' कर्म का निरूपण हुआ है, यही प्रकृत माहण का  
कविहकाप्रयात्मक द्वितीय करण है। १६ वीं कविहका में कर्मभुति का विरलेपण हुआ है, यही  
एक कविहकात्मक तृतीय प्रकरण माना गया है। १६, २०, इन दो कविहकाओं में प्रवाज  
कर्म से सम्बन्ध रखन वाले परिशिष्ट आर्य-व्यवाहि प्ररर्ना का विमर्श हुआ है, यही प्रस्तुत  
माहण का—'परिशिष्ट प्ररनाचरविमर्श' नामक अन्तिम प्रकरण है। सम्भूत २१ कविहकात्मक  
प्रकृत तृतीय प्रवाजमाहण में ४ अध्यासर प्रकरण हाजात हैं, जिन्हें पूर्वमाहण-द्वयी में प्रतिपादित  
५ प्रकरणों की कमिक संख्या के अनुरोध से कमरा ६, ७, ८, ९, ये प्रकरण माना जा सकता है।  
इस प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत माहणानुपाद का सम्बन्ध करना चाहिए—  
(वैषा प्रकरणसङ्गति)

( प्रवाजयता श्रुत्याग है, इसका प्राकृतिक सम्बन्धगुणियक में एक विरोध-प्रथम-स्वात  
है, इसी आधिदैविक तत्त्व का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा विरलेपण करती हुई मति कहती  
है )—( पसन्तावि पौषों आधिक ) श्रुत्यों न ( प्राणविध ) देवताओं के साथ यज्ञ ( सम्बन्धगु  
गिनलक्षण सोमगर्भित ज्योतिष्टोमयज्ञ ) में ( अपना भी ) भाग चाहा ( अर्थात् जिस प्रकर देव  
देवताओं का यज्ञाग्न में भाग है, एवमेव श्रुत्यों में भी उसके आगीकार बनने की देवदेवताओं  
से कामना प्रकट का। अपनी इसी कामना को प्रकट करते हुए श्रुत्यों में देवदेवताओं से अनुरोध  
किया कि ) आप लोग इस यज्ञ में हमें भी भागी ( हिस्सेदार ) बनाइये !, हमें इस यज्ञ ( भाग )  
से वञ्चित न कीजिये !, ( हम चाहते हैं कि, आप लोगों की मूर्ति ) इस यज्ञ में हमारा भी  
भाग रहे ॥ १ ॥

( जिसप्रकर किसी आगन्तुक सम्पत्ति-मोक्ष, सम्पद्भिर्भागा-कामुक के आ जाने से, उसके  
विमर्श मँगने पर स्वामाधिक विचलितोम के आकर्षण से लोक में सम्पत्ति का प्रथममोक्ष आगन्तुक  
की उस न्यायप्राप्त मँग की अपेक्षा कर देता है, सुनी अतसुनी कर देता है ठीक इसी शैली  
विच-स्थिति के अनुसार श्रुत्यों के द्वारा यज्ञभागा मँगने पर ) देवताओं ने श्रुत्यों की उस  
( न्यायप्राप्त मँग-कामना को ) न पड़िपाना—सुन कर भी ऐसी अपेक्षामुक्ति विज्ञप्ति जैसे उन्होंने  
कुछ सुना-जाना ही न हो )। देवताओं की अपेक्षामुक्ति का श्रुत्यों की न्यायप्राप्त मँग लुकरा  
देने का यही परिणाम हुआ, जो आज भी प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है। यदि किसी को अपना  
न्यायप्राप्त अधिकार मँगने से भी नहीं मिलता जो वस्तुतः बिना मँगने भी मिल जाता चाहिए,  
तो उस अवस्था में मँगने वाले का आत्मा विद्रोही बन कर उस विचलितोम-मोक्षमोक्ष के प्रति  
दृष्टी-राष्ट्रवल में आ मिलता है। यही श्रुत्यों ने किया। इसी प्राकृतिक धर्म का विरलेपण करती  
हुई मति कहती है ) प्राणविध देवदेवताओं के इसप्रकार ( अपनी मँग के ) न जलने पर  
( अपेक्षा करने पर ) वे श्रुत्यों ( अथवा स्वामाधिक आत्मविद्रोह के कारण ) देवदेवताओं का  
सहज शत्रु, भाव्य अमृतों की ओर झूट आई अमृतवल में समाविष्ट हो गई ) ॥२॥



(देवताओंमें अग्नि का—‘न त्वाभायतनाच्छ्रयायाम्’ इत्यादिरूप से धार्मिक सन्तोष तो करा दिया, परन्तु इस से समस्या अधिक क्लिष्ट बन गई। ‘प्रथमयजन’ कर्म एकबार ही सम्भव है। श्रुतियों का प्रथमयजन कर लिया जाय, अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय। अग्नियजन हो चुका है। यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रतिष्ठित रखना है, तब तो श्रुतियों का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है। यदि श्रुतियों का प्रथमयजन किया जाता है, तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अन्य उपाय का अभाव है। फलस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिष्ठा का निर्वाह असम्भव हो जाता है। इस जटिल अवस्था के निराकरण के लिए देवदेवताओं के ध्यान में एक उपाय आया। उन्होंने यह निश्चय किया कि, प्रथमयजन का प्रबोधन प्रथम भागहर अग्नि के द्वारा ही श्रुतियों के समीप पहुँचाना चाहिए। परिणाम यह होगा कि, श्रुतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजनरूप प्रिय भाग का छाने बाँझा समझ कर इनसे अपहरण ही यह कहेंगे कि, जब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागहर बनाने का त्याग कर रहे हैं, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि, हम अपने इस प्रथम यजन से आपको पूषक न करें अपितु आपको भी अपने प्रथम यजन कर्म में ही समावेश करें। इस प्रकार श्रुतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा, साथ ही श्रुतुयता में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा। इसी भाव का निरूपण करती हुई भुवि कहती है—)

(एक मन्त्रया के द्वारा एक निश्चय कर) देवदेवताओंमें अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव!) जाइए, (और) आप ही उन (असुरप्रविष्ट) श्रुतुओं को निमन्त्रित कीजिए। (प्रेरणातुसार अपने स्वाभाविक आह्वानलक्षण होत्र-धर्म की अपेक्षा से) अग्निदेव (वहाँ पहुँचे, वहाँ) पहुँच कर (उन श्रुतुओं से) अग्नि कहन लगे, कि, हे श्रुतुदेवताओं! मैंने देवताओं के यज्ञ के प्रति आपका भाग जान लिया है (अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आपको सूचना देने आया हूँ कि, वे अपने यज्ञ में आपको प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं)। (श्रुतुदेवताओं का पहिले अपमान हो चुका था। अतएव वे तबतक सतुष्ट नहीं होने वाले थे, जब तक कि, उनके सामने पहिले यज्ञभाग से बच कर कोई प्रिय साधन देवताओं की ओर से देने का निश्चय नहीं हो जाय। उन्होंने सोचा कि, यदि वे केवल यज्ञभाग ही देना चाहते हैं तब तो अपन लौटेंगे नहीं। हाँ यदि वे प्रथम भागहर बनाना निश्चित कर चुके हैं तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है, फलतः मानपूषक ही पहाँ लौटना भी भयंकर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति का समय व यह भी देख चुके थे कि प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें देने आए होंगे, इसकी कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं। इसी आराध्य के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित श्रुतुदेवता अग्निदेव से पूछने लगे कि, हे अग्निदेव! देवताओं के यज्ञ के प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) जान लिया (अर्थात् देवताओंमें हमें पहिले के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है अथवा वे हमें प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं? श्रुतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहन

(सभी यह जानते थे कि, श्रुतुओं को उनका न्यायप्राप्त भाग न मिलने से वे असुरों में जा मिली, परिणामस्वरूप असुर समूह होगया। अब उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से निबल बनाने का भी यही उपाय हो सकता है कि, जैसे बन सेसे श्रुतुओं को वापस लौटा लिया जाय। परम्परा के द्वारा यह निश्चय कर) देवदेवता (अपना मन्त्रव्य प्रगट करते हुए) कहने लग कि, अपन (इस संकट से बचने के लिए असुरवृक्ष में पहुँच जाने वाली) श्रुतुओं को ही निमन्त्रित करें (आर-पूयक श्रुतुओं को ही वापस बुलाना चाहिए। उपाय निकल आया। परन्तु किस साधन से (किस प्रलोभन से) उन्हें बुलाया जाय ? यह समस्या आपड़ी। समस्या का कारण यही था कि, श्रुतुएँ देवताओं से विरक्त होकर ही गई थी। उन्हें अपन प्रिय यज्ञ में भाग नहीं मिला था। आत्र भी वे लौट सकती हैं। परन्तु प्रलोभन ऐसा होना चाहिए, जो पूर्वप्रस्तामन से भी विरिष्ट हो। वह यही हो सकता है कि, जिस यज्ञभाग की उन्हें कामना थी, त्यागाविक प्रलोभन था, उसका प्रथम भागहृद श्रुतुओं को ही पनाया जाय। अवश्यमेव इस विरिष्ट प्रलोभनाकपण से वे वापस लौट आएँगी। इसी तात्पर्यार्थ का दिग्दर्शन कराती हुई भुक्ति कहती है कि) —अपन इन श्रुतुओं का इस यज्ञ में सर्वप्रथम ही यजन करें (अर्थात् पहिला भाग इन्हें ही दिया जाय—आपको प्रथमभाग मिलेगा, यही सन्देश श्रुतुओं के पास भेजा जाय। निश्चय है, इस साधन से अवश्य वे हमारी ओर आजायेंगी) ॥१॥

(देवमयवत् से वे अग्निदेव भी समुपस्थित थे, जिन्हें यज्ञ में देवतालोग सब से पहिला भागहृद मानते आ रहे हैं। श्रुतुयथा से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता आया है। जब अग्नि ने यह निणय सुना कि, श्रुतुअच्छण प्रयागों का ये जग प्रथम यजन करने वाले हैं, तो उन्हें अपने प्रथमाधिकार की चिन्ता हुई। इसी चिन्ता को व्यक्त करते हुए) अग्निदेव बाक पड़े कि—(हे देवदेवताओं!) आपने जा कि पहिले (प्रयाजयाम से भी पहिले) मेरा यजन किया है (पहिला भागहृद बनाया है) वह मैं (यज्ञ में) कहाँ प्रसिद्धि रहूँगा (अग्नि को भय यह हुआ कि, मुझे इन्होंने यज्ञ का प्रथमभाग पहिले से दे दिया है। आज ये श्रुतुओं को भी प्रथम भाग देना चाहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि, मेरा भाग छीन कर श्रुतुओं को दे दिया जाय। यदि कहीं ऐसा हो गया, तो मेरी प्रतिष्ठा ही क्षिप्त हो जायगी। देवताओं ने अग्निदेव की इस चिन्ता को इटते हुए आत्मासन दिया कि) अग्निदेव! (आप चिन्ता न करें) हम आपको अपने आभ्युत्थन (प्रथमभागच्छण प्रतिष्ठास्थान) से कभी न गिरावेंगे। (देवताओं का यह आत्मासन अवश्य ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अभ्युत्थ ही बना रहता है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई भुक्ति कहती है कि) उन देवदेवताओं ने (प्रथमभाग प्रलोभन—साधन से) श्रुतुओं को बुलाते हुए (भी उन्हें प्रथमभाग देते हुए भी) क्योंकि अग्निदेव को अपने इनके आभ्युत्थन से (प्रथमभाग से) श्रुतु नहीं किया, अतएव (तब से, इसी अश्रुतु-मात्र से) वे अग्निदेव 'अश्रुतु' नाम से ही प्रसिद्ध होगया। (जिनके लिए अश्रुतुअश्रुतु आत्मासे पुत्रद्वारा सिद्धि है)। वह याज्ञिक भी अपने इस आभ्युत्थन से कभी श्रुतु नहीं होता है, जिस आभ्युत्थन में वह प्रसिद्धि रहता है, बाकि इस अश्रुतु अग्नि को (अग्नि के इस अश्रुतु धर्म का) जानता है ॥१॥

( पूर्वप्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है । इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में—एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा सकता है । पूर्व के 'होतृप्रकरण भाष्य' में ( १।४।२ ) परणाधिक्य मन्त्रों की व्याख्या करते हुये ऋषि ने देवाह्वानकर्म का क्रमिक विरलेपण किया है । वहाँ आह्वान का जो क्रम घटताया गया है, उसमें प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पड़ता है, जैसाकि निम्न किशित बचन से स्पष्ट है—

“आवह देवान् यजमानापेति, तदस्मै यन्नाय देवानावोदवाऽग्नाह । अग्निमप्रऽग्ना-  
वहेति, तदग्नेयाज्यमागायाप्रिमावोदवाऽग्नाह । सोममावहति, तत् सौम्यायाज्यमागाय  
सोममावोदवाऽग्नाह । अग्निमावहेति, तद्यऽपऽऽभयत्राच्युतऽग्नाग्नेयः पुराडाशो भवति,  
तस्माऽअग्निमावोदवाऽग्नाह । अथ यथादवतम् । देवौ २॥ ऽभ्याज्यपा २॥ आवहेति,  
तत् प्रयाजानुमाजानावोदवाऽग्नाह । प्रयाजानुमायाजा वै देवाऽअज्यपाः” —

—शत० १।४।२।१६, १७, १

( एक देवता-आवाहनभूति से स्पष्ट है कि, आभ्यपा-प्रयाज देवताओं का आवाहन सब के अन्त में विहित है । भोक्तृ पद्धति में यह भी नियम विहित है कि, जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है, उसी क्रम से वह देवता का यजन विहित है । सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही देवभाग विहित है । इसलिये हैं, प्रकृत प्रयाज कर्म में इस समान पद्धति-नियम-का इसलिये उल्लंघन हुआ है कि, प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सब के अन्त में किन्तु यजन हुआ है सब से पहिले । प्रयाजयाग के सम्बन्ध में यह व्यक्तिगत कर्मों ? कर्मों नहीं इनका भी यजन नियमालुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता ? इसी पूर्वपक्ष का अपने शब्दों में निरूपण करती हुई आगे जाकर उचित पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई भुक्ति कहता है )—

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम से विपरीत होने वाले प्रथम यजन कर्म के सम्बन्ध में ( वेदवैदिक ) कहते हैं—( यह पूर्वपक्ष छूटते हैं, विप्रतिपत्ति उपस्थित करते हैं—‘तदाहुः’ कि ) जब कि प्रयाजों को—( इतिविभागानुसार विहित नियम के आधार पर ) उत्तम रूप से ( अन्त में देव-देवता ) आहूत करते हैं ( आवाहन जब कि इनका संप्रति में होता है ) तो ऐसी स्थिति में ( आवाहन क्रम से विपरीत ) किस कारण ( कर्मों ) इनका प्रथम रूप से ( देवदेवता ) यजन करते हैं ( यजन सर्वप्रथम कर्मों किया जाता है ? ) । ( चरार स्पष्ट है—अपने प्राकृतिक सम्पत्तर ) यज्ञ में ( प्राकृतिक ) देवदेवताओं में इन ( प्रयाजों ) को उत्तमरूप से ही ( अन्तिमरूप से ही यद्यपि ) स्थापित किया ( था ), ( तथापि उसी समय उन ) देवदेवताओं में ( अग्निदेव के द्वारा इनके लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि ) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे । ( इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उपेक्षा करते हुये देवदेवताओं में आवाहन किया इनका यद्यपि अन्त में ही परन्तु यजन किया सर्वप्रथम । प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज-कल्पना अन्तिम

ज्ञान कि, हे श्रुतुदेवताओं ! देवदेवता अपन ) यज्ञ में आपका सवप्रथम हो यजन करेंगे ( आपका प्रथमभागहर पनाने का ही देवताओं ने निश्चय किया है ) ॥३॥

( जब अग्निदेव के द्वारा श्रुतुदेवताओं को यह विदित हो गया कि, अपन का देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो यज्ञ कर्म में कवल इमयत्राध्युत प्रथममूत अग्निदेव के लिए हो विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव यह जानते हुए भी कि-जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक घन है, उसे वयमयबलोपकार के लिए मुझे श्रुतुदेवताओं का बिना (कम) स्पर्ध के सौंप देना चाहिए, तो उन श्रुतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अपूवत्याग के प्रति क्रोधता से आप्लापित हो गया । प्रत्युपकार की भावना से इन्होंने भा यह निश्चय कर लिया कि, जिसने अपने लिए अपना स्पर्ध छोड़ दिया, उस कभी अपन पृथक् न करेंगे । कल्ल अपन नियम, पूर्वप्राप्त प्रथम भाग से मुक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे, प्रत्युपकार भी हो जायगा, साथ ही जिन देवताओं ने सफटापस स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपन लिए निकल कर दिया, उनकी अग्निदेव के प्रति की गई-‘न स्वामाप्तनाच्छास्यत्मा’ इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो जायगी । यह निश्चय कर श्रुतुओं ने अपन प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया । इसी स्थिति का श्रुतुओं के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस स्थिति का उपपादन करती हुई मुनि कहता है )—

( निमन्यय वेने वाले, प्रथम भागहर, अग्निदेव के उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युप-  
कार में अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम मागधिकार को सुरक्षित रखने की क्षमता से ) उन  
श्रुतुओं ने अग्निदेव से कहा कि, ( हे अग्निदेव ! आपके इस उपकार के बदले ) हम आपके  
हमारे में ( हमारे प्रथमभाग में ) भागहर पनाने हैं, जो कि आपने देवताओं के बल के प्रति  
हमारे लिए ( अपना अधिकार छोड़ते हुए ) भाग ( प्रथमभाग ) जाना ( अपने प्रथम भाग का  
हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का, त्याग का परिचय दिया ) । ( क्योंकि देवदेवताओं  
के सम्बन्धतरण में प्रथमभाग लेने वाले श्रुतुदेवताओं की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए वे  
अतएव सभी से ) ये अग्निदेव ( विध्यप्राप्ताग्नि ) श्रुतुओं में समाविष्ट है ( श्रुतुओं से अग्निप्राप्त  
का सम्बन्ध प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाजदेवता का आशुति कर्म  
में प्रत्येक प्रयाजघाता के साथ अग्नि का भी यजन होता है । अतएव वे प्रयाजदेवता का कस्य  
मन्त्रों में )—‘समिधोऽग्ने, तनूतपावग्ने, इधोऽग्ने बहिरग्ने स्वाहाग्निम्’ ( स्वाहादिक्म से अग्निपद  
का समावेश हुआ है ) । यह ( स्वातिशायक फलमोक्षा यज्ञमान, प्रयाजकर्मविकर्तृव्यतापूरक  
श्रांत्तक ) इस पुण्यकर्म में निश्चयेन भागहर बन जाता है, जिस पुण्यकर्म में वह ( पुण्यकर्म  
सूचक के प्रति, प्रवर्तक के प्रति, संयोजक के प्रति ) समान करता हुआ ( उसे भी संयुक्त करता  
हुआ ) वह पुण्यकर्मालुप्तान करता है । ( प्रयाजकर्मालुप्त अग्निसमावेश से ) अग्निप्राप्तमुक्त  
बने हुए इस ( पुण्यकर्म ) के लिए अग्निप्राप्तयुक्त ( ही अतएव सदृश ही ) श्रुतुएँ उन  
सम्पूर्ण व्योषधियों का परिपाक करती हैं, जो कि ( उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर ) श्रुतुओं  
में अग्नि को समाविष्ट जानता है ॥३॥

गर्मित अग्नि ही आभ्यमागदेवता है। इसी का प्रथम यजन होता है। (२) 'स्वाहामिन्-यह द्वितीय विभाग है। समयश्राव्युत आग्नेय पुरोडाशानुगत प्रधान दक्षता ही इस विभाग से गृहीत है, यही वृत्तरा प्रधानयाग है। (३) 'स्वाहा दूर्वा आभ्यपान्' यह तीसरा विभाग है। आभ्यपा स्वाहा-उत्तम प्रयाज (हेमन्त) देवता के लिए ही यह वृत्ताय विभाग नियत है। (४) 'स्वाहामि होत्रा जुषाणा' यह चौथा विभाग है। स्थिरकृष्णि का ही इससे यजन होता है। (५) अन्न आजस्य व्यन्तु पोषद्' यह पाँचवाँ विभाग है। पूर्व अस्तु सामान्य सम्बत्सराग्नि का ही इससे यजन होता है। आभ्यमागयागानुगत विशेष अग्नि आदि में विहित है, प्रधानभागयागानुगत विशेष अग्नि (उभयश्राव्युत अग्नि) मध्य में विहित है स्थिरकृष्णागानुगत विशाप अग्नि अन्त में विहित है। इस प्रकार स्वाहात्मक पञ्चम प्रयाजयाग के आदि-मध्य-अवसान में क्रमशः आभ्यमागयाग, प्रधान-याग, स्थिरकृष्णाग, ये तीन विशेषाग्नियाग पूष के चार प्रयाजापक्षया विशेषरूपेण विहित हैं। इनकी वसी पूर्वोपात्त वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा उपपत्ति वतलाता हुई सुवि कही है) —

( अपने प्राकृतिक इष्टिकर्म में होने वाले पञ्च प्रयाजयाग के) चौथे (शरद्वृत्तुल्लग्य यष्टि-मानिक) प्रयाज से देवदेवताओं ने निम्न से यज्ञ (यज्ञातिरायरुपा यज्ञसम्पत्) प्राप्त कर लिया— (एवं चौथे प्रयाज से प्राप्त) उस (यज्ञ) को पाँचवें (हेमन्त वृत्तुल्लग्य स्वाहात्मक) प्रयाज से प्रतिष्ठित-पूर्ण-कर लिया। (इस प्रयाजकर्म के) अनन्तर होने वाला आभ्यमागाविरूप जो यज्ञ का शेष (इष्टिकर्म्यता) बच रहा, उस (के अनुष्ठान) से देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त हो गये ॥१०॥

प्रयाजकर्मविरुद्ध आभ्यमागादि लक्षण शेष यज्ञानुष्ठान के वल से स्वर्गलोक (की ओर) जाते हुए देवदेवतालोक (अन्तरिक्ष में अमृत-उभयश्राव्युत परिच्छिन्न रूप से विचरने वाले आप्य-प्रासात्मक, यज्ञविरोधी) असुर राक्षसों के निरोध (संक्षय) से डर गए (उन्हें मय हुआ कि, ये कुछ कहीं हमारे स्वर्गगमन में बाधा न लड़ी कर दें। इस मय से श्राप पाने के लिए) उन देव-देवताओं ने असुर राक्षसों को मारने वाले, एवं मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक आभ्यमागातिराय के) पूर्व में (पहिले) प्रतिष्ठित किया, वसी को मध्य में, वसीको अन्त में प्रतिष्ठित कर दिया। (अर्थात् अन्तरिक्ष असुराक्रमण से अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिराय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए उन्होंने यज्ञातिराय के आदि-मध्य-अवसान, तीनों स्थानों में आप्यप्राप्त्योपलब्ध आग्नेययाग प्रतिष्ठित कर दिया) ॥११॥

(देवदेवताओं के द्वारा त्रि स्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रयाज से इन का स्वर्गगमन निर्विघ्न पूर्ण होगया। यों कि) यदि इन देवदेवताओं का उन असुर राक्षसों ने पूर्व की ओर से निरोध करना चाहा किन्तु बाधना चाहा तो वप्रत्य अग्नि ने वप्रत्य असुरों को मार भगाया। यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा, तो वप्रत्य अग्निने वप्रत्य असुरों को मार भगाया। यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा, तो वप्रत्य अग्नि ने वप्रत्य असुरों को मार भगाया। (इस प्रकार तीन स्थानों में रक्षक रूप से नियुक्त तीनों) अग्नियों से सर्वार्थमय सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं ने निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥१२॥

है, यजन प्रथम है। उसी प्राकृतिक यज्ञपिछा पर प्रस्तुत वेध मालुप यज्ञ का विधान हुआ है। अतः यहाँ भी उसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है। अतएव (प्राकृतिक नियमानुरोधेनैव) आरम्भक क्षोण (अपने इस इष्टिकर्म में भी इन प्रयाजों का उत्तमरूप से ही आवाहन करते हैं, एवं प्रथमरूप से यजन करते हैं ॥६॥

ॐ

ॐ

ॐ

ॐ

ॐ

(प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक विषय और विजिज्ञास्य रह जाता है। समित्, तनूनपात्, इद्, पर्हि स्वाहा, ये पाँच व्याहृतियों नाम-क्रमशः यस्तन्त मीप्स, यर्षा, शरत्, हेमन्त, इन पाँच ऋतुओं से सम्बन्ध रखती हैं। सम्बत्सरयज्ञ की पञ्चमा यस्तन्तापि पाँचों ऋतुओं का सम्बत्सरान्ति से सम्बन्ध है, जैसाकि ब्राह्मणारम्भ की न कथितकाष्ठों से स्पष्ट कर दिया गया है। इसी आधार पर यह मान लेना अतिप्रविपन्न बन जाता है कि, ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है। परन्तु-स्वाहालक्ष्य पञ्चम प्रयाजयाग के सम्बन्ध में दफ नवीन विप्रतिपत्ति उपास्थित होती है। आरम्भ के चार प्रयाजों में जहाँ ऋतुलक्ष्य प्रयाजों के साथ 'समित्वा अग्न आन्यस्य व्यन्तु'- 'तनूनपात्तन्त आजस्य वेतु'- 'इदो अग्न आन्यस्य व्यन्तु'- 'पर्हिरग्न आजस्य वेतु'- इस रूप से कथक अग्नि का सम्बन्ध बिहित है, वैसे पाँचवें हेमन्तऋतुलक्ष्य स्वाहायामा में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध बिहित नहीं है। अपितु पूर्वप्रयाजऋतुष्वपी की भाँति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त-इस प्रयाजयाग में-आम्बभागा, प्रधान, स्विकृन्, इन तीन अग्निभागों का सम्बन्ध और किया जाता है। दूसरे शब्दों में आम्बभागा माहृक अग्नि, प्रधानभागा माहृक अग्नि, स्विकृन्भागमाहृक अग्नि, इन तीन अग्नियों का आवि-मध्य अवसान में यजन और किया जाता है। यदि सामान्य सम्बत्सर-ग्नित्व इति विशेषाग्नित्रयी का भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है, तब तो ऋतुलक्ष्य पाँचों ही प्रयाजों में-यत्येक में-इन तीनों विशेषाग्नित्रयों का अनुष्ठान होना चाहिये। यदि ऋतुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है, तो किसी भी प्रयाजकर्म में इनका यजन नहीं होना चाहिये। तिर्यक् यह है कि, आरम्भ के चार प्रयाजों में तो केवल सामान्य अग्नि का ही यजन किया जाता है। किन्तु पञ्चम प्रयाज में सामान्य अग्नियजन के अतिरिक्त विशेषाग्नित्रयों का यजन और किया जाता है, जबकि ऋतुसामान्यत्वेन पञ्चम प्रयाज में इनका यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है। स्वाहालक्ष्य हेमन्त प्रयाजयाग से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में प्रयाज, तथा सामान्य अग्नि, दोनों के यजन के अतिरिक्त तीन विशेषाग्नित्रयों के यजन का भी समावेश हुआ है। मन्त्रभाग निम्न लिखित है—

“स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, स्वाहाग्निं, स्वाहा देवीं आन्यपान्,  
स्वाहाग्निं होत्रा जुषावा”, अग्न आन्यस्य व्यन्तु बीषट्”

—शत० १।१।४।२२, २३।

एतल्लक्ष्यामन्त्र के पाँच विभाग स्पष्ट हैं। (१) ‘स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमम्’—यह एक विभाग है। इससे आग्नेय आम्बभागा, तथासौम्य आम्बभागा, इन दो आम्बभागों का सम्बन्ध है। सोम

तत्रत्य अग्नि तत्रस्थों को मार भगाते हैं। यदि परिचमभाग से आक्रमण करते हैं, तो तत्रत्य अग्नि तत्रस्थों को मार भगाते हैं। इस प्रकार वह (यज्ञातिरायरूप-स्वर्गसाधक) वैवात्मा तीनों अग्नियों से सुरक्षित-निरापद-धनता हुआ स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है (प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है) ॥१५॥

## इति—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

### ७-अभिचार (कृत्याप्रयोग)

(प्रयाज कर्म के द्वारा यज्ञातिराय उत्पन्न भी आज ही हो जायगा, वह सप्तदश स्वर्गस्थान में भी आज ही प्रविष्टित हो जायगा। परन्तु यज्ञकर्ता यजमान का यह मानुषात्मा-भूतत्मा, जो स्वर्गस्थ यज्ञातिरायरूप वैवात्माकर्षण से आकर्षित है, अपने ऐहलौकिक प्रारम्भकर्मज्ञानान्तर (जिस प्रारम्भ कर्म से इसे वर्तमान शरीर मिला है) ही (मृत्यु के अनन्तर ही) वैवात्माकर्षण के द्वारा स्वर्गफल का भोग्य बनेगा, स्वर्ग पहुँचेगा। इसीलिए तो स्वर्गफल आमुष्मिक (पारलौकिक) माना गया है, अतएव तो यह 'अदृष्टफल' (परोक्षफल) कहा गया है। त्रिप्रधानात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले प्रविष्टित 'सुगूढाद्य' के आभाव-प्रत्याभाव कर्म-विज्ञान में वह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मानवीय मन परोक्षफलापेक्षया ऐहिक प्रत्यक्ष फलों की ओर विरोधरूप से आकर्षित रहता है—(वेदिए-प्र० स० १२४ वृद्धिविज्ञान प्रकरण)। अतएव ही प्रकृत अग्निप्रय-यजन का भी परोक्ष-स्वर्गफलातिरिक्त कोई प्रत्यक्ष भी फल होना चाहिए। उस प्रत्यक्ष फल को तात्कालिक, कलानन्तरभावी भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। भोजन किया, और वृष्टि हा गई, यह ऐहलौकिक तात्कालिक फल माना जायगा। भोजन किया, मुक्त द्रव्य कर्मरा रस असृक-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-शोण-मनोरूप में परिवर्तित हुआ। यही ऐहलौकिक कलानन्तरभावी फल माना जायगा। ब्राह्मण की प्रकृत १६, १७, १८ इन तीन कश्चिकाओं में तो तात्कालिक फल का विरलेषण हुआ है, जिसे कृत्यासम्पन्न से अभिचारात्मक फल मानते हुए तात्कालिक कलानन्तर भावी फल से इमन ग्रहण कर दिया है, यही 'अभिचार' नामक ७ वीं प्रकरण है। एवं १६ वीं कश्चिका में कलानन्तरभावी, अतएव स्थिर धर्मात्मक ऐहलौकिक फल का विरलेषण हुआ है। अतएव तत्कालिकतात्मक प्रकरण 'फलभूति' नामक ८ वीं प्रकरण मान लिया है। इन दोनों ऐहलौकिक फलों में स सुषीकटाह्वन्यमेन पहिले अभिचारात्मक-तात्कालिक-प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)।—

(जिस समय आम्भभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन हो रहा हो, और उस समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्वाभाव प्रकट करे, अथवा तो कुछ निन्द्य वचन बोल पड़े, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु के द्वारा पहिले से कह गये निन्दावचनों

( प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से शुद्धी की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजातिराय पर आन्तरिक असुरों का आक्रमण होता रहता है । परन्तु त्रिः स्थान स्थित अग्निब्रह्मण के सम्बन्ध से उन का यह आक्रमण व्यर्थ सिद्ध होजाता है । इसी प्राकृतिक यज्ञविधा के आधार पर भौमदेवताओं ने अपने वैभवा के पञ्चप्रयाजक्रम में—पौष्य प्रयाज में—उसी प्राकृतिक आग्निब्रह्मण सम्पत्—की प्राप्ति के लिए तीन विरोधाग्निकर्मों का समावेश किया था, तद्वारा अपने वैवात्म्य रूप से वे निरापद स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे । उसी भौमवैवात्म्यता यज्ञविधा के आधारपर इस यज्ञमान का यह वैध इष्टिकर्म विहित हुआ है । इसे भी अपने वैवात्म्यरूपद्वारा स्वर्ग में जाता है । जाते समय आन्तरिक असुरराक्षसों का आक्रमण जहाँ अनिवार्य है, वहीं इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है । उसी आक्रमण—निरोध के लिए, निरापद स्वर्गावाप्ति के लिए भौमवैवा-  
त्म्य यज्ञवत् अपने इस यज्ञ में भी पौष्य प्रयाज कर्म के—आदि—मध्य—अवसान में विरोधाग्निकर्मों का यजन करता है । इस यजन से रक्षक—अग्निब्रह्मण का अनुग्रह प्राप्त होजाता है । पञ्चस्वरूप यह भी वैधवत् निरापदरूप से स्वर्गफलभोग बन जाता है । पौष्य प्रयाज के आदि—मध्य—अवसान—में अग्निब्रह्मण का यजन क्यों किया जाता है ? विप्रतिपत्ति का यही समाधान है, जिस का भुक्ति के अक्षरों में यों विरलेपण हुआ है )—

( जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्निब्रह्मण का सहयोग होरहा है तदनु जिसप्रकार भौम मनुष्य वैश्वताओं ने अपने चतुर्थ प्रयाज समाप्त्यनन्तर पौष्य प्रयाज के आदि—मध्य—अवसान में अग्निब्रह्मण का यजन किया था तद्वारा निरापद रूप से स्वर्ग प्राप्त किया था ) ठीक इसी प्रकार ( तयोऽप्य ) यह यज्ञमान भी अपने इस चौथे प्रयाज से ( जो स्वर्गसाधक ) यज्ञ प्राप्त करता है, उसे पौष्य प्रयाज से प्रतिष्ठित करता है, इस के अनन्तर जो आग्निब्रह्मणरूप यज्ञ का रोप वच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१५॥

सो जो कि ( पञ्चम प्रयाज के आदि में—'स्वाह्मि'—रूप से यज्ञमान के प्रतिनिधिरूप ) अथर्व्यु आग्नेय—आत्मभगा का यजन करता है ( इस से अपने स्वर्ग जाते हुए यज्ञातिराय के ) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाले मार भगाने वाले अग्नि को ही ( नियुक्त ) करता है । ( अग्नेय—आत्मभगा के ) अनन्तर ( इसी पञ्चम प्रयाज कर्म के मध्य में ) जो ( उभयत्राभ्युक्त प्रधान अग्नि के लिए ) जो आग्नेय पुरोबरा ( का भागहर ) बन जाता है ( इस का स्वाह्मिन्म रूप से यजन करता है ) । इस कर्म से ( इस यज्ञातिराय के ) मध्यभाग की ओर से ही अग्नि को निम्न करता है । ( मध्यम अग्नि यजन के ) अनन्तर जो कि अथर्व्यु ( प्रयाजावत् से—'स्वाह्मि' होत्रा उपपन्न ) इत्यादि रूप से ( स्थित—अग्नि का यजन ( स्वपुत्राया ) करता है इस कर्म से ( इस यज्ञातिराय के ) पश्चिम भाग की ओर से ही अग्नि को नियुक्त करता है, ( जो कि ) अग्नि 'रक्षोहृत्' — ( राक्षसों को निर्जीव बनाने वाला मारने वाला ) एवं 'रक्षसामपहृत्' ( राक्षसों को मार भगाने वाला, पञ्चमकण्ठसीमा से बहिष्कृत करने वाला ) है ॥१६॥

( प्रयाजकर्म से स्वर्गलोक की ओर जाते हुए ) इस यज्ञमान के ( स्वर्गसाधक ) यज्ञातिराय के पूर्वभाग से यदि अक्षुर राक्षसों को मार भगाने है । यदि मध्य भाग से आक्रमण करते हैं,



(अभिचार कर्म—कोई उत्तम कर्म नहीं है। लोकसंग्रहत्मक, सध-अभ्युपकारक, अतएव भेदतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म में अपने व्यक्तित्व द्वेष के बदले की भावना रखना भी यज्ञ-स्वरूप में तमोगुण का आधान करना है। अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि यज्ञकर्त्ता भी ऐसे अभिचार का अनुगमन न करे। रही वास्त-इष्टफल की। इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्याप्त होगा कि, यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है अपितु प्रकृति की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही शेष से वृष्टिग्रस्त हो जाता है, तथैव यज्ञमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वतः एव प्रकृतिद्वारा ही वृष्टिग्रस्त हो जाते हैं। समर्पणार्थक अयस्य हो सकता है। परन्तु वयः अयस्य मिल जाता है। वयःव्यवस्था की अनिवार्यता तो ऐसी है कि, जो यज्ञमान नहीं है, अपितु केवल इस रहस्य को जानता मर है, यदि उस केवल एवमित् के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है, तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। एवमित् भी उस फल को प्राप्त कर लेता है। फिर यज्ञमान का तो कोई आशङ्क रहनी ही नहीं चाहिए। फलतः उसे यह भार प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए। यज्ञनिन्दकों के—‘तस्माद् न जानुव्याहारीष स्यात्’ इस सामयिक आदेश-चतावनी-के साथ साथ यज्ञकर्त्ताओं के प्रति भी उन्हें सात्त्विक-भाषास्त्र बने रहने के लिए, अभिचारकर्मप्रवृत्ति से बचत रहने के लिए सचेत करता हुई मृति कहती है कि) —(यज्ञकर्त्ता ही क्या) इस रहस्य को जानने वाला भी पर (वृक्ष, शत्रुपराभवकर्त्ता) बन जाता है (अतः जबकि केवल जानने वाले के शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं, तो यज्ञमान के साथ कीन शत्रुता कर मज्जा है। यदि कोई करेगा भी, तो प्रकृति स्वयं उसे वयः दे देगी) — एव एवमित् परो भवति।

अथवा एक वाक्य का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि, जिस प्रकार यज्ञकर्त्ता के शत्रु यज्ञकर्त्ता के अभिचार प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं, एवमेव इस अग्निरहस्यत्मक प्रयागकर्म को जानने वाले विद्वानों के भी शत्रु नष्ट हो जाते हैं। दोनों में पूर्वाप ही समीचीन प्रतीत होता है ॥१८॥

## इति—अभिचार



## ८—फलभूति

(बतलाया गया है कि, सात्त्विक इष्ट फल के अतिरिक्त अज्ञानान्तरभायी इष्ट फल भी यज्ञ में सम्भव है। दोनों ऐहिक फलों के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि सात्त्विक फल जहाँ यज्ञमानप्रयत्न-सापेक्ष है, वहाँ अज्ञानान्तरभायी फल आनुष्मिक स्वयंकर्म की भौति स्वतः एव प्राप्त हो जाता है। अतएव इस फल का सात्त्विक फलपेक्षया धिरोप नष्टत्व माना जायगा। अतएवच ऐसा ही फल ‘फलभूति’ रूप से संग्राह्य माना जा सकेगा। इसी स्थानाधिक प्राकृतिक स्वतः प्राप्त इष्ट फल का विश्लेषण करती हुई मृति कहती है) —

का प्रतिरोध लेना हो, तो उसे चाहिए कि वह उस शत्रु को लक्ष्य बना कर उसके नामग्रहण पूर्वक—‘मुख्यमार्चिमारिष्यसि,—अथो वा बहिरो वा भयिष्यसि’—हे शत्रु तू मुख्य पाड़ा प्राप्त करेगा, या तो अन्धा हो जायगा या बहिरा हो जायगा, यह धमन बाधवे। इसी प्रकार दूसर तीसरे अग्नियजन में भी यह अभिचारपाठ्य द्वारा अपने शत्रु का भविष्य कर सकता है। इन्हीं तीनों अभिचारां का अपने शत्रुओं में विग्वान करनी हुई भुक्ति कहता है।

(इस प्रयाजकर्म में) यदि इस (यजमान) के प्रातः वह (यजमानशत्रु, अथवा और कोई ईर्ष्यालु-निन्वक) यज्ञारम्भ में (आय्यमागानुगत्य प्रथमाग्निपात्र काल में) निम्नायचन का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निन्वक) के प्रति (यह) बोले कि, तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्धा हो जायगा, अथवा तो बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों में) यही (दानों) मुख्य पीड़ा है। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) ऐसा ही अवरय हो जायगा, शत्रु अन्या हो जायगा अथवा बहिः हो जायगा, यही प्रथम अभिचारारम्भक वात्सलिक फल है) ॥१६॥

यदि इसके प्रति वह यजमान में (यमयत्राच्युत द्वितीयाग्निपात्रकाल में) अनुचित करे, तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि, तू प्रजाशून्य, पशुशून्य हो जायगा। प्रजाएँ, और पशु निरचयरूप से मर्य (रूप) हैं। (यजमान के उक्त कथन से) ऐसा ही निरचयेन हो जायगा (निन्वक की प्रजा, पशुसम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यही द्वितीय अभिचारारम्भक वात्सलिक फल है) ॥१७॥

यदि इसके प्रति वह यजमान में (स्विष्टकृत् अग्निरूप तृतीयाग्निपात्र काल में) अनुचित करे, तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि, तू प्रविष्टा रहित एवं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)। (यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्वक) ऐसा ही अवरय हो जायगा (अपमरापूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जायगा)। यही तृतीय अभिचारारम्भक वात्सलिक फल माना जायगा। इस प्रकार आय्यमागानुगत्य, प्रथमाग्निपात्र, स्विष्ट-कृत्पात्र तीनों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्निपत्रों के ध्वजन से शत्रुविनाशक दृष्ट-अस्वच्छ-वात्सलिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जा सकता है। भुक्ति ने वात्सलिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह वह नहीं चाहती कि, यज्ञरहस्य को न जानकर ऐसी भूलें करने वाले धर्म जन भी जो अपना नारा करारें। उनके अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए धनका सावधान करती हुई भुक्ति कहती है कि, उन यज्ञरहस्यनमिषों को यह खान लेना चाहिए कि, यह कोई सामान्य लौकिक कर्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिध उस प्राग्वाग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता है, जिसके प्रति साथ ही इस यज्ञाग्निमुक्त यजमान के प्रति आत-अवमान में बोझी भी बपेका, निन्दा, उपहास करने से सवनारा निरिषय है। अतएव उन निन्वकों को चाहिए कि, वे मूख कर भी (इस परिचास में भी बड़, तथा बलानुष्ठानकर्ता) यजमान के प्रति अनुग्रहकारी (अनुचित बोझने वाले) न बनें—‘नानुग्रहकारी एवम्’।

( प्रयाजकर्म में सगृहीत ) आभ्याहुति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—( तथाहु ) कि—ये ( प्रयाजार्थं ब्रूह-उपसृत् में गृहीत ) आभ्य किंवेत्य है ? ( इनका कौनसा देवता है ? )—( प्रश्न हुआ ही क्या, जबकि ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं, वह-प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित होता है। इस प्रतिप्रश्न का उत्तर यही होता है, जो भूति को अमाष्ट है। यह ठीक है कि आभ्याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही। अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आभ्य के देवता ऋतुदेवता हैं। परन्तु यह समझना केवल समझना ही है। आभ्यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। नमोऽस्तेन सम्मथ भी कैसे हो, जबकि प्रयाजकर्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्बत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सम्बत्सरस्मिन् स्वर्गसम्पत् है। यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है, तो सम्बन्धायुक्त सम्बत्सर का ग्रहण नहीं होता। यदि सम्बत्सर का नाम ले दिया जाता है, तो ऋतुओं का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता। अपोस्तत यह है कि—आभ्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय, साथ ही इसी कर्म से ऋतुसमष्टिरूपा सम्बत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय। इसका उपाय है—आभ्य का ग्रहण हो-उपारारूप से, बिना किसी देवता का नाम लिए, एवं आभ्याहुति हो ऋतुनामपूर्वक। उपाह्वयग्रहण से आभ्यद्वारा प्राजापत्यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि, सम्बत्सरमयबलकेन्द्र में प्राकृतित प्रजापति अनिरुक्त है। अनिरुक्तभाव ही उपाह्वयभाव है। इस उपाह्वयभावद्वारा तत्समस्तुजित अनिरुक्त प्राजापत्यसम्पत् प्राप्त हो जाती है यजनकम्मानुगत याग्यमन्त्रों में—‘समिद्धो अग्न आभ्यस्य न्यमुः’ इत्यादि रूप से ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यमूल ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है। इसीलिए आभ्यग्रहण उपाह्वय रूप से छे, एवं आभ्याहुति नामग्रहणपूर्वक ही विहित हुई है। बिना नाम ग्रहण के उपचाप सुहृपसृत् में आभ्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समर्थक बन रहा है कि, आभ्य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आभ्यग्रहण हुआ है ?—साध ही यही नामग्रहणमाधारक तृप्तीभाव-अनिरुक्तभाव-इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि, यह आभ्य प्रजापतिदेवताक है। इसी स्थिति का संकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई भूति कह रही है—(ये आभ्य) प्राजापत्य हैं, यही कहना चाहिए। अर्थात् आभ्य किंवेत्य है ? प्रश्न का ‘प्राजापत्य है’, यही उत्तर हो सकता है। क्योंकि प्रजापति निश्चयेन अनिरुक्त है। उधर आभ्य भी (वचनवादिश्याभ्यस्यैव रूपेण गृह्याति रूप से) अनिरुक्त ही है—“अनिरुक्ते हि प्रजापतिः, अनिरुक्तस्याभ्यानि”।

( आभ्य प्राजापत्य है, एतावता ही ये-इनकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ? , यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसी का समाधान करती हुई भूति कहती है )—( अपने अनिरुक्तभाव से प्राजापत्य बने हुए ) वे ये आभ्य यजमानवेत्य ही हैं। ( अर्थात् यजकर्ता यजमान भी ‘प्रजापति’ सम्मथ से इन आभ्यों का देवता बन जाता है। क्योंकि, जैसे सम्बत्सरपञ्चमयबल का अधिष्ठता नम्यभाव ( ह्यतएव-सम्बत्सरमयबलापेक्षया प्रजापति है। एवमेव ) यह यजमान

•—‘अथ न्यन्यन्यानि यजन्ते-ऋतुम्यभ्यैव तानि, छन्दोग्यभ्य यजन्ते, छन्दनादिश्याभ्यस्यैव रूपेण यजति’ ( रात २ प्र० । ५ ब्रा० । ७ कथिबका ) ।

( वसन्त-प्रोद्गमार्तु-समाह्वय समित्-तनुनपात-आदि पाँच ) प्रयाजयागों से ( ऋतुसम्बन्ध में प्रविष्ट असुरों को ) जीवता हुआ यजमान ( परम्परया ऋतुसम्बन्ध से ) निम्नयेन ( ऋतुसमष्टि-रूप ) सम्बत्सर को ही जीवता ( अधिकार प्रविष्टित करता ) है । ( यह भी निश्चित है कि ) वही ( विजेता ) इस सम्बत्सर का जय करता है ( जीवता है ), जो सम्बत्सर ( रूप दुर्ग ) के द्वारों का जानता है । ( अर्थात् द्वार परिज्ञान पूर्वक ही दुर्गपर्वरा द्वारा जयलाम सम्भव है ) । वह (जयेच्छु) उन पर्वों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा, ( जिसके अन्तर्द्वारों को वह उस रूप से महीमोति न जान लेगा, जैसे कि वे इसके उपयोग में आते हैं । ( ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारभूत प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के वास्तविकरूप को जो नहीं जानता, वे प्रयाज जिस प्रकार के व इस यजमान के उपकारक होते हैं, उनके वास्तविक प्रकारों का, प्रधान-द्वारभूत प्रयाजों को नहीं जानता, वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-सुख नहीं । ( अतएव सम्बत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है ) । ( सम्बत्सर दुर्ग का ) वसन्त ही ( प्रवेश द्वार है, हेमन्त ही ( निर्गमन ) द्वार है । ( दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने वाला ) यजमान इस द्वारयुक्त सम्बत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है । सम्बत्सर सर्वरूप है । सर्वभाव ही अक्षय्यमान है । प्रयाज-यजन कर्ता का सुकृत ( कर्म ) अक्षय्य होता है, लोक भी अक्षय्य होता है । ( तत्परम्य कहने का वही है कि, सम्बत्सर सम्पत्तिसंप्राप्तक प्रयाजकर्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है, वह लोकप्रतिष्ठा से युक्त हो जाता है, और यही प्रयाजकर्म का कालान्तरमायी प्राकृतिक स्थायी फल है ) ॥ १६ ॥

## इति-फलभूति



## ६-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

( प्रयाजकर्म को यज्ञपूज्यताप्रवर्त्तक, एवं तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्राप्तक वतलाया गया है । प्रश्न स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म में ऐसी क्या विशेषता है, जिससे ऋत्विक्स्थानीय भी प्रयाज जैसा अज्ञकर्म पुरुषार्थकर्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है ? । प्रयाजकर्म में जो आत्म्यश्रुति विहित है अत्यन्त में उस आत्म्य में भी हम ऐसा कोई अतिरिक्त उपलब्ध नहीं कर रहे, जो स्वर्गप्राप्तक बन जाय । इसी प्रश्न का यों भी उत्तराल किया जा सकता है कि, सर्वत्र सभी कर्मों में आहुतिश्रुत्य ही स्व स्व वेदप्रमाणानुसार तत्तत् विशेष-व्याप्तिरायों का जनक बनता है । जिस वेदप्रमाण से आहुतिश्रुत्य युक्त रहता है, आहुतनीवाग्नि में हुत तद्देवप्रमाणमयी आहुति तद्देवप्रमाणानुसार यज्ञ में प्रविष्टित करने का कारण बनती है । क्या प्रयाजकर्म के लिए नियत आत्म्यश्रुति का कोई वह विशिष्ट देवता है, जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है ? । प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जायगा । वास्तव में केवल आत्म्यवेदता ही प्रयाज जैसे अज्ञ कर्म को भी स्वर्गप्राप्तक बनाने में समर्थ हो रहा है । उस आत्म्यवेदता का स्वरूप क्या है ? जिसके द्वारा-प्रयाजकर्म स्वर्गप्राप्तक बन रहा है ? वही प्रश्न की उत्तर उत्तरानिश्चय है जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है ) ।

( प्रयाजकर्म में संगृहीत ) आभ्याहुति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—( वषाद्युः ) कि—ये ( प्रयाजार्थे नृह-उपसृत में गृहीत ) आभ्य किंवेद्यते ? ( इनप्रश्न कोनसा देवता है ? )—( प्रश्न हुआ ही क्यों, जबकि अतुवेद्यता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं, यह-प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित होता है । इस प्रतिप्रश्न का उत्तर यही होता है, जो भुति को आभाष्ट है । यह ठीक है कि आभ्याहुति होती है अतुवेद्यताओं के लिए ही । अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आभ्य के देवता अतुवेद्यता हैं । परन्तु यह समझना केवल समझना ही है । आभ्यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो, जबकि प्रयाजकर्म का उद्देश्य अतुद्वारा सम्बत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सम्बत्सरारम्भिका स्वर्गसम्पत्ति है । यदि अतुओं का नाम लिख जाता है, तो सम्बन्धसम्बन्ध सम्बत्सर का ग्रहण नहीं होता । यदि सम्बत्सर का नाम ले दिया जाता है, तो अतुओं का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता । अपेक्षित यह है कि—आभ्यद्वारा अतुओं का भी यजन हो जाय, साथ ही इसी कर्म से अतुसमष्टिरूपा सम्बत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय । इसका उपाय है—आभ्य का ग्रहण हो-व्यापारूप से, बिना किसी देवता का नाम लिए, एवं आभ्य-हुति हो अतुनामपूर्वक । वषाद्युग्रहण से आभ्यद्वारा प्राजापत्यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि, सम्बत्सरमण्डलकेन्द्र में प्रातिष्ठित प्रजापति अनिरुक्त है । अनिरुक्तभाव ही वषाद्युभाव है । इस वषाद्युभावद्वारा वनसमस्तुक्ति अनिरुक्त प्राजापत्यसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है यजनकर्मालुगत धाम्नामन्त्रों में—‘समिद्धो अग्न आभ्यस्य धाम्नु०’ इत्यादि रूप से अतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यमूल अतुओं का यजन सफल हो जाता है । इसीलिए आभ्यग्रहण वषाद्यु रूप से कि, एवं आभ्याहुति नामग्रहणपूर्विका ही विहित हुई है । बिना नाम ग्रहण के उपचाप अतुपसृत में आभ्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समर्थक बन रहा है कि, आभ्य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आभ्यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणमावात्मक तृप्तीभाव-अनिरुक्तभाव-इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि, यह आभ्य प्रजापतिदेवताक है । इसी स्थिति का संकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई भुति कह रही है—( ये आभ्य ) प्राजापत्य हैं, यही कहना चाहिए । अर्थात् आभ्य किंवेद्यते हैं ? प्रश्न का ‘प्राजापत्य हैं’, यही उत्तर हो सकता है । क्योंकि प्रजापति निरूपयेन अनिरुक्त है । वषर आभ्य भी ( वषरनादिरायाम्नास्यैव रूपेण गृह्णाति रूप से ) अनिरुक्त ही हैं—‘अनिरुक्तो हि प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याभ्यानि’ ।

( आभ्य प्राजापत्य है, एतावता ही ये-इनकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसी का समाधान करती हुई भुति कहती है )—( अपने अनिरुक्तभाव से प्राजापत्य बने हुए ) ये ये आभ्य यजमाननेवस्य ही हैं । ( अर्थात् यजमान भी ‘प्राजापति’ सम्बन्ध से इन आभ्यों का देवता बन जाता है । क्योंकि, जैसे सम्बत्सरमण्डल का अधिपता नम्यभाव ( इत्यतएव-सम्बत्सरमण्डलाधिपत्या प्रजापति है । एवमेव ) यह यजमान

—‘अथ यान्याभ्यानि यक्षन्ते-अतुग्रम्ययेव तानि, कुम्होम्यश्च यक्षन्ते, वषरनादिरायाम्नास्यैव रूपेण गृह्णाति’ ( रात० २ प्र० । ५ वा० । ७ कण्डिका ) ।

( वसन्त-ग्रीष्मर्तु-सम्राह्ण समित्-सन्तनपाल-आदि पाँच ) प्रयाजयज्ञों से ( ऋतुसम्बन्ध में प्रविष्ट असुरों को ) जीवता हुआ यजमान ( परम्परया ऋतुसम्बन्ध से ) निरक्षयेन ( ऋतुसमन्वित-रूप ) सम्बत्सर को ही जीवता ( अधिकार प्रतिष्ठित करता ) है । ( यह भी निरक्षय है कि ) वही ( विजेता ) इस सम्बत्सर का जय करता है ( जीवता है ), जो सम्बत्सर ( रूप दुर्ग ) के द्वारों को जानता है । ( अर्थात् द्वार परिज्ञान पूर्वक ही दुर्गपवेश द्वारा अयत्नाय सम्भव है ) । वह (जयेच्छु) इन घरों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा, ( जिसके अन्तर्द्वारों को वह उस रूप से महीमोक्षित न जान लेगा, जैसे कि वे इसके उपयोग में आते हैं । ( ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारमूल प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के सात्त्विकरूप को ओ नहीं जानता, वे प्रयाज जिस प्रकार के वे इस ब्रह्म मान के उपभारक होते हैं, उनके सात्त्विक प्रकारों का, प्रधान-द्वारमूल प्रयाजों को नहीं जानता, वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-कुछ नहीं । ( अवश्य सम्बत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है ) । ( सम्बत्सर दुर्ग का ) वसन्त ही ( प्रवेश द्वार है, हेमन्त ही ( निर्गमन ) द्वार है । ( दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने जाता ) यजमान इस द्वारयुक्त सम्बत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है । सम्बत्सर सर्वरूप है । सर्वभाव ही । अक्षय्यभाव है । प्रयाज-यजन कर्त्ता का सुकृत ( कर्म ) अक्षय्य होता है, लोक भी अक्षय्य होता है । ( उपरप्य कहने का अर्थ है कि, सम्बत्सर सम्पत्तिप्रदाहक प्रयाजकर्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है, वह लोकप्रविष्ट से मुक्त हो जाता है, और यही प्रयाजकर्म का अक्षान्तरभाषी प्राकृतिक स्थायी कृत है ) ॥ १६ ॥

इति-कृतभुवि

— ८ —

## ६-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

( प्रयाजकर्म को यज्ञपूयताप्रवर्त्तक, एवं तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्राप्तक वृत्तव्य गन्ध है । प्रश्न स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म में ऐसी क्या विशेषता है, जिससे अस्वर्गस्वाप्त्य भी प्रयाज जैसा यज्ञकर्म पुरुषार्थकर्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है ? । प्रयाजकर्म में जो आत्म्यभुवि विहित है प्रत्यक्ष में उस आत्म्य में भी हम ऐसा कोई अतिराय व्यक्तव्य नहीं कर रहे, जो स्वर्गप्राप्तक बन जाय । इसी प्रश्न का यों भी उत्तरान किया जा सकता है कि, सर्वत्र सभी कर्मों में आहुतिव्रत्य ही स्व स्व वेदप्राप्तानुसार तत्तत् विशेष-यज्ञाधिरार्यों का जनक बनता है । जिस वेदप्राप्त से आहुतिव्रत्य मुक्त रहता है, आहुतनीयानि में इस तद्वेदप्राप्त्यमयी व्यष्टि तद्वेदप्राप्त्याधिराय यज्ञ में प्रतिष्ठित करने का कारण बनती है । क्या प्रयाजकर्म के लिए नियत आत्म्यभुवि का कोई यह विरहित वेदता है, जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है ? । प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जायगा । वास्तव में केवल आत्म्यवेदता ही प्रयाज जैसे यज्ञ कर्म को भी स्वर्गप्राप्त बनाने में समर्थ हो रहा है । उस आत्म्यवेदता का स्वरूप क्या है ? जिसके द्वार-प्रयाजकर्म स्वर्गप्राप्तक बन रहा है ? यही प्रश्न की अन्य उत्थानिष्ठ है जिसका निम्नलिखित रूप से विस्तरेण हुआ है ) ।

गवार्य बन रहा है। इसके अतिरिक्त यदि एवमित् यजमान से स्थाभाविक मानुषमात्र के द्वारा कोई असत्कर्म भी हो जाता है, तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आत्मरूप से उसकी यज्ञसीमानुगति अनुगण है। इसी भाव का-प्रासङ्गिक फल का-अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है) —

यदि उस यजमान के दूर चले जाने पर श्रुत्विक् यजन करता है, अथवा समीप रहने पर यजन करता है, करे, कोई अन्तर नहीं होता कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर ( सान्निभ्य से-श्रुत्विक् के द्वारा यजमान के लिए यज्ञ कर्म ) इष्ट-इष्टजनक-सफल-बनता है, एवमेव एवमित्-( आत्मरूपस्यैवित् ) उस यजमान के विपूर रहने पर भी श्रुत्विक्-द्वारा कृत यह यज्ञ इष्ट ही बन जाता है। साथ ही मले ही वह ( स्थाभाविक मानुषवोपवरा ) अनेक पुष्टियाँ करता है ( करे ), परन्तु निरयचयेन ( पुष्टि करता हुआ भी ) यह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं जाता, जो कि आत्म के इस प्राजापत्यानुगम स्वस्वरूप को जानता है ॥२१॥

इति-परिशिष्टप्रनोत्तरविमशः

— ६ —

छठ अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक पे छठ ब्राह्मण

( १।६।१। ) — ( १।६।६। )

अतुर्थ प्रपाठक समाप्त

२ त्रिमाह्यात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण समाप्त

३

— ० —

( मूलानुषास समाप्त )

त्रिमाह्यात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' समाप्त,

क्रमप्राप्त—२२-२३-२४ ब्राह्मण समाप्त

ओषत्सव्वृद्धये नमः

— ❀ —

भी निश्चयेन अपने इस यज्ञ में ( स्वयंसापेक्षया उसका प्रवर्तक बनने से ) प्रजापति है । ( जिस ऋषि उभयत्तर प्रजापति की हृषिकामना से अग्नि वाय्वादिस्थावि अस्थिक् प्राकृतिक निश्चय का यितान करते हैं, एवमथ इस यज्ञ में भी इस यज्ञमान से एक ( प्रेरित ) होकर ही होता-अभ्यर्च्य आदि अस्थिक्- (प्रह-रात्र-स्ताथावि स्वकर्मा फ द्वारा ) यज्ञ विवत करते हैं, ( इस यितान से यज्ञमान के ) उस (वैवात्मा ) को उत्पन्न करते हैं । ( इसप्रकार जिन प्रेरणाओं, धर्मों से वह अपने यज्ञ में प्रजापति बन रहा है, सब प्रेरणा-धर्मों का प्रवर्तक बनता हुआ यज्ञमान भी अपने यज्ञ में अवश्य ही प्रजापति माना जा सकता है । एवं इसीलिए प्राजापत्य आग्नी का यज्ञमानदेवत्व माना जा सकता है ) । ॥२०॥

( प्रजापत्य अथ कया यज्ञमान के स्वर्गगमन का कारण बन जाता है ? परन्तु का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वकथितका से समाधान हा जाता है । तथापि, जैसा चाहिए, वैसा स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ । इसी यत् किञ्चित्-अस्यास्य का स्पष्टीकरण करती हुई पदव्यंश-प्रदशन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—यह अभ्यर्च्य आग्नी का कवपस्वरूप कर ( पुरोबारात्मा-पनप्रवेश को आग्नी से पहिले आग्नी से युक्त कर, अनन्तर निष्कृत ) इति के दो अवदान कर ( आस्तुव आग्नी पर हविरव्यल रह, अनन्तर पुनः ऊपर से उस हविरव्यल ) इति पर आग्नीमिधर करता है ( ऊपर से घृत डालता है ) । ( इस प्रकार उभयतः आग्नीसम्बन्ध से युक्त ) यह आहुति आग्नी से ( सर्वात्मना-नीचे-ऊपर दोनों ओर से ) संस्त्रिष्ट होकर ( निक्षिप्त ही ) अभ्यर्च्य के द्वारा ( आहुतिनीयान्तिके ममिद्ध-प्रव्यलित-प्रवेश-में ) आहुत होती है ( यह है आग्नीभुति का स्वरूप, जिसमें दोनों ओर से आग्नी का सम्बन्ध हो रहा है ) ।

अभ्यर्च्य के द्वारा आग्नीमिधर आहुति यज्ञमानमिधरा बन कर ही ( अग्नि में ) आहुत होती है । ( तत्पर्यं यही हुआ कि, आग्नीभुति प्राजापत्या बनती हुई स्वर्गाभिष्टया प्रजापति से युक्त होता है । आग्नी यज्ञमानात्मक है, यज्ञमान का प्रायः आग्नी में समाविष्ट है, साथ ही यज्ञमान अपने यज्ञ की अपेक्षा से प्रजापति भी है । आग्नी एक प्रकार से यज्ञमानात्मा है । इस प्रकार आग्नी परस्परया यज्ञमानात्मा-संस्त्रिष्ट प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गाभिष्टि का अनुगामी बन जाता है । ओर आग्नीभुति के द्वारा कैसे यज्ञमानस्वग पहुँच जाता है ? किंवा आग्नीभुति कैसे स्वर्ग प्रापिका बन जाती है ? किंवा प्रायः जैसे कृत्वर्य-अज्ञ कर्म से स्वर्गप्राप्ति कैसे सम्भव है ? इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्यग्रूपेण विमर्श हो जाता है ) ।

( अब इसी आग्नीभुति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक फल बताकर श्रुति इस प्रसङ्गप्रकरण को समाप्त कर रही है । आग्नी साक्षात् यज्ञमान है । आग्नी का इति के साथ युक्त हो जाता यज्ञमान का इति के साथ किंवा यज्ञ के साथ युक्त हो जाना है । अतएव इस अपने आग्नी स्वरूपानुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यज्ञमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि, वह आहुतिकार्य में अस्थिजों के पास रहे ही रहे । क्योंकि, आग्नीसालिष्य से ही यज्ञमानसालिष्य



आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि, पूर्वपठित सुगादापन ब्राह्मण का भी त्रिनाशनात्मक प्रकृत प्रयागब्राह्मण में ही अन्तर्भाव है। फलतः यह कहना भी सुसंभव माना जा सकता है कि, प्रयागब्राह्मण त्रिनाशनात्मक की नहीं है, अपितु स्वकर्माङ्गभूत सुगादापन-समन्वय से यह चतुर्नाशनात्मक ही है।

उक्त स्थिति को सामने रखते हुए यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि, कात्यायनश्रौतसूत्र के—  
अग्निर्हविति सुगादापनम् \*—१।२।१९ इत्यादि सूत्र से आरम्भ कर 'सर्वान्नोत्तमेनोपायिष्यात्'—१।१।१६ इत्यादि सूत्रपर्यन्त १८ सूत्रों में प्रयागकर्म की इतिकृत व्युत्पत्ति का ही विशेषण हुआ है। यही कारण है कि, पूर्व के सुगादापन ब्राह्मणमाध्य में हमने सूत्रानुगत विश पञ्चवि-समग्र का दिग्दर्शन किया है उसे जान बूझ कर अग्रणी छोड़ दिया है—(देखिए सू प स-पृ० सं १२७-१२८)। यहाँ जिन दो सूत्रों से इति-कृत व्युत्पत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है उसका अस्तुत्वा प्रयागकर्म से ही सम्बन्ध है। अतएव उचित है कि प्रयागब्राह्मण के मूलानुवाद के अनन्तर कमप्राप्त सूत्रानुगत पञ्चवि-समग्र नामक प्रकृत परिच्छेद में उस उक्त सूत्रद्वयात्मक पञ्चवि-समग्र का समग्र करते हुए ही यहाँ सूत्रानुगत इतिकृत व्युत्पत्ति का सान्दर्भिकरूप से विशेषण किया जाय। इस सन्दर्भसंज्ञा को लक्ष्य बना कर ही पाठक निम्नलिखित प्रयागब्राह्मण (सूत्रानुगता प्रयागकर्म पञ्चवि) का समन्वय करेंगे, यही आरम्भिक निवेदन है।

'स वै प्रवरयाग्रावपति० (शत० १।५।१) से आरम्भ कर—'अयानिमीक्षमाणो अपति० (शत १।५।२१) यहाँ तक २१ कथितश्रौतों में (२१ कथितश्रौतक 'होतृप्रवर्णाश्रय' नामक ब्राह्मण में) 'होतृ-वरण' कर्म का शेषपठित-निरूपण हुआ है, जिसका प्रस्तुत शतपथमाध्य के पञ्चम वर्ष के—११ वें पुत्र से आरम्भ कर ११ वें पुत्र पर्यन्त ५ पुत्रों में शेषपठित प्रतिपादन हुआ है। सूत्रकमानुसार—निचायेष्मत्सह-हाना०—का श्री ३।२।२१—इस सूत्र से आरम्भ कर—'सम्पृष्टा उपविशत ३।२।२५। इस सूत्रपर्यन्त ११ सूत्रों में होतृवरणकर्म की इतिकृत व्युत्पत्ति का विशेषण हुआ है—(देखिए पृ सं ८१ से ८४ पर्यन्त)। होतृवरणकर्मविकृत व्युत्पत्ति-विशेषण उक्त त्रयोदशसूत्र-सन्दर्भात्मक सूत्रप्रकरण के अन्तिम 'सम्पृष्टा उपविशत' इस सूत्र को प्रकरणसंज्ञासमाहक मान कर ही हमें प्रयागकर्मविकृत व्युत्पत्ति-प्रतिपादक १६ सूत्रसन्दर्भात्मक सूत्रप्रकरण का समन्वय करना है।

सुगादापन-ब्राह्मण नामक दो कर्मों को अपना आङ्गकर्म बनाने वाले प्रयागकर्म से पहिले अथर्वस्य आदि श्रुतिश्रौतों में विहित पञ्चवि के अनुसार यथानुसार वरणकर्म का अनुगमन कर लिया है। वरणकर्मानन्तर इत होता अपनी प्राणामि-सम्पत् को मनो-वाक् से युक्त करने के लिए मनोरूप अथर्व के, तथा वाक्-रूप आग्नीषि के आश्रयप्रवेश का स्पर्श करता है \*। स्पर्शकर्मानन्तर—X 'पयमोर्वीरइसत्यान्नु०

\*—अथर्वस्य आग्नीषि स यम्युपवति (होता)। मनो वाऽअथर्व आग्नीषि। तन्मनश्चैवैतद्वान् च सन्दधति—शत १।५।२१।

—इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, स्पर्शकर्मानन्तर होशके द्वारा प्रयुक्त स्वस्वयनवप की इतिकृत व्युत्पत्ति का कात्यायनश्रौतसूत्र में उल्लेख नहीं हुआ है बल्कि स्वयंशतपथ में यह विहित है। पयमोर्वी-रइसत्यान्नु से आरम्भ कर—येन पया इव्यमावो वहानि यहाँ तक की होतृश्रुत इतिकृत व्युत्पत्ति सूत्र में क्यों उद्धृत नहीं हुई? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञात है। अतिविहित होने से अनुगमन इसका अवश्य ही किया जाता है।

## (४)-सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह —

### सन्दर्भसङ्कति —

त्रिशास्त्रात्मक प्रयागशास्त्र से पहिले 'सुगदापन' का स्थान है। उक्त १-सुगदापनकर्म, २-आभाषण-प्रत्याभाषणकर्म, इन दो कर्मों की इतिकर्तव्यता का निरूपण हुआ है। तदनन्तर प्रकृत के त्रिशास्त्रात्मक प्रयागशास्त्र में प्रयागकर्म की छेपपक्षिक इतिकर्तव्यता का निरलेखण हुआ है। इस विषय से १-सुगदापन, २-आभाषण, ३-प्रयाग, इन तीनों को हम पुष्कट पुष्कट छील कर्म मान सकते हैं। कलुषविनिवृत्ति वास्तव में ऐसी है कि, सुगदापन, और आभाषण, इन दोनों कर्मों का भी प्रयागकर्म में ही अन्तर्भव मानना चाहिए। क्योंकि 'अग्निहोत्रं वेदमन्त्रोत्तरम्' इत्यादि नवव्याख्यात्मक निगममन्त्रपाठमक होद्विहृत सुगदापन कर्म के वृत्तवर्तीमन्त्रों। सुगदापनस्य इन पाँचवी व्याख्या के 'वृत्तवर्तीम्' इस फौजवारण के साथ ही अन्तर्भव 'सुगदापन' का ग्रहण कर लेता है। होता के 'वृत्तवर्तीम्' फौजवारण के साथ अन्तर्भव का ग्रहण-ग्रहण करना ही कलुषः 'सुगदापन' कर्म है। 'उद्गम्य' सुगदापन। इनका अन्तर्भव ग्रहण ही 'सुगदापन' है।

'सुगदापन (उद्गम्यग्रहण)' होता है अग्निहोत्र में आग्याहुति देने के लिए जिस आग्याहुति कर्म को प्रयागकर्म कहा गया है। आग्याहुति के प्रधान में अन्तर्भव, आग्निहोत्र, इन मन्त्रों की पाठ्यपक्षिक मन्त्रप्रयोग से संकट होती है। यज्ञस्वरूप को अन्तर्भवस्वरूप से कलुष करने वाला, अन्तर्भव-अन्तर्भव, अग्रप्रत्यक्ष वागव्यापादित मन्त्रव्याख्या का प्रयोग ही संकट है। इस संकटकर्म के लक्षण को अन्तर्भव-अन्तर्भव, 'यब'-वे यबमन्त्रे-वोदत्' वे पाँच निगममन्त्र, किंवा एक ही निगममन्त्र की पाँच व्याख्याएँ हैं। इन पाँचों व्याख्याओं के द्वारा कर्म में ऐक्यत्व (संविधान) बन कर ही आग्याहुतिरूप प्रयागकर्म की इतिकर्तव्यता पूरी की जाती है। ऐक्यत्वमात्रात्मिक संकट की प्राप्ति का लक्षण मन्त्र का उच्चारण ही 'आभाषण-प्रत्याभाषण' कर्म है किन्तु वास्तविकता यही है कि, निगम मन्त्र में ही जिस आग्याहुति से प्रयागकर्म होने वाला है उसके लिए सु-लोभ्य प्राणवेकता यही आभाषण, एवं आग्याहुति का ग्रहण कर प्रयागकर्म को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार सुगदापनकर्म यह आभाषण-प्रत्याभाषण कर्म भी कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं है अपितु यह भी प्रयागकर्म का ही परम्परा पूरक कर्म हुआ है। क्योंकि आभाषण कर्म से उत्पन्न रहने वाले निगममन्त्र की 'यब' व्याख्या का 'यमिषो यब' इस रूप से प्रयाग के लिए एवं 'यबमन्त्रे-अग्निहोत्र' अन्तर्भव व्याख्या इस रूप से प्रयाग के लिए, वोदत् का आग्याहुति के लिए ही विनियोग हुआ है। इसके अन्तर्भव किंवा आभाषण कर्म प्रयाग का ही लक्षण है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि पूर्वशास्त्र में विहित सुगदापन आभाषण, दोनों कोई स्वतन्त्र कर्म नहीं है अपितु दोनों प्रयागकर्म के स्वतन्त्रमात्रक अन्तर्भव प्रयागकर्म बन कर प्रयागकर्म में ही अन्तर्भव है। अतएव यह स्वीकार करने में भी बाध कोई

पहुँच कर ईशानामिमुख लड़ा होकर आग्नीम्र नामक श्रुतिरूप को लक्ष्य बना कर कहता है—‘ओ भाव्य’ । उत्तर में स्वस्थान में स्थित आग्नीम्र अश्वसु को लक्ष्य बनाकर कहता है—‘अस्तु ओषट् । अनन्तर तत्रैव ईशानामिमुख लड़ा हुआ अश्वसु—होता को लक्ष्य बनाकर कहता है—‘समिधो यम’ । ‘समिधो यम’ रूप से होता के प्रति प्रीय कर इधर अश्वसु तो खुद को उपपत् पर से पूर्व श्री ओर—आहवनीयाग्नि श्री ओर उतार कर आहुति के लिए समर्प्य होता है, उधर होता अश्वसु से प्रेषित होकर समिधैवत्यक निम्न लिखित याम्या मन्त्र का स्वस्थान से उच्चारण करता है—

‘ओ—ये ३ यजामहे (१) समिधः, समिधो अग्न आन्यस्य व्यन्तु ३ वाँ ३ पट्’ इति ।

होता के उक्त याम्यामन्त्रीन्धारण की अन्तिम ‘ओ ३ पट्’ इस म्ण्डिति के साथ यह अश्वसु—उद्गसित आन्य के तृतीयांश को आहवनीयाग्नि के अतिशय रूप से प्रज्वलित भाग में ( समिद्धतमे ) खुद से आहुति दे देता है । यही प्रथम प्रयाजकर्म है । इसी क्रम से शेष चारों प्रयाजों की आहुति होती है । इसप्रकार यथा क्रम पञ्च प्रयाजों का समिद्धतम अग्नि में अनुष्ठान होता है । अन्तर केवल यही है कि, प्रथम प्रयाज में होता के प्रति वक्ष्यश्रुतुरूप समिधैवता का जैसे समिधो यम इत्यादि—रूप से नाम ग्रहण होता है वैसे द्विम्—वर्षा शब्द—इमन्त श्रुतुरूप अनुष्ठात्, इट्,—वर्हि—स्वाहा—नामक शेष चार प्रयाजों में होने वाले प्रीय में नामोन्धारण कर केवल यम ‘यम’ रूप से ही होता के प्रति प्रीय होता है । इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय होता ‘ये यजामहे समिधः’ इत्यादि बोले जुद्धता है, अश्वसहित चक्ष में ही यजमान निम्न लिखित त्यागमन्त्र बोलता है—

“इति समिधस्यो न मम । एको मम, एका तस्य—यमहं द्वेष्मि । (यदि न द्विष्यात् तदा तु ) योऽस्मान् द्वेष्टि, यच्च मय द्विष्म ( इत्येव ब्रूयात् ) । त्विषिमान् भूयासम्” इति ।

तात्पर्य यह निकला कि उधर होता याम्यामन्त्र बोल चुकता है उसके मुख से ‘वा ३ पट्’ निकलता है, इधर यजमान उक्त त्यागमन्त्र बोलना आरम्भ कर देता है । होता के वषट्कार के परचात्, यजमान के त्यागमन्त्र के बोलते समय ही अश्वसु आहुति देता है । इधर अश्वसु होता के वीपट् उच्चारणानन्तर अग्नि में आहुति देता है, उधर होता याम्यामन्त्रोच्चारणार्थबहिरोत्तरकाश में स्वस्थानवर्ष निम्न लिखित मन्त्रोन्धारण करता हुआ अपने इदम्स्थान का स्पर्श करता है यही क्रम शेष चारों प्रयाजों में समझना चाहिए—

“वषट्कार ! मा म आधु प्रमोषीर्नागोत्त सहीषो नयि—

प्रास्थापानां पातम्” ( इति होता पठति याज्यानिन्तरम् ) इति ॥

नामग्रहणानुगत—वक्ष्यरूप समिध्—नामक प्रथम प्रयाजकर्म की इसी इतिवर्तमानता का स्पष्टीकरण करते हुए वक्ष्यकर कहते हैं—

इत्यादि श्राद्ध 'स्वस्त्ययन' कर्म करता है (१०८ पृ)। स्वस्त्ययनकर्मसमाप्त्यनन्तर 'होतृपूजन' नामक स्वस्त्ययन की ओर झोट कर समग्रक तुलनिरसन करता हुआ यथास्थान बैठ जाता है—(१६ पृ)। बैठने के अनन्तर देवस्तुति करता है (११ पृ)। इसपर होता वा अपनी यह इतिकृत म्पत्ता पूरी करता है उपर होता के द्वारा स्वांश-प्रदेश से स्पृष्ट 'अप्ययु' आग्नीषि, दोनों स्थानान्तर—अपने अपने स्थानों में बैठ जाते हैं। इसप्रकार अत्रान्तरकर्मसंग्रहामक वरणकर्म समाप्त किया जाता है, जिस का— सम्मुख उपस्थित हव (१।२।१५) इस सूत्र से उपसंहार हुआ है। अनन्तर क्या होता है? दूसरे शब्दों में वरकर्म—नन्तर श्रुतिवत् लोग प्रकृत पुर्यमासेष्टिकर्म के किस अत्रान्तर अन्वर्थ कर्म का अनुगम करते हैं? इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ—प्रयागकर्मसंश्लेषात्मक निम्न लिखित वृत्तान्तगत पद्धतिप्रकरण पद्धति-प्रैमियों के सम्मुख उपस्थित होता है।

वरकर्मनन्तर श्रुतदेवताओं का यजन होता है। यही श्रुतयजन 'प्रयागकर्म' कहलाया है। प्रयागकर्म में विहित आख्यातुति के प्रश्न के लिए प्रायदेवताओं का अग्नि के द्वारा हव यज्ञ में सम्मिलन अवस्थित है। वरकर्म ही होता के द्वारा वरकर्मनन्तर सुगादापनकर्म, एवं अन्य श्रुतिवत् सहयोग के आभास—प्रत्याभासक-कर्म विहित है। इतिकृत म्पत्ता का प्रकार यह है कि,—

होतृपूजन' नामक स्वस्त्ययन पर बैठकर आहवनीयाग्नि की ओर दक्षिणपक्ष करता हुआ होता— विरवेदेवा रास्त न मा यमेह इत्यादि वरणकर्मसंग्रहमन्त्र वरण करने के अनन्तर उपोष्य—उपस्वर की नियत मर्त्यादा से निम्न लिखित सुगादापननिगद का पाठ करता है—

“ओम् अग्निर्होता वेरमग्नेर्होत्रं वेत्तु पावित्रं साधु ते यज्ञमानवेवता (इत्युक्त्वै) ओर्द्धिर्न होवारमपृथा (इत्युपाधु), धृतवतीमन्त्रयो सुधमात्मस्त देवयुषं विश्ववार्तामीनामहै देवाँ २॥ ईडे न्यान्—नमस्याम नमस्याम् यजाम यजिष्यन्” (इत्युक्त्वै)। शव० १।१।३।१—३।

जिस समय होता उक्त मन्त्र का पाठ करता है और उक्त के मुख से—मन्त्र का 'धृतवतीम्' पद निकलता है, उसी समय पदोन्वारण के अन्त्यवहितोत्तरकाल में ही स्वस्त्ययन में स्थित अप्ययु उहू—उपमत्त नामक सुओं का प्रवृत्त करता है। यही हव का सम्मन्त्रक 'सुगादापन' (सुगादान) कर्म है। प्रयागकर्म सम्मन्त्रक है सुगादापन तद्वत् है उत्तरनिहित में विहित है, अतएव प्रयागों में विहित सुगादापन 'अग्निर्होता' इत्यादि मन्त्रोन्वारण पूर्वक ही होना न्यायप्राप्त है। हाँ वहाँ प्रयागामात्र है वहाँ एष्यो ही सुकृ का आधान होता है। इसी विशेषता का साथ ही सम्मन्त्रक सुगादापन का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

(१) —“अग्निर्होति वि सुगादापनं प्रयाजेयु, सविषे।” (१।२।१६।)।

इसप्रकार होता के 'धृतवतीम्' पदोन्वारण करने के अन्त्यवहितोत्तरकाल में अप्ययु—उहू—उपमत्त—लेकर इतिष्यो से पूर्व एवं अग्निपरिधिष्यो से पश्चिम की ओर निवत 'सहव' नामक मार्ग से अपने वामपाद को धरी करता हुआ वेदि के दक्षिण पार्श्व में आहवनीय के समीप बने हुए 'सविषि' स्थान में पहुँचता है। वहाँ

प्रश्न का तात्पर्य स्पष्ट है। आवेग यह है कि, चौथे प्रयाग में ही आत्म ग्रहण करना चाहिए। वहाँ ६, अथवा ११ प्रयागानुयाग हैं, वहाँ आरम्भ के तीन प्रयाग-कर्मोन्तर चौथे में ग्रहण कर लिया जायगा, और यहाँ तक तो 'चतुर्थे समानयति' आदेश का यथावत् [ पञ्चप्रयागपञ्चवत् ] पालन होनायगा। परन्तु ६ पञ्च में ५ प्रयाग ११ पञ्च में ७ प्रयाग, शेष रह जाते हैं। चतुर्थ प्रयाग में यही आत्ममात्रा से ही शेष ५, अथवा ७ प्रयागों की इतिक्रम व्याप्ति असम्भव है। तदर्थ पुनः आत्मग्रहण आवश्यक रूप से अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में यदि चतुर्थोन्तर अपेक्षावश आगे के प्रयागों में आत्मग्रहण किया जाता है, तो-चतुर्थे समा नयति' नियम का व्याघात होता है। यदि इस नियम की रक्षा के लिए आगे ग्रहण नहीं किया जाता, तो इतिक्रम व्युत्पत्ति पूरी नहीं होती। इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

प्रयागवृद्धि-पञ्च में मी चतुर्थ-चतुर्थ की स्थापिति कर लेनी चाहिए। तात्पर्य सूत्रकार का यही है कि मान लीजिए किसी विकृति-इष्टि में ६ प्रयाग हैं। वहाँ यह व्यवस्था होगी कि, आरम्भ के १ २ ३, प्रयागों की इतिक्रम व्युत्पत्ति तो पूर्णतः सुदृष्टिपूर्वक आत्म से पञ्चप्रयाग-पञ्चवत् पूरी कर दी जायगी। ४ वे प्रयाग में मी पञ्चप्रयागपञ्चवत् आत्मग्रहण कर 'चतुर्थे समानयति' का पालन कर लिया जायगा। इन चतुर्थप्रयागोपक्रम में एही आत्म से ४ ५, ६, इन तीन प्रयागों की इतिक्रम व्युत्पत्ति पूरी हो जायगी। अब ७ ८, ९, इन तीन प्रयागों के लिए आत्म की अपेक्षा होगी। इसके लिए सातवें प्रयागोपक्रम में [ ६ ठे प्रयाग की समाप्ति के अनन्तर ] दुबारा आत्म ग्रहण होगा जो कि-‘चतुर्थोन्तर’ भाव से चौथा ही पड़ेगा। चौथे प्रयाग से सातवाँ प्रयाग चौथा पड़ेगा, अतएव सातवें में आत्म समानयन करते से 'चतुर्थे समानयति' नियम का मी पालन होनायगा इतिक्रम व्युत्पत्ति मी पूरी हो जायगी। यही 'चतुर्थोन्तर-चतुर्थे' नियम एकादश प्रयाग पञ्च में काम देगा। ११ प्रयाग पञ्च में आरम्भके १ २ ३ की इतिक्रम व्युत्पत्ति पूर्व यही आत्म से गतार्थ है। ४ वे में पञ्चप्रयाग पञ्चवत् आत्म ग्रहण है। इस चौथे से चौथा सातवाँ से चौथा १० वा है। अतः वहाँ उत्तम और दशम में आत्मग्रहण से चतुर्थे समानयति का पालन होनायगा। इसप्रकार नव प्रयाग पञ्च में 'चतुर्थोन्तर-चतुर्थे' (सन्तमे) रूप से पञ्चप्रयाग-पञ्चापेक्षया एक बार अधिक आत्म ग्रहण होगा। एवं एकादश प्रयाग पञ्च में-‘चतुर्थोन्तर’-(सन्तमे) पुनश्चतुर्थोन्तर (सन्तमात्) चतुर्थे (दशमे) रूप से पञ्चप्रयागोपेक्षया दो बार अधिक आत्म ग्रहण होगा। यही व्यवस्था नवैकादशानुयागों में मान्य होगी जिस प्रासङ्गिक व्यवस्था का निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण हो रहा है—

प्रकृति-इष्टि:—

पञ्चप्रयागाः—	१-सन्तमागात्मक—प्रथमप्रयाग—	चतुर्थोन्तरमात्रा
	२-प्रीत्ययागात्मक—द्वितीयप्रयाग—	,
	३-प्राज्ञयागात्मक—तृतीयप्रयाग—	
	४-शरणायागात्मक—चतुर्थप्रयाग—	
	५-हेमन्तयागात्मक—पञ्चमप्रयाग—	,

( २ ) - 'धृतवतीमित्युक्तं सुचावादाय, अतिक्रम्य, आश्राप्य, आह-

'समिधो यजे'ति । पञ्चप्रयाजान्त्समिश्रतमे (जुहुयान्)' ॥ ( ३२१७ )

( ३ ) - "यज यजेति शेषम्" ( ३२१८ ) ।

अब पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का सूचक दिग्दर्शन करा रहे हैं, जिनका ब्राह्मण भाग में स्वीकृति प्राप्त हुआ है । जिस पूर्वोक्त स्थान पर कहा होकर अथर्व प्रयाजकर्म ( आहुतिकर्म ) करता है, उसे उसी स्थान पर लगे रहना चाहिए । अविवासी भाव से ही प्रयाजाहुति देनी चाहिये । अथवा इसी सम्बन्ध में एक दूसरा पक्ष यह भी है कि, प्रतिप्रयाज याग में आहुत्नीय के समस्त पूर्ण पूर्वस्थान से अतिक्रम्य कर आगे आगे बढ़ते हुए आहुति देनी चाहिए । इस प्रकार स्वयं सूचक ने दोनों पक्ष उद्घृत कर दिये हैं । तथापि श्रुति के—'यज यथा न कुर्वत् । यत्रैव सिद्ध्यन् प्रयाजेभ्य आभावन्तु, तव यव नापन्नामेत्' ( शत १५।४।७ ) इस सिद्धान्त के अनुसार अनाकम्पनात्मक प्रथम पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए ।

वस्तु-ग्रीष्म-वर्षा-समिध, जुहुयान्, बर्हि इन तीन प्रयाजों के लिए तो जुहु में पहिले से प्रुवा-द्वारा चतुर्गर् एहीत आत्म की ही आहुति देनी चाहिए । परन्तु शस्-रुन चौथे 'बर्हि' नामक-प्रयाज का अनुष्ठान करने से पहिले जुहु में उपमृत् से आत्म ग्रहण और करना चाहिए । क्योंकि प्रुवा से उपमृत् में आहो कृत्वा ( आठ बार करके ) जो आत्म ग्रहण होता है, उस एहीत आत्म की मात्रा में से अन्न मात्र तो अनुपाजों के लिए विहित माना गया है, एवं अन्न मात्रा का प्रयाजकर्म के लिए आदेश हुआ है । अतएव जुहु में उपमृत् से प्रयाजकर्मात् आत्मे आत्म का ही ग्रहण करना चाहिए । इस सम्बन्ध में वह भी ध्यान रखना चाहिए कि, आत्मग्रहण करते समय कहीं जुहु का उपमृत् से स्पर्श न हो जाय । अनवसुरान् ( दोनों का स्पर्श न करते हुए, दोनों को पुष्कर रखते हुए ) ही चतुर्थ प्रयाज में आत्मग्रहण विहित है जिसकी उपपत्ति महाजुवाद में स्पष्ट है ।

अब इस आत्मसमानवन-कर्म के सम्बन्ध में एक प्रासंगिक प्रश्न उपस्थित होता है । प्रकृत पूर्वमासेधि 'प्रकृतिमाग' है । एवं इसके आधार पर जिस आश्राप्यादि आत्म इष्टिनी विकृतिमाग' है । 'प्रकृतिविकृति' क्तव्य इस मीमांसा-विद्वानुसार कुछ, प्रातिरिक्त विशेष इष्टिकर्तव्यताओं को छोड़कर इन विकृति-भूत इष्टियों में प्रकृतिवत् ही अनुगमन किया गया है । उदाहरण के लिए प्रकृतिपात्र प्रयाजकर्म को ही लीजिए । सिम्पकार प्रयाजकर्मप्रकृतिभूत प्रकृत की पूर्वमासेधि विहित है एवमेव विकृतिभूत अन्य इष्टियों में भी प्रयाजकर्म संप्रीत माना गया है । हाँ दोनों प्रयाजों की संख्या में अन्तर ही विभेद है । प्रकृति इष्टि ( पूर्वमासेधि ) में वहाँ पाँच प्रयाज विहित हैं, वहाँ अन्य विकृति-इष्टियों में ११ प्रयाज माने गए हैं । किसी विकृति में २ प्रयाज हैं तो किसी में ११ प्रयाज हैं । विकृति इष्टियों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रमाण का ही प्रयाजसम्मानरूप ही अनुयाग संख्यावृद्धि के आधार पर ही आत्मसमानवन कर्म के सम्बन्ध में वह प्रासंगिक प्रश्न उपस्थित होता है कि वहाँ प्रयाजानुशासक है वहाँ आत्मसमानवन की क्या व्यवस्था होगी !

जिस प्रकार 'एवं सर्वत्र' (१।२।२५) सूत्रादेशानुसार शुद्ध-उपसृष्ट का अन्त्यहोममात्र में समानरूप से विहित है, एवमेव शुद्ध-उपसृष्ट का नामिदम् प्रवेश में धारण भी होममात्र के लिए ही विहित समझना चाहिए। तात्पर्य कहने का यही है कि आहुति के लिए यही उपसृष्ट युक्त-प्राक्यपरिपूर्ण शुद्ध को नामिसमानप्रवेश में ही रखना चाहिए। एवं होममात्र में इसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

जिस समय होता 'यि यन्मादे समिध' समिधो अग्न आक्यमस्य मन्त्रो वैषट् इत्यादि वाक्या बोल चुका है, अनन्तर ही होता त्यागमन्त्र का उच्चारण करता है यह पूर्व में कहा जा चुका है। यद्यमानकृत यही कर्म 'प्रयाजानुमन्त्रण' कर्म कहलाता है। सूत्रकार कहते हैं कि प्रथम प्रयाजानुमन्त्रण में 'एको मम, एका तस्य योऽश्मान् द्वेष्टि, यच्च नयं द्विष्म' इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव अग्रे के शेष चार प्रयाजकर्मों से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में (२ १-४ में) क्रमशः यथासंख्य- 'द्वौ मम-तस्य०, त्रयो मम-विस्तृतस्य०, चत्वारो मम-चतस्रस्तस्य' इस रूप से मिथुन-युष्म-माषों का समावेश करना चाहिए। सन्तान के पाँचवें प्रयाजानुमन्त्रण में (युष्मोत्तर के स्थान में- 'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽश्मान् द्वेष्टि' इत्यादि) इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले यद्यमानकृत पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के अन्त में क्रमशः त्विषिमान्, अपविषिमान्, यशस्वी ब्रह्मचर्वासी अमाद' (मृगश्रम) इन व्याहृतियों का सम्बन्ध और कर देना चाहिए। शुद्ध-उपसृष्ट-धारकानुगत निम्नलिखित का, तथा प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली इसी क्रियापता का त्यजौकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)—'नामिदेषो धारणम् (१।१।२)।

(१२)—'प्रयाजानुमन्त्रण—'मेको ममैक तस्य योऽश्मान् द्वेष्टि यच्च नयं द्विष्म' इति'। (१।१।२)।

(१३)—'एव मिथुनैर्नवाश स्मृत्' (१।१।३)।

(१४)—'न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे' (१।१।४)।

(१५)—'त्विषिमान्, अपविषिमान्, यशस्वी ब्रह्मचर्वासी अमाद' इति च (१।१।५)।

पञ्च प्रयाजकर्मों की इतिक्रम बद्धता जिन वाक्यामन्त्रों से सम्पन्न होती है उनके उच्चारण के अनन्तर यद्यमान अपनी ओर से प्रयाजकर्मोपसृष्टानुसार मन्त्रोपचारण करता है। यद्यमानकृत यही कर्म प्रयाजानुमन्त्रण कहलाता है। इस कर्म के सम्बन्ध में पूर्व के ११ वें सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि, पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में से आरम्भ के चार मन्त्रों में क्रमशः (१)—एक-एक, (२)—द्वौ द्वे, (३)—त्रय-त्रिष, (४)—चत्वारो-चतस्रः—इन चार मिथुनमाषों का समावेश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल 'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽश्मान् द्वेष्टि' इत्यादि का समावेश होता है। तात्पर्य यही है कि चार मन्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं पाँचवाँ मिथुनमाष से वञ्चित है। जिस प्रकार नवैकदश प्रयाजपत्र में आन्यसमानयन की विधिविधि हुई थी, एवमेव नवैकदश प्रयाजपत्र में यद्यमानकृत

●—अप्युह—अप्युहन—उपसृष्ट उपरि निम्नान् ।

अपहृत्य—अपहरण—उपसृष्टम् ।

# विकृति-इष्टि —

(नक्षत्रवाचकमिष्टि)

१—एहीवाच्येनाहुति

२—

३—

(१)—४—चतुर्थे समानयति

(२)—५—एहीवाच्येनाहुति

(३)—६—

(४)—७—चतुर्थ्यां चतुर्थे समानयति

८—एहीवाच्येनाहुति

९—

# विकृति-इष्टि —

(एकदशमवाचकमिष्टि)

१—एहीवाच्येनाहुति

२—

३—

(१)—४—चतुर्थे समानयति

(२)—५—एहीवाच्येनाहुति

(३)—६—

(१)—( )—७—चतुर्थ्यां चतुर्थे समानयति

(२)—८—एहीवाच्येनाहुति

(३)—९—

(४)—१०—चतुर्थ्यां चतुर्थे समानयति

११—एहीवाच्येनाहुति

प्रयागकर्म से सम्बन्ध रखने वाली सभी विशेषवाच्यों का स्पष्टीकरण कर दिया गया। अब इस सम्बन्ध में केवल आहुति विशेषता और रोप रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए, आहुति देते समय जुहु-उपसृग् का सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए उपसृग् करते हैं कि आहुति को चाहिए कि उपसृग् के ऊपर रखी हुई जुहु को उपसृग् को मुख्य भाग की ओर से वाचकानी से उबार उसे जुहु को प्राचीमुख रहवा हुआ प्रथमाहुति प्रदान करे। प्रथम आहुति के अनन्तर उसी पद्धति से उपसृग् के ऊपर जुहु रख दे। अनन्तर उही पूर्वक्रम से उपसृग् से उबार कर द्वितीयाहुतिप्रदान करे। इस प्रकार पाँची प्रयागाहुतियों में ही जुहु को उपसृग् रख रख कर, उबार उबार कर आहुति-कर्मोत्पत्तिपूर्ण करे। केवल प्रयागकर्म में ही यह-अपसृहन अपहरकर्म आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अग्नि होममात्र में इसी नियम की व्याप्ति समझनी चाहिए, परन्तु सर्वहोम में आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सब प्रयागकर्म से सम्बन्ध रखने वाली इसी विशेषवाच्यों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(४)—‘जु वसित्वन्’ (२।२।१६)।

(५)—‘पूर्व पूष वाऽमिषमम्’ (१।२।२)।

(६)—‘उपसृग्ता जुहुमानयति अनन्मृष्टान् चतुर्थम्’ (१।२।२१)।

(७)—‘एव प्रह्वी’ (१।२।२२)।

(८)—‘अनुयायेद् य’ (१।२।२३)।

(९)—‘उत्तरा जुहुमन्तुषः, प्राचीमन्तुषः जुहोति’ (१।२।२४)

(१०)—‘एवं सर्वत्र’ (१।२।२५)।

इति—कात्ययनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीया कश्चिका समाप्त



त्रिस प्रश्नर 'एवं सर्वत्र' (३।२।२५) सूत्रादेशानुसार शुद्ध-उपपत्तु का अन्वय होमात्र में समानरूप से विहित है, एवमेव शुद्ध-उपपत्तु का नामिदम्न प्रदेश में चारण भी होमात्र के लिए ही विहित समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आहुति के लिए यही उपपत्तु युक्त-प्राप्त्यपरिपूर्ण शुद्ध को नामिसमानप्रदेश में ही रखना चाहिए। एवं होमात्र में इसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

त्रिस सम्य होता 'ये यथागो समिध' समिधो अग्न आष्यत्यस्य मन्त्रो नौष्ट इत्यादि वाग्मा धेनु जुहोति अन्तर ही होता त्यागमन्त्र का उच्चारण करता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। यजमानकृत यही कर्म 'प्रयाजानुमन्त्रण कर्म' कहलाया है। सूत्रकार कहते हैं कि, प्रथम प्रयाजानुमन्त्रण में 'एकी मम, एक तस्य योऽहमां ह्येहि, यज्ञं वयं हिष्य' इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव आगे के शेष चार प्रयाजकर्मों से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में (२ १-४ में) क्रमशः यथासंख्य- 'द्वौ मम-तस्य, त्रयो मम-तिस्रस्तस्य, चत्वारो मम-चतस्रस्तस्य' इस रूप से मिथुन-युग्म-मातृ का समावेश करना चाहिए। सन्त के पाँचवें प्रयाजानुमन्त्रण में (युष्मोत्तर के स्थान में)-'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽहमां ह्येहि इत्यादिक्रम से 'न तस्य किञ्चन' इस वाक्य का वक्षिण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले यजमानकृत पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के अन्त में क्रमशः त्रिभिमान्, अपचिभिमान्, चरास्वी ब्रह्मर्चसी, अमाद (भूगवम्) इन व्याहृतियों का सम्बन्ध और कर देना चाहिए। उपपत्तु-धारणानुगत निष्कमिशेष का, तथा प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली इली विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)—'नामिदेशे चारणम् (३।३।१)।

(१२)—'प्रयाजानुमन्त्रण—'मेकी ममैका तस्य योऽहमां ह्येहि यज्ञं वयं हिष्य' इति ।

(३।३।२)।

(१३)—'एव मिथुनैर्बन्धनं स्वयम्' (३।३।३)।

(१४)—'न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे' (३।३।४)।

(१५)—'त्रिभिमान्, अपचिभिमान्, चरास्वी ब्रह्मर्चसी अमाद' इति च (३।३।५)।

पञ्च प्रयाजकर्मों की इतिकृतव्यता जिन वाग्यमन्त्रों से सम्बन्ध होती है उनके उच्चारण के अनन्तर यजमान अपनी ओर से प्रयाजकस्यानुसार मन्त्रोच्चारण करता है। यजमानकृत यही कर्म प्रयाजानुमन्त्रण कहलाया है। इस कर्म के सम्बन्ध में पूर्व के १३ में सूत्र के द्वारा यह विद्वान् स्थापित किया गया है कि पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में से आरम्भ के चार मन्त्रों में क्रमशः १) एक-एक, -(२)-द्वौ द्वे, -(३)-त्रय-तिस्र, -(४)-चत्वार-चतस्र—इन चार मिथुनमातृ का समावेश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल 'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन योऽहमां ह्येहि इत्यादि का समावेश होता है। तात्पर्य यही है कि, चार मन्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं, पाँचवाँ मिथुनमातृ से वञ्चित है। त्रिस प्रश्नर नवैकादश प्रयाजपक्ष में आर्यसमानयन की विप्रतिपत्ति हुई थी एवमेव नवैकादश प्रयाजपक्ष में यजमानकृत

●-अप्युद्य-अप्युर्ध्व-उपपत्तु उपरि निधानम् ।

अवहृत्य-अवहरण-उच्चारणम् ।

विकृति-इति —

(नवमयाद्यात्मिका)

१—एहीताम्नेनाहुतिः

२—

३—

(१)—४—चतुर्थे समानयति

(२)—५—एहीताम्नेनाहुतिः

(३)—६—

(४)—७—चतुर्थान्वयं समानयति

८—एहीताम्नेनाहुतिः

९—

विकृति-इति —

(एकदशमयाद्यात्मिका)

१—एहीताम्नेनाहुतिः

२—

३—

(१)—४—चतुर्थे समानयति

(२)—५—एहीताम्नेनाहुतिः

(३)—६—

(१)—( )—७—चतुर्थान्वयं समानयति

(२)—८—एहीताम्नेनाहुतिः

(३)—९—

(४)—१०—चतुर्थान्वयं समानयति

११—एहीताम्नेनाहुतिः

प्रयागकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली सभी विरोधताओं का स्पष्टीकरण कर दिया गया। अब इस सम्बन्ध में केवल आहुति विरोधता ही शेष रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए, आहुति देते समय कुछ-उपसर्ग का सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार करते हैं कि, अग्न्यु को चाहिए कि, उपसर्ग के ऊपर रखी हुई जुहु को उपसर्ग को मुखभाग की ओर से छवधानी से उठार उठे जुहु को प्राचीमुख रहता हुआ प्रयागाहुति प्रदान करे। प्रयाग आहुति के अनन्तर उची प्रवृत्ति से उपसर्ग के ऊपर जुहु रखे। अनन्तर उची पूर्वक्रम से उपसर्ग से उठार कर द्वितीयाहुतिप्रदान करे। इस प्रकार पौर्वा प्रयागाहुतिमें वे ही जुहु को उपसर्ग २ रख रख कर, उठार उठार कर आहुति-कर्मेतिकर्त्तव्यता पूरे करे। केवल प्रयागकर्म्म में ही यह-अग्न्युहने अपहरणकर्म्म आवश्यक हो यह बात नहीं है। अग्नि होममात्र में इसी नियम की स्थापति समझनी चाहिए, एकमेव सर्वहोम में आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सब प्रयागकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली इन्हीं विरोधताओं का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(४)—‘जुह्वितुम्’ (२।१।१६)।

(५)—‘पूर्व पूर्व वाऽग्निक्रमम्’ (२।२।२)।

(६)—‘उपसृता जुहुमानयति अनवसृता चतुस्रम्’ (३।२।२१)।

(७)—‘एव गृह्यते’ (३।२।२२)।

(८)—‘अनुयाजेतु च’ (३।२।२३)।

(९)—‘उत्तरा जुहुमन्तुषा प्राचीमवहन्त जुहोति’ (३।२।२४)

(१०)—‘एवं सर्वत्र’ (३।२।२५)।

इति—काव्यमनवीर्यसूत्रे तृतीयाध्याये द्वितीया कथितका समाप्ता

ननप्रयाजपक्षे-इत्यम्

ॐ

- १—'एको मम०'  
२—'द्वौ मम'  
३—'त्रयो मम'

- (१) ४—'एको मम'  
(२) ५—'द्वौ मम'  
(३) ६—'त्रयो मम'

- (४) ७—'चत्वारो मम'

- (५) — { ८—'पञ्च मम'  
९—'षष्ठ मम'

ॐ

एकादशप्रयाजपक्षे-इत्यम्

- १—'एको मम०'  
२—'द्वौ मम०'  
३—'त्रयो मम०'

- (१) ४—'एको मम'  
(२) ५—'द्वौ मम०'  
(३) ६—'त्रयो मम'

- (१) (४) ७—'एको मम'  
(२) — ८—'द्वौ मम०'  
(३) — ९—'त्रयो मम०'

- (४) — १०—'चत्वारो मम'  
(५) — ११—'पञ्च मम०'

उक्त क्रमानुसार चतुर्थ-पञ्चम-प्राजधर्मों का आगन्तुक प्रयाजों से सम्बन्ध मानते हुए अनुमन्त्रणसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त करना एक पक्ष है। अब इसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रकार बतलाया जाता है। चतुर्थ, पञ्चम प्रयाज नहीं, अपितु प्रथम, चतुर्थ प्रयाज से आगन्तुक प्रयाजों में जो धर्म प्राप्त है, उस के द्वारा भी सिपुनसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त की जासकती है। प्रथम प्रयाज बहुदेव्य है, अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो बहुदेव्य प्रयाज होगा, उस के साथ प्रथम प्रयाज के धर्म का सम्बन्ध होगा। चतुर्थ प्रयाज एकदेव्य है, अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो प्रयाज एकदेव्य होगा, उस के साथ चतुर्थ प्रयाज के धर्म का सम्बन्ध होगा।

अब इसी सम्बन्ध में एक तीसरा पक्ष बतलाया जाता है, जो कि स्वरूप की दृष्टि में विद्वान्तपक्ष है। चतुर्थे तमानयति' इस भीत आदेशानुसार आम्नसमानयनधर्म में नवैकादशप्रयाजपक्ष में 'चतुर्थाचतुर्थे' न्याय का समापन टोक बन आता है। किन्तु प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी विधान नहीं

प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्री से सम्बन्ध रखने वाले उक्त मिथुनभावों के सम्बन्ध में भी वही विप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है । विप्रकार नवैकादश—प्रयाजानुमन्त्रण में इन्द्रिकमानुसार आन्त्यग्रहम द्वि—विवाह कर लिया जाता है, क्या उत्पद्यनुगत प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्री में भी उक्त मिथुनभावों का पुनरावचन होगा ? इसी प्रावहिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए स्वकार करते हैं कि—

आगन्तुक प्रयाजों का चतुर्थ—पञ्चम प्रयाज से जो धर्म प्राप्त है उसी धर्म के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए । क्योंकि आगन्तुक प्रयाजों का चतुर्थ—पञ्चम प्रयाज के धर्म से ही विधान हुआ है । वृत्त का वात्सर्ग्य स्थल है । मान कीजिए, विकृति में ६ प्रयाज हैं । इन ६ प्रयाजों में ४ था प्रयाज चतुर्थात् चतुर्थे स्वाय से प्रथम प्रयाज बन रहा है, ७वाँ प्रयाज उसी चतुर्थात् चतुर्थे से चतुर्थ बन रहा है शेष ८—९ प्रयाज चतुर्थात्—पञ्चम स्वाय से पञ्चम प्रयाज बन रहा है । ऐसी स्थिति में १, २ ३, आरम्भ के इन तीन प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्री में जो प्रकृष्टिक् पञ्चप्रयाजपञ्चक ) एक—एक —‘हो—हो—‘ब्रवा—विस्—इन मिथुनों का समावेश होगा ही । आगे के ४ ५, ६ इन तीन प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्री में भी इन्हीं तीनों मिथुनमात्रों का समावेश होगा । क्योंकि सातवाँ प्रयाज चौथा है तदपेक्षया ४—५—६ के प्रयाज १ २ ३, प्रयाज है ७वाँ क्योंकि चौथा प्रयाज है । अतएव तत्प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्र में ‘वत्साट—वत्सा का समावेश होगा । ८, ९, इन दो प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्री में—‘पञ्च मम न तस्य किञ्चन० इत्यादि का समावेश होगा यदि एकादशप्रयाजपञ्च है, तो आरम्भ के १ २ ३ प्रयाजों में मध्य के ४ ५, ६ प्रयाजों में अन्त के ७ ८, ९, प्रयाजों में पञ्चप्रयाजानुगत आरम्भ के १ २ ३, प्रयाजानुमन्त्रणवत् तीनों गुणों का सम्बन्ध होगा । क्योंकि ४ था प्रयाज १ है तदपेक्षया ५—६ दोनों २ ३ ३ प्रयाज हैं । छठम प्रयाज की १ अपेक्षा २ है तदपेक्षया ८, ९ दोनों २—३ ३ हैं । १ वाँ प्रयाज सप्तमापेक्षया चौथा है ११ वाँ प्रयाज पाँचवाँ है । इसप्रकार ‘चतुर्थपञ्चमाम्याम्’ स्वाय से नवैकादशप्रयाजानुगत प्रयाजानुमन्त्रण—मन्त्री में भी पञ्चप्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रक मिथुनव्यति श्री अनुकृपा का समावेश हो जाता है । निम्न शिक्षित वस्तुओं से उक्त सम्बन्ध—रूप का महीमांश स्पष्टकरा हो जाय है—

पञ्चप्रयाजपञ्चे—प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्राः—इत्यम्—

- (१)—‘एको मम एक तस्य—बोऽस्मान् ।
- (२)—‘द्वौ मम द्वे तस्य—बोऽस्मान् ।
- (३)—‘त्रौ मम त्रिसुस्तस्य—बोऽस्मान् ।
- (४)—‘वत्सरो मम चतसस्तस्य—बोऽस्मान् ।
- (५)—‘पञ्च मम, न तस्य किञ्चन—बोऽस्मान् ।

२-तृतीय प्रयत्न—

अथयु राह-आग्नीध्र प्रति—‘ओ आवय’ इति ।

आग्नीध्र आह-अथयु प्रति—‘अस्तु औपट्’ इति ।

अथयु राह-होता प्रति—‘यज’ इति ।

उत्तर-होता पठति—‘ये यजामहे-इहो अग्न आभ्यस्य व्यन्तु औपट्’

पाठान्तर-होता—‘यपट्कार मा म आयुः प्रमोर्षागोज’ सहोजो मयि प्राप्तापानी पातम्’

इति पठन्नात्मानमात्मन्योपसृणति ।

यजमान-य—‘इहमिहम्यो न मम । त्रयो मम, सिस्त्वस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यम्भ धय द्विष्म-यशस्वी मूयासम्’ इति पठति ।

अथयु राह—यजमानोऽहमन्त्रपाठकाले, होतृर्पन्त्यामन्त्रपठितव्योपवन्ते समिदाग्नौ जुहोति । सैषा तृतीयप्रयागेतिकर्तव्यम् ।

४-चतुर्थ प्रयाग—

अथयु राह-अग्नीध्र प्रति—‘ओ आवय’ इति ।

अथयु राह-आग्नीध्र प्रति—‘ओ आवय’ इति ।

पान् ( या औ १।१।२२ इ —‘वसिष्ठशुनकानां नारायणः, अजीर्णां चैके’ ( या औ १।१।२२ ) इत्यादि आत्मायन के सिद्धान्तानुसार—‘नारायणो अग्न आभ्यस्य वेत्तिषि द्वितीयो वसिष्ठशुनकानां-अग्निप्रप्रयश्च नां-अथयुः-होता-यजमानां प्रजापमानाश्च’ ( याज्ञा औ १।७।१ ) इत्यादि याज्ञात्मन के सिद्धान्तानुसार—‘वाग्वेदाभ्येकादराप्रोक्तानि । तेषां वसिष्ठ-आग्नेयं-नामप्रयश्च-गार्ग्यमद-मिति नारायणवन्ति, मैत्रा विर्य-द्वर्षमम-मैत्रिक-मिषुमयवन्ति, अतोऽन्यानि तन्नूपास्तवन्ति’ ( या नि ८।१।७ ) इत्यादि निबलसिद्धान्तानुसार—‘नारायणो द्वितीयः प्रयागो वसिष्ठशुनकानां तन्नूपादिद्वेषां गोत्राणाम्’ ( आपस्तम्ब औ सू १ ) इत्यादि आपस्तम्ब के सिद्धान्तानुसार, तन्नूपात्-प्रयाग के सम्बन्ध में विद्वत्स्य पक्ष का अनुपमन आकरयक हो रहा है । मगवान् आरपलायन ने तो इस सम्बन्ध में और भी विशेषज्ञों का स्वीकरण किया है ( वेत्तिषि, या औ १।१।२ ) । प्रकृत में एकत्र केवल यही है कि, यदि यजमान का उक्त वसिष्ठ-शुनक-अग्नि-आग्नि-गोत्र है तो उक्त के साम्यामन्त्र में—‘नारायणो अग्न आभ्यस्य वेत्तु औपट्’ इत्यप्रकार तन्नूपात् के स्थान में ‘नारायण’ का समावेश होगा । साथ ही प्रयागानुमन्त्रण-मन्त्र में भी—‘इह तन्नूपाते न मम के स्थान में—‘इह नारायण, न मम’ का उल्लेख होगा ।

है। अस्तु यहाँ तो 'आगन्तूनामन्तेऽभिनिवेश' (उमावेश) — पू० मी० ५।२।१९ — इत मीमांसा-विद्वान्-नुसार आगन्तुक १-७-८-९, १०-११-प्रयाजों का सम्बन्ध अन्तिम (पञ्चम) प्रयाजवर्ग से ही नापाव है। अतएव उचित यही है कि नवप्रयाजपक्ष हो, अथवा तो एकदशप्रयाजपक्ष। उक्तवत् आरम्भ के ४ प्रयाजानु-मन्त्रव्यमन्त्रों में पञ्चप्रयाजपक्षका चारों पुष्पों का उमावेश कर आगे के शेष मन्त्रों में पञ्च-पञ्च का ही उमावेश करना चाहिए। निम्न लिखित सूत्र अनुमन्त्रव्यमन्त्रों की उक्त तीनों पक्षों का दिग्दर्शन करते हुए अन्तिम पक्ष को ही विद्वान् पक्ष मान रहे हैं—

प्रथमपक्षः ( १९ ) — 'आगन्तूनां चतुर्थं-पञ्चमास्यां, स्थानात्' । ( १।१।१९ ) ।

द्वितीयपक्षः ( १७ ) — 'प्रथमं-चतुर्थ्यां वा यथाशिक्षम्' । ( १।१।१७ )

विद्वान्तपक्षः ( १८ ) — 'उर्वास्या-उच्येन ( पञ्चमेन ), उपाशित्यात्' ( १।१।१८ ) ।

पञ्चप्रयाजों में से प्रथम प्रयाज की इतिकर्तव्यता आरम्भ में बतलाई जा चुकी है। प्रकट में इन पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले आभाषण-प्रत्याभाषकादि व्याहृतिमन्त्रों का होतृकृत क यज्यमन्त्रों का, तथा-यजमानकृत क प्रयाजानुमन्त्रव्यमन्त्रों का एकत्र संग्रह कर दिया जाता है, बिनका पूर्वप्रतिपादित प्रथमप्रयाजे विकर्तव्यता के साथ समान समन्वय कर लेना चाहिए—

२-द्वितीयः प्रयाजः—

अच्युतं यद्-आनीत्रं प्रति—'ओ भावय' इति ।

आनीत्रं आह-अच्युतं प्रति—'अस्तु औषट्' इति ।

अच्युतं यद्-होतारं प्रति—'यज' इति ।

उक्तं होतृ पठति—'वे' यजामहे-तन्नूनपावन्न आभ्यस्त्य वे ३ हु'वी यद्' ।

पाठानन्तरम् होतृ—'यषट्कर मा म आयु प्रमोषीर्वागोऽसहोऽनो

मयि प्राद्यापानौ पञ्चम्' इति पठत्-आत्मानप्राप्तस्य उपसृष्टिः ॥

यजमानश्च—'इहं तन्नूनपाते न मम । द्वौ मम, द्वे तस्य सोऽस्तमात् द्वेष्टि यं य यजं  
त्रिष्टमा, अपचिदितिमात् भूयास्तम्, इति पठति । ॥

अच्युतं च—'यजमानोऽयमन्त्रपाठकाले, होतृयाज्यामन्त्रपठितव्योपहन्ते समिदाग्नी कुशेति ।  
तैसा द्वितीयप्रयाजेति कृतव्यता ॥

● शतपथब्राह्मण में द्वितीय प्रयाज के सम्बन्ध में यद्यपि 'अयं तन्नूनपाते यजति' ( शत १।५।११ ) इत्यदि रूप से केवल 'तन्नूनपाते' का ही विधान हुआ है। तथापि शास्त्रान्तर से सम्बन्ध रखने वाली पद्धतियों के अनुसार इस सम्बन्ध में विरोधता रखने वाली विरोधता की अनुपमन करना आवश्यक माना गया है। यजमानविशेषप्रत्यक्षविशिष्टैरयशुनकानी कर्त्तव्यप्रत्यक्षकृतीनां नागराणो द्वितीय प्रयाजः, तन्पादमे-



आग्नीध्र आह—अध्वयु प्रति—‘अस्तु औपद्’ इति ।

अध्वयु राह—होता० प्रति—‘यज’ इति ।

तदस्त्व—होता पठति—‘ये यजामहे—यर्हिरेग्न आम्बस्य वेतु औपद्’ ।

पाठान्तरस्य—होता—‘यपद् धार मा म आयु’ प्रमोषीर्वातोऽजं सहोऽजो मयि प्राप्तापानौ पाठम्’ इति पठन्नात्मानमात्म्योपलुपति ।

यजमानश्च—‘इदं यर्हिपे न मम । चत्वारो मम, चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्ट, यश्च वयं द्विष्मः । ब्रह्मवर्चसी भूयासम्’ इति पठति ।

अध्वयुश्च—यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले, होतृर्वास्यामन्त्रपठितवैषदन्ते समिधानो ब्रूते ।  
तेषां चतुर्थप्रयागेतिर्ज्ञातम् ।

#### ५—पञ्चमप्रयाज

इत प्रयाज के सम्बन्ध में विशेष इतिहास व्युत्पत्तौ का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि मूलानुवाक में स्पष्ट किया जा चुका है । चतुर्थ प्रयाज कर्म के अनन्तर आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर अध्वयु कहता है—‘ओ आहव्य’ । प्रत्युत्तर में अध्वयु को लक्ष्य बनाया हुआ आग्नीध्र कहता है—‘अस्तु औपद्’ । अनन्तर अध्वयु होता को लक्ष्य बनाया हुआ कहता है—‘यज’ । होता उत्तर में निम्न लिखित—वाक्यामन्त्र का उच्चारण करता है—

‘ये यजामहे—स्वाहाग्नि स्वाहा सोम, स्वाहाग्नि, स्वाहा सोम, अग्नीषोमौ, स्वाहान्नीषोमौ, स्वाहा देवा आम्बसा सुपाया अग्न आम्बस्य अस्तु औपद्’ इति ।

होता के उक्त वाक्यामन्त्र पाठोत्तर यजमान निम्न लिखित प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र का पाठ करता है—

इदमग्नये सोमाय, अग्नये सोमाय, अग्नीषोमाभ्यां, अग्नीषोमाभ्यां, देवेभ्य आम्बपेभ्य, अग्नये स्थितकृते न मम । पञ्च मम, न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि, यश्च वयं द्विष्मः । अग्नसो भूयासम्’ इति ।

जिस समय होता के मुख से उक्त वाक्यामन्त्र की अन्तिम ‘औपद्’ इस व्याख्याति का उच्चारण होता है, और यजमान उक्त प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रपाठ आरम्भ करता है ‘अध्वयु’ शब्दलिखित आम्ब की दक्षिण अग्नि में आम्बाहुति दे देता है । वही पश्चिम प्रयाज की इतिहास व्युत्पत्तौ का स्पष्टीकरण है । ‘अग्निर्होति सु यावत्तनं प्रणजेतु, सन्निधे’—१—( १।२।१९ ) इस सूत्र से आरम्भ कर—‘तर्वां वोचमेनोपनिषात्’ १८ ( १।१।८ ) इस सूत्रपर्यन्त १८ सूत्रों से इसी प्रयाजकर्मोत्पत्ति का स्पष्टीकरण हुआ है । इस कर्म के अनन्तर आम्बा-भिषाकर्म निश्चित है, जिस का उत्पत्ति निरूपण अगले अध्याय में होने वाला है ।

इति—यजानुगपदतिर्गमः





श्री

इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

प्रथमकाण्डे

द्वितीयः-खण्डः

२

— • —

[ क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १५४२ ]

